जैनाचार्य-जैनधर्म दिवाकर-पूज्य श्री घासीलालजी महाराज
विरचित दीपिका-निर्युक्ति व्याख्या द्वयोपेत
हिन्दी गुर्जर भाषानुवादसहितम्

॥ तत्त्वार्थसूत्रम् ॥

प्रथमो भागः

नियोजकः

संस्कृत प्राकृतज्ञ-जैनागमनिष्णात प्रियव्याख्यानि
पण्डित मुनि श्री कन्हैयालालजी महाराज

प्रकाशकः

राजकोट निवासी स्व. दोशीपाद मूलजीभ्रातुरात्मज प्रभुलालस्य
धर्मपत्नी लाभुबहेन प्रदत्त द्रव्यसाहाय्येन
अ. भा. श्वे. स्था. जैन शास्त्रोद्धारसमिति प्रमुखः
श्रेष्ठि श्री शान्तिलाल मङ्गलदास भाई महोदयः
मु. राजकोट

प्रथमा आवृत्ति	वीर सम्वत्	विक्रम सवत्	इस्वी सन्
प्रति १०००	२४९९	२०२९	१९७३

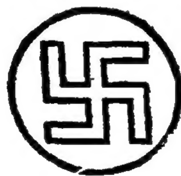
मूल्य रु. ३५

मिलने का पत्ता
अ भा. श्वे. स्थानक वासी
जैन शास्त्रोद्धार समिति
ठे गरेडीया कूवारोड
राजकोट (सौराष्ट्र)

Published by
Shri Akhil Bharat S S
Jain Shastraddhara Samiti,
Garedia Kuva, Road, RAJKOT,
(Saurashtra), W Ry, India

ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञाम्'
जानन्ति ते किमपि तान् प्रति नैषयत्नः।
उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समान धर्मा,
कालोह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी ॥१॥

हरिगीतिच्छन्द
करते अवज्ञा जो हमारी यत्न ना उनके लिए,
जो जानते हैं तत्त्व कुछ फिर यत्न ना उनके लिये,
जनमेगा मुझसा व्यक्ति कोई तत्त्व इससे पायगा,
है काल निरवधि विपुल पृथ्वी ध्यान में यह लायगा ॥२॥



मूल्य रु० ३५

प्रथम आवृत्ति. १०००
वीर सवत् २४९९
विक्रम सवत् २०२९
इस्वीसन् १९७३

मुद्रकः
रामानन्द प्रिन्टिंग प्रेस
काकरिया रोड,
अहमदाबाद-२२

तत्त्वार्थसूत्र की विषयानुक्रमणिका

दूसरा अध्याय

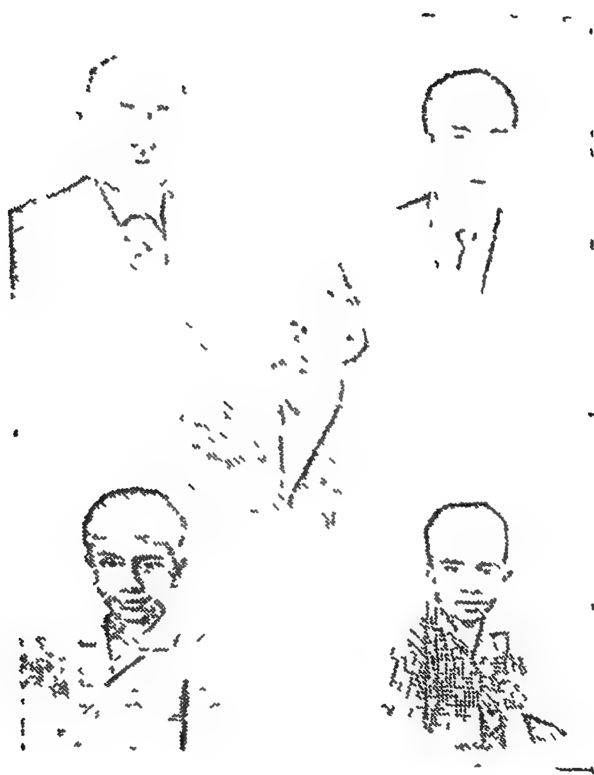
दूसरा अध्याय

अनुक्रमाङ्क	विषय	पृष्ठाङ्क

चौथा अध्याय

समाप्त

આ ગ્રંથના પ્રકાશનાર્થે સહાય કરનાર સદ્‌ગૃહસ્થ



રાજકોટવાળા
સ્વ. શેઠશ્રી પ્રભુદાસભાઈ દોશી તથા તેમના સુપુત્રો

श्री

તત્ત્વાર્થસૂત્ર ભા. ૧ ના ગુજરાતી વિભાગની

વિષયોનુક્રમણિકા

બીજા અધ્યાયનો આરંભ—

ત્રીજો અધ્યાય

ચોથો અધ્યાય

પાંચમો અધ્યાય

સમાપ્ત

॥ श्री वीतरागाय नम ॥

॥ श्री जैनाचार्य–जैनधर्मदिवाकर–पूज्य–श्री घासीलालव्रतिविरचितं दीपिका–निर्युक्त्याख्यया व्याख्यया समलङ्कृतम् ॥

तत्त्वार्थसूत्रम्

मङ्गला चरणम्—जिनेन्द्रचन्द्र नतदेववृन्द विनष्टतन्द्रं समवाप्तभद्रम् ।
नत्वो विधत्ते नव तत्वसार तत्त्वार्थसूत्र मुनिघासीलालः ॥

मूलसूत्रम्–जीवाजीवबंधपुण्णपावासवसंवरणिज्जरा मोक्खा नव तत्ताइं ॥सूत्र १॥

छाया—जीवा-ऽजीव-बन्ध-पुण्य-पापा-ऽऽस्रव सवर निर्जरा मोक्षा नवतत्त्वानि ॥सूत्र १॥

दीपिका—अथाऽह ससारार्णव समुत्तितीर्षूणाम् आर्हततत्त्वजिज्ञासूना भविकजनानां जैनाऽध्यात्मतत्त्वस्वाध्यायार्थं सर्वजैनाऽऽगमसाराणां स्वगवेषणात्मकबुद्ध्या यथाशक्ति सग्रह कृत्वा तत्त्वार्थसूत्राणि प्राकृतभाषायां नवाध्यायेषु सरब्धवान् क्वचित्–शब्दश आगमशब्दानामेव सग्रहं कृतवानस्मि क्वचिच्चा-ऽऽगमार्थानां सक्षेपेण सग्रह विहितवान् क्वचित्पुनरागमे वृहद्रूपेण प्रतिपादितानां विषयाणा सरलतया वर्णनं कृतवान् अस्मीत्येव रीत्या जैनागमसमन्वयात्मक तत्त्वार्थसूत्रस्याऽऽशयं

तत्त्वार्थटीकानुवाद

मंगलाचरण

'जिनेन्द्रचन्द्रं' इत्यादि ।

देवगण जिनके चरणो में नमस्कार करते है, जो तन्द्रा से रहित है अर्थात् जिनके ज्ञान की अनुपयोग–अवस्था दूर हो गई है—जो सतत उपयोगमय क्षायिक केवलज्ञान से सम्पन्न है अथवा मोहजनित प्रमाद से सर्वथा रहित हो गए है और जिन्होने भद्र अर्थात् कल्याण को पूर्ण रूपसे प्राप्त कर लिया है, उन जिनेन्द्र भगवान् रूपी चन्द्र को प्रणाम करके मुनि घासीलाल नौ तत्त्वो के वास्तविक स्वरूप को प्रकट करने वाले भव्य तत्त्वार्थसूत्र की रचना करते है ॥१॥

दीपिकार्थ—जो ससार–सागर से पार होने के अभिलाषी है और उसके लिए अर्हन्त भगवान् द्वारा प्रतिपादित तत्त्वो का ज्ञान प्राप्त करने के इच्छुक है, ऐसे भव्य जनों के स्वाध्याय के हेतु समस्त आगमो के सार का, अपनी गवेषणात्मक बुद्धि से यथाशक्ति सग्रह करके, प्राकृत भाषा में नौ अध्यायो में तत्त्वार्थसूत्र की मैंने रचना की है । यह रचना अपनी बुद्धि से तत्त्वो की नूतन कल्पनाकरके नहीं किन्तु कहीं–कहीं आगमो का शब्दश सग्रह करके और कहीं–कहीं आगम के अर्थ को सक्षेप करके की है । कहीं–कहीं आगमो में विस्तृत रूप से प्रतिपादित किये

विशदीकर्तुं यथाशास्त्रं स्वमत्यनुसार 'तत्त्वार्थ दीपका' विरच्यते तत्र–प्रथमं तावद् वक्ष्यमाणोत्तराध्ययनसूत्राऽनुसारं जीवादि नव तत्त्वानि प्ररूपयितुमाह—

जीवा १ ऽजीव २ बंध ३ पुण्ण ४ पावा ५ ऽऽसवसंवर ६ णिज्जरा ७ मोक्खा ८ नव तत्ताइं ९ इति।

जीवः १ अजीवः २ बन्धः ३ पुण्यं ४ पापम् ५ आस्रवः ६ संवरः ७ निर्जरा ८ मोक्षः ९ चेत्येतानि नव तत्त्वानि सन्ति।

तत्र–जीवस्तावद् उपयोगलक्षणचैतन्यस्वभावो बोधस्वरूप प्रदीपप्रकाशादिवद् गज–पिपीलिकादिकायाऽनुसारेण सकोच–विकासशाली त्रसस्थावरादिरुच्यते।१

अजीव' खलु चैतन्यरहित' अबोध स्वरूपो धर्मास्तिकायादि रुच्यते।२

बन्धस्तु—जीव-कर्मणो र्जतुकाष्ठवत् सश्लेष' कर्मवर्गणारूपपुद्गलादानरूप.।३ पुण्यं-शुभकर्म पुनात्यात्मानमिति पुण्यम्।४। पापम्—अशुभकर्म पातयति दुर्गता वात्मानमिति पापम्—

गये विषयो का सुभग रूप से वर्णन किया है। इस प्रकार जैनागमो के समन्वय रूप इस तत्त्वार्थ सूत्र नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया गया है।

इस तत्त्वार्थसूत्र नामक ग्रन्थ के आशय को स्पष्ट करने के लिए शास्त्रों के अनुकूल, अपनी मति के अनुसार तत्त्वार्थदीपिका नामक टीका की रचना करता हूँ।

प्रथम उत्तराध्ययन एव स्थानांग सूत्र के अनुसार प्राकृत ग्रथ में कहे जाने वाले नव तत्त्वों का निर्देश करते हैं—

(१) जीव (२) अजीव (३) बन्ध (४) पुण्य (५) पाप (६) आस्रव (७) सवर (८) निर्जरा और (९) मोक्ष, ये नव तत्त्व है।

(१) जीव उपयोग लक्षण चैतन्य स्वभाव बोध स्वरूप-एवं ज्ञानमय है। जैसे दीपक का प्रकाश संकोच–विस्तारमय होता है–छोटी जगह में भी समा जाता है और विस्तृत क्षेत्र में भी फैल जाता है, उसी प्रकार जीव जब पिपीलिका (कीडी) के पर्याय में उत्पन्न होता है तो उसके छोटे–से शरीरमे समा जाता है और हाथी के पर्याय मे उत्पन्न होता है तो विस्तृत होकर उसके शरीर को व्याप्त करके रहता है। ऐसे त्रस और स्थावर आदि प्राणियों को जीव कहते है।

(२) चैतन्य से रहित, अज्ञान स्वरूप (ज्ञानशून्य) धर्मास्तिकाय आदि अजीवतत्त्व है।

(३) लाख और लकडी के समान या दूध और पानी के समान जीव और कर्मपुद्गलों का एकमेक हो जाना अर्थात् कार्मणवर्गणा के पुद्गलो का आदान बन्ध कहलाता है।

(४) शुभ कर्म पुण्य कहलाता है। पुण्य शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—जो आत्मा को पुनीत–पवित्र करे सो पुण्य है।

।५ आस्रवः—खलु शुभाऽशुभकर्माऽऽगमनमार्गः प्राणातिपातादिः । भवागमनहेतुभूतः क्रियाविशेषः आस्रवत्यनेन कर्म—इत्यास्रवः । ६

संवरः खलु तथाविधास्रवनिरोधरूपः येनाऽऽत्मनि प्रविशत्कर्म संन्नियते- निरुध्यते स संवरः त्रिगुप्ति पञ्च समित्यादि ।७ आस्रवः स्रोतसो द्वारं संवृणोतीति संवरः ।

उक्तञ्च—आस्रवो भवहेतुः स्यात् संवरो मोक्षकारणम् इति । निर्जरा च—उपार्जितकर्मणः तपः संयमादिना देशतये निर्जरणं—क्षपणम् , यद्वा—समुपार्जितकर्मणां विपाकात् तपसा वा देशतः शाटनं निर्जरा । तथा च पूर्वोपार्जितकर्मणा तपोध्यानादिभिर्निर्जरणं देशतः—आत्मनः सकाशात् पृथक्करणं निर्जरा । ८ मोक्षस्तु—आत्यन्तिककृत्स्नकर्मक्षयरूपो बोध्यः । तथाचोक्तम्—उत्तराध्ययनस्य २८ अष्टाविंशतितमे अध्ययने—

जीवाऽजीवा य बंधो य पुण्णं पावासवो तहा ।
संवरो णिज्जरामोक्खो संतेए तहिया नव ॥१॥

निर्युक्तिः—अथाहं भवतितीर्षुणां जिनतत्त्वजिज्ञासूनां जैनागमतत्त्वस्वाध्यायार्थम् आगमसारान् स्वबुद्धया यथाशक्ति संगृह्य तत्त्वार्थसूत्राणि नवाध्यायेषु निर्मितवान् तत्र—क्वचित् शब्दशः आगम

---

(५) आत्मा के दुर्गति में पतन का जो कारण हो वह अशुभ कर्म पाप कहलाता है।

(६) शुभ और अशुभ कर्मों के आगमन का मार्ग, भवभ्रमण का कारण प्राणातिपात आदि क्रिया रूप आस्रव है। अर्थात् जिससे कर्म आते है, वह आस्रव है।

(७) आस्रव का रुक जाना संवर तत्त्व है। तात्पर्य यह है कि आत्मा में प्रविष्ट होते हुए कर्म जिस आत्मपरिणाम के द्वारा रुक जाते है, उन तीन गुप्ति, पाँच समिति आदि को संवर कहते हैं। जो आस्रव के स्रोत द्वार को रोक देता है संवृत कर देता है, वह संवर है। कहा भी है— आस्रव संसार का कारण है और संवर मोक्ष का कारण है।

(८) पहले जो कर्मबँध कर चुके है उनका तप—संयम आदि से निर्जीर्ण होना—झड जाना, खिर जाना या आंशिक रूप से क्षय हो जाना निर्जरा है। अथवा पूर्वोपार्जित कर्म यथाकाल अपना फल देकर या तपस्या आदि द्वारा क्षीण हो जाएँ वह निर्जरा तत्त्व है। अभिप्राय यह है कि पहले बँधे हुए कर्मों का तप, ध्यान आदि के द्वारा एकदेश से क्षीण हो जाना अर्थात् आत्मप्रदेशों से पृथक् हो जाना निर्जरा है।

(९) सदा के लिए समस्त कर्मों का क्षय हो जाना मोक्ष है। उत्तराध्ययन के २८ वे अध्ययन में कहा है—

जीव, अजीव, बन्ध, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा और मोक्ष, ये नौ तत्त्व है ॥१॥

तत्त्वार्थ निर्युक्ति—बत्तीस आगमो की टीका रचने के पश्चात् मैंने संसार से तिरने की इच्छा रखने वाले और जिनप्रतिपादित तत्त्वों को जानने के अभिलाषी जनो के स्वाध्याय के

शब्दानेव सगृहीतवान् क्वचिच्च--आगमार्थान् सगृह्य तेषां सक्षेपेण वर्णन कृतवानस्मि तथाच अर्हदागम-समन्वयात्मक तत्त्वार्थसूत्र समगृह्णाम् , तस्य सक्षेपेण संगृहीतस्य तत्त्वार्थसूत्रस्याऽऽशयं विशदयितुं शास्त्रानुसार यथामति मया निर्युक्ति क्रियते 'जीवाजीव' इत्यादि ।

जीवाः १ अजीवाः २ वन्धः ३ पुण्यं ४ पापम् ५ आस्रवः ६ संवरः ७ निर्जरा ८ मोक्षश्च ९ इत्येतानि नव तत्त्वानि सन्ति ।

उक्तञ्चोत्तराध्ययनस्य २८ अष्टाविंशतितमेऽध्ययने..

जीवाजीवा य बंधो य पुण्ण पावासवो तहा ।
संवरो निज्जरामोक्खो संतेए तहिया नव ॥१॥

इति---तत्र चैतन्यलक्षणो जीवो बोधस्वरूप' प्रदीपप्रकाशादिवत्" हस्ति--कुन्थु प्रभृति शरीरानुसारेण संकोचविकाशशाली--एकेन्द्रियादिर्व्यपदिश्यते ।

अथवा---औपशमिकक्षायोपशमिकादिभावान्वितसाकाराऽनाकारोपयोग व्यपदेश्यः । शब्द रूपादिविषयपरिच्छेदी भूतभविष्यद् वर्तमानेषु समानकर्तृकक्रिय पुण्यपापकर्त्ता तत्फलभोक्ता अमूर्त्त स्वभावश्च बोध्य ।

अर्थ, यथाशक्ति और यथामति आगमो का सार--सग्रह करके नौ अध्यायो में तत्त्वार्थ सूत्र का निर्माण किया है । प्रस्तुत तत्त्वार्थ सूत्र में कहीं--कहीं आगमों के शब्दो को ज्यों का त्यो ग्रहण कर लिया है,और कहीं-कहीं आगम के अर्थ का सक्षेप मे वर्णन किया है । इस प्रकार यह ग्रन्थ आर्हतआगम का एक समन्वयात्मक ग्रथ है । सक्षेप मे रचित तत्त्वार्थसूत्र के तात्पर्य को स्पष्ट करने के लिए अपनी मति के अनुसार निर्युक्ति की रचना की जाती है । -

(१) जीव (२) अजीव (३) वन्ध (४) पुण्य (५) पाप (६) आस्रव (७) संवर (८) निर्जरा और (९) मोक्ष, ये नौ तत्त्व है । स्थानाग सूत्र मे, ६६५ वे सूत्र में, नवम स्थान में कहा है---'नौ सद्भाव रूप पदार्थ शब्द से तीर्थकरो ने और अर्थ से गणधरों ने कहे है । वे इस प्रकार है --जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर निर्जरा, वन्ध, और मोक्ष ।

उत्तराध्ययन सूत्र के अट्ठाईसवे अध्ययन में भी इन्हीं नौ तत्त्वो का निर्देश किया गया है, इनमें पहला तत्त्व जीव है जो चैतन्य स्वरूप अर्थात् ज्ञानमय है । जैसे दीपक के प्रकाश मे सकोच--विस्तार का गुण है, उसी प्रकार जीव में भी है । इस गुण के कारण जीव हस्ती और कुन्थु आदि के वडे--छोटे शरीर के अनुसार सकुचित और विस्तृत हो जाता है । सांसारिक अवस्था में अपने द्वारा उपार्जित नामकर्म के अनुसार वह त्रस--स्थावर, देवनारक, एकेन्द्रिय--द्वीन्द्रिय आदि कहलाता है । अथवा जीव औपशमिक, क्षायोपशमिक आदि भावो से युक्त होता है, साकार--उपयोग (ज्ञान) तथा अनाकार--उपयोग (दर्शन) रूप है, शब्द रूप आदि विषयों

उक्तञ्चोत्तराध्ययनस्य विंशतितमेऽध्ययने गाथा ३७ 'अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य' इति । अस्य भेदोपभेदान् अग्रे वक्ष्यन्ति चैतन्यलक्षणरहित' अबोधात्मकोऽजीवो धर्मास्तिकायादि स्वरूप । स च चतुर्विधः धर्मास्तिकाया--ऽधर्मास्तिकाया--ऽऽकाशाऽस्तिकायपुद्गलास्तिकायभेदात ।

उक्तञ्चोत्तराध्ययनस्य २८ अध्ययने "धम्मो अहम्मो आगास" । एवञ्च जीवाजीवात्मकं तत्त्वद्वयं परमावश्यकतया विज्ञातुम् अन्यत्राऽपि उक्तम्

चिदचिद् द्वे परे तत्त्वे विवेकस्तद्विवेचनम् ।
उपादेयमुपादेयं हेय हेयश्च कुर्वतः ॥१॥

हेय हि रागद्वेषादि तत्कार्यमविवेकिता उपादेय पर ज्योतिरूपयोगैकलक्षणम ॥१ इति॥

अयोगोलकवद् नीरक्षीर--वद् वा जीवकर्मणो जेतुकाष्ठन्यायेन सश्लेष कर्मवर्गणा रूप पुद्गलादानं बन्ध वक्ष्यमाणाऽऽस्रवरूपहेतुभिर्गृहीतस्य कर्मण आत्मना सह प्रकृत्यादि विशेषित सयोगो वा बन्ध' ।

पुण्य--शुभकर्म तच्चाऽन्नपुण्यादिक नवविध पुण्यमग्रे वक्ष्यते पुनाति पवित्रीकरोति आत्मानमिति पुण्यपदव्युत्पत्ति. ।४

का विज्ञाता, पुण्य--पाप का कर्त्ता एव उनके फल का साक्षात् भोक्ता और स्वभावत अमूर्त अर्थात् रूप रस गन्ध और स्पर्श से रहित है । उत्तराध्यय सूत्र के २० वें अध्ययन गाथा ३७ में कहा है---'आत्मा स्वयं ही अपने दु'ख--सुख का कर्त्ता--हर्त्ता है ।' जीव के भेद-प्रभेदो का वर्णन आगे किया जाएगा ।

जिसमें चेतना न हो, जो जड हो वह अजीव तत्त्व है । उसके चार भेद है---(१) धर्मास्तिकाय (२) अधर्मास्तिकाय (३) आकाशास्तिकाय और (४) पुद्गलास्तिकाय । उत्तराध्ययन के २८ वे अध्ययन मे कहा है---धर्म, अधर्म आकाश । इस प्रकार जीव और अजीव इन दो तत्त्व का जानना परमावश्यक होने के कारण अन्यत्र भी कहा है---

'जो उपादेय ग्राह्य को ग्रहण करना चाहता है और हेय को त्यागना चाहता है, उसके लिए दो मूलभूत तत्त्व है--जीव और अजीव ।

राग--द्वेष आदि तथा उनसे उत्पन्न होने वाले अज्ञान आदि हेय है और उपयोग रूप परम ज्योति उपादेय है ।'

अग्नि और लोहे के गोले के समान अथवा क्षीर और नीर के समान कार्मणवर्गणाओ का आत्मप्रदेशों के साथ एकमेक हो जाना बन्ध कहलाता है । आगे कहे जाने वाले आस्रव के कारणों से गृहीत कर्म पुद्गलों का प्रकृति, स्थिति आदि विशेषणों से विशिष्ट सयोग होना बन्ध है ।

शुभ कर्म पुण्य कहलाता है । अन्नपुण्य आदि के भेद से उसके नौ भेद है, यह आगे

पापम्—अशुभकर्म प्राणातिपातादिकमष्टादशविधपापम्, तदग्रे स्फुटी करिष्यते। पातयति दुर्गतावात्मानमिति पापपदव्युत्पत्ति ५ आस्रवति—आगच्छति येन कर्म स आस्रव शुभाशुभकर्मादानहेतु, भवागमनकारणमित्यर्थ ६, आस्रवनिरोधरूप सवर येनात्मनि प्रविशत् कर्म निरुध्यते, स त्रिगुप्ति—पञ्चसमित्यादि सवर इत्युच्यते इति भाव आस्रव स्रोतसोद्वार सवृणोतीति सवरपदव्युत्पत्ति ।

उक्तञ्च—आस्रवो भवहेतु स्यात् संवरो मोक्षकारणम्
इतीयमार्हतीसृष्टिः अन्यदस्याः प्रपञ्चनम् ॥इति॥

अथवा—तेषामेव प्राणातिपातादिरूपास्रवाणां निरोध मनोगुप्त्यादिभि स्थगन सवर ७

अर्जितस्य कर्मण तप. संयमप्रभृतिर्निर्जरण क्षपण निर्जरा, अथवा—उपार्जितकर्मणा विपाकात् तपसा वा शाटन निर्जरा ।

एवञ्च—पूर्वोपार्जितकर्मणां तपो ध्यानादिभि क्षपण देशत—आत्मन सकाशात्—पृथक्करणं निर्जरेति भाव ८

कहा जाएगा। पुण्य शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—पुनाति अर्थात् जो आत्मा को पवित्र करता है, वह पुण्य है।

अशुभ कर्म पाप है। प्राणातिपात आदि अठारह उसके भेद हैं। इसका स्पष्टीकरण भी आगे किया जाएगा। जो आत्मा के दुर्गति में पतन का कारण हो, वह पाप है, यह पाप का व्युत्पत्ति जनित अर्थ हैं।

जिसके द्वारा कर्म आता है वह आस्रव है। अर्थात् शुभाशुभ कर्मों के उपार्जन का हेतु आस्रव कहलाता है जिससे जीवका ससार में परिभ्रमण होता है।

आस्रव का रुक जाना सवर है। आशय यह है कि आत्मा में प्रविष्ट होते हुए कर्म जिसके द्वारा रुक जाते है, उस तीन गुप्ति और पाँच समिति आदि परिणाम को सवर कहा गया है। व्युत्पत्ति के अनुसार सवर शब्द का अर्थ है—जो आस्रव रूप स्रोत को संवृत करदे अर्थात् बन्द कर दे, वह सवर है। कहा भी है—

आस्रव भवभ्रमण का कारण है और सवर मोक्ष का कारण है। इसी में सम्पूर्ण तत्त्व की समाप्ति हो जाती है। शेष कथन तो इसी का विस्तार है।

अथवा प्राणातिपात आदि आस्रवों का मनोगुप्ति आदि के द्वारा निरोध हो जाना सवर है।

पूर्वोपार्जित कर्म का तप एव सयम आदि कारणों से जीर्ण हो जाना—क्षय हो जाना निर्जरा है या उपार्जित कर्मों का विपाक अथवा तप आदि के द्वारा नष्ट हो जाना निर्जरा है तात्पर्य यह है कि तपस्या ध्यान आदि कारणों से पहले बँधे हुए कर्मों का आंशिक रूप सेपृथक् हो जाना निर्जरा है।

आत्यन्तिक कृत्स्नकर्मक्षयलक्षणो मोक्ष'

यद्यपि—वाचकप्रवरोमास्वाति स्वामिना पुण्य—पाप—तत्त्वद्वयं परित्यज्य सप्तविधमेव पदार्थत्व तत्त्वार्थसूत्रे प्रतिपादितम् किन्तु—स्थानाङ्गादौ पूर्वोक्तनवविधानामेव पदार्थतत्त्वाना प्रतिपादितत्त्वेन प्रकृतेऽपि तेषां सप्तानामिव, पुण्यपापरूपतत्त्वद्वयस्यापि हेयोपादेयतया परिज्ञानस्य परमावश्यकत्वेन नवविधतत्त्वकथनस्यैवौचित्यम् । यदि तु पुण्यपापयोरास्रवबन्धान्तर्भावेण तयो पृथगुपादानं नोचितमित्युच्यते, तदा-ऽऽस्रवादिपञ्च तत्त्वाना जीवाजीवयोरेवान्तर्भावसंभवेन द्विविधस्यैव-जीवाजीवतत्त्वस्य तेषां कथनौचित्यापत्तिः ।

तथाहि—आस्रवस्तावद् मिथ्यादर्शनादिरूपो जीवस्य परिणामविशेष सचात्मान पुद्गलाश्च विरहय्य न कोप्यतिरिक्तः सभवति । बन्ध' पुनः पुद्गलस्वरूपमात्मप्रदेशसश्लिष्ट कर्म-एव ।

संवरस्तु—आस्रवनिरोधात्मको देश सर्वभेदलक्षण आत्मनो निवृत्तिरूप' परिणाम । निर्जरापि—तावद् देशत' कर्मपरिशाटना रूपा, ताञ्चापि जीव' स्वशक्त्या कर्मणा पार्थक्यरूप मापादयति । मोक्षोऽपि खलु—समस्तकर्म विरहित'—"आत्मैवायम्" इति रीत्या पञ्चानामपि—आस्रवादीना जीवाजीवयोरन्तर्भावात् "जीवाजीवास्तत्त्वम्"—इत्येव सूत्र वक्तुमुचितमासीत्, तथैव

पूर्ण रूप से समस्त कर्मों का क्षय होना मोक्ष कहलाता है । बोध, शम, वीर्य, दर्शन तथा आत्यन्तिक, एव ऐकान्तिक, अनाबाध एवं सर्वोत्तम सुख स्वरूप आत्मा का अपने शुद्ध स्वरूप में अवस्थित हो जाना मोक्ष है ।

यद्यपि वाचकवर्य उमास्वाति स्वामी ने पुण्य और पाप को छोड कर सात ही तत्त्वका तत्त्वार्थसूत्र में प्रतिपादन किये हैं, तथापि स्थानांग आदि सूत्रों में पूर्वोक्त नौ पदार्थों का ही कथन किया गया है, अत एव यहाँ भी उन्हीं नौ तत्त्वों को ग्रहण किया है । जिस प्रकार हेय—उपादेय रूप से सात तत्त्वो का परिज्ञान होना परमावश्यक है उसी प्रकार पुण्य और पाप का परिज्ञान भी आवश्यक है अतएव नौ तत्त्वो का कथन करना ही उचित है । पुण्य और पाप का आस्रव और बन्ध तत्त्व में समावेश हो जाता है, अतएव उन्हे अलग गिनाना उचित नहीं है, ऐसा कहा जाय तब तो **आस्रव** आदि पाँच तत्त्वों का भी जीव और अजीव तत्त्वों में अन्तर्भाव करके दो ही तत्त्व कहना चाहिए था । यथा—आस्रव मिथ्यादर्शनादि रूप जीव का परिणामविशेष है । वह आत्मा और पुद्गल के सिवाय अन्य कुछ भी नहीं है । इसी प्रकार आत्मप्रदेशो के साथ बद्ध कर्म भी पुद्गल होने से अलग नहीं है । सवर आस्रव का निरोध है । वह देशविरति और सर्वविरति रूप आत्मा का परिणाम ही है ।

एक देश से कर्मों का पृथक् हो जाना निर्जरा है । जीव अपनी शक्ति से कर्मों को पृथक् करता है । वह भी जीव और अजीव से भिन्न नहीं है । समस्त कर्मों से रहित आत्मा ही मोक्ष है । इस प्रकार आस्रव आदि पाँचो तत्त्वों का जीव और अजीव तत्त्व में ही अन्तर्भाव हो जाता

कथं न कृतं सूत्रमिति, तथाविधसूत्ररचने हेतुवक्तव्यतापातो भवति। यदि च–शिष्याणां–तदन्येषां–जिज्ञासूनाञ्च प्रस्तुतशास्त्रे प्रवृत्त्यर्थम्–ससारमोक्षकारणतया तत्रापि–संसारकारणस्य हेयतया–मोक्षकारणस्य च–उपादेयतया, आस्रवादीनां पञ्चानां कथने परमावश्यकमित्युच्यते

तदा—तुल्ययुक्त्या पुण्य–पापयोरपि हेयोपादेयतया सूत्रेऽवश्यवक्तव्यतापातो भवति, तस्मात्–नवानामेव जीवादिपदार्थतत्त्वानां सूत्रे कथनमावश्यकमिति निरवद्यम्।

तेषाञ्च — नवविधतत्त्वाना लक्षणतो–विभागतश्च विशदरूपे विवेचन यथायथमग्रे करिष्यते। यथा–"उपयोगलक्षणो जीवः" इत्येवं भावजीवस्य लक्षण वक्ष्यते, स च–जीवो भेदोपभेदतो बहु प्रकार–यथा–प्रथम तावद् द्रव्यतो–भावतश्च द्विविधो जीव', ततश्च–साकारोऽनाकारः ससारी–असंसारी त्रसा'–स्थावराश्च सूक्ष्मा–बादरा'–पर्याया–अपर्याया'। एवमजीवादीनामपि लक्षण—विभागश्चाऽग्रे वक्ष्यति ॥ सू०॥१॥

मूलसूत्रम्—"उवओगलक्खणो जीवो" ॥सू० २॥

छाया—उपयोगलक्षणो जीवः" ॥सू० २॥

दीपिका—प्रथमसूत्रे जीवादिनवतत्त्वाना सामान्यतो निर्देश कृत सम्प्रति—तेषु नवतत्त्वेषु नवमाध्याय्या प्ररूपणीयेषु प्रथमाध्याये प्रथमोपात्त जीवतत्त्व प्ररूपयितुमाह—"**उवओगलक्खणो जीवो**"—इति। उपयुज्यते वस्तुस्वरूपपरिज्ञानार्थं वस्तु प्रति य' प्रेर्यते, स उपयोग'।

है। ऐसी स्थिति में **जीवाजीवास्तत्त्वम्** अर्थात् जीव और अजीव यही दो तत्त्व हैं, ऐसा सूत्र रचना ही उचित था फिर ऐसा सूत्र क्यो नहीं रचा? कदाचित् यह कहा जाय कि शिष्यों तथा अन्य जिज्ञासुओ को हेय उपादेय की शिक्षा देने के लिए अर्थात् आस्रव और बन्ध ससार के कारण होने से हेय है और सवर तथा निर्जरा मोक्ष के कारण होने से उपादेय हैं और मोक्ष तो मुख्य रूप से उपादेय है ही, यह समझाने के लिए उक्त पाँच तत्त्वों का पृथक् निर्देश किया गया है, तो यही युक्ति पुण्य—पाप के विषय में भी लागू होती है। पुण्य उपादेय और पाप हेय है, इस कारण उनका भी सूत्र में कथन करना आवश्यक है।

इन नौ तत्त्वों के लक्षण और भेद का सम्यक् विवेचन विस्तार पूर्वक आगे किया जाएगा जैसे—जीव का लक्षण उपयोग है, यह भावजीव का लक्षण कहा है। भेद प्रभेद की विवक्षा से जीव अनेक प्रकार का है। जैसे– प्रथम तो जीव द्रव्य और भाव की अपेक्षा से दो प्रकार का है। फिर साकार अनाकार ससारी अससारी त्रस स्थावर, सूक्ष्म बादर, पर्याप्त अपर्याप्त आदि भेदो से अनेक प्रकार का है। इसी प्रकार अजीव आदि के भी भेद और लक्षण आगे कहेंगे॥१॥

मूलसूत्र का अर्थ–जीव उपयोग लक्षण वाला है ॥२॥

तत्त्वार्थ दीपिकाका अर्थ—'उवओग लक्खणो' इत्यादि ॥२॥

प्रथम सूत्र में जीव आदि नौ तत्त्वों का सामान्य रूप से कथन किया गया है। नौ अध्यायों में नौ तत्त्वों का विवेचन करना है, इस कारण प्रथम अध्याय में पहले जीव तत्त्व की प्ररूपणा

यद्वा—आत्मन' उप-समीपे योजनमुपयोगः, सामान्येन ज्ञानं-दर्शनञ्च। तथा च—उभय निमित्तवशादुपपद्यमानश्चैतन्याऽनुविधायी परिणामः उपयोग इति फलितम्। एवंविध उपयोगो लक्षण यस्य स उपयोगलक्षणो जीव' स उपयोगो द्विविध' ज्ञानोपयोग' दर्शनोपयोगश्च।

तत्र—वस्तुनो विशेषपरिज्ञान ज्ञानमुच्यते, विशेषं विहाय सामान्यावलोकनमात्र दर्शनमुच्यते। तत्र—ज्ञानोपयोगोऽष्टविध मतिज्ञान—श्रुतज्ञाना—ऽवधिज्ञान—मनःपर्ययज्ञान—केवलज्ञान—मत्यज्ञान—श्रुताज्ञान-विभङ्गज्ञानभेदात्।

दर्शनोपयोगश्चतुर्विध'—चक्षुर्दर्शना-ऽचक्षुर्दर्शना-ऽवधिदर्शन—केवलदर्शनभेदात्।

यद्वा—उपयोगलक्षण. उपयोगो विवक्षितार्थनिश्चयरूपार्थपरिच्छेद., स्वरूपव्यापारलक्षणम्—असाधारणस्वरूपं यस्य स उपयोगलक्षण. प्रस्तुतार्थनिर्धारणव्यापारपरिणामो जीवो भावजीव इत्युच्यते। तथा च जीवस्तावद् द्विविध. भावजीवो द्रव्यजीवश्च। तत्र—औपशमिक क्षायिक—क्षायोपशमिक—औदयिक-पारिणामिकभावयुक्तो भावजीव' उपयोगलक्षणो व्यपदिश्यते।

द्रव्यजीवस्तु—गुणपर्यायवियुक्तः प्रज्ञाव्यवस्थापितोऽनादिपारिणामिकभावयुक्त उच्यते।

करने के लिए कहते है—जीव उपयोग लक्षण वाला है।

वस्तु के स्वरूप को जानने के लिए वस्तु के प्रति जो उपयुक्त अर्थात् प्रेरित किया जाय वह उपयोग कहा जाता है। इसका फलितार्थ यह है कि अन्तरंग और बहिरंग कारणों से उत्पन्न होने वाला चैतन्य रूप परिणाम उपयोग है। इस प्रकार का उपयोग जिसका लक्षण है वह जीव है।

उपयोग के दो भेद है—ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग। सामान्य विशेष धर्मात्मक वस्तु के विशेष धर्म को जानने वाला ज्ञानोपयोग और सामान्य धर्म को विषय करने वाला दर्शनोपयोग कहलाता है। ज्ञानोपयोग आठ प्रकार का है–१. मतिज्ञान २. श्रुतज्ञान ३. अवधिज्ञान ४. मनः पर्ययज्ञान ५ केवलज्ञान ६. मत्यज्ञान ७. श्रुत–अज्ञान और ८. विभंगज्ञान। दर्शनोपयोग चार प्रकार का है–चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन।

अथवा—जीव उपयोग लक्षण वाला है, यहाँ उपयोग का तात्पर्य है–किसी पदार्थ को निश्चय रूप से जानना। यह उपयोग जिसका असाधारण गुण है, वह जीव भावजीव कहलाता है। जीव के दो भेद हैं—भावजीव और द्रव्यजीव। औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक भाव से युक्त जो भावजीव है, वह उपयोग लक्षण वाला कहलाता है।

जो गुण और पर्याय से रहित हो, बुद्धि द्वारा कल्पित और अनादि पारिणामिक भाव से युक्त हो, वह द्रव्यजीव है।

स पुनर्जीवो द्विविधः—ससारी मुक्तश्चेति एवञ्च—तथाविधोपयोगलक्षणस्य जीवस्य ज्ञानरूपे दर्शनरूपे-च द्विविधेऽपि व्यापारे चैतन्यरूप' स्वाभाविक'परिणाम समान एवोपजायते। जीवस्य ज्ञानदर्शन-योश्चैतन्यरूपेण स्वाभाविकपरिणामानुविधायिकत्वात्।

तत्र—साकार—ज्ञान व्यवह्रियते, निराकारं दर्शनमुच्यते। स च स्वाभाविकचैतन्यरूपपरिणतिं प्राप्नुवत्।

ज्ञानदर्शनरूपोपयोग' परस्परप्रदेशानां प्रदेशबन्धात् कर्मणा—"ऽयोगोलकवद्" एकीभूतस्या-त्मनो भेदप्रतिपत्तिहेतु र्भवतीति भाव.।

तत्र—फलप्रदानोन्मुखस्य समुदीर्णस्य कर्मपुद्गलावयवा जीवा जीवप्रदेशसंयोगं राग-द्वेषादिना शिथिलीकृत्याऽन्तः प्रविशन्ति जीवकर्मणो' प्रदेशरूपावयवाना परस्परमिश्रणरूपप्रदेश-बन्धेन जीव' कर्मपुद्गलेन सहैकीभूतो भवति। दुग्धोदकवद् भेदेन ज्ञातु न शक्यते। तदानीं सम्यगुपयोगेन तु—अय खलु जीव. स्वस्मिन् मिश्रितेभ्य कर्मपुद्गलेभ्य पार्थक्येन ज्ञातु शक्यो भवति। तस्मिन्काले उपयोगावस्थायां कर्मपुद्गलानां चैतन्यरूपेण परिणत्यभावात्। इत्येव रूपो भाव जीवो बोध्य। यदा खलु अस्मिन् देहे स्थितो जीवो ज्ञानादिभिर्भावैर्विप्र-युक्तत्वेन विवक्ष्यते तदा—द्रव्यजीवो व्यपदिश्यते इति॥ सू० २॥

इस प्रकार उपयोग लक्षण वाले जीव के ज्ञान रूप और दर्शनरूप दोनों प्रकार के व्यापार मे चैतन्य रूप जो स्वाभाविक पारेणाम है, वह तो समान ही होता है। जीव में ज्ञान या दर्शन रूप स्वाभावक चैतन्य परिणाम रहता ही है।

यद्यपि कर्मपुद्गल आत्मप्रदेशो के साथ उसी प्रकार एकमेक हो जाते है जैसे तपाया हुआ लोहे का गोला और अग्नि, फिर भी जैसे उष्णता गुण के कारण अग्नि अलग और गुरुता गुण के कारण लोहे का गोला अलग पेहचान लिया जाता है, उसी प्रकार अपने असाधारण उपयोग गुण के कारण जीव अलग से पेहचान लिया जाता है।

कार्मण वर्गणा के अनन्तानन्त प्रदेश योग और कषाय का निमित्त पाकर आत्म-प्रदेशों के साथ बद्ध हो जाते हैं उस समय जीव के प्रदेशो और कर्मप्रदेशों का परस्पर में मिश्रण हो जाता है। जैसे दूध और पानी का मिश्रण होने पर दोनो एकमेक हो जाते है उसी प्रकार आत्मा और कर्म भी एकमेक हो रहे है—अनादिकाल से दोनो की मिश्रित स्थिति है, फिर भी उपयोग गुण के कारण जीवको पृथक् समझ लिया जाता क्योकि उपयोग रूप परिणति जीव में ही होती है। कर्म भले जीव के साथ मिले हुए हों फिर भी उनका चैतन्य—उपयोग रूप परिणमन कदापि नहीं होता। यही भावजीव है जब इस देह मे स्थित जीवकी ज्ञान आदि भावों से रहित रूप में विवक्षा की जाय तब वह द्रव्यजीव कहलाता है॥ २॥

निर्युक्तिः—त्रैविध्येन तावद् शास्त्रस्य प्रवृत्तिर्भवति । उद्देशत –लक्षणत –परीक्षणतश्च । तत्र–पदार्थानां नाम्ना सकीर्तनम् उद्देश', पदार्थानामसाधारणधर्मकथनम्, लक्षणं परीक्षणन्तु लक्षितस्य लक्षणमिदं युज्यते–न वा–३ इति वचनं बोध्यम् ।

तत्र–जीवादिपदार्थानां नाम्ना स्वरूपनिर्देशरूप सकीर्त्तनं प्रथमसूत्रेण प्रतिपादितम्, सम्प्रति–नवानामपि जीवादिपदार्थतत्त्वानां क्रमशो लक्षणानि निर्वक्तुं प्रथमं जीवस्य लक्षणमाह—

"**उवओगलक्खणो जीवो**—" इति । उपयोगलक्षण'–उपयोग –विवक्षितार्थपरिच्छेदरूपार्थग्रहणव्यापाररूप', लक्षण–असाधारणधर्मो यस्य स उपयोगलक्षणो जीव भावजीव इत्युच्यते । तथा च जीवस्तावद् प्रथम द्विविध द्रव्यजीवो–भावजीवश्च । तत्र–गुणपर्यायवियुक्त प्रज्ञास्थापितोऽनादिपारिणामिकभावयुक्तो द्रव्यजीव उच्यते । भावजीव पुन औपशमिक–१ क्षायिक–२ क्षायोपशमिक–३ औदयिक–४ पारिणामिक ५ भावयुक्त' उपर्युक्तोपयोगलक्षणो व्यपदिश्यते । स पुनर्द्विविध. संसारी–मुक्तश्चेति ।

तथा च – उक्तविधोपयोगलक्षणस्य जीवात्मनो ज्ञानरूपे दर्शनरूपे च द्विविधेऽपि व्यापारे

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—शास्त्र की प्रवृत्ति तीन प्रकार से होती है उद्देश से, लक्षण से और परीक्षा से ।वस्तुओं के नाममात्र को कह देना उद्देश कहलाता है उनके असाधारण धर्म का कथन करना लक्षण है और जिसका लक्षण कहा है उसका वह लक्षण उचित है या नहीं इस बात का विचार करना परीक्षा है ।

प्रथम सूत्र में जीवादि पदार्थो का नाम निर्देश किया जा चुका है । अब जीवादि नौ पदार्थो का अनुक्रम से लक्षण बतलाने के लिए सर्वप्रथम जीव के लक्षण का कथन किया जाता है ।

जीव उपयोग लक्षण वाला है । यहाँ उपयोग का अर्थ है किसी पदार्थ को जानना रूप व्यापार । यह उपयोग जिसका असाधारण धर्म है अन्य किसी में भी न पाया जाने वाला गुण है वही भावजीव कहलाता है

जीव के प्रथम दो भेद है—द्रव्यजीव और भावजीव । जो गुण और पर्याय से रहित हो प्रज्ञा में स्थापित किया गया हो अर्थात् वास्तव में न होने पर भी जो केवल कल्पना से मान लिया गया हो, ऐसा पारिणामिक भाव से युक्त जीव द्रव्यजीव कहलाता है । (वास्तव में कोई भी जीव, चाहे वह ससारी हो अथवा मुक्त हो कभी भी अपने गुण और पर्याय से रहित नहीं हो सकता । कोई न कोई गुण और पर्याय उसमें सदैव विद्यमान रहता है । फिर भी द्रव्य का भग शून्य न रहे, इस प्रयोजन से ऐसी कल्पना कर ली जाती है, जो जीव औपशमिक भावों से युक्त है और जिसमें उपयोग लक्षण पाया जाता है, वह भावजीव कहलाता है । उसके दो भेद है— ससारी और मुक्त ।

उपयोग लक्षण वाले जीव का ज्ञानरूप और दर्शनरूप—दोनो प्रकार के व्यापार में चैतन्य

स पुनर्जीवो द्विविध.--ससारी मुक्तश्चेति एवञ्च--तथाविधोपयोगलक्षणस्य जीवस्य ज्ञानरूपे दर्शनरूपे-च द्विविधेऽपि व्यापारे चैतन्यरूपः स्वाभाविकःपरिणाम. समान एवोपजायते । जीवस्य ज्ञानदर्शन-योश्चैतन्यरूपेण स्वाभाविकपरिणामानुविधायिकत्वात् ।

तत्र--साकार--ज्ञान व्यवह्रियते, निराकारं दर्शनमुच्यते। स च स्वाभाविकचैतन्यरूपपरिणतिं प्राप्नुवत् ।

ज्ञानदर्शनरूपोपयोग परस्परप्रदेशानां प्रदेशबन्धात् कर्मणा--"ऽयोगोलकवद्" एकीभूतस्यात्मनो भेदप्रतिपत्तिहेतु र्भवतीति भाव. ।

तत्र---फलप्रदानोन्मुखस्य समुदीर्णस्य कर्मपुद्गलावयवा ज़ीवा जीवप्रदेशसंयोगं राग-द्वेषादिना शिथिलीकृत्याऽन्त' प्रविशन्ति जीवकर्मणो' प्रदेशरूपावयवाना परस्परमिश्रणरूपप्रदेश-बन्धेन जीव' कर्मपुद्गलेन सहैकीभूतो भवति। दुग्धोदकवद भेदेन ज्ञातु न शक्यते। तदानीं सम्यगुपयोगेन तु---अय खलु जीव. स्वस्मिन् मिश्रितेभ्य कर्मपुद्गलेभ्य पार्थक्येन ज्ञातुं शक्यो भवति। तस्मिन्काले उपयोगावस्थाया कर्मपुद्गलानां चैतन्यरूपेण परिणत्यभावात् । इत्येव रूपो भाव जीवो बोध्य' । यदा खलु अस्मिन् देहे स्थितो जीवो ज्ञानादिभिर्भावैर्विप्र-युक्तत्वेन विवक्ष्यते तदा--द्रव्यजीवो व्यपदिश्यते इति ॥ सू० २ ॥

इस प्रकार उपयोग लक्षण वाले जीव के ज्ञान रूप और दर्शनरूप दोनो प्रकार के व्यापार में चैतन्य रूप जो स्वाभाविक पारेणाम है, वह तो समान ही होता है। जीव में ज्ञान या दर्शन रूप स्वाभावक चैतन्य परिणाम रहता ही है।

यद्यपि कर्मपुद्गल आत्मप्रदेशों के साथ उसी प्रकार एकमेक हो जाते है जैसे तपाया हुआ लोहे का गोला और अग्नि, फिर भी जैसे उष्णता गुण के कारण अग्नि अलग और गुरुता गुण के कारण लोहे का गोला अलग पेहचान लिया जाता है, उसी प्रकार अपने असाधारण उपयोग गुण के कारण जीव अलग से पेहचान लिया जाता है ।

कार्मण वर्गणा के अनन्तानन्त प्रदेश योग और कषाय का निमित्त पाकर आत्म-प्रदेशो के साथ बद्ध हो जाते हैं उस समय जीव के प्रदेशो और कर्मप्रदेशों का परस्पर में मिश्रण हो जाता है। जैसे दूध और पानी का मिश्रण होने पर दोनो एकमेक हो जाते है उसी प्रकार आत्मा और कर्म भी एकमेक हो रहे है---अनादिचाल से दोनो की मिश्रित स्थिति है, फिर भी उपयोग गुण के कारण ज़ीवको पृथक् समझ लिया जाता क्योकि उपयोग रूप परिणति जीव मे ही होती है। कर्म भले जीव के साथ मिले हुए हो फिर भी उनका चैतन्य--उपयोग रूप परिणमन कदापि नहीं होता । यही भावजीव है जब इस देह मे स्थित जीवको ज्ञान आदि भावों से रहित रूप में विवक्षा की जाय तब वह द्रव्यजीव कहलाता है ॥ २ ॥

तारकगतजीवमुनिशरीरवत् प्रसिद्धम् । यत्तु—नामस्थापना द्रव्य-भावनिक्षेप ुर्विधो जीव इत्युक्तम्, तथा च—नामजीव· स्थापनाजीव, द्रव्यजीव, भावजीवश्चेति । न, सज्ञा कर्म इति समानार्थकम् चैतन्यवतोऽचेतनस्य वा द्रव्यस्य जीव इति यन्नामसज्ञा स नाम जीवो व्यपदिश्यते । य. पुन· काष्ठपुस्तकचित्र—कर्माक्षनिक्षेपादिषु जीवस्याकार ो स स्थापनाजीवो व्यपदिश्यते । द्रव्यजीवो—भावजीवश्च प्रतिपादित एवेति ।

तत्र द्रव्य भावजीवयोरेव युक्तिसिद्धतया नामस्थापनाजीवयो सर्वथा ज्ञानादिगुण—नयाऽनुपादेयतैव बोध्या । न तु कदाचित् तयोरुपादेयत्वम् तथाहि—वस्तुनोऽभिधान ामनिक्षेपः । आकृति विशेषरूपस्थापनानिक्षेपश्च तुच्छत्वान्न किञ्चिद् वस्तु ज्ञापक सभवति ।

तन्निक्षेपद्वयस्य ज्ञानक्रियादिगुणशून्यत्वाद भावशून्यत्वाच्च । कस्यचिदगोपालदार-य—इन्द्रादिनामकरणेऽपि इन्द्रशब्दानुगुणार्थक्रियाकारीत्वाऽभावात् एव स्थापनायामपि यस्यां याञ्चित् सर्वथैव तदनुगुणार्थक्रियाकारित्वाभाव· प्रत्यक्षसिद्ध. । तथा च यत्तु केश्चिदुक्तम्—था प्रतिमारूपस्थापना दर्शनाद् भाव. समुल्लसति—न तथा नाममात्रात् इति—नाम—स्थापनयो-द. । तथा च—इन्द्रादे. प्रतिमारूपस्थापनाया लोकस्योपचितेच्छा पूजाप्रवृत्ति समीहितलाभादयो

कहलाता है, उस समय मे वह केवल द्रव्य है । अथवा जैसे मुनिजीव का शरीर पृथिवी या शिला के संस्ताक पर रहा हुआ हो तो वह जीव या मुनि कहलाता है ।

इस प्रकार जीव के चार प्रकार हैं—नामजीव, स्थापनाजीव, द्रव्यजीव भावजीव । नाम का अर्थ है संज्ञा । किसी सचेतन अथवा अचेतन द्रव्य का जीव ऐसा नाम रख लिखा जाय तो वह द्रव्य नाम जीव कहलाता है । काष्ठ, पुस्त, चित्र कर्माक्ष, निक्षेप आदि में जीव के आकार को स्थापित करना स्थापना जीव है । द्रव्य जीव और भावजीव पहले ही बतलाया जा चुका है ।

... और भावजीव युक्ति से सिद्ध है और नामजीव तथा स्थापना जीव सर्वथा ... होने के कारण अनुपादेय, है–वे कभी भी उपादेय नहीं है । वस्तु का ... आकृतिविशेषरूप ... ेप है । ये दोनो तुच्छ होने से किंचित्

चैतन्यरूपेण स्वाभाविक परिणाम समान एव भवति। ज्ञानदर्शनयोर्जीवात्मनश्चैतन्यरूपेण स्वाभाविकपरिणामानुविधायित्वात् , तत्र—साकारं ज्ञानं व्यपदिश्यते, निराकारं दर्शनमुच्यते।

स च स्वाभाविकचैतन्यरूपपरिणतिमासादयन् ज्ञानदर्शतरूपोपयोग परस्परप्रदेशाना प्रदेशबन्धत्वात् कर्मणा एकीभूतस्यात्मनो द्रव्यतत्व प्रतिपत्तिहेतुर्भवति।

तत्र—प्रदेशस्तावद् अवयव. जीवावयवानां परस्परं सयोग कदाचिद् दृष्टो भवति. कदाचिच्च-शिथिलो भवति।

तत्र—फलप्रदानोन्मुखस्योदीर्णस्य कर्मणोऽवयवा· जीवात्मावयवसयोग राग-द्वेषादिना शिथिलीकृत्यान्त प्रविशन्ति। जीवकर्मणो रवयवानां मिथो मिश्रणरूपप्रदेशबन्धेन जीव कर्मणा सहैकीभूतो भवति भेदेन ज्ञातु न शक्यते। यथा – दुग्धं पयोमिश्रितं सद् जलेन सहैकीभूत पार्थक्येन ज्ञातुं न पार्यते—तथाऽवसेयम्। सम्यगुपयोगेन पुनरय जीव स्वस्मिन् मिश्रितेभ्य. कर्मपरमाणुभ्य सकाशात् पार्थक्येन ज्ञातु शक्यते, तस्मिन् समये कर्मपुद्गलानां चैतन्यरूपेण परिणत्य भावात् इत्याशय।

द्रव्यजीवस्तु—यदा यस्मिन् शरीर स्थित आत्मा ज्ञानादिभिर्भावैर्वियुक्तो व्यपदिश्यते, लोके भाविराजत्वस्यापि राजपुत्रस्य सेवन दृष्टम्। तस्मिन् समये तस्य केवल द्रव्यत्वात् पृथिवी शिला-

---

रूप समान ही स्वाभाविक परिणमन होता है। क्योंकि ज्ञान और दर्शन जीव के, चैतन्य रूप में स्वाभाविक परिणाम है। इनमें से ज्ञान साकार अर्थात् विशेष धर्मों का ज्ञापक है और दर्शन निराकार अर्थात् सामान्य का ही बोधक होता है।

स्वाभाविक चैतन्य रूप परिणति को प्राप्त होता हुआ ज्ञान–दर्शन रूप उपयोग कर्मों के साथ मिले हुए होने के कारण एकमेक होने पर भी आत्मा की भिन्नता का ज्ञान कराता है।

अभिप्राय यह है कि कर्म जब योग और कशाय के कारण आत्मप्रदेशों के साथ बद्ध होते है तो एकमेक हो जाते हैं बन्ध के कारण जीव अलग नहीं रहता - कर्म के साथ एक रूप हो जाता है—भिन्न मालूम नहीं पड़ता। जैसे पानी के साथ मिला दूध पानी के साथ एकमेक हो जाता, अलग नहीं मालूम होता, उसी प्रकार बन्ध होने पर जीव और कर्म भी अलग-अलग मालूम नहीं होते एकाकार हो जाते है। फिर भी उपयोग रूप लक्षण के कारण जीव की कर्मों से भिन्नता जानी जा सकती है जीव के साथ मिल जाने पर भी कर्मपुद्गलो की चैतन्यरूप परिणति नहीं होती वह तो जीव मे ही हो सकती है।

जब शरीर में स्थित जीव ज्ञानादि भावों से रहित विवक्षित किया जाता है, तब वह द्रव्य जीव कहलाता है, लोक में देखा जाता है कि भविष्य मे राजा होने वाला राजपुत्र भी राजा

तलकृतसस्तारकगतजीवमुनिशरीरवत् प्रसिद्धम् । यत्तु—नामस्थापना द्रव्य-भावनिक्षेप भेदाच्चतुर्विधो जीव इत्युक्तम्, तथा च—नामजीव· स्थापनाजीव, द्रव्यजीव, भावजीवश्चेति । तत्र--नाम, संज्ञा कर्म इति समानार्थकम् चैतन्यवतोऽचेतनस्य वा द्रव्यस्य जोव इति यन्नामसज्ञा क्रियते स नाम जीवो व्यपदिश्यते । य. पुन काष्ठपुस्तकचित्र—कर्माक्षनिक्षेपादिपु जीवस्याकार स्थाप्यते स स्थापनाजीवो व्यपदिश्यते । द्रव्यजीवो—भावजीवश्च प्रतिपादित एवेति ।

तत्र द्रव्य भावजीवयोरेव युक्तिसिद्धतया नामस्थापनाजीवयो सर्वथा ज्ञानादिगुण—रहिततयाऽनुपादेयतैव बोध्या । न तु कदाचित् तयोरुपादेयत्वम् तथाहि—वस्तुनोऽभिधान रूपनामनिक्षेपः । आकृति विशेषरूपस्थापनानिक्षेपश्च तुच्छत्वान्न किञ्चिद् वस्तु ज्ञापक सभवति ।

तन्निक्षेपद्वयस्य ज्ञानक्रियादिगुणशून्यत्वाद भावशून्यत्वाच्च । कस्यचिदगोपालदार-कस्य—इन्द्रादिनामकरणेऽपि इन्द्रशब्दानुगुणार्थक्रियाकारीत्वाऽभावात् एव स्थापनायामपि यस्यां कयाञ्चित् सर्वथैव तदनुगुणार्थक्रियाकारित्वाभाव· प्रत्यक्षसिद्ध. । तथा च यत्तु कैश्चिदुक्तम्—यथा प्रतिमारूपस्थापना दर्शनाद् भाव. समुल्लसति—न तथा नाममात्रात् इति—नाम—स्थापनयो-र्भेद. । तथा च—इन्द्रादेः प्रतिमारूपस्थापनाया लोकस्योपचितेच्छा पूजाप्रवृत्ति समीहितलाभादयो

कहलाता है, उस समय में वह केवल द्रव्य है । अथवा जैसे मुनिजीव का शरीर पृथिवी या शिला के सस्ताक पर रहा हुआ हो तो वह जीव या मुनि कहलाता है ।

इस प्रकार जीव के चार प्रकार हैं—नामजीव, स्थापनाजीव, द्रव्यजीव भावजीव । नाम का अर्थ है संज्ञा । किसी सचेतन अथवा अचेतन द्रव्य का जीव ऐसा नाम रख लिखा जाय तो वह द्रव्य नाम जीव कहलाता है । काष्ट, पुस्त, चित्र कर्माक्ष, निक्षेप आदि में जीव के आकार को स्थापित करना स्थापना जीव है । द्रव्य जीव और भावजीव पहले ही बतलाया जा चुका है । इनमें से द्रव्य जीव और भावजीव युक्ति से सिद्ध है ओर नामजीव तथा स्थापना जीव सवर्था ज्ञानादि गुणों से रहित होने के कारण अनुपादेय, है वे कभी भी उपादेय नहीं है । वस्तु का नाम रूप नामनिक्षेप और आकृतिविशेषरूप स्थापनानिक्षेप है । ये दोनो तुच्छ होने से किंचित् भी वस्तु के ज्ञापक नहीं है ।

ये दोनों निक्षेप ज्ञान क्रिया आदि गुणों से शून्य होने के कारण तथा भावशून्य होने के कारण . किसी गोपाल के बालक का इन्द्र आदि नाम रख दिया जाय तब भी वह इन्द्र शब्द के अनुरूप अर्थक्रिया नहीं कर सकता । यही बात स्थापना निक्षेप में भी है । उसमें भी मूल वस्तु के अनुरूप अर्थक्रिया करने का सामर्थ्य नहीं होता यह प्रत्यक्ष से सिद्ध है ।

किसीं का मत है – जैसे प्रतिमामें रूप स्थापना के देखने से भाव में उल्लास होता है वैसा नाम के सुनने से उल्लास नहीं होता, यह नाम और स्थपना में भेद है । यही कारण है कि इन्द्र आदि की प्रतिभा रूप स्थापना में लोगो की उपयाचना की इच्छा, पूजा की प्रवृति और इच्छित की

दृश्यन्ते, न तथा नामेन्द्रादौ, इत्यपि तयोर्भेद । एवमन्यदपि वाच्यम् इति—तत्—उत्सूत्रप्ररूपण जनिताऽनन्तससारजनकं बोध्यम् ।

आगमे यदुक्तम्—**"तहारूवाण अरहंताणं नाम-गोय-सवणयाए महाफलं-"** इति । तत्र नामनिक्षेपस्य विषय कथमपि नास्ति **"अरहंताणं भगवंताणं-"** इत्युक्त्वा तस्मिन्नर्थे प्रयुक्तनाम्न एव श्रवणेन महाफलसंभवात् । गोपालदारकादौ प्रयुक्तस्य नाम्न. श्रवणेन तु—गोपाल-दारकाद्यर्थस्यैव बोधाद् आत्मपरिणामहेतुत्व तस्य नास्तीति नाम निक्षेपस्थले भगवतोऽर्हत. स्मरणा-ऽसभव. । तस्य भावशून्यत्वात् । भावजिनबोधकस्य नाम्न एव श्रवणेन महाफलसंभव । एवं स्थापनापि भावरूपार्थशून्या भवति, स्थापनाया भावरूपार्थस्य सम्बन्धाऽभावात् । भावजिन शरीर-वर्तिनी याऽऽकृतिरासीत् तस्या आश्रयाश्रयिभावरूपसम्बन्धो भावजिनेन सह तदानीं विद्यमान आसीत् ।

यथा—भावजिन पश्यतस्तदानीं भावोल्लासोऽपि कस्यचित् संजात तथा भक्त्या तामाकृतिं स्मरतो जनस्य भावोल्लासोऽपि संभवतु, तस्मिन् समये आकृते र्भावजिनेन सम्बन्धात् । स्थापना-यास्तु—भावजिनेन सबन्धो नास्ति, तस्मात् कथं तावत् प्रतिमारूपा स्थापना भावजिनसम्बन्धाभावे

प्राप्ति देखी जाती है, वैसा नाम–इन्द्र आदि मे नहीं होता। यह भी नाम और स्थापना मे भेद है। इसी प्रकार अन्य भेद भी समझ लेना चाहिए। यह कथन सूत्र विरुद्ध प्ररूपणा से उत्पन्न होने वाले अनन्त ससार का जनक है ।

आगम मे जो कहा है कि तथारूप अरिहन्तों के नाम गोत्र के श्रवण से भी महान् फल की प्राप्ति होती है, यहाँ नामनिक्षेप का विषय किसी भी प्रकार नही है । 'अरिहन्त भग-वन्तो के' ऐसा कहने से उसी अर्थ मे प्रयुक्त नाम के श्रवण से ही महाफल हो सकता है । गोपाल के बालक आदि में प्रयुक्त नाम के श्रवण से तो गोपाल—बालक आदि वस्तु का ही बोध होता है वह आत्म परिणाम का हेतु नहीं है । नामनिक्षेप के स्थल में भगवान् अर्हन्त का स्मरण होना असभव है, क्योकि नामनिक्षेप भावशून्य होता है ।

भावजिन के बोधक नाम के श्रवण ही महान् फल होना सभव है इसी प्रकार स्थापना भी भावरूप अर्थ से शून्य होती है। स्थापना का भावरूप अर्थ से कोई सरोकार नहीं है । भाव-जिन के शरीर को जो आकृति थी, उसका आश्रय—आश्रयीभाव सम्बन्ध भावजिन के साथ उस समय विद्यामान था ।

जैसे—भावजिन को देखने वाले किसी पुरुप को उस समय भावोल्लास भी हुआ, वैसे ही भक्तिपूर्वक उस आकृति का स्मरण करने वाले पुरुप को भावोल्लास भी हो सकता है । क्योकि उस समय उस आकृति का सम्बन्ध भावजिन के साथ होता है । मगर स्थापना का तो भाव, जिन के साथ सबध नहीं होता । ऐसी स्थिति में प्रतिमा रूप स्थापना, भावजिन के साथ सबध

सति भावजिन-तद्गुण वा स्मारयितुं समर्था स्यात् इति भावजिनात्मन तत्रावाहनं—स्थापनञ्च जिनाज्ञाबाह्यम्-प्रवचनविरुद्ध कर्त्तुं न योग्यम् ।

सर्वथा कुप्रावचनिकद्रव्यावश्यकवत् प्रतिमापूजनं कुर्वन्त' कारयन्तश्च मिथ्यादृष्टित्वमेव प्राप्नुवन्ति । न तु सम्यक्त्वमिति—"अनुयोगद्वारोक्तटीकारीत्याऽत्रापि नामस्थापनानिक्षेपस्य तुच्छत्वाद् वस्तुसाधकत्व समवतीति बोध्यम् ॥ सूत्र २ ॥

मूलसूत्रम्—"समणायाऽमणाया" सूत्र ३

छाया—समनस्काऽमनस्काः-३

दीपिका—पूर्वसूत्रे तावद लक्षणतो जीवस्वरूप निरूपितम् सम्प्रति विभागादितो जीवस्य विशेषस्वरूप प्रतिपादयितुमाह—

'समणायाऽमणाया' इति । संसारिणो जीव' संक्षेपतो द्विविधा समनस्का.—अमनस्काश्च । तत्र—मनस्तावद् द्विविधं वर्त्तते, द्रव्यमन —भावमनश्च । तत्र पुद्गलविपाकिकर्मोदयापेक्षया द्रव्य मनो व्यपदिश्यते, वीर्यान्तरायनोइन्द्रियावरणक्षयोपशमाऽपेक्षयाऽत्मनो विशुद्धत्व भावमन उच्यते

एवंविधेन द्रव्यमनसा—भावमनसा च युक्ता जीवाः समनस्का उच्यन्ते, तथाविधेन

न होने के कारण भावजिन का अथवा उनके गुण का स्मरण कैसे करा सकती है ? अतएव उसमें भावजिन का आह्वान एवं स्थापन करना जिनाज्ञा से बाह्य है और प्रवचन से विरुद्ध है। ऐसा करना योग्य नहीं ।

सर्वथा कुप्रावचनिको के द्रव्यावश्यक के समान प्रतिमा का पूजन करने वाले और करानेवाले मिथ्यादृष्टिपन ही प्राप्त करते है । सम्यक्त्व को प्राप्त नहीं करते। अनुयोगद्वार मे कथित टीका के अनुसार यहाँ भी नाम और स्थापना निक्षेप तुच्छ होने के कारण वस्तु के साधक नहीं हो सकते, ऐसा समझ लेना चाहिए ॥२॥

मूलसूत्र का अर्थ—संसारी जीव दो प्रकार के है—समनस्क और अमनस्क ॥३॥

तत्त्वार्थदीपिकार्थ—'समणाया' इत्यादि ।३।

पूर्व सूत्र में जीव का लक्षण—निरूपण किया गया है । अब भेद आदि के द्वारा जीव के विशेष स्वरूप का प्रतिपादन करने के लिए कहते है—**'समणाया'** इत्यादि । ससारी जीव सक्षेप से दो प्रकार है—समनस्क और अमनस्क ।

मन दो प्रकार का है—द्रव्यमन और भावमन । पुद्गलविपाकी कर्म के उदय की अपेक्षा से द्रव्यमन कहलाता है और वीर्यान्तराय तथा नोइन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम की अपेक्षा से आत्मा की विशुद्धता को भावमन कहते हैं ।

द्रव्यमनसा रहिताः केवलभावमनसैवोपयोगेण युक्ताः जीवाः अमनस्का उच्यन्ते। तथा च—द्रव्यमनस' सद्भावाऽसद्भावाभ्यां ससारिणो जीवा द्विधा विभज्यन्ते समनस्काः—अमनस्काश्चेति ।

अत्रेदमवधेयम्—मनोऽभिनिष्पत्त्यै वस्तुस्वरूपज्ञानार्थम् आत्मना गृहीतेन दलिकद्रव्यरूप-मन'पर्याप्तिकरणविशेषेण, सर्वात्मप्रदेशवर्तिना जीवश्चिन्तनार्थं यान् अनन्तप्रदेशस्वरूप न् मनोवर्गणा योग्यान् पुद्गलस्कन्धान् गृह्णाति ।

ते खलु तथाविधमनःपर्याप्तिकरणविशेषपरिगृहीता' पुद्गलस्कन्धा द्रव्यमनो व्यपदिश्यन्ते।

भावमनस्तु—जीवस्योपयोगरूपः चित्तचेतना योगाध्यवसानाऽवधानस्वान्तमनस्कारात्मक परिणाम उच्यते एतन् मनोरूपकरणं श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमजन्यतयाऽऽर्हद्भिरिष्यते । मनो-युक्तस्यैव जीवस्य धारणा भवति नाऽन्यस्येति भावः। तत्रोभयाभ्या मपि एवविध द्रव्यमनोभाव-मनोभ्यां युक्ता जीवा समनस्का उच्यन्ते ।

तथाविध मनःपर्याप्तिकरणविशेषनिरपेक्षेण केवलमुपयोगमात्रभावमनसैव युक्ता जीवा' अमनस्का उच्यन्ते। एतेषां खलु अमनस्काना जीवानां मनःपर्याप्तिकरण—निष्पत्त्या चेतना पटीयसी भवति। वृद्धस्य यष्ट्यवलम्बनवत्—द्रव्यमनोऽवष्टम्भेन संज्ञिन. स्पष्टतयाऽनु-चिन्तन कुर्वन्ति ।

इस प्रकार के द्रव्यमन और भावमन से युक्त जीव समनस्क कहलाते है। पूर्वोक्त द्रव्यमन से रहित, केवल भावमन से ही उपयोग मात्र से युक्त जीव अमनस्क कहलाते है । इस प्रकार द्रव्यमन के होने और न होने से संसारी जीव दो प्रकार के होते है—समनस्क और अमनस्क।

आशय यह है—मन की निष्पत्ति के लिए, वस्तु के स्वरूप का ज्ञान करने के लिए आत्मा के द्वारा गृहीत समस्त आत्मप्रदेशो में रहे हुए दलिकद्रव्य रूप मन पर्याप्ति करण के द्वारा जीव चिन्तन करने के लिए जिन अनन्तप्रदेशी मनोवर्गणा के योग्य पुद्गलस्कंधों को ग्रहण करता है, वे मन. पर्याप्ति रूप करणविशेष के द्वारा ग्रहण किये हुए पुद्गलस्कन्ध द्रव्य मन कहलाता है ।

चित्त, चेतना, योग अध्यवसान, अवधान स्वान्त, तथा मनस्कार रूप जीव का उपयोग भावमन कहलाता है। इस मन रूप करण को अरहन्त भगवान् श्रुत ज्ञानावरण के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाला मानते है। तात्पर्य यह है कि मन वाले जीव को ही धारणा ज्ञान होता है, अन्य को नहीं। इस प्रकार द्रव्यमन और भावमन से युक्त जीव ही समनस्क या संज्ञी कहलाते है।

जो जीव मन पर्याप्ति रूप करण से रहित है किन्तु केवल उपयोग रूप भावमन से युक्त है, वे अमनस्क कहलाते है । इन अमनस्क जीवो की, मन पर्याप्ति रूप करण की प्राप्ति होने पर चेतना अत्यन्त पटु होती है। जैसे वृद्ध पुरुष को लकडी का सहारा मिल जाय, उसी प्रकार द्रव्यमन की सहायता से सज्ञी जीव स्पष्ट रूप से चिन्तन करते है।

तत्र—नारकदेवगर्भव्युत्क्रान्तिकमनुष्यपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिजा समनस्का बोध्या । तदन्ये तु—अमनस्का ईहापोहयुक्तसंप्रधारणसंज्ञायां संज्ञिनो जीवा. समनस्का उच्यन्ते इति भाव. । सूत्र ॥३॥

निर्युक्तिः—पूर्वसूत्रे जीवस्य स्वरूपं लक्षणत प्ररूपितम् सम्प्रति—तस्यैव विभागादि-विशेषस्वरूपं प्रतिपादयितु माह—**समणायाऽमणाया** इति ।

ते खलु संसारिणो जीवा सक्षेपतो द्विविधा भवन्ति, समनस्का अमनस्काश्च ।

अत्र—समनस्काऽमनस्केति समस्तनिर्देशात् संसारिणामेव जीवाना सम्बन्धो न तु—मुक्तानाम् । संसारिणामेव जीवानां समनस्काऽमनस्कत्वोभयवैशिष्ट्य वर्त्तते—न तु—मुक्तानाम् । तेषां सिद्धानाममनस्कत्वस्यैव सत्वात् । प्रथमे द्वितीये च गुणस्थाने संज्ञिनोऽसंज्ञिनश्च द्विप्रकारका अपि जीवा भवन्ति । इतः परं द्वादशं गुणस्थान यावत् सज्ञिन एव मानिता सन्ति । त्रयोदशे चतुर्दशे च गुणस्थाने वर्त्तमाना जीवा, सिद्धा, नो सज्ञिन· नो असज्ञिन (नो समनस्का, नो अमनस्काश्च कथिता. सन्ति ।

द्वितीयस्थानीये द्वितीयोद्देशके विद्यते—प्रथमनरकभवनपतिवानव्यन्तरपर्यन्तम् असज्ञि तिर्यक् पञ्चेन्द्रिय जीवा उत्पद्यन्ते, अल्पसमय यावत् असज्ञिनस्तिष्ठन्ति तत्पश्चात् पुन सज्ञिनो जायन्ते ॥ सूत्र ३॥

नारक, देव, गर्भज मनुष्य और पचेन्द्रिय तिर्यंच समनस्क होते है, इनसे अतिरिक्त दूसरे जीव अमनस्क कहलाते है । ईहा, अपोह से युक्त एव सम्प्रधारण सज्ञा से संज्ञी जीव समनस्क कहे जाते है ॥३॥

तत्वार्थ निर्युक्ति - पूर्वसूत्र में जीव के लक्षण का निरूपण किया गया है । अब भेद आदि करके उसी के विशेष स्वरूप का प्रतिपादन करने के लिए कहते है **'समणायाऽमणाया ।'** ससारी जीव सक्षेप से दो प्रकार के है- समनस्क और अमनस्क । यहाँ 'समनस्कामनस्क' इस प्रकार समास युक्त पद का प्रयोग करने से यह प्रकट किया गया है कि ससारी जीवो का ही यहाँ सम्बन्ध है, मुक्त जीवो का नहीं । समनस्क और अमनस्क का भेद ससारी जीवों में ही होता है, मुक्त जीवो में नहीं ।

सिद्ध जीव नो अमनस्क कहलाते है ।

बारहवें गुणस्थानवर्ती जीव सज्ञी ही मानेहै । तेरहवे और चौदहवे गुणस्थान-वर्ती जीव और सिद्ध नो सज्ञी नो असज्ञी (नो समनस्क नो अमनस्क) कहे है ।

दूसरे स्थान के दूसरे उद्देशे मे कहा है, पहलानरक, भवनपति वानव्यंतर वहाँ तक असज्ञी तिर्यंच पंचेन्द्रिय जीव उत्पन्न होते है, कुछ समय तक असज्ञी रहते है फिर सज्ञी हो जाते है ॥सूत्र ३॥

मूलसूत्रम्—संसारिणो मुत्ता य ॥४॥

छाया---संसारिणो मुक्ताश्च ॥४॥

दीपिका---पूर्वसूत्रे खलु संसारिणो जीवाः समनस्काऽमनस्कभेदेन द्विविधा सन्तीति प्रतिपादितम् सम्प्रति--सामान्यतो जीवाना द्वैविध्यं प्रतिपादयति **संसारिणो मुत्ता य** इति । ससारिणो मुक्ताश्चेति, तत्र---संसरण ससार' यद् अवष्टम्भेन जीवस्य संसरणं---भवाद्भवान्तरगमनं भवति स ज्ञानावरणादिकर्माष्टकरूप' ससार उच्यते। स च ज्ञानावरण--दर्शनावरण--वेदनीय मोहनीया--ऽऽयुर्नाम--गोत्रान्तरायरूपो बोध्य' ।

एवविधः ससारो येषामस्ति ते ससारिण' क्रोधमान--माया--लोभादि कषायादि बलवद् मोहरूपो वा ससारो येषामस्ति ते ससारिण' तथाविधात् ससाराद् ये मुच्यन्तेस्म ते मुक्ता व्यपदिश्यन्ते। निरस्ताशेषकर्माणो जीवा' ससाराद् मुक्तत्वान्मुक्ता उच्यन्ते।

यद्वा--द्रव्यपरिवर्त्तन--क्षेत्रपरिवर्त्तन--कालपरिवर्त्तन---भवपरिवर्त्तनभावपरिवर्त्तन--रूप पञ्चविधपरिवर्त्तनात्मक ससारलक्षण ससारयुक्ता' जीवा. ससारिण उच्यन्ते। तथाविधपञ्चविधात् ससाराद् निवृत्ता जीवा. मुक्ता उच्यन्ते।

तत्र---द्रव्यपरिवर्त्तन द्विविधम्--कर्मद्रव्यपरिवर्त्तनम् नोकर्मद्रव्यपरिवर्त्तनञ्चेति। तत्रैकस्मिन् समये--एको जीवो ज्ञानावरणाद्यष्टविधकर्मभावेन यान् पुद्गलान् गृहीतवान् ते खलु--

---

मूलार्थ---**'संसारिणो मुत्ताय'** जीव दो प्रकार के है ससारी और मुक्त ॥४॥

तत्वार्थदीपिका---पूर्वसूत्र में ससारी जीवो के समनस्क और अमनस्क यों दो भेद बतलाए है। अब सामान्य जीवों के दो भेद बतलाते है---ससारी और मुक्त। ससरण को ससार कहते है। अर्थात् जिनके कारण जीव एक भव से दूसरे भव में गमन करता है, वह ज्ञानावरण आदि आठ कर्म ससार कहलाते है। वे आठ कर्म ये है--ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम गोत्र और अन्तराय।

इस प्रकार ससार में भ्रमण करने वाले जीव ससारी कहलाते है। क्रोध, मान माया, लोभ, आदि कषाय या बलवान् मोह रूप ससार जिनमे विद्यमान है वे ससारी कहलाते है। जो इस प्रकार के ससार से छूट चुके वे मुक्त कहलाते है। समस्त कर्मों से रहित जीव ससार से मुक्त होने के कारण मुक्त कह जाते है।

अथवा द्रव्यपरिवर्त्तन, क्षेत्रपरिवर्त्तन, कालपरिवर्त्तन, भवपरिवर्त्तन और भावपरिवर्त्तन, इन पाँच प्रकार के परिवर्त्तन रूप ससार से युक्त जीव ससारी कहलाते है और जो इससे मुक्त हो चुके है, वे मुक्त कहलाते है।

इनमें से द्रव्यपरिवर्त्तन दो प्रकार का है--कर्मद्रव्यपरिवर्त्तन और नो कर्मद्रव्यपरिवर्त्तन। एक समय में एक जीव ने ज्ञानावरण आदि आठ कर्मोंके जिन पुद्गलों को ग्रहण किया, वे कर्मपुद्गल

कर्मपुद्गला. समयाधिकामावलिकामतीत्य द्वितीयादिषु समयेषु निर्जीर्णा सन्तः पूर्वोक्तेनैव क्रमेण तस्य जीवस्य यावत्कर्मभावमापद्यन्ते, तावत् द्रव्यकर्मपरिवर्त्तन बोध्यम्, औदारिकवैक्रिया--हारकत्रयाणां शरीराणां--षण्णा पर्याप्तानां योग्यान् यान् पुद्गलान् एकस्मिन् समये एकोजीवो गृहीतवान् ते खलु पुद्गला --स्निग्ध--रूक्ष--वर्ण--गन्ध रसादिभि स्तीव्र--मन्द--मध्यमभावेन च यथावस्थिता., द्वितीयादिषु समयेषु निर्जीर्णा सन्तोऽगृहीतान् पुद्गलवान् अनन्तवारान् व्यतीत्य--मिश्रकाश्चाऽनन्तवारान् व्यतीत्य गृहीताश्च पुद्गलान् अनन्तवारान् व्यतीत्य, तेनैव प्रकारेण--तस्य जीवस्य यावद् नोकर्म भावमापद्यन्ते, तावत्समुदितं नो कर्म द्रव्यपरिवर्त्तनमवसेयम् । एव क्षेत्रपरिवर्त्तनादिकमपि बोध्यम् ।सू०४॥

निर्युक्तिः—पूर्वसूत्रे--समनस्काऽमनस्कभेदेन जीवानां द्वैविध्य प्ररूपितम्, सम्प्रति--पुनस्तेषामेव जीवानां प्रकारान्तरेण विभागं प्रदर्शयन् विशेषस्वरूपं प्रतिपादयति--**संसारिणो मुक्ताश्च** इति पूर्वोक्तोपयोगलक्षणलक्षिता. खलु जीवा संक्षेपतो द्विविधा भवन्ति, ससारिणो--मुक्ताश्च । तत्र---यदवष्टम्भेनाऽऽत्मन. ससरण---भवाद्भवान्तरगमनं भवति, स संसार' कर्माष्टरूपो बोध्य । ज्ञानावरणीयदर्शनावरणीय--वेदनीय--मोहनीयाऽऽयु--र्नाम---गोत्रान्तरायिकरूपो बोध्य' ।

एवविध' ससारो येषामस्ति ते ससारिण उच्यन्ते । अथवा--बलवान मोहरूप संसारो

एक समय अधिक आवलिका को छोडकर द्वितीय आदि समयो मे निर्जीर्ण होकर उसी पूर्वोक्त क्रम से उसी जीव के कर्म रूप में प्राप्त होते है । उतना काल द्रव्यकर्मपरिवर्त्तन समझना चाहिए

एक जीव ने औदारिक, वैक्रिय, आहारक, इन तीन शरीरो तथा छह पर्याप्तियों के योग्य जिन पुद्गलों को एक समय में ग्रहण किया, वे पुद्गल स्निग्ध, रूक्ष, वर्ण गंध, रस, तीव्रता, मन्दता या मध्यम रूप से स्थित हुए । फिर द्वितीय आदि समयो में निर्जरा को प्राप्त हुए अगृहीत पुद्गलों को अनन्त वार छोड कर मिश्र पुद्गलो को भी अनन्त वार छोड कर तथा गृहीत पुद्गलो को अनन्त वार छोड कर उसी प्रकार, उसी जीव के, जितने काल मे नो कर्मपन को प्राप्त होते है, उतना काल नो कर्म द्रव्यपरिवर्त्तन कहलाता है । इसी प्रकार क्षेत्रपरिवर्त्तन आदि भी समझ लेना चाहिए ।।४।।

तत्वार्थ निर्युक्ति---पूर्वसूत्र में समनस्क और अमनस्क के भेद से जीवो के दो भेदों का प्रतिपादन किया गया । अब उन्हीं जीवो के दूसरे प्रकार से भेद दिखलाए जाते है ।

पूर्वोक्त उपयोग लक्षणवाले जीव सक्षेप से दो प्रकार के है--ससारी और मुक्त जिसके कारण आत्मा का ससरण अर्थात् एक भव से दूसरे भव में गमन होता है, वह आठ कर्म ससार कहलाते है । कर्म आठ प्रकार के है--ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम गोत्र और अतराय ।

जो जीव ऐसे ससार के वशीभूत है, वे ससारी कहलाते है ।

येषामस्ति ते ससारिणो व्यपदिश्यन्ते । तथाविधात् ससाराद् मुच्यन्ते स्म- इति मुक्ताः निधूताऽशेषकर्माणो जीवा. ससारान् मुक्ता इति व्यपदिश्यन्ते । अत्रचा-ऽसमस्तनिर्देशेन ससारिणो वक्ष्यमाण—औपशमिकक्षायिक— क्षायोपशमिक-औदयिक—पारिणामिक—सान्निपातिकस्वभावा. ।

मुक्ता. पुनस्तथाविधस्वभावनिर्मुक्ता भवन्तीति सूच्यते, बहुवचननिर्देशेन च तदुभयेषा मेवाऽनन्तत्व व्यज्यते, चकारेण च— ससारिणा समनस्कादिभेद ।

तथा चोक्तम्— स्थानाङ्गस्य २ स्थाने १ उद्देशके १०१ सूत्रे **'दुविहा सव्वजीवा पण्णत्ता तंजहा— सिद्धाचेव असिद्धाचेव'**—इति । द्विविधा. सर्वजीवा प्रज्ञप्ता तद्यथा—सिद्धाश्चैव असिद्धाश्चैवेति । मुक्तानान्तु—अनन्तर—परम्परादि भेदो द्योत्यते । सूत्र ४॥

मूलसूत्रम्— 'ससारिणो दुविहा तसा थावरा य' ॥५॥

छाया— संसारिणो द्विविधाः त्रसाः स्थावराश्च ॥५॥

दीपिका—पूर्वसूत्रे—जीवाना सक्षेपत. ससारि—मुक्तभेदेन द्वैविध्यमुक्तम् । सम्प्रति ससारि—जीवानधिकृत्य तद् विभागं प्रदर्शयन् प्रतिपादयति—**संसारिणो द्विविधास्त्रसाः स्थावराश्च** इति—

पूर्वसूत्रोक्ता ससारिणो जीवास्तावद् द्विविधा सन्ति त्रसा स्थावराश्च । तत्र—त्रसनाम-

---

अथवा— बलवान् मोह रूप ससार वाले जीव ससारी कहलाते है । या नारक आदि अवस्था रूप ससार वाले जीव ससारी कहलाते है ।

जो जीव इस प्रकार के ससार से निवृत्त हो चुके है, वे मुक्त कहलाते है । अर्थात् समस्त कर्मों से रहित जीव ससार से मुक्त कहे जाते है ।

यहाँ समास रहित निर्देश करने से यह सूचित किया गया है कि आगे कहे जाने वाले औपशमिक, क्षायिक क्षायोपशमिक, औदयिक, पारिणामिक तथा सान्निपातिक स्वभाव वाले ससारी जीव होते है ।

मुक्त जीव क्षायिक और पारिणामिक भावो के अतिरिक्त शेष भावों से रहित होते है । बहुवचन के प्रयोग से यह प्रकट किया गया है कि ससारी जीव भी अनन्त है और मुक्त जीव भी अनन्त है । च पद के प्रयोग से यह सूचित होता है कि ससारी जीवों के सज्ञी—असज्ञी आदि अनेक प्रकार से भेद होते है ।

स्थानाग सूत्र के द्वितीय स्थान, प्रथम उद्देशक सूत्र १०१ मे कहा है—सर्व जीव दो प्रकार के कहे है । सिद्ध और असिद्ध । मुक्तजीव अनन्तरसिद्ध, परम्परासिद्ध आदि के भेद से भिन्न है ॥४॥

मूलार्थ— 'संसारिणो दुविहा' इत्यादि ॥५॥

ससारी जीव दो प्रकार के है— त्रस और स्थावर ॥५॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्र मे जीवों के सक्षेप मे ससारी और मुक्त, ये दो भेद कहे गए है । अब ससारी जीवों के भेद बतलाते है पूर्वोक्त ससारी जीव दो प्रकार के है—त्रस और स्था-

कर्मोदयात् परिस्फुटसुख-दु खेच्छा—द्वेषादिलिङ्गास्त्रसा उच्यन्ते । स्थावरनामकर्मोदयात् पुनर-परिस्फुटसुख—दु खादि लिङ्गा. स्थावरा व्यपदिश्यन्ते । द्वीन्द्रियादयो देवपर्यन्तास्त्रसा उच्यन्ते, एकेन्द्रिया' पृथिवीकायिकादिका वनस्पतिकायिकपर्यन्ता पञ्च स्थावरा कथ्यन्ते। अत्र सुख ग्रहणार्थं प्रथमं त्रसाभिधान कृतम् तेषा स्पष्टलिंगत्वात् । चकारेण तदुभयेषा परस्परोपसक्रम सूच्यते । तथा च—त्रसा. स्थावरेषु स्थावराश्च त्रसेषु मृत्वोपजायन्ते । इत्यवगन्तव्यम् । तदुभयेषा-मनेकत्वसूचनार्थम् । सूत्र ॥५॥

निर्युक्तिः—पूर्वसूत्रे—ससारि—मुक्तभेदेन जीवानां द्वैविध्य प्ररूपितम् सम्प्रति—ससारिणा प्रथमोपात्तानां भेदं प्रतिपादयितुमाह—**'ससारिणो दुविहा तसा थावरा य'** इति

ससारिणो जीवा. पुनर्द्विविधा. तद्यथा—त्रसा , स्थावराश्च । तत्र—त्रसनामकर्मोदयवश-वर्तिनो जीवास्त्रसा उच्यन्ते । एवम्—स्थावरनामकर्मोदयवशवर्तिनो जीवा स्थावरा उच्यन्ते, तत्र द्वीन्द्रिय—त्रीन्द्रिय—चतुरिन्द्रिय प्रभृत्ययोगिकेवलिपर्यन्ता जीवास्त्रसा अवसेया ।

स्थावरास्तु—पृथिवीकायाऽप्काय—तेजस्काय वायु—काय—वनस्पतिकायरूपा एकेन्द्रिया पञ्च विधा बोध्या. । एवञ्च—त्रसनामकर्मोदय-स्थावरनामकर्मोदयाऽपेक्षमेव त्रसस्थावरत्व बोध्यम् न तु त्रस्यन्तीति त्रसा स्थितिशीला' स्थावरा इति व्युत्पत्या चलनाचलनापेक्ष त्रस—स्थावरत्वम् । तथा

वर । जो जीव त्रस नामकर्म के उदय से स्पृष्ट सुख, दु ख, इच्छा, द्वेप आदि से युक्त है, वे त्रस कहलाते है । स्थावर नामकर्म के उदय से जिन जीवो का दु ख आदि का अनुभव अस्पृष्ट होता है, वे स्थावर कहे जाते है ।

द्वीन्द्रिय स प्रारभ करके देवपर्यन्त सभी जीव त्रस है । पृथ्वीकायिको से लेकर वनस्पति कायिक के एकेन्द्रिय जीव स्थावर कहलाते है । यहाँ सुगमता से समझने के लिए पहले त्रस ग्रहण किया है, क्योकि उनमे जीव के लक्षण सुख आदि स्पष्ट प्रतीत होते है । 'च' शब्द के प्रयोग से यह सूचित किया गया है कि ये दोनो प्रकार के जीव बदलते रहते है, अर्थात् त्रस जीव मरकर स्थावर मे और स्थावर जीव त्रसों में उत्पन्न हो जाते है । बहुवचन का प्रयोग करके यह ध्वनित किया गया है कि त्रस जीव भी बहुत है और स्थावर भी बहुत है ॥५॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—इससे पहले वाले सूत्र मे ससारी और मुक्त के भेद से जीवो के दो प्रकार बतलाए थे । यहाँ प्रथम निर्दिष्ट ससारी जीवों के भेद बतलाने के लिए कहते है—ससारी जीव दो प्रकार के है—त्रस और स्थावर । जो जीव त्रसनाम कर्म के वशीभूत है, वे त्रस और जो स्थावर नामकर्म के अधीन है वे स्थावर कहलाते है । द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय आदि से लेकर अयोगि केवली पर्यन्त त्रस जीव है ।

पृथिवीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय, ये पाँच प्रकार के एकेन्द्रिय जीव स्थावर हैं । इस प्रकार त्रसत्व और स्थावरत्व त्रसनामकर्म और स्थावर नामकर्म के उदय से होता है । चलने और न चलने पर त्रस स्थावरपन निर्भर नहीं है ।

सति द्वीन्द्रियादारभ्याऽयोगि केवलिपर्यन्तस्य त्रसत्वप्रतिपादकाऽऽगमस्य विरोधापत्ति' स्यात् तस्मात् कर्मोदयापेक्षमेव त्रस–स्थावरत्वम् न तु–व्युत्पत्तिनिमित्तलभ्यमितिभाव । त्रसे-द्वादशविधोपयोग सम्भवेनाऽभ्यर्हितत्वात् प्रथम तस्योपादानम् । स्थावरे तु त्रिविधस्यैवोपयोगस्य सद्भावेन तस्याऽभ्यर्हितत्वाऽभावेन पश्चादुपादानं कृतमिति बोध्यम् ।

उक्तञ्च–स्थानांगे २ स्थाने १ उद्देशके ५, सूत्रे **'ससारसमावन्नगा तसा चेव थावरा चेव'** इति । ससारसमापन्नकास्त्रसाश्चैव–स्थावराश्चैव इति ।

जीवाभिगमे १ प्रतिपत्तौ २७–सूत्रे चोक्तम् **'से किं त ओराला तसा पाणा–३, चउव्विहा पण्णत्ता तं जहा–बेइंदिया, तेइंदिया चउरिंदिया पंचेंदिया'**–इति । अथ कि ते उराला' त्रसा' प्राणा. ३ चतुर्विधा प्रज्ञप्ता तद्यथा–द्वीन्द्रिया त्रीन्द्रिया' चतुरिन्द्रिया पञ्चेन्द्रिया' इति॥सूत्र–५॥

मूलसूत्रम्—"तं दुविहा सुहमा–बायरा य–" सू० ६॥

छाया—तद् द्विविधाः, सूक्ष्माः बादराश्च–" ॥सू० ६॥

दीपिका—पूर्वसूत्रे–त्रस–स्थावरभेदेन ससारिणो जीवा द्विविधा भवन्तीति प्रतिपादितम्–सम्प्रति–तेषामेव ससारिजीवानां पुन' प्रकारान्तरेण द्वैविध्य प्रतिपादयितुमाह–**"तं दुविहा, सुहुमा–बायरा य"**–इति । ते खलु ससारिणो जीवा पुन द्विविधा ।

तद्यथा—सूक्ष्मा' बादराश्चेति, तत्र–स्नेहसूक्ष्म–पुष्प–सूक्ष्म–प्राण्युत्तिङ्ग–पनक–बीज–हरि-

---

यदि यह मान लिया जाय कि जो गमन करे सो त्रस और जो स्थितिशील हो, वह स्थावर कहलाता है तो आगम से विरोध होगा, क्योकि आगम मे द्वीन्द्रिय से लेकर अयोगीकेवली पर्यन्त के जीवों को त्रस कहा है । अतएव त्रसत्व कर्मोदय की अपेक्षा से ही स्वीकार करना चाहिए, व्युत्पत्तिनिमित्त की अपेक्षा से नहीं ।

त्रस जीवो में बारहो उपयोग पाये जा सकते है, अतएव प्रधान होने के कारण सूत्र में उनका निर्देश पहले किया गया है । स्थावर जीवो में तीन ही उपयोग होते है, अतएव वे प्रधान नहीं है । इन कारण उनको बाद मे ग्रहण किया है । स्थानागसूत्र के द्वितीय स्थान प्रथम उद्देशक के ५ वे सूत्र में कहा है ससारसमापन्न जीव दो प्रकार के होते है–त्रस और स्थावर ।

जीवाभिगमसूत्र की प्रथम प्रतिपत्ति के २७ वे सूत्र में कहा है– 'उदार–स्थूल त्रस प्राणी कितने प्रकार के हैं ? उत्तर–चार प्रकार के है–द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय ॥५॥

मूलसूत्रार्थ—तं दुविहा सुहुमा बायरा य' इत्यादि ।६।

ससारी जीव पुन दो प्रकार के है–सूक्ष्म और बादर ॥६॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्र मे ससारी जीवों के दो भेद–त्रस और स्थावर बतलाये जा चुके है, अब उन्हीं ससारी जीवो के प्रकारान्तर से दो भेद बतलाये जाते है—

संसारी जीव पुन दो प्रकार के है—सूक्ष्म और बादर ।

ताण्ड—सूक्ष्मभेदेना—ऽष्टविधाः सूक्ष्मा जीवा'। तद्भिन्ना पृथिवीकायादयो वादरा जीवा—अनेकविधा सन्ति। मुक्ताजीवास्तु—न सूक्ष्मा नापि वादरा नो वा—ते त्रसा, नापि स्थावरा इति भाव। सूत्र ६॥

निर्युक्तिः—पूर्वसूत्रे—ससारिजीवाना त्रसस्थावरभेदेन द्वैविध्यं प्ररूपितम्, सम्प्रति तेपामेव प्रकारान्तरेण पुन द्वैविध्यं प्रतिपादयति " तं दुविहा सुहुमा—वायरा य—इति।

ते पुन' ससारिणो जीवा द्विविधा —द्वि प्रकारका' भवन्ति सूक्ष्मा —बादराश्च। तथा चोक्तम् दश वैकालिके—अध्ययने १५ गाथायाम्—"सिहेणं पुप्फसुहमं च पाणुत्तिंगं तहेव य—।
पणगं बीयहरियं च अंडसुहुमं च अट्ठमं ॥१॥

"स्नेहं पुष्पसूक्ष्म च प्राण्युत्तिङ्ग तथैव च।
पनक बीजहरित च अण्डसूक्ष्म च अष्टमम् ॥१॥

बादराणान्तु जीवानां पृथिवीकायिकादिभेदेनाऽनेकविधत्वमवगन्तव्यम्। तत्र—शुद्ध पृथिवी, शर्करा पृथिवी, वालुकापृथिवी, उपल, शिला, लवण, त्रपु, ताम्र, सीसक, रजत, सुवर्ण, हरिताल, हिंगुल, मन'शिला, सस्यका,—ऽञ्जन, प्रवाल,—ऽऽभ्रपटलाऽभ्रवालिका, गोमेद, रुचकाङ्ग, स्फटिक, लोहिताक्ष, मरकत, मसार, गल्ल, भुजगेन्द्र, नील, चन्दन, गैरिक, हसगर्भ, पुलक, सौगन्धिक, चन्द्र, सूर्यकान्त, वैडूर्य, जलकान्त, प्रभृतयो बादरपृथिवीकायिकभेदा अवगन्तव्या'॥

इनमेंसे सूक्ष्म जीव आठ प्रकार के है, यथा (१) स्नेह सूक्ष्म (२) पुष्पसूक्ष्म (३) प्राणिसूक्ष्म (४) उत्तिंगसूक्ष्म (५ पनकसूक्ष्म (६) बीजसूक्ष्म (७) हरितसूक्ष्म (८) अण्डसूक्ष्म। इनसे भिन्न पृथ्वीकाय आदि बादर जीव है जो अनेक प्रकार के है। मुक्तजीव न सूक्ष्म है, न बादर है, न त्रस है और न स्थावर ही है ॥६॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति— पूर्वसूत्र में ससारी जीवो के त्रस और स्थावर के भेद से दो प्रकार कहे है। अब इन्हीं के प्रकारान्तर से दो भेदो का प्रतिपादन करते है—ससारी जीव दो प्रकार के है—सूक्ष्म और बादर दशवैकालिक के आठवे अध्ययन की गाथा १५ में कहा है—

आठ सूक्ष्म इस प्रकार है—स्नेहसूक्ष्म, पुष्पसूक्ष्म, प्राणिसूक्ष्म, उत्तिंगसूक्ष्म पनकसूक्ष्म, बीजसूक्ष्म, हरितसूक्ष्म, और आठवाँ अण्डसूक्ष्म।

[यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि यहाँ जो आठ सूक्ष्म बतलाए गए है, वे सूक्ष्मनामकर्म के उदय की अपेक्षा से नहीं है, बल्कि परिमाण की अपेक्षा से है, ये आठ सूक्ष्म सामान्य तौर से दृष्टिगोचर नहीं होते, इस कारण इन्हे सूक्ष्म कहा गया है।]

बादर जीव पृथ्वीकाय आदि के भेद से अनेक प्रकार के हैं। शुद्ध पृथिवी, शर्करा पृथिवी, वालुकापृथिवी, इसी प्रकार उपल, शिला, लवण, त्रपु, ताम्र, शीशा, रजत, स्वर्ण, हडताल, हिंगुल, मैनसिल, सस्यक, अंजन, प्रवाल, अभ्रपटल, अभ्रवालिका, गोमेद, रुचकांग, स्फटिक, लोहिताक्ष, मरकत, मसारगल्ल, भुजगेन्द्र, नील, चन्दन, गैरिक, हसगर्भ, पुलक, सौगन्धिक, चन्द्रकान्त, सूर्यकान्त, वैडूर्य, जलकान्त आदि बादरपृथ्वीकायिक जीवो के भेद है।

स्थानञ्चैषां पृथिव्यष्टकाऽधोऽध पातालभवननरकप्रस्तरादि वोध्यम । सूक्ष्मपृथिवीकायिका कज्जलसभृतकूपिकावत् सर्वलोकव्यापिन सन्ति । बादरपृथिवीकायानामाद्याश्चतस्रो लेश्या बभन्ति । एवम्--हिमाऽवश्याय--मिहिका करका--हरतनु--शुद्ध--शीतो--ऽष्ण--क्षाराऽम्ल--लवण--क्षीर--घृतो--दकप्रभृतयो वादरा--अप्कायिका भवन्ति ।

वादराणां तेषां समुद्र--हृद नदी प्रभृति स्थानम् । सूक्ष्माणान्तु--अप्कायाना सर्वलोक' स्थानम् । एवमेव अङ्गाराऽर्चि--रतल (उल्मुक) शुद्धाग्नि प्रभृतयो वादरतेजस्कयिका अवसेया । तेषाञ्च--बादरतेजस्कायिकानां मनुष्यक्षेत्रमेव स्थान बोध्यम् , नात पर तेषा स्थानम् । सूक्ष्मतेजस्कायिकानान्तु--सर्वलोकव्यापित्वम् प्राच्यप्रतीच्योदीच्याद्युत्कलिका--मण्डलिका प्रभृतयो बादरवायुकायिका वोध्या । तेषाञ्च--बादरवायुकायाना घनवात, तनुवात तद वलया--ऽधोलोकभवनप्रभृतिस्थानमवगन्तव्यम् । सूक्ष्माणां पुनर्वायुकायिकाना सर्वलोकव्यापित्वमवसेयम् । एवम्--शैवालावकपनकहरिद्रार्द्रकमूलकाल्लुकासिंहकर्णि वृक्ष गुच्छ गुल्म लताप्रतानप्रभृतयो बादरवनस्पतिकाया अवगन्तव्या । तद् भिन्ना सूक्ष्मा वनस्पतिकायिका अवसेया । बादराणां

इनके स्थान आठ पृथिवियाँ, पाताल वन, नरक प्रस्तर आदि जानने चाहिए ।

सूक्ष्म पृथिवीकायिक जीव काजल से भरी कुप्पी के समान सम्पूर्ण लोक मे व्याप्त है ।

वादर पृथिवीकायिक जीवो मे चार लेश्याएँ ---कृष्ण, नील, कापोत और तेजोलेश्या--होती है ।

इसी प्रकार हिम, अवश्याय, मिहिका धूवर करक (ओले), हरतनु (पृथ्वी को भेद कर निकलने वाले जलविन्दु), शुद्धजल, शीतजल, उष्णजल, क्षारजल, अम्लजल (खट्टा पानी), लवणजल, क्षीरजल और घृतजल आदि वादर अप्कायिक जीव है ।

समुद्र, तालाव, नदी आदि वादरजलकायिक जीवो के स्थान है । सूक्ष्म जलकायिक जीवो का स्थान सम्पूर्ण लोक है ।

इसी प्रकार अगार, अर्चि, उल्मुक शुद्धाग्नि आदि बादर तेजस्कायिक जीव समझने चाहिए । बादर तेजस्कायिक जीव मनुष्य क्षेत्र अर्थात् अढाई द्वीप में ही होते है, उससे आगे नहीं होते । सूक्ष्म तेजस्कायिक सम्पूर्ण लोक में व्याप्त है ।

पूर्वी पछाही, उत्तरी आदि हवाएँ तथा उत्कलिका, मण्डलिका आदि हवाएँ वादर वायुकायिक जीव है । वादर वायुकाय के स्थान घनवात, तनुवातवलय, अधोलोक के भवन आदि है । सूक्ष्म वायुकायिकों का स्थान समस्त लोक है ।

इसी प्रकार शैवाल, अवक, पनक, हरिद्रा (हल्दी) अदरख, मूलक, आलू, गुच्छ, गुल्म लता वितान आदि बादर वनस्पतिकायिक हैं । इनसे जो भिन्न हैं वे सूक्ष्म वनस्पति

वनस्पतिकायिकानां द्वीप-समुद्रादिस्थानं बोध्यम्। सूक्ष्माणाञ्च -वनस्पतिकायिकानां सर्वलोक-व्यापित्वं बोध्यम्।

अत्रेदं बोध्यम्-त्रसत्वं द्विविधम् क्रियातो लब्धितश्च। तत्र क्रिया तावत् कर्म--चलनं-देशान्तरप्राप्तिः-गतिः तस्मात्-क्रियामाश्रित्य तेजस्कायिक-वायुकायिकयोस्त्रसत्वमवगन्तव्यम्। लब्धि पुनस्त्रसनामकर्मोदयः, तस्मात् त्रसनामकर्मोदयाद् देशान्तरप्राप्तिलक्षणक्रियावत्वाच्च द्वीन्द्रिया दयस्त्रसा व्यपदिश्यन्ते।

स्थावरनामकर्मोदयलक्षणलब्ध्या च सर्वे पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिकायिका स्थावरा व्यपदिश्यन्ते। मुक्ताश्च न त्रसा न स्थावरा, अतएव-न ते बादरा वा सूक्ष्मा वा व्यवह्रियन्ते ससारिणामेव त्रस-स्थावरत्वयोः सूक्ष्मबादरत्वयोश्च प्रतिपादितत्वात् इति भाव। सूत्र-६॥

मूल सूत्रम्--"पुणो दुविहा पज्जत्तिया-अपज्जत्तिया य ॥७॥

छाया--पुनर्द्विविधाः पर्याप्तकाः-अपर्याप्तकाश्च-"

दीपिका--पूर्वसूत्रे तावत्-सूक्ष्म-बादरभेदेन ससारिणो जीवा द्विविधा भवन्तीत्युक्तम् सम्प्रति-तेषामेव जीवानां पुनः प्रकारान्तरेण द्वैविध्यं प्रतिपादयितुमाह-"पुणो दुविहा, पज्ज-त्तिया अपज्जत्तिया य"-इति।

कायिक हैं। बादर वनस्पतिकायिको के स्थान द्वीप समुद्र आदि है। सूक्ष्म वनस्पतिकाय सम्पूर्ण लोकव्यापी समझना चाहिए।

यहाँ यह समझना चाहिए कि त्रसत्व दो प्रकार का है-क्रिया से और लब्धि से। क्रिया का अर्थ है कर्म--चलन, एक जगह से दूसरी जगह पहुँचना अर्थात् गति करना। इस क्रिया की अपेक्षा से तेजस्कायिक और वायुकायिक जीव भी त्रस है। लब्धि का अर्थ है त्रसनाम कर्म का उदय। इसकी अपेक्षा से तथा गमन रूप क्रिया की अपेक्षा से द्वीन्द्रिय आदि जीव ही त्रस कहलाते है।

स्थावरनामकर्म के उदय रूप लब्धि की अपेक्षा से सब पृथ्वी कायिक, अप्कायिक, तेज-स्कायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक जीव स्थावर कहलाते है।

'मुक्त जीवन न त्रस है, न स्थावर। अतएव वे न बादर कहलाते है, न सूक्ष्म ही। त्रस, स्थावर, सूक्ष्म और बादर का व्यवहार ससारी जीवो में ही होता है ॥६॥

मूलसूत्रार्थ--'पुणो दुविहा' इत्यादि ॥७॥

जीव पुन दो प्रकार के है-पर्याप्त और अपर्याप्त ॥७॥

तत्त्वार्थदीपिका--पूर्वसूत्र में कहा जा चुका है कि सूक्ष्म और बादर के भेद से ससारी जीव दो प्रकार के होते है। अब उन्हीं के दूसरे प्रकार से दोभेद बतलाने के लिए कहा है। ससारी जीव पुन दो प्रकार के है-पर्याप्त और अपर्याप्त।

ते खलु ससारिणो जीवाः पुनर्द्विविधाः तद्यथा पर्याप्ता अपर्याप्ता श्चेति । तत्र—पर्याप्ति स्तावत् षड्विधा वर्त्तते, आहार—शरीरेद्रियश्वासोच्छ्वासभाषामन पर्याप्तिभेदात् । तत्र तैजसकार्मणशरीरभाज आत्मनो विवक्षितक्रियापरिनिष्पत्ति पर्याप्तिः आत्मन खलु कर्तु करणविशेषपुद्गलरूपाऽपर्याप्ति येन करणविशेषेणाऽऽत्मन आहारादिग्रहणसामर्थ्यं निष्पद्यते, तच्च करणं यैः पुद्गलै निर्वर्त्यते ते खलु पुद्गला आत्मना गृहीतास्तथाविधपरिणतिभाज. पर्याप्तिशब्देनोच्यन्ते इति भावः ।

तत्रा—ऽऽहारग्रहणसमर्थकरणपरिनिष्पत्ति. आहारपर्याप्ति —शरीरकरणनिष्पत्ति शरीरपर्याप्ति । एवम्—इन्द्रियादिपर्याप्तिरपि बोध्या, तथाविधपर्याप्तियुक्ताः जीवा पर्याप्ता उच्यन्ते । आहारादिपर्याप्तिरहितास्तु—अपर्याप्ता—उच्यन्ते—॥ सूत्र ७॥

निर्युक्तिः—पूर्वसूत्रे जीवानां सूक्ष्म—बादरभेदेन द्वैविध्य प्रतिपादयितुमाह—"**पुणो दुविहा**" इत्यादि । ते खलु जीवा पुनर्द्विविधा पर्याप्तका—अपर्याप्तकाश्च—तत्र पर्याप्ति शक्तिः षड्विधा वर्त्तते । आहार—शरीरे—न्द्रिय—श्वासो—च्छ्वासभाषामन पर्याप्तिभेदात् । तथाच—केचन जीवा अहारादिपर्याप्ता भवन्ति केचन—पुनराहादिपर्याप्तिरहिता भवन्ति । तथा च—यावत्कालं पूर्णा पर्याप्तिं न बध्नन्ति तावत्कालमपर्याप्तकाः अतएव—जीवा पर्याप्तका अपर्याप्तकाश्च व्यपदिश्यन्ते इति भाव. । सूत्र ७॥

पर्याप्ति के छह भेद है—(१) आहारपर्याप्ति (२) शरीरपर्याप्ति (३) इन्द्रियपर्याप्ति (४) श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति (५) भाषापर्याप्ति (६) मन,पर्याप्ति । तैजस और कार्मण शरीर वाले आत्मा की किसी किया की पूर्ति होना पर्याप्ति है । कर्त्ता आत्मा है ।

जिस करण के द्वारा आत्मा में आहार आदि के ग्रहण की शक्ति उत्पन्न होती है, वह करण जिव पुद्गलो से उत्पन्न होता है, पुद्गल आत्मा के द्वारा गृहीत होकर अमुक प्रकार के परिणमन करते है । वही पर्याप्ति कहलाती है । आहार को ग्रहण करने में समर्थ करण की निष्पत्ति हो जाना आहारपर्याप्ति है । शरीर रूप करण की निष्पत्ति होना शरीर पर्याप्ति है । इसी प्रकार इन्द्रियपर्याप्ति आदि भी समझ लेना चाहिए । जो जीव इस प्रकार की पर्याप्तियो से युक्त होते हैं वे पर्याप्त कहलाते है । जो जीव आहार आदि पर्याप्तियों से रहित होते है, उन्हें अपर्याप्त कहते है ॥७॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पूर्वसूत्र में सूक्ष्म और बादर के भेद से जीवो के दो भेद कहे गए हैं। अव उन्हीं के प्रकारान्तर से दो भेद वतलाने के लिए कहते है—वे जीव पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से पुन दो प्रकार के है । पर्याप्ति अर्थात् शक्ति छह प्रकार की है (१) आहार पर्याप्ति (२) शरीरपर्याप्ति (३) इन्द्रियपर्याप्ति (४) श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति (५) भाषापर्याप्ति और (६) मन पर्याप्ति । कोई जीव आहार आदि पर्याप्ति से युक्त होते है और कोई—कोई उनसे रहित होते है । ये जव तक पूर्ण पर्याप्ति नहीं बाँधते तव तक अपर्याप्त कहलाते हैं । इस कारण कोई जीव पर्याप्त और कोई अपर्याप्त कहलाते है ॥७॥

मूलम् —"बेंदियतिंदियचउरिंदिय-पंचिंदिया य तसा' सू० ८

छाया—द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय पञ्चेन्द्रियाश्च त्रसाः" सू० ८

दीपिका—पूर्वं तावत् त्रस-स्थावरभेदेन ससारिणो जीवा· द्विविधा भवन्ति-इति प्रतिपादितम्, सम्प्रति-तेषामेव त्रसाना स्थावराणाञ्च स्वरूपाणि विशदरूपेण क्रमश प्ररूपयितुमाह-बेइंदिय-तिंदिय -चउरिंदिय-पंचिंदियो थ तसा-"इति-द्वीन्द्रिया·-त्रीन्द्रिया.-चतुरिन्द्रिया -पञ्चेन्द्रिया -चकारात गतित्रसत्वेन बादरतेजोवायुकायिका अपि त्रसा उच्यन्ते। तत्र-स्पर्शन-रसनयुक्ता द्वीन्द्रिया -शंख-शुक्ति-वराट-कादय·, स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षुर्युक्ता -कुन्थु-वृश्चिक-शतपदीन्द्रगोप-- यूका-लिक्षा-मत्कुण-पिपीलिकादयस्त्रीन्द्रिया. । स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षुर्युक्ता·-दंश-मशक-पतङ्ग -भ्रमरादयश्चतुरिन्द्रियास्तु अण्डज-पोतज-जरायुजादय· ॥ **सूत्र ८॥**

निर्युक्तिः—पूर्वं ससारिजीवानां त्रस-स्थावरभेदेन द्वैविध्य प्रतिपादितम्, सम्प्रति -तानेव त्रसान्--स्थावरांश्च विशेषरूपेण प्रतिपादयितु-क्रमश सूत्रद्वयमाह-"**बेंदिय-तिंदिय चउरिंदिय-पंचिंदिया य तसा-**" इति। द्वीन्द्रिया·-त्रीन्द्रिया·-चतुरिन्द्रिया· पञ्चेन्द्रिया चकारात् गति त्रसत्वेने-बादरतेजोवायुकायिका अपि त्रसा व्यपदिश्यन्ते। तत्र—द्वीन्द्रिया कृमिप्रभृतय,

---

मूलसूत्रार्थ—'बेंदियतिंदिय चउरिंदिय' इत्यादि॥

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव त्रस है ॥८॥

तत्त्वार्थदीपिका—त्रस और स्थावर के भेद से ससारी जीव दो प्रकार के कहे जा चुके हैं। अब उन त्रस और स्थावर जीवो का स्वरूप क्रमश. विस्तार के साथ कहते है—

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पचेन्द्रिय और 'च' शब्द का ग्रहण करने से बादर तेजस्कायिक तथा वायुकायिक जीव त्रस कहलाते है।

इनमें से जो जीव स्पर्शन और रसना इन दो इन्द्रियो में युक्त होते है, वे द्वीन्द्रिय कहलाते हैं, जैसे—शख, सीप, कौड़ी आदि। जो स्पर्श रसना और घ्राण इन्द्रियों से युक्त होते हैं, वे त्रीन्द्रिय कहलाते हैं, जैसे—कुन्थु, विच्छू, शतपदी, इन्द्रगोप, जू, लीख, खटमल चिउँटी आदि-। स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु से युक्त चौइन्द्रिय कहलाते है, जैसे—डांस, मच्छर, पतंग, भ्रमर बिच्छू आदि अंडज (अडे में उत्पन्न होने वाले), पोतज (पोत से उत्पन्न होने वाले) और जरायुज (जरायु —चमडे की पतली झिल्ली (कोथली) में उत्पन्न होने वाले) जीव पंचेन्द्रिय होते है ॥८॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—त्रस और स्थावर के भेद से ससारी जीवो के दो भेद कहे जा चुके है। अब उनका विस्तार से प्रतिपादन करने के लिए दो सूत्र कहते है—

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय तथा 'च' शब्द के ग्रहण से बादर तेजस्कायिक और वायुकायिक जीव त्रस कहलाते है। इनमें कृमि आदि द्वीन्द्रिय, पिपीलिका आदि

त्रीन्द्रिया–पिपीलिका प्रभृतयः । चतुरिन्द्रिया–भ्रमरादयः । पञ्चेन्द्रिया –मनुष्यादयोऽवसेया । तथाचोक्तम्–जीवाभिगमस्य–१–प्रतिपत्तौ २–सूत्रे **"से किं तं ओराला तसा य पण्णत्ता—तं जहा बेइंदिया ते इंदिया चउरिंदिया पंचिंदिया"**—इति ।

अथ के ते ओरालास्त्रसाः प्राणिनः ३ चतुर्विधाः प्रज्ञप्ता, तद्यथा—द्वीन्द्रियाः त्रीन्द्रियाः चतुरिन्द्रिया पञ्चेन्द्रिया इति । तत्र–द्वे–इन्द्रिये स्पर्शन–रसन रूपे येषां ते द्वीन्द्रिया । एवम्—त्रीणि स्पर्शन–रसन–घ्राणरूपाणि इन्द्रियाणि येषा ते त्रीन्द्रिया चत्वारि–स्पर्शनरसनघ्राणचक्षूषि इन्द्रियाणि येषां ते चतुरिन्द्रिया स्पर्शनादीनि (कर्णान्तानि) पञ्चेन्द्रियाणि येषां ते पञ्चेन्द्रिया ।

तत्र–शंख–शुक्ति–वराटक–जलोकप्रभृतयो द्वीन्द्रिया, कुन्थु–वृश्चिक–शतपदी–न्द्रगोप—यूका–लिक्षा मत्कुण–पिपीलिकादयस्त्रीन्द्रियाः, दस–मशक–पतङ्ग–भ्रमर–मक्षिकादयश्चतुरिन्द्रियाः, मनुष्य–गो–महिष–सर्प–गृहगोधिकादयः–पञ्चेन्द्रिया बोध्या । सूत्र ॥८॥

मूलम्—"एगिंदिया पुढवीकाइयाइया पंच थावरा"—॥९॥

छाया—"एकेन्द्रियाः–पृथिवीकायिकादयः पञ्चस्थावराः"—सू० ॥९॥

दीपिका—पूर्वं स्थावरा ससारिणो जीवाः प्रतिपादिता सम्प्रति–तेषां पञ्चभेदप्रतिपादनपूर्वकं स्वरूपाणि निरूपयितुमाह—**"एगिंदिया पुढविकाइया इया पंचथावरा"**–इति । एकेन्द्रिया–स्पर्शनात्मकमेकमिन्द्रियं येषां ते–एकेन्द्रिया पृथिवीकायिकादय ।

त्रीन्द्रिय, भ्रमर आदि चतुरिन्द्रिय और मनुष्य आदि पचेन्द्रिय जानने चाहिए । जीवाभिगम की प्रथम प्रतिपत्ति के २७ वे सूत्र में कहा है—उदार त्रस प्राणी कितने प्रकार के हैं—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय । जिन जीवों में स्पर्शन और रसना ये दो इन्द्रियाँ होती है, वे द्वीन्द्रिय कहलाते है । इसी प्रकार जो स्पर्शन, रसना और घ्राण इन्द्रियो से युक्त है, वे त्रीन्द्रिय कहलाते है । जिनके इन तीन इन्द्रियो के साथ चक्षुरिन्द्रिय भी होती है, वे चतुरिन्द्रिय हैं । कान सहित पाँचो इन्द्रियो वाले जीव पचेन्द्रिय कहलाते है ।

शख, सीप, कौडी आदि द्वीन्द्रिय जीव है, कुन्थु, वृश्चिक शतपदी, इन्द्रगोप, जू, लीख खटमल, कौडी आदि त्रीन्द्रिय है, डास, मच्छर , पतग, भ्रमर,मक्खी आदि चतुरिन्द्रिय है और मनुष्य, गाय, भैस सर्प छिपकली आदि पचेन्द्रिय है ॥८॥

सूत्रार्थ—'एगिंदिया पुढवीकाईए' इत्यादि ।

पृथिवीकायिक आदि पाँच स्थावर एकेन्द्रिय है ॥९॥

तत्त्वार्थ दीपिका—पहले ससारी जीवो का एक प्रकार स्थावर कहा गया था, अब उसके पाँच भेद बतलाकर स्वरूप का निरूपण करने के लिए कहते है—

जिन जीवोमें सिर्फ एक स्पर्शन क्रिया पाई जाती है, वे पृथ्वीकायिक आदि स्थावर कहलाते है । आदि शब्द से अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक का ग्रहण होता

पृथिवीकायिका –आदिना–ऽप्कायिका तेजस्कायिका वायुकायिका वनस्पतिकायिका इत्येव पञ्चविधा स्थावरा जीवा सन्ति। किन्तु–देशान्तरप्राप्तिलक्षणगतिक्रियामाश्रित्य तेजवायु (तेजोवायु) कायिकास्त्रसा उच्यन्ते ।सू० ॥९॥

निर्युक्तिः—अथ पूर्वोक्तस्थावरान् प्रतिपादयितुमाह—**"एगिंदिया पुढवीकाइयाए पंचथावरा"**–इति। एकेन्द्रिया एक स्पर्शनरूपमिन्द्रियं येषां ते एकेन्द्रिया पृथिवीकायिकादय । पृथिवीकायिका –१ अप्कायिका –२ तेजस्कायिका –३ वायुकायिका–४ वनस्पतिकायिका –५ पञ्चसंख्यका स्थावरा व्यपदिश्यन्ते। तथाचोक्तम्–स्थानाङ्गे–५ स्थाने–१ उद्देशके ३९४ सूत्रे **'पंच थावरा काया पण्णत्ता तं जहा पुढवीथावरकाए, आउथावरकाए, तेउथावरकाए, वाउथावरकाए,वणस्सइथावरकाए"**–इति। पञ्चस्थावरा काया प्रज्ञप्ता –तद्यथा–पृथिवीस्थावरकाया १ अप्स्थावरकाया –२ तेज स्थावरकाया –३ वायुस्थावरकाया–४ वनस्पतिस्थावरकाया ५॥सू०९॥

मूलसूत्रम्—"तसा अणेगविहा, अंडयाइया"

छाया—''त्रसा अनेकविधाः अण्डजादयः"–

दीपिका—सामान्यत पूर्वोक्तानां त्रसानां संसारिजीवाना विशेषस्वरूपाणि–भेदाश्च प्रतिपादयितुमाह—

"तसा अणेगविहा, अण्डयाइया"–इति। त्रसा–त्रसनामकर्मोदयवशवर्त्तिनो जीवा द्वीन्द्रिय–त्रीन्द्रिय–चतुरिन्द्रिय–पञ्चेन्द्रियाद्ययोगिकेवलिपर्यन्ता अनेकविधा नानाप्रकारका भवन्ति।

है। ये पाँच प्रकार के स्थावर जीव है। किन्तु देशान्तर प्राप्तिरूप गतिक्रिया की अपेक्षा तेजस्कायिक और वायुकायिक भी त्रस कहलाते है ॥९॥

तत्त्वार्थ निर्युक्ति—अब पूर्वोक्त स्थावरो का प्रतिपादन करने के लिए कहते है। एक स्पर्शनेन्द्रिय वाले जीव स्थावर कहलाते है। पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, और वनस्पतिकायिक पांच स्थावर है। स्थानांगसूत्र के पाँचवे स्थान के प्रथम उद्देशक के ३९४ वें सूत्र में कहा है—

स्थावरकाय पाँच कहे गये है–(१) पृथिवीस्थावर काय (२) अप्स्थावरकाय (३) तेजस्थावरकाय (४) वायुस्थावरकाय और (५) वनस्पतिस्थावरकाय ॥९॥

सूत्रार्थ—'तसा अणेगविहा' इत्यादि।

त्रसजीव, अंडज आदि के भेद से अनेक प्रकार के है ॥१०॥

तत्त्वार्थ दीपिका— पहले सामान्य रूप से कहे गए त्रसजीवो का विशेष स्वरूप और भेदबतलाने के लिए कहते हैं—

त्रसनामकर्म के उदय के वशीभूत द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पचेन्द्रिय आदि अयोगिकेवली पर्यन्त अनेक प्रकार के होते है। वे इस प्रकार है–अण्डज, जरायुज, रसज, संस्वेदज,

तद्यथा—अण्डजादय., अण्डजा' आदिना जरायुजाः—रसजा' सस्वेदजाः—सम्मूर्च्छिमाः—उद्‌भिज्जा'—औपपातिकाश्च । तत्र—गर्भसमूर्च्छिमोपपातलक्षणत्रिविधजन्मसु अण्डज—पोतज—जरायुजानां गर्भाज्जन्म भवन्ति ।

तत्राण्डजास्तावत्—सर्प—गृहगोधिकादय' । पोतजा'—सिंह—व्याघ्र—चित्रक—मार्जारादय' अनावरणजन्मान' । जरायुजा'—गो—महिष—मनुष्यादय' सावरणजन्मभाजो भवन्ति । रसजास्तु—मद्यादिविकृतघृतादिरसे चर्मादियोगे जाता कृम्यादयो **प्रथमधातूद्भवाश्च** जीवा रसजा' संस्वेदजास्तु—सस्वेद प्रस्वेद , तत्र जाता'—सस्वेदजा कुक्षाद्युत्पन्ना जीवा' सस्वेदजा बोध्या' ।

समन्तात्—पुद्गलानां मूर्च्छनं—सघातीभवन समूर्च्छ तत्र भवा'—समूर्च्छिमा' सर्प—दर्दुर—मनुष्यादयोऽपि सम्मूर्च्छनाद् उत्पद्यमानत्वात् समूर्च्छिता उच्यन्ते । उद्‌भिज्जास्तरु— गुल्मादय'—औपपातिक—देव—नारका उच्यन्ते—॥१०॥

तत्त्वार्थ निर्युक्तिः—पूर्वोक्तान् त्रसान् विभागपूर्वकं विशदरूपेण प्रतिपादयितुमाह—**"तसा अणेगविहा अण्डयाइया"**—इति । त्रसा'—द्वीन्द्रिय—त्रीन्द्रिय—चतुरिन्द्रिय—पञ्चेन्द्रिया जीवाः अनेकविधा —नानाप्रकारका' प्रज्ञप्ता. सन्ति । तद्यथा—अण्डजा' आदिपदेन पोतजा'—जरायुजाः—रसजाः—सस्वेदजाः समूर्च्छिमाः—उद्‌भिज्जा —औपपातिकाश्च गृह्यन्ते । तत्र वक्ष्यमाणेषु गर्भ—समूर्च्छिमोपपातलक्षणेषु त्रिविधजन्मसु, अण्डज—पोतज—जरायुजानां गर्भाज्जन्म भवति ।

सम्मूर्छिम, उद्‌भिज्ज और औपपातिक । जीवों का जन्म तीन प्रकार का है—गर्भसम्मूर्छिम और उपपात । इनमें से अण्डज, पोतज और जरायुज जीव गर्भजन्म से उत्पन्न होते है ।

अण्डे से उत्पन्न होने वाले सर्प छिपकली आदि अण्डज है । जो विना आवरण के उत्पन्न होते है 'ऐसे सिंह, व्याघ्र, चीता बिलाव आदि जरायुज हैं । चमडे की पतली झिल्ली आवरण में उत्पन्न होने वाले गाय भैस मनुष्य आदि जरायुज कहलाते है। मद्यादि रस में उत्पन्न होने वाले कृम्यादि कीडे आदि उत्पन्न होनेवाले रसज कहलाते है । पसीने में उत्पन्न होने वाले जू आदि जीव सस्वेदज कहलाते है । स्त्री—पुरुष के समागम के बिना उत्पन्न होने वाला प्राणी समूर्छ कहलाता है । सर्प, मेढक , मनुष्य आदि भी समूर्च्छिम जन्म से उत्पन्न होने के कारण समूर्च्छिम कहलाते हैं । ठीक ये त्रसजीव है ? पतंग आदि उद्‌भिज्ज कहलाते है । देव और नारक औपपातिक होते है ॥१०॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पूर्वोक्त त्रस जीवो का भेद करके विशद रूप से प्रतिपादन करने के लिए कहते है—त्रस अर्थात् द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रियजीव अनेक प्रकार के है । जैसे—अण्डज, पोतज, जरायुज, रसज, सस्वेदज, समूर्छिम, उद्‌भिज्ज और औपपालिक आगे कहे जाने वाले गर्भ, सम्मूर्छिम और उपपात, इन तीन प्रकार के जन्मो में से अण्डज, पोतज और जरायुज जीवों का गर्भ से जन्म होता है ।

तत्राऽण्डजाः अहि—गोधा—सरटा—गृहगोधिका—मत्स्य—कच्छप—शिशुमारादयः, हंस—चाप शुक—गृध्र—श्येन—पारावत—वायस—मयूर—मद्गु—[जल—विहायो गतिर्जलकाकिका—] वक—वलाका सारिकादयश्च ।

पोतजाः— शल्लक—हस्ति—श्व—विलावक—शश—नकुलमूषिकादयः, जलौका—वल्गुलि—भारण्ड—पक्षिविरालादयश्च । जरायुजाः—मनुष्य—गो—महिषा—ऽजा—ऽऽविक—गर्दभो—ष्ट्र—हरिण—चमर—शूकर—गवय—सिंह—व्याघ्र—द्वीपि—श्वान—क्रोष्टु—मार्जारादयो भवन्ति । एतेषा त्रयाणामपि—अण्डज—पोतज—जरायुजाना गर्भाज्जन्म भवति ।

रसजा—विकृतरसे समुत्पन्नाः कृम्यादय । संस्वेदजाः—मत्कुणादय । संमूर्च्छिमाः—माता—पितृसयोगं विना जायमाना. गर्भव्युत्क्रान्तिकादिभिन्ना.। उद्भिज्जाः—पृथिवीं भित्वा जायमाना । औपपातिकाः—नारक—भवनपति—वानव्यन्तर—ज्योतिष्क—वैमानिकादय सिद्धवर्जिता स्त्रसा व्यपदिश्यन्तें । सिद्धाः—न स्थावरा—नापि त्रसाः सन्ति, समूर्च्छनजाश्चात्र द्वीन्द्रियादि तिर्यङ्—मनुष्यपर्यन्ताः अवगन्ताव्याः ।

जरायु स्तावद् गर्भवेष्टकचर्मपुटकमुच्यते, तस्मात् जाता जरायुजा भवन्ति । पोताः—शावकाः एवजाताः पोतजाः—शुद्ध प्रसवा भवन्ति, न तु—जरायुप्रभृतिभिर्वेष्टिता भवन्तीति भाव. ।

सर्प. गोह, गिरगिट, छिपकली, मच्छ, कछुवा, नक्र, शिशुमार आदि तथा हंस, चाष, शुक, गिद्ध, श्येन (वाज), कबूतर, काक, मयूर, जलकाक, बगुला, वतक, मैना अदि जीव अण्डज है ।

शल्लक, हाथी. कुत्ता, विलाव, खरगोश, नौला, चूहा, जौक, वल्गुलि और भारण्ड पक्षी तथा विराल आदि पोतज होते है ।

मनुष्य, गाय, भैस, बकरी, भेड, गाय, ऊँट, हरिण, चमर, शूकर, गवय(रोभ) सिंह, व्याघ्र द्वीपिक, श्वान, गीदड, मार्जार आदि जरायुज है । इन अण्डज, पोतज और जरायुज जीवों का गर्भ जन्म होता है ।

-विकृत हुए दूध आदि रसो में उत्पन्न होने वाले कृमि आदि रसज कहलाते हैं । खटमल आदि जीव सस्वेदज है । माता-पिता के सयोग के बिना ही उत्पन्न होते है और जो गर्भजो से भिन्न होते है, वे सम्मूर्छिम हैं । पृथ्वी को भेद कर उत्पन्न होने वाले उद्भिज्ज कहलाते है । नारक भवनपति, वानव्यन्तर, ज्योतिष्क वैमानिक आदि, सिद्धों को छोडकर औपपातिक कहलाते हैं । ये सभी त्रस हैं । सिद्ध भगवान् न त्रस हैं और न स्थावर ही द्वीन्द्रिय आदि तिर्यंच और कतिपय मनुष्य सम्मूर्छिम होते हैं ।

गर्भ को वेष्टित करने वाली चमडे की पतली झिल्ली को जरायु (जड़—जेर) कहते है । उससे उत्पन्न होनेवाले जीव जरायुज होते हैं । पोत का अर्थ है शावक । जो जरायु से वेष्टित नहीं होते और जन्म लेते ही चलने-फिरते लगते है, वे जीव पोतज कहलाते है ।

तथाच—अण्डे पक्ष्यादि प्रादुर्भावककोषे जायन्ते—उत्पद्यन्ते इत्यण्डजाः पक्षि-सर्पादय. । पोता एव जाताः **पोतजाः** हस्त्यादयो न जराय्वादिना वेष्टिताः पूर्वावयवयोनिनिर्गतमात्रा एव परिस्पन्दादि सामर्थ्योपेताः **पोतजाः** ।

अथवा—पोतश्चर्म, तेन वेष्टिता लक्ष्यन्ते । तथा च पोतो इव वस्त्र सम्मार्जिता इव गर्भ-वेष्टनचर्माऽपावृतत्वात् जायन्ते—उत्पद्यन्ते इति **पोतजाः** ।

जरायुजाः—जरामेति—गच्छतीति **जरायुः** गर्भवेष्टनचर्म तस्माज्जायन्ते इति जरायुजाः मनुष्य—गो—महिषादयः । **रसजाः**—रसे मद्यलक्षणे—विकृतमधुरसादौ वा जायन्ते इति रसजा' ।

रसजो मद्यकीट. स्यात् इति हैम. । **संस्वेदजाः**—सस्वेदात्—घर्मात्—जायन्ते इति सस्वेदजा. यूका—लिक्षा मत्कुणादयः ।

संमूर्च्छनं—समूर्च्छे' गर्भाधानम् , [मातापितृ सयोगं विनैव] स्वयं समुत्पत्ति. मनोविकलो जीव उच्यते ।

अथवा—समन्ततो देहस्य मूर्च्छनम् अवयवसयोग' तेन निर्वृत्ता. समूर्च्छिमा' माता-पितृ—सयोग विनैव स्वयमुत्पद्यमाना. पिपीलिका.—मक्षिका—मत्कोटकादयः। **उद्भिज्जाः** उद्भिद्य—पृथिवीं भित्वा जायन्ते इति उद्भिज्जाः शलभप्रभृतय. ।

जो पक्षी तथा सर्प आदि अंडे में उत्पन्न होते है, वे अण्डज कहलाते है । जो पोत रूप ही जन्म लेते है, जरायु से लिपटे हुए नहीं जन्मते, योनि से बाहर आते ही चलने—फिरने लगते है, वे हाथी आदि पोतज कहलाते है ।

अथवा पोत का अर्थ है चर्म, उससे वेष्टित लक्षित होते है। अत पोत अर्थात् गर्भ को वेष्टित चर्म से अपावृत होने के कारण वस्त्र से पोछे हुए शरीर से जो उत्पन्न होते है, वे पोतज कहलाते हैं।

जो जरा को प्राप्त हो जाय वह जरायु है, अर्थात् गर्भ को लपेटने वाली चमडी । उससे जन्म लेने वाले मनुष्य, गाय, भैंस आदि जरायुज कहलाते है ।

रस अर्थात् मद्य मे या विकृत मधुर रस आदि में जन्मने वाले जीव रसज कहलाते है । हैम कोष में कहा है—मद्य का कीडा रसज कहलाता है । पसीने से उत्पन्न होने वाले जू, लीख मत्कुण आदि सस्वेदज कहलाते हैं ।

जो जीव माता—पिता के सयोग के विना ही उत्पन्न होते हैं, वे अमनस्क जीव समूर्छिम हैं।

अथवा इधर—उधर से देह का बन जाना अवयवो का सयोग हो जाना मूर्च्छन' कहलाता है । उससे जो उत्पन्न हो वे भी समूर्छिम कहलाते है । ये चिउंटी, मक्खी, खटमल आदि जीव माता पिता के सयोग के विना ही जन्म लेते है । जो शलभ (पतग) आदि जीव पृथ्वी को भेद कर उत्पन्न होते है, वे उद्भिज्ज कहलाते हैं ।

औपपातिकाः उपपतनम् उत्पात देवनारकाणां प्रसिद्धगर्भसमूर्च्छनरूपजन्मप्रकारद्वय-विलक्षणउद्भव तेन निर्वृत्ता औपपातिका देवनारका, देवाश्च–शय्यायाम नारकाश्च कुम्भ्यादिषु स्वय समुत्पद्यन्ते इतिभाव ।

तथाचोक्तम्–अडया–पोयया–जराउया–रसया–संसेयया संमुच्छिमा–उब्भिज्जा–उववा-इया य–" इति । दशवैकालिक४–अध्ययने–॥ "गब्भवक्कंतिया य–संमुच्छिमा य–" इति । प्रज्ञापनाया. १–पदे–॥ "दोण्ह उववाए पण्णत्ते, देवाण चेव नेरइया चेव,," इति स्थानाङ्गस्य २–स्थाने ३–उद्देशे ८५ सूत्रे।

[छाया] अण्डजा–पोतजा –जरायुजा –रसजा–सस्वेदजा –समूर्च्छिमा –उद्भिज्जा –औपपातिकाश्चेति । गर्भव्युत्क्रान्तिकाश्च–समूर्च्छिमाश्चेति । द्वयोरुपपात प्रज्ञप्तो देवानाञ्चैव, नैरयिकाणाञ्चैवेति । तत्र–रसो घृतादि तस्माद् चर्मादियोगे जाता । "रसा–ऽसृड्–मांस–मेदोऽ–स्थि, मज्जा–शुक्राणि धातव " इति वचनात् । रस प्रथमो धातु तस्मात् जाता रसजा सूक्ष्मा ।

संस्वेदः–प्रस्वेद तस्माज्जाता **संस्वेदजाः** । कक्षाद्युत्पन्ना सूक्ष्मा । समन्तात् पुद्गलानां मूर्च्छन सघाती भवन **सम्मूर्च्छः** तस्माज्जाता. **सम्मूर्च्छिमाः**–सर्प–दर्दु र–मनुष्याद-योऽपि सम्मूर्च्छनादुत्पद्यन्ते । तथाचोक्तम् –

"शुक्र–सिंघाणक–श्लेष्म कर्ण–दन्तमलेषु च–।
अत्यन्ताऽशुचिदेहेषु सद्य सम्मूर्च्छनो भवेत्–" ॥१॥ इति

उद्भेदनमुद्भेद भूमि–काष्ठ–पाषाणादिक भित्वा ऊर्ध्वं निस्सरणम्—

जो उपपात से जन्म लेते है, वे औपपातिक है। उपपात का अभिप्राय है देवो और नारकों का, गर्भ और समूर्छन जन्म से भिन्न प्रकार का जन्म। देव शय्या में उत्पन्न होते है और नारक कुम्भी आदि मे स्वय उत्पन्न हो जाते है।

कहा भी है–'अंडज, पोतज, जरायुज,रसज, सस्वेदज, समूर्छिम, उदभिज्ज और औप-पातिका—दशवैकालिक, चतुर्थ अध्ययन। गर्भज और समूर्छिय–प्रज्ञापन प्रथम पद। दो प्रकार के जीवों का औपपातिक जन्म होता है—देवो का और नारको का।' स्थानाग २ स्थान ३ उद्देशक ८५ वाँ सूत्र।

अर्थात् मद्य आदि रस मे जो उत्पन्न होने वाले है वे रसज कहलाते। मज्जा और शुक्र सस्वेद अर्थात् पसीने से उत्पन्न होनेवाले सस्वेदज जीव है। इधर–उधर से पुद्गलो के एकत्र हो जाने से उत्पन्न होनेवाले जीव वे सम्मूर्छिम हैं। सर्प मेढक और मनुष्य आदि भी सम्ममूर्छन जन्म से पैदा होते हैं।

भूमि काष्ठ पाषाण आदि को भेद कर ऊपर आ जाना उद्भेद कहलाता है। उससे जो

उद्भेद उद्भित् सम्पदादित्वात् क्विप् तस्माज्जाता उद्भिज्जा, यथा रत्नपाषाणादिकं भङ्क्त्वा केनचिद् दर्दुरो निष्काशित इति प्रसिद्ध अन्यत्सर्वं स्पष्टम् ॥सूत्र १०॥

मूलम्--"अट्ठविहा सुहुमा सिनेहकायाइया ॥सूत्र ११॥

छाया "अष्टविधाः सूक्ष्मा स्नेहकायादयः-" ॥११॥

दीपिका---पूर्व तावत् सूक्ष्मबादरभेदेन ससारिजीवाना द्वैविध्यस्योक्तत्वात् सम्प्रति तत्र सूक्ष्माणां भेदान्-स्वरूपञ्च प्ररूपयितुमाह---'अट्ठविहा सुहुमा सिनेहकायाइया' इति अष्टविधा. अष्टप्रकारका' सूक्ष्मा जीवा स्नेहकायादिका. स्नेहकाय आदिना पुष्पसूक्ष्म' प्राणिसूक्ष्म' उत्तिंगसूक्ष्म पनकसूक्ष्म. बीजसूक्ष्म., हरितसूक्ष्म अण्डसूक्ष्मश्चेति ।

तथाचोक्तम्---सिणेह पुप्फसुहुमं च पाणुत्तिगं तहेव य ।
पणगं वीयहरियं च अण्डसुहुमं च अट्ठमं ॥

छाया---स्नेह पुष्पसूक्ष्मञ्च प्राण्युत्तिङ्ग तथैव च ।
पनक वीजहरित च अण्डसूक्ष्म च अष्टमम् ॥

स्नेहम् स्नेहसूक्ष्मम्, अवश्यायहिमकुञ्झटिकादिरूपम् अत्र स्नेहपदेन अप्कायविशेष' सूक्ष्म. स्नेहकायोऽपि गृह्यते, पुष्पसूक्ष्मम्--उदुम्बरादिपुष्पसदृशम् सूक्ष्मम् प्राणिसूक्ष्मम्--य. प्राणी सचरमाण एव सर्वदा लक्ष्यते न तु स्थितो लक्ष्यते स चासौ सूक्ष्म- कुथ्वादिक' उत्तिङ्गसूक्ष्मम्--सूक्ष्मकीटिकादीनाम् वृन्दम् कीटिका नगरादि, कीटिकादय. सूक्ष्मा' प्राणिनो घनी-भूता अपि पृथिव्यादिवत् प्रतिभासजा जीवत्वेन दुर्लक्ष्या भवन्ति, पनकसूक्ष्मम्--वर्षाकाले भूमि-

---

जीव उत्पन्न होते है । वे उद्भिज्ज कहे गये है जैसे यह प्रसिद्ध है कि किसी ने पाषण आदि को भेदन करके मेढक निकाल दिया ॥१०॥

सूत्रार्थ---अट्ठविहा सुहुमा,---इत्यादि ।
स्नेहका आदि आठ प्रकार के सूक्ष्म है ॥११॥

तत्त्वार्थदीपिका---पहले ससारी जीवो के दो भेद कहे गए थे--सूक्ष्म और वादर। अव सूक्ष्म जीवो के भेद और उनके स्वरूप की प्ररूपणा करने के लिए कहते है--स्नेहकाय आदि आठ प्रकार के सूक्ष्म है (१) स्नेह कायसूक्ष्म (२) पुष्पसूक्ष्म (३) प्राणिसूक्ष्म (४) उत्तिग सूक्ष्म (५) पनक सूक्ष्म (६) वीज सूक्ष्म (७) हरित सूक्ष्म और (८) अण्डसूक्ष्म ।

इनका अर्थ इस प्रकार है--ओस, हिम, कुञ्झटिका (धूवर) आदि स्नेहसूक्ष्म कहलाता है, यहाँ'स्नेह' शब्द से जलका ग्रहण किया गया है । गूलर आदि के सूक्ष्म पुष्प सदृश पुष्पसूक्ष्म कहलाते है । जो प्राणी चलने--फिरने से ही दिखाई दे और स्थित होने पर दिखाई न दे, वह प्राणि-सूक्ष्म कहलाता है, जैसे कुन्थु आदि । छोटी--छोटी कीड़ियों का समूह--कीडी नगरा--उत्तिंग सूक्ष्म है । ये प्राणी घनीभूत होने पर भी पृथ्वी आदि के समान होने के कारण सहज दिखाई नहीं

काष्ठादौ समुत्पन्न पञ्चवर्णपनकाख्यसूक्ष्मम् बीजहरित चेति. तत्र बीजसूक्ष्मम्—शाल्यादि तुष-मुख यस्मादङ्कुर समुत्पद्यते, हरितसूक्ष्मम्—नवीन मुत्पद्यमान भूमिसवर्णम् तद्वत् कान्तिमत्तया दुर्लक्ष्यम्। अण्डसूक्ष्मम्—मक्षिकापिपीलिकागृहगोधिकाकृकलासाद्यण्डकमवगच्छेत ॥सूत्र ११॥

निर्युक्तिः—पूर्वं सूक्ष्मबादरभेदेन जीवाना द्वैविध्य प्रतिपादितं सम्प्रति तयोर्मध्ये सूक्ष्माणां भेदं प्रतिपादयितुमाह—**अट्ठविहा सुहुमा सिनेहकायाइया''** इति अष्टविधा अष्ट प्रकारका. सूक्ष्मा जीवा' प्रज्ञप्तास्तीर्थकृदादिभि , तद्यथा—स्नेहकाय',—तथाचोक्तम्—

सिणेहं पुप्फसुहुमं च पाणुत्तिंगं तहेव य ।
पणगं बीयहरियं च अण्डसुहुमं च अट्ठमं ॥

छाया—स्नेहं पुष्पसूक्ष्मञ्च प्राण्युत्तिङ्ग तथैव च ।
पनक बीजहरितं च अण्डसूक्ष्म च अष्टमम ॥

स्नेहम्—स्नेहसूक्ष्मम् अवश्यायहिम कुज्झटिकादिरूपम्. अत्र स्नेहपदेन अप्कायविशेष सूक्ष्म स्नेहकायोऽपि गृह्यते पुष्पसूक्ष्मम्—उदुम्बरादि पुष्पसदृशम् सूक्ष्मम् प्राणिसूक्ष्मम्—य प्राणी सचरमाण एव सर्वदा लक्ष्यते न तु स्थितो लक्ष्यते स चासौ सूक्ष्म प्राणिसूक्ष्म कुन्थ्वादिक उत्तिङ्गसूक्ष्मम्—सूक्ष्मकीटिका दीनाम् वृन्दम् कीटिका नगरादि कीटिकादय सूक्ष्मा प्राणिनो घनी

देते । वर्षा काल मे भूमि और काष्ठ आदि के ऊपर जो पाँच वर्णो की काई (नील फूल) उत्पन्न हो जाती है, वह पनक सूक्ष्म कहलाती है । शालि आदि के तुष का मुख, जिससे अकुर उत्पन्न होता है, बीज सूक्ष्म कहलाता है । नवीन उत्पन्न होने वाला और भूमि के समान रूप—रग का होने के कारण जो सरलता से दिखाई नहीं देता वह हरित काय हरितसूक्ष्म कहलाता है । मक्खी, कीडी, छिपकली, गिरगिट आदि के छोटे—छोटे अण्डे अण्डसूक्ष्म कहलाते हैं ॥११॥

तत्त्वार्थ निर्युक्ति—पहले कहा जा चुका है कि सूक्ष्म और बादर के भेद से जीव दो प्रकार के है । अब उनमें से सूक्ष्म जीवो के भेदो का प्रतिपादन करने लिए कहते है—**'स्नेहकाय आदि आठ प्रकार के सूक्ष्म है ।'**

तीर्थकर आदिने आठ प्रकार के सूक्ष्म अर्थात् छोटे—छोटे जीव कहे है—(१) स्नेहसूक्ष्म (२) पुष्प सूक्ष्म (३) प्राणिसूक्ष्म (४) उर्त्तिगसूक्ष्म (५) पनक सूक्ष्म (६) बीजसूक्ष्म (७) हरित सूक्ष्म और (८) अण्डसूक्ष्म ।

कहा भी है—' आठ सूक्ष्म, हैं—स्नेहसूक्ष्म, पुष्पसूक्ष्म, प्राणिसूक्ष्म, उर्त्तिगसूक्ष्म, पनक-सूक्ष्म, बीजसूक्ष्म, हरितसूक्ष्म और आँठवा अण्डसूक्ष्म ।

यहाँ **'स्नेह'** पद से अप्काय विशेष ग्रहण किया जाता है । ओस, हिम, कुज्झटिका आदि स्नेह सूक्ष्म कहलाता है । गूलर के फूल के समान जो अत्यन्त सूक्ष्म पुष्प है, उन्हें पुष्प सूक्ष्म कहते है । जो प्राणी इतने छोटे है कि चलते—फिरते समय ही दीख पडते है, स्थिर होने

भूता पृथिव्यादिवत् प्रतिभासमाना जीवत्वेन दुर्लक्ष्या भवन्ति पनकसूक्ष्मम्--वर्षाकाले भूमिकाष्ठादौ समुत्पन्नं पञ्चवर्णपनकाख्यसूक्ष्मम् बीजहरितं चेति तत्र बीजसूक्ष्मम्-शाल्यादि तुषमुख यस्मादकुर समुत्पद्यते। हरितसूक्ष्मम्--नवीनमुत्पद्यमानम् भूमिसवर्णम् तद्वत् कान्तिमत्तया दुर्लक्ष्यम् अण्डसूक्ष्मम्--मक्षिका--पिपीलिका--गृहगोधिका--कृकलासाद्यण्डकमवगन्तव्यम् । स्नेहसूक्ष्म' आदिना पुष्पसूक्ष्मम् प्राणिसूक्ष्मम् उत्तिङ्गसूक्ष्मम् पनकसूक्ष्म बीजसूक्ष्म हरितसूक्ष्म अण्डसूक्ष्मश्च तत्र अवश्यायहिमकुज्झटिकादि स्नेहसूक्ष्म. स्नेहकायपदेन उदुम्बरादि पुष्पसदृश सूक्ष्मप्राणी गृह्यते, सर्वदा सचरमाणो न तु स्थित कदाचित् कुन्थ्वादिक प्राणिसूक्ष्म सूक्ष्मकीटिकादिवृन्द उत्तिङ्गसूक्ष्म एव पनकसूक्ष्मे वर्षाकालिकपञ्चवर्णजीवविशेष बीजसूक्ष्म शाल्यादितुषमुख हरितसूक्ष्मो भूमिसवर्ण अण्डसूक्ष्म-पिपीलिकादिरवसेय ।सूत्र ११॥

मूलसूत्रम्---"वायरा अणेगविहा पुढवीकायाइया ।सूत्र १२॥

छाया---"वादरा अनेकविधा' पृथिवीकायादिका' ।सू० १२॥

दीपिका---पूर्व ससारिणो जीवा वादरा इत्युक्तत्वात् सम्प्रति तेषा वादरजीवानां स्वरूपाणि प्ररूपयितुमाह--'वायरा अणेगविहा पुढवीकायाइया" इति वादरा जीवा अनेकविधा बहुप्रकारका सन्ति तद्यथा--पृथिवीकायादिका --पृथिवीकाया आदिना अप्काया तेजस्काया वायुकाया वनस्पतिकायादयश्चावगन्तव्या एतेषा सूक्ष्मत्वेऽपि वादरत्वस्यापि सद्भावात् ॥सूत्र १२॥

निर्युक्तिः---पूर्वसूत्रे सूक्ष्मजीवानामष्टविधत्वं प्रतिपादित सम्प्रति वादरजीवाना भेद प्रतिपादयितुमाह--'वायरा अणेगविहा पुढवीकायाइया' इति वादरा जीवा अनेकविधा प्रज्ञप्ता

पर दिखाई नहीं देते, वे कुथु आदि प्राणिसूक्ष्म कहलाते है । छोटी--छोटी कीडियो आदि का समूह--कीडीनगराँ उर्त्तिग सूक्ष्म कहलाता है। ये जीव इतने छोटे होते है कि बहुत से इकट्ठे होने पर भी पृथ्वी के रूप--रग के होने के कारण जीव के रूप मे लक्ष नहीं पड़ते । वर्षाकाल में भूमि और काष्ठ आदि के ऊपर पाँच वर्ण की जो काई--(नील) फूल जम जाती है, वह जब सहज ही दिखाइ नहीं देती तो पनकसूक्ष्म कहलाती है। शालि आदि के पुष्प का मुख, जिससे अंकुर की उत्पत्ति होती है, उसे वीजसूक्ष्म कहते है । नया--नया उत्पन्न होने वाला जमीन के रग का हरितकाय हरित सूक्ष्म कहलाता है, जो साधारणतया दिखाई नहीं देता । मक्खी, चिउटी छिपकली, गिरगिट आदि के अत्यन्त छोटे--छोटे अण्डो को अण्ड- सूक्ष्म कहते है ॥११॥

सूत्रार्थ 'वायरा अणेगविहा'---इत्यादि ।

वादर जीव पृथ्वीकायिक आदि के भेद से अनेक प्रकार के है ॥१२॥

तत्त्वार्थ दीपिका---पहले ससारी जीवो का एक भेद वादर कहा जा चुका है--पृथ्वीकायिक आदि वादर जीव अनेक प्रकार के है, यथा--पृथिवीकायिक, अपूकायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक । इनमें सूक्ष्मता होने पर भी वादरता भी पाई जाती है ॥१२॥

तद्यथा—पृथिवीकायादिका आदिपदेन अप्कायिका. तेजस्कायिका वायुकायिका वनस्पतिकायिका दयो गृह्यन्ते ऐताषा सूक्ष्मत्वेऽपि वादरत्वस्यापि सद्भावात् ।सूत्र १२॥

मूलसूत्रम्—'मुत्ता अणेगविहा तित्थसिद्धाइया ।सू० १३॥

छाया—"मुक्ताः अनेकविधाः तीर्थसिद्धोदयः ।सूत्र १३॥

दीपिका—पूर्वं ससारिमुक्तभेदेन जीवा द्विविधा प्रतिपादिता तत्र मुक्ताना स्वरूपमाह '**मुत्ता अणेगविहा तित्थ सिद्धाइया**" इति मुक्ता —कृत्स्नकर्मक्षयलक्षणमुक्ति प्राप्ता जीवा अनेक विधा प्रज्ञप्ताः तद्यथा—तीर्थसिद्धा., अतीर्थसिद्धाश्चैवमनन्तरसिद्धा पञ्चदशविधा इति ॥सूत्र१३॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं ससारिमुक्तभेदेन द्विविधेपु जीवेपु ससारिणां सूत्राष्टकेन भेदोपभेदप्रतिपादनपूर्वक प्ररूपण कृतम् सम्प्रति क्रमप्राप्ताना मुक्तजीवाना प्ररूपण कर्तु माह—'**मुत्ता अणेगविहा तित्थसिद्धाइया**" इति मुक्ता —कृत्स्नकर्मक्षयलक्षणमुक्ति प्राप्ता. जीवा अनेकविधा प्रज्ञप्ता'—अनन्तरसिद्धा पञ्चदशविधा तद्यथा—तीर्थसिद्धा १ अतीर्थ-

---

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पूर्व सूत्र में सूक्ष्म जीवो के आठ प्रकार का प्रतिपादन किया गया है । अब वादर जीवो के भेद बतलाते है—पृथ्वीकाय आदि वादर जीव अनेक प्रकार के कहे गए है । यहाँ आदि शब्द से अपूकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक आदि समझ लेने चाहिए ।

ये जीव सूक्ष्म होते हुए वादर भी होते है, अर्थात् इनमे जो अत्यन्त छोटे होते है वे सूक्ष्म और जो अनायास ही दृष्टिगोचर हो जाते है वे वादर कहलाते है ।

यह पहले भी कहा जा चुका है कि यहाँ सूक्ष्म और वादर का जो भेद किया गया है, वह जीवों के शरीर की सूक्ष्मता और स्थूलता की अपेक्षा से है । सूक्ष्म नामकर्म के उदय और वादर नामकर्म के उदय वाले जो सूक्ष्म और वादर जीव शास्त्रो में कहे गए है, यहाँ उनका उल्लेख नहीं है ॥१२॥

सूत्रार्थ—'मुत्ता अणेगविहा—इत्यादि ।

मुक्तजीव तीर्थसिद्ध आदि के भेद से अनेक प्रकार के होते है ॥१३॥

तत्त्वार्थ दीपिका—ससारी और मुक्त के भेद से दो प्रकार के जीवो का कथन किया गया था, उनमें से यहाँ मुक्तजीवों का स्वरूप कहते है—समस्त कर्मों को क्षय रूप मोक्ष को प्राप्त मुक्त जीव अनेक प्रकार के है । वे इस प्रकार हैं—तीर्थसिद्ध, अतीर्थ आदि नन्दी सूत्र के २१वे सूत्र में कहे है । इसी प्रकार अनन्तरसिद्ध, परम्परा सिद्ध आदि भेद भी जान लेने चाहिए ॥१३॥

तत्त्वार्थ निर्युक्ति—ससारी और मुक्त के भेद से दो प्रकार के जीवो मे ससारीजीवो की आठ सूत्रो मे प्ररूपणा की है । अब क्रमप्राप्त मुक्त-जीवो का प्रतिपादन करते है—

समस्त कर्मों के क्षय रूप मोक्ष को प्राप्त जीव मुक्त कहलाते है । वे अनेक प्रकार के है । इनमें अनन्तरसिद्ध जीव पन्द्रह प्रकार के है—(१) तीर्थसिद्ध (२) अतीर्थसिद्ध (३) तीर्थकरसिद्ध

सिद्धा' २ तीर्थंकरसिद्धा ३ अतीर्थंकरसिद्धा ४ स्वयंबुद्धसिद्धा, ५ प्रत्येकबुद्धसिद्धा' ६ बुद्धबोधितसिद्धा ' ७ स्त्रीलिङ्गसिद्धाः ८ पुरुषलिङ्गसिद्धाः ९ नपुसकलिङ्गसिद्धा १०, स्वलिङ्गसिद्धा ११ अन्यलिङ्गसिद्धा १२ गृहिलिङ्गसिद्धा' १३ एकसिद्धा' १४, अनेकसिद्धा इति नन्दीसूत्रे उक्तम्—तदर्थश्च तत एव द्रष्टव्या —तत्र प्राप्ये तीर्थे सिद्धिं प्राप्नोति स तीर्थ सिद्धो व्यपदिश्यते, तथाचोक्तम्—"कृत्स्नकर्मक्षयादूर्ध्वं निर्वाणमधिगच्छति । यथा दग्धेन्धनो वह्नि' निरूपादानसततिरित्यादि ॥सू १३॥

मूलम्—"जीवस्स छब्भावा ओदइयउवसमियखाइयमिस्सपारिणामियसंनिवाइया।

छाया—"जीवस्य षड्भावाःऔदयिकौपशमिक क्षायिकमिश्रपारिणामिकसानिपातिकाः

दीपिका—पूर्वं तावत् ससारिमुक्तभेदेन सूक्ष्मबादरत्रसस्थावरसमनस्कामनस्कादि भेदेन च जीवानां निरूपण कृतं सम्प्रति तेषामेव जीवानां स्वरूपलक्षणमौदयिकादि षड्भाव प्ररूपयितुमाह,**"जीवस्स छब्भावा ओदइयउवसमियखाइयमिस्सपारिणामियसंनिवाइया"** इति जीवस्य बोधात्मकस्य उपयोगवत' षड्भावा' तीर्थकृद्भि' प्रज्ञप्ता' सन्ति, तद्यथा -औदयिक'१, औपशमिक'२, क्षायिक'३, मिश्र'४ पारिणामिक ५ सान्निपातिकश्चच६, तत्र भवन भाव' जीवस्य भवनलक्षणपरिणतिविशेषो भाव' कथ्यते तथा च द्रव्यादिनिमित्तवशात् कर्मणा फलप्राप्तिरुदय उच्यते

---

(४) अतीर्थंकरसिद्ध (५) स्वयं बुद्धसिद्ध (६) प्रत्येकबुद्धसिद्ध (७) बुद्धबोधित सिद्ध (८) स्त्रीलिंग, सिद्ध)९) पुरुष लिंग सिद्ध (१०) नपुसकलिंगसिद्ध (११) स्वलिंग सिद्ध (१२) अन्यलिंगसिद्ध (१३) गृहस्थलिंग सिद्ध (१४) एकसिद्ध (१५) अनेकसिद्ध। यह भेद नन्दीसूत्र के २१वे सूत्र में कहे है। इनका अर्थ वहीं से समझ लेना चाहिए। तीर्थंकर के द्वारा तीर्थ की स्थापना हो जाने पर जो सिद्ध होते हैं, वे तीर्थ तीर्थसिद्ध कहलाते है। कहा भी है—

समस्त कर्मों का क्षय होने से जीव ऊपर निर्वाण की ओर जाता है। जैसे ईंधन जल जाने से और नया ईंधन न मिलने से अग्नि निर्वाण को प्राप्त होतीहै ॥१३॥

सूत्रार्थ—'जीवस्स छब्भावा' इत्यादि ।

जीव के छह भाव होते है—औदियक, औपशमिक, क्षायिक, मिश्र (क्षायोपशमिक) पारिणामिक और सान्निपातिक ॥१४॥

तत्त्वार्थदीपिका— पहले ससारी और मुक्त के भेद से तथा सूक्ष्म—बादर, समनस्क—अमनस्क आदि के भेद से जीवो का निरूपण किया गया है। अब उन जीवो के स्वरूपभूत औदयिक आदि छह भेदो की प्ररूपणा करने के लिए कहते है--बोधमय, उपयोगवान् जीव के छह भाव तीर्थकरों ने कहे है। वे इस प्रकार हैं—(१) औदयिक २) औपशमिक (३) क्षायिक (४) मिश्र (क्षायोंपशमिक) (५) पारिमाणिक और (६) सान्निपातिक।

जीव की भवन अर्थात् होने रूप परिणति को भाव कहते हैं। द्रव्य क्षेत्र काल भाव के निमित्त से कर्मों के फल की प्राप्ति होना उदय कहलाता है, जैसे जल मे कीचड का उभराना।

यथा पयसि पङ्कस्योद् भूतत्वम्, तथाविधकर्मोदये सति जायमानो भाव. औदयिको व्यपदिश्यते, एवम् आत्मनि कर्मण स्वशक्ते' कारणवशादनुद्भवरूप उपशम उच्यते, यथा कतकादि द्रव्यसयोगात् जले पङ्कस्याधस्तले स्थितिरूप उपशमो भवति क्षयस्तु कर्मण आत्यन्तिकी निवृत्तिरुच्यते, यथा काचादि पात्रस्थे मेघस्थे वा उदके कर्दमस्यात्यन्ताभावो भवति, एतदुभयात्मक क्षयोपशमो मिश्र उच्यते यथा कूपतडागादिस्थे उदके पङ्कस्य क्षीणाऽ—क्षीणवृत्ति भेवति, द्रव्यात्मलाभमात्रहेतुको भाव' परिणामो व्यपदिश्यते, एवञ्च कर्मफलविपाकाविर्भावविलक्षणेनोदयेन निष्पन्नो भाव औदयिक , कर्मण उपशमः भस्मपटलाच्छन्नाग्निवत् कर्मणोऽनुत्पादावस्था प्रयोजनमस्येति औपशमिको भाव , कर्मणां क्षयेण निष्पन्नो भावः क्षायिक', कर्मण क्षयोपशमाभ्या निष्पन्नो भाव' क्षायोपशमिको मिश्र. कर्मण' परिणाम एव द्रव्यभाव प्राणावस्थालक्षण' पारिणामिको भावः, औदयिकादिभावसान्निपाते सति जायमानो भावः सान्निपातिक उच्यते तत्रौदयिकादय. पञ्च भावा जीवस्य कर्मोदयाद्यपेक्षत्वाद नैमित्तका उच्यन्ते, पारिणामिको भावस्तु कर्मोदयानपेक्षत्वात् चैतन्यादिः स्वाभाविक उच्यते,

---

इस प्रकार कर्म के उदय से उत्पन्न होने वाला भाव औदयिक भाव कहलाता है।

आत्मा में कर्म की शक्ति का कारणवश अनुद्भव होना उपशम कहलाता है, जैसे फिटकडी आदि द्रव्यों के सयोग से जल में मैल का नीचे जमा रहना—शान्त हो जाना।

कर्मों का सर्वथा शान्त हो जाना यह औपशमिक है। जैसे काचादि के पात्र में स्थित या मेघ में स्थित जल में मैल अत्यन्त अभाव होता है। कर्म का सर्वथा नाश होना क्षायिक-भाव है। दोनो अवस्थाओं का मिश्रण मिश्र या क्षयोपशम कहलाता है, जैसे कूप या तालाब के जल में मैल का कुछ—कुछ क्षीण हो जाना और कुछ—कुछ क्षीण न होना। वह क्षायोपशमिक भाव है। जो भाव स्वत, रहता है—कर्म के उदय आदि का आक्षेप नहीं रखता, वह पारिणामिक भाव है।

इस प्रकार कर्म के फल—विपाक के प्रकट होने रूप उदय से उत्पन्न होने वाला भाव औदयिक है। भस्म से आच्छादित अग्नि के समान कर्म की अनुत्पाद—अवस्था को उपशम कहते है। उपशम से उत्पन्न भाव औपशमिक कहलाता है।

कर्म के क्षय से निष्पन्न होने वाला भाव क्षायिक है। कर्म के क्षय और उपशम से होने वाला भाव मिश्रभाव कहलाता है। जो भाव किसी कर्म के उदय, उपशम, क्षय या क्षयोपशम से न होकर स्वभाव से ही होता है वह, पारिणामिक भाव है और औदयिक आदि भावों के सम्मिलन से उत्पन्न होने वाला भाव सान्निपातिक कहलाता है।

इनमें औदयिक आदि पाच भाव कर्म की अपेक्षा से होते हैं, अतएव वे नैमित्तक हैं, किन्तु पारिणामिक भाव कर्म के उदय आदि से नहीं होता, अतएव वह स्वाभाविक कहलाता है।

स एष षड्विधो भावो यथायोग्यं भव्यस्याभव्यस्य च जीवनस्य स्वरूपमुच्यते,तत्र मिथ्यादृष्टीनाम् अभव्यानाञ्च न कदाचित् औपशमिकक्षायिकौ भवतः अपितु भव्यानामेव, तौ स्तः पारिणामिकस्तू-भयेषामेव भवतीति भावः, यद्यपि मिश्रग्रहणे सन्निपातिकभावस्यापि युगपदेकस्मिन् जीवे निपतन-शीलस्य औपशमिकादि भावानां द्विकादि सयोगेन निष्पद्यमानस्यान्तर्भाव सभवेऽपि आगमप्रामाण्यात् पार्थक्येन ग्रहणं कृतम् औदयिकादि सान्निपातिकस्य मिश्रेऽन्तर्भावाऽसमवश्चेति भावः । सूत्र–१४

निर्युक्तिः—पूर्वं जीवानां ससारिमुक्तभेदेन तदवान्तरभेदेन च सविशदं निरूपणं कृतम् सम्प्रति तेषामेव जीवानां स्वरूपलक्षणमौदयिकादि षड्विधभावं प्ररूपयितुमाह—"**जीवस्स छब्भावा**" इत्यादि जीवस्य चेतनालक्षणस्य बोधस्वरूपस्य षड्भावा प्रज्ञप्ता तद्यथा औदयिकः १, औपशमिकः २, क्षायिक ३, मिश्रः ४ पारिणामिकः ५, सान्निपातिकश्च ६ इति तत्र विवक्षितार्थपरिच्छेदरूपार्थग्रहणव्यापारात्मकोपयोगलक्षणस्य जीवात्मनो ज्ञानरूपे दर्शन-रूपे च द्विविधेऽपि व्यापारे चैतन्यरूपेण स्वाभाविकः परिणामः समान एव भवति ज्ञानदर्शन योर्जीवात्मनश्चैतन्यरूपेण स्वाभाविकपरिणामानुविधायित्वात् । तत्र साकार ज्ञान भवति परोक्ष निराकार दर्शनमुच्यते, स च स्वाभाविकचैतन्यरूपपरिणतिमासादयन् ज्ञानदर्शनरूपोपयोग

यह छह प्रकार के भाव यथायोग्य भव्य या अभव्य जीव के स्व रूप है। मिथ्या-दृष्टि और अभव्य जीवों को औपशमिक और क्षायिक भाव की प्राप्ति कदापि नहीं होती। ये दोनो भव्य जीवो को ही होते है। पारिणामिक भाव दोनो प्रकार के जीवो को होता है।

सान्निपातिक भाव एक साथ एक जीव में प्राप्त होता है, और औपशमिक आदि भावों मेंसे दो तीन आदि के सयोग से उत्पन्न होता है । मिश्र भाव मे उसका अन्तर्भाव हो सकता है, तथापि आगमप्रामाण्य के कारण उसका पृथक् ग्रहण किया गया है और औदयिक आदि सान्निपातिक का मिश्र में अन्तर्भाव भी नहीं है ॥१४॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पहले जीवो का ससारी और मुक्त के भेद बतलाकर और उनके अवान्तर भेदो का प्रतिपादन करके विवाद निरूपण किया गया है। अब उन जीवों के स्वरूप भूत औदयिक आदि छह भावो की प्ररूपणा करने के लिए कहते है—

चेतना लक्षण वाले जीव के छह भाव कहे गए है, यथा—(१) औदयिक (५) औपशमिक (३) क्षायिक (४) मिश्र (५) पारिणामिक और (६) सान्निपातिक ।

किसी पदार्थ को ग्रहण करने के व्यापार रूप लक्षण वाले जीव का ज्ञान और दर्शन—दोनो प्रकार के व्यापार में चैतन्य रूप से स्वाभाविक परिणाम समान ही होता है। ज्ञान और दर्शन चैतन्य कहलाते है। यह जीव का स्वाभाविक परिणाम है इनमें ज्ञान साकार है और दर्शन निराकार होता है।

स्वाभाविक चैतन्य रूप परिणति को प्राप्त होता हुआ ज्ञान दर्शन रूप उपयोग, कर्म के

परस्परप्रदेशानां प्रदेशबन्धात् कर्मणा अयोगोलकवद् एकीभूतस्यात्मनोऽन्यत्वप्रतिपत्तिहेतुर्भवति तत्र अवयवरूपः प्रदेशो जीवावयवानां परस्परं सयोग. कदाचिद् दृढो भवति, कदाचिच्च शिथिलो भवति, तत्र फलप्रदानोन्मुखस्यौदीर्णस्य कर्मणोऽवयवा जीवात्मावयवसयोगं शिथिलीकृत्यान्त'प्रविशन्ति जीवकर्मणोरवयवानां मिथो मिश्रणरूपप्रदेशबन्धेन जीव कर्मणा सहैकीभूतो भवति, अयःपिण्डवद् भेदेन पार्थक्येन ज्ञातु न शक्यते यथा दुग्ध पयोमिश्रित सत् जलेन एकीभूतं पार्थक्येन ज्ञातुं न शक्यं भवति तद्वदिति भाव., उपयोगेन तु अय जीव स्वस्मिन् मिश्रितेभ्यः कर्मदलिकेभ्य. सकाशात् पार्थक्येन ज्ञातु शक्यो भवति. कर्मपुद्गलानामुपयोगावस्थायां चैतन्यरूपेण परिणत्यभावात् ततश्च सकलजीवसाधारणं चैतन्यमुपशमक्षयक्षयोपशमवशात् औपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकभावेन कर्मोदयवशात् कलुषा कारणे, च परिणतजीवपर्यायविवक्षायां जीवस्वरूपं सम्पद्यते, द्रव्यादितन्निमित्तवशात् कर्मणां फलप्राप्तिरुदय उच्यते यथा पयसि पङ्कस्योद्भूतत्वम् तत्र—भवनं भावः—भावे घञ् जीवस्य भवनलक्षणपरिणतिविशेषो भाव उच्यते कर्मोदये सति जायमानो भावः—औदयिको व्यपदिश्यते, एवमेवात्मनि कर्मण. स्वशक्ते.

साथ आत्मा का अयोगोलक (लोहे के गोले) के समान परस्पर प्रदेशबन्ध होने पर भी भिन्नता का ज्ञान कराता है । तात्पर्य यह है कि आत्मा यद्यपि कर्मों से बद्ध है—एकमेक हो रहा है, तथापि अपने चैतन्य स्वभाव के कारण उनसे भिन्न पहचाना जाता है । अवयव रूप प्रदेश, जीवावयवो का परस्पर सयोग कभी—कभी दृढ होता है और कभी—कभी शिथिल होता है ।

अपना फल प्रदान करने के लिए उन्मुख, उदय में आये कर्म के अवयव जीवात्मा के अवयव-सयोग को शिथिल करके अन्दर प्रवेश कर जाते है । जीव और कर्मके परस्पर मिश्रण रूप प्रदेश बन्ध के कारण जीव कर्म के साथ एक रूप हो जाता है । वह लोहे के पिण्ड के समान भिन्न नहीं मालूम होता ।

अभिप्राय यह है कि जैसे दूध और पानी परस्पर मे मिल जाने पर अलग—अलग प्रतीत नहीं होते उसी प्रकार आत्मा और कर्म एकमेक हो जाते हैं तो दोनों पृथक्—पृथक् प्रतीत नहीं होते, फिर भी उपयोग रूप लक्षण के कारण जीव अपने साथ मिले हुए कर्मदलिको से पृथक् पहचाना जा सकता है । उपयोग की अवस्था में कर्म पुद्गलो की चैतन्य रूप से परिणति नहीं होती । अत. जीव मात्र में समान रूप से पाया जाने वाला चैतन्य, उपशम, क्षय और क्षयोपशम से औपशमिक, क्षायिक क्षायोपशमिक भाव से तथा कर्मोदय के वश से कलुषित आकार से परिणत जीवपर्याय की विवक्षा मे जीव के स्वरूप होते हैं ।

भवन् अर्थात् होने को 'भाव' कहते है । यहाँ भाव में 'घञ्' प्रत्यय हुआ है । इस प्रकार जीव भवन रूप परिणाम को भाव कहते है ।

कारणवशादनुद्भवरूप उपशम उच्यते, यथा कतकादि (निवलीति भाषाप्रसिद्ध') द्रव्यसयोगाद् जले कर्दमस्योपशमोऽधस्तले स्थिति' भवति, क्षय पुन. कर्मण आत्यन्तिकी निवृत्तिरुच्यते यथा काचादिपात्रस्थे जलदस्थे वा जले पङ्कस्यात्यन्तर्भावो भवति, एतदुभयात्मको मिश्र क्षयोपशमो भण्यते, यथा कूपस्थे जले पङ्कस्य क्षीणाक्षीणवृत्तिर्भवति, द्रव्यात्मलाभमात्र हेतुक परिणामो भवति तथा औदयिक कर्मण उपशम' भस्मपटलाच्छन्नाग्निवत् कर्मण अनुदयावस्था प्रयोजनमस्य भावस्येत्यौपशमिको भावो जीवस्यावस्था विशेष. एव कर्मण' क्षयेण निर्वृत्तो भाव. क्षायिको भाव एव कर्मण क्षयोपशमाभ्या निर्वृत' भाव क्षायोपशमिको भाव, एव कर्मण परिणाम एव द्रव्यभाव प्राणावस्थालक्षण पारिणामिको भाव न तु परिणाम प्रयोजनमस्य परिणामेन वा निर्वृत्त पारिणामिक इति व्युत्पत्ति' तथा सति जीवत्व भव्याभव्यत्वादेरादिमत्वापत्ति स्यात्, यदि परिणाम. प्रयोजनमस्येति व्युत्पत्त्या पारिणामिको जीव इत्युच्यते तदा तत पूर्वावस्थायां नाभूज्जीव इति रीत्या तस्यादिमत्त्व प्रसङ्ग एवं निवृत्त्यर्थेऽपि प्रागनिवृत्तौ निर्वर्त्येत तथा चोक्तदोष, एव भव्याभव्यत्वादिष्वपि योजनीयम् तथा चानादिप्रसिद्ध पारिणामिको भाव' सकल पर्यायराशे प्रह्वतामभिमुखता-

---

द्रव्यादि का निमित्त पाकर कर्मों के फल की प्राप्ति होना उदय कहलाता है, जैसे जल में पंक का उभार होना। कर्म के उदय से उत्पन्न होने वाला भाव औदयिक भाव कहा गया है। कर्म की शक्ति का आत्मा में कारणवश उभार न होना–कर्म की शक्ति का दबा रहना उपशम है, जैसे कतक (फिटकडी) आदि द्रव्यो के सयोग से जल में कचरा नीचे बैठ जाता है। कर्मों की आत्यन्तिक निवृत्ति को क्षय कहते है, क्षय और उपशम का मिश्रण क्षयोपशम कहलाता है, जैसे कूप में स्थित जल मे पक की कुछ क्षीणता और कुछ अक्षीणता होती है। द्रव्य का स्वाभाविक रूप परिणाम कहलाता है। कर्म के विपाक का प्रकट होना उदय है और उदय से उत्पन्न होने वाला भाव औदयिक कहा गया है। जैसे अग्नि को राख से आच्छादित कर दिया जाता है तो उसकी शक्ति प्रकट नहीं होती उसी प्रकार कर्म की शक्ति का दबा रहना उपशम कहलाता है और उपशम से उत्पन्न होने वाला भाव औपशमिकभाव है। यह भी जीव की एक अवस्था है।

इस प्रकार कर्म के क्षय से उत्पन्न होने वाला भाव क्षायिक, क्षय और उपशम से उत्पन्न होने वाला भाव क्षायोपशमिक और आत्मा का परिणाम ही पारिणामिक भाव है,। परिणाम जिसका प्रयोजक हो अथवा परिणाम से जो उत्पन्न हो, वह पारिणामिक भाव है, ऐसा नहीं समझना चाहिए। वास्तव मे पारिणामिक भाव वही कहलाता है जो किसी भी कर्म के उदय क्षय, क्षयोपशम या उपशम की अपेक्षा न रखता हो, बल्कि स्वभावत हो। पारिणामिक भाव कर्म के निमित्त से माना जाय तो जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व सम्यग्दर्शन आदि की भाँति सादि हो जाएँगे।

परिणाम जिसका प्रयोजन हो वह पारिणामिक जीव है, ऐसी व्युत्पत्ति मानी जाय तो उससे पहले की अवस्था में जीव का अभाव होने से उसकी आदि हो जाएगी। इसी प्रकार परिणाम से

लक्षणां प्रतिपद्यमानः सकलभावधारत्वं बिभर्तीति नानेन विना कस्यचिद् भावस्य निष्पत्तिरिति, तत्र सेधनयोग्यः परिणामो भव्यः, अभव्यः पुन र्न कदाचित् सेधनयोग्यः परिणाम इति, एवं सन्निपातः प्रयोजनमस्य भावस्येति सान्निपातिको भावोऽवसेयः एते च षड्भावा जीवपर्यायविवक्षयां जीवस्य स्वरूपमिति व्यपदिश्यन्ते, क्रमभाविनोऽवस्थाविशेषा पर्यायाः कथ्यन्ते यथा मृत्तिकाया घटकपाल कपालिका शरावादयः पर्याया भवन्ति, द्रव्यविवक्षायां तु मृत्तिका स्वरूप एव भाव द्रवति गच्छति, तांस्तान् पर्यायान् इति द्रव्यपदव्युत्पत्तेः तथाच कर्मोदये सति जायमानो भाव औदयिको व्यपदिश्यते तपःसंयमवैराग्यादिनाऽनुदयप्राप्तिलक्षणे कर्मोपशमे सति जीवस्योत्पद्यमान औपशमिको भावः यथा जलस्य कलुषताऽऽपादके पङ्के कतकादिद्रव्यसम्बन्धादध स्थिते सति जलस्य स्वच्छता भवति, एवमार्हततत्त्वानुसन्धानवशाद् ज्ञानावरणादिकर्ममलक्षयेण नैर्मल्यविधायक क्षायिको भावो व्यपदिश्यते कर्मणः क्षये सति उत्पद्यमानो भावःक्षायिक उच्यते इत्यर्थ यथा कर्दमात्पृथग्भूतस्य निर्मलस्य स्फाटिकादिपात्रान्तर्वर्तिन पयस स्वच्छता भवति यथा मोक्ष, कर्मोपशमाद्यनपेक्ष

उत्पन्न भाव को यदि पारिणामिक भाव माना जाय तो उत्पत्ति से पहले उसकी अनुत्पत्ति माननी होगी, क्योंकि जो उत्पन्न नहीं होता, उसी की अनुत्पत्ति होती है । इस प्रकार मानने से भी पूर्वोक्त दोष की प्राप्ति होती है । यही बात भव्यत्व और अभव्यत्व के विषय में भी समझनी चाहिए । अतएव यही मानना उचित है कि पारिणामिक भाव अनादि काल से प्रसिद्ध है और वही समस्त भावों का आधार है । उसके बिना किसी भी भाव की निष्पत्ति नहीं होती । सिद्ध होने योग्य भाव भव्यत्व और सिद्ध न होने योग्य भाव अभव्यत्व कहलाता है ।

सन्निपात जिसका प्रयोजन हो वह सान्निपातिक भाव कहलाता है । यह छहो भाव जीव पर्याय की विवक्षा होने पर जीव के स्वरूप कहलाते है ।

क्रम से होनेवाली अवस्थाएँ पर्याय कहलाती है, जैसे मृत्तिका की घट, कपाल(ठीकरा), कलापिका, शराव(सिकोरा) आदि पर्याय है । जो एक के पश्चात् दूसरे पर्याय को प्राप्त होता रहता है, वह द्रव्य है, जैसे मृत्तिका ।

इस प्रकार कर्म का उदय होने पर उत्पन्न होने वाला भाव औदयिक कहलाता है । तप, संयम, वैराग्य आदि के कारण अनुदय रूप कर्म के उपशम से उत्पन्न होने वाला भाव औपशमिक कहलाता है । जैसे जल में मैलापन उत्पन्न करने वाला कीचड़ जब फिटकडी आदि द्रव्यों के सम्बंध से नीचे बैठ जाता है तो जल स्वच्छ हो जाता है ।

अर्हन्त भगवान् द्वारा प्रतिपादित तत्त्वों के अनुसधान से ज्ञानावरण आदि कर्ममल का क्षय हो जाने पर निर्मलता उत्पन्न करने वाला भाव क्षायिकभाव कहलाता है । तात्पर्य यह है कि कर्म के क्षय से जो भाव उत्पन्न होता है, वह क्षायिक भाव कहलाता है । जैसे कचरे पृथक् हुए, निर्मल एव स्फटिक पात्र के अदर रखे हुए जल में मलीनता का अत्यन्त अभाव हो जाता है ।

स्वाभाविको भावश्चैतन्यादिक' पामिणामिको भवति,एवं औदयिकादिभाव सन्निपाते सति जायमानो भावः सन्निपातिको व्यपदिश्यते, तत्र औदयिकादय पञ्चभावा जीवस्य कर्मोदयाद्यपेक्षत्वात् नैमित्तिका उच्यन्ते, पारिणामिको भावस्तु चेतनत्वादि स्वाभाविको व्यपदिश्यते कर्मोदयाद्यनपेक्षत्वात् स एष षड्विधो भावो याथायोगं भव्यस्याभव्यस्य वा जीवस्य स्वरूपमुच्यते, तत्र मिथ्यादृष्टीनाम् अभव्यानाञ्च न कदाचिदौपशमिकक्षायिकौ भवत' अपितु भव्यानामेव, पारिणामिक पुनस्तदुभयानामेव, औदयिकोऽभव्यानाम् सान्निपातिकोऽपि उभयेषामेव, मिश्रस्तु तदुभयेषामपि भवतीतिभाव क्षयोपशमाभ्यां निर्वृत्तो मिश्रो भावो दरविध्याच्छन्नवह्निवत् उदयावलिकाप्रविष्टस्य कर्मण क्षीणत्वात् तच्छेपस्य च-कर्मणोऽनुद्रेकक्षयावस्थत्वात् एवविधामुभयीमवस्थामाश्रित्य सम्पद्यते, अथौपशामिकभावापेक्षया-क्षायोपशमिकभावस्य मिश्रस्य न कोऽपि भेद औपशमिकेऽपि भावे उदितस्य उदयावलिकाप्रविष्टस्य कर्मण' अनुदितत्वात् अनुदितस्य चोपशान्तत्वादितिचेदत्रोच्यते क्षयोपशमे खलु कर्मण उदयोऽपि-तिष्ठति तत्र प्रदेशतया कर्मणो वेदनस्यानुज्ञातत्वात् किन्तु नत्वसौ विघाताय भवतीति, अनुभाव पुनर्न तत्र वेदयते इति भाव. उपशमे पुनः प्रदेशकर्मापि नानुभूयते, मनागपि नोदयस्तस्येति विशेष । यद्यपि

जो भाव कर्म के उपशम आदि की अपेक्षा नहीं रखता किन्तु स्वभाव से ही होता है, वह चैतन्य आदि पारिणामिक भाव कहलाता है। इसी प्रकार औदयिक आदि भावो के सन्निपात से अर्थात् मेल से उत्पन्न होने वाले भाव को सान्निपातिक भाव कहते है।

इनमें औदयिक आदि पाँच भाव कर्मोदय आदि की अपेक्षा से होने के कारण नैमित्तिक हैं, किन्तु चेतनत्व आदिरूप पारिणामिक भाव स्वाभाविक होता है, उसमे कर्म के उदय आदि की अपेक्षा नहीं रहती। यही छह प्रकार का भाव भव्य या अभव्य जीव का स्वरूप कहलाता है।

इन छह प्रकार के भावो में से मिथ्यादृष्टि और अभव्य जीवों को औपशमिक और क्षायिक भाव कदापि नहीं होते। यह दोनो भाव भव्य जीवो को ही प्राप्त होते है। पारिणामिक, औदयिक, क्षायोपशमिक और सान्निपातिक भाव भव्यों और अभव्यो—दोनो मे ही पाया जाता है।

मिश्रभाव क्षय और उपशम से उत्पन्न होता है वह कुछ—कुछ बुझी हुई और कुछ—कुछ दबी हुई अग्नि के समान है। उदयावलिका में प्रविष्ट कर्म का क्षय हो जाने पर तथा क्षेत्र कर्म का अनुद्रेक होने पर—इस प्रकार दोनो की अवस्था मे क्षयोपशमिक(मिश्र) भाव की उत्पत्ति होती है।

शका—औपशमिकभाव और क्षायोपशमिक भाव मे कुछ भी भेद नहीं है, क्योकि औपशमिक भाव में भी उदितउदयावलिका मे प्रविष्ट कर्म का उदय नहीं होता और अनुदित कर्म उपशान्त रहता है।

समाधान—क्षयोपशमभाव मे कर्म का उदय भी रहता है। वहाँ प्रदेश रूप से कर्म का वेदन स्वीकार किया गया है, किन्तु वह विघातकारी नहीं होता, अर्थात् वहाँ विपाक का वेदन नहीं होता है। उपशम—अवस्था में कर्म का प्रदेशोदय भी नहीं होता। यही इन दो में अन्तर है।

उमास्वातिकृततत्त्वार्थसूत्रे औपशमिकादय पञ्चैव भावा प्रतिपादिता सन्ति सान्निपातिको भावस्तत्र नोक्तस्तथापि वक्ष्यमाणागमवचनप्रामाण्यात् तस्यापि सान्निपातिकभावस्य पार्थक्येनोपादानावश्य-कत्वात्, तथाचोक्तम् स्थानाङ्गस्य ६ स्थाने ५३७ सूत्रे—"छव्विहे भावे पण्णत्ते, तंजहा—ओद-इए, उवसमिए, खाइए, खायोवसमिए, पारिणामिए, संनिवाइए" षड्विधो भाव प्रज्ञप्त तद्यथा औदयिकः औपशमिक· क्षायिक· क्षायोपशमिक पारिणामिक सान्निपातिक·श्चेति, तथा च मिश्र ग्रहणेन युगपदेकस्मिन् जीवे निपतनशीलस्य सान्निपातिकभावस्य औपशमिकादीना भावानां द्विकादिसयोगेन निष्पद्यमानस्यान्तर्भाव सभवेऽपि उक्तागमप्रामाण्यात् तस्य पृथग्ग्रहणस्यैवौचित्यादिति भाव । सूत्र । १४

मूलम् "एगवीसइबेनोट्ठादसतिनेगभेया जहाकमं—" सू.१५

छाया—"एकविंशतिद्विनवाष्टादशत्रिनैकभेदा यथाक्रमम्—" सू १५

दीपिका—पूर्वसूत्रे तावत् जीवस्यौदयिकादय षड्भावा· स्वरूपतो लक्षणतश्च निरूपिता सम्प्रति तेषामेव षड्भावाना प्रत्येक भेदप्रदर्शनार्थमाह—"एगवीसइबेनोट्ठादसतिनेगभेया जहा-कमं" इति, तत्र यथाक्रमम् क्रमानुसारेण औदयिकस्य भावस्यैकविंशतिर्भेदा औपशमिकभावस्य द्वौ भेदौ स्त· क्षायिकभावस्य नव भेदा सन्ति, क्षायोपशमिकभावस्य मिश्ररूपस्याष्टादशभेदा पारिणा-मिकभावस्य त्रयो भेदा, सान्निपातिकस्य च भावस्य अनेकभेदा सन्ति, तत्रौदयिकभावस्यैकविंशति-र्भेदा यथा नारक-तैर्यग्योन-मानुष्य-देवगतिभेदात् चतुर्विधा गति ४ क्रोधमानमायालोभभेदाच्च-

---

यद्यपि उमास्वातिकृत तत्त्वार्थसूत्र मे औपशमिक आदि पाँच ही भाव कहे है, सान्निपातिक भाव नहीं कहा है तथापि आगे कहे जाने वाले आगमप्रमाण के अनुसार सान्निपातिक भाव को भी पृथक् कहना आवश्यक है । स्थानागसूत्र के छठे स्थान के ५३७ वे सूत्र में कहा है—छह प्रकार के भाव कहे गए है । वे इस प्रकार है—(१) औदयिक (२)औपशमिक (३) क्षायिक (४) क्षायोपशमिक (५)पारिणामिक और (६) सान्निपातिक । ऐसी स्थिति में मिश्र का ग्रहण करने से एक जीव मे उत्पन्न होने वाले सान्निपातिक भाव का, जो कि औपशमिक आदि भावोमें से दो तीन चार आदि के सयोग से उत्पन्न होता है, अन्तर्भाव होने पर भी उक्त आगम के प्रमाण से उसे अलग ग्रहण करना ही उचित है ॥१४॥

मूलसूत्रार्थ—'एगवीसइबेनोट्ठादसत्ति, इत्यादि ।

पूर्वोक्त छह भावों के अनुक्रम से इक्कीस दो, नौ, अठारह, तीन और अनेक भेद है ॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्र में जीव के औदयिक आदि छह भावो का स्वरूप और लक्षण निरूपण किया गया है । अब उनमे से प्रत्येक के भेद बतलाने के लिए कहते है—

अनुक्रम से औदयिक भाव के इक्कीस भेद हैं, औपशमिक भाव के दो भेद है, क्षायिक भाव के नौ भेद है, मिश्ररूप क्षयोपशमिक भाव के अठारह भेद हैं, पारिणामिक भाव के तीन भेद है और सान्निपातिकभाव के अनेक भेद है ।

औदयिक भाव के इक्कीस भेद—(१-४) नरकगति तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति के भेद से चार प्रकार की गति, (५-८) क्रोध मान, माया और लोभ के भेद से चार कषाय,

तुर्भेद कषाय ४ स्त्री पुनपुंसकभेदात् त्रिभेद वेदलक्षणं लिङ्गम् ३ एकविधा मिथ्यादर्शनरूपा मिथ्यादृष्टि १ अज्ञानञ्चैकविधम् १, अविरतिलक्षणमसयतत्वञ्चैकविधम् १ कृष्णनीलकापोत तेज पद्मशुक्लभेदात् षड्विधा लेश्या ६ इत्येवमेकविंशति र्भेदा औदयिकभावा, औपशमिकभावस्य नवभेदा सन्ति ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्यसम्यक्त्वयथाख्यातचारित्रभेदात्, क्षायोपशमिकरूपमिश्रभावस्याष्टादशभेदा यथा मतिश्रुतावधिमन·पर्यवचतुर्विध ज्ञानम् ४ त्रिविधमज्ञानं ३, मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानभेदात् चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनभेदात् त्रिविध दर्शनम् ३ दानलाभ भोगोपभोगवीर्यलब्धिभेदात् पञ्चविधा लब्धय· ५ सम्यक्त्व १ चारित्रम् १ सयमासयमश्चे १ त्येवमष्टादशभेदा· जीवत्वभव्यत्वाभव्यत्वभेदात् त्रिविध· पारिणामिक· सान्निपानिको भाव बहुभेद· ॥सू १५॥

निर्युक्तिः—पूर्वसूत्रे औदयिकौपशमिकक्षायिकादिषड्भावा· स्वरूपतो लक्षणतश्च प्ररूपिता: सम्प्रति तेषामेव विभागप्रदर्शनार्थमाह—**"एगवीसइ"**—इत्यादि, तत्र **'जहाकमं'** यथाक्रमम्—क्रमानुसारेण औदयिकस्य भावस्य एकविंशतिभेदा· सन्ति, औपशमिकस्य द्वौ भेदौ, क्षायिकस्य-नवभेदा क्षायोपशमिकस्याष्टादशभेदा, पारिणामिकस्य त्रयो भेदा·, सान्निपातिकस्य च भावस्य नैक भेदा—अनेकभेदा सन्ति तत्र जीवस्य भवनलक्षण—परिणतिविशेषाणां षड्भावानां मध्ये

(९-१२) स्त्रीवेद' पुरुषवेद और नपुंसकवेद के भेद से तीन प्रकार का वेद (लिंग), (१२) मिथ्यादर्शन, (१३) अज्ञान (१४) अविरति (१५) असिद्धत्व और (१६-२१) कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या, तेजोलेश्या, पद्मलेश्या, शुक्ललेश्या। ये औदयिकभाव के इक्कीस भेद है।

औपशामिकभाव के दो भेद हैं—सम्यक्त्व और चारित्र। क्षायिकभाव के नौ भेद इस प्रकार है—(१) ज्ञान (२) दर्शन (३) दान (४) लाभ (५) भोग (६) उपभोग (७) वीर्य (८) सम्यक्त्व और (९) यथाख्यातचारित्र।

क्षायोपशमिक भाव के अठारह भेद—(१) मतिज्ञान (२) श्रुतज्ञान (३) अवधिज्ञान (४) मन·पर्यवज्ञान (५) मतिअज्ञान (६) श्रुतअज्ञान (७) विभंगज्ञान (८) चक्षुदर्शनि (९) अचक्षुदर्शनि (१०) अवधिदर्शनि (११) दान (१२) लाभ (१३) भोग (१४) उपभोग (१५) वीर्य, यह पाँच लब्धियाँ (१६) सम्यक्त्व (१७) चारित्र और (१८) सयमासयम।

पारिणामिक भाव तीन प्रकार का है—(१) जीवत्व (२) भव्यत्व (३) अभव्यत्व। सान्निपातिक भाव के बहुत से भेद है। इनमे से अन्तिम तीन क्रमश· इष्ट, इष्टतर, और इष्टतम हैं तथा प्रारंभ के तीन अनिष्टतम, अनिष्टतर और अनिष्ट है ॥१५॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पूर्वसूत्र में औदयिक, औपशमिक, क्षायिक आदि छह भावो के स्वरूप और लक्षण बतलाये गये हैं, अब उनके भेद दिखलाने के लिए कहते हैं—

औदयिक भाव के इक्कीस, औपशमिक भाव के दो, क्षायिक भाव के नौ, क्षायोपशमिक भाव के अठारह और पारिणामिक भाव के तीन भेद है। सान्निपातिक भाव बहुत प्रकार का है।

इनमें से जीव के प्रथम औदयिक भाव के इक्कीस भेद कहते है—(१-४) चार प्रकार

प्रथमोपात्तस्यौदयिकभावस्य एकविंशतिभेदानाह—नारक—तैर्यग्योनमानुष्यदेवगतिभेदाच्चतुर्भेदा गति ४, क्रोध—मान—माया—लोभ—भेदाच्चतुर्भेद' कपायः ४ स्त्रीपु नपुसकभेदात् त्रिभेदं वेदलक्षणं लिङ्गम् ३ एकभेदा मिथ्यादर्शनरूपा मिथ्यादृष्टिः १, अज्ञानञ्चैकभेदम् १. अविरतत्वलक्षणमसयतत्त्वमेकभेदम् १, असिद्धत्वञ्चैकभेदम् १, कृष्णनीलकापोततेज'पद्मशुक्लभेदात् षड्विधा लेश्या ६ तत्र लिश्यन्ते सम्बध्यन्ते इति लेश्या' मनोयोगावष्टम्भजन्यपरिणामविशेषरूपा आत्मना सह लिश्यन्ते एकीभवन्ति इति लेश्याः ताश्च द्विविधा' प्रज्ञप्ता , द्रव्यलेश्या भावलेश्याश्च, तत्र कृष्णादिवर्णमात्रं द्रव्यलेश्या' भावलेश्या' पुन. कृष्णादिवर्णद्रव्याष्टम्भजनिता परिणामकर्मबन्धनस्थितिविधायिन्यो भवन्ति चित्राद्यर्पितस्य वर्णस्येव श्लेषद्रव्यम् जतुलाक्षादिकम् तत्राविशुद्धोत्पन्न एव कृष्णवर्णस्तत्सबद्धद्रव्यावष्टम्भादविशुद्धपरिणामविशेष उपजायमान. कृष्णलेश्येति उच्यते, तथा चोक्तम्—"जल्लेस्साइं दव्वाइं आदि अंति तल्लेस्से परिणामे भवइ" इति प्रज्ञापनायां लेश्यापदे । एव नीलवर्णद्रव्यावष्टम्भान्नीललेश्या, नीललोहितवर्णद्वययोगिद्रव्यावष्टम्भात् कापोतलेश्या, लोहितवर्णद्रव्यावष्टम्भात् तेजोलेश्या, पीतवर्णद्रव्यावष्टम्भात् पद्मलेश्या,शुक्लवर्णद्रव्यावष्टम्भात् शुक्ललेश्या भवतीति बोध्यम्—तत्रान्तिमास्तिस्र' क्रमश इष्टा इष्टतरा इष्टतमा आद्यास्तिस्रः क्रमश' अनिष्टतमा अनिष्टतरा अनिष्टा चेत्यवधेयम्, इत्येवं सर्वे मिलित्वा एकविंशतिभेदा औदयिकभावा' सन्ति, यद्यपि

की गति—नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति, (५-८) चारकषाय—क्रोध, मान, माया, लोभ (९-११) तीन वेद—स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद (१२) मिथ्यादर्शनि (१३) अज्ञान (१४) अविरति—असयमत्व (१५) असिद्धत्व (१६-२१) छह लेश्याएँ—कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या, तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या ।

जो श्लिष्ट हो अर्थात् सम्बद्ध हो, उन्हें लेश्या कहते है । मनोयोग के निमित्त से उत्पन्न होने वाले परिणाम विशेष लेश्या कहलाते है । अथवा जो कर्मपुद्गल लिश्यन्ते अर्थात् आत्मा के साथ एकमेक हो जाएँ उन्हे लेश्या कहते है । लेश्या दो प्रकार की है—द्रव्यलेश्या और भाव-लेश्या । कृष्ण आदि वर्ण वाले द्रव्यविशेषको द्रव्यलेश्या कहते है और कृष्ण आदि द्रव्योके निमित्तसे उत्पन्न होने वाला अध्यवसाय को भावलेश्या कहते हैं । यह भावलेश्या कर्मबन्ध का कारण होती है ।

कृष्ण वर्ण वाले द्रव्य के निमित्त से जो अशुद्ध परिणाम विशेष उत्पन्न होता है, वह कृष्णलेश्या कहलाता है । **'जिस लेश्या वाले द्रव्यों को जीव ग्रहण करता है उसी लेश्या के अनुरूप उसके परिणाम होते हैं'** ऐसा प्रज्ञापना सूत्र के लेश्यापद में कहा है । इसी प्रकार नील द्रव्य के निमित्त से नीललेश्या होती है । नील और रक्त दोनों वर्ण वाले द्रव्य के निमित्त से कपोतलेश्या, रक्त वर्ण वाले द्रव्य के निमित्त से तेजोलेश्या, पीत वर्ण वाले द्रव्य के निमित्त से पद्मलेश्या और शुक्ल वर्ण वाले द्रव्य के निमित्त से शुक्ललेश्या उत्पन्न होती है । वहां अन्तिम तीनों लेश्याएँ क्रमिक इष्ट, इष्टतर, इष्टतम होती है आदि की तीनों लेश्याएँ क्रमश' अनिष्टतम, अनिष्टतर, अनिष्ट होती है ।

अनुयोगद्वारसूत्रे षड्भावाधिकारे औदयिकस्य बहवो भेदा' वक्ष्यमाणरीत्या प्रतिपादिता' सन्ति तथापि सूत्रेऽस्मिन् सक्षेपेणैव तस्य तावदौदयिकभावस्य वर्णितत्वेन तेषां सर्वेषामपि—औदयिकभावानां सूत्रोक्तैकविंशतिभेदेष्वेवान्तर्भावेण न—कोऽपि दोष' तथाहि——से किं तं उदइए ? उदइए दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—उदइए य उदयनिप्फण्णे य । से किं तं उदइए ? उदइए अट्ठण्हं कम्मपयडीणं उदएणं, से त्तं उदइए । से किं तं उदयनिप्फण्णे ? उदयनिप्फण्णे दुविहे पण्णत्ते तं जहा—जीवोदयनिप्फन्ने य अजीवोदयनिप्फन्ने य । से किं तं जीवोदयन्निप्फण्णे? जीवोदयनिप्फण्णे अणेगविहे पण्णत्ते, तं जहा णेरइए तिरिक्खजोणिए मणुस्से देवे पुढविकाइए जाव तसकाइए कोहकसाई जाव लोहकसाई, इत्थीवेदए पुरिसवेदए णपुंसगवेदए, कण्हलेसे जाव सुक्कलेसे, मिच्छादिट्ठी अविरए असण्णी, अण्णाणी आहारए छउमत्थे संसारत्थे असिद्धे से तं जीवोदयनिप्फन्ने । से किं तं अजीवोदयनिप्फन्ने अजीवोदयनिप्फण्णे अणेगविहे पण्णत्ते तं जहा——उरालियं सरीरं, उरालियसरीरपयोगपरिणामियं वा दव्वं, एवं वेउव्वियं वा सरीरं, वेउव्वियसरीरपयोगपरिणामियं वा दव्वं आहारगं सरीरं, तेयगं सरीरं, कम्मगं सरीरं च भाणियव्वं, पयोगपरिणामिए वण्णे गंधे रसे फासे, से तं अजीवोदयनिप्फण्णे, से तं उदयनिप्फण्णे, से त्तं उदइए ॥ इति ॥

छाया—अथ कस्तावदौदयिक' ? औदयिक. द्विविध' प्रज्ञप्त' तद्यथा-औदयिकश्च उदयनिष्पन्नश्च, अथ कस्तावदौदयिक' ? औदयिकः अष्टानां कर्मप्रकृतीनामुदयेन, स तावदौदयिक' । अथ कस्तावदुदयनिष्पन्न' ? उदयनिष्पन्न' द्विविध' प्रज्ञप्त तद्यथा जीवोदयनिष्पन्नश्च अजीवोदयनिष्पन्नश्च, अथ कस्तावज्जीवोदयनिष्पन्न' ? जीवोदयनिष्पण्ण अनेकविध. प्रज्ञप्त' तद्यथा—नैरयिक तिर्यग्योनिकः मनुष्य' देव' पृथिवीकायिक' यावत् त्रसकायिक' क्रोधकषायी यावद् लोभकषायी स्त्रीवेदक पुरुषवेदक' नपुसकवेदक' ।

इस प्रकार सब मिला कर औदयिक भाव के इक्कीस भेद होते है । यद्यपि अनुयोगद्वार सूत्र में छ' भावो के प्रकरण में औदयिक भाव के बहुत से भेद बतलाए गए है, जिनका कथन आगे किया जाएगा, तथापि उन सब औदयिक भावो का सूत्र में कथित इक्कीस भेदो में ही समावेश हो जाता है, अतएव कोई दोष नहीं समझना चाहिए । अनुयोगद्वार सूत्र का कथन इस प्रकार है—

'औदयिक भाव कितने प्रकार का है ? औदयिकभाव दो प्रकार का कहा गया है— औदयिक और उदयनिष्पन्न । औदयिकभाव क्या है ? औदयिकभाव आठ कर्मप्रकृतियों के उदय से होता है वही औदयिक है । उदयनिष्पन्न क्या है ? उदयनिष्पन्न दो प्रकार का कहा गया है—जीवोदयनिष्पन्न और अजीवोदयनिष्पन्न ।

जीवोदयनिष्पन्न किसे कहते है ? वह अनेक प्रकार का कहा गया है, यथा— नैरयिक तिर्यंच, मनुष्य, देव, पृथिवीकायिक, यावत्, त्रसकायिक, क्रोधकषायी यावत् लोभकषायी, स्त्री-

कृष्णलेश्यो यावत् शुक्ललेश्यः मिथ्या दृष्टि अविरतः असञ्ज्ञी अज्ञानी, आहारक' छद्मस्थः सयोगी ससारस्थः असिद्धः, स एष जीवोदयनिष्पन्न' ।

अथ कस्तावद् अजीवोदयनिष्पन्न' ? अजीवोदयनिष्पन्न अनेकविधः प्रज्ञप्त', तद्यथा—औदारिक वा शरीरम्, औदारिकशरीरप्रयोगपारिणामिक वा द्रव्यम् वैक्रियं वा शरीरम् वैक्रियशरीरप्रयोगपरिणामिकं वा द्रव्यम्, एवमाहारकं शरीरम् तैजस शरीरम्, कार्मणशरीरम् च भणितव्यम्, प्रयोग पारिणामिको वर्णो गन्धो रस' स्पर्श' स एष' अजीवोदयनिष्पन्न', स एप उदयनिष्पन्नः स एष औदयिक इति।

औपशमिकस्य भावस्य सक्षेपेण द्वौ भेदौ स्त सम्यक्त्वं, चारित्रञ्चेति अत्रापि अनुयोगद्वारसूत्रे षड्भावाधिकारे यद्यपि वक्ष्यमाणरीत्या औपशमिकभावस्य बहवो भेदा' प्रतिपादिता सन्ति तथापि सूत्रेऽस्मिन् सक्षेपेणेव वर्णितत्वेन सम्यक्त्वचारित्ररूपद्वैविध्यमध्ये—एव तेषां सर्वेषामपि अन्तर्भावो बोध्यः तथा चोक्त-तत्र—**"से किं तं उवसमिए ? उवसमिए दुविहे पण्ण त्ते तं जहा—उवसमे य, उवसमनिष्फण्णे य से किं तं उवसमे ? उवसमे मोहणिज्जस्स कम्मस्स उवसमेणं, से तं उवसमे से किं तं उवसमनिफ्फण्णे २, । अणेगविहे पण्णत्ते, तं जहा—उवसंतकोहे जावउवसंतलोभे, उवसंतपेज्जे उवसंत दोसे, उवसंतदंसणमोहणिज्जे उवसंतमोहणिज्जे, उवसमिआ सम्मत्तलद्धी, उवसमिआ चरित्तलद्धी, उवसंतकसाय छउमत्थवीयरागे, से तं उवसमनिफ्फण्णे, से तं उवसमिए"** इति

वेदक, पुरुषवेदक, नपुंसकवेदक, कृष्णलेश्यावान् यावत् शुक्ललेश्यावान् मिथ्यादृष्टि, अविरत, असञ्ज्ञी अज्ञानी आहारक छद्मस्थ सयोगी ससारस्थ असिद्ध यह जीवोदय निष्पन्न है ।

अब अजीवोदयनिष्पन्न क्या है ? वह भी अनेक प्रकार का कहा गया है यथा— औदारिक शरीर औदारिकशरीरप्रयोगपारिणामिक द्रव्य वैक्रिय शरीर वैक्रिय शरीर प्रयोगपारिणामिक द्रव्य इसी प्रकार आहारक शरीर तैजस शरीर कार्मण शरीर भी कह लेना चाहिए । प्रयोग परिणामिक वर्ण गध रस स्पर्श यह सब अजीवोदयनिष्पन्न है । यह उदयनिष्पन्न का वर्णन समाप्त हुआ और साथ ही औदयिकभाव का प्रतिपादन भी पूर्ण हुआ ।

औपशमिकभाव सक्षेप से दो प्रकार का है—सम्यक्त्व और चारित्र। अनुयोगद्वारसूत्र में औपशमिकभाव के भी अनेक भेद कहे गए है किन्तु इस सूत्र में सक्षेप में ही वर्णन है अत सम्यक्त्व और चरित्र-इन दो भेदोंमें ही उनसबका अन्तर्भाव समझ लेना चाहिए । अनुयोग द्वार में कहा है—

औपशमिक भाव कितने प्रकार का है ? औपशमिक भाव दो प्रकार का है—औपशमिक और उपशमनिष्पन्न । औपशमिक भाव क्या है ? मोहनीय कर्म के उपशम से औपशमिक भाव उत्पन्न होता है। उपशमिकानिष्पन्न भाव क्या है ? उपशमनिष्पन्न के अनेक भेद है, यथा—उपशान्तक्रोध यावत् उपशान्तलोभ, उपशान्तप्रेम, उपशान्तशम, उपशान्तदर्शनमोहनीय, उपशान्तचारित्रमो-

छाया- अथ कस्तावदौपशमिकः ? उपशमिकः द्विविध' प्रज्ञप्तः तद्यथा—औपशमिकश्च उपशमनिष्पन्नश्च अथ कस्तावदौपशमिक ? मोहनीयस्य कर्मण उपशम' स एष तावदौपशमिक'। अथ कस्तावद उपशमनिष्पन्नः? उपशमनिष्पन्नः, अनेकविध' प्रज्ञप्त' तद्यथा—उपशान्तक्रोध', यावदुपशान्तलोभ' उपशान्तप्रेमा,उपशान्तद्वेष' उपशान्तदर्शनमोहनीय', उपशान्तमोहनीय' उपशमितसम्यक्त्वलब्धिः उपशमिता चारित्रलब्धि' उपशान्तकषायच्छद्मस्थवीतराग., स एष उपशमनिष्पन्न स एष औपशमिक इति, पूर्वोक्तस्वरूपस्य क्षायिकस्य भावस्य नवभेदा' सन्ति, तद्यथा——ज्ञानं १, दर्शन २, दानं ३, लाभ ४ भोग. ५ उपभोगः ६, वीर्यम् ७, सम्यक्त्वम् ८, यथाख्यातचारित्रञ्चेति तत्र सकलज्ञेयग्राहिसमस्तज्ञानावरणक्षयजन्य केवलज्ञानमत्र ज्ञानपदेन गृह्यते नान्यत्, ज्ञानमसंभवात् दर्शनञ्चात्र समस्तदर्शनावरणक्षयजन्य केवलदर्शनरूपं गृह्यते न तदन्यच्चाक्षुषादिकमसभवात्, दानञ्च स्वस्यातिसर्गरूपमवसेयम् तच्च सकलदानान्तरायकर्मक्षयात् त्रिभुवनविस्मयाधायक यथेप्सितमर्थिनो न कदाचित् प्रतिहन्यते प्रयच्छत इति लाभश्चान्यस्मात् समस्तसाधन—प्राप्तिरूपो बोध्य', स च समस्तलाभान्तरायकर्मक्षयादचिन्त्यमाहात्म्यविभूतिरूप आविर्भवति ये यत् प्रार्थ्यते तत् सर्वमेव लभ्यते नतु प्रतिषिध्यते भोगश्च शुभविषयकसुखानुभवरूपो बोध्य' स च सकलभोगान्तरायकर्मक्षयाद् यथेष्टमुपपद्यते न तु तस्य कदाचित् प्रतिवन्धो भवति नतु अभिलषित न भवतीति, सत्यां विषयसम्पदितथोत्तरगुणप्रकर्षादविषयसम्पदनुभवरूप उपभोग' स च समस्तोपभोगान्तरायकर्मक्षये

हनीय उपशान्त सम्यक्त्वलब्धि, उपशान्ताचारित्रलब्धि, उपशान्त कषाय छद्मस्थवीतराग। यह उपनाशमनिष्पन्न और औपशामिक भाव का निरूपण समाप्त हुआ।

जिसका स्वरूप पहले कहा जा चुका है उस क्षायिक भाव के नौ भेद है, यथा—(१) ज्ञान (२) दर्शन (३) दान (४) लाभ (५) भोग (६) उपभोग (७) वीर्य (८)सम्यक्त्व और (९) यथाख्यातचारित्र।

समस्त ज्ञेय पदार्थों को जानने वाला एव सम्पूर्ण ज्ञानवर्णीय कर्म के क्षय से उत्पन्न होने वाला केवलज्ञान ही यहाँ 'ज्ञान' शब्द से ग्रहण करना चाहिए केवलज्ञान के अतिरिक्त शेष चार ज्ञान क्षायिक नहीं, क्षायोपशमिक है, क्योकि वे ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होते है। दर्शन शब्द से यहाँ सम्पूर्ण दर्शनावरण कर्म के क्षय से उत्पन्न होने वाला केवल दर्शन ही समझना चाहिए, चक्षुदर्शनादि नहीं। चक्षुर्दर्शनादि क्षायिक नहीं हो सकते। वे क्षयोपशम से उत्पन्न होते है। 'स्व' का उत्सर्ग करना दान कहलाता है। यह दान सम्पूर्ण दानान्तराय कर्म के क्षय से उत्पन्न होता है, तीनो लोको के जीवों को चकित कर देने वाला होता है और अर्थी जनो के द्वारा कभी प्रतिहत नहीं होता।

दूसरे से समस्त साधनो की प्राप्ति होना लाभ है। वह सम्पूर्ण लाभान्तराय, कर्म के क्षय से अचिन्तनीय माहात्म्य एव विभूति रूप मे उत्पन्न होता है। जिसकी भी इच्छा की जाती है, इसके द्वारा उस सब की प्राप्ति हो जाती है, कभी कहीं निषेध नहीं होता।

सति यथेष्टमुपतिष्ठते, वीर्यन्तु आत्मनोऽव्याहतशक्तिविशेषरूप बोध्यम्, तच्च समस्तवीर्यान्तरायकर्म-क्षयादप्रतिहतं सामर्थ्यं भवति, सम्यक्त्वञ्चानन्तानुबन्धिकषायमिथ्यात्वमिश्रसम्यक्त्वदर्शनसप्तकात्य-न्तिकक्षयाद् जीवादितत्त्वार्थश्रद्धान् लक्षणमप्रतिहतमसहार्यमुपजायते, तथा च कषायचतुष्टयमिथ्यात्व-मोहनीयमिश्रमोहनीयसम्यक्त्वमोहनीय इत्येतत्सप्तप्रकृतीना क्षयात् क्षायिकसम्यक्त्व जायते इति भाव.।

चारित्र पुन' सकलमोहक्षयात् क्षायिकमानिर्भवति इत्येव नवक्षायिकाभावा भवन्तीति भाव., यद्यप्यत्रापि अनुयोगद्वारसूत्रे षड्भावाधिकारेऽवक्ष्यमाणरीत्या क्षायिकस्य भावस्य बहवो भेदा' प्रतिपादिता' सन्ति तथापि सक्षेपेणैव प्रकृते तस्य वर्णिततया तेषां सर्वेषामपि उक्तनवविधेष्वेवान्त-र्भावसभवात् तथा चोक्तम्—"से किं तं खइए' ? खइए दुविहे पण्णत्ते तं जहा—खइए य, खयनि-प्फण्णे य, से किं त खइए२ अट्ठण्हं कम्मपयडीण खएणं से त खइए, से किं तं खयनिप्फण्णे २' अणे गविहे पण्णत्ते त जहा—उप्पण्णणाणदंसणधरे अरहा जिणे केवली खीणआभिणिबोहियणाणावरणे खीणसुयणाणावरणे खीणओहिणाणावरणे खीणमणपज्जवणाणावरणे, खीणकेवलणाणावरणे अणावरणे, निरावरणे, खीणावरणे णाणावरणिज्जकम्मविप्पमुक्के केवलदंसी सव्वदंसीखी णणिद्देखीणणिद्दाणिद्दे खीणपयलेखीणपयलापयले खीणथीणगिद्धीखीणचक्खुदसणावरणेखीणअचक्खुदंसणावरणे खीण ओहि दसणावरणे खीण केवल दंसणावरणे अणावरणे निरवणे खीणावरणे दरिसणावरणिज्जकम्मविप्पमुक्के

शुभ विषयक सुखानुभव भोग कहलाता है। यह सम्पूर्ण भोगान्तराय, कर्म के क्षय से उत्पन्न होते है। इसका कहीं प्रतिघात नहीं होता अर्थात् ऐसा कभी नहीं होता कि इष्ट की प्राप्ति न हो।

विषय—सम्पत्ति की विद्यमानता मे उत्तर गुणो के प्रकर्ष से विषय—सम्पत्ति का अनुभव करना उपभोग है। सम्पूर्ण उपभोगान्तराय कर्म के क्षय से यथेष्ट उपभोग की प्राप्ति होती है।

आत्मा की कभी निरुद्ध न होने वाली शक्ति को वीर्य कहते है। सम्पूर्ण वीर्यान्तरण कर्म क्षय से अप्रतिहत सामर्थ्य की प्रप्ति होती है।

अनन्तानुबंधी कषाय, मिथ्यात्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय और सम्यक्त्वमोहनीय, आदि इन सात प्रकृतियों के सर्वथा क्षय हो जाने पर जीवादि तत्त्वों का श्रद्ध न उत्पन्न होना क्षायिक सम्यकत्व है। यह सम्यक्त्व एक बार उत्पन्न होने के पश्चात् नष्ट नहीं होता। तात्पर्य यह है कि चार अनन्तानुबधी कषाय मिथ्यात्वमोहनीय, मिश्र मोहनीय और सम्यक्त्वमोहनीय, इन सात प्रकृतियों के क्षायिक सम्यक्त्व की उत्पत्ति होती है। समस्त मोहनीय कर्म के क्षय से क्षायिक चारित्र प्रकट होता है। ये नौ क्षायिक भाव है।

यद्यपि अनुयोग द्वारा सूत्र में छह भावों के प्रकरण में क्षायिक भाव के बहुत से भेद प्रतिपादित किये गये है, किन्तु यहाँ सक्षेप में ही वर्णन किया गया है, अतएव उन सब का नौ भेदो में समावेश हो जाता है। कहा भी है—

खीणसायावेयणिज्जे खीणअसायावेयणिज्जे अवेयणे निव्वेयणे खीणवेयणे सुभासुभवेयणिज्जकम्मविप्पमुक्के खीणकोहे जावखीणलोहे खीणवेज्जे खीणदोसेखीणदसणमोहणिज्जे खीणचरित्तमोहणिज्जे अमोहे निम्मोहे खीणमोहे मोहणिज्जकम्मविप्पमुक्के खीणणेरइआउए खीणतिरिक्खजोणिआउए खीणमणुस्साउए खीणदेवाउए अणाउए निराउए खीणाउए आउकम्मविप्पमुक्के गइजाइसरीर गोवंगवधण सघयणसठाणअणेगबोदिविदसघायविप्पमुक्के खीणसुभणामे खीणअसुभणामे अणामे निण्णामे खीणनामे सुभासुभणामकम्मविप्पमुक्के खीणउच्चागोएखीणनीआ गोए अगोए निग्गेए खीणगोएउच्चणीयगोत्तकम्म विप्पमक्के खीणदाणंतराए खीणलाभतराए खीणभोगतराए खीणउवभोगतराए)खीणविरियंभतराए अणतराए णिरंतराए खीणतराए अंतारायकम्मविप्पमुक्के सिद्धे बुद्धे मुत्ते परिणिव्वुए अतगडे सव्वदुक्खप्पहीणे, से त खय णिप्फण्णे से त खइए' इति।

छाया—अथ कस्तावत् क्षायिक'? द्विविध प्रज्ञप्त. तद्यथा—क्षायिकश्च क्षयनिष्पन्नश्च अथ कस्तावत् क्षायिक' ? अष्टाना कर्मप्रकृतीना क्षय स एष क्षायिक', अथ कस्तावत् क्षयनिष्पन्न ? अनेक विध' प्रज्ञप्त' तद्यथा उत्पन्नज्ञानदर्शनधरः अर्हन् जिन' केवली क्षीणाभिनिबोधिकज्ञानावरण' क्षीणश्रुतज्ञानावरण क्षीणावधिज्ञानावरण क्षीणमन'पर्यवज्ञानावरण' क्षीणकेवलज्ञानावरण अनावरण निराकरण क्षीणावरण ज्ञानावरणीयकर्मविप्रमुक्त' केवलदर्शी सर्वदर्शी क्षीणनिद्र क्षीणनिन्द्रानिद्र क्षीणप्रचल' क्षीणप्रचलाप्रचल क्षीणस्त्यानगृद्धि' क्षीणचक्षुर्दर्शनावरण क्षीणाचक्षुर्दर्शनावरण क्षीणावधिदर्शनावरण क्षीण-

क्षायिकभाव क्या है? क्षायिक भाव दो प्रकार का कहा गया है, यथा—क्षायिक और क्षयनिष्पन्न। क्षायिक क्या है? क्षायिक आठ कर्मप्रकृतियो से उत्पन्न होता है। क्षयनिष्पन्न क्या? क्षयनिष्पन्न अनेक प्रकार का है, जैसे—उत्पन्नज्ञानदर्शनधर, अर्हन्, जिन, केवली, क्षीणाभिनिबोधिकज्ञानावरण, क्षीणश्रुतज्ञानावरण, क्षीणावधिज्ञानावरण, क्षीणमन पर्यवज्ञानावरण, क्षीणकेवलज्ञानावरण, निरावरण, क्षीणावरण, ज्ञानावणीयकर्मविप्रमुक्त, केवलदर्शी, सर्वदर्शी, क्षीणनिद्र, क्षीणनिद्रानिन्द्र, क्षीणप्रचल, क्षीणप्रचलाप्रचल, क्षीणत्यानगृद्धि, क्षीणचक्षुदर्शनावरण, क्षीणाचक्षुदर्शनावरण क्षीणावधिदर्शनावरण, क्षीणकेवलदर्शनावरण, अनावरण,

निरावरण, क्षीणावरण, दर्शनावरणीयकर्मविप्रमुक्त, क्षीणसातावेदनीय, क्षीण—असातावेदनीय, अवेदन, निर्वेदन क्षीणवेदन शुभाशुभवेदनीयमर्मविप्रमुक्त, क्षीणक्रोधयावत्, क्षीणलोभ, क्षीणप्रेम, क्षीणद्वेष, क्षीणदर्शनमोहनीय, क्षीणचरित्रमोहनीय, अमोह, निर्मोह, मोहनीयकर्मविप्रमुक्त,

क्षीणनैरयिकायु, क्षीणतिर्यंचायु, क्षीणमनुष्यायु, क्षीणदेवायु, अनायु, निरायु, क्षीणायु, आयुकर्मविप्रमुक्त,

गति—जाति—सरीर—अगोपांग—वधन—सघानन—सहनन—सस्थान—अनेकशरीरवृन्दसघातविप्रमुक्त, क्षीणशुभनाम, क्षीण—अशुभनाम, नाम, निर्नाम, क्षीणनाम, शुभाशुभनामकर्मविप्रमुक्त, क्षीणउच्चगोत्र, क्षीणनीचगोत्र, अगोत्र, निगोत्र क्षीणगोत्र, गोत्रकर्मविप्रमुक्त,

केवलदर्शनावरण' अनावरण. निरावरण दर्शनावरणीयकर्मविप्रमुक्त क्षीणसातावेदनीय क्षीणासाता वेदनीय' अवेदन' निर्वेदन क्षीणवेदन' शुभाशुभवेदनीयकर्मविप्रमुक्त क्षीणक्रोधो यावत् क्षीणलोभ क्षीणाप्रेमाक्षीणदोष क्षीणदर्शनमोहनीय क्षीणचारित्रमोहनीय अमोह निर्मोह क्षीणमोह', मोहनीयकर्मविप्रमुक्त' क्षीणनैरयिकायुष्क. क्षीणतिर्यग्योनिकायुष्क' क्षीणमनुष्यायुष्क' क्षीणदेवायुष्क, अनायुष्क, निरायुष्क क्षीणायुष्क आयु कर्मविप्रमुक्त गतिजातिशरीराङ्गोपाङ्गबन्धनसघातनसहनन सस्थानानेक शरीर वृन्दसघातविप्रमुक्त क्षीणशुभनामा क्षीणाशुभनामा अनामा निर्नामा क्षीणनामा शुभाशुभनामकर्म विप्रमुक्त क्षीणोच्चगोत्र क्षीणनीच गोत्र' अगोत्र निगोत्र क्षीणगोत्र उच्चनीचगोत्रकर्मविप्रमुक्त क्षीणदानांतराय । क्षीणलाभान्तराय. क्षीणभोगान्तराय क्षीणोपभोगान्तराय क्षीणवीर्यान्तराय अनन्तरायो निरन्तराय क्षीणान्तराय अन्तरायकर्मविप्रमुक्त. सिद्धो बुद्धो मुक्त परिनिर्वृत्त अन्तकृत सर्वदु खप्रहीण स एष क्षयनिष्पन्न स एष क्षायिक इति क्षायोपशमिकस्य भावस्य पूर्वोक्त स्वरूपस्याष्टादशभेदा सन्ति तद्यथा—चतुर्भेदं ज्ञानम् ४ मतिश्रुतावधिमन' पर्यवज्ञानभेदात् त्रिभेदमज्ञानम् ३ मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानभेदात् त्रिभेद दर्शनम् ३ चक्षुर्दर्शनाचक्षुर्दर्शनावधिदर्शनभेदात् पञ्चभेदालब्धय ५ दानलाभभोगोपभोगवीर्यलब्धि भेदात् सम्यक्त्वम् १ चारित्रं ' सयमासयमश्च १ इत्येते मिलिता सन्तोऽष्टादशभेदा' क्षायोपशमिका भावा भवन्तीति माव तत्र मतिश्रुतावधिमन पर्यवज्ञानचतुष्टयावरणीय

क्षीणदानान्तराय, क्षीणलाभान्तराय, क्षीणभोगान्तराय, क्षीणोपभोगान्तराय, क्षीणवीर्यान्तराय, अनन्तराय, निरन्तराय, क्षीणान्तराय, अनन्तरायकर्मविप्रयुक्त, सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, परिनिर्वृत्त, अन्तकृत, सर्वदु खप्रहीण, यह सब क्षयनिष्पन्न है।

पूर्वकथित स्वरूप वाले क्षायोपनामिक भाव के अठारह भेद है, यथा—चार प्रकार का ज्ञान अर्थात् मतिज्ञान,श्रुतज्ञा न अवधिज्ञान और मन पर्यवज्ञान, तीन प्रकार का अज्ञान मत्यज्ञान, श्रुतज्ञान और बिभागज्ञान तीन प्रकार का दर्शन—चक्षुदर्शन अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन पाँच प्रकार की लब्धियाँ—दानलब्धि, लाभलब्धि, भोगलब्धि, उपभोगलब्धि और वीर्यलब्धि सम्यक्त्व, चरित्र और सयमासयम। ये सब मिलकर क्षायोपना मियभा के अठारह भेद होते है।

मति ज्ञानावरणीय, श्रुतज्ञानावरणीय अवधिज्ञानावरणीय और मन.पर्यवज्ञानावरणीय कर्मों के स्पर्द्धक सर्वधाती भी होते है और देशघाती भी होते है। जब समस्त सर्वघाती स्पर्द्धक विनष्ट हो जाते है और आत्मा की विशुद्धि के कारण समय समय मे देशघाती भी स्पर्द्धको के अनन्त भाग क्षय को प्राप्त हो जाते है और उनके भाग उपशान्त हो जाते है, तब सम्यग्दर्शन के साहचर्य से जीव ज्ञानी होता है।

क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाले मति ज्ञान आदि जब मिथ्यात्व के साथ होते है तव अज्ञान अर्थात् मिथ्याज्ञान कहलाते हैं। यहाँ 'अज्ञान' शब्द से कुत्सित अर्थ में नञ् समास किया गया

कर्मणा सर्वोपघातीनि देशोपघातीनि च स्पर्द्धकानि (फेड्डकानि) भवन्ति तत्र समस्तेषु फड्डकेषु विनष्टेषु देशोपघाति फड्डकानां च समये समये आत्मविशुद्ध्यपेक्ष्यमनन्तैर्भागै क्षय प्राप्नुवदभिर्देशोप घातिभिर्भागैश्चोपशान्तै' सम्यग्दर्शन साहचर्याद् ज्ञानी भवति तच्चास्य क्षयोपशमजन्यं मत्यादिज्ञान चतुष्टय भवति, ज्ञानमेव मिथ्यादर्शनसहचरितमज्ञान भवति नञ कुत्सनार्थकत्वादपुत्रवन् मिथ्या दृष्टेरवधिर्विभङ्गो व्यपदिश्यते भङ्ग' प्रकार. वे' कुत्सार्थकत्वाद्विगर्हितोभङ्गाविभङ्गविभङ्गरूप ज्ञान विभङ्गज्ञानमुच्यते तथा चैतत्त्रिविधमपि ज्ञानावरणक्षयोपशमजन्यमवगन्तव्यम् ।

चक्षुर्दर्शनश्रोत्राद्यात्मकाचक्षुर्दर्शनावधिदर्शत्रितयमपि दर्शनावरणकर्मक्षयोपशमादुपजायते, दानादिलब्धय. पञ्चापि अन्तरायकर्मणां क्षयोपशमाद्भवन्ति सम्यक्त्वञ्चानन्तानुवन्धि कषायदर्शनमोहक्षयोपशमाद् भवन्ति सम्यक्त्वञ्चानन्तानुबन्धि कषायदर्शनमोहक्षयोपशमादावि भवति तथा चानन्तानुबन्धिकषाय चतुष्टय मिथ्यामोहनीय मिश्रमोहनीय सम्यक्त्वमोहनीय इत्येतासां सप्तप्रकृतीनां क्षयोपशमात् क्षयोपशमिकसम्यक्त्व भवतीति भाव' । चारित्रञ्च सकलविंशतिलक्षणम् दर्शनमोहकषाय द्वादशकक्षयोपशमादुपजायते सयमश्चासावसयमश्चेति सयमासंयम सकल्पकृतात् प्राणातिपातन्निवृत्तिरूप', आरम्भकृतादनिवृत्तिरूपश्च दर्शनमोहापोहादनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानकषायाष्टकक्षयोपशमादुपजायते इति भाव , यद्यप्यत्रापिअनुयोगद्वारसूत्रे षड्भावाधिकारे वक्ष्यमाणरीत्या

है, जैसे कुपुत्र को 'अपुत्र' कहते है । मिथ्यादृष्टि जीव का अवधिज्ञान विभग कहलाता है, भग का अर्थ 'प्रकार' है । 'वि' उपसर्ग कुत्सित अर्थ मे है । अर्थात् अप्रशस्त भग को विभग कहते है । विभग रूप ज्ञान विभंगज्ञान कहलाता है । यह तिनो प्रकार का अज्ञान ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से ही उत्पन्न होता है । चक्षुदर्शन, श्रोत्रादि रूप अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन, यह तीनो दर्शनावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होते है । दान आदि पाँच लब्धियाँ पाँच प्रकार के अन्तराय कर्म के क्षयोपशम से होती है । सम्यक्त्व अनन्तानुबघी कषाय तथा दर्शनमोह कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है । अर्थात् चार अनन्तानुबंधी कषाय, मिथ्यात्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय और सम्यक्त्वमोहनीय, इन सात कर्मप्रकृतियो के क्षयोपशम से क्षयोपशमिक सम्यक्त्व उत्पन्न होता है ।

सर्वविदित चारित्र दर्शनमोहनीय और वारह कषायो के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है । सयमासयम अर्थात् देवाविरति, जिसमे सकल्पपूर्वक की जाने वाली हिंसा का त्याग किया जाता है और आरभी हिंसा का त्याग नहीं किया जाता, वह दर्शनमोहनीय तथा अनन्तानुवधी कषाय और अप्रत्याख्यानी कषाय के क्षयोपशम से उत्पन्न होती है ।

यद्यपि अनुयोगद्वारसूत्र में, छह भावो के प्रकरण मे, क्षयोपशमिक भाव के भी बहुत से भेद कहे गये है, तथापि संक्षेप में प्रतिपादित इन अठारह भेदो में ही उन सवका समावेश हो जाता है, अतएव पूर्वोक्त इस प्रकार है—

क्षायोपशमिकभावस्यापि बहवो भेदाः प्रतिपादितास्तथापि संक्षेपेण वर्णितेषु अष्टादशविधेष्वेव तेषां सर्वेषामपि, अन्तर्भावो भवतीति पूर्वोक्तरीत्या न कश्चिद् विरोधो भवति, तथा हि—

"से किं तं खओव समिए ? दुविहे पण्णत्ते तं जहा खओव समिए य खओव मनिप्फण्णे य। से किं तं खओवसमे ? चउण्हं घाइकम्माणं खओव समेणं, तं जहा णाणावरणिज्जस्स दंसणवरणिज्जस्स दंसणावरणिज्जस्समोहणिज्जस्स अंतरायस्स खओव समेणं से तं खओ-वसमे से किं तं खओवसमनिप्फण्णे ? अणेगविहेपण्णत्ते तं जहा—खओव समिआ आभि णिबोहिअ-णाणलद्धी जाव खओवसमिआ मणपज्जवणाणलद्धी, खओव समिआमइ अण्णाणलद्धी खओवसमिआ सुअ अण्णाणलद्धी खओवसमिआ विभंगणाणलद्धी खओव समिआ चक्खुदंसणलद्धी अचक्खुदंसणलद्धी ओहि दंसणलद्धी एवं सम्मदं सणलद्धी मिच्छादं सणलद्धी सम्ममिच्छादं सणलद्धी खओव समिआ सामाइअचरित्तं लद्धी एवं छेदोवट्ठाणलद्धी परिहारविसुद्धिअलद्धी सुहुम संपरायचरित्तलद्धी एवं चरित्ताचरित्त लद्धी खओव समिआ दाणलद्धी एवं लाभलद्धी भोगलद्धी उवभोलद्धी खओव समिआ वीरि-अलद्धी एवं पंडिअवीरिअलद्धी बालवीरिअ लद्धी बालपंडिअवीरिअलद्धी खओव समिओ सोइंदियलद्धी जाव खओव समिआ फासिंदियलद्धी खओवसमिए आयारंगधरे एवं सुअ-गडंगधरे ठाणंगधरे समवायंगधरे विवाह पण्णत्तिधरे नायाधम्मकहाधरे उवास गदसाधरे अंतगडदसाधरे अनुत्तरोववइअदसाधरे विवागसुअधरे खओव समिए दिट्ठिवायधरे खओव समिए णवपुव्वी खओव समीए। जाव चउद्दसपुव्वी खओव समिए गणी खओव समिए वायए, से तं खओव सम निप्फण्णे से तं खओवसमनिप्फण्णे से तं खओव समिए"

'क्षायोपशमिक भाव क्या है ? क्षायोपशमिक भाव दो प्रकार का कहा गया है—क्षायो-पशमिक और क्षयोपशमनिष्पन्न। क्षायोपशमिक क्या है ? चार घातिया कर्मों के अर्थात् ज्ञानाव-रणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तरायकर्म के क्षयोपशम से क्षायोपशमिक भाव होता है।

क्षयोपशमनिष्पन्नभाव क्या है ? वह अनेक प्रकार का कहा गया है, जैसे—क्षायोपशमिक अभिनिबोधिक ज्ञानलब्धि यावत् क्षायोपशमिक मनःपर्यवज्ञानलब्धि, क्षायोपशमिक मत्यज्ञान-लब्धि, क्षायोपशमिक श्रुताज्ञानलब्धि, क्षयोपशमि विभ्यज्ञानलब्धि क्षायोपशमिक चक्षुदर्शनलब्धि, अवधिदर्शनलब्धि, इस प्रकार सम्यग्दर्शनलब्धि, मिथ्यादर्शनलब्धि, सम्यङमिथ्यादर्शनलब्धि, क्षायोपशमिक चारित्रलब्धि, छेदोपस्थापनालब्धि, परिहार विशुद्धलब्धि, सूक्ष्मसाम्परायलब्धि, चारित्राचारित्रलब्धि, क्षायोपशमिक दानलब्धि, क्षायोपशमिक लाभलब्धि, भोगलब्धि, उपभोग लब्धि, वीर्यलब्धि, पण्डितवीर्यलब्धि, बालवीर्यलब्धि, बालपण्डितवीर्यलब्धि, क्षायोपशमिक श्रोत्रे-न्द्रियलब्धि, यावत् क्षायोपशमिक स्पर्शेन्द्रियलब्धि,

छाया—अथ कस्तावत् क्षायोपगमिक' [१] द्विविध' प्रज्ञप्तः तद्यथा— क्षायोपशमिकश्च क्षायोपशमनिष्पन्नश्च अथ— कस्तावत् क्षापोपशमिक' [१] चतुर्णा घातिकर्मणां क्षायोपशमेन, तद्यथा— ज्ञानावरणीयस्य दर्शनावरणीयस्य मोहनीयस्य अन्तरायस्य क्षयोपशमेन न एष क्षयोपशमिक' अथ कस्तावत् क्षयोपशमनिष्पन्न. [१] अनेक विध. प्रज्ञप्तः तद्यथा क्षयोपगमिता आभिनिबोधिक ज्ञानलब्धि. यावत् क्षायोपशमिता मनः पर्यवज्ञानलब्धि क्षयोपशमिता मत्यज्ञानलब्धि' क्षयोपगमिता श्रुताज्ञानलब्धिः क्षयोपशमिता विभङ्गज्ञानलब्धि' क्षयोपशमिता चक्षुर्दर्शनलब्धि. अचक्षुर्दर्शनलब्धि अवधिदर्शनलब्धि. एवं सम्यग्दर्शनलब्धि मिथ्यादर्शनलब्धि' सम्यग्मिथ्यादर्शनलब्धिः क्षयोपशमिता-सामयिकचारित्रलब्धि एव छेदोपस्थानलब्धि' परिहार विशुद्धिकलब्धि', सूक्ष्म सपराय चारित्र-लब्धिः, एवं चारित्राचारित्रलब्धि' क्षयोपशमितादानलब्धि' भोगलब्धि' उपभोगलब्धि क्षयोपगमिता वीर्यलब्धि' एवं पण्डितवीर्यलब्धि. बालवीर्यलब्धि, बालपण्डितवीर्यलब्धि' क्षयोपशमिताश्रोत्रेन्द्रियलब्धि' यावत् क्षयोपगमितास्पर्शनेन्द्रियलब्धि' क्षयोपगमितः आत्माङ्गधर' एवं श्रुताङ्गधर' स्थानाङ्गधरः समवायाङ्गधर' विवाह प्रज्ञप्तिधर' ज्ञाताधर्मकथाङ्गधर' उपासकदशाङ्गधरः अन्तकृतदशाङ्गधर' अनुत्तरोपपातिकदशाङ्गधर' अन्तकृतदशाङ्गधर' अनुत्तरोपपातिकदशाङ्गधर' प्रश्नव्याकरणधर' विपाक-श्रुतधरः श्रयोपगमित' दृष्टिवादधर' क्षयोपशमितो नवपूर्वीक्षयोपशमित' यावत् चतुर्दगपूर्वीक्षयो-पशमित' गणीक्षयोपगमिकोवाचकः स एष क्षयोपशमनिष्पन्न स एष क्षायोपगमिकः इति ।

क्षायोपगमिक आचारांगधर, इसी प्रकार सूत्रकृतांगधर, स्थानागधर, समवायांगधर, विवाहप्रज्ञप्तिधर, ज्ञातधर्मकथाधर, उपासकदशाधर, अन्तकृद्दशाधर, अनुत्तरौपपातिकदशाधर, प्रश्नव्याकरणधर, विपाकश्रुतधर, क्षायोपगमिक दृष्टिवादधर, क्षयोपशमिक नवपूर्वी, क्षायोपशमिक यावत् चतुर्दशपूर्वी, क्षायोपशमिक गणी क्षायोपनामिक वाचक, यह सब क्षायोपशमनिष्पन्न के भेद कहे गये है ।

पारिणामिकभाव तीन प्रकार का होता है—जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व । जीव का भाव अर्थात् जीवपन, जीवत्व कहलाता है अर्थात् असख्यात प्रदेशमय चैतन्य । जो जीव सिद्धिग. मन के योग्य हो वह भव्य और जो सिद्धिगमन के योग्य न हो वह अभव्य कहलाता है इनके भाव को भव्यत्व और अभव्यत्व कहा गया है । जीव के ये तीनो भाव स्वभाविक ही है, कर्मकृत नहीं अर्थात् किसी कर्म के उदय, उपनाम, क्षयया क्षयोपशम वे उत्पन्न नहीं होते । आत्मा अपने स्वभाव से ही जीवत्व, भव्यत्व या अभव्यत्व रूप से परिणतशील होता है ।

यद्यपि अस्तित्व, अन्यत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, गुणवत्व' असर्वगतत्व, अनादिकर्मसन्तानवद्धत्व, प्रदेगवत्व, अरूपित्व, नित्यत्व आदि भी जीव के अनादि पारिणामिक भाव हैं और अनुयोगद्वारसूत्र में, छह भावो के प्रकरण मे अन्य बहुत से भेद भी प्रतिपादित किए गए है तथा पि यहाँ सक्षेप मे ही पारिणामिकभाव का निरूपण किया गया है, अतएव इन तीन भेदों मे ही उन सबका समावेश हो जाता है । अनुयोगद्वार मे कहा है—

पारिणामिको भावास्तावत् त्रिविध· जीवत्वभव्यत्वाभव्यत्वभेदात् तत्र जीवभावे जीवत्वम् जीव एव जीवत्व वा असख्येयप्रदेशं चैतन्यमित्यर्थ. भव्या सिद्धिर्यस्यासौ भव्य, भव्य एव भव्यत्वम् सिद्धिगमनायोग्य· कदाचिदपि यो न सिद्धि प्राप्स्यति स. अभव्य अभव्य एव अभव्यत्वम् एते त्रयोऽपि भावाः जीवस्य स्वाभाविका एव सन्ति न तु कर्मकृता इत्यर्थ जीवत्वभव्यत्वाभव्यत्व रूपेण स्वभावत एव आत्मापरिणमनशीलो वर्तते इति भाव. यद्यपि अस्तित्वाऽन्यत्व–कर्तृत्व–भोक्तृत्वगुणवत्त्वाऽसर्वगतत्वाऽनादिकर्मसन्तानबद्धप्रदेशवत्त्वाऽरूपत्व–नित्यत्वादयोऽपिजीवस्यानादिपारिणामिका भावा सन्ति एवमन्येऽपि वहवो भावा अनुयोगद्वारसूत्रे षड्भावाधिकारे प्रतिपादिता सन्ति तथापि सक्षेपेणैव पारिणामिकभावस्य वर्णितत्वेन तत्रैव तेषा सर्वेषामपि अन्तर्भावात् तथा चोक्तम्–"**से किं तं पारिणामिए। दुविहे पण्णत्ते–तं जहा—साइ पारिणामिए अणाइ पारिणामिए य से किं तं साइ पारिणामिए। अणेगविहे पण्णत्ते तं जहा–उक्कावाया दिसादाहागज्जियं विज्जूणिग्घायाजूवयाजक्खादित्ता धूमिआ महिआ रयुग्घाया चंदोवराग गाचंदपरिवेसा सूरपरिवेसा पडिचंदा पडिसूरा इंदधणु अदगमच्छाकविहसिया अमोहा वासा वासधरा गामा णगरा घरा पव्वया पायाला भवणा निरयारयणप्पहा सक्करप्पहा वालुअप्पहा पंकप्पहा धूमप्पहा तमप्पहा सोहम्मे जाव अच्चुए गेवेज्जे अणुत्तरे ईसिप्पभाए परमाणुपोग्गले दुपए सिए जाव अणंत पएसिए से तं साइपरिणामिए से परिणामिए से किं तं अणाइपरिणामिए। धम्मत्थिकाए अधम्मत्थिकाए जीवत्थिकाए पुग्गलत्थिकाए अद्धासमए लोए अलोए भवसिद्धिआ–अवसिद्धिआ से तं अणाइ परिणामिए**"

पारिणामिक भाव क्या है? पारिणामिक भाव दो प्रकार का है—सादि पारिणामिक और अनादि पारिणामिक सादि पारिणामिक भाव क्या है? वह अनेक प्रकार का है, यथा- उल्कापात, दिशादाह, गर्जना, विद्युत्–निर्घात, जूयदा, यक्षादित्य, धूमिका, मिहिका, रज उद्घात, चन्द्रग्रहण सूर्यग्रहण, चन्द्रपरिवेष, सूर्यपरिवेष, प्रतिचन्द्र, प्रतिसूर्य, इन्द्रधनुष, उदकमस्त्य, कपिहसित, अमोघवर्ष, वर्षधारा गुम्म, नगर' गृह, पर्वत, पाताल, भवन, नरक, रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पकप्रभा, धूमप्रभा, नम.प्रभा, नमस्त·मप्रभा, सौधर्म यावत् अच्युत, ग्रैवेयक, अत्तजर विमान ईषप्राग्भारा पृथ्वी परमाणुपुद्गल द्विप्रदेशिकस्कध यावत् अनन्तप्रदेशिक स्कध यह सब सादि पारिणामिक भाव है।

अनादिपारिणामिक भाव क्या है? धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय, आकशास्तिकाय जीवास्तिकाय पुद्गलास्तिकाय अद्धासमय लोक अलोक भवासिद्धिक सब अनादि पारिणामिक भाव है।

छठा भाव सान्निपातिक भी अनेक प्रकार का है। एक जीवात्मा में एक साथ उत्पन्न होने वाला मिला–जुला भाव सान्निपातिक भाव कहलाता है। यह सान्निपातिक भाव पूर्वोक्त औदयिक औपशमिक आदि भावो मे से यथायोग्य दो तीन आदिके सयोग से बनता है। यद्यपि उसके भेद बहुत हैं फिर भी मुख्य रूप से यहाँ पन्द्रह प्रकार का दिखलाया जाता है–औदयिक क्षायोपशमिक और पारिणामिक ये तीन भाव एक साथ एक जीव में उत्पन्न होते है।

छाया—अथ कस्तावत् पारिणामिकः ? द्विविध प्रज्ञप्त' तद्यथा—सादिपारिणामिकश्च अथ कस्तावत् सादिपारिणामिक. ? अनेकविध' तद्यथा उल्का पाताः दिग्दाहा' गर्जितम् विद्युन्निर्घाताः जूपदा यक्षादित्या' धूमिका महिका रज उद्धाता' चन्द्रोपरागा. सूर्योपरागाः चन्द्रपरिवेषा' सूर्यपरिवेषाः प्रतिचन्द्रा' प्रतिसूर्या' इन्द्रधनु' उदकमत्स्या' कपिहसितम् अमोघ वर्षा वर्षधरा' ग्रामा नगराणि गृहा. पर्वता. पातालाः भवनानि निरया' रत्नप्रभा शर्कराप्रभा वालुका-प्रभा पङ्कप्रभा धूमप्रभा तमप्रभा तमतमप्रभा सौधर्मो यावत् अच्युतो ग्रैवेयक. अनुत्तर. ईषत्प्रभा परमाणु पुद्गलाः द्विप्रदेशिक. स एष सादिपारिणामिक' अथ कस्तावद् अनादिपारिणामिकः ? धर्मास्तिकाय' अधर्मास्तिकाय' अद्धा समय. लोकः अलोक' भवसिद्धिका' अभवसिद्धिकाः स एष' अनादिपारिणामिक' स एष पारिणामिक' इति ।

सान्निपातिकस्तावत् षष्ठो भवो बहुविधो भवति सहैव युगपदेकस्मिन् जीवात्मनि निपतन्तीतिसन्निपाता. त एव सनिपातिका उच्यन्ते तथा च पूर्वोक्तानमिवौदायिकोपशमिकादीनां भावाना यथा योगं द्विकादिसयोगेन सान्निपातिको भावो निष्पद्यते तत्र तस्यबहुभेदसत्त्वेपि मुख्यतया पञ्चदशभेदा प्रदर्श्यन्ते युगमदेकस्मिन् जीवे निपतन्ति तत्र नारकतिर्यग्योनिक मनुष्यदेव गतिभेदेन चैत चत्वारो भेदा ४ एवमेवऔदयिकौपशामिकक्षायोपशमिकपारिणामिका. क्वचिद् कृतत्रिपुञ्जोपशमसम्यक्त्वसद्भावाद् गतिभेदेनैव चत्वारोभेदा ४ पुनरौदयिक क्षायिक क्षयोपशमिकपारिणा-

---

नारक, तिर्यग्योनिक, मनुष्य और देवगति के भेद से चार भेद होते है। (४), इसी प्रकार औदयिक, औपशमिक क्षायोपशमिक, पारिणामिक, कहीं तीनपुज न करने वाले जीव के उपनाम सम्य का सद्भाव होने से, गति के भेद से चार भेद हो जाते है (४) औदयिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक' कहीं क्षायिक का सद्भाव होने से श्रेणिक आदि के समान गतिभेद से होते है। औदयिक, औपशमिक' क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक का एक भेद मनुष्यगति मे उपनामश्रेणी के सद्भाव मे ही होता है। यह भाव दर्शनसप्तक से रहति सम्पूर्ण मोहनीय कर्म के उपशम से, शेष कर्मों के क्षयोपशम आदि होने पर होता है (१)

इसी प्रकार । औदयिक, क्षायिक और पारिणामिक का एक ही भग होता है, जैसे केवली में औदयिक मनुष्यत्व, क्षायिक केवलज्ञान और पारिणामिक भाव जीवत्व पाया जाता है। (१)

इसी प्रकार क्षायिक और पारिणामिक का एक अग है, जैसे सिद्ध मे केवलज्ञान सम्यक्त्व आदि क्षायिक तथा जीवत्व पारिणामिक भाव होता है। इसी भाँति मत्यभेद भी समझ लेना चाहिए।

यहाँ यह बात समझने योग्य है औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक, ये तीन भाव कर्म के विघात से उत्पन्न होते हैं, जैसे बहुत–सी रज के समूह का विघात होने पर सूर्य की किरणो का समूह उत्पन्न होता है। वह विघात दो प्रकार का हे—स्वीर्य की अपेक्षा से कर्म

मिका. ४ क्वचित् क्षायिकसद्भावात् श्रेणिकादिवद् गतिभेदत पुनश्चौदयिकौपशमिक क्षायिक क्षायोपशमिकपारिणामिका· दर्शनसप्तकरहितसकलमोहनीयापेशमाच्छेपकर्मक्षयोपशमादित्वे सति मनुष्यगतावेवोपशमश्रेणिसद्भावे सत्येको भेद एवम्, औदयिकक्षायिकपारिणामिका एक एव भङ्ग केवलिनो मनुष्यत्वकैवल्य जीवत्वप्राप्ते· । एवं क्षायिकपारिणामिकावेको भङ्ग., सिद्धे केवल सम्यक्त्वादि जीवत्वेव· । इत्येवं रीत्या पञ्चदशभेदा सान्निपातिका भावा· सम्पद्यन्ते एवमन्येऽपि भेदा सान्निपातिकाना सभवन्ति अत्रेद बोध्यम् औपशमिक क्षायिक क्षायोपशमिकास्त्रयो भावा कर्म घातापेक्षया प्रादुर्भवन्ति बहुल रजो वितान विधाते सति सूर्यस्य किरण पुञ्जोत्पत्तिवत् स तावद् विघातो द्विविधो भवति स्ववीर्यापेक्षया कर्मणो देशक्षय सर्वक्षयश्च स्वोपार्जित कर्मोदयात् आत्मनो नारकादि गत्यादयो भावा उत्पद्यन्ते मदिरासेवनजन्यनृत्यादिविकारवत् । मदोद्रेकाद यथा शीलवानपि मानवो हसति रोदिति गायति क्रुध्यति एव गत्यादिकर्मोद्रेकात् जीवो गतिकषायादिकं विकार प्रतिपद्यतेपारिणामिकस्तु स्वाभाविक एव भावो न तु सनिमित्तक इति भाव. ॥सूत्र- -१५॥

मूलम् "उवओगो दुविहो सागारो अणागारो य । सू.१६

छाया—"उपयोगो द्विविधः साकारः अनाकारश्च । सू १६

के एक देश का क्षय और सर्वक्षय । तथा अपने द्वारा उपार्जित कर्म के उदय से आत्मा से नरकगति आदि भाव उत्पन्न होते है, जैसे मदिरा के नृत्य(नाच) आदि विकार उत्पन्न होते है,, रोता है, गाता है, क्रोध करता है, इसी प्रकार गति आदि कर्मों के उद्रेक से जीव गति कषाय आदि विकारो को प्राप्त होता है किन्तु पारिणामिक भाव स्वाभाविक है वह किसी भी निमित्तकारण से नहीं उत्पन्न होता ॥ १५ ॥

मूल सूत्रार्थ—"उवओगो दुविहो सागरो इत्यादि ।

तत्त्वार्थ दीपिका—पहले कहा गया था कि जीव का लक्षण उपयोग है, अब उपयोग का स्वरूप और भेद बतलाने के लिए कहते है—उपयोग दो प्रकार का है—साकारोपयोग और निराकारोपयोग

ज्ञान और दर्शन की प्रवृत्ति को अर्थात् अपने-अपने विषय की ओर अभिमुख होने को **'योग'** कहते है । उप अर्थात् जीव का समीपवर्त्ती योग **'उपयोग'** कहलाता है । उपयोग को नित्य सम्बन्ध भी कहा जा सकता है ।

तात्पर्य यह है कि किसी पदार्थ को जानने के लिए जीव का जो व्यापार होता है, वह उपयोग कहलाता है । इसमें जो उपयोग साकार होता है वह ज्ञानोपयोग और जो उपयोग निराआर होता है वह दर्शनोपयोग कहलाता है । इन्द्रियो की प्रणाली से ज्ञान का विषयाकार परिणत होने के कारण साकार व्यापार होता है । किन्तु दर्शन विषयाकार परिणत नहीं होता, अतएव वह निराकार या अनाकार कहलाता है ।

छाया—अथ कस्तावत् पारिणामिक ? द्विविध प्रज्ञप्त तद्यथा—सादिपारिणामिकश्च अथ कस्तावत् सादिपारिणामिक ? अनेकविध तद्यथा उल्का पाता दिग्दाहा गर्जितम् विद्युन्निर्घाता जूपदा यक्षादिप्ता धूमिका महिका रज उद्घाता चन्द्रोपरागा सूर्योपरागा चन्द्रपरिवेषा सूर्यपरिवेषा प्रतिचन्द्रा प्रतिसूर्या इन्द्रधनु उदकमत्स्या कपिहसितम् अमोघ वर्षा वर्षधरा ग्रामा नगराणि गृहा पर्वता पाताला भवनानि निरया रत्नप्रभा शर्कराप्रभा वालुका-प्रभा पङ्कप्रभा धूमप्रभा तमप्रभा तमतमप्रभा सौधर्मा यावत अच्युतो ग्रैवयक अनुत्तर ईषत्प्रभा परमाणु पुद्गला' द्विप्रदेशिक स एष सादिपारिणामिक अथ कस्तावद अनादिपारिणामिक ? धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय अद्धा समय लोक अलोक भवसिद्धिका अभवसिद्धिका स एष' अनादिपारिणामिक स एव पारिणामिक इति।

सान्निपातिकस्तावत् षष्ठो भवो बहुविधो भवति सहैव युगपदेकस्मिन जीवात्मनि निपत-न्तीतिसन्निपाता त एव सनिपातिका उच्यन्ते तथा च पूर्वोक्तानमित्रौदायिकौपशमिकादीना भावाना यथा योगं द्विकादिसयोगेन सान्निपातिको भावो निष्पद्यते तत्र तस्यबहुभेदसत्त्वेपि मुख्यतया पञ्चदशभेदा प्रदर्श्यन्ते युगमदेकस्मिन् जीवे निपतन्ति तत्र नारकतिर्यग्योनिक मनुष्यदेव गतिभेदेन चैत चत्वारो भेदा ४ एवमेवऔदयिकौपशमिकक्षायोपशमिकपारिणामिका क्वचिद् कृतत्रिपुञ्जो-पशमसम्यक्त्वसद्भावाद् गतिभेदेनैव चत्वारोभेदा ४ पुनरौदयिक क्षायिक क्षयोपशमिकपारिणा-

---

नारक, तिर्यग्योनिक, मनुष्य और देवगति के भेद से चार भेद होते है। (४), इसी प्रकार औदयिक, औपशमिक क्षायोपशमिक, पारिणामिक, कहीं तीनपुज न करने वाले जीव के उपनाम सम्य का सद्भाव होने से, गति के भेद से चार भेद हो जाते है (४) औदयिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक' कहीं क्षायिक का सद्भाव होने से श्रेणिक आदि के समान गतिभेद से होते है। औदयिक, औपशमिक' क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक का एक भेद मनुष्यगति में उपनामश्रेणी के सदभाव मे ही होता है। यह भाव दर्शनसप्तक से रहति सम्पूर्ण मोहनीय कर्म के उपशम से, शेष कर्मों के क्षयोपशम आदि होने पर होता है (१)

इसी प्रकार । औदयिक, क्षायिक और पारिणामिक का एक ही भग होता है, जैसे केवली मे औदयिक मनुष्यत्व, क्षायिक केवलज्ञान और पारिणामिक भाव जीवत्व पाया जाता है। (१)

इसी प्रकार क्षायिक और पारिणामिक का एक अग है, जैसे सिद्ध मे केवलज्ञान सम्यक्त्व आदि क्षायिक तथा जीवत्व पारिणामिक भाव होता है। इसी भाँति मत्यभेद भी समझ लेना चाहिए।

यहाँ यह बात समझने योग्य है- औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक, ये तीन भाव कर्म के विधात से उत्पन्न होते है, जैसे बहुत—सी रज के समूह का विधात होने पर सूर्य की किरणो का समूह उत्पन्न होता है। वह विधात दो प्रकार का है—स्वीवीर्य की अपेक्षा से कर्म

मिका. ४ क्वचित् क्षायिकसद्भावात्श्रेणिकादिवद् गतिभेदत पुनश्चौदयिकौपशमिक क्षायिक क्षायोपशमिकपारिणामिका· दर्शनसप्तकरहितसकलमोहनीयापेशमाच्छेपकर्मक्षयोपशमादित्वे सति मनुष्यगतावेवोपशमश्रेणिसद्भावे सत्ये को भेद एवम्, औदयिकक्षायिकपारिणामिका एक एव भङ्ग केवलिनो मनुष्यत्वकैवल्य जीवत्वप्राप्ते· । एव क्षायिकपारिणामिकावेको भङ्ग', सिद्धे केवल सम्यक्त्वादि जीवत्वेव: । इत्येव रीत्या पञ्चदशभेदा सान्निपातिका भावा सम्पद्यन्ते एवमन्येऽपि भेदा सान्निपातिकाना सभवन्ति अत्रेद बोध्यम् औपशमिक क्षायिक क्षायोपशमिकास्त्रयो भावा कर्म घातापेक्षया प्रादुर्भवन्ति बहुल रजो वितान विघाते सति सूर्यस्य किरण पुञ्जोत्पत्तिवत् स तावद् विघातो द्विविधो भवति स्ववीर्यापेक्षया कर्मणो देशक्षय सर्वक्षयश्च स्वोपार्जित कर्मोदयात् आत्मनो नारकादि गत्यादयो भावा उत्पद्यन्ते मदिरासेवनजन्यनृत्यादिविकारवत् । मदोद्रेकाद यथा शीलवानपि मानवो हसति रोदिति गायति क्रुध्यति एव गत्यादिकर्मोद्रेकात् जीवो गतिकषायादिकं विकार प्रतिपद्यतेपारिणामिकस्तु स्वाभाविक एव भावो न तु सनिमित्तक इति भाव. ॥सूत्र- -१५॥

मूलम् "उवओगो दुविहो सागारो अणागारो य । सू.१६

छाया—"उपयोगो द्विविधः साकारः अनाकारश्च । सू १६

के एक देश का क्षय और सर्वक्षय। तथा अपने द्वारा उपार्जित कर्म के उदय से आत्मा से नरकगति आदि भाव उत्पन्न होते है, जैसे मदिरा के नृत्य(नाच) आदि विकार उत्पन्न होते है,, रोता है, गाता है, क्रोध करता है, इसी प्रकार गति आदि कर्मों के उद्रेक से जीव गति कपाय आदि विकारो को प्राप्त होता है किन्तु पारिणामिक भाव स्वाभाविक है वह किसी भी निमित्तकारण से नहीं उत्पन्न होता ॥ १५॥

मूल सूत्रार्थ—"उवओगो दुविहो सागरो इत्यादि ।

तत्त्वार्थ दीपिका—पहले कहा गया था कि जीव का लक्षण उपयोग है, अब उपयोग का स्वरूप और भेद बतलाने के लिए कहते है—उपयोग दो प्रकार का है—साकारोपयोग और निराकारोपयोग

ज्ञान और दर्शन की प्रवृत्ति को अर्थात् अपने-अपने विषय की ओर अभिमुख होने को **'योग'** कहते है । उप अर्थात् जीव का समीपवर्त्ती योग **'उपयोग'** कहलाता है । उपयोग को नित्य सम्बन्ध भी कहा जा सकता है ।

तात्पर्य यह है कि किसी पदार्थ को जानने के लिए जीव का जो व्यापार होता है, वह उपयोग कहलाता है । इसमें जो उपयोग साकार होता है वह ज्ञानोपयोग और जो उपयोग निराआर होता है वह दर्शनोपयोग कहलाता है। इन्द्रियों की प्रणाली से ज्ञान का विषयाकार परिणत होने के कारण साकार व्यापार होता है। किन्तु दर्शन विषयाकार परिणत नहीं होता, अतएव वह निराकार या अनाकार कहलाता है ।

दीपिका—पूर्वं तावद् उपयोग लक्षणो जीव इत्युक्त तत्रोपयोगस्य भेदं स्वरूप पञ्च प्रतिपादयितुमाह- —

"उवओगो दुविहो सागारो अणागारो य" इति उपयोगस्तावत् द्विविध साकार अनाकारश्चेति तत्र उपयोगो नित्यसम्बन्ध तथा च जीवस्य विवक्षितार्थपरिच्छेदरूपार्थग्रहण-व्यापार उपयोग इत्यर्थ तत्र ज्ञानोपयोग साकारा दर्शनोपयोगश्च अनाकारो व्यपदिश्यते। तथा च ज्ञानस्येन्द्रियप्रणालिकया विषयाकारेण परिणतत्वात् साकारत्व व्यवहारो भवति, दर्शनस्य पुन विषयाकारेण परिणतत्वाभावात् अनाकारत्व व्यपदेशो भवति तत्र ज्ञानोपयोग अष्टविध मति श्रुतावधिमन पर्यवज्ञानमत्यज्ञान श्रुताज्ञान विभङ्गज्ञान भेदात् दर्शनोपयोगश्चतुर्विध' चक्षुरचक्षुरवधि केवलदर्शनभेदात्। आकारेण विकल्पेन सह वर्तते इति साकार सविकल्पो ज्ञानमुच्यते तद् विपरीतोऽनाकारो निर्विकल्पो दर्शनमुच्यते सप्रकारक ज्ञान सविकल्पक साकारम् निष्प्रकारक निर्विकल्पक निराकारम् दर्शनमुच्यते किं स्विद् वर्तते इत्येवमालोचमात्रम् ॥सूत्र—१६॥

निर्युक्तिः - पूर्वं जीवस्य उपयोगरूप लक्षणमुक्तम् तत्र—उपयोग उपलम्भ ज्ञानदर्शनयो स्वविषयसीमाऽनुल्लंघनेन धारणमित्यर्थ,।

यद्वा युञ्जन योग ज्ञानदर्शनयो प्रवर्तन विषयनिर्णयाभिमुखता, उपजीवस्य समीपवर्ती योग उपयोगो नित्यसबन्ध, एवञ्चात्मनो विवक्षितार्थपरिच्छेदरूपार्थ ग्रहणव्यापारउपयोग इति

ज्ञानोपयोग आठ प्रकार का है—(१)प्रतिज्ञान(२)श्रुतज्ञान(३)अवधिज्ञान(४)मन पर्यवज्ञान (५)केवल ज्ञान(६)मत्यज्ञान(७)श्रुताज्ञान(८)विभंग ज्ञान।

दर्शनोपयोग चार प्रकार का है—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्श, अवधिदर्शन और केवलद-र्शन। जो आकार अर्थात् विकल्प से युक्त हो वह साकार या सविकल्पक ज्ञान कहा जाता है और जो उससे विपरीत हो वह अनाकार या निर्विकल्पक दर्शन कहलाता है अथवा जो उपयोग प्रकार युक्त हो—सविकल्प हो वह ज्ञान और जो प्रकार से रहित हो—निर्विकल्प हो वह दर्शन है। 'कुछ है' बस इतना मात्र ही प्रतीत होता है ॥१६॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—उपयोग जीव का लक्षण है, यह पहले कहा गया था। उपयोग को उपलम्भ भी कहते है और उसका अभिप्राय है अपनी—अपनी सीमा का उलघन न करके ज्ञान और दर्शन का व्यापार होना। अथवा ज्ञान और दर्शन की प्रवृत्ति या विषय के निर्णय के लिए अभिमिमु होना उपयोग है। उप अर्थात् जीव का समीपवर्ती योग उपयोग कहलाता है। उसे नित्य सबधी भी कहते है।आशय यह निकला कि किसी भी पदार्थ को ग्रहण करने के लिए आत्मा का जो व्यापार होता है वह उपयोग कहलाता है।

उपयोग के भेद बतलाते हुए प्रकारान्तर से उसकी विशेषता का प्रतिपादन करते के लिए कहते है—उपयोग दो प्रकार का है—साकार और निराकार। ज्ञान साकार उप-

फलितम् तस्य विभागपूर्वक प्रकारान्तरेण वैशिष्ट्यं प्रतिपादयितुमाह—"उवओगो दुविहो सागारो अणागारो य" इति पूर्वोक्तस्वरूप उपयोगो द्विविध. प्रज्ञप्त , साकार' अनाकारश्च तथाहि—साकारं ज्ञानं निराकारं दर्शन भवति सहआकारेण जातिवस्तुप्रतिनियतग्रहणपरिणामरूपेण विशेषणवर्तते इति साकारम् ज्ञान तथा चोक्तम्—'आगारो उविसेसा" इति, अविद्यमानआकारो भेदो विशेषो वस्तुतो ग्राह्यस्यास्येति अनाकारम् विशेषरहित सामान्यावलम्बिदर्शनम् ।

उक्तञ्च "साकारे सेणाणे अणागारे दसणे" इति, 'मइसुयवहिमणकेवलविभगमइ सुयणाण सागारा" इति तथा च चत्वारिचक्षुश्चक्षुरवधिकेवलदर्शनरूपाणि दर्शनानि अनाकाराणि साकाराणि, पञ्च ज्ञानानि त्रीणि अज्ञनानि च साकाराणि, तथाहि दूरादेव शालतमालबकुलाशोकचम्पककदम्ब-जम्बूनिम्बादिविशिष्टव्यक्तिरूपतयाऽवधारित तरुनिकरमवलोयत सामान्येन वृक्षमात्रप्रतीतिजनक यदपरिस्फुटं किमपि रूप चकास्ति तत्सामान्यरूपमनाकार दर्शनमुच्यते निर्विशेष विशेषाणामग्रहो-दर्शनमुच्यते" इति वचनप्रामाण्यात् यत्पुनस्तस्यैव । यत्पुनस्तस्यैव । निकटीभूतस्य तालतमाल-शालादि व्यक्तिरूपतयाऽवधारितं तमेव महीरुहमुत्पश्यतो विशिष्टव्यक्तिप्रतीतिजनक परिस्फुट रूप-माभाति तद् विशेषरूपं साकार ज्ञानं भवतीति भाव. ।

तत्र ज्ञानोपयोग' साकारो व्यपदिश्यते दर्शनोपयोगश्च अनाकार उच्यते ज्ञानस्य इन्द्रियप्रणालया विषयाकारेण परिणतत्वात् साकारत्वव्यवहारो भवति, दर्शनस्य तु तदाकारेण परिणतत्वाभावादना-

---

योग है, दर्शन निराकार उपयोग है। जो उपयोग प्रतिनियत होता है अर्थात् जाति वस्तु आदि विशेष को ग्रहण करता है वह साकारउपयोग ज्ञान कहलाता है कहा भी है—आकार विशेष को कहते है । जिस उपयोग मे वस्तु के विशेष अश का ग्रहण नहीं होता, वह अनाकार उपयोग है। तात्पर्य यह है कि दर्शन विशेष रहित सामान्य मात्र का ही ग्राहक होता है। कहा भी है—ज्ञान साकार और दर्शन निराकार होता है। मति, श्रुत' अवधि' मन पर्याय, केवलज्ञान और विभगज्ञान, कुमतिज्ञान तथा कुश्रुतज्ञान साकार होते है। चार प्रकार के दर्शन अनाकार हैं।

किसी ने दूर से वृक्षों का समूह देखा किन्तु उसे साल, तमाल, बकुल, अशोक चम्पक, कदम्ब, जामुन नीम आदि विशेष का ज्ञान नहीं हुआ—सामान्य रूप से वृक्ष मात्र की ही प्रतीति हुई, कुछ है' ऐसी अपरिस्फुट प्रतीति हुई तो तो वह दर्शन है, क्योकि जिस उपयोग में विशेषो का ग्रहण नहीं होता, वही दर्शनोपयोग कहलाता है। जब वही व्यक्ति निकट पहुँचता है और ताल, तमाल. साल आदि विशेष रूप में निश्चय करता है, तब वह परिस्फुट प्रतिमास ज्ञान कहलाता है। तात्पर्य यह है कि विशेष धर्मों को ग्रहण करने वाला उपयोग ज्ञानोपयोग है।

कारत्वव्यवहारो भवति, वस्तुतस्तु आकारो विकल्प तेन सहवर्तते इति साकार सविकल्प तद्-विपरीतोऽनाकार' निर्विकल्प' इति भाव, तथा च सप्रकारक विशिष्टवैशिष्ट्यावगाहिज्ञान सविकल्पक साकार व्यपदिश्यते प्रकारतादिशून्य "किञ्चित' इत्येवमालोचनमात्र निर्विकल्पकमनाकारमुच्यते इति फलितम् ॥

तत्र साकारात्मको ज्ञानोपयोगोऽष्टविध प्रज्ञप्त तद्यथा—मतिज्ञानोपयोग श्रुतज्ञानोपयोग २ अवधिज्ञानोपयोग ३ मन पर्यवज्ञानोपयोग ४। केवलज्ञानोपयोग ५। मत्यज्ञानोपयोग ६। श्रुताज्ञानोपयोग ७। विभङ्गज्ञानोपयोग'श्चेति ८। अनाकारात्मको दर्शनोपयोगश्चतुर्विध प्रज्ञप्त । तद्यथा चक्षुर्दर्शनोपयोग १। अचक्षुर्दर्शनोपयोग २, अवधिदर्शनोपयोग ३ केवलदर्शनोपयोगश्च ४।इति॥

उक्तञ्च—प्रज्ञापनायां २९ पदे कतिविहे ण भंते ' उवओगे पण्णत्ते ' गोयमा ' दुविहे उव-ओगे पण्णत्ते, त जहा—सागारोवओगे अणागारोवओगे य सागारोवओगे ण भंते' कतिविहेपण्णत्ते गोयमा ! अट्ठविहेपण्णत्ते त जहा मइ णाणोवओगे, सुअणाणोवओगे, ओहिणाणोवओगे, सुअ-अण्णाणोवओगे, विभगणाणोवओगे य अणागारोवओगे ण भते ! कतिविहे ' गोयमा ' चउव्विहे त जहाचक्खूदसणोवओगे अचक्खूसणोवओगे ओहि । दसणोवओगे ओहिदसणोवओगे केवल-दसणोव ओगेय । इति॥ कतिविध खलुभदन्त ? उपयोग प्रज्ञप्त २ गौतम ? द्विविध उपयोग प्रज्ञप्त, तद्यथा साकारोपयोग' अनाकारोपयोगश्च साकारोपयोग खलु भदन्त कतिविध प्रज्ञप्त '

ज्ञानोपयोग साकार और दर्शनोपयोग निराकार कहा गया है। इन्द्रियो की प्रणाली द्वारा विषय के आकार में परिणाम होने के कारण ज्ञान साकार कहा जाता है।

वास्तव में आकार का अर्थ है—विकल्प। जो ज्ञान विकल्प सहित होता है वह सविकल्प कहलाता है। जो उससे विपरीत अर्थात् निर्विकल्प हो वह अनाकार कहलाता है। अतएव प्रकार युक्त विनिष्ट की विशिष्टता को जमाने वाला ज्ञान सविकल्प अथवा साकार कहा जाता है और जो प्रकारता से शून्य हो 'कुछ है' इस प्रकार का आभास मात्र ही हो वह निर्विकल्प अथवा अनाकार कहलाता है।

साकारोपयोग आठ प्रकार का है, यथा - (१)मतिज्ञानोपयोग)२)श्रुतज्ञानोपयोग(३)(अवधिज्ञानोपयोग(४)मन पर्यवज्ञानोपयोग(५)केवलज्ञानोपयोग(६)सत्यज्ञानोपयोग(७)श्रुताज्ञानोप-योग(८)विभंगज्ञानोपयोग।

अनाकार दर्शनोपयोग के चार भेद है—(१)चक्षुदर्शन(२)अचक्षुदर्शन(३)अवधिदर्शन (५)केवल दर्शन के भेद से(१,चक्षुदर्शनोपयोग(२)अचक्षुद४र्शनोपयोग(३)अवधिदर्शनोपयोग और (४)केवलदर्शनोपयोग।

प्रज्ञापनासूत्र के २९ वे पद में कहा है—भगवन् उपयोग कितने प्रकार का कहा है ?
उत्तर—उपयोग दो प्रकार का कहा है,—साकारोपयोग और अनाकारोपयोग।
प्रश्न—भगवन साकारोपयोग कितने प्रकार के है ?

गौतम ! अष्टविध प्रज्ञप्तः । तद्यथा—मतिज्ञानोपयोगः १। श्रुतज्ञानोपयोग २ अवधिज्ञानोपयोग. ३ मनःपर्यवज्ञानोपयोग ४ केवलज्ञानोपयोग. ५ मत्यज्ञानोपयोग ६ श्रुताज्ञानोपयोगः ७ विभङ्गज्ञानोपयोग ८ ।

अनाकारोपयोग खलु भदन्त ! कतिविधः प्रज्ञप्त ३ । गौतम ! चतुर्विध प्रज्ञप्त तद्यथा—चक्षुर्दर्शनोपयोग १ अचक्षुर्दर्शनोपयोग २ अवधिदर्शनोपयोग ३ केवलदर्शनोपयोगश्च ४ इति ॥१६॥

मूलसूत्रम्—"इंदियं पंचविहं—" ॥१७॥

छाया—इन्द्रियं पञ्चविधम् ॥१७॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वं तावद् जीवस्य ज्ञान—दर्शनोपयोगरूपं लक्षणं प्रतिपादितम् । तथा विधश्चोपयोग इन्द्रियद्वारेणैवसभवति, अतोभेद प्रदर्शनपूर्वकमिन्द्रिय प्ररूपयितुमाह—

"इंदियं पंचविहं" इति । इन्द्रियम् इन्द्रणाऽऽत्मना ऽधिष्ठितम् इन्द्रियम् । इन्द्रण सृष्टवेन्द्रियम्, इन्द्रस्याऽऽत्मनोलिङ्गं वा इन्द्रियम् । इन्दतीति इन्द्रोजीव तस्य खलु ज्ञस्वभावस्याऽऽत्मनस्तदावरणक्षयोपशमे सति स्वयमर्थान् । ग्रहींतुमसमर्थस्य यत्खलु अर्थोपलब्धिनिमित्त लिङ्गम् तदिन्द्रस्य जीवस्यलिङ्गत्वात् । इन्द्रियमिति व्यपदिश्यते ।

यद्वा—लीनमर्थं गमयतीति लिङ्गम् आत्मन सूक्ष्मस्याऽस्तित्वाधिगमे पिङ्गमिन्द्रियं भवति । यथा—धूमो वह्नेरधिगमे हेतुर्भवति, एवम् स्पर्शनादिकरणं कर्त्तर्यात्मनि असत्ति न भवितुमर्हति

उत्तर—गौतम ! साकारोपयोग आठ प्रकार का कहा है, यथा—मतिज्ञानोपयोग, श्रुतज्ञानोपयोग, अवधिज्ञानोपयोग, मन.पर्यवज्ञानोपयोग, केवलज्ञानोपयोग, मति-अज्ञानोपयोग, श्रुत-अज्ञानोपयोग और विभगज्ञानोपयोग ।

प्रश्न—भगवन् ! अनाकारोपयोग कितने प्रकार का है ?

उत्तर—गौतम ! चार प्रकार का है, यथा—चक्षुदर्शनोपयोग, अचक्षुदर्शनोपयोग, अवधिदर्शनोपयोग और केवलदर्शनोपयोग ॥१६॥

मूलसूत्रार्थ "इंदियं पंच विहं" ॥१७॥

इन्द्रियो पाँच प्रकार की है ॥१७॥

तत्त्वार्थदीपिका इससे पूर्व जीव का लक्षण ज्ञान—दर्शन उपयोग कहा है । वह उपयोग ससारी जीवों को इन्द्रियो के द्वारा ही उत्पन्न होता है, अतएव भेद बतलाते हुए इन्द्रिय की प्ररूपणा करते हैं —

इन्द्रियाँ पाँच है। इन्द्र अर्थात् आत्मा के द्वारा जो अधिष्ठितयुक्त हो अथवा इन्द्र नामकर्म के द्वारा जिसकी रचना की गई हो या इन्द्र अर्थात आत्मा का जो लिंग— चिह्न हो उसे इन्द्रिय कहते है। तात्पर्य यह है कि इन्द्र अर्थात जीव यद्यपि स्वभाव से ही ज्ञानमय है किन्तु आवरणो के कारण स्वय अर्थो को ग्रहण करने मे समर्थ नहीं होता । अतएव

तस्मात् स्पर्शनादिना इन्द्रियेण करणभूतेन ज्ञातुरात्मनोऽस्तित्वमवगम्यते । तत्खलु--इन्द्रिय पञ्च-विधम् । स्पर्शन–रसन –घ्राण –चक्षु –श्रोत्र भेदात् । उपयोगकरणात् न कर्मेन्द्रियाणां वाक्—पाणिपायूपस्थानमत्र ग्रहणम् किन्तु—ज्ञानेन्द्रियाणामेवेति भाव । मनस्तु अनिन्द्रिय वर्त्तते ॥१७॥

तत्त्वार्थ निर्युक्तिः—पूर्वं जीवस्य ज्ञानदर्शनोपयोगरूप लक्षण प्ररूपितम तथाविधश्चोपयोग' इन्द्रियद्वारेणैव सभवति तस्मात् विभागप्रदर्शनपूर्वकमिन्द्रिय प्ररूपयति ।

यद्वा—पूर्वं पृथिव्याद्येकेन्द्रिय द्वीन्द्रियादयो जीवा प्ररूपिता अतस्तत्र कियन्ति इन्द्रियाणि ? कतिविधानि वा ? तेषां वा मध्ये कस्योपयोगिनो जीवस्य किमिन्द्रिय भवतीत्याकाङ्क्षायामाह—

अथवा—जीवानां चेतनारूप ज्ञानमिन्द्रियद्वारेणैव भवति तानि चेन्द्रियाणि न सर्वाणि सर्वस्य भवतीति विभागप्रदर्शनपूर्वकमिन्द्रियाणि सख्यया नियमयितुमाह—

यद्वा—जीवानामुपयोगोऽन्वयिलक्षणमुक्तम् तस्योपयोगस्य निमित्तानि प्रतिपादयितुमाह—**"इंदियं पंचविहं"** इति ॥

इन्दतीति—इन्द्रो जीव सर्वद्रव्येषु ऐश्वर्ययोगात् , इन्दनाद्वा परमैश्वर्ययोगादिन्द्रो जीव सर्वभोगोपभोगाधिष्ठानसर्वद्रव्य विषयैश्वर्ययोगात् । रूप–रस–गन्ध–स्पर्शादिविषयेषु वा परमैश्वर्य-

---

पदार्थों के ग्रहण मे जो सहायक निमित्त हो वह इन्द्रिय है। इस प्रकार इन्द्र – जीव का लिंग होने से इन्द्रिय कहा जाता है।

अथवा लीन – छिपे हुए पदार्थ (आत्मा) का जो ज्ञान करवाता है उसे इन्द्रिय कहते है। आत्मा अति सूक्ष्म है उसका अस्तित्व इन्द्रियो के द्वारा ही विदित होता है। जैसे धूम अग्नि के बिना न होने के कारण अग्नि के जानने में कारण होता है, उसी प्रकार स्पर्शन आदि करण कर्त्ता अर्थात् आत्मा के ज्ञापक होते है, क्योंकि जब स्पर्शन आदि करण है तो कर्ता अवश्य होना चाहिए, कर्त्ता के अभाव में करण नहीं होता। इस प्रकार स्पर्शनादि करणों से कर्त्ता– आत्मा का अस्तित्व जाना जाता है।

स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र के भेद से इन्द्रियाँ पाँच प्रकार की है। यहाँ उपयोग का प्रकरण होने से परपरिकल्पित वाक् (वचन), पाणि (हाथ), पाद (पैर), वायु (गुदा) और उपस्थ (मूत्रेन्द्रिय) को इन्द्रिय नहीं माना है। यहाँ ज्ञान के कारणो को ही इन्द्रिय कहा गया है। मन अतिन्द्रिय है ॥१७॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पहले जीव का ज्ञान दर्शन–उपयोग रूप लक्षण बतलाया गया है। छद्मस्थ जीवों का वह उपयोग इन्द्रियो द्वारा ही होता है। अतएव भेद दिखलाकर इन्द्रियों की प्ररूपणा करते है।

श्वर्ययोगात् इन्द्रो जीव' 'इंदिपरमैश्वर्ये'' इत्यनुशासनात् इन्द्रियेण–जीवेनाऽधिष्ठितमिन्द्रिय पञ्चप्रकारकं प्रज्ञप्तम् । स्पर्शन–रसन–घ्राण–चक्षु.श्रोत्रभेदात् ।

तत्र —स्पर्शरसगन्धरूपशब्दग्रहणार्थं क्रमश.–स्पर्शनरसनादीनि पञ्चेन्द्रियाणि प्राधान्येन–स्वातन्त्र्येण च समभिपतन्ति । मनस्तु—चक्षुरादीन्द्रियजातनिर्धारित रूपाद्यर्थकलापमनुपतति । न तु–साक्षान्निर्धारयति । चक्षुरादीन्द्रियाणा निमीलनाद्यवस्थायां मनसारूपादिविषयग्रहणाऽभावात् तस्मात्—चक्षुरादिवन्नेन्द्रिय मन किन्तु अतीन्द्रिय तदुच्यते ।

नवा–वाक्पाणि पादपायूपस्थानि वा–इन्द्रियाणि व्यपदेष्टुमर्हाणि सन्ति तेषां वचनादि-व्यापारपरायणत्वेऽपि चक्षुरादिद्वारजन्यविज्ञानस्य रूपाद्यर्थग्रहणाय परिणतिवत् वागादिद्वारजन्यवच-

---

अथवा पहले पृथ्वीकाय आदि एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय आदि जीवो की प्ररूपणा की गई है । अतएव ऐसी जिज्ञासा होना स्वाभाविक है कि इन्द्रियाँ कितनी होती है ? कितने प्रकार की है? किस उपयोग वाले जीव को कौन–सी इन्द्रिय होती है ? यहाँ इन्हीं सब प्रश्नो का उत्तर दिया जा रहा है ।

अथवा ससारी जीवो का ज्ञान इन्द्रियो के द्वारा ही होता है किन्तु सभी इन्द्रियाँ सब जीवो को प्राप्त नहीं होतीं । अतएव इन्द्रियो का भेद वतलाते हुए उनकी सख्या का नियमन करने के लिए कहते है ।

अथवा पहले बतलाया गया है कि उपयोग जीवो का अन्वयी लक्षण है, अत अव उस उपयोग के जो निमित्त है, उन्हे दिखलाने के लिए कहा है–इन्द्रियाँ पाँच प्रकार की है ।

समस्त द्रव्यों में ऐश्वर्य का भाजन होने के कारण जीव इन्द्र कहलाता है । अथवा इन्दन करने–परमैश्वर्य का उपयोग करने के कारण भी जीव इन्द्र कहलाता है । रूप, रस, गध और स्पर्श आदि विषयों में परमैश्वर्यवान् होने से भी जीव इन्द्र कहा जाता है । व्याकरण के अनुसार 'इदि' धातु परमैश्वर्यभोग के अर्थ में है । इस कारण इन्द्रिय का अर्थ हुआ–इन्द्र–जीव के द्वारा अधिष्ठित ।

इन्द्रियो के पाँच भेद हैं—१ स्पर्शन २ रसना ३. घ्राण ४ चक्षु और ५. श्रोत्र । स्पर्शन इन्द्रिय स्पर्श को, रसना रस को, घ्राण गंध को, चक्षु रूप को और श्रोत्रेंद्रिय शब्द को प्रधान रूपसे ग्रहण करती है । मन, चक्षु आदि इन्द्रियों द्वारा निर्धारित रूप आदि पदार्थों को ग्रहण करता है । वह साक्षात् अर्थात् इन्द्रियनिरपेक्ष होकर पदार्थों को ग्रहण नहीं कर सकता, क्योंकि यदि आँख आदि बद हो तो रूप आदि विषय का मन से ग्रहण नहीं होता । इस कारण मन, चक्षु, आदि की भाँति इन्द्रिय नहीं किन्तु अतीन्द्रिय कहलाता है ।

वाक्, पाणि (हाथ), पाद (पाँव), पायु (गुदा) और उपस्थ (मूत्रेन्द्रिय) इन्द्रियाँ नहीं कही जा सकतीं, क्योंकि जैसे चक्षु आदि द्वारा जनित ज्ञान रूप आदि पदार्थों के ग्रहण में परिणत

नादीनां ज्ञानादौ परिणत्यभावात्, विषयग्रहणार्थे परिणतिमासादयतामेव–इन्द्रियत्वव्यपदेशात। शरीरस्थितैरेव स्पर्शन–रसन–घ्राणैरुत्कृष्टतो योजननवकपरिच्छिन्नाद, देशादागताना स्पर्शरसगन्धानां समुपलभ्यमानत्वात्, स्पर्शन–रसन–घ्राणेन्द्रियाणां प्राप्यकारित्वमवगन्तव्यम्।

वह्नि–चन्दनादिभिश्चोपघाताऽनुग्रहदर्शनात् प्राप्यकारित्वमेतेषां प्रत्यक्षसिद्धम् श्रोत्रेण च स्वपरिणाममजहतामुत्कृष्टतो योजनद्वादशकपरिच्छिन्नप्रदेशाद् समागताना शब्दाना गृह्यमाणत्वात् श्रोत्रस्यापि प्राप्यकारित्वमवगन्तव्यम्।

तत्र—चक्षुरिन्द्रिय वक्ष्यमाणमनो रूपं नो इन्द्रियञ्चाऽप्राप्यकारि वर्त्तते, विषयदेशमप्राप्यैव रूपादिकं गृह्णाति। अप्राप्यकारित्वञ्च—चक्षुष प्रत्यक्षसिद्धम्। विषयाऽनुग्रहोपघातशून्यत्वात् नहिचक्षुषो जलानलशूलाद्यवलोकनेन दाहक्लेदनोत्पाटनादयो भवन्ति। शरीरदेशस्थितस्य च चक्षुषो योग्यदेशस्थितस्यैव रूपादेर्ग्रहणयोग्यता स्वभावसिद्धा वर्त्तते।

होता है, वैसे वाक् आदि द्वारा उत्पन्न होने वाले वचन आदि की परिणति ज्ञान मे नहीं होती। यहाँ तो उन्हे ही इन्द्रिय कहा गया है जो अपने विषय को ग्रहण करने मे परिणत हो अर्थात् ज्ञान के साधन हो।

उत्कृष्ट नौ योजन दूर देश से आये हुए स्पर्श, रस और गंध को स्पर्शन, रसना और घ्राण इन्द्रिय ग्रहण कर सकती है और शरीर में स्थित रह कर ही वे अपने विषय को ग्रहण करती है। ये इद्रियाँ प्राप्यकारी है अर्थात् अपने विषय को स्पर्श करके जानती है। इन इन्द्रियो का अग्नि आदि से उपघात और चन्दन आदि से अनुग्रह देखा जाता है, अत इनकी प्राप्यकारिता प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है। शब्द यदि अपने परिणमत का त्याग न कर दे तो बारह योजन दूर से आया हुआ श्रोत्र द्वारा ग्राह्य होता है, अत श्रोत्रेन्द्रिय भी प्राप्यकारी है।

चक्षु इन्द्रिय और आगे कहा जाने वाला इन्द्रिय रूप मन ये दोनो अप्राप्यकारी है। ये विषय को प्राप्त हुए बिना ही ग्रहण कर लेते है। चक्षु की अप्राप्यकारिता प्रत्पक्ष से सिद्ध है। क्योंकि वह विषयकृत उपघात और अनुग्रह से रहित है। जब हम नेत्र के द्वारा जल, अग्नि या शूल आदि देखते है तो दाह, गीलापन या उत्पाटन (भेदन) आदि नहीं होते। शरीर देश में स्थित नेत्र में योग्य देश में स्थित रूप आदि को ग्रहण करने की योग्यता स्वभाव से ही सिद्ध है। नेत्र आवृत (ढँके हुए) पदार्थ को नहीं जानता, अतएव उसे भी प्राप्यकारी मानना चाहिए, ऐसा नहीं कहा जा सकता। ऐसा कहा जाय तो जैसे दीवाल आदि द्वारा व्यवहित पदार्थ को नेत्र ग्रहण नहीं कर सकता, उसी प्रकार काच आदि द्वारा व्यवहित पदार्थ को भी ग्रहण नहीं करना चाहिए। किन्तु उसे तो नेत्र ग्रहण कर लेता है। इसके अतिरिक्त इस युक्ति से तो मन भी, जिसे समस्तवादी निर्विवाद रूप से अप्राप्यकारी मानते है, अप्राप्यकारी नहीं रहेगा, क्योंकि वह भित्त आदि से आवृत वस्तु का ग्रहण नहीं करता है।

ननु—आवृता ग्रहणात् प्राप्यताऽस्य युक्ता, भित्तकुडयादिनेव काचादिनापि व्यावधानात काचादिव्यवहितस्याऽपि रूपादेश्चक्षुषाऽग्रहणापत्तिः स्यात्, तुल्ययुक्त्या मनसोऽपि भित्त्याद्यावृतस्य वस्तुनो ग्रहणाभावेन सर्ववादिसिद्धस्य तस्याऽप्राप्यकारित्वस्याऽसिद्धापत्ति अथैवमपि चक्षुरादीन्द्रि- यावत् सुख–दुःखेच्छादीनामपि जीवलक्षणत्वादिन्द्रियत्वापत्तिरिति चेत्— ।।

मैवम्—जीवलिङ्गयद्भवे तत्सर्वमिन्द्रियमिति नाऽय नियमः आश्रीयते, किन्तु —यदिन्द्रियं— तज्जीवलिङ्गमित्येवं नियमः । तथाच—जीवलिङ्ग कदाचित् सुखादिक भवतु, इन्द्रियं वा, इत्यन्यदे- तदित्यवधेयम् । तथाचोक्तम्—

"कइणंभते— ! इन्दिया पण्णत्ता— ! गोयमा— ! पंचेंदिया पण्णत्ता, त जहा— सो इन्दिए चक्खिंदिए धाणिं दिए जिब्भिदिए फासिंदिए त्ति ,, प्रज्ञा–१५ इन्द्रियपदम् । कति खलु भदन्त—! इन्द्रियाणि प्रज्ञप्तानि । गौतम– १ पञ्चेन्द्रियाणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—श्रोत्रेन्द्रियम्– १ चक्षुरि- न्द्रियम्– २घ्राणेन्द्रियम्– ३ जिह्वेन्द्रियम्– ४ स्पर्शनेन्द्रियम्–५ इति ।।१७।।

मूलसूत्रम्—"पुणादुविहं भाविंदियं दव्विंदियंय—" ।।१८।।

छाया—"पुनर्द्विविधम्, भावेन्द्रिय-द्रव्येन्द्रियञ्च—" ।।१८।।

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे–सामान्यतो ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्चविधानि सन्ति इति प्रतिपादितम्, सम्प्रति तान्येवेन्द्रियाणि पुन प्रकारान्तरेण प्रतिपादयितुमाह—"पुणादुविहं भाविंदिय– दव्विं- दियंय— „ इति ।

शंका–जैसे चक्षु आदि इन्द्रियाँ है, उसी प्रकार सुख, दुःख और इच्छा आदि भी जीव का लक्षण होने से इन्द्रिय होने चाहिए ।

समाधान–ऐसा नियम नहीं है कि जो जीव का लिंग हो वह सब इन्द्रिय है । अतएव सुख आदि कदाचित् जीव के लिंग हो सकते है तथापि उन्हें इन्द्रिय नहीं कहा जा सकता । प्रज्ञापता सूत्र के १५ वें इन्द्रियपद में कहा है—

प्रश्न–भगवान् ! इन्द्रियाँ कितनी कही है ?

उत्तर–गौतम ! पाँच इन्द्रियाँ कही है यथा–श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुइन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय ।।१७।।

मूलसूत्रार्थ "पुणादुविहं भाविंदियं इत्यादि ।।१८।।

इन्द्रिय पुन दो प्रकार की है–भावेन्द्रिय और द्रव्येन्द्रिय ।।१८।।

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्र में इन्द्रियाँ पाँच प्रकार की बतलाई गई है । उन्हीं इन्द्रियों का प्रकारान्तर से प्ररूण करने के लिए कहते है–इन्द्रियाँ दो प्रकार की है–भावेन्द्रिय और द्रव्येन्द्रिय । इस प्रकार स्पर्शन आदि पाँचों इन्द्रियाँ द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय के भेद से दो–दो

ज्ञानेन्द्रिय तावत् पुनर्द्विविधम्, भावेन्द्रियं द्रव्येन्द्रियञ्च । एवञ्च—स्पर्शनादीनि पञ्चापि ज्ञानेन्द्रियाणि प्रत्येक द्विविधानि भवन्ति । द्रव्य-भावेन्द्रियभेदात् ,

तत्र-सामान्यतो द्रव्यमयाणि-द्रव्यात्मकानि-इन्द्रियाणि आत्मपरिणतिरूपाणि भावेन्द्रियाणि व्यपदिश्यन्ते इति भाव ॥ ॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः पूर्वसूत्रे सख्यातइन्द्रियाणि प्ररूपितानि सम्प्रति-प्रकारान्तरेण तान्येव पुन प्ररूपयितुमाह "पुणादुविह, भाविंदिय-दव्विंदियय- „ इति । पूर्वोक्तचक्षुरादिभेदेन पञ्चविधमिन्द्रिय प्रकारान्तरेण पुनर्द्विविध प्रज्ञप्तम् ।

भावेन्द्रिय-द्रव्येन्द्रियञ्च । तथा च-चक्षुरादीनि पञ्चापीन्द्रियाणि प्रत्येक द्विविधानि भवन्ति । द्रव्य-भावेन्द्रियभेदात् । तत्र-सामान्यतो द्रव्यमयाणि-द्रव्यात्मकानि द्रव्येन्द्रियाणि व्यपदिश्यन्ते, भावात्मकानि-आत्मपरिणतिरूपाणि पुनर्भावेन्द्रियाणि उच्यन्ते । उक्तञ्च-प्रज्ञापनायाम्-१५ इन्द्रियपदे १-उद्देशे-"कइविहाण भंते-१ इदिया पण्णत्ता-२ गोयमा-१

दुविहा पण्णत्ता,त जहा दव्विंदियाय-भाविंदियायत्ति-" कतिविधानि खलुभदन्त-१ इन्द्रियाणि प्रज्ञप्तानि २

गौतम-१ द्विविधानि प्रज्ञप्तानि तद्यथा—द्रव्येन्द्रियाणिच-भावेन्द्रियाणि च । अभेदबोध्यम्—प्रकृते च पुद्गलद्रव्यमेवाऽनन्तप्रदेशस्कन्धमात्मप्रयुक्तव्यापारापेक्षया यतते वक्ष्यमाणनिर्वृत्युपकरणरूपतया सर्वाणीन्द्रियाणि अनन्तप्रदेशानि-असख्येयात्मप्रदेशाधिष्ठितानि च द्रव्यात्मकानि भवन्ति । तदन्यस्मिन् वक्ष्यमाणभावेन्द्रियद्वये-आत्मपरिणामो भाव प्रयत्नमातिष्ठते इति भाव' ॥

प्रकार की है । साधारणतया जो इन्द्रियाँ पुद्गलमय-पुद्गल की परिगति है, वे द्रव्येन्द्रिय और जो आत्मा की परिणतिरूप है, वे भावेन्द्रिय कहलाती हैं ॥१८॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पूर्वसूत्र में इन्द्रियो की सख्या का प्रतिपादन किया गया है । अब दूसरे प्रकार से पुन उनकी सख्या का निरूपण करने के लिए कहा है-इन्द्रियाँ पुन दो प्रकार की हैं-भावेन्द्रिय और द्रव्येन्द्रिय । तात्पर्य यह है कि पूर्वोक्त पाँचो इन्द्रियाँ दो-दो प्रकार की है-भावेन्द्रिय और द्रव्येन्द्रिय । सामान्य रूप से पौद्गलिक इन्द्रियाँ जो नाम कर्म के द्वारा निर्मित है, वे द्रव्येन्द्रियाँ है और जो इन्द्रियावरण कर्म तथा वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम नाम से आत्मा की परिणति रूप उत्पन्न होती है, वे भावेन्द्रिय है । प्रज्ञापता सूत्र के १५वें इन्द्रिपद मे कहा है—

प्रश्न-भगवन् ! इन्द्रियाँ कितनी प्रकार की है ?

उत्तर—गौतम ! दो प्रकार की हैं-द्रव्येन्द्रियाँ और भावेन्द्रियाँ ।

तात्पर्य यह है कि द्रव्येन्द्रियाँ अनन्त प्रदेशात्मक पुद्गलों के स्कध हैं । वे निवृत्ति और उपकरण के भेद से दो प्रकार की है । असख्यात आत्मप्रदेश उनमे रहते हैं । भावेन्द्रियाँ आत्मा का परिणमन विशेष है, उनका स्वरूप आगे के सूत्र मे ही बतलाया जाएगा ॥१८॥

मूलसूत्रम्—भाविंदियं दुविहं, लद्धीउवओगोय –„ ॥१९॥

छाया—भावेन्द्रियं द्विविधम्,लब्धिरुपयोश्च—" ॥१९॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे–द्रव्येन्द्रिय–भावेन्द्रियभेदेन इन्द्रियाणाद्वविध्यप्रतिपादितम् सम्प्रति–भावेन्द्रियस्यद्वैविध्यप्रतिपादयन्स्वरूप प्ररूपयितुमाह—"भाविंदिय दुविह,लद्धी–उवओगोय–" इति. ।

भावेन्द्रियम्– आत्मपरिणति विशेषस्वरूप वर्तते, लब्धि –उपयोगश्चेति । तत्र–लम्भन ज्ञानावरणक्षयोपशमविशेष । वस्तुतस्तु स्व[स्वकीयम्-]इन्द्रियावरणकर्मक्षयोपशमजनितम्, गति-जात्यादिनामकर्मजनितम् मतिज्ञानावरणदर्शनावरणकर्मक्षयोपशमजनित सामर्थ्यम् इन्द्रियाश्रयकर्मोदयनिर्वृत्त वा सामर्थ्यम् जीवस्यान्तरायकर्मक्षयोपशमाऽपेक्षया इन्द्रियविषयोपभोगज्ञानशक्तिर्वालब्धिरुच्यते

उपयोगस्तु–यत्सन्निधानात्–आत्तावक्ष्यमाणद्रव्येन्द्रियनिष्पत्तिं प्रतिव्यापृतो भवति, श्रोत्रो-पयोगादिभेदात् । तत्रोपयोगस्येन्द्रियफलत्वेऽपि कार्ये कारणोपचारात् तस्मिन्निन्द्रियत्वव्यपदेश ।

लब्धिश्चपचविधा,स्पर्शनेन्द्रियादिलब्धिभेदात् तत्र शीतोष्णादि स्पर्शपरिज्ञानसामर्थ्यरूपो-पयोगात्मनाऽनभिव्यक्ता स्पर्शनेन्द्रियलब्धि एवम्—रसनेन्द्रियादिलब्धयोऽपि बोध्या ॥१९॥

मूलसूत्रार्थ–'भाविंदियं दुविहं इत्यादि ॥१९॥

भावेन्द्रिय दो प्रकार की है—लब्धि और उपयोग ॥१९॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्र मे द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय के भेद से दो प्रकार की इन्द्रियाँ कही थीं । अब भावेन्द्रिय के दो भेद प्रतिपादन करने के लिए कहते है—भावेन्द्रिय दो प्रकार की है—लब्धि और उपयोग ।

ज्ञानावरण कर्म के एक विशिष्ट क्षयोपशम को लब्धि कहते है । असल में तो इन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम से गति–जाति आदि नाम कर्म से तथा मतिज्ञानकरण एवं दर्शनावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाला सामर्थ्य अथवा इन्द्रियाश्रय कर्म के उदय से उत्पन्न होने वाला सामर्थ्य या अन्तरायकर्म के क्षयोपशम की अपेक्षा से होने वाला इन्द्रिय विषय के उपयोग की और ज्ञान की शक्ति को लब्धि कहते है ।

जिसके सन्निधान से आत्मा आगे कही जाने वाली द्रव्येन्द्रिय की निष्पत्ति के प्रति व्यापार करता है, तत्कारणक आत्मा का परिणाम उपयोग कहलाता है । उपयोग श्रोत्रोपयोग आदि के भेद से पाँच प्रकार का है । यद्यपि उपयोग इन्द्रिय का फल (कार्य) है, मगर कार्य में कारण का उपचार करके उसे इन्द्रिय कहा है । स्पर्शनेन्द्रियलब्धि आदि के भेद से लब्धि भी पाँच प्रकार की है । शीत, उष्ण आदि स्पर्शों को जानने की शक्ति, जो उपयोग के रूप में अभिव्यक्त न हुई हो, वह स्पर्शनेन्द्रियलब्धि कहलाती है । इसी प्रकार रसनेन्द्रियलब्धि आदि भी समझ लेना चाहिए ॥१९॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः— पूर्वसूत्रे—भावेन्द्रियद्रव्यभेदेन—इन्द्रियद्वैविध्य प्रतिपादितम्, सम्प्रति—तयोर्मध्ये—भावेन्द्रियस्य द्वैविध्यप्रतिपादन द्वारा स्वरूप निरूपयति—"भाविंदिय दुविह लद्धी—उवओगोय—" इति पुर्वोक्तमात्मपरिणतिविशेषरूप भावेन्द्रिय द्विविध प्रज्ञप्तम् तद्यथा—लब्धि—उपयोगश्चेति ।

तत्र—लब्धिस्तावत् स्वस्वमिन्द्रियाऽऽवरणकर्मक्षयोपशमजनितम् गतिजात्यादिनामकर्मजनितम् मतिज्ञानदर्शनावरणकर्मक्षयोपशमजनितम् ज्ञानावरणक्षयोपशमजनितम् दर्शनावरणक्षयोपशमजनितम् भवति तद्धेतुक आत्मन परिणाम उच्यते स चोपयोग पञ्चविध ।

श्रोत्रोपयोगादिभेदात् तत्रोपयोगस्येन्द्रियत्वेऽपिकार्ये कारणोपचारात् तस्मिन्निन्द्रियत्वव्यपदेश । लब्धिश्चपञ्चविधा, स्पर्शनेन्द्रियादिलब्धिभेदात् । तत्र—शीतोष्णादिस्पर्शपरिज्ञानसामर्थ्य—रूपा—उपयोगात्मनाऽनभिव्यक्ता स्पर्शनेन्द्रियलब्धि एव रसनेन्द्रियादिलब्दयोऽपि बोध्या ।

सामर्थ्यमिन्द्रियाश्रयकर्मोदयनिर्वृत्त वा जीवस्य भवति अन्तरायकर्मक्षयोपशमाऽपेक्षया इन्द्रियविषयोपभोगज्ञानशक्तिर्वा लब्धिरुच्यते । सा च लब्धि पञ्चविधा स्पर्शनेन्द्रियलब्धि—१ रसनेन्द्रियलब्धि २ घ्राणेन्द्रियलब्धि—३ चक्षुरिन्द्रियलब्धि ४ श्रोत्रेन्द्रियलब्धिश्च ।

तत्र—शीतोष्णादिस्पर्शपरिज्ञानसामर्थ्यरूपा उपयोगात्मनाऽनभिव्यक्ता स्पर्शनेन्द्रिलब्धिरवग-

---

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—इससे पूर्व के सूत्र मे भावेन्द्रिय और द्रव्येन्द्रिय के भेद से इन्द्रियो के दो—दो भेदो का कथन किया गया है । अब उनमे से भावेन्द्रिय के दो भेद बतलाकर उसका स्वरूप कहते है । भावेन्द्रिय दो प्रकार की है—लब्धि और उपयोग ।

अपने—अपने इन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम से जनित, गति जाति आदि नामकर्म के द्वारा जनित, मतिज्ञानावरण तथा दर्शनावरण कर्म के क्षयोपशम से जनित आत्मा की शक्ति है ।

उपयोग श्रोत्रोपयोग आदि के भेद से पाँच प्रकार का है । यद्यपि उपयोग इन्द्रिय का कार्य है, फिर भी यहाँ कार्य में कारण का उपचार कर उसे इन्द्रिय कहा है । इसी प्रकार लब्धि भी स्पर्शनेन्द्रियलब्धि आदि के भेद से पाँच प्रकार की है । ठडे या गर्म स्पर्श को ग्रहण करने की शक्ति जो उपयोग रूप में प्रकट न हुई हो, वह स्पर्शनेद्रिय लब्धि कहलाती है । इसी प्रकारं रसनेन्द्रिय लब्धि आदि भी समझ लेनी चाहिए ।

अथवा इन्द्रियाश्रय कर्म के उदय से जीव में सामर्थ्य उत्पन्न होता है । अन्तरायकर्म के क्षयोपशम की अपेक्षा से इन्द्रियों के विषयों के उपभोग या ज्ञान की जो शक्ति होती है वह लब्धि कहलाती है । वह लब्धि पाँच प्रकार की है—(१) स्पर्शनेन्द्रिय लब्धि (२) रसनेन्द्रिय लब्धि (३) घ्राणेन्द्रिय लब्धि (४) चक्षुरिन्द्रिय लब्धि (५) श्रोत्रेन्द्रिय लब्धि ।

शीत उष्ण आदि स्पर्शों के परिज्ञान का सामर्थ्य जो उपयोग रूप से व्यक्त न हुआ हो

न्तव्या एवं रसनेन्द्रियादिलब्धयोऽपि वक्तव्या' उपयोगश्च--स्वविषयव्यापार प्रणिधानरूपो वीर्य-लक्षणोऽवगन्तव्य. । तथाच—तथाविधलब्धीन्द्रियकृते वक्ष्यमाणनिर्वृत्त्युपकर–क्रमेणोपयोगो-भवति, तदाऽतीन्द्रियोपयोगाभाव स्यात् निवृत्त्याद्यपेक्षाभावात् अवध्यादीनामतीन्द्रियत्वा-दत्यन्ताभावो भवेदितिचेदुच्यतेकृतएवभवतीति । अपितु-उपयोग एवैकस्त्रितयनिमित्तो भवतीति भाव । तथाच स्पर्शनादिषु मतिज्ञानोपयोगो भवति, स चोपयोग' प्रणिधानरूपोव्यापारविशेषः । आयो-गस्तावद् भाव –परिणाम इतिभाव । उक्तञ्च—प्रज्ञापनायाम् २–उद्देशके १५–इन्द्रियपदे—

"कइविहाणं भंते–१ इदियलद्धीयण्णत्ता–३ गोयमा–१ पचविहाइदियलद्धीयण्णत्ता, त जहा–फासिंदियलद्धी जिब्भिदियलद्धी, घाणिंदियलद्धी, चक्खिदियलद्धी, सोइदियलद्धीय,

'कतिविहाण भते–१ इदियउवउगद्धापण्णत्ता–३ गोयमा–१ पंचविहा इदिय उवगद्धा प-ण्णत्ता, त जहा–सोइदियउवउगद्धा जावफासिदियउवउगद्धाय–,, । कतिविधा खलु भदन्त–१ इन्द्रियलब्धि' प्रज्ञाप्ता–३गौतम–१पञ्चविधाइन्द्रियलब्धि' प्रज्ञप्ता तद्यथा–स्पर्शनेन्द्रियलब्धि', जिह्वे-न्द्रियलब्धि, घ्राणेन्द्रियलब्धि चक्षुरिन्द्रियलब्धि लोमेन्द्रियलब्धिश्च ।

कतिविधा खलु भदन्त–१ इन्द्रियोपयोगद्धा प्रज्ञप्ता– ? गौतम–! पञ्चविधा इन्द्रियोपयोगद्धा प्रज्ञप्ता, तद्यथा—लोमेन्द्रियोपयोगद्धा, यावत्–स्पर्शनेन्द्रियोपयोगद्धा चेति ॥१९॥

स्पर्शनेन्द्रिय लब्धि कहलाता है । इसी प्रकार रसनेन्द्रिय लब्धि आदि भी कह लेना चाहिए ।

अपने विषय में व्यापार होना उपयोग कहलाता है । वह आत्मा का वीर्य रूप है ।

अगर आगे कही जाने वाली निवृत्ति और उपकरण के क्रम से, लब्धीन्द्रिय के होने पर उपयोग होता है तो अतीन्द्रिय उपयोग का अभाव हो जाएगा, क्योकि उसमें निवृत्ति आदि की आवश्यकता नहीं होती । अवधिज्ञान आदि का अभाव हो जाएगा क्योकि वे अतीन्द्रिय है अर्थात् इन्द्रियों से उत्पन्न नहीं होते है । इस आशका का समाधान यह है–ऐसा कोई नियम नहीं है कि सब उपयोग निर्वृत्ति एव उपकरण इन्द्रिय से ही उत्पन्न हो किन्तु एक मतिज्ञान का उप-योग ही उक्त तीनो निमित्तों से होता है । इस प्रकार स्पर्शनादि में मतिज्ञान का उपयोग होता है । वह उपयोग प्रणिधान रूप व्यापार विशेष है ।

प्रज्ञापनासूत्र के १५ वे इन्द्रियपद के दूसरे उद्देशक में कहा है–

प्रश्न–भगवन् ! इन्द्रियलब्धि कितने प्रकार की है ?

उत्तर–गौतम ! पाँच प्रकार की इन्द्रियलब्धि कही है, यथा—स्पर्शनेन्द्रियलब्धि, जिह्वे-न्द्रियलब्धि, घ्राणेन्द्रियलब्धि, चक्षुरिन्द्रियलब्धि, श्रोत्रेन्द्रियलब्धि ।

प्रश्न–भगवन् ! इन्द्रियउपयोगद्धा के कितने प्रकार है ?

उत्तर–गौतम ! पाँच प्रकार है—श्रोत्रेंद्रिय–उपयोगद्धा यावत् स्पर्शनेन्द्रिय–उपयोगद्धा ॥१९॥

मूलसूत्रम्—"दुविह दव्विदियं निवत्ति–उवगरणं य–" ॥२०॥

छाया—द्विविधं द्रव्येन्द्रियम्, निर्वृत्तिः उपकरणञ्च—" ॥२०॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वं भावेन्द्रियं द्वैविध्येन प्ररूपितम्, सम्प्रति द्रव्येन्द्रिय प्ररूपयितुमाह–दुविह दव्विदियं निवत्ति–उवगरण य–,, इति । द्रव्येन्द्रियम् द्विविधम्, निर्वृत्ति–उपकरणञ्चेति ।

तथाच—निर्वृत्तीन्द्रिय–उपकरणेन्द्रियभेदेन द्रव्येन्द्रियं द्विविधम्, तत्र–स्वरूपभेदाभ्यां निर्वर्तन निष्पादो निर्वृत्ति' अकारनिष्पत्ति तत्तदिन्द्रियाणामाकारविशेषो निर्वृत्ति प्रतिविशिष्टसस्थानोत्पत्तिरित्यर्थ निर्वृत्तिरूपमिन्द्रिय निर्वृत्तीन्द्रियम् । तच्च द्विविधं बोध्यम्, आभ्यन्तर–बाह्यञ्च । तत्र–घनरूपव्यवहाराङ्गुलाऽसख्येयभागप्रमितानां शुद्धानां जीवप्रदेशानां प्रतिनियतचक्षुरादीन्द्रियसस्थानेनाऽवस्थितानामभ्यन्तरवृत्तिविशिष्टम् आभ्यन्तरनिर्वृत्तीनिन्द्रियम्, तेषु चाऽऽत्मप्रदेशेषु इन्द्रियव्यपदेशभाक्षु नामकर्मोदयापादिताऽवस्थाविशेषरूपप्रतिनियतसस्थानपुद्गलप्रचयरूप बाह्यनिर्वृत्तीन्द्रियमुच्यते ।

उपक्रियतेऽनेनेत्युपकरणम् येन निर्वृत्तीन्द्रियस्योपकार क्रियते तदुपकरणेन्द्रियम् । तदपि–द्विविधम्, आभ्यन्तर–बाह्यभेदात्, तत्राभ्यन्तर चक्षुष कृष्ण–शुक्लमण्डलम् । बाह्यन्तु–अक्षिपत्रपक्ष्मद्वयादिकम्, तथाच–उभयमपिनिर्वृत्त्युपकरणेन्द्रिय पुद्गलपरिणामरूप पूर्वोक्तभावेन्द्रियोपकरणकारणत्वात्

मूलसूत्रार्थ ॥ दुविह दव्विदियनिवत्ति इत्यादि ॥

द्रव्येन्द्रिय दो प्रकार की है–निर्वृत्ति और उपकरण ॥२०॥

तत्त्वार्थदीपिका—भावेन्द्रिय के दो भेद कहे जा चुके है, अब द्रव्येन्द्रिय की प्ररूपणा करने के लिए कहते हैं–द्रव्येन्द्रिय के दो भेद है–निर्वृत्ति और उपकरण । विभिन्न इन्द्रियो के अलग–अलग आकार का उत्पन्न होना निर्वृत्ति रूप इन्द्रिय को निर्वृत्ति–इन्द्रिय कहते हैं । निर्वृत्ति दो प्रकार की होती है–आभ्यन्तर और बाह्य । घनरूप व्यवहारांगुल के असख्येय भाग परिमित, चक्षु आदि इन्द्रियों के आकार में स्थित शुद्ध जीव प्रदेशों की आभ्यन्तर वृत्ति से युक्त आभ्यन्तर निर्वृत्ति इन्द्रिय कहलाती है । उन आत्मप्रदेशों में, जो इन्द्रिय कहलाते है, नामकर्म के उदय से उत्पन्न अवस्था विशेष रूप नियत आकार वाले पुद्गलो का समूह बाह्य निर्वृत्ति है । तात्पर्य यह है कि श्रोत्र आदि इन्द्रियो के आकार में पुद्गलो की जो रचना है वह बाह्य निर्वृत्ति कहलाती है । यह रचना नामकर्म के उदय से होती है ।

जो उपकार करता है उसे उपकरण कहते हैं । अभिप्राय यह है कि निर्वृत्ति इन्द्रिय का उपकार करने वाले को उपकरणेन्द्रिय कहते है । उपकरण के भी दो भेद है–आभ्यन्तर और बाह्य । नेत्र का जो काला और श्वेत मडल है, वह आभ्यन्तर उपकरण है और पलक तथा बरौनी आदि बाह्य उपकरण हैं । इस प्रकार ये दोनो निर्वृत्ति और उपकरण इन्द्रियाँ, पौद्-

उपयोगरूपस्यभावेन्द्रियस्याऽऽत्मभावपरिणामस्यसाहाय्यकरणे समर्थं द्रव्यत्वाद् द्रव्येन्द्रियत्व व्यपदिश्यते। तत्र–निर्वृत्तिरूप द्रव्येन्द्रिय खलु अङ्गोपाङ्गनामकर्मनिष्पादितमुपयोगात्मकभावेन्द्रियस्यवि-वरं–छिद्र कर्मविशेषसस्कृतशरीरप्रदेशरूप निर्माणनामकर्माङ्गोपाङ्गनामकर्मप्रत्यय मूलगुणनिर्वर्तनमुच्यते ।

उपकरणेन्द्रियञ्च–द्विविधमपिनिष्पन्नस्य श्रोत्रादिसञ्ज्ञकस्यनिर्वृत्तिरूपद्रव्येन्द्रियस्यानुपघाताऽ-नुग्रहाभ्यामुपकारक भवति ॥२०॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वसूत्रे–भावेन्द्रिय द्विविध प्ररूपितम्, सम्प्रति–द्रव्येन्द्रिय द्वैविध्येन प्ररूपयितुमाह—"दुविह दव्विदियं, निवत्ति-उवगरणय–„ इति। पूर्वोक्त द्रव्येन्द्रिय द्विविध प्रज्ञप्तम् । तद्यथा–निर्वृत्ति' उपकरणञ्च । तथाच–निर्वृत्तीन्द्रिय–उपकरणेन्द्रियभेदेन द्रव्येन्द्रिय द्विविध भवति ।

तत्र–स्वरूपभेदाभ्या निर्वर्तन निर्वृत्ति आकारनिष्पत्ति' –तत्तदिन्द्रियाणामाकारविशेषनिर्वृत्ति', प्रतिविशिष्टसस्थानोत्पत्तिरित्यर्थः । उपक्रियतेऽनेनेत्युपकरणम्, निवृत्तिरूपमिन्द्रियं निर्वृत्तीन्द्रियम् । उपकरणरूपमिन्द्रियम्–उपकरणेन्द्रियम्, एतदुभयमपि पुद्गलपरिणामरूप सदपि–इन्द्रियपदव्यपदेशं लभते । एतयोरुक्तभावेन्द्रियोपयोगकारणत्वात्, उपयोगरूपस्य भावेद्रियस्य भाविन आत्मभाव-परिणामस्य। साहाय्यसम्पादने समर्थं द्रव्य द्रव्येन्द्रियं व्यपदिश्यते ।

गलिक है और पूर्वोक्त भाव इन्द्रिय की सहायक होती है । इन्हे द्रव्येन्द्रिय कहने का कारण यह है कि आत्मपरिणाम रूप उपयोग भावेन्द्रिय की सहायता करने मे समर्थ है और द्रव्य है ।

मूलगुण निर्वर्त्तना निर्वृत्ति को निर्वृत्ति द्रव्येन्द्रिय कहते है । वह अगोपांगनामकर्म के द्वारा उत्पन्न होती है, उपयोग रूप भावोन्द्रिय का छिद्र है, कर्मविशेष के द्वारा सस्कृत शरीर का प्रदेश रूप है तथा निर्माणनामकर्म एवं अंगोपांगकर्म के निमित्त होती है ।

दोनो प्रकार की उपकरणेन्द्रिय श्रोत्रेन्द्रिय आदि नामक निर्वृत्तिद्रव्येन्द्रिय की अनुपघात और अनुग्रह के द्वारा उपकारक होती है । अर्थात् उपकरणेन्द्रिय, निर्वृत्ति–इन्द्रिय का उपघात न हो जाय और अनुग्रह हो, इस रूप में सहायक होती है । ॥२०॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पूर्वसूत्र में भावेन्द्रिय के दो भेद कहे जा चुके है, अब द्रव्येन्द्रिय के भेदों की प्ररूपणा करने के लिए कहते है–द्रव्येन्द्रिय दो प्रकार की है–निर्वृत्ति और उपकरण ।

स्वरूप और भेद से रचना होने को निर्वृत्ति कहते है । निवृत्ति का अभिप्राय है विभिन्न इन्द्रियों का अपना–अपना आकार उत्पन्न होना । जो उपकार करे–सहायता करे वह उप-करण है । निर्वृत्ति–इन्द्रिय और उपकरणेन्द्रिय, दोनो वास्तव मे पुद्गल का परिणमन है, फिर भी ये इन्द्रिय कहलाती है । इसका कारण यह है कि ये उपयोग रूप भावेन्द्रिय का कारण है । तात्पर्य यह है कि जो द्रव्य उपयोग भावेन्द्रिय की सहायता करने में समर्थ होता है, उसे द्रव्येन्द्रिय कहते है ।

तत्र—निर्वृत्तीन्द्रिय तावत्—अङ्गोपाङ्गनामकर्मनिर्वर्तितमुपयोगरूपभावेन्द्रियस्य विवरं[छिद्र] कर्मविशेषसस्कृतशरीरप्रदेशरूपम्, निर्माणनामकर्माङ्गोपाङ्गकर्मप्रत्यय मूलगुणनिर्वर्त्तनरूपमुच्यते उपकरणेन्द्रियं द्विप्रकारक भवति—बाह्यमाभ्यन्तरञ्च, तदुभयमपि निर्वर्तितस्य श्रोत्रादिसञ्ज्ञकस्य द्रव्येन्द्रियस्याऽनुपघाताऽनुग्रहाभ्यामुपकारी भवति ।

अयं भाव —निर्माणनामकर्मान्तर्वर्तीवर्द्धकिवत् कर्णशष्कुल्याद्यवयवसनिवेशविशेषरचनानिपुण एवम्—औदारिक—वैक्रियाऽऽहारकशरीरत्रयाङ्गोपाङ्गनामकर्मविशेषश्च यदुदयादङ्गान्युपाङ्गानि च शिरोङ्गुल्यादीनि निष्पद्यन्ते, एतत् कर्मद्वय निर्वृत्ति—उपकरणरूपद्रव्येन्द्रियद्वयनिर्माणाय यतते ।

अनेन चाङ्गोपाङ्गनाम्नाऽतिप्रविशिष्टेन कर्मविशेषेण उपयोगरूपभावेन्द्रियस्याऽवधानप्रदानमार्गरूपाणि विवराणि जन्यन्ते तान्येव कर्णशष्कुल्यादिरूपाणि वहिरुपलभ्यमानाकाराणि विवराणि एकानिवृत्तिरुच्यते अन्यापुनरभ्यन्तरनिर्वृत्तिर्भवति ॥

यद्वा—अङ्गोपाङ्गनामकर्मनिर्माणकर्मविशेषाभ्यां विशिष्टावयवरचनया निष्पादिता औदारिकादि त्रयाणा शरीराणा प्रतिविशिष्टा कर्णशष्कुल्यादय प्रदेशा निर्माणनामाङ्गोपाङ्गनिमित्ता उत्तरगुणनिर्वर्त्तनापेक्षयामूलगुणनिर्वर्त्तनारूपा निर्वृत्ति सजायते । उत्तरगुणनिर्वर्तनापुन श्रोत्रयोर्वेध प्रलम्वतापादन चक्षुर्घ्राणयोरञ्जननस्याभ्यां—उपकार । औषधप्रदानाज्जिह्वाया जडतापनयनम्, स्पर्शस्य च नानाचूर्ण—पटवास—गन्धद्रव्यप्रघर्षात् विमलत्वकरण भवति ॥

निर्वृत्ति—इन्द्रिय अगोपांगनामकर्म से उत्पन्न होती है, उपयोग रूप भावेन्द्रिय का छिद्र है, निर्माणनामकर्म और अगोपाग नामकर्म के कारण उत्पन्न होती वह मूलगुणनिर्वर्त्तनारूप है ।

उपकरणेन्द्रिय दो प्रकार की है—बाह्य और आभ्यन्तर । श्रोत्रादि द्रव्येन्द्रियो को उपघात से बचाने और उनका अनुग्रह करने में उपकरणेन्द्रिय सहायक होती है ।

तात्पर्य यह है निर्माण नामक नामकर्म भीतर रहे हुए सुतार के समान है जो कर्णशष्कुली आदि अवयवों की आकृति बनाने मे कुशल है । इसी प्रकार औदारिक, वैक्रिय तथा आहारक इन तीन शरीरो का अंगोपाग नामकर्म भी अवयवो की रचना करना है । इसके उदर से शिर आदि अंगो और अगुली आदि उपागो की रचना होती है । ये दोनो कर्म निर्वृत्ति उपकरण रूप दोनो द्रव्येन्द्रियों का निर्माण करने के लिए यत्न करते है ।

अगोपांग नामक अत्यन्त विशिष्ट जो कर्म है वह उपयोगरूप भावेन्द्रिय के, अवधान देने के मार्ग रूप छिद्रो को उत्पन्न करता है । वही कर्णशष्कुली आदि रूप छिद्र जो रूप बाहर से मालूम पडते है, उन्हें एक निवृत्ति कहते है, दूसरी आभ्यन्तर निवृत्ति कहलाती है ।

अथवा—अगोपाग नामकर्म और निर्माणनामकर्म के द्वार विशिष्ट प्रकार की अवयव रचना से रचित, औदारिक आदि तीन शरीरों के कर्णशष्कुली आदि प्रदेश, निर्माणनामकर्म और अगोपाग नामकर्म निमित्तक, उत्तर गुणनिर्वर्त्तना की अपेक्षा मूलगुणनिर्वर्त्तना रूप निवृत्ति उत्पन्न होती है ।

एव विविधविशेषनिरपेक्षा यथोत्पन्नवर्तिनी औदारिकप्रायोग्यद्रव्यवर्गणामूलकारणव्यवस्थित-गुणनिर्वर्त्तना व्यपदिश्यते । तस्मिंश्चनिर्वृत्तिरूपेन्द्रियेसत्यपिकृपाणधारस्थानीये प्रागुक्तमुपकरणेन्द्रिय पश्चाद्भागरूपमवश्यमपेक्षणीयम् । तच्च स्वविषयग्रहणशक्तियुक्त छेदनसमर्थखड्गधारेव तच्छक्ति-रूपमिन्द्रियान्तरं स्वीकर्त्तव्यम् ।

अन्यथा—निर्वृत्तौ सत्यामपि शक्त्युपघातैर्विषयं न गृह्णाति तस्मात्—निर्वृत्तिरूपे श्रवणादि-सञ्ज्ञके द्रव्येन्द्रिये ।

तद्भावादात्मनोऽनुपघाताऽनुग्रहाभ्यां यदुपकारकं भवति तदुपकरणेन्द्रिय व्यपदिश्यते, तदपि द्विविधम् बहिर्वर्त्ति--अन्तर्वर्त्ति च, निर्वृत्तिरूपद्रव्येन्द्रियापेक्षयाऽस्यापि द्वैविध्यमुच्यते । यत्र--निर्वृत्ति-द्रव्येन्द्रियं भवति तत्रोपकरणेन्द्रियमपि न तस्य भिन्नदेशवर्ति भवति, तस्या खलु—स्वविषयग्रहण-शक्तेर्निर्वृत्तिरूपद्रव्येन्द्रियमध्यवर्तित्वात् ।

तत्र—इन्द्रियसस्थानानि, आह—नानाविध सस्थान स्पर्शेन्द्रिम्—१ प्रदीर्घत्र्यस्त्र सस्थित क्षुरप्रकार—रसनेन्द्रियम्—२ अतिमुक्तकपुष्पदलचन्द्रकाकार किञ्चित् सकेसरवृत्ताकारमध्यविनत—घ्राणेन्दियम्—३ किञ्चित् समुन्नतमध्यपरिमण्डलाकार धान्यमसूरसदृश—चक्षुरिन्द्रियम्—४ कद-म्बपुष्पकाकार श्रोत्रेन्द्रिय भवतीति भाव —५ ।

कानो का वेधन तथा उनमें लम्बाई उत्पन्न करना, चक्षु का अजन द्वारा और घ्राण का नस्य द्वारा उपकार होना, औषध प्रदान करके जिह्वा की जडता दूर करना और नाना प्रकार के चूर्ण, पटवात तथा गधद्रव्यों के घिसने से स्पर्शनेन्द्रिय का विमल होना, यह सब उत्तरगुण निर्वर्त्तना है।

इसी प्रकार विविध विशेषों से निरपेक्ष, जैसी उत्पन्न हुई हो वैसी ही रही हुई, औदा-रिक शरीर के योग्य द्रव्यवर्गणा मूलकारणव्यवस्थित गुणनिर्वर्तना कहलाती है । तलवार की धार के समान निवृत्ति रूप द्रव्येन्द्रिय के होने पर भी, उसके पिछले भाग के समान उप-करणेन्द्रिय की अपेक्षा रहती ही है । अपने विषय को ग्रहण करने की शक्ति से युक्त छेदन करने में समर्थ तलवार की धार के समान शक्ति रूप अलग इन्द्रिय को स्वीकार करना चाहिए । अन्यथा निवृत्ति के होने पर भी शक्ति का उपघात होने से इन्द्रिय अपने विषय को ग्रहण नहीं करती है । अतएव निवृत्ति रूप श्रवणादि सज्ञा वाले द्रव्येन्द्रिय की विद्यमानता में जो अनुपघात और अनुग्रह के द्वारा उपकारक होता है, उसे उपकरणेन्द्रिय कहते है । उपकर-णेन्द्रिय के भी दो भेद है—बाह्य और आभ्यन्तर । जहाँ निवृत्ति द्रव्येन्द्रिय होती है, वहाँ उपकरणेन्द्रिय होती है । वह उससे भिन्न देश में नहीं रहती ।

अब इन्द्रियों के आकार कहते हैं—स्पर्शनेन्द्रिय का आकार कोई एक नियत नहीं है—उसके आकार विविध प्रकार के होते हैं । रसनेन्द्रिय का आकार लम्बे और त्रिकोण छुरे के समान होता है । अतिमुक्तक के पुष्प—दल—चन्द्रक के आकार जैसी, कुछ—कुछ केसर सहित वृता-

तथाचोक्तम्—"कइविहेण भते–१ इंदिय उवचए पण्णत्ते–२ गोयमा–१ पंचविहे इदिय उवचए पण्णत्ते। त जहा–सोइदियउवाचए, चक्खिदियउवचए, धाणिंदियउवचए, जिब्भिदिय उवचए, फासिंदियउवचएय कइविहाण भते–१ इंदियणिव्वत्तणा पण्णत्ता–२ गोयमा–१ पचविहा इंदियणिव्वत्तणा पण्णत्ता, त जहा–सोइदियणिव्वत्तणा, चक्खिदियणिव्वत्तणा, चक्खिदियणिव्वत्तणा, घाणिंदियणिव्वत्तणा, जिब्भिदियणिव्वत्तणा, फासिदियणिव्वत्तणाय।

कतिविध खलु भदन्त! इन्द्रियोपचय प्रज्ञप्त.–? गौतम–! पञ्चविध इन्द्रियोपचय' प्रज्ञप्त' तद्यथा–श्रोत्रेन्द्रियोपचय १ चक्षुरिन्द्रियोपचय–२ घ्राणेन्द्रियोपचय–३ जिह्वेन्द्रियोपचय ४ स्पर्शनेन्द्रियोपचयश्च–५। कतिविधा खलु भदन्त–! इन्द्रियनिर्वर्त्तना प्रज्ञप्ता–? गौतम–!।। पञ्चविधा खलु इन्द्रियनिर्वर्तना प्रज्ञप्ता,।

तद्यथा—श्रोत्रेन्द्रियनिर्वर्तना १ चक्षुरिन्द्रियनिर्वर्तना २ घ्राणेन्द्रियनिर्वर्तना ३ जिह्वेन्द्रियनिर्वर्तना ४ स्पर्शनेन्द्रियनिर्वर्तना ५ चेति प्रज्ञापनायां २ द्वितीयोद्देशके १५ सूत्रे।

"ततश्चोक्तम्"—फासिंदिएण भते–! किसठिएपण्णत्ते–? गोयमा–! नाणासठाणसठिए जिब्भिदिएणंभते–! किंसठिएपण्णत्ते–? गोयमा–! खुरप्पसठिए, घाणिंदिएणभंते–! किंसठिए-पण्णत्ते–? गोयमा–! अतिमुत्तयचदकसठिए। चक्खुरिंदिएणभते–! किंसठिएपण्णत्ते–? गोयमा! मसूरयचदसंठिएपण्णत्ते सोइंदिएणभते–! किंसठिएपण्णत्ते–? गोयमा–! कलवुयापुप्फसंठिएपण्णत्ते –इति।

कार और मध्य मे कुछ विनत घ्राणेन्द्रिय होती है। बीच मे किंचित् ऊँची उठी हुई गोलाकार मसूर (दाल) नामक धान्य के समान चक्षु इन्द्रिय है। श्रोत्रेन्द्रिय का आकार कदम्ब के पुष्प जैसा है। प्रज्ञापनासूत्र के इन्द्रियपद में कहा भी है—

प्रश्न–भगवन्! इन्द्रिय-उपचय कितने प्रकार का है?

उत्तर–गौतम! इन्द्रिय–उपचय पाँच प्रकार का है। वह इस प्रकार है—श्रोत्रेन्द्रिय-उपचय, चक्षु–इन्द्रिय–उपचय, घ्राणेन्द्रिय–उपचय, जिह्वेन्द्रिय–उपचय, स्पर्शनेन्द्रिय–उपचय।

प्रश्न–भगवन्! इन्द्रियनिर्वर्त्तना कितने प्रकार की है?

उत्तर–गौतम! पाँच प्रकार की इन्द्रियनिर्वर्त्तना कही है, यथा–श्रोत्रइन्द्रिनियर्वर्तना, चक्षुरिन्द्रिय निर्वर्तना, घ्राणेन्द्रियनिर्क्तना, जिह्वेन्द्रियनिर्वर्त्तना और स्पर्शेन्द्रियनिर्वर्त्तना।

प्रश्न–भगवन्! स्पर्शेन्द्रिय किस आकार की कही गई है?

उत्तर–गौतम! नाना आकार की कही गई है।

प्रश्न–भगवन्! जिह्वेन्द्रिय किस आकार की कही है?

उत्तर–गौतम! छुरे के आकार की कही है।

स्पर्शनेन्द्रियं खलु भदन्त—! किंसंस्थानसंस्थितं प्रज्ञप्तम् ? गौतम ! नानासंस्थानसंस्थितं प्रज्ञप्तम्। जिह्वेन्द्रियंखलुभदन्त—! किंसंस्थानं संस्थितं प्रज्ञप्तम्—? गौतम ! क्षुरप्रसंस्थानसंस्थितं प्रज्ञप्तम्। घ्राणेन्द्रियं खलु भदन्त ! किं संस्थानसंस्थितं प्रज्ञप्तम् ? गौतम ! अतिमुक्तकचन्द्रक संस्थानसंस्थितं प्रज्ञप्तम्। चक्षुरिन्द्रियं खलु भदन्त ! किं संस्थानसंस्थितं प्रज्ञप्तम् ? मसूरकचन्द्रसंस्थानसंस्थितं प्रज्ञप्तम्। श्रोत्रेन्द्रियं खलु भदन्त ! किं संस्थानसंस्थितं प्रज्ञप्तम् ? गौतम ! कदम्बकपुष्पसंस्थानसंस्थितं प्रज्ञप्तमितिप्रज्ञापनायामिन्द्रियाख्ये पञ्चदशेपदे १९१ सूत्रे प्रतिपादितम् ॥२०॥

मूलसूत्रम्—"इंदियविसए पंचविहे फासे रसे गंधे वण्णे सद्दे य" ॥२१॥

छाया—इन्द्रियविषयः पञ्चविधः स्पर्शो रसो गन्धो वर्णः शब्दश्च ॥२१॥

तत्त्वार्थदीपिका :—पूर्वं खलु श्रोत्रादीनि पञ्चेन्द्रियाणि द्रव्येन्द्रियभावेन्द्रियात्मकानि प्रतिपादितानि सम्प्रति—तेषां पञ्चेन्द्रियाणां पञ्चविषयान् प्रतिपादयितुमाह—"**इंदियविसए पंचविहे फासे—रसे गंधे वण्णे सद्दे य—**" इति इन्द्रियविषयः इन्द्रियाणां स्पर्शन—रसन—घ्राण—चक्षु—श्रोत्राणां विषयः विषिणोति—निबध्नाति स्वेन रूपेण—स्वाकारेण निरूपणीयं करोति अन्तःकरणवृत्ति-विशेष—ज्ञानादिकमिति विषयः—

प्रश्न—भगवन् ! घ्राणेन्द्रिय किस आकार की कही है ?

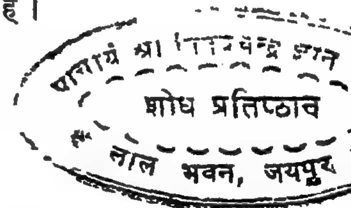
उत्तर—गौतम ! अतिमुक्तक के चन्दक के आकार की कही है।

प्रश्न—भगवन् ! चक्षुरिन्द्रिय किस आकार की कही है ?

उत्तर—गौतम ! मसूर या चन्द के आकार की कही है।

प्रश्न—भगवन् ! श्रोत्रेन्द्रिय किस आकार की कही है ?

उत्तर—गौतम ! कदम्ब के आकार की कही है।



इस प्रकार प्रज्ञापनासूत्र के पन्द्रहवे पद मे १९१ वे सूत्र मे कहा गया है ॥२०॥

मूलसूत्रार्थ— ॥इंदिय विसए पंच विहेत्यादि ॥२१॥

इन्द्रियो का विषय पाँच प्रकार का है—स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द ॥२१॥

तत्त्वार्थदीपिका— पहले कहा जा चुका है कि श्रोत्र आदि पाँच इन्द्रियाँ द्रव्य और भाव के भेद से दो—दो प्रकार की है। अब उनके विषय बतलाने के लिए कहते है—इन्द्रियों के विषय पाँच है—स्पर्श, रस, गंध, और शब्द।

जो इन्द्रियों के द्वारा जाना जाता है, वह इन्द्रियों का विषय कहलाता है। उसके पाँच भेद हैं—(१) स्पर्श—जिसे छूकर जाना जाय। (२) रस—जो चखने से जाना जाय। (३)गंध—जो सूंघने से मालूम हो। (४) वर्ण—देखने से जिसका ज्ञान हो-और (५) शब्द—जो कान से प्रतीत हो।

पञ्चविधो वर्तते तद्यथा—स्पर्श. १ रस' २ गन्ध ३ वर्ण. ४ शब्दश्चेति ५ तत्र स्पर्शनं स्पर्श, स्पृश्यते इति वा स्पर्श रस्यते इति रस रसन वा रस' गन्ध्यते इति गन्ध गन्धनं वा गन्ध' वर्ण्यते इति वर्ण वर्णन वा वर्ण शब्द्यते इति शब्द शब्दन वा शब्द इत्येव कर्मणि भावे वाऽच्प्रत्यय' ।

तत्र—स्पर्शस्तावत् कर्कश—मृदु—गुरु—लघु—शीतोष्ण—स्निग्ध—रूक्षभेदादष्टविध ।। रसश्च तिक्त—कटु—कषायाम्ल—मधुरभेदात्पञ्चविध । गन्धस्तु—सुरभि—दुरभिभेदात् द्विविध वर्णश्च—कृष्ण—नील—रक्त—पीत—शुक्लभेदात् पञ्चविध शब्द पुनस्त्रिविध जीवाजीवमिश्रभेदात् ।

तत्र—वाग्योगप्रयत्ननिसृष्टोऽनन्तानन्तप्रदेशिकपुद्गलस्कन्धप्रतिविशिष्टपरिणाम पुद्गलद्रव्यसघातजन्यो वा स्तनितध्वनिशब्दरूपोबोध्य. । एते च स्पर्शादय. पञ्च विषया क्रमश स्पर्शन रसन—घ्राण—चक्षु'—श्रोत्ररूपपञ्चेन्द्रियैर्गृह्यन्ते, एते च जीवैरर्थ्यमानत्वात्—अर्था इत्यपिव्यपदिश्यन्ते ॥२१॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति :——पूर्वं स्पर्शन—रसन—घ्राण—चक्षु —श्रोत्राणि—पञ्चेन्द्रियाणि प्रतिपादितानि सम्प्रति—तेषां पञ्च विषयान् प्रतिपादयितुमाह—"इदियविसए पचविहे फासे—रसे—गंधे—वण्णे सद्देय—इति । इन्द्रियविषय'—इन्द्रियाणां स्पर्शनादीनां विषय ।

विषिणोति—बध्नाति स्वेन—रूपेण स्वाकारेण निरूपणीया करोति अन्त करणवृत्तिं य. स विषय' पञ्चविध' प्रज्ञप्त' तद्यथा—स्पर्श.—रस —गन्ध —वर्ण'—शब्दश्च । तत्र—स्पृश्यते इति स्पर्श कर्कश १ मृदु २ गुरु ३ लघु ४ शीतोष्ण ५—६ स्निग्ध ७ रूक्ष ८ भेदात् अष्टविध' प्रज्ञप्त' ।

स्पर्श आठ प्रकार का है—(१) कर्कश (२) मृदु (३) गुरुभारी (४) लघु—हल्का (५) शीत (६) उष्ण (७) स्निग्ध चिकना और (८) रूक्ष—सूखा । रस पाँच प्रकार का है—(१) तिक्त (२) (३) कटु कसैला (४) खट्टा (५)मधुर । गंध के दो भेद है—सुगध और दुर्गंध । वर्ण के पाँच भेद हैं— कृष्ण, नील, रक्त पीत और शुक्ल । शब्द तीन प्रकार के है—जीवशब्द, अजीवशब्द और मिश्रशब्द ।

वचनयोग से निकला हुआ, अनन्तान प्रदेशी पुद्गलद्रव्यो का स्कंध या पुद्गल द्रव्य के सघात से उत्पन्न ध्वनि को शब्द कहते है ।

ये स्पर्श आदि पाँचों विषय क्रमश स्पर्शन आदि इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किये जाते है । जीव उनकी अर्थना—अभिलाषा करना है, अतएव इन्हें अर्थ भी कहते है ॥२१॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—— पहले स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र, ये पाँच इन्द्रियाँ कही जा चुकी है । अब इनके पाँच विषयों का प्रतिपादन करने के लिए कहते है—इन्द्रियों के के विषय पाँच है—स्पर्श, रस, गध, वर्ण और शब्द ।

इन्द्रियो के द्वारा जिसे ज्ञान किया जाय, वह इन्द्रियो का विषय कहलाता है । उसके पाँच भेद है—स्पर्श, रस, गध, वर्ण और शब्द । जो छुआ जाय वह स्पर्श कहलाता है ।

रस्यते रसनया—आस्वाद्यते इति रस., स च तिक्त १ मधुर २ कटु ३ कषाया ४ ऽम्ल ५ भेदात् पञ्चविध । लवणस्य मधुरान्तर्गतत्वात्, गन्धस्तावत् सुरभि १ दुरभि २ भेदात् द्विविध. प्रज्ञप्त । वर्णस्तु—कृष्ण—नील—रक्त—पीत—शुक्लभेदात् पञ्चविध. । शब्दश्च—वाग्योगप्रयत्न-निसृष्टोऽनन्तानन्तप्रदेशिकपुद्गलस्कन्धप्रतिविशिष्टपरिणाम., ।

पुद्गलद्रव्यसघातभेदजन्यो वा गर्जितादिरूपस्त्रिविधोऽवगन्तव्य । जीवाजीवमिश्रभेदात् । एते च स्पर्शादय' पञ्चविषयाः क्रमश स्पर्शन रसन—घ्राण चक्षु' श्रोत्राग्राह्या भवन्ति । अत एव स्पर्शादय' पञ्च अर्थ्यमानत्वाद् अर्थाव्यपदिश्यन्ते, सर्वे मिलित्वा त्रयो विंशतिर्विषया । उक्तञ्च —स्थानाङ्गस्य ५ पञ्चमस्थाने ३ उद्देशके ४४३ सूत्रे । **"पंच इंदियत्था पण्णत्ता, तं जहा सोइं दियत्थे चक्खि दियत्थे घाणिंदियत्थे जिब्भिदियत्थे फासिंदियत्थे"** इति । पञ्च—इन्द्रियार्था' प्रज्ञप्ता', तद्यथा—

श्रोत्रेन्द्रियार्थ. चक्षुरिन्द्रियार्थ' घ्राणेन्द्रियार्थ जिह्वेन्द्रियार्थ स्पर्शनेन्द्रियार्थ. इति ॥२१॥

मूलसूत्रम्—"णो इंदियं मणे ताविसए सुअं" ॥२२॥

छाया—नो इन्द्रियं मनः तद्विषयः श्रुतम् ॥२२॥

तत्त्वार्थदीपिका :—पूर्वं तावद् इन्द्रियाणां तद्विषयाणाञ्च निरूपणं कृतम् तत्र श्रोत्रा-दीनामुपयोगकरणत्वाद् इन्द्रियत्व सभवति तेषा शब्दादिविषय प्रतिनियतत्वेनाऽवस्थितत्वात् मनस' पुन' शब्दादिकं प्रतिनियतत्वाऽभावेनाऽवस्थानादिन्द्रियत्वं न सभवति ।

वह आठ प्रकार का है—कर्कश (कठोर), मृदु (कोमल), गुरु (भारी) लघु (हल्का) शीत (ठंडा) उष्ण (गर्म), स्निग्ध (चिकना) और रूक्ष (रूखा) ।

जिह्वा द्वारा जो चखा जा सके वह रस कहलाता है । तिक्त, मधुर, कटु, कषाय, और अम्ल खट्टा के भेद से रस के पाँच भेद है । लवण (नमक) मधुर रस में सम्मिलित है । गध के दो प्रकार है—सुरभि गध और दुरभि गंध । वर्ण पाँच तरह का होता है—कृष्ण, नील, रक्त, पीत और शुक्ल । वचनयोग से निकला हुआ, अनन्तानप्रदेशी पुद्गलस्कध का एक विशिष्ट परिणमन शब्द कहलाता है । शब्द कभी पुद्गल दव्यों के टकराने से और कभी पृथक्—पृथक् होने से उत्पन्न होता है । उसके तीन भेद है—जीवशब्द, अजीवशब्द और मिश्रशब्द ।

ये स्पर्श आदि पाँचों विषय अनुक्रम से स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य होते हैं । इस कारण इन्हे 'अर्थ' भी कहते हैं । क्योंकि जीव इनकी अभिलाषा करते है । ये सव मिलकर तेईस विषय है । स्थानागसूत्र के पाँचवे स्थान मे, तीसरे उद्देशक के ४४३ वे सूत्र में कहा है—इन्द्रियों के पाँच विषय कहे है, यथा—श्रोत्रेन्द्रिय का विषय, चक्षुरिन्द्रिय का विषय, घ्राणेन्द्रिय का विषय, रसनेन्द्रिय का विषय और स्पर्शेन्द्रिय का विषय ॥२१॥

अपितु—तस्य नो इन्द्रियत्वमेव युक्तमित्याशयेनाऽऽह "णो इंदियमणे नाविसएसुअं इति मनस्तावद् नोइन्द्रियम् अनिन्द्रियमुच्यते, तस्य शब्दादिनियतविषयाभावात् । किन्तु तदपि उपयोगस्योपकार्येव भवति श्रोत्रादिवत् । तेन विना श्रोत्रादीन्द्रियाणा शब्दादिविषयेषु स्वप्रयोजनवृत्त्यभावात् ।

तथाच—सर्वेषामिन्द्रियाणामुपयोगस्य च सहकारित्वं मनस सिध्यति परन्तु—न केवलं तेषां सहकारित्वमेव मनसो वर्तते अपितु—श्रुतज्ञानस्य स्वातन्त्र्येण विषयो वर्तते इत्यभिप्रायेणाह—'तद् विषय श्रुतम्' इति । तस्याऽनिन्द्रियस्य मनसोविषय श्रुतम् श्रुतज्ञान वर्तते, श्रुतज्ञानविषयोऽर्थो वा तस्य विषय प्राप्तश्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमस्यात्मन श्रुतस्यार्थेऽनिन्द्रियमनोऽवलम्बनज्ञानप्रवृत्तिसत्वात् ।

तथा च—श्रुतज्ञानमनिन्द्रियस्य मनसोऽर्थ प्रयोजन वर्तते अनिन्द्रियस्य स्वातन्त्र्यसाध्य श्रुतज्ञान प्रयोजनमस्तीति फलितम् । एवञ्च—प्रकृते श्रुतशब्देन श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमजन्यद्रव्यश्रुतानुसारि प्रायशो निजार्थोपसगतमात्मन. परिणति प्रसादलक्षण तत्त्वार्थपरिच्छेदस्वरूपं भावश्रुतज्ञानमुच्यते ॥ अथवा—अर्थावग्रहानन्तर मतिज्ञानमेव श्रुतज्ञानरूप सम्पद्यते, ।

तच्च —न सर्वेषामिन्द्रियाणामर्थावग्रहाऽनन्तर भवति, अपितु मनसोऽर्थावग्रहानन्तरमेव मतिज्ञान श्रुतज्ञानरूप सम्पद्यते । विशेषतस्तु—श्रुतग्रन्थानुसारेण श्रुतज्ञान भवति तच्च—मनसोऽनिन्द्रियस्य विषयरूप श्रुतज्ञान द्विप्रकारक वर्तते—अङ्गबाह्यम् अङ्गान्तरगतञ्च तत्राऽऽवश्यकादिकमङ्गबाह्यमनेकविध बोध्यम् । अङ्गान्तरगतञ्च द्वादशविधम् । आचाराङ्गादिद्वादशभेदात् ।

सूत्र—"णोइंदिय मणे ताविसए सुअं ॥२२॥

मूलसूत्रार्थ—मन तो इन्द्रिय है और उसका श्रुत है ॥२२॥

तत्त्वार्थदीपिका—पहले इन्द्रियो का और उनके विषयो का निरूपना किया गया है। श्रोच आदि उपयोग के कारण होने से इन्द्रिय है और शब्द आदि उनके विषय नियत है, अर्थात् श्रोच शब्द को ही जानना है, चक्षु रुप को ही ग्रहण करती है, इस प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय का अपना–अपना विषय नियत है। किन्तु मन का विषय नियत नहीं हैं। वह शब्द, रुप, रस आदि समस्त विषयो मे प्रवृत्त हो सकता है। इस कारण उसे इन्द्रिय नहीं माना गया है। उसे नोइन्द्रिय कहना ही उपयुक्त है। इस अभिप्राय को लेकर कहा है—

मन नोइन्द्रि कहलाता है, क्योंकि उसका विषय शब्दादि नियत नहीं है। फिर भी वह श्रोत्र आदि की तरह उपयोग मे निमित्त तो होता ही है। उसके बिना श्रोत्र आदि इन्द्रियो की शब्द आदि विषयो मे ९ स्वप्रयोजनभूत प्रवृत्ति नहीं होती।

इस प्रकार मन सभी इन्द्रियो का और साथ ही उपयोग का भी सहायक सिद्ध होता है। मगर मन केवल इन्द्रियो का सहायक मात्र नहीं है, अपितु स्वतत्र रुप से श्रुत ज्ञान के विषय को भी जानता है। अतएव सूत्र मे कहा है—मन का विषय श्रुत है। अर्थात् मन का विषय

तच्च मन –चक्षुर्वदप्राप्यकारि वर्तते वह्न्युदकादिपरिचिन्तनकाले दाहशैत्यादिरूपोपघातानुग्रहाभावात् तत् खलु मनो द्विविधम्, द्रव्यभावभेदात्. तत्र द्रव्यमन स्वशरीरपरिमाणम्, भावमनःपुनरात्मा वर्तते स चात्मा–भाव–मनोरूपस्त्वक्पर्यन्तदेशव्यापी भवति।

द्रव्यमनसोऽवलम्बनद्वारेणैव भावमन इन्द्रियपरिणामं मनुते, तस्मात्तस्यतद्व्यापारानुविधायित्वात् अनिन्द्रियस्य मनस श्रोत्रप्रणालिकया गृहीतशब्दवाच्यविचारशीलस्य श्रुतज्ञानमर्थो विषय इति भाव. । तच्च श्रुतज्ञान प्रयोगविशेष संस्कारज्ञानसाध्य वर्ण—पद–वाक्य–प्रकरणाध्यायादिज्ञानरूप मनो विना न कारणान्तरं परिच्छेत्तु समर्थं भवेदिति तदर्थं मनोऽवश्यमभ्युपेतव्यम् इति भाव ।२२।

तत्त्वार्थनिर्युक्ति :—पूर्वसूत्रे–स्पर्शादीन्द्रियाणां स्पर्शादयो विषया प्रतिपादिता सम्प्रति–मनसो निरूपणपूर्वकं तद् विषय प्ररूपयति–"**णो इंदियं मणे ताविसए सुअं**" नो इन्द्रियम्–अनिन्द्रियं तावद् मन उच्यते । तस्य–अनिन्द्रियरूपमनसो विषय. श्रुतम् श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमजन्यं द्रव्यश्रुतानुसारिप्रायो निजार्थोपसङ्गतमात्मन परिणतिप्रसादात्मक तत्त्वार्थपरिच्छेदस्वरूप भावश्रुतज्ञानं व्यपदिश्यते । यद्वाऽर्थविग्रहसमयानन्तर मतिज्ञानमेव श्रुतज्ञानरूप सम्पद्यते, तच्च न सर्वेषामिन्द्रियाणामर्थविग्रहानन्तर भवति अपितु–मनोऽर्थविग्रहानन्तरमेव मतिज्ञान श्रुतज्ञानरूप सम्पद्यते विशेषत. पुन श्रुतग्रन्थानुसारेण श्रुतज्ञानं भवति । तच्च—मनसोऽनिन्द्रियस्यार्थरूप श्रुतज्ञान द्विविधं भवति ॥

श्रुतज्ञान है । यहाँ श्रुतज्ञान शब्द से श्रुतज्ञान का विषय समझना चाहिए अर्थात् श्रुतज्ञान का जो विषय है वही मन का विषय है । जिस आत्मा को श्रुतज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम है । वह श्रुतज्ञान के विषय में मन की सहायता से ही प्रवृत्ति करता है । तत्पर्य यह है कि श्रुतज्ञान का जो विषय है, वह मन का स्वतत्र विषय है ।

इस प्रकरण में श्रुत शब्द का अर्थ भावश्रुतज्ञान समझना चाहिए । यह भावश्रुतज्ञान श्रुतज्ञानावरण के क्षयोपनाम से उत्पन्न होता है, प्रव्यश्रुत का अनुसरण करता है और आत्मा का ही एक विशिष्ट परिणमन है । अथवा अर्थावग्रह के पश्चात् मतिज्ञान ही श्रुतज्ञान के रूप में परिणत हो जाता है । किन्तु सभी इन्द्रियो से होने वाले अर्थावग्रह के अन्तर मतिज्ञान श्रुतिज्ञान रूप नहीं परिणत होना वान् कन से होने वाले अथावग्रह के पश्चात् ही श्रुतज्ञान रूप होता है ।

खास तौर से श्रुतज्ञान श्रुतशास्त्र के अनुसार होता है । मन का विषय जो श्रुतज्ञान है, वह दो प्रकार का है अङ्गबाह्य और अगप्रविष्ट । आवश्यक आदि अगबास्थश्रुतज्ञान अनेक प्रकार का है । अगप्रविष्ट बारह प्रकार का है आचाएंग आदि ।

चक्षु के समान मन भी अप्राज्ञाकारी है, क्योकि जब मन से अग्नि का चिन्तन किया जाता है तब मन में दाह नहीं होता और जब जल का चिन्तन किया जाता है तब वह शीत

अङ्गबाह्यम्—अङ्गान्तरगतञ्च। तत्राऽङ्गबाह्यमनेकविध बोध्यम्, आवश्यकादिभेदात्। अङ्गान्तरगतञ्च द्वादशविधम् आचाराङ्गादिद्वादशभेदात्। तच्च मनोऽनिन्द्रिय व्यपदिश्यते तस्य रूपादिग्रहणादावस्वतन्त्रत्वात्। अपूर्णत्वात्, इन्द्रियकार्याकरणत्वाच्च। तच्च मन—चक्षुवद्. अप्राप्यकारिवर्तते जलाऽनलपरिचिन्तनकालेऽनुग्रहोपघातशून्यत्वात्।

तद् मनो द्विविधम् द्रव्य—भावभेदात्। तत्र द्रव्यमन स्वशरीरपरिमाणम्, आत्मा च भावमन' सोऽपि—त्वक्पर्यन्तदेशव्यापी भवति द्रव्यमन समवलम्बन द्वारेण यदिन्द्रियपरिणाम भावमनो मनुते तस्य व्यापारानुविधानात्।

तस्मादेव रूपस्याऽनिन्द्रियस्य मनस. श्रोत्रप्रणालिकया गृहीतशब्दवाच्यविचारशीलस्य श्रुतज्ञानमर्थो विषयो बोध्य। तच्च प्रयोगविशेषसस्कृतं श्रुत वर्ण—पद—वाक्य—प्रमाणाध्यपनादि भेद मनो विना न करणान्तरं परिच्छेत्तु समर्थं स्यात्। तथा चाऽऽत्मपरिणतिविशेषरूपं श्रुतज्ञानमेवाऽनिन्द्रियस्य विषय, नतु—शब्दरूप श्रुतं मनसो विषय सम्भवति॥

शब्दात्मकस्य श्रुतस्य तु—प्रतिघाताभिभवयुक्तत्वात्—मूर्त्तित्वात्—श्रोत्रग्राह्यत्वमेव, न तु मनोग्राह्यत्वमिति भाव॥ एवञ्च—मनस्तावन्नेन्द्रिय सम्भवति तस्मिन् प्रागुक्तेन्द्रियलक्षणानुपपत्ते। अत एव—नो इन्द्रिय व्यपदिश्यते॥२२॥

नहीं होता। मन के दो भेद है—द्रव्यमन और भावमन। द्रव्यमन अपने शरीर के बराबर है और भावमन आत्मा ही है। वह भावमन रूप आत्मा त्वचा पर्यन्त देश मे व्याप्त रहता है।

भावमन द्रव्यमन का अवलम्बन करके भी इन्द्रियो के विषय का मनन करता है, अतएव वह द्रव्यमनन के व्यापार का ही अनुसरण करता है। तात्पर्य यह है कि श्रोत्र की प्रणाली से ग्रहण किये हुए शब्दो के वाच्य का विचार करने वाले मन का विषय श्रुतज्ञान है। वह श्रुतज्ञान प्रयोग विशेष और सस्कारज्ञान से उत्पन्न होता है, वर्ण, पद, वाक्य, प्रकरण अध्येना आदि के ज्ञानरूप है। उसे मनके अतिरिक्त अन्य कोई इन्द्रिय ग्रहण करने मे समर्थ नहीं है। अतएव मन को अवश्य ही स्वीकार करना चाहिए॥२२॥

तत्त्वार्थ निर्युक्ति— पूर्वसूत्र में स्पर्शन आदि इन्द्रियो के स्पर्श आदि विषयो का प्रतिपादन किया गया है। अब मन का निरूपण करके उसके विषय का प्ररूपण करते है—मन नोइन्द्रिय कहलाता है। उसका विषय श्रुत है। श्रुतज्ञानावरण के क्षयोपशम से उत्पन्न होने द्रव्यश्रुत का अनुसरण करने वाला निज अर्थ से उपसगत आत्मपरिणति का प्रमाद तथा तत्त्वार्थ को जानने का स्वरूप वाला भावश्रुतज्ञान कहलाता है। अथवा अर्थावग्रह के समय के पश्चात् मतिज्ञान ही श्रुतज्ञान बन जाता है। किन्तु सभी इन्द्रियो से होने वाले अर्थावग्रह के पश्चात् नहीं होता है किन्तु मानसिक अर्थावग्रह के अनन्तर ही मतिज्ञान श्रुतज्ञान बनता है। विशेष रूप से तो श्रुतशास्त्र के अनुसार श्रुतज्ञान होता है। मन का विषय वह श्रुतज्ञान दो प्रकार का

मूलसूत्रम्—"पोग्गलजीवगई दुविहा, अणुसेढीय-विसेढीय" ॥२३॥

छाया—'पुद्गलजीवगतिर्द्विविधा, अनुश्रेणिश्च-विश्रेणी च ।२३॥

तत्त्वार्थदीपिका :—पूर्वं तावद् जीवानां स्वरूप निरूपितम् सम्प्रति तत्प्रस्तावात् येषा जीवाना भवान्तरप्रापिकागतिर्भवति, सा गति कि तेषा यथाकथञ्चित् भवति ? उताहो कश्चित् तत्र प्रतिनियमो वर्तते ? इति जिज्ञासाया प्रथम तावद् गतिस्वरूप प्ररूपयितुमाह—"**पोग्गल-जीवगई दुविहा, अणुसेढीय-विसेढीय**' इति पुद्गलजीवगति—पुद्गलाना जीवाना च गति' देशान्तरप्राप्तिर्द्विविधा वर्तते अनुश्रेणिश्च विश्रेणिश्च ।

है—अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट । आवश्यक आदि के भेद से अगबाह्य अनेक प्रकार का है। वह मन नोइन्द्रिय कहलाता है, क्योकि रूप आदि के ग्रहण मे वह स्वतत्र नहीं है, अपूर्ण है, और इन्द्रियो का कार्य नहीं करता है ।

जैसे चक्षु अप्राप्यकारि है उसी प्रकार मन भी अप्राप्यकारि है क्योकि जल और अग्नि का चिन्तन करते समय न उसका अनुग्रह—(उपकार) होता है और न उपघात होता है ।

मन दो प्रकार का है द्रव्यमन और भावमन द्रव्यमन अपने शरीर के बराबर है और भावमन रहता है । भावमन द्रव्यमन का अवलम्बन करके इन्द्रियपरिणाम का मनन करता है वह द्रव्यमन का ही अनुसरण करता है ।

इस प्रकार श्रोत्र की प्रणाली द्वारा ग्रहण किये हुए शब्दो के अर्थ का विचार करने वाले अतीइन्द्रिय किये रुप मन का विषय श्रुतज्ञान है । प्रयोगविशेष से सस्कृत उस श्रुत को जावर्ण पद, वाक्य, प्रकरण, अध्यायन आदि भेद वाला है, मन के सिवाय अन्य कोई इन्द्रिय जानने दे समर्थ नहीं है । इस कारण आत्मा की परिणति विशेष रूप श्रुतज्ञान ही मनका विषय है । शब्द स्वरुप श्रुत मन का विषय नहीं हो सकता ।

शब्दात्मक श्रुत प्रतिघात और अभिमल से युक्त होने के कारण तथा मूर्त्तिक होने के कारण श्रोत्र के द्वारा ही ग्राह्य होता है, मन के द्वारा ग्रमह्य नहीं होता इस प्रकार मन इन्द्रिय नहीं हो सकता है क्योकि उसमें इन्द्रिय का पूर्वोक्त लक्षण घटित नहीं होता । इसी कारण वह नोइन्द्रिय कहलाता है ॥२२॥

सूत्र—"पोग्गल जीवगई दुविहा इत्यादि ॥२३

मूलसूत्रार्थ—पुद्गल और जीव की गति दो प्रकार के होती है—अनुश्रेणिगति और विश्रेणिगति ॥२३॥

तत्त्वार्थदिपिका—पहले जीवों का स्वरुप प्रतिपादन किया गया है इसी प्रसग को लेकर यह वतलाते है कि जीवो की भवान्तर को प्राप्त कराने वाली जो गति होती है । वह अनियत अर्थात् चाहे जैसी होती है अथवा उसमे कोई नियम है ? इस जिज्ञासा या समधान करने के

तथाच-परमाणुरूपपुद्गलानां इत्यादि प्रदेशिकपुद्गलस्कन्धाना जीवाना च देशान्तरप्राप्तिलक्षणागतिः त्रिधा वर्तते अनुश्रेणिरूपा। तत्र परमाणुपुद्गलानां द्व्यादिप्रदेशिकपुद्गलस्कन्धाना चाऽनुश्रेणि रूपागतिर्भवति। जीवानामपि तथैव अनुश्रेणिरूपैव।

तत्र-श्रेणिस्तावद् लोकमध्यादारभ्य ऊर्ध्वमधस्तिर्यकचक्रमसन्निविष्टानामाकाशप्रदेशाना पंक्तिःस्वशरीरावगाहप्रमाणाबोध्या। तथाविधश्रेणिमनुगता-अनुश्रेणि., श्रेणेरानुपूर्व्यायाजीवाना पुद्गलाना च गतिर्भवति। साऽनुश्रेणिर्गतिरुच्यते॥

तत्राऽनुश्रेणिरूपागति पुद्गलाना जीवाना च भवति, जीवानामेव स्वभावतो भवति, तत्रापि-जीवानां ससारिणा मरणकाले-भवान्तरसक्रमे मुक्ताना चोर्ध्वगमनकाले अनुश्रेण्यैव गतिर्भवति-

पुद्गलानामपिपरप्रयोगनिरपेक्षाणा स्वाभाविकीगतिरनुश्रेणिरूपैव भवति तथाच-परप्रयोगापेक्षयापुद्गलानामनुश्रेणिरूपा-गतिर्भवति, परप्रयोगानपेक्षया तु अनुश्रेणिरूपैव गतिर्भवति पुद्गलानामिति वस्तुस्थिति.॥२३॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं जीवाना स्वरूपं निरूपितम् सम्प्रति-येषां जीवाना भवान्तर-प्रापिणीगतिर्भवति सा किं यथा कथञ्चिद् भवति ? आहोस्विदस्ति तत्र कश्चिन्नियम इति शङ्कायां प्रथम गतिं प्ररूपयति—**"पोग्गलजीवगई दुविहा अणुसेढीय"** इति।

लिए पहले गति का स्वरूप कहते है—पुद्गलो और जीवो की गति अर्थात् एक जगह से दूसरी जगह पहुँच दो प्रकार की होती है-अनुश्रेणि और विश्रेणि।

परमाणुप्रद्गलों की द्विप्रदेशी आदि स्कधो की ओर जीवो की देशान्तरप्राप्ति रुप गति एक प्रकार की होती है-अनुश्रेणिरूप परमाणुपुद्गलो की साथ द्विप्रदेशी आदि स्कंधो की गति अणुश्रेयि ही होती है।

जीवो की भी अनुश्रेणि ही होती है। लोक के मध्यभाग से लगाकर ऊपर नीचे और तिर्छे अनुक्रम से रहे हुए आकाशप्रदेशो की पक्ति को श्रेणि कहते है। इस श्रेणि के अनुसार जीवो और पुद्गलो की जो गति होती है वह अनुश्रेणि गति कहलाती है।

इनमे से अनुश्रेणि गति पुदगलो और जीवो की होती है। पुद्गलो की इसमें भी जीव जब मरण करके दूसरे भव मे जाता है और मुक्त जीव जब ऊर्ध्वगमन करते है तब उनकी अनुश्रेणिगति होती है।

परप्रयोग के बिना पुद्गलों की भी स्वमाविक गति श्रेणी के अनुसार ही होती है, परप्रयोग से अर्थात् बाहरी दबाव से प्रद्गलो की अनुश्रेणि गति होती है। यह वस्तुस्थिति है॥२३॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—जीवों के स्वरूप का निरूपण पहले किया जा चुका है, अब जीवो की भवान्तर प्रापिणी (परभव में पहुँचाने वाली) जो गति होती है, वह चाहे जैसी हो जाती है अथवा उसका कोई नियम है ? इस प्रकार को शंका होने पर पहले गति का निरूपण करते है।

पुद्गलजीवगतिरेकविधा प्रज्ञप्ता अनुश्रेणि । तत्र—गमनगति देशान्तरप्राप्ति पुद्गलानाम् परमाणुरूपपुद्गलाना द्व्यादि प्रदेशिकपुद्गलस्कन्धाना जीवाना च देशान्तरप्राप्तिलक्षणा गतिरेकविधा । प्रज्ञप्ता, अनुश्रेणिरूपा—तत्र—परमाणुपुद्गलाना द्व्यादिप्रदेशिकपुद्गलस्कन्धाना चाऽनुश्रेणिरूपागति ।

जीवानामपितथैव । तत्र—श्रेणिस्तावत् आकाशप्रदेशपंक्ति । स्वशरीरावगाहप्रमाणा, प्रदेशाश्चाऽमूर्ता क्षेत्रपरमाणवोऽत्यन्तसूक्ष्मा नैरन्तर्यभाजो भवन्ति, सा चाऽऽकाशप्रदेशपक्तिरूपा श्रेणिर्जीवगत्यपेक्षयाऽसख्येयप्रदेशा भवन्ति । पुद्गलगत्यपेक्षया पुनर्मौक्तिकहारलतेव एकैकाकाशप्रदेशरचनाहितस्वरूपा पिग्रहीतव्या ।

परमाणुपुद्गलाना तावत्यामेवश्रेण्या व्यवस्थानं भवति । द्विप्रदेशिकादिपुद्गलानान्तु—तावत्यां तदधिकाया च श्रेण्यां व्यवस्थान भवति, इत्येव—अप्रदेशिकस्कन्धपर्यवसान पुद्गलद्रव्यमुपयुज्य वक्तव्यम् । श्रेणिमनुगताऽनुश्रेणि. तथाविध श्रेण्यनुसारिणी गतिरित्यर्थ ।

तत्र—पूरणाद् गलनाच्च पुद्गला व्यपदिश्यन्ते, तेषा पुद्गलाना जीवानां च ससारिणां ससरणधर्मवतां सर्वाऽपि ऊर्ध्वमधस्तिर्यग्वादेशान्तरप्राप्तिलक्षणागतिराकाशप्रदेशाऽनुश्रेणिरूपा भवति ॥

पूर्वापरायता आकाशप्रदेशश्रेणयो दक्षिणोत्तरायताश्चाऽन्या' श्रेणय एवमूर्ध्वमधश्च धर्माधर्मद्रव्यद्वयावधिका या' श्रेणयस्तास्वेवश्रेणिषुगतिसद्भावात् ।

पुद्गलो और जीवो की गति एक प्रकार की है -अनुश्रेणि गमन करना गति कहलाता है और गमन का अर्थ है एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुंचना ।

परमाणपुद्गलो को, द्विप्रदेशी आदि स्कधो की और जीवो की गति एक प्रकार की होती है—अनुश्रेणिरूप इनमें से परमाणुपुद्गलो और द्विप्रदेशी आदि स्कंधो की अनुश्रेणि गति ही होती है ।

जीवो की गति एक प्रकार की होती है—अनुश्रेणि रूप अपने शरीर की अवगाहना जितनी आकाश के प्रदेशो की पक्ति को श्रेणी कहते है । अमूर्त्त क्षेत्र के परमाणु प्रदेश कहलाते है । वे अत्यन्त सूक्ष्म होते है और निरन्तर व्याप्त रहते है । आकाश के प्रदेशों की पंक्ति अर्थात् श्रेणी जी वगति की अपेक्षा से असख्यात प्रदेशों वाली होती है'। पुद्गलगति की अपेक्षा से मोतियों के हार के समान एक—एक आकाशप्रदेश की रचना वाली भी समझ लेना चाहिए।

परमाणुपुद्गलों का उतनी ही श्रेणी में अवस्थान होता है, किन्तु द्विप्रदेशी आदि पुद्गलो का उतनी और उससे अधिक श्रेणी में अवस्थान होता है । इस प्रकार अनन्तप्रदेशिक स्कध पर्यन्त पुद्गलद्रव्य के विषय में कह लेना चाहिए ।

श्रेणी के अनुसार जो गति हो वह अनुश्रेणि कहलाती है ।

ता एव विभिद्यनकदाचिदपि प्रयान्तीति भाव । एवञ्च—जीवपुद्गलावगाहलक्षणस्याऽऽकाशस्य परमाणुरूपा मूर्तप्रदेशानां प्रदर्घाश्रेणिरसख्यातप्रदेशा भवति जीवाना गमने, पुद्गलाना गमने तु—सख्यातप्रदेशापि श्रेणिर्भवति । तामेव विधा श्रेणिमनुपत्यगमन सम्पद्यते, आकाशप्रदेशानां याश्रेणिस्तामनुश्रित्य उपपद्यते गतिजीवाना—पुद्गलानां चेति ।

तथाचाऽऽकाशश्रेण्यभेदवर्त्तिनी देशान्तरप्राप्तिलक्षणागति स्वयमेव समासादितगतिपरिणामाज्जन्तोर्गतिहेतुसकललोकव्यापिधर्म—द्रव्यापेक्षया प्रादुर्भवति । भवान्तरसक्रमणाभिमुखोजीव कर्मणो मन्दक्रियावत्वात् येषामेवा काशप्रदेशानामवष्टम्भ कृत्वा शरीरत्याग करोति तानेवाऽभिनन्दन् देशान्तरमूर्ध्वमदस्तिर्यग्वा गच्छति, ।

धर्मास्तिकायाभावाच्च परतो लोकपर्यन्ते एव व्यवतिष्ठते, लोकनिष्कुटोपपातक्षेत्रवशाच्च भवान्तरप्राप्तो नूनमेव जीवधर्माद्वक्रा गति प्रतिपद्यते । पुद्गलानामपि—परप्रयोगनिरपेक्षाणां स्वाभाविकीगतिरनुश्रेणिरूपा भवति यथा परमाणो प्राच्याद् लोकान्तात् प्रतीच्यलोकान्तमेकेन समयेन प्राप्तिर्भवति वस्तुगतिमनुरुध्य सूत्रेण प्रतिपादितम् ।

उक्तच—व्याख्याप्रज्ञप्तौ २५—शतके ३—उद्देशके—**"परमाणुपोग्गलाणं भंते ! किं अणुसेढीगई पवत्तइ—विसेढीगई पवत्तइ—? गोयमा ! अणुसेढीगई पवत्तइ नोविसेढीगइ पवत्तइ । दुपएसियाणं भंते ! खंधाणं अणुसेढीगई पवत्तइ, विसेढीगई पवत्तइ एवं चेव, एवं जाव अणंतपएसियाणं खंधाणं नेरइयाणं भंते ! किं अणुसेढीगई पवत्तइ—विसेढीगईपवत्तइ एवं चेव एवंजाववेमाणियाणं"** ।

जिनमे पूरण और गलत अर्थात् मिलना और बिछुडना पाया जाय उन्हे पुद्गल कहते है । उन पुद्गलो की तथा ससारि जीवो की ऊँची नीची अथवा तिर्छी जो गति होती है, वह आकाश के प्रदेशों की श्रेणी के अनुसार होती है ।

पुद्गलो की स्वभाव लम्बी होती है । इसी प्रकार ऊपर—नीचे भी धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय पर्यन्त जो श्रेणियाँ है, उन श्रेणियो में ही गति होती है । उनको लांघ कर—भेदन करके कदापि गमन नहीं करते ।

इस प्रकार जीवो और पुदगलो के अवगाह रूप आकाश के परमाणुरूप अमूर्त्त प्रदेशो की लम्बी श्रेणी असख्यात प्रदेशो की होती है, किन्तु वह जीवों के गमन में ही होती है । पुद्गलो के गमन मे तो सख्यात प्रदेना वाली श्रेणी भी होती है । इस प्रकार की श्रेणी में ही गमन होता है । आकाश के प्रदेशो की जो श्रेणी है, उसके अनुसार ही जीवों और पुदगलो की गति हो सकती है ।

स्वत गति परिणाम को प्राप्त जीव की देशान्तर प्राप्ति रूप गति आकाश श्रेणी को उल्लघन न करके, गति के कारणभूत एव समस्त लोक में व्याप्त धर्मद्रव्य के निमित्त से होती है । परभव में जाने के लिए अभिमुख हुआ जीव मनक्रिया वाला होने से जिन आकाशप्रदेशो

परमाणुपुद्गलानां भदन्त–' किमनुश्रेणिर्गति प्रवर्तते, विश्रेणिर्गति प्रवर्तते ' गौतम–' अनुश्रेणिर्गति' प्रवर्तते नो विश्रेणिर्गतिर्गति प्रवर्तते । द्विप्रदेशिकानां भदन्त– ' स्कन्धानामनुश्रेणिर्गति प्रवर्तते, विश्रेणिर्गति प्रवर्तते एव चैव एवं यावद् अनन्तप्रदेशिकानां स्कन्धानाम् । नैरयिकाणां भदन्त– ' किमनुश्रेणिर्गति प्रवर्तते विश्रेणिर्गति प्रवर्तते एवमेव एवं यावद् वैमानिकानाम् इति ॥२३॥

मूलसूत्रम्—"जीवगई यदुविहा विग्गहा–अविग्गहाय" ॥२४॥

छाया "जीवगतिश्च द्विविधा विग्रहा-अविग्रहाश्च" ॥२४॥

तत्त्वार्थदीपिका :—पूर्वं तावत् जीवाना पुद्गलानां च गति प्ररूपिता, तत्र–जीवानां भवान्तरप्रापिणी, पुद्गलानान्तु–देशान्तरप्रापिणी खलु सा गतिर्भवतीति बोध्यम् तत्र–कि जीव.– पुद्गलो वा ऋज्वेव गत्वा विरमति–? आहोस्वित् वक्र गत्वापि पुनरुपजायते तिष्ठति वा–? इति जिज्ञा-

---

की सहायता लेकर शरीर का त्याग करता है, उनका भेदन न करता हुआ ऊपर, नीचे या तिर्छे देशान्तर में गमन करता है। उसकी अनुश्रेणी गति होती है।

आगे धर्मास्तिकाय का अभाव होने से लोक के पर्यन्त भाग में गति एक जाती है। लोक के निष्कर–पर्वत के सामान निश्चल उपपातन तेत्र के नग से जीव धर्मास्तिकाय की सहायता से वक्र गति करता है। पुद्गलो की भी पर प्रेरणा के विना जो स्वाभाविक गति होती है, वह अनुश्रेणि रूप ही होती है। जैसे परमाणु पूर्वदिशा के लोकान्त से पश्चिम दिशा के लोकान्त तक एक समय में प्राप्त होता है। वस्तुगति के अनुरोध से सूत्र द्वारा प्रतिपादन किया गया है ।

पर की प्रेरणा की अपेक्षा से पुद्गलो की भी अनुश्रेणी रूप भी गति होती है। व्याख्याप्रज्ञप्ति के २५ वें शतक में, तीसरे उद्देशक में कहा है—

प्रश्न –भगवन् ! परमाणुपुद्गलो की गति अनुश्रेणि–श्रेणी के अनुसार होती है।

उत्तर—गौतम ! अनुश्रेणि गति होती है, विश्रेणि गति नहीं होती है।

प्रश्न—भगवन् ! द्विप्रदेशी स्कधो की अनुश्रेणि गति होती है या विश्रेणि गति होती है?

उत्तर—इस प्रश्न का उत्तर पूर्ववत् है। इसी प्रकार अनन्त प्रदेशी स्कधो तक कह लेना चाहिए।

प्रश्न—भगवन् ! नारक जीवों की गति अनुश्रेणि होती है या विश्रेणि होती है।

उत्तर –इसका उत्तर भी पूर्ववत् ही है। इसी प्रकार वैमानिक देवो तक समझ लेना चाहिए ॥२३॥

सूत्र ॥ जीवा गई या दुविहा इत्यादि ।

मूलसूत्रार्थ— जीव की गति दो प्रकार की है—सविग्रह और अविग्रह ॥२४॥

"अत्रेदं बोध्यम्" अविग्रहगतिरिपुगतिशब्देन व्यपदिश्यते, यथा—इषो खलु वाणस्य गति-र्वेध्यपर्यन्तम् ऋज्वी भवति तथा—सिद्धाना ससारिणां चाऽविग्रहागतिरेकसामयिकी—समानैव भवति, विग्रहा—विरम्यगति ससारिणामेव भवति तस्यास्त्रय प्रकारा भवन्ति-हस्तप्रक्षिप्ता-लाङ्गलिका गोमूत्रिकेति, भेदात्, तत्र—हस्तप्रक्षिप्ता वक्रगतिर्यथा हस्तेन—एकतस्तिर्यक् प्रक्षिप्तस्य एकतो वक्रा गतिर्भवति ॥

एवं ससारिणो हस्तप्रक्षिप्ता एकतो वक्रा गतिर्द्वैसामयिकी भवति, लाङ्गलिकागतिर्द्विधातो वक्रा यथा—लाङ्गलं हल द्विधातो वक्र भवति । तथा—ससारिणा द्विधातो वक्रा लाङ्गलिकागति र्भवति, सा च त्रैसामयिकी, गोमूत्रिका—गतिर्वहुवक्रा—त्रिवक्रा भवति । सा च गोमूत्रिकागति ससारिणा चतु सामयिकी भवति, तत्र—ससारिणा भवान्तरे उत्पित्सूनां विग्रहवती वक्रा गतिश्चतुर्थसम यात्पूर्वं भवति, चतुर्थसमयस्य मध्येऽन्ते वा वक्रगति र्न भवति स ससारीजीवश्चतुर्थसमये प्राञ्जल गत्वा उत्पत्तिक्षेत्रे प्रविशति ।

चतुर्थसमये कथं न विग्रहगतिरितिचेत् सर्वोत्कृष्टविग्रहनिमित्तलोकाग्रकोणरूपनिष्कुटक्षेत्रे उत्पत्तुमिच्छु खलु जीव निष्कुटक्षेत्रानुपूर्व्यनुश्रेण्यभावात् इषुगत्यभावे निष्कुटक्षेत्रप्रमाणनिमित्तां त्रिविग्रहा गतिमारभते न तत ऊर्ध्वम् तथाविधोपपातक्षेत्राभावादिति ॥२४॥

यहाँ 'विग्रह' शब्द 'विराम' अर्थ मे ग्रहण करना चाहिए, 'कुटिल' अर्थ में नहीं लेना चाहिए। अत फलितार्थ यह हुआ कि एक समय में गति के अवच्छेद से अर्थात् विराम से उत्पन्न होता है दो समय मे गति के अवच्छेद अर्थात् विराम से उत्पन्न होता है । अथवा तीन समयों में गति के अवच्छेद से अर्थात् विराम से उत्पन्न होता है ।

यहाँ ऐसा समझना चाहिए—अविग्रह गति इषुगति (बाण जैसी सीधी गति) कहलाती है। जैसे बाण की अपने वेध्य (लक्ष्य) पर्यन्त सीधी गति होती है, उसी प्रकार सिद्धो और ससारी जीवो की अविग्रहगति एक समय वाली समान ही होती है । सविग्रहा गति ससारी जीवो की ही होती है । उसके तीन भेद है—हस्तप्रक्षिप्त लांगलिका और गोमूत्रिका ।

जैसे हाथ एक ओर तिर्छा फैका जाय तो एक तरफ तिर्छी गति होती है, इसी प्रकार ससारी जीव की हस्तप्रक्षिप्त गति एक विग्रह वाली दो समय की होती है । लागलिका गति दोनो ओर से वक्र होती है, जैसे हल दोनो ओर से वक्र होता है, उसी प्रकार ससारी जीवो की जो गति दोनो ओर से वक्र हो वह लांगलिका कहलाती है, वह गति तीन समय की होती है । गोमूत्रिका गति तीन विग्रह वाली होती है । वह गति चार समय की होती है । इस प्रकार भवान्तर मे उत्पन्न होने वाले ससारी जीवो की विग्रह वाली वक्रगति चौथे समय से पहले ही हो जाती है । चौथे समय मे या चौथे समय के अन्त मे वक्रगति नहीं होती है ।

विग्रहवाली गति चौथे समय मे क्यो नहीं होती ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि सब से अधिक विग्रह के निमित्तभूत लोकाग्र के कोणरूप निष्कुट क्षेत्र मे उत्पन्न होने वाला जीव निष्कुट क्षेत्र के अनुकूल श्रेणी न होने के कारण इपुगति नहीं कर सकता, अतएव निष्कुट क्षेत्र मे जाने

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वसूत्रोक्ता जीवाना भवान्तरप्रापिणी गति. पुद्गलानां वा देशान्तर-प्रापिणी गतिः किम्—ऋज्वेव गत्वा विरमति उताहो क्वापि वक्रं पुनरुत्पद्यते। इत्याशङ्कायां पुद्गलानां नियमाऽभावेन सिद्धिं गच्छता जीवानामेकान्तेनैवाऽविग्रहागति र्भवति, तदन्यजीवान् तु ससारिणां विग्रहाऽविग्रहा वा गतिर्भवतीति प्रतिपादयितुमाह—'**जीवगईय दुविहा, विग्गहा अवि-ग्गहा य,** इति ।

सामान्यतो जीवगतिश्च द्विविधा भवति, विग्रहा—वक्रा, अविग्रहा—सरला च। तत्रैकसमयाऽ-विग्रहा गतिर्भवति, सा चाऽविग्रहागति' मोक्षगामिनो जीवस्य भवति। विग्रहागतिश्च एकसमया द्विसमया त्रिसमया वा भवति। तत्र—जघन्येन एकसमया उत्कृष्टेन त्रिसमया विग्रहागतिरवगन्तव्या तथा च एकेन्द्रियादिजात्यन्तरसंक्रमणलक्षणगमने स्वजातिसक्रमणे वा ससारिणो जीवस्य विग्रह-वती वक्रा—अविग्रहा चाऽवक्रा गतिर्भवति ।

तत्र—कदाचिद् वक्रत्वे कदाचिदवक्रत्वे च कारणन्तु—उपपातक्षेत्रस्यानुकूल्यमेव बोध्यम्। तथाहि—यस्मिन् क्षेत्रे जीवो जन्मग्रहीष्यति, तस्य क्षेत्रस्याऽऽनुकूल्यात् तिर्यगूर्ध्वमधश्च दिक्षु—विदिक्षु च व्यावहारिकीषु म्रियमाणो यावत्यामाकाशश्रेण्यामवगाढो भवति तावत्प्रमाणा श्रेणिमपरित्यजन् प्राक् चतुर्भ्यो विग्रहेभ्यो विहग्रया गत्या एकविग्रहया—द्विविग्रहया त्रिविग्रहया वा उत्पद्यते, किन्तु—नावश्यमयं नियमोऽङ्गीकर्तव्योऽन्तर्गत्या नूनं विग्रहवत्या भवितव्यमिति, अपितु—येषां जीवानां विग्रहवतीगतिस्तेषामुपपातक्षेत्रवशाद् वक्रागति उत्कर्षेण विग्रहत्रययुक्ता भवति इत्येताश्चतस्रो गत-

---

के लिए तीन विग्रहवाली गति का आरभ करना है, उससे अधिक विग्रह वाली गति नहीं करता, क्योंकि ऐसा कोई भी उपपातक्षेत्र नहीं है जहा जाने के लिए तीन से अधिक विग्रह करने पडे ॥२४॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पूर्वसूत्र में कही हुई जीवो की भवान्तर प्रापिणी गति और पुद्गलो की देशान्तर प्रापिणी गति क्या सीधे जाकर विरत हो जाती है अथवा विग्रह करके भी पुन उत्पन्न होती है ? ऐसी आशका होने पर पुदगलों के लिए कोई नियम नहीं है, सिद्धिगमन करने वाले जीवों की गति नियम से अविग्रहा—सरल ही होती है। सिद्धों से भिन्न जो ससारी जीव है, उनकी गति सविग्रहा और अविग्रहा दोनों प्रकार की होती है। इस आशय को प्रतिपादन करने के लिए कहते हैं—

जीवों की गति दो प्रकार की है सविग्रह और अविग्रह। सामान्यतया जीव की दो प्रकार की गति होती है—विग्रह अर्थात् वक्रता वाली और अविग्रह अर्थात् सीधी—सरल। इसमें जो अवि-ग्रहगति है वह नियम से एक समय वाली ही होती है। ऐसी गति मोक्षगामी जीव की होती है। विग्रहवाली गति एक समय की, दो समय की या तीन समय की होती है। जघन्य एक समय की और उत्कृष्ट तीन समय की समझनी चाहिए। अतएव एकेन्द्रिय आदि दूसरी जातियो में

यश्चतु.समयपरा—अविग्रहा—एकसमया विग्रहा एकसमया—द्विसमया—त्रिसमया चावगन्तव्याः।

तत्परो न संभवन्तीति भाव., तथास्वभावात् प्रतिघाताभावात् विग्रहनिमित्ताभावाच्च। विग्रहो वक्रिमम् विग्रहोऽवग्रह' श्रेण्यन्तरसंक्रान्तिरिति समानार्थकम बोध्यम्। अत्रेद बोध्यम्—समश्रेणि—व्यवस्थितमुपपातक्षेत्रं यस्योत्पित्सो जीवस्य भवति स जीव. ऋज्वायता श्रेणिमनुत्पत्योत्पद्यते। तत्र—एकेन समयेन वक्रमकुर्वाण उत्पद्यते, यदा च कदाचित् तदेवोपपातक्षेत्र विश्रेणिस्थ भवति तदा—एकसमया—द्विसमया—त्रिसमयाचेति तिस्रो गतयो निष्पद्यन्ते।

तथाचोक्तम्—आगमे—'**अपज्जत्तसुहुमपुढविक्काइए णं भंते! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए पुरत्थिमिल्ले चरमंते समोहए समोहणित्ता जे भविए इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए पच्चत्थिमिल्ले चरमंते अपज्जत्तसुहुमपुढविक्काइयत्ताए उववज्जित्तए से णं भंते! कइसमइए णं विग्गहेणं उववज्जेज्जा? गोयमा एगसमइएण वा दुसमइएण वा तिसमइएण वा विग्गहेण उववज्जेज्जा**'

सक्रमण के समय या अपनी ही जाति मे सक्रमण करते समय ससारी जीव की विग्रह वाली वक्र और बिना विग्रह की अवक्रगति होती है।

इस प्रकार कभी वक्र और कभी अवक्र (सीधी) जो गति होती है, उसका कारण उपपात क्षेत्र की विशेषता ही है। जिस क्षेत्र मे जाकर जीव को जन्म लेना है, वह यदि अनुकूल होता है तो तिर्छे, ऊपर या नीचे, दिशा या विदिशा में मर कर जितनी आकाशश्रेणी में अवगाढ होता है, उसी प्रमाण वाली श्रेणी का परित्याग न करता हुआ, चार विग्रहो से पहले—पहले एक, दो या तीन विग्रह करके उत्पन्न हो जाता है। किन्तु ऐसा नियम नहीं समझना चाहिए कि अन्तर्गति निश्चित रूप से विग्रह वाली ही होती है। किन्तु जिन जीवो की गति विग्रह वाली होती है, उनको वह विग्रहवाली गति उपपात क्षेत्र के अनुसार अधिक से अधिक तीन विग्रह वाली होती है। इस प्रकार समय की अपेक्षा से चार प्रकार की गतियाँ होती है—एक समय की अविग्रहागति, एक विग्रहवाली, दो विग्रह वाली और तीन विग्रहवाली इससे अधिक विग्रहवाली गति का सभव नहीं है, क्योकि जीव का ऐसा ही स्वभाव है, प्रतिघात का अभाव होता है और अधिक विग्रह करने का कोई कारण नहीं है।

विग्रह का अर्थ है वक्रता, अवग्रह अथवा एक आकाशश्रेणी से दूसरी श्रेणी में जाना। ये सब समानार्थक शब्द हैं। अभिप्राय यह है कि भवान्तर में उत्पन्न होने वाले जीव का उपपात-क्षेत्र यदि समश्रेणी में रहा हुआ हो तो वह उसी श्रेणी के अनुसार बिना कहीं मुड़े—सीधा जा कर एक ही समय में उत्पन्न हो जाता है, किन्तु जब उपपातक्षेत्र विश्रेणी में अर्थात् किसी दूसरी श्रेणी में होता है, तब वहाँ तक पहुँचने के लिए वह एक, दो या तीन बार मुड़ता है। जब उसे मुडना पडता है तब मोड़ के अनुसार अधिक समय लगते है। आगम में कहा है—

'से केणट्ठेण भंते ? एवं वुच्चइ एगसमइएण वा—दुसमइएण वा—जाव—उववज्जेज्जा, एवं खलु गोयमा ! मए सत्तसेढीओ पण्णत्ताओ तंजहा—उज्जुआयता सेढी एगओ वंका दुहओ वंका, एगओ खहा—दुहओ खहा, चक्कवाला—अद्धचक्कवाला, उज्जुआयताए सेढीए उववज्जमाणे एगसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा, एगओ वंकाए सेढीए उववज्जमाणे दुसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा, दुहओ वंकाए सेढीए उववज्जमाणे तिसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा से तेणट्ठणं गोयमा ! एवं वुच्चइ जाव-उववज्जेज्जा' इति भगवतीगतके—३४- चतुस्त्रिंच्छतकस्य—१—उद्देशे १—सूत्रे—

छाया---अपर्याप्तसूक्ष्मपृथिवीकायिको भदन्त ! अस्या रत्नप्रभाया पृथिव्या पूर्वस्मिन् चरमान्ते समवहत, समवहत्य यो भव्योऽस्या रत्नप्रभाया पृथिव्या पश्चिमे चरमान्ते अपर्याप्तसूक्ष्मपृथिवीकायिकतया उत्पत्तुं स खलु भदन्त—! कतिसामयिकेन विग्रहेण उत्पद्येत—?

गौतम—! एकसामयिकेन वा—द्विसामयिकेन वा—त्रिसामयिकेन वा विग्रहेण उत्पद्येत तत्केनार्थेन भदन्त—! एवमुच्यते ! गौतम—! मया सप्तश्रेणय प्रज्ञप्ता तद्यथा ऋज्वायता-

---

प्रश्न—भगवन् ! अपर्याप्त सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीव ने इस रत्नप्रभा पृथ्वी के पूर्व चरमान्त में समुद्‌घात किया और वह इसी रत्नप्रभा पृथ्वी के पश्चिम चरमान्त मे अपर्याप्त सूक्ष्म पृथ्वीकायिक के रूप में उत्पन्न होने वाला है, तो हे भगवन् ? वह जीव कितने समय का विग्रह करके उत्पन्न होता है ?

उत्तर—गौतम ? एक समय का दो समयो का अथवा तीन समयो का विग्रह करके उत्पन्न होता है।

प्रश्न—भगवन् ! किस हेतु से आप ऐसा कहा है ?

उत्तर—गौतम ! मैने सात श्रेणियों की प्ररूपणा की है (१) ऋज्वायताश्रेणि (सीधी—लम्बी श्रेणी), (२) एकतो बक्रा अर्थात् एक ओर से टेढी, (३) द्विधा वक्रा अर्थात् दोनों ओर से टेढी (४) एक ओर से खहा (५) दोनो ओर से खहा (६) चक्रवाला (गोलाकार) और (७) अर्धचक्रवाला (अर्द्धगोलाकार) जो जीव सीधी लम्बी श्रेणी से उत्पन्न होता है, वह एक समय के विग्रह से उत्पन्न होता है। जोएक तो वक्र श्रेणी से उत्पन्न होता है वह दो समय वाले विग्रह से उत्पन्न होता है जो द्विधावक्र श्रेणी से उत्पन्न होता है वह तीन समय के विग्रह से उत्पन्न होता है। इस हेतु से हे गौतम ! मै ऐसा कहता हूँ, यावत् उत्पन्न होता है।

—भगवतीसूत्र, श. ३४, उ. १, सूत्र १।

यहाँ 'विग्रह' का अर्थ विराम' है, वक्रता नहीं। अतएव आशय यह निकला कि एक समय के गति के विराम से अर्थात् एक समय परिमाण गतिकाल के बाद होने वाले विराम से

श्रेणि --१ एकतो वक्रा--२ द्विधा वक्रा--३ एकत' खा--४ द्विधा खा--५ चक्रवाला--६ अर्द्धचक्रवाला--७, ऋज्वायतया श्रेण्या-उत्पद्यमान एकमयेन विग्रहेण उत्पद्यते ।

एकवक्रया श्रेण्या उत्पद्यमानो द्विसामयिकेन विग्रहेण उत्पद्यते । द्विवक्रया श्रेण्या उत्पद्यमानस्त्रिसामयिकेन विग्रहेण उत्पद्यते, तदेतेनाऽर्थेन गौतम--! एवमुच्यते इति ।

अत्र विग्रहशब्दस्य अवच्छेदार्थकतया विरामार्थे पर्यवसान भवति न तु--वक्रतार्थे । तथा च--एकसमयेन वाऽवच्छेदेन गतेविरामेण, एकसमयपरिमाणगतिकालोत्तरभाविनाऽवच्छेदेन विरामेण उत्पद्येत तत्रापि--वक्रया श्रेण्योत्पद्यमान समयद्वयपरिमाणगतिकालोत्तरभाविनाऽवच्छेदेन उत्पद्येत ।

यद्यप्यत्र---गतिमाणसूत्रे त्रिवक्रापि गतिर्नोक्ता, तथापि--अर्थतस्तत्प्रस्ताव एवोपरिष्टादभिहिता । तथाहि **अपज्जत्तसुहुमपुढवीकाइएणं भंते--! अहोलोगखेत्तणालीए बाहिरिल्ले खेत्ते समोहए समोहित्ता जे भविए उड्ढलोगखेत्तणालीए बाहिरिल्ले खेत्ते अपज्जत्तसुहुमपुढवीकाइयत्ताए उववज्जित्तए, से णं भंते--! कइसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा--गोयमा--तिसमइएण वा चउसमइएण वा विग्गहेणं उववज्जेज्जा--"** इति ।

अपर्याप्तसूक्ष्मपृथिवीकायिको भदन्त--! अधोलोकक्षेत्रनाड्या बहिःक्षेत्रे समवहत समवहत्य यो भव्य ऊर्ध्वलोकक्षेत्रनाड्या बहि'क्षेत्रे अपर्याप्तसूक्ष्मपृथिवीकाइकतयोत्पत्तु स खलु भदन्त--! कतिसामयिकेन विग्रहेण उत्पद्येत--? गौतम--! त्रिसामयिकेन वा--चतु सामयिकेन वा--विग्रहेण उत्पद्येत इति । एवञ्च---त्रिवक्रायामेव गतौ चत्वार. समया' सम्भवन्ति अतो न दोष'। एव चक्रवालादयोऽपि एतास्वेव चतसृषु गतिषु अन्तर्भवन्ति तस्मात्पार्थक्येन नोक्ता' ।

जीव उत्पन्न होता है। इस प्रकार वक्र श्रेणी से उत्पन्न होता हुआ जीव दो समय परिमाणवाली गति के पश्चात् होने वाले विराम से उत्पन्न होता है ।

यद्यपि गति का परिमाण बतलाने वाले सूत्र में त्रिवक्रा गति का कथन नहीं किया है, फिर भी अर्थत उसका कथन ऊपर हो ही गया है । जैसे---

प्रश्न--भगवन् ? अपर्याप्त सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीव अधोलोक--क्षेत्र की नाली से बाहर के क्षेत्र से ऊर्ध्वलोक के क्षेत्र की नाली से बाहर के क्षेत्र में अपर्याप्त सूक्ष्म पृथ्वीकायिक के रूप में उत्पन्न होने वाला है, वह कितने समय के विग्रह से उत्पन्न होता है ?

उत्तर गौतम ! तीन या चार समय के विग्रह से उत्पन्न होता है ।

इस प्रकार त्रिवक्रा गति में ही चार समय हो सकते हैं, अतएव कोई दोष नहीं है । इसी प्रकार चक्रवाला आदि भी इन्हीं चार समयो मे अन्तर्गत हो जाती है, इसी कारण उनका अलग कथन नहीं किया गया है ।

इस प्रकार ऋजु आदि चार प्रकारको गतियाँ चार समयपर्यन्त ही होतीहै। कोई भी गति ऐसी

तथाच -ऋज्वादयश्चतु समयपर्यन्ता एव चतुर्विधा गतयो भवन्ति नतु— पञ्चसमयादिका गति' सभवति। आसां च--चतसृणा गतीना मध्ये नारकादीनामविग्रहैकद्विविग्रहा एव गतयो भवन्ति, न तु—त्रिविग्रहा एकेन्द्रियाणा त्रिविग्रहाश्चेतराश्च गतयो भवन्ति ।

" तथाचोक्त स्थानाङ्गे तृतीयस्थाने चतुर्थोद्देशे २२५-सूत्रे—" **नेरइयाण उक्कोसेण तिसमइएणं विग्गहेणं उववज्जंति एगिंदियवज्जं जाव-वेमाणियाण** इति" । नैरयिका खलु उत्कृष्टेन त्रिसामयिकेन विग्रहेण उपपद्यन्ते एकेन्द्रियवर्जे यावद् वैमानिका । एव व्याख्याप्रज्ञप्तौ भगवतीसूत्रे ३४-शतके१ उद्देशे (१-सूत्रे- "**कइसमइएणं विग्गहेणं उववज्जंति-? गोयमा ! एगसमइएणं वा-दुसमइएण वा तिसमइएण वा चउसमइएण वा विग्गहेणं उववज्जंति** इति । कतिसामयिकेन विग्रहेण उपपद्यन्ते-' हे गौतम-' एकसामयिकेन वा- द्विसामयिकेन वा- त्रिसामयिकेन वा-चतु सामयिकेन वा विहेण उपपद्यन्ते ।

अथ कथ तावदेकसमयैवाऽविग्रहा गतिर्भवति, न द्विसमया, न वा-त्रिसमया भवति कालावसरे तावदसौ काल कृत्वा कदाचित् समयद्वयं यावत् कालत पूर्णमेव समयत्रयमपि अवक्र गमन कुर्यादिति चेदुच्यते— ? एकसमयं यावत् प्रतिघाताभावात् शास्त्रसमतत्वात् विग्रहनिमित्ताभावाच्च ऋज्वागत्या यत् स्थानं प्राप्त स तदविश्राम्यन् अपान्तराले स्वभावादेव केनचित् प्रतिघातहेतुना प्रतिहत'सन् तदवश्यं प्राप्नोति किं तत्र-द्विसमयादिसमयपरिकल्पनया, अत प्रतिघाताभावात् तस्यापान्तराले एकसमयैवाऽविग्रहागतिर्भवति सिद्धिगति' । ऋजुताया अवच्छेदस्तावद् अवग्रहरूपो-

---

नहीं हो सकती जो चार से अधिक-पाँच आदि समयो की हो । इन चार गतियो मे से नारक आदिकों की अविग्रहा (सरल) और एक या दो विग्रह वाली गति ही होती है, तीन विग्रह वाली नहीं । एकेन्द्रिय जीवो की तीन विग्रह वाली तथा अन्य गतियाँ भी होती है ।

स्थानांगसूत्र के तीसरे स्थान के चौथे उद्देशक के सूत्र २२५ मे कहा है—नारक जीव उत्कृष्ट तीन समय वाले विग्रह से उत्पन्न होते है । एकेन्द्रियों को छोड़ कर वैमानिको तक इसी प्रकार समझना चाहिए ।

इसी प्रकार भगवतीसूत्र के ३४ वें शतक, प्रथम उद्देशक के सूत्र १ में कहा है—
प्रश्न—नारकजीव कितने समय के विग्रह से उत्पन्न होते है ?

उत्तर—गौतम ! एक समय, दो समय, तीन समय अथवा चार समय के विग्रह से उत्पन्न होते है।

प्रश्न हो सकता है कि अविग्रहगति एक समय की ही क्यो होती है ? दो या तीन समय की क्यो नहीं होती ? काल के अवसर पर काल करके कोई जीव दो या तीन समय तक अवक्र (सीधा) गमन क्यों नहीं करता ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि ऋजुगति मे प्रतिघात नहीं है और विग्रह का कोई कारण नहीं है । इसके अतिरिक्त शास्त्रकी यही मान्यता है। जो जीव ऋजुगति से अपने उपपातक्षेत्र जाता है, वह बीच में कहीं भी रुके बिना एक ही समय में उसे प्राप्त कर लेता है। वहाँ दो या दो से अधिक समय लगने का कोई कारण नहीं है । अतएव उसकी वह गति

विग्रह उच्यते । उक्तञ्च -"उज्जुसेढीपडिवन्ने अफुसमाणगई उड्ढं एक्कसमएणं अविग्गहेणं गता सागारोवउत्ते सिज्झहिइ-इति ॥ औपपातिके सिद्धाधिकारे ९२ सूत्रे अस्मत्कृतपीयूषवर्षिणीटीकायाम् ऋजुश्रेणिप्रतिपन्न अस्पृशद्गति ऊर्ध्वम् एकसमयेनाऽविग्रहेण गन्ता साकारोपयुक्त सेत्स्यति इति।

यथा—ससारिणा चतस्रो गतय सभाविता तथा—परमाण्वादीना पुद्गलानामपि विस्रसा प्रयोगाभ्या सभावनीया । अन्तर्गतौ—अय कालनियमो—विग्रहनियमश्च प्रतिपादित, भवस्थाना मौदारिकादिशरीरिणा च प्रयोगपरिणामवशाद् विग्रहवतो—अविग्रहवती च गतिर्भवति । किन्तु—तत्र नियमो नास्ति, औदारिकादिशरीरिषु विग्रहा नैव नियम्यन्ते, अल्पा वा—बहवो वा यथोक्तविग्रहेभ्य इति भाव ॥२४॥

मूलसूत्रम्—कम्म जोगा विग्गहगई—,, ॥ २५ ॥

छाया—कर्मयोगा विग्रहगतिः—,, ॥ २५ ॥

तत्त्वार्थदीपिका पूर्वं तावत् ससारिणां प्रति विशिष्टानामेव भवावस्थिताना मनोयोगनियम प्ररूपित । सम्प्रति—भवान्तरगमनमार्गेऽन्तर्गतौ वर्तमानाना जीवानां कतमो योगो भवेदिति प्ररूपयितुमाह-कम्मजोगा विग्गहगई" इति कर्मयोगा-कर्मणो योग कार्मणशरीरकृताचेष्टा यस्या सा कर्मयोगा जीवस्य विग्रहगति विग्रहेण—वक्रत्वेन युक्ता गतिर्विग्रहगति' सर्वशरीरप्ररोहणबीजभूतं कार्मण-

---

एक ही समय की होती है । औपपातिकसूत्र के सिद्धप्रकरण मे, ९२ वें सूत्र की हमारे द्वारा की हुई पीयूषवर्षिणी टीका मे कहा है——ऋजुगति को प्राप्त, अफुसमाण गति वाला जीव एक समय के अविग्रह से जाकर साकार उपयोग से युक्त होकर सिद्ध होगा ।

जैसे ससारी जीवो की चार गतियाँ सभवित हैं, उसी प्रकार परमाणु आदि पुद्गलो की भी विस्रसा और प्रयोग के द्वारा समझ लेनी चाहिए । काल का और विग्रह का यह नियम अन्तराल गति के लिए बतलाया गया है । भवस्थ और औदारिक शरीर वाले जीवो की प्रयोग-परिणाम के वश से विग्रह वाली और विना विग्रह की—दोनो प्रकार की गति होती है । उसके लिए कोई नियम नहीं है । औदारिक आदि शरीरधारियो के लिए विग्रहों का नियम नहीं है—वे थोडे भी होते है और बहुत भी हो सकते हैं ॥ २४ ॥

सूत्र—"कम्मजोगा विग्गहगई' ॥२५॥

मूलसूत्रार्थ—विग्रहगति कार्मणकाययोग से होती है ॥२५॥

तत्त्वार्थदीपिका—पहले विशिष्ट ससारी जीवो के ही मनोयोग का नियम बतलाया गया है । अब भवान्तरगमन के मार्ग मे अन्तर्गति मे वर्त्तमान जीवो के कौन सा योग होता है, यह बतलाने के लिए कहते हैं —

जीव की विग्रहगति कर्मयोग से अर्थात् कार्मणशरीर के निमित्त से होती है । जो गति विग्रह अर्थात् वक्रता से युक्त हो वह विग्रहगति कहलाती है । जो शरीर समस्त शरीरो की उत्पत्ति में बीज के समान—कारण हो, वह कार्मण शरीर कहलाता है मनोवर्गणा, कायवर्गणा और

शरीरं कर्मेत्युच्यते। योगो मनोवाक्कायवर्गणाहेतुकआत्मप्रदेशपरिस्पन्द उच्यते तथाच- विग्रहगतौ कार्मणशरीरकृतो योगो भवति। तेन कर्मादानं देशान्तरसंक्रमश्च भवति।

यदा खलु आत्मा एकं शरीरं परित्यज्य उत्तरं शरीरं प्रतिगच्छति, तदा— कार्मणशरीरेण सह योगः सङ्गतिर्भवति। तथाच—कार्मणशरीराधारेण जीवो भवान्तरं गच्छतीति फलितम्। परमार्थतस्तु—भवान्तरगमनमार्गस्थितस्य विग्रहगतिसमापन्नस्य जीवस्याऽन्तर्गतौ कार्मणशरीरयोगो भवति। अन्तर्गतेरन्यत्र तु —आगमोक्तानुसारं कायवाङ्मनोयोगो भवतीति बोध्यम् ॥२५॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं प्रतिविशिष्टानामेव भवस्थाना मनोयोगनियमः प्रतिपादित। सम्प्रति अन्तर्गतौ वर्तमानाना प्राणिनां कतमो योग स्यादिति प्रतिपादयितुमाह—**कम्मजोगा विग्गहगई**—इति

कर्मयोगा—कर्मणो योगः कार्मणशरीरकृता चेष्टा यस्या सा कर्मयोगा जीवस्य विग्रहगतिः विग्रहेण—वक्रत्वेन युक्ता गतिर्विग्रहगति, अश्वरथवत् विग्रहप्रधाना वा गतिर्विग्रहगति र्भवति। विग्रहगति समापन्नस्य भवान्तरगमनमार्गस्थितस्य जीवस्य कर्मकृत एव योगो भवति, अन्तर्गतौ कार्मणशरीरयोगो भवति अन्तर्गतेरन्यत्र तु—आगमे यथाभिहितः कायवाङ्मनो योगो भवतीत्यर्थ।

तथाच—नारकगर्भव्युत्क्रान्तिक तिर्यग्मनुष्यदेवानां त्रयोऽपि योग.। सम्मूर्च्छनजन्मशालिनाम्—तिर्यङ्मनुष्याणां कायवाग्योगावेव भवतः यद्वा—अन्तर्गतेरन्यत्र तत्तद्भवस्थितो यथायोगं पञ्चदशभेद कायादियोगो भवति। तत्र—मनोयोगश्चतुर्विधः—

वचनवर्गणा के निमित्त से होने वाला आत्मा के प्रदेशो का परिस्पन्दन अर्थात् हलन—चलन योग कहलाता है। इस प्रकार विग्रह गति में कार्मणकाययोग होता है। उसी से नवीन कर्मों का ग्रहण और देशान्तर में गमन होता है।

जब आत्मा एक शरीर को त्याग कर अगला शरीर धारण करने के लिए गमन करता है, उस समय वह कार्मण शरीर के साथ होता है। इसका फलितार्थ यह है कि जीव कार्मण शरीर के आधार से भवान्तर में गमन करता है। इसका परमार्थ यह है कि भवान्तर के गमन के मार्ग में स्थित और विग्रहगति को प्राप्त जीव की अन्तराल गति में कार्मण काययोग होता है। अन्तराल गति के अतिरिक्त अन्य समय में आगम के कथनानुसार काययोग, वचनयोग और मनोयोग तीनो भी हो सकते है, ऐसा समझ लेना चाहिए ॥२५॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति —पहले खास-खास संसारी जीवो के ही मनोयोग का नियम प्रतिपादन किया गया है, किन्तु अन्तर्गति में जीवों के कौन सा योग होता है ? यह प्रतिपादन करने के लिए कहते हैं—विग्रहगति कर्मयोग अर्थात् कार्माण काययोग से होती है। जिसमें कार्मण शरीर के द्वारा चेष्टा हो वह गति 'कर्मयोग कहलाती है। विग्रहगति कर्मयोग है।

सत्य असत्य.—सत्यासत्य —असत्यामृपश्च । एवम्—वाग्योगोऽपि चतुर्विधो भवति । काययोगश्च सप्तविध'—औदारिक'—औदारिकमिश्र —वैक्रिय वैक्रियमिश्र —आहारक'—आहारकमिश्र कार्मणश्चेति। तैजस च सयोगिवृत्तित्वात् कार्मणात्—न भिन्नम् एकमेवेदमिति, अतः पञ्चधा योग , न तु—षोडशधा ।

तथाहि सज्ञिमिथ्यादृष्टेरारभ्यो यावत् सयोगकेवली तावद्—आद्यतुरीयौ मनोयोगौ प्राप्येते । एतेष्वेव स्थानेषु सत्यवाग्योगोऽपि । तुर्यस्तु वाग्योगो द्वीन्द्रियमिथ्यादृष्टेरारभ्यो यावत् सयोगिकेवली तावत्समस्ति । द्वितीय-तृतीय वाग्योगौ सज्ञिमिथ्यादृष्टेरारभ्यो यावत् क्षीणकपायवीतरागच्छद्मस्थस्तावत् प्राप्यते ।

एव—मनोयोगावपि द्वितीय—तृतीयौ, ऋजुगत्या यावद्भवान्तरसम्प्राप्तिर्भवति——तावद् अपान्तराले भवान्तरगमनमार्गे यथासम्भवमौदारिकवैक्रियकाययोगौ भवत । वक्रायान्तु——

विग्रह अर्थात् वक्रता या मोड़ से मुक्त जो गति हो वह विग्रहगति अथवा घोड़ों के रथ के समान विग्रह की प्रधानता वाली गति विग्रहगति कहलाती है । जो जीव विग्रहगति को प्राप्त है भवान्तर गमन के मार्ग में स्थित है, उस जीव को कार्मणकाययोग ही होता है । अन्य समय में•आगम के अनुसार काययोग, वचनयोग और मनोयोग तीनो योग हो सकते है ।

इस प्रकार नारक, गर्भज तिर्यंच और मनुष्य तथा जीवो में तीनो योग पाये जाते है । सम्मूर्छिम जन्म वाले तिर्यंचो और मनुष्यो में काययोग और वचनयोग ही होते है । अथवा अन्तरालगति के सिवाय दूसरे समय में भिन्न भिन्न पर्यायों में स्थित देवो के यथायोग्य काययोग आदि पन्द्रह ही योग होते है ।

उनमें से मनोयोग चार प्रकार का है——(१) सत्य मनोयोग (२) असत्य मनोयोग (३) सत्यासत्य (मिश्र) मनोयोग और (४) असत्यतामृषा (व्यवहार) मनोयोग । वचनयोग भी इसी प्रकार चार प्रकार का है । (१) औदारिक (२) औदारिक मिश्र (३) वैक्रिय (४) वैक्रियमिश्र (५)आहारक (६) आहार मिश्र (७) कार्मणयोग तैजस, कार्मण के साथ ही होता है अत' कार्मण से भिन्न नहीं है, अतः पन्द्रह ही प्रकार का योग है, सोलह प्रकार का नहीं ।

सत्यमनोयोग और व्यवहार मनोयोग सज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोग केवली पर्यन्त होता है । सत्य वचनयोग भी इन्हीं स्थानों मे पाया जाता है । चौथा वचनयोग द्वीन्द्रिय से लेकर सयोग केवली पर्यन्त रहता है । दूसरा और तीसरा वचनयोग सज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ पर्यन्त पाया जाता है ।

इसी प्रकार दूसरा और तीसरा काययोग ही भवान्तर की प्राप्ति पर्यन्त होताहै । अन्तराल में—भवान्तर गमन के मार्ग मे यथासभव औदारिक एवं वैक्रिय काययोग होते है । वक्र-

औदारिक–वैक्रियकाययोगौ निवृत्तौ भवतः । नारकसुरा –वैक्रिययोगभाज. । तिर्यग्मनुष्या–औदारिक–वैक्रिययोगिन । आहारकयोगं प्रमत्तोऽनगारो निष्पादयति, पश्चादप्रमत्तस्याऽऽहारकयोगो भवति, एते–एव नारकादयोऽपर्याप्तावस्थावर्त्तिनो मिश्रयोगभाजो भवन्ति ।

यो जीव' आगामिनि भवे औदारिकशरीरं लप्स्यते स आहरग्रहणानन्तमेव, मौदारिकमिश्रशरीरः कथ्यते, पुनर्यो जीवो वैक्रियशरीरं धरिष्यति तस्य वैक्रियमिश्रशरीर भवति । केवलिसमुद्घात काले च तृतीय–चतुर्थ–पञ्चसमयेषु कार्मण एव ।

द्वितीय–षष्ठ–सप्तमेषु–औदारिककार्मणमस्ति प्रथमाष्टमयोरौदारिक एव एवमन्यत्र तु यथोक्त कायादियोग' समायोजितो वोध्य । अथ कार्मणयोगा विग्रहगतिश्चेत् एकविग्रहायामपि गतौ कार्मण एव योग' कथ न भवति–' तस्या अपि विग्रहगतित्वात् ।

गति में औदारिक तथा वैक्रिय काययोगो की निवृत्ति हो जाती है । नारक और देव वैक्रिययोग वाले होते हैं । तिर्यंच और मनुष्य औदारिक तथा वैक्रिययोग वाले होते है । आहारयोग का प्रमत्त अनगार ही प्रारंभ करता है , फिर अप्रमत्त के भी आहारकयोग होता है । यही नारक आदि जीव जब अपर्याप्त अवस्था में होते है, तब वे मिश्रयोग वाले होते हैं ।

जीव आगामी भव में औदारिक शरीर धारण करेगा उसके आहार ग्रहण ही औदारिक मिश्र होता है । और जो जीव वैक्रिय शरीर धारण करते हैं उसके वैक्रिय मिश्र होता है ।

केवलिसमुदघात के समय, तीसरे चौथे और पाँचवें समयों में कार्मण काययोग ही होता है, दूसरे, छठे और सातवें समयों में औदारिक कार्मणयोग औदारिकमिश्र होता है तथा प्रथम और आठवें समय में औदारिक योग ही होता है । अन्य अवस्थाओ में पूर्वोक्त काययोग आदि की योजना कर लेनी चाहिए ।

शका यदि विग्रहगति में कार्मण काययोग होता है तो एकविग्रह वाली गति में भी कार्मण काययोग ही क्यों नहीं होता ' वह भी तो विग्रहगति ही है ।

समाधान— विग्रहगति में कार्मण काययोग की व्याप्ति तिल और तेल के समान विवक्षित नहीं है, किन्तु विषयमात्र की विवक्षा की गई है । जैसे आकाश में पक्षी और जल में मत्स्य की विवक्षा की जाती है उसी प्रकार विग्रहगति में कार्मण काययोग कहा जाता है । अन्यथा दो या तीन विग्रह वाली गति में आदि और अन्त के समयों में भी कार्मणयोग की प्राप्ति होती । किन्तु दो विग्रह वाली गति में मध्यम समय में एवं तीन विग्रह वाली गति में दो मध्य के समयों में ही कार्मण काययोग माना जाता है ।

अत्रोच्यते—तिलतैलवत् न विग्रहगतौ कर्मयोग यात्वत्य विवक्षितम अपितु——विपयमात्रं विवक्षितम् , यथा—खे पक्षी, जले मत्स्य , तथा—विग्रहगतौ कर्मयोग इति व्यपदिश्यते। अन्यथा—— द्विविग्रहाया त्रिविग्रहायां वा गतावाऽऽद्यन्तयोरपि समययो कार्मणयोग प्राप्येत । किन्तु— द्विविग्रहाया मध्यमसमये त्रिविग्रहाया गतौ पुनर्मध्यमयो र्द्वयोरपि समययो र्गिप्यते ।

अथैवमपि विग्रहगतिसमापन्नस्य जीवस्य कार्मणेन योगेन भवान्तरसक्रमण भवतीति लभ्यते तत्कथ विग्रहगतौ निरुपभोगताप्रतिपादिता, भवान्तरसक्रमणस्यापि—उपभोगरूपत्वात् इतिचेत्—? उच्यते सुखदु'खयोर्विशिष्टोपभोगस्य कर्मबन्धानुभवस्य निर्जरालक्षणस्य प्रतिपिद्धत्वेन चेष्टारूपस्य कार्मणयोगस्य प्रतिपिद्धत्वाभावात् । अथैवमपि——जाव च णं भंते—? अयं जीवे एयइ वेयइ—चलइ फंदइ तावं च णं णाणावरणिज्जेणं जाव अंतराइएणं वज्झइत्ति--२

हता गोयमा—! यावच्च खलु भदत—! अय जीव एजते—व्येजते—चलति—स्पन्दते तावच्च ज्ञानावरणीयेन यावद् आन्तरयिकेण ब यते इति, हन्त—गौतम—! इति सूत्रेण विरोध आपद्यते कार्मणयोगकाले चास्ति चलन तत्कथ बन्धादिलक्षणोपभोगस्य प्रतिपेध कृत इति चेदुच्यते भवस्थापेक्षयैव भगवता उक्तसूत्रस्य प्रणीतत्वात् ज्ञानावरणाद्यास्रवाणां भवस्थावस्थायामेव सद्भावात् किञ्च——समयद्वय तावद्, अल्प कालो वर्तते तत्रोपभोगाभिसबन्ध सभवति ।

शका ऐसा मान लिया जाय तो भी तात्पर्य यह निकला कि विग्रहगति वाला जीव कार्मण काययोग के द्वारा ही भवान्तर मे सक्रमण करता है, तो फिर विग्रह गति में निरुपभोगता का प्रतिपादन क्यो किया गया है ? भवान्तर में सक्रमण करना भी तो उपभोग ही है !

समाधान——यहाँ उपभोग का जो निपेध किया गया है सो सुख और दु'ख के विशिष्ट उपभोग का, कर्मबन्ध के अनुभव एव निर्जरा का निषेध किया गया है । चेष्टा रूप कार्मणयोग का निषेध नहीं किया गया है ।

शका— ऐसा मानने मे भी आगम से विरोध आता है । आगम मे प्रश्न किया गया है कि——भगवन् ! यह जीव जब तक हिलता डुलता गमन या स्पन्दन करता है, तब तक क्या ज्ञानावरणीय यावत् अन्तराय कर्म का बन्ध करता है ? इसका उत्तर दिया गया है कि—हाँ गौतम ! जब तक जीव हिलता डुलता गमन स्पन्दन करता है तबतक वह ज्ञानावरणीय यावत् अन्तराय कर्म का बन्ध करता है ।

इसका उत्तर दिया गया है कि—हाँ गौतम ! जब तक जीव हिलता, डुलता गमन या स्पन्दन करता है, तब तक वह ज्ञानावरणीय यावत् अन्तराय कर्म का बन्ध करता है ।

उक्त कथन में इस सूत्र से वाधा आती है । कार्मणयोग के समय चलन होता है तो फिर बन्ध आदि रूप उपभोग का निषेध क्यो किया गया है ?

"यद्वा —काययोगप्रत्ययलक्षणस्य बन्धस्य सम्भवेपि प्रकृते तस्याविवक्षितत्वेन दोषाभावात् एवञ्च---कार्मणशरीरयोगा एव विग्रहगतिर्भवतीति भाव ॥२५॥

मूलम् सिद्धस्स अविग्गहा ॥२६॥

छाया—सिद्धस्याऽविग्रहा—" ॥२६॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वं तावत् साधारणतया भवान्तरसङ्क्रमणे जीवानां सविग्रहागति र्भवतीति प्ररूपितम् सम्प्रति–सिद्धिं गमिष्यत सिद्धपुरुषस्य सेधनशक्तिसम्पन्नस्य कीदृशीगतिर्भवतीति प्ररूपयितुमाह—"सिद्धस्स अविग्गहा" –"इति ।

सिद्धस्य–सिद्धिं प्राप्स्यतो लप्स्यमानस्य सिद्धिगतिगमनशीलस्य पुरुषस्य अविग्रहा अवक्रा ऋज्वीगतिर्भवति न तु सविग्रहागतिरिति भाव. । एवञ्च—सिध्यमानजीवस्य एकान्तत एवाऽविग्रहागतिर्भवति । सिद्धयमानव्यतिरिक्तस्य जीवस्य पुन सविग्रहा–अविग्रहा वा गतिर्भवतीति भाव । विग्रहो व्याघात कौटिल्य यस्या न विद्यते सा अविग्रहागति सिद्धस्य भवति । सा च–अविग्रहा-गति एकसमया भवति । सविग्रहागतिस्तु द्विसमया वा भवतीति पूर्वमुक्तमेवेति भाव. ॥२६॥

समाधान–भवस्थ जीव की अपेक्षा से ही भगवान् ने उक्त सूत्र का प्रणयन किया है, क्योकि भवस्थ अवस्था मे ही ज्ञानावरण आदि कर्मो का आस्रव होता है । इसके अतिरिक्त दो समय इतना अल्पकाल है कि उसमे उपभोग आदि का सबध हो सकता है ।

अथवा–काययोग निमित्तक बन्धका संभव होने पर भी यहाँ उसकी विवक्षा नहीं की गई है, इस कारण कोई दोष नहीं है । इस प्रकार तात्पर्य यह है कि विग्रहगति कार्मणकाययोग वाली ही होती है ॥२५॥

सूत्र—सिद्धस्स अविग्गहा ॥२६॥

सिद्धजीव की अविग्रह गति होती है ॥२६॥

तत्त्वार्थदीपिका—पहले बतलाया गया है कि साधारण तथा भवान्तर में जाते समय जीवो की गति विग्रहवती होती है । अब सिद्धि–मुक्ति मे गमन करने वाले सिद्ध पुरुष की गति कैसी होती है ? यह बतलाने के लिए कहते है—

सिद्धि प्राप्त करने वाले–मोक्षगामी–पुरुष की गति अवक्र–सीधी होती है । वह विग्रह वाली नहीं होती । इस प्रकार सिद्ध होने वाले जीव की एकान्त रूप से विग्रह रहित गति ही होती है । सिद्ध होने वाले के सिवाय दूसरे जीवो की सविग्रह और अविग्रह–दोनो प्रकार की गति होती है । विग्रह का अर्थ है व्याघात या कुटिलता अथवा वक्रता है । यह जिसमे न हो वह गति अविग्रहा कही जाती है । सिद्ध जीव की ऐसी अविग्रहा गति होती है । अविग्रहा गति एक

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पूर्वसूत्रे साधारणतो जीवाना विग्रहाया गतेर्निरूपण कृतम् सम्प्रति—सिद्धस्य गतिप्रतिपादयितुमाह—"**सिद्धस्स अविग्गहा**—" सिद्धस्य—सेधनशक्तियुक्तस्य, सेधनशीलस्य वा सिद्धिगतिगमनशीलस्य पुरुपस्य नियत सिध्यत. अविग्रहा—ऋज्वी सरला न तु—वक्रा गतिर्भवति। सा च पूर्वप्रयोगादिहेतुचतुष्टय जनिताऽवसेया। तथाचोक्त भगवतीसूत्रे **निःसंगयाए निरंगणयाए गइपरिणामेणं बंधणच्छेयणयाए, निरंधणयाए पुव्वप्पओगेणं अकम्मस्स गई**—" इति।

छाया—नि सङ्गतया निरङ्गणतया गतिपरिणामेन बन्धनच्छेदनतया निरिन्धनतया पूर्वप्रयोगेण अकर्मणो गति. इत्यादि।

तत्र—निरङ्गणं निर्लेप' निरिन्धनम् इन्धनरहिताग्निज्वाला तस्य भावस्तया इत्यर्थ'। तथाच—सिध्यमानजीवस्यैकान्तत—एवाऽविग्रवागतिर्भवतीति भाव.। सिध्यमानजीवव्यतिरिक्तस्य तु विग्रहा—अविग्रहा वा गतिर्भवति। उक्तञ्च "**उज्जुसेढीपडिवन्ने अफुसमाणगई उड्ढं एक्कसमएणं अविग्गहेणं गंता सागरोवउत्ते सिज्झिहिइ**—,, इति। औपपातिके सिद्धाधिकारे ९३—सूत्रेऽस्मत्कृतपीयूषवर्षिण्याम् ऋजुश्रेणिप्रतिपन्नोऽस्पृशद्गति ऊर्ध्वमेकसमयेनाऽविग्रहेण गन्ता साकारोपयुक्तः सेत्स्यति इति ॥२६॥

समय की होती है, सविग्रहा गति दो या तीन समय की होती है, यह पहले कहा जा चुका है॥२६॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पूर्व सूत्र में साधारणतया जीवों की विग्रहगति का निरूपण किया गया, अब सिद्ध जीवों की गति का प्रतिपादन करते है—

सिद्ध गति में गमन करने वाले सिद्ध जीव की गति ऋजु—सरल ही होती है, वक्र नहीं। वह गति पूर्वप्रयोग आदि चार कारणों से उत्पन्न होती है। भगवती सूत्र में कहा है ..

मुक्त जीव की गति कर्म—नो कर्म का ससर्ग हट जाने के कारण, निर्लेप (बन्धहीन) होने के कारण, जीव का ऊर्ध्वगमन स्वभाव होने के कारण, बन्धनो का छेद होने से, और निरिन्धन (कर्मरूप इन्धन से मुक्त होने के कारण भग. श. ७ उ० १) होने के कारण तथा पूर्वप्रयोग के कारण होती है।

तात्पर्य यह है कि सिध्यमान जीव की गति एकान्ततः विग्रह रहित ही होती है। सिध्यमान जीव के सिवाय दूसरे जीवों की गति विग्रह वाली भी होती है और विग्रहरहित भी होती है। औपपातिक सूत्र के सिद्धाधिकार में, ९३ वें सूत्र की हमारी बनाई हुई पीयूष वर्षिणीटीका में कहा है— ऋजु श्रणी को प्राप्त मुक्तजीव अफुसमाण गति करता हुआ, ऊपर, एक ही समय में बिना विग्रह के, साकारोपयोग से युक्त होकर सिद्ध होता है ॥२६॥

सूत्र—'ति समयं सिया अणाहारगो' ॥२७॥

मूलसूत्रम्—'तिसमयं सिया अणाहारगो—॥२७॥

छाया— त्रिसमयं स्यादनाहारकः—॥२७

तत्त्वार्थदीपिका पूर्वं खलु सविग्रहाया गते' प्ररूपणस्य कृतत्वात् सम्प्रति—तत् प्रस्तावात् विग्रहगतिं समापन्नस्य जीवस्याऽनाहारकत्वं प्रतिपादयितुमाह—'तिसमयं सिया अणाहारगे'—इति,

त्रिसमयम्—त्रयाणां समयानां समाहार' त्रिसमयम्, एकसमय—द्विसमय त्रिसमयं वा विग्रह गतिसमापन्नो जीवोऽनाहारको भवति। तदतिरिक्तकाले तु—अनुसमयम् आहारको भवति। त त्र द्विविग्रहायां गतौ—एकं समयमनाहारको भवति। त्रिविग्रहायां गतौ तु—द्वौ समयौ—अनाहारको भवति। केवलीच—समुद्घातकाले तृतीय—चतुर्थ समयेषु त्रीन् समयान् अनाहारको भवतीति ॥२७॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति — वं विग्रहगतिप्ररूपणं कृतम् सम्प्रति विग्रहगतिसमापन्नस्याऽनाहारकत्व प्रतिपादयितुमाह 'हति समयं सीया अणाहारगो—इति। विग्रहगतिसमापन्नो जीव एकं वा समयं—द्वौ वा समयौ—त्रीन् वा समयान् अनाहारको भवति। शेषं कालम् अनुसमयम् आहारको भवति।

तत्र विग्रहायां गतौ एकं समयमनाहारको भवति त्रिविग्रहायां—द्वौ समयौ—अनाहारको भवति। केवली च समुदघातकाले—तृतीयचतुर्थपंचमसमयेषु त्रीन् वा समयान् अनाहारको भवति केचित्तु—विग्रहगतिसमापन्नस्यैव प्रस्तावात् केवलिसमुदघातकालस्याऽप्रस्तुतत्वात् एकं वा समयं द्वौ वा समयौ अनाहारको भवति इत्येवाऽऽचक्षते—त्रीन् वा समयान् अनाहारको भवति इति नाऽनु मन्यते तन्न समीचीनम् सूत्रेऽस्मिन् सामान्यतोऽनाहारकस्यैव प्रस्तुत्वेन केवलिसमुदघातकालस्यापि

मूलसूत्रार्थ विग्रहगति वाला जीव अधिक से अधिक तीन समय तक अनाहारक रहता है ॥२७॥

तत्त्वार्थदिपिका—पूर्वसूत्र में सविग्रहा गति का निरूपण किया गया है, इसी प्रसग को लेकर अब विग्रहगति को प्राप्त जीव की अनाहारकता का प्रतिपादन करते है—

विग्रहगति को प्राप्त जीव एक समय तक, दो समय तक अथवा तीन समय तक अनाहारक रहता है। इसके अतिरिक्त अन्य समयों में जीव निरन्तर आहारक रहता है। दो विग्रह वाली गति में एक समय तक अनाहारक रहता है और तीन विग्रह वाली गति में दो समय तक अनाहारक रहता है।

केवली समुद्घात के काल में तीसरे, चौथे समय तक अनाहारक रहते है ॥२७॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पहले विग्रहगति की प्ररूपणा की गई है, अब विग्रहगति को प्राप्त जीव की अनाहारकता की प्ररूपणा करते है—

विग्रहगति को प्राप्त जीव एक, दो अथवा तीन समय तक अनाहारक होता है। शेष काल में प्रत्येक समय आहारक ही बना रहता है।

दो विग्रह वाली गति में एक समय अनाहारक रहता है और तीन विग्रहवालीगति मे दो समय पर्यन्त अनाहारक रहता है। समुद्घात करने के काल में केवली तीसरे, चौथे और पाँचवें समय में, इस प्रकार तीन समयों मे अनाहारक होते है। कोईकोई कहते है कि यहाँ विग्रह गति का ही प्रकरण होने से केवली समुद्घात अप्रस्तुत है, अत स्थापि अनाहारक-

अनाहारकतया सग्रहसम्भवात्। वस्तुतस्तु–पञ्च समयाया विग्रहगतौ त्रीन् वा समयान् अनाहारको भवति इत्यभिप्रायेण समयत्रयमुक्तम् अथ पञ्चसमयाया विग्रहगतौ न कश्चिदुपपद्यते इतिच्चेत

अत्रोच्यते पञ्चसमयाया अपि विग्रहगते· प्रमाणसिद्धतया तत्रापि–कस्यचिज्जीवस्योत्पत्तिसम्भवात् । एतेनाऽन्तर्मुहूर्त्ताऽर्ध शैलेश्यवस्थायामनाहारकतया अन्तर्मुहूर्तार्धमपि अनाहारकत्व कथं नोक्तमित्यपास्तम् । विग्रहगतेरेव प्रस्तुतत्वेन शैलेश्यवस्थाया अप्रस्तावात् तत्समयानाहारकत्वस्य ग्रहणायुक्तत्वात्। अथ किमाहारकविशेष स्वीकृत्याऽनाहारकत्वमुच्यते–? आहोस्वित्–सर्वाहारप्रतिपेध, क्रियते ?

अत्रोच्यते–सर्वाहारप्रतिपेधस्यैव प्रस्तुतत्वात् तथाहि–आहारस्तावत् त्रिविध ओजआहार १ लोमाहार २ प्रक्षेपाहारः–३ च। तत्रौज आहारोऽपर्याप्तकावस्थायाम् । कार्मणशरीरेणोदक निक्षिप्त पात्रावत् पुद्गलानामादान सर्वप्रदेशैर्यत् क्रियते जीवेन प्रथमोत्पत्तिकाले योनौ प्रथमकालप्रक्षिप्तेन अपूपेनेव घृतादौ इति, अयञ्चाऽन्तर्मुहूतिको भवति। लोमाहार पुन पर्याप्तकावस्थाप्रभृतित्वचया–आभवक्षयात् पुद्गलानामुपादानरूपो बोध्य । प्रक्षेपाहारस्तु–ओदनादिकवलपानाभ्यवहारलक्षणोऽवसेय कवलाहार इत्यर्थ । तस्माद् विग्रहावस्थायामत्रौक्ताहारत्रयस्यैव प्रतिपेध क्रियते भवावस्थायामेव तथाविधाहारत्रितयस्याऽभ्यनुज्ञातत्वात् । समतत्वात् ।

प्रथमान्त्यसमयोरन्तर्गतौ च्युत जन्मदेशस्थत्वादाहारकत्वमेवावगन्तव्यम् पूर्वोत्तरशरीरपरित्यागोपादानकालाभेदवर्तित्वात् । कर्मपुद्गलानामादानन्तु–योगकषायहेतुकमन्तर्गतावपि सर्वत्रैव

एक या दो समय तक ही जीव अनाहारक रहता है । वे तीन समय तक अनाहाराक रहता है ऐसा नहीं मानते, किन्तु उन की मान्यता समीचीन नहीं है। इस सूत्र मे सामान्य रूप से अनाहारक का ही प्रकरण है, अतएव केवली समुद्घात के समय होने वाली अनाहारकता का भी समावेष हो जाता है वास्तव में तो पाँच समयवाली विग्रह गति में जीव तीन समय तक इसमें अनाहारक रहता है, इस अभिप्राय से तीन समय की अनाहारक अवस्था कही गई है ।

शंका–पाँच समय की विग्रह गति से कोई जीव उत्पन्न ही नहीं होता ?

समाधान–पाँच समय की विग्रह गति भी प्रमाण से सिद्ध है, अत· किसी जीव की उससे भी उत्पति का संभव है ।

शैलेशी अवस्था अर्ध अन्तर्मुहूर्त्त तक अनाहारक अवस्था रहती है, ऐसी स्थिति में अर्ध अन्तर्मुहूर्त्त तक अनाहारक रहना क्यों नहीं कहा ? इस शका का भी निराकरण इससे हो जाता है कि यहाँ विग्रह गति का ही प्रकरण है और शैलेशी अवस्था का प्रकरण नहीं है अतएव शैलेशी अवस्था में होने वाली अनाहारक अवस्था को यहाँ ग्रहण करना उचित नहीं है ।

प्रश्न—यहाँ किसी खास आहार की अपेक्षा से अनाहारक कहते है अथवा सम्पूर्ण आहार के निषेध की अपेक्षा से ?

उत्तर—यहाँ सम्पूर्ण आहार का निषेध ही प्रस्तुत है। आहार तीन प्रकार का है—(१)

सर्वकाल सम्भवति। जलवर्षणसमये समादीप्तनाराचप्रक्षेपवत्, तद्यथा—जलधारासन्निपाताऽऽपादितसामर्थ्ये मेघे वर्षति नाराचद्रव्यं ज्याहस्तविप्रयोगाहितवेगमग्निज्वालाकलापादीप्तमुदकपुद्गलग्रहण कुर्वदेव गच्छति।

एवमयमन्तरात्मा कार्मणेन शरीरेण कर्मोष्णत्वात् पुद्गलग्रहणं कुर्वन् अविच्छिन्नमागाऽमि जन्मनेऽभिधावति, इति। न खलु एव रूपस्य पुद्गलादानस्य प्रतिषेध प्रकृतेऽनेन सूत्रेण क्रियते, अपितु औदारिक—वैक्रियशरीरद्वयस्य परिपोषहेतुकाऽऽहारकस्य प्रतिषेध क्रियते, तस्मादन्तर्गतौ एक वा समयं, समयद्वयं वा, समयत्रयं वाऽनाहारको भवति।

एक—द्वि—त्रिसमयव्यतिरिक्त' शेषकालमविच्छेदेनाऽऽहारमभ्यवहरति। उत्पत्तौ प्रथमसमयादारभ्यान्तर्मुहूर्त्तिक ओज आहारो भवति। पश्चात्—आभवक्षयं लोमाहार। कवलाहारस्तु—

ओज आहार (२) लोमाहार (३) प्रक्षेपाहार। ओजआहार अपर्याप्तक अवस्था मे कार्मण शरीर के द्वारा किया जाता है। जैसे अग्नि में तपे हुए पात्र को जल मे डाल दिया जाय तो वह सपूर्ण अवयवों से जल ग्रहण करता है, उसी प्रकार जीव अपनी आपत्ति के प्रथम समय में—जन्मस्थान में पहुँचने के पहले समय में समस्त आत्मप्रदेशों के द्वारा पुद्गलो का ग्रहण करता है। अथवा वह जैसे कढाई में तप्त तैल या घृत में पुवा डाला जाता है तो वह सर्वांग से तेल तथा घृत को ग्रहण करता है, यह पुद्गलो का ग्रहण करना ही ओजआहार कहलाता है। ओज आहार अन्तर्मुहूर्त्त पर्यन्त ही होता है।

पर्याप्त अवस्था से लेकर भव के क्षय पर्यन्त त्वचा के द्वारा पुद्गलो को ग्रहण करना लोमाहार है। प्रक्षेपाहार का अर्थ है कवलाहार अर्थात् ओदन आदि के कवलों को खाना, पीना आदि।

विग्रहगति में इन तीनो प्रकार के आहारो का निषेध किया गया है। ये तीनो आहार भव-अवस्था में ही स्वीकार किये गये है।

विग्रहगति के प्रथम समय में जीव त्यागे जाने वाले देश में और अन्तिम समय में जन्मदेश में रहने के कारण आहारक होता है, क्योंकि उस समय वह त्यागे जाने वाले एवं ग्रहण किये जाने वाले पूर्व तथा उत्तर शरीर से सम्बद्ध होता है।

योग और कषाय के निमित्त से होने वाला कर्मपुद्गलों का ग्रहण तो विग्रहगति में भी प्रत्येक स्थान पर होता ही रहता है। जैसे जल की वर्षा के समय जलते बाण को छोडा जाय तो वह जल को ग्रहण करता हुआ जाता है उसी प्रकार ससारी जीव कर्मों से उष्ण होने के कारण कार्मण शरीर के द्वारा निरन्तर कर्मपुद्गलों को ग्रहण करता हुआ ही आगामी जन्म के

चतुःपञ्चविग्रहायां त्रीन् समयान् अनाहारको भवतीति भाव । तथाचोक्तम्—व्याख्याप्रज्ञप्तौ भगवतीसूत्रस्य सप्तशतके प्रथमोद्देशे २६०—सूत्रे—'**जीवे णं भंते—! कं समयमणाहारए भवइ—! गोयमा—! पढमे समए सिय अणाहारए, वितीए समए सिय आहारए सिय अणाहारए, ततिए समए सिय आहारए सिय अणाहाए, चउत्थे समए नियमा आहारए एवं दंडओ जीवाय एगिंदियाय चउत्थे समए सेसा ततिए समए—**" । जीव' खलु भदन्त—! क समयमनाहारको भवति—? गौतम—! प्रथमे समये स्यादाहारक'—स्यादनाहारक', द्वितीये समये स्यादाहारक'—स्यादनाहारक, तृतीये समये स्यादाहारक'—स्यादनाहारक, चतुर्थे समये नियमादाहारकः एवं दण्डकः, जीवाश्चैकेन्द्रियाश्च चतुर्थे समये शेषास्तृतीये समये —इति ॥२७॥

मूलसूत्रम् —"तिविहं जम्मं, गब्भ संमुच्छिणोववाया—" ॥२८॥

छाया—"त्रिविधं जन्म गर्भ-सम्मूर्च्छनोपपाताः—" ॥२८॥

लिए गमन करता है । प्रकृत सूत्र में इस प्रकार के पुद्गलों के ग्रहण का निषेध नहीं किया गया है किन्तु औदारिक, और वैक्रिय शरीर का पोषण करने वाले आहार का ही निषेध किया गया है, अर्थात् अनाहार दशा में जीव औदारिक, वैक्रिय एव आहारक शरीर के तथा छह पर्याप्तियो के योग्य पुद्गलो को ग्रहण नहीं करता है । इसी कारण विग्रहगति मे एक, दो या तीन समय तक अनाहारक रहता है । पूर्वोक्त एक, दो या तीन समय को छोडकर शेष सभी समयो में निरन्तर आहारक ही रहता है । उत्पत्ति के प्रथम समय से आरम्भ करके अन्तर्मुहूर्त्त पर्यन्त ओजआहार करता है तत्पश्चात् भवपर्यन्त लोमाहार करता है । चार—पाँच विग्रह वाली गति में कवलाहार की दृष्टि से अनाहारक रहता है । भगवती सूत्र के सातवे शतक में, प्रथम उद्देशक में, २६० वे सूत्र में कहा है—

प्रश्न—भगवन् ! जीव किस समय अनाहारक होता है ?

उत्तर—गौतम ! प्रथम समय में कदाचित् आहारक और कदाचित् अनाहारक होता है, दूसरे समय में कदाचित् आहारक और कदाचित् अनाहारक होता है, तीसरे समय में कदाचित् आहारक और कदाचित् अनाहारक होता है, चौथे समय में नियम से आहारक होता है । ऐसे ही सम्पूर्ण दडक कह लेना चाहिए । बहुत जीव और एकेन्द्रिय चौथे समय में और शेष सब तीसरे समय में कहना चाहिए ॥२७॥

सूत्र—'तिविहं जम्मं इत्यादि ॥२८॥

मूलसूत्रार्थ—जन्म तीन प्रकार के है—गर्भजन्म, समूर्छिमजन्म और उपपातजन्म

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वं तावत् सविग्रहयाऽविग्रहया वा वक्ररूपया ऋजुरूपया गत्या उत्पत्तिक्षेत्रं प्राप्तः सन् पूर्वोपात्त–औदारिकवैक्रियशरीरनाशे सति जीवः खलूत्पद्यत इत्युक्तम् । सम्प्रति कीदृगस्योत्पादो भवतीति प्ररूपयितुमाह—

"तिविहं जम्मं गब्भ–संमुच्छिणो–ववाया–" इति । जीवानां त्रिविधं जन्म भवति । तद्यथा –गर्भः–१ सम्मूर्च्छनम्–२ उपपातश्चे–३ ति । तत्र–स्त्रीयोनौ एकत्रीभूतयो शुक्र––शोणितयोर्जीवो मातृभक्षिताहाररसपरिपोषापेक्ष यद्ग्रहण करोति, तद् गर्भजन्म, गर्भरूप जन्म––गर्भजन्मेत्युच्यते । आगन्तुकशुक्रशोणितग्रहणात् स्त्रीयोने शुक्रशोणितमात्रस्वरूपत्वाभावात्, जन्मतु––शरीरद्वयसम्बन्धितया आत्मन' परिणतिलक्षणमवसेयम् ।

सम्मूर्च्छामात्रं–सम्मूर्च्छनम्, सम्यग्वृद्धि' । यस्मिन् स्थाने जीवो जनिष्यते तत्रत्य पुद्गलान् उपमृद्य संगृह्य च शरीर कुर्वन् शुक्रशोणितं विनैव सम्मूर्च्छनं जन्म लभते तदेव–तथाविध सम्मूर्च्छनं जन्मेत्युच्यते ।

त्रिषु लोकेषु ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् च शरीरस्य समन्तात् मूर्च्छनं–वर्द्धनम् अवयवप्रकल्पन सम्मूर्च्छनम् । गर्भस्तु–स्त्रिया उदरे शुक्र–शोणितयोर्मिश्रणरूपः । तथाच–सम्मूर्च्छनजन्मउत्पत्तिक्षेत्रवर्त्तिपुद्गलसमूहमगृहीत्वा नोद्भवति । तत्र-बाह्यपुद्गलोपमर्दनलक्षणं सम्मूर्च्छनजन्मकाष्ठादिषु कृम्यादीनां प्रतीतम् । काष्ठत्वचा पक्वफलादिषु उत्पद्यमानाः कृम्यादयो जन्तवस्तानेव काष्ठत्वक्

तत्त्वार्थदीपिका—पहले कहा जा चुका है कि ससारी जीव पूर्वगृहीत औदारिक अथवा वैक्रिय शरीर का त्याग करके सविग्रह अथवा अविग्रह गति से अपने उत्पत्तिक्षेत्र में पहुँचता है । अब यह दिखलाते हैं कि उसका उत्पाद किस प्रकार होता है ?

जीवो का जन्म तीन प्रकार का होता है—(१) गर्भ (२) समूर्च्छन और (३) उपपात । स्त्री की योनि में एकत्र हुए शुक्र और शोणित का जीव माता के द्वारा किये गये आहार के रस को परिपोषण की अपेक्षा जो ग्रहण करता है, वह गर्भजन्म कहलाता है । गर्भ रूप जन्म को गर्भजन्म कहते है ।

स्त्री की योनि आगन्तुक शुक्र और शोणित को ग्रहण करती है, अतः वह मात्र शुक्र शोणित रूप नहीं है । जन्म दोनो शरीरो से सबन्ध रखने वाला होने से आत्मा का परिणमन विशेष समझना चाहिए ।

सम्यक् प्रकार से वृद्धि होने को सम्मूर्च्छा अथवा सम्मूर्च्छन कहते हैं । जिस जगह जीव जन्म लेने वाला है, वहाँ के पुद्गलो को सग्रह करके शरीर बनाता हुआ शुक्र और शोणित के विना ही वृद्धि पाना समूर्च्छन जन्म है

फलवर्तिन' पुद्गलान् शरीरीकुर्वन्त' सजायन्ते । एवं–जीवद्गो–महिप–मनुष्यादिशरीरेपु उत्पद्यमाना' कृम्यादयो जीवास्तानेव जीवद्गोमहिपादिशरीरावयवान् समादाय स्वशरीरत्वेन परिणतिं प्राप्नुवन्ति ।

एवम्—उपपातक्षेत्रप्राप्तिमात्रहेतुक जन्म उपपातकजन्म व्यपदिश्यते, यथा–प्रच्छदपटस्योपरिष्टात् देवदूष्यस्याऽधस्ताद् अन्तराले विद्यमानान् पुद्गलान् वैक्रियशरीरतया गृह्णन् देव' समुद्भवति । इदञ्च —पूर्वोक्तजन्मद्वयलक्षणतो भिन्नमेव लक्षण देवोऽसौ नहि प्रच्छदपटदेवदूष्यपुद्गलानेव शरीरी करोति । नापि शुक्रशोणितादि पुद्गलानुपादाय सजायते ।

तस्मात्—अस्योपपातरूपजन्मन' प्रतिविशिष्टक्षेत्रप्राप्तिरेव हेतुर्भवतीति भावः । एव नारकाणामपि बोध्यम् ॥२८॥

तीनो लोको में, ऊपर, नीचे और तिर्छे शरीर का सब ओर से बढ़ना अर्थात् अवयवों की रचना होना सम्मूर्च्छन जन्म है । स्त्री के उदर में शुक्र और शोणित का मिश्रण होना गर्भ कहलाता है । सम्मूर्च्छन जन्म उत्पत्तिक्षेत्र में रहे हुए पुद्गल समूह को ग्रहण किये बिना नहीं होता है । काष्ट आदि में जो कीडे वगैरह उत्पन्न हो जाते है उनका समूर्च्छन जन्म कहलाता है। काष्ठत्वचा तथा पके हुए फल आदि में उत्पन्न होने वाले कृमि आदि जन्तु उस काष्ठत्वचा या फल आदि के पुद्गलो को ही अपने शरीर के रूप में परिणत कर लेते है । इसी प्रकार जीवित गौ, भैंस, मनुष्य आदि के शरीर मे उत्पन्न होने वाले कृमि आदि जीव उन्हीं गाय भै स आदि के शरीर के अवयवो को ग्रहण करके अपने शरीर के रूप में परिणत करते है ।

इसी प्रकार उपपात क्षेत्र में पहुँचना ही जिस जन्म का कारण हो वह उपपात जन्म कहलाता है । बिछे हुए वस्त्र के ऊपर और देवदूष्य के नीचे–बीच में विद्यमान पुद्गलो को वैक्रिय शरीर के रूप में ग्रहण करके देव उत्पन्न होता है । यह जन्म पूर्वोक्त दोनो प्रकार के जन्मो से विलक्षण है । यह न तो शुक्र–शोणित आदि से होता है और न देवदूष्य और बिछे वस्त्र के पुद्गलो से । अतएव प्रतिनियत उपपातक्षेत्र में प्राप्त होना ही इस जन्म का कारण है । यह जन्म देवों और नारको का होता है ॥२८॥

तत्वार्थनिर्युक्ति—पहले बतलाया जा चुका है कि पूर्वग्रहीत औदारिक या वैक्रिय शरीर का क्षय होने पर ससारी जीव ऋजुगति या वक्रगति करके परभव सम्बन्धी उत्पत्ति क्षेत्र में जाता है । किन्तु वहाँ जाकर किस प्रकार उत्पन्न होता है, यह नहीं बतलाया गया है, अतः अब इसका कथन किया जाता है—

जन्म तीन प्रकार का होता है–गर्भ, सम्मूर्च्छन और उपपात । स्त्री की योनि में इकठे हुए शुक्र और शोणित को जीव ग्रहण करता है और माता के द्वारा भुक्त आहार के रससे पुष्ट होता

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं विग्रहयाऽविग्रहया वा गत्या वक्रया—ऋज्वा वा गत्या गत' सन् उत्पत्तिदेशं प्राप्त' सन् प्रागुपात्तौदारिकवैक्रियशरीरपरिक्षये सति जीव पुनरुत्पद्यत इत्युक्तम्। सम्प्रति—केन प्रकारेण स पुनरुत्पद्यते इति प्रतिपादयितुमाह

"तिविहं जम्मं गब्भसमुच्छणो—ववाया—" इति त्रिविध जन्म प्रज्ञप्तम्, गर्भ —सम्मूर्च्छनम्—उपपातश्चेति। तत्र—स्त्रीयोनौ एकत्रीभूतशुक्रशोणितयोर्यद् ग्रहण करोति जीवो मातृभक्षिताहाररसपरिपोषापेक्षं तद्गर्भजन्म व्यपदिश्यते, गर्भ एवजन्म प्रतिपत्तव्यम्। इदच—लक्षणं वक्ष्यमाणसम्मूर्च्छनजन्मलक्षणतो भिन्नमवसेयम्।

आगन्तुकस्य शुक्रशोणितग्रहणात्। स्त्रीयोने' शुक्रशोणितमात्रस्वरूपत्वाभावात् जन्म च शरीरद्वयसम्बन्धितयाऽऽत्मन' परिणतिलक्षणं बोध्यम्। समूर्च्छामात्रं—सम्मूर्च्छनम् यस्मिन् स्थाने स जीवो जनिष्यते तत्रत्य पुद्गलानुपमृद्य—सगृह्य शरीरीकुर्वन् शुक्रशोणित विनैव सम्मूर्च्छन जन्म प्राप्नोति। तदेव तथाविधं सम्मूर्च्छन जन्म उच्यते। एवञ्च—सम्मूर्च्छनजन्म उत्पत्तिस्थानवर्त्तिपुद्गलपुञ्जमनुपमृद्याऽगृहीत्वा न प्रादुर्भवति सुराजन्मवत् किण्वाद्यपमर्दनात् यथा—पिष्टकिण्वोदकादीना मुपमर्देनेन सुराया उत्पत्तिर्भवति। तथा—बाह्यपुद्गलानामाध्यात्मिकपुद्गलाना चोपमर्दनाद् यज्जन्म भवति तत्सम्मूर्च्छनजन्म व्यपदिश्यते।

है, उस जीव का जन्म गर्भ जन्म कहलाता है। उसका गर्भ ही जन्म समझना चाहिए। आगे कहे जाने वाले समूर्च्छन जन्म के लक्षण से यह लक्षण भिन्न है। इस जन्म में आगन्तुक (अन्य जगह से आए) शुक्र और शोणित को ग्रहण किया जाता है, स्त्री की योनि शुक्र—शोणित स्वरूप वाली नहीं होती। जन्म दो शरीरो से सबंधित होने के कारण आत्मा की परिणति विशेष है।

समूर्च्छा को समूर्च्छन कहते है। जिस स्थान में जीव उत्पन्न होने वाला है, वहाँ के एकत्रित पुद्गलों को ग्रहण करके, शुक्र—शोणित के विना ही अपने शरीर का निर्माण करता है। वह समूर्च्छन जन्म कहलाता है। इस प्रकार समूर्च्छन जन्म अपने उत्पत्तिस्थान में रहे हुए पुद्गलों के समूह को ग्रहण किये विना नहीं होता है। जैसे आटा, किण्व दारु का बीज जल आदि के सम्मिश्रण से सुरा की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार बाह्य और भीतरी पुद्गलों के ग्रहण से जो जन्म होता है, वह संमूर्च्छन जन्म कहलाता है।

बाह्य पुद्गलों के ग्रहण से काष्ट आदि में घुन आदि कीडो का जन्म होता है, यह प्रसिद्ध ही है। काष्ट की त्वचा (छाल) एवं पके फल आदि में कृमि आदि जो जीव उत्पन्न होते है, वे उन्हीं काष्टत्वचा एवं फल आदि में रहे हुए पुद्गलो को अपना शरीर बना लेते हैं। इस प्रकार जीवित गाय, भैंस, मनुष्य आदि के शरीरो में उत्पन्न होने वाले कीडे आदि जीव उन्हीं गाय भैस आदि के शरीर के अवयवों को ग्रहण करके अपने शरीर रूप में परिणत कर लेते है। इन कृमि आदि का समूर्च्छन जन्म भीतरी पुद्गलों के ग्रहण से होता है, यह भी प्रसिद्ध है।

तत्र—बाह्यपुद्गलोपमर्दनलक्षणं समूर्च्छनजन्म तावत्—काष्ठादिषु कृम्यादीनां प्रसिद्धम्। काष्ठत्वचा पक्वफलादिषु कृम्यादयो जन्तव समुपजायमानास्तानेव काष्ठत्वक् फलवर्तिन पुद्गलान् शरीरी कुर्वन्त. उत्पद्यन्ते। एव जीवद्गोर्माहिषमनुष्यादिशरीरेषु प्रादुर्भवन्त कृम्यादयो जीवास्तानेव जीवद्गोमहिषादिशरीरावयवान् उपादाय स्वशरीरतया परिणतिमासादयन्ति।

इत्याध्यात्मिकपुद्गलोपमर्दनलक्षणमेतज्जन्मप्रसिद्धम्। प्रायशस्तत्र गर्भाद्युपलब्धिदर्शनात्। एवमुपपातक्षेत्रप्राप्तिमात्रनिमित्तं जन्म उपपातजन्मपदेन व्यपदिश्यते, यथा—प्रच्छदपटस्योपरिष्टात् देवदूष्यस्याधस्तादपान्तराले वर्तमानान् पुद्गलान् वैक्रियशरीरतया समुपाददानो देव समुद्भवति। इदञ्च—पुर्वद्वयलक्षणतो भिन्नलक्षणम् देवोऽसौ न हि प्रच्छदपटदेवदूष्यपुद्गलानेव शरीरी करोति न वा—शुक्रशोणितादि पुद्गलानाददानो जायते।

तस्मात्——अस्योपपातरूपजन्मन' प्रतिविशिष्टक्षेत्रप्राप्तिरेव निमित्त भवति। एवम्——नारकाणां नरकक्षेत्रस्थितातिसकटमुखनिष्कुटागवाक्षसदृशी विविधाकारकुम्भी भवति। तत्र वैक्रियपुद्गलानादाय सगृह्यमाणा वज्रमयनरकतले जलमध्यक्षिप्तपाषाणवत् महता वेगेन परिपतन्ति। उपपद्यन्ते इत्यर्थ एवमेतत् त्रिविध जन्म जीवानामवगन्तव्यम्।

अत्रेदं बोध्यम् सर्वससारिणां प्राणिनां स्वजीवितव्यवच्छेदविशिष्टकाले प्रागुपात्तौदारिक—वैक्रियशरीरपरिक्षयलक्षणे भवक्षये सति यस्मिन् क्षेत्रे जीव पुनरुत्पत्स्यते तदुपपातक्षेत्रं स्वकर्मवशात् पर्वोपात्तकर्मपरिणति सामर्थ्यादेव, न तु—ईश्वरादिप्रेरणया प्राप्नोति, प्राणान् परित्यज्य भवान्तरमासादयति, तदा—सर्वन्तस्य ज्ञानावरणादिकर्माण्येव निष्पादयन्ति ऋजु वा—वक्र वा उत्पत्तिस्थान गन्तव्यमनेन वा मार्गेण गन्तव्यम् अस्यां वा वेलाया प्रवर्तितव्यम् अस्मिन् योन्यन्तरे मया

इसी प्रकार अपने उत्पत्तिक्षेत्र में पहुँचने मात्र से जो जन्म होजाता है, वह उपपात जन्म कहलाता है। जैसे देव बिछे हुए वस्त्र के ऊपर और देवदूष्य के नीचे—दोनों के बीच में विद्यमान पुद्गलो को वैक्रिय शरीर के रूप में ग्रहण करता हुआ उत्पन्न होता है। यह जन्म पहले कहे गये दोनों जन्मों के लक्षण से विलक्षण है, क्योंकि इसका कारण न तो नीचे या ऊपर के वस्त्र के पुद्गल है और न शुक्र—शोणित के पुद्गल ही। इस प्रकार इस जन्म का कारण अमुक स्थान में पहुँचता ही है।

नारक जीव नरकभूमियो में स्थित कुभी में उत्पन्न होते है। कुभी अत्यन्त सँकडे मुख की गवाक्ष जैसी होती है। उनके आकार भी नाना प्रकार के होते है। नारक जीव वहाँ के वैक्रिय पुद्गलों को ग्रहण करते हुए वज्रमय नरकतल में जल के बीच डाले हुए पाषाण की भाँति, बडे वेग के साथ जाकर पड़ते है अर्थात् उत्पन्न होते हैं।

यह जीवो का तीन प्रकार का जन्म है। यहाँ यह बात समझ लेना चाहिए कि—ससारी जीवों के वर्तमान जीवन का जब अन्त होता है और पूर्वगृहीत औदारिक अथवा वैक्रिय शरीर

समुत् पत्तव्यम्--नान्यत्रेत्येतत्सर्वं तावद् अचिन्त्यसामर्थ्यशालीनि कर्माण्येव--आत्मपरिणत्यपेक्षाणि प्रसाधयन्ति न पुनरेपान्तरालवर्तिता वेलां प्रतीक्षमाणस्तिष्ठति ।

तस्मात् कर्मानुभावात् उत्पत्तिक्षेत्रमनुप्राप्त सन् औदारिक--वैक्रियशरीरनिष्पत्तये तच्छरीर-प्रायोग्यानां पुद्गलानामुपादानं करोति, अथ केन हेतुना ते पुद्गलास्तदयोग्या. सल्गन्ते-- इतिचेत् ? उच्यते सकषायत्वाद् जीव' कर्मणो योग्यान् पुद्गलानुपादत्ते । ते पुद्गला. स्नेहाभ्यक्तशरीरवस्त्रादौ रेणुलगनवत् सकषायत्वात् लगन्ति । काय-वाङ्मनःप्राणाः पुद्गलानामुपकार' औदारिकादिपञ्च-विधशरीराणि पुद्गलानामुपकार इतिरीत्या ते पुद्गलास्तथाश्लेषात् तद्रूपतया परिणतिमासादयन्ति तस्यामवस्थायामिति भावः ।

एवं नाम प्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात् इति रीत्या सूक्ष्मा. एकक्षेत्रावगाढतया स्थिता' सर्वात्मप्रदेशेषु अनन्तानन्तप्रदेशा भवन्ति । एवम्--बन्धननामकर्मोदयहेतुत. कर्मपुद्गलग्रहणमिति

का विच्छेद होता है अर्थात् वर्तमान भव का क्षय होता है तब वह जीव जिस क्षेत्र में पुनर्जन्म ग्रहण करने वाला है, उस क्षेत्र में वह अपने पूर्वार्जित कर्म के सामर्थ्य से ही जाता है, ईश्वर आदि की प्रेरणा से नहीं जाता । वह ऋजु या वक्र उत्पत्तिस्थान में जाए, बाएँ मार्ग से जाए, अमुक समय में जाए, अमुक योनि में उत्पन्न हो, अन्यत्र नहीं, इन सब बातो के नियामक अचिन्त्य सामर्थ्यशाली नामकर्म आदि ही है । मृत्यु के पश्चात् समय की प्रतीक्षा करता हुआ कहीं ठहरा नहीं रहता ।

इस प्रकार कर्म के प्रभाव से अपने उत्पत्तिक्षेत्र में पहुँच कर जीव अपने योग्य औदारिक अथवा वैक्रिय शरीर की निष्पत्ति के लिए शरीर के योग्य पुद्गलो को ग्रहण करता है ।

प्रश्न---शरीर के योग्य पुद्गल किस कारण से सम्बन्ध हो जाते है ?

उत्तर---कषाययुक्त होने से जीव कर्म के योग्य पुद्गलो को ग्रहण करता है । वे पुद्गल उसी प्रकार चिपक जाते है जैसे चिकनाई लगे शरीर या वस्त्र पर रेत चिपक जाती है । काय, वचन मन और प्राण पुद्गलो का उपकार है, इस कथन के अनुसार पाँचों शरीर पुद्गलों का उपकार है अर्थात् पुद्गलो के निमित्त से उत्पन्न करते है । अतएव ग्रहण किये हुए वे पुद्गल विशेष प्रकार से श्लेष को प्राप्त होकर शरीर के रूप में परिणत हो जाते हैं ।

वे पुद्गल सब ओर से, योग की विशेषता के अनुसार गृहीत, सूक्ष्म, एक ही क्षेत्र में अव-गाढ अर्थात् जिन आकाशप्रदेशों में जीव रहा हुआ हो उन्हीं आकाशप्रदेशों में स्थित तथा अनन्तानन्त प्रदेश वाले होते हैं । इस प्रकार बन्धननामकर्म के उदय से कर्मपुद्गलों का ग्रहण होना पहली उत्पत्ति है, उपकार भेद की विवक्षा के द्वारा मध्यम उत्पत्ति है और प्रदेशबन्ध के

प्रथमा—उत्पत्ति बन्धसामान्ये, मध्यमा—उत्पत्ति. उपकारभेदविवक्षाद्वारेण, अन्तिमा—उत्पत्ति' प्रदेशबन्धप्रस्तावाकृष्टा भवति । तस्मात् तिसृणामपि—उत्पत्तीनां सूचन भवति ।

न तु—अभिन्नैकवस्तुसन्निपातिन्यस्तिस्रोऽपि उत्पत्तयो भवन्ति पुनरुक्तदोषापत्तेः । तस्मात् तदेवंविध पुद्गलग्रहण जन्म व्यपदिश्यते इतिभाव । इत्येव रीत्या शरीरिणां प्रादुर्भावमात्रलक्षणं जन्म प्ररूपितम् सम्प्रति—कीदृशे स्थाने प्रथमत समुत्पद्यमाना जीवा' शुक्रशोणितग्रहण कुर्वन्ति सम्मूर्च्छन्ति वा वैक्रियशरीर वा समुपाददेत किं गुणे किं विशिष्टे वा स्थाने नारकदेवा. प्रादुर्भवति इति शङ्कां समाधातुं तेषा जन्मना विशिष्टस्थानप्ररूपणाय योनिस्वरूपमुच्यते ससारे जीवाना-मुपर्युक्तस्य त्रिविधस्य जन्मन' प्रत्येकशो नवयोनयो भवन्ति सचित्ता १ अचित्ता २ सचित्ताचित्ता ३ शीत—४उष्णा—५शीतोष्णा—६सवृता—७विवृता—८सवृतविवता—९चेति । तत्र—नारकदेवा-नामचित्तायोनि । गर्भजन्मनां मनुष्यतिरश्चां मिश्रा सचित्ताचित्तरूपा । तदन्येषां सम्मूर्च्छन-जन्मनां तिर्यग्मनुष्याणा त्रिविधा कदाचित्तत् सचित्ता, कदाचिदचित्ता, कदाचिन्मिश्राचेति । गर्भ-व्युत्क्रान्तानां तिर्यङ्मनुष्याणां देवानाञ्च शीतोष्णा । समूर्च्छिमतिर्यग्मनुष्याणां मध्ये कस्यचिच्छीता कस्यचिदुष्णा कस्यचित्—शीतोष्णा च ।

नारकाणां प्रथमे पृथिवीत्रये प्रकृष्टोष्णा । चतुर्थ्यां कचिन्नरके शीता क्वचिदुष्णा । एवं पञ्च-म्याम् षष्ठयाम् सप्तम्या च पृथिव्यां प्रकृष्टशीता । नारकाणां पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतीनां देवानां च

प्रस्ताव से आकृष्ट अन्तिम उत्पत्ति होती है । इससे तीनो उत्पत्तियो की सूचना होती है । ये तीनो उत्पत्तियाँ अभिन्न एक वस्तु विषयक नहीं है, ऐसा होने से पुनरुक्ति दोष का प्रसग आता है । तात्पर्य यह है कि इस प्रकार पुद्गलों का ग्रहण जन्म कहलाता है ।

किस प्रकार के स्थान में पहलेपहल उत्पन्न होते हुए जीव शुक्र और शोणित का ग्रहण करते है, सम्मूर्च्छित करते है अथवा वैक्रियशरीर को ग्रहण करते है ? नारक और देव किस प्रकार के गुण वाले और विशेषता वाले स्थान में उत्पन्न होते हैं ? इस शंका का समाधान करने के लिए पूर्वोक्त जन्मों के विशिष्ट स्थान की प्ररूपणा करने के उद्देश्य से योनियो के स्वरूप का कथन किया जाता है—

ससारीजीवो के उपर्युक्त तीन प्रकार के जन्मों में नौ योनियाँ कही गई हैं । वे इस प्रकार है—(१) सचित्त (२) अचित्त (३) सचित्ताचित्त (४) शीत (५) उष्ण (६) शीतोष्ण (७) सवृत (८) विवृत और (९) सवृतविवृत । इनमें से नारकों और देवो की अचित्त योनि होती है । गर्भज मनुष्यों और तिर्यंचों की सचित्ताचित्त योनि होती है । सम्मूर्च्छिम मनुष्यों और तिर्यंचो की तीनों प्रकार की योनि होती है—किसी की सचित्त, किसी की अचित्त और किसी की सचित्ताचित्त

गर्भज तिर्यंचो और मनुष्यों की तथा देवो की शीतोष्ण योनि होती है । सम्मूर्च्छिम तिर्यंचो और मनुष्यो में किसी की शीत, किसी की उष्ण और किसी की शीतोष्णयोनि होती है ।

सवृताप्रच्छन्नासकुटा । गर्भव्युत्क्रान्तिकतिर्यग्मनुष्याणां सवृतविवृतप्रच्छन्नप्रकाशा । तदन्येषां सम्मूर्च्छिमद्वीन्द्रियादितिर्यग्मनुष्याणां विवृता योनि प्रज्ञप्ता अतिप्रकाशत्वात् ।

तत्र—यस्मिन् स्थाने युवन्तिमिश्रीभवन्ति जन्महेतुद्रव्याणि कार्मणेन सह तद् योनि. । यद्वा—स्थानमाश्रय भावेन यूयते-मिश्रीक्रियते इति योनि । सा च योनि' काचित् जीवप्रदेशाधिष्ठितत्वात् सचित्ता व्यपदिश्यते, तद्विपरीता—अचित्ता । उक्तोभयस्वभावा मिश्रा—सचित्ताऽचित्ता शिशिरत्वात्—शीताः । तद्विपरीता-उष्णा, शीतोष्णोभयस्वभावा मिश्रा, प्रच्छन्नत्वात्—सवृता—सकटा वा व्यपदिश्यते।

तद् विपरीता प्रकाशत्वात् विवृता, तदुभयस्वभावा मिश्रा, सवृतविवृता योनिरुच्यते । तत्र—देवाना प्रच्छदपटदेवदूष्यान्तरालरूपा योनि' जीवप्रदेशानधिष्ठितत्वात् चेतना—उच्यते । नारकाणां वज्रमयनरकक्षेत्रे गवाक्षसदृशी नानाप्रकारककुम्भीयोनिः अचेतना भवति । तिरश्चीना मानुषीणां च स्त्रीणा खलु नाभेरधस्तात् सिराद्वयं पुष्पमाला वैकक्ष्यकाकार भवति । तस्याधस्तात् अधोमुख-संस्थितकोशाकारा योनिर्भवति ।

नारकों की प्रारंभ की तीन पृथ्वियो में शीत योनि होती है। चौथी और पांचवी पृथ्वी में किसी-किसी नारकावास में शीत और किसी—किसी में उष्ण होती है । छठी और सातवीं नरकभूमि में उष्ण योनि होती है ।

नारको, पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और देवो की सवृत (प्रच्छन्न ढकी हुई) योनि होती है । गर्भज तिर्यंचो और मनुष्यो की सवृत—विवृत अर्थात् ढंकी उघाडो योनि होती है । इनसे अतिरिक्त सम्मूर्च्छिम, द्वीन्द्रिय आदि तिर्यचो और मनुष्यों की विवृत योनि कही गई है, क्योकि वह बिल्कुल उघाडी होती है ।

जिस स्थान पर जन्म के कारणभूत द्रव्य कार्मण शरीर के साथ मिश्रित होते है, उसे योनि कहते है अथवा जो स्थान आश्रय के रूप में मिश्रित किया जाता है, वह योनि है । जीव के प्रदेशों से अधिष्ठित (युक्त) होने के कारण कोई योनि सचित्त कहलाती है और जो इससे विपरीत हो वह अचित्त कही जाती है। जो दोनो प्रकार की हो वह सचित्ताचित्त है । ठंडी योनि शीत, इससे विपरीत उष्ण और दोनो स्वभाव वाली शीतोष्ण कहलाती है । जो ढकी हो वह सवृत, उससे विपरीत उघाडी जो हो वह विवृत और जो दोनो प्रकार की हो वह संवृत विवृत कही जाती है ।

प्रच्छद पट और देवदूष्य के बीच का स्थान जीवप्रदेशो से अधिष्ठित न होने के कारण देवो की योनि अचित्त मानी गई है। नारक जीवो की वज्रमय नरकक्षेत्र में गवाक्ष के समान, अनेक आकारो की कुभी योनि अचेतन होती है । तिर्यञ्च और मनुष्य स्त्रियो की नाभि से नीचे पुष्पमाला वैकक्ष्य के आकार की दो शिराएँ होती है । उनके नीचे अधोमुख- कोश के आकार की योनि होती है । उसके बाहर आम की कली के आकार की मांस की मजरियाँ होती है । वे ऋतु के समय फूट जाती है और उनसे रुधिर बहता है । उनमें से कतिपय रुधिर कण

तस्याश्च वहिराम्रकलिकाकारामांसमञ्जर्यो भवन्ति ता खलु[किल-]शोणितं स्फुटीत्वा ऋतौ स्रवन्ति । तत्र–कियन्त शोणितलवा कोशकाकृति योनिमनुप्रविश्य सन्तिष्ठन्ते ।

पश्चाच्छुक्रसमिश्रां स्तानाहारयन् जीवस्तत्र जायते । तत्र ये योन्यात्मसात्कृतास्ते सचित्ता कदाचिन्मिश्रा इति । ये पुनर्न स्वरूपतामापादितास्तेऽचित्ता भवन्ति. सम्मूर्च्छिमतिर्यग्मनुष्याणां मध्ये गोकृम्यादीना सचित्ता काष्ठघुणादीनामचित्ता योनि र्भवति । कपांचित् पूर्वकृते क्षते समुद्भवता मिश्रा सचित्ताचित्ता योनिर्भवति । गर्भव्युत्क्रान्तिकानां तिर्यग्मनुष्याणा देवाना च शीतोष्णा योनि र्भवति ।

सम्मूर्च्छिमतिर्यग्मनुष्याणा मध्ये कस्यचिच्छीता, कस्यचिदुष्णा, कस्यचित् शीतोष्णा योनिर्भवति । स्थानविशेषप्रभावात् प्रथमत त्रिषु नरकेषु योनय' शीता भवन्ति पुनः कुम्भीतो वहिर्निर्गता' सत्य क्षेत्रवेदना उष्णा भवति । षष्ठ सप्तमयोर्योनय उष्णा भवन्ति पुन कुम्भीतो वहिर्निर्गता सत्य' वेदना' शीता भवन्ति कुम्भ्या तु अल्पसमये एव तिष्ठन्ति पुन शेषं वहिरायु पूर्ण भवति, तत्क्षेत्रं च तस्य प्रतिकूलं भवति । उष्णवेदनात' शीतवेदना भयकारिणी भवति शेषं स्पष्टम् ।

अथ चतुरशीतिलक्षा योनय'प्रवचने प्रतिपादिता सन्ति । तथाहि—पृथिव्यप्तेजोवायूना प्रत्येक सप्तसप्तयोनिलक्षा प्रत्येकवनस्पतीनां दश, साधरणाना चतुर्दशा द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रियाणा प्रत्येक द्वे-द्वे लक्षे, तदतिरिक्ततिर्यङ्नाकदेवानां प्रत्येकं चतस्रश्चतस्रो लक्षा मनुष्याणां चतुर्दशलक्षा' इति सर्वसम्मिलितेन चतुरशीतिलक्षा योनयो भवन्ति प्रकृते च प्रत्येकं नवयोनय एव प्रतिपाद्यन्ते इति परस्परं विरोधापत्तिरिति चेत्—[?]

कोशाकार योनि में प्रवेश करके स्थित हो जाते है । पश्चात् शुक्र से मिश्रित उन रुधिर कणो को जीव ग्रहण करता है । जो रुधिर कण अपने स्वरूप में नहीं रहते, वे अचित्त हो जाते है । सम्मूर्च्छिम तिर्यचो और मनुष्यो में से गाय की कृमि आदि जीवो की योनि सचित्त होती है और काठ के घुन आदि की योनि अचित्त होती है । पूर्वकृत घाव में उत्पन्न होने वाले किन्हीं किन्हीं कीडो की मिश्रण अर्थात् सचित्ताचित्त योनि होती है । गर्भज तिर्यचो, मनुष्यो और देवो की शीतोष्णयोनि होती है ।

सम्मूर्छिम तिर्यंचो और मनुष्यो में किसी की शीत, किसी की उष्ण और किसी की शीतोष्ण योनि होती है । स्थानविशेष के प्रभाव से यह योनिभेद होता है । पहले तीन नरको में योनि शीत है और कुभी से बाहर निकलने पर क्षेत्र वेदना उष्ण है । छठी सातवीं मे योनि उष्ण है, और कुम्भी से बाहर निकलने पर वेदना शीत है । कुम्भी में तो थोडी देर ही रहते है और शेष आयुष्य बाहर ही पूरा होता है और वह क्षेत्र उनके प्रतिकूल होता है । उष्ण वेदना से शीत वेदना भयकर होती है ।

आगम मे चौरासी लाख योनियो का प्रतिपादन किया गया है । वे इस प्रकार है—पृथ्वी अप्, तेज और वायुकाय की सात-सात लाख योनियाँ है, प्रत्येक वनस्पति की दश लाख साधारण वनस्पति की चौदह लाख, द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय की दो—दो लाख, शेष तिर्यंचो, नारको और देवो की चार—चार लाख और मनुष्यो की चौदह लाख योनियाँ है । ये सब मिलकर चौरासी लाख होती है ।

आशका हो सकती है कि योनियाँ यदि चौरासी लाख है तो यहाँ सिर्फ नौ का ही

उच्यते प्रवचनोक्तानां चतुरशीतिलक्षयोनीनां सग्रहकतया नवयोनय इति प्रतिपादितम्। विस्तरस्तु–प्रतिजाति–वक्तव्य', पृथिवीकायस्य याऽभिहिता योनि' सैव स्वजातिभेदापेक्षया। सप्त-लक्षपरिमाणा भवति। शर्करा वालुकाप्रभृतिभेदा यावत्यो जातयो भवन्ति, तावद् भेदा' योनयोऽपि पृथिवीकायस्यावगन्तव्या इति।

ताश्च न मूलयोनिमतिक्रमन्ति, अपितु जातिभेदात् भिद्यन्ते। अत'सग्राहकमेतद् वचनम-वगन्तव्यम्, एवमन्येषामपि स्वजातिभेदात् बहुत्व वक्तव्यम्। तथाच–स्वजातिभेदापेक्षमेतत्। परिमा-णमवगन्तव्यम् ॥२८॥

मूलसूत्रम्––"सरीराइं पंच, ओरालिय वेउव्विय–आहारग–तेयगकम्माइं–"॥२९॥

छाया––'शरीराणि पञ्च औदारिक-वैक्रियाऽऽहारक-तैजस-कार्मणानि' ॥२९॥

तत्त्वार्थ दीपिका––पूर्वंतावत् जीवानां ससारिणा गर्भोपपातसम्मूर्च्छनजन्मभेदेन त्रिविध जन्मप्ररूपितम् सम्प्रति–तेषा खलु जीवानां तेषु जन्मसु कानि शरीराणि कियन्ति वा किं लक्षणानि वा तानि शरीराणि भवन्तीति प्रतिपादयितुमाह––**"सरीराइं पंच, ओरालिय–वेउव्विय–आहारग तेयग–कम्माइं**

शरीराणि–शीर्यन्ते इति शरीराणि प्रतिक्षण शीर्यमाणत्वात् तानि विशिष्टनामकर्मोदया-पादितवृत्तिनि पञ्च सन्ति औदारिक–वैक्रिय–आहारक–तैजस–कार्मणानि, एतानि तावद् शरीराणि यथासम्भव नारकादिगतिचतुष्टयवर्तिनामेव जीवानां भवन्ति- नसिद्धानामिति सामर्थ्याद् बोधयितु

निरूपण क्यो किया है? इसका समाधान यह है कि शास्त्र में प्रतिपादित चौरासी लाख योनियो का उक्त नौ योनियो में ही सग्रह हो जाता है। चौरासी लाख का कथन विस्तार की अपेक्षा से है, यथा–पृथ्वीकाय की जो योनि कही है वही जातिभेद की अपेक्षा सात लाख परिमाणवाली है। शर्करा बालुका आदि पृथ्वी की जो जातियाँ कही गई है, पृथ्वीकाय की योनियाँ भी उतनी ही समझना चाहिए। वे योनियाँ अपनी मूलयोनि से अतिरिक्त नहीं है, किन्तु जातिभेद से उनमें भेद हो जाता है। अतएव यह वचन सग्राहक वचन समझना चाहिए। इसी प्रकार अन्य जीवों की योनियाँ भी जातिभेद की अपेक्षा से बहुसख्यक है ॥२८॥

सूत्र––'सरीराइं पंच' इत्यादि ॥२९॥

मूलसूत्रार्थ––शरीर पाँच है–औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस और कार्मण ॥२९॥

तत्त्वार्थदीपिका––पहले ससारी जीवो के गर्भ, उपपात और समूर्च्छन के भेद से तीन प्रकार के जन्म बतलाए गए हैं। अब यह बतलाते है कि उन जन्मो में जीवो के कौन से शरीर होते हैं? कितने होते हैं? उन शरीरों के लक्षण क्या है?

जो प्रतिक्षण शीर्ण–विनष्ट होते रहते है, वे शरीर कहलाते हैं। विशिष्ट नामकर्म के उदय से उनकी रचना होती है। वे पाँच है औदारिक, वैक्रिय,, आहारक, तैजस और कार्मण। यह शरीर यथासभव नरक आदि चार गतियों के जीवो को ही होते है, सिद्ध जीवो को नहीं, यह

प्रथमं शरीरग्रहणं कृतम् विशरणशीलत्वात् शरीराणि इत्यन्वर्थसंज्ञाबलात् विनश्वरत्वयुक्तशरीरस्य सिद्धानां सम्भवात्।

अत एव—शरीरशब्दापेक्षया कायशब्दोपादाने लाघवसत्वेऽपि तदुपादान कृतम् शरीरशब्देनाऽन्वर्थताप्रतिपादनद्वारा प्रतिपिपादयिषितस्य विशरारुतार्थस्य प्रतिपादितत्वात्। एवञ्च—औदारिक-वैक्रियं—आहारकं—तैजस—कार्मणं चैतानि पञ्च शरीराणि ससारिजीवानां भवन्ति।

तत्र—पूर्वपूर्वापेक्षया पर पर शरीर सूक्ष्मम् बोध्यम्। यथौदारिकापेक्षया—वैक्रिय सूक्ष्मम्। वैक्रियापेक्षया आहारक सूक्ष्मम्, आहारकापेक्षया तैजस सूक्ष्मम्, तैजसापेक्षया कार्मण सूक्ष्मम् तत्रोदारेण बृहदसारेण द्रव्येण निष्पन्न शरीरमौदारिकम्। सारहीनस्थूलद्रव्यवर्गणारचितम् औदारिकप्रायोग्यपुद्गलग्रहणहेतुभूतपुद्गलविपाक्यौदारिकशरीरनामकर्मोदयनिष्पन्नं शरीरमौदारिकमुच्यते। उदारे स्थूले भव वा औदारिकम्, उदार स्थूल वा प्रयोजनमस्येत्यौदारिकम्।

एकानेकाणुमहच्छरीरविविधकरण विक्रिया प्रयोजनमस्येति वैक्रियम् विक्रिया-विकुर्वणा-शक्त्या वा निर्वृत्तं निष्पादितं शरीरं वैक्रियमुच्यते। देवानां मूलशरीरं जिनजन्मादिकालेपि वैक्रियशरीरमवधार्य जन्मोत्सवस्थानेषु आगच्छति मूलरूपतो न, उत्तरशरीर पुनरेकमनेक वा जिन-

---

बतलाने के लिए सूत्र में सर्वप्रथम शरीर शब्द का प्रयोग किया गया है। शरीर नाशशील है और सिद्धो में उनका होना सभवित नहीं है।

'शरीर' शब्द की अपेक्षा 'काय' शब्द छोटा है। फिर भी यहाँ कायशब्द का प्रयोग न करके जो शरीर शब्द का प्रयोग किया गया है, उसका उद्देश्य शरीर की बिनाशशीलता दिखलाता है। 'शरीर' का व्युत्पत्त्यर्थ ही यह है कि जो विनाशशील हो। इस प्रकार ससारि जीवों के औदारिक, वैक्रिण, आहारक, तैजस और कार्माण, ये पाँच शरीर होते है।

इन पाँच शरीरो में पूर्व—पूर्व शरीर की अपेक्षा उत्तरोत्तर शरीर सूक्ष्म होता है। औदारिक शरीर स्थूल है। उसकी अपेक्षा वैक्रय शरीर सूक्ष्म है, वैक्रय की अपेक्षा आहारक सूक्ष्म है, आहारक की अपेक्षा तैजस सूक्ष्म है और तैजस की अपेक्षा कार्मण शरीर सूक्ष्म है।

उदार अर्थात् स्थूल एव असार द्रव्य से बना शरीर औदारिक कहलाता है। इस शरीर की उत्पत्ति औदारिक के योग्य पुद्गलो के ग्रहण के कारणभूत पुद्गलविचारी औदारिक शरीर नामकर्म के उदय से होती है। अथवा जो शरीर उदार अर्थात् स्थूल हो वह औदारिक या जिसका प्रोयजन उदार—स्थूल हो वह औदारिक।

एक, अनेक, छोटा, वडा आदि अनेक रूप शरीर करना विक्रिया कहलाता है। विक्रिया करना जिसका प्रयोजन हो वह वैक्रिय शरीर। अथवा विक्रियाशक्ति के द्वारा उत्पन्न किया गया शरीर वैक्रिय शरीर कहलाता है।

देवों का मूल शरीर तीर्थकर भगवान् के जन्मकल्याणक आदि के समय भी वैक्रिय शरीर धारण कर जन्मउत्सव के स्थान पर आते है। मूल रूप से नहीं एक अथवा अनेक रूप उत्तरशरीर

जन्मोत्सवादौ सर्वत्र गच्छति। विक्रिया विकारो वहुरूपता एकस्याऽनेककरण तया निर्वृत्तमनेका-श्चर्याधायक नानागुणर्द्धिसम्प्रयुक्त पुद्गलवर्गणाकृत शरीर वैक्रिय वोध्यम्.।

एवं सूक्ष्मपदार्थविज्ञानार्थम् असयमजिहीर्षया वा प्रमत्तसयतेनाह्रियते—निर्वर्त्यते यत् तद् आहारकम्। शुभतरशुक्लविशुद्धद्रव्यवर्गणानिर्मितं-प्रतिविशिष्टप्रयोजनायाऽऽह्रियते उपादीयते यत् तदन्तर्मुहूर्तस्थित्याहारक शरीरं। एतच्च प्रमत्तसयतेनैव निष्पाद्यते,

प्रमत्तसयतस्य यदा सूक्ष्मपदार्थे सयमविचारे वा सन्देहो जायते तदा—तीर्थकरस्य सन्निधौ सन्देहनिवारणार्थं तस्य तालुप्रदेशच्छिद्राद् निर्गत्य हस्तप्रमाण पुत्तलक गच्छति ततश्च—तीर्थकरशरीरं स्पृष्ट्वा पश्चात् परावृत्य तेनैव तालुच्छिद्रेण प्रमत्तसयते प्रविशति तस्य सन्देहो-विनश्यतीति भाव'।

तेजोनिमित्तक तेजसि वा भव तैजस शरीरम्। कर्मणा निष्पन्न शरीर कार्मणमुच्यते अशेषकर्म-राशेराधारभूत वदरीफलादीना कुण्डादिवत्,कर्मणा कार्यं वा कार्मण शरीरमुच्यते सकलकर्मजननस-मर्थं वेति ॥२९॥

ही उनके जन्मोत्सव आदि मे सम्मिलित होता है। विक्रिया, विकार, वहुरूपता या एक को अनेक बनाना, यह सब समानार्थक शब्द है। तात्पर्य यह है कि-जो शरीर विक्रिया से वना हो, अनेक आश्चर्य उत्पन्न करने वाला हो, नाना प्रकार के गुणो से युक्त हो, ऐसा वैक्रियवर्गणा के पुद्गलों से निर्मित शरीर वैक्रिय कहा गया है।

सूक्ष्म तत्त्व को जानने के लिए या असंयम को निवारण करने के लिए आदि कारणो से प्रमत्तसयत के द्वारा जो शरीर निष्पादित किया जाता है, वह आहारक कहलाता है। यह शरीर अत्यन्त शुभ, शुक्ल और विशुद्ध द्रव्यो से निर्मित होता है। विशेष प्रयोजन से बनाया जाता है और अन्तर्मुहूर्त्त की स्थिति वाला होता है। प्रमत्तसयत मुनि ही इस शरीर को निष्पन्न करते है।

जब प्रमत्तसयत को किसी गहन तत्त्व में अथवा संयम के विषय मे सन्देह उत्पन्न होता है, तब तीर्थंकर तथा केवली भगवान् के निकट सन्देह को दूर करने के लिए तालुप्रदेश के छिद्र से निकल कर एक हाथ का पुतला वहाँ जाता है, जाकर तीर्थंकर आदि से पूछ करके वापिस लौट आता है और उसी तालु के छिद्र से प्रमत्तसयत के शरीर मे प्रविष्ट हो जाता है। ऐसा करने से उसका सदेह दूर हो जाता है।

तेज से जो शरीर उत्पन्न होता है, वह तैजस कहलाता है। कर्म द्वारा निष्पन्न शरीर को कार्मण कहते हैं। जैसे वोर आदि का आधार कुण्ड (कूडा) होता है, उसी प्रकार यह कार्मणशरीर समस्त कर्मराशि का आधार है। अथवा जो शरीर कर्मों का कार्य हो वह कार्मण कहलाता है। यह समस्त कर्मों को उत्पन्न करने में समर्थ होता है ॥२९॥

प्रथमं शरीरग्रहणं कृतम् विशरणशीलत्वात् शरीराणि इत्यन्वर्थसञ्ज्ञाबलात् विनश्वरत्वयुक्तशरीरस्य सिद्धानां सम्भवात्।

अत एव–शरीरशब्दापेक्षया कायशब्दोपादाने लाघवसत्वेऽपि तदुपादान कृतम् शरीरशब्दे-नाऽन्वर्थताप्रतिपादनद्वारा प्रतिपिपादयिषितस्य विशरारुतार्थस्य प्रतिपादितत्वात्। एवञ्च–औदारिक-वैक्रियं–आहारकं–तैजस–कार्मणं चैतानि पञ्च शरीराणि ससारिजीवानां भवन्ति।

तत्र–पूर्वपूर्वापेक्षया परं पर शरीर सूक्ष्मम् बोध्यम्। यथौदारिकापेक्षया–वैक्रिय सूक्ष्मम्। वैक्रियापेक्षया आहारक सूक्ष्मम्, आहारकापेक्षया तैजस सूक्ष्मम्, तैजसापेक्षया कार्मण सूक्ष्मम् तत्रोदारेण बृहदसारेण द्रव्येण निष्पन्न शरीरमौदारिकम्। सारहीनस्थूलद्रव्यवर्गणारचितम् औदा रिकप्रायोग्यपुद्गलग्रहणहेतुभूतपुद्गलविपाक्यौदारिकशरीरनामकर्मोदयनिष्पन्नं शरीरमौदारिकमुच्यते। उदारे स्थूले भव वा औदारिकम्, उदार स्थूल वा प्रयोजनमस्येत्यौदारिकम्।

एकानेकाणुमहच्छरीरविविधकरण विक्रिया प्रयोजनमस्येति वैक्रियम् विक्रिया-विकुर्वणा-शक्त्या वा निर्वृत्तं निष्पादितं शरीरं वैक्रियमुच्यते। देवानां मूलशरीरं जिनजन्मादिकालेपि वैक्रियशरीरमवधार्य जन्मोत्सवस्थानेषु आगच्छति मूलरूपतो न, उत्तरशरीर पुनरेकमनेक वा जिन-

---

बतलाने के लिए सूत्र में सर्वप्रथम शरीर शब्द का प्रयोग किया गया है। शरीर नाशशील है और सिद्धो में उनका होना सभवित नहीं है।

'शरीर' शब्द की अपेक्षा 'काय' शब्द छोटा है। फिर भी यहाँ कायशब्द का प्रयोग न करके जो शरीर शब्द का प्रयोग किया गया है, उसका उद्देश्य शरीर की विनाशशीलता दिखलाता है। 'शरीर' का व्युत्पत्त्यर्थ ही यह है कि जो विनाशशील हो। इस प्रकार ससारि जीवों के औदारिक, वैक्रिण, आहारक, तैजस और कार्माण, ये पाँच शरीर होते है।

इन पाँच शरीरों मे पूर्व–पूर्व शरीर की अपेक्षा उत्तरोत्तर शरीर सूक्ष्म होता है। औदा-रिक शरीर स्थूल है। उसकी अपेक्षा वैक्रय शरीर सूक्ष्म है, वैक्रय की अपेक्षा आहारक सूक्ष्म है, आहारक की अपेक्षा तैजस सूक्ष्म है और तैजस की अपेक्षा कार्मण शरीर सूक्ष्म है।

उदार अर्थात् स्थूल एव असार द्रव्य से बना शरीर औदारिक कहलाता है। इस शरीर की उत्पत्ति औदारिक के योग्य पुद्गलो के ग्रहण के कारणभूत पुद्गलविचारी औदारिक शरीर नामकर्म के उदय से होती है। अथवा जो शरीर उदार अर्थात् स्थूल हो वह औदारिक या जिसका प्रोयजन उदार–स्थूल हो वह औदारिक।

एक, अनेक, छोटा, वडा आदि अनेक रूप शरीर करना विक्रिया कहलाता है। विक्रिया करना जिसका प्रयोजन हो वह वैक्रिय शरीर। अथवा विक्रियाशक्ति के द्वारा उत्पन्न किया गया शरीर वैक्रिय शरीर कहलाता है।

देवों का मूल शरीर तीर्थकर भगवान् के जन्मकल्याणक आदि के समय भी वैक्रिय शरीर धारण कर जन्मउत्सव के स्थान पर आते है। मूल रूप से नहीं एक अथवा अनेक रूप उत्तरशरीर

जन्मोत्सवादौ सर्वत्र गच्छति। विक्रिया विकारो बहुरूपता एकस्याऽनेककरण तथा निर्वृत्तमनेका-श्चर्याधायक नानागुणर्द्धिसम्प्रयुक्त पुद्गलवर्गणाकृतं शरीर वैक्रिय बोध्यम् ।

एवं सूक्ष्मपदार्थविज्ञानार्थम् असयमजिहीर्षया वा प्रमत्तसयतेनाहियते–निर्वर्त्यते यत् तद् आहारकम् । शुभतरशुक्लविशुद्धद्रव्यवर्गणानिर्मित प्रतिविशिष्टप्रयोजनायाऽऽहियते उपादीयते यत् तदन्तर्मुहूर्तस्थित्याहारक शरीर । एतच्च प्रमत्तसयतेनैव निष्पाद्यते,

प्रमत्तसयतस्य यदा सूक्ष्मपदार्थे सयमविचारे वा सन्देहो जायते तदा–तीर्थकरस्य सन्निधौ सन्देहनिवारणार्थ तस्य तालुप्रदेशच्छिद्राद् निर्गत्य हस्तप्रमाण पुत्तलक गच्छति ततश्च–तीर्थकरशरीर स्पृष्ट्वा पश्चात् परावृत्य तेनैव तालुच्छिद्रेण प्रमत्तसयते प्रविशति तस्य सन्देहो-विनश्यतीति भाव ।

तेजोनिमित्तक तेजसि वा भवं तैजस शरीरम्। कर्मणा निष्पन्न शरीर कार्मणमुच्यते अशेषकर्म-राशेराधारभूत बदरीफलादीना कुण्डादिवत्,कर्मणा कार्य वा कार्मण शरीरमुच्यते सकलकर्मजननस-मर्थं वेति ॥२९॥

ही उनके जन्मोत्सव आदि मे सम्मिलित होता है। विक्रिया, विकार, बहुरूपता या एक को अनेक बनाना, यह सब समानार्थक शब्द है। तात्पर्य यह है कि जो शरीर विक्रिया से बना हो, अनेक आश्चर्य उत्पन्न करने वाला हो, नाना प्रकार के गुणो से युक्त हो, ऐसा वैक्रियवर्गणा के पुद्गलों से निर्मित शरीर वैक्रिय कहा गया है।

सूक्ष्म तत्त्व को जानने क लिए या असंयम को निवारण करने के लिए आदि कारणो से प्रमत्तसयत के द्वारा जो शरीर निष्पादित किया जाता है, वह आहारक कहलाता है। यह शरीर अत्यन्त शुभ, शुक्ल और विशुद्ध द्रव्यो से निर्मित होता है। विशेष प्रयोजन से बनाया जाता है और अन्तर्मुहूर्त्त की स्थिति वाला होता है। प्रमत्तसंयत मुनि ही इस शरीर को निष्पन्न करते है।

जब प्रमत्तसयत को किसी गहन तत्त्व में अथवा संयम के विषय मे सन्देह उत्पन्न होता है, तब तीर्थंकर तथा केवली भगवान् के निकट सन्देह को दूर करने के लिए तालुप्रदेश के छिद्र से निकल कर एक हाथ का पुतला वहाँ जाता है, जाकर तीर्थंकर आदि से पूछ करके वापिस लौट आता है और उसी तालु के छिद्र से प्रमत्तसयत के शरीर मे प्रविष्ट हो जाता है। ऐसा करने से उसका सदेह दूर हो जाता है।

तेज से जो शरीर उत्पन्न होता है, वह तैजस कहलाता है। कर्म द्वारा निष्पन्न शरीर को कार्मण कहते है। जैसे बोर आदि का आधार कुण्ड (कूंडा) होता है, उसी प्रकार यह कार्मणशरीर समस्त कर्मराशि का आधार है। अथवा जो शरीर कर्मों का कार्य हो वह कार्मण कहलाता है। यह समस्त कर्मों को उत्पन्न करने में समर्थ होता है ॥२९॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वोक्तजन्मसु यथोक्तयोनीनां जीवानां कानि शरीराणि कियन्ति वा किं लक्षणानि वा भवन्तीतिप्ररूपयितुमाह—**सरीराइ पंच, ओरालिय-वेउव्विय-आहारग-तेयग-कम्माइं**,, इति-।

शरीराणि—विशीर्यन्ते प्रतिक्षणमिति शरीराणि जीर्यमाणत्वात्—चयापचयवत्वाच्च विशरारुता युक्तानि शरीराणि पञ्चसख्यकानि भवन्ति । तद्यथा—औदारिक—वैक्रिय—आहारक—तैजस—कार्मणानि एतानि च शरीराणि यथायोग्यं नारकादि गति चतुष्टयवर्तिनामेव जीवानां सम्भवन्ति न सिद्धानाम् इतिसामर्थ्यात् प्रतिपादयितुमादौ शरीरग्रहण कृतम् विशरणशीलत्वाद् विशरारुत्वा च्छरीराणि इत्यन्वर्थसञ्ज्ञाबलात् लब्धविनश्वरत्वरूपार्थयुक्तशरीरस्य सिद्धानामसम्भवात् । अतएव—शरीरशब्दापेक्षया कायशब्दोपादाने लाघवसत्वेऽपि कायग्रहणं न कृतम् । शरीरशब्देनान्वर्थता प्रतिपादनद्वारा विशरारुतार्थस्य प्रतिविप्सितस्य प्रतिपादितत्वात् । तथाच—औदारिक, वैक्रियम्—आहारक—तैजस—कार्मण चैतानि पञ्च शरीराणि ससारिणा प्राणिना भवन्ति ।

तथाचोक्तम्—प्रज्ञापनायां शरीरपदे२१—एकविंशतिसख्यके "**कइ णं भंते—१ सरीरा पण्णत्ता—३ गोयमा ! पंच सरीरा पण्णत्ता तंजहा—ओरालिए, वेउव्विए, आहारए, तेयए, कम्मए,**" कति खलु भदन्त—१ शरीराणि प्रज्ञप्तानि—३ गौतम—१ पञ्च शरीराणि प्रज्ञप्तानि तद्यथा—औदारिकम्, वैक्रियम्, आहारकम्, तैजसम्, कार्मणम् इति ।

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पूर्वोक्त जन्मो मे, पूर्वोक्त योनियों वाले जीवो के कौन से और कितने शरीर होते है ? उन शरीरों के लक्षण क्या है ? यह बतलाने के लिए कहते है—

शरीर पाँच है—औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण ।

क्षण—क्षण में शीर्ण—जीर्ण, विनाशशील होने से एवं चय और अपचय वाले होने से शरीर सज्ञा प्रदान की गई है। शरीर पाँच है जिनका नामनिर्देश ऊपर किया गया है ।

ये पाँच शरीर नरक आदि चार गतियो के जीवो के ही होते है, सिद्ध जीवो के नहीं । सिद्ध जीव समस्त कर्मो से रहित होने के कारण समस्त शरीरों से भी रहित होते है । इस तथ्य को प्रकट करने के लिए सूत्र की आदि में 'शरीर' शब्द का प्रयोग किया गया है । शरीर शब्द का अर्थ है—जो विनाशील हो, क्षण—क्षण मे पलटता रहे । ऐसा विनाशशील शरीर सिद्धों में नहीं पाया जा सकता । यही कारण है कि शरीर शब्द की अपेक्षा **काय** शब्द छोटा है और उसका प्रयोग किया गया होता तो सूत्र में लघुता होता, फिर भी उसका प्रयोग नहीं किया । **शरीर** शब्द का, बड़ा होने पर भी प्रयोग किया गया है सो उसकी विनश्वरता प्रकट करने के लिए ही।

तात्पर्य यह है कि ससारी जीवो के पाँच प्रकार के शरीर होते है-औदारिक, वैक्रिय, आहारक तैजस और कार्मण। प्रज्ञापनासूत्र के एकवीसवे २१ शरीरपद मे कहा है—

प्रश्न—भगवन् ! शरीर कितने कहे है ?

उत्तर—गौतम ! पाँच शरीर कहे है—(१) औदारिक (२) वैक्रियक (३) आहारक (४) तैजस और (५) कार्मण ।

तत्र–उदारेण बृहदसारेण द्रव्येण निर्वृत्तं शरीरमौदारिकं व्यपदिश्यते। एवम्–विक्रियया विकुर्वणाशक्त्या निर्वृत्त-निष्पादित शरीर वैक्रियमुच्यते, विक्रिया-विकारो बहुरूपता एकस्याऽनेककरणम् तया निवृत्तमनेकाद्भुताश्रय नानागुणर्द्धिसम्प्रयुक्तपुद्गलवर्णसमारब्ध वैक्रिय भवतीति भाव।

एवम्-आहारकम् शुभतरशुक्लविशुद्धद्रव्यवर्गणाप्रारब्ध प्रतिविशिष्टप्रयोजनायाऽऽह्रियते उपादीयतेऽन्तर्मुहूर्तस्थित्या आहारक शरीर व्यपदिश्यते॥

एवम्–तेजोऽग्निगुणयुक्तद्रव्यवर्गणाप्रारब्ध तेजोविकार' तेज एव वा तैजसमुष्णगुण शापाऽनुग्रहसामर्थ्योद्भावनम्, तदेव यदोत्तरगुणप्रत्यया लब्धिरुत्पद्यते तदा पर जीवं प्रतिदाहाय क्रोधविषजाज्वल्यमानमानसोविसृजति गोशालादिवत्. प्रसन्नतायुक्त: पुनः शीततेजसाऽनुग्रहं करोति। यस्य तु-उत्तरगुणप्रत्यया लब्धिनोत्पन्ना भवति, तस्य सततमभ्यवहृताहारमेव पाचयति। यच्च खलु-पाचनशक्तियुक्तम्-, तदपि तैजसमुच्यते॥

एवम्-कर्मणा निर्वृत्त-निष्पन्न शरीर कार्मणमुच्यते अशेषकर्मराशेराधारभूत वदरीफलादीनां कुण्डादिवत्, अशेषकर्मजननसमर्थ वा बीजादिवत् इति भावः। इयं च खलु-उत्तरगुणप्रकृतिः शरीरनामकर्मण' पृथगेव कर्माष्टकात् समूहादित्यत' कर्मैव-कार्मणमुच्यते।

जो शरीर स्थूल और निस्सार पुद्गलद्रव्यो से बना हो वह औदारिक कहलाता है। जो विक्रिया शक्ति से उत्पन्न हुआ हो वह वैक्रिय कहलाता है। विक्रिया, विकार, बहुरूपता या एक का अनेक बनाना, यह सब समानार्थक है, जो शरीर विक्रिया से बना हो, अनेकरूप और अद्भुत हो, नाना गुणो से युक्त पुद्गलवर्गणा से बना हो, वह वैक्रिय कहलाता है।

जो शरीर अत्यन्त शुभ, शुभ्र और विशुद्ध द्रव्यवर्गणाओं से उत्पन्न हो और एक विशेष प्रयोजन से ही बनाया जाय, तथा जिसकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त मात्र हो, वह आहारक शरीर कहलाता है।

जो तैजस गुण वाले द्रव्यो से निर्मित हो, तेज का विकार हो या तेज रूप ही हो, वह तैजस शरीर है। यह शरीर उष्णगुण वाला तथा शाप और अनुग्रह के सामर्थ्य वाला भी हो सकता है।

यह शरीर जिसे प्राप्त होता है और यदि वह तेजोलेश्या लब्धिवाला हो तो वह जब क्रोध से प्रज्वलित होता है तब दूसरे जीव को दाह करने के लिए उसे बाहर निकालता है, जैसे गोशालक ने निकाला था। और जब प्रसन्न होता है तब शीत तेज से अनुग्रह भी करता है। जिस जीव को उत्तरगुणप्रत्ययक लब्धि प्राप्त नहीं होती उसका तैजस शरीर खाए आहार को पचाने का काम करता रहता है। इस प्रकार जो शरीर आहार को पचाने की शक्ति वाला हो वह भी तैजस कहा जाता है।

इसी प्रकार कर्म के द्वारा निष्पन्न शरीर कार्मण कहलाता है। यह शरीर समस्त कर्मराशि का उसीप्रकार आधारभूत है जैसे बोर आदि का अधार कुंड आदि होता है। अथवा यह शरीर

वस्तुतस्तु-कर्मभिर्निष्पन्नं-कर्मसु भवं कर्मसु जातं-कर्मैव वा कार्मणमुच्यते। एतेषां च, औदारिकादीना शरीराणां ग्रहणप्रायोग्यानि न सर्वपुद्गलद्रव्याणि भवन्ति अपितु द्रव्यवर्गणाप्ररूपणक्रमेण कानिचिदेव पुद्गलद्रव्याणि भवन्ति। तद्यथा परमाणूनामेका वर्गणा राशिरूपा भवति, द्विप्रादेशिकानामपि स्कन्धानामेका वर्गणा भवति। एवम् एकपरमाणुवृद्ध्या सङ्ख्येयप्रादेशिकस्कन्धानां सख्येयवर्गणा'। असख्येयप्रादेशिकस्कन्धानामसख्येयवर्गणा भवन्ति।

अनन्तप्रदेशिकस्कन्धानामनन्ता वर्गणा भवन्ति। स्वल्पपुद्गलप्रयोगत्वाद् अयोग्या समुल्लङ्घ्या अनन्तएवौदारिकशरीरयोग्या वर्गणा भवन्ति। तस्यैव पुन'-औदारिकशरीरस्याऽग्रहणयोग्या' ततोऽनन्ता, अतिबहुपुद्गलात्मकत्वात्। एवम्—एकैकपुद्गलप्रक्षेपपरिवृद्ध्या वैक्रियाहारकतैजसमाणप्राणापानमन' कार्मणानामेकैकस्याऽयोग्या [योग्या'] अयोग्याश्चेति द्रव्यवर्गणत्रयमवसेयम्।

तत्र-प्रथमा द्रव्यवर्गणाऽल्पत्वाद् अयोग्या अन्तिमा-पुनर्बहुत्वाद् अयोग्या मध्यमा पुनस्तदनुरूपत्वाद् योग्याचेति सर्वत्र विभावनीयम्। अत्राऽप्रस्तुतमपि भाषा प्राणापानमनोग्रहणम्-कार्मण

बीज के समान समस्त कर्मों का जनक है। यह शरीरनामकर्म की उत्तरप्रकृति है अर्थात् शरीर नामकर्म का एक उपभेद है, अत' आठ कर्मों से कथंचित् भिन्न है। कर्म ही कार्मण कहलाता है। वास्तव में तो कर्मों के द्वारा निष्पन्न, कर्मों में होने वाला अथवा कर्म ही कार्मण शरीर कहलाता है।

औदारीक आदि शरीर चाहे जिन पुद्गलो से नहीं बनते, बल्कि इनके योग्य पुद्गलो की वर्गणा (राशि) अलग—अलग होती है। औदारिक वर्गणा के पुद्गलों से औदारिक शरीर वैक्रिय वर्गणा के पुद्गलो से वैक्रिय शरीर आहारक वर्गणा के पुद्गलो से अहारकशरीर तैजसवर्गणा के पुद्गलों से तैजसशरीर और कार्मण वर्गणा के पुद्गलो से कार्मणशरीर का निर्माण होता है।

पुद्गलों के समूह को वर्गणा कहते है। इन समूहो या वर्गणाओ का वर्गीकरण अनेक प्रकार से किया गया है। जैसे द्रव्य की 'अपेक्षा से समस्त परमाणुओ की एक वर्गणा अर्थात् राशि है। द्विप्रदेशी स्कधो की एक वर्गणा है। इसी प्रकार एक—एक परमाणु की वृद्धि करके सख्यात वर्गणाएँ हैं, असख्यात प्रदेशी स्कधों की असख्यात वर्गणाएँ है। अनन्तप्रदेशी स्कधों की अनन्त वर्गणाएँ होती हैं।

अल्प पुद्गलो वाली कुछ ऐसी वर्गणाएँ होती है जिनसे औदारिक शरीर का निर्माण नहीं हो सकता अर्थात् वे औदारिक शरीर के अयोग्य होती है। उनसे आगे की अनन्त वर्गणाएँ औदारिकशरीर के योग्य होती है। इन योग्य वर्गणाओ से आगे की उनसे भी अनन्तगुणी ऐसी वर्गणाएँ है जो (अधिक द्रव्योवाली होने के कारण) औदारिक शरीर के योग्य नहीं होतीं। इस प्रकार औदारिक वर्गणाएँ तीन प्रकार की है अल्प पुद्गलों वाली होने के कारण अयोग्य। उचित परिणाम वाली होने से योग्य और वहुपुद्गलोवाली होने के कारण अयोग्य इसी प्रकार

शरीरयोग्यवर्गणा प्रदर्शनार्थमुपात्तम्। एव तावत् प्रतिविशिष्टपुद्गलद्रव्यनिर्मापितानि औदारिकादीनि शरीराणि अवसेयानि,

तेषु पुनरौदारिकादिषु स्थूलाल्पप्रदेशबहुस्वामित्वात् प्रथमौदारिकस्य ग्रहण कृतम्। तदनन्तरम्—पूर्वस्वामिसाधर्म्याद् वैक्रियग्रहणम्, तदनन्तरम्—लब्धिसामर्थ्याद् आहारकग्रहणम्। तत' सूक्ष्माऽसख्येयस्कन्धकत्वात् तैजसग्रहणम् ततश्च-सर्वकरणाश्रयसूक्ष्मानन्तप्रदेशत्वात् कार्मण-ग्रहणं कृतमित्यवसेयम् ॥२९॥

वैक्रिय, आहारक तैजस, भाषा, आणा पाणु मन और कार्मण मे से प्रत्येक जाति की वर्गणाएँ तीन—तीन प्रकार की कही है—अयोग्य, योग्य और अयोग्य।

तात्पर्य यह है कि औदारिक आदि शरीरो के तथा भाषा आदि के निर्माण के लिए उचित परिमाणवाली वर्गणाएँ ही योग्य होतो है। इन उचित परिमाणवाली वर्गणाओ से कम परिमाणवाली जो वर्गणाएँ है, वे अयोग्य होती है और अधिक परिमाणवाली हो तो भी अयोग्य होती है। कम परिमाणवाली वर्गणाओ में पुद्गलद्रव्यो की कमी होने से उन्हे अयोग्य कहा गया है और अधिक परिमाण वालीं वर्गणाओ में उचित से अधिक पुद्गल होने से अयोग्य कहा गया है। पहले की वर्गणाएँ अल्पद्रव्य वाली होने के कारण अयोग्य है जब कि अन्त की वर्गणाएँ बहुत द्रव्य वाली होने से अयोग्य है। बीच की वर्गणाएँ उचित परिमाणवाली होने से योग्य कही गई है, अर्थात् उन योग्य वर्गणाओ से ही औदारिकशरीर आदि की निष्पत्ति होती है।

यहाँ पर बात ध्यान में रखना चाहिए कि प्रचुरतम द्रव्य वाली औदारिक वर्गणा में, जो औदारिकशरीर के अयोग्य होती है, एक पुद्गल मिला दिया जाय तो वह वैक्रिय शरीर के अयोग्य प्राथमिक वैक्रियवर्गणा के समान हो जाती है। इसी प्रकार आहारक आदि सभी आगे की वर्गणाओ के विषय में समझ लेना चाहिए।

यद्यपि यहाँ भाषावर्गणा आणा पाणु वर्गणा और मनोवर्गणा का उल्लेख करने का कोई प्रकरण नहीं है, तथापि कार्मणशरीर के योग्य वर्गणाओं को दिखलाने के उद्देश्य से उनका भी उल्लेख किया गया है। इस प्रकार ये औदारिक आदि शरीर अलग—अलग औदारिक वर्गणा आदि से बने हुए है।

पाँच शरीरों में औदारिक शरीर का सर्वप्रथम निर्देश किया गया है। इसका कारण यह है कि वह सब से अधिक स्थूल है, अल्पप्रदेशी है और उसके स्वामि सब से अधिक हैं। तत्पश्चात् वैक्रिय शरीर के निर्देश करने का कारण पूर्वस्वामी का साधर्म्य है अर्थात् जिसे पहले औदारिक शरीर प्राप्त हो वही वैक्रिय शरीर को प्राप्त करता है। जैसे वैक्रियशरीर लब्धि से भी होता है, उसी प्रकार आहारक शरीर भी लब्धि से प्राप्त होता है। इस समानता के कारण वैक्रियशरीर के पश्चात् आहारक का ग्रहण किया है। आहारक की अपेक्षा भी अधिक सूक्ष्म होने से उसके बाद तैजस का और तैजस अधिक सूक्ष्म होने के कारण उसके बाद

मूलसूत्रम्- "उत्तरोत्तरं सुहुमं आदिओ चत्तारि भयणिज्जाइं-" ॥३०॥

छाया—उत्तरोत्तरं सूक्ष्मम् आदितश्चत्वारि भाज्यानि-" ॥३०॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे औदारिकादि पञ्च शरीराणां प्ररूपण कृतम् सम्प्रति—तेषामुत्तरोत्तरं सूक्ष्मत्व युगपत् खलु कदाचित्—द्वे, कदाचित् त्रीणि, कदाचित्-चत्वारि वा शरीराणि जीवविशेषस्य भवितुमर्हन्तीति प्रतिपादयितुमाह— **'उत्तरोत्तरं सुहुमं आदिओ चत्तारि भयणिज्जाइं'** इति तेषा खलु पूर्वसूत्रोक्तानामौदारिकादि पञ्चशरीराणां मध्ये पूर्वपूर्वशरीरापेक्षया उत्तरोत्तर-परं पर सूक्ष्मम् सूक्ष्मपरिणामपुद्गलद्रव्यारब्ध बोध्यम्। सूक्ष्मत्वादेव प्रायश वैक्रियादिशरीरचतुष्टयदर्शनं न भवति। अथौदारिकशरीरमुत्कृष्टेन सहस्रयोजनाधिकप्रमाणमेव शास्त्रे प्रतिपादित वर्तते। वैक्रियन्तु—उत्कृष्टेन योजनलक्षप्रमाणमुक्तम्। अत' कथ तावद् औदारिकाद् वैक्रियं सूक्ष्ममुच्यते इतिचेत्—?

सत्यम्। प्रमाणतो यद्यपि—वैक्रियशरीरम् औदारिकापेक्षयाऽतिमहद् भवति। तथापि—अदृश्यत्वात् वैक्रियशरीर सूक्ष्ममेव व्यपदिश्यते, तत् पुनर्वैक्रियं शरीरं कदाचिद् वैक्रियकर्तुरिच्छया दृष्टिगोचरमपि भवतीति तु अन्यदेतत्। तथा च—औदारिकाद् वैक्रिय सूक्ष्मम्। वैकियात्—आहारक सूक्ष्मम्, आहारकात्—तैजस सूक्ष्मम्, तैजसात् शरीरात्—कार्मण शरीर सूक्ष्म भवति।

कार्मणशरीर का ग्रहण किया है। आहारक शरीर की अपेक्षा तैजस में और तैजस की अपेक्षा कार्मणशरीर में अनन्त प्रदेश अधिक होते है ॥२९॥

सूत्र—'उत्तरोत्तरं सुहुमं' इत्यादि ॥३०॥

मूलसूत्रार्थ—पूर्वोक्त शरीर उत्तरोत्तर सूक्ष्म है और एक जीव में एक साथ चार शरीरो की भजना है ॥३०॥

तत्त्वार्थदीपिता—पूर्वसूत्र में औदारिक आदि पांच शरीरो की प्ररूपणा की गई है। वे शरीर उत्तरोत्तर सूक्ष्म है और किसी जीव के दो, किसी के तीन और किसी—किसी के चार तक एक साथ हो सकते है, यह बतलाने के लिए कहते है -

पूर्वोक्त पाँच शरीरो मे से पूर्व शरीर की अपेक्षा आगे—आगे के शरीर सूक्ष्म है अर्थात् सूक्ष्म परिणमन वाले पुद्गलद्रव्यो से बनते है। सूक्ष्म होने के कारण ही वैक्रिय आदि चार शरीर हमें प्राय, दिखाई नहीं देते है।

शंका—शास्त्र में औदारिक शरीर का उत्कृष्ट परिमाण एक हजार योजन से किंचित् अधिक कहा है जब कि वैक्रिय शरीर का उत्कृष्ट परिमाण एक लाख योजन से किंचित् अधिक का कहा गया है। ऐसी स्थिति मे औदारिक की अपेक्षा वैक्रिय शरीर सूक्ष्म कैसे हो सकता है ?

समाधान—सत्य है। परिमाण की अपेक्षा से यद्यपि औदारिक शरीर की अपेक्षा वैक्रिय शरीर बडा होता है, तथापि अदृश्य होने के कारण वह सूक्ष्म ही कहा जाता है। यह बात दूसरी है कि विक्रिया करने वाले की इच्छा से उसका वैक्रिय शरीर दृष्टिगोचर भी हो सकता

औदारिकापेक्षया वैक्रियस्य, वैक्रियापेक्षया–आहारकस्य, आहारकापेक्षया तैजसस्य, तैजसापेक्षया–कार्मणस्य च शरीरस्य बहुतरपुद्गलद्रव्यारब्धत्वेऽपि तेषामुत्तरोत्तरस्या सूक्ष्मपरिणामपरिणतत्वात् सूक्ष्मत्वमवगन्तव्यम् । तस्मात्तेषामापेक्षिकीसूक्ष्मता बोध्या । न तु–सूक्ष्मनामकर्मोदयजनिता सूक्ष्मता तेषां भवति ।

तेषु च पञ्चसु शरीरेषु कस्यचिज्जीवस्य आदितश्चत्वारि शरीराणि युगपद् भजनया-भवन्ति । कदाचित्कस्यचिद् द्वे शरीरे भवतः । कदाचित्कस्यचित्–त्रीणि शरीराणि, कदाचित्कस्यचित् चत्वारि शरीराणि भवन्ति, न तु–कदाचिदपि कस्यचित् पञ्चापि शरीराणि युगपद् भवन्तीति भावः ।

तथा च–एकस्य जीवस्य युगपत् तैजसकार्मणे वा भवतः १। तैजस–कार्मणौ–दारिकाणि वा भवन्ति २। तैजसकार्मणवैक्रियाणि वा भवन्ति ३। तैजस–कार्मणौ–दारिक–वैक्रियाणि वा भवन्ति ४। तैजस–कार्मणौ–दारिका–हारकाणि वा भवन्ति५–नापि वैक्रियाहारके द्वे युगपद् भवतः । एकस्य युगपद् लब्धिद्वयाऽभावात् , कार्मणन्तु—सर्वेषां भवत्येवेति भावः ॥३०॥

है । इस प्रकार औदारिक से वैक्रिय, वैक्रिय से आहारक, आहारक से तैजस और तैजस की अपेक्षा कार्मण शरीर सूक्ष्म है ।

यद्यपि शरीर अनुक्रम से उत्तरोत्तर सूक्ष्म है तथापि पुद्गलप्रदेशो की अपेक्षा औदारिक शरीर से वैक्रिय और वैक्रिय से आहारक शरीर असख्यात गुणा है । आहारक की अपेक्षा तैजस शरीर में अनन्तगुणे अधिक प्रदेश हैं और तैजस की अपेक्षा कार्मण शरीर में अनन्तगुणे प्रदेश हैं । इस प्रकार बहुतर द्रव्यो से उत्पन्न होने पर भी उनका उत्तरोत्तर सूक्ष्म परिणमन है, अतएव वे सूक्ष्म कहे गए है ।

इन पाँच शरीरों में से किसी जीव को एक साथ चार शरीर तक हो सकते है । किसी को दो, किसी को तीन और किसी को चार शरीर तक प्राप्त हो सकते है ।

(१) एक साथ एक जीव को दो शरीर हों तो तैजस और कार्मण होते है । दो शरीर सिर्फ विग्रहगति के समय ही होते है । (२) तीन शरीर एक साथ हो तो तैजस, कार्मण और औदारिक होते हैं । यह तीन शरीर ऋद्धिहीन तिर्यंचो और मनुष्यो में पाये जाते हैं । (३) अथवा तीन शरीर तैजस, कार्मण और वैक्रिय होते है । जो देवगति और नारक गतिके जीवों को प्राप्त होते है । (४) चार हों तो तैजस, कार्मण, औदारिक तथा वैक्रिय हों अथवा (५) तैजस, कार्मण, औदारिक तथा आहारक, हों । यह चार शरीर वैक्रिय लब्धि या आहारक लब्धि वाले जीव को होते है ।

एक जीव में एक साथ पाँचो शरीर नहीं होते और न वैक्रिय और आहारक शरीर एक साथ पाये जा सकते हैं, क्योंकि एक साथ दोनों–वैक्रिय और आहारक लब्धियाँ नहीं हो सकतीं । कार्मण शरीर तो प्रत्येक ससारी जीव को होता ही है ॥३०॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—तेषां च—औदारिकशरीराणामुत्तरोत्तरं सूक्ष्म विज्ञेयम् । तद्यथा—औदारिकाद्—वैक्रियं सूक्ष्मं, वैक्रियादाहारकम् । आहारकात्—तैजसम्, तैजसात्—शरीरात्—कार्मणं सूक्ष्मं भवति । तथा च—औदारिकादीनां शरीराणां पूर्वं पूर्वमपेक्ष्य परं पर सूक्ष्मम्, सूक्ष्म तद् यत्रास्ति, तत्सूक्ष्मम्—अर्शआदित्वादच् ।

एवञ्च उत्तरोत्तरं शरीरं सूक्ष्मपरिणामपुद्गलद्रव्यारब्धं सूक्ष्मत्वादेव च प्रायशो वैक्रियादि-चतुष्टयस्य दर्शन नोपपद्यते । अत्र परिणति विशेषमासाद्य केचन पुद्गला अल्पेऽपि सन्तोऽति स्थूलतया भेण्डकाष्ठादिषु वर्तन्ते, केचन पुनर्निचितपरिणामभाजोऽतिभूयांसोऽपि हस्तिदन्तादिषु सूक्ष्मावस्थामासादयन्ति ।

प्रसिद्धमेतत् । प्रायशस्तुलामारोपिते भेण्डदन्तखण्डे प्रमाणत. सदृशे परिणामागतामति-विप्रकृष्टां धियमातनोति इति, तदेतत्-परिशिथिलां परिणतिमनपेक्ष्य निचिततरां परिणतिं पुद्ग-लानामाधत्ते । अन्यथा—तुल्यप्रमाणत्वे सति लाघव—गौरव वा, प्रतिपत्तुमशक्यम् भवेत् । तस्मात् पूर्वं पूर्वं शरीरमुत्तरोत्तरशरीरापेक्षया परिस्थूलद्रव्यारब्धमतिशिथिलनिचयमदभ्रं च भवति, उत्तरं सूक्ष्मं प्रत्यारब्धमतिघननिचयमणु च भवति । पुद्गलद्रव्यपरिणतेर्विचित्रत्वात् ।

एवञ्चौ—दारिक शरीरमल्पद्रव्य स्थूल शिथिलनिचय भवति, तदपेक्षया—वैक्रियं बहुतरद्रव्यं

तत्त्वार्थनिर्युक्त—औदारिक आदि शरीर उत्तरोत्तर सूक्ष्म है, यथा—औदारिक से वैक्रिय सूक्ष्म है, वैक्रिय से आहारक, आहारक से तैजस और तैजस से कार्मण शरीर सूक्ष्म है । इस प्रकार औदारिक आदि पाँच शरीरो में पूर्व—पूर्व की अपेक्षा उत्तर—उत्तर शरीर सूक्ष्म है ।

इस प्रकार उत्तर—उरत्त शरीर सूक्ष्म द्रव्यो से निर्मित होने के कारण सूक्ष्म है और इसी कारण औदारिक शरीर के अतिरिक्त शेष चार वैक्रिय आदि शरीर प्राय दिखाई नहीं देते है । पुद्गलों का परिणमन विचित्र प्रकार का है । कोई—कोई पुद्गल थोडे होने पर भी पोले—पोले होने से स्थूल दिखाई पडते हैं, जैसे भिंडी या काष्ठ के पुद्गल, कोई इससे विप-रीत अत्यन्त सघन रूप में परिणत होते है । वे बहुत अधिक होने पर भी सूक्ष्म—परिणत होने से अल्प मालूम होते है, जैसे हाथीदांत के पुद्गल ।

यह बात प्रसिद्ध है कि लम्बाई—चौडाई में बराबर भिंडी के और हाथीदांत के खण्ड को यदि तराजू पर तोला जाय तो उनके तोल में बहुत अन्तर होता है । इससे सिद्ध होता है कि कोई पुद्गल सघन एव सूक्ष्म परिणमन वाले और कोई शिथिल परिणमन वाले होते है, अन्यथा जब उनका प्रमाण तुल्य है तो लघुता और गुरुता क्यों होती ? इस कारण पहले—पहले के शरीर उत्तरोत्तर शरीरों की अपेक्षा स्थूल द्रव्यो से बने हुए, और शिथिल परिण-मन वाले होते है और उत्तरोत्तर शरीर सूक्ष्म द्रव्यों से निर्मित, सघन परिणति वाले और सूक्ष्म होते है । यह पुद्गल द्रव्यो के परिणमन की विचित्रता है ।

इस प्रकार औदारिक शरीर अल्पद्रव्य वाला, स्थूल और पोला होता है, उसकी

सूक्ष्मघननिचय चेति । अत सूक्ष्मे व्यपदिश्यते । अथ—औदारिक शरीरमुत्कृष्टतो योजनसहस्राधिकप्रमाणमेव शास्त्रे प्रतिपादितम्, वैक्रियं पुनर्योजनलक्षप्रमाणमुक्तम् अत कथ तत्—सूक्ष्म कथ्यते ? इति चेत्—

अत्रोच्यते प्रमणो यद्यपि—अतिमहद्वैक्रिय भवति। तथापि—अदृश्यत्वात् सूक्ष्ममेव तद व्यपदिश्यते, तत्कर्तुरिच्छया पुनर्दृष्टिगोचर भवतीति न कोऽपि दोष एवम्—वैक्रियादाहारकं सूक्ष्म भवति तस्य बहुतरपुद्गलद्रव्यारब्धत्वेऽपि सूक्ष्मतरपरिणतत्वात्—आहारकात् तैजसमतिसूक्ष्मपरिणामपरिणत बहुतरपुद्गलद्रव्यारब्धं च भवति । तैजसात्—कार्मणमतिसूक्ष्ममतिबहुकद्रव्यप्रचित च भवति तस्मात् आपेक्षिकीसूक्ष्मता तेषामवगन्तव्या, न तु—सूक्ष्मनामकर्मोदयजनिता सूक्ष्मता भवति इति भाव ।

अथैवं तावत् कारणानां सूक्ष्मत्वात् अतिबहुपुद्गलद्रव्यारब्धमपि प्रचयविशेषात् परं परं शरीरं सूक्ष्मं भवतु—३ किन्तु—उत्तरोत्तरेषु बहुतरद्रव्यारब्धत्वे किं प्रमाणमितिचेत्—?

उच्यते तेषामौदारिकशरीराणा पर परमेव प्रदेशतोऽसख्येयगुण भवति तैजस—कार्मण च विहाय । तथाचौदारिकशरीरप्रदेशेभ्यो वैक्रियशरीरप्रदेशा असख्येयगुणा भवन्ति वैक्रियशरीर-

---

अपेक्षा वैक्रिय शरीर बहुतर द्रव्यो वाला, सूक्ष्म और सघन परिणमन वाला होता है । इसी कारण वह औदारिक की अपेक्षा सूक्ष्म कहा जाता है ।

प्रश्न—औदारिक शरीर शास्त्र मे अधिक से अधिक एक हजार योजन से कुछ अधिक परिमाण वाला कहा गया है किन्तु वैक्रिय शरीर कुछ अधिक एक लाख योजन परिणाम वाला होता है, फिर भी उसे सूक्ष्म कैसे कहा ?

उत्तर—यद्यपि प्रमाण की अपेक्षा वैक्रिय शरीर बहुत बडा होता है तथापि अदृश्य होने के कारण वह सूक्ष्म ही कहलाता है । हाँ, वैक्रिय शरीर बनाने वाले की इच्छा हो तो वह दृष्टिगोचर भी हो जाता है, अतएव उसे सूक्ष्म कहने में कोई दोष नहीं है ।

इसी प्रकार वैक्रिय की अपेक्षा आहारक शरीर सूक्ष्म होता है । वह बहुसख्यक द्रव्यो से उत्पन्न होने पर भी सूक्ष्मतर परिणाम वाला होने से सूक्ष्म है । आहारक की अपेक्षा तैजस शरीर बहुत सूक्ष्म और बहुत द्रव्यो से बना होता है । तैजस शरीर की अपेक्षा कार्मण शरीर बहुत अधिक द्रव्यों से बना हुआ होने पर भी अत्यन्त सूक्ष्म होता है । यहाँ उत्तरोत्तर शरीरों में जो सूक्ष्मता का विधान किया गया है, वह आपेक्षिक है, सूक्ष्मनाम कर्म के उदय से उत्पन्न सूक्ष्मता नहीं ।

प्रश्न—कारणों की सूक्ष्मता होने से बहुसख्यक पुद्गलो द्वारा रचित होने पर भी प्रचय की विशेषता के कारण आगे—आगे के शरीर भले सूक्ष्म हों किन्तु आगे—आगे के शरीर बहुसख्यक पुद्गलो से बने है, इसमें प्रमाण क्या है ?

उत्तर—औदारिक आदि शरीरों का निर्माण क्रमश असख्यात गुणे अधिक प्रदेशो से होता है । अर्थात् औदारिक शरीर की अपेक्षा वैक्रिय शरीर के प्रदेश असख्यातगुणे

प्रदेशेभ्यश्चाहारकशरीरप्रदेशा असख्येयगुणा भवन्ति । प्रवृद्धो देश. प्रदेश इति व्युत्पत्त्याऽनन्तगुण-स्कन्धो यदाऽन्यैरनन्ताणुकै' स्कन्धैरसख्यातैर्गुणितो भवति तदा—वैक्रियशरीरग्रहणयोग्यो भवति।

एवं वैक्रियशरीरग्रहणयोग्यएकोऽनन्तप्रदेशस्कन्धे यदाऽन्यैरनन्ताणुकस्कन्धैरसख्यातैर्गुणितो भवति तदाहारकशरीरग्रहणयोग्यतामासादयति किन्तु—तैजस—कार्मणशरीरयोर्नाय नियमो वर्तते, तयोर्नियमान्तर मधुनैवाग्रेऽभिधास्यते । एवञ्च-औदारिकशरीरयोग्यस्कन्धोऽनन्ताणुकोऽपि सर्व-स्तोको भवति, उत्तरस्कन्धापेक्षया ऽनन्तसख्यायाश्चाऽनन्तभेदत्वात् ।

तस्मात्—औदारिकशरीरयोग्यएक' स्कन्धो यदाऽन्यैरनन्तप्रदेशस्कन्धैरसख्यातैर्गुणितो भवति, तदा—वैक्रियशरीरयोग्य सम्पद्यते इति भाव । एव वैक्रियशरीरयोग्यस्कन्धेभ्य आहारकशरीरयोग्या स्कन्धा असंख्येयगुणा भवन्ति एतावता—वैक्रिययोग्य' स्कन्धो यदाऽन्यैरनन्तप्रदेशस्कन्धैरसंख्यातै-र्गुणितो भवति। तदा—ऽऽहारकयोग्यो जायते इति फलितम् ।

तैजस—कार्मणशरीर पुन पूर्वपूर्वापेक्षया—प्रदेशार्थत्वेनाऽनन्तगुणे भवत' । तथाच—आहारकात् तैजसं प्रदेशतोऽनन्तगुणम्, तैजसात्कार्मण प्रदेशतोऽनन्तगुणम्, भवति । एवञ्च—ऽऽहारकशरीर-

---

अधिक है, और वैक्रिय शरीर के प्रदेशो से आहारक शरीर के प्रदेश असख्यातगुणे अधिक होते है । आहारक की अपेक्षा तैजस के और तैजस की अपेक्षा कार्मणशरीर के प्रदेश अनन्तगुणे अधिक होते है । प्रवृद्ध देश प्रदेश कहलाता है, इस व्युत्पत्ति के अनुसार जब अनन्तगुण स्कन्ध अन्य अनन्ताणुक स्कधो से असख्यात बार गुणित किया जाय तब वह वैक्रिय शरीर के लिए ग्रहण करने योग्य होता है ।

इसी प्रकार वैक्रिय शरीर के लिए ग्रहण करने योग्य एक अनन्त प्रदेशी स्कन्ध जब अन्य अनन्ताणुक स्कधो से असख्यात वार गुणित किया जाता है, तब वह आहारकशरीर के लिए ग्रहण करने योग्य होता है । मगर तैजस और कार्मण शरीर के विषय में यह नियम लागू नहीं होता । उनके लिए दूसरा नियम है जो अभी आगे कहा जाएगा । इस प्रकार औदारिक शरीर के योग्य स्कध अनन्ताणुक होने पर भी उत्तर स्कंधो की अपेक्षा सब से छोटा होता है । क्योंकि अनन्त सख्या के अनन्त भेद है ।

इसका भावार्थ यह है कि औदारिक शरीर के योग्य एक स्कध जब अन्य अनन्त-प्रदेशी स्कधो के साथ असख्यात बार गुणित किया जाता है तब वह वैक्रिय शरीर के योग्य बनता है । इसी प्रकार वैक्रिय शरीर के योग्य स्कधो से आहारकशरीर के योग्य स्कध असख्यातगुणा होता है । इसका फलितार्थ यह है कि वैक्रिय शरीर के योग्य स्कध जव अन्य अनन्तप्रदेशी असख्यात स्कधो से गुणित होता है तव वह आहारक शरीर के योग्य होता है ।

तैजस और कार्मण शरीर पूर्व—पूर्व के शरीर की अपेक्षा प्रदेशो से अनन्त गुणित होते है । इस प्रकार आहारकशरीर से तैजस मे अनन्तगुणा प्रदेश है और तैजस की अपेक्षा कार्मण शरीर अनन्तगुणित प्रदेशो वाला है । अभिप्राय यह हुआ कि आहारक शरीर के योग्य अन

योग्योऽनन्ताणुकस्कन्धोऽन्यैरनन्तपरमाणुप्रचितस्कन्धैरनन्तैर्यदा गुणितो भवति. तदा—तैजसशरीर-ग्रहणयोग्यो भवति । एवम्—तैजसशरीरयोग्योऽनन्ताणुकस्कन्धोऽन्यैरनन्ताणुकैः स्कन्धैर्यदा गुणितो भवति, तदा—कार्मणशरीरग्रहणयोग्य सम्पद्यते तथाचोक्तम्प्रज्ञापनाया २१ एकविंशतितमे शरीरपदे—

"सव्वत्थोवा आहारगसरीरा दव्वट्टयाए वेउव्वियसरीरा दव्वट्टयाए असंखेज्जगुणा, ओरालियसरीरा दव्वट्टयाए असंखेज्जगुणा तेयाकम्मगसरीरा दो वि तुल्ला दव्वट्टयाए, अणंतगुणा पदेसट्टयाए सव्वत्थोवा आहारगसरीरा पदेसट्टयाए, वेउव्वियसरीरा पदेसट्ट-याए असंखेज्जगुणा, ओरालियसरीरा पदेसट्टयाए असंखेज्जगुणा, तेयगसरीरा पदेस-ट्टयाए अणंतगुणा, कम्मगसरीरा पदेसट्टयाए अणंतगुणा" इत्यादि ।

छाया—सर्वस्तोकानि आहारकशरीराणि द्रव्यार्थतया, वैक्रियशरीराणि द्रव्यार्थतया असख्येय-गुणानि, औदारिकशरीराणि द्रव्यार्थतया—असख्येयगुणानि, तैजसकार्मणशरीरे द्वे अपि तुल्ये द्रव्यार्थतया—अनन्तगुणे प्रदेशार्थतया, सर्वस्तोकानि आहारकशरीराणि प्रदेशार्थतया, वैक्रिय-शरीराणि प्रदेशार्थतया असख्येयगुणानि, औदारिकशरीराणि प्रदेशार्थतया असख्येयगुणानि, तैजसशरीराणि प्रदेशार्थतया अनन्तगुणानि, कार्मणशरीराणि प्रदेशार्थतया अनन्तगुणानि इति ।

किञ्च—अन्यशरीरेभ्य स्तैजसकार्मणशरीरयो' अपरोऽय विशेष यत—तैजसकार्मणशरीर लोकान्त विहाय सर्वत्राऽप्रतिहते भवत. । लोकान्ते तु—ते अपि प्रतिहते भवत. ।

अयमाशयो जीवाजीवाधारक्षेत्र तावद् लोकपदेन व्यपदिश्यते, तस्य लोकस्याऽन्तोऽवसानं लोकान्त उच्यते, तस्मिन्—लोकान्ते हि—तैजस—कार्मणशरीरे प्रतिहन्येते, तत्र—गतिस्थितिहेतुधर्मा-धर्मद्रव्याभावात्, तदुपग्रहाद्धि जीवानां पुद्गलाना च गति. सञ्जायते ।

न्ताणुक स्कंध जब अन्य अनन्त अनन्त प्रदेशो वाले स्कधो से गुणित किया जाय, तब वह तैजस शरीर के लिए ग्रहण करने योग्य होता है । इसी प्रकार तैजस शरीर के योग्य अनन्ता-णुक स्कध अन्य अनन्ताणुक स्कंधों से गुणित किया जाय तब कार्मणशरीर के लिए ग्रहण करने योग्य होता है । प्रज्ञापनासूत्र के शरीर पद के इक्कीसवे २१ पद मे कहा है—

द्रव्य की अपेक्षा आहारक शरीर सब से थोडे है, द्रव्य की अपेक्षा वैक्रिय शरीर उनसे असख्यात गुणा अधिक है, द्रव्य की अपेक्षा औदारिकशरीर उनसे भी असख्यात गुणा हैं, तैजस और कार्मणशरीर दोनो द्रव्य की अपेक्षा तुल्य है किन्तु अनन्तगुणा है, प्रदेशों की अपेक्षा सबसे कम आहारक शरीर हैं, वैक्रिय शरीर प्रदेशो की अपेक्षा उनसे असख्यातगुणा है, औदारिक-शरीर प्रदेशो की अपेक्षा असख्यातगुणा है तैजसशरीर प्रदेशो की अपेक्षा अनन्तगुणा है और कार्मणशरीर प्रदेशो की अपेक्षा अनन्त गुणा है, इत्यादि ।

अन्य शरीरो से तैजस और कार्मण शरीर की एक विशेषता यह भी है कि ये दोनो लोकान्त के सिवाय सर्वत्र अप्रतिहत होते है । हाँ, लोक के अन्त में ये भी प्रतिहत हो जाते है । आशय यह है कि जीवो और अजीवों का आधारभूत क्षेत्र लोक कहलाता है । लोक के अन्त

यथा—जलचराणां मत्स्यादीनां जलद्रव्यापेक्षा गति रुपजायते, लोकान्तादन्यत्र तु—सर्वस्मिन् लोके न तयोः प्रतिघात क्वापि सम्भवति, तयोर्मूर्तत्वेऽपि—अतिसूक्ष्मत्वात् सर्ववर्त्मसु गतेः प्रतिघात' सदाचारमुनेरिव सम्भवति, ते द्वेअपि तैजसकार्मणशरीरे न किञ्चित् प्रतिहतस्नेहपर्वतजलधिवलयद्वीपपातालनरकविमानप्रस्तराणामपि भेदने विदधति वज्रवदक्षतस्वरूपे सति न कदाचिदपि कुण्ठतामासादयत' । यथाहि —परिस्फुरन्मूर्त्तयोऽपि तेजोऽवयवा' लोहपिण्डान्त' प्रविशन्त' कयापि युक्त्या निवारयितुं न पार्यन्ते, तन्निवारणाय च जलकणा' समाहृता भवन्ति ।

सूक्ष्मत्वात् एवमेव— तैजस—कार्मणशरीरे राजवल्लभपुरुषविशेषवत सर्वत्राप्रतिहतप्रवेशनिर्गमे अवगन्तव्ये । उक्तञ्च राजप्रश्नीयसूत्रे—६६—सूत्रे "**अप्पडिहयगई**" अप्रतिहतगति' । किञ्च—तैजसकार्मणशरीराभ्या न जातुचित् ससारीजीवो विरहितो भवति ससारिभि' सह तयोरनादिसम्बन्धात् ।

को लोकान्त में तैजस और कार्मण शरीर प्रतिहत हो जाते है, अर्थात् जहाँ लोक का अन्त होता है वहाँ तैजस—कार्मण शरीर की गति का भी अन्त हो जाता । लोक के बाहर गति का कारण धर्मद्रव्य और स्थिति का कारण अधर्मद्रव्य नहीं होता । धर्मद्रव्य के निमित्त से ही जीवो और पुद्गलों की गति होती है । अतएव जहाँ धर्मद्रव्य का अभाव है वहाँ गति का भी अभाव होता है ।

जैसे मत्स्य आदि जलचरों की गति जल की सहायता से होती है, उसी प्रकार समस्त जीवो और पुद्गलो की गति धर्मद्रव्य की सहायता से ही होती है ।

लोकान्त को छोड कर सम्पूर्ण लोक मे कहीं भी उनका प्रतिघात नहीं होता अर्थात् उनकी गति मे रुकावट नहीं आती । यद्यपि ये दोनों शरीर भी मूर्त्त है, फिर भी अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण अप्रतिहत है । चाहे पर्वत हो या समुद्र, वलय, द्वीप, पाताल, नरक अथवा विमान का पाथड़ा हो, उसे भेद कर वे सर्वत्र अप्रतिहत गति होते है । उनका स्वरूप वज्र के समान अक्षत है । जैसे चम चमाते हुए तेज के अवयव लोहे के पिण्ड के भीतर प्रवेश कर जाते हैं और किसी भी युक्ति से रोके नहीं जा सकते, क्योकि वे सूक्ष्म होते है, उसी प्रकार तैजस और कार्मण शरीर भी राजा के प्रिय पुरुष के समान सर्वत्र प्रवेश करते और निकलते हैं । राजप्रश्नीय सूत्र के, ६६ वे सूत्र में उन्हे 'अप्पडिहयगई' अर्थात् बिना किसी रुकावट के गति करने वाले कहा है ।

तैजस और कार्मण शरीर से ससारी जीव कदापि रहित नहीं होता । समस्त ससारी जीवों के साथ उनका सवन्ध अनादि काल से है । जैसे सुवर्ण और पाषाण का सयोग अनादि है तथा आकाश और पृथ्वी आदि का सयोग अनादिकालीन है, उसी प्रकार जीव के साथ

एवञ्च - सुवर्णधातुपाषाणसंयोगवत् गगनपृथिव्यादिसयोगवद् वा तयोर्जीवेन सह सम्बन्ध नैकान्तत एवाऽनादिः सम्बन्ध अपि तु—द्रव्यास्तिकनयाऽवष्टम्भेन तयोरतिदीर्घकालप्रवाहादविच्छेद-वर्त्ती निखिलभविष्यदवस्थान्तरबीजभूतो विचित्रपरिणामशक्तिप्रचितपुद्गलद्रव्यै.—रारीयमानप्रचयाऽपच-योऽनादिपुरुषप्रयत्ननिष्पाद्य विविधरूपकर्मविकाराविच्छेद सन्तानविशेषस्तदभ्युपगमेनाऽयमनादि-सम्बन्धो व्यवह्रियते। आदिमांश्च पर्यायवक्तव्यताभ्यन्तरितत्वात्।

अथा—ऽनादिसम्बन्धे सत्यपि एते तावत् तैजसकार्मणशरीरे किम् अशेषसंसारिण एव भवत'—? आहोस्वित्—कस्यचिदेव ससारिणो भवत इति चेत्— उच्यते सर्वस्यैव ससारिणो जीवस्य तैजसकार्मणशरीरे भवत न तु—कस्यचिदेव जीवस्येति भाव।

अथ—यथा तैजसकार्मणशरीरेऽनादिसम्बन्धात् सर्वस्य संसारिजीवस्य युगपद्भवत' तथा—किमन्यपि शरीराणि युगपदेकस्य भवन्ति? उताहो न, इत्याशङ्कायामुच्यते। आदितश्चत्वारि भाज्यानि एकस्य जीवस्य युगपत् तैजसकार्मणे वा भवत? तैजसकार्मणौदारिकाणि वा भवन्ति—२ तैजसकार्मणवैक्रियाणि वा भवन्ति ३ तैजसकार्मणौदारिकवैक्रियाणि वा भवन्ति—४ तैजसकार्मणौ-दारिकाहारकाणि वा भवन्ति—५ कार्मणमेव वा भवति—६ कार्मणौदारिके वा भवत—७कार्मण-वैक्रिये वा भवत—८ कार्मणौदारिकवैक्रियाणि वा भवन्ति—९ कार्मणौदारिकाहारकाणि वा भवन्ति—१०कार्मणतैजसौदारिकवैक्रियाणि वा भवन्ति—११कार्मणतैजसौदारिकाणि वा भवन्ति—१२ न तु कदाचित्-युगपत् पञ्चशरीराणि भवन्ति एकस्य जीवस्य, नापि—वैक्रियाहारके कस्यचिद् युगपद भवत, स्वामिविशेषात्——लब्धिद्वयाभावात्'

इन दोनो शरीरो का सम्बन्ध अनादिकालीन है। किन्तु यह अनादि सम्बन्ध एकान्त रूप से नहीं समझना चाहिए। किन्तु द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से ही समझना चाहिए। दोनो शरीर प्रवाह रूप में अनादि कालिन है। तात्पर्य यह है कि इन दोनो शरीरो की परम्परा अनादि-काल से अविच्छिन्न रूप मे चली आ रही है और जब तक जीव को मुक्ति प्राप्त नहीं होती तब तक चलती रहती है। परन्तु पर्याय की अपेक्षा से उनका सम्बन्ध आदिमान भी है।

द्रव्य से अनादि सम्बन्ध होने पर भी ये तैजस और कार्मण शरीर क्या सभी ससारी जीवों के होते हैं अथवा किसी—किसी के ही होते है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि सभी ससारी जीवों के तैजस—कार्मण शरीर होते है, ऐसा नहीं कि किसी के हों और किसी के न हो।

प्रश्न— जैसे तैजस और कार्मण शरीर अनादि कालीन सम्बन्ध होने से सभी ससारी जीवो के साथ—साथ होते हैं, उसी प्रकार क्या अन्य शरीर भी एक साथ एक जीव को होते हैं, अथवा नहीं?

उत्तर भजना से एक जीव के एक साथ चार शरीर तक हो सकते है—(१) एक जीव के एक साथ तैजस और कर्मण—दो शरीर होते है (२) किसी के तैजस, कार्मण और औदारिक होते हैं (३) किसी के तैजस, कार्मण और वैक्रिया होते है (४) किसी के तैजस, कार्मण, औदा-रिक और वैक्रिय होते है (५) किसी को तैजस, कामण, औदारिक और आहारक होते है। (६) किसीको कार्मण ही होता है (७) किसीको कार्मण और औदारिक होते है (८) किसीको कार्मण और वैक्रिय होते है (९) किसीको कार्मण औदारिक और वैक्रिय होते है (१०) किसीको कार्मण

इमे उभे लब्धी युगपदेकत्र न सम्भवतो व्यक्तिरूपेण, यस्मिन्—काले वैक्रियम्—तस्मिन्नेव काले नाहारकं सम्भवति. । पर्यायेण पुन' सम्भवत', वैक्रियं कृत्वा—उपरततद् व्यापार' आहारक करोत्येव । तदभावाच्च नैककाले पञ्चशरीराणि सम्भवन्ति—एकस्य जीवस्येति भाव' ।

उक्तञ्च प्रज्ञापनायां एकविंशतितम २१ शरीरपदे—"**जस्स णं भंते—! ओरालियसरीरं—० । गोयमा ? जस्स ओरालियसरीरं तस्स वेउव्वियसरीरं सिय अत्थि-सिय नत्थि, जस्स वेउव्वियसरीरं तस्स ओरालियसरीरं सिय अत्थि-सिय णत्थि । जस्स णं भंते ! ओरालियसरीरं तस्स आहारगसरीरं जस्स आहारगसरीरं तस्स ओरालियसरीरं— गोयमा ! जस्स ओरालियसरीरं तस्स आहारगसरीरं सिय अत्थि सिय णत्थि, जस्स आहारगसरीरं तस्स ओरालियसरीरं णियमा अत्थि । जस्स णं भंते ! ओरालियसरीरं तस्स तेयगसरीरं, जस्स तेयगसरीरं तस्स ओरालियसरीरं ! गोयमा ! जस्स ओरालियसरीरं तस्स तेयगसरीरं णियमा अत्थि, जस्स पुण तेयगसरीरं तस्स ओरालियसरीरं सिय अत्थि सिय णत्थि, एवं कम्मगसरीरेवि,**

जस्स णं भंते ! वेउव्वियसरीरं तस्स आहारगसरीरं, जस्स आहारगसरीरं तस्स वेउव्वियरीरं ! गोयमा ! जस्स वेउव्विसरीरं तस्स आहारगसरीरं णत्थि, जस्स पुण आहारगसरीरं तस्स वेउव्वियसरीरं णत्थि, तेया कम्माइं जहा ओरालिएणं समं तहेव, आहारगसरीरेण वि समं तेयाकम्माइं तहेव उच्चारियव्वाइं, जस्स णं भंते—! तेयगसरीर तस्स कम्मगसरीरं जस्स कम्मगसरीरं तस्स तेयगसरीरं ? गोयमा ! जस्स तेयगसरीरं तस्स कम्मगसरीरं णियमा अत्थि, जस्स वि कम्मगसरीरं तस्स वि तेयगसरीरं णियमाअत्थि" इति

छाया—यस्य खलु भदन्त—? औदारिकशरीरम्० गौतम ! यस्य—औदारिकशरीरम्—तस्य वैक्रियशरीरं स्यादस्ति स्यान्नास्ति । यस्य वैक्रियशरीरं तस्य—औदारिकशरीरं स्यादस्ति स्यान्नास्ति,

---

औदारिक और आहारक होते है (११) किसीको कार्मण, तैजस औदारिक और वैक्रिय होते है (१२) किसीको कार्मण, तैजस और औदारिक होते है।

एक जीवको पाच शरीर कभी नहीं हो सकते, क्योंकि आहारक और वैक्रिय शरीर साथ साथ नहीं होते, दोनो लब्धियां एकजीवको एक साथ नहीं होती।

ये दोनो लब्धियाँ एक साथ एक जीव में व्यक्त रूप में नहीं हो सकती जिस काल मे वैक्रिय लब्धि का प्रयोग किया जाता है, उस समय आहारक लब्धि का प्रयोग नहीं होता। हाँ आगे—पीछे प्रयोग किया जा सकता है, पहले वैक्रिय शरीर करके उसके व्यापार से निवृत्त हो जाय तो बाद में आहारकशरीर बना सकता है। ऐसी स्थिति मे एक जीव के एक साथ पाँच शरीर नहीं हो सकते। प्रज्ञापना के २१ वें पद में कहा है —

प्रश्न——भगवन् ! जिस जीव को औदारिक शरीर है उसको वैक्रिय शरीर और जिसको वैक्रिय शरीर होता है उसको औदारिक शरीर होता है या नहीं ?

उत्तर—गौतम ! जिसको औदारिकशरीर है उसको वैक्रिया शरीर कदाचित् होता है, कदाचित् नहीं होता। जिसके वैक्रिय है उसके औदारिक शरीर कदाचित् होता है, कदाचित् नहीं होना।

यस्य खलु भदन्त ! औदारिकशरीर तस्य आहारकशरीरम्, यस्य आहारकशरीरं तस्य–औदारिकशरीरम्। गौतम ! यस्य औदारिकशरीरं तस्य–आहारकशरीर स्यादस्ति स्याद नास्ति,

यस्य आहारकशरीरं तस्य–औदारिकशरीर नियमादस्ति यस्य खलु भदन्त ! औदारिकशरीरम्, तस्य तैजसशरीरम्, यस्य तैजसशरीरं तस्य–औदारिकशरीरम्। गौतम ! यस्यौदारिकशरीरं तस्य तैजसशरीरं नियमादस्ति, यस्य पुनस्तैजसशरीर तस्य औदारिकशरीरं स्यादस्ति स्यान्नास्ति। एवं कार्मणशरीरेऽपि

यस्य खलु भदन्त–! वैक्रियशरीर तस्य-आहारकशरीरम् यस्य–आहारकशरीरं तस्य वैक्रियशरीरम्। गौतमा–! यस्य वैक्रियशरीरं तस्याऽऽहारकशरीर नास्ति। यस्य पुनराहारकशरीरं तस्य वैक्रियशरीर नास्ति तैजसकार्मणे यथा–औदारिकेण समम् तथैव आहारकशरीरेऽपि सम तैजसकार्मणे तथैव—उच्चारयितव्ये। यस्य खलु भदन्त ! तैजसशरीर तस्य कार्मणशरीरम् यस्य कार्मणशरीरं तस्य तैजसशरीरम्।

प्रश्न—भगवन् ! जिसको औदारिक शरीर है उसको आहारकशरीर और जिसको आहाकशरीर है उसको औदारिकशरीर होता है ?

उत्तम—गौतम ! जिसको औदारिकशरीर हो उसको आहारक शरीर कदाचित होता है, कदाचित् नहीं, जिसको आहारक शरीर है उसको औदारिक शरीर नियम से होता है।

प्रश्न—भगवन् ! जिसको औदारिक शरीर होता है उसके तैजस और जिसको तैजस शरीर होता है उसके औदादिक होता है कि नहीं ?

उत्तर—गौतम ! जिसको औदारिक शरीर है उसको तैजस शरीर नियम से होता है, किन्तु जिसक तैजस शरीर हो उसको औदारिक शरीर होता भी है अथव नहीं भी होता। ऐसा ही कार्मण शरीर के लिए भी कहना चाहिए।

प्रश्न—भगवन् ! जिसको वैक्रिय शरीर है उसको आहारक शरीर और जिसको आहारक शरीर है उसको वैक्रिय शरीर होता है ?

उत्तर—गौतम ! जिसको वैक्रिय शरीर होता है, उसको आहारक शरीर नहीं होता, जिसको आहारक शरीर होता है उसको वैक्रिय शरीर नहीं होता। तैजस और कार्मण शरीर के विषय में औदारिक के सबन्ध मे जैसा कहा है, वैसा ही यहाँ समझना चाहिए और आहारक शरीर के विषय में भी उसी प्रकार कहना चाहिए, अर्थात् जिसक वैक्रिय अथवा आहारक शरीर होता है, उसके तैजस और कार्मण शरीर नियम से होते है।

प्रश्न—भगवन् ! जिसके तैजस शरीर होता है उसके कार्मण और जिसके कार्मण होता है उसके तैजस होता है ?

गौतम—! यस्य तैजसशरीरं तस्य कार्मणशरीरं नियमादस्ति यस्यापि कार्मणशरीरम् तस्यापि तैजसशरीरं नियमादस्ति इति ॥३०॥

मूलसूत्रम्—"कम्मगं उवभोगवज्जिए" ॥३१॥

छाया—कार्मणमुपभोगवर्जितम्—" ॥३१॥

तत्त्वार्थदीपिका— पूर्वसूत्रे—औदारिकवैक्रियतैजसकार्मणभेदेन पञ्चविधं शरीर प्ररूपितम् सम्प्रति—कार्मणप्रस्तावात् तद् विषय किञ्चिद् वैशिष्ट्य प्रतिपादयितुमाह् **"कम्मगं उवभोग—वज्जिए—"** इति । कार्मणम्—कर्मणा निर्वृत्तं निष्पन्न पूर्वोक्तस्वरूप कार्मणशरीरम् उपभोगवर्जितम् इन्द्रियप्रणालिकया शब्द—वर्ण—गन्धरस—स्पर्शादीनामुपलब्धिरूपयोग, तदवर्जितम् तद्रहित वर्तते विग्रहगतौ कार्मणशरीरसत्वे भावेन्द्रियनिवृत्तिक्षयोपशमलब्धौ सत्यामपि द्रव्येन्द्रियनिर्वृत्यभावात् शब्दाद्युपभोगाभावो भवति ।

तथाच—औदारिकादिशरीरसद्भावे सुखदु'खरूपविषयभोग' प्रत्यक्षसिद्धो वर्तते किन्तु—यदा-विग्रहगतौ कार्मणशरीर भवति तदा नाऽनेन शरीरेण शब्दादिविषयोपभोग' सम्भवति । तस्मात्—कार्मणशरीर निरूपभोग भवति ॥३१॥

मूलसूत्रम्—ओरालिए दुविहे संमुच्छिमे—गब्भवक्कंतिए य ॥३२॥

छाया—"औदारिकं द्विविधम्, सम्मूर्च्छिमं—गर्भव्युत्क्रान्तिकं च—" ॥३२॥

उत्तर—गौतम ! जिसको तैजस शरीर होता है उसको कार्मण शरीर नियम से होता है और जिसको कार्मण शरीर होता है उसको तैजस शरीर नियम से होता है ॥३०॥

सूत्र—'कम्मगं उवभोग वज्जिए' ॥३१॥

मूलसूत्रार्थ—कार्मण शरीर उपभोग से रहित है ॥३१॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्व सूत्र मे औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण के भेद से पाँच प्रकार के शरीरों का निरूपण किया गया। अब कार्मण का प्रकरण होने से उसके विषय में कुछ विशिष्टता का प्रतिपादन करते है—

कर्म से उत्पन्न होने वाला, पूर्वोक्त स्वरूप वाला कार्मण शरीर उपभोग से रहित है । इन्द्रियो के द्वारा शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श आदि की उपलब्धि होता उपभोग कहलाता है । कार्मण शरीर इस उपभोग से रहित है । विग्रहगति मे कार्मण शरीर के विद्यमान रहने पर भी और लब्धि रूप भावेन्द्रिय के होने पर भी द्रव्येन्द्रियों का अभाव होने से शब्द आदि भोगा उपभोग नहीं होता है ।

औदारिक आदि शरीरो के सद्भाव में सुख—दु ख रूप विषयों का उपभोग तो प्रत्यक्ष से सिद्ध है, किन्तु जब विग्रह गति मे कार्मण शरीर होता है तब इस शरीर से शब्द आदि विषयों का उपभोग नहीं हो सकता । इस कारण कार्मण शरीर को उपभोग से रहित कहा गया है ॥३१॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वोक्तेषु गर्भव्युत्क्रान्तिक-सम्मूर्च्छनो-पपातेति त्रिषु जन्मसु कस्मिन् जन्मनि-औदारिकादिपञ्चशरीराणां मध्ये कतमत्-शरीर भवतीति जिज्ञासायामाह —ओरालिए दुविहे संमुच्छिमे गब्भवक्कंतिए य—" इति। औदारिकम् उदारेण स्थूलेन पुद्गलेन निर्वृत्त शरीरम् औदारिकमुच्यते तच्च-द्विविधम् सम्मूर्च्छिमम्—गर्भव्युत्क्रान्तिक च तथाच—सम्मूर्च्छनजन्मना गर्भव्युत्क्रान्तिकानां जीवानाम् औदारिकं शरीर भवति, न तु—तेषमौदारिकमेवेत्यवधारणम्। तैजस कार्मणशरीरद्वयमपि तेषां सम्भवति। लब्धिप्रत्ययवैक्रिया—ऽऽहारकयोर्वा गर्भव्युत्क्रान्तिकाना जीवा-नामुत्तरकालभावित्वात्। औदारिकशरीरं खलु जघन्येनाऽङ्गुलासख्येयभागप्रमाणम् उत्कृष्टेन—सहस्रयोजनप्रमाण चेति।

तत्रोदार तावत्—वय. परिणामेनोपचीयमानतया वर्धनम्, वयो हनिप्राप्त्या च जीर्णता भवति औदारिकशरीरस्य, शिथिलसन्धिवन्धनेन—लम्वमानचर्ममण्डलेन च शीर्णता तस्य भवतीति भावः॥३२॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वोक्तानामौदारिकादिपञ्चाना शरीराणां कतमत् शरीरं सम्मूर्च्छना-दिषु त्रिषु जन्मसु क्व जायते इत्याशङ्कायामाह—औदारिकं शरीर तावद् द्विविधं प्रज्ञप्तम्, सम्मू-र्च्छिमं—गर्भव्युत्क्रान्तिकञ्चेति तथाच—सम्मूर्च्छनजन्मना—गर्भजन्मनां च प्राणिनामौदारिक शरीर

मूलसूत्रार्थ—"ओरालिए दुविहे" इत्यादि ॥३२॥

तत्त्वार्थदीपिका—पहले तीन प्रकार के जन्म कहे गए है। उनमें से किस जन्म में औदारिक आदि पाँच शरीरो में से कौन सा शरीर होता है? ऐसी जिज्ञासा होने पर कहते है

औदारिक शरीर दो प्रकार का है—समूर्च्छिम और गर्भव्युत्क्रान्तिक।

उदार अर्थात् स्थूल पुद्गलों से वनने वाला शरीर औदारिक कहलाता है। उसके दो भेद है—सम्मूर्च्छिम और गर्भव्युत्क्रान्तिक। इस प्रकार सम्मूर्छन जन्म और गर्भजन्म से उत्पन्न होने वाले जीवों को औदारिक शरीर होता है। यहाँ ऐसा अवधारण नहीं करना चाहिए कि उनको औदा-रिक ही होता है। क्योंकि उनके तैजस और कार्मण शरीर भी होते है, लब्धिनिमित्तक वैक्रिय और आहारक शरीर भी गर्भज जीवों के आगे चल कर हो सकते हैं। औदारिक शरीर जघन्य से अंगुल के असख्यात भाग प्रमाण और उत्कृष्ट से हजार योजन प्रमाण से कुछ अधिक होता है।

औदारिक शरीर, जैसे-जैसे उम्र बढती जाती है, वैसे-वैसे वृद्धि को प्राप्त होता रहता है और जब उम्र की हानि होने लगती है तो जीर्ण होने लगता है, फिर जब सन्धिवन्धन ढीले पड जाते है और चमडी लटकने लगती है तो शीर्ण होता है॥३२॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पूर्वोक्त औदारिक आदि पाँच शरीरों मे से कौनसा शरीर सम्मू-र्च्छन आदि तीन जन्मो में से कहाँ होता है? इस प्रकार की आशका होने पर कहते है—

औदारिक शरीर दो प्रकार का है—सम्मूर्छिम और गर्भज। अत सम्मूर्च्छन जन्म वाले तथा गर्भजन्म वाले प्राणियों को औदारिक शरीर होता है, किन्तु ऐसा नियम नहीं

भवति न तु–औदारिकमेवेत्यवधारणम्। तैजस–कार्मणशरीरद्वयमपि तेषां सम्भवति, लब्धिप्रत्यय-वैक्रियाहारकयोर्वा गर्भजन्मनां प्राणिनामुत्तरकालभावित्वात्। औदारिकं शरीरं जघन्येनाऽङ्गुला-ऽसख्येयभागप्रमाणमुत्कृष्टतो योजनसहस्रप्रमाणञ्चेति।

तत्र–उदारम्, उद्गमः उद्गमनं प्रादुर्भाव यतउत्पादनात् प्रभृति अनुसमयमुद्गच्छति–वर्धते–जीर्यते–शीर्यते–परिणमति इत्युदारम्, उदारमेवौदारिकम् वयःपरिणामेनोपचीयमानतया वर्धनं भवति। वयोहानिप्राप्त्या जीर्णनं भवति, शिथिलसन्धिबन्धनेन लम्बमानचर्ममण्डलेन च शीर्णता भवति। समन्तात्–जराभारविधुरिततया–ऽऽनमति, परिपेलवग्रहणशक्तीन्द्रियग्राम वलीवलयलेखा विचित्रम् अन्यदेवोपजायते इति परिणमनमपि तस्य प्रत्यक्षसिद्धम् यथा चेदमौदारिकमेव विधाऽनेक-विशेषणविशिष्टं वर्तते न तथा–वैक्रियाहारक–तैजसकार्मणानि भवन्ति। वैक्रियस्य जरसा–विवृद्धया-वा प्रतिक्षणं योगो नास्ति यथावस्थितत्वात्। एवमाहारकस्यापि, तैजस–कार्मणयोस्तु–सुतरां न तत्समस्ति तस्याङ्गोपाङ्गाद्यनिवृत्ते.।

कि उनको औदारिक शरीर ही होता है, क्योकि उन्हे तैजस और कार्मण शरीर भी प्राप्त होता है। इनके अतिरिक्त गर्भ जन्म वालो को आगे चलकर लब्धिजनित वैक्रिय और आहारक शरीर भी हो सकते हैं। औदारिक शरीर की अवगाहना जघन्य से अंगुल के असख्यातवे भाग और उत्कृष्ट से एक हजार योजन से कुछ अधिक की होती है।

उदार अर्थात् उद्गम, उद्गमन का अर्थ है प्रादुर्भाव जो शरीर उत्पत्ति सेले कर प्रत्येक समय उद्गम करता है अर्थात् वृद्धि को प्राप्त होता रहता है, फिर जीर्ण और शीर्ण होता है, वह औदारिक शरीर कहलाता है। यह शरीर वय के परिणमन के अनुसार उपचित–पुष्ट होता जाता है और वय की हानि होने पर जीर्ण होता है। इसके जोड जब ढीले पड जाते हैं और चमडी लटकने लगती है तो शीर्ण भी होता है। जरा के भार के कारण झुक जाता है। इन्द्रियों की विषय को ग्रहण करने की शक्ति क्षीण–क्षीणतर होने लगती है और झुर्रियाँ पड जाती हैं। इस प्रकार धीरे–धीरे यह कुछ का कुछ हो जाता है। पहचाना भी नहीं जा सकता कि यह वही सुन्दर और सुपुष्ट शरीर है, इस प्रकार का परिणमन प्रत्यक्ष से सिद्ध है। इस औदारिक शरीर में ये जो विशेषता हैं, वे वैक्रिय, आहारक, तैजस या कार्मण शरीर में नहीं है। वैक्रिय शरीर आदि से अन्त तक ज्यों का त्यो रहता है। उसमें औदारिक शरीर की भाँति क्षण–क्षण में परिवर्त्तन नहीं होता। न जरा के कारण क्षीण होता है और न विशिष्ट प्रयोगो से वृद्धि को ही प्राप्त होता है। आहारक शरीर मे भी ऐसा परिवर्त्तन नहीं होता। तैजस और कार्मण शरीर में तो उसका सभव ही नहीं है, क्यों कि उनमें अंगोपांगों का निर्माण नहीं होता है।

किञ्च—ग्राह्यादिधर्मयोगाद् गृह्यते—हस्ताद्यवयवैरिन्द्रियैर्वा, छिद्यते—परश्वादिना, भिद्यते—नाराच—कुन्तादिना, दह्यते—वह्निसूर्यादिना, अपह्रियते महावायुवेगेन इत्येवमादिभिर्विदारणादुदार मुच्यते मांसास्थिस्नाय्वाद्यवयवबद्धत्वाच्च। वैक्रियादिषु च—मासास्थिग्राह्यादयो विशेषा न भवन्ति।

किञ्च—स्थूलमेवो- दारमुच्यते, स्वल्पप्रदेशोपचितत्वात् बृहत्त्वाच्च, प्रधानं वा उदारम्, तीर्थभेण्डवदुदार स्थूलमुच्यते। स्थूलत्वाद् भेण्डकवत् ऊर्ध्वं गतमुच्छ्रायमुद्गतमतिप्रमाणत्वात्, पुष्ट—शुक्रशोणितादिप्रचितत्वात् बृहत्—प्रतिक्षणं वृद्धियोगात् महच्च—योजनसहस्रप्रमाणावस्थितारोहण—परिणाहत्वात्, उदारमेवौदारिकमुच्यते। वैक्रियादीनां च परस्य—परस्य सूक्ष्मत्वान्नैवं सम्भवति इतिभाव॥

उक्तञ्च प्रज्ञापनायां २१ एकविंशतितमे शरीरपदे—"**ओरालियसरीरे णं भंते! कइ-विहे पण्णत्ते? गोयमा! दुविहे पण्णत्ते, तंजहा—संमुच्छिमे—गब्भवक्कंतिए य**" इति। औदारिकशरीर खलु भदन्त! कतिविध प्रज्ञप्तम्—? गौतम—! द्विविध प्रज्ञप्तम् तद्यथा—सम्मूर्च्छिमम् गर्भव्युत्क्रान्तिकञ्चेति ॥३२॥

इसके अतिरिक्त औदारिक शरीर ग्राह्य होने के कारण ग्रहण किया जा सकता है - हाथ आदि अवयवो के द्वारा भी ग्रहण किया जा सकता है और इन्द्रियो के द्वारा भी ग्रहण किया जा सकता है। परशु आदि के द्वारा उसका छेदन हो सकता है, बाण या भाले आदि के द्वारा भेदन हो सकता है अग्नि और सूर्य आदि के द्वारा जलाया जा सकता है, महावायु के वेग के द्वारा अपहृत हो सकता है। इत्यादि अनेक प्रकार से विदारण समव होने से यह शरीर उदार या औदारिक कहलाता है इसके अतिरिक्त मांस, हड्डी, नसो आदि से बना हुआ होने के कारण भी इसे औदारिक कहते है। वैक्रिय आदि अन्य शरीर न तो मास, हड्डी आदि के बने होते है और न उनका ग्रहण, विदारण, छेदन, भेदन आदि हो सकता है।

अथवा जो स्थूल हो वह उदार कहलाता है। थोडे प्रदेशों से बना होने पर भी यह बडा होता है। या उदार का अर्थ प्रधान भी है। प्रधान इस कारण कि इसी शरीर के द्वारा सकल सयम, तीर्थकरत्व, मुक्ति आदि की प्राप्ति हो सकती है। अथवा भिंडी के समान पोला होने से भी यह उदार कहा जाता है। उदार का अर्थ ऊँचा भी है—यह शरीर बडे परिणाम वाला होता है। या उदार अर्थात् पुष्ट, क्यो कि यह शुक्र—शोणित से उपचित होता है। यह बृहत् भी है, क्यों कि क्षण—क्षण में इसकी वृद्धि होती हैं। उदार का अर्थ बडा भी है, क्यो कि यह एक हजार योजन की अवगाहना वाला होता है। जो उदार है वही औदारिक कहलाता है वैक्रिय आदि शरीर उत्तरोत्तर सूक्ष्म होते है, अतएव उनमें इस प्रकार की उदारता का सभव नहीं है। प्रज्ञापनासूत्र के २१ इक्कीस वें शरीरपद में कहा है—

प्रश्न—भगवन्! औदारिक शरीर कितने प्रकार का है?

उत्तर—गौतम! दो प्रकार का है, यथा सम्मूर्च्छिम और गर्भव्युत्क्रान्तिक ॥३२॥

मूलसूत्रम् - वेउव्वियं दुविहं, उववाइयं–लद्धिपत्तयं च-" ॥३३॥

छाया वैक्रिय द्विविधम् औपपतिकं लब्धिप्रत्ययं च—" ॥३३॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वं तावत्—औपपातिकशरीरं प्ररूपितम् सम्प्रति—वैक्रिय शरीर प्ररूपयितुमाह—"वेउव्वियं दुविहम्, उववाइयं-लद्धिपत्तयं च-" वैक्रियं—विक्रियया निर्मितं शरीरम् वैक्रिय विकुर्वणतया निष्पादित द्विविधं भवति। तद्यथा—औपपातिकम्, लब्धिप्रत्ययञ्च, तत्रोपपाते भवमौपपातिकम्। लब्धिप्रत्ययञ्च–लब्धि. प्रत्ययो हेतुर्यस्य तत्–लब्धिप्रत्ययम्, तपो विशेषाद् ऋद्धिप्राप्ति. खलु लब्धिरुच्यते।

तथाच—औपपातिक लब्धिप्रत्ययं चेत्येव वैक्रियशरीरं द्विप्रकारक भवति। वक्ष्यमाण-तैजसशरीरमपि लब्धिप्रत्ययं भवतीति वक्ष्यते। लब्धिप्रत्ययञ्च—वैक्रियशरीरं षष्ठगुणस्थानवर्तिन कस्यचिद्भवतीति बोध्यम्। उत्तरवैक्रियशरीरस्थितिश्च जघन्येनोत्कृष्टेन चाऽन्तर्मुहूर्त्त भवति, तीर्थं-कृज्जन्मादौ च बहुकालसाध्य तत्तत् सम्बन्धिकर्मकर्तु घटिकाद्वयात्—घटिकाद्वयात् मुहूर्तरूपाद उपर्युपरिअन्यद् अन्यद् वैक्रियं शरीर देवादय उत्पादयन्ति।

छिन्नकमलिनीकन्दोभयपार्श्वलग्नतन्तुवद् उत्तरशरीरेषु आत्मप्रदेशान् अन्तर्मुहूर्ते पूरयन्ति च तेनोत्तरवैक्रियशरीरं यथेष्टकालं तिष्ठति। अत्रोपपातजन्म—उपपातशब्देन कथ्यते, तस्मिन् उपपात-

---

मूलसूत्रार्थ—'वेउव्वियं दुविहं'—इत्यादि ॥३३॥

वैक्रिय शरीर दो प्रकार का है—औपपातिक और लब्धिप्रत्यय ॥३३।

तत्त्वार्थदीपिका— पहले औदारिक शरीर का निरूपण किया गया, अब वैक्रिय शरीर का प्रतिपादन करते है—

वैक्रिय शरीर के दो भेद हैं—औपपातिक और लब्धिप्रत्यय जो शरीर विक्रिया या विकुर्बणा से उत्पन्न होता है, उसे वैक्रिय कहते है, वह दो प्रकार का है—औपपातिक और लब्धि प्रत्यय। जो उपपातजन्म में हो वह औपपातिक शरीर कहलाता है और जो शरीर लब्धि अर्थात् विशिष्ट तपस्या आदि से उत्पन्न ऋद्धिविशेष से पैदा हो वह लब्धिप्रत्यय कहलाता है।

लब्धिप्रत्यय वैक्रिय शरीर किसी—किसी मनुष्य और तिर्यञ्चो को होता है। उस उत्तर वैक्रिय शरीर की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की होती है। तीर्थंकरके जन्म आदि अवसरो पर देवो को ऐसे कार्य करने पडते है जो बहुत काल में सम्पन्न हो, तब उन कार्यों को करने के लिए वे वैक्रिय शरीर बनाते है।

कमलिनी के कन्द को तोड दिया जाय तो उसके टुकड़ो में जैसे तन्तु लगे होते है और उन तन्तुओ के द्वारा वे टुकडे आपस मे जुडे रहते हैं, उसी प्रकार उत्तर शरीरो में अन्तर्मुहूर्त्त में वे आत्मप्रदेशों को पूरित करते है ऐसा करने से उत्तरवैक्रिय शरीर यथेष्ट समय तक टिका रहता है।

जन्मनि भवम् औपपातिकं वैक्रिय शरीरं भवति। तन्निमित्तत्वात्-सहजम् तच्च-सामर्थ्यान्नारक-देवानामेव भवति, न तदन्येषाम्,। द्विविध च तत्, भवधारकम्-उत्तरवैक्रिय च, तत्र-प्रथम जघन्येनाऽङ्गुलाऽसख्येयभागप्रमाणम् उत्कृष्टेन च-पञ्चधनुशतप्रमाणम्। उत्तरवैक्रियञ्च-जघन्येनाङ्गुलासख्येयभागप्रमितम् उत्कृष्टेन-योजनलक्षप्रमाणमवसेयम्। लब्धिप्रत्यय च-वैक्रिय शरीर तिर्यग्योनीनां-मनुष्याणा च भवति। तत्र-तपोविशेषजनिता लब्धिरुच्यते, तत् प्रत्यय-तत्कारणमेतच्छरीर भवति, अजन्मजमेतद् वोध्यम्।

गर्भजन्मनामेव वा-इदमुत्तरकाल भवति। तथाच--तपोविशेषानुष्ठानात् भूयसा गर्भव्युत्क्रान्तिक-तिर्यङ्मनुष्याणां लब्धिप्रत्ययं वैक्रिय शरीर भवति शेपतिर्यग्योनिजाना मध्ये नान्यस्य। वायोश्च वैक्रिय लब्धिप्रत्ययमेव भवतीति भाव· उक्तञ्च स्थानाङ्गसूत्रे १-प्रथमस्थाने १-उद्देशके ७५-सूत्रे "**नेरइयाणं दो सरीरगा पण्णत्ता तंजहा-अब्भंतरगे चेव, वाहिरगे चेव, अब्भंतरए कम्मए, वाहिरए वेउव्विए, एवं देवाणं-**" इति। नैरयिकाणां द्वे शरीरे प्रज्ञप्ते, तद्यथा--आभ्यन्तरं चैव, बाह्य चैव, आभ्यन्तरं-कार्मणम्, बाह्य वैक्रियम्, एव देवानाम्। औपपातिके ४० सूत्रे चोक्तम्-"**वेउव्वियलद्धीए**" इति। वैक्रियलब्धिकम् ॥३३॥

यहाँ उपपात का आशय उपपातजन्म से है। जो वैक्रिय शरीर उपपातजन्म में हो, वह औपपातिक वैक्रिय शरीर कहलाता है। यह शरीर औपपातिक जन्म के साथ ही उत्पन्न हो जाता है, क्यो कि उसका कारण उपपात जन्म ही है। नारको और देवो को ही औपपात्तिक वैक्रिय शरीर होता है, किसी भी अन्य प्राणी को नहीं होता। इसके भी दो भेद है--भवधारणीय और उत्तर वैक्रिय।

भवधारणीय वैक्रिय शरीर की अवगाहना जघन्य अंगुल के असख्यातवें भाग की और उत्कृष्ट पाँच सौ धनुष की होती है। उत्तरवैक्रिय की जघन्य अवगाहना अगुल के सख्यातवें भाग और उत्कृष्ट एक लाख योजन की होती हैं।

लब्धिप्रत्यय वैक्रिय शरीर तिर्यंचों और मनुष्यो को होता है। लब्धि, तपस्या आदि से उत्पन्न होने वाली एक प्रकार की विशिष्ट शक्ति है जिसे ऋद्धि भी कहते है। उसके कारण जो वैक्रिय शरीर उत्पन्न होता है वह लब्धिप्रत्यय कहलाता है। यह शरीर जन्मजात नहीं होता बल्कि बाद में उत्पन्न होता है। विशिष्ट तप आदि के अनुष्ठान से वहुत से गर्भज तिर्यचो और मनुष्यों को लब्धिप्रत्यय वैक्रिय शरीर होता है। तिर्यंचो में अन्य किसी को नहीं होता। इसमें अपवाद एक ही है और वह यह कि वायुकाय को लब्धिप्रत्यय वैक्रिय शरीर भी होता है। स्थानांगसूत्र के प्रथम स्थान के प्रथम उद्देशक के ७५ पचोतर वे सूत्र मे कहा है--

नारक जीवों को दो शरीर होते है- आभ्यन्तर और बाह्य। आभ्यन्तर कार्मण शरीर और बाह्य वैक्रिय शरीर। इसी प्रकार देवों को भी येही दो शरीर होते है।

औपपातिक सूत्र के ४० वे सूत्र में कहा है-वैक्रियलब्धि से होने वाला शरीर वैक्रिय कहा जाता है ॥३३॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं तावत्—शरीरं द्विध प्रज्ञप्तम् औपपातिकम्—लब्धिकं च। तत्र—प्रथमतावदवयवार्थमाह—विक्रिया विकारो विकृतिर्विकरण मित्येते शब्दा. समानार्थका', विविधा—विशिष्टा वा क्रिया विक्रिया उच्यते, तस्यां भवं वैक्रियम्। प्रकृतेरन्यत्वरूपो विकार, विचित्रा कृतिर्विकृति', विविधं क्रियते इति विकरणम्, तत्र यद् विविधमनेप्रकारं क्रियते—तद् वैक्रियमुच्यते।

तद्यथा—विक्रियाकर्तु. समासादितवैक्रियलब्धेरिच्छानुसारात् एक भूत्वा-यदनेक भवति, अनेक भूत्वा एकं भवति, अणुभूत्वा महद्भवति, महच्च भूत्वा—अणुभवति, एकाकृतिभूत्वा—अनेकाकृति भवति, अनेकाकृतिभूत्वा—एकाकृतिभवति। दृश्यं भूत्वा—अदृश्य भवति, अदृश्य भूत्वा—दृश्य भवति, भूमिचर भूत्वा—खेचरं भवति, खेचर भूत्वा भूमिचर भवति, स्खलद्गति भूत्वा अस्खलद्गति भवति प्रतिघातिभूत्वा अप्रतिघाति भवति, अप्रतिघातिभूत्वा—प्रतिघाति भवति,

युगपच्चैतान् भावान् अनुभवति वैक्रिय शरीरम् नैव तदितराणि शरीराणि युगपद् एतान् भावाननुभवन्ति। अत्र स्थूलत्वात्—प्रतिहननशील भूत्वा सूक्ष्मावस्थान सम्प्राप्त सदप्रतिघाति भवति। उक्तञ्च—भगवतीसूत्रे तृतीयशतके पञ्चमोद्देशके—'**अणगारे णं भंते ! भावियप्पा बाहिरए पोग्गले परियाइत्ता पभू एगं महं इत्थीरूवं जाव संदमाणिया रूवं वा विउव्वित्तए ?**

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पहले वैक्रिय शरीर दो प्रकार के कहे गए है—औपपातिक और लब्धिप्रत्यय। पहले अवयवार्थ कहते है—विक्रया, विकार, विकृति, विकरण, ये सब एक समानार्थक है। विविध प्रकार की अथवा विशिष्ट प्रकार की क्रिया को विक्रिया कहते है, उसमें जो उत्पन्न हो वह वैक्रिय। जिस वस्तु की जो प्रकृति (मूल स्वभाव) है, उसमें भिन्नता आना विकार है। विचित्र कृति को विकृति कहते है। विविध प्रकार से करना विकरण है। जो शरीर बिविध—अनेक प्रकार का बनाया जाय वह वैक्रिय कहलाता है।

विक्रियालब्धि जिसे प्राप्त होती है, उसकी इच्छा के अनुसार जो शरीर एक होकर अनेक हो जाता है, अनेक होकर एक हो जाता है, छोटे से बडा और बडे से छोटा हो जाता है, एक आकृति वाला होकर अनेक आकृति वाला हो जाता है, अनेकाकृति से एकाकृति हो जाता है, दृश्य होकर अदृश्य और अदृश्य होकर दृश्य हो जाता है भूमिचर हो कर खेचर (आकाश गामी) और खेचर हो कर भूमिचर हो जाता है, सबलित गति वाला होकर असबलित गति वाला हो जाता है, प्रतिघाती होकर अप्रतिघाति हो जाता है और अप्रतिघाती होकर प्रतिघाती हो जाता है, और इन सब भावों का जो एक साथ अनुभव करता है, वह वैक्रिय शरीर है। वैक्रिय के अतिरिक्त अन्य शरीर एक साथ इन भावो का अनुभव नहीं करते, पहले स्थूल होने के कारण प्रतीघाती होता है फिर सूक्ष्म अवस्था को प्राप्त करके अप्रतिघाती हो जाता है। भगवतीसूत्र के तीसरे शतक के पाँचवें उद्देशक में कहा है—

हंता पभू, अणगारे णं भंते ! भावियप्पा केवइयाइं पभू इत्थीरूवाइं विउव्वित्तए ? गोयमा ! से जहानामए जुवतिजुवाणे हत्थेणं हत्थंसि गिण्हिज्जा चक्कस्स वा नाभी अरगाउत्ता सिया, एवमेव गोयमा !

अणगारे णं भावियप्पा वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणित्ता संखिज्जाइं जोयणाइं दंडं निसिरइ, जाव दोच्चं वि वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणित्ता पभू केवलकप्पं जम्बुदीवं दीवं वहूहिं इत्थीरूवेहिं आइण्ण वितिकिण्णं जाव करित्तए ? अदुत्तरं च णं गोयमा ! पभू तिरियमसंखेज्जदीवसमुद्दे भरिए जाव नो चेव णं संपत्तीए विउव्विंति वा—विउव्विस्संति वा—"

छाया—अनगार· खलु भदन्त—! भावितात्मा बाह्यान् पुद्गलान् अपर्यादाय प्रभु एक महत् स्त्रीरूप वा, यावत् स्यन्दमानिकारूप वा विकुर्वितुम् ? हन्त—प्रभु, अनगार· खलु भदन्त—! भावितात्मा कियन्ति प्रभु· स्त्रीरूपाणि विकुर्वितुम् ? गौतम ! तद्यथानाम कश्चिद्युवा युवतिं हस्तेन हस्ते गृह्णीयात् चक्रस्य वा नाभि· अरकायुक्ता स्यात् एवमेव गौतम ! अनगारोऽपि भावितात्मा वैक्रियसमुद्घातेन समवहन्ति, यावत्—प्रभुः। गौतम ! अनगारोऽपि भावितात्मा केवलकल्प जम्बूद्वीप द्वीप बहुभि· स्त्रीरूपैः आकीर्णम्—व्यतिकीर्णम् यावत्कर्तुम्।

अथोत्तर च गौतम ! प्रभु· तिर्यगसंख्येयद्वीपसमुद्रान् भर्तुं विकुर्व्य यावत् नोचैव सम्पत्त्या विकुर्वति वा—विकुर्विष्यति वा इति। एव चतुर्दशशतके—अष्टमोद्देशके चोक्तम्—

अत्थि णं भंते ! अव्वाबाहा देवा ? हंता—अत्थि, से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ—अव्वाबाहा देवा—अव्वाबाहा देवा ? गोयमा ! पभू णं एवमेव अव्वाबाहे देवे—एगमेगस्स पुरिसस्स एगमेगंसि अच्छिपत्तंसि दिव्वं देविड्ढिं दिव्वं देवजुइं दिव्वं देवाणुभावं

प्रश्न—भगवन् ! भावितात्मा अनगार बाह्य पुद्गलो को ग्रहण करके एक महान् स्त्री रूप की यावत् पालकी के रूप की विक्रिया करने में समर्थ है ?

उत्तर—हाँ, समर्थ है,

प्रश्न—भगवन् ! भावितात्मा अनगार कितने स्त्रीरूपों की विक्रिया करने में समर्थ होता है ?

उत्तर—गौतम ! जैसे कोई युवा पुरुष किसी युवती के हाथ को अपने हाथ में ग्रहण करे अथवा चक्र की नाभि आरों से युक्त हो, इसी प्रकार हे गौतम ! भावितात्मा अनगार वैक्रिय समुद्घात करके सख्यात योजनो का दड निकालता है। यावत् दूसरी वार वैक्रिय समुद्घात करके सम्पूर्ण जम्बूद्वीप को, बहुत—से स्त्रीरूपो से व्याप्त कर सकता है। इतना ही नहीं, वह तिर्छे असख्यात द्वीपो और समुद्रों को भी स्त्रीरूपो से व्याप्त कर सकता है। यह भावितात्मा अनगार की विक्रिया करने की शक्ति बतलाई है, मगर कोई अनगार इतनी विक्रिया करता नहीं और करेगा भी नहीं।

दिव्वं बत्तीसइविहं नट्टविहिं उवदंसेत्तए नो चेव णं तस्स पुरिसस्स किंचि आवाधं वा—वावाहं वा उप्पाएइ छविच्छेदं वा करेइ, सुहुमं च णं उवदंसेज्जा, से तेणट्ठेणं जाव अव्वाबाधादेवा —

छाया—सन्ति खलु भदन्त ? अव्याबाघा देवा ? हन्त ! सन्ति। तत्केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते अव्याबाघा देवाः अव्याबाधा देवाः ? गौतम ! प्रभुः खलु एकैकोऽव्याबाधदेवः एकैकस्य पुरुषस्य एकैकस्मिन् अक्षिपत्रे दिव्यां देवर्द्धि दिव्यां देवद्युतिं दिव्य देवानुभाव दिव्य द्वात्रिंशद्विध नाट्यविधिम् उपदर्शयितुम्।

नैव तस्य पुरुषस्य कांचिदाबाधां वा व्याबाघा वा उत्पादयति, छविच्छेदं वा करोति, सूक्ष्मतया—उपदर्शयेत्। तत्तेनार्थेन यावदव्याबाधा देवाः इति। एव भगवतीसूत्रे एव अष्टादशशतके सप्तमोद्देशके चोक्तम् – **"देवे णं भंते ! महड्ढिए जाव महेसक्खे रूवसहस्सं विउव्वित्ता पभू णं अण्णमण्णेणं सद्धिं संगामं संगामित्तए ! हंता, पभू, ताओ णं भंते ! बोंदीओ किं एगजीवफुडाओ अणेगजीवफुडाओ गोयमा एगजीवफुडाओ नो अणेगजीवफुडाओ, ते णं भंते ! तेसिं बोंदीणं अंतरा किं एगजीवफुडा, अणेगजीवफुडा-?**

गोयमा-! एगजीवफुडा नो अणेगजीवफुडा, पुरिसे णं भंते ! अंतरे हत्थेण वा पाएण वा असिणा वा पभू विच्छित्तए ? नो इणट्ठे समट्ठे नो खलु तत्थ सत्थं कमइ"

देवा खलु भदन्त ! महर्द्धिको यावत् महेशाख्यो रूपसहस्र विकुर्वित्वा प्रभुरन्योऽन्येन सार्धं सग्रामं सग्रामयितुम्—२ हन्त—! प्रभुः,

---

इसी प्रकार चौदहवे शतक के अष्टम उद्देशक में कहा है—

प्रश्न—भगवन् ! क्या देव अव्याबाध है ?

उत्तर—हाँ है।

प्रश्न—भगवन् ! किस हेतु से ऐसा कहा जाता है कि देव अव्याबाध है, देव अव्यबाध हैं ?

उत्तर—गौतम ! एक—एक अव्याबाध देव एक—एक पुरुष को, एक—एक पल में दिव्य देव—ऋद्धि, दिव्य देवद्युति, दिव्य देवानुभाव (दैवी प्रभाव) और दिव्य बत्तीस प्रकार की नाटच-विधि दिखलाने में समर्थ है। किन्तु वह देव उस पुरुष को कोई भी बाधा या व्याबाधा नहीं उत्पन्न करता है, न उसकी चमडी का छेदन करता है, वह सूक्ष्म रूप से यह सब दिखलाता है। इस अभिप्राय से कहा गया है कि देव अव्याबाध है।

इसी प्रकार भगवती सूत्र में अठारहवें शतक के सातवें उद्देशक में कहा है—

प्रश्न—भगवन् ! महान् ऋद्धि का धारक और यावत् 'महेश' इस प्रकार की आख्या वाला देव क्या अपने एक हजार रूपो की विक्रिया करके आपस मे ही एक दूसरे के साथ सग्राम करने में समर्थ है ? उत्तर—हाँ समर्थ है।

तानि खलु भदन्त-! शरीराणि किमेकजीवस्पृष्टानि, अनेकजीवस्पृष्टानि ? गौतम ! एकजीवस्पृष्टानि, नाऽनेकजीवस्पृष्टानि, पुरुष. खलु भदन्त ! अन्तरा हस्तेन वा पादेन वा असिना वा प्रभुर्विच्छेत्तुम् ? नायमर्थ समर्थः नैव तत्र शस्त्रं क्रामति ॥३३॥

मूलसूत्रम्—"तेयगं दुविहं, लद्धिपत्तयं-सहजं च" ॥३४॥

छाया—"तैजसं द्विविधम्, लब्धिप्रत्ययं सहजं च" ॥३४॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे-क्रमप्राप्त वैक्रियशरीरस्वरूप प्ररूपितम् सम्प्रति प्रसङ्गादागत तैजसशरीरस्वरूपं प्ररूपयितुमाह—"'तेयगं दुविहं, लद्धिपत्तयं-सहज च"—इति । तैजसम्, तेजसा निष्पादित शरीर तैजसमुच्यते । तद् द्विविधं भवति । लब्धिप्रत्ययम्—सहज चेति ।

तत्र तपोविशेषाद ऋद्धिप्राप्तिर्लब्धिरुच्यते । एवविधा लब्धि' प्रत्यय कारण यस्य तत्—लब्धिप्रत्ययमुच्यते । सहजम्—स्वाभाविकमुच्यते । तथाच-नि सरणात्मकम्—अनिस्सरणात्मक च तैजस शरीर द्विविधं भवति । यथा—कश्चिद् यतिरुग्रचारित्र' केनचिद् विराधित सन् यदाऽत्यन्तक्रुद्धो भवति तदा—तस्य वामभुजतो जीवप्रदेशसहित तैजसशरीर बहिर्निर्गच्छति, जाज्वल्य-

---

प्रश्न—भगवन् ! उसके वे एक हजार शरीर एक ही जीव से युक्त है ? अर्थात् उन हजार शरीरों में एक ही जीव व्याप्त है ? अथवा वे अनेक जीवो से युक्त है ? भगवन् ! उन जीवो के अन्तर (बीच के भाग) क्या एक जीव से व्याप्त है अथवा अनेक जीवो से व्याप्त है ?

उत्तर—गौतम एक ही जीव से युक्त है, अनेक जीवो से युक्त नहीं है ।

प्रश्न—भगवन् ! क्या पुरुष अपने हाथ से, पैर से या तलवार से उन अन्तरो का विच्छेद करने में समर्थ है ?

उत्तर—नहीं, यह अर्थ समर्थ नहीं, अर्थात् ऐसा नहीं हो सकता । वहाँ शस्त्र काम नहीं करता ॥३३॥

मूलसूत्रार्थ—'तेयगं दुविहं लद्धिपत्तयं' इत्यादि । सूत्र ॥३४

अर्थ—तैजस शरीर दो प्रकार का है—लब्धिप्रत्यय और सहज ॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्व सूत्र में क्रमप्राप्त वैक्रिय शरीर का स्वरूप बतलाया गया, अब प्रसग से प्राप्त तैजस शरीर का स्वरूप बतलाने के लिए कहते है—

तैजस अर्थात् तेज से उत्पन्न किया हुआ शरीर दो प्रकार का है—लब्धिप्रत्यय और सहज ।

विशिष्ट प्रकार की तपस्या से ऋद्धि की प्राप्ति होना लब्धि है । यह लब्धि जिस शरीर का कारण हो वह शरीर लब्धिप्रत्यय कहलाता है । सहज का मतलब है स्वाभाविक ।

इस प्रकार तैजस शरीर के दो भेद हैं—निःसरणात्मक और अनिःसरणात्मक । कोई उग्र चारित्र वाला साधु किसी के द्वारा विराधित (अपमानित या आहत) होने पर जब कुपित होता है तब उसके बाये भुजा से, तैजस शरीर जीव के प्रदेशों के साथ बाहर निकलता है ।

मानाऽग्निपुञ्जसदृशं दाह्यं वस्तुपरिवेष्ट्याऽवतिष्ठते । यदा तत्र चिरकालं तिष्ठति तदा–दाह्यं वस्तु भस्मसात् करोति, एतन्नि,सरणात्मक तैजस शरीरमवसेयम् । अनि सरणात्मक पुनरौदारिक-वैक्रियाहारकशरीराऽभ्यन्तरवर्ति तेषां त्रयाणामपि–औदारिकादीना दीप्तिहेतुकमवगन्तव्यम् ॥३४।

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—तेजोमयं तैजस शरीरं द्विविध प्रज्ञप्तम् लब्धिप्रत्यय–सहज च । तत्र–तपोविशेषजनिता शक्ति· लब्धिरुच्यते, तत्प्रत्यय–तत्कारणकं तैजस शरीर लब्धिप्रत्ययमुच्यते इदञ्च–प्रथमं तैजस शरीरं तैजसशरीरलब्धिकारणसमुद्भुतशक्तितपोविशेषानुष्ठानात् कस्यचिदेव महात्मनो जीवस्य कदाचिद् भवति । न तु–सर्वस्य ।

उक्तञ्च स्थानाङ्गे ३–स्थाने ३–उद्देशके **"तिहिं ठाणेहिं समणे निग्गंथे संखित्त-विउलतेउलेस्से भवइ, तं जहा–आयावणयाए–१ खंतिखमाए–२ अपाणगेणं तवोक-म्मेणं"**–इति । त्रिभि· स्थानैः श्रमणो निर्ग्रन्थ सक्षिप्तविपुलतेजोलेश्यो भवति, तद्यथा–आता-पनातः, क्षान्तिक्षमातः, अपानकेन तप·कर्मणा, इति ।

सहजन्तु–द्वितीय तैजस शरीरं रसाद्याहारपाकजनक सर्वप्राणिविषयमभ्युपगन्तव्यम् । तस्मात्–सर्वजन्मसु सहज तैजस भवतीति ॥३४॥

मूलसूत्रम्—"आहारगं एगविहं, पमत्तसंजयस्स चेव"–॥३५॥

छाया—आहारकमेकविधम्, प्रमत्तसयतस्यैव"—॥३५॥

वह जाज्वल्यमान अग्नि के पुज के समान होता है । जिसे जलाना है उसे घेर कर वह रह जाता है । जब वहाँ चिरकाल तक ठहरता है तो उस जलाने योग्य वस्तु को भस्म कर देता है ।

इस प्रकार का तैजस शरीर नि·सरणात्मक कहलाता है । दूसरा जो अनि·सरणात्मक तैजस शरीर है वह औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीर के भीतर रहता है और इन तीनों शरीरो की दीप्ति का कारण होता है ॥३४॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—तेजोमय या तेज का पिण्ड तैजस शरीर दो प्रकार का कहा गया है–लब्धिप्रत्यय और सहज । विशिष्ट प्रकार के तप से जो शक्ति उत्पन्न होती है, वह लब्धि कहलाती है । उसके निमित्त से उत्पन्न होने वाला शरीर लब्धि प्रत्यय तैजस शरीर कहा जाता है । ऐसा शरीर किसी–किसी महात्माओ को कभी–कभी ही प्राप्त होता है, सब को नहीं ।

स्थानाग सूत्र के तीसरे स्थानक, दूसरे उद्देशक मे कहा है—निर्ग्रन्थ श्रमण तीन कारणो से अपनी विपुल तेजोलेश्या को सक्षिप्त करता है–(१) आतापना लेकर (२) क्षमाभाव धारण करके और (३) चौवीहार तपस्या करके ।

दूसरा सहज तैजस शरीर समस्त ससारी प्राणियो को प्राप्त होता है और वह रस आदि आहार के परिपाक का कारण होता है । अर्थात् हम जो भोजन करते हैं उसे पचाना इसी तैजस शरीर का काम है ॥३४॥

मूलसूत्रार्थ—'आहारगं एगविहं' ॥सूत्र ३५॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे तैजसशरीरं प्ररूपितम्। सम्प्रति—आहारकशरीरमाह—**'आहारगं एगविहं, पमत्तसंजयस्स चेव"**—आहारकं शरीरं चैकविधमेव प्रमत्तसंयतस्यैव चतुर्दशपूर्वधरस्य। एवञ्च—आहारकशरीरं तावत् प्रमत्तसंयतस्यैव निष्पद्यते। प्रमत्तसंयतस्य यदा खलु वक्ष्यमाणप्राणिदयादिकारणमुत्पद्यते, तदा स विचारं करोति परमदेवतीर्थकरदर्शनमन्तराऽयं संशयो न विनश्यति, स च भगवान् तीर्थकरोऽस्मिन् क्षेत्रे न विद्यते "इदानीमस्माभिः किं कर्तव्यम्" इत्येवं विधा चिन्तां कुर्वाणे सति प्रमत्तसंयते तस्य प्रमत्तसंयतस्य शरीराद् तालुप्रदेशे विद्यमानाद् रोमाग्रस्याऽष्टमभागरूपाच्छिद्रात् हस्तप्रमाणं घनघटितस्फटिकाकारं पुत्तलकं निर्गतं भवति।

तत्पुत्तलकं यत्र कुत्रापि क्षेत्रे परमदेवतीर्थकरं केवली वा तिष्ठति, तस्मिन् क्षेत्रे गच्छति तस्य शरीरस्पर्शं विधाय स्वकार्यं सम्पाद्य पश्चात् परावर्तते, तेनैव तालुच्छिद्रेण तस्य प्रमत्तसंयतस्य मुनेः शरीरे प्रविशति एवं सति तस्य मुनेः स संशयो विनश्यति।

अर्थात्—वक्ष्यमाणचतुर्भिः कारणैश्चतुर्वारं कृत्वा मोक्षं प्राप्नोति—आहारकलब्धिं प्रकटयति। तद्यथा—प्राणिदया—१ तीर्थकरऋद्धिदर्शनम्—२ छद्मस्थावग्रहणम्—३ संशयव्यवच्छेदनार्थम् ४

अर्थ—आहारक शरीर एक ही प्रकार का है और वह प्रमत्त संयत को ही प्राप्त होता है ॥३५॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्र में तैजस शरीर की प्ररूपणा की गई है, अब क्रमप्राप्त आहारक शरीर का कथन किया जाता है—

आहारक शरीर एक ही प्रकार का होता है और वह चौदह पूर्वों के धारक प्रमत्तसंयत को ही प्राप्त होता है।

प्रमत्त संयत अर्थात् षष्ठ गुणस्थानवर्त्ती साधु के मन में जब आगे कहे जाने वाले प्राणिदया तत्त्वजिज्ञासा आदि में से कोई कारण उत्पन्न होता है, तब वह सोचता है—परमदेव तीर्थंकर भगवान् के दर्शन के बिना इस संशय का निवारण नहीं होगा और इस क्षेत्र में तीर्थंकर भगवन् विद्यमान नहीं है। ऐसी स्थिति में मुझे क्या करना चाहिए? इस प्रकार की चिन्ता करने वाले प्रमत्तसंयत के शरीर से तालुप्रदेश से विद्यमान बालाग्र के आठवें भाग के बराबर छोटे से छिद्र से एक हाथ के बराबर ठोस बना हुआ स्फटिक मणि जैसा स्वच्छ एक पुतला निकलता है। वह पुतला उस जगह जाता है, जहाँ तीर्थंकर भगवान् या केवली स्थित हों, वहाँ उनके शरीर का स्पर्श करके और अपना प्रयोजन पूरा करके वापिस लौट आता है। फिर उसी साधु के शरीर में प्रविष्ट हो जाता है। ऐसा होने पर उस साधु का संशय दूर हो जाता।

यह आहारक शरीर इन चार कारणों से चार बार किया जा सकता है और फिर उस साधु को मोक्ष प्राप्त हो जाता है। इसी को आहारक लब्धि प्रकट करना कहते है। जिन चार प्रयोजनो से आहारक शरीर का निर्माण किया जाता है, वे इस प्रकार है—(१)

एतै' कारणैर्महात्माऽऽहारकलब्धिं प्रकटय्याऽऽहारकशरीरं गृह्णाति । तथाच–प्राणिदयादिकारणैः आहारकलब्धिं प्रकटय्य, आहारकशरीरं प्राप्य च तीर्थकरसमीपे गच्छति ।

तत्र यदि तीर्थङ्करो न मिलति तदा–हस्तप्रमाणमात्रात्–आहारकशरीरात् बद्रमुष्टिहस्त-प्रमाण शरीरं नि'सृत्य तीर्थङ्करसमीपे गच्छति । तत्र च–सर्वं निर्णयं विधाय पुन' परावर्त्य हस्त-प्रमाणशरीरे प्रविशति, हस्तप्रमाणशरीराच्च मुनिशरीरे प्रविशति इत्यभिप्राय. । उक्तंच—**"पाणिद-य–रिद्धिदरिसण–छम्मत्थोवग्गहणहेऊ वा, संसयवुच्छेयत्थं, गमणं जिणपायमूलम्मि"**–इति।

प्राणिदया–ऋद्धिदर्शन–छद्मस्थावग्रहणहेतोर्वा, सशयव्युच्छेदनार्थं गमनं जिनपादमूले इति। तथाचा–ऽऽहारकं शरीर शुभकर्मण. आहारककाययोगस्य कारणत्वात् शुभं व्यपदिश्यते एवं विशुद्धस्य पुण्यस्य कर्मणोऽशबलस्य निरवद्यस्य कार्यत्वाद् विशुद्धं चोच्यते । एवम्–आहारकशरी-रेणाऽन्यस्य व्याघातो न भवति, नाऽप्यन्येनाऽऽहारकस्य व्याघातो भवति ।

यदा खलु आहारकशरीरं निर्वर्तयितुमारभते तदा प्रमत्तो भवति । अतएव–प्रमत्तस-यतस्यैवाऽऽहारकं भवति, नाऽन्यस्य । प्रमत्तसंयतस्याऽन्यद् औदारिकं तु भवत्येवेति भाव' ॥३५॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—आहारक शरीरम्–एकविधम्, एकप्रकारकमेवाऽवगन्तव्यम् । तदपि–

प्राणी की दया (२) तीर्थंकर भगवान् की ऋद्धि का दर्शन (३) छद्मस्थ का अवग्रहण अर्थात् नया ज्ञान ग्रहण और (४) सशय का निवारण । इन्हीं चार प्रयोजनो से मुनि आहारक लब्धि प्रकट करके आहारक शरीर का निर्माण करता है ।

मुनि ने आहारक शरीर का निर्माण करके उसे तीर्थंकर के पास भेजा और कदाचित् वहाँ तीर्थंकर न मिले तो उस एक हाथ प्रमाण वाले आहारक शरीर में से मुट्ठीबधे हाथ के बराबर दूसरा आहारक शरीर निकलता है और वह तीर्थंकर के पास जाता है, वहाँ अपने मन का समाधान करके पुन. लौटता है और एक हाथ प्रमाण प्रथम शरीर में प्रविष्ट होता है और वह प्रथम शरीर मुनि के मूल शरीर में प्रविष्ट हो जाता है । कहा भी है–

'प्राणी की दया के लिए, तीर्थंकर की ऋद्धि को देखने के लिए, छद्मस्थ के अवग्रहण के लिए अथवा सशय को दूर करने के लिए जिनेन्द्र भगवान् के पादमूल में गमन करता है ।'

आहारक शरीर शुभकर्म का आहारक काययोग का कारण होने से शुभ कहा जाता है । इसी प्रकार विशुद्धनिर्दोष कर्म का कार्य होने से विशुद्ध भी कहलाता है । आहारक शरीर किसी को रुकावट पैदा नहीं करता और न कोई उसे रोक सकता है । इसलिये उसे अप्रति-घाती कहते है ।

मुनि जब आहारक शरीर का निर्माण करना प्रारभ करता है तब प्रमादयुक्त होता है, अत प्रमत्तसयत को ही आहारक शरीर होता है, अन्य किसी को नहीं । प्रमत्तसयत को दूसरा औदारिक शरीर तो होता ही है, यह बात ध्यान में रहनी चाहिए ॥३५॥

प्रमत्तसयतस्यैव भवति, अन्तर्मुहूर्तकालपरिमाणमिदं भवति। तच्चाऽऽहारक शरीर शुभद्रव्योपचित शुभैर्द्रव्योपचितैरिष्टवर्ण–गन्ध–रस–स्पर्श–शालिभिरुपचितं निष्पादित भवति। शुभपरिणामञ्च–शुभ परिणाम समचतुस्र सस्थानमाकारो यस्य तच्छुभपरिणाम चाहारक भवति।

एवं विशुद्धद्रव्योपचितम्–असावद्य चाहारक बोध्यम्। निरवद्याहारपानीयादिभिरिदं भवति। तत्र–स्वच्छस्फटिकखण्डमिव निखिलवस्तुप्रतिबिम्बाधारभूत विशुद्धद्रव्योपचितमुच्यते। यद्वा–अवद्येन–गर्हितेन पापेन सह यद् वर्तते तत्सावद्यं, न सावद्य प्राणिवधादिप्रवृत्तिर्यस्मात भवति, तद् असावद्यमुच्यते।

तथाचाहारक न कदाचिद् हिंसादौ प्रवर्त्तते। न वा–हिंसादिप्रवृत्तित उत्पद्यते तस्मात्–विशुद्धमसावद्यमाहारक भवति। एवमाहारकशरीरमव्याघाति भवति। व्याहन्तु शीलमस्य तद्व्याघाती, न व्याघाति–अव्याघाति, आहारकशरीर न किञ्चिद् व्याहन्ति–विनाशयति, न वा–तद्अन्येन केनचित् पदार्थेन व्याहन्तु शक्यते। तदेवंविधमाहारक चतुर्दशपूर्वधरएव लब्धिप्रत्ययमेवोत्पादयति।

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—आहारक शरीर के भेद–प्रभेद नहीं है। वह एक ही प्रकार का होता है, प्रमत्त सयत को ही होता है और उसका समय अन्तर्मुहूर्त्त मात्र ही है।

आहारक शरीर शुभ द्रव्यो से अर्थात् प्रशस्त वर्ण, गंध, रस, स्पर्श वाले द्रव्यो से बनता है और शुभ परिणाम वाला अर्थात् समचतुरस्र सस्थान वाला होता है।

इस प्रकार आहारक शरीर विशुद्ध पुद्गलो से उपचित होने से निरवद्य होता है अर्थात् निरवद्य आहार—पानी से उसका निर्माण होता है। आहारक शरीर विशुद्ध द्रव्यो से बनता है, इसका अर्थ यह है कि वह स्वच्छ स्फटिकमणि के खण्ड के समान समस्त पदार्थों के प्रतिबिम्ब का आधारभूत होता है। अथवा वह गर्हित–पापमय नहीं होता–उससे प्राणिवध आदि पापों मे प्रवृत्ति नहीं होती, अतएव वह निरवद्य होता है।

आहारक शरीर न तो हिंसा आदि पापकर्मों मे कभी प्रवृत्त होता है और न हिंसा आदि करने से उत्पन्न होता है,, इस कारण वह विशुद्ध–असावद्य होता है।

आहारक शरीर अव्याघाती भी होता है। अर्थात् न तो वह किसी को रुकावट उत्पन्न करता है और न कोई दूसरी वस्तु उसमे रुकावट उत्पन्न कर सकती है। यह शरीर चौदह पूर्वों के धारक मुनि को लब्धि के निमित्त से ही प्राप्त होता है।

चौदह पूर्वधारी दो प्रकार के होते है—भिन्नाक्षर और अभिन्नाक्षर। जिस चौदह पूर्वधारी को श्रुतज्ञान का एक–एक अक्षर असदिग्ध होता है अर्थात् जिसे किसी प्रकार का सशय नहीं होता वह भिन्नाक्षर कहलाता है। भिन्नाक्षर को श्रुतज्ञान स बन्धी सशय निवृत्त

चतुर्दशपूर्वधरश्च द्विविध भिन्नाक्षर –अभिन्नाक्षरश्च । तत्र–यस्यैकैकमक्षरं श्रुतज्ञानगम्य-पर्यायै सत्कारिकाभेदेन भिन्नम्–वितिमिरामितं–सगयरहित भवति स भिन्नाक्षरो व्यपदिश्यते । तस्यच–भिन्नाक्षरस्य श्रुतज्ञानसगयापगमात् प्रश्नो नोपपद्यते । अतएव–स भिन्नाक्षर' श्रुतकेवली उच्यते, तदन्योऽभिन्नाक्षर आहारकलब्धितामपि करोति कृत्स्नश्रुतज्ञानालाभात्–अवीतरागत्वाच्च ।

एवविधश्चतुर्दशपूर्वधर एव सञ्जातलब्धिराहारक निर्वर्तयति । स च–प्रमत्तसयतो व्यपदिश्यते, तस्य चाहारकलब्धेराश्रयणे कारणं तु–पुनरिदमेव भाति यत् श्रुतज्ञानगम्ये कस्मिंश्चिदेवार्थेऽत्यन्तगूढतरे सन्दिहान सन् तदर्थनिश्चयाय विदेहादिक्षेत्रवर्तिनस्तीर्थकृत पादारविन्दनिकटे औदारिकेण गरीरेण गन्तु कथमपि न पार्यते इति विचार्य सञ्जातर्द्धिविशेषो लब्धिप्रत्ययमेवाहारकं शरीरमुपजनयति नाऽन्यप्रत्ययम् ।

तत्र गत्वा–यदि तत्र तीर्थकरमन्यत्रगत जानाति । तदा–तस्मादाहारकशरीरादन्यद्बद्धमुष्टिप्रमाणं गरीर नि'सृत्य यत्र भगवान् वर्तते तत्र गत्वा शीघ्र भगवन्तमालोकितसकललोकालोक विलोक्य–प्रणम्य–पृष्ट्वा च विच्छिन्नसशय पापरहित पुनरागत्य तमेव देश यत्र गच्छता तद् आहारकमनाबाधबुद्धा न्यासवन्निक्षिप्त स्वप्रदेगजालावबद्ध तदवस्थमास्ते ।

हो जाने के कारण प्रश्न उत्पन्न नहीं होता । अभिन्नाक्षर आहारक लब्धि का प्रयोग करता है, क्योंकि उसे सम्पूर्ण श्रुतज्ञान प्राप्त नहीं होता और वह वीतराग नहीं होता है ।

इस प्रकार का चतुर्दश पूर्वधर ही आहारक लब्धि प्राप्त करके आहारक शरीर बनाता है । वह प्रमत्तसयत कहलाता है ।

प्रमत्तसयत और चौदह पूर्वों का धारक मुनि आहारक लब्धि का आश्रम क्यों लेता है ? इसका कारण यही जान पडता है कि–श्रुतज्ञान के गोचर किसी अत्यन्त गूढ़ पदार्थ मे उसे सशय उत्पन्न होता है तब उसका समाधान प्राप्त करने के लिए उसे तीर्थकर भगवान् के चरण–कमलो में जाना अनिवार्य हो जाता है किन्तु विदेह आदि दूरवर्ती क्षेत्र में औदारिक शरीर से जाना सभव नहीं होता । ऐसी स्थिति मे वह अपनी पूर्वप्राप्त लब्धि का उपयोग करता है और उससे आहारक शरीर का निर्माण करके उसे तीर्थकर के पादमूल में भेजता है या यो कहना चाहिए कि वह उस शरीर के द्वारा स्वय भगवान् के चरण कमलो के निकट उपस्थित होता है ।

वहाँ पहुँचने पर यदि पता चले की तीर्थकर भगवान् विहार करके कहीं अन्यत्र चले गए है तो उस आहारक गरीर से बद्धमुष्टि हस्त प्रमाण दूसरा आहारक शरीर निकलता है और वह दूसरा 'आहारक गरीर तीर्थकर भगवान के निकट जाता है, वहाँ जाने पर शीघ्र ही भगवान् के दर्शन करके उन्हे नमस्कार करके और प्रश्न करके सगय हीन हो जाता है । जब उसका सगय निवृत्त हो जाता है तो लौटता है । दूसरा आहारक गरीर पहले आहारक गरीर में समाहित हो जाता है और प्रथम आहारक गरीर मूल गरीर में समा जाता है । इस प्रकार अपने प्रयोजन को सिद्ध करके वह मुनि तदवस्थ–ज्यो का त्यो– हो जाता है ।

तदनन्तर च तदाहारकशरीरं विहाय आत्मप्रदेशजालमुपसहृत्य पूर्वौदारिकमेवानुप्रविशति। तथाच—"कस्मिंश्चिदर्थे कृच्छेऽत्यन्तसूक्ष्मे सन्देहमापन्नो निश्चयाधिगमार्थं क्षेत्रान्तरितस्य भगवतोऽर्हत' पादमूलमौदारिकेण शरीरेणाऽशक्यगमन मत्वा लब्धिप्रत्ययमेव उत्पादयति, पृष्ट्वाऽथभगवन्त छिन्नसशय' पुनरागत्य व्युत्सृजति अन्तर्मुहूर्तस्य"—इति भाष्यमपि सगच्छते।

उक्तञ्च प्रज्ञापनायां २१ शरीरपदे—**आहारगसरीरे णं भंते ? किं संठिए पण्णत्ते ? गोयमा ! समचउरंससंठाणसंठिए"—पण्णत्ते**—इति। आहारकशरीर खलु भदन्त ! किं सस्थितं प्रज्ञप्तम् ? गौतम ! समचतुरस्रसस्थानसस्थित प्रज्ञप्तम् इति।

तथाचाहारकमाह्रियते—प्रतिगृह्यते प्रतिविशिष्टप्रयोजनसाधनाय, कार्यपरिसमाप्त्यनन्तरं च—**"याचितमण्डन"** न्यायेन पुनर्मुच्यते। सशयव्यवच्छेदार्थाऽवग्रहऋद्धिदर्शनादि च कार्यमवसेयम्। तच्चाहारकमन्तर्मुहूर्तस्थितिकम्। अन्तर्मुहूर्तेनैव कालेनाहरणकर्तुरिष्टप्रयोजनसिद्धिरुपजायते।

सिद्धप्रयोजनश्च स पुनस्तदाहारक शरीरं विमुञ्चति। तस्मात्—नोत्तरकालमपि ता लब्धिमुपजीवति। अन्तर्मुहूर्त स्थितिरात्मलाभो यस्य तदन्तर्मुहूर्तस्थितिकम्। तदन्यानि चौदारिकादीनि वत्साध्यप्रयोजनसम्पादनाय नाल भवन्ति, नाऽपि—नियमतोऽन्तर्मुहूर्तस्थितिकान्येव तानि भव-

---

'किसी कठिन और अत्यन्त सूक्ष्म अर्थ मे सन्देह उत्पन्न होने पर उसका निश्चय—निर्णय करने के लिए दूर देशवर्ती अर्हन्त भगवान् के पादमूल मे औदारिक शरीर से जाना अशक्य समझ कर लब्धि निमित्तक शरीर को उत्पन्न करता है। भगवान् से प्रश्न करने पर सशय रहित हो जाता है और फिर लौट कर उस शरीर का त्याग कर देता है। यह सब एक अन्तर्मुहूर्त्त में ही हो जाता है।, भाष्य का यह कथन भी इससे सगत होता है।

प्रज्ञापना के २१ एक्कीस वें शरीरपद में कहा है—

प्रश्न—भगवन्! आहारक शरीर का सस्थान कैसा होता है ?

उत्तर—गौतम ! समचौरस सस्थान होता है।

इस प्रकार भावार्थ यह हुआ कि जो शरीर एक विशिष्ट प्रयोजन की सिद्धि के लिए उत्पन्न किया जाता है और उस प्रयोजन की सिद्धि हो जाने पर 'माँगे हुए आभूषण' के समान त्याग दिया जाता है, वह आहारक शरीर है। सशय को निवारण करना, अवग्रह (नया ज्ञान सीखना) ऋद्धिदर्शन आदि उसका प्रयोजन है। यह शरीर सिर्फ अन्तर्मुहूर्त्त तक ही रहता है। अन्तर्मुहूर्त्त काल मे ही इष्ट प्रयोजन की सिद्धि हो जाती है। प्रयोजन सिद्धि हो जानेपर आहारक शरीर का त्याग कर दिया जाता है। **तदनन्तर वह मुनि उस लब्धि का प्रयोग नहीं करता।**

आहारक शरीर से जिस प्रयोजन की सिद्धि होती है, उसे औदारिक आदि अन्य कोई भी शरीर सिद्धि नहीं कर सकते। अन्य शरीर नियम से अन्तर्मुहूर्त्त मात्र की स्थिति वाले ही हों, ऐसा नियम नहीं है।

न्तीति भाव' । तैजस शरीरं पुनस्तेजोविकाररूप तेजः स्वतत्त्व शापानुग्रहप्रयोजन भवति । तस्य नाऽत्राधिकारः । उष्णतालक्षण तेज. सर्वशरीरेपु अन्नस्य पाचक जठराग्निरूपं ससिद्धम् । एव-विधस्य तेजसो विकारस्तैजसमवस्थान्तरापत्तिरिति ।

कार्मणं शरीरन्तु—कर्मणो विकाररूप ज्ञानावरणादिकर्मणो विकृति. कर्ममयं- कर्मात्मकं भवति। नैव मौदारिकादीनि भवन्ति । एतेभ्य एवोदाराद्यर्थविशेपेभ्य उक्तलक्षणेभ्यो विभिन्नस्वरूपेभ्य' शरीराणा घट—पटादिवत् लक्षणभेदात् नानात्व सिद्धम् । न केवलमुक्तान्वाख्यानद्वारेणैव औदा-रिकादीनां शरीराणां परस्परं भेदो भवति । अपितु—निम्नकारणतोऽपि भेदो भवति ।

तत्र—कारणतस्तावत् स्थूलपुद्गलोपचितमूर्तिरूपमौदारिक भवति । नैव वैक्रियादीनि, उत्त-रोत्तरस्य सूक्ष्मत्वात्, एवं विषयकृतोऽपि तेषां परस्पर भेदो भवति । तथाहि—विद्याधरौदारिकश-रीराणि प्रत्यानन्दीश्वराद् औदारिकस्य विषय जङ्घाचारण प्रत्यारुचकपर्वतात् तिर्यक् ऊर्ध्व-मापाण्डुकवनात् ।

वैक्रिय शरीरमसङ्ख्येयद्वीप—समुद्रविषयम् , आहारक महाविदेहक्षेत्रपर्यन्तविषयम् । तैजस—कार्मणे सर्वलोकपर्यन्तविषये भवत । एव स्वामिकृतोऽपि तेषां भेदो भवति । तथाहि—औदारि-

---

तैजस शरीर तेज का विकार रूप' तेजोमय, तेज स्वभाव होता है । उसका प्रयोजन शाप और अनुग्रह करना है । यहाँ उसका अधिकार नहीं है । तेज का लक्षण उष्णता है । वह समस्त शरीरो में अन्न को पचानेवाला, जठराग्नि के रूप मे प्रसिद्ध है । यह तैजस शरीर आहारक से भिन्न है ।

कार्मण शरीर कर्म का विकार, ज्ञानावरणीय आदि कर्मों की विकृति, कर्ममय या कर्मात्मक होता है । औदारिक आदि शरीर ऐसे नहीं होते । जैसे उदारता—स्थूलता—औदारिक शरीर का लक्षण है, उसी प्रकार इन पाँचो शरीर के लक्षण अलग-अलग है । लक्षण अलग-अलग होने से इनमें भिन्नता होती है, जैसे घट और पट में भिन्नता है। हाँ, उक्तव्युत्पत्ति के भेद से ही औदारिक आदि शरीरो मे भेद नहीं है, अपितु निम्नलिखित कारणो से भी उनमे भेद सिद्ध होता है ।

सर्व प्रथम औदारिक आदि शरीरो के कारण भिन्न-भिन्न है । औदारिक शरीर स्थूल पुद्गलो से बनता है वैक्रिय आदि शरीर ऐसे नहीं, वे उत्तरोत्तर सूक्ष्म होते है, क्योंकि उनका निर्माण जिन पुद्गलो से होता है, वे उत्तरोत्तर सूक्ष्म होते है ।

विषय अर्थात् गतिक्षेत्र की अपेक्षा से भी शरीरो मे भेद है । विद्याधरो के औदारिक शरीर नन्दीश्वर द्वीप तक ही जा सकते है । जघाचरण मुनि तिर्छे रुचकपर्वत तक और ऊपर पाण्डुक वन तक जा सकते हैं । वैक्रिय शरीर का विषय असख्यात द्वीप-समुद्र है, अर्थात् वैक्रिय शरीर-धारी असख्यात द्वीप-समुद्रो तक जा सकता है । आहारक शरीर महाविदेह क्षेत्र पर्यंत जा सकता है और तैजस तथा कार्मण शरीर का विषय सम्पूर्ण लोक है ।

कशरीरं मनुष्य तिरश्चां भवति, वैक्रिय देव नारकाणां तिर्यङ्-मनुष्याणां च कतिपयानाम्। आहारक चतुर्दशपूर्वधरमनुष्याणाम्। तैजस-कार्मण सर्वससारिणां भवत ।

एवं प्रयोजनकृतोऽपि तेषां विशेष तथाहि- औदारिकस्य धर्माधर्मसुखदुःखकेवलज्ञानप्राप्त्यादिप्रयोजनम्, वैक्रियस्य स्थूलसूक्ष्मैकत्वगगनचरक्षितिगतिविषयानेकविभूतिप्राप्ति प्रयोजनम्। आहारकस्य पुन सूक्ष्मव्यवहितदुरवगाहार्थव्यवस्थिति प्रयोजनम्, तैजस्य-आहारपाक प्रयोजनम्। कार्मणस्य तु-भवान्तरगतिपरिणाम प्रयोजनम्।

एवं प्रमाणकृतोऽपि तेषां परस्पर भेदो भवति।

तथाहि- औदारिक तावत सातिरेक योजनसहस्रम्, वैक्रिय योजनलक्षप्रमाण भवति। आहारक रत्निप्रमाणम्, तैजस कार्मण लोकायामप्रमाणे भवत । एव प्रदेशसंख्यातोऽपि भेदस्तेषां परस्पर भवति, तैजसात प्राक् औदारिकादिप्रदेशतोऽसंख्येयगुण भवति, तैजस-कार्मण च-अनन्तगुण भवति ।

एवमवगाहनतोऽपि विशेषो बोध्य तथाहि-सातिरेकयोजनसहस्रप्रमाणमौदारिकमसंख्येयगुणप्रदेशेषु यावत्सु अवगाढं भवति, ततो बहुतरासंख्येयप्रदेशावगाढ योजनलक्षप्रमाण वैक्रिय

स्वामी की अपेक्षा भी शरीरो मे भेद है। वह इस प्रकार औदारिक शरीर मनुष्यो और तिर्यचो को होता है, वैक्रिय देवो और नारको को होता है और किसी किसी मनुष्य एव तिर्यच को हो सकता है। आहारक चौदहपूर्वो के धारक मुनियो को ही होता है। तैजस और कार्मण सब ससारी जीवो को होते है।

प्रयोजन की अपेक्षा भी शरीरो मे भेद है—धर्म, अधर्म, सुख, दुःख एव केवलज्ञान की प्राप्ति आदि औदारिक शरीर का प्रयोजन है। स्थूलता, सूक्ष्मता, एकता, अनेकता, आकाशगमन भूमिगमन आदि अनेक विभूतियो की प्राप्ति वैक्रिय शरीर का प्रयोजन है। सूक्ष्म, गहन, दुर्ज्ञेय अर्थ के विषय मे समाधान प्राप्त करना आहारक शरीर का प्रयोजन है। आहार को पचाना आदि तैजस शरीर का प्रयोजन है और भवान्तर मे गति होना कार्मण शरीर का प्रयोजन है।

प्रमाण की अपेक्षा भी शरीरो मे भेद है। यथा—औदारिकशरीर का प्रमाण कुछ अधिक एक हजार योजन वैक्रिय का एक लाख योजन, आहारक का एक हाथ और तैजस तथा कार्मण का लोक के बराबर है।

प्रदेशो की सख्या की अपेक्षा भी शरीरो में भेद है। यथा—औदारिक से वैक्रिय और वैक्रिय से आहारक शरीर के प्रदेश असख्यातगुणित है,। आहारक से तैजस और तैजस से कार्मण शरीर के प्रदेश अनन्तगुणा है।

अवगाहना से भी उनमे भेद है, यथा—किंचित् अधिक एक हजार अधिक योजन प्रमाण वाला औदारिक शरीर लोक के असख्यातवे भाग मे अवगाढ होता है, एक लाख योजन प्रमाण वाला वैक्रिय शरीर उनकी अपेक्षा अधिक प्रदेशो मे अवगाढ होता है। आहारक शरीर

भवति । ताभ्यामल्पप्रदेशावगाढमाहारकं भवति । तस्य हस्तमात्रत्वात् । तैजसकार्मणे च-लोकान्तायताऽऽकाशश्रेण्यवगाढे भवत ।

एवं तेषां स्थितिकृतोऽपि भेदो भवति । तथाहि—औदारिकं शरीर जघन्येनाऽन्तर्मुहूर्तस्थितिक भवति, उत्कृष्टेन—त्रिपल्योपमस्थितिकम् । वैक्रिय आहारकमन्तर्मुहूर्तस्थितिकमेव । तैजसकार्मणे च सन्तानानुरोधात् अभव्यसम्बन्धितया—अनाद्यपर्यवसाने भवत' । भव्यसम्बन्धितया चाऽनादिसपर्यवसाने ।

एवमल्पबहुत्वकृतोऽपि भेदो भवति सर्वस्तोकमाहारकं यदि सम्भवति कदाचिन्नापि सम्भवति यतस्तस्यान्तरमुक्त—जघन्येनैकसमय , उत्कृष्टेन षण्मासा तद्यदि भवति तदा जघन्येन एकमादिकृत्वा यावदुत्कृष्टतो नवसहस्राणि आहारकशरीराणि युगपद् भवन्ति ।

आहारकाद् वैक्रियाणि—असख्येयगुणानि भवन्ति । नारकदेवानामसंख्येयत्वात् असख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिणी समयराशिसमसख्यकानि, वैक्रियशरीरापेक्षया—औदारिकशरीराणि असंख्येयगुणानि तिर्यङ्मनुष्याणामसख्येयत्वात् असंख्योत्सर्पिण्यवसर्पिणी समयराशिसमसंख्यानि । अथ तिरश्चामनन्तत्वात् कथ तेषामानन्त्ये सति असख्येयानि शरीराणि स्युरिति चेत्—

उच्यते प्रत्येकशरीराणा तिरश्चामसख्येयानि शरीराणि साधारणानामनन्तत्वात् तेषामनन्तानामेक शरीरं भवति । अतोऽसंख्यातानि, न तु—अनन्तानामपि प्रत्येकं शरीर भवति । तस्मात्—तिरश्चां शरीराणि असख्येयान्येव न पुनरनन्तानि इति भाव' ।

इन दोनो से कम प्रदेशो में अवगाढ होता है, क्योकि उसका प्रमाण एक हाथ का ही होता है तैजस और कार्मण शरीर लोकपर्यंत लम्बी आकाशश्रेणी मे अवगाहन करते है ।

स्थिति की दृष्टि से भी शरीरो में भेद है, यथा—औदारिक शरीरकी स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट तीन पल्योपम की है । वैक्रिय शरीर तेतीस सागरोपम तक रहता है । आहारक की स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त मात्र की है । तैजस और कार्मण शरीर प्रवाह की अपेक्षा अनादि एव अभव्य की अपेक्षा अनन्त तथा भव्य की अपेक्षा सान्त है ।

अल्पवहुत्व की अपेक्षा से भी शरीरो में भेद है, यथा—आहारक शरीर सबसे थोडे है । कदाचित् होते है, कदाचित् नहीं भी होते । उनका अन्तर जघन्य एक समय का और उत्कृष्ट छह मास का है । आहारक शरीर यदि हो तो जघन्य एक हो और अधिक से अधिक एक साथ नौ हजार तक होसकते है । आहारक की अपेक्षा वैक्रियक शरीर असख्यात है—असख्यात उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालो की समय राशि के बरावर है, और सब नारक तथा देव वैक्रिय शरीरी ही होते है । वैक्रिय की अपेक्षा औदारिक शरीर असख्यातगुणा है, असख्यात उत्सर्पिणी —अवसर्पिणी कालो की समय राशि के बरावर है ।

शका—तिर्यंच अनन्त है, ऐसी स्थिति मे उनके शरीरी असख्यात ही क्यो कहे ?

समाधान—प्रत्येक शरीरी तिर्यंचो के असख्यात शरीर होते है । यद्यपि साधारण निगोद काय के तिर्यन्च अनन्तसख्यक है, मगर उनके अलग-अलग शरीर नहीं होते, बल्कि अनन्त

औदारिकशरीरेभ्य स्तैजसकार्मणानि अनन्तगुणानि भवन्ति । तैजसकार्मणानि प्रत्येक ससारिणा सर्वजीवाना भवन्ति, तस्मात्—अनन्तानि, न तु—बहूना जीवानामेक तैजस—कार्मण वा भवतीति भाव' । इत्येव नवभ्यो विशेषेभ्य कारणेभ्य औदारिकादिशरीरगणां नानात्व सिद्धम् ।

इदमत्र बोध्यम्—अन्तर्गतौ तैजसकार्मणे केवले भवत', भवस्थताया तैजसकार्मणे—औदारिक चेति त्रीणि युगपद् भवन्ति । अथवा—तैजसकार्मणे च वैक्रिय चेति त्रीणि बोध्यानि । तिर्यङ्मनुष्याणा तैजसकार्मणौदारिकै सह लब्धिप्रत्ययवैक्रियशरीरसद्भावे युगपदविच्छिन्नप्रदेशत्वात् चत्वारि भवन्ति । चतुर्दशपूर्वधरमनुष्यस्याऽऽहारकलब्धौ सत्यां तैजसकार्मणौदारिकै सह लब्धिप्रत्ययाहारकशरीरसद्भावे युगपदेव चत्वारि भवन्ति ।

कमलनालतन्तुवदेवाऽविच्छेदेन एकजीवप्रदेशे'चतुष्टयमपि प्रतिबद्धमवगन्तव्यम् । अनुत्पन्नलब्धे' ससारिणो जीवस्य तैजसकार्मणौदारिकाणि त्रीणि भवन्ति । अथवा कार्मणवैक्रिये देवनारकाणाम् । अनुत्पन्नलब्धीना तिर्यङ्मनुष्याणां तैजसकार्मणौदारिकाणि युगपद् भवति । अनुत्पन्नवैक्रियलब्धेश्चतुर्दशपूर्वधरमनुष्यस्य तैजसकार्मणौदारिकाहारकाणि वा भवन्ति ।

साधारण जीवो का एक ही शरीर होता है। अतएव जीव अनन्त होने पर भी उनके शरीर असख्यात ही होते है, अनन्त नहीं ।

औदारिक शरीर की अपेक्षा तैजस और कार्मण शरीर अनन्तगुणा है, क्योकि ये दोनो शरीर समस्त ससारी जीवो को होते है और सब को अलग-अलग होते है । औदारिक शरीर के समान अनन्त जीवो का एक ही तैजस या कार्मण शरीर नहीं होता ।

इस प्रकार औदारिक आदि शरीरो मे उक्त नौ आधारों से भेद होता है ।

यहाँ यह समझ लेना चाहिए—की विग्रहगति के समय सिर्फ तैजस और कार्मण दो शरीर होते है भवस्थ दशा मे तैजस, कार्मण और औदारिक ये तीन अथवा तैजस, कार्मण और वैक्रिय, ये तीन होते हैं तिर्यचो और मनुष्यो को तैजस, कार्मण और औदारिक शरीर के साथ जब लब्धिनिमित्तक वैक्रिय शरीर भी प्राप्त होता है तो एक साथ चार शरीर भी पाये जाते है । चतुर्दशपूर्वधारक मुनि को आहारकलब्धि प्राप्त हो और वह आहारक शरीर बनावे तो उस समय तैजस, कार्मण और औदारिक शरीर के साथ आहारक के होने से भी चार शरीर हो सकते है ।

जब एक जीव में चार शरीर एक साथ होते है तो जीव के प्रत्येक प्रदेश के साथ चारो शरीर का सबध होता है ।

इस प्रकार लब्धिरहित ससारी जीव को तीन शरीर होते है—तैजस, कार्मण, औदारिक यदि वह देव या नारक हो तो औदारिक के बदले वैक्रिय शरीर होता है । वैक्रियलब्धि से रहित और आहारकलब्धि से सम्पन्न चतुर्दशपूर्वधर मनुष्य को तैजस, कार्मण, औदारिक तथा आहारक, ये चार शरीर होते है । अगर किसी मनुष्य या तिर्यन्च को वैक्रियलब्धि प्राप्त हो तो उसके तैजस, कार्मण, औदारिक तथा वैक्रय, ये चार शरीर एक साथ पाये जाते

भवति । ताभ्यामल्पप्रदेशावगाढमाहारक भवति । तस्य हस्तमात्रत्वात् । तैजसकार्मण च-लोकान्तायताऽऽकाशश्रेण्यवगाढे भवत ।

एवं तेषां स्थितिकृतोऽपि भेदो भवति । तथाहि—औदारिक शरीर जघन्येनाऽन्तर्मुहूर्तस्थितिक भवति, उत्कृष्टेन—त्रिपल्योपमस्थितिकम् । वैक्रिय आहारकमन्तर्मुहूर्तस्थितिकमेव । तैजसकार्मणे च सन्तानानुरोधात अभव्यसम्बन्धितया—अनाद्यपर्यवसाने भवत । भव्यसम्बन्धितया चाऽनादिसपर्यवसाने ।

एवमल्पबहुत्वकृतोऽपि भेदो भवति सर्वस्तोकमाहारक यदि सम्भवति कदाचिन्नापि सम्भवति यतस्तस्यान्तरमुक्त—जघन्येनैकसमय , उत्कृष्टेन पण्मासा तद्यदि भवति तदा जघन्येन एकमादिकृत्वा यावदुत्कृष्टतो नवसहस्राणि आहारकशरीराणि युगपद भवन्ति ।

आहारकाद् वैक्रियाणि—असख्येयगुणानि भवन्ति । नारकदेवानामसख्येयत्वात् असख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिणी समयराशिसमसख्यकानि, वैक्रियशरीरापेक्षया—औदारिकशरीराणि असख्येयगुणानि तिर्यङ्मनुष्याणामसख्येयत्वात् असंख्योत्सर्पिण्यवसर्पिणी समयराशिसमसख्यानि । अथ तिरश्चामनन्तत्वात् कथ तेषामानन्त्ये सति असख्येयानि शरीराणि स्युरिति चेत्—

उच्यते प्रत्येकशरीराणा तिरश्चामसख्येयानि शरीराणि साधारणानामनन्तत्वात् तेषामनन्तानामेक शरीर भवति । अतोऽसख्यातानि, न तु—अनन्तानामपि प्रत्येक शरीर भवति । तस्मात्—तिरश्चां शरीराणि असख्येयान्येव न पुनरनन्तानि इति भाव ।

इन दोनो से कम प्रदेशो में अवगाढ होता है, क्योकि उसका प्रमाण एक हाथ का ही होता है तैजस और कार्मण शरीर लोकपर्यंत लम्बी आकाशश्रेणी में अवगाहन करते है ।

स्थिति की दृष्टि से भी शरीरो मे भेद है, यथा—औदारिक शरीरकी स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट तीन पल्योपम की है । वैक्रिय शरीर तेतीस सागरोपम तक रहता है । आहारक की स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त मात्र की है । तैजस और कार्मण शरीर प्रवाह की अपेक्षा अनादि एव अभव्य की अपेक्षा अनन्त तथा भव्य की अपेक्षा सान्त है ।

अल्पबहुत्व की अपेक्षा से भी शरीरो में भेद है, यथा—आहारक शरीर सबसे थोडे है । कदाचित् होते है, कदाचित् नहीं भी होते । उनका अन्तर जघन्य एक समय का और उत्कृष्ट छह मास का है । आहारक शरीर यदि हो तो जघन्य एक हो और अधिक से अधिक एक साथ नौ हजार तक होसकते है । आहारक की अपेक्षा वैक्रियक शरीर असख्यात है—असख्यात उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालो की समय राशि के बराबर है, और सब नारक तथा देव वैक्रिय शरीरी ही होते है । वैक्रिय की अपेक्षा औदारिक शरीर असख्यातगुणा है, असख्यात उत्सर्पिणी —अवसर्पिणी कालो की समय राशि के बराबर है ।

शका—तिर्यंच अनन्त है, ऐसी स्थिति में उनके शरीरी असख्यात ही क्यो कहे ?

समाधान—प्रत्येक शरीरी तिर्यंचों के असख्यात शरीर होते है । यद्यपि साधारण निगोद काय के तिर्यन्च अनन्तसख्यक है, मगर उनके अलग-अलग शरीर नहीं होते, बल्कि अनन्त

औदारिकशरीरेभ्य स्तैजसकार्मणानि अनन्तगुणानि भवन्ति। तैजसकार्मणानि प्रत्येक ससारिणा सर्वजीवाना भवन्ति, तस्मात्—अनन्तानि, न तु—बहूना जीवानामेकं तैजस—कार्मण वा भवतीति भाव। इत्येव नवभ्यो विशेषेभ्य कारणेभ्य औदारिकादिशरीरगणा नानात्वं सिद्धम्।

इदमत्र बोध्यम्—अन्तर्गतौ तैजसकार्मणे केवले भवत', भवस्थताया तैजसकार्मणे—औदारिक चेति त्रीणि युगपद् भवन्ति। अथवा—तैजसकार्मणे च वैक्रियं चेति त्रीणि बोध्यानि। तिर्यङ्मनुष्याणा तैजसकार्मणौदारिकै सह लब्धिप्रत्ययवैक्रियशरीरसद्भावे युगपदविच्छिन्नप्रदेशत्वात् चत्वारि भवन्ति। चतुर्दशपूर्वधरमनुष्यस्याऽऽहारकलब्धौ सत्या तैजसकार्मणौदारिकै सह लब्धिप्रत्ययाहारकशरीरसद्भावे युगपदेव चत्वारि भवन्ति।

कमलनालतन्तुवदेवाऽविच्छेदेन एकजीवप्रदेशै'चतुष्टयमपि प्रतिबद्धमवगन्तव्यम्। अनुत्पन्नलब्धे' ससारिणो जीवस्य तैजसकार्मणौदारिकाणि त्रीणि भवन्ति। अथवा कार्मणवैक्रिये देवनारकाणाम्। अनुत्पन्नलब्धीनां तिर्यङ्मनुष्याणां तैजसकार्मणौदारिकाणि युगपद् भवति। अनुत्पन्नवैक्रियलब्धेश्चतुर्दशपूर्वधरमनुष्यस्य तैजसकार्मणौदारिकाहारकाणि वा भवन्ति।

साधारण जीवो का एक ही शरीर होता है। अतएव जीव अनन्त होने पर भी उनके शरीर असख्यात ही होते है, अनन्त नहीं।

औदारिक शरीर की अपेक्षा तैजस और कार्मण शरीर अनन्तगुणा है, क्योकि ये दोनो शरीर समस्त ससारी जीवो को होते है और सब को अलग-अलग होते है। औदारिक शरीर के समान अनन्त जीवो का एक ही तैजस या कार्मण शरीर नहीं होता।

इस प्रकार औदारिक आदि शरीरो में उक्त नौ आधारो से भेद होता है।

यहाँ यह समझ लेना चाहिए—की विग्रहगति के समय सिर्फ तैजस और कार्मण दो शरीर होते हैं भवस्थ दशा में तैजस, कार्मण और औदारिक ये तीन अथवा तैजस, कार्मण और वैक्रिय, ये तीन होते है तिर्यंचो और मनुष्यो को तैजस, कार्मण और औदारिक शरीर के साथ जब लब्धिनिमित्तक वैक्रिय शरीर भी प्राप्त होता है तो एक साथ चार शरीर भी पाये जाते है। चतुर्दशपूर्वधारक मुनि को आहारकलब्धि प्राप्त हो और वह आहारक शरीर बनावे तो उस समय तैजस, कार्मण और औदारिक शरीर के साथ आहारक के होने से भी चार शरीर हो सकते है।

जब एक जीव में चार शरीर एक साथ होते है तो जीव के प्रत्येक प्रदेश के साथ चारो शरीर का सबध होता है।

इस प्रकार लब्धिरहित ससारी जीव को तीन शरीर होते है—तैजस, कार्मण, औदारिक यदि वह देव या नारक हो तो औदारिक के बदले वैक्रिय शरीर होता है। वैक्रियलब्धि से रहित और आहारकलब्धि से सम्पन्न चतुर्दशपूर्वधर मनुष्य को तैजस, कार्मण, औदारिक तथा आहारक, ये चार शरीर होते हैं। अगर किसी मनुष्य या तिर्यन्च को वैक्रियलब्धि प्राप्त हो तो उसके तैजस, कार्मण, औदारिक तथा वैक्रय, ये चार शरीर एक साथ पाये जाते

उत्पन्नलब्धीना मनुष्यतिर्यञ्चा कार्मणतैजसौदारिकवैक्रियाणि युगपच्चत्वारि भवन्ति । चतुर्दशपूर्वधरमनुष्यस्याऽनुत्पन्नवैक्रियलब्ध कार्मणतैजसौदारिकाहारकाणि युगपच्चत्वारि भवन्ति । पञ्चशरीराणि तु न युगपद् भवन्ति कदापि नापि—वैक्रियाहारके युगपद् भवत लब्धिद्वयाऽभावात् इति भाव ॥३५॥

मूलसूत्रम् — "कम्मए सव्वेसिं—" ॥३६॥

छाया—कार्मणं सर्वेषाम् ॥३६॥

तत्वार्थदीपिका - पूर्व तावत् आहारकशरीरस्वरूप प्ररूपितम् सम्प्रति क्रमप्राप्त कार्मण शरीरस्वरूप प्ररूपयितुमाह 'कम्मए सव्वेसिं' इति कार्मणम् कर्मणा निमित्तम् कार्मण कार्य वा, कार्मण शरीर सर्वेषामौदारिकादिशरीराणा निबन्धन-कारण भवति यदा-जीव एक शरीर विहाय-उत्तरशरीर प्रति गच्छति, तदा कार्मणशरीरेण सह तस्य योग -सम्बन्धतिर्भवति तथा च कार्मण-शरीराधारेण जीवो गत्यन्तरं गच्छति ।

अत एव सर्वशरीरप्ररोहणबीजभूत कार्मण शरीर बोध्यम् एतच्च-ज्ञानावरणादिकर्मणो विकाररूप- कर्ममय वा कार्मण शरीर भवति तस्य ज्ञानावरणादिकर्मव्यतिरिक्त कारण न वर्तते कार्मणस्य कर्ममात्रतया कर्मस्वभाववत्वात्, सर्वेषा च ससारिणा जीवाना कार्मणं शरीर भवति विग्रहगतौ खलु—जीवाना कार्मणशरीरकृत एव वाङ्मन कायवर्गणा निमित्तक आत्मप्रदेशपरिस्पन्दन-रूपो योगो भवति ॥३६॥

है । इस प्रकार अधिक से अधिक एक जीव मे चार ही शरीर का सम्भव है, पाच का नहीं, क्यो कि जब वैक्रिय शरीर होता है तो आहारक शरीर नहीं हो सकता और आहारक शरीर होता है तो वैक्रिय शरीर नहीं हो सकता । इसका भी कारण यह है कि एक साथ ये दोनो लब्धियाँ नहीं होती है ॥३५॥

मूलसूत्रार्थ—"कम्मए सव्वेसिं' सूत्र ॥३६॥

कार्मण शरीर सब शरीरो का कारण है ॥३६॥

तत्त्वार्थदीपिका—पहले आहारकशरीर का निरूपण किया गया है, अब अन्तिम कार्मण शरीर का निरूपण किया जाता है—

कर्म के द्वारा निर्मित अथवा कर्म का कार्य कार्मण शरीर औदारिक आदि सब शरीरो का कारण है ।

जीव जब एक शरीर का त्याग करके भावी शरीर को प्राप्त करने के लिए गमन करता है अर्थात् विग्रहगति में होता है, उस समय कार्मण शरीर के द्वारा ही उसका योग अर्थात् प्रयत्न होता है । कार्मण शरीर के द्वारा होने वाले प्रयत्न से ही वह दूसरी गति मे जाता है ।

इस प्रकार कार्मण शरीर अन्य समस्त शरीरो को उत्पन्न करने के लिए बीज के समान है । वह ज्ञानावरण आदि कर्मों के सिवाय उसका अलग कोई कारण नहीं है । वस्तुत कार्मण शरीर कर्मस्वरूप ही है । यह शरीर समस्त ससारी जीवो को प्राप्त होता है । योग का अर्थ है—वचन, मन और काय के निमित्त से आत्मा के प्रदेशो मे होने वाला परिस्पन्दन अर्थात् हलन—चलन ॥३६॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—कार्मण च शरीरमेषा सर्वेषामौदारिकदीनां शरीराणा निबन्धन कारण वीजं वर्तते सकलशक्त्याधारत्वात् चित्रकर्मण कुड्यवत् भवप्रपञ्चबीजभूतस्य कार्मणशरीरस्य समूलच्छेदे तु प्रक्षालितसकल्मषा सन्तो न पुन शरीराणि समाश्रयन्ति. एवंविध चेद कार्मण ज्ञानावरणादिभ्य. कर्मभ्यो जायते न पुनरन्यत् तस्य कारणमस्ति तथा च—ज्ञानावरणादिकं कर्म तदात्मकत्वात् कार्मणस्य कारणम् अन्येषां चौदारिकादिशरीराणाम् ।

आदित्यप्रकाशवत् न स्वात्मनि क्रियाविरोध सम्भवति यथा-सविता स्वमण्डलं प्रकाशयति अन्यानि च घटपटादीनी प्रकाशयन्ति न हि स्वेतर कश्चित्पदार्थ· सवितृमण्डलस्य प्रकाशको भवति अनवस्थाप्रसक्ते एव ज्ञानावरणादिकर्मव्यतिरिक्त न कार्मणस्य कारण सम्भवति, कार्मणस्य कर्ममात्रतया कर्मस्वभाववत्वात् इति भाव· ॥३६॥

मूलसूत्रम्—"वेए तिविहे—"

छाया—"वेदस्त्रिविधः—"

तत्वार्थदीपिका—पूर्व तावद्- औदारिकादिपञ्चशरीराणि प्ररूपितानि सम्प्रति-तानि शरीराणि यथायोग्य धारयतां जीवाना केषा चित् पुंवेद केषांचिद् नपुसकवेद· केषाञ्चित्

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—कार्मण शरीर औदारिक आदि सब शरीरो का कारण है । जैसे चित्र-कर्म का आधार दीवार होती है, उसी प्रकार यह कर्म सकल शक्ति का आधार है । भवपरम्परा के कारणभूत इस कर्म का जब समूल उच्छेद हो जाता है तो समस्त कल्मष धुल जाते हैं और जीव फिर किसी भी शरीर को धारण नहीं करते । यह कार्मण शरीर ज्ञानावरणीय आदि कर्मों से उत्पन्न होता है । इसका अन्य कोई कारण नहीं है ।

ज्ञानावरण आदि कर्म, कार्मण शरीर रूप होने से कार्मण शरीर के कारण है । उनमें सूर्य के प्रकाश के समान अपने आपमें क्रिया का विरोध नहीं है । जैसे सूर्य अपने मण्डल को भी प्रकाशित करता है और घट पट आदि अन्य पदार्थों को भी प्रकाशित करता है—सूर्यमण्डल को प्रकाशित करने के लिए किसी अन्य प्रकाश की आवश्यकता नहीं होती । यदि सूर्यमण्डल को प्रकाशित करने के लिए अन्य प्रकाश की आवश्यकता मानी जाय तो अनवस्थादोष का प्रसग आता है, अर्थात् उस प्रकाश को प्रकाशित करने के लिए भी अन्य प्रकाश की आवश्यकता माननी पड़ेगी और उसके लिए भी अन्य प्रकाश की । इस प्रकार मानते-मानते कहीं विराम ही नहीं होगा ।

इसी प्रकार ज्ञानावरण आदि कर्मों से भिन्न कार्मण शरीर का कोई कारण नहीं । कार्मण शरीर कर्मस्वरूप ही है, कर्म-समुदाय रूप ही है ॥३६॥

मूलसूत्रार्थ—"वेए तिविहे"

वेद तीन प्रकार का है ॥३७॥

तत्त्वार्थदीपिका—पहले औदारिक आदि पाँच शरीरों की प्ररूपणा की गई है, अब यह

स्त्रीवेदो भवतीति प्रतिपादयितुं पुस्त्वादिवेदत्रय प्ररूपयति—" वेए तिविहे" इति ।

वेद'—वेदनं वेद', वेद्यते वा वेद -लिङ्गम्, अभिलापविशेषो वा स च वेदस्त्रिविध पुस्त्व-स्त्रीत्वं-नपुसकत्वञ्चेति तञ्च-लिङ्गं द्विविधम्, द्रव्यलिङ्ग-भावलिङ्गम् तत्र द्रव्यलिङ्गे तावद् योनि लिङ्गादि नामकर्मोदयनिष्पादित भवति भावलिङ्ग पुनर्नोकपायोदयविशेषापादितवृत्तिरूप भवति । तत्र—पुंवेदोदयात् सूते—अपत्य जनयति इति पुमान्-पुंस्त्वम्

स्त्रीवेदोदयात् स्त्यायति-अस्या गर्भ इति स्त्री स्त्रीत्वम् नपुसकवेदोदयात् तदुभयशक्तिविकल नपुंसक नपुंसकत्वमुच्यते तथाच—हास्यरत्यरत्यादिनवविधेपु नोकपायवेदनीयेपु वेदस्त्रिविध' पुरुषवेद-स्त्रीवेद-नपुंसकवेदभेदात् तत्र पुरुपवेदोदयात्— अनेकाकारासु स्त्रीप्वभिलापो भवति उद्रिक्त श्लेष्मण आम्रफलाभिलाषवत् ।

एवं सङ्कल्पविषयीभूतासु स्त्रीष्ववपि अभिलापो वोध्य एवं स्त्रीवेदोदयात् पुरुपेप्वभिलाषो भवति एव सङ्कल्पजातेपु पुरुपेप्वपि अभिलापो वोध्य एव नपुसकवेदोदयात् कस्यचित् पुरुप

बतलाते है कि उन शरीरो को धारण करने वाले जीवो में कोई स्त्री वेद वाला होता है, कोई पुरुषवेद वाला होता है । यह वतलाने के लिए पहले वेद के भेद वतलाते है—

एक प्रकार के वेदन को अथवा जिसके कारण वह वेदन हो, उसे वेद कहते है । वेद एक प्रकार की अभिलाषा है और लिंग को भी वेद कहते है ।

वेद के तीन भेद है—पुवेद, स्त्रीवेद, नपुसकवेद । लिंग दो प्रकार के है द्रव्यलिंग और भावलिंग । योनिनामकर्म और लिंगनामकर्म के उदय से द्रव्यलिंग उत्पन्न होता है । भावलिंग की उत्पत्ति नोकषायमोहनीय कर्म के उदय से होती है ।

(२) पुवेद के उदय से पुमान् (पुरुष) होता है । सस्कृतभाषा के अनुसार इस शब्द की व्युत्पत्ति है—'सूते अपत्य' इति पुमान्' अर्थात् जो सन्तान को उत्पन्न करे (१) स्त्रीवेद के उदय से जिसमें गर्भ जमता है, उसे स्त्री कहते है (३) नपुंसकवेद के उदय से जो जीव पूर्वोक्त दोनो शक्तियो से हीन होता है अर्थात् न सन्तान उत्पन्न कर सकता है और न गर्भ धारण कर सकता है, वह नपुसक कहलाता है ।

इस प्रकार हास्य, रति, अरति आदि नौ प्रकार के नोकषायवेदनीय के भेदो मे एक जो वेद है, उसके तीन प्रकार है—१ पुरुषवेद, २ स्त्रीवेद और ३ नपुसकवेद ।

पुरुषवेद के उदय से स्त्री की अभिलाषा उत्पन्न होती है जैसे कफ के प्रकोप वाले पुरुष को आम्रफल आदि की इच्छा होती है । इसी प्रकार **संकल्प की विषयभूत स्त्रियो में भी अभिलाषा** समझ लेनी चाहिए । इसी स्त्रीवेद के उदय से पुरुषो के प्रति अभिलाषा उत्पन्न होती है । सकल्प जनित पुरुषो के प्रति भी इसी के कारण अभिलाषा होती है । नपुसकवेद के उदय से किसी को पुरुष और स्त्री—दोनों की अर्थात् दोनों के साथ रमण करने की -

स्त्रीद्वयविषयाभिलाषो भवति धातुद्वयोदये सति मार्जितादि द्रव्याभिलाषवत् कस्याचित्पुन पुरुषेष्वेवाबिलाषो जायते इति भावः ॥३७॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सादिनवविधे नोकषायवेदनीये वेदस्त्रिविधः प्रज्ञप्त' स्त्रीवेद' पुरुषवेद' नपुंसकवेदश्च तत्र वेदनं वेदोऽभिलापविशेष अयम्भाव. मोहनीयबन्धो द्विविध दर्शनमोहनीय' चारित्रमोहनीयश्च तत्र दर्शनमोहनीयबन्धस्त्रिविध. मिथ्यात्ववेदनीयसम्यक्त्ववेदनीयसम्यग्मिथ्यात्ववेदनीयभेदात्। चारित्रमोहनीयबन्धश्च द्विविध , कषाय-वेदनीय—नोकषायवेदनीयभेदात् । तत्र—कषायवेदनीयबन्ध. षोडशभेद' क्रोध-मान माया-लोभाः प्रत्येकम् अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यान-कषाय-प्रत्याख्यानकषाय-सञ्ज्वलनकषायभेदात् षोडशभेदा भवन्ति

नोकषायवेदनीयं नवविधम्, हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सापुरुषवेदस्त्रीवेदनपुसकवेदभेदात् तत्र—पुरुषवेदमोहोदयात्—अनेकाकारासु स्त्रीष्वभिलाषो भवति उद्रिक्तश्लेष्मण आम्रफलाभिलाषवत् तथा सङ्कल्पजास्वपि स्त्रिषु—अभिलाष स्त्रीवेदमोहोदयात् पुरुषेष्वभिलाषो भवति एवं सङ्कल्पजेषु च पुरुषेष्वभिलाषः।

लाषा उत्पन्न होती है। जैसे दो धातुओ के कुपित होने पर मार्जित आदि द्रव्यों की अभिलाषा होती है। किसी—किसी को सिर्फ पुरुषो के साथ रमण करने की इच्छा होती है ॥३७॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुसकवेद, यह नोकषायवेदनीय कर्म के नौ भेद है। इन नौ भेदों में तीन वेदो की गणना की गई है। एक विशेष प्रकार के वेदन या अभिलाषा को वेद कहते है। आशय यह है—मोहनीय कर्म दो प्रकार का है—दर्शनमोहनीय और २ चारित्रमोहनीय। दर्शनमोहनीय के तीन भेद है—१ मिथ्यात्वमोहनीय, २ सम्यक्त्वमोहनीय और सम्यग्मिथ्यात्वमोहनीय मिश्रमोहनीय। चारित्रमोहनीय कर्म के दो भेद है—कषायमोहनीय और नोकषायमोहनीय। इनमें से कषाय-मोहनीय के सोलह भेद है—क्रोध, मान, माया, और लोभ, और इन चारो के अनन्तानुबधी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और सज्वलन के भेद से चार—चार भेद होने से सोलह भेद हो जाते है।

नोकषायमोहनीय के नौ भेद है—हास्यादि पूर्वोक्त तीन वेदो की गणना इसी के अन्तर्गत है। इनमें से पुरुष वेदमोहकर्म के उदय से स्त्री की अभिलाषा उत्पन्न होती है, जैसे कफ के कुपित होने पर आम्रफल का सेवन करने की अभिलाषा होती है। इसी प्रकार स्त्री विषयक सकल्पजनित स्त्रियों के प्रति भी अभिलाषा पैदा होती है। जब स्त्रीवेद का उदय होता है तो पुरुष के प्रति अभिलाषा उत्पन्न होती है। साथ ही संकल्पज पुरुषों की भी अभिलाषा होती है।

नपुंसकवेदमोहोदयात् कस्यचित् स्त्रीपुरुषद्वयविषयोऽभिलाष प्रादुर्भवति, धातुद्वयोदये सति मार्जितादिद्रव्याऽभिलाषवत् । कस्यचित्पुन पुरुषेष्वेवाऽभिलाषो भवति.सङ्कल्पजविषये चाऽनेकरूपोऽभिलाषो भवति ।

तथोक्त समवायाङ्गसूत्रे "कइविहे ण भते ! वेए पण्णत्ते ? गोयमा ! तिविहे वेए पण्णत्ते तं जहा—इत्थीवेए-पुरिसवेए-नपुंसकवेए—इति । कतिविध खलु भदन्त ! वेद प्रज्ञप्त ? गौतम ! त्रिविधो वेद प्रज्ञप्त । तद्यथा—स्त्रीवेद पुरुषवेदो नपुसकवेद इति ॥३७॥

मूलसूत्रम्—'देवे दुवेए, इत्थीवेए पुरिसवेए य—

छाया—देवो द्विवेदः स्त्रीवेदः पुरुषवेदश्च—

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वं तावद् वेद पुस्त्व-स्त्रीत्व-नपुंसकत्ववेदभेदेन त्रिविध प्रतिपादित सम्प्रति-नैरयिकदेवतिर्यग्योनिकमनुष्यादि गर्भव्युत्क्रान्तिकसम्मूर्च्छिमौपपातिकजीवाना मध्ये केषां कियन्तो वेदा भवन्तीति सूत्रत्रयेण प्ररूपयितु प्रथम देवाना द्विवेदमाह—

"देवे दुवेए, इत्थीवेए—पुरिसवेए य—" इति । देवस्तावत् चतुर्विधोऽपि भवनपति-वानव्यन्तर-वैमानिकरूपो द्विवेदो भवति, द्वौ वेदौ पुस्त्वं-स्त्रीत्वरूपौ यस्याऽसौ द्विवेद । तद्यथा—स्त्रीवेद. पुरुषवेदश्च एवञ्च—चतुर्निकाया अपि देवा नपुसकवेदिनो न भवन्ति अपितु—पुंवेदिन स्त्री-वेदिनश्च । तत्र—केचन पुंवेदिन केचन पुनः स्त्रीवेदवदिनो भवन्ति । तत्र भवनपति—वानव्यन्तर—ज्योतिष्क—सौधर्मे—शानद्वयवैमानिकेषु उपपातो वेदद्वयमपि भवति ।

नपुसकवेद का उदय होने पर किसी—किसी को स्त्री और पुरुष, दोनो की इच्छा उत्पन्न होती है, जैसे वातादि दो धातुओ के कुपित होने पर मार्जित द्रव्य की इच्छा होती है । कसी किसी को पुरुषो के प्रति ही अभिलाषा जाग्रत होती है । सकल्पज विषय मे भी अनेक प्रकार की अभिलाषा होती है । समवायांग सूत्र मे कहा है—

प्रश्न—भगवन् ! वेद कितने प्रकार का कहा है ?

उत्तर—गौतम ! वेद तीन प्रकार का कहा है—स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद ॥३७॥

मूलसूत्रार्थ—"देवे दुवेए इत्थीवेए पुरिसवेए" सूत्र ३८

देव दो वेद वाले ही होते है—स्त्रीवेद वाले और पुरुषवेद वाले ॥३८॥

तत्त्वार्थदीपिका—पहले वेद के तीन भेद बतलाए जा चुके है, अब तीन सूत्रो में यह बतलाएँगे कि देव, नारक, तिर्यंच, मनुष्य, गर्भज, सम्मूर्च्छिम, एवं औपपातिक जीवो में से किनके कितने वेद होते है ? सर्वप्रथम देवो मे वेद का प्रतिपादन करते है—

भवनपति, वानव्यन्तर, ज्योतिष्क, और वैमानिक, इन चारो प्रकारो के देवों में दो ही वेद होते है—स्त्रीवेद और पुरुषवेद । तात्पर्य यह है कि चारों निकायों के देव नपुसकवेदी नहीं होते, सिर्फ स्त्रीवेदी और पुरुषवेदी ही होते हैं । भवनपति, वानव्यन्तर, ज्योतिष्क तथा सौधर्म और ऐशान विमान के वैमानिकों मे दोनो वेद वालो की उत्पत्ति होती है । जे-.

यथा-ऽसुरकुमारा —असुरकुमार्यश्च नागकुमारा —नगकुमार्यश्चेत्यादिरीत्या—ऽसुरकुमारा-दीशान्तेषु पुंवेदिन· केचिद्देवा भवन्ति· स्त्रीवेदिन्य काश्चिद्देव्यो·श्च भवन्ति। तेषु शुभगतिनामकर्मोदया-पेक्षनिरतिशयसुखविशेषरूपपुरुत्वस्त्रीत्ववेदानुभवात् सनत्कुमारादिषु पञ्चानुत्तरोपपातिकान्तेषु तु—केवल पुरुषवेदिन एव देवा भवन्ति न तु—स्त्रीवेदिनो नापि—नपुसकवेदिनो भवन्ति ।

अथ देवाना नपुसकवेद कथ न सम्भवतीतिचेत्—उच्यते चतुर्विधानामपि देवाना शुभगत्यादि-नामगोत्रवेद्यायुष्कापेक्षमोहोदयादभिलषितप्रितीकारकं मायाऽऽर्जवोपेतं करीषाग्निसदृश स्त्रीवेदनीयमेक पुरुत्ववेदनीय द्वितीय पूर्ववद्धनिकाचितमुदित भवति । न तु—तद्भिन्न नपुसकवेदनीय कदापि, पूर्वभवे—नपुसकवेदमोहनीयकर्मणोऽवद्धत्वात् ।

सनत्कुमारादिषु तु — स्त्रीवेदमोहनीयकर्मणोऽप्यवद्धत्वात् तेषु स्त्रीवेदोऽपि न भवती-तिभाव ॥३८॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—देवस्तावद चतुर्निकायोऽपि भवनपति—वानव्यन्तर—ज्योतिष्क—वैमा-निकरूपो द्विवेदो भवति । स्त्रीवेदवान्—पुरुष वेदवांश्च । तथाच—चतुर्निकाया अपि देवा नपुंसकवे-दिनो न भवन्ति, अपितु—स्त्रीवेदिन· पुवेदिनश्च भवन्ति । केचन देवा· स्त्रीवेदवेदिनो भवन्ति । केचन पुन· पुरुषवेदिनो भवन्ति ।

कुमार और असुरकुमारियाँ, नागकुमार और नागकुमारियाँ, इत्यादि प्रकार से असुरकुमार से लेकर ईशान देवलोक तक कोई—कोई पुरुषवेदी देव होते है और स्त्रीवेद वाली देवियाँ होती है। उनमे शुभगति नामकर्म के उदय से निरतिशय सुखविशेष रूप पुरुष और स्त्री वेद का अनुभव होता है । सनत्कुमार देवलोक से पाँच अनुत्तर विमानो तक केवल पुरुषवेद वाले ही देव उत्पन्न होते है, न स्त्रीवेदी और न नपुसक वेदी होते है ।

देवो में नपुंसकवेद क्यो नहीं होता ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि चारो प्रकार के देवो में शुभगति आदि नाम गोत्र वेद्य और आयुष्क से सापेक्ष मोह के उदय से अभिलषित में प्रीति उत्पन्न करने वाला, माया आर्जव से युक्त छाणे की अग्नि के समान एक स्त्रीवेदनीय और दूसरा पुरुषवेदनीय हो, जो पहले निकाचित रूप में बाँधा है, अब उदय में आया है। इन दोनों से भिन्न नपुसक वेदनीय का कदापि उदय नहीं होता, क्योकि उन्होने पूर्वभव में नपु-सक वेदमोहनीय कर्म का बंध नहीं किया है। सनत्कुमार आदि देवलोकों के देवो ने पूर्वभव में स्त्रीवेदमोहनीय कर्म का भी बन्ध नहीं किया, इस कारण वहाँ स्त्रीवेद भी नहीं होता है ॥३८॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति- भवनपति, वानव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक, इन चारों निकायों के देव दो वेद वाले होते है—स्त्रीवेद वाले और पुरुषवेद वाले । इस प्रकार चारो निकायों के देव नपुसकवेदी नहीं होते, सिर्फ स्त्रीवेदी और पुरुष ही होते है । अर्थात् कोई पुरुषवेदी और कोई स्त्रीवेदी होते है ।

तत्र भवनपति-व्यन्तर-ज्योतिष्क सौधर्मेशानेषु-उपपाततो वेदद्वयमपि भवति । तदुपरि तु पुरुषवेद एव भवति, नाऽन्य । अथ देवानां नपुसकवेद कथ न भवतीति चेत्-

उच्यते तेषां हि देवानां चतुर्विधानामपि शुभगत्यादिनामगोत्रवेद्यायुष्कापेक्षमोहोदयादभिलषितप्रीतिजनक मायार्जवोपचित करीषतृणपूलवह्नितुल्य स्त्रीवेदनीयमेक पुंवेदनीयमधिक पूर्वबद्धनिकाचितमुदयप्राप्तं भवति । न तु-तद्भिन्नं नपुसकवेदनीयं कदापि पूर्वभवे नपुंसकवेदमोहकर्मणोऽबद्धत्वात् ।

अत्र च स्त्रीवेदो नपुसकवेदापेक्षया शुभउच्यते, न तु-वस्तुत शुभ एवेति भाव । तथा चोक्त समवायङ्गसूत्रे-"असुरकुमारा णं भंते ! किं इत्थीवेया-पुरिसवेया-णपुंसगवेया ? गोयमा ! इत्थीवेया-पुरिसवेया, णो णपुंसगवेया थणियकुमारा, जहा-असुरकुमारा तहा-वाणमंतरा जोइसियवेमाणियावि"-इति । असुरकुमारा खलु भदन्त ! किं स्त्रीवेदा पुरुषवेदा नपुंसकवेदा-? गौतम ! स्त्रीवेदा पुरुषवेदा नो नपुसकवेदा । स्तनितकुमारा, यथा-असुरकुमारा-तथा वानव्यन्तरा ज्योतिष्कवैमानिका अपि, इति ॥३८॥

मूलसूत्रम्—"नारगे संमुच्छिमे य नपुंसगवेए-" ॥३९॥

छाया—"नारकः सम्मूर्च्छिमश्च नपुंसकवेदः—" ॥३९॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे देवानां चतुर्निकायानामपि भवनपतिवानव्यन्तर-ज्योतिष्क-वैमानिकानां पुंस्त्ववेद स्त्रीत्ववेदश्च यथायोग्यं प्ररूपित सम्प्रति-नारकाणा सम्मूर्च्छिमानां च जीवानां केवल नपुसकत्ववेदो भवतीति प्ररूपयितुमाह—

भवनपति, व्यन्तर ज्योतिष्क, सौधर्म ऐशान देवलोक मे उपपात की अपेक्षा से दोनो वेद होते है । उनके आगे केवल पुरुषवेद ही होता है । देवो में नपुसकवेद क्यों नहीं होता ? इस प्रश्न का समाधान यह है कि चारो प्रकार के देवो में शुभगति आदि नाम गोत्र वेद्य आयुष्क की अपेक्षा रखने वाले मोहकर्म के उदय से अभिलषित प्रीतिजनक, मायाआर्जव से उपचित करीष की अग्नि के समान स्त्रीवेदनीय और घास की पूली की आग के समान पुरुषवेदनीय, जो पहले निकाचित रूप में बाँधा था, उदय को प्राप्त होता है । इन दोनो से भिन्न नपुसकवेदनीय का कदापि उदय नहीं होता, क्योंकि पूर्वभव में उसका बध नहीं किया था ।

यहाँ नपुसकवेद की अपेक्षा स्त्रीवेद शुभ कहलाता है, वास्तव में वह शुभ है, ऐसा नहीं समझना चाहिए । समवायांगसूत्र मे कहा है—

प्रश्न—भगवन् ! क्या असुरकुमार स्त्रीवेदी होते है, पुरुषवेदी होते है या नपुसकवेदी होते है ?

उत्तर—गौतम ! स्त्रीवेदी और पुरुषवेदी होते हैं, नपुसकवेदी नहीं होते । स्तनितकुमारों तक ऐसा ही कहना चाहिए । जैसा असुरकुमारो के विषय में कहा है, एव वैसा ही वानव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिको के सबन्ध मे भी समझना चाहिए । ॥३८॥

"नारगे संमुच्छिमे य नपुंसगवेए"—इति । नारक —रत्नप्रभादिसप्तपृथिवीपु नरकभूमिषु नारका' सर्व. सम्मूर्च्छिम'श्च पूर्वोक्तस्वरूपो जीव केवल नपुसकवेद एव भवति । न पुस्त्ववेद', नापि—स्त्रीवेद', । तथा च—सर्वे नैरयिका पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिकायद्वि—त्रि—चतुरिन्द्रिया केचन—तिर्यङ्मनुष्याश्च सम्मूर्च्छिमा' नपुसकवेदवेदिन एवाऽवसेया ।

यतो हि तेषां नारकाणा सम्मूर्च्छनजन्मशालिनाञ्च चारित्रमोहनीयविशेपनोकपायवेदनीयहास्यादिनवविधान्तर्गतत्रिवेदेपु—एक नपुसकवेदनीयमेवाऽशुभगतिनामकर्मापेक्ष पूर्वबद्धनिकाचितमुदितं भवति, न तु—पुंस्त्वस्त्रीत्ववेदनीये तेपामुदिते भवत पूर्वभवे—पुस्त्वस्त्रीत्ववेदशुभमोहनीयकर्मणोरबद्धत्वात् इति भाव' ॥३९॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—नारका —नरकेपु भवा' सप्तपृथिवीपु वर्तमाना नैरयिका सर्वे सम्मूर्च्छिनश्च सम्मूर्च्छनं—सम्मूर्च्छ सम्मूर्च्छनजन्म येपामस्ति ते सम्मूर्च्छिन सम्मूर्च्छनजन्मशालिनश्च पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिद्वि—त्रि—चतुरिन्द्रियाः केवच—तिर्यङ्मनुष्याश्च भवन्ति । सर्वे—एते नपुसकान्येव नपुसकवेदिन एवाऽवगन्तव्या, नो स्त्रिय', नो वा पुमांस., न ते स्त्रीवेदवेदिन —न वा—पुरुषवेदवेदिनो भवन्ति—इत्यर्थ ।

मूलसूत्रार्थ—'नारगे संमुच्छिमे य' इत्यादि' ॥३९॥

नारक और सम्मूर्छिम जीव नपुंसकवेदी ही होते है ॥३९॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्र में चारो निकायो के देवो में स्त्रीवेद और पुरुषवेद का विधान किया गया, अब नारक और सम्मूर्छिम जीवो में केवल नपुसकवेद ही होता है, यह प्ररूपणा करने के लिए कहते है—

रत्नप्रभा आदि सातो नरकभूमियो में रहने वाले नारक जीव और पूर्वोक्त स्वरूप वाले सम्मूर्छिम जीव सिर्फ नपुसकवेदी ही होते है । उनमें न पुरुषवेद होता है, न स्त्रीवेद । इस प्रकार सभी नारक, पृथ्वीकाय, अपकाय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और कोई—कोई पचेन्द्रिय मनुष्य तथा तिर्यंच सम्मूर्छिम होते है और उन सब को नपुसकवेदी ही समझना चाहिए । इसका कारण यह है कि नारको और सम्मूर्छिमो ने तीन वेदों में से केवल नपुसकवेद ही पूर्वकाल में निकाचित रूप में बाँधा होता है और उसी का उनको उदय होता है । उन्होने पूर्वकाल में पुरुषवेदमोहनीय और स्त्रीवेद मोहनीय कर्म, जो शुभ है, नहीं बाँधे होते ॥३९॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—सात नरकभूमियो में रहे हुए नारक जीव और सभी सम्मूर्छिम जीव अर्थात् पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और कोई—कोई पचेन्द्रिय तिर्यंच तथा मनुष्य नपुसक ही होते है । न वे स्त्रीवेदी होते है, न पुरुषवेदी होते हैं । क्योंकि चारित्रमोहनीय कर्म का भेद जो नोकषायवेदनीय है, उसके हास्यादि नौ भेदों में से जो तीन वेद हैं उनमें से एक नपुसकवेद का ही उदय होता है ।

यस्मात्तेषांनारकाणा सम्मूर्च्छनजन्मवताञ्च चारित्रमोहनीयविशेषनोकषायवेदनीयनवविधहास्याद्याश्रयेषु त्रिषु वेदेषु नपुसकवेदनीयमेव--एकमशुभगतिनामापेक्ष पूर्ववद्धनिकाचितमुदयप्राप्त भवति । न तु--स्त्रीपुरुषवेदनीये तेषा कदाचित्--उदयप्राप्ते भवत । तथा च--नैरयिका सर्वे सम्मूर्च्छिनश्चाऽशुभगत्यादिनामगोत्रवेद्यायुष्कोदयापेक्षमहामोहोदयेनाऽशुभं महानगरदाहोपम मैथुनाभिलाषमनुभवन्ति ।

सम्मूर्च्छनजन्मशालिनोऽपि तिर्यञ्चो मनुष्याश्चाऽशुभगत्यादिनामगोत्रवेद्यायुष्कोदयापेक्षमोहोदयाकाङ्क्षावन्तो नपुंसकत्वमनुभवन्ति । अनन्तरे पूर्वस्मिन् जन्मनि नपुसकत्वयोग्यास्रवै परिगृहीत पूर्ववद्धनिकाचित ग्रहणानन्तरमात्मसात् कृत क्षीरोदकवत् परस्परानुगतिलक्षणेन सम्बन्धेनाऽऽत्मप्रदेशै सह विभागितयाऽध्यवसायविशेषात् व्यवस्थापित समासादितपरिपाकावस्थरूपमुदयप्राप्तं नपुसकवेदनीयमेव नारकसम्मूर्च्छिमानां प्राणिना दु खबहुलत्वाद् भवति, न तु--कदाचित् स्त्रीपुरुषवेदनीये इति भावः । उक्तञ्चसमवायाङ्गसूत्रे--

"नेरइया णं भंते ! किं इत्थीवेया--पुरिसवेया--णपुंसगवेया पण्णत्ता ? गोयमा ! णो इत्थीवेया--णो पुंवेया--णपुंसगवेया पण्णत्ता, पुढवी--आउ--तेउ--वाउ--वणस्सई विति चउरिंदियसंमुच्छिमपंचिंदियतिरिक्खसंमुच्छिममणुस्सा णपुंसगवेया"--इति । नैरयिका खलु भदन्त ! किं स्त्रीवेदा' पुरुषवेदा' नपुसकवेदा प्रज्ञप्ता' ? गौतम ! नो स्त्रीवेदा, नो पुंवेदा, नपुंसकवेदा' प्रज्ञप्ता, पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिद्वि--त्रि-चतुरिन्द्रियसम्मूर्च्छिमपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकसम्मूर्च्छिममनुष्या नपुसकवेदा इति ॥२९॥

स्त्रीवेद या पुरुषवेद का उदय नहीं होता । इस कारण सभी नारक और समूर्छिम जीव अशुभ नगरदाह के समान मैथुन की अभिलाषा वाले होते है ।

आशय यह है कि नारकों और समूर्छिम जीवो ने अनन्तर पूर्वभव मे नपुसकवेद के योग्य कर्म का आस्रव किया है, उस कर्म का निकाचित बन्ध किया है अर्थात् ग्रहण करने के पश्चात् दूध और पानी की तरह एकमेक करके ग्रहण किया है, वह कर्म आत्मप्रदेशों के साथ मिल गया है--उनसे पृथक् नहीं मालूम पडता है । विशेष प्रकार के अध्यवसाय से उस कर्म का बन्ध किया है । वही कर्म अब वर्त्तमान भव में परिपाक को प्राप्त होकर उदयावस्था मे आया है । इस कारण नारक और समूर्छिम जीव दु ख की बहुलता वाले होने से नपुंसक ही होते है । वे कदापि स्त्री या पुरुष नहीं होते ।

समवायागसूत्र में कहा है--'भगवन् ! नारक जीव क्या स्त्रीवेदी, पुरुषवेदी अथवा नपुसकवेदी होते है ?

'गौतम ! स्त्रीवेदी नहीं होते, पुरुषवेदी भी नहीं होते, नपुसकवेदी होते है । पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, सम्मूर्छिम पचेन्द्रिय तिर्यंच और सम्मूर्छिम पुरुष नपुसकवेद वाले ही होते है' ॥२९॥

मूलसूत्रम्—"सेसा ति वेया"–॥४०॥

छाया—"शेषा स्त्रिवेदाः—" ॥४०

तत्त्वार्थदीपिका—"पूर्वसूत्रे नारकाणां सम्मूर्च्छिमानाञ्च जीवाना केवलं नपुसकत्ववेद एव भवतीति प्रतिपादितम् । सम्प्रति–तेभ्यो नारकसम्मूर्च्छिमेभ्योऽतिरिक्ताना गर्भव्युत्क्रान्तिकपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकमनुष्याणा त्रिवेदत्वं प्रतिपादयितुमाह—"सेसा तिवेया"–इति ।

शेषा नारकसम्मूर्च्छिमभिन्ना गर्भव्युत्क्रान्तिका पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिका मनुष्याश्च त्रिवेदा', त्रयो वेदा' । पुस्त्वस्त्रीत्वनपुसकत्वलक्षणा येषा ते त्रिवेदास्तथाविधा भवन्ति । एवञ्च–गर्भव्युत्क्रान्तिका पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिजा मनुष्याश्च केचन–पुस्त्ववेदिन केचन–स्त्रीत्ववेदिन केचन पुनर्नपुसकत्ववेदिनश्च भवन्ति ॥४०॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—शेषा नैरयिक–सम्मूर्च्छिमभिन्ना गर्भव्युत्क्रान्तिक–मनुष्य–पञ्चेन्द्रिय–तिर्यग्योनिकास्त्रिवेदा' स्त्रीवेदवेदिन पुरुषवेदवेदिनो नपुसकवेददेदिनश्च भवन्ति ।

तथाच—जरायुजाण्डजपोतजा स्त्रिविधा भवन्ति । स्त्रिय .पुमांसो नपुसकानि चेति फलितम् । उक्तञ्च समवायाङ्गसूत्रे–"गब्भवक्कंतियमणुस्सा पंचिंदियतिरिया य तिवेया"—इति । गर्भव्युत्क्रान्तिकमनुष्या पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाश्च त्रिवेदा इति ॥४०॥

मूलसूत्रम् "आऊ दुविहे, सोवक्कमे निरुवक्कमे य–" ॥४१॥

छाया—"आयुर्द्विविधम्, सोपक्रम निरुपक्रमं च—॥४१॥

मूलसूत्रार्थ—"सोसा तिवेया" सू० ४०

शेष जीव तीनो वेद वाले होते है ॥४०॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्र मे प्रतिपादन किया गया है कि नारक और समूर्छिम जीव सिर्फ नपुसकवेद वाले ही होते है । अब उनके अतिरिक्त अर्थात् नारको और समूर्छिमो के सिवाय जो गर्भज पचेन्द्रिय तिर्यच और मनुष्य है, वे तीनो वेदों वाले होते है, यह प्रतिपादन करने के लिए कहते है—

शेष जीव अर्थात् नारको और समूर्छिमो से भिन्न गर्भजन्म से उत्पन्न होने वाले पंचेन्द्रिय तिर्यंच और मनुष्य तीनो वेदों वाले होते है । जिन जीवो मे पुरुषवेद, स्त्रीवेद और नपुसकवेद तीनो पाये जाएँ, वे तीनवेद वाले होते है । इस प्रकार गर्भज पचेन्द्रिय तिर्यंचों और मनुष्यों मे कोई पुरुषवेदी, कोई स्त्रीवेदी और कोई नपुंसकवेदी होते है ॥४०॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—शेष अर्थात् नारको और सम्मूर्छिमो से भिन्न गर्भज मनुष्य और पचेन्द्रिय तिर्यंच त्रिवेदी होते है अर्थात् उनमे स्त्रियाँ भी होती है, पुरुष भी होते है और नपुसक भी होते है।

इस कथन का फलितार्थ यह है कि जरायुज, अण्डज और पोतज प्राणी तीनो प्रकार के होते हैं–स्त्री, पुरुष और नपुसक । समवायाग सूत्र में कहा है गर्भ से उत्पन्न होने वाले मनुष्य और पचेन्द्रिय तिर्यच तीनों वेदो वाले होते है ॥४०॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्व तावत् नारकदेवतिर्यङ्मनुष्यगतिरूपससारवतां जीवाना प्ररूपण कृतम्। सम्प्रति-तेषामायुप स्थितिं प्ररूपयितुमाह---"आऊ दुविहे, सोवक्कमे-निरुवक्कमे-य" इति। आयुस्तावद् जीवनकाल द्विविध भवति। तद्यथा—सोपक्रमम् निरुपक्रमञ्च। तत्र उपक्रमसुपक्रम—क्षय, तेन सहितं सोपक्रमम्। अति दीर्घकालस्थितिकमप्यायुर्येन कारणविशेपेणाऽध्यवसानादिनाऽल्पकालस्थितिकमापाद्यते स कारणकलापविशेष उपक्रम स्वल्पकरणम्—प्रत्यासन्नीकरणकारणम् तेन तथाविधेनोपक्रमेण सहित सोपक्रममायुष्‌ भवति।

यथा—विषाग्निजलादिमज्जनादिबाह्यस्योपघातनिमित्तस्य सान्निध्ये दीर्घायुरपि ह्रस्व भवति एतदेवाऽपवर्त्यमायुरित्युच्यते। निर्गत उपक्रमो यस्मात् तद् निरुपक्रममायुरुच्यते, अध्यवसानादिकारणकलापविशेषाभावात्—दीर्घं यदायुर्ह्रस्व न भवति तद निरुपक्रममुच्यते। तथा च—अतिदीर्घकालस्थितिकमपि यद् आयु येन—विपाग्निजलपाशवन्धनादिकारणकलापेन स्वपरिणतिविशेपात अल्पकालस्थितिकमापाद्यते—तदआयु सोपक्रममपवर्त्यमुच्यते। यत्पुनरायुस्तथाविधकारणकलापेन दीर्घकालस्थितिक खलु, अल्पकालस्थितिक नाऽऽपाद्यते तदायुनिरुपक्रमसुच्यते। तदेव अनपवर्त्यम् [अकाट्य] उच्यते ॥४१॥

मूलसूत्रार्थ—"आऊ दुविहे" इत्यादि सू० ४१

आयु दो प्रकार की है—सोपक्रम और निरुपक्रम ॥४१॥

तत्त्वार्थदीपिका—पहले नरकगति, देवगति, तिर्यंचगति और मनुष्यगति रूप ससार वाले जीवो का कथन किया गया है। अब उनकी आयु का निरूपण करने के लिए कहते है—

आयु अर्थात् जीवन काल। वह दो प्रकार का है—सोपक्रम और निरुपक्रम जो आयु उपक्रम अर्थात् क्षय से युक्त हो वह सोपक्रम कहलाता है। दीर्घ काल पर्यन्त भोगने योग्य आयु अध्यवसान आदि जिस कारण से अल्पकाल में ही भोगने योग्य बन जाते है, उस कारण को उपक्रम कहते है। अर्थात् आयु के क्षय को समीप ले आने वाला कारण उपक्रम कहलाता है। जो आयु उपक्रम सहित हो वह सोपक्रम कहलाता है।

विष, अग्नि, जलमज्जन आदि उपघात के बाह्य कारण मिलजाने पर दीर्घायु भी अल्प हो जाती है, अर्थात् जो आयु शनैः शनैः दीर्घकाल मे भोगा जाने वाला था, वह अल्पकाल मे ही भोग लिया जाता है। इस प्रकार का आयु अपवर्त्य आयु भी कहलाता है। इसके विपरीत जो आयु उपक्रम से रहित हो वह निरुपक्रम कहलाता है। उसमे अध्यवसान आदि कारण नहीं होते। तात्पर्य यह है कि जो आयु जिस रूप मे बाँधा हुआ है उसी रूप में भोगा जाए—दीर्घ बधा हो तो ह्रस्व न हो, वह निरुपक्रम कहलाता है।

इस प्रकार जो अति दीर्घकालिक आयु विष, अग्नि, जल, पाशबन्धन आदि कारणो से अल्पकालिक हो जाती है, वह सोपक्रम—अपवर्त्य आयु कहलाता है किन्तु पूर्वोक्त कारणो से जो दीर्घकालिक आयु अल्पकालिक नहीं होता, वह निरुपक्रम कहा जाता है। वह अपवर्त्य आयु भी कहलाता है ॥४१॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—नारक–तिर्यङ्–मनुष्य–देवात्मकचतुर्गतिरूपे ससारे आयुषः स्थितिः किं व्यवस्थिता वर्तते उताहो अकालमृत्युरपि भवतीत्याशङ्कायामुच्यते "आऊ दुविहे, सोव-क्कमे–निरुवक्कमे य–" इति ।

आयुस्तावद् द्विविध भवति, अपवर्तनीयम् अनपवर्तनीय च । तत्रापि–अनपवर्तनीय पुन-र्द्विविधम्, सोपक्रम–निरुपक्रम च । तत्रोपक्रमणमुपक्रम क्षय तेन सहित सोपक्रमम, अतिदीर्घ-कालस्थित्यपि–आयुर्येन कारणविशेषेणाऽध्यवसानादिनाऽल्पकालस्थितिकमापाद्यते स कारणकलाप' उपक्रम' स्वल्पकरणम्, प्रत्यासन्नीकरणकारणमित्यर्थ ।

तेन तादृशोपक्रमेण सहित सोपक्रममनपवर्तनीयमायुर्विषाग्निजलादिमज्जनादिक । निर्गतउपक्रमो यस्य तद् निरुपक्रम चायुर्भवति अध्यवसानादिकारणकलापाऽभावात् । अथ यथा–ऽतिदीर्घका-लस्थितिकमप्यायु' स्वपरिणतिविशेषाद् अल्पकालस्थितिकमापाद्यते, एवम्–अल्पकालस्थितिकमपि आयु रसायनाद्युपयोगतो दीर्घकालस्थितिरूपा वृद्धिमप्यापादयिष्यत ?

इति चेदुच्यते, दीर्घकालस्थितिकत्वेनाऽबद्धत्वात्–अल्पस्यायुषो वर्धनासम्भवात् । जन्मान्तरे बद्धस्यैवाऽऽयुषस्तावता कालेन वाऽनुभवो भवति लघीयसा–दीर्घेण वा-ऽध्यवसानादियोगात् । अभि-चारिककर्मणोवाऽपि अकालफलपाकवत् क्षीयते । अवद्रमायुस्तु—न शक्यते सम्वर्धयितुममृतरसा-यनोपयोगेनापि कदाचित्, यथा–दीर्घपट वेष्टनयाऽल्प शक्यते कर्तुम् ।

तत्त्वार्थनिर्युक्ति– नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगति रूप ससार मे आयु की स्थिति क्या व्यव-स्थित है ? अथवा क्या अकालमृत्यु भी होती है ? इस प्रकार की आशका होने पर कहते हैं—

आयु दो प्रकार का होता है–अपवर्त्तनीय और अनपवर्त्तनीय । अनपवर्त्तनीय आयु के भी दो भेद है–सोपक्रम और निरुपक्रम । जो आयु उपक्रमण अर्थात् क्षय वाली हो वह सोपक्रम कहलाता है । लम्बे समय तक भोगने योग्य आयु जिस कारण विशेष से अर्थात् अध्यवसान आदि निमित्त से अल्पकालिक हो जाता है, वह कारण उपक्रम कहलाता है, उसे स्वल्पकरण या प्रत्यासन्नीकरण भी कह सकते हैं, क्योकि उससे आयु स्वल्प होता है या सन्निकट आ जाती है । जो आयु इस प्रकार के उपक्रम से सहित हो उसे सोपक्रम आयु कहते हैं ।

जिस आयु मे विष, अग्नि, जलनिमज्जन आदि उपक्रम लागू न होसके, वह निरूपक्रम कहलाती है । वहाँ अध्यवसान आदि कारण नहीं होते ।

शका—जैसे दीर्घकाल की स्थिति वाला आयु कारण मिलने पर अल्पकालिक हो जाता है, इसी प्रकार क्या अल्पकालिक आयु रसायन आदि के सेवन से वृद्धि को प्राप्त होकर दीर्घकालिक भी होता है ?

समाधान—जो आयु दीर्घकालिक रूप मे नहीं बँधा है, ऐसी अल्प आयु की वृद्धि होना सभव नहीं है । वास्तविकता यह है कि पूर्वजन्म मे जो आयु जितना बाँधा गया है, अगले जन्म में वह सब भोगना ही पडेगा, न उसमें कोई कमी होती है और न वृद्धि ही हो सकती है केवल विष शस्त्र आदि कारण उपस्थित हो जाने पर दीर्घ काल तक भोगे जाने

न तु—लघुपटोद्राघियमानमापादयितु शक्यते । एवम्—आयुरपि, अल्पानुपात्ततावदलिकत्वाद् दीर्घं कर्त्तुं न शक्यते । अपवर्तनीयानि पुनरायूंषि नियमत' सोपक्रमाणि भवन्ति । तथाच सोपक्रमाण्येवाऽपवर्तनीयानि भवन्ति सर्वदाऽऽयूंषि इति फलितम् । अध्ययसानादिक निमित्तं विनाऽपवर्तना न प्रतिपद्यते ।

एवञ्च—तदनुसारेणाऽकालमृत्युरपि सम्भवतोति भाव' । "अयम्भाव —त्रिभागावशेषायुषो नवभागशेषायुष' सप्तविंशतिभागावशेषायुषो वा जीवा परभवायुर्बध्नन्ति, तत्र—पृथिव्यप्तेजोवायुव-नस्पति द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रिया निरुपक्रमायुश्च पञ्चेन्द्रिया नियमत एव त्रिभागावशेपे आयुर्बध्नन्ति ।

वाले आयु अल्पकाल में ही जल्दी—जल्दी भोग लिया जाता है, जैसे एक मास में पकने वाले वृक्ष में लगे फल को तोड कर यदि पाल में डाल दिया जाय तो वह दो—तीन दिन में पक जाता है, और एक मास में होने वाली फल के परिपाक की विभिन्न अवस्थाएँ पाल में दबाये फल में भी होती है' मगर वे जल्दी—जल्दी हो जाती है । इसी प्रकार जीव ने आयु कर्म के जितने प्रदेशो का बन्धन किया है वे सब तो उदय में आए बिना निर्जीर्ण हो नहीं सकते । चाहे सोपक्रम आयु हो अथवा निरुपक्रम, सम्पूर्ण आयु भोगना ही पडता है । अन्तर केवल इतना ही होता है कि विष अग्नि आदि उपक्रम मिलने पर, दीर्घ काल में जो आयु भोगे जाने वाला था, वह शीघ्र उदय में आ जाता और भोग लिया जाता है । ऐसी स्थिति में आयु की वृद्धि किस प्रकार हो सकती है ? अमृत—रसायन का सेवन करने पर भी बद्ध आयु बढ नहीं सकता । लम्बे फैले हुए वस्त्र को लपेट कर थोडी जगह में समाया जा सकता है किन्तु और अधिक लम्बा नहीं किया जा सकता । इसी प्रकार जिस आयु के दलिक थोडे बाँधे गए हैं, उसे लम्बा करना शक्य नहीं है । जो आयु अपवर्त्तनीय होता है, वह नियम से सोप-क्रम होता है । अतएव यह फलित हुआ कि अपवर्त्तनीय आयु सर्वदा सोपक्रम ही होता है, क्योंकि अध्यसाय आदि निमित्त के बिना अपवर्त्तनीय हो नहीं सकता ।

इस प्रकार आयु की अपवर्त्तना ही लोक मे अकालमरण के रूप में प्रसिद्ध है । वस्तुत' कोई भी प्राणी अधूरी आयु भोग कर नहीं मरता ।

भाव यह है—भुज्यमान आयु के तीन भागो में से दो भाग जब व्यतीत हो जाते है और तीसरा भाग शेष रहता है तब परभव की आयु का बन्ध होता है । कदाचित् उस समय बन्ध न हो तो नौवाँ भाग शेष रहने पर बन्ध होता है और उस समय भी बन्ध न हुआ तो भुज्यमान आयु अन्तर्मुहूर्त्त शेष रहने पर तो अवश्य ही बँध होता है । अन्य सात कर्मों की तरह आयु का निरन्तर बन्ध नहीं होता, जीवन मे एक बार ही बन्ध होता है । पृथ्वीकाय ,अप्काय तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, और निरुपक्रम आयु वाले पचेन्द्रिय तिर्यञ्च और मनुष्य नियम से वर्त्तमान आयु का तीसरा भाग शेष रहने पर नवीन आयु

सोपक्रमायुष' पुनः पञ्चेन्द्रिया अनियमतो त्रिभागावशेषेणादारभ्य यावत्सप्तविंशतितम-विभागावशेषे परभवायुर्बध्नन्ति। ते च जीवास्तदैव तदायुर्बध्नन्तोऽध्यवसायविशेषात कश्चनाऽपवर्तनार्हमायु' कुर्वन्ति, केचन पुनरनपवर्तनीयमायु' कुर्वन्ति। तत्र—मन्दपरिणामप्रयोगोपचितमनपवर्त्य-मायुर्भवति, तीव्रपरिणामप्रयोगोपचितमनपवर्त्यम्।

तत्रापवर्तना तावत् प्राक्तनजन्मविरचितायु स्थितेरध्यवसानादिविशेषात्। अल्पताऽऽपादन रूपा। अनपवर्तनीयत्वन्तु—तात्कालस्थितिकत्वरूपम् स्वकालावधे प्राक् न ह्रासप्राप्ति कदा-ऽप्यायुषो भवति, तैलवर्तिकाक्षयेण निर्विघातप्रदीपोपशान्तिवत्। तच्च प्रबलतरवीर्याबन्धत्वाद असख्येयसमयोपार्जितमायुरनपवर्त्यं भवति।

एव गाढवन्धनात् निकाचितवन्धात्मनियमादनपवर्त्यायुर्भवति। अथवा एकनाडिकापरिगृही-तमायु सहतिमत्वात् सहतपुरुषसमुदायवत् एकनाडिकाविवरप्रक्षिप्तबीजनिष्पादितसस्यसहतिवद् वाऽभेद्यम्, विवराद्बहि पतितवीजप्रसूत सस्यमसहतत्वात् प्रविरलताया सत्या सर्वेषामेव गो—महि-षादिपशूना गम्य भवति।

एवमेवाऽय जीव आयुर्बध्नन् अनेकात्मलब्धिपरिणामस्वाभाव्याच्छरीरव्याप्यपि सन् नाडिका-मार्गपरिणामो भवति। तदनन्तर तामवस्थामासाद्य यान् आयुष्कपुद्गलान् बध्नाति ते आयुष्क-

---

का बन्ध करते है। सोपक्रम आयु वाले पचेन्द्रियो के लिए ऐसा नियम नही है वे तीसरे भाग मे, नौवे भाग में या सत्ताईसवे भाग मे आगामी भव की आयु बाँधते है।

जीव जब आयु बाँधते है तो अध्यवसाय की विशेषता से कोई अपवर्त्तना के योग्य आयु बाँधते हैं और कोई अनपवर्त्तनीय आयु का बन्ध करते है।' तीव्र परिणाम के द्वारा जो गाढी आयु बाँधा जाता है वह अपवर्त्तनीय होता है।

अपवर्त्तनीय का मतलव है—पूर्व जन्म मे बाँधा हुआ। आयु की स्थिति का अध्यवसान आदि कारणो में से किसी कारण के द्वारा अल्प हो जाना और आयु के अनपवर्त्तन का अभि-प्राय है जितने काल की आयु बँधी है उतने ही काल मे भोगने योग्य होना। यह आयु अपनी कालावधिके अनुसार ही भोगा जाता है, ह्रास को प्राप्त नहीं होता। जैसे किसी प्रकार का विघ्न उपस्थित न हो तो तेल और बत्ती का क्षय होने पर दीपक का बुझना। यह आयु प्रबलतर वीर्य—पराक्रम से बाँधा जाता है, अतएव अपवर्त्तनीय नहीं होता।

इस प्रकार गाढी बाँधने के कारण—निकाचित रूप में बद्ध होने से आयु अनपवर्त्तनीय होता है। अथवा एक नाडिका द्वारा परिगृहीत आयु समुदाय रूप होने से इकट्ठे हुए पुरुषो के समुदाय के समान, अथवा एक नाडिका के विवर मे डाले हुए बीजो से उत्पन्न धान्य के समूह के समान अभेद्य होता है, किन्तु विवर (छिद्र)से बाहर पडे हुए बीज से उत्पन्न धान्य सहत (सघन) न होने से वह गाय, भैंस आदि पशुओ के लिए गम्य होता है।

इसी प्रकार आयु का बन्ध करता हुआ यह जीव अनेक आत्मलब्धिपरिणाम स्वभाव होने से शरीरव्यापी होने पर भी नाडिकामार्ग परिमाण वाला होता है। तत्पश्चात् उस

पुद्गला नाडिकाप्रविष्टत्वेन सहतिमत्वात् विषशस्त्रवह्न्यादीनामभेद्या भवन्ति । मन्दतीव्रपरिणाम-सन्निधानाच्च स जीवस्तदायुर्जन्मान्तरे एव रचयति अत्रत्य जन्मव्याधिवत् ।

अल्पाद् धातुवैषम्यनिदानपथ्यसेवनात् समुत्पन्नो व्याधि कालान्तरेणोपेक्ष्यमाणोऽत्यन्ता वृद्धिमापन्न' सन् शरीर चिरेण समूलघातमपहन्ति । निपुणवैद्यवरोपदिष्टतत्प्रत्यनीकक्रियाकलापा-नुष्ठानाच्च झटित्येव स व्याधि विनाशमापद्यते, एवमेव—मन्दपरिणामप्रयोगकारणाभ्यासाद् यद् आयुरतीतजन्मनि—अनेकजीवेनासादित तदपवर्तनार्हमुच्यते ।

यस्तु—व्याधि' अतिमहान्त धातुक्षोभमाश्रित्याऽपथ्यनिदानसेवनादिना सञ्जात अतिदीर्घकालक-लापापादितजठरिमसमुपगूढनिरवशेषाऽङ्गोपाङ्गसघातकुष्ट—क्षयादिवत् स खलु दुश्चिकित्स्यो व्याधिर्भेष-ज्यजातमनेकधमुपचीयमानमपि उत्तरोत्तरमवगणय्य प्रवृद्ध सन् रोगिण तम् अकाण्ड एव क्षिप्रमेव ग्रसति, न खलु प्रयत्नपरेणाऽपि धन्वन्तरिणा समुच्छेत्तु शक्यते । एवमेव तीव्रपरिणामप्रयोगबीजजनित-शक्तितद् आयुरतीतानेकजन्मनि—उपात्तमन्तरालेन शक्य समुच्छेत्तुमिति तदपवर्तनीयं व्यपदिष्यते ।

तथहि—आयुष काले—ऽकाले च समासौ अनेको दृष्टो दृष्टान्तो भवन्ति । बलश्त्वाच्च तत श्रोतु' प्रतीति रुपजायते, तस्मात्—द्विविधमायु अपवर्त्य मनपवर्त्यं च व्यवस्थितम् । तत्र—के तावद्

अवस्था को प्राप्त करके जीव जिन आयुष्क के पुद्गलो को बाँधता है, वे आयुष्कपुद्गल नाडिकाप्रविष्ट होने के कारण सहति रूप होते है, अत विष, शस्त्र, अग्नि आदि के लिए अभेद्य होते है । मन्द—तीव्र परिणाम होने से वह जीव उस आयु को जन्मान्तर मे ही बाँधता है, इस जन्म की व्याधि के समान ।

थोडी—सी धातुविषमता के कारणभूत अपथ्यसेवन से उत्पन्न हुआ रोग लापरवाही से कालान्तर मे बहुत बढ जाता है और शरीर का समूल घात कर डालता है तथा निपुण वैद्य के द्वारा उपदिष्ट रोगविरोधी क्रियाकलाप के सेवन से वह व्याधि शिघ्र ही विनष्ट हो जाती है । इसी प्रकार जो आयु मन्द परिणाम—प्रयत्न के कारण पिछले भव मे गाढी नहीं बाँधी गई है, वह अपवर्त्तना के योग्य होता है ।

इसके विपरीत जो व्याधि अत्यन्त तीव्र धातुक्षोभ को आश्रित करके अपथ्य सेवन आदि से उत्पन्न हुआ है और कुष्ट-रोग अथवा क्षय के समान दीर्घकालिक हो जाने से शरीर के समस्त अगोपागो मे व्याप्त हो गई है, उसकी चिकित्सा होना बहुत कठिन होता है । विविध प्रकार के औषधो का सेवन करने पर भी वह उत्तरोत्तर बढ़ती जाती हैं और रोगी को अकाल मे ही निगल लेती है, अधिक से अधिक प्रयत्न करके धन्वन्तरि भी उस रोग को नष्ट नहीं कर सकता इसी प्रकार जो आयु तीव्र परिणाम—प्रयोग से प्रगाढ रूप मे बँधा हुआ है, उसका अपवर्त्तन नहीं हो सकता—वह शीघ्र समाप्त नहीं हो सकता । वह अपवर्त्तनीय आयु कहलाती है ।

आयु के यथाकाल और अकाल मे समाप्त होने के अनेक दृष्टान्त विद्यमान है ।सबल होने के कारण श्रोता को प्रतीति उत्पन्न हो जाती है । अतएव आयु दोनो प्रकार का है

अपवर्त्यायुषो भवन्ति ? के च अनपवर्त्यायुष इत्याकाङ्क्षायामुच्यते ।

उपपातजन्मानो नारकदेवा चरमदेहा मनुष्या ये च तेनैव शरीरेण सिध्यन्ति, उत्तमपुरुषा तीर्थकरचक्रवर्तिबलदेववासुदेवा, असङ्ख्येयवर्षायुषो मनुष्या, तिर्यग्योनिजाश्च, अनपवर्त्यायुषो निरुपक्रमायुषो भवन्ति ।

तत्र—ये तेनैव शरीरेण सकलकर्मजालमपहायाऽशेषकर्मापगमलक्षणा सिद्धिमाप्नुवन्ति ते चरमदेहा मनुष्या एव भवन्ति न तु—नारकतिर्यग्देवा तेषां सिध्यत्ययोग्यत्वात । उत्तमपुरुषास्तु—तीर्थकरनामकर्मोदयवर्जिनस्तीर्थकरा चक्रवर्तिनो नवनिधिपतयश्चतुर्दशरत्नानां नेतारः स्वपौरुषोपात्तमहाभोगशालिन सकलभरताधिपा अर्धचक्रवर्तिनो बलदेवा, गणधरादयश्च गृह्यन्ते ।

असङ्ख्येयवर्षायुषो मनुष्यास्तिर्यग्योनिजाश्च भवन्ति, न तु—नारकदेवाः, मनुष्येषु तिर्यग्योनिष्वेव चाऽसङ्ख्येयवर्षजीवित्वमुपलभ्यते, न तु—नारकदेवेषु । तत्र—देवकुरूत्तरकुरुषु सान्तरद्वीपकासु—अकर्मभूमिषु कर्मभूमिषु च सुषमसुषमायां सुषमायां सुषमदुष्षमायामसङ्ख्येयवर्षायुषो मनुष्या भवन्ति ।

तत्रैव च देवकुर्वादिषु बाह्येषु मनुष्यक्षेत्राद वहिर्वर्तमानेषु द्वीपेषु समुद्रेषु च तिर्यग्योनिजा असङ्ख्येयवर्षायुषो न भवन्ति, किन्तु सङ्ख्येयवर्षायुषो भवन्ति कर्मभूमिष्वपि सुषमआदिकाले असङ्ख्येय-

---

अपवर्त्तनीय और अनपवर्त्तनीय ।

कौन जीव अपवर्त्तनीय आयु वाले होते है और कौन अनपवर्त्तनीय आयु वाले ? इस प्रकार की जिज्ञासा होने पर कहते है ।

उपपातजन्म वाले नारक और देव, चरम शरीरी मनुष्य (जो उसी शरीर से सिद्धि प्राप्त करने वाले है) उत्तम पुरुष अर्थात् तीर्थंकर, चक्रवर्त्ती, बलदेव, वासुदेव, और असख्यात वर्ष की आयु वाले मनुष्य तथा तिर्यंच निरुपक्रम आयु वाले होते है ।

जो उसी शरीर से समस्त कर्म—जाल को नष्ट करके समस्त कर्मक्षय रूप सिद्धि प्राप्त करते हैं, वे चरमशरीरी मनुष्य ही होते है, नारक, तिर्यंच या देव नहीं क्योकि वे सिद्धि के योग्य नहीं होते ।

जिन्हे तीर्थंकर नाम कर्म का उदय हो चुका है, वे तीर्थंकर कहलाते है । नौ निधिया और चौदह रत्नो के अधीश्वर, अपने पुरुषार्थ से महान् भोगशाली और सम्पूर्ण भरतक्षेत्र के स्वामी चक्रवर्ती कहलाते है । अर्धचक्रवर्ती बलदेव, वासुदेव कहे जाते है । गणधर आदि चरमशरीरी की श्रेणी मे गिने जाते है ।

असख्यात वर्ष की आयु वाले मनुष्य और तिर्यंच निरुपक्रम वाले होते है, मनुष्यो और तिर्यंचों में ही असख्यात वर्ष का जीवन पाया जाता है, नारकों और देवों में नहीं देवकुरु, उत्तरकुरु अन्तर्द्वीपों सहित अकर्मभूमियो में तथा सुषमसुषमा काल, सुषमा काल और

वर्षायुष्का तिर्यंचो भवन्ति। तत्रापि—औपपातिका नारकदेवा' असख्येयवर्षायुपश्च मनुष्यतिर्यग्-योनिजा निरुपक्रमा अनपवर्त्यायुपो भवन्ति, तेषां प्राणापानाहारनिरोधाध्यवसाननिमित्तवेदनापराघातस्पर्शरूपादिवेदनाविशेषायुर्भेदकोपक्रमाभावात्, अतो निरूपक्रमा एव ते भवन्ति।

सख्येयवर्षायुर्भ्यो व्यतिरिक्ता मनुष्या, तिर्यग्योनिजाश्च केचित् प्राणापाननिरोधादिकारण-कलापोपक्रम्यत्वात् सोपक्रमायुष केचित्पुन. प्राणापानादिभिर्नोपक्रम्यन्ते इति निरुपक्रमायुपोऽपवर्त्यायुषोऽनपवर्त्यायुषश्च भवन्ति। तत्र—येऽपवर्त्यायुपो मनुष्यास्तिर्यञ्चस्ते नियमत. सोपक्रमायुप। ये तु—अनपवर्त्यायुषस्ते निरुपक्रमायुषो बोध्या।

तत्र—येऽपवर्त्यायुषो भवन्ति तेषां विषशस्त्र-कण्टका—ग्न्यु-दकसर्पा-ऽजीर्णा-ऽशनिप्रपातो-द्वन्धन-श्वापदादिभि, क्षु-त्पिपासा-शीतो—ष्णादिभिश्च द्वन्द्वोपक्रमैरायुरपवर्त्यते, तत्रापवर्तन तावदझटिति-अन्तर्मुहूर्तात् कर्मफलोपभोगरूपम् आयुष स्वल्पीभवनम् उपक्रमश्चाऽपवर्तननिमित्त भवति।

अथ यदि कर्मविनाशलक्षणमपवर्तनमुच्यते, तदा—कृतनाश प्रसज्येत, आयुष्कं कर्मफलम-दत्त्वैव विनश्यति-यतो नाऽनुभूयते तत्, नापि वेद्यते। अनिष्टश्चैतत् यतोऽवश्यमुपात्त कर्म अनुरूप

सुषमदुषमाकाल मे असख्यात वर्ष की आयु वाले मनुष्य होते है। उन्हीं देवकुरु आदि मे तथा मनुष्य क्षेत्र से बाहर के द्वीपों और समुद्रो में असख्यात वर्ष की आयु वाले तिर्यंच नहीं है। औपपातिक नारक और देव तथा असख्यात वर्ष की आयु वाले मनुष्य और तिर्यंच निरुपक्रम—अनपवर्त्य आयु वाले होते है। उनके प्राणापाननिरोध, आहारनिरोध, अध्यवसान, निमित्त, वेदना, पराधाततथा स्पर्श आदि वेदना विशेष, जो आयु के भेद का उपक्रम है, वे नहीं होते है। अतएव वे निरुपक्रम आयु वाले गिने जाते है।

असख्यात वर्ष की आयु वालो से भिन्न मनुष्यो और तिर्यंचों मे कोई कोई प्राणापान-निरोध आदि किसी कारण के मिलने के कारण सोपक्रम आयु वाले होते है। कोई—कोई ऐसे भी होते हैं जिस की आयु का उपक्रम नहीं होता, अत वे अपवर्तनीय आयु वाले और अनपवर्तनीय आयु वाले दोनों प्रकार के होते है। जो मनुष्य और तीर्यंच अपवर्त्य आयु वाले होते है, वे नियम से सोपक्रम आयु वाले होते है और जो अनपवर्त्य आयु वाले होते है, वे निरुपक्रम आयु वाले होते है।

जो जीव अपवर्त्य आयु वाले होते है, उनकी आयु विष, शस्त्र, कंटक अग्नि, जल सर्प, अजीर्ण, अशनिपात, फाँसी, हिंसकपशु क्षुधा, पिपासा शीत एव उष्णता आदि उपक्रमों से अपवर्तित हो जाता है। अपवर्त्तित होने का अर्थ है—शीघ्र ही अन्तर्मुहूर्त्त काल में आयु के दलिको को भोग लेना, आयु का स्वल्प हो जाना और अपवर्त्तन का कारण पूर्वोक्त निमित्त होते है।

शका—यदि अपवर्त्तन का अर्थ कर्म का विनाश होता है तो कृतनाश का प्रसग आता है, क्योकि आयुकर्म अपना फल दिये बिना ही नष्ट हो जाता है। बाँधने पर भी उसका फल नहीं भोगा जाता। यह मन्तव्य इष्ट भी नहीं है, क्योंकि बाँधा हुआ कर्म कर्त्ता को

फलं कर्तरि–उपाधाय परिशटत्युत्तरकालम्, न तु–फलमदत्त्वैव विलीन भवति, "कडाणकम्माण-न मोक्खअत्थि–,, इति वचनात्। एवमायुष्केऽननुभूते सत्येव यदि म्रियते, तदा-ऽकृतमग्णाभ्या-गमोऽन्तगले एव प्रसज्येत येन सत्यायुष्के म्रियते ततश्चायुपो वैफल्यप्रसङ्ग ।

अनिष्ट चैतत्, न खल्वय जैनसिद्धान्त यत् कृतकर्माऽदत्तफलमेव प्रणश्यति अकृतमेव चा-नुभूयते। किञ्च–एकभवस्थितिकमायुष्क कर्म न जात्यन्तरानुवन्धिभवति अर्थात्–एकस्मिन्नेव भवे-आयुष उपभोगो भवति न भवान्तरे। त्वदभ्युपगमानुसार सत्येवायुषि चेन्म्रियते, तदा–तेनैवा-युषा जात्यन्तरानुवन्धिना भवितव्यम्।

उक्तश्चैतत्– तस्मान्नापवर्तनमायुपोऽस्तीति चेत अत्रोच्यते आयुप स्वल्पीभवनमेवा-ऽपवर्तनम्, न तु–विनाशरूपमपवर्तनम। तथाच–आयुपो ह्रासरूपेऽपवर्तने सत्यपि कृतनाशा-ऽकृ-तनाशाभ्यागमादयो दोषा न सम्भवन्ति, नापि–आयुष्क भवान्तरानुवन्धि च सम्भवति अपितु–पूर्वो-क्तरूपैरुपक्रमै रुपलिप्तस्य जीवस्य सर्वात्मना–उदयप्राप्तमायुष्क कर्म झटित्येव प्राप्तविपाक भवति शीघ्रमेव परिपच्यते प्रदेशत्वभोगरूपेण तदेवाऽपवर्तनमत्रोच्यते।

अपना अनुरूप फल देकर ही निर्जीर्ण होता है, फल दिये विना नहीं। शास्त्र में भी कहा है **'कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि'** अर्थात किये हुए कर्मों के फल भोगे बिना छुटकारा नहीं मिलता। इस प्रकार यदि आयु का अनुभव किये विना ही मृत्यु हो जाती है तो कृतनाश और अकृतागम दोषो का प्रसग आता है, क्योकि आयु की विद्यमानता में भी मरण हो जाता है। ऐसी स्थिति में आयु की विफलता का भी प्रसग होता है। यह अनिष्ट है। जैन सिद्धान्त मे ऐसा है भी नहीं कि उपार्जित किया कर्म फल दिये बिना ही नष्ट हो जाय और जो कर्म उपार्जन नहीं किया है उसे भोगा जाय।

इसके अतिरिक्त एक ही भव की स्थिति वाला आयु कर्म दूसरे भव तक रह नहीं सकता, उसका उपभोग एक ही भव में होता है, भवान्तर में नहीं। अगर आप की मान्यता के अनुसार आयु के रहते भी जीव मर जाता है तो फिर अवशिष्ट आयु दूसरे जन्म में भोगनी पड़ेगी। इससे सिद्ध हुआ कि आयु का अपवर्त्तन नहीं होता।

समाधान–धीरे–धीरे लम्बे काल तक भोगने योग्य आयु को शीघ्र अल्पकाल में भोग लेना ही अपवर्त्तन कहलाता है। अपवर्त्तन का मतलब यह नहीं कि बद्ध आयु फल दिये बिना ही नष्ट हो जाय। इस कारण आयु के वेदन काल में अल्पता हो जाने पर भी कृतनाश और अकृताभ्यागम दोषो का प्रसग नहीं आता। आयु दूसरे भव में भोगी जाय, ऐसा भी नहीं होता। होता यह है कि पूर्वोक्त विष शस्त्र आदि उपक्रमों से उपलिप्त जीव के पूर्ण रूप से आयु उदय में आ जाता है, शीघ्र ही अपना फल प्रदान करता है, और प्रदेशो-दय द्वारा शीघ्र ही उसका परिपाक हो जाता है। यही यहाँ अपवर्त्तन माना गया है।

संघीभूतशुष्कतृणराशिवह्निवत् । यथाहि—सघीभूतस्यैकत्रितस्य शुष्कस्यापि तृणपुञ्जस्याऽव-यवश. क्रमेण दह्यमानस्य चिरकालेन दाहो भवति, तस्यैव पुन शिथिलविकीर्णोपचितस्य समन्तात् युगपदेव सन्दीपितस्य पवनोपक्रमाभिहतस्याऽऽशु दाहो जायते शीघ्रमेव सर्वं भस्मसात् सम्पद्यते, ।

एवमेवायुषोऽप्यनुभवो बोध्य । तथाच—यदा-ऽऽयुर्दृढसहतमतिघनतया बन्धनकाले एव परिणामापादित भवति पवनससर्गवत् तत् क्रमेण वेद्यमान चिरकालेन वेद्यते, यत्तु आयुष्क कर्म-बन्धकाले एव शिथिलमाबद्ध तद् विप्रमाणविकीर्णतृणपुञ्जदाहवदपवर्त्याऽऽशु वेद्यते इति ॥ ४१ ॥

इति श्री—विश्वविख्यातजगद्वल्लभ—प्रसिद्धवाचक—पञ्चदशभापाकलितललितकलापालापक—प्रविशुद्धगद्यपद्यानैकग्रन्थनिर्मापक—वादिमानमर्दक शाहुच्छत्रपति कोल्हापुरराज-प्रदत्त जैनशास्त्राचार्य—जैनधर्मदिवाकर पूज्य श्री घासीलाल—व्रतिविर-दीपिका—निर्युक्ति टीकाद्वयोपेतस्य तत्त्वार्थसूत्रस्य

प्रथममध्ययनं समाप्तम्

जैसे एकत्र किये हुए सूखे घास के ढेर को एक ओर से जलाया जाय तो क्रम से जलता हुआ वह ढेर चिरकाल मे भस्म होता है और वही ढेर यदि पोला हो और सब तरफ से एक साथ आग लगाई जाय और तेज हवा चल रही हो जल्दी जल जाता है और शीघ्र ही भस्म हो जाता है । आयु के भोग के विषय मे भी ऐसा ही समझना चाहिए ।

जो आयु बन्ध के समय अत्यन्त गाढ रूप मे निकाचित रूप में बाँधा जाता है, वह धीरे-धीरे चिरकाल मे भोगा जाता है, किन्तु जो आयु कर्मबन्ध के समय ही शिथिल रूप में बाँधा गया है, वह शिथिल घास के ढेर के दाह के समान अप-वर्त्तित होकर जल्दी वेदन किया जा सकता है । ॥४१॥

जैनशास्त्राचार्य जैनधर्मदिवाकर पूज्य श्री घासीलालजी महाराज विरचित तत्त्वार्थ सूत्रकी दीपिका एवं निर्युक्ति नामक व्याख्या का प्रथम अध्ययन समाप्त ॥१॥

॥ अथ-द्वितीयोऽध्यायः ॥

मूलसूत्रम्—"धम्माधम्मागासकालपोग्गला अजीवा,, ॥१॥

छाया—"धर्माधर्माकाशकालपुद्गला अजीवाः,, ॥१॥

तत्त्वार्थदीपिका—"प्रथमेऽध्याये जीवादि नवतत्त्वेपु एकचत्वारिंशतसूत्रै' साङ्गोपाङ्ग सक्षेपतो जीवतत्त्व प्ररूपितम्। सम्प्रति क्रमप्राप्त द्वितीयमजीवतत्त्वविषयमध्याय प्ररूपयितुमाह—"धम्माधम्मागासकालपोग्गला अजीवा—" इति । धर्मः—अधर्म—आकाश—काल—पुद्गलश्चेत्येते पञ्चाऽजीवा । जीवभिन्नानि तत्त्वानि व्यपदिश्यन्ते इत्यर्थ ॥१॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं यथायोग द्रव्यभावप्राणपुञ्जवर्तिनो जन्तवो देवतिर्यङ्मनुष्यनारकविधानत साकारानाकारोपयोगद्वयोपलक्षितचैतन्यशक्तितश्च प्रतिपादिता सम्प्रति—धर्मादीन् पञ्चाऽजीवान् विधानतो लक्षणतश्च प्रतिपादयितुमाह—"धम्माधम्मागासकालपोग्गला अजीवा—" इति । अजीवा—जीवद्रव्यविपर्ययास्तावद् धर्माऽधर्माऽऽकाशपुद्गलरूपा पञ्च सन्ति ।

एवञ्च—जीवादन्योऽजीव इति पर्युदास सत एव वस्तुन सम्भवति, विधिप्रधानत्वात् । तस्मात्-समानास्तित्वेषु भावेषु चैतन्यप्रतिषेधद्वारेण धर्मादिषु पञ्चसु-अजीवा इत्युक्तम्। तथाचोक्तम्—

द्वितीय अध्याय का प्रारंभ

मूल सूत्रार्थ 'धम्माधम्मागास' इत्यादि-सूत्र॥१॥

धर्म, अधर्म- आकाश, काल और पुद्गल अजीव है ॥१॥

तत्त्वार्थदीपिका—प्रथम अध्याय मे जीव आदि नौ तत्त्वो में से जीव तत्त्व का इकतालीस सूत्रों द्वारा सांगोपांग प्ररूपण किया गया । अब क्रमप्राप्त दूसरे अजीव तत्त्व का इस अध्याय में निरूपण करने के लिए कहते है—

धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल, ये पाँच अजीव अर्थात् जीव से भिन्न तत्त्व है ॥१॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पहले यथायोग्य द्रव्य और भावप्राणो से युक्त जिवो का उसके देव तिर्यंच, मनुष्य और नारक के भेदो का, साकार और अनाकार उपयोग रूप चैतन्य शक्ति का प्रतिपादन किया गया है । अब धर्म आदि पाँच अजीवो के भेद और लक्षण बतलाकर उनका प्रतिपादन करते है ।—

अजीव अर्थात् जीव द्रव्य से विपरीत धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल ये पाँच अजीव हैं।

जो जीव नहीं सो अजीव यहाँ पर्युदास नामक नञ्समास है । इस समास से अजीव एकान्त निषेध रूप नहीं किन्तु विधिरूप ही तत्त्व सिद्ध होता है, क्योंकि पर्युदास में विधि

"प्रधानत्वं विधेर्यत्र प्रतिषेधोऽप्रधानता।
पर्युदासः स विज्ञेयो यत्रोत्तरपदेन नञ्।।१ इति एवमेव—
"अप्राधान्यं विधेर्यत्र प्रतिषेधे प्रधानता।
प्रसह्यप्रतिषेधोऽसौ क्रियया सह यत्र नञ्२।। इति च

तत्र–जीवपुद्गलानां गत्युपग्रहकार्याऽनुमेयो धर्म· १ तेषामेव जीवपुद्गलाना स्थित्युपग्रहकार्याऽनुमेयोऽधर्म २, नत्वत्र शुभाऽशुभफलादयौ धर्माधर्मौ धर्माधर्मपदेन गृह्यते।

प्रकृते द्रव्यप्रस्तावात्–द्रव्यरूपयोरेव धर्माऽधर्मयोर्ग्रहणेनाऽदृष्टरूपयोस्तयोर्गुणत्वेन ग्रहणाऽसम्भवात्। अवगाहोपकारकार्यानुमेयमाकाशम्। अथाऽलोकाकाशस्याऽवगाहोपकाराऽसम्भवेन कथमाकाशत्वव्यवहार इति चेत्–

अत्रोच्यते-अलोकाकाशे तत्वतो जीवपुद्गलाना गतिस्थितिहेतुभूतयोर्धर्माऽधर्मयोरभावेन तत्र विद्यमानस्याऽपि अवगाहनगुणस्य नाऽभिव्यक्तिर्भवति। एवञ्चाऽनवगाह्यत्वेऽपि अलोकाकाशमवकाशदानेन व्याप्रियेतैव, यदि तत्र-जीवपुद्गलानां गतिस्थितिहेतुभूतौ धर्माऽधर्मौ भवेताम्। किन्तु–न हि तत्र तौ विद्येते तदभावाचाऽलोकाकाशस्य विद्यमानोऽप्यवगाहनगुणो नाऽभिव्यज्यते इति।

की प्रधानता होती है। तात्पर्य यह है कि धर्म आदि पाँच तत्त्व अस्तित्व की दृष्टि से जीव के समान ही है, मगर उनमें चैतन्य का सद्भाव नहीं है, इस कारण उन्हे अजीव कहा है। कहा भी है—'जिस नञ्समास मे विधि की प्रधानता और निषेध की अप्रधानता होती है, वह पर्युदासनञ्समास कहलाता है।' इसी प्रकार—जिस नञ्समास मे विधि अप्रधान और निषेध प्रधान हो वह प्रसह्य(प्रसज्य) नञ्समास कहा जाता है। जिसमे क्रिया के साथ नञ् समासहोता है।)

इनमें से जो जीवो और पुद्गलों की गति के उपकार करने के कार्य द्वारा अनुमेय हो अर्थात् जाना जाय, वह धर्मद्रव्य है। जीवों और पुद्गलो की स्थिति मे उपग्रह करने से जिसका अनुमान किया जाता है, वह अधर्मद्रव्य है। यहाँ धर्म और अधर्म पदो से शुभ फल देने वाले और अशुभ फल देने वाले धर्म—अधर्म को नहीं समझना चाहिए।

यहाँ द्रव्य का प्रकरण चल रहा है, अतएव द्रव्यरूप धर्म और अधर्म ही यहाँ विवक्षित है। अदृष्ट—पुण्य—पाप—रूप धर्म अधर्म विवक्षित नहीं है, क्योकि वे द्रव्य नहीं, गुण है।

अवगाहना रूप कार्य से जिसका अनुमान किया जाता है, वह आकाश है। यहाँ प्रश्न किया जा सकता है कि अलोकाकाश अवगाहना रूप उपकार नहीं करता है तो उसे आकाश कैसे कहा जा सकता है? इसका उत्तर यह है कि अलोकाकाश म जीवो और पुद्गलो की गति और स्थिति के निमित्तभूत धर्म—अधर्म द्रव्य नहीं है। अतएव अलोकाकाश में अवगाहना गुण विद्यमान होने पर भी प्रकट नहीं होता। यदि वहाँ धर्म और अधर्म होते और

कालो वर्तनालक्षण , नूतनस्य-जीर्णकरणम् जीर्णस्य-क्षपण वर्तना, तल्लक्षणो ज्येष्ठत्वकनिष्ठत्वादिव्यवहारहेतुभूत काल समयाऽऽवलिकादिरूपो बोध्य । तथाचोक्तम् उत्तराध्ययन२८अष्टाविंशति अध्ययने–१०-गाथायाम्–"**वत्तणा लक्खणो कालो**" इति । वर्तनालक्षण – वर्तन्त भवन्ति जीवादयो भावास्तेन रूपेण तान् प्रति प्रयोजकत्व वर्तना सैव लक्षण स्वरूपं यस्य स काल इति ।

पूरणादपरस्थानस्य गलनाच्च पूर्वस्थानाद् पुद्गला गलनधर्माण इति कथ्यन्ते, पुरुप वा गिलन्ति-पुरुषेण वा गीर्यन्ते इति पुद्गला , मिथ्यादर्शनादिहेतुवर्तिन पुमास बध्नन्ति-वेष्टयन्तीति गिरेरर्थ । अथवा-कषाययोगशालिना पुरुपेण कर्मतया-आदीयन्ते इति पुद्गला इति । तथाचैते धर्मादय पञ्चाऽजीवा व्यपदिश्यन्ते ।

यद्यपि–काल अद्धारूप तस्यैकसमयादिरूपस्याऽस्तिकायत्व न सम्भवति, अत एव–जीवाऽस्तिकाय-धर्मास्तिकाया-ऽधर्मास्तिकाया-ऽऽकाशास्तिकायपुद्गलास्तिकायरूपपञ्चास्तिकायमध्ये कालस्य ग्रहण न कृतम् तथापि–धर्मादीनामिव कालेऽपि-अजीवत्वस्य सत्वात्तस्याऽपि अजीवद्रव्यमध्ये ग्रहण नाऽनुपपन्नमिति भाव ।

जीव-पुद्गल वहाँ जाते–ठहरते तो अलोकाकाश उन्हे अवगाहन देता, मगर वहाँ वे है नहीं । इस कारण अलोकाकाश मे विद्यमान भी अवगाहन गुण प्रकट नहीं होता ।

काल का लक्षण वर्त्तना है । नये को पुराना करना और पुराने का क्षय करना वर्त्तना है । काल द्रव्य के कारण ही ज्येष्ठता, कनिष्ठता आदि का व्यवहार होता है । वह काल समय आवलिका आदि रूप है । उत्तराध्ययन के २८वे अध्ययन की गाथा १०वीं मे कहा है–'काल वर्त्तना' लक्षण वाला है । जीवादि पदार्थ अमुक–अमुक रूप मे वर्त्त रहे है उनके वर्त्तने में जो निमित्त कारण है, वह वर्त्तना है । यह वर्त्तना ही काल का लक्षण है ।

जिसमें पूरण और गलन हो अर्थात् मिलना और बिछुडना पाया जाय वह पुद्गल है । एक पुद्गल के सिवाय ऐसा कोई द्रव्य नहीं है जो बिखर सकता हो और मिल सकता हो । पुद्गल बिखर कर अनेक रूप बन सकता है और अनेक पुद्गल मिलकर एक स्कध रूप परिणाम हो सकते है । मगर पुद्गल के अतिरिक्त किसी अन्य द्रव्य मे ऐसा स्वभाव नहीं है । इस कारण पूरण और गलन पुद्गल द्रव्य का असाधारण लक्षण है ।

अथवा पुरुष जो जो गिलन करते है—वशीभूत कर लेते है अथवा पुरुष के द्वारा जो ग्रहण किये जाते है–मिथ्यादर्शन आदि कारणो के वशवर्ती पुरुष को बद्ध करते–वेष्टित करते है अथवा कषाय और योग वाले पुरुष के द्वारा कर्म रूप मे जिन्हे ग्रहण किया जाता है, वे पुद्गल है । इस प्रकार ये धर्म आदि पाँच अजीव कहलाते है ।

अद्धा रूप काल एक समय रूप होने से अस्तिकाय नहीं हो सकता । अत' जीवास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकशास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय, इन पाँच अस्तियो

अत एवात्र—**"अजीवाः—"** इत्येवोक्तम्, न तु अजीवकाया इति—,अजीवास्तिकाया इति वा, अस्तिशब्दस्य ध्रौव्यार्थप्रतिपादकतया-कायशब्दस्य च प्रचीयमानाकारतारूपसमुदायार्थकतया विभागे सत्येव समुदाय' सम्भवतीति धर्मादिद्रव्यप्रदेशाना विभक्तेऽपि अद्धारूपैकसमयरूपस्य कालस्य विभागासम्भवेन समुदायत्वासम्भवात् । अद्धाचाऽसौ समयश्चेति-अद्धासमय', स च सार्धद्वयद्वीपान्तर्वर्ती एक समय परमसूक्ष्मो निर्विभागोऽवगन्तव्य तस्य कायत्व न सम्भवति, समुदायस्य कायशब्दवाच्यत्वात् ।

अजीवकायशब्देन कालस्य ग्रहण न स्यात्,केवलम्—अजीवा इति कथने तु—जीवभिन्नानां सर्वेषामपि तेन ग्रहीतु शक्यतया कालस्यापि अद्धासमयरूपस्य जीवभिन्नतया अजीवशब्देन ग्रहणसम्भवात् **"धर्माधर्माकाशकालपुद्गला अजीवा—"** इत्युक्तम्, तत्र—धर्माधर्मयोरुभयोरपि प्रत्येकमसख्येयप्रदेशत्वम्, आकाशस्य चाऽनन्तप्रदेशत्वम् ।

वस्तुतस्तु—लोकपरिमाणस्याकाशस्याऽसख्येयप्रदेशत्वम् लोकालोकरूपसमस्ताकाशस्य पुनरनन्तप्रदेशत्वमवसेयम् । कालस्य तु - अद्धासमयैकसमयरूपस्य नाऽसख्येयप्रदेशत्वं—न वाऽनन्तप्रदेशत्वम् ।

मे काल को ग्रहण नहीं किया गया है । फिर भी धर्मादि की तरह काल मे भी अजीवत्त्व की सत्ता होने से अजीव द्रव्यो मे उसे ग्रहण करना अनुपयुक्त नहीं है ।

इस कारण यहाँ 'अजीव' ऐसा ही कहा गया है 'अजीवकाय' ऐसा अथवा 'अजीवास्तिकाय' ऐसा नहीं कहा गया है ।

'अस्ति' शब्द का अर्थ यहाँ प्रदेश है और 'काय' शब्द का अर्थ 'समूह' है । तात्पर्य यह है कि जो द्रव्य प्रदेशो का समूह रूप हो वही अस्तिकाय कहलाता है । काल प्रदेशों का समूह नहीं एक समय रूप है, क्योंकि अतीतकाल कि विनष्ट हो जाने से सत्ता नहीं और भविष्यत् काल अनुत्पन्न होने से सत् नहीं है । सिर्फ वर्तमान काल को सत्ता होती है और वर्तमान काल एक समय ही है । इस कारण काल की अस्तिकायों में गणना नहीं की गई है ।

समय आदि रूप काल अढ़ाई द्वीप के अन्दर ही होता है । (अढाई द्वीप के बाहर चन्द्र सूर्य आदि स्थिर होने से वहाँ काल की कल्पना नहीं की जाती ।) वह एक समयरूप है, अत्यन्त सूक्ष्म है, निर्विभाग है । उसे 'काय' नहीं कह सकते, क्योकि 'काय' शब्द समूह वाचक है ।

अगर धर्म आदि को 'अजीवकाय' कहा जाय तो काल का उनमे ग्रहण नहीं हो सकता, मगर प्रकृत सूत्र म केवल अजीन द्रव्यो का ही निर्देश किया गया है, अतएव जीव से भिन्न होने के कारण काल का भी उनमे समावेश होता है ।

इनमे से धर्म और अधर्म के असख्यात असख्यात प्रदेश है और आकाश के अनन्त प्रदेश है । वास्तव मे लोकपरिमित आकाश असख्यात प्रदेशी है और लोकालोक रूप सम्पूर्ण आकाश

पुद्गलद्रव्यस्य पुनरवयवबहुत्वमवगन्तव्यम् । तथा च बह्ववयव पुद्गलद्रव्यमवसेयम, सङ्ख्येयप्रदेश स्कन्ध ,-असङ्ख्येयप्रदेश , अनन्तप्रदेश ,-अनन्तानन्तप्रदेशश्चेति ।

अथ परमाणोरपि पुद्गलद्रव्यत्वेन तस्याऽपि बह्ववयवत्व स्यात्, परमाणोरपि-एकरसगन्धवर्णत्वस्य द्वि स्पर्शस्य प्रसिद्धत्वात् ' अत्रोच्यते-परमाणुरपि भावावयवै सावयवो द्रव्यावयवैस्तु-निरवयवो भवति ।

उक्तञ्च व्याख्याप्रज्ञप्तौ भगवतीसूत्रे २०-शतके ४-उद्देशके **"कइविहे णं भंते ! भावपरमाणू पण्णत्ते ? गोयमा ! चउव्विहे भावपरमाणू पण्णत्ते, तं जहा-वण्णमंते-रसमंते-गंधमंते-फासमंते-"** इति ।

कतिविधो भदन्त ! भावपरमाणु प्रज्ञप्त' ?, गौतम ' चतुर्विधो भावपमाणु प्रज्ञप्त, तद्यथा--वर्णवान्--रसवान्-गन्धवान्-स्पर्शवान्-इति तस्मात्-वर्णाद्यवयवै परमाणुपुद्गलद्रव्यस्यापि बह्ववयवत्वमवगन्तव्यम् ।

अतएव-अजीवेषु चत्वारएवाऽस्तिकाया' प्रतिपादिता-यथा--१-धर्मास्तिकाय २-अधर्मास्तिकाय ३-आकाशास्तिकाय ४-पुद्गलास्तिकायश्चेति जीवास्तिकायेन सह पञ्चाऽस्तिकाया सन्ति न तु-कालास्तिकाय केनापि शास्त्रकृता प्रतिपादित' तथाचोक्तम्-स्थानाङ्गे ४-स्थाने १-उद्देशके--**"चत्तारि अत्थिकाया अजीवकाया पण्णत्ता, तं जहा-धम्मत्थिकाए, अधम्म-**

अनन्त प्रदेश वाला है । अद्धासमय एक समयरूप काल के न असख्यात प्रदेश है और न अनन्त प्रदेश है ।

पुद्गल द्रव्य बहुत अवयवो वाला होता है । कोई पुद्गल बहुत अवयवो वाला कोई सख्यात प्रदेशो वाला, कोई असख्यात प्रदेशो वाला कोई अनन्त प्रदेशो वाला और कोई अनन्तानन्त प्रदेशो वाला होता है ।

शका-परमाणु भी पुद्गल द्रव्य होने के कारण बहुत अवयवो वाला होना चाहिए । उसमे एक रस, एक गध, एक वर्ण और दो स्पर्शो का होना प्रसिद्ध है ।

समाधान-परमाणु भाव-अवयवो की अपेक्षा सावयव है और द्रव्य-अवयवो की अपेक्षा निरवयव है । भगवती सूत्र शतक २०, उद्देशक ५ मे कहा है--

प्रश्न-- भावपरमाणु कितने प्रकार का है ?

उत्तर--गौतम ! चार प्रकार का भावपमाणु कहा है--वर्णवान्, रसवान्, गधवान् और स्पर्शनवान् ।

इस प्रकार वर्णादि रूप अवयवों की अपेक्षा परमाणु पुद्गल द्रव्य भी बहुत अवयवो वाला समझना चाहिए । अत अजीवो में अस्तिकाय चार है--(१)धर्मास्तिकाय(२)अधर्मास्तिकाय (३) आकाशास्तिकाय और (४) पुद्गलास्तिकाय । इनमें जीवास्तिकाय को मिला दिया जाय तो पाँच अस्तिकाय हो जाते हैं । किसी भी शास्त्रकार ने कालास्तिकाय का प्रतिपादन

त्थिकाए, आगासत्थिकाए पोग्गलत्थिकाए" इति । चत्वारोऽस्तिकाया' अजीवकाया प्रज्ञता, तद्यथा धर्मास्तिकाय', अधर्मास्तिकाय', आकाशास्तिकाय पुद्गलास्तिकाय इति ।

प्रकृतसूत्रे तु—केवलम् अजीवा इत्येवोक्तम् अतएवात्र—अजीवपदेन कायस्यापि ग्रहणाद् धम ऽधर्माऽऽकाशकालपुद्गला इत्येते पञ्च तावद् अजीवा सन्तीति फलितम् । तत्र प्रशस्ताभिधानाद् धर्मग्रहण प्रथम कृतम् तदनन्तर लोकव्यवस्थाहेतुत्वात् तद्विपरितत्वाद् वा अधर्मग्रहणम्, तदनन्तरं लोकत्वात् तत्परिच्छेद्यस्याऽऽकाशस्य ग्रहणम्, तदनन्तरममूर्तसाधर्म्यात् कालग्रहणम्, ततश्चा-ऽऽकाशमिति विशिष्टक्रमसन्निवेशप्रयोजनमेतदवगन्तव्यम् ॥१॥

मूलसूत्रम्"एयाणि दव्वाणि य छ—" ॥२॥

छाया "एतानि द्रव्याणि च षट्—" ॥२॥

तत्त्वार्थदीपिका—एतानि धर्माधर्माकाशकालपुद्गलरूपाणि पञ्च वस्तूनि चकाराज्जीवश्चेत्येतानि षड् द्रव्याणि वर्तन्ते एवञ्च धर्मादय'पञ्च, जीवश्चेति षड् द्रव्याणि भवन्तीति भाव' ।

उक्तञ्च—**"अनुयोगद्वारे"** द्रव्यगुणप्रकरणे **"छव्विहे दव्वे पण्णत्ते तंजहा—धम्मत्थिकाए' अधम्मत्थिकाए, आगासत्थिकाए, जीवत्थिकाए, पुग्गलत्थिकाए, अद्धासमये य, से त्तं दव्वणामे—"** इति ।

छाया—षड्विध द्रव्य प्रज्ञप्तम्, तद्यथा—धर्मास्तिकाय', अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय', जीवास्तिकाय' पुद्गलास्तिकाय, अद्धासमयश्च, तदेतद् द्रव्यनाम, इति ॥२॥

नहीं किया है। स्थानांगसूत्र के चौथे स्थानक के प्रथम उद्देशक मे कहा है—चार अस्तिकाय अजीवकाय कहे गये है, वे ये है—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय ।

प्रस्तुत सूत्र में केवल 'अजीवा' इतना ही कहा है, अतएव 'अजीव' पद से काल का भी ग्रहण हो जाता है। फलितार्थ यह है कि धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल ये पाँच अजीव हैं। इनमे प्रशस्त नाम होने से सर्व प्रथम धर्म को ग्रहण किया है, फिर धर्म से विपरीत होने के कारण अधर्म को, तत्पश्चात् लोक होने से उनके द्वारा परिच्छेद्य आकाश का और तदन्तर अमूर्त्तत्व के लिहाज से समान होने के कारण काल का ग्रहण किया गया है। यह सूत्र के विशिष्ट क्रमसन्निवेश का प्रयोजन समझ लेना चाहिए ॥१॥

मूलसूत्रार्थ—'एयाणि दव्वाणि य' सूत्र ॥२॥—ये ही छह द्रव्य है ॥२॥

तत्त्वार्थदीपिका—ये धर्म, अधर्म, आकाश, काल, और पुद्गल और 'च' शब्द से जीव ये सब मिलकर छह द्रव्य कहलाते है। भाव यह है कि धर्म आदि पाँच और जीव ये छह द्रव्य है। अनुयोगद्वार में द्रव्यगुण प्रकरण मे, कहा है—

'द्रव्य छह कहे गये है—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और अद्धासमय यह द्रव्यनाम का निरूपण हुआ ॥२॥

तत्वार्थनिर्युक्तिः पूर्वसूत्रे धर्माऽधर्माऽऽकाशकालपुद्गला अजीवा इत्युक्तम्, तेषां च–धर्मादीना द्रव्यगुणपर्यायत्वेनाऽनुपदेशे सति सशयो भवेदत सशयनिवारणार्थमाह—"**एयाणि दव्वाणि य छ**" इति। एतानि धर्मादीनि पञ्च, चकारात् जीवश्चेत्येते षट् द्रव्याणि व्यपदिश्यन्ते तथाच–द्रूयते गम्यते प्राप्यते यथास्व यथायथं स्वपर्यायेण यद् तद्द्रव्यम्।

परमार्थतस्तु–गुणान् द्रवति–प्राप्नोति,गुणैर्वा द्रूयते–ज्ञायते यद्तद् द्रव्य व्यपदिश्यते, "**गुणपर्यायवद्द्रव्यम्** "इति द्रव्यलक्षणसद्भावात्। वस्तुतस्तु—स्व-स्वस्वभावस्थानमेव द्रव्यलक्षण पर्यवसितम्. धर्मादीनां षण्णा द्रव्यसज्ञा च द्रव्यत्वनिमित्ता। द्रव्यार्थिकनयाभिप्रायेण- तच्च–द्रव्यत्व परमार्थतो व्यतिरिक्ताऽव्यतिरिक्तपक्षद्वयमवलम्बते।

नैकान्तेन धर्मादिभ्योऽन्यदेव तत् नानन्यदेव वा वर्तते। तस्माद् एतानि धर्मादीनि मयूराण्डकरसवत् सम्मूर्च्छितसर्वभेदप्रभेदमूलभूतानि देशकालक्रमव्यङ्ग्यभेदसमरसावस्थैकरूपाणि द्रव्याणि व्यपदिश्यमानानि गुणपर्यायकलापरिणाममूलकारणत्वाद् भेदप्रत्ययमर्गेनाऽभिन्नान्यपि भिन्नानीव भासन्ते।

'द्रव्यञ्च भव्ये, इति पाणिनिसूत्रेण द्रुधातोर्भावे-कर्तरिच द्रव्यमिति निपातनात् प्रकृते पर्यायाश्च भवनसमवस्थानमात्रका एवोत्थिताऽऽसीनोत्कुटकशयितपुरुषवत्, तदेवच—"**जायतेऽस्ति विपरिणमते वर्धतेऽपक्षीयते विनश्यति**—" इति रीत्योच्यते।

तत्वार्थनिर्युक्ति पूर्व सूत्र में धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल अजीव है, ऐसा कहा गया है। इन धर्म आदि का यदि द्रव्य, गुण और पर्याय रूप से निरूपण न किया जाय तो सशय हो सकता है। अतएव सशय का निवारण करने के लिए कहते है।

जो यथायोग्य अपने पर्यायो के द्वारा प्राप्त किया जाता है, वह द्रव्य कहलाता है। वास्तव में जो गुणो को प्राप्त होता है अथवा गुणो के द्वारा जाना जाता है, वह द्रव्य कहलाता है। **'जो गुणों और पर्यायों वाला हो, वह द्रव्य है'** ऐसा द्रव्य का लक्षण कहा गया है। असल मे तो अपने–अपने स्वभाव में अवस्थित रहना ही द्रव्य का लक्षण है। धर्मादि छहो की द्रव्यसज्ञा द्रव्यत्व के निमित्त से द्रव्यार्थिक नय के अभिप्राय से है। वह द्रव्यत्व वास्तव मे भिन्न और अभिन्न–इन दोनों पक्षो का अवलम्बन करता है। वह धर्मादि से न तो सर्वथा भिन्न ही है और न सर्वथा अभिन्न ही है। इस कारण मयूर के अण्डे के रस के समान, जिनमे सब भेद–प्रभेद सम्मिलित है और जो देश, काल, क्रम, व्यंग्यभेद एवं समरस अवस्था रूप हैं, ऐसे ये धर्म आदि द्रव्य कहलाते है। ये अभिन्न होते हुए भी गुण पर्याय कला और परिणाम के मूल कारण होने से भिन्न मालूम पडने से भिन्न प्रतिभासित होतेहै।

'द्रव्यश्च भव्ये' इस पाणिनि के सूत्र के अनुसार द्रु धातु से भाव और कर्त्ता अर्थ में 'द्रव्य' शब्द का निपात किया गया है। इस प्रकार द्रव्य, भव्य और भवन, इन सब का एक ही अर्थ है। गुण और पर्याय, भवन रूप ही है, खडे हुए, बैठे हुए, उकडू और सोये

पिण्डातिरिक्तवृत्त्यन्तरावस्थाप्रकाशगतादशायां जायते इति व्यवहार । स व्यापारे च भवनवृत्ति अस्तीत्यनेन निर्व्यापारात्मकसत्ता—उच्यते, भवनवृत्तिरुदासीना, विपरिणमते इत्यनेन पुनस्तिरोभूतात् प्ररूपस्याऽनुच्छिन्नतयाऽनुवृत्तिकस्य रूपान्तरेण भवनमुच्यते ।

यथा—दुग्ध दधिभावेन परिणमति विकारान्तरवृत्त्या भवनमवतिष्ठते वृत्त्यन्तरव्यक्तिवृत्ति. हेतुभाववृत्तिर्वा परिणाम आख्यायते, वर्धने इत्यनेन तु उक्तस्वरूप परिणाम उपचयेन प्रवर्तते, यथाऽङ्कुरो वर्धते, उपचयशालिपरिणामरूपेण भवनवृत्तिर्व्यज्यते, अपक्षीयते इत्यनेन पुन पूर्वोक्तस्वरूपस्यैव परिणामस्याऽपचयवृत्तिराख्यायते,

दुर्बलतामासादयत् पुरुषवदपचयभवनरूपवृत्त्यन्तरव्यक्तिरुच्यते । विनश्यतीत्यनेन भवनवृत्तेराविर्भूततिरोभवनमाख्यायते, यथा-घटो विनष्ट इत्यनेन प्रतिविशिष्टसमवस्थानात्मिका भवनवृत्तिस्तिरोभूता, न तु अस्वभावतैव सजाता, कपालाद्युत्तरभवनवृत्त्यन्तरक्रमावच्छिन्नरूपत्वाद् इत्येवमादिभिराकारैर्द्रव्याण्येव भवनलक्षणानि व्यपदिश्यन्ते इति भाव

हुए पुरुष के समान । अर्थात् जैसे पुरुष की ये अवस्थाएँ भिन्न—भिन्न होती है, मगर सब अवस्थाओ मे पुरुष ज्यो का त्यो वही रहता है, इसी प्रकार पर्यायो के पलटते रहने पर भी मूल द्रव्य एक रूप ही बना रहता है । यही बात यो भी कही जाती है—उत्पन्न होता है, पलटता है बढता है, घटता है और विनष्ट भी होता है ।"

पिण्डातिरिक्त वृत्यन्तर—अवस्था—प्रकाशगता की दशा मे 'जायते' (उत्पन्न होता है) ऐसा व्यवहार होता है, व्यापार सहित होने पर भवनवृत्ति होती है । **'अस्ति'** (है) इससे व्यापार शून्य सत्ता कही जाती है, भवनवृत्ति उदासीन है, **'विपरिणमते'** (पलटता) है) इसके द्वारा अनुवृत्ति वाली वस्तु का रूपान्तर से होना कहा जाता है ।

जैसे दूध दधि रूप से परिणत होता है, यहा विकारान्तरवृत्ति से **'भवन'** कायम रहता है । जो व्यक्त्यन्तर व्यक्तिवृत्ति हो या हेतुभाववृत्ति हो वह परिणाम कहलाता है । **'वर्धते'** यहाँ उक्त स्वरूप वाला परिणाम उपचय रूप मे प्रवृत्त होता है, जैसे अकुर बढता है अर्थात उपचयशाली परिणाम रूप से **'भवन'** की वृत्ति व्यक्त होती है । 'अपचीयते' (घटता है) इस शब्द से पूर्वोक्त स्वरूप वाले परिणाम की अपचयवृत्ति प्रकट की जाती है दुर्बलता को प्राप्त होने वाले पुरुष के समान अपचय भवन रूप नवीन वृत्ति का प्रकट होना कहा जाता है । **विनश्यति'** इस पद के द्वारा भवनवृत्ति का आविर्भूत—तिरोभाव कहा जाता है । जैसे घट विनष्ट हो गया, इस वाक्य का अर्थ यही है कि विशिष्ट समवस्थान रूप भवनवृत्ति तिरोहित हो गई (छिप गई) इसका आशय यह नहीं कि कोई स्वभावहीनता उत्पन्न हो गई—शून्यता आ गई क्योकि घट—आकार के पश्चात् कपाल आदि रूप नवीन भवनवृत्ति देखी जाती है । इत्यादि आकारो के द्वारा द्रव्य ही भवन लक्षण वाले कहलाते हैं ।

तथाच— मतिज्ञानश्रुतज्ञानाभ्या सर्वाणि द्रव्याणि धर्माऽधर्माऽऽकाशकालपुद्गलजीवरूपाणि जानाति, न तु—तेषाँ धर्माऽधर्मादीनां सर्वद्रव्याणां सर्वान् उत्पातादीन् पर्यायान् जानाति, मतिज्ञानी तावत्-श्रुतज्ञानेनोपलब्धेष्वर्थेषु यदाऽक्षरपरिपाटी विनैव स्वभ्यस्तविद्य सन् द्रव्याणि ध्यायति तदा—सर्वद्रव्याणि धर्माऽधर्मादीनि मतिज्ञानविषयतया भासन्ते न तु—तेषा सर्वान् पर्यायान् जानाति, अल्पकालत्वात्-मनमश्चाशक्ते, एव श्रुतज्ञानानुसारेण सर्वाणि धर्मादीनि जानाति न तु—तेषा सर्वपर्यायान् वेत्ति अवधिज्ञानेन तु रूपिद्रव्याण्येव पुद्गलद्रव्यस्वरूपाणि जानाति, न तु—सर्वपर्यायान् जानाति, अत्यन्तविशुद्धावधिज्ञानेनापि रूपिण्येव द्रव्याणि पुद्गलद्रव्यात्मकानि जानाति तान्यपि रूपिद्रव्याणि न सर्वे पर्यायै —

अतीतानागतवर्तमानैरुत्पादव्ययध्रौव्यादिभिरनन्तै पर्यायैर्जानातीति भाव । यानि च रूपीणि द्रव्याणि पुद्गलात्मकानि शुक्लादिगुणोपेतानि अवधिज्ञानेन जानाति तेषामवधिज्ञानविषयीकृतरूपिद्रव्याणामनन्तभागमेक मन पर्ययज्ञानेन जानाति, तान्यपि—अवधिज्ञानविषयानन्तभागवर्तीनि रूपाणि द्रव्याणि न कुडयाद्याकारव्यवस्थितानि जानाति, अपितु—मनोरहस्यविचारगतानि,

तान्यपि द्रव्याणि न सर्वलोकवर्तीनि जानाति अपितु मनुष्यक्षेत्रे व्यवस्थितान्येव जानाति । अवधिज्ञानिन सकाशात् विशुद्धतराणि बहुतरपर्यायाणि जानाति, केवलज्ञानेन पुन सर्वद्रव्याणि तेषां सर्वपर्यायां श्च जाना ति ।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के द्वारा धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव रूप सब द्रव्यो को जीव जानता है, किन्तु धर्म अधर्म आदि सब द्रव्यो की सब उत्पाद आदि पर्यायों को नहीं जानता है । मतिज्ञानी श्रुतज्ञानी के द्वारा जाने हुए पदार्थों मे जब अक्षर परिपाटी के बिना ही, विद्या का भलीभाँति अभ्यास करके द्रव्यो का चिन्तन करता है, जब धर्म अधर्म आदि समस्त द्रव्य मतिज्ञान के विषय रूप प्रतिभासित होते है, मगर मतिज्ञानी उनके सब पर्यायो को नहीं जानता । इसका कारण है काल की अल्पता और मन की अशक्ति इसी प्रकार श्रुतज्ञान के अनुसार धर्म आदि सब द्रव्यो को जानता है, किन्तु सब पर्यायो को नहीं जानता । अवधिज्ञान के द्वारा रूपी द्रव्यो को—पुद्गलद्रव्यो—को ही जानता है किन्तु सब पर्यायो को नहीं । अवधिज्ञान अत्यन्त विशुद्ध हो तो भी उसके द्वारा रूपीद्रव्य पुद्गल ही जाने जा सकते है और वे रूपी द्रव्य भी सब पर्यायों से नहीं ।

भाव यह है कि अतीत, अनागत और वर्त्तमान काल सबन्धी उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य आदि अनन्त पर्यायो से जानता है । और जिन शुक्ल आदि गुणो से युक्त पुद्गल रूप रूपी द्रव्यों को अवधिज्ञान से जानता है, उनके अनन्तवे भाग को मन पर्यय ज्ञान से जानता है। उन अनन्तवें भोगवर्त्ती रूपी द्रव्यो को भी दीवार के सहारे रहे हुओं को नहीं, वरन् मनोगतो को जानता है । उन द्रव्यों को भी सम्पूर्ण-लोक मे रहे हुओ को नहीं वरन् मनुष्यक्षेत्र के भीतर ही जानता है और अवधिज्ञानी की अपेक्षा विशुद्धतर और बहुतर पर्यायो को जानता है ।

पिण्डातिरिक्तवृत्त्यन्तरावस्थाप्रकाशगतादशायां जायते इति व्यवहार । स व्यापार च भवनवृत्ति' अस्तीत्यनेन निर्व्यापारात्मकसत्ता--उच्यते, भवनवृत्तिरुदासीना, विपरिणमते इत्यनेन पुनस्तिरोभूतात् प्ररूपस्याऽनुच्छिन्नतयाऽनुवृत्तिकस्य रूपान्तरेण भवनमुच्यते ।

यथा--दुग्ध दधिभावेन परिणमति विकारान्तरवृत्त्या भवनमवतिष्ठते वृत्त्यन्तरव्यक्तिवृत्ति' हेतुभाववृत्तिर्वा परिणाम आख्यायते, वर्धते इत्यनेन तु उक्तस्वरूप परिणाम उपचयेन प्रवर्तते, यथाऽङ्कुरो वर्धते, उपचयशालिपरिणामरूपेण भवनवृत्तिर्व्यज्यते, अपक्षीयते इत्यनेन पुन पूर्वोक्तस्वरूपस्यैव परिणामस्याऽपचयवृत्तिराख्यायते,

दुर्बलतामासादयत् पुरुषवदपचयभवनरूपवृत्त्यन्तरव्यक्तिरुच्यते । विनश्यतीत्यनेन भवनवृत्तेराविर्भूततिरोभवनमाख्यायते, यथा-घटो विनष्ट इत्यनेन प्रतिविशिष्टसमवस्थानात्मिका भवनवृत्तिस्तिरोभूता, न तु अस्वभावतैव सजाता, कपालाद्युत्तरभवनवृत्त्यन्तरक्रमावच्छिन्नरूपत्वाद् इत्येवमादिभिराकारैर्द्रव्याण्येव भवनलक्षणानि व्यपदिश्यन्ते इति भाव

हुए पुरुष के समान । अर्थात् जैसे पुरुष की ये अवस्थाएँ भिन्न--भिन्न होती हैं, मगर सब अवस्थाओ मे पुरुष ज्यो का त्यो वही रहता है, इसी प्रकार पर्यायो के पलटते रहने पर भी मूल द्रव्य एक रूप ही बना रहता है । यही बात यो भी कही जाती है--उत्पन्न होता है, पलटता है बढता है, घटता है और विनष्ट भी होता है ।"

पिण्डातिरिक्त वृत्त्यन्तर--अवस्था--प्रकाशता की दशा मे **'जायते'** (उत्पन्न होता है) ऐसा व्यवहार होता है, व्यापार सहित होने पर भवनवृत्ति होती है । **'अस्ति'** (है) इससे व्यापार शून्य सत्ता कही जाती है, भवनवृत्ति उदासीन है, **'विपरिणमते'** (पलटता) है) इसके द्वारा अनुवृत्ति वाली वस्तु का रूपान्तर से होना कहा जाता है ।

जैसे दूध दधि रूप से परिणत होता है, यहाँ विकारान्तरवृत्ति से **'भवन'** कायम रहता है । जो व्यक्त्यन्तर व्यक्तिवृत्ति हो या हेतुभाववृत्ति हो वह परिणाम कहलाता है । **'वर्धते'** यहाँ उक्त स्वरूप वाला परिणाम उपचय रूप में प्रवृत्त होता है, जैसे अकुर बढता है अर्थात् उपचयशाली परिणाम रूप से **'भवन'** की वृत्ति व्यक्त होती है । 'अपचीयते' (घटता है) इस शब्द से पूर्वोक्त स्वरूप वाले परिणाम की अपचयवृत्ति प्रकट की जाती है दुर्बलता को प्राप्त होने वाले पुरुष के समान अपचय भवन रूप नवीन वृत्ति का प्रकट होना कहा जाता है । **विनश्यति'** इस पद के द्वारा भवनवृत्ति का आविर्भूत--तिरोभाव कहा जाता है । जैसे घट विनष्ट हो गया, इस वाक्य का अर्थ यही है कि विशिष्ट समवस्थान रूप भवनवृत्त तिरोहित हो गई (छिप गई) इसका आशय यह नहीं कि कोई स्वभावहीनता उत्पन्न हो गई--शून्यता आ गई, क्योकि घट--आकार के पश्चात् कपाल आदि रूप नवीन भवनवृत्ति देखी जाती है । इत्यादि आकारो के द्वारा द्रव्य ही भवन लक्षण वाले कहलाते हैं ।

तथाच— मतिज्ञानश्रुतज्ञानाभ्या सर्वाणि द्रव्याणि धर्माऽधर्माऽऽकाशकालपुद्गलजीवरूपाणि जानाति, न तु—तेषाँ धर्माऽधर्मादीनां सर्वद्रव्याणां सर्वान् उत्पातादीन् पर्यायान् जानाति, मतिज्ञानी तावत्-श्रुतज्ञानेनोपलब्धेष्वर्थेषु यदाऽक्षरपरिपाटीं विनैव स्वभ्यस्तविध सन् द्रव्याणि ध्यायति तदा—सर्वद्रव्याणि धर्माऽधर्मादीनि मतिज्ञानविषयतया भासन्ते न तु—तेषा सर्वान् पर्यायान जानाति, अल्पकालत्वात्-मनसश्चाशक्ते ,एव श्रुतज्ञानानुसारेण सर्वाणि धर्मादीनि जानाति न तु—तेषां सर्वपर्यायान् वेत्ति अवधिज्ञानेन तु रूपिद्रव्याण्येव पुद्गलद्रव्यस्वरूपाणि जानाति, न तु—सर्वपर्यायान् जानाति, अत्यन्तविशुद्धावधिज्ञानेनापि रूपिण्येव द्रव्याणि पुद्गलद्रव्यात्मकानि जानाति तान्यपि रूपिद्रव्याणि न सर्वै पर्यायै—

अतीतानागतवर्तमानैरुत्पादव्ययध्रौव्यादिभिरनन्तै पर्यायैर्जानातीति भाव । यानि च रूपीणि द्रव्याणि पुद्गलात्मकानि शुक्लादिगुणोपेतानि अवधिज्ञानेन जानाति तेषामवधिज्ञानविषयीकृतरूपिद्रव्याणामनन्तभागमेक मन पर्ययज्ञानेन जानाति, तान्यपि—अवधिज्ञानविषयानन्तभागवर्तीनि रूपाणि द्रव्याणि न कुड्याद्याकारव्यवस्थितानि जानाति, अपितु—मनोरहस्यविचारगतानि,

तान्यपि द्रव्याणि न सर्वलोकवर्तीनि जानाति अपितु मनुष्यक्षेत्रे व्यवस्थितान्येव जानाति । अवधिज्ञानिन सकाशात् विशुद्धतराणि बहुतरपर्यायाणि जानाति. केवलज्ञानेन पुन सर्वद्रव्याणि तेषा सर्वपर्याया श्च जाना ति ।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के द्वारा धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव रूप सब द्रव्यो को जीव जानता है, किन्तु धर्म अधर्म आदि सब द्रव्यो की सब उत्पाद आदि पर्यायों को नहीं जानता है। मतिज्ञानी श्रुतज्ञानी के द्वारा जाने हुए पदार्थों मे जब अक्षर परिपाटी के बिना ही, विधा का भलीभाँति अभ्यास करके द्रव्यो का चिन्तन करता है, जब धर्म अधर्म आदि समस्त द्रव्य मतिज्ञान के विषय रूप प्रतिभासित होते है, मगर मतिज्ञानी उनके सब पर्यायों को नहीं जानता। इसका कारण है काल की अल्पता और मन की अशक्ति इसी प्रकार श्रुतज्ञान के अनुसार धर्म आदि सब द्रव्यों को जानता है, किन्तु सब पर्यायो को नहीं जानता। अवधिज्ञान के द्वारा रूपी द्रव्यी को—पुद्गलद्रव्यो—को ही जानता है किन्तु सब पर्यायो को नहीं। अवधिज्ञान अत्यन्त विशुद्ध ही तो भी उसके द्वारा रूपीद्रव्य पुद्गल ही जाने जा सकते है और वे रूपी द्रव्य भी सब पर्यायों से नहीं।

भाव यह है कि अतीत, अनागत और वर्त्तमान काल सबन्धी उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य आदि अनन्त पर्यायो से जानता है। और जिन शुक्ल आदि गुणो से युक्त पुद्गल रूप रूपी द्रव्यो को अवधिज्ञान से जानता है, उनके अनन्तवें भाग को मन पर्यय ज्ञान से जानता है। उन अनन्तवें भोगवर्त्ती रूपी द्रव्यो को भी दीवार के सहारे रहे हुओं को नहीं, वरन् मनोगतो को जानता है। उन द्रव्यों को भी सम्पूर्ण-लोक मे रहे हुओ को नहीं वरन् मनुष्यक्षेत्र के भीतर ही जानता हैं और अवधिज्ञानी की अपेक्षा 'विशुद्धतर और बहुतर पर्यायो को जानता है।

अथ कथ तावत् केवलज्ञाने सर्वाणि द्रव्याणि, सर्वे पर्यायाश्च विषयी भवन्तीति चेद् उच्यते—केवलज्ञान सर्वेषां भावाना द्रव्यक्षेत्रकालभावविशिष्टानामवभासक भवति, सम्पूर्णलोकालोकविषयञ्च, यदिह लोके धर्माधर्मद्रव्यद्वयाविच्छिन्नाकाशरूपे धर्माऽधर्मद्रव्यद्वयविच्छिन्नाकाशरूपे अलोके च किञ्चिद् ज्ञेयमस्ति तद्यथा——त्रहि पश्यति तथैवान्त पश्यति,

अस्माच्च केवलज्ञानात् पर प्रधानतरं किमपि ज्ञान नयपरिच्छेदक नास्ति, नापि—केवलज्ञानविषयात्परं किञ्चिदन्यद् ज्ञेयमस्ति। तथाहि——सर्वद्रव्येषु धर्माऽधर्माऽऽकाशकालपुद्गलजीवरूपेषु सर्वपर्यायेषु चोत्पादादिषु धर्मादीनां च त्रयाणा परापेक्षया उत्पाद—विगमौ भवत,

---

अभिप्राय यह है कि पाँच ज्ञानो मे से मतिज्ञान और श्रुतज्ञान सभी द्रव्यो को जानते है, किन्तु उनकी कतिपय पर्याये ही उनका विषय होती है, क्योकि ये दोनो ज्ञान क्षायोपशमिक है और क्षायोपशमिक ज्ञान परिपूर्ण नहीं होते। इसके अतिरिक्त ये दोनो ज्ञान इन्द्रियजन्य और मनोजन्य हैं और इस कारण भी वे परिपूर्ण नहीं है।

अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञान इन्द्रिय—मनोजन्य नहीं है, अतएव वे प्रत्यक्षज्ञान की कोटि में परिगणित है, फिर भी क्षायोपशमिक होने के कारण अपूर्ण है, अतएव उन्हे विकल प्रत्यक्ष भी कहते है। ये दोनो ज्ञान रूपी द्रव्यो को ही जानते है, फिर भी उनमें विषयकृत भिन्नता है। अवधिज्ञान सम्पूर्ण लोक के समस्त रूपी द्रव्यो को जान सकता है, जब कि मन पर्ययज्ञान सिर्फ मनोवर्गणा के पुद्गलो को ही जानता है। इसी कारण अवधिज्ञान के विषय का अनन्तवाँ भाग ही मन पर्यय का विषय कहा गया है। मन पर्ययज्ञान अढाई द्वीप के अन्तर्गत जो सज्ञी जीव है, उनकी मनोवर्गणाओ को, जानता है। ऐसा होने पर भी मन पर्यायज्ञान अवधिज्ञान की अपेक्षा अत्यन्त विशुद्ध है और जिन रूपी द्रव्यों को जानता है, उनकी बहुतर पर्यायो को जानता है।

केवलज्ञान के द्वारा समस्त द्रव्य और उनकी समस्त पर्याये जानी जाती है। पूछा जा सकता है कि केवलज्ञान सब द्रव्यों और सब पर्यायो को कैसे जानता है? इसका उत्तर यह है कि केवलज्ञान समस्त भावो का अवभासक है तथा सम्पूर्ण लोक और अलोक को जानता है। धर्म और अधर्म द्रव्यो से व्याप्त लोक मे और उनसे रहित अलोक मे जो कुछ भी ज्ञेय है, उस सब को जानता है।

केवलज्ञान से बडा दूसरा कोई ज्ञान नहीं है और केवलज्ञान की विषय मर्यादा से बाहर कोई ज्ञेय नहीं है। इसका प्रधान कारण यह है कि केवलज्ञान ज्ञानावरणीय कर्म के सम्पूर्ण क्षय से उत्पन्न होता है। जब ज्ञान को आवृत करने वाला कर्म समूल नष्ट हो जाता है तो आत्मा की ज्ञानशक्ति अपने विशुद्ध परिपूर्ण और स्वाभाविक रूप मे प्रकट हो जाती है। उस समय ऐसा कोई ज्ञेय (पदार्थ) नहीं रहता जो केवलज्ञान का विषय न हो।

यथा शुक्लतया विगच्छन् नीलतयोत्पद्यमान पुद्गल द्रव्यवस्थितो भवति जीवोऽपि देवत्वेनोत्पद्यमानो मनुष्यतया विगच्छति, जीवत्वेन सर्वदाऽवस्थितो भवति। एवमाकाशकालयोरपि केवलज्ञानविषयताऽवसेया। अतएव–केवलज्ञान परिपूर्ण समग्रम असाधारण निरपेक्ष विशुद्ध सर्वभावज्ञापकं लोकालोकविषयमनन्तपर्याय भवति।

ज्ञेयस्याऽनन्तपर्यायतया तदनुसारेण केवलज्ञानमपि अनन्तपर्यायमवगन्तव्यम् सर्वस्यैव द्रव्यभावजालस्य परिच्छेदकत्वात् केवलज्ञान परिपूर्ण भवतीति विज्ञेयम्।

तथाचोक्तम्–अनुयोगद्वारे—**कइविहा णं भंते! दव्वा पण्णत्ता? गोयमा–दुविहा दव्वा पण्णत्ता, तं जहा–जीवदव्वा य-अजीवदव्वा य–**"इति। कतिविधानि खलु भदन्त! द्रव्याणि-प्रज्ञप्तानि? गौतम! द्विविधानि द्रव्याणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा–जीवद्रव्याणि च अजीवद्रव्याणि चेति। एवमुत्तराध्ययने २८–अध्ययने ८–गाथाया चोक्तम्

"धम्मो अधम्मो आगासं दव्व इक्किक्कमाहियं–
अणंताणि य दव्वाणि–कालो पुग्गलजंतवो–॥१॥ इति"
छाया— धर्मोऽधर्ममाकाश द्रव्यमेकैकमाहितम्।
अनन्तानि च द्रव्याणि काल पुद्गलजन्तव इति ॥सू०२॥

धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव, इन सभी द्रव्यो मे प्रतिक्षण उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रहता है। जो भी सत् पदार्थ है वह उत्पाद व्यय और ध्रौव्यात्मक ही होता है। किसी वस्त्र का श्वेत वर्ण नष्ट होता है, उसमे तीन वर्ण का उत्पाद होता है, किन्तु वस्त्र द्रव्य दोनो अवस्थाओ मे कायम रहता है। इसी प्रकार पूर्व पर्याय का विनाश और उत्तर पर्याय का उत्पाद होने पर भी द्रव्य ध्रुव ज्यो का त्यो–वना रहता है। जैसे जीव देव पर्याय के रूप में उत्पन्न होता है, मनुष्यपर्याय के रूप मे विनष्ट होता है मगर जीव के रूप मे सर्वदा अवस्थित रहता है। इन सब पर्यायो को केवल ज्ञान साक्षात् जानता है। इसी प्रकार आकाश और काल जैसे अपूर्व द्रव्य भी केवलज्ञान के द्वारा जाने जाते है। अतएव केवलज्ञान परिपूर्ण समग्र असाधारण, निरपेक्ष, विशुद्ध, सर्वभावों का ज्ञायक, लोकालोक को विषय करने वाला और अनन्त पर्यायो वाला है।

एक–एक ज्ञेय की स्व–परपर्यायो की गणना की जाय तो वह अनन्तानन्त है। ऐसे अनन्तानन्त पर्यायो वाले अनन्तानन्त ज्ञेय पदार्थ केवलज्ञान के विषय है। ऐसी स्थिति मे केवलज्ञान की अनन्तानन्त पर्याये है, यह समझना कठिन नहीं है।

अनुयोगद्वार के १४१ वे सूत्र मे कहा है।

प्रश्न—भगवन्! द्रव्य कितने प्रकार के कहे हैं?

उत्तर—गौतम! द्रव्य दो प्रकार के कहे है—जीवद्रव्य और अजीवद्रव्य।

उत्तराध्ययन के अध्ययन २८ की आठवीं गाथा मे कहा है—धर्मास्तिकाय, अधर्मा

मूलसूत्रम्—"निच्चावट्ठियाणि अरूवाणि य–" ॥३॥

छाया—'नित्यावस्थितानि-अरूपाणि च ॥३॥',

तत्त्वार्थदीपिका—धर्माधर्माकाशपुद्गलजीवात्मकानि षडपि द्रव्याणि नित्यावस्थितानि भवन्ति, नैतानि कदाचिदपि न सन्तीति न चाऽन्ये तत्तथा परिणमन्ति, तत्रापि–धर्माऽधर्माऽऽकाशकाल-जीवात्मकानि पञ्च द्रव्याणि अरूपाणि–रूपरसादिरहितानि भवन्ति । तथा च–धर्मादीना षण्णा-मपि द्रव्याणां नित्याऽवस्थितत्वम्, पुद्गलव्यतिरिक्ताना धर्मादीना पञ्चाना द्रव्याणान्तु रूपरसा-दिशून्यत्व भवतीति भाव' ॥३॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः– पूर्वसूत्रे धर्मादीनि षड द्रव्यणि प्रतिपादितानि सम्प्रति–तानि द्रव्यणि कि कदाचित् स्वभावात प्रच्युतानि भवन्ति ? ततोऽधिकानि वा कि भवन्ति ? तानि कि मूर्तानि–अमूर्तानि वा ? इति प्रश्नत्रय समाधातुमाह–**निच्चावट्ठियाणि अरूवाणि य–**" इति ।

धर्मादीनि षडपि द्रव्याणि नित्यावस्थितानि भवन्ति, तत्र–नित्यपदोपादानात् धर्मादीनां स्वभाव त् अप्रच्युतिरुच्यते, अवस्थितिपदोपादानाच्च तेषा षड्त्वाद् अन्यूनानधिकत्वमाख्यायते, अनादि-निधने यत्ताभ्या तानि न कदाचित् स्वतत्त्व परित्यजन्ति, तेषु च–पुद्गलव्यतिरिक्तानि धर्मादीनि पञ्चद्रव्याणि- अरूपाणि ।

स्तिकाय और आकाश, ये तीन द्रव्य एक–एक रूप है और काल, पुद्गल तथा जीव, ये तीन द्रव्य अनन्त–अनन्त है ॥सू०२।

'-निच्चावट्ठियाणि' इत्यादि ॥सूत्र॥३॥

मूलसूत्रार्थ—पूर्वोक्त द्रव्य नित्य, अवस्थित और अरूपी है ॥३॥

तत्त्वार्थदीपिका—धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव, ये छहों द्रव्य नित्य और अवस्थित है । इनमे से कभी कोई न हो ऐसा नहीं है अर्थात् ये सदैव रहते है और एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के रूप मे भी परिणत नहीं होता है । इनमे से धर्म अधर्म, आकाश, काल और जीव, ये पाँच द्रव्य अरूपी है अर्थात् रूप–रस आदि से रहित है । इस प्रकार छहों द्रव्य नित्य और अवस्थित है तथा पुद्गल के सिवाय शेष पाँच द्रव्य अरूपी है ॥३॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति पूर्वसूत्र मे धर्म आदि छह द्रव्यो का प्रतिपादन किया गया है, अब ये द्रव्य क्या कभी अपने–अपने स्वभाव से च्युत होते है ? क्या कभी न्यूनाधिक होते है ? ये मूर्त्त है या अमूर्त्त है ? इन तीन प्रश्नो का समाधान करने के लिये कहते है—

धर्म आदि छहों द्रव्य नित्य और अवस्थित है । नित्य का अर्थ यह है कि ये द्रव्य कभी अपने–अपने स्वभाव का परित्याग नहीं करते और अवस्थित का आशय यह है कि इन की सख्या कभी न्यूनाधिक नहीं होती अर्थात् ये सभी द्रव्य अनादिनिधन है और नियत सख्या वाले है कभी अपने स्वरूप का त्याग नहीं करते है । इनमे पुद्गल के सिवाय पाँच द्रव्य अरूपी है ।

न रूपं येषां तानि—अरूपाणि भवन्ति तत्र—रूपपदस्योपलक्षणत्वाद् रूप—रस—गन्ध—स्पर्श रहितानि भवन्ति इत्यर्थः । अरूपग्रहणात्—धर्माऽधर्माऽऽकाशकालजीवानाममूर्त्तत्वमाविष्क्रियते. तथाच—पुद्गलव्यतिरिक्तानि धर्मादीनि पञ्चद्रव्याणि रूप- रस--गन्ध—स्पर्शपरिणामबहिर्वर्तित्वात्—अमूर्तानि-व्यपदिश्यन्ते,—"**पोग्गला रूविणो**—" इति वक्ष्यमाणसूत्रानुसारात् पुद्गलभिन्नान्येव धर्मादीनि द्रव्याणि अविद्यमानरूप—रसादीनि भवन्ति,

नित्यावस्थितानि तु सर्वाण्यपि द्रव्याणि भवन्ति । उक्तञ्च–नन्दिसूत्रे—"**पंचत्थिकाए न कयाइ नासी, न कयाइ नत्थि, न कयाइ न भविस्सइ, भुविंच भवइ अ भविस्सइ अ धुवे नियए सासए अक्खए अव्वए अवट्ठिए णिच्चे अरूवी**—" इति ।

पञ्चास्तिकाया न कदाचित्- नासन्, न कदाचित् न सन्ति, न कदाचित्—न भविष्यन्ति अभूवंश्च- भवन्ति च भविष्यन्ति च ध्रुवा – नियता – शाश्वता –अक्षया --अव्यया अवस्थिता – नित्याः— अरूपिणः ।

एवञ्च—एतानि पूर्वोक्तानि धर्मादीनि षडपि द्रव्याणि द्रव्यार्थिकनयेन नित्यानि भवन्ति न तु—पर्यायार्थिकनयेन । द्रव्यार्थिकनयस्तावत्–ध्रौव्यमेव प्रतिपादयति, नोत्पाद—विनाशौ, तस्माद्—द्रव्यार्थिकनयेन धर्मादीनां नित्यत्वमवगन्तव्यम् । अन्यथा- द्रव्यार्थिकनयनिरपेक्षतया नित्यत्वस्वीकारे एकान्तवाद आपतेत्, एकान्तवादश्च—बहुविधदोषग्रस्तत्वादसमञ्जसः स्यात् ।

जिसमे रूप न हो उसे अरूपी कहते है । यहाँ रूप शब्द उपलक्षण है उससे रस गध और स्पर्श का भी ग्रहण होता है। सूत्र में अरूप शब्द के ग्रहण से धर्म, अधर्म, आकाश, काल और जीव द्रव्य की अमूर्त्तता प्रकट की गई, है । अत पुद्गल को छोड कर शेष पाँच धर्म आदि द्रव्य रूप, रस, गध और स्पर्श से रहित होने के कारण अमूर्त्त कहलाते है । **'पोग्गला रूपिणो'** इस आगे कहे जाने वाले सूत्र के अनुसार पुद्गल सिवाय धर्म आदि पाँच द्रव्य ही अरूपी है। मगर नित्य और अवस्थित तो पुद्गल द्रव्य भी है ।

नन्दीसूत्र के सूत्र ५८ में कहा है—'पाँच अस्तिकाय कभी नहीं थे, ऐसा नहीं है, कभी नहीं हैं, ऐसा नही है, कभी नहीं होगे, ऐसा भी नहीं है । सदा ये थे, है, और रहेगे । वे ध्रुव हैं, नियत है, शाश्वत है, अक्षय है, अव्यय है, अवस्थित है, नित्य है और अरूपी है ।

इस प्रकार ये धर्म आदि छहो द्रव्य द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से नित्य है, पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे नहीं । द्रव्यार्थिकनय वस्तु के ध्रौव्य का ही प्रतिपादन करता है, उत्पाद और विनाश का-नहीं । इस कारण द्रव्यार्थिकनय के अभिप्राय से ही धर्म आदि द्रव्य नित्य समझना चाहिए । द्रव्यार्थिकनय से निरपेक्ष रूप मे नित्यता स्वीकार करने पर एकान्तवाद का प्रसग होगा और एकान्तवाद अनेक प्रकार के दोषो से दूषित है ।

अथ—एकनयप्ररूपण न जैनदर्शनपरिपूर्णाय पर्याप्त सम्भवति, द्रव्यार्थिक—पर्यायार्थिक-नययो' प्रधानगुणभावविवक्षावशाद् वस्तुतत्त्वस्य प्रतिपादनात । अन्यथा वस्तुप्रज्ञापनमतिदुष्कर न भवेत् तस्माद् अभिन्नांशस्य वस्तुनो नरसिंहवत् नरकेसरिशब्दभेदेन प्रज्ञापना क्रियते, तत्र—द्रव्यार्थिक-नयस्य प्राधान्यमाश्रित्य पर्यायार्थिकनयादेश्च गुणभावमाश्रित्य धर्मादिद्रव्याणां नित्यता प्रज्ञाप्यते ।

तथाच—द्रव्यार्थिकनयप्रज्ञाप्य ध्रौव्यांशमादाय धर्मादीनि द्रव्याणि नित्यानि उत्पाद-विनाशरहितानि ध्रुवाणि व्यपदिश्यन्ते । तथाच—धर्मादीना सकलकालाऽविकारिणी सत्ताऽऽख्यायते नित्यत्वकथनेनेति भाव । एव धर्मादीनि सर्वद्रव्यणि-अवस्थितानि भवन्ति, न हि कदाचित् तानि द्रव्याणि षट्त्वसख्या भूतार्थत्व च परित्यजन्ति-परित्यक्षन्ति वा,

अवस्थितशब्दोपादानेन तद्भावाऽव्ययतया तेषा षट्त्वसख्यारूपेयत्ता निर्धार्यते । तथाच—षडेव द्रव्याणि भवन्ति, न न्यूनानि, नाऽप्यधिकानि वा इति सख्यानियमोऽभिप्रेत । सर्वदा जगत पञ्चास्तिकायात्मकत्वेन कालस्यैतत् पर्यायत्वेऽपि भिन्नतया प्रतीयमानत्वात् षडेव द्रव्याणि न तु—पञ्चेति भाव' । तानि च धर्मादीनि अन्योऽन्यावबन्धिताया सत्यामपि धर्मादीनि न स्वतत्त्व भूतार्थत्वरूप वैशेशिक लक्षणमतिक्रामन्ति ।

तच्च—भूतार्थत्व धर्माऽधर्मयोर्गतिस्थित्युपग्रहकारित्वम् आकाशस्य-अवगाहदानव्यापार, जीवाना स्वपरप्रकाशिचैतन्यपरिणाम, पुद्गलानामचैतन्यशरीरवाड्मन प्राणापानसुखदु'खजीवितमरणो-

---

जैनदर्शन के अनुसार एकनय से वस्तु की प्ररूपणा करना पर्याप्त नहीं, द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक—दोनो में से एक को प्रधान और दूसरे को गौणरूप से विवक्षित करके ही वस्तुतत्त्व का प्रतिपादन किया जा सकता है । ऐसा किये बिना वस्तुस्वरूप की प्ररूपणा करना बहुत कठिन है । अतएव यहाँ द्रव्यार्थिकनय को प्रधान और पर्यायार्थिकनय को गौण करके धर्म आदि द्रव्यो की नित्यता की गई है ।

द्रव्यार्थिकनय द्वारा प्रज्ञाप्य ध्रौव्य अश की अपेक्षा से धर्म आदि द्रव्य नित्य अर्थात उत्पाद और विनाश से रहिम ध्रुव हैं । नित्य कहकर यह प्रकट किया गया है कि धर्म आदि द्रव्यो की सत्ता समस्त काल मे अविकारिणी है । इसी प्रकार धर्म आदि सब द्रव्य अवस्थित है अर्थात् वे अपनी छह की सख्या को और भूतार्थता को न कभी भी त्यागते है और न कभी त्यागेंगे ।

'अवस्थित' शब्द के ग्रहण से यह निर्धारित किया गया है कि ये द्रव्य अपने स्वरूप का परित्याग नहीं करते, अत छह ही रहते है । न कभी कम होते है और न अधिक ही । जगत् सदा पचास्तिकायात्मक है और काल पर्याय होने पर भी भिन्न रूपसे प्रतीत होता है, अत छ ही द्रव्य हैं, पाँच नहीं । ये धर्म आदि द्रव्य आपस मे मिलेजुले रहते है, फिर भी अपने अपने स्वरूप को और भूतार्थता को नहीं त्यगते है और न अपने विविध असाधारण लक्षण का उल्लघन करते है ।

धर्मद्रव्य का स्वरूप गति मे और अधर्मद्रव्य का स्वरूप स्थिति में निमित्त होता है। आकाश

पग्रहमूर्तत्वादयो भूतार्थत्व बोध्यम्। अथवा–असख्येयादिप्रदेशानादिपरिणामस्वभावत्व वा भूतार्थत्व मूर्तत्वञ्चेति। ताञ्च मर्यादामनादिकालप्रसिद्धिवशोपनीता नातिक्रमन्ति धर्मादिद्रव्याणि। तस्मात्–स्वगुण परित्यज्य नान्यदीयगुणसम्परिग्रहमेतानि आश्रयन्ति, अतएवेतानि अवस्थितानि व्यपदिश्यन्ते। तेषु च––षट्सु द्रव्येषु पुद्गलव्यतिरिक्तानि पञ्चद्रव्याणि धर्मादीनि अरूपाणि भवन्ति

पुद्गलव्यतिरिक्तानामेव धर्मादि पञ्चद्रव्याणाममूर्तत्वात्, चक्षुर्ग्रहणलक्षण रूपम् अविद्यमानत्व येषा तान्यरूपीणि। अरूपत्वादेव नैतानि चक्षुषा गृह्यन्ते इति, न तु–एतेषा चक्षुषाऽगृह्यमाणत्वमरूपत्वे हेतुरुच्यते, तथासति-पुद्गलपरमाण्वादिषु अरूपत्वापत्तिः स्यात् तस्मात्–धर्मादिषु पञ्चसु अरूपत्व-प्रतिपादनम्,

रूपन्तावत्–मूर्तिरुच्यते, मूर्तिरेव रूपादिशब्दैरभिधीयते, सा च मूर्तिः- रूपादिसस्थान परिणामा भवति न तु–वैशेषिकाभिमता, असर्वगतद्रव्यपरिमाणलक्षणा मूर्तिरूपादेया, सर्वतः परि-मितत्वे लोकस्य–आत्मनोऽपि मूर्तिमत्वापत्ति स्यात्।

लोकस्य विशिष्टसस्थानत्वादिभि परिमितत्व वैशेषिकैरपि–अवश्यमभ्युपगन्तव्यम्। तस्मात्–

का स्वरूप अवगाह प्रदान करता है। जीव का स्वरूप स्व-पर प्रकाशक चैतन्यरूप परिणाम है। पुद्गल का स्वरूप शरीर, वचन, मन, प्राणापान, जीवन, मरण में निमित्त होना तथा मूर्त्तत्व आदि है।

धर्मादि द्रव्य अनादिसिद्ध अपनी अपनी इस स्वरूपमर्यादा का अतिक्रमण नहीं करते है। कोई भी द्रव्य अपने स्वाभाविक गुण का परित्याग करके अन्य द्रव्य के गुण को धारण नहीं करते इस कारण ये द्रव्य अवस्थित कहलाते है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि छह द्रव्यो में से पुद्गल को छोड कर शेष पाँच द्रव्य अरूपी अर्थात् अमूर्त्त है।

धर्म पुद्गल के सिवाय धर्म आदि पाँच द्रव्य अमूर्त्त होने के कारण अरूपी है–उनमें रूप नहीं है और रूपी न होने के कारण वे नेत्र के द्वारा देखे नहीं जा सकते।

धर्म आदि द्रव्यो के नेत्र ग्राह्य न होने में अरूपित्व को हेतु नहीं कहा है, अन्यथा पुद्गल परमाणु भी नेत्रगोचर नहीं होता तो उसे भी अरूपी मानना पडेगा। मगर वह अरूपी नहीं है, इस प्रकार धर्म आदि पाँच द्रव्यो में ही अरूपत्व का प्रतिपदन किया गया है।

रूप का अर्थ मूर्ति। मूर्ति ही रूपादि शब्दो के द्वारा कही जाती है। वह मूर्ति रूपादि सस्थान (आकार) वाली होती है। वैशेषिक, द्रव्य का सर्वव्यापक न होना मूर्त्तत्व मानते है अर्थात उनके कथन के अनुसार मूर्ति वह है जो सर्वव्यापि परिमाण वाला न हो, मगर यह मान्यता यहाँ स्वीकार नहीं की गई है, क्योंकि ऐसा मानने पर आत्मा भी मूर्तिक हो जाएगी। लोक सब ओर से परिमित है, अतः आत्मा भी परिमित ही है।

लोक परिमित हैं, यह वैशेषिको को भी स्वीकार करना चाहिए क्योंकि उसका एक विशिष्ट आकार है। इस कारण रूप को मूर्ति मानना ही निर्दोष है।

रूपमेव निर्दुष्टत्वात् मूर्तिरुच्यते । अथ यदि रूपमेव मूर्तिरुच्यते तदा-गुणमात्र मूर्तिशब्दस्य विषय' प्रसज्येत तस्माद् न रूपमेव मूर्तिरितिचेन्न ।

द्रव्यार्थिकनयाभिप्रायेण रूपस्य मूर्तित्वप्रतिपादनात् न खलु द्रव्यस्य रूपादय केचन मूर्त्या विविक्ततया समुपलभ्यन्ते, तस्मात्—सैव तावद मूर्तिर्द्रव्यस्वभावानयनग्रहणमासाद्य रूपमिति व्यवह्रियते । अतएव मूर्त्याश्रयाश्च स्पर्शादय उच्यन्ते, स्पर्शादयस्तावद् मूर्तिं न परित्यजन्ति, परस्प-रसहचरितत्वात् । यत्र खलु रूपपरिणामो भवति तत्राऽवश्यमेव स्पर्शरसगन्धा अपि तिष्ठन्त्येव

तस्मात्—स्पर्शादिचतुष्टय सहचरित वर्तते । परमाणावपि-एतच्चतुष्टय विद्यत एव, किन्तु—सर्वेषामेकरूपत्वात् परमाणवश्चतुर्गुणादिजातिभेद्भाजा न भवन्ति केवलमयमेव विशेषो यत्किल-किमपि द्रव्यमुत्कटां गुणपरिणतिं प्राप्य तमेव परित्यजति तथाहि लवण-हिङ्गुनी सघातपरिणा-मसामर्थ्यशालिनी नयनस्पर्शनग्रहणविषयतामासाद्य-उदके विलीने सती रसनघ्राणग्रहणयोग्यतां प्राप्नुत' । किन्तु तत्र वर्णस्पर्शौ विद्यमानावपि ग्रहीतु न पार्यते परिणामविशेषवत्त्वात् ।

एव पार्थिवजलीयतैजसवायवीयपरमाणवोऽपि एकजातीया' कदाचित् कश्चित् परिणामं धारयन्तो न सर्वेन्द्रियग्रहणयोग्या भवन्ति । तस्मात्—रूप-रस-गन्ध-स्पर्शा एव विशिष्टपरिणामानु-गृहीता सन्तो मूर्तित्वेन व्यपदिश्यन्ते इत्यन्यदेतत् ॥ ३ ॥

शका—यदि रूप को ही मूर्ति माना जाय तो मूर्ति शब्द का वाच्य अकेला गुण ही होगा । इस कारण रूप ही मूर्ति नहीं है ।

समाधान-द्रव्यार्थिकनय के अभिप्राय से रूप को मूर्ति कहा गया है । द्रव्य के रूप आदि उससे भिन्न प्रतीत नहीं होते । इस कारण वही मूर्ति द्रव्यस्वभाव के आनयन ग्रहण आदि को प्राप्त करके रूप कहलाती है । अतएव स्पर्श आदि मूर्ति के आश्रित कहे जाते है । स्पर्श आदि मूर्ति का परित्याग नहीं करते है,, क्योकि वे परस्पर में सहचर है जहाँ रूप होता है, वहाँ स्पर्श रस और गध, भी अवश्य रहते है । इस कारण स्पर्श आदि चारों सहचर है ।

परमाणु में भी रूप आदि चारो गुण विद्यमान रहते है । किन्तु वे सब एक रूप होकर रहते हैं, अत परमाणु चतुर्गुण आदि जातिभेद वाले नहीं होते । विशेषता केवल यही है कि कोई द्रव्य उत्कट गुणपरिणति को प्राप्त होकर उसे त्याग देता है । उदाहरण के लिए नमक और हींग को लीजिए । जब वे सधान रूप होते है तो नेत्र, घ्राण और स्पर्शन इन्द्रियो के विषय होते है, किन्तु जब जल मे घुस जाते है तब रसना और घ्राण के ही विषय रह जाते है । वर्ण और स्पर्श तो उनमें उस समय भी रहता है मगर वह इन्द्रिय द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता । यह उनके परिणमन की विशेषता है ।

इसी प्रकार एक जातीय पार्थिव, जलीय तैजस और वायवीय परमाणु भी कभी किसी परिणमन को प्राप्त होकर सब इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य नहीं होते है । इस कारण रूप, रस, गध और स्पर्श ही विशेष परिणाम से युक्त होकर मूर्ति कहलाते है ॥३॥

मूलसूत्रम् "पोग्गला रूविणो-" ॥ ४ ॥

छाया—"पुद्गला रूपिणः-" ॥ ४ ॥

तत्त्वार्थदीपिका—पुद्गलास्तावद् वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शवत्वात् चक्षुपा गृह्यमाणत्वात्-मूर्त्तत्वाच्च रूपिणो भवन्ति, न तु-अरूपिण। यदि-पुद्गला अरूपिण स्यु तदा-तेपां चाक्षुपप्रत्यक्षत्व न स्यात्। उक्तञ्च स्थानाङ्गसूत्रे५-स्थाने तृतीयोद्देशके —"पोग्गलत्थिकायं रूविकायं-" इति। पुद्गलास्तिकायो रूपिकाय इति। एव व्याख्याप्रज्ञप्तौभगवतीसूत्रेऽपि ७ शतके १०-उद्देशके—"पोग्गलत्थिकायं रूविकायं-" इत्युक्तम् ॥ ४ ॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वसूत्रे सामान्यत एव "अरूपीणि द्रव्याणि भवन्ति" इत्युक्तम् तत्र-विशेषरूपेण पुद्गलद्रव्यस्याऽरूपत्वप्रतिषेधेन रूपित्व प्रतिमादयितुमाह—

"पोग्गला रूविणो-" इति। पुद्गला रूपिणोभवन्ति न तु-अरूपाः, नित्यत्वावस्थितत्वे तु-पुद्गलानामपि भवत एव, तत्स्वभावाव्ययत्वात् नित्यत्व सदैव समस्ति, रूपादिमत्तया चाऽव्यतिकीर्यमाणस्वभावत्वेनाऽवस्थितत्वमपि पुद्गलानां भवत्येवेति भाव। अथोत्पादविनाशवत्वात् पुद्गलद्रव्याणामनित्यतैव युक्ता न तु-तदविरुद्धा नित्यता तेषा सम्भवतीति चेत् अत्रोच्यते।

द्विविधं तावत् नित्यत्व प्रज्ञप्तम्, अनाद्यपर्यवसाननित्यत्वम्-सावधिनित्यत्वञ्च। तत्र-प्रथम

मूलसूत्रार्थ—"पोग्गला रूविणो" सूत्र ४

पुद्गल द्रव्य रूपी होते हैं "४"

तत्वार्थदीपिका—पुद्गल वर्ण गध रस और स्पर्श से युक्त होने के कारण, चक्षु द्वारा ग्राह्य होने के कारण और मूर्त होने के कारण रूपी हैं-वे अरूपी नहीं है। पुद्गल यदि अरूपी होते तो नेत्र के द्वारा उन्हे देखना सभव न होता। स्थानांगसूत्र के पाँचवे स्थान, तीसरे उद्देशक के प्रथम सूत्र में कहा है-'पुद्गलास्तिकाय रूपीकाय है।, भगवतीसूत्र के सातवे शतक के दशम उद्देशक में भी कहा है-पुद्गलास्तिकाय रूपीकाय है ॥४॥

तत्वार्थनिर्युक्ति—पूर्वसूत्र मे सामान्य रूप से द्रव्यो को अरूपी कहा गया था, किन्तु विशेष रूप से पुद्गलास्तिकाय की अरूपता का निषेध करके उसे रूपी प्रतिपादन करने के लिए कहते है—

पुद्गल रूपी है अरूपी नहीं। नित्यता और अवस्थितता तो पुद्गलों में भी पाई जाती है, क्योंकि वे अपने पुद्गल स्वभाव का कभी परित्याग नहीं करते। सदैव रूपदिमान् ही रहने के कारण वे अवस्थित भी है। केवल अरूपीपन उनमें नहीं पाया जाता।

शका—पुद्गलद्रव्य उत्पन्न और विनष्ट होते रहते है, अतएव उन्हे अनित्य मानना ही उचित है। उनमें अनित्यता से विरुद्ध नित्यता नहीं हो सकती।

समाधान—नित्यता दो प्रकार की कही गई है-(१) अनादिअनन्तता अर्थात् आदि भी न होना और अन्त भी न होना और (२) सावधिनित्यता—अवधियुक्त नित्यता। प्रथम प्रकार की

तावत् लोकसन्निवेशवदनासादितपूर्वापरावधिविभागं सन्तानाव्यवच्छेदेन स्वभावमजहत् तिरोहिताऽनेकपरिणामप्रसवशक्तियुक्त भवनमात्रकृतास्पदं प्रसिद्धमेव ।

द्वितीयं पुन श्रुतोपदेशनित्यतावदुत्पत्तिप्रलयवत्त्वेऽपि अवस्थानात् पर्वतोदधिवलयाद्यवस्थानवच्च सावधिकम् । एवम्—अनित्यत्वमपि द्विविध प्रज्ञप्तम्, परिणामाऽनित्यत्वम्—उपरमाऽनित्यत्वञ्च । तत्र—परिणामाऽनित्यत्वं तावत् मृत्पिण्डो विस्रसाप्रयोगाभ्यामनुसमयमवस्थान्तरं पूर्वावस्थाप्रच्यवेन समासादयति,

उपरमाऽनित्यत्वं पुनर्भवोच्छेदवदपास्तगतिचतुष्टयपरिभ्रमक्रियाक्रमपर्यन्तवर्तिपरिप्राप्तावस्थानविशेषरूपं भवति, न तु—अत्यन्ताभाववर्ति । तत्र—परिणामाऽनित्यतया पुद्गलद्रव्यमनित्यं व्यपदिश्यते, तद् भावाव्ययतया च नित्यं व्यवह्रियते, उभयथा व्यवहारदर्शनात् न हि कश्चिद् विरोध आपतति । उभयीमेव तादृशी व्यवस्थामास्थाय निखिला वास्तवीं बुद्धि किमपि वस्तु आधिनोति ।

केवलं प्रधानोपसर्जनतया कदाचित् किञ्चिद् विवक्ष्यते तस्मात् पुद्गलानित्यत्वाऽनित्यत्वयोरुभयोरपि एकमास्पदं भवन्ति इति न किञ्चित् कस्यचिद् बाध्यते इति भाव ।

नित्यता लोक की है । न उसकी आदि है, न अन्त है । उसके प्रवाह का कभी विच्छेद नहीं होता—वह अपने स्वभाव का कभी परित्याग भी नहीं करता । विविध प्रकार के परिणमनों को उत्पन्न करने की शक्ति से युक्त है । यह अनादि—अनन्तनित्यता है ।

दूसरे प्रकार की नित्यता श्रुतोपदेश की है । श्रुत का उपदेश उत्पत्तिमान् और प्रलयवान् है, फिर भी वह अवस्थित रहता है । पर्वत, समुद्र, वलय आदि का अवस्थान भी सावधिनित्यता में परिणमित है ।

इसी प्रकार अनित्यत्व भी दो प्रकार का है—(१) परिणामानित्यत्व और (२) उपरमानित्यत्व । मृत्तिका का पिण्ड स्वभाव से और प्रयत्न से अपनी पूर्व—अवस्था को त्याग कर नवीन अवस्था को प्रतिसमय प्राप्त होता रहता है । इस प्रकार की अनित्यता को परिणामानित्यता कहते है ।

उपरमानित्यत्व भवोच्छेद—ससार का अन्त आना है। चारो गतियो में परिभ्रमण का अन्त होने पर पर्यन्तवर्त्ती जो अवस्थान है, वह उपरमानित्यत्व है अत्यन्ताभाववर्त्ती नहीं है ।

इनमें से परिणामानित्यत्व की दृष्टि से पुद्गलदव्य अनित्य कहलाता है और अपने पुद्गलपन का त्याग न करने के कारण नित्य भी माना जाता है । दोनो प्रकार का व्यवहार देखा जाता है अत कोई विरोध—नहीं आता । प्रत्येक वस्तु में उक्त दोनो ही प्रकार की अर्थात् नित्यता और अनित्यता की व्यवस्था है, और इसी प्रकार की प्रतीति होती है । हाँ कभी अनित्यता को गौण करके नित्यता की प्रधानता से विवक्षा की जाती है और कभी नित्यता की प्रधानता करके अनित्यता को गौण कर दिया जाता है । इस प्रकार पुद्गल में अनित्यता और नित्यता दोनों ही धर्म रहते हैं । ऐसा मानने में किंचित् भी बाधानहीं है ।

ते च पुद्गला रूपिणो भवन्ति रूपमस्ति एषामेषु वा-इति रूपिण, रूपवन्त इत्यर्थ पूरणाद्-गलनाच्च पुद्गला परमाणुप्रभृतयोऽनन्तानन्तप्रदेशस्कन्धपर्यवसाना अवगन्तव्या । त एवाऽनेकरूपपरिणतिसामर्थ्यापादितसूक्ष्म-स्थूलविशेषाऽविशेषप्रकर्षाऽप्रकर्षवर्तिनीमनन्यसाधारणीं रूपवत्तां धारयन्ति, न तु-धर्माधर्मादिद्रव्यविशेषा इति पुद्गलेषु रूपवत्त्वमवधार्यते तथाच-रूपवत्त्व तावत् न कदाचित् अतिदीर्घकालपरिचितपरमाणुद्व्यणुकादिक्रमवृद्धपुद्गलद्रव्यकलाप जहाति सामर्थ्याच्च पुद्गलद्रव्याण्यपि न रूपवत्तां परित्यज्य कदाचिदपि वर्तन्ते तस्मात्-पुद्गला एव रूपिणो भवन्तीति सम्यगुच्यते ।

तत्र-चक्षुर्ग्रहणलक्षणं रूपमस्ति एषां परामणुद्व्यणुकादिक्रमभाजा पुद्गलानामिति रूपिण इति विग्रहेण षष्ठीप्रदर्शनात् भेदविवक्षावशाल्लब्धं द्रव्यगुणयोर्नानात्त्वमवगन्तव्यम् अभेदविवक्षावशपरिप्रापितञ्च द्रव्यपर्याययोरैक्य भवति इत्यभिप्रायेण रूपमस्ति एषु वा इति व्यापकाधिकरणलक्षणं सप्तमीमाश्रित्य विग्रह क्रियते. ।

अथवा-द्रव्यार्थिकनयापेक्ष पर्यायार्थिकनयापेक्षश्च भेदोऽभेदश्च द्रव्यगुणयोरवगन्तव्य न हि-रूपात्मकमूर्तिव्यतिरेकेण पुद्गला समुपलभ्यन्ते भिन्नदेशसम्बन्धित्वेनाऽनुपलब्धेरित्युभयोरभेद एवँ यद् इदं-चन्दनमुपलभ्यते. तस्य श्वेत रूप तिक्तो रस सुरभिर्गन्ध-शीतल स्पर्श इति व्यवहारो भेदे एव सम्भवति ।

वे पुद्गल रूपी अर्थात् रूप वाले है। पूरण और गलन स्वभाव वाले होने से वे परमाणु से लेकर अनन्तानन्त प्रदेशी स्कन्ध तक जानने चाहिए । पुद्गल अनेक रूप परिणमन के अपने सामर्थ्य के कारण सूक्ष्म, स्थूल, विशेष, अविशेष, प्रकर्ष, अपकर्ष रूप असाधारण रूपवत्ता को धारण करते है । धर्म, अधर्म आदि द्रव्यो में यह बात नहीं है इस कारण पुद्गलो में रूपवत्त्व का अवधारण किया गया है । पुद्गल चाहे परमाणु हो या द्व्यणुकादि रूप में बढ़ कर बडा स्कध बन जाय, मगर रूपवत्त्व पुद्गल का त्याग नहीं करता और पुद्गलद्रव्य कभी रूपवत्ता का परित्याग नहीं करते। अतएव यह ठीक ही कहा गया है कि पुद्गल रूपी होते है।

चक्षुग्राह्य रूप जिन परमाणु द्व्यणुक आदि पुद्गलो का हो वे रूपी कहलाते है, इस प्रकार का विग्रह करके षष्ठी विभक्ति दिखलाने से यह सूचित किया गया है कि भेद विवक्षा से द्रव्य और गुण में भिन्नता है । अगर दोनो मे अभेद की विवक्षा की जाय तो अभेद भी है।इस अभिप्राय से 'रूप जिनमें है वे रूपी' ऐसा सप्तमी विभक्ति को लेकर विग्रह किया गया है।

अथवा द्रव्य और गुण मे पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से भेद और द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से अभेद समझना चाहिए । रूपात्मक मूर्ति से भिन्न पुद्गल कहीं उपलब्ध नहीं होते—दोनों भिन्न भिन्न देशो में नहीं पाये जाते, अत उनमें अभेद है। इसी प्रकार यह जो व्यवहार होता है कि चन्दन का रूप श्वेत है, रस तिक्त है, गंध सुरभि है, स्पर्श शीतल है, यह भेद होने पर ही सभव है ।

तद्यथा—अस्य मुनेरियं मुखवस्त्रिका वर्तते इति मुनिमुखवस्त्रिकयोर्भेदे सत्येव षष्ठीदृश्यते इतिरीत्या द्रव्यगुणयोर्भेदः सिध्यन्ति अथ द्रव्यस्य द्रव्यान्तरात् पार्थक्येनोपलभ्यमानतयाऽर्थान्तरत्वेऽपि गुणस्य रूपादेर्द्रव्यात्पार्थक्येनाऽनुपलब्धेः द्रव्यस्य वा रूपादिगुणेभ्यः पार्थक्येनानुपलभ्यमानतया कथं तयोर्भेदसिद्धिरितिचेत्—

उच्यते यदि द्रव्यगुणयोर्भेदो न स्यात् तदा—भेदे एव षष्ठीविधानेन चन्दनस्य श्वेतं रूपम्, तिक्तो रसः, सुरभिर्गन्धः, इत्येवं रीत्या षष्ठी न स्यात् तयोरभेदे षष्ठ्यनुपपत्तिः स्यात् तस्मात्तयर्भेदोऽवश्यमभ्युपगन्तव्यः

अथ सेना—वनादिवदनर्थान्तरेऽपि षष्ठीदृश्यते, यथा—सेनायाः कुञ्जरः काननस्य सहकार इति, कुञ्जरादिसमूहस्यैव सेनापदार्थत्वात् सहकारादिवृक्षसमुदायस्यैव च काननत्वात् इतिचेत् उच्यते सेनाकाननयोः कुञ्जसहकारतोऽनर्थान्तरत्वाभावः तथाहि—अनियतदिग्देशसम्बन्धिषु हस्ति—पुरुष—घोटक—रथेषु बहुत्वसंख्याया एव सेना पदार्थता स्यात्, न तु—केवलं कुञ्जरएव सेनापदार्थः इति ।

एवं सहकाराम्रजम्बूजम्बीरदाडिमादिवृक्षसमुदायस्यैव काननपदार्थता न केवलं सहकारस्य काननपदार्थता स्यात् इति द्वयमपि पदार्थान्तरमिति भावः

'इस मुनि की यह मुखवस्त्रिका है' यहाँ जैसे मुनि और मुखवस्त्रिका का भेद होने पर ही षष्ठी विभक्ति देखी जाती है, इसी प्रकार द्रव्य और गुण में भी भेद है।

शंका—जैसे एक द्रव्य दूसरे द्रव्य से भिन्न उपलब्ध होता है, उस प्रकार रूप आदि गुण द्रव्य से पृथक नहीं उपलब्ध होते और न द्रव्य ही रूप आदि गुणो से भिन्न उपलब्ध होता है।

समाधान—यदि द्रव्य और गुण में भेद न होता तो 'चन्दन का श्वेत रूप, तिक्त रस, सुरभिगंध, इस प्रकार षष्ठी विभक्ति न होती। षष्ठी विभक्ति भेद होने पर ही होती है, अभेद में नहीं होती। अतएव द्रव्य और गुण मे भेद अवश्य मानना चाहिए।

कदाचित् कहा जाय कि सेना, वन आदि के समान अन्य अर्थों में भी षष्ठी विभक्ति देखी जाती है, जैसे—सेना का हाथी, कानन का आम। हाथी आदि पदार्थों का समूह ही सेना पद का अर्थ है और आम आदि के वृक्षो का समूह ही वन होता है। इसका उत्तर यह है कि सेना का हाथी और कानन का आम मे भेद नहीं है। अनियत दिशाओ और देशों में रहे हुए, हस्ती, पुरुष, घोड़ा और रथों मे, जो सम्बन्ध विशेष से विशिष्ट है, जिनकी संख्या निश्चित-अनिश्चित है, उन सबकी जो बहुत्व संख्या है, वही सेना पद का अर्थ है। अकेला हस्ती ही ऐसा शब्द का वाच्य नहीं है।

इसी प्रकार सहकार, आम, जामुन, जंबरी दाडिम आदि के वृक्षो का समूह ही कानन शब्द का वाच्य है, केवल सहकार ही कानन शब्द का अर्थ नहीं है इस कारण वे दोनो भी भिन्न है।

एवं यूष–पङ्क्त्यादयोऽपि अर्थान्तरंतयैव समुन्नेया , तथाहि–यूपस्तावत् समुत्पन्नपाकजानां द्रव्याणां कालविशेषानुग्रहे सति द्रव्यान्तरसम्पृक्तानां पाकजोत्पत्तौ सयोगविशेषरूपओदनाद-र्थान्तरभूतो भवति एव पंक्तिरपि एकदिग्देशसम्बन्धिपु परस्परप्रत्यासत्त्युपकृतेपु निर्धारिताऽनिर्धारिते यताकेषु भिन्नाऽभिन्नजातीयेपु आधारेपु विद्यमाना वहुत्वसख्यैव व्यपदिश्यते तस्मात्- सापेक्षमिद द्रव्यार्थिक –पर्यायार्थिकनयद्वय वस्तुन· सद्भावमापादयति नैकान्तत इति,

अत· पुद्गलेषु विवक्षावशाद् रूपात्मिका मूर्तिर्भेदाऽभेदवर्तिनीति भाव· ॥४॥

मूलसूत्रम्—'आइमाणि तिन्नि एगदव्वाणि अकिरियाणि अंतिमाणि अणंताणि' ॥५॥

छाया—आदिमानि त्रीणि एकद्रव्याणि अक्रियाणि अन्तिमाणि अनन्तानि ॥५॥

तत्त्वार्थदीपिका—आदिमाणि–प्रथमानि त्रीणि धर्माऽधर्माऽऽकाशानि एकद्रव्याणि एक-द्रव्यात्मकानि भवन्ति न तु–कालजीवपुद्गलवद् धर्मादीन्यपि त्रीणि द्रव्याणि प्रत्येक भिन्नानि बहूनि सन्ति द्रव्यापेक्षया प्रत्येकमेषामेकत्व भवति क्षेत्रकालभावापेक्षया पुनरसख्येयत्वमनन्तत्व वोध्यम्. ।

तानि पुनर्धर्माऽधर्माऽऽकाशानि त्रीणि द्रव्याणि अक्रियाणि–क्रियारहितानि भवन्ति एवञ्च–यथा जीवद्रव्यं नानाजीवापेक्षया भिन्नं वर्तते एव–पुद्गलद्रव्यमपि प्रदेशस्कन्धत्वापेक्षया भिन्न भवति एवम्—कालद्रव्य च अद्धासमयाद्यपेक्षया भिन्न विद्यते,

---

इसी प्रकार यूष और पंक्ति आदि भी अर्थान्तर ही समझना चाहिए। दूसरे दूसरे द्रव्यों के ससर्ग से युक्त, समुत्पन्न पाकज द्रव्यो का कालविशेष का अनुग्रह होने पर पाकज की उत्पत्ति होने पर सयोग विशेष रूप होता है। वह ओदन से भिन्न है। इसी प्रकार पक्ति भी एक दिशा और देश मे स्थित, प्रत्यासत्ति से उपकृत नियत-अनियत सख्या वाले भिन्न अभिन्न जाति वाले आधारो मे विद्यमान बहुसख्या ही कहलाती है। इस कारण दोनो द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकनय परस्पर सापेक्ष होकर ही वास्तविकता का प्रतिपादन करते है, एकान्त रूप से नहीं। अतएव तात्पर्य यह है कि विवक्षा के अनुसार रूपात्मिका मूर्ति पुद्गलों में कथंचित् भिन्न और कथचित् अभिन्न है ॥४॥

मूलसूत्रार्थ—'आइमाणि तिन्नि' इत्यादि सूत्र ॥५॥

आदि के तीन एक-एक द्रव्य है और अन्त के तीन द्रव्य अनन्त-अनन्त है ॥५॥

तत्वार्थदीपिका—पहले के तीन द्रव्य अर्थात् धर्म, अधर्म और आकाश एक-एक द्रव्य हैं वे काल, जीव और पुद्गल के समान भिन्न-भिन्न बहुत नहीं है द्रव्य की अपेक्षा इनमें से प्रत्येक द्रव्य एक-एक समझना चाहिए. किन्तु क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से असख्यात तथा अनन्त समझना चाहिए।

धर्म, अधर्म और आकाश, यह तीन द्रव्यों क्रियारहित है। इस प्रकार जैसे जीवद्रव्य नाना जीवों की अपेक्षा से भिन्न है, पुद्गल द्रव्य भी प्रदेश और स्कध की अपेक्षा से भिन्न है, इसी प्रकार कालद्रव्य भी अद्धासमय आदि की अपेक्षा से भिन्न है। उसी प्रकार धर्म

न तथा—धर्मोऽधर्म आकाशश्च द्रव्यं भिन्नं भिन्नं वर्तते इति भावः अन्तिमानि पुनस्त्रीणि द्रव्याणि कालपुद्गलजीवात्मकानि अनन्तानि भवन्तीत्यर्थः ॥५॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः— अथ यथा किल पुद्गलद्रव्यं परमाणुद्व्यणुकादिभेदेन प्रदेशस्कन्धत्वाद्यपेक्षया अनेकधा भवति एवं कालद्रव्यमपि अद्धासमयावलिकादिभेदेन अनेकधा वर्तते एवम्—जीवद्रव्यमपि नारक—देव—तिर्यङ्मनुष्यादिभेदेन अनेकधा भवति तथैव धर्मादिद्रव्याण्यपि किमनेकानि भवन्ति—इत्याशङ्कायामाह—"**आइमाणि तिन्नि एगदव्वाणि अकिरियाणि' अंतिमाणि—अणंताणि**—इति आदिमानि त्रीणि धर्माऽधर्माऽऽकाशद्रव्याणि एकद्रव्याण्येव भवन्ति, न त्वेषां समानजातीयानि द्रव्यान्तराणि भवन्ति, अविलक्षणोपकारवत्वात् धर्माधर्माकाशानां गति—स्थित्यवगाहोत्पत्त्या प्रभावित उपकारो भवति, सकृत्सकलगतिपरिमाणाना सान्निध्याधानादधर्म इत्युच्यते।

"एवं सकृत्सकलस्थितिपरिणामसान्निध्याधानात् अधर्म इति व्यपदिश्यते आकाशन्तेऽस्मिन्द्रव्याणि स्वयं वाऽऽकाशते इत्याकाशम् इति व्युत्पत्त्या धर्मादीना द्रव्याणां गति—स्थित्यवग्राहदानरूपा उपकारा भवन्ति गत्यादित्रययुक्त वस्तु अर्थक्रियासमर्थं भवतीत्यनेकान्तवादिभिरभ्यु-

---

अधर्म और आकाश द्रव्य भिन्न भिन्न नहीं है। तात्पर्य यह है कि अन्त के तीन द्रव्य—काल, पुद्गल और जीव अनन्त है ॥५॥

तत्वार्थनिर्युक्ति—जैसे पुद्गल द्रव्य परमाणु द्व्यणुक आदि के भेद से, प्रदेश और स्कध आदि की अपेक्षा से अनेक प्रकार का है, काल द्रव्य भी अद्धासमय आवलिका आदि के भेद से अनेक प्रकार का है और जैसे जीवद्रव्य नारक, देव, तिर्यंच और मनुष्य आदि के भेद से अनेक प्रकार का है उसी प्रकार क्या धर्म आदि द्रव्य भी अनेक हैं ? ऐसी आशंका होने पर कहते है—

आदि के तीन द्रव्य अर्थात् धर्म, अधर्म और आकाश एक-एक द्रव्य ही है इनके समान जातीय दूसरे द्रव्य नहीं है। अर्थात् जैसे एक जीव से दूसरे जीव का पृथक् अस्तित्व है और एक जीव अपने आपमें परिपूर्ण द्रव्य है, वैसे धर्म द्रव्य पृथक् पृथक् नहीं है, वह असख्यात प्रदेशों का एक ही समूह है जो अखण्ड रूप से सम्पूर्ण लोकाकाश व्याप्त है। अधर्म द्रव्य भी ऐसा ही एक अखण्ड द्रव्य है। आकाश भी व्यक्तिश पृथक् नहीं है वह अनन्तानन्त प्रदेशो का एक ही अखण्ड पिण्ड है ।

धर्म, अधर्म और आकाश का क्रमश· स्थिति और अवगाह रूप उपकार है। समस्त गति परिणत जीवो और पुद्गलो की गति में सहायक होने वाला धर्मद्रव्य है। इसी प्रकार स्थितिपरिणत सब की स्थिति में सहायता करनेवाला अधर्मद्रव्य है। जिसमें सब द्रव्य प्रकाशित होते है या जो स्वय प्रकाशित होता है, वह आकाश कहलाता है। इस प्रकार की व्युत्पति

पराम्यते प्रकृतसूत्रे एकशब्दस्याऽसहायार्थकस्याग्रहणेन यथा परमाणुपुद्गलद्रव्य परमाण्वन्तरेण सद्वितीयं भवति ।

आत्माच—ज्ञानसुखदु खजीवनादिभेदभाजा—आत्मान्तरेण सद्वितीयो भवति कालश्चाद्धा समयावलिकादिभेदशालिना कालान्तरेण सद्वितीयो भवति,

न तथा धर्मद्रव्य धर्मद्रव्यान्तरेण ससहाय भवति न वा- अधर्मद्रव्यम् अधर्मद्रव्यान्तरेण ससहाय भवति नापि--आकाश आकाशान्तरेण ससहायो भवति तथाच—एक द्रव्याण्येण धर्मादीनि त्रीणि द्रव्याणि भवन्ति नाऽनेकद्रव्याणि ।

तेषां त्रयाणां तुल्यजातीयद्रव्याभावात् कालपुद्गलजीवद्रव्याणि पुनरनेकद्रव्याणि भवन्ति, तत्र कालद्रव्यम् अद्धासमयावलिका निमेषक्षणलवादिरूपेणाऽनेकद्रव्य भवति एव पुद्गलद्रव्यञ्च-- परमाणुप्रभृति अनन्ताणुकस्कन्धावसान बहुद्रव्य भवति जीवद्रव्यञ्च--पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पति-द्वि-त्रि चतुष्पञ्चेन्द्रियात्मभेदेन नानाद्रव्यरूप भवति ।

एव धर्मादीनि--आकाशान्तानि त्रीणि द्रव्याणि अक्रियाणि- निष्क्रियाणि क्रियारहितानि भवन्ति । तथाहि क्रियापरिणामशक्तियुक्त द्रव्यसम्यन्तरनिमित्तम् प्रेरणादिक बाह्यनिमित्त भवति, एतदुभयनिमित्तवशादुपजायमान पर्यायो द्रव्यस्य देशान्तरप्राप्तिहेतु. क्रियोच्यते । सा च क्रिया

के अनुसार धर्म आदि द्रव्यो के गति, स्थिति और अवगाहदान उपकार है गति आदि तीनो से युक्त वस्तु अर्थक्रिया करने मे समर्थ होती है, ऐसा अनेकान्तवादी स्वीकार करते है ।

प्रकृत सूत्र में 'एक' शब्द असहायक अर्थ मे ग्रहण किया गया है । अतएव जैसे परमाणु रूप पुद्गलद्रव्य दूसरे परमाणु से सद्वितीय है अर्थात् एक परमाणु दूसरे पमाणु से भिन्न स्वतत्र असपृक्त अस्तित्व रखता है, और जैसे एक आत्मा दूसरे आत्मा से भिन्न अस्तित्व वाला है और उन सबके चैतन्य, सुख, दु ख आदि गुण पर्याय भिन्न-भिन्न है और जैसे कालद्रव्य का कालान्तर से भेद है, वैसा भेद धर्म आदि द्रव्यो में नहीं है । एक धर्मद्रव्य से भिन्न दूसरे धर्मद्रव्य की पृथक् सत्ता नहीं है अधर्मद्रव्य भी परस्पर भिन्न दो या बहुत नहीं है । आकाश भी व्यक्तिश' अनेक नहीं है । इस कारण धर्म आदि तीन द्रव्यो को एक-एक कहा गया है ।

कालपुद्गल और जीव अनेक द्रव्य है कालद्रव्य समय आवलिका, निमेष क्षण लव आदि रूप से अनेक द्रव्य है पुद्गल भी अनेक द्रव्य है, क्योकि परमाणुओ तथा द्व्यणुको से लेकर अनन्तानन्ताणुक स्कधो की सत्ता स्वतंत्र है । पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय. पचेन्द्रिय आदि जीवो की अपनी-अपनी स्वतत्र सत्ता है ।

इसी प्रकार धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य अक्रिय अर्थात् गमन रूप क्रिया से रहित है । क्रियारूप परिणमन से युक्त द्रव्य आभ्यन्तर कारण है और प्रेरणा आदि बाह्य कारण है । इन दोनों कारणों से द्रव्य की देशान्तर प्राप्ति (एक स्थान से दूसरे स्थान में पहुँचाना) रूप पर्याय क्रिया कहलाती है । यह क्रिया धर्म आदि तीन द्रव्यो में नहीं हो सकती ।

न धर्मादित्रयाणा द्रव्याणा सम्भवति तानि खलु धर्माधर्माकाशानि अनासादिताऽतिशयान्येव सदा पूर्वापरावस्थाभेदमनाजिहानान्येव सलक्ष्यन्ते ।

एवञ्च—पुद्गलजीववर्त्तिन्या देशान्तरप्राप्तिलक्षणा या विशेषक्रियाया एव धर्मादित्रिकेषु प्रतिषेध' क्रियते, न तूत्पादव्ययध्रौव्यधर्मात्मव्यवस्थानातिक्रामति इति धर्मादयोऽपि यदि सत्तां नोल्लङ्घयन्ति, तदा—जीवादीनामिव उत्पादविगमलक्षणया क्रियया भवितव्यमेषामपि । अतएव—द्रव्यत्वान्मुक्तात्मवदुत्पादव्ययस्थितिमत्वमनुमियतेऽनुमातार' ।

एवञ्च—आकाशस्यावगाह' स्वलक्षणमुपकार स चावगाढार जीवादिक विना नाभिव्यज्यते इत्यवगाढजीवादिसयोगमात्रमवगाह । सयोगश्चो-त्पादशालिनी सयुज्यमानवस्तुजन्यत्वाद् द्वचङ्गुलसयोगवत् यथैवावगाहआकाशस्य, तथैव गतिस्थित्युपकारावपि धर्माधर्मयोर्गतिमदादिद्रव्यसयोगमात्रत्वादुत्पादादिस्वभावौ वर्तेते इत्यादिप्रश्न' समाहितो भवति । जीवादिगतदेशान्तरप्राप्तिलक्षणविशेषक्रियाया एव धर्मादित्रिके निषेधेन उत्पादादिसामान्यक्रियायास्तत्र सत्वेऽपि दोषाभावादिति प्रकृतसूत्राशय ।

अथ धर्मादीनि त्रिणि द्रव्याणि यदि निष्क्रियाणि भवन्ति, तदा—तेपामुत्पादो न सघटते, घटादीना क्रियापूर्वकस्यैवोत्पादस्य दृष्टत्वात् उत्पादाभावे च व्ययोऽपि न स्यात् तथाच—सर्वद्रव्या-

---

इस प्रकार पुद्गल और जीव में होने वाली देशान्तरप्राप्ति रूप जो विशेष क्रिया है, उसी का धर्म आदि तीन द्रव्यो मे निषेध किया गया है । ऐसा नहीं समझ लेना चाहिए कि इनमे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप क्रिया भी नहीं है । जब इनमें सत्ता हैं तो उत्पाद और व्यय का होना भी अनिवार्य है । उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य के बिना कोई भी वस्तु सत् नहीं हो सकती । अतएव द्रव्य होने के कारण जैसे मुक्तात्माओं मे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य माना जाता है, उसी प्रकार धर्म आदि द्रव्यो मे भी माना जाता है ।

इस प्रकार अवगाह देना आकाश का लक्षण है और वही उसका उपकार है । वह उपकार अवगाह्य जीव आदि के बिना अभिव्यक्त नहीं होता, अत अवगाढ जीवादि का सयोग मात्र ही अवगाह है । सयोग उत्पन्न होने वाली दो वस्तुओ मे होता है, जैसे दो अगुलों का सयोग । इस प्रकार जैसे अवगाह देना आकाश का उपकार है, वैसे ही धर्म और अधर्म का उपकार गति और स्थिति मे सहायक होना है । वह भी गतिमान और स्थितिमान् द्रव्यों का सयोगमात्र ही है । इस कारण धर्म और अधर्म द्रव्य भी उत्पाद, व्यय आदि स्वभाव वाले है । इत्यादि प्रश्न का समाधान हो जाता है ।

इस सूत्र का आशय यह है कि जैसे जीव और पुद्गल मे एक जगह से दूसरि जगह जाने की विशेष क्रिया होती है, वैसी क्रिया धर्म आदि तीन द्रव्यो मे नहीं होती है । किन्तु उत्पाद आदि सामान्य क्रिया उनमें मानने मे कोई भी दोप नहीं है ।

शका—यदि धर्म आदि तीन द्रव्य निष्क्रिय हैं तो उनमे उत्पाद नहीं घटित होता, क्योकि

णामुत्पादव्ययध्रौव्यत्रयकल्पनाव्याघातो भवेदिति चेत् ? अत्रोच्यते–धर्मादिद्रव्यत्रयाणां क्रियानिमित्तोत्पादाभावे तदन्यरीत्यैवोत्पाद कल्प्यते ।

तथाहि–उत्पादो द्विविध प्रज्ञप्त, स्वनिमित्त –परनिमित्तश्च । तत्र–स्वनिमित्तस्तावदनन्तानामगुरुलघुगुणानामागमप्रमाण्यादभ्युपगम्यमानाना पड्स्थानपतितया वृद्धया-हान्या च प्रवर्तमानानां स्वभावादेवैतेषामुत्पादो व्ययश्च भवत ।

एव परनिमित्तोऽप्युत्पाद, अश्वादिगतिस्थित्यवगाहनहेतुत्वात् प्रतिक्षण तेषां भेदात्तद्धेतुत्वमपि भिन्नमिति परप्रत्ययापेक्ष उत्पादो व्ययश्च व्यपदिश्यते ।

अथापि धर्मादिद्रव्यत्रयाणां निष्क्रियत्वे सति जीवपुद्गलाना गतिस्थित्यादिहेतुत्वदर्शनात् इति चेन्मैवम् धर्मादीना चक्षुर्वत् बलाधाननिमित्तत्वान्न दोपो भवति, एतावता धर्मादीनि त्रिणि द्रव्याणि गतिस्थित्यवगाहपरिणताना जीवपुद्गलाना बलाधान कुर्वन्ति, न तु स्वयमेव प्रेरयन्ति, इति फलितम् ।

घट आदि मे जो उत्पाद देखा जाता है, वह क्रियापूर्वक ही होता है । उत्पाद के अभाव में व्यय भी नहीं हो सकता । ऐसी स्थिति मे सभी द्रव्य उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक है, यह मान्यता खंडित हो जाती है ।

समाधान–धर्म आदि तीन द्रव्यो मे घट के समान क्रियानिमित्तक उत्पाद नहीं होता । वहाँ दूसरी रीति से ही उत्पाद की कल्पना की गई है ।

उत्पाद दो प्रकार का है–स्वनिमित्तक और परनिमित्तक । अनन्त अगुरुलघु गुणो का, जो आगम की प्रमाणता के आधार पर विचार किये जाते है और जो षट्स्थानपतित वृद्धि और हानि से प्रवृत्त होते है, स्वभाव से ही उत्पाद और व्यय होता है । इसे स्वनिमित्तक उत्पाद कहते हैं । अश्व आदि की गति स्थिति और अवगाहन में कारण होने से धर्मादि द्रव्यो मे क्षण–क्षण में भेद होता रहता है । अर्थात् धर्म द्रव्य कभी अश्व की, कभी मनुष्य की और कभी किसी पुद्गल की गति में सहायक होता है । इसी प्रकार अधर्मद्रव्य उनकी स्थिति में सहायक होता है । जब एक जगह से घट हटा कर दूसरी जगह रख दिया जाता तो पहले के आकाशप्रदेशो से उसका विभाग और दूसरी जगह के आकाशप्रदेशो के साथ सयोग होता है । यह सयोग-विभाग की उत्पत्ति एव विनाश ही आकाश का उत्पाद-विनाश है । यह परनिमित्तक उत्पाद–विनाश कहलाता है ।

धर्मादि द्रव्य यदि निष्क्रिय है तो वे जीवो और पुद्गलो की गति आदि में कारण कैसे हो सकते है ? यह कहना ठीक नहीं, धर्मादि द्रव्य नेत्र के समान केवल सहायक ही होते हैं, अतएव यह दोष नहीं है । तात्पर्य यह है कि धर्म द्रव्य स्वय गति मे परिणत जीव-पुद्गलो की गति में, अधर्मद्रव्य स्वय स्थिति मे परिणत जीव-पुद्गलो की स्थिति में और आकाश स्वय आकाशरूप परिणत अन्य द्रव्यों की अवगाहन मे सहायक होते है । गति आदि की प्रेरणा करना उनका स्वभाव नहीं है ।

तथाहि—यथा रूपोपलब्धौ चक्षुर्निमित्त सदपि न व्याक्षिप्तमनस्कस्य भवति, एवं प्रक्रतानां धर्माऽधर्माकाशानां निष्क्रियत्वेऽभ्युपगते सति जीवपुद्गलानां सक्रियत्वेन तेषां सक्रियत्व-मर्थादापन्न भवति । एवं सति—कालस्यापि सक्रियत्वमर्थादापद्यते, तस्याऽनधिकृतत्वात् । अत एवाऽसौ एतैः सह नाऽधिक्रियते इति भाव. ।

उक्तञ्च—"उप्पण्णेति वा, विगमेति वा, धुवेति वा" इति । उत्पन्न इति वा, विगम इति वा, ध्रुव इति वा, इति । एवमन्यत्राऽप्युक्तम्—

"अवगाहादओ नणु गुणत्तओचेव पत्तधम्मव्व– ।
उप्पादादिसभावा, तह जीवगुणावि को दोसो– ॥१॥
अवगाढा रं च विणा कत्तोऽवगाहोत्ति तेण संजोगो ।
उप्पत्तीसोऽवस्सं गच्चुवकारादओ चेवं– ॥२॥
णयपज्जयतो भिन्नं दव्वमिहेगं ततो जतो तेण ।
तण्णासम्मि कहं वा नभादओ सव्वहा णिच्चा ॥३॥
[गाथा–२८२१–२८२३]

छाया—अवगाहादयो ननु गुणत्वतश्चैव पत्र धर्मइव– ।
उत्पादादिस्वभावा स्तथा जीवगुणा अपि को दोष ॥१॥
अवगाढार च विना कुतोऽवगाह इति तेन सयोग ।
उत्पत्ति साऽवश्य गत्युपकारादयश्चैवम्– ॥२॥
न च पर्यायतो भिन्न द्रव्यमिहैकान्ततो यतस्तेन– ।
तन्नाशे कथ वा नभ आदय सर्वथा नित्या ॥३॥ —३ इति ॥५॥

जैसे रूप की उपलब्धि में चक्षु निमित्त होती है, फिर भी विक्षिप्तचित्त वाले के लिए वह निमित्त नहीं होती, इसी प्रकार धर्म, अधर्म और आकाश को क्रियाहीन मानने पर भी, जीवों और पुद्गलो के सक्रिय होने से उनमे भी सक्रियता की सिद्धि हो जाती है । इसी प्रकार काल भी सक्रिय सिद्ध होता है । इन द्रव्यो के साथ का प्रकरण नहीं है ।

आगम मे कहा है–प्रत्येक वस्तु उत्पन्न होती है, नष्ट भी होती है और ध्रुव भी रहती है । अन्यत्र भी कहा है–

जैसे अवगाह आदि गुण होने के कारण उत्पाद–व्ययध्रौव्य स्वभाव वाले हैं, उसी प्रकार जीव के गुण भी यदि उत्पाद आदि स्वभाव वाले है तो क्या दोष है ? ॥१॥

अवगाहक के विना अवगाहन कैसे हो सकता है ? गति आदि उपकार भी इसी प्रकार के है ॥२॥

द्रव्य, पर्याय से सर्वथा भिन्न नहीं है अर्थात् कथचित् अभिन्न है । ऐसी स्थिति में पर्याय का नाश होने पर आकाश आदि द्रव्यों को सर्वथा नित्य कैसे माना जासकता है ? ॥३॥५॥

मूलसूत्रम्- "धम्माधम्मलोगागासेगजीवाणमसंखेज्जा पएसा-" ॥६॥

छाया—"धर्माऽधर्मलोकाकाशैकजीवानामसंख्येया प्रदेशाः-" ॥६॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वं धर्मादिद्रव्याणां प्ररूपितत्वात्। सम्प्रति अभिकृतधर्मादिद्रव्याणा सर्वेषामेव क्रमश' प्रदेशावयवे यत्तामाविष्कर्तुमाह-"धम्माधम्मे" त्यादि। धर्मस्या-ऽधर्मस्य लोकाकाशस्य एकजीवस्य चाऽसख्येया प्रदेशा प्रत्येक भवन्तीत्यर्थ ॥६॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—परमाणु विहाय सर्वेषा द्रव्याणा मूर्तानाममूर्तानाञ्च प्रदेशा भवन्ति। अवयवास्तु-स्कन्धानामेव भवन्ति। सव्यवहारार्थं प्रदिश्यन्ते इति प्रदेशा, प्रकृष्टो वा देश प्रदेशः, अवयूयमाना' पृथक्क्रियमाणा सम्बध्यमाना वा अवयवा।

तथाचा-ऽमूर्तेषु धर्माधर्माकाशकालजीवेषु अवयवव्यवहारो न भवति, एव मूर्तेष्वपि अन्त्यभेदावस्थेषु परमाणुषु अवयवव्यवहारो न जायते, मूर्तेष्वेव परमाणुभिन्नपुद्गलेषु अवयव-व्यवहारो भवति। प्रदेशव्यवहारस्तु-परमाणु विहाय सर्वेष्वेव द्रव्येषु भवति।

तत्र-धर्माधर्माकाशकालजीवाना द्रव्यपरमाणू मूर्त्ति व्यवच्छिन्ना प्रदेशा भवन्ति। पुद्गलद्रव्यस्य तु निरंशो द्रव्यात्मना भाग' प्रदेश इत्युच्यते, न तु-तस्य कश्चिदन्य' प्रदेशोऽस्ति, तथाच—ये न कदाचिद् वस्तुव्यतिरेकेणोपलभ्यन्ते ते प्रदेशा उच्यन्ते, ये पुनर्विगकलिता' सन्त'

मूलसूत्रार्थ 'धम्माधम्मलोगागास' इत्यादि—सूत्र-॥६॥

धर्म, अधर्म, लोकाकाश और एक जीव के असख्यात-असख्यात प्रदेश होते है ॥६॥

तत्त्वार्थदीपिका—पहले धर्म आदि द्रव्यो का प्ररूपण किया गया है, अब उनके प्रदेशो की सख्या बतलाने के लिए कहते है-

धर्म, अधर्म, लोकाकाश और एक जीव में से, प्रत्येक के असख्यात प्रदेश होते है ॥६॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—परमाणु को छोड कर शेष सब मूर्त्त और अमूर्त्त द्रव्यों के प्रदेश होते है। अवयव स्कंधो में ही होते है। व्यवहार के लिए जो कल्पित किये जाते है, वे प्रदेश है। अथवा प्रकृष्ट देश को अर्थात् किसी स्कंध के सबसे छोटे अवयव को, जिस से छोटा कोई अवयव न हो सके, प्रदेश कहते है। जो पृथक् किये जा सके या सम्बद्ध होते हो, वे अवयव कहलाते है। इस कारण अमूर्त्त धर्म, अधर्म, आकाश, काल और जीव द्रव्य में अवयवो का व्यवहार नहीं होता। इसी प्रकार अन्य परमाणुओं में भी अवयवों का व्यवहार नहीं होता है। परमाणु के सिवाय मूर्त्त पुदगलो में ही अवयव का व्यवहार होता है।

प्रदेशो का व्यवहार परमाणु को छोडकर सभी द्रव्यों मे होता है।

तात्पर्य यह होता है कि धर्म, अधर्म, आकाश, काल और जीव द्रव्यों के परमाणु-मूर्ति व्यवच्छिन्न प्रदेश होते हैं। पुदगल द्रव्य का निरश द्रव्यरूप भाग प्रदेश कहलाता है, उसका कोई अन्य प्रदेश नहीं होता है। अत जो कभी भी वस्तु से भिन्न उपलब्ध नहीं होते, वे प्रदेश कहलाते है और जो अलहदा होकर पृथक् प्रतीत होते हैं, उन्हे अवयव

परिकलितमूर्तयो बुद्धिपथमारोहन्ति तेऽवयवा उच्यन्ते तत्त्वतो हि स्पष्टोपलभ्या स्नेहादिकृतसयोग—वियोगभाज अंशा अवयवा' ते भवन्ति यै द्रव्यमन्यत् क्रियते ते स्कन्धेष्वेव भवन्तीति भाव' ।

विस्रसाप्रयोगाभ्याम् अवयूयन्ते पृथक् क्रियन्ते इत्यवयवा., ते च द्व्यणुकादिक्रमवतामेवाऽनतिक्रान्तरूपादिभेदाना स्कन्धानामेव भवन्ति । न तु धर्माधर्माकाशकालजीवपरमाणूनामिति । वियुतानामवयवानां सहतिपरिणामे स्कन्धा उत्पद्यन्ते, सहताना च भेदपरिणामे द्व्यणुकादय' सम्पद्यन्ते, परमाणवः पुनर्भेदादेव स्वयमवयूयमाना अवयवा भवन्ति । तस्मात्—पुद्गलद्रव्यविषयक एवाऽवयवव्यवहारोऽवगन्तव्य' ।

तथाच—षट्त्वसख्यावच्छिन्नेषु धर्मादिद्रव्येषु धर्मस्य—अधर्मस्य—जीवाजीवाधारक्षेत्ररूपलोकाकाशस्य—एकजीवस्य चाऽसंख्येया प्रदेशा भवन्ति । तत्र प्रदेशस्तावत् प्रकृष्टो देश प्रदेश परमनिरुद्धो निरवयव' स्वसिद्धोऽपि सर्वज्ञै प्रत्यक्षतयोपलभ्यमानोऽपि अर्वाग्दर्शनैरस्मदादिभि अनेनाऽभ्युपायेन प्रज्ञाप्यमान सर्वेषा धर्माधर्माकाशकालजीवाना प्रज्ञाप्यमानत्वे सत्यपि सूक्ष्म एव, न तु—स्थूलो वर्तते ।

द्रव्यपरमाणुपरिग्रहेण प्रदेशपरिमाणस्यावगति कर्तव्या—। एवञ्च—तन्मूर्तिमात्राक्रान्तो देश प्रदेशोऽवगाहरूपो बोध्य अथाऽवगाहलक्षण प्रदेश. आकाशस्यैव, न तु—धर्मादीनाम्, यतोऽवगाहस्याऽऽकाशलक्षणत्वात्—? इति चेत्—का नु हानि ।

कहा जाता है । वास्तव मे स्पष्ट रूप से प्रतीत होने वाले तथा स्निग्धता आदि के कारण सयोग और विभाग वाले वे अश अवयव है जिसके द्वारा द्रव्य भिन्न किया जाता है । वे स्कन्धो में ही होते है ।

स्वभाव से अथवा प्रयोग से जो पृथक् किये जाते है वे अवयव कहलाते है । वे अवयव द्व्यणुकादि से लेकर अन्य जो रूपी स्कध है उन्हीं मे होते है । धर्म, अधर्म, आकाश काल जीव और परमाणु मे नहीं होते । अलग-अलग अवयवो का जब सघात (पिण्ड) रूप परिणमन होता है, तब स्कन्ध उत्पन्न होते हैं और जो सहत (इकट्ठे) हैं उनका भेद होने पर द्व्यणुक आदि की उत्पत्ति होती है । मगर परमाणु भेद होने पर ही उत्पन्न होते हैं । इस प्रकार अवयवों का व्यवहार पुद्गल द्रव्य के विषय में ही होता है ।

इस प्रकार छह द्रव्यो में से धर्म, अधर्म, लोकाकाश और एक जीव के असख्यात प्रदेश होते है । प्रकृष्टदेश अर्थात जो सबसे सूक्ष्म हो, निरवयव हो और स्कध के साथ मिला हो वह प्रदेश कहलाता है । सर्वज्ञ भगवान् उसे साक्षात् देखते जानते हैं, मगर हम अल्पज्ञ उसका साक्षात्कार नहीं कर सकते केवल इस प्रकार के उपाय से उसकी प्ररूपणा करते है ।

द्रव्य परमाणु को लेकर प्रदेश के परिमाण को समझ लेना चाहिए । एक परमाणु से आक्रान्त देश अवगाह रूप प्रदेश है । कहा जा सकता है कि अवगाह रूप प्रदेश आकाश का ही होता है, धर्म आदि का नहीं, क्योकि अवगाहना आकाश का लक्षण है । किन्तु इससे

अवगाहरूपे प्रदेशलक्षणे ज्ञाते सति लोकाऽऽकाशे यत्राकाशप्रदेशो यावान् वर्तते तत्रैव यो धर्मास्तिकायप्रदेशोऽवगाढ स च–तावानेवेति । एवमधर्मादिप्रदेशोऽपि तत्र वक्तव्य, तत्राकाशमवकाशदाने व्यापृत भवति । परिणामे धर्मद्रव्यम् उपकारक भवति । स्थितिपरिणामे चाऽधर्मद्रव्यमुपकारक भवति । इति रीत्या सर्वप्रदेशानामिदमव्याहितं लक्षण बोध्यम् ।

अत्र प्रतिजीवमसंख्येयप्रदेशत्वख्यापनाय एकपदोपादान कृतम् । अन्यथा-केवलजीवपदोपादाने ज्ञानदर्शनोपयोगस्वभावस्य जीवसमूहस्यैवाऽसंख्येयप्रदेशत्व स्यात् न तु–प्रत्येकजीवस्य, साङ्कर्यापत्ते । एकपदोपादाने तु प्रत्येकजीवस्याऽसख्येयप्रदेशत्व लभ्यते । तथाच–प्रत्येक सर्वेषां जीवानामसंख्येयप्रदेशत्वे तुल्येऽपि चर्मादिवत् संकोच–विकासस्वभावा जीवप्रदेशा वर्तन्ते तेन–सङ्कोचविकासस्वाभाव्यात् कदाचित् त एव जीवप्रदेशा परमनिकृष्टकुन्थुशरीरग्राहिणो भूत्वाऽपि कदाचित्–विकासिततया तामेव सख्यामपरित्यजन्तोऽतिविशालहस्तिशरीरग्राहिणो भवन्ति ।

एव जीवाजीवाधारक्षेत्रभूतलोकाकाशस्याऽपि असख्येया एव प्रदेशा भवन्ति न तु–संख्येया, नाऽप्यनन्ता । सर्वाकाशरूपस्य लोकालोकाकाशस्य तु–अनन्ता प्रदेशा सन्ति, न तु–असख्येया, नाऽपि–सख्येया प्रदेशा, इत्यग्रिमसूत्रेणाऽभिधास्यते ।

हमारी कोई हानि नहीं है अवगाहरूप प्रदेश का लक्षण जान लेने पर यह भी जाना जा सकता है कि लोकाकाश में आकाश के एक प्रदेश मे जितना धर्मास्तिकाय का प्रदेश अवगाढ़ है, वह उतना ही है । अर्थात् लोकाकाश के एक प्रदेश सूक्ष्मतम अश मे धर्मास्तिकाय का जो सूक्ष्मतम अश व्याप्त है, वही धर्मास्तिकाय का एक प्रदेश कहलाता है । इसी प्रकार अधर्मास्तिकाय के प्रदेश के सबध में भी जानना चाहिए ।

आकाश अवकाश देने में काम आता है, धर्मद्रव्य गति मे उपकारक होता है अधर्मद्रव्य स्थिति में निमित्त होता है । इस प्रकार सभी प्रदेशों का यह अव्याहत लक्षण समझ लेना चाहिए ।

प्रत्येक जीव के असख्यात-असख्यात प्रदेश होते है, इस तथ्य को प्रगट करने के लिए सूत्र में 'एक' शब्द का प्रयोग किया गया है । सिर्फ जीव पद का ही प्रयोग किया गया होता तो ज्ञान-दर्शन-उपयोग स्वभाव वाले जीवसमूह के अर्थात् सब जीवो के मिलकर असख्यात प्रदेश समझ लिए जाते, एक जीव के नहीं । इस प्रकार सकरता हो जाती । 'एक' पद का प्रयोग करने से एक-एक जीव के असख्यात प्रदेशो का बोध होता है ।

इस प्रकार प्रत्येक जीव के असख्यात प्रदेश तुल्य है तथापि चर्म (चमडे) आदि के समान वे सकोच और विस्तार स्वभाव वाले होने के कारण वही जीवप्रदेश कदाचित् सबसे छोटे कुथु आदि के शरीर मे समा जाते है और कदाचित् फैलकर, सख्या में उतने के उतने रहते हुए भी विशाल हस्ति शरीर को व्याप्त कर लेते है ।

अत्रेदं बोध्यम्—सख्यामतीता असंख्येया उच्यन्ते, असंख्येयश्च—त्रिविध' प्रज्ञप्त. । जघन्य' उत्कृष्ट , अजघन्योत्कृष्टश्च, तत्र—जघन्योत्कृष्टोऽसंख्येय' प्रकृतसूत्रे गृह्यते, प्रदेशश्च—प्रदिश्यते इति व्युत्पत्त्या परमाणुर्यावति क्षेत्रे व्यवतिष्ठते स उच्यते, धर्माधर्मलोकाकाशैकजीवास्तुल्या सख्येयप्रदेशा भवन्ति । उक्तञ्च स्थानाङ्गे ४ स्थाने ३ उद्देशे ३३४ सूत्रे -**"चत्तारि पएसग्गेणं तुल्ला असंखेज्जा पण्णत्ता, तं जहा—धम्मत्थिकाए, अधम्मत्थिकाए, लोगागासे, एगजीवे—"** इति।

छाया —चत्वार प्रदेशकेन तुल्या असख्येया प्रज्ञप्ता , तद्यथा—धर्मास्तिकाय , अधर्मास्तिकाय' लोकाकाश', एकजीव इति ।

तत्र—धर्माधर्मौ तावत् निष्क्रियौ लोकाकाश व्याप्य स्थितवन्तौ, जीवस्तावत्—प्रत्येकमसंख्येयप्रदेशोऽपि सङ्कोचविकासस्वभावत्वात् कर्मनिष्पादित शरीरमणुमहद्वाऽधितिष्ठन् तावदवगाह्य वर्तते । यदा—पुनर्लोकपूरण भवति । तत्र चतुर्भि' समयैर्लोकपूरण करोति, चतुर्भि समयै संहरन्ति, एव रीत्या लोकपूरणेऽष्टौ समया लगन्ति ॥६॥

मूलसूत्रम्—"अलोगागासजीवाणमणंता—" ॥ ७ ॥

छाया—"अलोकाकाशजीवानामनन्ता:—" ॥ ७ ॥

इसी प्रकार जीवो और अजीवो के आधार क्षेत्र रूप लोकाकाश के भी असख्यात ही प्रदेश होते है, न सख्यात होते है न अनन्त होते है। मगर सम्पूर्ण लोक आलोक रूप आकाश के अनन्त प्रदेश होते है, न सख्यात और न असख्यात प्रदेश होते है यह बात अगले सूत्र मे कहेगे ।

यहाँ इतना समझ लेना चाहिए—जो सख्या से अतीत—बाहर हों वे असख्येय कहलाते है असख्यात के तीन भेद हैं—(१) जघन्य (२) उत्कृष्ट और (३) अजघन्योत्कृष्ट याने मध्य में । इस सूत्र में जघन्योत्कृष्ट असख्यात ग्रहण किया है ।

जितने क्षेत्र को परमाणु घेरता है, उतना क्षेत्र आकाश का एक प्रदेश कहलाता है। धर्म, अधर्म, लोकाकाश और एक जीव के असख्यात प्रदेश बराबर-बराबर है । स्थानांगसूत्र के चौथे स्थान के तीसरे उद्देशक के ३३४ वें सूत्र मे कहा है—प्रदेशो के परिमाण की अपेक्षा से चार द्रव्य समान हैं—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, लोककाश और एक जीव ।

इनमें से धर्म और अधर्म द्रव्य क्रिया रहित है और सम्पूर्ण लोकाकाश को व्याप्त करके स्थित है । प्रत्येक जीव असख्यात प्रदेशी होता हुआ भी सकोच—विस्तार स्वभाव होने के कारण नामकर्म के द्वारा निष्पन्न छोटे या मोटे शरीर मे रहता हुआ उसी को अवगाहन करके रहता है। केवलिसमुद्घात के समय चार समयो में अर्थात् चौथे समय में सम्पूर्ण लोक को व्याप्त कर लेता है और फिर चार समयों मे फैले हुए प्रदेशो को सिकोड़ लेता है। इस प्रकार केवलिसमुद्घात में आठ समय लगते हैं ॥६॥

तत्त्वार्थदीपिका —अलोकाकाशस्य-लोकालोकाकाशरूपस्य, जीवाजीवाधारक्षेत्रभूतलोकाकाशस्य, ततः परस्याऽलोकाकाशस्य, सर्वाकाशस्येत्यर्थः । जीवानाञ्च-ज्ञान-दर्शनोपयोगस्वभावलक्षण-सकलनारकदेवतिर्यङ्मनुष्यजीवानाम् अनन्ता अविद्यमानोऽन्तो येषां तेऽनन्ता अपर्यवसाना प्रदेशा भवन्ति, नात्वसंख्येयाः—नापि—संख्येया इत्यर्थः असमन्ताल्लोके—ऽलोके च काशते इत्याकाशः ॥७॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वसूत्रे धर्माधर्मलोकाकाशैकजीवानामसंख्येयप्रदेशत्वमुक्तम्, सम्प्रति—सर्वाकाशस्य सर्वजीवानां चाऽनन्तदेशत्व प्ररूपयितुमाह—"अलोगागासजीवाणमणंता—" इति । अलोकाकाशस्या—ऽलोकइत्युपलक्षणम् लोकालोकाकाशस्य—अविशिष्टाकाशस्य, सामान्याकाशरूपस्य—सर्वाकाशस्येत्यर्थः जीवानां च—नारकादिसमस्तजीवसमूहानामनन्ता प्रदेशा सन्ति ।

अथावगाहदानमाकाशस्योपकार इति रीत्याऽवगाहदानादेवाकाशो भवतीति लोकाकाशेतादृशाकाशत्वसत्वेऽपि अलोकाकाशे नेदमाकाशत्व सघटते अलोकाकाशे कस्यापि जीवपुद्गलादेरवगाढत्वाभावेनाऽवगाहासम्भवात् इति चेन्मैवम् । धर्मादिसञ्ज्ञावत् "आकाशः—"इत्यपि—अनादिकालीना द्रव्यान्तरस्य सञ्ज्ञैवाऽवसेया ।

मूलसूत्रार्थ— 'अलोगागासजीवाणमणंता ॥सूत्र ७॥

अलोकाकाश और जीवो के अनन्त प्रदेश होते है ॥७॥

तत्त्वार्थदीपिका—जीव और अजीव का आधार क्षेत्र लोकाकाश कहलाता है । लोकाकाश से आगे सब ओर जो शून्य आकाश है वह अलोकाकाश कहलाता है । यहाँ सम्पूर्ण आकाश से अभिप्राय है । अर्थात् सम्पूर्ण आकाश के और जीवो के अर्थात् ज्ञान दर्शन रूप उपयोग वाले सकल नारकों, देवों, तिर्यचों और मनुष्यों के अनन्त जिनका अन्त नहीं है, प्रदेश होते है । अर्थात् उनके न संख्यात प्रदेश होते है और न असंख्यात ही होते हैं ।

जो लोक और अलोक में पूरी तरह प्रकाशमान होता है, आकाश कहलाता है ॥७॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पूर्वसूत्र में धर्म, अधर्म, लोकाकाश और एक जीव के असंख्यात प्रदेश कहे हैं । अब समस्त आकाश के और समस्त जीवो के अनन्त प्रदेशो की प्ररूपणा करने के लिए कहते है—अलोक शब्द यहाँ उपलक्षण है अत उसका तात्पर्य है समस्त आकाश जिसमें लोक और अलोक—दोनो का समावेश हो जाता है । इस प्रकार सम्पूर्ण आकाश के तथा नारक आदि समस्त जीवसमूह के अनन्त प्रदेश होते है ।

शंका—अवगाह देना आकाश का उपकार है, इसका फलितार्थ यह है कि अवगाह देने के कारण ही वह आकाश कहलाता है यह आकाश का लक्षण लोकाकाश में ही पाया जाता है, अलोकाकाश मे नहीं । क्योकि अलोकाकाश मे कोई जीव या पुद्गलादि अवगाढ नहीं है अतएव वहाँ अवगाह होना असभव है ।

समाधान—जैसे धर्म आदि सञ्ज्ञामात्र है उसी प्रकार 'आकाश' भी एक द्रव्य की अनादि काल से चली आई सञ्ज्ञा मात्र ही है ।

अथवा–ऽलोकाकाशेऽपि अवगाहदानशक्तिरस्त्येव, किन्तु–तत्र जीवपुद्गलाद्यवगाहकाभावात् सा शक्तिर्नाऽभिव्यज्यते । यदि तत्रापि किञ्चिदवगाहक भवेत् तदा–तदवगाहपरिणामेन व्यापारे-व्यापृतं स्यात् किन्तु न किमपि तत्रास्ति तस्मात्–अलोकाकाशोऽपि अवगाहदानशक्तियुक्तत्वादाकाश सम्भवति इति ।

अथवा–ऽलोकाकाशे आकाशवदाकाशइत्यौपचारिक' आकाशप्रयोग शुषिरदर्शनात् इति । अथाकाशस्य नित्यतया कथमुत्पादव्ययध्रौव्यरूपं वस्तुलक्षण तत्र सघटते इतिचेदत्रोच्यते विस्रसापरिणामेनोत्पादादित्रयसत्वात् । प्रयोगपरिणामेन च जीवपुद्गलानामुत्पादादित्रयसत्वात् उक्तञ्च प्रज्ञापनायां३पदे४१सूत्रे --

"आगासत्थिकाए पएसट्ठयाए अणतगुणे--"इति आकाशास्तिकाय प्रदेशार्थतयाऽनन्तगुण इति ॥७॥

मूलसूत्रम्--"पोग्गलाणं संखेज्जा–असंखेज्जा अणता य नो परमाणूणं–"

छाया—"पुद्गलानां सख्येया असख्येया अनन्ताश्च नो परमाणूनाम्–"॥ ८ ॥

अथवा–अलोकाकाश मे भी अवगाह देने की शक्ति तो विद्यमान ही है, कि तु वहाँ जीव पुद्गल आदि कोई अवगाहक नहीं होने से वह शक्ति प्रकट नहीं होती । यदि वहाँ कोई अवगाहक होता तो वह भी अवगाह परिणाम से होता अर्थात् स्थान देता, किन्तु वहाँ कोई अवगाहक है ही नहीं । इस प्रकार अलोकाकाश भी अवगाह देने की शक्ति से युक्त होने के कारण आकाश ही कहा जाता है ।

अथवा आलोकाकाश के समान होने के कारण उपचार से आकाश कहलाता है, क्योकि वहाँ पोलार दिखलाई देती है ।

तात्पर्य यह है कि लोकाकाश और अलोकाकाश कोई भिन्न–भिन्न दो द्रव्य नहीं है । आकाश एक अखण्ड द्रव्य है जो सर्वव्यापी है । मगर उसके जिस भाग में धर्मादि द्रव्य–अर्थात् पञ्चास्तिकाय अवस्थित है, वह भाग लोक और जिस भाग मे धर्मादि द्रव्य नहीं है वह आलोकाकाश कहलाता है । इस प्रकार आकाश के जो दो भेद किये गये है, वे पर निमित्तक है, स्वनिमित्तक नहीं है । आकाश अपने स्वरूप से एक और अखण्ड है ।

शका–नित्य होने के कारण आकाश मे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य कसे घटीत हो सकते हैं? यह लक्षण न होने से वह वस्तु भी नहीं हो सकता , क्यो कि जिसमें उत्पाद आदि हों उसी को वस्तु कहा जा सकता है ।

समाधान –आकाश मे स्वाभाविक परिणम न होताहै, अतएव उसमे भी उत्पाद व्यय और ध्रौव्य घटित होते है । जीवों और पुद्गलों मे प्रयोगपरिणाम से भी उत्पाद आदि होते हैं । प्रज्ञापना के तीसरे पद के ४१ वे सूत्र में कहा है–'आकाशास्तिकाय' प्रदेशों की अपेक्षा से अनन्तगुणा है ' ॥७॥

तत्वार्थदीपिका—पुद्गलानाम् पूरणाद्गलनाच्च पूरणगलनपरिणतिलब्धसञ्ज्ञकान्पर-माणुप्रभृत्यचित्तमहास्कन्धपर्यवसानानां विचित्ररूपरसादिपरिणामशालिना पुद्गलाना प्रदेशा पूर्वो-क्तस्वरूपा' यथासभवं सख्येया असख्येया अनन्ताश्च भवन्ति, तत्र—सख्येयपरमाणूपचित पुद्गलस्कन्धः सख्येयप्रदेश

एवम्—असख्येयपरमाणूपचित पुद्गलस्कन्धोऽसख्येयप्रदेश, अनन्तपरमाणूपचित पुद्गल-स्कन्धः—अनन्तप्रदेशोऽवगन्तव्य किन्तु—परमाणूनां निरन्तरतया प्रदेशत्वाऽभावेन तेषा सख्येया असख्येया बा अनन्ता वा प्रदेशा न भवन्ति ॥८॥

तत्वार्थनिर्युक्तिः—"पूर्वसूत्रेऽमूर्ताना धर्मादीना प्रदेशपरिमाण प्रतिपादितम्, सम्प्रति—मूर्तानां पुद्गलाना प्रदेशपरिमाण प्रतिपादयितुमाह—"**पोग्गलाणं संखेज्जा असंखेज्जा अणंता य णो परमाणूणं**—" इति । पुद्गलानां द्वयणुकादिमहास्कन्धपर्यन्ताना द्रव्यपुद्गलाना यथायोग्यं सख्येया असख्येया अनन्ताश्च प्रदेशा भवन्ति ।

तत्र—कस्यचित् द्वयणुकादे पुद्गलद्रव्यस्य सख्येया प्रदेशा भवन्ति । कस्यचित्पुनः पुद्गलद्रव्यस्याऽसख्येया, कस्यचिदनन्ता प्रदेशा भवन्ति अथैव कस्यचित् पुद्गलद्रव्यस्याऽन-न्तानन्तप्रदेशा अपि वक्तव्या इतिचेन्न अनन्तसामान्यात्—अनन्तानन्तस्यापि ग्रहणसम्भवात् ।

मूलसूत्रार्थ—'**पोग्गलाणं संखेज्जा**' इत्यादि ॥८॥ पुद्गलो के सख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश होते हैं, किन्तु परमाणुओ के प्रदेश नहीं होते ॥८॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूरण और गलन स्वभाव वाले, परमाणु से लगाकर अचित्त महास्कंध तक के, विविध प्रकार के रूप रस आदि से युक्त पुद्गलो के पूर्वोक्त स्वरूप वाले प्रदेश यथासंभव सख्यात, असंख्यात, और अनन्त, होते है । जो पुद्गल स्कन्ध सख्यात परमाणुओ के मिलने से बना है वह संख्यातप्रदेशी कहलाता है, जो असंख्यात परमाणुओ के सयोग से बना है वह असंख्यात प्रदेशी कहा जाता है और जिस पुद्गलस्कध की उत्पत्ति अनन्त प्रदेशो से हुई है, वह अनन्त प्रदेशी कहलाता है। किन्तु परमाणु में प्रदेश होते नही है, अतएव व हन सख्यातप्रदेशी है, न असख्यात प्रदेशी है और न अनन्त प्रदेशी ही है ॥८॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पूर्वसूत्र मे धर्म आदि अमूर्त द्रव्यो के प्रदेशो का परिमाण बतलाया जा चुका है, अब मूर्त पुद्गलो के प्रदेशो का परिमाण बतलाने के लिए कहते है—

द्वयणुक से लगाकर महास्कध तक के पुद्गलो मे यथयोग्य सख्यात, असख्यात और अनन्त प्रदेश होते हैं ।

किसी किसी द्वयणुक आदि पुद्गलस्कध के सख्यात प्रदेश होते है, किसी—किसी पुद्गल के असख्यात प्रदेश होते हैं और किसी—किसी के अनन्त प्रदेश होते है । यहाँ शका हो सकती है कि किसी—किसी पुद्गल के अनन्तानन्त प्रदेश भी होते है तो उनका भी अलग विधान करना

तथाहि—अनन्तप्रमाणं तावत् त्रिविधं प्रज्ञप्तम् परीतानन्तम्–१ युक्तानन्तम्–२ अनन्तानन्तं च–३ तत्सर्वमपि–अनन्तसामान्येनैव परिगृह्यते । अथ लोकस्याऽसख्यातप्रदेशत्वात् कथ स लोकोऽनन्तप्रदेशानाम्—अनन्ताऽनन्तप्रदेशानां च स्कन्धस्याऽधिकरण भवेत्. परस्परविरोधात्, अतो नाऽनन्त्यमस्ति प्रदेशानामिति चेन्मैवम् सूक्ष्मपरिणामावगाहनशक्तियोगात् परमाण्वादयः पुद्गला' सूक्ष्मभावेन परिणता' सन्त' एकैकस्मिन्नपि आकाशप्रदेशेऽनन्तानन्ता सन्तिष्ठन्ते, एतेषाञ्च परमाणुपुद्गलानामवगहनशक्तिश्चाऽव्याहता विद्यते तस्मादेकस्मिन्नप्याकाशप्रदेशेऽनन्तानामपि प्रदेशानामवस्थान न विरुद्धमिति ।

अथ पुद्गलानामिति सामान्यवचनात् परमाणूनामपि पुद्गलतया प्रदेशवत्वापत्तिरित्यतआह— **"णोपरमाणूणं–,," नोपरमाणूनाम्**, परमाणुरूपपुद्गलाना प्रदेशा सन्ति, तेषां स्वत प्रदेशमात्रत्वात् प्रदेशा न सम्भवन्ति । यथा—एकस्याकाशप्रदेशस्य प्रदेशभेदाभावात् प्रदेशाभावो वर्तते तथैव—परमाणोरपि प्रदेशमात्रत्वात् प्रदेशाभावोऽस्ति न तु -प्रदेशोऽस्ति ।

किञ्च—परमाणुपरिणामापेक्षया कस्यचित्तदन्यस्याऽल्पपरिमाणाभवान्न परमाणोरल्पीयान् कश्चिदन्योऽस्ति येन परमाणो प्रदेशा भिद्येरन् । एवञ्च—यथैकाकाशप्रदेशस्यापि प्रदेशभेदाभावा-

---

चाहिए था, किन्तु ऐसा नहीं है । अनन्तानन्त भी अनन्त का ही एक भेद है । अतएव सामान्य रूप से अनन्त कहने से अनन्तानन्त का भी ग्रहण हो जाता है । अनन्त के तीन भेद है—परितानन्त, युक्तानन्त और अनन्तानन्त । इन सब का अनन्त में ही ग्रहण हो जाता है ।

प्रश्न—लोकाकाश के प्रदेश असख्यात ही है, ऐसी स्थिति में उसमें अनन्त प्रदेशी और अनन्तानन्द प्रदेशी स्कध कैसे समा सकते है ' इससे तो प्रतीत होता है कि प्रदेश अनन्त नहीं है अथवा लोकाकाश भी अनन्त प्रदेशी है ।

उत्तर—पुद्गलो में सूक्ष्म रूप से परिणत होकर अवगाहन करने की शक्ति होती है । अतएव सूक्ष्म रूप मे परिणत हो कर वे एक ही आकाश प्रदेश मे अनन्तानन्त तक समा जाते है । इस कारण असख्यातप्रदेशी लोकाकाश मे अनन्त प्रदेशी अनन्त स्कधो का समावेश होने मे कोई विरोध नहीं है ।

सामान्य रूप से पुद्गलो के प्रदेश कहने से परमाणु के भी प्रदेश होने की सभावना हो सकती है, अत उसे दूर करने के लिए कहते है—'नो परमाणूनाम्' अर्थात् परमाणुरूप पुद्गलो के प्रदेश नहीं होते, वह स्वयं एक प्रदेश वाला होता है । एक जैसे आकाश के एक प्रदेश में प्रदेश भेद नहीं होता, उसी प्रकार परमाणु मे भी प्रदेश भेद नहीं होता है—वहस्वय एक प्रदेश मात्र ही है ।

परमाणु पुद्गल का सब से छोटा द्रव्य है । उससे छोटा अन्य कोई पुद्गल नहीं होता । अत परमाणु मे प्रदेशभेद की कल्पना ही नहीं की जा सकती । इस प्रकार जैसे आकाश के एक प्रदेश मे प्रदेशभेद का अभाव है और वह अप्रदेशी है, इसी प्रकार अंश

दप्रदेशत्व भवति एवमेकस्य विभागरहितस्य परमाणोरपि–अप्रदेशत्वमवगन्तव्यम् यत एकस्य परमाणोर्भेदं कश्चिदपि कर्त्तुं न शक्नोति ।

उक्तञ्च–**"परमाणोः परं नाल्पं नभसो न परं महत्–"** इति, तस्मात्–अणोरपि अणीयान्, अपरो न विद्यते कथमणो प्रदेशा भिद्यन्ते इतिफलितम् । परमार्थतस्तु–अणोरापूरका परिणामिकारणभावभाजो द्रव्यरूपा प्रदेशा न भवन्ति । यदि परमाणोरपि प्रदेशा स्यु तदा परमाणुरन्त्य प्रदेशोऽस्तीति प्रतीतिविरोध स्यात् ।

उक्तञ्च प्रज्ञापनाया ५–पदे–**"रूवि अजीवदव्वाणं भंते ! कइविहा पण्णत्ता ? गोयमा–! चउव्विहा पण्णत्ता, तंजहा—खंधा–१ खंददेसा–२ खंधप्पएसा–३ परमाणुपोग्गला ४ अणंता परमाणुपोग्गला, अणंता दुप्पएसिया खंधा, जाव अणंता दसपएसिया खंधा, अणता सखेज्जपएसिया खंधा, अणता असखेज्जपएसिया खंधा, अणंता अणंतपएसिया खंधा-"** इति

रूपीणि अजीवद्रव्याणि खलु भदन्त ! कतिविधानि प्रज्ञप्तानि ? गौतम ! चतुर्विधानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा–स्कन्धा, स्कन्धदेशा, स्कन्धप्रदेशा परमाणुपुद्गला, अनन्ता परमाणुपुद्गला, अनन्ता द्विप्रदेशिका स्कन्धा, यावत्–अनन्ता दशप्रदेशिका स्कन्धा, अनन्ता सख्येयप्रदेशिका स्कन्धा, अनन्ता असख्येयप्रदेशिका स्कन्धा अनन्ता अनन्तप्रदेशिका स्कन्धा इति ॥८॥

मूलसूत्रम् –"धम्माधम्मागासकालपोग्गलजीवा लोगो–" ॥९॥

छाया—"धर्माऽधर्माकाशकालपुद्गलजीवा लोकः–" ॥९॥

रहित एक परमाणु मे भी प्रदेश नहीं होते । एक परमाणु का विभाग कोई नहीं कर सकता । कहा भी है–'परमाणु से छोटा और आकाश से बडा कोई पदार्थ नहीं है ।'

ऐसी स्थिति में अब अणु से छोटा कोई द्रव्य हो ही नहीं सकता तो अणु में प्रदेशभेद किस प्रकार सभव होसकता है ?

वास्तव मे अणु मे पूर्त्ति करने वाले, परिणामिकारण मूल द्रव्य नहीं होते हैं । अगर परमाणु के भी प्रदेश होते तो वह अन्त्य नहीं कहलाता अर्थात् उसे निर्विभाग नहीं कहा जा सकता था । प्रज्ञापनासूत्र के पाँचवे पदमें कहा है–

प्रश्न–भगवन् ! रूपी अजीवद्रव्य अर्थात् पुद्गल कितने प्रकार का कहा है !

उत्तर–गौतम ! चार प्रकार का कहा है–(१)स्कंध (२) स्कध देश (३) स्कध प्रदेश और (४) परमाणु पुदगल अनन्त है, द्विप्रदेशी स्कध अनन्त है, यावत् दश प्रदेशी स्कंध अनन्त है, सख्यात प्रदेशी स्कध अनन्त है, असख्यात प्रदेशी स्कध अनन्त है, अनन्तप्रदेशी स्कध अनन्त है ॥८॥

मूलसूत्रार्थ—'धम्माधम्मागास' इत्यादि सूत्र ॥९॥ धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव, ये छह द्रव्य ही लोक कहलाते है ॥९॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वं लोकस्योक्तत्वात् तच्छब्दार्थमाह "धम्माधम्मे' ति धर्म'—अधर्म'—आकाश'- काल'—पुद्गल'—जीवश्चेत्येते लोकपदेन व्यपदिश्यन्ते, तथाच- जीवाजीवाधारक्षेत्र लोक इत्युच्यते। लोक्यन्ते धर्मादय पदार्था यत्र स लोक इतिव्युत्पत्ते· ॥९॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—"धर्माधर्मलोकाकाशैकजीवानामसंख्येयाः प्रदेशाः—" इत्यत्र षष्ठसूत्रे लोकपदोपादानात् तदर्थं प्ररूपयितुमाह—"धम्माधम्मागासकालपोग्गलजीवा लोगो—" इति धर्माऽधर्माऽऽकाशकालपुद्गलजीवा इत्येते षट् लोकपदेन व्यवह्रियन्ते।

उक्तञ्चोत्तराध्ययनसूत्रेऽष्टाविंशत्यध्ययने गाथा—"धम्मो अधम्मो आगास कायो पुग्गल जतवो एस लोगोत्ति पन्नत्तो जिणेहिं वरदंसिहि—" ॥७॥ एवञ्च—जीवानाम् अजीवानाञ्च धर्माधर्माकाशकालपुद्गलात्मकानाम् आधारक्षेत्र लोक इति फलितम्। तत परम् अलोको भवति, तथाच लोके एव जीवाजीवादिक तिष्ठति, नाऽलोके किमपि वस्तुतिष्ठति तस्याऽलोकस्य शून्यत्वादिति भाव ॥९॥

मूलसूत्रम्—"ओगाहो लोगागासे' नो अलोगागासे" ॥१०॥

छाया—"अवगाहो लोकाकाशे नो अलोकाकाशे -" ॥१०॥

तत्त्वार्थदीपिका—पहले लोक का कथन किया है, अत उसका अर्थ कहते है—धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव, यह लोक एक के द्वारा कहे जाते है। जीव—अजीव का आधारक्षेत्र लोक कहलाता है, क्योंकि जहाँ धर्म आदि पदार्थ लोक किये जाएँ अर्थात् देखे जाएँ वह लोक, यह लोक शब्द की व्युत्पत्ति है ॥९॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—धर्म, अधर्म, लोकाकाश और एक जीव के असख्यात प्रदेश है, इस सूत्र मे लोक पद ग्रहण किया है, अत उसके अर्थ का प्ररूपण करने के लिये कहते है—

धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और, जीव ये छहद्रव्य और लोक कहलाते है।

उत्तराध्ययनसूत्र के २८ वें अध्ययन की गाथा ८ वीं मे कहा है—सर्वदर्शी जिनेन्द्रो ने धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव को लोक कहा है।

इससे यह फलित होता है कि जीवो का तथा अजीव धर्म, अधर्म, आकाश, काल पुद्गल का जो आधार क्षेत्र है, वह लोक है। लोक से आगे अलोक है। जीव आदि द्रव्य लोक मे ही होते है, अलोक में आकाश के सिवाय अन्य कोई वस्तु नहीं है। अलोक अन्य द्रव्यो से शून्य है।

इस सूत्र से यह भी प्रकट किया गया है कि धर्मादि द्रव्य जहाँ हो वह तो लोक कहलाता ही है, मगर धर्मादि द्रव्य भी लोक कहलाते है। इस अर्थ में लोक शब्द की व्युत्पत्ति यो होती है—लोक्यते इति लोकः अर्थात जो देखा जाय वह लोक ॥९॥

"ओगाहो लोगागासे' इत्यादि ॥१०॥

मूलसूत्रार्थ—अवगाह लोकाकाश मे होता है, अलोकाकाश में नहीं ॥१०॥

तत्वार्थदीपिका—पूर्वोक्तानां धर्मादिद्रव्याणामवगाहनम् अवगाह' प्रवेश प्रतिष्ठा-व्यापन लोकाकाशे भवति, न ततो बहिरलोकाकाशे भवति। तत्र लोक्यन्ते धर्मादय पदार्था यस्मिन् स लोक उच्यते, तथाविधस्य लोकस्य सम्बन्धी आकाशो लोकाकाश उच्यते ॥१०॥

तत्वार्थनिर्युक्तिः—अवगाहिनामनुप्रवेशवता धर्मादीना द्रव्याणामवगाह प्रवेश पुद्गलादीनां प्रतिष्ठा लोकाकाशे धर्माधर्मद्रयाऽवगाढे व्योम्नि भवति, धर्माऽधर्मयोश्चाऽनादिकालीनोऽवगाह-आकाशे वर्तते परस्पराश्लेषपरिणामेन तथा सन्निवेशात्

तदन्यस्मिन्नाकाशे अलोकाकाशे जीवादीना नास्त्यवगाह, तत्र धर्माऽधर्मविरहात्, तयोरेव-धर्माऽधर्मयोर्गतिस्थित्युपग्रहकारित्वात्। अथाऽलोकाकाशे धर्माऽधर्मौ गति स्थित्युपग्रहकारिणौ कथ न वर्तेते इतिचेदुच्यते

तयो' स्वभावएवैतादृशो विद्यते यत् अलोकाकाशे तौ न तिष्ठत, स्वभावे च कस्यापि वस्तुन पर्यनुयोगो न भवति तस्माद् धर्मादीनां लोकाकाशे एवाऽवगाहो भवतीत्युक्तम्।

अथ यदि धर्मादीना लोकाकाशेऽवगाहात् लोकाकाशमाधारो भवति, तर्हि लोकाकाशस्य क आधार' इतिचेन्नैवम् आकाशस्य स्वप्रतिष्ठत्वात् तस्याऽन्य आधारो नास्ति। अथ यथाऽऽकाशं

तत्वार्थदीपिका—पूर्वोक्त धर्म आदि द्रव्यो का अवगाहन अवगाह, प्रवेश, प्रतिष्ठा या व्यापना लोकाकाश मे ही होती है, लोकाकाश से बाहर अलोकाकाश में नहीं होती। जहाँ धर्म आदि पदार्थ देखे जाते है, वह लोक कहलाता है और लोक सबधी आकाश लोकाकाश कहा जाता है ॥१०॥

तत्वार्थनिर्युक्ति—धर्म आदि द्रव्यो का अवगाह या स्थिति लोकाकाश मे है। वह लोकाकाश धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय से व्याप्त है। ये दोनो द्रव्य अनादि काल से परस्पर मिले हुए लोक मे अवस्थित है। पुद्गलो और जीवो की अवगाहना भी लोकाकाश में अनादि कालीन है, किन्तु इनमे, गतिक्रिया होने से ये धर्म अधर्म की तरह अवस्थित नहीं है। इनकी अवगाहना कभी किन्हीं अकाशपदेशो के साथ होती है और कभी किन्ही अन्य प्रदेशो के साथ।

लोक से भिन्न अलोकाकाश मे जीवादि नहीं होते, क्योकि वहाँ अधर्म द्रव्य नहीं है और वही गनि तथा स्थिति के निमित्त होते है।

शंका--अलोकाकाश मे गति का उपग्राहक धर्म और स्थिति का उपग्राहक अधर्म क्यो नहीं है?

समाधान--धर्म और अधर्म का स्वभाव ही ऐसा है कि वे अलोकाकाश मे नहीं रहते। स्वभाव के विषय में प्रश्न की कोई गुजाइस ही नहीं होती। इसीसे कहा है कि धर्म आदि का अवगाह लोकाकाश मे ही है।

शका—धर्मादि द्रव्य का लोकाकाश में अवगाह होने से यदि लोकाकाश धर्मादि का अधार है तो लोकाकाश का आधार क्या है?

स्वप्रतिष्ठं भवति तथा धर्मादीनामपि स्वप्रतिष्ठत्वसिद्ध्या न तेषामाधार आकाश· यदि तु धर्मादीनामन्य आकाशात्मक आधार· कल्प्यते, तदाऽऽकाशस्यापि अन्य आधार कल्पनीय· स्यात् तथासति अनवस्थादोषप्रसङ्ग इति चेन्न

आकाशादधिकपरिमाणस्याऽन्यस्य द्रव्यस्याऽसद्भावेन तस्याऽऽकाशाधारतया कल्पयितुमशक्यत्वात् । आकाशमेव सर्वतोऽनन्त वर्तते तस्माद् व्यवहारनयानुसारेणाऽऽकाश धर्मादीनामधिकरणतया कल्प्यते, निश्चयनयात्मकैवभूतनयापेक्षया पुन सर्वाणि द्रव्याणि स्वप्रतिष्ठितान्येव सन्ति अतएव "क भवानास्ते" ? इति प्रश्ने सति "आत्मनि" इत्युत्तरं भवति, तथाच धर्मादीनि न लोकाकाशाद् बहि सन्तीति एतावन्मात्र मत्राधाराधेयभावकल्पनो साध्यो व्यवहार उपपद्यते ।

अथ लोके यथा कुण्डे बदरादीना पूर्वोत्तरकालभाविनामाधाराधेयभावो दृष्टो न तथाऽऽकाश पूर्व धर्मादीनि पुनरुत्तरकालभावीनि सन्ति इति व्यवहारनयापेक्षयापि नो आकाशधर्मादीना माधाराधेयभावकल्पनोपपद्यते इति चेन्मैवम् ।

घटे रूपादय· शरीरे हस्तादय· इत्यादौ युगपद्भाविनामपि पदार्थानामाधाराधेयभावदर्शनात्

समाधान—लोकाकाश आप ही अपने सहारे टिका है । उसके लिए किसी अन्य आधार की आवश्यकता नहीं है ।

शंका—जैसे आकाश आप ही अपने सहारे रहा हुआ है । उसी प्रकार धर्मादि भी अपने सहारे रह सकते है । उनका आधार आकाश मानने की क्या आवश्यकता है ? यदि धर्मादि का अलग आधार—आकाश—स्वीकार किया जाता है तो आकाश का भी अन्य आधार नहीं मानना चाहिए । ऐसी स्थिति मे अनवस्था दोष का प्रसग होगा ।

समाधान—आकाश से अधिक परिमाण वाला अन्य कोई द्रव्य नहीं है, जिसे आकाश का आधार माना जाय । आकाश सब ओर से अन्तरहित है । अतएव व्यवहारनय के अनुसार आकाश धर्मादि द्रव्यो का आधार मानागया है, किन्तु निश्चयनयरूप एवंभूतनय की अपेक्षा से सभी द्रव्य स्वप्रतिष्ठित है अर्थात् सभी अपने—अपने प्रदेशों मे रह गए है । इसी कारण जब यह प्रश्न किया जाता है कि आप कहाँ रहते है ? तब उत्तर होता है—'अपने आप में ।' धर्मादि द्रव्य लोकाकाश से बाहर नहीं रहते और लोकाकाश में ही रहते है, बस इसी कारण उनमें आधार—आधेयभाव की कल्पना की जाती है ।

शंका—लोक मे ऐसा देखा जाता है कि जो पूर्वोत्तर कालभावी होते है, उन्हीं में आधार-आधेयभाव होता है, जैसे कुड और बदर का । यहाँ ऐसा तो है नहीं कि आकाश पहले—से हो और धर्मादि बाद मे हों । इस कारण व्यवहारनय के अनुसार भी आकाश और धर्मादि में आधाराधेयभाव की कल्पना नहीं की जा सकती ।

समाधान—पूर्वोत्तरकालीन पदार्थों मे ही आधाराधेयभाव हो, ऐसा नियम नहीं है । घट में रूप है, शरीर मे हाथ आदि हैं, यहाँ एक साथ होने वाले पदार्थों में भी आधाराधेय भाव

आकाशधर्मादीनां युगपद्भाविनामपि आधाराधेयभावे उपपद्यते, तत्र धर्माऽधर्मादीनि द्रव्याणि यत्र लोक्यन्ते स लोक अधिकरणे घञ्, तादृशो लोको यत्र तल्लोकाकाशम्. ततो बहि सर्वतोऽनन्त-मलोकाकाशम् लोकालोकविभागश्च धर्मास्तिकायाऽधर्मास्तिकाय सद्भावाऽसद्भावादवगन्तव्य ।

तस्मिन् धर्मास्तिकायेऽसति हि जीवपुद्गलाना गतिनियामकहेत्वभावात् विभागो नोपपद्येत, एवम् अधर्मास्तिकायेऽसति स्थितेराश्रयनिमित्ताभावात् स्थितेरभाव आपद्येत । स्थितेरभावे सति-लोकालोकविभागो न स्यात, तस्मात्—जीवपुद्गलाना गतिस्थितिनियामकधर्माधर्मास्तिकायस-द्भावाल्लोकालोकविभाग सम्पद्यते । अथ स्थितिदानस्वभावस्याऽधर्मद्रव्यस्य लोकाकाशे स्थितस्य परतोऽभावात् कथमलोकाकाश स्थितिं करोति ? एव कालद्रव्यं विना कथमलोकाकाशो वर्तते ? इतिचेन्न,तथाविधस्वभावात ।

तस्मात्-धर्माऽधर्मपुद्गलकालजीवद्रव्याणां लोकाकाशे एवावगाहो भवति, नतु—ततो बहिरलोका-काशे तेषामवगह इति भाव । उक्तञ्च व्याख्याप्रज्ञप्तौ श्रीभगवतीसूत्रे२-शतके१० उद्देशके

कतिविहे णं भंते ! आगासे पण्णत्ते ? गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते तं जहा-लोयागासे य-अलोयागासे य, । लोयागासे णं भंते ! किं जीवा जीवदेसा-जीवपदेसा अजीवा-अजीवदेसा-अजीवपदेसा ? गोयमा ! जीवावि, जीवदेसावि, जीवपदेसावि, अजीवावि,अजीवदेसावि,

---

देखा जाता है । अत आकाश और धर्मादि युगपद्‌भावी पदार्थों मे भी आधाराधेय भाव सगत है ।

इस प्रकार धर्म, अधर्म आदि द्रव्य जहाँ देखे जाते है, वह लोक है । यहाँ अधिकरण में धर्म प्रत्यय हुआ है । जहाँ ऐसा लोक है वह लोकाकाश है और उससे बाहर सब तरफ अनन्त अलोकाकाश है । धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय के सद्‌भाव और असद्‌भाव के कारण ही लोकाकाश और अलोकाकाश का विभाग है—वास्तवमें तो आकाश खण्डरहित एक द्रव्य है।

धर्मास्तिकाय न होता तो जीवों और पुद्‌गलो की गति का नियामक कारण न रहने से यह विभाग भी न होता । इसी प्रकार अधर्मास्तिकाय के अभाव में स्थिति का निमित्त कारण न होता तो स्थिति का ही अभाव हो जाता । ऐसी हालत मे लोक—अलोक का विभाग भी न होता । अतएव जीवो और पुद्‌गलो की गति और स्थिति के नियामक धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय के सद्‌भाव और असद्‌भाव के कारण ही लोक और अलोक का विभाग होता है ।

शका—स्थिति मे सहायक अधर्मास्तिकाय सिर्फ लोक में ही है, लोक के आगे नहीं है, तो अलोकाकाश की स्थिति किस प्रकार है ? इसी प्रकार काल के अभाव में अलोकाकाश कैसे वर्त्तना करता है ?

समाधान—इनकी स्थिति और वर्त्तना अपने अपने—स्वभाव से ही होती है,

अत धर्म, अधर्म, पुद्‌गल, काल और जीव द्रव्यो की अवगाहना लोकाकाश में ही है, उससे आगे अलोकाकाश में उनकी अवगाहना नहीं है । श्रीभगवतीसूत्र शतक २, उद्देशक १० वे सूत्रमें कहा है—

अजीवपदेसावि, जे जीवा ते नियमा एगिंदिया-बेइंदिया-तेइंदिया-चउरिंदिया पंचेंदिया-अणिंदिया, जे जीवदेसा ते नियमा एगिंदियदेसा, जाव अणिंदियदेसा, जे जीवपदेसा ते-नियमा एगिंदयपदेसा जाव-अणिंदियपदेसा। जे अजीवा ते दुविहा पण्णत्ता, तं जहा-रूवी य अरुवि य, । जे रूवी ते चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा खंधा खंधदेसा खंधपदेसा परमाणुपोग्गला।

जे अरूवी ते पंचविहा पण्णत्ता, तंजहा-धम्मत्थिकाए. नोधम्मित्थिकायस्स देसे, धम्मत्थिकायस्स पदेसा, अधम्मत्थिकाए-" नो अधम्मत्थिकायस्स देसे अधम्मत्थिकायस्स पदेसा अद्धासमए इति।

छाया—कतिविध' खलु भदन्त! आकाश' प्रज्ञप्त गौतम! द्विविध आकाशः प्रज्ञप्तः तद्यथा—लोकाकाशश्च, अलोकाकाशश्च। लोकाकाश खलु भदन्त! किं जीवा' जीवदेशा -जीवप्रदेशा', अजीवा अजीवदेशा -अजीवप्रदेशा'। गौतम! जीवा अपि, जीवदेशा अपि, जीवप्रदेशा अपि, अजीवा अपि, अजीवदेशा अपि, अजीवप्रदेशा अपि। ये जीवास्ते नियमाद् एकेन्द्रिया.-द्वीन्द्रिया -त्रीन्द्रिया'-चतुरिन्द्रिया -पञ्चेन्द्रिया -अनिन्द्रिया ये जीवदेशास्ते नियमाद् एकेन्द्रियास्ते नियमाद् एकेन्द्रियदेशा यावद्-अनिन्द्रियदेशा', । ये जीवप्रदेशास्ते नियमाद् एकेन्द्रियप्रदेशा यावद्-अनिन्द्रियप्रदेशा ।

ये-अजीवास्ते द्विविधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा-रूपिणश्च अरूपिणश्च। ये रूपिणस्ते चतुर्विधा' प्रज्ञप्ता, तद्यथा,स्कन्धा, स्कन्धदेशा, स्कन्धप्रदेशा परमाणुपुद्गला। ये-अरूपिणस्ते पञ्चविधा. प्रज्ञप्ता', तद्यथा धर्मास्तिकाय' नो धर्मास्तिकायस्य देश', धर्मास्तिकायस्य प्रदेशा अधर्मास्तिकाय' नोअधर्मास्तिकायस्य देशा. अधर्मास्तिकायस्य प्रदेशा अद्धासमय इति।

प्रश्न—भगवान्! आकाश कितने प्रकार का कहा है?

उत्तर—गौतम! दो प्रकार का कहा है—लोकाकाश और अलोकाकाश।

प्रश्न—भगवन्! लोकाकाश में क्या जीव, जीवदेश, जीवप्रदेश, अजीव—अजीवदेश अथवा अजीवप्रदेश है?

उत्तर—गौतम! जीव भी है, जीवदेश भी है, जीवप्रदेश भी है, अजीव भी है, अजीवदेश भी हैं, अजीवप्रदेश भी है, जो जीव है वे नियम से एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पचेन्द्रिय, और अनिन्द्रिय होते हैं। जो जीवदेश है वे नियम से एकेन्द्रियदेश है यावत् अनिन्द्रियदेश है, जो जीवप्रदेश है, वे नियम से एकेन्द्रियप्रदेश है यावत् अनिन्द्रियप्रदेश है।

जो अजीव है, वे दो प्रकार के है—रूपी और अरूपी। रूपी चार प्रकार के है, यथा—स्कध, स्कधदेश, स्कधप्रदेश और परमाणुपुद्गल।

जो अरूपी है, वे पाँच प्रकार के है—यथा—धर्मास्तिकाय, नोधर्मास्तिकायदेश, धर्मास्तिकायप्रदेश, अधर्मास्तिकाय, नो अधर्मास्तिकायदेश, अधर्मास्तिकायप्रदेश, अद्धासमय।

तदनन्तरं तत्रैव चोक्तम् व्याख्याप्रज्ञप्तौ २-शतके १०-उद्देशके—"अलोगागासे णं भंते ! किं जीवा पुच्छा ? तहचेव, गोयमा ! नो जीवा जाव नो अजीवप्पएसा एग अजीवदव्वदेसे अगुरु य लहुए अणंतेहिं, अगुरुलहुयगुणेहिं संजुत्ते सव्वागासे अणंतभागूणे—"इति ।

अलोकाकाश खलु भदन्त ! किं जीवा—? पृच्छा, तथाचैव, गौतम ! नो जीवा यावत्—नो अजीवप्रदेशा एकोऽजीवप्रदेश अगुरुकलघुक अनन्तै. अगुरुकलघुकगुणै· सयुक्त सर्वाकाश अनन्तभागोन इति । एवम्—उत्तराध्ययनेऽपि २८—अध्याये ७—गाथायामुक्तम्—

"धम्मो अधम्मो आगासं कालो पुग्गलजंतवो ।
एस लोगोत्ति पण्णत्तो जिणेहिं वरदंसिहिं" ॥ १ ॥ इति
"धर्मोऽधर्मआकाशः कालः पुद्गलजन्तवः ।
एष लोकोऽस्ति प्रज्ञप्तो जिनैर्वरदर्शिभिः" इति ॥१०॥

मूलसूत्रम् "धम्माधम्माणं कसिणे लोगागासे—" ॥११॥

छाया—"धर्माऽधर्मयोः कृत्स्ने लोकाकाशे—" ॥११॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे धर्मादीनां द्रव्याणा लोकाकाशेऽवकाश प्रवेशरूपो भवतीत्युक्तम् तत्र किं दुग्धोदक-विषरुधिरादिवत् सर्वात्मना सर्वलोकाकाशप्रदेशव्याप्त्या धर्मादीनां भवति-? आहोस्वित् ह्रदे त्रसजीव-पुरुषादिवत्, एकदेशात्मना तेषामवगाहो भवतीति शङ्कां निराकर्तुमाह— 'धम्माधम्माणं कसिणे लोगागासे—,'इति । धर्माऽधर्मयोर्द्रव्ययो· कृत्स्ने सम्पूर्णे लोकाकाशे" तिलेषु तैलमिवाऽवगाहः प्रवेशो भवति न तु—-एकदेशेनैवाऽवगाहो भवतीति भाव ॥११॥

तत्पश्चात् उसी भगवतीसूत्र के दूसरे शतक के दसवे उद्देशक में कहा है—

भगवन् ! अलोकाकाश क्या जीव है ? इत्यादि प्रश्न पूर्ववत् करना । उसका उत्तर भी उसी प्रकार है कि—गौतम ! अलोकाकाश जीव नहीं है यावत् अजीवप्रदेश नहीं है, अजीव-द्रव्य (आकाश) का एक देश है, वह अगुरुलघु है, अनन्त अगुरुलघु गुणो से सयुक्त है, सर्वाकाश से अनन्तभाग न्यून है ।

उत्तराध्ययन के २८ वे अध्ययन की ७ वीं गाथा मे कहा है—'सर्वदर्शी जिनेद्रो ने धर्म, अधर्म, आकाश, काल पुद्गल और जीव को लोक कहा है जहाँ ये द्रव्य नहीं है सिर्फ आकाश का देश है उसे अलोक कहा है ॥१०॥

मूलसूत्रार्थ—"धम्माधम्माणं कसिणे" इत्यादि । सूत्र ११

धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय की अवगाहना सम्पूर्ण लोकाकाश में है ॥११॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्र में बतलाया गया है कि लोकाकाश में धर्म आदि द्रव्यो का प्रदेशरूप अवगाह है किन्तु वह अवगाह दूध और पानी के समान और विष और रुधिर के समान समस्त लोकाकाश के सब प्रदेशों को व्याप्त करके होता है अथवा तालाब में त्रसजीव या पुरुष आदि के समान एक देश से होता है, इस आशंका का समाधान करने

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः --पूर्वं लोकाकाशे धर्मादीनामवगाहो भवतीत्युक्तम् तत्राऽवध्रियमाणानाम-वस्थानभेदसम्भवाद् विशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह—**"धम्माधम्माणं कसिणे लोगागासे—"** इति। धर्मास्तिकायाऽधर्मास्तिकाययोः कृत्स्ने सपूर्णे लोकाकाशेऽवगाहः प्रवेशो भवति। न तु--लोकाकाशस्यैकदेशेऽवगाहो भवतीति।

'तत्र--कृत्स्नपदोपादनेन सम्पूर्णदेशव्याप्तिः सूच्यते। तथाच—यथा गृहस्यैकदेशे कस्मिंश्चित्कोणादौ घटोऽवस्थितो भवति, न तथा-लोकाकाशे धर्माऽधर्मयोरवगाहो भवति। अपितु—कृत्स्ने सम्पूर्णे लोकाकाशे **"तिलेषु तैलवत्"** **"दुग्धेषु घृतवत्—"** सर्वावयव्याप्त्याऽवगाहो भवति। एवञ्चा —ऽवगाहनशक्तियोगाद् धर्माऽधर्मयोः सम्पूर्णे लोकाकाशे परस्परप्रदेशप्रवेशव्याघाताऽभावोऽवगन्तव्यः।

"एतावता--धर्माऽधर्मयो सर्वत्र लोकाकाशेऽयुतसिद्धावपि चन्द्रमण्डलाऽऽधेयचन्द्रिकावत् अवगाहो भवति, न ततः परत चेतनावत्--शरीरे एवोपकारदर्शनात् बहिरदर्शनाच्च तन्मात्रवृत्तित्व निश्चीयते तस्माद्-दुग्धादकवत् परस्परावगाहपरिणामेन धर्माधर्मयो कृत्स्ने लोकाकाशे व्यवस्थान

के लिए यहाँ कहा गया है कि धर्म और अधर्मद्रव्य का लोकाकाश मे अवगाह सम्पूर्ण रूप से तिल में तेल के समान है, एक देश से नहीं ॥११॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—धर्मादि द्रव्यो का लोकाकाश मे अवगाह है, यह पहले कहा जा चुका है, किन्तु वह अवगाह किस प्रकार का है, यह बतलाने के लिए कहा है—धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय का सपूर्ण लोकाकाश में अवगाह है, लोकाकाश के किसी एक देश में नहीं।

सूत्र मे 'कृत्स्न' पद का प्रयोग करके धर्म—अधर्मद्रव्य का सपूर्ण देश- में व्याप्त होना सूचित किया गया है। इससे यह स्पष्ट हो गया कि जैसे घर के किसी एक कोने मे घर रहता है, उसप्रकार से लोकाकाश में धर्म और अधर्म का अवगाह नहीं है। बल्की तिलो में तेल के समान और दूध मे घी के समान सम्पूर्ण लोकाकाश में अवगाह है। इस प्रकार अवगाहनशक्ति के कारण समस्त लोकाकाश मे धर्म और अधर्म द्रव्य प्रदेशों का परस्पर व्याघातरहित अवस्थान समझना चाहिये। तात्पर्य यह है कि लोकाकाश का जिस एक प्रदेश है वही धर्म द्रव्य का भी एक प्रदेश है और वहीं अधर्मद्रव्य का भी प्रदेश है। ये सब प्रदेश व्याघात के विना ही स्थित है— कोई किसी के अवस्थान मे रुकावट नहीं डालता।

इस प्रकार लोकाकाश मे सर्वत्र धर्म-अधर्म का अवगाह है, उससे आगे नहीं है। जैसे चेतना का कार्य शरीर मे ही देखा जाता है, बाहर नहीं, इस कारण चेतना शरीर व्यापी ही है, इसी प्रकार धर्म—अधर्म का उपकार लोकाकाश मे ही देखा जाता है, बाहर नहीं, अतः वे द्रव्य भी बाहरनहीं है।

फलितार्थ यह है कि धर्म और अधर्मद्रव्य दूध और पानी की तरह परस्पर अवगाहन करके समस्त लोकाकाश मे व्याप्त है, ऐसा नहीं की तालाब मे परुष के समान य॰ ``` में घर

भवति न तु—हृदगृहादौ पुरुषघटादिवदिति कृत्स्नपदोपादानेन व्यवच्छियते इति फलितम् ।

उक्तञ्चोत्तराध्ययने ३६ अध्ययने ७ गाथायाम्—-

धम्माधम्मे य दो चेव लोगमित्ताविवियाहिया ।'

लोगालोगे य आगासे समए समयखेत्तिए ॥इति॥"

"धर्माऽधर्मौ च द्वौ चैव लोकमेत्यविगाहकौ—।

लोकालोके च आकाशे समयः समयक्षेत्रिकः ॥११॥ इति. ॥११॥

मूलसूत्रम्—"**पोग्गलाणं भयणा एगाइपएसेसु**—" ॥१२॥

छाया—"**पुद्गलानां भजना एकादिप्रदेशेपु**—" ॥१२॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे-धर्माधर्मयोर्लोकाकाशेऽवगाहप्रकार प्रतिपादित सम्प्रति—पुद्गलाना लोकाकाशेऽवगाहप्रकारं प्रतिपादयितुमाह—"**पोग्गलाणं भयणा एगाइपएसे**—" इति । पुद्गलानां—परमाणुप्रभृतिपुद्गलद्रव्याणा भजनया-वैकल्पितया—एकादिप्रदेशेपु— अवगाहो भवति ।

तथाच—अप्रदेशसख्येयाऽसख्येयाऽनन्तप्रदेशाना पुद्गलानां द्रव्याणामेकादिष्वाकाशप्रदेशेपु भजनयाऽवगाहोऽवगन्तव्य । तत्र—परमाणोरेकस्मिन्नेवाकाशप्रदेशे, द्व्यणुकस्य तु—आकाशस्यैकस्मिन्—द्वयोश्च प्रदेशयो ' त्रसरेणोरेकस्मिन्—द्वयो—स्त्रिपु च प्रदेशेपु, चतुरणुक—पञ्चाणुकादीना मध्ये सख्येयाऽसख्येयप्रदेशस्य —एकादिपु सख्येयेपु—असख्येयेपु च लोकाकाशस्य प्रदेशेपु अवगाहो भवति । चतुरणुकादीनामेवानन्तप्रदेशस्य चाऽपि लोकाकाशस्यैकादिपु सख्येयेष्वसख्येयेपु च प्रदेशेषु—अवगाहो भवतीति भाव ॥ १२ ॥

के समान किसी एक भाग मे हो यह कृत्स्न शब्द से प्रकट किया गया है । उत्तराध्ययन के ३६ वे अध्ययन की गाथा ७ वीं में कहा है—

धर्म और अधर्म, ये दो द्रव्य लोकाकाश में ही कहे गए है । आकाश लोक—आलोकव्यापी है और काल सिर्फ समयक्षेत्र मे अर्थात् अढाई द्वीप में ही है ॥११॥

मूलसूत्रार्थ—"**पोग्गलाणं भयणा**" इत्यादि । सूत्र ॥१२॥

पुद्गलद्रव्य की एक प्रदेश आदि मे भजना है ॥१२॥

तत्त्वार्थदीपिका— पूर्वसूत्र में यह बतलाया जा चुका है कि धर्म और अधर्म की लोकाकाश में किस प्रकार अवगाहना है । अब लोकाकाश में पुद्गलो का अवगाह बतलाने के लिए कहते हैं । परमाणु आदि पुद्गल द्रव्यो का अवगाह लोकाकाश के एक आदि प्रदेशो मे होता है ।

इस प्रकार अप्रदेशी परमाणु का, सख्यात, असख्यात, तथा अनन्त प्रदेश वाले स्कन्ध द्रव्यो का एकादि आकाशप्रदेशो मे भजना से अवगाह समझना चाहिए । इनमे से परमाणु का तो एक ही आकाशप्रदेश मे अवगाह होता है, द्व्यणुक का एक या दो प्रदेशों मे, त्र्यणुक का एक, दो अथवा तीन प्रदेशो मे, चतुरणुक तथा पचाणुक आदि सख्यात—असख्यात प्रदेशी

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वसूत्रे–धर्माधर्मयोरमूर्तत्वात् कृत्स्ने लोकाकाशेऽवगाह प्रतिपादित' सम्प्रति–तद् विपरीतानां मूर्तिमतामप्रदेशसख्येयाऽसख्येयाऽनन्तप्रदेशानां परमाणुप्रभृतिपुद्गलाना लोकाकाशेऽवगाहविशेषप्रतिपत्त्यर्थमाह—**पोग्गलाणं भयणा एगाइपएसेसु**–" इति । एकादिषु प्रदेशेषु—एक प्रदेश आदिर्येषान्ते एकादिप्रदेशा तेषु पुद्गलानाम् परमाणुप्रभृतिपुद्गलद्रव्याणा-मवगाहो भजनया भवति, कस्यचित्–पुद्गलस्यैकप्रदेशे, कस्यचित्पुनर्द्वयोर्बहुषु वा–ऽऽकाश-प्रदेशेषु–अवगाहो भवति ।

तद्यथा—एकस्मिन्नाकाशप्रदेशे पुद्गलपरमाणोरवगाहो भवति, द्व्यणुकस्यैकस्मिन् आकाश-प्रदेशे, द्वयोश्चाकाशप्रदेशयोर्बद्धस्याऽबद्धस्य चावगाहो भवति, त्र्यणुकस्यैकत्र द्वयोस्त्रिषु चाऽऽका-प्रदेशेषु बद्धस्याऽबद्धस्य चावगाहो भवति, एवम्–सख्येयाऽसख्येयाऽनन्तप्रदेशानां पुद्गलस्कन्धाना लोकाकाशस्यैकसंख्येयाऽसख्येयप्रदेशेषु अवस्थानरूपोऽवगाहोऽवगन्तव्य ।

अथाऽमूर्तयोर्धर्माऽधर्मयोरेकत्राऽविरोधेनाऽवस्थानसम्भवेऽपि मूर्तिमतां पुद्गलद्रव्याणा कथमेकत्राऽवगाहरूपमवस्थानं सम्भवति–परस्परविरुद्धत्वादिति चेन्नैवम् ।

अवगाहनस्वभावत्वात्, सूक्ष्मपरिणामाच्च, मूर्तिमतामपि पुद्गलानामेकत्राऽवगाहो न

स्कन्ध का एक आदि सख्यात या असख्यात प्रदेशो मे अवगाह होता है। यहाँ तक कि अनन्त-प्रदेशी स्कन्ध का भी एक दो सख्यात अथवा असख्यात आकाशप्रदेशो में अवगाह होता है॥१२॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पूर्वसूत्र मे अमूर्त्त धर्म–अधर्म द्रव्यों का सम्पूर्ण लोकाकाश में अव-गाह प्रतिपादन किया गया है । अब उनसे विपरीत मूर्त्तिमान् अप्रदेशी, सख्यातप्रदेशी, असख्यातप्रदेशी और अनन्तप्रदेशी परमाणु आदि पुद्गलो का लोकाकाश में अवगाह निरूपण करने के लिए कहते है—

परमाणु आदि पुद्गलद्रव्यो का अवगाह भजना से एक आदि आकाशप्रदेशो में होता है । अर्थात् किसी पुद्गल का एक प्रदेश में, किसी का दो प्रदेशो में और किसी का सख्यात–असख्यात प्रदेशो में अवगाह होता है ।

परमाणु का एक आकाश प्रदेश मे, बद्ध या अबद्ध द्व्यणुक का एक या दो आकाश-प्रदेशों मे अवगाह होता है। बद्ध या अबद्ध त्र्यणुक का एक, दो या तीन प्रदेशो में अवगाह होता है। इसी प्रकार सख्यात, असख्यात तथा अनन्त प्रदेश वाले पुद्गलस्कन्धो का लोकाकाश के एक, सख्यात अथवा असख्यात प्रदेशो मे अवगाह समझना चाहिए ।

शका–अमूर्त्त होने के कारण धर्म और अधर्म द्रव्यो का एक ही आकाशप्रदेश में विना विरोध अवस्थान होना तो सभव है, मगर रूपी- पुद्गलद्रव्य एक ही स्थान पर किस प्रकार रह सकते है? मूर्त्त द्रव्य परस्पर प्रतिघाती होते है ।

समाधान–अपने अवगाहन स्वभाव के कारण तथा सूक्ष्म रूप मे परिणत होने के कारण मूर्त्तिमान् पुद्गलों का भी एक जगह अवगाह होने में कोई विरोध नहीं है, जैसे ऐक ही

विरुध्यते । यथा एकापवरकेऽनेकदीपप्रकाशाऽवस्थानं प्रत्यक्षसिद्धत्वात् अविरुद्धं भवति, तद्वदेव प्रकृतेऽपि प्रत्येतव्यम्, आगमप्रामाण्यादपि तथाऽध्यवसेयम् ।

एवञ्च–परमाणुस्तावत् अविद्यमानद्रव्यान्तरप्रदेशत्व –अप्रदेश उच्यते स्वयंतु–प्रदेशात्मक एव परमाणुरवसेय, प्रचयविशेषात् । संख्येयपरमाणुघटित पुद्गलस्कन्ध संख्येयप्रदेशो भवति एवम्–प्रचयविशेषादेवाऽसंख्येयपरमाणुघटित पुद्गलस्कन्ध असंख्येयदेशो भवति । एवम्–अनन्तपरमाणुघटित पुद्गलस्कन्धोऽनन्तप्रदेशो व्यपदिश्यते ।

तत्र–परमाणो प्रदेशान्तराभावादेकस्मिन्नेव लोकाकाशप्रदेशेऽवगाहो भवति, द्वयणुकस्य तु–परमाणुद्वयात्मकतया बद्धस्य तस्यैकस्मिन्नाकाशप्रदेशेऽवगाह अबद्धस्य पुन परमाणुद्वयरूपस्य द्वयोराकाशप्रदेशयोरवगाह, एवम्–त्र्यणुकस्य परमाणुत्रयात्मकत्वात् बद्धस्य तस्य स्कन्धरूपस्यैकस्मिन्नाकाशप्रदेशेऽवगाह' अबद्धस्य तु द्वयोस्त्रिषु चाकाशप्रदेशेषु–अवगाहो भवतीति भाव । एवम्–चतुरणुकादीनां बद्धानामबद्धानाञ्च यथायोग्यं संख्येयाऽसंख्येयप्रदेशस्यैकादिषु संख्येयेषु–असंख्येयेषु चाऽऽकाशप्रदेशेष्ववगाहो बोध्य, तेषामनन्तप्रदेशस्यापि लोकाकाशस्याऽनन्तप्रदेशत्वाभावाद् असंख्येयप्रदेशेष्वेवावगाहो भवतीति फलितम् ॥१२॥

मूलसूत्रम्—'जीवाणं लोगस्स असंखेज्जइभागे' पदीवोविव पएस–संकोचविगासेहिं १३

छाया—"जीवानां लोकस्याऽसंख्येयभागे' प्रदीप इव प्रदेश–संकोचविकासाभ्याम्

कमरे में अनेक दीपकों के प्रकाश का रहना प्रत्यक्ष से सिद्ध है, उसी प्रकार एक ही आकाशप्रदेश मे अनेक परमाणु समूह रूप स्कन्ध भी रह सकता है । इसके अतिरिक्त आगम की प्रमाणता से भी इसे स्वीकार करना चाहिए ।

निर्विभाग होने के कारण परमाणु प्रदेशविहीन होता है, उसमें कोई प्रदेश नहीं होता वह स्वतन्त्र और अखण्ड होता है । संख्यात परमाणुओं के प्रचय से संख्यातप्रदेशी स्कंध बनता है, असंख्यात परमाणुओं के मेल से असंख्यातप्रदेशी स्कंध का निर्माण होता है और अनन्त प्रदेशी स्कन्ध की उत्पत्ति होती है ।

परमाणु में प्रदेशों का अभाव होने से वह आकाश के एक ही प्रदेश में अवस्थित होता है । दो परमाणुओं से बना द्वयणुक यदि बद्ध हो तो एक ही आकाशप्रदेश में समा जाता है । और यदि बद्ध न हो तो दो आकाशप्रदेशों मे समाता है । इसी प्रकार तीन परमाणुओं से निर्मित त्र्यणुक यदि बद्ध हुआ तो एक ही आकाशप्रदेश मे रह सकता है और यदि अबद्ध हुआ तो दो या तीन प्रदेशों को घेरता है । इसी प्रकार बद्ध और अबद्ध चतुरणुक की आदि की अवगाहना एक, दो, आदि संख्यात–असंख्यात प्रदेशों में यथायोग्य समझ लेना चाहिए । हाँ, इतना स्मरण रखना चाहिए कि लोकाकाश के प्रदेश असंख्यात ही है, अनन्त नहीं, अतएव अनन्त एवं अनन्तानन्त प्रदेश वाला स्कंध भी एक, संख्यात या असंख्यात आकाशप्रदेशों में ही अवगाढ होता है । यह पुद्गल के परिणमन की विचित्रता है ॥१२॥

तत्त्वार्थदीपिका—"अथ जीवाना कियतिक्षेत्रेऽवगाहो भवतीति जिज्ञासायामाह—
"जीवाणं लोगस्स असंखेज्जइभागे, पदीवोविव पएस–संकोचविगासेहिं—" इति ।

जीवानां लोकस्य लोकाकाशप्रदेशस्याऽसख्येयभागेऽवगाहोऽवस्थानरूपो भवति । तत्र–कदाचिद् लोकाकाशैकप्रदेशरूपाऽसख्येयभागे, कदाचिद्–द्विप्रदेशादिरूपाऽसख्येयभागे, कदाचित्–त्रिप्रदेशरूपाऽसख्येयभागे, इत्यादिरीत्या जीवानामवगाहो भवति ।

अथ तुल्यपरिमाणाना पटादीनामवगाहे वैषम्यस्याऽदृष्टत्वात कथ जीवानां तुल्यप्रदेशत्वेऽपि कस्यचिदेकस्मिन् लोकाकाशाऽसख्येयभागे कस्यचित् द्वयोरसख्येयभागयो', कस्यचित्–त्रिषु असख्येयभागेषु अवगाह', इत्येव वैषम्यमित्याशङ्कायामाह—**"पदीवोविव–"** इत्यादि ।

प्रदीपस्येव जीवस्य प्रदेशाना सङ्कोच–विकाशाभ्यां क्वचिदल्पप्रदेशाऽवगाहित्वम् कचिच्च—बहुप्रदेशावगाहित्व भवति ॥१३॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वसूत्रे पुद्गलानामवगाह' प्ररूपित सम्प्रति–जीवानामवगाहप्रकारं प्ररूपयति–**"जीवाणं–"**इत्यादि । जीवानां लोकाकाशस्याऽऽसख्येयभागादिषु–अवगाहो भवति । तत्र—लोकाकाशस्यैकप्रदेशरूपाऽसख्येयभागे एको जीवोऽवगाहते अर्थात् – लोकाकाशस्याऽसख्येया भागा क्रि' न्ते तेषां मध्ये एकस्मिन् भागे एको जीवोऽवतिष्ठते ।

मूलसूत्रार्थ "जीवाणं लोगस्स" इत्यादि । सूत्र–१३"

जीवद्रव्य का अवगाह लोक के असख्यातवे भागमें होता है ।जैसे दीपक का प्रकाश फैल जाता है, और सिकुड भी जाता है, उसी प्रकार जीवप्रदेश भी फैल जाते और सिकुड जाते है ॥१३॥

तत्त्वार्थदीपिका—जीवो का अवगाह कितने क्षेत्र में होता है, इस प्रकार की जिज्ञासा होने पर कहते है—

जीवो का अवगाह लोकाकाश के असख्यात वें भाग में होता है । कदाचित् लोकाकाश के एक असख्यात वें भागमे, कदाचित् दो असख्यात भागो में और कदाचित् तीन असंख्यात भागों में अवगाह होता ।

शंका—समान परिमाण वाले पट आदि के अवगाह में विषमता नहीं देखी जाती तो फिर सब जीवो के प्रदेशो मे तुल्यता होने पर भी किसी जीव की अवगाहना लोक के एक असख्यात वें भाग मे, किसी की दो असख्यात भागो मे, किसी की तीन असख्यात भागो में अवगाहना हो, इस विषमता का क्या कारण है ?

समाधान—दीपक के प्रकाश के समान जीव के प्रदेशों में सकोच और विस्तार होता है, अत कोई जीव थोडे प्रदेशो में और कोई बहुत प्रदेशो में अवगाहता है ॥१३॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पूर्वसूत्र मे पुद्गलो का अवगाहन प्रकार प्रदर्शित करके अब जीवों की अवगाहना का निरूपण करते है—

एवं लोकाकाशस्य द्वि-त्रि-चतुराद्यप्यसख्येयभागेषु सर्वलोकात्प्राक् अवगाहो भवति नानाजीवानां पुनः सर्वलोक एवाऽवगाहो बोध्य ।

अथ लोकाकाशस्यैकस्मिन्नसख्येयभागे एको जीवोऽवतिष्ठते तदा—कथं द्रव्यप्रमाणेना-ऽनन्तानन्तो जीवराशि· सशरीरोऽवतिष्ठते इतिचेदुच्यते—लोकाकाशे सूक्ष्मवादरभेदादवस्थानमवगन्तव्यम् । तत्र—वादरास्तावत् सप्रतिघातशरीरा स्तिष्ठन्ति । सूक्ष्माः पुन सशरीरा अपि सूक्ष्मभावादेव एकनिगोदजीवावगाहेऽपि प्रदेशे साधारणशरीरा अनन्तानन्ता स्तिष्ठन्ति, किन्तु—न ते परस्परं वादरैश्च व्याहता भवन्ति इति रीत्या तेषा मवगाहविरोधो न भवति ।

तत्र कदाचित्—एकस्मिन् लोकाकाशप्रदेशाऽसख्येयभागे, कदाचिद्—द्वयोरसख्येयभागयो, कदाचित्—त्रिषु—असख्येयभागेषु जीवानामवगाहो भवति । एतावता सर्वएव लोकाकाशप्रदेशा असख्येया सन्ति । ते पुनरसख्येयैरङ्गुलाऽसख्येयभागप्रमाणैर्धिया विभज्यन्ते तत्रैकस्मिन्नसख्येयप्रदेश आकाशखण्डे जघन्येनैकजीवस्याऽवगाहो भवति कार्मणशरीरानुसारित्वात् ।

कश्चित्पुनरसख्येयप्रदेशद्वयरूपे आकाशखण्डेऽवगाह्य तिष्ठति, कश्चित्तु—असख्येयप्रदेशत्रयरूपआकाशखण्डे, कश्चित्तावत सख्येयप्रदेशाचतुष्टयरूपे आकाशखण्डेऽवागाह्य तिष्ठति, इत्या-

---

जीवो का अवगाह लोकाकाश के असख्यात भाग आदि में होता है तात्पर्य यह है कि कदाचित् एक जीव का अवगाह लोकाकाश के असख्यात भागो में से एक भाग में होता है, किसी का दो या तीन आदि भागो मे होता है। नाना जीवो का अवगाह सम्पूर्ण लोक में है ।

कहा जा सकता है कि यदि लोकाकाश के असख्यात वे भाग में एक ही जीव अव-गाहन कर लेता है तो अनन्तानन्तसख्यक जीव शरीरसहित किस प्रकार इस लोक में समा सकते हैं? इस का उत्तर यह है कि लोकाकाश में सूक्ष्म और बादर का भेद होने से अवगाहना असभव नहीं है, जो जीव बादर है उनके शरीर प्रतिघातयुक्त होते है किन्तु जो सूक्ष्म है वे शरीरसहित होने पर भी सूक्ष्म होने के कारण एक ही आकाशप्रदेश में अनन्तानन्त समा जाते हैं । न वे परस्पर एक दूसरे के अवस्थान में बाधा पहुँचाते है और न बादर जीवो के अवस्थान में रुकावट डालते है, इस प्रकार लोकाकाश के असख्यात प्रदेशो में अनन्तानन्त जीवो की अवगाहना होना विरुद्ध नहीं है ।

इस प्रकार कदाचित् लोकाकाश के एक असख्यातवें भाग में, कदाचित् दो असख्यात भागो में और कदाचित् तीन असख्यात भागो में जीवो का अवगाह होता है । इस प्रकार सब लोकाकाश के असख्यात प्रदेश होते है । वे असख्यातअंगुलासख्येय भाग प्रमाण प्रदेशो से, कल्पना द्वारा विभक्त होते है । उनमे से जघन्य एक जीव का असख्यातप्रदेश वाले एक आकाशखण्ड मे अवगाह होता है, कार्मण शरीर के अनुसारी होने से कोई जीव दो असख्यातप्रदेश परिमित आकाशखड में अवगाहन करता है, कोई जीव तीन असख्यात प्रदेश

दिरीत्या यावत् कश्चित्—सकललोकाकाशं व्याप्यावतिष्ठते केवलिसमुद्घातापेक्षया समुद्घातकाले केवल्येव केवलं सर्वलोकाकाशं व्याप्य तिष्ठति नाऽन्य कश्चिद् लोकमर्यादया, न पुनरलोकाकाशस्यैकमपि देशमक्रामतीति फलितम् ।

अथैकजीवस्य लोकाकाशतुल्यप्रदेशत्वात् कथं तस्य लोकाकाशाऽसंख्येयभागादिषु—अवगाह सम्भवति तस्य सर्वलोकाकाशव्याप्त्या—एव भवितव्यमित्याशङ्कायामाह **"पदीवोविव पएससंकोचविगासेहिं—"** प्रदीपस्येव जीवस्य प्रदेशानाम् संकोचविकासाभ्यां लोकाकाशस्याऽसंख्येयभागादिष्ववगाहः संजायते, यथा—प्रदीपाः तेजोऽवयवा यथावकाशाऽनुसारिणः सन्तः स्वल्पेऽवकाशे सङ्कोचमास्थाय तिष्ठन्ति ।

महति चावकाशे विकाशं समाश्रयन्ति, एवं जीवस्यापि कस्यचित् प्राप्तप्रकृष्टसंकोचस्य लोकाकाशस्यैकस्मिन्नसंख्येयभागेऽवस्थानं भवति । कस्यचित्पुनः केवलिनः समुद्घातसमये प्राप्तोत्कृष्टविकाशस्य सर्वलोकेऽवगाहो भवति अन्या मध्यमावस्थाऽनेकभेदा भवति ।

एतेन—निर्णीताऽसंख्येयप्रदेशपरिमाणस्य जीवस्य कार्मणशरीरापादितौदारिकादिशरीरसम्बन्धाद अल्पबहुप्रदेशव्यापितायामवस्थायां न कश्चिद् हेतुः प्रतिभाति, नहि तुल्यपरिमाणानां पटादीनामवगाहे किमपि वैषम्यं दृश्यते इत्याशङ्काऽपि समाहिता यस्मात्—किल जीवस्य प्रदेशानां

परिमित आकाशखंड मे अवगाहन करता है, कोई चार आकाशखंडो मे व्याप्त होकर रहता है, इत्यादि रूप से कोई जीव सम्पूर्ण लोकाकाश में व्याप्त होकर रहता है । मगर संपूर्ण लोकाकाश को केवली ही केवलिसमुद्घात के समय में व्याप्त करते है, अन्य कोई जीव नहीं । वे भी लोक से बाहर अलोकाकाश के एक भी प्रदेश में नहीं जाते है ।

शंका—एक जीव के प्रदेश लोकाकाश के बराबर असंख्यात है, ऐसी स्थिति मे लोक के असंख्यातवे भाग मे उसका समावेश कैसे हो सकता है ? उसे तो सम्पूर्ण लोकाकाश मे ही व्याप्त होना चाहिए ।

समाधान—जीव के प्रदेशो मे दीपक के प्रकाश के समान संकोच—विस्तार होता है, अतएव लोकाकाश के असंख्यात भाग आदि में उसका समावेश हो जाता है । जैसे बडे कमरे मे दीपक रक्खा जाय तो उसका प्रकाश उस सम्पूर्ण कमरे मे फैला हुआ रहता है और उसको यदि छोटे स्थान मे रख दिया जाय तो प्रकाश सिकुड कर छोटे स्थान मे समा जाता है, उसी प्रकार जीव के प्रदेश भी नाम कर्म द्वारा प्राप्त शरीर के अनुसार संकुचित और विस्तृत हो जाते है । कोई जीव लोक के एक असंख्यात भाग मे समा जाता है और कोई केवलिसमुद्घात के समय विस्तार को प्राप्त होकर समस्त लोकाकाश को व्याप्त कर लेता है । इन दोनो के बीच मध्यम अवगाहना भी अनेक प्रकार की होती है ।

इस कथन से इस आशंका का भी समाधान हो जाता है कि जब जीव के असंख्यात प्रदेश है और औदारिक शरीर के साथ उसका संबंध है तो किसी का थोडे प्रदेशो मे और किसी का बहुत प्रदेशो में अवगाह हो, इस विषय मे कोई हेतु नहीं है, समान परिमाण वाले

सङ्कोचविकासशालिता भवति पटस्येव पिण्डितविततावस्थायिता प्रदीपप्रकाशस्येव सङ्कुचनप्रसारणे चर्ममण्डलस्येव संहरण-विसर्पणे इति भावः ॥

एवञ्चा—ऽमूर्तस्वभावस्य जीवस्याऽनादिबन्धप्रत्येकत्वात् कथञ्चित् मूर्तता धारयतः कार्मणशरीरवशात् महत्—अणु च शरीरमधितिष्ठतस्तद्वशात् प्रदेशसंहरणविसर्पणस्वभावस्य तावत्प्रमाणत्वे सति लोकाकाशस्याऽसङ्ख्येयभागादिषु अवगाहः सम्पद्यते प्रदीपवत् यथा खलु निरावरणगमनप्रदेशेऽनवधृतप्रकाशपरिणामस्य प्रदीपस्य शरावो-दञ्चन-माणिका-ऽपवरकाद्यावरणवशात् तत्परिमाणता भवति ।

तथैवैकस्यापि जीवस्य लोकाकाशतुल्यप्रदेशत्वेऽपि प्रदेशानां सङ्कोच—विकासस्वभावतया लोकाकाशस्याऽसङ्ख्येयभागादिषु अवगाहो भवत्येवेति भावः । अथैवमात्मनः सङ्कोचविकासस्वभावत्वे प्रदीपादिवदेवाऽनित्यत्वमापद्येतेति चेन्नैवम् । स्याद्वादिना जैनानां मते कस्यापि वस्तुन एकान्ततो नित्यता अनित्यताया वा सत्वात् ।

सर्वस्यैव वस्तुनो द्रव्यपर्यायनयद्वयाऽऽविष्टतया सर्वेषामेव पदार्थाना नित्याऽनित्यत्वादिविकल्पशालित्वात् आत्मनोऽपि—द्रव्यार्थिकनयेना—ऽऽत्मत्वचैतन्यादिरूपेण नित्यत्वेऽपि पर्यायार्थिकनयेन ज्ञानशरीरादिपर्यायैरनित्यत्वाभ्युपगमात् । एतेनैतदपि प्रत्युक्तम्—

"वर्षातपाभ्यां किं व्योम्नश्चर्मण्यस्ति तयोः फलम् ।
"चर्मोपमश्चेत्सोऽनित्यः खतुल्यश्चेदसत्फलः ॥१॥ इति

पट आदि के अवगाह मे किसी प्रकार की विषमता नहीं देखी जाती, क्योंकि जीव के प्रदेशो मे सकुचित और विस्तृत होने का स्वभाव है जैसे वस्त्र मे सकोच—विस्तार देखा जाता है, प्रदीप के प्रकाश में तथा चमडे मे भी संकोच- विस्तार होता है, उसी प्रकार जीव के प्रदेशो मे भी सकोच विस्तार का स्वभाव विद्यमान है ।

जीव अपने स्वभाव से अमूर्त्त है, किन्तु मूर्त कर्मो के साथ बद्ध होने के कारण मूर्त्त हो गया है । कार्मण शरीर के वश से वह बडे या छोटे शरीर को धारण करता है, उसी के कारण उसके प्रदेशो मे सकोच—बिस्तार होता है, इस कारण लोक के असख्यातवे भाग आदि मे, लोकाकाश के प्रदेशो के बराबर प्रदेश होने पर भी एक जीव का अवगाह सभवित होता है ।

शका—यदि जीव प्रदीप के समान सकोच—विस्तार स्वभाव वाला है तो प्रदीप समान ही अनित्य भी होना चाहिए ।

समाधान—अनेकान्तवादी जैनो के मत मे कोई भी वस्तु न एकान्त नित्य है और न एकान्त अनित्य ही है । प्रत्येक वस्तु द्रव्य—पर्यायात्मक है, अत द्रव्यरूप से नित्य और पर्यायरूप से अनित्य होने के कारण सभी मे नित्यता तथा अनित्यता है । आत्मा भी द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से नित्य है, क्योंकि उसका आत्मत्व शाश्वत है. वह अपने चैतन्य स्वभाव का कदापि परित्याग नहीं करता, किन्तु अपने ज्ञानपर्यायो और शरीरपर्यायो की अपेक्षा अनित्य है । इस कथन से

स्याद्वादिभिर्नहि एकान्तेन व्योमनित्यमभ्युपगम्यते, नाऽपि चर्म–एकान्तेनानित्य सर्वस्यैव वस्तुनः उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तत्वात् । एकान्तनित्यानित्ययोश्च–कर्मफलसम्बन्धोऽपि नोपयुज्यते इति ।

एवञ्च —यथा तैलवर्तिका वह्निसामग्रीप्रवृद्धःप्रज्वलन् प्रदीपो विशालामपि कूटागारशाला प्रकाशयति । शरावो–दञ्चन-माणिकाद्यावृत्तस्तु-लघ्वीरपि शरावोदञ्चनमाणिका' प्रकाशयति । एवं द्रोणावृतः पुनर्द्रोणम्, आढकावृतश्चाढकम्, प्रस्थावृत. प्रस्थम्, हस्तावृतश्च हस्त प्रकाशयति, इत्येवं रीत्याऽपरित्यक्तस्वात्मावयवोऽपि प्रदीपोऽनेकमाकारमादत्ते ।

एवं जीवोऽपि–स्वप्रदेशाना सहारविसर्गाभ्यां विशाल–लघु वा पञ्चविधं शरीरस्कन्धं धर्माधर्माकाशपुद्गलजीवप्रदेशसमुदायं व्याप्नोति, अवगाह्याऽवतिष्ठते ।

तथा चाऽवश्यमेव लोकाकाशे धर्माऽधर्माकाशपुद्गला सन्ति, जीवप्रदेशश्च–भजनया यत्रैको जीवोऽवगाढो भवति, तत्राऽन्यस्याप्यवगाहो न विरुध्यते इति भाव । तथाच —एकस्मिन् लोकाकाशप्रदेशेऽनेकजीवानामनेकप्रदेशावगाहात् अनावृतो द्वीप' स्वावयवमानमेवाऽवकाशं व्याप्नोति, न तु सम्पूर्णं जगत् । आत्मा पुन. समुद्घातकाले लोकव्यापि भवति । सिद्धिकाले तु–त्रिभागोनाऽवशिष्टः, अशुषिरसम्भूतशरीरानुकार्यवगाहादनन्तर निष्प्रयोजनत्वेना–ऽवगाह-सङ्कोचाऽभावोऽवसेय' ।

इस आरोप का निराकरण भी हो जाता है कि चाहे वर्षा हो, चाहे धूप हो, आकाश का क्या बिगडता है ? वर्षा और धूप का प्रभाव तो चमडे पर ही होता है । यदि आत्मा चमडे के समान है तो अनित्य हो जाएगा और यदि आकाश के समान नित्य है तो सुख–दु'ख का भोग नहीं कर सकेगा ।

स्याद्वादी न तो आकाश को एकान्त नित्य स्वीकार करते है और न चमडे को एकान्त अनित्य, क्योकि प्रत्येक वस्तु उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त है । आत्मा को एकान्त नित्य अथवा एकान्त अनित्य मानने पर कर्मफल का सयोग भी घटित नहीं हो सकता ।

इस प्रकार जैसे तेल, बत्ती, अग्नि आदि सामग्री से वृद्धि को प्राप्त जलता हुआ दीपक विशाल कूटागारशाला को प्रकाशित करता है, और शराव,ढकना उदञ्चन एव माणिका आदि से आवृत होकर उनको ही प्रकाशित करता है, इसी प्रकार द्रोण से आवृत होकर द्रोण को,आढक से आवृत होकर आढक को प्रस्थ से आवृत होकर प्रस्थ (सेर) को हस्त से आवृत होकर हस्त को प्रकाशित करता है, इसी प्रकार जीव भी अपने प्रदेशों के सकोच और विस्तार से बडे अथवा छोटे पाँच प्रकार के शरीरस्कध को तथा धर्म, अधर्म, अथवा, पुद्गल और जीव के प्रदेशो के समूह को व्याप्त करता है अर्थात् उन्हे अवगाहन करके रहता है ।

इस प्रकार लोकाकाश मे धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल अवश्य होते है । जीवप्रदेश भजना से होते है। जहाँ एक जीव का अवगाह होता है वहां दूसरे जीव के अवगाह का कोई विरोध नहीं है । इस प्रकार लोकाकाश के एक प्रदेश मे अनेक जीवो के अनेक प्रदेशो का अवगाह है । अच्छादनरहित दीपक उतने ही आकाशप्रदेशो को व्याप्त करता है जितने उसके अवयव हो । वह सम्पूर्ण लोक को प्रकाशित नहीं कर सकता, पर आत्मा समुद्घात के समय समस्त

एवञ्च—धर्माधर्माकाशजीवानां परस्परं पुद्गलेषु चावगाहरूपा वृत्तिरमूर्तत्वाद् न विरुध्यते। एतावता—धर्माधर्माकाशजीवानाममूर्त्त्वात् परस्परेण वर्तनं न विरुद्धम्, नाऽपि—धर्मादीनां पुद्गलविषयकं वर्तनं विरुध्यते, तद्बलेन गतिस्थित्यवगाहदर्शनादात्मनश्च कर्मपुद्गलव्यापनात् जीव सहरणविसर्पाभ्यां महान्तमणुं वा देहं गृह्णातीति फलितम्।

अथ जीवाना प्रदेशसहारविसर्गसामर्थ्ये सति, अविकलकारणकलाप खलु स जीव सर्वान् प्रदेशानुपसहृत्य—एकस्मिन्नाकाशदेशे कथ नाऽवस्थान करोति प्रतिबन्धकवत्वभावात् कस्माल्लोकाकाशस्याऽसख्येयभागादिषु जीवानामवगाहो भवति नैकप्रदेशादिषु ? इतिचेदत्रोच्यते

सर्वस्य ससारिण' कार्मणशरीरसम्बन्धाद् अनन्तानन्तपुद्गलप्रचितसर्वससारिकार्मणशरीरोपश्लेषाद् लोकाकाशस्याऽसख्येयप्रदेशावगाहितैव सम्भवति, नैकादिप्रदेशावगाहिता। सिद्धास्तु—चरमशरीरत्रिभागहीनमवगाहन्ते। तथाच—शरीर त्रिभाग शुषिरो वर्तते। तत्पूरणात्-त्रिभागहीनाऽवगाहो भवति। स च—योगनिरोधकाले एव सम्भवति। तस्मात्—सिद्धोऽपि तदवस्थ-

---

लोक मे व्याप्त हो जाता है। सिद्ध होने के पश्चात् जीव की अन्तिम शरीर से त्रिभाग न्यून अवगाहना रहती है, तीसरा भाग शरीर के छिद्रो की पूर्ति मे लग जाता है। किन्तु सिद्ध जीवो का आकार वही रहता है जो आकार मुक्ति के समय शरीर का होता है।

इस प्रकार धर्म, अधर्म, आकाश और जीवो की परस्पर में तथा पुदगलो में अवगाहना का विरोध नहीं है, क्योकि वे अमूर्त्त है। इस कारण धर्म, अधर्म, आकाश और जीव का अमूर्त्त होने के कारण परस्पर में रहना विरुद्ध नहीं है और न धर्मादि का पुद्गलो मे रहना विरुद्ध है, क्यो कि उन्हीं के निमित्त से गति, स्थिति और अवगाहना देखी जाती है और आत्मा कर्मपुद्गलों को व्याप्त करता है। फलितार्थ यह है कि जीव सकोचविस्तार स्वभाव के कारण बड़े अथवा छोटे शरीर को ग्रहण करता है।

शका--यदि जीव के प्रदेशो में सकोच-- विस्तार का सामर्थ्य है तो सम्पूर्ण कारण मिलने पर जीव समस्त प्रदेशो के सिकोड कर अकाश के एक ही प्रदेश में क्यों नहीं समा जाता ? रुकावट डालने वाली कोई वस्तु तो है नहीं। ऐसी स्थिति में जीवो का अवगाह लोकाकाश के असख्यातवें भाग आदि में क्यो होता है ? एक प्रदेश आदि में क्यो नहीं होता ?

समाधान- प्रत्येक ससारी जीव का कार्मण शरीर के साथ सबध है और कार्मण शरीर अनन्तानन्त पुद्गलो के सचय से बना है। अतएव लोक के असख्येय प्रदेशों मे ही जीव का अवगाह हो सकता है, एकादि प्रदेश में नहीं। हाँ सिद्ध जीव चरम शरीर के तीसरे भाग कम मे अवगाहन करते है। इसका कारण यह है कि शरीर का तीसरा भाग छिद्रमय—पोला है। उस पोलेपन की पूर्ति मे तीसरा भाग कम हो जाता है। यह त्रिभागन्यूनता योग निरोध के समय ही हो जाती है, अत सिद्ध जीव भी त्रिभागन्यून अवगाहना वाले होते है।

स्याद्वादिभिर्नहि एकान्तेन व्योमनित्यमभ्युपगम्यते, नाऽपि चर्म–एकान्तेनानित्य सर्वस्यैव वस्तुन उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तत्वात । एकान्तनित्यानित्ययोश्च- कर्मफलसम्बन्धोऽपि नोपयुज्यते इति ।

एवञ्च —यथा तैलवर्तिका वह्निसामग्रीप्रवृद्ध प्रज्वलन् प्रदीपो विशालामपि कूटागारशाला प्रकाशयति । शरावो–दञ्चन - माणिकाद्यावृत्तस्तु-ल्लघीरपि शरावोदञ्चनमाणिका प्रकाशयति । एव द्रोणावृतः पुनर्द्रोणम्, आढकावृतश्चाढकम्, प्रस्थावृत प्रस्थम्, हस्तावृतश्च हस्त प्रकाशयति, इत्येव रीत्याऽपरित्यक्तस्वात्मावयवोऽपि प्रदीपोऽनेकमाकाशमादत्ते ।

एव जीवोऽपि–स्वप्रदेशाना सहारविसर्गाभ्या विशाल–लघु वा पञ्चविधं शरीरस्कन्ध धर्माधर्माकाशपुद्गलजीवप्रदेशसमुदाय व्याप्नोति, अवगाह्याऽवतिष्ठते ।

तथा चाऽवश्यमेव लोकाकाशे धर्माऽधर्माकाशपुद्गला सन्ति, जीवप्रदेशश्च–भजनया यत्रैको जीवोऽवगाढो भवति, तत्राऽन्यस्याप्यवगाहो न विरुध्यते इति भाव । तथाच —एकस्मिन् लोकाकाशप्रदेशेऽनेकजीवानामनेकप्रदेशावगाहात् अनावृतो दीप स्वावयवमानमेवाऽवकाशं व्याप्नोति, न तु सम्पूर्ण जगत् । आत्मा पुन. समुद्घातकाले लोकव्यापि भवति । सिद्धिकाले तु–त्रिभागोनाऽवशिष्ट., अशुषिरसम्भूतशरीरानुकार्यवगाहादनन्तर निष्प्रयोजनत्वेना–ऽवगाह-सङ्कोचाऽभावोऽवसेय ।

इस आरोप का निराकरण भी हो जाता है कि चाहे वर्षा हो, चाहे धूप हो, आकाश का क्या बिगड़ता है ? वर्षा और धूप का प्रभाव तो चमड़े पर ही होता है । यदि आत्मा चमडे के समान है तो अनित्य हो जाएगा और यदि आकाश के समान नित्य है तो सुख–दुःख का भोग नहीं कर सकेगा ।

स्याद्वादी न तो आकाश को एकान्त नित्य स्वीकार करते है और न चमडे को एकान्त अनित्य, क्योंकि प्रत्येक वस्तु उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त है । आत्मा को एकान्त नित्य अथवा एकान्त अनित्य मानने पर कर्मफल का सयोग भी घटित नहीं हो सकता ।

इस प्रकार जैसे तेल, बत्ती, अग्नि आदि सामग्री से वृद्धि को प्राप्त जलता हुआ दीपक विशाल कूटागारशाला को प्रकाशित करता है, और शराव,ढकना उदचन एव माणिका आदि से आवृत होकर उनको ही प्रकाशित करता है, इसी प्रकार द्रोण से आवृत होकर द्रोण को,आढक से आवृत होकर आढक को प्रस्थ से आवृत होकर प्रस्थ (सेर) को हस्त से आवृत होकर हस्त को प्रकाशित करता है, इसी प्रकार जीव भी अपने प्रदेशो के सकोच और विस्तार से बडे अथवा छोटे पाँच प्रकार के शरीरस्कध को तथा धर्म, अधर्म, अथवा, पुद्गल और जीव के प्रदेशो के समूह को व्याप्त करता है अर्थात् उन्हे अवगाहन करके रहता है ।

इस प्रकार लोकाकाश मे धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल अवश्य होते है । जीवप्रदेश भजना से होते है। जहाँ एक जीव का अवगाह होता है वहो दूसरे जीव के अवगाह का कोई विरोध नहीं है । इस प्रकार लोकाकाश के एक प्रदेश मे अनेक जीवो के अनेक प्रदेशो का अवगाह है । अच्छादनरहित दीपक उतने ही आकाशप्रदेशो को व्याप्त करता है जितने उसके अवयव हो । वह सम्पूर्ण लोक को प्रकाशित नहीं कर सकता, पर—आत्मा समुद्घात के ... समस्त

एवञ्च-धर्माधर्माकाशजीवानां परस्परं पुद्गलेषु चावगाहरूपा वृत्तिरमूर्तत्वाद् न विरुध्यते। एतावता-धर्माधर्माकाशजीवानाममूर्तत्वात् परस्परेण वर्तनं न विरुद्धम्, नाऽपि-धर्मादीनां पुद्गल-विषयकं वर्तनं विरुध्यते, तद्बलेन गतिस्थित्यवगाहदर्शनादात्मनश्च कर्मपुद्गलव्यापनात् जीव सह-रणविसर्पाभ्या महान्तमणुं वा देह गृह्णातीति फलितम्।

अथ जीवाना प्रदेशसहारविसर्गसामर्थ्ये सति, अविकलकारणकलाप खलु स जीव सर्वान् प्रदेशानुपसहृत्य-एकस्मिन्नाकाशदेशे कथ नाऽवस्थान करोति प्रतिबन्धकवस्त्वभावात् कस्माल्लोका काशस्याऽसख्येयभागादिषु जीवानामवगाहो भवति नैकप्रदेशादिषु ? इतिचेदत्रोच्यते

सर्वस्य ससारिण कार्मणशरीरसम्बन्धाद अनन्तानन्तपुद्गलप्रचितसर्वससारिकार्मणशरीरो-पश्लेषाद् लोकाकाशस्याऽसख्येयप्रदेशावगाहितैव सम्भवति, नैकादिप्रदेशावगाहिता। सिद्धास्तु-चरमशरीरत्रिभागहीनमवगाहन्ते। तथाच-शरीर त्रिभाग शुषिरो वर्तते। तत्पूरणात्-त्रिभाग-हीनाऽवगाहो भवति। स च-योगनिरोधकाले एव सम्भवति। तस्मात्-सिद्धोऽपि तदवस्थ-

---

लोक में व्याप्त हो जाता है। सिद्ध होने के पश्चात् जीव की अन्तिम शरीर से त्रिभाग न्यून अव-गाहना रहती है, तीसरा भाग शरीर के छिद्रो की पूर्ति मे लग जाता है। किन्तु सिद्ध जीवो का आकार वही रहता है जो आकार मुक्ति के समय शरीर का होता है।

इस प्रकार धर्म, अधर्म, आकाश और जीवो की परस्पर में तथा पुद्गलो में अवगाहना का विरोध नहीं है, क्योकि वे अमूर्त्त है। इस कारण धर्म, अधर्म, आकाश और जीव का अमूर्त्त होने के कारण परस्पर में रहना विरुद्ध नहीं है और न धर्मादि का पुद्गलो मे रहना वि-रुद्ध है, क्यो कि उन्हीं के निमित्त से गति, स्थिति और अवगाहना देखी जाती है और आत्मा कर्मपुद्गलो को व्याप्त करता है। फलितार्थ यह है कि जीव सकोचविस्तार स्वभाव के कारण बड़े अथवा छोटे शरीर को ग्रहण करता है।

शका--यदि जीव के प्रदेशो में सकोच-- विस्तार का सामर्थ्य है तो सम्पूर्ण कारण मिलने पर जीव समस्त प्रदेशो के सिकोड कर अकाश के एक ही प्रदेश मे क्यो नहीं समा जाता ? रुकावट डालने वाली कोई वस्तु तो है नहीं ! ऐसी स्थिति में जीवो का अवगाह लोका-काश के असख्यातवें भाग आदि में क्यो होता है ? एक प्रदेश आदि में क्यो नहीं होता ?

समाधान- प्रत्येक ससारी जीव का कार्मण शरीर के साथ सबंध है और कार्मण शरीर अनन्तानन्त पुद्गलो के सचय से बना है। अतएव लोक के असख्येय प्रदेशो मे ही जीव का अवगाह हो सकता है, एकादि प्रदेश मे नहीं। हाँ सिद्ध जीव चरम शरीर के तीसरे भाग कम मे अवगाहन करते है। इसका कारण यह है कि शरीर का तीसरा भाग छिद्रमय-पोला है। उस पोलेपन की पूर्ति मे तीसरा भाग कम हो जाता है। यह त्रिभागन्यूनता योग निरोध के समय ही हो जाती है, अत सिद्ध जीव भी त्रिभागन्यून अवगाहना वाले होते है।

प्रमाणएवेति सामर्थ्याभावेन नात परम् अनावरणवीर्यस्यापि भगवत सहरण सम्भवति, किमुत वक्तव्य शेषससारिण इति ।

स्वभावश्चाऽयम् एतावानेवोपसहार, नहि हि स्वभावे पर्यनुयोग सम्भवति । किञ्च—सकर्माऽसौ विद्यते तस्माद् अल्पतर उपसहारो न भवति । अथ कर्मवियुक्त कस्मान्नोपसहरतीति चेन्नैवम् प्रयत्नाऽभावात् । प्रयत्नाभावश्च—कारणाभावात ।

अत्रेद बोध्यम्—सक्षिपतो विकसन-सङ्कोचनधर्मत्वात आत्मप्रदेशसमूह कमलनालतन्तु-सन्तानवत्—अविच्छेदेन विकासमासादयति । अविच्छेदश्च—प्रदेशानाममूर्तत्वात् विकासधर्मत्वात् एकत्वपरिणतत्वात् जीवाभिवृद्धेर्विकासश्च सिद्ध । छेददर्शनात सक्रियत्वाच्च कमलनालतन्तु-सन्तानवद्—गृहगोधिकापुच्छवदेव च जीवप्रदेशा सकलमन्यद् विशन्ति स्वल्प परित्यज्य ।

अथ मस्तके छिन्ने सति शिरोऽपविश्य कथ स प्रदेशसन्तान छिन्नमस्तक शरीर नाऽऽविशति इति चेत् ? उच्यते—वेदनायुषोर्भेदेन दोषाभाव । बहवो जीवप्रदेशा सघीभूयासते

यद्यपि सिद्ध जीवो का सहज वीर्य निरावरण होता है तथापि उनमे यह सामर्थ्य नहीं है कि वे उससे अधिक अवगाहना का सकोच कर सकें। ससारी जीवो का तो कहना ही क्या ? जीव का स्वभाव ही ऐसा है कि इससे अधिक सकोच नहीं हो सकता और स्वभाव के विषय में कोई प्रश्न नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त ससारी जीव कर्मयुक्त होने के कारण उससे अधिक सकोच नहीं कर सकता ।

शका—कर्ममुक्त जीव क्यो अधिक सकोच नहीं करता ?

समाधान—इस कारण कि वे प्रयत्न नहीं करते।

शंका—प्रयत्न क्यो नहीं करते ?

समाधान—प्रयत्न करने का कोई कारण विद्यमान नहीं रहता।

यहाँ यह समझ लेना चाहिए—सकुचित आत्मप्रदेश जब विकसित होते है तब उनका सबन्ध परस्पर टूट नहीं जाता, वरन् कमल की नाल के तन्तुओ के समान वे आपस मे जुडे रहते है। सम्बन्ध न टूटने का कारण यह है कि प्रथम तो वे अमूर्त्त है, दूसरे विकासशील है और तीसरे एकत्व रूप परिणाम में परिणत होते है। जीव की वृद्धि देखने से आत्मप्रदेशो का विकास सिद्ध होता है।

छिपकली की पूछ जब कट जाती है तो थोडी देर तक वह छटपटाती है, बाद मे स्तब्ध हो जाती है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि छिपकली के कतिपय जीवप्रदेश उसकी कटी हुई पूछ मे भी कुछ समय तक रहते है और बाद में नहीं रहते। वे प्रदेश कहाँ चले जाते हैं ? छिपकली के शरीर मे ही चले जाते हैं, क्योकि उनका सबन्ध सर्वथा विच्छिन्न नहीं हुआ था, कमल की नाल के तन्तुओ की तरह वे परस्पर में सम्बद्ध थे।

शंका—ऐसा है तो मस्तक कट जाने पर भी मस्तक में स्थित प्रदेश शेष शरीर मे क्यो नहीं चले जाते ? और मनुष्य उस पूछ-कटी छिपकली के समान जीवित क्यो नहीं रह-

यत्र तत् मर्मव्यपदिश्यते, बहुमर्मकश्च मूर्धा भवति, मर्मदेशेषु च महती वेदना भवति । आयुर्भेदश्चाऽध्यवसानादिनिमित्तः सप्तप्रकारक' प्रसिद्ध ।

तस्मात्—आत्मन कर्माऽनुभावजनितौ सङ्कोच--विकासौ भवत', न तु—नाशो भवति, सत्यपि सङ्कोचविकासे वाऽमूर्तत्वात् । स्यद्वादिना मते कस्यचिद्वस्तुन सर्वथा स्वतत्त्वनाशो न भवति, आत्मन' प्रदेशसख्याया सङ्कोचविकासयो सतोरपि ह्रासो वा—वृद्धिर्वा न सम्भवति, क्षेत्रत पुनरात्मनस्तौ स्यातामेवेति भाव ।

उक्तञ्च—प्रज्ञापनायां २—पदे जीवस्थानाधिकारे—"**लोयस्स असंखेज्जइभागे—**" इति । लोकस्याऽसख्येयभागे—इति, राजप्रश्नीयसूत्रे चोक्तम्—"**दीवं व० जीवे वि जं जारिसयं पुव्वकम्मनिबद्धं बोंदिं णिव्वत्तेइ तं असंखेज्झेहिं जीवपदेसेहिं सचित्तं करेइ खुड्डियं वा—महालियं वा**—इति । दीप इव जीवोऽपि यद् यादृश पूर्वकर्मनिबद्धं बोन्दि निर्वर्तयति । तत्—असख्येयैर्जीवप्रदेशै सचित्त करोति क्षुद्र वा महालयं वा, ॥इति॥ १३ ॥

मूलसूत्रम्—"**मणुस्सक्खेत्ते ओगाहो कालस्स**" ॥१४॥

छाया—मनुष्य क्षेत्रेऽवगाह कालस्स ॥१४॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्व धर्माऽधर्माकाशपुद्गलजीवाना पञ्चद्रव्याणा लोकाकाशेऽवगाह प्रतिपादित' सम्प्रति—कालद्रव्यस्याऽवगाह प्रतिपादयितुमाह—"**मणुस्सक्खेत्ते ओगाहो कालस्स**"

समाधान—वेदन आयु का भेद हो जाने से यह दोष नहीं आता । जहाँ बहुसख्यक जीवप्रदेश एकत्र होकर रहते है, उसे मूर्त्त कहते है । मस्तक बहुत मर्म वाला है । मर्मदेशो में महान् वेदना होती है । अध्यवसान आदि सात कारणो से आयु का भेदन हो जाता है, यह बात प्रसिद्ध है ।

इस कारण आत्मा का कर्मोदय के अनुसार सकोच और विस्तार होता है, किन्तु नाश नहीं होता, क्योंकि वह अमूर्त्त है । भावार्थ यह है कि जैनमत में किसी भी वस्तु का समूल विनाश नहीं होता है और प्रदेशों का सकोच—विस्तार होने पर भी आत्मा का ह्रास अथवा वृद्धि नहीं होती । हाँ, क्षेत्र की अपेक्षा वृद्धि—ह्रास हुआ करता है, प्रदेशों की अपेक्षा नहीं, प्रज्ञापना सूत्र के दूसरे पद मे जीवस्थान प्रकरण में कहा है—'जीव लोक के असख्यातवे भाग में रहता है ।' राजप्रश्नीयसूत्र मे भी कहा है—'अपने पूर्वार्जित कर्म के अनुसार जीव जैसे शरीर को प्राप्त करता है, उसी को अपने असख्यात प्रदेशों से व्याप्त कर लेता है—सजीव बना लेता है, चाहे वह छोटा हो अथवा बडा हो' ॥१३॥

मूलसूत्रार्थ—'**मणुस्सक्खेत्ते**' इत्यादि ॥सूत्र १४॥

मनुष्य क्षेत्र में कालद्रव्य का अवगाह है ॥१४॥

तत्त्वार्थदीपिका—धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीव द्रव्य का अवगाह लोकाकाश में है, यह बात बतलाई जा चुकी है, अब कालद्रव्य का अवगाह बतलाने के लिए कहते

इति । कालस्य कालद्रव्यस्य मनुष्यक्षेत्रेऽवगाहो भवति,नाऽन्यत्रेति भावः ॥१४॥

मूलसूत्रम्—"गइठिइओगाहाणं निमित्ता धम्माधम्मागासा ॥१५॥

छाया—गति-स्थित्यवगाहानां निमित्तानि धर्माऽधर्माकाशानि ॥१५॥

तत्त्वार्थदीपिका—अथ धर्माऽधर्माऽऽकाशकालपुद्गलजीवाना षण्णा पूर्वोक्तद्रव्याणा क्रमशो लक्षणानि प्रतिपादयितुं प्रथमं धर्माऽधर्माऽऽकाशाना लक्षणानि वक्ति—"**गइ ठिइ ओगाहाणं निमित्ता धम्माधम्मागासा**—" इति । गतिस्थित्यवगाहानां निमित्तानि यथाक्रम धर्माधर्माकाशानि भवन्ति । तथाच—गतिनिमित्त धर्म स्थितिनिमित्तमधर्म, अवगाहनिमित्तमाकाश भवतीति भावः ॥१५॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं सामान्यतो धर्मादीनि षड्द्रव्याणि प्ररूपितानि सम्प्रति—तेषां यथायथ लक्षणानि प्ररूपयितुम् अथवा—तुल्येऽसख्येयप्रदेशत्वे सति कृत्स्नलोकव्यापित्वमेव धर्माधर्मयोर्वर्तते न तु—असख्येयभागादिषु वृत्तिमत्वम् । एवम्—असख्येयप्रदेशे लोकाकाशे एवाऽवगाहो भवति, नत्वलोकाकाशे तत्कथम् इत्याशङ्का समाधातु प्रयोगविस्रसापरिणामजनितामनेकप्रकारा सार्वलौकिकीमन्यद्रव्येषु असम्भाविनीं क्रियामारभमाणानां जीवपुद्गलानां गतिस्थित्योरुपग्राहकौ-तावद् धर्माधर्मौ चक्षुषोदर्शनशक्तेरुपग्राहकसूर्यरश्मिवदिति कार्यतो धर्माधर्मयोः सकललोकव्या-

---

है—कालद्रव्य का अवगाह मनुष्यक्षेत्र में ही है, अन्यत्र नहीं ॥१४॥

मूलसूत्रार्थ—'गइ ठिइ ओगाहाणं' इत्यादि ॥सूत्र १५॥

धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य क्रमश. गति, स्थिति और अवगाहना के निमित्त कारण हैं ॥१५॥

तत्त्वार्थदीपिका—धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव, इन छहो द्रव्यो के लक्षण क्रमशः प्रतिपादन करने के लिए प्रथम धर्म, अधर्म आकाश का लक्षण कहते है—धर्मद्रव्य गति का, अधर्मद्रव्य स्थिति का और आकाशद्रव्य अवगाहना का निमित्त है ॥१५॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पहले सामान्य रूप से धर्म आदि द्रव्यो का निर्देश किया गया है, अब उनका लक्षण बतलाते है । अथवा धर्म और अधर्म द्रव्य के असख्यात प्रदेश तुल्य होने पर भी वे सम्पूर्ण लोक में व्याप्त है, असख्यातवें भाग आदि में नहीं । इस प्रकार उनका अवगाह लोक में ही है, अलोक में नहीं, ऐसा क्यो है ? इस शंका का समाधान करने के लिए कहते है—छह द्रव्यो में से केवल जीव और पुद्गलद्रव्य में ही गतिक्रिया होती है, अन्य किसी द्रव्य में नहीं । वह गतिक्रिया प्रयोग परिणाम से भी होती है और विस्रसा (स्वभाव) परिणाम से भी होती है । इस गतिक्रिया में धर्म और अधर्म उसी प्रकार सहायक होते है जैसे सूर्य की किरणे नेत्रो के देखने में सहायक होती है । गतिक्रिया समस्त लोक में देखी जाती है, अतएव अनुमान प्रमाण से यह निश्चय हो जाता है कि धर्म और अधर्मद्रव्य भी सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हैं ।

पित्वं निश्चीयते। एवम् लोकाकाशे एव जीवानामजीवानाञ्च धर्माधर्मपुद्गलादीनां सत्त्वेन अलोकाकाशस्य तु शून्यत्वात्तत्रावगाहो नोपपद्यते, इतिरीत्या त्रयाणा धर्माधर्माकाशानामसाधारण कार्यं सूत्रेण दर्शयितुमाह—"गइ ठिइ ओगाहाणं निमित्ता धम्माधम्मागासा—" इति।

गतिस्थित्यवगाहानां निमित्तानि खलु यथासख्य धर्माधर्माकाशानि भवन्ति। तत्र देशान्तरप्राप्तिहेतुः परिणामो गति., तद्विपरीत परिणाम स्थिति, अवकाशदानहेतु परिणाम अवगाह उच्यते। तथाच—देशान्तरप्राप्तिपरिणामलक्षणगत्याविष्टाना जीवपुद्गलादिद्रव्याणा गतिनिमित्त धर्मो व्यपदिश्यते।

एव देशान्तरप्राप्तिविपरीतपरिणामलक्षणस्थित्याविष्टाना जीवपुद्गलादिद्रव्याणा स्थितिनिमित्तमधर्म उच्यते। एव जीवपुद्गलादीनामवगाहिना द्रव्याणामवकाशदानपरिणामलक्षणावगाहनिमित्तमाकाश व्यवह्रियते, एतावता गतिपरिणामिना जीवपुद्गलादीनां गत्युपग्रहे कर्तव्ये धर्मास्तिकायस्योपकारोऽवगन्तव्य. जलस्येव मत्स्यादिगमने।

एव स्थितिपरिणामिना जीवपुद्गलादीना स्थित्युपग्रहे कर्त्तव्येऽधर्मास्तिकायस्योपकारो भूम्यादेरिवाश्वादिस्थितौ बोध्य.। एवं जीवपुद्गलादीनामवगाहिनामवकाशदानलक्षणेऽवगाहे कर्त्तव्ये आकाशस्योपकारो द्रष्टव्य इति फलितम्, तथाच—गतिमता गते रुपग्रहे धर्मस्योपकार', स्थिति-

---

इस प्रकार लोक में ही जीवो का तथा धर्म, अधर्म, पुद्गल आदि अजीव द्रव्यो का अस्तित्व है। अलोकाकाश सूना है, वहाँ किसी अन्य द्रव्य का अवगाह नहीं है। इस प्रकार से धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य का असाधारण कार्य बतलाने के लिए कहते हैं—गति, स्थिति और अवगाहना के निमित्तकारण धर्म, अधर्म और आकाशद्रव्य है।

एक देश से दूसरे देश में प्राप्ति रूप परिणाम को गति कहते है। उससे विपरीत परिणाम को स्थिति कहते है। अवकाश देने के कारण रूप परिणाम को अवगाह कहा गया है। इस प्रकार देशान्तर प्राप्ति रूप परिणाम वाले जीवो और पुद्गलो की गति में जो निमित्त होता है, वह धर्मद्रव्य कहलाता है।

इसी प्रकार देशान्तर प्राप्ति से विपरीत परिणाम रूप स्थिति वाले जीव एव पुद्गल द्रव्यों की स्थिति का जो निमित्त है वह अधर्मास्तिकाय कहलाता है। जीव पुद्गल आदि अवगाहन करने वाले द्रव्यो के अवकाशदान परिणाम रूप अवगाह में जो निमित्तकारण हो, वह आकाश कहा गया है। इससे गतिपरिणमन वाले जीवो और पुद्गलो की गति में सहायता पहुँचाना धर्मद्रव्य का उपकार है, जैसे मत्स्य आदि के गमन में जल सहायता पहुँचाता है। इसी प्रकार स्वय स्थिति में परिणत होने वाले जीवों और पुद्गलों की स्थिति मे सहायक होना अधर्मद्रव्य का उपकार है, जैसे अश्व आदि की स्थिति में भूमि आदि निमित्त होतेहै।

इसी प्रकार अवगाहन करने वाले जीवो, पुद्गलों आदि के अवकाशदान रूप अवगाह करने मे आकाश का उपकार समझ लेना चाहिए, यह फलित हुआ। इस प्रकार गति-

मतां स्थिते रुपग्रहोऽधर्मस्योपकार अवगाहिना धर्माधर्मपुद्गलजीवानामवगाह आकाशस्योपकार इति पर्यवसितम् ।

एवञ्च—जीवपुद्गलाः क्रियावन्तो भवन्ति, यत्र च गतिर्भवति–तत्राऽवश्यमेव स्थितिरपि भवेत् । एव येषा गतिस्थिती भवतस्तेषामवकाशोऽप्यावश्यक । अथवा–गतिप्रयोजकस्य धर्मद्रव्यस्य सर्वदा सन्निहितत्वात् कथ तावदत्याहतागतिरेव सततं न भवति अविकलकारणकलापसान्निध्ये कार्योत्पत्तेरवश्यं भावित्वात् । एव सर्वदाऽधर्मद्रव्यस्यापि सन्निहितत्वात् कथ सदा स्थितिरेव न भवति ?

एवमवगाहविषयेऽपि शङ्का भवति ? तत्राह—स्वत एव गतिपरिणामो येषां द्रव्याणाम् एव स्थितिपरिणामा–ऽवगाहपरिणामावपि येषा जीवपुद्गलादीना स्वत सिद्धौ तेषामुपग्राहकानि धर्माधर्माकाशानि भवन्ति । तानि च धर्मादीनि त्रीणि द्रव्याणि गतिस्थित्यवगाहेपु अपेक्षाकारकाणि सन्ति,, न तु–निवर्तक कारणम् ।

निवर्तक कारणन्तु–तदेव जीवद्रव्यं पुद्गलादिद्रव्य वा गतिस्थित्यवगाहक्रियाविष्ट भवति । धर्माधर्माकाशानि तु–उपग्राहकानि । अनुपघातकानि–अनुग्राहकाणि भवन्तीति भाव । स्वभावत एव गतिस्थित्यवगाहपरिणतानि जीवपुद्गलादि द्रव्याणि धर्माऽधर्माऽऽकाशा' अनुगृह्णन्ति । यथाहि-सरित्तडागह्रदोदधिपु अवगाहित्वे सति स्वयमेव जिगमिषोर्मत्स्यस्याऽनुग्राहकं जल निमित्ततयोपकार करोति घटादिरूपेण परिणामिन्या मृदो दण्डादिवत् इतिभाव । उक्तञ्च—

मान जीव पुद्गलो की गति मे धर्मद्रव्य का स्थितिमान् जीव–पुद्गलो की स्थिति में अधर्मद्रव्य का और अवगाहनशील धर्म, अधर्म, पुद्गल और जीव द्रव्य के अवगाहन में आकाश का उपकार है, यह सिद्ध हुआ ।

जीव और पुद्गल द्रव्य ही गतिक्रिया वाले है और जहाँ गति होती है वहाँ स्थिति भी अवश्य होती है और जिनमे गति तथा स्थिति है, उनका अवकाश भी आवश्यक है ।

शका—गति सहायक धर्मद्रव्य जब सदैव विद्यमान रहता है । तो निरन्तर गति ही क्यों नहीं होती रहती ? क्योकि कारण के होने पह कार्य की उत्पत्ति अवश्य देखी जाती है । इसी प्रकार सदा अधर्मद्रव्य सन्निहित रहने से सदैव स्थिति ही क्यो नहीं रहती ?

समाधान—धर्म और अधर्म द्रव्य गति और स्थिति के जनक नहीं, सहायक है । जब जीव और पुद्गल स्वयं गति करते है तब वे सहायक मात्र बन जाते है । धर्मद्रव्य किसी को बलात् चलाता नहीं और अधर्म द्रव्य किसी को बलात् ठहराता नहीं ।

उपादान कारण तो जीव की गति में स्वय पुद्गल ही है । धर्म और अधर्मद्रव्य तो सहायक मात्र है, अनुग्रहकारी है, निमित्त हैं । जैसे नदी, तालाव, ह्रद या समुद्रो में स्वय ही गमन करने वाले मत्स्य के लिए जल सहायक हो जाता है, जल मत्स्य को चलाता नहीं है, इसी प्रकार धर्मास्तिकाय गतिक्रिया में सहायक होता है, प्रेरक नहीं । या जैसे [illegible] गादि

"निर्वर्तको निमित्तं परिणामी च त्रिधेष्यते हेतुः ।
"कुम्भस्य कुम्भकारो वर्ता मृच्चेति समसंख्यम् ॥१॥ इति

अस्यार्थ —कार्यम्प्रति कारण त्रिविधं भवति, निर्वर्तकम्–निमित्तम्–परिणामि च तदेव दर्शयति "निर्वर्तकम्" इत्यादि । घट प्रति त्रिधा हेतुरिष्यते निर्वर्तक निमित्तम् परिणामी च, तत्र–घटस्य निर्वर्तको हेतु' कुम्भकार , निमित्त–कारणम, वर्ताचक्रम, मृच्च परिणामि–उपादानकारणमिति ।

न खलु तावत्–तज्जलद्रव्यं गते हेतुभाव बिभ्राण गमनमकुर्वाणमपि मत्स्यं हठाद् गन्तु प्रेरयति, भूमिर्वा–स्वयमेव स्थितवतो द्रव्यस्य स्थानभावमासादयति, न वा—स्वयं स्थितिमकुर्वाणं द्रव्यं बलादवनि' स्थापयति, आकाश वाऽवगाहं कुर्वत स्वत एव द्रव्यस्याऽवगाहं प्रति कारणतामुपैति, न पुनरवगाहमान स्वावष्टम्भात् अवगाहयति, स्वयमेव कर्षकाणा कृष्यारम्भं कुर्वतां वर्षाऽपेक्षाकारण भवति ।

नहि कृषिमकुर्वतो जनान् तदर्थमारम्भयति वर्षाजलम् , प्रावृषि वा वर्षर्तौ नूतनजलधर-ध्वनिश्रवणहेतुकोपाधीयमानगर्भा बलाका स्वत एव प्रसूते, न वा प्रसूयमाना बलाका नूतनजलधर-ध्वनिर्हठात् प्रसावयति, पुरुषो वा प्रतिबोध प्राप्य प्रतिबोधहेतुका विरतिमासादयन् अवद्याद् विरमन् दृश्यते न पुनरविरमन्त पुरुष बलात् प्रतिबोधो विरमयतीति भाव ।

अथैवं तर्हि गतिस्थित्यवगाहं प्रति दण्डादिवत् धर्माऽधर्माकाशानि निमित्तकारणान्येव स्यु नत्वपेक्षाकारणानि । तथाचापेक्षाकारणतैव हीयते तेषाम्, यतो निर्व्यापारमपेक्षाकारणमुच्यते इति चेन्मैवम् ।

रूप में परिणत होने वाली मृत्तिका के लिए दंड आदि सहायक हो जाते है, उसी प्रकार उक्त द्रव्य सहायक होते है । कहा भी है—

कारण तीन प्रकार के होते हैं–निर्वर्त्तक निमित्त और परिणामी । यही यहाँ दिखलाते है–घट में तीन कारण माने जाते हैं–निर्वर्त्तक, निमित्त और परिणामी कारण । घटका निर्वर्त्तक कारण कुंभकार है, निमित्तकारण डोरी तथा चाक आदि है और परिणामी कारण मृत्तिका है ।

जल मत्स्य की गति का कारण तो है मगर गमन करने वाले मत्स्य को जबर्दस्ती नहीं चलाता । भूमि स्थिति मे सहायक है मगर गमन करने वाले को बलात् स्थित नहीं करती । आकाश अवगाहना मे कारण है मगर स्वय अवगाढ द्रव्यों के अवगाह मे वह निमित्त होता है, जबर्दस्ती अवगाढ नहीं करता, जैसे स्वय खेत जोतने वाले कृषक के लिए वर्षा निमित्त कारण होती है । स्वय खेत न जोतने वाले कृषको को वर्षा का जल बलात् जोतने में प्रवृत्त नहीं करता । वर्षाकाल मे नूतन मेघों की ध्वनि को सुनकर बलाका स्वय गर्भ धारण कर के प्रसव करती है, प्रसव करने वाली बलाका-बकपक्ति को नूतन मेघ जबर्दस्ती प्रसव नहीं कराते । किसी प्रतिबोधक का निमित्त पाकर मनुष्य प्रतिबोधहेतुक विरति को धारण करता हुआ पाप से विरत होता देखा जाता है, किंतु विरत न होने वाले पुरुष को प्रतिबोध जबर्दस्ती विरत नहीं करता ।

शका—अगर ऐसा है तो गति, स्थिति और अवगाह में धर्म, अधर्म और आकाश

निर्युक्तिकमेतत् । नहि–निर्व्यापार किमपि कारण भवति । अपितु कुर्वदेव कारण व्यपदिश्यते, धर्मादीनामपेक्षाकारणत्वञ्चैतावतैवोच्यते यत् धर्मादिद्रव्यगतक्रियापरिणाममपेक्षमाण जीवपुद्गलादि गतिस्थित्यवगाहक्रियापरिणति पुष्णाति ।

अथैव तर्हि निमित्तकारणाऽपेक्षाकारणयोर्न कश्चिद्विशेष स्यादिति चेन्न, दण्डादिपु प्रायोगिकी वैस्रसिकी च क्रिया भवत्ति, धर्माधर्माकाशेषु पुनर्वैस्रसिक्येव क्रियेति विशेष । एवञ्च गत्युपकारो नावगाहलक्षणस्याऽऽकाशस्योपपद्यते । अपितु धर्मस्यैव गत्युपकारो दृष्ट । एव स्थित्युपकारश्चाऽधर्मस्यैव नाऽवगाहलक्षणस्याऽऽकाशस्य ।

एव मवगाहोपकारश्चाकाशस्यैव, न तु धर्माऽधर्मयोरिति । द्रव्यस्य तावत् अवश्यमेव द्रव्यान्तराद् विशेष कश्चिद्गुणोऽभ्युपगन्तव्य । धर्माधर्माकाशाना परस्परं द्रव्यान्तरत्वञ्च युक्तेरागमाद्वा प्रतिपत्तव्यम् ।

तथाचोक्तम्—आगमे **"कइ णं भंते ! दव्वा पण्णत्ता ? गोयमा ! छ दव्वा पण्णत्ता तंजहा धम्मत्थिकाए, अधम्मत्थिकाए, आगासत्थिकाए, पुग्गलत्थिकाए, जीवत्थिकाए, अद्धासमये"** इति । कति खलु भदन्त ! द्रव्याणि प्रज्ञप्तानि ? गौतम ! षड् द्रव्याणि प्रज्ञप्तानि तद्यथा धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय जीवा-

---

निमित्त कारण ही होने चाहिए, अपेक्षा कारण नहीं । ऐसी स्थिति मे अपेक्षा कारणता की ही हानि हो जाएगी, क्योकि अपेक्षाकारण व्यापाररहित होता है ।

समाधान—ऐसा मत कहो । कोई भी कारण व्यापाररहित नहीं होता । व्यापार करने वाला ही कारण कहा जा सकता है । धर्मादि को इसीलिए अपेक्षाकारण कहा जाता है कि जीवादि द्रव्य धर्मादिगत क्रियापरिणाम की अपेक्षा रखते हुए ही गति आदि क्रिया करते है ।

शंका—ऐसा है तो निमित्तकारण और अपेक्षाकारण में कोई भेद नहीं रहता ।

समाधान—दड आदि में प्रायोगिकी और वैस्रसिकी दोनो प्रकार क्रिया होती है, धर्म, अधर्म और आकाश में वैस्रसिकी ही क्रिया होती है । दोनो मे यह अन्तर है । इस प्रकार गति में सहायक होना अवगाह लक्षण वाले आकाश में घटित नहीं होता, किंतु गति में सहायक होना धर्मद्रव्य का ही उपकार है इसी प्रकार स्थिति में सहायक होना अधर्मद्रव्य का ही उपकार है, अवगाह लक्षण वाले आकाश का नहीं । अवगाह रूप उपकार आकाश का ही है, धर्म और अधर्म द्रव्य का नहीं ।

एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य से भिन्न कोई विशिष्ट गुण अवश्य स्वीकार करना चाहिए । धर्म अधर्म और आकाश द्रव्य परस्पर भिन्न है, यह तथ्य युक्ति से अथवा आगम से समझ लेना चाहिए । आगम में कहा है—

प्रश्न—भगवन् ! द्रव्य कितने कहे हैं ?

उत्तर—गौतम ! छह द्रव्य कहे है, यथा— धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, जीवास्तिकाय और अद्धासमय ।

स्तिकायः अद्धासमयश्चेति । अथ धर्मद्रव्यस्य गत्युपकारनिरपेक्षमेव काकादिपक्षिणामुत् पतन वह्नेरूर्ध्वज्वलन वायोश्च तिर्यग्गमनम् अनादिकालीनात्स्वभावादेव भवति इतिचेदत्रोच्यते ।

धर्मद्रव्योपकारनिरपेक्षाया स्वाभाविकत्या काकादिगतौ स्वीक्रियमाणाया मुक्तहेतुदृष्टान्तौ नानवद्यौ स्त', यत सर्वेपामेव जीवपुद्गलादीनामासादितगतिपरिणामानामनुग्राहकतया धर्ममभ्यु- पगच्छन्ति—अनेकान्तवादिन' । एव सर्वेपामेव जीवपुद्गलादीनां द्रव्याणामासादितस्थितिपरिणती- नामुपग्राहकतयाऽधर्ममनुसरन्ति आर्हता अनेकान्तवादिन' ।

एवमेव हि—आसादितावगाहपरिणतीना जीवपुद्गलादीनामुपग्राहकतयाऽऽकाशमभ्युपगच्छन्ति जैनसिद्धान्तानुसारिणो जैना । एतैश्च त्रिभिर्धर्माऽधर्माकाशैर्न गतिस्थित्यवगाहा जीवपुद्गलादीनां- विधीयन्ते अपितु—केवल सान्निध्यमात्रेणोपकारकत्वमेतेपा धर्मादीनां वर्तते ।

अथैवमपि—लोकव्यापि धर्मद्रव्यास्तित्ववादिनोऽनेकान्तवादिनो धर्मद्रव्यसान्निध्यमात्रमेव धर्मद्रव्योपकारो गत्युपग्रह । एवम्—अधर्मद्रव्योपकार स्थित्युपग्रहोऽपि अधर्मद्रव्यसान्निध्यमात्रमेव तन्मात्रत्वात् एवमेवाऽवग्रहोपग्रहोऽपि आकाशद्रव्योपकार तत्सान्निध्यमात्रमेवेति चेदुच्यते ।

जीवपुद्गलाना ये गतिस्थित्यवगाहा भवन्ति ते स्वत' परिणामाभावात् परिणामिकर्तृनिमित्त- कारणत्रयव्यतिरिक्तोदासीनकारणान्तरसापेक्षात्मलाभा अवगन्तव्या अस्वाभाविकपर्यायत्वे सति कदाचिद् भावात्—उदासीनकारणजलापेक्षात्मलाभमत्स्यगत्यादिवत् तद् एतेपाममूर्तानामपि सतां गमकम् एकैकस्यासद्भावे न भवति, न वा-तदन्येनोपक्रियते,

---

शंका—धर्मास्तिकाय के गति—उपकार के विना ही पक्षियो का उडना, अग्नि का ऊर्ध्व ज्वलन और वायु का तिर्छा चलना अनादि कालीन स्वभाव से ही देखा जाता है ।

समाधान—धर्मद्रव्य के उपकार के विना ही, काक आदि पक्षियो की स्वाभाविक गति मानने में उक्त हेतु और दृष्टांत समीचीन नहीं है, क्योंकि अनेकान्तवादी गतिपरिणाम को प्राप्त सभी जीवो और पुद्गलो की गति में धर्मद्रव्य को अनुग्राहक स्वीकार करते है । इसी प्रकार अनेकान्तवादी आर्हत स्वय स्थितिपरिणाम मे परिणत सभी जीवो और पुद्गलो की स्थिति में अधर्मद्रव्य को सहायक मानते है । इसी प्रकार जैनसिद्धान्त के अनुयायी जैन सभी अव- गाहपरिणाम में परिणत जीव पुद्गल आदि के अवगाह में आकाश को सहायक मानते है । धर्म, अधर्म और आकाश, ये तोन द्रव्य जीव और पुद्गल की गति, स्थिति और अवगाह को उत्पन्न नहीं करते हैं, अपितु केवल सहायता मात्र करते है ।

जीवों और पुद्गलो की जो गति, स्थिति और अवगाहना होती है, वह स्वत' परिणाम का अभाव होने से परिणामी कर्त्ता और निमित्त इन तीनो कारणो से भिन्न, अलग उदासीन कारण से उत्पन्न समझना चाहिए । क्योकि वह स्वाभाविक पर्याय न होते हुए कभी—कभी होती है, जैसे मत्स्य की गति उदासीन कारण जल की सहायता से होती है । इस प्रकार यद्यपि धर्मादि द्रव्य अमूर्त है, फिर भी गति आदि कार्य उनके गमक होते है, क्योंकि इनके अभाव में ये कार्य हो नहीं सकते और एक का कार्य दूसरा कोई भी नहीं कर सकता ।

तथाच --गतिस्थित्यवगाहपरिणतजीवपुद्गलद्रव्यसामीप्येन धर्मादीना व्याप्रियमाणतैव तदुपकारो व्यपदिश्यते इति फलितम् । अथैवमपि धर्माधर्मपुद्गलजीवानामनुप्रवेशनिष्क्रमणस्वभाव-रूपोऽवगाह आकाशस्य लक्षणं पर्यवसित तन्नोपपद्यते, उक्तलक्षणावगाहस्य पुद्गलजीवसम्बन्धि-तया--ऽऽकाशसम्बन्धितया चोभयनिष्ठत्वात् तदुभयजन्यत्वाच्च व्यङ्गुलादिसयोगवत् न केवलम् आकाशस्यैव स्वतत्वम् न हि द्रव्यद्वयजनितसयोग एकेनैव द्रव्येण व्यपदेष्टु शक्यते एकस्यैव वा लक्षण वक्तु पार्यते इति चेत्सत्यम् ।

आकाशस्यैवा-ऽवगाहस्य प्रधानतया लक्ष्यत्वेन विवक्षितत्वात् प्रधानमवगाहनमनुप्रवेशो यत्र तद् आकाशमवगाहलक्षण प्रतिपादितम् अन्यत्पुनरवगाहक जीवपुद्गलादिसयोगजनकत्वस्य सत्वेऽपि प्रधानतया लक्ष्यत्वेन न विवक्ष्यते तस्माद्--आकाशस्यैवा-ऽवगाहलक्षण युक्तम् यतोहि--आकाशमेवा--ऽसाधारणकारणतयाऽवगाहमानजीवपुद्गलादिद्रव्याणामवगाहदायि भवति,न तु--अन-वगाहमानं जीवपुद्गलादिबलादवगाहयति ।

एवञ्च-- -द्रव्यान्तरासम्भाविना जीवपुद्गलानामवगाहदानलक्षणोपकारेणाऽतीन्द्रियमपि आका-शमनुमातव्यम् । आत्मवत्--धर्मवद्वा । एवञ्च यथा--पुरुषहस्तदण्डभेर्याघातजन्य शब्दो भेरी-

---

इस कथन का फलितार्थ यह है कि गति, स्थिति और अवगाह रूप में परिणत जीव और पुद्गल द्रव्य के सामीप्य से धर्मादि का व्यापार होना ही उनका उपकार कहलाता है ।

शंका- की जा सकती है कि ऐसा मानने पर भी धर्म, अधर्म, पुद्गल और जीव द्रव्य का प्रवेश और निष्क्रमण रूप अवगाह आकाश का लक्षण सिद्ध होता है । यह ठीक नहीं है, क्योकि उक्त लक्षण वाला अवगाह पुद्गल--जीव सबन्धी तथा आकाश सबन्धी होने से उभयनिष्ठ है--दोनो मे रहता है । और दोनो के द्वारा जनित होने के कारण, दो उगलियो के सयोग के समान, किसी एक का लक्षण नहीं कहा जा सकता । अर्थात् जैसे दो उङ्गलियो के सयोग को एक उगली का धर्म नहीं कह सकते, उसी प्रकार उक्त अवगाह भी सिर्फ आकाश का नहीं कहा जा सकता ।

उक्त शंका ठीक है किन्तु यहाँ लक्ष्य होने के कारण आकाश की ही प्रधान रूप से विवक्षा की गई है । इसी कारण ऐसा प्रतिपादन किया गया है कि जहाँ अवगाहन---अनुप्र-वेश हो, वह आकाश है । इस तरह आकाश का लक्षण अवगाहना कहा गया है । अवगा-हक जो जीव और पुद्गल है, वे भी यद्यपि सयोग के जनक है तथापि उनकी यहाँ विवक्षा नहीं की गई है । इस कारण अवगाह को आकाश का लक्षण मानना उचित ही है । अव-गाहमान जीव और पुद्गल आदि द्रव्यो को अवगाह देने में आकाश ही असाधारण कारण है । मगर वह अवगाह देने में जबर्दस्ती नहीं करता ।

इस प्रकार आकाश यद्यपि अमूर्त्त है तथापि जीवादि को अवगाहना देने रूप उपकार से उसका अनुमान किया जा सकता है, जैसे कि आत्मा अथवा धर्म के विषय मे अनुमान

तथाच --गतिस्थित्यवगाहपरिणतजीवपुद्गलद्रव्यसामीप्येन धर्मादीना व्याप्रियमाणतैव तदुपकारो व्यपदिश्यते इति फलितम् । अथैवमपि धर्माधर्मपुद्गलजीवानामनुप्रवेशनिष्क्रमणस्वभाव-रूपोऽवगाह आकाशस्य लक्षणं पर्यवसित तन्नोपपद्यते, उक्तलक्षणावगाहस्य पुद्गलजीवसम्बन्धि-तया--ऽऽकाशसम्बन्धितया चोभयनिष्ठत्वात् तदुभयजन्यत्वाच्च द्व्यङ्गुलादिसयोगवत् न केवलम् आकाशस्यैव स्वतत्वम् न हि द्रव्यद्वयजनितसयोग एकेनैव द्रव्येण व्यपदेष्टु शक्यते एकस्यैव वा लक्षण वक्तु पार्यते इति चेत्सत्यम् ।

आकाशस्यैवा--ऽवगाहस्य प्रधानतया लक्ष्यत्वेन विवक्षितत्वात् प्रधानमवगाहनमनुप्रवेशो यत्र तद् आकाशमवगाहलक्षण प्रतिपादितम् अन्यत्पुनरवगाहक जीवपुद्गलादिसयोगजनकत्वस्य सत्वेऽपि प्रधानतया लक्ष्यत्वेन न विवक्ष्यते तस्माद्--आकाशस्यैवा-ऽवगाहलक्षण युक्तम् यतोहि--आकाशमेवा--ऽसाधारणकारणतयाऽवगाहमानजीवपुद्गलादिद्रव्याणामवगाहदायि भवति,न तु--अन-वगाहमानं जीवपुद्गलादिबलादवगाहयति ।

एवञ्च-- -द्रव्यान्तरासम्भाविना जीवपुद्गलानामवगाहदानलक्षणोपकारेणाऽतीन्द्रियमपि आका-शमनुमातव्यम् । आत्मवत्--धर्मवद्वा । एवञ्च यथा--पुरुषहस्तदण्डभेर्याघातजन्य शब्दो भेरी-

इस कथन का फलितार्थ यह है कि गति, स्थिति और अवगाह रूप में परिणत जीव और पुद्गल द्रव्य के सामीप्य से धर्मादि का व्यापार होना ही उनका उपकार कहलाता है ।

शंका- की जा सकती है कि ऐसा मानने पर भी धर्म, अधर्म, पुद्गल और जीव द्रव्य का प्रवेश और निष्क्रमण रूप अवगाह आकाश का लक्षण सिद्ध होता है । यह ठीक नहीं है, क्योकि उक्त लक्षण वाला अवगाह पुद्गल--जीव सबन्धी तथा आकाश सबन्धी होने से उभयनिष्ठ है--दोनो मे रहता है । और दोनो के द्वारा जनित होने के कारण, दो उगलियो के सयोग के समान, किसी एक का लक्षण नहीं कहा जा सकता । अर्थात् जैसे दो उङ्गलियो के सयोग को एक उगली का धर्म नहीं कह सकते, उसी प्रकार उक्त अवगाह भी सिर्फ आकाश का नहीं कहा जा सकता ।

उक्त शंका ठीक है किन्तु यहाँ लक्ष्य होने के कारण आकाश की ही प्रधान रूप से विवक्षा की गई है । इसी कारण ऐसा प्रतिपादन किया गया है कि जहाँ अवगाहन---अनुप्र-वेश हो, वह आकाश है । इस तरह आकाश का लक्षण अवगाहना कहा गया है । अवगा-हक जो जीव और पुद्गल है, वे भी यद्यपि सयोग के जनक है तथापि उनकी यहाँ विवक्षा नहीं की गई है । इस कारण अवगाह को आकाश का लक्षण मानना उचित ही है । अव-गाहमान जीव और पुद्गल आदि द्रव्यो को अवगाह देने में आकाश ही असाधारण कारण है । मगर वह अवगाह देने में जबर्दस्ती नहीं करता ।

इस प्रकार आकाश यद्यपि अमूर्त्त है तथापि जीवादि को अवगाहना देने रूप उपकार से उसका अनुमान किया जा सकता है, जैसे कि आत्मा अथवा धर्म के विषय मे अनुमान

शब्दत्वेन व्यपदिश्यते। यवाङ्कुरम्प्रति यवस्या–ऽसाधारणकारणत्वात्। यवाङ्कुरमिति व्यवह्रियते। एवम्–जीवपुद्गलादीनामवगाहम्प्रति आकाशस्या–ऽसाधारणकारणत्वादवगाहोऽपि। आकाशस्य-लक्षणमवगन्तव्यम्।

अथैवमपि—अवगाहते परमाणु अवगाहते जीव इति सामानाधिकरण्येन व्यवहारात् अव-गाहकजीवपुद्गलादिद्रव्यविषय एवा–ऽवगाह स्यात् न तु आकाशविषये, यथा–"**उपविशति देवदत्तः**" इत्यत्र उपवेशनं देवदत्तस्येति चेन्नैवम्।

यथा **आस्ते देवदत्तोऽस्मिन्** इत्यासनपदेन भूम्यादिकमाधार उच्यते। एवम्–**अवगा-हतेऽस्मिन्** इति रीत्याऽवगाहस्य व्यवहार आकाश एवोपयुज्यते इति भाव।

अथैवम्—अलोकाकाशे जीवपुद्गलादीना मवगाहाभावेन तत्रावगाहलक्षणमव्याप्तमितिचेत्–उच्यते, लोकाकाशस्यैवाऽवगाहलक्षत्वात् अलोकाकाशेऽवगाहलक्षणस्याऽव्याप्तत्वेऽपि दोषाऽभावात्। आकाश तावत् शुपिरलक्षणमेकरूप वर्तते, तस्याकाशस्याऽवगाहिभिर्धर्मादिद्रव्यैर्विभाग' कृतो बोध्य। एवञ्च–प्रकृते' सामान्यत आकाशपदोपादानेऽपि लोकाकाशस्यैव ग्रहणं बोध्यम्।

किया जाता है। इस प्रकार पुरुष के हस्त, दड, एव भेरी के आघात से उत्पन्न होने वाला शब्द भी भेरी का शब्द कहलाता है। पृथ्वी पानी आदि कारण होने पर भी यव विशिष्ट कारण होने से जैसे यवांकुर यवांकुर कहलाता है, इसी प्रकार अवगाहना में यद्यपि जीव और पुद्गल आदि भी कारण है, फिर भी असाधारण कारण होने के कारण आकाश का ही वह लक्षण कहा जाता है।

ऐसा होने पर भी 'परमाणु अवगाहना है' या 'जीव अवगाहना है' इस प्रकार समा-नाधिकरण व्यवहार देखा जाता है, अतएव अवगाहक जीव पुद्गल आदि द्रव्य सबन्धी ही अवगाह होना चाहिए, आकाश सबन्धी नहीं, जैसे कि '**देवदत्त बैठता है**' यहाँ बैठना देवदत्त का ही माना जाता है। यह कथन ठीक नहीं है। जैसे '**आस्ते देवदत्तोऽस्मिन्**' इस प्रकार का विग्रह करने से आसन भूमि आदि कहलाते है, उसी प्रकार '**अवगाहतेऽस्मिन्**' ऐसा विग्रह करने पर अवगाह का व्यवहार आकाश मे ही उपयुक्त होता है।

शंका—यदि अवगाहना आकाश का लक्षण माना जाय तो अलोकाकाश में यह लक्षण घटित न होने से अव्याप्ति नामक दोष आता है। अलोक मे जीव आदि की अवगा-हना का सभव नहीं है।

समाधान—अवगाहना लक्षण लोकाकाश का ही है, अत वह यदि अलोकाकाश में नहीं पाया जाता तो भी अव्याप्ति दोष नहीं है।

पोलार रूप आकाश तो सर्वत्र एक ही है, केवल धर्म आदि द्रव्यों के सद्भाव और असद्भाव के कारण ही लोकाकाश और अलोकाकाश का भेद–व्यवहार होता है। यहाँ सामान्य रूप से 'आकाश' पद का प्रयोग करने पर भी लोकाकाश का ही ग्रहण समझना

तस्यैवा--ऽवगाहलक्षणत्वात् तत्र धर्माधर्मप्रदेशानां लोकाकाशप्रदेशाभ्यन्तरवर्तितया—ऽलोकाकाशेऽसम्भवात् ते धर्माधर्मप्रदेशा अलोकाकाशान्ताल्लोकाकाशप्रदेशनिर्विभागवर्तित्वेनाऽवस्थिता भवन्ति। तस्मात्—अन्तरावकाशदानेन धर्माधर्मयोरुपकार करोति, पुद्गलानां—जीवानाञ्च स्वल्पतरासख्येयप्रदेशव्यापित्वात् क्रियावत्वाच्च सयोगैर्विभागैश्चोपकार करोति ।

एवञ्च अन्यत्राऽवगाढा सन्तो मनुष्यमृल्लोष्ठखण्डादय पुनरन्यत्रोपलभ्यन्ते. सर्वत्र चाऽभ्यन्तरेऽवकाशदानादेकोऽपि अवगाहोऽवगाह्योपाधिभेदादनेक इव लक्ष्यते । तथाच—जीवपुद्गलानामन्त प्रवेशसम्भवेन सयोगविभागैश्चोपकार करोति ।

अथ जीवपुद्गलानां गतिस्थितिलक्षणे धर्माधर्मयोरूपकार आकाशस्यैव सर्वगतत्वादभ्युपगन्तव्य इति चेन्मैवम्, आकाशस्यावगाहलक्षणोपकारसद्भावेन तस्य गतिस्थित्युपकारकल्पनाया असम्भवात्, षण्णामपि धर्मादीना द्रव्याणामवगाहदानस्याकाशप्रयोजनत्वात, एकस्याऽनेकप्रयोजनकल्पनायां लोकालोकविभागो न स्यात् ।

अथापि पृथिवी जलादीनामेव जीवपुद्गलादिगतिस्थितिप्रयोजनसमर्थत्वात् तदर्थं धर्माधर्मयोरनावश्यकत्वमितिचेन्न जीवपुद्गलादीना गतिस्थितिनियामकतया धर्माधर्मयोरसाधारणकारणत्वात् एकस्य कार्यस्याऽनेककारणसाध्यत्वाच्च तदर्थं धर्माधर्माभ्युपगमस्य परमावश्यकत्वात् ।

चाहिए, क्योकि लोकाकाश मे ही अवगाह लक्षण घटित होता है । धर्म और अधर्म द्रव्य के प्रदेश लोकाकाश के प्रदेशो के साथ ही मिले हुए रहते है और वे अलोकपर्यन्त सम्पूर्ण लोकाकाश में भरे हुए है । इस कारण लोकाकाश अपने अन्दर अवकाश देकर धर्म—अधर्म का उपकार करता है । पुद्गल और जीव स्वल्पतर असख्यातवे भाग मे व्याप्त होने से और क्रियावान् होने से सयोग और विभाग के द्वारा उनका उपकार करता है ।

इस प्रकार एक जगह अवगाहे हुए मनुष्य, मृत्तिका लोष्ठखण्ड आदि पुन' दूसरी जगह पाये जाते है । सर्वत्र अन्दर अवकाश देने के कारण एक अवगाह भी अवगाह्य रूप उपाधि के भेद से अनेक सा प्रतीत होता है । अतएव जीव पुद्गल आदि का अन्दर प्रवेश होने से तथा सयोग—विभाग के द्वारा वह उपकार करता है ।

शका—जीवो और पुद्गलो का गतिरूप धर्मका उपकार और स्थितिरूप अधर्म का उपकार आकाश का ही स्वीकार करना चाहिए, क्योकि आकाश सर्वव्यापी है ।

समाधान—आकाश का उपकार अवगाह है, अतएव गति और स्थिति को आकाश का उपकार मानने की कल्पना नहीं की जा सकती । धर्म आदि समस्त द्रव्यों को अवगाह देना आकाश का प्रयोजन है । एक द्रव्य के अनेक प्रयोजन माने जाएगे तो लोक और अलोक का विभाग नहीं होगा ।

शंका—पृथ्वी जल आदि ही जीवो और पुद्गलो की गति एव स्थिति रूप प्रयोजन में समर्थ हैं, उनके लिए धर्म और अधर्मद्रव्य की कल्पना करना अनावश्यक है ।

समाधान जीवो और पुद्गलों की गति और स्थिति के नियामक होने में धर्म और

अथ तयोरनुपलब्धे शशशृङ्गवन्न तौ धर्माधर्मौ स्त इति चे दुच्यते–तथासति–सर्वप्रतिवादिनामविप्रतिपत्ति स्यात् यत सर्वेऽपि प्रतिवादिन प्रत्यक्षाऽप्रत्यक्षपदार्थान् अभ्युपगच्छन्ति तथा–अस्मान्प्रति हेतोरसिद्धत्व भवति सर्वज्ञस्य केवलिनो निरतिशयप्रत्यक्षज्ञानचक्षुषा धर्माधर्मादीनां सर्वेषामुपलभ्यमानत्वात् तदुपदेशाच्च श्रुतज्ञानिनामपि धर्माधर्मादिप्रतिपत्तिसम्भवात् ।

उक्तञ्च व्याख्याप्रज्ञप्तौ भगवती सूत्रे १३ शतके ४ उद्देशके–"धम्मत्थिकाए णं भंते ! जीवाणं कि पवत्तइ-? गोयमा ! धम्मत्थिकाएणं जीवाणं आगमणगमणभासुम्मेसमणजोगा-वइजोगा–कायजोगा जे यावन्ने तहप्पगारा चला भावा सव्वे ते धम्मत्थिकाए पवत्तंति. गइलक्खणेणं धम्मत्थिकाए ।

अधम्मत्थिकाए णं भंते-? जीवाणं कि पवत्तइ ? गोयमा ? अहम्मत्थिकाएणं जीवाणं ठाणनिसीयणतुयट्टणमणस्स य एगत्तीभावकरणता जे यावन्ने तहप्पगारा थिरा भावा सव्वे ते अहम्मत्थिकाये पवत्तंति, ठाणलक्खणेण अहम्मत्थिकाए ।

आगासत्थिकाए णं भंते ? जीवाणं–अजीवाण य किं पवत्तइ ? गोयमा ! आगासत्थिकाएणं–जीवदव्वाण य अजीवदव्वाण य भायणभूए–"

एगेण वि से पुन्ने, दोहिवि पुन्ने सयंपि माएज्जा ।
कोडिसएण वि पुन्ने, कोडिसहस्संवि माएज्जा–॥१॥ इति

"धर्मास्तिकायाना भदन्त ! जीवानां किं प्रवर्तते ? गौतम !" धर्मास्तिकाय खलु जीवानाम् आगमन–गमन–भाषण–मनोयोगा-वचोयोगा–काययोगा, ये चाऽप्यन्ये तथाप्रकाराश्चला भावा सर्वे ते धर्मास्तिकाये प्रवर्तन्ते, गतिलक्षण खलु धर्मास्तिकाय , अधर्मास्तिकाये खलु जीवाना किं प्रवर्तते ?

अधर्म ही असाधारण कारण हैं । एक कार्य अनेक कारणो द्वारा साध्य होता है, अतएव गति और स्थिति के लिए धर्म और अधर्म द्रव्य को स्वीकार करना परमावश्यक है ।

शका धर्म और अधर्मद्रव्य का शशाक श्रृङ्ग के समान अनुपलब्ध होने से सद्भाव ही नहीं है ।

समाधान—ऐसा होता तो सभी प्रतिवादियो को विवाद ही न रहता । सभी प्रतिवादी प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष पदार्थों को स्वीकार करते है । इसके अतिरिक्त आपका हेतु हमारे लिए असिद्ध है । सर्वज्ञ केवली अपने सर्वश्रेष्ठ केवल ज्ञान रूपी नेत्रो से धर्म अधर्म आदि सभी द्रव्यों को उपलब्ध करने–जानते है । उनके उपदेश से श्रुतज्ञानी भी उन्हे जान सकते है ।

भगवतीसूत्र के १३ वे शतक, उद्देशक और में कहा है—

प्रश्न—भगवन् ! धर्मास्तिकाय से जीवो का क्या प्रवृत्त होता है ?

उत्तर—गौतम ! धर्मास्तिकाय से जीवो के आगमन, गमन, भाषण, मनोयोग, वचनयोग, काययोग, तथा इसी प्रकार के जो अन्य चलभाव है, वे सब धर्मास्तिकाय से प्रवृत्त, होते है, क्योंकि धर्मास्तिकाय गति लक्षण वाले है ।

प्रश्न—भगवन् ! अधर्मास्तिकाय से जीवो का क्या प्रवृत्त होता है ?

गौतम ! अधर्मास्तिकाये खलु जीवाना स्थाननिसदनत्वग्वर्तन मनसश्च एकत्रीभावकरणता ये चाऽप्यन्ये तथाप्रकारा स्थिरा भावा सर्व्वे तेऽधर्मास्तिकाये प्रवर्तन्ते, ।

स्थानलक्षण खलु अधर्मास्तिकाय· आकाशास्तिकाये खलु भदन्त ! जीवानामजीवानाञ्च किं प्रवर्तते ? गौतम--! आकाशास्तिकाये खलु जीवद्रव्याणाञ्च--अजीवद्रव्याणाञ्च भाजनभूते एकेनापि तस्मिन् पुनर्द्वाभ्यामपि पुन स्वयमपि मायात् कोटिशतेनापि पुन कोटिसहस्रमपि मायात् अवगाहलक्षण खलु आकाशास्तिकाय --" इति ॥१५॥

मूलसूत्रम्–"सरीरवयमणो पाणापाणाणं सुहदुहजीवियमच्चूणं च निमित्ता पोग्गला–"॥१६॥

छाया—"शरीर-वचो-मनः-प्राणा-ऽपानाना सुख–दुःख-जीवित-मृत्यूनां च निमित्तानि पुद्गला –" ॥१६॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे धर्माऽधर्माऽऽकाशानां लक्षणानि प्रतिपादितानि सम्प्रति--पुद्गलानां लक्षणमाह---**"सरीरवयमणो"** इत्यादि । औदारिक-वैक्रिया-ऽऽहारक तैजस-कार्मणरूपाणा पञ्च विधशरीराणां वाचोमनस --प्राणस्या-ऽपानस्य-सुखस्य-दु·खस्य जीवीतस्य-मृत्योश्च-उपग्राहकत्वेनोपकारकतया पुद्गला निमित्तानि भवन्ति ।

तथाच--शरीराद्युपकारकत्व पुद्गलाना लक्षणमवगन्तव्यम् ॥१६॥

उत्तर—गौतम ! अधर्मास्तिकाय से जीवो के स्थान, निषीदन, त्वग्वर्त्तन (लेटना), मन का स्थिरीकरण तथा इसी प्रकार के जो अन्य स्थिर भावहै, वे सब अधर्मास्तिकाय से प्रवृत्त होते है, क्योकि अधर्मास्तिकाय स्थिति लक्षण वाला है ।

प्रश्न—भगवन् ! आकाशास्तिकाय से जीवो और अजीवो का क्या प्रवृत्त होता है ?

उत्तर—गौतम ! आकाशास्तिकाय जीवद्रव्यो और अजीवद्रव्यो का आधार है । वह एक से भी पूर्ण हो जाता है, दो से भी पूर्ण हो जाता है, उसमें सौ भी समा जाते है, सैकडो करोड भी समा जाते हैं और हजारो करोड भी समा जाते है । आकाशास्तिकाय का लक्षण अवगाह है ॥१५॥

मूलसूत्रार्थ— "सरीरवयमणो पाणा' इत्यादि । सूत्र ॥१६॥

पुद्गल द्रव्य शरीर, वचन, मन, प्राणापान, सुख, दु ख, जीवन और मरण के कारण है ॥१६॥

तत्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्र मे धर्म, अधर्म और आकाश के लक्षणो का प्रतिपादन किया गया है, अब पुद्गलो का लक्षण कहते है—

पुद्गल, औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस और कार्मण इन पाँच शरीरो के वचन के, मन के, प्राण के, अपान के, सुख के, दु·ख के, जीवन के और मरण के उपकारक होने मे निमित्त होते है । अतएव शरीर आदि रूप उपकार करना पुद्गलो का लक्षण समझना चाहिए ॥१६॥

तत्वार्थनिर्युक्तिः— विशरणशीलाना मौदारिकादि पञ्चप्रकारकशरीराणाम् वाङ्-मन -प्राणाऽ-पानानाम् सुख-दु:खजीवित-मृत्यूनाञ्चोपग्राहकतयोपकारकत्वेन परमाण्वादिमहास्कन्धपर्यन्ता पुद्गला हेतवो भवन्ति। तथाचौदारिकादीनि पञ्चविधशरीराणि प्रतिवाङ्मन प्राणापानान् प्रति सुख-दु ख-जीवीतमृत्यून् प्रति च पुद्गलानामुपकारो वोध्य ।

औदारिकशरीरादीनामुपकारका पुद्गला भवन्तीति भाव । तथाहि—औदारिकादीनि शरी-राणि पौद्गलिकानि भवन्ति अतस्तानि प्रतिपुद्गलाना मुपकारकत्वाद् हेतुत्वमवसेयम्। एवं वागपि पौद्गलिकी भवति सा च भाषापर्याप्तिभाजा प्राणिना वीर्यान्तरायज्ञानावरणक्षयोपशमाऽङ्गोपाङ्ग नामनिमित्ता रणनस्वभावा भवति, अर्थात्—भाषायोग्यान् पुद्गलस्कन्धान् कायव्यापारेणोपादाय वीर्यवान् जीवो भाषात्वेन परिणमय्य वाक्पर्याप्तिकरणेन स्वपरोपकारस्य निसृजति । तथाच—वाच पौद्गलिकतया मूर्त्तत्वे सत्यपि न चक्षुर्ग्राह्यत्व भवति जलमध्यप्रकीर्णलवणशर्करावत, नहिहि—सकलमेव रूपादिमद् वस्तु चक्षु रादिग्राह्यं भवत्येवेति नियमोऽस्ति पुद्गलाना परमाण्वादिविचि-त्रपरिमाणावेशात् अतो न वाक्—अमूर्त्ता भवति, पूर्ववायुवेगाऽभ्याहत पश्चिमदिग्भागावस्थितश्र-वणपरिणतोपलभ्यत्वात्— प्रतिघाताभिभवसद्भावाच्च ।

तत्वार्थनिर्युक्ति -विनाशशील औदारिक आदि पाँच प्रकार के शरीरो के वचन, मन, प्राण, अपान, सुख, दु ख, जीवन और मरण के उपग्राहक होने के कारण परमाणु से लेकर महा-स्कध पर्यन्त पुद्गल उपकारक होते हैं। इस प्रकार औदारिक आदि पाँच शरीरो के प्रति, मन वचन और प्राणापान के प्रति तथा सुख, दु ख, जीवन और मरण के प्रति पुद्गलो का उपकार समझना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि पुद्गल शरीर आदि के कारण होते है। औदारिक आदि पाँचो शरीर पुद्गल के बने होते है, अत पुद्गल उपकारक होने से उनका कारण है। इसी प्रकार वचन भी पौद्गलिक हैं। वह भाषापर्याप्ति वाले प्राणियो में पाये जाते है। वीर्यान्तराय एव ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से तथा अगोपांगनामक नामकर्म के निमित्त से उत्पन्न होते है और गूंजना—ध्वनित होना उनका स्वभाव है। तात्पर्य यह है कि भाषापर्याप्ति से पर्याप्त वीर्यवान् जीव भाषा के योग्य पुद्गल स्कधों को कायिक व्यापार से ग्रहण करके और भाषा के रूप में परिणत करके वचनयोग्य के द्वारा स्व पर के उपकार के लिए निकालता है। वचन पौद्गलिक होने के कारण यद्यपि अमूर्त्त है, फिर भी जलमें घुले हुए नमक या शक्कर के समान नेत्रग्राह्य नहीं होते। ऐसा कोई नियम नहीं है कि प्रत्येक रूपी वस्तु नेत्रग्राह्य होनी ही चाहिए। पुद्गलद्रव्य परमाणु आदि अनेक पर्यायों को धारण करता है। अत वचन अमूर्त्त नहीं है, क्योंकि वह पूर्वीय वायुवेग से प्रेरित हो कर पश्चिम दिशा में स्थित श्रोता को सुनाई देती है। इसके अतिरिक्त उसका प्रतिघात भी होता है और अभिभव भी होता है।

मनश्चापि पौद्गलिकं भवति अनन्त पुद्गलस्कन्धमनोद्रव्यप्रायोग्योपचित्तमूर्तिमत्वात्, तच्चाऽपि पौद्गलिकं मनः पर्याप्तिभाजां पञ्चेन्द्रियाणामेव भवति । छद्मस्थाना श्रुत–ज्ञानावरणक्षयोपशमजननाय करण तदवष्टम्भजनितञ्च गुणदोषादिविचारणात्मक सम्प्रधारण सञ्ज्ञाज्ञानं धारणाज्ञानञ्च यद् भवति तद्–भावमनोऽवगन्तव्यम् ।

उक्तञ्च—"चित्तं चेतो योगोऽध्यवसानं चेतनापरिणामः ।
भावो मन इति चैते ह्युपयोगार्था जगति शब्दाः ॥१॥

इति, प्रकृते तु–तथाविधभावमनोनिमित्तस्य पौद्गलिकस्य सर्वात्मप्रदेशवर्त्तिनो मनसोऽधिकार' प्रत्येतव्यः ।

एवम्–उच्छ्वासलक्षण कोष्ठ्यो वायु. प्राण पौद्गलिको व्यपदिश्यते पुद्गलानां प्राणतया परिणमनात् । एवं बाह्यो वायुरभ्यन्तरीक्रियमाणोऽपानसञ्ज्ञक पौद्गलिक उच्यते. तेषामेव पुद्गलानामपानतया परिणमनात् एतावपि–आत्मनोऽनुग्राहकौ भवत । एतयोश्च–प्राणापानयो पौद्गलिकयोरूपिद्रव्यपरिणामात् द्वारानुसारित्वाच्च मूर्तत्वमवगन्तव्यम् ।

एवञ्च–द्वि–त्रि- चतु'पञ्चेन्द्रिया पर्याप्तरसनेन्द्रियसम्बन्धा । भाषापरिणामयोग्यान् अनन्तप्रदेशान् पुद्गलस्कन्धान् काययोगेनोपाददते भाषापर्याप्तिकरणेन निसृजति । तथाच–यत्रैव रसनेन्द्रिययोगस्तत्रैव भाषापर्याप्ति र्भवति, रसनाश्रयत्वात्। तस्मात्-पृथिव्यादयो वनस्पतिपर्यन्ता एकेन्द्रिया भाषात्वेन न पुद्गलान् गृह्णन्ति, तेषां रसनेन्द्रिययोगाभावात्–जिह्वारहितत्वान भाषाया अभावो बोध्य ।

द्रव्यमन भी पौद्लिक है, वह अनन्तपुद्गलस्कधो से, जो मनोवर्गणा के पुद्गल कहलाते है, अत' मूर्त्तिमान् है । मन पर्याप्त पचेन्द्रिय जीवो के ही होता है । छद्मस्थ जीवो को श्रुतज्ञानावरण का क्षयोपशम उत्पन्न करने में कारण भूत, उसकी सहायता से उत्पन्न होने वाला, गुणदोष की विचारणास्वरूप, सम्प्रधारणसञ्ज्ञा एव धारणाज्ञान जिससे होता है, वह भावमन कहलाता है । कहा भी है -'चित्त, चेतन, योग, अध्यवसान, चेतनापरिणाम और भावमन ये सब उपयोग वाचक शब्द है । मगर प्रकृत में इस भावमन के कारण, पौद्गलिक, समस्त आत्मप्रदेशो मे रहे हुए द्रव्यमन को ही ग्रहण करना चाहिए ।

इसी प्रकार उच्छ्वास रूप कोष्ठवायु जो प्राण है, उसे भी पौद्गलिक, समझना चाहिए । क्योंकि पुद्गल ही प्राण रूपमे परिणत होते है । बाहरी वायुको भीतर ले जाना अपान कहलाता है । वह भी पौद्गलिक है, क्योकि पुदगल ही अपान के रूप मे परिणत होते है । यह प्राण और अपान भी आत्मा के अनुग्राहक होते है । यह दोनो रूपी द्रव्य के परिणाम हैं और द्वारोका अनुसरण करते है, अर्थात् नासिका के छिद्रो से घुसते–निकलते है, अत. इन्हे भी मूर्त्त समझना चाहिए । इस प्रकार द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय औरपंचेन्द्रिय पर्याप्त जीव रसनेन्द्रिय के सयोग से भाषा परिणाम के योग्य अनन्तप्रदेशी स्कधों को काययोग से ग्रहण करते है और भाषापर्याप्ति करण के द्वारा त्यागता है । जहाँ रसनेन्द्रिय होती है, वहीं भाषापर्याप्ति

द्वीन्द्रियादयस्तु–रसनेन्द्रिययुक्ता सन्त स्वभापात्वेन तान् पुद्गलान् परिणमय्याऽऽर्य–म्लेच्छादिभाषावत् प्रतिनियता एव भाषा व्यवहरन्ति। गुणदोषविचारणात्मक सम्प्रधारणसज्ञायोगात् सज्ञिनः प्राणिन एव मन·परिणामेन मनोवर्गणा योग्यान् अनन्तान् पुद्गलस्कन्धान् मन्तुकाम सन्तः सर्वाङ्गीणान् तान् गृह्णन्ति ततश्च–तद्बलेन पुनर्गुणदोषविचारणाभावेन परिणमन्ते।

ये पुनरेकेन्द्रियादयोऽसज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्यन्तास्तथाविधसज्ञायुक्ता न भवति, ते नैव मन्यन्ते, मन·पर्याप्तिकारणाऽभावात्। यत्–पुनस्तेषा द्वीन्द्रियाऽसज्ञिप्रभृतीना स्वनीडाभिसर्पण भवति, कृमि–पिपीलिकादीनां तण्डुलकण–श्यामाकबीजादिसग्रहण मनोव्यापार विनैव तदवग्रहपाटवाद-वसेयम्। तादृशी च लब्धिरेव सा, न तु–ईहादिज्ञानभेदविचारयोग्यो द्वीन्द्रियादि।

अथ कथं तावद् जीव औदारिकादियोग्यान् पुद्गलान् उपाददते? कथं वा ते–उपादीयमाना· पुद्गला सहता एव तिष्ठन्ति परस्पर न विशीर्यन्ते? इति चेदुच्यते

क्रोधादिकषाययुक्तत्वात् जीवो ज्ञानावरणादिकर्मयोग्यान् सर्वात्मप्रदेशैर्नोकर्मयोग्यांश्च पुद्गलानुपादत्ते उपादीयमानाश्च ते बन्धकारणात्सहता एव तिष्ठन्ति–न विशीर्यन्ते इति। तथाचोक्तम्—

होती है, क्योंकि वह रसनेन्द्रिय के आश्रित है। इसी कारण पृथ्वीकाय से लेकर वनस्पतिकाय तक के एकेन्द्रिय जीव भाषावर्गणा के पुद्गलो को ग्रहण ही नहीं करते है। इस प्रकार जिह्वा का अभाव होने से उनमे भाषा का भी अभाव है।

द्वीन्द्रिय आदि जीव रसनेन्द्रिय से युक्त होकर भाषापुद्गलो को अपनी भाषा के रूप में परिणत करके आर्य म्लेच्छ आदि भाषाओ के समान नियत–नियत भाषाओ का ही व्यवहार करते है।

गुण–दोष की विचारणा रूप सम्प्रधारणसज्ञा के योग से सज्ञी प्राणी ही मनोयोग्य मनोवर्गणा के पुद्गलो को सर्वांग से ग्रहण करता है और उन्हे मन के रूप मे परिणत करके उनसे गुण–दोष की विचारणा करता है।

एकेन्द्रिय से लेकर असज्ञी पचेन्द्रिय तक के जीव उस सप्रधारण सज्ञा से युक्त नहीं होते। मन प्रर्याप्ति का अभाव होने से उनमें मनन करने का सामर्थ्य नहीं होता। जो असज्ञी द्वीन्द्रिय प्राणी अपने बिल की ओर जाते–रेगते देखे जाते है या कृमि, पिपीलिका (चिउटी) आदि तन्दुल के कणो का अथवा श्यामाक के बीजो का सग्रह करते है, वे मन के बिना ही अवग्रह की पटुता के कारण ऐसा करते है। उनमें ऐसी ही लब्धि होती है, वे गुण–दोष की विशिष्ट विचारणा नहीं कर सकते।

शका—जीव औदारिक आदि शरीरो के योग्य पुद्गलो को किसी प्रकार ग्रहण करता है? और ग्रहण किये हुए वे पुद्गल मिले हुए ही कैसे रहते है? बिखर क्यो नहीं जाते?

समाधान—जीव क्रोधादि कषाय से युक्त होकर ज्ञानावरण आदि कर्मों और नो

"उष्मगुणः सन् दीपः स्नेहं वर्त्या यथा समादत्ते. ।
आदाय शरीरतया परिणमयति चापि तं स्नेहम्. ॥१॥
"तद्वद्रागादिगुणः स्वयोगवर्त्यात्मदीप आदत्ते. ।
स्कन्धानादाय तथा परिणमयति तांश्च कर्मतया. ॥२॥ इति ।

तस्मात्—जीवानामौदारिकादिशरीराद्याकारेणोपकारिण पुद्गला एव भवन्ति न तु—प्रधानरूपप्रकृतिविज्ञानस्वभावपरमेश्वरनियतिरूपाऽदृष्टपुरुषकालादय' शरीराद्याकारपरिणामभाजो भवन्ति, युक्तिशून्यत्वात्, इत्येव तावत्—जीवाना पुद्गलकृत--औदारिकादिशरीराद्युपकारक प्रतिपादित, ।

सम्प्रति—प्रकारान्तरेणाऽपि निमित्तमात्रतया पुद्गलानां जीवोपकारकत्वमुच्यते । जीवानां सुखदु'खजीवितमरणोपग्रहे च पुद्गला हेतवो भवन्ति । तथाच—सातवेदनीयाऽसातवेदनीयोदयादौ पुद्गलानामपेक्षाकारकत्वमवगन्तव्यमिति पर्यवसितम् ।

एवञ्च इष्टा' स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दरूपा पुद्गला निमित्ततया सुखोपकारका भवन्ति । अनिष्टा' पुनस्ते—दु खजनका , स्थानाच्छादना-ऽनुलेपनभोजनादय पुद्गला जीवितस्य—उपकारका, आयुष्कस्य चाऽनपवर्तनका भवन्ति, विषशस्त्राग्न्यादयश्च पुद्गला मरणकारका भवन्ति अयुष्कस्य चा-ऽनपवर्तनकारिणो बोध्या तथाच—औदारिकादिशरीराद्याकारेण परिणता सन्त' पुद्गला साक्षादेवा-ऽऽत्मन उपकार कुर्वन्ति ।

कर्म के योग्य पुद्गलो को समस्त आत्मप्रदेशो से ग्रहण करता है, ग्रहण किये वे पुद्गल बन्ध के कारणसहत (मिले हुए) ही रहते है बिखरते नहीं है । कहा भी है—

'उष्णता गुण वाला दीपक बत्ती के द्वारा स्नेह (तेल) को ग्रहण करता है उसी प्रकार रागादि की उष्णता से युक्त होकर योग रूपी बत्ती के द्वारा आत्मा रूपी दीपक कर्म स्कध रूपी तेज को ग्रहण करके उन्हे कर्म रूप में परिणत करता है । '

इस प्रकार पुद्गल ही औदारिक आदि शरीरो के रूप में जीवो के उपकारक होते है, प्रकृत, विज्ञान, स्वभाव, परमेश्वर, नियति, अदृष्ट, हठपुरुष अथवा काल आदि नहीं । वे शरीर आदि के रूप मे परिणत नहीं होते । उनको स्वीकार करने में कोई युक्ति नहीं है । इस प्रकार जीवो के प्रति पुद्गलो का उपकार प्रतिपादन किया गया ।

अब दूसरे प्रकार से यह दिखलाते है कि निमित्त बन कर पुद्गल किस प्रकार जीवो का उपकार करते है ? जीवो से सुख. दु ख, जीवन और मरण रूप उपग्रह मे भी पुद्गल कारण होते है । साता और असातावेदनीय कर्म के उदय मे पुद्गल निमित्त कारण होते हैं ।

इसी प्रकार इष्ट स्पर्श, रस, गध वर्ण और शब्द रूप पुद्गल सुख के निमित्त कारण होते है और अनिष्ट स्पर्श आदि दु ख के कारण होते है । स्थान' आच्छादन, लेपन, भोजन आदि सबधी पुद्गल जीवन के उपकारक है और आयु के अनपवर्त्तक होते है, इनसे विपरीत विप' शस्त्र, अग्नि आदि के पुद्गल मरण के कारण बन जाते है—आयु का अपव-

सुखदु खाद्याकारेण परिणममानस्यात्मनस्तु—निमित्ततया पुद्गला उपकारका भवन्ति । तत्र-वाह्यद्रव्यसम्बन्धापेक्षसद्वेद्योदयेन ससारिणो जीवस्य—इष्टवनिता-पुत्र-स्रक्-चन्दनान्नपानादिपुद्गलद्रव्योपजनित प्रसादपरिणामात्मक सुखम्. पुद्गलाना निमित्ततया-ऽऽत्मन परिणतावुपकाररूप भवति ।

"एवमसद्वेद्योदयात् वाह्यपुद्गलरूपाऽनिष्टद्रव्यापेक्षः संक्लेशरूपः आत्मपरिणामो दुःखम् । तत्रापि तेपा पुद्गलाना निमित्ततयोपकारकत्वमेवोपकाररूप वोध्यम् । भवस्थितिकारणायुर्द्रव्यसम्बन्धभाज पुरुषस्य प्राणापानलक्षणक्रियाविशेषाऽप्रशमन जीवितम्. तथाविधस्य पुरुषस्य प्राणापानलक्षणाशेषक्रियोपरमण मरणमुच्यते ।

अथ मरण तावद् आत्मन प्रतिकूलतया कथमनुग्राहक भविष्यति-' इतिचेदुच्यते—पण्डितमरणस्य सद्गतिप्रापकत्वेन तस्य मरणप्रियत्वात् तथा—निर्विण्णस्य पुरुषस्य मरणप्रियत्वात् विषाग्निद्रव्यसम्बन्धे सति आयुषो योगपद्येनोपभोगोदयात्कण्टकादिवेदनावत् । एवञ्च स्वचेतो विकल्पापेक्षमेव स्पर्शरसगन्धरूपशब्दादीनामिष्टत्वमनिष्टत्वञ्च भवति ।

तथाचोक्तम्—तावानेवार्थान् द्विषत स्तानेवार्थान् प्रलीयमानस्य ।
निश्चयतोऽस्यानिष्टं न विद्यते किञ्चिदिष्टं वा ॥ १ ॥ इति ।

र्तन करने वाले होते है । औदारिक शरीर आदि के रूप मे परिणत हुए पुद्गल आत्मा का साक्षात् उपकार करते है ।

सुख—दु ख पर्याय मे आत्मा स्वय परिणत होता है, पुद्गल उसमें निमित्त हो जाते है । बाह्य द्रव्यो के सबंध रूप निमित्त से सातावेदनीय का उदय होने पर ससारी जीव को इष्ट स्त्री, पुत्र, माला, चन्दन, अन्न—पान आदि पुद्गलो से प्रसाद परिणाम रूप सुख की उत्पत्ति होती है । इस प्रकार आत्मा की परिणति में पुद्गल निमित्त बनकर उपकार करते है ।

अशातावेदनीय कर्म के उदय अनिष्ट बाह्य पुद्गलो के कारण आत्मा में सक्लेश रूप परिणति होना दु ख कहलाता है । इसमे भी पुदगल निमित्त होते है ।

भवस्थिति के कारणभूत आयु कर्म के सबध वाले पुरुष की श्वासोच्छ्वास क्रिया का पूरी तरह बद हो जाना मरण कहलाता है ।

शका—मरण आत्मा के लिए प्रतिकूल है, अत उसे अनुग्राहक—उपकारक कैसे कह सकते हैं ?

समाधान—पण्डितमरण सद्गति को प्राप्त कराने वाला है, अत वह मरण प्रिय होता है . इसी प्रकार विरक्त पुरुष को भी मरण प्रिय होता है स्पर्श, रस, गध- वर्ण और शब्द का इष्ट या अनिष्ट होना जीव की अपनी चित्तवृत्ति पर निर्भर करता है । कहा भी है—निश्चय नय से अर्थात् वास्तविक रूप से न कोई पदार्थ इष्ट होता है, न अनिष्ट, मगर जिस पदार्थ पर द्वेष उत्पन्न होता है वहीं अनिष्ट बन जाता है और जिस पर रागवृत्ति उत्पन्न होती है, वह इष्ट प्रतीत होने लगता है ।

अथ सोपक्रमायुषामनशनव्याधिप्रभृतिबाधाभिरूपक्षीणायुषाम्—अपवर्तनीयायुषाञ्च भृगुपतनोद्बन्धनादिभिरपवर्तनायुषा जीवाना पुद्‌गला उपकारका भवन्तु तावत् किन्तु—अपवर्तनीयाऽऽयुषामौपपातिकचरमशरीरोत्तमपुरुषाऽसख्येयवर्षायुषा कथ मरणोपकारका पुद्‌गला स्युरिति चेत्-? शृणु.

तेषामपि-अपवर्तनीयायुषा जीवितोपग्रहोमरणोपग्रहश्च पुद्‌गलाधीन एव । न चा-ऽनपवर्तनीयायुषा जीवानामायुषोवर्धयितु-ह्रासयितुञ्चाऽशक्यत्वात् कथं पुद्‌गलकृतस्तेषां जीवितमरणोपग्रह इति वाच्यम्, पौद्‌गलिकस्यायु' कर्मण' स्थितिक्षयाभ्यामेव जीवितमरणयो सम्भवात् ।

तथाचा—ऽनपवर्तनीयायुषामपि नायु'कर्मविना जीवित भवति, न चायु' कर्मक्षयमन्तरा मरणं सम्भवति इति-अनपवर्तनीयायुषामपि जीवितमरणे पुद्‌गलाधीने एवेति भाव' उक्तञ्च व्याख्याप्रज्ञप्तौ १३ शतके ४ उद्देशके—

"पोग्गलत्थिकाए णं पुच्छा-? गोयमा ! पोग्गलत्थिकाए णं जीवाणं ओरालियवेउव्वियआहारयतेयाकम्मय सोइंदियचक्खिंदियघाणिंदियजिब्भिंदिय फासिंदियमणजोगवयजोगकायजोग आणापाणूण च गहणं पवत्तइ' गहणलक्खणेणं पोग्गलत्थिकाए—"

इति । पुद्‌गलास्तिकाये खलु पृच्छा ? गौतम ! पुद्‌गलास्तिकाय' खलु जीवानाम् औदारिक

शंका—जो जीव सोपक्रम आयु वाले है, अनशन या रोग आदि के कारण जिनकी आयु क्षीण हो जाती है, जिनकी आयु अपवर्त्तनीय है, ऐसे जीवों के लिए पुद्‌गल उपग्रहकारक भले हो किन्तु अनपवर्त्तनीय आयु वाले औपपातिक अर्थात् देवो और नारको, चरमशरीर धारियो, उत्तम पुरुषो तथा असंख्यात वर्ष की आयु वालो के लिए पुद्‌गल मरणोपकारक कैसे हो सकते है ?

समाधान—सुनिए, चाहे कोई अपवर्त्तनीय आयु वाला हो, चाहे अनपवर्त्तनीय वाला, सब का जीवन और मरण पुद्‌गलो के ही अधीन है । अनपवर्त्तनीय आयु वाले जीवों की आयु को न कोई बढा सकता है और न घटा सकता है, ऐसी स्थिति में उनके जीवन और मरण को पुद्‌गल कृत उपग्रह कैसे कहा जा सकता है ? इसका उत्तर यह है कि पौद्‌गलिक आयु कर्म जब तक बना रहता है तब तक जीवन रहता है और जब उसका क्षय हो जाता है तो मरण होता है । इस प्रकार सभी जीवो का जीवन-मरण पुद्‌गलो के अधीन है ।

अनपवर्त्तनीय आयु वालो का जीवन भी आयु कर्म के बिना मरण नहीं टिक सकता और आयु कर्म के क्षय के विना मरण नहीं हो सकता । इस कारण अनपवर्त्तनीय आयु वालो का जीवन-मरण भी पुद्‌गल के अधीन है । भगवतीसूत्र के शतक १३ उद्देशक ४ में कहा है—

प्रश्न—पुद्‌गलास्तिकाय के विषय मे पृच्छा ?

उत्तर—गौतम ! पुद्‌गलास्तिकाय के निमित्त से जीवों के औदारिक, वैक्रिय, आहा-

वैक्रिया-ऽऽहारक-तैजस-कार्मण-श्रोत्रेन्द्रिय-चक्षुरिन्द्रिय-घ्राणेन्द्रिय-जिह्वेन्द्रियस्पर्शनेन्द्रिय मनोयोग-वचोयोगा-काययोगा-ऽऽनप्राणञ्च ग्रहणलक्षण पुद्गलास्तिकाय इति ॥ १६ ॥

मूलसूत्रम्—"परोप्परनिमित्ता जीवा" ॥१७॥

छाया—परस्परनिमित्तानि जीवाः"

तत्त्वार्थदीपिका—जीवास्तावत्—परस्परस्योपकारे निमित्तानि भवन्ति । तद्यथा —राजभृत्ययो', आचार्यशिष्ययोरित्येवमादिभावेन परस्परोपकारोऽवगन्तव्य । तत्र राजा तावत् धनदानादीना भृत्यानामुपकारको भवति. भृत्यश्च—हितसाधननाऽहितप्रतिषेधेन च राज्ञ उपकारको भवति । आचार्यः उभयलोकफलप्रदोपदेशदानेन तदुपदेशविहितक्रियाऽनुष्ठापनेन च शिष्यस्योपकारको भवति,

शिष्यश्च—तदानुकूल्यविधानेनाऽऽचार्यस्योपकारको भवति । एवं सुखदु'खजीवितमरणान्यपि जीवानां जीवकृत उपकारो भवति, । तथाहि—यो जीवो यस्य जीवस्य सुख विदधाति स जीवस्त जीवमनेकवार सुखयति, यो जीवो य दु खयति स तमपि बहुवार दु'खयति, यो य जीवयति स त बहुवार जीवयति । एव यो मारयति स तमपि बहुवार मारयति । तथा चोक्तम्—

"मारि वि चूरिवि जीवडा जं तु हु दुक्खुकरीसि ।
पुत्तकलत्तहकारणे तं तुह एक्कु सहीसि ॥१॥ इति १७॥

रक, तैजस, कार्मण शरीर श्रोतेन्द्रिय चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, जिह्वेन्द्रिय, स्पर्शेन्द्रिय, मनोयोग, वचनयोग, काययोग तथा श्वासोच्छ्वास का ग्रहण प्रवृत होता है । पुद्गलास्तिकाय ग्रहण लक्षण वाला है ॥ १६ ॥

मूलसूत्रार्थ—'परोप्परनिमित्ता जीवा' सूत्र १७

जीव परस्पर में निमित्त होते है ॥ १७ ॥

तत्त्वार्थदीपिका—जीव परस्पर एक दूसरे के उपकारक होते है । राजा और सेवक, आचार्य और शिष्य जैसे एक दूसरे के उपकारक है उसी प्रकार-और जीवो का भी पारस्परिक उपकार समझना चाहिए । राजा धन आदि को देकर भृत्यो का उपकार करता है, सेवक हितसाधन करके और अहित को रोक करके राजा का उपकार करता है । आचार्य इह—परलोक मे उत्तम फल देने वाला उपदेश के अनुसार क्रिया करवा कर शिष्य का उपकार करता है । शिष्य आचार्य के लिए अनुकूल कार्य करके आचार्य का उपकारक होता है ।

इस प्रकार जीवो का सुख, दु'ख, जीवन और-मरण भी जीवकृत उपकार है । जो जीव जिस जीव को सुख पहुँचाता है, वह उसे अनेक बार सुखी बनाता है । इसके विपरीत जो जीव जिसे दुख देता है, वह बदले में उसे बारंबार दुखी बनाता है । जो जिस का घात करता है, उसे उसके द्वारा बहुत बार मरना पडता है । कहा भी है—

अरे जोव ! तू अपने पुत्र—कलत्र आदि परिवार के लिए जीवो का जो घात करेगा,

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पूर्वं धर्माधर्माकाशपुद्गलानामुपकारकतया लक्षण प्रतिपादितम्, तत्र जीवानां सर्वे धर्माधर्मादय उपकारका भवन्ति । एव–धर्माधर्माकाशा' पुद्गलद्रव्याणामुपकारका, आकाश धर्माधर्मपुद्गलानामुपकारकम् इत्यादिरीत्या प्ररूपितम्

सम्प्रति—जीवा केषामुपकारका भवन्ति इति प्ररूपयितुमाह—**"परोप्परनिमित्ता जीवा"** इति । जीवा परस्परस्या–ऽन्योन्यस्योपकारकरणे निमित्तानि हेतवो भवन्ति । तथाच जीवाना परस्परस्य हिताऽहितोपदेशप्रतिषेधाभ्यामुपकारकत्वमवगन्तव्यम् एवञ्च—आपत्या–वर्त्तमानकाले वा यद्–हितं योग्य क्षम न्याय्यं वा भवेत् तत्प्रतिपादनेन हितविपरीतस्या–ऽहितस्य प्रतिपेधेन चोपकारको भवति परस्परम्, एकेन जीवेन द्वितीयस्य जीवस्य तेन तृतीयस्य जीवस्य तेन च चतुर्थस्येत्येव परम्परया वा–उपकारको भवति,

यथाच—धर्माधर्माकाशकालपुद्गलानां स्वभावेनैवोपकारकता वर्तते न तथा जीवानामुप कारकता स्वभावेनैव, अपितु — अनुग्रहबुद्ध्यैवोपकारकत्व तेषामवगन्तव्यम् । तथाच—परस्पर-हिताहितोपदेशकरणेन जीवाजीवान्तरमनुगृह्णन्ति, नत्वेव पुद्गलादयो भवन्ति ।

यद्वा—जन्तो सुखादीना साधक एकैकोऽपि पुद्गलादि सम्भवति, सर्वदैव द्विप्रभृतीनां समुपकारको भवति । नैककानाम् । तथाच–पूर्वं गौणउपकार' पुद्गलादीनां प्रतिपादित, अत्रतु

उन्हे चूर–चूर करगा, दु ख उपजाएगा, स्मरण रखना कि तुझ अकेले को ही उसका फल भोगना पडेगा ।।१७।।

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पहले धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल द्रव्य का उपकारक रूप में लक्षण कहा गया है । जीवो के लिए धर्म, अधर्म आदि सभी उपकारक होते है, धर्म अधर्म और आकाश पुद्गलो के उपकारक होते है, आकाश धर्म अधर्म और पुद्गलो का उपकारक है इत्यादि रूप से कथन किया गया है । अब जीव किसके उपकारक होते है, यह बतलाने के लिए कहते है–जीव परस्पर एक दूसरे का उपकार करने में निमित्त होते है ।

एक जीव दूसरे जीव को हित का उपदेश देकर तथा अहित से रोक कर उपकार करता है । इसी प्रकार भविष्यत् काल में अथवा वर्त्तमान काल में जो हित है, योग्य क्षेम या न्याय्य है, उसका प्रतिपादन करके तथा हित के विपरीत अहित का प्रतिषेध करके परस्पर उपकारक होते है । एक जीव दूसरे का, दूसरा तीसरे का और तीसरा चौथे का उपकार करता है और इस प्रकार उपकार की परम्परा चालू रहती है ।

जैसे धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल द्रव्य मे स्वभाव से ही उपकारकता है, वैसी जीवो मे स्वभाव से उपकारकता नहीं है । जीवो की उपकारकता तो अनुग्रह बुद्धि से ही समझनी चाहिए । इस प्रकार परस्पर हिताहित का उपदेश करके जीव दूसरे जीव का अनुग्रह करते है पुद्गल आदि ऐसा नहीं कर सकते ।

अथवा जीव के सुख आदि का साधक एक–एक पुद्गल आदि हो सकता है । सदैव आदि का उपकारक होता है, एक–एक का नहीं । इस प्रकार पहले पुद्गल आदि

मुख्यउपकारो जीवकर्तृक प्रतिपत्तव्य । जीवा यथा —भूयस्त्वेनोपदेशद्वारा जीवानामुपकारका भवन्ति । न तथा—धनादिभिर्जीवानुपकुर्वन्ति ।

अथ जीवानामुपयोगलक्षणत्वस्य पूर्वं प्रतिपादितत्वेन पुनरत्र लक्षणान्तरकरण व्यर्थमिति चेन्मैवम् जीवानामुपयोगस्याऽन्तरङ्गलक्षणतया तथा परस्परोपकारकत्वस्य बहिरङ्गलक्षणत्वेन प्रतिपादितत्वात् । एव तर्हि धर्मादीनामपि लक्षणान्तरं कथ न कृतम् इतिचेन्न । धर्माधर्माकाशानान्तु–गतिस्थित्यवगाहानामेव स्वाभाविकानामसाधारणलक्षणत्वात् । उक्तञ्च—व्याख्याप्रज्ञप्तौ भगवतीसूत्रे-१३ शतके ४ उद्देशके

जीवत्थिकाए णं भंते ! जीवाणं किं पवत्तइ ! गोयमा–? जीवत्थिकाए णं जीवे अणंताणं आभिणिबोहियनाणपज्जवाणं, अणताणं सुयनाणपज्जवाणं, एवं जहा–बितियसए अत्थिकायउद्देसए जाव उवओगं गच्छइ, उवओगलक्खणे जीवे" इति ।

जीवास्तिकायेन भदन्त ! जीवाना किं प्रवर्तते ! गौतम ! जीवास्तिकायेन जीवोऽनन्तानाम् आभिनिबोधिकज्ञानपर्यवाणाम्, अनन्तानाम् श्रुतज्ञानपर्यवानाम् एव यथा–द्वितीयशते अस्तिकायउद्देशके यावदुपयोगं गच्छन्ति, उपयोगलक्षण खलु जीव इति ।

"तत्रैव च भगवतीसूत्रे२शतके१०उद्देशके उक्तम्–"**जीवे णं अणंताणं आभिणिबोहियनाणपज्जवाणं एवं सुयनाणपज्जवाणं केवलनाणपज्जवाणं मइ अन्नाणपज्जवाण**

का गौण उपकार प्रतिपादन किया गया है, यहाँ जीव के द्वारा होने वाला मुख्य उपकार समझना चाहिए। जीव जितना अधिक उपदेश द्वारा जीवो के उपकारक होते है, उतना धन आदि के द्वारा उपकार नहीं करते।

शंका– पहले जीव का लक्षण उपयोग बतलाया जा चुका है, फिर यहाँ उसका दूसरा लक्षण बतलाना वृथा है।

समाधान—उपयोग जीव का अन्तरग लक्षण है। यहाँ जो परस्पर उपकार करना लक्षण कहा है, वह उनका बहिरंग लक्षण है।

शंका —ऐसा है तो धर्म आदि का भी दूसरा लक्षण क्यो नहीं बतलाया ?

समाधान—धर्म, अधर्म और आकाश का स्वाभाविक गति स्थिति, और अवगाह ही असाधारण लक्षण है। भगवती सूत्र (व्याख्याप्रज्ञति सूत्र) शतक १३ उद्देशक ४ के ४८ वे सूत्र में कहा है—

प्रश्न—भगवन् ! जीवास्तिकाय से जीवो को क्या होता है ?

उत्तर—गौतम ! जीवास्तिकाय से जीव अनन्त आभिनिबोधिकज्ञान की पर्यायो को, अनन्त श्रुतज्ञान की पर्यायो को प्रवृत्त करता है, इत्यादि जैसा द्वितीय शतक के अस्तिकाय उद्देशक मे कहा है, वही यहाँ समझ लेना चाहिए। जीव उपयोग लक्षण वाला है।

उसी भगवती सूत्र के द्वितीय शतक के दशम उद्देशक में कहा है—

मुख्यउपकारो जीवकर्तृक प्रतिपत्तव्य। जीवा यथा —भूयस्त्वेनोपदेशद्वारा जीवानामुपकारका भवन्ति। न तथा——धनादिभिर्जीवानुपकुर्वन्ति।

अथ जीवानामुपयोगलक्षणत्वस्य पूर्वं प्रतिपादितत्वेन पुनरत्र लक्षणान्तरकरणं व्यर्थमिति चेन्मैवम् जीवानामुपयोगस्याऽन्तरङ्गलक्षणतया तेषां परस्परोपकारकत्वस्य बहिरङ्गलक्षणत्वेन प्रतिपादितत्वात्। एवं तर्हि धर्मादीनामपि लक्षणान्तरं कथं न कृतम् इतिचेन्न। धर्माधर्माकाशानान्तु—गतिस्थित्यवगाहानामेव स्वाभाविकानामसाधारणलक्षणत्वात्। उक्तञ्च —व्याख्याप्रज्ञप्तौ भगवतीसूत्रे-१३ शतके ४ उद्देशके

जीवत्थिकाए णं भंते ! जीवाणं किं पवत्तइ ! गोयमा—? जीवत्थिकाए णं जीवे अणंताणं आभिणिवोहियनाणपज्जवाणं, अणताणं सुयनाणपज्जवाणं, एवं जहा—बितियसए अत्थिकायउद्देसए जाव उवओगं गच्छइ, उवओगलक्खणे जीवे" इति।

जीवास्तिकायेन भदन्त! जीवाना किं प्रवर्तते! गौतम! जीवास्तिकायेन जीवोऽनन्तानाम् आभिनिबोधिकज्ञानपर्यवाणाम्, अनन्तानाम् श्रुतज्ञानपर्यवानाम्, एव यथा—द्वितीयशते अस्तिकायउद्देशके यावदुपयोग गच्छन्ति, उपयोगलक्षण खलु जीव इति।

"तत्रैव च भगवतीसूत्रे२शतके१०उद्देशके उक्तम्—"**जीवे णं अणंताणं आभिणिबोहियनाणपज्जवाणं एवं सुयनाणपज्जवाणं केवलनाणपज्जवाणं मइ अन्नाणपज्जवाण**

का गौण उपकार प्रतिपादन किया गया है, यहाँ जीव के द्वारा होने वाला मुख्य उपकार समझना चाहिए। जीव जितना अधिक उपदेश द्वारा जीवो के उपकारक होते है, उतना धन आदि के द्वारा उपकार नहीं करते।

शका— पहले जीव का लक्षण उपयोग बतलाया जा चुका है, फिर यहाँ उसका दूसरा लक्षण बतलाना वृथा है।

समाधान——उपयोग जीव का अन्तरग लक्षण है। यहाँ जो परस्पर उपकार करना लक्षण कहा है, वह उनका बहिरग लक्षण है।

शका —ऐसा है तो धर्म आदि का भी दूसरा लक्षण क्यो नहीं बतलाया ?

समाधान——धर्म, अधर्म और आकाश का स्वाभाविक गति स्थिति, और अवगाह ही असाधारण लक्षण है। भगवती सूत्र (व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र) शतक १३ उद्देशक ४ के ४८ वे सूत्र में कहा है——

प्रश्न——भगवन्! जीवास्तिकाय से जीवो को क्या होता है ?

उत्तर——गौतम! जीवास्तिकाय से जीव अनन्त आभिनिबोधिकज्ञान की पर्यायो को, अनन्त श्रुतज्ञान की पर्यायो को प्रवृत्त करता है, इत्यादि जैसा द्वितोय शतक के अस्तिकाय उद्देशक मे कहा है, वही यहाँ समझ लेना चाहिए। जीव उपयोग लक्षण वाला है।

उसी भगवती सूत्र के द्वितीय शतक के दशम उद्देशक में कहा है—

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पूर्वं धर्माधर्माकाशपुद्गलानामुपकारकतया लक्षणं प्रतिपादितम्, तत्र जीवानां सर्वे धर्माधर्मादय उपकारका भवन्ति। एव—धर्माधर्माकाशा पुद्गलद्रव्याणामुपकारका, आकाश धर्माधर्मपुद्गलानामुपकारकम् इत्यादिरीत्या प्ररूपितम्

सम्प्रति—जीवा केषामुपकारका भवन्ति इति प्ररूपयितुमाह—**"परोप्परनिमित्ता जीवा"** इति। जीवा परस्परस्या—ऽन्योन्यस्योपकारकरणे निमित्तानि हेतवो भवन्ति। तथाच जीवाना परस्परस्य हिताऽहितोपदेशप्रतिषेधाभ्यामुपकारकत्वमवगन्तव्यम् एवञ्च—आपत्या—वर्त्त-मानकाले वा यद्—हितं योग्य क्षम न्याय्यं वा भवेत् तत्प्रतिपादनेन हितविपरीतस्या—ऽहितस्य प्रतिषेधेन चोपकारको भवति परस्परम्, एकेन जीवेन द्वितीयस्य जीवस्य तेन तृतीयस्य जीवस्य तेन च चतुर्थस्येत्येव परम्परया वा—उपकारको भवति,

यथाच——धर्माधर्माकाशकालपुद्गलाना स्वभावेनैवोपकारकता वर्तते न तथा जीवानामुप कारकता स्वभावेनैव, अपितु — अनुग्रहबुद्ध्यैवोपकारकत्व तेषामवगन्तव्यम्। तथाच—परस्पर-हिताहितोपदेशकरणेन जीवाजीवान्तरमनुगृह्णन्ति, नत्वेव पुद्गलादयो भवन्ति।

यद्वा—जन्तो सुखादीना साधक एकैकोऽपि पुद्गलादि सम्भवति, सर्वदैव द्विप्रभृतीनां समुपकारको भवति। नैकैकानाम्। तथाच—पूर्वं गौणउपकार पुद्गलादीनां प्रतिपादित, अत्रतु

उन्हे चूर—चूर करेगा, दुःख उपजाएगा, स्मरण रखना कि तुझ अकेले को ही उसका फल भोगना पडेगा ॥१७॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पहले धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल द्रव्य का उपकारक रूप में लक्षण कहा गया है। जीवो के लिए धर्म, अधर्म आदि सभी उपकारक होते है, धर्म अधर्म और आकाश पुद्गलो के उपकारक होते है, आकाश धर्म अधर्म और पुद्गलो का उपकारक है इत्यादि रूप से कथन किया गया है। अब जीव किसके उपकारक होते है, यह बतलाने के लिए कहते है—जीव परस्पर एक दूसरे का उपकार करने में निमित्त होते है।

एक जीव दूसरे जीव को हित का उपदेश देकर तथा अहित से रोक कर उपकार करता है। इसी प्रकार भविष्यत् काल में अथवा वर्त्तमान काल में जो हित है, योग्य क्षेम या न्याय्य है, उसका प्रतिपादन करके तथा हित के विपरीत अहित का प्रतिषेध करके परस्पर उपकारक होते है। एक जीव दूसरे का, दूसरा तीसरे का और तीसरा चौथे का उपकार करता है और इस प्रकार उपकार की परम्परा चालू रहती है।

जैसे धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल द्रव्य मे स्वभाव से ही उपकारकता है, वैसी जीवों मे स्वभाव से उपकारकता नहीं है। जीवो की उपकारकता तो अनुग्रह बुद्धि से ही समझनी चाहिए। इस प्रकार परस्पर हिताहित का उपदेश करके जीव दूसरे जीव का अनुग्रह करते है पुद्गल आदि ऐसा नहीं कर सकते।

अथवा जीव के सुख आदि का साधक एक—एक पुद्गल आदि हो सकता है। सदैव दो आदि का उपकारक होता है, एक—एक का नहीं। इस प्रकार पहले पुद्गल आदि

मुख्यउपकारो जीवकर्तृक प्रतिपत्तव्य । जीवा यथा – भूयस्त्वेनोपदेशद्वारा जीवानामुपकारका-भवन्ति । न तथा—धनादिभिर्जीवानुपकुर्वन्ति ।

अथ जीवानामुपयोगलक्षणत्वस्य पूर्वं प्रतिपादितत्वेन पुनरत्र लक्षणान्तरकरण व्यर्थमिति चेन्मे-वम् जीवानामुपयोगस्याऽन्तरङ्गलक्षणतया तेषा परस्परोपकारकत्वस्य बहिरङ्गलक्षणत्वेन प्रतिपादित-त्वात् । एव तर्हि धर्मादीनामपि लक्षणान्तरं कथ न कृतम् इतिचेन्न । धर्माधर्माकाशानान्तु—गतिस्थि-त्यवगाहानामेव स्वाभाविकानामसाधारणलक्षणत्वात् । उक्तञ्च—व्याख्याप्रज्ञप्तौ भगवतीसूत्रे-१३ शतके ४ उद्देशके –

जीवत्थिकाए णं भंते ! जीवाणं किं पवत्तइ ! गोयमा–? जीवत्थिकाए णं जीवे अणंताणं आभिणिबोहियनाणपज्जवाणं, अणताणं सुयनाणपज्जवाणं, एवं जहा–बितिय-सए अत्थिकायउद्देसए जाव उवओगं गच्छइ, उवओगलक्खणे जीवे" इति ।

जीवास्तिकायेन भदन्त ! जीवाना किं प्रवर्तते ! गौतम ! जीवास्तिकायेन जीवोऽन-न्तानाम् आभिनिबोधिकज्ञानपर्यवाणाम्, अनन्तानाम् श्रुतज्ञानपर्यवानाम्. एव यथा—द्वितीयशते अस्तिकायउद्दशके यावदुपयोगं गच्छन्ति, उपयोगलक्षण खलु जीव इति ।

"तत्रैव च भगवतीसूत्रे२शतके१०उद्देशके उक्तम्—"**जीवे णं अणंताणं आभिणि–बोहियनाणपज्जवाणं एवं सुयनाणपज्जवाणं केवलनाणपज्जवाणं मइ अन्नाणपज्जवाण**

का गौण उपकार प्रतिपादन किया गया है, यहाँ जीव के द्वारा होने वाला मुख्य उपकार समझना चाहिए। जीव जितना अधिक उपदेश द्वारा जीवो के उपकारक होते है, उतना धन आदि के द्वारा उपकार नहीं करते ।

शका– पहले जीव का लक्षण उपयोग बतलाया जा चुका है, फिर यहाँ उसका दूसरा लक्षण बतलाना वृथा है ।

समाधान—उपयोग जीव का अन्तरंग लक्षण है। यहाँ जो परस्पर उपकार करना लक्षण कहा है, वह उनका बहिरग लक्षण है।

शका —ऐसा है तो धर्म आदि का भी दूसरा लक्षण क्यो नहीं बतलाया ?

समाधान—धर्म, अधर्म और आकाश का स्वाभाविक गति स्थिति, और अवगाह ही असाधारण लक्षण है। भगवती सूत्र (व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र) शतक १३ उद्देशक ४ के ४८ वे सूत्र में कहा है—

प्रश्न—भगवन् ! जीवास्तिकाय से जीवो को क्या होता है ?

उत्तर—गौतम ! जीवास्तिकाय से जीव अनन्त आभिनिबोधिकज्ञान की पर्यायों को, अनन्त श्रुतज्ञान की पर्यायो को प्रवृत्त करता है, इत्यादि जैसा द्वितोय शतक के अस्तिकाय उद्देशक मे कहा है, वही यहाँ समझ लेना चाहिए। जीव उपयोग लक्षण वाला है ।

उसी भगवती सूत्र के द्वितीय शतक के दशम उद्देशक मे कहा है—

सुयअण्णाणपज्जवाणं विभंगनाणपज्जवाण चक्खुदंसणपज्जवाण अचक्खुदंसणपज्जवाणं ओहिदंसणपज्जवाणं केवलदंसणपज्जवाणं उवओगं गच्छइ " इति।

जीव खलु अनन्तानाम् आभिनिबोधिकज्ञानपर्यवाणाम् एव श्रुतज्ञानपर्यवाणाम् अवधिज्ञान-पर्यवाणाम्, मन पर्यवज्ञानपर्यवाणा केवलज्ञानपर्यवाणाम् मत्यज्ञानपर्यवाणाम् श्रुताज्ञानपर्यवाणाम् विभङ्गज्ञानपर्यवाणाम् चक्षुर्दर्शनपर्यवाणाम् अचक्षुर्दर्शनपर्यवाणाम् अवधिदर्शनपर्यवाणाम् केवल-दर्शनपर्यवाणाम् उपयोग गच्छति इति। उत्तराध्ययने च २८ अध्ययने १०गाथायामुक्तम्

जीवलक्षणम्—"जीवो उवओगलक्खणो. नाणेणं दंसणेणं च सुहेण य दुहेण य–" इति। जीव उपयोगलक्षणः, ज्ञानेन–दर्शनेन च सुखेन च दु खेन च, इति ॥ १७ ॥

मूलसूत्रम्—"वट्टणा परिणामकिरियापरत्तापरत्ताणं निमित्तं कालो-" ॥ १८ ॥

छाया—वर्तनापरिणामक्रियापरत्वाऽपरत्वाना निमित्तं कालः—" ॥१८॥

तत्त्वार्थदीपिका– पूर्वसूत्रे जीवाना लक्षणं प्रतिपादितम्. सम्प्रति–कालस्य लक्षण प्रतिपा-दयितुमाह—"वट्टणा-" इत्यादि कालस्तावत्–धर्मादीना द्रव्याणां वर्तनव्यवहारस्योपकारकतया भवति। एव द्रव्यस्य पर्यायतया, जीवस्य क्रोधतया, पुद्गलस्य वर्णरसगन्धस्पर्शादितया, धर्माधर्माका-शानामगुरुलघुगुणवृद्धिह्रासतया, परिणतिलक्षणस्य च परिणामस्य–उपकारकतया निमित्त भवति। एवं–परिस्पन्दनात्मकक्रियाया, ज्येष्ठत्व-कनिष्ठत्वादिव्यवहारलक्षणपरत्वापरत्वयोश्चोपकारकतया कालो निमित्त भवति ॥१८॥

जीव अनन्त आभिनिबोधिकज्ञान की पर्यायो को, उसी प्रकार श्रुतज्ञान की पर्यायों को, अवधिज्ञान की पर्यायो को, मन पर्यवज्ञान की पर्यायों को केवलज्ञान की पर्यायो को मतिअज्ञान की पर्यायो को श्रुतअज्ञान की पर्यायो को विभगज्ञान की पर्यायो को. चक्षुदर्शन की पर्यायो को, अचक्षुदर्शन की पर्यायो को, अवधिदर्शन की पर्यायो को. केवलदर्शन की पर्यायो को अर्थात् इन सब के उपोग को प्राप्त करता है।

उत्तराध्ययन के २८ वे अध्ययन की १२वीं गाथा मे कहा है– जीव उपयोग लक्षण वाला है। ज्ञान से दर्शन से. सुख से और दु ख से ॥१७॥

मूलसूत्रार्थ—'वट्टणा परिणाम किरिया' इत्यादि सूत्र १८

कालद्रव्य वर्त्तना परिणाम क्रिया परत्व और अपरत्व का निमित्त कारण है ॥१८॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्र मे जीवो के लक्षण का प्रतिपादन किया गया है। अब काल का लक्षण प्रतिपादन करने के लिए कहते है—

काल धर्म आदि द्रव्यो की वर्त्तना अर्थात् वर्त्तनव्यवहार का उपकारक होकर निमित्त होता है। इसी प्रकार द्रव्य के पर्याय रूप मे जीव के क्रोध रूप मे पुदगल के वर्णरस गध और स्पर्श रूप मे धर्म अधर्म और आकाश के अगुरुलघुगुण को वृद्धि हानि रूप मे होने वाले परिणाम का उपकारक होकर निमित्त होता है। इसी प्रकार परिस्पन्दन रूप क्रिया का तथा ज्येष्ठता और कनिष्ठता के व्यवहार का निमित्त होता है ॥१॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं धर्माधर्माकाशपुद्गलजीवानामुपकारादिप्रदर्शनद्वारा स्वरूपं निरूपितम्, सम्प्रति—कालस्य स्वरूपं निरूपयितुमाह —"**वट्टणा**—" इत्यादि। धर्माधर्माकाशपुद्गलजीवानां द्रव्याणां स्वपर्यायनिवृत्तिं प्रति स्वात्मैव वर्तमानानां बाह्योपकारादृते विना तद्वृत्त्यसम्भवात् तत्प्रवर्तनोपलक्षितस्तावत्कालो भवतीति द्रव्यपर्यायाणां वर्तना कालकृतउपकारोऽवगन्तव्य । एवञ्च—द्रव्यपर्यायो-वर्तना वर्तते, कालस्तस्य वर्त्तयिता भवति ।

अथैवं तर्हि—"**शिष्योऽधीते**" उपाध्यायस्तमध्यापयतीति वत् कालस्य क्रियावत्ता—आपद्यते इति चेदत्रच्यते मार्गगमने प्रकाशस्योपकारकत्ववत् कारीषोऽग्नि शिष्यमध्यापयतीति व्यवहारे कारीषाऽग्नेः शिष्याध्यापने निमित्तमात्रत्वेऽपि हेतुकर्तृत्वव्यपदेशवत् द्रव्यपर्यायादीनां वर्तनव्यवहारे कालस्य निमित्तमात्रत्वेऽपि हेतुकर्तृत्वव्यपदेशसम्भव अथ समयादिनैवोक्तव्यवहारोपपत्ते कालस्य सत्वे किं प्रमाणमिति चेन्नैवम् ।

समयादीनां क्रियाविशेषाणां समयादिभिर्निष्पद्यमानानाञ्च पाकादीनां—"**समयः—पाकः**-" इत्येवं स्वसंज्ञाप्रसिद्धिसद्भावेऽपि—"**समयः—कालः**—" "**ओदनपाककालः**" इत्येव क्रियमाण. कालव्यपदेशस्तद्व्यपदेशे हेतुभूतस्य मुख्यस्य कालस्य सत्तामनुमापयति मुख्यापेक्षयैव गौणव्यवहारात्

एवं द्रव्यस्य पर्यायलक्षणे धर्मान्तरनिवृत्तिपूर्वकधर्मान्तरोपजननरूपे अपरिस्पन्दात्मके परिणामे, जीवस्य क्रोधादिरूपे, पुद्गलस्य वर्णगन्धरसस्पर्शादिरूपे, धर्माधर्माकाशाना मगुरुलघुगुणवृद्धिह्रासरूपे च परिणामे उपकारकतया कालो हेतुर्भवति ।

तत्त्वार्थनिर्युक्ति प्रथम धर्म अधर्म आकश एव पुद्गल जीवो के उपकार प्रकट करके उनके स्वरूप का कथन किया गया है । अब कालका स्वरूप प्रकट करने के लिये 'वट्टणा' इत्यादि रूप आगे का सूत्रका कथन करते है—धर्म अधर्म आकाश एव पुद्गल जीवो के द्रव्यो का स्वपर्याय निवृत्ति प्रति आत्मरूप से वर्तमान बाह्य उपकार के विना उनको वृत्ति का सभव नहीं हो सकता है, उनकी प्रवृत्ति से काल उपलक्षित होता है—जाना जाता है—अत द्रव्य और पर्याय का वर्तना कालकृत उपकार जानना चाहिए । इस प्रकार द्रव्यपर्याय वर्तनारूप है, और काल उनको वर्तन कराने वाला होता है ।

शका—यदि ऐसा है तो शिष्य पढता है, उपाध्याय उसको पढाता है, इत्यादि के समान काल मे सक्रियता का प्रसग उपस्थित होता है ।

समाधान—जैसे राह चलने मे प्रकाश उपकारक होता है कारीष (छाणे की) अग्नि शिष्य को पढाती है इस प्रकार के व्यवहार मे कारीष अग्नि यद्यपि शिष्य के अध्ययन मे निमित्त मात्र है, फिर भी उसमें हेतुकर्तृत्व का कथन किया जाता है इसी प्रकार द्रव्य और पर्याय आदि के वर्त्तनव्यवहार मे काल यद्यपि निमित्त मात्र है फिर भी इसमे हेतुकर्तृत्व का कथन होना सभव है ।

शका—समय आदि से ही उक्त व्यवहार हो सकता है, ऐसी स्थिति मे कालके अस्तित्व में क्या प्रमाण है ?

समाधान—समय आदि क्रियाविशेषो की तथा समय आदि के द्वारा निष्पन्न होने वाले पाक आदि की **समयः पाकः** ऐसी सज्ञा की प्रसिद्धि होने पर भी '**समयःकालः**' '**ओदनपाककालः**'

एव क्रिया तावत्- परिस्पन्दस्वरूपा द्विविधा प्रज्ञप्ता, प्रायोगिकी—वैस्रसिकी च । तत्र—शकटादीनां प्रायोगिकी क्रिया, मेघादीना वैस्रसिकी च । द्विविधाया अपि तस्या क्रियाया उपकारकतया कालो निमित्त भवति ।

एव—दूरदेशवर्तिनि परत्वस्य, समीपदेशवर्तिनि पुद्गलादिद्रव्ये, अपरत्वस्य च दैशिकस्य प्रसिद्धतया दैशिकपरत्वापरत्वयो. सत्वेऽपि अतिसमीपदेशवर्तिनि अतिवृद्धे ज्येष्ठे पुरुषे परत्वव्यवहारस्य, अतिदूरदेशवर्तिनि अतिबाले कनिष्ठे पुरुषेऽपरत्वव्यवहारस्य कालकृतस्यैव जायमानत्वात् इमे द्वे अपि परत्वापरत्वे कालकृते अवगन्तव्ये ।

तथाच——पुद्गलादिद्रव्यपर्यायाणा वर्तनादिव्यवहारस्य कालकृतत्वात् काल एव तेषा निमित्तं भवतीति फलितम् । अथ वर्तनाग्रहणेनैव तद्भेदाना परिणामक्रियादीनामपि ग्रहणसम्भवेन परि-

इस तरह से जो काल का कथन किया जाता है, उससे मुख्य काल की सत्ता का अनुमान होता है, क्योकि मुख्य की अपेक्षा से ही गौण व्यवहार होता है ।

इस प्रकार द्रव्य के पर्याय—परिणमन मे अर्थात् एक पर्याय के विनाश होने पर दूसरी पर्याय की उत्पत्ति रूप परिणाम मे, अपरिस्पन्द रूप परिणाम मे, जीवके क्रोधादि रूप परिणाम मे, पुद्गलके वर्ण गंध रस स्पर्श आदि रूप परिणाम मे तथा धर्म अधर्म और आकाश के अगुरु लधु गुण को वृद्धि एव हानि रूप परिणाम मे काल उपकारक रूप से हेतु होता है ।

परिस्पन्द अर्थात् हलन-चलन रूप क्रिया दो प्रकार की कही गई है—प्रायोगिकी अर्थात् प्रयत्न जनित और वैस्रसिकी अर्थात् स्वाभाविकी शकट आदि की प्रायोगिको और मेघ आदि की वैस्रसिकी क्रिया होती है । दोनो प्रकार की क्रिया मे काल निमित्त कारण है ।

परत्व और अपरत्व दो-दो प्रकार के है—देशकृत और कालकृत । देशकृत परत्व का अर्थ है दूरी और अपरत्व का अर्थ है सामीप्य । यह दोनो परस्पर सापेक्ष है । कालकृत परत्व का अभिप्राय है ज्येष्ठता और अपरत्व का अभिप्राय है कनिष्ठता । इस सूत्र मे जो परत्व और अपरत्व का ग्रहण किया है, वह कालकृत समझने चाहिए । काल के आधार पर ही ज्येष्ठता-कनिष्ठता का व्यवहार होता है । अतएव परत्व और अपरत्व भी काल के उपकारक है । यह दोनो भी परस्पर सापेक्ष होते है ।

इसका फलितार्थ यह है कि पुद्गल आदि द्रव्य पर्यायो के वर्त्तन आदि का व्यवहार कालकृत होने से काल ही उन सब का निमित्त कारण है ।

शका—वर्त्तना का ग्रहण करने से ही उसके भेद परिणाम, क्रिया आदि का भी ग्रहण हो सकता है । अत परिणाम आदि का पृथक्ग्रहण करना व्यर्थ है ।

समाधान—काल दो प्रकार का है—परमार्थकाल और व्यवहार काल । इन दोनों प्रकार के कालो का ग्रहण करने के लिए परिणाम आदि को वर्त्तना से अलग कहा है ।

वर्त्तना लक्षण वाला काल परमार्थ काल है और परिणाम क्रिया आदि लक्षण वाला काल व्यवहार काल कहलाता है । इस प्रकार अन्य पदार्थो के द्वारा परिच्छिन्न और अन्य पदार्थों के

णामादीनां पृथग्ग्रहणं व्यर्थमिति चेन्नैवम् परमार्थकालस्य–व्यवहारस्य न द्विविधस्यापि कालस्य ग्रहणार्थं परिणामादीनां वर्तमान पृथक्त्वेनोपादानात् ।

तत्र–वर्तमानलक्षण काल परमार्थकाल, परिणाम क्रियादिलक्षण कलस्तु–व्यवहारकालो व्यपदिश्यते । एवञ्चा–ऽन्येन परिच्छिन्न सन् अन्यस्य परिच्छेदहेतु क्रियाविशेष काल इति व्यपदिश्यते, । स च कालपुनस्त्रिविध, भूत- भविष्य–द्वर्तमानभेदात । तत्र–वर्तमानलक्षणे परमार्थकाले कालव्यपदेशो मुख्य, भूतादिव्यपदेशश्च गौणो भवति ।

परिणामक्रियादिलक्षणे व्यवहारकाले तु भूतभविष्यद्वर्तमानव्यदेशो मुख्य, कालव्यपदेशो गौणो भवति, क्रियावद् द्रव्यापेक्षत्वात्–कालकृतत्वाच्चेति भाव । अथ कालस्य सिद्धत्वेऽपि समयादि सत्वे किं मानमिति चेदुच्यते,

तण्डुलानां विक्लेदन-पचन पाक इत्युच्यते ते पुनस्तण्डुला पच्यमाना शनै शनैरोदनत्वेन परिणमन्ते, तण्डुलाना पाकेन स्थूलत्वाऽवयवशिथिलत्वादिदर्शनात् समय–समय प्रतिसूक्ष्म कालो भवतीति निश्चीयते, यदि च प्रतिक्षण तण्डुलाना सूक्ष्म पाको न स्यात् तदा–स्थूलपाकस्य लाभो न स्यात्, एव–सर्वेषां द्रव्याणा प्रतिसमय स्थूलपर्यायदर्शनात स्वयमेव वर्तनस्वभावत्वेन बाह्य निश्चयकाल परमाणुरूप प्रतीक्ष्य प्रतिक्षणमुत्तरोत्तरसूक्ष्मपर्यायेषु वर्तन परिणमनम् यद् भवति सा चेद्वर्तना–इति निर्णीयते ।

तदा—द्रव्याणां प्रतिसमयं परिणामो नैव स्यात् एव–द्रव्याणा स्थूलपर्यायोऽपि न स्यात् तस्मात्—सा वर्तना परमाणुलक्षणस्य मुख्यस्य कालस्य निमित्तभूता–इति हेतो वर्तनया मुख्यकालोऽणुरूपोऽस्तीति निश्चीयते। एवञ्च–वर्तनालक्षणो निश्चयकालस्योपकारोऽवगन्तव्य । एतादृशस्य

परिच्छेद का कारण जो क्रियाविशेष है, वह काल कहलाता है । उसके तीन भेद हैं–भूत, भविष्य, वर्त्तमान । इनमे से वर्त्तमान रूप परमार्थ काल मे काल का व्यवहार होना मुख्य और भूत आदि का व्यवहार गौण है ।

परिणाम क्रिया आदि रूप व्यवहार काल मे भूत भविष्यत् और वर्त्तमान का व्यपदेश मुख्य है, काल के व्यपदेश में गौण है । क्योकि वह क्रियावान् द्रव्य की अपेक्षा रखता है और कालकृत होता है ।

शका–काल द्रव्य तो सिद्ध है परन्तु समय आदि की सत्ता में क्या प्रमाण है ?

समाधान–चावलों का पकना पाक कहलाता है । पकते हुए चावल धीरे–धीर ओदन (भात) रूप में परिणत हो जाते है, क्योंकि उनके कठिन अवयव शिथिल होते देखे जाते है । इससे सिद्ध होता है कि समय-समय के प्रति सूक्ष्म काल का अस्तित्व है । यदि एक-एक समय में चावल थोडे-थोडे न पकते तो उनमे स्थूल पाक दिखलाई न देता । इसी प्रकार सभी द्रव्यों में प्रति समय स्थूल पर्याय देखी जाती है, अत स्वय ही वर्त्तन स्वभाव होने के कारण बाह्य निश्चय काल, जो परमाणुरूप है, उसकी अपेक्षा रखकर उत्तरोत्तर सूक्ष्म पर्यायो में जो वर्त्तन–परिणमन होता है, वह वर्त्तना है, ऐसा निश्चय होता है तो द्रव्यो का समय-समय परिणमन होता। फिर तो द्रव्यों की स्थूल पर्याय भी न होती । अतएव वह वर्त्तना परमाणुरूप मुख्य काल को समझने में कारण है

च कालस्य मनुष्यलोके एव वृत्तित्व कथमभ्युपेयते न तु—मनुष्यलोकात् परतस्तस्य वृत्तित्वं मनुष्यलोकात्परतोऽपि काललिङ्गोपपत्ते ।

तथाहि— वर्तमानलक्षणस्य कालस्य मनुष्यलोकात्परतोऽपि वृत्तित्वमवगम्यते एवं—प्राणापान निमेषोन्मेषाऽऽयु प्रमाणादिकालस्य परत्वापरत्वलिङ्गञ्च मनुष्यलोकात्परतोपि समुपलभ्यते इति चेदत्रोच्यते—भावानां वृत्तौ सत्यामपि तस्यावृत्ते काललिङ्गत्व नाऽभ्युपगम्यते किन्तु—सन्तस्तावद्भावा' स्वयमेवोत्पद्यन्ते—व्ययन्ति—अवतिष्ठन्ते च, भावानामस्तित्व च वस्त्वन्तरापेक्ष भवति ।

नहिहि—मनुष्यलोकात्परवर्तिन्य प्राणादिवृत्तय कालापेक्षा भवन्ति तुल्यजातीयानां सर्वेषां युगपत् अजायमानत्वात् तुल्यजातीयानां कालापेक्षा अर्थत एकस्मिन् काले भवन्ति—न विजातीयानाम् । ताश्च तुल्यजातीयाना प्राणादिवृत्तये नैकस्मिन् काले भवन्ति उपरमन्ति च तस्मात्—न कालापेक्षा' प्राणादिवृत्तयो भवन्ति, नापि मनुष्यलोकात्परत परत्वापरत्वे कालापेक्षे भवत

तथाहि परत्वापरत्वे तावत् स्थितिविशेषापेक्षे भवत' । यथा—सप्ततिवर्षात्परो वर्षशतिक अपरश्च—सप्ततिवर्ष इति सप्ततिर्वर्षाणाम् शत वर्षाणाम् इत्येषा स्थिति । सा च—स्वत्वापेक्षास्तित्वादेव भवति, भावनामस्तित्वञ्चाऽनपेक्ष भवतीत्युक्तम् ।

इस कारण से वर्त्तना के द्वारा अणुरूप मुख्य काल का अस्तित्व निश्चित होता है । इस प्रकार वर्त्तना निश्चय काल का उपकार समझना चाहिए ।

इस प्रकार के काल का अस्तित्व मनुष्य लोक में ही क्यो, स्वीकार किया जाता है ? मनुष्य लोक से बाहर क्यों नहीं स्वीकार किया जाता ? मनुष्य लोक से बाहर भी तो काल का लिंग (लक्षण) घटित ह ता है । जैसे वर्त्तना रूप काल का होना मनुष्यलोक से बाहर भी प्रतीत होता है । **प्राणापान** श्वासोच्छ्वास निमेष, उन्मेष, आयु का प्रमाण आदि काल तथा परत्व अपरत्व आदि लिंग मनुष्य लोक से बाहर भी पाये जाते है । इसका समाधान यह है कि वहाँ भावो की वृत्ति होने पर भी वह वृत्ति काल के कारण नहीं मानी जाती, किन्तु सत् पदार्थ स्वय ही उत्पन्न होते है, स्वय ही नष्ट होते है, और स्वय ही स्थिर रहते है । पदार्थों का अस्तित्व किसी दूसरे पदार्थ की अपेक्षा नहीं रखता है ।

मनुष्यलोक से बाहर जो प्राणापान आदि व्यापार है, वे काल की अपेक्षा नहीं रखते । क्योकि समानजातीय सब एक साथ उत्पन्न नहीं होते । समान जातीय बालो के काल की अपेक्षा रखने वाले अर्थ एक काल मे होते है, विजातीयो के नहीं । तुल्य जातीयो के प्राण आदि व्यापार एक ही काल मे न उत्पन्न होते है और न बन्द होते है । अतएव प्राण आदि वृत्तियाँ कालापेक्ष नहीं है और न मनुष्यलोक से बाहर जो परत्व और अपरत्व है, उसे काल की अपेक्षा होती है ।

परत्व और अपरत्व स्थितिविशेष की अपेक्षा से होते है । जैसे सत्तर वर्ष वाले की अपेक्षा सौ वर्ष वाला पर कहलाता है और सत्तर वर्ष वाला 'अपर' कहलाता है । यह व्यवहार पदार्थों के अस्तित्व से ही होना है और किसी का अस्तित्व किसी अन्य वस्तु को अपेक्षा नहीं रखता । यह कहा जा चुका है ।

अथैवं तर्हि—मनुष्यलोकेऽपि वर्तनापरिणामक्रियादय कालनिरपेक्षा एव भविष्यन्ति अल तत्र कालकल्पनयेति चेन्मैवम् कालो यदि वर्तनादीना निर्वर्तककारणतया—परिणामकारणतया वा मनुष्यलोके कल्पेत—तदा-न स्यादेवतदर्थं कालस्य कल्पनम्। परन्तु—नत्वेवं काल कल्प्यते अपितु वर्तनादिक प्रति—अपेक्षाकारणत्वेन स उच्यते, नहि—असौ काल स्वातन्त्र्येण पुद्गलादिकमधिष्ठाय कुलालादिवत् तेषा वर्तनादिक करोति।

नापि—मृत्तिकादिवत् परिणामिकारण वा भवति, अपितु—स्वयमेव सम्भवता पुद्गलादीना मर्थानाम् अस्मिन् काले भवितव्यम्-नान्यदेत्येवमपेक्षाकारण सभवति। यथा—पुद्गलादीना गतौ धर्मद्रव्यमपेक्षाकारणमिति मनुष्यलोके पुद्गलादिद्रव्याणां वर्तनादिकम्प्रति अपेक्षाकारणतया कालद्रव्याभ्युपगम परमावश्यक' इति न कोऽपि दोषो मनुष्यलोके कालस्य वृत्तिकल्पने इति भाव'।

यदितु—तिर्यग्लोकवृत्तिपदार्थाना चन्द्रसूर्यादिगतिक्रिययोपकृतिर्भवति, तदा—तया सूर्यादिगतिक्रियया स्पष्ट एवोपकार स्तस्य तिर्यग्लोके,। देवलोकादौ च न चन्द्रसूर्यादेर्गतिक्रिया भवति, न च तया तस्योपकारो भवतीति स्पष्ट एवाऽन्यत्र तदुपकार'। अतएव—मनुष्यलोकवर्त्तिनैव कालेनाऽन्यत्राऽपि कालव्यवहारोऽवगन्तव्य, परमनिरुद्ध समयोऽपि सूर्यादिक्रियया व्यज्यमानदिनादे परमो लव एवाऽवसेय'।

शका ऐसा है तो मनुष्य लोक में भी वर्त्तना, परिणाम, क्रिया आदि काल के बिना ही हो जाएँगे। वहाँ काल का अस्तित्व स्वीकार करने से क्या लाभ ?

समाधान- मनुष्य लोक में काल को यदि वर्त्तना आदि का जनक कारण माना होता या उपादान कारण माना होता तो ऐसी कल्पना करने की आवश्यकता नहीं थी। मगर ऐसा तो माना नहीं है। वर्त्तना आदि में काल अपेक्षा कारण ही कहा गया है। जैसे कुम्भकार मिट्टी लेकर घट बनाता है, वैसे काल पुद्गलादि को लेकर उनकी वर्त्तना आदि नहीं करता। काल मृत्तिका आदि के समान उपादान कारण भी नहीं होता है। किन्तु स्वयं ही होने वाले पुद्गल आदि पदार्थ इस काल मे हो, अन्य काल में नहीं, इस प्रकार काल सिर्फ अपेक्षा कारण है। जैसे पुद्गलादि की गति में धर्मद्रव्य अपेक्षा कारण है, उसी प्रकार मनुष्यलोक में पुद्गलादि द्रव्यो की वर्त्तना में काल को अपेक्षा कारण मानना परमावश्यक है। इस प्रकार मनुष्यलोक मे काल का अस्तित्व स्वीकार करने में कोई दोष नहीं है।

यदि तिर्छे लोक के पदार्थों का उपकार चन्द्र—सूर्य आदि की गति क्रिया से होता है तो वह सूर्य आदि की गतिक्रिया से तिर्छे लोक मे उनका उपकार स्पष्ट ही है। देवलोक आदि में चन्द्र सूर्य आदि की गतिक्रिया नहीं होती। उससे उनका उपकार नहीं होतो। इस प्रकार अन्यत्र उनका उपकार स्पष्ट ही है। अतएव मनुष्यलोकवर्त्ती काल के द्वारा ही अन्यत्र भी काल का व्यवहार समझ लेना चाहिए। सब से छोटा जो समय है, वह भी सूर्य आदि की क्रिया से प्रकट होने वाला दिन आदि का परम लव ही जानना चाहिए।

सूर्यादिगतावपि प्राचीना कालगतिर्हेतुरेव भवति। तथाच—तिर्यग्लोकात्मके मनुष्यलोके एव कालस्य वृत्तिर्युक्ता। अन्यथा—लोकालोकयोर्वर्तनादिसद्भावान् सकाल' सर्वत्रैव कथ न स्यात्, तथाच कालस्य पर्यायताऽपि युज्यत एवेति भाव' ।— एवञ्च—सर्वभावानां वर्तना तावत् ।

कालाश्रयावृत्तिरुच्यते, तत्र वर्तनातावत् उत्पत्ति—स्थिति—गतिश्च प्रथमसमयाश्रया व्यपदिश्यते। एवञ्च—वर्तनादीनां सकलभावपदार्थव्यापित्व बोध्यम् वर्तन्ते स्वयमेव पदार्थास्तेषां वर्तनाशीलानां पदार्थाना प्रयोजिका कालाश्रया वृत्तिर्भवति, वर्त्यन्ते पदार्था यया सा वर्तना। इतिव्युत्पत्ते कालाश्रया वृत्तिरेव वा वर्तना—वर्तनशीलता, उच्यते, वृत्तिर्वर्तन तथाशीलतेति भाव' ।

"**अनुदात्तेतश्चहलादेः**" इति युच् प्रत्यय तस्य—"**युवोरनाकौ**—" इत्यनादेश' । पूर्वव्युत्पत्तौ तु—"**ण्यासश्रन्थो युच्**—" इति युच् सा वर्तना तावत् प्रतिद्रव्यपर्यायमन्तर्णीतैकसमयस्वसत्तानुभवरूपा—उत्पाद्यस्य तदितरस्य वा भावपदार्थस्य प्रथमसमयसव्यवहारोऽनुमानगम्य तस्य तण्डुलादि विपाकवत्—अग्निजलसयोगहेतुक प्राथमिको विक्रिया, अतीतानागतविशेषविनिर्मुक्ताऽवसेया।

सा च वर्तना परमप्रवीणपुरुषबुद्धिगम्या भवति। तथाचोक्तम्—

"**विसस्य वाला इव दह्यमाना न लक्ष्यते वैकृतिरग्निपाते—।**
तां वेदयन्ते मितसर्वभावाः सूक्ष्मो हि कालोऽनुमितेन गम्यः ॥१॥ इति

सूर्य आदि की गति मे भी प्राचीन कालगति कारण होती है। अतएव मनुष्यलोक मे ही काल द्रव्य का सद्भाव मानना उचित है। अन्यथा लोक और अलोक मे वर्त्तना आदि का सद्भाव होने से सर्वत्र ही उसकी सत्ता क्यो न मानी जाय ? तात्पर्य यह है कि इससे काल की पर्यायता भी सगत हो जाती है।

इस प्रकार वर्त्तना कालाश्रित वृत्ति कहलाती है। वर्त्तना उत्पत्ति स्थिति और गति है जो प्रथम समय आश्रित है। वर्त्तना आदि समस्त भावरूप पदार्थों मे व्यापक है। पदार्थ स्वय ही वर्त्तते है, उन वर्त्तनशील पदाथो के लिए कालाश्रयवृत्ति निमित्त हो जाती है। जिसके द्वारा पदार्थ वर्तते है, वह वर्त्तना, ऐसी वर्त्तना शब्द की व्युत्पत्ति है। कालाश्रयवृत्ति ही वर्तना या वर्त्तनशीलता कहलाती है। वृत्ति, वर्त्तन या वर्त्तनशीलता यह सब एकार्थक है। '**अनुदात्तेतश्च हलादेः**' इस सूत्र से युच् प्रत्यय होता है, उसको '**युवोरनाकौ**' इस सूत्र से आदेश नहीं होता। पहली व्युत्पत्ति मे **ण्यासश्रन्थो** युच् इस सूत्र से युच् पत्यय होता है। वह वर्त्तना प्रत्येक द्रव्य और पर्याय मे एक समय सम्बन्धी स्वसत्ता का अनुभव रूप है। उत्पाद्य या उससे इतर पदार्थ का प्रथम समय का व्यवहार अनुमान गम्य है। तण्डुल आदि के पाक के समान। अग्नि और जल हेतुक प्राथमिक विक्रिया अतीत एव अनागत विशेषो से रहिक जानना चाहिए।

वह वर्त्तना अत्यन्त कुशल बुद्धिमान् पुरुष की ही समझ में आती है। कहा भी है—

'विसस्य वाला' इत्यादि।

अथ वर्तमानेन सूर्यस्योदयेनोपलक्ष्यमाणाभावपदार्थानां प्रति विशिष्टा क्रियैव वर्तते इत्यादि-व्यवहारविषयतामवगाहते, न तु—तद् व्यतिरिक्त कश्चित्कालस्तद्व्यवहारविषय, एव—"ह्यः श्वः" इत्येवमतीतानागतोदयलक्षणा सूर्यमण्डलभ्रमणानुमेया वस्तुक्रियैव -अवर्तत वर्तिष्यते—" इत्यादिना व्यवह्रियते इति चेन्मैवम् ।

धर्मादिद्रव्यपरिणतिमात्र कालस्तदन्यो वा कश्चिद् भवतु, न पक्षद्वयेऽपि कश्चिद्दोष, किन्तु सूर्यगत्युपलक्षिता नैषा वस्तुक्रिया, "वर्तते—" इत्यादिव्यवहारविषयतामवगाहते, सूर्यगता-वपि तत् सद्भावात् । तस्मात्—सर्वेषामेव भावानां "वर्तते" इत्यादिविषयतामवगाहमानाना वर्त-नादिनिर्वाहकतया कश्चिदतिरिक्त—काल कल्पनीय इति,

अन्यथा—कालेऽविद्यमाने सति "कालाश्रया वृत्ति"—रिति वक्तुं न पार्येत, काले निश्चिते सति तदाश्रया वृत्तिर्वक्तुं शक्यते । तस्मात्सकलवस्तुगुणाश्रया वर्तना काल विना न सघटते अत पदार्थपरिणतिहेतुतया कश्चित्काल कार्यानुमेयोऽस्ति । एवं कालद्रव्या-भिधायिन' शब्दा अपि बहवो लोकप्रतीता सन्ति, न तु—वस्तुक्रियामात्राऽभिधायिस्ते सम्भवन्ति ।

तद्यथा—"युगपद्युगपत् क्षिप्रं चिरं चिरेण परमिदमपरमिदमिति च ।
वर्त्स्यति, नैतद्वर्त्स्यति वर्तते वृत्तमपि वर्तते ऽदमन्तर्वर्तते"

शका – वर्त्तमान सूर्य के उदय से प्रतीत होने वाली भावरूप पदार्थों की विशिष्ट क्रिया ही वर्त्तती है ऐसे व्यवहार की विषय होती है । उससे भिन्न कोई काल व्यवहार का विषय नहीं होता । इसी प्रकार 'ह्य(अतीत दिन) और 'श्व' (आगामी दिन) इस प्रकार अतीत और अनागत उदयरूप, सूर्यमण्डल के भ्रमण से अनुमान की जाने वाली वस्तु की क्रिया ही 'वरती' या 'वरतेगी' इत्यादि रूप से व्यवहार की जाती है ।

समाधान—काल चाहे धर्म आदि द्रव्यो का परिणमन मात्र हो, चाहे उससे भिन्न कुछ हो, दोनो पक्षो में कोई दोष नहीं है, मगर सूर्य की गति से प्रतीत होने वाली वस्तु की क्रिया 'वर्त्तते' ऐसे व्यवहार का विषय नही होती । क्योकि सूर्य की गति में भी उसका सद्भाव है । अतएव 'वर्तते' इस प्रकार के व्यवहार का विषय बनने वाले सभी पदार्थों की वर्त्तना आदि का निर्वाहक काल कोई भिन्न ही होना चाहिए । यदि काल का अस्तित्व न माना जाय तो कालाश्रित वृत्ति भी नहीं मानी जा सकती । काल के निश्चित होने पर ही कालाश्रित वृत्ति कही जा सकती है । इस प्रकार सकल पदार्थों में होने वाली वर्त्तना काल के बिना घटित नहीं हो सकती । अतएव पदार्थों के परिणमन के कारण काल का कार्य से अनुमान होता ही है । काल द्रव्य के वाचक बहुत–से शब्द भी लोक में प्रसिद्ध है । वे वस्तु को क्रियामात्र के वाचक नहीं हो सकते । वे शब्द इस प्रकार है—युगपद (एक साथ) अयुगपद (एक साथ नहीं), क्षिप्र (शीघ्र) चिर (देरी), चिरेण (देरसे), यह पर है, यह अपर है, यह वरतेगा, नहीं वरतेगा, यह वरत रहा है, यह वरता यह अन्दर वरतता है, इत्यादि सब शब्द काल की अपेक्षा रखते है । आस

इत्येवं सर्वं कालापेक्षमेव—आप्ता व्यवहरन्ति । एवम्—ह्य श्वोऽद्य इदानीम् ऐष म' परुत् परारि नक्त दिवा साय प्रात —इत्यादिकालवचनानि तावत् कालस्याऽसद्भावेनोपपद्येरन् । तस्मात् कालपदार्थोऽवश्यमेवाऽभ्युपगन्तव्य ।

परिणामस्तावत्——पुद्गलादिद्रव्यस्य स्वजात्यपरित्यागेन परिस्पन्दभिन्नप्रयोगजन्यपर्यायस्वभाव' उच्यते, तद्यथा——अङ्कुरावस्थस्य वनस्पतिकायस्य मूल—काण्डत्वक्—पत्र—स्कन्ध—शाखा—विटप—पुष्प—फल सद्भावस्वरूप परिणामो भवति, अयमङ्कुर आसीत् सम्प्रति स्कन्धवान् सवृत्त , हायनेऽस्मिन् पुष्पिष्यति—फलिष्यतिचेति, पुरुषजीवद्रव्यस्य वा बाल्य—शैशव—पौगण्ड—यौवन——वार्धकाद्यवस्थासद्भावलक्षण परिणामो भवति ।

स च——परिणामो द्विविध , अनादि —सादिश्च, तत्राऽमूर्त्तेषु धर्माधर्माकाशकालजीवेषु——अनादिपरिणाम , मूर्तेषु पुन —अभ्रेन्द्रधनुरादिषु, स्तम्भकुम्भादिषु च सादि परिणामो बोध्य' ।

एवं, हेमन्त १ शिशिर—२ वसन्त—३ ग्रीष्म—४ वर्षा—५ शरत्—६ सञ्ज्ञका' षड्ऋतवोऽपि एकस्य—कालस्यैव शक्तिभेदा परिणामविशेषा' प्रतिविशिष्टकार्यप्रसवाऽनुमेया भवन्ति ।

"तथाहि——हेमन्ते—तुषारपातप्रम्लानानि भवन्ति कार्पासादिकाननानि, पथिकाश्च—सङ्कुचितकरकमला क्वणद्दन्तवीणा वेपमानशरीरयष्टय प्रत्यग्निशलभा इव पतन्त सलक्ष्यन्ते, पवनाश्च—तुषारकणसम्पर्कतोऽतिशयशिशिरा जीवानायासयन्त प्रवान्ति——१

पुरुष इसी प्रकार व्यवहार करते हैं । इसी प्रकार गया कल, आगामी कल, आज, अब, अभी, परसो नरसो, सुबह, प्रात , इत्यादि व्यवहार कालवाचक प्रयोग काल के अभाव मे नहीं हो सकते । अत कालद्रव्य अवश्य ही स्वीकार करना चाहिए ।

परिणाम पुद्गल आदि द्रव्यो की एक पर्याय है जो अपनी जाति का त्याग न करते हुए परिस्पन्द से भिन्न प्रयोग के द्वारा जनित होता है । जैसे—अकुर अवस्था वाले वनस्पतिकाय के मूल, काण्ड, त्वचा, पत्र, स्कध, शाखा, विटप, पुष्प, फल का सद्भाव रूप परिणाम होता है । यह अकुर था, अब स्कधवान हो गया, इस वर्ष में यह फूलेगा, फलेगा । पुरुष जीवद्रव्य का परिणाम शैशव, बाल्य, पौगंड, यौवन, बुढापा आदि है ।

परिणाम दो प्रकार का है —अनादि और सादि । अमूर्त्त धर्म, अधर्म, आकाश, काल और जीव मे अनादि परिणाम होता है और मूर्त्त मेघ, इन्द्रधनुष आदि में तथा स्तभ कुभ आदि मे सादि परिणाम होता है ।

इसी प्रकार (१) हेमन्त (२) शिशिर (३) वसन्त (४) ग्रीष्म (५) वर्षा और (६) शरद नामक छह ऋतुएँ भी काल के ही शक्तिभेद रूप परिणाम विशेष है, जिनका विभिन्न कार्यों की उत्पत्ति से अनुमान किया जाता है । जैसे कि हेमन्त ऋतु मे कपास आदि के कानन तुषारपात-हिम से मुरझा जाते है, पथिको के कर-कमल सिकुड जाते है, उनकी दन्तवीणा बजने लगती है, शरीर थर—थर काँपने लगता है और वे पतंगों की तरह आग की तरफ टूट पडते है । तुषार-कणो के सम्पर्क से अत्यन्त शीतल वायु जीवो को क्लेश उत्पन्न करती है ।

"शिशिरे चाऽतिधूमिकापिहितचन्द्रकिरणा बदरीवृक्षाश्च फलभरावनतशाखा शिशुवृन्दैरनुस्रियमाणतला भवन्ति, तुहिमकणविशदकुन्दमालतीपुष्पवासवासिता वायव प्रवहन्ति—२

"वसन्तेच—समन्तत किञ्चिद् विकसत्प्रसूना कुन्दलता, केसरतिलककुरबकशिरीषादिपुष्पपरागशालिन युवजनमनोहारिण समीरणा शनै शनै सरन्ति, सहकारमञ्जरीरज परागधूसरितशरीरा' मञ्जुगुञ्जन्ति भृङ्गा, कोकिलाश्च—कलरवकुहूशब्दैराम्रतरुवनानि मुखरयन्ति, मलयाचलपवनवेगकम्पितपरागपटलै पिहितनयनपुटा पथिकजना प्रत्यावर्त्तन्ते स्वस्वप्रेयसीगृहाभिमुखम्—३

ग्रीष्मे च—सहस्रकिरण किरणनिकरै पृथिवीतल किरन आस्तीर्णाङ्गारसमूहमिव विदधाति, पथिकजनाश्च अत्यन्तसन्तप्तमानसा कथञ्चिदतिद्राघीयसो दिवसान् अतिवाहयन्ति, चन्दनपङ्काङ्गरागपरिलिप्ताङ्गा' भृत्यजनहस्तोत्क्षिप्ततालव्यजनपवने विद्युच्छक्तिसञ्चालितविद्युद्व्यजनप्रक्षिप्तात्यन्तचञ्चलपवनेन च शिशिरीकृतशरीरा भोगविलासिनो जना शिशिरेषु गृहोपवनेषु सरित् सरसीतीरेषु च विविधधारागृहान्तर्गता सन्तो निरस्तनिदाघघर्मप्रसरमभिरमन्ते, गजदन्तखण्डशुभ्रमल्लिकाकलिका बहुलपरिमलवाहिन परिकल्पितपाटलपुष्पा साय प्रातश्च सुरभय पवना सुवासयन्ति विलासिजनजङ्गमशरीराणि—४

शिशिर ऋतु में चन्द्रमा की किरणें अत्यन्त धुंध से आच्छादित हो जाती है, बेरी (बोरडी) के वृक्षों की शाखाएँ फलो के भार से झुक जाती है, और बालक उनके नीचे घूमते—फिरते है, वायु बर्फ के कणो से विशद, कुन्द एव मालती आदि के पुष्पों से सुवासित हो जाती है।

वसन्त मे चारों ओर कुन्दलताओं के फूल किंचित् विकसित हो उठते है, केसर तिलक कुरबक शिरीष आदि के फूलो के पराग से युक्त तथा तरुण जनो के मन को हरण करने वाला समीरण—पवन मद—मंद चलती है, आम्र की मजरी के रज एव पराग से धूसरित शरीर वाले भ्रमर मनोहर गुजार करने लगते है। कोकिलाएँ अपने 'कुहू—कुहू' के कलरव से आम्रवनो को मुखरित करने लगती है। मलयाचल के पवन के वेग से कम्पित चम्पा के परागसमूह से अपने नयन—पुटो को बन्द करके पथिक जन अपनी—अपनी प्रेयसियो के गृह की ओर लौटने लगते है।

ग्रीष्म ऋतु मे सूर्य अपनी प्रखर किरणो से पृथ्वीतल को इतना तप्त बना देता है मानो उस पर अगारो का समूह बिखेर दिया हो। पथिक जनो का मानस अत्यन्त सन्तप्त हो जाता है, वे जैसे—तैसे अत्यन्त लम्बे दिनो को पूरा करते है। भोगीविलासी लोग अपने शरीर पर चन्दन का लेपन करते है। सेवकों के हाथों से पखा झलवाते है, अथवा बिजली की शक्ति से चलने वाले बिजली के पखे से फेंका जाने वाला अत्यन्त चचल वायु से अपने शरीर को शीतल करते है। शीतल गृहो, उपवनो, नदी या तालाब के किनारो पर विविध प्रकार के धारागृहों के अन्दर रह कर अपनी गर्मी और धूप के प्रसार को दूर करते है। हाथीदात के खण्ड के समान श्वेत वर्ण मल्लिका की कलियाँ, प्रभूत सौरभ से सम्पन्न पाटल—पुष्प और सायकाल तथा प्रात काल की सुरभित वायु विलासी जनो के जगम शरीर को सुवासित करता है।

"वर्षासु च—लपलावलयविद्योतितकदम्बिनीघटाटोपस्थगिताम्बरमारचितेन्द्रचापलेख मुसलधारासारप्रपातोपशमितधूलिजालं धरातलं विभाति, कदम्बकोरककेतकीरज परागपरिमलशालिन सुरभय. समीरणा विलासिनामङ्गानि समीरयन्ति, वर्षाजलप्रवाहपूरकलितकूला सरित प्रवहन्ति, विकसत्कुटजपुष्पकन्दलीशिलीन्ध्रालङ्कृता' पर्वतोपत्यका भान्ति, घनघोरघटाटोपध्वनिश्रवणोपजाततीव्रोत्कण्ठा. सन्त' प्रवासिनो जना परिभूषितमनीषा इव सलक्ष्यन्ते मयूरमण्डलचातकमण्डूकध्वनिश्रवणोदीपितविषमबाणविषवेगमोहिता' महिलाजना' क्षणं क्षणद्युतिविद्युत्प्रदीपप्रकाशितासु क्षणदासु अभिसरन्ति नायकमन्दिरम् । पन्थानस्तावत्—पङ्कबहुला क्वचिज्जलाकुला दरीदृश्यन्ते—५

शरदि च— रविकिरणा पङ्क शोषयन्त स्तीव्रसन्तापं धारयन्ति, विकसितकमल—कुमुदवनानि हंससारसयुतानि सरांसि स्फटिकमणिभित्तिधवलजालपूर्णानि भवन्ति, वेलानियमप्राप्तपाटवानिकमलकोशजालानि प्रात' सूर्यकिरणसम्पर्कात् विकसन्ति, कुमुदिनीनाथकिरणकलापस्पृष्टानि च कुमुदकुवलयवनानि सुरभिपरिमल वयन्ति - दलन्ति च,—६

इत्येवं रीत्या षड्ऋतुविभागो वेलानियमश्च विलक्षणपरिणामो नियामक कारण कालं विना—

वर्षा ऋतु में भूतल बिजली की चमक से प्रकाशित हो जाता है। मेघमाला के आडम्बर से आकाश आच्छादित हो जाता है। इन्द्रधनुष अपनी अनुपम छटा दिखलाती है। मूसलधार वारिवर्षा से धरा की समस्त धूल उपशान्त हो जाती है। कदम्ब, कोरक एवं केतकी की सौरभमय पराग से युक्त सुगंधित वायु विलासी जनो के अंगो को प्रकम्पित करने लगती है। वर्षा के जल के प्रवाह के कारण सुन्दर तट वाली नदियाँ प्रवाहित होती है। पर्वतो की उपत्यकाएँ खिले हुए कुटज पुष्पो से तथा शिलीन्ध्रो से सुशोभित हो उठती है।

मेघो की घोर घटा की गर्जना सुनकर प्रवासी जनो के चित्त मे तीव्र उत्कंठा जागृत हो जाती है। वे ठगे—से रह जाते है। मयूरो, चातको एवं मण्डूको की ध्वनि को सुनने से महिला जनो के मन मे काम उद्दीप्त हो जाता है, और वे क्षणभर के लिए विद्युत् रूपी प्रदीप के द्वारा प्रकाशित रात्रि मे अपने प्रेमी जनों के घर की ओर अभिसार करने लगती है। मार्ग कीचड की बहुलता वाले और कहीं—कहीं जल से युक्त दिखाई देते है।

शरद् ऋतु मे सूर्य की किरणे कीचड को सोखती हुई तीव्र सन्ताप को धारण करती है। वनो मे कमल और कुमुद विकसित हो उठते है। सरोवर हंसो और सारसो से सुशोभित तथा स्फटिक मणि की भीत के समान धवल जल से परिपूर्ण होते है। वेला के नियम से प्राप्त पटुता वाले कमलो के कोशजाल प्रात काल सूर्य की किरणो का सम्पर्क पाकर विकसित होते है। चन्द्रमा की किरणो के समूह स स्पृष्ट कुमुदो और कुवलयो के वन सौरभ का वमन करते हैं।

इस प्रकार छह ऋतुओं का विभाग और वेला का नियम नियामक कारण काल के विना, अन्य कारणो के होने पर भी घटित नहीं हो सकता। अनेक प्रकार की शक्तियो से

इतरकारणकलापसान्नि-ये सत्यपि नोपपद्यते । तथाविधानेकशक्तिशालिकालद्रव्यापेक्ष पुनस्तथाविध-ऋतुविभागादिपरिणाम समुपपद्यते । तस्मात्तथाविधप्रतिविशिष्टकार्याऽनुमेय तावत्कालोऽवगन्तव्य ।

अन्यथा——कस्यापि नियामकस्य हेतो रसद्भावे युगपदेव एते पूर्वोक्ता भावा पराधीनत्वा-भावेन सम्भवेयु अतोऽमीषा परिणामाना प्रतिनियतकालभावित्वात् समस्तितावद् अनेकशक्तिक-लापयुक्त कालरूपमेक कारणम्, ताश्च कालनिष्ठा शक्तय कदाचिदेव समासादिपरिपाका स्वका-र्यनिष्पादनाय प्रवर्तन्ते न सर्वदेतिभाव । क्रियागतिस्त्रिधा भवति,

प्रयोगगति –विस्रसागति –मिश्रिकाचेति । तत्र–प्रयोगगति जीवपरिणामप्रयुक्ता शरीराहार-वर्णगन्धसरर्गसस्थानविषया भवति, विस्रसागतिस्तु——प्रयोग विना केवल जीवभिन्नद्रव्यपरिणाम-रूपा परमाण्वभ्रेन्द्रधनु परिवेषादिरूपा विचित्रसस्थाना भवति मिश्रिकागति पुन ——प्रयोग विस्र-साभ्यामुभयपरिणामरूपत्वाद् जीवप्रयोगसहचरिताऽऽचेतनपरिणामात कुम्भस्तम्भादिविषया भवति । कुम्भादयस्तु— तावत् तेन परिणामेन स्वत एवोत्पत्तु शक्ता कुम्भकारसान्निध्यात् तादृशा सञ्जा-यन्ते । परत्वापरत्वे च त्रिविधे स्त , प्रशसाकृते——क्षेत्रकृते–कालकृते च भवत । तत्र प्रशसाकृते परत्वापरत्वे यथापरो धर्म पर ज्ञानम् अपरोऽधर्म , अपरमज्ञानम्, इत्यादि ।

सम्पन्न कालद्रव्य के कारण ही पूर्वोक्त ऋतुविभाग आदि परिणाम उत्पन्न होता है । अतएव इन सब कार्यों से कालद्रव्य का अनुमान किया जा सकता है ।

अन्यथा किसी भी नियामक हेतु के अभावमे एक ही साथ पूर्वोक्त सब भाव हो जाने चाहिए क्योंकि वे पराधीन न होगे । मगर ऐसा होता नहीं ये सभी परिणाम अपने नियत काल में ही होते है अतएव अनेक शक्तिसमूहो से युक्त काल ही इनका कारण है। काल मे रही हुई शक्तियां कभी–कभी ही परिपाक को प्राप्त होकर अपना कार्य करने के लिए प्रवृत्त होती है, सर्वदा नहीं ।

क्रियागति तीन प्रकार की है–प्रयोगगति, विस्रसागति और मिश्रगति । जीव के परिणाम से शरीर आहार वर्ण गन्ध रस स्पर्श और सस्थान विषयक गति प्रयोगगति कहलाती है । विस्रसागति प्रयोग के विना ही होती है और वह जीव से भिन्न द्रव्यो का परिणमन है । परमाणु इन्द्रधनुष मेघपरिवेष आदि उसके विविध आकार प्रकार होते है । मिश्रगति प्रयोग और स्वभाव दोनो से होती है । वह जीव के प्रयोग के साथ अचेतन के परिणाम से कुम्भ स्तंभ आदि में उत्पन्न होती है । कुम्भ आदि उस उस रूप मे स्वय ही उत्पन्न होने में समर्थ होते हुए कुम्भकार के सान्निध्य से उस रूप मे परिणित हो जाते है ।

परत्व और अपरत्व तीन प्रकार के है——प्रशंसाकृत क्षेत्रकृत और कालकृत । प्रशसाकृत जैसे–धर्म पर अर्थात् श्रेष्ठ है, ज्ञान पर 'श्रेष्ठ' है और अज्ञान अपर है इत्यादि ।

एक ही दिशा और एक ही काल मे स्थित दो पदार्थों में से जो दूर होता है, वह पर कहलाता है और जो सन्निकट होता है, वह अपर कहलाता है

"वर्षासु च—लपलावलयविद्योतितकदम्बिनीघटाटोपस्थगिताम्बरमार्गचितेन्द्रचापल्लेख मुसलधारासारप्रपातोपशमितधूलिजाल धरातल विभाति, कदम्बकोरककेतकीरज परागपरिमलशालिन सुरभय समीरणा विलासिनामङ्गानि समीरयन्ति, वर्षाजलप्रवाहपूरकलितकूला सरित प्रवहन्ति, विकसत्कुटजपुष्पकन्दलीशिलीन्ध्रालङ्कृता पर्वतोपत्यका भान्ति, घनघोरघटाटोपध्वनिश्रवणोपजाततीव्रोत्कण्ठा सन्त प्रवासिना जना परिशोषितमनीषा इव सङ्कल्पन्ते मयूरमण्डलचातकमण्डूकध्वनिश्रवणोद्दीपितविषमबाणविपवेगमोहिता महिलाजना क्षण क्षणद्युतिविद्युत्प्रदीपप्रकाशितासु क्षणदासु अभिसरन्ति नायकमन्दिरम्। पन्थानस्तावत्—पङ्कबहुला क्वचिज्जलाकुला दरीदृश्यन्ते—५

शरदि च— रविकिरणा पङ्क शोषयन्त स्तीव्रसन्तापं धारयन्ति, विकसितकमल—कुमुदवनानि हससारसयुतानि सरासि स्फटिकमणिभित्तिधवलजालपूर्णानि भवन्ति, वेलानियमप्राप्तपाटवानिकमलकोशजालानि प्रात सूर्यकिरणसम्पर्कात् विकसन्ति, कुमुदिनीनाथकिरणकलापस्पृष्टानि च कुमुदकुवलयवनानि सुरभिपरिमल वयन्ति दलन्ति च,—६

इत्येव रीत्या षड्ऋतुविभागो वेलानियमश्च विलक्षणपरिणामो नियामक कारण काल विना—

वर्षा ऋतु मे भूतल बिजली की चमक से प्रकाशित हो जाता है। मेघमाला के आडम्बर से आकाश आच्छादित हो जाता है। इन्द्रधनुष अपनी अनुपम छटा दिखलाती है। मूसलधार वारिवर्षा से धरा की समस्त धूल उपशान्त हो जाती है। कदम्ब, कोरक एव केतकी की सौरभमय पराग से युक्त सुगधित वायु विलासी जनो के अगो को प्रकम्पित करने लगती है। वर्षा के जल के प्रवाह के कारण सुन्दर तट वाली नदियाँ प्रवाहित होती है। पर्वतो की उपत्यकाएँ खिले हुए कुटज पुष्पो से तथा शिलीन्ध्रो से सुशोभित हो उठती है।

मेघो की घोर घटा की गर्जना सुनकर प्रवासी जनो के चित्त मे तीव्र उत्कठा जागृत हो जाती है। वे ठगे—से रह जाते है। मयूरो, चातको एवं मण्डूको की ध्वनि को सुनने से महिला जनो के मन मे काम उद्दीप्त हो जाता है, और वे क्षणभर के लिए विद्युत् रूपी प्रदीप के द्वारा प्रकाशित रात्रि मे अपने प्रेमी जनो के घर की ओर अभिसार करने लगती है। मार्ग कीचड की बहुलता वाले और कहीं—कहीं जल से युक्त दिखाई देते है।

शरद् ऋतु मे सूर्य की किरणे कीचड को सोखती हुई तीव्र सन्ताप को धारण करती है। वनो मे कमल और कुमुद विकसित हो उठते है। सरोवर हसो और सारसो से सुशोभित तथा स्फटिक मणि की भीत के समान धवल जल से परिपूर्ण होते है। वेला के नियम से प्राप्त पटुता वाले कमलो के कोशजाल प्रात काल सूर्य की किरणो का सम्पर्क पाकर विकसित होते है। चन्द्रमा की किरणो के समूह से स्पृष्ट कुमुदो और कुवलयो के वन सौरभ का वमन करते है।

इस प्रकार छह ऋतुओ का विभाग और वेला का नियम नियामक कारण काल के विना, अन्य कारणो के होने पर भी घटित नहीं हो सकता। अनेक प्रकार की शक्तियो से

इतरकारणकलापसान्निध्ये सत्यपि नोपपद्यते। तथाविधानेकशक्तिशालिकालद्रव्यापेक्ष पुनस्तथाविध-ऋतुविभागादिपरिणाम समुपपद्यते। तस्मात्तथाविधप्रतिविशिष्टकार्याऽनुमेय तावत्कालोऽवगन्तव्य ।

अन्यथा—कस्यापि नियामकस्य हेतो रसद्भावे युगपदेव एते पूर्वोक्ता भावा पराधीनत्वाभावेन सम्भवेयु अतोऽमीषा परिणामाना प्रतिनियतकालभावित्वात् समस्तितावद् अनेकशक्तिकलापयुक्त कालरूपमेक कारणम्, ताश्च कालनिष्ठा शक्तय कदाचिदेव समासादितपरिपाका स्वकार्यनिष्पादनाय प्रवर्तन्ते न सर्वदेतिभाव । क्रियागतिस्त्रिधा भवति,

प्रयोगगति'—विस्रसागति —मिश्रिकाचेति । तत्र—प्रयोगगति जीवपरिणामप्रयुक्ता शरीराहार-वर्णगन्धसरर्शसस्थानविषया भवति, विस्रसागतिस्तु—प्रयोग विना केवल जीवभिन्नद्रव्यपरिणाम-रूपा परमाण्वभ्रेन्द्रधनु परिवेषादिरूपा विचित्रसस्थाना भवति मिश्रिकागति पुन—प्रयोग विस्र-साभ्यामुभयपरिणामरूपत्वाद् जीवप्रयोगसहचरिताऽऽचेतनपरिणामात् कुम्भस्तम्भादिविषया भवति । कुम्भादयस्तु—तावत् तेन परिणामेन स्वत एवोत्पत्तु शक्ता कुम्भकारसान्निध्यात् तादृशा सञ्जायन्ते । परत्वापरत्वे च त्रिविधे स्त, प्रशसाकृते- -क्षेत्रकृते—कालकृते च भवत । तत्र प्रशसाकृते परत्वापरत्वे यथापरो धर्म' पर ज्ञानम् अपरोऽधर्म, अपरमज्ञानम्, इत्यादि ।

सम्पन्न कालद्रव्य के कारण ही पूर्वोक्त ऋतुविभाग आदि परिणाम उत्पन्न होता है। अतएव इन सब कार्यो से कालद्रव्य का अनुमान किया जा सकता है।

अन्यथा किसी भी नियामक हेतु के अभावमे एक ही साथ पूर्वोक्त सब भाव हो जाने चाहिए क्योकि वे पराधीन न होगे। मगर ऐसा होता नहीं ये सभी परिणाम अपने नियत काल में ही होते है अतएव अनेक शक्तिसमूहो से युक्त काल ही इनका कारण है। काल मे रही हुई शक्तियां कभी—कभी ही परिपाक को प्राप्त होकर अपना कार्य करने के लिए प्रवृत्त होती है, सर्वदा नहीं ।

क्रियागति तीन प्रकार की है—प्रयोगगति, विस्रसागति और मिश्रगति। जीव के परिणाम से शरीर आहार वर्ण गन्ध रस स्पर्श और सस्थान विषयक गति प्रयोगगति कहलाती है। विस्रसागति प्रयोग के विना ही होती है और वह जीव से भिन्न द्रव्यो का परिणमन है। परमाणु इन्द्रधनुष मेघपरिवेष आदि उसके विविध आकार प्रकार होते है। मिश्रगति प्रयोग और स्वभाव दोनो से होती है। वह जीव के प्रयोग के साथ अचेतन के परिणाम से कुम्भ स्तंभ आदि में उत्पन्न होती है। कुम्भ आदि उस उस रूप मे स्वय ही उत्पन्न होने में समर्थ होते हुए कुम्भकार के सान्निध्य से उस रूप मे परिणित हो जाते है।

परत्व और अपरत्व तीन प्रकार के है—प्रशसाकृत क्षेत्रकृत और कालकृत। प्रशसाकृत जैसे—धर्म पर अर्थात् श्रेष्ठ है, ज्ञान पर 'श्रेष्ठ' है और अज्ञान अपर है इत्यादि ।

एक ही दिशा और एक ही काल मे स्थित दो पदार्थों में से जो दूर होता है, वह पर कहलाता है और जो सन्निकट होता है, वह अपर कहलाता है

क्षेत्रकृते परत्वापरत्वे च यथा एकदिक्कालावस्थितयोर्द्वयोर्भावपदार्थयोर्विप्रकृष्टे परत्वव्यवहारो भवति, सन्निकृष्टे चाऽपरत्वव्यवहारो जायते। कालकृते परापरत्वे यथा—षोडशवर्षायुषः परो वर्षशतिको भवति वर्षशतिकादपरः षोडशवर्षायुः भवति। तत्र—प्रशंसाक्षेत्रकृते परत्वापरत्वे वर्जयित्वा तदितराणि सर्वाणि वर्तनापरिणामक्रियापरत्वापरत्वानि कालकृतानि भवन्ति तानि वर्तनादीनि प्रति कालस्यैवाऽपेक्षाकारणत्वात् कालद्रव्य सिध्यति ॥१८॥

मूलसूत्रम्—'पोग्गलेसु वण्णगंधरसफासा' ॥१९॥

छाया—पुद्गलेषु वर्णगन्धरसस्पर्शाः—॥१९॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वं धर्माधर्माकाशकालपुद्गलजीवानामुपकारादिकार्यप्रदर्शनद्वारा-सामान्यतः स्वरूपं निरूपितम् सम्प्रति—विशेषतः पुद्गलादीना स्वरूप निरूपितुमाह—'**पोग्गलेसु**' इत्यादि। पुद्लेपु—पूरणाद् गलनाच्च पुद्गला व्यपदिश्यन्ते तेषु वर्णगन्धरसस्पर्शा भवन्ति ते च पुद्गला परमाणुप्रभृति महास्कन्धपर्यन्ता सन्ति।

तथाच—कृष्णनीलादिवर्णः सुरभ्यसुरभिगन्धः तिक्ताऽम्लमधुरादिरस, मृदुकर्कशादिस्पर्शश्च पुद्गलानां विशेषलक्षणमवगन्तव्यम्। तथाच—वर्णवत्वं गन्धवत्व रसवत्व, स्पर्शवत्वं पुद्गलस्य लक्षणम् ॥१९॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पुद्गलविषये बहवस्तावत्परतीर्थिकाः विप्रतिपद्यन्ते, तत्र—केचन सौत्रान्तिका पुद्गलपदेन जीवमभ्युपगच्छन्ति पुनः पुनर्गत्यादानात्—जीव पुद्गल इत्युच्यते योगाचारा

कालकृत परत्व और अपरत्व ज्येष्ठता और कनिष्ठता है। जैसे सौ वर्ष वाले की अपेक्षा पर कहलाता है और सौ वर्ष वाले की अपेक्षा सोलह वर्ष वाला अपर कहलाता है। इनमे से प्रशंसाकृत और क्षेत्रकृत परत्व-अपरत्व को छोड कर उनके सिवाय सब वर्त्तना परिणाम क्रिया परत्व और अपरत्व कालकृत है क्योंकि काल उन सब मे अपेक्षा कारण है। उनसे कालद्रव्य की सिद्धि होती है ॥१८॥

मूलसूत्रार्थ—'पोग्गले सुवण्ण' इत्यादि सूत्र ॥१९॥

पुद्गलों मे वर्ण गध रस और स्पर्श होता है ॥१९॥

तत्त्वार्थदीपिका—पहले धर्म अधर्म आकाश, पुद्गल और जीवो का उपकार आदि दिखलाकर सामान्य रूप से स्वरूपनिरूपण किया गया है, अब विशेष रूप से पुद्गल आदि का स्वरूप निरूपण करने के लिये कहते है—

जिसमे पूरण और गलन अर्थात् मिलना और विछुडना होता है, वह पुद्गल कहलाता है। पुतूगल में वर्ण गंध, रस और स्पर्श पाये जाते है। पुद्गल परमाणु से लेकर महास्कध तक होते है।

अतएव कृष्ण नील आदि वर्ण, सुरभि और असुरभि गध तिक्त आम्ल मधुर आदि रस मृदु कर्कश आदि स्पर्श पुद्गलो का विशेष लक्षण जानना चाहिये। इस प्रकार जो वर्ण गध रस और स्पर्शवान् हो वह पुद्गल है ॥१९॥

तत्त्वार्थदीपिका—पुद्गल के विषय मे अन्यतीर्थिको की विविध प्रकार की विरोधी मान्यताएँ है। जैसे सौत्रान्तिक पुद्गल शब्द का अर्थ जीव कहते है क्योंकि वह पुनः

मापेक्षिकमुच्यते । अपेक्षा तावत्—प्रतीत्य बुद्धिरुच्यते, यथा—द्व्यणुकस्कन्ध' त्र्यणुकस्कन्धाद्यपेक्षया सूक्ष्मो भवति, एव चतुरणुकादीन् प्रतीत्य—अपेक्ष्यत्र्यणुकस्कन्ध सूक्ष्मो भवतीति रीत्या—आपेक्षिक सूक्ष्मत्व वहुविध वोध्यम् । द्विविध चैतत् सूक्ष्मत्वपौद्गलिकमुच्यते, यथाऽऽमलकापेक्षया बदरं सूक्ष्म भवति एव—स्थूलत्वमपि पूर्वोक्त द्विविधमवगन्तव्यम्, अन्त्यम् आपेक्षिकञ्चेति । तत्रा—ऽन्त्यं स्थूलत्व सर्वलोकव्यापिनि अचित्तमहास्कन्धे अथवोत्कृष्टप्रदेशिके द्रष्टव्यम ।

स्थूलत्वं तावत्——परमाणुप्रचयपरिणामरूपम्——अवयवविकासरूप वा विवक्षितम् । आपेक्षिक स्थूलत्व बदरापेक्षया—ऽऽमलके, आमलकापेक्षया दाडिमे वाऽवगन्तव्यम् । द्विविधमप्येतत्स्थूलत्वं पौद्गलिकपरिणाममवसेयम् । एव सस्थान खलु अवयवसन्निवेशरूपं रचनारूपम्—आकृतिविशेषरूप द्रष्टव्यम् । तद्द्विविधम्, जीवाजीवपरिग्रहात् । तत्र जीवा –पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिकाया एकेन्द्रिया द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रिया पञ्चेन्द्रियाश्च,

एतेषाञ्च जीवाना क्रमेण मसूरस्तिवुकसूचीकलापपताकाऽनित्थस्थत्वसस्थानानि पृथिव्यप्तेजो वायुप्रभृतीना पौद्गलिकानि शरीराणि भवन्तीति बोध्यम् । तत्रापि—–विकलेन्द्रियाणा त्रयाणामपि—द्वि-त्रिचतुरिन्द्रियाणा हुंडक सस्थान भवति । पञ्चेन्द्रियाणा पुन षड्विध शरीरसन्निवेशो यथायोग्यं नामकर्मोदयनिष्पन्न समचतुरस्र—न्यग्रोध-सादि कुब्ज-वामन-हुण्डलक्षणो बोध्य' उक्तञ्च——

जो सूक्ष्मत्व अन्तिम हो, वह अन्त्य कहलाता है । अन्त्य सूक्ष्मत्व परमाणु मे ही पाया जाता है, क्योकि परमाणु ही सब से अधिक सूक्ष्म है, उससे अधिक सूक्ष्मत्व किसी अन्य वस्तु मे नहीं होता । जो सूक्ष्मत्व किसी दूसरी वस्तु की अपेक्षा से माना जाता है वह आपेक्षिक कहलाता है । जैसे द्यणुक स्कन्ध त्र्यणुक स्कन्ध की अपेक्षा सूक्ष्म है, त्र्यणुक चतुरणुक की अपेक्षा सूक्ष्म है । इस प्रकार आपेक्षिक सूक्ष्मत्व अनेक प्रकार का होता है । यह दोनों ही प्रकार का सूक्ष्मत्व पौद्गलिक ही है ।

स्थूलत्व भी इसी प्रकार दो तरह का है—अन्त्य और आपेक्षिक । अन्त्य स्थूलत्व सर्व-लोकव्यापी अचित्त महास्कन्ध मे पाया जाता है, क्योकि उससे अधिक स्थूल अन्य कोई पुद्गल नहीं होता । आपेक्षिक स्थूलत्व बेर की अपेक्षा आमले में, और आमले की अपेक्षा दाडिम में होता है । परमाणुओ के प्रचय परिणाम को अथवा अवयवो के विकास को स्थूलत्व कहते है । यह दोनो प्रकार का स्थूलत्व पौद्गलिक है ।

सस्थान का अर्थ आकृति है । आकृति अवयवो की अमुक प्रकार की रचना से-बनती है । सस्थान दो प्रकार के है—जीव का और अजीव का । पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय, ये एकेन्द्रिय जीव है और द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा पचेन्द्रिय जीव अनेकेन्द्रिय है । इन पृथ्वी अप् तेजस्काय आदि जीवों के शरीर का सस्थान क्रम से मसूर के समान, स्तिवुक के समान, सूचीकलाप के समान, पताका के समान और अनित्थस्थ होता है । इनमे जो द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय नामक तीन विकलेन्द्रिय

तुल्लं वित्थडवहुलं, उस्सेहवहुंच मडहकोट्ठंच ।
हिट्ठिल्लकायमडहं, सव्वत्था संठियं हुंडं ॥इति॥

"तुल्य विस्तृतबहुलम, उत्सेधवहुलञ्च मडमकोष्ठञ्च ।
अधस्तनकायमडम, सर्वत्रासस्थित हुण्डम् ॥१॥ इति

अजीवपरिगृहीत सस्थानं वृत्त-त्र्यस्र-चतुरस्रा-ऽऽयत-परिमण्डलभेदान पञ्चविधं भवति, तत्र वृत्तं सस्थानं द्विविध भवति, युग्मायुग्मभेदात् । युग्ममपि-पुनर्द्विविधम्, प्रतर—घनभेदात्, एवमन्य दपि सस्थानमवसेयम्-अनित्थंस्थपर्यन्तम् । इत्थमुक्तेन वृत्तादिना प्रकारेण यन्न प्ररूपयितु शक्य तदनित्थस्थलक्षण सस्थानमवगन्तव्यमिति भाव सर्वमिदं सस्थान पौद्गलिक वर्तते ।

एवमेकत्वद्रव्यपरिणतिविश्लेषलक्षणो भेद पञ्चविधो भवति, औत्करिक—चौर्णिक—खण्ड—प्रतरा—ऽनुतटभेदात्, स च—भिद्यमानपुद्गलद्रव्यविषयत्वात पुद्गलपरिणामलक्षण पौद्गलिक उच्यते । भिद्यमानपुद्गलद्रव्यव्यतिरेकेणाऽनुपलब्धेर्भिन्नवस्तुद्वयमेव भेदो व्यपदिश्यते । तत्रौत्करिको भेदस्तावत् समुत्कीर्यमाणदारुप्रस्थकादिविपयो बोध्य १

अवयवशश्चूर्णन तावत् चौर्णिको भेद क्षितमुष्ट्यादिवत्—२ खण्डभेदस्तु—खण्डशो विशरण क्षिप्तमृत्पिण्डादिवत्—३ प्रतरभेद' पुन —अभ्रपटलभूर्जपत्रादिषु बहुविधपुटोच्छोटनलक्षणो बोध्य. —

जीव है, उनका सस्थान हुडक होता है । पचेन्द्रियो का यथायोग्य नाम कर्म के उदय से उत्पन्न होने वाला छह प्रकार का सस्थान होता है—समचतुरस्र, न्यग्रोध, सादि, कुब्जक, वामन और हुण्डक । कहा भी है—

जो सस्थान चौकोर हो अर्थात् जिसमें चारो ओर से नापने पर समान मान हो, वह समचतुरस्र कहलाता है । जिसमे ऊपर के अवयव बडे हो' वह न्यग्रोध सस्थान, जिसमें नीचे के अवयव बडे हो वह सादि सस्थान, जिसमें पेट भीतर घुसा हो अर्थात् जो कुबडा हो वह कुब्जकसस्थान, जो बौना हो वह वामन सस्थान और जो सभी जगह विषम हो—बेढङ्गा हो वह हुंडक सस्थान कहलाता है ।

अजीव का सस्थान पाँच प्रकार का होता है—वृत्त, त्रिकोण, चतुष्कोण, आयत (लम्बा) और परिमण्डल वृत्त सस्थान युग्म और अयुग्म के भेद से दो प्रकार का होता है । युग्म सस्थान भी दो तरह का है—प्रतर और घन इसी प्रकार अन्य सस्थान भी समझ लेने चाहिए । जो सस्थान वृत्त आदि किसी रूप मे भी न कहा जा सके वह अतित्थस्थ कहलाता है । ये सभी सस्थान पौद्गलिक है ।

किसी वस्तु के एकत्व का भग हो जाना भेद कहलाता है । भेद पाँच प्रकार का है—औत्करिक, खण्ड, चौर्णिक प्रतर और अनुत्तर । भेद विभक्त होने वाले पुद्गलद्रव्य में ही होता है, अतएव वह पौद्गलिक है । वह पुद्गल के अतिरिक्त किसी भी अन्य द्रव्य में नहीं होता ।

४ अनुतटभेदस्तु—वंशेक्षुदण्डत्वगुत्पाटनादिकलक्षणोऽवगन्तव्य —५ एते सर्वेऽपि भेदा' पौद्गलिका भवन्ति प्रागुक्तयुक्ते. । एव तमश्छायाऽऽतपोद्द्योताश्च पुद्गलद्रव्यपरिणामजन्या भवन्ति ।

तथाहि—तमस्तावदन्धकार' पुद्गलद्रव्यस्यैव परिणामो बोध्य., दृष्टिप्रतिबन्धकत्वात्—कुड्यादिवत्, आवरकत्वात्—पटादिवत् । छायाऽपि तावत्—पुद्गलपरिणामात्मिका भवति, उदक—वातवादिवत्—शिशिरत्वात्, आप्यायकत्वाच्च । एवमातपोऽपि—पुद्गलद्रव्यपरिणामो भवति, अग्न्यादिवत्, तापकत्वात्—स्वेदजनकत्वात्—उष्णत्वाच्च । एवम्—उद्द्योतश्चापि चन्द्रिकादे प्रकाशविशेष-स्वरूपः पुद्गलद्रव्यपरिणामो बोध्य जलादिवदाह्लादकत्वात्—अग्न्यादिवत् प्रकाशमयत्वाच्च ।

एव पद्मराग—नीलमणि—हीरकोपलादीनामुद्द्योतोऽपि पुद्गलद्रव्यपरिणामोऽवसेय'. जलादिवदनुष्णशीतत्वात् तस्मात्—तमश्छायादिमूर्तद्रव्यविकारत्वात्पौद्गलिक' । अथा—ऽन्धकारात्मकस्य तमसो द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्तिवैधर्म्यात् न तत् पुद्गलद्रव्यपरिणाम । अपितु—भावाभावात्मकमेव । यदि च—तमो द्रव्य स्यात्, तदा—ऽनित्यत्वाद् घटादिद्रव्यवन्निष्पद्येत, यतश्च—द्रव्यवन्निष्पद्यमानत्वाऽभावात्, अमूर्तत्वात्, स्पर्शरहितत्वात, प्रकाशविरुद्धत्वात्, परमाणुभिरकृतत्वाच्च न तमः पुद्गलद्रव्यपरिणाम' ।

चीरी जाने वाली लकडी आदि मे औत्करिक भेद होता है । किसी वस्तु का चूरा—चूरा हो जाना चौर्णिक भेद है मृत्पिंड की तरह खड—खड होना खण्डभेद है, अभ्रक (मोडल) या भोजपत्र आदि के समान तह के तह अलग—अलग होना प्रतर भेद है । बास या ईक्ख के समान किसी के छिलके अलग हो जाना अनुत्तर भेद है । पूर्वोक्त युक्ति के अनुसार ये सभी भेद पौद्गलिक है । इसी प्रकार अन्धकार, छाया, आतप और उद्योत भी पुद्गलद्रव्य के ही परिणाम है ।

अन्धकार पुद्गल का ही परिणाम है, क्योंकि वह देखने में रुकावट डालता है, जैसे दिवाल, अथवा आवरणकर्त्ता होने के कारण वह पट आदि के समान पौद्गलिक है । छाया भी पुद्गल का परिणाम है, क्योकि वह शीतल और तृप्तिजनक होती है, जैसे जल और वायु । इसी प्रकार आतप भी सतापजनक होने से, स्वेदजनक होने से और उष्ण होने से अग्नि आदि के समान पौद्गलिक है । इसी प्रकार चन्द्रिका आदि का प्रकाशरूप उद्योत भी पुद्गलद्रव्य का परिणाम है, क्योंकि वह आह्लादक होता है, जैसे जल आदि अथवा वह प्रकाश मय होता है, जैसे अग्नि आदि ।

इसी प्रकार पद्मराग, नीलम हीरा आदि मणियो का उद्योत भी पुद्गलद्रव्य की ही पर्याय है, क्योंकि वह अनुष्ण—अशीत (न गरम, न शीतल) होता है जैसे जलादि । इस प्रकार अन्धकार और छाया आदि मूर्त्त द्रव्य का कार्य होने से पौद्गलिक है ।

शका—अधकार पौद्गलिक नहीं है, क्योंकि वह द्रव्य गुण और कर्म से विलक्षण है । वह भावाभाव रूप है । अन्धकार अगर द्रव्य होता तो अनित्य होने के कारण घट आदि के समान उसकी उत्पत्ति होनी चाहिए थी, मगर द्रव्य के समान उत्पन्न नहीं होने के कारण,

नापि---तमो गुणः सम्भवति, तदाश्रयाऽनुपलब्धे , गुणस्य--द्रव्याश्रितत्वेनैवोपलभ्यमानत्वात्, प्रकाशविरुद्धत्वाच्च, । एव--तम कर्माऽपि न सम्भवति, कर्मणोऽपि--द्रव्याश्रितत्वेनैवोपलभ्यमानत्वेन तमस आश्रयाऽनुपलब्धे । तमो यदि क्रिया स्यात्, तर्हि तस्य क्रियारूपस्य तमस-आश्रयोऽपि कश्चिदुपलभ्येत, यतश्च--तस्याश्रयो नोपलभ्यते. अनो न नम क्रियापि भवितुमर्हति, अपितु--तेजसो यत्राऽभावो भवति तत्रैव--तम उपलभ्यते, तेजसो द्रव्यान्तरावरणाच्चान्धकारो भवति।

तस्मात्---तेजोऽभाव एव तम न तु पुद्गलपरिणाम इतिचेत् ? मैवम्। तमस्तावत् पौद्गलमेव कुड्यादिवत्---व्यवधानक्रियासामर्थ्यात्, मूर्तत्वात्, स्पर्शवत्वात्, परमाणुकृतत्वाच्च। तथाच--अमूर्तत्व--स्पर्शरहितत्व---परमाण्वकृतत्वानां हेतुत्रयाणा तमसोऽपौद्गलिकत्वसाधकानामसिद्धत्वात्।

अथ तमसो मूर्तत्वादिमत्वे कथं न स्पर्शादय तत्र सलभ्यन्तेऽस्माभिरिति चेत्--अत्रोच्यते तमसस्तथाविधपरिणतिशालित्वात्--गवाक्षदृश्यरेणुस्पर्शादिवत् तस्य स्पर्शादयो नाऽनुभूयन्ते । तथा--जलस्याग्निना विरोध', एव तैजसप्रकाशेन सह तमसोऽपि पुद्गलपरिणामस्य विरोधो भवति, अलिन्दकस्थापितप्रदीपरश्मीना पुष्करा--ऽऽवर्तकधाराभिरप्यनुपघातात् न सर्वथा जलाऽनलयोर्विरोध एव, अपितु---उत्पत्तिस्थान एव विरोधो बोध्य' ।

यदि--पौद्गलिक न स्यात् तदा--तेजोऽभावेन--तमसा प्रकाशस्य विरोधो न स्यात् इति भाव' । "उक्तश्चोत्तराऽध्ययने २८ अध्ययने---

---

अमूर्त होने के कारण स्पर्श से रहित होने के कारण प्रकाश से विरुद्ध होने के कारण और परमाणुओ द्वारा उत्पन्न न होने के कारण वह पुद्गल, द्रव्य का परिणाम नहीं हो सकता।

अन्धकार गुण भी नहीं हो सकता, क्योकि उसका आधार उपलब्ध नहीं होता। गुण द्रव्य के आश्रित ही होता है। प्रकाश का विरोधी होने से भी अन्धकार गुण नहीं हो सकता।

अन्धकार कर्म भी नहीं है, क्योकि कर्म भी किसी न किसी द्रव्य के आश्रित ही होता है और अन्धकार का कोई आश्रय उपलब्ध नहीं होता । अन्धकार यदि क्रियारूप होता तो उसका कोई आश्रय भी प्रतीत होता, मगर उसका कोई आश्रय उपलब्ध नहीं होता, अतएव उसे क्रिया नहीं माना जा सकता। जहाँ तेज का अभाव होता है वहीं अन्धकार की प्रतीति होती है। तेज जब किसी दूसरे द्रव्य से आवृत हो जाता है तभी अन्धकार होता है। इससे यहीं सिद्ध होता है कि अन्धकार पुद्गल का परिणाम नहीं वरन् तेज का अभाव ही है।

समाधान--यह कहना युक्तिसगत नहीं। अन्धकार पौद्गलिक है, क्योकि वह व्यवधान क्रिया में समर्थ होता है, मूर्त्त है, स्पर्शवान् है और परमाणुओ से उत्पन्न होता है, जैसे दीवार अतएव अन्धकार को अपौद्गलिक सिद्ध करने के लिए प्रयुक्त आपके अमूर्त्तत्व, स्पर्शरहितत्व और परमाणु--अकृतकत्व, ये तीनों हेतु असिद्ध है।

शंका--अगर अन्धकार मूर्त्त है तो हम लोगो को उसके स्पर्श आदि की प्रतीति क्यो नहीं होती ?

"सद्दंधयार-उज्जोओ पभाछायातवोइ वा ।
वण्णरसगंधफासा पुग्गलाणं तु लक्खणं ॥१२॥
"एगत्तंच पुहुत्तं च संखासंठाणमेव च ।
सजोगाय-विभागाय पज्जवाणं तु लक्खणं ॥१४॥

छाया—"शब्दान्धकारउद्द्योतः प्रभाछायाऽऽतप इति वा ।
वर्णरसगन्धस्पर्शाः पुद्गलानान्तु लक्षणम् ।
"एकत्वञ्च पृथक्त्वञ्च संख्यासंस्थानमेव च ।
सयोगाश्च विभागाश्च पर्यवाणां तु लक्षणम् ॥इति ॥२०॥

मूलसूत्रम्—"पोग्गला दुविहा परमाणुणो खंदाय" ॥२१॥

छाया—पुद्गलाः द्विविधाः परमाणवः स्कन्धाश्च—" ॥२१॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वोक्ता रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-परिणतिशालिन पुद्गला द्विविधा प्रज्ञप्ता, परमाणव'—स्कन्धाश्च । तथा च—पुद्गलजातीयत्वे सत्यपि निरवयव-सावयवभेदेन प्राप्तानन्त्येऽपि तेषां स्थूल-सूक्ष्मभेदेन द्वैविध्यमवगन्तव्यम् । तत्र—परमाणुपुद्गला अस्मदादीन्द्रियव्यापारातीता' केवलसशब्देन समधिगम्या भवन्ति, तेषां निरवयवत्वात्-सूक्ष्मत्वाच्च ।

स्कन्धपुद्गलाश्च—ग्रहणादानादिव्यपारसमर्था भवन्ति, स्थूलत्वात्-सावयवत्वाच्चेति भाव ।

समाधान—जैसे गवाक्ष में रज कण दिखलाई देते है पर उनका स्पर्श प्रतीत नहीं होता, उसी प्रकार अन्धकार का परिणमन ऐसा विलक्षण है कि हमें उसके स्पर्श की प्रतीति नहीं होती । जैसे अग्नि के साथ जल का विरोध है, वैसे ही प्रकाश के साथ अन्धकार का विरोध है । किसी बराण्डे मे रक्खे हुए दीपक की रश्मियो का उपघात पुष्करावर्त्त मेघ की मूसल जैसी धाराएँ भी नहीं कर सकतीं । अतएव जल और अनल (अग्नि) का सर्वथा ही विरोध हो यह बात नहीं है अपितु उत्पत्तिस्थान में ही उनका विरोध होता है ।

अगर अन्धकार पौद्गलिक न होता तो उसके साथ प्रकाश का विरोध भी नहीं हो सकता था । उत्तराध्ययन सूत्र के २८ वें अध्ययन में कहा है—

'शब्द, अन्धकार, उद्योत प्रभा, छाया, आतप, वर्ण, रस, गध, और स्पर्श यह सब पुद्गलों के लक्षण है ।

'एकत्व, पृथक्त्व, सख्या, सस्थान, सयोग और विभाग, ये सब पर्यायो के लक्षण है ॥२०॥

मूलसूत्रार्थ—"पोग्गला दुविहा" इत्यादि । सूत्र २१

पुद्गल दो प्रकार के होते है परमाणु और स्कध ॥२१॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वोक्त रूप, रस, गध और स्पर्श वाले पुद्गल दो प्रकार के कहे गए हैं—परमाणु और स्कन्ध । यद्यपि इन दोनो मे पुद्गलत्व जाति समान है, फिर भी अवयवविहीन (रहित) होने से अणु सूक्ष्म है और सावयव होने से स्कध स्थूल होता है । यही दोनो में अन्तर है । परमाणु हमारी इन्द्रियो से अगोचर है, सिर्फ अनुमान और आगम से

उक्तञ्च-स्थानाङ्गसूत्रे २-स्थाने३-उद्देशके८२-सूत्रे—"**दुविहा पोग्गला पण्णत्ता, तंजहा-परमाणुपोग्गला, नोपरमाणुपोग्गला चेव** " इति । द्विविधा पुद्गला प्रज्ञप्ता, तद्यथा-परमाणुपुद्गला -नोपराणुपुद्गलाश्चैव, इति ॥२१॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति — पूर्वं पुद्गला प्रतिपादिता सम्प्रति तेषा भेदान् सक्षेपत प्रतिपादयितुमाह-"**पोग्गला दुविहा—**" इत्यादि । पुदगलास्तावत् द्विविधा प्रज्ञप्ता, परमाणव स्कन्धाश्च, तत्रा-ऽण्यन्ते इत्यणव. परमाश्च ते अणव परमाणव सूक्ष्मत्वात् तेषामस्मदादीन्द्रियव्यापाराऽविषयत्वात् केवलसशब्दे समधिगम्यत्व वर्तते, न त्विन्द्रियविपयत्वम्-तथाचोक्तम् -

"**कारणमेव तदन्त्यं, सूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणुः ।**
एकरसगन्धवर्णो, द्विस्पर्शः कार्यलिङ्गश्च— ॥१॥ इति ।

सर्वेषामेव द्व्यणुकस्कन्धप्रभृतिस्थूलसूक्ष्मभेदयावदचित्तमहास्कन्धपर्यन्तकार्यम्प्रति परमाणव कारणम्, तच्च-कारणम् अन्त्यम्, अन्तेऽवसाने वर्तते इत्यन्त्यम् सकलकार्यभेदपर्यन्तवर्तित्वात् । तत्र-द्व्यणुकादिर्महास्कन्धपर्यन्तस्य मूर्तस्य वस्तुन परमाणव कारणम्, अमूर्तस्य-ज्ञानादेरात्मादय कारणम् तदुभयमपि कारण न सर्वथा विनष्ट भवति । तथासति-तस्या-ऽसत्वापत्ति स्यात् न वा तादृगवस्थं तदुभय किञ्चिज्जनयति गगनकुसुमवत् ते च परमाणव सूक्ष्मा निरवयवा नित्याश्च

जाने जाते है । वे निरवयव और सूक्ष्म होते है ।

स्कधरूप पुद्गल हमारे ग्रहण मे आ सकते है, क्योकि वे सावयव और स्थूल होते है । स्थानांगसूत्र के दूसरे स्थानक के तीसरे उद्देशक के ८२ वे सूत्र मे कहा है—

पुदगल दो प्रकार के है—परमाणुपुद्गल और नोपरमाणु पुद्गल ॥२१॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पहले पुद्गलो का प्रतिपादन किया जा चुका है, अब सक्षेप मे उनके भेदो का निरूपण करते है—पुद्गल दो प्रकार के है—परमाणु और स्कन्ध ।

परम अणु को परमाणु कहते है । परमाणु इतने सूक्ष्म होते हैं कि वे हमारी इन्द्रियो के विषय नहीं हो सकते । उन्हे अनुमान और आगम प्रमाण से ही जाना जा सकता है । कहा भी है—

परमाणु कारण ही होता है, कार्य नहीं, तथा सूक्ष्म और नित्य होता है । उसमे एक रस, एक गध, एक वर्ण और दो स्पर्श होते है । कार्य ही उसका *लिंग है अर्थात्* स्कध से उसका अनुमान किया जाता है ।

जितने भी द्व्यणुक से लेकर अचित्त महास्कंध पर्यन्त स्कन्ध है, उनका कारण परमाणु है, क्योकि परमाणुओ के मेल से ही उनकी निष्पत्ति होती है वह अन्त्य है, क्योंकि समस्त भेदो के अन्त तक व्याप्त रहता है ।

द्व्यणुक से लगाकर महास्कन्ध तक की मूर्त्त वस्तुओ का कारण परमाणु है । अमूर्त्त ज्ञानादि के कारण आत्मा आदि है । इन दोनों कारणो का सर्वथा विनाश नहीं होता । ऐसा हो तो उसकी असत्ता की प्राप्ति हो जाए और उस अवस्था में वे किसी को उत्पन्न न कर सके, जैसे कि आकाशकुसुम किसी को उत्पन्न नहीं कर सकता ।

भवन्ति एवम् प्रत्येक ते एकरसगन्धवर्णवन्तो द्विस्पर्शवन्त कार्यलिङ्गाश्च भवन्ति । तत्र--परमाणवात्मादि परिणामिकारण भवति, तस्य परमाणो आत्मनश्च सत्वे द्व्यणुकादि--ज्ञानादि वा कार्यं भवत्येव, परमाणो रात्मश्चाऽसत्वे न ते कार्ये भवत । तथाच--यस्मिन् सति यस्य सद्भावो भवत्येव, तदभावे च यद् न भवत्येव, तत्कार्यं व्यपदिश्यते ।

तदन्यत्कारण बोध्यम्, "तत्सत्वे तत्सत्ता" "तदभावे--तदभावः--" इत्यन्वयव्यतिरेकयोः कार्यकारणभावनियामकत्वात्, एतेन यस्मिन् सति कार्य भवत्येव, तदन्यथा च न भवत्येवेत्यवधारणमनुपपन्नम्, करवीरोत्पत्तेररुणोत्पलफलात्-स्वकाण्डात् स्ववीजत्वाच्च दृष्टत्वात्, दूर्वोत्पत्तेश्च गोलोमाऽऽविलोमादिभ्य., गोमयादिभ्यो वृश्चिकोत्पत्तेश्च दर्शनात् इत्यपि समहितम् ।

कारणे सत्येव कार्योत्पत्तिरिति नियमस्य सर्वत्रैव व्यवस्थितत्वात्, तथाविधकार्योत्पादकतयाऽरुणोत्पलादिगोमयादीनापि कारणत्वोपपत्ते । एव--प्रकृतेऽपि परमाणुपु सत्सु भवत्येव द्व्यणुकादिकम्, आत्मनि च सति भवत्येव ज्ञानादिकमिति भाव । सक्षेपत परिणामिकारणापेक्षा. परिणामा' प्रतिस्वमुत्पत्तिमासादयन्ति, कारणवैकल्ये तु मन्त्रप्रतिबद्धविषमारणशक्तिवत् कार्याणि न प्रादुर्भवन्ति, एवमेव--कर्तृनिमित्तापेक्षारूपाणि कुम्भकारदण्डाकाशादीनि कारणान्यपि--उक्तदिशैव निरूपणीयानीति भाव' ।

परमाणु सूक्ष्म, निरवयव और नित्य है । प्रत्येक परमाणु मे एक रस, एक गध, एक वर्ण और दो स्पर्श होते है । कार्य से परमाणुओ का अनुमान किया जाता है । परमाणु द्व्यणुक आदि का उपादान कारण है और आत्मा ज्ञान का उपादान कारण है । परमाणु और आत्मा के अस्तित्व में द्व्यणुक आदि और ज्ञान आदि कार्य होते ही है। अगर परमाणु का और आत्मा का अभाव माना जाय तो उनके पूर्वोक्त कार्य उत्पन्न नहीं हो सकते ।

जिसके होने पर ही जो होता है और जिसके अभाव मे जो नहीं होता, वह उसका कार्य--कारण कहलाता है ।

अमुक के होने पर ही अमुक का होना---जैसे अग्नि के होने पर ही धूम का होना---और अमुक के न होने पर अमुक का न होना--जैसे अग्नि के अभाव में धूम का न होना---यह अन्वयव्यतिरेक कहलाता है। इसी के अधार पर कार्य कारणभाव का निश्चय किया जाता है । अर्थात् इसी से हम जानते हैं कि अग्नि कारण और धूम कार्य है ।

जिसके होने पर कार्य होता ही है और जिसके अभावमें नहीं ही होता है इस प्रकार का अवधारण करना अयुक्त है क्योकि करवीर की उत्पत्ति लाल कमल के फल से, अपनी शाखा से और अपने वीज से भी देखी जाती है, दूब की उत्पत्ति गाय के रोमो से और भेडके रोमो आदि से होती है और गोबर आदि से विच्छू की उत्पत्ति देखी जाती है इसका समाधान हो जाता है ।

परमाणो सूक्ष्मत्वञ्चाऽऽगमतः समधिगम्यमस्मदादिभि', द्रव्यार्थिकनयेन च तस्य नित्यत्वमवसेयम् पर्यायार्थिकनयेन तु—नीलादिभिराकारै परमाणोरनित्यत्वमवगन्तव्यम् न तत' परमणुतर किमपि द्रव्यं वर्तते, अत' परमाणुरित्युच्यते, एवंविध' स परमाणु' पञ्चानामपि तिक्ताम्ल-मधुरकटुकषायाणा रसानामन्यतमेन रसेन युक्तो भवति, द्वयोश्च सुरभि-दुरभिगन्धयोरेकेन गन्धेन, पञ्चविधस्य—शुक्लकृष्णहरितपीतरक्तवर्णानामन्यतमेन वर्णेन च युक्तो भवति, चतुर्णाञ्च—स्पर्श-युग्मानां मध्येनाविरुद्धेन स्पर्शद्वयेन युक्तश्च बोध्य ।

एव कार्येणाऽस्मदादिप्रत्यक्षदृश्येन बादरपरिणामशालिनाऽनेकविधेन पुद्गलादिस्कन्धात्मकेन स परमाणु लिङ्ग्यते- समधिगम्यते इति कार्यलिङ्गश्च द्रष्टव्य स्कन्धपुद्गलस्तु अवयवीबादर. प्रत्यक्षदृश्यो भवति, परमाणव अवद्धा' परस्परेणाऽसयुक्ता भवन्ति, स्कन्धास्तु—बादरपरिणामपरिणता अष्टस्पर्शा बद्धा एव परमाणुसघाता' भवन्ति ।

सूक्ष्मपरिणामशालिन पुन स्कन्धाश्चतु'स्पर्शा परमसहत्या च व्यवस्थिता भवन्तीति भाव' तथाच प्रदेशमात्रभाविना स्पर्शादिपर्यायाणामुत्पत्तिसामर्थ्येन परमागमे अण्यन्ते—साध्यन्ते कार्यलिङ्गं दृष्ट्वा सद्रूपतया प्रतिपाद्यन्ते इत्यणव, परमाश्चते अणव परमाणव' इति परमाणु-पदव्युत्पत्त्या सूक्ष्मत्वात् आत्मादय' आत्ममध्या आत्मान्ताश्च भवन्ति तथाचोक्तम्—

कारण के होने पर ही कार्य की उत्पत्ति होती है, यह नियम सर्वत्र लागू होता है । उन-उन कार्यों के जनक होने से लाल कमल आदि और गोबर आदि भी कारण ही सिद्ध होते है । इसी प्रकार यहाँ भी परमाणुओं के होने पर ही द्व्यणुकादि होते है और आत्मा के होने पर ही ज्ञान होता है । यह भाव है ।

कारण के अभाव में या विकलता में कार्य की उत्पत्ति नहीं होती, जैसे विष में मारण शक्ति होने पर भी यदि वह शक्ति मत्र के द्वारा प्रतिबद्ध हो गई हो तो उसके द्वारा मारण-कार्य नहीं होता । कर्त्ता रूप निमित्त की अपेक्षा रखने वाले कुम्भकार, दड, आकाश आदि कारणो का निरूपण भी पूर्वोक्त प्रकार से ही कर लेना चाहिए ।

हम लोगो को परमाणु की सूक्ष्मता आगम से जान कर द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से नित्यता समझनी चाहिये । परमाणु से अधिक छोटा अन्य कोई द्रव्य नहीं है इसी कारण वह परमाणु कहलाता है । ऐसा यह परमाणु तिक्त आम्ल, मधुर, कटुक और कषाय रसों में से किसी एक रस से युक्त होता है, सुरभि और दुरभि गन्धों में से एक गन्ध वाला होता है, शुक्ल, कृष्ण, हरित, पीत और रक्त—इन पाँच वर्ण मे से एक वर्ण वाला होता है और चार स्पर्शयुगलो में से अविरोधी दो स्पर्शों से युक्त होता है ।

बादर परिणाम वाले अनेक प्रकार के पुद्गल आदि कार्यों से, जो हमे प्रत्यक्ष दिखाई

"अत्तादि अत्तमज्झं अत्तत्त णेव इंदिये गेज्झं ।
जं दव्वं अविभागी त परमाणु विजाणेहि ॥ १ ॥ इति
"आत्मादि-आत्ममध्यम् आत्मान्त नैव इन्द्रियग्राह्यम् ।
यद्द्रव्यम्-अविभागि त परमाणु विजानीहि ॥ १ ॥ इति

एव स्थूलभावेन ग्रहणनिक्षेपणादि व्यापारस्कन्धनात् स्कन्धा इति सञ्ज्ञायन्ते । क्वचित्पु-नारूढौ सत्या क्रियाया उपलक्षतया समाश्रयणाद ग्रहणादिव्यापाराऽयोग्येष्वपि द्व्यणुकादिपु स्कन्ध इति सञ्ज्ञा प्रवर्तते, पुद्गलानामनन्तभेदत्वेऽपि परमाणुजात्या--स्कन्धजात्या च द्वैविध्यमापद्य-मानैस्तै' सर्वे गृह्यन्ते इति तज्जात्याधारानन्तभेदान् सूचियतु बहुवचनमुक्तम् ।

तत्र--पुद्गलपरमाणव स्पर्शरसगन्धवर्णशालिनो भवन्ति । स्कन्धात्मकपुद्गला' पुन शब्दा-न्धकारोद्योतप्रभाछायाऽऽतपसूक्ष्मत्वबादरत्वसस्थानभेदवन्तो भवन्ति, स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तश्च । एवञ्च -"अणवः कार्यलिङ्गाः स्यु द्विस्पर्शाः परिमण्डलाः ।
एकवर्णरसा नित्याः स्युरनित्याश्च पर्यायैः ॥१॥" इत्युक्त सङ्गच्छते ॥ २१ ॥

देते है, परमाणु का अनुमान किया जाता है। इस कारण वह कार्यलिंग कहलाता है । स्कन्धपु द्गल सावयव बादर और प्रत्यक्ष दृश्य होता है । परमाणु अबद्ध होते है । स्कंध मे आठो स्पर्श पाये जा सकते है और वे परमाणुओ के पिण्ड होने के कारण बद्ध ही होते है ।

सूक्ष्मपरिणाम वाले स्कंध चार स्पर्शवाले होते है और परम सहति से व्यवस्थित होते है इस प्रकार प्रदेशमात्रभावी स्पर्श आदि पर्यायो के उत्पत्तिसामर्थ्य से परमागम मे जो कार्य रूप लिंग के द्वारा साधे जाते है --सत्रूप में प्रतिपादन किये जाते है-- वे अणु कहलाते है । परम अणु को परमाणु कहते हैं । अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण वह स्वय ही अपनी आदि, स्वयं ही अपना मध्य और स्वय ही अपना अन्त है । तात्पर्य यह है कि एक अप्रदेशी होने के कारण उसमें आदि मध्य और अन्त के विभाग नहीं होता। कहा भी है--

'जो द्रव्य आदि मध्य और अन्त के विभाग से रहित है, जो इन्द्रियो द्वारा ग्राह्य नहीं है और जो निर्विभाग है, उसे परमाणु समझना चाहिए ।'

जो पुद्गल स्थूल होने के कारण ग्रहण किया जा सके, रक्खा जा सके, अन्यान्य व्य-वहारों में आ सके वह स्कन्ध कहलाता है । यद्यपि द्व्यणुक आदि कोई--कोई सूक्ष्म स्कन्ध ग्रहण निक्षेप आदि व्यवहारों के योग्य नहीं होते तथापि रूढि के अनुसार वे भी स्कन्ध कहलाते है । पुद्गलो के यो तो अनन्त भेद है मगर परमाणु और स्कध के भेद से वह दो प्रकार के ही है । इन दो भेदो में ही उन सब का समावेश हो जाता है । व्यक्तिश वैसे ही परमाणु भी अनन्त हैं और स्कध भी अनन्त है, यह सूचित करने के लिए बहुवचन का प्रयोग किया गया है ।

इनमे से पुद्गलपरमाणु स्पर्श, रस, गध और वर्ण वाले होते है और स्कन्धपुद्गल शब्द, अन्ध-कार,, उद्योत, प्रभा, छाया, आतप, सूक्ष्मत्व, बादरत्व, सस्थान और भेद वाले होते है और

मूलसूत्रम्—"एगत्तपुहुत्तेहिं कंधा पुहुत्तेण परमाणू य" ॥ २२ ॥

छाया—एकत्व पृथक्त्वाभ्यां स्कन्धा पृथक्त्वेन परमाणवश्च ॥२२॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वं पुद्गलाना पराणुस्कंधभेदाद् द्वैविध्यमुक्तम् सम्प्रति–परमाणुपुद्गलस्य स्कन्धपुद्गलस्य चोत्पत्तिहेतुमाह–**एगत्तपुहुत्तेहि"** इत्यादि । एकत्व–पृथक्त्वाच्च स्कन्धा उत्पद्यन्ते पृथक्त्वेन परमाणवश्चोत्पद्यन्ते । तत्र—पृथग्भूताना परमाणुपुद्गलादीना सघातापत्तिरेकत्वम् ।

तस्मात्—सघातानां च तेषा द्वितीयनिमित्तवशात् विदारणलक्षणो भेद. पृथक्त्वम् तस्माच्च स्कन्धा उत्पद्यन्ते तद्यथा—द्वयो पुद्गलपरमाण्वो सघातलक्षणाद् एकत्वाद् द्विप्रदेश' पुद्गलस्कन्धः उत्पद्यते । एव द्विप्रदेशस्य स्कन्धस्य परमाणोश्चैकस्य सघातलक्षणादेकत्वात् त्रयाणां वा परमाणूनां सघातलक्षणादेकत्वात् त्रिप्रदेश स्कन्ध उत्पद्यते, द्वयोर्द्विप्रदेशयोः सघातलक्षणादेकत्वाद्वा चतुर्णा परमाणूनां सघातलक्षणादेकत्वाद्वा चतु. प्रदेशः स्कन्ध उच्यते ।

एवं सख्येयाऽसख्येयाऽनन्तानामनन्तानां च सघातलक्षणादेकत्वात् तावत्प्रदेशाः स्कन्धा उत्पद्यन्ते एवमेतेषामेव द्विप्रदेशस्कन्धप्रभृतिसख्येयासख्येया–ऽनन्ताऽनन्तानन्तप्रदेशस्क-

---

स्पर्श, रस, गध, वर्ण वाले भी । अतएव यह कथन सगत हो जाता है कि—

'अणु अपने कार्य (घट आदि) के द्वारा ही जाने जाते है, दो स्पर्श वाले, एक वर्ण, एक रस और एक गध वाले होते है । द्रव्य की अपेक्षा से नित्य और पर्याय की अपेक्षा से अनित्य भी होते हैं ॥२१॥

मूलसूत्रार्थ—"एगत्त पुहुत्तेहिं खंधा" इत्यादि ।

स्कधो की उत्पत्ति एकत्व से, पृथक्त्व से तथा एकत्वपृथक्त्व से होती है, परमाणु सिर्फ पृथक्त्व से उत्पन्न होती है ॥२२॥

तत्त्वार्थदीपिका—परमाणु और स्कन्ध के भेद से पुद्गल के दो भेद पहले कहे जा चुके है, अब परमाणु और स्कन्ध की उत्पत्ति का कारण बतलाते है—

"स्कन्ध एकत्व से, पृथक्त्व से और एकत्व–पृथक्त्व दोनो से उत्पन्न होते है । परमाणुओं की उत्पत्ति सिर्फ पृथक्त्व से ही होती है ।

जो परमाणु या स्कध अलग–अलग हो, उनका सघात हो जाना अर्थात् आपस में मिल जाना या पिण्ड रूप में परिणत हो जाना एकत्व कहलाता है । इसके विपरीत कोई अन्य निमित्त मिलने से मिले हुए पुद्गलो का बिछुड जाना अलग–अलग हो जाना पृथक्त्व कहलाता है । स्कधो की उत्पत्ति इन दोनों कारणो से होती है । जैसे दो परमाणुओ के मिलने से द्विप्रदेशी स्कंध उत्पन्न होता है । इसी प्रकार द्विप्रदेशी स्कन्ध और एक परमाणु के मिलने से अथवा तीन परमाणुओ के मिलने से त्रिप्रदेशी स्कन्ध बन जाता है । दो द्विप्रदेशी स्कन्धो के मिलने से अथवा एक त्रिप्रदेशी स्कध और एक परमाणु के मिलने से अथवा चार परमाणुओ के मिलने से चतुः प्रदेशी स्कन्ध बन जाता है ।

न्धानां पर्यन्तवर्तिन॰ स्कन्धादेकदेशस्य परमाणोर्भिन्नत्व लक्षणात्—पृथक्त्वात् तन्न्यून स्कन्धो यावद् द्विप्रदेशस्कन्धपर्यन्ता. स्कन्धा उत्पद्यन्ते । एवम्--सघातभेदलक्षणाद् एकत्व—पृथक्त्वाच्च एकसामयिकाद् द्विप्रदेशादय. स्कन्धा॰ उत्पद्यन्ते अन्यतो भेदेन पृथक्त्वलक्षणेन अन्यस्य सघातलक्षणेन एकत्वेनेति ।

एवम्——सघाताना द्वितीयनिमित्तवशाद् विदारणरूपभेदलक्षणपृथक्त्वादेव परमाणुरुत्पद्यते, न तु पृथग्भूतानां सघातलक्षणादेकत्वात् परमाणुरुत्पद्यते इति भाव ॥२२॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः – पूर्वसूत्रे पुद्‌गलद्रव्याणा परमाणुलक्षण.—स्कन्धलक्षणश्च परिणाम॰ प्रतिपादित. स च—तथाविध. परिणाम. किम् अनादि आहोस्वित् सादि ? इत्याशङ्का समाधातु. सादिरसौ परिणामो भवति नत्वनादि. उत्पत्तिमत्त्वात् अत॰परमाणुस्कन्धानामुत्पत्तिहेतुमाह **'एगत्तपुहुत्तेहिं'** इत्यादि ।

एकत्वपृथक्त्वाभ्यां पुद्‌गलानां स्कन्धा उत्पद्यन्ते पृथक्त्वे च पुगद्‌लानां परमाणव उत्पद्यन्ते परमार्थतस्तु——सह्वतत्वलक्षणादेकत्वात्, भिन्नत्वलक्षणात् पृथक्त्वात् सघातभेदलक्षणात् एकत्व-

---

इसी प्रकार सख्यात, असख्यात, अनन्त और अनन्तानन्त परमाणुओ अथवा छोटे—छोटे स्कन्धो या स्कंधो और परमाणुओ के मेल से उतने ही प्रदेश वाले स्कंध उत्पन्न होते है।

इस प्रकार जैसे एकत्व से स्कंध उत्पन्न होते है, उसी तरह पृथक्त्व अर्थात् भेद से उत्पन्न होते है । जब किसी बडे स्कध मे से एक परमाणु पृथक् हो जाता है तो वह छोटा स्कंध रह जाता है । यह भी स्कंध की उत्पत्ति है । जब एक बडा स्कध दो भागो में या अनेक भागो में विभक्त हो जाता है तो अपेक्षाकृत छोटे—छोटे अनेक स्कधो की उत्पति होती है । अगर उन छोटे—छोटे स्कधो मे भी पृथक्त्व पैदा हो जाय तो और अधिक छोटे अनेक स्कध उत्पन्न होते है । इस प्रकार द्विप्रदेशी स्कध तक भेद से उत्पन्न हो सकते है ।

कभी—कभी ऐसा होता है कि एक बडे स्कध का एक भाग पृथक् हुआ और दूसरे स्कंध का भाग उसमे मिल गया, यहाँ एकत्व भी हुआ और पृथक्त्व भी हुआ । इस एकत्व पृथक्त्व से भी स्कंध बनते है ।

किन्तु परमाणु की उत्पत्ति एकत्व अर्थात् सघात से न-ीं होती वह भेद—पृथक्त्व से ही उत्पन्न होता है । जब किसी स्कध मे से एक प्रदेश पृथक् होकर स्वतन्त्र हो जाता है, तब परमाणु कहलाने लगता है । इस प्रकार परमाणु पृथक्त्व से ही उत्पन्न होता है ॥२२॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पूर्वसूत्र में पुद्‌गलो का परमाणु रूप और स्कधरूप परिणमन बतलाया गया है, मगर वह परिणमन क्या अनादि है अथवा सादि ? इस शंका का समाधान करने के लिए--वह परिणमन सादि है, अनादि नहीं है, क्योकि वह उत्पत्तिमान् है——परमाणुओं और स्कंधों की उत्पत्ति का कारण कहते है——

पृथक्त्वाच्च पुद्गलानां द्विप्रदेशादय स्कन्धा उत्पद्यन्ते तथाहि—द्वयो परमाणुपुद्गलयो सघात-भेदलक्षणात् द्विप्रदेश पुद्गलस्कन्ध उत्पद्यते ।

द्विप्रदेशस्कन्धस्य परमाणोश्चैकस्य त्रयाणा वा परमाणूनां सघातलक्षणादेकत्वात् त्रिप्रदेश स्कन्ध उत्पद्यते एव त्रिप्रदेशस्कन्धस्य परमाणोश्चैकस्य द्वयो र्द्विप्रदेशस्कन्धयोर्वा चतुर्णां वा परमाणूनां सघातलक्षणादेकत्वात् चतु प्रदेश स्कन्ध. उत्पद्यते। एव सख्येयानामसख्येयानामनन्तानामनन्तानाञ्च प्रदेशानां सघातलक्षणादेकत्वात् सख्येयासख्येयानन्तानन्तानन्तप्रदेशा स्कन्धा उत्पद्यन्ते ।

एवम्—एतेषामेव द्व्यणुकादिक्रमेणाऽनन्ताऽनन्तपरमाणुकपर्यवसानाना स्कन्धाना तथा विधसघातलक्षणादेकत्वात्समुत्पद्यमानाना पर्यन्तवर्तिन स्कन्धाद् यदा–एक परमाणुर्भिन्न, सन् पृथग्भवति तदैकपरमाणु भेदात् तन्न्यून स्कन्ध उत्पद्यन्ते एवम्—द्वित्रादिपरमाणुभेदक्रमेणाऽधोऽधो यावद् द्विप्रदेशस्कन्ध समुत्पद्यते ।

एवम्—एत एव पूर्वोक्ता द्व्यणुकप्रभृतय स्कन्धा सघातभेदलक्षणाभ्यामेकत्व–पृथक्त्वाभ्यामुत्पद्यन्ते । तथाच–बिभागीय काल परमविरुद्धश्च समयो व्यपदिश्यते, तत्रैकस्मिन् समयेऽभिन्न-काले द्व्यणुकस्कन्धाद् एक परमाणुर्भिद्यते, परश्च–परमाणु सममेव सहन्यते, तस्मात्–सघातभेद-लक्षणाभ्यामेकत्व-पृथक्त्वाभ्यां पूर्वोक्ता' द्विप्रदेशादय स्कन्धा उद्भवन्ति अन्यस्य परमाणो

एकत्व और पृथक्त्व से पुद्गलों के उत्पन्न होते है और पृथक्त्व से पुद्गलों के परमाणु उत्पन्न होते है ।

वास्तव मे सघातरूप एकत्वसे, भेदरूप पृथकत्व से और सघातभेदरूप एकत्व-पथक्त्व से पुदगलो के द्विप्रदेशी आदि स्कध उपन्न होते है । जैसे–दो परमाणु पुदगलो के सघात रूप एकत्व से अर्थात् मिलने से द्विप्रदेशी पुद्गलस्कध उत्पन्न होते है ।

एक द्विप्रदेशी स्कंध और एक परमाणु के सघात से अथवा तीन परमाणुओ के सघात से त्रिप्रदेशीस्कध की उत्पत्ती होती है । इसी प्रकार एक त्रिप्रदेशीस्कध और एक परमाणुसे अथवा दो द्विप्रदेशी स्कधों से अथवा चार परमाणु से चार प्रदेशी स्कध उपन्न होता है। इसी तरह सख्यात असख्यात, अनन्त और अनन्तानन्त प्रदेशो के सघात रूप एकत्व से सख्यात असख्यात अनन्त और अनन्तानन्त प्रदेशो वाले स्कन्ध उत्पन्न होते है ।

इसी प्रकार इन्हीं द्व्यणुक से लेकर अनन्तानन्तप्रदेशी स्कधो मे जो सघातरूप एकत्व से उपन्न हुए है, जव भेद होता है । अर्थात् एक परमाणु भिन्न होकर अलग हो जाता है तव वह एक परमाणु से हीन स्कध के रूप मे उपन्न होता है । इसी प्रकार यदि उसमें से दो परमाणु निकल जाय या तीन परमाणु अलग हो जाएँ तो क्रमश छोटा होता हुआ वह अन्तत द्विप्रदेशी स्कध के रूप मे उपन्न हो जाता है।

ये द्व्यणुक आदि स्कंध सघात और भेद अर्थात एकत्व और पृथक्त्व—दोनो से भी उपन्न होते

सघातेनाऽन्यत सघाताद् भेदेनेत्येव द्व्यणुक' उत्पद्यते इति भाव । परमाणुस्तु–पुद्गलाना भेद-लक्षणात् पृथक्त्वादेवोत्पद्यते, न तु–सघातलक्षणादेकत्वात् नापि–सघातभेदलक्षणादेकत्वपृथक्त्वाद्वा परमाणुरुत्पद्यते इति भावः ।

अत्रेद बोध्यम्—द्वयो परमाण्वो सघातरूपाऽन्योन्याश्लेषपरिणामलक्षणादेकत्वाद् द्व्यणुक-स्कन्धः सम्पद्यते । उक्तञ्च स्थानागसूत्रे २स्थाने ३उद्देशके ८२सूत्रे—"दोहि ठाणेहिं पोग्गला-साहन्नंति, तंजहा—सइंवा पोग्गला साहन्नंति परेण वा पोग्गला साहन्नंति, सइंवा पोग्गला भिज्जंति परेण वा पोग्गला भिज्जंति—"

छाया—द्वाभ्या स्थानाभ्या पुद्गला सहन्यन्ते, तद्यथा—स्वय वा पुद्गला सहन्यन्ते परेण वा-पुद्गलाः सहन्यन्ते, स्वय वा–पुद्गला भिद्यन्ते, परेण वा–पुद्गला भिद्यन्ते इति ।

उत्तराध्ययने ३६ अध्ययने ११ गाथाया–मुक्तञ्च—एगत्तेण पुहुत्तेण खंधा य परमाणु-य–" इति, एकत्वेन–पृथक्त्वेन स्कन्धाश्च–परमाणवश्च,, इति । अथ–निरवयोर्द्वयो परमाण्वो. सहतौ सत्यौ कथ द्व्यणुकस्कन्धो निष्पद्यते ? तथाहि–तयोर्द्वयो परमाण्वो सश्लेष कि परस्परेण सर्वात्मना भवेत् ? एकदेशेन वा ।

तत्र–यदि सर्वात्मना सश्लेषोऽभ्युपगम्यते, तदा--निखिलमपि जगद् एकपरमाणुमात्रं स्यात् । यदि तु–एकदेशेन सश्लेष उच्यते, तदा–परमाणु सावयव प्रसज्येत, तस्य एकदेशत्वे सावयवत्व-

---

है । काल के सबसे छोटे निरंश अंश को समय कहते है । उस एक ही समय मे कोई परमाणु किसी द्व्यणुक से पृथक् हुआ और उसी समय मे दूसरा कोई परमाणु उसमें मिल गया तो इस भेद और सघात से भी द्व्यणुक स्कंध की उत्पत्ति हुई ।

मगर परमाणु की उत्पत्ति सघात से या भेद सघात से नहीं किन्तु भेद से ही होती है ।

यहां यह समझ लेना चाहिए–दो परमाणुओ के पारस्परिक मिलन रूप एकत्व परिणाम से एक द्व्याणुकस्कन्ध बन जाता है । स्थानागसूत्र के दूसरे स्थान के तीसरे उद्देशक के ८२ वे सूत्र में कहा है–दो कारणो से पुद्गलो का सघात (मिलन) होता है-या तो पुद्गल स्वय ही सहत हो जाते है या दूसरे के द्वारा सहत किये जाते है । इसी प्रकार पुद्गलों में दो प्रकार से भेद (पृथक्त्व) उपन्न होता है--या तो वे स्वय ही पृथक् हो जाते है या दूसरे के द्वारा पृथक् किये जाते है ।

उत्तराध्ययन सूत्र के छत्तीसवे अध्ययन की ११ वीं गाथा मे कहा है–एकत्व और पृथक्त्व के कारण स्कध और परमाणु उपन्न होते है ।

शका--निरंश दो परमाणुओं के एकत्व से द्व्यणुक स्कंध की निष्पत्ति किस प्रकार हो सकती है ? उन दो परमाणुओ का सयोग सर्वात्मना अर्थात् एक परमाणु में दूसरे परमाणु के पूर्ण रूप में समाजाने से होता है अथवा एक देश से होता है ?

यदि सर्वात्मना सयोग माना जाय तो सारा ही जगत् एक परमाणु मात्र ही होगा क्योंकि एक परमाणु में जब दूसरा परमाणु पूरी तरह समा गया तो दो परमाणुओ के मिल

मवश्यमेव स्यात्, "सेयमुभयतः पाशारज्जु—" रितिन्यायापत्त्या सघातो दुर्घट' स्यात्। तस्मात् परमाणव' परस्परेणाऽनाश्लिष्टा सन्त एव प्रत्यासत्तिशालिनो गगने कचा इव समुदिता एव समुपलभ्यन्ते, न विदूरवर्त्तिन इति न कथमपि परमाणुद्वयसश्लेपेण द्व्यणुकस्कन्ध सम्भवतीति चेदत्रोच्यते ।

परमाणूनां रूपरसगन्धस्पर्शात्मकत्वात् ते सतिधा सयोगकाले सव्यवधाना न परस्परव्याप्त्या वर्तन्ते रूपाद्यवयवत्वात् स्तम्भकुम्भादिवत्, तथाच परमाणु स्यान्निरवयव, स्यात्-सावयवो भवति, द्रव्यभावभेदात् । किञ्च—द्रव्यात्मना परमाणुरेकस्तिरोहितसकलभेदो वर्तते तत्र--कथ तावत् प्रयुज्यमान' सर्वशब्दोऽनेकवस्तुविषयोऽपि निरवशेषाभिधायित्वेन लोके प्रसिद्धत्वादसम्बद्धार्थो न स्यात् कथ वा नानात्वेनाऽध्यवसितस्य वस्तुन कस्यचिदेवाऽभिधाय्येकदेशशब्दो निर्भेदपरमाणुविषये प्रसज्यमान' साध्यमान प्रतिपत्स्यते ?

तस्मादुपर्युक्तविकल्पद्वयानुसारी वाक्यप्रयोगस्तावदत्यन्तप्रसिद्धलोकव्यवहारविमुखानां क्षुद्रसत्वाना शब्दार्थानभिज्ञाना नितान्त जडिमाक्रान्तानामेव सम्भवति, न तु--प्रेक्षावतां विदुषामिति,

---

जाने पर भी वह पहले की ही तरह एक परमाणु मात्र रहा। इसी प्रकार जब उसमें तीसरा परमाणु मिला तो भी वह परमाणु मात्र ही रहा । इस प्रकार अनन्त परमाणुओं के मिलने पर वह परमाणुमात्र ही रहेगा । इस दोष से बचने के लिए यदि परमाणुओ का सयोग एक देश से माना जाय तो परमाणु सावयव अर्थात् अवयय वाला मानना पडेगा । जब उसमें एक देश से सयोग होता है तो सावयव (अवयव सहित) हुए विना वह किस प्रकार रह सकता है ? इस प्रकार इधर कुआ उपर खाई की कहावत चरितार्थ होती है अर्थात् दोनों पक्षो में दोष आता है। ऐसी स्थिति मे परमाणुओ का सयोग बन ही नहीं सकता ।

समाधान- परमाणु रूप रस, गध और स्पर्श वाले होते है अत' सयोग के समय व्यवधानयुक्त परस्पर मे व्याप्त होकर रहते है क्योकि उनमे रूप आदि अवयव होते है, जैसे स्तम्भ कुम्भ आदि। इस प्रकार परमाणु कथचित् निरवयव और कथचित् सावयव भी है। द्रव्य से निरवयव और भाव से सावयव है ।

इसके अतिरिक्त द्रव्य की अपेक्षा जब परमाणु एक है और उसमें किसी प्रकार का भेद नहीं है तो उसके लिए सर्वात्मना कहकर सर्व शब्द का प्रयोग कैसे किया जा सकता है ? सर्व शब्द तो निरवशेष अनेक का वाचक है यह वात लोक में प्रसिद्ध है। अतएव सर्व शब्द का प्रयोग करना असम्भव है। इसी प्रकार नाना रूप मे प्रसिद्ध वस्तु के किसी एक भाग का प्रतिपादक एकदेश शब्द भेद रहित परमाणु के विषय मे कैसे प्रयुक्त किया जा सकता है ?

इस कारण उपर्युक्त सर्वात्मना और एकदेशेन इन दोनों विकल्पो को प्रकट करने वाला वाक्यप्रयोग वही लोग कर सकते है जो अत्यन्त प्रसिद्ध लोकव्यवहार से भी विमुख है, क्षुद्र है शब्द और अर्थ से अथवा शब्द के अर्थ से अनभिज्ञ है

अत्यन्तैकान्तवादग्रहग्रहिलानामेव तथाविधविकल्पद्वयप्रयोजको वचनप्रयोग समुद्भवति. न तु--सकल वादमूर्धन्यस्याद्वादसिद्धातसमाश्रयोपपन्नानुपमसामर्थ्यशालिनां स्याद्वादिनामिति भाव' ।

नहि—परमाण्वन्तरेण सह सघटमानोऽसौ परमाणु केनचिद्देशेन सयुज्यते, तस्य निरवयवत्वात् । अपि तु स्वयमेवावयवो द्रव्यान्तरावयवद्रव्यरहित परमाण्वन्तरेण सह भेदेन योगमासादयति, न तु—परमाण्वन्तरमाविशति, स हि परमाणु सक्रिय परमाणुस्थानभूतमाकाशमेवाविशति ।

अथ परमाणो' यद्यावेशो नास्ति देशे तदा न योग प्रसज्येत परस्परमनाश्लिष्टत्वाद् द्यङ्गुलवत् इति चेन्नैवम्, आवेशत' खलु वयं योग न प्रतिपादयाम अपि तु निरवयवत्वादेव योगमाचक्ष्महे, तस्य च परमाणो द्रव्यप्रदेशान्तर सयुक्त द्यङ्गुलस्येव न वर्तते किन्तु--स्वयमेवासौ युक्तो भवति इत्येतावन्मात्र ब्रूमहे, । परस्परमनाश्लिष्टत्वहेतुश्चाऽनैकान्तिको वर्तते सूक्ष्मच्छेदप्रविभक्तद्यङ्गुलपर्यन्तवर्तिनौ प्रदेशौ निरन्तरावस्थितौ अनाविशन्तावेव सयुक्तौ भवत' ।

न तु प्रदेशसूक्ष्मत्वाद् देशान्तरस्याऽसम्भवात्, अङ्गुल्यौ च युक्ते भवत' निरन्तरत्वात्, नहि परस्परावेशो भवति प्रदेशानाम् । तथासति—द्यङ्गुलाभावप्रसङ्ग स्यात् । अथ परमाणोः

विचारशील विद्वान् ऐसा प्रयोग नहीं कर सकते । जिनके मस्तक पर एकान्तवाद का भूत सवार है, वही ऐसे दो विकल्पो को प्रकट करने वाला वचन प्रयोग कर सकते है । समस्त वादो में शिरोमणि स्याद्वाद सिद्धांत का आश्रय लेने से जिनमें अनुपम सामर्थ्य उपन्न हो गया हो ऐसे अनेकान्त वादी ऐसे अर्थहीन वाक्यो का प्रयोग नहीं कर सकते ।

एकपरमाणु जब दूसरे परमाणु के साथ मिलता है तो एक देश से नहीं, क्योकि उसमें देश अर्थात् अवयव होते ही नहीं है । अपितु स्वय ही अवयव द्रव्यान्तर के अवयवद्रव्यो से रहित होकर दूसरे परमाणु के साथ, भेद से सयोग को प्राप्त होता है । वह दूसरे परमाणु में समा नहीं सकता । परमाणु सक्रिय होता है और अपनी अवगाहना के स्थान रूप आकाश में ही समाया रहता है ।

शका—अगर परमाणु का दूसरे परमाणु के साथ एक देश से भी प्रवेश नहीं होता तो उनका सयोग ही नहीं हो सकता, क्योकि वे परस्पर में आश्लिष्ट नहीं है, जैसे दो उगलियो के अलग अलग रहने पर सयोग नहीं होता ।

समाधान—हम एक दूसरे मे प्रविष्ट होने के कारण सयोग नहीं कहते किन्तु निरवयव होने से ही उनका सयोग हो जाता है । दो उगलियो के समान परमाणु का दूसरा कोई सयुक्त अलग प्रदेश नहीं होता, किन्तु वह स्वय ही सयुक्त हो जाता है, इतना ही हमारा कथन है । आपका परस्पर में आश्लिष्ट न होना, हेतु अनैकान्तिक है । सूक्ष्म छेदन से अलग अलग हुए दो अगुलियों के पर्यन्तवर्त्ती (अन्त के) दो प्रदेश अगर एक दूसरे से सटे हो तो परस्पर में आश्लिष्ट न होने पर भी उनका सयोग होता है । दो अंगुलियाँ आपस में सयुक्त होती है, क्योंकि उनके बीच अन्तर नहीं होता, फिर भी एक अगुली दूसरी में प्रविष्ट नहीं होती ।

सस्थानवत्वात् सावयव एव परमाणु' सम्भवति, न तु—निरवयवा तस्येति चेन्न सस्थानस्य द्रव्यावयवकृतत्वात् । तच्च–सस्थान घटादेरवयविनोऽवयवेषु सत्सु भवति, ते चाऽवयवा परमाणोर्न सन्ति तस्मान्निरवयवत्वात् परमाणो' सस्थानवत्वमसिद्धम् ।

अथैव सस्थानवत्वाभावात्—"असत्–" परमाणुरिति चेन्मैवम् । आकाश सस्थानरहितमपि सदेव वर्तते । नतु—'असत्' इतिसस्थानवत्वाभावो हेतुरनैकान्तिक , न चा–ऽऽकाशं कन्दुकादिवत् दृष्टपरिधित्वेनाऽभ्युपगम्यते इति सस्थानवत्वं तस्यापि सिद्धमिति वाच्यम् , सकललोक- शास्त्रानुभवविरुद्धत्वात् । किञ्च–सम्प्राप्तिलक्षणो योगो नहि–प्रदेशैरव विधीयते, निष्प्रदेशस्याऽपि स्वयं प्राप्तिरस्त्येवेति ।

तथाच—सर्वमेव खलु स्थूलं द्रव्य प्रविभज्यमानमवश्यमेव निरवयवनिष्ठ सम्पद्यते, स्थूलस्य सूक्ष्मपूर्वकत्वात् । उक्तञ्च—"सर्व सविभागमविभागप्रविष्टम्–" इति यत्पुन — तेषामेवानन्ताना परमाणूनामेकस्मिन्नेवाकाशप्रदेशेऽवगाढ भवति, तत्तु—अप्रतिघातपरिणामपरिणतत्वाद, अवगन्तव्यम् । व्याप्तैकावरकेऽन्यप्रदीपप्रमाणां प्रदीपप्रभयेव, शीततम शब्दत्वपरिणतपुद्गलानां चाऽप्रतिघातित्वदर्शनात्—।

शका परमाणु सस्थानवान् होने से सावयव ही होना चाहिए, निरवयव नहीं ।

समाधान —सस्थान द्रव्य अवयवो से उत्पन्न होता है । अवयवो के होने पर घट आदि अवयवीवस्तुओ में सस्थान होता है । परमाणु मे अवयव होते नहीं, अतएव परमाणु में सस्थान भी नहीं होता ।

शका—अगर परमाणु में सस्थान नहीं है तो वह असत् हो जाएगा ।

समाधान—जिसमे सस्थान न हो उसकी सत्ता ही नहीं होती, ऐसा कोई नियम नहीं आकाश सस्थान से रहित होने पर भी असत् नहीं, सत् ही है ।

शका—आकाश भी सस्थानवान् है, क्योंकि उसकी परिधि देखी जाती है, जैसे गेंद ।

समाधान—यह कथन सम्पूर्ण लोक और शास्त्रो से प्रतिकूल है, साथ ही अनुभव से भी विरुद्ध है ।

योग या सयोग का अर्थ है—सम्प्राप्ति अर्थात् ठीक तरह मेलाप हो जाना । यह योग प्रदेशों से ही होता हो सो बात नहीं है। जो प्रदेशरहित है, उसकी स्वय ही सप्राप्ति हो जाती है ।

इस प्रकार सभी स्थूल पदार्थ यदि विभक्त किए जाएँ तो निस्सन्देह अन्त मे वे निरश होगे । स्थूल वस्तु सूक्ष्मपूर्वक ही होती है । कहा भी है—सब सविभाग वस्तु अविभाग मे प्रविष्ट है ।' अनन्त परमाणुओ का एकही आकाशप्रदेश मे जो अवगाह होता है, उसका कारण यह है कि वे अप्रतिघाती रूप मे परिणत होते है— उन अनन्त परमाणुओं मे से कोई किसी के अवगाह मे रुकावट नहीं डालता । जैसे एक कमरा दीपक के प्रकाश से व्या०

एवमेव परमाणुरेकस्मिन् आकाशप्रदेशे व्यवस्थितः सन् अन्येषामपि परमाणूनां प्रभूतानामवगाहनं कुर्वतां विघातम्प्रति न निवर्तितुमुत्सहते । अथैवं तर्हि—असति प्रतिघाते कथं महतो द्रव्यस्य निष्पत्तिः स्यात् ? संघातस्तु—सति संयोगे सम्भवति, संयोगः पुनरप्राप्तयोः प्राप्तिमात्रम्, न तु—परस्परावेशः संयोगः ? इतिचेदत्रोच्यते—महतो द्रव्यस्याऽऽरम्भकाले परमाणूनामप्रतिघातित्वं मस्मान्प्रति—असिद्धम् ।

तथाहि—परमाणूनां त्रिविधं प्रतिघातमामनन्ति भगवन्तो बन्धपरिणामोपकाराभाववेगाख्यम्, तत्र—बन्धपरिणामप्रतिघातः स्निग्धरूक्षत्वाद्भवति, । उपकाराभावलक्षणप्रतिघातस्तु धर्माधर्माकाशानां गतिस्थित्यवगाहोपकारप्रकरणे प्रतिपादितः । लोकादन्यत्र जीवानामजीवानाञ्च गतेः प्रतिघातः, गत्युपग्रहहेतुरहितत्वात् मत्स्य—ग्राहादेरिवजलादन्यत्र । तस्मात्—परमाणोः लोकान्ते प्रतिघातो भवति, उपकाराभावात्प्रतिघातः । एवं—परमाणोः परमाण्वन्तरेणा—ऽऽपतता—विस्रसासमुद्भूतगतिवेगेन प्रतिघातो दृष्टः,

वेगगतिं प्राप्तः सन् परमाणुरापतन् जवशालिनमेव परमाणुं प्रतिहन्ति, वेगवत्वे सति स्पर्शवत्वात्—मूर्त्तिमत्वाच्च प्रबलवेगो वायुर्वायन्तरमिवे—ति वेगात्प्रतिघातित्वमध्यवसीयते । तथा-

---

और उसमें दूसरा दीपक रख दिया जाय तो उसका प्रकाश भी उसमें समा जाता है और साथ ही शीत, शब्द आदि के पुद्गल भी समाये रहते है, उनमें से कोई पुद्गल दूसरे पुद्गल की अवगाहना का प्रतिरोध नहीं करता, इसी प्रकार आकाश के एक ही प्रदेश में अनन्त परमाणु बिना विरोध के समाये रहते है ।

शंका—अगर परमाणु प्रतिघातरहित है तो स्थूल द्रव्य की निष्पत्ति कैसे होगी ? संयोग होने पर संघात होता है और संयोग का अर्थ है अप्राप्त की प्राप्ति, न कि एक दूसरे में समाना ।

समाधान—स्थूल द्रव्य की उत्पत्ति के समय परमाणुओं का अप्रतिघाती होना हमें सिद्धनहीं है । परमाणुओं का प्रतिघात भगवान् तीन प्रकार का मानते हैं—बन्धपरिणाम, उपकाराभाव और वेग । बन्धपरिणाम प्रतिघात स्निग्धता और रूक्षता के कारण होता है । उपकाराभाव प्रतिघात धर्म, अधर्म और आकाश के गति, स्थिति और अवगाह रूप उपकार के प्रकरण में प्रतिपादन किया जा चुका है । लोक से बाहर जीवों और पुद्गलो की गति का प्रतिघात हो जाता है, क्योंकि वहाँ गति का निमित्त कारण मौजूद नहीं है, जैसे मत्स्य और ग्राह आदि की गति जल से बाहर निमित्त कारण (जल) के अभाव में नहीं होती । इसी कारण लोक के अन्त में परमाणु का प्रतिघात हो जाता है । इसी प्रकार जब कोई परमाणु स्वाभाविक गति करता हुआ वेग में होता है और वह आड़ा आ जाता है तो उसके वेग के कारण परमाणु का प्रतिघात होता है ।

वेगयुक्त गति करता हुआ परमाणु वेगवान् परमाणु का ही प्रतिघात करता है, क्योंकि वह वेगवान् होते हुए स्पर्शवान् होता है और मूर्त्तिमान् होता है, जैसे प्रबल वेग वालीवायु

चोक्तरीत्या परमाणुविषये प्रतिघातित्वाऽप्रतिघातित्वे च प्रतिपादिने, तत्र—परिणामविशेषात् तदुभयमपि पुद्गलेषु सघटते। तथाहि—शब्दस्तावत् तिरस्कृतोऽपि कुड्यादिभिरप्रतिहन्यमान सन् श्रवणपथमासादयति, स एव शब्द कदाचिद् वायुनोह्यमान प्रतिहतो भवति, प्रतिकूलवातस्थितेनाऽनुपलभ्यमानत्वादनुकूलवातस्थितेन चोपलभ्यमानत्वात्—गन्धवत्, वायुना—ऊह्यते इति प्रत्यक्षसिद्धम्।

तथाच—सघातात् परमाणूनामेकत्वलक्षणात् स्कन्धानामुत्पत्तिर्भवतीति सम्यगुक्तम्। तत्र—द्विप्रदेशस्य स्कन्धस्य परमाण्वन्तरेण योगे त्रिप्रदेशस्कन्ध उत्पद्यते, एव त्रयाणां परमाणूनामेकत्वलक्षणसघातपरिणामे सति त्रिप्रदेशस्कन्ध उत्पद्यते, इत्येव रीत्या सख्येयराशिपर्यन्त सघातपरिणामभावना कर्तव्या, एवम्— असख्येयराशावपि एकत्वलक्षणसघातपरिणामभावना कर्तव्या। तस्मादप्यसख्येयादुपरिबहु—बहुतर—बहुतमपरमाणुप्रचयात्मकाऽनन्तराशौ—अपि एकत्वलक्षणसघातपरिणामभावनाऽवसेया।

एवमनन्तकराशेरनन्तस्थानानाञ्चाऽनन्तानन्ताना राशौ एकत्वलक्षणसघातपरिणामेन तावत्प्रदेशा स्कन्धा उत्पद्यन्ते। परमाणवश्च—तथाविधस्कन्धानां पृथक्त्वलक्षणभेदादेवोत्पद्यन्ते, न तु—

दूसरी वायु का प्रतिघात कर देती है। इससे परमाणु का वेग के कारण प्रतिघात होना प्रतीत होता है।

उक्त प्रकार से परमाणु के विषय में प्रतिघातित्व और अप्रतिघातित्व का प्रतिपादन किया गया है। परिणमन की विशेषता के कारण पुद्गलो मे यह दोनों ही घटित हो जाते हैं। जैसे—शब्द दीवार आदि के द्वारा प्रतिहत हो जाता है अगर प्रतिहत न हो तो कर्णगोचर हो जाता है और वही शब्द कभी—कभी वायु के द्वारा प्रेरित होकर प्रतिहत हो जाता है। क्योकि जो प्रतिकूल वायु की दिशा में स्थित होता है उसे वह सुनाई नहीं देता और अनुकूल वायु की दिशा मे बैठे हुए को, सुनाई देता है। इससे यह सिद्ध होता है कि जैसे गन्ध को वायु प्रेरित करती है, उसी प्रकार शब्द को भी प्रेरित करती है।

इस प्रकार परमाणुओ के सघात रूप एकत्व से स्कन्धो की उत्पत्ति होती है, यह जो कहा है सो ठीक ही कहा है। तीन परमाणुओ का सघात होने पर अथवा द्विप्रदेशी स्कन्ध के साथ एक परमाणु का सघात होने से त्रिप्रदेशी स्कन्ध (त्र्यणुक) की उत्पत्ति होती है। यही बात सख्यात प्रदेशी और असख्यात प्रदेशी स्कन्ध की उत्पत्ति के विषय मे समझ लेना चाहिए। असख्यात से भी आगे बहु, बहुतर और बहुतम परमाणुओ के प्रचय रूप अनन्त प्रदेशि में भी एकत्वरूप सघात की बात समझ लेना चाहिए। तात्पर्य यह है कि जितने प्रदेश वाले पुद्गलों का संघात होगा, उतने प्रदेशो वाला ही स्कन्ध उत्पन्न होगा इस प्रकार अनन्तानन्त प्रदेश वाले पुद्गलो के सघात से अनन्तानन्त प्रदेशी स्कन्ध उत्पन्न होता है।

तेषामेकत्वलक्षणसघातात् , भेदसघाताद्वा--एकत्वपृथक्त्वलक्षणात् । अथ स्नेहरूक्षताविगमात्—स्थितिक्षयाद्--द्रव्यान्तरेण भेदात्, स्वभावगत्या च ह्यणुकादिस्कन्धभेदादुत्पद्यमान परमाणु कार्यमपि भवति, ह्यणुकादिस्कन्धेपु च सघातपरिणता सत्या न परिमाणभावेन परमाणोरवस्थान भवति, अपितु--स्थूलद्रव्यत्वेनैव तस्य तत्राऽवस्थान भवति, पूर्वपरिणामोपमर्दनोत्तरपरिणामभवनम् । तस्मिश्चोत्तरपरिणामे पूर्वपरिणामस्याऽसम्भवात्, परिणामस्य भवान्तरापत्तिफलत्वात् । तस्मात्—सूक्ष्मपरिणामाद वादरपरिणामस्याऽर्थान्तरत्वात् तत्र न परमाणुपरिणामोऽस्ति,

यथा—गुडोदकधातकीद्रव्यसयोगविशेषात् सरकद्रव्यपरिणामो जायते, तदेव खलु तत्तद्-द्रव्यत्रयसंयोगविशेषात् कालान्तरापेक्षमन्यदेव भावान्तरं भवति । यत्र तेपा भेदावगमो दुर्गको भवति, अथ च तानि द्रव्याणि विना सपणामो नास्ति-नैव वा—तानि द्रव्याणि तदानीं प्राक्तनरूपेण सन्ति । यदिच—तदानीं तानि द्रव्याणि प्राक्तनरूपेणैव तत्र भवेयु तदा पूर्वकालवत् तस्मिन्कालेऽपि तत्परिणामाऽसम्भवएव स्यात । तथाच—बादरपरिणामपरिणतमहाद्रव्ये परमाणव स्वेन रूपेण न सन्ति परिणामान्तरापन्नत्वात् मदिरापरिणतौ गुडादिवत् । एवञ्च—परमाणुर्द्व्यणुकादीनामल्प कारणमेवेत्येवकारप्रयोगो नोचित' ' इतिचेन्मैवम्—

मगर परमाणुओ की उत्पत्ति सघात से नहीं, पृथक्त्व से ही होती है ।

शंका—स्निग्धता और रूक्षता के हट जाने पर स्थिति का क्षय होने से जब किसी द्रव्य से भेद होता है और स्वभाव गति से द्व्यणुक आदि स्कन्धो का भेद होता है, उस समय उत्पन्न होने वाला परमाणु कार्य होना चाहिए। जब परमाणु द्व्यणुक आदि में मिला हुआ था, उस समय वह परमाणु के रूप मे नहीं था बल्कि स्कन्ध के रूप में था। जव उसके स्कन्ध रूप पूर्वपर्याय का विनाश हुआ तभी उसमे परमाणु रूप उत्तर पर्याय का उत्पाद हुआ। उत्तरकालीन पर्याय में पूर्व कालीन पर्याय का रहना सभव नहीं है। क्योकि परिणाम का अर्थ ही है भवान्तर का होना । अत' सूक्ष्म परिणाम से बादरपरिणाम भिन्न है, अतएव स्कन्ध परिणाम में परमाणु परिणाम नहीं होता ।

जैसे गुड, जल और धातकी पुष्प के सयोग से सरक द्रव्य रूप परिणमन उत्पन्न होता है। वही विभिन्न द्रव्यो के सयाग विशेष से कालान्तर मे एक नवीन रूप धारण कर लेता है, जिसमे उनके भेद को समझना कठिन हो जाता है। मगर उन द्रव्यों के बिना वह परिणाम नहीं होता और न वे द्रव्य उस समय अपने पूर्व रूप मे रहते है। अगर उस समय भी वे द्रव्य अपने पूर्व रूप मे ही रहे तो पूर्व काल के समान उस काल में भी वह परिणाम नहीं होना चाहिए ।

इस प्रकार वादर परिणाम के रूप में परिणत महाद्रव्य में परमाणु अपने रूप में अर्थात् परमाणु के रूप में नहीं होते। क्योकि वे दूसरे परिणाम में परिणत होते है, जैसे मदिरा पर्याय

सर्वस्यैव स्थूलस्य मूर्तद्रव्यस्य विदार्यमाणत्वे सति अशक्यभेदपरमाणुषु पर्यवसानं भवति, न तु–अत्यन्ताभावरूपं सर्वथाऽलीक गगनकुसुमादिवत् । अथवा–द्रव्यनयापेक्षया सर्वेषां द्व्यणुकादि-द्रव्याणा परमाणव एव कारणं भवति, पर्यायनयाऽपेक्षया तु–उत्पद्यन्ते । एवञ्च–कथञ्चिदुपजायमानत्वात कार्यमपि परमाणवो भवन्ति, ते च–परमाणवः प्रत्येक स्वतो द्रव्यावयवद्वारेणाऽभेद्या भवन्ति । रूपरसादिपरिणामै' पुनर्भेदवन्तोऽपि भवन्ति । अथाऽप्रदेशत्वात् परमाणु', 'शशशृङ्गादिवत्" न सन् वर्तते इति चेत् ? मैवन् तस्य सावयवद्रव्यत्वाभावात् सावयवप्रतिपक्षेण चाऽवश्यं केनचिन्, सतैव वस्तुनाऽनवयवेन भवितव्यम् स चादिमप्रदेश' परमाणुरिति युक्त्या-ऽऽगमेन च द्रव्यपरमाणुसिद्धिः तत्सिद्धौ च क्षेत्रकालभावपरमाणुसिद्धिरपि भवतीति विभावनीयम्—॥२२॥

मूलसूत्रम् —"एगत्तपुहुत्तेहिं चक्खुसा,' ॥२३॥

छाया—"एकत्व-पृथक्त्वाभ्यां चाक्षुषाः—" ॥२३॥

तत्त्वार्थदीपिका—"अथा-ऽनन्तपरमाणुसमुदायेन निष्पद्यमानोऽपि स्कन्ध' कश्चित्–चाक्षुष-

---

के होने पर गुड आदि अपने रूप में नहीं रहते । अतएव परमाणु द्व्यणुक आदि का कारण ही है, यहाँ 'ही' का प्रयोग करना उचित नहीं है ।

समाधान—किसी भी स्थूल मूर्त्तद्रव्य का यदि पृथक्करण किया जाय तो परमाणुओं के रूप में ही उसका अन्त होगा, जिनका फिर पृथक्करण हो ही नहीं सकता । उस द्रव्य का गगन कुसुम के समान सर्वथा शून्य रूप नहीं होगा । अथवा यो कहे कि द्रव्यमय की अपेक्षा से द्व्यणुक आदि द्रव्यो के कारण परमाणु हीं है और पर्यायनय की अपेक्षा से उनकी उत्पत्ति होती है । इस प्रकार किसी अपेक्षा से उत्पन्न होने के कारण परमाणु को कार्य भी कहा जा सकता है । वे परमाणु स्वय किसी भी द्रव्य के अवयव के द्वारा भेद्य नहीं होते ।

हाँ, रूप रस आदि परिणाम उनमें पाये जाते है, इस अपेक्षा से वे भेदवान् भी होते हैं-उनमे भेद किया जा सकता है ?

शका–परमाणु प्रदेशहीन होने के कारण शशकविषाण के समान असत् है ।

समाधान–परमाणु सावयव द्रव्य नहीं है, सावयव द्रव्य का प्रतिपक्षी है और सावयव द्रव्य का प्रतिपक्षी होने से अवश्य ही सत् होना चाहिए और निरवयव होना चाहिए । वह प्रदेश रहित है। इस युक्ति और आगम प्रमाण से द्रव्यपरमाणु की सिद्धि होती है । द्रव्य परमाणु की सिद्धि हो जाने पर क्षेत्रपरमाणु कालपरमाणु और भावपरमाणु की भी सिद्धि हो जाती है । यह स्वय समझ लेना चाहिए ॥२२॥

मूलसूत्रार्थ—"एगत्त-पुहुत्तेहिं", इत्यादि ॥

सघात और भेद से स्कध चक्षुग्राह्य हो जाते है ॥२३॥

तत्त्वार्थदीपिका—अनन्तानन्त परमाणुओ के समूह से निष्पन्न हुआ भी कोई स्कध चक्षु

प्रत्यक्षविषयो भवति, कश्चित्तु—न चाक्षुषप्रत्यक्षविषय । तत्र—योऽचाक्षुष स कथं चाक्षुष' सम्पद्यते इत्याशङ्कामपाकर्तुमाह—"**एगत्तपुहुत्तेहि चक्खुसा**—" इति ।

एकत्वपृथकत्वाभ्यां भेदसघातलक्षणाभ्या स्कन्धाश्चाक्षुषा —चाक्षुषप्रत्यक्षगोचरा भवन्ति, न तु-भेदाच्चाक्षुषा भवन्ति । अचाक्षुषा पुन पूर्वोक्तात्—सघातात् ,भेदात्—सघातभेदाच्च, उपजायन्ते।।२

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—भेदसघाताभ्या पृथकत्वैकत्वलक्षणाभ्यां चाक्षुषा चक्षु प्रत्यक्षविषया स्कन्धा उत्पद्यन्ते तथाच—प्रयोगविस्रसाजनितात् सागत्या-आयत्या स्कन्धनात् स्कन्धाश्चाक्षुषा'—चाक्षुषप्रत्यक्षगोचरा उत्पद्यन्ते, न तु—भेदसघाताभ्यामुत्पन्ना सर्वे चाक्षुषा एव भवन्ति अचाक्षुषाणामपि स्कन्धाना भेदसघाताभ्यां पृथक्त्वैकत्वलक्षणाभ्यामुत्पत्तिदर्शनात् । तस्मात्—स्वत एव परिणति विशेषात्—चाक्षुषप्रत्यक्षविषयतापरिणतिशालिनो बादरा स्कन्धा सघातभेदाभ्यामुत्पद्यन्ते इति नियम

एवञ्च—न सर्वे एव सघातश्चक्षुषा ग्राह्यो भवति, अपि तु—अनन्तानन्तपरमाणुसघातनिष्पाद्योऽपि पुद्गलस्कन्धो बादरपरिणतिशाल्येव लोचनगोचरतामुपैति न तु सूक्ष्मपरिणतिशाली सूक्ष्मपरिणामोपरतौ बादरपरिणामे भवति । बादरपरिणामे च यथा परमाणव संहता भवन्ति, तथा केचन भिद्यन्तेऽपि । तस्मात्—सघातभेदाभ्यामेव चाक्षुषा' स्कन्धा निष्पद्यन्ते, न संघातादेव नाऽपि—भेदादेव । यतोहि—सूक्ष्मपरिणामस्य भेदे सत्यपि सूक्ष्मत्वापरित्यागादचाक्षुषत्वमेव ।

के द्वारा ग्राह्य होता है और कोई नहीं होता ऐसी स्थिति में जो चक्षुग्राह्य नहीं है, वह चक्षुग्राह्य कैसे हो जाता है ? इस शका का समाधान करने के लिए कहते है—

एकत्व अर्थात् सघात और पृथक्त्व अर्थात् भेद से स्कध चाक्षुष प्रत्यक्ष के विषय बन जाते है, भेद से चाक्षुष नहीं होते है । अचाक्षुष पूर्वोक्त संघात से, भेद से और संघात—भेद से होते है ।।२३।।

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—भेद और संघात से चक्षु इन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य स्कंध उत्पन्न होते है । ऐसा नहीं समझना चाहिए कि भेद और संघात से उत्पन्न होने वाले सभी स्कंध चाक्षुष ही होते हैं । भेद और सघात से तो अचाक्षुष स्कंधो की भी उत्पत्ति देखी जाती है । अतएव नियम यह है कि स्वत' ही परिणमन को विशिष्टता के कारण चक्षुइन्द्रिय के गोचर होने वाले बादर स्कध सघात और भेद के द्वारा उत्पन्न होते है ।

इस प्रकार सभी स्कध चक्षुग्राह्य नहीं होते, किन्तु अनन्तानन्त परमाणुओ के सघात से बनने वाला पुद्गलस्कध भी यदि बादर परिणाम वाला होता है तो ही वह नेत्रगोचर हो सकता है, 'सूक्ष्म परिणाम वाला नहीं । बादरपरिणाम तब उत्पन्न होता है । जब सूक्ष्म परिणाम हट जाता है । बादर परिणाम होने पर जैसे कुछ परमाणु उसमें मिलते है, उसी प्रकार कुछ अलग भी होते है । इस कारण सघात और भेद के द्वारा ही चाक्षुष स्कधो की निष्पत्ति होती है, न अकेले सघात से और न अकेले भेद से । सूक्ष्म परिणाम वाले

सर्वस्यैव स्थूलस्य मूर्तद्रव्यस्य विदार्यमाणत्वे सति अशकच्यभेदपरमाणुषु पर्यवसान भवति, न तु–अत्यन्ताभावरूपं सर्वथाऽलीक गगनकुसुमादिवत् । अथवा–द्रव्यनयापेक्षया सर्वेषां द्व्यणुकादि-द्रव्याणा परमाणव एव कारणं भवति, पर्यायनयाऽपेक्षया तु–उत्पद्यन्ते । एवञ्च–कथञ्चिदुपजायमानत्वात कार्यमपि परमाणवो भवन्ति, ते च–परमाणव· प्रत्येकं स्वतो द्रव्यावयवद्वारेणाऽभेद्या भवन्ति । रूपरसादिपरिणामै· पुनर्भेदवन्तोऽपि भवन्ति । अथाऽप्रदेशत्वात् परमाणु· , 'शशशृङ्गादिवत्'' न सन् वर्तते इति चेत् ? मैवन् तस्य सावयवद्रव्यत्वाभावात् सावयवप्रतिपक्षेण चाऽवश्यं केनचिन्, सतैव वस्तुनाऽनवयवेन भवितव्यम् स चादिमप्रदेश· परमाणुरिति युक्त्या-ऽऽगमेन च द्रव्यपरमाणुसिद्धिः तत्सिद्धौ च क्षेत्रकालभावपरमाणुसिद्धिरपि भवतीति विभावनीयम्—॥२२॥

मूलसूत्रम्—''एगत्तपुहुत्तेहिं चक्खुसा,' ॥२३॥

छाया—"एकत्व-पृथक्त्वाभ्यां चाक्षुषाः—" ॥२३॥

तत्त्वार्थदीपिका—"अथा-ऽनन्तपरमाणुसमुदायेन निष्पद्यमानोऽपि स्कन्ध· कश्चित्–चाक्षुष-

---

के होने पर गुड आदि अपने रूप में नहीं रहते । अतएव परमाणु द्व्यणुक आदि का कारण ही है, यहाँ 'ही' का प्रयोग करना उचित नहीं है ।

समाधान—किसी भी स्थूल मूर्त्तद्रव्य का यदि पृथक्करण किया जाय तो परमाणुओ के रूप में ही उसका अन्त होगा, जिनका फिर पृथक्करण हो ही नहीं सकता । उस द्रव्य का गगन कुसुम के समान सर्वथा शून्य रूप नहीं होगा । अथवा यो कहे कि द्रव्यनय की अपेक्षा से द्व्यणुक आदि द्रव्यों के कारण परमाणु हीं है और पर्यायनय की अपेक्षा से उनकी उत्पत्ति होती है। इस प्रकार किसी अपेक्षा से उत्पन्न होने के कारण परमाणु को कार्य भी कहा जा सकता है । वे परमाणु स्वय किसी भी द्रव्य के अवयव के द्वारा भेद्य नहीं होते ।

हाँ, रूप रस आदि परिणाम उनमें पाये जाते है, इस अपेक्षा से वे भेदवान् भी होते है-उनमे भेद किया जा सकता है ?

शंका—परमाणु प्रदेशहीन होने के कारण शशकविषाण के समान असत् है ।

समाधान—परमाणु सावयव द्रव्य नहीं है, सावयव द्रव्य का प्रतिपक्षी है और सावयव द्रव्य का प्रतिपक्षी होने से अवश्य ही सत् होना चाहिए और निरवयव होना चाहिए । वह प्रदेश रहित है। इस युक्ति और आगम प्रमाण से द्रव्यपरमाणु की सिद्धि होती है । द्रव्य परमाणु की सिद्धि हो जाने पर क्षेत्रपरमाणु कालपरमाणु और भावपरमाणु की भी सिद्धि हो जाती है । यह स्वय समझ लेना चाहिए ॥२२॥

मूलसूत्रार्थ—"एगत्त-पुहुत्तेहिं", इत्यादि ॥

सघात और भेद से स्कध चक्षुग्राह्य हो जाते है ॥२३॥

तत्त्वार्थदीपिका—अनन्तानन्त परमाणुओं के समूह से निष्पन्न हुआ भी कोई स्कध चक्षु

प्रत्यक्षविषयो भवति, कश्चित्तु–न चाक्षुषप्रत्यक्षविषय । तत्र–योऽचाक्षुष स कथं चाक्षुष सम्पद्यते ? इत्याशङ्कामपाकर्तुमाह—"एगत्तपुहुत्तेहि चक्खुसा—" इति ।

एकत्वपृथक्त्वाभ्यां भेदसघातलक्षणाभ्या स्कन्धाश्चाक्षुषा –चाक्षुषप्रत्यक्षगोचरा भवन्ति, न तु–भेदाच्चाक्षुषा भवन्ति । अचाक्षुषा पुन पूर्वोक्तात्–सघातात् ,भेदात्–सघातभेदाच्च, उपजायन्ते॥२

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—भेदसघाताभ्या पृथक्त्वैकत्वलक्षणाभ्या चाक्षुषा चक्षु प्रत्यक्षविषया स्कन्धा उत्पद्यन्ते तथाच–प्रयोगविस्रसाजनितात् सागत्या-आयत्या स्कन्धनात् स्कन्धाश्चाक्षुषा –चाक्षुषप्रत्यक्षगोचरा उत्पद्यन्ते, न तु–भेदसघाताभ्यामुत्पन्ना. सर्वे चाक्षुषा एव भवन्ति अचाक्षुषाणामपि स्कन्धाना भेदसघाताभ्या पृथक्त्वैकत्वलक्षणाभ्यामुत्पत्तिदर्शनात् । तस्मात्–स्वत एव परिणति विशेषात्–चाक्षुषप्रत्यक्षविषयतापरिणतिशालिनो बादरा स्कन्धा' सघातभेदाभ्यामुत्पद्यन्ते इति नियम

एवञ्च–न सर्व एव सघातश्चक्षुषा ग्राह्यो भवति, अपि तु–अनन्तानन्तपरमाणुसंघातनिष्पाद्योऽपि पुद्गलस्कन्धो बादरपरिणतिशाल्येव लोचनगोचरतामुपैति न तु सूक्ष्मपरिणतिशाली सूक्ष्मपरिणामोपरतौ बादरपरिणामे भवति । बादरपरिणामे च यथा परमाणव सहता भवन्ति, तथा केचन भिद्यन्तेऽपि । तस्मात्–सघातभेदाभ्यामेव चाक्षुषा' स्कन्धा निष्पद्यन्ते, न संघातादेव नाऽपि–भेदादेव । यतोहि–सूक्ष्मपरिणामस्य भेदे सत्यपि सूक्ष्मत्वापरित्यागादचाक्षुषत्वमेव ।

के द्वारा ग्राह्य होता है और कोई नहीं होता ऐसी स्थिति में जो चक्षुग्राह्य नहीं है, वह चक्षुग्राह्य कैसे हो जाता है ? इस शका का समाधान करने के लिए कहते है–

एकत्व अर्थात् सघात और पृथक्त्व अर्थात् भेद से स्कध चाक्षुष प्रत्यक्ष के विषय बन जाते है, भेद से चाक्षुष नहीं होते है । अचाक्षुष पूर्वोक्त सघात से, भेद से और संघात–भेद से होते है ।।२३।।

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—भेद और संघात से चक्षु इन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य स्कंध उत्पन्न होते हैं । ऐसा नहीं समझना चाहिए कि भेद और संघात से उत्पन्न होने वाले सभी स्कंध चाक्षुष ही होते हैं । भेद और सघात से तो अचाक्षुष स्कंधो की भी उत्पत्ति देखी जाती है । अतएव नियम यह है कि स्वत' ही परिणमन की विशिष्टता के कारण चक्षुइन्द्रिय के गोचर होने वाले बादर स्कध सघात और भेद के द्वारा उत्पन्न होते है ।

इस प्रकार सभी स्कध चक्षुग्राह्य नहीं होते, किन्तु अनन्तानन्त परमाणुओ के सघात से बनने वाला पुद्गलस्कध भी यदि बादर परिणाम वाला होता है तो ही वह नेत्रगोचर हो सकता है, 'सूक्ष्म परिणाम वाला नहीं । बादरपरिणाम तब उत्पन्न होता है । जब सूक्ष्म परिणाम हट जाता है । बादर परिणाम होने पर जैसे कुछ परमाणु उसमें मिलते है, उसी प्रकार कुछ अलग भी होते है । इस कारण सघात और भेद के द्वारा ही चाक्षुष स्कधो की निष्पत्ति होती है, न अकेले सघात से और न अकेले भेद से । सूक्ष्म परिणाम वाले

सूक्ष्मत्वपरिणत पुनरपर' स्कन्ध' सत्यपि तद्भेदे सघातान्तरसयोगात् सूक्ष्मत्वपरिणामोपरमे बादरत्वोत्पत्तौ सत्यां चाक्षुषो भवति । अथा--ऽचाक्षुषाणा परमाणूना समुदायोऽपि परमाणुमात्र एव भवति, स कथमतिशयाधानमन्तराचाक्षुषो भवेदिति चेद्--?

अत्रोच्यते--सर्वस्यैव वस्तुनो विद्यमानात् परिणामात् परिणामान्तर भिन्न भवत्येव । तथाच परमाणुत्वपरिणामाच्चाक्षुषत्वपरिणामस्य भिन्नत्वात् परमाणवस्तावद् अणुत्वपरिणामपरिणतत्त्व विहाय स्नेहरूक्षताविशेषात् स्थूलत्वपरिणतिमासादयन्ति । स्कन्धेषु चाऽष्टविधानां स्पर्शानां यथासम्भव प्रतिपादितत्वात्, परमाणुषु पुनश्चतुर्विधस्यैव स्पर्शस्य स्निग्ध-रूक्ष-शीतोष्णात्मकस्य सत्त्वात्, तत्राऽपि एकस्मिन् परमाणौ परस्पराऽविरोधिस्पर्शद्वय भवति ।

बन्धपरिणतौ च--स्निग्धरूक्षलक्षण स्पर्शद्वयमुपयुज्यते, केचन--परमाणवो रूक्षपरिणतिशालिन', केचन स्निग्धपरिणामपरिणता भवन्ति तदुभयं तु रूक्षस्निग्धरूप परस्परविरुद्धत्वादेकस्मिन् परमाणौ न सम्भवति । तत्राऽपि--केचित् परमाणव एकगुणस्निग्धत्वपरिणता यावदनन्तगुणस्निग्धत्वपरिणता भवन्ति । एवम्--रूक्षत्वेऽपि बोध्यम्

परमाणवश्च ते सर्वेऽपि सजातीया एव न केचिद् विजातीया अपि भवन्ति । रूप-रस गन्ध-स्पर्श-

स्कध का भेद होने पर भी वह अचाक्षुष ही बना रहता है । और इस कारण वह अचाक्षुष ही रहता है । कन्तु दूसरा कोई सूक्ष्म स्कध भेद होने पर दूसरे स्कंध में मिल जाता है । उस समय उसका सूक्ष्म परिणाम हट जाता है,उसमें बादर परिणाम उत्पन्न हो जाता है और वह चक्षुग्राह्य बन जाता है ।

शका---अचाक्षुष परमाणुओका समुदाय भी परमाणुमात्र ही होता है । वह किसी प्रकार की विशेषता उत्पन्न हुए विना चाक्षुष कैसे हो सकता है ?

समाधान---सभी वस्तुओ के मौजूदा परिणाम से कोई दूसरा परिणाम उत्पन्न होता है तो वह भिन्न हीं होता है । इस प्रकार परमाणु रूप परिणमन से चाक्षुष परिणमन भिन्न ही है । परमाणु अपने परमाणुत्व-परिणाम को त्याग कर स्निग्धता-रूक्षता के कारण स्थूल परिणमन को प्राप्त कर लेते है । स्कधो मे यथासम्भव आठो प्रकार के स्पर्श कहे गये है, परमाणुओ मे स्निग्ध रूक्ष, शीत और उष्ण, ये चार स्पर्श ही होते है इनमें से भी परस्पर अविरोधी दो स्पर्श ही एक परमाणु मे होते है ।

बन्ध रूप परिणति के लिए स्निग्धता और रूक्षता --इन दो स्पर्शों की ही आवश्यकता होती है, कोई परमाणु सूक्ष्म परिणाम वाले होते है, कोई स्निग्ध परिणाम वाले । स्निग्धता और रूक्षता परस्पर विरोधी धर्म हैं, वे एक परमाणु मे नहीं रह सकते । उनमे भी कोई परमाणु एक गुण स्निग्ध होते है, कोई दो गुण स्निग्ध होते है यावत् कोई अनन्त गुण स्निग्ध चिकना भी होते है इसी प्रकार रूक्षता के विषय मे भी समझना चाहिए ।

सामान्य रूप से सभी परमाणु सजातीय ही होते है, कोई विजातीय नहीं होते

चतुर्गुणत्व सर्वेषां भवति स्पर्शवत्त्वात्, तथाच परमाणूना रूक्षता स्नेहविशेषाद् द्रव्यान्तरेण तथाविधो बन्धपरिणामो भवति। येन प्रचयविशेषात् महान् स्थूलो घटादि सम्पद्यते, स्निग्धमृद्रज·सम्बन्धितृणादिवत्। तस्मात्—तन्मात्रत्वमनाहिताऽतिशयत्व च न सङ्गत भवति,

तथाचोक्तस्वगतभेदाभ्युपगमान्निरतिशयत्वं केषामपि वस्तूना सर्वथा नोपपद्यते कदापि, नाप्यात्यन्तिको भेद एव भवति, अपितु—किञ्चित्सामान्यमपि भवत्येवेति। न वा—ऐन्द्रियकत्वे इन्द्रियजन्यप्रत्यक्षविषयत्वरूपे परिणामएव केवल कारण भवति, अपि तु—प्रतिविशिष्टानन्तसख्यासघातापेक्षा स्थूला परिणति· प्रतीन्द्रियनियतविषयतामासादयति। तस्मात् नेन्द्रियजन्यप्रत्यक्षत्वे केवल सघात एव कारण भवति। नापि—केवलं परिणाम एव, अपि तु—द्वाभ्यां भेदसघाताभ्यामेककालिकाभ्यां स्कन्धाश्चाक्षुषा भवन्ति, अत्र-चक्षु शब्देन समस्तेन्द्रियपरिग्रहो बोध्य.। तेन—स्पर्शरसगन्धशब्दा अपि तथाविधपरिणतिशालिन एव स्वोपलब्धिजनकैरिन्द्रियैरुपलभ्यन्ते। ये पुनरतीन्द्रिया द्व्यणुकादयोऽनन्तपरमाणुपर्यवसाना· स्कन्धा सूक्ष्मा अचाक्षुषा भवन्ति, ते त्रिविधात्-पूर्वोक्तात्--कारणात्-सघाताद् एकत्वलक्षणात्, भेदात्—पृथक्त्वलक्षणात्-सघातभेदाच्च तदुभयलक्षणाद् उत्पद्यन्ते।

अथ कथ तावद् य एव बादरास्त एव पुन· सूक्ष्मा ? इति नाशङ्कनीयम्, पुद्गलानां विचित्र

क्योकि सभी रूप, रस, गध और स्पर्श गुण वाले होते है। इस प्रकार रूक्षता और स्निग्धता गुण के कारण परमाणुओ का किसी अन्य द्रव्य के साथ वन्ध होता है और उस वन्ध विशेष से घट आदि स्थूल की उत्पत्ति होती है। अगर परमाणु परमाणु मात्र ही रहे, उसमें कोई विशेषता उत्पन्न न हो तो स्थूल की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

इस प्रकार स्वगत भेद को स्वीकार करने से किन्हीं भी वस्तुओ में सर्वथा निरतिशयता (अभेद) का सभव नहीं होता और न उनमें सर्वथा भेद ही है, किन्तु कुछ समानता भी है।

इन्द्रियजनित प्रत्यक्ष का विषय होने रूप परिणाम में ही केवल कारण नहीं होता, किन्तु विशिष्ट प्रकार के अनन्त सख्यक परमाणुओ के सघात से उत्पन्न होने वाली स्थूल परिणति अमुक—अमुक इन्द्रियो का विषय बनती है। इस कारण इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष का विषय होने में केवल सघात ही कारण नहीं है और न केवल परिणाम ही कारण है, वरन् भेद और सघात दोनो जब एक ही काल में होते है, तबी स्कध चाक्षुष होते है। यहाँ चक्षु' शब्द से सभी इन्द्रियों को ग्रहण कर लेना चाहिए और यह भी समझ लेना चाहिए कि स्पर्श, रस, गध और शब्द भी पूर्वोक्त परिणति से युक्त होकर ही स्पर्शन, रसना, घ्राण और श्रोत्र इन्द्रिय के द्वारा जाने जाते है।

जो द्व्यणुक से लेकर अनन्त परमाणु पर्यन्त सूक्ष्म स्कध अचाक्षुष हैं, वे पूर्वोक्त-तीन प्रकार के कारण से अर्थात् सघात से, भेद से और सघात- भेद (उभय) से उत्पन्न होते है।

शका—जो स्कंध बादर है, वे ही सूक्ष्म कैसे कहे जा सकते है ?

परिणामत्वात् त एव पुद्गला कदाचित् बादरपरिणाम मेघेन्द्रधनुर्विद्युदादिकमनुभूय पश्चादलक्षणीयपरिणाममात्मस्वरूपावस्थानस्वभावमतिसूक्ष्म गृह्णन्ति इन्द्रियान्तरग्रहणलक्षणत्वं वा प्राप्नुवन्ति लवणहिङ्ग्वादय । सूक्ष्मपरिणामाश्चोत्पद्य पुनरप्याकाशे समन्तात् निखिलदिगन्तरावच्छादकजलधरत्वादिना स्थूलेनाकारेण परिणमन्तीति भाव ॥२३॥

मूलसूत्रम्—"सद् दव्वलक्खणं—" ॥२४॥

छाया—"सद् द्रव्यलक्षणम्—" ॥२४॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वं धर्माधर्माकाशकालपुद्गलजीवानां षण्णामपि द्रव्याणां विशेषलक्षणानि प्रतिपादितानि, सम्प्रति--तेषां सामान्यलक्षणमाह—**"सद् दव्व लक्खणं-"** इति । सदिति द्रव्यसामान्यलक्षणमवसेयम्, यत्-सत्, तद्-द्रव्यलक्षणमिति व्यपदिश्यते । तथाच-सत्त्वं द्रव्यसामान्यलक्षण बोध्यम् । तथाचोक्त व्याख्याप्रज्ञप्तौ भगवती सूत्रे—८शतके ९ उद्देशके--सत्पदद्वारसूत्रे—"सद् दव्व वा-" इति "सद्द्रव्यं वा-" ॥२४॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वसूत्रे धर्मादीनां द्रव्याणां यथायोग गतिस्थित्यवगाहोपग्रहादीनि विशेषलक्षणान्युक्तानि, सम्प्रति--सर्वद्रव्यव्यापि लक्षणमभिधातुमाह—**"सद् दव्व लक्खण"** इति । द्रव्य-

---

समाधान— पुद्गलो का परिणमन बडा विचित्र होता है । वही पुद्गल कदाचित् मेघ इन्द्रधनुष विद्युत आदि बादर परिणाम को धारण करते है और कभी वही ऐसा सूक्ष्म रूप भी धारण कर लेते हैं कि इन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य नहीं होते । कभी-कभी उनमें ऐसा परिणमन हो जाता है कि एक इन्द्रिय के बदले किसी दूसरी इन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य बन जाते है, जैसे नमक, हींग आदि । नमक और हींग पहले चक्षुग्राह्य होते है, मगर जल मे घुल जाने पर चक्षुग्राह्य नहीं रहते, रसनाग्राह्य हीं रह जाते है । कोई-कोई सूक्ष्म रूप में उत्पन्न होकर ऐसे जलधर का आकार धारण कर लेते है जो आकाश मे सभी दिशाओ मे फैल जाता है । इस प्रकार पुद्गलो के परिणमन की विचित्रता के कारण स्थूल का सूक्ष्म और सूक्ष्म का स्थूल हो जाना तनिक भी आश्चर्यजनक या असगत नहीं है ॥ २३ ॥

मूलसूत्रार्थ—"सदव्वलक्खणं'-सूत्र ॥२४॥

द्रव्य का लक्षण सत् होता है ॥२४॥

तत्त्वार्थदीपिका- पहले धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव, इन छहो द्रव्यों के विशेष लक्षणो का प्रतिपादन किया जा चुका है, अब उनका सामान्य लक्षण कहते है—

द्रव्य का लक्षण सत् है अर्थात् जो सत् है वही द्रव्य का लक्षण है इस प्रकार सत्व द्रव्यसामान्य का स्वरूप है व्याख्याप्रज्ञप्ति-(भगवती) सूत्र मे कहा भी है-सत् द्रव्य कहलाता है ॥२४॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पहले धर्म आदि द्रव्यो का गति-उपग्रह, स्थिति-उपग्रह, अवगाह-उपग्रह आदि विशेष लक्षण कहे जा चुके है, अब समस्त द्रव्यव्यापक लक्षण कहते है—

सामान्यस्य लक्षणं तावत् सदिति विज्ञेयम् । एतेन किं विकारग्रन्थिरहितं सत्तामात्र धर्मादीना लक्षणम्- ? किंवा--उत्पादविनाशरूपं विकारमात्रं तेषां लक्षणम् ! इति विप्रतिपत्तिरपि समाहिता ।

सत्त्वस्यैव धर्मादीनां सामान्यलक्षणत्वात्, तथाच--पूर्वोक्तगतिस्थित्यवगाहाद्युपकारेण तेषामस्तित्वनिश्चयात् प्रसिद्धसत्ताकत्वेन सत्त्व खलु द्रव्यसामान्यलक्षणं निष्प्रत्यूहतया निर्दुष्टं भवति । अथ गतिस्थित्याद्युपग्रहकारिण खलु केऽपि धर्मादय 'अप्रसिद्धसत्ताकाः---'एवेतिचेत् ? अत्रोच्यते---एकीभावात् सग्रहात् उत्पादव्ययध्रौव्यरूपस्य सल्लक्षणस्य धर्माधर्माकाशपुद्गलजीवात्मकेषु द्रव्येषूपलभ्यमानत्वेन तेषा सत्त्वेन प्रसिद्धत्वात् अस्तित्वाव्यभिचारात् ।

"अत्रेदं बोध्यम्--" धर्माधर्माकाशकालपुद्गलजीवरूपाणि षड्द्रव्याणि जगत. स्वतत्त्व वर्तन्ते, तत्र--जीवद्रव्य धर्माधर्मादीना स्वरूपस्य च ग्राहक भवति । सक्षेपत. शब्दार्थज्ञानानि सत्त्वलक्षणस्य लक्ष्याणि लक्ष्यन्ते तद्व्यापिलक्षण भवति, तस्मात्, धर्माधर्मादिद्रव्याणा सामान्यं सत्त्वलक्षण समुपपन्नमिति भाव' । उक्तञ्च--व्याख्याप्रज्ञप्तौ भगवतीसूत्रे ८ शतके ९ उद्देशके सत्पदद्वारे "सद्दव्वं वा इति "सद्द्रव्य वा"--इति, सदिति द्रव्यसामान्यलक्षणमवसेयम् ॥ २४ ॥

मूलसूत्रम्--"उप्पायवयधोव्वजुत्तं स--" ॥ २५ ॥

छाया---उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ॥ २५ ॥

द्रव्यसामान्य का लक्षण सत् है । इस कथन से क्या विकार की ग्रन्थि से रहित सत्तामात्र (ध्रौव्य) धर्मादि का लक्षण है ? अथवा उत्पाद और विनाश रूप विकार ही उनका लक्षण है ? अथवा दोनो उनके ही लक्षण है ? इन सब विप्रतिपत्तियो का भी निवारण हो जाता है, क्योकि सत्ता ही धर्म आदि का सामान्य लक्षण है । इस प्रकार गति, स्थिति, अवगाह आदि उपकार के द्वारा उनके अस्तित्व का निश्चय होता है ।

शंका--गति, स्थिति आदि में निमित्त होने वाले धर्मादि कोई अप्रसिद्ध सत्ता वाले है ।

समाधान--उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप सत्त्व धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीव द्रव्यों में उपलब्ध होता है, अतएव उनकी सत्ता प्रसिद्ध है । वे सत्त्व से अलग नहीं हो सकते ।

यहाँ यह बात समझ लेना चाहिए कि धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव यही छह द्रव्य जगत् का स्वरूप है । इनमें जीवद्रव्य ही धर्म अधर्म आदि के और अपने निज के स्वरूप का ग्राहक है । सक्षेप से शब्द, अर्थ और ज्ञान सभी मे सत्त्व लक्षण पाया जाता है, अतएव यह लक्षण सर्वव्यापी है । तात्पर्य यह है कि धर्म, अधर्म आदि द्रव्यो का सामान्य लक्षण सत्त्व ही सगत होता है। भगवतीसूत्र के आठवे शतक के ९ नव वें उद्देशक में सत्पदद्वारमें कहा है--द्रव्य का लक्षण सत् है ॥२४॥

मूलसूत्रार्थ---"उप्पाय वय धौव्वा' इत्यादि ॥२५॥

जो सत् है उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त होता है ॥२५॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे धर्मादिद्रव्यसामान्यलक्षण—"सद्" इति प्रतिपादित, तत्र किं तावत् सदिति जिज्ञासायां सतो लक्षणमाह—"**उप्पायवयधौव्व-जुत्त स**—" इति । उत्पाद-व्ययध्रौव्ययुक्तं वस्तु सदित्युच्यते तत्र चेतनस्य जीवस्य, अचेतनस्य धर्मादेर्वा द्रव्यस्य स्वजातिम-परित्यजोऽन्तरङ्ग—बहिरङ्गनिमित्तवशाद्भवान्तरप्राप्तिरूपोत्पत्तिरुत्पाद उच्यते, यथा—मृत्पिण्डादेर्घटा-दिपर्यायो भवति एव पूर्वभावस्य व्यपगमरूपो विनाशो "व्यय:—" इत्युच्यते, यथा—घटादेरुत्पत्तौ पिण्डाकृतेर्विनाशो भवति ।

एवमेवाऽनादिपारिणामिकस्वभावेन व्ययोदयाभावाद ध्रुवति—स्थिरी भवतीति ध्रुव' स्थिर-इत्युच्यते, ध्रुवस्य भाव'—कर्म वा, ध्रौव्य स्थैर्यम्, यथा सुवर्णपिण्डकटकवलयकुण्डलाद्यवस्थासु सुवर्ण-द्रव्यस्याऽन्वयो भवति मृत्पिण्डघटाद्यवस्थासु वा यथा—मृदाबन्वय , तथाविधैरुत्पादव्ययध्रौव्यैर्युक्त वस्तु सदिति व्यपदिश्यते ।

युक्तशब्दस्य "**युज्समाधौ**—" इति दैवादिकयुज्धातुनिष्पन्नत्वात् समाहितार्थकतया उत्पाद-व्ययध्रौव्य समाहितम्, उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकम्—उत्पादव्ययध्रौव्यमयम् उत्पादव्ययध्रौव्यस्वभाव यद् वस्तु भवति तत्- सदित्युच्यते । तथाच—उत्पादव्ययध्रौव्याणि सद्रूपस्य, द्रव्यस्य लक्षणानि अव-सेयानि द्रव्य पुनर्लक्ष्य वर्तते सद्रूपम् तत्रौत्पादव्ययध्रौव्याणा पर्यायार्थिकनयेन परस्पर द्रव्याच्चा-

---

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्व सूत्र मे द्रव्यसामान्य का लक्षण सत् कहा गया है, मगर 'सत्' किसे कहना चाहिए ? इस प्रकार की जिज्ञासा होने पर सत् का स्वरूप कहते है—

जो वस्तु उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त होती है, वही सत् कहलाती है ।

जीव अथवा धर्म आदि अजीव द्रव्यो में अपनी मूल जाति का परित्याग न करते हुए, अन्तरग और बहिरग निमित्तो से नूतन पर्याय का उत्पन्न होना उत्पाद कहलाता है, जैसे मिट्टी के पिण्ड से घट की उत्पत्ती होती है । इसी प्रकार पूर्व पर्याय का विनाश हो जाना व्यय कहलाता है, जैसे घट पर्याय की उत्पत्ति होने पर पिण्ड पर्याय का न रहना व्यय है । इसी प्रकार अनादि पारिणामिक भाव से व्यय और उत्पाद न होना अर्थात् मूलभूत द्रव्य का ज्यों का त्यो स्थिर रहना ध्रौव्य, ध्रुवता, स्थिरता आदि समानार्थक शब्द है । जैसे स्वर्णपिण्ड, कटक, वलय, कुण्डल आदि स्वर्ण की एक के पश्चात् दूसरी होने वाली अनेक स्थितियो मे स्वर्ण द्रव्य कायम रहता है । इस प्रकार के उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त वस्तु सत् कहलाती है ।

'युज् समाधौ' धातु से 'युक्त' शब्द निष्पन्न हुआ है, अतएव युक्त का मतलब है—समा-हित । जो उत्पाद व्यय और ध्रौव्य से समाहित है, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है, उत्पाद—व्यय ध्रौव्यमय है या उत्पाद—व्यय—ध्रौव्य स्वभाव वाली होती है, वही सत् कहलाती है ।

इस प्रकार उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य सद्रूप द्रव्य के लक्षण है । सद्रूप द्रव्य लक्ष्य है । पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य परस्पर भिन्न है और द्रव्य से भी

र्थान्तरत्वं बोध्यम् द्रव्यार्थिकनयेन तु -परस्पर व्यतिरेकेणाऽनुपलब्धेरर्थान्तरत्व न भवति, अपि तु–तन्मयत्वमेव वर्तते इति भाव ॥ २५ ॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं धर्मादिद्रव्याणां सदिति सामान्यलक्षणमुक्तम्, तत्र–किंतावत् सतोलक्षणमित्याकाङ्क्षायामाह **"उप्पायवयधोव्वजुत्तं स–"** इति । उत्पाद-व्यय ध्रौव्ययुक्त वस्तु सदित्युच्यते, तथाहि–उत्पत्तिस्थितिविनाशस्वभावं सद् भवति, नियमत एवोत्पत्तिस्थितिविनाशा समुदिता एव सत्त्व गमयति, सत एव वस्तुन उत्पत्त्यादयो भवन्ति–न तु सर्वथाऽसद्भूतस्य निरूपाख्यस्य गगनकुसुमादेरलीकस्योत्पत्त्यादय सम्भवन्ति । गगनकुसुमादे केनाऽप्याकारणाऽनुपाख्यायमानत्वात्, यद्धि न कथञ्चिद्ध्रुवम्–न वा, उत्पद्यते, नचाऽपि व्येति, न तत्-सत् अपितु-असदेव यथा–शशशृङ्गबन्ध्यापुत्रगगनकुसुमकूर्मक्षीरादि तथा चेदं सूत्रं **द्रव्यार्थिक–पर्यायार्थिकनयद्वयापेक्षया प्रतिपत्तव्यम्** तौ हि द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिकनयौ–उत्सर्गापवादस्वभावौ नैगमसंग्रहव्यवहारनयानामपि मूलभूतौ स्त तयो सामान्यविशेषोभयग्राहित्वान्नैगमस्य संग्रहव्यवहारयोश्चान्तर्भावात्,

द्रव्यार्थिकनयस्तावद् उत्सर्गो-विधि-र्व्यापित्वमप्रतिषेधो न किञ्चिद्विशेषमाकाङ्क्षति विशेषस्तावद् इतरप्रतिषेधे नाऽऽत्मान भवान्तरत्वेन प्रतिपादयति नाप्यभावे इतरप्रतिषेधमात्र

भिन्न है, मगर द्रव्यार्थिक नय से अलग–अलग उपलब्ध न होने से भिन्न नहीं है बल्कि तन्मय ही है ।।२५॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पहले धर्म आदि द्रव्यो का सामान्य लक्षण 'सत्' कहा गया है, मगर सत् किसे कहते है, इस आशका का समाधान करने के लिए कहते है—

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त वस्तु सत् कहलाती है । उत्पत्ति, स्थिति और विनाश स्वभाव वाला सत् होता है । नियम से उत्पत्तिस्थिति और विनाश ये तीनों समुदित होकर ही सत्त्व के बोधक होते है सत वस्तु से ही उत्पत्ति आदि होते, है जो सर्वथा असत् है, आकाश कुसुम की तरह नि स्वरूप है, उसमें उत्पत्ति आदि नहीं होती क्योंकि आकाश कुसुम आदि किसी भी स्वरूप से कहे नहीं जा सकते । जो कथंचित ध्रुव नहीं है न उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है वह सत् भी नहीं होता है, असत् होता है, जैसे शशक के शींग, बन्ध्या का पुत्र, आकाश का कुसुम और कछुवे का दूध आदि ।

इस प्रकार यह सूत्र द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से समझना चाहिए । द्रव्यार्थिकनय सामान्य का ग्राहक और पर्यायार्थिक नय विशेष का ग्राहक है । यह दोनों नय नैगम संग्रह और व्यवहार नयो के मूल है, क्योंकि नैगमनय सामान्य और विशेष, दोनो का ग्राहक होने से संग्रह और व्यवहारनय मे ही अर्न्तगत हो जाता है ।

द्रव्यार्थिकनय उत्सर्ग, विधि, व्यापकता, अप्रतिषेध, सामान्य अथवा द्रव्य को ही ग्रहण करता है । वह विशेष या भेद को स्वीकार नहीं करता । विशेष, दूसरो का निषेध

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे धर्मादिद्रव्यसामान्यलक्षण-"सद्" इति प्रतिपादित, तत्र किं तावत् सदिति जिज्ञासाया सतो लक्षणमाह—"**उप्पायवयधोव्व-जुत्त स**—" इति । उत्पाद-व्ययध्रौव्ययुक्तं वस्तु सदित्युच्यते तत्र चेतनस्य जीवस्य, अचेतनस्य धर्मादेर्वा द्रव्यस्य स्वजातिम-परित्यजोऽन्तरङ्ग-वहिरङ्गनिमित्तवशाद्भावान्तरप्राप्तिरूपोत्पत्तिरुत्पाद उच्यते, यथा-मृत्पिण्डादेर्घटा-दिपर्यायो भवति एव पूर्वभावस्य व्यपगमरूपो विनाशो "व्यय:-" इत्युच्यते, यथा-घटादेरुत्पत्तौ पिण्डाकृतेर्विनाशो भवति ।

एवमेवाऽनादिपारिणामिकस्वभावेन व्ययोदयाभावाद ध्रुवति-स्थिरो भवतीति ध्रुव स्थिर-इत्युच्यते, ध्रुवस्य भाव -कर्म वा, ध्रौव्य स्थैर्यम्, यथा सुवर्णपिण्डकटकवलयकुण्डलाद्यवस्थासु सुवर्ण-द्रव्यस्याऽन्वयो भवति मृत्पिण्डघटाद्यवस्थासु वा यथा-मृदाद्यन्वय , तथाविधैरुत्पादव्ययध्रौव्यैर्युक्त वस्तु सदिति व्यपदिश्यते ।

युक्तशब्दस्य "युजूसमाधौ-" इति दैवादिकयुज्धातुनिष्पन्नत्वात् समाहितार्थकतया उत्पाद-व्ययध्रौव्य समाहितम्, उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकम्-उत्पादव्ययध्रौव्यमयम् उत्पादव्ययध्रौव्यस्वभाव यद् वस्तु भवति तत् सदित्युच्यते । तथाच-उत्पादव्ययध्रौव्याणि सद्रूपस्य, द्रव्यस्य लक्षणानि अव-सेयानि द्रव्य पुनर्लक्ष्य वर्तते सद्रूपम् तत्रौत्पादव्ययध्रौव्याणा पर्यायार्थिकनयेन परस्पर द्रव्याच्चा-

---

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्व सूत्र में द्रव्यसामान्य का लक्षण सत् कहा गया है, मगर 'सत्' किसे कहना चाहिए ? इस प्रकार की जिज्ञासा होने पर सत् का स्वरूप कहते है—

जो वस्तु उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त होती है, वही सत् कहलाती है ।

जीव अथवा धर्म आदि अजीव द्रव्यो में अपनी मूल जाति का परित्याग न करते हुए, अन्तरग और बहिरग निमित्तो से नूतन पर्याय का उत्पन्न होना उत्पाद कहलाता है, जैसे मिट्टी के पिण्ड से घट की उत्पत्ती होती है । इसी प्रकार पूर्व पर्याय का विनाश हो जाना व्यय कहलाता है, जैसे घट पर्याय की उत्पत्ति होने पर पिण्ड पर्याय का न रहना व्यय है । इसी प्रकार अनादि पारिणामिक भाव से व्यय और उत्पाद न होना अर्थात् मूलभूत द्रव्य का ज्यों का त्यो स्थिर रहना ध्रौव्य, ध्रुवता, स्थिरता आदि समानार्थक शब्द है । जैसे स्वर्णपिण्ड, कटक, वलय, कुण्डल आदि स्वर्ण की एक के पश्चात् दूसरी होने वाली अनेक स्थितियो में स्वर्ण द्रव्य कायम रहता है । इस प्रकार के उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त वस्तु सत् कहलाती है ।

'युज् समाधौ' धातु से 'युक्त' शब्द निष्पन्न हुआ है, अतएव युक्त का मतलब है—समा-हित । जो उत्पाद व्यय और ध्रौव्य से समाहित है, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है, उत्पाद—व्यय ध्रौव्यमय है या उत्पाद—व्यय—ध्रौव्य स्वभाव वाली होती है, वही सत् कहलाती है ।

इस प्रकार उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य सद्रूप द्रव्य के लक्षण है । सद्रूप द्रव्य लक्ष्य है । पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य परस्पर भिन्न है और द्रव्य से भी

र्थान्तरत्व वोध्यम् द्रव्यार्थिकनयेन तु –परस्पर व्यतिरेकेणाऽनुपलब्धेरर्थान्तरत्व न भवति, अपि तु– तन्मयत्वमेव वर्तते इति भाव' ॥ २५ ॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्व धर्मादिद्रव्याणां सदिति सामान्यलक्षणमुक्तम्, तत्र–कितावत् सतोलक्षणमित्याकाङ्क्षायामाह **"उप्पायवयधोव्वजुत्तं स–"** इति । उत्पाद-व्यय ध्रौव्ययुक्त वस्तु सदित्युच्यते, तथाहि–उत्पत्तिस्थितिविनाशस्वभावं सद् भवति, नियमत एवोत्पत्तिस्थितिविनाशा' समुदिता एव सत्त्व गमयति, सत एव वस्तुन उत्पत्त्यादयो भवन्ति–न तु सर्वथाऽसद्‌भूतस्य निरूपाख्यस्य गगनकुसुमादेरलीकस्योत्पत्त्यादय' सम्भवन्ति । गगनकुसुमादे केनाऽप्याकारेणाऽनु पाख्यायमानत्वात्, यद्धि न कथञ्चिद्ध्रुवम्–न वा, उत्पद्यते, नचाऽपि व्येति, न तत्-सत् अपितु-असदेव यथा–शशशृङ्ग बन्ध्यापुत्रगगनकुसुमकूर्मक्षीरा,दि तथा चेदं सूत्र **द्रव्यार्थिक–पर्यायार्थिकनयद्वया-पेक्षया प्रतिपत्तव्यम्** तौ हि द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिकनयौ–उत्सर्गापवादस्वभावौ नैगमसग्रहव्यवहार-नयानामपि मूलभूतौ स्त' तयो सामान्यविशेषोभयग्राहित्वान्नैगमस्य संग्रहव्यवहारयोश्चान्तर्भावात्,

द्रव्यार्थिकनयस्तावद् उत्सर्गो-विधि-र्व्यापित्वमप्रतिषेधो न किञ्चिद्विशेषमाकाङ्क्षति विशेप-स्तावद् इतरप्रतिषेधे नाऽऽत्मानं भवान्तरत्वेन प्रतिपादयति नाप्यभावे इतरप्रतिषेधमात्रं

भिन्न है, मगर द्रव्यार्थिक नय से अलग–अलग उपलब्ध न होने से भिन्न नहीं है वल्कि तन्मय ही है ।।२५।।

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पहले धर्म आदि द्रव्यो का सामान्य लक्षण 'सत्' कहा गया है, मगर सत् किसे कहते है, इस आशका का समाधान करने के लिए कहते है—

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त वस्तु सत् कहलाती है । उत्पत्ति, स्थिति और विनाश स्वभाव वाला सत् होता है । नियम से उत्पत्तिस्थिति और विनाश ये तोनों समु-दित होकर ही सत्त्व के बोधक होते है सत वस्तु से ही उत्पत्ति आदि होते, हैं जो सर्वथा असत् है, आकाश कुसुम की तरह नि स्वरूप है, उसमें उत्पत्ति आदि नहीं होती क्योंकि आकाश कुसुम आदि किसी भी स्वरूप से कहे नहीं जा सकते । जो कथंचित ध्रुव नहीं है न उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है वह सत् भी नहीं होता है, असत् होता है, जैसे शशक के शींग, बन्ध्या का पुत्र, आकाश का कुसुम और कछुवे का दूध आदि ।

इस प्रकार यह सूत्र द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से समझना चाहिए । द्रव्यार्थिकनय सामान्य का ग्राहक और पर्यायार्थिक नय विशेष का ग्राहक है । यह दोनो नय नैगम सग्रह और व्यवहार नयो के मूल है, क्योंकि नैगमनय सामान्य और विशेष, दोनों का ग्राहक होने से सग्रह और व्यवहारनय में ही अर्न्तगत हो जाता है ।

द्रव्यार्थिकनय उत्सर्ग, विधि, व्यापकता, अप्रतिषेध, सामान्य अथवा द्रव्य को ही ग्रहण करता है । वह विशेष या भेद को स्वीकार नहीं करता । विशेष, दूसरो का निषेध

भवति तथाहि—घटस्य प्रागभावो मृत्पिण्डरूपो भवति, घटोत्पादात् प्राग्घटस्याऽभावोऽनाविर्भूतघटाकारो मृत्पिण्डइवेति, भाव । प्रध्वसाभावोऽपि—घटादे कपालाद्यवस्थाप्राप्तिरूप एव, विनाशरू प्रध्वसोऽवस्थान्तररूपत्वाद् वस्तुस्वभाव न परित्यजति कविवर्णनरचनामात्रप्रापितनटान्यत्ववत् कञ्चुकादिसंस्थानमात्रपरित्यागिसर्पवदवा एवम्—स्तम्भ-कुम्भादीना घटादीना वान्योन्याभावोऽपि परस्परव्यतिरेकरूपत्वात्- अवस्तुरूपो न भवति, सकलवस्तुन एव तथाविधत्वाऽभ्युपगमत्वात् । अन्योन्याभावोऽपि वस्त्वेव भवति । नाप्यत्यन्ताभाव कश्चिदलीकरूपोऽनुपाख्यो भवति, सर्वथाऽनुपाख्यायमानस्वरूपावगमाऽभावात् ।

तस्मात्—सर्वाण्येव वस्तूनि द्रव्यक्षेत्र—काल—भावभेदापेक्षाणि कदाचित् प्रत्यक्षादिनोपलभ्यन्ते प्रमाणेनाऽवधार्यन्ते । कदाचिदुपलब्धानि सन्त्यपि द्रव्यादिविप्रकर्षात्पुनर्नोपलभ्यन्ते, मतिज्ञानावरणीयकर्मक्षयोपशमकारणसमुदाये सत्यप्युपयोगे किञ्चित् द्रव्यजातमन्यात्मपरमाणुर्द्व्यणुकादिवैक्रियशरीरादि च विद्यमानमपि नोपलभ्यते । तस्य द्रव्यस्य तेषाञ्चाऽनुपलब्धौ तथाविधपरिणाम एव हेतुरितिबोध्यम् ।

दिवसे तारकादय धान्यराशौ प्रक्षिप्त धान्यञ्च नोपलभ्यते किञ्चित्क्षेत्रविप्रकर्षाद् दूरात्यासन्नसव्यवधानस्थित सदपि वस्तु नोपलम्भविषयतामासादयति । एवमन्यत्किमपि वस्तुकालविप्रकर्षात्-

---

करके किसी वस्तु की भिन्नता का प्रतिपादन करता है । अभाव केवल निषेधमात्र—शून्यरूप नहीं है, जैसे—घट का प्रागभाव मृत्पिण्ड है । घट की उत्पत्ति से पहले जो घट का अभाव है, वह मृत्पिण्ड ही है जिसमें घट पर्याय की उत्पत्ति नहीं हुई है । घट का प्रध्वसाभाव उसके ठीकरे हो जाता है । प्रध्वंसाभाव भी वस्तुस्वरूप ही है, घट की कपाल अवस्था हो जाना ही उसका प्रध्वस है । इसी प्रकार स्तभ कुंभ आदि एक ही द्रव्य की विभिन्न पर्यायो में जो परस्पर भिन्नता होती है, वह अन्योन्याभाव है, जैसे स्तभ, कुंभ नहीं है और कुभ स्तभ नहीं है । यह भी अवस्तु रूप —शून्य- नहीं है । क्योकि जितनी भी वस्तुपर्यायें है, सब अन्योन्याभाव रूप है । इसी तरह एक द्रव्य का दूसरा द्रव्य रूप न होना अत्यन्ताभाव है । यह भी एकान्त निरुपाख्य नहीं है, जैसे चेतन अचेतन नहीं है और अचेतन चेतन नहीं है ।

सभी वस्तुएँ द्रव्य, क्षेत्रकाल और भाव की अपेक्षा रखती है । वे कभी प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से उपलब्ध होती है और कभी उपलब्ध होकर भी द्रव्य आदि के विप्रकर्ष के कारण उपलब्ध होने योग्य नहीं रहती । मतिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम रूप कारण समूह के विद्यमान रहने पर भी आत्मा परमाणु, द्व्यणुक आदि तथा वैक्रिय शरीर आदि विद्यमान रहते हुए भी उपलब्ध नहीं होते है इसका कारण उस वस्तु का परिणमन है ।

दिन में तारे नजर नहीं आते । धान्य की राशि मे डाला हुआ धान्य उपलब्ध नहीं होता । कोई—कोई वस्तु क्षेत्र की दूरी के कारण, अत्यन्त समीपता के कारण अथवा व्यवधान (आड) आ जाने के कारण भी उपलब्ध नहीं होती है ।

अनाविर्भूतं सत् तिरोहितत्वादुपलब्धिगोचरो नोपजायते । एवं भावविप्रकर्षादन्यत् किमपि परकीयात्मनिष्ठमतिज्ञानादिविकल्पजात परमाण्वादिवर्तिच रूप-रस-गन्धस्पर्शादिपर्यायकलापजातं विद्यमान सदपि नोपलभ्यते विवक्षितोपलब्धेरन्या—उपलब्धिरनुपलब्धिरुच्यते न तु—उपलब्ध्यभावोऽनुपलब्धि अलीकरूपाऽनुपाख्यस्याऽभावस्य प्रत्याख्यातत्वात् ।

भावस्यैव च कथञ्चिदभावशब्देनाऽभिधीयमानत्वात् तस्मादुपलब्धिकारणशालिन एवाऽनुपलब्धिर्भवति नाऽन्यथेति । तथाच—नाऽभावप्रतिपेधमात्रं भवति अपितु—भावरूपोऽपीति सिद्धम् एवञ्च—ध्रौव्यं द्रव्यं भवनलक्षण मयूराण्डकरसवद् विद्यमानसर्वभेदबीजं निर्भेदं—देशकालक्रमव्यङ्ग्यभेद समरसावस्थम्—एकरूपम् अभिन्नमपि भेदप्रत्ययधर्मेण भिन्नवदाभासते भवनाश्रयाच्च भाविनिविशेषे भावत्वं भवति ।

अन्यथा—भावीविशेषोभाव एव न भवेत् भवनव्यतिरेकित्वात् भाविनो विशेषस्य तदव्यतिरिक्तरूपाभावात् तत्स्वरूपवद् भावत्वं भवति तदव्यतिरिक्तरूपत्वाच्च तथासति भवनमात्रमेवेदं सकलं वर्तते भेदाभिमता पुनरेता वृत्तयस्तस्यैव सन्ति न तु—जात्यन्तराणि । पर्यायार्थिकनय पुनरपवाद-

---

कोई वस्तु काल के विप्रकर्ष के कारण आविर्भूत नहीं रहतो। वह तिरोहित होने से उपलब्धि के योग्य नहीं होती। कोई-कोई भाव सवधी विप्रकर्ष के कारण उपलब्धि के गोचर नहीं होती, जैसे परकीय आत्मा में रहा हुआ मतिज्ञान आदि तथा परमाणु आदि में रहा हुआ रूप, रस, गध और स्पर्श आदि पर्यायो का समूह विद्यमान होता हुआ भी उपलब्ध नहीं होता है। किसी एक उपलब्धि से भिन्न दूसरी उपलब्धि ही अनुपलब्धि कहलाता है, उपलब्धि का अभाव अनुपलब्धि नहीं है, क्योकि पहले ही कहा जा चुका है कि अभाव कोई शून्य रूप—निस्स्वरूप वस्तु नहीं है, बल्कि भाव ही कथचित् अभाव शब्द के द्वारा प्रकट किया जाता है। इस प्रकार जिसकी उपलब्धि के कारण विद्यमान हो, उसकी उपलब्धि होती है। जिसकी उपलब्धि के समस्त कारण न हो और इसलिए जो उपलब्धि के योग्य न हो, उसकी उपलब्धि नहीं होती। इससे सिद्ध हुआ कि अभाव केवल प्रतिपेध रूप नहीं है बल्कि भावान्तर रूप ही होता है।

ध्रौव्य का अर्थ है द्रव्य या होना। मयूर के अंडे के रस के समान उसमें भेदों का बीज विद्यमान रहता है, मगर वह स्वयं भेदविहीन है। देश—काल—क्रम से उसमें भेद व्यक्त होने योग्य होता है। वह स्वय समरस अवस्था मे रहता है, एक रूप में रहता है, और अभिन्न होता हुआ भी भेद प्रतिभासी होने के कारण भिन्न—सा प्रतीत होता है। भवन का आश्रय होने से भावी विशेष में 'भावत्व' है। अन्यथा भावी विशेष भाव ही न कहलाए, क्योंकि वह भवन से भिन्न है। भावी विशेष उससे अभिन्न रूप है अतएव उसके स्वरूप के समान भाव ही है और उससे अभिन्न रूप वाला है। इस प्रकार यह जो भी कुछ है वह सब भवन मात्र ही है। भेद रूप मे प्रतीत होने वाली ये समस्त वृत्तियाँ उसी की है, भिन्न जाति की नहीं।

स्वभावोऽन्यपरिवर्जनेनाऽन्यपरिवर्जनस्याऽपवादरूपत्वात स हि— पर्यायार्थिकनय इतरपरिवर्जनेना-ऽन्य प्रतिपादयति तस्य प्रतिपेधरूपत्वात् ।

तथाहि— अघटो न भवतीति घट पर्याया एव सन्ति न तु—द्रव्य तावदेक किञ्चित् पर्यायादर्थान्तरमस्ति द्रव्यार्थिकनयावधारितध्रौव्यवस्तुनिरासेन भेदा एव वस्तुत्वेन प्रतिज्ञायन्ते । तस्मात्—पर्यायार्थिकनयस्याऽस्तित्वम् समुपलभ्यमानाऽय.शलाकासदृशभेदकलापव्यतिरेकेण द्रव्य-स्याऽनुपलम्भात् अथच—रूपादिव्यतिरेकेण मृद्द्रव्यमित्येकवस्त्वाश्रयिका चाक्षुपप्रतीतिरपलपितुमशक्या

घोरान्धकारपटलाच्छन्नप्रदेशस्थायिनो मृद्द्रव्यमात्रावलम्बनमसत्यमितिवक्तु न शक्यते, तस्माद भिन्नमेकं द्रव्यमस्ति, अभेदज्ञानविषयत्वात् । नेयमभेदप्रतीतिभ्रमात्मिका सम्भवति ? प्रेक्षावद्भिः पौन पुन्येन तथैवोपलभ्यमानत्वात् । तस्मात्—उत्पादव्ययव्यतिरिक्त कश्चिद् ध्रौव्यांशोऽपि अस्ति

पर्यायार्थिक नय अपवाद स्वभाव वाला है, क्योंकि अन्य का निपेध अपवाद है । पर्या-यार्थिक नय किसी वस्तु का प्रतिपादन दूसरी वस्तुओ का निपेध करके करता है, क्योंकि उसका स्वरूप निषेध करना है ।

जो अघट नहीं है वह घट है, इस प्रकार पर्यायो का ही अस्तित्व है । पर्यायो से पृथक् द्रव्य की कोई सत्ता नहीं है । इस प्रकार द्रव्यार्थिक नय के द्वारा समर्थित ध्रौव्य का निषेध करके भेदो को ही वास्तविक स्वीकार किया जाता है । इस कारण पर्यायार्थिक नय का अस्तित्व है । उपलब्ध होने वाले लोहे की शलाकाओ के सदृश भेद—समूह को छोडकर द्रव्य की उपलब्धि नहीं होती, किन्तु मृत्तिका द्रव्य रूप आदि से भिन्न एक वस्तु है, इस प्रकार एक वस्तु को विषय करने वाली चक्षुजन्य प्रतीति का अपलाप नहीं किया जा सकता ।

अघट नहीं है वह घट है, इसप्रकार पर्यायोकाही अस्तित्व है । पर्यायो से पृथक द्रव्य की कोई सत्ता नहीं है । इसप्रकार द्रव्यार्थिक नय के द्वारा समर्थित ध्रौव्य का निषेध करके भेदो को ही वास्तविक स्वीकार किया जाता है । इस कारण पर्यायार्थिकनय का अस्तित्व है । उपलब्ध होने वाले लोहे की शलाकाओ के सदृश भेद—समूह को छोड कर द्रव्य की उपलब्धि नहीं होती, किन्तु मृत्तिकाद्रव्य रूप आदि से भिन्न एक वस्तु है, इस प्रकार एक वस्तु को विषय करने वाली चक्षुजन्य प्रतीति का अपलाप नहीं किया जा सकता ।

घोर अन्धकार के समूह से व्याप्त किसी प्रदेश में रहे हुए मृत्तिका द्रव्य का जो स्पर्श-नेन्द्रियजनित ज्ञान होता है, वह मृत्तिका द्रव्य को ही विषय करता है । उसे किस प्रकार असत्य कहा जा सकता है ? इस कारण एक अभिन्न द्रव्य का अस्तित्व अवश्य सिद्ध होता है । अभिन्न द्रव्य का अस्तित्व न होता तो अभेद का ज्ञान भी न होता । अभेद का यह ज्ञान भ्रमात्मक नहीं हो सकता, क्योंकि बुद्धिमान् जनो को बार—बार ऐसा ज्ञान होता है । इस कारण उत्पाद और व्यय से भिन्न एक ध्रौव्य अंश भी है, जिसके कारण द्रव्य एक या अभिन्न प्रतीति का विषय होता है ।

यमाश्रित्य द्रव्यमेकमभेदप्रतीति हेतुरिति प्रज्ञाप्यते। एवञ्च स्थित्युत्पत्तिविनाशस्वभाव सकलमेववस्तु सद् वर्तते, ।

एतौ च द्रव्यपर्यायौ न ध्रौव्योत्पादव्ययरूपौ, न परस्परनिरपेक्षौ सन्तौ सतोलक्षणे भवत । द्रव्यार्थिकस्य ध्रौव्यमात्रवृत्तित्वात्, पर्यायस्योत्पादव्ययमात्रवृत्तित्वात्, परस्परापेक्षौ पुनस्तौ वस्तु स्वत्वं भवत । नहि–द्रव्यांश पर्यायांशो वा परमार्थत. कश्चिदस्ति, तयो' परिकल्पितत्वात् ।

उक्तञ्च—"नाऽन्वयो भेदरूपत्वान्न भेदोऽन्वयरूपतः ।
मृद्‌भेदद्वयससर्गवृत्तिर्जात्यन्तं घट ॥१॥ इति

तस्माद् एकान्तवादिपरिकल्पिताद् वस्तुनोऽनेकान्तवादिन'–सम्मत वस्तु जात्यन्तरमेवाऽविभक्तरूपद्वयससर्गात्मकत्वात, नृसिंहादिवत् ।

उक्तञ्च—"न नर सिंहरूपत्वान्न सिंहो नररूपत' ।
शब्दविज्ञानकार्याणा भेदाज्जात्यन्तर हि तत् ॥१॥ इति

इत्थञ्च—घटाद्यपि वस्तु कल्पिताद् द्रव्यार्थिकरूपात् पर्यायार्थिकरूपाच्च जात्यन्तरं वर्तते

यह ध्रौव्य रूप द्रव्य और उत्पाद–व्यय रूप पर्याय परस्पर निरपेक्ष होकर सत् का लक्षण नहीं हैं। द्रव्यार्थिक नय ध्रौव्य को विषय करता है और पर्यायार्थिक नय उत्पाद और व्यय को ग्रहण करता है। यह दोनों परस्पर सापेक्ष होकर ही वस्तु के स्वरूप है। द्रव्यांश या पर्यायांश कोई वास्तविक नहीं है, ये दोनो अश तो कल्पित है। वस्तु अपने आपमें एक अखण्ड रूप है, सिर्फ नित्य अनित्य होने के कारण उसमें दो अंशो का व्यवहार होता है। कहा भी है—

अकेले अन्वय को अर्थात् अभेद (सामान्य) को स्वीकार करना उचित नहीं है, क्योकि भेद की भी प्रतीति होती है और केवल भेद को स्वीकार करना भी युक्तिसगत नहीं है, क्योंकि अभेद की भी प्रतीति होती है। इस प्रकार घट मृत्तिका से भेद और अभेद वाला होने से एक भिन्न ही प्रकार का है।

अतएव एकान्तवादियों द्वारा कल्पित वस्तु से अनेकान्तवादियो द्वारा सम्मत वस्तु स्वरूप भिन्न प्रकार का है, क्योकि उसमें नित्यता और अनित्यता दोनो पाई जाती है। जैसे नर और सिंह से 'नरसिंह' का रूप भिन्न है, उसी प्रकार एकान्त नित्यता और अनित्यता से नित्यानित्यता भिन्न है। कहा भी है—

'नरसिंह अकेला नर नहीं है, क्योकि उसमें सिंह का भी रूप पाया जाता है और वह सिंह भी नहीं है क्योकि उसमें नर का भी रूप पाया जाता है। इस प्रकार शब्द ज्ञान और कार्य में भिन्नता होने से नृसिंह भिन्न ही जाति है ॥ १ ॥

इस प्रकार घटादि प्रत्येक वस्तु कल्पित द्रव्यरूप और पर्याय रूप से विलक्षण प्रकार

एवंविधप्रक्रियाऽभ्युपगमेन च—एकनयमतानुसारिसर्वमेव दूपणजातम् उपस्थाप्यमानमसम्बद्धत्वाद-पाकृत भवति । तस्मात्—कथञ्चिद् भेदाभेदस्वभावेऽपि वस्तुनि कदाचिदभेदप्रत्यय स्वसंस्कारा-वेशात् केवलमनन्वयिनमंश द्रव्यात्मकमलपन्—सगोपयश्च प्रवर्तते ।

कदाचित्पुनर्भेदमात्रवादिनो भेदावलम्बना प्रतीति प्रादुर्भवति । अनेकान्तवादिनस्तु—आकाङ्क्षितविवक्षिताऽर्थाधीनज्ञानाभिधानस्य द्रव्यपर्याययो प्रधान—गौणभावापेक्षया सकलवस्तुविषय-व्यवहारप्रवृत्तिर्वस्तुत्वमनेकाकारमेव वर्तते ।

उक्तञ्च—"सर्वमात्रासमूहस्य विश्वस्याऽनेकधर्मण ।
सर्वथा सर्वदाभावात् क्वचित्किञ्चिद् विवक्ष्यते ॥१॥ इति ।

किञ्च—"स्थितिजननविरोधलक्षणं चरमचर च जगत्प्रतिक्षणम् ।
इति जिन—! सकलज्ञलाञ्छन वचनमिद वदता वरस्य ते ॥१॥

इतिचोक्त सङ्गच्छते । एतेन रूपादिव्यतिरेकेण मृद्द्रव्यमित्येकवस्त्वालम्बना चाक्षुषप्रतीति. प्रत्या-ख्यातुमशक्येति केषाञ्चिन्मतमपि केवलद्रव्यसाधकमपास्तम् अनेकान्तवादिप्रक्रियाऽनवबोधात् ।

की है । इस प्रकार की नित्यानित्यता को स्वीकार करने से एकान्तवाद मे आने वाले समस्त दोषों का परिहार हो जाता है क्योकि अनेकान्त वाद के साथ उन दोषोका कोई सबध नहीं है । भेदाभेद स्वभाव वाली वस्तु मे भी कभी-कभी अभेद की जो प्रतिति होती है, उसका कारण सस्कार का आवेश मात्र है इस प्रकार का आवेश भेद अश का अपलाप करके अथवा सगोपन करके प्रवृत्त होता है ।

कभी—कभी उसी वस्तु के विषय में भेदविषयक प्रतीति उत्पन्न होती है । ऐसी प्रतीति भेदवादी की होती है और उसमे अभेद का अपलाप होता है ।

किन्तु अनेकान्तवादी द्रव्य और पर्याय या अभेद और भेद दोनो को स्वीकार करता है । केवल कभी द्रव्य को प्रधान और पर्याय को गौण विवक्षित करता है और कभी पर्याय को प्रधान रूप मे विवक्षित करके द्रव्य को गौणता प्रदान करता है । वह दोनो अंशों में से किसी भी एक अंश का निषेध नहीं करता । इस प्रकार अनेकान्तबाद के अनुसार सभी वस्तुएँ अनेकधर्मात्मक है । कहा भी है—

यह विश्व सर्व अंशात्मक है अर्थात् ससार के सभी पदार्थ अनेक धर्मों से युक्त है, फिर भी कहीं किसी धर्म की विवक्षा की जाती है और भी कहा है—

यह जंगम और स्थावर जगत् प्रतिक्षण ध्रौव्य, उत्पाद और विनाश से युक्त है, अर्थात् जगत् के प्रत्येक पदार्थ मे यह तीनों धर्म एक साथ रहते है। हे जिन ! वक्ताओ मे श्रेष्ठ आपके यह वचन आपकी सर्वज्ञता के चिह्न हैं ।

रूपादि से भिन्न **'मृत्तिकाद्रव्य'** इस प्रकार एक वस्तु रूप से जो चाक्षुष प्रतीति होती है, उसका निषेध नहीं किया जा सकता, ऐसा जो किसी का मत है वह खडित हो जाता

तथाहि—अनेकान्तवादे रूपादिभ्यो नाऽत्यन्तव्यतिरिक्त किमपि द्रव्यमस्ति कथञ्चिद् भेदाभेदयोरुभयोरभ्युपगमात् ।

तथाचोक्तम् — द्रव्यं पर्यायवियुक्तं पर्याया द्रव्य वर्जिताः
क्व कदा केन किं रूपा दृष्टा मानेन केन वा ॥१॥ इति ।

न खलु विशेषनिरपेक्ष. सामान्यलक्षण. कश्चिद्ध्रौव्यांशो वर्तते क्वचिद् य' केवलो गृह्येत, नवा—सामान्यनिरपेक्षो विशेषमात्रग्रहणवादिन सामान्योपलम्भानुभवविरोध स्यात् । तस्मात् सामान्य ध्रौव्यलक्षणमवश्यमभ्युपेत्तव्यम् । एव विशेषोऽपि कश्चिदवश्यं स्वीकर्तव्य , न हि—वस्तुनः सर्वथा तुल्यतैव भवति- । यदि तस्य सर्वथा तुल्यतैव स्यात् तदा—वैरूप्यरहितत्वात् विवक्षित वस्त्वन्तरादन्यदित्येषा प्रतीति र्न स्यात् ।

केनचिदप्याकारेण भेदाभावात् तस्माद् भेदमभिवाञ्छता प्रेक्षावता वैरूप्यमपि विशेपलक्षणमुत्पादव्ययस्वरूप केनचिदाकारेणाऽवश्यमङ्गीकर्तव्यम् । तथाच—सामान्यविशेपस्वभाव सर्वमेव वस्तु सर्वदा भवतीति—अभ्युपगन्तव्यम् ।

किन्तु—सामान्यविशेषयोः स्वलक्षणभेदेऽपि नाऽत्यन्तभेदो वर्तते, तस्य खलु वस्तुन. शवल-

---

है क्योकि वह केवल द्रव्य का ही साधक है । उन्होंने अनेकान्तवाद की प्रक्रिया को नही समझा है । अनेकान्त बाद मे रूपादि गुणो से सर्वथा भिन्न द्रव्य कुछ भी नहीं है। वहाँ तो भेद और अभेद— दोनो ही स्वीकार किये गये है । कहा भी है——

पर्यायो से रहित द्रव्य और पर्यायो से रहित पर्याय कहाँ, कब, किसने, किस रूपमें, किस प्रमाण से देखे है ? अर्थात् कभी देखे ही नहीं जा सकते । जहाँ द्रव्य है वहाँ पर्यायो की सत्ता और जहाँ पर्याय है वहाँ द्रव्य की सत्ता अवश्य होती है ।

विशेषों से रहित, सामान्य रूप ध्रौव्य अंश अकेला नहीं ग्रहण किया जा सकता और न सामान्य अश के विना विशेष अंश ही कहीं ग्रहण किया जा सकता है । अत' ध्रौव्य रूप सामान्य अवश्य स्वीकाव करना चाहिए और विशेष अंश को भी अवश्य अंगीकार करना चाहिए ।

सब वस्तुएँ सर्वथा समान ही नहीं होती । यदि वे समान हों तो उनमें किसी भी प्रकार की असमानता हो ही न सके । ऐसी स्थिति में एक वस्तु दूसरी वस्तु से पृथक् कैसे प्रतीत होगी ? उनमें किसी भी रूप में भेद तो है नहीं, फिर भेद प्रतीति का क्या कारण है ?

अतएव जो विद्वान् भेद को स्वीकार करता है, उसे किसी न किसी रूप में विरूपता उत्पात और व्यय भी अवश्य अगीकार करना चाहिए और ऐसा मानना चाहिए कि सब वस्तुएँ सदा सामान्य विशेषात्मक ही हैं ।

सामान्य और विशेष के लक्षण में भेद होने पर भी दोनों में सर्वथा भेद नहीं है, क्योंकि वे वस्तु से अभिन्न है । एक वस्तु को यदि वस्तुत्व की अपेक्षा भी दूसरी वस्तु से

रूपत्वात् वस्तुनश्च–वस्तुत्वेनापि वस्त्वन्तरा तुल्यत्वे सति एकतरस्याऽवस्तुत्वमापद्येत, तदविना भावाच्च द्वितीयस्याऽप्यभावप्रसङ्गः स्यात्।

तथाच–सर्वं शून्यमित्यापत्ति स्यात् नहि सर्वशून्यत्वमिष्टम्, तस्मात्–सकलशून्यताऽऽपत्तिभिया सामान्यविशेषयो कथञ्चिद् वस्तुत्वेनाऽपि तुल्यत्वमभ्युपेयम्। ततश्च—सामान्यविशेषस्वभावं सर्वमिति व्यवस्थित "स्याद्वाद" सिद्धान्ते सामान्यविशेषयो. परस्परं वा स्वभावविरहाभावात सङ्कीर्णताया सत्यामपि धर्मभेदप्रसिद्धेः समस्तव्यवहारससिद्धिर्भवति।

एवञ्च—उत्पादव्ययध्रौव्यलक्षण सद्द्रव्यमितिसिद्धम्। उक्तञ्च–स्थानाङ्गसूत्रे १० स्थाने–"**उप्पन्ने वा विगए वा–धुवे वा" इति उत्पन्नो वा विगतो वा ध्रुवो वा इति ॥२५॥**

मूलसूत्र—'तब्भाववयं निच्चं'—॥२६॥

छाया—तद्भावाऽव्यय नित्यम्—॥२६॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे–उत्पादव्ययध्रौव्यस्वभाव वस्तु सदित्युक्तम्। तत्र–ध्रौव्यपदेन नित्यत्वमुच्यते, तस्माद्–नित्यस्य लक्षणमाह— 'तब्भाववयं निच्चं" इति। तद्भावऽव्ययं नित्यम् तद्भावः भवन–भावः तस्य भावस्तद्भाव', येन भावेन–स्वभावेन स्वरूपेण वस्तु पूर्वं दृष्टं तेनैव स्वरूपेण पुनरपि भावात्–सत्त्वात् तदेव वस्तु इत्येवं प्रत्यभिज्ञानं भवति।

समान नहीं माना जाय तो एक वस्तु अवस्तु हो जाएगी और तदविनाभावी होने से दूसरी वस्तु का भी अभाव हो जाएगा।

ऐसी स्थिति में सर्वशून्यता की आपत्ति होगी, अर्थात् किसी भी वस्तु की सत्ता सिद्ध न होगी। सर्वशून्यता अभीष्ट नहीं है, अतएव सर्वशून्यता के भय से सामान्य और विशेष में कथञ्चित् वस्तुत्व की दृष्टि से भी तुल्यता स्वीकार करना चाहिए। इस कारण यह सिद्ध हुआ कि सब पदार्थ सामान्य–विशेष स्वभाव वाले है। सामान्य और विशेष में परस्पर स्वभाव विरह का अभाव होने से एक रूपता होने पर भी धर्मभेद की सिद्धि होने के कारण समस्त व्यवहारो की सिद्धि हो जाती है।

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप सत् द्रव्य का लक्षण है। स्थानागसूत्र में स्थान १० मे कहा है–'**वस्तु उत्पन्न भी होती है, विनष्ट भी होती है और ध्रुव भी रहती है" ॥२५॥**

मूलसूत्रार्थ—"तब्भाववयं निच्चं" ॥सूत्र २६॥

वस्तु का अपने मूल स्वरूप से नष्ट न होना नित्यत्व है ॥२६

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्व सूत्र में कहा गया है कि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य स्वभाव वाली वस्तु ही सत् है। वहाँ ध्रौव्य का अर्थ नित्यत्व है, अत' अब नित्य का लक्षण कहते है—जो वस्तु जिस स्वभाव में पहले देखी गई है, उसीस्वभाव मे वह पुन' भी देखी जाती है। '**यह वही वस्तु है**' इस प्रकार का प्रत्यभिज्ञान होता है।

प्रत्यभिज्ञानञ्च—पूर्वदृष्टस्य वस्तुन चक्षु पुरोवर्तित्वे सति इद तत्–" इत्येवं चाक्षुष-प्रत्यक्षस्मरणात्मकं ज्ञानमुच्यते, तच्च प्रत्यभिज्ञान निर्हेतुकं न भवति इति योऽस्य प्रत्यभिज्ञानस्य हेतु' स सद्भाव इत्युच्यते। यथा–घटस्य, शरावस्य उदञ्चनादेर्वा मृत्पिण्डभाव' कटक-वलय कुण्ड-लादीनां वा सुवर्ण द्रव्यम्, तद्भावेन मृत्पिण्डसुवर्णादिरूपेण अव्यय व्ययो विनाशस्तद्रहितम् अव्यय नित्यमुच्यते।

तथाच—घटकुण्डलादौ मृत्पिण्डसुवर्णादिक नित्यमिति निश्चीयते। तत्र–मृत्पिण्डाद जाय-मानो घटपर्यायोऽप्रधानभूत मृत्पिण्डभावस्तु–प्रधानभूत इति तेन भावेन नित्य घटादिवस्तु व्यवह्रियते तदपि नित्य द्रव्यार्थिकनयेन कथञ्चिद ज्ञातव्यम्। सर्वथा नित्यत्वस्वीकारे तु—अन्यथाभावस्य पर्यायादेरभाव स्यात् तथा सति–आत्मन सर्वथा नित्यत्वे-नरनारकादिरूपेण ससार. तद्विनिवृत्तिरूपमोक्षश्च न सघटेत ततश्च ससारस्वरूपकथनम्, मोक्षोपायकथनञ्च विरुध्येत तस्मात् कथञ्चिन्नित्यमिति ॥२६॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति — पूर्वसूत्रे उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक सदित्युक्तम् तत्र–गगनादिसद्वस्तु नित्यं वर्तते, सच्च–घटादिद्रव्यमनित्य दृष्टम्। तस्मात्–सता नित्यत्वदर्शनाज्जायमान सन्देह दूरीकर्तुमाह

पहले देखी हुई वस्तु जब पुन' नेत्रो के सामने आती है तब वह यही है' इस प्रकार का प्रत्यक्ष और स्मरण का जोड रूप जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह प्रत्यभिज्ञान कहलाता है। वह प्रत्यभिज्ञान निर्हेतुक नहीं हो सकता, अत प्रत्यभिज्ञान का जो कारण है वह 'सद्भाव' कहा जाता है। जैसे घट, शराब, उदचन आदि का मृत्पिण्डभाव, कटक, वलय, कुण्डल आदि का स्वर्ण द्रव्य तद्भाव अर्थात् मृत्पिण्ड या स्वर्ण आदि रूप से व्यय–विनाश न होना अव्यय अर्थात् नित्य कहलाता है।

घट आदि में तथा कुण्डल आदि में मृत्पिण्ड और स्वर्ण आदि नित्य है, यह निश्चित होता है। मृत्तिकापिण्ड से उत्पन्न होने वाला घट पर्याय गौण है और मृत्पिण्डभाव प्रधान है। अतएव मृत्तिकापिण्डभाव से घट आदि वस्तु नित्य कही जाती है। उसकी नित्यता द्रव्यार्थिक नय से ही कथचित् जानना चाहिए। सवथा नित्यता का स्विकार करने से तो अन्यथारूप होने का–पर्याय का अभाव ही हो जाएगा ऐसी स्थिति मे आत्मा को सर्वथा नित्य मान लेने पर नर नारक आदि रूप से ससार और उसकी निवृत्तिरूप मोक्ष भी घटित नहीं हो सकेगा। फिर तो ससार के स्वरूप का कथन और मोक्ष के स्वरूप का कथन भी विरुद्ध हो जाएगा। इस कारण वस्तु को कथचित् नित्य ही मानना चाहिए ॥२६॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पूर्वसूत्र में बतलाया गया है कि सत् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त होता है। उनमे से आकाश आदि सत् वस्तु नित्य है और घट आदि सत् अनित्य है। इस प्रकार सत् पदार्थों में नित्यता और अनित्यता–दोनो देखने से उत्पन्न होनें वाले सन्देह का

अथबा—"निच्चावट्ठिया रूवाइं—' इति पूर्वम् अस्मिन्नेव द्वितीयेऽध्याये तृतीयसूत्रे नित्यमित्युक्तम् तत्र–न सर्वं सद् नित्य भवति, अरूपग्रहणात् अतो रूपवतोऽनित्यत्वमर्थां दापद्यते तस्मात् सर्वं सद् न नित्यम् , नाऽप्यनित्य वक्तु शक्यते। अतोऽवस्थितरूपाऽन्वयांशमादाय रूपवदपि वस्तु नित्यं कथञ्चित्सम्भवति–इत्यभिप्रायेणाह–"तब्भाववयं णिच्चं—,, इति।

तद्भावाव्ययं नित्यमिति तच्छन्दस्य प्रक्रान्तपरामर्शकत्वात् सदित्यर्थे तस्य सतो वस्तुनो भवन भावस्तद्भावः तदेव सद्वस्तु–मृत्पिण्डसुवर्णादिजीवादि च तथा तथा भवति शरावोदञ्चन कपाल घट–कटकवलयकुण्डलादिरूपेण देवादिरूपेण च, किन्तु–न कदाचिदपि स्वतत्त्वमृत्पिण्डत्व–सुवर्णत्व जीवत्वादित्यागेन तथाविधान्यथा जायते। सर्वत्रैव घटकुण्डलदेवादिषु मृत्पिण्डसुवर्णजीवतत्त्वाना मन्यथा दर्शनात् अतस्तद्भावाव्ययमविनाशि नित्यं भवति घटादिसद्वस्त्विति भाव'।

अन्यथा–उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सदिति सल्लक्षणमव्यापकं भवेत्, घटादिषु–उत्पादव्ययरूपपर्यायस्यैवाऽभ्युपगमे ध्रौव्यांशग्रहणाभावात्। तस्मात्–रूपादिमद् घटादि सद्वस्त्वपि मृत्पिण्डाद्यन्वयवत्त्वेन ध्रौव्यांशवत्वाद् उत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणाक्रान्तत्वात् ध्रौव्यांशमादाय कथञ्चिन्नित्यमिति व्यपदिश्यते।

निवारण करने के लिए कहते है–अथवा इसी द्वितीय अध्याय के तीसरे सूत्र "णिच्चा वट्ठिया रूवाइ" में 'नित्य' कहा है, वहाँ सर्व सत् नित्य नहीं है, क्योकि स्वरूप का ग्रहण किया है, ऐसी स्थिति में रूपी वस्तु की अनित्यता प्रतीत होने लगती है, अत' समस्त सत् पदार्थ न नित्य और न अनित्य कहे जासकते है, अतएव ध्रौव्य रूप अश की अपेक्षा से रूपी वस्तु भी कथंचित् नित्य है, इस आशय को प्रकट करने के लिए कहते है—

'तब्भाववयं निच्चं' इस सूत्र में 'तत्' शब्द से 'सत्' का ग्रहण करना चाहिए। सत् वस्तु का भाव 'तद्भाव' कहलाता है [2] वह सद् वस्तु मृत्तिका हि शराव, उदंचन, कपाल, घट आदि रूप में और स्वर्ण ही कटक, वलय, कुण्डल आदि रूप में तथा जीव ही देव आदि के रूप में होता है। ऐसा कभी नहीं होता कि अपने मूल स्वभाव मृत्तिका पिण्डत्व, सुवर्णत्व और जीवत्व का त्याग करके वह अन्यथा रूप में हो जाए। क्योकि घट, कुण्डल और देव आदि में मृत्पिण्ड, स्वर्ण और जीव तत्त्व का अन्वय देखा जाता है। अतएव घट आदि सद् वस्तु अपने मौलिक स्वभाव से विनष्ट नहीं होती है, यही उसकी नित्यता है।

ऐसा नहीं माना जाएगा तो 'सत् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त होता है, यह सत् का लक्षण अव्यापक हो जायगा, क्योंकि घट आदि मे उत्पाद और व्यय रूप पर्याय ही मानने से ध्रौव्य अंश का ग्रहण नहीं होगा। इस कारण रूपादिमान् घट आदि सत् वस्तु भी मृत्तिका आदि का अन्वय होने से ध्रौव्य अश वाली है एव उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य लक्षण से युक्त है। इस कारण ध्रौव्य अश की अपेक्षा से कथचित् नित्य कहलाती है।

एतत्सूत्रस्थनित्यग्रहणेन पूर्वसूत्रोक्तध्रौव्यांशपरिग्रहो भवतीति स खलु—अन्वयी द्रव्यास्तिकांशो न कदापि व्यवच्छिन्नो भवति ।

सदाकारेणाऽनुत्पद्यमानत्वादविनाशित्वाच्च सूत्रे भावशब्दोपादानेन परिणामनित्यता गृह्यते न तु—कूटस्थ नित्यता कूटमयोघनस्तद्वत्तिष्ठतीति—अनिलालिभाव यदि—कूटस्थनित्यताया ग्रहण भवेत्—तदा "तदव्ययं नित्यम् इत्येव सूत्र स्यात् । यत्खलु न केनचित—आकारेण विक्रियते, तदनुपाख्यमेव भवेत् । एवञ्च—सर्वेषामन्वयिनां मत्पिण्डसुवर्णादीना धर्माणामुपलक्षण बोध्यम् ।

सत्व तु—षड्द्रव्यव्यापकत्वादुक्तम् । जीवस्तावत् साक्षात् सत्व चैतन्यममूर्तत्वमसङ्ख्येयत्वञ्चाऽपरित्यजन् तादृशतादृशपरिणामान्न व्यगात्—न विनष्ट , न व्येति न विनश्यति, न व्येष्यति-न विनङ्क्षति वा । अतएवाऽविनाशी नित्योऽव्यय उच्यते, न तु—देवनारकादिनाऽनन्वयिना पर्यायेणाऽपि जीवस्य नित्यत्व ध्रौव्य वर्तते । एव—परमाणुदव्यणुकादिपुद्गलद्रव्य सत्वमूर्तत्वाऽजीवत्व।ऽनुपयोगग्राह्यादिधर्मानजहत् विपरिणमते न तु—घटादिपर्यायविवक्षया तस्य ध्रौव्य भवति ।

धर्मद्रव्यमपि सत्वाऽमूर्तत्वाऽसङ्ख्येयप्रदेशवत्वलोकव्यापित्वादिधर्माऽपरित्यागेनाऽवतिष्ठते सदा न खलु तस्य धर्मद्रव्यस्य परमाणु यज्ञदत्तादीना प्रत्येक गन्तृत्वस्य विवक्षायामपि गत्युपकारित्वेन नित्यत्व सम्भवति । गन्तृत्वभेदाद् गत्युपकारित्वं भिद्यते अन्यादृशाकारेण पूर्व. परिणामो भवति—अन्यादृशाकारेण च पर परिणाम , न तावत्प्रथमोत्पन्नो गत्युपकारित्वपरिणाम सर्वदा तिष्ठति ।

इस सूत्र में गृहीत नित्य शब्द से पूर्वसूत्र मे कथित ध्रौव्य अंश समझना चाहिए । द्रव्य का वह अन्वयी अंश कदापि और कहीं भी नष्ट नहीं होता ।

कोई भी वस्तु सत् रूप से उत्पन्न नहीं होती और न नष्ट होती है, अतएव सूत्र में भाव शब्द के ग्रहण से परिणामिनित्यता ही समझना चाहिए, कूटस्थनित्यता नहीं समझना चाहिए । यदि कूटस्थनित्यता का ही ग्रहण करना होता तो 'तदव्यं नित्यम्' ऐसा सूत्र होता ।

जिस वस्तु मे किसी भी रूप मे विकार—अन्यथापन—नहीं होता, वह नित्यत्वरूप ही होती है । इस प्रकार सभी अन्वयी मृत्पिण्ड एव स्वर्ण आदि का उपलक्षण जानना चाहिए । सत्त्व छहों द्रव्यो में व्यापक 'सत्त्व' है । जीव सत् है । वह अपने चैतन्य, अमूर्त्तत्व, असख्यातप्रदेशवत्व स्वभाव का परित्याग नहीं करता । अपने इन धर्मों से वह कभी नष्ट नहीं हुआ, नष्ट नहीं होता और नष्ट नहीं होगा । इस कारण जीव अविनाशी, नित्य और अव्यय कहलाता है । मगर यह नहीं समझना चाहिए कि जीव देव नारक आदि पर्याय की दृष्टि से भी नित्य है । इसी प्रकार पुद्गल दव्य सत्त्व, मूर्त्तत्व, अचेतनत्व धर्मो का परित्याग नहीं करता, इस कारण उस में नित्यता है । घट आदि पर्यायो की अपेक्षा से नित्यता नहीं है ।

धर्मद्रव्य सत्त्व, अमूर्त्तत्व, असख्येय प्रदेशवत्त्व लोकव्यापित्व आदि धर्मों का परित्याग न करता हुआ सदैव स्थिर रहता है, पर्याय की दृष्टि से नहीं अर्थात् परमाणु या यज्ञदत्त की गति

अथबा—"निच्चावट्ठिया रूवाइं—' इति पूर्वम् अस्मिन्नेव द्वितीयेऽध्याये तृतीयसूत्रे नित्यमित्युक्तम् तत्र–न सर्वं सद् नित्य भवति, अरूपग्रहणात् अतो रूपवतोऽनित्यत्वमर्था दापद्यते तस्मात् सर्वं सद् न नित्यम् , नाऽप्यनित्य वक्तु शक्यते । अतोऽवस्थितिरूपाऽन्वयांशमादाय रूपवदपि वस्तु नित्यं कथञ्चित्सम्भवति–इत्यभिप्रायेणाह–"तब्भाववयं णिच्चं—,, इति ।

तद्भावाव्यय नित्यमिति तच्छन्दस्य प्रक्रान्तपरामर्शकत्वात् सदित्यर्थ. तस्य सतो वस्तुनो भवन भावस्तद्भाव' तदेव सद्वस्तु–मृत्पिण्डसुवर्णादिजीवादि च तथा तथा भवति शरावोदञ्चन कपाल घट–कटकवलयकुण्डलादिरूपेण देवादिरूपेण च, किन्तु–न कदाचिदपि स्वतत्त्वमृत्पिण्डत्व–सुवर्णत्व जीवत्वादित्यागेन तथाविधान्यथा जायते । सर्वत्रैव घटकुण्डलदेवादिषु मृत्पिण्डसुवर्णजीवतत्त्वाना मन्यथा दर्शनात् अतस्तद्भावाव्ययमविनाशि नित्य भवति घटादिसद्वस्त्वित्वति भाव' ।

अन्यथा–उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सदिति सल्लक्षणमव्यापकं भवेत्, घटादिषु–उत्पादव्ययरूपपर्यायस्यैवाऽभ्युपगमे ध्रौव्यांशग्रहणाभावात्। तस्मात्–रूपादिमद् घटादि सद्वस्त्वपि मत्पिण्डाद्यन्वयवत्त्वेन ध्रौव्यांशवत्वाद् उत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणाक्रान्तत्वात् ध्रौव्यांशमादाय कथञ्चिन्नित्यमिति व्यपदिश्यते ।

निवारण करने के लिए कहते है–अथवा इसी द्वितीय अध्याय के तीसरे सूत्र "णिच्चा वट्ठिया रूवाइ" में 'नित्य' कहा है, वहाँ सर्व सत् नित्य नहीं है, क्योंकि स्वरूप का ग्रहण किया है, ऐसी स्थिति में रूपी वस्तु की अनित्यता प्रतीत होने लगती है, अत समस्त सत् पदार्थ न नित्य और न अनित्य कहे जासकते है, अतएव ध्रौव्य रूप अश की अपेक्षा से रूपी वस्तु भी कथंचित् नित्य है, इस आशय को प्रकट करने के लिए कहते है—

'तब्भाववयं निच्चं' इस सूत्र में 'तत्' शब्द से 'सत्' का ग्रहण करना चाहिए । सत् वस्तु का भाव 'तद्भाव' कहलाता है ? वह सद् वस्तु मृत्तिका हि शराव, उदंचन, कपाल, घट आदि रूप में और स्वर्ण ही कटक, वलय, कुण्डल आदि रूप मे तथा जीव ही देव आदि के रूप में होता है । ऐसा कभी नहीं होता कि अपने मूल स्वभाव मृत्तिका पिण्डत्व, सुवर्णत्व और जीवत्व का त्याग करके वह अन्यथा रूप में हो जाए । क्योकि घट, कुण्डल और देव आदि में मृत्पिण्ड, स्वर्ण और जीव तत्त्व का अन्वय देखा जाता है । अतएव घट आदि सद् वस्तु अपने मौलिक स्वभाव से विनष्ट नहीं होती है, यही उसकी नित्यता है ।

ऐसा नहीं माना जाएगा तो 'सत् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त होता हैं, यह सत् का लक्षण अव्यापक हो जायगा, क्योकि घट आदि में उत्पाद और व्यय रूप पर्याय ही मानने से ध्रौव्य अंश का ग्रहण नहीं होगा । इस कारण रूपादिमान् घट आदि सत् वस्तु भी मृत्तिका आदि का अन्वय होने से ध्रौव्य अश वाली है एव उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य लक्षण से युक्त है । इस कारण ध्रौव्य अश को अपेक्षा से कथचित् नित्य कहलाती है ।

एतत्सूत्रस्थनित्यग्रहणेन पूर्वसूत्रोक्तध्रौव्यांशपरिग्रहो भवतीति स खलु—अन्वयी द्रव्यास्तिकांशो न कदापि व्यवच्छिन्नो भवति।

सदाकारेणाऽनुत्पद्यमानत्वादविनाशित्वाच्च सूत्रे भावशब्दोपादानेन परिणामनित्यता गृह्यते न तु—कूटस्थ नित्यता कूटमयोघनस्तद्वत्तिष्ठतीति—अविलालिभाव यदि—कूटस्थनित्यताया ग्रहण भवेत्—तदा "तदव्ययं नित्यम् इत्येव सूत्र स्यात्। यत्खलु न केनचित—आकारेण विक्रियते, तदनुपाख्यमेव भवेत्। एवञ्च—सर्वेषामन्वयिना मृत्पिण्डसुवर्णादीना धर्माणामुपलक्षण बोध्यम्।

सत्व तु—षड्द्रव्यव्यापकत्वादुक्तम्। जीवस्तावत् साक्षात् सत्व चैतन्यममूर्तत्वमसख्येयत्वञ्चाऽपरित्यजन् तादृशतादृशपरिणामान्न व्यगात्—न विनष्ट, न व्येति न विनश्यति, न व्येष्यति-न विनङ्क्षति वा। अतएवाऽविनाशी नित्योऽव्यय उच्यते, न तु—देवनारकादिनाऽनन्वयिना पर्यायेणाऽपि जीवस्य नित्यत्व ध्रौव्यं वर्तते। एव—परमाणुद्व्यणुकादिपुद्गलद्रव्य सत्वमूर्तत्वाऽजीवत्वाऽनुपयोगग्राह्यादिधर्मानजहत् विपरिणमते न तु—घटादिपर्यायविवक्षया तस्य ध्रौव्य भवति।

धर्मद्रव्यमपि सत्वाऽमूर्तत्वाऽसख्येयप्रदेशवत्वलोकव्यापित्वादिधर्माऽपरित्यागेनाऽवतिष्ठते सदा न खलु तस्य धर्मद्रव्यस्य परमाणु यज्ञदत्तादीना प्रत्येक गन्तृत्वस्य विवक्षायामपि गत्युपकारित्वेन नित्यत्व सम्भवति। गन्तृत्वभेदाद् गत्युपकारित्वं भिद्यते अन्यादृशाकारेण पूर्व. परिणामो भवति—अन्यादृशाकारेण च पर परिणाम, न तावत्प्रथमोत्पन्नो गत्युपकारित्वपरिणाम सर्वदा तिष्ठति।

इस सूत्र में गृहीत नित्य शब्द से पूर्वसूत्र मे कथित ध्रौव्य अंश समझना चाहिए। द्रव्य का वह अन्वयी अंश कदापि और कहीं भी नष्ट नहीं होता।

कोई भी वस्तु सत् रूप से उत्पन्न नहीं होती और न नष्ट होती है, अतएव सूत्र में भाव शब्द के ग्रहण से परिणामिनित्यता ही समझना चाहिए, कूटस्थनित्यता नहीं समझना चाहिए। यदि कूटस्थनित्यता का ही ग्रहण करना होता तो 'तदव्यं नित्यम्' ऐसा सूत्र होता।

जिस वस्तु मे किसी भी रूप मे विकार—अन्यथापन—नहीं होता, वह नित्यत्वरूप ही होती है। इस प्रकार सभी अन्वयी मृत्पिण्ड एवं स्वर्ण आदि का उपलक्षण जानना चाहिए। सत्त्व छहो द्रव्यों मे व्यापक 'सत्त्व' है। जीव सत् है। वह अपने चैतन्य, अमूर्त्तत्व, असख्यातप्रदेशवत्त्व स्वभाव का परित्याग नहीं करता। अपने इन धर्मों से वह कभी नष्ट नहीं हुआ, नष्ट नहीं होता और नष्ट नहीं होगा। इस कारण जीव अविनाशी, नित्य और अव्यय कहलाता है। मगर यह नहीं समझना चाहिए कि जीव देव नारक आदि पर्याय की दृष्टि से भी नित्य है। इसी प्रकार पुद्गल द्रव्य सत्त्व, मूर्त्तत्व, अचेतनत्व धर्मों का परित्याग नहीं करता, इस कारण उस में नित्यता है। घट आदि पर्यायो की अपेक्षा से नित्यता नहीं हैं।

धर्मद्रव्य सत्त्व, अमूर्त्तत्व, असख्येय प्रदेशवत्त्व लोकव्यापित्व आदि धर्मों का परित्याग न करता हुआ सदैव स्थिर रहता है, पर्याय की दृष्टि से नहीं अर्थात् परमाणु या यज्ञदत्त की गति

एवमधर्मद्रव्यमपि-सत्त्वाऽमूर्तत्वादि धर्मापरित्यागेन सन्तिष्ठते सर्वदा, स्थित्युपकारितया चाऽधर्मद्रव्यस्याऽनित्यत्वं भवति। आकाशस्य पुन' सत्त्वाऽमूर्तत्वाऽनन्तप्रदेशत्वादिधर्मवत्त्वेन नियतत्त्यवं भवति, अवगाहकानां पुद्गलादिद्रव्याणामवगाहदातृत्वेन चाऽनित्यत्वम्। यत्राऽप्यलोकाकाशेऽवगा-हकं जीवपुद्गलादिक न भवति, तत्राऽपि-अगुरुलघ्वादिपर्याया भिन्नाभिन्ना एव भवन्ति ।

अन्यथा—अलोकाकाशादौ न स्वत उत्पादव्ययौ भवत , नाऽप्यापेक्षिकौ स्याताम्, तथासति-तत्रो-त्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं तावत् सन्मात्रलक्षणमव्यापक भवेत्। तस्मात्-यद्वस्तु सतो भावाद् न व्यगाद्-न व्येति, न वा-व्येष्यति तन्नित्यमुच्यते। तथाच—यद्वस्तु द्रव्य सत्वाद्यन्वयिनोऽशाद् न व्यगाद्—न विनष्ट , न व्यनाङ्क्षीत्, न वा—व्येति न विनश्यति नापि-व्येष्यति-न विनङ्क्षति तन्नित्य व्यपदिश्यते।

अथवा—तद्भावेन तेन सदात्मना स्थित्यशेन, अव्ययम्-अविगत परिणामापत्तौ सत्यामपि—स्वतत्त्वाप्रच्यवाद् नित्यमुच्यते, अथ यथा तद् द्रव्यमात्मपरित्यागात् तथोत्पत्तिनाशलक्षण' पर्या-योऽपि द्रव्यस्यात्मभूत इति पर्यायनिवृत्तिवद् द्रव्यस्यापि निवृत्त्यापत्तिरिति चेदुच्यते—

यदि घटादिपर्यायनिवृत्तौ सत्यां मृत्पिण्डस्या—ऽपि निवृत्तिर्दृश्येत, मृन्निवृत्तौ वा पुद्गलनिवृत्ति' तदा-स्यादेतद् एवम्, न तु—तथा दृश्यते, न हि-अन्वयिन्या मृद' पुद्गलजातेर्वा कस्यामप्यवस्थायां

में निमित्त होने रूप पर्याय की अपेक्षा से उसमे नित्यता नहीं है। गमनकर्ता के भेद से गत्युप-कारित्व भी भिन्न होता रहता है। अर्थात् उसके पूर्वापर पर्यायों में परिवर्तन होता रहता है। इसी प्रकार अधर्म द्रव्य भी सत्त्व अमूर्तत्व आदि धर्मों का कभी परित्याग न करने के कारण नित्य है, मगर विभिन्न पदार्थों की स्थिति में निमित्त बनने रूप पर्यायो की अपेक्षा से अनित्य है।

आकाश सत्त्व, अमूर्तत्व, अनन्तप्रदेशित्व, अवगाहना आदि गुणो के कारण नित्य है किन्तु अवगाहक वस्तुओं के भेद के कारण उसके अवगाहमान परिणाम में भी भेद होता रहता है। इस दृष्टि से वह अनित्य है। अलोकाकाश में जीव पुद्गल आदि अवगाहक नहीं है, फिर भी वहाँ अगरुलघु आदि पर्याय भिन्नाभिन्न होते है। यदि ऐसा न माना जाय तो अलोका-काश में स्वत' उत्पाद और व्यय नहीं होगे और न परापेक्ष ही होगे। ऐसी दशा में वहाँ उत्पाद' व्यय और ध्रौव्य न होने से सत् का लक्ष्य भी घटित नहीं होगा। अत जो वस्तु सत् भाव से नष्ट नहीं हुई, नहीं होती और नहीं होगी, वही नित्य कहलाती है।

अथवा—क्षण—क्षण में विविध प्रकार के परिणमन होते रहने पर भी वस्तु का अपने मूल अस्तित्व से अर्थात् ध्रौव्य रूप अश से च्युत न होना नित्यत्व कहलाता है।

शका—उत्पत्ति और विनाश पर्याय द्रव्य से अभिन्न है, अत पर्याय का विनाश होने पर द्रव्य का भी विनाश हो जाना चाहिए।

समाधान—यदि घट पर्याय का विनाश होने पर मृत्तिका का भी विनाश देखा जाता और मृत्तिका का विनाश होने पर पुद्गलद्रव्य का विनाश हो जाता होता तो ऐसा कहा जा सकता था,

निवृत्तिर्दृश्यते तदभिधानप्रत्ययव्यवहारविषयत्वात् । घटादिपर्यायनिवृत्तौ वा यदि न किञ्चित् पश्चादुपलभ्यते तदा–प्रेक्षावान्–जन पर्यायनिवृत्तौ सत्या द्रव्यांगनिवृत्तिं श्रद्दधानोऽभ्युपगच्छेत् ।

यतश्च–पर्यायनिवृत्तावपि मृद्द्रव्यांश उपलभ्यते तस्मान्नद्रव्यांगनिवृत्तिरभ्युपगन्तु शक्यते । तथाच–प्रत्यक्षविरोधेन तर्कोऽवतार सम्भवति तस्मादुपपत्त्यागमाभ्यां तद्भावाऽव्यय नित्यमिति व्यवस्थितम् ।

उक्तञ्च–व्याख्याप्रज्ञप्तौ-भगवतीसूत्रे १४ शतके ४ उद्देशके —"**परमाणुपोग्गले-णं भंते? किं सासए–असासए ? गोयमा ! दव्वट्ठयाए सासए, वण्णपज्जवेहिं जाव फासपज्जवेहिं असासए**–"इति । परमाणुपुद्गल' खलु भदन्त ! किं शाश्वत.–अशाश्वत' ? गौतम ! द्रव्यार्थतया शाश्वत', वर्णपर्यवै यावत् स्पर्शपर्यवैरशाश्वत', इति ।

एवं जीवाभिगमे ३ प्र० १ उद्देशके ७७ सूत्रे–चोक्तम्–'**परमाणुपोग्गले णं भंते ! कि सासए–असासए ? गोयमा ! दव्वट्ठयाए सासए, वण्णपज्जवेहिं रसपज्जवेहिं–गंधपज्जवेहिं–फासपज्जवेहि असासए**–"इति । परमाणुपुद्गलः खलु भदन्त ! किं शश्वत' अशाश्वत' ? गौतम ! द्रव्यार्थतया शाश्वत , वर्णपर्यवै'–रसपर्यवै – गन्धपर्यवै स्पर्शपर्यवै अशाश्वत, इति ।

मगर ऐसा तो देखा नहीं जाता । अन्वयी मृत्तिका का अथवा पुद्गलजाति का किसी भी अवस्था में अभाव नहीं देखा जाता, क्योकि उसका वही का वही नाम बना रहता है, उसका ज्ञान भी होता रहता है और मृत्तिकासाध्य व्यवहार भी होता रहता है । अगर घट का अभाव होने पर बाद मे कुछ भी उपलब्ध न होता तो बुद्धिमान् पुरुष श्रद्धा कर लेते कि पर्याय का अभाव होने पर द्रव्य का भी अभाव हो जाता है । किन्तु पर्याय की निवृत्ति हो जाने पर भी मृत्तिका का सद्भाव बना रहता है । अतएव द्रव्य का विनाश होना स्वीकार नहीं किया जा सकता । जहाँ प्रत्यक्ष से विरोध आता हो वहाँ तर्क के लिए कोई अवकाश नहीं रहता । इस प्रकार युक्ति और आगम से '**तद्भावव्यं नित्यम्**' यह सिद्ध हुआ ।

व्याख्याप्रज्ञप्ति—(भगवती) सूत्र के शतक १४, उद्देशक ४ में कहा है—

प्रश्न—भगवन् ! परमाणुपुद्गल शाश्वत है या अशाश्वत ?

उत्तर—गौतम ! द्रव्य की अपेक्षा से शाश्वत है और वर्णपर्याय यावत् स्पर्शपर्याय से अशाश्वत है।

इसी प्रकार जीवाभिगम के ३ री प्र उ १ सूत्र ७७ में भी कहा है—

प्रश्न—भगवन् ! परमाणुपुद्गल क्या शाश्वत है या अशाश्वत है ?

उत्तर—गौतम ! द्रव्य की अपेक्षा से शाश्वत है—नित्य है और वर्णपर्याय, रसपर्याय, गन्धपर्याय और स्पर्शपर्याय की अपेक्षा से अशाश्वत—अनित्य है ।

भगवतीसूत्र श ७ उ. २ में कहा है—

एवमधर्मद्रव्यमपि-सत्त्वाऽमूर्तत्वादि धर्मापरित्यागेन सन्तिष्ठते सर्वदा, स्थित्युपकारितया चाऽधर्मद्रव्यस्याऽनित्यत्व भवति। आकाशस्य पुन सत्त्वाऽमूर्तत्वाऽनन्तप्रदेशत्वादिधर्मवत्त्वेन नियतत्वं भवति, अवगाहकानां पुद्गलादिद्रव्याणामवगाहदातृत्वेन चाऽनित्यत्वम्। यत्राऽप्यलोकाकाशेऽवगाहक जीवपुद्गलादिक न भवति, तत्राऽपि-अगुरुलघ्वादिपर्याया भिन्नाभिन्ना एव भवन्ति।

अन्यथा—अलोकाकाशादौ न स्वत उत्पादव्ययौ भवत, नाऽप्यापेक्षिकौ स्याताम्, तथासति-तत्रो-त्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं तावत् सन्मात्रलक्षणमव्यापक भवेत्। तस्मात्-यद्वस्तु सतो भावाद् न व्यगाद्-न व्येति, न वा-व्येष्यति तन्नित्यमुच्यते। तथाच—यद्वस्तु द्रव्य सत्वाद्यन्वयिनोऽशाद न व्यगाद्—न विनष्ट, न व्यनाङ्क्षीत्, न वा—व्येति न विनश्यति नापि-व्येष्यति-न विनङ्क्षति तन्नित्य व्यपदिश्यते।

अथवा—तद्भावेन तेन सदात्मना स्थित्यंशेन, अव्ययम्-अविगत परिणामापत्तौ सत्यामपि—स्वतत्त्वाप्रच्यवाद् नित्यमुच्यते, अथ यथा तद् द्रव्यमात्मपरित्यागात् तथोत्पत्तिनाशलक्षण' पर्यायोऽपि द्रव्यस्यात्मभूत इति पर्यायनिवृत्तिवद् द्रव्यस्यापि निवृत्त्यापत्तिरिति चेदुच्यते—

यदि घटादिपर्यायनिवृत्तौ सत्या मृत्पिण्डस्या—ऽपि निवृत्तिर्दृश्येत, मृन्निवृत्तौ वा पुद्गलनिवृति' तदा-स्यादेतद् एवम्, न तु—तथा दृश्यते, न हि-अन्वयिन्या मृद' पुद्गलजातेर्वा कस्यामप्यवस्थायां

में निमित्त होने रूप पर्याय की अपेक्षा से उसमे नित्यता नहीं है। गमनकर्ता के भेद से गत्युपकारित्व भी भिन्न होता रहता है। अर्थात् उसके पूर्वापर पर्यायों मे परिवर्तन होता रहता है। इसी प्रकार अधर्म द्रव्य भी सत्त्व अमूर्तत्व आदि धर्मों का कभी परित्याग न करने के कारण नित्य है, मगर विभिन्न पदार्थों की स्थिति में निमित्त बनने रूप पर्यायो की अपेक्षा से अनित्य है।

आकाश सत्त्व, अमूर्तत्व, अनन्तप्रदेशित्व, अवगाहना आदि गुणो के कारण नित्य है किन्तु अवगाहक वस्तुओ के भेद के कारण उसके अवगाहमान परिणाम में भी भेद होता रहता है। इस दृष्टि से वह अनित्य है। अलोकाकाश मे जीव पुद्गल आदि अवगाहक नहीं है, फिर भी वहाँ अगरुलघु आदि पर्याय भिन्नाभिन्न होते है। यदि ऐसा न माना जाय तो अलोकाकाश मे स्वत' उत्पाद और व्यय नहीं होगे और न परापेक्ष ही होगे। ऐसी दशा में वहाँ उत्पाद' व्यय और ध्रौव्य न होने से सत् का लक्ष्य भी घटित नहीं होगा। अत जो वस्तु सत् भाव से नष्ट नहीं हुई, नहीं होती और नहीं होगी, वही नित्य कहलाती है।

अथवा—क्षण—क्षण मे विविध प्रकार के परिणमन होते रहने पर भी वस्तु का अपने मूल अस्तित्व से अर्थात् ध्रौव्य रूप अंश से च्युत न होना नित्यत्व कहलाता है।

शंका—उत्पत्ति और विनाश पर्याय द्रव्य से अभिन्न है, अत पर्याय का विनाश होने पर द्रव्य का भी विनाश हो जाना चाहिए।

समाधान—यदि घट पर्याय का विनाश होने पर मृत्तिका का भी विनाश देखा जाता और मृत्तिका का विनाश होने पर पुद्गलद्रव्य का विनाश हो जाता होता तो ऐसा कहा जा सकता था,

निवृत्तिर्दृश्यते तदभिधानप्रत्ययव्यवहारविषयत्वात् । घटादिपर्यायनिवृत्तौ वा यदि न किञ्चित् पश्चादुपलभ्यते तदा—प्रेक्षावान्—जनः पर्यायनिवृत्तौ सत्यां द्रव्यांशनिवृत्तिं श्रद्दधानोऽभ्युपगच्छेत् ।

यतश्च—पर्यायनिवृत्तावपि मृद्द्रव्यांश उपलभ्यते तस्माद्द्रव्यांशनिवृत्तिरभ्युपगन्तु शक्यते । तथाच—प्रत्यक्षविरोधेन तर्काऽवतारः सम्भवति तस्मादुपपत्त्यागमाभ्यां तद्भावाऽव्ययं नित्यमिति व्यवस्थितम् ।

उक्तञ्च—व्याख्याप्रज्ञप्तौ-भगवतीसूत्रे १४ शतके ४ उद्देशके —"**परमाणुपोग्गलेणं भंते? किं सासए—असासए ? गोयमा ! दव्वट्ठयाए सासए, वण्णपज्जवेहिं जाव फासपज्जवेहिं असासए—**"इति । परमाणुपुद्गलः खलु भदन्त ! किं शाश्वतः—अशाश्वतः ? गौतम ! द्रव्यार्थतया शाश्वतः, वर्णपर्यवैः यावत् स्पर्शपर्यवैरशाश्वतः, इति ।

एवं जीवाभिगमे ३ प्र० १ उद्देशके ७७ सूत्रे—चोक्तम्—'**परमाणुपोग्गले णं भंते ! किं सासए—असासए ? गोयमा ! दव्वट्ठयाए सासए, वण्णपज्जवेहिं रसपज्जवेहिं—गंधपज्जवेहि—फासपज्जवेहि असासए—**"इति । परमाणुपुद्गलः खलु भदन्त ! किं शाश्वतः अशाश्वतः ? गौतम ! द्रव्यार्थतया शाश्वतः, वर्णपर्यवैः—रसपर्यवैः — गन्धपर्यवैः स्पर्शपर्यवैः अशाश्वत, इति ।

मगर ऐसा तो देखा नहीं जाता । अन्वयी मृत्तिका का अथवा पुद्गलजाति का किसी भी अवस्था में अभाव नहीं देखा जाता, क्योंकि उसका वही का वही नाम बना रहता है, उसका ज्ञान भी होता रहता है और मृत्तिकासाध्य व्यवहार भी होता रहता है । अगर घट का अभाव होने पर बाद मे कुछ भी उपलब्ध न होता तो बुद्धिमान् पुरुष श्रद्धा कर लेते कि पर्याय का अभाव होने पर द्रव्य का भी अभाव हो जाता है । किन्तु पर्याय की निवृत्ति हो जाने पर भी मृत्तिका का सद्भाव बना रहता है । अतएव द्रव्य का विनाश होना स्वीकार नहीं किया जा सकता । जहाँ प्रत्यक्ष से विरोध आता हो वहाँ तर्क के लिए कोई अवकाश नहीं रहता । इस प्रकार युक्ति और आगम से '**तद्भावव्ययं नित्यम्**' यह सिद्ध हुआ ।

व्याख्याप्रज्ञप्ति—(भगवती) सूत्र के शतक १४, उद्देशक ४ में कहा है—

प्रश्न—भगवन् ! परमाणुपुद्गल शाश्वत है या अशाश्वत ?

उत्तर—गौतम ! द्रव्य की अपेक्षा से शाश्वत है और वर्णपर्याय यावत् स्पर्शपर्याय से अशाश्वत है।

इसी प्रकार जीवाभिगम के ३ री प्र उ १ सूत्र ७७ में भी कहा है—

प्रश्न—भगवन् ! परमाणुपुद्गल क्या शाश्वत है या अशाश्वत है ?

उत्तर—गौतम ! द्रव्य की अपेक्षा से शाश्वत है—नित्य है और वर्णपर्याय, रसपर्याय, गन्धपर्याय और स्पर्शपर्याय की अपेक्षा से अशाश्वत—अनित्य है ।

भगवतीसूत्र श ७. उ. २ में कहा है—

पुनश्च व्याख्याप्रज्ञप्तौ ७शतके २उद्देशके उक्तम्—"जीवा णं भंते ! किं सासया-असासया ? गोयमा ! जीवा सिय सासया, सिय-असासया, से केणट्ठेणं भंते-एवं वुच्चइ जीवा सिय-सासया, सिय असासिया ? गोयमा- दव्वट्ठयाए सासया, भावट्ठयाए असासया, से तेणट्ठेण गोयमा ! एवं वुच्चइ सिय सासया, सिय-असासया। नेरइया णं भते !कि सासया, असासया एवं जहा जीवा, तहा नेरइया वि, । एवं जाव-वेमाणिया, जाव-सिय सासया, सिय असासया सेवं-भंते-? सेव-भंते-? इति ।

छाया—जीवाः खलु भदन्त-? किं शाश्वता -अशाश्वता ?गौतम ! जीवा स्यात् शाश्वता , स्यात् अशाश्वताः,तत्केनार्थेन भदन्त—? एवमुच्यते जीवा स्यात् शाश्वता , स्यात् अशाश्वताः—? गौतम—द्रव्यार्थतया शाश्वताः, भावार्थतया अशाश्वता , तत्तेनार्थेन गौतम ! एवमुच्यते स्यात् शाश्वता , स्यात् अशाश्वताः नैरयिका. खलु भदन्त ! किं शाश्वता. अशाश्वता , एव यथा जीवास्तथा नैरयिका अपि । एव यावद्वैमानिका , यावत्—स्यात् शाश्वता स्यात् अशाश्वताः, तदेवं भदन्त ! तदेव भदन्त !, इति ॥२६॥

मूलसूत्रम्—"अप्पियणप्पिएहिं अणेगंतं" ॥२७॥

छाया—"अर्पिता नर्पिताभ्याम्-अनेकान्तम्"॥२७॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे पर्यायार्थिकनयेन घटादिवस्तुन उत्पादव्ययशालितयाऽनित्यस्यापि द्रव्यार्थिकनयेन मृत्तिकाद्यन्वयसद्भावात् नित्यत्वं प्रतिपादितम् तद् विरुद्धमिव प्रतीयते कथं तावद्—यदेवाऽनित्यं तदेव नित्यमपि भवेत् ?

प्रश्न—भगवन् ! जीव शाश्वत है या अशाश्वत है ?

उत्तर—गौतम ! कथंचित् शाश्वत है, और कथंचित अशाश्वत है ।

प्रश्न—भगवन् ! किस हेतु से ऐसा कहा गया है कि जीव कथंचित् शाश्वत और कथंचित् अशाश्वत हैं ?

उत्तर—गौतम ! द्रव्य की दृष्टि से शाश्वत हैं और भाव अर्थात् पर्याय की दृष्टि से अशाश्वत है । हे गौतम ! इस हेतु से ऐसा कहा गया है कि जीव कथंचित् शाश्वत और कथंचित् अशाश्वत है ।

प्रश्न—भगवन् ! नैरयिक जीव क्या शाश्वत है या अशाश्वत है ?

उत्तर—जैसा जीवों के विषय मे कहा गया है, उसी प्रकार नैरयिको के विषय में समझना चाहिए । इसी प्रकार वैमानिको तक चौवीसो दण्डको के जीवों के सबध में समझ लेना चाहिए कि सभी कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य है ॥२६॥

मूलसूत्रार्थ—"अप्पियणप्पिएहिं" इत्यादि । सूत्र २७॥

प्रधानता और अप्रधानता से विवक्षा करने पर अनेकांत की सिद्धि होती है ॥२७॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्व सूत्र में यह प्रतिपादित किया गया है कि घट आदि प्रत्येक वस्तु

यदि–नित्य स्यात्, तदा–विनाशोदयाभावात् अनित्यत्वं व्याहन्येत यदि तु–अनित्य स्यात् तदा–स्थिरत्वाभावेन नित्यत्व व्याहतं स्यात्, इत्याशङ्का समाधातुमाह–"**अप्पियणप्पिएहिं-अणेगंतं–**" इति। अर्पिताऽनर्पिताभ्याम्–प्राधान्येन विवक्षिताऽविवक्षिताभ्या किमपि वस्तु–अनेकान्तं भवतीति भाव ।

तथाच–अनेकान्तात्मकस्य वस्तुन प्रयोजनवशाद् यस्य कस्यचिद्धर्मस्य विवक्षया प्रापितं प्राधान्यमर्पितमुपनीतम्, तद्भिन्नमनर्पितमुच्यते प्रयोजनाभावात् सदपि–अविवक्षितं सत् उपसर्जनीभूतमनर्पितमिति भाव' अर्पितञ्चा–ऽनर्पितञ्चेतिअर्पिताऽनर्पिते,ताभ्यां सर्वमपि वस्तुअनेकान्तात्मकम् कथञ्चिन्नित्यं कथञ्चिदनित्य भवति, इति न पूर्वोक्तविरोध ।

तद्यथा - कश्चित्पुरुष' पितेत्युच्यते स पुरुष कस्यचित्पुत्रस्यापेक्षया पिता भवति, तस्य पितुरपि कश्चित्पिता भवति तदपेक्षया तु–स पूर्वं पिता पुत्र इति व्यपदिश्यते-पुन स एव पुरुषः पितृत्वेन पुत्रत्वेन च व्यपदिश्यमान' कस्यचिदन्यस्य भ्रातुरपेक्षया भ्रातेत्युच्यते एव स एव पुरुष'–पितामहापेक्षया पौत्र इत्युच्यते, मातुलापेक्षया भागिनेय इति । मातामहापेक्षया दौहित्र.—

पर्यायार्थिक नय से उत्पाद और व्यय से युक्त होने के कारण अनित्य होते हुए भी द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा मृत्तिका द्रव्य का अन्वय होने के कारण नित्य भी है, मगर यह कथन परस्पर विरुद्ध सा प्रतीत होता है। जो वस्तु अनित्य है वही नित्य कैसे हो सकती है ? यदि नित्य है तो विनाश और उत्पाद का होना असभव है और यदि अनित्य है तो ध्रुव न रहनेके कारण नित्यता मे विरोध आता है। इस आशंका का समाधान करने के लिए कहते है—

किसी धर्म की प्रधान रूप से विवक्षा करने पर और किसी धर्म की अप्रधान रूप से विवक्षा करने पर अनेकांत की सिद्धि होती है।

प्रत्येक वस्तु अनेक धर्मों का अखण्ड पिण्ड है। उनमें से अपनी विवक्षा के अनुसार जिस किसी धर्म को विवक्षित करते हैं वह धर्म अर्पित कहलाता है और शेष धर्म विद्यमान होने पर भी प्रयोजन न होने के कारण विवक्षित नहीं किये जाते तब वे अनर्पित कहलाते है। इस प्रकार अर्पित और अनर्पित से अर्थात् धर्मो को प्रधान और गौण करने से वस्तु अनेक-धर्मात्मक सिद्ध होती है। इसी कारण वह नित्य भी है और अनित्य भी है। अतएव पूर्वोक्त विरोध का परिहार हो जाता है ।

वह इस प्रकार है—कोई पुरुष पिता कहलाता है। वह अपने पुत्र की अपेक्षा से पिता है। मगर उस पिता का भी कोई पिता होता है। उसकी अपेक्षा से वह पिता पुत्र भी कहलाता है। इसके साथ हो पिता और पुत्र कहलाने वाला पुरुष अपने भाई की अपेक्षा से भ्राता भी कहा जाता है । इसी प्रकार अपने पितामह की अपेक्षा से पौत्र, मामा की अपेक्षा

इत्येवं रीत्या एकस्यैव पुरुषस्य जनकत्वजन्यत्वादि नानासम्बन्धमद्भावाद् अनेकविधो व्यवहारः परस्परं विरुद्धवद्भासमानोऽपि न विरुद्धो भवति— । एवम् एकमपि घटपटादिवस्तुद्रव्य सामान्यमृदादेरन्वयार्पणया–प्राधान्येन विवक्षया नित्यमुच्यते, घटादिपर्यायार्पणया–विशेषविवक्षया पर्यायार्थिकनयेन नित्यमपि द्रव्य वस्तु अनित्यमुच्यते । आत्मनो नित्यत्वेऽपि पर्यायनयेनाऽनित्याकारसन्दर्शनात् मृत इत्यादिवत्,

तौ च समान्यविशेषौ द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयेन व्याख्यानं कृत्वा केनचिन्नयप्रकारेण कथञ्चिद्-भेदाभेदाभ्या व्यवहारहेतू भवत' । ऊक्तञ्च द्रव्यार्थिकनयेन—

"परिणामोऽह्यर्थान्तरगमनं न च सर्वथा व्यवस्थानम् ।
न च सर्वथा विनाशः परिणामस्तद्विदामिष्टः ॥१॥

पर्यायार्थिकनयेन—

सत्पर्यायेण नाशः प्रादुर्भावोऽसता च पर्ययतः ।
द्रव्याणां परिणामः प्रोक्तः खलु पर्ययनयस्य ॥२॥ इति

एवमर्पिताऽ नर्पितसिद्धिवशाद एकस्मिन्नेव पदार्थे नित्यत्वाऽनित्यत्वे, इत्यादयो बहव' परस्परं विरुद्धत्वेन प्रतीयमाना धर्मा भासन्ते, अर्पणाभेदात्— ॥२७॥

से भागिनेय और मातामह की अपेक्षा से दोहित्र कहा जाता है । इस प्रकार एक ही पुरुष में जनक एव जन्य आदि का यह व्यवहार परस्पर विरुद्ध–सा लगता है, फिर भी वास्तव में वह विरुद्ध नहीं है ।

इसी प्रकार एक ही घट या पट आदि वस्तु मृत्तिका आदि सामान्य की विवक्षा करने पर नित्य कहलाती है, मगर घट आदि पर्यायो की विवक्षा करने पर पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से अनित्य भी कही जाती है । आत्मा नित्य होने पर भी पर्यायनय से अनित्य प्रतीत होती है । इसी कारण उसमें 'मृत' जैसा व्यवहार होता है ।

वह सामान्य और विशेष, जो क्रमश' द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय के विषय है, कथचित् अमेद और भेद द्वारा व्यवहार के हेतु होते है । कहा भी है—

परिणमन का अर्थ है अर्थान्तर होना अर्थात् एक पर्याय का विनाश होकर दूसरे पर्याय का उत्पन्न होना । परिणमन के स्वरूप के ज्ञाता विद्वान् वस्तु का सर्वथा ज्यों का त्यों बना रहना अथवा सर्वथा विनष्ट हो जाना परिणाम नही मानते ।

इस प्रकार अर्पित और अनर्पित की सिद्धि होने से एक ही पदार्थ में नित्यता आदि बहुत–से धर्म, जो परस्पर विरुद्ध–से प्रतीत होते है, मगर वास्तव में विवक्षाभेद के कारण विरुद्ध नहीं है, प्रतिभासित होते है ॥२७॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं तावत् सर्वं वस्तु-उत्पादव्ययध्रौव्यस्वभावम् अर्थाभिधानप्रत्यय रूपं प्रतिपादितम्, तत्र-यद् उत्पद्यते-व्येति च तत्कथ सत्-ध्रौव्यरूप नित्यञ्च भवेत् ? सन्नित्यत्वाभ्यां निराकृतत्वेन न किञ्चिदसदनित्य वा स्यात्-। तथासति-लोकव्यवहार उच्छिन्न' स्यात्-एतस्य दुरूपपादत्वाद दु श्रद्धेयत्वाच्च साङ्गत्यम्।

नित्यत्व खलु -उत्पादव्ययाभ्यां विरुद्धम् । उत्पादव्ययौ च नित्यत्वेन विरुद्धौ स्त । तथाच-पय पावकयोरिव, छायातपयोरिव परस्पराऽत्यन्तविरुद्धयोरुत्पादव्यय-ध्रौव्ययो' सहावस्था नासभवेन सतो वस्तुनः उत्पादव्ययध्रौव्यलक्षण न -विद्वज्जनमनोरञ्जक मित्याशङ्कां समाधातु द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयानुसारेणाऽन्यतरप्रधानोपसर्जनभावविवक्षया-एकस्मिन्नपि वस्तुनि सर्वत्रैव सन्नित्यत्वस्य, असदनित्यत्वस्य च सम्भवेनोक्तविरोध परिहरति—"**अप्पिय-णप्पिएहिं अणेगंतं**-" इति ।

अर्पिताऽनर्पिताभ्याम् प्राधान्येन विवक्षिताऽविवक्षिताभ्याम् प्राधान्याऽप्राधान्यविवक्षयोपात्ताऽनुपात्ताभ्याम् एकमपि वस्तु सद् द्रव्य नयापेक्षयाऽनेकान्तम् कथञ्चिन्नित्यम् कथञ्चिदनित्य सम्भवति-। तथाहि—घटादिवस्तुषु द्रव्यार्थिकनयस्य प्रधानतया विवक्षानुसारेण मृत्तिकादिद्रव्यान्च-

---

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पहले बतलाया जा चुका है कि समस्त वस्तुएँ उत्पाद व्यय और ध्रौव्य स्वभाव वाली है। इस सबध में प्रश्न यह उपस्थित होता है कि जो वस्तु उत्पाद और विनाश वाली है वह ध्रौव्य स्वभाव वाली अर्थात् नित्य कैसे हो सकती है? अगर वस्तु सत् है तो असत् नहीं हो सकती और यदि नित्य है तो अनित्य नही हो सकती। अतएव वस्तु का पूर्वोक्त स्वरूप सिद्ध नहीं किया जा सकता और इस कारण वह सगतनहीं है ।

उत्पाद और व्यय का नित्यता के साथ विरोध है। और नित्यताका उत्पाद और व्यय के साथ विरोध है। जैसे जल और अग्नि या छाया और धूप परस्पर में अत्यन्त विरुद्ध हैं, उसी प्रकार ध्रौव्य के साथ उत्पाद-व्यय का विरोध है। वे एक स्थान मे रह नहीं सकते। ऐसी स्थिति मे वस्तु का लक्षण उत्पाद व्यय और ध्रौव्य कहना विद्वज्जनो के लिए मनोरजक नहीं हो सकता। इस आशका का समाधान करने के लिए द्रव्यार्थीक एव पर्यायार्थिक नय के अनुसार किसी धर्म को प्रधान और किसी को अप्रधान विवक्षित करके एक ही वस्तु में सत्ता, असत्ता, नित्यता और अनित्यता का सद्भाव दिखलाते हुए उक्त विरोध का परिहार करते है—

प्रधान और अप्रधान रूप से विवक्षा करने से अर्थात् किसी धर्म को प्रधान रूप में और किस को गौण रूप में विवक्षित करने से एक ही वस्तु अनेकान्तात्मक-कथचित् नित्य और कथचित् अनित्य हो जाती है। वह इसप्रकार-घटादि वस्तुओं में द्रव्यार्थिकनय की प्रधानता से

यदर्शनात् ध्रौव्यलक्षणे स्थित्यंशेऽर्पिते—उपात्ते सति साक्षात्—तद्विपरीतयोरुत्पादव्यययोरनर्पितयोर-नुपात्तयोरपि ग्रहण भवत्येव।

ध्रौव्य तावत्—पूर्वमुत्तर च पर्यायमुत्पादव्ययलक्षणमासादयति, न पुन रुत्पादलक्षणो—व्ययलक्षणो वा पर्याय पूर्वोत्तरपर्यायानुभावी भवति । तस्माद् विलक्षणौ विभिन्नौ उत्पाद—व्ययौ सुज्ञातौ भवत' । त्रिविधमपि—उत्पादव्ययस्थितिलक्षण सद् वस्तु अर्पणाऽनर्पणाभ्यां नित्यमनित्यञ्च सिद्धम् । अनेकधर्मवत्त्वेन व्यवस्थित वर्त्तते ।

तत्र—प्रयोजनवशात्कदाचित्कश्चिद्धर्मो वचनेनार्पितो विवक्षितो भवति, कश्चित्पुनः सन्नपि प्रयोजनाभावात्—अनर्पितोऽविवक्षितो भवति । किन्तु—न हि एतावता स धर्मी विवक्षितधर्ममात्र एव भवति, अपितु—अविवक्षितधर्मयुक्तोऽपि भवत्येव । तस्मात् सत्पर्यायविवक्षायां सद् उत्पादादिस्थि-त्यशविविक्षायां नित्यमसदपि उत्पादादि अनित्यञ्च भवति । सत्त्वाऽसत्त्वविशिष्टग्रहणात् सर्वदा वस्तुनो येन प्रमाणेन यद् वस्तु सद्विशिष्ट गृह्यते । अन्यथा—अविविक्तग्रहणमेवापद्येत, चाक्षुषा-दिबुद्धयो विविक्ता एव प्रतीयन्ते ।

उक्तञ्च—स्थानाङ्गे १० स्थाने—"अप्पियणप्पिए—" इति । अर्पिता-ऽनर्पिते—इति॥२७॥

मूलसूत्रम्—"वेमायणिद्धलुक्खत्तणेण खंधाणं बंधो—" ॥२८॥

छाया—"विमात्र-स्निग्ध-रूक्षत्वेन स्कन्धानां बन्धः—" ॥२८॥

विवक्षा करके, मृत्तिका द्रव्य का अन्वय देखने से ध्रौव्य रूप स्थिति—अश को अर्पित—ग्रहण करने पर उससे साक्षात् विरुद्ध अनर्पित उत्पाद और व्यय का भी ग्रहण हो जाता है ।

ध्रौव्य द्रव्य उत्पाद रूप व्यय रूप पूर्वोत्तर पर्याय को धारण करता है, उत्पाद पर्याय या व्ययपर्याय पूर्वोत्तर पर्यायो मे अनुगमन नहीं करता । इस कारण उत्पाद और व्यय विभिन्न और विलक्षण है, यह सहज ही ज्ञात हो जाता है । इस प्रकार अर्पण औ अनर्पण के द्वारा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य स्वरूप वस्तु नित्य और अनित्य सिद्ध होती है ।

प्रयोजन के अनुसार कदाचित् कोई धर्म वचन से अर्पितविवक्षित किया जाता है और दूसरा धर्म विद्यमान होते हुए भी प्रयोजन न होने से अनर्पित—अविवक्षित होता है । मगर इतने मात्र से ऐसा नहीं समझ लेना चाहिए उस वस्तु मे विवक्षित धर्म ही है । उसमे अविवक्षित धर्म भी रहता ही है । इसकारण जब नित्यता को प्रधानता दी जाती है । तब भी वस्तु में पर्याय की अपेक्षा से अनित्यता रहती है और प्रयोजनवशात् जब पर्याय की मुख्यता से अनित्यता का विधान किया जाता है तब वस्तु मे नित्यता भी विद्यमान रहती है ।

स्थानाग सूत्र मे १० वें स्थान मे कहा है—'**अप्पियणप्पिए**' अर्थात् अर्पित और अनर्पित ॥२७॥

मूलसूत्रार्थ—"वेमाय णिद्धलुक्ख" इत्यादि । सूत्र ॥२८॥

विसदृश परिमाण में स्निग्धता और रूक्षता होने से स्कधो का बन्ध होता है ॥२८॥

तत्त्वार्थदीपिका - पूर्वं भेद–सघातलक्षणाभ्यां पृथक्त्वैकत्वाभ्या परमाणुपुद्गलानां स्कन्धात्मना–उत्पादो भवतीत्युक्तम्, तत्र–कि सयोगादेव द्व्यणुकादिलक्षण सघातो भवति ? आहोस्वित्–कश्चिद्विशेष आस्थीयते, इत्याशङ्काया सयोगे सति एकत्वपरिणामात्मकाद् बन्धात् खलु सघातो निष्पद्यते इति प्रतिपादितम् । तत्रेय पुनराशङ्का जायते यत्कथ तावत् पुद्गलजात्यपरित्यागे सति केषाञ्चित्पुद्गलानां बन्धो भवति ? केषाञ्चिच्च बन्धो न भवति. इति तत्समाधानार्थ मुच्यते **"वेमायणिद्धलुक्खत्तणेण खंधाणं बंधो–"** इति । विमात्रस्निग्धरूक्षत्वेन स्कन्धाना बन्ध विषमा–असमाना मात्रा–अशो ययोस्तौ विमात्रौ, तौ च तौ स्निग्धरूक्षौ विमात्रस्निग्धरूक्षौ, तयोर्भावो विमात्रस्निग्धरूक्षत्व तेन विमात्रस्निग्धरूक्षत्वेन असमस्निग्धरूक्षत्वेन द्व्यणुकादिस्कन्धानाम् एकत्वपरिणामलक्षणो बन्धो भवतीति भाव ।

एवञ्च—तेषा सर्वेषा पुद्गलाना पुद्गलात्मत्वाविशेषेऽपि अनन्तपर्यायाणा केषाञ्चित परस्परविलक्षणपरिणामाऽहितस्निग्धरूक्षत्वसामर्थ्याद्बन्धो भवति, केषाञ्चित्पुनस्तथाविधपरिणामाहितत्वाभावाद्बन्धो न भवतीति फलितम् । तत्र–बाह्याभ्यन्तरकारणवशात् स्नेहपर्यायाविर्भावात् स्निह्यते स्मेति स्निग्ध., एवम्–रूक्षणाद्, स्निग्धश्च-रूक्षश्चेति स्निग्धरूक्षौ तयोर्भाव. स्निग्धरूक्षत्वम् । स्निग्धत्वञ्च- चिक्कणगुण लक्षण पर्याय , तद्विपरीतपरिणामो रूक्षत्वम्, विमात्रयो:-असमानमात्राविशिष्टयो स्निग्धरूक्षयो: परमाण्वो परस्परसश्लेषलक्षणे एकत्वपरिणामात्मके बन्धे सति द्व्यणुकस्कन्धो जायते ।

तत्त्वार्थदीपिका—पहले कहा जा चुका है कि भेद और सघात रूप पृथक्त्व से परमाणुपुद्गलों का स्कध रूप मे उत्पाद होता है । तो क्या दों परमाणुओ का सयोग होने से ही द्व्यणुक आदि स्कंध उत्पन्न हो जाते है अथवा अन्य किसी विशेषता से उत्पन्न होते है ? ऐसी शका होने पर एकत्व परिणाम रूप बन्ध से सघात (स्कध) की निष्पत्ति होती है, ऐसा प्रतिपादन किया गया है । इसमे भी यह आशंका उत्पन्न होती है कि पुद्गल जाती की समानता होने पर भी किन्हीं पुद्गलो का बन्ध होता है और किन्हीं का क्यो बन्ध नहीं होता है ? इस आशंका का समाधान करने के लिए कहते है—

विसदृश अश वाले स्निग्ध और रूक्ष पुद्गलों का बध होता है । इससे यह फलित हुआ कि यद्यपि समस्त पुद्गलो मे पुद्गलपन समान है तथापि अनन्त पर्यायो वाले किन्हीं पुद्गलो का परस्पर विलक्षण परिणाम से प्राप्त स्निग्धत्व और रूक्षत्व के सामर्थ्य से बन्ध होता है । जिन पुद्गलों मे पूर्वोक्त प्रकार का परिणमन नहीं होता, उनका वन्ध नहीं होता ।

जिस पुद्गल मे बाह्य और आभ्यन्तर कारणों का सयोग मिलने पर स्नेह पर्याय प्रकट हो जाता है, वह स्निग्धपुद्गल कहलाता है । वह चिकना होता है । उससे विपरीत परिणाम को रूक्षत्व कहते है । विमात्र का मतलव है–असमान अशो वाले । इस प्रकार असमान अश वाले स्निग्ध और रूक्ष दो परमाणुओ का परस्पर सश्लेष रूप एकत्व परिणामात्मक बन्ध होने पर द्व्यणुक स्कन्ध उत्पन्न होता है ।

एवं क्रमेण त्र्यणुकस्कन्धोऽपि द्व्यणुकस्य परमाणोश्च विमात्रस्निग्धरूक्षस्य परस्परसश्लेषलक्षणे तथाविधे बन्धे सजायते । एवं—सख्येयाऽसख्येयाऽनन्तप्रदेशस्कन्धा अपि निष्पद्यन्ते । तत्र—स्नेह एक-द्वि-त्रि-चतु सख्येयाऽसख्येयाऽनन्तगुणभेदादनेकविधो बोध्य । एवम्—रूक्षोऽपि एक-द्वि-त्रि-चतु सख्येयाऽसख्येयाऽनन्तगुणभेदादनेकविधोऽवगन्तव्य ।

यथा—जलाऽजागोमहिष्युष्ट्री—आविक्षीरघृतेषु स्नेहगुण' प्रकर्षाऽप्रकर्षेण प्रवर्तते, एवं—पांशु-धूलिरज' कणिकाशर्करादिषु रूक्षगुणश्च प्रकर्षाऽप्रकर्षेण दृष्टिगोचरो भवति । एवम्——परमाणुष्वपि स्निग्धरूक्षगुणयो स्थिति प्रकर्षाऽप्रकर्षेणाऽनुमीयते । उक्तञ्च—प्रज्ञापनायां १३ पदे १९५ सूत्रे—

"बंधपरिणामे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते, तंजहा—णिद्धबंधणपरिणामे लुक्खबंधणपरिणामे य,

"समणिद्धयाए बंधो, न होइ समलुक्खयाए वि ण होइ ।
वेमयणिद्धलुक्खत्तणेण बंधो उ खंधाणं — ॥१॥
"णिद्धस्स णिद्धेण दुयाहिएणं, लुक्खस्स लुक्खेण दुयाहिएणं ।
णिद्धस्स लुक्खेण उवेइ बंधो, जहण्णवज्जो विसमो समो वा ॥२॥ इति ।

बन्धपरिणाम खलु भदन्त ! कतिविध' प्रज्ञप्त ? गौतम ! द्विविध' प्रज्ञप्त', तद्यथा——स्निग्धबन्धपरिणाम रूक्षबन्धपरिणामश्च ।

इसी प्रकार क्रम से त्र्यणुक स्कध भी, द्व्यणुक और परमाणु का, जो विसदृश मात्रा में स्निग्ध और रूक्ष हो, परस्पर मे सश्लेष होने पर उत्पन्न होता है ।

स्नेह किसी पुद्गल में एक गुण (अश) वाला, किसी में दो अश वाला, किसी मे तीन अश वाला, किसी मे चार अश वाला, किसी में सख्यात असख्यात अनन्त अश वाला समझना चाहिए । इसी प्रकार किसी पुद्गल मे रूक्षता एक गुण, किसी में दो गुण यावत् किसी में अनन्त गुण होती है । जैसे जल, बकरी के दूध, गाय के दूध, भैंस के दूध, ऊटनी के दूध और भेड के दूध में तथा घृत में स्निग्धता गुण की न्यूनाधिकता रहती है और पांशु, धूल, रजकण एवं शर्करा आदि में रूक्षता गुण हीनाधिक रूप में दिखाई देता है, इसी प्रकार परमाणुओ में भी स्निग्धता और रूक्षता गुण के प्रकर्ष और अप्रकर्ष का अनुमान किया जाता है । प्रज्ञापनासूत्र के १३ वे पद के १८५ वे सूत्र में कहा है—

प्रश्न—भगवन् ! बन्धनपरिणाम कितने प्रकार का कहा है ?

उत्तर—गौतम ! दो प्रकार का कहा है, यथा—स्निग्धबन्धन परिणाम और रूक्षबन्धन परिणाम।

'समान स्निग्धता से और समान रूक्षता से बन्धन नहीं होता, किन्तु स्निग्धता और रूक्षता जब विसदृश परिमाण मे होती है तभी स्कधों का बन्ध होता है ।

"समस्निग्धतया बन्धो न भवति, समरूक्षतया पि न भवति ।
विमात्रस्निग्धरूक्षत्वेन बन्धस्तु स्कन्धानाम् ॥ १ ॥
"स्निग्धस्य स्निग्धेन द्व्यधिकेन रूक्षस्य रूक्षेण द्व्यधिकेन ॥
स्निग्धस्य रूक्षेण उपैति बन्धो जघन्यवर्जो विषमः समो वा ॥१॥ ॥२८॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं सघाताद् एकत्वलक्षणात् स्कन्धा द्व्यणुकादय उत्पद्यन्ते इत्युक्तम्, तत्र—स खलु सघात' किं सयोगमात्रादेव भवति ? आहोस्वित् सयोगविशेषात् ? इत्याशङ्कासमाधातुमाह—सयोगे सति बद्धस्य सघातो भवति, सघाते सति बद्धस्य सत' स्कन्धपरिणामो भवतीति ।

तत्र—एकत्वपरिणाम खलु बन्ध' केन प्रकारेण द्वयो' परमाण्वो' बहूनां परमाणूनां जायते—? किं परस्परानुप्रवेशेन, उताहो सर्वात्मना प्रवेशाभावेऽपि तथाविधो बन्धो भवति ? तत्र—परमाण्वो.—परमाणूना वा शुषिराभावात् परस्परानुप्रवेशस्तावन्नैव सम्भवति । अपितु—परमाणूना परिणतिविशेषात् सर्वात्मना सर्वथा बन्धो भवति ।

तथाचा—ऽयोगोलकवत् परस्परानुप्रवेशाभावेऽपि गुणविशेषात् सर्वात्मना—एकत्वपरिणामलक्षणो बन्धो भवतीति फलितम्, कथ पुन' स तथाविधो बन्धो गुणविशेषाद् जायते—? इत्याकाङ्क्षाया-

---

'स्निग्ध पुद्गल का दो अश अधिक स्निग्ध पुद्गल के साथ और रूक्ष का दो अश अधिक रूक्ष पुद्गल के साथ, स्निग्ध का रूक्ष के साथ बन्ध होता है, परन्तु जघन्य गुण वाले पुद्गल का किसी के भी साथ बन्ध नहीं होता है ॥२८॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति —पहले कहा गया है कि एकत्व रूप सघात से द्व्यणुक आदि स्कन्धो की उत्पत्ति होती है, मगर वह सघात सयोगसामान्य से होता है अथवा विशेष प्रकार के सयोग से होता है ? इस प्रश्न का समाधान करने के लिए कहते है—सयोग होने पर बद्ध का सघात होता है और सघात होने पर बद्ध का स्कध रूप परिणाम उत्पन्न होता है ।

एकत्वपरिणाम रूप बन्ध दो परमाणुओं का अथवा बहुत परमाणुओ का किस प्रकार से होता है ? क्या एक परमाणु में दूसरे परमाणु का प्रवेश होने से होता है या पूरी तरह प्रवेश न होने पर भी वह बन्ध हो जाता है ? परमाणुओं में पोलापन तो होता नहीं है, इस कारण वे एक दूसरे मे प्रविष्ट नहीं हो सकते, किन्तु परमाणुओ के परिणमन विशेष से ही सर्वथा सर्वात्मना बन्ध हो जाता है ।

इससे यह फलित हुआ कि लोहे के गोले मे अग्नि जैसे समा जाती है वैसे एक परमाणु दूसरे परमाणु मे समाता नहीं है, फिर भी गुण कि विशेषता के कारण सर्वात्मना—पूर्ण रूप से एकत्वपरिणाम रूप बन्ध हो जाता है । किन्तु गुण की विशेषता के कारण बन्ध किस प्रकार हो जाता है ? इस प्रकार की आशका होने पर कहते है—

माह—**"वेमायणिद्धलुक्खत्तणेण खंधाणं बंधो"** इति। विमात्र—स्निग्ध—रूक्षत्वेन स्कन्धाना बन्ध', विषमा—असमा मात्रा अशो ययोस्तौ विमात्रौ, स्पर्शाख्यो गुण' स्नेह., तत्परिणाम स्निग्ध। एव रूक्षोऽपि स्पर्शाख्यगुणपरिणाम, स्निग्धश्च—रूक्षश्च स्निग्धरूक्षौ, एक स्निग्ध.—अपरो रूक्ष इत्यर्थ। विमात्रौ च तौ स्निग्धरूक्षौ तयोर्भावो विमात्रस्निग्ध—रूक्षत्व तेन—विमात्रस्निग्ध रूक्षत्वेन तत्परिणत्या—पत्त्या स्कन्धानां द्व्यणुकादीना बन्धो भवतीति भाव।

तथाच—विमात्रयो स्निग्धरूक्षयो परस्परसयुक्तो परमाण्वादिपुद्गलयोरेकत्वपरिणामलक्षणबन्धेन द्व्यणुकादिस्कन्धा सम्पद्यन्ते। एवञ्च—एकस्थानाद् गलति-अपरं स्थानं पूरयति—इति पूरणाद् गलनाच्च पुद्गला पूरकत्वेन स्कन्धान् निष्पादयन्ति गलनेन च—स्कन्धभेद कुर्वन्ति। पुद्गला। तत्र—सकलो बन्ध' सयोगपूर्वको भवति, रूक्षता स्नेहविशेषात् परमाणो परमाण्वन्तरेण सश्लेषात्मको बन्धो मृद्रजोभिस्तृणादिबन्धवत् सजायते।

तथाहि—परमाणव एकगुणस्निग्धादि क्रमेण सख्येयाऽसंख्येयाऽनन्ताऽनन्तगुणास्निग्धा सन्ति उदकाजागोमहिष्युष्ट्रयवीदुग्ध—घृतस्नेहप्रवर्षाऽप्रकर्षवत्। एवम्—एकगुणरूक्षादिक्रमेण हीनमध्यमोत्कृष्टसख्येयाऽसख्येयानन्तगुणरूक्षा भविन्त। तत्र—चिक्कणत्वलक्षण स्नेह' तद्विपरीत

असमान अशों में स्निग्धता और रूक्षता होने से बध होता है। स्नेह का मतलब है चिकनापन और रूक्षता का अर्थ है सूखापन। यह दोनो पुद्गल के स्पर्शनामक गुण की अवस्थाएँ है। दो परमाणुओ में से एक स्निग्ध और दूसरा रूक्ष होता है, और वह स्निग्धता एव रूक्षता जब विसदृश मात्रा मे होती है तब उनका परस्पर मे बन्ध हो जाता है।

इस प्रकार विभिन्न मात्रा (अश) वाले परस्पर मे सयुक्त स्निग्धता और रूक्ष परमाणु आदि पुद्गलो के एकत्व परिणमन रूप बन्धन से द्व्यणुक आदि स्कध उत्पन्न हो जाते है। इस तरह एक स्थान से गलता अर्थात् बिछुडता है और दूसरे स्थान को पूरता है—दूसरे में मिलता है, इस प्रकार पूरण और गलन के कारण वह पुद्गल कहलाता है। पूरक होकर वह स्कधों को उत्पन्न करता है और गलन करके स्कध मे भेद उत्पन्न करता है। जितने भी बन्धन हैं, सब सयोग पूर्वक ही होते है। स्निग्धता और रूक्षता की विशेषता के कारण परमाणु का दूसरे परमाणु के साथ सश्लेषरूप बन्ध होता है।

सब परमाणुओ में स्निग्धता एक-सी नहीं होती। किसी में एक गुण (डिगरी) स्निग्धता होती है, किसी में असख्यात गुण और किसी मे अनन्त गुण भी स्निग्धता होती है।

जल मे थोडी स्निग्धता है। उसकी अपेक्षा बकरी के दूध मे अधिक है और फिर गाय, भैस, उँटनी एव भेड के दूध मे क्रमश अधिकाधिक स्निग्धता पाई जाती है। घृत मे और अधिक होती है। इसी प्रकार रूक्षता भी न्यूनाधिक मात्रा में विद्यमान रहती है। कोई पुद्गल हीन रूक्षता वाला कोई मध्यम रूक्षता वाला और कोई उत्कृष्ट रूक्षता वाला होता है।

स्पर्शगुणपरिणामो रूक्ष.' ततश्च—सश्लेषणस्नेहरूक्षपरिणतिमत्त्वात सर्वात्मना सयोगजन्यवन्धो भवतीति सिद्धम् । तथाविधो हि वन्धविशेष एतादृशपुद्गलद्रव्याणा प्रत्यक्षतया प्रसिद्ध. ।

सहत महद्द्रव्य घटपटादिक प्रत्यक्षसिद्ध परमाणुवन्धस्याऽनुमापक वोध्यम् । तथाहि—परमाणुसहतिविशेषं विना महत्सहतं न सम्भवति । एवञ्च—प्रत्यक्षसिद्धघटादि द्रव्यसहतेन परमाणुसहतिरपि बन्धरूपाऽनुमीयते, तथाच—स्निग्धगुणाना च वन्धो भवतीति वोध्यम् ।

परन्तु—नाऽयं नियमो वर्तते यत्—सर्वस्यैव स्निग्धगुणस्य रूक्षगुणेन सह वन्धो भवत्येव । एकगुणस्निग्धस्य पुद्गलस्यैकगुणरूक्षेण सह पुद्गलेन न बन्ध जघन्यगुणवत्वेन द्वयोर्विमात्राया अभावात् । स्वस्थानापेक्षया स्निग्धस्य पुद्गलस्य स्निग्धेव पुद्गलेन वन्धो न भवति । एव—स्वस्थानापेक्षया ऽपि—एकगुणस्निग्धस्य पुद्गलस्यैकगुणरूक्षेण पुद्गलेन सह बन्धो न भवति । एकगुणस्निग्ध—रूक्षादीना सयोगे सत्यपि स्निग्धरूक्षत्वे च सत्यपि न परस्परमेकत्वपरिणतिलक्षणो बन्ध सञ्जायते।

तेषा परस्परबन्धाभावे कारण तु—तथाविधपरिणतिशक्त्यभाव एव प्रतीयते । पुद्गलद्रव्याणा परिणतिशक्तयश्च क्षेत्रकालानुसारिण्यो विचित्रा एव प्रयोगविस्रसापेक्षा प्रभवन्ति । जघन्यश्च—स्नेह-

---

किसी में सख्यात, किसी मे असख्यात और किसी मे अनन्त गुण रूक्षता होती है । इस प्रकार स्निग्धता (चिकनाहट) और रूक्षता (सूखेपन) के कारण परमाणुओ में सश्लेष होता है और वे एक दूसरे के साथ बद्ध हो जातेहै । बद्ध होने पर स्कध की उत्पत्ति होती है । पुद्गल द्रव्यो का इस प्रकार बन्ध होना प्रत्यक्ष से सिद्ध है ।

स्थूल जो घट पट आदि पुद्गल स्कंध है और जो प्रत्यक्ष से प्रतीत होते है, वही परमाणुओ के बन्ध के अनुमापक है, अर्थात् उन्हें देखने से परमाणुओ के बन्ध का अनुमान किया जा सकता है । क्योकि परमाणुओ का सघात हुए विना महान् आकार उत्पन्न नहीं हो सकता । इस प्रकार प्रत्यक्ष से सिद्ध घट आदि पिण्डो से परमाणुओ के सयोग बन्ध का अनुमान होता है । अतएव यह समझना चाहिए कि स्नेह गुण वाले और रूक्ष गुण वाले परमाणुओ का बन्ध होता है ।

मगर ऐसा नियम नहीं कि सभी स्निग्धता गुण वाले पुद्गलों का सभी रूक्ष पुद्गलो के साथ बन्ध हो ही जाता है । अगर किसी पुद्गल में एक गुण स्निग्धता है तो एक गुण रूक्षता वाले पुद्गल के साथ उसका बन्ध नहीं होता, क्यों कि दोनो ही पुद्गल जघन्य गुण वाले हैं, अत उनमे गुण की विसदृशता अर्थात् विषम परिमाण नहीं है । स्वस्थान की अपेक्षा से स्निग्ध पुद्गल का स्निग्ध पुद्गल के साथ बन्ध नहीं होता । इसी प्रकार एक गुण स्निग्ध पुद्गल का एक गुण रूक्ष पुद्गल के साथ बन्ध नहीं होता । एक गुण स्निग्ध और एक गुण रूक्ष पुद्गलो का सयोग होने पर भी और उनमे स्निग्धता तथा रूक्षता होने पर भी परस्पर बन्ध नहीं होताहै ।

इन पुद्गलो का बन्ध न होने का कारण तो उनमें उस रूप मे परिणत होने की शक्ति

गुणोऽल्पत्वादेव जघन्यगुणरूक्ष पुद्गल परिणामयितु समर्थो न भवति । एवम्- जघन्यो रूक्षगुण स्तोकत्वादेव जघन्यगुणस्निह न स्वाधीन कर्त्तु समर्थो भवति ।

तत्र—जघन्यस्तावद् एकगुणस्निग्ध —एकगुणरूक्ष । स्नेहादिगुणानाञ्च प्रकर्षाऽप्रकर्षभेदोऽस्त्येव, यथा—उदकापेक्षया—ऽजादुग्धमधिकस्निग्ध भवति—अजादुग्धाद् गोदुग्धमधिकं स्निग्धम्, गोक्षीराद् महिषीपय तदपेक्षया—उष्ट्रीपयोऽधिकम्, ततोऽप्यविपयोऽधिक स्निग्ध भवति, इत्युत्तरोत्तरमेषा स्नेहाधिक्यम्, पूर्व पूर्व रूक्षताधिक्यमवगन्तव्यम् । तत्र—एकगुणस्निग्धस्य पुद्गलस्यैकगुणस्निग्धेनेव द्व्यादिना सर्वेण समानेन सख्येयाऽसख्येयाऽनन्तगुणस्निग्धेन वा पुद्गलेन बन्धो न भवति ।

एवमेव—एकगुणरूक्षस्य पुद्गलस्यैकगुणरूक्षादिभि सह सख्येयासख्येयाऽनन्तानन्तगुणरूक्षै पुद्गलै बन्धो न भवति । एव जघन्यगुणस्निग्धाना जघन्यगुणरूक्षाणा च पुद्गलाना परस्परं बन्धो न भवति । अतो जघन्य (निकृष्ट) गुणस्निग्धरूक्षौ परित्यज्य तदन्येषा मध्यमोत्कृष्टस्निग्धानां रूक्षै सह रूक्षाणां च तथाविधाना स्निग्धै' सह परस्परं बन्धो भवति ।

तथाच—द्विगुणस्निग्धस्य पुद्गलस्यैकगुणरूक्षेण पुद्गलेन सह बन्धो न भवति । एवम्—एकगुणस्निग्धस्य पुद्गलस्य द्विगुणरूक्षेण पुद्गलेन सह बन्धो न भवति । एकस्य जघन्यगुण-

---

का अभाव ही प्रतीत होता है । पुद्गलो मे परिणमन करने की शक्तियाँ क्षेत्र और काल के अनुसार विचित्र प्रकार की होती है। उनमें से कोई स्वाभाविक और कोई-कोई प्रयत्नसापेक्ष हुआ करती है । जघन्य अर्थात् एक डिगरी का स्नेह गुण अल्पमात्रा मे होने के कारण जघन्य गुण वाले रूक्ष पुद्गल को परिणत करने मे समर्थ नहीं होता इसी प्रकार जघन्य रूक्ष गुण वाला भी अल्प होने के कारण जघन्य गुण वाले स्निग्ध पुद्गल को अपने रूप मे परिणत नहीं कर सकता ।

जघन्य का अर्थ है—एक गुण स्निग्ध या एक गुण रूक्ष । स्निग्धता रूक्षता आदि गुणो का परिमाण न्यूनाधिक होता ही है, जैसे जल की अपेक्षा बकरी का दूध अधिक स्निग्ध होता है, बकरी के दूध से गाय का दूध अधिक स्निग्ध होता है, इसी प्रकार गाय के दूध से भैस का, भैस के दूध से ऊँटनी का और ऊँटनी के दूध की अपेक्षा भेड का दूध अधिक स्निग्ध होता है । इनमे उत्तरोत्तर स्निग्धता अधिक है । और पूर्व पूर्वमे रूक्षता के अश अधिक है । एक गुण स्निग्धपुद्ल का जैसे एक गुण स्निग्ध पुद्गल के साथ बन्ध नहीं होता, उसी प्रकार दो, सख्यात असख्यात और अनन्त गुण स्निग्ध पुद्गल के साथ भी बन्ध नहीं होता ।

इसी प्रकार एक गुण रूक्षता वाले पुद्गल का एक गुण रूक्षता वाले तथा सख्यात असख्यात और अनन्त गुण रूक्षता वाले पुद्गलो के साथ बन्ध नहीं होता । इसी प्रकार जघन्य गुण वाले स्निग्ध और जघन्य गुण वाले रूक्ष पुद्गलो का परस्पर बन्ध नहीं होता ।

दो गुण स्निग्धता वाले पुद्गल का एक गुण रूक्षता वाले पुद्गल के साथ बन्ध नहीं

त्वात् । यथा–जघन्यविषयाणां स्निग्धरूक्षाणा परस्परं बन्धो न भवति, एवगुणसाम्येऽपि सदृशानां बन्धो न भवतीति बोध्यम् ।

तथाहि—तुल्यगुणस्निग्धस्य पुद्गलस्य तुल्यगुणस्निग्धेन पुद्गलेन सह बन्धो न भवति । एव–तुल्यगुणरूक्षस्य पुद्गलस्य तुल्यगुणरूक्षेण पुद्गलेन सह बन्धो न भवतीति । तेषा परस्पर-समबलगुणमल्लद्वयाऽभिघातवत्, परिणतशक्तेरभावात् । परन्तु–पञ्चगुणरूक्षेण सह बन्धो भवति, स्निग्धगुणवैषम्ये–रूक्षगुणवैषम्ये च सदृशानामपि पुद्गलाना भवति बन्ध ।

एव द्विगुणस्निग्धस्य चतुर्गुणस्निग्धेन सह बन्ध, त्रिगुणस्निग्धस्य पञ्चगुणस्निग्धेन सह बन्ध, चतुर्गुणस्निग्धस्य षड्गुणस्निग्धेन सह बन्ध यावदनन्तगुणस्निग्धेन सह बन्धोऽवगन्तव्य । एव रूक्षगुणवैषम्येऽपि—स्वयमूहनीयम् । अथैवमपि–एकगुणस्निग्धस्य पुद्गलस्य द्विगुणस्निग्धेना-ऽपि पुद्गलेन सह बन्धप्रसङ्ग गुणवैषम्यस्य तत्रापि सत्त्वादिति चेन्मैवम् । व्यधिकादिगुणाना-मेव सदृशाना पुद्गलानां परस्परबन्धाऽभ्युपगमात् ।

तथाहि—एकगुणस्निग्धस्य पुद्गलस्य द्विगुणाधिकस्निग्धेन सह, द्विगुणाधिकस्निग्धस्य पुद्ग-लस्य एकगुणस्निग्धेन सह, एकगुणरूक्षस्यापि पुद्गलस्य द्विगुणाद्यधिकरूक्षेण पुद्गलेन सह, द्विगु-

होता । इसी प्रकार एक गुण स्निग्धता वाले का दो गुण रूक्षता वाले पुद्गल के साथ बन्ध नहीं होता, क्योकि एक गुण जघन्य गुण होता है । जैसे जघन्य गुण वाले स्निग्ध और रूक्ष पुद्गलो का बन्ध नहीं होता, उसी प्रकार गुणो की समानता होने पर सदृश पुद्गलो का बन्ध नही होता ।

वह इसप्रकार है—तुल्यगुण स्निग्ध पुद्गल का तुल्यगुण स्निग्ध पुद्गल के साथ बन्ध नहीं होता । इसीप्रकार तुल्यगुण रूक्षपुद्गलका तुल्यगुण रूक्ष पुद्गल के साथ बन्ध नहीं होता । समान बल और गुण वाले दो मल्लो के आघात के समान उनमें परिणत करने की शक्ति नहीं होती है । किन्तु पचगुणस्निग्धका पचगुणरूक्ष पुद्गल के साथ बन्ध होता है । स्निग्धता गुण की विषमता या रूक्षता गुण की विषमता होने पर सदृश पुद्गलो का भी बन्ध होता है ।

इस प्रकार द्विगुण स्निग्ध का चतुर्गुण स्निग्ध के साथ बन्ध होता है, त्रिगुण स्निग्ध का पचगुण स्निग्ध के साथ बन्ध होता है, चतुर्गुण स्निग्ध का षड्गुण स्निग्ध के साथ बन्ध होता है इसी प्रकार अनन्तगुण स्निग्ध के साथ बध समझ लेना चाहिए । इसी प्रकार रूक्ष-गुण की विषमता होने पर भी बन्ध होना स्वय समझ लेना चाहिए ।

शका—ऐसा होने पर भी एकगुण स्निग्ध पुद्गल का द्विगुण स्निग्ध पुद्गल के साथ बन्ध होना चाहिए क्योकि गुण की विषमता वहाँ भी विद्यमान है ।

समाधान–ऐसा न कहिए । दो गुण अधिक आदि सदृश पुद्गलो का ही परस्पर बन्ध स्वीकार किया गया है । अतएव एकगुण स्निग्ध पुद्गल का दो अधिक गुण वाले स्निग्ध के

णाद्यधिकरूक्षस्य-एकगुणरूक्षेण पुद्गलेन च सह बन्धो न भवति । एकादिगुणाधिकयो' पुन' सदृशयो' स्निग्धपुद्गलयो रूक्षपुद्गलयो' रूक्षपुद्गलयोर्वा बन्धो न भवति ।

तेषु खलु—एकादिगुणाधिकेषु सदृशस्निग्धेषु सदृशरूक्षेषु वा प्रतिविशिष्टपरिणतिशक्तेरभावात् । तथाच एकगुणस्निग्धस्य परमाणुपुद्गलादेर्द्विगुणस्निग्ध' परमाणुपुद्गल.—एकगुणाधिक द्विगुणस्निग्धस्य परमाणुपुद्गलस्य त्रिगुणस्निग्ध'—परमाणुपुद्गल —एकगुणाधिक, त्रिगुणस्निग्धस्य परमाणुपुद्गलस्य चतुर्गुणस्निग्ध परमाणुपुद्गल —एकगुणाधिको भवति, इत्यादिरीत्या यावदनन्तगुण' पुद्गल'—एक-गुणाधिकोऽवगन्तव्यः ।

एतेषाञ्च सदृशानां परस्पर बन्धो न भवति, उक्तयुक्ते । एवम्—"जघन्यवर्जः" इतिवचनात्—एकगुण विहाय द्विगुणस्य परमाणुपुद्गलस्य त्रिगुणेन परमाणुपुद्गलेन सह बन्धो न भवति । एवम्—त्रिगुणस्य चतुर्गुणेन सह बन्धो न भवति इत्यादिरीत्या शेषविकल्पयोजनमपि स्वय करणीयम् ।

एवम्——एकगुणरूक्षस्य परमाणुपुद्गलादेर्द्विगुणरूक्ष परमाणुपुद्गल —एकगुणाधिको भवति, एव द्विगुणरूक्षस्य परमाणुपुद्गलस्य त्रिगुण रूक्ष परमाणुपुद्गल एक गुगाधिको भवति, त्रिगु

साथ द्विगुण अधिक स्निग्ध पुद्गल का एक गुण स्निग्ध के साथ, एकगुण रूक्ष पुद्गल का द्विगुण अधिक रूक्ष के साथ, द्विगुणअधिक रूक्षका एकगुण रूक्ष पुद्गल के साथ बन्ध नहीं होता । एक आदि गुण अधिक सदृश दो स्निग्ध पुद्गलो अथवा रूक्ष पुद्गलो का बन्ध नहीं होता ।

उन एकादि गुण अधिक पुद्गलो मे सदृश स्निग्ध पुद्गलो मे तथा सदृश रूक्ष पुद्गलो में विशिष्ट परिणमन की शक्ति का अभाव होता है ।

एकगुण स्निग्ध परमाणु आदि पुद्गल की अपेक्षा द्विगुण स्निग्ध परमाणु पुद्गल एक गुणाधिक कहलाता है, दो गुण स्निग्ध परमाणु पुद्गल की अपेक्षा तीन गुण स्निग्ध परमाणु पुद्गल एकगुणाधिक कहलाता है, तीन गुण स्निग्ध परमाणुपुद्गल की अपेक्षा चतुर्गुण स्निग्ध परमाणुपुद्गल एक गुणाधिक कहलाता है, इसी प्रकार यावत् अनन्तगुण पुद्गल एक दूसरे की अपेक्षा एकगुणाधिक समझ लेना चाहिए ।

पूर्वोक्त युक्ति के अनुसार इन सदृश पुद्गलों का परस्पर बध नहीं होता । इस प्रकार जघन्य वर्ज अर्थात् जघन्य को छोडकर इस वचन के अनुसार एक गुण को छोडकर द्विगुण परमाणु पुद्गल का त्रिगुण परमाणु पुद्गल के साथ बन्ध नहीं होता है । इसी प्रकार त्रिगुण का चतुर्गुण के साथ बन्ध नहीं होता, इत्यादि प्रकार से शेष विकल्पो की योजना स्वय कर लेना चाहिए ।

इसी प्रकार एक गुण रूक्ष परमाणुपुद्गल आदि की अपेक्षा द्विगुण रूक्ष परमाणुपुद्गल एकगुणाधिक कहलाता है, दो गुण रूक्षता वाले की अपेक्षा तीन गुणरूक्षता वाला एकगु-णाधिक कहलाता है, तीन गुण रूक्ष की अपेक्षा चारगुण रूक्ष एक गुणाधिक कहलाता है,

णरूक्षस्य चतुर्गुणरूक्ष'—एकगुणाधिको भवति, इत्येव रीत्या यावदनन्तगुणरूक्ष—एकगुणाधिको भवति। एतेषाञ्चापि सदृशाना परस्पर बन्धो न भवति, प्रागुक्तयुक्तेस्तुल्यत्वात्।

एवमत्रापि—"जघन्यवर्जः" इतिवचनात्, द्विगुणस्य त्रिगुणेन सह बन्धो न भवति, एव-त्रिगुणस्य चतुर्गुणेन सह बन्धो न भवति, इत्यादिरीत्या शेषविकल्पयोजनमपि स्वयमूहनीयम्। अपितु—पूर्वोक्तरीत्या द्विगुणस्निग्धस्य पुद्गलस्य चतुर्गुणस्निग्धेन पुद्गलेन सह बन्धो भवति त्रिगुणस्निग्धस्य पुद्गलस्य पञ्चगुणस्निग्धेन पुद्गलेन सह बन्धो भवतीत्यादिरीत्याऽवगन्तव्यम्।

"तथाचोक्तम्—प्रज्ञापनायां २०गाथायाम्—

"णिद्धस्स णिद्धेण दुआधिएण लुक्खस्स लुक्खेण दुआधिएण।
णिद्धस्स लुक्खेण उवेइ बंधो जहण्णवज्जो विसमे समे वा ॥१॥ इति।
"स्निग्धस्य स्निग्धेन द्व्याधिकेन रूक्षस्य रूक्षेण द्व्याधिकेन।
स्निग्धस्य रूक्षेण उपैति बन्धो जघन्यवर्जो विषमः समो वा ॥१॥ इति।

अत्रैतद् गाथापूर्वार्द्धेन सदृशाना स्निग्धाना—रूक्षाणाञ्च पुद्गलानां द्व्यधिकादिगुणवैषम्ये बन्धो भवतीति प्रतिपाद्यते।

तथाच—स्निग्धस्य स्निग्धेन द्व्याधिकेन रूक्षस्यापि रूक्षेण द्व्याधिकेन सह बन्धो भवतीति सिद्धम्। एवमेतस्या एव गाथाया उत्तरार्द्धेन तु जघन्यगुणवर्जितयो' स्निग्धरूक्षयो' पुद्ग-लयोर्विषमगुणयो'—समगुणयोर्वा परस्पर बन्धो भवतीति फलितम्।

इसी प्रकार यावत् अनन्तगुण रूक्ष एकगुणाधिक होता है। इन सब सदृश पुद्गलो का परस्पर बन्ध नहीं होता इन के बन्ध न होने के विषय मे पूर्वोक्त युक्ति समान है—वही युक्ति यहा भी लागू होती है।

यहां भी जघन्यवर्ज इस कथन के अनुसार द्विगुण का त्रिगुण के साथ बन्ध नहीं होता त्रिगुण का चतुर्गुण के साथ बन्ध नहीं होता इत्यादि शेष विकल्पों की योजना स्वय कर लेना चाहिए। किन्तु पूर्वोक्त प्रकार से द्विगुण स्निग्ध का चतुर्गुण स्निग्ध के साथ बन्ध होता है त्रिगुण स्निग्ध पुद्गल का पचगुण स्निग्ध पुद्गल के साथ बन्ध होता है। इत्यादि रूप से आगे भी समझ लेना चाहिए। प्रज्ञापनासूत्र मे कहा है—

स्निग्ध पुद्गल का दो अश अधिक स्निग्ध पुद्गल के साथ और रूक्ष का दो अश अधिक रूक्ष पुद्गल के साथ बन्ध होता है। स्निग्ध पुद्गल का रूक्ष पुद्गल के साथ बन्ध होता है चाहे वे समगुण वाले हों चाहे विषम गुण वाले हो। इसमे अपवाद यही है कि जघन्य गुण वाले का बन्ध नहीं हो सकता।

इस गाथा के पूर्वार्ध मे प्रतिपादित किया गया है कि जब स्निग्ध या रूक्ष—सदृश पुद्गल हो तो दो अश अधिक आदि के साथ बन्ध होता है। इस प्रकार स्निग्ध का

अथ सहन्यमाना परमाणव' कि द्विप्रदेशादिकस्कन्धाकारेण परिणता भवन्ति ? आहोस्वित परिमण्डलादिपञ्चप्रकारकसंस्थानाकारेण परिणमन्त ? तत्र—यदि परमाणुषु स्पर्शादय परिणामा-व्यवस्थिता भवन्ति, तदा—तेषा तत्र सर्वदा व्यवस्थितत्वान्नोत्पादो, नापि—विनाश सम्भवति। उत्पाद—विनाशौ च विना स्निग्धगुण—रूक्षगुणपरमाणुपुद्गलयो परिणामाऽभावे तदवस्थयो कथं द्व्यणुकादिस्कन्धपरिणाम —?

स्कन्धेषु वा—स्पर्शादिशब्दादिपरिणामेषु एकस्यैव कस्यचित परिणामस्य नित्यत्वनष्टतया शेषस्पर्शादि शब्दादिपरिणामाऽभावापत्ति स्यात। यदि तु—परमाणुषु स्कन्धेषु वा स्पर्शादिपरिणामा अव्यवस्थिता सन्तीत्युच्यते, तदा—सर्वमिष्यमाणमुपपद्यते, पूर्वपरिणामत्यागेनोत्तरपरिणामान्त राभ्युपगमात। अन्ये स्पर्शादयो—ऽन्ये च स्पर्शादिशब्दादयो द्रव्य—क्षेत्र—काल—भावविशेषा भवन्तीति, यथा—परिणाम। वस्त्ववगम्येत। तथाच—कोऽत्र सिद्धान्त इति नाऽवगम्यते,

कथञ्चिदव्यवस्थितत्वपक्षाभ्युपगमेऽपि कि समगुण समगुणतयैव परिणमयति ? उताहो विषमगुणतयापि परिणमयति ? इतिचेदत्रोच्यते परमाणुषु—स्कन्धेषु वा स्पर्शादय स्पर्शादिशब्दा-

---

दो गुण अधिक स्निग्ध के साथ और रूक्ष का दो गुण अधिक रूक्ष के साथ बन्ध होना सिद्ध होता है। और इसी गाथा के उत्तरार्ध से यह फलित होता है कि जघन्य गुण से वर्जित स्निग्ध और रूक्ष पुद्गलो का, चाहे वे विषम गुण वाले या सम गुण वाले हो, परस्पर मे बन्ध हो जाता है।

प्रश्न—जब परमाणु आपस मे मिलते है तो क्या द्विप्रदेशी आदि स्कन्धो के आकार में परिणत होते है अथवा परिमडल आदि पाँच प्रकार के आकार मे परिणत होते है ? यदि परमाणुओं मे स्पर्श आदि परिणाम व्यवस्थित ही होते है या स्कधो मे स्पर्श आदि परिणाम व्यवस्थित होते है तो उनके वहाँ सदैव व्यवस्थित रहने के कारण न उत्पाद होगा, न विनाश होगा। जब उत्पाद और विनाश नहीं होगा तो स्निग्ध और रूक्ष गुण वाले परमाणुओ के परिणमन के अभाव मे कैसे द्व्यणुक आदि स्कन्ध परिणाम उत्पन्न होगा ?

स्पर्श आदि तथा शब्द परिणाम वाले स्कधो मे एक ही किसी परिणाम को नित्य रूप से अगीकार करने के कारण शेष स्पर्श आदि एव शब्द आदि परिणामो के अभाव की आपत्ति होगी।

यदि आप स्कन्धो मे स्पर्श आदि परिणामो को अव्यवस्थित कहते है तो सब ठीक है, क्योकि पूर्व परिणाम का त्याग होने पर उत्तर परिणाम को स्वीकार किया गया है। स्पर्श आदि भिन्न है और स्पर्श आदि शब्द आदि भिन्न है जो द्रव्य क्षेत्र काल और भाव सबंधी परिणाम विशेष होते है। इस प्रकार परिणाम के अनुसार वस्तु का ज्ञान हो जाएगा। तो इस विषय का सिद्धात क्या है, यह मालूम नहीं पडता।

दयश्च परिणामा अव्यवस्थिता अनवस्थिता एव भवन्ति परिणामित्वात्। तथाच—परमाणुपुद्गल स्कन्धो वा द्रव्यादिजातिस्वभावमपरित्यजन् स्पर्शान्तरादिगुण शब्दान्तरादिगुण प्रतिपद्यते स्पर्शादि-सामान्यमपरित्यजन्त परमाण्वादय पुद्गला. स्पर्शादिविशेषान प्राप्नुवन्ति।

तस्मादवस्थिताऽनवस्थितत्व स्पर्शादीनां वर्तते परिणन्तार खलु मरिचहिंग्वादय स्वशक्ति-पाटवशालिन सन्त' परिणतियोग्य वस्तु क्वथिततक्रादिस्वाद्वाद्याकारेण स्वात्मसात्कुर्वन्तो दृष्टि-गोचरा भवन्ति। केचित् पुन —दधिगुडप्रभृतय' पदार्था परिणमनशक्तिस्वभावतयाऽन्योन्यपरिणति हेतवो भवन्ति पूर्वेषामेकत परिणतिशक्तिर्भवति, पाटवातिशयात। तथाच—परिणामात् स्पर्शा-दिशब्दादयोऽनवस्थिता भवन्तीति सिद्धम्।

अथ परिणतिविशेषाद् गुणवत्त्वस्याऽनवस्थितत्वेऽपि बध्यमानयो परमाणुपुद्गलयोर्गुणवत्त्वे सति समगुणयोर्विषमयोर्वा द्विगुणस्निग्धस्य—द्विगुणरूक्षस्य वा, एव—द्विगुणस्निग्धस्य—चतुर्गुणरूक्षस्य वा कया रीत्या परिणामो भवति ? किं द्विगुणस्निग्ध पुद्गलो द्विगुणरूक्ष पुद्गल स्नेहात्मतया परि-णमयति ? उताहो—द्विगुणरूक्षः पुद्गलो द्विगुणस्निग्ध पुद्गल रूक्षात्मतया परिणमयति ?—

कथञ्चित् अव्यवस्थितत्व पक्ष को स्वीकार करने पर भी क्या समगुणवाला समगुण रूप से ही परिणत होता है ? या विषम गुण रूप से भी परिणत होता है ?

उत्तर- परमाणुओ मे अथवा स्कधो में स्पर्श आदि एवं शब्दादि परिणाम अवस्थित और अनवस्थित ही होते हैं, क्योकि वे परिणामी होते है। परमाणु पुद्गल या स्कध द्रव्य आदि जातिस्वभाव का परित्याग न करता हुआ दूसरे स्पर्श आदि गुण को या शब्दान्तर आदि गुण को प्राप्त होता है। परमाणु आदि पुद्गल स्पर्श आदि सामान्य को त्याग न करते हुए स्पर्श आदि विशेषो को प्राप्त होते है।

इस प्रकार स्पर्श आदि अवस्थित भी है और अनवस्थित भी है। मिर्च और हींग आदि, अपनी शक्ति की पटुता वाले होते हुए परिणाम योग्य वस्तु को सडे तक्र आदि या स्वादु आदि रूप से आत्मसात् करते हुए देखे जाते है। कोई—कोई दही या गुड आदि पदार्थ परिणमनशक्ति स्वभाव वाले होने से एक दूसरे के परिणमन के हेतु होते हैं। पटुता के अतिशय के कारण पूर्व वालों में परिणमन की शक्ति होती है। इस प्रकार यह सिद्ध है कि स्पर्श आदि तथा शब्द आदि अनवस्थित होते है, क्योंकि उनमें परिणमन होता है।

प्रश्न—परिणमन की विशेषता के कारण गुणवत्त्व अनवस्थित होने पर भी बद्ध होने वाले दो परमाणु पुद्गलो मे गुणवत्त्व होने पर दो समान गुण वाले अथवा विषमगुण वाले का द्विगुण स्निग्ध या द्विगुण-रूक्ष का, इसी प्रकार द्विगुण स्निग्ध और चतुर्गुण रूक्ष का परिणमन किस प्रकार होता है ? क्या दो गुण स्निग्धता वाला पुद्गल दो गुण रूक्ष पुद्गल को स्निग्ध रूपमें परिणत कर लेता है ? अथवा दो गुण रूक्ष पुद्गल दो गुण स्निग्ध पुद्गल को रूक्ष के रूप में

एवम्—किमेकगुणस्निग्ध पुद्गल एकगुणस्निग्ध पुद्गल स्वात्मसात्करोति ? इति चेत्सत्यम् सघट्टात्मके बन्धे सति तुल्यगुणस्य पुद्गलस्य तुल्यगुण पुद्गल परिणामको भवति अधिकगुण पुन पुद्गलो हीनगुणस्य पुद्गलस्य परिणामको भवति । तथाच—सघट्टलक्षणे परस्परबन्धे सति विस्रसाद्वारेण तुल्यगुणो द्विगुणस्निग्ध पुद्गल तुल्यगुणस्य तद्द्विगुणरूक्षस्य परिणामको भवति स्वगतेन स्नेहगुणेन रूक्षतागुण स्वात्मसात्करोतीति भाव ।

एव तुल्यगुणो द्विगुणरूक्ष पुद्गलो विस्रसाद्वारेण तुल्यगुण–तद् द्विगुणस्निग्धस्य कदाचित्परिणामको भवति, स्वगतेन रूक्षतागुणेन स्नेहगुणमात्मसात करोति इति भाव । गुणसाम्ये पुन –सदृशाना बन्धो न भवति, उपरितनौ तु —पुद्गलौ विसदृशौ वर्तेते एक पुद्गलो द्विगुणस्निग्धो अन्यस्तु द्विगुणरूक्ष इति भाव । स्नेहरूक्षत्वयोर्भिन्नजातीयतया सादृश्याभावात् ।

किन्तु—त्रिगुणस्निग्ध पुद्गलोऽधिकगुणत्वात् हीनगुणस्य—एकगुणस्निग्धस्य पुद्गलस्य परिणामको भवति तथाच—एकगुणस्निग्ध पुद्गलस्त्रिगुणस्निग्धतामासादयति कस्तूरिकांशपक्तविलेपनवत् एतावच्च बन्धजात समगुणयो विंषमगुणयोर्वाऽवगन्तव्यम् । एव—परिणाम्यत्वमप्याऽपि समगुणयो–र्विषम-

---

परिणत करता है ? इसी प्रकार एक गुण स्निग्ध पुद्गल एक गुण स्निग्ध पुद्गल को अपने रूप मे परिणत कर लेता है ।

उत्तर—बन्ध होने पर तुल्य गुण वाला पुद्गल तुल्य गुण वाले पुद्गल को अपने रूप मे परिणत करता है । और जो अधिक गुण वाला पुद्गल होता है वह हीन गुण वाले पुद्गल को अपने रूप में परिणत कर लेता है । अतएव सघट्ट रूप परस्पर बन्ध होने पर स्वभाव से तुल्य गुण वाला दो गुण स्निग्ध पुद्गल तुल्य गुण वाले दो गुण रूक्ष पुद्गल का परिणामक हो जाता है अर्थात् अपने रूप में परिणत कर लेता है । तात्पर्य यह है कि अपने अन्दर रहे हुए स्नेह गुण के द्वारा रूक्षता गुण को आत्मसात् कर लेता है ।

इसी प्रकार तुल्य गुण वाला द्विगुण रूक्ष पुद्गल स्वभाव से ही तुल्यगुण या उससे द्विगुण स्निग्ध पुद्गल को परिणत कर लेता है, अर्थात् अपने मे रहे हुए रूक्षता गुण से स्नेह गुण को आत्मसात् कर लेता है ।

गुणो की समानता होने पर सदृश पुद्गलो का बन्ध नहीं होता । ऊपर के पुद्गल विसदृश होते है अर्थात् एक पुद्गल द्विगुण स्निग्ध और दूसरा द्विगुण रूक्ष होता है । स्निग्धता और रूक्षता भिन्नजातीय होने के कारण उनमें सदृशता का अभाव है ।

किन्तु त्रिगुण स्निग्ध पुद्गल अधिक गुण वाला होने से एक गुण स्निग्ध पुद्गल को अपने स्वरूप मे परिणत करता है । उस अवस्था में एक गुण स्निग्ध पुद्गल त्रिगुण स्निग्ध बन जाता है, जैसे कस्तूरी के अश से युक्त विलेपन । यह समान गुण वालो का और विषम गुण वालो का बन्ध समझना चाहिए । इसी प्रकार सम गुण एव विषम गुण वालों का परिणम्यत्त्व भी जान लेना चाहिए ।

गुणयोर्वाऽवसेयम् । तथाच—अन्यमात्मसात् कुर्वन् परिणमति इति व्युत्पत्त्या परिणामक इति व्यपदिश्यते, परिणम्य गुणसख्या वा निरस्य स्वगुणसख्यामपरित्यजन् परिणमते इति परिणामको भवति ।

यद्वा—परिणमनं परिणामस्त करोति परिणामयति इति परिणामक स्वात्मरूपेणाऽन्यस्यापि परिणाम विधातीति सर्वमुपपन्नम् । अत्रेदं बोध्यम् स्निग्धगुण—रूक्षगुणपुद्गलानां परस्परसघट्टलक्षणो बन्ध सजायते, किन्तु जघन्य गुणाना स्निग्धाना रूक्षाणा वा पुद्गलाना बन्धो न भवति । यथा—एकगुणस्निग्धस्य पुद्गलस्य एक गुणस्निग्धेन द्वि—त्रि चतुरादि सख्येयाऽसख्येयाऽनन्तानन्तगुणास्निग्धेन च पुद्गलेन सह बन्धो न भवति ।

एव तस्यैव—एकगुणस्निग्धस्य पुद्गलस्य एकगुणरूक्षेण द्वि—त्रि—चतुरादिसख्येयाऽसख्येयाऽनन्तगुणरूक्षेण च पुद्गलेन सह बन्धो न भवति । एवम्—एकगुणरूक्षस्यापि पुद्गलस्य—एकगुणरूक्षेण द्वि—त्रि चतु' प्रभृतिसख्येयाऽसख्येयाऽनन्तगुणरूक्षेण च पुद्गलेन सह बन्धो न भवति । एवमेकगुणरूक्षस्य पुद्गलस्य एकगुणस्निग्धेन द्यादिसख्येयासख्येयाऽनन्तगुणस्निग्धेन च पुद्गलेन सह बन्धो न भवतीति भाव ।

गुणशब्दस्य नानार्थकत्वेऽपि प्रकृतेर्भागार्थ परिगृह्यते । एवञ्च—जघन्या निकृष्टा गुणाभागा' येषा परमाण्वादिपुद्गलानां ते जघन्यगुणा एकगुणस्निग्धरूक्षपरमाण्वादि पुद्गला उच्यन्ते

जो दूसरे को अपने रूप मे परिणत कर लेता है अर्थात् पलट लेता है वह परिणामक कहलाता है । या परिणत होने वाले पुद्गल की गुण सख्या को हटा कर अपनी गुणसख्या को नहीं त्यागता हुआ जो परिणत होता है, वह परिणामक कहलाता है ।

अथवा परिणमन या परिणाम को जो उत्पन्न करता है वह परिणामक कहलाता है । वह दूसरे को अपने स्वरूप में बदल लेता है ।

यहाँ यह समझ लेना चाहिए—स्निग्धता और रूक्षता गुण वाले पुद्गलो का परस्पर बन्ध होता है, किन्तु जघन्य गुण वाले स्निग्ध और रूक्ष पुद्गलों का बन्ध नहीं होता । जैसे—एक गुण स्निग्ध पुद्गल का एक गुण स्निग्ध के साथ तथा द्विगुण, त्रिगुण, चतुर्गुण यावत् सख्यात असख्यात और अनन्त गुण स्निग्ध पुद्गल के साथ बन्ध नहीं होता है ।

इसी प्रकार एक गुण स्निग्ध पुद्गल का एक गुण रूक्ष के साथ तथा दो तीन चार सख्यात असख्यात और अनन्त गुण वाले रूक्ष पुद्गल के साथ बन्ध नहीं होता है । इसी प्रकार एक गुण रूक्ष पुद्गल का एक गुण रूक्ष पुद्गल के साथ तथा दो तीन चार सख्यात असख्यात और अनन्त गुण वाले रूक्ष पुद्गल के साथ बन्ध नहीं होता । इसी प्रकार एक गुण रूक्ष पुद्गल का एक गुण स्निग्ध के साथ तथा दो आदि सख्यात असख्यात और अनन्त गुण वाले स्निग्ध पुद्गल के साथ बन्ध नहीं होता ।

गुण शब्द के अनेक अर्थ होते है, मगर यहाँ उसका 'भाग' अर्थ है । अतएव जिन परमाणु आदि पुद्गलों में जघन्य अर्थात् सब से कम गुण—भाग हो, वह जघन्यगुण कहलाता है । जिनमें

तेषा वन्धो न भवतीति फलितम् । एवमेव द्विभागस्निग्धाना पुद्गलाना द्विभागस्निग्धै पुद्गलै सह, त्रिभागस्निग्धाना त्रिभागस्निग्धै सह वन्धो न भवति ।

एव—यावदनन्तभागस्निग्धाना पुद्गलाना सदृशाना सदृशै पुद्गलैर्यावदनन्तपुद्गलै सदृश वन्धो न भवति । एव द्विभागरूक्षाण पुद्गलानां द्विभागरूक्षै सह त्रिभागरूक्षाणा त्रिभागरूक्षै पुद्गलै सह वन्धो न भवति । एव–यावदनन्तभागरूक्षाणा पुद्गलाना सदृशाना यावदनन्तभाग-रूक्ष सदृशै सह वन्धो न भवति । वैषम्ये तु—सदृशानामपि पुद्गलाना जघन्यवर्जिताना वन्धो भवत्येवेति निर्णय ॥२८॥

मूलसूत्रम्—"गुणपज्जायासयो दव्वं—॥२९॥

छाया—गुणपर्यायाश्रयो द्रव्यम् ॥२९॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्व यद्यपि उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् इति द्रव्यलक्षल प्रतिपादितम्, तथापि—किञ्चिद्विशेष प्रतिपादयितु प्रकारान्तरेण तल्लक्षणमाह—गुणपज्जायासयो दव्वं इति । गुणपर्यायाश्रयो द्रव्यम् इति । तत्र-गुण्यते विशिष्यते द्रव्यान्तरात्पृथक्क्रियते द्रव्य यैस्ते गुणा रूपा-दयो–ज्ञानादयश्च परित. समन्तात् स्वभाव–विभावरूपतया यन्ति–गच्छन्ति ये ते पर्याया । यथा-

---

एक गुण स्निग्धता या एक गुण रूक्षता होती है, वे परमाणु आदि पुद्गल जघन्यगुण वाले कहे जाते है । उनका वन्ध नहीं होता । इसी प्रकार द्विभाग स्निग्ध पुद्गलो का द्विभाग स्निग्ध पुद्गलो के साथ तथा त्रिभाग स्निग्ध पुद्गलो का त्रिभाग स्निग्ध पुद्गलो के साथ वन्ध नहीं होता । इसी प्रकार यावत् अनन्त भाग स्निग्ध सदृश पुद्गलो का अनन्त भाग सदृश पुद्गलों के साथ वन्ध नहीं होता ।

इसी तरह द्विभाग रूक्ष पुद्गलो का द्विभाग रूक्ष पुद्गलो के साथ, त्रिभागरूक्षो का त्रिभाग रूक्षो के साथ वन्ध नहीं होता । इसी प्रकार अनन्त भाग रूक्ष पुद्गलो का सदृश यावत् अनन्त रूक्ष पुद्गलो के साथ वन्ध नहीं होता । यदि गुण (भाग) की विषमता हो तो जघन्यगुण को·छोड कर सदृश पुद्गलो का भी बन्ध हो जाता है ॥२८॥

मूलसूत्रार्थ—"गुणपज्जायासयो दव्वं" सूत्र ॥२९॥

जो गुणो और पर्यायो का आश्रय हो वह द्रव्य कहलाताहै ॥२९॥

तत्त्वार्थदीपिका—पहले यद्यपि 'उत्पादव्यय ध्रौव्ययुक्तं सत्' यह द्रव्य का लक्षण कहा जा चुका है तथापि कुछ विशेष प्रतिपादन करने के लिए दूसरे प्रकार से द्रव्य का लक्षण कहते हैं—गुणो और पर्यायो का जो आश्रय है, वह द्रव्य कहलाता है ।

एक द्रव्य को दूसरे द्रव्यो से पृथक् करने वाले विशेष को 'गुण' कहते हैं । रूप आदि तथा ज्ञान आदि गुण हैं । जो स्वभाव और विभाग रूप से पलटते रहे, उन्हे पर्याय कहा है । जैसे

मृद्द्रव्यस्य घटकपाल–कपालिका–शरावोदञ्चनस्थासकोशादय जीवद्रव्यस्य च ज्ञान क्रोध–मान–माया–लोभादय । एव तीव्रो मन्द इत्येवमादय',

गुणाश्च–पर्यायाश्चेति गुणपर्याया तेषामाश्रय –आधार–स्तावद्द्रव्यमित्युच्यते । तथाचाऽन्वयिनो गुणा भवन्ति व्यतिरेकिणश्च–पर्याया उच्यन्ते, तदुभयैरुपेन द्रव्य भवति । तथाहि–जीवो ज्ञानादिभिर्गुणै' पुद्गलादिभ्यो द्रव्यान्तरेभ्यो विशिष्यते–पृथक्क्रियते । तस्माद् ज्ञानादयो जीवद्रव्यस्य गुणा उच्यन्ते तदाश्रयश्च जीवो द्रव्यमिति व्यपदिश्यते। एव–पुद्गलादयश्च–रूपरसगन्धस्पर्शादिभिर्गुणै' परस्परं द्रव्यान्तरेभ्यो विशिष्यन्ते पृथक्क्रियन्ते

अतो रूपादय' पुद्गलादीना गुणा उच्यन्ते, पुद्गलादयश्च–द्रव्याणि व्यपदिश्यन्ते । तथाचं सामान्यापेक्षयाऽन्वयिनो ज्ञानादयो जीवस्य गुणा. पुद्गलादीनाञ्च–रूपादयो गुणा यदि न स्युः तदा–जीवपुद्गलादीनां सर्वेषा द्रव्यत्वेनाऽविशेषात् सङ्करप्रसङ्ग स्यात् । एवम्––तेषाञ्च जीवपुद्गलादीनां विकाराविशेषात्मनाभिद्यमाना पर्याया भवन्ति, तेभ्यो गुणपर्यायेभ्य कथञ्चिद् अन्यत्वमापद्यमान समुदायो द्रव्यत्वेन व्यपदिश्यते इति भाव ॥२९॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः––पूर्वं तावद् धर्माधर्माकाशपुद्गलजीवा षड्द्रव्याणि सामान्यतया प्रतिपादितानि किन्तु––सामान्यतोऽभिधानमात्रादेव धर्मादीना द्रव्याणा विशेषस्वरूपपरिज्ञान न सम्भवति

घट कपाल, कपालिका, शराव (सिकोरा), उदचन स्थास, कोश आदि मृत्तिका द्रव्य के पर्याय है और ज्ञान, क्रोध मान माया लोभ आदि जीव द्रव्य के पर्याय है ।

इन गुणों और पर्यायो का जो आधार है , वही द्रव्य है । गुण और पर्याय का अन्तर यह है कि गुण अन्वयी और पर्याय व्यतिरेकी होते है ।

जीव अपने ज्ञान आदि गुणो के कारण पुद्गल आदि अन्य द्रव्यो से पृथक् है । इसी कारण ज्ञानादि जीव के गुणकहलाते है और उनका आश्रय जीव द्रव्य कहा जाता है । इसी प्रकार पुद्गल आदि द्रव्य अपने–अपने रूप रस गन्ध स्पर्श आदि गुणो के कारण जीवादि अन्य द्रव्यो से पृथक् किये जाते है। इस कारण रूप आदि पुद्गल आदि के गुण कहलाते है और पुद्गल आदि द्रव्य–कहजाते है। यदि जीव मे ज्ञानादि विशिष्ट गुण न होते और पुद्गल मे रूप आदि विशिष्ट गुण न होते तो जीव और पुद्गल आदि में द्रव्यत्व समान होने से कोई भेद न रहता–सभी द्रव्य एकमेक हो जाते। गुण यद्यपि द्रव्य की भाँती नित्य है परन्तु उनका पर्यायो में परिवर्तन होता रहता है । यह अवस्थापरिवर्तन पर्याय कहलाता है। इसप्रकार पर्याय जैसे द्रव्य के होते हैं वैसे ही गुण के भी होते हैं । इस प्रकार गुणो और पर्यायो का समूह, जो उनसे कथंचित् भिन्न है, द्रव्य कहलाता है ॥२९॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति––पहले धर्म अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव, इन छह द्रव्यों का सामान्य रूप से प्रतिपादन किया गया है, किन्तु सामान्य मात्र कथन से ही

तस्मात् तेषां द्रव्याणा स्वरूपज्ञानार्थमसाधारण विशेपलक्षणमाह—

'गुणपज्जायासयो दव्वं' इति । गुणपर्यायाश्रयो द्रव्यमित्युच्यते । तत्र—गुणास्तावद् रूपादयो ज्ञानादयश्च सख्येयाऽसख्येयाऽनन्तसख्यया सख्यायमानत्वाद् गुणपदव्यपदेश्या द्रव्यस्य परिणतिविशेषा. शक्तिविशेपा एव त एव क्रमेण सह भवन्त परित सर्वतोमुखत्वात पर्याया भेदा' पिण्ड—घट—कपालादय' उच्यन्ते । तथाच—व्यवहारनयापेक्षया । युगपदवस्थायिनो गुणा व्यपदिश्यन्ते अयुगपद्अवस्थायिन पर्याया व्यवह्रियन्ते ।

ततश्च—समभिरूढनयाभिप्रायेण इन्दन-शकन-पूर्दारणादयोऽर्थविशेषा' रूपादयश्च भावान्तरा भावभेदा इन्द्र-शक्र-पुरन्दररूपादिसज्ञान्तरप्रवृत्तौ निमित्तभृता अर्थभेदा सज्ञाभेदाश्च गुणपर्याया निमित्ता भवन्ति । एवञ्च—व्यवहारनिश्चयात्मकगुणशब्दाभिधेयपर्यायशब्दाऽभिधेयशालिद्रव्यमुच्यते ।

द्रव्य तावत्—स्थित्यशरूपं परिणामि भवति, उत्पादव्ययलक्षणा पुनर्गुणपर्याया परिणामा भवन्ति । एवञ्च—स्थित्यात्मकस्य द्रव्यस्य रूपादयो ज्ञानादय पिण्ड-घट-कपालादयश्च तद्भावलक्षणपरिणामा भवन्ति । न खलु कदाचिद् निष्परिणामं द्रव्य सन्तिष्ठते, तत्र द्रव्यत'—गुणपर्यायाणां विकाराणा कथञ्चिद् भेदोऽभेदश्च । नत्वेकान्तेन भेद ,अभेदो वा, यथा—कदाचित् परिणामि-परिणामयोर्भेदप्रधानाया व्यावहारिक्या माधाराधेयविवक्षाया स्थित्यशे परिणामिनि रूपादय पिण्डादयश्च परिणामा भेदान्तरकल्पनया भवन्ति ।

धर्म आदि द्रव्यो के विशेष स्वरूप का परिज्ञान नहीं हो सकता । अतएव उनके स्वरूप का ज्ञान कराने के लिए विशेष लक्षण कहते है ।

जो गुणो और पर्यायो का आधार हो वह द्रव्य है । रूप आदि और ज्ञान आदि गुण कहलाते है । सख्यात, असख्यात और अनन्त सख्या के द्वारा उनकी गणना की जाती है, इस कारण उन्हे गुण कहते है । द्रव्य की विशिष्ट अवस्था पर्याय कहलाती है । द्रव्य शाश्वत है, पर्याय का उत्पाद और विनाश होता रहता है । मृत्तिका को यदि द्रव्य मान लिया जाय तो घट, कपाल आदि उसके पर्याय है । व्यवहारनय की अपेक्षा गुण सहभावी और पर्याय क्रमभावी होते है ।

समभिरूढ नय की अपेक्षा से इन्दन—शकन और पूर्दाहादि (नगर का विध्वस) आदि अर्थ विशेष और रूप आदि भावान्तर भावभेद इन्द्र, शक्र, पुरन्दर आदि सज्ञा की प्रवृत्ति में निमित्तभूत अर्थभेद और सज्ञाभेद गुण—पर्याय के निमित्त से होते है । इस प्रकार जो गुणों और पर्यायो से युक्त हो अर्थात् गुण—पर्यायमय हो, वही द्रव्य कहलाता है ।

द्रव्य ध्रौव्य—अश है और परिणामी है, पर्याय उत्पाद और व्यय रूप होते है । वे परिणाम है । गुण द्रव्य का अश कहलाता है । इस प्रकार स्थितिरूप द्रव्य के रूप आदि और ज्ञानादि तथा पिण्ड, घट, कपाल आदि गुण और पर्याय है । कोई भी द्रव्य कभी भी परिणामरहित नहीं होता । गुण और पर्याय द्रव्य से कथचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न

एवमात्मनि चैतन्य भवति तदाहि—आत्मा पुनर्ज्ञानाद्याकारेण परिणममानो भेदेऽप्यसति भेदेन व्यवह्रियते—"आत्मनि चैतन्यमिति । एव तदेव पुद्गलद्रव्य स्वरूपमपरित्यजत् समासादिततत्तद्गुणविशेषरूपादि—घटादिव्यवहारे हेतुर्भवतीति कथञ्चिद्भेदाऽभेदस्वरूपगुणपर्यायवद् द्रव्यमुच्यते । एवं—धर्माधर्माकाशकालजीवद्रव्याण्यपि गुणपर्यायवत्तया उपर्युक्तरीत्या भावनीयानि ।

द्रव्य तावत् सहभाविना—क्रमभाविनाञ्च गुणपर्यायाणां भव्य योग्य भवति । तत्रचा—ऽगुरुलघुरूपादयो गुणा सह भाविनो भवन्ति, पर्यायाश्च—पिण्डघटकपालादय क्रमभाविनोऽवगन्तव्या । एव- गतिस्थित्यवगाहज्ञानदर्शननारकप्रभृतयो गुणपर्याया पूर्वोक्तरीत्यैव तेषां यथायोग्य भावनीया इति । उक्तञ्चोत्तराध्ययने २८ अध्ययने ६ गाथायाम्—

"गुणाण मासओ दव्वं एगदव्वस्सिया गुणा ।
लक्खणं पज्जवाणं तु उभओ अस्सिया भवे—" ॥१॥
"गुणानामाश्रयो द्रव्यम् एकद्रव्यश्रिता गुणाः ।
लक्षणं पर्यवाणान्तु उभयोराश्रिता भवेयुः—" ॥१॥ इति ॥२९॥

है, न एकान्त भिन्न है और न एकान्त अभिन्न है । फिर भी कभी—कभी द्रव्य से गुण—पर्याय के भेद की विवक्षा की जाती है ।

इस भेदविवक्षा के अनुसार ही कहा जाता है कि—आत्मा मे चैतन्य है । आत्मा ज्ञानादि रूप मे स्वय परिणत होता है, अतएव चैतन्य और आत्मा मे भेद: न होने पर भी आत्मा में चैतन्य है इस प्रकार भेद रूप से व्यवहार होता है । वही पुद्गल द्रव्य अपने स्वरूप का परित्याग न करता हुआ विशेष—विशेष रूप आदि और घट आदि के व्यवहार में कारण बनता है । इस प्रकार कथचित् भिन्न और अभिन्न गुण एव पर्याय वाला द्रव्य कहलाता है । धर्म, अधर्म, आकाश, काल और जीव द्रव्यो के विषय में भी यही समझना चाहिए कि वे भी गुण और पर्याय वाले है ।

द्रव्य सहभावी गुणो और क्रमभावी पर्यायो के योग्य होता है । इनमे अगुरुलघुत्व तथा रूप आदि गुण सहभावी है और पिण्ड, घट, कपाल आदि पर्याय क्रमभावी है । इसी प्रकार धर्मास्तिकाय मे गति हेतुत्व, अधर्मास्तिकाय में स्थितिहेतुत्व, आकाश मे अवगाहहेतुत्व, जीव में ज्ञान—दर्शन आदि गुण तथा नारक आदि पर्यायो का यथायोग्य पूर्वोक्त प्रकार से विचार कर लेना चाहिए ।

उत्तराध्ययन सूत्र के २८ वे अध्ययन की ६ ठी गाथा मे कहा है—

जो गुणो का आधार हो, वह द्रव्य कहलाता है । जो सिर्फ द्रव्य में आश्रित हो वे गुण है । किन्तु पर्यायों का लक्षण दोनो के आश्रित होता है । तात्पर्य यह है कि गुण और पर्याय दोनो ही द्रव्य के अग है, किन्तु दोनो मे अन्तर यह है कि गुण सिर्फ द्रव्य मे रहता है और पर्याय द्रव्यो तथा गुणो दोनो के आश्रित होता है । जैसे जीव द्रव्य है, 'चैतन्य उसका

मूलसूत्रम्—दव्वस्सिया निग्गुणा गुणा–" ॥३०॥

छाया—'द्रव्याश्रिता निर्गुणा गुणाः—" ॥१॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे गुणपर्यायाश्रयो द्रव्यमित्युक्तम, तत्र- क तावद् गुणा इत्याकाङ्क्षायामाह "दव्वस्सिया निग्गुणा गुणा–"इति। द्रव्याश्रिताः द्रव्यम् आश्रिताः द्रव्याश्रिता निर्गुणा'- गुणेभ्यो निष्क्रान्ता निर्गता गुणरहिताश्च गुणा व्यपदिश्यन्ते । तत्र–निर्गुणा इतिकथनेन द्व्यणुकादिपुद्गलस्कन्धद्रव्याणा व्यावृत्तिर्भवति.

तदकथने–द्व्यणुकादीना परमाण्वादिद्रव्याश्रितत्वेन गुणत्वापत्ति स्यात । निर्गुत्वविशेषणत्वे तु–तेषा द्व्यणुकादीना रूपादिगुणवत्त्वेन निर्गुणत्वाऽभावात नातिव्याप्तिस्तेपु । तथाच–द्रव्याश्रितत्वे-सति निर्गुणत्वे सति गुणत्व गुणाना लक्षण पर्यवसितम्, क्रियाया द्रव्याश्रितत्वनिर्गुणत्वयो सत्त्वे-ऽपि गुणत्वाभावान्न तत्रातिव्याप्तिरिति भाव ॥३०॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं गुणपर्यायपरिणामिद्रव्यमित्युक्तम्, तत्र–कीदृशा खलु गुणा भवन्ति यैस्तद्द्रव्य गुणवदिति व्यपदिश्यते ' इति जिज्ञासायामुच्यते–"दव्वस्सिया निग्गुणा गुणा–"

गुण है । मनुष्य, पशु, पक्षी आदि जीव द्रव्य के पर्याय हैं । और मतिज्ञान आदि चैतन्य गुण के पर्याय हैं । इस प्रकार जो द्रव्य के आश्रित हो वह गुण और जो द्रव्य तथा गुण दोनो के आश्रित हो उसे पर्याय कहते है ॥२९॥

मूलसूत्रार्थ—"दव्वस्सिया निग्गुणा' इत्यादि–सूत्र ॥३०॥

जो द्रव्य के आश्रित हो, स्वयं निर्गुण हो, वे गुण है ॥३०॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्र मे कहा गया है कि गुण और पर्याय का आश्रय द्रव्य कहलाता है, मगर गुण किसे कहते है ' इस प्रकार की जिज्ञासा होने पर उसका समाधान करते है—

जो द्रव्य मे रहते हो और गुणो से रहित हो, वे गुण कहलाते है । यहाँ 'निर्गुणा' ऐसा कहने से द्व्यणुक आदि पुद्गलस्कन्धो की व्यावृत्ति हो जाती है । अगर निर्गुण विशेषण का प्रयोग न किया होता तो द्व्यणुक आदि परमाणु द्रव्यो के आश्रित होने से गुण कहलाने लगते । किन्तु द्व्यणुक आदि मे रूपादि गुणो का अस्तित्व है, वे निर्गुण नहीं है, अतएव गुण का उक्त लक्षण उनमें घटित नहीं होता । इस कारण लक्षण मे अतिव्याप्ति दोष भी नहीं आता है । इससे यह फलित हुआ कि जो द्रव्य के आश्रित हो, स्वय निर्गुण हो और जिसमे गुणत्व पाया जाय वही गुण है । क्रिया यद्यपि द्रव्याश्रित होती है, निर्गुण भी होती है मगर उसमे गुणत्व का अभाव होने से अतिव्याप्ति दोष नहीं आता ॥३०॥

तत्वार्थनिर्युक्ति—पहले कहा जा चुका है कि द्रव्य, गुण और पर्याय का आधार होता है, किन्तु गुण कैसे होते है, जिनके कारण द्रव्य गुणवान् कहा जाता है ' इस प्रकार की जिज्ञासा का समाधान करने के लिए कहा गया है—

इति । द्रव्याश्रिता' निर्गुणा गुणा इति, द्रव्यमाश्रिता, द्रव्यपरिणामा इत्यर्थ । द्रव्यवर्तिन, निर्गुणा'–गुणेभ्यो निष्क्रान्ता निर्गताइति निर्गुणा, गुणशून्याश्च गुणा भवन्तीति भाव' । एवञ्च–स्थित्यशो ध्रौव्यरूपं द्रव्यम् आश्रय –परिणामिकारण येषां परिणामविशेषणा गुणाना ते द्रव्याश्रिता गुणरहिताश्च गुणा व्यपदिश्यन्ते ।

तत्र–द्रव्यस्य गुणानाञ्च परस्परं परिणामि–परिणामभावलक्षणआश्रयाश्रयिभावोऽत्र विविक्षित तत्र–परिणामिद्रव्यम्, परिणामा गुणा, नत्वाधाराधेयभावलक्षण आश्रयाश्रयिभाव । कुण्ड-बदरादिवत् द्रव्यगुणानामेकान्ततो भिन्नत्वाभावेनाऽऽधाराधेयभावानुपपत्ते, नापि–द्रव्यगुणानां पराभिमतसमवाय लक्षण. सम्बन्धोपि युक्त ।

तेषा समवायसम्बन्धाभ्युपगमे समवायस्य गुणानाञ्च कश्चित्सम्बन्ध स्वीकर्तव्य' । तत्र-यदि–अपर समवाय एव सम्बन्ध कल्प्यते, तदा–तस्यापि अपरेण समवायेन भवितव्यमित्यनवस्थादोष समापतति । यदि पुन सम्बन्धान्तरमभ्युपगम्यते, तदाऽऽगमविरोधापत्ति । तथाहि—समवायिनो द्रव्यगुणयोर्यदि समवायाख्य सम्बन्धो वर्तते, तदा–स समवाय किं सयोग-वृत्त्या–समवायवृत्त्या वा वर्तेत ? तत्र–न तावत् सयोगवृत्त्या वक्तु शक्यते, अद्रव्यत्वाद् गुणानाम् द्रव्यविषय एव सयोगोऽभ्युपगत, नतु–द्रव्यगुणविषयोऽपि । यदिच–समवायवृत्त्या तत्र–समवाय

जो द्रव्य के आश्रित हो और स्वय निर्गुण हो, उन्हे गुण कहते है । जो द्रव्य के आश्रित हों अर्थात् द्रव्य के परिणाम हो या द्रव्यवर्त्ती हो, गुणो से रहित हो–निर्गुण–गुणशून्य हो वे गुण कहलाते हैं ।

यहाँ द्रव्य और गुणों का जो आश्रय–आश्रयिभाव कहा गया है वह परिणामि–परिणामाभाव समझना चाहिए । द्रव्य परिणामी है और गुण परिणाम है । आधाराधेय भाव यहाँ विवक्षित नहीं है, क्योकि जैसे कूडा और बोर–दोनो की सत्ता पृथक् पृथक् है, उस तरह द्रव्य और गुण भिन्न–भिन्न नहीं है । अतएव द्रव्य को आधार और गुण को आधेय नहीं कहा जा सकता ।

अन्य मतानुयायियो ने द्रव्य और गुण में समवाय सबंध का स्वीकार किया है, वह भी ठीक नहीं है । यदि गुणो का द्रव्य के साथ समवाय सबध माना जाय तो समवाय और गुणो मे भी कोई सबध मानना पड़ेगा । उस समवाय का भी फिर दूसरा समवाय सबन्ध माना जाय तो अनवस्था दोष आता है । दूसरा समवाय मानने मे आगम से विरोध आता है ।

समवायी द्रव्य और गुण में यदि समवाय नामक सबध है तो वह समवाय किस सम्बन्ध से उनमें रहता है–सयोग सबध से अथवा समवाय सबध से ? सयोग संबंध तो माना नहीं जा सकता क्योंकि सयोग दो द्रव्यो का ही होता है । यहाँ गुण द्रव्यरूप नहीं है । अगर समवाय समवाय, सबध से रहता है तो यह दूसरा समवाय भी तीसरे सम-

उच्यते, तदा–तस्यापि समवायस्य समवायान्तरेण वृत्तित्वम्, तद्घटकसमवायस्यापि पुनः–समवायान्तरेण वृत्तित्वमित्येवमनवस्थापातः ।

यदि तु–अनाश्रित एवासौ समवायः स्वतन्त्रः सम्बन्धो भवति, तदा–द्रव्यगुणयोः कयाचिद्-वृत्त्याऽनाश्रित एव समवाय इति न द्रव्यं गुणैः सम्बद्धं समवायेन सम्भवति, तस्य समवायस्य घट पटादिवद् द्रव्यगुणयोरनाश्रितत्वात् घटपटयोः खलु न परस्परं समवायलक्षणः सम्बन्धः सम्भवति, तस्मात् स्थित्यंशलक्षणं द्रव्यं गुणपर्यायवृत्त्या परिणमते, गुणपर्यायाश्च–परिणामविशेषा भवन्ति । ते चापि परिणामविशेषा गुणा निर्गुणा भवन्ति । शुक्लादिरूपादीनां–घटकपालादीनाञ्च गुणपर्यायाणां नाऽन्ये गुणपर्याया सन्ति, अपितु–परिणामिनो द्रव्यस्यैव शुक्लादिरूपादिगुणपरिणाम–पिण्डघटकपालसंस्थानादिपर्यायपरिणामश्च भवति । न खलु तस्यैव शुक्लादिरूपादेरन्ये शुक्लादि–रूपादयो गुणा परिणामा, नापि कुम्भादिसंस्थानस्याऽन्ये संस्थानादयः पर्यायाः परिणामा भवन्ति ।

तस्मात्–गुणा निर्गुणा उच्यन्ते । पर्यायाश्च–गुणेभ्य एकान्तेन नातिरिच्यन्ते, गुणपर्यायाणां परस्परं कथञ्चिदैक्याऽभ्युपगमात् ।

"अत्रेदं बोध्यम्—द्रव्यं तावद् भव्यं योग्यं युगपद्भाविन्या शुक्लादि–रूपादि–ज्ञाना-

---

वाय से रहेगा और तीसरे समवाय के लिए पुनः चौथे समवाय की आवश्यकता होगी इस प्रकारक की स्थिति मे अनवस्था दोष आता है ।

अगर समवाय सम्बन्ध आश्रित हुए बिना स्वतंत्र ही रहता है तो फिर द्रव्य मे गुणों के रहने के लिए भी समवाय की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए । तब तो यह भी नहीं मानना चाहिए कि द्रव्य समवाय सबंध के द्वारा गुणों के साथ सम्बद्ध है, क्योकि आपके कथनानुसार घट और पट की समान समवाय द्रव्य और गुण मे आश्रित नहीं है । घट और पट में समवाय संबंध का संभव नहीं है । अतएव तथ्य यह है कि, स्थितिअंश रूप द्रव्य गुणो और पर्यायों के रूप मे परिणत होता रहता है । गुण पर्याय उसके परिणमन विशेष है । उनमें जो गुण रूप परिणाम है, वह निर्गुण है अर्थात् गुण मे गुण नहीं होता ।

शुक्ल आदि रूप आदि तथा घट कपाल आदि गुणो और पर्यायों के अन्य कोई गुण–पर्याय नहीं होते । किन्तु परिणामी द्रव्य का ही शुक्ल आदि रूप आदि गुण परिणाम होता है और पिण्ड घट कपाल संस्थान आदि पर्यायपरिणाम होता है । उस शुक्ल आदि रूप आदि गुण रूप आदि के दूसरे कोई शुक्ल आदि नहीं होते और न घट आदि संस्थान (आकार) के अन्य कोई संस्थान आदि पर्याय होते हैं ।

इस कारण गुण निर्गुण होते है । पर्याय गुणो से एकान्त भिन्न नहीं हैं, क्योंकि गुणो और पर्यायों की कथंचित् एकता स्वीकार की गई है ।

यहाँ यह समझ लेना चाहिए की द्रव्य–युगपद् भाविनी शुक्ल आदि रूप आदि ज्ञान

दिगुणपरिणते' अयुगपद्भाविन्या पिण्डघटकपालादिपर्यायपरिणतेश्च परिणामिस्थित्यंगलक्षणमाश्रयो भवति। उत्पादव्ययस्वरूपाणा रूप–रस–गन्ध–स्पर्शादिलक्षणाना ज्ञानदर्शनादिलक्षणानां गुणाना घटस्थासकोशादिलक्षणपर्यायाणाञ्च परिणामविशेषाणा सामान्य परिणामिद्रव्यमाश्रयो वर्तते–––

द्रव्यमेव सामान्यात्मक रूपरसादिज्ञानादिगुणतया–पिण्डघटादिपर्यायादितया च परिणमते, पुनस्तेनाकारेण निवर्तते–द्रव्यतया व्यवस्थितञ्च भवति। परिणाम–परिणामिनोर्द्रव्यार्थिक–नयद्वयापेक्षया कथञ्चिदभिन्नत्व कथञ्चिद् भिन्नत्वञ्चाऽवगन्तव्यम्। तथा चैषां शुक्लादिरूपादिज्ञानादिगुणानां केचन नाऽन्ये गुणा सन्तीति ते निर्गुणा' इति व्यपदेशस्तावद् गुणगुणिनो र्भेदे सति सम्भवति।

स च भेद' कथञ्चिदभ्युपगम्यते–नत्वेकान्तेन, सर्वस्य वस्तुनो भेदाऽभेदस्वरूपत्वात्। यदा पुनर्द्रव्यमेव तथा परिणत भवति–शुक्लादिरूपरसाद्यात्मना, ज्ञानदर्शनाद्यात्मना च, तदा–द्रव्यस्य तादात्म्येन गुणानां स्वरूपं भिन्न नाऽस्तीति कथञ्चित्तयोरभिन्नत्व भवति।

तथा च–––केवलद्रव्यार्थिकनयमपेक्ष्याऽनन्यत्वमेव द्रव्याद्गुणानां निर्गुणत्व व्यपदिश्यते। पर्यायार्थिकनयापेक्षया तु–गुणप्रधानत्वात् कथञ्चिद् द्रव्याद् गुणाना भिन्नत्वमपि व्यपदिश्यते। अथ द्रव्यार्थिकनयपक्षे गुणा एव न सन्तीति कुतोऽनन्यत्व भवेदिति चेदत्रोच्यते, तत्पक्षेऽपि–गुणा

आदि गुणपरिणति के तथा क्रमभाविनी पिण्ड घट- कपाल आदि पर्याय परिणति के योग्य होता है। वह परिणामी और ध्रुव–अंश रूप है, आश्रय है। उत्पाद और व्यय स्वरूप रूप रस गध स्पर्श तथा ज्ञान दर्शन आदि रूप गुणो का एव घट स्थास कोश आदि रूप पर्यायो का आश्रय द्रव्य है।

द्रव्य ही सामान्यात्मक रूप रस आदि एवं ज्ञानादि गुणो के रूप में तथ्य पिण्ड घट आदि पर्यायो के रूप में परिणमन करता है, फिर उन–उन आकारो से निवृत्त होता है और द्रव्य रूप से अवस्थित रहता है। परिणाम और परिणामी में द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा कथचित् अभिन्नता और कथचित् भिन्नता जानना चाहिए। इन शुक्ल आदि रूप आदि तथा ज्ञान आदि गुणो के अन्य कोई गुण नहीं है, अतएव वे निर्गुण हैं, इस प्रकार का कथन तभी सभव हो सकता है जब गुण और गुणी मे भेद माना जाय।

वह भेद कथचित् ही स्वीकार किया जाता है, एकान्त रूप से नहीं, क्योकि सभी वस्तुएँ भेद और अभेद रूप है। जब द्रव्य ही शुक्ल रस आदि के रूप मे या ज्ञान दर्शन आदि के रूप में परिणत होता है तो द्रव्य के साथ तादात्म्य सबध होने के कारण गुण द्रव्य से भिन्न नहीं हो सकते। इस प्रकार उनमे कथचित् अभिन्नता है। यह अभिन्नता केवल द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से ही समझना चाहिए और गुणों को निर्गुण समझना चाहिए।

पर्यायार्थिक नय से गुणों की प्रधानता होने के कारण द्रव्य से गुण कथचित् भिन्न भी हैं।

सन्त्येव, किन्तु--द्रव्यादव्यतिरिच्यमान स्वरूपा एव गुणा भवन्ति । तथाच--यदि द्रव्य शुक्लाद्याकारेण परिणत भवति, तदा-नीलाद्याकारपरिणामो न भवति । तस्मात्-निर्गुत्व तेषा स्पष्टमेव भवतीति भाव ।

उक्तञ्चोत्तराध्ययनसूत्रे २८ अध्ययने ६ गाथायाम्---"दव्वस्सिया गुणा-" इति, द्रव्याश्रिता गुणा इति । द्रव्याश्रिता इति निर्गुणानामप्युपलक्षणमित्यवगन्तव्यमिति भाव ॥३०॥

मूलसूत्रम्---"तब्भावो परिणामो-" ॥३१॥

छाया---"तद्भावः परिणामः--"

तत्त्वार्थदीपिका---"पूर्वं बहुतर परिणामस्य विचार कृत तत्र--कस्तावत् । परिणामपदार्थ इत्याकाङ्क्षायामाह --"**तब्भावो परिणामो-**" इति, तद्भाव परिणाम धर्माधर्माकाशादीनि द्रव्याणि येन स्वरूपेण भवन्ति । तस्य स्वरूपस्य भवन तद्भाव --तत्स्वरूपप्राप्ति परिणाम इति व्यपदिश्यते । स च-परिणामो द्विविध, अनादि --सादिश्च ।

तत्र--धर्माधर्माकाशादीना द्रव्याणा गत्युपग्रहस्थित्युपग्रहाऽवगाहोपग्रहादय सामान्यापेक्षया-

---

शका---द्रव्यार्थिक नय के मत से गुणो का अस्तित्व ही नहीं है तो अभिन्नता कैसे मानी जा सकती है ?

समाधान---द्रव्यार्थिकनय के मत से भी गुणो का अस्तित्व तो है मगर वे द्रव्य से भिन्न है ।

द्रव्य जब शुक्ल रूप में परिणत होता है तब उसमे नीलाकार आदि परणमन नहीं होता, अतएव गुणो की निर्गुणता स्पष्ट ही है ।

जैसे द्रव्य मे गुण रहता है वैसे गुण मे गुण नहीं रहता । शख मे शुक्लता गुण है मगर उस शुक्लता मे पुन शुक्लता नहीं रहती--वह स्वयं शुक्लता स्वरूप ही है ।

उत्तराध्ययन सूत्र के २८ वे अध्ययन की ६ ठी गाथा में कहा है---'गुण द्रव्यो के आश्रित होते है' यहाँ द्रव्य के आश्रित कहने से उपलक्षण से गुणो को निर्गुण भी समझ लेना चाहिए ॥३०॥

मूलसूत्रार्थ---"तब्भावो परिणामो" सूत्र ॥३१॥

धर्म आदि द्रव्यो का अपने--अपने स्वरूप मे होना ही परिणाम कहलाता है ॥३१॥

तत्त्वार्थदीपिका---पहले परिणाम का अनेक स्थलो पर उल्लेख किया गया है, मगर परिणाम का अर्थ क्या है ? इस प्रकार की जिज्ञासा होने पर कहते है---

धर्म, अधर्म, आकाश आदि द्रव्य जिस स्वरूप से होते है उस स्वरूप का होना अर्थात् स्वरूप की प्राप्ति परिणाम है । वह परिणाम दो प्रकार का है--अनादि और सादि ।

धर्म, अधर्म और आकाश आदि द्रव्यो का गति--उपग्रह, स्थिति--उपग्रह और अवगाह--उपग्रह आदि सामान्य रूप से अनादि परिणाम कहलाता है । वही परिणाम विशेष की अपेक्षा से

ऽनादि परिणाम उच्यते। विशेपापेक्षया पुन सपरिणाम सादिरित्युच्यते। यथा मृत्तिकाद्रव्यस्य–पिण्डघटकपालकपालिकास्थासकोशशरावोदञ्चनादय परिणामा भवन्तीति ॥३१॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वमसकृत्परिणामः प्रतिपादित यथा–समगुण समगुणस्य परिणाम विद्यते, अधिकगुणो हीनगुणस्य परिणाममासादयतीत्यादि। तत्र–क खलु परिणामपदार्थ ? किं धर्माधर्मादीनि द्रव्याणि अर्थान्तरभूतं परिणाम जनयन्ति ? आहोस्वित्–त एव द्रव्यविशेषा धर्माधर्माकाशकालपुद्गला अजीवा-जीवाश्च स्वरूपमपरित्यजन्त एव किमपि वैशिष्ट्य प्रतिपाद्यमानास्तथा तथा भवन्तीति सन्देहं निराकर्त्तुं परिणाम प्ररूपयति—"**तब्भावो परिणामो–**" इति।

तद्भाव' परिणाम, तस्य–धर्माधर्मादिद्रव्यषट्कस्य तेन तेनाकारेण गति–स्थित्यवगाहपरत्वापरत्वशरीरादिज्ञानादिना भवनमात्मलाभो भाव तत्तद्रूपप्राप्ति परिणाम इत्युच्यते। तान्येव खलु धर्मादिद्रव्याणि तथा–तथा ऽऽकारेण भवन्ति–परिणमन्ति, न तु–कूटस्थानि अचलरूपेणाऽवतिष्ठन्ते, नापि–सर्वथोत्पद्यन्ते, नो वा–सर्वथोच्छिद्यन्ते।

तथाच–धर्मादिद्रव्याणा स्वस्वावस्थान्तरापत्ति परिणाम तत्र धर्मद्रव्य तावत् पुद्गलजीवादि द्रव्याणां जलचराणां जलमिव गत्युपग्रहकारकलोकाकाशव्यापि च वर्तते। एवम्–अधर्मद्रव्यं पुद्गलादीनां पान्थानां छायेव स्थित्युपग्रहकारक लोकाकाशव्यापि च वर्तते इति धर्माधर्मादीनां षण्णा द्रव्याणां स्वभाव' स्वतत्त्व–परिणामः।

सादि होता है, जैसे मृत्तिका द्रव्य के पिण्ड, घट, कपाल, कपालिका, स्थास, कोश, शराव और उदचन आदि परिणाम ॥३१॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पूर्व में अनेक वार परिणाम का जिक्र किया गया है, जैसे समगुण समगुण वाले के परिणाम को धारण करता है, और अधिक गुणो वाला पुद्गल हीन गुण वाले पुद्गल को अपने रूप मे परिणत कर लेता है, इत्यादि। तो परिणाम शब्द का अर्थ क्या है ? क्या धर्मास्तिकाय तथा अधर्मास्तिकाय आदि द्रव्य अर्थान्तर भूत परिणाम को उत्पन्न करते है ? अथवा वे द्रव्य अपने स्वरूप का परित्याग न करते हुए ही कीसी न किसी विशिष्टता को प्राप्त हो कर परिणत होते रहते है ? इस सन्देह का निवारण करने के लिये परिणाम शब्द की व्याख्या की जाती है

धर्म अधर्म आदि छहो द्रव्यों का उस–उस आकार से अर्थात् गतिसहायकत्व, स्थितिसहायकत्व, अवगाहसहायकत्व, परत्व, अपरत्व, शरीर आदि तथा ज्ञानादि रूप से होना–आत्मलाभ–भाव ही परिणाम कहलाता है। धर्म आदि द्रव्य ही विभिन्न आकारों मे परिणत होते रहते है, वे अचल या कूटस्थनित्य नहीं है। न तो उनका सर्वथा उत्पाद होताहै और न सर्वथा विनाश ही।

इस प्रकार धर्म आदि द्रव्यो की एक अवस्था से दूसरी अवस्था की प्राप्ति होना परिणाम है। उनमे धर्म द्रव्य जीवो और पुद्गलों की गति मे उसी प्रकार सहायक होता है जैसे जल जलचरजीवों की गति मे सहायक होता है। अधर्मद्रव्य उनकी स्थिति में निमित्त होता

परिणामशब्दस्य वाच्यार्थस्तु—परिशब्दस्य व्याप्तिरर्थ, यथा—गुणेन परीत गुणेन व्याप्त इत्युच्यते, नम् धातो. प्रह्वत्व—नम्रीभाव, ऋजुत्वम् अवस्थान्तरप्राप्ति, परितो नमनम्—सर्वत्राऽनुवर्त्तनम् परिणाम । यथा—मृद्द्रव्यस्य सर्वत्र पिण्डघटकपालादिष्वनुवर्तन दृश्यते, सुवर्णस्य च द्रव्यस्य कटककुण्डलवलयरुचकादिषु सर्वत्रवानुवर्तन प्रत्यक्षतया प्रसिद्धम् ।

एवमेव—घटादिककुण्डलादिक मृदा—सुवर्णेन द्रव्येण व्याप्तञ्च भवति । एव धर्मादिद्रव्य स्वस्वरूपमपरित्यजदेव सर्वत्रैव गतिस्थित्यादिषु अनुवर्तते, इति सामान्यरूप परिणामो भवति, अनुवृत्तिरूपत्वात् । सकलद्रव्यस्थित्यशसामान्येनो—त्पादोव्ययश्च व्याप्तो भवति, नहि—कस्यापि उत्पादो व्ययो वा स्थित्यशसामान्येनाऽव्याप्तो भवति, द्रव्य द्रव्य परितो नमन परिणाम. । तथाच—धर्मद्रव्यस्यैव स्वतत्त्व निजमवस्थानान्तर परिणाम, नतु-अधर्मद्रव्यादेरवस्थान्तर धर्मद्रव्यस्य परिणाम सम्भवति । एवमधर्मद्रव्यस्य स्वतत्त्वम्—निजमवस्थान्तर परिणाम, न तु-धर्माकाशादेरवस्थान्तरम् अधर्मद्रव्यस्य परिणाम सम्भवति । एवमाकाशादिद्रव्याणामपि स्वस्वावस्थान्तरापत्ति. परिणामोऽवसेय ।

धर्मस्तावत्स्वस्वरूपमपरित्यजन्नेव गमनकर्तुर्गत्युपग्रहाकारेण परिणतो भवति अधर्म पुन —

है, जैसे पथिको के ठहराने मे छाया सहायक हो जाती है । ये दोनो द्रव्य समस्त लोकाकाश मे व्याप्त है । इसी प्रकार छहो द्रव्यों का जो स्वभाव है, स्वरूप है, वही परिणाम कहलाता है ।

परिणाम शब्द का वाच्यार्थ इस प्रकार है—परिणाम यहाँ परि शब्द का अर्थ है व्याप्ति, जैसे गुण से परिणत का मतलब होता है—गुण से व्याप्त नम् धातु का अर्थ है—नम्रीभाव ऋजुता या अवस्थान्तर की प्राप्ति । दोनो शब्दाशो का आशय निकला—सर्वत्र अनुवर्त्तन करना । यही परिणाभ शब्द का अर्थ है । जैसे मृत्तिका का पिण्ड घट कपाल आदि सभी अवस्थाओ मे अनुवर्त्तन देखा जाता है और स्वर्णद्रव्य का कटक, कुंडल वलय रुचक आदि सभी अवस्थाओ मे अन्वय-प्रत्यक्ष देखा जाता है ।

इसी प्रकार घट आदि तथा कुण्डल आदि मृत्तिका और स्वर्ण द्रव्य से व्याप्त रहते है । इसी प्रकार धर्मादि द्रव्य अपने स्वरूप का परित्याग न करते हुए ही गति सहायकत्व आदि मे अनुवर्त्तन करते हैं । अनुवृत्ति रूप होने से यह सामान्य स्थिति-अश से व्याप्त रहता है। किसी भी द्रव्य का उत्पाद या व्यय सामान्य स्थिति—अश से अव्याप्त नहीं होता ।

इस प्रकार धर्मद्रव्य का ही अपनी एक अवस्था से दूसरी अवस्था में परिणत होना परिणाम है, ऐसा नहीं कि धर्मद्रव्य किसी अन्य अधर्मद्रव्य आदि की अवस्था में परिणत होजाय इसी प्रकार अधर्मद्रव्य अपनी ही एक अवस्था से दूसरी अवस्था मे परिणत होता है । वह धर्म आदि किसी अन्य द्रव्य की अवस्था रूप में परिणत नहीं होता । इसी प्रकार आकाश आदि द्रव्यो का भी अपनी—अपनी अवस्थाओ में परिणमन होता रहता है अर्थात् एक से दूसरी और दूसरी से तीसरी अवस्था होती रहती है । इसी को परिणाम समझना चाहिए।

स्वस्वरूपापरित्यागेनैव स्थितिकर्तुं स्थित्युपग्रहाकारेण परिणमते । आकाशोऽपि–स्वस्वरूपमपरित्यजन्नेवाऽवगाहकर्तुरवगाहदायित्वेन परिणमति । काल स्वल्वपि–ज्येष्ठ–कनिष्ठादीना । परत्वापरत्वजननेन ह्यः–श्व–समय–क्षण–निमेप–दिन–रात्रि–पक्ष–मासा–यन–वर्षादिव्यवहारकारकत्वेनोपजायते तदाकारेण ।

पुद्गला अपि–औदारिकादिशरीरादि–रूपरसगन्धस्पर्शशब्दादिरूपेण स्वस्वरूपमत्यजन्त एव परिणमन्ते । जीवोऽपि–ज्ञान–दर्शनोपयोगवृत्त्या नारक देव मनुष्य–तिर्यग्भावेन स्वस्वरूपमपरित्यजन्नेव परिणमते । एव शुक्लादयो गुणावर्णादिसामान्यमपरित्यजन्त एव कृष्णादित्वेन परिणमन्ते । घटपर्यायोऽपि–सामान्यं मृत्स्वभावमपरित्यजन्नेव कपालावस्थां प्राप्नोति । एवम्–कपालादयोऽपि पर्याया कपालिकाशकल–स्थास कोश शरावो–दञ्चनाद्याकारेण सामान्यभूत मृत्स्वभावमपरित्यजन्त एव परिणमन्ते ।

एव–परमाणवोऽपि, रूप–रस–गन्ध–स्पर्शाद्यात्मना द्व्यणुकादिस्कन्धात्मना स्वरूपापरित्यागपूर्वकमेव परिणता भवन्ति । तथाच–द्रव्याणि सर्वाणि सर्वदा सूक्ष्म–बादर भेदोत्पाद–व्ययरूपेण

धर्मास्तिकाय अपने स्वरूप का परित्याग न करता हुआ ही गमन करने वाले के गमन में सहायक रूप से परिणत होता है । अधर्मास्तिकाय अपने स्वरूप का परित्याग न करता हुआ स्थित होने वाले की स्थिति मे सहायक रूप से परिणत होता है । आकाश भी अपने स्वरूप का परित्याग न करता हुआ ही अवगाह करने वाले को अवगाहना देता है । काल ज्येष्ठ और कनिष्ठ आदि में परत्व और अपरत्व उत्पन्न करके गत कल, अगामी कल, समय, क्षण, निमेप दिन, रात्रि, पक्ष, मास, अयन वर्ष आदि का व्यवहार कारक रूप से परिणत होता है ।

पुद्गल भी औदारिक आदि शरीर आदि रूप रस गध स्पर्श आदि रूप से अपने स्वरूप का परित्याग न करता हुआ ही परिणत होता है । जीव ज्ञान–दर्शन–उपयोग रूप से तथा नारक देव मनुष्य तिर्यंच रूप से अपने स्वरूप का परित्याग न करता हुआ ही परिणमन करताहै ।

इसी प्रकार शुक्ल आदि गुण वर्ण आदि सामान्य स्वरूप का त्याग न करते हुए ही कृष्ण आदि रूप से परिणत होते है । घट पर्याय भी अपने सामान्य मृत्तिका स्वभाव का परित्याग न करते हुए ही कपाल (ठीकरे) अवस्था को प्राप्त करता है । इसी प्रकार कपाल आदि पर्याय भी कपालिका (छोटी ठीकरी), शकल (टुकडा) स्थास, कोश, कुशूल, शराव, उदचन आदि रूप से सामान्य मृत्तिका स्वभाव का परित्याग न करते हुए ही परिणत होते है ।

इसी प्रकार परमाणु भी रूप, रस, गध–स्पर्श आदि रूप से या द्व्यणुक आदि स्कध रूप से अपने स्वरूप का त्याग न करते हुए ही परिणत होते है । इसी प्रकार सब द्रव्य सदैव सूक्ष्म, बादर, उत्पाद, व्यय रूप से स्थिति अश रूप सामान्य का परित्याग न करते हुए ही परिणत होते है ।

स्थित्यशलक्षणसामान्यापरित्यागपूर्वकमेव परिणतानि भवन्ति । स च परिणामो द्विविध, अनादि सादिश्च । तत्राऽरूपिषु धर्माधर्माकाशकालजीवेषु पञ्चद्रव्येषु अनादि परिणामो बोध्य ।

तत्र—धर्मद्रव्यस्याऽनादि परिणामस्तावत्असख्येयप्रदेशत्व लोकाकाशव्यापित्वम्—अमूर्तत्वम्—गुन्तृगत्यपेक्षाकारणत्वम्—अगुरुलघुत्वादिकमवसेयम् । अधर्मद्रव्यस्य पुनरनादि परिणाम—असख्येयप्रदेशत्वलोकाकाशव्यापित्वादिक स्थित्यपेक्षाकारणत्वञ्च । आकाशस्याऽनादि परिणामस्तु—अनन्तप्रदेशत्वा—ऽमूर्तत्वाऽगुरुलघुपर्यायत्वाऽवगाह कर्त्रवगाहदायित्वादि । कालस्य चाऽनादि परिणाम पुन—समय—क्षणावलिकादि ह्य—श्वो वर्तमानत्वादि परत्वापरत्वादि' अमूर्तत्वम् अगुरुलघुत्वादिश्च— ।

जीवस्य पुनरनादि. परिणाम जीवत्व—भव्यत्वादयः अमूर्तत्वम्, ज्ञानदर्शनादयश्चाऽवगन्तव्या' । रूपिषु तावत् पुद्गलद्रव्येषु सादि परिणामोऽनेकविध' प्रज्ञप्त । तथाहि—पुद्गलेषु द्व्यणुकादिस्कन्धलक्षण शब्दादि' शुल्क—कृष्ण—रक्त—पीतादि —रसादिश्च । तत्र—यदा द्वौ परमाणू विस्रसया द्व्यणुकस्कन्धारम्भ कुरुत तदा—परमाणुद्वयस्य द्व्यणुकस्कन्धपरिणाम सादिरुच्यते ।

एव रूपिषु रूपरसगन्धस्पर्शवत्सु द्रव्येषु उत्पादव्ययवत्सु रूपरसगन्धस्पर्शादिरनेकविध' सादि' परिणामो भवति । स्पर्शश्चाष्टविध'—कर्कश—मृदु—गुरु—लघु—शीतोष्ण—स्निग्ध—रूक्षरूप । कर्कशतर-

परिणाम दो प्रकार का है अनादि और सादि । अरूपी धर्म, अधर्म, आकाश, काल और जीव इन पाँच द्रव्यो में अनादि परिणाम जानना चाहिए ।

असख्यात प्रदेशवत्त्व, लोकाकाशव्यपित्व, अमूर्त्तत्व, गमननिमित्तत्व, अगुरु लघुत्व आदि धर्मास्तिकाय का अनादि परिणाम है । असख्यात प्रदेशवत्त्व, लोकाकाशव्यापित्व, स्थितिनिमित्तत्व, अधर्मास्तिकायका अनादि परिणाम है। अनन्त प्रदेश बन्ध अमूर्त्तत्व, अगुरुलघुपर्यायत्व, अवगाह हेतुत्व आदि आकाश का अनादि परिणाम है । आवलिका आदि, कल, आगामी कल, वर्त्तमानता आदि, परत्व—अपरत्व आदि, अमूर्त्तत्व, अगुरुलघुत्व आदि काल का अनादि परिणाम है । जीवत्व, भव्यत्व आदि, अमूर्त्तत्व तथा ज्ञान—दर्शन आदि जीव का अनादि परिणाम है ।

रूपी पुद्गल द्रव्यो मे सादि परिणाम अनेक प्रकार का कहा गया है, जैसे—द्व्यणुक आदि स्कध रूप, शब्दादि शुक्ल, कृष्ण, रक्त, पीत, आदि रस, आदि । जब दो परमाणु स्वभाव से द्व्यणुक स्कध को उत्पन्न करते है तब दोनों परमाणुओ में जो स्कध रूप परिणाम उत्पन्न होता है, वह सादि परिणाम है ।

इसी प्रकार रूपी और उत्पाद—व्यय वाले द्रव्यो मे रूप रस गध स्पर्श आदि रूप अनेक प्रकारका सादि परिणाम होता है ।

स्पर्श आठ प्रकार का है—(१) कर्कश (कठोर), (२) मृदु (३) गुरु—भारी (४) लघु—हल्का (५) शीत (६) उष्ण (७) स्निग्ध और (८) रूक्ष—रुखा । इसमे कर्कशतर कर्कशतम

कर्कशतमादिश्च सादि परिणाम । पञ्चविधो रस -तिक्त २ कटुक-२कषाया-ऽम्ल-४ मधुररूप । तिक्ततर-तिक्ततमादिश्च सादि परिणाम । द्विविधो गन्ध -सुरभिर्दुरभिश्च, सुरभितरादिश्च सादि परिणाम. ।

वर्णश्च—पञ्चविध कृष्णादि कृष्णतरादिश्च सादि परिणामो बोध्य । किन्तु—पुद्गलद्रव्येऽपि द्रव्यत्व—मूर्तत्व—सत्त्वादय॰ परिणामा अनाद्या एव सन्ति, न तु साद्या इत्यवधेयम् । एव च यथा रूपीषु पुद्गलद्रव्येषु सादिरनादिश्च परिणाम प्रतिपादित तथा—अरूपिष्वपि द्रव्येषु सादिरपि परि-णाम॰ सम्भवति. । यथा—योगोपयोगलक्षण परिणामो जीवेषु सादि ।

एव धर्मादिष्वपि—अरूपिद्रव्येषु सादिरपि परिणाम सम्भवति, यथा—स्वय गन्तुर्जिगमिषापरिणतस्य खलु इदानीं धर्मद्रव्यमुपग्राहक भवति । उपग्राहकत्वञ्चेदं धर्मपर्याय पूर्वं नासीत् तस्य गन्तुर्गतिपरिणतेरभावात् । अधुनाचोपजायमान स उपग्राहकत्वपरिणाम सादिरेव सम्भवति, न तु—अनादिः ।

मैत्रादिगन्तृगत्युपरमे च विनाशी भवति, इति—उत्पादविनाशवत्त्वात् सादिमत्त्वम् । उपग्राह्य विना च नोपग्राहकत्व सम्भवति । आकाशद्रव्यमपि—अवगाहनाकर्तुरवगाहदानपर्यायेण परिणमते, तस्याऽवगाहदानपर्यायश्चेदानींतनत्वात् सादिरेव सम्भवति, न तु—अनादि । कालद्रव्यमपि—वृत्त

आदि सादि परिणाम है । रस पाँच प्रकार का है—(१) तिक्त (२) कटुक (३) कषाय (४) अम्ल—खट्टा और (५) मधुर । तिक्ततर, तिक्ततम आदि सादि परिणाम है । गध दो प्रकार की है—सुगंध और दुर्गंध । सुरभितर आदि सादि परिणाम है ।

वर्ण कृष्ण आदि पाँच प्रकार का है । कृष्णतर आदि सादि परिणाम जानना चाहिए । किन्तु पुद्गल द्रव्य मे द्रव्यत्व, मूर्तत्व, सत्त्व आदि परिणाम अनादि ही होते है, सादि नहीं । इस प्रकार जैसे रूपी पुद्गल द्रव्यों में सादि और अनादि दोनो प्रकार का परिणाम प्रति-पादन किया गया है, उसी प्रकार अरूपी द्रव्यो मे भी सादि परिणाम भी हो सकता है, जैसे योग और उपयोगरूप परिणाम जीवों मे सादि होता है ।

इसी प्रकार धर्म आदि अरूपी द्रव्यो मे भी सादि परिणाम का सभव है । जैसे गमन करने की इच्छा वाला कोई पुरुष जब गमन करना प्रारंभ करता है तो धर्मद्रव्य उसके गमन में निमित्त बन जाता है । यह निमित्त बन जाना धर्मद्रव्य का पर्याय है, जो पहले नहीं था, अब उत्पन्न हुआ है । अतएव यह गति निमित्तत्व परिणाम सादि ही हो सकता है, अनादि नहीं । जब वह मैत्र नामक पुरुष गति से विरत हो जाता है—स्थिर हो जाता है, तब वह गति निमित्तत्व भी नहीं रह जाता । इस प्रकार उत्पाद और विनाशवान् होने से वह सादि है । उपग्राह्य के अभाव में उपग्राहकत्व भी नहीं होता ।

आकाशद्रव्य भी अवगाहना करने वाले के लिए अवगाहदान रूप पर्याय से परिणत होता है । वह अवगाहदानपर्याय अभी—अभी उत्पन्न होने के कारण सादि ही हो सकता है, अनादि नहीं ।

वर्तमानादिपरिणतियुक्त भवति, तथाचाऽय परिणामो द्रव्यार्थिकनयव्यापारात्—धर्मादिस्वभावो भवति न तु—धर्मादिव्यतिरिक्तं ।

एव—क्वचिद् वैस्रसिक:, क्वचित्तु प्रायोगिक, क्वचित्पुनरुभयथा भवति सद्वस्तुन उत्पाद व्ययध्रौव्यलक्षणात् । एवञ्चा—नेकान्तवादानुसारेण रूपिपु पुद्गलेपु द्रव्येपु प्रधानतया सादि-परिणामस्य सत्त्वेऽपि कथञ्चित्—अनादिपरिणामोऽपि सघटते । एवमरूपिपु धर्मादिद्रव्येपु प्रधानतयाऽनादिपरिणामस्य सत्त्वेऽपि कथञ्चित्सादिपरिणामो भवति, न तु—अरूपिपु, अमूर्त-द्रव्यधर्मादिपु, इतिकेचिदाहु —

तन्न तेषां मतेऽरूपिद्रव्येपु पर्यायाश्रयव्यवहारविलोपापत्त्या—उत्पादव्ययादि लक्षणाऽसङ्गमात् परिणामाभाव स्यात् । तेपाञ्च—धर्मादीनामरूपिद्रव्याणामपरिणामित्वेऽनिर्धार्यमात्र-स्वभावत्व भवेत्, स्वत उत्पादव्ययपरिणामरहितत्वात् । तस्मात्—सर्वत्रैव मूर्तेपु—अमूर्तेपु च द्रव्येपु केचित्—साद्या केचिदनाद्याश्च परिणामा सन्तीत्यभ्युपगन्तव्यम्— -

तथाहि—जीवेषु तावदरूपिपु अनादिजीवत्व— –भव्यत्वाऽभव्यत्वादिपरिणामवत्स्वपि योगो-पयोगौ—आदिमन्तौ परिणामौ स्त । तत्र—योग खलु पुद्गलसम्वन्धादात्मनो वीर्यविशेष परि-

---

कालद्रव्य भी वृत्त, वर्त्तमान आदि परिणमन से युक्त होता है । इस प्रकार यह परिणाम द्रव्यार्थिकनय के व्यापार से धर्म आदि का स्वभाव है, धर्म आदि से भिन्न नहीं है ।

इसी प्रकार परिणाम कहीं स्वभाविक होता है, कहीं प्रायोगिक होता है और कहीं दोनो प्रकार का होता है । क्योकि सद्वस्तु वही है जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य लक्षण वाली हो ।

इस प्रकार अनेकान्तवाद मे रूपी पुद्गल द्रव्यो मे प्रधान रूप से सादि परिणाम होने पर भी कथचित् अनादि परिणाम भी घटित होता है । इसी प्रकार अरूपी धर्मादि द्रव्यो मे प्रधान रूप से अनादि परिणाम होने पर भी कथचित् सादि परिणाम भी घटता है ।

किसी—किसी ने कहा है कि रूपी पुद्गलद्रव्यो मे ही सादि परिणाम होता है, अरूपी धर्म आदि द्रव्यो मे नहीं होता, उनका कथन यथार्थ नहीं है । उनके मत के अनुसार अरूपी द्रव्यो में पर्यायाश्रयी व्यवहार के अभाव की आपत्ति होती है और ऐसा होने से उत्पाद—व्यय आदि लक्षण की सगति नहीं बैठती । इस कारण परिणाम के अभाव का ही प्रसग हो जाता है ।

धर्म आदि अरूपी द्रव्यो को अपरिणामी मान लेने पर उनका स्वरूप अनिर्धारित हो जाएगा, क्योंकि वे स्वत उत्पाद और व्यय परिणाम से रहित है । अतएव मूर्त्त और अमूर्त्त सभी द्रव्यो में कोई परिणाम सादि होते है, कोई अनादि होते है, ऐसा स्वीकार करना चाहिए ।

अरूपी जीवो मे जैसे जीवत्व भव्यत्व और अभव्यत्व ये अनादि परिणाम है, उसी प्रकार योग और उपयोग आदिमान् परिणाम भी है ।

पुद्गलद्रव्य के सम्बन्ध से आत्मा के वीर्य का स्फुरण होना योग कहलाता है । वह काय,

णामः आत्मन' काय-वाङ्मनोरूपेण शक्तिविशेषस्योत्पाद । उपयोगश्च चैतन्यस्वभावस्यात्मनो ज्ञान-दर्शनाभ्यां प्रणिधानादिलक्षण । स्वविषयोपलम्भादिव्यापार समाधिविशेषो वा तद्द्वारको-ऽर्थपरिच्छेदोऽप्युपयोगस्तेनाकारेणात्मन परिणामो भवति ।

तत्र-योग पञ्चदशविध —साकाराऽनाकारलक्षण । उपयोगो जीवस्वभवो द्वादशविध'— मतिश्रुताऽवधिमन पर्यवकेवलज्ञानमत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानचक्षुरचक्षुरवधिकेवलदर्शनभेदात् । योगः- पञ्चदशविध'—औदारिक-वैक्रिया-ऽऽहारकमिश्रतैजसकार्मणकाययोगसत्यमृषाऽसत्यामृषावाग्योग- मनोयोगभेदात् । आत्मा कायादि पुद्गलशतसम्बन्धात् ता तां गमनादिकथनचिन्तनक्रिया- प्रतिपद्यते, क्षीरोदकवत्—ताद्रूप्येण, मृद्घटवत्तादात्म्येन परिणमते इति भाव ।

वचन और मन रूप से आत्मा की शक्तिविशेष की उत्पत्ति है । चैतन्यस्वरूप आत्मा का ज्ञान-दर्शन के द्वारा प्रणिधान आदि रूप अपने विषय को ग्रहण करने का जो व्यापार है, वह उपयोग कहलाता है । समाधि को भी उपयोग कहते है । उसके द्वारा होने वाला पदार्थ का परिच्छेद भी उपयोग कहलाता है । इस उपयोग के रूप मे आत्मा का परिणाम होता है ।

उपयोग बारह प्रकार का है । जीव का स्वभाव जो उपयोग है वह मूल में दो प्रकार का है—साकार और अनाकार । दोनों के मिलाकर बारह भेद होते है—(१) मतिज्ञान (२) श्रुत-ज्ञान (३) अवधिज्ञान (४) मन पर्यवज्ञान (५) केवलज्ञान (६) मति—अज्ञान अर्थात् कुमतिज्ञान (७) श्रुताज्ञान अर्थात् कुश्रुतज्ञान (८) विभंगज्ञान अर्थात् कुअवधिज्ञान (९) चक्षुदर्शन (१०) अचक्षुदर्शन (११) अवधिदर्शन (१२) केवलदर्शन ।

योग के पन्द्रह भेद ये है—(१) औदारिककाययोग (२) वैक्रियकाययोग (३) आहा-रककाययोग (४) औदारिकमिश्रकाययोग (५) वैक्रियमिश्रकाययोग (६) आहारकमिश्रकाययोग और (७) कार्मणकाययोग (८) सत्यवचनयोग (९) असत्यवचनयोग (१०) मिश्रवचनयोग (११) व्यवहार—असत्यामृषावचन योग (१२) सत्यमनोयोग (१३) असत्यमनोयोग (१४) मिश्रमनोयोग और (१५) असत्यामृषा मनोयोग ।

आत्मा काय आदि सैकडो प्रकार के पुद्गलों के साथ सबध होने के कारण नाना प्रकार की गमन, कथन एव चिन्तन आदि क्रियाएँ किया करता है । उस समय उसकी उसी रूप में परिणति हो जाती है । वह दूध और पानी की भाँति अथवा मृत्तिका और घट की भाँति एक-मेक—सा हो जाता है । तद्रूप मे परिणत होता है ।

उक्तञ्च प्रज्ञापनायां १३ परिणामपदे १८१ सूत्रे—"**दुविहे परिणामे पण्णत्ते, तं जहा जीवपरिणामे य, अजीवपरिणामे य**–" इति। द्विविध परिणाम. प्रज्ञप्त., तद्यथा—जीवपरिणामश्च, अजीवपरिणामश्चेति ॥३१॥

इति श्री विश्वविख्यात जगद्वल्लभ–प्रसिद्धवाचक-पञ्चदश भाषा
कलितललितकलापालापक प्रविशुद्धगद्यपद्यानैकग्रन्थनिर्मापक
शाहुच्छत्रपति कोल्हापुर राजप्रदत्त जैनशास्त्राचार्य
जैनधर्मदिवाकर **पूज्य श्री घासीलाल** व्रतिविर-
चितस्य दीपिका निर्युक्ति टीकाद्वयोपतेस्य
तत्वार्थसूत्रस्य द्वितीयमध्ययनन
समाप्तम् ॥२॥

प्रज्ञापनासूत्र के तेरह वे परिणाम पद के १८१ वें सूत्र में कहा है—
'परिणाम दो प्रकार का कहा है, वह इस प्रकार है–जीवपरिणाम और अजीवपरिणाम ॥३१॥

श्री जैन शास्त्राचार्य जैन धर्मदिवाकर **पूज्य श्री घासीलाल जी**
महाराज विरचित तत्वार्थसूत्र की दीपिका एव निर्युक्ति
नामक व्याख्या का दूसरा अध्ययन समाप्त ॥२॥

अथ तृतीयोध्यायः प्रारभ्यते

मूलसूत्रम्—"सकसायजीवस्स कम्मजोगा पोग्गलादाणं बंधो" ॥१॥

छाया—कषायजीवस्य कर्मयोग्यपुद्गलादानं बन्धः ॥१॥

तत्त्वार्थदीपिका—नवविधेषु प्रथमसूत्रोक्ततत्त्वेषु–उत्तराध्ययनस्याऽष्टाविंशति अध्ययनानुसारं क्रमप्राप्तं तृतीयं बन्धतत्त्वं प्ररूपयितुमाह—"सकसायजीवस्स" इत्यादि।

कषन्ति–दुर्गतौ जीवानाकृष्य पातयन्ति–इति कषाया., कष्यन्ते पीड्यन्ते जीवा अनेनेति कषं–ज्ञानावरणीयाद्यष्टविधं कर्म, कष.—संसारो वा, तस्याऽऽयोलाभो यतस्ते कषायाः दुर्गतिपातलक्षणस्वभावा' क्रोध–मान–माया–लोभास्तै. सह वर्तते इति सकषायस्तस्य सकषायस्य जीवस्य कर्मयोग्यानाम्–कर्मणो योग्यानां पुद्गलानामादानम्-उत्पादन ग्रहण कर्म कारणभावयोग्याना पुद्गलानामविभागेनोपश्लेषो बन्ध इति व्यपदिश्यते।

तथाच जीवकर्मणोरनादि सम्बन्धो वर्तते तेन कर्मणो हेतोर्जीव. सकषायो भवति न कर्मरहितस्य जीवस्य कषायलेश' सम्भवति। अतएव—तयोरनादिसम्बन्धादेवाऽमूर्तोऽपि जीवो मूर्तेनाऽपि कर्मणा बद्धो वर्तते, आकाशस्य पुद्गलादिवत्। अन्यथा–बन्धस्यादिमत्त्वे सति–आत्य-

---

तृतीय अध्याय

सूत्रार्थ—"सकसाय जीवस्स" इत्यादि" ?

कषाययुक्त जीव कर्मयोग पुद्गलो को ग्रहण करता है, वही बन्ध कहलाता है ॥१॥

तत्त्वार्थदीपिका—प्रथम सूत्र में कथित नौ तत्त्वो में से उत्तराध्ययन सूत्र के अट्ठाईसवे अध्ययन के अनुसार क्रमप्राप्त तीसरे बन्धतत्त्व को प्ररूपणा करने के लिए कहते है—

जो जीवो को खींच कर दुर्गति में पटकते है, उन्हे कषाय कहते है अथवा जो जीवों को कषते हैं अर्थात् पीडा पहुँचाते है, उन्हे कषाय कहते हैं। कष का अर्थ है ज्ञानावरण आदि आठ प्रकार के कर्म अथवा ससार, उनका जिससे आय–लाभ हो अर्थात् जिसके कारण ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का बंध हो या जन्म–मरण रूप ससार की प्राप्ति हो वह कषाय है क्रोध, मान, माया और लोभ यह चार कषाय है।

कषाययुक्त जीव सकषाय कहलाता है। सकषाय जीव कर्म के योग्य पुद्गलों को अर्थात् कार्मण वर्गणा के पुद्गलो को ग्रहण करता है अर्थात् अन्य प्रदेशो के साथ एकमेक कर लेता है, वह बन्ध कहलाता है।

जीव और कर्म का सबन्ध अनादि काल से चला आरहा है। कर्म के उदय के कारण जीव कषाययुक्त होता है। जब जीव कर्म से सर्वथा रहित हो जाता है तब कषाय का लेप का सभव नहीं है। अतएव जीव और कर्म के अनादि कालीन सबन्ध के कारण ही स्वभाव से अमूर्त्त जीव भी मूर्त्त कर्म के द्वारा बद्ध हो रहा है।

न्तिकीं शुद्धिं धारयत' सिद्धस्येव बन्धाभाव प्रसज्येत । एवञ्च—यथा भाजनविशेषे स्थापितानां नानारसबीजपुष्पफलाना मदिराभावेन परिणतिर्भवति । एवं—कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलानामप्यात्मनि स्थितानां योगकषायवशात् कर्मभावेन परिणामो भवतीति भाव ॥१॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—आदौ प्रतिपादितेषु जीवाजीवबन्धादिनवतत्त्वेषु प्रथम—द्वितीयाध्ययनयो' क्रमतो जीवाजीवयो प्ररूपणानन्तरं क्रमप्राप्त बन्धतत्त्व प्ररूपयितुमाह—"**सकसायजीवस्स**" इत्यादि । अनन्तानुबन्ध्यादिभेदा षोडशविधा —क्रोध—मान—माया—लोभा कषाया तै' कषायै. सह वर्तते इति सकषायस्तस्य सकषायस्य जीवस्य कर्मयोग्यपुद्गलाना कर्मवर्गणाभावप्राप्तियोग्यानां पुद्गलानामादानं ग्रहणं सम्श्लेषणं बन्ध उच्यते ।

तत्र—बन्धशब्दवाच्यार्थस्तु—बन्धन बन्ध आत्मप्रदेशपुद्गलाना परस्पराश्लेष', नीर—क्षीरवत्सम्बन्ध' प्रकृत्यादिभेद । यद्वा—येन बध्यते—आत्मा अस्वातन्त्र्यमापाद्यते ज्ञानावरणादिना स पुद्गलपरिणामलक्षणो बन्ध , आत्मप्रदेशेषु रागद्वेषाद्यभ्यञ्जनेषु कर्मभावप्राप्तियोग्यपुद्गलानामाश्लेष इत्यर्थः ।

कषायशब्दार्थस्तु—कषति हिनस्ति आत्मान दुर्गतौ पातनद्वारा—इति कषाय '**कषहिंसा-**

अगर बन्ध की आदि मानी जाय तो उससे पूर्व जीव को सिद्ध के समान अत्यन्त शुद्ध मानना पडेगा और ऐसी स्थिति में बन्ध के अभाव का प्रसग उपस्थित होगा ।

जैसे किसी विशेष भाजन में रक्खे हुए नाना प्रकार के रस, बीज, पुष्प एव फलादि का मदिरा के रूप में परिणमन हो जाता है उसी प्रकार कर्मवर्गणा के पुद्गलो का योग और कषाय के कारण कर्म रूप में परिणमन हो जाता है ॥१॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—प्रारभ मे प्रतिपादित जीव, अजीव, बन्ध आदि नौ तत्त्वों में से प्रथम और द्वतीय अध्ययन में क्रम से जीव और अजीव तत्त्व का प्ररूपण किया गया। तदनन्तर क्रम से प्राप्त बन्ध तत्त्व की प्ररूपणा करने के लिए कहते है—

अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया और लोभ आदि के भेद से कषाय सोलह प्रकार के हैं । जो कषाय से युक्त होता है वह सकषाय कहलाता है । कषाययुक्त जीव कर्म के योग्य अर्थात् कार्मणवर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण करता है। यहीं बन्ध कहलाता है ।

आत्मप्रदेशो का और कार्मण जातीय पुद्गलों का परस्पर में बद्ध होना सम्श्लेष होना एकमेक हो जाना बन्ध शब्द का अर्थ है। बन्ध होने पर आत्मप्रदेश और कर्मपुद्गल क्षीर—नीर की तरह मिल जाता है । प्रकृति बन्ध आदि के भेद से बन्ध के चार प्रकार है ।

अथवा जिसके द्वारा आत्मा बाँधा जाय—पराधीन किया जाय, वह पुद्गल का परिणमन बन्ध कहलाता है । राग-द्वेष आदि से युक्त आत्मप्रदेशों में कार्मण—पुद्गलो का आश्लेष होना बन्ध है ।

जो आत्मा को दुर्गति मे गिरा कर कषता है अर्थात् उसका घात करता है, वह

याम्' इति भौवादिकात् कषधातोर्बाहुलकादायप्रत्यय, स च मुख्यतया चतुर्विध क्रोध—मान—माया—लोभभेदात्—"कषायसुरभौ रसे रागवस्तुनि निर्यासे क्रोधादिषु विलेपने" इति हैम ।

जीवस्तु—आत्मा कर्ता स्थित्युत्पत्तिव्ययपरिणतिलक्षणो ग्राह्य, तस्य कर्तृत्वे सत्येव कर्मबन्धफलानुभवौ सम्भवत । कर्मशब्दार्थस्तु—क्रियते इति कर्म, तच्चाष्टविधम्—ज्ञानावरण—दर्शनावरण-वेदनीय—मोहनीय—आयुष्य—नाम—गोत्रा-ऽन्तराय भेदात् । तस्याऽष्टविधस्य कर्मणो योग्यानाम्—अष्टसु औदारिकवर्गणासु ज्ञानावरण—दर्शनावरणादि कर्मभावप्राप्तियोग्याना पूरण—गलनलक्षणाना पुद्गलानाम् अनन्तानन्तप्रदेशस्कन्धीभूताना चतु स्पर्शानामादानमात्मप्रदेशेषु लगन सश्लेषण स्नेहाभ्यक्तशरीरस्य धूलिरज कणलगनवद् बन्धो भवतीति भाव ।

मिथ्यादर्शनाद्यावेशादार्द्रीकृतस्यात्मन स्तदाकारपरिणतिक्रिया कर्मलगनहेतु तस्या क्रियाया कर्ता चात्मा भवति। तथाविधक्रियानिर्वर्त्य कर्म अष्टविधं कर्मबन्धं प्रति वक्ष्यमाणमिथ्यादर्शनादीना सामान्यहेतुत्वेऽपि कषायस्य क्रोधादिरूपस्य प्रधानहेतुत्वं वर्तते, अतएवाऽत्र कषायग्रहण कृतम् ।

कषाय है। यह कषाय शब्द 'कष् हिंसायाम्' धातु से बना है। कषाय के क्रोध, मान, माया और लोभ, ये चार मुख्य भेद है।

हैमकोश के अनुसार कषाय शब्द के अनेक अर्थ है, जैसे—सुरभि, रस, राग, वस्तु, निर्यास, क्रोधादि और विलेपन।

जीव का अर्थ है आत्मा जो स्थिति, उत्पत्ति और व्यय रूप परिणाम से युक्त है। वह जीव कर्त्ता है। उसके कर्त्ता होने पर ही कर्म का बन्ध और फल का अनुभव सभव हो सकता है।

कर्म शब्द का अर्थ है—जो किया जाय सो कर्म। कर्म के आठ भेद है—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र, और अन्तराय।

औदारिक आदि आठ प्रकार की पुद्गल की वर्गणाएँ है। उनमेसे कार्मणवर्गणा के पुद्गल ही कर्म रूप में परिणत होने के योग्य होते है। अनन्तानन्त प्रदेशी और चार स्पर्श वाले ही वे पुद्गल आत्मप्रदेशो मे मिल जाते है, जैसे तेल से चिकने शरीर पर धूलिके कण चिपक जाते है। यही बन्ध कहलाता है।

मिथ्यादर्शन आदि के आवेश से आत्मा तद्रूप मे परिणत होती है, वह परिणति क्रिया ही कर्मों के लगने का कारण है। उस क्रिया का कर्त्ता आत्मा है। आत्मा की क्रिया से उत्पन्न होने वाले कर्म आठ प्रकार के है। आगे कहे जाने वाले मिथ्यादर्शन आदि कर्मबन्ध के सामान्य कारण हैं, उसका प्रधान कारण तो क्रोध आदि कषाय ही है। इसी कारण यहाँ कषाय का ग्रहण किया गया है।

तत्र—क्रोधनं, क्रुध्यति वा येन स क्रोध अक्षान्तिपरिणतिरूप स्वपरात्मनोऽप्रीतिलक्षण' क्रोध-मोहनीयोदयसम्पाद्यो जीवस्य परिणतिविशेष कृत्याऽकृत्यविवेकोन्मूलक प्रज्वलनात्मकश्चित्तधर्म । माननम्—स्वमपेक्ष्याऽन्यस्य हीनतया परिच्छेदन मान अहङ्काररूप आत्मपरिणतिविशेष । मीयते—प्रतार्यते—प्रक्षिप्यते वा नरकादौ लोकोऽनया इति माया, मान्ति वा सर्वे दुर्गुणा यस्यामिति वा—माया । पराऽभिसन्धानहेतुकोऽशुद्धप्रयोग —छद्मप्रयोगो वा माया व्यपदिश्यते । लुभ्यते—व्याकुली-क्रियते आत्माऽनेनेति लोभ । अभिकाङ्क्षा—गर्ध , स पुनस्तृष्णापिपासाऽभिष्वङ्गास्वादो गार्ध्यमिति । "तत्र—प्रत्येकमपि क्रोधादिकषायोऽनन्तससारानुबन्धी भवति । एते चत्वारस्तावद् अत्यन्तपापिष्ठा भवहेतनो भवन्ति भवप्राप्ते मूलकारणम् जन्मजराभावरूपाया ससारस्थितेर्निदान 'प्राणिनां कष्टतमा अनपराधवैरिण' सन्ति ।

"तथाचोक्त दशवैकालिके ८—अ ययने २—उद्देशके ४०—गाथायाम्—

"कोहो य माणो य अणिग्गहीया, माया य लोभो य पवड्ढमाणा ।
चत्तारि एए कसिणा कसाया, सिचति मूलाइ पुणब्भवस्स ॥ १ ॥

एवम्— जं अइदुक्खं लोए, जं च सुहं उत्तमं तिहुयणंमि ।
तं जाण कसायाणं, वुड्ढिक्खयहेउयं सव्वं ॥ २ ॥

क्रोधन अर्थात् कोप होना क्रोध है अथवा जिसके कारण जीव क्रुद्ध हो जाय वह क्रोध कहलाता है । यह क्रोध अक्षमारूप अर्थात् क्षमा का विरोधी है, स्वात्मा एवं परात्मा के प्रति अप्रीति रूप है और क्रोध मोहनीय कर्म के उदय से उत्पन्न होने वाला जीव का एक प्रकार का परिणमन है वह कृत्य और अकृत्य के विवेक को नष्ट कर देता है, प्रज्वलन रूप होता है ।

अपनी अपेक्षा दूसरे को हीन मानना मान है । यह अहकाररूप आत्मा की एक परिणति है ।

जिसके द्वारा ठगा जाता है अथवा जिसके द्वारा लोग नरक आदि मे डाले जाते है, वह माया है । अथवा जिसमे सभी दुर्गुण आ जाते है—समा जाते है, वह माया है । दूसरे को ठगने के लिए जो अशुद्ध प्रयोग या छद्म प्रयोग किया जाता है, वह सब माया है ।

जिसके द्वारा आत्मा लुब्ध या व्याकुल किया जाता है, वह लोभ कहलाता है । उसके दो रूप है- आकाक्षा और गृद्धि । अप्राप्त वस्तु की कामना होना आकाक्षा है और प्राप्त वस्तु पर आसक्ति होना गृद्धि है। लोभ को तृष्णा, पिपासा, अभिष्वग, आस्वाद, गार्ध्य आदि भी कहते है ।

इनमे से क्रोध आदि एक-एक कषाय भी अनन्त ससार भ्रमण का कारण होता है । यह चारो कषाय अत्यन्त पापमय है, ससार के कारण है, भव की प्राप्ति के मूल कारण है, जन्म-जरा रूप ससार स्थिति के निदान है, प्राणियो के लिए अत्यन्त कष्टजनक है और निरपराध वैरी है । दशवैकालिक सूत्र मे ८ वे अध्ययन के दूसरे उद्देशक की ४० वीं गथा में कहा है—

"क्रोधश्च मानश्च अनिगृहीतौ माया च लोभश्च प्रवर्धमानौ ।
चत्वार एते कृत्स्नाः कषाया सिञ्चन्ति मूलानि पुनर्भवस्य ॥ १ ॥
"यदतिदुःखं लोके यच्च सुखमुत्तमं लोके ।
तज्जानीहि कषायाणां, वृद्धिक्षयहेतुजं सर्वम् ॥ २ ॥

स च कषायपरिणाम परिणन्ता चेदात्मा तदा–तस्य सम्भवति, न तु–अपरिणतु सर्वगतस्याऽक्रियस्यात्मन । तस्मात्—परिणन्तुरात्मन कषायपरिणाम । उक्तञ्च—

जीवस्तु कर्मबन्धनबद्धो वीरस्य भगवतः कर्त्ता ।
सन्तत्याऽनाद्यं च तदिष्टं कर्मात्मनः कर्तुः ॥ १ ॥
"संसारानादित्वाद्–बन्धस्यानादिता भवति सिद्धा ।
अतएव कर्ममूर्त्त–नाऽमूर्तं बन्धकं हीष्टम् ॥ २ ॥
"न च निर्हेतुक मिष्ट–देहग्रहणं यदादिमं नृणाम् ।
सतिचाप्यहेतुकत्वे–न स्यात् संसारनिर्मोक्षः ॥ ३ ॥
"तस्मान्मूर्तं कर्मेष्यतेऽर्हता यच्च तस्य परिणामः ।
दृष्टोमूर्तिर्दृष्टौ च–येन तदुदीरणोपशमौ ॥ ४ ॥

क्रोध और मान अगर निगृहीत न किये गये और माया तथा लोभ अगर बढते रहे तो ये चारों कषाय पुनर्भव के मूल का सिंचन करते है और भी कहा है–

'लोक में जो अत्यन्त दु ख है और तीनो लोको में जो उत्तम सुख है, वह कषायो की वृद्धि और क्षय के कारण ही जानना चाहिए। तात्पर्य यह है कि कषायो की वृद्धि से दु ख और क्षय से उत्तम सुख की उपलब्धि होती है ।

आत्मा मे कषाय-परिणाम तभी सभव है जब कि उसे परिणमनशील माना जाय । अगर आत्मा को अपरिणामी, सर्वव्यापी और निष्क्रिय माना जाय तो उसमें कषायपरिणाम नहीं हो सकता । इस कारण परिणमन शील आत्मा में ही कषायपरिणामका सभव है कहा भी है–

'भगवान् महावीर के मतानुसार जीव कर्मबन्धन से बद्ध है और कर्त्ता आत्मा के साथ कर्म प्रवाह की अपेक्षा अनादि काल से लगे हुए हैं ॥१॥

ससार अनादि काल से है अत कर्मबन्ध भी अनादिकालीन ही सिद्ध होता है इसी कारण कर्म मूर्त्त है, जो अमूर्त्त होता है वह बन्धकर्त्ता नहीं होता ॥२॥

मनुष्य प्रारम्भ में जो देह को ग्रहण करता है, वह निर्हेतुक नहीं । उसका कोई न कोई कारण तो होना ही चाहिए । अगर विना कारण ही देह का ग्रहण माना जाय तो ससार से कभी मोक्ष ही नहीं हो सकता ॥३॥

अर्हन्त भगवान् कर्म को मूर्त्त मानते है, क्योकि कर्म का फल (देह आदि) मूर्त्त दिखाई देता है, और उसकी उदीरणा तथा उपनाम का होना भी देखा गया है ॥४॥

"यदि रूपि कर्म न स्यात्–न स्यात्मसहवर्त्यंवद्धत्वात् ।
बद्धे वा सति कर्मणि–ननु सिद्धा रूपिता तस्य ॥ ५ ॥

तथाच–कर्मणा मूर्तत्वे सिद्धे सति न सर्वे एव पुद्गला कर्मणो योग्या भवन्ति, अपितु–वर्गणा क्रमेण, तत्र–मनोवर्गणायोग्यपुद्गलराशेरुपरि भूयस्त्वादयोग्यवर्गणामतीत्या–ऽत्यल्पत्वाच्च कार्मण-शरीरायोग्यवर्गणामतिक्रम्य–आत्मा कर्त्ता–अस्थगितास्त्रवद्वार अतिसूक्ष्मान् अतिस्थूलांश्च पुद्गल-स्कन्धान् अयोग्यान् परित्यज्य, अनन्तावयवानपि पुद्गलस्कन्धान् कर्मभावप्राप्तियोग्यानेवा–ऽऽदत्ते । तथाचोक्तम्––"न स आदातुं स्कन्धानतिसूक्ष्मान् वादरांश्च शक्नोति ।

स्वादेन न बध्यन्ते जात्वणवः शर्कराश्च तथा ॥ १ ॥
"अणवः स्कन्धाश्चैकोत्तरपरिवृद्धाः सुसूक्ष्मपरिणामाः ।
केचिदनन्तावयवा अप्यग्राह्या जिनैरुक्ताः ॥ २ ॥
एभ्यस्तु पराः स्कन्धाः एकोत्तरवृद्धिवर्धिताः सूक्ष्माः ।
पञ्चरसपञ्चवर्णा स्तथा द्विगन्धाश्चतुः स्पर्शाः ॥ ३ ॥
अगुरुलघववस्थिताश्च क्षेत्रैकत्वेन वर्तमानाश्च ।
प्रायोग्याः कर्मतया ग्रहीतुमुक्ताः परिणमय्य ॥ ४ ॥

अगर कर्म रूपी न होते तो आत्मा के साथ बद्ध न होने से आत्मा के साथ रह नहीं सकते थे । जब कर्म बद्ध है तो उसका रूपीपन भी सिद्ध हो सकता है ॥५॥

इस प्रकार कर्म का मूर्त्त होना सिद्ध हो जाता है । किन्तु सभी पुद्गल कर्म के योग्य होते हैं, ऐसा नहींसमझ लेना चाहिए । सिर्फ कार्मण वर्गणा के पुद्गल ही, जो अन्य समस्त वर्गणाओ की अपेक्षा सूक्ष्म होते है । वही कर्म रूपमें ग्रहण किये जाते हैं । जिस आत्मा ने कर्मोंके आग-मन के द्वारो को–मिथ्यात्व, अविरति आदि को–नहीं रोका है, वह अति सूक्ष्म और अति स्थूल, पुद्गलो को, जो कि बन्ध के योग्य नहीं होते, छोड कर अनन्त प्रदेशी कर्म योग्य पुद्गलस्कन्धों को ही कर्म के रूप मे ग्रहण करता है । कहा भी है—

जीव अत्यन्त सूक्ष्म और अत्यन्त बादर पुद्गल स्कन्धो को ग्रहण करने में समर्थ नहीं होता । अणु और शर्करा कभी इस रूप से जीव के साथ बद्ध नहीं होते है ॥१॥

कोई पुद्गल अणुरूप और कोई स्कन्धरूप होता है । अत्यन्त सूक्ष्म परिणाम वाले कोई–कोई पुद्गल एक–एक प्रदेश की वृद्धि होते–होते अनन्तप्रदेशी हो जाते हैं । जिनेन्द्र भग-वन्तो ने कहा है कि कितनेक अनन्त प्रदेशी स्कन्ध भी अग्राह्य होते है ॥२॥

उन स्कन्धो मे भी एक–एक प्रदेश की वृद्धि हो कर जो पाँच रस, पाँच वर्ण, दो गध और चार स्पर्श वाले अगुरु लघु, अवस्थित और जीव प्रदेशो के साथ एक ही क्षेत्र में अव-गाढ हों और कर्मरूप में परिणत होने के योग्य हों, वही पुद्गल कर्मरूप मे ग्रहण किये जाते है । ४।

"अणवोऽसेत्स्यद्भ्योऽनन्तगुणाः सिद्धवदनन्ततमभागाः ।
एकस्कन्धीभूताः स्कन्धानां चापि मानं तत् ॥५॥
"औदारिकादिशेषद्रव्यादाने स एव विधिरुक्तः ।
तत्राद्यस्य स्कन्धाः सर्वेऽल्पिष्ठप्रदेशास्तु ॥६॥
"तेभ्योऽसंख्येयगुणा वैक्रिययोग्याः प्रदेशतः स्कन्धाः ।
आहारकस्य तेभ्योऽपि तथा स्कन्धा असंख्येयगुणाः ॥७॥
"तेभ्यः प्रभृतितथैवाऽनन्ताभ्यस्ताः प्रदेशतः स्कन्धाः ।
क्रमशस्तैजसभाषा द्रव्यमनःकर्मणां योग्याः ॥८॥ इति ॥

तथाच--सकषायो जीव औदारिकवैक्रिय-आहारक-तैजस-भाषा-प्राणा-ऽपान-मन -कर्म भेदे-नाऽष्टविधेषु परमाणुद्विप्रदेशादिस्कन्धप्रभृतियावद् अचित्तमहास्कन्धपर्यन्तेषु पुद्गलेषु मध्ये ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीय मोहनीय-नाम-गोत्रा-ऽऽयुष्या-ऽन्तरायकर्मवर्गणायोग्यानेव सूक्ष्मपरिणतियोग्यान्, न तु बादरपरिणतियोग्यान् पुद्गलानादत्ते कर्त्राऽऽत्मना ज्ञानावरणादिसमर्थास्ते पुद्गला आदीयमाना ज्ञानमाव्रियते येन कर्मणा तद्ज्ञानावरण कर्म,--

---

अभव्य जीवो की राशि से अनन्तगुण और सिद्धो से अनन्तवे भाग परमाणु मिलकर एक स्कन्ध (पिण्ड) के रूप मे परिणत हुए हों, यह स्कन्धो का परिमाण है ॥५॥

औदारिक आदि शेष पुद्गलद्रव्यो के ग्रहण करने की भी यही विधि कही गई है। औदारिक वर्गणा के सभी स्कन्ध अल्प प्रदेशो वाले होते है ॥६॥

उन औदारिक शरीर के योग्य स्कन्धो की अपेक्षा वैक्रिय शरीर के योग्य स्कन्ध प्रदेशों की अपेक्षा असख्यात गुणा अधिक होते है और वैक्रिय शरीर की अपेक्षा आहारक शरीर के योग्य स्कन्ध प्रदेशो की अपेक्षा असख्यातगुणा होते है ॥७॥

आहारक शरीर के योग्य स्कन्धो की अपेक्षा क्रमश. अनन्तगुणित प्रदेशो वाले स्कन्ध तैजस शरीर के योग्य होते हैं। तैजस शरीर के योग्य स्कन्धों से अनन्तगुणित प्रदेशों वाले स्कन्ध भाषा के उनसे अनन्तगुणित प्रदेशों वाले स्कन्ध प्राणापान के, उनसे अनन्त गुणित प्रदेशो वाले स्कन्ध मन के तथा उनसे भी अनन्त गुणित प्रदेशो वाले स्कन्ध कर्म के योग्य होते है ॥८॥

कषाय युक्त जीव औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस, भाषा, प्राणापान, मन और कर्मवर्गणा के भेद से आठ प्रकार के, परमाणु द्विप्रदेशी स्कन्ध आदि से लगाकर सर्वलोक व्यापी अचित्त महास्कन्ध पर्यन्त, पुद्गलो मे से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय मोहनीय नाम, गोत्र, आयु और अन्तराय कर्मवर्गणा के योग्य सूक्ष्म परिणमन वाले पुद्गलो को ही ग्रहण करता है, बादर परिणमन के योग्य पुद्गलो को नहीं। आत्मा ज्ञान के आवरण मे समर्थ उन पुद्गलो को ग्रहण करता है।

"घटकादिभाविनो मृदवयवा आम्रेडिता यथा पिण्डे ।
तद् वद् ज्ञानावरणादिकर्मदेशा अपि ज्ञेयाः ॥३॥
आम्रेडितमविभक्तं यद्यप्यष्टविधमिष्यते कर्म ।
एवमपि जिनैर्दृष्टं नानात्वं प्रकृतितस्तस्य ॥४॥
"पुद्गलता साम्येपि द्रव्याणा ननु विपाकतो भेदः ।
दृष्टः पित्तकफानिलपरिणामवता स्वगुणभेदात् ॥५॥
"यस्य गुणो यादृक् स्यात् तादृशमेव भवति तस्य फलम् ।
नहि जाम्बवानि निम्बः फलति न जम्बुश्च निम्बानि ॥६॥
"कर्मतरवोऽपि तद्वन्नाना स्व-स्वप्रयोगपरिषिक्ताः ।
नाना स्वस्वगुणसमान फलन्ति तांस्तान् गुणविशेषान् ॥७॥ इति ॥

"उक्तञ्च—समवायाङ्गसूत्रे ५-समवाये—"जोगबन्धे—कसायबन्धे य—" इति योगबन्ध —कषायबन्धश्चेति। एव-स्थानाङ्गे२—स्थाने २—उद्देशके,—"दोहिं ठाणेहिं पावकम्मा बंधंति, तंजहा—

अनाभोगिक वीर्य के द्वारा रस को पचाकर वह अनाभोगिक वीर्य के द्वारा ही उसे धातु रूप मे परिणत करता है ॥२॥

जैसे घट आदि मे होने वाले मृत्तिका के अवयव पिण्ड में समाहित होते है, इसी प्रकार ज्ञानावरणीय आदि कर्मो के देश (अवयव) भी समझ लेना चाहिए ॥३॥

कर्म यद्यपि समाहित एव अविभक्त है—कार्मण वर्गणा द्रव्य की अपेक्षा से एक रूप है, फिर भी जिनेन्द्रोने प्रकृतिके भेद से उसे आठ प्रकार का देखा है, अर्थात् कर्म की प्रकृतियाँ आठ होने से कर्म के आठ भेद माने गए है ॥४॥

जैसे पुद्गलत्व की अपेक्षा से सभी पुद्गल द्रव्य समान है, फिर भी उनके विपाक में अन्तर देखा जाता है । कोई द्रव्य पित्तकारी होता है, कोई कफजनक होता है और कोई वातवर्द्धक होता है, इस प्रकार गुणो में भेद होने से उन-उन द्रव्यो मे भी भेद माना जाता है, इसी प्रकार कर्मों मे भी प्रकृति के भेद से भेद माना गया है ॥५॥

जिस कर्म की जैसी प्रकृति (गुण स्वभाव) है, उसका विपाक- फल भी वैसा ही होता है । जामुन में निबौली नहीं लगती और नीम के वृक्षमें जामुन नहीं लग सकते ॥६॥

इसी प्रकार नाना प्रकार के अपने प्रयोग रूपी जल से सींचे हुए कर्म रूपी वृक्ष भी अपने-अपने स्वभाव के अनुसार नाना प्रकार के फलो को उत्पन्न करते है ॥७॥

समवायाग सूत्र के पाँचवे समवाय मे कहा है—योग से होने वाला बन्ध और कषाय से होने वाला बन्ध ।

इसी प्रकार स्थानाग सूत्र के द्वितीय स्थान के दूसरे उद्देशक मे कहा है—'पापकर्मो का बन्ध दो कारणो से होता है, यथा—राग से और द्वेष से । राग दो प्रकार का कहा गया है—

एवं-दर्शनमाव्रियते येन तद्दर्शनावरणं कर्म,इत्येव रीत्या ज्ञानावरणादिसमर्थान्-पुद्गलान् विहाय ज्ञानावरणादिसञ्ज्ञाः सिध्यन्ति एवञ्च-एकलोलीभूत आत्मप्रदेशकर्मपुद्गलपिण्डः आत्मप्रदेशानां ज्ञानावरणादिसमर्थपुद्गलानां च परस्परानुगमनलक्षणो बन्धो व्यपदिश्यते ।

कार्मणशरीरमात्मैक्यात् योगकषायपरिणतियुक्तमपि ज्ञानावरणादिकर्मयोग्यपुद्गलानामात्मसात्करणे एकत्वपरिणामापादने समर्थं भवति । अत कार्मणशरीरेण तद्योग्यपुद्गलानां ग्रहणकृतो बन्ध उच्यते,। यथा—दीप ऊष्मगुणयोगाद् वर्त्या स्नेहमादाया-ऽर्चीरूपेण परिणमयति, तथा आत्मदीपो राग-द्वेषादिगुणयोगात् काषादियोगवर्त्या ज्ञानावरणादिकर्मयोग्यपुद्गलस्कन्धानादाय ज्ञानावरणादिकर्मतया परिणतिमासादयति । तथाच—स्नेहाभ्यक्ते शरीर उदकार्द्रीभूते वस्त्रे वा धूलिरज प्रभृति कणा लगन्ति मलिनयन्ति च एव—रागादिस्नेहाभ्यक्तस्याऽऽत्मन कार्मणशरीरपरिणामोऽपूर्वकर्मग्रहणे योग्यता प्रापयति, आत्मशरीरयोरैक्यादिना भोगवीर्यत कर्मबन्धो भवतीति भावः । तथाचोक्तम्

"अपि चायं प्रायोगिकबन्धः स च भवति कर्तृसामर्थ्यात् ।
इष्टश्च स प्रयोगोऽनाभोगिकवीर्यस्तस्य ॥१॥
"ननु वीर्येणाऽनाभोगिकेन परिपाच्यरसमुदाहरति ।
परिणमयति धातुतया स च तमनाभोगवीर्येण ॥२॥

जो कर्म ज्ञान को आच्छादित करता है वह ज्ञानावरण कहलाता है। इसी प्रकार जो दर्शन गुण को आच्छादित करता है उसे दर्शनावरण कर्म कहते है। इस प्रकार ज्ञान आदि गुणो को आवृत करने मे समर्थ कर्म पुद्गलो की ज्ञानावरण आदि सञ्ज्ञाएँ प्रसिद्ध है।

इस प्रकार आत्मा के प्रदेशो के साथ कर्मपुद्गलो का एकमेक हो जाना बन्ध कहलाता है।

कार्मण शरीर आत्मा के साथ एकमेक हो रहा है। योग और कषाय से युक्त आत्मा ज्ञानावरण आदि कर्मो के योग्य पुद्गलो को ग्रहण करता है। इस कारण कार्मण शरीर के द्वारा कर्मयोग्य पुद्गलों का ग्रहण करना बन्ध कहा जाता है। जैसे दीपक अपनी उष्णता के कारण बत्ती के द्वारा, तैल ग्रहण करके ज्वाला के रूप में परिणत करता है, उसी प्रकार आत्मा रूपी दीपक राग-द्वेष आदि गुणो के योग से कषाय एव योग रूपी बत्ती से ज्ञानावरण आदि कर्मो के योग्य पुद्गल स्कधो को ग्रहण करके ज्ञानावरण आदि कर्मों के रूप मे परिणत करता है।

जैसे तैल से लिप्त शरीर में और जल से गीले हुए वस्त्र में धूल और रेत के कण चिपक जाते है और शरीर या वस्त्र को मलीन बना देते है, उसी प्रकार रागादि की चिकनाई से चिकना बना हुआ आत्मा नवीन कर्मों को ग्रहण करने के योग्य होता है। आशय यह है कि आत्मा और शरीर के एकमेक होने से आभोग वीर्य के द्वारा कर्मका बन्ध होता है। कहा भी है—

यह प्रायोगिक बन्ध कर्त्ता के सामर्थ्य से उत्पन्न होता है और उसके अनाभोगिक वीर्य से माना गया है॥१॥

"घटकादिभाविनो मृदवयवा आम्रेडिता यथा पिण्डे ।
तद् वद् ज्ञानावरणादिकर्मदेशा अपि ज्ञेयाः ॥३॥
आम्रेडितमविभक्तं यद्यप्यष्टविधमिष्यते कर्म ।
एवमपि जिनैर्दृष्टं नानात्वं प्रकृतितस्तस्य ॥४॥
"पुद्गलता साम्येऽपि द्रव्याणां ननु विपाकतो भेदः ।
दृष्टः पित्तकफानिलपरिणामवतां स्वगुणभेदात् ॥५॥
"यस्य गुणो यादृक् स्यात् तादृशमेव भवति तस्य फलम् ।
नहि जाम्बवानि निम्बः फलति न जम्बुश्च निम्बानि ॥६॥
"कर्मतरवोऽपि तद्वन्नाना स्व-स्वप्रयोगपरिपिक्ताः ।
नाना स्वस्वगुणसमान् फलन्ति तास्तान् गुणविशेषान् ॥७॥ इति ॥

"उक्तञ्च—समवायाङ्गसूत्रे ५-समवाये—"जोगबन्धे—कसायबन्धे य—" इति योगबन्ध—कषायबन्धश्चेति । एव-स्थानाङ्गे२—स्थाने २—उद्देशके,—"दोहिं ठाणेहि पावकम्मा बंधंति, तंजहा—

अनाभोगिक वीर्य के द्वारा रस को पचाकर वह अनाभोगिक वीर्य के द्वारा ही उसे धातु रूप में परिणत करता है ॥२॥

जैसे घट आदि मे होने वाले मृत्तिका के अवयव पिण्ड मे समाहित होते है, उसी प्रकार ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के देश (अवयव) भी समझ लेना चाहिए ॥३॥

कर्म यद्यपि समाहित एव अविभक्त है—कार्मण वर्गणा द्रव्य की अपेक्षा से एक रूप है, फिर भी जिनेन्द्रोने प्रकृतिके भेद से उसे आठ प्रकार का देखा है, अर्थात् कर्म की प्रकृतियाँ आठ होने से कर्म के आठ भेद माने गए है ॥४॥

जैसे पुद्गलत्व की अपेक्षा से सभी पुद्गल द्रव्य समान है, फिर भी उनके विपाक में अन्तर देखा जाता है । कोई द्रव्य पित्तकारी होता है, कोई कफजनक होता है और कोई वातवर्द्धक होता है, इस प्रकार गुणो में भेद होने से उन-उन द्रव्यो मे भी भेद माना जाता है, इसी प्रकार कर्मों मे भी प्रकृति के भेद से भेद माना गया है ॥५॥

जिस कर्म की जैसी प्रकृति (गुण स्वभाव) है, उसका विपाक- फल भी वैसा ही होता है । जामुन में निबौली नहीं लगती और नीम के वृक्षमें जामुन नहीं लग सकते ॥६॥

इसी प्रकार नाना प्रकार के अपने प्रयोग रूपी जल से सींचे हुए कर्म रूपी वृक्ष भी अपने-अपने स्वभाव के अनुसार नाना प्रकार के फलो को उत्पन्न करते है ॥७॥

समवायाग सूत्र के पाँचवे समवाय मे कहा है—योग से होने वाला बन्ध और कषाय से होने वाला बन्ध ।

इसी प्रकार स्थानाग सूत्र के द्वितीय स्थान के दूसरे उद्देशक मे कहा है—'पापकर्मो का बन्ध दो कारणो से होता है, यथा—राग से और द्वेष से । राग दो प्रकार का कहा गया है—

रागेण य दोसेण य–"। "रागे दुविहे पण्णत्ते, तंजहा–माया य लोभे य"। "दोसे दुविहे पण्णत्ते, तंजहा–कोहे य माणे य–"इति।

द्वाभ्यां स्थानाभ्या पापकर्माणि बध्यन्ते, तद्यथा–रागेण च,द्वेषेण च,। रागो द्विविध· प्रज्ञप्त·-तद्यथा माया च–लोभश्च। द्वेषो द्विविध प्रज्ञप्त·–तद्यथा-क्रोधश्च मानश्चेति। एव प्रज्ञापनाया त्रयोविंशति पदेऽपि ॥१॥

मूलसूत्रम्—"सो चउव्विहो, पगइ-ठिइ-अणुभाग-पएसभेयओ–" ॥२॥

छाया—"स चतुर्विधः-प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशभेदत–" ॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रोक्तो बन्ध· किमेकप्रकार एव, आहोस्विदनेकप्रकार·–३ इत्याकाङ्क्षायामाह–"सो चउव्विहो" इत्यादि। तथाच–प्रकृतिबन्ध –१ स्थितिबन्ध –२ अनुभागबन्ध –३ प्रदेशबन्धश्च–४ इत्येव चतुर्विधो बन्ध इति फलितम्।

तत्र–प्रकृतिबन्ध· कर्मण· प्रकृतयोऽशा· भेदाः ज्ञानावरणीयादयोऽष्टौ, तासा बन्ध –प्रकृतिबन्ध·,प्रकृतेर्वाऽविशेषितस्य कर्मणो बन्ध· प्रकृतिबन्ध·। १

स्थितिबन्ध·—अध्यवसायविशेषगृहीतस्य कर्मदलिकस्य स्थितिकालनियमनम् अष्टाना ज्ञानावरणीयादिकर्मप्रकृतीनां जघन्यभेदभिन्नावस्थानस्य निवर्तन वा स्थितिबन्ध उच्यते ॥२॥

अनुभागबन्ध·–अनुभागो विपाकस्तीव्रादिभेदो रसस्तस्य बन्धोऽनुभागबन्ध ॥३॥

माया और लोभ। द्वेष भी दो प्रकार का कहा गया है–क्रोध और मान।, प्रज्ञापनासूत्र के तेवीसवे पद में भी इसी प्रकार का प्ररूपण किया गया है ॥१॥

तत्त्वार्थदीपिका—"सो चउव्विहो, पगइ-ठिइ' इत्यादि। सूत्र–२

सूत्रार्थ—बन्ध चार प्रकार का है–प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध ॥२॥

पूर्व सूत्र मे कथित बन्ध क्या एक ही प्रकार का है अथवा अनेक प्रकार का है? इस प्रकार की जिज्ञासा होने पर कहते है–बन्ध के चार भेद है (१) प्रकृतिबन्ध (२) स्थितिबन्ध (३) अनुभागबन्ध और (४) प्रदेशबन्ध।

१–प्रकृतिबन्ध–प्रकृति का अर्थ है–अंश या भेद उसके ज्ञानावरण आदि आठ भेद है। उनका बन्ध होना प्रकृतिबन्ध कहलाता है। अथवा अविशिष्ट–साधारण जो कर्मद्रव्य हैं उनमें नाना प्रकार की प्रकृतियाँ अर्थात् ज्ञानादि गुणो को आवृत करने के विभिन्न स्वभावो का उत्पन्न हो जाना प्रकृतिबन्ध है।

२–स्थितिबन्ध–परिणामविशेष के द्वारा ग्रहण किये हुए कर्म के दलिकों की आत्मा के साथ बँधे रहने को कालमर्यादा को स्थितिबन्ध कहते है। अथवा ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मप्रकृतियो के जघन्य आदि भेद से भिन्न अवस्थान का निर्वर्तन स्थिति बन्ध कहलाता है।

३–अनुभागबन्ध –अनुभाग अर्थात् गृहीत कर्मदलिको मे उत्पन्न होने वाला तीव्र या

प्रदेशवन्धः—जीवप्रदेशेषु-कर्मप्रदेशेषु कर्मप्रदेशानामनन्तानन्ताना प्रतिप्रकृतिप्रतिनियतपरिमाणानां सम्बन्धरूपो बन्धभेद । कर्मपुद्गलाना—पदग्रहण स्थितिरसनिरपेक्षदलिकसख्याप्रधानत्वेनैव करोति यः स प्रदेशवन्ध उच्यते ॥४॥

तथाचोक्तम् "प्रकृतिः परिणामः स्यात् स्थितिः कालावधारणम् ।
अनुभागो रसो ज्ञेयः—प्रदेशः प्रचयात्मकः ॥१॥ इति ।

तत्र—योगहेतुकौ प्रकृतिप्रदेशवन्धौ भवत , कषायहेतुकौ च स्थित्यनुभागौ स्त , तत्प्रकर्षाप्रकर्षभेदात् तदवन्धविचित्रभाव सम्भवति ।

उक्तञ्च—"जोगा पयडिपएसा ठिइअणुभागा कसायओ कुणइ ।
अपरिदुच्छिण्णे सुयवंधट्ठिदिकारणं णत्थि ॥१॥ इति ।

"योगात्प्रकृतिप्रदेशौ—स्थित्यनुभागौ कषायत' करोति ।
अपरिणतोच्छिन्नयोगश्च वन्धस्थितिकारण नास्ति ॥१ इति ॥

अपरिणतस्य—उपशान्तकषायस्य, उच्छिन्नस्य-क्षीणकपायादिकस्य च स्थितिवन्धहेतुर्न भवति इति ॥

त[त्त्वा]र्थनिर्युक्तिः—अथ पूर्वसूत्रोक्तलक्षण खलु कर्मभाववन्ध किमेकविध—? उताहो-अनेकविध'—? इत्याशङ्कायामाह "सो चउव्विहो" इत्यादि । स खलु पूर्वसूत्रोक्त कर्मभाववन्धश्चतुर्विध

मन्द विपाक—रस, उसका बन्ध अनुभागवन्ध कहलाता है ।

४—प्रदेश बन्ध—जीवप्रदेशो मे, कर्मप्रदेशो मे अनन्त कर्म प्रदेशो का प्रत्येक प्रकृति मे नियत परिमाण के रूप मे सम्बध होना प्रदेशवन्ध है । कर्मदलिको का सचय प्रदेशबन्ध कहलाता है अत स्थिति और रस की अपेक्षा न रखते हुए दलिको की सख्या की प्रधानता से ही जो बध हो उसे प्रदेशबन्ध समझना चाहिए । कहा भी है—

'परिणाम को प्रकृति कहते है, काल की अवधि को स्थिति कहते है, रस को अनुभाग और दलिको का प्रचय—समूह को प्रदेश कहते है ।'

इन चार प्रकार के बन्धो मे प्रकृति और प्रदेश बन्ध योग के निमित्त से होते है तथा स्थितिवन्ध और अनुभागबन्ध कषाय के निमित्त से होते है । योग और कषाय की तीव्रता और मन्दता के भेद से बन्ध मे विविधता हो जाती है । कहा भि है—'योग से प्रकृति और प्रदेश बन्ध तथा कषाय से स्थिति और अनुभागबन्ध जीव करता है । जिस जीव का योग और कषाय अपरिणत होता है अथवा नष्ट होजाता है, उसको विशेष स्थितिवन्ध का कारण नहीं रहता ।

उपशान्त कषाय वीतराग अर्थात् ग्यारहवे गुणस्थान के जीव अपरिणत योग कषाय वाले कहलाते है और क्षीण कषाय आदि जीव उच्छिन्न या विनष्ट योग—कषाय वाले कहलाते है । ऐसे जीवों को जो कर्मवन्ध होता है, उसमे दो समय से अधिक स्थिति नहीं पडती है ॥२॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पिछले सूत्रो मे प्रतिपादित बन्ध क्या एक प्रकार का है या अनेक प्रकार का ? ऐसी आशका होने पर कहते है—

सत्या फलदानक्षमत्वादनुभावबन्धो भवति. स च- सर्वदेशघात्याघात्येक–द्वि-त्रि-चतु स्थान शुभाशुभतीव्रमन्दादिरूप इयत्तपरिच्छेदलक्षण प्रदेश । तथाच–कर्तुरात्मन स्वप्रदेशेषु कर्मपुद्गलद्रव्यपरिमाणपरिच्छेद प्रदेशबन्ध उच्यते ।

एवञ्च–विचित्र खलु पुद्गलपरिणाम कर्तुरात्मनोऽध्यवसायाऽनुगृहीतो भवति । यथा–मोदकोवातपित्तहरो बुद्धिवर्धन समोहकारी–इत्यादिरीत्या जीवसयोगाद् नानाकारेण परिणमते, एव–कर्मवर्गणा योग्यपुद्गलस्कन्धराशिरपि कश्चिदात्मसम्बन्धात् ज्ञानस्यावरण करोति, तदन्य कश्चिद् दर्शनस्य स्थगन विधत्ते, अपर कश्चित् सुखदु खानुभवहेतु र्भवति, कश्चित्पुनस्तत्त्वार्थाश्रद्धान कारयति, इत्यादिबोध्यम् ।

तथाचोक्तम्—"इति कर्मणः प्रकृतयो मूलाश्च-तथोत्तराश्च निर्दिष्टाः ।
तासां यः स्थितिकाल-निबन्धः स्थितिबन्धः स उक्तः ॥१॥
"तासामेव विपाकनिबन्धो यो नाम निर्वचनभिन्नः ।
सरसोऽनुभावसंज्ञस्तीव्रो मन्दोऽथ मध्यो वा ॥२॥
"तेषां पूर्वोक्तानां स्कन्धानां सर्वतोऽपि जीवेन ।
सर्वैर्देशैर्योग विशेषाद् ग्रहणं प्रदेशाख्यम् ॥३॥

अथवा मन्द, मन्दतर और मन्दतम फल प्रदान करने की जो शक्ति उत्पन्न होती है, उसे अनुभाग बन्ध कहते है । कर्मो का अनुभाव कषाय की तीव्रता–मन्दता के अनुसार होता है और इसी कारण वह अनेक प्रकार का है कोई अनुभाग देशघाती तो कोई सर्वधाती होता है । कोई एक स्थानक, कोई द्विस्थानक, कोई त्रिस्थानक तो कोई चतु स्थानक होता ।

आत्मा के प्रदेशो में कर्मपुद्गलद्रव्य के परिमाण का परिच्छेद प्रदेशबन्ध है ।

इस प्रकार आत्मा के अध्यवसायो के कारण पुद्गलो का परिणमन विचित्र प्रकार का होता है । जैसे मोदक वात और पित्त को हरने वाला, बुद्धिवर्धक, समोह कारी होता है, इत्यादि रूप से जीव के सयोग से वह नाना आकारो में परिणत होता है, इसी प्रकार कर्म वर्गणा के पुद्गलों की कोई राशी आत्मा के सम्बन्ध से ज्ञान का आवरण करती है, कोई दर्शन का आवरण करती है, कोई,सुख–दु ख की अनुभूती का कारण होती है, कोई तत्त्वो के विषय मे अश्रद्धा उत्पन्न करती है, इत्यादि । कहा भी है—

इस प्रकार कर्म की मूल और उत्तर प्रकृतियाँ कही गई है, उनकी स्थिति के काल का जो कारण है । वह स्थितिबन्ध कहा गया है ॥१॥

उन प्रकृतियों के विपाक का जो कारण है, जो उनके नाम के अनुसार भिन्न–भिन्न प्रकार का है, उस रस को अनुभाव कहते है । उसमे कोई तीव्र कोई मन्द और कोई मध्यम होता है ॥२॥

प्रज्ञप्त , प्रकृति—स्थित्य नुभाग-प्रदेशभेदात् । तत्र-प्रकृति खलु मूल कारणम्, यथा-घटकपालर्दाना मृद्द्रव्य भवति । प्रक्रियन्ते यस्या सकाशात् सा प्रकृति —स्वभाव इत्यादि उक्तञ्च—' **शैत्यं हि यत् सा प्रकृतिर्जलस्य—**" इति, यथा वा—"**दुष्टप्रकृतिरयं—**" दुष्टस्वभाव इति लोके प्रसिद्धम् ।

ज्ञानावरणकर्मणो ज्ञानाच्छादन प्रकृति स्वभावो वर्तते । तथाच ज्ञानावरणकर्मणा-अर्थानवगमो भवति एव दर्शनावरणकर्मणा-अर्थानालोचन भवति, एव—वेदनीयकर्मादावपि विज्ञेयम्, स्वभाव-वचन प्रकृतिशब्दो भावसाधनो बोध्य । प्रकृतिरूपो बन्ध प्रकृतिबन्ध , ज्ञानावरणादिकर्मात्मनो-रैक्यलक्षण पुद्गलादानरूप तत्स्वभावादप्रच्युत स्थिति रुच्यते, स्थितिशब्दोऽपि भावसाधन ।

उपात्तस्याऽवस्थानकालपरिच्छेदात् स्थितिबन्धो भवति, यथा—गवादीक्षीराणा माधुर्यस्वभावा-दप्रच्यव स्थिति , तथा—ज्ञानावरणादीनामर्थानवगमादिस्वभावादप्रच्यव स्थिति कर्त्रा खलु-आत्मना परिगृहीतस्य कर्मपुद्गलराशेरात्मप्रदेशेष्ववस्थान स्थिति रितिपर्यवसितम्, तया तद्रूपो वा बन्ध स्थितिबन्धः

अनुभागो—ऽनुभाव' कर्मपुद्गलाना स्वगतसामर्थ्यविशेष उच्यते । तथाच—कालान्तरावस्थाने-सति विपाकावस्था अनुभावबन्ध उच्यते, प्राप्तपरिपाकावस्थस्य बदरादेरिवोपभोग्यत्वात् । स्थितौ-

---

पूर्वोक्त कर्मबन्ध चार प्रकार का कहा गया है—(१) प्रकृतिबन्ध (२) स्थितिबन्ध (३) अनु-भागबन्ध और (४) प्रदेशबन्ध । प्रकृति का अर्थ है—मूलकारण, यहाँ उसका आशय स्वभाव है । जैसे—शीतलता जो है सो जल का स्वभाव है, अथवा यह पुरुष दुष्ट प्रकृति है, इसका अर्थ है 'यह पुरुष दुष्ट स्वभाव वाला है । यह उक्ति लोक मे प्रसिद्ध है ।

ज्ञानावरण कर्म की प्रकृति या स्वभाव ज्ञान को अच्छादित करना हैं। इस कारण ज्ञानावरण कर्म के उदय से पदार्थों के ज्ञान का अभाव होता है। दर्शनावरण कर्म के उदय से पदार्थों के आलोचन (सामान्यज्ञान) का अभाव होता है । इसी प्रकार वेदनीय आदि कर्मो की भी विभिन्न प्रकृतियाँ समझ लेना चाहिए। स्वभाव का वाचक प्रकृति शब्द भावसाधन है। प्रकृति रूप बन्ध को प्रकृति-बन्ध कहते है ।

ज्ञानावरण आदि कर्मों का आत्मप्रदेशो के साथ एक भेद होना जो बन्ध है, उसका अपने स्वभाव से च्युत न होना स्थिति है तात्पर्य यह है कि आत्मप्रदेशो के साथ कर्म पुद्गलों के बद्ध रहने के काल की जो अवधि है, वह स्थितिबन्ध है । स्थिति शब्द भी भावसाधन है अर्थात् ठह-रने को स्थिति कहते हैं । गृहीत वस्तु के ठहरने के काल की मर्यादा स्थिति कहलाती है । जैसे गाय आदि के दूध की मधुरता—स्वभाव से च्युत न होना स्थिति है, उसी प्रकार ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के ज्ञानाच्छादन आदि स्वभाव का च्युत न होना स्थिति है । निष्कर्ष यह है कि आत्मा के द्वारा ग्रहण की हुई कर्म—पुद्गलो की राशि का आत्मप्रदेशो मे अवस्थित रहना स्थिति है । उसके द्वारा या उस रूप मे होने वाला बन्ध स्थितिबन्ध है ।

अनुभाग अर्थात् अनुभाव । कर्म पुद्गलो मे रहा हुआ एक विशेष प्रकार का सामर्थ्य अनुभाग है । तात्पर्य यह है कि ग्रहण किये जाते हुए कर्मपुद्गलों मे तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम

सत्या फलदानक्षमत्वादनुभावबन्धो भवति. स च - सर्वदेशघात्याघात्येक—द्वि-त्रि-चतु स्थान शुभाशुभतीव्रमन्दादिरूप इयत्तपरिच्छेदलक्षण प्रदेश । तथाच—कर्तुरात्मन स्वप्रदेशेपु कर्मपुद्गलद्रव्यपरिमाणपरिच्छेद' प्रदेशबन्ध उच्यते ।

एवञ्च—विचित्र'खलु पुद्गलपरिणाम कर्तुरात्मनोऽध्यवसायाऽनुगृहीतो भवति । यथा—मोदको-वातपित्तहरो बुद्धिवर्धन समोहकारी—इत्यादिरीत्या जीवसयोगाद् नानाकारेण परिणमते, एव—कर्मवर्गणा योग्यपुद्गलस्कन्धराशिरपि कश्चिदात्मसम्बन्धात् ज्ञानस्यावरण करोति, तदन्य कश्चिद दर्शनस्य स्थगन विधत्ते, अपर कश्चित् सुखदु खानुभवहेतु र्भवति, कश्चित्पुनस्तत्त्वार्थाश्रद्धान कारयति. इत्यादिबोध्यम् ।

तथाचोक्तम्—"इति कर्मणः प्रकृतयो मूलाश्च-तथोत्तराश्च निर्दिष्टाः ।
तासां यः स्थितिकाल-निबन्धः स्थितिबन्धः स उक्तः ॥१॥
"तासामेव विपाकनिबन्धो यो नाम निर्वचनभिन्नः ।
सरसोऽनुभावसंज्ञस्तीव्रो मन्दोऽथ मध्यो वा ॥२॥
"तेषां पूर्वोक्तानां स्कन्धानां सर्वतोऽपि जीवेन ।
सर्वैर्देशैर्योग विशेपाद् ग्रहणं प्रदेशाख्यम् ॥३॥

अथवा मन्द, मन्दतर और मन्दतम फल प्रदान करने की जो शक्ति उत्पन्न होती है, उसे अनुभाग बन्ध कहते है । कर्मों का अनुभाव कषाय की तीव्रता—मन्दता के अनुसार होता है और इसी कारण वह अनेक प्रकार का है कोई अनुभाग देशघाती तो कोई सर्वघाती होता है । कोई एक स्थानक, कोई द्विस्थानक, कोई त्रिस्थानक तो कोई चतु स्थानक होता ।

आत्मा के प्रदेशो मे कर्मपुद्गलद्रव्य के परिमाण का परिच्छेद प्रदेशबन्ध है ।

इस प्रकार आत्मा के अध्यवसायो के कारण पुद्गलो का परिणमन विचित्र प्रकार का होता है । जैसे मोदक वात और पित्त को हरने वाला, बुद्धिवर्धक, समोह कारी होता है, इत्यादि रूप से जीव के सयोग से वह नाना आकारों मे परिणत होता है, इसी प्रकार कर्म वर्गणा के पुद्गलो की कोई राशी आत्मा के सम्बन्ध से ज्ञान का आवरण करती है, कोई दर्शन का आवरण करती है, कोई,सुख—दु ख की अनुभूती का कारण होती है, कोई तत्त्वो के विषय में अश्रद्धा उत्पन्न करती है, इत्यादि । कहा भी है—

इस प्रकार कर्म की मूल और उत्तर प्रकृतियाँ कही गई है, उनकी स्थिति के काल का जो कारण है । वह स्थितिबन्ध कहा गया है ॥१॥

उन प्रकृतियों के विपाक का जो कारण है, जो उनके नाम के अनुसार भिन्न—भिन्न प्रकार का है, उस रस को अनुभाव कहते है । उसमें कोई तीव्र कोई मन्द और कोई मध्यम होता है ॥२॥

"प्रत्येकमात्मदेशाः कर्मावयवैरनन्तकैर्बन्धाः ।
कर्माणि बध्नतो मुञ्चतश्च सातत्ययोगेन ॥४ इति ॥

उक्तञ्च समवायाङ्गे ४ समवाये— "चउव्विहे बंधे पण्णत्ते, तंजहा पगइबंधे–ठिइबंधे–अणुभावबंधे पएसबंधे–" इति। चतुर्विधो बन्ध प्रज्ञप्त, तद्यथा–प्रकृतिबन्ध -१ स्थितिबन्ध -२ अनुभावबन्ध -३ प्रदेशबन्ध ४ इति ॥२॥

मूलसूत्रम्—"बंधहेउणो पंच मिच्छादंसणाविरइपमायकसायजोगा–" ३॥

छाया —बन्धहेतवःपञ्च, मिथ्याऽदर्शना-ऽविरति-प्रमाद-कषाययोगाः–" ॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वं कर्मभाववन्ध प्ररूपित, सम्प्रति–तस्य बन्धस्य हेतून् प्रतिपादयति–"बंधहेउणो" इत्यादि। तत्र मिथ्यादर्शन तावत् तत्त्वार्थाश्रद्धानम्, कुदेव–कुगुरु-कुधर्माणां श्रद्धानमित्यर्थ सम्यग्दर्शनस्य तत्त्वार्थश्रद्धानरूपस्य प्रतिपक्षरूपम् ।

अविरति–प्राणातिपातादिपापस्थानेभ्योऽनिवृत्तिर्विरतिपरिणत्यभाव–रूपस्य या विपरीतरूपा–प्रमादस्तु–प्रमदन-प्रमत्तता, सदुपयोगाभाव पुण्यकर्मस्वनादर –३ कषाया —क्रोध-मान-माया-

---

उन पूर्वोक्त कर्मस्कन्धो का जीव के द्वारा संपूर्ण प्रदेशो से योग विशेष के द्वारा ग्रहण होना प्रदेशबन्ध है ॥३॥

आत्मा का प्रत्येक प्रदेश अनन्त–अनन्त कर्म प्रदेशो से बद्ध है। यह जीव निरन्तर योग के कारण कर्मों का बन्ध करता है और उनकी निर्जरा भी करता रहता है ॥४॥

समवयाग सूत्र के चौथे समवाय मे कहा है–बन्ध चार प्रकार का कहा गया है वह इस प्रकार है–(१) प्रकृतिबन्ध (२) स्थितिबन्ध (३) अनुभावबन्ध और (४) प्रदेशबन्ध ॥२॥

सूत्रार्थ—'बंधहेउणो पंच'–इत्यादि सूत्र ॥३॥

कर्मबन्ध के पाच कारण है (१) मिथ्यादर्शन (२) अविरति (३) प्रमाद (४) कषाय और (५) योग ॥३॥

तत्त्वार्थदीपिका—पहले कर्मबन्ध के प्रकार प्रदर्शित किये गये है, अब उसके हेतुओ का प्रदिपादन करते है मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग, ये कर्मबन्ध के कारण है। इन का अर्थ इस प्रकार है—

१–मिथ्यादर्शन–तत्त्वार्थ को अर्थात् कुदेव, कुगुरु और कुधर्म के श्रद्धान को मिथ्यादर्शन कहते है। तत्त्वार्थश्रद्धान रूप सम्यग्दर्शन का यह विरोधी है।

२–अविरति–प्राणातिपात आदि पापस्थानो से निवृत्त न होना। यह अविरति विरति रूप परिणति से विपरीत है।

३–प्रमाद–प्रमदन, प्रमत्तता, समीचीन उपयोग का अभाव पुण्य कृत्यों में अनादर यह सब प्रमाद है।

लोभा',अनन्तससारानुवन्धिन –४ योगा पुनर्मनो-वाकायव्यापारलक्षणा'-५ एते पञ्च तावद्वन्धस्य कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलस्कन्धानाम् आत्मप्रदेशानाञ्च परस्परानुगमनलक्षणस्य हेतवो भवन्ति । एते खलु पञ्च सर्वकर्मवन्धस्य सामान्यहेतवोऽवसेया ।

ज्ञानावरणादेस्तु-विशेषहेतवोऽग्रे वक्ष्यन्ते । तत्र–मिथ्यादर्शनं तावद् द्विविधम् नैसर्गिकम्–परोपदेशनिमित्तञ्च । तत्र परोपदेश विनैव मिथ्यात्वकर्मोदयवशाद् यत् तत्वार्थाश्रद्धानलक्षण मिथ्यादर्शन प्रादुर्भवति, तन्नैसर्गिकमुच्यते ।

परोपदेशनिमित्तकञ्च-मिथ्यादर्शन चतुर्विध प्रज्ञप्तम् क्रियावाद्यक्रियावाद्यज्ञानिवैनयिकभेदात् । यद्वा–मिथ्यादर्शन पञ्चविधम् एकान्तमिथ्यादर्शनम्–१ विपरीतमिथ्यादर्शनम्–२ सशयमिथ्यादर्शनम्–३ वैनयिकमिथ्यादर्शनम्–४ अज्ञानमिथ्यादर्शन–५ चेति । १

अविरतिस्तु–द्वादशविधा भवति,षट्काय-षट्करणविषयविकल्पात्–२ प्रमाद खलु वहुविध प्रज्ञप्त', पञ्चसमिति–त्रिगुप्ति-शुद्ध्यष्टकोत्तमक्षमादिविषयभेदात्–३ कषाया पुन –षोडशकषाय–नवनोकषायभेदेन पञ्चविंशतिविधा –४ योगस्तु–चतुर्मनोयोग-४ चतुर्वाग्योग-४ पञ्चकाययोग–५भेदेन

४–कषाय–अनन्त ससार की परम्परा को भमाने वाले क्रोध, मान, माया और लोभ को कषाय कहते है ।

५–योग–मन, वचन और काय का व्यापार योग है ।

ये पाँचों कर्मवर्गणा के पुद्गलस्कन्धों और आत्मप्रदेशो के परस्पर सम्वन्ध रूप बन्ध के कारण है । ये पाँचो समस्त कर्मों के वन्ध के सामान्य कारण समझना चाहिए ।

ज्ञानावरण आदि के बन्ध के विशेष हेतु आगे कहेंगे ।

मिथ्यादर्शन दो प्रकार का है –नैसर्गिक और परोपदेशनिमित्त जो मिथ्यादर्शन परोपदेश के बिना ही मिथ्यात्वमोहनीय कर्म के उदय से उत्पन्न हो जाता है, वह नैसर्गिक कहलाता है ।

परोपदेश से उत्पन्न होने वाला मिथ्यादर्शन चार प्रकार का कहा गया है–(१) क्रियावादी (२) अक्रियावादी (३) अज्ञानिक और (४) वैनयिक ।

अथवा मिथ्यादर्शन पाँच प्रकार का है–(१) एकान्त मिथ्यादर्शन (२) विपरीत मिथ्यादर्शन (३) सशय मिथ्यादर्शन (४) वैनयिक मिथ्यादर्श (५) अज्ञानमिथ्यादर्शन ।

अविरति वारह प्रकार की है –षट्ट काय और षट् इन्द्रीयों के विषय । अर्थात्छह कायों के जीवों की हिंसा से निवृत होना और मनसहित छहों इन्द्रियो के विषय में रागद्वेष धारण करना। प्रमाद वहुत प्रकार का कहा गया है, पाँच समीतियो में प्रमाद करना, तीन गुप्तियों में प्रमाद करना, शुद्ध्यष्टक में सावधान न रहना, उत्तम क्षमा आदि दश प्रकार के धर्मों मे प्रमाद करना आदि । सोलह कपाय और नौ नो कषाय मिल कर पचीस कषाय है । चार मनोयोग, चार वचन योग, पाँच काययोग, यों तेरह प्रकार के योग है आहारकशरीर के धारक प्रमत्त

त्रयोदशविधा॰ सन्ति आहारककाययोग- आहारकमिश्रकाययोगयो प्रमत्तसयतवर्तिनो र्भेदेन पुन॰ पञ्चदशविधा. भवन्ति ।

एते मिथ्यादर्शनादय॰ पञ्च समस्ता-व्यस्ताश्च बन्धहेतवो भवन्ति । तत्र--मिथ्यादर्शिन पञ्चापि समुदिता बन्धहेतव , सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्ट्यसयतसम्यग्दृष्टीनामविरतिप्रमादकषाययोगा-श्चत्वारो बन्धहेतवो भवन्ति । सयतासयतस्य-विरति-मिश्रा-ऽविरति , प्रमाद-कषाययोगाश्च बन्धहे-तव । अप्रमत्तादीनां चतुर्णा--योगकषायौ बन्धहेतू ।

उपशान्तकषाय-क्षीणकषाय-सयोगिकेवलिनामेक एव योगो बन्धहेतु. अयोगिकेवलिनो न बन्धहेतुर्भवति कश्चिदिति भाव ॥३॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः---पूर्वसूत्रे कर्मभावबन्ध॰ प्ररूपित सम्प्रति--बन्धस्य पञ्चहेतून् प्ररूपयि-तुमाह--"**वंधहेउणो पंच मिच्छादंसणाऽविरइपमायकसायजोगा**--" इति । बन्धहेतव॰ पञ्च, मिथ्यादर्शनाऽविरति-प्रमाद--कषाय--योगा इति,

बन्धस्य-कर्मभावबन्धस्य हेतव सामान्यहेतवो मिथ्यादर्शनादय॰ पञ्च सन्ति । तत्र--तत्त्वातत्त्वार्थ-श्रद्धानलक्षण सम्यग्दर्शनस्य विपरीत मिथ्यादर्शन तत्त्वार्थाश्रद्धानलक्षण बोध्यम् । अविरतिश्च --अवद्यस्थानेभ्यो निवृत्तिलक्षणा विरति॰ विपरीता पापस्थानेभ्योऽनिवृत्तिलक्षणाविरतिर्विपरीत्यभावरूपा ।

सयत में आहारककाय योग और आहारकमिश्र काययोग भी होते है । इन्हे मिलाने से योग के पन्द्रह भेद हो जाते है ।

मिथ्यादर्शन आदि पूर्वोक्त पाँच मिले हुए भी कर्मबन्ध के कारण होते है और पृथक्--पृथक् भी कारण होते हैं । मिथ्यादृष्टि में पाँचो मिले हुए कारण होते है । सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्--मिथ्या दृष्टि (मिश्रदृष्टि) असयतसम्यग्दृष्टि में अविरति, प्रमाद, कषाय और योग, ये चार बन्ध कारण पाये जाते है । सयतासयत्त (देशविरत) मे विरतिमिश्रित अविरति, प्रमाद, कषाय और योग कारण होते है । सयतासयत (देशविरत) मे विरति मिश्रित अविरति प्रमाद कषाय और योग कारण होते हैं । प्रमत्तसयत में प्रमाद, कषाय और योग कारण होते है अप्रमत्त आदि चार गुणस्थानो मे योग और कषाय कारण है । उपशान्त कषाय, क्षीण कषाय तथा सयोगि केवली मे अकेला योग ही बन्ध का कारण होता है । अयोगि केवली मे बन्ध का कोई कारण न रहने से बन्ध ही नहीं होता ॥३॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति---पूर्वसूत्र मे कर्मभावबन्ध का प्ररूपण किया गया है, अब बन्ध के पाँच हेतुओं का निरूपण करने के लिए कहते है--बन्ध के पाँच कारण है--मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ।

कर्मबन्ध के इन सामान्य कारणो मे पहला मिथ्यादर्शन है । तत्त्वार्थश्रद्धान रूप सम्यग्दर्शन से विपरीत तत्त्वार्थ का अश्रद्धान मिथ्यादर्शन कहलाता है । पापस्थानो से निवृत्ति को विरति कहते है, उससे जो विपरीत है अर्थात् पापस्थानोसे निवृत्त न होता है, उसे अविरति कहते है । इन्द्रियों

प्रमाद पुन-रिन्द्रियविकथोत्कटनिद्रारूप, इन्द्रियदोषान्मोक्षमार्गशैथिल्य प्रमाद कुशलकर्मसु वा-ऽनादरः । कषायस्तु—क्रोध-मान-माया-लोभा अनन्तानुबन्धिप्रभृतयश्च ते । योगा पुन र्मनो-वा-क्कायव्यापारविशेषा. । एते पञ्च मिथ्यादर्शनादय कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलस्कन्धानामात्मप्रदेशानाञ्च परस्परानुगतिलक्षणस्य बन्धस्य सामान्यहेतवो भवन्ति ।

तत्र--मिथ्यादर्शनादीनां वाच्यार्थस्तु--मिथ्या-ऽयथार्थम्--अलीक दर्शन-दृष्टि, अयथार्थश्रद्धान-मिथ्यादर्शनम् हिंसादिसावद्यव्यापारतो विरमण-विरति सयम । न विरतिरविरतिः असयम, प्राणि-वधादिगर्हितकर्मतोऽनिवृत्ति प्रमाद्यत्यनेनेति प्रमाद, अनवधानत्वम् । कष्यते-हिंस्यते शारीर-मानस-दु:खैरात्मा यत्र स कष ससार, तस्याऽऽया आगमनहेतव, उपादानकारणानि वा कषाया क्रोध--मान-माया-लोभा ।

युज्यतेऽनेन मनोवाक्कायव्यापारलक्षणेन नो कर्मणा योगद्रव्येण-वीर्यान्तरायकर्मक्षयोपशमज-नितेन, वीर्यपर्यायेण वा इति योग । तत्र--सम्यग्दर्शनाद् विपरीतम् अयथार्थश्रद्धानलक्षण मिथ्याद-र्शन द्विविध प्रज्ञप्तम्, अभिगृहीतम्--अनभिगृहीतञ्च । सन्दिग्धन्तु-अनभिगृहीतमिथ्यादर्शनभेद । तत्र-मत्यज्ञानादिकिमपि परिकल्प्याऽसम्यग्दर्शनाऽभ्युपगम -"एतदेवैकं सत्य" मित्येव रूपोऽभ्यु-

---

के विषयो मे राग --द्वेष पूर्वक प्रवृत्ति करना, विकथाए करना, गहरी और खूब निद्रा लेना, इन्द्रियो के दोष से मोक्षमार्ग मे शिथिलता होना अथवा कुशल कृत्यो में आदरभाव न होना प्रमाद कहलाता है। अनन्तानुबन्धी आदि के भेद से चार--चार प्रकार के क्रोध, मान, माया और लोभ कषाय है। मानसिक, वाचनिक और कायिक व्यापार योग कहलाता है। ये मिथ्या-दर्शन आदि पाँच कर्मबन्ध के सामान्य कारण है।

मिथ्यादर्शन आदि का शब्दार्थ इस प्रकार है--मिथ्या अर्थात् अयथार्थ--झूठा, दर्शन अर्थात् दृष्टि। अभिप्राय यह है कि अयथार्थ श्रद्धान मिथ्यादर्श है। हिंसा आदि पापमय कृत्यों से विरत होना विरति अर्थात् सयम है। विरति न होना अविरति अर्थात् असयम है, जिसका अभिप्राय है हिंसा आदि निन्द्य कर्मो का त्याग न करना। सावधान न रहना प्रमाद कहलाता है। कष का जिससे आय हो, वह कषाय। जीव जहाँ शारीरिक और मानसिक दु खों से कसा जाता है--पीडित किया जाता है, वह ससार 'कष' है और उसके 'आय' अर्थात् आगमन के जो आभ्य-न्तर करण है उन्हे, कषाय कहते है। क्रोध, मान, माया और लोभ कषाय है।

जिस मन वचन और काय के व्यापार के द्वारा, नो कर्म से योग द्रव्य से या वीर्यान्त-राय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न वीर्य पर्याय के द्वारा जो युक्त किया जाय, वह योग है।

इनमे से मिथ्यादर्शन दो प्रकार का है--अभिगृहीत और अनभिगृहीत। सदिग्ध अनभिगृ-हीत मिथ्यादर्शन का भेद है। मतिज्ञान आदि किसी भी विषय को दृष्टि मे रख कर असम्यग्-दर्शन को स्वीकार करना, जैसे 'यही सत्य है' यह अभिगृहीत मिथ्यादर्शन कहलाताहै। उससे

पगम' । अभिगृहीत मिथ्यादर्शनमुच्यते तद्भिन्न मिथ्यादर्शनमनभिगृहीतमुच्यते । सन्दिग्धमप्यनभिगृहीतमिथ्यादर्शनविशेषएवेति भावः ।

प्रमादस्त्रिविध' प्रज्ञप्त', स्मृत्यनवस्थानम् कुशलेष्वनादर --योगदुष्प्रणिधानञ्च । तथाच--पूर्वोनुभूतवस्तुविषयस्मृतिभ्रंशलक्षण स्मृत्यनवस्थान प्रमाद , विकथाद्यासक्तचित्तत्वादिद विधाय-इदं-कर्तव्यमिति न स्मर्यते, एव कुशलेषु आगमविहितेषु क्रियाकलापानुष्ठानेषु अनादरोऽनुत्साहोऽप्रवृत्तिलक्षणः प्रमाद' । योगानां मनोवाक्कायव्यापाराणा दुष्टेन प्रणिधानेन आर्तध्यानपरायणेन चेतसा समाचरण दुष्प्रणिधान प्रमादोऽवगन्तव्य' ।

कषायस्तु--प्रधानतया चतुविध क्रोधकषाय --मानकषाय ---मायाकषाय --लोभकषायश्च । चतुर्विधोऽपि कषाय' प्रत्येक पुनश्चतुर्विध अनन्तानुबन्ध्यादिभेदात् । तथाच---षोडशकषाया', नव-च नोकषाया , सर्वे पञ्चविंशति'कषाया सन्ति । तत्र--त्रयोदशकषाया बन्धहेतवो भवन्ति, । योग पुनर्मनोवाक्कायभेदेन त्रिविध', तत्र---सत्यासत्योभयव्यापारलक्षणो मनोयोगश्च चतुविध । वाग्योगोऽपि सत्यासत्योभयाऽनुभयलक्षणश्चतु' प्रकार । काययोगस्तु-औदारिकवैक्रिया-ऽऽहारक-कार्मणभे-

---

भिन्न मिथ्यादर्शन अनभिगृहीत कहलाता है । तात्पर्य यह है कि संदिग्ध भी अनभिगृहीत मिथ्यादर्शन ही हैं ।

प्रमाद के तीन भेद है--स्मृति का अनवस्थान शुभ कृत्यो मे अनादर होना और योगो का दुष्प्रणिधान होना ।

पहले अनुभव की हुई वस्तु के विषय मे स्मृति न रहना स्मृत्यनवस्थान कहलाता है । विकथा आदि मे चित्त रमा रहने के कारण स्मरण नहीं रहता कि 'यह करने के पश्चात् यह करना है । इसी प्रकार आगम विहित, क्रियाकलाप अर्थात् अनुष्ठानो मे अनादर--अनुत्साह या प्रवृत्ति न होना भी प्रमाद है । मन वचन और काय का दूषित व्यापार होना, जैसे मन से आर्त्तध्यान या रौद्रध्यान करना, खोटे वचनो का प्रयोग करना और काय से हिंसा आदि मे प्रवृत्त होना, यह सब प्रमाद है ।

कषाय प्रधान रूप से चार प्रकार का है--क्रोधकषाय, मानकषाय, मायाकषाय और लोभ कषाय । इनमे से क्रोध आदि चारो के चार--चार भेद है-- अनन्तानुबन्धी क्रोध, अप्रत्याख्यानी क्रोध, प्रत्याख्यानी क्रोध और सज्वलन क्रोध । इसी प्रकार मान आदि के भी भेद समझ लेने चाहिए । इस प्रकार सोलह कषाय और नौ नोकषाय मिल कर पचीस कषाय होते है । इनमे से तेरह कषाय बन्ध के कारण है ।

मन, वचन और काय के भेद से योग तीन प्रकार का है--मनो योग के चार भेद है--सत्यमनो योग, असत्यमनोयोग, उभय मनोयोग और अनुभय मनोयोग । वचन योग भी चार प्रकार का है--सत्यवचनयोग, असत्यवचनयोग, उभयवचन योग और अनुभय वचन योग । औदारिक काययोग, वैक्रिय काययोग, आहारक काययोग, कर्मण काययोग, -

दाच्चतुर्विध इति सर्वे द्वादशयोगा, औदारिक-वैक्रिया-ऽऽहारकमिश्रभेदात् त्रयो योगा, इति सर्वे पञ्चदशयोगा भवन्ति ।

तत्रा-ऽऽहारका-ऽनाहारकमिश्रवर्जिता सर्वे योगा कर्मभाववन्धहेतवो भवन्ति । तत्र-पञ्चा-नामपि बन्धहेतूनां मिथ्यादर्शनादीना मध्ये पूर्वस्मिन् पूर्वस्मिन् सति-अवश्यमुत्तरेषा सद्भावो भवति, यथा—मिथ्यादर्शनसत्त्वेऽविरत्यादयश्चत्वारोऽवश्य भवन्ति, अविरतौ सत्यामप्रमादादयस्त्रयोऽपि भवन्ति, प्रमादे सति—अवश्य कषाय-योगौ भवत, कषायेषु सत्सु-अवश्य योगा भवन्त्येवेति भाव । किन्तु—उत्तरोत्तरभावे पूर्वेषां सद्भावो नाऽवश्य भवति, यथा—योगे सति, नेतरे चत्वारोऽवश्य भवन्त्येव योग-कषाययो सतोर्नावस्यमितरे त्रय, योग-कषाय-प्रमादेषु सत्सु नाऽवश्यमितरौ द्वौ भवत एव, अविरति प्रमाद-कषाय-योगेषु सत्सु नावश्य मिथ्यादर्शनप्रत्ययो भवत्येवेति भाव ।उक्तश्च समवयाङ्गसूत्रे ५—समवाये—"पंच आसवदारा पण्णत्ता, तंजहा—मिच्छत्तं—अविरइ—पमाया—कसाया—जोगा—" इति । पञ्चा-ऽऽस्रवद्वाराणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—मिथ्यात्वम्-अविरति -प्रमादा कषाया -योगा, इति ॥

मिथ्यात्वश्चाविरति,भवति, प्रमादाः कषाया योगाः- ।
आस्रवद्वारा एते, प्रोक्ताः समवायाङ्गे पञ्च- ॥१॥ सू० ३॥

चार तथा औदारिकमिश्र काययोग, वैक्रियमिश्र काययोग और आहारकमिश्र काययोग, यह तीन मिल कर सात काययोग होते है। सब मिल कर योग पन्द्रह प्रकार के कहे है।

इनमे से आहारक और आहारकमिश्र को छोड कर शेष सब योग कर्मभाववन्ध के कारण होते है ।

मिथ्यादर्शन आदि पाँच बन्धके कारणो मे से पूर्व—पूर्व के विद्यमान होने पर उत्तर-उत्तर का सद्भाव अवश्य होता है जैसे मिथ्यादर्शन का सद्भाव होने पर अविरति आदि चारो अवश्य होते है, अविरति होने पर प्रमाद आदि तीन अवश्य होते है, प्रमाद होने पर कषाय और योग भी अवश्य होते है और कषाय के होने पर योग अवश्य होता है। किन्तु यह आवश्यक नहीं कि अगले कारण के होने पर पिछला कारण भी अवश्य हो। जैसे योग के होने पर पहले के चार कारणो का होना आवश्यक नहीं, योग और कषाय के होने पर बाकी तीन अवश्य हों ऐसा नहीं है, योग कषाय और प्रमाद की विद्यमानता मे शेष दो का होना नियत नहीं है, इसी प्रकार जहाँ अविरति, प्रमाद, कषाय और योग है वहाँ मिथ्यादर्श अवश्य हो ऐसा नियम नहीं है।

समवायाग सूत्र के पाँचवें समवाय मे कहा है—आस्रवद्वार पाँच कहे गए है—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग।

समवायागसूत्र में मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग, यह पाँच आस्रवद्वार कहे है ॥३॥

मूलसूत्रम्—“अट्ठ कम्मपगडीओ णाणावरणदंसणावरणवेयणिज्जमोहणिज्जाउनामगोत्तंतराया—” ॥ ४ ॥

छाया—अष्टौ कर्मप्रकृतयः ज्ञानावरणदर्शनावरणवेदनीय-मोहनीया-ऽऽयु-र्नाम गोत्रा ऽन्तरायाः—”

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वोक्तो बन्धस्तावद् द्विविध , मूलप्रकृतिबन्ध उत्तरप्रकृतिवन्धश्च। तत्राऽष्टविधं मूलप्रकृतिबन्ध प्ररूपितुमाह—“एट्ठकम्म” इत्यादि । आवस्तावत् प्रकृतिवन्धोऽष्टविध' प्रज्ञप्त', ज्ञानावरण—१ दर्शनावरण—२ वेदनीय—३ मोहनीय—४ आयुष्य—५ नाम—६ गोत्रा—७ ऽन्तराय—८ भेदात् । तत्रा—ऽऽव्रियतेऽनेन, आवृणोति वेत्यावरगम्, ज्ञानस्यावरणं— १ एव—दर्शनावणमपि—२

वेद्यते यत्तद्-वेदनीयम्, बेदनीयम् , वेदयति वा—वेदनीयम्—३ एव—मुह्यतेऽनेन, मोहयतीति वा । मोहनीयम्—४ एति नारकादिभवमनेनेत्यायु —५ नानायोनिषु नारकादिपर्यायैर्नमयत्यात्मानम् , नम्यतेऽनेनेति नाम—६ उच्चैर्नीचैश्च गूयते—शब्द्यते—इति गोत्रम्- ७ दातृदेयपात्रादीनामन्तरं-मध्ये एति मध्ये आगत्य विघ्न करोतीत्यन्तराय —८

एकात्मपरिणामेनादीयमाना' कर्मभावयोग्या' पुद्गला ज्ञानावरणदर्शनावरणवेदनीयादिनानाभेद प्रतिपद्यन्ते, सकृदुपभुक्तान्नपरिणामरस—रुधिर—शुक्र—मांस—मज्जादिवत् । तथाचोक्तमष्टकर्मप्र-

---

सूत्रार्थ—‘अट्ठ कम्मपगडीओ’ इत्यादि ॥सूत्र ४॥

कर्मप्रकृतियाँ आठ है—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय ॥४॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वोक्त बन्ध के दो प्रकार है—मूल प्रकृतिबन्ध और उत्तरप्रकृति बन्ध । इनमें से आठ प्रकार के मूलप्रकृति बन्ध का निरूपण करने के लिए कहते है—मूलप्रकृतिबन्ध आठ प्रकार का कहा गया है—(१) ज्ञानावरण (२) दर्शनावरण (३) वेदनीय (४) मोहनीय (५) आयुष्य (६) नाम (७) गोत्र और (८) अन्तराय जिसके द्वारा जीव का ज्ञान गुण वृत—आच्छादित किया जाय या जो ज्ञान गुण को आच्छादित करता है, वह ज्ञानावरण कहलाता है । जो कर्म दर्शन गुण को आवृत करता है, वह दर्शनावरण कहलाता है । जिसके निमित्त से सुख दु ख का वेदन अर्थात् अनुभव किया जाता है, वह वेदनीय कहलाता है जिसके द्वारा जीव मोहित होता है या जो जीव को मूढ बनाता है, वह मोहनीय है । जिसके उदय से जीव नारक आदि भवों को प्राप्त करके वहाँ टिका रहता है वह आयु कर्म है । जो कर्म आत्मा को नाना योनियो मे, नारक आदि पर्यायो के द्वारा निमित्त करता है अर्थात् जिसके कारण जीव नारक आदि कहलाता है वह नाम कर्म है । जिसके उदय से जीव ऊँचा या नीचा कहा जाता है, उसे गोत्र कहते हैं । जो दाता, देय और दानपात्र के अन्तराल मे—बीच मे आजाता है, आकर विघ्न डाल देता है, उसे अन्तराय कहते है ।

जैसे एक साथ खाया हुआ आहार रस, रुधिर, मास, मज्जा, शुक्र आदि नाना धातुओं के रूप मे परिणत हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा के एक ही परिणाम से ग्रहण किये हुए कर्म

कृतिविषय प्रज्ञापनायाम्–२१–पदे १–उद्देशके २८८–सूत्रे–"अट्ठकम्मपगडीओ पण्णत्ताओ, तंजहा–णाणावरणिज्जं-दंसणावरणिज्जं-वेदणिज्जं-मोहणिज्जं- आउयं-नामं-गोयं-अंतराइयं–" इति ।

अष्टकर्मप्रकृतय प्रज्ञप्ता, तद्यथा–ज्ञानावरणीयम्–दर्शनावरणीयम्–वेदनीयम्–आयुष्यम्–नाम–गोत्रम्–अन्तरायिकम्, इति । तथाच–मूलप्रकृतिबन्धोऽष्टविधो भवतीति सिद्धम् ॥ ४ ॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वसूत्रोक्तेपु प्रकृतिस्थित्यनुभावप्रदेशबन्धलक्षणेपु चतुर्पु बन्धभेदेपु प्रथमस्तावत्प्रकृतिबन्धो द्विविध प्रज्ञप्त., मूलप्रकृतिबन्ध –उत्तरप्रकृतिबन्धश्च । तत्र–प्रथम मूलप्रकृतिबन्धमष्टविधं प्रतिपादयितुमाह—"अट्ठकम्म–" इत्यादि ।

अष्टौ कर्मप्रकृतय प्रज्ञप्त', ज्ञानावरण–१ दर्शनावरण–२ वेदनीय–३ मोहनीय–४ ऽऽयुष्य–५ नाम–६ गोत्रा–७ ऽन्तराय–८ भेदात् । तत्र–ज्ञानं तावद् बोधस्वरूपं विशेपविषयकम् आत्मन पर्याय' । एव-सामान्यविषयक दर्शनमपि । आत्मपर्यायएव ज्ञान-दर्शनयोरावरणम्–आच्छादनम् ज्ञानावरणम्–१ दर्शनावरणञ्च–२ आवरणमावृत्ति आव्रियतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या भावकरणयोर्ल्युटि-अनादेशे, आवरणशब्दनिष्पत्ति । सुखदु खरूपेण वेदनीयतया वेदनीयमिति–३ कर्मव्युत्पत्तिः । मुह्यति–अनेन मोहयति मोहन वा मोहनीयम्–४ करणकर्तृभावव्युत्पत्ति । एत्यनेन नरकादि-

---

वर्गणा के पुद्गल ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय आदि नाना भेदो को प्राप्त होते है । प्रज्ञापनासूत्र के २१ वें पद में, प्रथम उद्देशक के २८८ वे सूत्र मे कहा है–'कर्म की आठ प्रकृत्तियाँ कही गई है यथा–ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय ।'

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पूर्वसूत्र मे कथित प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश बन्ध–इन चार प्रकार के बन्धो मे से पहला प्रकृतिबन्ध दो प्रकार का कहा गया है–(१) मूल प्रकृतिबन्ध और (२) उत्तर प्रकृतिबन्ध । इन दो भेदो में से प्रथम मूल प्रकृतिबन्ध आठ प्रकार का है, यह बतलाने के लिए कहते है—

कर्म की मूल प्रकृतियाँ आठ है, जिन्हे आठ कर्म भी कहते है । उनके नाम इस प्रकार है–(१) ज्ञानावरण (२) दर्शनावरण (३) वेदनीय (४) मोहनीय (५) आयु (६) नाम (७) गोत्र और (८) अन्तराय ।

ज्ञान आत्मा का एक असाधारण बोधात्मक गुण है, जिसके द्वारा वस्तु के विशेष अंश का परिज्ञान होता है । दर्शन आत्मा का वह असाधारण गुण है जिसके द्वारा वस्तु का सामान्य अश जाना जाता है । जो कर्म प्रवृत्ति ज्ञान और वस्तु को आवृत्त या आच्छादित करती है अर्थात् ढँक देती है, उसे क्रमश ज्ञानावरण और दर्शनावरण कहते है ।

'आवरण' शब्द भावसाधन भी है और करणसाधन (आच्छादन) भी है । आवृत्ति, को भी आवरण कहते हैं और जिसके द्वारा आवृत्ति की जाय उसे भी आवरण कहते है । सस्कृत भाषा के अनुसार ल्युट् प्रत्यय करने पर 'आवरण' शब्द निष्पन्न होता है ।

गत्यन्तराणि इत्यायु', आयुरेवाऽऽयुष्यम्—५ नमयति—प्रह्वयति-आत्मान नानायोनिपु गत्याद्यभिमुखमिति नाम—नम्यतेऽनेनेति नामशब्दकर्तृकरणसाधन —६

उच्च-नीचभेदलक्षण गोत्र, गच्छति-प्राप्नोति आत्मा यत् तद्गोत्रम्—७ आत्मनो वीर्यलाभादि अन्तर्धीयते येन सोऽन्तराय —८ । एवञ्च—ज्ञानावरण-दर्शनावरणोदयजनिता भवव्यथा सर्वससारिप्राणीना भवति । ताञ्च भवव्यथां वेदयमानोऽपि जीवो मोहग्रस्तत्वान्न विरज्यति । अविरक्तश्च—नारक देवमानुष—तिर्यगायुषि वर्तमानो भवति । नहिनामरहित जन्म सम्भवति ।

जन्मधारिणश्च प्राणिन सर्वदैवोच्चावच——गोत्रेणाऽनुस्यूता भवन्ति' तत्रापि ससारिणा जीवाना सुखलवानुभव. सर्वोऽपि सान्तरायो भवति, इत्येवमष्टविध मूलप्रकृतिबन्धरूपं कर्माऽवगन्तव्यम् ॥४॥

मूलसूत्रम्—"एए पंच नवदुअट्ठावीसचउदोचत्तालीसदुपंचभेया–" ॥ ५ ॥

छाया— 'एते पञ्च नव द्व्यष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद्द्विपञ्चभेदाः–" ॥ ५ ॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रेऽष्टविधो मूलप्रकृतिबन्ध' प्ररूपित', सम्प्रति—सप्तनवतिविधम्

जिसके कारण सुख और दु ख रूप वेदन—अनुभूति हो, उसे वेदनीय कहते है । जीव को जो मूढ अर्थात् तत्त्वातत्त्व के विवेक से विकल बना देता है या जिसके द्वारा जीव मोहित किया जाता है, वह मोहनीय है । मोहित होना भी मोहनीय है । 'मोहनीय' शब्द करणसाधन, कर्तृसाधन और भावसाधन भी है । जिसके कारण जीव नरक गति आदि को प्राप्त करके वहाँ स्थित रहता है, वह आयु है । 'आयु' को ही 'आयुष्य' भी कहते है । जो कर्मप्रवृत्ति आत्मा को नाना योनियों मे गति आदि के सन्मुख नमाती है या जिसके कारण आत्मा नमता है, वह नाम है । यह नाम शब्द कर्तृसाधन और करणसाधन हैं ।

गोत्र के दो भेद है—उच्च और नीच । आत्मा जिसे प्राप्त करता है वह गोत्र है । आत्मा के वीर्य मे तथा लाभ आदि में जो अन्तर—विघ्न डालता है, वह अन्तराय है ।

इस प्रकार ज्ञानावरण और दर्शनावरण के उदय से उत्पन्न होने वाली भवव्यथा समस्त ससारी जीवो को होती है । उस भवव्यथा का वेदन करता हुआ भी जीव मोह से ग्रस्त होने के कारण विरक्त नहीं हो पाता और जब विरक्त नहीं होता तो नारक, तिर्यंच, देव, और मनुष्य आयु में वर्तता है । जब किसी आयु मे रहता है तो उसका नारक आदि कोई न कोई नाम अवश्य होता है, क्योंकि नाम से रहित जन्म होता नहीं । जन्मधारी प्राणी सदैव उच्च या नीच गोत्र से युक्त होते है । ससारी जीवो को वहाँ जो सुख के लेश का अनुभव होता है, वह भी अन्तराययुक्त अर्थात् विघ्नो से परिपूर्ण होता है । यह आठ प्रकार का मूलप्रकृतिबध समझना चाहिए ।

मूलसूत्रार्थ—"एए पंचनवदुअट्ठावीसचउदो" इत्यादि । सूत्र—५

मूल कर्मप्रकृतियो के क्रमश पाँच, नौ, दो, अट्ठाईस, चार, बयालीस, दो और पाँच भेद है ॥५॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्र मे आठ प्रकार का मूलप्रकृतिबन्ध कहा गया है । अब सत्तानवे (९७) प्रकार के उत्तरप्रकृति बन्ध की प्ररूपणा करते है—

उत्तरप्रकृतिबन्धं प्ररूपयितुमाह–"एए पंच–" इत्यादि । एते ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीय-मोह-नीया-ऽऽयु-र्नाम-गोत्रा-ऽन्तराया क्रमश पञ्च नव ह्यष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद्द्विपञ्चभेदा भवन्ति।

तथाच—ज्ञानावरणीय कर्म पञ्चविधम्–५ दर्शनावरणीयं नवविधम्–९ वेदनीय द्विविधम्–२ मोहनीयम् अष्टाविंशतिविधम्–२८ आयुष्य चतुर्विधम्–४ नामकर्म द्विचत्वारिंशद्विधम्–४२ गोत्र कर्म–द्विविधम्–२ अन्तरायकर्म पञ्चविधम्-५ अवसेयमिति भाव ॥ ५ ॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वसूत्रे मूलप्रकृतिबन्ध आत्मकर्मवर्गणायोग्यपुद्गलस्कन्धद्रव्यैकत्वपरिणतिलक्षणः अयोगोलकाग्निवत् परस्परानुषक्ततया प्रतिभासमान अष्टप्रकारको भवतीति प्ररूपितः सम्प्रति–उत्तरप्रकृतिबन्धं सप्तनवतिविधं प्ररूपयितुमाह—"एए पंच" इत्यादि । एते पूर्वोक्ता अष्टप्रकारका मूलप्रकृतिबन्धरूपा. ।

ज्ञानावरण–दर्शनावरण–वेदनीय–मोहनीय–आयुष्य–नाम–गोत्रा–ऽन्तराया प्रत्येक क्रमश पञ्चनवह्यष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद्द्विपञ्चभेदा भवन्ति । तथा च ज्ञानावरणप्रकृतिबन्ध पञ्चविध । दर्शनावरणप्रकृतिबन्धो नवविध. । वेदनीयप्रकृतिबन्धो द्विविध । मोहनीयप्रकृतिबन्धोऽष्टाविंशतिविध आयुष्यप्रकृतिबन्धश्चतुर्विध । नामप्रकृतिबन्धो द्विचत्वारिंशद्विध.–गोत्रप्रकृतिन्धो द्विविधः । अन्तरायप्रकृतिबन्ध पञ्चविधोऽवगन्तव्य. ।

तत्र–ज्ञानावरणीय पञ्चविधम्–उक्तञ्च स्थानाङ्गे ५–स्थाने ३–उद्देशके—"**पंचविहे णाणावरणिज्जे कम्मे पण्णत्ते, तंजहा–आभिणिबोहियणाणावरणिज्जे, सुयणाणावरणिज्जे, ओहिणाणावरणिज्जे मणपज्जवणाणावरणिज्जे केवलणाणावरणिज्जे–**" इति । पञ्चविध

ज्ञानावरण कर्म पाँच प्रकार का है। दर्शनावरण के नौ भेद है। वेदनीय के दो, मोहनीय के अट्ठाईस, आयु के चार, नामकर्म के बयालीस, गोत्रकर्म के दो और अन्तराय के पाँच भेद है।।५।।

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पूर्वसूत्र में मूलप्रकृतिबन्ध का निरूपण किया गया है। आत्मा के प्रदेशों और कर्मवर्गणा के पुद्गलस्कन्धो का एकमेक हो जाना उसका लक्षण है। इस बन्ध के कारण आत्मा और कर्म, अग्नि और लोहे के गोले के समान परस्पर मिले हुए प्रतीत होने लगते है। वह आठ प्रकार का होता है, यह कहा जा चुका है।

अब उत्तरप्रकृतिबध की प्ररूपणा करते हैं। उसके सत्तानवे भेद इस प्रकार होते है—

ज्ञानावरणप्रकृतिबन्ध के पाँच भेद हैं, दर्शनावरण प्रकृतिबन्ध के नौ भेद है ९ (१४) वेदनीय प्रकृतिबन्ध के दो, २ (१६) मोहनीयप्रकृतिबध के अट्ठाईस २८ (४४), आयुष्य प्रकृतिबध के चार ४ (४८) नामप्रकृतिबध के बयालीस ४२ (९०) गोत्रप्रकृतिबध के दो २ (९२) और अन्तरायप्रकृतिबध के पाँच ५ (९७) भेद हैं।

ज्ञानावरणीय के पाँच भेद है। स्थानागसूत्र के पाँचवें स्थान के तृतीय उद्देशक में कहा है—ज्ञानावरणीय कर्म पाँच प्रकार का कहा गया है, यथा–'आभिनिबोधिकज्ञानावरणीय,

ज्ञानारवणीय कर्म प्रज्ञप्तम्, तद्यथा—आभिनिबोधिकज्ञानावरणीयम्—१ श्रुतज्ञानावरणीयम्—२ अवधिज्ञानावरणीयम्—३ मन पर्यवज्ञानावरणीयम्—४ केवलज्ञानावरणीयम्—५

दर्शनावरणीय नवविधम्—उक्तञ्च स्थानाङ्गे ९—स्थाने —**"णवविहे दरिसणावरणिज्जे कम्मे पण्णत्ते, तंजहा-निद्दा—१ निद्दानिद्दा—२ पयला—३ पयलापयला—४ थीणगिद्धी—५ चक्खुदंसणावरणे—६अचक्खुदसणावरणे—७ ओहिदंसणाव-रणे—८ केवलदंसणावरणे—९—"** इति।

नवविध दर्शनावरणीय कर्म प्रज्ञप्तम्, तद्यथा—निद्रा—निद्रानिद्रा—प्रचला—प्रचला—प्रचला—स्त्यानर्द्धि, चक्षुर्दर्शनाबरणम्—अचक्षुर्दर्शनावरणम्—अवधिदर्शनावरणम्—केवलदर्शनावरणम् इति। वेदनीय द्विविधम्, उक्तञ्च—प्रज्ञापनायां २३—पदे २—उद्देशके २९३-सूत्रे—**"सातावेदणिज्जे य—असातावेदणिज्जे य—"** इति। सातावेदनीयञ्च—असातावेदनीयञ्चेति।

मोहनीयमष्टाविंशतिविधम्,—उक्तञ्च तत्रैव **'मोहणिज्जे णं भंते ! कम्मे कइविहे पण्णत्ते—? गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते, तंजहा—दसणमोहणिज्जे य-चरित्तमोहणिज्जे य मोहनीयं खलु भदन्त !,** कर्म कतिविध प्रज्ञप्तम् ? गौतम ! द्विविध प्रज्ञप्तम्, तद्यथा—दर्शनमोहनीय च—चारित्रमोहनीयञ्च,

'दंसणमोहणिज्जे णं भंते ! कम्मे कइविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! तिविहे पण्णत्ते, तंजहा—सम्मत्तवेयणिज्जे मिच्छत्तवेयणिज्जे, सम्मामिच्छत्तवेयणिज्जे । दर्शनमोहनीय खलु भदन्त ! कर्म कतिविधं प्रज्ञप्तम् ? गौतम ! त्रिविध प्रज्ञप्तम्, तद्यथा—सम्यक्त्ववेदनीयम्—मिथ्यात्ववेदनीयम्—सम्यङ्मिथ्यात्ववेदनीयञ्चेति।

श्रुतज्ञानावरणीय, अवधिज्ञानावरणीय, मनःपर्यवज्ञानावरणीय और केवलज्ञानावरणीय।

दर्शनावरणीय कर्म के नौ भेद है। स्थानागसूत्र के नवम स्थान में कहा है—दर्शनावरणीय कर्म नौ प्रकार का कहा गया है यथा— (१) निद्रा (२) निद्रानिद्रा (३) प्रचला (४) प्रचलाप्रचला (५) स्त्यानर्द्धि (६) चक्षुदर्शनावरण (७) अचक्षुदर्शनवरण (८) अवधिदर्शनावरण और (९) केवलदर्शनावरण।

वेदनीयकर्म के दो भेद है। प्रज्ञापनासूत्र के २३ वे उद्देशक में कहा है—सातावेदनीय और असातावेदनीय।

मोहनीय कर्म अट्ठाइस प्रकार का है—प्रज्ञापना में उक्त स्थल पर ही कहा है—

प्रश्न—भगवन् ! मोहनीयकर्म कितने प्रकार का कहा है ?

उत्तर—गौतम ! दो प्रकार का कहा है, यथा—दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय।

प्रश्न—भगवन् ! दर्शनमोहनीय कर्म कितने प्रकार का कहा है ?

उत्तर—गौतम ! तीन प्रकार का कहा है—सम्यक्त्व वेदनीय, मिथ्यात्व वेदनीय और सम्यक् मिथ्यात्ववेदनीय।

'चरित्तमोहणिज्जे णं भंते ! कम्मे कइविहे पण्णत्ते' गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते तं जहा–कसायवेयणिज्जे नो कसायवेयणिज्जे' चारित्रमोहनीय खलु भदन्त ! कर्म कतिविध प्रज्ञप्तम् ? गौतम ! द्विविधं प्रज्ञप्तम् ? तद्यथा— कषायवेदनीयम् नो कषायवेदनीयञ्चेति ।

'कसायवेयणिज्जे णं भंते ! कम्मे कइविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! सोलसविहे पण्णत्ते, तंजहा–अणंताणुबंधीकोहे, अणंताणुबंधीमाणे–अणंताणुबंधीमाया, अणंताणुबंधीलोभे, अपच्च क्खाणे कोहे, एवं–माणे माया, लोभे, पच्चक्खाणावरणे कोहे, एवं–माणे, माया, लोभे, संजलणकोहे, एवं–माणे, माया, लोभे ।

कषायवेदनीय खलु भदन्त ! कर्म कतिविधं प्रज्ञप्तम् ? गौतम ! षोडशविध प्रज्ञप्तम्, तद्यथा–अनन्तानुबन्धी क्रोध –अनन्तानुबन्धीमान'–अनन्तानुबन्धिनीमाया, अनन्तानुबन्धीलोभ', अप्रत्याख्यानक्रोध, एव–मानो, माया, लोभ, प्रात्याख्यानावरण' क्रोध, एव–मान' माया लोभः, सञ्ज्वलनक्रोध, एव–मान –माया–लोभ

'णोकसायवेयणिज्जे णं भंते ! कम्मे कइविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! णवविहे पण्णत्ते, तंजहा–इत्थीवेयणिज्जे, पुरिसवेयणिज्जे, नपुसगवेयवेयणिज्जे हासे–रति–अरती–भए–सोगे–दुगुंछा–इति ।

नोकषायवेदनीय खलु भदन्त ! कर्म कतिविध प्रज्ञप्तम् ? गौतम ! नवविध प्रज्ञप्तम्, तद्यथा–स्त्रीवेदनीयम्, पुरुषवेनीयम्, नपुसकवेदनीयम्, हासो–रति–ररति–भय–शोको–जुगुप्सा इति ।

आयुष्यं चतुर्विधम् उक्तञ्च तत्रैव–'आउए णं भंते ! कम्मे कइविहे पण्णत्ते ? गोयमा !

प्रश्न–भगवन् ! चारित्रमोहनीय कर्म कितने प्रकार का है ?

उत्तर–गौतम ! दो प्रकार का कहा है–कषायवेदनीय और नो कषायवेदनीय ।

प्रश्न–भगवन् ! कषायवेदनीय कितने प्रकार का है ?

उत्तर–गौतम ! सोलह प्रकार का है–अनन्तानुबधी क्रोध, अनन्तानुबंधी मान, अनन्तानुबंधी माया और अनन्तानुबधी लोभ । अप्रत्याख्यान मान अप्रत्याख्यान माया और अप्रत्याख्यान लोभ ।

प्रत्याख्यान क्रोध, प्रत्याख्यान मान, प्रत्याख्यान माया और प्रत्याख्यान लोभ तथा सज्वलन मान, सज्वलन माया और सज्वलन लोभ ।

प्रश्न—भगवन् ! नो कषायवेदनीय कर्म कितने प्रकार का है ?

उत्तर—गौतम ! नौ प्रकार का है, यथा–स्त्रीवेद वेदनीय पुरुष वेद वेदनीय, नपुसकवेद वेदनीय, हास्य, रति, अरति, भय शोक और जुगुप्सा ।

आयु कर्म के वहीं पर चार भेद कहे हैं, यथा—

चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा–णेरइयाउए, तिरिक्खआउए, मणुस्साउए, देवाउए,। आयुष्यं खलु भदन्त ! कर्म कतिविधं प्रज्ञप्तम् गौतम ! चतुर्विधम् प्रज्ञप्तम्, तद्यथा–नैरयिकायुष्य–तिर्यगायुष्यं–मनुष्यायुष्यं–देवायुष्यम् ।

नाम–द्विचत्वारिंशद्विधम्, उक्तञ्च तत्रैव–"**णाम णं भंते ? कम्मे कइविहे पण्णत्ते–? गोयमा ! बायालीसविहे पण्णत्ते, तंजहा–गतिणामे–१ जातिणामे–२ सरीरणामे–३ सरीरोवंगणामे–४ सरीबंधणणामे–५ सरीरसंघयणणामे–६ संघायणणामे–७ संठाणणामे–८ वण्णणामे–९गंधणामे–१० सणामे–११ फासणामे–१२ अगुरुल-घुणामे–१३ उवघायणामे–१४ पराघायणामे–१५ आणुपुव्वीणामे–१६ उस्सा-सणामे–१७ आयवणणामे–१८ उज्जोयणामे–१९ विहायगइणामे–२० तसणामे–२१ थावरणामे–२२ सुहुमणामे–२३ बादरणामे–२४ पज्जत्तणामे–२५ अपज्जत्तणामे–२६ साहारणसरीरणामे–२७ पत्तेयसरीरणामे–२८ थिरणामे–२९ अथिरणामे–३० सुभ-णामे–३१ असुभणामे–३२ सुभगणामे–३३ दुभगणामे–३४ सूसरणामे–३५ दूसर-णामे–३६ आदेज्जणामे–३७ अणादेज्जणामे–३८ जसोकित्तिणामे–३९ अजसोकित्ति-णामे–४० णिम्माणणामे–४१ तित्थगरणामे–४२**

छाया–नाम खलु भदन्त–१ कर्म कतिविध प्रज्ञप्तम् ? गौतम ! द्विचात्वारिंशद्विधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा–गतिनाम–१ जातिनाम–२ शरीरनाम–३ शरीरोपाङ्गनाम–४शरीरबन्धननाम–५ शरीर-सहनननाम–६ सघातननाम–७ संस्थाननाम–८ वर्णनाम–९ गन्धनाम–१० रसनाम–११ स्पर्शनाम–१२ अगुरुलघुनाम–१३ उपघातनाम–१४ पराघातनाम–१५ आनुपूर्वीनाम–१६ उच्छ्वासनाम–१७ आतपनाम–१८ उद्योतनाम–१९ विहायोगतिनाम–२० त्रसनाम–२१ स्थावरनाम–२२ सूक्ष्मनाम–२३ बादरनाम–२४ पर्याप्तनाम–२५ अपर्याप्तनाम–२६ साधारण-

---

प्रश्न—भगवन् ! आयु कर्म कितने प्रकार का कहा है ?

उत्तर—गौतम ! चार प्रकार का कहा है– नैरयिकायु, तिर्यगायु, मनुष्यायु और देवायु

नामकर्म के बयालीस भेद हैं। उसी स्थान पर कहा है—

प्रश्न—भगवन् ! नामकर्म कितने प्रकार का कहा है ?

उत्तर—गौतम ! बयालीस प्रकार का कहा है यथा– (१) गतिनाम (२) जातिनाम (३) शरीर नाम (४) शरीरयोग नाम (५) शरीर बन्धन नाम (६) शरीर सहनन नाम (७) सघात नाम (८) सस्थान नाम (९) वर्णनाम (१०) गंधनाम (११) रसनाम (१२) स्पर्श नाम (१३) अगुरुलघुनाम (१४) उपघात नाम (१५) पराघात नाम (१६) आनुपूर्वीनाम (१७) उच्छ्वास नाम (१८) आतप नाम (१९) सूक्ष्मनाम (२०) विहायोगतिनाम (२१) त्रस नाम (२२) (२३) स्थावर नाम (२३) सूक्ष्म नाम (२४) बादर नाम (२५) पर्याप्तनाम (२६) अपर्याप्त-

शरीरनाम--२७ प्रत्येकशरीरनाम--२८ स्थिरनाम--२९ अस्थिरनाम--३० शुभनाम--३१ अशुभनाम--३२ सुभगनाम--३३ दुर्भगनाम--३४ सुस्वरनाम--३५ दुःस्वरनाम--३६ आदेयनाम--३७ अनादेयनाम--३८ यशःकीर्तिनाम--३९ अयशःकीर्तिनाम--४० निर्माणनाम--४१ तीर्थकरणाम--४२

गोत्र कर्म द्विविधं प्रज्ञप्तम्, उक्तञ्च--'**गोए णं भंते ! कम्मे कइविहे पण्णत्ते ! गोयमा ? दुविहे पण्णत्ते,** तंजहा--**उच्चागोए य, नीयागोए य,** गोत्रं खलु भदन्त ! कर्म कतिविधं प्रज्ञप्तम्--' गौतम--! द्विविधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा--उच्चगोत्रञ्च, नीचगोत्रञ्च ।

अन्तरायिक पञ्चविधम्, उक्तञ्च--"**अंतराए णं भंते ! कम्मे कइविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! पंचविहे पण्णत्ते, तंजहा--दाणंतराइए, लाभंतराइए, भोगतराइए उवभोगंतराइए, वीरियंतराइए,--**', इति अन्तरायं खलु भदन्त--! कर्म कतिविध प्रज्ञप्तम् ? गौतम ! पञ्चविधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा--दानन्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तरायं, उपभोगान्तराय, वीर्यान्तराय इति ॥५॥

मूलसूत्रम्--"**णाणावरणिज्जं पंचविहं मइआइ भेयओ--**" ॥६॥

छाया--"**ज्ञानावर्णीयं पञ्चविधं मत्यादि भेदतः--**" ॥६॥

तत्त्वार्थदीपिका--पूर्वसूत्रे ज्ञानावरणादिरूपाष्टविधमूलकर्मप्रकृतिबन्धस्य--उत्तरप्रकृतीनां पञ्चनवाद्यष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद्द्विपञ्चभेदाः प्रतिपादिताः--सम्प्रति--तान् भेदान् क्रमशः प्रतिपादयितु प्रथमं ज्ञानावरणकर्मणः पञ्चभेदान् प्रतिपादयति--**णाणावरणिज्जं** इत्यादि ? ज्ञानावरणीयं-

---

नाम (२८) साधारण शरीर नाम (२७) प्रत्येक शरीर नाम (२९) स्थिर नाम (३०) अस्थिर नाम (३१) शुभनाम (३२) अशुभनाम ३३ सुभग नाम ३४ दुर्भग नाम ३५ सुस्वर नाम ३६ दुःस्वर नाम ३७ आदेय नाम ३८ अनादेय नाम ३९ यशोकीर्त्ति नाम ४० अयशोकीर्त्ति नाम ४१ निर्माण नाम और ४२ तीर्थंकर नाम ।

गोत्र कर्म दो प्रकार का है कहा भी है--

प्रश्न--भगवन् ! गोत्रकर्म कितने प्रकार का कहा है ?

उत्तर--गौतम ! दो प्रकार का कहा है-- उच्च गोत्र और नीच गोत्र ।

अन्तराय कर्म पाँच प्रकार का है । कहा भी है--

प्रश्न--भगवन् ! अन्तराय कर्म कितने प्रकार का है ?

उत्तर--गौतम ! पाँच प्रकार का है, यथा-- १ दानान्तराय २ लाभान्तराय ३ भोगान्तराय ४ उपभोगान्तराय और ५ वीर्यान्तराय ॥५॥

मूलसूत्रार्थ--'णाणावरणिज्जं पंचविहं'' इत्यादि सूत्र ॥६॥ ज्ञानावरणीय कर्म पाँच प्रकार का होता है मतिज्ञानवरणीय आदि भेद से ॥६॥

तत्त्वार्थदीपिका--पूर्वसूत्र में ज्ञानावरण आदि आठ मूल कर्म प्रकृति बन्ध की उत्तर प्रकृतियों के पाँच, नौ, दो अट्ठाईस, चार, दो, बयालीस, दो और पाँच भेद कहे गए है ।

पञ्चविधं भवति मत्यादिभेदत यथामति—श्रुता—ऽवधि-मनःपर्यव-केवलज्ञानानामावरणानि पञ्च-सन्ति तेन ज्ञानावरणीय पञ्चविध तथाहि—मतिज्ञानावरणम्—श्रुतज्ञानावरणम्—अवधिज्ञानावरणम्—मन पर्यवज्ञानावरणम्—केवलज्ञानावरणञ्चेति सक्षेप' ॥६॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः——पूर्वसूत्रेऽष्टविधमूलकर्मप्रकृतिबन्धस्य सप्तनवतिविधोत्तरप्रकृतिबन्धेषु—प्रतिपा-दितव्येषु प्रथम ज्ञानावरणकर्मणो भेदान् प्रतिपादयति—**"णाणावरणिज्जं"** इत्यादि । ज्ञानावरणीय पञ्चविध भवति तथाहि—मतिज्ञानावरणम्—१ श्रुतज्ञानावरणम्—२ अवधिज्ञानावरणम्—३ मन'पर्यव-ज्ञानावरणम्—४ केवलज्ञानावरणञ्चेति, ज्ञानावरणरूपप्रथमकर्ममूलप्रकृतिबन्धस्योत्तरप्रकृतिभेदा पञ्च ।

तत्र—ज्ञस्वभावस्यात्मन' प्रकाशरूपस्य ज्ञानावरणक्षयोपशमक्षयसमुद्भूता' प्रकाशविशेषा' मतिज्ञानादिपर्याया' बहुभेदा भवन्ति । तथाहि—अवग्रह—ईहा-ऽवायधारणादय' इन्द्रियाऽनिन्द्रियनि-मित्तत्वाद् मतिज्ञानस्य भेदा' । अङ्गाऽनङ्गविकल्पा श्रुतज्ञानस्य भेदा' । भवक्षयोपशमजन्यप्रतिपात्या-दिविकल्पा' अवधिज्ञानस्य भेदाः ऋजुविपुलमतिविकल्पौ मन पर्यवज्ञानस्य भेदौ । सयोगायोगस्था-दिविकल्पा' केवलज्ञानस्य भेदा भवन्ति ।

तत्र—इन्द्रियनिमित्त श्रोत्रादिपञ्चकसमुद्भव क्षयोपशमजन्य योग्यदेशावस्थितस्वविषयग्राहिज्ञान

अब उन भेदो का क्रमश' प्रतिपादन करने के लिए सर्वप्रथम ज्ञानावरणीय कर्म के पाँच भेदो का निर्देश करते है——

मति, श्रुत, अवधि, मन'पर्यव और केवलज्ञान के आवरण भी पाँच है— मति ज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मन'पर्यवज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण ॥६॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति——पूर्वसूत्र में कथित आठ मूलप्रकृति बन्ध की सत्तानवे उत्तरप्रकृतियों का प्रतिपादन करता है । उनमें से प्रथम ज्ञानावरण कर्म प्रकृति के भेदों का कथन करते है ।

मति, श्रुत, अवधि, मन पर्यव और केवल ज्ञान, इन पाँच ज्ञानों के आवरण भी पाँच होते है, यथा— १ मतिज्ञानावरण २ श्रुतज्ञानावरण ३ अवधिज्ञानावरण ४ मन'पर्यवज्ञाना-वरण ५ केवलज्ञानावरण । यह प्रथम ज्ञानावरण नामक मूल प्रकृति की पांच उत्तर प्रकृतियाँ है ।

ज्ञान स्वभाव वाले—प्रकाशरूप आत्मा के ज्ञानावरण कर्म के क्षय और क्षयोपशम से उत्पन्न होनेवाले प्रकाश विशेष रूप मतिज्ञान आदि बहुत—से भेद होते है । जैसे—अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा आदि । मतिज्ञान इन्द्रियो और मन के निमित्त से उत्पन्न होता है, अतएव मतिज्ञान के अनेक भेद है । अगप्रविष्ट, और अंगबाह्य ये दो श्रुतज्ञान के भेद हैं । भव प्रत्यय और क्षयोपशमप्रत्यय यह दो अवधिज्ञान के भेद है । क्षयोपशमप्रत्यय के भी प्रतिपाती, अप्रतिपाती आदि छह भेद होते है । ऋजुमति और विपुलमति, ये दो मन'पर्यवज्ञान के भेद है । सयोगि केवल ज्ञान, अयोगिकेवलज्ञान आदि केवलज्ञान के भेद है ।

जो श्रोत्र आदि पाँच इन्द्रियो से उत्पन्न होता है- क्षयोपशम रूप अन्तरग कारण से

भवति। अनिन्द्रियं पुनर्मनोवृत्ति--ओघज्ञानश्चेति, तदेतन्मतिज्ञानमाव्रियते येन तन्मतिज्ञानावरण देशघातिनयनपटलवत्--चन्द्रप्रकाशाभ्रादिवद्वा। श्रोत्रेन्द्रियोपलब्धि --श्रुत, शेषेन्द्रियमनोविज्ञानञ्च श्रुतशास्त्रानुसारिस्वार्थाऽभिधानसमर्थं श्रुतज्ञानम्। तदनेकविधम्

तथाचोक्तम्--"जावंति अक्खराइं, अक्खरसंजोयगा जेत्तिया लोए।

एवइया पगडीओ, सुयनाणे होंति नायव्वा ॥१॥

"यावन्ति-अक्षराणि अक्षरसयोगा यावन्तो लोके।

एतावत्यःप्रकृतयः श्रुतज्ञाने भवन्ति ज्ञातव्याः ॥१॥ इति।

तस्य श्रुतज्ञानस्या-ऽऽवरण श्रुतज्ञानावरणम्, एतदपि देशघाति भवति। अन्तर्गतवहुतर पुद्गलद्रव्यावधानादवधिरुच्यते, पुद्गलद्रव्यमर्यादयैव वाऽऽत्मन. क्षयोपशमजन्य प्रकाशाविर्भावोऽवधि इन्द्रियनिरपेक्षः साक्षात्--ज्ञेयग्राहीलोकाकाशप्रदेशमानप्रकृतिभेदः।

तस्याऽवधिज्ञानस्यावरणम्--अवधिज्ञानावरणम्, एतदपि देशघात्येव भवति। एव मात्मनो मनोद्रव्यपर्यायान् निमित्तीकृत्य जायमानः प्रतिभास [सञ्ज्ञि-] मनुष्यक्षेत्राभ्यन्तरवृत्तिपल्योपमाऽस-

---

जनित होता है वह ज्ञान योग्य देश में स्थित अपने विषय को ग्रहण करना--जानता है। अनिन्द्रिय मनोवृत्ति और ओघज्ञान है यह मतिज्ञान जिसके द्वारा आच्छादित किया जाता है, वह मतिज्ञानावरण कर्म कहलाता है। यह कर्म देशघाति है। नयनपटल के समान है या चन्द्रमा के प्रकाश को रोकने वाले मेघ के समान है। श्रोत्रेन्द्रिय से होने वाली उपलब्धि को श्रुत कहते है, शेष इन्द्रियो से और मन से होने वाला ज्ञान जो श्रुत--शास्त्र का अनुसरण करता हो और अपने विषय के प्रतिपादन में समर्थ हो वह श्रुतज्ञान कहलाता है। श्रुत ज्ञान अनेक प्रकार का है। कहा भी है--'लोक में जितने अक्षर है और अक्षरो के सयोग है, उतनी श्रुतज्ञान की प्रकृतियाँ जानना चाहिए।

श्रुतज्ञान को आवृत्त करने वाला कर्म श्रुतज्ञानावरण कहलाता है। यह कर्म भी देशघाति है।

अन्तर्गत वहुत--से पुद्गल द्रव्यों के अवधान से अवधि कहलाता है, अथवा पुद्गलद्रव्यों को ही जानने की मर्यादा के कारण अवधि कहलाता है। यह क्षयोपशम से उत्पन्न होता है इसमें इन्द्रियो के व्यापार की अपेक्षा नहीं रहती, साक्षात् ज्ञेय पदार्थों को जानता है और लोकाकाश के प्रदेशो के वरावर असख्यात भेद हैं।

इस अवधिज्ञान को आच्छादित करने वाला कर्म अवधिज्ञानावरण कहलाता है। यह कर्म भी देशघाति ही है।

जो ज्ञान आत्मा के मनोद्रव्य के पर्यायो को अवलम्बन करके उत्पन्न होता है, मनुष्य क्षेत्र अढ़ाई द्वीप तक ही जिसका व्यापार होता है, पल्योपम के असख्यात भाग परिमित

ध्येयभागावच्छिन्नपश्चात्पुरःकृतपुद्गलसामान्यविशेषग्राही मन·पर्यायज्ञानसञ्ज्ञस्तस्यावरणं मन·पर्यायज्ञानावरणम्, इदमपि देशाघाति।

समस्तावरणक्षयाविर्भूतमात्मप्रकाशतत्त्वम् सकलद्रव्यपर्यायग्राहिकेवलज्ञानम् तस्यावरणं—केवलज्ञानावरणम्, एतच्च सर्वघातिभवतीति भावः ॥६॥

मूलसूत्रम्—"दंसणावरणिज्जं नवविहं चक्खुमाइ भेयओ–" ॥७॥

छाया—"दर्शनावरणीयं नवविध चक्षुरादिभेदतः ॥७॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे ज्ञानावरणकर्म मूलप्रकृतिबन्धस्य पञ्चोत्तरप्रकृतयो मतिज्ञानावरणादिरूपा· प्रतिपादिताः, सम्प्रति—दर्शनावरणकर्ममूलप्रकृतिबन्धस्य 'नव' उत्तरप्रकृती· प्रतिपादयितुमाह दर्शनावरणीयं नवविधं भवति चक्षुरादिभेदतः चक्षु—रचक्षु—रवधिकेवलदर्शनावरणानि४ निद्रा निद्रानिद्रा—प्रचला—प्रचलाप्रचला-स्त्यानर्द्धयश्च नव-भेदा सन्ति तथाच—चक्षुर्दर्शनावरणम्—१ अचक्षुर्दनावरणम्—२, अवधिदर्शनावरणम्—३, केवलदर्शनावरणम्—४, निद्रा—५, निद्रानिद्रा—६, प्रचला—७, प्रचलाप्रचला—८, स्त्यानर्द्धिश्च—९ इत्येव दर्शनावरण नवविधं बोध्यम् ॥७॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वसूत्रे मतिज्ञानावरणादिरूपाः पञ्चोत्तरप्रकृतयः प्रतिपादिताः सम्प्रति—दर्शनावरणस्य भेदान् विवक्षुराह—'दंसणावरणिज्जं' इत्यादि दर्शनावरणीयं नवविध भवति

आगे पीछे भूत—भविष्यत् काल के पुद्गलो को सामान्य और विशेष रूप से जानता है वह मन· पर्याय ज्ञान कहलाता है, इस ज्ञान को ढकने वाला कर्म मन· पर्ययज्ञानावरण कहलाता है। यह कर्म भी देशघाति है।

जो ज्ञान समस्त आवरणों के क्षय से उत्पन्न होता है और समस्त द्रव्यो और पर्यायों को जानता है, वह केवल ज्ञान कहलाता है उसे आवृत करने वाला कर्म ज्ञानावरण है। केवल ज्ञानावरण कर्म सर्वघाती है ॥६॥

मूलसूत्रार्थ—'दंसणावरणिज्जं नवविहं' इत्यादि सूत्र ७

दर्शनावरणीय कर्म नौ प्रकार का होता है चक्षुर्दर्शनावरणीयआदि भेदसे ॥सू० ७॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्र में ज्ञानावरणकर्म रूप मूल प्रकृतिबन्ध की मतिज्ञानावरण आदि पाँच उत्तरप्रकृतियाँ बतलाइ गई है। अब दर्शनावरण कर्म रूप मूलप्रकृतिबन्ध की नौ उत्तरप्रकृतियाँ कहते है—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन के चार आवरण तथा निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला और स्त्यानर्द्धि, यह दर्शनावरण कर्म की नौ उत्तर प्रकृतियाँ हैं। इस प्रकार दर्शनावरण कर्म नौ प्रकार का है— (१ चक्षुदर्शनावरण (२) अचक्षु दर्शनावरण (३) अवधिदर्शनावरण (४) केवलदर्शनावरण (५) निद्रा (६) निद्रानिद्रा ७ प्रचला ८ प्रचलाप्रचला और ९ स्त्यानर्द्धि ॥७॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पूर्वसूत्र में ज्ञानावरणकर्म की मतिज्ञानावरण आदि पाँच प्रकृतियों

दर्शनावरणरूपद्वितीय कर्म मूलप्रकृतिबन्धस्योत्तरप्रकृतिभेदा नव भवन्ति तथाहि

चक्षुर्दर्शनावरणम् अचक्षुर्दर्शनावरणम्—२, अवधिदर्शनावरणम्—३, केवलदर्शनावरणम्—४, निद्रा—५ निद्रानिद्रा—६, प्रचला—७, प्रचलाप्रचला ८, स्त्यानर्द्धि—९, श्चेति ।

तत्र—सुखप्रतिबोधलक्षण. स्वापो निद्रा, निद्रा निद्राच—दु खप्रतिबोधस्वरूपा, । ऊर्ध्वशयनलक्षणातिष्ठच्छयनरूपा प्रचला, चङ्क्रमणेन चलन प्रचलाप्रचला स्त्यानर्द्धि स्त्यान स्तिमित तस्य ऋद्धि स्त्यानर्द्धि',स्तब्धताऽतिशय । तथाच-दर्शनावरणभेदाश्च क्षुर्दर्शनावरणादयो निद्रादयश्चेति नव भवन्ति ।

तत्र चष्टे पश्यत्यनेनाऽऽत्मेति चक्षु दर्शनार्थकचक्षिङ्-धातो चिक्षे शिच्च इतिसिच् सर्वाण्येवेन्द्रियाणि सामान्य-विशेषबोधस्वभावस्यात्मन करणरूपाणि द्वाराणि सन्ति तद् द्वारकञ्च चक्षुर्दर्शन सामान्यमात्रोपलम्भनात्मक मात्मपरिणतिरूप बोध्यम् तल्लब्धि-घातिच चक्षुर्दर्शनावरण भवति चक्षुर्भिन्नेन्द्रियमनं विषयमविशिष्टमचक्षुर्दर्शनमात्मपरिणतिरूप बोध्यम्, तल्लब्धिघातिचा—ऽचक्षुर्दनावरण भवति ।

अवधावपि प्रथमसम्पाते सामान्यमात्रोपलम्भनात्मकमात्मपरिणतिरूपमवधिदर्शनम् । केवलदर्शनञ्च सामान्योपभोगरूप भवति । एतदुत्तरावरणमवधिदर्शनावरणम्--केवलदर्शनावरणञ्चाऽव-

---

निरूपण किया गया. यहाँ दर्शनावरण के नौ भेद कहे जाते है—दर्शनावरण नामक जो कर्म की दूसरी मूल प्रकृति है, उसके नौ भेद हैं। वे यो है—

१ चक्षुदर्शनावरण २ अचक्षुदर्शनावरण ३ अवधिदर्शनावरण ४ केवलदर्शनावरण ५ निद्रा ६ निद्रानिद्रा ७ प्रचला ८ प्रचलाप्रचला और ९ स्त्यानर्द्धि ।

जो नींद सरलता से टूट जाए वह निद्रा कहलाती है निद्रारूप—अनुभव करने योग्य-को निद्रा कहते हैं। जो नींद कठिनाई से टूटे वह गाढी नींद निद्रानिद्रा है । खडे-खडे या बैठे-बैठे आने वाली निद्रा प्रचला है, जिस निद्रा में, सोचा हुआ कार्य कर डाला जाता है, वह स्त्यानर्द्धि निद्रा कहलाती है । इस प्रकार पाँच निद्राएँ और चार चक्षुदर्शनावरण आदि मिलकर दर्शनावरण के नौ भेद होते हैं ।

जिसके द्वारा आत्मा देखता है, उसे चक्षु कहते है । सभी इन्द्रियाँ सामान्य-विशेष बोधस्वरूप आत्मा के लिए कारण हैं—रूपादि को ग्रहण करने के द्वार है । चक्षु रूप द्वार से होने वाला दर्शन अर्थात् सामान्य बोध चक्षुदर्शन कहलाता है वह आत्मा की ही एक विशिष्ट परिणति है । चक्षुदर्शनावरण चक्षुदर्शन लब्धि का घातक होता है ।

चक्षु के अतिरिक्त शेष इन्द्रियों से तथा मन से होने वाला सामान्य बोध अचक्षुदर्शन है । वह भी आत्मा की ही परिणति है । उसकी लब्धि का घात करने वाला अचक्षुदर्शनावरण कहलाता है ।

अवधिज्ञान के उपयोग से पहले जो सामान्य ज्ञान होता है वह अवधिदर्शन है । यह भी आत्मा की परिणति है । इसका घात करने वाला कर्म अवधिदर्शनावरण कहलाता है ।

गन्तव्यम् । इति नवविध दर्शनावरणरूपद्वितीयमूलप्रकृतिकर्मण उत्तरप्रकृतिकर्माऽवसेयम्–॥७॥

मूलसूत्रम्—"वेयणिज्जं दुविहं सायासायभेयओ—"॥ ८ ॥

छाया –'वेदनीयं द्विविध शाताऽशातभेदतः—" ॥ ८॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे द्वितीयस्य दर्शनावरणरूपमूलप्रकृतिकर्मणो नवविधमुत्तरप्रकृतिकर्मप्ररूपितम् सम्प्रति वेदनीयत्वेन प्रसिद्धस्य तृतीयस्य मूलप्रकृतिकर्मणो द्विविधमुत्तरप्रकृतिकर्मप्ररूपयितुमाह "**वेयणिज्जं दुविहं,सायासायभेयओ–**" इति । वेदनीय तावत् मूलप्रकृतिकर्म उत्तरप्रकृतिकर्मत्वेन द्विविधं प्रज्ञप्तम्, शाताशातभेदत', शातावेदनीयम्–अशातावेदनीयञ्चेति ॥८॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वसूत्रे दर्शनावरणरूपमूलप्रकृतिकर्मणो द्वितीयस्य नवविधमुत्तरप्रकृतिकर्म प्ररूपितम्, सम्प्रति–वेदनीयत्वेन प्रसिद्धतृतीयमूलप्रकृतिकर्मणो द्वैविध्यमुत्तरप्रकृतिकर्म प्ररूपयितुमाह—**वेयणिज्जं दुविहं,सायासायभेयओ—"** इति ।

वेदनीय खलु तृतीय मूलप्रकृतिकर्म–उत्तरप्रकृतित्वेन द्विविध प्रज्ञप्तम्, शातशातभेदत' सद्वेद्यम्–असद्वेद्यञ्चेत्येव वेदनीयमूलप्रकृतेरुत्तरप्रकृतिद्वयं भवति । तथा च यदुदयादुपभोक्तु' कर्तुरात्मनो मनुष्य–देवादिजन्मसु–औदारिकादिशरीरमनोद्वारेणाऽभिमतमिष्ट सुखपरिणतिरूपम् आगन्तुकविविधमनोज्ञद्रव्य–क्षेत्र–काल–भावसम्बन्धवशात् प्राप्तपरिपाकावस्थम् अनेकभेद भवति तत्सद्वेदनीयमवगन्तव्यम् ।

तदेव सद्वेद्यं–शातावेदनीयञ्चेत्युच्यते, तद्विपरीतम्–असद्वेदनीयम्–असद्वेद्यम्–अशातावेद-

---

केवलदर्शन भी सामान्य उपयोग है, इसे आवृत करने वाला कर्म केवलदर्शनावरण कहलाता है । दूसरी मूल कर्मप्रकृति की यह नौ उत्तरप्रकृतियां है ॥७॥

सूत्रार्थ—"वेयणिज्जं दुविहं' इत्यादि ॥८॥"

वेदनीय कर्म दो प्रकार का है–सातावेदनीय और असातावेदनीय ॥८॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्र मे द्वितीय मूल कर्मप्रकृति दर्शनावरण की नौ उत्तर प्रकृतियों का निरूपण किया गया है, अब तीसरी मूलप्रकृति वेदनीय के भेदो का कथन करते है–वेदनीय नामक तीसरी मूल कर्मप्रकृति के दो भेद हैं–सातावेदनीय और असातावेदनीय ॥८॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पिछले सूत्रमे दर्शनावरण कर्म की उत्तरप्रकृतियो का कथन किया है, अब वेदनीयकर्म की उत्तर प्रकृतियो का प्रतिपादन करते है–

वेदनीयकर्म की उत्तरप्रकृतियाँ दो है सातावेदनीय और असातावेदनीय । जिसके उदय से आत्मा को मनुष्य और देव आदि जन्मों मे औदारिक आदि शरीर तथा मन के द्वारा, आगन्तुक विविध मनोरम द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव और भव के सम्बन्ध से अनेक प्रकार के सुख का अनुभव होता है, वह सातावेदनीय कहलाता है । उसे सातावेदनीय या सद्वेद्य भी कहते है । इससे जो विपरीत हो वह असातावेदनीय, असद्वेद्य या अशातावेदनीय कहलाता है । तात्पर्य यह है कि

नीयञ्चोच्यते। एवञ्च–आत्मनोऽभिमतविषयत्वम् सद्वेदनीयत्वम्। आत्मनोऽनभिमतविषयत्वञ्चाऽसद्वेदनीयत्वमवगन्तव्यम्–॥८॥

मूलसूत्रम्––"मोहणिज्जं अट्ठावीसविहं दंसणचरित्तादिभेयओ––" ॥९॥

छाया––"मोहनीयम्–अष्टाविंशतिविधं दर्शनचारित्रादिभेदतः–" ॥९॥

तत्त्वार्थदीपिका––पूर्वसूत्रे वेदनीयाख्यस्य तृतीयमूलप्रकृतिकर्मणो द्वैविध्येनोत्तरप्रकृतिकर्मप्ररूपितम्, सम्प्रति–मोहनीयस्य चतुर्थमूलप्रकृतिकर्मणोऽष्टाविधमुत्तरकर्म प्ररूपयति "मोहणिज्जं–" इत्यादि। तथाच–मोहनिय कर्म द्विविधम्, दर्शनमोहनीयम्–१ चारित्रमोहनीयञ्च–२।

तत्र–दर्शनमोहनीयं त्रिविधम्, मिथ्यात्वमोहनीयम्–१ सम्यक्त्वमोहनीयम्–२ सम्यग्मिथ्यात्व मिश्रमोहनीयञ्च–३। चारित्रमोहनीयन्तु–कषायमोहनीय–१ नोकषायमोहनीय–२ भेदेन द्विविधम्–। तत्र–कषायमोहनीय षोडशविधम्, क्रोध–मान–माया–लोभचतुष्टयस्य कषायमोहनीयस्य प्रत्येकम् अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानकषायप्रत्याख्यानकषाय–सञ्ज्वलनकषायभेदेन चातुर्विध्यात् षोडशभेदा भवन्ति–।

नोकषायमोहनीय खलु नवविधं भवति, हास्य–रत्य–रति–शोक–भय–जुगुप्सा–पुरुषवेद–स्त्रीवेद–नपुंसकवेदभेदात् इत्येवं रीत्या दर्शनमोहनीयस्य –उपर्युक्तत्रैविध्येन सह चारित्रमोहनीयस्य षोडशकषायमोहनीय, नवनोकषायमोहनीयभेदैः पञ्चविंशतिभेदानां सम्मेलनेना–ऽष्टाविंशतिविध मोहनीयमूलप्रकृतिकर्मण उत्तरप्रकृतिकर्मसम्पद्यते –इति भाव ॥ ९ ॥

जिस कर्म के उदय से अनिष्ट सामग्री प्राप्त होने पर असाता–दुःख रूप अनुभूति हो, वह असद्वेद्य कर्म है ॥८॥

सूत्रार्थ––"मोहणिज्जं अट्ठावीसविहं' इत्यादि ॥९॥

दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय आदि के भेद से मोहनीय कर्म अठाईस प्रकार का है ॥९॥

तत्त्वार्थदीपिका—पिछले सूत्र मे वेदनीय नामक मूल कर्मप्रकृति की दो उत्तर प्रकृतियो का निरूपण किया गया, अब मोहनीय नामक चौथी मूल कर्मप्रकृति की अठाईस उत्तर प्रकृतियो का निरूपण करते है–मोहनीय कर्म दो प्रकार का है–दर्शमोहनीय और चारित्रमोहनीय।

इनमें से दर्शनमोहनीय कर्म तीन प्रकार का है–१ मिथ्यात्वमोहनीय २ सम्यक्त्वमोहनीय और ३ सम्यग् मिथ्यात्वमोहनीय अर्थात् मिश्रमोहनीय। चारित्रमोहनीय दो प्रकार का है–कषायमोहनीय और नोकषायमोहनीय। इनमे से कषायमोहनीय के सोलह भेद है क्रोध, मान, माया, और लोभ, यह चारों कषाय अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और सञ्ज्वलन के भेद से चार-चार प्रकार के होने के कारण सोलह प्रकार के हो जाते है।

नोकषायमोहनीय के नौ भेद है– १ हास्य २ रति ३ अरति ४ शोक ५ भय ६ जुगुप्सा ७ पुरुषवेद ८ स्त्रीवेद और ९ नपुसक वेद। इस प्रकार दर्शनमोहनीय के, तीन भेदों के साथ चारित्रमोहनीय के सोलह, कषायमोहनीय और नौ नो कषायमोहनीय के पचीस भेदो को सम्मिलित करने से मोहनीय नामक मूल प्रकृति की अठाईस उत्तरप्रकृतियाँ हो जाती है ॥९॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वसूत्रे वेदनीयाख्यतृतीयमूलप्रकृतिकर्मणो द्वैविध्येनोत्तरप्रकृतिकर्मप्ररूपितम् सम्प्रतिहि–चतुर्थस्य मोहनीयमूलप्रकृतिकर्मणोऽष्टाविंशतिविधमुत्तरकर्मप्ररूपयितुमाह—**"मोहणिज्जं अट्ठावीसविहं दंसणचारित्ताइभेयओ–"** इति । मोहनीय खलु मूलप्रकृतिकर्म, उत्तरप्रकृतित्वेनाऽष्टाविंशतिविध प्रज्ञप्तम् दर्शनचारित्रादिभेदत ।

मिथ्यात्वमोहनीय–सम्यक्त्वमोहनीय–सम्यग्मिथ्यात्वमोहनीयरूपत्रिविधदर्शनमोहनीयाऽनन्ताऽनुबन्ध्यप्रत्याख्यान–पत्याख्यान–सञ्ज्वलनकषायरूपभेद चतुष्टयाऽवच्छिन्नप्रत्येकक्रोध–मान–माया–लोभचतुष्टयभेदावच्छिन्नषोडशकषाय–हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीवेदनपुंसकवेदभेदावच्छिन्ननव नोकषायरूपपञ्चविंशतिभेदावच्छिन्नचारित्रमोहनीयभेदात तत्र तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षण सम्यक्त्व तद्रूप मोहनीयम् सम्यक्त्वमोहनीयम् तद् विपरीतम् अतत्त्वार्थश्रद्धान तत्त्वार्थाश्रद्धान वा मिथ्यात्वम् तद्रूप मोहनीय मिथ्यात्वमोहनीयम्–तदुभय सम्यग् मिथ्यातत्त्वश्रद्धानलक्षण च सम्यग् मिथ्यात्वम्, तद्रूप मोहनीयं सम्यग् मिथ्यात्वमोहनीयम् इत्येव तावत् त्रिविध दर्शनमोहनीयस्योत्तरप्रकृतिकर्म बोध्यम् तत्त्वार्थश्रद्धान दर्शन तन्मोहनाद् दर्शनमोहनीयमुच्यते प्राणातिपातादिरूपप्राणिवधादितो विरतिरूप चारित्रम्–तन्मोहनात् मूर्च्छारूपात् चारित्रमोहनीय कर्म व्यपदिश्यते तत्र दर्शनमोहनीयस्योक्तत्रैविध्यं वर्तते तेषां त्रयाणामपि बन्धो भवति तथा चोक्तम्—॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पूर्वसूत्र मे वेदनीय नामक मूलकर्मप्रकृति की दो उत्तर प्रकृतियाँ बतलाई जा चुकी है, अब चौथी मोहनीय मूलप्रकृति की अठाईस उत्तरप्रकृतियों की प्ररूपणा करने के लिए कहते है–मोहनीय नामक मूलप्रकृति दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय आदि के भेद से अठाईस प्रकार की है ।

तीन प्रकार का दर्शन मोहनीय–मिथ्यात्वमोहनीय सम्यक्त्व मोहनीय और मिश्र मोहनीय, अनन्तानुबन्धी अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यान और सञ्ज्वलन के क्रोध, मान, माया, लोभ, यों सोलह कषाय मोहनीह तथा नौ नो कषाय मोहनीय अर्थात् हास्य, रति, अरति, शोक भय जुगुप्सा, स्त्री वेद, पुरुषवेद और नपुसकवेद, यह सब मिलकर मोहनीय कर्म की अट्ठाईस उत्तर प्रकृतियाँ हैं।

तत्त्वार्थ के विषय में सम्यक् श्रद्धान न हो–विपरीत श्रद्धान होना मिथ्यात्व कहलाता है। जिस कर्म के उदय से मिथ्यात्व की उत्पत्ति होती है. वह मिथ्यात्वमोहनीय कर्म कहलाता है। जिसके उदय से सम्यक्त्व का घात तो न हो किन्तु वह दूषित बना रहे, वह सम्यक्त्व मोहनीय कर्म कहलाता है। जिसके उदय से सम्यक्त्व और मिथ्यात्व रूप मिला जुला परिणाम उत्पन्न हो, वह सम्यग्–मिथ्यात्व या मिश्रमोहनीय कहलाता है । यह तीन दर्शनमोहनीय की उत्तर प्रकृतियाँ हैं।

प्राणातिपात अर्थात् प्राणिविराधना आदि की निवृत्ति को चारित्र कहते है । उसे जो मोहित–मूर्छित करदे अर्थात् जो चारित्र परिणाम को जागृत न होने दे. वह चारित्रमोहनीय कर्म कहलाता है।

यद्यपि दर्शनमोहनीय कर्म के तीन भेद हैं, और तीनो मे बन्ध होता है । कहा भी है—

मिथ्यात्वस्य ह्युदये जीवो विपरीतदर्शनो भवति ।
न च तस्मै सद्धर्मः स्वदेत पित्तोदये घृतवत् ॥१॥ इति,

उक्तरीत्या च मिथ्यात्वशुद्धौ ग्रन्थिभेदानन्तर सम्यक्त्वावाप्तिर्भवति, तदनन्तरञ्च—

"सम्यक्त्वगुणेन ततो विशोधयति कर्म तच्च मिथ्यात्वम् ।
यद्वच्छकृत्प्रभृतिभिः शोध्यन्ते कोद्रवामदनाः ॥१॥
यत् सर्वथा तत्र विशुद्धं तद्भवति सम्यक्त्वम् ।
मिश्रंतु दरविशुद्धं भवत्यशुद्धं च मिथ्यात्वम् ॥२॥ इति,

मदनकोद्रवा स्तु त्र्यवस्था भवन्ति अविशुद्ध विशुद्ध—दरविशुद्धा तस्मादत्र तद्दृष्टान्त मिथ्यात्व-सम्यग् मिथ्यात्वेषु मिथ्यात्वोदयाच्च तत्त्वार्थाश्रद्धा भवति विपरीतदृष्टित्वात् । तथाचोक्तम्—॥ ननु कोद्रवान् मदनकान् भुक्त्वा नात्मवशनां नरो याति । शुद्धादी (शुद्धभक्षी) न च मुह्यति मिश्र-गुण—श्चापि मिश्राद् वा ॥१॥ इति, स खलु मिथ्यात्ववान् मिथ्यात्वोदयानुगुणपरिणामवर्तित्वेन पीतमद्यहृत्पूरभक्षणपित्तोदयाद् व्याक्षिप्तेन्द्रियकरणपुरुषवदयथास्थितार्थरुचिविघातकारिणा मिथ्यात्वेन विपरीतमेव प्रतिपद्यते, उक्तञ्च—

मिथ्यात्व का उदय होने पर जीव की दृष्टि (रुचि, प्रतीति, श्रद्धा) विपरीत हो जाती है । उसे समीचिन धर्म रुचता नहीं, जैसे पित्त का प्रकोप होने पर घृत भी कटुक लगने लगता है ॥१॥

मिथ्यात्व की शुद्धि होने पर ग्रथिभेद को पश्चात् सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है । तदनन्तर—जीव अपने सम्यक्त्व गुण के द्वारा मिथ्यात्व कर्म का विशोधन करता है, जैसे मादक कोद्रवो को छाछ आदि से शोधित किया जाता है । शोधन करने पर जो कर्म विशुद्ध हो जाता है, वह सम्यक्त्व मोहनीय कर्म कहलाता है । जो अर्द्ध शुद्ध होता है अर्थात् कुछ शुद्ध और कुछ अशुद्ध होता है वह मिश्र कहलाता है और जो पूरि तरह अशुद्ध रहता है वह मिथ्यात्व कर्म कहलाता है ॥१—२॥

मदनकोद्रव की तीन अवस्थाए होती है—अविशुद्ध, विशुद्ध और अर्धविशुद्ध । इस कारण यहाँ उसका दृष्टान्त दिया गया है । मिथ्यात्व, सम्यक्त्वमोह और मिश्रमोह में से मिथ्यात्व के उदय से तत्त्वार्थ में अश्रद्धा होती है क्योकि मिथ्यात्व के उदय से जीव विपरीत दृष्टि वाला हो जाता है । कहा भी है—

मदन-कोद्रवो को खाकर मनुष्य अपने वश में नहीं रहता है । शुद्ध किये हुए कोद्रवों को खाने वाला मोहित—मूढ नहीं होता और अर्द्ध शुद्ध कोद्रवो को खाने वाला अर्द्ध मूर्छित होता है

जैसे मदिरापान करने से अथवा धतूरे के भक्षण से या पित्त के प्रकोप से जिसकी इन्द्रियाँ विक्षिप्त हो जाती है, ऐसा पुरुष वास्तविकता—अवास्तविकता का विवेक नहीं कर पाता, इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव समीचीन तत्त्वरुचि का [illegible] मिथ्यात्व के उदय से विपरीत ही श्रद्धा करता है । कहा भी है—

मिथ्यात्वस्य ह्युदये जीवो विपरीतदर्शनो भवति ।
न च तस्मै सद्धर्मः स्वदेत पित्तोदये घृतवत् ॥१॥ इति.

उक्तरीत्या च मिथ्यात्वशुद्धौ ग्रन्थिभेदानन्तर सम्यक्त्वावाप्तिर्भवति, तदनन्तरञ्च—

"सम्यक्त्वगुणेन ततो विशोधयति कर्म तच्च मिथ्यात्वम् ।
यद्वच्छकृत्प्रभृतिभिः शोध्यन्ते कोद्रवामदनाः ॥१॥
यत् सर्वथा तत्र विशुद्धं तद्भवति सम्यक्त्वम् ।
मिश्रंतु दरविशुद्धं भवत्यशुद्धं च मिथ्यात्वम् ॥२॥ इति,

मदनकोद्रवा स्तु त्र्यवस्था भवन्ति अविशुद्ध विशुद्ध—दरविशुद्धा तस्मादत्र तद्दृष्टान्त मिथ्यात्व-सम्यग् मिथ्यात्वेषु मिथ्यात्वोदयाच्च तत्त्वार्थाश्रद्धा भवति विपरीतदृष्टित्वात् । तथाचोक्तम्—॥ ननु कोद्रवान् मदनकान् भुक्त्वा नात्मवशगो नरो याति । शुद्धादो (शुद्धभक्षी) न च मुह्यति मिश्र-गुण—श्चापि मिश्राद् वा ॥१॥ इति, स खलु मिथ्यात्ववान् मिथ्यात्वोदयानुगुणपरिणामवर्तित्वेन पीतमद्यहृत्पूरभक्षणपित्तोदयाद् व्याक्षिप्तेन्द्रियकरणपुरुषवदयथास्थितार्थरुचिविघातकारिणा मिथ्यात्वेन विपरीतमेव प्रतिपद्यते, उक्तञ्च—

मिथ्यात्व का उदय होने पर जीव की दृष्टि (रुचि, प्रतीति, श्रद्धा) विपरीत हो जाती है । उसे समीचिन धर्म रुचता नहीं, जैसे पित्त का प्रकोप होने पर घृत भी कटुक लगने लगता है ॥१॥

मिथ्यात्व की शुद्धि होने पर ग्रंथिभेद को पश्चात् सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है । तदनन्तर—जीव अपने सम्यक्त्व गुण के द्वारा मिथ्यात्व कर्म का विशोधन करता है, जैसे मादक कोद्रवो को छाछ आदि से शोधित किया जाता हैं । शोधन करने पर जो कर्म विशुद्ध हो जाता हैं, वह सम्यक्त्व मोहनीय कर्म कहलाता है । जो अर्द्ध शुद्ध होता है अर्थात् कुछ शुद्ध और कुछ अशुद्ध होता है वह मिश्र कहलाता है और जो पूरि तरह अशुद्ध रहता है वह मिथ्यात्व कर्म कहलाता है ॥१—२॥

मदनकोद्रव की तीन अवस्थाए होती है—अविशुद्ध, विशुद्ध और अर्धविशुद्ध । इस कारण यहाँ उसका दृष्टान्त दिया गया है । मिथ्यात्व, सम्यक्त्वमोह और मिश्रमोह मे से मिथ्यात्व के उदय से तत्त्वार्थ मे अश्रद्धा होती है क्योकि मिथ्यात्व के उदय से जीव विपरीत दृष्टि वाला हो जाता है । कहा भी है—

मदन-कोद्रवों को खाकर मनुष्य अपने वश मे नहीं रहता है । शुद्ध किये हुए कोद्रवों को खाने वाला मोहित—मूढ नहीं होता और अर्द्ध शुद्ध कोद्रवो को खाने वाला अर्द्ध मूर्छित होता है

जैसे मदिरापान करने से अथवा धतूरे के भक्षण से या पित्त के प्रकोप से जिसकी इन्द्रियाँ विक्षिप्त हो जाती है, ऐसा पुरुष वास्तविकता—अवास्तविकता का विवेक नहीं कर पाता, इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव समीचीन तत्त्वरुचि का विघान करने वाले मिथ्यात्व के उदय से विपरीत ही श्रद्धा करता है । कहा भी है—

मिच्छत्ततिमिरपच्छाइयदिट्ठीरागदोससंजुत्ता ।
धम्मं जिणपण्णत्तं भव्वावि नरा नरोयति ॥१॥
मिच्छादिट्ठीजीवो उवइट्ठं पवयणं न सद्दहइ ।
सद्दहइ असब्भाव उवइट्ठं वा अणुवइट्ठं ॥२॥
पयमक्खरं च इक्कंपि जो न रोएइ सुत्तनिद्दिट्ठं ।
सेसं रोयंतो वि हु मिच्छादिट्ठीमुणेयव्वो ॥३॥ इति,
मिथ्यात्वतिमिरप्रच्छादितदृष्टयो रागद्वेषसंयुक्ताः ।
धर्मं जिनप्रज्ञप्तं भव्या अपि नरा न रोचन्ते ॥१॥
मिथ्यादृष्टिर्जीवउपदिष्टं प्रवचनं न श्रद्धधाति ।
श्रद्दधात्यसद्‌भावमुपदिष्टं वाऽनुपदिष्टम् ॥२॥
पदमक्षरं चैकमपि यो न रोचते सूत्रनिर्दिष्टम् ।
शेषं रोचमानोऽपि खलु मिथ्यादृष्टिर्ज्ञातव्यः ॥३॥ इति
किञ्चोक्तञ्च—॥ तं मिच्छत्तं जमसद्दहणं तच्चाण जाण भावाणं ।
संसइयमभिग्गहियं अणभिग्गहियं च तिविह च ॥१॥ इति ।
तन्मिथ्यात्वं यद् अश्रद्धानं तथ्यानां जानीहि भावानाम् ।
सांशयिकमाभिग्रहिकमानाभिग्रहिकञ्च त्रिविधञ्च ॥ इति ।

जिनकी दृष्टि मिथ्यात्व रूपी अन्धकार से आच्छादित हो गई है, जो राग और द्वेष से युक्त है, ऐसे जीव भव्य होने पर भी जिनेन्द्रप्ररूपित धर्म पर रुचि नहीं करते ॥१॥

मिथ्यादृष्टि जीव उपदिष्ट प्रवचन पर तो श्रद्धा करता नहीं, किन्तु उपदिष्ट या अनुपदिष्ट असद्‌भाव पर अर्थात् विपरीत तत्त्व पर श्रद्धा करता है ॥२॥

जो जीव सूत्र–आगम में कथित एक भी पद या एक भी अक्षर पर अरुचि (अश्रद्धा) करता है, वह शेष समग्र आगम पर श्रद्धा करता हो तो भी उसे मिथ्यादृष्टि ही समझना चाहिए ॥३॥

तत्त्वार्थश्रद्धान रूप आत्मा का परिणाम सम्यक्त्व कहलाता है। सम्यक्त्व पाँच प्रकार का है–(१) औपशमिक (२) सास्वादन (३) वेदक (४) क्षायोकशमिक और (५) क्षायिक ।

अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ और दर्शन मोहनीय की तीन, यो सातो प्रकृतियो का उपशम होने पर औपशमिक सम्यक्त्व उत्पन्न होता है यह सम्यक्त्व अन्तर्मुहूर्त्त मात्र ही रहता है। तत्पश्चात् अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय हो जाता है और अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से सम्यक्त्व का निश्चय ही घात हो जाता है। कहा भी है—

अगर सयोजना का अर्थात् अनन्तानुबधी कषाय का उदय रहता तो सास्वादन सम्यक्त्व हो जाता है और यदि उसका अभाव होता है तो निर्दोष सम्यक्त्व प्राप्त होता है ॥१॥

सम्यक्त्ववेदनीयं तावत् शुद्धपुद्गलप्रत्ययआत्मनस्तत्त्वार्थश्रद्धानपरिणाम, स चौपशमिकसास्वादन–वेदक–क्षायोपशमिक–क्षायिकभेदेन, पञ्चविध, तत्र दर्शनमोहसप्तके उपशान्ते सति औपशमिक भवति, सदैव सम्यक्त्वमन्तर्मुहूर्तकालावच्छिन्न बोध्यम्, उपशमसम्यग्दर्शनकाले सयोजना षण्णामावलिकानामन्ते कस्यचिदुभयभाव गच्छन्ति, अनन्तानुबन्धिभिरूपशमसम्यक्त्व नित्यमेव विहन्यते, उक्तञ्च—

"संयोजनोदयश्चेत् स्यात्सास्वादनसम्यक्त्वम् ।
तस्य विशुद्धयतस्तदभावात्–सम्यक्त्वमनवद्यम्" ॥१॥

क्षायोपशमिकसम्यक्त्वपुद्गलचरमग्रासानुभवकाले वेदकसम्यक्त्व भवति उदितमिथ्यात्वपुद्गलक्षये अनुदितमिथ्यात्वोपशमे च क्षायोपशमिक सम्यक्त्व भवति, क्षायिक सम्यक्त्व पुनर्निरवशेपदर्शनमोहक्षये सति सजायते, न नु–विशुद्धपुद्गलक्षये तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणस्य परिणामस्याऽभावो भवति । तथाचोक्तम्—

"प्रक्षीणे तर्हि सम्यक्त्वे सम्यग्दृष्टिः कथं मता ?
क्षयो द्रव्यस्य तत्रेष्टः परिणामस्य न क्षयः-,, ॥१॥

इति, सम्यग् मिथ्यात्ववेदनीयन्तु–प्रथमत सम्यक्त्वमुत्पादयन् करणत्रय विधायो-पशमसम्यक्त्वमासादयति । तदनन्तरम् मिथ्यात्वदलिक त्रिपुञ्जीत्वेन शुद्धमिश्राऽशुद्धत्वेन परिणमति । तदुक्तम्-

सम्यक्त्वगुणेन ततो विशोधयति कर्म तच्च मिथ्यात्वम्-।
यद्वच्छकृत्प्रभृतिभिः शोध्यन्ते कोद्रवा मदनाः-॥११॥

इति, इत्येव तावत् त्रिविधं दर्शनमोहीयकर्मोत्तरप्रकृतिबन्धं प्रतिपाद्य, सम्प्रति–पञ्चविंशतिविधम् चारित्रमोहनीयकर्मोत्तरप्रकृतिबन्धं प्रतिपादयति ।

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व के अन्तिम पुद्गलो का अनुभव करने के काल में वेदक सम्यक्त्व होता है। उदय में न आये मिथ्यात्व के पुद्गलोंका क्षय, और उदय मे न आये मिथ्यात्व का उपशम होने पर क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है। सम्पूर्ण दर्शनमोहनीय का क्षय होने पर क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। ऐसा नहीं है कि विशुद्ध पुद्गलो का क्षय होने पर तत्त्वार्थश्रद्धान रूप परिणाम का अभाव हो जाए। कहा भीहै—

सम्यक्त्व मोहनीय को पुद्गलो के क्षय हो जाने पर सम्यग् दृष्टि कैसे मानी गई है ? इस का उत्तर यह है कि वहाँ द्रव्य का क्षय माना गया है, परिणाम का क्षय नहीं ॥१॥

सम्यग्–मिथ्यात्व वेदनीय पहले सम्यक्त्व को उत्पन्न करता हुआ, तीन करण कर के, उपशम सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। तदनन्तर मिथ्यात्व के दलिक को शुद्ध, मिश्र और अशुद्ध, इस प्रकार तीन पुंज के रूप मे परिणत करता है। कहाभी है—

तत्पश्चात् सम्यक्त्वगुण के द्वारा मिथ्या कर्म का उसी प्रकार विशोधन करता है जैसे छाछ आदि से मदन कोद्रव शुद्ध किये जाते है ॥१॥

चारित्रमोहनीय कर्म द्विविध प्रज्ञप्तम्, कषायमोहनीय नोकषायमोहनीयम् । तत्र-कषायवेदनीय षोडशविधम् तद्यथा--क्रोध, मान, माया, लोभकषायाणां चतुर्णा प्रत्येकम् अनन्तानुबन्ध्य-प्रत्याख्यानकषाय-प्रत्याख्यान-कषाय-सज्वलनकषायचतुष्टयभेदेन षोडशभेदा अवसेयाः । तत्रा-ऽनन्त ससारो नारक-तिर्यड्-मनुष्य-देवरूपचतुर्गति जन्म-जरा-मरणलक्षणस्तदनुबन्धादनन्तानुबन्धिन सयोजनाश्च क्रोध-मान-माया-लोभ सन्ति । तत्रा-ऽप्रीतिलक्षण क्रोध -१ गर्वलक्षणो मान -२ शाठ्यलक्षणा माया -३ गार्ध्यलक्षणो लोभ -४ उक्तञ्च --

"संयोजयन्ति यन्नरमनन्तसंख्येयैर्भवैः कषायास्ते-।
सयोजनतानन्ताऽनुबन्धिता वा ऽप्यतस्तेषाम्- ॥११॥ इति,

अनन्तानुवन्धिना खलु गिरिराजिशैलस्तम्भधनवशमूलकृमिलाक्षारागा उदाहरणानि । एवम्--अप्रत्या-

इस प्रकार दर्शनमोहनीय कर्म की तीन उत्तरप्रकृतियो का प्रतिपादन करके अव पचीस प्रकार के चारित्रमोहनीय कर्म की उत्तरप्रकृति रूप बन्ध का प्रतिपादन करते है,

चारित्रमोहनीय कर्म दो प्रकार का है--कषायमोहनीय और नोकषायमोहनीय । कषाय-मोहनी के सोलह भेद है, यथा--क्रोध, मान, माया और लोभ इन चारो कषायों के अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और सज्वलन के भेद से ४×४=१६--सोलह भेद होते है ।

नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव रूप चतुर्गति तथा जन्म, जरा, मरण रूप अनन्त ससार का अनुबन्ध करने वाला कषाय अनन्तानु बधी कहलाता है । क्रोध, मान, माया और लोभ, इसके चार भेद होते है ।

इनमे से क्रोध का लक्षण अप्रीति है, मान का लक्षण गर्व है, माया का लक्षण शठता (कपटता) है और लोभ का लक्षण गृद्धिआसक्ति है । कहा भी है

जो कषाय जीव को अनन्त भवो से सयोजित करता है उसे अनन्तानुबंधी या सयोजना कषाय कहते है ॥२॥

अनन्तानुबधी कषायो के गिरि राजी (पर्वत मे पडी हुई दरार) शैल स्तंभ (पर्वत) वास की जड और किरमिची रग, ये चार उदाहरण है तात्पर्य यह है कि जैसे पर्वत की दरार कभी मिटती नहीं है, उसी प्रकार जो क्रोध जीवन पर्यन्त कभी न मिटे उसे अनन्तानुबधी क्रोध समझना चाहिए । जैसे पत्थर कभी नमता नहीं उसी प्रकार जो मान जीवन पर्यन्त दूर न हो, वह अनन्तानुबधी मान है । जैसे वांस की जड में अत्यन्त वक्रता होती है, उसी प्रकार की वक्रता अनन्तानुबधी माया मे होती है । जैसे वस्त्र में लगा हुआ किरमिची रग अन्त तक छूटता नहीं है , उसी प्रकार जो लोभ जीवन के अन्त तक न छूटे वह अनन्तानुबधी लोभ कहलाताहै । अर्थात् अनन्तानुबंधी क्रोध का स्वभाव पत्थर भी लकीर=१ मान का स्वभाव वज्र का स्तम्भ माया का स्वभाव वास की जड लोभ का स्वभाव कृमिज रंग के समान होता है ।

ख्यानकषायस्तावतक्रोधादिचतुष्टयभेदेन चतुर्विधो व्यपदिश्यते । तत्र-द्विविध तावत् प्रत्याख्यान भवति, देशविरतिरूप सर्वविरतिरूपञ्च ।

तत्र-देशविरतिलक्षणमल्पं प्रत्याख्यानम् अप्रत्याख्यानमुच्यते तदावरणकषायो-ऽप्रत्याख्याना-ऽवरणकषायो व्यपदिश्यते । य खलु कषाय' स्वल्पप्रत्याख्यानमावृणोति सर्वविरतिलक्षणमपि प्रत्याख्यानमावृणोत्येवेति न किमपि चित्रमस्ति । उक्तञ्च—

आवृण्वन्ति प्रत्याख्यानं स्वल्पमपि येन जीवस्य ।
तेनाऽप्रत्याख्यानावरणास्ते निर्विशेषोक्त्या- ॥१॥ इति.

एषां कषायाणामुदये सति सम्यक्त्वलाभ' सर्वदेशविरतिलक्षण प्रत्याख्यान न सम्भवति, । सर्वविरति-लक्षणप्रत्याख्यानस्याऽऽवरणकषाय -प्रत्याख्यानकषाय उच्यते "सर्वान् प्राणिनो यावज्जीवनं न हन्मि-" इत्यादिप्रत्याख्यान स्थगयन्तीति ये कषायास्ते प्रत्याख्यानावरणकषाया उच्यन्ते । तथाचोक्तम् -

"सर्वप्रत्याख्यानं येनावृण्वन्ति तदभिलपतोऽपि- ।
तेन प्रत्याख्यानाऽऽवरणास्ते निर्विशेषोक्त्या- ॥१॥ इति,

सज्वलनकषाया' खलु समस्तपापस्थानविरतिशालिनमपि यतिं दुःसहपरिषहसपाते सति युगपत् सज्वलयन्तीति सज्वलना । तथाचोक्तम्—

अप्रत्याख्यात कषाय भी क्रोध आदि के भेद से चार प्रकार का है । प्रत्याख्यात दो प्रकार का होता है--देशविरति रूप और सर्वविरतिरूप । इनमें से देश विरति प्रत्याख्यान अल्प होने के कारण अप्रत्याख्यात कहलाता है। उसको आवृत करने वाला अर्थात् उत्पन्न न होने देने वाला कषाय अप्रत्याख्यानावरण कहलाता है । जो कषाय स्वल्प प्रत्याख्यान भी नहीं होने देता वह सर्वविरतिप्रत्याख्यान को भी रोकता है, इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। कहा भी है—'जो कषाय जीव के स्वल्प (एकदेशीय) प्रत्याख्यान को भी रोकते है, वे सामान्यतया अप्रत्याख्यानावरण कषाय कहलाता है ॥१॥

इन अप्रत्याख्यानावरण कषायो के उदय होने पर सम्यक्त्व की प्राप्ति होने पर भी सर्वविरति या देशविरति प्रत्याख्यान नहीं होता ।

जो कषाय सर्वविरति प्रत्याख्यान का आवरण करता है अर्थात् सर्वविरति चरित्र नहीं होने देता, वह प्रत्याख्यानावरण कषाय कहलाता है । मै किसी भी प्राणी को जीवनपर्यन्त मन, वचन, काय और कृत, कारित अनुमोदना से घात नहीं करूँगा' इत्यादि प्रकार का प्रत्याख्यान सर्वविरति प्रत्याख्यान कहलाता है । इसको जो उत्पन्न न होने दे, वह प्रत्याख्या-नावरण कषाय है । कहा है 'जिसमें कषाय के उदय से जीव चाहता हुआ भी सर्वविरति प्रत्या-ख्यान नहीं कर पाता, वह सामान्य रूप से प्रत्याख्यानावरण कषाय कहलाता है ॥ १ ॥

सज्वलन कषाय समस्त पापस्थानको से विरत सर्वविरति से सम्पन्न साधु को भी दुस्सह

चारित्रमोहनीयं कर्म द्विविध प्रज्ञप्तम्, कषायमोहनीय नोकषायमोहनीयम् । तत्र-कषायवेदनीय षोडशविधम् तद्यथा—क्रोध, मान, माया, लोभकषायाणां चतुर्णा प्रत्येकम् अनन्तानुबन्ध्य-प्रत्याख्यानकषाय प्रत्याख्यान-कषाय-सञ्ज्वलनकषायचतुष्टयभेदेन षोडशभेदा अवसेयाः । तत्रा-ऽनन्तः ससारो नारक-तिर्यङ्-मनुष्य-देवरूपचतुर्गति जन्म-जरा-मरणलक्षणस्तदनुबन्धादनन्तानुबन्धिनः सयोजनाश्च क्रोध-मान-माया-लोभ सन्ति । तत्रा-ऽप्रीतिलक्षण क्रोध -१गर्वलक्षणो मान' -२शाठ्यलक्षणा माया -३गार्ध्यलक्षणो लोभ' -४ उक्तञ्च --

"संयोजयन्ति यन्नरमनन्तसंख्येयैर्भवैः कषायास्ते-।
सयोजनतानन्ताऽनुबन्धिता वा ऽप्यतस्तेपाम्- ॥११॥ इति,

अनन्तानुबन्धिना खलु गिरिराजिशैलस्तम्भधनवंगमूलकृमिलाक्षारागा उदाहरणानि । एवम्—अप्रत्या-

---

इस प्रकार दर्शनमोहनीय कर्म की तीन उत्तरप्रकृतियो का प्रतिपादन करके अब पचीस प्रकार के चारित्रमोहनीय कर्म की उत्तरप्रकृति रूप बन्ध का प्रतिपादन करते है,

चारित्रमोहनीय कर्म दो प्रकार का है—कषायमोहनीय और नोकपायमोहनीय । कषाय-मोहनी के सोलह भेद है, यथा—क्रोध, मान, माया और लोभ इन चारो कषायो के अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और सञ्ज्वलन के भेद से ४×४=१६—सोलह भेद होते है ।

नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव रूप चतुर्गति तथा जन्म, जरा, मरण रूप अनन्त ससार का अनुबन्ध करने वाला कषाय अनन्तानु बधी कहलाता है । क्रोध, मान, माया और लोभ, इसके चार भेद होते है ।

इनमे से क्रोध का लक्षण अप्रीति है, मान का लक्षण गर्व है, माया का लक्षण शठता (कपटता) है और लोभ का लक्षण गृद्धिआसक्ति है । कहा भी है

जो कषाय जीव को अनन्त भवो से सयोजित करता है उसे अनन्तानुबंधी या सयोजना कषाय कहते है ॥२॥

अनन्तानुबधी कषायों के गिरि राजी (पर्वत में पडी हुई दरार) शैल स्तभ (पर्वत) वास की जड और किरमिची रग, ये चार उदाहरण है तात्पर्य यह है कि जैसे पर्वत की दरार कभी मिटती नहीं है, उसी प्रकार जो क्रोध जीवन पर्यन्त कभी न मिटे उसे अनन्तानुबधी क्रोध समझना चाहिए। जैसे पत्थर कभी नमता नहीं उसी प्रकार जो मान जीवन पर्यन्त दूर न हो, वह अनन्तानुबधी मान है । जैसे वांस की जड मे अत्यन्त वक्रता होती है, उसी प्रकार की वक्रता अनन्तानुबधी माया मे होती है। जैसे वस्त्र में लगा हुआ किरमिची रग अन्त तक छूटता नहीं है , उसी प्रकार जो लोभ जीवन के अन्त तक न छूटे वह अनन्तानुबधी लोभ कहलाताहै। अर्थात् अनन्तानुबंधी क्रोध का स्वभाव पत्थर भी लकीर=१मान का स्वभाव वज्र का स्तम्भ माया का स्वभाव वास की जड लोभ का स्वभाव कृमिज रग के समान होता है ।

ख्यानकषायस्तावत्क्रोधादिचतुष्टयभेदेन चतुर्विधो व्यपदिश्यते । तत्र द्विविधं तावत् प्रत्याख्यानं भवति, देशविरतिरूपं सर्वविरतिरूपञ्च ।

तत्र-देशविरतिलक्षणमल्पं प्रत्याख्यानम् अप्रत्याख्यानमुच्यते तदावरणकषायो-ऽप्रत्याख्याना-ऽवरणकषायो व्यपदिश्यते । यः खलु कषायः स्वल्पप्रत्याख्यानमावृणोति सर्वविरतिलक्षणमपि प्रत्याख्यानमावृणोत्येवेति न किमपि चित्रमस्ति । उक्तञ्च—

आवृण्वन्ति प्रत्याख्यानं स्वल्पमपि येन जीवस्य ।
तेनाऽप्रत्याख्यानावरणास्ते निर्विशेषोक्त्या- ॥१॥ इति,

एषां कषायाणामुदये सति सम्यक्त्वलाभः सर्वदेशविरतिलक्षणं प्रत्याख्यानं न सम्भवति, । सर्वविरति-लक्षणप्रत्याख्यानस्याऽऽवरणकषाय -प्रत्याख्यानकषाय उच्यते "सर्वान् प्राणिनो यावज्जीवनं न हन्मि—" इत्यादिप्रत्याख्यानं स्थगयन्तीति ये कषायास्ते प्रत्याख्यानावरणकषाया उच्यन्ते । तथाचोक्तम् -

"सर्वप्रत्याख्यानं येनावृण्वन्ति तदभिलपतोऽपि- ।
तेन प्रत्याख्यानाऽऽवरणास्ते निर्विशेषोक्त्या- ॥१॥ इति,

सञ्ज्वलनकषाया खलु समस्तपापस्थानविरतिशालिनमपि यतिं दुःसहपरिषहसंपाते सति युगपत् सञ्ज्वलयन्तीति सञ्ज्वलना । तथाचोक्तम्—

अप्रत्याख्यात कषाय भी क्रोध आदि के भेद से चार प्रकार का है। प्रत्याख्यात दो प्रकार का होता है--देशविरति रूप और सर्वविरतिरूप । इनमें से देश विरति प्रत्याख्यान अल्प होने के कारण अप्रत्याख्यात कहलाता है। उसको आवृत करने वाला अर्थात् उत्पन्न न होने देने वाला कषाय अप्रत्याख्यानावरण कहलाता है। जो कषाय स्वल्प प्रत्याख्यान भी नहीं होने देता वह सर्वविरतिप्रत्याख्यान को भी रोकता है, इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। कहा भी है—'जो कषाय जीव के स्वल्प (एकदेशीय) प्रत्याख्यान को भी रोकते है, वे सामान्यतया अप्रत्याख्यानावरण कषाय कहलाता है ॥१॥

इन अप्रत्याख्यानावरण कषायो के उदय होने पर सम्यक्त्व की प्राप्ति होने पर भी सर्वविरति या देशविरति प्रत्याख्यान नहीं होता ।

जो कषाय सर्वविरति प्रत्याख्यान का आवरण करता है अर्थात् सर्वविरति चरित्र नहीं होने देता, वह प्रत्याख्यानावरण कषाय कहलाता है। मै किसी भी प्राणी को जीवनपर्यन्त मन, वचन, काय और कृत, कारित अनुमोदना से घात नहीं करूँगा' इत्यादि प्रकार का प्रत्याख्यान सर्वविरति प्रत्याख्यान कहलाता है। इसको जो उत्पन्न न होने दे, वह प्रत्याख्या-नावरण कषाय है। कहा है 'जिसमें कषाय के उदय से जीव चाहता हुआ भी सर्वविरति प्रत्या-ख्यान नहीं कर पाता, वह सामान्य रूप से प्रत्याख्यानावरण कषाय कहलाता है ॥ १ ॥

सञ्ज्वलन कषाय समस्त पापस्थानकों से विरत सर्वविरति से सम्पन्न साधु को भी दुस्सह

"संज्वलयन्ति यतिं यत् संविग्नं सर्वपापविरतमपि ।
तस्मात् संज्वलना इत्यप्रशमकरानिरुच्यन्ते– ॥१॥ इति,

सज्वलनाश्च ते कषाया सज्वलनकषाया तथाचैकैकस्याऽप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानसञ्ज्वलनकषायस्य क्रोधादयश्चत्वारो भेदा इति द्वादशभेदा सजाता पूर्वोक्ता, अनन्तानुबन्धिनश्च चत्वार क्रोध-मान-माया-लोभा इति कषायमोहनीयस्य षोडशभेदा भवन्ति- । तत्रा–ऽप्रत्याख्यानकषायक्रोध-मान-माया-लोभोदाहरणानि भूराज्य-ऽस्थि,मेषशृङ्ग–कर्दमरागा, ।

प्रत्याख्यानकषायक्रोधमानादे' रेणुराजि-काष्ठ-गोमूत्रमार्ग-खञ्जनरागा उदाहरणानि। सज्व-लनकषायक्रोधादेरुदाहरणानि जलराजि-तृणशलाकावलेखनिकाहरिद्रारागा भवन्ति इति षोडशविध कषायवेदनीयं प्ररूपितम् ।

सम्प्रति-नवविध नोकषायवेदनीयं प्रतिपादयति, हास्य-रति, अरति -शोक, भय-जुगुप्सा-

---

परीषह के उपस्थित होने पर एकदम सज्वलित (कषायाविष्ट) कर देते है। इस कारण उन्हें सज्वलन कषाय कहते है। कहा भी है––

जो कषाय ससार से विरक्त और समस्त पापो से रहित साधु को भी सज्वलित कर देते है, अर्थात् मुनि–अवस्था में भी जिनकी सत्ता रहती है, उन्हे सज्वलन कषाय कहते हैं।

सज्वलन रूप कषायों को सज्वलन कषाय कहते है। इस प्रकार अप्रत्याख्यान, प्रत्या-ख्यान और सज्वलन कषाय के क्रोध आदि चार–चार भेद होने से बारह भेद हो जाते है। इनमें अनन्तानुबन्धी के पूर्वोक्त चार भेद सम्मिलित कर देने पर कषाय मोहनीय के सोलह भेद होते है। अप्रत्याख्यान क्रोध मान, माया और लोभ के उदाहरण ये है–क्रोध का स्वभाव तालाब के तरड, (१) मान का स्वभाव अस्थि (हड्डी) का स्तम्भ (२) माया का स्वभाव मेष श्रृङ्ग (मेढेका सींग) और लोभका स्वभाव कर्दम राग। अर्थात् अप्रत्याख्यान क्रोध का स्वभाव तालाबकी तड (दरार) मान का स्वभाव हड्डी का स्तम्भ, मायाका स्वभाव मेष–मेंढा–का सींग, लोभ का स्वभाव कर्दम राग के समान होता है।

प्रत्याख्यान कषाय के क्रोध मानादि के उदाहारण है–क्रोध का स्वभाव बालु मे खींची हुई लकीर, मान का स्वभाव काष्ठ का स्तम्भ, मायाका स्वभाव चलते बैल के मूत्र, लोभ का स्वभाव खजन के समान होता है। सज्वलन क्रोध जलमें खींची हुई रेखा, मान का स्वभाव तृण का स्तम्भ, माया का स्वभाव अवलेखनिका वास की खपची–बास की छिली हुई पतली त्वचा, लोभ का स्वभाव हल्दी पतग के रग के समान होते है। इस प्रकार कषाय वेदनीय के सोलह भेदों का निरू-पण किया गया है।

अब नौ प्रकार के नो कषाय कर्म का प्रतिपादन करते हैं–(१) ≈ (३) ≈

पुरुषवेद -स्त्रीवेद'-नपुंसकवेदश्चेति। तत्र--कषायैकदेशत्वात्--कषायविशेषत्वाद्वा हास्यादयो नोकषा-यशब्देन व्यपदिश्यन्ते । मिश्रार्थको वा नोशब्दोऽत्र गृह्यते, तथाचैते हास्यादय कषायसहकृता सन्त स्वकार्यसम्पादने समर्था भवन्ति, न खलु हास्यादीना कषायं विना स्वकार्यसम्पादने पृथक्सामर्थ्यमस्ति ।

यद्दोषश्च य कषायो भवति तत्सहचरिणो हास्यादयोऽपि तत्तद्दोषा एव भवन्ति तथाचा-ऽनन्तानुबन्ध्यादिसहचरिताहास्यादयस्तत्स्वभावका एव सम्पद्यन्ते । तस्मादेतेऽपि हास्यादयश्चर-णोपघातकारित्वेन तत्तुल्यश्चैव ग्रहीतव्या उक्तञ्चान्येनाऽपि—

"कषायसहवर्तित्वात्--कषायप्रेरणादपि- ।
हास्यादिनवकस्योक्ता--नोकषायकषायता- ॥१॥-इति ।

तत्र-हास्य नो कषायमोहोदयात् सकारण-निष्कारण वा हसति रङ्गावतीर्णनटवत् । रतिनोकषाय-मोहोदयाद् बाह्याभ्यन्तरवस्तुषु-आसक्तिलक्षणा प्रीतिर्भवति, इष्टेषु वा रूपरसादिषु-आसक्ति रूपा रति सजायते-। अरतिनोकषायमोहोदयात् धर्मेऽप्रीतिरूपाऽरति भवति । शोकरूप नो कषाद मोहोदयात् विलापन करोति, स्वशिरआद्यवयवान आहन्ति-नि'श्वसति-रोदिति, भुवस्तले लुठति च- । भयरूपनोकषायमोहोदयात् उद्विजति त्रस्यति-कम्पते,इत्यादि । जुगुप्सालक्षणनोकषायमोहो-

---

(४) शोक (५) भय (६) जुगुप्सा (७) पुरुष वेद (८) स्त्री वेद और (९) नपुसक वेद ।

कषाय के एक देश होने से अथवा कषाय विशेष होने से हास्य आदि को नो कषाय कहा जाता है । अथवा नो शब्द यहाँ (मिश्र) अर्थ मे ग्रहण किया गया है । इसका आशय यह है कि कषाय के साथ मिलकर ही हास्य आदि अपना कार्य करने मे समर्थ होते है । कषाय के अभाव मे हास्य आदि अपना कार्य सम्पादन करने मे स्वतन्त्र रूप से समर्थ नहीं होते है ।

कषाय जिस दोष वाला होता है, उसके साथी हास्य आदि भी उसी दोष को उत्पन्न करते है । ऐसी स्थिति मे अनन्तानुबन्धी आदि से सहचरित हास्य आदि भी उसी के से स्वभाव वाले होते है ।

अतएव इन हास्य आदि को भी, चारित्र का घातक होने के कारण कषायो के तुल्य ही समझना चाहिए । दूसरो ने भी कहा है--ये हास्य नो कषायो के साथी होने के कारण तथा कषायो को प्रेरित करने अर्थात्--भडकाने वाले होने से नो कषाय कहे गये है ॥१॥ हास्य नो कषाय मोहनीय के उदय से जीव रग भूमि मे नट के समान सकारण अथवा निष्कारण ही हँसने लगता है । रति नो कषाय मोहनीय के उदय से बाह्य और आभ्यन्तर वस्तुओ में आसक्ति--प्रीति उत्पन्न होती है अथवा इष्ट रूप--रस आदि मे आसक्तिरूप प्रीति होती है । अरति नो कषाय मोहनीय के उदय से धर्म मे अरुचि उत्पन्न होती है । शोक नो कषायमोह के उदय से मनुष्य विलाप करता है, अपने मस्तक आदि अवयवो को पीटता है, ठण्डी सासे लेता है, रोता है और धरती पर लोटताहै ।

भय नोकषायमोहनीय के उदय से उद्विग्न होता है--घबराता है, त्रस्त होता है काँपने लगता

दयात् शुभाऽशुभद्रव्यविषयकं घृणाजनन व्यलीकमुपजायते । पुरुषवेदरूपनोकषायमोहोदयात् स्त्रीस्वभिलाषो भवति, ऊद्रिक्तश्लेष्मण आम्रफलाभिलाषवत् । एव सङ्कल्पविषयीभूतास्वपि स्त्रीषु पुरुषवेदरूपनोकषायमोहोदयात् अभिलाषो भवति ।

स्त्रीवेदलक्षणनोकषायमोहोदयात् स्त्रिया' पुरुषेषु-अभिलाषो भवति, तन्मोहोदयादेव सङ्कल्पविषयीभूतेषु च पुरुषेषु-अभिलाषो जायते। नपुसकवेदलक्षणनोकषायमोहोदयात् कस्यचित् स्त्रीपुरुषद्वयविषयोऽपि-अभिलाष सजायते, धातुद्वयोदये सम्मार्जितादिद्रव्याभिलाषवत्, कस्यचित्पुन पुरुषेष्वेवाभिलाष' प्रादुर्भवति सङ्कल्पजन्यविषयेषु चाऽनेकरूपोऽभिलाषो भवति ।

तत्र-पुरुषवेदादीना नोकषायाणां तृणकाष्ठकरीषाग्नयो दृष्टान्ता भवन्ति । पुरुषवेदमोहानलस्याऽत्यन्त ज्वलत' प्राप्तप्रतिक्रियस्य वडवेव प्रशमो भवति, समासादिततृणपूलस्येव न चिर स्थायी अनुबन्धो भवति । स्त्रीवेदमोहानलस्य चिरकालावस्थायिन सम्भाषण-स्पर्शन-शुष्केन्धनाऽभिवर्द्धितस्य चिरकालानन्तरं प्रशमो भवति, दृढतम-खदिरादिकाष्ठप्रवृद्धज्वालामालाकलापाऽनलवत् ।

नपुसकवेदमोहानलस्य महानगरदाहदहनस्येव करीषाग्नेरिवाऽन्तर्विजृम्भमाणदीप्ततमकणनिक-

---

है । जुगुप्सा नो कषायमोह के उदय से शुभ और अशुभ द्रव्यो के विषय में घृणा उत्पन्न होती है । पुरुषवेद नो कषाय मोहनीय के उदय से स्त्रियो की अभिलाषा होती है, जैसे कफ के प्रकोप वाले को आम्रफल की अभिलाषा होती है । इसी प्रकार सकल्प की विषयभूत स्त्रियो में भी पुरुष वेद नो कषाय मोह के उदय से अभिलाषा होती है ।

स्त्री वेद नो कषाय मोह के उदय से स्त्री को पुरुष की अभिलाषा होती है और इसी वेद के उदय से सकल्प के विषयभूत पुरुषो में भी अभिलाषा होती है । नपुंसकवेद नो कषाय मोहनीय के उदय से स्त्री और पुरुष, दोनो के साथ रमण करने की अभिलाषा उत्पन्न होती है, जैसे दो धातुओ का उदय होने पर सम्मार्जित आदि द्रव्यों की अभिलाषा होती है किसी–किसी को पुरुषों की ही अभिलाषा होती है तथा सकल्पजनित विषयों में अनेक प्रकार की अभिलाषा उत्पन्न होती है।

पुरुष वेद आदि तीन नो कषायो के लिए घास की अग्नि, काष्ठ की अग्नि और करीष (छाणो) की अग्नि का उदाहरण प्रसिद्ध है पुरुष वेद मोहनीय रूपी अग्नि जब तीव्रता के साथ प्रज्वलित होती है तब उसका प्रतीकार होने पर वडवा की भाँति उपशम हो जाता है । जैसे घास का पूला जल्दी ही जल जाता है, वैसे पुरुषवेद का असर भी शीघ्र समाप्त हो जाता है-चिरस्थायी नहीं होता । स्त्री वेद मोह रूपी अग्नि चिरकाल में शान्त होती है वह झटपट प्रज्वलित भी नहीं होती बल्कि सभाषण, स्पर्शन आदि रूपि सूखे ईधन से शनै' शनै वृद्धि को प्राप्त होती है । स्त्री वेद की आग अत्यन्त मजबूत खदिर की लकड़ी की खूब बढी हुई ज्वालाओ के समूह के समान होती है । उसके शान्त होनेमें देर लगती है ।

नपुसक वेद मोहनीय रूपी अग्नि उक्त दोनो से अधिक उग्र होती है। वह किसी महानगर

रस्य चिरकालेन प्रशमो भवति, इत्येव रीत्या चारीत्रमोहनीयं पञ्चविंशतिविध प्ररूपितम्, त्रिविधञ्च दर्शनमोहनीयं प्रागेव निरूपितम् इत्यष्टाविंशतिविध मोहनीय कर्म—उत्तप्रकृतित्वेन सम्पन्नम् ।

तत्राऽनन्तानुबन्धी क्रोधादिकपायोदय सम्यग्दर्शनमुपहन्ति तदुदयात् सम्यग्दर्शन नोत्पद्यते पूर्वोत्पन्नमपि तत् परिपतति, अप्रत्याख्यानक्रोधादिकषायोदयाद् सर्वदेशलक्षणाया' विरतेरभाव सजायते, प्रत्याख्यानक्रोधादिकपायोदयाद् देशविरतिर्भवति, किन्तु उत्तमचारित्रस्य लाभो न भवति सर्वस्मात् प्राणातिपाताद् विरमामीति रूपस्य लाभो न भवतीति भाव' ।

सज्वलनकपायोदये पुनरकपायचारित्रलाभो न भवति । तत्र—क्रोध, मान, माया, लोभानां चातुर्णामपि प्रत्येकमनन्ताऽनुवन्ध्यप्रत्याख्यान—प्रत्याख्यानसज्वलनानामेकैकस्य चातुर्विध्यक्रमेण क्रोधादेस्तीव्र—मध्य विमध्य—मन्दभावान् प्रदर्शयति तत्र—तीव्रस्तावद अनन्तानुबन्धी क्रोध' पर्वत-राजिसदृशो भवति, यथा—पर्वताना शिलादिविभागरूपपापाणखण्डानां राजिभिर्दारुरूपा—उत्पद्यते स च शिलायामुत्पन्नाराजिर्यावत्काल शिलारूपं तावत्कालपर्यन्तमवतिष्ठते, नहि तस्या सन्धान भवति ।

के दाह की अग्नि के समान या छाणो की आग के समान भीतर ही भीतर खूब धधकती रहती है। उसकी उपशान्ति चिर कालमे होती है ।

इस प्रकार पच्चीस तरह के चारित्रमोहनीय कर्म का निरूपण किया गया। तीन प्रकार के दर्शन मोहनीय कर्म का निरूपन पहले किया जा चुका है यो मोहनीय कर्म की अट्ठाईस ही प्रकृ-तियों का प्रतिपादन हो चुका ।

अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय सम्यग्दर्शन का घात करता है जब तक उसका उदय रहता है तब तक सम्यग्दर्शनि की उत्पत्ति नहीं होती । सम्यग्दर्शन यदि पहले उत्पन्न हो चुका हो और बाद में अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय हो तो वह नष्ट हो जाता है । अप्रत्यख्यानाव-रण कषाय के उदय से देशविरति भी उत्पन्न नहीं हो पाती, सर्वविरति तो होगी ही कैसे ! प्रत्या-ख्यान कषाय के उदय से देशविरति में तो रुकावट नहीं होती किन्तु सर्वविरति रूप उत्तम चारित्र की प्राप्ति नहीं होती । तात्पर्य यह है कि 'सब प्रकार के प्राणातिपात से विरत होता है' इस प्रकार के सकलसयम का लाभ नहीं होता ।

सज्वलन कषाय के उदय से वीतराग चारित्र की प्राप्ति नहीं होती ।

अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और सज्वलन, इन चारों के क्रोध, मान, माया और लोभ यह चार—चार भेद है। अनन्तानुबधी आदि चार प्रकार के क्रोधमे, इसी प्रकार मान, माया और लोभ मे परस्पर जो तारतम्य है अर्थात् तीव्रभाव, मध्यभाव, विमध्यभाव और मन्दभाव है, उसे दिखलाते है—

चारों प्रकार के क्रोधो मे अनन्तानुबन्धी क्रोध तीव्र होता है। वह पर्वत मे पडी हुई दरार के समान है। जैसे पर्वत मे या पाषाणशिला आदि मे जो दरार पड जाती है, वह जब तक

दयात् शुभाऽशुभद्रव्यविषयकं घृणाजनन व्यलीकमुपजायते। पुरुषवेदरूपनोकषायमोहोदयात् स्त्रीस्वभिलाषो भवति, ऊद्रिक्तश्लेष्मण आम्रफलाभिलाषवत्। एव सङ्कल्पविषयीभूतास्वपि स्त्रीषु पुरुषवेदरूपनोकषायमोहोदयात् अभिलाषो भवति।

स्त्रीवेदलक्षणनोकषायमोहोदयात् स्त्रियाः पुरुषेषु-अभिलाषो भवति, तन्मोहोदयादेव सङ्कल्पविषयीभूतेषु च पुरुषेषु-अभिलाषो जायते। नपुसकवेदलक्षणनोकषायमोहोदयात् कस्यचित् स्त्रीपुरुषद्वयविषयोऽपि-अभिलाष सजायते, धातुद्वयोदये सम्मार्जितादिद्रव्याभिलाषवत्, कस्यचित्पुन पुरुषेष्वेवाभिलाष' प्रादुर्भवति सङ्कल्पजन्यविषयेषु चाऽनेकरूपोऽभिलाषो भवति।

तत्र-पुरुषवेदादीनां नोकषायाणां तृणकाष्ठकरीषाग्नयो दृष्टान्ता भवन्ति। पुरुषवेदमोहानलस्याऽत्यन्त ज्वलत' प्राप्तप्रतिक्रियस्य वडवेव प्रशमो भवति, समासादिततृणपूलस्येव न चिर स्थायी अनुबन्धो भवति। स्त्रीवेदमोहानलस्य चिरकालावस्थायिन सम्भाषण-स्पर्शन-शुष्केन्धनाऽभिवर्द्धितस्य चिरकालानन्तर प्रशमो भवति, दृढतम-खदिरादिकाष्ठप्रवृद्धज्वालामालाकलापाऽनलवत्।

नपुसकवेदमोहानलस्य महानगरदाहदहनस्येव करीषाग्नेरिवाऽन्तर्विजृम्भमाणदीप्ततमकणनिक-

---

है। जुगुप्सा नो कषायमोह के उदय से शुभ और अशुभ द्रव्यों के विषय मे घृणा उत्पन्न होती है। पुरुषवेद नो कषाय मोहनीय के उदय से स्त्रियो की अभिलाषा होती है, जैसे कफ के प्रकोप वाले को आम्रफल की अभिलाषा होती है। इसी प्रकार सकल्प की विषयभूत स्त्रियो में भी पुरुष वेद नो कषाय मोह के उदय से अभिलाषा होती है।

स्त्री वेद नो कषाय मोह के उदय से स्त्री को पुरुष की अभिलाषा होती है और इसी वेद के उदय से सकल्प के विषयभूत पुरुषों में भी अभिलाषा होती है। नपुसकवेद नो कषाय मोहनीय के उदय से स्त्री और पुरुष, दोनो के साथ रमण करने की अभिलाषा उत्पन्न होती है, जैसे दो धातुओ का उदय होने पर सम्मार्जित आदि द्रव्यों की अभिलाषा होती है किसी–किसी को पुरुषों की ही अभिलाषा होती है तथा सकल्पजनित विषयों में अनेक प्रकार की अभिलाषा उत्पन्न होती है।

पुरुष वेद आदि तीन नो कषायो के लिए घास की अग्नि, काष्ठ की अग्नि और करीष (छाणो) की अग्नि का उदाहरण प्रसिद्ध है पुरुष वेद मोहनीय रूपी अग्नि जब तीव्रता के साथ प्रज्वलित होती है तब उसका प्रतीकार होने पर वडवा की भाँति उपशम हो जाता है। जैसे घास का पूला जल्दी ही जल जाता है, वैसे पुरुषवेद का असर भी शीघ्र समाप्त हो जाता है-चिरस्थायी नहीं होता। स्त्री वेद मोह रूपी अग्नि चिरकाल में शान्त होती है वह झटपट प्रज्वलित भी नहीं होती बल्कि सभाषण, स्पर्शन आदि रूपि सूखे ईंधन से शनै शनै वृद्धि को प्राप्त होती है। स्त्री वेद की आग अत्यन्त मजबूत खदिर की लकड़ी की खूब बढी हुई ज्वालाओ के समूह के समान होती है। उसके शान्त होनेमे देर लगती है।

नपुंसक वेद मोहनीय रूपी अग्नि उक्त दोनो से अधिक उग्र होती है। वह किसी महानगर

रस्य चिरकालेन प्रशमो भवति, इत्येव रीत्या चारीत्रमोहनीयं पञ्चविंशतिविध प्ररूपितम्, त्रिविधञ्च दर्शनमोहनीय प्रागेव निरूपितम् इत्यष्टाविंशतिविध मोहनीय कर्म—उत्तप्रकृतित्वेन सम्पन्नम् ।

तत्राऽनन्तानुबन्धी क्रोधादिकषायोदय सम्यग्दर्शनमुपहन्ति तदुदयात् सम्यग्दर्शन नोत्पद्यते पूर्वोत्पन्नमपि तत् परिपतति, अप्रत्याख्यानक्रोधादिकषायोदयाद् सर्वदेशलक्षणाया विरतेरभाव सजायते, प्रत्याख्यानक्रोधादिकषायोदयाद् देशविरतिर्भवति, किन्तु उत्तमचारित्रस्य लाभो न भवति सर्वस्मात् प्राणातिपाताद् विरमामीति रूपस्य लाभो न भवतीति भाव ।

सज्वलनकषायोदये पुनरकषायचारित्रलाभो न भवति । तत्र—क्रोध, मान, माया, लोभानां चातुर्णामपि प्रत्येकमनन्ताऽनुबन्ध्यप्रत्याख्यान—प्रत्याख्यानसज्वलनानामेकैकस्य चातुर्विध्यक्रमेण क्रोधादेस्तीव्र—मध्य विमध्य—मन्दभावान् प्रदर्शयति तत्र—तीव्रस्तावद अनन्तानुबन्धी क्रोधः पर्वत-राजिसदृशो भवति, यथा—पर्वताना शिलादिविभागरूपपाषाणखण्डानां राजिभिर्दारुरूपा—उत्पद्यते स च शिलायामुत्पन्नाराजिर्यावत्काल शिलारूपं तावत्कालपर्यन्तमवतिष्ठते, नहि तस्या सन्धान भवति ।

के दाह की अग्नि के समान या छाणो की आग के समान भीतर ही भीतर खूब धधकती रहती है । उसकी उपशान्ति चिर कालमे होती है ।

इस प्रकार पच्चीस तरह के चारित्रमोहनीय कर्म का निरूपण किया गया। तीन प्रकार के दर्शन मोहनीय कर्म का निरूपन पहले किया जा चुका है यो मोहनीय कर्म की अट्ठाईस ही प्रकृ-तियो का प्रतिपादन हो चुका ।

अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय सम्यग्दर्शन का घात करता है जब तक उसका उदय रहता है तब तक सम्यग्दर्शनि की उत्पत्ति नहीं होती । सम्यग्दर्शन यदि पहले उत्पन्न हो चुका हो और बाद में अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय हो तो वह नष्ट हो जाता है । अप्रत्यख्यानाव-रण कषाय के उदय से देशविरति भी उत्पन्न नहीं हो पाती, सर्वविरति तो होगी ही कैसे । प्रत्या-ख्यान कषाय के उदय से देशविरति में तो रुकावट नहीं होती किन्तु सर्वविरति रूप उत्तम चारित्र की प्राप्ति नहीं होती । तात्पर्य यह है कि 'सव प्रकार के प्राणातिपात से विरत होता है' इस प्रकार के सकलसयम का लाभ नहीं होता ।

सज्वलन कषाय के उदय से वीतराग चारित्र की प्राप्ति नहीं होती ।

अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और सज्वलन, इन चारो के क्रोध, मान, माया और लोभ यह चार—चार भेद है । अनन्तानुबधी आदि चार प्रकार के क्रोधमे, इसी प्रकार मान, माया और लोभ मे परस्पर जो तारतम्य है अर्थात् तीव्रभाव, मध्यभाव, विमध्यभाव और मन्दभाव है, उसे दिखलाते हैं—

चारों प्रकार के क्रोधो मे अनन्तानुवन्धी क्रोध तीव्र होता है । वह पर्वत में पडी हुई दरार के समान है । जैसे पर्वत में या पाषाणशिला आदि मे जो दरार पड जाती है, वह जव तक

एवमनन्तानुबन्धी क्रोध उत्पन्न सन् भवापेक्षया यावत्काल तस्मिन् भवे जीवस्तिष्ठति, तावत्कालमनुवर्तते न तस्यास्ति कश्चिदुपसहरणोपाय, तदनुमरणाच्च भूयसा नरक व्रजति मध्य खल्वप्रत्याख्यानकषायक्रोधो भूमिराजिसदृश सवत्सरमात्रकालाऽनुबन्धी भवति, यथा—भूमौ राजि समुद्भूता सती—अवश्यमेव वर्षासु विनाशमुपगच्छति, एवमेव—तथाविध क्रोध समुत्पन्नो वर्षाभ्यन्तरे प्रशान्तो भवति, मरणानन्तर च तादृशक्रोधशालिनो जीवास्तिर्यग्योनौ समुत्पद्यन्ते।

विमध्यस्तावत्—प्रत्याख्यानकषायक्रोधो वालुकाराजिसदृशो भवति, यथा—वालुकाया काष्ठशलाका-–शर्करादीनामेकतमेन निमित्तेन समुत्पन्न राजि' प्रकर्षतश्चतुर्मासाभ्यन्तरे पुन सन्धानमेति, एवमेव—तथाविध क्रोध समुत्पन्न प्रत्याख्यानावरणकषायश्चतुर्मासाभ्यन्तरे नियमत उपशाम्यति, तथाविध क्रोध मनुसृता प्राणिनो मरणानन्तरं मनुष्ययोनौ समुत्पद्यन्ते। मन्द पुन'—सज्वलनकषायक्रोध उदकराजिसदृशो भवति, यथा उदके दण्डशलाकाऽङ्गुल्यादीनामेकतमेन निमित्तेन समुत्पना राजिरुदकस्य द्रवत्वाद् उत्पत्त्यनन्तरमेव झटित्येव सन्धानमेति, एव यथोक्तनिमित्तोत्पन्नो यस्य विदुषोऽप्रमत्तस्य क्रोधो भवति तस्य प्रत्यवमर्शेनो त्पन्त्यनन्तरमेव व्यपगतो भवति, तथाविध क्रोधमनुसृता प्राणिनो देवेषु समुत्पद्यन्ते।

शिला है तब तक बनी रहती है, जुड नहीं सकती, इसी प्रकार अनन्तानुबन्धी क्रोध उत्पन्न होता है तो वह जीवनपर्यन्त कभी नहीं शान्त होता। उसका सस्कार जीवनव्यापी होता है। उसके सस्कार को नष्ट करने का कोई उपाय नहीं है। अनन्तानुबधी क्रोध के साथ मरण प्राप्त करने वाले जीव प्राय नरक गति मे उत्पन्न होते है।

अप्रत्याख्याती क्रोध मध्य श्रेणी का होता है। वह भूमि मे पडी हुई दरार के समान है, जिसका सस्कार एक वर्ष तक बना रहता है। तात्पर्य यह है कि जैसे जमीन मे जो दरार पड जाती है, वह वर्षाऋतु मे अवश्य ही मिट जाती है। इसी प्रकार जो क्रोध एक बार उत्पन्न होकर एक वर्ष के अन्दर–अन्दर प्रशात हो जाता है, वह अप्रत्याख्यानी क्रोध कहलाता है। इस क्रोध वाले जीव मृत्यु के पश्चात् तिर्यंच गति में उत्पन्न होते है।

प्रत्याख्यानावरण का क्रोध विमध्य कहा गया है वह वालुका में खींची हुई रेखा के समान होता है। तात्पर्य यह कि वालु के ढेर मे लकडी से या अन्य किसी सलाई से अगर रेखा वना दी जाय तो वह अधिक से अधिक चार महीने के भीतर मिट जाती है। इसी प्रकार जो क्रोध नियम से चार मास मे शान्त हो जाय वह प्रत्याख्यानक्रोध कहलाता है। इस क्रोध वाले जीव मर कर मनुष्ययोनि मे जन्म लेते है।

सज्वलनक्रोध मन्द होता है। वह जल मे खींची हुई रेखा के समान कहा गया है। तात्पर्य यह है कि दण्ड, शलाका या उगली आदि से जल मे यदि रेखा खींची जाय तो जल तरल होने से वह रेखा उसी समय मिट जाती है, इसी प्रकार जिस अप्रमत्त ज्ञानी पुरुष का

एव मानोऽपि—अनन्तानुबन्धी—अप्रत्याख्यानकपाय'—प्रत्याख्यान—सज्वलनकपायश्च तीव्रो-मन्दो विमध्यो-मन्दश्च—भाव आत्मपरिणतिविशेष क्रमश शैलस्तम्भसदृश अस्थिस्तम्भसदृश तृणस्तम्भसदृशश्चावगन्तव्य' तत्र यथा-शैलस्तम्भस्तथाऽनन्तानुबन्धी मनोऽपि कुतश्चिन्निमित्तादुत्पन्नो मरणपर्यन्त तिष्ठति, सजात्यन्तरानुबन्धी निरनुनयोऽप्रत्ययमर्शश्च शैलस्तम्भसदृशो भवति, तथाविधं मानमनुसृत्य मरणानन्तर नरकेषु त्पद्यन्ते ।

एव तावत् अस्थिस्तम्भसदृशादिष्वपि मानेषु उपर्युक्तक्रोधरीत्यैव यथायथं निगमन विधातव्यम् एव-मायाऽपि-अनन्तानुबन्ध्यप्रत्यख्यान-प्रत्याख्यानसज्वलनकपायभेदाच्चतुर्विधा, तीव्रा-मध्या-विमध्या-मन्दाचा-ऽऽत्मपरिणतिविशेषभावरूपाक्रमशो वशमूलसदृशी, मेषशृङ्गसदृशी, गोमूत्रिका-सदृशी, अवलेखनिका सदृशी, चाऽवगन्तव्या तत्र-यथावशमूलमतिकुटिलमुपायसहस्रेणापि सरल कर्तुम-शक्य भवति, अवलेखनिका-वधक्युपकरणविशेष , तद्वारोल्लिखितमत्यन्तकुटिल भवति शेष गतार्थम् ।

एव तथाविधा मायाऽपि, अनन्तानुबन्धिनी तीव्रा न कदापि जीवनपर्यन्तं सरलाविधातु शक्या भवति तथाविधा मयामनुसृता' प्राणिनो मरणानन्तर नरकेषु उत्पत्ति लभन्ते एवमेव-

---

क्रोध उत्पन्न होते ही उपशान्त हो जाता है, उसका वह क्रोध सज्वलनक्रोध कहलाता है। इस प्रकार के क्रोध वाले जीव देवगति मे उत्पन्न होते है।

इसी प्रकार मान भी चार प्रकार का है । अनन्तानुबधी मान तीव्र, अप्रत्याख्यानी मान मध्य, प्रत्याख्याती मान विमध्य और सज्वलन मान मन्द होता है। यह चार प्रकार का मान अनुक्रम से शैलस्तम्भ के समान, और अस्थिस्तम्भ के समान, दारुस्तम्भ के समान और तृणस्तम्भ के समान जानना चाहिए। जैसे शैलस्तभ अर्थात् पर्वत कदापि नहीं नमता, उसी प्रकार किसी निमित्त से उत्पन्न हुआ जो मान जीवनपर्यन्त नहीं मिटता, वह अनन्तानुवन्धी मान कहलाता है। इस मान के वशीभूत होकर मरने वाले प्राणी नरकगति मे उत्पन्न होते है इसी प्रकार वह अस्थि-स्तभ (हड्डी) आदि के समान मान भी पूर्वोक्त क्रोध के सदृश ही घटित करलेना चाहिए। उनके फलस्वरूप होने वाली गति भी पूर्ववत ही समझलेना चाहिए।

इसी प्रकार माया भी चार प्रकार की है—अनन्तानुबधी माया, अप्रत्याख्यानी माया, प्रत्याख्यानी माया और सज्वलनमाया। क्रोध और माना की भाँति माया भी अनुक्रम से तीव्र मध्य, विमध्य और मन्द होती है। अनन्तानुबधी माया वास की जड के समान, अप्रत्याख्यती माया मेढे के सींग के समान, प्रत्याख्यानी माया गोमूत्रिका (चलते-चलते मूतने वाले बैल के मूत्र की टेढी-मेढी रेखाओं) के समान और सज्वलन माया अवलेखनिका के समान होती है। तात्पर्य यह है कि जैसे वास की जड अत्यन्त कुटिल-वक्र होती है और हजार प्रयत्न करने पर भी सीधी नहीं हो सकती, इसी प्रकार तीव्र अनन्तानुबधी माया भी जीवनपर्यन्त कदापि नहीं मिटाई जा सकती। इस माया के वशीभूत होकर मरने वाले जीव मरण के अनन्तर नरकगति

पूर्वोक्त क्रोधरीत्यैव क्रमश मेषविषाणसदृशी प्रभृतीनामपि मायानां यथायोग्य निगमनं विधातव्यम् सा चेयं माया-निकृति-वञ्चना-दम्भ-कूटच्छलनाऽऽ-र्जवादिशब्दैरपि व्यपदिश्यते ।

एवं लोभोऽपि तावदनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यान–प्रत्याख्यान–सञ्ज्वलन–कषायभेदेन चतुर्विध' क्रमशस्तीव्रो मध्यो–विमध्यो-मन्दश्चात्मपरिणतिविशेषरूपो भाव लाक्षारागसदृश कर्दमरागसदृश. खञ्जनरागसदृश' हरिद्रारागसदृश्चावगन्तव्य । तत्र–लाक्षारागसदृश खलु तीव्रोऽनन्तानुबन्धी लोभकषाय आमरणान्न व्यपगच्छति जात्यन्तरानुबन्धो निरनुनयोऽप्रत्यवमर्शश्च भवति, तथाविधं लोभमनुसृता प्राणिनो मरणान्तरं नरकेषूत्पत्तिं प्राप्नुवन्ति कर्दमरागसदृशस्तावद् मध्याऽप्रत्याख्यानकषायो लोभो वर्षपर्यन्त तिष्ठति, तथाविध लोभमनुसृता जीवा मरणानन्तरं तिर्यग्योनिषु समुत्पत्तिं प्राप्नुवन्ति ।

एव खञ्जनरागसदृश खलु प्रत्याख्यानकषायो विमध्यो लोभश्चतुर्मासपर्यन्त तिष्ठति, तथाविध लोभमनुसृता प्राणिनो मरणानन्तर मनुष्येषूत्पत्तिं लभन्ते । एवं हरिद्रारागसदृशः पुनर्मन्दो लोभ. आत्मपरिणतिविशेषो भाव प्रत्यवमर्शनोत्पत्त्यनन्तरमेव व्यपगच्छति, तथाविधं लोभमनुसृता जीवा मरणानन्तर देवेषु समुत्पत्तिं प्राप्नुवन्ति एषाञ्च चतुर्णां क्रोध-मान-माया-लोभानां कषायाणा प्रत्यनीका क्षमा–मार्दवा-ऽऽर्जव-सन्तोषा' प्रतिघातहेतवो भवन्ति ।

में उत्पन्न होते है इसी तरह पूर्वोक्त क्रोध की भाँती मेंढे के सींग के सदृश आदि तीन प्रकार की माया को भी यथायोग्य समझ लेना चाहिए । माया के अनेक पर्यायवाचक शब्द है, जैसे– निकृति, वचना, दंभ' कूट छलना, अनार्जव आदि । इन शब्दो से माया के अनेक रूपो को भी समझा जा सकता है ।

लोभ भी चार प्रकार का है–अनन्तानुबधी लोभ, अप्रत्याख्यानी लोभ, प्रत्याख्यानी लोभ और सञ्ज्वलनलोभ । ये चारो प्रकार के लोभ क्रमश' तीव्र, मध्य, विमध्य और मन्द होते हैं । ये लाक्षाराग (कृमिजरङ्ग) के समान, कर्दमराग के समान, खजनराग के समान और हरिद्राराग के समान है । लाक्षाराग के समान तीव्र अनन्तानुबधी लोभ मरणपर्यन्त दूर नहीं होता है । इस लोभ का अनुसरण करके मरने वाला प्राणी मरने के बाद नरक में उत्पन्न होते है । कर्दमराग के समान अप्रत्याख्यानी लोभ एक वर्ष पर्यन्त ठहरता है । इस लोभ के वशीभूत होकर मरने वाले प्राणी तिर्यंच योनि मे उत्पन्न होते है । खञ्जनराग के समान विमध्य प्रत्याख्यानी लोभ चार मास तक ठहरता है । इस लोभ का अनुसरण करके मरने वाले प्राणी मृत्यु के पश्चात् मनुष्यगति मे उत्पन्न होते है । इसी तरह हरिद्राराग–हल्दी के रङ्ग–के समान मन्द सञ्ज्वलन लोभ उत्पत्ति के पश्चात् शीघ्र ही दूर हो जाता है । इस लोभ के वशीभूत होकर मरने वाले जीव मरण के अनन्तर देव गति में उत्पन्न होते है । इन क्रोध, मान, माया और लोभ कषायो के विरोधी भाव अनुक्रम से क्षमा, मृदुता, ऋजुता और सन्तोष है । क्षमा आदि विरोधी भावो का अवलम्बन करके क्रोध आदि कषायो का प्रतिघात किया जा ।

तत्र क्रोधस्य प्रतिघातहेतु क्षमा—१ मानस्य प्रतिघातहेतुर्मार्दवम्—२ मायाया अनार्जवादिरूपाया. प्रतिघातहेतुरार्जवम्—३ लोभस्य प्रतिघातहेतु सन्तोषो भवति । इतिभाव

इदमत्रावधेयम्—मोहनीयप्रधानानि खलु कर्माणि भवन्ति, तानि च सर्वदेशोपघातद्वारा प्राणिनां नरकादिभवप्रपञ्चप्रापणे बीजानि सन्ति, तत्र—मोहस्तावत् कषायजनितो भवति, कषायवशात्खलु बन्धस्थितिविशेष सकलदु खप्राप्तिश्च, तस्मात् कर्मणा लाघवैषिणा मुमुक्षुणा क्रोधादिकषायमोहसवरणोपाया क्षमादय सततमभ्यसनीया उक्तञ्च —

यदतिदुःखं लोके यच्च सुखमुत्तमं त्रिभुवनेऽपि ।
तद्विद्धि कषायाणां वृद्धिक्षयहेतुक सर्वम् ॥ २ ॥
जं अइदुक्खं लोए, जं च सुहं उत्तमं तिहुयणंमि ।
तं जाण कसायाणं, वुड्ढिक्खयहेउय सव्वं ॥ १ ॥ इति ॥९॥

मूलसूत्रम्—"आउए चउव्विहे, नारग–तिरिक्ख–मणुस्स–देव-भेयओ–" ॥१०॥
छाया "आयुष्यं चतुर्विधम्, नारक तैरश्च-मानुष्य देवभेदतः—" ॥१०॥

तात्पर्य यह है कि क्रोध के प्रतिघात का कारण क्षमा है । मान के प्रतिघात का कारण मार्दव है । माया के प्रतिघात का कारण आर्जव (सरलता) है । लोभ के प्रतिघात का हेतु सन्तोष है ।

यहाँ समझने योग्य वस्तु यह है कि ये सब कर्म मोह प्रधान है, अर्थात् आठो कर्मों मे मोहनीय कर्म ही प्रधान है । इन कर्मों में कोई–कोई सर्वघाती और कोई–कोई देशघाती हैं, अर्थात् कोई आत्मा के गुण का पूर्ण रूप से घात करते हैं तो कोई आंशिक रूप से घात करते है । ये कर्म ही नरकभव आदि के प्रपच को प्राप्त कराने मे कारणभूत है । मोह कषाय से उत्पन्न होता है । कषाय की विशेषता से कर्म की स्थिति में विशेषता होती है । कषाय से ही समस्त दु खों की प्राप्ति होती है । अत एव जो मुमुक्षु कर्मों की लघुता चाहता है उसे क्रोध आदि कषायो का सवरण करने के उपाय क्षमा आदि सद्गुणो का निरन्तर अभ्यास करना चाहिए । कहा भी है -

इस लोक मे जो भी घोर दु.ख है और तीनो लोको में जो भी उत्तम सुख है, वह सब कषायों की वृद्धि और नाश के कारण ही समझना चाहिए । तात्पर्य यह है कि ज्यो–ज्यो कषायो की वृद्धि होती है, त्यो–त्यों दु ख की वृद्धि होती है और ज्यो–ज्यो कषायो का नाश होता है, त्यो–त्यों दु ख का नाश होता है । अतएव कषायो के विनाश के लिए सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिए ॥९॥

"आउए चउव्विहे" इत्यादि ॥१०॥

आयुष्य कर्म चार प्रकार का है—(१) नारकायु (२) तिर्यंचायु (३) मनुष्यायु और (४) देवायु ॥१०॥

पूर्वोक्त क्रोधरीत्यैव क्रमश मेषविषाणसदृशी प्रभृतीनामपि मायानां यथायोग्यं निगमन विधातव्यम् सा चेय माया-निकृति-वञ्चना-दम्भ-कूटच्छलनाऽऽ-र्जवादिशब्दैरपि व्यपदिश्यते ।

एवं लोभोऽपि तावदनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यान—प्रत्याख्यान—सज्वलन—कषायभेदेन चतुर्विध क्रमशस्तीव्रो मध्यो—विमध्यो-मन्दश्चात्मपरिणतिविशेषरूपो भाव लाक्षारागसदृश कर्दमरागसदृश. खञ्जनरागसदृश हरिद्रारागसदृश्चावगन्तव्य । तत्र—लाक्षारागसदृश खलु तीव्रोऽनन्तानुबन्धी लोभकषाय आमरणान्न व्यपगच्छति जात्यन्तरानुबन्धो निरनुनयोऽप्रत्यवमर्शश्च भवति, तथाविधं लोभमनुसृता प्राणिनो मरणान्तरं नरकेषूत्पत्तिं प्राप्नुवन्ति कर्दमरागसदृशस्तावद् मध्योऽप्रत्याख्यानकषायो लोभो वर्षपर्यन्त तिष्ठति, तथाविध लोभमनुसृता जीवा मरणानन्तरं तिर्यग्योनिषु समुत्पत्तिं प्राप्नुवन्ति ।

एव खञ्जनरागसदृश खलु प्रत्याख्यानकषायो विमध्यो लोभश्चतुर्मासपर्यन्त तिष्ठति, तथाविध लोभमनुसृता प्राणिनो मरणानन्तर मनुष्येषूत्पत्ति लभन्ते । एव हरिद्रारागसदृश' पुनर्मन्दो लोभ. आत्मपरिणतिविशेषो भाव प्रत्यवमर्शनोत्पत्त्यनन्तरमेव व्यपगच्छति, तथाविध लोभमनुसृता जीवा मरणानन्तर देवेषु समुत्पत्तिं प्राप्नुवन्ति एषाञ्च चतुर्णां क्रोध-मान-माया-लोभाना कषायाणा प्रत्यनीका क्षमा—मार्दवा-ऽऽर्जव-सन्तोषा' प्रतिघातहेतवो भवन्ति ।

में उत्पन्न होते है इसी तरह पूर्वोक्त क्रोध की भाँती मेढे के सींग के सदृश आदि तीन प्रकार की माया को भी यथायोग्य समझ लेना चाहिए। माया के अनेक पर्यायवाचक शब्द है, जैसे—निकृति, वचना, दभ' कूट छलना, अनार्जव आदि । इन शब्दो से माया के अनेक रूपो को भी समझा जा सकता है ।

लोभ भी चार प्रकार का है—अनन्तानुबधी लोभ, अप्रत्याख्यानी लोभ, प्रत्याख्यानी लोभ और सज्वलनलोभ । ये चारो प्रकार के लोभ क्रमश तीव्र, मध्य, विमध्य और मन्द होते है । ये लाक्षाराग (कृमिजरङ्ग) के समान, कर्दमराग के समान, खजनराग के समान और हरिद्राराग के समान है । लाक्षाराग के समान तीव्र अनन्तानुबधी लोभ मरणपर्यन्त दूर नहीं होता है। इस लोभ का अनुसरण करके मरने वाला प्राणी मरने के बाद नरक में उत्पन्न होते है । कर्दमराग के समान अप्रत्याख्यानी लोभ एक वर्ष पर्यन्त ठहरता है । इस लोभ के वशीभूत होकर मरने वाले प्राणी तिर्यंच योनि मे उत्पन्न होते है । खञ्जनराग के समान विमध्य प्रत्याख्यानी लोभ चार मास तक ठहरता है। इस लोभ का अनुसरण करके मरने वाले प्राणी मृत्यु के पश्चात् मनुष्यगति मे उत्पन्न होते है। इसी तरह हरिद्राराग—हल्दी के रङ्ग—के समान मन्द सज्वलन लोभ उत्पत्ति के पश्चात् शीघ्र ही दूर हो जाता है । इस लोभ के वशीभूत होकर मरने वाले जीव मरण के अनन्तर देव गति मे उत्पन्न होते हैं । इन क्रोध, मान, माया और लोभ कषायो के विरोधी भाव अनुक्रम से क्षमा, मृदुता, ऋजुता और सन्तोष है । क्षमा आदि विरोधी भावो का अवलम्बन करके क्रोध आदि कषायो का प्रतिघात किया जा [illegible] ।

तत्र क्रोधस्य प्रतिघातहेतु क्षमा-१ मानस्य प्रतिघातहेतुर्मार्दवम्-२ मायाया अनार्जवादि-रूपाया· प्रतिघातहेतुरार्जवम्-३ लोभस्य प्रतिघातहेतु सन्तोषो भवति । इतिभाव

इदमत्रावधेयम्-मोहनीयप्रधानानि खलु कर्माणि भवन्ति, तानि च सर्वदेशोपधातद्वारा प्राणिनां नरकादिभवप्रपञ्चप्रापणे बीजानि सन्ति, तत्र-मोहस्तावत् कषायजनितो भवति कषायवशात्खलु वन्धस्थितिविशेष. सकलदु खप्राप्तिश्च, तस्मात् कर्मणा लाघवैषिणा मुमुक्षुणा क्रोधादिकषायमोहसवरणोपाया क्षमादय सततमभ्यसनीया उक्तञ्च —

यदतिदुःखं लोके यच्च सुखमुत्तमं त्रिभुवनेऽपि ।
तद्विद्धि कषायाणां वृद्धिक्षयहेतुक सर्वम् ॥ २ ॥
जं अइदुक्खं लोए, जं च सुहं उत्तमं तिहुयणंमि ।
तं जाण कसायाणं, वुड्ढिक्खयहेउय सव्व ॥ १ ॥ इति ॥९॥

मूलसूत्रम्—"आउए चउव्विहे, नारग-तिरिक्ख-मणुस्स-देव-भेयओ-" ॥१०॥
छाया "आयुष्यं चतुर्विधम्, नारक तैरश्च-मानुष्य देवभेदतः—" ॥१०॥

तात्पर्य यह है कि क्रोध के प्रतिघात का कारण क्षमा है । मान के प्रतिघात का कारण मार्दव है । माया के प्रतिघात का कारण आर्जव (सरलता) है । लोभ के प्रतिघात का हेतु सन्तोष है ।

यहाँ समझने योग्य वस्तु यह है कि ये सब कर्म मोह प्रधान है, अर्थात् आठो कर्मो में मोहनीय कर्म ही प्रधान है । इन कर्मों मे कोई-कोई सर्वघाती और कोई-कोई देशघाती हैं, अर्थात् कोई आत्मा के गुण का पूर्ण रूप से घात करते हैं तो कोई आंशिक रूप से घात करते है । ये कर्म ही नरकभव आदि के प्रपच को प्राप्त कराने मे कारणभूत है । मोह कषाय से उत्पन्न होता है । कषाय की विशेषता से कर्म की स्थिति में विशेषता होती है । कषाय से ही समस्त दु खो की प्राप्ति होती है । अत एव जो मुमुक्षु कर्मो की लघुता चाहता है उसे क्रोध आदि कषायो का सवरण करने के उपाय क्षमा आदि सद्गुणो का निरन्तर अभ्यास करना चाहिए । कहा भी है -

इस लोक मे जो भी घोर दु:ख है और तीनों लोको मे जो भी उत्तम सुख है, वह सब कषायों की वृद्धि और नाश के कारण ही समझना चाहिए । तात्पर्य यह है कि ज्यो-ज्यो कषायो की वृद्धि होती है, त्यो-त्यों दु ख की वृद्धि होती है और ज्यों-ज्यो कषायों का नाश होता है, त्यो-त्यों दु ख का नाश होता है । अतएव कषायो के विनाश के लिए सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिए ॥९॥

"आउए चउव्विहे" इत्यादि ॥१०॥

आयुष्य कर्म चार प्रकार का है—(१) नारकायु (२) तिर्यचायु (३) मनुष्यायु और (४) देवायु ॥१०॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे चतुर्थस्य मोहनीयस्य कर्मणो मूलप्रकृतिबन्धस्याऽष्टाविंशतिभेदा उत्तरप्रकृतय' प्ररूपिता, सम्प्रति क्रमप्राप्तस्य पञ्चमस्या-ऽऽयुष्यकर्मणो मूलप्रकृतिबन्धस्य चतुर्भेदा उत्तरप्रकृती' प्ररूपयितुमाह—"**आउए चउव्विहे**—" इत्यादि।

आयुष्यं कर्म—उत्तरप्रकृतित्वेन चतुर्विधं प्रज्ञप्तम्, नारक—तैरश्च—मानुष्य—देवभेदत'। तथाच—आयुष्यकर्मण उत्तरप्रकृतित्वस्य नारकायुष्य—तैर्यग्योनायुष्यं—मानुष्यायुष्यं—देवायुष्यम् इत्थं चातुर्विध्यं बोध्यम् ॥१०॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वसूत्रे चतुर्थमोहनीयकर्ममूलप्रकृतिबन्धस्याऽष्टाविंशतिभेदा उत्तरप्रकृती' प्ररूपयन्—सम्प्रति—पञ्चमस्याऽऽयुष्यकर्मणो मूलप्रकृतिबन्धस्य चतुर्भेदा उत्तरप्रकृती प्ररूपयितुमाह—"**आउए चउव्विहे नारग—तिरिक्ख—मणुस्स—देवभेयओ**—" इति। आयुष्यं कर्म—उत्तरप्रकृतिरूप चतुर्विध प्रज्ञप्तम्।

नारक—तैरश्च—मानुष—दैवभेदतः, नारकायुष्य—तैर्यग्योनायुष्य—मानुष्यायुष्य देवायुष्याणि भेदा'। तथाच—यस्य कर्मण उदयात् आत्मा प्रायोग्यप्रकृतिविशेषानुगामी भूत' सन् नारकतैर्यग्योनमानुषदेवगतिभावेन जीवति, यस्य च क्षयात् म्रियते, तदायुष्य व्यपदिश्यते तथाचोक्तम्—

"स्वानुरूपास्रवोपात्तं पौद्गलं द्रव्यमात्मनः।
जीवनं यत्तदायुष्कं उत्पादाद् यस्य जीवति. ॥१॥ इति.॥

तथाविधस्य खलु प्रथमबद्धस्या—ऽऽयुषोऽन्नादय उपकारका भवन्ति,। तस्य चा—ऽऽयुष कर्मणो मूलप्रकृतिबन्धस्यो—त्तरप्रकृतिचतुष्टय वर्तते नारकायुष्कम्—तैर्यग्योनिकायुष्कम्—मानुषायुष्कम्—दैवायुष्कञ्चेति,

---

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्व सूत्र में कर्म की चौथी मूलप्रकृति मोहनीय की अठाईस उत्तर प्रकृतियो का प्ररूपण किया गया, अब पाँचवीं मूल प्रकृति आयु की चार उत्तर प्रकृतियाँ बतलाते है—

आयुष्यकर्म की उत्तरप्रकृतियाँ चार है—नरकायु, तिर्यंचायु, मनुष्यायु और देवायु ॥१०॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पिछले सूत्र में चौथी मोहनीय रूप मूल कर्मप्रकृति की अठाईस उत्तर प्रकृतियो का निरूपण किया गया, अब आयु नामक पाँचवीं मूलकर्मप्रकृति की चार उत्तरप्रकृतियाँ कहते है—उत्तर प्रकृतिरूप आयुष्यकर्म चार प्रकार का कहा गया है—नरकायु, तिर्यंचायु, मनुष्यायु और देवायु।

जिस कर्म के उदय से—आत्मा नारक, तिर्यंच मनुष्य या देव के रूप मे जीवित रहता है और जिस कर्म के क्षय से मर जाता है, उसे आयुष्यकर्म कहते है। कहा भी है—

अपने अनुरूप आस्रव के द्वारा ग्रहण किये हुए अन्न आदि उस प्रथमबद्ध आयु के उपकारक होते है। उस आयु नामक मूलप्रकृति की चार उत्तर प्रकृतियाँ है—(१) नारकायुष्क (२) तैर्यग्योनिकायुष्य (३) मानुषायुष्क (४) देवायुष्क। 'आयुष्' पद की व्युत्पत्ति इस

आयुष्पदव्युत्पत्तिस्तु—आनियन्ते शेषप्रकृतय उपभोगाय जीवेन यस्मिन् तदायु, कांस्यपात्राधारे भोक्तुरेव परिभोगाय शालयोदनादि व्यञ्जनविकल्पा कल्पन्ते। यद्वा—ऽऽनीयते तद्भवान्तर्भावी प्रकृतिगणोऽनेनेत्यायु, रज्जुबद्धेक्षुयष्टिभारवत्। अथवा—शरीरधारणं प्रतिबन्ध आयतते इत्यायुर्निगडादिवत् पृषोदरादित्वात्सिद्धि। आयुरेवाऽऽयुष्कम्, तच्चतुर्विधम्—ससारस्य चतुर्गतिकत्वात्, तत्र—नरका पृथिवीपरिणतिविशेषा—उत्पत्ति—यातनास्थानरूपा तत्सम्बन्धिन —प्राणिनोऽपि नरकास्तात्स्थ्याद्व्यपदिश्यन्ते, तेषामिदमायुर्नारकमुच्यते। तिर्यग्योनय एक—द्वि—त्रि—चतु—पञ्चेन्द्रिया तेषामिद तैर्यग्योनयम्,। मनुष्या—सम्मूर्च्छिमा, गर्भजाश्च, तेषामिद मानुषम्,। देवानां भवनपति—वानव्यन्तर—ज्योतिष्क-वैमानिकानामिद दैवमुच्यते, इत्येव तावद आयुष्यस्य मूलप्रकृतिबन्धस्य क्रमेण उत्तरप्रकृतिकर्मचतुर्विध सम्पन्नम्॥ १०

मूलसूत्रम्—"णामे बायालीसविहे, गइ—जाइ—सरीराइ भेयओ—" ॥११॥

छाया—"नाम-द्विचत्वारिंशद्विधम्, गति-जाति-शरीरादिभेदतः-" ॥११॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे पञ्चमस्या—ऽऽयुष्यकर्मणश्चतस्र उत्तरप्रकृतय प्रतिपादिता,

---

प्रकार है–आनीयन्ते अर्थात् लाई जाती है शेष कृतियाँ उपभोग के लिए जीव के द्वारा जिसमें उसे 'आयु' कहते है। कांसे के पात्र रूप आधार मे भोजन करने वाले के लिए ही शालि (चावल) और ओदन आदि विविध प्रकार के व्यजन रक्खे जाते हैं अथवा आनीयन्ते अर्थात् लाई जाती है उस भव के अन्दर होने वाली प्रकृतियाँ जिसके द्वारा, उसे आयु कहते है, रस्से से बँधे हुए ईख ईक्षु के भारे के समान। तात्पर्य यह है कि जैसे रस्सा ईखों को इकट्ठा रखता है, उसी प्रकार आयुष्यकर्म अमुक भव सबन्धी समस्त प्रकृतियों को इकट्ठा कर रखता है। अथवा निगड (वेडी) आदि के समान शरीर धारण के प्रति जो यत्नशील होता है, वह आयु कहलाता है। आयु को ही आयुष्क कहते है। आयु चार प्रकार का है क्योंकि ससार चार गति रूप है।

नरक पृथ्वी का एक विशेष प्रकार का परिणमन है। नरक वे यातनाओ के स्थान है। नरक में रहने वाले प्राणी भी नरक कहलाते है, नरक सबधी (आयु) को नारक कहते है। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय तिर्यग्योनिकों की आयु को तैर्यग्योनिक कहते है। सम्मूर्छिम और गर्भज मनुष्यों की आयु को मानुषायु कहते है। भवनपति, वान–व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिकों की आयु दैवायु कही जाती है। इस प्रकार आयुष्य मूल-प्रकृति की चार प्रकृतियाँ सिद्ध हुई ॥१०॥

सूत्रार्थ—"णामे बायालीसविहे गइजाइ" इत्यादि सूत्र ॥११

गति, जाति, शरीर आदि के भेद से नाम कर्म बयालीस प्रकार का है ॥११

तत्त्वार्थ दीपिका—पिछले सूत्र मे पाँचवीं मूल कर्मप्रकृति आयुष्य की चार प्रकृतियाँ

सम्प्रति—क्रमप्राप्तस्य षष्ठस्य नामकर्मणोमूलप्रकृतिबन्धस्य द्विचत्वारिंशद् विधा उत्तरप्रकृती' प्ररूपयितुमाह—"**णामे**" इत्यादि ।

नामकर्म—उत्तरप्रकृतित्वेन द्विचत्वारिंगद्विध प्रज्ञप्तम्, गति—जातिशरीरादिभेदत । गतिनाम—१ जातिनाम—२ शरीरनाम—३ शरीराङ्गोपाङ्गनाम—४ शरीरबन्धनाम—५ शरीरसघातनाम—६ सहननाम—७ सस्थाननाम—वर्णनाम—९ गन्धनाम—१० रसनाम—११ स्पर्शनाम—१२ अगुरुलघुनाम—१३ उपघातनाम—१४ पराघातनाम—१५ आनुपूर्वीनाम—१६ उच्छ्वासनाम—१७आतपनाम—१८ उद्द्योतनाम—१९ विहायोगतिनाम—२० त्रसनाम—२१ स्थावरनाम—२२ सूक्ष्मनाम—२३ बादरनाम—२४ पर्याप्तनाम- २५ अपर्याप्तनाम—२६ साधारणशरीरनाम—२७ प्रत्येकशरीरनाम—२८ स्थिरनाम—२९ अस्थिरनाम—३० शुभनाम—३१ अशुभनाम—३२ सुभगनाम—३३ दुर्भगनाम—३४ सुस्वरनाम—३५ दु'स्वरनाम—३६ आदेयनाम—३७ अनादेयनाम—३८ यश'-कीर्तिनाम—३९ अयश'कीर्तिनाम—४० निर्माणनाम—४१ तीर्थङ्करनाम—४२ इत्येवमुत्तरप्रकृतिनाम द्विचत्वारिंशद्विध बोध्यम्— ॥११॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वसूत्रे पञ्चमायुष्यकर्मणश्चतस्र उत्तरप्रकृतय प्रतिपादिता , सम्प्रति—क्रमप्राप्तषष्ठनामकर्मणो मूलप्रकृतिबन्धस्य द्विचत्वारिंशद्विधा उत्तरप्रकृती' प्ररूपयितुमाह—"**णामे-बायालीसविहे, गइ—जाइ—सरीराइ भेयओ—**" इति ।

नामकर्म—उत्तरप्रकृतित्वेन द्विचत्वारिंशद्विध प्रज्ञप्तम्, गति—जाति—शरीरादिभेदत' ।

कही गई है, अब क्रमप्राप्त छठी मूल कर्म प्रकृति नामकर्म की बयालीस उत्तरप्रकृतियाँ कहते है—

उत्तरप्रकृतियों की अपेक्षा से नामकर्म के बयालीस भेद है। वे इस प्रकार है—(१) गतिनाम (२) जातिनाम (३) शरीर नाम (४) शरीरागोपाग नाम (५) शरीर बन्धन नाम (६) शरीर सघात नाम (७) सहनन नाम (८) सस्थान नाम (९) वर्णनाम (१०) गध नाम (११) रसनाम (१२) स्पर्शनाम (१३) अगुरुलघु नाम (१४) उपघात नाम (१५) पराघात नाम (१६) आनुपूर्वी नाम (१७) उच्छ्वास नाम (१८) आतप नाम (१९) उद्योतनाम (२०) विहायोगति नाम (२१) त्रसनाम (२२) स्थावर नाम (२३) सूक्ष्मनाम (२४) बादर नाम (२५) पर्याप्त नाम (२६) अपर्याप्त नाम (२७) साधारण शरीर नाम (२८) प्रत्येक शरीर नाम (२९) स्थिर नाम (३०) अस्थिर नाम (३१) शुभ नाम (३२) अशुभ नाम (३३)सुभग नाम (३४) दुर्भग नाम (३५) सुस्वर नाम (३६) दु स्वर नाम (३७) आदेय नाम (३८) अनादेय नाम (३९) यश कीर्त्ति नाम (४०) अयश कीर्त्ति नाम (४१) निर्माण नाम और (४२) तीर्थंकर नाम, ये नाम कर्म की बयालीस उत्तर प्रकृतियाँ है ॥११॥

तत्त्वार्थ निर्युक्ति- पिछले सूत्र मे आयुष्य कर्म की चार उत्तरप्रकृतियाँ कही गई, क्रमप्राप्त नाम कर्म की बयालीस उत्तर प्रकृतियो को प्रतिपादन करते है—

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२
गति–जाति–शरीर शरीराङ्गोपाङ्ग–शरीरबन्ध–शरीरसंघात-संहनन–संस्थान–वर्ण-गन्ध–रस–स्पर्शा
१३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२ २३ २४
ऽगुरुलघूपघात पराघाता–ऽऽनुपूर्व्युच्छ्वास आतपो–द्योत विहायोगति–त्रस-स्थावर-सूक्ष्म–बादर-
२५ २६ २७ २८ २९ ३० ३१ ३२ ३३ ३४ ३५
पर्याप्ता–ऽपर्याप्त-साधारणशरीर -प्रत्येकशरीर–स्थिरा–स्थिर–शुभा–ऽशुभ–सुभग- दुर्भग -सुस्वर–दु -
३६ ३७ ३८ ३९ ४० ४१ ४२
स्वरा- ऽऽदेया–ऽनादेय–यशःकीर्त्य–यशःकीर्ति -निर्माण–तीर्थङ्करनामभेदात् ।

इत्येव तावद् द्विचत्वारिंशद्भेदा नामकर्मणो मूलप्रकृतिबन्धस्योत्तरप्रकृतयोऽवगन्तव्या । आसामुत्तरप्रकृतीनां भेदास्तु–त्रिनवतिसंख्यका बोध्या, तथाहि–(१) गतिनामचतुर्विधम्, । नरक–तिर्यग्–मनुष्य–देवगतिभेदात्४ , (२) जातिनाम–पञ्चविधम्, एकेन्द्रिय–द्वीन्द्रिय–त्रीन्द्रिय–चतुरिन्द्रिय–पञ्चेन्द्रियजातिभेदात् (९) (३) शरीरनाम–पञ्चविधम्, औदारिक–वैक्रिया ऽऽहारकतैजस कार्मणशरीरनामभेदात्–(१४)

(४)शरीराङ्गोपाङ्गनाम–त्रिविधम्, औदारिक–वैक्रिया–ऽऽहारक शरीराङ्गोपाङ्गनामभेदात्-३(१७)(५) शरीरबन्धनामपञ्चविधम्, औदारिकादिपञ्च शरीरबन्धभेदात्५ (२२) । (६) शरी-

---

गति, जाति, शरीर आदि के भेद से नाम कर्म की बयालीस उत्तर प्रकृतियाँ होती है । उनके नाम इस प्रकार है----(१) गति (२) जाति (३) शरीर (४) शरीरांगोपाग (५) शरीर बन्धन (६) शरीर संघात (७) संहनन (८) संस्थान (९) वर्ण (१०) गंध (११) रस (१२) स्पर्श (१३) अगुरु लघु (१४) उपघात (१५) पराघात (१६) आनुपूर्वी (१७) उच्छ्वास (१८) आतप (१९) उद्योत (२०) विहायो गति (२१) त्रस (२२) स्थावर (२३) सूक्ष्म (२४) बादर (२५) पर्याप्त (२६) अपर्याप्त (२७) साधारण शरीर (२८) प्रत्येकशरीर (२९) स्थिर (३०) अस्थिर (३१) शुभ (३२) अशुभ (३३) सुभग (३४) दुर्भग) (३५) सुस्वर (३६) दु:स्वर (३७) आदेय (३८) अनादेय (३९) यशःकीर्त्ति (४०) अयश कीर्त्ति (४१) निर्माण और (४२) तीर्थकरनाम ।

इन (४२) उत्तरप्रकृतियो के तिरानवे (९३) भेद होते है, वे इस प्रकार है ।

(१) गतिनाम कर्मके चार भेद है–नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति । (२) जातिनामकर्म क पाँच भेद है–एकेन्द्रियजाति, द्वीन्द्रियजाति, त्रीन्द्रियजाति, चतुरिन्द्रियजाति और पंचेन्द्रियजाति ५(९) । (३) शरीरनामकर्म पाँच प्रकार का है---औदारिकशरीरनामकर्म, वैक्रिय शरीरनामकर्म, आहारकशरीरनामकर्म, तैजसशरीरनामकर्म और कार्मणशरीरनामकर्म ५(१४) । (४) अगोपांगकर्म के तीन भेद है–औदारिक–अगोपाग, वैक्रिय–अंगोपाग, आहारक–अगोपांग ३(१७) । (५) शरीरबन्धननामकर्म के पाँच भेद है–औदारिकशरीरबन्धन, वैक्रियशरीरबन्धन, आहारकशरीरबन्धन, तैजसशरीरबन्धन, कार्मणशरीरबन्धन ५(२२) । शरीर-

रसघातनाम--औदारिकादिपञ्चभेदात्पञ्चविधम्५(२७) (७)सहनन नाम--षड्विधम्, वज्रऋषभनाराचऋषभनाराच--नाराचाऽर्धनाराच--कीलिका--सेवार्त्तसहननभेदात् ।६ (३३)

(८)सस्थाननामषड्विधम्--समचतुरस्र--न्यग्रोधपरिमण्डल -सादि--कुब्ज--वामन--हुण्डनामभेदात् ६(३०) (९)वर्णनाम पञ्चविध कृष्ण--नील -रक्त--पीत--श्वेतभेदात्५ (४४)। (१०)गन्धनामद्विविध सुरभि--दुरभिभेदात्२ (४६) (११)रसनामपञ्चविध तिक्त--कटु--कषाया-ऽम्ल--मधुरभेदात् ५ (५१)। (१२) स्पर्शनामाष्टविध गुरुलघुकर्कश- मृदु--शीतो-ष्ण-रूक्ष-स्निग्धभेदात् (५९) (१२-१५) अगुरुलघूपघात--परोघातनामाप्रत्येकमेकैकविधम् । ३ (६२)। (१६) आनुपूर्वीनाम--चतुर्विधम्, नरक--तिर्यग्--मनुष्य--देवगत्यानुपूर्वीनामभेदात् ४ (६६)।)१७-१९) उच्छ्वासोद्योताऽऽतपनामान्यपि-एकैकविधानि । ३ (६९) (२०) विहायोगतिनाम--द्विविधम्, प्रशस्ताऽप्रशस्तविहायोगतिभेदात् २ (७१)।

२१ २२ २३ २४ २५ २६ २७ २८ २९
शेषाणि--त्रस--स्थावर--सूक्ष्म--बादर--पर्याप्ता--ऽपर्याप्त--प्रत्येकशरीर--साधारणशरीर--स्थिरा--

---

सघातनामकर्म के पाँच भेद है--औदारिकशरीरसघात, वैक्रियशरीरसघात आहारकशरीरसघात तैजसशरीरसघात, कार्मणशरीरसघात ५(२७) । (७) सहनननामकर्म के छह भेद है--वज्र--ऋषभनाराचसहनन, ऋषभनाराचसहनन, नाराचसहनन, अर्धनाराचसहनन, कीलिकासहनन, सेवार्त्तसहनननामकर्म ६(३३) । (८) सस्थाननामकर्म के छह भेद है--समचतुरस्रसस्थाननाम न्यग्रोधपरिमडलसस्थान, सादिसस्थान, कुब्जकसस्थान, वामनसस्थान और हुण्डसस्थाननामकर्म ६६(३९) । (९) वर्ण, (१०) गंध, (११) रस और (१२) स्पर्श के बीस २० भेद होते है---वर्ण नामकर्म के पाँच भेद है--काला, नीला, राता, पीला और श्वेत ५ (४४) गन्धके दो भेद--सुरभि गध और दुरभिगन्ध २(४६) रसके पाँच भेद--तिक्त, (तीखा) कटु, (कडुआ) कषायला, खट्टा, और मीठा ५(५२) स्पर्शनाम के आठ भेद--गुरु, लघु, कर्कश, मृदु (कोमल), शीत, उष्ण, रूक्ष, स्निग्ध (५९) (१३) अगुरुलघु भी एक प्रकार का है ६० । (१४) उपघात और (१५) पराघात का भी एक--एक भेद है । (६२) (१६) आनुपूर्वीनामकर्म के चार भेद है--नरकानुपूर्वी, तिर्यगानुपूर्वी, मनुष्यानुपूर्वी, और देवानुपूर्वी ४(६६)। (१७) उच्छ्वास, (१८) उद्योत (१९) आतप नामकर्म का एक--एक भेद है । (६९) (२०) विहायोगतिनामकर्म के दो भेद है--प्रशस्तविहायोगति और अप्रशस्तविहायोगतिनाम (७१) । नामकर्म के बयालीस भेदो मे से यहाँ २० भेदो का वर्णन हुआ । शेष बाईस भेद ये है---

२१ त्रस, २२ स्थावर, २३ सूक्ष्म, २४ बादर, २५ पर्याप्त, २६ अपर्याप्त २७ साधारणशरीर, २८ प्रत्येकशरीर, २९ स्थिर, ३० अस्थिर, ३१ शुभ, ३२ अशुभ, ३३

३० ३१ ३२ ३३ ३४ ३५ ३६ ३७ ३८ ३९ ४०
ऽस्थिर—शुभा—ऽशुभ—सुभग—दुर्भग—सुस्वर—दु स्वरा—ऽऽदेया—ऽनादेय—यश क्तिर्य—यश कीर्ति—नि
४१ ४२
र्माण—तीर्थङ्करनामानि द्वाविंशतिसख्यकान्येकैकविधानि सन्ति २२(९३) इत्येव रीत्या नामकर्मण एक सप्ततेर्द्वाविंशतेश्च समेलने भवन्ति त्रिनवतिभेदास्तासां मूलोत्तरप्रकृतिनामिति सविस्तर विविच्यते—

तत्र—नमयति—प्रापयति जीवं नारकादिभवान्तराणीति नाम—यद्वा—नमयति—प्रह्वयति जीव-प्रदेशसम्बन्धिपुद्गलद्रव्यविपाकसामर्थ्यात् नामेति यथार्थसज्ञा यथा—शुक्लादिगुणोपेतद्रव्येषु चित्रपटा-दिव्यपदेशप्रवृत्तिर्नियतसज्ञाहेतुर्भवति, तत्र—गतिनाम्न पिण्डप्रकृतेश्चत्वारो भेदा नरकगतिनामादयो भवन्ति यदुदयात्—नारक इति व्यपदिश्यते तन्नारकगतिनाम, एव तिर्यग् गतिनामादयोऽप्यवगन्तव्या।

एव जातिनाम्न पिण्डप्रकृते पञ्चभेदा. एकेन्द्रियजातिनाम—द्वीन्द्रियजातिनाम—त्रीन्द्रियजा-तिनाम—चतुरिन्द्रियजातिनाम—पञ्चेन्द्रियजातिनामसज्ञका । तत्रैकेन्द्रियजातिनामकर्मोदयादेकेन्द्रिय इति व्यपदिश्यते, एकेन्द्रियसज्ञाव्यपदेशहेतुरेके—न्द्रिय जातिनाम, एव द्वीन्द्रियजातिनामादिष्वप्यवग न्तव्यम् ।

तत्रैकेन्द्रियजातिनामा—ऽनेकविधम्, पृथिवीकायिका-ऽप्कायिक—तेजस्कायिक—वायुकायिक—वनस्पतिकायिकजातिनामभेदात्, द्वि—त्रि—चतु—ष्पञ्चेन्द्रियजातिनामान्यपि शङ्ख—शुक्तिका—द्युपदे-

---

सुभग, ३४ दुर्भग, ३५ सुस्वर, ३६ दु स्वर ३७ आदेय, ३८ अनादेय, ३९ यश-कीर्त्ति, ४० अयशकीर्त्ति, ४१ निर्माण और ४२ तीर्थङ्करनामकर्म का एक—एक ही भेद है। इस प्रकार (७१+२२=९३) इकहत्तर और ये बाईस सब मिलाकर पूर्वोक्त (नाम-कर्मकी) बयालीस प्रकृतियो के तिरानवे (९३) भेद होते है।

अब यहाँ नामकर्म का सविस्तर विवेचन किया जाता है—

जो कर्म जीव को नरकभव आदि में ले जाता है अथवा जो कर्म जीवप्रदेशो से सबद्ध पुद्गलद्रव्य के विपाक के सामर्थ्य से जीव को नमाता है, वह नामकर्मकहलाता है। 'नाम' यह यथार्थ सज्ञा है, अर्थात् जैसा इस कर्म का नाम है, उसी प्रकार का उसका स्वभाव भी है। जैसे शुक्ल आदि गुणो से युक्त द्रव्यो मे 'चित्रपट' ऐसा व्यवहार होता है, यह नियत संज्ञा का कारणहै।

गतिनामक पिण्डप्रकृति के चार भेद है—नरकगति आदि । जिस कर्म के उदय से जीव नारक कहलाता है, वह नरकगतिनामकर्म कहलाता है। इसी प्रकार शेष भी समझ लेना चाहिए।

जातिनामक पिण्डप्रकृति के पाँच भेद है—एकेन्द्रियजातिनामकर्म, द्वीन्द्रिजातिनामकर्म, त्रीन्द्रियजातिनामकर्म, चतुरिन्द्रियजातिनामकर्म और पंचेन्द्रियजातिनामकर्म । एकेन्द्रियजातिनाम-कर्म के उदय से जीव एकेन्द्रिय कहलाता है अर्थात् 'एकेन्द्रिय' ऐसे व्यवहार का कारण एके-न्द्रियजातिकर्म है। इसी प्रकार द्वीन्द्रियजातिनामकर्म आदि के विषय में भी जानना चाहिए।

एकेन्द्रियजातिनामकर्म भी अनेक प्रकार का है—पृथिवीकायिक—एकेन्द्रियजातिनामकर्म, अप्-कायिक—एकेन्द्रियजातिकर्म, तेजस्कायिक—एकेन्द्रियजातिनामकर्म, वायुकायिक—एकेन्द्रियजातिनाम-

हिका पिपीलिकादिभ्रमरसरघादितिर्यग्मनुष्यादिजातिनामभेदेन वक्तव्यानि औदारिक–वैक्रिया–ऽऽहारक-तैजस–कार्मणशरीरनामानि पञ्चविधानि नामकर्मण उत्तरप्रकृतिरूपाणि भवन्ति ।

औदारिक–वैक्रियाहारकभेदभिन्नानि त्रिविधान्यपि शरीराङ्गोपाङ्गनामानि प्रत्येकमनेकविधानि भवन्ति, । तत्र–शरीराङ्गनाम खलु शिरोनाम–१उरोनाम–२पृष्ठनाम–३बाहुनाम–४उदरनाम–५ चरणनाम–६हस्तनाम–७ । उपाङ्गनामान्यपि अनेकविधानि भवन्ति, स्पर्शननाम–रसननाम घ्राण-नाम–चक्षुर्नाम–श्रोत्रनाम प्रभृतीनि ।

एकेन्द्रियादिलक्षणपञ्चविधजातिषु स्त्रीपुरुषनपुसकलिङ्गव्यवस्थानियामकमाकाररूपावयवर-चनाव्यवस्थानियामकञ्च शरीरनिर्माणनामोच्यते । तथाच–सर्वजीवाना स्वकीय–स्वकीयशरीरावयव-विन्यासनियमकारण तावत् [शरीर]निर्माणनाम भवति । हर्म्यादिनिर्माणकलाकौशलशालितक्षकवत् ।

शरीरनामकर्मोदयात् गृहितेषु–गृह्यमाणेषु वा तद्योग्यपुद्गलेषु -आत्मप्रदेशस्थितेषु शरीरा-कारेण परिणामितेष्वपि जतुकाष्ठवत । परस्पराावियोगलक्षण [शरीर] बन्धननाम यदि न स्यात्–तदा–

कर्म, वनस्पतिकायिक–एकेन्द्रियजातिनामकर्म, । इसी प्रकार द्वीन्द्रियजातिनामकर्म शंख और शुक्तिका आदि के भेद से, त्रीन्द्रियजातिनाम उपदेहिका (उदयी) पिपीलिका आदि के भेद से, चतुरिन्द्रियजातिनाम भ्रमर तथा सरघा (मधुमक्खी) आदि के भेद से और पचेन्द्रियजातिनाम-मनुष्य आदि जातिनाम के भेद से अनेक प्रकार के समझ लेने चाहिए ।

शरीरनामकर्म के पाँच भेद है–औदारिकशरीरनामकर्म, वैक्रियशरीरनामकर्म, आहारक-शरीरनामकर्म, तैजसशरीरनामकर्म, कार्मणशरीर नामकर्म ।

औदारिक–अंगोपांग, वैक्रिय–अगोपाग और आहारक–अगोपांग के भेद से तीन प्रकार के अंगोपांगनामकर्म में से भी प्रत्येक के अनेक भेद होते है । शिरोनामकर्म ,उरोनामकर्म, पृष्ठ-नामकर्म, बाहुनामकर्म, उदरनामकर्म, चरणनामकर्म, हस्तनामकर्म, ये अगनामकर्म के भेद है । इसी प्रकार उपागनामकर्म भी अनेक प्रकार के होते है, जैसे–स्पर्शनउपागनामकर्म, रसना–उपागनामकर्म, घ्राण–उपागनामकर्म, चक्षु- उपागनामकर्म, श्रोत्र–उपागनामकर्म इत्यादि ।

एकेन्द्रियजाति आदि पाँच प्रकार की जातियो में स्त्री, पुरुष, नपुसक लिंग की व्यवस्था का नियमन करने वाला एव अमुक प्रकार के अवयवो की रचना की व्यवस्था का निया-मक निर्माण नाम कर्म है । निर्माण नाम कर्म के उदय से ही समस्त जीवो के अपने–अपने ढग के शरीर अवयवो की रचना होती है । यह निर्माण नाम कर्म महल–मकान आदि बनाने में कुशल कारीगर के समान है ।

शरीर नाम कर्म के उदय से शरीर के योग्य पुद्गलों को ग्रहण कर लिया, वे आत्म प्रदेशों में स्थित भी हो गए और शरीर के आकार मे परिणत होगए, किन्तु उन्हें लाख और काष्ट के समान आपस में अवियोग (एक मेक रूप) करने वाला बन्धन नाम कर्म

वालुकानिर्मितपुरुषवत् शरीराणि विघटेरन्. । तस्मात्-[शरीर=]बन्धननामस्वीकृतम्. यदपि-औदारिकशरीरादिभेदात् पञ्चविधम् प्रज्ञप्तम् ।

बद्धानामपि पुद्गलाना परस्परं जतुकाष्ठन्यायेन पुद्गलरचनाविशेष सघात । सयोगेनाऽऽत्मना गृहीतानां पुद्गलानां यस्य कर्मण उदयात्-औदारिकादिशरीरविशेषरचना भवति तत्सघातनामकर्मदारुमृत्पिण्डाय पिण्डसघातवत् एतदपि सघातनाम-औदारिकादिशरीरभेदात् पञ्चविधम् । स चैव विधः सघातनामकर्मभेदो यदि न स्यात् तदा-प्रत्यक्षतया विनिश्चेय पुरुषस्त्री गवादिलक्षणो विविधशरीरभेदो नैव सभाव्येत, सघातकर्मविशेषाभावात्. । सहनननामापि षड्विधम्, वज्रऋषभनाराचादिभेदात्. । तत्राऽस्थ्ना बन्धविशेष सहननम्,तत्र-वज्रं-कीलिका-ऋषभ -परिवेष्टनपट्ट', नाराच -उभयतोमर्कटबन्ध' इति पदार्थ' । यत्र द्वयोरस्थ्नो रुभयतो मर्कटबन्धेन बद्धयो पट्टाकृतिना तृतीयेनाऽस्थ्ना परिवेष्टितयोरुपरि तदस्थित्रितयभेदि कीलिकाकार वज्रनामकमस्थिभवेत्तद् वज्रर्षभनाराचसहननम् १ यत् वज्राकारकीलिकारहितं पूर्वोक्त सहनन तदृषभनाराचसहननम्२ यत्र उभयपार्श्व-

---

आदि न होता तो बालू से बने हुए पुरुष के समान शरीर बिखर जाते । तात्पर्य यह है कि जैसे बालू के कण आपस मे मिले हुए होकर भी पृथक्-पृथक् रहते है, उसी प्रकार शरीर के पुद्गल पृथक्-पृथक् ही न रह जाएँ, इसके लिए बन्धन नाम स्वीकार किया गया है। बन्धन नाम कर्म भी औदारिक आदि शरीरो की तरह पाँच प्रकार का है ।

लाख और काष्ठ के समान परस्पर बद्ध पुद्गलो को जो प्रगाढ रचनाविशेष है, उसे सघात कहते है । तात्पर्य यह है कि आत्मा के द्वारा गृहीत पुद्गलो का बन्धन नाम कर्म के द्वारा आपस में बन्ध तो हो जाता है, मगर उस बन्ध मे प्रगाढता लाने वाला सघात नाम कर्म हैं । अतएव जिस कर्म के उदय से औदारिक आदि शरीरो की गाढी रचना होती है वह सघात नाम कर्म कहलाता है । जैसे काष्ठ मे या मृत्तिका के पिण्ड मे एक प्रकार की सघनता होती है, उसी प्रकार की सघनता शरीर-पुद्गलो मे भी देखी जाती है । यह सघनता सघात लोभ कर्म के उदय से उत्पन्न होती है । सघात नाम कर्म भी शरीर नाम कर्म के समान औदारिक आदि के भेद से पाँच प्रकार का है ।

अगर सघात नाम कर्म न होता तो शरीर में जो ठोसपन दिखाई पडता है, वह न होता।

संहनन नाम कर्म छह प्रकार का है-वज्र-ऋषभनाराच-सहनन, वज्र का अर्थ कीलिका है, ऋषभ का अर्थ परिवेष्टन पट्ट है, नाराच का अर्थ दोनो तर्फ मर्कट बन्ध है, इस प्रकार यह पदो का अर्थ हुआ । सहननों का अर्थ किया जाता है-जिसमे दो हड्डियाँ दोनों तर्फ मर्कट बन्ध से बन्धी हुई और फिर पट्टे की आकृति वाली तीसरी हड्डी से परिवेष्टित की हुई हों, उनके उपर उन तीनों हड्डियों को कीली के आकार की वज्र नाम की तीसरी हड्डी लगी हुई हो उस बन्धन विशेष को वज्र ऋषभनाराच सहनन कहते है १ । जिसमे हड्डियां सब

योर्मर्कटबन्धो भवेत्तत्--नाराचसहननम्३।यत्र--एकस्मिन् पार्श्वे मर्कटबन्ध , द्वितीये कीलिका भवेत्तद् अर्धनाराचसहननम्४।यत्र द्वयोरस्थ्नो.सन्धिभाग कीलिकया विद्धो भवेत् यत्र कीलिकाविद्धास्थिद्वयसचित तत् कीलिकासहननम् ५।यत्र अस्थ्नां परस्पर पर्यन्तभागै स्पर्शनमात्रं भवेत्तत् सेवार्त्तसहननम्६।

सस्थाननाम--तावत्षड्विधम् समचतुरस्रादिभेदात्. तत्र सस्थान--सस्थिति आकारविशेषो--ऽवयवरचनाविवेष पूर्वोक्तेष्वेव बध्यमानेषु पुद्गलेषु यस्य कर्मणउदयात् सस्थानविशेषो भवति तत्सस्थाननाम । तत्र--समञ्च तत् चतुरस्रञ्चेति समचतुरस्रम्, मानोन्मानप्रमाणमन्यूनमनधिकम्, एव न्यग्रोधपरिमण्डलादिकमपि बोध्यम् ।

वर्णनाम--कृष्णनीललोहितपीतशुक्लनामभेदात् पञ्चविधम्--। गन्धनाम--द्विविधम्, सुरभि--

---

पूर्वोक्त प्रकार से हो किन्तु वज्राकार कीलिका मात्र नहीं हो उस बन्धन विशेष को ऋषभनाराचसहनन कहते है २ । जिसमें दोनो तर्फ मे मर्कट बन्ध हो उसको नाराचसंहनन कहते है । ३ जिसमें एक तर्फ तो मर्कट बन्ध हो दूसरी तर्फ कीलिका हो उसको अर्द्धनाराच संहनन कहने है ४ । जिसमें दो हड्डियो का सधि भाग (जोड) कीलिका से विद्ध--बधी हुई हो उसको कीलिका सहनन कहते है ५ । और जिसमे हड्डियो का अग्रभाग परस्पर में स्पर्श मात्र से मिले हुए हो उसको सेवार्त्त सहनन कहते है ६ ।

सस्थान नाम कर्म के छह भेद है--समचतुरस्रसस्थान आदि । यहाँ सस्थान का आशय है--आकार अर्थात् अमुक आकार में शरीर की रचना होना तात्पर्य यह है कि शरीर के योग्य बाँधे जाने वाले पुद्गलो मे जिस कर्म के उदय से कोई विशिष्ट आकृति उत्पन्न होती है, वह संस्थान नाम कर्म कहलाता है । जो सस्थान सम चौरस हो वह समचतुरस्र कहलाता है । मान, उन्मान और प्रमाण की अपेक्षा से उसमें न न्यूनता होती है, और न अधिकता ।

जिसमें नाभि से ऊपर के भाग मे सभी अवयव चउरस्र समचतुष्कोण अर्थात् यथोचित लक्षण वाले हो किन्तु नाभि के नीचे का भाग ऊपर जैसा न हो उसको न्यग्रोध परिमडल सस्थान कहते है २ । जिसमे नाभि के नीचे के भाग मे सभी अवयव समचतुरस्र समचतुष्कोण अर्थात् यथोचित लक्षण वाले हो किन्तु नाभि के उपर का भाग नीचे जैसा न हो उसको सादि सस्थान कहते है ३ । जिसमे ग्रीवा--गर्दन--हस्त और चरण समचतुरस्र--समचतुष्कोण अर्थात् यथोचित लक्षणवाले हो किन्तु शरीर का मध्यभाग--हृदय पीठ आदि सक्षिप्त--विकृत हो उसको कुब्जसस्थान कहते है ४ । जिसमे शरीर का मध्य भाग तथा ग्रीवा--गर्दन हस्त और चरण सब समचतुरस्र--समचतुष्कोण और यथोचित लक्षणवाले हो किन्तु प्रमाण मे छोटे हो उसको वामन--सस्थान कहते है ५ । जिसमे हस्त चरण आदि अवयव वहुप्राय अर्थात् प्रमाणोपेत नहीं हो उसको हुडसस्थान कहते है ६ ।

वर्णनामकर्म पाँच प्रकार का है--कृष्ण वर्णनामकर्म, नील वर्ण नामकर्म, रक्त वर्ण

दुरभिगन्धभेदात्। एवं तिक्तकटुकषाया--ऽम्लमधुरनामभेदात्, रसनाम पञ्चविधम्। स्पर्शनाम तु औदारिकादिषु शरीरेषु यस्य कर्मण उदयात् कर्कशादि स्पर्शविशेषो भवति, तदुच्यते। तच्चाष्टविधम् कर्कश--मृदु--गुरु--लघु--शीतो--ष्ण--स्निग्ध--रूक्षभेदात.।

अगुरु--लघुपरिणामनियामकमगुरुलघुनाम व्यपदिश्यते, गुरुत्व--लघुत्व--गुरुलघुत्वपरिणामत्रय-निषेधकमगुरुलघुनामा--ऽवसेयम्। तथाच--यस्य कर्मण उदयात् सर्वजीवाना कुब्जादीना निजशरीराणि न गुरूणि--नापि लघूनि स्वतो भवन्ति, किन्तु--अगुरुलघुपरिणामेवा--ऽवरुन्धन्ति, तत्कर्म अगुरुलघु-शब्देन व्यपदिश्यते, सर्वद्रव्याण्येव स्थित्यादिनाऽनेकेन स्वभावेन परिणमन्ते, तत्राऽगुरुलघुपरिणा-मस्य नियामक तावद् अगुरुलघुनामवर्तते।

शरीराङ्गोपाङ्गाना पूर्वोक्तानां यस्य कर्मण उदयात परैरनेकवारमुपघात क्रियते, तदुपघात नाम। परत्रासप्रतिघातादिजनक पराघातनाम, यस्य कर्मण उदयात् कश्चिद्विपश्चिद् दर्शनमात्रेणैवौ--जस्वीवाक्चातुर्येणा--ऽन्यां सभामुपगत सभ्यानामपि त्रासमुत्पादयति परप्रतिभाप्रतिघात वा करोति-तत्पराघातनामव्यपदिश्यते।

नाम कर्म, पीतवर्ण नाम कर्म, शुक्ल वर्ण नाम कर्म।

गन्ध नाम कर्म के दो भेद है--सुरभिगंधनाम कर्म और दुरभिगध नाम कर्म।

रसनाम कर्म के पाँच भेद है--तिक्तरसनाम कर्म, कटुकरस नाम कर्म, कषायरस नाम कर्म, अम्लरस नाम कर्म और मधुरसनाम कर्म।

स्पर्शनाम कर्म आठ प्रकार का है--कर्कशस्पर्श नामकर्म, मृदुस्पर्शनामकर्म, गुरुस्पर्श नाम कर्म, लघुस्पर्श नाम कर्म, शीतस्पर्श नाम कर्म, उष्णस्पर्श नाम कर्म, स्निग्धस्पर्श नाम कर्म और रूक्षस्पर्श नाम कर्म।

ये वर्ण-गध-रस-स्पर्श नामक नामकर्म शरीर मे अमुक-अमुक प्रकार के वर्ण गन्ध आदि को उत्पन्न करते है।

अगुरु लघु नाम कर्म वह है जो शरीर की अगुरु लघुता का नियामक होता है। गुरुता, लघुता और गुरु-लघुता, इन तीन प्रकार के परिणामो का निषेधक जो परिणाम है, वह अगुरुलघु कहलाता है। अभिप्राय यह है कि जिस कर्म के ऊदय से सब जीवो के शरीर न अति गुरु होते है, न अति लघु होते है, किन्तु अगुरुलघु परिणाम वाले होते हैं, वह अगुरुलघु नाम कर्म कहलाता है। सव द्रव्य स्थिति आदि अनेकस्वभावो से परिणत होते हैं। उनमे से अगुरु लघु परिणाम का नियामक अगुरु लघु नाम कर्म है।

जिस नाम कर्म के उदय से अपने ही शरीर के अवयव आपको ही कष्टदायक होते हैं, वह उपघात नाम कर्म है। दूसरे को त्रास या प्रतिघात आदि उत्पन्न करने वाला पराघात नामकर्म है। जिस कर्म के उदय से कोई विद्वान् दर्शनमात्र से ओजस्वी प्रतीत

आनुपूर्वीच—क्षेत्रसन्निवेशक्रमरूपा—ऽवसेया, तत्र यत्कर्मोदयात्—अतिशयेन तद्गमनाऽऽनुगुण्य स्यात् तदप्यानुपूर्वी कथ्यते.। साचा—ऽन्तर्गति द्विविधा भवति, ऋज्वी—वक्रा च, । तत्र यदा समय-प्रमाणया ऋज्व्या गच्छति तदा—अग्रिमायु'कर्मानुभवन्नाऽऽनुपूर्वी नाम कर्मणैवोत्पत्तिस्थानं प्राप्त' सन् पुर'समुपस्थितमायुरासादयति । वक्रगत्यातु—द्वि—त्रि—चतु.समयप्रमाणया कूर्पर—लाङ्गल—गोमूत्रिका लक्षणया प्रवृत्तो वक्रारम्भकाले पुरस्कृतमायुरासादयति तदैव चाऽऽनुपूर्वीनामकर्माऽप्युदेति ।

अथ यथा—ऋज्व्यां गतौ—आनुपूर्वी नाम कर्मविनैवोत्पत्तिस्थान प्राप्नोति । एवं वक्रगत्यामपि कथ ना--ऽऽनुपूर्वी नामविनैवोत्पत्तिस्थान प्राप्नोतीति चेत् ? उच्यते, ऋज्व्यां गतौ पूर्वायुर्व्या-पारेणैव गच्छति, यत्र तत्पूर्वमायु'कर्मक्षीणं भवति, तत्रैव तस्य खलु अध्वयष्टिस्थानीयस्याऽऽनुपूर्वीना-मकर्मण उदयो भवति— । तथाच—वक्रगतौ वर्त्तमानभवायु' कर्मण क्षयादानुपूर्वी नामकर्म भवति ।

होता है और किसी सभा में पहुंच कर वचनचातुर्य से अन्य सदस्यो को त्रास उत्पन्न करता है अथवा दूसरो की प्रतिभा का प्रतिघात करता है, वह पराघात नाम कर्म कहलाता है ।

जीव जब वर्तमान शरीर को त्याग कर नवीन जन्म ग्रहण करने के लिए विग्रहगति करता है, उस समय इस कर्म का उदय होता है। इस आनुपूर्वी नाम कर्म के उदय से जीव अपने नियत उत्पत्ति क्षेत्र में पहुँचता है।

क्षेत्र के सन्निवेश क्रम को आनुपूर्वी कहते है। जिस कर्म के उदय से अति-शय के साथ गमन की अनुकूलता होती है, उसे भी आनुपूर्वी कहते है । वह अन्तराल-गति दो प्रकार की है—ऋजुगति और वक्रगति । जीव जब एक समय प्रमाण ऋजुगति से गमन करता है तब अगली आयु कर्म का अनुभव करता हुआ ही आनुपूर्वी नाम कर्म के द्वारा उत्पत्ति स्थान को प्राप्त होकर अगली आयु को प्राप्त करता है। दो, तीन या चार समय वाली वक्रगति से, जो पाणिमुक्ता, लांगलिका और गोमूत्रिका लक्षण वाली होती है, गमन करता है तो मोड़ आरम्भ होने के समय आगामी आयु को प्राप्त कर लेता है। उसी समय आनुपूर्वी नाम कर्म का ऊदय होता है।

शका—जैसे ऋजुगति में आनुपूर्वी नाम कर्म के उदय के बिना ही जीव अपने उत्पत्ति क्षेत्र मे पहुँच जाता है, उसी प्रकार वक्रगति करके भी आनुपूर्वी नाम कर्म के बिना ही उत्पत्ति क्षेत्र मे क्यो नहीं प्राप्त हो जाता ?

समाधान—ऋजुगति मे पूर्वभव सबधी आयु के व्यापार से ही जीव का गमन होता है , जहाँ पूर्वभव की आयु का क्षय हो जाता है वही आनुपूर्वी नाम कर्म का, जो अध्वयष्टि अर्थात् मार्ग मे पडी लकडी के समान है, उदय होता है। इस प्रकार वक्रगति मे वर्त्तमान भव के आयु कर्म का क्षय होने पर आनुपूर्वी नाम कर्म का उदय होता है।

प्राणापानपुद्गलग्रहणसामर्थ्यजनकम्—उच्छ्वासनाम । आतपसामर्थ्यजनकं तावद् आतपनाम—उच्यते । प्रकाशसामर्थ्यजनकमुद्योतनाम । लब्धिशिक्षर्द्धिहेतुकस्याऽऽकाशगमनस्य जनकं विहगगतिनाम, तत्र—प्रशस्ता विहगगति हंसादीनाम्, अप्रशस्ता पुनरुष्ट्रादीनाम् । त्रसत्वनिष्पादकं-त्रसनाम, त्रसाः—द्वि–त्रि–चतुष्पञ्चेन्द्रियलक्षणा जीवा उच्यन्ते, त्रस्यन्तीति त्रसाः ।

स्थावरत्वनिष्पादकं स्थावरनाम, । सूक्ष्म शरीरनिवर्तक—सूक्ष्मनाम । बादरशरीरनिवर्तक—बादरनाम । पर्याप्तनामविविच्यते—तत्र पर्याप्त पर्याप्ति सा तावत्पञ्चविधा—आहारपर्याप्तिः—शरीरपर्याप्तिः—इन्द्रियपर्याप्तिः—भासामणपज्जत्ति—भाषामनःपर्याप्तिश्च—। तत्रात्मन क्रियापरिसमाप्तिः पर्याप्तिरुच्यते । तथा च—पुद्गलरूपात्मनःकरणविशेष पर्याप्तिः, येन करणविशेषेणाऽऽत्मनः आहारादिग्रहणसामर्थ्यं निष्पद्यते, तच्च करणं यै पुद्गलै र्निष्पाद्यते ते पुद्गला आत्मना गृहीताः सन्तस्तथाविधपरिणतिशालिनः पर्याप्तिशब्देन व्यपदिश्यन्ते ।

मनःप्रर्याप्तिरपि—इन्द्रियपर्याप्तिमध्ये गतार्था—। पर्याप्तिनिवर्तक—पर्याप्तिनाम । एवमपर्याप्ति-

---

प्राणापान अर्थात् उच्छ्वास और निश्वास के योग्य पुद्गलो को ग्रहण करने की शक्ति उत्पन्न करने वाला कर्म उच्छ्वास नाम कर्म कहलाता है । आतप के सामर्थ्य का जनक कर्म आतपनाम कर्म है । प्रकाश की शक्ति उत्पन्न करने वाला उद्योतनाम कर्म है । लब्धि, शिक्षा या ऋद्धि के प्रभाव से आकाश में गमन करने की शक्ति उत्पन्न करने वाला कर्म विहगगति या विहायोगति नाम कर्म कहलाता है । प्रशस्त विहायोगति हंस आदि की सुन्दर चाल और अप्रशस्त विहायोगति ऊट आदि की भद्दी चाल समझना चाहिए । द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय जीव त्रस कहे जाते है । जिस कर्म के उदय से त्रस पर्याय की प्राप्ति होती है वह त्रस नाम कर्म है ।

जिस कर्म के उदय से स्थावर पर्याय की प्राप्ति हो, वह स्थावर नामकर्म है । सूक्ष्म शरीर का जनक सूक्ष्मनामकर्म है । जिसके उदय से बादर शरीर उत्पन्न हो वह बादरनामकर्म कहलाता है ।

पर्याप्त नाम कर्म का विवेचन—जिस कर्म के उदय से अपने–अपने योग्य पर्याप्तियो की पूर्णता हो वह पर्याप्ति नाम कर्म कहलाता है । पर्याप्तियाँ पाँच है—आहारपर्याप्ति, शरीरपर्याप्ति, इन्द्रियपर्याप्ति **'भासामणपज्जत्ति'** और भाषामनःपर्याप्ति । आत्मा की क्रिया की समाप्ति को पर्याप्ति कहते हैं । इस तरह पर्याप्ति आत्मा का एक प्रकार का करण है । उस करण से आत्मा में आहार आदि को ग्रहण करने का सामर्थ्य उत्पन्न होता है, वह करण जिन पुद्गलो से उत्पन्न होता है, वे पुद्गल आत्मा के द्वारा गृहीत होकर एव विशिष्ट परिणाम से परिणत होकर पर्याप्ति कहलाते है । मनः पर्याप्ति इन्द्रियपर्याप्ति में सम्मिलित है, अतः उसकी पृथक् गणना नहीं की गई है ।

निवर्तकमपर्याप्तिनाम । अनेकजीवसाधारणशरीरनिवर्तक साधारणशरीरनाम, अनन्तानां जीवाना-मेक शरीरं साधारणं किसलय–निगोदवज्रप्रभृति, यथा–एकजीवस्य परिभोग' तथा ऽनेकस्यापि तदभिन्नम् एकं साधारण सत् यस्य कर्मण उदयात् निष्पद्यते तत्–साधारणशरीरनाम ।

स्थिरत्वनिष्पादकं स्थिरनाम । तद्विपरीतमस्थिरनाम । एवम्–शुभा–ऽशुभ–सुभग–दुर्भग–सुस्वर–दु स्वरेष्वपि कर्मसु विभावनीयम् । आदेयत्वनिर्वर्तकम्–आदेयनाम । तद्विपरीत-मनादेय नाम यशोर्निवर्तक यश' कीर्त्तिनाम । तद् विपरीतमयश' कीर्त्तिनाम । तीर्थकरत्वनि-र्वर्तक तीर्थकरनाम—

एव यस्य कर्मण उदयाद् दर्शन–ज्ञान–चरण लक्षणं तीर्थं प्रवर्तयति मुनिगृहस्थ सर्ववि-रति–देशविरतिधर्मञ्चोपदिशति आक्षेपिणी–सक्षेपिणी–सवेग–निर्वेदकथाभिर्भव्यजनससिद्धये सुरा–ऽसुर–नरपतिपूजितश्च भवति तत् तीर्थकरनाम, इत्येव सोत्तर नामकर्मभेदो बहुविधः प्रज्ञप्त' ॥११॥

जिस कर्म के उदय से जीव अपने योग्य पर्याप्तियो को पूर्ण न कर पावे उसे अप-र्याप्तिनाम कर्म कहते है ।

जिस कर्म के उदय से ऐसे शरीर का निर्माण हो जो अनेक (अनन्त) जीवों के लिए साधारण हो, वह साधारण नाम कर्म कहलाता है । अनन्त जीवों का जो एक ही शरीर होता है, उसे साधारणशरीर कहते हैं । ऐसा शरीर कोपल आदि निगोद में ही पाया जाता है । वहाँ एक जीव का आहार अनन्त जीवो का आहार होता है, एक का श्वासोच्छ्वास ही अनन्त जीवों का श्वासोच्छ्वास होता है । ऐसा साधारण शरीर जिस कर्म के उदय से निष्पन्न होता है, वह साधारणशरीर नाम कर्म है ।

स्थिरता उत्पन्न करने वाला कर्म स्थिरनामकर्म है । इससे जो विपरीत हो वह अस्थिर नामकर्म है । इसी प्रकार शुभ, अशुभ, सुभग, दुर्भग, सुस्वर और दु स्वर नाम कर्म भी समझ लेने चाहिए । आदेयता उत्पन्न करने वाला आदेयनामकर्म कहलाता है और जो उससे विपरीत हो वह अनादेयनामकर्म है । जिसके उदय से यश और कीर्त्ति फैले वह यश' कीर्त्ति-नामकर्म और जिसके उदय से अपयश एवं अपकीर्त्ति हो, वह अयश कीर्त्तिनामकर्म कहलाता है । जिस कर्म के उदय से तीर्थकरत्व की प्राप्ति हो, उसे तीर्थकरनामकर्म कहते है । इस कर्म के उदय से जीव दर्शन ज्ञान–चारित्र रूप तीर्थ की प्रवृत्ति करता है, मुनियो के सर्व-विरति और गृहस्थो के देशविरति धर्म का उपदेश करता है, आक्षेपिणी, विक्षेपिणी, सवेगिनी और निर्वेदिनी कथाओ के द्वारा भव्य जनो की सिद्धि–मोक्ष के लिए मोक्षमार्ग प्रदर्शित करता है और जिस कर्म के प्रभाव से सुरेन्द्रो, असुरेन्द्रों एवं नरेन्द्रो द्वारा पूजित होता है वह तीर्थ-करनामकर्मकहलाता है ।

इस प्रकार नामकर्म की उत्तर एव उत्तरोत्तर प्रकृतियाँ अनेक प्रकार की कही गई है ॥११॥

मूलसूत्रम्—"गोए दुविहे, उच्चे-नीए य-" ॥१२॥

छाया — "गोत्रं द्विविधम्, उच्चैर्नीचश्च-' ॥१२॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे नामकर्ममूलप्रकृतिबन्धस्य द्विचत्वारिंशदविधमुत्तरप्रकृतिकर्मप्रतिपादितम् सम्प्रति-गोत्रकर्मणो द्वैविध्यं प्रतिपादयितुमाह-"गोए दुविहे उच्चे नीए य-" इति। गोत्र कर्म-द्विविध प्रज्ञप्तम्। उच्चगोत्रम्-नीचगोत्रं चेति।

तत्रोच्चगोत्रम्—देश-जाति-कुल-स्थान-मान-सत्कारै-श्वर्याद्युत्कर्षनिष्पादक भवति, तद्विपरीत-नीचगोत्रम्। चण्डाल-व्याध-मीनबन्धदास्यादिनिष्पादक भवति ॥१२॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वसूत्रे—द्विचत्वारिंशद्विधमुत्तरप्रकृतिकर्म, नामकर्ममूलप्रकृतिबन्धस्य द्विविधमुत्तरप्रकृतिकर्मप्रतिपादयितुमाह—"गोए दुविहे उच्चा-नीया य-"इति। गोत्र कर्म द्विविधम् प्रज्ञप्तम्, उच्चगोत्र-नीचगोत्र चेति।

तत्र-यदुदयाद् जीव उच्चैर्जातिं प्राप्नोति तदुच्चगोत्रम्। यदुदयाच्च जीवो नीचैर्जाति प्राप्नोति तन्नीचगोत्रमुच्यते। तत्रोच्चगोत्रम्-आर्यदेशेषु मगधाऽङ्गकलिङ्गवङ्गादिषु-उत्पत्तिप्रयोजकं भवति। एवम्-हरिवंशेक्ष्वाकुप्रभृतिपितृवंशरूपजातिषु, एव मातृवंशरूपोग्रभोगादिकुलेषु चोत्पत्तिप्रयोजक भवति। एव-प्रभो समीपे प्रत्यासन्नतयो-पवेशनादिरूपस्थानस्य स्वकरेण वस्त्रप्रदानादि-

---

सूत्रार्थ—"गोए दुविहे उच्चा नीयाय' सूत्र-१२

गोत्रकर्म की दो उत्तर प्रकृति है-उच्चगोत्र और नीच गोत्र।

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्र में नाम कर्म नामक मूल प्रकृति की बयालीस उत्तर प्रकृतियों का प्रतिपादन किया गया, अब गोत्रकर्म की दो उत्तर प्रकृतियो का कथन करते है—गोत्रकर्म की उत्तर प्रकृतियाँ दो है—उच्चगोत्र और नीचगोत्र।

उच्चगोत्र देश-जाति-कुल-स्थान-मान-सत्कार-ऐश्वर्य आदि का उत्कर्ष उत्पन्न करता है। नीचगोत्र इससे विपरीत होता है। इसके उदय से चाण्डाल, व्याध, मच्छीमार, दास दासी आदि अवस्थाओं की प्राप्ति होती है ॥ १२ ॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पिछले सूत्र में नाम कर्म की बयालीस उत्तर प्रकृतियो का निरूपण किया गया है। अब गोत्र नामक जो मूलप्रकृति है, उसकी दो प्रकृतियो का कथन करते हैं—

गोत्रकर्म के दो भेद है उच्चगोत्र और नीचगोत्र।

जिस कर्म के उदय से जीव उच्च जाति को प्राप्त करता है, वह उच्चगोत्र और जिसके उदय से नीच जाति को प्राप्त करे वह नीचगोत्र कर्म कहलाता है। उच्चगोत्र कर्म मगध, अग, कलिंग, वग आदि आर्य देशो में जन्म लेने का हरिवंश, इक्ष्वाकु आदि पितृवश रूप जातियों में तथा उग्रकुल भोगकुल आदि मातृवश रूप उत्तम कुलों में जन्म लेने का कारण होता है। इसी प्रकार प्रभु प्रभावशाली के समीप में नज़दीकी से बैठने आदि

निवर्तकमपर्याप्तिनाम । अनेकजीवसाधारणशरीरनिवर्तकं साधारणशरीरनाम, अनन्तानां जीवानामेकं शरीरं साधारणं किसलय—निगोदवज्रप्रभृति, यथा—एकजीवस्य परिभोग तथा ऽनेकस्यापि तदभिन्नम् एकं साधारण सत् यस्य कर्मण उदयात् निष्पद्यते तत्—साधारणशरीरनाम ।

स्थिरत्वनिष्पादकं स्थिरनाम । तद्विपरीतमस्थिरनाम । एवम्—शुभा—ऽशुभ—सुभग—दुर्भग—सुस्वर—दु स्वरेष्वपि कर्मसु विभावनीयम् । आदेयत्वनिर्वर्तकम्—आदेयनाम । तद्विपरीतमनादेय नाम यशोनिर्वर्तकं यश कीर्त्तिनाम । तद् विपरीतमयश कीर्त्तिनाम । तीर्थकरत्वनिर्वर्तकं तीर्थकरनाम—

एवं यस्य कर्मण उदयाद् दर्शन—ज्ञान—चरण लक्षणं तीर्थं प्रवर्तयति मुनिगृहस्थ सर्वविरति—देशविरतिधर्मञ्चोपदिशति आक्षेपिणी—सक्षेपिणी—सवेग—निर्वेदकथाभिर्भव्यजनससिद्धये सुरा—ऽसुर—नरपतिपूजितश्च भवति तत् तीर्थकरनाम, इत्येव सोत्तर नामकर्मभेदो बहुविध' प्रज्ञप्त ॥११॥

जिस कर्म के उदय से जीव अपने योग्य पर्याप्तियो को पूर्ण न कर पावे उसे अपर्याप्तिनाम कर्म कहते है ।

जिस कर्म के उदय से ऐसे शरीर का निर्माण हो जो अनेक (अनन्त) जीवों के लिए साधारण हो, वह साधारण नाम कर्म कहलाता है । अनन्त जीवो का जो एक ही शरीर होता है, उसे साधारणशरीर कहते है । ऐसा शरीर कोंपल आदि निगोद में ही पाया जाता है । वहाँ एक जीव का आहार अनन्त जीवो का आहार होता है, एक का श्वासोच्छ्वास ही अनन्त जीवों का श्वासोच्छ्वास होता है । ऐसा साधारण शरीर जिस कर्म के उदय से निष्पन्न होता है, वह साधारणशरीर नाम कर्म है ।

स्थिरता उत्पन्न करने वाला कर्म स्थिरनामकर्म है । इससे जो विपरीत हो वह अस्थिर नामकर्म है । इसी प्रकार शुभ, अशुभ, सुभग, दुर्भग, सुस्वर और दु स्वर नाम कर्म भी समझ लेने चाहिए । आदेयता उत्पन्न करने वाला आदेयनामकर्म कहलाता है और जो उससे विपरीत हो वह अनादेयनामकर्म है । जिसके उदय से यश और कीर्त्ति फैले वह यश' कीर्त्तिनामकर्म और जिसके उदय से अपयश एवं अपकीर्त्ति हो, वह अयश कीर्त्तिनामकर्म कहलाता है । जिस कर्म के उदय से तीर्थकरत्व की प्राप्ति हो, उसे तीर्थकरनामकर्म कहते है । इस कर्म के उदय से जीव दर्शन ज्ञान—चारित्र रूप तीर्थ की प्रवृत्ति करता है, मुनियो के सर्वविरति और गृहस्थो के देशविरति धर्म का उपदेश करता है, आक्षेपिणी, विक्षेपिणी, सवेगिनी और निर्वेदिनी कथाओ के द्वारा भव्य जनो की सिद्धि—मोक्ष के लिए मोक्षमार्ग प्रदर्शित करता है और जिस कर्म के प्रभाव से सुरेन्द्रो, असुरेन्द्रों एवं नरेन्द्रो द्वारा पूजित होता है वह तीर्थकरनामकर्मकहलाता है ।

इस प्रकार नामकर्म की उत्तर एव उत्तरोत्तर प्रकृतियाँ अनेक प्रकार की कही गई है ॥११॥

मूलसूत्रम्—"गोए दुविहे, उच्चे-नीए य-" ॥१२॥

छाया—"गोत्रं द्विविधम्, उच्चैर्नीचश्च-" ॥१२॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे नामकर्ममूलप्रकृतिबन्धस्य द्विचत्वारिंशद्विधमुत्तरप्रकृतिकर्मप्रतिपादितम् सम्प्रति-गोत्रकर्मणो द्वैविध्यं प्रतिपादयितुमाह—"गोए दुविहे उच्चे नीए य-" इति। गोत्र कर्म-द्विविधं प्रज्ञप्तम्। उच्चगोत्रम्-नीचगोत्रं चेति।

तत्रोच्चगोत्रम्—देश-जाति-कुल-स्थान-मान-सत्कारै-श्वर्याद्युत्कर्षनिष्पादक भवति, तद्विपरीत-नीचगोत्रम्। चण्डाल-व्याध-मीनबन्धदास्यादिनिष्पादक भवति ॥१२॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वसूत्रे—द्विचत्वारिंशद्विधमुत्तरप्रकृतिकर्म, नामकर्ममूलप्रकृतिबन्धस्य द्विविधमुत्तरप्रकृतिकर्मप्रतिपादयितुमाह—"गोए दुविहे उच्चा-नीया य-"इति। गोत्र कर्म द्विविधम् प्रज्ञप्तम्, उच्चगोत्र-नीचगोत्र चेति।

तत्र-यदुदयाद् जीव उच्चैर्जातिं प्राप्नोति तदुच्चगोत्रम्। यदुदयाच्च जीवो नीचैर्जाति प्राप्नोति तन्नीचगोत्रमुच्यते। तत्रोच्चगोत्रम्-आर्यदेशेषु मगधाऽङ्गकलिङ्गवङ्गादिषु-उत्पत्तिप्रयोजकं भवति। एवम्-हरिवंशेक्ष्वाकुप्रभृतिपितृवंशरूपजातिषु, एव मातृवंशरूपोग्रभोगादिकुलेषु चोत्पत्तिप्रयोजक भवति। एव-प्रभो समीपे प्रत्यासन्नतयो-पवेशनादिरूपस्थानस्य स्वकरेण वस्त्रप्रदानादि-

---

सूत्रार्थ—"गोए दुविहे उच्चा नीयाय" सूत्र-१२

गोत्रकर्म की दो उत्तर प्रकृति है—उच्चगोत्र और नीच गोत्र।

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्र में नाम कर्म नामक मूल प्रकृति की बयालीस उत्तर प्रकृतियो का प्रतिपादन किया गया, अब गोत्रकर्म की दो उत्तर प्रकृतियो का कथन करते है—गोत्रकर्म की उत्तर प्रकृतियाँ दो है—उच्चगोत्र और नीचगोत्र।

उच्चगोत्र देश-जाति-कुल-स्थान-मान-सत्कार-ऐश्वर्य आदि का उत्कर्ष उत्पन्न करता है। नीचगोत्र इससे विपरीत होता है। इसके उदय से चाण्डाल, व्याध, मच्छीमार, दास दासी आदि अवस्थाओं की प्राप्ति होती है ॥ १२ ॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पिछले सूत्र में नाम कर्म की बयालीस उत्तर प्रकृतियो का निरूपण किया गया है। अब गोत्र नामक जो मूलप्रकृति है, उसकी दो प्रकृतियो का कथन करते है—

गोत्रकर्म के दो भेद है उच्चगोत्र और नीचगोत्र।

जिस कर्म के उदय से जीव उच्च जाति को प्राप्त करता है, वह उच्चगोत्र और जिसके उदय से नीच जाति को प्राप्त करे वह नीचगोत्र कर्म कहलाता है। उच्चगोत्र कर्म मगध, अग, कलिंग, वग आदि आर्य देशों मे जन्म लेने का हरिवश, इक्ष्वाकु आदि पितृवश रूप जातियों में तथा उग्रकुल भोगकुल आदि मातृवश रूप उत्तम कुलों में जन्म लेने का कारण होता है। इसी प्रकार प्रभु प्रभावशाली के समीप में नज़दीकी से बैठने आदि

रूपमानस्य, अभ्युत्थानासनाऽञ्जलिप्रग्रहादिरूपसत्कारस्य, गजाश्वरथपदातिप्रभृत्यैश्वर्यस्य चोत्कर्ष-निर्वर्तकमुच्चगोत्र भवति । नीचगोत्रं पुनश्चाण्डाल—वरुड—व्याध—धीवरजालपाशदासभावा—ऽवस्कर-शोधकादिनिर्वर्तकं भवति, यदुदयात् सर्वलोकसमादृते—इक्ष्वाकुवंशे, सूर्यवंशे, चन्द्रवशे, कुरुवंशे, हरिवशे—उग्रवंशे, इत्यादिवंशेषु जीवस्य जन्म भवति तदुच्चैर्गोत्रमिति व्यपदिश्यते ।

यदुदयाच्च—निन्दिते दरिद्रे—भ्रष्टाचारे—ऽसत्यवादिके—तस्करवृत्तिकारके—व्यभिचारिणि—प्राणिवधकारके चाण्डालादिनिन्दितकुले जीवस्य जन्म भवति, तद्नीचगोत्रमिति फलितम् ॥१२॥

मूलसूत्रम्—"अंतराए पंचविहे, दाण—लाभ—भोग—उपभोग—वीरियंतरायभेयओ"

छाया—'अन्तरायः पञ्चविधः, दान—लाभ—भोगो—पभोग—वीर्यान्तरायभेदतः" १३

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे गोत्रकर्मणो मूलप्रकृतिबन्धस्य द्विविधमुत्तरप्रकृतिबन्धस्वरूपं प्रतिपादितम्, सम्प्रत्यष्टमस्याऽन्तरायकर्मणः पञ्चविधमुत्तरप्रकृतिबन्धस्वरूप प्रतिपादयितुमाह—"**अंतराए**" इत्यादि । अन्तरायकर्म—उत्तरप्रकृतित्वेन पञ्चविध प्रज्ञप्तम्, दानान्तराय—लाभान्तराय भोगान्तरायो—पभोगान्तराय—वीर्यान्तरायभेदात् ।

तत्र—दानलाभभोगोपभोगवीर्यपरिणामव्याघातहेतुत्वाद् दानान्तरायादिव्यपदेशो भवति ।

रूप स्थान का, अपने हाथ से वस्त्र प्रदान आदि रूप मान का, अभ्युत्थान, आसन, अजलि-प्रग्रह आदि सत्कार का तथा हाथी घोडा रथ एव पदाति आदि ऐश्वर्य पैदा करने वाला उच्चगोत्र कर्म कहलाता है।

नीचगोत्र कर्म के उदय से चाण्डाल, वरुड, व्याध, धीवर जालपाश, दासभाव, कूडा—कचरा बुहारने वाला आदि होता है । जिसके उदय से समस्त लोक में आहृत इक्ष्वाकुवंश, सूर्यवंश, चन्द्रवंश, कुरुवंश, हरिवश तथा उग्रवश आदि उत्तम वंशो में से किसी में जन्म होता है, उसे उच्चगोत्र कर्म कहते है । इसके विपरीत जिस कर्म के उदय से निन्दित, दरिद्र, भ्रष्टा-चारी, असत्यभाषी चौरवृत्तिकारक, व्यभिचारी, हिंसक, चाण्डाल आदि कुलो में जीव का जन्म होता है, वह नीच गोत्र कहलाता है ॥ १२ ॥

सूत्रार्थ—" **अंतराए पंचविहे**' इत्यादि । सूत्र—१३

अन्तराय कर्म पाँच प्रकार का है—दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्त-राय और वीर्यान्तराय ॥ १३ ॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्र में गोत्र कर्म रूप मूल प्रकृति की दो उत्तर प्रकृतियो का प्रतिपादन किया गया है, अब आठवीं मूलप्रकृति अन्तराय कर्म की पाँच उत्तर प्रकृतियों का निरूपण करने के लिए कहते हैं—अन्तराय कर्म की उत्तर प्रकृतियां पाँच कही गई है, यथा—दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय ।

यह कर्म दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य परिणाम में विघ्न डालने का कारण होता

तथाच-यदुदयात् दातुकामोऽपि, न ददाति, लब्धुकामोऽपि, न लभते, भोक्तुमिच्छन्नपि न भुङ्क्ते उपभोक्तुमभिवाञ्छन्नपि नोपभुङ्क्ते, उत्सहितुकामोऽपि नोत्सहते, तद्न्तरायकर्म दानान्तरायादिभेदात् । पञ्चविध तावत् उत्तरप्रकृतिरूप सम्पद्यते ॥१३॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वसूत्रे सप्तमस्य गोत्रकर्मणो मूलप्रकृतिबन्धस्योत्तरप्रकृतिबन्धस्वरूप प्रतिपाद्य सम्प्रति-अष्टमस्याऽन्तरायकर्मण । पञ्चविधमुत्तरप्रकृतिबन्धस्वरूप प्रतिपादयितुमाह्— "अतराए" इति ।

अन्तरायकर्म-उत्तरप्रकृतित्वेन पञ्चविध प्रज्ञप्तम् । दानलाभभोगोपभोग वीर्यान्तरायभेदात् तथाच-अन्तरायकर्मोत्तरप्रकृतयो दानान्तराय-लाभान्तराय-भोगान्तरायो-पभोगान्तराय-वीर्यान्तरायरूपा पञ्च भवन्ति । तत्र-दान देयद्रव्यस्य त्यागरूपम् तस्याऽन्तरायो दानान्तराय' १ तदुदयात्सत्यपि देयद्रव्ये, यद्धिकर्म-उदित सत् दीयमानद्रव्यदानकर्मणोऽन्तराय विघ्नमन्तर्धानरूप करोति तददानान्तरायकर्म उच्यते तदुदयाद्-देयद्रव्ये, प्रतिग्रहीतरिच सन्निहितेऽपि "अस्मै दत्तं द्रव्यं महाफलजनकं भविष्यति" इति जानन्नपि दाता देयद्रव्य न प्रयच्छति ।

एव-यदुदयाद् विद्यमान लभ्यवस्तुलब्धुकामोऽपि न लभते, तल्लाभान्तरायकर्म व्यपदिश्यते।

है, इस कारण दानान्तराय आदि के नाम से कहा जाता है । तात्पर्य यह है कि जिस कर्म के उदय से जीव दान देने का इच्छुक हो कर भी दे नहीं पाता, लाभ पाने का अभिलाषी हो कर भी लाभ नहीं कर सकता, भोगने की इच्छा होने पर भी भोग नहीं सकता, उपभोग करने की वांछा करता हुआ भी उपभोग नहीं कर पाता और उत्साह प्रकट करने की कामना होने पर भी उत्साह प्रकट नहीं कर सकता, वह अन्तराय कर्म कहलाता है । दानान्तराय आदि उसकी पाँच उत्तर प्रकृतियाँ है ॥ १३ ॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति— पूर्वसूत्र मे सातवीं मूलकर्म प्रकृति गोत्र की उत्तरप्रकृतियाँ बतला कर अब आठवीं मूलप्रकृति अन्तराय कर्म की पाँच उत्तर प्रकृतियाँ दिखलाते है–

उत्तरप्रकृतियों के रूप में अन्तराय कर्म पाँच प्रकार का है—दानान्तराय, लाभान्तराय भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय, अन्तरायकर्म की ये ही पाँच उत्तरप्रकृतियाँ है,, ।

देय वस्तु का त्याग करना दान कहलाता है । उसमे होने वाला अन्तराय अर्थात् विघ्न दानान्तराय कहलाता है । तात्पर्य यह है कि जिस कर्म के उदय से देय द्रव्य के मौजूद होने पर भी दाता दान नहीं कर सकता—जो दान में विघ्न डाल देता है, वह दानान्तराय कर्म कहलाता है । देने योग्य द्रव्य विद्यमान रहता है' लेने वाला भी सामने होता है और दाता यह भी जानता है कि इसे द्रव्य दिया जायगा तो महान् फल की प्राप्ति होगी फिर भी दानान्तराय कर्म के उदय से दाता दान नहीं दे पाता ।

इसी प्रकार लभ्य वस्तु की मौजूदगी होने पर भी और लाभ की इच्छा होने पर भी जिस कर्म के उदय से लाभ न हो सके, वह लाभान्तराय कर्म कहलाता है । भोगान्तराय, उपभोगा-

एवम्—भोगो—पभोग—वीर्यान्तरायकर्माण्यपि बोध्यानि तथा सकलार्थिभ्यस्तदीयप्रार्थनानुसारं यथाशक्तिनिर्विशेषमुदारचेता' सन्नपि यस्य याचमानस्यापि देयमल्पमपि द्रव्य न ददाति तस्य लाभान्तराय कर्मोदयो बोध्य ।

एव सकृदुपभुज्य यत् परित्यज्यते पुनरुपभोगाक्षम स्रक्चन्दनप्रभृति, तच्च—भोगरूप सम्भवदपि यस्य कर्मण उदयाद् यो न भुङ्क्ते तस्य भोगान्तरायकर्मोदय वस्त्र—शयना—सन भाजनादिरूप उपभोग उच्यते, पुन' पुनरुपभुज्यमानत्वादुपभोगशब्देन तदुच्यते, तस्य वस्त्राद्युपभोगस्य सम्भवेऽपि यस्य कर्मण उदयाद् न परिभोगो भवति, तत्कर्म उपभोगान्तराय कर्म व्यपदिश्यते ।

वीर्यं पुनरुत्साहश्चेष्टाशक्तिरित्युच्यते, तत्र—यस्य कर्मण उदयात् कस्यचित्समयस्यापि—बलसम्पन्नस्यापि उपचितशरीरस्यापि—तरुणस्यापि अल्पप्राणता धर्मादिकार्यकर्तुं सामर्थ्योत्साहादिक न भवति तद् वीर्यान्तरायकर्म उच्यते, तथाविधस्य च वीर्यान्तरायकर्मण पृथिव्यप्तेजो वायुवनस्पतिकायेषु क्षयोपशमजनिततारतम्यात् साकल्येनोदयो बोध्य ।

द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियादेस्तु—वीर्यस्य वृद्धि यावत् चरमछद्मस्थो भवेत् इति प्रकर्षाप्रकर्षविशेषोपलब्धेः। तीर्थङ्करे पुनरुत्पन्नकेवले सर्ववीर्यान्तराय कर्मक्षय', तस्मिन् भगवति निरतिशयं वीर्यं भवतीति भाव.।१३।

न्तराय और वीर्यान्तराय कर्म भी इसी प्रकार स्वय समझ लेने चाहिए । कोई उदारचित्त पुरुष, समान भाव से, याचको की इच्छा के अनुसार यथाशक्ति दान दे रहा हो, मगर कोई ऐसा याचक हो जिसे याचना करने पर भी, स्वल्प भी द्रव्य न दे तो समझना चाहिए कि उस याचक को लाभान्तराय कर्म का उदय है ।

जो वस्तु एक बार भोगी जाय वह भोग कहलाती है, जैसे माला चन्दन आदि । भोग के योग्य वस्तु विद्यमान हो फिर भी जिस कर्म के उदय से उसका भोग न किया जासके वह भोगान्तराय कर्म कहलाता है। वस्त्र, शय्या, आसन, भाजन आदि उपभोग कहलाता है, क्योंकि उनका बार—बार भोग किया जाता है। इन वस्त्र आदि वस्तुओं के होने पर भी जिस कर्म के उदय से परिभोग न किया जा सके, उसे उपभोगान्तराय कर्म कहते है।

वीर्य का अर्थ है उत्साह, चेष्टा, या शक्ति । कोई मनुष्य बलसम्पन्न है, पुष्ट शरीर वाला है, तरुण है, फिर भी धर्म कार्य आदि करने मे सामर्थ्य प्रकट नहीं करता, उत्साह नहीं दिखलाता, तो समझना चहिए कि उसके वीर्यान्तराय कर्म का उदय है । पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय के जीवों में वीर्यान्तराय कर्म का, क्षयोपशम जनित तरतमता के अनुसार पूर्णरूप से उदय समझना चाहिए । इनकी अपेक्षा द्वीन्द्रिय जीवो में, द्वीन्द्रियो की अपेक्षा त्रीन्द्रिय जीवो मे कम वीर्यान्तराय पाया जाता है । इस प्रकार छद्मस्थ—अवस्था के चरम समय मे अर्थात् बारहवे क्षीण कषाय नामक गुणस्थान के अंतिम समय मे वीर्यान्तराय कर्म सब से कम पाया जाता है । केवलज्ञान उत्पन्न होने पर चाहे तीर्थंकर केवली हो या सामान्य-केवली, वीर्यान्तराय कर्म से सर्वथा रहित हो जाते है । उनमे सर्वोत्कृष्ट वीर्य होता है ॥१३॥

मूलसूत्रम्—"णाणदंसणावरणिज्ज वेयणिज्जंतरायाणं तीसई कोडाकोडीओ ठिई उक्कोसिया, ॥१४॥

छाया—'ज्ञान-दर्शना-ऽवरण-वेदनीया-न्तरायाणा त्रिंशत्कोटिकोटयः स्थितिरुत्कर्षिका, ॥१४॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वं ज्ञानावरणाद्यष्टविधकर्मणां मूलप्रकृतिबन्ध प्ररूपित सम्प्रति-तेषा स्थितिबन्ध प्ररूपयितुमाह—"णाणदंसणा-" इत्यादि। ज्ञानावरणदर्शनावरणवेदनीयाऽन्तरायाणा चतुर्णा कर्मणां त्रिंशत्सागरोपमकोटिकोट्य उत्कर्षिका-उत्कृष्टा स्थितिःप्रज्ञप्ता। एतेषा चतुर्णां जघन्यिका-जघन्या स्थितिरन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणा प्रज्ञप्ता। तथाच-ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीयान्तरायकर्मणामुत्कर्षेण त्रिंशत्सागरोपमकोटिकोटय स्थितिर्भवतीति विज्ञेयम् ॥१४॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं तावदज्ञानावरणादिकर्मणा मूलप्रकृतिबन्ध प्रतिपादित सम्प्रति-तेषां स्थितिबन्ध प्रतिपादयितु प्रथम तावद् ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयान्तरायणा चतुर्णां कर्मणां स्थितिबन्ध प्रतिपादयति—"णाणदंसणावरणिज्जवेयणिज्जंतरायाणं तीसई कोडिकोडीओ ठिई उक्कोसिया" इति। ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयाऽन्तरायाणां चतुर्णां कर्मणा त्रिंशत्सागरोपमकोटिकोटय उत्कर्षिका-उत्कृष्टा स्थिति' प्रज्ञप्ता, बन्धकालादारभ्य यावदशेप निर्जीर्णं भवति तावान् खलु स्थितिकाल' स्थितिपदेनोच्यते।

तथाचा-ऽऽऽसा चतसृणा मूलप्रकृतीनां त्रिंशत्सागरोपमकोटिकोटीरूप उत्कृष्ट स्थितिबन्ध

सूत्रार्थ—'णाणदंसणावरणिज्ज' इत्यादि सूत्र ॥१४॥

ज्ञानावरण दर्शनावरण वेदनीय और अन्तराय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोडाकोडी सागरोपम की और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की है ॥१४॥

तत्त्वार्थदीपिका—इससे पूर्व प्रकृतिबन्ध का प्ररूपण करने के लिए कहते है-ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय, इन चारकर्मों की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोडा कोडी सागरोपम की है और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की है ॥१४॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पिछले सूत्रो मे मूल और उत्तर प्रकृतिबन्ध की प्ररूपणा की गई है। अब स्थितिबन्ध की प्ररूपणा करते हुए पहले ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय कर्म की स्थिति बतलाते है—

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोडा कोडी सागरोपम की और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की है। बन्ध के समय से आरभ करके अब तक वह कर्म पूर्ण रूप से निर्जीर्ण होता है, तब तक का काल स्थितिकाल कहलाता है। स्थिति काल को ही यहाँ स्थिति शब्द से कहा है।

इस प्रकार पूर्वोक्त चार मूलप्रकृतियो का स्थिति बन्ध उत्कृष्ट तीस कोडा कोडी सागरो-

प्रतिपत्तव्यः। तत्र–वर्षसहस्रत्रयमबाधाकालो बोध्य', यावत्कालपर्यन्त बद्ध कर्म नाऽनुभूयते उदयेनाऽऽयाति, तावान् कालो बाधाकालपदेनोच्यते। बाधाकालस्तु–यत्प्रभृतिज्ञानावरणादिकर्म उदयावलिकाप्रविष्ट सत् नि'शेषमुपक्षीण भवति तावान्काल उच्यते। तथाचैतद् ज्ञानावरणादिकर्मचतुष्टयं बन्धकालादारम्य त्रिषु वर्षसहस्रेषु व्यतीतेषु उदयावलिकां प्रविशतीति भाव'।

एवञ्च–ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीया-ऽन्तरायकर्मणां त्रिंशत्सागरोपमकोटिकोटीरूपोत्कृष्टास्थिति' सञ्ज्ञिनो मिथ्यादृष्टे' पञ्चेन्द्रियस्य पर्याप्तकस्य जीवस्यावगन्तव्या।

उक्तञ्चोत्तराध्ययनसूत्रे ३३ अध्ययने

"उदहीसरिसनामाण, तीसईकोडिकोडीओ– ।
उक्कोसिया ठिई होई, अंतोमुहुत्तं जहन्निया– ॥१९॥
आवरणिज्जायदुण्हंपि, वेयणिज्जे तहेव य– ।
अंतराए य कम्मम्मि, ठिई एसा वियाहिया– ॥२०॥

छाया—उद्धिसदृशनाम्नां त्रिंशत्कोटिकोटयः।
उत्कर्षिका स्थितिर्भवति, अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यिका ॥
"आवरणीययोर्द्वयोरपि वेदनीये तथैव च– ।
अन्तराये च कर्मणि स्थितिरेषा व्याख्याता– ॥१४॥ इति।

मूलसूत्रम्—"मोहणीजस्स सत्तरि कोटिकोडीओ–' ॥१५॥

छाया—"मोहनीयस्य सप्ततिः कोटिकोटयः ॥१५॥

पम का समझना चाहिए इन चारों कर्मो का अबाधाकाल तीन हजार वर्ष का है। बन्ध होने के पश्चात् जितने काल तक कर्म का उदय नहीं होता, उतना काल अबाधाकाल कहलाता है। अबाधाकाल व्यतीत हो जाने के पश्चात् ज्ञानावरण आदि कोई कर्म जब उदयावलिका में प्रविष्ट होता है, तब से आरभ करके उसको पूर्णरूप से क्षय होने तक के काल को बन्धकाल कहते है। तात्पर्य यह हुआ कि ज्ञानावरण आदि उक्त चारो कर्म बन्ध काल से लेकर तीन हजार वर्ष व्यतीत हो जाने पर उदयावलिकामें प्रविष्ट होते है।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय कर्म की तीस कोडा कोडी सागरोपम की जो उत्कृष्ट स्थिति बतलाई गई है, वह सञ्ज्ञी, मिथ्यादृष्टि पचेन्द्रिय पर्याप्त जीव की अपेक्षा से समझनी चाहिए। उत्तराध्ययनसूत्र के ३३ वे अध्ययन में कहा गया है—

दो आवरणो की अर्थात् ज्ञानावरण और दर्शनावरण की, वेदनीय की तथा अन्तराय कर्म की तीस कोडा कोडी सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति कही गई है। इन चारो की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की है ॥ १९--२० ॥ १४ ॥

सूत्रार्थ—'मोहणिज्जस्स सत्तरि' इत्यादि। –१५

मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोड़ा कोड़ी सागरो म ी है ॥ १५ ।

तत्त्वार्थदीपिका--"पूर्वसूत्रे ज्ञानावरण--दर्शनावरण--वेदनीया--ऽन्तराय--कर्मचतुष्टयस्य स्थिति प्रतिरूपिता, सम्प्रति--मोहनीयस्य कर्मण स्थिति प्रतिपादयितुमाह--"मोहणिज्जस्स-सत्तरि कोडिकोडीओ--" इति। मोहनीयस्य पूर्वोक्तस्वरूपस्य कर्मण' सप्ततिसागरोपमकोटि-कोटच. उत्कृष्टत' स्थितिर्भवति, जघन्येन तु--अन्तर्मुहूर्तप्रमाणा स्थितिरवगन्तव्या-- ॥१५॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः--पूर्वं ज्ञानावरणादीना चतसृणा कर्मप्रकृतीना स्थितिकाल सविस्तर प्ररूपित', सम्प्रति-मोहनीयकर्मप्रकृते' स्थितकाल प्ररूपयितुमाह--"मोहणिज्जस्स सत्तरि कोडी-कोडीओ--" इति। मोहनीयस्य कर्मण सप्तति सागरोपमकोटिकोटिय उत्कृष्टत. स्थिति सम्भवति, जघन्येन पुनरन्तर्मुहूर्तप्रमाणा स्थितिर्भवति । तत्र चाबाधाकाल सप्तवर्षसहस्राणि बोध्य । तद-नन्तर बाधाकालो यावदशेप कर्मक्षीण भवति, यावत्कालादारभ्य मोहनीय कर्म उदयावलिकाप्र-विष्टं सत् यावच्च नि शेप मुपक्षीण भवति--तावान्कालो बोध्य , तच्च मोहनीय कर्म सप्तसु वर्षसह-स्रेषु व्यतीतेषु उदयावलिका प्रविशतीति भाव. ।

इयञ्चापि मोहनीयस्य कर्मण उत्कृष्टा स्थिति सज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य मिथ्यादृष्टे पर्याप्तकस्य जीवस्याऽवगन्तव्या ।

तत्त्वार्थदीपिका--पूर्वसूत्र में ज्ञानावरण दर्शनावरण वेदनीय और अन्तराय कर्म की स्थिति बतलाई गई है, अब मोहनीय कर्म की स्थिति का प्रतिपादन करते हैं--

मोहनीय कर्म की, जिसका स्वरूप पहले कहा जा चुका है, उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोडा कोडी सागरोपम की है। इस कर्म की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की है ॥ १५ ॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति--इससे पहले ज्ञानावरण आदि चार कर्मप्रकृतियों का स्थिति काल विस्तार पूर्वक बतलाया जा चुका है, अब मोहनीय कर्म का स्थिति काल बतलाते है--

मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोडा कोडी सागरोपम की तथा जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की है।

मोहनीय कर्म का अबाधाकाल सात हजार वर्ष का है। अबाधाकाल के समाप्त होने से लेकर सम्पूर्ण कर्म के क्षय होने तक का काल बाधाकाल कहलाता है। अर्थात् जिस समय मोहनीय कर्म उदयावलिका मे प्रविष्ट हुआ, उस समय से लगाकर उसके पूर्ण रूप से क्षीण होने तक का समय बाधाकाल कहा जाता है। फलितार्थ यह है कि सात हजार वर्ष व्यतीत हो जाने पर सत्तर कोडा कोडी सागरोपम की स्थिति वाला मोहनीय कर्म उदयावलिका में प्रविष्ट होता है।

मोहनीय कर्म की यह उत्कृष्ट स्थिति सज्ञी पचेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि पर्याप्त जीव की अपेक्षा से समझना चाहिए। अर्थात् मिथ्यादृष्टि सज्ञी पर्याप्त पंचेन्द्रिय जीव ही सत्तर कोडा कोड़ी सागरोपम की स्थिति का बन्ध कर सकता है।

उक्तञ्चोत्तराध्ययने ३३ अध्ययने २१ गाथायाम्—

"उदहीसरिसनामाण सत्तरिं कोडिकोडीओ ।

मोहणिज्जस्स उक्कोसा अंतोमुहुत्तं जहन्निया ॥१॥ इति ।

छाया—"उदधिसदृशनाम्नां सप्ततिकोटिकोट्यः ।

मोहनीयस्य उत्कृष्टा अन्तर्मुहूर्तं जघन्यिका ॥१॥ इति ॥१५॥

मूलसूत्रम्—"नामगोत्ताणं वीसईकोडिकोडीओ–" ॥१६॥

छाया—"नाम–गोत्रयोर्विंशतिः कोटिकोट्यः–" ॥१६॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे मोहनीयस्य कर्मणः स्थितिकालः प्ररूपितः, सम्प्रति—नामगोत्रयोः कर्म मूलप्रकृत्योः स्थितिकालं प्ररूपयितुमाह—नामगोत्ताणं वीसईकोडाकोडीओ–" इति । नामगोत्रयोः कर्मणो रुत्कृष्टतः स्थितिर्विंशतिः कोटिकोटय प्रज्ञप्ता, जघन्यतोऽष्टमुहूर्तप्रमाणा स्थितिर्बोध्या–॥१६॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं मोहनीयकर्ममूलप्रकृतेः स्थितिः कालावधिः प्रतिपादितः, सम्प्रति नामगोत्रकर्मणोः स्थितिकालं प्रतिपादयितुमाह—"नामगोत्ताणं वीसईकोडिकोडीओ–" इति ।

नामगोत्रयोः—नामकर्ममूलप्रकृतेः—गोत्रकर्ममूलप्रकृतेश्च प्रत्येकं विंशतिसागरोपमकोटिकोट्यः उत्कृष्टतः स्थितिः सम्भवति । तत्र–प्रत्येकं वर्षसहस्रद्वयं नामकर्मणो–गोत्रकर्मणश्चाऽबाधाकालो भवति, तदनन्तरं बाधाकालो भवति द्वयोरपि, तथाच–यदारभ्य नामकर्मगोत्रकर्म च–उदयाव-

---

उत्तराध्ययन सूत्र के ३३ वे अध्ययन में कहा है–

'मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोडा कोडी सागरोपम की है और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है' ॥ १५

सूत्रार्थ—'नामगोत्ताणं बिसई' इत्यादि सूत्र–१६

नाम और गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोडा कोडी सागरोपम की है ॥ १६ ॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्व सूत्र में मोहनीय कर्म का स्थिति काल प्ररूपित किया गया है, अब नाम और गोत्र नामक मूल प्रकृतियों का स्थितिकाल प्रतिपादन करने के लिए कहते हैं–

नाम कर्म और गोत्र कर्म की स्थिति का उत्कृष्ट काल बीस कोडा कोडी सागरोपम है । इनका जघन्य स्थितिकाल आठ मुहूर्त्त समझना चाहिए ॥ १६ ॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति–इससे पूर्ववर्त्ती सूत्र मे मोहनीयकर्म की स्थिति कही गई है, अब नाम और गोत्रकर्म की स्थिति का काल प्रतिपादन करने के लिए कहते है—

नामकर्म और गोत्रकर्म नामक मूलप्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति बीस–बीस कोडा कोडी सागरोपम है इन दोनों का अबाधाकाल दो–दो हजार वर्ष का है । तत्पश्चात् बाधाकाल प्रारंभ हो जाता है । उदयावलिका मे प्रविष्ट होने के समय से आरंभ होकर पूर्णरूप से क्षय हो-

लिकाप्रविष्ट सत् यावदनि·शेषमुपक्षीण भवति तावान् कालो बाधाकालोऽवगन्तव्य ।

एवञ्च—वन्धकालादारभ्य वर्षसहस्रद्वये व्यतीते सति नामकर्म—गोत्रकर्म च उदयावलिकां प्रविशति, नामकर्म गोत्रकर्म च वन्धकालादारभ्य यावन्त काले नानुभूयते तावान्कालोऽबाधाकालस्तयोरुच्यते, इयञ्चापि नामकर्मणो—गोत्रकर्मणश्चोत्कृष्टा विंशतिसागरोपमा स्थिति सज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तकमिथ्यादृष्टे· प्राणिनोऽवसेया ।

तथाचोक्तमुत्तराध्ययने—३३—अध्ययने—२३—गाथायाम्—

"उदहीसरिसनामाणं—वीसइकोडिकोडीओ— ।
नामगोत्ताणं उक्कोसा—अंतोमुहुत्तं जहन्निया— ॥ १ ॥ इति ।

"उदधिसदृशनाम्नां विंशतिः कोटिकोटयः ।
नामगोत्रयोरुत्कृष्टा अन्तर्मुहूर्त्त जघन्यिका ॥ १ ॥ इति ॥ १६ ॥

मूलसूत्रम्—"आउकम्मस्स तेत्तीस सागरोवमा ठिई उक्कोसा— " ॥ १७ ॥

छाया—आयुः कर्मणस्त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमा स्थितिः— " ॥ १७ ॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे नामगोत्रकर्मणो मूलप्रकृत्योरुत्कृष्टा स्थितिः प्ररूपिता, सम्प्रति—पुनरायुष्यकर्मणोर्मूलप्रकृतेरुत्कृष्टां स्थितिं प्ररूपयितुमाह—**"आउकम्मस्स—"** इत्यादि ।

आयु कर्मणो मूलप्रकृतेस्त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाणि पूर्वकोटित्रिभागाऽभ्यधिकानि—उत्कृष्टास्थितिरवगन्त्व्या, जघन्या स्थिति· पुनरन्तर्मुहूर्तप्रमाणा भवतीत्यग्रे वक्ष्यते— ॥ १७ ॥

जाने तक का समय बाधाकाल कहलाता है ।

इस प्रकार बन्धकाल से लेकर दो सहस्र वर्ष का व्यतीत हो जाने पर नामकर्म और गोत्रकर्म उदयावलिका में प्रविष्ट होते है । नामकर्म और गोत्रकर्म वन्ध के समय से लेकर जितने समय तक अनुभव में नहीं आते, उतना समय उनका अबाधाकाल कहलाता है ।

नाम और गोत्रकर्म की बीस कोडाकोडी सागरोपम की जो उत्कृष्ट स्थिति कहीं गई है, उसका बन्ध सञ्ज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त मिथ्यादृष्टि जीव ही कर सकता है । उत्तराध्ययन सूत्र के ३३ वे अध्ययन की गाथा २३ में कहा है—नामकर्म और गोत्रकर्म की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोडाकोडी सागरोपम की है और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की है ॥१६॥

सूत्रार्थ—'आउकम्मस्स तेत्तीस' इत्यादि सूत्र—१७

आयुकर्म की उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरोपम की है ॥१७॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्र में नाम और गोत्र नामक मूल प्रकृतियों की स्थिति का निरूपण किया गया, अब आयु नामक मूलप्रकृति की उत्कृष्ट स्थिति कहते है—

आयु नामक मूलप्रकृति की उत्कृष्ट स्थिति पूर्व कोटि के त्रिभाग से अधिक तेतीस सागरोपम की जानना चाहिए । इसकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की है, यह आगे कहेगे ॥१७॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं नामगोत्रकर्मणो स्थितिकालावधि. प्रतिपादितः सम्प्रति पुनरायुष्यकर्मणो मूलप्रकृतेरुत्कृष्टस्थितिकालावधिं प्रतिपादयितुमाह—**"आउकम्मस्स तेत्तीस सागरोवमा ठिई उक्कोसा—"** इति । आयु.कर्मणो मूलप्रकृतेस्त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाणि पूर्वकोटित्रिभागाऽभ्यधिकानि उत्कृष्टा स्थिति· सम्भवति, जघन्या स्थितिस्तु—अन्तर्मुहूर्तमात्रा भवतीत्यग्रे समाधास्यते, अत्रच—सागरोपमग्रहणेन कोटिकोटिपदस्य निवृत्तिरवगन्तव्या ।

त्रयस्त्रिंशत् पदोपादानादपि कोटिकोटिग्रहणस्य निवृत्तिर्भवति । अत्रच—पूर्वकोटित्रिभागोऽबाधाकालो बोध्य. । तदनन्तरञ्च बाधाकालो भवति तथाच—यत्कालादारभ्याऽऽयुष्यकर्म उदयावलिकाप्रविष्टं सत् यावन्नि.शेषमुपक्षीण भवति तावान्कालो बोध्यः ।

एवञ्च—बन्धकालादारभ्य पूर्वकोटित्रिभागेऽबाधाकाले व्यतीते सति आयु.कर्ममूलप्रकृतिरुदयावलिकां प्रविशति । यावत्कालं तत्कर्म नानुभूयते तावत्कालोऽबाधाकालपदेन व्यपदिश्यते, इयञ्चापि—आयुष्यकर्मणस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमरूपोत्कृष्टा स्थितिः सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तकस्य मिथ्यादृष्टेरवगन्तव्या— । "तथाचोक्तमुत्तराध्ययने—३३—अध्ययने—२२—गाथायाम्—

तेत्तीससागरोवमा—उक्कोसेण विगाहिया— ।
ठिई उ आउ कम्मस्स—अंतोमुहुत्तं जहन्निया— ॥ १ ॥ इति

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—नाम और गोत्रकर्म की स्थिति का काल बतलाया जा चुका है, अब आयुष्य नामक मूलप्रकृति का उत्कृष्ट स्थिति काल प्रतिपादन करने के लिए कहते हैं—

आयुकर्म नामक मूलप्रकृति की उत्कृष्ट स्थिति करोड पूर्व के तीसरे भाग से अधिक तेतीस सागर की उत्कृष्ट स्थिति समझनी चाहिए । जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण है, यह आगे कहा जाएगा । यहाँ 'सागरोपम' का ग्रहण करने से 'कोडाकोडी' पद का निषेध हो जाता है । 'तेत्तीस' पद ग्रहण करने से भी 'कोडाकोडी' की निवृत्ति हो जाती है । तात्पर्य यह है कि आयुकर्म की स्थिति सिर्फ तेतीस सागरोपम की है, तेतीस कोडाकोडी सागरोपम की नहीं है।

यहाँ करोड पूर्व का त्रिभाग अबाधाकाल समझना चाहिए । उसके पश्चात् बाधाकाल का प्रारंभ होता है । जिस काल में आयु कर्म उदयावलिका में प्रविष्ट होता है उससे लेकर पूर्ण रूप से उसके क्षय होने तक का काल बाधाकाल कहलाता है । इस प्रकार आयु बन्ध के पश्चात् करोड पूर्व का तीसरा भाग बीतने पर आयु कर्म का उदय होता है । जितने काल तक उसका अनुभव नहीं होता, उतना काल 'अबाधाकाल' कहलाता है । आयुकर्म की तेतीस सागरोपन की जो उत्कृष्ट स्थिति कही गई है, वह सज्ञी पर्याप्त पंचेन्द्रिय की अपेक्षा से समझना चाहिए ।

उत्तराध्ययन सूत्र के ३३ वें अध्ययन की २२ वीं गाथा में कहा है—'आयु कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरोपम की और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की कही गई है ॥ १७ ॥

"त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि–उत्कृष्टेन व्याख्याता– ।
स्थितिस्तु आयुष्कर्मणः–अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यिका– ॥ १ ॥ इति ॥ १७ ॥

मूलसूत्रम्—"वेयणिज्जस्स बारसमुहुत्ता ठिई जहन्निया–" ॥ १८ ॥

छाया –"वेदनीयस्य द्वादशमुहूर्ता स्थिति जघन्यिका –" ॥१८॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वं ज्ञानावरणाद्यष्टविधकर्ममूलप्रकृतीना सामान्येन स्थिति उत्कृष्टा प्रतिपादिता, सम्प्रति-जघन्या स्थितिं प्ररूपयितु पूर्वोक्तसूत्रक्रमानुसारेण वेदनीयस्य कर्मणो जघन्या स्थितिमाह—"संपराइय सायावेयणिज्जस्स–" इत्यादि । साम्परायिकसातावेदनीयस्य कर्मणो-द्वादशमुहूर्ता जघन्यिका-जघन्या स्थितिर्भवति. उत्कृष्टा स्थितिस्तु–पञ्चदशसागरोपमकोटिकोटय प्रज्ञप्ता ॥१८॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं तावदष्टविधकर्ममूलप्रकृतीनामुत्कृष्ट' स्थितिकाल प्ररूपित सम्प्रति सूत्रक्रमानुश्रयणेन वेदनीयस्य कर्मणो जघन्यस्थितिकाल प्ररूपयति–"वेयणिज्जस्स बारस मुहुत्ता ठिई जहन्निया–" इति ।

वेदनीयस्य मूलप्रकृतिरूपस्य कर्मणो द्वादशमुहूर्ता स्थिति , जघन्यिका–जघन्या भवति । तत्रा-ऽबाधाकालोऽन्तर्मुहूर्तम्, तस्योत्कृष्टा स्थितिस्तु–पञ्चदशसागरोपमकोटिकोटय प्रज्ञप्ता । तत्राऽबा-धाकालस्तु–पञ्चदश शतवर्षाणि, असातावेदनीयस्य तावद् वेदनीयकर्मोत्तरप्रकृतिविशेषरूपस्यो-त्कृष्टा स्थिति त्रिंशत्सागरोपमकोटिकोटय

तस्य जघन्या पुन स्थिति सागरोपमस्य सप्तभागात्रय' पल्योपमा सख्येयभागोना प्रज्ञप्ता अत्राऽबाधाकालउत्कृष्टायां स्थितौ सहस्रत्रयवर्षाणि, जघन्यायां पुनरन्तर्मुहूर्तमात्रम्-अवाधाकालो बोध्य. ॥१८॥

मूलसूत्रम्—"नामगोत्ताणं अट्ठमुहुत्ता ठिई जहन्निया–" ॥१९॥

सूत्रार्थ—'वेयणिजस्स' इत्यादि सूत्र ॥ १८ ॥

वेदनीय की जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त्त की है ॥ १८ ॥

तत्त्वार्थदीपिका–इससे पहले ज्ञानावरणीय आदि आठो मूल प्रकृतियो का सामान्य रूप से उत्कृष्ट और जघन्य स्थितिबध कहा गया है, अब वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति कहते है—

वेदनीय रूप (साम्परायिक सातावेदनीय) मूल प्रकृति की जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त्त की है । उत्कृष्ट स्थिति पन्द्रह कोडा कोडो सागरोपम की कही गई है ॥ १८ ॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पहले मूल कर्मप्रकृतियो का सामान्य रूपसे स्थितिकाल कहा गया है, अब वेदनीय की स्थिति का प्ररूपण किया जाता है—

वेदनीय कर्म (साम्परायिक साता वेदनीय) की जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त्त की है। इसका अबाधाकाल अन्तर्मुहूर्त्त का है ॥ १८ ॥

छाया—नामगोत्रयोरष्टमुहूर्ता स्थितिर्जघन्यिका— ॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे वेदनीयस्य कर्मण सातावेदनीयरूपोत्तरप्रकृते· स्थितिः प्ररूपिता, सम्प्रति—नामगोत्रयो. स्थितिं प्रतिपादयितुमाह—**नामगोत्ताणं अट्ठ मुहुत्ता ठिई जहन्निया**—इति। नामगोत्रयो रष्टमुहूर्ता स्थितिर्जघन्या प्रज्ञप्ता, अबाधाकालोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाण· ॥१९॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं वेदनीयस्य कर्मण. स्थिति· प्ररूपिता, सम्प्रति—नामगोत्रयो स्थितिं प्रतिपादयितुमाह— **नामगोत्ताणं अट्ठमुहुत्ता ठिई जहन्निया**"—इति। नामगोत्रकर्मणोरष्ट मुहूर्त्ता स्थिति जघन्यिका जघन्येन सम्भवति।

उक्तञ्च भगवतीसूत्रे ६ शतके ३ उद्देशके **'नामगोयाणं—जहण्णेणं अट्ठमुहुत्ता—"** इति। नामगोत्रयोर्जघन्येनाऽष्टौ मुहूर्त्तानि, इति ॥१९॥

मूलसूत्रम्—'सेसाणं अंतो मुहुत्तं जहन्निया" ॥२०॥

छाया—*शेषाणाम् अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यिका*

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रद्वये वेदनीयनामगोत्रेति त्रयाणा मूलप्रकृतीनां स्थिति· प्ररूपिता, सम्प्रति—तदन्येषां पञ्चानां ज्ञानावरणादीना मूलप्रकृतीना स्थितिं प्ररूपयितुमाह—**"सेसाणं अंतोमुहुत्ता जहन्निया—"** इति। शेषाणाम्—पूर्वसूत्रद्वयोक्तेभ्यो वेदनीयनामगोत्रेभ्योऽतिरिक्तानां

सूत्रार्थ—**'नामगोत्ताणं अट्ठ मुहुत्ता ठिई' इत्यादि। सूत्र—१९ ॥**

नाम कर्म और गोत्र कर्म की जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त्त की होती है ॥ १९ ॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्व सूत्र में वेदनीय कर्म की स्थिति कही गई है, अब नाम और गोत्र कर्म की स्थिति का प्रतिपादन करने के लिए कहते है—नाम और गोत्र कर्म की जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त्त की है। इसका अबाधाकाल अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण है ॥१९॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति - पहले वेदनीय कर्म की स्थिति की प्ररूपणा की गई, अब नाम और गोत्र रूप मूल प्रकृतियों का प्रतिपादन करते है—

नाम और गोत्र कर्म की जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त्त प्रमाण है।

भगवती सूत्र शतक ६, उद्देशक ३ में कहा है—नाम और गोत्र कर्म की जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त्त की है ॥१९॥

सूत्रार्थ - **'सेसाणं अंतो मुहुत्ता' इत्यादि। सूत्र ॥ २० ॥**

शेष प्रकृतियों की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की है ॥ २० ॥

तत्त्वार्थदीपिका - इससे पहले के दो सूत्रो मे वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म, रूप मूल प्रकृतियों की स्थिति बतलाई गई है, अब शेष पाँच ज्ञानावरण आदि रूप मूल प्रकृतियों की स्थिति कहते हैं—

शेष अर्थात् पूर्वोक्त वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म से अतिरिक्त ज्ञानावरण, दर्शना-

ज्ञानावरण–दर्शनावरण–मोहनीया–ऽऽयुष्का–ऽन्तरायाणां पञ्चकर्मणां प्रकृतीनां स्थितिस्तावद् जघन्या–अन्तर्मुहूर्त्ता भवति ॥२०॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः–पूर्वं तावद् वेदनीयनामगोत्रकर्मणां मूलप्रकृतीनां स्थितिः प्रतिपादिता, सम्प्रति–तदन्येषां ज्ञानावरणादिकर्मणां मूलप्रकृतीनां स्थितिं प्रतिपादयितुमाह–"**सेसाणं अंतो मुहुत्तं जहन्निया**–" इति । शेषाणाम्–वेदनीयनामगोत्राऽतिरिक्तानां ज्ञानावरण–दर्शनावरणमोहनीया–ऽऽयुष्या–ऽन्तरायाणां कर्मणां मूलप्रकृतीनां स्थितिः खलु जघन्या–ऽन्तर्मुहूर्तं भवति । आवाधाकालोऽप्यन्तर्मुहूर्त्तमेवेति ।

उक्तञ्चोत्तराध्ययने ३३ अध्ययने १९–२२ गाथायाम्–"अंतो मुहुत्तं जहन्निया–" इति । अन्तर्मुहूर्तं जघन्यिका, इति ॥२०॥

मूलसूत्रम्–"**कम्माणं विवागो अणुभावो**–" ॥२१॥

छाया–**कर्मणां विपाकोऽनुभावः**

तत्त्वार्थदीपिका–पूर्वं ज्ञानादिकर्मणां मूलोत्तरप्रकृतिबन्धनिरूपणपूर्वकं स्थितिबन्धः प्ररूपितः, सम्प्रति–तावदनुभावबन्धं प्ररूपयितुमाह–"**कम्माणं विवागो अणुभावो**–" इति ।

कर्मणां ज्ञानावरण–दर्शनावरणादीनां मूलप्रकृतीनां–मतिज्ञानावरणादीनामुत्तरप्रकृतीनाञ्च सर्वेषां कर्मणां विपाकः फलम्–अनुभाव उच्यते, कर्म्मबन्धस्य फलं विपाकोऽनुभाव इत्यर्थः ॥२१॥

वरण, मोहनीय, आयुष्क और अन्तराय कर्म रूप मूल प्रकृतियों की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण है ॥ २० ॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति–पहले वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म रूप मूल प्रकृतियों की स्थिति प्रतिपादन की गई है, अब शेष ज्ञानावरण आदि कर्म रूप मूल प्रकृतियों की स्थिति का प्रतिपादन करने के लिए कहते है–

शेष अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण मोहनीय, आयुष्य और अन्तराय कर्मों की–मूल प्रकृतियों की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त मात्र है । अवाधाकाल भी अन्तर्मुहूर्त्त का होता है ।

उत्तराध्ययन सूत्र के ३३ वें अध्ययन की गाथा १९–२२ मे कहा है–जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की है ॥ ॥ २० ॥

सूत्रार्थ–'**कम्माणं विवागो अणुभावो**' ॥ २१ ॥

कर्मों का विपाक–फल–अनुभाव कहलाता है ॥ २१ ॥

तत्त्वार्थदीपिका–पहले ज्ञानावरण आदि कर्म रूप मूल प्रकृतियों का तथा उनके स्थितिबन्धकाल का निरूपण किया गया, अब अनुभावबन्ध का निरूपण करते है–

ज्ञानावरण दर्शनावरण आदि मूल प्रकृतियों का तथा मतिज्ञानावरण आदि उत्तर-प्रकृतियों का जो विपाक अर्थात् फल है, वह अनुभाव कहलाता है ॥ २१ ॥

छाया—नामगोत्रयोरष्टमुहूर्ता स्थितिर्जघन्यिका— ॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे वेदनीयस्य कर्मण सातावेदनीयरूपोत्तरप्रकृते॰ स्थिति॰ प्ररूपिता, सम्प्रति—नामगोत्रयो॰ स्थिति प्रतिपादयितुमाह—नामगोत्ताणं अट्ठ मुहुत्ता ठिई जहन्निया—इति । नामगोत्रयो रष्टमुहूर्ता स्थितिर्जघन्या प्रज्ञता, अबाधाकालोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाण ॥१९॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्व वेदनीयस्य कर्मण स्थिति प्ररूपिता, सम्प्रति—नामगोत्रयो स्थितिं प्रतिपादयितुमाह— नामगोत्ताणं अट्ठमुहुत्ता ठिई जहन्निया"—इति । नामगोत्रकर्मणोरष्ट मुहूर्त्ता स्थिति जघन्यिका जघन्येन सम्भवति ।

उक्तञ्च भगवतीसूत्रे ६ शतके ३ उद्देशके 'नामगोयाणं—जहण्णेणं अट्ठमुहुत्ता—" इति । नामगोत्रयोर्जघन्येनाऽष्टौ मुहूर्त्तानि, इति ॥१९॥

मूलसूत्रम्—'सेसाणं अंतो मुहुत्तं जहन्निया" ॥२०॥

छाया—शेषाणाम् अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यिका

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रद्वये वेदनीयनामगोत्रेति त्रयाणा मूलप्रकृतीनां स्थिति प्ररूपिता, सम्प्रति—तदन्येषां पञ्चानां ज्ञानावरणादीना मूलप्रकृतीना स्थितिं प्ररूपयितुमाह—"सेसाणं अंतोमुहुत्ता जहन्निया—" इति । शेषाणाम्—पूर्वसूत्रद्वयोक्तेभ्यो वेदनीयनामगोत्रेभ्योऽतिरिक्तानां

सूत्रार्थ—'नामगोत्ताणं अट्ठ मुहुत्ता ठिई' इत्यादि । सूत्र–१९ ॥

नाम कर्म और गोत्र कर्म की जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त्त की होती है ॥ १९ ॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्व सूत्र में वेदनीय कर्म की स्थिति कही गई है, अब नाम और गोत्र कर्म की स्थिति का प्रतिपादन करने के लिए कहते है—नाम और गोत्र कर्म की जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त्त की है । इसका अबाधाकाल अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण है ॥१९॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति पहले वेदनीय कर्म की स्थिति की प्ररूपणा की गई, अब नाम और गोत्र रूप मूल प्रकृतियो का प्रतिपादन करते है—

नाम और गोत्र कर्म की जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त्त प्रमाण है ।

भगवती सूत्र शतक ६, उद्देशक ३ में कहा है—नाम और गोत्र कर्म की जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त्त की है ॥१९॥

सूत्रार्थ - 'सेसाणं अंतो मुहुत्ता' इत्यादि । सूत्र ॥ २० ॥

शेष प्रकृतियो की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की है ॥ २० ॥

तत्त्वार्थदीपिका - इससे पहले के दो सूत्रों मे वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म, रूप मूल प्रकृतियो की स्थिति बतलाई गई है, अब शेष पाँच ज्ञानावरण आदि रूप मूल प्रकृतियों की स्थिति कहते है—

शेष अर्थात् पूर्वोक्त वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म से अतिरिक्त ज्ञानावरण, दर्शना-

ज्ञानावरण–दर्शनावरण–मोहनीया–ऽऽयुष्का–ऽन्तरायाणा पञ्चकर्मणा प्रकृतीना स्थितिस्तावद् जघन्या–अन्तर्मुहूर्त्ता भवति ॥२०॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः–पूर्वं तावद् वेदनीयनामगोत्रकर्मणा मूलप्रकृतिना स्थिति प्रतिपादिता, सम्प्रति–तदन्येषां ज्ञानावरणादिकर्मणां मूलप्रकृतीना स्थितिं प्रतिपादयितुमाह—"**सेसाणं अंतो मुहुत्तं जहन्निया–**" इति । शेषाणाम्–वेदनीयनामगोत्राऽतिरिक्ताना ज्ञानावरण–दर्शनावरणमोहनीया–ऽऽयुष्या–ऽन्तरायाणा कर्मणा मूलप्रकृतिना स्थिति खलु जघन्या–ऽन्तर्मुहूर्तं भवति । आबाधाकालोऽप्यन्तर्मुहूर्त्तमेवेति ।

उक्तञ्चोत्तराध्ययने ३३ अध्ययने १९–२२ गाथायाम्—"अंतो मुहुत्तं जहन्निया–" इति । अन्तर्मुहूर्तं जघन्यिका, इति ॥२०॥

मूलसूत्रम्—"कम्माणं विवागो अणुभावो–" ॥२१॥

छाया - कर्मणां विपाकोऽनुभावः

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वं ज्ञानादिकर्मणा मूलोत्तरप्रकृतिबन्धनिरूपणपूर्वकं स्थितिबन्ध प्ररूपित, सम्प्रति–तावदनुभावबन्ध प्ररूपयितुमाह—"**कम्माणं विवागो अणुभावो–**" इति ।

कर्मणां ज्ञानावरण–दर्शनावरणादीना मूलप्रकृतीना–मतिज्ञानावरणादीनामुत्तरप्रकृतीनाञ्च सर्वेषां कर्मणा विपाक' फलम्–अनुभाव उच्यते, कर्मबन्धस्य फलं विपाकोऽनुभाव इत्यर्थ ॥२१॥

वरण, मोहनीय, आयुष्क और अन्तराय कर्म रूप मूल प्रकृतियो की जघन्य स्थिति अन्त-र्मुहूर्त्त प्रमाण है ॥ २० ॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पहले वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म रूप मूल प्रकृतियो की स्थिति प्रतिपादन की गई है, अब शेष ज्ञानावरण आदि कर्म रूप मूल प्रकृतियो की स्थिति का प्रतिपादन करने के लिए कहते है—

शेष अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण मोहनीय, आयुष्य और अन्तराय कर्मों की–मूल प्रकृतियो की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त मात्र है । अबाधाकाल भी अन्तर्मुहूर्त्त का होता है ।

उत्तराध्ययन सूत्र के ३३ वें अध्ययन की गाथा १९–२२ मे कहा है—जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की है ॥ ॥ २० ॥

सूत्रार्थ—'कम्माणं विवागो अणुभावो' ॥ २१ ॥

कर्मों का विपाक–फल–अनुभाव कहलाता है ॥ २१ ॥

तत्त्वार्थदीपिका—पहले ज्ञानावरण आदि कर्म रूप मूल प्रकृतियों का तथा उनके स्थितिबन्धकाल का निरूपण किया गया, अब अनुभावबन्ध का निरूपण करते है—

ज्ञानावरण दर्शनावरण आदि मूल प्रकृतियों का तथा मतिज्ञानावरण आदि उत्तर-प्रकृतियों का जो विपाक अर्थात् फल है, वह अनुभाव कहलाता है ॥ २१ ॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः— पूर्वसूत्रपञ्चकेन ज्ञानावरणादिकर्मणामुत्कृष्टा जघन्या च स्थिति प्ररूपिता, सम्प्रति–क्रमप्राप्तमनुभावबन्ध विशेषलक्षणपूर्वकं प्ररूपयितुमाह— **"कम्माणं विवागो अणुभावो–"** इति । कर्मणा–ज्ञानावरणादिमूलप्रकृतीना मतिज्ञानावरणादीनामुत्तरप्रकृतीनाञ्च सर्वेषां कर्मणां विपाक'–विपचन फलम् उदयावलिकाप्रवेशोऽनुभाव उच्यते ।

ज्ञानावरणादिकर्मणां विशिष्टो–नानाविधो वा पाको विपाक , वक्ष्यमाणकषाय-तीव्र–मन्दादिभावविशेषाद् विशिष्ट' पाको विपाक , । यद्वा–द्रव्यक्षेत्रकालभावभवलक्षणनिमित्तभेदजनितनानाविध. पाको विपाक'–अनुभवरूपोऽनुभाव' । तत्र–प्रशस्ताप्रशस्तपरिणामाना तीव्र–मन्दादिविपाक पूर्वोक्तज्ञानावरणादिकर्मजनितसुख–दु'खफलविशेषाऽनुभवनमनुभाव ।

तत्र–शुभपरिणामानां प्रकर्षभावाच्छुभप्रकृतीना कर्मणां प्रकृष्टोऽनुभव अशुभप्रकृतीना निकृष्ट । अशुभपरिणामानां प्रकर्षभावादशुभप्रकृतीना प्रकृष्टोऽनुभव', शुभप्रकृतीनां निकृष्टोऽनुभवो भवतीतिभाव । यद्वा–येन करणभूतेन बन्धनमनुभूयते–आत्मनाऽसावनुभाव , अनुगतोवा भावोऽनुभाव', सर्वासामेव कर्ममूलोत्तरप्रकृतीनां फल विपाकोदयावलिकाप्रवेशरूपाऽनुभावाज्जीवस्याऽनुसमयमिच्छा–ऽनिच्छापूर्वक कर्मानुभवन भवति ।

तत्र–ज्ञानावरणकर्मण फलं ज्ञानाभावः, दर्शनावरणस्य कर्मण' फल तावद् दर्शनशक्त्य-

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पिछले पाँच सूत्रो में ज्ञानावरण आदि कर्मो की उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति की प्ररूपणा की गई है, अनुक्रम से प्राप्त अनुभावबन्ध का विशिष्ट लक्षण बतलाते हुए प्ररूपण करते है–ज्ञानावरण आदि मूल प्रकृतियो का तथा मतिज्ञानावरण आदि उत्तरप्रकृतियों का–सभी कर्मों का विपाक–फल या उदयावलिका में प्रवेश अनुभाव कहलाता है ।

ज्ञानावरण आदि कर्मों का विशिष्ट या विविध प्रकार का पाक विपाक कहलाता है । अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव रूप निमित्तकारणो के भेद से उत्पन्न नाना प्रकार का पाक विपाक–अनुभवरूप अनुभाव कहलाता है । प्रशस्त और अप्रशस्त परिणामो का तीव्र मन्द आदि विपाक, जो पूर्वोक्त ज्ञानावरण आदि कर्मों के द्वारा जनित सुख-दु ख आदि फल रूप होता है, उसका अनुभव करना अनुभाव है ।

शुभ परिणामों का प्रकर्ष होने से शुभ कर्म प्रकृतियों मे उत्कृष्ट अनुभाव उत्पन्न होता है । और अशुभ कर्म प्रकृतियो में निकृष्ट–कम अनुभाव उत्पन्न होता है । जब अशुभ परिणामो में प्रकर्ष होता है तो अशुभ कर्मप्रकृतियो तीव्र अनुभाव और शुभ प्रकृतियो में मन्द अनुभाव उत्पन्न होता है ।

अथवा जिसके कारण आत्मा बन्ध का अनुभव करता है उसे अनुभाव कहते है । या अनुगत भाव अनुभाव कहलाता है । जब पूर्वबद्ध कर्म उदयावलिका मे प्रविष्ट होता है, तो जीव को इच्छा से या अनिच्छा से अनुसमय–प्रतिसमय–उसे भोगना ही पडता है ।

ज्ञानावरण कर्म का फल ज्ञान का अभाव होता है । दर्शनावरण का फल दर्शनशक्ति

वरोधो भवति, एवं रीत्या सर्वकर्मणा स्व–स्वकार्यसुखदु खरूपाऽनुभूतिर्भवति । स च कर्मविपाक तथा तथाच भवति, तत्तद् अन्यथा भवति, तत्र–येनाऽध्यवसायप्रकारेण यादृग्भावबद्ध कर्म, तत्तथा, तेनैव प्रकारेण विपच्यते–तत्तत्कर्ममनुभूयते । अन्यथा च प्रकारान्तरेणापिच विपच्यते तत्तत्कर्मफलमऽनुभूयते । स च विपाको–ऽनुभाव स्तीव्र–मन्द–मध्यावस्थाभेदो भवति । तत्र–कदाचिच्छुभमपि कर्माऽशुभविपाकतयाऽनुभूयते, अशुभञ्च–शुभविपाकतयाऽनुभूयते, इत्येव द्वैविध्य कर्मफलविपाकेऽवगन्तव्यम् । तथाचोक्तम्–

"तासामेव विपाकनिबन्धो-यो नाम निर्वचनभिन्नः ।
"स–रसोऽनुभाव सञ्ज्ञ-स्तीव्रो–मन्दोऽथ मध्योवा ॥१॥ इति

तत्र खलु ज्ञानाद्यावरणाद्यष्टप्रकारकेषु मूलप्रकृतिकर्मसु किञ्चित्कर्म पुद्गलेस्वेव विपच्यते–ऽनुभूयते, विविधप्रकारेण पुद्गलान् तत्कर्म परिणतिमापादयति । किञ्चित्पुन कर्मभावविपाकिभवति, भवान्तर प्राप्ते जन्मवतो जीवस्य शरीरधारिण एव विपच्यते तेनाऽनुभूयते । किञ्चित्खलु कर्म क्षेत्रविपाकिभवति, क्षेत्रान्तरे विपच्यते–नरकादिक्षेत्रादावनुभूयते । किञ्चित्कर्म पुनर्जीव विपाकिभवति–तस्मिन्नेव जन्मनि जीवे विपच्यते ।

उक्तञ्च–"संहननं संस्थानं वर्णस्पर्शरसगन्ध नामानि ।
अङ्गोपाङ्गानि तथा शरीरनामानि सर्वाणि ॥१॥

का रुकना है। इस प्रकार सभी कर्मो के द्वारा उत्पन्न होने वाले सुख-दुःख रूप अनुभूति होती है। वह कर्मविपाक अमुक-अमुक प्रकार का होता है। जिस प्रकार के अध्यवसाय से जो कर्म जिस रूप में बाँधा है, वह उसी रूप में फल प्रदान करता है। वही कर्मफल जीव को भोगना पडता है। कभी-कभी अन्य प्रकार से भी भोगा जाता है।

कर्म का विपाक कोई तीव्र, कोई मन्द और कोई मध्यम होता है। कभी-कभी शुभ रूप में बाँधे हुए कर्म का फल अशुभ रूप मे भोगा जाता है और अशुभ रूप मे बाँधे कर्म का फल शुभ रूप मे भोगा जाता है। इस प्रकार कर्म फल विपाक मे द्विरूपता समझना चाहिए। कहा भी है–

ज्ञानावरण आदि आठ कर्म प्रकृतियो में से कोई कर्म पुद्गलविपाकी होता है। उसका फल पुद्गलो में ही होता है अर्थात् वह कर्म पुद्गलो में ही विविध प्रकार का परिणमन उत्पन्न करता है। कोई कर्मप्रकृति भवविपाकी होती है। उस का फल भवान्तर की प्राप्ति होने पर शरीरधारी जीव ही भोगता है। कोई-कोई कर्मप्रकृति क्षेत्रविपाकी होती है, उस का फल क्षेत्र की प्रधानता से भोगा जाता है। कोई कर्म जीवविपाकी होता है। उस का फल आत्मा को ही भोगना पडता है अर्थात् आत्मा के गुणो को वह प्रभावित करता है। कहा है—

सहनन, सस्थान, वर्ण, स्पर्श, रस, गंधनामकर्म, अगोपागनामकर्म, सब शरीरनामकर्म, अगुरु लघु, पराघात उपघात आतप उद्योत प्रत्येक शरीर स्थिर शुभ नामकर्म तथा इनके विप-

"अगुरुलघु पराघातो-पघातनामातपोद्द्योतनामानि ।
प्रत्येकशरीर स्थिरशुभनामानीतरैः सार्धम् ॥२॥
"प्रकृतय एताः पुद्गलपाकाः भवपाकमुक्तमायुष्यम् ।
क्षेत्रफलमानुपूर्वी जीवविपाकाः प्रकृतयोऽन्याः ॥३॥ इति

अथ कथ तावदन्यथा कर्मबन्ध स्तदन्यथाप्रकारेण विपच्यते ? इतिचेत् अत्रोच्यते—उक्तप्रत्ययवशादुपात्तो विपाकलक्षणोऽनुभावो द्विधा प्रवर्त्तते स्वमुखेन—परमुखेन च, तत्र—सर्वासां ज्ञानावरणादि मूलप्रकृतीनां स्वमुखेनैवाऽनुभवो भवति, नतु—परमुखेन ।

नहि ज्ञानावरणं कर्म दर्शनावरणतया विपच्यते किन्तु—उत्तरप्रकृतीना कासाञ्चित् तुल्यजातीयानां परमुखेनापि विपाको भवति, यथा- मतिज्ञानावरणस्य श्रुतज्ञानावरणतयाऽपि विपाकोऽनुभव एवं—श्रुतज्ञानावरणस्यापि मतिज्ञानावरणतयाऽनुभवो भवति, एव रीत्या पञ्चानामपि ज्ञानावरणोत्तरप्रकृतीना परस्परं परमुखतया रूपान्तरेण विपाकोऽवसेय ।

'परन्तूत्तरप्रकृतीना मध्येऽपि आयुष्क—दर्शनचारित्रमोहाना तुल्यजातीयानामपि परस्पर सक्रमो न भवति, नहि—नरकायुष्यमुखेन तिर्यगायुष्य मनुष्यायुष्य वा विपच्यतेऽनुभूयते, नो वा—दर्शनमोहश्चारित्रमोहमुखेन विपच्यते, नापि—चारित्रमोहो दर्शनमोहतया विपच्यते इतिभाव' । तथाच—

रीत अर्थात् साधारण शरीर अस्थिर और अशुभनाम कर्म, यह सब कर्म प्रकृतियाँ पुद्गलविपाकिनी है । आयु कर्म की चारों प्रकृतियाँ भवविपाकी है । आनुपूर्वी कर्म क्षेत्र विपाकी है और शेष सब प्रकृतियाँ जीवविपाकी है ।

प्रश्न-अन्य प्रकार से बाँधा हुआ कर्म अन्य प्रकार से कैसे भोगा जाता है ?

उत्तर--उक्त कारणो से उत्पन्न हुआ विपाक रूप अनुभाव दो प्रकार से प्रवृत्त होता है--स्वमुख से और परमुख से ज्ञानावरण आदि सभी मूल प्रकृतियो का अनुभाव स्वमुख से ही होता है, परमुख से नहीं । ज्ञानावरण कर्म, दर्शनावरण के रूप में फल नहीं देता, इसी प्रकार किसी भी मूल प्रकृति का दूसरी मूल प्रकृति के रूप मे सक्रमण नहीं होता। किन्तु एक ही कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ समानजातीय अन्य प्रकृतियो के रूप में परिणत हो जाती है । इस प्रकार उनका विपाक परमुख से भी होता है, जैसे मति ज्ञानावरण का श्रुतज्ञानावरण के रूप में विपाक हो जाता है और श्रुतज्ञानावरण का मतिज्ञानावरण के रूप में सक्रमण हो सकता है । इस प्रकार ज्ञानावरण कर्म की पाँचों प्रकृतियाँ परमुख से अर्थात् रूपान्तर से भी फलप्रदान करती है।

परन्तु उत्तर प्रकृतियो के सक्रमण मे भी कुछ अपवाद है । चार प्रकार की आयुकर्म की प्रकृतियों का परस्पर मे सक्रमण नहीं होता, अर्थात् कोई भी एक आयु दूसरी आयु के रूप मे नहीं बदल सकता । इसी प्रकार दर्शनमोहनीय और चारित्र मोहनीय है तो एक मोहनीय कर्म की ही उत्तर प्रकृतियाँ, मगर उनका भी परस्पर सक्रमण नहीं होता।

एवञ्च—जीव कर्मफलविपाकमनुभवन् कर्मप्रत्ययमेवाऽनाभोगवीर्यपूर्वक कर्म सक्रमयंत । तथाच —आत्मा—उत्पादव्ययध्रौव्यपरिणतिशालो ज्ञानावरणादिकस्य कर्मणो विपाकमनुभवन् कर्महेतुकमेव तदन्यनिमित्तवर्जितमनाभोगवीर्यपूर्वक कर्मसक्रम विधत्ते । निर्निमित्तस्तावदनाभोगो ज्ञानाद्यावरणोदय उच्यते । आभुञ्जानस्य कर्मफलविपाकमध्यवस्यत आत्मनश्चेष्टाविशेष आभोगवीर्यम् । अनाभुञ्जानस्य तत्फलविपाकमनध्यवस्यत आत्मन सामर्थ्ये विशिष्ट-क्रियापरिणामोऽनाभोगवीर्यम् एवविधाऽनाभोगवीर्यपूर्वक कर्म सक्रम विधत्ते एवञ्च—कासाञ्चित् उत्तरप्रकृतीना स्वस्वजातीयस्वेवोत्तरप्रकृतिषु सक्रमो भवति, न सर्वासामुत्तरप्रकृतीनाम् । तत्रा प—सजातीयास्वेवोत्तरप्रकृतीपु सक्रमो न तु विजातीयासु । यथा—पञ्चप्रकारक मतिज्ञानावरणादिकं ज्ञानावरण श्रुतज्ञानावरणादिपु चतुर्षु सक्रमते, नतु—चक्षुर्दर्शनावरणादिपु दर्शनावरणोत्तरप्रकृतिविशेषासु ।

नापि—ज्ञानावरणदर्शनावरणादिपु मूलप्रकृतिपु सक्रामति, नापि—दर्शनावरण ज्ञानावरणादि-स्वभिन्न जातीयमूलप्रकृतिषु वा सङ्क्रम विदधातीतिभाव । वन्धविपाक निमित्तानां विभिन्नजातीयत्वात् ।

उदाहरणार्थ नरकायु तिर्यंचायु के रूप मे नहीं पलट सकती, और दर्शनमोहनीय चारित्र मोहनीय के रूप में अपना फल नहीं देती तथा चारित्र मोहनीय का दर्शन मोहनीय के रूप में परिपाक नहीं हो सकता ।

इस प्रकार कर्म विपाकफल का अनुभव करता हुआ जीव कर्म के कारण ही अनाभोग वीर्य पूर्वक कर्म का सक्रमण करता है ।

इस प्रकार उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य परिणति वाला आत्मा ज्ञानावरण आदि कर्मों के विपाक का अनुभव करता हुआ कर्म के कारण, अन्य निमित्तो के विना ही अनाभोग वीर्य-पूर्वक कर्म का सक्रमण करता है । निमित्तहीन अनाभोग ज्ञानावरण आदि का उदय कहलाता है । आभोग करने वाले अर्थात् कर्मफल विपाक को भुगतने वाले आत्मा की विशेष चेष्टा आभोगवीर्य कहलाती है । तात्पर्य यह है कि समझबूझ कर जो प्रयत्न किया जाता है, उसे आभोगवीर्य कहते है । और बिना सोचे-समझे, अनजान मे जो चेष्टा होती है, वह अनाभोग वीर्य कहलाती है ।

जीव अनाभोग वीर्यपूर्वक ही कर्म सक्रमण करता है । इस प्रकार किन्ही उत्तर प्रकृतियों का अपनी सजातीय उत्तरप्रकृतियो मे सक्रम होता है, सब का नहीं । वह सक्रमण सजातीय उत्तर प्रकृतियों मे ही होता है, विजातीय प्रकृतियो मे नहीं । जैसे ज्ञानावरण कर्म की मतिज्ञानावरण कर्म आदि पाँच प्रकृतियो का श्रुतज्ञानावरण आदि चार प्रकृतियो के रूप में सक्रमण हो सकता है, दर्शनावरण की विशिष्ट प्रकृति चक्षुदर्शनावरण आदि में नहीं ।

तथाहि—ज्ञानावरणस्य बन्धनिमित्तं तावत् प्रकृष्टदोषनिह्नवादिकम् असातावेदनीयादेर्बन्ध निमित्त दु.खशोकादिकम्, ज्ञानावरणदर्शनावरणयोर्बन्धनिमित्तस्याऽभिन्नत्वेऽपि सदाशयविशेषात् परिणामभिन्नत्वमवसेयम्, ज्ञानावरणस्य विशेषग्राहित्वात्, दर्शनावरणस्य तु—सामान्यग्राहित्वात् सामान्योपयोगस्यैवाऽऽच्छादकत्वं भवति । एवञ्च—बन्धनिमित्तत्वाद्—विपाकनिमित्तभेदाच्च भेदवतीषु ज्ञानावरण—दर्शनावरण—वेदनीय मोहनीया—ऽऽयुष्य—नाम—गोत्रा—ऽन्तरायरूपासु मूलप्रकृतिषु परस्पर सक्रमो न भवतीतिभाव ।

किन्तु—उत्तरप्रकृतिष्वेव परस्परं सक्रमो भवति, किन्तु तत्रापि कासाञ्चिदेवोत्तरप्रकृतिनां कासुचित्प्रकृतिषु सङ्क्रमो भवति, नतु—सर्वासा सर्वासु सङ्क्रमो भवति तथ हि—

दर्शनमोहस्तावत्—चत्वारोऽनन्तानुबन्धिन क्रोधादयो मिथ्यात्व—सम्यग्मिथ्यात्व—सम्यक्त्वञ्चेति । चारित्रमोहस्तु अप्रत्याख्यानकषाय—प्रत्याख्यानकषायादिर्वर्तते । तत्र—दर्शनमोहो न चारित्रमोहे सङ्क्रम करोति, नो वा—चारित्रमोहो दर्शनमोहे सङ्क्रम विधत्ते, एव—सम्यक्त्व सम्यग्मिथ्यात्वेन सक्रामति—किन्तु—सम्यग्मिथ्यात्वस्याऽसत्यपिबन्धे सम्यक्त्वे सक्रमो भवति । एव—सम्य-

---

ज्ञानावरण भी दर्शनावरण आदि दूसरी मूल प्रकृतियो में सक्रान्त नहीं होता । इसी प्रकार दर्शनावरण का किसी दूसरी मूल कर्म प्रकृति के रूप में सक्रमण नहीं होता क्योंकि उनके बन्ध के कारण भिन्न जाति के होते है ।

बन्ध के कारण इस प्रकार है—ज्ञानावरण के बध के कारण निह्नव आदि है, असातावेदनीय के बन्ध के कारण दु:ख शोक आदि है । यद्यपि ज्ञानावरण और दर्शनावरण के बन्ध के कारण समान है, फिर भी आशय में भिन्नता होने के कारण उनके परिणाम में भिन्नता हो जाती है । ज्ञानावरण कर्म विशेष ग्राही बोध का निरोध करता है और दर्शनावरण सामान्य उपयोग (दर्शन) को आच्छादित करता है इस प्रकार भिन्न भिन्न बध के कारण होने से तथा भिन्न भिन्न फल वालीं होने से ज्ञानावरण, दर्शनावरण वेदनीय मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय प्रकृतियो का परस्पर सक्रमण नहीं होता ।

सक्रमण उत्तर प्रकृतियो में ही होता है, किन्तु उनमें भी किन्हीं—किन्हीं ही उत्तरप्रकृतियो का किन्हीं—किन्हीं उत्तर प्रकृतियों में ही सक्रमण होता है, सभी का सभी में सक्रमण नहीं होता । उदाहारणार्थ—दर्शन मोहनीय कर्म का चारित्र मोहनीय के रूप में सक्रमण नहीं होता है और चारित्र मोहनीय का दर्शनमोहनीय के रूप मे सक्रमण नहीं होता । इसी प्रकार सम्यक्त्व प्रकृति सम्यग्—मिथ्यात्व रूप से सक्रान्त नहो होती, किन्तु सम्यग्—मिथ्यात्व अर्थात् मिश्रप्रकृति का बन्ध न होने पर भी सम्यक्त्वमें सब सक्रम होता है । इस प्रकार सम्यक्त्व प्रकृति और मिश्र प्रकृति का मिथ्यात्व मे सक्रमण होता है । आयुष्क कर्म की

क्त्वसम्यग्मिथ्यात्वयोर्मिथ्यात्वं सक्रामयति, किन्तु-आयुष्यस्य नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवभेदस्य परस्परं सक्रमो न भवति। नहि-नारकायुष्य तिर्यगायुष्य वा मनुष्यायुष्ये-देवायुष्ये वा सक्रम विधत्ते। तथाचोत्तरप्रकृतिष्वपि दर्शनचारित्रमोहनीयकर्मणो सम्यग्मिथ्यात्व-वेदनीयायुष्काणाञ्चोत्तरप्रकृतीना जात्यन्तरानुबन्धविपाकनिमित्ताना भिन्नजातीयकत्वादेव सक्रमो न भवतीतिभाव· तथाचोक्तम्—

"मूलप्रकृतिभिन्नाः संक्रमयति गुणत उत्तराः प्रकृतीः।
नत्वात्मामूर्तत्वा दध्यवसानप्रयोगेण ॥ १ ॥
शिथिलयति दृढवद्धं द्रढयति च कर्म ननु जीवः।
उत्कृष्टाश्च जघन्याः स्थितिर्विपर्यासयति चापि- ॥ २ ॥ इति

सक्रमण-स्थित्यु-दीर्णात्रयेच दृष्टान्तत्रय प्रदर्श्यते—

"तारीकरणं ताम्रस्य शोपणस्तेमनेमृदः क्रमगः।
आम्रपरिपाचनं वा काले तेषूपदृष्टान्ताः- ॥ १ ॥

यथासख्यमन्वयो वोध्य·—

अनुभावांश्च विपर्यासयति तथैव प्रयोगतो जीवः।
तीव्रान् वा मन्दान् वा स्वासु प्रकृतिस्वभिन्नासु- ॥ २ ॥

चार उत्तरप्रकृतियो का परस्पर सक्रमण नहीं होता—नरकायु वदल कर तिर्यचायु आदि के रूप में नहीं हो सकती। इसी प्रकार कोई भी अन्य आयु किसी दूसरी आयु प्रकृति के रूप में नहीं प्राप्त की जाती।

तात्पर्य यह है कि उत्तर प्रकृतियो में भी दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय का, सम्यग्-मिथ्यात्ववेदनीय का तथा आयु कर्म की प्रकृतियो का परस्पर सक्रमण नहीं होता, क्योंकि उनके बन्ध के कारणो में भिन्नता है, इस कारण वे भिन्न जातिय है। कहा भी है—

'आत्मा अमूर्त्त होने के कारण अपने अध्यवसाय की विशेषता से मूल प्रकृतियो से अभिन्न उत्तर प्रकृतियो में सक्रमण करता है, अर्थात् एक मूल प्रकृति की उत्तर प्रकृतियो में उलट-पलट कर लेता है। इसी प्रकार दृढ़ बाँधे हुए कर्म को अध्यवसाय की विशेषता से शिथिल कर लेता है और शिथिल बाँधे हुए को दृढ भी कर लेता है। और जघन्य स्थिति को उत्कृष्ट स्थिति के रूप मे बदल सकता है।

सक्रमण, स्थिति और उदीरणा, इन तीनो के विषय में तीन दृष्टान्त दिखलाते है—

सक्रमण का दृष्टान्त है ताँबे को तारों के रूप मे पलटना—तावा प्रयोग के द्वारा तारों ने रूप में परिवर्तित हो जाता है। स्थिति का उदाहरण है—मृत्तिका का शोषण एवं आर्द्रीकरण उदीरणाका उदाहरण है आम को जल्दी पका लेना यह क्रमश· तीन उदाहरण है।

"यद्यद्वा मन्दं सत् क्षारीक्रियते हरिद्रया चूर्णम्- ।
वातातपादिभिश्च क्षारं मन्दीक्रियते यथा- ॥ ३ ॥
"तीव्रोऽनुभावयोगो भवतिहि मिथ्यात्ववेदनीयस्य- ।
सम्यक्त्वे त्वतिमन्दो मिश्रे मिश्रोऽनुभावश्च ॥ ४ ॥ इति

एवञ्च—दर्शनमोहनीय—चारित्रमोहनीय—वेदनीयाऽऽयुष्य कर्मोत्तरप्रकृतिनामागमे आस्रवाणा भिन्नतयैव पठितत्वेन जात्यन्तरानुवर्त्तनकारि विपाकनिमित्तानां तेपां विभिन्नजातीयकत्वेन न तासामुत्तरप्रकृतीनां सक्रम इति भाव । किन्तु—सर्वासामेव मूलोत्तरप्रकृतिनामपवर्तन तु—भवत्येव, तच्चापवर्तनं द्राघीयस्या कर्मस्थितेरल्पीकरणरूप बोध्यम् । अध्यवसायविशेषात्-सर्वासामेव प्रकृतिनां तत्सम्भवति ।—

प्रस्तुत खल्वनुभावलक्षणो विपाको यथा नाम भवति, एवञ्च- यस्य कर्मणो यद्नाम सज्ञा भवति, तत्कर्मनामानुरूपमेव विपच्यते तथाच—ज्ञानावरणादिकर्मणा सविकल्पानां प्रत्येकमन्वर्थनिर्देशो वर्तते । तथाहि— ज्ञानमाव्रियते येन तद् ज्ञानावरण कर्मोच्यते तद्धि ज्ञानावरणं कर्म विपच्यमान ज्ञानाभावे पर्यवस्यति, ज्ञानावरणकर्मणो विपाकावस्थायां ज्ञाने भावे पर्यवसान बोध्यम् ।

'इसी प्रकार जीव अपने प्रयोग से अनुभाव में भी सक्रमण करता है अर्थात् किसी कर्म प्रकृति का तीव्र अनुभाव बन्ध किया हो तो अपवर्तनाकरण के द्वारा उसे मद रूप में पलट सकता है और बाँधे हुए मन्द अनुभाव को उद् वर्त्तना करण के द्वारा तीव्र अनुभाव में बदल सकता है ।,

जैसे मन्द अनुभाव वाला चूर्ण हरिद्रा (हल्दी) के द्वारा तीव्र कर दिया जाता है और तीव्र चूर्ण वायु एव धूप के द्वारा मन्द बना दिया जाता है ।

'मिथ्यात्व प्रकृति का अनुभाव तीव्र होता है, सम्यक्त्व—प्रकृति का अनुभाव मन्द होता है और मिश्र प्रकृति का अनुभाव मिश्र—मध्यम होता है ।'

इस प्रकार दर्शनमोहनीय, चरित्रमोहनीय, और आयुष्कर्म की उत्तर प्रकृतियो का सक्रमण नहीं होता । इसका कारण यह है कि इनके बन्ध के कारण आगम मे भिन्न—भिन्न बतलाए गए हैं और भिन्न करणों से बन्ध होने से ये प्रकृतियाँ भिन्न जाति की है । इनका फल भी भिन्न है । हाँ अपवर्त्तन सभी प्रकृतियो का हो सकता है, चाहे मूलप्रकृति हो या उत्तर प्रकृति । दीर्घकालीन स्थिति का अल्पकालीन हो जाना अपवर्त्तन कहलाता है । परिणाम की विशेषता के अनुसार सभी प्रकृतियों का अपवर्त्तन हो सकता है ।

यह जो अनुभाव—विपाक है, वह नाम के अनुसार होता है । जिस कर्म का जो नाम है, उसी के अनुरूप उसका फल भी होता है । ज्ञानावरण आदि सभी कर्मों के विषय में यही समझना चाहिए । जैसे—जो कर्म ज्ञान को आवृत—अच्छादित करता है, वह ज्ञानावरण

एवं दर्शनावरण कर्म विपच्यमान सामान्योपयोगोपरोधे पर्यवस्यति, दर्शनं सामान्योपयोगलक्षणम् आव्रियते येन तत्कर्म-दर्शनावरणमित्यन्वर्थत्वमवसेयम् । एव सातावेदनीय-कर्म विपच्यमान सुखानुभवे पर्यवस्यति, असातावेदनीयञ्च कर्म विपच्यमान दु खानुभवे पर्यवस्यति । एवम्---दर्शनमोहनीय कर्म विपच्यमान तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षण दर्शन मोहयतीति बोध्यम् । चारित्र-मोहकर्म विपच्यमानं मूलोत्तरगुणभेदलक्षणं चारित्र मोहयतीति बोध्यम् ।

एवं--यदुदयाद् आयुर्जीवन प्राणधारण भवति, तदायु कर्म विपच्यमान प्राणधारणे पर्यवस्यति । एव तास्तान् गतिजात्यादीन् भावान् प्रशस्तान्--अप्रशस्ताश्च नामयन्ते--प्रापयन्तीति नामकर्म विपच्यमान गतिनामाद्यनुभवे पर्यवस्यति । एव नामकर्मण प्रतिभेदमपि--अन्वर्थत्वमनुसृत्यैव विपाकोऽवगन्तव्य', यथा--गतिं नामयतीति गतिनाम ।

एव जातिनाम--शरीरनाम--अङ्गोपाङ्गनामादि तीर्थकरनामकर्म विपच्यमानं तत्तद्भावे पर्यवस्यति । एव--गोत्रकर्म, गूयते--शब्द्यते इति गोत्र--सशब्दनम् "गुङ्शब्दे" इत्यस्माद्धातो ष्ट्रन् प्रत्यये गोत्रशब्दसिद्धि तच्च गोत्र द्विविध भवति, उच्चै र्गोत्रम्-१ नीचैर्गोत्रञ्चेति-२

तत्र--यस्य कर्मण उदयादुच्चैरय पूज्य'--उग्रो भोज--इक्ष्वाकु रित्येव गूयते--सशब्द्यते गीयते तदुच्चै र्गोत्र कर्म विपच्यमान तथाविधोच्चवंशसशब्देन पर्यवस्यति ।

कहलाता है । ज्ञानावरण कर्म जो फल देता है उसका पर्यवसान ज्ञान के अभाव में होता है । अर्थात् ज्ञानावरण कर्म अपने नाम के अनुसार ज्ञान का निरोध करता है ।

इसी प्रकार दर्शनावरण कर्म का फल दर्शन अर्थात् सामान्य बोध को आच्छादित करना है । दर्शन अर्थात् सामान्य उपयोग, उसे जो आवृत करे वह दर्शनावरण । इस प्रकार नाम के अनुरूप ही उसका विपाक होता ।

सातावेदनीय का फल सुख का वेदन कराता है । आसातावेदनीय असाता अर्थात् दु ख का वेदन--अनुभव कराता है । दर्शनमोहनीय कर्म जब फल देता है तो दर्शन अर्थात् तत्त्वार्थश्रद्धान को मोहित- कलुषित या नष्ट करता है । चारित्रमोहनीय कर्म चारित्र को उत्पन्न नहीं होने देता ।

इसी प्रकार जिस कर्म के विपाक से आयु अर्थात् प्राणधारण होता है, वह आयु कर्म कहलाता है । इस प्रकार आयु कर्म का विपाक प्राणधारण है । इसी प्रकार गति जाति आदि प्रशस्त या अप्रशस्त भावो को जो कर्म प्राप्त कराता है वह नामकर्म भी गतिनाम आदि कहलाता है इसका फल भी नाम के अनुसार ही समझना चाहिए । गोत्र कर्म का फल भी उसके नाम के अनुकूल होता है । 'गुङ्' धातु शब्द के अर्थ मे है । ष्ट्रन् प्रत्यय होने से 'गोत्र' शब्द सिद्ध होता है गोत्र दो प्रकार है--उच्चगोत्र और नीचगोत्र । जिस कर्म के फल स्वरू जीव ऊचा कहलाता है--यह पूज्य है । उग्र कुल

एवं–यस्य कर्मण उदयाद् दरिद्रोऽयम् गर्हितश्चाण्डालादिरित्येवं नीचशब्देन गूयते–शब्द्यते इति तत्कर्म नीचै र्गोत्र विपच्यमान निन्दितवंशशब्देन पर्यवस्यति- । एवं यस्य कर्मण उदयाद् देय–दान–दात्रादीनां मध्ये विघ्नो जायते — तत्कर्माऽन्तरायपदेन व्यपदिश्यते, तथा–विधान्तरायकर्म विपच्यमानं सत् दानादीना विघ्नकरणे पर्यवस्यति. । एवञ्च—नारकादि गति जाति शरीरादिवृत्ते र्जीवस्य ज्ञानावरणादि सर्वकर्मणामुदये सति यथानाम विपाको भवति । तथा–चोक्तं समवायाङ्गे विपाकश्रुतवर्णने—

"अणुभागफलविवागा सव्वेसिं च कम्माणं—" इति, अनुभागफलविपाका' सर्वेषाञ्च कर्मणाम् इति. । एव–प्रज्ञापनायां २३-पदे २३-उद्देशे, उत्तराध्ययने-३३-अध्ययने चोक्तम् । अथोक्तरीत्या यदि तथाविधकर्मणां विपाकलक्षणोऽनुभाव इत्युच्यते, तदा किं तत्कर्मा–ऽनुभूतं-सद् आभरणवदवतिष्ठते-? आहोस्वित्–नि'सार सत् प्रवच्यते-? इतिचेद् अत्रोच्यते–बद्धं कर्मा-ऽनुभूत सत् यथायोग्यमात्मन' पीडानुग्रहौप्रदाया–ऽभ्यवहृतौदनादिविकारवत् अवस्थाननिमित्ताऽभावात् विनष्टं निर्जीर्णं भवति ।

एवञ्च–ज्ञानावरणादिकर्मणो विपाकलक्षणादनुभावात् क्षयलक्षणपरिशटन भवति आत्मप्रदेशेभ्य परिपतनलक्षण निर्जरणं कर्मपरिणते र्विनाशो जायते, आकर्मपरिणामफलपरिणामभोग-

---

भोजकुल या इक्ष्वकु कुल का है इस प्रकार के शब्दो से कहा जाता है वह उच्च गोत्र कर्म भी अपने नाम के अनुसार ही फल देता है । जिस कर्म के उदय से 'यह दरिद्र है, गर्हित है, चाण्डाल है, इत्यादि नीचशब्दो से शब्दित होता है वह नीचगोत्र कहलाता है । इसका फल नीच वंश आदि की प्राप्ति है ।

जिस कर्म के उदय से देय, दान, दाता आदि के मध्य में अन्तराय–विघ्न उपस्थित हो जाता है, वह अन्तरायकर्म कहलाता है । अन्तरायकर्म जब अपना फल देता है तो वह दान आदि में विघ्न डालने के रूप में ही होता है । इस प्रकार ज्ञानावरण आदि समस्त कर्मों का फल उनको अपने–अपने नाम के अनुसार ही होता है । समवायांग सूत्र में विपाकश्रुत के वर्णन में कहा है–'अनुभाग–फल–विपाक सभी कर्मों का होता है ।'

'प्रज्ञापनासूत्र के पद २३ में तथा उत्तराध्ययन के अध्ययन ३३ में भी ऐसा ही कहा है ।

शका–यदि कर्मो का फल पूर्वोक्त प्रकार से होता है तो फल देने के पश्चात् वह कर्म आभूषण की तरह रहता है अथवा निस्सार होकर च्युत हो जाता है–झड जाता है ?

समाधान–बाँधा हुआ कर्म जब भोग लिया जाता है तो आत्मा को पीड़ा या अनुग्रह प्रदान करके, खाये हुए भोजन आदि के विकार की तरह झड जाता है, क्योकि उस समय उसके ठहरने का कोई कारण नहीं रह जाता ।

परिसमाप्ते' कर्मवेदनालक्षणो रसानुभवो निर्जरा भवतितीभाव' । कर्मणो निर्जरा च—द्विविधा प्रज्ञप्ता, विपाकजन्याऽविपाकजन्या च । तत्र—विपाक उदय , अविपाक पुनरुदीरणा उच्यते । तत्र—विपाकजन्या कर्मनिर्जरा तावत् चतुर्गतावनेकजातिविशेषावघर्पिते ससारार्णवे परिभ्रमानस्य जीवस्य शुभाऽशुभात्मकर्मण' प्राप्तविपाककालस्य यथायोग्यमुदयावलिकाप्रवाहे पतितस्य फलोपभोगादुपजात स्थितिक्षये सति निवृत्तिरूपा बोध्या ।

यस्य पुन कर्मणो विपाककालाप्राप्तस्य औपक्रमिकक्रियाविशेषसामर्थ्यादनुदीर्णस्य सतोऽपि बलादुदीरणया—उदयावलिकाणामनुप्रवेशनेन पनस—तिन्दुका—ऽऽम्रफलादिपाकवद् वेदनेन-निर्जरा भवति, सा-ऽविपाकजन्या निर्जरोच्यते । तथाचोक्तम्—

तारीकरणं ताम्रस्य शोषणस्ते मृदः क्रमशः ।
आम्रपरिपाचनं वा काले तेपूपदृष्टान्ताः ॥ १ ॥

एते त्रयोदृष्टान्ता सक्रमस्थित्युदीरणासु यथासख्य योजनीया , सैवेयमविपाकजन्या कर्मनिर्जरा तपोहेतुका व्यपदिश्यते, वक्ष्यमाणेन द्वादशप्रकारेण—तपसा च कर्मण आस्रवनिरोधलक्षण सवरश्च भवति, निर्जरा च भवतीत्यग्रे सवराधिकारे वक्ष्यते, उक्तञ्च—भगवतीसूत्रे १-शतके १ उद्देशके ११-सूत्रे—"**उदीरिया वेइया य निज्जिन्ना**—" इति, उदीरितानि—वेदितानि च निर्जीर्णानि,इति-॥२१॥

इस प्रकार ज्ञानावरण आदि कर्मों के विपाक के पश्चात् उसकी निर्जरा हो जाती अर्थात् वह आत्मप्रदेशों से अलग हो जाता है।

कर्म की निर्जरा दो प्रकार की है—विपाकजन्य और अविपाकजन्य । यहाँ विपाक का अर्थ है उदय और अविपाक का अर्थ उदीरणा । इस चतुर्गति रूप एव अनेक प्रकार के जन्मो वाले ससार—सागर में वहते हुए जीव के शुभ अशुभ कर्म जब विपाककाल के आने पर स्वय उदय में आते है तो उनका फल भोग लेनेपर उनकी स्थिति का क्षय हो जाता है । स्थितिक्षय हो जाने पर वे निवृत्त हो जाते है । यह विपाकजन्य निर्जरा है ।

जिस कर्म के विपाक का काल प्राप्त न हुआ हो, फिर भी किसी औपक्रमिक क्रिया के द्वारा उसे बलात् उदय में ले आना उदीरणा है । उदीरणा के द्वारा कर्मफल भोग लेने के पश्चात् उसकी निर्जरा हो जाती है । वह अविपाक जन्य निर्जरा कहलाती है । जैसे पनस, तेदू या आम का फल घास आदि मे दबा देने से समय से पूर्व ही पक जाता है, उसी प्रकार कोई—कोई कर्म भी अपने नियत समय से पहले ही उदीरणा के द्वारा अपना फल दे देता है और फल देने के पश्चात् झड जाता है । इसे अविपाकजन्य निर्जरा कहते है । कहा भी है—

'तावे का तार बनाना, मिट्टी का शोषण या आर्द्रीकरण करना और आम को पकाना, यह तीन उदाहरण सक्रम, स्थिति और उदीरणा के विषय में यथाक्रम समझ लेने चाहिए ।'

यह अविपाकजन्य निर्जरा तपहेतुक होती है, क्योकि यह तप से होती है । आगे कहे जाने वाले बारह प्रकार के तप से निर्जरा के अतिरिक्त सवर भी होता है । यह बात आगे

मूलसूत्रम्—"सव्व कम्माणं अणंताणंता पएसगा अभव्वाणं अणंतगुणा, सिद्धाणं अणंतभागा—" ॥ २२ ॥

छाया—"सर्वकर्मणामनन्ताऽनन्ताः प्रदेशकाः, अभव्यानां अनन्तगुणाः—सिद्धाना मनन्तभागाः—" ॥ २२ ॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे कर्मणामनुभावबन्धः प्ररूपितः, सम्प्रति—तेषां सामान्यतो निर्दिष्टं प्रदेशबन्धं विशेषतः प्रतिपादयितु माह—"**सव्वकम्माणं**—" इत्यादि-। सर्वकर्मणाम्—ज्ञानावरणाद्यष्टविधकर्मप्रकृतियोग्यानां पुद्गलानामनन्ताऽनन्ताः प्रदेशाः सन्ति, नो सङ्ख्येयाः, नाऽप्यसङ्ख्येयाः प्रदेशाः ते खलु—कर्मभावयोग्यपुद्गलस्कन्धा अभव्यानामनन्तगुणा — सिद्धानाञ्चा—नन्ततमभागे सन्ति। तथाच—कर्मभावयोग्यानां पुद्गलानां जीवेन कियान् भागो बध्यते' इति जिज्ञासायाम् कर्मभावयोग्यपुद्गलद्रव्याणामियत्ताऽवधारणरूपपरिमाणपरिच्छेदलक्षणः प्रदेशबन्धः पूर्वं प्रतिपादितः तस्य च प्रदेशबन्धस्य विशेषतः स्वरूपज्ञानाय किं हेतुः स प्रदेशबन्धः ? कदा वा-? कुतो वा-? किं स्वभावो वा-? कस्मिन् वा-? कि परिमाणश्च-? इति वक्तव्यम्। तत्र—सर्वकर्मप्रकृति-हेतुका सर्वेषु च भवेषु तत्रैकैकस्य जीवस्य व्यतीतेषु, अनन्तेषु भवेषु-आगमादिषु च सङ्ख्येयेषु—

सवर के प्रकरण में नहीं की जाएगी। भगवतीसूत्र के प्रथम शतक में कहा है—कर्मों की उदीहरणा होती है, वेदन होता है और फिर उनकी निर्जरा हो जाती है ॥२॥

'सव्वकम्माणं अणंताणंता पएसगा' इत्यादि ॥ सूत्र—२२ ॥

सूत्रार्थ—समस्त कर्मों के प्रदेश अनन्तानन्त—अभव्यो से अनन्त गुणा और सिद्धो के अनन्तवें भाग है ॥ २२ ॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्व सूत्र में कर्मों के अनुभाव का प्ररूपण किया गया है, अब सामान्य रूप से निर्दिष्ट प्रदेशबन्ध का विशेष रूप से प्रतिपादन करने के लिए कहते है—ज्ञानावरण आदि आठो कर्मोंके अनन्तानन्तप्रदेश होते है—सङ्ख्यात या असङ्ख्यात नहीं होते।

अनन्तानन्त सङ्ख्या अनन्त प्रकार की है, अतएव उसको नियत करने के लिए कहते है—वे अनन्तानन्त प्रदेश अभव्य जीवो की राशि से अनन्तगुणित अधिक समझने चाहिए और सिद्ध जीव राशि के अनन्तवे भाग समझने चाहिए।

जीव कर्मयोग्य पुद्गलों का कितना भाग बाँधते हैं ? इस प्रकार की जिज्ञासा का समाधान करने के लिए कर्म के योग्य पुद्गलो का परिमाण—परिच्छेद रूप प्रदेशबन्ध का पहले प्ररूपण किया जा चुका है, मगर प्रदेशबन्ध के स्वरूप का विशेष रूप से ज्ञान कराने के लिए यहाँ इन बातो पर प्रकाश डालना आवश्यक है-प्रदेशबन्ध का कारण क्या है ? वह कब होता है ? कहाँ से होता है ? उसका स्वभाव क्या है ? वह किसमे होता है ? उसका परिमाण क्या है ?

समस्त कर्मप्रकृतिहेतुक, प्रत्येक जीव के भूतकालीन अनन्त भवो मे तथा आगामी सङ्ख्यात, असङ्ख्यात या अनन्त भवोमे, काययोग वचनयोग और मनोयोग के निमित्त से—इन

असख्येयेषु--अनन्ताऽनन्तेषु वा भवेषु काय-वाङ्-मन कर्मयोगविशेषाच्च कर्म भावग्रहणयोग्या सूक्ष्मा पुद्गला', न तु--स्थूला' एकक्षेत्रावगाहिन स्थितिपरिणता न तु--गतिपरिणता आत्मनो-पादीयन्ते-।

एवञ्च--ते खलु ज्ञानावरणाद्यष्टविधकर्मप्रकृतिग्रहणयोग्या सूक्ष्मा पुद्गलस्कन्धा न तु--बादरा' अभव्यानन्तगुणा सिद्धानन्ततमभागप्रमितप्रदेशा घनाङ्गुलस्याऽसख्येयभागक्षेत्राव-गाहिन एक-द्वि-त्रि-चतु सख्येयाऽसख्येयसमयस्थितिका पञ्चवर्ण पञ्चरस द्विगन्ध चतु स्पर्श स्वभावा काय-वाङ्-मनोयोगवशादात्मनाऽऽत्मसात् क्रियन्ते इति भाव ॥ २२ ॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः--पूर्वसूत्रे कर्मणामनुभावबन्ध प्ररूपित, सम्प्रति--तेषा सामान्यत प्रतिपादितमेव विशेषत प्रदेशबन्ध प्ररूपयितुमाह---"**सव्वकम्माणं**--" इत्यादि ।

सर्वकर्मणाम्--ज्ञानावरणाद्यष्टविधकर्मप्रकृतिग्रहणयोग्यपुद्गलानाम् अनन्तानन्ता प्रदेशा-बध्यन्ते, न तु--सख्येया, नाऽप्यसख्येया, नाप्यनन्ता प्रदेशा ।

अत्र प्रदेशबन्धशब्दार्थस्तु--इयत्ताऽवधारणम्, कर्मभावपरिणतपुद्गलस्कन्धाना परिमाण-परिच्छेदेनाऽवधारणरूप प्रदेशबन्ध इति भाव । तथाच--प्रदेशबन्धस्वरूपज्ञानार्थमत्र प्रश्नोत्तरा-

---

योग की तीव्रता या मन्दता के अनुसार कार्मण वर्गणा के पुद्गल ग्रहण किये जाते है । वे पुद्गल सूक्ष्म होते है, स्थूल नहीं । जिन आकाशप्रदेशो में आत्मप्रदेशो का अवगाहन होता है, उन्हीं आकाशप्रदेशों में रहे हुए वे पुद्गल ग्रहण किये जाते है--बाहर (भिन्न क्षेत्र मे) रहे हुए पुद्गलो का ग्रहण नहीं होता । स्थित पुद्गल ही ग्रहण किये जा सकते हैं, जो गति-रूप में परिणत हों--गमन कर रहे हो, उनका ग्रहण नहीं होता ।

उल्लिखित समस्त विशेषताएँ होने पर भी अगर उनकी प्रदेशो की सख्या अभव्य जीवो की समग्र राशि से अनन्तगुणी और सिद्ध जीवो की राशि के अनन्तवे भाग हो तो ही उनका ग्रहण होता है, अन्यथा नहीं । इसी प्रकार वे घनागुल के असख्यातवे भाग क्षेत्र में स्थित होने चाहिए, पाँच वर्ण वाले पांच रस वाले दो गन्ध वाले, और चार स्पर्श वाले होने चाहिए । फिर इसकी स्थिति चाहे एक समय की हो, चाहे दो, तीन, चार, सख्यात या असख्यात समय की हो, । ऐसे पुद्गलो को आत्मा अपने काय, वचन और मन के योग से ग्रहण करता है ॥२२॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति---पूर्वसूत्र में कर्मों के अनुभावबन्ध का निरूपण किया गया है । अब सामान्य रूप पूर्वकथित प्रदेश बन्ध का विशेष रूप से प्रतिपादन करते है---

ज्ञानावरण आदि आठ प्रकृतियों के योग्य पुद्गल जो अनन्तानन्त प्रदेशों वाले होते है, उन्हीं को आत्मा ग्रहण करता है । सख्यात असख्यात या अनन्त प्रदेशो वाले पुद्गलो को नहीं ग्रहण करता ।

कर्मयोग पुद्गलस्कधों का नियत परिमाण में बँधना प्रदेशबन्ध कहलाता है । प्रदेशबंध

ष्टकमवसेयम् । तथाहि—

कि निमित्ता पुद्गला बध्यन्ते-? इति प्रथम प्रश्न'१ आत्मा तावत्—तान् पुद्गलान् कर्मभावेन परिणतियोग्यान् बध्नन् किमेकेन दिक्प्रदेशेन बध्नाति-? उताहो सर्वदिक्प्रदेशै र्बध्नाति ? इति द्वितीय' प्रश्न -२ स खलु पुद्गलानां प्रदेशबन्ध किं सर्वजीवाना समान एव भवति-? उताहो कुतश्चिन्निमित्तादसमान'-? इति तृतीय प्रश्न'—३ किं गुणा-केवला पुद्गला बध्यन्ते-? इति चतुर्थः प्रश्न. -४ अथ-यत्र च गगनतले व्यवस्थिता' पुद्गला भवन्ति-तत्रैव ये जीवप्रदेशा अवगाढा सन्ति, किं तेषामेव पुद्गलाना तेषु जीवप्रदेशेषु बन्धो भवति-? आहोस्विद्-जीवप्रदेशावगाढाकाशदेशव्यतिरिक्तप्रदेशवर्तिनोऽपि पुद्गला बध्यन्ते इति पञ्चम प्रश्न'—५ अथ किं गतिपरिणता' पुद्गला बध्यन्ते-? उताहो—स्थितिपरिणताः पुद्गला बध्यन्ते ? इति षष्ठ' प्रश्न' ६ अथ ते खलु कर्मभावेन बध्यमाना' पुद्गला' किमात्मनां सर्वप्रदेशेषु श्लिष्यन्ति-? किंवा—एकैकप्रदेशे श्लिष्यन्ति—? इति सप्तम'—७ ।

अथ ते किल कर्मभावपरिणतियोग्या पुद्गलस्कन्धा कि सख्येयासख्येयानन्तप्रदेशा बध्यन्ते-? किं वा—ऽनन्तानन्तप्रदेशा बध्यन्ते-? इत्यष्टम' प्रश्न'—८ एषामष्टानामपि प्रश्नानां क्रमशोऽष्टावुत्तराणि वक्ष्यमाणानि बोध्यानि । तथाहि—

के स्वरूप को स्पष्ट रूप से समझने के लिए आठ प्रश्नो के उत्तरो को समझ लेना आवश्यक है । वे इस प्रकार है—

(१) उन पुद्गलो के बन्ध का कारण क्या है ?

(२) आत्मा कर्मयोग्य पुद्गलों को जब बाँधता है तो एक दिशा से बाँधता है अथवा सर्व दिशाओं से ?

(३) क्या प्रदेशबन्ध सब जीवो को एक समान होता है ? या किसी कारण से उसमें असमानता होती है ?

(४) किन गुणो वाले पुद्गलों का बन्ध होता है ?

(५) जिन आकाशप्रदेशो में कर्मवर्गणा के पुद्गल अवगाढ है, उन्हीं आकाशप्रदेशो में स्थित आत्मा, वहीं का वहीं, उन्हे बद्ध कर लेता है अथवा बाहरी आकाशप्रदेशो में स्थित पुद्गलो को खींच कर ग्रहण करता है ?

(६) क्या गतिपरिणत पुद्गल बद्ध होते है ? अथवा स्थिति—परिणत—स्थिर पुद्गलो का बन्ध होता है ?

(७) बँधने वाले पुद्गल समस्त आत्मप्रदेशो में बँधते है या आत्मा के एक—एक प्रदेश में बंधते है ?

(८) कार्मणवर्गणा के वे पुद्गल सख्यातप्रदेशी या असख्यातप्रदेशी हों तो बधते हैं अथवा अनन्तप्रदेशी हो तो ही उनका बन्ध होता है ?

"नामप्रत्यया' पुद्गला बध्यन्ते-१ सर्वत सर्वदिग्भ्य पुद्गला बध्यन्ते-२ कायादियोगविशेषात् परिणतिवैचित्र्यात सर्वेषामसमान पुद्गलकर्मप्रदेशबन्ध -३ सूक्ष्मा' पुद्गला बध्यन्ते-४ एकक्षेत्रावगाढा पुद्गला बध्यन्ते-५ स्थितिपरिणता' पुद्गला बध्यन्ते-६ सर्वात्मप्रदेशेषु तेषां पुद्गलाना बन्धो भवति-७ अनन्तानन्तप्रदेशा' पुद्गला बध्यन्ते-८ इत्येवमष्टावुत्तराणि तेषा प्रश्नानाम्

अयमेतेषामभिप्राय'—नामप्रत्यया नाम्नो ज्ञानावरणाद्यन्तरायपर्यन्तस्या-ऽन्वर्थसज्ञकस्या ऽष्टविधकर्मण प्रत्यया -कारणानि नामप्रत्यया स्ते पुद्गला भवन्ति,

तान् पुद्गलान् विना ज्ञानावरणादि कर्मोदयादि न सम्भवति, मुक्तस्येवात्मन ससारिण इति भाव । यद्वा—नामप्रत्ययो निमित्त येषां ते नामप्रत्यया गतिजात्यादिभेदानि नामकर्माणि—

इन आठ प्रश्नो के उत्तर क्रमश इस प्रकार है—

(१) कार्मणवर्गणा के वे पुदगल नाम—प्रत्यय बँधते है अर्थात् जिस प्रकृति का जो नाम है उसी के अनुसार बँधते है ।

(२) सभी दिशाओं से—सब ओर से बँधते है ।

(३) सब जीवो के योग का व्यापार समान नहीं होता । किसी जीव के योग का व्यापार तीव्र होता है तो किसी के योग का व्यापार मन्द होता है । तीव्रता और मन्दता में भी अनेक श्रेणियाँ होती है, अतएव सव जीवो का प्रदेशवन्ध समान नहीं होता, वरन् योग की असमानता के कारण असमान होता है । योग की प्रवृत्ति तीव्र हो तो अधिक पुद्गलप्रदेशों का बंध होता है और यदि मन्द होती है तो कम प्रदेश बँधते है ।

(४) सूक्ष्म पुद्गलों का ही बन्ध होता है ।

(५) एक क्षेत्रावगाढ पुदगल ही बद्ध होते है अर्थात् जहाँ आत्मा के प्रदेश हैं, वहीं पर अवगाढ पुद्गल आत्मप्रदेशो के साथ श्लिष्ट हो जाते है, इधर—उधर से आकर्शित होकर नहीं बँधते ।

(६) जो कर्मपुद्गल स्थित हों अर्थात् गमन न कर रहे हों, उन का ही बन्ध होता है ।

(७) उन पुद्गलों का बन्ध आत्माके सभी प्रदेशो में होता है । जैसे अग्नि में तपे हुए लोहे के गोले को पानी में छोड दिया जाय तो वह अपने सभी प्रदेशों से जलको ग्रहण करता है, उसी प्रकार आत्मा अपने सभी प्रदेशों से कर्मपुद्गलों को ग्रहण करता है ।

(८) अनन्तानन्त प्रदेशी पुद्गल ही बँधते हैं ।

यह पूर्वोक्त आठ प्रश्नो के उत्तर है । इनका आशय यह है कि आत्मा के साथ बँधने वाले पुदगल नाम प्रत्यय होते है अर्थात् अपने—अपने अर्थ के अनुसार नाम वाले कर्मों के कारण होते है । ऐसे पुदगलों के विना ज्ञानावरण आदि कर्मों का उदय आदि नहीं हो सकता, जैसे मुक्तात्मा को उदय आदि नहीं होता । अथवा नाम जिनका प्रत्यय अर्थात् कारण

औदारिकादिशरीरादियोगा' कर्मणो हेतुतामासादयन्ति, परम्परया—गत्यादयोऽपि तस्माद् नामकर्महेतुकानां पुद्गलाना बन्धो भवति । अथवा– नामकर्मण उत्तरप्रकृतिभूतशरीरनामान्तर्गत-बन्धननामप्रत्यया' खलु पुद्गला बध्यन्ते,

यस्य कर्मण उदयाद् गृहीत-गृह्यमाणपुद्गलानामन्यशरीरपुद्गलैः सह सम्बन्धो भवति, तत कर्मबन्धननामपदेनोच्यते, काष्ठद्वयखण्डस्य सयोजने जतुवत । अथवा—यादृशा' पुद्गला' प्रदेशबन्धस्य हेतवो भवन्ति, ते पुद्गला ज्ञानावरण—दर्शनावरणादिनाम्नैव प्रत्याय्यन्ते ज्ञानावरणादि नाम्ना तेषां पुद्गलाना स्वरूपमाख्यायते ।

यतोहि—ज्ञानावरणसमर्थानां दर्शनावरणादिसमर्थानामेव च पुद्गलानां बन्धनात् । अथैकाकाराणामेव पुद्गलानामात्मना—उपादीयमानतया कथ ते उपादीयमाना' एकाकारा पुद्गला ज्ञानावरणादिविशिष्टतया—ऽऽत्मप्रदेशेषु श्लिष्टा भवन्ति-? नहि ज्ञानावरणादिविशिष्टा' केचन पुद्गला बहि· सन्तीति चेदत्रोच्यते—ज्ञानावरणादि सर्वमूलप्रकृतिकर्मभाववर्गणायोग्यानां पुद्गलाना सामान्यतो गृहीतानामपि अध्यवसायविशेषात् पृथक्-पृथग्ज्ञानावरणादिभेदतयाऽऽत्मना परिणमनात् ते खलु पुदगला ज्ञानावरणादितया परिणता भवन्तीति प्रथमप्रश्नोत्तराशय

है, वे नाम प्रत्यय कहलाते हैं। गति जाति आदि नाम कर्म—औदारिक शरीर आदि योग कर्म के कारण होते है और परम्परा से गति आदि भी कारण होते है, इस कारण नाम कर्म हेतुक पुद्गलो का बन्ध होता है । अथवा नामकर्म की उत्तरप्रकृति शरीर नाम कर्म के अन्तर्गत जो बन्धन नामकर्म है, उसके कारण पुद्गलो का बन्ध होता है ।

जिस कर्म के उदय से पूर्वगृहीत शरीर के पुद्गलो का सबध होता है, वह बन्धन नाम कर्म कहलाता है। यह कर्म काष्ठ के दो खडों को जोड़ने वाली लाख के समान है ।

अथवा जिस प्रकार के पुद्गल प्रदेशबन्ध के कारण होते है, वे पुद्गल ज्ञानावरण दर्शनावरण आदि नाम से ही जाने जाते है । ज्ञानावरण आदि नामो से उन पुद्गलों के स्वरूप का कथन किया जाता है। क्योकि ज्ञान के आवरण और दर्शन के आवरण आदि मे समर्थ ही पुदगलो का बन्ध होता है ।

प्रश्न—एक—से स्वरूप वाले पुद्गलो को आत्मा ग्रहण करता है, ऐसी स्थिति मे वे पुदगल ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि विशेष स्वरूपों में आत्मा के साथ किस प्रकार श्लिष्ट होते है ? अर्थात् जब कर्मपुद्गल मूलत एक सरीखे हैं तो उनके स्वभाव में आत्मा के साथ वह होते ही कैसे अन्तर पड जाता है ?

उत्तर—ज्ञानावरण आदि समस्त मूल और उत्तर प्रकृतियो के योग्य पुद्गल यद्यपि ग्रहण करने से पहले एक-से होते है, उनमें ज्ञानावरण आदि का भेद नहीं होता, फिर भी आत्मा अपने अध्यवसाय की विशेषता के कारण उन सामान्य पुद्गलों को भी ज्ञानावरण दर्शनावरण

सम्प्रति द्वितीयप्रश्नोत्तराशय उच्यते—

सर्वत –सर्वासु खलु दशसु दिक्षु व्यवस्थितान् पुद्गलान् कर्मभावयोग्यान् आत्मो-पादत्ते। एवञ्च—तिर्यगष्टौ दिश सन्ति ऊर्ध्वमधश्चैकैका दिग् इत्येवं दशदिक्ष्ववस्थितान पुद्गलस्कन्धान, गृह्णाति, नत्वेकदिक्प्रतिष्ठान। अथवा सर्वत –सर्वैरात्मप्रदेशैरात्मा कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलान उपादत्ते

एते चात्मप्रदेशा' ससारिणो जीवस्य केचन ऊर्ध्वम्–केचन पुनरधस्ताद् भवन्ति। वक्ष्यमाण-सप्तमप्रश्नोत्तरस्य पुनरुक्ततादोषस्तु न सम्भवति, तस्य–"**सर्वात्मप्रदेशेषु**–" इत्यस्याऽनन्तानन्त-प्रदेशेषु सम्बन्धार्थकत्वात्। —२।

सम्प्रति–तृतीयप्रश्नोत्तराशय प्रतिपाद्यते सर्वजीवाना तुल्य कर्मबन्धो न भवति, अपितु—अतुल्य' खलु कर्मबन्धो बोध्य आत्मना काय–वाङ् मनोयोगविशेषात् कायस्य–वाचो–मनसश्च क्रिया चेष्टाऽनुष्ठानभाषणचिन्तादिरूपयाऽऽत्मनो योग सम्बन्ध स्तद्विशेषात्–परिणतिवैचित्र्यात् तीव्र–तीव्रतर–तीव्रतममन्दादिरूपाद् अतुल्य खलु कर्मबन्धन भवति। ३।

आदि भिन्न–भिन्न रूप मे परिणत कर लेता है। तात्पर्य यह है कि सामान्य कर्मपुद्गलो मे ज्ञानावरण आदि जो अलग–अलग प्रकृतियाँ उत्पन्न हो जाती है, उसका कारण आत्मा का अध्यवसाय है। यह प्रथम प्रश्नोत्तर का आशय समझना चाहिए।

दूसरे प्रश्नोत्तर का आशय यह है—

आत्मा समस्त अर्थात् दशो दिशाओ में स्थित पुद्गलो को जो कर्मरूपमें परिणत होने के योग्य हो, ग्रहण करता है। तिर्छि दिशाएँ आठ है–चार पूर्व आदि दिशाएँ चार ईशान आदि विदिशाएँ, और ऊर्ध्वदिशा तथा अधोदिशा। इस प्रकार दशो दिशाओं मे स्थित पुद्गल-स्कंधो को आत्मा ग्रहण करता है, किसी एक दिशा मे स्थित पुद्गलों को नहीं।

अथवा आत्मा समस्त आत्मप्रदेशो से कर्मवर्गणा के पुद्गलो को ग्रहण करता है। ससारी जीव के ये आत्मप्रदेश कोई ऊपर और कोई नीचे होते है। इस अर्थ मे आगे कहे जाने वाले सातवे प्रश्नोत्तर से पुनरुक्ति नहीं है। वहाँ 'सर्वात्मप्रदेशेषु' का अर्थ 'अनन्तानन्त-प्रदेशेषु' ऐसा अर्थ होता है।

अब तीसरे प्रश्नोत्तर का आशय प्रकट करते है–सब जीवो को कर्मबन्ध समान नहीं होता बल्कि सब के कर्मबन्ध में असमानता होती है। इस का कारण है योग की विशेषता अर्थात् मन वचन और काय की चेष्टा–अनुष्ठान, भाषण और चिन्तन आदि की विचित्रता। सब जीवों के योग की प्रवृत्ति समान न होने से कर्मबन्ध भी समान नहीं होता है। किसी को तीव्र, किसी को तीव्रतर, किसी को तीव्रतम और किसी की मन्द, मन्दतर और मन्दतम बन्ध होता है।

अथ चतुर्थप्रश्नोत्तराशय उच्यते सूक्ष्मा एव पुद्गला सूक्ष्मपरिणतिरूपा· कर्मवर्गणायोग्या बध्यन्ते, न तु–बादरा:–बादरपरिणतिशालिन पुद्गला । अत्र सूक्ष्मार्थस्तावदापेक्षिकत्वाद्-बहुविधो भवति, । परमाणुप्रभृत्यनन्तप्रदेशवर्गणायामपि भूयोऽनन्तराशिप्रदेशात् केचन ग्रहणयोग्या भवन्ति, केचन पुन र्ग्रहणयोग्या न भवन्ति ।

तस्मात्–सूक्ष्मग्रहणेन क्रमश औदारिक–वैक्रियाऽऽहारक–तैजस–भाषा–प्राणा–ऽपान-मनो-वर्गणा उल्लंघ्य कर्मवर्गणायोग्या सूक्ष्मपरिणतिशालिन एव पुद्गला बध्यन्ते इतिभाव· । उक्तक्रमेण सूक्ष्मपरिणतिभाज· केचन–पुद्गला भवन्ति ।४।

अथ पञ्चमप्रश्नोत्तराशय उच्यते

एक क्षेत्रावगाढा एव पुद्गला बध्यन्ते, न तु–क्षेत्रान्तरावगाढा·, एकस्मिन्नभिन्ने क्षेत्रे जीव-प्रदेशै· सह येऽवगाढा आश्रिता पुद्गला भवन्ति–त एव बध्यन्ते । तथाच—यत्राकाशे जीवोऽवगाढो भवति तत्रैव ये कर्मवर्गणायोग्या पुद्गला अवगाढा सन्ति, तेषामेव पुद्गलानां बन्धो भवति–न तु–क्षेत्रान्तरावगाढानाम् ।

आत्मावगाढाकाशक्षेत्रे वर्तमाना पुद्गला· आत्मवृत्तिरागादिस्नेहगुणयोगादात्मनि लगन्ति, आत्मानवगाढाकाशक्षेत्रावगाढास्तु–आत्मानाश्रितत्वेन तद्भावपरिणत्यभावात् आत्मनि नो लग्नानि भवन्ति ।

सम्प्रति–षष्ठ प्रश्नोत्तराऽभिप्राय उच्यते—स्थिता·—स्थितिपरिणता एव पुद्गला· कर्म-

---

चौथे प्रश्नोत्तर का आशय–सूक्ष्म परिणमनवाले कार्मणवर्गणा के पुद्गलों का ही बन्ध होता है, बादर परिणमन वाले पुद्गलो का बन्ध नहीं होता । सूक्ष्म शब्द का अर्थ आपेक्षित होने से अनेक प्रकार का होता है । परमाणु से लेकर अनन्तप्रदेशी वर्गणा में भी सूक्ष्म शब्द का प्रयोग किया जा सकता है । उन अनन्त प्रदेशी वर्गणाओ में कोई-कोई कर्म रूप में ग्रहण करने के योग्य होती है, कोई ग्रहण करने योग्य नहीं होती ।

अतएव 'सूक्ष्म' शब्द को ग्रहण करने का आशय यह है कि क्रमश· औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस, भाषा, श्वासोच्छ्वास और मनोवर्गणा को लांघकर कार्मणवर्गणा के योग्य सूक्ष्म परिणमन वाले पुद्गलों का ही बन्ध होता है । उक्त क्रम से कोई-कोई पुद्गल सूक्ष्म परि-णमन वाले होते है ।

पाँचवें प्रश्न और उत्तर का आशय–एक क्षेत्र में अवगाढ पुद्गलों का ही बन्ध होता है अन्य क्षेत्रमें अवगाढ पुद्गलोंका बंध नहीं होता है । जो पुद्गल जीव प्रदेशो के साथ अभिन्न क्षेत्र मे रहे हुए होते है, वही बद्ध होते है । भिन्न क्षेत्र मे रहे हुए कर्मपुद्गल भिन्न क्षेत्र में स्थित जीवप्रदेशों के साथ नहीं बँधते हैं ।

छठे प्रश्न और उत्तर का अभिप्राय–कार्मण वर्गणा के जो पुद्गल स्थित होते है अर्थात्

वर्गणायोग्या बध्यन्ते न तु–गतिपरिणता । यतोहि— गतिपरिणतिभाज पुद्गला गच्छन्त्येव परिणामविशेषाद् आत्मनि न श्लिष्यन्ते, वेगवत्त्वात् । ६

अथ–सप्तमप्रश्नोत्तराभिप्राय प्रतिपाद्यते सर्वेषु तावदसङ्ख्येयरूपेषु आत्मप्रदेशेषु ज्ञानावरणादिसर्वप्रकृतिकर्मवर्गणायोग्या पुद्गला बध्यन्ते, एकैकस्य पुनर्ज्ञानावरणादि कर्मणो योग्या कतिपया पुद्गला एकैकस्मिन् आत्मप्रदेशे बध्यन्ते, असङ्ख्येयप्रदेशात्मनो जीवस्यैकैक प्रदेशोऽनन्तैर्ज्ञानावरणकर्मवर्गणायोग्यपुद्गलस्कन्धैर्बद्धो भवति । एव–दर्शनावरणादि कर्म पुद्गलस्कन्धैरप्यनन्तैर्बद्धो बोध्य । ७

अथान्ते चाऽष्टमप्रश्नोत्तराशय प्रतिपाद्यते–अनन्तानन्तप्रदेशा कर्मवर्गणायोग्या पुद्गला बध्यन्ते, न तु—सङ्ख्येयासङ्ख्येयानन्तप्रदेशा, तेषा खलु–सङ्ख्येयासङ्ख्येयानन्तप्रदेशस्कन्धानाम्ग्रहणयोग्यत्वाद् बन्धो न सम्भवति । अपितु—अनन्तानन्तप्रदेशानामेव पुद्गलस्कन्धानां बन्धो भवति, तत्रानन्ते पुद्गलराशौ भूयोऽनन्तपुद्गलप्रक्षेपाद् अनन्तानन्ता इति व्यपदिश्यन्ते, ते चानन्तानन्तप्रदेशा पुद्गला ज्ञानावरणादि कर्मवर्गणायोग्या आत्मन एकैकस्मिन् प्रदेशे बध्यन्ते–श्लिष्यन्ते कर्मवर्गणाया अयोग्यास्तु–न बध्यन्ते, इत्येव प्रदेशबन्धस्वरूप प्ररूपितम् ।

तत्र–प्रकृष्टा देशा बहवोऽवयवा येषु ते प्रदेशाः स्कन्धा इत्युच्यन्ते । उक्तञ्चोत्तराध्ययने–३३–अध्ययने–१७–१८–गाथायाम्—

गति परिणत नहीं होते, उन्हीं का बन्ध होता है । जो पुद्गल गमन करते हुए होते हैं, उनका आत्मा के साथ बन्ध नहीं होता, क्योंकि वे वेगवान् होते है

सातवे प्रश्न और उत्तर का आशय–एक आत्मा के असख्यात प्रदेश होते है । उन सभी प्रदेशो मे ज्ञानावरण आदि के योग्य कर्मवर्गणा के पुद्गल आत्मा के प्रत्येक प्रदेश के साथ बद्ध होते हैं । इस प्रकार आत्मा का एक-एक प्रदेश अनन्त-अनन्त ज्ञानावरण आदि कर्मों के योग्यपुद्गलो से बद्ध है यही बात दर्शनावरण आदिकर्मों के विषय मे भी समझनी चाहिए ।

अन्तिम आठवे प्रश्नोत्तर का अभिप्राय–कर्म के योग्य अनन्तानन्तप्रदेशी पुद्गलो का बन्ध होता है । सख्यातप्रदेशी, असख्यातप्रदेशी या अनन्तप्रदेशी पुद्गल स्कन्धों मे आत्मा के साथ बन्ध होने की योग्यता ही नहीं, अतएव उनका बन्ध भी नहीं होता । अनन्त प्रदेशों वाले पुद्गलस्कध में पुन अनन्त प्रदेश ओर मिला दिये जाएँ तो वह स्कंध अनन्तानन्त प्रदेशी कहलाता है । ऐसे अनन्तानन्त प्रदेशी कर्मपुद्गलो के स्कध एक–एक आत्मप्रदेश मे बद्ध होते हैं । अयोग्य पुद्गलों का बन्ध नहीं होता है ।

यह प्रदेशबन्ध का निरूपण हुआ । जिस पुद्गल मे बहुत-से प्रदेश और देश होते है, वह स्कध कहलाता है । उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन ३३ की गाथा १७–१८ मे कहा है—

सव्वेसिं चेव कम्माणं–पएसग्गमणंतगं– ।
गंठिय सत्ताईयं–अंतो सिद्धाण आउयं– ॥ १ ॥
सव्वजीवाणकम्मंतु–संगहे छद्दिसागयं– ।
सव्वेसु वि पएसेसु–सव्वं सव्वेण बद्धगं– ॥ २ ॥ इति,
सर्वेषाञ्चैव कर्मणां–प्रदेशकमनन्तकम्– ।
ग्रथित सत्त्वादिकम्–अन्ते सिद्धाना मायुष्कम्– ॥ १ ॥
सर्वजीवानां कर्मतु–संग्रहे षड् दिशागतम्– ।
सर्वेष्वपि प्रदेशेषु–सर्व सर्वेण बद्धकम्– ॥ २ ॥ इति,

यत्र यत्र षट्स्वपि दिक्षु लोका भवन्ति, तत्र षड्भ्य एव दिग्भ्य. कर्माणि गृह्यन्ते, पुनः यत्र तिसृषु चतसृषु पञ्चसु वा दिशासु लोका भवन्ति तत्र क्रमश तिसृभ्यश्चतसृभ्य पञ्चभ्यो दिग्भ्य एव कर्माणि गृह्यन्ते। शेषदिशासु, लोकाऽभावभवनात् न सन्ति पुद्गला. । अत कर्माण्यपि न गृह्यन्ते ॥सू०२२॥

इति श्री विश्वविख्यात–जगद्वल्लभ–प्रसिद्धवाचक–पञ्चदश भाषाकलितललितकलापालापक
प्रविशुद्ध गद्यपद्यानैकग्रन्थनिर्मापक शाहुच्छत्रपति कोल्हापुरराजप्रदत्त 'जैन-
शास्त्राचार्य' पदभूषित जैनधर्मदिवाकर पूज्य श्री घासीलाल
व्रतिविरचितस्य दीपिकानिर्युक्ति टीकाद्वयोपेतस्य तत्वार्थ-
सूत्रस्य तृतीयमध्ययनं समाप्तम् ॥३॥

सभी कर्मों के प्रदेशों का परिमाण अनन्त होता है।

सभी जीव छहों दिशाओ से आगत कर्म पुद्‌गलो को ग्रहण करते है और समस्त आत्म-प्रदेशों से ग्रहण करते है। इस प्रकार जीव के साथ कर्मपुद्‌गलों का 'सर्व से सर्व का' बन्ध होता है ॥ १–२ ॥

जहा छहों दिशाओं में लोक होता है, वहा छहो दिशाओ से कर्म गृहीत होते है और जहां तीन चार या पांच दिशाओ में लोक हो वहा क्रमश तीन–चार और पाच दिशाओ से ही कर्मों का ग्रहण होता है। शेष दिशाओ में अलोक होने से पुद्‌गल नहीं है। इसलिये कर्मो का ग्रहण भी नहीं होता है ॥सू०२२॥

श्री जैनशास्त्राचार्य, जैनधर्मदिवाकर पूज्य श्री घासीलालजी महाराज
विरचित तत्वार्थ सूत्रकी दीपिका एव निर्युक्ति
नामक व्याख्याका तीसरा अध्ययन
समाप्त ॥३॥

॥ अथ चतुर्थोऽध्यायः

मूल सूत्रम्—"सुभकम्मं पुण्णं" ॥ १ ॥

छाया—"शुभकर्म पुण्य" ॥ १ ॥

तत्त्वार्थदीपिका— जीवाजीवबन्धपुण्यपापाऽऽस्रवसवरनिर्जरामोक्षाख्येषु नवतत्त्वेषु जीवाजीवबन्धात्मकानि त्रीणि तत्त्वानि प्रथम-द्वितीय-तृतीयाध्यायेषु क्रमश प्ररूपितानि, सम्प्रति—क्रमप्राप्त चतुर्थ पुण्यतत्त्व प्ररूपयितुमाह—"सुभकम्मं पुण्णं" इति. ।

शुभकर्म पुण्यमुच्यते, पुणति-शुभयत्यात्मानमिति पुण्यम् "पुणशुभे" इत्यस्माद औणादिको यत्प्रत्यय, अथवा—पूज्यते पवित्री क्रियते आत्माऽनेनेति पुण्यम्, पुनात्यात्मानमिति वा पुण्य शुभकर्म, पूञ् पवने इत्यस्मात् "पूञो यण्णुक्ह्रस्वश्च—" इत्यौणादिकसूत्रेण यत्प्रत्यय, णुगागमो-ह्रस्वश्चेति पुण्यशब्दसिद्धि ।

तत्र—शुभं कल्याण सुख तज्जनक कर्माऽहिंसादिक पुण्यम् पुण्यजनक व्यपदिश्यते, कारणे कार्योपचारात्, पुण्यजनकेऽहिंसादिशुभकर्मणि पुण्यशब्दोपचाराद् शुभकर्म पुण्य-मित्युच्यते। तच्च—शुभकर्माऽनेकविध प्रज्ञप्तम्। तद्यथा—सातावेदनीयम्-सम्यक्त्वम्-पञ्चमहाव्रतानि-पञ्चाणुव्रतानि-शुभायुष्यम्-शुभनाम-शुभगोत्रम्-सत्यभाषणमित्यादि ॥ १ ॥

चतुर्थ अध्याय

सूत्रार्थ—'सुभकम्मं पुण्णं' सूत्र—१

शुभ कर्म पुण्य कहलाता है ॥१॥

तत्त्वार्थदीपिका— जीव, अजीव, बन्ध, पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा और मोक्ष, नौ तत्त्वों मे से जीव, अजीव और बन्ध तत्त्वो का प्रथम, द्वितीय और तृतीय अध्यायों मे क्रमश विवेचन किया जा चुका है। अब प्रसग प्राप्त पुण्य तत्त्व का विवेचन किया जाता है।

शुभ कर्म को पुण्य कहते है। जो आत्मा को पुनीत (पवित्र-शुभ) बनाता है, या जिसके द्वारा आत्मा पवित्र बनता है, वह पुण्य है। 'पुञ् धातु का अर्थ है पवित्र करना। इस धातु से 'पूञो यण्णुक् ह्रस्वश्च' इस उणादि सूत्र से यत् प्रत्यय, 'णुक्' का आगम और ह्रस्व होने पर 'पुण्य' शब्द की निष्पत्ति हुई है।

कल्याण या सुख को 'शुभ' कहते है और उन्हे उत्पन्न करने वाला कर्म भी 'शुभ' कहलाता है। पुण्य के जनक, अहिंसा आदि शुभ कर्म भी कारण में कार्य का उपचार करने से पुण्य कहे जाते है। वे शुभ कर्म अनेक प्रकार के है, जैसे—सातावेदनीय, सम्यक्त्व, पाँच महाव्रत, पांच अणुव्रत शुभ आयु, शुभ नाम, शुभ गोत्र, सत्यभाषण आदि ॥१॥

सव्वेसिं चेव कम्माणं—पएसग्गमणंतगं— ।
गंठिय सत्ताईयं—अंतो सिद्धाण आउयं— ॥ १ ॥
सव्वजीवाणकम्मंतु—संगहे छद्दिसागयं— ।
सव्वेसु वि पएसेसु—सव्वं सव्वेण वद्धगं— ॥ २ ॥ इति,
सर्वेषाञ्चैव कर्मणां—प्रदेशकमनन्तकम्— ।
ग्रथित सत्त्वादिकम्—अन्ते सिद्धाना मायुष्कम्— ॥ १ ॥
सर्वजीवानां कर्मतु—संग्रहे षड् दिशागतम्— ।
सर्वेष्वपि प्रदेशेषु—सर्व सर्वेण वद्धकम्— ॥ २ ॥ इति,

यत्र यत्र षट्स्वपि दिक्षु लोका भवन्ति, तत्र षड्भ्य एव दिग्भ्य कर्माणि गृह्यन्ते, पुन' यत्र तिसृषु चतसृषु पञ्चसु वा दिशासु लोका भवन्ति तत्र क्रमश तिसृभ्यश्चतसृभ्य पञ्चभ्यो दिग्भ्य एव कर्माणि गृह्यन्ते। शेषदिशासु, लोकाऽभावभवनात् न सन्ति पुद्गला । अत कर्माण्यपि न गृह्यन्ते ॥सू०२२॥

इति श्री विश्वविख्यात—जगद्वल्लभ—प्रसिद्धवाचक—पञ्चदश भाषाकलितललितकलापालापक प्रविशुद्ध गद्यपद्यानैकग्रन्थनिर्मापक शाहुच्छत्रपति कोल्हापुरराजप्रदत्त 'जैन-शास्त्राचार्य' पदभूषित जैनधर्मदिवाकर पूज्य श्री घासीलाल व्रतिविरचितस्य दीपिकानिर्युक्ति टीकाद्वयोपेतस्य तत्वार्थ-सूत्रस्य तृतीयमध्ययनं समाप्तम् ॥३॥

सभी कर्मों के प्रदेशों का परिमाण अनन्त होता है।

सभी जीव छहो दिशाओ से आगत कर्म पुद्गलो को ग्रहण करते है और समस्त आत्म-प्रदेशों से ग्रहण करते है । इस प्रकार जीव के साथ कर्मपुद्गलों का 'सर्व से सर्व का' बन्ध होता है ॥ १—२ ॥

जहा छहों दिशाओं में लोक होता है, वहा छहों दिशाओ से कर्म गृहीत होते है और जहां तीन चार या पांच दिशाओं में लोक हो वहा क्रमश तीन—चार और पाच दिशाओ से ही कर्मों का ग्रहण होता है। शेष दिशाओ में अलोक होने से पुद्गल नहीं है। इसलिये कर्मो का ग्रहण भी नहीं होता है ॥सू०२२॥

श्री जैनशास्त्राचार्य, जैनधर्मदिवाकर पूज्य श्री घासीलालजी महाराज विरचित तत्वार्थ सूत्रकी दीपिका एव निर्युक्ति नामक व्याख्याका तीसरा अध्ययन समाप्त ॥३॥

॥ अथ चतुर्थोऽध्यायः

मूल सूत्रम्—"सुभकम्मं पुण्णं" ॥ १ ॥

छाया—"शुभकर्म पुण्य" ॥ १ ॥

तत्त्वार्थदीपिका— जीवाजीवबन्धपुण्यपापाऽऽस्रवसवरनिर्जरामोक्षाख्येपु नवतत्त्वेपु जीवाजीवबन्धात्मकानि त्रीणि तत्त्वानि प्रथम-द्वितीय-तृतीयाध्यायेपु क्रमश प्ररूपितानि, सम्प्रति—क्रमप्राप्तं चतुर्थं पुण्यतत्त्वं प्ररूपयितुमाह—"सुभकम्मं पुण्णं" इति. ।

शुभकर्म पुण्यमुच्यते, पुणति-शुभयत्यात्मानमिति पुण्यम् "पुणशुभे" इत्यस्माद औणादिको यत्प्रत्यय, अथवा—पूज्यते पवित्री क्रियते आत्माऽनेनेति पुण्यम्, पुनात्यात्मानमिति वा पुण्य शुभकर्म, पुञ् पवने इत्यस्मात् "पूञो यण्णुक्ह्रस्वश्च—" इत्यौणादिकसूत्रेण यत्प्रत्यय, णुगागमो-ह्रस्वश्चेति पुण्यशब्दसिद्धि ।

तत्र—शुभ कल्याण सुख तज्जनक कर्माऽहिंसादिकं पुण्यम् पुण्यजनक व्यपदिश्यते, कारणे कार्योपचारात, पुण्यजनकेऽहिंसादिशुभकर्मणि पुण्यशब्दोपचाराद शुभकर्म पुण्य-मित्युच्यते । तच्च—शुभकर्माऽनेकविध प्रज्ञप्तम् । तद्यथा—सातावेदनीयम्-सम्यक्त्वम्-पञ्चमहाव्रतानि-पञ्चाणुव्रतानि-शुभायुष्यम्-शुभनाम-शुभगोत्रम्-सत्यभाषणमित्यादि ॥ १ ॥

चतुर्थ अध्याय

सूत्रार्थ—'सुभकम्मं पुण्णं' सूत्र—१

शुभ कर्म पुण्य कहलाता है ॥१॥

तत्त्वार्थदीपिका— जीव, अजीव, बन्ध, पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा और मोक्ष, नौ तत्त्वों मे से जीव, अजीव और बन्ध तत्वो का प्रथम, द्वितीय और तृतीय अध्यायों मे क्रमश विवेचन किया जा चुका है । अब प्रसग प्राप्त पुण्य तत्त्व का विवेचन किया जाता है ।

शुभ कर्म को पुण्य कहते हैं । जो आत्मा को पुनीत (पवित्र-शुभ) बनाता है, या जिसके द्वारा आत्मा पवित्र बनता है, वह पुण्य है । 'पुञ्' धातु का अर्थ है पवित्र करना । इस धातु से 'पूञो यण्णुक् ह्रस्वश्च' इस उणादि सूत्र से यत् प्रत्यय, 'णुक्' का आगम और ह्रस्व होने पर 'पुण्य' शब्द की निष्पत्ति हुई है ।

कल्याण या सुख को 'शुभ' कहते है और उन्हे उत्पन्न करने वाला कर्म भी 'शुभ' कहलाता है । पुण्य के जनक, अहिंसा आदि शुभ कर्म भी कारण में कार्य का उपचार करने से पुण्य कहे जाते हैं । वे शुभ कर्म अनेक प्रकार के है, जैसे—सातावेदनीय, सम्यक्त्व, पाँच महाव्रत, पाच अणुव्रत शुभ आयु, शुभ नाम, शुभ गोत्र, सत्यभाषण आदि ॥१॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—यद्यपि–"**नव सब्भावपयत्था पण्णत्ता, तंजहा–जीवा अजीवा पुण्णं पावो आसवो संवरनिज्जरा बंधो मोक्खो–**" इतिस्थानाङ्गस्य९स्थाने कथनानुसारेण नवतत्त्वेषु पुण्य तृतीयतत्त्वमेव वर्तते । तथाहि—

"जीवाजीवा य बंधो य पुण्णं पावाऽऽसवो तहा–।
संवरो निज्जरा मोक्खो संतेए तहिया नव–॥ इति

उत्तराध्ययने बन्धतत्त्वमेव तृतीय प्रतिपादितम् तस्मात् तदनुसारेण प्रथम–द्वितीय–तृतीयाध्यायेषु क्रमशो जीवाजीवबन्धरूपाणि त्रीणि तत्त्वानि प्ररूप्य सम्प्रति – क्रमप्राप्त चतुर्थं पुण्यतत्त्व प्रतिपादयितुमाह–'**सुभकम्म पुण्णं**" इति । शुभकर्मपुण्यमित्युच्यते । तथाच- यत्कर्मोदयात् शुभोज्वलपुद्गलबन्धद्वारा यत्फलोपभोगआत्मानुकूलो भवति, तत्पुण्यतत्त्वमुच्यते इतिभाव । एवञ्च–सोत्तरप्रकृतिकमष्टप्रकारक ज्ञानावरण–दर्शनावरण–वेदनीय–मोहनीया–ऽऽयु–र्नामगोत्रान्तरायरूप मूलप्रकृतिकं पौद्गलिक कर्म द्विविध प्रज्ञप्तम्, पुण्य पापञ्च । तत्र–यच्छुभ कर्म तत्पुण्यम्, तत्र–भूतानुकम्पा–व्रत्यनुकम्पा–दान सराग–सयमादिहेतुक सातावेदनीयम्–१ शुभायुष्क तैरश्च मानुष दैवच–२ सप्तत्रिंशत्प्रकारक शुभनाम–३उच्चैर्गोत्रात्मक शुभगोत्र च-४इत्येतच्चतुर्विध शुभकर्मपुण्यम्,

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—यद्यपि स्थानांग सूत्र के नौवे स्थान मे जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष, इस क्रम से नौ तत्त्वो की गणना की गई है । इसके अनुसार तीसरा तत्त्व पुण्य है, किन्तु उत्तराध्ययन सूत्र के अनुसार तीसरा तत्त्व बन्ध है। उत्तराध्ययन के २८ वे अध्ययन में कहा है |

'जीव, अजीव, बन्ध, पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा और मोक्ष, ये नौ तत्त्व है ।'

यहाँ उत्तराध्ययन सूत्र में प्ररूपित क्रम के अनुसार ही प्रथम अध्याय मे जीव का, दूसरे म अजीव का और तीसरे मे बन्ध के स्वरूप की प्ररूपणा की गई है । अब क्रम प्राप्त चौथे पुण्य तत्त्व का प्रतिपादन करने के लिए कहा गया है—'शुभ कर्म पुण्य है ।'

तात्पर्य यह है कि जिस कर्म के उदय से शुभ-उज्ज्वल कर्म के बन्ध द्वारा आत्मा को अनुकूल फलोपभोग होता है, वह पुण्य तत्त्व कहलाता है । इस प्रकार ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम गोत्र और अन्तराय, इन आठ मूल प्रकृतियाँ है तथा इनकी उत्तर प्रकृतियाँ दो प्रकार की है—पुण्य रूप और पापरूप । इनमें जो कर्म शुभ है वह पुण्य है । प्राणियों को अनुकम्पा, व्रती जनो की अनुकम्पा तथा सराग सयम आदि कारणो से बँधने वाला साता वेदनोय (१), शुभआयु अर्थात् तिर्यंचआयु, मनुष्यआयु और देवआयु (२), सैंतीस प्रकार का शुभ नाम (३), और उच्च गोत्र (४), यह चार प्रकार के शुभ कर्म पुण्य हैं । इसके सिवाय सब अशुभ कर्म पाप रूप है । पाप तत्त्व की प्ररूपणा पाँचवें अध्याय में की जाएगी ।

ततोऽन्यत्पापम् । तच्च–पञ्चमे पापाध्याये प्ररूपयिष्यते । शुभायुष्क कर्म त्रिप्रकारकम्,–तिर्यक्सम्बन्धि–मनुष्यसम्बन्धि–देवसम्बन्धिभेदात् । शुभनामकर्म तावत्–सप्तत्रिंशत्प्रकारमवसेयम् । मनुष्यदेवगति–२ पञ्चेन्द्रियजाति–१ औदारिकादिशरीरपञ्चक–५ समचतुरस्रसंस्थान–१ वज्रर्षभ नाराचसंहनन–१ औदारिकवैक्रिया–ऽऽहारकशरीरत्रयाङ्गोपाङ्ग–३ प्रशस्त-वर्ण,गन्ध,रस,स्पर्श,४ मनुष्यदेवानुपूर्वी–२ अगुरुलघु–पराघातो–च्छ्वासा–ऽऽतपो-द्योत–प्रशस्तविहायोगति-त्रस-बादर–पर्याप्त–प्रत्येक–स्थिर–शुभ–सुभग–सुस्वरा–ऽऽदेय-यश –कीर्ति–निर्माण–तीर्थकरनाम–१८ भेदात् इति ॥ १ ॥

मूल सूत्रम्—"नवविहे–पुण्णे–" ॥ २ ॥

छाया—"नवविधं पुण्यम्–" ॥ २ ॥

तत्त्वार्थदीपिका— पूर्वसूत्रे–पुण्यस्वरूपमुक्तम्, सम्प्रति–तद्भेदान् प्रतिपादयितुमाह—"नवविहे पुण्णे–" इति ॥ २ ॥ –॥–

नवविधम्–नवप्रकारकं तावत्– पुण्य प्रज्ञप्तम्, तद्यथा—अन्नपुण्यम् –१ पानपुण्यम्–२ वस्त्रपुण्यम्–३ लयनपुण्यम्–४ शयनपुण्यम्–५ मन पुण्यम्–६ वच पुण्यम्–७ कायपुण्यम्–८ नमस्कारपुण्यम्–९ इति–॥

शुभ आयु कर्म के तीन भेद हैं—तिर्यंचसबधी, मनुष्यसबधी और देवसबधी। शुभ नामकर्म सैंतीस प्रकार का है—(१) मनुष्यगति (२) देवगति (३) पंचेंद्रियजाति (४-८) औदारिक आदि पाँच शरीर (९) समचतुरस्र सस्थान (१०) वज्र–ऋषभनाराच संहनन (११) औदारिक–अगोपाग (१२) वैक्रिय–अगोपाग (१३) आहारक–अंगोपांग (१४) प्रशस्त वर्ण (१५) प्रशस्त गध (१६) प्रशस्त रस (१७) प्रशस्त स्पर्श (१८) मनुष्यानुपूर्वी (१९) देवानुपूर्वी (२०) अगुरु लघु (२१) पराघात (२२) उच्छ्वास (२३) आतप (२४) उद्योत (२५) प्रशस्त विहायोगति (२६) त्रस (२७) बादर (२८) पर्याप्त (२९) प्रत्येक (३०) स्थिर (३१) शुभ (३२) सुभग (३३) सुस्वर (३४) आदेय (३५) यश कीर्ति (३६) निर्माण और (३७) तीर्थंकर नाम कर्म ॥१॥

सूत्रार्थ –'नवविहे पुण्णे' सूत्र २

पुण्य नौ प्रकार का है ॥२॥

तत्त्वार्थदीपिका– पूर्व सूत्र मे पुण्य का स्वरूप बतलाया गया है। अब उसके भेदो का प्रतिपादन करते हैं—

पुण्य के नौ भेद है। वे इस प्रकार है (१) अन्नपुण्य (२) पानपुण्य (३) वस्त्रपुण्य (४) लयनपुण्य (५) शयनपुण्य (६) मनःपुण्य (७) वचनपुण्य (८) कायपुण्य और (९) नमस्कारपुण्य ॥२॥

तत्त्वार्थदीपिका— पूर्वसूत्रे अन्नपुण्यादिभेदेन पुण्यं नवविधं प्ररूपितम्, सम्प्रति—तस्य पुण्यस्य द्विचत्वारिंशद्विध भोग प्रतिपादयितुमाह—"**तब्भोगो बायालीसभेएणं**—" इति । तस्य पूर्वोपात्तस्य शुभकर्मरूपपुण्यस्य भोग सुखदु:खानुभवलक्षणो द्वाचत्वारिंशदभेदेन भवति । तद्यथा—सातावेदनीयम्—१, युगलतिर्यङ्मनुष्यदेवायूंषि—३, मनुष्यदेवगती—२, पञ्चेन्द्रियजातिः—१, औदारिकादिशरीराणि पञ्च—५, समचतुरस्रसस्थानम् १,

वज्रर्षभनाराचसहननम्—१, औदारिक—वैक्रियाऽऽहारकशरीरत्रयाङ्गोपाङ्गानि—३, प्रशस्त वर्णगन्धरसस्पर्शाः—४, मनुष्यदेवानुपूर्व्यौ—२, अगुरुलघु-पराघातो- च्छ्वासा-ऽऽतपो-द्योत-प्रशस्त विहायोगति—स-बादर—पर्याप्त-प्रत्येकशरीर-स्थिर-शुभसुभग-सुस्वरा—ऽऽदेय-यश' कीर्ति—निर्माण — तीर्थकरो—च्चैर्गोत्राणि १९ इत्येतैर्द्वाचत्वारिंशद्विधै' पुण्यस्य सुखरूपफलभोगो भवतीति बोध्यम् ॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं नवधाभिन्न पुण्य प्ररूपितम्, पुण्यस्य द्विचत्वारिंशद्भेदान् फल-भोगप्रकार प्ररूपयितुमाह—"**तब्भोगो बायालीसभेएणं**—" इति । तद्भोग'—तस्य शुभकर्मरूपपुण्यस्य भोग' सुखरूपफलानुभव द्वाचत्वारिंशदभेदेन सम्पद्यते—तथाहि— '**सायं—१ उच्चागोयं—१ नरतिरियदेवाउ—३ मणुस्सदेवगई—२ । पंचिंदियजाइ—१ तणुपणगं—५ अंगोवंगतियंपि—३ वज्जरिसहनारायं संहननं—१ समचउरंससंठाणं—१ वण्णाइ चउक्कसुपसत्थं—४ मणुस्सदे-वाणुपुव्वीए—२ अगुरुलहु—१ पराघायं—१ उस्सासं—१ आयवं—१ उज्जोयं—सुपसत्था विह-यगई—तसाइदसगं—१० णिम्माणं—१ तित्थयरं—१ बायालीसा पुन्नपगईओ**—" इति ।

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्र में अन्नपुण्य आदि नौ प्रकार के पुण्य का प्ररूपण किया गया अब पुण्य के बयालीस प्रकार के भोग बतलाने के लिए कहते है—पूर्वोपार्जित शुभ कर्म रूप पुण्य का सुखानुभव रूप भोग बयालीस प्रकार से होता है । वह इस प्रकार है—(१) सातावेदनीय (२) तिर्यंचायु (३) मनुष्यायु (४) देवायु (५) मनुष्यगति (६) देवगति (७) पंचे-न्द्रियजाति ८--१२ औदारिक आदि पाँच शरीर (१३) समचतुरस्र सस्थान (१४) वज्र ऋषभ-नाराचसहनन (१५--१७) औदारिक, वैक्रिय, आहारक के अगोपांग (१८) प्रशस्तवर्ण (१९) प्रशस्तगन्ध (२०) प्रशस्तरस (२१) प्रशस्त स्पर्श (२२) मनुष्यानुपूर्वी (२३) देवानुपूर्वी (२४) अगुरुलघु (२५) पराघात (२६) उच्छ्वास (२७) आतप (२८) उद्योत (२९) प्रशस्त-विहायोगति (३०) त्रस (३१) बादर (३२) पर्याप्त (३३) प्रत्येक शरीर (३४) स्थिर (३५) शुभ (३६) सुभग (३७) सुस्वर (३८) आदेय (३९) यश.कीर्ति (४०) निर्माण (४१) तीर्थंकर गोत्र और (४२) उच्चगोत्र ।

इस बयालीस प्रकारो से पुण्य का सुख रूप भोग होता है, ऐसा समझना चाहिए ॥३॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पहले बतलाया गया है कि पुण्य नौ प्रकार का होता है । अब यह बतलाते हैं कि पुण्य बयालीस प्रकार से भोगा जाता है अर्थात् पुण्य के फलस्वरूप बयालीस भावो की प्राप्ति होती है—

मातम्--१ उच्चैर्गोत्रम्--१ नरतिर्यग्देवायूंषि--३ मनुष्यदेवगती--२ पञ्चेन्द्रियजाति --१ तनुपञ्चकम्--५ अङ्गोपाङ्गत्रितयमपि--३ समचतुरस्रसस्थानम्--१ वज्रर्षभनाराचसहननम्--१ वर्णादिचतुष्कसुप्रशस्तम्--४ मनुष्यदेवानुपूर्व्यौं--२ अगुरुलघु--१ पराघात --१ उच्छ्वास --१ आतप --१ उद्द्योत --१ सुप्रशस्ता विहायोगति -- त्रसादिदशकम्--१० निर्माणम्--१ तीर्थकर --१ एता द्वाचत्वारिंशत् पुण्यप्रकृतय. सन्ति

तथाच---सातावेदनीयम्, तिर्यगायुष्ययुगलरूपम्, मनुष्यायुपम् देवायुष्यम्, मनुष्यगति , देवगति', पञ्चेन्द्रियजाति , औदारिकशरीरम्, वैक्रियशरीरम्, आहारकशरीरम्, तैजसशरीरम्, कार्मणशरीरम् औदारिकशरीराङ्गोपाङ्गम्, वैक्रियशरीराङ्गोपाङ्गम, आहारकशरीराङ्गोपाङ्गम्, वज्रर्षभनाराचसहननम्, समचतुरस्रसस्थानम, शुभवर्ण', शुभगन्ध., शुभरसः, शुभस्पर्श , मनुष्यानुपूर्वी, देवानुपूर्वी अगुरुलघुनाम, पराघातनाम, उच्छ्वासनाम, आतपनाम उद्द्योतनाम, प्रशस्तविहायोगति , निर्माणनाम, तीर्थंकरनाम त्रसनाम, बादरनाम, पर्याप्तनाम, प्रत्येकशरीरनाम, स्थिरनाम, शुभनाम सुभगनाम, सुस्वरनाम, आदेयनाम, यश कीर्तिनाम, उच्चैर्गोत्रनामभेदैं पुण्यस्य फल सुखमनुभूयते जीवै ॥३॥

शुभ कर्म रूप पुण्य का सुखानुभव रूप फल बयालीस प्रकार से प्राप्त होता है। वह बयालीस प्रकार इस तरह हैं---(१) सातावेदनीय (२) उच्चगोत्र (३) मनुष्यायु (४) तिर्यंचायु (५) देवायु (६) मनुष्यगति (७) देवगति (८) पचेन्द्रियजाति (९) औदारिक शरीर (१०) वैक्रियशरीर (११) आहारकशरीर (१२) तैजसशरीर (१३) कार्मणशरीर (१४) औदारिक--अंगोपांग (१५) वैक्रिय--अंगोपाग (१६) आहारक--अंगोपाग (१७) वज्रऋषभनाराचसहनन (१८) समचतुरस्रसस्थान (१९) शुभवर्ण (२०) शुभगध (२१) शुभरस (२२) शुभस्पर्श (२३) मनुष्यानुपूर्वी (२४) देवानुपूर्वी (२५) अगुरुलघु (२६) पराघात (२७) उच्छ्वास (२८) आतप (२९) उद्योत (३०) सुप्रशस्त विहायोगति (३१--४०) त्रसदशक अर्थात् त्रस, बादर पर्याप्त, प्रत्येकशरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर आदेय, यश कीर्ति, तथा (४२) तीर्थंकरप्रकृति और (४१) उच्चगोत्र निर्माण यह बयलीस पुण्यप्रकृतियाँ कही गई है।

अभिप्राय यह है कि पूर्वोपार्जित पुण्य के फलस्वरूप सातावेदनीय की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार तिर्यंचायु, मनुष्यायु, देवायु, मनुष्यगति, देवगति, पचेन्द्रियजाति, औदारिकशरीर, वैक्रिय शरीर, आहारक शरीर, तैजस शरीर, कार्मण शरीर, औदरिकशरीरांगोपांग, वैक्रियशरीरागोपाग, आहारकशरीरांगोपांग, वज्रर्षभनाराचसहनन, समचतुरस्रसस्थान, शुभ (इष्ट) वर्ण, शुभगध, शुभरस, शुभस्पर्श, मनुष्यानुपूर्वी, देवानुपूर्वी अगुरुलघुनाम पराघातनाम, उच्छ्वासनाम आतपनाम उद्योतनाम, प्रशस्तविहायोगति, निर्माणनाम तीर्थंकरनाम, त्रसनाम, बादरनाम, पर्याप्तनाम प्रत्येकशरीरनाम स्थिरनाम, शुभनाम, सुभगनाम, सुस्वरनाम आदेयनाम यश कीर्त्तिनाम और उच्चगोत्रनाम इन भेदों से पुण्य का फल भोगा जाता है ॥३॥

मूलसूत्रम्—"सायावेयणिज्जं पाणाणुकंपाइएहिं- " ॥४॥

छाया—"सातावेदनीयं प्राणानुकम्पादिभिः-" ॥४॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे सातावेदतीयादिद्वाचत्वारिशद्विधकर्मभि. पुण्यफलभोगो भवतीति प्रतिपादितम्, सम्प्रति–तेषु प्रथमोपात्त सातावेदनीय कर्म कि स्वरूप कश्च तद्धेतुरिति प्ररूपयितु–माह—**"सायावेयणिज्जं पाणाणुकंपाइएहिं-"** इति।

सातावेदनीय कर्म प्राणानुकम्पादिभिर्भवति, तत्र कर्तुर्भोक्तुश्चात्मनः इष्टमभिमत मनुजदेवादि-जन्मनि शरीरमनोद्वारेण सुखपरिणतरूपमागामिबहुविधमनोज्ञद्रव्यक्षेत्रकालभावसम्बन्धसमासादित-परिपाकावस्थमनेकप्रकारकं यदुदयाद् भवति तत् सातावेदनीय कर्मोच्यते, तच्च प्राणानुकम्पा–भूतानुकम्पा–जीवानुकम्पा–सत्त्वानुकम्पाभि',तथा प्राणभूतजीवसत्त्वानाम्-अदु'खनता, १ अशो चनता, २ अझूरणता, ३ अतेपनता, ४ अपिट्टनता, '५ अपरितापनता, ६ एभि षड्भिश्च एव दशभि कारणैर्बध्यते ॥ सू. ४ ॥

सूत्रार्थ—'सायावेयणिज्जं' इत्यादि सू. ४

प्राणानुकम्पा आदि कारणों से सातावेदनीय कर्म बधता है ॥४॥

तत्त्वार्थदीपिका—पहले सूत्रमें प्रतिपादन किया गया है कि सातावेदनीय आदि बयालीस प्रकार से पुण्य के फल का भोग होता है। अब यह प्रतिपादन करते है कि उन बयालीस भेदों में सर्वप्रथम गिने हुए सातावेदनीय कर्म का स्वरूप क्या है ? और उसका कारण क्या है ?

सातावेदनीय कर्म की प्राप्ति प्राणियों की अनुकम्पा आदि कारणो से होती है। उसका फल कर्त्ता और भोक्ता आत्मा को इष्ट–मनोज्ञ होता है। मनुष्यजन्म या देवादिजन्मों में शरीर और मन के द्वारा सुख-परिणतिरूप होता है। आगामी काल में अनुकूल द्रव्य क्षेत्र काल भाव के निमित्त से उसका मनोज्ञ परिपाक होता है। तात्पर्य यह है कि जिस कर्म के परिपाक से अनुकूल एवं अभीष्ट सुख रूप अनुभूति होती है वह सातावेदनीय कर्म कहलाता है।

प्राणियों पर अनुकम्पा करने से, भूतो पर अनुकम्पा करने से, जीवों पर अनुकम्पा करने से, सत्त्वों पर अनुकम्पा करने, तथा प्राणभूत जीव सत्त्वों को अदु'खनता–दुःख नहीं पहुँचाने से १, अशोचनता–शोक नहीं पहुँचाने से २, अजूरणता–शरीर शोषणजनक शोक नहीं पहुँचाने से ३, अतेपनता–अश्रुपातजनक शोक नहीं पहुँचाने से ४, अपिट्टनता–लाठी आदि द्वारा नहीं पीटने से ५, अपरितापनता–शारीरिक मानसिक सताप नहीं पहुँचाने से ६, इस प्रकार चार प्रकार की अनुकम्पा और छ प्रकार की अदु खनता आदि ऐसे दश कारणो से साता वेदनीय कर्म का बन्ध होता है ॥ ४ ॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पुण्य शुभ कर्म है, यह पहले कहा जा चुका है। साता वेदनीय आदि

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं शुभकर्मरूपं पुण्य प्रतिपादितम् तस्य च "सुखानुभवलक्षणफलभोग सातावेदनीयादिद्विचत्वारिंशद्विधै कर्मभि सम्पद्यते इत्यप्युक्तम्। तत्र–प्रथमोपात्त सातावेदनीयं कर्म प्ररूपयितुमाह-"सायावेयणिज्जं पाणाणुकंपाइएहिं" इति। सातावेदनीय कर्म प्राणानुकम्पादिभिर्हेतुभिर्बध्यते, तत्र प्राणानुकम्पागतादिशब्देन भूतानुकम्पा, जीवानुकम्पा, सत्त्वानुकम्पा, एषा त्रयाणां पदानाम्, तथा एषा चतुर्णा विषये अदु'खनतादीनां षण्णां पदाना च सग्रहो वोध्य। तत्र प्राणा.— द्वित्रिचतुरिन्द्रिया, भूता'—वनस्पतय जीवा'—पञ्चेन्द्रिया', सत्त्वा' पृथिव्यप्तेजोवायव'—उक्तञ्च—

"प्राणा–द्वि त्रि चतुः प्रोक्ताः, भूतास्तु तरवः स्मृताः।
जीवाः पञ्चेन्द्रियाः प्रोक्ताः, शेषाः सत्त्वा उदीरिताः ॥ १ ॥ इति '।

तेषां तेषु वा अनुकम्पा–कारुण्य दयाभाव., एषा दु खेषु दु'खभावना, म्रियमाणेषु मार्यमाणेषु वा तद्रक्षणमित्यादि, समवेदनाऽनुभवनं चेति चत्वार' प्रकाराः ४, तथा एषामेव अदु'खनता १, अशोचनता २, अजूरणता ३, अतेपनता ४, अपिट्टनता ५, अपरितापनता ६, एते षडपि यावत् पदसग्राह्या'सन्ति, तत्र अदु'खनता–प्राणादीनां दु'खानुत्पादनम् १, अशोचनता–शोकानुत्पादनम् २, अजूरणता–शरीरशोषणजनकशोकानुत्पादनम् ३, अतेपनता–अश्रुपातादिजनकशोकानुत्पादनम् ४, अपिट्टनता यष्ट्यादिभिरताडनम् ५, अपरितापनता–शारीरमानससन्तापानु-

---

बयालीस प्रकार से उसके फल का भोग होता है, यह भी बतलाया जा चुका है। अब पहले ग्रहण किये हुए सातावेदनीय कर्म की प्ररूपणा करने के लिये कहते है—

"सायावेयणिज्जं पाणाणुकंपाइएहिं" इत्यादि। —

सातावेदनीय कर्म का प्राणानुकम्पा आदि कारणो से बन्ध होता है। यहाँ प्राणानुकम्पा के साथ लगे हुए आदि शब्द से भूतानुकम्पा, जीवानुकम्पा, सत्वानुकम्पा इन तीन पदो का तथा इन्हीं प्राणभूत जीव सत्त्वों के विषय में अदुःखनता आदि छह पदों का सग्रह समझना चाहिये। वे छह पद इस प्रकार है - अदु.खनता-१ अशोचनता-२ अजूरणता-३ अतेपनता-४ अपिट्टनता-५, और अपरितापनता-६, यहाँ प्राण शब्द से द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय, भूतशद्व से वनस्पतिकाय, जीवशब्द से पञ्चेन्द्रिय और सत्व शब्द से शेष पृथिवी पानी, अग्नि और वायुकाय समझना चाहिये। इसी के विषय में कहा भी है "प्राणा द्वि-त्री –चतुः प्रोक्ता" इत्यादि। इनकी अथवा इनमें अनुकम्पा–करुणा अर्थात् दयाभाव रखना, इनके दु'ख में दु'ख प्रकट करना, मरते हुए अर्थात् किसी अन्य द्वारा मारे जाते हुए इनका रक्षण करना। तथा इनकी वेदना में समवेदना प्रकट करना अनुकम्पा कहलाती है, इन चार प्रकार की अनुकम्पा से तथा इन्हीं चारो के विषय में अदु खनता—दु ख नहीं पहुँचाना १, अशोचनता–शोक नहीं पहुँचाना २, अजूरणता–जिससे शरीर सूख जाय ऐसा शोक नहीं पहुंचाना ३, अते-

त्पादनम् एते षट् पूर्वोक्तैश्चतुर्भिरेभि - षड्भिरेव दशभि' कारणैर्जीवस्य सातावेदनीय कर्म वध्यते। उक्तञ्च—व्याख्याप्रज्ञप्तौ भगवतीसूत्रे ७, शतके—६ उद्देशके—

"कहं णं भंते जीवाणं सायावेयणिज्जा कम्मा किज्जंति ? गोयमा ! "पाणाणुकंपाए भूयाणुकंपाए—जीवाणुकंपाए-सत्ताणुकंपाए—बहूणं पाणाणं जाव सत्ताणं अदुक्खणयाए-असोयणयाए—अजूरणयाए—अतिप्पणयाए—अपिट्टणयाए—अपरियावणयाए, एवं खलु गोयमा ! जीवाणं सायावेयणिज्जा कम्मा किज्जंति—" इति।

कथ खलु भदन्त ! जीवानां शातावेदनियानि कर्माणि क्रियन्ते ? गौतम ! प्राणानुकम्पतया भूतानुकम्पतया—जीवानुकम्पतया सत्त्वानुकम्पतया बहूनां प्राणाना यावद्भूतानां जीवानां सत्त्वानाम् अदुःखनतया—अशोचनतया अजूरणतया अतेपनतया अपिट्टनतया अपरितापनतया, एव खलु गौतम ! जीवाना शातावेदनीयानि कर्माणि क्रियन्ते इति ॥ सू० ४ ॥

मूलसूत्रम्—"अप्पारंम्भ—अप्पपरिग्गहाइएहिं मणुस्साउए—" ॥ ५ ॥

छाया—"अल्पारम्भाऽल्पपरिग्रहादिभिर्मनुष्यायुष्यम्—" ॥ ५ ॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे सातावेदनीयरूपपुण्यकर्मबन्धहेतव. प्ररूपिता., सम्प्रति—मनुष्यायुष्यरूपपुण्यकर्मबन्धहेतून् प्ररूपयितुमाह—**"अप्पारम्भ०"** इत्यादि। अल्पारम्भाल्पपरिग्रहादिभिर्हेतुभिर्मनुष्यायुष्यं पुण्यकर्म बध्यते—।

तत्राऽल्पारम्भ'—अल्प स्तोक आरम्भ प्राणिप्राणव्यपरोपणजनककार्यम्—तत्राल्पता—

पनता जिसके कारण अश्रुपात होने लगे, मुह से लारे गिरने लगे, ऐसा शोक नहीं पहुंचाना४, अपिट्टनता लाठी आदि से नही पीटना५, अपरितापना—शारीरिक मानसिक किसी प्रकार का सन्ताप नहीं पहुचाना६, इस प्रकार पूर्वोक्त चार प्रकार की अनुकम्पा रूप कारण तथा ये छह कारण,, इन दश प्रकार के कारणों से जीव के सातावेदनीय कर्म का बन्ध होता है। इस विषय पर व्याख्याप्रज्ञप्ति अर्थात् भगवती सूत्र शतक ७ उद्देश ६ में कहा है—**'कहं णं भंते ! जीवाणं सायावेणिज्जा कम्मा कज्जंति"** इत्यादि। सूत्र—४

सूत्रार्थ—"अप्पारंभ अप्पपरिग्गहाइ" सूत्र—५

अल्प आरम्भ और अल्प परिग्रह आदि कारणो से मनुष्यायु का बन्ध होता है ॥५॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्र में सातावेदनीय रूप पुण्य कर्म के कारणों की प्ररूपणा करने के लिए कहते है—

अल्प आरभ और अल्प परिग्रह आदि कारणों से मनुष्यायु रूप पुण्य कर्म का बन्ध होता है।

आरम्भ का अर्थ है प्राणियों के प्राणों का व्यपरोपण—नाश करने वाला कार्य—

अल्पारम्भ –स्थूलप्राणातिपातादिजनकव्यापारत्याग अल्पपरिग्रह —आभ्यन्तरेपु रागद्वेषाद्यात्मपरिणामेषु बाह्यक्षेत्रवास्तुहिरण्यधनधान्यादिपु ममत्वत्याग , आदिपदेन स्वभावमार्दम आर्जवञ्च गृह्यते। तथाच—अल्पारम्भाऽल्पपरिग्रहस्वभावमार्दवार्जवैश्चतुर्भिर्हेतुभूतैर्मनुष्यायुष्य पुण्यकर्म बध्यते ॥ ५ ॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं सर्वभूतानुकम्पादय सप्त सातावेदनीयरूपपुण्यकर्मबन्धहेतुतया प्रतिपादिता सम्प्रति–मनुष्यायुष्यरूपपुण्यकर्मबन्धस्य हेतुत्वेना-ऽल्पारम्भादय प्ररूप्यन्ते—

"अप्पारंभ अप्पपरिग्गहाइएहिं मणुस्साउए–" इति अल्पारम्भाऽल्पपरिग्रहादिभि कारणैर्मनुष्यायुष्य कर्म बध्यते, तच्च–पुण्यरूपमवसेयम्- । तत्रा–ऽल्पारम्भ. स्थूलप्राणातिपातादि-जनकव्यापारविरतिरूप । अल्पपरिग्रह –आन्तरेपु रागद्वेषाद्यात्मपरिणामरूपेपु बाह्येपु च क्षेत्रवास्तु-धनधान्यसुवर्णादिषु परिग्रहेषु ममत्वविरतिरूप ।

आदिपदेन स्वभावमार्दवम्, आर्जवञ्च गृह्यते। तत्र–स्वभावेन निसर्गेण–प्रकृत्यैव मार्दवम्–मृदुता, जातिकुल–बलरूपलाभ–तप श्रुतैश्वर्यस्थानेषु गर्वाभाव स्वभावमार्दवमुच्यते। प्रकृतिभद्रत्वम्–प्रकृतिविनीतत्वम् , अमत्सरत्वम् , सानुक्रोशत्वम्– । एव स्वभावेन सहजेन आर्जवम् । ऋजुता–सरलता यथावस्थितमनोवच कायविषयककुटिलताराहित्यम् ।

तथाचा–ऽल्पारम्भता स्तोकप्राणिवधाद्याचरणमपि नान्तरीयकम् अल्पपरिग्रहता शब्दादि-

---

उसकी अल्पता अर्थात् स्थूलप्राणातिपातादिजनक व्यापार का त्याग, अल्पपरिग्रह का अर्थ है आभ्यन्तर रागद्वेषादि आत्मपरिणाम तथा बाह्य क्षेत्र (खेत–खुली जगह), वास्तु (मकान आदि), धन धान्य–स्वर्ण आदि पर ममत्व का त्याग २, । सूत्र मे प्रयुक्त 'आदि' शब्द से स्वभाव की मृदुता अर्थात् कोमलता और ऋजुता अर्थात् सरलता ग्रहण करना चाहिए । इस प्रकार अल्प आरभ, अल्प परिग्रह, स्वभाव की मृदुता तथा ऋजुता, इन चार कारणो से मनुष्यायु रूप पुण्यकर्म का बन्ध होता है ॥५॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—इससे पूर्व सर्वभूतानुकम्पा आदि सात सातावेदनीय कर्म के बन्ध के कारणों का प्रतिपादन किया गया है अब मनुष्यायु रूप पुण्य कर्म के कारणो की प्ररूपणाकरते है

अल्प आरभ १ और अल्प परिग्रह २ आदि कारणो से मनुष्यायु रूप पुण्य कर्म का बन्ध होता है ।

अल्पारम्भ वह है जिसमें स्थूल प्राणातिपातादिजनक व्यापार का परित्याग करना । परिग्रह का अर्थ है मूर्छा या गृद्धि । उसमें अल्पता, अर्थात् आन्तरिक रागद्वेषादि आत्मपरिणाम, तथा बाह्य क्षेत्र, वास्तु (महल–मकान) धन धान्य स्वर्ण आदि पदार्थों में ममत्व का त्यागकरना है ।

'आदि' शब्द से स्वभावमार्दव और आर्जव का ग्रहण किया गया है । स्वभाव से अर्थात् प्रकृति से ही मृदुता होना अर्थात् जाति, कुल, बल, रूप, लाभ, तप, श्रुत एव, ऐश्वर्य के विषय में अभिमान न होना स्वभावमार्दव कहलाता है ३ । प्रकृतिभद्रता ४, प्रकृति विनीतता ५,

विषयकाऽल्परागता, अल्पेच्छा वा । स्वभावमृदुता स्वाभाविकीभद्रता । स्वभावऋजुता नैसर्गिकी-सरलता, सुखप्रज्ञापनीयत्वम्, वालुकाराजितुल्यरोषत्वम् स्वागतकरणाद्यभिलाषित्वम्, स्वभाव-मधुरत्वम्, लोकयात्राऽनुग्रहोदासीनता गुरुदेवताऽभिवन्दनाऽतिथिसंविभागशीलत्वम्, धर्मध्यान-शीलत्वम्, मध्यमपरिणामत्वञ्च, इत्येतै खलु—मनुष्यायुष्य कर्म बध्यते इति फलितम् ।

उक्तञ्च—औपपातिके—सूत्रे—"**अप्पारंभा-अप्पपरिग्गहा-धम्मिया-धम्माणुया**" ॥इति॥

अल्पारम्भा, अल्पपरिग्रहा धार्मिका'—धर्मानुगा'— इति ।

"**स्थानाङ्गे ४—स्थाने ४—उद्देशके चोक्तम्— "चउहि ठाणेहि जीवा मणुस्साउयत्ताए कम्मं पगरेति, तं जहा—पगइभद्दयाए—पगइविणीययाए—साणुक्कोसयाए—अमच्छरि-त्ताए—**" इति । चतुर्भि स्थानैर्जीवा मनुष्यायुष्कताय कर्म प्रकुर्वन्ति तद्यथा—प्रकृतिभद्रतया, प्रकृतिविनीततया, सानुक्रोशतया, अमत्सरितया, इति ।

एवम्—उत्तराध्ययने ७—अध्ययने २०—गाथायाञ्चोक्तम्—

वेमायाहिं सिक्खाहिं जे नरा गिहि सुव्वया ।
उवेंति माणुसं जोणिं कम्मसच्चाहुपाणिणो ॥ १
विमायाभिः शिक्षाभिः ये नरा गृहि सुव्रताः ।
उपयन्ति मानुषीं योनिं कर्मसत्याः हि प्राणिनः ॥ १ ॥ इति ॥ ५ ॥

अमत्सरता ५, दयालुता ७, आदि भी इसी के अन्तर्गत है । इसी प्रकार स्वभाव से ऋजुता, सरलता होना या मन, वचन, काय की कुटिलता का त्याग करना आर्जव कहलाता है ।

पूर्वोक्त कथन का फलितार्थ इस प्रकार है—अल्प आरभ करने से अर्थात् कम से कम हिसाजनक प्रवृत्ति करने से, शब्द आदि विषयो मे राग की अल्पता होने से, इच्छा की न्यूनता से, स्वाभाविक भद्रता से, स्वाभाविक सरलता से, सुख प्रज्ञापनीयता से, वालुका मे खींची हुई लकीर के समान अल्प क्रोध होने से, स्वागत करने आदि की अभिलाषा से, स्वभाव की मधुरता होने से, उदासीन भाव के साथ लोकयात्रा का निर्वाह करने से, गुरु एव देव को वन्दन करने से, अतिथिसविभागशील होने से, धर्मध्यानशील होने से एव मध्यम प्रकार के परिणामो को धारण करने से मनुष्यायुकर्म का बन्ध होता है । औपपातिकसूत्र मे कहा है—

अल्प आरम्भ वाले, अल्प परिग्रह वाले, धार्मिक तथा धर्मानुगामी जीव मनुष्यायु का वन्ध करते है ।'

स्थानागसूत्र के चौथे स्थान, चौथे उद्देशक मे कहा है—चार कारणो से जीव मनुष्यायु कर्म का उपार्जन करता है; वे चार कारण इस प्रकार है—(१) प्रकृति से भद्र होना (२) प्रकृति से विनीत होना (३) दयालु होना और (४) अमत्सरी होना ।

इसी प्रकार उत्तराध्ययन सूत्र के सातवें अध्ययन की २० वीं गाथा में कहा है—

मूलसूत्रम्—"सरागसंजमाइएहिं देवाउए" ॥ ६ ॥

छाया—"सरागसयमादिकैर्देवायुष्यम्" ॥ ६ ॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे मनुष्यायुष्यात्मक पुण्यकर्मबन्धहेतव प्ररूपिता सम्प्रति—देवायुष्यरूपपुण्यकर्मबन्धहेतून् प्ररूपयितुमाह—"सरागसंजमाइएहिं देवाउए" इति । सरागसयमादिकैर्देवायुष्य कर्म बध्यते, तत्र—सरागसयमस्तावत् सञ्ज्वलनकषायरूपरागसहवर्तिन सर्वतो हिंसादिविरतिलक्षणपञ्चमहाव्रतरूप सयम

आदिपदेन—देशविरतिलक्षणाणुव्रतरूप सयमासयम । परवशतया—ऽनुरोधाच्चाऽकुशलकर्मनिवृत्तिरूपाऽऽहारादिनिरोधरूपा—ऽकामनिर्जरा, बालस्या—ज्ञानिनस्तपो बालतप, इत्येतै श्चतुर्भिर्हेतुभिर्देवायुष्यबन्धो भवतीति भाव ॥ ६ ॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं तावदल्पारम्भा—ऽल्पपरिग्रहप्रकृतिभद्रत्वादयो मनुष्यायुष्यबन्धहेतुत्वेन प्ररूपिता सम्प्रति—देवायुष्यबन्धस्य हेतुत्वेन सरागसयमादान् प्ररूपयितुमाह—"सरागसंजमाइएहिं देवाउए" इति । सरागसयमादिभि कारणभूतैर्देवायुष्य कर्म बध्यते ।

तत्र—सर्वतो हिसाऽनृतस्तेयमैथुनपरिग्रहेभ्य पापकर्मभ्यो विरतिलक्षणपञ्चमहाव्रतरूप सञ्ज्वलनकषायात्मकरागसहवर्तिन सयम—सरागसयम । आदिपदेन—स्थूलप्राणातिपातादिनिवृ-

---

जो मनुष्य विविध प्रकार की शिक्षा के द्वारा सुव्रतो को धारण करते है, वे मनुष्ययोनि को प्राप्त करते है । सब प्राणियो को अपने—अपने कर्म के अनुसार फल की प्राप्ति होती है ॥५॥

सूत्रार्थ—'सरागसंजमाइ' इत्यादि ॥सूत्र—६॥

सराग सयम आदि कारणों से देवायु का बन्ध होता है ॥६॥

तत्त्वार्थदीपिका पूर्वसूत्र मे मनुष्यायु कर्म के बन्ध के कारणो का कथन किया गया, अब देवायु रूप पुण्यकर्म के बन्ध के कारणो की प्ररूपणा करते है -

सरागसयम आदि देवायु कर्म के बध के कारण है । सरागसयम प्राणातिपातविरमण आदि पाँच महाव्रत रूप सयम जब सञ्ज्वलन कषाय से युक्त होता है, तब वह सरागसयम कहलाता है ।

आदि शब्द से अणुव्रत रूप देशविरति या सयमासयम का ग्रहण करना चाहिए । तथा पराधीन होकर अथवा दूसरेके अनुरोध से अकुशल कृत्य से निवृत्त होने रूप अकामनिर्जरा एव बालतप इन चार कारणों से देवायु का बन्ध होता है ॥६॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पहले बतलाया गया है कि अल्पारम्भ, अल्पपरिग्रह, स्वभाव की भद्रता आदि कारणों से मनुष्यायु का बन्ध होता है अब सरागसयम आदि को देवायु के बन्ध का कारण कहते है—सरागसयम आदि कारणो से देवायु का बन्ध होता है ।

हिंसा, असत्य, स्तेय, मैथुन और परिग्रह, इन पाँच पापो के पूर्ण रूप से विरत होना

त्तिलक्षणदेशविरतिरूपपञ्चाऽणुव्रतात्मक सयमासयम स्थूलप्राणातिपातादितो निवृत्ति सम्पूर्ण-प्राणातिपाताद्येकदेश–स्थूलप्राणातिपातादिरूपदेशतो विरिति'सयमासयम इत्युच्यते–

अतएव–सयमासयमोऽणुव्रतमिति व्यपदिश्यते, अणुच तद् व्रतमित्यणुव्रतम्, अणु–अल्पं-स्तोकं देशतो हिंसादिनिवृत्तिरूप व्रतमणुव्रतमिति व्युत्पत्ति । तस्मात्–सर्वतो हिंसादिविरति' पञ्चमहाव्रतम्, देशतो हिंसादिविरिति पञ्चाऽणुव्रतम् ।

इदमेव व्रतद्वयमत्र सरागसयम–सयमाऽसयमरूपद्वय क्रमशोऽवसेयम् । अकामनिर्जराच–अकामयमानस्याऽनभिलषत एव कर्मपुद्गलपरिशटनरूपा, तत्र–काम इच्छा, प्रेक्षा पूर्वकारित्वम् तदर्थोपयोगवतो निर्जरा–कर्मपुद्गलनिर्जरणम् कामनिर्जरा, न कामनिर्जराया भवति–सा–ऽकाम-निर्जरोच्यते । सा खलु–अकामनिर्जरा परवशतयाऽनुरोधाद्वा–ऽकुशलकर्मनिवृतिरूपा चतुर्विधाहार-निरोधरूपा च ।

बालतपस्तावत्—मिथ्यादर्शनसहवर्तिरागद्वेषाभ्यां व्याप्तस्य सत्वावबोधविमुखस्याऽतत्वेत-त्वाभिनिवेशप्रवृत्तस्य यथावस्थित ज्ञेयविपरीतज्ञानस्य बालस्य धर्मार्थं शीतोष्णादिसहनरूपं तपो-बालतप' प्रोच्यते । इत्येतैश्चतुर्भि –सरागसयम–सयमासयमा–ऽकामनिर्जराबालतपो लक्षणै-

---

पाँच महाव्रत रूप सयम कहलाता है। यह सयम जब सञ्ज्वलनकषाय रूप राग से युक्त होता है तो सरागसंयम कहलाता है।

सूत्र में प्रयुक्त 'आदि' शब्द से सयमासंयम, अकामनिर्जरा और बालतप का ग्रहण करना चाहिए। इनमें से सयमासयम का अर्थ है–स्थूलप्राणातिपात आदि से निवृत्ति रूप देशविरति अर्थात् अणुव्रत आदि का पालन करना। देशविरति, सर्वविरति का आशिक रूप है, अतएव उसे अनुव्रत भी कहते है। इस प्रकार पूर्णरूप से अर्थात् तीन करण और तीन योग से हिंसा आदि का त्याग करना महाव्रत है, और दो करण तीन योग आदि आशिक रूप से उन्हीं पापो का त्याग करना अणुव्रत है। इसी को देशविरति या संयमासंयम भी कहते है।

तीसरा कारण है अकामनिर्जरा। बिना इच्छा ही जो कर्मनिर्जरा होती है, वह अकाम-निर्जरा कहलाती है। काम अर्थात् इच्छा या सोच–समझकर कोई कार्य करना। बिना कामना के ही जो निर्जरा होती है, उसे अकामनिर्जरा कहते है। पराधीनता के कारण या किसी के अनुरोध–आग्रह से प्रेरित होकर आहार आदि का त्याग करने से–भूख सहन कर लेने आदि से होती है।

मिथ्यादर्शन के सहवर्त्ती राग और द्वेष से जो युक्त है, जो तत्त्वज्ञान से विमुख है, मूढ है, कुतत्त्व के आग्रह के वशीभूत होकर प्रवृत्ति करता है, जो वस्तुस्वरूप से विपरीत ज्ञान का धारक है और धर्म समझ कर शीत उष्ण आदि को सहन करता है और अज्ञान कष्ट करता है। अथवा इसी प्रकार के अन्य विपरीत कृत्य करता है, उस पुरुष की तपस्या को बाल तप अर्थात् अज्ञानतप कहते है।

हेतुभिर्देवायुष्यबन्धो भवतीतिभाव । एवम्-धर्मश्रवणगौरव तपोभावना योग्यपात्रदान सम्य-ग्दर्शनादिभिश्च देवायुष्यबन्धो भवतीति बोध्यम् ।

उक्तञ्च-स्थानाङ्गे ४-स्थाने ४-उद्देशके-"चउहि ठाणेहिं जीवा देवाउयत्ताए कम्मं पगरे ति, तं जहा -सरागसंजमेणं संजमासंजमेणं बालतवोकम्मेणं, अकामणिज्जराए" इति । चतुर्भि स्थानै र्जीवा देवायुष्यतया कर्म प्रकुर्वन्ति तद्यथा सरागसयमेन, सयमासयमेन, बालतप कर्मणा, अकामनिर्जरया इति ।

एव सम्यक्त्वेनाऽपि देवायुष्यकर्मबन्धो भवतीतिबोध्यम् । उक्तञ्च प्रज्ञापनाया ६-पदे "वेमाणियावि जइ समद्दिट्ठि पज्जत्तसंखेज्जवासाउयकम्मभूमिगगब्भवक्कंतियमणुस्से-हिंतो उववज्जंति किं संजय सम्मद्दिट्ठिहितो असंजयसम्मद्दिट्ठिपज्जत्तएहिंतो संजयासंजय सम्मद्दिट्ठिपज्जत्तसंखेज्ज०हिंतो उववज्जंति गोयमा ! तिहितोवि उववज्जंति, एवं जाव अच्चुगो कप्पो" इति ।

वैमानिका अपि यदि सम्यग्दृष्टिपर्याप्तसख्येयवर्षायुष्ककर्मभूमिगगर्भव्युत्क्रान्तिकमनुष्येभ्य उत्पद्यन्ते [तर्हि] कि सयतसम्यग्दृष्टिभ्योऽसयतसम्यग्दृष्टिपर्याप्तेभ्य सयतासयतसम्यग्दृष्टि पर्याप्त सख्येयवर्षायुष्ककर्मभूमिगगर्भव्युत्क्रान्तिकमनुष्येभ्य उपपद्यन्ते ? गौतम त्रिभ्योऽप्युत्पद्यन्ते, एव यावद-च्युत कल्प इति ॥६॥

तात्पर्य यह है कि सरागसयम, सयमासयम, अकामनिर्जरा और बालतप, इन चार कारणों से देवायुष्य का बन्ध होता है । इसी प्रकार धर्मश्रवण करने से, तपस्या करने से, बारह भावनाओं के चिन्तन से या तप में भावना रखने से, योग्य पात्र को दान देने से तथा सम्यग्दर्शन आदि कारणो से भी देवायु का बन्ध होता है ।

स्थानांगसूत्र के चौथे स्थान के चौथे उद्देशक मे कहा है -'चार कारणों से जीव देवायु कर्म का बन्ध करते हैं-(१) सरागसयम से (२) सयमासयम से (३) बालतप का आचरण करने से और (४) अकामनिर्जरा से ।

सम्यक्त्व से भी देवायु कर्म का बन्ध होता है । प्रज्ञापनासूत्र के छठे पद में कहा है-

यदि वैमानिक देव सम्यग्दृष्टि, पर्याप्त, सख्यात वर्ष की आयु वाले, कर्मभूमिज, गर्भज मनुष्यों से आकर उत्पन्न होते है तो क्या सयतसम्यग्दृष्टियों से आकर उत्पन्न होते है अथवा असयत सम्यग्दृष्टियो से आकर या सयतासयतसम्यग्दृष्टियों से आकर उत्पन्न होते हैं ? उत्तरमें प्रभु श्री कहते है हे गौतम तीनों से ही आकर उत्पन्न होते है । इस कथन का भाव यह है कि असयतसम्यग्दृष्टि भी वैमानिक देव के रूप मे उत्पन्न हो सकता है, सयतासयत भी और सयत भी वैमानिक देव के रूप मे उत्पन्न हो सकता है। इस कथन से स्पष्ट है कि सम्यग्दर्शन भी देवायु का कारण होता है ॥६॥

त्तिलक्षणदेशविरतिरूपपञ्चाऽणुव्रतात्मक सयमासयम स्थूलप्राणातिपातादितो निवृति सम्पूर्ण-प्राणातिपाताद्येकदेश—स्थूलप्राणातिपातादिरूपदेशतो विरिति सयमासयम इत्युच्यते—

अतएव—सयमासयमोऽणुव्रतमिति व्यपदिश्यते, अणुच तद् व्रतमित्यणुव्रतम् , अणु—अल्प-स्तोकं देशतो हिंसादिनिवृत्तिरूप व्रतमणुव्रतमिति व्युत्पत्ति । तस्मात्—सर्वतो हिंसादिविरतिः पञ्चमहाव्रतम्, देशतो हिसादिविरिति पञ्चाऽणुव्रतम् ।

इदमेव व्रतद्वयमत्र सरागसयम—सयमाऽसयमरूपद्वय क्रमशोऽवसेयम् । अकामनिर्जराच—अकामयमानस्याऽनभिलषत एव कर्मपुद्गलपरिशटनरूपा, तत्र—काम इच्छा, प्रेक्षा पूर्वकारित्वम् तदर्थोपयोगवतो निर्जरा—कर्मपुद्गलनिर्जरणम् कामनिर्जरा, न कामनिर्जराया भवति—सा—ऽकाम-निर्जरोच्यते । सा खलु—अकामनिर्जरा परवशतयाऽनुरोधाच्चा—ऽकुशलकर्मनिवृतिरूपा चतुर्विधाहार-निरोधरूपा च ।

बालतपस्तावत्—मिथ्यादर्शनसहवर्तिरागद्वेषाभ्यां व्याप्तस्य सत्वावबोधविमुखस्याऽतत्वेत-त्वाभिनिवेशप्रवृत्तस्य यथावस्थित ज्ञेयविपरीतज्ञानस्य बालस्य धर्मार्थं शीतोष्णादिसहनरूप तपो-बालतप. प्रोच्यते । इत्येतैश्चतुर्भि—सरागसयम—सयमासयमा—ऽकामनिर्जराबालतपो लक्षणै-

---

पाँच महाव्रत रूप सयम कहलाता है। यह सयम जब सज्वलनकषाय रूप राग से युक्त होता है तो सरागसंयम कहलाता है।

सूत्र में प्रयुक्त 'आदि' शब्द से सयमासंयम, अकामनिर्जरा और बालतप का ग्रहण करना चाहिए। इनमें से सयमासयम का अर्थ है—स्थूलप्राणातिपात आदि से निवृत्ति रूप देशविरति अर्थात् अणुव्रत आदि का पालन करना। देशविरति, सर्वविरति का आशिक रूप है, अतएव उसे अनुव्रत भी कहते है। इस प्रकार पूर्णरूप से अर्थात् तीन करण और तीन योग से हिंसा आदि का त्याग करना महाव्रत है, और दो करण तीन योग आदि आशिक रूप से उन्हीं पापो का त्याग करना अणुव्रत है। इसी को देशविरति या सयमासयम भी कहते है।

तीसरा कारण है अकामनिर्जरा। बिना इच्छा ही जो कर्मनिर्जरा होती है, वह अकाम-निर्जरा कहलाती है। काम अर्थात् इच्छा या सोच—समझकर कोई कार्य करना। बिना कामना के ही जो निर्जरा होती है, उसे अकामनिर्जरा कहते है। पराधीनता के कारण या किसी के अनुरोध—आग्रह से प्रेरित होकर आहार आदि का त्याग करने से—भूख सहन कर लेने आदि से होती है।

मिथ्यादर्शन के सहवर्त्ती राग और द्वेष से जो युक्त है, जो तत्त्वज्ञान से विमुख है, मूढ है, कुतत्त्व के आग्रह के वशीभूत होकर प्रवृत्ति करता है, जो वस्तुस्वरूप से विपरीत ज्ञान का धारक है और धर्म समझ कर शीत उष्ण आदि को सहन करता है और अज्ञान कष्ट करता है। अथवा इसी प्रकार के अन्य विपरीत कृत्य करता है, उस पुरुष की तपस्या को बाल तप अर्थात् अज्ञानतप कहते है।

हेतुभिर्देवायुष्यबन्धो भवतीतिभाव'। एवम्—धर्मश्रवणगौरव तपोभावना योग्यपात्रदान सम्यग्दर्शनादिभिश्च देवायुष्यबन्धो भवतीति बोध्यम्।

उक्तञ्च—स्थानाङ्गे ४—स्थाने ४—उद्देशके—"**चउहि ठाणेहिं जीवा देवाउयत्ताए कम्मं पगरे ति, तं जहा—सरागसंजमेणं संजमासंजमेणं वालतवोकम्मेणं, अकामणिज्जराए"** इति। चतुर्भि स्थानै जीवा देवायुष्यतया कर्म प्रकुर्वन्ति तद्यथा सरागसयमेन, सयमासंयमेन, बालतप कर्मणा, अकामनिर्जरया इति।

एवं सम्यक्त्वेनाऽपि देवायुष्यकर्मबन्धो भवतीतिबोध्यम्। उक्तञ्च प्रज्ञापनाया ६—पदे **"वेमाणियावि जइ समदिट्ठि पज्जत्तसंखेज्जवासाउयकम्मभूमिगगब्भवक्कतियमणुस्सेहितो उववज्जंति किं संजय सम्मदिट्ठिहितो असंजयसम्मदिट्ठिपज्जत्तएहितो संजयासंजय सम्मदिट्ठिपज्जत्तसंखेज्ज०हिंतो उववज्जंति गोयमा! तिहिंतोवि उववज्जंति, एवं जाव अच्चुगो कप्पो"** इति।

वैमानिका अपि यदि सम्यग्दृष्टिपर्याप्तसख्येयवर्षायुष्ककर्मभूमिगगर्भव्युत्क्रान्तिकमनुष्येभ्य उत्पद्यन्ते [तर्हि] किं सयतसम्यग्दृष्टिभ्योऽसयतसम्यग्दृष्टिपर्याप्तेभ्य सयतासयतसम्दृष्टि पर्याप्त संख्येयवर्षायुष्ककर्मभूमिगगर्भव्युत्क्रान्तिकमनुष्येभ्य उपपद्यन्ते? गौतम त्रिभ्योऽप्युत्पद्यन्ते, एव यावदच्युत कल्प इति ॥६॥

तात्पर्य यह है कि सरागसयम, सयमासयम, अकामनिर्जरा और बालतप, इन चार कारणों से देवायुष्य का बन्ध होता है। इसी प्रकार धर्मश्रवण करने से, तपस्या करने से, बारह भावनाओं के चिन्तन से या तप मे भावना रखने से, योग्य पात्र को दान देने से तथा सम्यग्दर्शन आदि कारणो से भी देवायु का बन्ध होता है।

स्थानांगसूत्र के चौथे स्थान के चौथे उद्देशक में कहा है—'चार कारणों से जीव देवायु कर्म का बन्ध करते हैं—(१) सरागसयम से (२) सयमासयम से (३) बालतप का आचरण करने से और (४) अकामनिर्जरा से।

सम्यक्त्व से भी देवायु कर्म का बन्ध होता है। प्रज्ञापनासूत्र के छठे पद में कहा है—

यदि वैमानिक देव सम्यग्दृष्टि, पर्याप्त, सख्यात वर्ष की आयु वाले, कर्मभूमिज, गर्भज मनुष्यों से आकर उत्पन्न होते है तो क्या सयतसम्यग्दृष्टियो से आकर उत्पन्न होते हैं अथवा असयत सम्यग्दृष्टियो से आकर या सयतासयतसम्यग्दृष्टियों से आकर उत्पन्न होते हैं? उत्तरमें प्रभु श्री कहते है हे गौतम तीनों से ही आकर उत्पन्न होते है। इस कथन का भाव यह है कि असयतसम्यग्दृष्टि भी वैमानिक देव के रूप मे उत्पन्न हो सकता है, सयतासयत भी और सयत भी वैमानिक देव के रूप मे उत्पन्न हो सकता है। इस कथन से स्पष्ट है कि सम्यग्दर्शन भी देवायु का कारण होता हैं ॥६॥

"मूलसूत्रम्—कायभावभासुज्जुयअविसंवादणजोगेहिं सुहनामकम्मं" ॥७॥

छाया– "कायभावभाषाऋजुताऽविसवादनयोगैः शुभनामकर्म ॥ ७ ॥

तत्त्वार्थदीपिका—"पूर्वसूत्रे देवायुष्यरूपपुण्यकर्मबन्धहेतवः प्ररूपिता सम्प्रति–शुभ-नामकर्मबन्ध हेतून् प्ररूपयितुमाह—

"कायभावभासुज्जुयअविसंवादणजोगेहि सुहनामकम्मं" इति कायऋजुता भाव-ऋजुता–भषाऋजुताऽविसवादनयोगरूपैश्चतुर्भिः कारणैः शुभनामकर्म बन्ध्यते। तत्र कायऋजुता कायस्य सरलता परवञ्चनकायचेष्टा वर्जनम् १। भावऋजुता–अत्र भावशब्देन मनो गृह्यते. तेन मनोयोगऋजुता–मनस सरलता परवञ्चनमन प्रवृत्तिवर्जनम् २। भाषाऋजुता भाषा सरलता–अकुटिलभाषणम् ३। अविसवादनयोग –विसंवादनम् अन्यथा प्रतिपन्नस्यान्यथाकरण तद्रूपो योगो व्यापार, तेन वा योग सम्बन्धो विसवादनयोग, तदभावात्–अविसंवादनयोग ४। एभिश्चतुर्भिः-हेंतुभि शुभनाम कर्म बन्धो भवतीति। अस्य सप्तत्रिंशत्प्रकारैरुपभोगो जायते ॥ ७ ॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं सरागसयम–सयमासयमा-ऽकामनिर्जरा–बालतप प्रभृति देवा-युष्यरूपपुण्यकर्मबन्धहेतव प्ररूपिता, सम्प्रति–शुभनामकर्मबन्धहेतुतया कायऋजुतादि चतुष्टय प्रतिपादयितुमाह—

सूत्रार्थ—'कायभावभासुज्जुयअविसंवादण' इत्यादि। सूत्र–७

काय, भाव–मन, भाषा–वचनकी सरलतासे, तथा अविसवादन प्रतारण–ठगाई–न करनेसे शुभनामकर्मका वन्ध होता है ॥७॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्र मे देवायु रूप पुण्यकर्म के बन्ध के कारणो की प्ररूपणा की गई है। अब शुभनामकर्म के वन्ध के कारण कहते है—

काय की ऋजुता १ भाव अर्थात् मन की ऋजुता २ भाषा अर्थात् वचन की ऋजुता ३ और अविसवादन–कपटरहितयथार्थ प्रवृत्ति ४ इन चार कारणो से शुभनामकर्मका बन्ध होता है। कायकी सरलताको काय ऋजुता कहते है, १ एव भाव अर्थात् मनकी सरलता को भावऋजुता कहते है। भाषा अर्थात् वचन की सरलता को भाषा ऋजुता कहता है। तथा धोखा देना अथवा ठगाई करना विसवादन है. इसका अभाव अविसंवादन होता है, इसके योग–सबन्ध को अवि-सवादन योग कहते है ४। तात्पर्य यह है कि इन चारे कारणो से शुभनामकर्म का बन्ध होता है वह सैंतीस शुभ प्रकृतियों से भोगा जाता है ॥७॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—इससे पूर्व बतलाया गया है कि सरागसयम, सयमासयम, अकामनि-र्जरा और बालतपस्या आदि देवायु रूप पुण्य कर्म के बन्ध के कारण है। अब शुभनाम कर्म के चार कारणो का कथन करते है—

'काय–भाव भासुज्जुयअविसंवादणजोगेहि सुहनामकम्मं" काय–भाव–भाषर्जुता-ऽविसवादनयोगै शुभनामकर्म वध्यते।

तत्र कायऋजुता तावत् कायस्यावक्रता–अकुटिलता परवञ्चनकायचेष्टावर्जनम्। सा च कुब्जत्व–वामनत्व–निकृष्टाङ्गोपाङ्गावयवचेष्टन–नयनानकोचन–नासिकाभङ्ग–स्त्री–पुरुषभृत्य मृतकादि चेष्टारूपाऽसद्भावानामनुद्भावनरूपा १। भावऋजुता–भावशब्देनात्र मनो गृह्यते, तेन मनोयोगऋजुता–मनसोऽकुटिलता–परवञ्चनमन प्रवृत्तिवर्जनम् २। भाषाऋजुता–भाषाया वचस ऋजुता–सरलता–परवञ्चनवचनव्यापारवर्जनम्। यथार्थ कायचेष्टानुसारेणैव मनसो वचसश्चापि यथार्थतया व्यवहरणमिति भाव ३। अविसवादनयोग –तत्र–विसवादन परविप्रतारण परवञ्चनम् अन्यथाप्रतिपन्नस्यान्यथाकरणमित्यर्थ, न विसवादनम् अविसवादन परवञ्चनाभावरूपम्, विवक्षितार्थस्य यथावस्थितस्वभावस्य पर प्रति यथार्थतया प्रतिपादनम् अविसवादन बोध्यम्, तस्य तद्रूपो वा योग, तेन वा योग सबन्ध —अविसवादनयोग' ४।

तथा चैवविधै कायऋजुता–भावऋजुता–भाषाऋजुता–ऽविसवादनयोगात्मकैश्चतुर्भिर्हेतुभि शुभनामकर्मबन्धो भवति। उक्तञ्च व्याख्याप्रज्ञप्तौ अष्टमे शतके नवमोद्देशके—

"सुहनामकम्मा सरीरपुच्छा ?, गोयमा कायउज्जुययाए भावुज्जुययाए भासुज्जुययाए अविसंवादणजोगेणं सुभनामकम्मा सरीर जाव प्पयोगबंधे।" इति,

---

कायामे वक्रता न होना कायकी ऋजुता कहलाती है १, भाव अर्थात् वचनमे कुटिलता न होना भाव की ऋजुता कहलाती है २ एव भाषा अर्थात् वचनमें कुटिलता न होना भाषा की ऋजुता कहलाती है ३। तथा ठगना, धूर्तता करना, धोखा देना–दूसरे के साथ छलकपट करना विसवादन कहलाता है, ऐसा न करना, अविसवादन कहलाता है। अर्थात् काया सबंधी कुचेष्टा का न होना काय की ऋजुन्ता है, कायाकी कुचेष्टा का अभिप्राय है कि–शरीर के किसी अंगको विकृत करना जैसे कुबडा हो जाना, वामन बनना, अंगोपांगकी खराब चेष्टा करना आँखे मट काना, मुह बिगाडना, नाक सिकोडना, स्त्री भृत्य–नोकर चाकर की चेष्टा करना इत्यादि असद्भावोंको प्रदर्शित करके दूसरे के साथ छल न करना काय की ऋजुता कहलाती है, भाव अर्थात् मनमे कुटिलता न होना भावकी ऋजुता है, वचनसे किसी को धोखा न देना भाषाकी ऋजुता है। तात्पर्य यह है कि मनमे जो विचार आया हो उसको वचन द्वारा उसी रूप से प्रकट करना और उसी के अनुरूप शारीरिक प्रवृत्ति करना मन वचन काया की सरलता कहलाती है ३। तथा जो वस्तु जैसी है उसको उसी रूप मे कहना, अन्यथा स्वीकार करके अन्यथा न करना उसी रूप से उसका आचरण करना अविसवाद योग कहलाता है ४। इन चार प्रकार की प्रवृत्ति से शुभनाम कर्मका बन्ध होता है, उस शुभनामकर्मके विषयमे भगवती सूत्र के आठवे शतकके नौवें उद्देशमें कहा है—

छाया—शुभनामकर्म शरीरपृच्छा ? गौतम ! कायऋजुकतया, भावऋजुकतया, भाषा-ऋजुकतया, अविसवादनयोगेन शुभनाम कर्म शरीर यावत्प्रयोगबन्ध , इति.

एतच्च शुभनामकर्म देव मनुष्यगत्यादिसप्तत्रिशत्प्रकारैरुपभुज्यते, तथाहि—देवगति१—मनुष्यगति२—मनुष्यदेवानुपूर्वीद्वय४—पञ्चेन्द्रियजात्यौ५—दारिकादिशरीरपञ्चकौ१०—दारिकवैक्रियाहारकशरीर—त्रयाङ्गोपाङ्गमध्यवर्तिशिरउरः पृष्ठबाहूदरचरणरूपाङ्गनाम—रसनघ्राणचक्षु'—श्रोत्ररूपो पाङ्गनाम१३—वज्रऋषभनाराचसहनन१४—समचतुरस्रसस्थान१५ -प्रशस्तवर्णगन्धरसस्पर्शचतुष्टय १९—त्रसादिदशक—त्रस—बादरपर्याप्त—प्रत्येकशरीर—स्थिर—शुभ—सुभग—सुस्वरा—ऽऽदेय—यश. कीर्त्यं२९—ऽगुरुलघु३०—च्छ्वासा३१—ऽऽतपा३२—दयोत३३—प्रशस्तविहायोगति३४—पराघात ३५—तीर्थंकर३६—निर्माण३७—नामानीति ३७। इत्येतै. सप्तत्रिशत्प्रकारै शुभनामकर्म समुपभुज्यते, इति ॥सू० ७॥

मूलसूत्रम्—"वीसईठाणाराहणेणं तित्थयरत्तं—" ॥ ८ ॥

छाया— "विंशतिस्थानाराधनेन तीर्थंकरत्वम्—" ॥ ८ ॥

प्रश्न—शुभनामकर्म के विषयथमें पृच्छा—अर्थात् हे भदन्त ! शुभनाम कर्म का बन्ध किन कारणो से होता है ?"

उत्तर—हे गौतम ! कायकी ऋजुतासे १, भावकी ऋजुता से २, भाषा की ऋजुता से ३ और अविसवादन योग से शुभनाम कर्म का बन्ध होता है ॥"

यह शुभनामकर्म देवगति मनुष्य गति आदि सैतीस प्रकार से भोगा जाता है जैसे—

देवगति[१], मनुष्यगति[२], मनुष्यानुपूर्वी[३], देवानुपूर्वी[४], पञ्चेन्द्रियजाति[५], औदारिकादि पाच शरीर[१०] तीन अगोपांग अर्थात् औदारिक अगोपाग १, वेक्रिय अगोपाग २, आहारक अगोपाग३,[१३] वज्रऋषभनाराच सहन[१४], समचतुरस्र सस्थान[१५], प्रशस्त—वर्ण गन्ध रस स्पर्श[१९] त्रस आदि दश अर्थात् त्रस[२०], बादर[२१], पर्याप्त[२२], प्रत्येकशरीर[२३], स्थिर[२४], शुभ[२५] सुभग[२६], सुस्वर[२७], आदेय[२८], यश कीर्त्ति[२९], अगुरुलघु[३०], उच्छ्वास[३१], आतप[३२], उद्योत[३३],प्रशस्तविहायोगति[३४], पराघात[३५], तीर्थंकर[३६] और निर्माणनामकर्म[३७] ।

इन सैतीस प्रकारसे शुभनामकर्मका भोग होता है। इनमें जो अगोपागनाम कर्मका निर्देश किया है वहां शिर १, वक्षस्थल—(छाती) २, पृष्ठ (पीठ) ३, दोनो बाहू (भुजाएं) ५, उदर (पेट) ६, और दोनो चरण ८, यह आठ अग कहलाते है । अगुलियाँ, जीभ, आँख, कान, नाक आदि उपाग कहलाते हैं ॥सूत्र ७॥

तत्त्वार्थदीपिका—विंशतिस्थानाराधनेन तीर्थंकरत्व शुभनामकर्मबन्धो भवति. तत्र-विंशति–स्थानकानि तावदिमानि सन्ति, [१–७] अर्हत सिद्ध प्रवचन–गुरु–स्थविर–बहुश्रुत–तपस्विषु वत्सलता–७ । यथावस्थितगुणग्रामोत्कीर्तनरूपा भक्ति –८ ।, तथा तेषामेवा–ऽर्हदादीना ज्ञानेऽभीक्ष्णम्–शाश्वत पुन पुनरुपयोग' , ज्ञानेषूपयोगो ज्ञानोपयोग इत्यष्टस्थानकानि ।

दर्शनं सम्यक्त्वश्रद्धानरूपम्–९ विनयो गुरुदेवादिविषयक –१०, आवश्यकम् उभयकालम् आवश्यककरणम्–११ , शीलव्रतञ्च–निरतिचारम्, व्रतप्रत्याख्याननिर्मलपालनम्–१२ क्षणल वादि कालेषु प्रमाद विहाय शुभध्यानकरणम्–१३ तपो–द्वादशविधम्–१४ त्यागो दानम्, तञ्च –परै भय प्राप्तस्य मार्यमाणस्य कथञ्चित् म्रियमाणस्य च परिरक्षणम्, अभयदानमत्र करुणा-दानस्योपलक्षणम् , सुपत्रेभ्यो दानम् सुपात्रदानम् महाव्रतधारिभ्य प्रतिमाधारिश्रावकेभ्यश्च दान सुपात्रदानम् चतुविध श्रमण–श्रमणी श्रावक–श्राविका रूप–सघसुखोत्पादनमित्यर्थ –१५ ।

वैयावृत्त्यम्– आचार्यादीनां सुश्रूषा १६ समाधि –सर्वजीवाना सुखोत्पादनम्–१७ अपूर्व ज्ञानग्रहण प्रसिद्धम्–१८ श्रुतभक्ति जिनोक्तागमेषु परमानुराग –१९ प्रवचने प्रभावना, प्रभूत-

---

सूत्रार्थ—'वीसई ठाणाराहणेणं' इत्यादि । सूत्र. ८

वीस स्थानो की आराधना से तीर्थंकर नाम कर्म का बन्ध होता है ।।८।।

तत्त्वार्थदीपिका—वीस स्थानो अर्थात् बोलो का आराधन करने से तीर्थंकर नामक शुभनाम कर्म का बन्ध होता है। वे वीस स्थानक निम्नलिखित है—

(१) अर्हन्त भगवान् के प्रति वात्सल्यभाव होना अरिहन्त भगवान् का गुणग्राम करना । २, सिद्ध भगवान् के प्रति वात्सल्यभाव होना। ३ प्रवचन के प्रति वत्सलता होना । ४, गुरु के प्रति वत्सलता होना । ५ स्थविर (वृद्ध) के प्रति वत्सलभाव होना । ६ बहुश्रुत अर्थात् विविध शास्त्रों के ज्ञाता के प्रति वात्सल्य होना ७ तपस्वी जनो के प्रति वात्सल्य होना अर्थात् इनके वास्तविक गुणों का कीर्त्तन करने रूप भक्ति होना । तथा ८ इनके ज्ञानमें निरन्तर उपयोग लगाये रखना । ९ दर्शन अर्थात् निर्मल तत्त्वार्थश्रद्धान होना १० देव और गुरु के प्रति विनयभाव होना । ११ दोनो कालों मे आवश्यक क्रिया करना । १२ शीलव्रत प्रत्याख्यान को निर्मल पालना । १३ क्षण, लव आदि कालो में प्रमाद त्याग कर शुभ ध्यान करना । १४ बारह प्रकार का तपश्चरण करना । १५ दान देना दूसरे किसी को भयभीत कर रहे हों या मार रहे हों या किसी कारण कोई मर रहा हो तो उस की रक्षा करना। यह अभय दान यहाँ करुणादान का उपलक्षण सूचक है। सुपात्रो को दान देना अर्थात् महाव्रतधारी तथा प्रतिमाधारी श्रावकों को दान देना अर्थात् श्रमण, श्रमणी, श्रावक और श्राविका रूप सघ को सुख साता उपजाना । १६ वैयावृत्य आचार्य आदि की शुश्रूषा करना । १७ समाधि-समस्त जीवो को सुख उपजाना । १८ नित्य नया

भव्येभ्य प्रव्रज्यादानम् भवकूपपतत् ससारार्णवनिमग्नप्राणिजातत्राससमाश्वासनपरायण जिन-शासनमहिमोपबृहणम् समस्तस्य जगतो जिनशासनरसिककरणम्, मिथ्यात्वतिमिरापहरणम् चरण-करणशरणीकरणञ्च, २० इत्येतानि विंशतिस्थानकानि सर्वजीवसाधारणानि तीर्थकरत्वशुभनामकर्म-बन्धहेतुभूतानि सन्ति एतैर्विंशतिस्थानकैर्जीवस्तीर्थकरत्व लभते इतिभाव । स्थीयतेऽस्मिन्निति स्थानम्, अधिकरणे ल्युट् । स्थित्याधारभूत कारणमित्यर्थ तथाच अर्हदादि वत्सलतादीनि विंशतिस्तीर्थकरत्वप्राप्ति स्थानानि कारणानि सन्तीति भाव ॥ ८ ॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं सामान्यतोऽविसवादनकायवचोमनोयोगऋजुतादीनां मनुष्यगत्यादि-सप्तत्रिंशत्प्रकारकशुभनामकर्मबन्धहेतुत्वेन प्ररूपणेऽपि, अनन्तानुपमप्रभावस्याचिन्त्यविभूतिविशेष-कारणस्य त्रैलोक्यातिशायिनस्तीर्थकरनामकर्मणो विशेषहेतून् प्रतिपादयितुमाह—**"वीसईठाणा-राहणेणं तित्थयरत्तं–"** इति ।

विंशतिस्थानाराधनेन तीर्थकरत्वनामकर्म बध्यते । उक्तञ्च—ज्ञाताधर्मकथाङ्गसूत्रे २५२ पृष्ठे

सीखना १९ श्रुतभक्ति-जिनप्रतिपादित आगमो में अनुराग रखना । २० प्रवचन-प्रभावना—प्रचुर भव्य जीवो को दीक्षा देना, ससार रूपी कूप में गिरते हुए और ससार-सागर में डूबते हुए प्राणियो के लिए आश्वासन रूप जिनशासन की महिमा बढाना, समस्त जगत् को जिनशासन का रसिक बनाना, मिथ्यात्व—तिमिर को नष्ट करना और मूलोत्तर गुणो को धारण करना ।

सर्व जीवो के लिए साधारण यह वीस स्थान तीर्थङ्कर नाम कर्म के बन्ध के कारण है तात्पर्य यह है कि इन वीस कारणो से जीव तीर्थकरत्व प्राप्त करता है । व्यस्त एकऔर समस्त दोनो रूप से इन्हे कारण समझना चाहिए अर्थात् इनमे से एक कारण के द्वारा भी तीर्थङ्करनाम कर्म बाँधा जा सकता है और अनेक कारणो से भी । किन्तु स्मरण रखना चाहिए कि उत्कृष्टतम रसायन आने पर ही इस महान् सर्वोत्तम पुण्यप्रकृति का बन्ध हो सकता है ।

यहाँ स्थान का अर्थ वासना है, अतएव पूर्वोक्त अर्हद्वात्सल्य आदि वीस स्थानो का अर्थ वीस कारण समझना चाहिए ॥८॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति यद्यपि सामान्य रूप से अविसवादन, काय, वचन और मन की ऋजुता को सैतिस प्रकार के शुभ नाम कर्म के बाद का कारण बतलाया जा चुका है, इन प्रकारों में तीर्थङ्कर प्रकृति का भी समावेश हो जाता है, किन्तु तीर्थङ्कर एक विशिष्ट प्रकृति है । वह अनन्त एव अनुपम प्रभाववाली, अचिन्त्य आत्मिक एव बाह्य विभूति का कारण और त्रिलोक मे सर्वोत्कृष्ट है, अतएव उसके कारण भी विशिष्ट है । इसीलिए उसके विशिष्ट कारणो का पृथक् रूप से निर्देश किया जाता है—

वीस स्थानो की उत्कृष्ट आराधना से तीर्थङ्करनाम कर्म का बध होता है । ज्ञाता धर्मकथांग सूत्र मे कहा है—

"तंजहा–अरहंत–१ सिद्ध–२ पवयण–३ गुरु–४ थेर–५ बहुस्सुए–६ तवस्सीसु–७ वच्छल्लयाइ–८ तेसिं अभिक्खणं णाणोवओगे य– ॥१॥

दंसण–९ विणए–१० आवस्सए य–११– सीलव्वए निरइयार–१२
खणलव–१३ तव–१४ च्चियाए–१५ वेयावच्चे–१६ समाहीय–१७ । २॥
अप्पुव्वणाणगहणे–१८सुयभत्ती–१९ पवयणे पभावणया २० ।
एएहिं कारणेहिं तित्थयरत्तं लहइ जीवो ॥३॥ इति ॥ सू०–५ ॥
"अर्हत् सिद्धप्रवचन गुरुस्थविरबहुश्रुततपस्विषु ।
वत्सलता च तेषाम् अभीक्ष्णं ज्ञानोपयोगश्च ॥ १ ॥
"दर्शनविनयावश्यकञ्च शीलव्रतनिरतिचारः ।
क्षणलवतपश्चर्या वैयावृत्त्यं समाधिश्च ॥ २ ॥
"अपूर्वज्ञानग्रहणं श्रुतभक्तिः प्रवचनप्रभावना ।
एतैः कारणैः स्तीर्थकरत्वं लभते जीवः ॥ ३१ ॥ इति ॥

गाथात्रयेण ससूचितानि विंशतिस्थानकानि यथा–वत्सलता–अर्हत्–सिद्ध–प्रवचन–गुरु–स्थविर–बहुश्रुततपस्विषु वत्सलता, भक्ति'–यथाऽवस्थितगुणग्रामोत्कीर्तनरूपा १–७ ज्ञानोपयोग'–एतेषामर्हदादीनामेव ज्ञानेऽभीक्ष्ण पुन पुनरूपयोग इत्यष्टस्थानानि **दर्शनं**–सम्यक्त्वं परमप्रकृष्टा दर्शनविशुद्धि स्तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणा, दर्शन दृष्टिस्तत्त्वविषया रुचि' प्रीति जीवादिषु प्रत्ययावधारणरूपा, क्षायोपशमिकौपशमिकक्षायिकाणां सम्यग्दर्शनाना यथायोग्य नानाप्रकारिकाशुद्धिर्विशुद्धिस्तीर्थकरनामकर्मणो हेतु । **विनयः**–विनयपदेन विनयसम्पन्नता गृह्यते, तत्र विनीयतेऽष्टप्रका-

---

(१) अरिहत (२) सिद्ध (३) प्रवचन (४) गुरु (५) स्थविर (३) बहुश्रुत और (८) तपस्वी पर वत्सलता रखना उनके ज्ञान-प्रवचनमें उपयोग रखना (९) सम्यत्तव (१०) विनय (११) आवश्यक (१२) निरतिचार शीलों और व्रतो का पालन (१३) क्षणलव (१४) तप (१५) त्याग (१६) वैयावृत्य (१७) समाधि (१८) अपूर्वज्ञानग्रहण (१९) श्रुतभक्ति और प्रवचनप्रभावना, इन वीस कारणो से जीव तीर्थङ्करत्व प्राप्त करता है ॥१–३॥

ज्ञातासूत्र की इन तीन गाथाओं मे वीस स्थानो का निर्देश किया गया है। इसके अनुसार (१–७) अर्हत्, सिद्ध प्रवचन, गुरु, स्थविर, बहुश्रुत और तपस्वी पर वात्सल्य होने से तथा इसकी भक्ति अर्थात् यथावस्थित गुणो का कीर्त्तन करने से (८)

ज्ञानोपयोग—इसके ज्ञान-प्रवचनमें निरन्तर उपयोग लगाये रखना । ९ **दर्शन** अर्थात् अत्यन्त उत्कृष्ट दर्शनविशुद्धि–निरतिचार सम्यक्त्व की निर्मलता से–क्षयोपशमिक, क्षायिक अथवा औपशमिक सम्यग्दर्श की यथायोग्य उत्कृष्ट विशुद्धि होने से, (१०) **विनयसम्पन्नता**–से जिसके द्वारा आठ प्रकार के कर्म हटाये जाएँ वह विनय है । उसके चार भेद

रकं कर्माऽनेनेति विनय', स चतुर्विधो बोध्यः, ज्ञान–दर्शन–चारित्रोपचारभेदात् । तत्र बहुमानादिर्ज्ञानविषय', नि'शङ्कनिराकाङ्क्षादिभेदो दर्शनविनयः, वक्ष्यमाणसमिति–गुप्तिप्रधानश्चारित्रविनय', अभ्युत्थानाऽऽसनप्रदानाऽञ्जलिप्रग्रहादिभेद' पुनरुपचारविनय उच्यते, एवंविधविनयपरिणामपरिणतआत्मा विनयसम्पन्नो भवति तस्य भावो विनयसम्पन्नता, सा चापि–तीर्थकरनामकर्मणो हेतु' १० **आवश्यकम्**–एवमत्र–आवश्यकपदेना–ऽऽवश्यकक्करणमुच्यते आवश्यकानां सामायिकादीना भावतोऽनुष्ठानम्–उभयकालावश्यककरणमिति बोध्यम्, एतदपि खलु तीर्थकरनामकर्मबन्धस्य हेतुर्भवति, सामायिकशब्दार्थस्तु–समो–रागद्वेषराहित्यम् , तद्भावस्या–ऽऽयः-प्राप्ति' समायो–ज्ञानादिलाभ', स प्रयोजनमस्येति सामायिकम् सावद्यकर्मविरतिरूपं प्रतिक्रमणादिकम् , तदादिर्येषामावश्यकाना चतुर्विंशति स्तवादीनाम् तानि सामायिकादीन्या–वश्यकानि अवश्यमहोरात्राऽभ्यन्तरे कर्तव्यतयाऽनुष्ठेयानि–आवश्यकानि, तानि च सप्तदशविधसयमविषयव्यापाररूपत्वाद् विविधप्रकाराणि इच्छा–मिथ्या तथाकारादीनि भवन्ति, तेषा भावतस्तदुपयोगानन्यत्वेनाऽनुष्ठानम् तस्मात्–सद्भावावहितचित्तस्याऽनुष्ठानकरणम् अन्यूनानतिरिक्ततया यथाविहितकालाऽऽसेवन तीर्थकरनामकर्मबन्धस्य हेतुरिति भाव । ११

हैं–(१) ज्ञानविनय (२) दर्शनविनय (३) चारित्र विनय और (४) उपचार विनय । ज्ञान और ज्ञानी के प्रति बहुमान होना ज्ञानविनय है, नि शंक और निराकांक्ष आदि भेदोवाला दर्शन विनय है, आगे कही जाने वाली समिति गुप्ति की प्रधानता वाला चारित्रविनय है, ऊठकर खडा हो जाना, आसन देना हाथ जोडना आदि उपचार विनय है । इस प्रकार के विनय रूप परिणाम वाला आत्मा विनय सम्पन्न कहलाता है । यह विनयसम्पन्नता भी तीर्थङ्कर नाम कर्म के बन्ध का कारण है ।

आवश्यक–यहां आवश्यक पद से आवश्यक क्रिया का करना समझना चाहिए ।सामायिक आदि आवश्यको का भावपूर्वक अनुष्ठान करना–प्रात. और सायकाल आवश्यक क्रिया का आचरण करना । इससे भी तीर्थङ्कर नाम कर्म का बन्ध होता है । रागद्वेष की रहितता सम की प्राप्ति को 'समाय' कहते है समाय अर्थात् ज्ञान आदि का लाभ जिसका प्रयोजन हो वह सामायिक है । सावद्य कर्मों से विरत होना प्रतिक्रमण आदि है । 'आदि' शब्द से यहाँ चतुर्विंशतिस्तव वगैरह समझना चाहिए,, जो दिन और रात्रि के अन्तिम समय मे अवश्य करने योग्य हो वे आवश्यक है । ये आवश्यक सतरह प्रकार के सयम विषयक व्यापार रूप होने के कारण विविध प्रकार के है,, यथा–इच्छाकार, मिथ्याकार,, तथाकार आदि । इनका अनुष्ठान सद्भावपूर्वक करने से, यथाकाल विधिपूर्वक, न्यूनता एव अधिकता आदि दोषों को वर्जित करके आचरण करने से तीर्थंकर नाम कर्म का बन्ध होता है ।

शीलव्रतम्, तत्र–शीलं पिण्डविशुद्धिसमितिभावनादय उत्तरगुणा अभिग्रहलक्षणा मुमुक्षोः समाधिकारणत्वात, व्रतञ्च पञ्चमहाव्रतात्मकम् रात्रिभोजनविरतिपर्यवसान च गृह्यते शीलानि च व्रतानि चेति शीलव्रतानि तेषु निरतिचारत्व निरतिचार इति, नितरामत्यन्तमनतिचारो–ऽप्रमाद– सयमप्रतिपत्तिकालादारभ्याऽऽयुष क्षयपर्यन्तमविश्रान्त्या–ऽऽत्यन्तिकाऽप्रमादात्मक. सप्तदशविध सयम मर्वज्ञश्रीतीर्थंकर भगवत्प्रणीतसिद्धान्तानुसरणरूपनिरतिचारपूर्वकं शीलव्रतविषयमनुष्ठानमित्यर्थः, एतदपि–तीर्थंकरनामकर्मणो हेतुरिति भाव ॥ १२ ॥

क्षणलवेति - कालोपलक्षणम् क्षणलवादिकालेषु प्रमाद विहाय शुभध्यानकरणम् १३ **तपः** स्वानुरूपशक्त्यपेक्ष तपश्च तीर्थंकरत्वनामकर्मणो हेतुरवगन्तव्य, कर्मणस्तापनात्। शोषणात्तप उच्यते, तच्च तपो द्विविधम्, बाह्याभ्यन्तरभेदात्। प्रत्येक पुन षड्विधम्, प्रायश्चित्तादिभेदात् अनशनादिभेदाच्च तच्च–तप स्वशक्त्यपेक्षम्, लौकिकपूजाप्रतिष्ठासत्कारसम्मानतृष्णानिरपेक्षेण चित्तेनाऽनुष्ठीयमान सत् तीर्थंकरनाकर्मबन्धहेतुर्भवति ॥१४॥

त्यागः—त्यागो दानम्, तच्चा–ऽभयदान करुणादान, सुपात्रदान च तत्रा–ऽभयदान भयानुत्पादन परैर्भय प्राप्तस्य मार्यमाणस्य कथञ्चिन्म्रियमाणस्य च परिरक्षणम्, करुणादानं–करुणया

---

(१२) **शील और व्रत**–का निरतिचार पालन करने से भी तीर्थंकर नाम कर्म बँधता है। यहाँ शील का अर्थ है–पिण्डविशुद्धि, समिति, भावना आदि उत्तरगुण एव नाना प्रकारके अभिग्रह, क्योकि इनसे मुमुक्षु को समाधि की प्राप्ति होती है। पाँच महाव्रत और रात्रिभोजन विरमण को व्रत शब्द से ग्रहण किया जाता है। इनका पूर्णरूप से निरतिचार पालन करना अर्थात् सयम को स्वीकार करने से लगा कर जीवन पर्यन्त अप्रमत्तभाव से सेवन करना निरतिचार शील–व्रत पालन कहलाता है। अर्थात्–सर्वज्ञ श्री तीर्थंकर भजवान द्वारा प्रणीत सिद्धात के अनुसार शीलों और व्रतों का अनुष्ठान करना निरविचार शील व्रतका पालन कहलाता है। इससे भी तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध होता है।

(१३) **क्षणलव**—यह काल का सूचक है। क्षण भर या लव मात्र भी प्रमाद न करके शुभ ध्यान करना।

(१४) **तप**—अपने सामर्थ्य के अनुसार तपस्या करने से भी तीर्थंकर नामकर्म का बंध होता है। जो कर्मो को तप्त कर दे–सोख ले, वह तप। तप दो प्रकार का है–बाह्य और आभ्यन्तर बाह्य तप छह प्रकार का है और आभ्यन्तर तप भी छह प्रकार का है। प्रायश्चित्त आदि आभ्यन्तर तप है और अनशन आदि बाह्य तप हैं। इन तपों का यदि लौकिक पूजा–प्रतिष्ठा, सत्कार–सम्मान आदि की इच्छा के बिना, केवल कर्मनिर्जरा के हेतु ही अनुष्ठान किया जाय तो तीर्थंकर नाम कर्म का बन्ध होता है।

(१५) **त्याग**—का अर्थ दान है। दान दो प्रकार का है–अभयदान और सुपात्रदान। अपनी ओर से भय उत्पन्न न करना, दूसरा किसी को भयभीत कर रहा हो, मार

यद्दीयते तत् करुणादानम् । सुपात्रदान महाव्रतधारिभ्य· प्रतिमाधारिश्रावकेभ्यश्च यद्दान तत् । इदमुपलक्षणम्, तेन चतुर्विधसघसुखोत्पादनमित्यर्थ ॥१५॥

वैयावृत्त्यं—आचार्यादीनां शुश्रूषा, १६ **समाधिः**—सर्वजीवाना सुखोत्पादनम्, तथा–सघस्य श्रमणानां च समाधि वैयावृत्त्यकरणमपि तीर्थकरनामकर्मबन्धहेतुर्भवति तत्र सघस्तावत्–सम्यक्त्व–ज्ञानचारित्राणा समूहस्तदाधारत्वात् श्रमणश्रमणी–श्रावकश्राविकारूपोऽपि सघस्तस्य समाधि –समाधानं निरुपद्रवत्वमिति ॥ १७ ॥ **अपूर्वज्ञानग्रहणं** –प्रसिद्धम् १८ **श्रुतभक्तिः**–जिनोक्तागमेषु परमानुराग, स्वगुणदोषावर्जितसकलसुरासुरमनुजेश्वरेषु महामहिमशालिषु–अचिन्त्यसामर्थ्ययुक्तेषु सन्मार्गोपदेशात् परोपकारपरायणेषु परमयोग्याचार्येषु प्रकृष्टमन·परिणामशुद्धिपूर्विका भक्ति·, सद्भावातिशयोत्कीर्तनवन्दनपर्युपासनादि रूपा तीर्थकरत्वनामकर्मण हेतुभर्वतीतिभाव· ॥१९॥

एवम्–प्रवचनप्रभावना–प्रभूतभव्येभ्य प्रव्रज्यादानम्, भवकूपपतत्प्राणित्राणसमाश्वासनपरायणजिनशासनमहिमोपबृहण समस्तस्य जगतो जिनशासनरसिककरण मिथ्यात्वतिमिरापहरण

रहा हो या कोई मर रहा हो तो उसकी रक्षा करना अभयदान है। अभयदान यहाँ करुणादान का उपलक्षण है। महाव्रतधारी मुनियो को तथा प्रतिमाधारी श्रावकों को दान देना सुपात्रदान कहलाता है। यह कथन उपलक्षण मात्र है, अतएव चतुर्विध सघ को साता उपजाना ही सुपात्रदान समझना चाहिए।

(१६) **वैयावृत्य**—आचार्य, उपाध्याय आदि की निर्मल भाव से सेवाशुश्रूषा करना वैयावृत्य है।

(१७) **समाधि**—सब जीवो को सुख उपजाना। तथा–सघ और श्रमणो की समाधि एव वैयावृत्य करने से भी तीर्थकरनाम कर्म बधता है। सघ का मतलब है सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र का समूह। श्रमण, श्रमणी, श्रावक और श्राविका मे ये सम्यग्दर्शन आदि पाये जाते है, अत· इनका समूह भी सघ कहलाता है। इनको साता पहुँचाना अर्थात् किसी प्रकार का उपद्रव न होने देना, शान्ति प्रदान करना सघसमाधि है।

(१८) **अपूर्वज्ञानग्रहण**— नित्य नया–नया ज्ञान प्राप्त करना।

१९) **श्रुतभक्ति**—जिनेन्द्र भगवान् द्वारा कथित आगमो मे परम अनुराग होना। सुरेन्द्रों असुरेन्द्रों और नरेन्द्रो आदि को आकर्षित करने वाले, महामहिमाशाली और अचिन्तनीय सामर्थ्य से सम्पन्न, सन्मार्ग का उपदेश करने के कारण परोपकार करने मे तत्पर परम योग्य आचार्यो के प्रति उत्कृष्ट मानसिक शुद्धिपूर्वक भक्ति करना श्रुतभक्ति है। भक्ति का आशय है–उनमे रहे हुए गुणों का कीर्त्तन करना, वन्दन करना, उपासना करना। यह श्रुतभक्ति भी तीर्थंकर नामकर्म के बन्ध का कारण है।

(२०) **प्रवचनप्रभावना**—बहुत–से भव्य जीवों को दीक्षा देना, ससार रूपी कूप में

चरणकरणशरणीकरण च । व्यस्तरूपेण समस्तरूपेणवा एतानि तीर्थकरत्वप्राप्ति हेतुभूतानि विंशतिस्थानकानि, येषामाराधनेन जीवस्तीर्थकरत्व लभते ॥८॥

मूलसूत्रम्—"आयणिंदा–परप्पसंसाइहिं उच्चागोए–" ॥ ९ ॥

छाया—"आत्मनिन्दा–परप्रशंसादिभिरुच्चैर्गोत्रम्–" ॥ ९ ॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे दर्शनविशुद्ध्यादीनामात्मपरिणतिभावविशेषाणा तीर्थकरनाम कर्मबन्धहेतुत्वेन प्ररूपण कृतम् सम्प्रति–उच्चैर्गोत्रकर्मबन्धहेतो' प्ररूपणं कर्तुमाह "आयणिंदा-परप्पसंसाइहिं उच्चागोए–" इति । आत्मनिन्दापरप्रशसादिभि उच्चैर्गोत्रकर्मबन्धो भवति ।

तत्रात्मन –स्वस्य निन्दन–गर्हणमात्मनिन्दा परस्य च प्रशसन श्ल घन परप्रशसा, आदि-पदेन परस्य सद्गुणप्रकाशनमसद्गुणाच्छादनम्, स्वस्य च सद्गुणाच्छादनम् असद्गुणप्रकाशनं नम्रवृत्तित्वम् निरभिमानत्वञ्चेत्येतै' षड्भिर्हेतुभिरुच्चैर्गोत्रकर्मबन्ध. ॥ ९ ॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं तीर्थकरत्वनामकर्मबन्धहेतुत्वेन दर्शनविशुद्ध्यादयो विंशतिर्भावा आत्म-परिणामविशेषा' प्ररूपिता', सम्प्रति–उच्चैर्गोत्रकर्मबन्धहेतु प्ररूपयितुमाह – "आयणिंदा परप्प-संसाइहिं उच्चागोए—" इति । आत्मनिन्दा परप्रशंसादिभि कारणविशेषैरुच्चैर्गोत्रनामकर्म बध्यते ।

पडते हुए प्राणियों का त्राण करने वाले एवं उन्हे आश्वासन देने वाले जिनशासन की महिमा को बढाना, सारे ससार को जिनशासन का रसिक बनाना, मिथ्यात्व रूपी अधकार का अपहरण करना तथा चरण और करण को शरण करना अर्थात् इनका निर्दोष पालन करना, यह सब प्रवचनप्रभावना के अन्तर्गत है ।

तीर्थंकरत्व की प्राप्ति के ये बीस कारण है अर्थात् इन सब का अथवा इनमें से किसी एक दो या अधिक का उत्कृष्ट रूप से सेवन करने से जीव तीर्थकरनामकर्म का बन्ध करता है ॥८॥

सूत्रार्थ—'आयणिंदा परप्पसंसाइहिं' इत्यादि सूत्र–॥९॥

आत्मनिन्दा और परप्रशंसा आदि कारणो से उच्चगोत्र कर्म का बन्ध होता है ॥९॥

तत्त्वार्थदीपिका —पूर्वसूत्र मे दर्शनविशुद्धि आदि आत्मा की परिणतिविशेषो को तीर्थ-करनामकर्म के बन्ध का कारण कहा है । अब उच्चगोत्र कर्म के बन्ध के कारणों की प्ररूपणा करने के लिए कहते है—

अपनी निन्दा और दूसरों की प्रशंसा करने से उच्चगोत्र कर्म का बन्ध होता है ।

अपनी निन्दा करना आत्मनिन्दा है और दूसरे की प्रशसा करना परप्रशंसा है । आदि शब्द से दूसरों के सद्गुणों को प्रकाशित करना और दोषो को ढकना तथा अपने सद्गुणों को ढकना और दोषों को प्रकट करना, नम्रता धारण करना, निरभिमान होना, इन छह कारणों से उच्चगोत्र कर्म का बन्ध होता है ॥९॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पूर्व सूत्र में दर्शनविशुद्धि आदि बीस आत्मपरिणामों को तीर्थकरनामकर्म के बन्ध का कारण कहा, अब उच्चगोत्रकर्म के बध के कारणों की प्ररूपणा करते हैं—

तत्रा-ऽऽत्मन स्वस्य जाति कुल-रूप-बल-श्रुता-ऽऽज्ञै-श्वर्यप्रभृतीनां गर्हणम् आत्मनिन्दा, परस्याऽन्यस्य–जातिकुलरूपबलश्रुता-ऽऽज्ञै-श्वर्यादीना प्रशासनम् परप्रशसा, आदिपदेन–आत्मन' स्वस्य सद्गुणानामाच्छादनम् असद्गुणानाञ्चोद्भावनम्, परस्य सद्गुणानामुत्कीर्तनम् असद्गुणानाञ्चाऽनुकीर्तनम् नम्र-वृत्तित्वम् गर्वराहित्यम्। निरभिमानत्वम् निरहङ्कारत्वम्।

इत्येतै षड्भि'कारणैरुत्कृष्टेक्ष्वाकु-हरिवश-भोजराजाद्युच्चैर्गोत्रकर्मबन्धो भवति। तथाचोक्तम्—व्याख्याप्रज्ञप्तौ भगवती सूत्रे ८–शतके ९–उद्देशके—"**जाइअमदेणं,–कुलअमदेणं,–वलअमदेणं,–रूवअमदेणं–,तवअमदेणं,–सुय ‍मदेणं,–लाभअमदेणं,–इस्सरियअमदेणं,–उच्चागोयकम्मासरीर जाव पओगबंधे–**" इति।

जात्यमदेन कुलाऽमदेन बलाऽमदेन रूपाऽमदेन तपोऽमदेन श्रुताऽमदेन लाभाऽमदेन ऐश्वर्याऽमदेन उच्चैर्गोत्रकर्मशरीरयावत्प्रयोगबन्ध इति ॥ ९ ॥

मूलसूत्रम्—पाणाइवायाइहिंतो मुसावायअदिन्नादाण अबंभचेरपरिग्गहेहिंतो सव्वओ वेरमणं पंचमहव्वया—" ॥ १० ॥

छाया—प्राणातिपाता-दिभ्यः–मृषावादा-ऽदत्तादाना-ऽब्रह्मचर्यपरिग्रहेभ्यः सर्वतो-विरमणं पञ्चमहाव्रतानि ॥ १० ॥

तत्त्वार्थदीपिका—द्विचत्वारिंशत्पुण्यप्रकृतिस्वरूपमुक्तम्, पुण्यप्रकृतिबन्धेन च सद्गतिः–सद्धर्मप्राप्तिश्च भवति, तदेवं प्रस्तावात् मोक्ष हेतुभूतानि पञ्चमहाव्रतान्याह–"**पाणाइवाय-मुसावाय**" इत्यादि।

आत्मनिन्दा और परप्रशसा आदि कारणो से उच्चगोत्र कर्म का बंध होता है।

जाति, कुल, रूप, बल, श्रुत आज्ञा, ऐश्वर्य आदि का अभिमान न करते हुए अपने दोषो की निन्दा करना आत्मनिन्दा है और दूसरे के सद्गुणो की प्रशसा करना परप्रशसा है। सूत्र में ग्रहण किये आदि शब्द से यह समझना चाहिए–अपने सद्गुणो को आच्छादित करना और दोषों को प्रकाशित करना, नम्रता धारण करना और निरभिमान होना, इन छह कारणो से उच्चगोत्रकर्म का बध होता है। उच्चगोत्र कर्म के उदय से इक्ष्वाकुवश, हरिवश, भोजराजवश आदि जैसे उच्चगोत्रों मे जन्म प्राप्त होता है। व्याख्याप्रज्ञप्ति अर्थात् भगवतीसूत्र के शतक ८, उद्देशक ९ वें में कहा है—

जाति का मद–न करने से कुल का मद न करने से, बल का मद न करने से, रूप का मद न करने से, तप का मद न करने से, श्रुत का मद न करने से लाभ का मद न करने से और ऐश्वर्य का मद न करने से उच्चगोत्र कर्म का वन्ध होता है ॥९॥

सूत्रार्थ—'पाणाइवायाइहिंतो' सूत्र–॥१०॥

प्राणातिपात आदि से पूर्णरूप में निवृत्त होना पाँच महाव्रत हैं ॥१०॥

प्राणातिपातादिभ्य., प्राणातिपातः आदिशब्देन मृषावादा—ऽदत्तादानाऽब्रह्मचर्य—परिग्रहाणां ग्रहणं भवति, तेभ्य· सर्वतो विरमणं महाव्रतानि उच्यन्ते तानि पञ्च । तत्र—प्राणातिपात प्राणिवध·, मृषावादो—ऽसत्यभाषणम् , अदत्तादानम्—स्तेयम् , अब्रह्मचर्य—मैथुनम् , परिग्रहो मूर्च्छा एतेभ्य· सर्वत —सर्वप्रकारेण, त्रिकरण—त्रियोगै विरमण विरति निवृत्ति रितिभाव ॥१०॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—द्विचत्वारिंशद्विधपुण्यप्रकृतिबन्धेन सद्गति सद्धर्मप्राप्तिश्च भवति, प्रस्तावात् मोक्षहेतुभूतानि पञ्चमहाव्रतान्याह—"**पाणाइवाय—मुसावाय अदिन्नादाण अबंभचेरअपरिग्गहेहिंतो सव्वओ वेरमणं पंचमहव्वया—**" इति । प्राणातिपात· मृषावादा—ऽदत्तादाना—ब्रह्मचर्य—परिग्रहेभ्य सर्वत· सर्वांशेन गृह्यन्ते तेभ्य द्रव्यक्षेत्रकालभावा त्रिकरणैस्त्रियोगै सर्वथा विरतिनिवृत्ति पञ्चमहाव्रतान्युच्यन्ते ।

तत्र—प्राणातिपात· कषायादिप्रमादपरिणामपरिणतेना—ऽऽत्मना कर्त्रा मनोवाक्कायादिरुपयोगव्यापारात् करणकारणानुमोदनरूपकायव्यापारेण द्रव्यभावभेदेन द्विविधेन प्राणिप्राणव्यपरोपणरूप· । मृषावादस्तावद् असत्यभाषणम्—अनृतवचनम्—अलीकाभिभाषणम्—२ अदत्तादानञ्च—अदत्तस्य स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकमवितीर्णस्या—ऽऽदान मुच्यते—३

अब्रह्मचर्यम्—स्त्रीसंयोग , मैथुनमिति यावत्—४ परिग्रहस्तु—मूर्च्छा, सचित्ताचित्तमिश्रेषु

तत्त्वार्थदीपिका—प्राणातिपात के साथ जुडे हुए आदि शब्द से मृषावाद, अदत्तादान, अब्रह्मचर्य और परिग्रह का ग्रहण होता है । तात्पर्य यह है कि प्राणातिपात आदि पाँच पापों से तीन करण और तीन योग से निवृत्त हो जाना पाँच महाव्रत हैं । प्राणातिपात अर्थात् जीवो की हिंसा, मृषावाद अर्थात् असत्यभाषण, अदत्तादान अर्थात् स्तेय (चोरी), अब्रह्मचर्य अर्थात् मैथुन और परिग्रह अर्थात् मूर्च्छा— ममता, इन सब से पूर्णरूप से विरत होना महाव्रत है ॥१०॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—बयालीस प्रकार की पुण्य प्रकृति के बन्ध से सद्गति की प्राप्ति होती है, तथा सद्धर्म होता है । इस प्रसग से यहाँ पाँच महाव्रतो का कथन करते है—

प्राणातिपात और 'आदि शब्द से मृषावाद, अदत्तादान, अब्रह्मचर्य तथा परिग्रह से, पूर्ण रूप में अर्थात् सम्पूर्ण द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से, तीन करणों और तीनों योगों से निवृत्त होना पाँच महाव्रत है ।

कषाय और प्रमाद रूप परिणत आत्मा के द्वारा, मन वचन और काय रूप योग के व्यापार से तथा करने, कराने और अनुमोदन रूप तीन करणों के द्वारा द्रव्य और भाव प्राणों का व्यपरोपण करना प्राणातिपात कहलाता है । असत्य भाषण करना, असत्य वचन कहना या झूठ बोलना सावद्य वचन बोलना मृषावाद कहलाता है । स्वामी के दिये विना किसी वस्तु को ग्रहण करना अदत्तादान है । स्त्रीसयोग या मैथुन को अब्रह्मचर्य कहते है ।

शास्त्राऽनुमतिरहितेषु द्रव्यादिषु ममत्वरूप, एतेभ्य प्राणातिपातादिभ्य सर्वत सर्वात्मना, त्रिकरणै स्त्रियोगैर्मनोवाक्कायैर्विरमणं निवृत्ति पञ्चमहाव्रतान्यवसेयानि ।

प्राणिवधादितो निवृत्तिर्व्रतमुच्यते हिसादिलक्षण क्रियाकलाप नानुतिष्ठात, अपितु अहिंसादिलक्षणमेव क्रियाकलापमनुतिष्ठतीति फलति । प्राणातिपातादिभ्यो निवृत्तस्य शास्त्रविहितक्रियानुष्ठानात् सदसत्प्रवृत्तिनिवृत्तिक्रियासाध्य कर्मक्षपण भवति, कर्मक्षपणाच्च मोक्षावाप्तिरिति भाव ।

अत्रेद बोध्यम्—प्राणातिपातस्तावत् प्राणवियोजनम्, प्राणाश्चेन्द्रियादय तत्सम्बन्धात्प्राणिनो जीवा पृथिवीकायाद्येकेन्द्रिय—द्वीन्द्रिय—त्रीन्द्रिय—चतुरिन्द्रिय—पञ्चेन्द्रिया स्तान् जीवान् विज्ञाय श्रद्धया प्रतिपद्य भावत स्तस्याऽकरणं ज्ञानश्रद्धानपूर्वक चारित्रमुच्यते । तच्च—सदसत्प्रवृत्तिनिवृत्तिक्रियालक्षण चारित्र मनोवाक्कायकृतकारिताऽनुमोदितभेदेनाऽनेकविध बोध्यम् । उक्तञ्च स्थानाङ्गे ५—स्थाने १—उद्देशके—**“पंचमहव्वया पण्णत्ता, तंजहा— सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं, जाव सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमणं—”** इति । पञ्चमहाव्रतानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा—सर्वस्मात् प्राणातिपाताद्विरमणम्, यावत्—सर्वस्मात् परिग्रहाद विरमणम् इति, एव आवश्यके दशवैकालिकेऽप्युक्तम् ॥ १० ॥

सचित्त अचित्त और मिश्र द्रव्यो मे मूर्च्छा रखना उसका नाम परिग्रह है, ममत्व धारण करना परिग्रह है । इन पाचो पापों से पूर्णरूप से अर्थात् तीन करण और तीन योग से निवृत्ति होना पाँच महाव्रत है ।

प्राणिहिंसा आदि से निवृत्ति व्रत है इसका अभिप्राय यह है कि अमुक पुरुष हिंसा आदि क्रियाओ का आचरण नहीं करता है किन्तु अहिसादि क्रियाओ का ही आचरण करता है । जो प्राणातिपात आदि से विरत हो जाता है, वह शास्त्र मे प्रतिपादित सत् क्रियाओ मे प्रवृत्ति करता है, और असत् क्रियाओ से निवृत्त होता है इस कारण उसके कर्मों का क्षय होता है, और कर्मक्षय से मोक्ष की प्राप्ति होती है ।

यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि प्राणातिपात का अर्थ है प्राणियो को प्राणो से वियुक्त करना । प्राण इन्द्रिय आदि को कहते है । प्राण जिसमे पाये जाए वह प्राणी अर्थात् जीव कहलाता है । प्राणी कई प्रकार के होते है ।—पृथ्वीकाय आदि एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय, इन जीवो के स्वरूप को समझकर और उस पर श्रद्धा करके उनके प्राणो का वियोग न करना ज्ञान श्रद्धानपूर्वक चारित्र कहलाता है । सत् मे प्रवृत्ति करना और असत् से निवृत्ति करना चारित्र का लक्षण है । मन वचन काय कृत कारित और अनुमोदन के भेद से वह अनेक प्रकार का है ।

स्थानागसूत्र के ५ वे स्थान के प्रथम उद्देशक मे कहा है—‘महाव्रत पाँच कहे गये है, वे इस प्रकार है—समस्त प्राणातिपात से विरत होना यावत् समस्त परिग्रह से विरत होना ।
आवश्यक और दशवैकालिकसूत्र में भी महाव्रत पाँच ही कहे गये हैं ॥१०॥

मूलसूत्रम्—"पाणाऽवायाइहितो देसओ वेरमणं पंचाणुव्वया–" ॥ ११ ॥

छाया—"प्राणातिपातादिभ्यो देशतो विरमणं पञ्चाणुव्रतानि–" ॥ ११ ॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे प्राणातिपातादिभ्य सर्वतो विरतिलक्षणानि पञ्च महाव्रतानि प्ररूपितानि, सम्प्रति–तेभ्य एव प्राणातिपातादिभ्यो देशतो विरतिलक्षणानि पञ्चाणुव्रतानि प्ररूपयितुमाह–"**पाणाइवायाइहिंतो देसओ वेरमणं पंचाणुव्वया**–" इति । प्राणातिपातादिभ्यो देशत॰ एकदेशतो विरमण विरति निवृत्ति पञ्चाणुव्रतान्युच्यन्ते । तत्र प्राणातिपात प्राणिप्राण-व्यपरोपणम् जीवहिंसा, आदिपदेना–ऽनृतभाषण-स्तेय-मैथुनपरिग्रहा गृह्यन्ते, तेभ्य पञ्चभ्यो देशत॰ एकदेशतो विरमणम्, स्थूलप्राणातिपात–स्थूलानृतभाषणस्थूलस्तेय-स्थूलाब्रह्मचर्य–स्थूलपरिग्रहेभ्यो निवृत्ति खलु—पञ्चाणुव्रतानि उच्यन्ते ॥ ११ ॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं सकलप्राणिगणप्राणव्यपरोपण-मृषावाद-स्तेया-ऽब्रह्मचर्य-परिग्रह-निवृत्तिरूपपञ्चमहाव्रतानि प्ररूपितानि, सम्प्रति–स्थूलप्राणातिपातादिनिवृत्तिलक्षणपञ्चाणुव्रतानि प्ररूपयितुमाह—**पाणाइवायाइहिंतो देसओ वेरमणं पंचाणुव्वया**–" इति ।

प्राणातिपातादिभ्यो देशतो विरमणम् एकदेशतो निवृत्ति पञ्चाणुव्रतानि उच्यन्ते । तथाच

सूत्रार्थ–'पाणाइवायाइहितो देसओ वेरमण' इत्यादि । ११

प्राणातिपात आदि से एक देश से विरत होना पच अणुव्रत है ॥११॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्र मे प्राणातिपात आदि से पूर्ण रूप से विरत होने रूप पाँच महाव्रतों का प्ररूपण किया गया, अब यह बतलाते है कि उन्हीं प्राणातिपात आदि से आशिक रूप से विरत होना पाँच अणुव्रत है—

प्राणातिपात आदि पाँच पापो से देश से विरत होना पांच अणुव्रत है । प्राणव्य-परोपण या जीवहिंसा को प्राणातिपात कहते है। सूत्र मे प्रयुक्त 'आदि' शब्द से असत्यभाषण, स्तेय, मैथुन और परिग्रह का ग्रहण कर लेना चाहिए । इन पाँचों से एक देश से विरत होना पाँच अणुव्रत है । अर्थात् स्थूल प्राणातिपातविरमण, स्थूल मृषावाद-विरमण, स्थूल चोरी (स्तेय) विरमण स्थूल अब्रह्मचर्यविरमण और स्थूल परिग्रहविरमण अर्थात् परिग्रह परिमाण, यह पाँच अणुव्रत है ॥११॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पहले सम्पूर्ण प्राणियों के प्राणव्यपरोपण से निवृत्ति सम्पूर्ण मृषावाद से, सम्पूर्ण अदत्तादान से, सम्पूर्ण अब्रह्मचर्य से तथा सम्पूर्ण परिग्रह से निवृत्ति रूप पाँच महाव्रतों का निरूपण किया गया है, अब स्थूल प्राणातिपात आदि से निवृत्ति रूप पाँच अणुव्रतों का कथन करते हैं ।

प्राणातिपात आदि का आंशिक रूप से त्याग करना पाँच अणुव्रत कहलाते है । हिंसा दो प्रकार की है सकल्पजा और आरम्भजा, अथवा सूक्ष्म और स्थूल के भेद से भी

स्थूलसूक्ष्मभेदात्, सङ्कल्पजारम्भभेदाद्वा द्विविधस्तावद् हिंसारूपः प्राणातिपात· सकलप्राणिगण-विषयो भवति, तस्माच्च–प्राणातिपातात् न सर्वस्मात् प्राणिप्राणव्यपरोपणमात्राद् विरति· । किन्तु–एकदेशादेव सङ्कल्पजाद्वा स्थूलरूपात्प्राणातिपातान्निवृत्ति· ।

एवम्–न सर्वस्माद् मृषावादान्निवृत्ति·, अपितु–एकदेशादेव कूटसाक्षीदानादिरूपम् नतु मर्मादिजन्यमृषावादात । एवम्—न सर्वस्मात् स्तेयाद अदत्तादानरूपाद् विरति·, अपितु—एकदेशादेव हठहरणादिकाद् बलाहरणादिस्थूलरूपात्, यत्रैहिकाऽऽमुष्मिकाश्चौर्यदोषा· राजदण्ड-कारागारनरकपातादिरूपा· गृहस्थानां भवति, तत्–स्तेय बलादाहरणादिक स्थूल बोध्यम् ।

सूक्ष्मं स्तेयं तावत्–परिहासादिना परकीयवस्तुग्रहणरूपमवगन्तव्यम् । एवम्–स्थूलादेव एकदेशात् परदाराद् मैथुनाद् विरति· स्वदारसन्तोषरूपा, न तु–सर्वस्माद् मैथुनात् स्वपरदार-रूपान्निवृत्ति, स्वदारसन्तुष्टः सन् तदन्ययोषितौ जननीवदनुपश्यति ।

एवम्–परिग्रहो मूर्च्छा-गार्ध्यं ममत्वम्, स च द्विविध· बाह्याभ्यन्तरभेदात् । तत्रान्तरेषु शरीरा-दिषु ममत्वरूपआन्तरपरिग्रह, बाह्येषु च–क्षेत्रवास्तुसुवर्णधनधान्यादिषु वस्तुषु स्नेहरूपो बाह्यपरि-ग्रहो बोध्य । तत्र–बाह्यादेव स्थूलरूपात् क्षेत्रवास्तुहिरण्यादिवस्तुनो विरति·, न तु–सर्वस्माद

हिंसा के दो भेद हैं । सम्पूर्ण प्राणातिपात से विरत न होना किन्तु एकदेश से ही विरत होना केवल स्थूल रूप सकल्पजा हिंसा का त्याग करना स्थूलप्राणातिपातविरति नामक अणुव्रत है ।

इसी प्रकार सब प्रकार के मृषावाद का त्याग न करके सिर्फ एकदेश से अर्थात झूठी साक्षी देने आदि रूप असत्यभाषण से निवृत्त होना स्थूलमृषावादविरति अणुव्रत है । इस अणुव्रत मे स्थूल असत्य का ही त्याग किया जाता है, सूक्ष्म मृषावाद का नहीं । इसो प्रकार स्थूल अदत्तादान का त्याग करना अदत्तादानविरमण अणुव्रत कहलाता है । इस अणुव्रत मे सभी प्रकार के अदत्तादान का त्याग नहीं होता, अपितु स्थूल अदत्तादान का ही त्याग किया जाता है । जिस अदत्तादान से इस लोक और परलोक में चोरी का दोष लगता है, जिसे सामान्यतया चोरी कहा जाता है और जो चोरी राज्य द्वारा दण्डनीय होती है, जिस कारण से कारागार और नरक का पात्र बनना पडता है, उसे स्थूल चोरी समझना चाहिए । हँसी मजाक में किसी को वस्तु ले लेना या छिपा देना स्कूल चोरो नहीं, सूक्ष्म चोरी है । गृहस्थो को ऐसी चोरी का त्याग नहीं होता ।

इसी प्रकार एक देश से मैथुन का त्याग करना ब्रह्मचर्याणुव्रत कहलाता है । एकदेश से मैथुन के त्याग का तात्पर्य है परस्त्रीसंयोग का त्याग करना । जो स्वस्त्री में सन्तुष्ट रहकर परस्त्री को माता के समान समझता है, वह स्वदार सतोष व्रती कहा जाता है ।

परिग्रह का अर्थ है—मूर्च्छा, गृद्धि या ममत्व । परिग्रह के दो भेद हैं—बाह्य और आन्तरिक, आन्तरिक शरीर आदि पर ममता होना आन्तरिक परिग्रह है । क्षेत्र, वास्तु

बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहान्निवृत्ति' इति। एवञ्चोक्तरीत्या स्थूलेभ्य प्राणातिपात–मृषावाद-स्तेय-मैथुन-परिग्रहेभ्यो विरमणरूपाणि पञ्चाणुव्रतानि भवन्तीति फलितम्।

उक्तञ्च स्थानाङ्गे ५–स्थाने १–उद्देशके–**"पञ्चाणुव्वया पण्णत्ता, तं जहा थूलाओ पाणाइवायाओ वेरमणं, थूलाओ मुसावायाओ वेरमण थूलाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं, सदारसंतोसे, इच्छापरिमाणे–"** इति।

पञ्चाणुव्रतानि प्रज्ञप्तानि तद्यथा– स्थूलात् प्राणातिपाताद् विरमणम्, स्थूलाद् मृषावादाद् विरमणम्, स्थूलाददत्तादानाद् विरमणम्, स्वदारसन्तोष, इच्छापरिमाणम् इति ॥११॥

मूलसूत्रम्—"तत्थेज्जट्ठं ईरियाइया पणवीसं भावणाओ–"॥१२॥

छाया—तत्स्थैर्यार्थम्-ईर्यादिकाः पञ्चविंशतिर्भावनाः" ॥१२॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वं देशतो हिंसादिविरतिलक्षणपञ्चाऽणुव्रतादिस्वरूप प्ररूपितम्, सम्प्रति तेषां व्रताना स्थिरतासम्पादनार्थं तावद् ईर्यादिका पञ्चविशतिर्भावना. प्ररूपयितुमाह–"तत्थेज्जट्ठ, इत्यादि, । तत्स्थैर्यार्थम्–तेषां पूर्वोक्ताना व्रताना स्थूलप्राणातिपातविरमणादिलक्षणाना स्थैर्यार्थम्– स्थिरताकरणार्थं दृढीकरणार्थम् ईर्यादिका –ईर्यादिलक्षणा पञ्चविंगतिर्भावना भवन्ति।

तत्र—ईर्या–ईरणम्, यतनया गमनम् , १ आदिपदेन—मन' प्राशस्त्य[२]–वच' प्राशस्त्यै[३]

मकान), सुवर्ण धन, धान्य आदि बाह्य वस्तुओं पर ममत्व होना बाह्य परिग्रह है। परिग्रह परिमाण नामक अणुव्रत में समस्त वस्तुओं का त्याग नहीं किया जाता किन्तु उनकी मर्यादा कर ली जाती है। इसी को स्थूलपरिग्रहत्याग भी कहते है।

इस प्रकार स्थूलप्राणातिपातविरमण, स्थूलमृषावादविरमण, स्थूलअदत्तादानविरमण, स्थूल मैथूनविरमण और परिग्रहपरिमाण नामक पाँच अणुव्रत होते है।

स्थानांगसूत्र के पाँचवें स्थानक के प्रथम उद्देशक में कहा है–अणुव्रत पाँच कहे गये है–स्थूलप्राणातिपातविरमण, स्थूल मृषावादविरमण, स्थूल अदत्तादानविरमण, स्वदारसन्तोष और इच्छापरिमाण ॥११॥

सूत्रार्थ –'तत्थेज्जट्ठं इरियाइया पणवीसं' इत्यादि ।१२।

व्रतों की स्थिरता के लिए पच्चीस भावनाएँ होती है ॥१२॥

तत्त्वार्थदीपिका–इससे पूर्व स्थूल रूप से हिंसा का त्याग करना आदि पाँच अणुव्रतो का प्रतिपादन किया गया, अब उन व्रतो में स्थिरता लाने के लिए ईर्या आदि पच्चीस भावनाओ का कथन करते हैं–पूर्वोक्त प्राणातिपातविरमण आदि व्रतो की स्थिरता के लिए ईर्या आदि पच्चीस भावनाए हैं (२) प्राणातिपात विरमणमहाव्रत की पाँच भावनाएँ –(१) ईर्या–यतनापूर्वक गमन करना (२) मन की प्रशस्तता (३) वचन की प्रशस्तता (४) एषणा"

४ ५
षणाऽऽदाननिक्षेपरूपा' पञ्च प्रथममहाव्रतस्य भावना —५ आलोच्य सम्भाषण —१ क्रोध—लोभ—३ भय—४ हास्येषु—५ अनृतविवर्जनञ्चेति द्वितीयमहाव्रतस्य भावना — १०

अष्टादशविधविशुद्धवसतेर्याचनापूर्वक सेवन —१ प्रतिदिनमवग्रह याचित्वा तृणकाष्ठादिग्रहण २ पीठफलकाद्यर्थमपि वृक्षादीनामच्छेदन— साधारणपिण्डस्याधिकतो न सेवन—४ साधुवैयावृत्त्य-करणञ्चे—५ ति पञ्च तृतीयमहाव्रतस्य भावना' —१५ स्त्री पशु-पण्डकरहितवसतिसेवन १ स्त्रीकथा-वर्जन—२ स्त्र्यङ्गोपाङ्गाऽनवलोकनम् ३ पूर्वकृतसुरतरतेरस्मरण ४ प्रतिदिन भोजनपरित्यागश्चे—५ ति पञ्च चतुर्थमहाव्रतस्य—२०

प्रशस्ताऽप्रशस्त शब्द १ रूप २ रस ३ गन्ध ४ स्पर्शेषु ५ रागद्वेषवर्जन शब्दादिभेदात् पञ्च पञ्चममहाव्रतस्येति मिलिता' पञ्चविंशतिर्भावना कर्तव्या. ॥१२॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं सर्वप्राणातिपातविरमणादिलक्षणानि पञ्चमहाव्रतानि प्ररूपितानि, सम्प्रति तेषां दार्ढ्यार्थमेकैकस्य महाव्रतस्य पञ्च—पञ्चभावना प्ररूपयितुमाह—**"तत्थेज्जट्ठं ईरिया-इयापणवीसं भावणाओ—"** इति ।

और (५) आदाननिक्षेप ।

(२) सत्यमहाव्रत की पाँच भावनाएँ—(१) सोचविचार कर बोलना (२) क्रोध का त्याग लोभ का त्याग (४) भय का त्याग (५) हास्य का त्याग करना ।

(३) अदत्तादानविरमणव्रत की पांच भावनाएँ- (१) अठारह प्रकार से विशुद्ध वसति (उपाश्रय—स्थान) की याचना करके सेवन करना (२) विशुद्ध पीठ—फलक आदि की याचना करना (३) वृक्ष आदि का छेदन न करना (४) साधारण पिण्ड (भोजन) का अधिक सेवन करना और (५) साधुओ की वैयावृत्य करना ।

(४) ब्रह्मचर्यव्रत की पाँच भावनाएँ— (१) स्त्री, पशुओर पडक से रहित स्थान में वास करना (२) स्त्रीयों सबंधी कथा न करना (३) स्त्री के अगोपागो का अवलोकन न करना (४) पूर्वकाल मे अर्थात् गृहस्थावस्था में भोगे हुए भोगो का स्मरण न करना और (५) प्रति-दिन गरिष्ठ भोजन का परित्य।ग करना ।

(५) परिग्रहत्यागमहाव्रत की पाँच भावनाएँ—(१) मनोज्ञ शब्दों मे राग और अमनोज्ञ शब्दों मे द्वेष न करना (२) मनोज्ञ एव अमनोज्ञ रूप मे राग—द्वेष न करना (३) मनोज्ञ—अमनोज्ञ रस मे राग—द्वेष न करना (४) मनोज्ञ-अमनोज्ञ गध मे राग—द्वेष न करना और (५) मनोज्ञ—अमनोज्ञ स्पर्श मे राग—द्वेष न करना ।

पाँचो व्रतों की मिलकर ये पच्चीस भावनाएँ है । ॥१२॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पहले प्राणातिपातविरमण आदि पाँच महाव्रतो का प्ररूपण किया गया है, उन व्रतो को दृढ करने के लिए प्रत्येक की पाँच—पाँच भावनाएँ कहते है—

तत्स्थैर्यार्थम्—ईर्यादिका पञ्चविंशतिर्भावना भावनीया, तेषां पूर्वोक्तस्वरूपाणां सर्वत प्राणातिपातविरमणादिलक्षणानां पञ्चमहाव्रताना, देशत प्राणातिपातादिविरतिलक्षणाऽणुव्रतानाञ्च स्थैर्यार्थं दृढतासम्पादनार्थम् ईर्यासमिति —१ आदिपदेन—मनोगुप्ति—२ वचोगुप्ति —३ एषणा—४ आदाननिक्षेपणा—५ आलोच्यसम्भाषण—६ क्रोधप्रत्याख्यान—७ लोभप्रत्याख्यान—८ भयप्रत्याख्यान—९ हास्यप्रत्याख्यान—१० अष्टादशविधविशुद्धवसतेर्याचनापूर्वक सेवनम्—११ प्रतिदिनमवग्रह-याचित्वा तृणकाष्ठादिग्रहणम्—१२ पीठफलकाद्यर्थमपि वृक्षादीनामच्छेदनम्—१३ साधारणपिण्डस्याऽधिकतो न सेवनम्—१४ साधुवैयावृत्यकरणञ्च—१५ स्त्री-पशुनपुंसकससक्तशयनाऽऽसनवर्जनम्—१६ रागयुक्तस्त्रीकथावर्जनम्—१७ स्त्रीणां मनोहरेन्द्रियदर्शनवर्जनम्—१८ पूर्वरताऽनुस्मरणवर्जनम्—१९ प्रतिदिन भोजनपरित्यागश्च २०

मनोज्ञा-ऽमनोज्ञस्पर्श—२१ रस—२२ गन्ध—२३ वर्ण—२४ शब्दानां—२५ रागद्वेषवर्जनञ्च-इत्येवं पञ्चविंशतिर्भावना भावनीया । तत्र-प्रथमा. पञ्चभावना' ईर्यासमिते [प्राणातिपातविरते'] द्वितीया पञ्चभावना असत्यविरते' तृतीया पञ्चभावना स्तेयविरते, चतुर्थ्य' पञ्चभावना ब्रह्मचर्यस्य, पञ्चम्य पञ्चभावना' परिग्रहविरतेरवगन्तव्या ।

उन पूर्वोक्त व्रतो को स्थिर रखने के लिए ईर्या आदि पच्चीस भावनाएँ करनी चाहिए सर्वथा प्राणातिपातविरमण आदि पाँच महाव्रतो को तथा एकदेश प्राणातिपातविरमण रूप अणुव्रतो की स्थिरता—दृढता के लिए निम्नलिखित भावनाओ का सेवन करना चाहिए

(१) ईर्यासमिति (२) मनोगुप्ति (३) वचनगुप्ति (४) एषणा (५) आदाननिक्षेपण (३) आलोच्यसभाषण—सोच—विचार कर बोलना (७) क्रोध का त्याग (८) लोभ का त्याग (९) भय का त्याग (१०) हास्य का त्याग (११) अठारह प्रकार से विशुद्ध वसति (स्थान) का सेवन (१२) प्रतिदिन अवग्रह की याचना करके तृण काष्ट आदि को ग्रहण करना (१३) पीठ—फलक आदि के लिए भी वृक्ष आदि का छेदन न करना (१४) साधारण पिण्ड का अधिक सेवन नहीं करना (१५) साधुओ की सेवा करना (१६) स्त्री पशु और पडक (नपुसक—हिजड़ा) के ससर्ग वाले शयन आसन स्थान का सेवन न करना (१७) रागपूर्वक स्त्रियों की कथा न करना (१८) स्त्रियों की मनोहर इन्द्रियों का अवलोकन न करना (१९) पूर्वभुक्त भोगों का स्मरण न करना (२०) प्रतिदिन गरिष्ठ भोजन का त्याग करना (२१—२५) मनोज्ञ स्पर्श रस गन्ध वर्ण और शब्द में राग' और अमनोज्ञ स्पर्श आदि में द्वेष न करना।

यह पच्चीस भावनाएँ है । इनमें प्रारंभ की पाँच प्राणातिपातविरति की है'। दूसरी पाँच असत्यविरमणमहाव्रत की तीसरी पाँच अदत्तादानमहाव्रत की, चौथी पाँच ब्रह्मचर्यमहाव्रत की और अन्तिम पाँच परिग्रहपरित्यागमहाव्रत की है इनका स्पष्टीकरण इसप्रकार है (१) ईर्यासमिति—ईर्या का अर्थ है गमन करना । गमन मे समिति अर्थात् संगतता या शास्त्र के अनुसार प्रवृत्ति होना

तत्र तावद्—ईरण गमनम् इर्या, तस्यां समिति·—सङ्गतिः श्रुतरूपेणा-ऽऽत्मन· परिणति·, तदुपयोगेन पुरस्तात् युगमात्रया दृष्ट्या स्थावरजङ्गमानि भूतानि परित्यजन् अप्रमत्तः सन् गच्छेदित्यादिरूपो विधिरीर्यासमितिरुच्यते मनोगुप्तिश्च—मनसो रक्षणम्, आर्तरौद्रध्यानाऽप्रचारः—धर्मध्याने उपयोगश्च—२

वचोगुप्तिश्च—एषणासमितिरूपा—३ एषणा च—त्रिविधा, गवेषणा—१ ग्रहण—२ ग्रास—३ भेदात्। तस्यामेषणायामसमितस्य षण्णामपि कायानामुपधानापत्ति· स्यादतस्तत्सरक्षणार्थं सकलेन्द्रियोपयोगलक्षणा एषणा समिति कर्तव्या—४ आदाननिक्षेपणासमितिस्तु—औधिको—१ पग्रहिक—२ भेदेन द्विविधस्योपधेर्ग्रहण—स्थापनलक्षणयोरादान—निक्षेपणयोरागमानुसारेण प्रत्यवेक्षण-प्रमार्जनरूपा समितिरुच्यते— ५

आलोकितपानभोजनन्तु—प्रतिगृह पात्रमध्यपतितपिण्डस्य चक्षुराद्युपयोगेन तत्समुत्थागन्तुकसत्त्वसरक्षणार्थं प्रत्यवेक्षण कर्तव्यम्, उपाश्रयमागन्य च पुनरपि प्रकाशयुक्ते प्रदेशे स्थित्वा। पानभोजन सुप्रत्यवेक्षित कृत्वा प्रकाशप्रदेशावस्थितेन वलगनं कर्तव्यमिति बोध्यम्, इत्येवं रीत्या—एता·-पञ्चभावना पुन· पुनर्भावयन् वासयन् बाहुल्येन सम्पादयन् समस्तान्यप्राणातिपातलक्षणामहिंसां

ईर्यासमिति है, तात्पर्य यह है कि उपयोग के साथ चार हाथ भूमि को देखते हुए, स्थावर और त्रस जीवों को बचाते हुए अप्रमत्त होकर गमन करना चाहिए।

मनोगुप्ति मन की रक्षा करना। आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान न होने देना, धर्मध्यान में मनको लगाना।

(३), वचनगुप्ति वचन का निरोध करके मौन धारण करना या आवश्यकता होने पर सोच विचार कर हित मित भाषण करना।

(४) एषणासमिति—शुद्ध आहार आदि की गवेषणा करना एषणा तीन प्रकार की है—गवेषणा ग्रहणैषणा ग्रासैषणा जो एषणामें यतनावान् नहीं होता, वह छह काय के जीवों का घात करता है, अतएव उससे बचने के लिए सब इन्द्रियों से उपयोग लगा कर एषणासमिति का पालन करना चाहिए।

(५) आदाननिक्षेपणासमिति साधु वेश औधिक—और औपग्रहिका कारण परने पर जो लिया जाय दोनो प्रकार की उपधि के रखने और उठाने में यतना करना अर्थात् आगमोक्त विधि से उसका प्रतिलेखन करके एवं प्रमार्जन करके रखना उठाना चाहिए। अथवा

आलोकितपानभोजन—प्रत्येक घर मे पात्र में पड़े हुए आहार को नेत्रों द्वारा देख लेना चाहिए जिससे उसमे उत्पन्न हुए या इधर—उधर से आये हुए जीवो की रक्षा हो। उपाश्रय मे आकर प्रकाश युक्त स्थान मे स्थित होकर पुन भोजन—पानी को अच्छी तरह से देख लेना चाहिए और प्रकाशयुक्त स्थान में ही उसका सेवन करना चाहिए। इन पाँच भाव-

पातुं समर्थो भवतीति भाव ॥

अथाऽनृतविरतिलक्षणसत्यवचनस्य दार्ढ्यार्थं पूर्वोक्तपञ्चभावनासु प्रथम तावद् अनुवीचि भाषणमुच्यते, अनुवीचिशब्दो देशीय आलोचनार्थक । तथाच–समीक्ष्य–आलोच्य वचनप्रवर्तनम्–अनुवीचिभाषणं बोध्यम् , अनालोचितवक्ता कदाचिन्मृषाऽपि ब्रूयात्, ततश्चात्मनो लाघव वैर–पीडा खलु–ऐहिकानि फलानि स्यु , परप्राणोपघातश्चाऽवश्यभावी , अत समाधोदाहरणेनात्मान भावयन् न मृषाभाषणजनितपापेन सम्पृक्तो भवति–१ क्रोधस्य–कषायविशेषस्य मोहकर्मोदयनिष्पन्न-प्रद्वेषप्रायस्याऽप्रीतिलक्षणस्य प्रत्याख्यान–निवृत्तिरनुवृत्तिर्वा, तेन–क्रोधप्रत्याख्यानेन । सततमात्मानं भावयेत्- तथा भावयन् वासयश्च सत्यादि न व्यभिचरतीति–२ ॥

एव–लोभप्रत्याख्यान तावत् तृष्णालक्षणस्य लोभस्य प्रत्याख्यान परित्याग तेना ऽध्यात्मान भावयन् न वितथभाषी भवति –३ एव–भयशीलस्य भीरुत्वस्य प्रत्याख्यानेनाऽपि–आत्मान भावयन् नाऽनृत कदाचिद् वदति, भयशीलो जन कदाचिद् वितथमपि भाषते । चौरोऽथ पिशाचो वा मया रात्रौ दृष्ट इति, तस्माद्–निर्भयवासनाध्यानमात्मनि भावयेत् –४

नाओं को पुन –पुन भाने वाला अहिंसाव्रत की रक्षा करने मे समर्थ होता है ।

असत्यविरमण व्रत की दृढता के लिए कही हुई पाँच भावनाओ मे से पहले अनुवीचि-भाषण का कथन करते हैं ।

(१) अनुवीचिभाषण–यहाँ 'अनुवीचि' शब्द देश्य है और उसका अर्थ है–आलोचना तात्पर्य यह हुआ कि सोच–समझ कर वचनो का प्रयोग करना अनुवीचि भाषण करना है । बिना सोचे–समझे बोलने वाला वक्ता कदाचित् मिथ्या (असत्य) भाषण भी कर बैठता है । उससे अपनी लघुता होती है तथा वैर, पीडा आदि इह लोक सबधी अनर्थ उत्पन्न होते है । उससे दूसरे के प्राणो का घात भी अवश्य होता है । अतएव अनुवीचिभाषण से जो अपने आपको भावित करता है, वह मृषाभाषण के दोष का भागी नहीं होता ।

(२) क्रोधप्रत्याख्यान–मोहनीय कर्म के उदय से उत्पन्न होने वाले द्वेषरूप क्रोधकषाय का त्याग करना चाहिए और अपनी आत्मा को क्रोधप्रत्याख्यान से भावित करना चाहिए । जो क्रोधत्याग की भावना करता है, वह प्राय सत्य का उल्लघन न करके उसका पालन करने में समर्थ होता है ।

(३) लोभप्रत्याख्यान—लोभ का अर्थ है तृष्णा । उसका त्याग करना लोभप्रत्याख्यान कहलाता है । जो लोभ का त्याग कर देता है उसे असत्यभाषण नही करना पडता ।

(४) भयप्रत्याख्यान - भय असत्य भाषण का कारण है । जो व्यक्ति अपनी आत्मा को निर्भयता से भावित करता है, वह असत्य भाषण नहीं करता । भयशील मनुष्य मिथ्या-भाषण भी करता है । जैसे आज रात्रि मे मुझे चोर दिखाई दिया, पिशाच दिखा आदि । इस

तत्र तावद्--ईरण गमनम् ईर्या, तस्यां समिति'--सङ्गति' श्रुतरूपेणाऽऽत्मनः परिणति', तदुपयोगेन पुरस्तात् युगमात्रया दृष्ट्या स्थावरजङ्गमानि भूतानि परित्यजन् अप्रमत्तः सन् गच्छेदित्यादिरूपो विधिरीर्यासमितिरुच्यते मनोगुप्तिश्च--मनसो रक्षणम्, आर्तरौद्रध्यानाऽप्रचार'--धर्मध्याने उपयोगश्च--२

वचोगुप्तिश्च--एषणासमितिरूपा--३ एषणा च--त्रिविधा, गवेषणा--१ ग्रहण--२ ग्रास--३ भेदात्। तस्यामेषणायामसमितस्य षण्णामपि कायानामुपघातापत्ति स्यादतस्तत्संरक्षणार्थं सकलेन्द्रियोपयोगलक्षणा एषणा समिति कर्तव्या--४ आदाननिक्षेपणासमितिस्तु--औधिको--१ पग्रहिक--२ भेदेन द्विविधस्योपधेर्ग्रहण--स्थापनलक्षणयोरादान--निक्षेपणयोरागमानुसारेण प्रत्यवेक्षण-प्रमार्जनरूपा समितिरुच्यते-- ५

आलोकितपानभोजनन्तु--प्रतिगृह पात्रमध्यपतितपिण्डस्य चक्षुराद्युपयोगेन तत्समुत्थागन्तुकसत्त्वसंरक्षणार्थं प्रत्यवेक्षण कर्तव्यम्, उपाश्रयमागन्य च पुनरपि प्रकाशयुक्ते प्रदेशे स्थित्वा। पानभोजन सुप्रत्यवेक्षित कृत्वा प्रकाशप्रदेशावस्थितेन वल्गन कर्तव्यमिति बोध्यम्, इत्येव रीत्या--एता'-पञ्चभावना पुन' पुनर्भावयन् वासयन् बाहुल्येन सम्पादयन् समस्तान्यप्राणातिपातलक्षणामहिंसां

ईर्यासमिति है, तात्पर्य यह है कि उपयोग के साथ चार हाथ भूमि को देखते हुए, स्थावर और त्रस जीवों को बचाते हुए अप्रमत्त होकर गमन करना चाहिए।

मनोगुप्ति मन की रक्षा करना। आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान न होने देना, धर्मध्यान में मनको लगाना।

(३) वचनगुप्ति वचन का निरोध करके मौन धारण करना या आवश्यकता होने पर सोच विचार कर हित मित भाषण करना।

(४) एषणासमिति---शुद्ध आहार आदि की गवेषणा करना एषणा तीन प्रकार की है--गवेषणा ग्रहणैषणा ग्रासैषणा जो एषणामें यतनावान् नहीं होता, वह छह काय के जीवों का घात करता है, अतएव उससे बचने के लिए सब इन्द्रियों से उपयोग लगा कर एषणासमिति का पालन करना चाहिए।

(५) आदाननिक्षेपणासमिति साधु वेश औधिक--और औपग्रहिका कारण परने पर जो लिया जाय दोनो प्रकार की उपधि के रखने और उठाने में यतना करना अर्थात् आगमोक्त विधि से उसका प्रतिलेखन करके एव प्रमार्जन करके रखना उठाना चाहिए। अथवा

आलोकितपानभोजन---प्रत्येक घर में पात्र में पड़े हुए आहार को नेत्रों द्वारा देख लेना चाहिए जिससे उसमें उत्पन्न हुए या इधर--उधर से आये हुए जीवों की रक्षा हो। उपाश्रय में आकर प्रकाश युक्त स्थान में स्थित होकर पुन भोजन--पानी को अच्छी तरह से देख लेना चाहिए और प्रकाशयुक्त स्थान में ही उसका सेवन करना चाहिए। इन पाँच भाव-

पातुं समर्थो भवतीति भाव. ॥

अथाऽनृतविरतिलक्षणसत्यवचनस्य दार्ढ्यार्थं पूर्वोक्तपञ्चभावनासु प्रथमं तावद् अनुवीचिभाषणमुच्यते, अनुवीचिशब्दो देशीय आलोचनार्थक । तथाच—समीक्ष्य—आलोच्य वचनप्रवर्तनम्—अनुवीचिभाषण बोध्यम्, अनालोचितवक्ता कदाचिन्मृषाऽपि ब्रूयात्, ततश्चात्मनो लाघव वैर—पीडा खलु—ऐहिकानि फलानि स्यु, परप्राणोपघातश्चाऽवश्यभावी, अत समीक्ष्योदाहरणेनात्मान भावयन् न मृषाभाषणजनितपापेन सम्पृक्तो भवति—१ क्रोधस्य—कषायविशेषस्य मोहकर्मोदयनिष्पन्न-प्रद्वेषप्रायस्याऽप्रीतिलक्षणस्य प्रत्याख्यान—निवृत्तिरनुवृत्तिर्वा, तेन—क्रोधप्रत्याख्यानेन । सततमात्मानं भावयेत्- तथा भावयन् वासयश्च सत्यादि न व्यभिचरतीति—२ ॥

एवं—लोभप्रत्याख्यान तावत्- तृष्णालक्षणस्य लोभस्य प्रत्याख्यान परित्याग तेना ऽप्यात्मान भावयन् न वितथभाषी भवति —३ एव—भयशीलस्य भीरुत्वस्य प्रत्याख्यानेनाऽपि—आत्मान भावयन् नाऽनृत कदाचिद् वदति, भयशीलो जन कदाचिद् वितथमपि भाषते । चौरोऽथ पिशाचो वा मया रात्रौ दृष्ट इति, तस्माद्—निर्भयवासनाध्यानमात्मनि भावयेत् —४

नाओ को पुन –पुन भाने वाला अहिंसाव्रत की रक्षा करने मे समर्थ होता है ।

असत्यविरमण व्रत की दृढता के लिए कही हुई पाँच भावनाओ में से पहले अनुवीचिभाषण का कथन करते हैं ।

(१) अनुवीचिभाषण—यहाँ 'अनुवीचि' शब्द देश्य है और उसका अर्थ है—आलोचना तात्पर्य यह हुआ कि सोच—समझ कर वचनो का प्रयोग करना अनुवीचि भाषण करना है । बिना सोचे—समझे बोलने वाला वक्ता कदाचित् मिथ्या (असत्य) भाषण भी कर बैठता है । उससे अपनी लघुता होती है तथा वैर, पीडा आदि इह लोक सबंधी अनर्थ उत्पन्न होते है । उससे दूसरे के प्राणो का घात भी अवश्य होता है । अतएव अनुवीचिभाषण से जो अपने आपको भावित करता है, वह मृषाभाषण के दोष का भागी नहीं होता ।

(२) क्रोधप्रत्याख्यान—मोहनीय कर्म के उदय से उत्पन्न होने वाले द्वेषरूप क्रोधकषाय का त्याग करना चाहिए और अपनी आत्मा को क्रोधप्रत्याख्यान से भावित करना चाहिए । जो क्रोधत्याग की भावना करता है, वह प्राय सत्य का उल्लघन न करके उसका पालन करने मे समर्थ होता है ।

(३) लोभप्रत्याख्यान—लोभ का अर्थ है तृष्णा । उसका त्याग करना लोभप्रत्याख्यान कहलाता है । जो लोभ का त्याग कर देता है उसे असत्यभाषण नही करना पडता ।

(४) भयप्रत्याख्यान - भय असत्य भाषण का कारण है । जो व्यक्ति अपनी आत्मा को निर्भयता से भावित करता है, वह असत्य भाषण नहीं करता । भयशील मनुष्य मिथ्या-भाषण भी करता है । जैसे आज रात्रि मे मुझे चोर दिखाई दिया, पिशाच दिखा आदि । इस

एवं–मोहोद्भवपरिहासलक्षणहास्यपरिणत आत्मा परिहास कुर्वन् परेण सह वितथमपि भाषेत, तस्मात् तस्य प्रत्याख्यानेना–ऽऽत्मान भावयन् सत्यव्रतपालनक्षमो भवति १० एवं–खलु–अनुवीच्य-वग्रहयाचनं तावद्–आलोच्या-ऽवग्रहयाचनरूपं बोध्यम्–११ अवग्रहश्च–देव राज–गृहपतिशय्यातर –साधर्मिक–भेदेन पञ्चविध तत्र यो यत्र स्वामी स एव याचनीय । अस्वामिकग्रहण दोषा धिक्य स्यात्, तस्मादालोच्या–ऽवग्रहो याच्य इत्येवमात्मनि भावयेत् इत्थञ्च भावयन् ना–ऽदत्ता दाने प्रवर्तते इति ।

अभीक्ष्णावग्रहयाचन तावत् स्वामिना सकृद्दत्तेऽपि परिग्रहे मुहुर्मुहुरवग्रहयाचनरूप बोध्यम् पूर्वलब्धपरिग्रह –ग्लानाद्यवस्थासु उच्चारप्रस्रवणपात्रहस्तपादप्रक्षालनस्थानानि स्वामिचित्तपीडापरि-हारार्थं याचनीयानि ।

एव मेतावत्परिमित सर्वत क्षेत्रमवग्रहीतव्यम् इत्येतदेवा–ऽवधारणरूपम् एतावदित्यवग्रहा–ऽवधारण बोध्यम् १२ एवं–पीठफलकाद्यर्थमपि वृक्षादीनामच्छेदन ज्ञेयम् –१३ एव–साधारणपिण्ड-स्यापि सेवन नाऽधिकृत.–अपितु –गुरुभिरनुज्ञापितमेव पानभोजन गृहीतव्यम् गुरुणा मनुज्ञया

कारण असत्य से बचने के लिए अपनी आत्मा मे निर्भयता की भावना जागृत करनी चाहिए ।

(५) मोह के उदय से उत्पन्न होने वाले परिहास से युक्त व्यक्ति हँसी–मजाक में असत्य भाषण करता है । अतएव हँसी–मजाक के त्याग की भावना से भावित होना चाहिए । जो परिहास का त्याग कर देता है, वह सत्यव्रत का पालन करने में समर्थ होता है । (१०)

(११) इसी प्रकार सोच–विचार कर अवग्रह की याचना करना चाहिए, यह अनु-वीचि अवग्रहयाचना नामक भावना है । अवग्रह–(आज्ञा) पाँच प्रकार का है–(१) देव का (२) राजा का (३) गृहपति का (४) शय्यातर का और (५) साधर्मिक का । जो जिसका स्वामी हो, उसके लिए उसीसे आज्ञा लेना चाहिए । जो स्वामी न हो उससे अगर याचना की जाय तो अनेक प्रकार के दोषो की उत्पत्ति होती है । अतएव सोच–विचार कर ही अवग्रह की याचना करनी चाहिए । जो इस भावना से युक्त होता है, वह अदत्तादान मे प्रवृत्ति नहीं करता ।

(१२) अभीक्ष्ण अवग्रहयाचना–स्वामी ने एक वार कोई वस्तु प्रदान कर दी हो फिर भी वारंवार उसकी याचना करना अभीक्ष्ण अवग्रहयाचना है । पूर्व प्राप्त वस्तु के लिए–अर्थात् रुग्णावस्था आदि मे उच्चार प्रस्रवण के पात्र रखने के लिए, हाथ आदि प्रक्षालन के स्थान आदि के लिए पुन याचना करना चाहिए जिससे उसके स्वामी के चित्त में पीडा न उपजे । इसी प्रकार सब ओर से इतना–इतना स्थान हम ग्रहण करेगे, इस प्रकार निश्चित करके उसका अवग्रह लेना चाहिए ।

(१३) पीठ–फलक अर्थात् पीढ़ा तथा पाटा आदि के लिए भी वृक्ष आदि का छेदन न करना अदत्तादानव्रत की तीसरी भावना है ।

(१४) जो आहार साधारण हो अर्थात् अनेक साधुओं का सम्मिलित हो, उसमें से

स्वीकृत पानभोजनं सूत्रोक्तविधिना भुञ्जीत, औघिकौपग्रहिकभेदमुपधिरूपं वस्त्रादिकमपि सर्वगुरुभिरनुज्ञात वन्दनपूर्वकं गुरुवचनविधिना परिभोक्तव्यम्, एवं रीत्या—ऽऽत्मनि भावयन् वासयन्ना—ऽस्तेयव्रत नातिक्रामति. । १४

एवं साधुवैयावृत्त्यकरणमपि वोध्यम् १५ एव—ब्रह्मचर्यस्य मैथुनविरतिलक्षणस्य पूर्वोक्तासु पञ्चभावनासु स्त्री—पशु—नुपुसकससक्तशयनासनवर्जन तावत् देव—मनुष्य स्त्री—तिर्यग्जातिवडवा गो महिष्य—जा—ऽऽविकादिभि' सहससक्ता—ऽऽसन—शयनादिपरित्यागरूपं वोध्यम्, ताभि सह प्रतिश्रयसस्तारका—ऽऽसनादिवहपायत्वाद्वर्जनीयमित्येवं वासयन्नात्मानं भावयेदिति ।१६

एव—स्त्रीपशुनपुसकानामसद्भावेऽपि रागसयुक्तस्त्रीकथावर्जन कर्तव्यम्, मोहोद्भवकषायरूपरागाकारपरिणतियुक्ता रागजननी खलु स्त्रीकथा देश—जाति—कुल—नेपथ्य—वचना—ऽऽलापगति—विलास—विभ्रम—भ्रूभङ्ग—कटाक्ष—हास्य—लीला—प्रणयकलह—शृङ्गाररसपरिपूर्णा सती वात्येव [वंटोलियाजैसे] चित्तोदधिं नूनमेवविक्षोभयति, - तस्मात् रागानुवन्धिस्त्रीकथावर्जन श्रेय इति भावयेत्. १७

एवं—स्त्रीणां मनोहरेन्द्रियालोकनवर्जनं कर्तव्यम्, तासां कमनीयकुचकलशाद्यवलोकनादिविरतिः खलु श्रेयसी वर्तते इत्येव भावयेत् १८ एवं—पूर्वरतानुस्मरणवर्जनं कर्तव्यम्, साध्ववस्थायां

लेकर अधिक का सेवन न करना चाहिए। जिस और जितने आहार को ग्रहण करने की गुरु की अनुमति हो, उतना ही ग्रहण करना चाहिए। गुरु की आज्ञा से ग्रहण किये हुए आहार पानी का सूत्रोक्त विधि के अनुसार उपभोग करना चाहिए। इसी प्रकार औधिक एवं औपग्रहिक उपधि—वस्त्र आदि सभी कुछ गुरु की आज्ञा से, वन्दनपूर्वक, गुरु के कथनानुसार ही काम में लाना चाहिए। इस प्रकार की भावना वाला अदत्तादान विरमणव्रत का उल्लघन नहींकरता।

(१५) सदा साधु का वैयावृत्य करना चाहिए।

(१६) ब्रह्मचर्यव्रत की पूर्वोक्त पाँच भावनाओ मे से स्त्री—पशु—पंडक से रहित स्थान के सेवन का तात्पर्य है देव—मनुष्यस्त्री, तिर्यंचजाति—घोडी, गाय, भैस, बकरी, भेड आदि के सम्पर्क वाले आसन—शयन आदि का त्याग करना। जिस स्थान में यह हो उसमें निवास करने से अनेक हानियाँ होती है। अतएव ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करने के लिए इस भावना से आत्मा को वासित करना चाहिए।

(१७) स्त्री, पशु, पडक का सद्भाव न हो तो भी रागयुक्त होकर स्त्री कथा अर्थात् स्त्रियो सबधी वार्त्तालाप का त्याग करना चाहिए। मोह जनित राग रूप परिणति से युक्त स्त्री कथा, जिसमे देश, जाति, कुल, वेषभूषा बोलचाल, गति, विलास, विभ्रक, भ्रूभंग (भौहों का मटकाना), कटाक्ष, हास्य, लीला, प्रणय कलह आदि शृङ्गार रस सम्मिलित है, उससे परिपूर्ण होने के कारण ववडर के समान चित्त रूपी समुद्र को क्षुब्ध कर देती है। अतएव राग सबधित स्त्रीकथा का त्याग करना ही श्रेयस्कर है।

गृहस्थदशानुभूतरतक्रीडाद्यनुस्मरणात् कामाग्नि सदीपन [सन्धुक्षण] भवति, तस्मात्—तद्वर्जनं श्रेय इति स्वात्मनि भावयेत् । १९

एव—प्रणीतरसभोजनवर्जन कर्तव्यम् , प्रणीतस्य—वृष्यस्य स्निग्धमधुरादिरसस्य दुग्ध—दधि—हैयङ्गवीन—घृत—गुड—तैलादिभक्षणेन मेदो—मज्जा—शुक्राद्युपचयादपि मोहोद्भवो भवति, तस्मात्—निरन्तराभ्यासेन प्रणीतरसभोजन वर्जनीयमिति ब्रह्मचर्यरक्षार्थमात्मानं भावयेत् २०

एव—बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहशून्यस्य श्रमणस्य पञ्चाना रूप—१रस२गन्ध—३स्पर्श—४शब्दाना—मनोज्ञानामिन्द्रियार्थाना प्राप्तौ गार्ध्यतर्जनम् अमनोज्ञानाञ्च तेपा प्राप्तौ द्वेपवर्जन कर्तव्यमित्यात्मनि भावयेत् २५

"उक्तञ्च समवायाङ्गे पञ्चविंशतितमे २५ समवाये—"**पंचजामस्स पणवीस भावणाओ पण्णत्ताओ, तंजहा—ईरियासमिति, मणगुत्ती, आलोयभायणभोयणं आदाणभंडमत्तनिक्खेवणासमिई, अणुवीइभासणया, कोहविवेगे, लोभविवेगे, भयविवेगे, हासविवेगे, उग्गह अणुण्णवणया, उग्गहसीमजाणणया, सयमेव उग्गहं अणुगिण्हणया, साहम्मिउग्गहं अणुण्णवियपरिभुंजणया, साहारणभत्तपाणं अणुण्णाविय पडिभुंजणया, इत्थी पसुपंडगसंसत्तसयणासणवज्जणया, इत्थीकहवज्जणया इत्थीणं इंदियाण मालोयणवज्जणया, पुव्वरत्तपुव्वकीलियाणं—अणणुसरणया, पणीयाहारवज्जणया, सोइंदियरागोवरई, चक्खिदियरागोवरई, घाणिंदिय रागोवरई, जिब्भिदियरागोवरई फासिंदियरागोवरई,** इति ।

पञ्चयामस्य पञ्चविंशतिर्भावना प्रज्ञप्ता , तद्यथा—ईर्यासमिति —१ मनोगुप्ति —२ वचो-

(१८) स्त्रियों की मनोहर इन्द्रियों को देखने से भी बचना चाहिए । उनके मनोरम कुच आदि के अवलोकन से विरत होना ही श्रेयस्कर है, ऐसी भावना करनी चाहिए ।

(१९) पूर्वकाल मे भोगे हुए भोगो का स्मरण नहीं करना चाहिए । साधु—अवस्था में गृहस्थदशा मे भोगे हुए भोगो का स्मरण करन से कामाग्नि प्रदीप्त हो जाती है । अतएव उनके स्मरण का त्याग कर देना ही कल्याणकारी है ।

(२०) प्रतिदिन विना कारण पौष्टिक भोजन भी नहीं करना चाहिए । बल—वीर्यवर्धक स्निग्ध-मधुर आदि रसो का सेवन करन से तथा दूध, दही, घृत, गुड तैल आदि का सेवन करने से मेद, मज्जा एव शुक्र आदि धातुओ का उपचय होता है और उससे मोह की उत्पत्ति होती है । अतएव हमेशा, अभ्यास रूप मे पौष्टिक रसों के सेवन का त्याग करना चाहिए । ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए उनका त्याग आवश्यक है ।

(२१—२५) इसी प्रकार बाह्य एव आभ्यन्तर परिग्रह से रहित श्रमण को मनोज्ञ रूप, रस, गन्ध स्पर्श और शब्द की प्राप्ति होने पर राग और अमनोज्ञ रूप आदि की प्राप्ति होने पर द्वेष नहीं कर[illegible] न भावनाओं [illegible] ग्रह मह[illegible] न दृढ़ता आती है ।

गुप्ति'--३ आलोकितभाजनभोजनम्--४ आदानभाण्डामत्रनिक्षेणासमिति --५ अनुवीचिभाषणम्--६ क्रोधविवेक --७ लोभविवेक --८ भयविवेक --९ हास्यविवेक --१० अवग्रहानुज्ञापनता--११ अवग्रहसीमाज्ञानता--१२ स्वयमेवावग्रहानुग्रहणता--१३ साधमिकावग्रहमनुज्ञाय परिभुञ्जनता--१४ साधारणभक्तपानमनुज्ञाप्य परिभुञ्जनता--१५ स्त्रीपशुपण्डकससक्तकशयनासनवर्जनता--१६ स्त्रीकथा-वर्जनता--१७ पूर्वरतपूर्वक्रीडितानामननुस्मरणता--१८ स्त्रीणामिन्द्रियालोकनवर्जनता--१९ प्रणीता-हारवर्जनता--२० श्रोत्रेन्द्रियरागोपरति --२१ चक्षुरिन्द्रियरागोपरति --२२ घ्राणेन्द्रियरागोपरति --२३ जिह्वेन्द्रियरागोपरति --२४ स्पर्शेन्द्रियरागोपरति --२५ इति ॥ १२ ॥

मूलसूत्रम्--"हिंसादिसु उभयलोगे घोरदुहं चउग्गइभमणं च--" ॥१३

छाया--"हिंसादिषूभयलोके घोरदुःखं चतुर्गतिभ्रमणं च" ॥ १३ ॥

तत्त्वार्थदीपिका--पूर्वसूत्रे प्राणातिपातादिविरमणलक्षणेषु पञ्चसु व्रतेषु प्रतिव्रतमधिकृत्य पञ्च-पञ्चभावना प्ररूपिता, सम्प्रति--सामान्यतः सर्वव्रतसाधारणी भावना प्रतिपादयितुमाह "हिंसादिसु" इत्यादि ।

हिंसादिषु--प्राणातिपाता-ऽनृत-स्तेया-ऽब्रह्मचर्य-परिग्रहेषु पञ्चसु वक्ष्यमाणास्रवेषु--उभयलोके,

---

समवायांगसूत्र के पच्चीसवें समवाय मे कहा है--

पाँच महाव्रतो की पच्चीस भावनाएँ कही है, वे इस प्रकार है--(१) ईर्यासमिति (२) मनोगुप्ति (३) वचनगुप्ति (४) आलोकितपानभोजन (५) आदानभाण्डमात्रनिक्षेपणा समिति (६) अनुवीचिभाषण (७) क्रोधविवेक (८) लोभविवेक (९) भयविवेक (१०) हास्यविवेक (११) अवग्रहानुज्ञापनता (१२)अवग्रहसीमाज्ञानता (१३) स्वयमेवावग्रहानुग्रहणता (१४) साधर्मिको की अनुमति लेकर आहार आदि भोगना (१५) सामान्य आहार--पानी की अनुमति लेकर भोगना (१६) स्त्री--पशु पण्डकरहित शयनासन का त्याग करना (१७) स्त्री कथा का त्याग (१८) पूर्व भोगे हुए भोगो का स्मरण न करना (१९) स्त्रियो की इन्द्रियो के अवलोकन का त्याग करना (२०) प्रणीताहारवर्जन (२१) श्रोत्रेन्द्रियरागोपरति--शब्द के विषय मे राग न करना (२२) चक्षुरिन्द्रिय के विषय में राग नकरना (२३) घ्राणेन्द्रिय के विषय मे राग न करना (२४) जिह्वा-इन्द्रिय के विषयमें राग न करना और (२५) स्पर्शनेन्द्रिय के विषय में राग न करना ॥१२॥

सूत्रार्थ--'हिंसादिसु उभयलोगे घोरदुहं' इत्यादि सूत्र १३

हिंसादि पाप करने पर इह--परलोक में घोर दुःख होते है और चारों गतियो में परि-भ्रमण करना पड़ता है ॥१३॥

तत्त्वार्थदीपिका--पूर्व सूत्र में प्राणातिपातविरमण आदि पाँच महाव्रतों में से प्रत्येक की पाँच--पाँच भावनाओ की प्ररूपणा की, अब ऐसी भावनाओं का निरूपण करते है जो सभी व्रतों की स्थिरता के लिए समान है--

इहलोके परलोके च नरकादिजन्मनि घोरदु ख, तद्विपाकान्नरकादिषु तीव्रयातनानुभवन तद्भावयेत् ज्ञानपूर्वकक्रियानुष्ठानेन हिंसादिषु–ऐहिक, पारलौकिकनरकादिजन्माऽनर्थपरम्परा गर्हितनारकादितीव्रदु.खानुभवनञ्चोपलभमानो जीव प्राणातिपातादिषु न प्रवर्तते इति भाव घोरदु खमेव हिंसादिषु सर्वत्र भावयेत्, चतुर्गतिभ्रमणञ्च–नरक–तिर्यङ्–मनुष्य–देवगतिरूपचतुर्गतिषु भ्रमणञ्च भवति हिंसादिनेति भावयेत् ॥ १३ ॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं सर्वतो–देशतश्च हिसा–ऽनृत–स्तेया–ऽब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिलक्षणेषु पञ्चमहाव्रता–ऽणुव्रतेषु प्रतिव्रत पञ्च–पञ्चभावना तेषा दार्ढ्यार्थं प्ररूपिता, सम्प्रति–सर्वव्रतसामान्यभावना प्ररूपयितुमाह—"**हिंसादिसु उभयलोगे घोरदुहं, चउग्गइभमणं च**–"इति

हिंसादिषु–हिंसा-ऽसत्य-स्तेय-मैथुन परिग्रहेषु पञ्चसु वक्ष्यमाणा सर्वेषु तिष्ठतामुभयलोकेऽस्मिन् परलोके च नरकादौ घोरदु ख **तीव्रयातना**, तद्विपाकजन्यतीव्रनारकादियातनानुभवनम् "मा भूयाद" इति भावनया व्रतीजीवो हिंसादिषु कथञ्चिदपि न प्रवर्तते। तथाचेहैव तावद् हिंसादिषु प्रवृत्तस्य जनस्या–ऽमी प्रत्यवाया दराद्दश्यन्त,

---

प्राणातिपात. मृषावाद, स्तेय, अब्रह्मचर्य और परिग्रह, इन पाँचो आस्रवो का सेवन करने से दोनो लोको में अर्थात् इस लोक मे और नरक आदि परलोक में घोर दु ख भुगतना पड़ता है। इन आस्रवो के फलस्वरूप नरक आदि मे तीव्र यातनाएँ भोगनी पडती है, ऐसी भावना करनी चाहिए अर्थात् वार–वार ऐसा विचार करना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि जो जीव ज्ञानपूर्वक क्रिया का अनुष्ठान करता है और हिंसा आदि पापो के आचरण से इह–परलोक सबंधी अनर्थों के होने का चिन्तन करता है, नरक आदिमे होने वाले अत्यन्त तीव्र दुःखो का विचार करता है उसकी हिंसा आदि में प्रवृत्ति नहीं होती। इस कारण ऐसी भावना करनी चाहिए कि हिंसा आदि पापो में सर्वत्र दु ख ही दु ख है। इन पापो का सेवन करने वाले नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव–इन चारो गतियों मे भ्रमण किया करते है॥१३॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति -- इससे पूर्व पूर्णरूप से हिंसा आदि से विरतिरूप पाँच महाव्रतो और देशविरति रूप पाँच अणुव्रतों मे से प्रत्येक की स्थिरता के लिए पाँच–पाँच भावनाओ का कथन किया गया है। अब ऐसी कतिपय भावनाओ का प्ररूपण किया जा रहा है जो सभी व्रतों के लिए समान है—

हिसा, असत्य चौर्य, मैथुन और परिग्रह, इन पाँच आस्रवों का सेवन करने वालों को इसी लोक मे और नरक आदि परलोक मे तीव्र दु खो का अनुभव करना पडता है। हिंसा आदि के फलस्वरूप घोर यातनाएँ सहन करनी पडती है। कहीं ऐसा न हो कि मुझे भी इन दुःखों को सहन करना पडे। इस प्रकार वार–वार विचार करने वाला व्रती पुरुष हिंसा आदि में प्रवृत्ति नहीं करता।

नरकादौ चा–ऽमुत्र दारुणो ह पापविपाको भवतीति भूयो भूयो भावयेदिति । तत्र प्राणिवधे तावत् घोरदु ख प्रदर्श्यते, हिसनशीले हिंस्रो जन सततमुद्वेजयिता सत्रासकारी भवति, स खलु-हिंस्रो भीषणवेषो ललाटरचितकुटिलभ्रूभङ्गो नितान्तेर्ष्यामर्षनिर्भरनेत्रदष्टदन्तदष्टोष्ट प्राणिनां सत्रासजनको भवति, नित्यानुबद्धवैरश्च सजायते, एवञ्चे–हलोकेऽपि वगदलकशादिभिस्ताडन निगडश्रृखलादि भिर्बन्धन विविधकाष्ठेष्टकारोपणादि परिक्लेशञ्च प्रतिलभते,

प्रेत्यच–नरकादिगतिं प्रतिप्राप्नोति लोके गर्हितो निन्दितश्च भवति, पूर्वजन्मोपार्जिताऽशुभकर्म विपाकोऽय खलु "एतस्य मम पापिनो वराकस्ये" त्येव सम्भावयतश्च विवेकबलात् 'प्राणिवधाद् व्युपरम श्रेयान् इति तस्य दृढनिश्चय' समुत्पद्यते इति भाव । एवम् हिंसादिना नारकतिर्यङ् मनुष्यदेवगतिरूपचतुर्गतिससारे भ्रमणम् नरकनिगोदादिषु अनन्तजन्म मरणादिक घोरातिघोरं दु.ख प्राप्नुवन्ति ।

अथ–हिंसको जनो यथा प्रत्यवायेन लिप्यते, एवम् असत्यवादी जनोऽपि प्रत्यवायभा-

---

हिसा आदि पापो का आचरण करने वाले को प्रथम तो इसी लोक में अनेक प्रकार की मुसीबतें झेलनी पडती है और आगामी जन्मो मे जाकर भयानक कष्ट सहने पडते है, इस प्रकार पुन पुन चिन्ता करना चाहिए। हिंसा करने से किस प्रकार घोर दु.ख सहन करने पडते है, इसका दिग्दर्शन यहाँ कराया जाता है—

हिंसक जन सदैव त्रासदायक एवं भयकर होता है। वह भयानक वेष धारण करता है, अपनी भौंहे ललाटपर चडा लेता है। उसके चित्त में ईर्ष्या और द्वेष का वास होता है। अतएव इसकी आकृति भीषण होती है। वह दांत पीसता है, होठ चबाता है और उसके नेत्रों से क्रूरता टपकती है। वह प्राणीयों के लिए बड़ा ही त्रास जनक होता है। सदैव बैर बाँधे रहता है उसे इसी जन्म में लाठियो से और कोडों से पीटा जाता है, हथकडियों और वेडियों से बाँधा जाता है और विविध प्रकार के काष्ठों एव ईंटो आदि का आरोपण करके कष्ट पहुँचाया जाता है।

परलोक में उसे नरक आदि दुर्गति प्राप्त होती है। वह लोक में गर्हित और निन्दित होता है। उस समय उसे इस तथ्य का निश्चय होता है कि—मुझ पापी को पूर्व जन्ममे उपार्जित पापों का ही यह फल भोगना पड रहा है। इस प्रकार की भावना करता हुआ वह सोचता है कि हिंसा से विरत होना ही मेरे लिए श्रेयस्कर है।

इसी प्रकार हिंसा आदि कुकृत्यों के आचार से नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति रूप ससार में परिभ्रमण करना पडता है। नरक और निगोद आदि में अनन्त—अनन्त जन्म–मरण करके घोर–अतिघोर दु'ख सहन करने पडते है।

जैसे हिंसक को अनेक अनर्थों का सामना करना पडता है। इसी प्रकार असत्यवादी-जन भी दु खों का भागी होता है। लोक में उसके वचन पर कोई विश्वास नहीं करता।

इहलोके परलोके च नरकादिजन्मनि घोरदु ख, तद्विपाकान्नरकादिपु तीव्रयातनानुभवन तदभावयेत् ज्ञानपूर्वकक्रियानुष्ठानेन हिंसादिषु—ऐहिक, पारलौकिकनरकादिजन्माऽनर्थपरम्परा गहिननारकादितीव्रदु.खानुभवनञ्चोपलभमानो जीव प्राणातिपातादिपु न प्रवर्तते इति भाव घोरदु खमेव हिंसादिपु सर्वत्र भावयेत्, चतुर्गतिभ्रमणञ्च—नरक—तिर्यङ्—मनुष्य—देवगतिरूपचतुर्गतिपु भ्रमणञ्च भवति हिंसादिनेति भावयेत् ॥ १३ ॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं सर्वतो—देशतश्च हिसा—ऽनृत—स्तेया--ऽब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिलक्षणेषु पञ्चमहाव्रता--ऽणुव्रतेषु प्रतिव्रत पञ्च—पञ्चभावना तेपा दाढर्चार्थं प्ररूपिता , सम्प्रति—सर्वव्रतसामान्यभावना प्ररूपयितुमाह—"**हिंसादिसु उभयलोगे घोरदुहं, चउग्गइभमणं च**—"इति

हिंसादिपु—हिसा-ऽसत्य-स्तेय-मैथुन परिग्रहेपु पञ्चसु वक्ष्यमाणा सर्वेपु निष्ठतामुभयलोकेऽस्मिन् परलोके च नरकादौ घोरदु ख **तीव्रयातना**, तद्विपाकजन्यतीव्रनारकादियातनानुभवनम् "मा भूयाद्" इति भावनया व्रतीजीवो हिंसादिपु कथञ्चिदपि न प्रवर्तते । तथाचेहैव तावद् हिंसादिषु प्रवृत्तस्य जनस्या—ऽमी प्रत्यवाया दर्शयन्त,

---

प्राणातिपात. मृषावाद, स्तेय, अब्रह्मचर्य और परिग्रह, इन पाँचो आस्रवो का सेवन करने से दोनो लोको में अर्थात् इस लोक मे और नरक आदि परलोक मे घोर दु ख भुगतना पडता है। इन आस्रवो के फलस्वरूप नरक आदि में तीव्र यातनाएँ भोगनी पडती है, ऐसी भावना करनी चाहिए अर्थात वार—वार ऐसा विचार करना चाहिए ।

तात्पर्य यह है कि जो जीव ज्ञानपूर्वक क्रिया का अनुष्ठान करता है और हिंसा आदि पापो के आचरण से इह—परलोक सबधी अनर्थों के होने का चिन्तन करता है, नरक आदिमे होने वाले अत्यन्त तीव्र दुःखो का विचार करता है उसकी हिंसा आदि मे प्रवृत्ति नहीं होती। इस कारण ऐसी भावना करनो चाहिए कि हिंसा आदि पापो में सर्वत्र दु ख ही दु ख है। इन पापो का सेवन करने वाले नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव—इन चारो गतियो में भ्रमण किया करते है॥१३॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति---इससे पूर्व पूर्णरूप से हिंसा आदि से विरतिरूप पाँच महाव्रतो और देशविरति रूप पाँच अणुव्रतों मे से प्रत्येक की स्थिरता के लिए पाँच—पाँच भावनाओ का कथन किया गया है । अब ऐसी कतिपय भावनाओं का प्ररूपण किया जा रहा है जो सभी व्रतों के लिए समान है—

हिसा. असत्य चौर्य, मैथुन और परिग्रह, इन पाँच आस्रवों का सेवन करने वालों को इसी लोक मे और नरक आदि परलोक मे तीव्र दु खों का अनुभव करना पडता है । हिंसा आदि के फलस्वरूप घोर यातनाएँ सहन करनी पडती है। कहीं ऐसा न हो कि मुझे भी इन दु'खों को सहन करना पडे । इस प्रकार वार—वार विचार करने वाला व्रती पुरुष हिंसा आदि में प्रवृत्ति नहीं करता ।

नरकादौ चा--ऽमुत्र दारुणो हि पापविपाको भवतीति भूयो भूयो भावयेदिति । तत्र प्राणिवधे तावत् घोरदुःख प्रदर्श्यते, हिंसनशीले हिंस्रो जन सततमुद्वेजयिता सत्रासकारी भवति, स खलु-हिंस्रो भीषणवेषो ललाटरचितकुटिलभ्रूभङ्गो ।नतान्तेर्ष्यामर्षनिर्भरनत्रदढदन्तदष्टोष्ठ प्राणिना सत्रासजनको भवति, नित्यानुबद्धवैरश्च सजायते, एवञ्चे--हलोकेऽपि वगदलकशादिभिस्ताडन निगडशृङ्खलादि भिर्बन्धन विविधकाष्ठेष्टकारोपणादि परिक्लेशञ्च प्रतिलभते,

प्रेत्यच--नरकादिगति प्रतिप्राप्नोति लोके गर्हितो निन्दितश्च भवति, पूर्वजन्मोपार्जिताऽशुभकर्म विपाकोऽय खलु "एतस्य मम पापिनो वराकस्ये" त्येव सम्भावयतश्च विवेकबलात् 'प्राणिवधाद् व्युपरम' श्रेयान् इति तस्य दृढनिश्चय समुत्पद्यते इति भाव ।एवम् हिंसादिना नारकतिर्यङ् मनुष्यदेवगतिरूपचतुर्गतिससारे भ्रमणम् नरकनिगोदादिषु अनन्तजन्म मरणादिक घोरातिघोरं दुःख प्राप्नुवन्ति ।

अथ-हिंसको जनो यथा प्रत्यवायेन लिप्यते, एवम् असत्यवादी जनोऽपि प्रत्यवायभा-

---

हिंसा आदि पापो का आचरण करने वाले को प्रथम तो इसी लोक में अनेक प्रकार की मुसीबते झेलनी पडती है और आगामी जन्मो मे जाकर भयानक कष्ट सहने पडते है, इस प्रकार पुन पुन चिन्ता करना चाहिए। हिंसा करने से किस प्रकार घोर दु ख सहन करने पडते है, इसका दिग्दर्शन यहाँ कराया जाता है---

हिंसक जन सदैव त्रासदायक एवं भयकर होता है। वह भयानक वेष धारण करता है, अपनी भोहें ललाटपर चडा लेता है । उसके चित्त में ईर्ष्या और द्वेष का वास होता है। अतएव इसकी आकृति भीषण होती है । वह दांत पीसता है, होठ चबाता है और उसके नेत्रों से क्रूरता टपकती है। वह प्राणीयो के लिए बडा ही त्रास जनक होता है। सदैव बैर बाँधे रहता है उसे इसी जन्म में लाठियो से और कोडों से पीटा जाता है, हथकडियों और वेडियों से बाँधा जाता है और विविध प्रकार के काष्ठों एव ईंटो आदि का आरोपण करके कष्ट पहुँचाया जाता है ।

परलोक में उसे नरक आदि दुर्गति प्राप्त होती है। वह लोक में गर्हित और निन्दित होता है ।उस समय उसे इस तथ्य का निश्चय होता है कि---मुझ पापी को पूर्व जन्ममें उपार्जित पापों का ही यह फल भोगना पड़ रहा है । इस प्रकार की भावना करता हुआ वह सोचता है कि हिंसा से विरत होना ही मेरे लिए श्रेयस्कर है ।

इसी प्रकार हिंसा आदि कुकृत्यो के आचार से नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति रूप ससार में परिभ्रमण करना पडता है । नरक और निगोद आदि में अनन्त---अनन्त जन्म--मरण करके घोर--अतिघोर दु ख सहन करने पडते है ।

जैसे हिंसक को अनेक अनर्थो का सामना करना पडता है । इसी प्रकार असत्यवादी-जन भी दु खो का भागी होता है । लोक में उसके वचन पर कोई विश्वास नहीं करता ।

ग्भवति लोकेऽश्रद्धेयवचनश्च सजायते एवमैहिकं प्रत्यवायजन्यम् असत्यभाषणप्रयुक्त जिह्वाच्छेदन-श्रोत्र-नासिकाच्छेदनादिक प्रतिगर्हित फल लभते, नारकादितीव्रयातनादु:खञ्चाऽऽमुष्मिक फल लभते

एवमनृतभाषणजनितदु खयुक्तेभ्यो बद्धवैरेभ्यो जिह्वाच्छेदनादि पूर्वोक्तदोषाऽपेक्षयाऽपि यातना विशेषानधिकान् वधबन्धादीन् दु खहेतून् प्राप्नोति तीव्राशयो जन स्तीव्रस्थित्यनुभावमेव कर्मो--पादत्ते-प्रेत्यचा--ऽशुभां तीव्रनारकादियातनामासदयति, तस्मादनृतभाषणस्यैवविधविषमफलविपाक-मात्मन्यनुभावयन् "तद्व्युपरम:श्रेयान्" इतिरीत्या विचार्या--ऽनृतभाषणाद् व्युपरतो भवति,

यथाच प्राणातिपाता ऽसत्यभाषणाऽनुष्ठायिन प्रत्यवाययुक्ता भवन्ति, एवं परद्रव्यहरणप्रसक्त-मतिरपि स्तेन सर्वस्योद्वेजको भवति अपह्रियमाणद्रव्यादिधनस्वामिन उद्वेग समुत्पादयति, [तेन] इहलोकेऽन्यद्रव्यापहरणजन्यताडनपीडनकशाद्यभिघातनिगडशृङ्खलादि बन्धनकर-चरण-श्रोत्र-नासिकौ ष्ठच्छेदनभेदनसर्वस्वहरणादिक प्रतिलभते, प्रेत्य च नारकादितीव्रयातनागतिं प्राप्नोति, तस्मात्-स्ते-याद्व्युपरम' श्रेयान् इति भावयन चौर्याद् व्युपरतो भवति, यथा-खलु प्राणातिपाताऽसत्यभाष-णस्तेयाऽनुष्ठायिन प्रचुरान् प्रत्यवायान् प्राप्नोति ।

असत्य भाषण करने वाले की जीभ काट ली जाती है, कान और नाक का छेदन किया जाता है। इस प्रकार असत्यवादी अत्यन्त निन्दनीय फल भोगता है। परलोक मे उसे नरक आदि की तीव्र यातनाएँ एव घोर दु:ख सहन करने पडते हैं।

इस प्रकार असत्य भाषण से जीव नाना प्रकार के दु खो से युक्त होता है। दूसरो के साथ उसका वैर बध जाता है। जिह्वा छेदन आदि के कष्ट उसे प्राप्त होते है। इन सब पूर्वोक्त दोषों की अपेक्षा भी उसे वध- बन्धन आदि दु खो के विशेष कारण प्राप्त होते हैं। जिसका अध्यवसाय तीव्र होता है, वह दीर्घ स्थिति और तीव्र अनुभाव (रस) वाले कर्मों का बन्ध करता है। फलस्वरूप परलोक में तीव्र अशुभ वेदना का वेदन करता है। असत्य भाषण के इस प्रकार के फल-विपाक की विचारणा करने वाले के चित्तमे उससे अरुचि उत्पन्न हो जाती है और वह सोचता है कि असत्य भाषण से विरत होना ही श्रेयस्कर है। इस तरह के विचार के फलस्वरूप वह असत्य भाषण से विरत हो जाता है।

जैसे प्राणातिपात और असत्य भाषण करने वालों को अनर्थों का सामना करना पडता है, उसी प्रकार परकीय द्रव्य के अपहरण में आसक्त चोर को भी अनर्थ भोगने पडते है। वह सबके लिए त्रासदायक होता है। वह जिसके धन को चुराता है, उसे बडा ही उद्वेग उत्पन्न होता है। इस पापकृत्य का सेवन करने से चोर को ताड़न, पीडन चाबुको की मार, हथकडियों-बेड़ियों का बन्धन, हाथो पैरों कान नाक होठ आदि अवयवो का छेदन-भेदन, सर्वस्वहरण आदि-आदि दुष्परिणाम भुगतने पड़ते है। परलोक में भी उसे नरक आदि की तीव्र यातनाएँ भोगनी पड़ती है। अतएव चोरी से विरत हो जाना ही कल्याणकर है। इस प्रकार की भावना करने वाला चोरी से निवृत्त हो जाता है।

एवमब्रह्मसेविनोऽपि कामिनीविलासविशेषविभ्रमोद्भ्रान्तस्वान्ता· विप्रकीर्णेन्द्रियवृत्तयस्तुच्छविषये प्रवर्तितेन्द्रिया· मनोज्ञेषु शब्दरसगन्धस्पर्शेषु अनुरक्ता सन्तो मदोन्मत्तगजेन्द्रा इव निरङ्कुशा इष्टानिष्ट प्रवृत्तिनिवृत्तिविचाररहिता· कुत्रापि न शर्म लभते, मोहाभिभूताश्च कर्त्तव्याकर्तव्य विवेकर-हितत्वात् सर्वमपि कर्म शोभनमेव मन्यमाना· कर्तुं प्रवर्तन्ते ग्रहाविष्टपुरुषवत्।

परस्त्रीगमनप्रयुक्ताश्चेहलोके वैरानुबन्धलिङ्गच्छेदनवधबन्धनसर्वस्वापहरणादीन् अपायान् प्रतिलभते, प्रेत्यच नारकादिगतिं प्राप्नुवन्ति, तस्मान्मैथुनतो व्युपरम श्रेयान् इति भावयन ततो व्युपरतो भवति। एवं–परिग्रहवानपि जनस्तस्करादीनामाक्रमणीयो भवति, यथा–कश्चित्पक्षी मांस-पेशीकर श्येनादिपक्षिभिः आममासभक्षिभिरभिभवनीयो भवति।

तथैव-परिग्रहीजनोऽपि तस्करादिभिरभिभूयते, तदपार्जनरक्षणक्षयप्रयुक्ताश्च दु खपरिश्रम-शोकादिदोषान् प्रतिलभते, परीग्रहशीलस्य शुष्केन्धनैरग्नेरिव द्रव्यादिभिस्तृप्तिर्न भवति, लोभाभिभ-

---

जैसे प्राणातिपात, असत्य भाषण और चौर्य करने वालों को बहुत से अनर्थो का सामना करना पडता है, उसी प्रकार अब्रह्म का सेवन करने वालो को भी नाना प्रकार के दु ख भोगने पडते हैं। कामिनी के हाव भाव को देख कर जिनका चित्त उद्भ्रान्त हो जाता है, जिनकी इन्द्रियाँ काबू मे नहीं रहतीं और तुच्छ विषयो में प्रवृत्त होती है, जो मनोज्ञ शब्द रूप गध रस और स्पर्श में, जो राग के कारण है, अनुरक्त होकर मदमाते हाथी के समान निरकुश हो जाते है, इष्ट प्रवृत्ति और अनिष्टनिवृत्ति के विचार से शून्य है, उन्हे कहीं पर भी सुख–शान्ति प्राप्त नहीं होती। वे मोह से ग्रस्त होकर कृत्य–अकृत्य के विवेक से रहित होने के कारण अपने प्रत्येक कार्य को ठीक समझते है। उनकी दशा ऐसी हो जाती है जैसे उन्हे भूत लगा हो।

जो पुरुष परस्त्री लम्पट होते हैं, वे इस लोक मे बहुतों से वैर बाँधते है और इन्द्रिय-छेदन, वध बन्धन, सर्वस्व हरण आदि अनर्थों को प्राप्त करते है। परलोक में नरक आदि गति मे जाकर दु ख भोगते है। इस कारण मैथुन से निवृत्त हो जाना ही श्रेयस्कर है, इस प्रकार की भावना करने वाला पुरुष मैथुन से विरक्त हो जाता है।

इसी प्रकार परीग्रहवान् जन पर चोर–लुटेरे आक्रमण करते हैं। जैसे कोई पक्षी मांस का खड चोच में दबा कर उड रहा हो तो मांस भक्षण करने वाले श्येन आदि दूसरे पक्षी उस पर झपटते है, उसी प्रकार परिग्रही पुरुष को तस्कर आदि सताते है। उन्हें प्रथम तो धनादि परिग्रह के उपार्जन के लिए दु ख सहन करना पडता है, फिर उसकी रक्षा के लिए परिश्रम करना पडता है, इतना सब करने पर भी अन्त में जब उसका विनाश हो जाता है तो घोर–शोक का अनुभव करना पडता है।

जैसे सूखे ईंधन से अग्नि की तृप्ति नहीं होती, उसी प्रकार लालची परिग्रही को धन

वाच्च कर्त्तव्याकर्तव्यविवेकरहितत्वान्महदनिष्ट प्राप्नोति, प्रेत्यच नारकादितीव्रयातनागतिं प्राप्नोति लुब्धोऽय जन इतिञ्च लोके स गर्हितो भवति, तस्माद्-परिग्रहतो व्युपरति खलु श्रेयसी' इत्यात्मनि-भावयन् परिग्रहाद् व्युपरतो भवति ।

लोभरूपया तृष्णापिशाचिकया वशीकृतचित्तो न कानपि प्रत्यवायान् पश्यति, लोभग्रस्तो जन· पितरमपि धनार्थं व्यापादयति--मातरमपि ताडयति हिनस्ति च सुतमपि हन्तु मुद्यतो भवति भ्रात्रा-दीनपि द्रव्यार्थं जिघांसति किं बहुना--स्वप्राणप्रिया प्रेयसीमपि तदर्थं हन्ति एवमन्यानपि बहूनर्थान् करोति--इति लोभाभिभूतो जन· किमपि कार्यमकार्यं न परिगणयति, तस्मात्--परिग्रहेऽनर्थान् बहून् भावयन् ततो निवृत्तिं समासादयति हिंसादिपु पञ्चसु दु·खमेव च भावयेत् ।

एवञ्च---हिंसादिपञ्चकं यथा मम दु खजनकत्वादप्रिय भवति, एव सर्वेपामपि प्राणिनां-हिंसादिक वधबन्धनच्छेदनादिहेतुकमप्रियं भवति, इत्यात्मानुभवेन सर्वेषा दु·ख हिंसौ भावयन् प्राणातिपाताद् विरति श्रेयसीति भावनया तस्माद् व्युपरतो भवति । एव--यथा ममाऽसत्य

से तृप्ति नहीं होती, चाहे कितना ही क्यो न प्राप्त हो जाय ! जो लोभ से अभिभूत होता है, वह कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के विवेक से रहित हो जाता है और इस कारण महान् अनिष्ट को प्राप्त करता है । परलोक में नारकों सबधी तीव्र यातनाएँ उसको भुगतनी पड़ती है । दुनिया लालची कह कर उसकी निन्दा करती है । अतएव परिग्रह से निवृत्त हो जाना ही हितकर है । इस प्रकार की भावना करने से जीव परिग्रह से निवृत्त हो जाता है ।

लोभ का अंग यह जो तृष्णा रूपी पिशाचनी है , इसके वशीभूत हो जाने वाले पुरुष किसी प्रकार के अनर्थों की परवाह नहीं करते । उन्हें कोई अनर्थ ही नहीं दीख पडते । लोभग्रस्त मनुष्य धन के लिए अपने पिता के भी प्राण हरण करने से नहीं झिझकता । वह अपनी माता को मी मारता यहाँ तक कि मार डालता है ! अपने बेटे का वध करने को भी उद्यत हो जाता है । सहोदर भाई को भी सहार करने का विचार करता है। अधिक क्या कहा जाय, अपनी प्राणप्रिया पत्नी के भी प्राणों का ग्राहक बन जाता है इसी प्रकार के अन्याय अनर्थ भी करने में सकोच नही करता । लोभी मनुष्य कार्य और अकार्य को कुछ भी नहीं गिनता ।

इस प्रकार जो पुरुष लोभ से होने वाले अनर्थों का चिन्तन करता है, वह परिग्रह से विरत हो जाता है ।

इसके अतिरिक्त ऐसी भावना भी करनी चाहिए कि ये हिंसा आदि पाँचों पाप दु·ख स्वरूप ही है !

जैसे हिंसा आदि पाँचो दु·खजनक होने के कारण मुझे अप्रिय है, उसी प्रकार अन्य सभी प्राणियो को भी वध बन्धन छेदन आदि से होने वाली हिंसा आदि अप्रिय है । इस प्रकार अपने निज के अनुभव से जो हिसा को दु·खमय सोचता है, वह प्राणातिपात आदि से निवृत्त हो जाता है ।

भाषणादि बहुमहद्दुःखमुपजायते, एव सर्वेपामपि प्राणिनामसत्यभाषणाऽभ्याख्यानेना—ऽभ्याख्यानहेतुकं महद्दुःख मस्मिन् लोके भवति।

परलोके तु—असत्यभाषणपरो यत्र जन्म मासादयति, तत्र—तत्र च तथाविधैरेवा—ऽसत्यभाषणाभ्याख्याने रभियुज्यमान· सदा महद्दुःखमनुभवतीति भावयन् अनृतभाषणा द्विरतो भवति। एव यथा तस्करादिभि र्ममेष्ट द्रव्यापहरेण भवति भूतपूर्वं च तथा सर्वप्राणिना मपि द्रव्यापहारे भवतीत्यात्मानुभवेन भावयन्नदत्तादानाद विरतो भवति।

एवं मैथुनस्यापि राग—द्वेषमूलकत्वाद् हिंसादि वदेव दुःखजनकत्वेन—लोकसमाजगर्हितत्वेन च दुःखजनकत्व भावयन् तस्माद्विरतो भवति। अथ स्त्रीणामुपभोगे यतोऽधरपानादि सस्पर्शजनितसुखविशेषाऽनुभव एव लौकिकशास्त्रकारिभि सडिण्डिम मुद्धुष्यते—सगर्व्यते तदनुयायिभिश्च रागानुसारिभिर्वार्थैरिव तत्किमिति तस्य दुःखात्मकत्वमितिचेद्—? अत्रोच्यते—

यथा खलु—क्षय—कुष्ठादयो व्याधिविशेषा भैषज्योपयोगेन—पथ्या—ऽऽसेवनेन चागतः—समुच्छिद्यमाना अपि पुन पुनरुद्भवन्ति, एव—कामदेवव्याधयोऽपि न खलु मैथुनसेवनेन सर्वथा शान्ता अभवन्—न वा भवन्ति—भविष्यन्ति च। तथाचोक्तम्—

"न जातु कामः कामनामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाऽभिवर्धते ॥ १ ॥ इति

तस्मात्—कर्मणां क्षयोपशमादय क्षेत्र—काल—द्रव्य—भावाऽपेक्षिणो नात्यन्तिकं सुखमुपजन-

---

इसी प्रकार जैसे असत्यभाषण से मुझे महान् दुःख उत्पन्न होता है। उसी प्रकार समस्त प्राणियों को असत्यभाषण से तथा मिथ्यादोषारोपण आदि से घोर कष्ट पहुँचता है। इस तरह का विचार इसी लोक को लेकर करना चाहिए।

असत्यभाषी पुरुष मृत्यु के पश्चात् जहाँ जन्म लेता है, वहाँ उसे असत्य भाषण, मिथ्या दोषारोपण आदि का उसी प्रकार सामना करना पड़ता है जैसा उसने पहले स्वय किया था। इससे उसे महान् दुःख का अनुभव करना पड़ता है।

ऐसी भावना करने वाला मिथ्या भाषण से निवृत्त हो जाता है। जैसे चोर—डाकुओं के द्वारा पहले मेरे धन के अपहरण से मुझे दुःख हुआ था, उसी प्रकार अन्य जीवों को भी धन के अपहरण से दुःख होता है, इस प्रकार आत्मानुभव के आधार पर जो भावना करता है, वह अदत्तादान से निवृत्त हो जाता है।

इसी प्रकार से जो व्यक्ति मैथुन को राग—द्वेष मूलक होने, हिंसा आदि के समान दुःखजनक होने तथा लोक एवं समाज में गर्हित होने के कारण दुःखजनक होने की भावना करता है, वह मैथुन से विमुख हो जाता है।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा रखने वाले कर्मों के क्षयोपशम आदि

वाच्च कर्त्तव्याकर्त्तव्यविवेकरहितत्वान्महदनिष्ट प्राप्नोति, प्रेत्यच नारकादितीव्रयातनागतिं प्राप्नोति लुब्धोऽय जन इतिच्च लोके स गर्हितो भवति, तस्माद्–परिग्रहतो व्युपरतिः खलु श्रेयसी' इत्यात्मनि- भावयन् परिग्रहाद् व्युपरतो भवति।

लोभरूपया तृष्णापिशाचिकया वशीकृतचित्तो न कानपि प्रत्यवायान् पश्यति, लोभग्रस्तो जनः पितरमपि धनार्थं व्यापादयति–मातरमपि ताडयति हिनस्ति च सुतमपि हन्तु मुद्यतो भवति भ्रात्रा- दीनपि द्रव्यार्थं जिघांसति किं बहुना–स्वप्राणप्रिया प्रेयसीमपि तदर्थं हन्ति एवमन्यानपि बहूनर्थान् करोति–इति लोभाभिभूतो जनः किमपि कार्यमकार्यं न परिगणयति, तस्मात्–परिग्रहेऽनर्थान् बहून् भावयन् ततो निवृत्तिं समासादयति हिंसादिषु पञ्चसु दुःखमेव च भावयेत्।

एवञ्च—हिंसादिपञ्चकं यथा मम दुःखजनकत्वादप्रिय भवति, एव सर्वेषामपि प्राणिनां- हिंसादिक वधबन्धनच्छेदनादिहेतुकमप्रियं भवति, इत्यात्मानुभवेन सर्वेषां दुःख हिंसौ भावयन् प्राणातिपाताद् विरति श्रेयसीति भावनया तस्माद् व्युपरतो भवति। एव–यथा ममाऽसत्य

से तृप्ति नहीं होती, चाहे कितना ही क्यो न प्राप्त हो जाय। जो लोभ से अभिभूत होता है, वह कर्त्तव्य–अकर्त्तव्य के विवेक से रहित हो जाता है और इस कारण महान् अनिष्ट को प्राप्त करता है। परलोक में नारकों सबधी तीव्र यातनाएँ उसको भुगतनी पडती है। दुनिया लालची कह कर उसकी निन्दा करती है। अतएव परिग्रह से निवृत्त हो जाना ही हितकर है। इस प्रकार की भावना करने से जीव परिग्रह से निवृत्त हो जाता है।

लोभ का अंग यह जो तृष्णा रूपी पिशाचनी है, इसके वशीभूत हो जाने वाले पुरुष किसी प्रकार के अनर्थों की परवाह नहीं करते। उन्हे कोई अनर्थ ही नहीं दीख पडते। लोभग्रस्त मनुष्य धन के लिए अपने पिता के भी प्राण हरण करने से नहीं झिझकता। वह अपनी माता को भी मारता यहाँ तक कि मार डालता है। अपने बेटे का वध करने को भी उद्यत हो जाता है। सहोदर भाई को भी सहार करने का विचार करता है। अधिक क्या कहा जाय, अपनी प्राणप्रिया पत्नी के भी प्राणों का ग्राहक बन जाता है इसी प्रकार के अन्याय अनर्थ भी करने मे सकोच नही करता। लोभी मनुष्य कार्य और अकार्य को कुछ भी नहीं गिनता।

इस प्रकार जो पुरुष लोभ से होने वाले अनर्थों का चिन्तन करता है, वह परिग्रह से विरत हो जाता है।

इसके अतिरिक्त ऐसी भावना भी करनी चाहिए कि ये हिंसा आदि पाँचों पाप दुःख स्वरूप ही है!

जैसे हिंसा आदि पाँचों दुःखजनक होने के कारण मुझे अप्रिय हैं, उसी प्रकार अन्य सभी प्राणियों को भी वध बन्धन छेदन आदि से होने वाली हिंसा आदि अप्रिय है। इस प्रकार अपने निज के अनुभव से जो हिंसा को दुःखमय सोचता है, वह प्राणातिपात आदि से निवृत्त हो जाता है।

भाषणादि बहुमहद्दु खमुपजायते, एव सर्वेषामपि प्राणिनामसत्यभाषणाऽभ्याख्यानेना–ऽभ्याख्यानहेतुकं महद्दुःख मस्मिन् लोके भवति।

परलोके तु–असत्यभाषणपरो यत्र जन्म मासादयति, तत्र–तत्र च तथाविधैरेवा–ऽसत्यभाषणाभ्याख्यानै रभियुज्यमान सदा महद्दु खमनुभवतीति भावयन् अनृतभाषणा द्विरतो भवति। एव यथा तस्करादिभि र्ममेष्ट द्रव्यापहरेण भवति भूतपूर्वं च तथा सर्वप्राणिना मपि द्रव्यापहारे भवतीत्यात्मानुभवेन भावयन्नदत्तादानाद् विरतो भवति।

एवं मैथुनस्यापि राग–द्वेषमूलकत्वाद् हिंसादि वदेव दु खजनकत्वेन–लोकसमाजगर्हितत्वेन च दु.खजनकत्व भावयन् तस्माद्विरतो भवति। अथ स्त्रीणामुपभोगे यतोऽधरपानादि सस्पर्शजनितसुखविशेषाऽनुभव एव लौकिकशास्त्रकारिभि सडिण्डिम मुद्घुष्यते–सशब्द्यते तदनुयायिभिश्च रागानुसारिभिर्वाग्मिरिव तत्किमिति तस्य दु खात्मकत्वमितिचेद्–? अत्रोच्यते–

यथा खलु–क्षय–कुष्ठादयो व्याधिविशेषा भैषज्योपयोगेन–पथ्या–ऽऽसेवनेन चांशत –समुच्छिद्यमाना अपि पुन पुनरुद्भवन्ति, एव–कामदेवव्याधयोऽपि न खलु मैथुनसेवनेन सर्वथा शान्ता अभवन्–न वा भवन्ति–भविष्यन्ति च। तथाचोक्तम्–

"न जातु कामः कामनामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाऽभिवर्धते॥ १॥ इति

तस्मात्–कर्मणा क्षयोपशमादय क्षेत्र–काल–द्रव्य–भावाऽपेक्षिणो नात्यन्तिकं सुखमुपजन-

---

इसी प्रकार जैसे असत्यभाषण से मुझे महान् दु ख उत्पन्न होता है। उसी प्रकार समस्त प्राणियों को असत्यभाषण से तथा मिथ्यादोषारोपण आदि से घोर कष्ट पहुँचता है। इस तरह का विचार इसी लोक को लेकर करना चाहिए।

असत्यभाषी पुरुष मृत्यु के पश्चात् जहाँ जन्म लेता है, वहाँ उसे असत्य भाषण, मिथ्या दोषारोपण आदि का उसी प्रकार सामना करना पडता है जैसा उसने पहले स्वयं किया था। इससे उसे महान् दु ख का अनुभव करना पडता है।

ऐसी भावना करने वाला मिथ्या भाषण से निवृत्त हो जाता है। जैसे चोर–डाकुओ के द्वारा पहले मेरे धन के अपहरण से मुझे दु ख हुआ था, उसी प्रकार अन्य जीवों को भी धन के अपहरण से दु ख होता है, इस प्रकार आत्मानुभव के आधार पर जो भावना करता है, वह अदत्तादान से निवृत्त हो जाता है।

इसी प्रकार से जो व्यक्ति मैथुन को राग–द्वेष मूलक होने, हिंसा आदि के समान दु खजनक होने तथा लोक एवं समाज में गर्हित होने के कारण दु खजनक होने की भावना करता है, वह मैथुन से विमुख हो जाता है।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा रखने वाले कर्मों के क्षयोपशम आदि

यितु समर्था भवन्ति, केवल तेषा किञ्चित्कालार्थं दु.खप्रतिबन्धमात्रकारित्वात तस्मात् मूढास्तम-वस्थाविशेष वस्तुतो दु·खमपि सुखमभिमन्यन्ते ।

यथा—कण्डूयन [गात्रखर्जनम्] कुर्वन् जनो दुःखमेव तदानीं सुखमभिमन्यते मोहात्, तथा—मैथुनमुपसेवमानोऽपि मोक्षप्रतिबन्धकीभूता—ऽनन्तानन्तससारभ्रमणादिदु खमेव [आपातरम-णीयकम्-] स्पर्शसुखमभिमन्यते, तस्मान्मैथुनेऽपि—दु खभावनाभावितचेतसो मैथुनाद विरतिर्भवतीति ।

एव—धनादिषु ममत्वरूपपरिग्रहवान् जनोऽप्राप्तप्राप्तनष्टेषु धनादिवस्तुषु क्रमशोऽभिलाषा—रक्षणशोकोद्भव दु खमेव सर्वथा प्राप्नोति तस्माद्—अप्राप्तेषु वस्त्रादिवस्तुषु प्राप्त्यभिलाषां कुर्वन् तद-नासादयन् दु.खमेवाऽनुभवति प्राप्तेषु च तेषु राज—तस्करा—ऽनल—दायाद—मूषिकादिभ्यो रक्षणे सततमुद्विग्न· सन् दु खमेवासादयति, विनष्टेषु च तेषु परिग्रहेषु तद्वियोगजनितोऽसह्य स्मृत्यनु-षङ्गलक्षण शोकानलो नितरां सन्तापयति ।

तस्मात्—तेषु परिग्रहेषु दु खमेव भावयतो जनस्य परिग्रहाद् विरमो भवति, एव रीत्या—प्राणा-तिपाता—ऽनृतभाषण—स्तेयो—ऽब्रह्म—परिग्रहेषु दु.खमेव भावयतो व्रतिन पञ्चव्रतेषु स्थिरता लक्ष-

---

आत्यन्तिक सुख उत्पन्न करने मे समर्थ नहीं होते है। वे तो कुछ समय के लिए दु ख का प्रतीकार मात्र करते है अतएव मूढजन उस अवस्था—विशेष को, दु खरूप होने पर भी सुख मानते है ।

जैसे खाज -खुजलाने वाला पुरुष अज्ञानवश दु.ख को भी उस समय सुख मान लेता है, उसी प्रकार मैथुन सेवन करने वाला भी मुक्ति के विरोधी एव अनन्तानन्त ससार परिभ्रमण के कारण, आपातरमणीय भोगों—दु ख को भी स्पर्शसुख समझलेता है । इस प्रकार मैथुन में दु·ख की भावना से जिस का चित्त भावित होता है, वह मैंथुन से निवृत हो जाता है ।

इसी प्रकार धन आदि पर ममता धारण करने वाला जन धन प्राप्त न हो तो उसकी लालसा करता है, प्राप्त हो जाय तो उसकी रक्षा करने का दुःख भोगता है और नष्ट हो जाय तो शोकजनित दु ख का भागी होता है। वस्त्र आदि वस्तुओ को प्राप्त करने की अभिलाषा हो और वह प्राप्त न हो सके तो दु ख का ही अनुभव होता है। कदाचित् उसकी प्राप्ति हो जाय तो राजा, चोर, अग्नि, भागीदार और चूहों आदि से उसे बचाने के जिए सदैव उद्विग्न रहना पडता है। इस प्रकार उद्वेगजन्य दु ख का अनुभव करना पड़ता है जब रक्षा करते—करते भी वह परिग्रह चला जाता है, तो उसके वियोग से उत्पन्न होने वाले असह्य शोक की अग्नि उसे अत्यन्त सन्तप्त बनाती है। इस प्रकार परिग्रह प्रत्येक दशा में दु·खरूप ही है। जो ऐसी भावना करता है, वह परिग्रह से विरक्त हो जाता है ।

पूर्वोक्त प्रकार से प्राणातिपात, असत्यभाषण, स्तेय, अब्रह्मचर्य और परिग्रह में दु.ख ही दुःख है, ऐसी भावना करने वाले व्रती की पाँचो व्रतो मे दृढता उत्पन्न होती है ।

णदृढताभवतीति भाव.। उक्तञ्च–स्थानाङ्गे–४–स्थाने२–उद्देशके२८२–सूत्रे—-

संवेगिणीकहा चउव्विहा पण्णत्ता, तंजहा–इहलोगसंवेगिणी, परलोगसंवेगिणी, आयसरीरसंवेगिणी, परसरीरसवेगिणी। णिव्वेयणी कहा चउव्विहा पण्णत्ता, तंजहा––इहलोगे दुच्चिण्णा कम्मा इहलोगे दुहफलविवागसंजुत्ता भवंति ॥१॥ इहलोगे दुच्चिन्ना कम्मा परलोगे दुहफलविवागसंजुत्ता भवंति ॥२॥ परलोगे दुच्चिण्णा कम्मा इहलोगे दुहफलविवागसंजुत्ता भवंति ॥३॥ परलोगे दुच्चिण्णा कम्मा परलोगे दुहविवागफलसंजुत्ता भवंति ॥४॥ इहलोगे सुचिन्ना कम्मा इहलोगे सुहफलविवागसंजुत्ता भवंति ॥१॥ इहलोगे सुचिण्णा परलोगे सुहफलविवागसजुत्ता भवति–॥२॥ एवं चउभंगो–"

सवेगिनीकथा चतुर्विधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा–इहलोकसवेगिनी, परलोकसवेगिनी, आत्मशरीरसवेगिनी, परशरीरसवेगिनी। निर्वेदिनीकथा चतुर्विधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा–इह लोके दुश्चीर्णानि कर्माणि इहलोके दु खफलविपाकसयुक्तानि भवन्ति–॥१॥ इह लोके दुश्चीर्णानि कर्माणि परलोके दुःखफलविपाकसयुक्तानि भवन्ति ॥२॥ परलोके दुश्चीर्णानि कर्माणि इह लोके दु खफलविपाकसयुक्तानि भवन्ति ॥३॥ परलोके दुश्चीर्णानि कर्माणि परलोके दु खफलविपाकसयुक्तानि भवन्ति ॥४॥ इहलोके सुचीर्णानि कर्माणि इहलोके सुखफलविपाकसंयुक्तानि भवन्ति ॥१,। इह लोके सुचीर्णानि कर्माणि परलोके सुखफलविपाकसयुक्तानि भवन्ति ॥२॥ एव चतुर्भंग, तथाच–परलोके सुचीर्णानि कर्माणि इहलोके सुखफलविपाकसयुक्तानि भवन्ति ॥३॥ परलोके सुचीर्णानि कर्माणि परलोके सुखफलविपाकसयुक्तानि भवन्ति ॥४॥

स्थानांगसूत्र के चौथे स्थान के दूसरे उद्देशक के सूत्र २८२ मे कहा है–

सवेगिनी अर्थात् वैराग्यवर्द्धक कथा चार प्रकार की कही गई है। वह इस प्रकार है–(१) इहलोकसवेगिनी (२) परलोकसवेगिनी (३) आत्मशरीरसवेगिनी और (४) परशरीरसवेगिनी। निर्वेदिनी कथा चार प्रकार की कही गई है। वह इस प्रकार है–(१) इसलोक में दुश्चीर्ण कर्म इसलोक में दु खरूप फलविपाक से सयुक्त होते हैं (२) इस लोक में दुश्चीर्णकर्म परलोक में दुःखरूप फलविसे सयुक्त होते है (३) परलोक में दुश्चीर्ण कर्म इस लोक में दुःखरूप फलविपाक से सयुक्त होते है (४) परलोक में दुश्चीर्ण कर्म परलोक मे दु खरूप विपाक से सयुक्त होते है।

(१) इस लोक में सुचीर्ण कर्म इस लोक में सुखरूप फलविपाक से सयुक्त होते हैं अर्थात् सुखरूप फल प्रदान करते है (२) इस लोक में सुचीर्ण कर्म परलोक मे सुखरूप फल प्रदान करते है, इत्यादि चारो भंग पूर्ववत् समझ लेने चाहिए। अर्थात् परलोक में सुचीर्ण कर्म इस लोक में सुखरूप विपाक से सयुक्त होते हैं और परलोक में सुचीर्ण कर्म परलोक मे सुखरूप फलविपाक से सयुक्त होते है, यह दोनो भग भी समझ लेते चाहिए

इत्येव चत्वारो भङ्गा.—सुचीर्णकर्मसुखफलविपाकाना बोध्या । सवेद्यते—सवेग्यते ससारा-ऽसारताप्रदर्शनेन मोक्षाभिलाषउत्पाद्यतेऽनयेति सवेदनी—संवेगिनी । तत्र—या कथा ससारस्याऽसा-रतां प्रदर्श्य भव्यजीवेषु मोक्षाभिलाषा जनयति, सा सवेगिनी बोध्या, यथा—मल्लीकुमारी स्वस्या मनुरक्तान् षडपि भूमिपालान् विज्ञाय तेभ्य ससारासारतां प्रदर्श्य—विनीय मोक्षाभिलाष जनयामास। तथाचोक्तम्—"यस्या श्रवणमात्रेण मुक्तिवाञ्छा प्रजायते । सवेदनी यथा मल्ली षड्नृपान् प्रत्यबोधयत् " ॥१॥ निर्वेद्यते विषयभोगेभ्यो विरज्यते श्रोताऽनयेति निर्वेदनी, तथाचोक्तम्—"यदाकर्णनमात्रेण वैराग्यमुपजायते । निर्वेदनी यथा शालिभद्रो वीरेण बोधित –" ॥१॥ यस्या कथायाः श्रवणमात्रेणैव वैराग्यमुपजायते सा निर्वेदनीकथा—धर्मकथा प्रोच्यते, यथा—भगवान् महा-वीर' शालिभद्र प्रतिबोधितवान् इति ॥१३॥

मूलसूत्रम्—"सव्वभूए—गुणाहिग—किलिस्समाणाविणेएसुं मित्ति—प्पमोयकारुण्ण—मज्झत्थाइं—,' ॥१४॥

छाया—"सर्वभूत-गुणाधिक-क्लिश्यमाना-ऽविनयेषु मैत्री-प्रमोद-कारुण्य-माध्य-स्थानि" ॥१४॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे—हिंसादिनिवृत्तिलक्षणपञ्चव्रतसाधारणतया प्राणातिपातादिषु—इहाऽमुत्रे घोरदुःखभावना च प्ररूपिता, सम्प्रति तद्व्रतस्यैव दार्ढ्यार्थं सर्वसत्त्वादिषु मैत्र्यादिभा-

---

जो कथा सविग्न को अर्थात् ससार को असारता प्रदर्शित करके मोक्ष की अभिलाषा उत्पन्न करे वह संवेगिनी अथवा सवेदिनी कथा कहलाती है । जैसे राजकुमरी मल्ली ने अपने ऊपर अनुरक्त छह राजाओं को ससार की असारता दिखला कर और समझाकर उनमें मोक्ष की अभिलाषा उत्पन्न कर दी थी। कहा भी है—

जिस कथा के श्रवण मात्र से मुक्ति की अभिलाषा उत्पन्न हो जाती है, वह सवेदिनी कथा कहलाती है । जैसे मल्ली कुमारी ने छह राजाओ को प्रतिबोध दिया ॥१॥

जिस कथा के द्वारा श्रोता विषयभोगो से विरक्त होता है वह निर्वेदनी कथा कहलाती है । कहा भी है—

जिस कथा को सुनने से वैराग्य की उत्पत्ति हो, वह निर्वेदिनी कथा है जैसे भगवान् महावीर ने शालिभद्र को प्रतिबोध दिया था ॥१॥ सूत्र— ॥१३॥

सूत्रार्थ—'सव्वभूए गुणाहिग' इत्यादि सूत्र—१४

समस्त प्राणियों पर मैत्री भावना, अधिक गुणवानों के प्रति प्रमोद भावना, दुःखी प्राणियो पर करुणाभावना और अविनीतों पर माध्यस्थभावना रखनी चाहिए ॥१४॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्र मे हिंसा आदि पाँचों पापो की निवृत्तिरूप पाँच महाव्रतों की सामान्य प्राणातिपात आदि मे इह—परलोक में घोर दुःखभावना का निरूपण किया

वना' प्ररूपयितुमाह "सव्वभूय–गुणाहिग–किलिस्समाणा विणेएसुं मित्तिपमोयकारुण्ण मज्झत्थाइं–" इति।

सर्वभूतगुणाधिकक्लिश्यमानाऽविनयेषु मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थानि, इति। तत्र–सर्वभूतेषु सर्वप्राणिषु मैत्रीं भावयेत् गुणाधिकेषु स्वापेक्ष्यया–ऽधिकगुणवत्सु प्रमोद–हर्षातिशयं भावयेत् क्लिश्यमानेषु क्लेशमनुभवत्सु च कारूण्य–दयादाक्षिण्य भावयेत्, अविनयेषु–अविनीतेषु शठेषु च माध्यस्थ्यम्–औदासीन्य मुपेक्षावृत्तिं भावयेत्, एवंविध मैत्र्यादिभावनाभि सर्वं सह वैरादिक विनष्ट भवतीति भावः।

तथाचोक्तम्—"सत्त्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोद क्लिष्टेषु जीवेषु दयापरत्वम्।
माध्यस्थ्यभावं विपरीतवृत्तौ सदा ममात्मा विदधातु देव ॥१॥ इति ॥ १४ ॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पूर्वं प्राणातिपातादिविरतिलक्षणपञ्चव्रतानां स्थिरतार्थं सर्वसाधारणतया हिंसादिषु ऐहिक–पारलौकिकाऽपायावद्यदर्शनरूपा भावना दुःखभावना च प्ररूपिता, सम्प्रति-तेषामेव व्रतानां परम्परया स्थिरतासम्पादनार्थं सर्वभूतादिषु मैत्र्यादिभावना प्रतिपादयितुमाह

गया, अब उन्हीं महाव्रतों की दृढता के लिए सर्वप्राणियो पर मैत्री आदि भावनओ की प्ररूपणा करने के लिए कहते हैं–

सर्व प्राणियो, गुणाधिको, क्लिश्यमान जीवो और अविनीतो पर क्रमश मैत्री, प्रमोद कारुण्य और माध्यस्थ भावना होनी चाहिए। अर्थात् सभी प्राणियों पर मैत्रीभावना धारण करे, जो अपनी अपेक्षा अधिक गुणवान् है, उनके प्रति प्रमोद–हर्षातिशय की भावना धारण करे, जो अपनी अपेक्षा अधिक गुणवान् है, उनके प्रति प्रमोद–हर्षातिशय की भावना धारण करें। जो जीव दुःख का अनुभव कर रहे है उन पर करुणाभावना रक्खें और जो अविनीत अर्थात् शठ है, अपने से विरुद्ध विचार और व्यवहार करते हैं, उसके प्रति मध्यस्थभाव धारण करे। तात्पर्य यह है कि इस प्रकार मैत्री आदि भावनाओ से सब के प्रति वैर–विरोध नष्ट हो जाता है। कहा भी है—'सत्त्वेषु मैत्रीं गुणीषु प्रमोदमित्यादि'।

हे देव! मेरी आत्मा प्राणिमात्र पर मैत्रीभाव धारण करे, गुणी जनों को देख कर प्रमोद का अनुभव करे, दुखी जनों पर करुणाभाव धारण करे और विपरीत व्यवहार करने वालों पर मध्यस्थभाव धारण करे ॥ १४ ॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पहले प्राणातिपातविरति आदि पाँच व्रतो को स्थिरता के लिए सामान्य रूप से सभी व्रतों से सम्बन्ध रखने वाली दुःखभावना का निरूपण किया गया, जिसमें यह बतलाया गया है कि हिंसा आदि का आचरण करने से इसलोक और परलोक में दुःख की प्राप्ति होती है। अब उन्हीं व्रतों की परम्परा से स्थिरता के लिए मैत्री आदि भावनाओं का प्रतिपादन करने के लिए कहते हैं—

"सव्वभूय—गुणाहिग—किलिस्समाणा विणएसुं मित्ति प्पमोयकारुण्णमज्झत्थाइं—" इति । **सर्वभूत गुणाधिक क्लिश्यमाना—ऽविनयेषु मैत्री प्रमोद कारुण्य माध्यस्थ्यानि इति ।**

तत्र यथाक्रम सर्वसत्त्वेषु मैत्रीम् गुणाधिकेषु प्रमोदम्—२ क्लिश्यमानेषु कारुण्यम्— ३ अविनयेषु माध्यस्थ्यञ्च भावयेदिति बोध्यम् ।

तत्र—मेद्यति स्निह्यति, इति मित्रम्, तस्य भावो मैत्री परहितचिन्तारूपा सकलप्राणि-विषय· आत्मन· स्नेहपरिणाम , प्रमादादन्यथा वा कृतापकरेष्वपि प्राणिषु मित्रतां हृदये निधाय **"अहमेतस्य मित्रमस्मि" "एतेच मम मित्राणि सन्ति"** इति, नाऽह मित्रद्रोहित्व प्रतिपत्स्ये, मित्रद्रोहित्वस्य दुर्जनाश्रयत्वात् ।

तस्मात्—**"सर्वप्राणिनोऽहं क्षमे—"** इति सर्वसत्त्वान्प्रति भावयेत, **"सम्यग् मनोवचन-कायैः सर्वसत्त्वानहं सहे"** इत्येवं भावनया मित्रता यथार्थतया-ऽऽसाद्यते । ये च मयाऽपकृता· प्राणिन स्तानपि मित्रत्वात् क्षमेऽहम् तथा च सर्वप्राणिषु मम मैत्री वर्तते, न केनापि मम वैरमिति,

स चैष वैरानुबन्ध· प्रसृतप्रत्यवायशाखाशतसबाधो मात्सर्यविषयोदयो भूयो भूयो विच्छिन्नबीजाङ्कुरप्रसवसमर्थोऽपि तीक्ष्णप्रज्ञाविवेकासिधाराच्छेद्यस्तिरस्कृतनिखिलशोषहेतुरपि मैत्री भावनया निरवशेषं समूलघात प्रतिहन्तव्य इति बोध्यम्—। एव-सम्यक्त्वादिगुणाधिकेषु व्रतिषु प्रमोद-हर्षातिशय भावयेत ।

सब प्राणियों पर मैत्री, अधिक गुणवानो पर प्रमोद, दु·खी जनों पर दया और अविनीतो पर माध्यस्थ्यभाव धारण करना चाहिए ।

जो मेद्यति—स्निह्यति अर्थात् स्नेह करता है, वह मित्र कहलाता है । मित्र के भाव को मैत्री कहते है । दूसरे के हित का विचार करना मैत्री है । प्रत्येक प्राणी पर मैत्रीभाव होना चाहिए । प्रमाद से अथवा अन्य किसी कारण से किसी ने अपकार किया हो तो उनके प्रति भी मैत्रीभाव धारण करके ऐसा विचार करना चाहिए—मैं इसका मित्र हूँ, ये मेरे मित्र है, मै अपने मित्र के साथ द्रोह नहीं करूँगा, मित्र से द्रोह करना दुर्जनों का काम है—सत्पुरुषो का नहीं । इस कारण मैं समस्त प्राणियों पर क्षमाभाव धारण करता हूँ । इस प्रकार का भाव निरन्तर धारण करने से वास्तविक मैत्रीभाव की प्राप्ति होती है । जिन्होंने मेरा अपकार किया है, वे भी मेरे मित्र है । उनके प्रति भी मेर मन में क्षमाभाव है । सभी प्राणियो से मेरी मैत्री है । किसी के साथ मेरा वैर या विरोध नहीं है ।

वैरानुबन्ध बडा ही विषम है । उससे अनेक प्रकार के अनर्थों की सैकडों शाखाएँ फूटती है । ईर्ष्या—द्वेष आदि की उत्पत्ति होती है । बार—बार काटने पर भी उसकी जड फिर हरी—भरी हो जाती है । बीजांकुर के समान उसकी परम्परा चलती रहती है । अतएव उसे जड से उखाडने के लिए तीव्र प्रज्ञा एवं विवेक रूपी खड्ग—धारा का उपयोग करना चाहिए । मत्री भावना से ही विरोध का समूल नाश हो सकता है ।

तत्र--प्रमोदस्तावत् वन्दनस्तवनप्रसंगनवैयावृत्त्यकरणादिभि सम्यक्त्वज्ञानचारित्र तपोऽधिकेषु मुनिवरेषु स्व-पर-तदुभयकृतसम्मानजन्य सर्वेन्द्रियाभिव्यक्त आनन्दातिरेक उच्यते। तत्र--सम्यक्त्वं तावत् तत्त्वार्थश्रद्धानस्वरूप बोध्यम्, ज्ञानञ्चे--ष्टानिष्टप्रवृत्तिनिवृत्तिविषयक बोधरूपम् चारित्रञ्च--मूलोत्तरगुणभेदम् तपश्च बाह्याभ्यन्तरभेदेन द्विविधमवसेयम्।

एतैश्चो--पर्युक्तलक्षणै सम्यक्त्वादिभि श्रावकापेक्षया विशिष्टेषु श्रमणेषु स्वेन-परेण-तदुभाभ्या वा कृतवन्दनादिना मुनिजनगुणोत्कीर्तनसमये एकतान श्रवणसमुत्फुल्लनयनाविर्भूतरोमाञ्च कञ्चुकितगात्रयष्ट्यादिलिङ्गेन प्रकटितो मन प्रहर्ष' प्रमोदो व्यपदिश्यते त भावयेदिति। एवम-क्लेशमनुभवत्सु क्लिश्यमानेषु दीनेषु अनाथबालवृद्धादिषु कारुण्य भावयेत् तत्र--कारुण्य खलु अनु-कम्पारूपमुच्यते दीनोपरि--अनुग्रह' दयादृष्टि', दीनत्वञ्च--मानसिकशारीरिकदु'खैरभिभूतत्व बोध्यम्।

तत्र--करुणाक्षेत्रेषु सत्वेषु मिथ्यादर्शनानन्तानुबन्ध्यादिरूपमहामोहाभिभूतेषु मतिश्रुतविभङ्गज्ञा-नव्याप्तेषु इष्टानिष्टप्रातिपरिहारवर्जितेषु अनेकदु खपीडितेषु दीनकृपणा-ऽनाथबालवृद्धादिषु अवि-

---

जो जीव सम्यक्त्व आदि गुणो मे अपने से बढ कर है, विशिष्ट व्रती है, उन पर प्रमोद अर्थात् हर्ष की अधिकता की भावना करनी चाहिए।

सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र या तप की अपेक्षा से जो अपने से अधिक है, उनको वन्दन करना, उनका स्तवन करना, उनकी प्रशसा करना, वैयावृत्य आदि करना, सन्मान करना और समस्त इन्द्रियो से आनंद के अतिरेक को प्रकट करना प्रमोद कहलाता है।

इनमें तत्त्वार्थ के श्रद्धान को सम्यक्त्व कहते है। इष्ट मे प्रवृत्ति और अनिष्ट से निवृत्ति विषयक बोध ज्ञान कहलाता है। मूलगुणों को और उत्तर गुणो को चारित्र कहते है। बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से दो प्रकार का तप है।

यह सम्यक्त्व आदि श्रावकों की अपेक्षा श्रमणों में विशिष्ट रूप में पाये जाते है। अत-एव उन्हें देखकर वन्दन आदि करना, उनके गुणों का उत्कीर्त्तन करना, एकाग्र होकर उनके प्रवचन को सुनना, नयनो का खिल उठना, हर्ष से रोमांच उत्पन्न हो जाना, इत्यादि चिह्नों से प्रकट होने वाला हर्ष प्रमोद कहलाता है। उसकी भावना करनी चाहिए।

इसी प्रकार जो जीव क्लेश के पात्र बने हुए है, दीन है, अनाथ हैं, बाल या वृद्ध है, उनके ऊपर करुणा भाव धारण करना चाहिए। करुणा का अर्थ है अनुकम्पा। दीनों पर अनुग्रह अर्थात् दया की दृष्टि रखनी चाहिए।

जो प्राणी मानसिक अथवा शारीरिक दु खो से पीडित है, उन्हे दीन कहते है।

जो करुणा के पात्र है, मिथ्यादर्शन एव अनन्तानुबन्धी आदि महामोह से ग्रस्त है, कुमति कुश्रुत एव विभग, ज्ञान से युक्त है, जो इष्ट प्राप्ति और अनिष्ट परिहार से रहित हैं, अनेक दु'खों से पीडित है, दीन, दरिद्र, अनाथ, बाल वृद्ध है, उनके प्रति अविच्छिन्न करुणाभावना धारण

च्छिन्न कारुण्यं-भावयेत्, तथाविध कारुण्यं भावयश्च मोक्षोपदेशदेशकालापेक्षवस्त्राऽन्नपानप्रतिश्रयौ-षधादिभिस्ताननुगृह्णीयादिति ।

अविनेयेषु शठेषु जनेषु माध्यस्थ्यम् औदासीन्यम्—उपेक्षां भावयेत् । तत्र—विनीयन्ते शिक्षा ग्राहयितु शक्यन्ते ये ते विनेया शिक्षार्हा ये न तथा भवन्ति तेऽविनेया' शिक्षाऽनर्हा उच्यन्ते । चेतना-अपि काष्ठ कुड्या-ऽश्मसन्निभा' ग्रहण-धारणेहा-ऽपोहशून्या मिथ्यादर्शना-भिभूता दुष्टजनविप्रलब्धा उच्यन्ते, तेषु—औदासीन्य भावयेत्,

तेषु—सदुपदेशादिक शुद्धबीजमिवो-षरभूमिषूप्त न किमपि फलाधायक भवति, तस्मा-त्तेषु—उपेक्षैव कर्तव्येति भाव. । तथाचोक्तम्

परहितचिन्तामैत्री—परदुःखनिवारणं तथा करुणा— ।
परसुखतोषो मोदः—परदोषोपेक्षणमुपेक्षा ॥१॥ इति

उक्तञ्च सूत्रकृताङ्गे प्रथमश्रुतस्कन्धे १५—अध्ययने ३—गाथायाम् —"**मित्तिं भूएहिं कप्पए—**" **मैत्रीं** भूतेषु कल्पयेत् इति ।

एवम्—औपपातिके १—सूत्रे २०—प्रकरणे चोक्तम्—

"**सुप्पडियाणंदा—**' **सुप्रत्यानन्दाः** इति । पुनस्तत्रैवौपपातिके भगवदुपदेशे चोक्तम्—

करनी चाहिए । करुणाभाव धारण करके उन्हे मोक्ष का उपदेश देना चाहिए तथा देश और काल के अनुसार वस्त्र, अन्न, पानी, स्थान, औषध आदि देकर उनका अनुग्रह करना चाहिए ।

अविनीत है—शठ है, ऐसे लोगों के प्रति उदासीनता का भाव धारण करना चाहिए । जिन्हे शिक्षा दी जा सकती हो, जो उनके योग्य हो, वे विनीत कहलाते है । जो शिक्षा के भी योग्य न हो वे अवीनीत हैं । वे चेतन होने पर भी लक्कड या दीवार के समान जड होते हैं । ग्रहण, धारण ईहा, अपोह से शून्य, मिथ्यात्व से गुप्त और दुष्टो द्वारा बहकाये होते हैं । ऐसे लोगो पर भी द्वेष न धारण करते हुए उदासीनता रखना चाहिए ।

ऊषर भूमि में बोया हुआ शुद्ध बीज भी जैसे फलवान् नहीं होता' उसी प्रकार ऐसे लोगों को दिया हुआ सदुपदेश सफल नहीं होता । अतएव उनके प्रति उपेक्षा रखना ही उचित है कहा कभी है—'परहित चिन्ता मैत्री' इत्यादि ।

दूसरों के हित का चिन्तन करना मैत्री है, दूसरो के दु ख-का निवारण करना करुणा है, दूसरो का सुख देखकर सुखो होना प्रमोद है और दूसरो के दोषों की उपेक्षा करना माध्यस्थ्य है ।

सूत्रकृतागसूत्र के प्रथम श्रुतस्कध के १५ वें अध्ययन मे, तीसरी गाथा मे कहा है— 'प्राणिमात्र पर मैत्रभाव धारण करना चाहिए ।'

औपपातिकसूत्र के प्रथम सूत्र के वोसवे प्रकरण मे कहा है—'**सुप्पडियाणंदा**' अर्थात् दूसरों के सुख को देखकर आनन्द का अनुभव करना चा[illegible] [illegible]गवान् [illegible]

"साणुक्कोसयाए–" सानुक्रोशतया, इति । आचाराङ्गप्रकरणे श्रुतस्कधे ८ अध्ययने ७– उद्देशे ५–गाथायाञ्चोक्तम्–"

"मज्झत्थो निज्जरापेही–समाहिमनुपालए" इति ।

'मध्यस्थो निर्जरापेक्षी–समाधिमनुपालयेत्' इति ॥१४॥

मूलसूत्रम्—"संवेगणिव्वेयणट्ठं जगकायसभावा य–" ॥१५॥

छाया—"संवेगनिर्वेदार्थं जगत्कायस्वभावौ–" ॥१५॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे प्राणातिपातादिविरमणलक्षणव्रतस्थैर्यार्थं पञ्चव्रतसाधारणतया मैत्री कारुण्यमुदितोपेक्षाभावना प्ररूपिता सम्प्रति तस्यैव पूर्वोक्तपञ्चव्रतस्य स्थिरतार्थं पञ्चव्रतसाधारणतयैव भावनां प्ररूपयितुमाह—

"संवेगणिव्वेयणत्थं जगकायसभावा य" इति । सवेगनिर्वेदार्थम्–ससारभीरुत्वलक्षण-सवेगार्थम्, वैराग्यलक्षणनिर्वेदार्थञ्च यथाक्रम जगत्काय-स्वभावौ च, ससारलक्षणजगत्–स्वभाव-शरीरलक्षणकायस्वभावञ्च भावयेत्, भूयो भूय परिचिन्तयेत । तत्र–जगत्पदार्थस्तावत् तास्तान् देवमानुषतिर्यङ्नारकपर्यायान् अत्यन्त गच्छति प्राप्नोतीति जगत् प्राणिनिवह –

प्रकरण मे कहा है–'साणुक्कोसयाए' अर्थात् दया युक्त होकरके ।

आचारागसूत्र के, प्रथम श्रुतस्कध में, आठवे अध्ययन के सातवे उद्देशक की पाँचवीं गाथा में कहा है—'अनगार मध्यस्थ–समभावी होकर तथा केवल कर्मनिर्जरा की ही इच्छा करता हुआ समाधि का पालन करे ।' ॥१४॥

सूत्रार्थ—'संवेगणिव्वेयणट्ठं' इत्यादि सूत्र–१५

सवेग और निर्वेद की वृद्धि के लिए जगत् के और शरीर के स्वभाव का चिन्तन करना चाहिए ॥१५॥

तत्त्वार्थदीपिका—इससे पहले के सूत्र में अहिंसा आदि व्रतो की स्थिरता के लिए सामान्य रूप से अर्थात् सभी व्रतो के लिए समान रूप से उपयोगी मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ्य भावनाओं का कथन किया गया, अब उन्हीं पाँचो महाव्रतादिकी दृढता के लिए समान रूप से उपयोगी अन्य भावनाओं का निरूपण करते है—

सवेग और निर्वेद के लिए ससार के और शरीर के स्वभाव का विचार बार–बार करना चाहिए । ससार से भयभीत होना सवेग है और विषयो से विरक्ति होना निर्वेद है । इन दोनो की वृद्धि और पुष्टि के लिए अनुक्रम से ससार और शरीर के स्वभाव का चिन्तन करना चाहिए अर्थात् जगत् के स्वभाव का पुन पुन चिन्तन करने से सवेग की वृद्धि होती है और काय के स्वरूप का विचार करने से वैराग्य की वृद्धि होती है ।

विभिन्न मनुष्य तिर्यंच नारक और देव पर्यायो को जो गमन करता अर्थात् प्राप्त होता रहता है, उसे जगत कहते हैं। इस व्युत्पत्ति के अनुसार जगत् का अर्थ है–जीवसमूह । अथवा

यद्वा—धर्माधर्माकाशकालपुग्दलादिद्रव्यसन्निवेशस्थान जगत्—उच्यते, ससार इत्यर्थ । चीयते य स काय., चीयते वाऽस्मिन् अवस्थादिकमिति काय शरीरम्, जगच्च—कायश्चेति जगत्कायौ तयो स्वभाव-स्वरूपम् जगत्कायस्वभाव तौ चेति शब्दार्थ ॥१५॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं हिंसादिनो निवृत्तिलक्षणव्रतपञ्चकदृढतार्थं पञ्चव्रतसाधारणतयैव प्राणिमात्रादिषु मैत्र्यादिभावना प्रतिपादिता सम्प्रति—तथाविधहिंसाधकुशलनूतनकर्मादाननिवृत्ति-परायणपञ्चव्रतधारिणां क्रियाविशेषप्रणिधानार्थं भावनान्तर प्रतिपादयितुमाह—**"संवेगणिव्वेयणट्ठं जगकायसभावा य"** इति

संवेगनिर्वेदार्थम् जगत्कायस्वभावौ च पञ्चव्रतधारीजीवो भावयेत् । तत्र—सवेगार्थं जगत्स्वभाव भावयेत्, वैराग्यार्थञ्च कायस्वभाव भावयेत् । तत्र सवेगस्तावत् ससारभीरु-त्वादिलक्षण नानाविधोच्चावचप्राणिजातजन्म-मरणजरादिपीडाक्लेशकर्मविपाकपरिपूर्णससारसन्त्रास-इति भाव' ।

निर्वेदस्तु—वैराग्यरूप शरीरनिष्प्रतिकर्मतादिलक्षणो बोध्य', वक्ष्यमाणवास्तुक्षेत्रादिदशविध-बाह्योपधिषु एव वक्ष्यमाणरागद्वेषादिचतुर्दशाभ्यन्तरोपधिषु चाऽनभिष्वङ्ग मूर्च्छाराहित्यम् अलो-भात्मक. आत्मनः परिणाम इति भाव' ।

धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुदगल आदि के रहने का जो क्षेत्र—स्थान—है, वह भी जगत् कहलाता है जिसे ससार कहते है ।

जिसका उपचय होता है, वह 'काय' कहलाता है, अथवा जिसमें अवस्था आदि का उप-चय होता है, उसे काय कहते हैं । काय का अर्थ 'शरीर' है । सवेग और निर्वेद को बढाने के लिए जगत् के और शरीर के स्वरूप का बार—बार विचार करना चाहिए ॥१५॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—इससे पूर्व हिंसापरित्याग आदि पाँचों व्रतो की दृढता के लिए पाँचो महाव्रत आदि के लिए साधारण मैत्री आदि भावनाओ का प्रतिपादन किया गया । अब हिंसा आदि अशुभ नवीन कर्मबन्ध की निवृत्ति में तत्पर पचमहाव्रत धारी साधुओ की क्रियाविशेष के प्रणिधान के हेतु अन्यभावनाओं का प्रतिपादन करने के लिए कहते हैं—

पाँचमहाव्रतों आदि को धारण करने वाला जीव सवेग और निर्वेद के लिए जगत् के और शरीर के स्वरूप का चिन्तन करे । अर्थात् सवेग के लिए जगत् के स्वभाव का और निर्वेद के लिए शरीर के स्वभाव का विचार करे ।

ससार के प्रति भीरुता होना सवेग है अर्थात् नाना प्रकार के उच्च और नीच प्राणियों के जन्म, मरण, जरा पीडा, क्लेश एव कर्मविपाक से परिपूर्ण ससार के त्रास का विचार करना सवेग है ।

वैराग्य को निर्वेद कहते है । इसका तात्पर्य है शरीर का साज—शृंगार आदि न करना । आगे कहे जाने वाले क्षेत्र, वास्तु, आदि दस प्रकार की बाह्य उपधि में और राग

तत्र--जगत्स्वभावस्तु--प्रियवस्तुविप्रयोग--विप्रियवस्तुसप्राप्तिसमभीप्सिताऽलाभदारिद्र्यदौभा-ग्यदौर्मनस्यवधबन्धनाभियोगाऽसमाधिदु खसंवेदनलक्षणो वर्तते । एव ससारे खलु ससारिणा सर्व-स्थानानि अशाश्वतानि भवन्ति, धर्माधर्मादिद्रव्याणाञ्च परिणामित्वात् अनन्तपर्यायरूपेण गमनात्, तेष्वपि--धर्मादिषड्द्रव्येषु परिणामानित्यता भावयेत् ।

कायस्वभावस्तावत्--मातापित्रो रज शुक्रमेकीभूत सद् गर्भजन्मना प्राणिना शरीरतया परिणत भवति, इत्यादिलक्षण, समूर्च्छनोपपातजन्मना प्राणिना पुनरुत्पत्तिदेशावगाढस्कन्धादानानि-र्माणानि शरीराणि नानाकाराणि अशुभपरिणामवन्ति परिशटनोपचयत्वात् विनश्वराणि भवन्ति इत्येव लक्षणश्च बोध्यः ।

परमार्थतस्तु--जीवाजीवद्रव्याणि जगत् पदेनोच्यते, तेषा पुद्गलद्रव्यादीना स्वभावा अना-दिसादियुक्ता' प्रादुर्भावतिरोभावस्थित्यन्यतानुग्रहविनाशात्मका भवन्ति । तथाहि--जीवस्यासख्येय-

---

द्वेष आदि चौदह प्रकार की आन्तरिक उपधि में आसक्ति--ममता न होना । तात्पर्य यह है कि निर्लोभतारूप आत्मा का परिणाम निर्वेद कहलाता है ।

प्रिय पदार्थ का वियोग हो जाना, अप्रिय का सयोग होना इष्ट की प्राप्ति न होना, दरिद्रता होना, दुर्भाग्य होना, दुर्मनस्कता होना, वध, बन्धन, अभियोग, असमाधि और दु.ख का अनुभव होना, ऐसा जगत् का स्वभाव है। ससार के सभी स्थान अशाश्वत है । कोई भी जीव या अजीव का ऐसा पर्याय नहीं जो स्थायी हो । धर्म और अधर्म आदि सभी द्रव्य परिणमनशील हैं । उनमें निरन्तर परिवर्त्तन होते रहते हैं । अतीतकाल में एक--एक द्रव्य की अनन्त अवस्थाएँ हो चुकी है और यह क्रम एक क्षण भी कभी रूकता नहीं है । इस प्रकार धर्म आदि छहो द्रव्यों में परिणति नित्यता की भावना करे, अर्थात् ऐसा विचार करे कि आत्मद्रव्य अजर अमर अविनाशी और नित्य होने पर पर्यायो की उपेक्षा से क्षण क्षण में रूपान्तरित होता रहता है । कभी देव कभी मनुष्य कभी तिर्यंच और नारक पर्याय को धारण करता है और वहाँ विविध प्रकार की आधि---व्याधियो को भोगता है । इसी प्रकार अन्य द्रव्यों की नित्यानित्यता का भी चिन्तन करे ।

काय के स्वभाव का इस प्रकार विचार करे--माता और पिता का रज और वीर्य जब मिश्रित होता है, तो वह गर्भज प्राणियो के रूप में परिणत हो जाता है । समूर्छिम और उपपात जन्म वाले जीवो के शरीर उत्पत्ति क्षेत्र में रहे हुए पुद्गलस्कंधो को ग्रहण करने से निर्मितहोते है । वे शरीर विविध आकारो के और अशुभ परिणमन वाले होते है । उनमे अपचय और उपचय अर्थात् बिछुडना और मिलना होता रहता है और वे सब विनश्वर होते है ।

वास्तव में तो जगत शब्द से जीवऔर अजीव द्रव्यों का ग्रहण होता है । उन पुद्गल आदि द्रव्यो के स्वभाव अनादि--सादि युक्त होते है । प्रादुर्भाव (प्रगट) होना और तिरोभाव (छिपना) होना फिर भी द्रव्य रूप से स्थिति रहना, अन्य का अनुग्रह करना और पर्याय से विनष्ट होना, यह सब द्रव्यो का स्वभाव है ।

प्रदेशत्व चेतनावत्त्वज्ञानवत्त्वादि खलु परिणामोऽनादिर्भवति, कश्चित्पुन. परिणामस्तस्यैव जीवस्य देवत्व—मनुष्यत्वादिलक्षण सादिर्भवति ।

पुद्गलद्रव्यस्यापि—मूर्तत्वरूप—रस—गन्ध—स्पर्शादिमत्त्वलक्षण परिणामोऽनादि किन्तु—घट-पटादिपर्यायलक्षण परिणामस्तु सादिर्भवति । एवम्—धर्माधर्मरूपद्रव्यद्वयस्य लोकाकाशव्यापकत्वादिस्तावत् परिणामोऽनादि । जीवपुद्गलादिगति-स्थितिनियामकस्य तस्य तावद् धर्माधर्मद्रव्यद्वयस्य गतिस्थितिपरिणतिमज्जनित. परिणाम पुन सादिर्भवति ।

एव—लोकाकाशस्यापि—अमूर्तत्वासख्येयप्रदेशवत्त्वादिरनादि परिणाम । अवग्राहकद्रव्यजनित परिणाम पुनरवगाहलक्षण. सादिर्भवति । इत्येव रीत्याऽनादिसादिपरिणामविशिष्ट पर्यायान्तरोत्पादलक्षण प्रादुर्भावो द्रव्याणा भवति । तिरोभावस्तु—सन्ततिरूपेणावस्थितौ वैस्रसिको विनाश-इत्यादिरूपो भवति । स्थिति-ध्रौव्य तेषां द्रव्याणामनादि परिणाम । एवम्—सर्वेषां द्रव्याणा परस्पर भेदलक्षणोऽन्यत्वरूप परिणामोऽनादि सम्भवति । जीवानाञ्च - परस्परोपकारादिलक्षण परिणामोऽनादि । विनाशस्तु—प्रायोगिक' परिणाम सादिर्वर्तते ।

असख्यातप्रदेशवत्त्व, ज्ञानवत्त्व आदि जीव के अनादि परिणाम है । उसके कोई—कोई परिणाम, जैसे देवत्व, मनुष्यत्व आदि, सादि भी होते है ।

इसी प्रकार पुद्गल द्रव्य का मूर्त्तत्व रूप, रस, गध, और स्पर्शवत्व परिणाम अनादि है, घट—पट आदि पर्याय रूप परिणाम सादि है । धर्म और अधर्म द्रव्य का लोकाकाशव्यापकत्व आदि परिणाम अनादि है । ये द्रव्य जीवो और पुद्गलो की गति और स्थिति के नियामक है, अतएव गतिशील और स्थितिशील जीव—पुद्गलो के परिणमन से उत्पन्न होने वाला धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य का वह परिणाम सादि है ।

इसी प्रकार लोकाकाश का अमूर्त्तत्व एव असख्यातप्रदेशवत्वपरिणाम अनादि है; किन्तु अवगाहक द्रव्यो के निमित्त से उत्पन्न होने वाला अवगाह परिणाम सादि है ।

इस प्रकार द्रव्यों मे पूर्वपर्याय का विनाश और उत्तर पर्याय का उत्पाद रूप सादि परिणाम होना ही प्रादुर्भाव और तिरोभाव है । अर्थात् नवीन पर्याय की उत्पत्ति को प्रादुर्भाव कहते हैं और पूर्वपर्याय के विनाश को तिरोभाव कहते है । यह सभी द्रव्यों में निरन्तर होते रहते है । वस्तु सतान (द्रव्य) रूप से अवस्थित रहती है, फिर भी उसमें स्वाभाविक और कारण जन्य विनाश होता ही रहता है ।

स्थिति या ध्रौव्य सभी द्रव्यो का अनादि परिणाम है । इसी प्रकार छहों द्रव्यों में परस्पर भिन्नता रूप जो परिणाम है, वह भी अनादि है, अर्थात् अनादि काल से प्रत्येक द्रव्य का ऐसा स्वरूप है कि वह किसी अन्य द्रव्य के रूप में परिणत नहीं होता । परस्पर में उपकार करना, यह जो जीव द्रव्य का परिणाम है, वह भी अनादि कालिन है । जीव का सादि परिणाम तो पर्यायों के रूप मे स्पष्ट ही है ।

इत्येव तावत् पुनःपुनरालोच्यमानः खलु जगत्स्वभावः ससारतो भीरुत्वलक्षणाय सवेगाय सम्पद्यते,अज्ञानहिंसादिचोष्टितानां ससारानन्तफलदोषदर्शनात् तदुच्छेदार्थमहर्निशं सवेगमेव भावयतीति भाव । अचेतनानामपि नित्यानित्यमूर्तामूर्तरूपरसगन्धस्पर्शशब्दसंस्थानादिपरिणामशुभाशुभकल्पनानामनाद्यसन्तानैकस्वभावत्वमनुभवन् अरक्तमूढद्विष्टो जगद् अन्यायन्यायचेष्टितानि भीतियुक्तानि अभयभूतानि च भावयन् सवेगवान् भवतीति भाव ।

एवम्-कायस्वभावस्तावद् अनित्यताजन्मप्रभृतिविनश्वरता बालकुमारयौवनप्रौढस्थविरावस्था पूर्वपूर्वावस्थोपमर्देनो-त्तरोत्तरावस्थास्वरूपं प्रतिपद्यन्ते, तस्मादायुषः परिसमाप्तिपर्यन्त शरीरस्य परिणामानित्यत्व भावयेत् तदनन्तर क्रोधेन वह्निना वा श्वानगृद्ध्रादिशकुन्तसम्पातेन वा वाता-तपशोषणेन वा विघटित शरीराकारपरिणत पुद्गलप्रबन्धो द्व्यणुकादिस्कन्धभेदेन परमाणुपर्यवसानेन विभक्तत्वादनित्य उच्यते ।

बहुकालमपि चैष कायः कुङ्कुमा-ऽगुरु-कर्पुर-कस्तूरिका-ऽनुलेपनमिष्टान्न-पान-वस्त्राऽऽच्छादनादिना उपलालित पालितश्चा-ऽकाण्ड एव विध्वसमासादयति इत्येव भावयतश्च शरीर निर्ममत्व

इस प्रकार बार-बार जगत् के स्वभाव का चिन्तन किया जाय उससे सवेग की प्राप्ति होती है । तात्पर्य यह है कि अज्ञान एव हिंसा आदि कृत्यो का अनन्त ससार रूप फल-दोष दिखाई देने से उनके त्याग के लिए रात-दिन सवेग की ही भावना होती है । सवेगवान् व्यक्ति जब यह अनुभव करता है कि अचेतन पदार्थों की भी नित्य-अनित्य, मूर्त्त-अमूर्त्त, रूप, रस गध, स्पर्श, शब्द, सस्थान आदि परिणाम की शुभ-अशुभ परिणति होती है ।

राग-द्वेष से रहित होकर अन्यायपूर्ण चेष्टाएँ भययुक्त है और न्यायसंगत चेष्टाएँ अभय रूप है, इस प्रकार की भावना करता हुआ संवेगवान् होता है ।

काम के स्वभाव का विचार इस प्रकार करना चाहिए-यह शरीर अनित्य है । जन्मकाल से लगाकर विनाशशील है । इसमें कभी बाल्यावस्था, कभी कुमारावस्था, कभी यौवनावस्था, कभी प्रौढावस्था और कभी वृद्धावस्था उत्पन्न होती है । पूर्व-पूर्व अवस्था को विनष्ट करके आगे-आगे की अवस्थाएँ उत्पन्न होती हैं । इस प्रकार यह शरीर आयु की समाप्ति पर्यन्त अनित्य है । तत्पश्चात् क्रोध से, आग से, श्वान या गीध आदि पक्षियों के निमित्त से, हवा और धूप से सूख कर शरीर के आकार में परिणत हुए पुद्गलस्कंध बिखर जाते है । बिखरते-बिखरते द्व्यणुक आदि रूप धारण करते हुए अन्त मे परमाणुओ के रूप में विभक्त हो जाते हैं इस प्रकार यह शरीर अनित्य है ।

दीर्घ काल तक इस शरीर का कुंकुम, अगर, कपूर कस्तूरी आदि का लेपन करके, मिष्टान्न, पान, वस्त्राच्छादन आदि से लालन-पालन किया जाता है, फिर भी असमय में ही विध्वंस को प्राप्त हो जाता है ।

भवति । ततश्च-संवेगवैराग्ये भवत' । किञ्चा--ऽन्य खलु कायस्वभावो दु खहेतुत्व भवति । तत्र--पीडारूपबाधालक्षण दु'खम्, सा च बाधा शरीरस्त्रान्ताश्रया भवति,

ततश्च-यावत्कालपर्यन्त शरीरं तिष्ठति तावदपि शरीराश्रयो दुःखोपभोगो न व्यवच्छिन्नो भवति कर्मपुग्दलात्मप्रदेशाना परस्परानुगतौ नीरक्षीरवदविभागे सति आत्मन कर्मपुग्दलहेतुको दु'खानुभवो भवति, ततश्च कायस्य दु'खहेतुता भावयन् भव्यआत्माऽस्य शरीरस्या--ऽऽत्यन्तिकोच्छे-दाय प्रयतते । एवं नि'सारत्वमपि कायस्वभावो वर्तते, तथाहि त्वङ् मास-मज्जादिपटल-भेदेन परिवेष्ट्यमानेऽपि अस्मिन्-शरीरे कदलीगर्भ इव मेदोऽस्थिपञ्जराऽऽन्त्रजजलमलमूत्र-कफपित्तमज्जादिसमुदाये न कोपि सारभाग समुपलभ्यते,

अपितु---नि सार उपलभ्यते खलु अकालभङ्गुरोऽयं काय इत्येव भावयत शरीरे मूर्च्छालक्ष-णेऽभिष्वङ्गो न भवतीति । एवम्--अशुचित्वमपि कायस्वभावो वर्तते, तत्रा--ऽशुचित्वञ्च--लोकप्र-सिद्ध शरीरे एव बाहुल्येन दरीदृश्यते । तथाहि--गर्भव्युत्क्रान्तिकमानुषशरीरस्य खलु मूल कारण शुक्रशोणिते भवत', तदनन्तरञ्च तयोरेव शुक्ररजसो कलल--बुदबुद्मांसपेशीप्रभृतिपरिणाम किञ्चि न्मासानन्तर शिर पाणिपादाद्यवयवाऽभिव्यक्तिमातृभक्षिताहारनि स्यन्दप्रवाहपूरितरसहरणीकुल्या-

---

इस प्रकार चिन्तन करने से शरीर के प्रति जो ममत्व होता है, वह दूर हो जाता है । इससे संवेग और वैराग्य की उत्पत्ति होती है ।

इसके अतिरिक्त यह शरीर दु खों का कारण है । पीडारूप बाधा को दु ख कहते है । वह बाधा दो प्रकार की होती है--शरीर के आश्रय से और मन के आश्रय से । यह शरीर जब तक विद्यमान रहता है तब तक दु ख से छुटकारा नहीं मिल सकता । कर्म के पुद्गल और आत्मा के प्रदेश जब मिलते हैं और दूध--पानी की तरह एक मेक होकर रहते है तो कर्म--पुद्गलो के निमित्त से दु ख का अनुभव होता है । इस प्रकार यह शरीर दु ख का कारण है, ऐसी भावना करता हुआ भव्य जीव शरीर के अत्यन्त विनाश के लिए प्रयत्न करता है अर्थात् ऐसी साधना करता है जिससे शरीर के साथ का सबध सदा के लिए नष्ट हो जाय ।

यह शरीर निस्सार भी है । त्वचा (चमडी) मांस, मज्जा आदि से वेष्टित इस शरीर मे, जो कि मेद, अस्थिपजर, आंतों, जल, मल, मूत्र, कफ, पित्त, मज्जा आदि का समुदाय है, कदली स्तभ के समान नि सार है, इसमें कुछ भी सार नहीं है ।

अपितु अकाल में ही नष्ट हो जाने वाला यह शरीर निस्सार ही प्रतीत होता है । ऐसी भावना करने वाले के चित्त मे शरीर के प्रति आसक्ति नहीं रहती ।

यह शरीर अशुचि अर्थात् अपवित्र भी है । लोक मे जो अशुचि के रूप से प्रसिद्ध है, शरीर के अन्दर ही उसकी बहुलता देखी जाती है गर्भज मनुष्य के शरीर का मूल कारण शुक्र और शोणित है । तत्पश्चात उन्हीं शुक्र और शोणित का कलकल, बुद बुद, मासपेसी आदि के

नालिकया परिप्रापिताऽशेषरसास्वादनपरिवर्ध्यमानपोष पुरीषमध्यासीन परिपूर्णावयवोपचित सन् परिपाकवशान्मातृगर्भयोनिविवरनिर्गत' मातृदुग्धाहाराऽऽसेवनोपचितशोणितमांसकीकसासघात पुरीषमूत्रयुक्त श्लेष्मपित्तवायुधातुवैषम्यप्रकोपोद्‌भूतशोथ,

गण्डौष्ठतलादिसस्पर्शाद्वा गलच्छोणितलवलसिकापूयपटलप्रायपरिणाम सर्वावस्थासु-अशुचिरेवकाय इत्येव भावयेत् । इत्येव भावयतश्च पूर्वोक्तलक्षणसवेगवैराग्ये भवत । तत्रा-ऽऽरम्भपरिग्रहेषु दोषदर्शनादरतिर्धर्मे वहुमानो भवति,शरीरभोगससाराभ्यां च निर्विण्णता वैराग्यभाव वैमुख्यमुद्वेग सम्भवतीति भाव ॥

मूलसूत्रम्–"देवा चउव्विहा, भवणवइ–वाणमंतर–जोइसिय वेमाणियभेया-"।१६।

छाया –"देवाश्चतुर्विधाः भवनपतिवानव्यन्तरज्योतिष्क-वैमानिकभेदात्-"॥१६॥

तत्त्वार्थदीपका—नवविधेपु जीवादितत्वेपु क्रमप्राप्तं चतुर्थं पुण्यतत्त्व प्ररूपयितु चतुर्थाध्याय कृत' तत्र–पुण्यतत्त्व सविशेष प्ररूप्य तत्फलभूता देवगतिं प्ररूपयितु प्रथम देवभेदान् प्ररूपयति–"देवा चउव्विहा, भवणवइ–वाणमंतर–जोइसिय–वेमाणियभेया–" इति। देवा –

रूप में परिणमन होना है। कुछ महीनो के पश्चात् शिर, हाथ, पैर, आदि अवयव प्रकट होते हैं। गर्भ में स्थित जीव माता के द्वारा खाये हुए आहार के रस को रसहरणी नाडी के द्वारा ग्रहण करता है और उसी से अपना पोषण प्राप्त करता है। वह मैले में निवास करता है। जब अवयव परिपूर्ण हो जाते हैं तव परिपक्व होकर माता के गर्भ से वाहर निकलता है। फिर माता के दूध का आहार करके उसमे रुधिर मास आदि धातुओं का उपचय होता है। मल–मूत्र से युक्त होता है। क्या, पित्त एव वात रूप धातुओ की विषमता के प्रकोप से उसमें सूजन उत्पन्न हो जाती है।

गड, ओष्ठ तलादि के स्पर्श से रक्त बहने लगता है, पीव झरता है। इस प्रकार यह शरीर सभी अवस्थाओ में अशुचि ही बना रहता है। ऐसी भावना करनी चाहिए। इससे सवेग वैराग्य की उत्पत्ति और वृद्धि होती है। तात्पर्य यह है कि आरभ परिग्रह आदि में दोष देखने से उनके प्रति अरुचि और धर्म मे बहुमान उत्पन्न होता है। शरीर–भोग और ससार से विरक्ति होती है, विमुखता होती है, उद्वेग उत्पन्न होता है ॥१५॥

सूत्रार्थ—'देवा चउव्विहा' इत्यादि सूत्र १६

देव चार प्रकार के है— भवनपत्ति, वानव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक ॥१६॥

तत्त्वार्थदीपिका—जीव आदि नौ तत्त्वो में से क्रमप्राप्त चौथे पुण्यतत्त्व की प्ररूपणा करने लिए चौथे अध्याय का निर्माण किया गया है। इसमें विशिष्ट रूपसे पुण्यतत्त्व की प्ररूपणा करके पुण्य के फल से प्राप्त होने वाली देवगति की प्ररूपणा करने के लिए सर्वप्रथम देवों के भेद कहते हैं—

देवगतिनामकर्मोदयेऽभ्यन्तरे हेतौ सति बाह्यविभूतिविशेषैर्द्वीपपर्वतसमुद्रादिषु प्रदेशेषु यथाकाम दीव्यन्ति–क्रीडन्तीति देवा., पचादित्वादच् प्रत्यय, ते चतुर्विधा सन्ति, भवनपति–वानव्यन्तर–ज्योतिष्क–वैमानिकभेदात् तथाच–भवनपतय·–वानव्यन्तरा ज्योतिष्का –वैमानिकाश्चेत्येव चतुर्विधा देवा· सन्तीति भाव· ॥ १६ ॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं तावद् यथाक्रम पुण्यतत्त्वस्वरूप सविस्तर प्ररूपितम्, सम्प्रति–पुण्यकर्मफलभूतां देवगतिं प्ररूपयितु प्रथमं देवभेदान् आह–"**देवा चउव्विहा, भवणवइ–वाणमंतर–जोइसिय–वेमाणियभेया–**,, इति । देवा –देवगतिपुण्यनाकर्मोदये सति द्वीपपर्वतादिविशेषदिव्यप्रदेशेषु दीव्यन्ति-क्रीडन्ति-रमन्ते, इति देवा., यथेष्टविचरणशीलत्वात् सततक्रीडासक्तमानसा भवन्ति ।

अथवा–दीव्यन्ति द्योतन्ते इति देवा , अत्यन्तभास्वरशीलत्वाद्–अस्थि मांसा-ऽसृङ्-मज्जादिरहितत्वेन परमरमणीय सर्वाङ्गोपाङ्गत्वाच्चेति । यद्वा–विद्या–मन्त्रा-ऽञ्जनादिक विनापि पूर्वकृततप·सापेक्षजन्मप्राप्त्यनन्तरमेव निरालम्बाकाशातिशयगतिचारिण खलु देवा भवन्ति, दिवु–क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु इत्यनुशासनात्,

तेषामतिशयगतिश्चागमे प्रतिपादिता वर्तते । तथाचोक्तम्–व्याख्याप्रज्ञप्तौ भगवतीसूत्रे ११ शतके १०–उद्देशके–"**के महालए णं भंते ! लोए पण्णत्ते ? गोयमा ! अयंच णं**

देव चार प्रकार के है– भवनपति, वानव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक । आभ्यन्तर कारण देवगतिनामकर्म का उदय होने पर बाह्य विभूतियों से द्वीप, पर्वत, समुद्र आदि प्रदेशो में इच्छानुसार जो क्रीडा करते हैं, वे देव कहलाते है । (पचादि गण) में पाठ होने से देव शब्द में अच् प्रत्यय हुआ है । देवों के पूर्वोक्त चार प्रकार है ॥१६॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पहले विस्तारपूर्वक पुण्यतत्त्व को प्ररूपणा की गई है । अब पुण्यकर्म के फल देवगति की प्ररूपणा करने के लिए सर्वप्रथम देवों के भेद कहते हैं ।

देवगति नामक पुण्य नामकर्म के उदय से द्वीप पर्वत आदि दिव्य प्रदेशों में जो क्रीड़ा करते हैं, वे देव कहलाते है । यथेष्ट विचरण करने के स्वभाव वाले होने से उनका मन सदैव क्रीडा में आसक्त रहता है ।

अथवा दीव्यन्ति का अर्थ है– द्योतन्ते । अत्यन्त तेजोवान् होने से और अस्थि, मांस, रुधिर, मज्जा आदि से रहित होने के कारण जिनके सभी अंगोपाग अत्यन्त रमणीय होते हैं वे देव कहलाते हैं । अथवा विद्या, मत्र एव अजन आदि के बिना ही पूर्वकृत तप के प्रभाव से जो जन्मकाल से ही बिना आलम्बन के आकाश में गमन करते हैं, वे देव कहलाते हैं । व्याकरण शास्त्र के अनुसार 'दिवु' धातु के अनेक अर्थ होते हैं, जैसे–क्रीडा, विजिगीषा (जीतने की इच्छा), व्यवहार, द्युति, स्तुति, मोद, मद, स्वप्न, कान्ति और गति ।

जंबुद्दीवे दीवे सव्वदीवसमुद्दाणं मज्झे खुड्डुलए पण्णत्ते, तेणं कालेणं तेणं समएणं छद्देवा-महिड्ढिया जंबुद्दीवे दावे मंदरपव्वए मंदरचूलियं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ताणंचिट्ठेज्जा. अहेणं चत्तारि दिसाकुमारी महयरियाओ चत्तारि वलिपिंडे गहाय जंबुद्दीवस्स दीवस्स चउसु वि दारेसु बहियाभिमुहीओ ठिच्चा ते चत्तारि वलिपिंडे जमगसमगं बहियाभिमुहे पवाहेज्जा, पभू णं गोयमा–! तओ एगमेगे देवे ते चत्तारि वि वलिपिंडे धरणितलमसम्पत्ते खिप्पामेव पडिसाहरित्तए, तेणं गोयमा ! उक्किट्ठाए जाव देवगतीए एगे पुरत्थाभिमुहे, पयाते, एवं–छस्सु वि दिसासु पयाता, तेणं कालेणं तेणं समएणं वाससहस्साउए दारए पयाते, तए णं तस्स दारगस्स अम्मापियरो पहीणा भवंति, णो चेव णं ते देवा लोयंतं संपाउणंति, तए णं तस्स दारगस्स आउए पहीणे भवइ, णो चेव णं ते देवा लोयंतं संपाउणंति, तए णं तस्स दारगस्स अट्ठिमिंजा पहीणा भवंति, णो चेव णं ते लोयंतं संपाउणंति, तए णं तस्स दारगस्स-समत्ते वि कुलवंसे पहीणे भवइ, णोचेव णं ते लोयंतं संपाउणंति, तए णं तस्स दारगस्स नामगोत्तेवि पहीणे भवइ, नो चेव णं ते लोयंतं संपाउणंति, तेसिं णं भंते ! देवाणं किं गए बहुए अगए बहुए ? गोयमा ! गए बहुए नो अगए बहुए, गताओ से अगए असंखिज्जइभागे,अगताओ से गए असंखेज्जगुणे, एवं महालए गोयमा ! लोए पण्णत्ते–,, इति ।

कियन्महान् खलु भदन्त ! लोकः प्रज्ञप्तः ? गौतम ! अयञ्च खलु जम्बूद्वीपो द्वीपः सर्वद्वीपसमुद्राणां मध्ये क्षुल्लकः प्रज्ञप्तः, तस्मिन् काले तस्मिन् समये खलु षड्देवा महर्द्धिकाः जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरपर्वते मन्दरचूलिका सर्वतः समन्तात् सपरिक्षिप्य तिष्ठेयु, अथ खलु चतस्रो दिक्कुमार्यो महत्तरिकाश्चतुरो बलिपिण्डान् गृहीत्वा जम्बूद्वीपस्य द्वीपस्य चतुर्ष्वपि द्वारेषु वहिरभिमुख्यः स्थित्वा तान् चतुरो बलिपिण्डान् युगपद् बहिरभिमुखान् प्रवाहयेयुः ।

प्रभुर्गौतम ! तत एकैको देवस्तान् चतुरोऽपि बलिपिण्डान् धरणितलमसम्प्राप्तान् क्षिप्रमेव प्रतिसंहर्तुम् ? ते गौतम ! उत्कृष्टया यावद् देवगत्या एको देवः पूर्वाभिमुखः प्रयातः,

---

देवो की विशिष्ट गति का वर्णन आगमो में किया गया है । व्याख्याप्रज्ञप्ति—भगवतीसूत्र के ग्यारहवें शतक के दसवें उद्देशक में कहा है—

प्रश्न—भगवन् ! लोक कितना बडा है ?

उत्तर—गौतम ! यह जम्बूद्वीप नामक द्वीप समस्त द्वीपों और समुद्रों के अन्दर है और सब से छोटा है । किसी काल और किसी समय मे छह महान् ऋद्धि के धारक देव जम्बूद्वीप में, मेरुपर्वत की चोटी को सब ओर से घेर कर खडे हो । इधर चार बडो दिशाकुमारियाँ चार बलिपिण्डों को ग्रहण करके जम्बूद्वोप के चारो द्वारो पर बाहर की ओर मुख करके खडी होकर उन चारों बलिपिण्डों को एक साथ छोड दे । तो हे गौतम ! उन छह देवो मे से एक–एक देव उन चारों बलिपिण्डों को धरती पर प्राप्त होने से पहले ही,

एव—षट्स्वपि दिक्षु प्रयाताः ।

तस्मिन् काले तस्मिन् समये खलु वर्षसहस्रायुष्को दारक प्रयात', ततस्तस्य दारकस्य माता-पितरौ प्रहीणौ भवत नैव ते देवा लोकान्त सम्प्राप्नुवन्ति, । ततस्तस्य दारकस्यायु प्रहीणं भवति नैव ते देवा लोकान्त सम्प्राप्नुवन्ति, तत स्तस्य दारकस्याऽस्थिमज्जा प्रहीणा भवन्ति, नैव ते देवा लोकान्त सम्प्राप्नुवन्ति, ततस्तस्य दारकस्य सप्तमोऽपि कुलवंश: प्रहीणो भवति नैव ते देवा लोकान्त सम्प्राप्नुवन्ति ।

ततस्तस्य दारकस्य नामगोत्रमपि प्रहीण भवति नैव ते देवा लोकान्त सम्प्राप्नुवन्ति । तेषा खलु भदन्त ! देवाना किं गत बहुकम् अगत बहुकम् ? गौतम ! गत बहुकम् न—अगत बहुकम्, गतात् तद अगतम् असख्येयभागा' । अगतात् तद गतम् असख्येयगुणम् "एव—महान् गौतम ! लोक' प्रज्ञप्त', इति । एव—देवाना विमानमहत्त्वञ्च २—द्वितीयपदे प्रज्ञापनायामुक्तम्—के **महालया णं भंते ! विमाणा पण्णत्ता ! गोयमा ! अयं णं जम्बुद्दीवे दीवे सव्वदीवसमुद्दाणं मज्झे खुड्डुलए, देवे महिड्डिए जाव महानुभागे जाव इणामेवत्ति-कट्टु केवलकप्पं जबुद्दीवं दीवं तिहिं अच्छराणिवातेहि तिसत्तखुत्तो अणुपरियट्टित्ता ण हव्वमागच्छेज्जा, से णं देवे ताए उक्किट्ठाए तुरियाए चंडाए चवलाए सीहाए उद्धुयाए**

शीघ्रतापूर्वक झेल सकता है, ग्रहण कर सकता है । देवो की गति इतनी तीव्र होती है । ऐसी तीव्र गति से एक देव पूर्व दिशा की ओर चला, इसी प्रकार छहो देव छहों दिशाओं में रवाना हुए ।

उस काल और उस समय मे एक हजार वर्ष की आयु वाला एक बालक उत्पन्न हुआ उसके माता—पिता मृत्यु को प्राप्त हो गए । फिर भी उस उत्कृष्ट गति से जाते हुए वे देव लोग के अन्त तक नहीं पहुँचे । तत्पश्चात् उस बालक की आयु पूर्ण हो गई । तब तक देव उसी तीव्र चाल से चलते ही गए । फिर भी वे लोक के अन्त तक नहीं पहुँच पाये ।

तत्पश्चात् समय बीतने पर उस बालक का नाम—गोत्र भी मिट गया । तब तक निरन्तर चलते—चलते भी वे देव, लोक का अन्त नहीं पा सके ।

प्रश्न—भगवन् ! उन देवों ने जो फासला तय किया वह अधिक है, या जो फासला तय करना शेषरह गया, वह अधिक है ?

उत्तर—हे गौतम ! तय किया हुआ फासला अधिक है तय न किया हुआ फासला अधिक नहीं है । तय की हुई दूरी से तय न की हुई दूरी असख्यातवाँ भाग है तय न की हुई दूरी से तय की हुई दूरी असख्यातगुणी है । हे गौतम ! लोक इतना बडा है, अर्थात् इससे कल्पना की जा सकती है कि यह लोक कितना महान् है ।

इसी प्रकार प्रज्ञापना सूत्र के द्वितीय पद में देवो के विमानों की विशालता प्रदर्शित करने के लिए कहा है—

जयणाए छेयाए दिव्वाए देवगतीए जाव एगाहं वा वियाहं वा तियाहं वा उक्कोसेणं छम्मासे वीइवएज्जा, अत्थेगइयं विमाणं वीइएज्जा, अत्थेगइयं नो वीइवएज्जा, ए महालयाणं गोयमा! विमाणा पण्णत्ता" कियन्महान्तो भदन्त ! विमाना: प्रज्ञप्ता ? गौतम ! अयं खलु जम्बूद्वीपो द्वीप: सर्वद्वीपसमुद्राणा मध्ये क्षुल्लको देवो महर्द्धिको यावत् महानुभागो यावत् इदमेवेति कृत्वा केवलकल्पं जम्बूद्वीप द्वीपं त्रिभिरक्षरनिपातैस्त्रिसप्तकृत्व अनुपरिवर्त्य शीघ्रमागच्छेत् स देवस्तया उत्कृष्टया त्वरितया चण्डया चपलया शीघ्रया उद्धतया यतनया छेकया दिव्यया यावद् एकाह वा, द्व्यहं वा त्र्यहं वोत्कृष्टत षण्मास व्यतिवर्तेत कियदेकं विमान व्यतिवर्त्तेत कियदेकं न व्यतिवर्त्तेत इयन्महान्तो गौतम ! विमाना प्रज्ञप्ता । तथाचैवंविधा खलु गतयो देवाना वि मध्यमा सन्ति, अन्येषाञ्च देवाना मुत्कृष्टतमा गतय सन्ति । एवञ्च—पुण्यनामकर्मोदयजनिता देवगतयो भवन्ति ।

सातिशयक्रीडागतिद्युतिस्वभावा प्रतिविशिष्टस्थानवर्तिन सुखबाहुल्या देवा भवन्ति इति । ते खलु देवाश्चतुर्विधा सन्ति भवनपति—वानव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकभेदात् । तत्र—भवनपतयोऽधो लोके निवसन्ति । वानव्यन्तरा —ज्योतिष्काश्च तिर्यग्लोके । वैमानिकाश्चोर्द्ध्वलोके निवसन्ति ।

प्रश्न—भगवन् ! विमान कितने बडे कहे गए हैं ?

उत्तर—हे गौतम ! यह जम्बूद्वीप नामक द्वीप सर्व द्वीपो और समुद्रो के मध्य में है और सब से छोटा (एक लाख योजन विस्तार वाला) है । कोई महान् ऋद्धि का धारक यावत् महान् प्रभाव वाला देव 'ये लो' ऐसा कह कर सिर्फ तीन चुटकियो मे अर्थात् तीन बार चुटकी बजाने में जितना समय लगता है उतने से स्वल्प काल मे इक्कीस बार सम्पूर्ण जम्बूद्वीप की प्रदक्षिणा करके एकदम लौट आये, ऐसी अतिशय तीव्र गतिवाला हो वह देव अपनी उसी उत्कृष्ट, त्वरायुक्त, प्रचण्ड, चपल, शीघ्र, उद्धत, वेगयुक्त (या यातनामय) छेक और दिव्य गति से, एक दिन, दो दिन, तीन दिन और उत्कृष्ट छह महिने तक लगातार चलता रहे, तो किसी एक विमानको पार कर ले और किसी विमान को छह महोने में भी पार न कर पावे । हे गौतम ! देवविमान इतने विशाल होते है ! तात्पर्य यह है कि जो देव तीन चुटकियो में इक्कीस बार समग्र जम्बूद्वीप का चक्कर काट सकता है, वही देव छह मास तक लगातार चल कर भी किसी—किसी विमान को पार नहीं कर सकता ! इससे देव विमानो को विशालता की कल्पना आसकती है ।

यह तो देवों की मध्यम गतियाँ है । दूसरे देवों की गतियाँ उत्कृष्टतम होती है । इस प्रकार देवगतियाँ पुण्यनाम कर्म के उदय से जनित होती है ।

देव विशिष्ट क्रीडा, गति और द्युति स्वभाव वाले विशिष्ट—विशिष्ट स्थानो में रहने वाले तथा सुख की बहुलता वाले होते है । वे देव चार प्रकार के हैं—भवनपति, वानव्यन्तर, ज्योतिष्क, और वैमानिक । उक्त चार प्रकार के देवो में से भवनपति अधोलोक में निवास करते हैं, वानव्यन्तर और ज्योतिष्क मध्य लोक में रहते हैं और वैमानिक ऊर्ध्वलोक में निवास करते हैं ।

तत्र–भवनपतयो रत्नप्रभापृथिव्यामूर्ध्वमधश्च योजनसहस्र विहाय जन्मसमासादयन्ति । वानव्यन्तरा' पुनरस्या एव रत्नप्रभाया उपरि अधश्च परित्यक्तस्य योजनसहस्रस्यो--र्ध्वमधश्च योजनशतमेकैकमपहाय मध्येऽष्टसु योजनशतेषु जन्म प्रतिलभन्ते । ज्योतिष्कदेवास्तु समतलाद् भूभागात् नवत्यधिकसप्तयोजनशतानि आरुह्य दशाधिकशतयोजनविस्तारे आकाशदेशे लोकान्तात् किञ्चिन्न्यूने जन्म प्राप्नुवन्ति ।

वैमानिका पुनरस्मादप्यर्धां रज्जुमधिरुह्य सौधर्मादिसर्वार्थसिद्धिविमानपर्यन्तेषु जन्मत उपपद्यन्ते तदेव–मुत्पादनिवासस्थानभेदाच्चतुर्विधास्ते देवा व्यपदिश्यन्ते ते खलु भवनपत्यादयो देवा स्वस्थानेषूत्पन्ना' सन्तोऽन्यत्रापि लवणोदधिमन्दराचलभरतादिवर्षधरहिमवदादिपर्वनतरुगहनप्रभृतिषु उक्तस्थानव्यतिरेकेणापि वसन्ति । केवल तेषु जन्मना तेषामुत्पादो न भवतीति भाव ।

अथ भगवतीसूत्रे १२ शतके ९ उद्देशके ४६१–सूत्रे––पञ्चविधा देवा प्रतिपादिता तथाहि – **कतिविहा णं भंते ! देवा पण्णत्ता ? गोयमा ! पंचविहा देवा पण्णत्ता, तंजहा भवियदव्वदेवा नरदेवा धम्मदेवा देवाहिदेवा य भावदेवा य"** कतिविधा खलु भदन्त ! देवा प्रज्ञप्ता ? गौतम ! पञ्चविधा देवा प्रज्ञप्ता , तद्यथा–भविकद्रव्यदेवा , नरदेवा , धर्मदेवा'

भवनपतिदेव रत्नप्रभा पृथ्वीमे ऊपर और नीचे के एक एक हजार योजन क्षेत्र को छोड कर जन्म लेते है । वानव्यन्तर इसी रत्नप्रभापृथ्वी के ऊपर छोडे हुए एक एक हजार योजन क्षेत्र में से ऊपर–नीचे एक–एक सौ योजन छोड कर बीच के आठ सौ योजनों में उत्पन्न होते हैं । ज्योतिष्क देव इस समतल भूमिभाग से सात सौ नब्बे योजन ऊपर से लगाकर एक सौ दस योजन में अर्थात् ७९० योजन की उँचाई से लेकर ९०० तक के ११० योजनो मे उत्पन्न होते है ।

वैमानिकदेव ज्योतिष्क देवों से डेढ रज्जु ऊपर सौधर्म देवलोक से लेकर सर्वार्थसिद्धि विमान पर्यन्त में वैमानिक देव जन्म ग्रहण करते है ।

इस प्रकार उत्पाद और निवास स्थान के भेद से देव चार प्रकार के कहे जाते है । भवनपति आदि देव अपने–अपने स्थानों में उत्पन्न होकर अन्यत्र लवणसमुद्र, मन्दराचल, हिमवान् पर्वत तथा तरुगहन आदि में भी, पूर्वोक्त स्थानो को छोड कर निवास करते हैं । हाँ, इन स्थानों में उनका जन्म नहीं होता ।

यहाँ शका की जा सकती है कि भगवतीसूत्र के बारहवे शतक के नौवें उद्देशक में, पाँच प्रकार के देव कहे गये हैं । भगवतीसूत्र का वह कथन निम्नलिखित है––

प्रश्न––भगवान् ! देव कितने प्रकार के कहे हैं ?

उत्तर– –गौतम ! पाँच प्रकार के देव कहे गए है, यथा–(१) भव्यद्रव्यदेव (२) नरदेव (३) धर्मदेव (४) देवाधिदेव और (५) भावदेव ।

देवाधिदेवा' भावदेवाश्च, इति । तत्र भव्यदेवस्तावत् पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिजो वा, मनुष्यो वा, बद्धे खलु देवायुषि अनन्तरागामिनि जन्मनि देवत्वेनोत्पत्स्यते, स खलु आगामिनी देववृत्तिम श्रित्य देव इति व्यपदिश्यते तद्दलिकत्वाद् दारुच्छेदप्रज्ञापनवत् ।

नरदेवा' पुनश्चक्रवर्तिनश्चतुर्दश रत्नाधिपतय उच्यन्ते, अन्यमनुष्यापेक्षया तेषामुत्कृष्टत्वात् । धर्मदेवास्तावत श्रमणा. साधवो यथोक्तप्रवचनार्थानुष्ठातार उच्यन्ते तेषा सद्धर्मप्रधानतया व्यवहारवत्त्वात् देवाधिदेवास्तु—तीर्थकृन्नामकर्मोदयवर्तिन कृतार्था अर्हन्तो व्यपदिश्यन्ते भव्य-जीवाना सदुपदेशद्वाराऽनुग्राहकत्वात् शेषदेवाना पूजार्हत्वाच्च ।

भावदेवा' पुनर्भवनपतिवानव्यन्तरज्योतिष्क—वैमानिका देवगतिनामकर्मोदयवर्तिनो देवका उच्यन्ते, क्रीडाद्यतिशयवर्तित्वात् एवञ्च—देवाना पञ्चभेदत्वेन कथ तेषा चतुर्विधत्व मेवोक्त मिति चेत् ?

उच्यते । भावदेवानामेव प्रकृते विवक्षितत्वेन चतुर्विधत्व प्रतिपादितम् किञ्चा—ऽऽद्यानां चतुर्णां मनुष्यत्वेन किञ्चिदतिशयमङ्गीकृत्य तेषा देवत्वं प्रतिपादितम् । तस्माद्—भावदेवा श्चतुर्विधा एव सन्तीति बोध्यम् ।

---

(१) भव्यद्रव्यदेव—जिस पंचेन्द्रिय तिर्यंच या मनुष्य ने देवायु का बन्ध कर लिया है और जो अगले जन्म में देव के रूप मे उत्पन्न होगा, वह आगामी देवपर्याय की अपेक्षा से भव्य द्रव्य देव कहलाता है । यह कथन लकडी काटने के उदाहरण से नैगमनय की अपेक्षा समझना चाहिए ।

(२) नरदेव—चौदह रत्नों के अधिपति चक्रवर्ती नरदेव कहलाते है, क्योकि अन्य मनुष्यों की अपेक्षा वे उत्कृष्ट होते हैं ।

(३) धर्मदेव—साधु धर्मदेव हैं, क्योंकि वे प्रवचन में प्रतिपादित अर्थ का अनुष्ठान करते हैं और उनके व्यवहार में समीचीन धर्म की प्रधानता होती है ।

(४) देवाधिदेव—जिनके तीर्थंकर नामकर्म का उदय है, जो कृतार्थ हो चुके है और अर्हन्त है, वे देवाधिदेव कहलाते हैं, क्योंकि वे धर्मोपदेश के द्वारा भव्य जीवो पर अनुग्रह करते है और अन्य देवों के द्वारा भी पूजनीय होते है ।

(५) भावदेव—भवनपति, वानव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देव, जिनके देवगति-नामकर्म का उदय है, भावदेव कहलाते है । क्योंकि वे अतिशय क्रीडा में निरत रहते है ।

इस प्रकार जब देव पाँच प्रकार के हैं तो आपने चार ही प्रकार के क्यो कहे ?

इस प्रश्न का उत्तर यह है—यहाँ सिर्फ भावदेवों की ही विवक्षा की गई है, इसी कारण देवो के चार भेद कहे है, इसके अतिरिक्त पूर्वोक्त पाँच प्रकार के देवो में प्रारम्भ के तीन वास्तव में मनुष्य हैं । और भव्यद्रव्य देव मनुष्य या तिर्यञ्च है । कुछ विशेषताओ के कारण ही उन्हें देव कहा गया है । अतएव भावदेवों के भेद चार ही समझना चाहिए ।

उक्तञ्च व्याख्याप्रज्ञप्तौ भगवती सूत्रे १ शतके ७ उद्देशके–"चउव्विहा देवा पण्णत्ता, तंजहा भवणवइ–वाणमंतर–जोइस–वेमाणिया–" । चतुर्विधा देवा प्रज्ञप्ताः, तद्यथा भवनपतिवानव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिका इति ॥१६॥

मूलसूत्रम्–"तत्थ भवणवइ दसविहा,असुर- नाग सुवण्णविज्जू अग्गी दीव उदहि–दिसा वाउ थणियकुमारभेदा ॥१७॥

छाया—"तत्र—भवनपतयो दशविधाः असुर–नाग–सुपर्ण–विद्युदग्नि– द्वीपो-दधि-दिशा-वायु-स्तनितकुमार-भेदात्-,, ॥ १७ ॥

तत्त्वार्थदीपिका— पूर्वसूत्रे भवनपति–वानव्यन्तर–ज्योतिष्क–वैमानिकभेदेन देवाश्चतुर्विधा' प्रतिपादिता , सम्प्रति–तेपु प्रथमोपात्ताना भवनपतीना विशेषतो दशभेदान् प्ररूपयितुमाह–"तत्थ-भवणवई दसविहा–" इत्यादि । तत्र–तेषु चतुर्विधेषु भवनपति–वानव्यन्तर–ज्योतिष्क–वैमानिकदेवेषु भवनपतयस्तावद् दशविधा भवन्ति, असुरकुमार–नागकुमार–सुपर्णकुमार–विद्युत्कुमारा–ऽग्निकुमार - द्वीपकुमारो–दधिकुमार–दिशाकुमार–वायुकुमारस्तनितकुमारभेदात्, द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणस्य कुमारशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्ध । एते च दशभवनवासिशब्देनाऽपि व्यपदिश्यते– ॥१७॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं तावत् सामान्यतो देवाश्चतुर्विधा –भवनपति–वानव्यन्तर–ज्योतिष्क–वैमानिकरूपा प्ररूपिता , सम्प्रति–तेषु प्रथमोपात्ताना भवनवासिनां विशेषतो दश-

---

भगवतीसूत्र के प्रथम शतक के सातवे उद्देशक में कहा है–'देव चार प्रकार के कहे गए है, यथा–भवनपति, वानव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक ॥१६॥

सूत्रार्थ—'तत्थ भवणवई दसविहा' इत्यादि सूत्र १७

भवनपतिदेव दस प्रकार के है–असुरकुमार, नागकुमार, सुपर्णकुमार, विद्युत्कुमार, अग्निकुमार, द्वीपकुमार, उदधिकुमार, दिशाकुमार, वायु- पवन) कुमार और स्तनितकुमार ॥१७॥

तत्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्र में भवनपति, वानव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक के भेद से चारप्रकार के देवो का प्रतिपादन किया गया है, अब उनमें सब से पहले गिने गये भवनपतियो के दस अवान्तर भेदों का प्रतिपादन करने के लिए कहते हैं—

उनमें से अर्थात् चार प्रकार के भवनपति, वानव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवो में से भवनपति दस प्रकार के होते हैं–(१) असुरकुमार (२) नागकुमार (३) सुपर्णकुमार (४) विद्युत्कुमार (५) अग्निकुमार (६) द्वीपकुमार ,७) उदधिकुमार (८) दिशाकुमार (९) पवनकुमार और (१०) स्तनितकुमार। द्वन्द्वसमास के अन्त में जुडा हुआ पद सभी के साथ लगाया जाता है, इस नियम के अनुसार 'कुमार' शब्द यहाँ सब के साथ लगाया जाता है । ये भवनपति देव 'भवनवासी' भी कहलाते है ॥१७॥

तत्वार्थनिर्युक्ति—इससे पूर्व भवनपति, वानव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक के भेद से

भेदान् प्रतिपादयितुमाह--"तत्थ भवणवई दसविहा-" इत्यादि ।

तत्र- तेषु पूर्वोक्तेषु देवेषु भवनपतिवानव्यन्तर--ज्योतिष्क--वैमानिकरूपेषु भवनपतयस्तावद् दशविधा भवन्ति, असुरकुमार--नागकुमार--सुपर्णकुमार--विद्युत्कुमाराऽग्निकुमार--द्वीपकुमारोदधिकुमार--दिशाकुमार--वायुकुमारस्तनितकुमारभेदात् । तत्रा--ऽसुरनागादीनां द्वन्द्वसमासेन द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणस्य कुमारशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धात् तथाविधार्थलाभ । एते च दश भवनेषु वसनशीलत्वाद् भवनवासिशब्देनाऽपि व्यपदिश्यन्ते, भूमिष्ठत्वाद् भवनानि उच्यन्ते तेषु वस्तु शील येषां ते भवनवासिन इति व्युत्पत्ति, कुमारवद् एते कान्तदर्शना कमनीयदर्शना सुकुमारा मृदुमधुरकलितललितगतय श्रृङ्गाराभिजातरूपविक्रिया कुमारवच्चोद्धतरूपवेषभूषाभाषाप्रहरणचरणपातयानवाहना कुमारवदेव स्फुटरागा क्रीडनपरायणाश्च भवन्ति तस्मात्कुमारा उच्यन्ते । तत्रा--ऽसुरकुमाराऽऽवासेषु--असुरकुमारा. प्रतिवसन्ति ।

आवासास्तावत--महामण्डपा विविधरत्नप्रभासितोल्लोला भवन्ति, तथाविधेषु आवासेषु प्रायशो बाहल्येना--ऽसुरकुमारा वसन्ति कदाचिद् भवनेष्वपि निवसन्ति नागकुमारादयस्तु--भवनेष्वेव

चार प्रकार के देवो का प्रतिपादन किया गया है । अब उनमें से सर्वप्रथम गिनाये भवनवासियों के दस विशेष भेद बतलाते है--

उनमें से अर्थात् पूर्वोक्त भवनवासी, वानव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक, इन चार प्रकार के देवो में से भवनपति दस प्रकार के है । उनके नाम ये है--(१) असुरकुमार (२) नागकुमार (३) सुवर्णकुमार (४) विद्युत्कुमार (५) अग्निकुमार (६) द्वीपकुमार (७) उदधिकुमार (८) दिशाकुमार (९) पवनकुमार और (१०) स्तनितकुमार ।

असुर--नाग आदि मे मूलसूत्र मे द्वन्द्व समास है और द्वन्द्वसमास के अन्त मे जोडा गया पद प्रत्येक शब्द के साथ जोडा जाता है, इस नियम के अनुसार यहाँ दसो भेदो के साथ कुमार शब्द का प्रयोग किया गया है । ये दसो भवनो मे निवास करने के स्वभाव वाले हैं, अतएव भवनवासी भो कहलाते है । उनके निवास भूमि मे होने से भवन कहे जाते है । उन भवनो में जो वास करते हो वे भवनवासी कहलाते है ।

ये सब कुमार के समान देखने मे कमनीय होते हैं । सुकुमार होते है । इनकी गति अति ललित, कलित, मृदु और मधुर होती है । सुन्दर श्रृङ्गार, रूप और विक्रिया से युक्त होते हैं । कुमारो के समान रूप, वेषभूषा, भाषा, आयुध, यान, वाहन और चरणन्यास वाले, कुमारो के समान ही रागवान् और क्रीडापरायण होते है । इसी कारण इन्हे कुमार कहते है ।

असुरकुमार असुरकुमारावास में निवास करते हैं । उनके आवास विशाल मंडपों वाले और विविध प्रकार के रत्नो की प्रभा से चमकते हुए होते है । प्रायः असुरकुमार ऐसे आवासो में रहते है और कदाचित् भवनों मे भी निवास करते हैं ।

प्रायो वसन्ति नानावासेषु , तानि खलु भवनानि वहि र्वृत्तानि अन्तश्चतुरस्रणि अधस्तात् पुष्कर-कर्णिका संस्थानानि भवन्ति ते खलु–आवासा भवनानि च क भवन्तीति जिज्ञासायामाह

आवासास्तावत्–महामन्दरस्य योजनसहस्रमात्रावगाहिनो दक्षिणस्यां दिशि तिर्यग्वह्वीषु योजनलक्षकोटी कोटीषु भवन्ति भवनानि तु–––दक्षिणार्धाधिपतीना चमरादीनाम्, उत्तरार्धाधिपतिनाञ्च वलिप्रभृतीना यथायथमसुरादीना सन्ति । वस्तुतस्तु–रत्नप्रभाया अशीतिसहस्राधिकलक्षयोजनबाहल्याया उपरि- अधश्चैकैक सहस्रयोजनं परित्यज्य मध्येऽष्टसप्ततिसहस्राधिकलक्षयोजनेषु कुसुमप्रकरवत् प्रकीर्णा आवासा भवन्ति ।

भवनानि तु–––रत्नप्रभाया वाहल्यार्धरूपाणि नवतिसहस्रयोजनानि–अधोऽवगाह्य मध्ये वर्तन्ते एतेषाञ्चा–ऽसुरकुमारादीना नामकर्मनियमात् भवनप्रत्ययाश्च स्वजातिविशेषनियता विक्रिया भवन्ति । तत्र–भवहेतुका स्तावद् जन्मतपोऽनुष्ठाननिरपेक्षा विक्रिया सम्बध्यन्ते, नामकर्मनियमाच्च स्वजातिविशेषनियता विक्रिया भवन्तीति भाव' ।

अङ्गोपाङ्गनामकर्मोदयात् निर्माणनामकर्मोदयाद वर्ण–रस–गन्ध–स्पर्शादिनामकर्मोदयाच्च प्रतिजातिविशेषकारिण्य खलु –विक्रिया' सम्भवन्ति । तत्रा–ऽसुरकुमारा'खलु –गम्भीराशया –घनशरीरा –श्रीमन्त.–सर्वाङ्गोपाङ्गसुन्दरा –पाण्डुरवर्णा –महाकाया –रत्नोत्कट–मुकुटभास्वराः–रक्षावन्धनलाञ्छिता भवन्ति । सर्वञ्चैतत् खलु–एतेषामसुरकुमाराणां नामकर्मोदयजनित भवति–१।

नागकुमार आदि प्राय भवनो मे ही रहते है और नाना वासों में रहते हैं। वे भवन वाहर गोलाकार और भीतर चौकोर होते हैं। नीचे से कमल की कर्णिका के समान होते है। वे आवास और भवन कहाँ होते हैं। ऐसी जिज्ञासा होने पर कहते हैं–

एक हजार योजन अवगाह वाले महा मन्दर पर्वत से दक्षिण दिशा में तिर्छे बहुत सी कोडाकोडी लाख योजनो मे आवास होते है। भवन दक्षिणार्ध के अधिपति चमरइन्द्र आदि के और उत्तरार्ध के अधिपति वलि वगैरह असुरो के यथायोग्य होते है । वास्तव में तो एक लाख अस्सी हजार योजन मोटी रत्नप्रभा पृथ्वी के एक–एक हजार ऊपरी और नीचले भाग को छोड कर एक लाख अठहत्तर हजार योजनों में फूलों के समान फैले हुए आवास होते है। भवन समतल भूमि भाग से चालीस हजार योजन नीचे जाने पर प्रारम्भ होते है।

इन असुर कुमार आदि की नामकर्म के नियम के अनुसार और भवनों के कारण से अपनी– अपनी जाति में नियतविक्रिया होती है। अंगोपाग नामकर्म के उदय से, निर्माणनाम कर्म के उदय से प्रत्येक जाति में अलग अलग विक्रियाएँ होती है।

असुर कुमार गभीर आशय वाले सघन शरीर वाले, श्रीमन्त, सुन्दर समस्त अगोपागों वाले, पाडुर वर्ण, स्थूल शरीर वाले, रत्नजटित मुकुट से देदीप्यमान और राखडी के चिह्न से युक्त होते हे । असुर कुमारों को यह सव नामकर्म के उदय से प्राप्त होता है ।

नागकुमाराश्च—शिरोमुखेष्वधिकप्रतिरूपा पाण्डुरवर्णा श्यामा —मृदुललितगतय शिरःसु नाग-फणालाञ्छिता भवन्ति -२ । सुवर्णकुमारास्तु—अधिकप्रतिरूपग्रीवोरस्का —सुवर्णवर्णा गरुडला-ञ्छिता भवन्ति— ३ ।

विद्युत्कुमाराश्च—स्निग्धा रक्तवर्णा —वज्रलाञ्छिता भवन्ति—४ अग्निकुमारास्तु मानोन्मान-प्रमाणयुक्ता रक्तवर्णा पूर्णकलशलाञ्छना भवन्ति—५ द्वीपकुमाराश्चो—र स्कन्धभुजाग्रहस्तपु—अधि कप्रतिरूपा रक्तवर्णा अवदाता सिंहलाञ्छना भवन्ति—६ उदधिकुमारा पुनरुरुकटिष्वधिक प्रतिरूपा। पाण्डुरवर्णा अश्वलाञ्छना भवन्ति—७दिक्कुमारा पुन—र्जङ्घाग्रपादेपु—अधिकप्रतिरूपा सुवर्णवर्णा गजलाञ्छना भवन्ति—८ वायुकुमारास्तु—स्थिरस्थूलवृत्तगात्रा निम्नोदरा नीलवर्णा मत्स्यलाञ्छना भवन्ति९—स्तनितकुमारास्तु स्निग्धा स्निग्धगम्भीरानुनादमहास्वना सुवर्णवर्णा वर्धमानचिह्ना भवन्ति १०

सर्वे च नानावस्त्राभरणा अवगन्तव्या । तत्रा—ऽसून् प्राणान् रान्ति—गृह्णन्ति नारकाणा परस्परयोधनेन दुःख जनयन्तीति—असुरा, प्रायेण तेपा सक्लिष्टपरिणामत्वात्, असुराश्च—ते

नागकुमारों का शिर और मुख अधिक सुन्दर होता है। ये पाण्डुर वर्ण मृदु और ललित गति वाले और मस्तक पर सर्प के चिन्ह से युक्त होते है।

सुवर्ण कुमारों की ग्रीवा और वक्षस्थल अधिक सुन्दर होते है। सुवर्ण वर्णवाले सुन्दर होते है। उनके मुकुट पर गरुड का चिह्न होता है।

विद्युत्कुमार स्निग्ध (चिकने), देदीप्यमान रक्तवर्णवाले सुन्दर और वज्र के चिह्नवाले होते है।

अग्निकुमार मान, उन्मान और प्रमाण से युक्त भास्वर, सुन्दर रक्तवर्ण, और पूर्णकलश के चिह्न से युक्त होते है।

द्वीपकुमार वक्ष, स्कध, भुजा और हाथों के अग्रभाग मे अधिक सुन्दर होते है, रक्त वर्ण होते हैं, सलौने होते है और सिह के चिह्न से युक्त होते है।

उदधिकुमारो की उरु और कटि भाग बहुत सुन्दर होता है। वर्ण से पाण्डुर वर्ण होते हैं। उनके अश्व घोडे का चिन्ह होता है।

दिक्कुमारो की जघाएँ और पैरों का अग्रभाग अधिक सुन्दर होता है। वे सुवर्णवर्ण और गज के चिह्न वाले होते है। वायुकुमार स्थिर स्थूल और गोल गात्र वाले, धँसे हुए उदर वाले, नीलवर्ण सुन्दर और मत्स्य क चिह्न वाले होते है। स्तनितकुमार स्निग्ध एव गम्भीर तथा महान् ध्वनि वाले, सुवर्ण वर्ण तथा वर्द्धमानक शराव—सिकोरा, के चिह्न वाले होते है। ये सभी नाना प्रकार के वस्त्रो और आभरणो वाले होते है। जो नारक जीवों के असु—प्राणों को ग्रहण करते है, अर्थात् उन्हें आपस में लडा—लड़ाकर दुःख उत्पन्न करते हैं, वे असुर कहलाते है। असुर प्राय सक्लिष्ट परिणामो वाले होते है। असुर रूप कुमारों को असुर

कुमाराश्चेत्यसुरकुमारा:—१ न गच्छन्तीति नगा पर्वता चन्दनादिवृक्षावा तेपु—भवा नागा —२ सुष्ठु शोभनानि पर्णानि पक्षा वा येपान्ते सुपर्णा ३

विद्योतन्ते दीप्यन्ते इति विद्युत ४ अङ्गानि पाताललोकं विहाय क्रीडार्थमूर्ध्वमागच्छन्तीति अग्नय'—५उदकानि धीयन्ते एकत्री भवन्ति येपु ते उदधय —[५] उदधिपु क्रिडायोगात् ते देवा अपि उदधिपदेन व्यपदिश्यन्ते ६ द्विर्गता आपो येपु ते द्वीपा'—तेपु द्वीपेपु क्रिडायोगाद्देवा अपि द्विपपदेनोच्यन्ते—७दिशन्ति—वितरन्ति—अवकाशमिति दिश, तासु—दिक्षु क्रिडायोगात् तेऽपि देवा दिक्पदेन व्यपदिश्यन्ते—८वान्ति तीर्थकरविहारमार्ग शोधयन्ति इति वायव —९'स्तनन्ति शब्द कुर्वन्ति स्तन शब्दे वा सजातो येषा ते स्तनिता, तथाविधाश्च ते कुमाराश्चेति क्र१०असुरकुमारादयोऽवगन्तव्या एतेषाञ्चाऽसुरकुमारादीना भवनसख्या तावत्—सामान्यतो द्विसप्ततिलक्षाधिकसप्तकोटय सन्ति, विशेषतस्तु—दक्षिणदिग्व्यवस्थिताऽसुरकुमाराणां चतुस्त्रिंशल्लक्षसख्यकानि भवनानि भवन्ति उत्तर दिग्व्यवस्थितानां पुनस्त्रिंशल्लक्षाणि एकत्र—चतुष्षष्टि ।

दक्षिणदिग्वर्ति नागकुमाराणा चतुश्चत्वारिंशल्लक्षाणि, उत्तरदिग्वर्ति नागानान्तु—चत्वारिंशल्लक्षाणि, एकत्र—चतुरशीति । दक्षिणदिग्वासिना द्वीपकुमारदिक्कुमारो—दधिकुमार—विद्युत्कुमार—स्तनितकुमाराग्निकुमाराणां च षण्णां प्रत्येक चत्वारिंशल्लक्षाण्येव ।

कुमार कहते है। जो गमन न करें उन्हे नग कहते है अर्थात् पर्वत या चन्दन आदि वृक्ष। उन नगों में होने वालो को नग कहते है। जिनके पर्ण अर्थात् पख सुन्दर हो वे सुपर्ण। जो विद्योतित—दीप्त हो वे विद्युत् जो अपने अङ्गो को पाताललोक में छोडकर क्रीडा करने के लिए ऊपर आवे वे अग्नि। उदक (जल) एकत्रित होता है जिनमें वे उदधि अर्थात् समुद्र और उदधि में क्रीडा करने वाले देव भी उदधि कहलाते है, अप् जिनके द्विर्गत—दो ओर हो वे द्वीप और द्वीप में क्रीड़ा करने वाले देव भी द्वीप कहलाते है। जो अवकाश देती है वे दिशाएँ कहलाती है। दिशाओ में क्रीडा करने वाले देव भी दिशा कहलाते है। जो वाती—चलती है अर्थात् तीर्थंकरके बिहार के मार्ग को साफ करती है, वे वायु। जो स्तनन्ति अर्थात् शब्द करते है वे स्तनित या जिन्होंने स्तन अर्थात् शब्द किया हो वे स्तनित। ऐसे कुमार असुर कुमार आदि कहलाते है।

असुरकुमार आदि के भवनो की सख्या सामान्य रूप से सात करोड बहत्तर लाख (७७२००००) है। विशेष रूप से दक्षिण दिशा के असुर कुमारो के भवन चौत्तीस लाख और उत्तर दिशा वालो के तीस लाख है। दोनो दिशाओं के मिलकर चौसठ लाख भवन है।

दक्षिण दिशा के नाग कुमारों के भवन चवालीस लाख और उत्तरदिशा के नाग कुमारों के भवन चालीस लाख है। दोनों के मिलाकर चौरासी लाख है।

दक्षिण दिशा के द्वीपकुमारो दिशाकुमारों उदधिकुमारो, विद्युत्कुमारो स्तनितकुमारो और अग्निकुमारों इन छहों मेंसे प्रत्येक के चालीस—चालीस लाख भवन है और उत्तर दिशा में

उत्तर दिग्वासिनामपि–द्वीपकुमार–दिक्कुमारो–दधिकुमार–विद्युत्कुमार–स्तनितकुमार–ग्नि कुमाराणां च षण्णां प्रत्येक षट्त्रिंशल्लक्षाणि एकत्र–प्रत्येक–षट्सप्ततिश्च दक्षिणदिग्वासिना सुवर्णकुमाराणां खलु अष्टात्रिंशक्षाणि उत्तरदिग्वासना पुन सुवर्णकुमाराणा चतुस्त्रिंशल्लक्षाणि एकत्र द्विसप्ततिश्चेति– । वायुकुमाराणा षट्चत्वारिंशल्लक्षाणि, एकत्र षण्णवतिश्चेति भवनानि सन्तीति बोध्यम् ।

उक्तञ्च प्रज्ञापनाया प्रथमे पदे देवाधिकारे–"भवणवई दसविहा पण्णत्ता, तंजहा असुरकुमारा–नागकुमारा–सुवण्णकुमारा–विज्जुकुमारा–अग्गीकुमारा–दीवकुमारा-उदहि–कुमारा–दिसाकुमारा–वाउकुमारा–थणियकुमारा–इति भवनपतयो दशविधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा–असुरकु-मारा.–नागकुमारा –सुवर्णकुमारा – विद्युत्कुमारा–अग्निकुमारा —द्वीपकुमारा.– उदधिकुमार –दिक्कुमारा –वायुकुमारा.–स्तनितकुमारा –इति ॥१७॥

मूलसूत्रम्—वाणमंतरा अट्ठविहा, किण्णर–किंपुरिस–महोरग–गंधव्व–जक्ख–रक्खस–भूय–पिसायभेदा–" ॥१८॥

छाया— वानव्यन्तरा अष्टविधाः,किन्नर–किम्पुरुष महोरग–गन्धर्व–यक्ष–राक्षस–भूत पिशाच भेदात्–" ।.१८॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे भवनपतीना देवाना विशेषतोऽसुरकुमारादि दशभेदाः प्ररू-पिता सम्प्रति–क्रमप्राप्तान् वानव्यन्तरान् देवान् विशेषतोऽष्टभेदान् प्ररूपयितुमाह–"**वाणमंतरा**

रहने वाले द्वीपकुमारों, दिशाकुमारों उदधिकुमारो, विद्युत्कुमारों स्तनित कुमारों और अग्नि-कुमारो, इन छहों के छत्तीस–छत्तीस लाख है। दोनो दिशाओं के मिलकर प्रत्येक के छियत्तर–छियत्तर लाख भवन है ।

दक्षिण दिशा के सुवर्णकुमारो के अडतीस लाख भवन है, उत्तरदिशा के सुवर्ण-कुमारो के चौतीस लाख हैं । दोनों के मिलकर बहत्तर लाख हैं ।

दक्षिण दिशा में निवास करते वाले वायु कुमारों के पचास और उत्तर दिशा के वायु कुमारों के छीयालीस लाख, दोनो के मिल कर छियानवे लाख भवन हैं ।

प्रज्ञापना सूत्र के प्रथम पद मे देवों के प्रकरण में कहा है–

भवनपति देव दस प्रकार के हैं, यथा–(१) असुरकुमार (२) नागकुमार (३) सुपर्ण कुमार (४) विद्युत्कुमार (५) अग्निकुमार (६) द्वीपकुमार (७) उदधिकुमार (८) दिशाकुमार (९) वायु कुमार और (१०) स्तनितकुमार ॥१७॥

सूत्रार्थ—'वाणमंतरा अट्ठविहा' सूत्र—१८

वानव्यन्तर देव आठ प्रकार के है

तत्वार्थदीपिका—पूर्व सूत्र मे भवनपति देवों के दस भेदो की प्ररूपणा की गई, अब क्रमप्राप्त वानव्यन्तर देवों के आठ विशेष भेदों की प्ररूपणा करने के लिए कहते हैं—

अट्ठविहा, किण्णर–किंपुरिस–महोरग–गंधव्व जक्ख–रक्खस–भूय–पिसायभेदा–" इति

वानव्यन्तरा —वने भवा. वाना , विविधानि देशान्तराणि निवासा येषा ते व्यन्तरा, वानास्ते व्यन्तरा वानव्यन्तरा वानव्यन्तरा देवयोनिविशेषा अष्टविधा प्रज्ञप्ता, किन्नर-किम्पुरुष-महोरग–गन्धर्व-यक्ष–राक्षस–भूत–पिशाचभेदात् । अयं क्रम प्रज्ञापनासूत्रोक्त'–

उत्तराऽध्ययनेत्वय क्रम —'वाणमंतरा अट्ठविहा,–पिसाय–भूय–जक्ख–रक्खस–कि-ण्णर–किंपुरिस–महोरग–गधव्व–भेदा–" इति । एतेषामष्टाना देवाना पिशाचादि स्व स्वनामकर्मोदयविशेषवशात् पिशाचादिसज्ञाव्यपदेशो भवति । एतेषामावासा –अस्या रत्नप्र भाया पृथिव्या सहस्रयोजनबाहल्यस्य रत्नमयस्य काण्डस्योपरि–एक योजनशतमवगाह्या–ऽधश्चैक योजनशत वर्जयित्वा मध्येऽष्टसु योजनशतेषु तिर्यग्–असख्यातसहस्रा भौमेया नगरावासा सन्ति।

ते खलु–भौमेया नगरावासा. बहिर्वृत्ता अन्तश्चतुरस्रा' अधस्तात् पुष्करकर्णिका स-स्थाना. सन्ति । तत्रैते–वानव्यन्तरा वसन्तीति ॥ १८ ॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति —पूर्वं तावत्–भवनपतिदेवा असुरकुमारादि दशविधा विशेषत प्ररूपि-ता' सम्प्रति–क्रमप्राप्ताना–वानव्यन्तराणां विशेषतो अष्टभेदान् प्ररूपयितुमाह–"वाणमंतरा अट्ठ-

---

वानव्यन्तर देव आठ प्रकार के है—(१) किन्नर (२) किम्पुरुष (३) महोरग (४) गंधर्व (५) यक्ष (६) राक्षस (७) भूत और (८) पिशाच ।

जो वन में हों वे 'वान' कहलाते है और जो विविध देशान्तरो में निवास करते हो वे व्यन्तर कहलाते है । वान जो व्यन्तर है, उन्हे वानव्यन्तर कहते है । यह एक प्रकार की देवयोनि है । ये आठ प्रकार के होते हैं–किन्नर, किंपुरुष, महोरग, गधर्व, यक्ष, राक्षस, भूत, और पिशाच । यहाँ जिस क्रम का उल्लेख किया गया है वह प्रज्ञापनासूत्र के अनुसार है । उत्तरा-ध्ययन सूत्र का क्रम इस प्रकार है–वानव्यन्तर देव आठ प्रकार के है–पिशाच, भूत, यक्ष राक्षस किन्नर, किम्पुरुष, महोरग और गन्धर्व ।

इन आठो प्रकार के देवों की जो पिशाच आदि सज्ञाएँ है, वे अपने अपने नाम कर्म के उदय विशेष से समझनी चाहिए ।

वानव्यन्तरो के आवास–इस रत्नप्रभा पृथ्वी के एक हजार योजन मोटे रत्नमय काण्ड के ऊपर सौ योजन अवगाहन करके और नीचे भी एकसौ योजन छोडकर बीच मे आठसौ योजन में तिर्छे असख्यात हजार भौमेय नगरावास है वे नगरावास बाहर से गोल, भीतर से चतुष्कोण और नीचे से पुष्कर की कर्णिका के आकार के हैं । इन नगरावासों मे वानव्यन्तर देव निवास करते है ॥ १८ ॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पूर्वसूत्र में भवनपति देवों के दस विशेष भेद कहेगाये हैं अब क्रम प्राप्त वानव्यन्तर देवो के आठ विशेष भेदो की प्ररूपणा करने के लिए कहते है–वानव्यन्तर देव

किण्णर–किंपुरिस–महोरग–गंधव्व–जक्ख–रक्खस–भूय–पिसायभेदा–" इति । वानव्यन्तरा – वने भवा -वाना वनचरा , विविधम्–अन्तरम् आवसन येषा ते व्यन्तरा वानाश्चते व्यन्तराश्चेति वान व्यन्तरा· खल्वष्टविधा सन्ति। किन्नर-किम्पुरुष–महोरग–गन्धर्व-यक्ष–राक्षस–भूत–पिशाचभेदात्

तथाच — यस्मात्खल्वधस्तिर्यगूर्ध्वञ्च त्रिष्वपि लोकेषु स्वातन्त्र्येण–स्वेच्छया पराभियोगाच्च-शक्रादिदेवेन्द्रचक्रवर्त्याद्याज्ञया विचरन्त. अनियतगतिप्रचाराः सन्त. प्रायेण प्रतिपतन्ति, मनुष्यानपि केचन व्यन्तरा भृत्यवदुपचरन्ति, विविधेषु च शैलकन्दरान्तरवन–विवरादिषु तिर्यग्लोके प्रतिवसन्ति, तस्माद्–वानव्यन्तरा इति व्यपदिश्यन्ते ।

उत्तराध्ययनधृताऽष्टवानव्यन्तरपाठक्रमेतु–पिशाच–भूत–यक्ष–राक्षस–किन्नर–किम्पुरुष–महोरग–गन्धर्वाणामित्थं पाठक्रम. ।

उक्तञ्च प्रज्ञापनायां १ पदे देवाधिकारे **"वाणमंरा अट्ठविहा, पण्णत्ता तंजहा किण्णरा, किंपुरिसा, महोरगा, गंधव्वा, जक्खा, रक्खसा, भूया, पिसाया–"** इति । वानव्यन्तराअष्टविधा. प्रज्ञप्ता , तद्यथा–किन्नरा –किम्पुरुषा –महोरगा –गन्धर्वा·–यक्षा·–राक्षसा·–भूता.–पिशाचा·, इति–॥१८॥

मूलसूत्रम्— "जोइसिया पंचविहा, चंदसूरगहणक्खत्ततारामेद्ओ–"॥१९॥

छाया— "ज्योतिष्काः पञ्चविधाः, चन्द्रसूर्यग्रहनक्षत्रतारामेदात्–"॥१९॥

आठ प्रकार के है–किन्नर किम्पुरुष, महोरग, गधर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच ।

वन में रहने वाले वान कहलाते है और विविध देशान्तरों में रहने वाले व्यन्तर कहलाते हैं । वान जो व्यन्तर है, वे वानव्यन्तर कहे जाते है । वानव्यन्तर योनि के ये देव आठ प्रकार के है— किन्नर, किम्पुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत, और पिशाच ।

ये देव अधोलोक, मध्य लोक और ऊर्ध्वलोक मे–तीनों लोकों मे स्वतत्रतापूर्वक इच्छानुसार विचरण करते हैं और देवेन्द्र–शक्र तथा चक्रवर्त्ती की आज्ञा के अनुसार भी विचरण करते हैं ।

इनका गतिप्रचार अनियत होता है । कोई – व्यन्तर भृत्य के समान मनुष्यों की भी सेवा करते हैं । तिर्छे लोक में अनेक प्रकार की शैल, कंकरा, वन और बिल आदि स्थानों मे निवास करते हैं । इस कारण इनकी सज्ञा वानव्यन्तर है।

उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार इन आठ भेदों का क्रम इस प्रकार है–पिशाच, भूत, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किम्पुरुष, महोरग और गन्धर्व, ।

प्रज्ञापनासूत्र के प्रथम पद में देवाधिकार मे कहा है–

वानव्यन्तर देव आठ प्रकार के कहे गये है , यथा–किन्नर , किम्पुरुष, महोरग , गन्धर्व , यक्ष , राक्षस , भूत , और पिशाच ॥ १८ ॥

सूत्रार्थ—'जोइसिया पंचविहा' इत्यादि । सूत्र. ॥१९॥

ज्योतिष्क देव पाँच प्रकार के है–

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वं तावत् सामान्यतो भवनपतिवानव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकेषु चतुर्विधेषु देवेषु प्रतिपादितेषु विशेषतो भवनपति–वानव्यन्तराणां देवानां प्ररूपणं कृतम्, सम्प्रति-क्रमप्राप्तान् ज्योतिष्कदेवान् विशेषतो निरूपयितुमाह"**जोइसिया पंचविहा**–"इत्यादि ।

ज्योतिष्का –ज्योति स्वभाववत्वात् तेजोमया ज्योतिष्कसञ्ज्ञका देवा. पञ्चविधाः सन्ति, चन्द्र–सूर्य–ग्रहनक्षत्रतारामेदत. तथाच–चन्द्रसूर्यादिनामकर्मोदयात् तत्प्रत्यया खलु चन्द्रसूर्य-ग्रहनक्षत्रतारासञ्ज्ञकास्ते ज्योतिष्कदेवा भवन्ति, एतेषां प्रत्येक प्रभावश्च भिन्नभिन्नरूपा. सन्ति।

अस्मात् खलु–समतलभूभागात–ऊर्ध्वं नवत्यधिकसप्तशतयोजनानि उपरि, सर्वज्योति-षामधोभागे व्यवस्थितास्तारका सन्ति ततो दशयोजनानि ऊर्ध्वं सूर्याश्चरन्ति, ततोऽशीतियो-जनान्यूर्ध्वं चन्द्राश्चरन्ति । ततश्चत्वारि योजनानि ऊर्ध्वं नक्षत्राणि चरन्ति ततश्चत्वारि योजनान्युत्प-त्य बुधाश्चरन्ति ।

ततस्त्रीणि योजनान्युत्पत्य शुक्राश्चरन्ति ततस्त्रीणि योजनान्यूर्ध्वं वृहस्पतय. सञ्चरन्ति,त-तस्त्रीणि योजनान्यूर्ध्वमतिक्रम्य कुजा' सञ्चरन्ति । ततस्त्रीणि योजनान्यूर्ध्वमतिक्रम्य शनैश्चराश्चरन्ति, स एष ज्योतिर्गणसञ्चरणविषयो नभोऽवकाशो दशाधिकयोजनशतविस्तारस्तिर्यगसख्येयद्वीप-समुद्रप्रमाणो घनोदधिपर्यन्तोऽवगन्तव्य' ॥१९॥

तत्त्वार्थदीपिका– पहले सामान्य रूप से भवनपति, वानव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक के भेद से चार प्रकार के देवो की प्ररूपणा की गई थी, उनमें से भवनपति और वानव्यन्तर देवो की विशेष रूप से प्ररूपणा की गई । अव क्रम से प्राप्त ज्योतिष्क देवों की विशेष प्ररूपणा की जाती है–

तेजोमय ज्योतिष्क नामक देव पाँच प्रकार के कहेगये है – (१) चन्द्र (२)सूर्य (३) ग्रह (४) नक्षत्र और (५) तारा । चन्द्र–सूर्यादि नामकर्म के उदय से चन्द्र, सूर्य ग्रह, नक्षत्र और तारा नामक ज्योतिष्क देव होने है इन सब के प्रभाव भिन्न – भिन्न प्रकार के होते हैं ।

इस भूमि के समतल भाग से सातसौ नब्बे योजन की उँचाई पर सभी ज्योतिष्क देवों के नीचे तारक देव विधमान हैं । इनसे दश योजन ऊपर अर्थात् आठसौ योजन की उँचाई पर सूर्य देव होते हैं सूर्य से अस्सी योजन ऊपर चन्द्र देव विचरण करते है अर्थात् ८८० योजन ऊपर चन्द्र है । चन्द्र से चार योजन ऊपर नक्षत्रो का चार होता है। और उनसे भी चार योजन की उँचाई पर बुध का चार होता है । बुध से तीन योजन ऊपर शुक्र का विमान है, उससे तीन योजन ऊपर वृहस्पत्ति का विमान है और इससे भी तीन योजन ऊपर मगल का चार होता है । इससे भी तीन योजन ऊपर शनैश्चर का विमान है । इस प्रकार समस्त ज्योतिष्क देवों का सम्पूर्ण चार क्षेत्र एक सौ दश योजन का है । तिर्छे मे असख्यात द्वीपसमुद्र प्रमाण घनोदधि पर्यन्त समझना चाहिए ॥१९॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं सामान्यतो भवनपतिवानव्यन्तर-ज्योतिष्कवैमानिकाश्चतुर्विधा देवाः प्ररूपिताः ततो विशेषतो भवनपतयो वानव्यन्तराश्च देवा प्ररूपिता सम्प्रति-क्रमप्राप्तान् ज्योतिष्कदेवान् विशेषत प्ररूपयितुमाह—

"जोइसिया पंचविहा, चंदसूरगहणक्खत्ततारा भेदओ–"इति । ज्योतिष्का -द्योतन्ते इति ज्योतींषि विमानानि, पृषोदरादित्वात् दस्य जत्वे साधु, तेपु भवा ज्योतिष्का देवा ज्योतिस्वरूपा वा देवा ज्योतिष्का, मुकुटेपु शिरो मौलिमुकुटाश्रितै, प्रभामण्डलकल्पैरुज्ज्वलैश्चन्द्रसूर्यतारामण्डलैर्यथायथ चिह्नैर्विराजमाना द्युतिमन्त खलु ज्योतिष्का देवा पञ्चविधा सन्ति ।

चन्द्रसूर्यग्रहनक्षत्रताराभेदत तत्र सर्वेषु ज्योतिष्केपु देवेपु चन्द्राणा प्रधानत्वप्रतिपादनार्थं प्रथमोपादानं कृतम् तत्र-समतलादस्माद् भूमिभागान्नवत्यधिकसप्तशतयोजनान्यूर्ध्वमतिक्रम्य तावत्-प्रथमो ज्योतिष्कताराविमानप्रस्तारो वर्तते, तदुपरि-दशयोजनान्यारुह्य सूर्यविमानप्रस्तारो विद्यते, तदुपरि-अशीतियोजनान्यतिक्रम्य चन्द्रविमानप्रस्तारो वर्तते, तदुपरि विंशतियोजनान्यारुह्य तारानक्षत्र बुध-शुक्र-वृहस्पति-कुजशनैश्चराणा विमानप्रस्तारो विद्यते ।

सूर्यादधस्तात् किञ्चिदूनयोजने केतुर्वर्तते, चन्द्रादधोभागे किञ्चिदूनयोजने खलु राहुरस्ति, चन्द्र–

तत्वार्थनिर्युक्ति—पहले सामान्य रूप से भवनपति, वानव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक, इन चार प्रकार के देवो का निरूपण किया गया है तत्पश्चात् भवनपति और वानव्यन्तर देवो के भेदो की प्ररूपणा की गई है । अब अनुक्रम से प्राप्त ज्योतिष्क देवों को विशेष रूप से प्ररूपणा करते है–

जो द्योतित हो उसे ज्योति कहते है अर्थात् विमान । पृषोदरादि गण में पाठ होने से 'द' के स्थान पर 'ज' आदेश होता है, अत ज्योति' शब्द निष्पन्न होता है । उस ज्योति अर्थात् विमान मे जो उत्पन्न हो, वे ज्योतिष्क देव कहलाते है । अथवा जो देव ज्योतिस्वरूप हों वे ज्योतिष्क कहलाते है । ये ज्योतिष्क देव मस्तक पर मौलि–मुकुट धारण करते है, प्रभामण्डल के समान उज्ज्वल चन्द्र, सूर्य और तारा-मण्डल के चिह्नों से यथायोग्य सुशोभित होते है, कान्तिमान् होते है । इनके पाँच प्रकार है (१) चन्द्र (२) सूर्य (३) ग्रह (४) नक्षत्र और (५) तारा ।

इन ज्योतिष्क देवो मे चन्द्र देवों की प्रधानता है, इस कारण उनका आदि में ग्रहण किया है ।

इस समतल भूमिभाग से सातसौ नब्बे योजन ऊपर सर्वप्रथम ताराविमानों का प्रस्तार है । उससे दस योजन ऊपर सूर्यविमान का प्रस्तार है । उससे अस्सी योजन की ऊँचाई पर चन्द्र विमान का प्रस्तार है । उससे बीस योजन तारा, नक्षत्र, बुध, शुक्र, वृहस्पति, मगल और शनैश्चर के विमान प्रस्तार है ।

सूर्यग्रहान् विहाय शेषा नक्षत्रप्रकीर्णकतारकाश्च एकस्मिन् स्वस्व मार्गे चरन्ति ।तत्र–ताराग्रहाणा मनियतचारित्वात् चन्द्रसूर्याणामूर्ध्वमधश्चरन्ति ।तथाच–सर्वेभ्यो ज्योतिष्केभ्योऽधस्तात् सूर्याश्चरन्ति, तत ऊर्ध्वं चन्द्राश्चरन्ति,तत ऊर्ध्वं ग्रहा , तत ऊर्ध्वं नक्षत्राणि,तत ऊर्ध्वं विप्रकीर्णतारका श्चरन्ति ।

किन्तु–ताराग्रहाणामनियतचारितया सूर्यादधस्तादपि सञ्चारो भवति इत्येव रीत्या खलु ज्योतिर्लोको दशाधिकयोजनशतविस्तारः , एकविंशत्यधिकैकादशयोजनशतैर्जम्बूद्वीपमेरुस्पर्शमकुर्वन् सर्वासु दिक्षु मण्डलाकारेण व्यवस्थितः। लोकान्तञ्चैकादशाधिकैकादशयोजनशतैरस्पृशन् सर्वतोऽवसेय । कुजादयस्ताराग्रहाश्चो–र्ध्वमधस्तिर्यक्सचरणशीलत्वेनाऽनियतचारित्वाद् अधस्तात् ताव ल्लम्बमाना भवन्ति, यावत्–सूर्याद् दशयोजनेषूपलभ्यन्ते ।

ज्योतिष्केषु तावत्- सर्वोपरि स्वातिनक्षत्रं नक्षत्रमण्डलस्य सर्वाधस्ताद् भरणीनक्षत्रम् । सर्व दक्षिणतो मूलनक्षत्रम्, सर्वोत्तरतश्चाऽभिजित्नक्षत्र वर्तते । ततो–ऽत्यन्तप्रकाशकारित्वाद् ज्योतिः शब्दनामधेयेषु विमानेषु भवा देवा ज्योतिष्का उच्यन्ते ।

सूर्य से कुछ योजन नीचे केतु का विमान है और चन्द्र से कुछ योजन नीचे राहु का विमान है । चन्द्र, सूर्य और ग्रहो के सिवाय शेष नक्षत्र और प्रकीर्णक तारे अपने अपने एक ही मार्ग में सचरण करते हैं । तारा और ग्रह अनियत रूप से चार करते है,अतः कभी चन्द्र और सूर्य से ऊपर और कभी नीचे चलते है । इस प्रकार सबसे नीचे सूर्य,सूर्य के ऊपर चन्द्रमा, चन्द्रमा से ऊपर ग्रह, ग्रहो के ऊपर नक्षत्र और नक्षत्रों के ऊपर प्रकीर्णक तारे चलते हैं । किन्तु तारा और ग्रह अनियत रूप से गति करने के कारण सूर्य से नीचे भी गति करते है । सम्पूर्ण ज्योतिर्लोक एकसौ दस योजन के विस्तार मे है । ग्यारहसौ एक्कीस योजनो में, जम्बूद्वीप के मेरु पर्वत का स्पर्श न करते हुए, सभी दिशाओ मे गोलाकार रूप से स्थित है । ग्यारहसौ ग्यारह योजन से स्पर्श न करता हुआ सभी ओर लोकान्त समझना चाहिए ।

मगल आदि तारा, ग्रह, ऊपर, नीचे और तिर्छे चलते हैं, अतएव अनियत रूप से चलते है, इस कारण नीचे लम्बायमान होते हैं यावत् सूर्य से दस योजनों मे पाये जाते है ।

ज्योतिष्कों मे सबसे ऊपर स्वाति नक्षत्र है और नक्षत्रमडल के सबसे नीचे भरणी नक्षत्र है । सबसे दक्षिण मे मूलनक्षत्र है और सबसे उत्तर मे अभिजित् नक्षत्र ।

अत्यन्त ही प्रकाश करने वाले होने के कारण ज्योति नामक विमानो में जो देव है, वे ज्योतिष्क कहलाते हैं । अथवा विमानो सबन्धी ज्योति के कारण वे देव ज्योतिष्क कहलाते है । वे देव क्रीडा नहीं करते, सिर्फ द्योतित–प्रकाशमान होते है । अथवा यों कहा जा सकता है कि वे शरीर सबन्धी ज्योति के द्वारा द्योतित होते है, क्यों कि उनका शरीर ज्योतिपुज की भाँति चमचमाता हुआ देदीप्यमान होता है ।

बिमानगतज्योतिष सम्बन्धिनो वा देवा तेन दीव्यन्ति–द्योतन्ते, वपु सम्बन्धिना वा ज्योतिषा दीव्यन्ते इति ज्तोतिष्का उच्यन्ते। ज्योतिरेव भास्वरदेदीप्यमानशरीरत्वात समस्तदिङ्मण्डलद्योतकत्वाद्वा ज्योतिष्का' उच्यन्ते. स्वार्थे कन् प्रत्यय, । मुकुटेषु तावत्–प्रभामण्डलस्थानीयानि–उज्ज्वलानि चन्द्रसूर्यादीनि भवन्ति। चन्द्रस्य –चन्द्राकार चिह्नम्, सूर्यस्य–सूर्याकार चिह्नम एवम् ग्रहनक्षत्राणामप्यवगन्तव्यम्. ।

उक्तञ्च प्रज्ञापनायां प्रथमपदे १ देवाधिकारे—'जोइसिया पंचविहा पण्णत्ता, तंजहा चंदा –सूरा–गहा–णक्खत्ता–तारा–,,इति । ज्योतिष्का' पञ्चविधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा–चन्द्रा –सूर्या – ग्रहा – नक्षत्राणि–तारा' इति ॥१९॥

मूलसूत्रम् – 'कप्पोववण्णगा वेमाणिया बारसविहा,सोहम्म–ईसाणसणंकुमार–माहिंद –बंभलोय–लंतय–महासुक्क–सहस्सार–आणय–पाणयआरणाच्चुयभेदा–॥२०॥

छाया—कल्पोपपन्नका वैमानिकाः द्वादशविधाः सौधर्मे-शान -सनत्कुमार-माहेन्द्र-ब्रह्मलोकलान्तक-महाशुक्र सहस्रारा–ऽऽनत–प्राणताऽऽरणा–च्युतभेदात्–॥२०॥

तत्त्वार्थदीपिका—वैमानिकस्वरूपं निरूपयितु पूर्वं चतुर्विधदेवेषु भवनपति–वानव्यन्तर–ज्योतिष्क–वैमानिकेषु विशेषतो भवनपतयो वानव्यन्तरा ज्योतिष्काश्च देवा प्ररूपिता सम्प्रति–कल्पोपपन्नकवैमानिकदेवान्द्वादशविधान् प्रतिपादयितुमाह—

अथवा उन देवों को समस्त दिशामडल प्रकाशित करने के कारण ज्योतिष्क कहते है । 'ज्योतिष्क' शब्द में स्वार्थ में 'कन्' प्रत्यय हुआ है, अर्थात् 'ज्योतिष्' शब्द मे 'कन्' प्रत्यय करने पर भी उसके अर्थ मे कोई परिवर्तन नहीं होता–जो अर्थ 'ज्योतिष्' शब्द का है वही 'ज्योतिष्क' शब्द का भी है।

उन देवो के मुकुटों में प्रभामण्डल स्थानीय चन्द्र-सूर्य आदि के चिह्न हो होते है। चन्द्रदेव के मुकुट मे चन्द्र के आकार का और सूर्य देव के मुकुट मे सूर्य के आकार का चिह्न है। यही बात ग्रहो और नक्षत्रो के सबन्ध मे भी समझना चाहिए ।

प्रज्ञापनासूत्र के प्रथम पद मे देवो के प्रकरण में कहा है–ज्योतिष्क देव पाँच प्रकार के हैं –चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, और तारा ॥१९॥

सूत्रार्थ—'कप्पोववण्णगा वेमाणिया' इत्यादि सूत्र—॥२०॥

कल्पोपपन्नवैमानिक देव बारह प्रकार के है। —(१) सौधर्म (२) ईशान (३) सनत्कुमार (४) माहेन्द्र (५) ब्रह्मलोक ६) लान्तक (७) महाशुक्र (८) सहस्रार (९) आनत (१०) प्राणत (११)आरण और (१२) अच्युत । सूत्र २०॥

तत्त्वार्थदीपिका—भवनपति, वानव्यन्तर ज्योतिष्क और वैमानिक, इन चार प्रकार के देवो मे से पहले भवनपति, बानव्यन्तर और ज्योतिष्क देवो की प्ररूपणा की गई है। अब बारह प्रकार के कल्पोपपन्न देवो का कथन करने के लिए कहते है—

'कप्पोववण्णगा वेमाणिया बारसविहा, सोहम्म–ईसाण–सणंकुमार–माहिंद–बंभलोय–लंतय–महासुक्कसहस्सार–आणय–पाणय–आरणाच्चुयभेदा–इति । कल्पोपपन्नका –कल्पेषु द्वादशदेवात्मकेषु उपपन्नाः सम्बद्धा कल्पोपपन्नका' वैमानिका वि विशेषेण दानशीलतपोभावैः पूर्वभवोपार्जितपुण्यपुञ्जशालिनः–प्राणिनः–स्वस्थितान् सुकृतिनो मानयन्ति आद्रियन्ते –आधार ददति–इति विमानानि, तेषु विमानेषु भवा वैमानिका देवा द्वादशविधा सन्ति, सौधर्मे–शान–सनत्कुमार–माहेन्द्र–ब्रह्मलोक–लान्तक–महाशुक्र–सहस्रारा–ऽऽनत–प्राणतारणाच्युता' वक्ष्यमाण-प्रकारेणावस्थिता सन्ति तथाहि यस्मिन् पटले सौधर्मनामा कल्पो दक्षिणदिशि वर्तते, तस्मिन् एव पटले उत्तरदिशि–ईशाननामा कल्पो समश्रेण्या स्थित । समीपवर्ती एतौ द्वावपि प्रत्येकमर्द्धचन्द्राकारौ समश्रेण्या स्थितौ । एवम्–सनत्कुमारमाहेन्द्रदेवलोकावपि एवमेव समश्रेण्या स्थितौ । तदग्रे–ब्रह्म–लान्तक–महाशुक्रसहस्रारपर्यन्ता देवलोका एकैकस्योपर्युपरि वर्त्तन्ते तदग्रे आनतप्राणत-नामानौ द्वौ देवलोकौ, तदग्रे आरणाच्युतौ च । एते चत्वारो देवलोका द्वौ द्वौ युगलरूपेण सौधर्मेशानदेवलोकवदेवार्द्धचन्द्राकारौ समश्रेण्या स्थितौ इत्येव द्वादशदेवलोका' समवस्थिता' सन्ति ॥ सू० २० ॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं तावत् सामान्यत' प्रतिपादितेषु चतुर्विधेषु भवनपति–वानव्यन्तर-ज्योतिष्क–वैमानिकदेवेषु विशेषत' क्रमशो भवनपति–वानव्यन्तरज्योतिष्कदेवानां प्ररूपण विहि-

---

कल्पों में अर्थात् बारह देवलोकों में जो उत्पन्न हो वे देव कल्पोपपन्नक कहलाते है । जो अपने अन्दर रहने वालों को जिन्होने विशेष रूप से दान, शील तप और भावना का आसेवन करके पूर्वभव मे पुण्यराशि प्राप्त की है उनको सुकृती–पुण्यात्मा मानते है उनका आदर करते है तथा उन्हें आधार प्रदान करते है उन्हें बिमान कहते है । बिमानो मे उत्पन्न होने वाले देव वैमानिक कहेगये है और वे बारह प्रकार के है (१) सौधर्म (२) ईशान(३)सनत्कुमार (४) माहेन्द्र(५)ब्रह्मलोक (६) लान्तक (७)महाशुक्र (८) सहस्रार (९)आनत (१०) प्राणत (११) आरण और (१२)अच्युत । ये कल्प बक्ष्यमाण प्रकार से व्यवस्थित है, जैसे–ज्योतिश्चक्र के उपर असख्यात करोडा करोड योजन जाने पर सौधर्म और ईशान देवलोक है, जिस प्रदेश में सौधर्म कल्प दक्षिणदिग्वर्त्ती है उसि प्रदेश के समीप उत्तर दिग्वर्त्ती ईशान कल्प भी है । ये दोनो ही कल्प प्रत्येक अर्द्धचन्द्राकार से समश्रेणिमे स्थित है । इनके ऊपरे असख्यात करोडा करोड योजन जाने पर इसी प्रकार सनत्कुमार कल्प और माहेन्द्र कल्प ये दोनों भी अर्द्धचन्द्राकारसे समश्रेणिमे स्थित है । उनके ऊपर ब्रह्म, लान्तक, महाशुक्र, और सहस्रार, ये चार कल्प एक एक के प्रत्येक असख्यात असख्यात योजन जाने पर है और सहस्रार कल्प के ऊपर आनत–प्राणत ये दो देवलोक तथा इन के ऊपर आरण और अच्युत ये चारों कल्प दो दो युगल रूप से सौधर्म और ईशान देवलोक की तरह अर्द्धचन्द्राकार से समश्रेणि में स्थित है ।२। इसप्रकार बारहों देवलोक व्यवस्थित है । सूत्र ॥२०॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पहले सामान्य से प्रतिपादित चार प्रकार के जो भवनपति वानव्यन्तर

तम् सम्प्रति वैमानिकदेवानां विशेषतः प्ररूपण कर्तुं कल्पोपपन्नककल्पातीतभेदेन द्विविधेषु वैमानिकेषु प्रथम प्रथमोपात्तकल्पोपपन्नकवैमानिकदेवान् प्ररूपयति "कप्पोववण्णगा वेमाणिया बारसविहा सोहम्म–ईसाण सणंकुमार माहिंद बंभलोय लंतय महासुक्क सहस्सार आणय पाणय आरणाच्चुयभेया" इति ।

कल्पोपपन्नका—कल्पेषु द्वादशदेवलोकेषु उपपन्नका कल्पोपपन्नका वैमानिका विशेषत स्वस्थितान् सुकृतशालिनो मानयन्ति सम्मानयन्ति धारयन्ति इति विमानानि, तेषु भवा, वैमानिकाः ते देवा खलु द्वादशविधा सन्ति, सौधर्मेशानसनत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्मलोकलान्तक महाशुक्रसहस्राराऽऽनतप्राणताऽऽरणाऽच्युतभेदात । तत्र–ते खलु कल्पा वक्ष्यमाणप्रकारेण व्यवस्थिताः सन्ति, तथाहि ज्योतिश्चक्रादुपरि असख्यातकोटिकोटियोजनान्यतिक्रम्यात्र मेरूपलक्षिताद्धर्धदक्षिणोत्तरभागव्यवस्थितौ पूर्वपश्चिमायतौ दक्षिणोत्तरविष्कम्भौ अर्चिमालीव देदीप्यमानौ असख्येय योजनायामविष्कम्भपरिक्षेपौ सर्वरत्नमयौ मध्यव्यवस्थितसर्वरत्नमयावशोकसप्तपर्णचम्पकसहकारसुशोभितशक्रेन्द्रैशानेन्द्रावासयुक्तौ सौधर्मैशानदेवलोकौ प्रत्येकमर्द्धचन्द्राकारौ युगलरूपेण दक्षिणोत्तरभाग-

---

ज्योतिष्क और वैमानिक है उनमें विशेषतः क्रम से भवनपति वानव्यन्तर ज्यौतिष्क देवो की प्ररूपणा करदी गई है अब वैमानिक देवों की विशेष रूप से प्ररूपणा करने के लिये कल्पोपपन्न और कल्पातीत के भेदों को लेकर दो प्रकार के वैमानिको में प्रथम ग्रहण किये हुए कल्पोपपन्न वैमानिक देवो का प्ररूपणकरते है—

"कप्पोववन्नगा वेमाणिया बारसविहा०' इत्यादि ।

कल्पोपपन्नक देव सौधर्म–ईशान–सनत्कुमार–माहन्द्र, ब्रह्म लोक–लान्तक–महाशुक्र–सहस्रार आनत–प्राणत आरण अच्युत के भेद से बारह प्रकार के होते हैं । कल्पों में अर्थात् बारह प्रकार के देवलोको में जो उत्पन्न होते है वे कल्पोपपन्नक वैमानिक देव कहे जाते है, वैमानिक का अर्थ है विमानो में रहने वाले देव, विशेष रूप से अपने में रहे हुए पूर्वोपार्जित पुण्य शाली प्राणियो को मानते है, अर्थात् सम्मान करते है धारण करते है उनको विमान कहते हैं, और विमानो में होने वाले देव वैमानिक कहलाते है । वे वैमानिक देव सौधर्म आदि बारह कल्पों में होने से देव भी बारह प्रकार के कहे जाते है । बारह कल्प आगे कहे जाने वाले प्रकार से व्यवस्थित है—

ज्योतिश्चक्र के ऊपर असख्यात करोडा करोड योजनों के उल्लघने पर यहाँ मेरु पर्वत को आश्रय करके दक्षिणार्द्ध तथा उत्तरार्घ भाग मे व्यवस्थित पूर्वपश्चिम से लम्बे और दक्षिण उत्तर से चौडे अर्चिमाली सूर्य की तरह देदीप्यमान असख्यात योजन आयाम विष्कभपरिक्षेप वाले सर्व रत्नमय मध्यस्थित सर्वरत्न मय अशोक सप्तपर्ण चम्पक सहकार सुशोभित शक्रेन्द्र और ईशानेन्द्र के आवास से युक्त दो पहला और दूसरा सौधर्म और ईशान देवलोक एक एक अर्धचन्द्राकार युगल रूप दक्षिणोत्तर भाग को लेकर समश्रेणि में व्यवस्थित है १–२। उनके ऊपर असख्यात

अपेक्ष्य स्थितौ समश्रेण्यां तदुपरि—असख्यातकोटिकोटियोजनान्यतिक्रम्यात्र तृतीय—चतुर्थौ सनत्कुमार माहेन्द्रदेवलोकौ अपि प्रत्येकमर्द्धचन्द्राकारौ युगलरूपे दक्षिणोत्तरमपेक्ष्य स्थितौ ४ । तदुपरि असख्यातयोजनातिक्रमे ब्रह्मदेवलोको वर्त्तते तत्र च लोकान्तिकदेवा जिनेन्द्रजन्मादिमहोत्सवविलोकनोत्सुका शुभाध्यवसायप्राया भक्तिश्रवणतावशीकृतचित्ता निवसन्ति ।

अथ ब्रह्मलोकादारभ्याष्टमसहस्रारदेवलोकपर्यन्त चत्वारो देवलोका एकैकस्योपर्युपरि असख्यातयोजनान्तरेण वर्तन्ते, तथाहि सनत्कुमार—माहेन्द्रदेवलोकयुगलादुपरि असख्यातयोजनान्यतिक्रम्यात्र पञ्चमो ब्रह्मदेवलोको वर्तते ५ । तदुपरि—असख्यातकोटियोजनातिक्रमे षष्ठो लान्तकदेवलोको वर्तते ६, तदुपरि असख्यातयोजनातिक्रमे सप्तमो महाशुक्रदेवलोको वर्तते ७ । तदुपरि असख्यातयोजनातिक्रमेऽष्टम सहस्रारदेवलोको वर्तते ८। इति । अथ—तदुपरि असख्यातयोजनातिक्रमे नवमदशमौ आनतप्राणतदेवलोकौ अपि प्रथमद्वितीयदेवलोकवत् प्रत्येकमर्द्धचन्द्राकारौ युगलदक्षिणोत्तरभागमपेक्ष्य स्थितौ समश्रेण्या १० । तदुपरि असख्यातयोजनातिक्रमे एकादश—द्वादशौ आरणाच्युत—देवलोकौ एतौ द्वावपि पूर्ववत् प्रत्येकमर्द्धचन्द्राकारौ युगलरूपेण समश्रेण्या स्थितौ ११—१२ । इति द्वादशदेवलोकस्थितिस्वरूपम् ।

योजनजाने पर यहां तीसरा और चौथा सनत्कुमार माहेन्द्र ये दो देवलोक भी प्रत्येक अर्द्धचन्द्राकार युगल रूप से दक्षिणोत्तर भाग को लेकर समश्रेणि मे व्यवस्थित है ३—४। इनके ऊपर असख्यात योजन जाने पर यहा ब्रह्म देव लोक है । इस ब्रह्म देव लोक में लोकान्तक देव रहते है वे जिनेन्द्र जन्मादि के महोत्सव को देखने मे उत्सुक शुभ अध्यवसाय वाले भक्ति भाव में वशीकृतचित्त वाले होते है । अब ब्रह्मलोक से लेकर आठवे सहस्रार देव लोक पर्यन्त चार देव लोक एक एक के ऊपर असख्यात असख्यात योजनो के अन्तर से व्यवस्थित है, जैसे— सनत्कुमार और माहेन्द्र इन युगल देव लोको से ऊपर असख्यात योजनो के लांघने पर यहाँ पाँचवां ब्रह्म देव लोक है ५। उसके ऊपर असख्यात योजन जाने पर छठा लान्तक देवलोक है ६ । उसके ऊपर असख्यात योजन जाने पर सातवाँ महाशुक्र देव लोक है ७) उसके ऊपर असख्यात योजन जाने पर आठवाँ सहस्रार देवलोक है ८ । इस के ऊपर असख्यात योजन जाने पर नौवाँ दसवाँ आनत और प्राणत देव लोंक भी पहले दूसरे सौधर्म ईशान की तरह प्रत्येक अर्द्धचन्द्राकार युगल रूप से दक्षिणोत्तर भाग को लेकर समश्रेणि में स्थित है ८—१० । इसी प्रकार इनके ऊपर असख्यात योजन जाने पर ग्यारहवाँ और बारहवाँ आरण और अच्युत देवलोक, ये दोनों देव लोक भी पूर्व के आनत प्राणत की तरह प्रत्येक अर्ध चन्द्राकार युगल रूप से दक्षिणोत्तर भाग को लेकर समश्रेणि में स्थित है ११—१२ । यह बारह देवलोक की स्थिति का स्वरूप है ।

तत ऊर्ध्वं नवग्रैवेयकानि उपर्युपरि क्रमेण सन्ति, तदुपरि च पञ्चमहाविमानानि सन्तीति वैमानिकदेवानामवस्थितिक्रमोऽवगन्तव्य तत्र—सौधर्मकल्पसाहचर्यात्तदिन्द्रोऽपि सौधर्म उच्यते ईशानदेवलोकस्य ऐशानो नाम इन्द्र स्वभावतो वर्त्तते, ऐशानस्य निवास कल्प ऐशान उच्यते, तत्साहचर्यादिन्द्रोऽपि ऐशान उच्यते इत्येव रीत्या सनत्कुमारादयोऽप्यवगन्तव्या सौधर्मादिकल्पवासिनां देवाना दशइन्द्रा भवन्ति नवम—दशमयो ,एकादश—द्वादशयोश्चेति युगलद्वये एकैकेन्द्रस्य सद्भावात् ।

अथ सौधर्मादयो देवलोका समतलभूमित कियत्कियद्दूरमुपरि वर्त्तते इति प्रदर्श्यते प्रथमद्वितीयौ सौधर्मैशानौ द्वौ कल्पौ युगलरूपेण स्थितौ समतलभूमित सार्द्धैकरज्जुकमुपरि वर्त्तेते२, तृतीय—चतुर्थकौ सनत्कुमार—माहेन्द्रकल्पौ युगलरूपेण स्थितौ समतलभूमित सार्द्धं द्विरज्जुकमुपरि वर्त्तेते४। एव पञ्चम कल्प सपादत्रिरज्जुकम्, षष्ठ कल्प सार्द्धत्रिरज्जुकम् ,सप्तम कल्प एकभागोन चतुरज्जुकम् अष्टमः कल्प चतूरज्जुकम्, एव नवमदशमौ युगलरूपेण स्थितौ द्वौ कल्पौ सार्द्धचतूरज्जुकम्, एवमेव एकादश—द्वादशौ युगलरूपेण स्थितौ द्वौ कल्पौ समतलभूमित पञ्चरज्जुकमुपरि वर्त्तेते१२, इति—कल्पोपपन्नदेवसम्बन्धिनां द्वादशदेवलोकानां समतलभूमित उच्चैस्त्वं विज्ञेयमिति ।

बारहवें कल्प के ऊपर नौ ग्रैवेयक विमान है। जो एक —दूसरे के ऊपर अवस्थित है। उनके ऊपर पाँच अनुत्तर नामक महा विमान है। यह वैमानिक देवो की अवस्थिति का क्रम है।

सौधर्म कल्प के कारण वहा का इन्द्र भी सौधर्म कहलाता है। ईशान नामक देव स्वभावत निवास करता है। उसका निवास होने से वह कल्प ऐशान कहलाता है और ऐशान कल्प के सहचर्य से वहाँ का इन्द्र ऐशान इन्द्र के नाम से प्रसिद्ध है। इसी प्रकार आगे के कल्पो एवं इन्द्रों के विषय मे भी समझलेना चाहिये। सौधर्म आदि कल्पो मे निवास करने वाले देवो के दस इन्द्र होते है। क्यों कि नौवे और दस वे इन दो देव लोको का भी एक ही इन्द्र होता है,

अब यहाँ सौधर्मादि देवलोक समतल भूमिसे कितने ऊँचे है। यह दिखलाया जाता है— पहला और दूसरा जो सौधर्म और ईशान कल्प है वे युगलरूप से स्थित दोनों कल्प समतल भूमि से डेढ राजू २। तीसरा और चौथा जो सनत्कुमार और माहेन्द्र ये युगल रूप से स्थित दोनो कल्प समलत भूमि से (२॥) ढाई राजू ऊपर है ४। इसी प्रकार पाँचवाँ कल्प (३।) सवा तीन राजू ऊपर है, छठा कल्प (३॥) साढे तीन राजू ऊँचा है, सातवाँ कल्प (३॥।) पौने चार राजू ऊँचा है, और आठवा सहस्रार कल्प (४) चार राजू समतल भूमि से ऊँचा है ८। इसी प्रकार नौवा और दसवाँ युगल रूप से स्थित ये दोनों कल्प (४॥) साढे चार राजू ऊँचे है, तदनन्तर ग्यारहवाँ और बारहवा युगल रूप से स्थित ये दोनो कल्प समतल भूमि से पाँच राजू ऊँचे है। यह कल्पोपपन्न बारह देवलोकों का समतल भूमि से ऊपर होंने का प्रमाण जानना चाहिये।

तदग्रे त्रित्रिरूपेण त्रीणि त्रिकाणि कल्पातीतानां नवग्रैवेयकदेवाना सन्ति, तेषु प्रथम त्रिक समतलभूमित पञ्चरज्जुकम् एकरज्जुकस्य त्रयो भागा' क्रियन्ते तेभ्य एको भागश्चैतावत्कमुपरि वर्तते ३ द्वितीय त्रिकं पञ्चरज्जुकम् एकस्य रज्जुकस्य भागत्रयमध्याद् द्वौ भागौ चेतावत्कं समभूमित उपरि वर्त्तते ६ तृतीय त्रिकं परिपूर्णं षड्रज्जुक समतलभूमित उपरि वर्त्तते ९ एते नव पुरुषाकारलोकस्य ग्रीवास्थाने वर्त्तमानत्वाद् ग्रैवेयका उच्यन्ते । तदग्रे पञ्चानुत्तरविमानानि येषामुत्तरेऽग्रे न केऽपि विमानविशेषा विद्यन्ते इति तान्यनुत्तरविमानानि प्रोच्यन्ते ते पञ्च प्रत्येकं चतुर्दिक्षु समश्रेण्या स्थिताः किञ्चिदूनसप्तरज्जुक समतलभूमित उपरि वर्त्तते। तेषां पञ्चोना परस्परमन्तरम् एकरज्जुकस्य किञ्चिदूना' पञ्चभागा क्रियन्ते, तन्मध्यादेकैकभागपरिमितमन्तरमेकैकस्य वर्तते । इति पञ्चानुत्तरविमानवर्णनम् । नवग्रैवेयका., पञ्चानुत्तरदेवाश्चेति चतुर्दशाना कल्पातीतदेवानां वर्णनमग्रिमसूत्रे करिष्यते इति ।

जम्बूद्वीपे महामन्दर. सहस्रयोजनावगाहो नवनवतिसहस्रयोजनोच्छ्राय । तस्याधस्तदधोलोको वर्त्तते । तिर्यक्प्रसृतश्च तिर्यग्लोको वर्त्तते तस्योपरिष्टात् उर्ध्वलोको वर्त्तते । मेरूचूलिका च चत्वारिंशद् योजनोच्छ्राया बोध्या । उक्तञ्च—प्रज्ञापनाया प्रथमपदे देवाधिकारे—"वेमाणिया-"दुविहा पण्णत्ता,तजहा कप्पोववण्णगा य कप्पाईया य,से किं त कप्पोववण्णगा-? कप्पोव-

---

इनके आगे तीन तीन करके तीन त्रिक में कल्पातीत नव ग्रैवेयक देव है। उन तीन त्रिको में से पहला त्रिक समतल भूमि से पाँच राजू और एक राजू के तीन भागों में का एक भाग जीतना ऊँचा है ३ ।दूसरा त्रिक पाँच राजू और एक राजू के तीन भागो में का दो भाग जितना ऊँचा है ६ । और तीसरा त्रिक पूरा छह राजू समतल भूमि से ऊँचा है । ये नव पुरुषाकार लोक के ग्रीवा (गला) स्थल पर होने से ग्रैवेयक कहलाते है ९ ।

इन के आगे पाँच अनुत्तर विमान है, जिनके उत्तर अर्थात् आगे कोई विमान न होने से ये अनुत्तर विमान कहलाते हैं ये पाँच प्रत्येक चारों दिशाओ मे समश्रेणि से स्थित है ये समतल भूमि से कुछ कम सात राजू ऊँचे है । ये पांचो अनुत्तर विमान एक राजू के कुछ कम पाँच भाग किये जायँ, उन में से एक—एक भाग के अन्तर से स्थित है। यह पाँच अनुत्तर विमानो का वर्णन हुआ। ऐसे ये नौ ग्रैवेयक और पाँच अनुत्तर विमान वासी इस प्रकार चौदह कल्पातीत देव कहलाते है, इन चौदह प्रकार के कल्पातीत देवो का वर्णन अगले सूत्र मे किया जायगा ।

जम्बूद्वीप का महामन्दर पर्वत एक हजार योजन पृथिवी के अन्दर है, निन्यानबे (९९) हजार योजन की इसकी ऊँचाई है, इसके नीचे के भाग में अधोलोक है । तिर्यक् अर्थात् टेढा फैला हुआ तिर्यग्लोक है । इसके ऊपर ऊर्ध्वलोक है । इस मेरुकी चूलिका चालीस योजन की ऊँचाई वाली है ।

प्रज्ञापना सूत्र के प्रथम पद में देवाधिकार में कहा है—वैमानिक देव दो प्रकार के कहे गये हैं, यथा—कल्पोपपन्नक और कल्पातीत कल्पोपपन्नक कितने प्रकार के हैं ? वे

वण्णगा, बारसविहा पण्णत्ता,तंजहा-सोहम्मा-ईसाणा-सणंकुमारा-महिंदा-बंभलोगा-लंतया-महासुक्का-सहस्सारा-आणया-पाणया-आरणा-अच्चुया य'' इति ।

वैमानिका द्विविधा प्रज्ञप्ताः तद्यथा-कल्पोपपन्नकाश्च-कल्पातीताश्च । अथकिं ते कल्पोपपन्नकाः—? ।

कल्पोपपन्नका द्वादशविधा प्रज्ञप्ताः , तद्यथा—सौधर्मा—ईशाना सनत्कुमारा—माहेन्द्राः ब्रह्मलोकाः—लान्तका—महाशुक्रा— सहस्रारा— आनता—प्राणता—आरणा —अच्युताश्चेति । पुनरप्युक्तञ्च प्रज्ञापनाया ६—पदे, अनुयोगद्वारे औपपातिके सिद्धाधिकारेच—''सोहम्म—ईसाण सणंकुमार—माहिंद—बंभलोय-लंतग—महासुक्क—सहस्सार—आणय—पाणय—आरण—अच्चुया'' इति । सौधर्मे—शान—सनत्कुमार—माहेन्द्र—ब्रह्मलोक—लान्तक—महाशुक्र—सहस्रारा—ऽऽनत-प्राणता—ऽऽरणा—ऽच्युता इति—॥ सू०२० ॥

मूलसूत्रम्—''कप्पाईया वेमाणिया चउद्दसविहा, णवगेवेज्जगा पंचाणुत्तरोववाइयभेया—'' ॥ सू० २१ ॥

छाया—''कल्पतीता वैमानिकाश्चतुर्दशविधाः'' नवग्रैवेयक-पञ्चानुत्तरौ-पपातिकभेदात्-॥ सू० २१ ॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वं कल्पोपपन्नका वैमानिकदेवा सौधर्मादयो द्वादशविधा विशेषतः प्ररूपिता सम्प्रति—कल्पातीतानां वैमानिकदेवाना चतुर्दशविधानां विशेषतः प्ररूपणं कर्तुमाह— ''कप्पाईयवेमाणिया चउद्दसविहा, णवगेवेज्जगपंचानुत्तरोववाइयभेया—'' इति ।

बारह प्रकार के होते है, यथा—सौधर्म, ईशान, सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्मलोक, लान्तक, महाशुक्र, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण, और अच्युत ।

प्रज्ञापना सूत्र के छठे पद में तथा अनुयोगद्वार में और औपपातिक सूत्र के सिद्धाधिकार में कहा है—

सौधर्म, ईशान, सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्मलोक, लान्तक, महाशुक्र, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण, और अच्युत ॥सूत्र—२०॥

सूत्रार्थ—'कप्पाईया वेमाणिया' इत्यादि ॥सूत्र.२१॥

कल्पातीत वैमानिक देव चौदह प्रकार के है—नवग्रैवेयक देव और पाँच अनुत्तरौपपातिकदेव ॥सूत्र॥२१॥

तत्त्वार्थदीपिका—पहले कल्पोपपन्न वैमानिक देवों के सौधर्म आदि बारह विशेष भेदों का निरूपण किया गया अब कल्पातीत वैमानिक देवों के चौदह अवान्तर भेदो की प्ररूपणा करने के लिए कहते हैं—कल्पातीत वैमानिक देव चौदह प्रकार के है—नौग्रैवेयक और पाँच अनुत्तरौपपातिक ।

ग्रैवेयका कल्पातीता'—कल्पेभ्योऽतीता कल्प वाऽतिक्रान्ता',उपरितनक्षेत्रवर्तिनो वैमानिका', विमानेषु भवा—वैमानिका देवा चतुर्दशविधा सन्ति,नवग्रैवेयकपञ्चानुत्तरौ—पपातिकभेदात् । तत्रा—ऽधस्तनग्रैवेयकत्रयम् , मध्यमग्रैवेयकत्रयम्, उपरितनग्रैवेयकत्रयम्, इत्येव नवग्रैवेयका पञ्चा—ऽनुत्तरौपपातिका., न—उत्तरं येभ्यस्तेऽनुत्तरा, अनुत्तराश्चते—औपपातिकाश्चेति अनुत्तरौपपातिका । उपपातोऽस्ति येषा ते—औपपातिका देवा —विजय—वैजयन्त—जयन्ता—ऽपराजित—सर्वार्थसिद्धाः,तेषा भेदात् तथाच—नवग्रैवेयका पञ्चाऽनुत्तरौपपातिकाश्चेत्येव समिलिताश्चतुर्दशविधा' खलु कल्पातीताः वैमानिकदेवा भवन्ति—॥ २१

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं तावत् सौधर्मेशानादिका द्वादशविधा कल्पोपपन्नका वैमानिकदेवा' प्ररूपिता सम्प्रति—चतुर्दशविधान कल्पातीतान् वैमानिकदेवान् प्ररूपयितुमाह—
"कप्पाईया वेमाणिया चउद्दसविहा,णवगेवेज्जग पंचानुत्तरोववाइयभेया—" इति ।

कल्पातीता'—कल्पेभ्यो द्वादशसख्यकेभ्य पूर्वोक्तेभ्य सौधर्मादिसञ्ज्ञकेभ्योऽतीतास्तानतिक्रान्ता. उपरितनक्षेत्रे वर्तमाना कल्पातीता वैमानिका देवाश्चतुर्दशविधाः सन्ति, नवग्रैवेयक—पञ्चानुत्तरौपपातिकभेदात् तत्र—नवग्रैवेयकास्तावत्—लोकरूपपुरुषस्य ग्रीवेव ग्रीवा कण्ठप्रदेश, तस्यां भवा ग्रैवेयका. ग्रीवाभरणभूता देवविशेषा' ग्रैवेयका उच्यन्ते

तत्राधस्तनग्रैवेयकास्त्रय', मध्यमग्रैवेयकास्त्रय ,उपरितनग्रैवेयकास्त्रयश्चेत्येव समील्य नवसख्य-

---

जो देव बारह कल्पो से अतीत—बाहर है वे कल्पातीत कहे जाते है। अथवा जिन देवों मे इन्द्र, सामानिक आदि की कल्पना नहीं होती—जिनमे स्वामी-सेवक भाव नहीं होता, जो सभी अहमिन्द्र हैं, उन देवों को कल्पातीत कहते है । ये देव बारह देवलोकों से ऊपर रहते हैं । विमानों में उत्पन्न होने के कारण उनकी वैमानिक सज्ञा है । वे चौदह प्रकार के है—नौग्रैवेयक विमानो में उत्पन्न होने वाले और पाँच अनुत्तरविमानो में उत्पन्न होने वाले ॥२१॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—इससे पहले सौधर्म, ईशान, आदि बारह प्रकार के कल्पोपपन्नक वैमानिक देवोकी प्ररूपणा की गई है । अब चौदहप्रकार के कल्पातीत वैमानिको की प्ररूपणा करने के लिए कहते हैं—

कल्पातीत वैमानिक देव चौदह प्रकार के हैं—नौ ग्रैवेयकदेव एव पाँच अनुत्तरौपपातिक

सौधर्म आदि पूर्वोक्त बारह कल्पो से जो अतीत हो अर्थात् उनसे भी ऊपरके क्षेत्र मे जो हो, वे कल्पातीत कहलाते है अथवा जो इन्द्र सामानिक की भेदकल्पना से अतीत हो—सब समान श्रेणी के हो, वे कल्पातीत कहलाते है । कल्पातीत देवों के पूर्वोक्त चौदह भेद हैं ।

ग्रैवेयक विमान नौ है । प्ररूपणा की अनुकूलता की दृष्टि से उन्हे तीन भागों में विभक्त किया गया है—तीन अधस्तन अर्थात् नीचे के, तीन मध्यम अर्थात् बीच के

काः खलु ग्रैवेयका' सन्ति पञ्चानुत्तरौपपातिका. पुनः विजय–वैजयन्ता–ऽपराजित–सर्वार्थसिद्धरूपा सन्ति एतेभ्य' पञ्चभ्य उत्तरक्षेत्रे केपामपि देवानां निवासाभावात् न सन्ति विमानान्तराणि–उत्तर येभ्यस्तान्यनुत्तराणि विमानानि यद्वा–शब्दानामनेकार्थत्वात् नास्त्युत्तर विमान यस्मात्तत् तदुपरि न कोऽपि देवलोक ।

इमे पञ्चाऽनुत्तरौपपातिका देवा उच्यन्ते नवपञ्चभेदाच्चतुर्दशदेवा. कल्पातीता उच्यन्ते तत्र--पञ्चविमानविशेषा. सर्वोपरिवर्तमाना सन्ति, अतएव तेऽनुत्तरा इति व्यपदिश्यन्ते अविद्यमानम्--उत्तरम् अन्यद्विमानादि येषा तेऽनुत्तरा विजयादिनामान' एव विमानविशेषा सन्ति ।

तत्र--विजिता' अभिभूता निरस्ता स्वर्गरूपाऽभ्युदयस्य विघ्नहेतवो येस्ते त्रयो विजय–वैजयन्तजयन्तनामानो देवा सन्ति । ते खलु समस्तान् अभ्युदयविनाशहेतून् निरस्याऽमन्दानन्दरूपस्वर्गसुखसन्दोहरसमात्मसात्कृत्योपभुञ्जते, तैरेवाऽभ्युदयविघातहेतुभिर्न पराजिता भवन्ति ये तेऽपराजिता उच्यन्ते। सर्वेषु चाऽभ्युदयार्थेषु सिद्धा सर्वार्थसिद्धा उच्यन्ते, ते खलु सर्वार्थसिद्धा' स्वर्गाऽभ्युदयिकसुखप्रकर्षवर्तित्वात् सर्वप्रयोजनेषु–अव्याहतशक्तयो भवन्ति ।

सर्वार्थैर्वा सिद्धा सर्वार्थसिद्धा , सर्वै रेवाऽतिशयशालिभि' शब्दरूपरसगन्धस्पर्शादिभिरतिरमणी-

---

और तीन उपरितन अर्थात ऊपर के । जो विमान सर्वोत्कृष्ट है, जिनसे उत्तम अन्य कोई विमान नहीं है, वे अनुत्तर विमान कहलाते है । वे पाँच ये है–विजय वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्ध ।

नौ ग्रैवेयकवासी और पाच अनुत्तर विमानवासी , यो दोनो मिलकर कल्पातीत देव चौदह प्रकार के है ।

यह लोक पुरुषाकार है । लोक–पुरुष की ग्रीवा के स्थान पर जो विमान अवस्थित है, वे ग्रैवेयक कहे गये है उन विमानों में रहने वाले देव भी ग्रैवेयक कहलाते हैं ।

पांच अनुत्तर विमान सभी विमानो के ऊपर अवस्थित है, इस कारण उन्हे अनुत्तर कहा गया है । नहीं है उत्तर–श्रेष्ठ जिनसे, वे अनुत्तर । विजय वैजयन्त आदि देवों के नाम है, और देवों के नाम से विमानों के भी येही नाम है ।

जिन्होने स्वर्ग सबधी अभ्युदय की प्राप्ती में विघ्न डालने वाले सभी कारणो को विजित कर लिया है, अर्थात् उन पर विजय प्राप्त कर लिया है, वे तीन देव विजय, वैजयन्त और जयन्त कहलाते है । वे देव अभ्युदय का विनाश करने वाले कारणों को दूर करके अमन्द (तीव्र) आनन्द रूप स्वर्गसुख के समूह को आत्मसात् करके भोगते हैं । इसी प्रकार स्वर्गीय सुख में बाधा डालने वाले कारणो से जो पराजित न हुए हों, वे अपराजित कहलाते है । जो देव अभ्युदय सवधी समस्त अर्थों में सिद्ध (सफल) हों वे सर्वार्थसिद्ध कहलाते हैं । सर्वार्थसिद्ध देव स्वर्ग के सुखो की चरम सीमा पर पहुँच चुके है, अतएव समस्त प्रयोजनो में उनकी शक्ति अव्याहत होती है ।

अथवा जो देव सर्व अर्थो अर्थात् प्रयोजनो से सिद्ध हो वे सर्वार्थसिद्ध कहलाते हैं ।

यैः सिद्धाः प्रख्याताः सर्वार्थसिद्धाः यद्वा—सर्वे अर्था· सिद्धा भवन्ति यत्र ते सर्वार्थसिद्धा· । तत्रैकमनुष्यभवं कृत्वा तत्रत्यः सर्वे देवा मोक्षं प्राप्य सिद्धा भवन्तीति भाव· । विजयादिपु च केचन देवा द्विमनुष्यभवमपि कृत्वा मोक्ष प्राप्नुवन्ति,

सर्वार्थसिद्धे च —नियमत एकभवमेव कृत्वा मोक्ष प्राप्नुवन्तीति विशेष अत एव—सर्वार्थ सिद्धा उच्यन्ते , सर्वे चाऽभ्युदयार्था· । एषा सिद्धा भवन्तीति सर्वार्थसिद्धा उच्यन्ते अथवा—विजितप्रायाणि वा कर्माणि एभिरिति विजयादय· प्रतनुकर्मपटलाच्छन्नत्वात् प्रत्यासन्नवर्त्यनवद्य सुखनिर्भरसिद्धिविभूतिसमागमत्वात्प्राप्तपरमकल्याणा· मुनिजन्मनि परीषहे द्वाविंशतिसंख्यकैः क्षुत्पिपासादिभिपराजिताः सन्तो मरणान्तरमपि अपराजिता एव देवा· समुत्पन्ना भवन्ति ।

यद्वा—सततत्तृप्तत्वात्तत्र क्षुधादिभिर्न पराजीयन्ते इत्यपराजिता उच्यन्ते एव ससारसम्बन्धिन्या· सर्वकर्तव्यताया· परिसमाप्तत्वात् सर्वार्थसिद्धो व्यपदिश्यन्ते । अथवा—सिद्धप्रायःसकलकर्मक्षयलक्षणो मोक्ष रूप उत्तमार्थो येषान्ते सर्वार्थसिद्धा· । तेषां मोक्षस्याऽन्ते आगामिजन्मभावित्वात् , इत्येव रीत्या यद्यपि विजयादयोऽपि सर्वार्थसिद्धत्वेन व्यपदेष्टु शक्यन्ते तथापि—गोशब्दादिवत्

समस्त अतिशयशाली एव अत्यन्त रमणीय शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि से जो सिद्ध अर्थात् प्रख्यात हों, वे सर्वार्थसिद्ध समझने चाहिए ।

अथवा जहाँ सर्व अर्थ सिद्ध हो जाता है, वे सर्वार्थसिद्ध । इसका तात्पर्य यह है कि वहाँ (सर्वार्थसिद्ध विमान) के देव एक मनुष्यभव करके मोक्ष प्राप्त कर लेते है और सिद्ध हो जाते है । विजय आदि चार विमानों के कोई—कोई देव दो मनुष्यभव करके भी सिद्ध होते है, जब कि सर्वार्थसिद्ध विमान के देव नियम से एक ही भव धारण करके सिद्धि प्राप्त कर लेते है । यह सर्वार्थसिद्ध विमान की चार विमानो से विशेषता है ।

विजय आदि देवों के नाम का दूसरे प्रकार से भी अर्थ किया जा सकता है । जिन्होंने कर्मों को लगभग विजित कर लिया है, वे विजय आदि देव कहे जा सकते है । उनके कर्म बहुत हल्के पड जाते है, इस कारण सिद्धि—मुक्ति की निरवद्य सुखमय विभूति उनके सन्निकट आ जाती है । अतएव वे परम कल्याण को प्राप्त कर चुके है । क्षुधा पिपासा आदि बाईस परीषहो से अपने पूर्व मुनि जीवन मे पराजित न होकर, मरण के अनन्तर भी वे अपराजित देवो के रूप में उत्पन्न होते है ।

अथवा सदैव तृप्त रहने के कारण वे देव क्षुधा आदि से पराजित नहीं होते, इस कारण उन्हे अपराजित कहा है । इसी प्रकार ससार सवन्धी समस्त कर्त्तव्यो को परिसमाप्त कर चुकने के कारण उन्हे सर्वार्थसिद्ध कहा जाता है । अथवा समस्त कर्मो का क्षय स्वरूप मोक्ष रूप उत्तम अर्थ जिनका प्राय सिद्ध हो चुका है, वे सर्वार्थसिद्ध कहलाते है, क्योंकि अगले दूसरे ही भव में उन्हें मोक्ष प्राप्त होने वाला है ।

सर्वार्थसिद्धपदस्यापि सर्वार्थसिद्धनामकदेवविशेषेपु रूढ़त्वात् ते एव देवविशेषा सर्वार्थसिद्धा उच्यन्ते । नाऽन्ये विजयादयोऽपीति समवसेयम् । उक्तञ्च प्रज्ञापनाया ६–पदे, अनुयोगद्वारे औपपातिके सिद्धाधिकारे च

"हेट्ठिमगेवेज्जग, मज्झिमगेवेज्जग' उवरिम गेवेज्जग, विजय, वेजयंत, जयत अपराजिय, सव्वट्ठसिद्धदेवा य–,, इति । अधस्तनग्रैवेयक, मध्यमग्रैवेयको–परितनग्रैवयक, विजय, वैजयन्त, जयन्ताऽपराजित, सर्वार्थसिद्धदेवाश्चेति ॥२१॥

मूलसूत्रम्—"भवणवइवाणमंतराणं आइल्लाओ चत्तारि लेस्सा, जोइसियाणं तेउलेस्सा, वेमाणियाणं उवरिमा तिण्णि लेस्सा य– '॥२२॥

छाया–भवनपतिवानव्यन्तराणामाद्याश्चतस्रो लेश्या, ज्योतिष्काणा तेजोलेश्या, वैमानिकानामुपरितन्यस्तिस्रो लेश्याश्च—॥२२॥

"तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वं तावत् सामान्यतो विशेपतश्च भवनपति–वानव्यन्तर–ज्योतिष्क वैमानिकानां देवानां स्वरूपाणि प्ररूपितानि, सम्प्रति–तेपु देवेपु केपां कियत्यो लेश्या भवन्तीति

इस प्रकार की व्युत्पत्तियों के अनुसार यद्यपि विजय आदि चार अनुत्तर विमानो के देव भी सर्वार्थसिद्ध कहे जा सकते है, किन्तु 'गो' पद के समान 'सर्वार्थसिद्ध' पद भी सर्वार्थसिद्ध नामक बिमान के निवासी देवो के लिए रूढ है। तात्पर्य यह है कि 'गौ' शब्द का अर्थ है–गमन करने वाला। इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो भी गमन करता है, उस मनुष्य, अश्व आदि सभी को 'गौ' कहा जा सकता है, किन्तु 'गौ' शब्द गाय नामक पशु के अर्थ में रूढ हो गया है, अतएव सब चलने–फिरने वालो का वाचक नहीं माना जाता, इसी प्रकार 'सर्वार्थसिद्ध' पद से यद्यपि विजय आदि देवो को भी कहा जा सकता है, परन्तु कहा नहीं जाता, क्योकि वह पाँचवे अनुत्तर विमान के देवो के लिए रूढ़ है।

प्रज्ञापना सूत्र के छठे पद में, अनुयोगद्वार में और औपपातिकसूत्र के सिद्धाधिकार में कहा है–

'अधस्तन ग्रैवेयक, मध्यम ग्रैवेयक, उपरितन ग्रैवेयक, विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्ध देव ॥२१॥

सूत्रार्थ—'भवणवइवाणमंतराणं' इत्यादि ॥२२॥

भवनपति और वानव्यन्तर देवों मे प्रारम्भ की चार लेश्याएँ ज्योतिष्कों में तेजोलेश्या और वैमानिको में अन्त की तीन लेश्याएँ होती है ॥२२॥

तत्त्वार्थदीपिका—इससे पूर्व भवनपति, वानव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया, अब यह बतलाते हैं कि उन देवों में कितनी और कौन–कौन सी लेश्याएँ होती हैं –

यैः सिद्धाः प्रख्याताः सर्वार्थसिद्धा यद्वा—सर्वे अर्था सिद्धा भवन्ति यत्र ते सर्वार्थसिद्धा । तत्रैकमनुष्यभव कृत्वा तत्रत्य सर्वे देवा मोक्ष प्राप्य सिद्धा भवन्तीति भाव । विजयादिषु च केचन देवा द्विमनुष्यभवमपि कृत्वा मोक्ष प्राप्नुवन्ति,

सर्वार्थसिद्धे च —नियमत एकभवमेव कृत्वा मोक्ष प्राप्नुवन्तीति विशेष इत एव—सर्वार्थे सिद्धा उच्यन्ते , सर्वे चाऽभ्युदयार्था । एषा सिद्धा भवन्तीति सर्वार्थसिद्धा उच्यन्ते अथवा—विजितप्रायाणि वा कर्माणि एभिरिति विजयादय प्रतनुकर्मपटलाच्छन्नत्वात प्रत्यासन्नत्वेनानघ सुखनिर्भरसिद्धिविभूतिसमागमत्वात्प्राप्तपरमकल्याणा। मुनिजन्मनि परीषहै द्वाविंशतिसंख्यकै क्षुत्पिपासादिभिपराजिता· सन्तो मरणान्तरमपि अपराजिता एव देवा समुत्पन्ना भवन्ति ।

यद्वा—सततवृत्त्वात्तत्र क्षुधादिभिर्न पराजीयन्ते इत्यपराजिता उच्यन्ते एव ससारसम्बन्धि-कृत्या सर्वकर्तव्यताया परिसमाप्तत्वात् सर्वार्थसिद्धा व्यपदिश्यन्ते । अथवा—सिद्धप्राय सकलकर्मक्षयल-क्षणो मोक्ष रूप उत्तमार्थो येषान्ते सर्वार्थसिद्धा । तेषा मोक्षस्याऽन्ते आगामिजन्मभावित्वात , इत्येव रीत्या यद्यपि विजयादयोऽपि सर्वार्थसिद्धत्वेन व्यपदेष्टु शक्यन्ते तथापि—गोशब्दादिवत्

समस्त अतिशयशाली एव अत्यन्त रमणीय शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि स जो सिद्ध अर्थात प्रख्यात हो, वे सर्वार्थसिद्ध समझने चाहिए।

अथवा जहाँ सर्व अर्थ सिद्ध हो जाता है, वे सर्वार्थसिद्ध । इसका तात्पर्य यह है कि वहाँ (सर्वार्थसिद्ध विमान) के देव एक मनुष्यभव करके मोक्ष प्राप्त कर लेते है और सिद्ध हो जाते हैं। विजय आदि चार विमानो के कोई—कोई देव दो मनुष्यभव करके भी सिद्ध होते है, जब कि सर्वार्थसिद्ध विमान के देव नियम से एक ही भव धारण करके सिद्धि प्राप्त कर लेते है । यह सर्वार्थसिद्ध विमान की चार विमानो से विशेषता है ।

विजय आदि देवों के नाम का दूसरे प्रकार से भी अर्थ किया जा सकता है । जिन्होने कर्मों को लगभग विजित कर लिया है, वे विजय आदि देव कहे जा सकते है । उनके कर्म बहुत हल्के पड़ जाते है, इस कारण सिद्धि—मुक्ति की निरवद्य सुखमय विभूति उनके सन्निकट आ जाती है । अतएव वे परम कल्याण को प्राप्त कर चुके है । क्षुधा पिपासा आदि बाईस परीषहो से अपने पूर्व मुनि जीवन मे पराजित न होकर, मरण के अनन्तर भी वे अपराजित देवो के रूप में उत्पन्न होते है ।

अथवा सदैव तृप्त रहने के कारण वे देव क्षुधा आदि से पराजित नहीं होते, इस कारण उन्हें अपराजित कहा है । इसी प्रकार ससार सबन्धी समस्त कर्त्तव्यो को परिसमाप्त कर चुकने के कारण उन्हे सर्वार्थसिद्ध कहा जाता है । अथवा समस्त कर्मों का क्षय स्वरूप मोक्ष रूप उत्तम अर्थ जिनका प्राय सिद्ध हो चुका है, वे सर्वार्थसिद्ध कहलाते है, क्योंकि अगले दूसरे ही भव में उन्हें मोक्ष प्राप्त होने वाला है ।

सर्वार्थसिद्धपदस्यापि सर्वार्थसिद्धनामकदेवविशेषेषु रूढत्वात् ते एव देवविशेषा सर्वार्थसिद्धा उच्यन्ते । नाऽन्ये विजयादयोऽपीति समवसेयम् । उक्तञ्च प्रज्ञापनाया ६–पदे,अनुयोगद्वार औपपातिके सिद्धाधिकारे च

"हेट्ठिमगेवेज्जग, मज्झिमगेवेज्जग' उवरिम गेवेज्जग,विजय, वेजयंत, जयंत अपराजिय, सव्वट्ठसिद्धदेवा य–,,इति । अधस्तनग्रैवेयक,मध्यमग्रैवेयको–परितनग्रैवयक,विजय, वैजयन्त, जयन्ताऽपराजित, सर्वार्थसिद्धदेवाश्चेति ॥२१॥

मूलसूत्रम्—"भवणवइवाणमंतराणं आइल्लाओ चत्तारि लेस्सा, जोइसियाणं तेउलेस्सा, वेमाणियाणं उवरिमा तिण्णि लेस्सा य– '॥२२॥

छाया–भवनपतिवानव्यन्तराणामाद्याश्चतस्रो लेश्या ,ज्योतिष्काणा तेजोलेश्या, वैमानिकानामुपरितन्यस्तिस्रो लेश्याश्च—॥२२॥

"तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वं तावत् सामान्यतो विशेषतश्च भवनपति–वानव्यन्तर–ज्योतिष्क वैमानिकानां देवानां स्वरूपाणि प्ररूपितानि, सम्प्रति–तेषु देवेषु केषा कियत्यो लेश्या भवन्तीति

इस प्रकार की व्युत्पत्तियों के अनुसार यद्यपि विजय आदि चार अनुत्तर विमानो के देव भी सर्वार्थसिद्ध कहे जा सकते है, किन्तु 'गो' पद के समान 'सर्वार्थसिद्ध' पद भी सर्वार्थसिद्ध नामक विमान के निवासी देवो के लिए रूढ है। तात्पर्य यह है कि 'गौ' शब्द का अर्थ है– गमन करने वाला । इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो भी गमन करता है, उस मनुष्य, अश्व आदि सभी को 'गौ' कहा जा सकता है, किन्तु 'गौ' शब्द गाय नामक पशु के अर्थ में रूढ हो गया है, अतएव सब चलने–फिरने वालो का वाचक नहीं माना जाता, इसी प्रकार 'सर्वार्थसिद्ध' पद से यद्यपि विजय आदि देवो को भी कहा जा सकता है, परन्तु कहा नहीं जाता, क्योकि वह पाँचवे अनुत्तर विमान के देवो के लिए रूढ है ।

प्रज्ञापना सूत्र के छठे पद में, अनुयोगद्वार में और औपपातिकसूत्र के सिद्धाधिकार में कहा है–

'अधस्तन ग्रैवेयक, मध्यम ग्रैवेयक, उपरितन ग्रैवेयक, विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्ध देव ॥२१॥

सूत्रार्थ—'भवणवइवाणमंतराणं' इत्यादि ॥२२॥

भवनपति और वानव्यन्तर देवों मे प्रारम्भ की चार लेश्याएँ ज्योतिष्कों में तेजोलेश्या और वैमानिको मे अन्त की तीन लेश्याएँ होती है ॥२२॥

तत्त्वार्थदीपिका—इससे पूर्व भवनपति, वानव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवो के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया, अब यह वतलाते हैं कि उन देवो में कितनी और कौन–कौन सी लेश्याएँ होती हैं –

प्ररूपयितुमाह—'भवणवइ-वाणमंतराणं आइल्लाओ चत्तारिलेस्सा, जोइसियाणं तेउलेस्सा, वेमाणियाणं उवरिमा तिण्णि लेस्सा-- ,,इति ।

भवनपतिवानव्यन्तराणा दशविधाऽसुरकुमारादिभवनवासिदेवानाम्, अष्टविधकिन्नरादिवान-व्यन्तराणाञ्चा--ऽऽद्या'--प्रथमाश्चतस्र खलु कृष्णनीलकापोत--तेजोलेश्या भवन्ति। ज्योतिष्काणा --पञ्चविधचन्द्र--सूर्यादिज्योतिष्कदेवानान्तु--केवलमेका तेजोलेश्या भवति, वैमानिकानाञ्च--कल्पोप-पन्नकाना द्वादशविधसौधर्मादीनाम्, कल्पातीतानाञ्च--नवग्रैवेयकपञ्चानुत्तरौपपातिकाना देवानाम उपरितन्योऽन्तिमा तिस्र खलु तेज पद्म--शुक्ललेश्या भवन्ति एता देवाना यथायथमवगन्तव्या ॥२२॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः— पूर्वं तावद् देवा सामान्यतश्चतुर्विधा, भवनपति--वानव्यन्तर--ज्योतिष्क--वैमानिका, विशेपतश्चाऽसुरकुमारादिदशविधभवनपतय, अष्टविधाश्च--किंनरादयो वानव्यन्तरा, चन्द्र--सूर्यादय पञ्चविधा ज्योतिष्का, सौधर्मादिद्वादशविधा कल्पोपपन्नका वैमानिकदेवा. नवग्रैवेयकपञ्चानुत्तरौपपातिकाश्च कल्पातीना वैमानिका देवा, प्ररूपिता सम्प्रति--तेषु देवेषु केषा देवाना कियत्यो लेश्या--भवन्तीति प्रतिपादयितुमाह "भवणवइ वाणमंतराणं आदिल्लाओ चत्तारि लेस्सा. जोइसियाणं तेउलेस्सा,वेमाणियाणं उवरिमा तिण्णि लेस्सा य--"इति । भवनपति--वानव्यन्तराणाम् देवानाम् आद्याश्चतस्र खलु लेश्या कृष्ण--नील--कापोत--तेजोरूपा लेश्या भवन्ति ज्योतिष्काणा देवाना केवलमेका तेजोलेश्या भवति वैमानिकाना कल्पो-पपन्नकाना सौधर्मादिद्वादशविधानम्. कल्पातीतानाञ्च--नवग्रैवेयकपञ्चानुत्तरौपपातिकाना च देवानाम्, उपरितन्योऽन्तिमास्तिस्र खलु लेश्या -- तेज पद्मशुक्लरूपा लेश्या भवन्ति।

असुरकुमार आदि दस भवनपति देवो मे तथा किन्नर आदि आठ प्रकार के वानव्यन्तर देवो मे प्रारम्भ की चार लेश्याएँ--कृष्ण, नील, कापोत और तेज पाई जाती है । चन्द्र सूर्य आदि ज्योतिष्क देवों मे एक मात्र तेजोलेश्या होती है और बारह कल्पोपपन्न, नौ ग्रैवेयक एव पाँच अनुत्तरौपपातिक देवो मे अन्तिम तीन लेश्याएँ--तेज, पद्म और शुक्ल, पाई जाती है । ॥२२॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति--पहले देवो के सामान्य रूप से चार भेद कहे गए--भवनपति, वान-व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक । तत्पश्चात् भवनपतियो के असुरकुमार आदि दस भेद, वान-व्यन्तरो के किन्नर आदि आठ भेद, ज्योतिष्को के चन्द्र--सूर्य आदि पाँच भेद और, कल्पोपपन्न वैमानिको के बारह भेद, ग्रैवेयको के नौ भेद और अनुत्तरौपपातिको के पाँच भेद बतलाये गये है। अब यह प्रतिपादन करते है कि उन देवों में कितनी--कितनी भावलेश्याएँ होतीं है ?

भवनपतियो और वानव्यन्तरो मे आदि की चार लेश्याए, ज्योतिष्को मे तेजोलेश्या और वैमानिको में अन्त की तीन लेश्याए पाई जाती है । भवनपतियों और वानव्यन्तरो मे कृष्ण, नील, कापोत और तेजोलेश्या ये चार लेश्याए है ।

सौधर्म आदि बारह प्रकार के कल्पोपपन्नक और कल्पातीत नवग्रैवेयक एव पाँच अनु-त्तरौपपातिक वैमानिक देवों में अन्त की तीन अर्थात् तेज, पद्म और शुक्ल नामक लेश्याएं होती है

तत्र सौधर्मे–शानयोस्तावत् तेजो लेश्या भवति । सनत्कुमार–माहेन्द्र ब्रह्मलोकेपु च पद्मलेश्या भवति । लान्तक–महाशुक्र–सहस्रारा–ऽऽनत–प्राणता–ऽऽरणाऽच्युतनवग्रैवेयकाणामेका-शुक्ला लेश्या भवति । ऊपर्युपरि पुनस्ता लेश्या विशुद्धतरा अवसेया । पञ्चानुत्तरोपपातिकेषु च परमशुक्ललेश्या भवति,

"उक्तञ्च स्थानङ्गे १–स्थाने ५१–सूत्रे–"भवणवइ–वाणमंतराणं चत्तारि लेस्साओ, जोइसियाणं एगा तेउलेस्सा, वेमाणियाणं तिन्नि उवरिमलेस्साओ–" इति । भवनपति–वानव्यन्तराणां चतस्रो लेश्या, ज्योतिष्काणामेका तेजोलेश्या, वैमानिकाना तिस्र उपरितनलेश्या इति । तत्राऽऽद्याश्चतस्र कृष्णनीलकापोततेजो लेश्या भवनपति–वानव्यन्तराणा देवानामवसेया । ज्योतिष्काणां–चन्द्रसूर्यग्रहनक्षत्रतारारूपाणा तेजोलेश्या एवाऽवगन्तव्या । तत्र–सौधर्मैशानयोस्तेजोलेश्या सनत्कुमार–माहेन्द्र–ब्रह्मलोकाना पद्मलेश्या, शेषाणां शुक्ललेश्या उत्तरोत्तर विशुद्धाश्च ता लेश्या बोध्या ।

उक्तञ्च जीवाभिगमे ३–प्रतिपत्तौ १–उद्देशके, प्रज्ञापनाया १७–पदे–१ उद्देशेच **"सोहम्मीसाणदेवाणं कतिलेस्साओ पण्णत्ताओ ? गोयमा ! एगा तेऊलेस्सा पण्णत्ता' सणंकुमारमाहिंदेसु एगा पम्हलेस्सा एवं बंलोगेवि पम्हा, सेसेसु एका सुक्कलेस्सा, अणुत्तरोववाइयाणं एका परमसुक्कलेस्सा–"** इति

सौधर्मैशानदेवाना कति लेश्या प्रज्ञप्ता, सनत्कुमार–माहेन्द्रयो रेका पद्मलेश्या । एव ब्रह्मलोकेऽपि पद्मा, शेषेषु एका शुक्ललेश्या, अनुत्तरोपपातिकानामेका परमशुक्ला इति ॥२२॥

वैमानिकों में सौधर्म और ईशान में तेजोलेश्या पाई जाती है । सनत्कुमार, माहेन्द्र और ब्रह्मलोक मे पद्म लेश्या पाई जाती है, लान्तक, महाशुक्र, सहस्रार, आनत, प्राणत आरण और अच्युत में तथा नवग्रैवेयको और पाँच अनुत्तरौपपातिक में शुक्ललेश्या होती है । यह शुक्ललेश्या ऊपर–ऊपर अधिक विशुद्ध होती है ।

स्थानागसूत्र के प्रथम स्थान में कहा है–भवनपतियो और वानव्यन्तरो मे चार लेश्याए होती है, ज्योतिष्को में एक तेजोलेश्या होती है और वैमानिकों मे अन्त की तीन लेश्याएं होती है ।

इनमें प्रारम्भ की चार कृष्ण, नील, कापोत और तेजोलेश्या भवनपतियों और वानव्यन्तरो में होती हैं । चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, और तारा नामक पाँच ज्योतिष्कों में एक तेजोलेश्या होती है, सौधर्म तथा ईशान मे तेजोलेश्या, सनत्कुमार, माहेन्द्र और ब्रह्मलोक मे पद्मलेश्या और शेष वैमानिको में उत्तरोत्तर विशुद्ध शुक्ललेश्या होती है ।

जीवाभिगम की तीसरी प्रतिपत्ति के प्रथम उद्देशक मे तथा प्रज्ञापनासूत्र के १७ सत्रह वे पद के प्रथम उद्देशक मे कहा है–सौधर्म और ईशान देवों में कितनी लेश्याएं होती हैं ? गौतम ! एक तेजोलेश्या होती है । सनत्कुमार और माहेन्द्र में पद्मलेश्या, ब्रह्मलोक में भी पद्मलेश्या और शेष वैमानिको मे शुक्ललेश्या तथा अनुत्तरौपपातिकों में परमशुक्ललेश्या होती है ॥२२॥

मूलसूत्रम्—कप्पोववन्नगदेवाणं इंदसामाणियतायत्तीसग आयरक्खगलोगपाल परिसोववन्नग अणियाहिवइ पकिण्णग आभिजोगिय किव्विसिया दस–" ॥२३॥

छाया—"कल्पोपपन्नकदेवानाम् इन्द्र-सामानिक त्रायस्त्रिंशका-ऽऽत्मरक्षक-लोकपाल-परिषदुपपन्नका-ऽनीकाधिपति-प्रकीर्णका-ऽऽभियोगिक-किल्बिषिकाश्च दश-" ॥२३॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वं तावत् सामान्यतो विशेषतश्च चतुर्विधदेवाना भवनपति–वान-व्यन्तर–ज्योतिष्क–वैमानिकाना स्वरूपनिरूपणानन्तर तेषा चतुर्विधानामपि देवाना कृष्णनीलादि षड्लेश्या यथायथ प्ररूपिता· सम्प्रति–तेषु देवनिकायेषु चतुर्विधेष्वपि कियन्त इन्द्रसामानिक-त्रायस्त्रिंशकाऽऽत्मरक्षकलोकपालादयो भवन्तीति प्ररूपयितुं प्रथम कल्पोपपन्नकवैमानिकदेवाना-मिन्द्रादयो दशभवन्तीति प्रतिपादयति "कप्पोववन्नग०–" इत्यादि ।

कल्पोपपन्नकदेवानाम् सौधर्माद्यच्युतान्तद्वादश कल्पोपपन्नकवैमानिकदेवानामाज्ञैश्वर्यादि भोगोपभोगादिसम्पादकतया–इन्द्रसामानिकादयो दश परिवारा भवन्ति । तत्र–इन्दन्ति–अन्यदेवासाधारणाऽणिमादिगुणयोगात् परमैश्वर्यं प्राप्नुवन्तीति–इन्द्रा –१

समाने भवा· सामानिका इन्द्रस्य समान मेवा–ऽऽज्ञै–श्वर्यवर्जितमायु–र्वीर्य–परिवार–

'सूत्रार्थ–'कप्पोववन्नगदेवाणं' इत्यादि । सू० । २२ ।

कल्पोपपन्नक वैमानिक देवो मे इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, आत्मरक्षक, लोकपाल, पारिषद, अनीकाधिपति, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विपक ये दस भेद होते हे ॥२३॥

तत्त्वार्थदीपिका—पहले भवनपति, वानव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवो का सामान्य और विशेष रूप से स्वरूप बतलाया गया, तत्पश्चात् चारो प्रकार के देवो मे पाई जाने वाली कृष्ण नील आदि लेश्याओ का निरूपण किया गया । अब यह बतालाते है कि चारों देवनिकायों में से किसमें इन्द्र, सामानिक आदि कितने भेद होते है ? इस प्रश्न का समाधान करने के लिए सर्वप्रथम कल्पोपपन्नक वैमानिक देवो के इन्द्र आदि दस भेदो का प्रतिपादन करते है–

सौधर्म से लेकर अच्युत पर्यन्त बारह कल्पोपपन्नक वैमानिक देवो मे आज्ञा ऐश्वर्य आदि तथा भोगोपभोग आदि के सम्पादक रूप से इन्द्र आदि दस परिवार होते है ।

(१) इन्द्र । अन्य देवो को प्राप्त न हो सकने वाले अणिमा आदि गुणो के योग से जो इन्दन्ति अर्थात् परम ऐश्वर्य को प्राप्त होते हैं, वे इन्द्र कहलाते हैं । वह राजा के समान होता है ।

(२) सामानिक–जो इन्द्र तो न हों किन्तु इन्द्र के समान हों । अर्थात् इन्द्र के समान ही जिनका मनुष्य, विर्य परिवार भोग और उपभोग हों किन्तु इन्द्र के समान आज्ञा और ऐश्वर्य न हो, वे सामानिक देवलोक कहलाते है । उन्हें 'महत्तर भी' कहते हैं । ये देव राजा के पिता, गुरु या उपाध्याय के समान हैं,

भोगो–पभोगादिक येषामस्ति ते सामानिका उच्यन्ते महत्तरा इत्यर्थ –२ पितृगुरूपाध्यायसदृशा त्रयस्त्रिंशदेवा त्रायस्त्रिंशका' मन्त्रि–पुरोहितस्थानीया' वयस्य–सन्धानकारि–पीठमर्दादितुल्या'–३ आत्मरक्षका'–आत्मन इन्द्रस्य रक्षा येभ्यस्ते आत्मरक्षका. अङ्गरक्षकोपमाना ४। लोकपाला – लोक पालयन्तीति लोकपाला, आरक्षकसमाना, कोपाध्यक्षादिसदृशा, कोट्टपाला पत्तनरक्षका - महातलवरा । दुर्गपालसमाना लोकपाला उच्यन्ते ५ । परिषदुपपन्नका' पारिषदा ६ । अनीकाधिपतयः–पदादि हस्तिघोटकरथचरादिसप्तविधानामनीकाना सेनानामधिपतय अनीकाधिपतय दण्डस्थानीया उच्यन्ते–८ प्रकीर्णका पौरजानपदसदृशा'–८ आभियोगिका –वाहनादिकर्मणि प्रवृत्ताः दाससदृशा' उच्यन्ते ९ किल्विषिका किल्विष पाप येषामस्ति ते किल्विषा दिवाकीर्ति समानाश्चाण्डालतुल्या किल्विषिका उच्यन्ते १०

एते दश-दश तावद् इन्द्रादय सौधर्मादिषु अच्युतान्तेषु द्वादशसु वैमानिकेषु इन्द्रादयो-दशदश यथायोग्य प्रत्येक क्वचिद्द्वयो र्द्वयोर्मध्ये च भवन्तीति भाव' ॥२३॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं तावत् चतुर्विधानामपि देवानां भवनपति–वानव्यन्तरज्योतिष्क–वैमानिकानां कृष्णनीलादिषड्विधलेश्या यथायथ प्रतिपादिता सम्प्रति तेषां देवानाम् आज्ञैश्वर्यभोगोपभोगादिसम्पादनार्थ खलु यथायथेन्द्रादयो दश भवन्ति, तत्र–प्रथम कल्पोपपन्नक-

---

(३) त्रायस्त्रिंश– ये मन्त्रि और पुरोहित स्थानीय है । मित्र, पीठ मर्द आदि के समझना चाहिए

(४) आत्मरक्ष पर इन्द्र की रक्षा करने वाले, अगरक्षक के समान

(५) लोकपाल–लोक–जनता–की रक्षा करने वाले, कोषाध्यक्ष के समान अर्थचर, कोतवाल के समान देशरक्षक, दुर्गपाल के समान महातलवर देव लोकपाल कहलाते है ।

(६) पारिषद–सदस्यों के समान ।

(७) अनीकाधिपति–पैदल, हस्ती, अश्व, रथचर आदि सात प्रकार की सेनाओ के अधिपत्ति इन्हें दण्डस्थानीय भी कह सकते है ।

(८) प्रकीर्णक–नागरिक जनता के समान ।

(९) आभियोगिक–दास के समान जो वाहन आदि के काम में आते है ।

(१०) किल्विषिक– दिवाकीर्त्ति नापित के समान, चाण्डाल के समान भिन्न कोटि के देव ।

इन्द्र आदि ये दस भेद सौधर्म आदि अच्युत देव लोक तक बारहों वैमानिको में ये दसो भेद पाये जाते हैं । कहीं–कहीं दो– दो देव लोको मे ये भेद होते है ॥ २३ ॥

तत्वार्थनिर्युक्ति—इससे पहले भवनपति, वानव्यन्तर ज्योतिष्क और वैमानिक देवो की कृष्ण नील आदि छह लेश्याओ का यथायोग्य प्रतिपादन किया गया, अब इन्हीं देवों के आज्ञा, ऐश्वर्य, भोग उपभोग आदि के सम्पादन के लिए इन्द्र आदि दस भेद होते है, उन का प्रतिपादन करने केलिए प्रथम भवनपति और कल्पोपपन्नक वैमानिक देवो में होने वाले दस भेदो का प्रतिपादन

वैमानिकदेवाना प्रत्येकमिन्द्रादिदशभेदान प्रतिपादयितुमाह "कप्पोववन्नगदेवाणं [१]इंद [२]सामाणिय [३]तायत्तीसग [४]आयरक्ख [५]लोगपाल[६]परिसोववन्नग [७]अणियाहिवइ [८]पइण्णग [९]आभिओगिय [१०]किव्विसिया दस" इति । कल्पोपपन्नदेवानाम इन्द्र–सामानिक–त्रायस्त्रिशका–ऽऽत्म-रक्षक–लोकपालपरिषदुपपन्नकाऽनीकाधिपति प्रकीर्णका–ऽऽभियोगिककिल्बिषिका दश देवा प्रत्येक यथायथ भवन्ति ।

तत्रेन्द्रास्तावत् परमैश्वर्ययुक्ता सामानिकादिभेदाना नवानामधिपतय –१ सामानिकास्तु आज्ञैश्वर्यवर्जिता–ऽऽयुष्कवीर्यभोगोपभोगादिभिरिन्द्रतुल्या भवन्ति, केवलमिन्द्रत्वरूपपरमैश्वर्य–सकलकल्पाधिपतित्वञ्च सामानिकाना नास्ति । अतएवेन्द्रस्य समानस्थान भवा' सामानिका उच्यन्ते, ते च सामानिका अमात्यपितृगुरूपाध्यायमहत्तरतुल्या भवन्ति २ त्रायस्त्रिंशका खलु–मन्त्रिपुरोहितस्थानीया भवन्ति । तत्र–मन्त्रिणो राज्यकार्यभारचिन्तका पुरोहितास्तु–शान्तिक–पौष्टिकाद्याभिचारिककर्मकारिणो भवन्ति ३। आत्मरक्षका –आत्मन स्वस्येन्द्रस्य रक्षका शिरोरक्षकस्थानीया उद्यतायुधा रौद्रा पृष्ठतोऽवस्थायिनो भवन्ति–४।

लोकपालास्तु–लोकान् पालयन्तीति व्युत्पत्त्या–ऽऽरक्षकस्थानीया भवन्ति, तत्रा–ऽऽरक्षका स्वविषय(देश)सन्धिरक्षणतत्परा लोकपाला भवन्ति ५। परिषदुपपन्नका –पारिषद्या', मित्रस्थानीया

करते है–कल्पोपपन्नक देवो के इन्द्र, सामानिक त्रायस्त्रिशक आत्मरक्षक लोकपाल, परिषदुपपन्नक (पारिषद), अनीकाधिपति, प्रकीर्णक आभियोगिक और किल्विषिक ये दस–दस देव होते हैं। इनका स्वरूप इस प्रकार है–

(१) इन्द्र–जो परम ऐश्वर्य से युक्त हो और सामानिक आदि नौ का अधिपति हो।

सामानिक– जिनका आज्ञा–ऐश्वर्य इन्द्र के समान न हो, परन्तु आयु वीर्य (पराक्रम), भोग उपभोग आदि उस के समान ही हो । तात्पर्य यह है कि इन्द्र शासक होता है–उसकी आज्ञा चलती है, वह सम्पूर्ण कल्प का अधिपती होता है, यह विशेषता सामानिक देवो में नही होती, परन्तु आयु आदि मे वे इन्द्र के समान ही होते है इन्द्र राजा के सदृश है तो ये उसके अमात्य, पिता गुरु, उपाध्याय या महत्तर के समान हैं।

(३ त्रायस्त्रिश–ये मत्री और पुरोहित के सदृश है'। जो राज्य के कार्यभार की चिन्ता करते हैं–शासन सूत्र सचालित करते है। वे मत्री कहलाते है। शान्ति कर्म पुष्टि कर्म आदि करने वाले पुरोहित कहलाते है।

(४) आत्मरक्षक–जो इन्द्र के रक्षक हों, आयुध तान कर पीछे खड़े रहते हों और रौद्र हों।

(५) लोकपाल–जो लोकों का पालन करें वे लोकपाल। इस व्युत्पत्ति के अनुसार ये आत्म रक्षक स्थानीय होते है। आरक्षक वे कहलाते है जो देश की सन्धियों सीमाओं की रक्षा करते है

(६) पारिषद्य–मित्रों के समान, सभासदों के सदृश।

वयस्य तुल्या भवन्ति ६। अनीकाधिपतय सेनापतिस्थानीया दण्डनायकसदृशा, अनीकानि—तावद् हस्ति, घोटक, रथ, पदातिवाहनस्वरूपाणि–७। प्रकीर्णका'–पौरजानपदतुल्या', प्रजासदृशा इत्यर्थः–८। आभियोगिका –भृत्यस्थानीया', आभिमुख्येन योगोऽभियोग अन्याराधनेच्छया-ऽभिमुखीकृतकर्मविशेषस्तमर्हन्तीति–आभियोगिका दाससदृशाः–९। किल्बिपिका–किल्बिषं पाप चरन्तीति किल्बिषिका'–चाण्डालादिस्थानीया' भवन्ति–१० ॥सूत्र २३॥

मूलसूत्रम्—"वाणमंतरजोइसियाणं इंदसामाणियपरिसाआयरक्खगअणियाहिवइणो-पंच भवणपईणं सत्त। कप्पाईया य अहमिंदा" ॥सूत्र २४॥

छाया—"वानव्यन्तरज्योतिष्काणाम् इन्द्र १ सामानिक २, पारिषद ३, आत्मरक्षक–४ अनीकाधिपतयः पञ्च भवनपतीनां सप्त कल्पातीताश्च अहमिन्द्राः" ॥सूत्र २४॥

तत्त्वार्थदीपिका— पूर्वसूत्रे द्वादशवैमानिकानां देवानामिन्द्रादयो दशदशाऽऽज्ञैश्वर्य-भोगोपभोगादिसम्पादकतया प्ररूपिता। सम्प्रति वानव्यन्तरज्योतिष्काणा देवानामिन्द्रादय पञ्च भवन्तीति, कल्पातीतानाञ्च नव ग्रैवेयकपञ्चानुत्तरौपपातिकदेवानाम्—अहमिन्द्रत्व भवतीति च प्ररूपयितु माह—

"वाणमतरजोइसियाणं इंदसामाणियपरिसोववण्णगआयरक्खअणियाहिवइणो पंच भवणवईणं सत्त कप्पाईया य अहमिंदा"–इति।

---

(७) अनीकाधिती— सेनापति या दण्डनायक के समान। सेनाएँ अनेक प्रकारकी होती है—गजसेना, अश्वसेना, रथसेना, पदातिसेना आदि।

(८) प्रकीर्णक— जनता(प्रजा)के समान।

आभियोगिक— भृत्यो–दासो के समान, जो दूसरो का काम करने को तत्पर रहे।

(१०)किल्बिषिक–किल्बिष का अर्थ है पाप। जो देव चाण्डालो – समान घृणित समझे जाते हैं, वे किल्विषिक कहलाते है। सू ॥२३॥

सूत्रार्थ—'वाणमंतरजोइसियाणं इद' इत्यादि सूत्र २४॥ वानव्यन्तर और ज्योतिष्कों में (१) इन्द्र (२) सामानिक (३) पारिषदुपपन्नक (४) आत्मरक्षक (५) अनीकाधिपति ये पाँच देव होते हैं कल्पातीत देव सब अहमिन्द्र होते है ॥२४॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्र में बारह कल्पोपपन्न वैमानिक देवों के इन्द्र आदि दस–दस भेद, आज्ञा, ऐश्वर्य, भोग उपभोग आदि के सम्पादक रूप मे प्रतिपादन किये गये है। अब यह बतलाते है कि वानव्यन्तरो और ज्योतिष्को मे इन्द्रादि पाँच होते है नौ ग्रैवेयक देव और पाँच अनुत्तरौपपातिक देव सभी अहमिन्द्र होते है। उनमे इन्द्र आदि का कोई भेद नहीं होता। वानव्यन्तर और ज्योतिष्क देवों में ये पाँच पाँच भेद वाले देव होते है (१) इन्द्र (२) सामानिक (३) पारिषद (४) आत्मरक्षक (५) अनीकाधिपति कल्पातीत देव अहमिन्द्र होते है।

किन्नर किम्पुरुष आदि आठ वानव्यन्तरों तथा चन्द्र सूर्य आदि पाँच ज्योतिष्को मे (१) इन्द्र (२) सामानिक (३) पारिषदुपपन्नक (४) आत्मरक्षक (५) अनीकाधिपति (६) प्रकीर्णक (७) आभियोगिक और (८) किल्विषि ये आठ भेद होते है।

वानव्यन्तरज्योतिष्काणाम्- किन्नरकिम्पुरुषाद्यष्टविधवानव्यन्तरगणा चन्द्रसूर्यप्रभृतिपञ्चज्योतिष्काणाञ्च देवानां—इन्द्र—१ सामानिक २, पारिषदुपपन्नका ३ ऽऽत्मरक्षका—४ऽनीकाधिपतय· पञ्च तावद आज्ञैश्वर्यभोगोपभोगादिविधायका· सन्ति । भवनवासीनामिन्द्रसामानिकादय· सप्तदेवा तत्तदिन्द्राणामाज्ञैश्वर्यभोगोपभोगादिविधायका सन्ति किन्तु—कल्पातीताश्च नवग्रैवेयकपञ्चानुत्तरौपपातिका अहमिन्द्रा भवन्ति, अहमिन्द्रा स्वस्य स्वयमेवा—ऽऽज्ञैश्वर्यस्वामित्वभर्तृत्वपोषकत्वादिविधायका भवन्ति । इत्येव तेषामहमिन्द्रत्वमवसेयम् ।।सूत्र—२४।।

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं तावद सौधर्मेशानादिद्वादशवैमानिकदेवानामाज्ञैश्वर्यभोगोपभोगादि विधायकतया—इन्द्रादयो दश—दशदेवा प्रत्येकं प्रतिपादिता —सम्प्रति—किन्नरादिवानव्यन्तराणा चन्द्रसूर्यादिज्योतिष्काणाञ्च देवाना इन्द्रादय पञ्च—पञ्च भवन्ति, कल्पातीताना चेन्द्रादयो न भवन्तीति प्रतिपादयितुमाह—

"**वाणमंतरजोइसियाणं**"—इत्यादि । वान—व्यन्तरज्योतिष्काणाम, किन्नर—किम्पुरुषाद्यष्टविधवानव्यन्तराणाम्—चन्द्रसूर्यग्रहनक्षत्रतारापञ्चकज्योतिष्काणां देवानाम इन्द्र- सामानिकादय· प्रत्येकं पञ्च—पञ्च—आज्ञैश्वर्यभोगोपभोगादिविधायका भवन्ति ।

तेषां वानव्यन्तराणा ज्योतिष्काणाञ्चेन्द्रास्तावत् चतुर्णां सामानिकादीनामधिपतय परमैश्वर्यसम्पन्ना भवन्ति १, सामानिका पुनरिन्द्रस्य समानस्थाने भवा· सामानिका आयुष्कवीर्य—परिवार—भोगो—पभोगादि—भिरिन्द्रतुल्या भवन्ति । ते खलु सामानिका महत्तरा आमात्य—

कल्पातीत देव अर्थात् नव ग्रैवेयक तथा पाँच अनुत्तरौपपातिक अहमिन्द्र होते है । उनमें शास्य—शासकभाव नहीं है, स्वामी—सेवक का भेद नहीं है, वे स्वय ही अपने स्वामी, भर्त्ता या पोषक है । वे किसी की आज्ञा मे नहीं होते, किसी के ऐश्वर्य के विध यक नहीं होते । इस कारण उन्हे अहमिन्द्र कहते है ।।२४।।

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पहले सौधर्म ईशान आदि बारह प्रकार के वैमानिकों के अज्ञाऐश्वर्य-भोग उपभोग के विधायक रूप से इन्द्र आदि दस-दस भेद प्रतिपादन किये गये अब किन्नर आदि वानव्यन्तरो और चन्द्र-सूर्य आदि पाँच ज्योतिष्कों मे इन्द्रादि देवो के भेद बतलाते है । यहा इन्द्र आदि पाच भेद वाले देव होते है—

किन्नर किम्पुरुष आदि आठ प्रकार के वानव्यन्तरो में तथा चन्द्र—सूर्य ग्रह नक्षत्र और तारे, इन पाच ज्योतिष्क विमानो में इन्द्र सामानिक पारिषद्य आत्मरक्षक अनीकाधिपति । ये पांच प्रकार ही आज्ञा—ऐश्वर्य, भोगोपभोग के विधायक रूप में होते है ।

इस प्रकार वानव्यन्तरो और ज्योतिष्को मे इन पाच प्रकारों मे से—

(१) इन्द्र वह है जो शेष चार के अधिपति है और परम ऐश्वर्य से सम्पन्न होते है ।

(२) सामानिक—जो इन्द्र के सामान स्थान पर हो वे सामानिक आयु, वीर्य, परिवार, भोग और उपभोग आदि की अपेक्षा वे इन्द्र के ही बराबर होते है । उन्हें महत्तर, गुरु, पिता या

पितृ–गुरू–पाध्यायसदृशा अवसेया' २, पारिषद्या.–परिषदि भवा पारिषदा वयस्यसदृशा मित्रस्थानीया ३।

आत्मरक्षका'– उद्यतायुधा.–रौद्रा –पृष्ठतोऽवस्थायिन ४ अनीकाधिपतय –सेनापतिस्थानीया ५। भवनपतिदेवाना च–इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशक–लोकपालपरिषदुपपन्नका–ऽनीकाधिपत्यात्मरक्षकेति सप्त भवन्ति, तत्र सामानिकादय षट् तत्तदिन्द्रस्य–आज्ञैश्वर्यभोगोपभोगादि–विधायका. भवन्तीति।

के पुन –कल्पातीता'–१ ये केचन कल्पेभ्य. पूर्वोक्तेभ्य षोडशसौधर्मादिस्वर्गेभ्योऽतीता अतिक्रान्ता त एव–उपरितनक्षेत्रवर्तिनो नवग्रैवेयकदेवा पञ्चानुत्तरोपपातिकाश्च कल्पातीतवैमानिका.–अहमिन्द्रा, अहं–स्वयमेव स्वेषामिन्द्रा'। न तु–तेषामन्ये केचनेन्द्रा सन्ति। अतएव—तेऽहमिन्द्रा व्यपदिश्यन्ते, नापि–तेषां सामानिकादयो वानव्यन्तरा भवन्ति। ते खलु–आदिमत्रिक–मध्यमत्रिकोपरितनत्रिकेति नवग्रैवेयका, विजय–वैजयन्त—जयन्ताऽपराजि'सर्वार्थसिद्धाश्चेत्येवं पञ्चानुत्तरौपपातिकाश्च वैमानिकदेवा स्वेषा–स्वेषामाज्ञैश्वर्याधिपत्यपौरपत्यस्वामित्वभर्तृत्वपोषकत्वादिकं स्वयमेव कुर्वन्ति इत्याशय।

उपाध्याय के समान समझना चाहिए।

(३) पारिषद्य—जो मित्रों के समान हो।

(४) आत्मरक्षक–जो अपने शस्त्रास्त्रों को उद्यत रखते है, रौद्र होते है और इन्द्र की रक्षा के लिए उसके पीछे खडे रहते है।

(५) अनीकाधिपति–ये सेनापतियो के समान होते है।

भवनपति देवो के इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंशक, लोकपाल पारिषद्य, अनीकाधिपति और आत्मरक्षक ये सात आज्ञा ऐश्वर्य भोगोपभोग के विधायक होते है।

कल्पातीत देव कौन है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जो देव पूर्वोक्त सौधर्म आदि बारह कल्पों से परे है ऊपर है वे नौ प्रकार के ग्रैवेयक देव और पाँच प्रकार के अनुत्तरौप–पातिक देव कल्पातीत कहलाते है। वे सब अहमिन्द्र होते है–आप ही अपने इन्द्र है। उनका कोई अन्य इन्द्र नहीं होता। इसी कारण वे अहमिन्द्र कहलाते है। उनमें सामानिक आदि विभाग नहीं होते। ऐसे कल्पातीत देवों में नव ग्रैवेयक देव नीचे मध्य और ऊपर ऐसे तीन त्रिकों मे तीन तीन सख्या से रहते है। अनुत्तरौपपातिक देव विजय–वैजयन्त जयन्त, अपराजित और सर्वार्थ सिद्ध नामक पाँच अनुत्तर विमानों मे रहते है। वे स्वय ही अपने आज्ञा ऐश्वर्य, अधिपतित्त्व, भर्तृत्व पोषकत्व के विधायक होते है। भवनपति देवों के–इन्द्र सामानिक, त्रायस्त्रिंशक लोकपाल–पारिषद्य–अनीकाधिपति और आत्मरक्षक, ये सात आज्ञा ऐश्वर्य के विधायक होते हैं।

तथाचोक्त प्रज्ञापनाया द्वितीये स्थानपदे ३८ सूत्रे "कहि णं भंते–वाणमंतराणं" इत्ये– तस्मिन् सूत्रे "साणं साणं सामाणियसाहस्सीणं साणं साणं अग्गमहिसीणं साणं साणं परिसाणं, साणं साणं अणीयाणं, साणं साणं अणीयाहिवईणं, साण साणं आयरक्खदेव साहस्सीणं अण्णेसिंच बहूणं वाणमंतराणं देवाण य देवीण य आहेवच्चं पोरेवच्चं सामित्तं महत्तं महत्तरगत्तं आणाईसरसेणावच्चं कारेमाणा जाव विहरंति"–इति ।

"स्वासा–स्वासा सामानिकसाहस्त्रीणाम् स्वासा स्वासामग्रमहिषीणाम्–स्वेषा स्वेषा सपरिषदाम्, स्वेषां स्वेषामनीकानाम्, स्वेषा स्वेषामनोकाधिपतीनाम् स्वासां स्वासामात्मरक्षकदेवसाहस्त्रीणाम् अन्येषाञ्च बहूना वानव्यन्तराणा देवानाञ्चा–ऽऽधिपत्यम् पौरपत्यम्–स्वामित्वम्, भर्तृत्वम्, महत्तरकत्वम् आज्ञैश्वर्यसेनापत्य कर्वन्ति यावद्विहरन्तीति ॥

ततश्चा–ग्रे प्रज्ञापनायामेव २–पदे ४२ सूत्रे चोक्तम्—"कहि णं भंते ! जोइसियाणं देवाणं .. तत्थ साणं साणं विमाणावाससहस्साणं साणं साणं सामाणियसाहस्सीणं, साणं साणं अग्गमहिसीणं सपरिवाराणं साण साणं परिसाण, साणं साणं अणीयाणं, साणं साणं अणीयाहिवईणं साणं साणं आयरक्खदेवसाहस्सीणं अण्णेसिं च बहूणं जोइसियाणं देवाणं देवीणय आहेवच्चं जाव विहरंति"–इति । कुत्र खलु भदन्त ! ज्योतिष्काणा देवानाम् तत्र स्वेषा स्वेषा विमानावाससहस्त्राणाम्, स्वासा स्वासा सामानि साहस्त्रीणाम् स्वासा स्वासामग्रमहिषीणा सपरिवाराणाम्, स्वासा स्वासा परिषदाम् स्वेषा स्वेषां अनीकानाम्–स्वेषां स्वेषामनीकाधिपतीनाम्, स्वासा स्वासामात्मरक्षकदेवसाहस्त्रीणाम् अन्येषा च बहूना ज्योतिष्काणा देवानाञ्च देवीनां चा–ऽऽधिपत्य कुर्वन्तो यावद्विहरन्ति–इति ॥

उक्तञ्च भवनपतिदेवविषये प्रज्ञापनाया द्वितीये स्थानपदे २८सूत्रे "कहि णं भंते ! भव-

---

प्रज्ञापना के दूसरे स्थानपद के ३८ वे सूत्र मे "कहि णं भंते वाणमंतराणं" इस सूत्र मे कहा है—अपने–अपने सहस्रों सामानिक देवो का, अपनी–अपनी अग्रमहिषियों का, अपने–अपने पारिषद्य देवो का, अपने–अपने अनीक देवो का, अपने–अपने अनीकाधिपतियो का अपने–अपने आत्मरक्षक सेना के देवो का और भी बहुत–से वानव्यन्तर देवों का अधिपतित्व, पौरपत्य, स्वामित्व भर्तृत्व, महत्तरत्व, आज्ञा–ऐश्वर्य सेनापतित्व करते हुए विचरते है ।

प्रज्ञापना सूत्र में इसी स्थान पदके ४२वे सूत्रमे " कहि णं भंते ! जोइसियाणं" इस सूत्र में कहा है —वे अपने–अपने सहस्रो विमानावासो का, अपने–अपने सहस्रो सामानिकदेवो का अपनी–अपनी सपरिवार अग्रमहिषियो का, अपनी–अपनी परिषदो का, अपने–अपने अनीको का अपने–अपने अनीकाधिपतियो का, अपने–अपने सहस्रो आत्मरक्षक देवो का तथा अन्य भी बहुत से ज्योतिष्क देवों और देवियो का अधिपतित्व करते हुए यावत् विचरते है ।

भवनपति देवो के विषय मे इसी प्रज्ञापना सूत्र के दूसरे पद मे 'कहि णं भंते भवणवा-

णवासीणं" इति सूत्रे—तेण तत्थ साणं २, तायत्तीसाणं साणं २, लोगपालाणं साणं २, अग्गमहिसीणं, साणं साणंपरिसाणं, साणं २, अणीयाणं, साणं २, अणीयाहिवईणं साणं २, आयरक्खगदेवसाहस्सीणं अन्नेसिंच कारेमाणा जाव विहरंति इति ॥सू० २४॥

मूलसूत्रम्—"भवणवइ—वाणमंतराणं पाडिएक्कं दो इंदा जोइसियाणं दो वेमाणियाणं एगेगे" सू० ॥२५॥

छाया—"भवणपति—वानव्यन्तराणां प्रत्येकं द्वाविन्द्रौ, ज्योतिष्काणां द्वौ, वैमानिकानामेकैकः"—सूत्र ॥२५॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वं तावत् भवनपति—वानव्यन्तर—ज्योतिष्कवैमानिकदेवानां यथायथ प्रत्येकं केषां कियन्त इन्द्रादयो भवन्तीति प्ररूपितम्, सम्प्रत्यसुरकुमारादिदशविधभवनपतीना किन्नर—किम्पुरुषाद्यष्टविधवानव्यन्तराणाञ्च प्रत्येक द्वौ—द्वाविन्द्रौ भवत, ज्योतिष्काणा द्वौ, वैमानिकाना पुनरेकैकइन्द्रो भवतीति प्ररूपयितुमाह "भवणवइ—वाणमंतराण पाडिएक्कं बे इंदा, जोइसियाणं दो वेमाणियाणं एगेगे' इति। भवनपति-वानव्यन्तराणाम् असुरकुमारादिदशविधभवनवासिनाम्, किन्नराद्यष्टविधवानव्यन्तराणाञ्च प्रत्येक द्वौ—द्वाविन्द्रौ स्त.। ज्योतिष्काणां चन्द्रसूर्यग्रहनक्षत्र ताराणा द्वाविन्द्रौ चन्द्र—सूर्यौस्त। वैमानिकानान्तु—सौधर्मादीनां कल्पोपन्नकानामेकैकइन्द्र.।

सीणं' इस २८ वे सूत्रमे कहा है—अपने—अपने लाखो भवनावासो अपने २, हजारो सामानिक देवो का अपने २, त्रायस्त्रिंक देवों का अपने २, लोकपालो का अपनी अपनी अग्रमहिषियों का अपने २, पारिषद्य देवो का अपनी २,सेनाओका अपने २ अनीकाधिपतियो का अपने २ आत्मरक्षक देवो का तथा और भी बहुत से देवो काआधिपत्य आदि करते हुए रहते है। सूत्र ॥२४॥

सूत्रार्थ—'भवणवइ—वाणमंतराणं पाडिएक्कं' इत्यादि। सूत्र ॥२५॥

भवनपतियो और वानव्यन्तरो की प्रत्येक जाति में दो दो इन्द्र है, ज्योतिष्को में कुल दो इन्द्र है और वैमानिको में (एक—एक कल्प में) एक—एक इन्द्र है। सूत्र ॥ २५ ॥

तत्त्वार्थदीपिका—भवनपति, वानव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिको में इन्द्र आदि कितने २, प्रकार के होते है, यह बतलाया जा चुका है। अब असुरकुमार आदि दस प्रकार के भवनपतियो मे तथा किन्नर किम्पुरुष आदि आठ प्रकार के वानव्यन्तरो मे, प्रत्येक जाति मे दो—दो इन्द्र होते है, ज्योतिष्को में जातिवाचक कुल दो इन्द्र हैं और वैमानिको में एक—एक इन्द्र है यह प्रतिपादन करते है।

असुरकुमार आदि दस प्रकार के भवनवासियो में और किन्नर आदि आठ प्रकार के वानव्यन्तरो में प्रत्येक जाति में दो—दो इन्द्र होते है। चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, और तारे इन पाँच प्रकार के ज्योतिष्को में केवल जातिवाचक दो इन्द्र—चन्द्र और सूर्य—होते है। सौधर्म-आदि प्रत्येक वैमानिक देवों मे एक—एक इन्द्र होता हैं। सौधर्मकल्प में शक्र इन्द्र है,

तत्र–सौधर्मे शक्र, ईशाने–ईशान, तन्नाम्ना इन्द्र । आनत–प्राणतयो प्राणत आरणाच्युत-योरच्युत ॥सूत्र॥२५॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वोक्तेपु चतुर्विधेपु भवनपतिवानव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकदेवेपु कुत्र तावद् एकैकइन्द्र –२ कुत्रवा–द्वौ-द्वाविन्द्रौ स्त –१ इतिप्ररूपयितु प्रथम भवनपतिवानव्यन्तरगणा देवाना प्रत्येकं द्वौ-द्वाविन्द्रौ भवत ज्योतिष्काणा वैमानिकानामेकैकइन्द्र इतिप्ररूपयितुमाह' **'भवण-वइवानमतराणं पाडिएक्कं वे इंदा, । जोइसियाणं दो वेमाणियाणं एगेगे–"** इति। भवनपतिवा-नव्यन्तराणाम्–असुरकुमारादिदशविधभवनवासिनां किन्नरादि–अष्टविधवानव्यन्तराणाञ्च प्रत्येक द्वौ द्वाविन्द्रौ भवत । तत्र–भवनवासिष्वसुरकुमाराणा चमरो वलीश्चेत्येव द्वाविन्द्रौ स्त, नागकुमाराणा-धरणो भूतानन्दश्च ।

विद्युत्कुमाराणा हरिर्हरिसहश्च, । सुपर्णकुमाराणा वेणुदेवौ वेणुदाली च, अग्निकुमाराणाम् अग्निशिखो-ऽग्निमाणवश्च, वायुकुमाराणा वेलम्व प्रभश्च, द्वीपकुमाराणा–पूर्णो वशिष्टश्च, दिक्-कुमाराणाञ्चा–ऽमितगति –अमितवाहनश्चेति- ।

वानव्यन्तरेष्वपि–किन्नराणा किन्नर –किम्पुरुषश्चेत्येव द्वाविन्द्रौ, किम्पुरुपाणा सत्पुरुपो महापुरुषश्च, महोरगाणाम् अतिकायो महाकायश्च, गन्धर्वाणा गीतरति गीतयशश्च, यक्षाणा

ईशान कल्प में ईशान इन्द्र है, (यावत्) आनत–प्राणत मे प्राणत इन्द्र है, आरण–आच्युत कल्पो में अच्युत नामक इन्द्र है ॥२५॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—भवनवासी, वानव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक, इन पूर्वोक्त चार प्रकार के देवों मे से किनके एस–एक इन्द्र है। और किनके दो–दो इन्द्र है। यह प्रतिपादन करने के लिए कहते है कि भवनवासी और वानव्यन्तरो मे प्रत्येक जाति के दो–दो इन्द्र होते है, ज्योतिष्कों में जातिवाचक दो ही इन्द्र है और वैमानिको मे प्रत्येक कल्प मे एक–एक इन्द्र है—

असुरकुमार आदि दस प्रकार के भवनवासियो में दो–दो इन्द्र है, किन्नर आदि आठ प्रकार के वानव्यन्तरो में भी दो–दो इन्द्र हैं।

असुरकुमारों में चमर और वलि नामक दो इन्द्र है। नागकुमारो मे धरण और भूता-नन्द नामक दो इन्द्र हैं। विद्युत्कुमारो में हरि और हरिसह, सुपर्णकुमारो मे वेणुदेव और वेणुदाली, अग्निकुमारों मे अग्निशिख और अग्निमाणव, वायुकुमारो में वेलम्ब और प्रभजन, द्वीपकुमारो में पूर्ण और विशिष्ट, उदधिकुमारो में जलकान्त और जलप्रभ, दिक्कुमारो मेंअमितगति और अमितवाहन नामक इन्द्र है। स्तनितकुमारों में घोष और महाघोष नामक दो इन्द्र है।

वानव्यन्तरों मे—किन्नरों में किन्नर और किम्पुरुष, किम्पुरुषो मे सत्पुरुष और महा-पुरुष, महोरगो में अतिकाय और महाकाय, गन्धर्वों में गीतरति और गीतयश, यक्षों मे पूर्ण-

पूर्णभद्रौ माणिभद्रश्च । राक्षसाणां–भीमो महाभीमश्च, भूतानां प्रतिरूपो-ऽतिरूपश्च, पिशाचाना-कालो महाकालश्चेति,

ज्योतिष्काणाञ्च चन्द्रसूर्यग्रहादीनां बहवश्चन्द्रा' सूर्याश्चेन्द्रा'सन्ति । वैमानिकानां पुन.क-ल्पोपपन्नकानामेकैक इन्द्रो भवति- । तत्र–सौधर्मे शक्र , ऐशाने–ईशान , सनत्कुमारे–सनत्कुमारः, माहेन्द्रे माहेन्द्रः, ब्रह्मलोके ब्रह्मा, लान्तके–लान्तक', महाशुक्रे–महाशुक्र । सहस्रारे-सहस्रार', द्वयोरप्यानत-प्राणतयोःप्राणतनामा–एकएवेन्द्र । आरणाच्युतयोश्च द्वयोरच्युतनामा–एक एवेन्द्रो भवति । अच्युतात्परतो नवग्रैवेयकेषु विजयादिपु पञ्चानुत्तरौपपातिकेपु चेन्द्रादयो न भवन्ति, सर्वे एव ते कल्पातीता स्वतन्त्रत्वाद् अहमिन्द्रा भवन्ति प्रायशो गमनागमनरहिताश्च- ।

"उक्तञ्च–स्थानाङ्गे २–स्थाने ३–उद्देशके—"दो असुरकुमारिंदा पण्णत्ता,तंजहा—चमरेचेव, बलीचेव, दो नागकुमारिंदा पण्णत्ता, तंजहा—धरणे चेव भूयाणंदे चेव, दो सुवण्णकुमारिंदा पण्णत्ता, तंजहा–वेणुदेवेचेव वेणुदालीचेव, दो विज्जुकुमारिंदा पण्णत्ता, तं जहा—हरिच्चेव हरिसहेचेव, दो अग्गिकुमारिंदा पण्णत्ता, तं जहा—अग्गिसिहे चेव-अग्गिमाणवे चेव, दो दीवकुमारिंदा पण्णत्ता, तं जहा—पुन्नेचेव विसिट्ठेचेव, दो उदहि कुमारिंदा पण्णत्ता, तं जहा— जलकंतेचेव-जलप्पभेचेव, दो दिसाकुमारिंदा पण्णत्ता, तं जहा–अमियगती चेव अमियवाहणे चेव, दो वातकुमारिंदा पण्णत्ता, तं जहा–वेलंबेचेव–पभंजणेचेव, दो थणियकुमारिंदा पण्णत्ता, तं जहा–घोसेचेव महाघोसेच्चेव, दो पिसाअइंदा पण्णत्ता, त जहा–काले चेव महाकाले चेव, ।

दो भूइंदा पण्णत्ता, तंजहा—सुरूवेचेव पडिरूवेचेव, दो जक्खिदा पण्णत्ता, तं जहा—पुन्नभद्देचेव मणिभद्दे चेव, दो रक्खसिंदा पण्णत्ता, तंजहा–भीमेचेव महाभीमे-

---

भद्र और मणिभद्र, राक्षसो में भीम और महाभीम, भूतो मे प्रतिरूप और अतिरूप तथा पिशाचो में काल और महाकाल नामक दो इन्द्र है ।

ज्योतिष्कोमें–चन्द्र, सूर्य और ग्रह आदि में चन्द्र और सूर्य नामक दो इन्द्र है । और सूर्य बहुत से है । अतः जातिवाचक दो इन्द्र है ।

कल्पोपपन्नक वैमानिको मे प्रत्येक कल्प में एक–एक इन्द्र है । सौधर्म में शक्र, ऐशान में ईशान, सनत्कुमार में सनत्कुमार, माहेन्द्र मे माहेन्द्र, ब्रह्मलोक में 'ब्रह्म' लान्तक में लान्तक, महाशुक्र में महाशुक्र, सहस्रार मे सहस्रार, आनत—प्राणत नामक दोनों कल्पों में एक प्राणत आरण और अच्युत कल्पों में एक अच्युत नामक इन्द्र है ।

अच्युतकल्प से आगे नौ ग्रैवेयको मे और पाँच अनुत्तर–विमानो मे इन्द्र आदि का भेद नहीं है, वे कल्पातीत हैं । वहाँ के सभी देव स्वतन्त्र होने के कारण 'अहमिन्द्र हैं और वे प्राय गमन–आगमन से रहित हैं–इधर–उधर आवागमन नहीं करते हैं ।

स्थानागसूत्र के दूसरे स्थान के तीसरे उद्देशक मे कहा है—

चेव, दो किन्नरिंदा पण्णत्ता, तं जहा—किन्नरेचेव किंपुरिसेचेव, दो किंपुरिसा पण्णत्ता, तं जहा—सप्पुरिसेचेव महापुरिसेचेव, दो महोरगिंदा पण्णत्ता, तंजहा—अतिकाए चेव महाकाएचेव, दो गंधव्विदा पण्णत्ता, तंजहा— गीतरतीचेव गीयजसेचेव—,, इति–।

द्वावसुरकुमारेन्द्रौ प्रज्ञप्तौ, तद्यथा चमरश्चैव-बलिश्चैव, द्वौ नागकुमारेन्द्रौ प्रज्ञप्तौ, तद्यथा धरणश्चैव-भूतानन्दश्चैव, द्वौ सुपर्णकुमारेन्द्रौ प्रज्ञप्तौ, तद्यथा वेणुदेवश्चैव-वेणुदालीचैव, द्वौ विद्युत्कुमारेन्द्रौ प्रज्ञप्तौ. तद्यथा हरिश्चैव–हरिसहश्चैव, द्वावग्निकुमारेन्द्रौ प्रज्ञप्तौ, तद्यथा अग्निशिखश्चैव अग्निमाणवश्चैव, द्वौ द्वीपकुमारेन्द्रौ प्रज्ञप्तौ, तद्यथा पूर्णश्चैव–वशिष्ठश्चैव, द्वावुदधिकुमारेन्द्रौ प्रज्ञप्तौ, तद्यथा जलकान्तश्चैव–जलप्रभश्चैव,

द्वौ दिक्कुमारेन्द्रौ प्रज्ञप्तौ, तद्यथा अमितगतिश्चैव–अमितवाहनश्चैव, द्वौ वायुकुमारेन्द्रौ प्रज्ञप्तौ, तद्यथा वेलम्बश्चैव–प्रभञ्जनश्चैव, द्वौ स्तनितकुमारेन्द्रौ प्रज्ञप्तौ, तद्यथा–घोषश्चैव–महाघोषश्चैव, द्वौ पिशाचेन्द्रौ प्रज्ञप्तौ, तद्यथा–कालश्चैव–महाकालश्चैव, द्वौ भूतेन्द्रौ प्रज्ञप्तौ, तद्यथा–सुरूपश्चैव–प्रतिरूपश्चैव, द्वौ यक्षेन्द्रौ प्रज्ञप्तौ, तद्यथा–पूर्णभद्रश्चैव–माणिभद्रश्चैव, द्वौ राक्षसेन्द्रौ प्रज्ञप्तौ, तद्यथा–भीमश्चैव,–महाभीमश्चैव, द्वौ किन्नरेन्द्रौ प्रज्ञप्तौ, तद्यथा–किन्नरश्चैव–किम्पुरुषश्चैव, द्वौ किम्पुरुषेन्द्रौ प्रज्ञप्तौ, तद्यथा–सत्पुरुषश्चैव—महापुरुषश्चैव, द्वौ महोरगेन्द्रौ प्रज्ञप्तौ, तद्यथा–अतिकायश्चैव–महाकायश्चैव, द्वौ गन्धर्वेन्द्रौ प्रज्ञप्तौ, तद्यथा–गीतरतिश्चैव–गीतयशाश्चैव, इति ॥ २५ ॥

मूलसूत्रम्—"ईसाणंता देवा कायपरियारणा अच्चुयंता फासरूवसद्दमणपरियारणा कप्पाईया अपरियारणा य–" ॥२६॥

'दो असुरकुमारेन्द्र कहे गये है–चमर और बलि। दो नागकुमारेन्द्र कहे गये हैं–धरण और भूतानन्द। दो सुवर्णकुमारेन्द्र कहे गये हैं–वेणुदेव और वेणुदाली। दो विद्युत्कुमारेन्द्र कहे गये है–हरि और हरिस्सह। दो अग्निकुमारेन्द्र कहे गये है–अग्निशिख और अग्निमाणव। दो द्वीपकुमारेन्द्र कहे गये है–पूर्ण और विशिष्ट। दो उदधिकुमारेन्द्र कहे गये है–जलकान्त और जलप्रभ, दो दिशाकुमारेन्द्र कहे गये है–अमितगति और अमितवाहन। वायुकुमारो के दो इन्द्र कहे गये है–वेलम्ब और प्रभजन। स्तनितकुमारो के दो इन्द्र कहे गये है–घोष और महाघोष।

वानव्यन्तरो में पिशाचो के दो इन्द्र हैं–काल और महाकाल, भूतों के दो इन्द्र है–सुरूप और प्रतिरूप, यक्षों के दो इन्द्र है–पूर्णभद्र और माणिभद्र, राक्षसो के दो इन्द्र है–भीम और महाभीम, किन्नरो के दो इन्द्र हैं–किन्नर और किंपुरुष, किंपुरुषो के दो इन्द्र है–सत्पुरुष और महापुरुष। महोरगों के दो इन्द्र हैं- अतिकाय और महाकाय, गन्धर्वों के दो इन्द्र है–गीतरति और गीतयश' ॥२५॥

छाया— "ईशानान्ता देवाः कायपरिचारणा अच्युतान्ताः स्पर्शरूपशब्दमन. परिचारणाःकल्पातीताः-अपरिचारणाश्च" ॥ २६ ॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे भवनपत्यादिसर्वार्थसिद्धपर्यन्तदेवेषु यथायोग्यमिन्द्राणा प्ररूपणं कृतम्, सम्प्रति–देवाना तेषा विषयसुखभोगप्रकारमाह—"ईसाणंता–" इत्यादि ।

ईशानान्ता —असुरकुमारादिदशभवनपतिकिन्नरप्रभृत्यष्टवानव्यन्तरचन्द्रसूर्यादिपञ्चज्योतिष्कसौधर्मेशाना देवास्तावत् कायपरिचारणा, परिचारण प्रवीचार मैथुनोपसेवनम् कायेन–शरीरेण परिचारण येषां ते कायपरिचारणा' कायप्रवीचारा मनुष्यवत् शरीरेण विषयोपभोग कुर्वन्ति । किन्तु–अच्युतान्ता –सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्मलोक, लान्तक, महाशुक्र–सहस्रारा–ऽऽनत,–प्राणता–ऽऽरणा,–च्युतान्ता दशवैमानिका कल्पोपपन्नका देवा —स्पर्श–रूप–शब्द–मन – परिचारणा' स्पर्श–रूप–शब्द–मन'सु परिचारण प्रवीचारो येषा ते तथाविधा भवन्ति । तत्र–सनत्कुमारमाहेन्द्रकल्पस्थिता देवा देवाङ्गना स्पर्शमात्रादेव विषयभोगसुखमनुभवन्त परा प्रीतिमुपलभन्ते । एव–तद्द्वयकल्पस्थिता देव्योऽपि तथैव–देवाङ्गस्पर्शमात्रादेव विषयोपभोगसुखमनुभवन्ति ।

ब्रह्मलोक–लान्तक–देवाश्च देवाङ्गनाना शृङ्गारपूर्णविलास मनोज्ञवेषभूषारूपाऽवलोकनमात्रादेव विषयोपभोगसुखमनुभवन्ति महाशुक्र–सहस्रारकल्पस्थिता देवास्तु–दिव्याङ्गनाना मनोहारिमधुरसङ्गीतमृदुमन्दहासोल्लासकलितललिताभरणवचनालापश्रवणमात्रादेव परा प्रीतिमासादयन्ति ।

सूत्रार्थ— 'ईसाणंता देवा कायपरियारणा' इत्यादि ॥सूत्र–२६॥

ईशानकल्प तक के देव काय से परिचारणा करते है, अच्युतकल्प तक के देव स्पर्श, रूप, शब्द और मन से परिचारणा करते हैं, कल्पातीत देव परिचारणा रहित होते है ॥२६॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्र में भवनपति से लेकर सर्वार्थसिद्ध पर्यन्त के देवो मे यथायोग्य इन्द्रो की प्ररूपणा की गई है । अब देवों मे विषयसुख को भोगने का प्रकार बतलाते है–

असुरकुमार आदि दस भवनपति, किन्नर आदि आठ वानव्यन्तर, चन्द्र–सूर्य आदि पाँच ज्योतिष्क तथा सौधर्म और ईशान देवलोक के देव काय से मनुष्यो के समान प्रवीचार अर्थात् मैथुनसेवन करते है । सनत्कुमार, माहेन्द्र ब्रह्मलोक, लान्तक, महाशुक्र, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत पर्यन्त दस देवलोको के वैमानिक स्पर्श, रूप, शब्द और मन से प्रवीचार करते है । अर्थात् सनत्कुमार और माहेन्द्र कल्प के देव देवांगनाओ के स्पर्शमात्र से विषयभोग के सुख का अनुभव करके परम प्रीति प्राप्त करते है । इसी प्रकार इन दोनो कल्पो मे आने वाली देवियाँ देवो के स्पर्श से ही विषयसुख का अनुभव करती है । ब्रह्मलोक और लान्तक कल्प के देव देवागनाओ के शृङ्गारपरिपूर्ण विलास को, मनोज्ञ वेषभूषा को तथा रूप को देखने मात्र से रतिजन्य सुख की अनुभूति करते है । महाशुक्र

आनत–प्राणता–ऽऽरणा–ऽच्युतकल्पवासिनो देवा पुन स्वाङ्गनामन सङ्केतमात्रादेव परमसुखमनुभवन्ति कल्पातीता –नवग्रैवेयक–पञ्चानुत्तरौपपातिकास्तु अपरिचारणाश्चा–ऽविद्यमान परिचारण प्रवीचारो येषा तेऽपरिचारणा अप्रवीचारा मनसापि मैथुनसुखानुभवसहिता न भवन्ति। तेषां हि–कल्पवासिभ्योऽपि–देवेभ्य परमप्रकृष्टहर्षलक्षण विलक्षण सुखमुत्कृष्ट वर्तते, तेपा कदाचिदपि कामसम्भवाभावेन कामसम्भववेदनाप्रतीकाररूपप्रवीचारासम्भवात्. । तेपामह-मिन्द्रत्वादनवच्छिन्नसुखस्यैव सर्वदा सद्भावात् ॥२६॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः— पूर्व तावद् भवनपत्यादिसर्वार्थसिद्धपर्यन्ताना चतुर्विधदेवाना यथायथ-मिन्द्रादयः प्रतिपादिता' , सम्प्रति–ते खलु सर्वे देवास्त्रिधा भवन्ति केचन–सदेविका'–सप्रवी-चाराश्च, केचन पुनरदेविका'–सप्रवीचाराश्च, अन्ये पुन'–अदेविका अप्रवीचाराश्चेत्येवं त्रिविधा-नपि तान्देवान् क्रमशः प्ररूपयितुमाह **"ईसाणंता देवा कायपरियारणा, अच्चुयंता फास–रूव–सद्दमणपरियारणा,कप्पाईया अपरियारणा य–,,** इति । तत्र–ईशानान्ता —असुरकु-मारादिदशभवनपतिमारभ्येशानपर्यन्ता पञ्चविंशतिसख्यका देवा. कायपरिचारणा.–कायेन परि-

---

और सहस्रार कल्प में स्थित देव देवियो के मनोहर एव मधुर सगीत, मृदु मद मुस्कराहट से युक्त आभूषणों की ध्वनि तथा वचनालाप को श्रवण करके ही काम की तृप्ति प्राप्त कर लेते है।

आनत, प्राणत, आरण और अच्युत कल्पो के देव अपनी–अपनी देवियो के मन के सकल्प मात्र से ही कामभोग सबधी परम सुख का अनुभव करते हैं।

नौ ग्रैवेयको और पाँच अनुत्तर विमानो के कल्पातीत देव प्रविचारणा रहित होते है अर्थात् वे मन से भी मैथुन सेवन नहीं करते है।

उन कल्पातीत देवो को कल्पोपपन्नक देवो की अपेक्षा भी परमोत्कृष्ट हर्ष रूप सुख प्राप्त रहता है जो विषय जनित सुख से भी उत्तम कोटि का और विलक्षण होता है। उनका वेदमोहनीय इतना उपशान्त रहता है कि उनमें कामवासना उत्पन्न ही नहीं होती और जब कामवासना ही उत्पन्न नहीं होती तो कामवेदना का प्रतीकार करने के लिए प्रवीचार का विचार भी किस प्रकार उत्पन्न हो सकता है, उन अहमिन्द्र देवो को निरन्तर सन्तोष का सुख ही होता रहता है ॥२६॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पहले भवनपतियो से लेकर सर्वार्थसिद्ध तक के चार प्रकार के देवो के यथायोग्य इन्द्र आदि का विचार किया गया है। अब यह प्रतिपादन करते हैं कि वे सब देव तीन प्रकार के होते हैं। कोई–कोई सदेवीक (देवियो वाले) और सप्रवीचार, कोई अदेवीक और सप्रवीचार और कोई–कोई अदेवोक और अप्रवीचार। इन तीनो प्रकार के देवों की क्रमश' प्ररूपणा करते है—

असुरकुमार आदि दस भवनयतियो से लेकर ईशान तकके पच्चीस प्रकार के देव काय-

चारणं प्रवीचारो मैथुनोपसेवनं येषां ते कायपरिचारणा., ते खलु सक्लिष्टकर्माणो मनुष्यवदेव मैथुन-सुखमनुभवन्तस्तीव्रानुशया. कायसक्लेशजन्य सर्वाङ्गीण स्पर्शसुखमवाप्य परमा प्रीतिमुपलभन्ते तेष्वेव भवनवासिवानव्यन्तरज्योतिष्कसौधर्मेशानकल्पेषु जन्मना देवीनामुत्पादात् , न तु—तत.परत —

अतएव ते सदेवीकाः सप्रवीचाराश्च भवन्ति सौधर्मेशानौ वर्जयित्वाऽच्युतान्ता' सनत्कुमार-माहेन्द्र—ब्रह्मलोक—लान्तक—महाशुक्र—सहस्रारा—ऽऽनत—प्राणता—ऽऽरणा ऽच्युता दशवैमानिका कल्पोपपन्नका देवास्तु स्पर्शरूप—शब्द—मन·परिचारणा., स्पर्श—रूप—शब्द—मन·सु परिचारण प्रवीचारो विषयभोगोपभोगो येषां ते स्पर्शरूपशब्दमन.परिचारणा स्तथाविधा भवन्ति ।

तत्र—सनत्कुमार—माहेन्द्रकल्पयो र्देवान् मैथुनसुखाभिलाषिण प्रादुर्भूतादरान अवबुध्या-ऽनाहूता' सत्योऽपि सौधर्मेशानदेव्य' स्वयमुद्यम्योपस्थिता भवन्ति ब्रह्मलोक—लान्तकस्थदेवास्तु—तथाविधमैथुनसुखप्रेप्सून् बुद्ध्वादेव्य स्तत्र स्वयमुपस्थाय दिव्यानि सर्वाङ्गसुन्दराणि शृङ्गार—हाव—भाव विलासोल्लासपूर्णपरम—रमणीयवेष—भूषा रूपाणि प्रदर्शयन्ति ।

तानि चाऽवलोक्यैव ते देवा निवृत्तकामभोगेच्छा. सन्त. परमां प्रीतिमासादयन्ति महाशुक्र-सहस्रारकल्पवासिनो देवान् समुत्पन्नकामभोगेच्छान् विदित्वा तास्ता देव्यस्तावत् श्रुतिसुखजन-कान् मनोहारिसङ्गीता—ऽऽभरण—नूपुर—मञ्जीरादिक्वणनमिश्रितमधुरहासोल्लासवचनालापानुदीर-

---

प्रवीचार होते हैं, अर्थात् शरीर से मैथुनक्रिया करते है । वे सक्लिष्ट कर्मों वाले होते है, अतः मनुष्य के समान मैथुनसुख का अनुभव करते हुए, तीव्र आशय वाले हो कर शारीरिक सक्लेश से उत्पन्न स्पर्शसुख को प्राप्त करके प्रीति प्राप्त करते है । इन्हीं भवनवासियो, वानव्यन्तरो, ज्योतिष्को और सौधर्म तथा ईशान कल्प में ही देवियां (उत्पन्न) होती है । दूसरे कल्प से ऊपर देवियां उत्पन्न नहीं होती है । अतएव इन देवलोकों को सदेवीक और सप्रवीचार कहते है ।

सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्मलोक, लान्तक, महाशुक्र, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण, अच्युत— ये दस कल्पोपपन्न वैमानिक देव स्पर्श, रूप शब्द और मन से प्रवीचार अर्थात् मैथुनसेवन करते है ।

सनत्कुमार और माहेन्द्र कल्प में देवियां अपने देवोंको मैथुन—सुख का अभिलाषी जान कर तथा अपने प्रति आदर उत्पन्न हुआ समझकर विना बुलाये ही स्वय उपस्थित हो जाती है ।

ब्रह्मलोक और लान्तक कल्प मे देवियाँ जब अपने देवोको मैथुनसुख का इच्छुक जानती है तो वे स्वय उपस्थित होकर अपने दिव्य, सर्वांगसुन्दर हाव—भाव—विलास—उल्लास से पूर्ण परम रमणीय वेष—भूषा एव रूप को प्रदर्शित करती है । उसे देखकर उन देवो की कामेच्छा शान्त हो जाती है और वे अतिशय प्रीति का अनुभव करते है ।

महाशुक्र और सहस्रार कल्प के देवो को जब कामेच्छा उत्पन्न होती है तो उनकी नियोगिनी देवियाँ यह जान कर श्रोत्रो को सुख पहुँचाने वाले. मनोहर सगीत का गान करती

यन्ति, तान्—श्रुत्वैव खलु ते देवा. परमा प्रीतिभजमाना' निवृत्तकामभोगादरा भवन्ति ।
आनत—प्राणता—ऽऽरणा—ऽच्युतकल्पस्थिता देवा' पुन.——कामभोगादरा सन्तो देवी. सङ्कल्पयन्ति, तासां सङ्कल्पमात्रेणैव परमा प्रीतिमासदयन्तो निवृत्तेच्छा भवन्ति अतएव—तेऽदेवीका सप्रवीचारा श्चोच्यन्ते, तत.परं तु कल्पातीता' खलु नवग्रैवेयक—पञ्चानुत्तरौपपातिका देवा देवी—विषयमन'सङ्कल्पशून्या भवन्ति, मनसाऽपि ते देवा—देवीं न सङ्कल्पयन्ति, किमुत—कायादिना [वक्तव्यम्—] तेषा कामवासनारहितत्वात्—पूर्णसुखित्वाच्च नाभिलाषो देवाङ्गनाकाम-भोगेषु सम्भवन्ति ।

यतस्तएते—रूपरसादिपञ्चविधप्रवीचारसमुदायोत्पन्नादपि सुखविशेषादपरिमितगुणप्रतिप्र-कर्षा' परमसुखतृप्ता स्वसमाधिजमेव सुखमुपभुञ्जते । दुर्लभतर हि तादृक् सुख ससारेऽन्य-निवासेषु, अतस्ते जन्मप्रभृत्या शब्दादिविषयनिरपेक्षत्वात् सन्तत तृप्ता एव भवन्ति ।

उक्तञ्च—प्रज्ञापनायां ३४—पदे प्रचारणाविषये—"**कतिविहा णं भंते ! परियारणा-पण्णत्ता ? गोयमा ! पंचविहा पण्णत्ता, तंजहा-कायपरियारणा, फासपरियारणा, रूव-परियारणा, सद्दपरियारणा, मणपरियारणा, भवणवासिवाणमंतरसोहम्मीसाणेसु कप्पेसु देवा कायपरियारणा, सणंकुमारमाहिंदेसु कप्पेसु देवा फासपरियारणा, बंभलो-**

है । सगीतशब्द तथा उनके नूपुर मजरी आदि आभूषण के शब्द को सुन कर और मधुर हास—उल्लास से परिपूर्ण वचनो को सुन कर वे देव तृप्त हो जाते है । उनकी कामाभिलाषा शान्त हो जाती है ।

आनत, प्राणत, आरण और अच्युत कल्पो में स्थित देव कामभोग के अभिलाषी होकर अपनी देवियों का सकल्प चिन्तन करते है । देवियो का सकल्प करने मात्र से ही वे परम प्रीति प्राप्त कर लेते है और कामतृप्ति का अनुभव करते है । ये देव अदेवीक और सप्रवीचार कहलाते है ।

इससे ऊपर — ग्रैवेयको और अनुत्तर विमानो के देव कामभोग की इच्छा से रहित होते है । उनके चित्र में देवियो का सकल्प भी नहीं उत्पन्न होता है—काम आदि से प्रवीचार करने का तो प्रश्न ही नहीं उठता ? वेदमोहनीय के उपशान्त हो जाने से इतने सुखी होते है कि कामसेवन की इच्छा हो उनके मन में जागृत नहीं होती ।

रूप, रस, स्पर्शादि पाँच प्रकार विषय का सेवन करने से जो सुख उत्पन्न होता है, उसकी अपेक्षा उन्हें अपरिमितगुणित सुख का अनुभव होता है, उस परम सुख मे वे तृप्त रहते हैं । इस प्रकार वे कल्पातीत देव आत्मसमाधिजनित सुख का उपभोग करते रहते है । उन्हें जो सुखानुभव होता है वह इस ससार मे अन्यत्र अत्यन्त दुर्लभ है । इस कारण वे इन्द्रियजनित स्पर्श शब्द आदि विषयों के सुख की अपेक्षा नहीं करते और सदैव तृप्त रहते है ।

यलंतगेसु कप्पेसु देवा रूवपरियारणा, महासुक्कसहस्सारेसु कप्पेसु देवा सद्दपरियारणा, आणय–पाणय–आरण–अच्चुएसु कप्पेसु देवा मणपरियारणा, गेवेज्ज अणुत्तरोववाइया-देवा अपरियारणा—" इति ।

कतिविधा खलु भदन्त ! प्रचारणा प्रज्ञप्ता ? गौतम ! पञ्चविधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा—काय-प्रचारणा स्पर्शप्रचारणा रूपप्रचारणा मन प्रचारणा भवणवासि—वानव्यन्तर—ज्योतिष्क—सौधर्मै-शानेषु कल्पेषु देवा कायप्रचारणा', सनत्कुमार—महेन्द्रयोर्देवाः स्पर्शप्रचारणा,

ब्रह्मलोक—लान्तकयो कल्पयोर्देवा' रूपप्रचारणा, महाशुक्र—सहस्रारयो कल्पयोर्देवा' शब्दप्रचारणा, आनत—प्राणता—ऽऽऽरणा—ऽच्युतेपु देवा मनःप्रचारणा', ग्रैवेयकानुत्तरौपपातिका देवा अप्रचारणा इति । कल्पोपपन्नकाना—कल्पातीतानाञ्च देवानां प्रवीचारविषये चोक्तम् —

"वे काये वे फासे चउ रूवे तहेव चउ सद्दे—॥
चउरो य मणवियारा सेसा सुरवंभयारिया—॥१॥
"धादुविहीणत्ता रेदक्खलणं ण होइ देवाणं—।
संकप्पसुहं जायइ वेदस्सोदीरणाविगमे—॥ २ ॥ इति ॥
"द्वौ काये द्वौ स्पर्शे—चात्वारो रूपे तथैव चत्वारः शब्दे—।
चात्वारश्च मनोविचाराः—शेषाः सुरा ब्रह्मचारिणः—॥ १ ॥
"धातुविहीनात्वाद्—रेतःस्खलनं न भवति देवान् ।
सङ्कल्पसुखं जायते—वेदस्योदीरणाविगमे —॥ २ ॥ इति ॥ २६ ॥

प्रज्ञापना सूत्र के ३४ वें पद में प्रवीचारणा के विषय में कहा है

प्रश्न— भगवन् ! प्रवीचारणा (काम सेवन) कितने प्रकार की कही गई है ?

उत्तर — गौतम ! पाँच प्रकार की कही गइ है—कायपरिचारणा, स्पर्शपरिचारणा, रूप परिचा-रणा, शब्दपरिचारणा, और मन' परिचारणा । भवनवासि, वानव्यन्तर, ज्योतिष्क सौधर्म तथा ईशान कल्प में देव काया से परिचारणा करते हैं, सनत्कुमार और माहेन्द्र कल्पों के देव स्पर्श से परिचारणा करते है, ब्रह्मलोक और लान्तक कल्पो में रूप से परिचारणा होती है, महाशुक्र और सहास्रार कल्पों में देव शब्द से परिचारणा करते हैं, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत कल्पो में देव मन से परिचारणा करते है, ग्रैवेयकऔर अनुत्तरोपपातिक देव परिचारणा रहित होते हैं ।"

कल्पोपपन्न और कल्पातीत देवो के प्रवीचार के विषय में कहा है—

दो देवलोकों मे काय से, दो में स्पर्श से, दो में रूप से और दो में शब्द से और चार मे मन के सकल्प से प्रवीचार होता है। शेष देव परिचारणा रहित होते हैं ॥ १ ॥

देवो का शरीर सात धातुओं से रहित होता है ,,अतएव उन का वीर्य स्खलित नहीं होता जब वेद की उदीरणा दूर हो जाती है तब उन्हें सकल्प—सुख उत्पन्न होता है ॥ २ ॥ २६ ॥

मूलसूत्रम्—जोइसिया मेरुपयाहिणा कालविभागहेउणो निच्चगइया मणुस्सक्खेत्ते वाहिरए अवट्ठिया य–" ॥२७॥

छाया—ज्योतिष्का मेरुप्रदक्षिणाः कालविभागहेतवो नित्यगतयो मनुष्यक्षेत्रे बहिरवस्थिताश्च—" ॥ २७ ॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वं तावत् भवनपत्यादि सर्वार्थसिद्धपर्यन्तानां देवानां क्रमश' कायप्रवीचार–स्पर्शरूपशब्दमन प्रवीचारा–ऽप्रवीचाराश्च यथायोग्य प्रतिपादिता. सम्प्रति–ज्योतिष्काणा गतिविशेषकालविभाजकत्वादिक प्ररूपयितुमाह—"जोइसिया मेरुपयाहिणा कालविभाग हेउणो निच्चगइया मणुस्सक्खेत्ते वाहिरए अवट्ठिया य—" इति

ज्योतिष्का'—चन्द्रसूर्यग्रहनक्षत्रतारका पञ्च मेरुप्रदक्षिणा, मेरो प्रदक्षिणकारका कालविभागहेतव' समयावलिकादि कालविशेषपरिच्छेदजनकाः नित्यगतय' सर्वे ज्योतिष्का मेरुप्रदक्षिणेन गत्वा सर्वदा भ्रमन्तीति नित्यगतय., क्षणमपि तेषां गति केनाऽप्यवरोद्धु न पार्यते, ते खलु–ज्योतिष्का. मनुष्यलोकोपरिस्थितत्वात् मनुष्यक्षेत्रे सदा गतिमन्तो भवन्ति, मानुषोत्तरपर्वतात् बहिर्भागे ज्योतिष्का न भ्रमन्ति । अपितु–अवस्थिता एव तिष्ठन्ति ॥२७॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वसूत्रे–विषयोपभोगादिकं यथायोग्यं चतुर्विधानामपि भवनपत्यादि सर्वार्थसिद्धपर्यन्ताना देवाना प्रतिपादितम् सम्प्रति–ज्योतिष्काणां चन्द्रसूर्यादिदेवाना गतिस-

---

सूत्रार्थ—'जोइसिया मेरूपयाहिणा काल' इत्यादि । सूत्र २७॥

ज्योतिष्क देव मेरू पर्वत की प्रदक्षिणा देते है, दिन रात आदि काल के विभाग के कारण हैं, मनुष्य क्षेत्र में अर्थात् अढ़ाई द्वीप में निरन्तर गमन करते है और मनुष्य से बाहर स्थित हैं ॥ २७ ॥

तत्त्वार्थदीपिका—पहले बतलाया जा चुका है कि भवनवासियों से लेकर सर्वार्थ सिद्ध तक के देव काम से,स्पर्श से, रूप से, शब्द से और मन से प्रवीचार करते है और कोई–कोई प्रवीचार से रहित भी होते हैं । अब ज्योतिष्क देवों की गति और कालबिभाजकत्व आदि की प्ररूपणा करने के लिए कहते है–

चन्द्र सूर्य ग्रह, नक्षत्र और तारा, यह पाँच प्रकार के ज्योतिष्क मेरु पर्वत की परिक्रमा करते है , यही काल के विभाग के कारण है अर्थात् इनकी गती के कारण हीं समय, आवलिका आदि काल का भेद होता है, वे नित्य अर्थात् अनवरत गतिशील रहते है–क्षण भर के लिए भी उनकी गती को कोई नहीं रोक सकता । किन्तु मनुष्य क्षेत्र से बाहर अर्थात् मानुषोत्तर पर्वत के आगे वे भ्रमण नहीं करते–स्थिर रहते ह ॥ २७ ॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पूर्वसूत्र में भवनपतियों से लेकर सर्वार्थसिद्ध पर्यन्त के देवों के विषय भोग आदि का यथायोग्य प्रतिपादन किया गया है, अब ज्योतिष्क देवों की गति आदि के

ञ्चारादिविषयमधिकृत्य प्ररूप्यते—"जोइसिया मेरुपयाहिया--" इत्यादि ।

ज्योतिष्का'--चन्द्रसूर्यग्रहनक्षत्रतारका. पञ्चविधा मनुष्यक्षेत्रे—मानुपोत्तरपर्वतपर्यन्तवर्तिनि मनुष्यलोके आयामविष्कम्भाभ्यां पञ्चचत्वारिंशल्लक्षयोजनप्रमाणे मेरुप्रदक्षिणा मेरो प्रदक्षिणा नापसव्या. सन्त' मेरुपर्वतस्य प्रादक्षिण्यक्रमेण सतत भ्रमन्तो नित्यगतयो भवन्ति । काल-विभागहेतव'—समयावलिकोच्छ्वासप्रश्वासस्तोकलवनालिकामुहूर्तादिकालविशेपविभाजकाश्च भवन्ति । चन्द्रसूर्यादिगतिसञ्चारेणैव घटिका पल—क्षण—प्रहर—रात्रि--पक्ष--मास—वर्षा ऽयन—कल्पादि व्यव-हार सम्भवति, नाऽन्यथा ।

अतएव—चन्द्रसूर्यादयो ज्योतिष्का देवा कालविभागहेतव सन्ति । मनुष्यक्षेत्रा-द्बहिः प्रदेशे तु चन्द्रसूर्यादयो ज्योतिष्कदेवा नो सञ्चरन्ति, अपितु—अवस्थिता एव तिष्ठन्ति । तथाच—जम्बूद्वीपे, धातकीखण्डद्वीपे, पुष्करद्वीपार्धेच सार्धद्वयद्वीपप्रमाणे मनुष्यक्षेत्रे मानुपोत्तरपर्व-ताभ्यन्तर एव ज्योतिष्काश्चन्द्रसूर्यादयो भ्रमन्ति

मानुषोत्तरपर्वताद् बहिर्भागेतु—न भ्रमन्ति, केवलमवस्थिता सन्ति । तत्र—ध्रुवताराया: स्थिरत्वात् मेरो प्रादक्षिण्यक्रमेण सञ्चरणाऽभावेऽपि, अन्यासा ताराणां—चन्द्रसूर्यादीनाञ्च ज्योतिष्काणां मेरोः प्रदक्षिणतयैव सञ्चरणशीलतया तदभिप्रायेणैव गतिप्ररूपणमवगन्तव्यम् ।

यद्वा—केचन चन्द्रसूर्यादयो ज्योतिष्काः मेरुप्रदक्षिणतया नित्यगतय', केचन पुनर्ध्रुवता-

---

विषय में कहते है—

चन्द्र, सूर्य ग्रह नक्षत्र और तारा, ये पाँच प्रकार के ज्योतिष्क देव मनुष्य क्षेत्र मे अर्थात् मानुषोत्तर पर्वत पर्यन्त के पैंतालीस लाख योजन लम्बाई चौडाई वाले अढाई द्वीपों में मेरु पर्वत की प्रदक्षिणा करते हुए निरन्तर गति करते रहतेहै । यही ज्योतिष्क देव काल के विभाग के कारण है अर्थात् समय, आवलिका, श्वासोच्छ्वास, स्तोक, लव और मुहूर्त आदि काल के भेदो के कारण होते है । चन्द्र सूर्य आदि के सचार से ही घडी, पल क्षण, प्रहर दिन, रात, पक्ष मास, अयन, वर्ष कल्प आदि का व्यवहार होता है अन्यथा व्यवहार नहीं होसकता । इस प्रकार चन्द्र सूर्य आदि ज्योतिष्क देव कालविभाग के हेतु हैं ।

हाँ, यह ज्योतिष्क देव मनुष्य क्षेत्र से बाहर सचार नहीं करते, किन्तु स्थिर रहते है ।

इस प्रकार जम्बूद्वीप में, धातकी खण्ड द्वीप में तथा आधे पुष्करद्वीप में, यो अढाई द्वीप परिमित मनुष्यक्षेत्र में, मानुषोत्तर पर्वत के भीतर—भीतर ही चन्द्र सूर्य आदि चलते हैं । उससे आगे भ्रमण नहीं करते—अवस्थित रहते है ।

ध्रुव नामक तारा स्थिर है । वह मेरु की प्रदक्षिणा करता हुआ सचार नहीं करता है । किन्तु उसके अतिरिक्त अन्य सभी तोर और चन्द्र सूर्य आदि मेरु की परिक्रमा करते हुए ही सचार करते हैं, उन्हीं को लक्ष्य में रख कर गति की प्ररूपणा की गई है ।

रादयो मेरुप्रादक्षिण्यमकुर्वन्त एव नित्यगतयो भवन्ति । ध्रुवतारादीनामपि स्वप रेधिषु मञ्चरण-शीलत्वात् तत्र—जम्बूदीपे द्वौ सूर्यौ वर्तेते, लवणसमुद्रेच—चत्वार सूर्या सन्ति, धातकीखण्डे—द्वादशसूर्या सञ्चरन्ति, कालोदधौ—द्वाचत्वारिंशत् सूर्या सन्ति ।

पुष्करद्वीपार्धे—द्वासप्तति.सूर्या,सन्ति,इत्येव रीत्या तावन्मनुष्यलोके द्वात्रिंशदधिकशतसूर्या भवन्ति । चन्द्रा अपि एतावन्त एव मनुष्यक्षेत्रे सन्ति. ग्रहाश्चा—ऽष्टाशीतिसख्यका भस्मराश्यादय सन्ति । नक्षत्राणिचा—ऽष्टाविंशतिसख्यका.सन्ति, ताराश्च—पञ्चसप्तत्यधिकनवशतोत्तरषट्षष्टिसह-स्रकोटिकोटय एकैकस्य चन्द्रस्य परिग्रहरूपेण सन्ति ।

तत्र—सूर्याश्चन्द्रा. ग्रहानक्षत्राणि ताराश्चेति सर्वज्योति'कास्तिर्यग्लोक एव व्यवस्थिता सन्ति ते खलु सूर्या.—स्वतापच्छेदत. प्रकाशयन्तो मेरो प्रदक्षिण कुर्वन्त' सञ्चरन्ति । तिर्यक्ताप-क्षेत्रञ्च प्रत्येक सूर्याणामन्त' सकुट बहिर्विशाल ऊर्ध्वमुख—कलम्बुका पुष्पाकृति त्रिषष्ट्यधिक शतद्वयोत्तरसप्तचत्वारिंशत् सहस्रयोजनप्रमाण योजनस्यैकविंशति षष्टिभागा इत्यवसेयम् (४७२६३ $\frac{२१}{६०}$)

अथवा—चन्द्र सूर्य आदि कोई—कोई ज्योतिष्क मेरु की प्रदक्षिणा करते हुए निरन्तर गतिशील है और कोई—कोई ध्रुवतारा आदि ज्योतिष्क मेरु की प्रदक्षिणा न करते हुए ही नित्य गतिशील है, क्योंकि वे भी अपनी परिधि में सचार करते रहते है ।

जम्बूद्वीप में दो सूर्य हैं, लवण समुद्र में चार सूर्य है, धातकीखड द्वीप में बारह सूर्य है और कालोदधि समुद्र में बयालीस सूर्य है । अर्धपुष्कर द्वीप में बहत्तर सूर्य है । इस प्रकार सब मिल कर मनुष्यलोक में १३२ सूर्य हैं । मनुष्य लोक मे चन्द्रमाओ की भी इतनी ही संख्या है । भस्मराशि आदि ग्रह अठासी (८८) है । नक्षत्र अट्ठाईस है । एक—एक चन्द्रमा के परिवार रूप तारे (६६९७५००००००००००००००००) छयासठ हजार नौ सौ पचह-त्तर कोडाकोडी है ।

सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और तारे ये सभी ज्योतिष्क तिर्छे लोक में ही रहे हुए है । सूर्य अपने ताप से प्रकाशित होते हुए और मेरु की प्रदक्षिणा करते हुए सचार करते है । प्रत्येक सूर्य का तापक्षेत्र अन्दर की ओर सिकुडा हुआ और बाहर की ओर विशाल कलबु का नामक पुष्प के—सस्थान—आकार का होता है । जम्बूद्वीप में सूर्य का उत्कृष्ट तापक्षेत्र परिमाण सैंतालीस हजार दोसौ त्रेसठ योजन—और एक योजन का इक्कीस साठिया भाग (४७२६३—$\frac{२१}{६०}$) ।

सूर्यस्य च–द्वियोजनान्तरितमार्गाणा त्र्यशीत्यधिक मण्डलशतं वर्तते सर्वोत्तरोदयस्य–सर्वदक्षिणोदयस्य च सूर्यस्याऽन्तरं दशाधिकपञ्चशतयोजनानि, । तत्रा–ऽशीत्यधिकशतयोजनान्यन्तर जम्बूद्वीपे समुपलभ्यते, त्रिंशदधिकशतत्रययोजनानि चान्तर लवणोदधौ लभ्यते । चन्द्रस्य च–पञ्चदश मण्डलानि सन्ति, जम्बूद्वीपे–सूर्ययोश्चन्द्रयोश्च सर्वाभ्यन्तर मण्डलवर्तिनो रन्तर चत्वारिंश दधिकषट्शतोत्तरनवनवतिसहस्रयोजनानि वर्तते ।

सूर्यस्य- स्वविमानमण्डलायामविष्कम्भाश्चा–ऽष्टाचत्वरिंशद्योजनानि एकषष्टिभागाश्च योजनस्य [$\frac{४८}{६१}$] मनुष्यलोकाद बहिर्वर्तिन सूर्यस्य विमानमण्डलविष्कम्भस्तु—चतुर्विंशतियोजनानि, एकषष्टिभागाश्च योजनस्य [$\frac{२४}{६१}$] मनुष्यलोकाद् बहिर्वर्तिन सूर्यस्य विमानमण्डलविष्कम्भश्च–द्वादशयोजनानि एकषष्टिभागाश्च योजनस्य [$१२\frac{१}{६१}$] इति

चन्द्रस्य विमानमण्डलविष्कम्भश्च षट्पञ्चाशद् योजनानि एकषष्टिभागाश्च [$\frac{५६}{६१}$] ग्रहाणां विमानमण्डलविष्कम्भस्तु--अर्धयोजनम् । नक्षत्राणा--विमानमण्डलविष्कम्भो एकयोजनस्य एकषष्टी भागा क्रियन्ते तेषु षट्पञ्चाशत भागपरिमितम् चन्द्रमण्डलम् ।

गव्यूत क्रोषद्वयरूपम्-- ताराया पुन सर्वोत्कृष्टाया विमानमण्डलविष्कम्भोऽर्धक्रोश ।

सूर्य के एक सौ चौरासी मडल है। सूर्य के सर्वोत्तर में और सर्वदक्षिण में उदित होने पर ५१० योजन का फासला होता है। यह फासला १८० योजन जम्बूद्वीप में और ३३० योजना लवण समुद्र में पाया जाता है।

चन्द्रमा के मडल पन्द्रह है। जम्बूद्वीप मे सूर्य और चन्द्र जब सब से अन्दर के मंडल में होते हैं तो उनमें निन्यानवे हजार, छहसौ, चालीस योजन का अन्तर होता है। सूर्य के मडल की लम्बाई–चौडाई एक योजन के इकसठ भाग में से अडतालीस भाग है। ($\frac{४८}{६१}$) मनुष्यलोक के बाहर के सूर्य के बिमान मण्डल का बिस्तार चौवीस योजन और इकसठ भाग ($\frac{२४}{६१}$) है। मनुष्य लोक के बाहर के सूर्य के बिमानमंडल का विस्तार बारह योजन और एक योजन के इकसठ भाग ($१२\frac{१}{६१}$) है।

चन्द्रमा के विमानमडल का बिस्तार $\frac{५६}{६१}$ इगसठिया छप्पन भाग है। ग्रहों के विमानमंडल का बिस्तार आधा योजन है। नक्षत्रों के विमानमंडल का बिस्तार एक कोस का है। सब

जघन्यायास्तारायास्तु-पञ्चधनु शतानि विमानमण्डलविष्कम्भो बोध्य । किन्तु—मनुष्यलोका-द्वहिर्भागे मानुषोत्तरपर्वतबहिर्देशे ये सूर्यादयो ज्योतिष्का सन्ति, ते यथावस्थिता भवन्ति, न तु—परिभ्रमन्ति—।

तेषां विमानप्रदेशा अप्यवस्थिता एव भवन्ति, न तु—मनुष्यलोकान्तर्वर्तिनामुपरागाभिरिवाऽन्यत्व–मालिन्य वा प्राप्नुवन्ति. । तत्रोपरागादीनामसद्भावात्, तेषां सूर्यचन्द्रादीना सुखशीतोष्ण रश्मयस्तत्र भवन्ति, चन्द्रसूर्यास्तत्र नात्यन्तशीता –नात्यन्तोष्णाश्च क्रमशो भवन्ति. ।

सर्वचन्द्राश्च तत्राभिजिता युक्ता भवन्ति, सूर्याश्च–पुष्यैर्युक्ता स्तत्र भवन्ति । उक्तञ्च जीवा-भिगमे ३ -प्रतिपत्तौ २–उद्देशके

ते मेरुपरियडंता पयाहिणावत्तमंडला सव्वे ।
अणवट्ठियजोगेहिं चंदा सूरा गहगणा य ॥१॥
" अंतो मणुस्सक्खेत्ते हवंति चारोवगाय उववण्णा ।
पंचविहा जोइसिया चंदसूरागहगणा य ॥२॥
" तेण परं जे सेसा चंदाइच्चगहतारणक्खत्ता ।
नत्थि गई न वि चारो अवट्ठिया ते मुणेयव्वा ॥३॥
"ते मेरुं पर्यटन्तः- प्रदक्षिणावर्तमण्डलाः सव- । ।
अनवस्थितयोगै–श्चन्द्राः सूर्या ग्रहगणाश्च– ॥ १
"अन्तर्मनुष्यक्षेत्रे–भवन्ति चारोपगाश्चोपपन्ना – ।
पञ्चविधा ज्योतिष्का–श्चन्द्राः सूर्याग्रहगणाश्च– ॥ २ ॥

से बड़े तारा के विमानमंडल का बिस्तार आधे कोस का है । सब से छोटे तारा के विमानमंडल का बिस्तार पाँचसौ धनुष है ।

किन्तु मनुष्यक्षेत्र से बाहर अर्थात् मानुषोत्तर पर्वत के बहिर्देश में जो सूर्य आदि ज्योतिष्क है, वे अवस्थित होते है, भ्रमण नहीं करते है । उनके विमानप्रदेश भी अवस्थित है और उनका लेश्या–प्रकाश भी अवस्थित ही है । जैसे मनुष्यलोक मे ग्रहण आदि होते है, वैसे वहाँ नहीं होते । वहाँ कभी उनमें मलिनता नहीं आती । वहाँ ग्रहण (ग्रास) का कोई कारण ही नहीं है । वहाँ सूर्य और चन्द्र की सुखद शीतोष्ण किरणें होती हैं । वहाँ चन्द्रमा न अति शीतल है और न सूर्य अति उष्ण है ।

वहाँ सभी चन्द्रमा अभिजित् नक्षत्र के योग से युक्त होते हैं औरे सूर्य पुष्य नक्षत्र के योग से युक्त होते है । जीवाभिगम सूत्र की तीसरी प्रतिपत्ति के दूसरे उद्देशक मे कहा है—

वे चन्द्र सूर्य ग्रह आदि सभी ज्योतिष्क मेरु पर्वत की प्रदक्षिणा करते हुए भ्रमण करते रहते है और कभी भी ठहरते नहीं है ॥१॥

चन्द्र, सूर्य और ग्रह आदि पाँचो प्रकार के ज्योतिष्क देव मनुष्यलोक के भीतर सचार शील होते है–निरन्तर गमन करते रहते है ॥२॥

"तेन परं यानि शेषाणि-चन्द्रादित्यग्रहतारानक्षत्राणि- ।
नास्ति गतिर्नापि चारो-ऽवस्थितानि तानि ज्ञातव्यानि- ॥३॥

"व्याख्याप्रज्ञप्तौ भगवतीसूत्रेऽपि १२-शतके ६-उद्देशके चोक्तम्"—से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-सूरे आइच्चे सूरे ? गोयमा ! सूराइयाणं समयाइवा, आवलियाइवा, जाव-उस्सप्पिणीवा, अवसप्पिणीइवा,

"से तेणट्ठेणं जाव-आइच्चे-" तत्केनार्थेन भदन्त ! एव मुच्यते 'सूर्य आदित्य सूर्यः-इति, गौतम ! सूर्यादिका खलु-समयादयो वा, आवलिकादयो वा, यावद्-उत्सर्पिणीवा, अवसर्पिणी-इतिवा, तत्तेनार्थेन यावद् आदित्य' इति ।

ततश्चा-ऽग्रेऽपि व्याख्याप्रज्ञप्तौ ११-शतके ११-उद्देशके चोक्तम्—"से किं तं-पमाणकाले २ दुविहे पण्णत्ते, तंजहा-दिवसप्पमाणकाले, राइप्पमाणकाले इच्चाइ—" इति । अथ किं तावत्-प्रमाणकाल 'प्रमाणकाल द्विविध प्रज्ञप्त, तद्यथा-दिवसप्रमाणकाल, रात्रिप्रमाणकालश्चेत्यादि ।

एवञ्च—"जम्बूद्वीपोपरि-द्वौ सूर्यौ" इत्युक्तमेव, षट् पञ्चाशन्नक्षत्राणि, षट् सप्तत्यधिकशतग्रहा, लवणसमुद्रोपरि-चत्वारो दिनमणय, द्वादशाधिकशतनक्षत्राणि, द्विपञ्चाशदधिकशतत्रयग्रहा', धातकीखण्डोपरि-द्वादशसूर्या', षट्त्रिंशदधिकशतत्रयनक्षत्राणि, षट्पञ्चाशदधिकसहस्रग्रहा, कालोदसमुद्रोपरि-द्वाचत्वारिंशत्सूर्या, षट्सप्तत्यधिकैकशतोत्तरसहस्रनक्षत्राणि, षण्णवत्यधिकषट्शतोत्तरसहस्रत्रयग्रहा, पुष्करार्धोपरि-द्वासप्तति सूर्या, षोडशाऽधिकसहस्रद्वयनक्षत्राणि, षट्-

---

मनुष्यक्षेत्र से बाहर जो चन्द्र, सूर्य, ग्रह, तारा और नक्षत्र है, उनमे गति नहीं होती, वे सचार नहीं करते किन्तु अवस्थित ही रहते है ॥३॥

भगवतीसूत्र शतक १२, उद्देशक ६ में भी कहा है—प्रश्न-भगवन् ! किस हेतु से ऐसा कहा जाता है कि सूर्य आदित्य सूर्य है ? गौतम ! समय, आवलिका यावत् उत्सर्पिणी या अवसर्पिणी आदि का विभाग सूर्य से ही होता है, इस कारण से आदित्य ऐसा कहा जाता है ।

आगे भी व्याख्याप्रज्ञप्ति के ग्यारहवें शतक के ग्यारहवे उद्देशक में कहा है—

'प्रमाणकाल के कितने भेद हैं ? उत्तर-प्रमाण काल दो प्रकार का कहा गया है—दिवस प्रमाणकाल और रात्रिप्रमाणकाल, इत्यादि ।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि जम्बूद्वीप के ऊपर दो सूर्य है । छप्पन नक्षत्र है, एक सौ छिहत्तर ग्रह है । लवणसमुद्र के ऊपर चार दिनमणियाँ हैं, एक सौ वारह नक्षत्र है, तीनसौ वावन ग्रह है । धातकी खड द्वीप के ऊपर बारह सूर्य, तीनसौ छत्तीस नक्षत्र और एक हजार छप्पन ग्रह है । कालोद समुद्र के ऊपर बयालीस सूर्य, एक हजार एक सौ छिहत्तर नक्षत्र और तीन हजार छहसौ छियानवे ग्रह है ।

जघन्यायास्तारायास्तु-पञ्चधनुःशतानि विमानमण्डलविष्कम्भो बोध्य । किन्तु--मनुष्यलोका-द्वहिर्भागे मानुषोत्तरपर्वतबहिर्देशे ये सूर्यादयो ज्योतिष्काः सन्ति, ते यथावस्थिता भवन्ति, न तु---परिभ्रमन्ति---।

तेषां विमानप्रदेशा अप्यवस्थिता एव भवन्ति, न तु मनुष्यलोकान्तर्वर्तिनामुपरागाभिरिवा-ऽन्यत्व-मालिन्यं वा प्राप्नुवन्ति, । तत्रोपरागादीनामसद्भावात्, तथा सूर्यचन्द्रादीनां सुखशीतोष्ण रश्मयस्तत्र भवन्ति, चन्द्रसूर्यास्तत्र नात्यन्तशीता --नात्यन्तोष्णाश्च क्रमशो भवन्ति, ।

सर्वचन्द्राश्च तत्राभिजिता युक्ता भवन्ति, सूर्याश्च--पुष्यैर्युक्ता स्तत्र भवन्ति । उक्तञ्च जीवा-भिगमे ३ -प्रतिपत्तौ २--उद्देशके

ते मेरुपरियडंता पयाहिणावत्तमंडला सव्वे ।
अणवट्ठियजोगेहिं चंदा सूरा गहगणा य ॥१॥
" अंतो मणुस्सक्खेत्ते हवंति चारोवगाय उववण्णा ।
पंचविहा जोइसिया चंदसूरागहगणा य ॥२॥
" तेण परं जे सेसा चंदाइच्चगहतारणक्खत्ता ।
नत्थि गई न वि चारो अवट्ठिया ते मुणयव्वा ॥३॥
"ते मेरुं पर्यटन्तः- प्रदक्षिणावर्तमण्डलाः सव- । ।
अनवस्थितयोगै--श्चन्द्राः सूर्या ग्रहगणाश्च- ॥ १
"अन्तर्मनुष्यक्षेत्रे--भवन्ति चारोपगाश्चोपपन्ना - ।
पञ्चविधा ज्योतिष्का--श्चन्द्राः सूर्याग्रहगणाश्च- ॥ २ ॥

से बडे तारा के विमानमडल का विस्तार आधे कोस का है । सब से छोटे तारा के विमानमडल का विस्तार पाँचसौ धनुष है ।

किन्तु मनुष्यक्षेत्र से बाहर अर्थात् मानुषोत्तर पर्वत के बहिर्देश मे जो सूर्य आदि ज्योतिष्क है, वे अवस्थित होते है, भ्रमण नहीं करते है । उनके विमानप्रदेश भी अवस्थित है और उनका लेश्या--प्रकाश भी अवस्थित ही है । जैसे मनुष्यलोक मे ग्रहण आदि होते है, वैसे वहाँ नहीं होते । वहाँ कभी उनमे मलिनता नहीं आती । वहाँ ग्रहण (ग्रास) का कोई कारण ही नहीं है । वहाँ सूर्य और चन्द्र की सुखद शीतोष्ण किरणे होती हैं । वहाँ चन्द्रमा न अति शीतल है और न सूर्य अति उष्ण है ।

वहाँ सभी चन्द्रमा अभिजित् नक्षत्र के योग से युक्त होते है और सूर्य पुष्य नक्षत्र के योग से युक्त होते है । जीवाभिगम सूत्र की तीसरी प्रतिपत्ति के दूसरे उद्देशक में कहा है---

वे चन्द्र सूर्य ग्रह आदि सभी ज्योतिष्क मेरु पर्वत की प्रदक्षिणा करते हुए भ्रमण करते रहते हैं और कभी भी ठहरते नहीं है ॥१॥

चन्द्र, सूर्य और ग्रह आदि पाँचों प्रकार के ज्योतिष्क देव मनुष्यलोक के भीतर सचार शील होते है--निरन्तर गमन करते रहते है ॥२॥

"तेन परं यानि शेषाणि–चन्द्रादित्यग्रहतारानक्षत्राणि– ।
नास्ति गतिर्नापि चारो–ऽवस्थितानि तानि ज्ञातव्यानि– ॥३॥

"व्याख्याप्रज्ञप्तौ भगवतीसूत्रेऽपि १२–शतके ६–उद्देशके चोक्तम्"—से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ–सूरे आइच्चे सूरे ? गोयमा ! सूराइयाणं समयाइवा, आवलियाइवा, जाव–उस्सप्पिणीवा, अवसप्पिणीइवा,

"से तेणट्ठेणं जाव–आइच्चे–" तत्केनार्थेन भदन्त ! एव मुच्यते 'सूर्य आदित्य सूर्य'–इति, गौतम ! सूर्यादिका खलु–समयादयो वा, आवलिकादयो वा, यावद्–उत्सर्पिणीवा, अवसर्पिणी–इतिवा, तत्तेनार्थेन यावद् आदित्य' इति ।

ततश्चा–ऽग्रेऽपि व्याख्याप्रज्ञप्तौ ११–शतके ११–उद्देशके चोक्तम्—"से किं तं-पमाणकाले २ दुविहे पण्णत्ते, तंजहा–दिवसप्पमाणकाले, राइप्पमाणकाले इच्चाइ—" इति । अथ किं तावत्–प्रमाणकाल ' प्रमाणकाल द्विविध प्रज्ञप्त, तद्यथा–दिवसप्रमाणकाल, रात्रिप्रमाणकालश्चेत्यादि ।

एवञ्च–"जम्बूद्वीपोपरि–द्वौ सूर्यौ" इत्युक्तमेव, षट् पञ्चाशन्नक्षत्राणि, षट् सप्तत्यधिक-शतग्रहा', लवणसमुद्रोपरि–चत्वारो दिनमणय, द्वादशाधिकशतनक्षत्राणि, द्विपञ्चाशदधिकश-तत्रयग्रहा', धातकीखण्डोपरि-द्वादशसूर्या, षट्त्रिंशदधिकशतत्रयनक्षत्राणि, षट्पञ्चाशदधिकसहस्र-ग्रहा, कालोदसमुद्रोपरि–द्वाचत्वारिंशत्सूर्या, षट्सप्तत्यधिकैकशतोत्तरसहस्रनक्षत्राणि, षण्णवत्य-धिकषट्शतोत्तरसहस्रत्रयग्रहा, पुष्करार्धोपरि–द्वासप्तति सूर्या, षोडशाऽधिकसहस्रद्वयनक्षत्राणि, षट्-

---

मनुष्यक्षेत्र से बाहर जो चन्द्र, सूर्य, ग्रह, तारा और नक्षत्र है, उनमे गति नहीं होती, वे सचार नहीं करते किन्तु अवस्थित ही रहते है ॥३॥

भगवतीसूत्र शतक १२, उद्देशक ६ में भी कहा है—प्रश्न–भगवन् ! किस हेतु से ऐसा कहा जाता है कि सूर्य आदित्य सूर्य है ? गौतम ! समय, आवलिका यावत् उत्सर्पिणी या अवसर्पिणी आदि का विभाग सूर्य से ही होता है, इस कारण से आदित्य ऐसा कहा जाता है ।

आगे भी व्याख्याप्रज्ञप्ति के ग्यारहवे शतक के ग्यारहवे उद्देशक में कहा है—
'प्रमाणकाल के कितने भेद है ? उत्तर–प्रमाण काल दो प्रकार का कहा गया है—दिवस प्रमाणकाल और रात्रिप्रमाणकाल, इत्यादि ।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि जम्बूद्वीप के ऊपर दो सूर्य है । छप्पन नक्षत्र है, एक सौ छिहत्तर ग्रह हैं । लवणसमुद्र के ऊपर चार दिनमणियाँ है, एक सौ वारह नक्षत्र है, तीनसौ बावन ग्रह है । धातकी खड द्वीप के ऊपर बारह सूर्य, तीनसौ छत्तीस नक्षत्र और एक हजार छप्पन ग्रह है । कालोद समुद्र के ऊपर बयालीस सूर्य, एक हजार एक सौ छिहत्तर नक्षत्र और तीन हजार छहसौ छियानवे ग्रह है ।

त्रिंशदधिकत्रिशतोत्तरत्रिसहस्रग्रहा सन्ति । यत्र यावन्त सूर्यास्तत्र तावन्तश्चन्द्रा अपि बोध्या तत परं स्वयमूहनीया ॥२७॥

मूलसूत्रम्—"देवाणं उत्तरमुत्तरं आउप्पभाव-सुह ज्जुइलेस्साविसुद्धि-इंदियओहि-विसया-अहिया, गइ-सरीरपरिग्गहा-भिमाणा हीणा –" ॥२८॥

छाया—"देवानामुत्तरोत्तरम्, आयुष्य-प्रभाव-सुखद्युतिलेश्याविशुद्धी-न्द्रिया-ऽवधिविषया अधिका., गति-शरीर-परिग्रहा-ऽभिमाना हीना.--" ॥२८॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्व तावत्-चतुर्विधानामपि देवाना प्रवीचारेन्द्रादिस्वरूपनिरूपण कृतम्, सम्प्रति-तेषामेव भवनपत्यादिसर्वार्थसिद्धपर्यन्तानामायुष्य-प्रभाव-सुख-कान्तिलेश्यावि-शुद्ध्यादि विषयेषु यथाक्रममधिकत्व-न्यूनत्व च प्ररूपयितुमाह—"देवाणं उत्तरमुत्तरं" इत्यादि ।

वानव्यन्तरापेक्षया ज्योतिष्कस्य, स्तदपेक्षया भवनपते स्तदपेक्षया वैमानिकादेश्चायु प्रभा वोऽनुभाव सुख द्युति लेश्याविशुद्धि इन्द्रियाणा विषय अपच अवधिज्ञानविषयोऽधिकाधिको भवति किन्तु ऊर्ध्वदेवेषु गति अथादेशान्तरगमन शरीरप्रमाण परिग्रहमूर्च्छा अभिमानम् एतानि सर्वाणि उत्तरोत्तरत अल्पानि भवन्ति ॥सूत्र २८॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्व भवनपत्यादि सर्वार्थसिद्धपर्यन्ताना सर्वेषा खलु देवाना यथायथ

पुष्करार्ध द्वीप मे बहत्तर सूर्य है, दो हजार सोलह नक्षत्र है और तीन हजार तीन सौ छत्तीस ग्रह है। जिस जगह जितने सूर्य हैं, उस जगह उतने ही चन्द्रमा भी समझ लेना चाहिए। उससे आगे स्वय समझ लेना चाहिए ॥२७॥

सूत्रार्थ—"देवाणं उत्तरं आउप्पभाव-सुह-ज्जुई' इत्यादि ॥सूत्र २८॥

देवो मे उत्तरोत्तर आयु, प्रभाव सुख, द्युति, लेश्याविशुद्धि, इन्द्रियो का विषय और अवधि का विषय अधिक है। किन्तु गति, शरीर, परिग्रह और अभिमान कम है ॥२८॥

तत्त्वार्थदीपिका—पहले चारों निकायो के देवो के प्रवीचार का तथा इन्द्र आदि के स्वरूप का निरूपण किया गया। अब भवनपतियो से लेकर सर्वार्थसिद्ध तक के देवो के आयुष्य, प्रभाव, सुख, कान्ति, लेश्या विशुद्धि आदि के विषय मे अधिकता और न्यूनता का प्ररूपण करने के लिए कहते है—

वानव्यतरो की अपेक्षा ज्योतिष्कके, ज्योतिष्क को अपेक्षा भवनपतिके भवनपति की अपेक्षा वैमानिक आदि की आयु, प्रभाव, अनुभाव, सुख, द्युति (कान्ति) लेश्या विशुद्धि यथा योग्य शुद्धि, इन्द्रियो का विषय और अवधिज्ञान का विषय अधिक-अधिक है। किन्तु ऊपर के देवो मे गति अर्थात् देशान्तर मे गमन शरीर प्रमाण अर्थात् ऊँचाई परिग्रह मूर्च्छा और अभिमान, अहंकार—ये सब उत्तरोत्तर अल्प होते है ॥सूत्र २८॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पहले भवनपतियो से लेकर सर्वार्थसिद्ध पर्यन्त सभी देवों के यथा-

विषयभोगेन्द्रादि स्वरूपं प्ररूपितम्, सम्प्रति–तेषां सर्वेषामपि देवानां पूर्वपूर्वदेवापेक्षया–उत्तरोत्तरदेवाना खलु–आयु –प्रभाव–सुख–लेश्या विशुद्धि-न्द्रिया-ऽवधिज्ञानविषयाअधिका, गतिशरीरप्रमाणपरिग्रहाभिमानाश्च न्यूना भवन्तीति प्रतिपादयितुमाह—

"देवाणं उत्तरमुत्तरआउप्पभावमुहज्जुइ लेस्साविसुद्धिंदियओहिविसया अहिया, गइ-सरीरपरिग्गहाभिमाणा हीणा–" इति– । देवानाम्–असुरकुमारादि भवनपति किन्नरादिवानव्यन्तर–चन्द्रसूर्यादि ज्योतिष्क–सौधर्मेशानादि सर्वार्थसिद्धपर्यन्तवैमानिकदेवानाम् पूर्वपूर्वदेवापेक्षया–उत्तरोत्तरं खलु—आयु –स्थितिरूपम्, प्रभावोऽनुभाव, सुखम्, द्युति –कान्ति, लेश्याविशुद्धि–कृष्णनीलकापोतपीतपद्मशुक्ललेश्याविशुद्धि–अवधिविपय इन्द्रियविषयश्चेत्येते सप्तो–त्तरोत्तरदेवानामधिका भवन्ति । तथाचोत्तरोत्तरदेवा आयुष्य रूप स्थितितोऽधिका पूर्वपूर्वदेवापेक्षया भवन्ति ।

एवम्–निग्रहाऽनुग्रहवैक्रियपराभियोगादिरूपप्रभावतोऽपि पूर्वपूर्वदेवापेक्षया उत्तरोत्तरदेवा अधिका भवन्ति । एवं सुखत, कान्तिरूपद्युतित, इन्द्रियविषयत, अवधिज्ञानविपयतश्चोत्तरोत्तरदेवा पूर्वपूर्वदेवापेक्षयाऽधिका भवन्ति । एवं सुखत, कान्तिरूपद्युतित, लेश्याविशुद्धित इन्द्रियविषय; अवधिज्ञानविषयतश्चोत्तरोत्तरदेवा पूर्वपूर्वदेवाना दूराविष्ट विषयोपलब्धौ यद्इन्द्रियपाटव भवति, तदपेक्षया–प्रकृष्टतरगुणत्वा–दल्पतरसक्लेशत्वा च्चोत्तरोत्तरदेवानामधिकं भवति ।

योग्य विषयभोग, उपभोग तथा इन्द्र आदि स्वरूप का प्ररूपण किया गया, अब यह निरूपण करते है कि पूर्वोक्त सब देवो में, पहले वालों की अपेक्षा आगे वालो मे आयु, प्रभाव, सुख, लेश्याविशुद्धि, इन्द्रियविषय और अवधिज्ञान का विषय अधिक–अधिक होता है किन्तु गति, शरीरप्रमाण, परिग्रह और अभिमान कम होता है—

असुरकुमार आदि भवनपति, किन्नर आदि बानव्यन्तर, चन्द्र सूर्य आदि ज्योतिष्क और सौधर्म–ईशान से लेकर सर्वार्थसिद्ध पर्यन्त वैमानिक देवो में पूर्व–पूर्व देवो की अपेक्षा उत्तरोत्तर अर्थात् आगे–आगे के देवों में आयु अर्थात् स्थिति, प्रभाव अर्थात् अनुभाव, सुख, द्युति, अर्थात् कान्ति, लेश्या विशुद्धि अर्थात् कृष्ण नील कापोत पीत पद्म और शुक्ल लेश्या का शुद्धि, इन्द्रियों का विषय और अवधिज्ञान का विषय अधिक–अधिक होता है । इस प्रकार पहले–पहले के देवो की अपेक्षा आगे–आगे के देव आयु में अधिक हैं ।

निग्रह करना–अनुग्रह करना, विक्रिया करना तथा पराभियोग करना, यह सब प्रभाव कहलाता है । पूर्व–पूर्व के देवों की अपेक्षा उत्तरोत्तर देवों में प्रभाव अधिक होता है । इसी प्रकार, सुख, कान्ति, लेश्या की विशुद्धता, इन्द्रियों द्वारा अपने–अपने विषय को ग्रहण करने का सामर्थ्य और अवधिज्ञान, यह सब भी आगे–आगे के देवो में पूर्व–पूर्व देवों की अपेक्षा अधिक होते हैं । तात्पर्य यह है कि पूर्ववर्त्ती देव अपनी इन्द्रियो से जितनी दूरी की

त्तरेषु पञ्चैव विमानानि सन्ति । एव-स्थानपरिवारशक्तिविषयसम्पत्स्थितिषु चोत्तरोत्तरदेवा: पूर्वपूर्वदेवापेक्षयाऽल्पाभिमाना परमसुखभागिनो भवन्तीति भाव । उक्तञ्च प्रज्ञापनाया २१- शरीरपदे "असुरकुमारभवणवासिदेवपंचिदियवेउव्वियसरीरस्स णं भंते ! के महालया ओगाहणा पण्णत्ता गोयमा ! असुरकुमाराणं देवाणं दुविहा सरीरोगाहणा पण्णत्ता तं जहा—भवधारणिज्जा य उत्तरवेउव्विया य, तत्थ णं जा सा भवधारणिज्जा सा जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागो उक्कोसेणं सत्तरयणीओ तत्थ णं जा सा उत्तरवेउव्विया सा जहण्णेणं अंगुलस्स संखेज्जइभागो, उक्कोसेणं जोयणसयसहस्सं एवं जाव थणियकुमाराण एवं ओहियाणं वाणमंतराण एवं जोइसियाण वि सोहम्मीसाणदेवाणं एवं चेव, उत्तरवेउव्विया जाव अच्चुओ कप्पो, नवरं सणंकुमारे भवधारणिज्जा जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागे, उक्कोसेणं छ रयणीओ, एवं माहिंदे वि, बंभलोयलंतगेसु पंचरयणीओ, महासुक्क सहस्सारसु चत्तारि रयणीओ, आणय-पाणयआरणच्चुएसु तिण्णि रयणीओ । गेविज्जग-कप्पातीयवेमाणियदेवपंचिदियाणं वेउव्वियसरीरोगाहणा के महालया पण्णत्ता ? गोयमा ! गेविज्जगदेवाणं एगा भवधारणिज्जा सरीरोगाहणा पण्णत्ता सा जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागो उक्कोसेणं दो रयणी, एवं अनुत्तरोववाइयदेवाण वि, णवरं एक्का रयणी"

छाया—"असुरकुमारभवनवासिदेवपञ्चेन्द्रियवैक्रियशरीरस्य खलु भदन्त ! किं महालया अवगाहना प्रज्ञप्ता ? गौतम ! असुरकुमाराणां देवानां द्विविधा शरीरावगाहना प्रज्ञप्ता तद्यथा—भवधारणीया च उत्तरवैक्रिया च । तत्र खलु याऽसौ भवधारणीया—सा जघन्येन अगुलस्यासंख्येयभागः उत्कृष्टेन सप्तरत्नय: । तत्र खलु या उत्तरवैक्रिया सा जघन्येनांऽगुलस्य संख्येयभागः उत्कृष्टेन—योजनशतसहस्रम् ।

पाँच अनुत्तरो मे पाच ही विमान हैं ।

इसी प्रकार स्थान, परिवार, शक्ति, विषय, सम्पत्ति और स्थिति आदि का अभिमान आगे-आगे के देवो को पहले-पहले वाले देवों की अपेक्षा कम होता है। आगे-आगे के देव उत्कृष्ट सुख के भागी होते है ।

प्रज्ञापना सूत्र के इक्कीसवें शरीरपद मे, कहा है—

प्रश्न—भगवन् भवनवासियो में जो असुरकुमार देव है, उनके वैक्रिय शरीर की अवगाहना कितनी बडी है ?

उत्तर—गौतम ! असुरकुमार देवों की अवगाहना दो प्रकार की कही गई है—एक भवधारणीय शरीर की अर्थात् उस भव में सदैव रहने वाले मूल शरीर की अवगाहना और दूसरी उत्तर वैक्रिय अर्थात् कभी-कभी विक्रिया लब्धि से बनाये जाने वाले शरीर की अवगाहना । उनके भवधारणीय शरीर की अवगाहना जघन्य अगुल के असंख्यातवें भाग की और उत्कृष्ट सात हाथ की होती है । उत्तर वैक्रिय शरीर की जघन्य अवगाहना

एवं—यावत् स्तनितकुमाराणाम् ।
एवम्—औधिकानां वानव्यन्तराणाम् । एवं ज्योतिष्काणामपि । सौधर्मेशानदेवाना खलु—एव-म्चैवोत्तरवैक्रिया, यावदच्युत· कल्प· । नवर सनत्कुमारे भवधारणीया जघन्येना—ऽङ्गु-लस्यासख्येयभाग· ।

उत्कृष्टेन षड्रत्नय । एव माहेन्द्रेऽपि, ब्रह्मलोके लान्तकेपु पञ्च रत्नय· । महाशुक्र-सहस्रारयोश्च,चतस्रो रत्नय । आनत—प्राणता-ऽऽरणा-ऽच्युतेपु तिस्रो रत्नय । ग्रैवेयककल्पातीन-वैमानिकदेवपञ्चेन्द्रियाणा वैक्रियशरीरावगाहना किं महालया प्रज्ञप्ता ? गौतम ! ग्रैवेयक देवानाम् एका भवधारणीया शरीरावगाहना प्रज्ञप्ता, सा जन्घयेनाऽङ्गुलस्याऽसख्येयभाग· उत्कृष्टेन द्वे रत्नि· ॥

असुरकुमाराणं भंते ! ओहिणा केवइ खेत्तं जाणइ पासइ ? गोयमा ! जहण्णेणं पणवीसं जोयणाइं, उक्कोसेणं असंखेज्जे दीवसमुद्दे ओहिणा जाणंति पासंति । नागकु-माराणं जहण्णेणं पणवीसं जोयणाइं उक्कोसेणं संखेज्जे दीवसमुद्दे ओहिणा जाणंति पासंति एवं जाव थणियकुमारा ०००० वाणमंतरा जहा नागकुमारा । जोइसियाणं भंते

अगुल के सख्यातवे भाग की और उत्कृष्ट एक लाख योजन की होती है ।

इसी प्रकार स्तनितकुमारो तक समझ लेना चाहिए । सामान्य रूप से वानव्यन्तरों की, ज्योतिष्को की तथा सौधर्म ओर ईशान देवो की अवगाहना भी पूर्वोक्त ही है । अच्युत कल्प तक के देवों के उत्तरवैक्रिय शरीर की अवगाहना इसी प्रकार अर्थात् एक लाख योजन की है । सनत्कुमार कल्प के देवों के भवधारणीय शरीर की अवगाहना जघन्यअंगुल के असख्यतवे भाग की और उत्कृष्ट छह हाथ की है' माहेन्द्र कल्प में भी इतनी ही अवगाहना है । ब्रह्मलोक और लान्तक कल्पो में पाँच हाथ की, महाशुक्र और सहस्रार कल्प में चार हाथ की एव आनत प्राणत आरण और अच्युत कल्प में तीन हाथ की अवगाहना होती है ।

प्रश्न—ग्रैवेयक कल्पातीत वैमानिक पचेन्द्रिय देवो के वैक्रिय शरीर की अवगाहना कितनी बड़ी है ?

उत्तर—गौतम ! ग्रैवेयक देवो मे एक भवधारणीय शरीर को ही अवगाहना होती है (उत्तर वैक्रिय शरीर की अवगाहना नहीं होती, क्यो कि वे देव उत्तर वैक्रिय शरीर बनाते नहीं है—उनमें वैसी उत्सुकता—उत्कठा नहीं होती) । भवधारणीय शरीर की जघन्य अवगा-हना अगुल के असख्यातवे भाग की और उत्कृष्ट दो हाथ की होती है । अनुत्तरविमानो के देवों के विषय में भी ऐसा ही समझ लेना चाहिए, अर्थात् उनमे भी भवधारणीय शरीर की ही अवगाहना होती है । और वह एक हाथ की होती है । उत्तर वैक्रिय शरीर वे भी नहीं बनाते है ।"

अनुत्तरौपपातिका देवाः खलु भदन्त ! कियत् क्षेत्रम् अवधिना जानन्ति–पश्यन्ति–? गौतम ! सभिन्नां लोकनाडीम् अवधिना जानन्ति–पश्यन्ति, इति ॥

इति श्री विश्वविख्यात–जगद्वल्लभ–प्रसिद्धवाचक–पञ्चदश भाषाकलित
ललितकलापालापक प्रविशुद्धगद्यपद्यनैकग्रन्थनिर्मापक शाहुच्छत्र
पति कोल्हापुरराजप्रदत्त, जैनशास्त्राचार्य पदभूषित
जैनधर्मदिवाकर **पूज्य श्री घासीलाल-**
व्रति विरचितस्य दीपिका निर्युक्ति
टीकाद्वयोपेतस्य तत्त्वार्थ
सूत्रस्य चतुर्थमध्ययन
समाप्तम् ॥४॥

प्रश्न—भगवन् अनुत्तरौपपातिक देव कितने क्षेत्र को अवधिज्ञान से जानते-देखते है ?
उत्तर—गौतम ! सभिन्न (कुछ कम) लोक को जानते-देखते है ॥२८॥

श्री जैनशास्त्राचार्य, जैनधर्मदिवाकर पूज्य श्री **घासीलालजी**
महाराज विरचित तत्वार्थ सूत्र की दीपिका–एवं
निर्युक्ति नामक व्याख्या का **चोथा**
अध्ययन समाप्त ॥४॥

॥ अथ पञ्चमोऽध्यायः ॥

मूलसूत्रम्—"असुभकम्मे पावे" ॥

छाया—"अशुभ पापम्—" ॥

तत्त्वार्थदीपिका—चतुर्थाऽध्याये क्रमप्राप्तं पुण्यस्वरूव प्रतिपादितम् सम्प्रति—पञ्चमाऽध्याये क्रमप्राप्तमेव पापस्वरूप प्रतिपादयितुमाह—"असुभकम्मे पावे—" इति । अशुभकर्म—अकुशलकर्म दुःखजनककर्म पापमित्युच्यते ।

तच्च—पापमष्टादशविधम्—प्रज्ञप्तम् । तद्यथा—प्राणातिपातः—१मृषावादः—२अदत्तादानम्—३ मैथुनम्—४ परिग्रहः—५ क्रोधः—६ मानः—७ माया—८ लोभः—९ राग.—१० द्वेषः—११ कलह—१२ अभ्याख्यानम्—१३ पैशून्यम्—१४ परपरिवादः—१५ रत्यरती—१६ मायामृषा—१७ मिथ्यादर्शनशल्यञ्चे—१८—त्यष्टादशप्रकारकं पापं बोध्यम्—॥सू०१॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः— पूर्वं जीवाजीवादिनवतत्त्वेषु, अध्यायचतुष्टयेन क्रमशो जीवाजीवबन्धपुण्यरूपाणि चत्वारि तत्त्वानि प्ररूपितानि, सम्प्रति—क्रमप्राप्तं पञ्चम पापतत्त्वं प्ररूपयितु पञ्चमाऽध्यायं प्रारभते, तस्येदं प्रथम सूत्रमाह—"असुभकम्मे पावे—" इति ।

पंचम अध्याय

सूत्रार्थ—"असुभकम्मे पावे ।" सूत्र—१

अशुभ कर्म पाप कहलाता है ॥१॥

तत्वार्थदीपिका—चतुर्थ अध्याय में क्रमप्राप्त पुण्यतत्त्व के स्वरूप का प्रतिपादन किया है । अब अनुक्रमागत पापतत्त्व का विवेचन इस पाँचवें अध्याय में किया जाएगा । सर्वप्रथम पापतत्त्व का लक्षण कहते हैं ।

अशुभ अर्थात् अकुशल या दुःखजनक कर्म को पाप कहते हैं । पाप के अठारह भेद हैं । वे इस प्रकार हैं—(१) प्राणातिपात (२) मृषावाद (३) अदत्तादान (४) मैथुन (५) परिग्रह (६) क्रोध (७) मान (८) माया (९) लोभ (१०) राग (११) द्वेष (१२) कलह (१३) अभ्याख्यान (१४) पैशुन्य (१५) परपरिवाद (१६) रति-अरति (१७) मायामृषा और (१८) मिथ्यादर्शनशल्य ॥१॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—जीव अजीव आदि नौ तत्त्वों में से पहले के चार अध्यायों में क्रम से जीव, अजीव, बन्ध और पुण्य तत्त्व का निरूपण किया गया । अब क्रम प्राप्त पाँचवें पाप तत्त्व का विवेचन करने के लिए पांचवां अध्याय प्रारंभ किया जाता है । उसका प्रथम सूत्र यह है—'असुभकम्मे पावे ।'

अशुभकर्म—अकुशलकर्म—पापम् अपुण्यं व्यपदिश्यते । तत्र—प—पङ्किलम् , अर्थात्—मलिन भावमापयति—प्रापयतीति पापम् । अथवा—प—क्षेमम् आ—समन्तात् पिबति नाशयतीति पापम् । यद्वा पान पास्तमर्थात् प्राणिनामात्मानन्दरसपानम् आप्नोति—गृह्णातीति पापम् । अथवा—नरकादिकुगतिषु जीवान् पातयतीति पापम् । पृषोदरादित्वात्साधु. आत्मानं कर्मरजोभिः पांशयति मलिनयतीतिवा 'पापम् इति पापपदव्युत्पत्तिः । ज्ञानावरणीयादिकर्म पापमुच्यते ।

तच्चा—ऽष्टादशविधं बोध्यम् । प्राणातिपात—१ मृषावाद—२ स्तेय—३ मैथुन—४ परिग्रह—५ क्रोध—६ मान—७ माया—८ लोभ—९ राग—१० द्वेष—११ कलहा—१२ ऽभ्याख्यान—१३ पैशून्य—१४ परपरिवाद—१५ रत्यरति—१६ माया मृषा—१७ मिथ्यादर्शनशल्य—१८ भेदात् ।

तत्र—प्राणातिपात' प्राणव्यपरोपणम् , जीवहिंसेत्यर्थः—१ मृषावादोऽसत्यभाषणम्—२ स्तेयम्—अदत्तादानम्—३ मैथुन—स्त्रीसङ्गम', अब्रह्मचर्य मित्यर्थः—४ परिग्रहो मूर्च्छा—ममत्व मभिष्वङ्ग'—५ क्रोध'—स्वान्तसज्वलनलक्षणः कषायविशेषः—६ मानोऽहङ्कार', गर्व इतियावत—७

अशुभ अर्थात् अकुशल कर्म पाप कहलाता है। पाप शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—पं—पंकिल अर्थात् मलिनता को आपयति—जो प्राप्त कराता है, वह पाप अथवा पं—क्षेम को, आ—सब ओर से, पूरी तरह से जो, पिबति—पी जाता है—नष्टकर देता है सो पाप । अथवा पान—पा अर्थात् प्राणियों के आत्मानन्दरस के पान को जो आप्नोति—ग्रहण कर लेता है अर्थात् जिसके कारण जीव आत्मानन्द के रसपान से वंचित हो जाते हैं, उसे पाप कहते है । अथवा नरक आदि दुर्गतियों को जो प्राप्त करता है वह पाप कहलाता है । या आत्मा को कर्म—रज से जो पांशयति—मलीन करता है, वह पाप है ।

पाप अठारह प्रकार का है । —(१) प्राणातिपात (२) मृषावाद (३) स्तेय (४) अब्रह्मचर्य (५) परिग्रह (६) क्रोध (७) मान (८) माया (९) लोभ (१०) राग (११) द्वेष (१२) कलह (१३) अभ्याख्यान (१४) पैशून्य (१५) परपरिवाद (१६) रति-अरति (१७) मायामृषा (१८) मिथ्यादर्शनशल्य । इसका अर्थ इस प्रकार है,

१ -प्रणातिपात—प्राणो का व्यपरोपण नाश करना

२—मृषावाद—असत्य भाषण करना.

३—स्तेय—अदत्तादान—चोरी.

४—अब्रह्मचर्य—मैथुन—कुशील.

५—परिग्रह—ममत्व, आसक्ति.

६—क्रोध—मन में जलन होना.

माया—कापट्यम् , ८ लोभो गृद्धिः—९ राग· आसक्तिः—१० द्वेषोऽप्रीति—११ कलहः—परस्पर-वैमनस्यकारकशब्दविग्रह·—१२ अभ्याख्यान—मिथ्याभियोग·, मिथ्या रोप·—१३ पैशुन्य—परोक्षे-दोषसूचनम्—१४ परपरिवाद —परस्य निन्दा, प्रसिद्धा—१५ रत्यरती—प्रीत्यप्रीती—१६ मायामृषा—शाठ्याऽसत्यम्—१७ मिथ्यादर्शनशल्यम्—तत्त्वार्थाऽश्रद्धान—मायानिदानमिथ्यात्वम्—१८ इति बोध्यम् ॥सूत्र १॥

मूलसूत्रम्—"तब्भोगो वासीइभेएणं" ॥२॥

छाया—"तद्भोगो ह्यशीति भेदेन" ॥२॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्व सूत्रे पापकर्मस्वरूप प्रतिपादितम् , सम्प्रति—तस्य पापकर्मणो भोगं ह्यशीतिप्रकारतया प्रतिपादयितुमाह—**"तब्भोगो वासीइभेएणं—"** इति ।

तद्भोग·—तस्य पूर्वोक्तस्वरूपस्याऽष्टादशप्रकारेण बद्धस्य पापकर्मणो भोग दु.खरूपफलानुभव , ह्यशीतिभेदेन—ह्यऽधिकाशीति प्रकारतया सभवति, तस्य पापकर्मणः फलभोगसाधनानि ह्यधिकाशीति प्रकाराणि सन्तीति भाव·

७—मान—अहंकार—गर्व
८—माया—कपट
९—लोभ—गृद्धि
१०—राग—प्रेम
११—द्वेष—अप्रीति
१२—कलह—पारस्परिक वैमनस्य जनक वाचिक युद्ध
१३—अभ्याख्यान—किसी पर झूठा आरोप लगाना
१४—पैशून्य—दूसरे की चुगली खाना
१५—परपरिवाद—दूसरे की निन्दा करना
१६—रत्यरति—ससार—विषयो में राग,, धर्म में अप्रीति,
१९—मायामृषा—कपट पूर्वक मिथ्या भाषण करना
१८—मिथ्यादर्शनशल्य—कुदेव कुगुरु कुधर्म पर श्रद्धा होना ये शल्य है ॥सू. १॥

सूत्रार्थ—'तब्भोगो वासीइभेएणं'—२

पाप का फल बयासी प्रकार से भोगा जाता है ॥२॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्व सूत्र में पापकर्म के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया । अब उसके उपभोग के बयासी प्रकारो का प्रतिपादन करने के लिये कहते हैं—

पूर्वोक्त स्वरूप वाले, अठारह प्रकार से बाँधे हुए पाप कर्म का भोग अर्थात् दु ख रूप फल का अनुभव बयासी प्रकार से होता है । अर्थात् पाप के फलभोग साधन बयासी

अशुभकर्म–अकुशलकर्म–पापम् अपुण्यं व्यपदिश्यते । तत्र–प–पङ्किलम् , अर्थात्–मलिन भावमापयति–प्रापयतीति पापम् । अथवा–पं–क्षेमम् आ–समन्तात् पिबति नाशयतीति पापम् । यद्वा पान पास्तमर्थात् प्राणिनामात्मानन्दरसपानम् आप्नोति–गृह्णातीति पापम् । अथवा–नरकादिकुगतिषु जीवान् पातयतीति पापम् । पृषोदरादित्वात्साधु. आत्मानं कर्मरजोभि: पांशयति मलिनयतीतिवा पापम् इति पापपदव्युत्पत्ति. । ज्ञानावरणीयादिकर्म पापमुच्यते ।

तच्चा–ऽष्टादशविध बोध्यम् । प्राणातिपात–१ मृषावाद–२ स्तेय–३ मैथुन–४ परिग्रह–५ क्रोध–६ मान–७ माया–८ लोभ–९ राग–१० द्वेष–११ कलहा–१२ ऽभ्याख्यान–१३ पैशून्य–१४ परपरिवाद–१५ रत्यरति–१६ माया मृषा–१७ मिथ्यादर्शनशल्य–१८ भेदात् ।

तत्र–प्राणातिपात प्राणव्यपरोपणम् , जीवहिंसेत्यर्थ:–१ मृषावादोऽसत्यभाषणम्–२ स्तेयम्–अदत्तादानम्–३ मैथुन–स्त्रीसङ्गमः, अब्रह्मचर्य मित्यर्थ:–४ परिग्रहो मूर्च्छा–ममत्व मभिष्वङ्ग:–५ क्रोध:–स्वान्तसञ्ज्वलनलक्षण: कषायविशेष:–६ मानोऽहङ्कार:, गर्व ईतियावत्–७

अशुभ अर्थात् अकुशल कर्म पाप कहलाता है। पाप शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है–प–पंकिल अर्थात् मलिनता को आपयति–जो प्राप्त कराता है, वह पाप अथवा पं–क्षेम को, आ–सब ओर से, पूरी तरह से जो, पिबति–पी जाता है–नष्टकर देता है सो पाप। अथवा पान–पा अर्थात् प्राणियों के आत्मानन्दरस के पान को जो आप्नोति–ग्रहण कर लेता है अर्थात् जिसके कारण जीव आत्मानन्द के रसपान से वंचित हो जाते हैं, उसे पाप कहते है । अथवा नरक आदि दुर्गतियों को जो प्राप्त करता है वह पाप कहलाता है । या आत्मा को कर्म–रज से जो पाशयति–मलीन करता है, वह पाप है।

पाप अठारह प्रकार का है। –(१) प्राणातिपात (२) मृषावाद (३) स्तेय (४) अब्रह्मचर्य (५) परिग्रह (६) क्रोध (७) मान (८) माया (९) लोभ (१०) राग (११) द्वेष (१२) कलह (१३) अभ्याख्यान (१४) पैशून्य (१५) परपरिवाद (१६) रति-अरति (१७) मायामृषा (१८) मिथ्यादर्शनशल्य । इसका अर्थ इस प्रकार है,

१–प्रणातिपात–प्राणो का व्यपरोपण नाश करना

२–मृषावाद–असत्य भाषण करना.

३–स्तेय–अदत्तादान–चोरी

४–अब्रह्मचर्य–मैथुन–कुशील.

५–परिग्रह–ममत्व, आसक्ति.

६–क्रोध–मन में जलन होना

माया–कापट्यम् , ८ लोभो गृद्धि –९ राग आसक्ति.–१० द्वेषोऽप्रीति–११ कलहः–परस्पर-वैमनस्यकारकशब्दविग्रहः–१२ अभ्याख्यानं–मिथ्याभियोग', मिथ्या रोप –१३ पैशुन्य–परोक्षे-दोषसूचनम्–१४ परपरिवाद'–परस्य निन्दा, प्रसिद्धा–१५ रत्यरती–प्रीत्यप्रीती–१६ मायामृषा–शाठ्याऽसत्यम्–१७ मिथ्यादर्शमशल्यम्—तत्त्वार्थाऽश्रद्धान–मायानिदानमिथ्यात्वम्–१८ इति बोध्यम् ॥सूत्र १॥

मूलसूत्रम्—"तब्भोगो वासीइभेएणं" ॥२॥

छाया—"तद्भोगो ह्यशीति भेदेन" ॥२॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वं सूत्रे पापकर्मस्वरूप प्रतिपादितम् , सम्प्रति–तस्य पापकर्मणो भोगं द्व्यशीतिप्रकारतया प्रतिपादयितुमाह—"तब्भोगो वासीइभेएणं–" इति ।

तद्भोग'–तस्य पूर्वोक्तस्वरूपस्याऽष्टादशप्रकारेण बद्धस्य पापकर्मणो भोग' दु'खरूपफलानुभव , द्व्यशीतिभेदेन–द्व्यऽधिकाशीति प्रकारतया सभवति, तस्य पापकर्मण' फलभोगसाधनानि द्व्यधिकाशीति प्रकाराणि सन्तीति भाव

७–मान–अहंकार–गर्व
८–माया–कपट
९–लोभ–गृद्धि
१०–राग–प्रेम
११–द्वेष–अप्रीति
१२–कलह–पारस्परिक वैमनस्य जनक वाचिक युद्ध
१३–अभ्याख्यान–किसी पर झूठा आरोप लगाना
१४–पैशून्य–दूसरे की चुगली खाना
१५–परपरिवाद–दूसरे की निन्दा करना
१६–रत्यरति–ससार–विषयों में राग,, धर्म में अप्रीति,
१७–मायामृषा–कपट पूर्वक मिथ्या भाषण करना
१८–मिथ्यादर्शनशल्य–कुदेव कुगुरु कुधर्म पर श्रद्धा होना ये शल्य हैं ॥सू. १॥

सूत्रार्थ—'तब्भोगो बासीइभेएणं'–२

पाप का फल बयासी प्रकार से भोगा जाता है ॥२॥

तत्वार्थदीपिका —पूर्व सूत्र में पापकर्म के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया । अब उसके उपभोग के बयासी प्रकारो का प्रतिपादन करने के लिये कहते है–

पूर्वोक्त स्वरूप वाले, अठारह प्रकार से बाँधे हुए पाप कर्म का भोग अर्थात् दुःख रूप फल का अनुभव बयासी प्रकार से होता है । अर्थात् पाप के फलभोग साधन बयासी

तद्यथा—पञ्च ज्ञानावरणानि—५ नव दर्शनावरणानि—९ एकम्—असातावेद्यम्—१ षड्विंशतिविधं मोहनीयम्—२६ सम्यक्त्वं—सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृतिद्वयरहित बोध्यम् , तयोर्बन्धकत्वाभावात् . मिथ्यात्वमेकैकं बद्धं मोहनीयपापकर्मतया परिणमते । एक नरकायुष्यम्—१ एक नीचैर्गोत्रम्–१ पञ्चविधमन्तरायम्—५ एका नरकगति –१ एका च नरकगत्यानुपूर्वी—१ चतस्रो-जातय –४ दशसहननसस्थानानि—१० चतुष्कम्—अप्रशस्त वर्ण—गन्ध—रस—स्पर्शरूपम्—४ एकमुपघातनाम—१ एकादश तावद्—अप्रशस्त विहायोगतिस्थावरसूक्ष्माऽपर्याप्तकसाधारणनामाऽस्थिराऽशुभदुर्भगदु स्वराऽनादेयाऽयश कीर्ति नामानि चेति—

अशीति भेदानि, पूर्वोक्त सम्यक्त्व—सम्यग् मिथ्यात्वरूपमोहनीयद्वयभेदसमेलनेन द्व्यधिकाऽशीति प्रकाराणि पापकर्मफलभोगसाधनानि भवन्तीतिभाव ॥२॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्व पापकर्मण' स्वरूपं प्रतिपादितम् , सम्प्रति—तस्य खलु पापकर्मणो दु खफलभोगसाधनानि द्व्यधिकाऽशीति प्रकारेतया प्ररूपयितुमाह —

"तब्भोगो वासीइभेएणं—" इति । तद्भोग'—तस्य खलु पापकर्मण' फलभोगो द्व्यधिकाशीतिप्रकारतया प्रज्ञप्त इति । तथाहि पञ्च ज्ञानावरणानि—५ नव दर्शनावरणानि—८ असातावेदनीय—मिथ्यात्वम् १ षोडशकषाया –१६ नव नोकषाया—९नरकायुष्यम्—१ नरकतिर्यग्गती २ एक द्वि—त्रि चतुरिन्द्रिय जातय' प्रथमवर्जितानि—५ पञ्च सस्थानानि—५ पञ्चैव सहननानि

प्रकार के है । वे इस प्रकार है—

ज्ञानावरण (५), दर्शनावरण (९), असातावेदनीय (९), मोहनीय (२६—मोहनीय की सम्यक्त्व प्रकृति और सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति को छोडकरके क्योंकि इन दो प्रकृतियो का बन्ध नहीं होता । एक मात्र मिथ्यात्व का बन्ध होता है, वही उदय के समय तीन रूप में परिणत हो जाता है), नरकायु (१), नीचगोत्र (१), अन्तराय (५), नरकगति (१), नरकगत्यानुपूर्वी (१), एकेन्द्रियजाति आदि जातियाँ (४), दस सहनन और सस्थान (१०) अप्रशस्त वर्ण, गध, रस, स्पर्श (४) उपघात (१) अप्रशस्त विहायोगति, स्थावर सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, अस्थिर अशुभ, दुर्भग, दु स्वर, अनादेय और अयश कीर्ति नाम कर्म ये ग्यारह मिलकर अस्सी भेद हुए इनमे सम्यक्त्व मोहनीय और मिश्रमोहनीय भेदों को मिला देने से पाप कर्म के फलोपभोग के बयासी प्रकार होते हैं ॥२॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—इससे पाप कर्म का स्वरूप बतलाया गया है अब पापकर्म के दु'ख रूप फल को भोगने के बयासी (८२) प्रकार कहते है—

पापकर्म का फलभोग बयासी प्रकार से होता है । वे बयासी प्रकार ये है—पाँच ज्ञानावरण, नौ दर्शनावरण, असाता वेदनीय, मिथ्यात्व, सोलह कषाय, नौनोकषाय, नरकायु नरकगति, तिर्यचगति, एकेन्द्रियजाति, द्वीन्द्रियजाति, त्रीन्द्रियजाति, चतुरिन्द्रियजाति, समचतुरस्र सस्थान

–५ अप्रशस्त वर्ण–गन्ध रस–स्पर्शा –४ नारकगति २ तिर्यग्गत्यानुपूर्व्यौ–२ उपघातनामा –१ प्रशस्त विहायोगतिनाम–१ स्थावर–१ सूक्ष्मा–१ ऽपर्याप्तक–१ साधारण शरीरा–१ ऽस्थिरा–१ ऽशुभ–१ दुर्भग–१ दु स्वरा–१ ऽनादेया–१ऽ यश कीर्तय:–१ नीचैर्गोत्रम्–१ पञ्चविधमन्तरायम्–५ इति–च ।

तत्राऽऽभिनिबोधिकज्ञानावरणीयम्, श्रुतज्ञानावरणीयम्, अवधिज्ञानावरणीयम्, मन.पर्यव-ज्ञानावरणीयम्, केवलज्ञानावरणीयम्, इत्येव ज्ञानावरणानि पञ्च ५ तथाचोक्त स्थानाङ्गे ५–स्थाने ३–उद्देशके—"**पंचविहे णाणावरणिज्जे कम्मे पण्णत्ते, तं जहा—आभिणिबोहियणाणावर-णिज्जे, सुयणाणावरणिज्जे ओहिणाणावरणिज्जे, मणपज्जवणाणावरणिज्जे, केवलणा-णावरणिज्जे–**" इति । पञ्चविध ज्ञानावरणीय कर्म प्रज्ञप्तम्, तद्यथा–आभिनिबोधिकज्ञानावरणीयम्, श्रुतज्ञानावरणीयम्, अवधिज्ञानावरणीयम्, मन पर्यवज्ञानावरणीयम्, केवलज्ञानावरणीयम्, इति । एव चक्षुर्दर्शनावरणम्–अचक्षुर्दर्शनावरणम्, अवधिदर्शनावरणम्, केवलदर्शनावरणम्, निद्रा–निद्रानिद्रा प्रचला–प्रचलाप्रचला–स्त्यानर्द्धि' इत्येव दर्शनावरणानि नव। उक्तञ्च स्थानाङ्गे ९–स्थाने '**णवविहे दरिसणावरणिज्जे कम्मे पण्णत्ते, तं जहा—निद्दा–निद्दानिद्दा–पयला–पयला पयला–थीणद्धी, चक्खुदंसणावरणे–अचक्खु दंसणावरणे–अवधि [ओहि–] दंसणा-वरणे–केवलदंसणावरणे—**" इति ।

नवविध दर्शनावरणीय कर्म प्रज्ञप्तम्, तद्यथा–निद्रा–निद्रानिद्रा प्रचला–प्रचला प्रचला–

के सिवाय पाँच सस्थान, वज्रऋषभनाराच सहनन के सिवाय पाँच सहनन अप्रशस्त वर्णरस गंध और स्पर्श, नरकागत्यानुपूर्वी, तिर्यचगत्यानुपूर्वी, उगघात, प्रशस्त विहायोगति, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारणशरीर, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दु स्वर, अनादेय, अयश कीर्ति नीच–गोत्र और पांच प्रकारका अन्तराय ।

पाच प्रकार के ज्ञानावरणीय ये है–(१) आभिनिबोधिक ज्ञानावरणीय (२) श्रुतज्ञाना-वरणीय (३) अवधिज्ञानावरणीय (४) मन पर्यवज्ञानावरणीय और (५) केवलज्ञानावरणीय ।

स्थानांगसूत्र के पांचवें स्थान के तृतोय उद्देशक में कहा है–पांच प्रकार का ज्ञानावरणीय कर्म कहा गया है—आभिनिबोधिक ज्ञानावरणीय श्रुतज्ञानावरणीय अवधिज्ञानावरणीय, मन पर्यव ज्ञानावरणीय, अयश कीति नीचगोत्र और पाच प्रकार का अन्तराय और केवलज्ञानावरणीय ।'

दर्शनावरणीय के नौ प्रकार है–चक्षुदर्शनावरण, अचक्षु दर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण, केवलदर्शनावरण, निद्रा, निद्रा--निद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला और स्त्यानर्धि ।

स्थानागसूत्र के नौवे स्थान में कहा है–दर्शनावरणीय कर्म नौ प्रकार का कहा गया है। वह इस प्रकार है—(१) निद्रा (२) निद्रानिद्रा (३) प्रचला (४) प्रचलाप्रचला (५)

स्त्यानर्द्धि', चक्षुर्दर्शनावरणम्–अचक्षुर्दर्शनावरणम्–अवधिदर्शनावरणम्–केवलदर्शनावरणम्–इति। असातावेदनीयञ्चैकविधमेव भवति।

उक्तञ्च प्रज्ञापनाया २३–पदे २–उद्देशे–"असायावेयणिज्जे य–" इति, असातावेदनीयञ्चेति। सातावेदनीयन्तु–पुण्यकर्मरूपमवसेयम्। मिथ्यात्वञ्च–मिथ्यात्ववेदनीयरूपमेकविधमेव। यद्यपि–प्रज्ञापनायां २३–कर्मबन्धपदे २–उद्देशके–"**मोहणिज्जेणं भंते! कम्मे कइविहे पण्णत्ते? गोयमा! दुविहे पण्णत्ते, तं जहा–दंसणमोहणिज्जे य–चरित्तमोहणिज्जे य। दंसणमोहणिज्जे णं भंते! कम्मे कइविहे पण्णत्ते? गोयमा! तिविहे पण्णत्ते तं जहा–सम्मत्तवेयणिज्जे, मिच्छत्तवेयणिज्जे, सम्मामिच्छत्तवेयणिज्जे–**" इति। मोहनीयं भदन्त–! कर्म कतिविध प्रज्ञप्तम्–? गौतम! द्विविध प्रज्ञप्तम्, तद्यथा–दर्शनमोहनीयञ्च चारित्रमोहनीयञ्च। दर्शनमोहनीय खलु भदन्त! कर्म कतिविध प्रज्ञप्तम्! त्रिविधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा–सम्यक्त्ववेदनीयम्–मिथ्यात्ववेदनीयम्–सम्यग्मिथ्यात्ववेदनीयञ्चेतिरीत्या त्रिविधमुक्तम् तथा सम्यक्त्ववेदनीय–सम्यग् मिथ्यात्ववेदनीयकर्मणो पुण्यत्वपरिणतिसम्भवात् पापकर्मपरिणतत्वाभावेन पापकर्मणि केवलं मिथ्यात्वकर्मण' परिगणन बोध्यम्।

षोडशकषायास्तु–अनन्तानुबन्धी क्रोध, अनन्तानुबन्धीमान', अनन्तानुबन्धी माया, अनन्तानुबन्धीलोभ', अप्रत्याख्यानक्रोध अप्रत्याख्यानमान, अप्रत्याख्यानमाया, अप्रत्याख्या-

---

स्त्यानर्द्धि (६) चक्षुर्दर्शनावरण (७) अचक्षुर्दर्शनावरण (८) अवधिदर्शनावरण केवलदर्शनावरण।'

प्रज्ञापना सूत्र के तेईसवे पद के द्वितीय उद्देशक में कहा है–'आसतावेदनीय' सातावेदनीय कर्म पुण्यप्रकृति में परिगणित किया जा चुका है। मिथ्यात्ववेदनीय रूप मिथ्यात्व एक ही प्रकार का है। प्रज्ञापना में २३ वे कर्मबधपद के दूसरे उद्देशक में कहा है–

प्रश्न–भगवन्! मोहनीय कर्म कितने प्रकार का कहा है?

उत्तर–गौतम! दो प्रकार का कहा है–दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय।

प्रश्न–भगवन्! दर्शनमोहनीय कर्म कितने प्रकार का है?

उत्तर–गौतम! तीन प्रकार का है–सम्यक्त्ववेदनीय, मिथ्यात्ववेदनीय और सम्यङ्मिथ्यात्ववेदनीय।

यहाँ यद्यपि दर्शनमोहनीय कर्म तीन प्रकार का कहा गया है तथापि सम्यक्त्ववेदनीय और सम्यङ्मिथ्यात्ववेदनीय प्रकृतियाँ पुण्यरूप परिणत होती है, पापकर्म रूप नहीं, अतएव पापकर्म मे केवल मिथ्यात्व कर्म की ही गणना की गई है।

सोलह कषाय इस प्रकार हैं–अनन्तानुबधी क्रोध, अनन्तानुबधी मान, अनन्तानुबधी माया, अनन्तानुबंधी लोभ, अप्रत्याख्यान क्रोध, अप्रत्याख्यान मान, अप्रत्याख्यान माया अप्रत्याख्यान लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध, प्रत्याख्यानावरणमान, प्रत्याख्यानावरण माया,

नलोभः, प्रत्याख्यानावरणक्रोधः, प्रत्याख्यानावरणमानः, प्रत्याख्यानावरणमाया, प्रत्याख्यानावरणलोभः, सञ्ज्वलनक्रोधः, सञ्ज्वलनमानः, सञ्ज्वलनमाया, सञ्ज्वलनलोभश्चेत्येव रूपाऽत्रगन्तव्या ।

उक्तञ्च प्रज्ञापनायां १३–कर्मबन्धपदे २–उद्देशके—**"कसायवेयणिज्जे णं भंते ! कइविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! सोलसविहे पण्णत्ते. तं जहा–अणंताणुबंधीकोहे, अणंताणुबंधीमाणे, अणंताणुबंधीमाया, अणंताणुबंधीलोभे, अपच्चक्खाणे कोहे, एवं–माणे–माया–लोभे, पच्चक्खाणावरणे कोहे, एवं–माणे माया लोभे, संजलणकोहे, एवं–माणे माया लोभे–"** इति ।

कषायवेदनीय खलु भदन्त ! कतिविधं प्रज्ञप्तम् ? गौतम ! षोडशविध प्रज्ञप्तम्, तद्यथा—अनन्तानुबन्धीक्रोधः–अनन्तानुबन्धी मानः–अनन्तानुबन्धिनी माया, अनन्तानुबन्धोलोभः । अप्रत्याख्यानः क्रोधः, एव–मानो मायालोभ । प्रत्याख्यानावरण क्रोध, एवं–मानो माया लोभः । सञ्ज्वलनक्रोधः, एवं–मानो माया लोभ । इति ।

नव नोकषायास्तु—स्त्रीवेदनीयम्, पुरुषवेदनीयम्, नपुसकवेदनीयम्, हासो–रति–ररति–भय–शोको–जुगुप्साचेत्येवं रूपा अवसेयाः ।

तथाचोक्त तत्रैव प्रज्ञापनायां २३ कर्मबन्धपदे द्वितीयोदेशके—**"चरित्तमोहणिज्जे णं भंते ! कम्मे कतिविहे पण्णत्ते ? गोयमा ? दुविहे पण्णत्ते, तं जहा–कसायवेयणिज्जे, नोकसायवेयणिज्जे, । नोकसायवेयणिज्जे णं भंते ! कम्मे कतिविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! णवविहे पण्णत्ते, तं जहा–इत्थीवेयवेयणिज्जे, पुरिसवेयवेयणिज्जे, नपुंसगवेयवेयणिज्जे, हासे रती–अरती–भए–सोगे–दुगुंछा–"** इति ।

चरित्रमोहनीय खलु भदन्त ! कर्म कतिविध प्रज्ञप्तम् ? गौतम ! द्विविधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा—कषायवेदनीय–नोकषायवेदनीयम्, । नोकषायवेदनीय खलु भदन्त ! कर्म कतिविध प्रज्ञप्तम् ? गौतम ! नवविधं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा–स्त्रीवेदवेदनीयम्–पुरुषवेदवेदनीयम्–नपुसकवेदवेदनीयम्, हासो–रति–ररति–भयं–शोको–जुगुप्सा चेति, नरकायुष्य तावदेकविधमेव बोध्यम् ।

प्रत्याख्यानावरण लोभ, सञ्ज्वलनक्रोध, सञ्ज्वलन मान, सञ्ज्वलन माया और सञ्ज्वलन लोभ । यह वर्णन–प्रज्ञापनासूत्र के २३ वे कर्मबन्ध पद में, दूसरे उद्देशक में इसी प्रकार कहा है ।

नोकषाय नौ इस प्रकार है–(१) स्त्रीवेद (२) पुरुषवेद (३) नपुसकवेद (४) हास्य (५) रति (६) अरति (७) भय (८) शोक (९) जुगुप्सा ।

प्रज्ञापनासूत्र के २३ वे कर्मबध नामक पद के दूसरे उद्देशक में कहा है–

प्रश्न—भगवान् ! चारित्रमोहनीय कर्म कितने प्रकार का कहा है ?

उत्तर—गौतम ! दो प्रकार का है–कषायवेदनीय और नोकषायवेदनीय ।

प्रश्न—भगवन् ! नोकषायवेदनीय कर्म कितने प्रकार का है ?

उक्तञ्च—प्रज्ञापनायां २३-पदे २ उद्देशके—"**आउएणं भंते ! कम्मे कइविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—णेरइयाउए, तिरियआउए, मणुस्साउए, देवाउए—**" इति ।

नरकगति—स्तिर्यग्गतिश्चेति द्विविधा गति पापकर्मण्यन्तर्भवति । एकेन्द्रियपृथिवीकायिकादिजाति, द्वीन्द्रिय शङ्ख शुक्तिकादिजाति त्रीन्द्रिय पिपीलिकामत्कुणादि जाति', चतुरिन्द्रियमक्षिकादिजातिश्च पापकर्मण्यन्तर्भवन्ति । पञ्चेन्द्रियजाते' पुण्यकर्मान्तर्भावात् ।

वज्रर्षभनाराचसहननभिन्नानि पञ्चसहननानि—अर्धवज्रर्षभनाराच—नाराचा—ऽर्धनाराच—कीलिकासृपाटिकारूपाणि पापकर्मण्यन्तर्भवन्ति । एवं—समचतुरस्रसस्थानवर्जितानि पञ्चसस्थानानि न्यग्रोधपरिमण्डल, सादि, कुब्ज, वामन, हुण्ड रूपाणि पापकर्मण्यन्तर्भवन्ति । अप्रशस्त—रूप—रस—गन्ध—स्पर्शा अपि पापकर्मण्यन्तर्भवन्ति । एव—नारकगत्यानुपूर्वी, तिर्यग्गत्यानुपूर्वीचापि पापकर्मण्यन्तर्भवत' ।

उत्तर—गौतम ! नौ प्रकार का है—जो ऊपर बता चुके हैं ।

आयुकर्म की प्रकृतियो में एक नरकायु ही पाप मे परिगणित है ।

यद्यपि प्रज्ञापनासूत्र के तेईसवे पद के दूसरे उद्देशक में ऐसा कहा है—

प्रश्न—भगवन् ! आयुष्ककर्म कितने प्रकार का है ?

उत्तर—गौतम ! चार प्रकार का है, यथा—नैरयिकायु, तिर्यक्आयु, मनुष्यायु और देवायु ।

यहाँ आयुकर्म के चार भेद बतलाए गए है, तथापि अन्त के तीन आयु जीवो को प्रिय होने के कारण पुण्यकर्म मे गिने गए है । अतएव शेष रहे एक नरकायु की ही पापकर्म में गणना की गई है ।

नरकगति और तिर्यंचगति, ये दोनो पापकर्म के अन्तर्गत है ।

पृथ्वीकयिका आदि की एकेन्द्रिय जाति, शख सीप आदि की द्वीन्द्रिय जाति, चिउटी मत्कुण आदि की त्रीन्द्रिय जाति, मक्षिका आदि की चौइन्द्रिय जाति, यह चार जातियाँ पापकर्म मे सम्मिलित है । पचेन्द्रिय जाति का पुण्यकर्म में समावेश है ।

वज्रऋषभनाराचसहनन को छोड कर शेष पाँच सहनन कीलिका सहनन और सेवार्त्त सहनन पापकर्म के अन्तर्गत है ।

इसी प्रकार समचतुरस्रसस्थान को छोड कर शेष पाँच सस्थान पापकर्म में अन्तर्गत है । वे इस प्रकार है—न्यग्रोधपरिमडल, सादि, कुब्ज, वामन और हुण्डक ।

अप्रशस्त रूप, रस, गंध और स्पर्श भी पापकर्म में गिने जाते हैं । इसी प्रकार नरकगत्यानुपूर्वी और तिर्यग्गत्यानुपूर्वी भी पापकर्म मे सम्मिलित है ।

अन्तर्गतौ वर्तमानस्य क्षेत्रसन्निवेशक्रमरूपा–ऽऽनुपूर्वी विज्ञेया। अन्तर्गतिश्च–द्विविधा, ऋज्वी-वक्राच, तदुभयत्रापि–आनुपूर्वी नामकर्म। एवम्—उपघातनामापि पापकर्मभवति, शरीराङ्गो पाङ्गोपघातजनकत्वात्। एवम्–अप्रशस्तविहायोगतिनामापि पापकर्म भवति। एव–स्थावरना-मापि पापकर्मवर्तते, तस्या–ऽदृश्य लक्षणसूक्ष्मशरीरनिर्वर्तकत्वात्।

एवम्–अपर्याप्तकनामापि पापकर्मभवति, अपर्याप्ति निर्वर्तकत्वात्। तथाच–यस्य कर्मण उदये सति पर्याप्तय· परिपूर्णतां नासादयन्ति, अपर्याप्तएव म्रियते कदाचिद्वा तद्भिनापि भवति। यथा–सम्-र्च्छनज मनुष्यादि· तत्कर्माऽपर्याप्तिनामपदेनो–च्यते।

एव–साधारणशरीरनामापि पापकर्म भवति, अनेकजीव साधारणशरीरनिर्वर्तकत्वात्। अन-न्तानां जीवानामेक शरीर साधारण किसलय–निगोद–वज्रकन्दप्रभृति। तत्र–यथैकस्य परिभोगो भवति, तथा–ऽनेकस्यापि जीवस्येति, तद्भिन्नं सद् यस्य कर्मण उदयान्निवर्तते तत् साधारणशरीर-नाम व्यपदिश्यते।

एवम्—अस्थिरत्वनामापि पापकर्म भवति शरीरावयवानां कर्ण–त्वगादीनामस्थिरतारूप चलता निवर्तकत्वात्। एतदुदयाद् शरीरावयवाना स्थिरता न भवतीतिभावः।

एवम्—अशुभनामापि पापकर्मभवति पादादि शरीरावयवानां निर्वर्तकत्वात्। अत एव–

विग्रह—अन्तराल गति में वर्त्तमान जीव के क्षेत्रसन्निवेशक्रम को आनुपूर्वी कहते है। अन्तरालगति दो प्रकार की है–ऋज्वी (सीधी–जिसमे मुडना न पड़े) और वक्रा (मोड़ वाली)। दोनो मे आनुपूर्वी नामकर्म का उदय होता है।

उपघात नामकर्म भी पापप्रकृति है, क्योकि वह अपने ही शरीर के अंगोपांगो के उपघात का कारण है। अप्रशस्तविहायोगति भी पापकर्म है और स्थावर नामकर्म भी पाप में ही परिगणित है, क्योकि उसके उदय से अवश्य सूक्ष्म शरीर की उत्पत्ति होती है।

अपर्याप्त नाम कर्म भी पापकर्म है, क्योकि उसके उदय से पर्याप्तियों की पूर्ण रूप से प्राप्ति नहीं होती। जिस कर्म के उदय से यथायोग्य पर्याप्तियाँ पूरी नहीं हो पाती और अप-र्याप्त अवस्था में ही मृत्यु हो जाती है, वह अपर्याप्त नामकर्म कहलाता है।

साधारण शरीर नामकर्म भी पापकर्म है, क्योंकि उसके फलस्वरूप ऐसे शरीर की प्राप्ति होती है जो अनन्त जीवों के लिए साधारण (एक ही शरीर) होता है। किसलय (कौपल), निगोद और वज्रकंद आदि के ऐसे ही साधारण शरीर होते है। वहाँ जैसा परि-भोग एक जीव का होता है, वैसा ही अनेक जीवो का होता है।

अस्थिर नामकर्म भी पापकर्म ही है; क्योंकि उसके उदय से शरीर के अस्थिर अव-यव उत्पन्न होते हैं। जिसको इस कर्म का उदय होता है, उसके शरीर के अवयवों में स्थिरता नहीं होती।

लौकिके व्यवहारे पादादिना स्पृष्टोऽनेनाऽपमानितोऽहमिति तस्मै क्रुध्यति । शिर प्रभृति-शरीरावयवजनकत्तु—शुभनाम पुण्यकर्म भवति, अत शिरसा स्पृष्टचरणा पूजा—सद्भाव मन्यन्ते प्रार्थयन्ते च । एवमेव—दुर्भगनामापि पाप कर्म भवति, तस्य—दौर्भाग्यनिर्वर्त्तकत्वात्—मनसोऽप्रियता-जनकत्वाच्च । एवम् -दु'स्वरनामापि पापकर्मवर्तते, तस्य—कर्णकटुताकारणनिर्वर्तकत्वात् श्रुतोदु -स्वरोगर्दभस्येव श्रोतृणा मनो दु खाकरोति । एवम्—अनादेयनामापि पापकर्म भवति, तस्या—ऽनुपा-देयताजनकत्वात् यदुदयाद युक्तियुक्तमपि तदीय वचो लोकानप्रमाणयन्ति—नवा—ऽऽगतवति तस्मिन् अर्हणार्हस्याऽपि तस्या—ऽभ्युत्थानादि कुर्वन्ति तदनादेयनामकर्मोच्यते ।

"एवमेवा—ऽयश कीर्तिनामापि—पापकर्म—उच्यते, तस्य दोपप्रवादप्रख्यायकत्वात् । एवम् नीचै गोत्रमपि पापकर्म प्रोच्यते, तस्य चण्डाल—मुष्टिक—व्याधमत्स्यबन्ध—दास्यादि निर्वर्तकत्वात् ।

तथाचोक्त व्याख्याप्रज्ञप्तौ भगवती सूत्रे ८—शतके ९—उद्देशके—**"जातिमएणं—कुलमएणं —बलमएणं, जाव—इस्सरियमएणं णीयागोयकम्मा सरीर जाव पयोगवंधे—"** इति । जाति मदेन—बल यावत्—ऐश्वर्यमदेन नीचै गोत्र कर्म शरीर यावत् प्रयोगबन्ध इति, यावत्—पदेन रूपमदेन—तपोमदेन श्रुतमदेन—लाभमदेन, इतिसग्राह्यम् ।

अशुभ नामकर्म भी पापप्रकृति है, क्योंकि इसके उदय से शरीर के चरण आदि अव-यव अशोभन होते है । जिस कर्म के उदय से शरीर के सिर आदि अवयव शोभन बने, वह शुभकर्म पुण्य में परिगणित है । इसी प्रकार दुर्भाग्य का जनक दुर्भग नामकर्म भी पाप-कर्म है । वह मन की अप्रियता का जनक है ।

दु.स्वर नामकर्म भी पापकर्म है, क्योकि उसके उदय से जीव का स्वर कर्णकटु होता है, जैसे गधे का स्वर सुनने वालो को अप्रिय प्रतीत होता है ।

अनादेय नामकर्म भी पापप्रकृति रूप है । इसके उदय से मनुष्य के वचन ग्राह्य—मान्य नहीं होते । युक्ति युक्त बात कहने पर भी लोग उसकी बात नहीं मानते और न उसके आने पर सन्मान—सत्कार करते हैं ।

अयश.कीर्त्ति नामकर्म भी पापकर्म कहलाता है, क्योंकि इसके उदय से सत्कृत्य करने पर भी जगत् में अपयश और अपकीर्त्ति फैलती है ।

नीचगोत्र कर्म भी पापरूप है, क्योकि इसके उदय से चाण्डाल, व्याध, मच्छीमार, दासी आदि के रूप में जन्म लेना पडता है ।

व्याख्याप्रज्ञप्ति—भगवती सूत्र के आठवे शतक के नौवे उद्देशक मे कहा है—'जाति का मद करने से कुल का मद करने से बल का मद करने से रूप मद, लाभ मद, तप मद, सूत्र मद ऐश्वर्यमद करने से नीच गोत्र का बन्ध होता है ।

एवं–पञ्चविधमन्तरायकर्माऽपि पापमुच्यते, दानान्तराय–लाभान्तराय–भोगान्तरायो–पभोगान्तराय–वीर्यान्तरायभेदात् पञ्चविधमन्तरायकर्म प्रज्ञप्तम् ।

तथाचोक्तं व्याख्याप्रज्ञप्तौ भगवतीसूत्रे–८–शतके ९–उद्देशके–"**दाणंतराएणं–लाभंतराएणं–भोगंतराएणं–उवभोगंतराएणं–वीरियंतराएणं, अंतराइयकम्मा सरीरप्पओगबंधे–**" इति ।

दानान्तरायेण–लाभान्तरायेण–भोगान्तरायेण–उपभोगान्तरायेण–वीर्यान्तरायेणाऽन्तरायकर्म शरीरप्रयोगबन्ध' इति ॥सूत्र ॥२॥

मूलम्––णाणदंसणाणं पडिणीययाइहिं णाणदंसणावरणं ॥ सूत्र ३॥

छाया––ज्ञानदर्शनयोः प्रत्यनीकतादिभिर्ज्ञानदर्शनावरणम् ॥ सूत्र-३॥

तत्त्वार्थदीपिका––पूर्वसूत्रे पापकर्मणो द्व्यधिकाशीतिप्रकारतया भोग प्ररूपित साम्प्रत ज्ञानावरणदर्शनावरणयोर्बन्धकारणानि प्रतिपादयितुमाह––"**णाणदंसणाणं**" इत्यादि ।

'**णाणदंसणाण**' ज्ञानदर्शनयो ज्ञानस्य दर्शनस्य च '**पडिणीययाइहिं**' प्रत्यनीकतादिभि अत्रादिशब्दात् निह्नवता, अन्तराय प्रद्वेष' अत्याशातना, विसवादनायोग एषां सग्रह, एतै' षड्भिः कारणै '**णाणदंसणावरण**', ज्ञानावरण दर्शनावरणं च कर्म बध्यते ॥३

इसी प्रकार पाँच अन्तराय कर्म भी पाप कर्म है। दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय, यह पाँच प्रकार का अन्तराय कर्म है।

भगवती (व्याख्याप्रज्ञप्ति) सूत्र मे आठवे शतक के नौवे उद्देशक में कहा है–दान में अन्तराय (विघ्न–बाधा) डालने से, लाभ मे अन्तराय डालने से, भोग में अन्तराय डालने से, उपभोग में अन्तराय डालने से और वीर्य में अन्तराय डालने से अन्तराय कर्म का बन्ध होता है ॥२॥

सूत्रार्थ––'णाणदंसणाणं' इत्यादि ॥ सूत्र ३॥

ज्ञान और दर्शन की प्रत्यनीकता आदि से ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म का बंध होता है ॥सूत्र–३॥

तत्त्वार्थदीपिका––पूर्वसूत्र मे पापकर्म बयासी प्रकार से भोगा जाता है यह बताया गया है, अब ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मबन्ध के कारण बताते है––'**णाणदंसणाणं**' इत्यादि ।

'**णाणदंसणाणं**'– ज्ञान और दर्शन की प्रत्यनीकता आदि करने से पंचविध ज्ञानावरण और नवविध दर्शनावरण कर्म का बध होता है। प्रत्यनीकता आदि, शब्द से भगवती सूत्र के आठवे शतक के नौवे उद्देशे मे कहे हुए पदो का यहाँ ग्रहण करना चाहिये, वे इस प्रकार हैं–ज्ञान और दर्शन प्रत्यनीकता १। निह्नवता २। अन्तराय ३। प्रद्वेष ४। अत्याशातना ५। और विसवादनयोग ६। इन छह कारणों से ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म का बन्ध होता है ॥ सू० ३॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं ज्ञानावरणादि द्व्यशीतिप्रकारपापकर्मणा स्वरूपाणि प्ररूपितानि, सम्प्रति—तेषा मध्ये पञ्च ज्ञानावरण नव दर्शनावरणपापकर्मबन्धनहेतून् प्ररूपयितुमाह—

'णाणदंसणाणं पडिणीययाईहिं णाणदंसणावरणं' इति। ज्ञानदर्शनयो प्रत्यनीकतादिभि र्ज्ञानदर्शनावरणम् इति। ज्ञानस्य—मति,श्रुतावधिमनःपर्यवकेवलज्ञानरूपस्य पञ्चविधस्य दर्शनस्य च चक्षुरचक्षुरवधिकेवलरूपस्य चतुर्विधस्य ये प्रत्यनीकतादय उपघाता तै खलु—उपघातै र्ज्ञानावरण-दर्शनावरणरूप पापकर्मणी बध्येते।

तत्र—ज्ञानविषया प्रत्यनीकतादयो ज्ञानावरणस्य पापकर्मणो बन्धनहेतवो भवन्ति, दर्शनविषया प्रत्यनीकतादयश्च दर्शनावरणस्य पापकर्मणो बन्धहेतवो भवन्ति। इति द्रष्टव्या—अत्रादिशब्देन निह्नवता, अन्तराय, प्रद्वेष अत्याशातना विसवादनायोग, एषा पञ्चाना पदाना सग्रह कर्त्तव्य., तेन ज्ञानस्य दर्शनस्य च प्रत्यनीकतादिभि षड्भिर्हेतुभि र्ज्ञानावरण दर्शनावरण च कर्म बध्यते इति बोध्यम्, तथाहि—ज्ञानप्रत्यनीकतया १, ज्ञाननिह्नवतया २, ज्ञानान्तरायेण ३, ज्ञानप्रद्वेषेण ४, ज्ञानात्याशातनया ५, ज्ञानविसवादनायोगेन ६, इत्येव सयोज्यम्।

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पूर्वसूत्र में ज्ञानावरण आदि बयासी प्रकार के पापों का स्वरूप कहा गया है अब उनमें से प्रथम पाँच प्रकार के ज्ञानावरण और नौ प्रकार के दर्शनावरण पापकर्म के बन्ध के कारण बताते हैं—**'णाणदंसणाणं'** इत्यादि। ज्ञान और दर्शन की प्रत्यनीकता आदि करने से ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म बधता है। ज्ञान—मति श्रुत, अवधि, मनःपर्यव और केवलज्ञान के भेद से पाँच प्रकार का होता है। दर्शन—चक्षु, अचक्षु अवधि और केवलदर्शन के भेद से चार प्रकार का होता है। इस प्रकार पाँच प्रकार के ज्ञानके और चार प्रकार के दर्शन के प्रत्यनीकता आदि छह उपघातक होते है। इनके आचरण से ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म का बन्ध होता है।

ज्ञान के पाँच भेद होने से ज्ञानावरण भी पाँच प्रकार का होता है, दर्शनावरण नौ प्रकार का होता है—चक्षुर्दर्शनावरण, अचक्षुर्दर्शनावरण अवधिदर्शनावरण, और केवलदर्शनावरण, एवं—निद्रा, निद्रा निद्रा, प्रचला, प्रचला प्रचला और स्त्यानर्द्धि ऐसे नौ प्रकार का है।

यहा ज्ञान विषयक प्रत्यनीकता आदि ज्ञानावरण पापकर्म के बध के कारण और दर्शन विषयक प्रत्यनीकता आदि दर्शनावरण कर्म के बन्ध के कारण होते है ऐसा समझना चाहिये। यहां आदि शब्द से—निह्नवता अन्तराय, प्रद्वेष, अत्याशातना और विसवादनायोग, इन पाच पदों को ग्रहण करना चाहिये।

अर्थात् ज्ञान और दर्शन की प्रत्यनीकता आदि छह कारणो से ज्ञानावरण और दर्शनावरण का बन्ध होता है, ऐसा कहना चाहिये जैसे—ज्ञान प्रत्यनीकता १ ज्ञान निह्नवता २, ज्ञानान्तराय ३, ज्ञानप्रद्वेष ४, ज्ञान की अत्याशातना ५ और ज्ञानका विसवादनयोग ६ ऐसे

एव दर्शनविषयाः प्रत्यनीकतादयोऽपि दर्शनेन सह सयोजनीया ।
तत्र ज्ञानावरण कर्म प्रत्यनीकतादिभि षड्भि' कारणै र्बध्यते तच्च ज्ञानस्यावरणरूपै पञ्चभि' प्रकारै स्तस्य भोगो भवति। दर्शनावरण च, दर्शनविषयै पूर्वोक्तैरेव षड्भिः कारणैर्बध्यते चक्षुर्दर्शना-वरणादिभि श्चतुर्भिः, निद्रादिभि पञ्चभिश्च, एव नवभि प्रकारैस्तस्य भोगो भवतीतिभाव ।

तत्र प्रथम ज्ञानावरणकर्मबन्धस्य षट् कारणानि व्याख्यायन्ते, तथा हि—ज्ञानप्रत्यनीक-तया अत्र ज्ञानस्य ज्ञानं पञ्चविध—मतिश्रुतावधिमन' पर्यवकेवलभेदात् तत स्तस्य ज्ञानस्य पञ्चविधस्य धर्मधर्मिणोरभेदेन—तद भेदात् पञ्चविधज्ञानवता वा प्रत्यनीकता सामान्येन प्रति-कूलता, सा, तथा, तया, ज्ञानस्य ज्ञानिनो वा प्रतिकूलतयेत्यर्थ' १, ज्ञाननिह्नवतया ज्ञानस्य श्रुतादे' श्रुतगुरूणां वा या निह्नवता अपलपन सा तथा तया, तेन ज्ञानस्य ज्ञानदातुर्गुरोर्वा अपलापेनेत्यर्थ २, ज्ञानान्तरायेण ज्ञानस्य श्रुतस्य अन्तारायः तद ग्रहणादौ यो विघ्न स तथा, तेन ज्ञानग्रहणप्रतिबन्धक प्रत्यवायेनेत्यर्थ' ३, ज्ञानप्रद्वेषेण, ज्ञाने श्रुतादौ श्रुतादि ज्ञानवस्तुषु गुरुषु वा य' प्रद्वेष' अप्रीति' स तथा तेनेत्यर्थ ४, ज्ञानात्याशातनया ज्ञानस्य श्रुतादे' श्रुतादि ज्ञानिना वा या अत्याशातना अवहेलना सा तथा तया ५, ज्ञान विसवादनयोगेन ज्ञानस्य ज्ञानिनां वा यो विसवा-दनयोग निष्फलता प्रदर्शनव्यापार स तथा तेन ६, एभिः षड्भि' कारणै र्ज्ञानावरणकर्म बध्यते।

एव—दर्शनस्य दर्शनवतां दर्शनसाधनानाञ्च तथाविधा षट् प्रत्यनीकतादयो नवविध

जोडलेना चाहिये। इसी प्रकार दर्शनविषयक प्रत्यनीकता आदि को भी दर्शन के साथ जोड़ लेना चाहिये। यहां प्रथम ज्ञानावरण कर्मबन्धके छह कारणो की व्याख्या की जाती है, ज्ञान प्रत्यनीकता—मति ज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान, मन'पर्यवज्ञान और केवलज्ञान, इस पाच प्रकार के ज्ञान के विषय मे अथवा धर्म धर्मी के अभेद से अर्थात् धर्म से धर्मी का ग्रहण करने से मति श्रुतानि पांच ज्ञान वालों की प्रत्यनीकता—अर्थात् श्रुतज्ञानादिक विरुद्ध आचरण करने से या श्रुतज्ञानादिवालों में विरुद्ध आचरण करने की प्रवृत्ति रखने से तथा ज्ञान के निह्नव करने से कोई किसी से पूछे या श्रुतज्ञानादिका साधन मांगे, तब ज्ञान या ज्ञान के साधन अपने पास होने पर भी कलुषित भाव से यह कहना कि मै नहीं जानता अथवा मेरे पास वह वस्तु ही नहीं है यह ज्ञान निह्नव है—इस प्रकार के ज्ञान निह्नव से, अथवा श्रुतप्रदाता गुरुजनों के निह्नव से—अपलाप से, तथा ज्ञानांतराय से कलुषित भाव से ज्ञानप्राप्ति मे किसी को बाधा पहुँचाने से तथा ज्ञानप्रद्वेष से, श्रुतादिक में अथवा श्रुतादिज्ञान वाले गुरुजनों में अप्रीति रखने से, तथा ज्ञानात्याशातना से—श्रुतादिज्ञान की या श्रुतादिज्ञानशालीजनो की अवहेलना करने से तथा (णाणविसंवायणाजोगेणं) ज्ञान और ज्ञानिजनों को निष्फल बतलाने की चेष्टा करते रहने से, इन छहकारणो से ज्ञानावरणकर्म का बध होता है।

इसी प्रकार दर्शन के दर्शनवालों के तथा दर्शन के साधनों की भी प्रत्यनीकता आदि

दर्शनावरणकर्मबन्ध हेतवो भवन्ति-इति फलितम् ॥ यतोह्येतै कारणभूतैरध्यवसायविशेषै प्रत्य-नीकतादिभिरात्मनः परिणामविशेषैर्नवविधदर्शनावरणाख्य कर्म बध्यते,

एवं-पूर्वोक्तस्वरूपै प्रत्यनीकतादिभिरध्यवसायविशेषैरात्मन परिणामविशेषै चक्षुरचक्षु रवधिकेवलरूपस्य चतुर्विधदर्शनस्य सामान्य मात्रोपयोगरूपस्य चेतनादि विशेषस्य चक्षुर्दर्शना-वरणादि नवविधमावरण दर्शनावरणाख्य कर्मबन्धहेतवो भवन्तीति भाव । तत्र-चक्षुर्दर्शनावरणाऽचक्षुर्दर्शनावरणावधिदर्शनावरणकेवलदर्शनावरण निद्रा, निद्रा निद्रा प्रचला प्रचला प्रचला, स्त्यानर्द्धयश्च पूर्वोक्तस्वरूपा एतेऽपि पञ्च, चक्षुर्दर्शनादि विघातकारित्वात् दर्शनावरणपदेनोच्यन्ते। एव दर्शनावरणं कर्म नवविध कथ्यते।

तथाचोक्त व्याख्याप्रज्ञप्तौ भगवति सूत्रे ८, शतके ९-उद्देशके "**णाणावरणिज्जकम्मा सरीरप्पओगबंधेणं भंते ! कस्स कम्मस्स उदएणं ? गोयमा ! नाणपडिणीययाए णाण-निण्हवणयाए णाणंतराएणं, णाणप्पदोसेणं णाणच्चासायणाए णाणविसंवादणाजोगेणं दरिसणावरणिज्जकम्मा सरिरप्पओगबंधेणं भंते गोयमा ! दंसणपडिणीययाए एवं जहा णाणावरणिज्जं नवरं दंसण नाम वेत्तव्वं**" इति।

छाया---ज्ञानावरणीयकर्म शरीरप्रयोगबन्ध खलु भदन्त ? कस्य कर्मण उदयेन-गौतम ! ज्ञानप्रत्यनीकतया, ज्ञाननिह्नवतया, ज्ञानान्तरायेण, ज्ञानप्रद्वेषेण, ज्ञानासातनया ज्ञानविसवादना

छह, नौ प्रकार के दर्शनावरणकर्म बन्ध के कारण होते है यह जाना जाता है क्योकि कारण भूत अध्यवसाय विशेष अर्थात् आत्मा का परिणाम विशेष जो प्रत्यनीकता आदि है इन से नौ प्रकार के दर्शनावरण कर्म का बन्ध होता है।

यहा चक्षुर्दर्शनावरण १, अचक्षुदर्शनावरण २, अवधिदर्शनावरण ३, केवलदर्शना-वरण, ये चार आवरण, ताथा निद्रा १ निद्रानिद्रा २, प्रचला ३, प्रचलाप्रचला ४, और स्त्यानर्द्धि ५ ये पांच भी चक्षुर्दर्शन आदि चार प्रकार के दर्शन के विघातक होने से दर्शना वरण पद से कहे जाते है। इस प्रकार दर्शनावरण कर्म नौ प्रकार का कहाजाता है। यहां ज्ञानावरणकर्म ज्ञान सबधी प्रत्यनीकता आदि छहकारणो से बांधा जाता है और उस उस ज्ञान के आवरणरूप पांच प्रकार से भोगा जाता है। इसी प्रकार दर्शनावरण कर्म दर्शन सबधी प्रत्यनीकता आदि छह कारणों से बांधा जाता है और चक्षुर्दर्शनावरण आदि चार और निद्रा आदि पाच ऐसे नौ प्रकार से भोगा जाता है।

भगवती सूत्र के ८ वे शतक के ९ वें उद्देशक में कहा है-भगवन् ! किस कर्म के उदय से ज्ञानावरणीयकर्म का बध होता है ? 'गौतम ! ज्ञान प्रत्यनीकता (शत्रुता-विरोध) से. ज्ञान का अपलाप करने से, ज्ञान प्राप्ति में अन्तराय डालने से, ज्ञान सबधी प्रद्वेष से, ज्ञान की आशातना करने से और ज्ञान सम्बन्धी विसवादना से ज्ञानावरणीय कर्म का

योगेन, दर्शनावरणीय कर्म शरीरप्रयोगवन्धः खलु गौतम! दर्शनप्रत्यनीकतया, एव ज्ञानावरणीयं नवर दर्शन नाम ग्रहीतव्यम् इति । सूत्र-३॥

सूत्रम्—'असायावेयणिज्ज परदुक्खणयाइहि' ॥सूत्र-४॥

छाया—अशातावेदनीयं परदुःखनतादिभिः ॥ सूत्र-४॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वं ज्ञानावरणीयदर्शनावरणीयकर्मणो र्वन्धकारणानि प्रदर्शितानि साम्प्रतं पापतत्त्वप्रसगाद् अशातावेदनीयकर्मबन्धस्य कारणानि प्ररूप्यन्ते-'असायावेयणिज्जं' इत्यादि ।

"असायावेयणिज्जं" अशाता वेदनीयं 'परदुक्खणयाइहिं' परदु खनतादिभि परदुक्खनतादिभि द्वादशभि कारणैरशातावेदनीयकर्म बध्यते, तेन जीवस्य शारीरमानसी अशाता समुद्भवति । आदि शब्देन परशोचनता २, परजूरणता ३, परतेपनता ४ परपिट्टनता ५, परपरितापनता ६, एवं बहूना प्राणभूतजीवसत्त्वाना विषयेऽपि दु खनतादीनां षण्णा समाचारणम् एभि द्वादशभि कारणैर्जीवस्याऽशातावेदनीय कर्म बध्यते । सूत्र-४॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वसूत्रे प्रत्यनीकतादीनि षट्ज्ञानावरणीयस्य दर्शनावरणीयस्य च कर्मणो

बन्ध होता है । जिन कारणों से ज्ञानावरणीय कर्म बन्धता है, उन्ही कारणो से दर्शनावरण कर्म का भी बध होता है । भेद इतना ही है कि ज्ञान सम्बन्धी प्रत्यनीकता आदि से ज्ञानावरण और दर्शन सबधी प्रत्यनीकता से दर्शनावरणकर्म का वन्ध होता है ॥सूत्र-३॥

सूत्रार्थ—'असायावेयणिज्जं' इत्यादि ॥४॥

पर दु खनता आदि से अशाता वेदनीयकर्म का बन्ध होता है ॥सू० ४॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्र मे ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय कर्म बन्ध के कारण दिखाये गये हैं, अब पाप तत्त्व के प्रसग से अशातावेदनीय कर्म बन्ध के कारण प्रदर्शित करते हैं—'असायावेयणिज्जं' इत्यादि ।

अशातावेदनीय कर्म परदु खनता आदि बारह कारणो से बन्धता है, उससे जीव के शारीरिक और मानसिक अशाता का उद्भव होता है । आदि शब्द से सगृहीत बारह कारण ये हैं—पर दु खनता—दूसरे को दु ख पहुँचाना १, परशोचनता—दूसरे को शोक पहुँचाना २, परजूरणता—दूसरे को शरीर शोषण जनक शोक पहुँचाना ३, परतेपनता—दूसरे को अश्रुगिरने लगे ऐसा शोक पहुँचाना ४, परपिट्टनता—दूसरे को लाठी आदि से पीटना ५, पर परितापनता—दूसरे को शारीरिक मानसिक सन्ताप पहुँचाना ६, इसी प्रकार प्राण भूत जीव सत्त्वों के विषय मे भी पूर्वोक्त दु खनता आदि छहो का समाचरण करना १२ इन बारह प्रकार के कारणो से जीवके अशाता वेदनीय कर्म का बन्ध होता है ॥सूत्र ४॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पूर्वसूत्र मे ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय कर्म के प्रत्यनीकता आदि छह बन्ध के कारण प्रतिपादित किये गये हैं, अब पाप तत्त्व के प्रसग से अशातावेदनीय कर्म

बन्धकारणानि प्रतिपादितानि साम्प्रत पापतत्वत्वेनाशातावेदनीयकर्मणो बन्धकारणानि विव्रियते असायावेयणिज्जं' इत्यादि ।

वेदनीयं कर्म वेद्यते अनुभूयते सुख दु ख वा यस्य कर्मण उदयेन तद् वेदनीयम् यद्वा वेदितुम् सुखदु खत्वेन अनुभवितु योग्य वेदनीयम् तत् शातावेदनीयम् अशातावेदनीय चेति द्विविध द्विप्रकारक भवति, तत्र शातावेदनीय चतुर्थे पुण्यतत्वाध्याये गतम्, अत्र पापतत्त्वप्रकरणाद् अशातावेदनीयं व्याख्यायते—यस्य कर्मण उदयेन जीवस्य अशातम् असुखदु खमित्यर्थ उद्भवति तत्कर्म अशातावेदनीयमुच्यते तस्याऽशातावेदनीयस्य कर्मणो बन्ध पर दु खनतादिभिर्द्वादशभि कारणैर्भवति ।

तन जीव शरीरमानसीमशातामनुभवति । तत्र तानि कारणानि प्रदर्श्यन्ते, तथाहि—परदु - खनता—परेषा स्वातिरिक्ताना दु खन—दु खोत्पादनम् , परशोचनता—परेषा शोचन दैन्योत्पादनम् , परजूरणता-परेषा शरीरशोषणकारि शोकोत्पादनम्, परतेपनता—परेषामश्रुपातादिजनक शोकोत्पादनम् परपिट्टनता—परेषा यष्टयादिना ताडनम् परपरितापनता—परेषा शारीरिकमानसिकपरितापोत्पादनम् एव बहुना प्राणभूतजीवसत्त्वानां—तत्र—प्राणा —विकलेन्द्रिया द्वीन्द्रियादितश्चतुरिन्द्रिय

बन्ध के कारणो का विवरण किया जाता है—'असायावेयणिज्जं' इत्यादि ।

जिस कर्म के उदय से सुख दु ख का अनुभव हो वह वेदनीय कर्म कहलाता है, अथवा जो कर्म सुख दु'ख के रूप से वेदन करने योग्य हो वह वेदनीय कहलाता है वह वेदनीय कर्म शातावेदनीय अशातावेदनीय के भेद से दो प्रकार का है, जिसमें शातावेदनीय पुण्य प्रकृति जन्य होने से चतुर्थ पुण्यतत्त्व में उसका विवेचन हो चुका है । यहा पाप तत्त्व का प्रकरण होने से अशातावेदनीय कर्म की व्याख्या की जाती है ।

जिस कर्म के उदय से जीव के अशाता अर्थात् दु ख उत्पन्न हो तो वह कर्म अशाता वेदनीय कहलाता है । उस अशाता वेदनीय कर्म का बन्ध परदु.खनता आदि बारह कारणो से होता है जिससे जीव शारीरिक मानसिक अशाता का अनुभव करता है । वे कारण इस प्रकार है—परदु खनता—अपने अतिरिक्त दूसरे को हर प्रकार दु ख पहुँचाना १, परशोचनता—दूसरे को दीनता जनक शोक मे डालना २, परजूरणता—दूसरे को जिससे शरीर का शोषण हो ऐसा शोक पहुँचाना ३, परतेपनता—दूसरे को जिससे अश्रुपात और लारें गिरने लगे ऐसा हृदयद्रावक शोक पहुँचाना ४, परपिट्टनता—दूसरे को लाठी आदि से पीटना ५, परपरितापनता—दूसरे को शारीरिक और मानसिक सताप पहुँचाना ६, ये छह बोल समुच्चय जीवो को आश्रित करके कहे गये है, इसी प्रकार प्राण भूत जीव और सत्वो के विषय मे भी इन्हीं छहों का आचरण करना १२। इस प्रकार इन बारह कारणो से जीव के अशाता वेदनीय कर्म का बध होता है । वे प्राण भूत जीव सत्त्व की व्याख्या इस प्रकार हैं—

पर्यन्ता, भूता'--वनस्पतयः, जीवा पञ्चेन्द्रिया'--सत्त्वा --पृथिव्यप्तेजोवायव ।

उक्तञ्च--"प्राणाद्वि--त्रि--चतु प्रोक्ता, भूतास्तु तरव' स्मृता ।

जीवाः पञ्चेन्द्रिया प्रोक्ता' शेषा' सत्त्वा उदीरिता ॥१॥ इति ॥

एषा चतुर्णां दु खनेन--दु'खोत्पादनेन, शोचनेन शोकोत्पादनेन, जूरणेन--शरीरगोपक-शोकोत्पादनेन, तेपनेन--अश्रुपातचीत्कादिजनकशोकोत्पादनेन, पिट्टनेन--यष्ट्यादिना ताडनेन, परिता-पनेन--शारीरिकसन्तापोत्पादनेन, इत्येव द्वादशभि कारणै जीवस्याशातावेदनीयं कर्म बध्यते। उक्तञ्च भगवती सूत्रे ७ शतके ६--उ के "**कहं णं भंते ! जीवाणं असायावेयणिज्जा कम्मा किज्जंति,, गोयमा ! परदुक्खणयाए परसोयणयाए परजूरणयाए परतेपणयाए परपिट्ट-णयाए परपरियावणयाए बहूणं पाणाणं जाव सत्ताणं दुक्खणयाए सोयणयाए जाव परिया-वणयाए, एवं खलु गोयमा ! जीवाणं अस्सायावेयणिज्जा कम्मा किज्जंति**--,, इति

छाया--कथं खलु भदन्त ! जीवानामशातावेदनीयानि कर्माणि क्रियन्ते ? गौतम, परदु'ख-नतया परशोचनतया परजूरणतया परतेपनतया परपिट्टनतया परपरितापनतया बहूनां प्राणीनां यावत्--सत्त्वानाम् दुःखनतया शोचनतया यावत् परितापनतया, एव खलु गौतम ! जीवानाम् असातावेदनीयानि कर्माणि क्रियन्ते, इति । सूत्र--४॥

"**तित्थयरायरियोवज्झायकुलगणसंघसुयधम्म सुरावण्णवादेणं मिच्छत्तमोहणिज्जं**" ॥५॥

छाया--"**तीर्थकरा-ऽऽचार्यो-पाध्याय कुल-गण संघ श्रुतधर्म सुराऽवर्णवादेन मिथ्या त्वमोहनीयम्**" ॥५॥

तत्त्वार्थदीपिका--"**पूर्वसूत्रे द्व्यशीति पापकर्मभोगेष्वसद्वेद्यस्य पापकर्मणो बन्ध-**

विकलेन्द्रिय द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय प्राण कहलाते है । भूत शब्द से वनस्पतिकाय लिया जाता है । जीव शब्द से पञ्चेन्द्रिय लिये जाते हैं और पृथिवी पानी अग्नि वायु ये सत्त्व कहलाते है--कहा भी है--"**प्राणा--द्वि--त्रि--चतुः प्रोक्ताः**" इत्यादि ।

इन चारो को दु'खन--दुःख पहुँचाने से, शोचन--शोक पहुँचाने से, जूरण--अर्थात् शरीर सूखाने जैसा--शोक पहुँचाने से, तेपन--जिससे अश्रुपात गिरने लगे चिल्लाने लगे ऐसा शोक पहुचाने से, पिट्टन--लाठी आदि--द्वारा पीटने से, और परितापन--शारीरिक मानसिक-सन्ताप पहुचाने से । जीव के अशाता वेदनीय कर्म का बन्ध होता है ॥सूत्र ४॥

सूत्रार्थ--'**तित्थयरायरियावज्झाय' इत्यादि**

तीर्थंकर, आचार्य, उपाध्याय, कुल, गण, संघ, श्रुत, धर्म, और देवों का अवर्णवाद करने से मिथ्यात्व का बन्ध होता है ॥५॥

तत्त्वार्थदीपिका--बयासी पापकर्म प्रकृतियों मे से पूर्व सूत्र में असाता वेदनीय कर्म

हेतवः प्ररूपिताः सम्प्रति दर्शनमोहनीयप्रकृतिभूतस्य मिथ्यात्वमोहनोयस्य पापकर्मणो बन्धहेतून् प्ररूपयितुमाह—

"तित्थयरायरियोवज्झाय-इत्यादि । तीर्थकरा ऽऽचार्योपाध्यायकुलगण-सघ-श्रुत धर्मसुरावर्णवादेन—

तीर्थकृताम आचार्याणाम् उपाध्यायानां कुलस्य गणस्य, सङ्घस्य श्रमणश्रमणीश्रावकश्राविकासमुदायरूपस्य, श्रुतस्याऽर्हत्प्रणीतस्य साङ्गोपाङ्गस्याऽऽगमस्य, धर्मस्य पञ्चमहाव्रतसाधनस्य , सुराणाञ्चतुर्विधाना देवाना भवनपति-वानव्यन्तर-ज्योतिष्क-वैमानिकानाञ्चाऽवर्णवादेन निन्दावादेन मिथ्यात्वकर्मबन्धो भवतीति भाव ॥५॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं ज्ञानावरणीयादि द्व्यशीतिप्रकारपापकर्मभोगेषु मत्यादि पञ्च ज्ञानावरण चक्षुरादिनवदर्शनावरणाऽशातावेदनीयपापकर्मणा बन्धहेतव प्रतिपादिता सम्प्रति क्रमप्राप्तस्य मिथ्यात्वस्य दर्शनमोहनीस्य पापकर्मणो बन्धहेतून् प्रतिपादयितुमाह—"तित्थयरायरियोवज्झाय-' इत्यादि ।

तीर्थकरा-ऽऽचार्योपाध्यायकुलगणसघश्रुतधर्मसुराऽवर्णवादेन मिथ्यात्वकर्म बध्यते तत्र तीर्थकराणा सकल ज्ञानावरणक्षयसमुद्भूतसमस्तज्ञेयविषयाऽवबोधलक्षणकेवलज्ञानवताम् अर्हताम् आचा

के बन्ध हेतुओ की प्ररूपणा की गई, अब मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के बन्ध हेतुओ की प्ररूपणा की जाती है—

तीर्थंकर की आचार्यों की, उपाध्यायों की, कुल की, गण की, सघ अर्थात् श्रमण, श्रमणी, श्रावक और श्राविकाओ के समुदाय की, अर्हन्त भगवान् के द्वारा प्रणीत अगोपागसहित आगम की, पाँच महाव्रतो के साधन भूत धर्म की, चारों प्रकार के देवो का अर्थात् भवनवासी, वानव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवो की निन्दा करने से मिथ्यात्व कर्म का बन्ध होता है ॥५॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति- पहले ज्ञानावरणीय आदि जो बयासी प्रकार के पापकर्म भोग कहे थे, उनमें से मति आदि पाँच ज्ञानावरणीयों, चक्षुदर्शनावरणीय आदि नौ दर्शनावरणीयों और असातावेदनीय पापकर्म के बन्ध के कारणों का प्रतिपादन किया गया है, अब क्रमप्राप्त मिथ्यात्व दर्शनमोहनीय पापकर्म के वन्धहेतुओ का प्रतिपादन करने के लिए कहते है—

तीर्थंकर, आचार्य, उपाध्याय, कुल गण, सघ, श्रुत, धर्म और देवो का अवर्णवाद करने से मिथ्यात्व कर्म का बन्ध होता है ।

सम्पूर्ण ज्ञानावरण कर्म के क्षय से उत्पन्न होने वाले और समस्त ज्ञेय पदार्थों को जानने वाले केवलज्ञान से सम्पन्न तीर्थंकरो की अर्थात् अर्हन्त भगवन्तों को, आचार्यों की.

र्याणाम् उपाध्यायाना सम्यग् ज्ञानदर्शनचारित्रसम्पन्नाना रागद्वेषमोहसमावेशादसद्भूतदोपोद्भावनरूपावर्णवादेन---

एव कुलस्य, गणस्य चा-ऽवर्णवादेन श्रमण--श्रमणी श्रावकश्राविकारूपस्य चातुर्वर्णस्य सङ्घस्य, यद्वा--सम्यक्त्वज्ञानसवरतपोरूपचातुर्वर्णसङ्घस्याऽवर्णवादेन---

एवम्--तीर्थकरप्रोक्तस्य द्वादशाङ्गाचारादिदृष्टिवादान्तरूपाङ्गसहितस्यौ--पपातिकप्रभृत्यङ्गार्थानुवादरूपोपाङ्गसहितस्य च श्रुतस्य प्रवचनस्या--ऽऽगमरूपस्या--ऽवर्णवादेन पञ्चमहाव्रतजन्यस्य क्षमादिरूपस्य दशलक्षणकस्य क्षान्त्यादिधर्मस्याऽवर्णवादेन-- सुराणाम् तपःसयममाराध्य प्राप्तदेव भावानां विपक्वतपो ब्रह्मचर्यहेतुक प्राप्तदेवायुष्काणां देवानां भवनपतिवानव्यन्तर--ज्योतिष्क--वैमानिकाना मवर्णवादेन च मिथ्यात्वरूपदर्शनमोहनीयविशेषपापकर्मबन्धो भवतीति भाव ।

तत्र तीर्थकराणामवर्णवादो यथा नास्त्यर्हन् जानानो वा कथ भोगान् भुनक्ति ? प्राभृतिका समवसरणादिरूपा वोपजीवतीत्यादि । आचार्योपाध्यायानामवर्णवादो बाला एते इत्यादि । एव कुलगणयो॰ तत्र कुलस्य एकगुरुकसाधुसमुदायस्य गणस्य अनेकगुरुकसाधुसमुदायस्य

उपाध्यायों की, जो सम्यग्ज्ञान--दर्शन और चारित्र से सम्पन्न होते है, राग द्वेष या मोह के आवेश से निन्दा करने के कारण अर्थात् असद भूत दोषो को प्रकट करने रूप अवर्णवाद करने से,

इसी प्रकार कुल और गण का अवर्णवाद करने से, साधु--साध्वी--श्रावक--श्राविका रूप चतुर्विध संघ का अवर्णवाद करने से या सम्यक्त्व--ज्ञान--संवर--और तप रूप चार प्रकार के संघ का अवर्णवाद करने से,

इसी प्रकार तीर्थंकरो द्वारा प्रतिपादित आचारांग से लेकर दृष्टिवाद पर्यन्त, अगों के अनुवाद रूप औपपातिक वगैरह उपागों सहित श्रुत--प्रवचन--आगम का अवर्णवाद करने से, तथा पांच महाव्रतो से उत्पन्न होने वाले क्षमा आदि स्वरूप वाले दशलक्षण क्षमा आदि धर्म का अवर्णवाद करने से,

तप और सयम की आराधना करके देवगति प्राप्त करने वाले तथा परिपक्व तप एव ब्रह्मचर्य से जिन्हे देवायु की प्राप्ति हुई है ऐसे भवनपति, वानव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवो का अवर्णवाद करने से मिथ्यात्व रूप दर्शनमोहनीय पापकर्म का बन्ध होता है ।

इनमें से तीर्थंकरों का अवर्णवाद इस प्रकार होता है--अर्हन्त नहीं है--नहीं होते ! वे जानते हुए कैसे भोग--भोगते हैं ! समवसरण आदि रूप प्राभृति का आश्रय लेते हैं । इत्यादि आचार्यो और उपाध्यायो आदि का अवर्णवाद जैसे--ये बालक हैं । इत्यादि कहना एक ही गुरु के शिष्य जो साधु होते है, उनका समूह कुल कहलाता है और अनेक गुरुओं के शिष्यों का समूह गण कहलाता है । उनका अवर्णवाद करने से भी मिथ्यात्व

चाऽवर्णवाद । सघस्य श्रमणादीनां सघस्या—ऽवर्णवादो यथा श्रमणास्तावत् केवलबाह्यशौचाचारा पूर्वजन्मोपार्जितपापकर्मोदयजन्ति केशोल्लुञ्चनाताप·दु खानुभवन कलहप्रिया असहिष्णव प्राग-वितीर्णदाना पुनरपि दु खिता एव भविष्यन्ति इत्यादि रूपोऽवसेय । एव श्रमणीनामपि अवर्णवादोऽवसेय·

एव श्रावकश्राविकानामवर्णवादो बोध्य· सामान्यतो वा सघस्याऽवर्णख्यापनम् तथाहि गर्दभशृगालकाकश्वानादीनामपि समूह सघ एव भवति तस्मात्को विशेष सघस्येति न किमपि गौरवास्पद सघ इति ।

श्रुतस्याऽवर्णवादो यथा श्रुत तावत् अतिदग्धप्राकृतभाषाया निबद्धं व्रतं कायशोषण-प्रायश्चित्तप्रमादोपदेशपुनरुक्ततादोषबहुल कुत्सितापवादप्राय वर्तते। इत्यादिरूपो बोध्य ।

एव सर्वतो हिंसादि विरतिलक्षणपञ्चमहाव्रतहेतुकस्य धर्मस्य क्षमादेर्दशलक्षणकस्याऽवर्ण-वादो यथाऽभ्युदयाऽपवर्गहेतुभूतो धर्मो न प्रत्यक्षादिना प्रमाणेन विषयी क्रियते न वाऽयमप्राणिकोधर्मो ऽस्तीत्यपि वक्तु शक्यते, नाऽपि पुद्गला धर्मपदवाच्या· सम्भवन्ति धर्मस्य पुद्गत्वाऽसम्भवात् न वाऽत्मपरिणामविशेषो धर्म. सम्भवति तस्याऽऽत्मशब्दपरिणामवाच्यत्वे क्रोधादि-

---

मोहनीय का बन्ध होता है। श्रमण आदि के सघ का अवर्णवाद जैसे—इन साधुओं में केवल बाह्य शौच का ही आचार है, पूर्वजन्म में ये पाप उपार्जन करके आये है, उसी के कारण केशलोच आतापना आदि का कष्ट भोगते है, ये कलहप्रिय है, असहनशील है, इन्होंने पूर्वभव में दान नहीं दिया है, आगे फिर दु·ख ही भोगेगे, इत्यादि। ऐसा ही साध्वियों का अवर्णवाद भी समझ लेना चाहिए और श्रावक—श्राविकाओ का भी अवर्णवाद समझ लेना चाहिए।

अथवा सामान्य रूप से सघ का अवर्णवाद करना, जैसे—गधों, सियारो, काकों और कुत्तो का भी समूह सघ ही कहलाता है। फिर सघ मे क्या विशेषता है ? सघ में कुछ भी गौरव की बात नहीं है।

श्रुत का अवर्णवाद, जैसे—आगम मूर्खों की प्राकृत भाषा में लिखा गया है। व्रत, शरीर शोषण, प्रायश्चित्त, और प्रमाद के उपदेश की पुनरुक्तियाँ उसमे भरी पडी हैं। खोटे—खोटे अपवाद बतलाये हैं, इत्यादि।

पूर्ण रूप से हिंसा आदि से विरति रूप पाँच महाव्रत हेतुक तथा क्षमा आदि दस लक्षणो वाले धर्म का अवर्णवाद इस प्रकार होता है—स्वर्ग और मोक्ष का कारण कहा जाने वाला धर्म प्रत्यक्ष आदि प्रमाणो से नहीं जाना जाता, धर्म अप्राणिक है ऐसा नहीं कहा जा सकता. पुद्गल 'धर्म' इस पद के वाच्य नहीं हो सकते, क्योंकि धर्म पुद्गल नहीं हो सकता। धर्म आत्मा का परिणाम भी नहीं हो सकता, क्योकि उसे आत्मा का परिणाम कहा

परिणामोऽपि धर्मपदवाच्य स्यात् इत्यादि रूपो बोध्यः

एव तीव्र मिथ्यात्वपरिणामोन्मार्गोपदेशेन धार्मिकजनबुद्धिभेदनसर्वत्र सिद्धदेवाऽनर्थाऽभिनिवेशाऽसमीक्ष्यकारिताऽसयतजनार्चनादिप्रयोगा संसारपरिवृद्धिमूलनिदानस्याऽनन्तससारानुबन्धिनो मिथ्यात्वस्य पापकर्मणो दर्शनमोहनीयविशेषस्य वन्धहेतवो भवन्ति इति निष्कर्ष ।

उक्तञ्च स्थानाङ्गे ५ स्थाने २ उद्देशके **"पंचहि ठाणेहि जीवा दुलभबोधियत्ताए कम्मं पकरेंति तं जहा अरहंताणं अवन्नं वदमाणे अरहंतपन्नत्तस्स संघस्स अवण्णं वदमाणे विपक्कतववंभचेराणं देवाणं अवण्णं वयमाणे"** इति ।

पञ्चभि' स्थानै जीवा दुर्लभबोधितया कर्म प्रकुर्वन्ति तद्यथा अर्हतामवर्ण वदन्–१ अर्हत्प्रज्ञप्तस्य धर्मस्याऽवर्ण वदन् २ आचार्योपाध्यायानामवर्ण वदन्–३ चातुर्वर्णस्य सघस्याऽवर्ण वदन् ४ विपक्व–तपोब्रह्मचर्याणां देवानामवर्ण वदन् ५ इति ॥५॥

मूल सूत्रम्—'तिव्वकसायजणियत्तपरिणामेणं चारित्तमोहणिज्जं'–

छाया—"तीव्रकषायजनितात्मपरिणामेण चारित्रमोहनीयम्—" ॥६॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे मिथ्यात्वरूपदर्शनमोहनीयविशेषपापकर्मबन्धहेतुस्वरूप प्ररूपि-

---

जाएगा तो क्रोधादि परिणाम भी धर्म कहलाएँगे ।

भवनपति, वानव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवो का अवर्णवाद इस प्रकार समझना चाहिए दूसरे बलवान् देव अल्प बल वाले देव को हठात् अपने वश में कर लेते है ? उनके नेत्र स्तब्ध रहते है–आँखो के पलक नहीं गिरते, वे अत्यन्त असदभूत दोषो को प्रकट करने वाले होते है, इत्यादि ।

इसी प्रकार तीव्र मिथ्यात्व रूप परिणाम से उन्मार्ग का उपदेश करना, जनता की बुद्धि में भेद उत्पन्न करना अर्थात् उसकी श्रद्धा को डिगाना, आवेश के वशीभूत होकर विना सोचे–समझे काम कर बैठना, असयमी जनो की पूजा करना, ये सब ससार–वृद्धि के मूल कारण, अनन्त ससार को बढाने वाले, दर्शनमोहनीय रूप मिथ्यात्व पापकर्म के बन्ध के कारण है ।

स्थानांगसूत्र के स्थान ५ उद्देशक २ में कहा है–'पाँच कारणो से जीव दुर्लभ बोधि वाले कर्मों का उपार्जन करते है–(१) अरहंतों का अवर्णवाद करने से (२) अर्हत्प्ररूपित धर्म का अवर्णवाद करते से (३) आचार्य और उपाध्याय का अवर्णवाद करने से (४) चार प्रकार के सघ का अवर्णवाद करने से (५) परिपक्व तप एव ब्रह्मचर्य का फल भोगने वाले देवों का अवर्णवाद करने से ॥५॥

सूत्रार्थ—'तिव्वकसायजणिय' इत्यादि ॥सूत्र ६॥

तीव्र कषाय के उदय से उत्पन्न आत्मा के परिणामो से चारित्रमोहनीय कर्म का बन्ध होता है ॥६॥

तम् सम्प्रति षोडशानन्ताऽनुबन्धि क्रोधादिकषायवेदनीयहास्यादि नोकषायरूपचरित्रमोहनीयपाप-कर्मबन्धहेतून् प्ररूपयितुमाह---

"तिव्वकसायजणियत्तपरिणामेणं चारित्तमोहणिज्जं" इति । तीव्रकषायजनितात्मपरि-णामेन-चारित्रमोहनीय षोडशकषाय नव नोकषायरूप पापकर्म बध्यते इति तत्र क्रोधमानमाया लोभादीना कषायाणामुदयात् विपाकात् तीव्रो यः आत्मन परिणामविशेष स्तेन चारित्रमोहनीयस्य षोडशविधकषायरूपस्य नवविध नोकषायरूपस्य च पापकर्मणो बन्धो भवतीति भाव' ॥६॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं ब्यधिकाशीतिपापकर्मसु क्रमश पञ्च ज्ञानावरण नव दर्शनावरण सातावेदनीय मिथ्यात्वपापकर्मणा बन्धहेतव प्रतिपादिता सम्प्रति क्रमप्राप्तस्य चारित्रमोहनीय-रूपस्य षोडशकषायनवनोकषायपापकर्मणो बन्धहेतून् प्रतिपादयितुमाह——

"तिव्वकसायजणियत्त–" इत्यादि । तीव्र कषायात्मजनितपरिणामेन चारित्रमोह-नीयरूप षोडशकषायानवनोकषायाख्यं पापकर्म बध्यते इति तत्र कषन्ति नरकादिदुर्गतौ पातयन्तीति कषाया दुर्गतिपातलक्षणस्वभावा । यद्वा कष्यते ससारे समाकृष्यते आत्मा यैँ स्ते कषाया यद्वा कषति हिनस्ति विषयकरवालेन प्राणिन इतिकष ससार तस्य लाभो यैस्ते कषायाः ।

कष्यन्ते ससाराटवीगमनाऽगमनादिकण्टकेषु घृष्यन्ते प्राणिनो यैस्ते कषायाः कृष्यते सुख-

---

तत्त्वार्थदीपिका— पूर्वसूत्र में मिथ्यात्वरूप दर्शनमोहनीय पापकर्म के बन्ध के हेतुओं का स्वरूप कहा गया, अब अनन्तानु बंधी क्रोध आदि सोलह कषायो के और हास्य आदि नो कषायों के बन्ध हेतु बतलाते है—

तीव्र कषाय के कारण आत्मा में जो परिणाम उत्पन्न होते हैं, उनसे सोलह प्रकार के कषायवेदनीय और नौ प्रकार के नो कषायवेदनीय चारित्रमोहनीय पापकर्म का बन्ध होता है। तात्पर्य यह है कि क्रोध, मान, माया और लोभ आदि कषायो के उदय से आत्मा में जो तीव्र परिणाम विशेष उत्पन्न होता है, उससे सोलह प्रकार के कषायवेदनीय और नौ प्रकार के नो कषायवेदनीय पाप कर्म का बन्ध होता है ॥६॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पहले बयासी प्रकार के पापकर्मों में से पांच प्रकारके ज्ञानावरणीय, नौ प्रकार के दर्शनावरणीय, साता—असाता वेदनीय और मिथ्यात्व पापकर्मो के बन्धहेतुओं का प्रतिपादन किया गया, अब क्रमप्राप्त सोलह प्रकार के चारित्रमोहनीय और नौ प्रकार के नो कषा-यमोहनीय पाप कर्म के बन्धहेतुओ का प्रतिपादन करते हैं—

तीव्र कषाय से उत्पन्न आत्मा के परिणामों से सोलह कषाय और नौ नो कषाय रूप चारित्र मोहनीय पापकर्म का बन्ध होता है ।

कषन्ति अर्थात् जीव को नरक गति आदि दुर्गति मे जो गिराते हैं, उन्हें कषाय कहते हैं। अथवा कृष्यते अर्थात् जिनके द्वारा जीव ससार मे आकर्षित किया जाता है, वे कषाय । अथवा

दु'खादिसस्यफलयोग्या क्रियते कर्मभूमि यैस्ते कषायाः क्रोधमान–माया लोभादय स्तेषा-मुदयो विपाक कषायोदय' तस्मात् तज्जन्यो यः क्रोधादेः कषायस्य तीव्र' प्रकृष्ट आत्मन' परिणामोऽवस्थाविशेष' शब्दरूपगन्धस्पर्शादिविषयेषु गार्ध्यम् ईर्ष्यालुताऽसत्यवादिता वक्रता परस्त्री-रतिप्रियतादि' तेन चारित्रमोहनीयरूपस्य षोडशकषायवेदनीयनवनोकषायवेदनीयपापकर्मणो बन्धो भवति । तत्र षोडशकषायाः यथा -

अनन्ताऽनुबन्धिक्रोधमानमायालोभा ४ अप्रत्याख्यानि क्रोधमानमायालोभा –४ प्रत्या-ख्यानि क्रोधमानमायालोभा ४ सञ्ज्वन क्रोधमानमायालोभा' ४ इति । तेषा मुदयो तीव्रपरिणाम श्चारित्रमोहनीयस्य बन्धहेतवो भवन्तीति ।

तथा नवनोकाषाया' हास्य १ रत्य–२ रति–३ भय–४ जुगुप्सा–५ शोक–६ स्त्रीवेद ७ पुरुषवेद–८ नपुंसकवेदरूपाः–९

तत्र हास्य मोहनीयकर्मोदयतो विवृतमुखेन विधीयमानो–स्प्रासन दीनाभिलाषित्व कन्दर्पो-पहासनाऽतिप्रलापहासशीलतादयो हास्यवेदनीयकर्मबन्धहेतवो भवन्ति १ मोहनीयोदयाद्विष-येषु चित्ताभिरुचि विचित्र परिक्रीडनान्यचित्ताकर्षणाऽनेकविधरमणपीडाऽभावदेशाद्यौत्सुक्य प्रीति

कषति–जो विषय रूपी खड्ग से प्राणियो का घात करे वह कष अर्थात् ससार । उसका जिससे आय–लाभ हो सो कषाय । अथवा कष्यते अर्थात् ससार रूपी अटवी में गमन– आगमन रूप कांटो में प्राणी जिनके द्वारा घसीटे जाते है, उन्हें कषाय कहते है । अथवा कृष्यते अर्थात् जिनके द्वारा कर्म भूमि सुख–दुःख आदि धान्य–फल के योग्य बनाई जाती, है, वे कषाय है । क्रोध, मान, माया और लोभ, ये चार कषायोदय से उत्पन्न होने वाला आत्मा का जो तीव्र परिणाम अर्थात् अध्यवसाय है, जैसे रूप रस गन्ध और स्पर्श आदि विषयों में लोलुपता,' ईर्षालुता असत्यवादिता, वक्रता, परस्त्री प्रति अनुराग आदि, ऐसे परिणामन विशेष से सोलह कषाय वेदनीय और नौ नो कषायवेदनोय रूप चारित्रमोहनीय कर्म का बध होता है । इनमें से सोलह कषाय ये हैं —

अनन्तानुबधी क्रोध मान माया लोभ (४), अप्रत्याख्यानी क्रोध मान माया लोभ (४), प्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ (४), सज्वलन क्रोध मान माया लोभ । इन कषायों का उदय रूप तीव्र परिणाम चारित्र मोहनीय के बध का कारण होता' है ।

नौ नोकषाय ये है– (१) हास्य (२) रति (३) अरति' (४) भय (५) जुगुप्सा (६) शोक (७) स्त्री वेद (८) पुरुष वेद और (९) नपुंसक वेद ।

(१) हास्यमोहनीय कर्म के उदय से मुहँ फाड कर हँसना, दीनाभिलाषित्व, कन्दर्प, उपहासना, अतिप्रलाप, हास शीलता, आदि हास्य वेदनीय कर्म के बन्ध के कारण होते हैं ।

(२) मोहनीय कर्म के उदय से विषयों के प्रति चित्त की अभिरुचि होना, विविध प्रकार

तम् सम्प्रति षोडशानन्ताऽनुबन्धि क्रोधादिकषायवेदनीयहास्यादि नोकषायरूपचरित्रमोहनीयपाप-कर्मबन्धहेतून् प्ररूपयितुमाह---

"तिव्वकसायजणियत्तपरिणामेणं चारित्तमोहणिज्जं" इति । तीव्रकषायजनितात्मपरि-णामेन-चारित्रमोहनीय षोडशकषाय नव नोकषायरूप पापकर्म बध्यते इति तत्र क्रोधमानमाया लोभादीना कषायाणामुदयात् विपाकात् तीव्रो यः आत्मन परिणामविशेष स्तेन चारित्रमोहनीयस्य षोडशविधकषायरूपस्य नवविध नोकषायरूपस्य च पापकर्मणो बन्धो भवतीति भाव. ॥६॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं द्व्यधिकाशीतिपापकर्मसु क्रमश पञ्च ज्ञानावरण नव दर्शनावरण सातावेदनीय मिथ्यात्वपापकर्मणा बन्धहेतव प्रतिपादिता' सम्प्रति क्रमप्राप्तस्य चारित्रमोहनीय-रूपस्य षोडशकषायनवनोकषायपापकर्मणो बन्धहेतून् प्रतिपादयितुमाह—

"तिव्वकसायजणियत्त–" इत्यादि । तीव्र कषायात्मजनितपरिणामेन चारित्रमोह-नीयरूप षोडशकषायानवनोकषायाख्यं पापकर्म बध्यते इति तत्र कषन्ति नरकादिदुर्गतौ पातयन्तीति कषाया दुर्गतिपातलक्षणस्वभावा । यद्वा कष्यते ससारे समाकृष्यते आत्मा यैं स्ते कषाया यद्वा कषति हिनस्ति विषयकरवालेन प्राणिन इतिकष ससार. तस्य लाभो यैस्ते कषायाः ।

कष्यन्ते ससाराटवीगमनाऽगमनादिकण्टकेषु घृष्यन्ते प्राणिनो यैस्ते कषाया' कृष्यते सुख-

---

तत्त्वार्थदीपिका— पूर्वसूत्र में मिथ्यात्वरूप दर्शनमोहनीय पापकर्म के बन्ध के हेतुओं का स्वरूप कहा गया, अब अनन्तानुबंधी क्रोध आदि सोलह कषायो के और हास्य आदि नो कषायों के बन्ध हेतु बतलाते है—

तीव्र कषाय के कारण आत्मा में जो परिणाम उत्पन्न होते है, उनसे सोलह प्रकार के कषायवेदनीय और नौ प्रकार के नो कषायवेदनीय चारित्रमोहनीय पापकर्म का बन्ध होता है। तात्पर्य यह है कि क्रोध, मान, माया और लोभ आदि कषायों के उदय से आत्मा में जो तीव्र परिणाम विशेष उत्पन्न होता है, उससे सोलह प्रकार के कषायवेदनीय और नौ प्रकार के नो कषायवेदनीय पाप कर्म का बन्ध होता है ॥६॥

तत्त्वार्थनिर्युक्त—पहले बयासी प्रकार के पापकर्मो मे से पांच प्रकारके ज्ञानावरणीय, नौ प्रकार के दर्शनावरणीय, साता—असाता वेदनीय और मिथ्यात्व पापकर्मो के बन्धहेतुओं का प्रतिपादन किया गया, अब क्रमप्राप्त सोलह प्रकार के चारित्रमोहनीय और नौ प्रकार के नो कषा-यमोहनीय पाप कर्म के बन्धहेतुओं का प्रतिपादन करते है—

तीव्र कषाय से उत्पन्न आत्मा के परिणामों से सोलह कषाय और नौ नो कषाय रूप चारित्र मोहनीय पापकर्म का वन्ध होता है ।

कषन्ति अर्थात् जीव को नरक गति आदि दुर्गति में जो गिराते है, उन्हें कषाय कहते हैं। अथवा कष्यते अर्थात् जिनके द्वारा जीव ससार मे आकर्पित किया जाता है, वे कषाय । अथवा

दु'खादिसस्यफलयोग्या क्रियते कर्मभूमि यैस्ते कषाया' क्रोधमान—माया लोभादय स्तेषा-मुदयो विपाक' कषायोदय' तस्मात् तज्जन्यो य' क्रोधादेः कषायस्य तीव्र प्रकृष्ट आत्मन परिणामोऽवस्थाविशेष. शब्दरूपगन्धस्पर्शादिविषयेषु गार्ध्यम् ईर्ष्यालुताऽसत्यवादिता वक्रता परस्त्री-रतिप्रियतादि तेन चारित्रमोहनीयरूपस्य षोडशकषायवेदनीयनवनोकषायवेदनीयपापकर्मणो बन्धो भवति । तत्र षोडशकषायाः यथा

अनन्ताऽनुबन्धिक्रोधमानमायालोभा ४ अप्रत्याख्यानि क्रोधमानमायालोभा —४ प्रत्या-ख्यानि क्रोधमानमायालोभा ४ सञ्ज्वन क्रोधमानमायालोभा' ४ इति । तेषा मुदयो तीव्रपरिणाम श्चारित्रमोहनीयस्य बन्धहेतवो भवन्तीति ।

तथा नवनोकाषाया' हास्य १ रत्य—२ रति—३ भय—४ जुगुप्सा—५ शोक—६ स्त्रीवेद ७ पुरुषवेद—८ नपुंसकवेदरूपाः—९

तत्र हास्य मोहनीयकर्मोदयतो विवृतमुखेन विधीयमानो—त्प्रासन दीनाभिलापित्व कन्दर्पो-पहासनाऽतिप्रलापहासशीलतादयो हास्यवेदनीयकर्मबन्धहेतवो भवन्ति १ मोहनीयोदयाद्विष-येषु चित्ताभिरुचि विचित्र परिक्रीडनान्यचित्ताकर्षणाऽनेकविधरमणपीडाऽभावदेशाद्यौत्सुक्य प्रीति

कषति—जो विषय रूपी खड्ग से प्राणियों का घात करे वह कष अर्थात् संसार । उसका जिससे आय—लाभ हो सो कषाय । अथवा कष्यते अर्थात् ससार रूपी अटवी में गमन— आगमन रूप काटो में प्राणी जिनके द्वारा घसीटे जाते हैं, उन्हें कषाय कहते है । अथवा कृष्यते अर्थात् जिनके द्वारा कर्म भूमि सुख—दुःख आदि धान्य—फल के योग्य बनाई जाती, है, वे कषाय है । क्रोध, मान, माया और लोभ, ये चार कषायोदय से उत्पन्न होने वाला आत्मा का जो तीव्र परिणाम अर्थात् अध्यवसाय है, जैसे रूप रस गन्ध और स्पर्श आदि विषयों में लोलुपता, ईर्षालुता असत्यवादिता, वक्रता, परस्त्री प्रति अनुराग आदि, ऐसे परिणामन विशेष से सोलह कषाय वेदनीय और नौ नो कषायवेदनीय रूप चारित्रमोहनीय कर्म का बध होता है । इनमें से सोलह कषाय ये हैं —

अनन्तानुबधी क्रोध मान माया लोभ (४), अप्रत्याख्यानी क्रोध मान माया लोभ (४), प्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ (४), सज्वलन क्रोध मान माया लोभ । इन कषायों का उदय रूप तीव्र परिणाम चारित्र मोहनीय के बध का कारण होता है ।

नौ नोकषाय ये है— (१) हास्य (२) रति (३) अरति (४) भय (५) जुगुप्सा (६) शोक (७) स्त्री वेद (८) पुरुष वेद और (९) नपुंसक वेद ।

(१) हास्यमोहनीय कर्म के उदय से मुहँ फाड कर हँसना, दीनाभिलाषित्व, कन्दर्प, उपहासना, अतिप्रलाप, हास शीलता, आदि हास्य वेदनीय कर्म के बन्ध के कारण होते है ।

(२) मोहनीय कर्म के उदय से विषयों के प्रति चित्त की अभिरुचि होना, विविध प्रकार

तम् सम्प्रति षोडशानन्ताऽनुबन्धि क्रोधादिकषायवेदनीयहास्यादि नोकषायरूपचरित्रमोहनीयपाप-कर्मबन्धहेतून् प्ररूपयितुमाह---

"तिव्वकसायजणियत्तपरिणामेणं चारित्तमोहणिज्जं" इति। तीव्रकषायजनितात्मपरि-णामेन-चारित्रमोहनीय षोडशकषाय नव नोकषायरूप पापकर्म बध्यते इति तत्र क्रोधमानमाया लोभादीना कषायाणामुदयात् विपाकात् तीव्रो यः आत्मनः परिणामविशेष स्तेन चारित्रमोहनीयस्य षोडशविधकषायरूपस्य नवविध नोकषायरूपस्य च पापकर्मणो बन्धो भवतीति भावः ॥६॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं ह्यधिकाशीतिपापकर्मसु क्रमश पञ्च ज्ञानावरण नव दर्शनावरण सातावेदनीय मिथ्यात्वपापकर्मणा बन्धहेतव प्रतिपादिता' सम्प्रति क्रमप्राप्तस्य चारित्रमोहनीय-रूपस्य षोडशकषायनवनोकषायपापकर्मणो बन्धहेतून् प्रतिपादयितुमाह---

"तिव्वकसायजणियत्त-" इत्यादि। तीव्र कषायात्मजनितपरिणामेन चारित्रमोह-नीयरूप षोडशकषायानवनोकषायाख्यं पापकर्म बध्यते इति तत्र कषन्ति नरकादिदुर्गतौ पातयन्तीति कषाया दुर्गतिपातलक्षणस्वभावा। यद्वा कष्यते ससारे समाकृष्यते आत्मा यैं स्ते कषाया यद्वा कषति हिनस्ति विषयकरवालेन प्राणिन इतिकष ससार, तस्य लाभो यैस्ते कषायाः।

कष्यन्ते ससाराटवीगमनाऽगमनादिकण्टकेषु घृष्यन्ते प्राणिनो यैस्ते कषाया' कृष्यते सुख-

---

तत्त्वार्थदीपिका— पूर्वसूत्र में मिथ्यात्वरूप दर्शनमोहनीय पापकर्म के बन्ध के हेतुओं का स्वरूप कहा गया, अब अनन्तानुबंधी क्रोध आदि सोलह कषायो के और हास्य आदि नो कषायों के बन्ध हेतु बतलाते है—

तीव्र कषाय के कारण आत्मा में जो परिणाम उत्पन्न होते है, उनसे सोलह प्रकार के कषायवेदनीय और नौ प्रकार के नो कषायवेदनीय चारित्रमोहनीय पापकर्म का बन्ध होता है। तात्पर्य यह है कि क्रोध, मान, माया और लोभ आदि कषायों के उदय से आत्मा में जो तीव्र परिणाम विशेष उत्पन्न होता है, उससे सोलह प्रकार के कषायवेदनीय और नौ प्रकार के नो कषायवेदनीय पाप कर्म का बन्ध होता है ॥६॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पहले बयासी प्रकार के पापकर्मो में से पांच प्रकारके ज्ञानावरणीय, नौ प्रकार के दर्शनावरणीय, साता—असाता वेदनीय और मिथ्यात्व पापकर्मो के बन्धहेतुओं का प्रतिपादन किया गया, अब क्रमप्राप्त सोलह प्रकार के चारित्रमोहनीय और नौ प्रकार के नो कषा-यमोहनीय पाप कर्म के बन्धहेतुओ का प्रतिपादन करते हैं—

तीव्र कषाय से उत्पन्न आत्मा के परिणामों से सोलह कषाय और नौ नो कषाय रूप चारित्र मोहनीय पापकर्म का वन्ध होता है।

कषन्ति अर्थात् जीव को नरक गति आदि दुर्गति में जो गिराते हैं, उन्हें कषाय कहते हैं। अथवा कष्यते अर्थात् जिनके द्वारा जीव ससार मे आकर्षित किया जाता है, वे कषाय। अथवा

दु खादिसस्यफलयोग्या क्रियते कर्मभूमि र्यैस्ते कषाया' क्रोधमान--माया लोभादय स्तेषा-मुदयो विपाक' कषायोदय' तस्मात् तज्जन्यो यः क्रोधादे' कषायस्य तीव्र' प्रकृष्ट आत्मन' परिणामोऽवस्थाविशेषः शब्दरूपगन्धस्पर्शादिविषयेषु गार्ध्यम् ईर्ष्यालुताऽसत्यवादिता वक्रता परस्त्री-रतिप्रियतादि' तेन चारित्रमोहनीयरूपस्य षोडशकषायवेदनीयनवनोकषायवेदनीयपापकर्मणो बन्धो भवति । तत्र षोडशकषाया यथा -

अनन्ताऽनुबन्धिक्रोधमानमायालोभा ४ अप्रत्याख्यानि क्रोधमानमायालोभा'—४ प्रत्या-ख्यानि क्रोधमानमायालोभा' ४ सञ्ज्वन क्रोधमानमायालोभा' ४ इति । तेषा मुदयो तीव्रपरिणाम श्चारित्रमोहनीयस्य बन्धहेतवो भवन्तीति ।

तथा नवनोकाषाया' हास्य १ रत्य--२ रति--३ भय--४ जुगुप्सा--५ शोक--६ स्त्रीवेद ७ पुरुषवेद--८ नपुंसकवेदरूपाः--९

तत्र हास्य मोहनीयकर्मोदयतो विवृतमुखेन विधीयमानो--त्प्रासन दीनाभिलाषित्व कन्दर्पो-पहासनाऽतिप्रलापहासशीलतादयो हास्यवेदनीयकर्मबन्धहेतवो भवन्ति १ मोहनीयोदयाद्विष-येषु चित्ताभिरुचि विचित्र परिक्रीडनान्यचित्ताकर्षणाऽनेकविधरमणपीडाऽभावदेशाद्यौत्सुक्य प्रीति

कषति--जो विषय रूपी खड्ग से प्राणियो का घात करे वह कष अर्थात् ससार । उसका जिससे आय--लाभ हो सो कषाय । अथवा कष्यते अर्थात् ससार रूपी अटवी में गमन-- आगमन रूप काटो में प्राणी जिनके द्वारा घसीटे जाते है, उन्हें कषाय कहते है । अथवा कृष्यते अर्थात् जिनके द्वारा कर्म भूमि सुख--दुःख आदि धान्य--फल के योग्य बनाई जाती, है, वे कषाय है । क्रोध, मान, माया और लोभ, ये चार कषायोदय से उत्पन्न होने वाला आत्मा का जो तीव्र परिणाम अर्थात् अध्यवसाय है, जैसे रूप रस गन्ध और स्पर्श आदि विषयों में लोलुपता, ईर्षालुता असत्यवादिता, वक्रता, परस्त्री प्रति अनुराग आदि, ऐसे परिणामन विशेष से सोलह कषाय वेदनीय और नौ नो कषायवेदनोय रूप चारित्रमोहनीय कर्म का बध होता है । इनमें से सोलह कषाय ये है --

अनन्तानुबधी क्रोध मान माया लोभ (४), अप्रत्याख्यानी क्रोध मान माया लोभ (४), प्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ (४), सज्वलन क्रोध मान माया लोभ । इन कषायो का उदय रूप तीव्र परिणाम चारित्र मोहनीय के बध का कारण होता है ।

नौ नोकषाय ये है-- (१) हास्य (२) रति (३) अरति (४) भय (५) जुगुप्सा (६) शोक (७) स्त्री वेद (८) पुरुष वेद और (९) नपुंसक वेद ।

(१) हास्यमोहनीय कर्म के उदय से मुहँ फाड कर हँसना, दीनाभिलाषित्व, कन्दर्प, उपहासना, अतिप्रलाप, हास शीलता, आदि हास्य वेदनीय कर्म के बन्ध के कारण होते है ।

(२) मोहनीय कर्म के उदय से विषयों के प्रति चित्त की अभिरुचि होना, विविध प्रकार

सजननादयश्च रतिवेदनीयकर्मबन्धहेतवो भवन्ति—२

मोहनीयोदयात्समुत्पन्नमनोविकारपरराागप्रादुर्भावरतिविध्वंसपापशीलताऽकुशलक्रियाप्रोत्साहनस्त्येयादय पुनररतिवेदनीयपापकर्मबन्धहेतवो भवन्ति–३ मोहनीयप्रकृतिसमुत्थात्मपरिणामस्वय भयपरिणामभयोपजनन निष्करुणत्व त्रासादयश्च–भयकर्मबन्धहेतवो भवन्ति–४

यद्धर्माचरणतत्परं चतुर्वर्णकुशलक्रियाचारप्रवणजुगुप्सापरिवादशीलत्वादयो जुगुप्सा कर्मबन्धहेतवो द्रष्टव्या', [यदा मानसनिमित्तमनिमित्त वा धर्मं प्रनि घृणोत्पाद] ५ यदुदया दिष्टवियोगाऽनिष्टसयोगजनितचित्तोद्रेकनिजशोकोत्पादशोचनपरदु खनिर्हेतुक शोकमूलताभिनन्दित्वादय शोकवेदनीयकर्मबन्धहेतवो भवन्ति-६ ईर्ष्यालुत्वाऽनृतवादित्ववक्रत्वपरदाररतिप्रियतादय –

स्त्रीवेदबन्धहेतव –७ ऋजुसमाचारता मदक्रोधकषायादिना स्वदाररतिप्रियताऽनीर्ष्यालुतादयश्च पुरुषवेदबन्धहेतवो भवन्ति—८ तीव्रक्रोधादिना पशूनां मुण्डनरतित्वम्, स्त्री–पुरुषेषु–कामसेवनशीलत्वम् शीलव्रतगुणवता पाषण्डस्त्रीव्यभिचारकारित्वम्, तीव्रविषयानुबन्धित्वञ्च नपुसकवेदबन्धहेतवो भवन्ति - ९

से क्रीडा करना, दूसरों के चित्त को आकर्षित करना, अनेकविध रमण करना, पीडा का अभाव, देशादि के विषय में उत्सुकता–प्रीति–उत्पन्न करना, आदि कारणों से रति वेदनीय कर्म का बन्ध होता है।

(३) मोहनीय कर्म के उदय से उत्पन्न होने वाले मनोविकार. परराज, प्रादुर्भाव, रतिविध्वस पापशीलता, अशुभ कृत्यो में प्रोत्साहन, चौर्य आदि अरतिवेदनीय पाप कर्म के बन्ध के कारण होते हैं।

(४) मोहनीय कर्म के उदय से स्वय के प्रति भय का परिणाम उत्पन्न होना, दूसरे को भय उत्पन्न कराना, करना हीनता होना, त्रास पाना या पहुँचाना आदि भय कर्म के बन्ध के कारण हैं।

(५) धर्म का आचरण करने में तत्पर श्रमण, श्रमणी श्रावक, श्राविका के कुशल क्रिया के आचरण के प्रति घृणाभाव रखना, उनकी निन्दा करना आदि कारणो से जुगुप्सा कर्म का बन्ध होता है।

(६) इष्ट वस्तु का वियोग और अनिष्ट का सयोग होने चित्तमे शोक का उदेक होना, शोक निमग्न रहना, दूसरे को दु ख देना, ष्किारण शोकाकुल बना रहना, इत्यादि कारणों से शोकवेदनीय कर्म का बध होता है।

(७) ईर्षालुता, असत्य भाषण, वक्रता, परस्त्री लम्पटता आदि से स्त्रीवेद का वध होता है।

(८) सीधा–सरल व्यवहार करने से, स्वस्त्री मे रतिप्रियता होने से, ईर्ष्यालुता का अभाव होने से पुरुष वेद कर्म का बन्ध होता है।

(९) तीव्र क्रोध आदि से पशुओं के मुडन में रति होना, स्त्री और पुरुष–दोनों के साथ

एव-परमधार्मिकाणा श्रमणानां गर्हणा, धर्माभिमुखाना विघ्नकारित्वम् , देशविरतिजनान्तरायकरणम् , मधु–मद्य–मांसाविरतिगुणदर्शनम्, चारित्रगुणसन्दूषणम्, अचारित्रदर्शनम्, परस्य-कषायनोकषायोदीरणञ्च, चारित्रगुणोपघातकारिकषाय–नोकषायवेदनीयरूप चारित्रमोहनीयकर्मबन्ध-हेतवो भवन्तीति भाव ।

उक्तञ्च–व्याख्याप्रज्ञप्तौ भगवती-सूत्रे–"**मोहणिज्जकम्मा सरीरप्पओगपुच्छा ? गोयमा तिव्वकोहयाए, तिव्वमायाए तिव्वमाणयाए, तिव्वलोभए, तिव्वदंसणमोहणिज्जयाए तिव्व-चारित्तमोहणिज्जाए–**" इति, मोहनीयकर्म शरीरप्रयोगपृच्छा ? गौतम ! तीव्रक्रोधतया ––तीव्रमानतया––तीव्रमायया––तीव्रलोभतया तीव्रदर्शनमोहनीयतया तीव्रचारित्रमोहनीयानि–इति–। ६ ॥

मूलसूत्रम् – "**महारंभ महापरिग्गहा–पंचिंदिय–वह–मंसाहारेहि नारगाउए**"–॥७॥

छाया –"**महारम्भ-महापरिग्रह-पञ्चेन्द्रिय–बध–मांसाहारैर्नारकायुष्कम्**–॥ ७ ॥

तत्त्वार्थदीपिका –पूर्वसूत्रे षोडशकषायवेदनीय––नवनोकषायवेदनीयपापकर्मणा बन्ध-हेतव प्ररूपिता सम्प्रति––नारकायुष्यकर्मणो बन्धहेतून् प्ररूपयितुमाह––"**महारंभमहापरिग्गह-–पंचिंदियवहमंसाहारेहिं नारगाउए**––" इति–।

कामभोग सेवन करने की अभिलाष या आदत होना, शील व्रत एव गुण वलो को तिव्र विषयो के प्रति तीव्र अभिलाषा होना, यह सब नपुसकवेद के बध के कारण है ।

तात्पर्य यह है कि परम धर्मनिष्ठ श्रमणों की निन्दा करने से, जो धर्माचरण करनेमें तत्पर है उनके धर्माचरण में विघ्न डालने से, देशविरत जनों के धर्मकृत्य मे अन्तराय डालने से, मधु, मांस एवं मधका त्याग करने में गुण समझने से, चारित्र गुण को दूषित करने से, कुत्सित चारित्र को सच्चरित्र समझने से और दूसरे के कषायो एव नो कषायो कीउदीरणा करने से मोहनीय कर्म का बन्ध होता है ।

भगवानसूत्र में कहा है–मोहनीय कर्म–शरीरप्रयोग के विषय में पृच्छा ? हेगौतम ! तीव्र क्रोध करने से, तीव्र मान करने से, तीव्र माया सेवन करने से, तीव्र लोभ करने से, तीव्र दर्शनमोहनीय से और तीव्र चारित्र मोहनीय से मोहनीय कर्म बँधता है ॥६॥

सूत्रार्थ––'**महारंभमहापरिग्गह**' इत्यादि सूत्र ॥७॥

महारभ, महापरिग्रह, पञ्चेन्द्रियवध और मांसाहार से नरकायु का बन्ध होता है ॥७॥

तत्त्वार्थदीपिका––पूर्वसूत्र मे सोलह कषायवेदनीय और नौ नोकषाय वेदनीय पाप-कर्मों के बन्धहेतु प्रतिपादन किये गये, अब नरकायु कर्म के बन्ध के कारणों की प्ररूपणा करते है––महान् आरभ, महान् परिग्रह, पंचेन्द्रिय जीवों का वध और मांसाहार करने से नरकायु का वध होता है ।

महारम्भमहापरिग्रहपञ्चेन्द्रियवधमांसाहारैर्नारकायुष्यकर्म बध्यते। तत्रा—ऽऽरम्भस्तावत् प्राणिपीडाजनकव्यापार, परिग्रह खलु क्षेत्र—वास्तु--हिरण्यादिषु ममत्वलक्षण पञ्चेन्द्रियवध कुमांसाहारश्च तैर्महताऽऽरम्भेण—महता परिग्रहेण पञ्चेन्द्रियवधेन मासाहारेण च मांसभक्षणरूपेण नारकायुष्यकर्मबन्धो भवतीति भाव. ॥७॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं द्व्यधिकाशीतिपापकर्मसु क्रमश. पञ्चज्ञानावरण - नवदर्शनावरणाऽसातावेदनीयमिथ्यात्व षोडशकषायवेदनीय नवनोकषायवेदनीयपापकर्मणां बन्धहेतव' प्रतिपादिता सम्प्रति—क्रमप्राप्तस्य नारकायुष्यस्य पापकर्मणो बन्धहेतून् प्रतिपादयितुमाह—**"महारंभमहापरिग्गहपंचिंदियवहमंसाहारेहिं नारगाउए—"** इति।

महारम्भमहापरिग्रहपञ्चेन्द्रियवधमांसाहारैर्नारकायुष्कं कर्म बध्यते। तत्रा—ऽऽरम्भ खलु-प्राणातिपातजनको व्यापारो यान्त्रिकादिलक्षण, महापरिग्रहश्च बाह्याभ्यन्तरवस्तुविषयममत्वलक्षणो धन—धान्य—क्षेत्र—वास्त्वादिविषय., आरम्भश्च परिग्रहश्चेति, आरम्भपरिग्रहौ, महाश्चारम्भो महाश्च परिग्रह इति महारम्भमहापरिग्रहौ, पञ्चेन्द्रियवध. मांसाहार तै' खलु महारम्भ—महापरिग्रह-पञ्चेन्द्रियवध-मांसाहारैर्नारकायुष्यकर्मबन्धो भवति।

तथाच—प्राणातिपातादिक्रूरकर्मसततप्रवर्तन—परद्रव्यापहरण—विषयातिगार्ध्यकृष्णलेश्याऽभिजातरौद्रध्यानमरणकालता पञ्चेन्द्रियवधमासाहारादयो नारकायुष्यस्य पापकर्मणो बन्धहेतवो भवन्तीति फलितम्।

प्राणियो को पीडा पैदा करने वाली प्रवृत्ति आरभ कहलाती है। क्षेत्र, वास्तु (मकान आदि), हिरण्य स्वर्ण आदि परपदार्थों मे ममत्व होना परिग्रह है। पञ्चेन्द्रिय जीवो को हिंसा और मासाहार प्रसिद्ध ही हैं। इन चार कारणों से नरकायु कर्म का बंध होता है ॥७॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पूर्वोक्त बयासी पापकर्मप्रकृतियो मे से पाँच ज्ञानावरण, नौ दर्शनावरण, असातावेदनीय, मिथ्यात्व, सोलह कषायवेदनीय और नौ नो कषाय वेदनीय पापकर्मों के बन्ध के कारण बतलाये जा चुके हैं। अब क्रमप्राप्त नरकायु पापकर्म के बन्धहेतुओं का कथन किया जाता है—

महारभ, महापरिग्रह, पचेन्द्रिय वध और मासाहार से नरकायु का बध होता है। प्राणातिपातजनक व्यापार को आरभ कहते है। धन—धान्य—क्षेत्र—वास्तु आदि बाह्य वस्तुओ में ममत्व होना परिग्रह है। महान् आरंभ और महान् परिग्रह महारभ और महापरिग्रह कहलाता है। इनसे तथा पचेन्द्रिय जीवो का वधऔर मांस का भक्षण करने से नरकायु कर्म का बध होता है।

इस कथन का फलितार्थ यह है कि हिंसा आदि क्रूर कर्मो मे सदैव प्रवृत्ति करने से, पराये द्रव्य का अपहरण करने से, इन्द्रियविषयों में अन्त्यन्त गृद्धि रखने से, कृष्णलेश्या के कारण उत्पन्न होने वाले रौद्रध्यान से, पचेन्द्रिय प्राणी के वध से और मासाहार आदि से नरकायु पापकर्म का वन्ध होता है

उक्तञ्च स्थानाङ्गे ४ स्थाने ४ उद्देशके "'चउहिं ठाणेहिं जीवा णेरइयत्ताए कम्मं पकरेंति तं जहा–महारंभयाए महापरिग्गहयाए पंचिंदियवहेणं कुणिमाहारेणं–" इति।

चतुर्भिः स्थानै जीवा नैरिकतायै कर्म प्रकुर्वन्ति, तद्यथा–महारम्भतया, महापरिग्रहतया, पञ्चेन्द्रियवधेन, कुणिमाहारेण, इति ॥७॥

मूलसूत्रम्—"जोगवक्कत्तविसंवायणेहिय असुभनामकम्मं–" ॥८॥

छाया—"योगवक्रत्वविसंवादनाभ्यां चाऽशुभनामकर्म" ॥८॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे नारकायुष्यस्य पापकर्मणो बन्धहेतवः प्ररूपिताः सम्प्रति–क्रमप्राप्तस्य चतुस्त्रिंशत्प्रकारस्य नरकगत्याद्यशुभनामकर्मणो बन्धहेतून् प्ररूपयितुमाह "जोग-वक्कत्तविसंवायणेहिय असुभनामकम्मं–" इति। योगवक्रत्व–विसवादनाभ्यां चा–ऽशुभनाम-कर्म बध्यते।

तत्र–योगः शक्तिरूपआत्मनः करणविशेषः कायवाङ्मनोलक्षणस्त्रिप्रकारकः तस्य–वक्रत्वं कौटिल्यप्रवृत्तिः, यथा–कायेनाऽन्यत्करोति, वचसाऽन्यद् ब्रवीति मनसाऽन्यच्चिन्तयति, इत्येव रूपा योगवक्रता। विसवादनन्तु अन्यथाप्रवर्तनम् परवञ्चनम्, निष्फलप्रवर्तनम्, चकारेण–मिथ्या-दर्शन–पैशुन्य–चञ्चलचित्तता–कूटमान–तुलाकरण–परनिन्दादिश्च गृह्यते, तैः खलु–कायिकादि-योगवक्रत्वविसवादनादिभिर्नरकगत्यादिचतुस्त्रिंशत्प्रकारकाऽशुभनामकर्मबन्धो भवति ॥८॥

स्थानांगसूत्र के स्थान चौथे, उद्देशक चौथे में कहा है—'चार कारणो से नरकायुकर्म का उपार्जन करते हैं—महा आरंभ करने से, महापरिग्रह से, पञ्चेन्द्रिय के वध से और मांस का भक्षण करने से' ॥७॥

सूत्रार्थ—'योगवक्कत्तविसंवायणे०' इत्यादि ॥८॥

योगों की वक्रता और विसवाद से अशुभ नाम कर्म का बन्ध होता है ॥८॥

तत्त्वार्थदीपिका—पिछले सूत्र में नरकायु पापकर्म के बन्ध के कारणो की प्ररूपणा की गई; अब क्रमप्राप्त चौतीस प्रकार के अशुभ नाम कर्म के बन्ध हेतुओ की प्ररूपणा करते है—

योग की वक्रता और विसवाद से अशुभ नाम कर्म का बन्ध होता है।

योग का अर्थ है आत्मा की एक विशेष शक्ति जो करणरूप होती है। उसके तीन प्रकार है—मन, वचन, और काय उसकी वक्रता का मतलब है कुटिलता पूर्वक प्रवृत्ति। जैसे मन से कुछ सोचना, वचन से कुछ और ही कहना और काय से अन्य ही प्रकार की प्रवृत्ति करना इसे योगवक्रता कहते हैं।

विसवाद का आशय है—अन्यथा प्रवृत्ति करना, दूसरे को ठगना। सूत्र मे 'च, पद का जो प्रयोग किया है, उससे मिथ्यादर्शन, पैशुन्य, चचलचित्तता, झूठा तोलना–नापना, और दूसरों की निन्दा आदि का ग्रहण किया गया है। इन योगवक्रता और विसवाद आदि कारणों से नरकगति आदि चौतीस प्रकार का अशुभ नाम कर्म बँधता है ॥८॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं तावत्—नारकायुष्यस्य पापकर्मणो बन्धहेतुतया बह्वारम्भबहुपरिग्रहपञ्चेन्द्रियवधकुणिमाहारा प्रतिपादिता सम्प्रति—क्रमप्राप्तस्य नरकगत्यादिचतुस्त्रिंशत्प्रकारकाऽशुभनाकर्मणा बन्धहेतुतया योगवक्रता विसवादनादिक प्रतिपादयितुमाह—**जोगवक्कत्तविसंवायणेहिय असुभनामकम्मं**—" इति। योगवक्रत्वविसवादनाभ्याञ्चाऽशुभनाम कर्मबध्यते।

तत्र—कायवाङ्मनोलक्षणत्रिविधयोगगत वक्रत्वम्—कुटिलतया प्रवृत्ति', स्वगतयोगता योगवक्रतोच्यते। विसवादनन्तु—अन्यथा प्रवर्तनम् सत्यवदभ्युपगमे तदपह्नवोपाये व्युत्थापनं परगतं बोध्यम्। तत्र—कायस्य तावत् कुब्ज—वामननिकृष्टाङ्गप्रत्यङ्गावयवनयननिकोचननासिकाभङ्गमलव्याधिविदूषकस्त्रीपुरुषभृत्यमृतकाद्याकारैरसद्भावनरूपा वक्रताऽवसेया। वाग्वक्रता तु मायापूर्वकं जल्पनम् मनोवक्रता पुन'—स्वान्ते—ऽन्यदेवनिश्चित्य लोकसमाजपूजासत्कारादिमिच्छा कुर्वन् वाचा—ऽन्यदेव समाचरति, कायेनाऽन्यदेव चेष्टते इत्येव रीत्या स्वविषयैव कायादियोगवक्रता बोध्या।

विसवादन पुन. परविषयमन्यथैव प्रवर्तनरूपम् निर्देष्टुमित्यस्य विवक्षितस्यार्थस्य यथावस्थितस्वभावस्य नैष्फल्यविधानमवसेयम्। पितापुत्रयोर्वा प्रीतिशालिनो. परस्परं प्रीतिभेदोत्पादनं विसवादन बोध्यम्।

एव—चकारात् मिथ्यादर्शनमायिकप्रयोगपैशुन्यचञ्चलचित्तता कूटमानतुलाकरण सुवर्णा-

---

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पहले बतलाया जा चुका है कि महा आरंभ, महा परिग्रह, पचेन्द्रिय वध और मासाहार से नरक की आयु का बन्ध होता है। अब अनुक्रम से प्राप्त नरकगति आदि चौतीस प्रकार के नाम कर्म के बन्ध के कारण कहते है—

योगो की वक्रता और विसवाद करने से अशुभ नाम कर्म का बध होता है।

काय, वचन और मन, ये तीन योग हैं इनकी वक्रता अर्थात् कुटिलता पूर्ण प्रवृत्ति को योग वक्रता कहा गया है। अन्यथा प्रवृत्ति को विसवाद कहते है। योग वक्रता स्वगत होती है, विसवादन परगत होता है।

काय की वक्रता कुब्ज (कुवडा), वामन, (वौना), निकृष्ट अग—प्रत्यग, नयनों का सकोचन, नासिकाभंग, मल, व्याधि, विदूषक स्त्री—पुरुष, मृतक आदि के आकारों द्वारा अयथार्थ को को प्रकट करना है। कपटपूर्वक बोलना वचन की वक्रता है। चित्त में अन्य बात सोचकर लोक या समाज मे पूजा—प्रतिष्ठा या आदर—सन्मान आदि पाने की अभिलाषा से वचन द्वारा कुछ अन्य ही कहना और शरीर से दूसरे ही प्रकार का आचरण करना मन की वक्रता है। इस प्रकार काय योग आदि की वक्रता स्वविषयक ही होती है।

विसवादन का सम्बन्ध दूसरे के साथ होता है। उस का अर्थ है अन्यथा प्रवृत्ति। जो वात सत्य है उसे असत्य कहकर दिखलाना विसंवाद है। अथवा अत्यन्त स्नेहशील पिता और पुत्र के बीच भेद उत्पन्न कर देना—उन के स्नेह को भग कर देना विसवादन कहलाता है।

सूत्र मे ग्रहण किये हुए 'च' पद से मिथ्यादर्शन, मायिक प्रयोग, पैशुन्य, चचलचित्तता,

दिप्रतिरूपकत्वानुष्ठानकूटसाक्ष्यादयश्च चतुस्त्रिंशत्प्रकारस्य नरकगति–१ तिर्यग्गतिनामै–२ केन्द्रिय–३ द्वीन्द्रिय–४ त्रीन्द्रिय–५ चतुरिन्द्रियजातिनाम–६ न्यग्रोधपरिमण्डल–७ सादि–८ कुब्ज–९ वामन–१० हुण्ड–११ सस्थाननामा–११ऽर्धवज्रर्षभनाराच–१२ नाराचा–१३ ऽर्धनाराच–१४ कीलिका–१५ सृपाटिका–सहनननामा–१६ ऽप्रशस्त–रूप–१७ रस–१८ गन्ध–१९ स्पर्शनाम–२० नारकगत्यानुपूर्वी–२१ तिर्यग्गत्यानुपूर्वीनामो–२२ पघातनामा–२३ ऽप्रशस्त-विहायोगतिनाम–२४ स्थावरनाम–२५ सूक्ष्मशरीरनाम–२६ ऽपर्याप्तकनाम–२७ साधारण-शरीरनामा–२८ ऽस्थिरनामा–२९ ऽशुभनाम–३० दुर्भगनाम–३१ दु स्वरनाम–३२ अना-देयनामा–३३ ऽयश'कीर्तिनाम–३४ रूपाऽशुभनामकर्मणो बन्धहेतवो भवन्ति ।

उक्तञ्च व्याख्याप्रज्ञप्तौ श्रीभगवतीसूत्रे ८–शतके ९–उद्देशके—"**असुभनामकम्मा सरीरपुच्छा ? गोयमा ! कायअणुज्जुययाए, जाव विसंवायणाजोगेणं असुभनामकम्मा जाव पओगबंधे**—" इति ।

अशुभनामकर्मशरीरपृच्छा ? गौतम ! कायाऽनृजुतया, यावद्–विसवादनायोगेना–ऽशुभ-नाम कर्म, यावत्प्रयोगबन्धः इति । तत्र–प्रथमयावत्पदेन भाषानृजुतया भापानृजुतयेति सग्राह्यम्, द्वितीययावत्पदेन शरीरादिसग्राह्यम् ॥८॥

कूटमान–तुलाकरण अर्थात् कम–ज्यादा नापना– तोलना, किसी भी एक वस्तु में दूसरी वस्तु की मिलावट करना और झूठी साक्षी देना आदि समझ लेना चाहिए । इन कारणों से चौतीस प्रकार के अशुभ नाम कर्म का बध होता है । वे चौतीस प्रकार इस प्रकार से है—

(१) नरक गति (२) तिर्यचगति (३) एकेन्द्रियजाति (४) द्वीन्द्रिय जाति (५) त्रीन्द्रिय जाति (६) चतुरिन्द्रिय जाति (७) न्यग्रोध परिमंडल (८) सादि (९) कुब्ज (१०) वामन और (११) हुण्ड सस्थान (१२) अर्धवज्रर्षभनाराच सहनन (१४) नाराच सहनन (१४) अर्धनाराच सहनन (१५) कीलिकासहनन (१६) सृपालिका सहनन (१७) अप्रशस्त रूप (१८) अप्रशस्त-रस (१९) अप्रशस्त गन्ध (२०) अप्रशस्त स्पर्श (२१) नरक गत्यानुपूर्वी (२२) तिर्यग्गत्यानु-पूर्वी (२३) उपघात नाम (२४) अप्रशस्त विहायोगति (२५) स्थावर नाम (२६) सूक्ष्म नाम (२७) अपर्याप्तक नाम (२८) साधारण नाम (अस्थिर नाम (३०) अशुभ नाम (३१) दुर्भग नाम (३२) (३३) अनादेयनाम और (३४) अयशः कीर्तिनाम ।

" श्री भगवति सूत्र में शतक ८ उद्देशक ९ में कहा है—अशुभनाम कर्म के विषय में प्रश्न ? उसका उत्तर यह है–गौतम ! काय की ऋजुता न होने से अर्थात वक्रता होने से यावत् विसवादना योग से अशुभनाम कर्म का बन्ध होता है ।

इस जगह पहले जो 'जाव' शब्द आया है, उससे भाषा की ऋजुता न होना और मन की ऋजुता न होना अर्थात् वचन और मन की वक्रता को ग्रहण करना चाहिए तथा दूसरे 'जाव' शब्द से शरीर आदि को समझ लेना चाहिये । सूत्र ॥८॥

मूलम्—अट्ठहिं मयट्ठाणेहिं नीया गोयकम्मं ॥ सूत्र ९ ॥

छाया—अष्टभिर्मदस्थानैर्नीचैर्गोत्रकर्म ॥ सूत्र ९ ॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे चतुस्त्रिंशत्प्रकारकाणा नरकगत्याद्यशुभनामकर्मणा बन्धहेतुतया कायादियोगवक्रता–विसंवादनादय प्ररूपिता सम्प्रति क्रमप्राप्तस्य नीचैर्गोत्रस्य कर्मणो बन्धहेतून् प्ररूपयितुमाह–"अट्ठहिं मयट्ठाणेहिं" इत्यादि ।

अष्टभि.–अष्टसंख्यकै मदस्थानै मदाना अहङ्कालरूपाणा स्थानानि आश्रयरूपाणि मदस्थानानि तै नीचैर्गोत्रकर्मणो बन्धो भवति, तानि मदानि, जाति– कुल–बल–रूप–तप' श्रुतिलाभैश्वर्यरूपाणि भवन्ति, एतैः कारणभूतैर्नीचैर्गोत्रकर्मबन्धो भवतीति भाव ॥ सूत्र–९ ॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं द्व्यधिकाशीतिप्रकारकपापकर्मसु क्रमश पञ्चज्ञानावरणनवदर्शनावरणमिथ्यात्वषोडशकषाय, नवनोकषायनारकायुष्यनरकगत्यादिचतुस्त्रिंशत् प्रकारा-ऽशुभनामकर्मणां बन्धहेतव प्रतिपादिता सम्प्रति–क्रमप्राप्तस्य नीचैर्गोत्रस्य कर्मणो बन्धहेतून् प्रतिपादयितुमाह "अट्ठहिं मयट्ठाणेहिं" इत्यदि० ।

अष्टभिः अष्टसंख्यकै' जातिमदादिभिर्मदस्थानै मदानाम् अहङ्काराणा स्थानानि आश्रय भूतानि, तै, कारणभूतैर्नीचै गोंत्र कर्म बध्यते, तानि–जाति कुल–बल–रूप–तप –श्रुत-लाभैश्वर्य विषयाणि भवन्ति, तत्र जातिमदेन अहं सर्वोत्तमजातीय., इत्येव जात्यहकारेण १, कुलमदेन

'अट्ठहिं मयट्ठाणेहिं नीया' इत्यादि ॥सूत्र–९॥

सूत्रार्थ—आठ प्रकार के मदस्थानो से अर्थात् मदकारणों से नीच गोत्र का बन्ध होता है।

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रमें चौतीस प्रकार के नरक गत्यादि अशुभकर्म के बन्ध के हेतु रूप से कायादियोगो की वक्रता तथा विसंवादनादि की प्ररूपणा की गई है । अब क्रमप्राप्त नीच गोत्र कर्म बन्ध के कारणों को कहते है—'अट्ठहिं मयट्ठाणेहिं, इत्यादि ।

अष्ट प्रकार के मदस्थानों से अर्थात्–जाति, कुल, बल, रूप, तप, श्रुत, लाभ और ऐश्वर्य, इन आठो के विषय में अहङ्कार करने से नोच गोत्रकर्म का बन्ध होता है ॥९॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पूर्व सूत्रमें बयासी प्रकार के पाप कर्मो में क्रम से पाच ज्ञानावरण, नौ दर्शनावरण, मिथ्यात्व, सोलह कषाय, नौ नो कषाय, नरकायु नरक गति आदि चौतीस प्रकार के अशुभ नाम कर्म के बध के कारणों का प्रतिपादन किया, अब यहां क्रम प्राप्त नीच गोत्र कर्म बंध के कारणो का प्रतिपादन किया जाता है–"अट्ठहिं मयट्ठाणेहिं" इत्यादि—

आठ प्रकार के जाती मद आदी मदस्थानों से अर्थात् जाति आदि आठों के विषय में अहकार करने से नीच गोत्र कर्म का बन्ध होता है । वे आठ इस प्रकार हैं— जाती, कुल, बल, रूप, श्रुत, लाभ और ऐश्वये । जसे–जातिमदसे–मै सब से मातृपक्षरूप-जाती में ऊँचा हूं, इस प्रकार जाति सम्बन्धी अहकार से १ कुल मदसे–मेरा पितृपक्ष

मम–सर्वोत्तम कुलमित्येवं कुलाभिमानेन २. बलमदेन अहं सर्वापेक्षया विशिष्टशक्तिशाली' इत्येव शक्त्यहंकारेण ३ रूपमदेन–सौन्दर्याहङ्कारेण ४. तपोमदेन–'अहमुग्रतपस्वी' इत्येव तपस्या-दर्पेण ५. श्रुतमदेन,–विद्याज्ञानाभिमानेन–'अहमेव लाभवान्' इत्यभिमानेन ७. ऐश्वर्यमदेन सम्पत्तिदर्पेण ८ एतैरष्टभि –मदस्थानैः मदकारणै नीचगोत्रस्य कर्मणो बन्धो भवति ।

उक्तञ्च—व्याख्याप्रज्ञप्तौ श्री भगवती सूत्रे–८ शतके ९ उद्देशके'जाइमएण-कुलमएणं बलमएणं, जाव इस्सरियमएणं-णीयागोयकम्मा सरीरजाव पओगवंधे" इति ।

जातिमदेन-कुलमदेन बलमदेन यावदैश्वर्यमदेन नीचैर्गोत्रकर्म शरीरयावत्प्रयोग-बन्ध' इति ।

यावत्पदेन–रूपमदेन, तपोमदेन, श्रुतमदेन, लाभमदेन, इति सग्राह्यम् एवञ्च–जाति-मदकुलमद, बलमद, रूपमद, तपोमद, श्रुतमद, लाभमदैश्वर्यमदै खलु नीचैर्गोत्रकर्मबन्धो भतीति भाव. ॥ सू० ९ ॥

मूलसूत्रम्—दाणादीणं विग्धकरणेणं अंतराइयकम्मं" ॥ सूत्र–१० ॥

छाया दानादीनां विघ्नकरणेना-ऽन्तरायकर्म–' ॥ १० ॥

तत्त्वर्थदीपिका—पूर्वसूत्रे ज्ञानावरणादिद्व्यधिकाशीति–प्रकारकपापकर्मसु क्रमप्राप्तस्य नीचैर्गोत्रस्य कर्मणो बन्धहेतव. प्ररूपिता; सम्प्रति–अन्तिमस्याऽन्तरायकर्मणो बन्धहेतून् प्ररूप-यितुमाह—"दाणादीणं" इत्यादि. । दानादीनाम्—दान–लाभ–भोगो–पभोग–वीर्याणाम्

वंश सर्वश्रेष्ठ है मै उत्तम वशज हूँ, इस प्रकार के कुल सम्बन्धी अहकार से २ बल मद से–मै सबकी अपेक्षा से शक्तिशाली व्यक्ति हूँ, इस प्रकार बल का अहंकम् करने से ३, रूपमदसे–मेरा रूप सौन्दर्य दिव्य है, इस प्रकार रूपका अहङ्कार करने से ४, तप मदसे-मै उग्रतपस्वी हूँ मेरे जैसे–उग्रतपस्या कौन कर सकता है ? इस प्रकार तप के अहकार से ५, श्रुत मद से–मैं सब आगमो का ज्ञाता हूँ मेरा ज्ञान विशाल है, इस प्रकार श्रुत सम्बन्धी अहकार से ६, लाभ मद से–लाभ ही लाभ होता है जो वस्तु चाहता हूँ मुझे उसी वस्तु का लाभ हो जाता है, इस प्रकार लाभ के अहङ्कार से ७, इसी प्रकार ऐश्वर्य मदसे–ऐश्वर्य अर्थात् अधिकार पदवी परिवार ऋद्धिआदि सपत्ति मेरे अनुपम और विशाल है, इस प्रकार ऐश्वर्य सम्ब-न्धी अहङ्कार करनेसे ८, अर्थात् इन आठ प्रकार के मद–अहकार से जीव के नीच गोत्र कर्म का बन्ध होता है, इसी विषय मे भगवती सूत्र शतक ८ वें के ९ नौवें उद्देशे में भगवान् ने ऐसा ही कहा है । सूत्र–॥९॥

'दाणादीण विग्धकरणेणं' इत्यादि

सूत्रार्थ–दान आदि में विघ्नडालने से अन्तराय कर्म का बन्ध होता है ॥

तत्त्वार्थदीपिका–पूर्वसूत्र मे ज्ञानावरणीय आदि बयासी प्रकार के पापकर्मों में से क्रमप्राप्त नीच गोत्र कर्म के बन्ध के कारणों का प्ररूपण किया गया; अब अन्तिम कर्म अन्त-रायके बन्ध के कारणो का प्ररूपण किया जाता है–

दान आदि अर्थात् दान लाभ भोग, उपभोग, और वीर्य में विघ्न डालने से बाधा पहुंचाने

विघ्नकरणेन—विहननेन विघ्नसम्पादनेनाऽन्तरायकर्म बध्यते। तथाच—दान लाभ—भोगोपभोग-वीर्याणा विघ्नसम्पादनमन्तरायकर्म बन्धहेतुर्भवतीति भाव ॥ १० ॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः - पूर्वं क्रमशो ज्ञानावरणादिकर्मणामेकाशीतिप्रकाराणा बन्धहेतव प्रतिपादिता, सम्प्रत्यन्तिमस्याऽन्तरायकर्मणो बन्धहेतून् प्रतिपादयितुमाह "दाणादीणं–" इत्यादि। दानादीनां--दानलाभभोगोपभोगवीर्याणा विघ्नकरणेन—विघ्नसम्पादनेना--ऽन्तराय कर्मबन्धो भवति।

तत्र—दान तावद्देयवस्तुनस्त्याग प्रतिविशिष्टपरिणामपूर्वक स्ववस्तुनि परस्वत्वोत्पादनम्, तस्यैव दीयमानस्य वस्तुन. प्रतिग्रहीत्रा गृह्यमाणत्वे—आदानरूपो लाभ इत्युच्यते, २ केषामपि वस्तूनां ग्रहणम् आत्मसात्करणम्—भोग ३ तेषामेव वस्तूनामसकृद्वारवार ग्रहणमुपभोग ४ यदेकवारमेव भुज्यते, यथा--ऽज्ञानादिकम्, तद्भोग यत्पुनर्वारवारमप्युपभुज्यते यथा--वस्त्रादिकम् तदुपभोग इत्युच्यते।

विशिष्टचेष्टास्वरूपआत्मनो बलपरिणामविशेषो वीर्यम् इत्युच्यते-५ एतेषाञ्च-दानलाभभोगो-

---

से अन्तराय कर्मका बध होता है। आशय यह है, कि दान, लाभ, भोग उपभोग और वीर्य मे वीघ्नडालना अन्तराय कर्म के बन्ध का कारण है ॥१०॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—इससे पहले ज्ञानावरणीय आदि बयासी प्रकार के पाप कर्म के बन्धके बन्ध हेतुओ का प्रतिपादन किया जाचुका है, अव अन्त में बचे हुए अन्तराय कर्मबन्धके हेतुओं का प्रतिपादन करने के लिए कहा है—दान लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य, मे विघ्नडालने से अन्तराय कर्म का बध होता है। अपनी वस्तु अपनी सत्तात्यागपूर्वक किसी को देना उसे दान कहते हैं १ किसी बस्तु की प्राप्ती होना उसे लाभ कहते हैं २ जो एक बार भोग मे आवे वह भोग कहलाता है जैसे—आहारआदि ३, जों वार वार भोग में आ सके वह उपभोग है—जैसे वस्त्रादि ।४। धर्मादि करने में उत्साह रखना यह वीर्य है ।५। इन दानादि पाचो में विघ्न डालने से अन्तराय कर्म का बन्ध होता है।

इन दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य में विघ्न डालना अन्तराय कर्म के बध का कारण है।

जिस कर्म के उदय से दान देने योग्य वस्तु का भी दान नहीं दे सकता वह वह दानान्तराय कर्म कहलाता है। जिस कर्म के उदय से ग्रहण करने वाला ग्राह्य वस्तु को ग्रहण करने में असमर्थ होता है, वह लाभान्तराय कर्म है। जिस कर्म के उदय से अशन आदि का भोग करने में समर्थ होने पर भी जीव भोग नहीं सकता वह भोगान्तराय कर्म है। जिस कर्म के उदय से वस्त्र आदि का उपभोग करने में समर्थ हो कर भी जीव उसका उपभोग न कर सके, वह उपभोगान्तराय कर्म कहलाता है। जिस कर्म के उदय से जीव में वीर्य—उत्साह—पराक्रम नहीं होना, वह वीर्यान्तराय कर्म समझना चाहिये।

पभोगवीर्याणा विघ्नकरणमन्तराय कर्म येन--येन कर्मणा दातादेयमपि वस्तु न ददाति त तमुपाय दातुरापादयति तत्कर्म दानान्तरायकम् १ एव--येन--येनोपायेन कर्मणाऽऽदेयं वस्तु प्रतिग्रहीता न लभते तल्लाभान्तरायम् २ एवं--येन येन कर्मणाऽज्ञानादिवस्त्रादिभोगोपभोगानुभवनसमर्थोऽपि भोक्तु मुपभोक्तुञ्च न पारयति तद्भोगोपभोगान्तरायम् ।३।४।

एवं येन येन कर्मणा वीर्यमुत्साह'--पराक्रमो न भवति तत्तकर्म वीर्यान्तरायम्--यथा--यथाऽनुष्ठानेन दानादिषु विघ्नमुत्पद्यते तथा--तथा ऽनुष्ठानेना-ऽन्तरायस्य कर्मणो बन्धो भवतीति भाव. तथाच--दानलाभभोगोपभोगवीर्याणां विघ्नकरणमन्तरायकर्मबन्धहेतुर्भवतीति फलितम्---।

उक्तञ्च--व्याख्याप्रज्ञप्तौ श्रीभगवतीसूत्रे ८ शतके ९ उद्देशके--'**दाणंतराएणं, लाभंतराएणं, भोगंतराएणं, उवभोगंतराएणं वीरियंतराएणं अंतराइयकम्मा सरीप्पओगबंधे--**'' इति ।

दानान्तरायेण--लाभान्तरायेण--भोगान्तरायेणो--पभोगान्तरायेण वीर्यान्तरायेणा--ऽन्तरायकर्म शरीरप्रयोगबन्ध' इति ।

एवञ्चा--ऽन्तरायशब्दस्य विघ्नकरणाऽर्थतया दानान्तराय, लाभान्तराय--भोगान्तरायो--पभोगान्तराय--वीर्यान्तराया पञ्चा--ऽन्तरायकर्मबन्धहेतवो भवन्तीति बोध्यम् ॥सू० १०॥

मूलम्---रयण--सक्कर--वालुय--पंक--धूम--तम--तमतमप्पभा--सत्त नरगभूमीओ घणोदहि--घणवाय--तणुवाया--गासपइट्ठिया अहो--अहो पिहुला ॥सूत्र--११॥

छाया---रत्न--शर्करा--वालुका--पङ्क--धूम--तम--स्तमस्तमःप्रभाः सप्तनरकभूमयो--घनोदधि घनवात--तनुवाता--ऽऽकाशप्रतिष्ठिता अधोऽधः पृथुला ॥सूत्र ११॥

फलितार्थ यह है कि दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य में विघ्न उपस्थित करने से अनुक्रम से दानान्तराय आदि का बन्ध होता है ।

व्याख्याप्रज्ञप्ति श्री भगवतीसूत्र में शतक ८, उद्देशक ९ में कहा है--दान में अन्तराय करने से, लाभ में अन्तराय करने से भोग में अन्तराय करने से उपभोग में अन्तराय करने से और वीर्य में अन्तराय करने से अन्तराय कर्म का बन्ध होता है

अन्तराय शब्द का अर्थ है--विघ्न डालना । इस प्रकार दानान्तराय लाभन्तराय भोगान्तराय उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय ये पांच अन्तराय कर्म के बध के कारण हैं ॥१०॥

सूत्रार्थ - 'रयण-सक्कर०' इत्यादि ॥सू० ११॥

सात नरक भूमिया हैं जैसे--१ रत्नप्रभा, २ शर्कराप्रभा, ३ वालुकाप्रभा, ४ पङ्कप्रभा, ५ धूमप्रभा, ६ तम प्रभा, ७ तमस्तम प्रभा । ये सातो भूमियां घनोदधि, घनवात, तनुवात और आकाश, इनपर टिकी हुई है नीचे नीचे उत्तरोत्तर चौड़ी होती जाती हैं अर्थात् तमस्तम प्रभा सातवीं पृथिवी उपर की छहो पृथिवियों से चौडी हैं ॥सू० ११॥

तत्वार्थदीपिका—पापाधिकारात्—तत्फलभोगदु खविपाकस्थानतया रत्नप्रभादिसप्तनरक-भूमी. प्ररूपयितुमाह—**"रयणसक्कर"** इत्यादि। रत्न—१—शर्करा—२—वालुका—३—पङ्क—४—धूम—५—तम—६—तमस्तम—प्रभा—७, सप्त नरकभूमयो, घनोदधि-घनवात-तनुवाता—ऽऽकाशप्रतिष्ठिता, अधोऽध पृथुला। तत्र—द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणस्य प्रभापदस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धात् रत्नप्रभया-सहचरिता युक्ता पृथिवीरत्नप्रभोच्यते १, एव शर्कराप्रभया सहचरिता युक्ता पृथिवी शर्कराप्रभा २, वालुकाप्रभया सहचरिता—युक्ता पृथिवी वालुकाप्रभा ३, पङ्कप्रभया सहचरिता—युक्ता पृथिवी पङ्क-प्रभा ४, धूमप्रभया सहचरिता—युक्ता भूमिर्धूमप्रभा५, तम प्रभया सहचरिता—युक्ता पृथिवी तम प्रभा उच्यते, ६, तमस्तम प्रभया सहचरिता—युक्ता पृथिवी च तमस्तम प्रभो—च्यते ७, भूमि-ग्रहणेन यथा—देवलोका भूमिमनाश्रित्यैव स्थिता सन्ति, न तथा नैरयिकावासा भूमिमनाश्रित्य स्थिताः—अपितु—भूमिमाश्रित्यैव स्थिता सन्तीति प्रतिपाद्यते। तासाञ्च सप्तभूमीनामाधार-ज्ञानार्थं घनोदधिघनवातादिग्रहण कृतम्, घनोदधिश्च घनवातश्च तनुवातश्चा—ऽऽकाशञ्चेति घनोदधिघनवाततनुवाताकाशानि तेपु प्रतिष्ठिता अवस्थिता यास्ता घनोदधिघनवाततनुवाताऽऽ-काशप्रतिष्ठिता अधोऽध अधस्त्वमाश्रित्य उत्तरोत्तरपृथुला विस्तीर्णा सन्ति ॥सूत्र ११॥

तत्त्वार्थदीपिका—यहा पापतत्त्व का प्रकरण होने से पाप के फल भोग दु खविपाक का स्थानभूत होने से रत्नप्रभा आदि सात नरकभूमियो की प्ररूपणा की जाती है 'रयण०' इत्यादि

रत्नप्रभा १ शर्कराप्रभा २ वालुकाप्रभा ३, पङ्कप्रभा ४ धूमप्रभा ५ तम प्रभा ६, तमस्तमःप्रभा ७ ये सातों नरकभूमियां घनोदधि घनवात तनुवात आकाश पर प्रतिष्ठित हैं। इन सात पृथिवियो के नाम रत्नप्रभा आदि जो है वह इस प्रकार से सार्थक हैं, जैसे रत्नों की प्रभा से सहचरित अर्थात् युक्त होने से प्रथम पृथिवी का नाम रत्नप्रभा है १, शर्करा अर्थात् छोटे छोटे ककरो के जैसी प्रभावाली होने से दूसरी पृथिवी का नाम शर्कराप्रभा है २। वालुका की प्रभा से युक्त होने से तीसरी पृथिवी का नाम वालुकाप्रभा है ४। पङ्क अर्थात कीचड से युक्त होने से चौथी पृथिवी का नाम पङ्कप्रभा है ४। जहाँ धूम—धूआँ जैसी प्रभा है इस कारण पाचवीं पृथिवो का नाम धूमप्रभा है ५, जहां अन्धकार छाया हुआ रहता है उस छठी पृथिवी का नाम तम प्रभा है ६, जहां निबिड अर्थात् घनघोर अन्धकार छाया रहता है इस कारण सातवीं पृथिवी का नाम तमस्तमःप्रभा है, ७। यहां भूमि शब्द ग्रहण इसलिये किया गया है कि जिस प्रकार देव-लोक भूमि के आश्रय के बिना अपने स्वभाव से टिके हुए है उसी प्रकार नरकावास भूमि के आश्रय के विना नहीं टिका हुआ हैं। इन सात भूमियों के आधारभूत घनोदधि घनवात तनुवात और आकाश ये चार है वे सातो भूमिया एक एक से आगे आगे पृथुल—चौड़ी—होती गई है। अर्थात् सप्तम पृथिवी उपरकी छहों पृथिवी से चौड़ी होती है ॥सू० ११॥

तत्वार्थनिर्युक्तिः—जीवाजीवादिनवतत्त्वेपु क्रमप्राप्तस्य पापतत्त्वस्यास्मिन् पञ्चमाध्याये प्ररूपितत्वेन तत्प्रस्तावत् दु:खविशेपरूपतत्फलभोगतीव्रविपाकस्थानतया रत्नप्रभादिसप्त नरकभूमी प्ररूपयितुमाह—**"रयणसक्कर"** इत्यादि ।

रत्न–शर्करा–वालुका–पङ्क–धूम–तमस्तम प्रभा सप्त नरकभूमयो घनोदधिघनवाततनुवाताकाशप्रतिष्ठिता. अधोऽध. पृथुला' सन्ति । तत्र–प्रभाशब्दस्य प्रत्येकमन्वयेन रत्नप्रभा–शर्कराप्रभा–वालुकाप्रभा–पङ्कप्रभा–धूमप्रभा–तम प्रभा–तमस्तम' प्रभा इत्येता. सप्त पृथिव्यो–भूमयो घनोदधिघनवाततनुवाताकाश प्रतिष्ठिता ।

तथाहि—सर्वाध आकाशं, तदुपरि तनुवातः, तदुपरि घनवात', तदुपरिघनोदधि', तस्योपरिसप्तमी तमस्तमप्रभापृथिवीप्रतिष्ठिता वर्त्तते । एव तमस्तम प्रभापृथिव्याउपर्यपि—आकाशतनुवातघनवातघनोदधयो वर्त्तन्ते । तदुपरि षष्ठी तम प्रभा पृथिवी प्रतिष्ठिता वर्त्तते । एवमेकैकराः प्रत्येकं पृथिव्या अन्तराले आकाशादय' सन्ति । ता' सप्तापि रत्नप्रभादिभूमयः पराऽपराः अधोऽधो–ऽधस्ताद्वर्तन्ते, उत्तरोत्तरञ्च पृथुतराः विशालाः सन्ति ।

यथा–रत्नप्रभापेक्षया शर्कराप्रभा–पृथुला, शर्कराप्रभापेक्षया वालुकाप्रभा पृथुला वालुका-

---

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—जीव अजीव आदि नौ तत्त्वो से क्रमप्राप्त पापतत्त्व का इस पांचवे अध्यायमें प्ररूपित होने के प्रस्ताव से दुःखरूप उसका फलभोग के तीव्र विपाक स्थान होने से रत्नप्रभा आदि सात नरक भूमियो का प्ररूपण किया जाता है–**'रयणसक्कर'** इत्यादि ।

रत्नप्रभा, १ शर्कराप्रभा, २ वालुकाप्रभा ३ पङ्कप्रभा ४ धूमप्रभा ५, तम'प्रभा ६, तमस्तम'प्रभा ७ ये सात नरकभूमिया घनोदधि घनवात तनुवात और आकाश के आश्रय से रही हुई है, और नीचे नीचे आगे आगे की पृथिवी पृथुल–चौडी होती हैं । ये सातों पृथिवियां अपने अपने नाम से सार्थक नामवाली हैं, जैसे रत्नों की प्रभावाली रत्नप्रभा १, शर्करा–तीक्ष्णककरो की प्रभावाली शर्कराप्रभा २, इसी प्रकार वालुका, पङ्क, धूम, तमः, तमस्तम प्रभा इन पांचों के विषयमें जान लेना चाहिये ये सातो पृथिवियां घनोदधि घनवात तनुवात और आकाश पर रही हुई हैं, जैसे—सबसे नीचे पहले आकाश है, उसके उपर तनुवात–सूक्ष्म वायु है, उसके ऊपर घनवात अर्थात् घनिष्ठ वायु है, उसके ऊपर घनोदधि–घनवज्र समान जमा हुआ पानी है, उस पर सातवीं तमस्तम' प्रभा पृथिवी टिकी हुई है । इसी प्रकार उसके ऊपर फिर इसी क्रम से आकाश, तनुवात, घनवात घनोदधि है उस घनोदधि पर छठी तम'प्रभा पृथिवी प्रतिष्ठित है । इसी प्रकार प्रत्येक पृथिवी के अन्तरालमें आकाश आदि चार बोल होते हैं, प्रत्येक चार बोलके ऊपर ऊपर छठी, पांचवीं चौथी तीसरी दूसरी और पहली रत्नप्रभा पृथिवी प्रतिष्ठित है तथा रत्नप्रभा से लेकर आगे आगे की पृथिवी ऊपर ऊपर की अपेक्षा से नीचे नीचे की पृथिवी चौड़ी होती हैं ये सातों पृथिवीयां एक एक के नीचे नीचे होती है ।

तत्वार्थदीपिका—पापाधिकारात्—तत्फलभोगदु खविपाकस्थानतया रत्नप्रभादिसप्तनरक-भूमीः प्ररूपयितुमाह—"रयणसक्कर" इत्यादि । रत्न—१—शर्करा—२—वालुका—३—पङ्क—४—धूम—५—तम—६—तमस्तम—प्रभा—७, सप्त नरकभूमयो, घनोदधि-घनवात-तनुवाता—ऽऽकाशप्रतिष्ठिता, अधोऽधः पृथुला । तत्र—द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणस्य प्रभापदस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धात् रत्नप्रभया-सहचरिता युक्ता पृथिवीरत्नप्रभोच्यते १, एव शर्कराप्रभया सहचरिता युक्ता पृथिवी शर्कराप्रभा २, वालुकाप्रभया सहचरिता—युक्ता पृथिवी वालुकाप्रभा ३, पङ्कप्रभया सहचरिता—युक्ता पृथिवी पङ्क-प्रभा ४, धूमप्रभया सहचरिता—युक्ता भूमिर्धूमप्रभा५, तम प्रभया सहचरिता—युक्ता पृथिवी तम. प्रभा उच्यते, ६, तमस्तम प्रभया सहचरिता—युक्ता पृथिवी च तमस्तम प्रभो—च्यते ७, भूमि-ग्रहणेन यथा—देवलोकाः भूमिमनाश्रित्यैव स्थिता सन्ति, न तथा नैरयिकावासा भूमिमनाश्रित्य स्थिताः—अपितु—भूमिमाश्रित्यैव स्थिता सन्तीति प्रतिपाद्यते । तासाञ्च सप्तभूमीनामाधार-ज्ञानार्थं घनोदधिघनवातादिग्रहण कृतम्, घनोदधिश्च घनवातश्च तनुवातश्चा—ऽऽकाशञ्चेति घनोदधिघनवाततनुवाताकाशानि तेषु प्रतिष्ठिता अवस्थिता यास्ता घनोदधिघनवाततनुवाताऽऽ-काशप्रतिष्ठिता अधोऽध अधस्त्वमाश्रित्य उत्तरोत्तरपृथुला विस्तीर्णा सन्ति ॥सूत्र ११॥

तत्त्वार्थदीपिका—यहा पापतत्त्व का प्रकरण होने से पाप के फल भोग दु खविपाक का स्थानभूत होने से रत्नप्रभा आदि सात नरकभूमियो की प्ररूपणा की जाती है 'रयण०' इत्यादि

रत्नप्रभा १ शर्कराप्रभा २ वालुकाप्रभा ३, पङ्कप्रभा ४ धूमप्रभा ५ तमःप्रभा ६, तमस्तमःप्रभा ७ ये सातों नरकभूमियां घनोदधि घनवात तनुवात आकाश पर प्रतिष्ठित है। इन सात पृथिवियो के नाम रत्नप्रभा आदि जो है वह इस प्रकार से सार्थक हैं, जैसे रत्नों की प्रभा से सहचरित अर्थात् युक्त होने से प्रथम पृथिवी का नाम रत्नप्रभा है १, शर्करा अर्थात् छोटे छोटे ककरो के जैसी प्रभावाली होने से दूसरी पृथिवी का नाम शर्कराप्रभा है २ । वालुका की प्रभा से युक्त होने से तीसरी पृथिवी का नाम वालुकाप्रभा है ४ । पङ्क अर्थात कीचड से युक्त होने से चौथी पृथिवी का नाम पङ्कप्रभा है ४ । जहाँ धूम—धूआँ जैसी प्रभा है इस कारण पाचवीं पृथिवो का नाम धूमप्रभा है ५, जहां अन्धकार छाया हुआ रहता है उस छठी पृथिवी का नाम तमःप्रभा है ६, जहां निबिड अर्थात् घनघोर अन्धकार छाया रहता है इस कारण सातवीं पृथिवी का नाम तमस्तमःप्रभा है, ७ । यहां भूमि शब्द ग्रहण इसलिये किया गया है कि जिस प्रकार देव-लोक भूमि के आश्रय के बिना अपने स्वभाव से टिके हुए है उसी प्रकार नरकावास भूमि के आश्रय के विना नहीं टिका हुआ है । इन सात भूमियों के आधारभूत घनोदधि घनवात तनुवात और आकाश ये चार है वे सातो भूमिया एक एक से आगे आगे पृथुल—चौड़ी—होती गई हैं । अर्थात् सप्तम पृथिवी उपरकी छहों पृथिवी से चौडी होती है ॥सू० ११॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—जीवाजीवादिनवतत्त्वेषु क्रमप्राप्तस्य पापतत्त्वस्यास्मिन् पञ्चमाध्याये प्ररूपितत्वेन तत्प्रस्तावत् दुःखविशेषरूपतत्फलभोगतीव्रविपाकस्थानतया रत्नप्रभादिसप्त नरकभूमीः प्ररूपयितुमाह—"रयणसक्कर" इत्यादि।

रत्न–शर्करा–वालुका–पङ्क–धूम–तमस्तम प्रभाः सप्त नरकभूमयो घनोदधिघनवाततनु-वाताकाशप्रतिष्ठिता. अधोऽधः पृथुलाः सन्ति। तत्र–प्रभाशब्दस्य प्रत्येकमन्वयेन रत्नप्रभा-शर्कराप्रभा–वालुकाप्रभा–पङ्कप्रभा–धूमप्रभा–तम प्रभा–तमस्तम प्रभा इत्येता सप्त पृथिव्यो–भूमयो घनोदधिघनवाततनुवाताकाश प्रतिष्ठिता।

तथाहि—सर्वाध आकाशं, तदुपरि तनुवातः, तदुपरि घनवात, तदुपरिघनोदधिः, तस्यो-परिसप्तमी तमस्तमप्रभापृथिवीप्रतिष्ठिता वर्त्तते। एव तमस्तम प्रभापृथिव्याउपर्यपि–आकाश-तनुवातघनवातघनोदधयो वर्त्तन्ते। तदुपरि षष्ठी तमःप्रभा पृथिवी प्रतिष्ठिता वर्त्तते। एवमे-कैकशः प्रत्येकं पृथिव्या अन्तराले आकाशादयः सन्ति। ताः सप्तापि रत्नप्रभादिभूमयः पराऽपराः अधोऽधो–ऽधस्ताद्वर्तन्ते, उत्तरोत्तरञ्च पृथुतराः विशालाः सन्ति।

यथा–रत्नप्रभापेक्षया शर्कराप्रभा–पृथुला, शर्कराप्रभापेक्षया वालुकाप्रभा पृथुला वालुका-

---

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—जीव अजीव आदि नौ तत्त्वो से क्रमप्राप्त पापतत्त्व का इस पांचवें अध्यायमें प्ररूपित होने के प्रस्ताव से दुःखरूप उसका फलभोग के तीव्र विपाक स्थान होने से रत्नप्रभा आदि सात नरक भूमियो का प्ररूपण किया जाता है–'रयणसक्कर' इत्यादि।

रत्नप्रभा, १ शर्कराप्रभा, २ वालुकाप्रभा ३ पङ्कप्रभा ४ धूमप्रभा ५, तमःप्रभा ६, तमस्तमःप्रभा ७ ये सात नरकभूमिया घनोदधि घनवात तनुवात और आकाश के आश्रय से रही हुई है, और नीचे नीचे आगे आगे की पृथिवी पृथुल–चौडी होती हैं। ये सातों पृथिवियां अपने अपने नाम से सार्थक नामवाली हैं, जैसे रत्नो की प्रभावाली रत्नप्रभा १, शर्करा–तीक्ष्णककरो की प्रभावाली शर्कराप्रभा २, इसी प्रकार वालुका, पङ्क, धूम, तमः, तम-स्तमःप्रभा इन पांचो के विषयमें जान लेना चाहिये ये सातों पृथिवियां घनोदधि घनवात तनुवात और आकाश पर रही हुई हैं, जैसे—सबसे नीचे पहले आकाश है, उसके उपर तनु-वात–सूक्ष्म वायु है, उसके ऊपर घनवात अर्थात् घनिष्ठ वायु है, उसके ऊपर घनोदधि–घन-वत्र समान जमा हुआ पानी है, उस पर सातवीं तमस्तमः प्रभा पृथिवी टिकी हुई है। इसी प्रकार उसके ऊपर फिर इसी क्रम से आकाश, तनुवात, घनवात घनोदधि है उस घनो-दधि पर छठी तमःप्रभा पृथिवी प्रतिष्ठित है। इसी प्रकार प्रत्येक पृथिवी के अन्तरालमें आकाश आदि चार बोल होते है, प्रत्येक चार बोलके ऊपर ऊपर छठी, पांचवीं चौथी तीसरी दूसरी और पहली रत्नप्रभा पृथिवी प्रतिष्ठित है तथा रत्नप्रभा से लेकर आगे आगे की पृथिवी ऊपर ऊपर की अपेक्षा से नीचे नीचे की पृथिवी चौडी होती हैं ये सातो पृथिवीयां एक एक के नीचे नीचे होती है।

प्रभापेक्षया पङ्कप्रभा पृथुला, पङ्कप्रभापेक्षया धूमप्रभा पृथुला, धूमप्रभापेक्षया तम प्रभा पृथुला, तम प्रभापेक्षया तमस्तम. प्रभा पृथिवी पृथुलतराऽस्तीति भाव । एवञ्च—सप्तापि पृथिव्य घनोदधिवलयप्रतिष्ठिता सन्ति, घनोदधिवलय—घनवातवलयप्रतिष्ठितं, घनवातवलय—तनुवातवलयप्रतिष्ठितं, तनुवातवलयमाकाशप्रतिष्ठित भवति । एतानिसर्वाणि वलया कारत्वेन वलयमिति प्रोक्तम् ।

तथा च—रत्नप्रभाया अधस्तात् योजनाऽसख्येय कोटीरतिक्रम्य शर्कराप्रभास्ति । एवं—शर्कराप्रभाया अधो योजनकोटीनामसख्येयकोटीरतिवाह्य वालुकाप्रभाऽस्ति । एव रीत्या-शेषा पङ्कप्रभाद्या पृथिव्योऽपि असख्येययोजनकोटीकोट्यन्तराला अधोऽधोवक्तव्या । घनग्रहणेन च प्रत्येकं पृथिव्या अधस्तात् घनएवोदधिर्वर्तते, न तु तत्र द्रवीभूतमम्बु, वातास्तूभयथाऽपि वर्तन्ते घनाश्च तनवश्चेति ज्ञाप्यते ।

घनोदधिवलय चाऽसख्येययोजनसहस्रबाहल्ये घनवातवलये प्रतिष्ठितम्, घनवातवलय चासख्येययोजनसहस्रबाहल्ये तनुवातवलये प्रतिष्ठितम् । तनुवातवलयानन्तर च महातमोभूतमाकाशमसख्येययोजनकोटिकोटीप्रमाण वर्तते, तच्चाकाशम्—अस्या' खरकाण्डपङ्कबहुलाऽब्बहुल-

---

जैसे रत्नप्रभा के नीचे शर्कप्रभा पृथिवी रत्नप्रभा की अपेक्षा चौडी है २ । एव शर्कराप्रभा की अपेक्षा उसके नीचे की वालुकाप्रभा पृथिवी चौडी है ३ । उसकी नीचे पङ्कप्रभा पृथिवी वालुका प्रभा पृथिवी की अपेक्षा चौडी है ४, । पङ्कप्रभा पृथिवी की अपेक्षा इसके नीचे की धूमप्रभा पृथिवी चौड़ी है ५ । धूमप्रभा की अपेक्षा इसके नीचे की तम.प्रभा पृथिवी चौडी है ६ । तम' प्रभा की अपेक्षा इसके नीचे की तमस्तम प्रभा पृथिवी चौडी है ७ ॥

इस प्रकार सातो पृथिवियां घनोदधि वलय पर प्रतिष्ठित है । घनोदधिवलय घनवातवलयपर प्रतिष्ठित है । घनवातवलय तनुवातवलयपर प्रतिष्ठित है तनुवातवलय आकाश प्रतिष्ठित है । ये सब वलयाकार होने से वलय शब्द से कहे गये हैं ।

इन पृथिवियो का परस्पर कितना अन्तराल है वह कहते है—रत्नप्रभा की नीचे असख्यात करोड योजन जाने पर शर्कराप्रभापृथिवी आती है २ शर्कराप्रभा पृथिवी के नीचे असख्यात करोड करोड योजन जाने पर वालुकाप्रभापृथिवी आती है । इसी प्रकारसे शेष पङ्कप्रभा आदि पृथिवियां भी एक एक के नीचे असख्यात करोड करोड योजन की अन्तरालतासे प्रतिष्ठित है ।

यहा घनशब्दके ग्रहण करने से वह पानी घनीभूत है नहीं कि द्रवीभूत, अर्थात्, वह पानी वज्र सा जमा हुआ घनरूप हैं किन्तु द्रव तरल पतला नहीं है, ऐसा समझना चाहिये । इसके नीचे का वायु दोनो प्रकार का है, पहला घन और दूसरा तनु तरल पतला है । घनोदधि असख्यात हजार योजन की चौडाई वाले घनवात पर प्रतिष्ठित है, घनवात असख्यात हजार योजन की चौडाई वाले तनुवात पर प्रतिष्ठित है, तनुवात के बाद असख्यात करोडा करोड़ योजन वाला महा तमोभूत आकाश रहा हुआ है, वह आकाश खरकाण्ड, पङ्क बहुलकाण्ड,

भेदेन त्रिधा भिद्यमानायास्तनुवातपर्यन्ताया रत्नप्रभापृथिव्या परस्परयाऽऽधारभूतमवगन्तव्यम् । सर्वञ्चैतत्–पृथिव्यादि तनुवातान्तमाकाशे प्रतिष्ठितम् । आकाशञ्च–स्वप्रतिष्ठितम् । तथा स्वाभाव्यात् तस्मादुक्तक्रमेण घनोदधि-घनवाततनुवाताकाशप्रतिष्ठिता प्रत्येक रत्नप्रभादिसप्तपृथिव्यो लोकस्य तथास्वाभाव्या सन्निविष्टा–असख्येययोजन कोटिकोटचो विस्तृता सन्ति ।

तत्र–रत्नप्रभाऽऽयामविष्कम्भाभ्यामेकरज्जुप्रमाणा, शर्कराप्रभा-सार्द्धद्वयरज्जुप्रमाणा, वालुका-प्रभा च चतूरज्जुप्रमाणा, पङ्कप्रभा–पञ्चरज्जुप्रमाणा, धूमप्रभा रज्जुषट्कप्रमाणा, तम प्रभा–सार्द्धषट्रज्जुप्रमाणा, तमस्तम प्रभा–सप्तरज्जुप्रमाणा वर्तते । तासा चोत्कीर्तन नामतो-गोत्रतश्चोभ-यथा भवति । तत्र–प्रथमा पृथिवीनाम्ना घर्मा, गोत्रेण च रत्नप्रभा, द्वितीया पृथिवीनाम्ना वंशा, गोत्रेण च शर्कराप्रभा तृतीया—पृथिवीनाम्ना शैला, गोत्रेण च वालुका प्रभावर्तते ।

चतुर्थी पृथवी नाम्ना अञ्जना, गोत्रेण च पङ्कप्रभा, पञ्चमी पृथिवी नाम्ना–रिष्ठा, गोत्रेण च धूमप्रभा, षष्ठी पृथिवी–नाम्ना माघव्या, गोत्रेण च तम प्रभा, सप्तमी पृथिवी नाम्ना माघवी-गोत्रेण च तमस्तम प्रभा इत्युच्यते ।

तत्र–रत्नप्रभा, पूर्वापरादिविभागव्यवच्छिन्ना सर्वत्र-घनभावेन वाहल्येना-ऽशीतिसहस्राधिक

अव्बहुलकाण्ड इन तीनकाण्डोवाली तनुवात पर्यन्तकी रत्न प्रभा पृथिवी का परस्पर आधारभूत है । यह पृथिवी आदि तनुवात पर्यन्त सब उस आकाश के ऊपर प्रतिष्ठित है । आकाश अपने स्वभाव से अपने रूपसे प्रतिष्ठित है यह किसी के आश्रयपर नहीं है । इसी कारण घनोदधि घनवात और तनुवात आकाश पर प्रतिष्ठित–रही हुई है । वह प्रत्येक पृथिवी असख्यात करोडा करोडयोजनके विस्तार वाली लोकस्थिति के स्वभाव से स्थित है ।

अब इन सातो पृथिवियो का प्रमाण कहते है—

रत्नप्रभा नामकी पहली पृथिवी आयामविष्कम्भ–लम्बाई चौडाई से ऐकरज्जु प्रमाण की है १, शर्कराप्रभा ढाई रज्जुप्रमाण २, वालुकाप्रभा चार रज्जु प्रमाण ३, पङ्कप्रभा पांच रज्जुप्रमाण ४, धूमप्रभा छह रज्जु प्रमाण ५, तम प्रभा साढे छह रज्जुप्रमाण ६, और तमस्तमः प्रभा सातवीं पृथिवी सात रज्जुप्रमाण की है ५, इनका उत्कीर्तन नाम और गोत्र दोनो प्रकार से होता है । जैसे पहली पृथिवी नाम से घर्मा और गोत्र रत्नप्रभा कहलाती है १, दूसरो पृथिवी नामसे वशा और गोत्रसे शर्कराप्रभा २, तीसरी पृथिवी नामसे शैला और गोत्र से वालुकाप्रभा, ३ चौथी नाम से अञ्जना गोत्र से पङ्कप्रभा ४, पांचवीं नामसे रिष्टा और गोत्र से धूमप्रभा ५, छठी नाम से मघा और गोत्र से तम प्रभा ६, और सातवीं पृथिवी नाम से माघवती और गोत्र से तमस्तम प्रभा कहलाती है ७ ।

इन सातों पृथिवियों में से प्रथम रत्नप्रभा पृथिवी पूर्वापरआदि सब विभागो में सर्वत्र एकसमान घन रूपसे ऊपर से नीचे तक अर्थात् पिण्डरूप से एक लाख अस्सी हजार योजन

लक्षयोजनप्रमाणा वर्तते शर्कराप्रभा—द्वात्रिंशत्सहस्राधिकलक्षयोजनप्रमाणा, वालुकाप्रभा—चाऽष्ट-विंशतिसहस्राधिकलक्षयोजनप्रमाणा धूमप्रभा अष्टादशसहस्राधिकलक्षयोजनप्रमाणा तमःप्रभा खलु षोडशसहस्राधिकलक्षयोजनप्रमाणाः तमस्तमःप्रभाचा-ऽष्टसहस्राऽधिकलक्षयोजनप्रमाणा वाहल्येन वर्तते इति ॥ सूत्र-११ ॥

मूलसूत्रम्—नरगा तेसुं जहा कमं तीसा-पन्नवीसा-पण्णरसदस-तिण्णि पंचूणस-यसहस्सं पंच य ॥ सू० १२ ॥

छाया—नरकास्तासु यथाक्रमं त्रिंशत् पञ्चविंशतिः पञ्चदश-दश-त्रीणि-पञ्चोनशत सहस्रं पञ्च च ॥ सूत्र-१२ ॥

तत्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे-रत्नप्रभादि सप्तनारकभूमयःप्ररूपिता सम्प्रति-तासु प्रत्येक क्रमशो नरकावासाना सख्यामाह-"नरगा तेसुं" इत्यादि नरका—नरकावासा तासु-रत्नप्रभादि सप्तपृथिवीषु यथाक्रमं क्रमशः, त्रिंशत् शतसहस्राणि, पञ्चविंशति सहस्राणि, पञ्चदशशतसहस्राणि दशशतसहस्राणि, त्रीणि शतसहस्राणि पञ्चोनशतसहस्रम् पञ्च च सन्ति तत्र-रत्नप्रभायां त्रिंश-ल्लक्षाणि नरकावासाः, शर्कराप्रभाया पञ्चविंशतिलक्षाणि नरकावासाः, वालुकाप्रभाया पञ्चदश-लक्षाणि नरकावासाः पङ्कप्रभायां दशलक्षाणि नरकावासाः, धूमप्रभाया—त्रिलक्षाणि नरकावासा । तमःप्रभायां पञ्चन्यूनैकलक्ष नारकावासाः तमस्तमप्रभाया पृथिव्या च पञ्च नरकावासा सन्ती ति : ॥सू० १२॥

मोटी है(१,८००००) इसीप्रकार शर्करा प्रभा पृथिवी की मोटाई एक लाख बत्तीस हजार योजन की है (१,३२०००) २। वालुकाप्रभा पृथिवी की मोटाई एकलाख अट्ठाईस हजार योजन की है(१,२८०००) ३। पंकप्रभा की मोटाई एक लाख बीस हजार योजन की है (१,२००००) ४। धूमप्रभा की मोटाई एक लाख अठारह हजार योजन की है (१,१८०००) ५. तमः प्रभा पृथिवी की मोटाई एक लाख सोलह हजार योजनकी है (१,१६०००) ६। तम-स्तमः प्रभा पृथिवी की मोटाई एक लाख आठ हजार योजन की है(१,०८०००) ७। सू. ११॥

सूत्रार्थ—'नरगा तेसुं जहा' इत्यादि ॥ सू. १२ ॥

रत्न प्रभा आदि पृथ्वियों में यथाक्रम तीस लाख, पच्चीस लाख, पन्द्रह लाख, दस लाख तीन लाख, पाँच कम एक लाख और सिर्फ पाँच नरकावास हैं। सू. १२

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्व सूत्र में रत्नप्रभा आदि सात नरकभूमियो की प्ररूपणा की गई, अब उनमें से प्रत्येक मे नारकावासों की सख्या का प्ररूपण करते है—

नरक का तात्पर्य यहाँ नारकावास अर्थात् नारक जीवो के रहने के स्थान समझना चाहिये। पूर्वोक्त भूमियो मे उनकी सख्या इस प्रकार है—(१) रत्न प्रभा पृथ्वी मे तीस लाख (२) शर्करा प्रभा में पच्चीस लाख (३) वालु का प्रभामें पन्द्रह लाख (४) पकप्रभा में दस लाख (५) धूमप्रभा में तीन लाख (६) तमःप्रभा में पाँच कम एक लाख और (७) तमस्तमःप्रभा में केवल पांच नारकावास है। सूत्र-॥१२॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः— पूर्वं रत्नप्रभादिसप्तनारक पृथिवीनां स्वरूपाणि विशदरूपेण प्ररूपितानि सम्प्रति नारकजीवविवक्षाया प्रथमं तदाधारनरकावासान् प्ररूपयितुमाह "**नरगा तेसु जहाकम तीसा पन्नवीसा पण्णरसदसतिण्णि पचूणसयसहस्सं पंच य**–इति। तासु–रत्नप्रभादिसप्त नारकपृथिवीषु, नरकाः–नरकावासा', यथाक्रमं–क्रमशः त्रिंशल्लक्षाणि–पञ्चविंशतिलक्षाणि–पञ्च-दशलक्षाणि–दशलक्षाणि–त्रिणि लक्षाणि पञ्चोनशतसहस्रम्–पञ्चन्यूनैकलक्ष–पञ्च च सन्ति।

तथाच–रत्नप्रभायां त्रिंशल्लक्षाणि नरकावासाः। शर्कराप्रभाया–पञ्चविंशतिलक्षाणि वालुका प्रभायां पञ्चदशलक्षाणि पङ्कप्रभाया दशलक्षाणि धूमप्रभाया त्रीणि लक्षाणि तम प्रभायां पञ्चोनैक-लक्षम् तमस्तम प्रभायां–पञ्चैव नरकावासा. सन्ति। इत्येव सर्वसंकलनया चतुरशीतिलक्षा नरकावासा भवन्तीति।

तत्र–नरकशब्दव्युत्पत्तिस्तु–नरान् अशुभकर्मयुक्तान् कायन्ति–आह्वयन्ति इति नरका पापकर्मभाजा प्राणीनामशुभकर्मफलभोगस्थानानि इति बोध्या. ते खलु नारका सीमान्तकादयो उष्ट्रिका पिष्टपचनी लोही कारकाद्याकृतयो विशिष्टाकारा पापकर्मण. संभारजनित गौरवाणां जीवाना-मुत्पत्तिस्थानविशेषा। तमस्तम प्रभा नामक सप्तमपृथिवी मध्यवर्तिनां खलु पञ्चानां नरकाणाम्-काल, महाकाल,रौरव,महारौरवा–ऽप्रतिष्ठानात्मकानि नामानि सन्ति। तत्रा-ऽप्रतिष्ठाननामकनरकेन्द्रकात्

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—इससे पूर्व रत्नप्रभा आदि सातो पृथ्वियों के स्वरूप–का विशद रूप से विवेचन किया गया है। अब नारक जीवो का प्रसग होने से सर्व प्रथम उनके स्थानो का अर्थात् नारकावासों का निरूपण किया जाता है—

रत्नप्रभा आदि सात नरक भूमियों में अनुक्रम से नारकावासों की सख्या इस प्रकार है—तीस लाख, पच्चीस लाख, पन्द्रह लाख, दस लाख, तीन लाख, पाँच कम एक लाख और पाँच नारकावास हैं। तात्पर्य यह है कि रत्नप्रभा पृथ्वी में तीस लाख, शर्करा प्रभा में पच्चीस लाख, वालुका प्रभा में पन्द्रह लाख, पकप्रभा में दस लाख, धूम प्रभा में तीन लाख, तमः प्रभा में पाँच कम एक लाख और तमस्तम' प्रभा में पाँच नारकावास है।

नरक शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है–नरान् अर्थात् अशुभ कर्म वाले मनुष्यों को कायन्ति अर्थात् जो बुलाते है, वे 'नरक' कहलाते है। तात्पर्य यह है कि पाप कर्म वाले प्राणियों के अशुभ कर्म का फल भोगने के स्थान नरक कहलाते है। वे सीमन्तक आदि नरक उष्ट्रिका, पिष्ट पचनी, लोही तथा करक (घड़ा) आदि के आकार के होते हैं। जो जीव पाप कर्म के भारे से भारी हैं, वे वहां उत्पन्न होते है।

तमस्तम प्रभा नामक सातवीं पृथ्वी के मध्य में रहे हुए पाँच नारकावासों के नाम इस प्रकार है–काल, महाकाल, रौरव, महारौरव और अप्रतिष्ठान। इनमें अप्रतिष्ठान नामक मुख्य नारकावास से पूर्व दिशा मे काल नामक नारकावास है, पश्चिम में महाकाल नारका-

पूर्वतः कालनामा नरकः, अपरतो महाकालनामा नरका, दक्षिणतो रौरवनामा नरकः, उत्तरतो-महारौरनामा नरक, मध्येचा-ऽप्रतिष्ठाननामनरकेन्द्रको वर्तते । सू० १२

मूलसूत्रम् —णिच्चासुभयरलेस्सा परिणामसरीरवेयणाविक्किया नारगा ।।सूत्र-१३

छाया—नित्या-ऽशुभतरलेश्यापरिणामशरीरवेदनाविक्रिया नारकाः सूत्र-१३

तत्त्वार्थदीपिका पूर्वसूत्रे रत्नप्रभादिसप्तनरकपृथिवीषु यथाक्रम नरकावासा प्ररूपिता सम्प्रति-तेषु नरकेषु वासिनां नारकाणा जीवाना स्वरूपाणि प्ररूपयितुमाह "णिच्चासुभयर-लेस्सापरिणामसरीरवेयणाविक्किया नारगा-" इति । नारका-पूर्वोक्तनरकेषु भवा निरय-वासिनो नैरयिका नरकाश्च नित्याशुभतरलेश्याः—नित्यम् अभीक्ष्णम् शश्वत्-अशुभतराः ।

तिर्यग्गतिविषयाशुभलेश्याद्यपेक्षयाऽधोऽध स्वगत्यपेक्षया चाऽतिशयेना-ऽशुभा लेश्या येषा येषु वा ते नित्याशुभतरशरीरलेश्या नित्याशुभतरपरिणामा क्षेत्र विशेषनिमित्तवशादतिदुःखहेतवोऽशु-भतरा शब्द-१ वर्ण-२ रस-३ गन्ध-४ स्पर्शाः येषा-येषु वा ते नित्याशुभतरपरिणामा नित्याशुभतरशरीरा —नित्यमभीक्ष्णमशुभनामकर्मोदयादत्यन्ताशुभतराणि शरीराणि विकृताकृतयो हुण्डसस्थानानि दुर्दर्शानि येषा येषु च ते नित्याशुभतरशरीरा ।

नित्याशुभतरवेदना —नित्यमभीक्ष्ण शश्वत्—अशुभतरा —अभ्यन्तरासातावेदनीयोदये सति

वास है, दक्षिण मे रौरव नामक और उत्तर मे महारौरव नामक नारकावास है । इन सब के मध्य मे अप्रतिष्ठान नामक प्रधान नारकावास है ।।सूत्र १२।।

सूत्रार्थ—'णिच्चासुभयरलेस्सा' इत्यादि ।।सूत्र १३।।

नारक जीव नित्य ही अत्यन्त अशुभ लेश्या वाले, वेदना वाले और विक्रिया वाले होते है ।। सू० १३ ।।

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्र में रत्नप्रभा आदि सात नरकभूमियो मे अनुक्रम से नरकावासो की प्ररूपणा की गई, अब उन नरकों में निवास करने वाले नारक जीवो के स्वरूप का कथन करते है—

पूर्वोक्त नरकों में रहने वाले नारक जीवों की लेश्या सदैव अर्थात् निरन्तर अशुभतर ही रहती है । अशुभतर का अभिप्राय यह कि तिर्यंच गति की अपेक्षा अशुभ होती है और स्वगति अर्थात् नरकगति की अपेक्षा भी ऊपर-ऊपर की अपेक्षा से नीचे-नीचे अधिकाधिक अशुभ होती है ।

वहाँ शब्द, वर्ण, रस, गंध और स्पर्श का परिणमन भी उस क्षेत्र के निमित्त से अत्यन्त अशुभ होता है । वह परिणमन नारक जीवो के घोर दुःख का कारण होता है ।

अशुभ नामकर्म के उदय से नारकों का शरीर अतीव अशुभ होता है । उनकी आकृति बड़ी ही विकृत होती है, हुंडक सस्थान होता है और देखने में अत्यन्त अरुचिकर होता है ।

अनादि पारिणामिकशीतोष्ण बाह्यनिमित्तोत्पादिका सुतीव्रा वेदना येषा येषु ते नित्याशुभतरवेदना तत्र–सप्तस्वपि नरकभूमिषु दशविधाः क्षेत्रवेदना भवन्ति, तद्यथा–अनन्तक्षुधा–१ अनन्ततृषा-२ अनन्तशीतम्-अनन्तोष्णम्-अनन्तपरवशता-अनन्तदाह —६ अनन्तकण्डूया-७ अनन्तभयम्–८ अनन्तशोकः-९ अनन्तजरा च ।

एवं–नित्याशुभतरविक्रिया'–नित्यं प्रतिक्षणम् अशुभतरा विक्रिया येषा–येषु च ते नित्याशुभतरविक्रिया., ते खलु–नारका जीवा. आकालिकप्रयत्ना अपि, उत्तरवैक्रिय शरीर रूपवत्तेच्छया रचयन्तोऽपि क्षेत्र र्माऽनुभावाद्, विरूपतरमेवा–ऽऽविष्कुर्वन्ति–विदूषकादिवत् इति भाव. ॥१३॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं रत्नप्रभादिसप्तभूमिषु क्रमशस्त्रिंशत्–पञ्चविंशति–पञ्चदश–दश–त्रिलक्ष पञ्चोनैकलक्षपञ्चसङ्ख्यका नरका. प्ररूपिता सम्प्रति–तेषु नरकेषु भवाना नारकजीवाना स्वरूपादीनि प्ररूपयितुमाह—"**नारगा णिच्चा**—" इत्यादि ।

नारका —पूर्वोक्तलक्षणेषु नरकेषु भवा. निरयवासिनो जीवा. नित्याशुभतरलेश्यापरिणाम–शरीर–वेदना–विक्रिया भवन्ति नित्य शश्वत्–अशुभतरा –अतिशयेनाशुभा लेश्याश्च कृष्णादि-लेश्या , परिणामाश्च–शब्द, वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्शादय., शरीराणि च–भवधारकवैक्रियरूपाणि,

उन जीवो को सदैव अशुभतर वेदना होती है। उस अशुभतर वेदना का अन्तरंग कारण तीव्र असातावेदनीय कर्म का उदय और बहिरग कारण अनादि पारिणामिक शीत और उष्णता आदि है। नरकभूमियों में दस प्रकार की क्षेत्रजनित वेदना होती है। वह इस प्रकार है - (१) अनन्त क्षुधा (२) अनन्त तृषा (३) अनन्त शीत (४) अनन्त उष्ण (५) अनन्त परवशता (६) अनन्त दाह (७) अनन्त खुजली (८) अनन्त भय (९) अनन्त शोक और (१०) अनन्त जरा ।

इसी प्रकार उन नारक जीवो की विक्रिया भी सदैव अशुभतर ही होती है। वे जीव अपना उत्तरवैक्रिय रूप सुन्दर रूप सम्पन्न बनाना चाहते है मगर क्षेत्र के और कर्म के प्रभाव से वह विदूषक आदि के समान बड़ा विरूप बनता है ॥१३॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—इससे पूर्व रत्नप्रभा आदि सात भूमियों मे क्रमशः तीस लाख, पचीस लाख, पन्द्रह लाख, दस लाख, तीन लाख, पाँच कम-एक लाख और पांच नरकों की प्ररूपणा की है। अब उन नरको में उत्पन्न होने वाले नारक जीवों के स्वरूप आदि की प्ररूपणा करते-हैं—

नरकों में उत्पन्न होने वाले नारक जीव निरन्तर अशुभ तर लेश्या, परिणाम, शरीर, वेदना और विक्रिया वाले होते है, यहाँ नित्य का अर्थ है सदैव और अशुभतर का अभिप्राय है। अत्यन्त -अशुभ–अनिष्ट। कृष्ण आदि लेश्याएँ प्रसिद्ध है। परिणाम का अर्थ शब्द, वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श समझना चाहिए। शरीर का आशय है भवधारणीय वैक्रिय शरीर ।

वेदनाश्च असाता वेदनीयकर्मोदयनिमित्तजनित' सुतीव्रादिदु.खानुभवरूपा विकृताश्च विकृतोत्तर-वैक्रियशरीररूप येषां ते—नित्याशुभतरलेश्या परिणामशरीरवेदनाविक्रिया नारका भवन्ति तत्र—लेश्यादोना विक्रियान्ताना द्वन्द्वसमास, द्वन्द्वादौ श्रूयमाणस्य नित्याशुभतरशब्दस्य प्रत्येक लेश्यादावन्वयात् नित्याशुभतरलेश्या, नित्याशुभतरपरिणामा., नित्याशुभतरशरीरा, निन्याशुभ-तरवेदना., नित्याशुभतरविक्रिया नारका इत्यर्थो लभ्यते नित्यशब्दश्चाऽत्रा-ऽभीक्ष्णार्थको बोध्य नित्यप्रहसितो नित्यप्रजल्पित इत्यादिवत् ।

तत्र—रत्नप्रभाशर्कराप्रभापृथिव्योर्नारकाणां कापोतिलेश्या, वालुकाप्रभापृथिव्यामुपरि कापोति लेश्या, अधश्च—नीललेश्या नारकाणां भवति पङ्कप्रभायां नैरयिकाणा नीललेश्या, धूमप्रभायामुप-रिष्टात्—नीललेश्या-अधस्तात् कृष्णलेश्या तम प्रभायां तेषा कृष्णलेश्या, तमस्तम प्रभायां नैरयिकाणां परमकृष्णलेश्या भवति, एताश्च तेषा नारकाणा स्वायुष' प्रमाणावधृता लेश्या. प्रतिपादिता ।

परिणामाश्च तेषां क्षेत्रविशेषनिमित्तवशादत्यन्तदु'खहेनवोऽशुभतरा शब्दवर्णरसगन्धस्पर्शा भवन्ति, शरीराणि च तेषा नारकाणामशुभनामकर्मोदयादशुभतराणि विकृताकृतीनि हुण्डसस्था-नानि निर्दूनाऽण्डजशरीराकाराणि दुर्दर्शानि भवन्ति

वेदना का तात्पर्य है असातावेदनीय कर्म के उदय से उत्पन्न होने वाला तीव्र दु ख और विक्रिया का मतलब है विकृत उत्तर वैक्रिय शरीर की विकुर्वणा। ये सब नारक जीवो मे सदैव अतीव अशुभ होते हैं ।

मूल सूत्र में लेश्या आदि पदों मे द्वन्द्व समास है। इस समास की आदि में प्रयोग किया हुआ 'नित्याशुभतर' शब्द लेश्या आदि सभी के साथ जोडा जाता है, अतएव आशय यह निकला कि नारक जीव नित्य अशुभतर लेश्या वाले, नित्य अशुभतर परिणाम वाले, नित्य अशुभतर शरीर वाले, नित्य अशुभतर वेदना वाले और नित्य अशुभतर विक्रिया वाले होते है। 'नित्यप्रहसित' या नित्यप्रजल्पित में जैसे 'नित्य' शब्द सातत्य सदा का वाचक है उसी प्रकार यहाँ भी सातत्य का वाचक है। उसका अभिप्राय हमेशा, सदैव, लगातार समझ लेना चाहिए।

रत्नप्रभा और शर्कराप्रभा पृथ्वियों के नारक जोवो में कापोत लेश्या होती है। वालुकाप्रभा के उपरी भाग में नारकों मे कापोत और नीचे के भाग में नोल लेश्या होती है। पंकप्रभा के नैरयिक नील लेश्या वाले, धूमप्रभा के ऊपरी भाग के नारक नीललेश्या वाले और निचले भाग के कृष्ण लेश्या वाले होते है। तम प्रभा के नारक भी कृष्ण लेश्या वाले होते हैं। तमस्तम. प्रभा के नारकों में परमकृष्ण लेश्या होती है। यह नारक जीवो की आयु के अन्त तक रहने वाली लेश्या का प्रतिपादन किया गया।

नरकभूमि रूप क्षेत्र के प्रभाव से उनके परिणाम अर्थात् शब्द, रूप, रस, गध और स्पर्श अत्यन्त अशुभ एवं दु'ख के कारण होते है। अशुभ नामकर्म के उदय से उनके शरीर

तेषां च तथाविधशरीराणा मुत्सेधस्तावत् रत्नप्रभाया–सप्तधनूंषि, हस्तत्रय–षडङ्गुलय'अधोऽधो द्विगुण–द्विगुण उत्सेधो बोध्य. वेदनाश्च–तेषां नारकाणामभ्यन्तरासातवेदनीयकर्मोदये सति अनादिपारिणामिकशीतोष्णबाह्यनिमित्तजनिता–उष्णतीव्रतीव्रतरमाद्या भवन्ति प्रथमे द्वितीये च नरके उष्णवेदना भवन्ति। चतुर्थे च नरके उष्णवेदनावन्तो वहव' शीतवेदनावन्तश्च अल्पा भवन्ति पञ्चमे च नरके उष्णवेदनावन्तोऽल्पा' शीतवेदनावन्तश्च वहवो भवन्ति षष्ठे च नरके शीतवेदना सप्तमे च परमशीतवेदना, भवन्ति । विक्रियास्तु तेषा नारकाणामशुभतरा एव भवति

"शुभं विकरिष्याम" इत्येवं भावनासत्त्वेऽपि ते क्षेत्रकर्मानुभावात् अशुभतरमेव विकुर्वते, **"सुखहेतूनुत्पादयाम"** इत्येव शुभभावनासत्त्वेऽपि क्षेत्रकर्मानुभावात् दु खहेतूनेवोत्पादयन्ति नरकाश्च–सप्तसु पृथिवीषु वर्तमाना'–रत्नप्रभादिभूमिक्रमेणा ऽधोऽधो निर्माणतो–ऽशुभतरा भयङ्करा सन्ति, यथा–रत्नप्रभायामशुभानरका', तदपेक्षया–शर्कराप्रभायामशुभतरा, ततोऽप्यशुभतरा वालुकाप्रभायाम्, तदपेक्षयाऽपि-अशुभतरा' पङ्कप्रभायाम् ततोऽप्यशुभतमा' धूमप्रभायाम्, तदपेक्षयाऽपि अशुभतरास्तम.प्रभायाम् , ततोऽप्यशुभतमा नरका स्तमस्तम प्रभायां पृथिव्यां सन्ति

भी अत्यन्त अशुभ होते है। विकृत आकृति वाले, हुण्ड सस्थान वाले, छेदन–भेदन किये पक्षी के शरीर जैसे दुर्दर्शन होते है। उनके शरीरो की ऊँचाई रत्नप्रभा पृथ्वी मे सात धनुष तीन हाथ और छह अगुल की होती है। इसके पश्चात् प्रत्येक पृथ्वी में दुगुनी–दुगुनी लम्बाई बढती गई है ।

नारक जीवो के असातावेदनीय कर्म का उदय होता है। उनकी अशुभतर वेदना का आभ्यन्तर कारण यही असातावेदनीय है और बाह्य कारण अनादि परिणामिक शीत, उष्ण आदि हैं जो अत्यन्त ही तीव्र होते हैं।

पहली दूसरी और तीसरी नरक में उष्ण वेदना होती है। चौथी में उष्ण वेदना वाले बहुत और शीत वेदना वाले थोडे होते है। पांचवीं में उष्ण वेदना वाले थोडे और शीत वेदना वाले बहुत होते हैं। छठी में शीतवेदना और सातवी मे परमशीत वेदना होती है। (जीवा० ३ प्रति उद्दे २ में) है।

नारक जीवो की अशुभतर विक्रिया इस प्रकार होती है–'अच्छी विक्रिया करे' इस प्रकार की भावना होने पर भी क्षेत्र और कर्म के प्रभाव से वे अशुभतर विक्रिया ही किया करते है। वे चाहते तो हैं सुख के हेतुओं को उत्पन्न करना, मगर क्षेत्र और कर्म के प्रभाव से दु ख के हेतुओ को ही उत्पन्न करते है।

सातो पृथिवियो में विद्यमान नरक नीचे–नीचे अनुक्रम से अधिकाधिक अशुभ होते हैं, भयकर होते है। जैसे–रत्नप्रभा में अत्यन्त अशुभ हैं तो शर्कराप्रभा मे उससे भी अधिक अशुभ है और वालुकाप्रभा मे उससे भी अधिक अशुभ हैं। पकप्रभा में उससे भी अधिक

वेदनाश्च असाता वेदनीयकर्मोदयनिमित्तजनितः सुतीव्रादिदु खानुभवरूपा. विकृताश्च विकृतोत्तर-वैक्रियशरीररूप येषां ते—नित्याशुभतरलेश्या परिणामशरीरवेदनाविक्रिया नारका भवन्ति तत्र—लेश्यादीना विक्रियान्ताना द्वन्द्वसमास, द्वन्द्वादौ श्रूयमाणस्य नित्याशुभतरशब्दस्य प्रत्येक लेश्यादावन्वयात् नित्याशुभतरलेश्या, नित्याशुभतरपरिणामा., नित्याशुभतरशरीरा, नित्याशुभ-तरवेदना., नित्याशुभतरविक्रिया. नारका इत्यर्थो लभ्यते नित्यशब्दश्चाऽत्रा-ऽभीक्ष्णार्थको बोध्य नित्यप्रहसितो नित्यप्रजल्पित इत्यादिवत् ।

तत्र—रत्नप्रभाशर्कराप्रभापृथिव्योर्नारकाणां कापोतिलेश्या, वालुकाप्रभापृथिव्यामुपरि कापोति लेश्या, अधश्च—नीललेश्या नारकाणां भवति पङ्कप्रभायां नैरयिकाणा नीललेश्या, धूमप्रभायामुप-रिष्टात्—नीललेश्या-अधस्तात् कृष्णलेश्या तम प्रभायां तेषा कृष्णलेश्या, तमस्तम प्रभायां नैरयिकाणां परमकृष्णलेश्या भवति, एताश्च तेषा नारकाणा स्वायुष' प्रमाणावधृता लेश्या. प्रतिपादिता ।

परिणामाश्च तेषां क्षेत्रविशेषनिमित्तवशादत्यन्तदु'खहेतवोऽशुभतरा शब्दवर्णरसगन्धस्पर्शा भवन्ति, शरीराणि च तेषा नारकाणामशुभनामकर्मोदयादशुभतराणि विकृताकृतीनि हुण्डसस्था-नानि निर्धनाऽण्डजशरीराकाराणि दुर्दर्शानि भवन्ति

वेदना का तात्पर्य है असातावेदनीय कर्म के उदय से उत्पन्न होने वाला तीव्र दु ख और विक्रिया का मतलब है विकृत उत्तर वैक्रिय शरीर की विकुर्वणा । ये सब नारक जीवो मे सदैव अतीव अशुभ होते हैं ।

मूल सूत्र में लेश्या आदि पदों में द्वन्द्व समास है । इस समास की आदि में प्रयोग किया हुआ 'नित्याशुभतर' शब्द लेश्या आदि सभी के साथ जोडा जाता है, अतएव आशय यह निकला कि नारक जीव नित्य अशुभतर लेश्या वाले, नित्य अशुभतर परिणाम वाले, नित्य अशुभतर शरीर वाले, नित्य अशुभतर वेदना वाले और नित्य अशुभतर विक्रिया वाले होते है । 'नित्यप्रहसित' या नित्यप्रजल्पित में जैसे 'नित्य' शब्द सातत्य सदा का वाचक है उसी प्रकार यहाँ भी सातत्य का वाचक है । उसका अभिप्राय हमेशा, सदैव, लगातार समझ लेना चाहिए ।

रत्नप्रभा और शर्कराप्रभा पृथ्वियों के नारक जोवों में कापोत लेश्या होती है । वालुकाप्रभा के उपरी भाग में नारको में कापोत और नीचे के भाग मे नील लेश्या होती है । पंकप्रभा के नैरयिक नील लेश्या वाले, धूमप्रभा के ऊपरी भाग के नारक नीललेश्या वाले और निचले भाग के कृष्ण लेश्या वाले होते है । तम प्रभा के नारक भी कृष्ण लेश्या वाले होते हैं । तमस्तम प्रभा के नारकों मे परमकृष्ण लेश्या होती है । यह नारक जीवों की आयु के अन्त तक रहने वाली लेश्या का प्रतिपादन किया गया ।

नरकभूमि रूप क्षेत्र के प्रभाव से उनके परिणाम अर्थात् शब्द, रूप, रस, गध और स्पर्श अत्यन्त अशुभ एव दु ख के कारण होते है । अशुभ नामकर्म के उदय से उनके शरीर

तेषां च तथाविधशरीराणा मुत्सेधस्तावत् रत्नप्रभाया–सप्तधनूंषि, हस्तत्रय–षडङ्गुलय अधोऽधो द्विगुण–द्विगुण उत्सेधो बोध्य. वेदनाश्च–तेषां नारकाणामभ्यन्तरासातवेदनीयकर्मोदये सति अनादिपारिणामिकशीतोष्णबाह्यनिमित्तजनिता–उष्णतीव्रतीव्रतरमाद्या भवन्ति प्रथमे द्वितीये च नरके उष्णवेदना भवन्ति । चतुर्थे च नरके उष्णवेदनावन्तो बहव' शीतवेदनावन्तश्च अल्पा भवन्ति पञ्चमे च नरके उष्णवेदनावन्तोऽल्पा शीतवेदनावन्तश्च बह्वो भवन्ति षष्ठे च नरके शीतवेदना सप्तमे च परमशीतवेदना, भवन्ति । विक्रियास्तु तेषा नारकाणामशुभतरा एव भवति

"शुभं विकरिष्याम" इत्येवं भावनासत्त्वेऽपि ते क्षेत्रकर्मानुभावात् अशुभतरमेव विकुर्वते, "सुखहेतूनुत्पादयाम" इत्येव शुभभावनासत्त्वेऽपि क्षेत्रकर्मानुभावात् दु खहेतूनेवोत्पादयन्ति नरकाश्च–सप्तसु पृथिवीषु वर्तमाना'–रत्नप्रभादिभूमिक्रमेणा ऽधोऽधो निर्माणतो–ऽशुभतरा भयङ्करा सन्ति, यथा–रत्नप्रभायामशुभानरका:, तदपेक्षया–शर्कराप्रभायामशुभतरा , ततोऽप्यशुभतरा वालुकाप्रभायाम्, तदपेक्षयाऽपि-अशुभतरा पङ्कप्रभायाम् ततोऽप्यशुभतमा' धूमप्रभायाम्, तदपेक्षयाऽपि अशुभतरास्तम.प्रभायाम , ततोऽप्यशुभतमा नरका स्तमस्तम प्रभायां पृथिव्यां सन्ति

भी अत्यन्त अशुभ होते है । विकृत आकृति वाले, हुण्ड सस्थान वाले, छेदन–भेदन किये पक्षी के शरीर जैसे दुर्दर्शन होते है । उनके शरीरो की ऊँचाई रत्नप्रभा पृथ्वी मे सात धनुष तीन हाथ और छह अगुल की होती है । इसके पश्चात् प्रत्येक पृथ्वी मे दुगुनी–दुगुनी लम्बाई बढती गई है ।

नारक जीवों के असातावेदनीय कर्म का उदय होता है । उनकी अशुभतर वेदना का आभ्यन्तर कारण यही असातावेदनीय है और बाह्य कारण अनादि परिणामिक शीत, उष्ण आदि हैं जो अत्यन्त ही तीव्र होते है ।

पहली दूसरी और तीसरी नरक में उष्ण वेदना होती है । चौथी में उष्ण वेदना वाले बहुत और शीत वेदना वाले थोडे होते हैं । पांचवीं में उष्ण वेदना वाले थोडे और शीत बेदना वाले बहुत होते है । छठी में शीतवेदना और सातवी में परमशीत वेदना होती है । (जीवा० ३ प्रति उद्दे २ में) है ।

नारक जीवों की अशुभतर विक्रिया इस प्रकार होती है–'अच्छी विक्रिया करें' इस प्रकार की भावना होने पर भी क्षेत्र और कर्म के प्रभाव से वे अशुभतर विक्रिया ही क्रिया करते है । वे चाहते तो हैं सुख के हेतुओं को उत्पन्न करना, मगर क्षेत्र और कर्म के प्रभाव से दु ख के हेतुओ को ही उत्पन्न करते है ।

सातो पृथिवियो में विद्यमान नरक नीचे–नीचे अनुक्रम से अधिकाधिक अशुभ होते हैं, भयकर होते है । जैसे–रत्नप्रभा मे अत्यन्त अशुभ है तो शर्कराप्रभा मे उससे भी अधिक अशुभ हैं और वालुकाप्रभा मे उससे भी अधिक अशुभ है । पकप्रभा मे उससे भी अधिक

नित्यग्रहणेन च गतिजाति–शरीराङ्गो–पाङ्ग कर्मनियमात् नरकगतौ–नरकजातौ च नैरन्तर्येण भवक्षयोद्वर्तनपर्यन्तमुपर्युक्ता लेश्या परिणामशरीरवेदना विक्रिया' तेषामशुभतरा एव भवन्ति। न तु कदाचित् भवन्ति

इति विज्ञाप्यते, नयननिमेषमात्रमपि नारकाणामशुभतरलेश्यादिभिर्वियोगो न भवतीति नित्य-पदोपादेन व्यज्यते एवञ्च–रत्नप्रभाया तीव्रा' कापोतिकलेश्या स्तेषा खलु नारकाणां मानसपरिणाम-विशेषरूपा भवन्ति तदपेक्षया तीव्रतरसक्लेशाऽध्यवसाना कापोतलेश्या. शर्कराप्रभाया तेषा भवन्ति ततोऽपि–तीव्रतरसक्लेशाध्यवसाना स्तीव्रतमा कापोतलेश्या स्तीव्राश्च नीललेश्या स्तेषां वालुका प्रभायां भवन्ति ।

तदपेक्षयापि–तीव्रतरसक्लेशाध्यवसाना स्तीव्रतरा नीललेश्या पङ्कप्रभाया भवन्ति, ततोऽपि तीव्रतरसक्लेशाध्यवसाना स्तीव्रतमा नीललेश्या, तीव्राश्च कृष्णलेश्या स्तेषा धूमप्रभायां भवन्ति ततोऽपि तीव्रतरसक्लेशाध्यवसाना स्तीव्रतरा कृष्णलेश्या स्तम प्रभायां तेषां भवन्ति तदपेक्षयापि–तीव्रतरसक्लेशाध्यवसानास्तीव्रतमा कृष्णलेश्यास्तमस्तम प्रभाया तेषां नारकाणां भवन्ति, तेषाञ्च नारकाणां पुद्गलपरिणामोऽशुभतरो भवति ।

तथहि—शब्द–वर्ण–रस–गन्ध–स्पर्श–सस्थान-भेद-गति-बन्धना-ऽगुरु–लघुपरिणामभेदेन

और धूमप्रभा में उससे भी अधिक अशुभ है, तम प्रभा में उससे भी अधिक तो ततस्तम' प्रभा में सब से अधिक अशुभ हैं।

सूत्र में 'नित्य' शब्द को जो ग्रहण किया है, उससे यह प्रकट होता है कि नरक गति में उपर्युक्त लेश्या, परिणाम, शरीर, वेदना और विक्रिया सदैव अर्थात् नरक भव के प्रारंभ से लेकर भव के क्षय होने तक अशुभतर ही बनी रहती है। ऐसा नहीं होता कि कभी शुभ हो जाय! पलक मारने जितने अल्प समय के लिए भी नारक जीवो का अशुभतर लेश्या आदि से वियोग नहीं होता है।

इस प्रकार रत्न प्रभा पृथ्वी में नारक जीवों की तीव्र मानसिक परिणामरूप कापोत लेश्या होती है। उसकी अपेक्षा अधिक तीव्र अध्यवसाय रूप कापोत लेश्या शर्कराप्रभा में होती है। उससे भी अधिक तीव्रतर अध्यवसाय रूप तीव्रतम कापोत लेश्या और तीव्र नील लेश्या वालुकाप्रभा में होती है। वालुकाप्रभा की अपेक्षा तीव्रतर सक्लेश स्वरूप नीललेश्या पङ्कप्रभा में पाई जाती है। पङ्कप्रभा की अपेक्षा भी तीव्रतर सक्लेशमय तीव्रतम नीललेश्या और तीव्र कृष्णलेश्या धूमप्रभा मे होती है। धूमप्रभा की अपेक्षा भी तीव्रतर सक्लेशरूप तीव्रतर कृष्णलेश्या तम प्रभा मे होती है और उससे भी अधिक तीव्र अध्यवसाय रूप तीव्रतम कृष्णलेश्या तमस्तम प्रभा मे नारक जीवों को होती है।

नारकों मे दस प्रकार का अशुभ पुद्गल परिणाम पाया जाता है, जो इस प्रकार है—(१) अशुभ वर्ण (२) अशुभ गध (३) अशुभ रस (४) शब्द (५) अशुभ स्पर्श (६)

दशविधस्तावदशुभतर पुद्गलपरिणामो नरकेषु तेषां भवति तत्र शब्दस्तावत्—तीक्ष्णपरुषनिष्ठुरपरिणामो नारकाणा भवति

वर्णश्च—भयङ्करोगम्भीररोमाञ्चकारीत्रासातङ्कजनकः परमकृष्णो भवति, रसस्तु नरकस्थपुद्गलानां पिचु–मन्द–कोशातकी निर्यासस‍दृशपरिणामो भवति।

गन्धश्च—श्वान–मार्जार–शृगाल–गजाश्व–कुथितमृतकगन्धातिरेका–ऽशुभपरिणामो भवति स्पर्श पुन–वृश्चिकदंश–कपिकच्छ्–मुर्मुराङ्गारसदृशपरिणाम, संस्थानञ्च–नरक–नारकाकृतिरूपे दर्शनमात्रेणैवोद्वेगजनक भवति पिशाचाकृतिवत्, पुद्गलाना भेदपरिणामोऽपि नरकेषु अशुभतरो भवति शरीरनरककुडयादिभ्यो भिद्यमाना' पुद्गला स्पर्शवर्णादिभिरशुभपरिणतिमासादयन्तो दु'खजनका भवन्ति।

गतिश्च—नारकाणां खलु अप्रशस्तविहायोगतिनामकर्मोदयाद् अशुभतरा उष्ट्रपतङ्गादि वद् अशुभतरा भवति। बन्धनञ्च—पुद्गलाना शरीरादिषु संश्लिष्टानामशुभतरपरिणामात्मक भवति, स्पर्श–वर्णादिभिरगुरु-लघुपरिणामोऽपि अशुभतर एव भवति, सर्वेषा खलु नारकीयजीवाना शरीराणि आत्मनो न गुरूणि भवन्ति नापि–लघूनि भवन्ति।

इत्येव मगुरुलघुपरिणामोऽनेकविधदु'खाश्रयत्वादनिष्टतरो भवति। एवञ्च–नरका-

---

अशुभ संस्थान (७) अशुभ भेद (८) अशुभ गति (९) अशुभ बन्धन और (१०) अशुभ अगुरुलघु परिणाम।

नारकों का शब्द तीक्ष्ण, कठोर, और निष्ठुर परिणाम वाला होता है। उनका रूप भयकर, गभीर रोमांचजनक एव त्रास तथा आतक उत्पन्न करने वाला बहुत काला होता है। नरक के पुद्गलो का रस नीम तथा कटु कोशातकी (तुरई) के समान कटुक होता है। वहाँ के गन्ध का परिणमन मरे हुए और सडे हुए श्वान, मार्जार, शृगाल, गज और अश्व के शव से भी अधिक अशुभ होता है। स्पर्श ऐसा होता है जैसे बिच्छू के डक, खाज, मुर्मुर (मूमर) या अगार का हो, नरको और नारको की आकृति देखते ही घबराहट पैदा करती है जैसे पिशाच की आकृति हो, नरको मे पुद्गलों का भेद परिणाम भी अत्यन्त अशुभ होता है। शरीर और नरक की दीवाल आदि से भिन्न होने वाले पुद्गल स्पर्श वर्ण आदि की अपेक्षा अशुभ परिणति को प्राप्त होते हुए अत्यन्त दु खजनक होते हैं।

अप्रशस्त बिहायोगति नामकर्म के उदय से नारक जीवों की गति ऊँट और पतग आदि की गति के समान अतीव अशुभ होती है। शरीर आदि से सबद्ध पुद्गलो का बन्धन भी अशुभतर ही होता है। स्पर्श वर्ण आदि से अगुरुलघु परिणमन भी अशुभतर ही होता है। सभी नारक जीवों के शरीर न गुरु होते है और न लघु होते है।

इस प्रकार उनका अगुरुलघु परिणाम भी अनेक प्रकार के दु खो का आश्रय होने के कारण बड़ा ही अनिष्ट होता है।

नित्यग्रहणेन च गतिजाति-शरीराङ्गो-पाङ्ग कर्मनियमात् नरकगतौ-नरकजातौ च नैरन्तर्येण भवक्षयोद्वर्तनपर्यन्तमुपर्युक्ता लेश्या परिणामशरीरवेदना विक्रिया तेषामशुभतरा एव भवन्ति। न तु कदाचित् भवन्ति

इति विज्ञाप्यते, नयननिमेषमात्रमपि नारकाणामशुभतरलेश्यादिभिर्वियोगो न भवतीति नित्य-पदोपादेन व्यज्यते एवञ्च--रत्नप्रभाया तीव्रा कापोतिकलेश्या स्तेषा खलु नारकाणां मानसपरिणाम-विशेषरूपा भवन्ति तदपेक्षया तीव्रतरसक्लेशाऽध्यवसाना कापोतलेश्या. शर्कराप्रभाया तेषा भवन्ति ततोऽपि-तीव्रतरसक्लेशाध्यवसाना स्तीव्रतमा कापोतलेश्या स्तीव्राश्च नीललेश्या स्तेषां वालुका प्रभायां भवन्ति।

तदपेक्षयापि-तीव्रतरसक्लेशाध्यवसाना स्तीव्रतरा नीललेश्या पङ्कप्रभाया भवन्ति, ततोऽपि तीव्रतरसक्लेशाध्यवसाना स्तीव्रतमा नीललेश्या, तीव्राश्च कृष्णलेश्या स्तेषा धूमप्रभायां भवन्ति ततोऽपि तीव्रतरसक्लेशाध्यवसाना स्तीव्रतरा. कृष्णलेश्या स्तमःप्रभायां तेषां भवन्ति तदपेक्षयापि-तीव्रतरसक्लेशाध्यवसानास्तीव्रतमा कृष्णलेश्यास्तमस्तम प्रभायां तेषां नारकाणां भवन्ति, तेषाञ्च नारकाणा पुद्गलपरिणामोऽशुभतरो भवति।

तथहि—शब्द-वर्ण-रस-गन्ध-स्पर्श-सस्थान-भेद-गति-बन्धना-ऽगुरु-लघुपरिणामभेदेन

और धूमप्रभा में उससे भी अधिक अशुभ है, तम प्रभा में उससे भी अधिक तो ततस्तमः प्रभा मे सब से अधिक अशुभ हैं।

सूत्र में 'नित्य' शब्द को जो ग्रहण किया है, उससे यह प्रकट होता है कि नरक गति में उपर्युक्त लेश्या, परिणाम, शरीर, वेदना और विक्रिया सदैव अर्थात् नरक भव के प्रारंभ से लेकर भव के क्षय होने तक अशुभतर ही बनी रहती है। ऐसा नहीं-होता कि कभी शुभ हो जाय! पलक मारने जितने अल्प समय के लिए भी नारक जीवो का अशुभतर लेश्या आदि से वियोग नहीं होता है।

इस प्रकार रत्न प्रभा पृथ्वी में नारक जीवों की तीव्र मानसिक परिणामरूप कापोत लेश्या होती है। उसकी अपेक्षा अधिक तीव्र अध्यवसाय रूप कापोत लेश्या शर्कराप्रभा में होती है। उससे भी अधिक तीव्रतर अध्यवसाय रूप तीव्रतम कापोत लेश्या और तीव्र नील लेश्या वालुकाप्रभा में होती है। वालुकाप्रभा की अपेक्षा तीव्रतर सक्लेश स्वरूप नीललेश्या पकप्रभा मे पाई जाती है। पकप्रभा की अपेक्षा भी तीव्रतर सक्लेशमय तीव्रतम नीललेश्या और तीव्र कृष्णलेश्या धूमप्रभा मे होती है। धूमप्रभा की अपेक्षा भी तीव्रतर सक्लेशरूप तीव्रतर कृष्णलेश्या तम प्रभा मे होती है और उससे भी अधिक तीव्र अध्यवसाय रूप तीव्रतम कृष्णलेश्या तमस्तम प्रभा मे नारक जीवों को होती है।

नारको मे दस प्रकार का अशुभ पुद्गल परिणाम पाया जाता है, जो इस प्रकार है— (१) अशुभ वर्ण (२) अशुभ गध (३) अशुभ रस (४) शब्द (५) अशुभ स्पर्श (६)

दशविधस्तावदशुभतर. पुद्गलपरिणामो नरकेषु तेषां भवति तत्र शब्दस्तावत्—तीक्ष्णपरुषनिष्ठुरप-रिणामो नारकाणां भवति

वर्णश्च—भयङ्करोगम्भीररोमाञ्चकारीत्रासातङ्कजनक. परमकृष्णो भवति, रसस्तु नर-कस्थपुद्गलानां पिचु–मन्द–कोशातकी निर्याससदृशपरिणामो भवति।

गन्धश्च—श्वान–मार्जार–शृगाल–गजाश्व–कुथितमृतकगन्धातिरेका–ऽशुभपरिणामो भवति स्पर्श पुन–वृश्चिकदंश–कपिकच्छू–मुर्मुराङ्गारसदृशपरिणाम., सस्थानञ्च–नरक–नारकाकृतिरूपे दर्शनमात्रेणैवोद्वेगजनक भवति पिशाचाकृतिवत्, पुद्गलाना भेदपरिणामोऽपि नरकेषु अशुभतरो भवति शरीरनरककुडयादिभ्यो भिद्यमाना' पुद्गला. स्पर्शवर्णादिभिरशुभपरिणतिमासादयन्तो दु'ख-जनका भवन्ति।

गतिश्च—नारकाणा खलु अप्रशस्तविहायोगतिनामकर्मोदयाद् अशुभतरा उष्ट्रपतङ्गादि वद् अशुभतरा भवति। बन्धनञ्च—पुद्गलाना शरीरादिषु सश्लिष्टानामशुभतरपरिणामात्मक भवति, स्पर्श–वर्णादिभिरगुरु-लघुपरिणामोऽपि अशुभतर एव भवति, सर्वेषा खलु नारकीयजीवाना शरीराणि आत्मनो न गुरूणि भवन्ति नापि–लघूनि भवन्ति।

इत्येव मगुरुलघुपरिणामोऽनेकविधदु'खाश्रयत्वादनिष्टतरो भवति। एवञ्च–नरका-

---

अशुभ सस्थान (७) अशुभ भेद (८) अशुभ गति (९) अशुभ बन्धन और (१०) अशुभ अगुरुलघु परिणाम।

नारकों का शब्द तीक्ष्ण, कठोर, और निष्ठुर परिणाम वाला होता है। उनका रूप भयकर, गभीर रोमांचजनक एव त्रास तथा आतक उत्पन्न करने वाला बहुत काला होता है। नरक के पुद्गलो का रस नीम तथा कटु कोशातकी (तुरई) के समान कटुक होता है। वहाँ के गन्ध का परिणमन मरे हुए और सडे हुए श्वान, मार्जार, शृगाल, गज और अश्व के शव से भी अधिक अशुभ होता है। स्पर्श ऐसा होता है जैसे बिच्छू के डक, खाज, मुर्मुर (मूमर) या अगार का हो, नरको और नारको की आकृति देखते ही घबराहट पैदा करती है जैसे पिशाच की आकृति हो, नरको मे पुद्गलो का भेद परिणाम भी अत्यन्त अशुभ होता है। शरीर और नरक की दीवाल आदि से भिन्न होने वाले पुद्गल स्पर्श वर्ण आदि की अपेक्षा अशुभ परिणति को प्राप्त होते हुए अत्यन्त दु खजनक होते हैं।

अप्रशस्त बिहायोगति नामकर्म के उदय से नारक जीवों की गति ऊँट और पतग आदि की गति के समान अतीव अशुभ होती है। शरीर आदि से सबद्ध पुद्गलो का बन्धन भी अशुभतर ही होता है। स्पर्श वर्ण आदि से अगुरुलघु परिणमन भी अशुभतर ही होता है। सभी नारक जीवों के शरीर न गुरु होते है और न लघु होते है।

इस प्रकार उनका अगुरुलघु परिणाम भी अनेक प्रकार के दु खो का आश्रय होने के कारण बड़ा ही अनिष्ट होता है।

वासा —तिर्यगूर्ध्वमधश्च सर्वत –समन्तात् खलु अनन्तघोरभयङ्करतमसा सततव्याप्तान्धकारा श्लेष्ममूत्रपुरीषस्रोतो मलशोणितवसा–मज्जा–मेद'–पूयलिप्ततलभागा भवन्ति। श्मशानभूमिरिव पूतिमासकचा–ऽस्थिचर्मदन्तनखाच्छन्नभूमय' श्वान–शृगाल–मार्जार–नकुल–वृश्चिक सर्पमूषिकह-स्त्यश्व गो महिषमानुषशवकोष्ठा–ऽशुभतरदुर्गन्धाश्च भवन्ति, अत्यन्त हृदय द्रावकतीव्रकरणरुदि-तैर्दीनविक्लवैरार्तध्वनिभिर्विलापैर्याचितैर्वाष्पसन्निरुद्धैर्गाढवेदनै' सन्तप्तोच्छ्वास निश्वासैरशान्त-मुखरितकोलाहलभयत्रासजनकस्वनाश्च भवन्ति।

नारकीयशरीराणि चा–ऽशुभनामकर्मोदयादशुभतराणि अङ्गोपाङ्गनिर्माणसस्थानस्पर्श रस-गन्धवर्णस्वराणि हुण्डानि निर्लूनाण्डजशरीराकृतीनि वर्तक (वटर) पक्षि शरीराकाराणि–अत्यन्तबीभ-त्सानि जुगुप्सा-जनकानि भवन्ति, यदवलोकनेन घृणा-भयञ्चोत्पद्यते परेषा जीवानाम्। अतएव तानि शरीराणि क्रूरकरुणबीभत्सा-ऽत्यन्तभयदर्शनानि तीव्रदु खयातनापूर्णानि नित्याशुचीनि च भवन्ति।

तानि च शरीराणि रत्नप्रभादि सप्तपृथिवीषु क्रमशोऽधोऽधोऽशुभतराणि सन्ति। तेषाञ्च नार-काणा तानि शरीराणि द्विविधानि भवन्ति, भवधारणीयानि–उत्तरवैक्रियाणि च। तत्र च सप्तस्वपि पृथिवीषु भवधारणीय शरीरावगाहना जघन्येनाऽङ्गुलासख्येयभागप्रमाणा', तेषां नारकाणां भवति।

वहाँ जो नरकावास है वे तिर्छे, ऊपर और नीचे सब ओर से अत्यन्त घोर और भयकर अन्धकार से सदैव परिपूर्ण होते है। उनको लगभग श्लेष्म (कफ), मूत्र, विष्ठा, मल, रुधिर, चर्बी, मज्जा, मेद, एव मवाद से लिप्त होते हैं। श्मशान भूमि के समान बदबूदार मांस, बाल, अस्थि, चर्म, दाँत नाखून आदि से वहाँ की भूमि व्याप्त रहती है। वहाँ ऐसी दुर्गन्ध आती रहती है जैसे मृतक कुत्ता, सियार, मार्जार, नकुल (न्यौला), बिच्छू, सर्प मूषिका हस्ती अश्व, गौ, भैस या मनुष्य का सडा शव हो। वहाँ अत्यन्त ही हृदयद्रावक, करुणाजनक रुदन की ध्वनि सुनाई देती है। नारक जीवों की आर्त्तध्वनि, विलाप, याचित शब्द सुनाई पडते है। अश्रुओ से परिपूर्ण, गाढी वेदना से युक्त, सतापपूर्ण उच्छ्वास–नि'श्वास का अशान्त एव मुखरित कोलाहल मय, एव त्रास जनक होता है।

नारकीय जीवो के शरीर अशुभ नामकर्म के उदय से अन्यन्त अशुभ होते है। उनके अग उपागो का निर्माण सस्थान, स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और स्वर हुण्ड होता है, छेदे–भेदे पक्षी के शरीर के आकार के, बतक पक्षी के आकार के, अत्यन्त बीभत्स एव घृणाजनक होते है। उन्हे देख कर दूसरे जीवो को घृणा और भय होता है। इस कारण वे शरीर क्रूर, करुणा, बीभत्स और अत्यन्त भयोत्पादक दिखाई देते है। तीव्र दु खो और यातनाओ से परिपूर्ण एव नित्य अशुचि होते है।

नारको के शरीर रत्नप्रभा आदि सातो पृथ्वियों मे क्रम से नीचे–नीचे अधिकाधिक अशुभ होते है। उनके शरीर दो प्रकार के होते है।—भवधारणीय और उत्तरवैक्रिय। इनमें से

उत्कृष्टेन तु–शरीरावगाहना रत्नप्रभानारकाणां षडङ्गुलाधिकानि पादोनाष्टधनूंषि (ध – अ) ७।।। – ६ शर्कराप्रभानारकाणां द्वादशाङ्गुलाधिकसार्द्धपञ्चदशधनूंषि (१५।।ध १२ अ) २। वालुकाप्रभानारकाणां सपादैकत्रिंशद्धनूंषि (३१।) ३। एव शेषासु चतसृषु पङ्कप्रभादि तमस्तम प्रभापर्यन्तपृथिवीषु नारकाणामवगाहना उत्तरोत्तर द्विगुणा द्विगुणाऽवगन्तव्या। एव सप्तसु पृथिवीषु नारकाणामुत्तरवैक्रियावगाहना तु स्व स्व स्थानगतभवधारणीयशरीरस्योत्कृष्टावगाहनातो द्विगुणाद्विगुणा भवतीति बोध्यम्।

उत्तरवैक्रियन्तु–नारकाणां शरीर रत्नप्रभायां जघन्येना–ऽङ्गुलस्य सख्येयभागप्रमाणम्, शर्कराप्रभादि षट्सु पृथिवीषु चाऽपि- जघन्येनाऽङ्गुलस्य सख्येयभागप्रमाणमेव तेषामुत्तरवैक्रिय शरीरमवसेयम्। सूत्र ॥१३॥

मूलसूत्रम् –"अण्णमण्णोदीरिय दुक्खाय–" सूत्र–१४

छाया—"अन्योऽन्योदीरित दुःखाश्च—"

तत्त्वार्थदीपिका— पूर्वसूत्रे नारकाणा स्वरूपाणि शीतोष्णादिजनितदु खादिकानि च प्ररूपितानि, सम्प्रति-तेषा-प्रकारान्तरेणापि दु खादिक सजायते इति च प्ररूपयितुमाह—"**अण्णमण्णोदीरिय दुक्खाय–**" इति। अन्योऽन्यं-परस्परम् उदीरितम् उत्पादित दु ख येषां–यैर्वा ते ऽन्यो

भवधारणीय शरीर रत्नप्रभा पृथ्वी मे जघन्य अंगुल के असख्यातवे भाग प्रमाण होता है। शर्कराप्रभा आदि मे भी भवधारणीय शरीर की जघन्य अवगाहना इतनी ही होती है। उत्कृष्ट अवगाहना रत्नप्रभा मे सात धनुष, तीन हाथ और छह अंगुल की है। यह परिमाण जो बतलाया गया है सो उत्सेधागुल की अपेक्षा से समझना चाहिए। परमाणु आदि के क्रम से आठ यवमध्य को एक अगुल कहते हैं। चौबीस अगुल का एक हाथ होता है और चार हाथ का एक धनुष।

रत्नप्रभा पृथ्वी मे शरीर की जितनी उत्कृष्ट अवगाहना बतलाई गई है, उससे दुगुनी शर्कराप्रभा में होती है। शर्कराप्रभा से दुगुनी वालुकाप्रभा में, इस प्रकार सातवीं पृथ्वी तक दुगुनी–दुगुनी अवगाहना होती गई है।

नारकों के उत्तर वैक्रिय शरीर इस प्रकार होता है—रत्नप्रभा पृथ्वी में जघन्य अंगुल के सख्यातवें भाग प्रमाण और शर्कराप्रभा आदि आगे की छहो पृथ्वियो मे भी अगुल के सख्यातवें भाग की जघन्य अवगाहना होती है। तात्पर्य यह है कि नारक जीव यदि छोटे से छोटे शरीर की विक्रिया करे तो वह अगुल के सख्यातवे भाग की होती है। सूत्र–॥१३॥

सूत्रार्थ—'अण्णमण्णो' इत्यदि। सूत्र १४—

नारक जीव आपस आपस में एक दूसरे को दुःख उत्पन्न करते रहते है ॥१४॥

तत्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्र मे नारकों के स्वरूप का और उन्हें होने वाले शीत एवं उष्णता जनित दु खो का प्ररूपण किया गया है। अब यह प्ररूपणा करते है कि

ऽन्योदीरितदु खा तथाविधाश्च नारका भवन्ति । अथ कथ तावद् नारका परस्परोत्पादित दु·खा भवन्तीतिचे दुच्यते—भवप्रत्ययेना-ऽवधिज्ञानेन मिथ्यादर्शनोदयाद्-विभङ्गज्ञानेन च दूरादेव दु ख हेतून् विज्ञायोत्पन्नदु खा भवन्ति । एव-सान्निध्ये सति परस्परावलोकनाच्च प्रज्वलितकोपानला, पूर्वभवबद्धवैरानुस्मरणाच्चा-ऽतितीव्रानुबद्धवैरा, श्वान-शृगालवत्, अश्वमहिषादिवद्वा परस्पराभिघाते प्रवर्तमाना स्ववैक्रियक्रिययोत्पादिता-ऽसि-पट्टिश-परशु-भिण्डिपाल-शक्ति-तोमर-कुन्ता-ऽऽयोधनादिभि परस्परस्या-ऽति तीव्र दु खमुदीरयन्ति समुत्पादयन्तीति भाव· ॥सूत्र १४॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्व रत्नप्रभादिसप्तसु पृथिवीषु नरकाऽऽवासा नारका जीवाश्च यथायथम्—अशुभतरकृष्णादि लेश्यास्पर्शादिपरिणाम-भवधारणीयो-त्तरवैक्रियशरीर-तीव्रादि वेदना-विक्रिया स्वरूपप्रदर्शनपूर्वक प्ररूपिता —सम्प्रति—नारकाणा पूर्वभवानुबद्धवैरानुस्मरणादिभिरपि परस्परदु खोत्पादन भवतीति प्ररूपयितु माह—

"अण्णमण्णो दीरिय दुक्खाय—" इति । अन्योऽन्योदीरितदु खाश्च-अन्योऽन्यस्य परस्परस्यो-दीरितमुत्पादित दु ख येषा—यैर्वा ते ऽन्योऽन्योदीरीतदु खा, तथाविधाश्चापि नारका

उनको अन्य प्रकार से भी दु ख का अनुभव होता है—

नारक जीव परस्पर में भी एक दूसरे को दु ख उपजाते रहते है ।

नारक जीव क्यो आपस मे दु·ख उत्पन्न करते है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि वे भवप्रत्ययिक अवधिज्ञान के द्वारा और मिथ्यादर्शन के उदय से विभगज्ञान द्वारा दूर से ही दु ख के कारणो को जान कर परस्पर मे एक दूसरे को दु ख उत्पन्न करते है।

इसी प्रकार जब एक नारक दूसरे नारक के निकट आता है तो एक की दूसरे पर नजर पडते ही—उसकी क्रोधाग्नि भभक उठती है। उन्हे पूर्वभव मे बाँधे हुए वैर का स्मरण हो जाता है, वे परस्पर तीव्र वैरभाव युक्त हो जाते है । तब वे श्वान और शृगाल की तरह तथा अश्व और महिष की भाँति परस्पर मे आघात—प्रत्याघात करने लगते है । अपनी विक्रियाशक्ति के द्वारा वे असि, पट्टिश, परशु, भिण्डिपाल, शक्ति, तोमर, कुन्त एव अयोघन आदि शास्त्रो की विक्रिया करके परस्पर मे एक दूसरे को अत्यन्त तीव्र दु ख की उदीरणा करते है —दु ख उत्पन्न करते है । ॥ १४ ॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—इससे पहले नारक जीवो की प्ररूपणा की गई है। सात नरकभूमियों मे कितने—कितने नारकावास है, उनमें कहाँ कौन—सी अशुभ लेश्या होती है, उनके स्पर्श आदि परिणाम भवधारणीय एव उत्तर वैक्रिय शरीर, तीव्र वेदना, विक्रिया आदि का निरूपण किया जा चुका है । यहाँ यह बतलाते है कि नारक जीव पूर्वभव मे बाँधे हुए वैर का स्मरण करके आपस मे भी एक दूसरे को दु ख उत्पन्न करते हैं ।—

नारक जीव आपस मे भी एक—दूसरे को दु ख उत्पन्न करते है। तात्पर्य यह है कि

भवन्ति । नरकक्षेत्रानुभावजनितादशुभात्-पुद्गलपरिणामात् पूर्वभवाऽनुबद्धपरस्परवैरानुस्मरणाच्च नरकेषु नारकाणा परस्परोत्पादितानि दु खानि भवन्ति ।

तत्र—ये खलु नारका मिथ्यादृष्टयो भवन्ति, ते भवप्रत्यय विभङ्गानुगतत्वादवलोक्य परस्पर मेवाऽभिघातादिभिर्दु खानि समुदीरयन्ति, ये पुन —सम्यग्दृष्टयो नारका स्तेतु—सज्ञित्वादेव पूर्वजन्म-कृताऽनाचारकारिण स्वात्मानमेवाऽनुशोचन्तो नरकक्षेत्रस्वभावजनितानि दु खानि सहमाना परान् अनिघ्नन्त परैरुत्पादितवेदना सन्तोऽपि नितान्तदु खिन' स्वायुष. क्षयमपेक्षन्ते, न पुनस्ते ऽन्यनारकाणां दु खवेदनाः समुत्पादयन्ति, तेषामवधिज्ञानस्य विभङ्गानात्मकत्वात् ।

किन्तु—न केवलं तेषां परस्परोदीरणजनितान्येव दु खानि भवन्ति, अपितु—सहजान्यपि दु'खानि भवन्ति । नरकक्षेत्रस्य-दु'खात्मकस्वभावत्वात्, न हि तत्र किञ्चित् सुखमात्राऽप्यस्ति उपपातादिहेतुक तत्रत्य सुखमपि—बहुतरदु'खसमिश्रितत्वाद्—अल्पकालस्थायित्वाच्च विषसम्पृक्त मध्वन्नादिवत् दु खमेवावसेयम् । तस्मादेवविधनरकक्षेत्रानुभावनिष्पादितपुद्गलपरिणामाच्च नारका दु खमनुभवन्ति ।

तथाचा-ऽतिशयशीतो-ष्ण-क्षुत्तृषादि' खलु नरकक्षेत्रस्वभावजनित' पुद्गलपरिणामो भवति ।

नरक क्षेत्र के स्वाभाविक अनुभाव से उत्पन्न होने वाले अशुभ पुदगल परिणामसे तथा पूर्वभव मे बाँधे हुए पारस्परिक वैर का स्मरण हो जाने से नरको में नारक जीव परस्पर में एक दूसरे को दु'ख उत्पन्न करते है ।

जो नारक जीव मिथ्यादृष्टि होते है वे विभंग ज्ञान से युक्त होने के कारण आपस में एक दूसरे को देखते ही परस्पर आघात—प्रत्याघात करने लगते है और दु ख उपजाते है, किन्तु जो नारक सम्यग्दृष्टि होते है, वे सज्ञी होने के कारण पूर्व जन्म में अनाचार करने वाले अपने आत्मा का ही विचार करते है, उसके लिये पश्चात्ताप करते है और नरक क्षेत्र के स्वभाव से उत्पन्न दु खों को सहन करते रहते है । वे दूसरे नारकों को आघात नहीं करते, सिर्फ दूसरो के द्वारा उत्पादित वेदना को सहन करते है और नितान्त दु खी रहते हुए अपने नरकायु रूप की प्रतीक्षा करते रहते हैं, वे अपनी ओर से दूसरे नारको को दु.ख वेदना उत्पन्न नहीं करते है क्यों कि उनका अवधिज्ञान कु—अवधिज्ञान (विभगज्ञान) नहीं होता है ।

नारक जीवो को परस्पर में उदीरित दु ख ही नहीं होते वरन् सहज दु ख भी होते हैं, क्यों कि नरक भूमि स्वभाव से ही दु खमय होती है वहाँ सुख का लेश भी नहीं होता उपपात आदि के कारण वहाँ होने वाला सुख भी बहुतर दु.ख से मिश्रित होने के कारण विषमिश्रित मधु या अन्न के समान दु.खरूप ही समझना चाहिए ।

इस प्रकार नरकक्षेत्र के अनुभाव से उत्पन्न पुदगल परिणाम से भी नारक जीव दु ख का अनुभव करते है ।

अतिशय शीत, उष्ण, भूख, प्यास आदि नरक क्षेत्र के स्वभाव से उत्पन्न होने वाला

अनुपशान्तशुष्केन्धनो-पादाना-ऽनलेनेव तीक्ष्णेन व्याप्तक्षुधाग्निना दह्यमानशरीरा प्रतिसमयमा हारयन्तस्ते नारका सर्वपुद्गलानपि भक्षयेयु, तीव्रया च सततानुपक्तया तृपया शुष्ककण्ठौष्ठ-तालु जिह्वा सर्वानपि सम्पूर्णान् समुद्रान् अहम्पूर्विकया पिवेयु'।

किन्तु–तथापि तृप्ति नासादयेयु क्षुधा-पिपासेच तेषां नारकाणा वर्द्धेयातामेवेत्येव प्रभृतीनि नरकक्षेत्रानुभावप्रत्ययानि भवन्ति पुद्गलपरिणामफलानि, परस्परोदीरितदु खानि च नारकाणा भवन्ति। तथाहि—नारकेषु तावद् अवधिज्ञानम् अशुभहेतुक मिथ्यादर्शनयोगाच्च विभङ्गज्ञान भवति।

तत्र–मिथ्यादृष्टीना विभङ्गज्ञानम्, तदितरेषां नारकाणामवधिज्ञानम्, भावदोषोपघातात्पुन-स्तेषा तदपि दु खकारणमेवोपजायते। तेन हि—अवधिज्ञानेन सर्वत –समन्तात् ते नारका स्तिर्यगूर्ध्वमधश्च दूरादेव दु'खहेतून् सततमवलोकयन्ति। यथा–खलु 'अहि-नकुलम्, अश्व-माहिषम्, काकोलूकञ्च–" जन्मनैव परस्परबद्धवैर भवति, तथैव–नारका अपि परस्पर बद्धवैरा भवन्ति, यथावा–अपरिचितकुक्कुरानवलोक्य श्वानो भ्रूभङ्गपूर्वक क्रुध्यन्तो घुरघुरायन्ते–परस्पर माघातं कुर्वन्ति च, तथैव–तेषा नारकाणा मवधिज्ञानेन दूरत एव परस्पर विलोकयताम् तीव्रानुशयो दुरन्तो भवहेतुक' कोप उपजायते।

परिणमन है। सूखा ईंधन मिलते रहने से जैसे अग्नि शान्त नहीं होती बल्कि बढ़ती जाती है, उसी प्रकार नारक जीवों का शरोर तीव्र क्षुधा की आग से जलता ही रहता है। प्रतिसमय आहार करते–करते नारक जीव कदाचित् समस्त पुद्गलो का भक्षण कर ले और निरन्तर बनी रहने वाली तीव्र पिपासा के कारण सूखे कठ, होठ, तालु एव जिह्वा वाले वे नारक कदाचित् समस्त समुद्रो का जल पी डाले तो भी उन्हे तृप्ति नहीं हो सकती। ऐसा करने से उनकी भूख और प्यास में वृद्धि ही होगी। ऐसी उत्कट भूख और प्यास वहाँ होती है, यह सब परिणमन नरक क्षेत्र के प्रभाव से होती है।

इस क्षेत्र प्रभाव जनित वेदना के अतिरिक्त नारक जीवो को परस्पर जनित वेदना भी होती है। नारक जोवों को अशुभ भवप्रत्यय अवधिज्ञान होता है। जो मिथ्यादृष्टि नारक है, उन्हें विभगज्ञान होता है और सम्यक्दृष्टि नारकोको अवधिज्ञान होता है भावदोष के कारण उनका वह ज्ञान भी दु ख का ही कारण होता है उस ज्ञान से नारक जीव ऊपर, नीचे और तिरछे–सभी ओर दूर से ही दु ख के कारणो को सदा देखते हैं। जैसे सर्प और न्यौला, अश्व और महिष तथा काक और उल्लू जन्म से ही वैरी होते है। उसी प्रकार नारक भी स्वभाव से ही एक दूसरे के वैरी होते हैं जैसे किसी अपरिचित कुत्ते को देखकर दूसरे कुत्ते एकदम क्रुद्ध हो उठते है और घुरघुराते हुए उस पर हमला कर देते हैं, उसी प्रकार नारको को, एक दूसरे को देखते ही तीव्र भवहेतुक क्रोध उत्पन्न होता है। तब क्रोध से प्रज्वलित चित्त हो कर, दु'ख समुद्घात आर्त्त अचानक झपटे हुए कुत्तों

ततश्च–ते सपद्येव दु खसमुद्घातार्ता· क्रोधानलप्रज्वलितमानसा अतर्कितोपनता श्वान इव समुद्धता· अत्यन्तभयानक वैक्रियं रूपमासाद्य तत्रैव–पृथिवीपरिणामजातानि नरकक्षेत्रानुभावोत्पादितानि चा–ऽय शूल–शिला–शक्ति–तोमर–मुसल–मुद्गर–कुन्ता–ऽसि–पट्टिश–खड्ग–यष्टि–परशु-भिन्दीपाल प्रभृतीन्यस्त्र शस्त्राणि समादाय तै· हस्त-पाद दन्तादिभिश्च परस्परमभिघातं कुर्वन्ति ।

ततश्च–परस्पराभिघातहता सन्तो विकृताङ्गा आर्तनाद कुर्वन्तो गाढवेदना· सूनाघातन प्रविष्टा· महिष–शूकर–मेषा इव स्फुरन्त· शोणितकर्दमेऽपि दुश्चेष्टन्ते इत्येव रीत्या खलु नरकेषु नरकाणां परस्परोत्पादितानि दु·खानि भवन्ति इतिभाव सूत्र–१४॥

मूलसूत्रम्––"तच्चं पुढविं जाव संकिलिट्ठासुरोदीरियदुक्खाय––॥१५॥

छाया––'तृतीयां पृथिवीं यावत् संक्लिष्टा–ऽसुरोदीरितदुःखाश्च"––॥१५॥

तत्त्वार्थदीपिका––पूर्वसूत्रे नारकाणा पूर्वजन्मानुबद्धवैरस्मरणाद्–नरकानुभावाच्च परस्परोत्पादितानि दु खानि भवन्तीति प्ररूपितम् , सम्प्रति–वालुकाप्रभा पृथिवीपर्यन्त नारकाणा विशेषतः सङ्क्लिष्टा–ऽसुरैर्दु खानि-उत्पाद्यन्ते इति प्ररूपयितुमाह––**"तच्चं पुढवि जाव संकिलिट्ठा सुरोदीरियदुक्खा य–"** इति । तृतीयां पृथिवीं यावत्–वालुकाप्रभा पृथिवीपर्यन्त । सङ्क्लिष्टासुरै·–पूर्वजन्मनि सम्भावितेना–ऽतितीव्रेण सङ्क्लेशपरिणामेन उपार्जितस्य पापकर्मण· उदयात् सततं क्लिष्टा सर्वथा वा–क्लिष्टा सक्लिष्टा· असुरा· परमाऽधार्मिका सक्लिष्टा सुरास्तैरुदीरितानि–उत्पादितानि दु खानि याषा ते सक्लिष्टासुरोदीरितदु खा तथाविधाश्च भवन्ति ।

के समान उद्धत, वे नारक अत्यन्त भयानक वैक्रिय रूप बनाकर, उसी जगह पृथ्वी के परिणमन से–बने हुए एव नरकभूमि के अनुभाव से उत्पन्न किए हुए शूल, शिला, शक्ति, तोमर, मुसल, मुद्‌गर, कुन्त, खड्ग, पट्टिश, लाठी, परशु, भिन्दिपाल आदि शस्त्र लेकर तथा हाथों पैरो और दातो से भी परस्पर आक्रमण करते है ।

आपस के आघात–प्रत्याघातो से आहत होकर वे आर्त्तनाद करते हैं । उनके अग–अंग विकृत हो जाते है । उन्हे इतनी गाढी वेदना होती है कि वे कत्लखाने में प्रविष्ट भैसे, शूकर एवं मेढे के समान तडफते है और रुधिर के कीचड मे लोटते है । तात्पर्य यह है कि नारकों को नरक में परस्परोत्पन्न ऐसे घोर दु ख सहन करने पडते है । सूत्र––१४

सूत्रार्थ––"तच्चं पुढविं जाव" इत्यादि । ॥सूत्र १५॥

तीसरी पृथ्वी तक सक्लिष्ट असुर (परमाधार्मिक) देव भी दु ख उपजाते हैं ॥१५॥

तत्त्वार्थदीपिका––पूर्वसूत्र में निरूपण किया जा चुका है कि नारक जीव पूर्वजन्म में बाँधे हुए वैर का स्मरण करके तथा नरक भूमियो के प्रभाव से प्रभावित होकर परस्पर दु ख उत्पन्न करते है । यहाँ यह बतलाया जाता है कि वालुकाप्रभा पृथ्वी पर्यन्त असुरकुमार देव भी नारकों को दु ख उत्पन्न करते है––तीसरी पृथ्वी पर्यन्त अर्थात् वालुकाप्रभा पृथ्वी तक पूर्वजन्म मे उपार्जित अत्यन्त सक्लिष्ट परिणामों के द्वारा जनित पाप कर्म के उदय से परमाधार्मिक असुर भी नारक जीवो को दु ख उत्पन्न करते है ।

अत्रा–ऽसुराणां संक्लिष्ट इति विशेषणेन न सर्वेऽसुरा नारकाणा दु खमुत्पादयन्ति, अपितु–कतिपया एव परमाधार्मिकसञ्ज्ञका.–अम्बाऽम्बरीषादयोऽसुरा इतिज्ञाप्यते,

तेन–रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा पृथिवीषु तिसृष्वेव सक्लिष्टासुरा नारकाणां बाधाहेतवो भवन्ति । न तु–तृतीयपृथिवीत परासु पङ्कप्रभाप्रभृति तमस्तमप्रभापर्यन्तपृथिवीषु ते खलु तेषा बाधाहेतवो भवन्ति । चकारेण–सुतप्ताऽयोरसपायननिष्टप्ताऽय स्तम्भा‘लेषणकूट शाल्मल्यारोहणा-वतारणायोघनाभिघातवासीक्षुरतक्षणक्षारतप्ततैलावसेचनाऽय. कुम्भीपाकाऽम्बरीष भर्जन वैतरणी मज्जन यन्त्रनिष्पीडनादिभिश्च नारकाणा दु ख समुत्पादयन्ति–परस्पर ते नारका इति गृह्यते । एवम्–छेदनभेदनादिभि‘ खण्डीकृतशरीराणामपि तेषां नारकाणां नाऽकाले मरणं भवति, तेषामनपवर्त्यायुष्कत्वात् इतिभाव

असुरशब्दव्युत्पत्तिस्तु–देवगतिनामकर्मविकल्पस्या–ऽसुरत्वसवर्तनस्य कर्मण उदयाद् अस्यन्ति–क्षिपन्ति परान् इत्यसुरा अवगन्तव्या इति ॥सूत्र–१५॥

सूत्र में ‘सक्लिष्ट’ विशेषण का प्रयोग करके यह प्रदर्शित किया गया है कि सभी असुर नारकों को पीडा नहीं पहुँचाते अपितु कतिपय परमाधार्मिक नाम के अम्ब, अम्बरीष आदि असुर ही पीडा देते है ।

सक्लिष्ट असुर रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा और वालुकाप्रभा इन तीन भूमियों में ही नारक जीवों की बाधा के निमित्त बनते है, इनसे आगे की पकप्रभा आदि पृथ्वियों में वे बाधा नहीं पहुँचाते, क्योकि तीसरी पृथ्वी से आगे उनका गमन होता ही नहीं है ।

ये असुरकुमार नारक जीवो को अत्यन्त तपाये हुए लोहरस का पान कराते हैं, खूब तपे हुए लोहमय स्तंभो का आलिंगन करवाते हैं, कूटशाल्मली वृक्ष पर–जिसके पत्ते तलवार के समान तीखे होते है, चढाते–उतारते है, लोहे के घनो की मार मारते है, वसूला छुरा आदि से छीलते है, उनके घावो पर तपा हुआ नमकीन तेल छिडकते हैं, लोहमय कुभियों में उन्हें पकाते है, भाड में भूनते है, वैतरणी नामक नदी में डुबाते है, यत्रो में पील देते है, इत्यादि अनेक तरीको से नारकों को वे दु ख उत्पन्न करते हैं ।

नारक जीवो के शरीर का छेदन–भेदन करने पर भी और शरीर के खण्ड–खण्ड कर देने पर भी अकाल मे उनकी मृत्यु नहीं होती । वे अनपवर्त्य आयुष्य वाले होते है ।

असुर शब्द की व्युत्पत्ति यो समझना चाहिए–असुरत्व उत्पन्न करने वाले देवगति नाम कर्म के एक भेद के उदय से जो दूसरों को अस्यन्ति–क्षिपन्ति अर्थात् दु:ख में डालते हैं, वे ‘असुर’ कहलाते है ॥१५॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं तावत्—ते नारका' पूर्वजन्मानुबद्धवैरानुस्मरणात् परस्पर दु ख-मुत्पादयन्ति सततमितिप्रतिपादितम्, सम्प्रति—वालुकाप्रभापृथिवीपर्यन्तं सक्लिष्टासुरा स्तेषां नाराकाणां दु खानि समुत्पादयन्तीति प्रतिपादयितुमाह—**'तच्चं पुढवि जाव सक्किलिट्ठासुरो-दीरियदुक्खा य'** इति।

तृतीयां पृथिवीं यावत्—वालुकाप्रभा पृथिवीपर्यन्तम् सक्लिष्टासुरोदीरितदु खा —सक्लिष्टा पूर्वभवसम्भाविता—ऽतितीव्रसक्लेशपरिणामेन यदुपार्जित पापकर्म तस्योदयात् सर्वथा क्लिष्टा — सक्लिष्टाः असुरा सक्लिष्टासुरा स्तैरुदीरितानि—उत्पादितानि दु'खानि येषा ते—सक्लिष्टा सुरोदीरितदुःखा' तथाविधाश्च नारका भवन्ति। चकारेण—तेषा नारकाणा नरकक्षेत्रानुभावजनितञ्च परस्परोत्पादितदु'खं भवतीति ज्ञाप्यते। सक्लिष्टचित्ता असुरा पुन—रशुभानुबन्धिबालतपोऽकाम-निर्जरोपार्जितदेवजन्मान' स्वल्पविभवसमृद्धिलब्ध्या ध्माता' सन्तो भवान्तरानवलोकिन एताव-देव त्रैलोक्यसुखमित्येव मन्यमाना भवनपतीना चतुर्विधनिकाये प्रथम एवा-ऽसुरनाम्नि निकाये भवन्ति, नान्येषु देवनिकायेषु।

ते नाम्नो—त्कीर्तनेनापि रौद्रतया भयमुत्पादयन्ति, किमुत—दर्शनेन। तेच खलु—अम्बा —१ अम्बरीषा —२ श्यामा —३ शबला —४ रुद्रा.—५ उपरुद्रा —६ काला —७ महाकाला —८

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पहले कहा जा चुका है कि नारक जीव पूर्वजन्म में बाँधे हुए वैर से युक्त होते है। उस वैर का स्मरण आते ही वे परस्पर में एक दूसरे को दु'ख उत्पन्न करते हैं और परस्पर दु ख उत्पन्न करने का उनका सिलसिला सदैव चालू रहता है। अब यह बतलाते है कि वालुकाप्रभा पृथ्वी तक सक्लिष्ट असुर भी नारकों कों दु'ख उत्पन्न करते है—

पूर्वभव में सभावित अति तीव्र सक्लेश परिणामों द्वारा उपार्जित पाप कर्म के उदय से पूरी तरह क्लिष्ट असुर तीसरी पृथ्वी तक अर्थात् वालुकाप्रभा पृथ्वी पर्यन्त नारक जीवो को दु ख उत्पन्न करते है। 'च, शब्द के प्रयोग से यह सूचित किया गया है कि नारकों को नरक-भूमियों के प्रभाव से परस्पर जनित दु ख भी होता है। उस परस्पर जनित दु'ख के अतिरिक्त सक्लेश युक्त चित्त वाले असुरकुमार भी, जिन्हें अशुभानुबन्धी बालतप एवं अकामनिर्जरा के कारण देवगति मिल गई है और जो स्वल्प विभूति—समृद्धि की प्राप्ति हो जाने से गर्वयुक्त होते हैं, जो अगले भव की ओर आँखे उठा कर भी नहीं देखके अर्थात् भविष्य में हमारी क्या दशा होगी— इस पर तनिक भी विचार नहीं करते जो अपने सुख को ही तीनों लोंको का सुख समझते है, और जो भवनपतियो के दस भेदों मे से प्रथम भेद के अन्तर्गत हैं—किसी अन्य निकाय में नहीं होते, वे भी नारकों को दु ख उत्पन्न करते है। वे असुर भयानक होते है। उनका नाम हृदय मे कँप कँपी पैदा कर देने वाला है, देखने की बात तो दूर ही रहो। उन असुरों के नाम ये हैं— (१)अम्ब (२)अम्बरीष (३)श्याम (४)शबल (५)रुद्र (६)उपरुद्र (७)काल (८)महाकाल

असय'—९ असिपत्रवनाभिधानाः—१० कुम्भीनामान —११ वालुकाभिधाना —१२ वैतरणीसञ्ज्ञका —१३ खरस्वरा'—१४ महाघोषाश्च—१५ पञ्चदश—असुरनिकाया त —पातिनो देवविशेषा एव मिथ्यादृष्टय' पूर्वजन्मसु सक्लिष्टकर्मण पापाभिरतय आसुरीं गति प्राप्ता परमाधार्मिका सन्ति । एतेच—भिन्नहेतुकदु खोत्पादनादेव प्राप्तत थाविधसज्ञा समवसेया । क्लेशकर्मजनिता खलु—एते पञ्चदशा—ऽसुरास्ताच्छील्यान्नारकाणा विचित्राभिरुपपत्तिभिर्वेदना समुत्पादयन्ति,

तथाहि—तप्तायोरसपायन निष्टप्ताय.स्तम्भा'लेपण-कूटशाल्मल्यग्रारोहण ऽवतारणा ऽऽयोधना-ऽभिघातवासी क्षुरतक्षणक्षारतप्ततैलाभिषेचना—ऽय कुम्भीपाका—ऽम्बरीषभर्जनयन्त्रपीडना—ऽय शूल-शलाकाभेदन क्रकचविदारणा—ऽङ्गारज्वालादहनसूचीतीक्ष्णाग्रभागा—ऽपकर्षणादिभि सिंह व्याघ्र—द्वीपि—तरक्षु—श्व—शृगालवृक—मार्जार—नकुल—सर्प—काक—गृध्र—वायसो—लूक—श्येनादिभक्षणै,

तप्तवालुकावतरणा—ऽसिपत्रवनप्रवेशनवैतरणी नदी निमज्जन पर'पराऽयोधनादिभिश्च तेषां दु'खोत्पादका भवन्ति । एवञ्च—नरकेषु पूर्वोक्तस्वरूपेषु नारकाणा त्रिविधानि दु खानि भवन्ति । परस्परोदीरणजनितानि क्षेत्रस्वभावोत्पन्नानि, तृतीय पृथिवीपर्यन्त सक्लिष्टा सुरोदीरितानि

---

(९)असि (१०)असिपत्रवन (११)कुभी (१२)वालुका (१३)वैतरणी (१४)खरस्वर (१५)महाघोष।

यह पन्द्रह असुरनिकाय के अन्तर्गत देव ही, मिथ्यादृष्टि पूर्व जन्मो मे क्लिष्ट कर्म करनेवाले पाप में अभिरुचि रखनेवाले एवं असुरगति को प्राप्त परमाधार्मिक कहलाते है । नारक जीवो को नाना प्रकार से दु'ख उत्पन्न करने के कारण ही वे 'परमाधार्मिक' कहलाते है ।

क्लिष्ट कर्मों के कारण उत्पन्न ये पन्द्रह प्रकार के असुर अपनी जन्मजात प्रकृति से ही नारक जीबों को विविध प्रकार से वेदनाएँ उत्पन्न किया करते है । वेदनाएँ उत्पन्न करने के कतिपय प्रकार निम्नलिखित हैं—

लोहे को खूब तपाकर पिलाना, अत्यन्त तपे हुए लोहमय स्तभ का आलिगन करवाना कूट शाल्मली वृक्ष पर चढाना—उतारना, लोहे के घनो से आधात करना वसूला एव छुरा आदि शस्त्रो से छीलना, तपाये हुए नमकीन तैल का छिडकना, लोहे की कुभियो मे पकाना, भाड मे चने की तरह भूनना, यत्रो मे पीलना, लोहे के शूलो और सलाइयो से भेदन करना, करौत से चीरना, अगारो की ज्वाला में जलाना, सुइयो की नोको पर रगडना, सिंह, व्याघ्र दीपिक (दीवडा), तरक्ष श्वान, शृगाल, भेडिया, मार्जार, नौला, सर्प, काक, गृध्र, वायस, (काक) उल्लक और बाज आदि पक्षियों के द्वारा भक्षण किया जाना, गर्म बालू पर चलाना, असिपत्र वन में घुसेडना वैतरणी नामक नदी मे डुबाना और आपस मे लडाना—भिडाना; इत्यादि प्रकारो से वे परमाधार्मिक देव नारक जीवो को दु ख उत्पन्न करते है ।

इस प्रकार पूर्वोक्त स्वरूप वाले नरको में नारक जीवों को तीन प्रकार के दु ख होते है—(१) नारको द्वारा परस्पर मे दिए जाने वाले दु ख (२) नरक क्षेत्र के स्वभाव से उत्पन्न होने वाले दु ख और (३) तीसरी पृथ्वी तक सक्लेशपरिपूर्ण असुरों द्वारा पैदा करने वाले दु.ख ।

च, चतुर्थ्यादिपृथिवीषु पुन परस्परोदीरणजनितानि क्षेत्रानुभावजनितानि चेति द्विविधान्येव भवन्तीति फलितम् ।

"अथ किमर्थं ते खलु—अम्बाम्बरीषादयो नारकाणां तथाविधानि दु.खानि समुत्पादयन्ति इति चेत्—? अत्रोच्यते, तेषामसुराणा पापकर्माभिरतस्वभावत्वात् तथाविधो व्यापारो भवति । तथाच—यथा—ऽश्व महिषवराहमेषकुक्कुटवार्तकलावकादीन्—मुष्टिमल्लाश्च परस्पर युध्यमानान् दर्श—दर्श तेषां रागद्वेषाभिभूताना मकुशलानुबन्धिपुण्याना मनुष्याणामत्यन्त प्रीतिरुपजायते,

एव मेतेषामम्बरीषादीनामप्यसुराणां नारकान् पूर्वोक्तरीत्या तेषां—युद्ध—सलग्नाना तथाविधानि युद्धानि—तज्जन्य दु खानिच कारयता परस्परमभिघ्नतश्चाऽवलोकयता परा प्रीतिरुत्पद्यते । ते खल्वसुरा दुष्टमनोभावास्तथाविधान् तान् तान् दृष्ट्वाऽट्टहास कुर्वन्ति महतश्च सिंहनादान् गर्जन्ति । तच्च खलु—तेषामम्बाऽम्बरीषादीनां सत्यपि देवत्वे—ऽन्येष्वपि च प्रीतिकारणेषु सत्सु मायानिमित्तमिथ्यादर्शनशल्यतीव्रकषायो—दयोपहतस्य भावदोषालोचनारहितस्याऽप्रत्यवकर्षस्याऽकुशलानुबन्धिपुण्यकर्मणो बालतपसश्च बालदोषाऽनुकर्षिण फलम् । यस्मात्——सत्स्वप्यन्येषु प्रीतिकारणेषु तेषामशुभभावा एव प्रीतिहेतवो भवन्ति, ।

इससे यह भी फलित हुआ कि चौथी आदि आगे की पृथ्वियो मे दो ही प्रकार के दु.ख होते है । आपस में उत्पन्न किए हुए और क्षेत्र के स्वभाव से उत्पन्न होने वाले ।

प्रश्न हो सकता है कि वे अम्ब अम्बरीष आदि परमाधार्मिक देव नारकों को जो पूर्वोक्त वेदनाएँ उत्पन्न करते है , उसका कारण क्या है ? इसका समाधान यह है कि वे असुर स्वभाव से ही पाप कर्म मे निरत होते है इसी कारण वे ऐसी प्रवृत्ति किया करते हैं । जैसे अश्वो, भैसो, शूकरों, मेढो, मुर्गों, वत्तकों और लावक पक्षियो को तथा मल्लो को परस्पर लडते देख—देख कर राग—द्वेष से युक्त तथा पापानुवधी पुण्य वाले मनुष्यो को अत्यन्त प्रसन्नता होती, है, उसी प्रकार अम्ब, अम्बरीष आदि असुर परस्पर युद्ध निरत नारको को लडते देख कर उनके दु खो को देख कर, आपस में एक दूसरे पर आघात करते देख कर अत्यन्त प्रसन्न होते है दुष्ट मनोभावना वाले वे असुर उन्हे उस अवस्था में देख कर अट्टहास करते है और बडे जोर का सिंहनाद करते है । यद्यपि ये अम्ब और अम्बरीष आदि देव है और उनकी प्रसन्नता एव सन्तुष्टि के अन्य अनेक साधन विद्यमान है, फिर भी मायानिमित्तक मिथ्यादर्शन शल्य एवं तीव्र कषाय के उदय से उपहत (पीडित), भावपूर्वक दोषों की आलोचना से रहित पापानुवधी पुण्यकर्म बालतप का ही ऐसा फल है कि वे इस प्रकार के कृत्य करके और देख कर प्रसन्नता का लाभ करते है । प्रसन्नता प्राप्त करने के अन्यान्य साधन विद्यमान रहने पर भी अशुभ भाव ही उनकी प्रसन्नता के कारण होते हैं ?

इस प्रकार अप्रीतिजनक, अत्यन्त तीव्र दु ख निरन्तर अनुभव करते हुए भी और मृत्यु

इत्येव रीत्याऽप्रीतिजनक निरन्तर निताऽन्ततीव्रं दु खमनुभवता निधनमपि वाञ्छतां तेषा नारकाणां कर्म निर्धारितायुषामकाले विपन्नतापि (मृत्युरपि) न भवति–नापि तेषां तत्र शरण किमपि,–नाऽप्यपक्रमण तेषा ततो नरकाद् सभवति । तस्मात्–कर्मवशादेव दग्ध–विदारित-च्छिन्नभिन्नक्षतान्यपि तेषा–शरीराणि सद्यएव सरोहन्ति, अम्भसि–दण्डराजिवत् ।

तथाचोक्तरीत्या नरकेषु नारकाणा त्रिविधानि दु खानि भवन्तीतिभाव ॥सू० १५॥

मूलसूत्रम्—"ते नरगा अंतो वट्टा, बाहिं चउरंसा, अहे खुरप्पसंठाणा, णिच्चं धयाराइया–" ॥१६॥

छाया––"ते नरकाः—अन्तो वृत्ताः बहिश्चतुरस्रा., अधः—क्षुरप्रसंस्थानाः नित्या-न्धकारादिकाः"—॥१६॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रेषु नारकाणां नरकेषु परस्परोदीरितानि, क्षेत्रस्वभावोत्प-न्नानि, परमाधार्मिकसक्लिष्टा–ऽसुरोदितानि च दु खानि त्रिविधानि भवन्तीति प्ररूपितम्, सम्प्रति–नरकाऽऽकारान् प्ररूपयितुमाह–"ते नरगा अतो वट्टा, बाहिं चउरंसा, अहे–खुरप्प-संठाणा, णिच्चधयाराइया–" इति ।

ते खलु पूर्वोक्ता'–रत्नप्रभाऽऽदिसप्तपृथिवीषु वर्तमाना नरका–नरकावासा अन्तो वृत्ताः–अभ्यन्तरभागे वृत्ता गोलाकारा., बहिश्चतुरस्रा–बाह्यप्रदेशे चतुरस्रा समचतुष्कोणा', अध–अधोभागे क्षुरप्रसस्थाना क्षुर–छेदनास्त्रविशेष प्रतिपूरयतीतिक्षुरप्र, तदाख्यास्त्रविशेष । तस्येव सस्थानम् -आकारो येषा ते क्षुरप्रसस्थाना',

---

की कामना करते हुए भी कर्म के द्वारा निर्धारित आयु वाले उन नारक जीवो का अकाल में मरण नहीं होता । उनके लिए वहाँ कोई शरण भी नहीं है न वे नरकसे निकल कर अन्यत्र कहीं जा सकते हैं । कर्म के उदय से जलाये हुए, विदारण किए हुए छिन्न–भिन्न किये हुए और क्षत– विक्षत किये हुए शरीर भी पुन शीघ्र ही जल में दण्डराजि के समान परिपूर्ण हो जाते हैं।

आशय यह है कि नारक जीव नरको में तीन प्रकार के दु खो का अनुभव करते है ॥१५॥

सूत्रार्थ–'ते नरगा अंतो वट्टा' इत्यादि ।

वे नरकावास अन्दर गोलाकार, बाहर चौकोर, खुरपा के समान आकार वाले तथा सदैव अन्धकार के युक्त आदि होते है ॥ १६ ॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रो में निरूपण किया गया है कि नरको मे नारक जीवों को आपस में पैदा किये हुए, क्षेत्र के स्वभाव से उत्पन्न होने वाले और परमाधार्मिक नामक सक्लिष्ट असुरों द्वारा उदीरित, यो तीन प्रकार के दु:ख होते है । अब नरकावास के आकार आदि बतलाने के लिए कहते है–

वे नरकावास अन्दर गोल, बाहर चौकोर और नीचे खुरपा के समान आकार वाले होते है । क्षुर नामक एक अस्त्र है जो छेदन करने के काम आता है । उसे जो प्रतिपूर्ण करे

पुन' कीदृशास्ते नरका इत्याह—नित्यान्धकारा'—तिर्यगूर्ध्वमधश्च सर्वत –समन्तात् अनन्तेना–ऽत्यन्तभयानकेन च तमसा–नित्यान्धकारा'–नित्य–सन्ततम् अन्धकारो यत्र ते नित्यान्धकारा गाढान्धकारयुक्ता, आदिपदेनाऽन्यान्यपि नरकविशेषणानि सग्राह्याणि सन्ति ॥१६॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं रत्नप्रभादि सप्तपृथिवीस्थनरकेषु नारकाणा त्रिविधानि दु खानि, तथा—परस्परोदीरणजनितानि नरकक्षेत्रानुभावोत्पन्नानि तृतीयपृथिवीपर्यन्तं सक्लिष्टासुरोदीरितानि च प्ररूपितानि, चतुर्थ्यादिपृथिवीषु च–परस्परोत्पादितानि क्षेत्रस्वभावजनितानि चेत्येव द्विविधानि प्ररूपितानि,

सम्प्रति—तेषा नरकाणां स्वरूपाणि प्ररूपयितुमाह—"**ते नरगा अंतोवट्टा बाहिं चउरंसा अहे खुरप्पसंठाणा तमसा णिच्चंधयाराइया–**" इति।

ते खलु–पूर्वोक्ता रत्नप्रभादि समपृथिवीस्था' नरका' अन्तो वृत्ता –अन्त अभ्यन्तरे-वृत्ता –वर्तुला सन्ति, बहि –बाह्यदेशे च चतुरस्रा –चतस्रोऽस्रयो येषा ते चतुरस्रा'–समचतुष्ककोणा, अध' – अधोभागे क्षुरप्रसस्थाना'- क्षुरप्रो लघुच्छेदनाऽस्त्रविशेष तस्यैव सस्थानमाकारो येषां ते क्षुरप्रसस्थाना तथाविधा भवन्ति। एव–तमसा सर्वत. समन्तात् सन्तमसेन नित्यान्धकारा' सततगाढान्धकारावृता भवन्ति ।

वह 'क्षुरप्र' कहा जाता है। इस नाम का एक विशेष अस्त्र होता है। जिनका आकार क्षुरप्र के समान हो उन्हे क्षुरप्रसस्थान कहते है।

नरक और किस प्रकार के होते हैं सो कहते हैं—नरक नित्यान्धकार मय है अर्थात् वहाँ ऊपर, नीचे, तिर्छे, सर्वत्र अनन्त और अत्यन्त भयानक अंधकार हो अधकार व्याप्त रहता है और वह सदैव बना रहता है। सूत्र में प्रयुक्त 'आदि' शब्द से नरको के अन्य विशेषण भी ग्रहण कर लेना चाहिए ॥१६॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति पहले प्रतिपादन किया गया है कि सातो पृथ्वियो के अन्दर जो नरक है, उनमें रहने वाले नारको को तीन प्रकार के दु'ख होते है– परस्पर में उदीरित दु'ख, नरक क्षेत्र के प्रभाव से उत्पन्न होने वाले दु'ख और तीसरी पृथ्वी तक परमाधार्मिक असुरो द्वारा उत्पन्न किये हुए दु ख। यह भी प्रतिपादन किया जा चुका है कि चौथी से लेकर सातवीं पृथ्वी तक परस्पर उत्पन्न किये हुए और क्षेत्रस्वभाव से उत्पन्न दु ख ही होते हैं।

अब नरकों का स्वरूप प्रतिपादन करने के लिए कहते है–

पूर्वोक्त रत्नप्रभा आदि सात पृथ्वीयो में। स्थित नरक भीतर से गोलाकार, बाहर से चौकर अर्थात् समचतुष्कोण और निचले भाग में क्षुरप्र अर्थात् खुरपा के समान आकार के होते है। क्षुरप्र एक छोटा अस्त्र है। जो छेदन करने के काम आता है। वहाँ सदैव घोर अधकार व्याप्त रहता है।

आदि पदेन—अन्यान्यपि नरकविशेषणानि सम्राह्यानि–। तथाहि—व्यपगतग्रह–नक्षत्र ज्योतिष्कप्रभा—व्यपगता दूरीभूता ग्रहचन्द्रनक्षत्रज्योतिष्काणां प्रभा दीप्तिर्यत्र ते व्यपगतग्रह-चन्द्रसूर्यनक्षत्रज्योतिष्कप्रभा तथाविधा भवन्ति। पुन कीदृशा—इत्याह–मेदो वसा पूयपटल रुधिरमासचिक्खललिप्तानुलेपनतला,

मेदो–वपा, वसा–शुद्धमांसस्नेहरूपा, "चर्वी" इति लोकप्रसिद्धा, पूयपटल—दूषित-रुधिरसमुदाय, रुधिर–शोणितम्, मासम्, चिक्खलम्–कर्दम केशास्थिचर्मादि तैर्युक्तम् अनुलेपन येषां ते मेदो वसा पूयपटलरुधिरमासचिक्खललिप्तानुलेपनतला तथाविधा नरका भवन्ति। पुन' कीदृशा–इत्याह–अशुचि बीभत्सा नरका, परमदुरभिगन्धा', कापोताग्निवर्णाभा–कर्कशस्पर्शा, दुरध्यासा अशुभा नरका, अशुभा–नरकेषु वेदना' इति।

उक्तञ्च प्रज्ञापनायां २–पदे नरकाधिकारे—"**तेणं णरगा अंतो वट्टा बाहिं चतुरंसा अहे खुरप्पसंठाणसंठिया णिच्चंधयारतमसा ववगय गह चंदसूरणक्खत्तजोइसप्पहा मेदवसा पूयपटलरुहिरमंसचिक्खललित्ताणुलेवणतला, असुई वीभच्छा परमदुब्भिगंधा काउगणिवण्णाभा कक्खडफासा दुरहियासा असुभा णरगा असुभाओ णरगेसु वेयणाओ**"–इत्यादि।

ते खलु नरका' अन्तोवृत्ता' बहिश्चतुरस्रा अध क्षुरप्रसंस्थानसंस्थिता नित्यान्धकारा तमसा व्यपगतग्रहचन्द्रसूर्यनक्षत्रज्योतिष्कप्रभा., मेदो वसा पूयपटलरुधिरमांसचिक्खललिप्तानु-लेपनतलाः, अशुचिबीभत्सा, परमदुरभिगन्धा', कापोताग्निवर्णाभा', कर्कशस्पर्शा, दुरध्यासा, अशुभा' नरका', अशुभा'–नरकेषु वेदना इत्यादि–॥१६॥

सूत्र में दिये हुए 'आदि' पद से नरको के अन्यान्य विशेषण समझ लेने चाहिए। उनमे से कुछ इस प्रकार है–नरको चन्द्र, सूर्य ग्रह नक्षत्र और ताराओ की प्रभा से रहित होते हैं। अर्थात् वहाँ न सूर्य–चन्द्रमा हैं न ग्रह–नक्षत्र है और न तारे ही हैं। ये सब ज्योतिष्क मध्य लोक में होते है। नरकों में इनका अभाव होने से सदैव गाढा अन्धकार फैला रहता है।

इसके अतिरिक्त नरक कैसे होते है, सो कहते हैं–उनके तलभाग मेद से वसा अर्थात् चर्बी से जो शुद्ध मांस का स्नेह रूप होती है, पूयपटल अर्थात् दूषित रूधिर का समूह जिसे मवाद भी कहते है, रूधिर अर्थात् लोहू, मांस, चिक्खल अर्थात् कीचड तथा केशो, हड्डियों एव चमडी आदि अशुचि पदार्थों से व्याप्त होते है। वे अत्यन्त अशुचि, भयानक गदे, घोर दुर्गन्ध से व्याप्त, कापोत अग्नि के समान वर्ण वाले, कर्कश स्पर्श वाले, दुस्सह और अशुभ होते हैं। ऐसे नरकों में वेदनाएँ भी अशुभ ही होती हैं। प्रज्ञापना सूत्र के दूसरे पद में नरक के प्रकरण मे कहा है–वे नरक भीतर से गोलाकार बाहर से सम चौकर और नीचे से खुरपा के आकार के होते है उनमें सदैव अन्धकार बना रहता है, ग्रह चन्द्र सूर्य एव नक्षत्र–इन ज्योतिष्को की प्रभा से रहित होते है, मेद, चर्वी, मवाद के समूह, रुधिर, मास एव कीचड या रुधिर-मांस आदि की कीचड़ से उनके तलभाग लिप्त होते हैं, वे अशुचि और वीभत्स, घोर दुर्गन्ध से भरे हुए,

मूलसूत्रम्—"तेसु नारगाणं उक्कोसेण ठिई जीवाणं जहाक्कमं-एग-ति-सत्त-दस-सत्तरस-वावीस-तेत्तीसा सागरोवमा-" ॥१७॥

छाया—"तेषु नारकाणा मुत्कृष्टेन स्थितिर्जीवानां यथाक्रमम्—एक-त्रि—सप्त—दश सप्तदश-द्वा-विंशति-त्रयस्त्रिशत्सागरोपमाः ॥१७॥

तत्वार्थदीपिका—पूर्व तावन्नारकाणा—नरकाणाञ्च स्वरूपाणि प्ररूपितानि सम्प्रति—तेषां नारकाणामायु परिमाणरूपां स्थितिं—परममुत्कृष्टां स्थितिं प्ररूपयितुमाह—"तेसुं नारगाणं" इत्यादि । तेषु पूर्वोक्तेषु नरकेषु रत्नप्रभादि सप्तपृथिवीरूपेषु नारकाणा—नरकजीवानाम् उत्कृष्टेन—उत्कर्षत स्थितिः—आयुः—प्रमाणरूपा यथाक्रम—क्रममनतिक्रम्य यथाक्रमम्, रत्नप्रभादि पृथिवीक्रमानुसारेण—एक—त्रि—सप्त—दश—सप्तदश—द्वाविंशति—त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाः भवन्ति । तथा च—रत्नप्रभायां नरकेषु नारकाणामुत्कृष्टा स्थितिरेकसागरोपमा भवति—१ शर्कराप्रभायां तेषामुत्कृष्टा स्थिति त्रिसागरोपमा—२ वालुकाप्रभायां नारकाणामुत्कर्षेण सप्तसागरोपमा स्थितिर्भवति—३ पङ्कप्रभाया तेषा मुत्कृष्टा स्थितिर्दश सागरोपमा भवति—४ धूमप्रभायां नारकाणा-

---

कापोत अग्नि जैसे रंग वाले, कठोर स्पर्श वाले दुस्सह और अशुभ होते है । नरको की वेदनाएँ भी अशुभ ही होती है, इत्यादि ॥१६॥

सूत्रार्थ 'तेसुं नारगाणं उक्कोसेणं' इत्यादि ॥१७॥

उन नरको में नारक जीवो की उत्कृष्ट स्थिति यथाक्रम से एक, तीन, सात, दस, सतरह, वाईस और तेतीस सागरोपम की होती है ॥१७॥

तत्त्वार्थदीपिका—पहले नारक जीवो के तथा नरको के स्वरूप का निरूपण किया गया है, अब उन नारक जीवो की उत्कृष्ट स्थिति का अर्थात् आयु के परिमाण का निरूपण करते हैं—

पूर्वोक्त सात रत्नप्रभा पृथ्वी आदि स्वरूप वाले नरको में निवास करने वाले नारक जीवों की उत्कृष्ट अर्थात् अधिक से अधिक स्थिति या आयु अनुक्रम से अर्थात् रत्नप्रभा आदि भूमियों के क्रम के अनुसार एक, तीन, सात, दस, सत्तरह, बाईस और तेतीस सागरोपम की होती है । इसका अनुक्रम इसप्रकार है—(१) रत्नप्रभा नामक भूमि में जो नरक हैं, वहाँ के नारकों की उत्कृष्ट स्थिति एक सागरोपम की है, अर्थात् पहली पृथ्वी के नारक अधिक से अधिक एक सागरोपम तक नारक अवस्था में वहाँ रहते है । (२) शर्कराप्रभा में नारकों की उत्कृष्ट स्थिनि तीन सागरोपम की होती है । (३) वालुकाप्रभा में नारको की उत्कृष्ट स्थिति सात सागरोपम की होती है । (४) पकप्रभामे नारको की उत्कृष्ट स्थिति दस सागरोपम की होती है । (५) धूमप्रभा में नारकों की उत्कृष्ट स्थिति सतरह सागरो-

मुत्कृष्टा स्थितिः सप्तदशसागरोपमा—५ तम प्रभायां नारकाणामुत्कर्षेण द्वाविंशति सागरोपमा स्थिति'—६ तमस्तम प्रभायान्तु तेषा मुत्कर्षेण त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा भवति ॥१७॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—नारकाणामनपवर्त्यायुष्कत्वादनुबद्धविषमदु खानुमूलकर्मालीढमूर्तत्वेना—ऽकाले मुमूर्षूणामपि मृत्युर्न भवति, किन्तु—पूर्णेस्वायुषि पश्चात्ते-उद्वर्तिष्यन्ते, तस्मात्—किं तत्तेषा नारकाणा मायुष्क मित्याकाङ्क्षया प्रथममुत्कृष्टत आयु परिमाणमाह—"**तेसुं नारगाणं उक्कोसेणं**—" इत्यादि ।

तेषु पूर्वोक्तस्वरूपेषु रत्नप्रभादिसप्तपृथिवीषु नरकेषु यथासख्य—त्रिंशत्—पञ्चविंशति—पञ्च दश—दश—त्रिलक्ष—पञ्चोनैकलक्ष—पञ्चमङ्ख्यकेषु नरकावासेषु नारकाणामुत्कृष्टेन—उत्कर्षत स्थिति आयु' प्रमाणम् यथाक्रमम्—क्रमश रत्नप्रभादि सप्तपृथिवीक्रमानुसारेण एक—त्रि—सप्त—दश—सप्त-दश—द्वाविंशति—त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा अवसेया ।

तत्र—रत्नप्रभाया मेका-सागरोपमा—उत्कृष्टा स्थितिर्नारकाणाम्—१ शर्कराप्रभाया त्रिसागरोपमा उत्कृष्टत स्थिति स्तेषाम्—२ वालुकाप्रभायां नारकाणा मुत्कृष्टा स्थिति' सप्तसागरोपमा—३ पङ्कप्रभाया तेषा मुत्कृष्टा स्थिति र्दशसारोपमा—४ धूमप्रभाया नारकाणामुत्कृष्टत स्थिति सप्त-दश सागरोपमा—५ तम प्रभायां तु—नारकाणा मुत्कृष्टा स्थिति र्द्वाविंशति सागरोपमा—६ तमस्तम' प्रभायां पुन र्नारकाणा मुत्कृष्टत' स्थिति स्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा भवतीति बोध्यम्—७

पम की होती है (६) तम प्रभा में नारको की स्थिति उत्कृष्ट बाईस सागरोपम की होती है । और (७) तमस्तम प्रभा में नारको की उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरोपम की होती है ॥१७॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—अत्यन्त विषम दु खजनक कर्मो का बन्ध करने के कारण एव अनपवर्त्तनीय आयु वाले होनेके कारण नारक जीव अकाल में ही मृत्यु की अभिलाषा करते हुए भी अकाल मे नहीं मरते । आयु पूर्ण होने पर यथाकाल ही उनका मरण होता है। यहाँ यह आशका उत्पन्न होती है कि उनकी आयु कितनी होती है ? इस शका का समाधान करने के लिए उनकी आयु का उत्कृष्ट प्रमाण बतलाया जाता है—

जिनका स्वरूप पहले बतालाया जा चुका है, उन रत्नप्रभा आदि सात नरक भूमियो में यथाक्रम तीस, पच्चीस, पन्द्रह, दस, तीन, लाख, पाँच कम एक लाख और पाँच नारकावासो मे नारक जीवो की उत्कृष्ट स्थिति अर्थात् आयु का प्रमाण रत्नप्रभा आदि भूमियो के अनुक्रम से एक सागरोपम, तीन सागरोपम, सात सागरोपम, दस सागरोपम, सत्रह सागरोपम, बाईस सागरोपम और तेतीस सागरोपम की होती है ।

इस प्रकार रत्नप्रभा पृथ्वी में नारकों की उत्कृष्ट स्थिति एक सागरोपम की, शर्कराप्रभा में तीन सागरोपम की, वालुकाप्रभा में सात सागरोपम की, पङ्कप्रभा मे दस सागरोपम की, धूमप्रभा में सत्रह सागरोपम की, तम प्रभा मे बाईस सागरोपम की और तमस्तम प्रभा में तेतीस सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति होती है ।

उपमानमुपमा—सादृश्य, सागरेणोपमा सागरोपमा, एका सागरोपमा यस्या स्थिते सा—एकसागरोपमा । एवं—त्रिसागरोपमादिष्वपि विग्रहोऽवगन्तव्य· । तेषु नरकेषु मद्यपायिन —मांसभक्षका —असत्यवादिन —परस्त्रीलम्पटा —महालोभाभिभूता·—स्त्री—बाल-वृद्ध-महर्षि—विश्वासघातका· जिनधर्मनिन्दका·—रौद्रध्यानाविष्टा इत्यादिरीत्या पापकर्माऽनुष्ठातार समुत्पद्यन्ते । तेचो-र्ध्वपादा· अधोमुखा सर्वेऽपि समुत्पद्या—ऽध पतन्ति, दीर्धकाल दु खान्यनुभवन्ति च ।

किञ्चा-ऽसञ्ज्ञिन —प्रथमनरकमेव गच्छन्ति, सरीसृपा —द्वितीयनरकपर्यन्तमेव गच्छन्ति, पक्षिण स्तृतीयनरकपर्यन्तमेव गच्छन्ति, सिंहाश्चतुर्थनरकपर्यन्तमेव गच्छन्ति, भुजग पञ्चम नरकपर्यन्तमेव गच्छन्ति, स्त्रिय षष्ठ नरकपर्यन्तमेव गच्छन्ति । मनुष्या मत्स्याश्च सप्तमनरक पर्यन्त गच्छन्तीति ।

सप्तमान्नरकान्निर्गतस्तिर्यगेव भवति, सम्यक्त्व तु तस्य न निषिध्यते । षष्ठान्नरकान्निर्गतो यदि—मनुष्यत्व प्राप्नोति, तदा विरतित्व प्राप्नोति । पञ्चमान्नरकान्निर्गतस्तु—यदि मनुष्यत्वं प्राप्नोति तदा सर्वविरतित्वं लभते । चतुर्थान्नरकान्निर्गत· कश्चित्—मनुष्यत्व प्राप्य निर्वाणमपि प्राप्नोति ।

उपमान या उपमा का अर्थ है सादृश्य । सागर अर्थात् समुद्र से उपमा होना सागरोपम है । एक सागर जिस आयु का उपमान हो वह एक सागरोपम कहलाती है । त्रिसागरोपम आदि में भी इसी प्रकार का विग्रह कर लेना चाहिए ।

उन नरकों में मद्यपान करने वाले, मांस भक्षण करने वाले, असत्यवादी, परस्त्रीलम्पट, महान् लोभ से ग्रस्त, अपनी स्त्री, बालक, वृद्ध और महर्षियो के साथ विश्वासघात करने वाले, जिनधर्म के निन्दक, रौद्रध्यान करने वाले, तथा इसी प्रकार के अन्य पापकर्म करने वाले जीव उत्पन्न होते है । जब कोई जीव नरक मे उत्पन्न होता है तो उस के पैर ऊपर और मुख नीचे की ओर होता है और नीचे गिरते है । उसके पश्चात् वे दीर्घ काल तक दु खो का अनुभव करते है ।

यहाँ इतना समझ लेना चाहिए कि असञ्ज्ञी जीव पहले नरक में ही उत्पन्न होते है, सरीसृप दूसरे नरक तक ही जाते हैं, पक्षी तीसरे नरक तक ही जाते हैं, सिंह चौथे नरक तक ही उत्पन्न होते है, भुजग पाँचवे नरक तक ही जा सकते है, स्त्रिया छठे नरक तक ही जाती है और मनुष्य—पुरुष एव मत्स्य सातवें नरक तक उत्पन्न होते है ।

सातवें नरक से निकला जीव तिर्यचगति में ही उत्पन्न होता है वहाँ सम्यक्त्व का निषेध नहीं है अर्थात् वहाँ कोई जीव सम्यक्त्व को प्राप्त कर सकता है । छठे नरक से निकला जीव यदि मनुष्यगति मे उत्पन्न हो तो वह देशविरति अगीकार कर सकता है पाचवें नरक से निकला प्राणी यदि मनुष्यत्व प्राप्त करता है तो सर्वविरति भी प्राप्त कर सकता है चौथे नरक से निकला कोई जीव मनुष्य गति पाकर निर्वाण भी प्राप्त कर सकता है । तीसरे,

तृतीयाद्–द्वितीयात्–प्रथमाच्च नरकान्निर्गत कश्चिन्मनुष्यत्व प्राप्य, तीर्थकरोऽपि भवति। देवा–नारका वा नरकेषूत्पत्ति नाऽऽसादयन्ति तथा स्वभावात्।

नापि–नरकादुद्वृत्य देवेषूत्पद्यन्ते। नरकादुद्वृत्ता खलु नारकास्तिर्यग्योनौ मनुष्येषु वा समुत्पद्यन्ते। आदितस्तिसृभ्य' पृथिवीभ्यः उद्वृत्य केचन–मनुष्यत्व प्राप्य तीर्थकरत्वमपि प्राप्नुवन्ति। चतसृभ्य खलु पृथिवीभ्य उद्वृत्य मनुष्यत्वञ्च प्राप्य केचन- निर्वाणमपि प्राप्नुवन्ति, आदित खलु पञ्चभ्य पृथिवीभ्य उद्वृत्य केचन–मनुष्यत्वं प्राप्य सयममपि प्राप्नुवन्ति।

षड्भ्य' पृथिवीभ्य उद्वृत्य पुन' केचन मनुष्यत्व प्राप्य सयमासयममपि प्राप्नुवन्ति। किन्तु सप्तमी पृथिवीत उद्वृत्तास्तु तिर्यक्त्वमेव प्राप्नुवन्ति, तत्र कश्चित् सम्यग्दर्शनमपि प्राप्नोति। सूत्र ॥१७॥

मूलसूत्रम्––"जहण्णेणं नारगाण ठिई जहाकमं दसवाससहस्सा–एग–ति–सत्त–दस–सत्तरस-बावीसा––" ॥ १८ ॥

छाया––"जघन्येन नारकाणां स्थितिः यथाक्रम दशवर्षसहस्राणि एक- त्रि-सप्त-दश-सप्तदश-द्वाविंशति सागरोपमा––' ॥ १८ ॥

तत्त्वार्थदीपिका––पूर्वसूत्रे–रत्नप्रभादि सप्तपृथिवीषु वर्तमानाना नारकाणामायु' प्रमाण-रूपा स्थिति रुत्कृष्टतः प्ररूपिता, सम्प्रति–तेषामेव जघन्येन स्थितिं प्ररूपयितुमाह–**"जहण्णेणं"** इत्यादि। जघन्येन–जघन्यत पूर्वोक्तेषु नरकेषु वर्तमानानां नारकाणा स्थिति –आयु परिमाणरूपा।

दूसरे और प्रथम नरक से निकला जीव मनुष्यगति प्राप्त करके तीर्थकर भी हो सकता है। देव और नारक मरकर नरकगति में उत्पन्न नहीं होते है। इसी प्रकार नारक जीव नरक से निकलकर सीधे देवगति में उत्पन्न नहीं होते है।

नरक से निकले जीव या तो तिर्यचयोनि में उत्पन्न होते है या मनुष्य गति में। पहले के तीन नरको से निकल कर कोई–कोई मनुष्य होकर तीर्थकर पद भी प्राप्त कर सकते है। चार नरको से निकल कर और मनुष्यगति पाकर कोई–कोई जीव निर्वाण भी प्राप्त कर लेते है। प्रारंभ की पाँच पृथ्वियो से निकल कर कोई–कोई जीव मनुष्य होकर सर्वविरति सयम की प्राप्ति भी कर सकती हैं। छठो पृथ्वी से निकलकर कोई–कोई जीव मनुष्य होकर सयमा-सयम (देशविरति भी प्राप्त कर सकते है। किन्तु सातवीं से निकले जीव तो तिर्यञ्च गति को ही पाते है वहाँ कोई जीव सम्यग्दर्शन भी प्राप्त कर सकता है। सूत्र––१७॥

सूत्रार्थ––'जहण्णेणं नारगाणं' इत्यादि। सूत्र १८॥

नारको की जघन्य स्थिति अनुक्रम से दस हजार वर्ष, एक सागरोपम, सतरह सागरोपम और बाईस सागरोपम है। सूत्र––१८॥

तत्त्वार्थदीपिका––इससे पहले के सूत्र मे रत्नप्रभा आदि सातो नरकभूमियों में निवास करने वाले नारको की उत्कृष्ट स्थिति का प्ररूपण किया गया है। अब उनकी जघन्य अर्थात्

यथाक्रमम्—क्रममनतिक्रम्य यथाक्रम रत्नप्रभादि पृथिवीक्रमानुसारेण दशवर्षसहस्राणि, एक सागरोपमम्, त्रिसागरोपमा, सप्तसागरोपमा, दशसागरोपमा, सप्तदशसागरोपमा, द्वाविंशसागरोपमा चाऽवसेया। तत्र—रत्नप्रभा पृथिवीवर्ति नारकाणां जघन्येन दशवर्षसहस्राणि स्थिति, शर्कराप्रभा पृथिवीवर्तिनारकाणा जघन्येनै—कसागरोपमा स्थिति, वालुकाप्रभापृथिवीमध्यवर्ति नारकाणा जघन्येन त्रिसागरोपमा स्थिति, पङ्कप्रभापृथिवी मध्यवर्तिनारकाणा जघन्येन सप्तसागरोपमा स्थिति, धूमप्रभा पृथिवीमध्यवर्ति नारकाणा जघन्येन दशसागरोपमा स्थिति, तम प्रभापृथिवीमध्यवर्ति नारकाणा जघन्येन सप्तदश सागरोयमा स्थिति, तमस्तम प्रभापृथिवीमध्यवर्तिनारकाणा जघन्येन द्वाविंशति सागरोपमा स्थिति आयु प्रमाणरूपा भवतीतिभाव ॥१८॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं नाराकाणामुत्कृष्टेन स्थिति प्ररूपिता, सम्प्रति—तेषा जघन्येन स्थितिं प्ररूपयितुमाह

"जहण्णेणं नारगाणं ठिई जहाकमं दसवाससहस्सा एग–ति–सत्त–दस–सत्तरस–बावीस तेत्तीसा सागरोवमा—" ॥ इति ॥

रत्नप्रभादिपृथिवीषु—नारकाणा जघन्येन स्थिति आयु प्रमाणरूपा यथाक्रमम्—क्रममनतिक्रम्य यथाक्रमम्, रत्नप्रभादि पृथिवीक्रमानुसारेण दशवर्षसहस्राणि, एक सागरोपमम्, त्रिसागरोपमा, सप्तसागरोपमा, दशसागरोपमा, सप्तदशसागरोपमा द्वाविंशति सागरोपमा—ऽवसेया। तत्र रत्नप्रभापृथिव्यां—नारकाणा जघन्येन दशवर्षसहस्राणि स्थिति भवति, शर्क-

---

कम से कम स्थिति का प्ररूपण करने के लिए कहते है। रत्नप्रभा आदि भूमियो के क्रम के अनुसार उसमे रहने वाले नारको की जघन्य स्थिति इस प्रकार है—दस हजार वर्ष, एक सागरोपम तीन सागरोपम, सात सागरोपम, दस सागरोपम, सत्तरह सागरोपम और बाइस सागरोपम।

रत्नप्रभा पृथ्वी के नारकों की जघन्य स्थिति अर्थात् आयु का प्रमाण दस हजार वर्ष का है। शर्करप्रभा पृथ्वी के नारको को जघन्य स्थिति एक सागरोपम की है। वलुका प्रभा पृथ्वी में रहने वाले नारको की जघन्य स्थिति तीन सागरोपम की है। पकप्रभा पृथ्वी मे निवास करने वाले नारक जीवो की स्थिति सात सागरोपम की है। धूमप्रभा पृथिवी के नारकों की जघन्य स्थिति दस सागरोपम की है। तम प्रभा पृथ्वी के नारको की जघन्य स्थिति सतरह सागरोपम की है। तमस्तमा नामक सातवीं पृथ्वी के नारको की जघन्य स्थिति बाईस सागरोपम की है ॥१८॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—इससे पूर्व नारक जीवो की उत्कृष्ट अर्थात् अधिक से अधिक स्थिति की प्ररूपणा की गई, अब उनकी जघन्य स्थिति कहते हैं—रत्नप्रभा आदि पृथिवियों मे नारक जीवो की जघन्य स्थिति अर्थात् आयु का प्रमाण, क्रम के अनुसार इस प्रकार है—दस हजार वर्ष एक सागरोपम तीन सागरोपम, सात सागरोपम, दस सागरोपम, सतरह सागरोपम और बाईस सागरोपम।

इसमे रत्नप्रभा पृथ्वी मे नारको की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की

राप्रभापृथिव्यां नारकाणां जघन्येन—एकसागरोपमा स्थिति', वालुकाप्रभाया पृथिव्या नारकाणा जघन्येन त्रिसागरोपमा स्थिति, पङ्कप्रभायां पृथिव्या जघन्येन नारकाणा सप्तसागरोपमा स्थितिः, धूमप्रभाया पृथिव्या—नारकाणां जघन्येन दशसागरोपमा स्थिति, तम प्रभापृथिव्यां नारकाणां जघन्येन सप्तदशसागरोपमा स्थिति, तमस्तम प्रभाया पृथिव्या नारकाणा जघन्येन द्वाविंशति सागरोपमा स्थितिरवसेया । तथाचोक्तम्—उत्तराध्ययने सूत्रे ३६—अध्ययने—

"सागरोवममेगंतु उक्कोसेणं वियाहिया ।
पढमाए जहण्णेणं दसवाससहस्सिया ॥१६०॥
"तिण्णेव सागराऊ उक्कोसेण वियाहिया ।
दोच्चाए जहण्णेणं एगंतु सागरोवमं ॥१६१॥
"सत्तेव सागराऊ उक्कोसेण वियाहिया ।
तइयाए जहण्णेण तिण्णेव सागरोवमा ॥१६२॥
"दस सागरोवमाऊ उक्कोसेण वियाहिया ।
चउत्थीए जहण्णेणं सत्तेव सागरोवमा ॥१६३॥
"सत्तरस सागराऊ उक्कोसेण वियाहिया ।
पंचमाए जहण्णेणं दसचेव सागरोवमा ॥१६४॥
"बावीस सागराऊ उक्कोसेण वियाहिया ।
छट्ठीए जहण्णेणं सत्तरस सागरोवमा ॥१६५॥
"तेत्तीस सागराऊ उक्कोसेण वियाहिया ।
सत्तमाए जहण्णेणं बावीसं सागरोवमा ॥१६६॥

"छाया—"सागरोपममेकन्तु—उत्कर्षेण व्याख्यातम् ।
प्रथमाया जघन्येन—दशवर्षसहस्रिका ॥१६०॥

होती है । शर्कराप्रभा पृथ्वी मे नारको की जघन्य स्थिति एक सागरोपम की होती है । वालुका प्रभा मे नारको की जघन्य स्थिति तीन सागरोपम की होती है । पङ्कप्रभा पृथ्वी मे नारकों की जघन्य स्थिति सात सागरोपम की होती है । धूमप्रभा में नारकों की जघन्य स्थिति दस सागरोपम की होती है । तम प्रभा पृथ्वी मे नारको की जघन्य स्थिति सतरह सागरोपम की होती है । तमस्तम प्रभा पृथिवी मे नारको की जघन्य स्थिति वाईस सागरोपम की समझनी चाहिए । उत्तराध्ययन सूत्र के ३६ वें अध्ययन मे कहा है—

'प्रथम भूमि अर्थात् रत्नप्रभा मे उत्कृष्ट स्थिति एक सागरोपम की है और जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की है ॥१६०॥

"त्रय एव सागरास्तु–उत्कर्षेण व्याख्याता ।
द्वितीयायां जघन्येन–एकन्तु सागरोपमम् ॥१६१॥
"सप्तैव सागरास्तु–उत्कर्षेण व्याख्याता ।
तृतीयाया जघन्येन–त्रिस्र एव सागरोपमा ॥१६२॥
"दश सागरोपमास्तु–उत्कर्षेण व्याख्याता ।
चतुर्थ्यां जघन्येन–सप्तैव सागरोपमा ॥१६३॥
"सप्तदश सागरास्तु–उत्कर्षेण व्याख्याता' ।
पञ्चम्या जघन्येन–दशचैव सागरोपमा ॥१६४॥
"द्वाविंशति' सागरास्तु–उत्कर्षेण व्याख्याता ।
षष्ठ्यां जघन्येन–सप्तदश सागरोपमाः ॥१६५॥
"त्रयस्त्रिंशत्सागरास्तु–उत्कर्षेण व्याख्याता' ।
सप्तम्या जघन्येन–द्वाविंशति सागरोपमा' ॥१६६॥ इति

तथाच—नारकाणां पूर्व–पूर्व पृथिव्यां या–उत्कृष्टा स्थिति' सा परपरपृथिव्या जघन्या स्थिति र्भवति, यथा– रत्नप्रभायां नारकाणा मुत्कृष्टा स्थिति' एक सागरोपमं वर्तते । सा चैक-सागरोपमा स्थिति शर्कराप्रभाया जघन्या वर्तते नारकाणाम् ।

'दूसरी पृथ्वी अर्थात् शर्कराप्रभा में उत्कृष्ट आयु तीन सागरोपम की तथा जघन्य आयु एक सागरोपम की है ॥१६१॥

'तीसरी पृथ्वी में अर्थात् वालुकाप्रभा में उत्कृष्ट आयु सात सागरोपम की और जघन्य आयु तीन सागरोपम की है ॥१६२॥

'चौथी पृथ्वी पंकप्रभा में उत्कृष्ट आयु दस सागरोपम की है और जघन्य् आयु सात सागरोपम की है ॥१६३॥

'पाँचवीं धूमप्रभा पृथ्वी मे उत्कृष्ट आयु सतरह सागरोपम की और जघन्य आयु दस सागरोपम की है' ॥१६४॥

छठी अर्थात् तम प्रभा में उत्कृष्ट आयु बाईस सागरोपम की और जघन्य आयु सत-रह सागरोपम की है' ॥१६५॥

'सातवीं पृथ्वी तमस्तम'प्रभा मे उत्कृष्ट आयु तेतीस सागरोपम की और जघन्य आयु बाईस सागरोपम की है' ॥१६६॥

सातों नरकभूमियो के नारकों की ऊपर जो उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति दिखलाई गई है, उसे ध्यानपूर्वक देखने से प्रतीत होगा कि पूर्व–पूर्व के नरक मे जितनी उत्कृष्ट स्थिति है, उत्तरोत्तर में वही जघन्य बन जाती हैं। उदाहरणार्थ–रत्नप्रभा पृथ्वी में नारकों की उत्कृष्ट स्थिति एक सागरोपम की है, वही शर्कराप्रभा मे जघन्य स्थिति है। शर्कराप्रभा में तीन

शर्कराप्रभायां नारकाणा या त्रिसागरोपमो-त्कृष्टा स्थिति रस्ति, सा वालुकाप्रभाया तेषां जघन्या स्थितिरवसेया । या च-वालुकाप्रभाया नारकाणा मुत्कृष्टा स्थिति सप्तसागरोपमा वर्तते, सा-पङ्कप्रभायां नारकाणां जघन्या स्थितिरस्ति । या च-पङ्कप्रभायां नारकाणामुत्कृष्टा स्थिति देशसागरोपमा वर्तते, सा धूमप्रभायां तषा जघन्या स्थिति रस्ति । या च-धूमप्रभाया—नारकाणा मुत्कृष्टा स्थिति सप्तदशसागरोपमा वर्तते सा तम॰प्रभाया नारकाणा जघन्या स्थिति र्भवति । या च तमःप्रभायां नारकाणामुत्कृष्टा स्थिति द्वाविंशतिसागरोपमा वर्तते, सा खलु-तमस्तम॰ प्रभायां नारकाणां जघन्या स्थिति र्भवति । रत्नप्रभायान्तु-नारकाणा दशवर्ष-सहस्राणि जघन्या स्थिति रवगन्तव्या ॥ १८ ॥

मूलसूत्रम्—"जंबूदीव लवण समुद्दाइ नामाओ असंखेज्जा दीवसमुद्दा-" ॥१९॥

छाया—"जम्बूद्वीप लवणसमुद्रादि नामानोऽसंख्येयाः द्वीपसमुद्राः—" ॥१९॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे-रत्नप्रभादि सप्तपृथिवीषु नरकवासिनां नारकाणां जघन्येन स्थिति प्ररूपिता, सम्प्रति-भूमिप्रस्तावाद् जम्बूद्वीपादि द्वीपान्-लवणसमुद्रांश्च प्ररूपयितुमाह—

"जंबूदीव लवण समुद्दाइ-" इत्यादि । जम्बूद्वीपलवणसमुद्रादयोऽसंख्येया द्वीपसमुद्रा॰ सन्ति । तत्र-जम्बूद्वीपादयो द्वीपा लवणोदधिप्रभृतय समुद्रा श्चाऽसंख्येया सन्ति ।

तद्यथा-जम्बूद्वीपो नामा द्वीप -१ लवणोदधिनामा समुद्र॰, धातकी खण्डनामा द्वीप -२ कालोदधिनामा समुद्र॰, पुष्करवरनामा द्वीप -३ पुष्करवरोदनामा समुद्रश्च, वारुणीवरनामा

सागरोपम की जो उत्कृष्ट स्थिति है, वह तीन सागरोपम वालुका प्रभा मे जघन्य समझनी चहिए । वालुकाप्रभा में जो सात सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति है वही पकप्रभा में जघन्य है । पकप्रभा में उत्कृष्ट स्थिति दस सागरोपम की है, वही धूमप्रभा में जघन्य है । धूम-प्रभा में उत्कृष्ट स्थिति सतरह सागरोपम की है, वही तम॰प्रभा में जघन्य स्थिति है । तम प्रभा मे नारको की उत्कृष्ट स्थिति वाईस सागरोपम है, वही बाईस सागरोपम् तमस्तम प्रभा में जघन्य है । रत्नप्रभा में जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की है ॥१८॥

सूत्रार्थ—'जबुदीवलवण' इत्यादि ॥१९॥

जम्बू द्वीप आदि द्वीप और लवण आदि समुद्र असख्यात है ॥१९॥

तत्त्वार्थदीपिका— पूर्व सूत्र में रत्नप्रभा आदि भूमियो के नारको की जघन्य स्थिति की प्ररूपणा की गई, अब प्रसगवश जम्बूद्वीप आदि द्वीपो की और लवण समुद्रो की प्ररूपणा करते है—

जम्बूद्वीप और लवणसमुद्र आदि द्वीप और समुद्र असख्यात है वे इस प्रकार हैं—(१) जम्बूद्वीप नामक द्वीप, लवणोदधि नामक समुद्र, (२) धातकी खण्ड नामक द्वीप, कालोदधि नामक समुद्र (३) पुष्करवर नामक द्वीप, पुष्करवरोद नामक समुद्र, (४) वारुणी-

द्वीप -४ वारुणीवरोदनामा समुद्रश्च, क्षीरवरनामा द्वीप:-५ क्षीरवरोदनामा समुद्रश्च, घृतवरनामा द्वीप -६ घृतवरोदनामा समुद्रश्च ।

इक्षुवरनामा द्वीपः-७ इक्षुवरोदनामा समुद्रश्च, नन्दीश्वरवर नामा द्वीप:-८ नन्दीश्वरवरोद नामा समुद्रश्च, अरुणवर नामा द्वीप.-९ अरुणवरोद नामा समुद्रश्चेत्येव रीत्या स्वयम्भूरमण-पर्यन्ता असख्येया द्वीपसमुद्रा अवगन्तव्या ॥ १९ ॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—इत: पूर्व रत्नप्रभादि पृथिवीपु स्थितानां सीमन्तकादिनरकावास-निवासिनां जीवाना नरकेषु स्थिति रायु: परिमाणरूपा प्ररूपिता, सम्प्रतिहि-भूमिप्रस्तावाद जम्बूद्वीपादि द्वीपानां-लवणोधदिप्रभृति समुद्राणाञ्च स्वरूपाणि प्ररूपयितुमाह—"**जंबूदीव लवण समुदाइ नामाओ असखेज्जा दीवसमुद्दा**—" इति ।

जम्बूद्वीप लवणसमुद्रादिनामानोऽसख्येया द्वीपसमुद्रा: सन्ति । तत्र-जम्बूद्वीपादयो द्वीपा: लवणोदधिप्रभृतय: समुद्राश्चा-ऽसख्येयास्तत्तन्नामधेया: सन्ति । तथाचा सख्येयपदेना-ऽत्र सार्द्धद्वयोद्धारसागरोपमरूपमसख्यातत्व गृह्यते । तच्चोद्धारसागरोपमं उद्धारपल्योपमै र्निष्पद्यते, तथाहि-पल्य स्यात् यत् आयामविष्कम्भाभ्या उर्व्वोच्चत्वेन च प्रत्येक योजनपरिमितम् साधिक त्रिगुणपरिक्षेपयुक्त च भवेत्, तच्च उत्कृष्टेन सप्तरात्रप्ररूढवालाग्रै सनिचितमेतादृश

वर नामक द्वीप, वारुणीवरोद नामक समुद्र (५) क्षीरवर नामक द्वीप, क्षीरवरोद नामक समुद्र (६) घृतवर नामक द्वीप, घृतवरोद नामक समुद्र (७) इक्षुवर नामक द्वीप, इक्षुवर नामक समुद्र (८) नदीश्वर नामक द्वीप, नदीश्वरवरोद नामक समुद्र (९) अरुनामवरणक द्वीप, अरुणवरोद नामक समुद्र, इस प्रकार एक द्वीप और एक समुद्र, इस क्रम से स्वयंभूरमण द्वीप और स्वयं-भूरमण समुद्र तक असख्यात द्वीप-समुद्र समझने चाहिए ॥१९॥

तत्त्वार्थनियुक्ति- इससे पूर्व रत्नप्रभा आदि पृथ्वियो में स्थित सीमन्तक आदि नारका-वासो में निवास करने वाले नारक जीवों की स्थिति अर्थात् आयु के प्रमाण की प्ररूपणा की गई है । अब भूमि का प्रकरण होने से जम्बूद्वीप आदि द्वीपो का तथा लवणोदधि आदि समुद्रों का स्वरूप बतलाने के लिए कहते हैं ।

जम्बूद्वीप और लवणसमुद्र आदि असख्यात द्वीप और समुद्र है । तात्पर्य यह है कि जम्बूद्वीप आदि द्वीप असख्यात है और लवणोदधि आदि समुद्र भी असख्यात हैं । अस-ख्यात मे तरतमता के भेद से असख्यात प्रकार हो सकते है । यहाँ असख्यात पद से अढ़ाई उद्धार सागरोपम की समयराशि के बराबर असख्यात का ग्रहण करना चाहिए । यह उद्धार सागरोपम उद्धार पल्योपम से निष्पन्न होता है । जैसे-एक कोई पल्य आधारपात्र-जो एक एक योजन आयामविष्कम वाला अर्थात् एक योजन का लम्बा और एक योजन का चौडा तथा एक योजन का गहरा तथा इस माप से कुछ अधिक तीनगुनी परिधि गोलाई वाला

शर्कराप्रभायां नारकाणां या त्रिसागरोपमो–त्कृष्टा स्थिति रस्ति, सा वालुकाप्रभाया तेषां जघन्या स्थितिरवसेया । या च–वालुकाप्रभाया नारकाणा मुत्कृष्टा स्थिति सप्तसागरोपमा वर्तते, सा–पङ्कप्रभायां नारकाणां जघन्या स्थितिरस्ति । या च–पङ्कप्रभायां नारकाणामुत्कृष्टा स्थिति र्दशसागरोपमा वर्तते, सा धूमप्रभायां तषा जघन्या स्थिति रस्ति । या च–धूमप्रभाया—नारकाणा मुत्कृष्टा स्थिति सप्तदशसागरोपमा वर्तते सा तमःप्रभाया नारकाणा जघन्या स्थिति र्भवति । या च तमःप्रभायां नारकाणामुत्कृष्टा स्थिति द्वाविंशतिसागरोपमा वर्तते, सा खलु–तमस्तमःप्रभायां नारकाणां जघन्या स्थिति र्भवति । रत्नप्रभायान्तु–नारकाणां दशवर्ष-सहस्राणि जघन्या स्थिति रवगन्तव्या ॥ १८ ॥

मूलसूत्रम्—"जंबूदीव लवण समुद्दाइ नामाओ असंखेज्जा दीवसमुद्दा–" ॥१९॥

छाया—"जम्बूद्वीप लवणसमुद्रादि नामानोऽसंख्येयाः द्वीपसमुद्राः—" ॥१९॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे–रत्नप्रभादि सप्तपृथिवीपु नरकवासिनां नारकाणां जघन्येन स्थितिः प्ररूपिता, सम्प्रति–भूमिप्रस्तावाद् जम्बूद्वीपादि द्वीपान्–लवणसमुद्रांश्च प्ररूपयितुमाह—

"जंबूदीव लवण समुद्दाइ–" इत्यादि । जम्बूद्वीपलवणसमुद्रादयोऽसंख्येया द्वीपसमुद्रा सन्ति । तत्र–जम्बूद्वीपादयो द्वीपा लवणोदधिप्रभृतय समुद्रा श्चाऽसंख्येयाः सन्ति ।

तद्यथा–जम्बूद्वीपो नामा द्वीप –१ लवणोदधिनामा समुद्रः, धातकी खण्डनामा द्वीपः–२ कालोदधिनामा समुद्र, पुष्करवरनामा द्वीप –३ पुष्करवरोदनामा समुद्रश्च, वारुणीवरनामा

सागरोपम की जो उत्कृष्ट स्थिति है, वह तीन सागरोपम वालुका प्रभा में जघन्य समझनी चहिए । वालुकाप्रभा में जो सात सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति है वही पकप्रभा में जघन्य है । पकप्रभा मे उत्कृष्ट स्थिति दस सागरोपम की है, वही धूमप्रभा में जघन्य है । धूम-प्रभा में उत्कृष्ट स्थिति सतरह सागरोपम की है, वही तमःप्रभा में जघन्य स्थिति है । तम प्रभा मे नारको की उत्कृष्ट स्थिति बाईस सागरोपम है, वही बाईस सागरोपम् तमस्तम प्रभा में जघन्य है । रत्नप्रभा में जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की है ॥१८॥

सूत्रार्थ—'जबुदीवलवण' इत्यादि ॥१९॥

जम्बू द्वीप आदि द्वीप और लवण आदि समुद्र असख्यात है ॥१९॥

तत्त्वार्थदीपिका— पूर्व सूत्र में रत्नप्रभा आदि भूमियों के नारको की जघन्य स्थिति की प्ररूपणा की गई, अब प्रसगवश जम्बूद्वीप आदि द्वीपो की और लवण समुद्रों की प्ररूपणा करते हैं—

जम्बूद्वीप और लवणसमुद्र आदि द्वीप और समुद्र असख्यात है वे इस प्रकार हैं—(१) जम्बूद्वीप नामक द्वीप, लवणोदधि नामक समुद्र, (२) घातकी खण्ड नामक द्वीप, कालोदधि नामक समुद्र (३) पुष्करवर नामक द्वीप, पुष्करवरोद नामक समुद्र, (४) वारुणी-

द्वीप.—४ वारुणीवरोदनामा समुद्रश्च, क्षीरवरनामा द्वीप -५ क्षीरवरोदनामा समुद्रश्च, घृतवरनामा द्वीप·—६ घृतवरोदनामा समुद्रश्च ।

इक्षुवरनामा द्वीपः—७ इक्षुवरोदनामा समुद्रश्च, नन्दीश्वरवर नामा द्वीप —८ नन्दीश्वरवरोद नामा समुद्रश्च, अरुणवर नामा द्वीप.—९ अरुणवरोद नामा समुद्रश्चेत्येव रीत्या स्वयम्भूरमण-पर्यन्ता असंख्येया द्वीपसमुद्रा अवगन्तव्या· ॥ १९ ॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—इत· पूर्वं रत्नप्रभादि पृथिवीषु स्थितानां सीमन्तकादिनरकावास-निवासिनां जीवाना नरकेषु स्थिति रायु· परिमाणरूपा प्ररूपिता, सम्प्रतिहि—भूमिप्रस्तावाद जम्बूद्वीपादि द्वीपानां—लवणोधदिप्रभृति समुद्राणाञ्च स्वरूपाणि प्ररूपयितुमाह—"**जबूदीव लवण समुद्दाइ नामाओ असखेज्जा दीवसमुद्दा**—" इति ।

जम्बूद्वीप लवणसमुद्रादिनामानोऽसख्येया द्वीपसमुद्रा· सन्ति । तत्र—जम्बूद्वीपादयो द्वीपाः लवणोदधिप्रभृतय समुद्राश्चा-ऽसख्येयास्तत्तन्नामधेया· सन्ति । तथाचा सख्येयपदेना-ऽत्र सार्द्धद्वयोद्धारसागरोपमरूपमसख्यातत्व गृह्यते । तच्चोद्धारसागरोपमं उद्धारपल्योपमैं र्निष्पद्यते, तथाहि—पल्य स्यात् यत् आयामविष्कम्भाभ्या उर्व्वोच्चत्वेन च प्रत्येक योजनपरिमितम् साधिक त्रिगुणपरिक्षेपयुक्त च भवेत्, तच्च उत्कृष्टेन सप्तरात्रप्ररूढबालाग्रै. सनिचितमेतादृश

वर नामक द्वीप, वारुणीवरोद नामक समुद्र (५) क्षीरवर नामक द्वीप, क्षीरवरोद नामक समुद्र (६) घृतवर नामक द्वीप, घृतवरोद नामक समुद्र (७) इक्षुवर नामक द्वीप, इक्षुवर नामक समुद्र (८) नदीश्वर नामक द्वीप, नदीश्वरवरोद नामक समुद्र (९) अरुनामवरणक द्वीप, अरुणवरोद नामक समुद्र, इस प्रकार एक द्वीप और एक समुद्र, इस क्रम से स्वयभूरमण द्वीप और स्वय-भूरमण समुद्र तक असख्यात द्वीप—समुद्र समझने चाहिए ॥१९॥

तत्त्वार्थनियुक्ति— इससे पूर्व रत्नप्रभा आदि पृथ्वियो में स्थित सीमन्तक आदि नारका-वासो में निवास करने वाले नारक जीवों की स्थिति अर्थात् आयु के प्रमाण की प्ररूपणा की गई है । अब भूमि का प्रकरण होने से जम्बूद्वीप आदि द्वीपो का तथा लवणोदधि आदि समुद्रों का स्वरूप बतलाने के लिए कहते हैं ।

जम्बूद्वीप और लवणसमुद्र आदि असख्यात द्वीप और समुद्र है । तात्पर्य यह है कि जम्बूद्वीप आदि द्वीप असख्यात हैं और लवणोदधि आदि समुद्र भी असख्यात है । अस-ख्यात मे तरतमता के भेद से असख्यात प्रकार हो सकते है । यहाँ असख्यात पद से अढ़ाई उद्धार सागरोपम की समयराशि के बराबर असख्यात का ग्रहण करना चाहिए । यह उद्धार सागरोपम उद्धार पल्योपम से निष्पन्न होता है । जैसे—एक कोई पल्य आधारपात्र—जो एक एक योजन आयामविष्कम वाला अर्थात् एक योजन का लम्बा और एक योजन का चौडा तथा एक योजन का गहरा तथा इस माप से कुछ अधिक तीनगुनी परिधि गोलाई वाला

मृत स्यात् यन्नाग्निना दह्यते न वायुनाऽपह्रियते न जलेन क्लिद्यते, ततस्तस्मा त्तादृगात्पल्यात् प्रतिसमयमेकैकबालाग्रामपह्रियते। ततो यावता कालेन तत्पल्यं रिक्तं भवेत्तावत्कालपरिमितमेकमुद्धारपल्योपमं भवति, तैस्तादृशै दश कोटि कोटि परिमितै, पल्योपमैरेकमुद्धारसागरोपम निष्पद्यते एतादृश सार्धद्वयोद्धारसागरोपम समयराशिप्रमाणतुल्या खलु द्वीपसमुद्रा सन्ति।

तत्राऽपि—प्रथमद्वीपादनन्तर प्रथम. समुद्र, द्वितीय द्वीपादनन्तरो द्वितीय. समुद्र, तृतीयादनन्तर स्तृतीयः समुद्र इत्यादि रीत्या प्राक् तावद् द्वीपो वर्तते पश्चात् समुद्रोऽस्ति, तदनन्तर' पुनर्द्वीप'—तदन्तरः पुन समुद्र —इत्येव यथासख्यमवगन्तव्यम्। तद्यथा—

प्रथम तावद् जम्बूद्वीपो नाम द्वीप लवणोदधि' समुद्रश्च—१ ततो धातकीखण्डो नाम द्वीप' कालोदधि समुद्रश्च—२ तत पुष्करवरो नाम द्वीप' पुष्करोदधि' समुद्र.—३ ततो वरुणवरोनाम द्वीप वरुणोदधि समुद्रश्च—४ तत' क्षीरवरो नाम द्वीपोऽस्ति क्षीरोदधि' समुद्रश्च—५ ततो घृतवरो नाम द्वीप घृतोदधि समुद्रश्च—६ततश्च—ईक्षुवरोनाम द्वीपः इक्षुवरोदधि' समुद्रश्च—७ ततो नदीश्वरो नाम द्वीप नन्दीश्वरोदधि समुद्रश्च—८ ततश्च—अरुणवरो नाम द्वीप अरुणवरोदधि' समुद्रश्च—९ इत्येव रीत्या स्वयम्भूरमणसमुद्रपर्यन्ता. असख्येया द्वीपसमुद्रा सन्तीति भाव।

ते खलु सर्वे द्वीप—समुद्रा न शक्यन्ते नामग्राहमाख्यातु तेषामसख्येयत्वात्, तत्र—''जंबूद्वीपः इत्यादि सज्ञा—सज्ञिसम्बन्धश्चा—ऽनादिकालिकोऽवसेय'। द्विर्गता आपो यस्मिन् इति द्वीप-

हो, वह पल्य एक दो तीन उत्कृष्ट से सात रात्रि के उगे हुए बालाग्रो से ऐसा ठोस ठोसकर भरा जाय कि जिस बालाग्र को न अग्नि जला सके न वायु उडा सके और न पानी उन्हे क्लिन्न—गीला कर सके। इस तरह ठोसकर भरे हुए पल्यसे प्रति समय एक एक बालाग्र निकाला जाय, तो जितने काल से वह पल्य रिक्त—खाली होवे उतने काल प्रमाण का एक उद्धार पल्योपम होता है। वैसे दस करोडा-करोड उद्धारपल्योपम होते है तब एक उद्धारसागरोपम होता है। इस प्रकार के अढाई उद्धार सागरोपमो मे जितने समय होते है उतने ही द्वीप और समुद्र है।

इन द्वीपो और समुद्रो की अवस्थिति अनुक्रम से इस प्रकार है—पहले द्वीप के बाद पहला समुद्र है, दूसरे द्वीप के बाद दूसरा समुद्र है तीसरे द्वीप के बाद तीसरा समुद्र है, इत्यादि क्रम से पहले द्वीप फिर समुद्र फिर द्वीप और समुद्र इस प्रकार अनुक्रम से द्वीप और समुद्र है। उदहारणार्थ—सर्वप्रथम जम्बूद्वीप नामक द्वीप है, उसे चारो ओर से वेष्टित किये हुए लवणोदधि नामक समुद्र है, तत्पश्चात् लवणोदधि समुद्र को चारो ओर से घेरे हुए धातकीखड नामक द्वीप है, फिर कालोदधि नामक समुद्र है, फिर पुष्करवर नामक द्वीप और पुष्करोदधि समुद्र है, फिर वरुणवर नामक द्वीप और वरुणोदधि समुद्र है, फिर क्षीरवर नामक द्वीप और क्षीरोदधि समुद्र है, फिर घृतवर नामक द्वीप और घृतोदधि समुद्र है, फिर इक्षुवर नामक द्वीप और इक्षुवरोदधि समुद्र है, फिर नन्दीश्वर नामक द्वीप और नन्दीश्वरोदधि समुद्र है, फिर अरूणवर नामक द्वीप और अरूणवरोदधि नामक समुद्र है, इस क्रम से स्वयंभूरमण समुद्र पर्यन्त असख्यात द्वीप और समुद्र है।

सभी द्वीपो और समुद्रो का नामोल्लेख करके गिनाना सभव नहीं है, क्योकि वे असंख्येय हैं। जम्बूद्वीप अनादि काल से है और उसका 'जम्बूद्वीप, यह नाम भी अनादि काल से है।

पद्व्युत्पत्या उभयपार्श्वजलपरिगतभूप्रदेशो द्वीप उच्यते, सर्वं खल्वेतद् जम्बूद्वीपादि द्वीपसमुद्र-वलयजालमस्या एव रत्नप्रभाया पृथिव्या उपरि—अवस्थितमवगन्तव्यम्, एतावानेव खलु तिर्यग्लोको वर्तते—न तत'परमिति भाव ।

उक्तञ्च जीवाभिगमे ३—प्रतिपत्तौ २ उद्देशके द्वीपप्रकरणे—**केवलिया णं भंते ! जंबुद्दीवा पण्णत्ता ? गोयमा असंखेज्जा जंबुद्दीवा नामधेज्जेहि पण्णत्ता । केवलिया णं भंते ! लवणसमुद्दा पण्णत्ता असंखेज्जा लवणसमुद्दा नामधेज्जेहिं पण्णत्ता, एवं धायइसंडावि एवं जाव असंखेज्जा सूरदीवा नामधेज्जेहिय, एगे देवे दीवे पण्णत्ते एगे देवोदे समुद्दे पण्णत्ते, एवं णागे, जक्खे, भूए, जाव—एगे सयंभूरमणे दीवे, एगे सयंभूरमणसमुद्दे णामधेज्जेणं पण्णत्ते" ।**

["छाया—"] कियन्त खलु भदन्त ! जम्बूद्वीपा प्रज्ञप्ता ? गौतम ! असख्येया जम्बूद्वीपा नामधेयै प्रज्ञप्ता । कियन्त खलु भदन्त ! लवणसमुद्रा प्रज्ञप्ता ? गौतम ! असख्येया लवणसमुद्रा नामधेयै प्रज्ञप्ता एव—धातकीखण्डा अपि, एव—यावत् असख्येया सूर्य-द्वीपाः नामधेयैश्च, एको देवो द्वीप' प्रज्ञप्त , एको देवोदधि समुद्र प्रज्ञप्त', एक स्वयम्भूरमण-समुद्रो नामधेयेन प्रज्ञप्त इति ।

पुनश्चाग्रे तत्रैव जीवाभिगमे तृतीयप्रतिपत्तौ २ उद्देशके चोक्तम् **"जावतिया लोगे सुभा णामा सुभा वण्णा जाव सुभा फासा एवतिया दीवसमुद्दा णामधेज्जेहिं पण्णत्ता—"**

जिसके सव (चारो) ओर पानी हो वह द्वीप, इस व्युत्पत्ति के अनुसार चारो पार्श्वों मे जल से व्याप्त, जो भूमिभाग होता है, वह द्वीप कहलाता है ।

जम्बूद्वीप एव लवणसमुद्र आदि असख्यात द्वीप समुद्रो का यह जो समूह है, सब इसी रत्नप्रभा पृथ्वी के ऊपर अवस्थित है । इतनी ही तिर्यक् लोक की सीमा है । स्वयभूरमण समुद्र से आगे तिर्छा लोक नहीं है ।

जीवाभिगम सूत्र में तीसरी प्रतिपत्ति, दूसरे उद्देशक, सूत्र १८६ वें मे द्वीप प्रकरण में कहा है—

प्रश्न—भावन् जम्बूद्वीप कितने कहे गए है ?

उत्तर—गौतम ! जम्बूद्वीप नाम से असख्यात द्वीप कहे गए है ।

प्रश्न—भगवन् ! लवणसमुद्र कितने कहे गए है ।

उत्तर—लवणसमुद्र नाम से असख्यात समुद्र कहे है । इसी प्रकार धातकीखण्ड नामक द्वीप भी असख्यात समझने चाहिए । यावत् सूर्यद्वीप नामक द्वीप भी असख्यात है । देवद्वीप एक है, देवोदधि समुद्र एक है , इसी प्रकार नाग, यक्ष, भूत यावत् स्वयभूरमण द्वीप एक है, स्वयभूरमण नामक समुद्र भी एक है ।

आगे जीवाभिगम सूत्र की तीसरी प्रतिपत्ति के द्वितीय उद्देशक मे भी कहा है—

"यावन्ति लोके-शुभानि नामानि, शुभा वर्णा यावत् शुभा स्पर्शा एतावन्तो द्वीप समुद्रा नामधेयैः प्रज्ञप्ता" इति ॥१९॥

मूल सूत्रम् "ते दीवसमुद्दा दुगुणदुगुणा वलयागारा पुव्वपुव्व परिक्खेविणो य-"

छाया—"ते द्वीपसमुद्रा द्विगुणद्विगुणा वलयाकाराः पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणश्च" ॥२०

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे जम्बूद्वीपादि द्वीपाना लवणोदधि-प्रभृति समुद्राणाञ्च निरूपणं कृतम् सम्प्रति-तेषां विष्कम्भायामाकारादि स्वरूपाणि प्रतिपादयितुमाह—'ते दीवसमुद्दा" इत्यादि । ते खलु-जम्बूद्वीपा लवणोदधिप्रभृतयो द्वीपसमुद्रा द्विगुणद्विगुणाः पूर्वपूर्वापेक्षया परपरा द्विगुण-द्विगुणविस्तारा वलयाकारा -वलयाकृतय --

वलयो-वृत्तम् मण्डलम् आकारो येषां ते वलयाकारा' करकङ्कणादिवत् गोलाकृतय'सन्ति पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणश्च पूर्वपूर्वद्वीपसमुद्रान् यथाक्रम परपरद्वीपसमुद्रा परिवेष्टय स्थिता' सन्तीतिभाव । तथा च-जम्बूद्वीपनाम्न' प्रथमद्वीपस्य यो विस्तारो वर्तते तद्विगुणविस्तारो लवणोदधिरस्ति । एवम्-लवणोदधेर्यो विष्कम्भो नाम विस्तारो वर्तते-तद् द्विगुणविष्कम्भो धातकीखण्डनाम्नो द्वीपस्य भवति । तद् द्विगुणविष्कम्भ कालोदधिसमुद्रोऽस्ति, तद् द्विगुणविष्कम्भ पुष्करवरोनाम द्वीपो वर्तते , तद्द्विगुणविष्कम्भ' पुष्करवर समुद्र' इत्यादिरीत्या विस्तार उत्तरोत्तरस्याऽवगन्तव्य' ॥२०॥

'लोक मे जितने शुभ नाम है, शुभ वर्ण यावत् शुभ स्पर्श है, उतने ही नाम वाले द्वीप और समुद्र भी कहे गये है ॥१९॥

'ते दीवसमुद्दा दुगुण' इत्यादि ॥सू० २०॥

सूत्रार्थ—वे द्वीप और समुद्र दुगुने-दुगुने विस्तार वाले, वलय के आकार के और पहले-पहले वालो को घेरे हुए है ॥२०॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्र में जम्बूद्वीप आदि द्वीपो का लवणोदधि आदि समुद्रो का निरूपण किया गया है । अब उनकी लम्बाई-चौडाई आदि का प्रतिपादन करने के लिए कहते है-

पूर्वोक्त जम्बूद्वीप और लवणसमुद्र आदि द्वीप और समुद्र दुगुने-दुगुने विस्तार वाले हैं अर्थात् पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तर-उत्तर का विस्तार दुगुना-दुगुना है ।

सभी द्वीप और समुद्र चूडी के आकार के जैसा वृत्त अर्थात् गोल है । वे सब पूर्व-पूर्व वाले को घेरे हुए स्थित है । अर्थात् क्रम के अनुसार पहले द्वीप को आगे का समुद्र घेरे हुए है, उस समुद्र को आगे का द्वीप घेरे हुए है और उसको भी आगे का समुद्र घेरे हुए है ।

इस प्रकार पहले द्वीप-जम्बूद्वीप का जितना विस्तार है, उससे दुगुना विस्तार लवणसमुद्र का है । लवणसमुद्र का जितना विस्तार है उससे द्विगुणित धातकीखण्ड द्वीपका विस्तार है । धातकीखड द्वीप से कालोदधि समुद्र का दुगुना विस्तार है, कालोदधि समुद्र से पुष्करवर द्वीप का दुगुना विस्तार है और पुष्करवर द्वीप की अपेक्षा पुष्करवर समुद्र का दुगुना विस्तार है । यही क्रम आगे भी सर्वत्र समझ लेना चाहिए ॥२१॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वसूत्रे–जम्बूद्वीपादिद्वीपानां–लवणोदधिप्रभृति समुद्राणाञ्च यथासम्भव नामतो निर्देश कृत सम्प्रति–तेषामेव द्वीप–समुद्राणामायाम–विष्कम्भाकारादिस्वरूपाणि प्ररूपयितुमाह—"ते दीवसमुद्दा दुगणा-दुगुणा वलयागारा पुव्वपुव्वपरिक्खेविणो य–" इति।

ते खलु–पूर्वोक्ता जम्बूद्वीप–लवणोदधि प्रभृतयो द्वीपसमुद्रा द्विगुणद्विगुणा पूर्वपूर्व-द्वीपसमुद्राऽपेक्षया–उत्तरोत्तरद्वीपसमुद्रा' द्विगुणद्विगुणाधिका सन्ति। यथा जम्बूद्वीपस्य यो विष्कम्भो नामविस्तारः, तदपेक्षया–द्विगुणविष्कम्भो लवणोदधिरस्ति। एवम्–लवणोदधेर्यो विष्कम्भो-वर्तते ततो द्विगुणविष्कम्भो धातकी खण्डद्वीपोऽस्ति। तद् द्विगुणविष्कम्भ कालोदधि समुद्रोऽस्ति, तद् द्विगुणविष्कम्भ' पुष्करवरो द्वीपो वर्तते, तद् द्विगुणविस्तार' पुष्करवर समुद्रोऽस्ति,

इत्येव रीत्या जम्बूद्वीपादयो द्वीपसमुद्रा' स्वयम्भूरमणसमुद्रपर्यन्ता' येन–येन क्रमेण व्यवस्थिता निर्दिष्टा वा सन्ति, तेनैव क्रमेण लवणसमुद्रप्रभृति स्वयम्भूरमणसमुद्रपर्यन्त द्विगुणविष्कम्भा भवन्ति–इत्यवसेयम् तत्क्रमानुसारेणैव पूर्व पूर्व द्वीपसमुद्रपरिक्षेपिण उत्तरोत्तरद्वीपसमुद्रा सन्तीत्यभिप्रायेणाह–पूर्व पूर्वपरिक्षेपिण इति।

तथाच–जम्बूद्वीप परिवेष्टच लवणोदधिरस्ति, लवणोदधिं परिवेष्टच धातकीखण्डो द्वीपश्चकास्ति, धातकीखण्डद्वीपञ्च परिवेष्टच कालोदधिसमुद्रोऽस्ति, कालोदधिं च परिवेष्टच पुष्करवरो

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पूर्वसूत्र में जम्बूद्वीप आदि द्वीपो का तथा लवणोदधि आदि समुद्रो का यथासभव नामनिर्देश किया गया है। अब उन्हीं द्वीप–समुद्रो की लम्बाई–चौड़ाई, आकृति आदि आदि का प्ररूपण करने के लिए कहते है—

पूर्वोक्त जम्बूद्वीप आदि द्वीप और लवणोदधि आदि समुद्र दुगुने–दुगुने है अर्थात् पहले–पहले वाले की अपेक्षा अगले–अगले द्विगुण अधिक है। जम्बूद्वीप का जितना विस्तार है, उससे दुगुना लवणसमुद्र का विस्तार है। इसी प्रकार लवणसमुद्र के विस्तार की अपेक्षा धातकीखण्ड द्वीप का विस्तार दुगुना है। धातकीखण्ड के विस्तार से कालोदधि समुद्र का विस्तार दुगुना है। कालोदधि की अपेक्षा पुष्करवर द्वीप का और पुष्करवर द्वीप की अपेक्षा पुष्करवर समुद्र का विस्तार दुगुना है।

इस प्रकार जम्बूद्वीप से लेकर स्वयभूरमण समुद्र पर्यत जिस क्रम से द्वीप और समुद्र अवस्थित है और जिस क्रम से उनमें से कुछ का नामोल्लेख किया गया है, उसी क्रम के अनुसार उनका विस्तार दुगुना–दुगुना समझना चाहिए।

पूर्वोक्त नामो के अनुक्रम से ही वे द्वीप और समुद्र एक–दूसरे को वेष्टित किये हुए है, इस आशय को व्यक्त करने के लिए उन्हे 'पूर्वपूर्वपरिक्षेपिण' कहा है। तात्पर्य यह है कि जम्बूद्वीप को परिवेष्टित करके लवणसमुद्र स्थित है, लवणसमुद्र को परिवेष्टित करके धातकीखण्ड द्वीप रहा हुआ है, धातकीखण्ड को घेर कर कालोदधि समुद्र फैला हुआ है और कालोदधि समुद्र

द्वीपो वर्तते, इत्यादिरीत्या बोध्यम् । अतएव—वलयाकारा खलु ते—लवणोधधिप्रभृतय स्वयम्भूरमणपर्यन्ता द्वीपसमुद्रा सन्ति । सर्वद्वीपसमुद्रान्तर्वर्ती जम्बूद्वीपस्तु—कुलालचक्राकृति प्रतरवृत्तो-वर्तते, न तु वलयाकृतिरिति वक्ष्यते—उक्तञ्च—जीवाभिगमे ३—प्रतिपत्तौ २—उद्देशे—

"जंबद्दीवं णामं दीवं—लवणे णामं समुद्दे वट्टे वलयागारसंठाणसंठिए सव्वओ समंता सपरिक्खित्ता णं चिट्ठइ—" जम्बूद्वीपो नाम द्वीपो लवणो नाम समुद्रो वृत्तो वलयाकार-सस्थानसस्थित' सर्वत –समन्तात् सपरिक्षिप्य–खलु तिष्ठति–" इति ।

पुनस्तत्रैवोक्तम्—**"जंबुद्दीवाइया दीवा लवणादीया समुद्दा संठाणओ एगविह विधाणा वित्थारओ अणेगविहविधाणा दुगुणा दुगुणे पडुप्पाएमाणा पवित्थरमाणा "ओभासमाणवीचिया–"**इति ।

जम्बूद्वीपादिका द्वीपा', लवणादिका समुद्रा सस्थानत ऐकविधविधाना, विस्तारतोऽने-कविधविधाना द्विगुण–द्विगुणा प्रत्युत्पन्नायमाना अवभासमानवीचय –इति" ॥२०॥

मूलसूत्रम् **"सव्वब्भंतरे वट्टे मेरुणाभिए लक्खजोयणविक्खभे जंबुद्दीवे ॥२१॥**

छाया—"सर्वाभ्यन्तरो वृत्तो मेरुनाभिक लक्षयोजनविष्कम्भो जम्बूद्वीपः–" ॥२१॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे–यद्यपि सामान्यत सर्वद्वीपसमुद्राणा विष्कम्भा–ऽऽयामाकारादिस्वरूपाणि प्ररूपितानि, तथापि–तत्रा–ऽपवादरूपेण जम्बूद्वीपस्या–ऽन्यापेक्षया किञ्चिद्

को परिवेष्टित करके पुष्करवर द्वीप स्थित है । इसी प्रकार आगे भी समझ लेना चाहिए । जम्बूद्वीप और लवणसमुद्र आदि सभी द्वीप–समुद्र वलयाकार है अर्थात् हाथ मे पहनी जाने वाली चूडी के समान गोलाकार है । मगर इन सभी द्वीप–समुद्रो के मध्य में स्थित यह जम्बूद्वीप कुभार के चाक के समान प्रतरवृत्त अर्थात् सपाट गोल है । यह वलय के सदृश गोलाकार नहीं है ।

जीवाभिगमसूत्र की तीसरी प्रतिपत्ति के दूसरे उद्देशक मे, कहा है–'जम्बूद्वीप नामक द्वीप को वृत्त वलयाकार सस्थान वाला लवण नामक समुद्र सभी ओर से घेर कर स्थित है ।' आगे वहीं पुन कहा है–'जम्बूद्वीप आदि द्वीप और लवण आदि समुद्र आकार में एक ही प्रकार के है अर्थात् सभी गोलाकार है मगर विस्तार मे अनेक प्रकार के है–किसी का भी विस्तार किसी के बराबर नहीं है । सब एक–दूसरे से दुगुने–दुगुने विस्तार वाले है, पन्नायमान है, विस्तृत हैं और अवभासमान वीचियो वाले हैं ॥२०॥

'सव्वब्भंतरे वट्टे' इत्यादि ॥सू० २१॥

मूलसूत्रार्थ—समस्त द्वीप के भीतर, गोलाकार, मध्य मे मेरु पर्वतवाला, तथा एक लाख योजन विस्तार वाला जम्बूद्वीप है ॥२१॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्र मे यद्यपि सामान्य रूप से समस्त द्वीपों और समुद्रो के विस्तार लम्बाई, चौडाई आदि का निरूपण किया जा चुका है, तथापि अन्य द्वीपो की अपेक्षा किंचित्

वैशिष्ट्येन स्वरूपं प्ररूपयितुमाह—"सव्वब्भंतरे वट्टे—" इत्यादि। सर्वाभ्यन्तर'—सर्वेषां द्वीपसमुद्राणां जम्बूद्वीपप्रभृति स्वयम्भूरमणसमुद्रपर्यन्तानां मध्ये जम्बूद्वीप सर्वाभ्यन्तरवर्तीत्यर्थः, एवं वृत्त कुलालचक्रवत् प्रतरवृत्त, पूर्णिमचन्द्रवत् गोलाकार' न तु—वलयाकार। लवणसमुद्रादयस्तु—वलयाकृतय सन्ति, एवं—मेरुनाभिक—मेरु मन्दरपर्वतो नाभौ—मध्ये यस्य स मेरुनाभिः खलु जम्बूद्वीप वर्तते। जम्बूद्वीपमध्ये मेरुरस्ति।

मेरुस्तावत्- मन्दराचलनामा सकलतिर्यग्लोकमध्यभागस्य मर्यादाकारित्वान्मेरुः कनकपर्वत' एकसहस्रयोजनानि भूमिमध्ये प्रविष्टो वर्तते, नव—नवतियोजनानि चोर्ध्वमुन्नतोऽस्ति, श्रीभद्रशालवन नन्दनवनसौमनसवनपाण्डुकवननामानि तत्रो—पर्युपरि क्रमशश्चत्वारि वनानि सन्ति, उपरि चूलिका वर्तते। तत्र—श्रीभद्रशालवनादुपरि पञ्चशतयोजनलभ्यं नन्दनवनं वर्तते

नन्दनवनादुपरि सार्धद्विषष्टियोजनसहस्रप्राप्यं सौमनसवनं वर्तते, सौमनसवनादुपरि—षट्त्रिंशत्सहस्रयोजनगम्य पाण्डुकवन विलसति चत्वारिंशत्सहस्र योजनोन्नता चूलिका वर्तते, सा खलु—चूलिका सार्धपञ्चत्रिंशत्सहस्रयोजनमध्यान्तर्गतैर्वा—ऽवसेया, एवंभूतमेरुनाभिक खलु जम्बूद्वीपोऽवसेयः।

स च जम्बूद्वीपो विस्तारेण कियत्परिमाण इत्याकाङ्क्षायामाह—लक्षयोजनविष्कम्भ—योजनशतसहस्रविस्तार., लक्षयोजनानि विष्कम्भो विस्तारो—बाहल्य यस्याऽसौ लक्षयोजनविष्कम्भ लक्षयोज-

---

विशेष रूप से जम्बूद्वीप के स्वरूप का प्ररूपण करते है—

इस रत्नप्रभा पृथ्वी पर पहले जो असख्यात द्वीप समुद्र कहे गए है, उन सब के भीतर जम्बूद्वीप है। यह जम्बूद्वीप कुभार के चाक के समान प्रतरवृत्त अर्थात् सपाट गोलाकार है या पूर्णिमा के चन्द्र की तरह गोल है, वलय के आकार का नहीं है। जम्बूद्वीप के अतिरिक्त शेष लवणसमुद्र आदि समुद्र और समस्त द्वीप वलय अर्थात् चूडी के समान गोलाकार है। जम्बूद्वीप के बिलकुल मध्य में सुमेरु पर्वत है।

मेरुपर्वत का दूसरा नाम मन्दराचल भी है। वह सपूर्ण तिर्छे लोक की मर्यादा अर्थात् सीमा बनाने वाला है, इस कारण मेरु कहलाता है। वह स्वर्णमय है। सुमेरु पर्वत एक हजार योजन भूमि मे धँसा हुआ है और निन्यानवे हजार योजन ऊपर है। उस पर एक—दूसरे के ऊपर चार वन हैं और ऊपर चोटी—शिखर है। चारो वनों के नाम इस प्रकार हैं—भद्रशाल वन, नन्दन वन, सौमनस वन और पाण्डुक वन। भद्रशाल वन से पाँच सौ योजन की ऊँचाई पर नंदनवन है। नन्दनवन से साढे बासठ हजार योजन की ऊँचाई पर सौमनस वन है और सौमनस वन से छत्तीस हजार योजन ऊपर पाण्डुक वन है। सुमेर की चूलिका चालीस योजन ऊँची है। वह चूलिका चारसौ चौराणवे योजन मध्यान्तर्गत है। इस प्रकार मध्य में सुमेरु पर्वत से युक्त जम्बूद्वीप है जम्बूद्वीप का विस्तार कितना है, यह आशका होने पर उत्तर दिया गया है—उसका विस्तार एक लाख योजन का है। जम्बू नामक वृक्ष से युक्त होने के कारण यह द्वीप जम्बूद्वीप

नविशाल', जम्बूवृक्षोपलक्षितत्वाद् जम्बूद्वीप इत्युच्यते, जम्बूवृक्षश्चो—त्तरकुरूणां मध्यवर्ती अनादिनिधन: पृथिवीपरिणाम स्वाभाविको वर्तते तदुपलक्षित खलु जम्बूद्वीपो वर्तते इति भाव ॥२१॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः— पूर्वं द्वीपाना समुद्राणाञ्च–वलयाकृतित्वमुक्तम्, तथाच–जम्बूद्वीपस्यापि द्वीपतया वलयाकृतित्व प्रसक्तम्–अतस्तदपवादरूपेणाह — "सव्वब्भंतरे वट्टे–" इत्यादि । जम्बूद्वीप खलु द्वीप: सर्वाभ्यन्तर: सर्वेषां द्वीपसमुद्राणा स्वयम्भूरमणपर्यन्ताना मध्ये सर्वाभ्यन्तरवर्ती वर्तते । स खलु जम्बूद्वीपो वृत्त: प्रतरवृत्त: कुम्भकारचक्राकार: न तु वलयाकार लवणसमुद्रादीना वलयाकृतित्वस्योक्तत्वात् । वलयाकृतिभिश्च तत्र चतुरस्राकारयोरपि परिवेष्टनसम्भवेन जम्बूद्वीपस्य त्र्यस्र चतुरस्राकृतित्वनिरासार्थं वृत्तग्रहण कृतमवसेयम् । तथाच सर्वेषा द्वीपसमुद्राणा वृत्तत्वे सत्यपि जम्बूद्वीपस्य प्रतरवृत्तत्वमेव कुलालचक्रादिवत्–नतु–वलयवृत्तत्वकरकङ्कणादिवत्,

लवणसमुद्रादीना वलयवृत्तत्वमेव न तु–प्रतरवृत्तत्वमितिभाव स जम्बूद्वीप पुन कीदृश इत्याह—मेरुनाभिक: मेरु –मन्दराचलो नाभौ–मध्ये यस्याऽसौ मेरुनाभिक, यस्य मध्ये मेरुपर्वतो वर्तते तथाविधो मध्यवर्ति मेरु खलु जम्बूद्वीपो वर्तते, पुन: कीदृशो जम्बूद्वीप इत्याह—

लक्षयोजनविष्कम्भ: लक्षं–योजनानि विष्कम्भो नाम विस्तारो बाहल्य यस्य स लक्षयोजनविष्कम्भ: योजनशतसहस्रविस्तार स जम्बूद्वीपो वर्तते इतिभाव । मेरूपर्वतश्च काञ्चनस्थालपात्रस्य-

---

कहलाता है । वह जम्बू वृक्ष उत्तर कुरु क्षेत्र के मध्य मे है, अनादि–अनन्त है, पार्थिव अर्थात् पृथ्वी का परिणमन और स्वाभाविक है । जम्बूद्वीप इसी वृक्ष से युक्त है ॥२३॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पहले कहा गया है कि द्वीप और समुद्र वलय के आकार के है । इस कथन से जम्बूद्वीप के वलयाकार होने का प्रसग आता है, मगर वह वलय के आकार का नहीं है, अतएव पूर्वोक्त कथन का अपवाद यहाँ प्रदर्शित किया जाता है–

जम्बूद्वीप सब द्वीप–समुद्रों के अन्दर है, अर्थात् स्वयभूरमणसमुद्र पर्यन्त जितने भी द्वीप और समुद्र है, उन सब के भीतर है । वह प्रतरवृत्त अर्थात् कुभार के चाक के समान गोल है, मगर चूडी के समान गोल नहीं है । लवण समुद्र आदि को वलय के आकार का कहा गया है और जो वलयाकार होते है वे तिकोने और चौकोर पदार्थों को भी वे विष्टित कर सकते है । ऐसी स्थिति मे जम्बूद्वीप को त्रिकोण या चतुष्कोण न समझ लिया जाय, इस उद्देश्य से सूत्र में 'वृत्त' शब्द ग्रहण किया गया है । अतएव समस्त द्वीपो और समुद्रो के गोलाकार होने पर भी जम्बूद्वीप प्रतरवृत्त है जैसे कुभार का चाक होता है । वह हाथ में पहने जाने वाले ककण के समाण गोलाकार नहीं है, जब कि उससे आगे के लवण समुद्र आदि वलय के समान गोलाकार है, प्रतरवृत्त नहीं हैं ।

जम्बूद्वीप मेरुनाभिक है अर्थात् उसके मध्यभाग में मन्दराचल–पर्वत है । जम्बूद्वीप का एक लाख योजन का विस्तार है । चाहे पूर्व से पश्चिम तक नापा जाय या उत्तर से दक्षिण तक; उसका परिमाण सर्वत्र एक लाख योजन ही होता है ।

मध्यस्थानवद्-वृत्त', भूमेरधस्तात् योजनसहस्रं प्रविष्टो नव—नवतियोजनसहस्र दृश्योच्छ्रायो यद्दृस्यं योजनसहस्र भूमौ वर्तते, तत्सर्वं विष्कम्भरूपबाहल्यायामाभ्यां दशसहस्रयोजनानि वर्तन्ते,। उपरिच-योजनसहस्र यत्र चूलिकोद्भवति, त्रिकाण्डस्तावत्—त्रिलोकस्पृक् चतुर्भिश्च वनैर्भद्रशालनन्दन-सौमनस पाण्डुकैः परिवेष्टितो वर्तते।

तत्र—काण्ड तावद् विशिष्टप्रमाणानुगतविच्छेदरूप भवति, तत्र च यद् भूमौ प्रविष्ट शुद्धपृथिव्यु-पलवज्रशर्कराबहुल योजनसहस्रप्रमाण वर्तते तत्प्रथम काण्डमवसेयम्,। द्वितीयं काण्डन्तु—भूपरि-तलारब्ध त्रिषष्टियोजनसहस्राणि रजत-जातरूपाङ्कस्फटिकबहुल वर्तते, तदुपरि तृतीय काण्ड पुन षट्त्रिंशद्योजनसहस्राणि जाम्बूनदबहुलं वर्तते। तदुपरि—वैडूर्यबहुलाऽस्य चूलिकाचत्वारिंशद्-योजनोच्छ्राया।

मूले—उद्गमप्रदेशे बाहल्यायामाभ्यां द्वादशयोजनानि, मध्येऽष्टौ योजनानि, उपरि च—चात्वारि योजनानि सन्ति, भूमौ तावद् व्यवस्थितं प्रथम भद्रशालवन वलयाकार वर्तते, भद्र-शालवनभूमे पञ्चयोजनशतान्युपरि—आरूह्य प्रथममेखलाया पञ्चयोजनशतविस्तार द्वितीय नन्दन नाम वनं वर्तते, तत सार्धद्विषष्टियोजनसहस्राणि-उपरि-आरूह्य पञ्चयोजनशतविस्तारमेव

मेरुपर्वत सुवर्ण के थाल के मध्यस्थान के समान गोलाकार है। उसका एक हजार योजन—परिमित भाग भूमि के नीचे प्रविष्ट है और निन्यानवे हजार योजन—परिमित भाग पृथ्वी के ऊपर है जो दृश्य है। पृथ्वी में जो एक हजार योजन है उनकी लम्बाई, और चौडाई १००९० $\frac{१०}{११}$ भाग है। ऊपरी भाग में, जहाँ से चोटी प्रारंभ होती है, वहां एक हजार योजन है। वह पर्वत तीन काण्डों वाला, तीनो लोकों को स्पर्श करने वाला तथा भद्रशाल, नन्दन, सौमनस और पाण्डुक नामक चार बनोंसे परिवेष्टित है।

एक विशिष्ट प्रमाण से युक्त विच्छेद या रचनाविशेष को काण्ड कहते है। तीन काण्डो में से प्रथम काण्ड वह है जो भूमि के अंदर है, शुद्ध पृथ्वी, पाषाण, वज्र एवं शर्करा की बहुतायत वाला है और एक हजार योजन परिमाण वाला है। दूसरा काण्ड पृथ्वी के ऊपर से प्रारभ होता है, त्रेसठ हजार योजन का है और चादी, स्वर्ण अक तथा स्फटिकल्नो की बहुलता वाला है। दूसरे काण्ड के ऊपर तीसरा काण्ड शुरु होता है। वह छत्तीस हजार योजन का है और जाम्बूनद की बहुलता से युक्त है। तीसरे काण्ड के ऊपर चालीस योजन ऊची चूलिका है, जिसमे वैडूर्य की बहुलता है।

मूल अर्थात् उद्गमप्रदेश में चूलिका की चौडाई और लम्बाई बारह योजन की है। मध्यभाग में आठ योजन और ऊपर चार योजन की है। भूमि के ऊपर रहा हुआ पहला भद्रशालवन वलयाकार है। भद्रशालवन की भूमि से पाँच सौ योजन ऊपर प्रथम मेखला में पाँच सौ योजन विस्तृत नन्दन नामक दूसरा वन है। नन्दन वन से साढे बासठ हजार

सौमनस नाम तृतीय द्वितीयमेखलाया वर्तते ।

ततोप्युपरि पट्त्रिंशत् सहस्राण्यारूह्य चतुर्नवत्यधिकचतुर्योजनशतविस्तृत पाण्डुक नाम-चतुर्थं वन मेरो शिखरे विलसति अयं खलु मेरूपर्वतो न सर्वत्र समप्रमाणतया प्रवृद्धो वर्तते, अपितु–प्रदेशपरिहाण्या परिहीयमान प्रवृद्धोऽस्ति । तत्र–नन्दनवनादुपरि सौमनसवनाच्चा–ऽधस्तात् खलु मध्ये एकादशयोजनसहस्राण्यारूह्य विस्तारस्य योजनसहस्र परिहीयते । समभूमि-भागे मेरूपर्वतोयो विष्कम्भो दशसहस्रयोजनपरिमितोऽस्ति, तस्मात् एकादशयोजनेषु ऊर्ध्वं गतेषु सत्सु एकयोजन तथा एकादशेषु योजनशतेषु गतेषु एक शतम् तथा एकादशेषु योजनसहस्रेषु गतेषु एकसहस्रविष्कम्भे न्यूनत्व गच्छन्नस्ति । अनेन प्रकारेण नवनवतियोजनसहस्रेषु गतेषु एक सहस्र योजनस्य विष्कम्भोऽवशिष्ट उक्तञ्च जम्बूप्रज्ञप्तौ ३–सूत्रे—"**जम्बूद्दीवे सव्व-दीवसमुद्दाणं सव्वब्भंतराए सव्वखुड्डाए वट्टे एगं जोयणसयसहस्सं आयामविक्खंभेण–**" इत्यादि । जम्बूद्वीप सर्वद्वीपसमुद्राणा सर्वाभ्यन्तर सर्वक्षुल्लको वृत्त. एकं योजनशतसहस्रम् आयामविष्कम्भेण, इत्यादि, ।

पुनरत्रैवोक्तम्–१०३ सूत्रे—"**जंबूद्दीवस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं जंबूद्दीवे मदरे णामं पव्वए पण्णत्ते, णवणउतिजोयणसहस्साइं उद्धं उच्चत्तेण एगं जोयणसहस्सं उव्वे-हेणं–**" इति जम्बूद्वीपस्य बहुमध्यदेशभागे अत्र खलु–जम्बूद्वीपे मन्दरो नाम पर्वत प्रज्ञप्तः नवनवतियोजनसहस्राणि ऊर्ध्वम् उच्चत्वेन, एकं योजसहस्रमुद्वेधेन, इति ॥२१॥

मूलसूत्रम् "तत्थ-भरह–१ एरवत–२ हेमवत–३ हेरण्णवत–४ हरि–५ रम्मग–६ महाविदेहा–७ सत्तवासा—,, ॥२२॥

योजन की उँचाई पर पाँच सौ योजन विस्तृत सौमनस नामक तीसरा वन दूसरी मेखला में है

सौमनस वन से छत्तीस हजार योजन की उँचाई पर चार सौ चौरानवे योजन विस्तार वाला पाण्डुक नामक चौथा वन मेरु के शिखर पर शोभायमान है । यह मेरु पर्वत सभी जगह समान परिमाण वाला नहीं है किन्तु सम भूमि भाग पर मेरूपर्वत की चोडाई दशहजार योजन है वहां से ग्यारह योजन ऊपर जाने पर एक योजन और ग्यारह सौ योजन जाने पर एक सौ तथा ग्यारह हजार योजन जाने पर एक हजार योजन चौडाई में कम होता गया है । इस हिसाबसे ९९ नीन्यानवे हजार योजन ऊपर जाने पर एक हजार योजन का चौडा रह गया है ।

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति के तीसरे सूत्र में कहा है–

जम्बूद्वीप समस्त द्वीप–समुद्रो के अन्दर है, सब से छोटा है, गोलाकार है और लम्बाई–चौडाई में एक लाख योजन विस्तृत है ।'

वहीं फिर सूत्र १०३ में कहा है–'जम्बूद्वीप के ठीक बीचोंबीच में मन्दर नामक पर्वत कहा गया है । वह निन्न्यानवे हजार योजन जमीन पर उँचा है और एक हजार योजन जमीन के भीतर धँसा हुआ है–' ॥२१॥

छाया—तत्र-भरतै-१ रवत-२ हैमवत-३ हैरण्यवत-४ हरि-५रम्यक-६महाविदेहाः-७सप्तवर्षाः—,, ॥२२॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे जम्बूद्वीपस्य विष्कम्भायामस्वरूपादिक प्ररूपितम, सम्प्रति हि तस्मिन्नेव जम्बूद्वीपे षड्भि कुलपर्वतैर्विभक्तानि सप्तक्षेत्राणि सन्तीति प्ररूपयितुमाह "तत्थ भरहे" इत्यादि। तत्र खलु जम्बूद्वीपे द्वीपे भरतै–१ रवत–२ हैमवत–३ हैरण्यवत–४ हरि –५ रम्यक–६ महाविदेहा –७सप्तवर्षा क्षेत्राणि सन्ति। तथाच–भरतवर्षैरवतवर्ष–हैमवतवर्ष–हैरण्यवतवर्ष–हरिवर्ष रम्यकवर्ष महाविदेहवर्षा सप्तक्षेत्राणि तावदजम्बूद्वीपे सन्तीति भाव ।

तत्र–भरतवर्षस्तावद् हिमवतो दक्षिणदिग्भागे वैताढ्येन, गङ्गा सिन्धुभ्याञ्च विभक्त षट्खण्डोऽस्ति, यस्य त्रिदिक्षु समुद्रोऽधिज्यचापाकारो वर्तते ॥१॥ शिखरिण उत्तरतलयाणाञ्च समुद्राणां मध्ये ऐरवतवर्षो रक्ता-रक्तोदाभ्याञ्च विभक्त षट्खण्डविस्तार। २ उत्तरेण–क्षुद्रहिमवतो दक्षिणेन च महाहिमवत पूर्वापरसमुद्रयोर्मध्ये हैमवतवर्षो विद्यते ।३

'तत्थ-भरह एरवत' इत्यादि सूत्रार्थ ॥सू० २२॥

जम्बूद्वीप मे सात वर्ष (क्षेत्र) है–(१) भरत (२) ऐरवत (३) हैमवत (४) हैरण्यवत (५) हरि (६) रम्यक और (७) महाविदेह ॥२२॥

तत्त्वार्थदीपिका—इससे पहले के सूत्र मे जम्बूद्वीप की लम्बाई–चौडाई आदि की प्ररूपणा की गई है। अब उसी जम्बूद्वीप में छह कुलपर्वतों के कारण विभक्त हुए सात क्षेत्रो की प्ररूपणा की जाती है–

जम्बूद्वीप नामक द्वीप में (१) भरत (२) ऐरवत (३) हैमवत (४) हैरण्यवत (५) हरिवास (६) रम्यकवास और (७) महाविदेह नामक सात क्षेत्र है जो 'वर्ष' कहलाते है। जैसे–भरतवर्ष, ऐरवतवर्ष, हैमवतवर्ष, हैरण्यवतवर्ष हरिवर्ष, रम्यकवर्ष, महाविदेहवर्ष, तात्पर्य यह है कि जम्बूद्वीप में ये सात क्षेत्र हैं।

(१) इन सात क्षेत्रो में से प्रथम भरतवर्ष हिमवान् पर्वत के दक्षिण में है। वैताढ्य नामक पर्वत और गगा–सिन्धु नामक दो महानदियों के कारण विभक्त हो जाने से उसके छह विभाग हो गए है। भरतवर्ष के तीनों ओर लवण समुद्र है। वह ज्या (डोरी) सहित धनुष के आकार का है।

(२) उपर उत्तर दिशा मे शिखरि नामक पर्वत से उत्तर में और तीन समुद्रो के मध्य मे ऐरवतवर्ष है। उसके भी वैताढ्यपर्वत और रक्ता तथा रक्तोदा नामक नदियो से विभक्त हो जाने के कारण छह खड हो गए हैं।

(३) क्षुद्रहिमवान् पर्वत से उत्तर मे और महाहिमवान् पर्वत से दक्षिण में हैमवत नामक वर्ष अवस्थित है। उससे पूर्व और पश्चिम मे लवण समुद्र है।

रुक्मिण उत्तरत शिखरिणो दक्षिणत· पूर्वापरसमुद्रयोर्मध्ये सन्निविष्टो हैरण्यवतवर्ष ।४
निषधस्य दक्षिणत, महाहिमालयस्योत्तरत पूर्वापरसमुद्रयोरन्तराले सन्निविष्टो हरिवर्ष ।५
नीलादुत्तरत· रुक्मिणो दक्षिणत पूर्वापरसमुद्रयोर्मध्ये सन्निवेशविशिष्टो रम्यकवर्ष ।६।

निषधस्योत्तरत·, नीलाद्दक्षिणत पूर्वापरसमुद्रयोरन्तराले स्थितो महाविदेहवर्षो भवति ॥२२॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं जम्बूद्वीपस्वरूप विष्कम्भायामाकारादिभि प्ररूपितम्, सम्प्रति—तस्मिन्नेव जम्बूद्वीपे वक्ष्यमाणै षड्भिर्वर्षधरपर्वतै· प्रविभक्तानि सप्तक्षेत्राणि प्ररूपयितुमाह **तत्थ-भरह—हेमवत—हरि—महाविदेह—रम्मग—हेरण्णवत एरवता—सत्तवासा—"** इति ।

तत्र—तस्मिन् खलु पूर्वोक्तस्वरूपे जम्बूद्वीपे भरत—हैमवत—हरि—महाविदेह—रम्यक—हैरण्यवत ऐरवता सप्तवर्षा· क्षेत्राणि सन्ति । तथाच—भरतवर्ष—हैमवतवर्ष हरिवर्ष महाविदेहवर्ष—रम्यकवर्ष—हैरण्यवतवर्ष—ऐरवतवर्ष—नामधेया· सप्तवर्षा सन्ति, । एते भरतवर्षादय सप्त न द्वीपान्तराणि सन्ति, अपितु—एकस्य जम्बूद्वीपस्यैव विशिष्टावधिका विभागा अवसेया जगत स्थितेरनादित्वात् सञ्ज्ञामात्रमेव तेषां बोध्यम् ।

अथवा—भरतदेवनिवाससम्बन्धाद् भरत—भारत वोच्यते, हिमवतोऽदूरभवत्वाद् हैमवत—

---

(४) रुक्मि पर्वत से उत्तर मे और शिखरि पर्वत से दक्षिण मे हैरण्यवत नामक वर्ष है। इसके पूर्व और पश्चिम में भी लवणसमुद्र है।

(५) निषध पर्वत से दक्षिण में और महाहिमवान् पर्वत से उत्तर में हरिवर्ष है। इसके भी पूर्व और पश्चिम में लवणसमुद्र है।

(६) नील पर्वत से उत्तर में और रुक्मि पर्वत से दक्षिण में, पूर्व एवं पश्चिम समुद्र के मध्य में रम्यकवर्ष है।

(७) निषधपर्वत से उत्तर मे और नील पर्वत से दक्षिण में, पूर्व एव पश्चिम समुद्र के मध्य में महाविदेहवर्ष अवस्थित है ॥२२॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—इससे पूर्व जम्बूद्वीप के स्वरूप का लम्बाई—चौडाई आदि द्वारा प्ररूपण किया गया है। अब उसी जम्बूद्वीप में आगे कहे जाने वाले छह वर्षधर पर्वतो के कारण विभाजित हुए सात क्षेत्रो की प्ररूपणा करने के लिए कहते है—

पूर्वोक्त स्वरूप वाले जम्बूद्वीप में भरत, हैमवत, हरिवास, महाविदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरवत नामक सात वर्ष—क्षेत्र है। इस प्रकार भरतवर्ष, हैमवतवर्ष, हरिवर्ष, महाविदेह-वर्ष, रम्यकवर्ष, हैरण्यवतवर्ष और, ऐरवतवर्ष नामक सात वर्ष है। ये सातो क्षेत्र जम्बूद्वीप के ही एक विशिष्ट सीमा वाले विभाग है, अलग द्वीप नहीं है। जगत् की स्थिति अनादिकालीन है, अतएव इनकी सञ्ज्ञा भी अनादिकालीन समझना चाहिए।

अथवा भरत नामक देव के निवास के सम्बन्ध से वह क्षेत्र भी भरत या भारत कहलाता

मुच्यते । हरयो–महाविदेहाश्च पञ्चालवद् बोध्याः रम्यमेव रम्यकमिति सञ्ज्ञायां स्वार्थे कनिन् प्रत्ययोऽवसेयः हैमवतदेवनिवाससम्बन्धात्–हैरण्यवतमुच्यते, एवं मैरवतमपि वोध्यम् । तथाचैते सप्तवर्षाः क्षेत्राणि वा व्यपदिश्यन्ते, तत्र–वर्षधरसन्निधानाद् वर्षा उच्यन्ते, मनुजादि निवासाच्च क्षेत्राणि इत्युच्यन्ते, क्षिपन्ति–निवसन्ति प्राणिनो येषु तानि क्षेत्राणीति व्युत्पत्ते

तत्र–भरतस्योत्तरतो हैमवतम्–१ हैमवतस्योत्तरतो हरिवर्ष –३ हरिवर्षस्योत्तरतो महाविदेहवर्षः ४ महाविदेहस्योत्तरतो रम्यकवर्ष ५ रम्यकवर्षस्योत्तरतो हैरण्यवतम्–६ हैरण्यवतस्योत्तरतः–ऐरवतवर्षो वर्तते इति सर्वेषाञ्चैतेषा भरत, हैमवत हरिवर्ष, महाविदेह, रम्यकवर्ष, हैरण्यवत ऐरवतवर्षाणा खलु व्यवहारनयापेक्षया सूर्यकृताद् दिङ्नियमादुत्तरतो मेरुर्भवति, न तु–निश्चयेन उक्तञ्चा–ऽन्यत्रापि "**सर्वेषामेव वर्षाणां मेरुरुत्तरतः स्थित**" इति । एवञ्च–व्यवहारनयेन रविगतिजनितदिग्नियमात् सर्वेषामुत्तरतो मेरुपर्वतः, दक्षिणतश्च लवणोदधिरस्तीति फलितम् ।

व्यवहारनयमाश्रित्य यस्मिन्-क्षेत्रे यत्र रविरुदेति–सा दिक् प्राचीति व्यपदिश्यते, यस्यां दिशि रविरस्तमेति सा प्रतीची, कर्कटकादिधनुरन्तान् राशीन् यस्यां दिशि व्यवस्थितो रविश्च–

है । जो क्षेत्र हिमवान् पर्वत से दूर नहीं–निकट में है, वह हैमवत कहलाता है । हरि और महाविदेह पचाल के समान समझ लेने चाहिए । जो क्षेत्र रम्य (रमणीय हो) वह रम्यक । यहाँ स्वार्थ में कनिन् प्रत्यय हुआ है । हैरण्यवत देव का निवास होने के कारण वह क्षेत्र भी हैरण्यवत कहलाता है । ऐरवत क्षेत्र का नाम भी इसी प्रकार समझना चाहिए ।

वे सातों वर्ष, क्षेत्र भी कहलाते है । वर्षधर पर्वतो के निकट होने से उन्हे वर्ष कहते है और मनुष्यो आदि का निवास होने से उन्हे क्षेत्र भी कहते है । क्षिपन्ति अर्थात् निवास करते है प्राणी जिनमें वह क्षेत्र, ऐसी क्षेत्र शब्द की व्युत्पत्ति है ।

इन सात वर्षों में भरत से उत्तर में हैमवत है, हैमवत से उत्तर में हरिवर्ष है, हरिवर्ष से उत्तर में महाविदेहवर्ष है, महाविदेह से उत्तर में रम्यकवर्ष है, रम्यकवर्ष से उत्तर में हैरण्यवतवर्ष है, और हैरण्यवतवर्ष से उत्तर में ऐरवत वर्ष है ।

इन सब भरत, हैमवत, हरि, महाविदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरवत वर्षों से, व्यवहारनय की अपेक्षा से, सूर्य के कारण होने वाले दिशाओ के नियम के अनुसार, मेरुपर्वत उत्तर में है, निश्चयनय से ऐसा नहीं है । अन्य जगह भी कहा है–'मेरुपर्वत सभी वर्षों के उत्तर में है ।' इस कथन से यह फलित हुआ कि व्यवहारनय से, सूर्य की गति के कारण उत्पन्न दिशाओ के नियम के अनुसार मेरुपर्वत सभी के उत्तर में है और लवणसमुद्र सब के दक्षिण में है ।

व्यवहारनय की अपेक्षा जिस क्षेत्र में जिस ओर सूर्य का उदय होता है, वह दिशा पूर्वदिशा कहलाती है । और जिस दिशा में सूर्य अस्त होता है, वह पश्चिम दिशा कहलाती है । कर्क से लेकर धनुष् राशि पर्यन्त जिस दिशा मे रहकर क्रम से सूर्य चलता है, वह

रति क्रमेण सा दक्षिणा दिगुच्यते एव–मकरादिमिथुनान्तान् राशीन् यस्यां दिशि व्यवस्थितो रवि' क्रमेण चरति सा–उत्तरा दिग् व्यपदिश्यते ।

एवमन्तरालदिश ऊर्ध्वमधश्चापि रविसयोगाद्बोध्या, इति सवित्रपेक्षयैव दिग्व्यवह्रियते, इति सर्वेषा व्यावहारिकी खलु दिग्भवतीति भाव । न पुनर्निश्चयत एव वक्तु शक्यते, अस्मदादीना सवितुरुदयमपेक्ष्य या प्राचीदिक् उच्यते, सैव खलु–दिक् पूर्वविदेहकाना कृते प्रतीची भवति । तत्र–तदपेक्ष्य सवितुरस्तमितत्वात्, तस्माद्–व्यवहारमात्रमिदम् न तु–निश्चय'

निश्चयनयापेक्षया तु–तिर्यग्लोकमध्याऽवस्थित समतलभूभागमेरुव्यवस्थितमाकाशप्रदेशाष्टकनिर्माण चतुरस्राकृति रुचकं तावद्दिङ्नियमहेतुतया–ऽऽश्रित्य यथासम्भव दिग्व्यवस्था कर्तव्या, स खलु रुचक–ऐन्द्रयादीनां दिशाम्, आग्नेयादीना विदिशां च प्रभवो वर्तते ।

तत्र–दिशस्तावद् द्विप्रदेशादिका प्रदेशद्वयोत्तरवृद्धया वृद्धि लभमाना विशालशकटोर्द्धिसस्थानाकृतय सादिका पर्यवसानरहिता विशिष्टाकृतिलब्धव्यवस्थानै रनन्तैराकाशप्रदेशैर्जनितस्वरूपाश्चतस्रो भवन्ति ।

विदिश पुनर्मुक्तावलीसदृशा एकैकाकाशप्रदेशरचनाकृतस्वरूपा सादिका पर्यवसानरहिता

दक्षिण दिशा कहलाती है और मकर राशि से लगा कर मिथुन राशि तक जिस दिशा मे रहकर सूर्य क्रम से चलता है, वह उत्तर दिशा कहलाती है ।

इसी प्रकार इन चारों दिशाओं के मध्य की दिशाएँ अर्थात् विदिशाएँ, ऊर्ध्वदिशा और अधोदिशा भी सूर्य के सयोग से होती है। इस प्रकार सर्वत्र सूर्य की अपेक्षा से ही दिशाओ का व्यवहार होता है। तात्पर्य यह है कि सभी की दिशा व्यवहारिक है। मगर निश्चय से ऐसा नहीं कहा जा सकता। सूर्योदय की अपेक्षा से हमारे लिए जो पूर्वदिशा है, वही दिशा पूर्वविदेह के निवासियो के लिए पश्चिम दिशा है, क्योकि उनकी अपेक्षा से वहाँ सूर्य अस्त होता है। इस कारण यह व्यवहार मात्र है, निश्चय नहीं ।

निश्चयनय की अपेक्षा से मध्यलोक में स्थित, मेरुपर्वत के समतल भूभाग में रहे हुए, आठ आकाशप्रदेशो से निर्मित चतुष्कोण जो रुचक है, वह दिशाओ के नियम का कारण है। उसी को केन्द्रमानकर दिशाओ की व्यवस्था करना चाहिए। वह रुचक ही पूर्वदिशाओ और आग्नेय आदि विदिशाओ का प्रभव–उदगम स्थान है ।

दिशाएँ दो प्रदेशो से प्रारभ होती हैं और दो प्रदेशो की वृद्धि से बढ़ती हुई विशाल शकटोर्द्धि के आकार की होती है। उनकी आदि है पर अन्त नहीं है। विशिष्ट आकार मे उनका अवस्थान है, और अनन्त (अलोक की अपेक्षा) आकाश प्रदेशो से उनका स्वरूप उत्पन्न होता है। ये दिशाएँ चार है ।

विदिशाएँ मुक्तावली के समान होती है। एक–एक आकाशप्रदेश की रचना से उनका

अनन्तप्रदेशाश्चतस्र एव सन्ति, ऊर्ध्वं पुनस्तानेव चतुरः प्रदेशान् मर्यादीकृत्यो-परिस्थितचतु प्रदेशादिकाऽनुत्तरा विमलानामदिक् व्यपदिश्यते, एवमधस्तात् खलु तमोऽभिधाना--ऽधस्तना--ऽऽका-शप्रदेशचतुष्टयप्रवहो भवति, एताश्च--दशदिशोऽनादिकालसन्निवेशिन्यो निश्चयनयाऽनुसारेणा--ऽनादिकालप्रसिद्धनामानश्चावगन्तव्याः ।

उक्तञ्च स्थानाङ्गसूत्रे ७-स्थाने--"जम्बूद्दीवे सत्तवासा पण्णत्ता, तंजहा भरहे, एरवते हेमवते हेरण्णवते, हरिवासे, रम्मगवासे, महाविदेहे" इति । जम्बूद्वीपे सप्त वर्षा प्रज्ञप्ता -- तद्यथा--भरतम्--ऐरवतम्--हैमवतम्--हैरण्यवतम् हरिवर्ष रम्यकवर्ष --महाविदेहः, इति ।

तत्र--भरतवर्षस्तावद् हिमाचलस्य दक्षिणदिग्भागावस्थितस्त्रयाणां समुद्राणाञ्च मध्ये-आरोपितचापाकृतिरस्ति वैताढयेन--गङ्गासिन्धुभ्याञ्च विभक्तः षट् खण्डः ।१ हैमवतवर्षस्तु--क्षुद्र-हिमवत उत्तरतो महाहिमवतश्च दक्षिणत पूर्वाऽपरसमुद्रयोर्मध्ये वर्तते ।२ हरिवर्षश्च--निषधस्य दक्षिणतो महाहिमवत उत्तरत पूर्वापरसमुद्रयो रन्तराले वर्तते ।३

महाविदेहवर्षश्च--निषधस्योत्तरतो नीलस्य दक्षिणत पूर्वापरसमुद्रयोरन्तरालवर्ती विद्यते ।४

स्वरूप निष्पन्न होता है, उनकी आदि तो है पर अन्त नहीं है । विदिशाएँ चार हैं और वे अनन्त प्रदेशो से निर्मित है ।

ऊर्ध्वदिशा भी उन्हीं चार प्रदेशो से उत्पन्न होती है । उसकी आदि ऊपर स्थित चार प्रदेशो से होती है । उसे अनुत्तरा--विमला दिशा भी कहते है ।

अधोदिशा का नाम तमस् है, वह नीचे के चार आकाश प्रदेशो से उत्पन्न हुई है । ये दशो दिशाएँ अनादिकालीन है और इनके नाम भी अनादिकाल से प्रसिद्ध है । यह निश्चयनय के अभिप्राय से समझना चाहिए ।

स्थानागसूत्र के सातवें स्थान में कहा है--'जम्बूद्वीप में सात वर्ष--क्षेत्र कहे गए है । वे इस प्रकार है--भरत, ऐरवत, हैमवत, हैरण्यवत, हरिवर्ष, रम्यकवर्ष महाविदेह ।'

(१) भरतवर्ष हिमवान् पर्वत के दक्षिण में अवस्थित है । उसके दक्षिण, पश्चिम और पूर्व में तीनों ओर लवणसमुद्र है । वह धनुष के आकार का है। वैताढ्य नामक पर्वत और गंगा--सिन्धु नामक दो महानदियो से विभाजित होने के कारण उसके छह खण्ड हो गए हैं ।

(२) हैमवतवर्ष--चुल्लहिमवान् पर्वत से उत्तर में और महाहिमवान् पर्वत से दक्षिण में हैम-वतवर्ष हैं । उसके पूर्व और पश्चिम मे लवणसमुद्र है ।

(३) हरिवर्ष--निषध पर्वत से दक्षिण में और महाहिमवान् पर्वत से उत्तर में स्थित है । इसके पूर्व और पश्चिम में लवणसमुद्र है ।

(४) महाविदेहवर्ष--निषध पर्वत से उत्तर में और नीलपर्वत से दक्षिण में महाविदेह क्षेत्र है। इसके पूर्व और पश्चिम में भी लवणसमुद्र है ।

रम्यकवर्षस्तु–नीलस्योत्तरतो रुक्मिणो दक्षिणत पूर्वापरसमुद्रयोर्मध्ये वर्तते । ५ हैरण्यवतवर्षश्च रुक्मिण उत्तरत' शिखरिणो दक्षिणतश्च पूर्वपश्चिमसमुद्रयोर्मध्ये सन्निविष्टोऽस्ति । ६ ऐरवतवर्ष पुन –शिखरिण उत्तरतस्त्रयाणा समुद्राणाञ्च मध्ये वर्तते । ७।

विजयार्धेन–रक्तारक्तोदाभ्याञ्च विभक्त' षट् खण्डोऽस्तीति बोध्यम् । तथाच–वक्ष्यमाणै-षड्भि'कुलपर्वतै. प्रविभक्तानि–उक्तस्वरूपाणि खलु सप्तक्षेत्राणि जम्बूद्वीपे सन्तीतिफलितम् ॥२२॥

जम्बूद्वीपस्य स्वरूपं विष्कम्भायामाकारादिकञ्च पूर्वसूत्रे प्रतिपादितमेव, एतेषा सप्तक्षेत्राणाञ्च स्वरूप प्ररूपयितुमाह—

मूलसूत्रम् – "तव्विभायगा पुव्वापरायया चुल्लहिमवंत–महाहिमवंत–निसढ–नीलवंत–रुप्पि–सिहरिणो छ वासहरपव्वया–" ॥२३॥

छाया—"तद्विभाजकाः पूर्वापरायताः क्षुल्लहिमवन्–महाहिमवन्–निषध–नीलवद्–रुक्मि–शिखरिणः षड्वर्षधरपर्वताः—" ॥२३॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे जम्बूद्वीपे वर्तमानाना सप्तानां भरतवर्षादीना प्ररूपणं कृतम्, सम्प्रति–तेषां विभाजकानां षण्णा क्षुल्लहिमवदादीना वर्षधरपर्वताना प्ररूपण कर्तुमाह—**"तव्विभायगा–"** इत्यादि । तद्विभाजका —तेषा जम्बूद्वीपस्य भरतवर्षादीनां सप्तानां विभाजिन' पूर्वापरायताः पूर्वपश्चिमसमुन्द्रपर्यंतविस्तृताः पूर्वापरकोटिभ्या लवणजलधिस्पर्शिन —

---

(५) रम्यकवर्ष–नील पर्वत से उत्तर में और रुक्मि पर्वत से दक्षिण मे, पूर्व–पश्चिम लवण-समुद्र के बीच में है ।

(६) हैरण्यवत–रुक्मि पर्वत से उत्तर में और शिखरीपर्वत से दक्षिण में, पूर्व–पश्चिम लवण-समुद्र के मध्य में स्थित है ।

(७) ऐरवतवर्ष–शिखरिपर्वत से उत्तर में है । यह तीन दिशाओ में लवणसमुद्र से घिरा हुआ है । विजयार्ध पर्वत तथा रक्ता और रक्तोदा नामक नदियो से विभक्त होने के कारण इसके छह खण्ड हो गए है ।

फलितार्थ यह है कि आगे कहे जाने वाले छह कुल पर्वतो से विभक्त होने के कारण उक्त स्वरूप वाले सात क्षेत्र जम्बूद्वीप मे है ॥२२॥

जम्बूद्वीप का स्वरूप लम्बाई-चौडाई आदि पहले ही दिखलाया जा चुका है । उसमें स्थित सात क्षेत्रो के स्वरूप का प्रतिपादन करने के लिए सूत्र कहते है ।

'तव्विभायगा' इत्यादि ॥ सू० २३ ॥

मूलसूत्रार्थ—उक्त सात क्षेत्रो को विभाजित करने वाले, पूर्व से पश्चिम तक लम्बे चुल्ल-हिमवन्त, महाहिमवन्त, निषध, नीलवन्त, रुक्मि और शिखरि नामक छह वर्षधर पर्वत है ॥२३॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्र में, जम्बूद्वीप में विद्यमान भरतवर्ष आदि सात क्षेत्रों का निरूपण किया गया है । अब उन क्षेत्रो को विभक्त करने वाले चुल्लहिमवन्त आदि छह वर्षधर

क्षुल्लहिमवान्-महाहिमवान्-निषधः-नीलवान्-रुक्मी-शिखरीचेत्येव षट्सङ्ख्यका वर्षधरपर्वता:— भरत-हैमवत-हरि-महाविदेह-रम्यक-हैरण्यवत-ऐरवतवर्षाणा पूर्वोक्तसप्तक्षेत्राणा धारकपर्वताः सन्ति ।

वर्षाणां भरतादीनां सप्तानां क्षेत्राणां विभागनिमित्तत्वाद् वर्षधरा स्ते षट्पर्वता व्यपदिश्यन्ते हिमवदादयश्चाऽनादिकालप्रवृत्ता अनिमित्तकसञ्ज्ञा' सन्ति, किन्तु-भरतादिवर्षविभागहेतुत्वाद् वर्षधरपर्वता इत्युच्यन्ते । तत्र-क्षुद्रहिमवान् तावद्-भरतवर्षस्य-हैमवतवर्षस्य च सीमायां व्यवस्थितो वर्तते, स खलु—क्षुद्रहिमवान् वर्षधरपर्वत. शतयोजनोच्छ्रायोऽस्ति ।

महाहिमवान् खलु-हैमवतस्य-हरिवर्षस्य च विभाजको योजनशतद्वयोच्छ्रायो वर्तते । निषधो नामवर्षधरपर्वतस्तु महाविदेहस्य दक्षिणतो हरिवर्षस्य चोत्तरतस्तयोर्विभाजकत्वात् तद् द्वयमध्यवर्ती-योजनशतचतुष्टयोच्छ्राय खलु वर्तते । नीलवान् पर्वतस्तावद्-महाविदेहस्योत्तरतो रम्यकवर्षस्य च दक्षिणतो वर्तते तद् द्वयवर्षविभाजकतया तयोर्मध्येऽस्ति, सचापि-योजनशतचतुष्टयोच्छ्रायोऽवसेय' । रुक्मिपर्वतश्च-रम्यकवर्षस्योत्तरतो हैरण्यवतस्य च दक्षिणतो वर्तते, स च-योजनशत-

---

पर्वतों की प्ररूपणा करने के लिए कहते हैं-

जम्बूद्वीप मे स्थित भरतवर्ष आदि क्षेत्रों का विभाजन करने वाले, पूर्व से पश्चिम लम्बे तक पूर्व-पश्चिम लवणसमुद्र तक फैले हुए, अपने पूर्व एवं पश्चिम छोरो से लवणसमुद्र को स्पर्श करने वाले क्षुद्रहिमवान्, महाहिमवान्, निषध, नील, रुक्मि और शिखरी नामक छह वर्षधर पर्वत हैं । अर्थात् भरत, हैमवत, हरि,, महाविदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरवत इन सात क्षेत्रो के धारक ये छह पर्वत हैं ।

भरत आदि सात क्षेत्रों को विभक्त करने के कारण ये छह पर्वत वर्षधर कहलाते है । इन पर्वतों के जो हिमवान् आदि नाम है, वे अनिमित्तक है, अर्थात् किसी विशेष कारण से नहीं है, ये पर्वत और इनके उल्लिखित नाम भी अनादिकाल से चले आ रहे है । हाँ, भरत आदि वर्षों के विभाजक होने से इन्हे वर्षधर कहते हैं ।

क्षुद्रहिमवान् पर्वत भरतवर्ष और हैमवतवर्ष की सीमा पर स्थित है । उसकी ऊँचाई सौ योजन की है । महाहिमवान् पर्वत हैमवत और हरिवर्ष को विभक्त करता है । उसकी ऊँचाई दो सौ योजन को है । निषध नामक वर्षधर पर्वत महाविदेह से दक्षिण में और हरिवर्ष से उत्तर में है । इन दोनो के मध्य मे है अतएव दोनो का विभाजक है । इसकी ऊँचाई चार सौ योजन की है । नीलवान् पर्वत महाविदेह से उत्तर में और रम्यकवर्ष से दक्षिण में है । वह इन दोनो क्षेत्रों के मध्य मे होने से इनको विभक्त करता है । यह पर्वत भी चार सौ योजन ऊँचा है । रुक्मिपर्वत रम्यकवर्ष से उत्तर मे और हैरण्यवत से दक्षिण में है । दो सौ योजन ऊँचा है । शिखरि-

द्वयोच्छ्रायो बोध्य. । शिखरीनामवर्षधरपर्वतः पुन–हैरण्यवतस्योत्तरत·–ऐरवतवर्षस्य च दक्षिणतो वर्तते सचैकशतयोजनोच्छ्रायोऽवसेय· । सर्वेषां खलु पर्वतानामुच्छ्रायस्य चतुर्थो भागोऽवगाहो भवतीति बोध्यम् ॥२३॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं भरतादिसप्तवर्षाणां प्ररूपण कृतम्, सम्प्रति–तेषा सप्तानामपि क्षेत्राणां विभागकारकान् हिमवदादिषड्वर्षधरपर्वतान् प्ररूपयितुमाह–**"तव्विभायगा पुव्वापरायया चुल्ल हिमवंत–महाहिमवंत–निसढ–नीलवंत-रुप्पि–सिहरिणो छ वासहरपव्वया–"** इति ।

तद् विभाजका –तेषां भरतादिसप्तक्षेत्राणा स्वाभाविकसन्निवेशितया विभक्तार· विभागकर्तारः पूर्वापरायता· पूर्वापरकोटिभ्यां लवणजलधिमवगाढा लवणसमुद्रस्पर्शिन, क्षुद्रहिमवान्–महाहिमवान्–निषध.–नीलवान्–रुक्मी–शिखरीचेत्येव षट् तावत्–वर्षधरपर्वता. । वर्षाणा–भरतादिसप्तक्षेत्राणा धारकत्वाद् विशिष्टतया व्यवच्छेदकारित्वात् वर्षधरास्ते पर्वता अनादिकालव्यवस्थिता वर्तन्ते।

तथाच–पूर्वोक्तानां सप्तानामपि भरतादिवर्षाणा विभागकर्त्तार खलु हिमवान्–महाहिमवान्–निषधो–नीलवान्–रुक्मी–शिखरीचे त्येते षड् वर्षधरा· पर्वतास्सन्तीति सञ्जातम् । तत्र–भरतस्य हैमवतस्य च वर्षस्य मध्ये व्यवस्थितत्वात् क्षुद्रहिमवान् खलु–भरत हैमवतयोर्विभाग करोति । महाहिमवान्–खलु हैमवत–हरिवर्षस्योर्विभागकारी वर्तते । निषधस्तावत्–हरिवर्षमहाविदेहयोर्विभाजकोऽस्ति । नीलवान् पर्वतस्तु महाविदेह-रम्यकवर्षयोर्विभाजको वर्तते । रुक्मीपर्वतस्तु रम्य-

---

पर्वत हैरण्यवत से उत्तर मे और ऐरवतवर्ष से दक्षिण में है। उसकी ऊँचाई एक सौ योजन की है। सभी पर्वतो का अवगाह उनकी ऊचाई का चौथाई भाग है ॥२३॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—इससे पूर्व भरत आदि सात क्षेत्रो का निरूपण किया गया है, अब उन सातो क्षेत्रो का विभाग करने वाले हिमवान् आदि छह वर्षधर पर्वतो की प्ररूपणा करने के लिए कहते है–

उन भरत आदि सातो क्षेत्रो का अपनी स्वाभाविक रचना द्वारा विभाग करने वाले, पूर्व से पश्चिम तक लम्बे, अपने पूर्ववर्त्ती और पश्चिमवर्त्ती छोरो से लवणसमुद्र को स्पर्श करने वाले क्षुद्रहिमवान्, महाहिमवान्, निषध, नीलवान्, रुक्मी और शिखरी नामक छह वर्षधर पर्वत हैं। भरत आदि सात वर्षों के विभाजक होने से अर्थात् उन्हे जुदा करने वाले होने से वे पर्वत वर्षधर कहलाते है। वे अनादिकाल से हैं।

आशय यह है कि पूर्वोक्त भरत आदि सातो क्षेत्रो का विभाग करने वाले हिमवान्, महाहिमवान्, निषध, नीलवान्, रुक्मी और शिखरी नामक छह वर्षधर पर्वत है। भरतवर्ष और हैमवतवर्ष के मध्य मे स्थित होने के कारण क्षुद्रहिमवान् पर्वत भरत और हैमवतवर्ष का विभाग करता है। महाहिमवान् पर्वत हैमवत और हरिवर्ष का विभाजक है। निषध पर्वत हरिवर्ष और महाविदेह की सोमा को पृथक् करता है। नीलवान् पर्वत महाविदेह और रम्यकवर्ष को विभक्त करता है। रुक्मीपर्वत रम्यकवर्ष और हैरण्यवतवर्ष को अलहदा करता है और शिखरिपर्वत हैर-

कवर्ष–हैरण्यवतयोर्विभाजकः शिखरीनामा षष्ठः पर्वतः पुनर्हैरण्यवतै-रवतयोर्विभक्तो वर्तते, एभिश्च षड्भि' कुलाचलैर्विभक्ताः खलु–भरतादयः सप्तवर्षाः क्षेत्ररूपा जम्बूद्वीपे सन्ति ।

सम्प्रति–तेषां खलु षण्णां क्षुद्रहिमवदादिकुलपर्वतानामवगाहोच्छ्रायाः प्रतिपाद्यन्ते तत्र–क्षुद्रहिमवान् खलु योजनशतोच्छ्रायो वर्तते सर्वेषाञ्च–पर्वतानामुच्छ्रायचतुर्थभागस्याऽवगाहत्वेन क्षुल्लहिमवान् पञ्चविंशतियोजनान्यवगाढो वर्तते महाहिमवान् वर्षधरपर्वतस्तु–तद्‌द्विगुणावगाहोच्छ्रायत्वात् योजनशतद्वयोच्छ्राय' पञ्चाशद्योजनान्यवगाढश्च भवति ।

निषधपर्वतश्च–तद्‌द्विगुणादगाहोच्छ्रायतया योजनशतचतुष्टयोजनोच्छ्राय, शतयोजनान्यवगाढश्च भवति । नीलवानपि पर्वतो योजनशतचतुष्टयोच्छ्राय एव वर्तते, शतयोजनान्यवगाढश्च रुक्मी पर्वतस्तु योजनशतद्वयोच्छ्राय, पञ्चाशद्योजनान्यवगाढश्च । शिखरी खलु कुलाचल'–एकशतशोजनोच्छ्राय, पञ्चविंशति योजनान्यवगाढश्च वर्तते ।

भरतक्षेत्रमध्यवर्ती वैताढ्यपर्वत खलु–दक्षिणोत्तरार्धविभागकारी पूर्वापरायत उभयतो लवणसमुद्रमवगाढो विद्याधराधिवासभूमि' पञ्चाशत्षष्टिनगरयुक्तदक्षिणोत्तरश्रेणिद्वयविभूषितो गुहा-

---

ण्यवत और ऐरवत क्षेत्र की सीमाओ को अलग करता है। इन छह कुलपर्वतो से जम्बूद्वीप में स्थित भरत आदि सात वर्ष विभक्त हो गए है।

अब क्षुद्रहिमवान् आदि छहो कुलाचलो के अवगाह और ऊँचाई का प्रतिपादन करते है–क्षुद्रहिमवान् पर्वत सौ योजन ऊँचा है । सभी पर्वतो का अवगाह उनकी ऊँचाई का चतुर्थांश होता है, अतएव क्षुद्रहिमवान् का अवगाह पच्चीस योजन है ।

महाहिमवान् पर्वत क्षुद्रहिमवान् से दुगुना ऊँचा और अवगाह वाला है। इस प्रकार उसकी ऊँचाई दो सौ योजन की अवगाह पचास योजन का है ।

निषधपर्वत उससे भी दुगुना अवगाह और ऊँचाई वाला है, अत' उसकी ऊँचाई चार सौ योजन की और अवगाह सौ योजन का है ।

नीलवान् पर्वत भी चार सौ योजन ऊँचा है, अतएव उसका अवगाह सौ योजन का है।

रुक्मिपर्वत दो सौ योजन ऊँचा है। उसका अवगाह पचास योजन का है ।

शिखरीपर्वत एक सौ योजन ऊँचा है। उसका अवगाह पचास योजन का है ।

वैताढ्यपर्वत भरतक्षेत्र के मध्य मे स्थित है, इसके कारण भरतक्षेत्र दो भागों में बट गया है । वैताढ्य से उत्तर की ओर का भाग उत्तर भरत कहलाता है और दक्षिण की ओर का भाग दक्षिण भरत । वैताढ्यपर्वत पूर्व से पश्चिम तक लम्बा है । दोनो ओर से उसका कुछ भाग लवण समुद्र को स्पर्श करता है । उस पर्वत पर विद्याधर निवास करते हैं। दक्षिण में पचास और उत्तर मे साठ नगरो से युक्त, दक्षिणश्रेणि और उत्तरश्रेणि नामक दो श्रेणियो से विभूषित है । दो

द्वयालङ्कृत· स क्रोशषड्योजनानि धरणिमवगाढ· पञ्चाशद्योजनानि विस्तृत पञ्चविंशतिंश-तियोजनोच्छ्रितो वर्तते विदेहेषु मेरुपर्वतस्य दक्षिणतो निषधस्य चोत्तरतो देवकुरवा भवन्ति।

ते च काञ्चनगिरिशतेन चित्र-विचित्रकूटाभ्यामलङ्कृता· सन्ति। एवञ्च ह्रदपञ्चकोभयपर्य-न्ततटोपरि व्यवस्थितैर्दशभि—र्दशभिः काञ्चनपर्वतैरुपशोभिता शीतोदानदीपूर्वापरगामिनौ निषधा-च्चतुस्त्रिंशाऽष्टशतसचतु सप्तभागान्तरौ चित्र—विचित्रकूटौ सहस्रयोजनोच्छ्रायौ अधोविस्तृतौ तदर्धमुपरितनभागौ स्त· ताभ्याञ्चा—ऽलङ्कृता· खलु देवकुरव· सन्ति। ते च—द्विभागाधिक-द्विचत्वारिंशदधिकाष्टशतोत्तरैकादशसहस्रयोजनविस्तृता सन्ति।

एवमेवोत्तरोत्तरेण—उत्तरोत्तरा कुरव· काञ्चनपर्वतशतेनोपशोभिता सन्ति, किन्तु—ते खलु चित्र—विचित्रकूटाभ्या हीना सन्ति तत्स्थाने च काञ्चनाभ्या तत्कूटद्वयप्रमाणाभ्या-मेव यमकपर्वताभ्यां शीतोदा नदीतटवर्तिभ्यां समलङ्कृता सन्ति। महाविदेहा खलु—मन्दरा-चलदेवकुरूत्तरकुरुभि· क्षेत्रान्तरवद् विभक्ताः सन्ति पूर्वेचापरे च खलु ते विदेहा मेरुप-र्वतेन देवकुरूत्तरकुरूभिश्च विभक्ता· व्यवच्छिन्नमर्यादया स्थापिता· सन्त एकस्यैव महाविदे-हरूपक्षेत्रस्याऽन्तःपातिनोऽपि भिन्न—भिन्नक्षेत्रवद्भवन्ति।

गुफाओ से सुशोभित है। छह योजन और एक कोस तक पृथ्वी मे उसका अवगाह है। पचास योजन का विस्तार है और पच्चीस योजन की ऊंचाई है।

विदेह क्षेत्र में मेरु पर्वत से दक्षिण में और निषध पर्वत से उत्तर मे देवकुरु नामक क्षेत्र है। वह सौ कांचन पर्वतों से तथा चित्र—विचित्र कूटो से अलकृत है। इस प्रकार पाँच ह्रदो के दोनो अन्त के तटों पर स्थित दस—दस कांचनपर्वतो से शोभायमान है। शीतोदा नदी से पूर्व और पश्चिम मे जाने वाले, निषधपर्वत से आठ सौ चौतीस तथा चार के सातवे भाग ८३४ $\frac{४}{७}$ के अन्तर वाले चित्र—विचित्र कूट है, जो एक हजार योजन ऊंचे है, नीचे की ओर विस्तृत हैं, जिनका ऊपरी भाग उससे आधा है। देवकुरु उनसे सुशोभित है। उसका विस्तार दो भाग अधिक ग्यारह हजार आठ सौ बयालीस योजन का है।

इसी प्रकार मेरुपर्वत से उत्तर में उत्तरकुरुक्षेत्र है। वह भी सौ काचनपर्वतो से शोभाय-मान है, मगर उसमें चित्र—विचित्र कूट नहीं है। उनके स्थान पर उन्हीं जितने प्रमाण वाले, काचनमय एव शीता नदी के तट पर स्थित दो यमक पर्वत है।

महाविदेह क्षेत्र मेरु पर्वत और देवकुरु तथा उत्तर कुरु से विभक्त हो जाने के कारण चार भागो मे बट गया है। मेरु पर्वत से पूर्व दिशा मे स्थित विदेह का भाग पूर्व विदेह कहलाता है, पश्चिम दिशा मे स्थित भाग पश्चिमविदेह कहलाता है, दक्षिण का एक भाग देवकुरु और उत्तर का भाग उत्तर कुरु के नाम से प्रसिद्ध है। ये सब यद्यपि एक ही महाविदेह क्षेत्र के अन्तर्गत है, तथापि अलग—अलगक्षेत्र जैसे है। वहाँ जो

तत्रत्य मनुष्यादीनां परस्पर गमनाऽगमन न भवति, तस्मात्-पूर्वे चाऽपरं चोभये खलु विदेहा भवन्ति । तत्र-मेरूपर्वतात्पूर्वत पूर्वविदेहा सन्ति मेरोरपरतोऽपरं विदेहा । तत्र-पूर्वेषु विदेहेषु षोडश-चक्रवर्तिविजया नदीपर्वतविभक्ता पररपरस्यागम्याश्चक्रवर्तिना विजेतव्या' क्षेत्रविशेषा सन्ति ।

एवमेव-तुल्यायामविस्तारावगाहोच्छ्रायौ दक्षिणोत्तरौ वैताढ्यौ स्त' तथा-हिमवच्छिखरिणौ महाहिमवद्रुक्मिणौ निषधनीलौ च वर्तेते । क्षुद्रमन्दरा पुनश्चत्वार सन्ति, तत्र-द्वौ तावद् धातकीखण्डद्वीपे, द्वौ च-पुष्करार्धद्वीपे स्त । ते चत्वारोऽपि मन्दरा जम्बूद्वीप-मध्यवर्तिमन्दरापेक्षया हीनप्रमाणा सन्ति । तत्र-ते तावद् महामन्दरात-पञ्चदशसहस्रयोजनहीनोच्छ्राया. चतुरशीतियोजनसहस्रोच्छ्रिता सन्ति ।

षड्भिर्योजनशतैश्च धरणीतले-हीनविष्कम्भा चतु'शतोत्तरनवसहस्रयोजनविष्कम्भा सन्ति तेषां चतुर्णामपि क्षुद्रमन्दराणा प्रथमं काण्ड महामन्दरप्रथमकाण्डतुल्यम् सहस्रयोजनप्रमाण धरणिमवगाढ वर्तते । द्वितीय काण्डन्तु महामन्दरद्वितीयकाण्डात् सप्तभि सहस्रयोजनैर्हीन षट्पञ्चाशत्सहस्रयोजनप्रमाणं वर्तते । तृतीय काण्ड पुनर्महामन्दरतृती-

---

मनुष्य आदि निवास करते है, उनका एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र मे आवागमन नहीं होता।

मेरु पर्वत से पूर्व में जो पूर्वविदेह है और पश्चिम में जो पश्चिमविदेह है, उनमे सोलह-सोलह चक्रवर्तिविजय है । वे विजय नदियो और पर्वतों से विभक्त है । वहाँ के निवासी एक बिजय से दूसरे विजय में नहीं आ जा सकते। चक्रवर्ती उन पर विजय प्राप्त करते है, और शासन करते है । । इस प्रकार दोनों दिशाओ के मिलकर बत्तीस विजय महाविदेह में हैं ।

इसी प्रकार समान लम्बाई, चौड़ाई, अवगाह एव ऊँचाई वाले दक्षिण और उत्तर वैताढ्य है, हिमवान् और शिखरी पर्वत है, महाहिमवान् और रुक्मिपर्वत है, निषध और नील पर्वत है । क्षुद्रमेरु पर्वत चार है। उनमें से दो धातकीखण्ड द्वीप में और दो पुष्करार्ध द्वीप में है । ये चारो मेरुपर्वत जम्बूद्वीप के मध्य में स्थित मेरुपर्वत को अपेक्षा प्रमाण में होन है । महामन्दर पर्वत की अपेक्षा इसकी ऊँचाई पन्द्रह हजार योजन कम है, अत ये चौरासी हजार योजन ऊँचे हैं ।

पूर्वोक्त चार क्षुद्रमन्दर पर्वत पृथ्वी में नव हजार पाँच सौ विष्कभ वाले है। भूतल पर उनका विष्कम्भ नौ हजार चार सौ योजन का है। इन चारो क्षुद्रमन्दरपर्वतो का प्रथम काण्ड महामन्दर पर्वत के प्रथम काण्ड के बराबर है और पृथ्वी में एक हजार योजन अवगाढ है। द्वितीय काण्ड महामन्दर पर्वत के दूसरे काण्ड से सात हजार योजन कम है, अत' साढे पाँच हजार योजन प्रमाण है। तीसरा काण्ड महामन्दर पर्वत

यकाण्डादष्टभि सहस्रयोजनैर्हीनम् अष्टाविंशति सहस्रयोजनप्रमाणं विद्यते इति भाव'।

तेषु–क्षुद्रमन्दरेषु चतुर्षु विद्यमाने भद्रशालनन्दनवने द्वे अपि महामन्दरतुल्ये एवा–ऽवगन्तव्ये धरणितले–भद्रशालवनम्, तदुपरि–सार्धपञ्चशतयोजनेषु नन्दनवन विद्यते, तदुपरि पञ्चपञ्चाश-त्सहस्रशतयोजनान्यारुह्य सौमनसवन वर्तते, द्वितीयकाण्डस्य–पञ्चशतयोजनानि नन्दनवनेन परि-वेष्टितानि सन्ति।

तस्मात्–सार्धपञ्चपञ्चाशत् सहस्रयोजनानि गत्वा तत्–पञ्चशतयोजनविस्तृतमेव भवति ततोऽष्टाविंशति शतसहस्रयोजनान्यारुह्य पाण्डुकवन भवति तत –खलु चतुर्नवत्यधिकचतु शतयोजन-विस्तृतमेव भवति। एव मुपरिचाऽधस्ताच्च विष्कम्भोऽवगाहश्च महामन्दरेण तुल्य एव भवति। तथाचोपरिशिखरे यो विष्कम्भो भवति स एतेषां महामन्दरेण तुल्य, सहस्रयोजनप्रमाणो भवति अधश्च योवगाह सोऽपि महामन्दरेण तुल्य एव सहस्रयोजनप्रमाण एषा ·भवति, चूलिकाचैतेषा चतुर्णा महामन्दरस्य चूलिकातुल्यैव प्रमाणतो बोध्या।

उक्तञ्च–स्थानाङ्गे ६–स्थाने –"जम्बूद्दीवे छ वासहरपव्वया पण्णत्ता, तं जहा चुल्लहिमवंते, महाहिमवंते, निसढे, नीलवंते, रुप्पि, सिहरी,—"जम्बूद्वीपे षड्वर्षधर-पर्वता प्रज्ञप्ता' तद्यथा क्षुल्लहिमवान्, महाहिमवान् निषध, नीलवान् रुक्मी, शिखरी–इति।

के तीसरे काण्ड से आठ हजार योजन कम होने से अट्ठाईस हजार योजन प्रमाण है।

चारों क्षुद्रमन्दर पर्वतों पर जो भद्रशाल और नन्दनवन है, वे दोनो महामदर पर्वत के भद्रशाल और नन्दनवन के बराबर ही है। पृथ्वी तल पर भद्रशाल वन है। उससे पाँच सौ योजन की ऊँचाई पर नन्दनवन है। उससे साढे पचपन हजार योजन ऊपर सौमनसवन है। दूसरे काण्ड के पाँच सौ योजन नन्दनवन के द्वारा घिरे हुए है। अतएव साढे पचपन हजार योजन चलकर वह पाँच सौ योजन विस्तृत है। उससे आगे अट्ठाईस हजार योजन की ऊँचाई पर पाण्डुकवन है। वह चार सौ चौरानवे योजन विस्तार वाला है। इसप्रकार ऊपर और नीचे विस्तार और अवगाह महामन्दर पर्वत के बराबर ही है। अतएव ऊपर शिखर पर जो विस्तार है, वह इनका महामदर पर्वत के ही बराबर है और वह एक हजार योजन प्रमाण है। नीचे जो अवगाह है, वह भी महामदर के ही बराबर है और वह भी महामदर के बराबर एक हजार योजन प्रमाण ही है। चारो क्षुद्रमदर पर्वतो को भूमि का महामदर पर्वत की चूलिका के बराबर ही है।

स्थानागसूत्र के छठे स्थान में कहा है–'जम्बुद्वीप मे छह वर्षधर पर्वत कहे है, वे इस प्रकार है–चुल्ल (क्षुद्र) हिमवन्त, महाहिमवन्त, निषध, नीलवन्त रुक्मि, शिखरी।'

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तौ चोक्तम्—१५–सूत्रे–"**विभयमाणे–**" इति, विभजमान इति। तदग्रे च तत्रैवोक्तम्–७२ सूत्रे "**पाईणपडीणायए–**" इति, प्राचीन–प्रतीचीनायता–इति ॥२३॥

मूलसूत्रम्—"**ते कणग रयण तवणिज्ज वेरुलिय रूप्प हेममयाइया–**" ॥२४॥

छाया—"**ते कनकरत्नतपनीयवैडूर्य रूप्यरत्नमयादिकाः**" ॥२४॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे जम्बूद्वीपस्थ भरतवर्षादिसप्तक्षेत्रविभाजकतया क्षुद्रहिम्वदादयः षड्वर्षधरपर्वताः प्ररूपिताः सम्प्रति–तेषां षण्णामपि हिमवदादीनां वर्णविशेषसंस्थानपद्महूदादि षड्हूद पुष्करविष्कम्भादि प्रतिपत्यर्थमाह "**ते कणगरयण**" इत्यादि। ते खलु क्षुद्रहिमवद् निषध–नील रुक्मि–शिखरिनामान षड्वर्षधरपर्वताः क्रमशः–कनक, रत्न तपनीय, वैडूर्य रूप्य, रत्न-मयादिकाः सन्ति।

तथा च–क्षुद्रहिमवान् खलु कनकमयो हेममय चीनपट्टवर्णो वर्तते, १ महाहिमवान्–रत्न-मयः शुक्लवर्ण, २ निषधपर्वतस्तु–तपनीयमय तरुणरविवर्ण, ३ नीलवान्–पर्वत खलु वैडूर्य-मयो मयूरग्रीवा निभः,४ रुक्मीपर्वतश्च–रूप्यमयो रजतमय शुक्लवर्णः, शिखरीपर्वतस्तु–हेममयः चीनपट्टवर्णो विद्यते, ६

कनक–रत्न–तपनीय–वैडूर्य रूप्यहेममया प्रकृतेर्विकारः अवयवो वेत्यर्थे मयट् प्रत्ययः। आदिपदेन–मणिविचित्रपार्श्वाः उपरि- मध्ये–मूले च तुल्यविस्ताराः तदुपरि–वर्तमानाः पञ्च महा-

---

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति सूत्र १५ में कहा है–विभजमान।' वहीं आगे सूत्र ७२ में कहा है–'(वे वर्षधर पर्वत) पूर्व–पश्चिम में लम्बे है ॥२३॥

'**ते कणगरयण**' इत्यादि सू० २४

सूत्रार्थ—वे पर्वत क्रमशः कनक–रत्न–तपनीय–वैडूर्य–रुप्य–हेममय आदि है ॥२४॥

तत्त्वार्थदीपिका–जम्बूद्वीप में स्थित भरतवर्ष आदि सात क्षेत्रों को विभक्त करने वाले क्षुद्रहिमवन्त आदि छह वर्षधर पर्वतो का पूर्वसूत्र में प्ररूपण किया गया है, अब उन वर्षधर पर्वतो के रंग, आकार उन पर बने हुए पद्महूद आदि छह हूद, उनके अन्दर के पुष्कर आदि का बिस्तार वगैरह बतलाने के लिए कहते हैं–

वे क्षुद्रहिमवन्त, महाहिमवन्त, निषध, नील, रुक्मि और शिखरी नामक छह वर्ष धर पर्वत अनुक्रम से कनक, रत्न तपनीय, वैडूर्य, रुप्य और रत्नमय आदि है।

(१) क्षुद्रहिमवन्त पर्वत स्वर्णमय है, चीनपट्ट के वर्णवाला है। (२) महाहि-वन्त पर्वत रत्नमय–शुक्क वर्ण का है (३) निषध पर्वत तपनीयमय–मध्याह्न कालिक सूर्य जैसे वर्णका है। (४) नीलवान् पर्वत वैडूर्यमय–मयूर की गर्दन के समान है।(५) रुक्मी पर्वत रजतमय–सफेद रग का है और (६) शिखरी पर्वत हेममय–चीन–पट्ट के रग का है।

कनक–रत्न– तपनीय वैडूर्य रूप्य–हेममयाः यहाँ प्रकृति के विकार या अवयव अर्थ में मयट् प्रत्यय हुआ है। सूत्र में जो 'आदि' पद का प्रयोग किया गया है, उससे इतना और

पद्म–तिगिञ्छ–केसरिपुण्डरीक–महापुण्डरीक नामान· षड्हृदाः ।

तेषाञ्च षण्णां हृदानां तत्रत्य पुष्कराणाञ्च यथाक्रममायाम–विष्कम्भाऽवगाहाश्च गृह्यन्ते तत्र–पद्महृदस्याऽऽयामो योजनसहस्रपरिमित , विष्कम्भश्च–पञ्चशतयोजनमितः, अवगाहो निम्नता अध. प्रवेशो दशयोजनमितो वर्तते । तद् द्विगुणतद् द्विगुणादिक्रमेण महापद्महृदादीनामायाम–विष्कम्भा बोध्या अवगाहस्तु–सर्वेषां दशयोजनमित एव वर्तते । सर्वेषा हृदाना मध्यवर्ति पुष्करा-णाञ्चा–ऽऽयाम–विष्कम्भा योजनादि क्रमेणोत्तरोत्तरवृद्ध्या अवगन्तव्या ॥२४॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं हिमवदादीना जम्बूद्वीपवर्तिना षण्णां वर्षधरपर्वताना प्ररूपण कृतम् सम्प्रति—तेषां वर्णविशेपसस्थानाकार तत्रत्य पद्महृदादि षड्हृदपुष्करा-ऽऽयाम-विष्कम्भादिप्रतिपत्त्य-र्थमाह—**ते कणगरयणतवणिज्ज वेरुलिय रूप्पहेममयाइया**—" ॥ इति ॥

ते खलु–क्षुद्रहिमवदादय· षड्वर्षधरपर्वताः कनक–रत्न–तपनीय–वैडूर्य–रूप्य–हेममया. सन्ति । तत्र–हिमवान् पर्वत· कनकमयत्वात्–चीनपट्टवर्ण , १ महाहिमवान्–खलु रत्नमयत्वात्–

समझ लेना चाहिए–उन पर्वतों के पार्श्वभाग मणियो से चित्र विचित्र है और उनका विस्तार ऊपर मध्य में तथा मूल में है।

उन छह पर्वतो के ऊपर क्रमश· पद्म, महा पद्म तिगिञ्छ केसरी, पुण्डरीक और महा· पुण्डरीक नामक छह हृद है।

उन छहों हृदों का और उनमें स्थित पुष्करो का आयाम (लम्बाई) विष्कम (विस्तार) और अवगाह इस प्रकार है–पद्म नामक हृद (द्रह) एक हजार योजन लम्बा है, पाँच सौ योजन विस्तृत है और दस योजन अवगाह (गहरा) वाला है। अवगाह का अर्थ यहाँ निचाई है, जिसे निचला प्रदेश भी कह सकते हैं। महापद्म तथा तिगिञ्छ हृदो का विस्तार एवं आयाम उत्तरोत्तर द्विगुणित है। अवगाह सबका दस योजन ही है । सभी हृदों के मध्य में स्थित पुष्करो का आयाम विष्कम एक योजन आदि क्रम से उत्तरोत्तर बढता हुआ समझना चाहिए।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि पद्म आदि हृद तथा उनमें स्थित पुष्कर दक्षिण दिशा में द्विगुणित है, अर्थात् पद्महृद से महापद्महृद द्विगुण आयाम विस्तार वाला है। और महापद्म हृद से तिगिञ्छ हृद दुगुना आयाम विस्तार वाला है। उसके पश्चात् उत्तर दिशा के तीनों हृद और पुष्कर दक्षिण जैसे ही है, अर्थात् तिगिञ्छ हृद के बराबर विस्तारादि वाला केसरी हृद है, महापद्म के बराबर पुण्डरीक हृद है और पद्म हृद के समान महापुण्डरीक हृद है ॥२४॥

तत्त्वार्थ निर्युक्ति—इससे पूर्व जम्बूद्वीप में स्थित हिमवन्त आदि छह वर्षधर पर्वतो की प्ररूपणा की गई है । अब उन पर्वतों के वर्ण एव आकार का तथा उनमें जो पद्म हृद आदि है उनका और उनके पुष्करों का आयाम विष्कम्भ आदि की प्ररूणा करते है–

वे क्षुद्रहिमवन्त आदि छह वर्षधर कनक,रत्न, तपनीय, वैडूर्य रूप्यमय और हेममय हैं। उनमें से हिमवन्त पर्वत कनकमय होने से चीनपट्ट के वर्ण का है। महाहिमवन्त रत्नमय होने से

शुक्लवर्ण, २ निषधपर्वतस्तु—तपनीयत्वात् तरुणादित्यवर्णः, ३ नीलवान् पर्वतस्तु—वैडूर्यमयत्वात् मयूरग्रीवाभः ४, रुक्मीपर्वतस्तु—रुप्यमयत्वाद् रजतवदधवलवर्णः ५ शिखरीपर्वतः पुन—र्हेममयत्वात् चीनपट्टवर्णो वर्तते ६ ।

आदिपदेन—क्रमशस्तेषां सस्थानादिकं वोध्यम् । एतेषाञ्च षण्णां वर्षधरपर्वतानाम्—क्षुल्लहिमवद्, महाहिमवद्, निषध, नीलवद्, रुक्मि शिखरिणां स्वरूपाणि तावत्—क्रमशो हेमधवल तपनीयवैडूर्यरजतहेममयानि सन्ति । ते च—षट्पर्वताः पुन र्मणिविचित्रपार्श्वाः उपरि—मूले च तुल्यविस्ताराः सन्ति ।

तथाचोक्तं जम्बूप्रज्ञप्तौ ७२–७९–८३–११०–१११–सूत्रेषु—"चुल्लहिमवंते जंबुद्दीवे सव्वकणगामए अच्छे संडे तहेव जाव पडिरूवे, महाहिमवंते णाम सव्वरयणामए, निसढेणामं सव्व तवणिज्जमए, नीलवंते णामं सव्ववेरुलियामए, रुप्पिणामं सव्वरूप्पामए, सिहरीणामं .. सव्वरयणामए—" इति ।

क्षुल्लहिमवान् जम्बूद्वीपे सर्वकनकमयोऽच्छः श्लक्ष्णः—तथैव यावत्प्रतिरूपः, महाहिमवान् नाम सर्वरत्नमयः, निषधो नाम सर्वतपनीयमयः, नीलवान् नाम . सर्ववैडूर्यमयः, रुक्मीनाम.. सर्वरूप्यमय, शिखरीनाम सर्वरत्नमयः, इति ।

स्थानाङ्गे २—स्थाने ३—उद्देशके—चोक्तम्—"बहु समतुल्ला अबिसेसमणाणत्ता अन्नमण्णं णाइवट्टति आयामविक्खम्भ उव्वेह णपरिणाहेणं—" इति । बहुसमतुल्या अविशेष मनाज्ञप्ताः अन्योऽन्यं नातिवर्तन्ते आयामविष्कम्भोद्वेधसस्थानपरिणाहेन इति ।

शुक्लवर्ण है । निषध पर्वत तपनीयमय होने से तरुण सूर्य के समान वर्ण वाला है । नीलवान् पर्वत वैडूर्यमय होने से मयूर की ग्रीवा के वर्ण का है । रुक्मी पर्वत रूप्यमय होने से चांद के समान श्वेत वर्ण का है । शिखरी पर्वत हेममय (स्वर्णमय) होने से चीन पट्ट जैसे वर्ण का है ।

'आदि' शब्द से क्रमशः उनके वर्ण आदि का ग्रहण करना चाहिए । इन छह वर्षधर पर्वतों का अर्थात् क्षुद्रहिमवान्, महाहिमवान्, निषध नीलवत रुक्मी और शिखरी क्रमशः स्वर्ण वर्ण तपनीयवैडूर्य रजत और हेम के ग्ग के है । इन छहों पर्वतों के पार्श्वभाग मणियों से चित्र—विचित्र है तथा उनका विस्तार ऊपर और नीचे बराबर—बराबर है ।

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति सूत्र में ७२–७९–८३–११० और १११ सूत्रो में कहा है—'जम्बूद्वीप में क्षुद्रहिमवान् पर्वत पूर्ण रूप से स्वर्णमय है । स्वच्छ है, चिकना है यावत् बहुत सुन्दर है । महाहिमवान् पर्वत सर्व रत्नमय है, निषध सर्व तपनीयमय है, नीलवान् पर्वत सर्ववैडूर्यमय है, रुक्मी पर्वत सर्वरूप्यमय है और शिखरी पर्वत सर्वरत्नमय है ।'

स्थानांगसूत्र के द्वितीय स्थान, तृतीय उद्देशक, ८७ वे सूत्र में कहा है—'ये छहों पर्वत आयाम, विष्कभ, अवगाह सस्थान (आकार) तथा परिधि की अपेक्षा बिलकुल समान हैं, इनमें कोई भिन्नता नहीं हैं, नानापन नहीं है, परस्पर में विसदृश नहीं है ।'

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तौ ७२–सूत्रे चोक्तम्—"**उभओ पासिं दोहिं पउमवरवेइयाहिं दोहिअ वणसंडेहिं संपरिक्खित्ते–**" इति। उभयो पार्श्वयो द्वाभ्यां पद्मवरवेदिकाभ्यां द्वाभ्याञ्च वनखण्डाभ्यां सपरिक्षिप्ता इति। तेषाञ्च षण्णा क्षुल्लहिमवदादिवर्षधरपर्वतानामुपरि जम्बूद्वीपे खलु–क्रमशः षड्महाहूदा सन्ति। ते च–पद्म, महापद्म, तिगिच्छ, केसरि, पुण्डरीक, महापुण्डरीकनामानो हूदा अवगन्तव्या।

तथाचोक्तं स्थानाङ्गे ६–स्थाने—"**जंबुद्दीवे छ महद्दहा पण्णत्ता, तं जहा–पउमद्दहे, महापउमद्दहे, तिगिच्छद्दहे, केसरिद्दहे पोंडरीयद्दहे, महापोंडरीयद्दहे,–**" इति। जम्बूद्वीपे षड्महाहूदा प्रज्ञप्ता, तद्यथा–पद्महूद–१ महापद्महूद–२ तिगिच्छहूदः–३ केसरिहूद–४ पुण्डरीकहूद–५ महापुण्डरीकहूद–६ इति।

तत्र–प्रथमस्तावत्–पद्महूद सहस्रयोजनायामो वर्तते, पञ्चशतयोजनविस्तारो दशयोजनावगाहश्चा-ऽवसेय। "तथाचोक्तं जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तौ पद्महूदाधिकारे—"**तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं एक्के महे पउमद्दहे णामं दहे पण्णत्ते, पाइणपडीणायए उदीणदाहिणविच्छिण्णे एक्कं जोयणसहस्सं आयामेणं पंचजोयणसयाइं, विक्खंभेणं दसजोयणाइं उव्वेहेणं अच्छे–**" इति।

तस्य खलु बहुसमरमणीयस्य भूमिभागस्य बहुमध्यदेशभागे, अत्र खलु–एको महापद्महूदो नामहूद प्रज्ञप्त, प्राचीन–प्रतीचीनायत–उदीचीन–दक्षिणविस्तीर्णः एकं योजनसहस्रमायामेन–पञ्च–योजनशतानि विष्कम्भेण, दशयोजनानि–उद्वेधेन, अच्छ इति। तस्य खलु–पद्महूदस्य मध्यभागे–एकयोजनायामविस्तारमेकं पुष्करं नाम पद्म विलसति।

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति के सूत्र ७२ में कहा है–'ये पर्वत दोनो पार्श्वों में दो पद्मवर वेदिकाओं से तथा दो वनखडो से घिरे हुए है।'

उन क्षुद्रहिमवन्त आदि छहो वर्षधर पर्वतो के ऊपर क्रम से छह महाह्रद है। उनके नाम ये है–पद्म, महापद्म, तिगिञ्छ, केसरी, पुण्डरीक और महापुण्डरीक।

स्थानांसूत्र के छठे स्थान में कहा है–जम्बूद्वीप मे छहहूद कहे गए हैं, वे इस प्रकार हैं–पद्महूद, महापद्महूद, तिगिञ्छहूद, केसरीहूद, पुण्डरीकहूद, और महापुण्डरीकहूद।'

इनमें से पहलापद्महूद, एक हजार योजन लम्बा है, पाँच सौ योजन चौडा है और दस योजन गहरा है।

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में पद्महूद के प्रकरण में कहा है–क्षुद्रहिमवान् पर्वत के समतल भाग के बीचो बीच एक विशाल पद्महूदनामक हूद है। वह पूर्व पश्चिम में लम्बा है, उत्तर दक्षिण में चौडा है। उसकी लम्बाई एक हजार योजन की, चौडाई पाँच सौ योजन की और गहराई दस योजन की है। वह स्वच्छ है।' उस पद्महूद के मध्यभाग में एक योजन लम्बा और चौडा एक पुष्कर नामक कमल है।

उक्तञ्च–जम्बूप्रज्ञप्तौ पद्महूदाधिकारे ७३–सूत्रे–'तस्स पउमद्दहस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ महं एगे पउमे पण्णत्ते, जोयणं आयामविक्खंभेणं, अद्धजोयण–दसजोयणाइं उव्वेहेणं दो कोसे ऊसिए जलंताओ साइरेगाइं दसजोयणाइं सव्वग्गेणं पण्णत्ता–" इति।

तस्य पद्महूदस्य बहुमध्यदेशभागे–अत्र महद् एक पद्म प्रज्ञप्तम्, योजनमायामविष्कम्भेण–अर्धयोजन बाहल्येन दशयोजनानि उद्वेधेन द्वौ क्रोशौ जलान्तात्, सातिरेकाणि दशयोजनानि सर्वाग्रेण प्रज्ञप्तानि, इति।

पद्महूदापेक्षया तन्मध्यवर्त्तिपुष्करापेक्षया च–द्विगुणद्विगुणा हूदाः पुष्कराणि चाऽवगन्तव्यानि। तथाच–पद्महूदापेक्षया–द्विगुणायामविस्तारः खलु महापद्महूद। महापद्महूदापेक्षया–द्विगुणायामविस्तार स्तावत्–तिगिच्छहूद' तिगिञ्छहूदापेक्षया द्विगुणायामविष्कम्भश्च केसरि हूदः केसरिहूदापेक्षया द्विगुणायामविस्तारो पुण्डरीकहूदः। पुण्डरीकहूदापेक्षया–द्विगुणायामविस्तार' पुन–महापुण्डरीक-हूदो वर्तते।

एवं–पद्महूदमध्यवर्तिपुष्करापेक्षया द्विगुणं पुष्करं महापद्महूदे वर्तते, तत्पुष्करापेक्षया–द्विगुण पुष्करं तिगिच्छहूदे विलसति तत्पुष्करापेक्षया–द्विगुणं पुष्करं केसरिहूदे वर्तते, तत्पुष्करापेक्षया द्विगुणं पुष्करं पुण्डरीकहूदे विलसति, । तथाच–पद्महूदस्य योजनसहस्रायामतया–पञ्चशतयोजन-विस्तारतयोत्तरत्वेन तद् द्विगुणो महापद्महूद'। सहस्रयोजनायाम' सहस्रयोजनविस्तारश्च भवति।

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति सूत्र ७३ पद्महूद के अधिकार में कहा है– उस पद्महूद के बिलकुल मध्य भाग में एक विशाल पद्म कहा गया है। वह एक योजन लम्बा–चौडा है, आधा योजन मोटा है और दस योजन गहरा है, जल से दो कोस ऊँचा है। उसका समग्र परिमाण कुछ अधिक दस योजन का कहा गया है।

पद्महूद का जो परिमाण कहा गया है, उसकी अपेक्षा महापद्महूद का और महापद्महूद की अपेक्षा तिगिञ्छ हूद का परिमाण दुगुना–दुगुना है। इसी प्रकार उनमें स्थित कमलों का परिमाण भी दुगुना दुगुना है, जो परिमाण दक्षिण दिशा के इन हूदो और पुष्करो का है, वही उत्तर दिशा के हूदों और कमलो का है। जैसे तिगिञ्छ के समान केसरी हूद का, महापद्म के बराबर पुण्डरीक हूद का और पद्महूद के समान महापुण्डरीक हूद का आयाम विष्कम है। इनमे स्थित कमलों के विषय में भी ऐसा ही समझना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि पद्महूद के मध्य में स्थित पुष्कर की अपेक्षा महापद्महूद में स्थित पुष्कर दुगुना है, महापद्म हूद के पुष्कर की अपेक्षा तिगिञ्छ हूद पुष्कर दुगुना हैं। तत्पश्चात् उत्तर में केसरी हूद का पुष्कर तिगिञ्छहूद के पुरष्कर के बराबर, पुण्डरीक हूद का पुष्कर महापद्म हूद के पुष्कर के बराबर और महापुण्डरी हूद का पुष्कर पद्म हूद के पुष्कर बराबर है।

एव रीत्या–तद्विगुणत तद्विगुणतयोत्तरोत्तरं क्रमश स्तिगिच्छ–केसरि–पुण्डरीक–महापुण्डरीक-हूदानामपि स्वयमायामविस्तारा: ऊहनीया: अवगाहस्तु–सर्वेषां हूदानां दशयोजनान्येवाऽवसेय: । उक्तञ्च जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तौ महापद्महूदाधिकारे–८० सूत्रे–"**महाहिमवंतस्स वहुमज्झदेसभाए एत्थ णं एगे महापउमद्दहे णामं दहे पण्णत्ते दो जोयणसहस्साइं आयामेणं एगं जोयणसहस्सं विक्खंभेणं दसजोयणाइं उव्वेहेणं अच्छे रययामयकूले एवं आयामविक्खंभविहूणा जा चेव पउमदहस्स वत्तव्वया सा चेव णेयव्वा पउमप्पमाणं दो जोयणाइं अट्ठो जाव महापउमदहवण्णाभाइं हिरीअ एत्थ देवीजाव पलिओवमट्ठिइया परिवसइ**" इति

' महाहिमवतो बहुमध्यदेशभागे अत्र खलु एको महापद्महूदो नाम हूद: प्रज्ञप्त', द्वे योजनसहस्रे-आयामेन, एक योजनसहस्र विष्कम्भेण–दशयोजनानि–उद्वेधेन, अच्छो रत्नमयकूल: एवम्–आयामविष्कम्भविहीना या चैव पद्महूदस्य वक्तव्यता–सा चैव ज्ञातव्या पद्मप्रमाण द्वे योजने, अर्थो यावद महापद्महूदवर्णाभानि, ह्रीश्चात्र देवी यावत्–पल्योपमस्थितिका परिवसति, इति

तदग्रे चोक्तम्–जम्बूप्रज्ञप्तौ षड्हूदाधिकारे ८२–सूत्रतः ११०–सूत्रपर्यन्तम्–,,**तिगिंछद्दहे-णामं दहे पण्णत्ते .. चत्तारि जोयणसहस्साइं आयामेणं, द्दो जोयणसहस्साइं विक्खंभेणं, दसजोयणाइं उव्वेहेणं धिइअ एत्थ देवी पलिओवमट्ठिइया परिवसइ**–" इति । तिगिच्छकहूदो नामह्रद: प्रज्ञप्त: .चत्वारि योजनसहस्राणि आयामेन, द्वे योजनसहस्रे विष्कम्भेण, दशयोजनानि उद्वेधेन, धृतिश्चात्र देवी पल्योपमस्थितिका परिवसति इति ।

तेषु च षट्सु पुष्करेषु उत्तरोत्तरविशालेषु कर्णिकामध्यदेशनिवेशिन: शरत्पूर्णिमा पूर्णचन्द्र चन्द्रिकाद्युतिहरा: क्रोशायामा अर्धक्रोशविस्तारा: देशोनक्रोशोत्सेधा. प्रासादा' षड् विलसन्ति,

---

अवगाह सभी हूदो का दस योजन ही है । जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति के महापद्म हूद के प्रकरण में सूत्र ८० में कहा है–'महाहिमवत पर्वत के ठीक बीचोंबीच एक महापद्म हूद नामक हूद है, उसकी लम्बाई दो हजार योजन की, चौड़ाई एक हजार की, और गहराई दस हजार योजन की कही गई है । वह स्वच्छ है, उसके किनारे रजतमय हैं । इस प्रकार लम्बाई–चौडाई को छोड़ कर शेष वर्णन पद्महूद के समान ही समझ लेना चाहिए । उसमें स्थित पद्म का प्रमाण दो योजन है अर्थात् यावत् महापद्महूद के वर्ण के समान . .उस कमल मे एक पल्योपम की स्थिति वाली ह्री देवी निवास करती है ।

आगे जम्बूद्वीप्रज्ञप्ति मे छह ह्रदों के प्रकरण में सूत्र ८२से११० पर्यन्त में कहा है–तिगिच्छ हूद नामक हूद है जो चार हजार योजन लम्बा है, दो हजार योजन चौडा है और दस हजार योजन गहरा है । यहाँ धृति नाम की देवी निवास करती है जिसकी स्थिति एक पल्योपम की है।

उत्तरोत्तर विशाल उन छहो पुष्करो की कर्णिका के मध्य भाग मे बने हुए, शरत्पूर्णिमा के चन्द्रमा की चांदनी की कान्ति को भी हरण करने वाले, एक कोस लम्बे, अर्ध कोस विस्तार

तेषु प्रासादेषु निवासिन्य षड्देव्य' श्री' ह्री धृति–कीर्तिबुद्धि–लक्ष्मीनामधेया' पल्योपमस्थितिका. ससामानिका सपरिषदश्च ता विलसन्ति तेषां पुष्कराणा परिवारपुष्करेपु प्रासादानामुपरि सामानिका परिषदश्च तासां वसन्ति ।

उक्तञ्च स्थानाङ्गे ६– स्थाने —"तत्थ णं छ देवयाओ महड्डियाओ जाव पलिओपमट्ठिइयाओ परिवसंति तं जहा–सिरी–हिरी–धिई किची वुद्धी लच्छी–" इति ।

यावत् पदेन– महाद्युतिका' महाबलाः महायशसः इत्यादिग्राह्यम् । तत्र–श्रीह्रीधृतयस्तिस्रो-देव्यः स्व–स्वपरिवारपरिवृता सौधर्मेन्द्रेण सबद्धा. सन्ति, अतएव तास्तिस्रो देव्य सौधर्मेन्द्रसेवा-परायणा वर्तन्ते कीर्ति–बुद्धि–लक्ष्म्यस्तिस्र' खलु देव्यस्तु–सपरिवारा ईशानेन्द्रेण सम्बद्धा सन्ति तस्मात्ता' तिस्र ईशानेन्द्रस्य सेवातत्परा वर्तन्ते एव रीत्या–पञ्चस्वपि मेरुपु ये तावत् षट्–षट् कुलपर्वता' सन्ति, तेषु सर्वेषु षट्–षड्देव्योऽवगन्तव्या. सर्वाश्च ता' देव्यस्त्रिंशत्सञ्ज्ञका भवन्ति ॥

मूलसूत्रम्—"तत्थ–गंगाइया सत्तनदीओ पुरत्थाभिमुहवाहिणीओ सिंधूआइया सत्त पच्चत्थाभिमुहवाहिणीओ—" ॥ २५ ॥

छाया—"तत्र–गङ्गादिकाःसप्त नद्यः पूर्वाभिमुखवाहिन्यः' सिन्ध्वादिकाः सप्त पश्चिमाभिमु हिन्य—" ॥२५ ॥

वाले तथा एक कोस से कुछ कम ऊँचे छह प्रासाद है । उन प्रासादो में छह देवियाँ निवास करती हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं–श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि, एवं लक्ष्मी इन सब देवियोंकी स्थिति पल्योपम की है और वे सामानिक एव पारिषदो के साथ वहाँ विलास करती है । उन पुष्करों के परिवाररूप अन्य पुष्करों में प्रासादों के ऊपर उन देवियो के सामानिक और पारिषद्य देव निवास करते हैं ।

स्थानागसूत्र के छठे स्थान में कहा है–'वहाँ छह महान् ऋद्धि की धारक यावत् पल्योपम की स्थिति वाली देवियाँ रहती हैं । वे इस प्रकार हैं–श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी । 'यावत्' शब्द से महान् द्युति वाली, महायश वाली, इत्यादि ग्रहण करना चाहिए ।

इन छह देवियों में से श्री, ह्री और धृति नामक तीन देवियाँ अपने–अपने परिवार सहित सौधर्मेन्द्र के साथ सम्बन्ध रखती हैं, अत' वे तीनों सौधर्मेन्द्र की सेवा मे तत्पर रहती है । कीर्ति, बुद्धि, और लक्ष्मी नामक तीन देवियाँ ईशानेन्द्र से सम्बद्ध है, अतएव वे ईशानेन्द्र की सेवा में तत्पर रहती हैं ।

इस प्रकार पाँचो मेरुपर्वतो के उत्तर और दक्षिण में जो छह–छह कुलपर्वत है, उन सब पर छह–छह देवियाँ है । इस प्रकार सब देवियाँ मिलकर तीस होती हैं ॥२४॥

सूत्रार्थ–'तत्थ गंगाइया' इत्यादि सूत्रार्थ सू. २५

जम्बूद्वीप में गगा आदि सात नदियाँ पूर्व दिशा की ओर बहती है और सिन्धु आदि सात नदियाँ पश्चिम की ओर वहती है ॥२५॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे जम्बूद्वीपे भरतादि सप्तक्षेत्रविभाजकानां क्षुद्रहिमवदादिषट्-कुलपर्वतानां वर्णविशेषसंस्थानपद्मादिषड्हूदादि स्वरूपवर्णनं कृतम्, सम्प्रति—तत्रत्य तत्तत्क्षेत्र-विभाजकगङ्गादिचतुर्दशनदीनां स्वरूप प्ररूपयितुमाह—"तत्थ गंगाइया—" इत्यादि ।

तत्र—तस्मिन् खलु पूर्वोक्तस्वरूपे जम्बूद्वीपे गङ्गादिकाः—गङ्गा—१ रोहिता—२ हरिता—३ सीता—४ नरकान्ता—५ सुवर्णकूला—६ रक्ता—७ इत्येवमादिका सप्तनद्य. सरित. पूर्वाभिमुखवाहिन्य पूर्वाभिमुखीभूय भरतादिक्षेत्रेषु प्रवहन्त्य पूर्वलवणसमुद्र प्रविशन्ति [पत्यु'कुल-पुनर्गमनाय स्वात्मानमर्पयन्ति—] ।

सिन्ध्वादय'—सिन्धु—१ रोहितांशा—२ हरिकान्ता—३ सीतोदका—४ नारीकान्ता—५ रूपकूला—६ रक्तवत्य.—७ इत्येवमादिकास्तु सप्तनद्य पश्चिमाभिमुखवाहिन्य. पश्चिमाभिमुखी-भूय प्रवहन्त्य पश्चिमलवणसमुद्र प्रविशन्ति, तत्र—नदीद्वयनदीद्वयमध्ये—एकैक क्षेत्रमवगन्तव्यम् तेन—नैकत्र सर्वासां प्रवहणप्रसङ्ग' ॥ २५ ॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पूर्वं भरतवर्षादिक्षेत्रविभाजकक्षुद्रहिमवदादीनां, स्वरूपवर्णविशेषसंस्थाना—ऽऽयामविष्कम्भावगाहपद्महूदादितन्मध्यवर्तिपुष्करादीनां निरूपणं कृतम् , सम्प्रति—पद्महूदादि-निर्गतगङ्गादिचतुर्दशमहानदीनां स्वरूपादिकं प्ररूपयितुमाह— "**तत्थ गंगाइया सत्त नदीओ पुरत्थाभिमुहवाहिणीओ, सिंधूआइया सत्त पच्चत्थाभिमुहीवाहिणीओ—**"

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्र में जम्बूद्वीप के अन्दर भरत आदि क्षेत्रों को विभाजित करने वाले क्षुद्रहिमवन्त आदि छह कुलपर्वतो के वर्ण, सस्थान, पद्महूद आदि के स्वरूप का वर्णन किया गया। अब विभिन्न क्षेत्रों को विभक्त करने वाली गगा आदि चौदह नदियों के स्वरूप का प्ररूपण किया जाता है—

जिसका स्वरूप पहले कहा जा चुका, है उस जम्बूद्वीप में गगा आदि अर्थात् (१)गंगा (२) रोहिता (३) हरिता (४) सीता (५) नरकान्ता (६) सुवर्णकूला और (७) रक्ता, "ये सात नदियाँ पूर्व की ओर बहती है और भरत आदि क्षेत्रो मे बहती हुई पूर्वलवण समुद्र में प्रवेश करती है (पुन' वापिस न लौटने के लिए पति—सागर—के घर में अपने आपको अर्पित करती है।)

सिन्धु आदि अर्थात् (१) सिन्धु (२) रोहितांशा (३) हरिकान्ता (४) सीतोदा (५) नारीकान्ता (६) रूप्यकूला (७) रक्तवती, ये सात नदियाँ पश्चिम की ओर बहने वाली है और पश्चिम की ओर बहती हुई पश्चिम लवणसमुद्र में प्रवेश करती है।

भरत आदि सात क्षेत्रो मे से प्रत्येक क्षेत्र में दो—दो नदियाँ बहती है अतएव एक ही जगह सभी के बहने का कोई प्रसग नहीं है ॥२५॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—इससे पहले भारतवर्ष आदि क्षेत्रों को पृथक्—पृथक् करने वाले क्षुद्रहिमवन्त आदि पर्वतों के स्वरूप, वर्ण आकार, आयाम, विष्कंभ, अवगाह आदि का, उनके ऊपर बने हुए पद्महूद आदि का तथा पद्महूद आदि के मध्य मे स्थित कमलों आदि का वर्णन किया गया

इत्यादि—तत्र—तस्मिन् खलु पूर्वोक्तस्वरूपे जम्बूद्वीपे गङ्गादिका —गङ्गा—१ रोहिता—२ हरिता—३ सीता—४ नरकान्ता—५ सुवर्णकूला—६ रक्ता—७ इत्येवं रूपा सप्तनद्य. महासरितः पूर्वाभिमुखवाहिन्य – पूर्वाभिमुखीभूय भरतादिक्षेत्रेषु प्रवहन्त्य पूर्वलवणसमुद्र प्रविशन्ति सिन्ध्वादिका.—सिन्धु रोहितांशा हरिकान्ता सीतोदा नारीकान्ता रूप्यकूला रक्तवत्य. इत्येवं भूता सप्तनद्यस्तु—पश्चिमाभिमुखवाहिन्य· पश्चिमाभिमुखीभूय प्रवहन्त्य' पश्चिमलवण समुद्रं प्रविशन्ति तत्र नदीद्वयनदीद्वयमध्ये एकैक क्षेत्रमवसेयम् तत्र पद्महूदप्रभवा पूर्वतोरणद्वारनिर्गता गङ्गानदी वर्तते, तद्हूदप्रभवा पश्चिमतोरणद्वारनिर्गत सिन्धुरस्ति उदीच्यतोरणद्वारनिर्गता रोहितांशा नदी विद्यते महापद्महूदप्रभवा दक्षिणतोरणद्वारनिर्गता रोहिता नदी विद्यते महापद्महूदप्रभवा—उदीच्यतोरणद्वारनिर्गता खलु—हरिकान्ता नदी वर्तते ।

तिगिच्छहूदप्रभवा दक्षिणतोरणद्वारनिर्गता खलु हरिता नदी वर्तते' तिगिच्छहूदप्रभवा उदीच्यतोरणद्वारनिर्गता सीतोदा नदी वहति केसरिहूदप्रभवा दक्षिणतोरणद्वारनिर्गता सीतानदी· वर्तते, केसरिहूदप्रभवा—उदीच्यतोरणद्वारनि.सृता खलु नरकान्ता नदी विद्यते पुण्डरीक हूदप्रभवा दक्षिणतोरणद्वारनिर्गता नारीकान्ता नदी प्रवहति, तद्हूदप्रभवा उदीच्यतोरणद्वारनिर्गता रूप्यकूलानदी भवति ।

है । अब पद्महूद आदि से निकली हुई गगा आदि चौदह महा नदियो के स्वरूप आदि का प्ररूपण करने के लिए कहते है—

जम्बूद्वीप में गंगा आदि अर्थात् (१) गंगा (२) रोहिता (३) हरिता (४) सीता (५) नरकान्ता (६) सुवर्णकूला और रक्ता, ये सात महानदियाँ पूर्व दिशा की ओर अभिमुख होकर भरत आदि क्षेत्रों में बहती हुई पूर्व लवणसमुद्र में प्रवेश करती है । सिन्धु आदि अर्थात् (१) सिन्धु (२) रोहितांशा (३) हरिकान्ता (४) सीतोदा (५) नारिकन्ता (६) रूप्यकूला और रक्तवती, ये सात महानदियाँ पश्चिम की ओर बहती हुई पश्चिम लवणसमुद्र में प्रवेश करती हैं । एक–एक क्षेत्र में दो–दो नदियाँ समझनी चाहिए । उनमें गंगा नदी पद्महूद से उत्पन्न होती है और पूर्व तोरण द्वार से निकलती है । इसी पद्महूद से निकलने वाली और पश्चिम तोरणद्वार से निकलने वाली सिन्धु नदी है इसी पद्महूद से उत्तरीय तोरणद्वार से रोहितांशा नदी निकलती है । रोहिता नदी महापद्महूद से उद्गत होती है और दक्षिणी तोरणद्वार से निकलती है । महापद्महूद से, उत्तरीय तोरणद्वार से हरिकान्ता का उद्गम होता है ।

हरिता नदी तिगिच्छहूद से दक्षिणीतोरणद्वार से निकलती है सीतोदा नदि इसी उत्तरीय तोरणद्वार से निकलती है । सीता नामक नदी केसरी हूद से उत्पन्न होती और दक्षिणी तोरण द्वार से निकलती है । नरकान्ता भी केसरी हूद से निकलती है और उत्तरीय तोरणद्वार से होकर बहती है ।नारीकान्ता पुण्डरीक हूद से उद्गत होकर दक्षिणी तोरणद्वार से निकल कर बहती है । इसी हूद से उद्गत होकर उत्तरीय तोरणद्वार से रूप्यकूला नदी बहती है ।

महापुण्डरीतहूदप्रभवा दक्षिणतोरणद्वारनिर्गता सुवर्णकूलानदी प्रवहति , महापुण्डरीकहूदप्रभवा पूर्वत्रतोरणद्वारनिर्गता रक्तानदी प्रवहति तत्पश्चिमतोरणद्वारनिर्गता रक्तोदा–रक्तवतीवा नदी प्रवहति । उक्तञ्च स्थानाङ्गे ७ स्थाने

'जंबुद्दीवे सत्त महानदीओ पुरत्थाभिमुहीओ लवणसमुद्दं समुप्पेंति, तं जहा–गंगा रोहिता-हरी-सीता-णरकंता-सुवण्णकूला रत्ता-जंबुद्दीवे सत्त महानदीओ पच्चत्थाभिमुहीओ लवणसमुद्दं समुप्पेति, तंजहा–सिंधू–१ रोहितंसा–२ हरिकंता–३ सीतोदा–४ णारीकंता–५ रुप्पकूला–६ रत्तवई–" इति

जम्बूद्वीपे सप्त महानद्य —पूर्वाभिमुख्यो लवणसमुद्र समर्पयन्ति [स्वस्वाऽऽत्मानम्] तद्यथा—गङ्गा–१ रोहिता–२ हरित्–३ सीता–४ नरकान्ता–५, सूवर्णकूला–६ रक्ता–७ जम्बूद्वीपे–सप्तमहानद्यः पश्चिमाभिमुख्यो लवनसमुद्र समर्पयन्ति, तद्यथा–सिन्धुः–१ रोहितांशा–हरिकान्ता–३ सीतोदा–४ नारीकान्ता–५ रुप्यकूला–६ रक्तवती–७ इति ।–

तत्राऽपि–गङ्गा–सिन्धुः–रक्तारक्तवतीचे–त्येवं खलु चतस्रो महानद्यः प्रत्येक चतुर्दशसहस्रनदीभिः परिवृता सत्य पूर्वपश्चिमलवणसमुद्रं प्रविशन्ति । तत्र–गङ्गा–रक्ता च तथाविधं महानद्यो द्वे पूर्वलवणसमुद्रं प्रविशत' । सिन्धुः–रक्तवती च द्वे महानद्यौ तथाविधे पश्चिमलवणसमुद्रं प्रविशत' । तत्र–गङ्गा–सिन्धुश्च द्वे महानद्यौ भरतवर्षे प्रवहतः । रक्ता–रक्तवती च द्वे महानद्यौ ऐरवतक्षेत्रे प्रवहत' इति ।

उक्तञ्च–जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तौ ६ वक्षस्कारे १२६–सूत्रे–" जम्बुद्दीवे भरहेरवएसु वासेसु

सुवर्णकूला नदी महापुण्डरीक हूद से उद्‌गत होकर दक्षिणी तोरणद्वार से निकल कर बहती है । रक्ता और रक्तोदा नामक नदियाँ भी इसी हूद निकली है और वे क्रमशः पूर्व तोरणद्वार तथा पश्चिम तोरणद्वार से होकर बहती है ।

स्थानाग सूत्र के सातवे स्थान के में कहा है—

जम्बूद्वीप में सात महानदियाँ पूर्व की ओर अभिमुख होकर लवणसमुद्र में जाकर मिलती है । वे ये हैं—गगा, रोहिता, हरी, सीता, नरकान्ता, सुवर्णकूला और रक्ता । जम्बूद्वीप में सात महानदियाँ पश्चिम की ओर अभिमुख होकर लवण समुद्र में मिलती है । वे इसप्रकार है । सिन्धु, रोहितांशा, हरिकान्ता, सीतोदा, नारीकान्ता, रूप्यकूला और रक्तवती ।

पूर्वोक्त चौदह नदियो में से गगा, सिन्धु, रक्ता और रक्तवती नामक चार महा नदियाँ चौदह–चौदह हजार नदियो के साथ मिलकर पूर्व और पश्चिम के लवण समुद्र में मिलती हैं । इसमें से गगा और रक्ता नामक दो महानदियाँ पूर्व लवण समुद्र मे प्रवेश करती है । सिन्धु और रक्तवती नामक दो महा नदियाँ पश्चिम लवणसमुद्र में प्रवेश करती है । गगा और सिन्धु भरतक्षेत्र में वहती है और रक्ता तथा रक्तवती ऐरवत क्षेत्र में वहती है ।

कइ महाणईओ पण्णत्ताओ ? गोयमा ! चत्तारि महाणईओ, पण्णत्ताओ, तं जहा–गंगा–सिंधू–रत्ता–रत्तवई, तत्थ णं एगमेगा महाणई चउद्दसहिं सलिलासहस्सेहिं समग्गा पुरत्थिमपच्चत्थिमेणं लवणसमुद्दं समप्पेइ–" इति ।

जम्बूद्वीपे–भरतैरवतयोर्वर्षयोः कति महानद्यः प्रज्ञप्ताः–? गौतम–! चतस्रो महनद्यः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा–गङ्गा–१ सिन्धु–२ रक्ता–३ रक्तवती–४ तत्र खलु । एकैका महानदी चतुर्दशभिः सलिलासहस्रैः समग्रा पूर्वपश्चिमं खलु लवणसमुद्रं समर्पयति ।। इति, ॥ २५ ॥

मूलसूत्रम्—"भरहवासस्स विक्खंभे पंचछव्वीसे जोयणसयाइं छच्च एगूणवीसइ-भाया–" ॥ २६ ॥

छाया—"भरतवर्षस्य विष्कम्भः पञ्चषड्विंशतियोजनशतानि षट्च एकोनविंशति भागाः—" ॥२६॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वं जम्बूद्वीपस्य भरतादिक्षेत्रेषु गङ्गादिमहानदीनां स्वरूपं प्ररूपितम् सम्प्रति भरतक्षेत्रस्य विस्ताररूपवाहल्य विष्कम्भापरपर्याय प्ररूपयितुमाह–"भरहवासस्स विक्खंभे–" इत्यादि ।

भरतवर्षस्य भरतक्षेत्रस्य विष्कम्भो–विस्तारस्तावत् । योजनानां पञ्चशतानि षड्विंशतिः षट्चैकोनविंशतिभागाः सन्ति तथाच–षड्विंशत्यधिकपञ्चशतयोजनानि षट्चैकोनविंशति भाग' ५२६ $\frac{६}{१९}$ भरतक्षेत्रस्य विष्कम्भो वर्तते ॥२६॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वसूत्रे–गङ्गा–सिन्ध्वादिमहानदीना भरतादिक्षेत्रविभाजकहिमवदादि-वर्षधरपर्वतादीनाञ्च स्वरूपं प्ररूपितम् सम्प्रति–भरतवर्षस्य विष्कम्भं प्ररूपयितुमाह—'भरत-

---

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति के छठे वक्षस्कार के सूत्र १२५ में कहा है–'जम्बूद्वीप के अन्दर भरतवर्ष और ऐरवत वर्ष में कितनी महानदियाँ कही गई हैं ? उत्तर–गौतम ! चार महानदियाँ कही गई है, इस प्रकार है– गगा, सिन्धु, रक्ता और रक्तवती । इनमें से प्रत्येक महानदी चौदह हजार नदियों से युक्त होकर पूर्व और पश्चिम लवणसमुद्र में जा मिलती है ॥२५॥

सूत्रार्थ—'भरहवासस्स' इत्यादि । सूत्र २६

भरतवर्ष का विष्कभ पाँच सौ छब्बीस योजन एव एक योजन के उन्नीस भाग में से छह भाग (५२६ $\frac{६}{१९}$) हैं ॥२६॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्र में जम्बूद्वीपके भरत आदि क्षेत्रोमें गंगा आदि जो महानदियाँ प्रवाहित हो रही हैं, उनके स्वरूप का निरूपण किया गया । अब भरतक्षेत्र का विस्तार कहते हैं–

भरतक्षेत्र का विष्कभ अर्थात् विस्तार पाँचसौ छब्बीस योजन और एक योजन का $\frac{६}{१९}$ भाग है ॥२६॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—इससे पहले के सूत्र में गंगा सिन्धु आदि महानदियों का तथा भरत आदि क्षेत्रों का विभाग करने वाले हिमवन्त आदि वर्षधर पर्वतों का स्वरूप बतलाया गया है।

महापुण्डरीतहूदप्रभवा दक्षिणतोरणद्वारनिर्गता सुवर्णकूलानदी प्रवहति, महापुण्डरीकहूदप्रभवा पूर्ववतोरणद्वारनिर्गता रक्तानदी प्रवहति तत्पश्चिमतोरणद्वारनिर्गता रक्तोदा-रक्तवतीवा नदी प्रवहति। उक्तञ्च स्थानाङ्गे ७ स्थाने

'जंबुद्दीवे सत्त महानदीओ पुरत्थाभिमुहीओ लवणसमुद्दं समुप्पेंति, तं जहा-गंगा रोहिता-हरी-सीता-णरकंता-सुवण्णकूला रत्ता-जंबुद्दीवे सत्त महानदीओ पच्चत्थाभिमुहीओ लवणसमुद्दं समुप्पेंति, तंजहा-सिंधू-१ रोहितंसा-२ हरिकंता-३ सीतोदा-४ णारीकंता-५ रुप्पकूला-६ रत्तवई-" इति

जम्बूद्वीपे सप्त महानद्य—पूर्वाभिमुख्यो लवणसमुद्रं समर्पयन्ति [स्वस्वाऽऽत्मानम्] तद्यथा—गङ्गा-१ रोहिता-२ हरित्-३ सीता-४ नरकान्ता-५, सुवर्णकूला-६ रक्ता-७ जम्बूद्वीपे-सप्तमहानद्यः पश्चिमाभिमुख्यो लवनसमुद्र समर्पयन्ति, तद्यथा-सिन्धु-१ रोहितांशा-हरिकान्ता-३ सीतोदा-४ नारीकान्ता-५ रुप्यकूला-६ रक्तवती-७ इति. ।-

तत्राऽपि-गङ्गा-सिन्धु-रक्तारक्तवतीचे-त्येव खलु चतस्रो महानद्य. प्रत्येक चतुर्दशसहस्रनदीभिः परिवृता' सत्य पूर्वपश्चिमलवणसमुद्र प्रविशन्ति। तत्र-गङ्गा-रक्ता च तथाविधं महानद्यो द्वे पूर्वलवणसमुद्र प्रविशत। सिन्धु.-रक्तवती च द्वे महानद्यौ तथाविधे पश्चिमलवणसमुद्रं प्रविशत। तत्र-गङ्गा-सिन्धुश्च द्वे महानद्यौ भरतवर्षे प्रवहत'। रक्ता-रक्तवती च द्वे महानद्यौ ऐरवतक्षेत्रे प्रवहत इति।

उक्तञ्च-जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तौ ६ वक्षस्कारे १२६-सूत्रे-" जम्बुद्दीवे भरहेरवएसु वासेसु

सुवर्णकूला नदी महापुण्डरीक हूद से उद्गत होकर दक्षिणी तोरणद्वार से निकल कर बहती है। रक्ता और रक्तोदा नामक नदियाँ भी इसी हूद निकली है और वे क्रमशः पूर्व तोरणद्वार तथा पश्चिम तोरणद्वार से होकर बहती है।

स्थानाग सूत्र के सातवें स्थान के में कहा है—

जम्बूद्वीप में सात महानदियाँ पूर्व की ओर अभिमुख होकर लवणसमुद्र में जाकर मिलती है। वे ये है—गगा, रोहिता, हरी, सीता, नरकान्ता, सुवर्णकूला और रक्ता। जम्बूद्वीप में सात महानदियाँ पश्चिम की ओर अभिमुख होकर लवण समुद्र में मिलती है। वे इसप्रकार है। सिन्धु, रोहितांशा, हरिकान्ता, सीतोदा, नारीकान्ता, रूप्यकूला और रक्तवती।

पूर्वोक्त चौदह नदियो में से गगा, सिन्धु, रक्ता और रक्तवती नामक चार महा नदियाँ चौदह-चौदह हजार नदियो के साथ मिलकर पूर्व और पश्चिम के लवण समुद्र में मिलती है। इसमें से गंगा और रक्ता नामक दो महानदियाँ पूर्व लवण समुद्र में प्रवेश करती है। सिन्धु और रक्तवती नामक दो महा नदियाँ पश्चिम लवणसमुद्र में प्रवेश करती है। गगा और सिन्धु भरतक्षेत्र में बहती है और रक्ता तथा रक्तवती ऐरवत क्षेत्र में बहती है।

कइ महाणईओ पण्णत्ताओ ? गोयमा ! चत्तारि महाणईओ, पण्णत्ताओ, तं जहा-गंगा-सिंधू-रत्ता-रत्तवई, तत्थ णं एगमेगा महाणई चउद्दसहि सलिलासहस्सेहिं समग्गा पुरत्थिमपच्चत्थिमेणं लवणसमुद्दं समप्पेइ-" इति ।

जम्बूद्वीपे-भरतैरवतयोर्वर्षयोः कति महानद्यः प्रज्ञप्ताः-? गौतम-! चतस्रो महनद्यः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा-गङ्गा-१ सिन्धु-२ रक्ता-३ रक्तवती-४ तत्र खलु । एकैका महानदी चतुर्दशभिः सलिलासहस्रैः समग्रा पूर्वपश्चिम खलु लवणसमुद्र समर्पयति ।। इति, ॥ २५ ॥

मूलसूत्रम्—"भरहवासस्स विक्खंभे पंचछव्वीसे जोयणसयाइं छच्च एगूणवीसइ-भाया-" ॥ २६ ॥

छाया—"भरतवर्षस्य विष्कम्भः पञ्चषड्विंशतिर्योजनशतानि षट्च एकोनविंशति भागाः—" ॥२६॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वं जम्बूद्वीपस्य भरतादिक्षेत्रेषु गङ्गादिमहानदीनां स्वरूपं प्ररूपितम् सम्प्रति भरतक्षेत्रस्य विस्ताररूपवाहल्य विष्कम्भापरपर्यायं प्ररूपयितुमाह-"भरहवास विक्खंभे-" इत्यादि ।

भरतवर्षस्य भरतक्षेत्रस्य विष्कम्भो-विस्तारस्तावत् । योजनानां पञ्चशतानि षड्विंशतिः षट्चैकोनविंशतिभागाः सन्ति तथाच-षड्विंशत्यधिकपञ्चशतयोजनानि षट्चैकोनविंशति भाग' ५२६ $\frac{६}{१९}$ भरतक्षेत्रस्य विष्कम्भो वर्तते ॥२६॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वसूत्रे-गङ्गा-सिन्ध्वादिमहानदीना भरतादिक्षेत्रविभाजकहिमवदादि-वर्षधरपर्वतादीनाञ्च स्वरूपं प्ररूपितम् सम्प्रति-भरतवर्षस्य विष्कम्भं प्ररूपयितुमाह—'भरत-

---

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति के छठे वक्षस्कार के सूत्र १२५ में कहा है-'जम्बूद्वीप के अन्दर भरतवर्ष और ऐरवत वर्ष में कितनी महानदियाँ कही गई हैं ? उत्तर-गौतम ! चार महानदियाँ कही गई है, इस प्रकार है- गगा, सिन्धु, रक्ता और रक्तवती । इनमें से प्रत्येक महानदी चौदह हजार नदियों से युक्त होकर पूर्व और पश्चिम लवणसमुद्र में जा मिलती है ॥२५॥

सूत्रार्थ—'भरहवासस्स' इत्यादि । सूत्र. २६

भरतवर्ष का विष्कभ पाँच सौ छव्वीस योजन एवं एक योजन के उन्नीस भाग में से छह भाग (५२६ $\frac{६}{१९}$) हैं ॥२६॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्र में जम्बूद्वीपके भरत आदि क्षेत्रोमें गगा आदि जो महानदियाँ प्रवाहित हो रही है, उनके स्वरूप का निरूपण किया गया । अब भरतक्षेत्र का विस्तार कहते हैं-

भरतक्षेत्र का विष्कभ अर्थात् विस्तार पाँचसौ छव्वीस योजन और एक योजन का $\frac{६}{१९}$ भाग है ॥२६॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—इससे पहले के सूत्र में गगा सिन्धु आदि महानदियो का तथा भरत आदि क्षेत्रों का विभाग करने वाले हिमवन्त आदि वर्षधर पर्वतो का स्वरूप बतलाया गया है।

वासस्स विक्खंभे पंचछव्वीसे जोयणसयाइं छच्च एगूणवीसइभाया—" इति

भरतवर्षस्य—भरतक्षेत्रस्य विष्कम्भो—बाहल्य विस्तार खलु योजनानां पञ्चशतानि षड्विंशति षट्च एकोनविंशतिभागा सन्ति। एतावता षटविंशत्यधिक पञ्चशतयोजनानि षट्चैकोनविंशति-भागा योजनस्य तावद् भरतवर्षस्य विस्तार इति फलितम्। उक्तञ्च जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तौ १२ सूत्रे—

"जंबूद्दीवे दीवे भरहेणामं वासे जंबूद्दीवदीवणउयसयभागे पंचछव्वीसे जोयणसए छच्च एगूणवीसइभाए जोयणस्स विक्खंभेणं—" इति। जम्बूद्वीपे द्वीपे भरतो नामवर्ष जम्बूद्वीप द्वीपनवतिशतभाग पञ्च षड्विंशति योजनशतानि षट् च एकोनविंशतिभागा योजनस्य विष्कम्भेण—" इति।

एवञ्च—जम्बूद्वीपस्य लक्षयोजनप्रमाणायामविष्कम्भतया तस्य नवतिशतभागविष्कम्भो भरतवर्षस्य षड्विंशत्यधिकपञ्चशतयोजनषडेकोनविंशतिभागा इति ॥२६॥

मूलसूत्रम्—"भरहदुगुणविक्खंभाः चुल्लहेमवंताइ विदेहंता वासहरवासा—" ॥

छाया—"भरतद्विगुण द्विगुणविष्कम्भाः क्षुल्ल हिमवदादि विदेहान्ता वर्षधरवर्षाः" ॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे—भरतवर्षस्य जम्बूद्वीपान्तर्वर्तिनो विष्कम्भस्वरूप निरूपितम्' सम्प्रति क्षुल्लहिमवदादिविदेहान्ताना वर्षधराणा वर्षाणाञ्च विष्कम्भस्वरूप प्ररूपयितुमाह—

"भरहदुगुण—" इत्यादि। भरतद्विगुणद्विगुणविष्कम्भा—भरतवर्षस्य द्विगुणद्विगुणा विष्कम्भाः विस्तारा येषा ते भरतद्विगुणद्विगुणविष्कम्भा क्षुल्लहिमवदादि—विदेहान्ता, क्षुल्ल-हिमवद्—१ हैमवत—२ महाहिमवत्—३ हरिवर्ष—४ निषध—५ महाविदेहा वर्षधरवर्षा—प्रथम-

---

अब भरत क्षेत्र के विस्तार की प्ररूपणा करते है—

भरतवर्ष अर्थात् भरतक्षेत्र का विस्तार पाँच सौ छब्बीस योजन और एक योजन के उन्नीस भाग में से छह भाग ($५२६\frac{६}{१९}$) है।

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति के बारहवे सूत्र में कहा है—'जम्बूद्वीप नामक द्वीप में भरत नामक वर्ष—क्षेत्र है. उसका विस्तार $५२६\frac{६}{१९}$ योजन है। तात्पर्य यह है कि एक लाख योजन लंबे—चौड़े जम्बूद्वीप का $५२६\frac{६}{१९}$ वां भाग भरतक्षेत्र का विस्तार है ॥२६॥

'भरहदुगुण विक्खंभा' इत्यादि।

सूत्रार्थ—क्षुद्रहिमवान् पर्वत से लेकर विदेह क्षेत्र पर्यन्त पर्वतो और क्षेत्रो का विस्तार दुगुना—दुगुना है ॥२७॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्र में जम्बूद्वीप के अन्तर्गत भरतक्षेत्र का विस्तार निरूपण किया है, चुल्ल हिमवन्त पर्वत से विदेह क्षेत्र तक के पर्वतो और क्षेत्रो का विस्तार बतलाते है—

[भर]त क्षेत्र से आगे के पर्वतों और क्षेत्रों का विस्तार उत्तरोत्तर दुगुना—दुगुना है। भरत क्षेत्र से

तृतीयपञ्चमाः वर्षधराः, द्वितीय-चतुर्थ-षष्ठाः वर्षाश्चोत्तरोत्तरं यथाक्रमं भरतापेक्षया उत्तरोत्तरं द्विगुणद्विगुणविस्ताराः सन्तीति भावः। तथाहि-भरतापेक्षया द्विगुणविष्कम्भो हि क्षुल्लहिमवतो वर्षधरस्य पर्वतस्य वर्तते, क्षुल्लहिमवन्तमपेक्ष्य द्विगुणविष्कम्भो हैमवतवर्षस्य वर्तते। हैमवतस्य द्विगुणविष्कम्भः खलु-महाहिमवतो वर्षधरपर्वतस्य विद्यते, महाहिमवतो द्विगुणविष्कम्भश्च-हरिवर्षस्यास्ति। हरिवर्षस्य द्विगुणविस्तारो निषधवर्षधरस्य वर्तते, निषधापेक्षया-द्विगुणविष्कम्भो महाविदेहस्य वर्तते इति ॥२७॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं जम्बूद्वीपान्तर्वर्तिनो भरतवर्षस्य वाहल्य प्ररूपितम्, सम्प्रति-क्षुल्लहिमवदादि विदेहान्ताना वर्षधराणां वर्षाणाञ्च वाहल्यप्रमाणं प्ररूपयितुमाह-"**भरहदुगुणदुगुणा विक्खंभा चुल्लहेमवंताइ विदेहता वासहरवासा**—" इति।

भरतद्विगुणद्विगुणविष्कम्भाः--भरतक्षेत्रापेक्षया-उत्तरोत्तर द्विगुणद्विगुणाः विष्कम्भा विस्तारा. वाहल्यानि येषा ते-भरतद्विगुणद्विगुणविष्कम्भा, क्षुल्लहिमवदादिमहाविदेहान्ताः-क्षुल्लहिमवद्-१ हैमवत-२ महाहिमवद्-३ हरिवर्ष-४ निपध-५ महाविदेहाः-क्रमशो वर्षधराः वर्षाश्च सन्ति। तत्र-भरतवर्षस्य द्विगुणविस्तारः क्षुल्लहिमवान् वर्षधरपर्वतोऽस्ति। क्षुल्लहिमवतो द्विगुणविस्तारो हैमवतो वर्षो वर्तते। हैमवतस्य-वर्षस्य द्विगुणविस्तारो महाहिमवान् वर्षधरपर्वतोऽस्ति।

आगे क्षुद्रहिमवान् पर्वत, फिर हैमवत क्षेत्र, फिर महाहिमवान् पर्वत फिर हरिवर्ष, फिर निषध पर्वत, और फिर महाविदेह क्षेत्र है, इसमे पहले तीसरे और पाँचवें स्थान पर वर्षधर पर्वत है और दूसरे, चौथे तथा छठे स्थान पर क्षेत्र है ये वर्षधर पर्वत और वर्ष भरतवर्ष की अपेक्षा दुगुने-दुगुने विस्तार वाले है। जैसे- भरतक्षेत्र का ऊपर जो विस्तार कहा है उससे दुगुना विस्तार क्षुद्रहिमवान् पर्वत का समझना चाहिए, क्षुद्रहिमवान् पर्वत की अपेक्षा दुगुना विस्तार हैमवत क्षेत्र का है, हैमवत क्षेत्र की अपेक्षा दुगुना विस्तार महाहिमवान् पर्वत का है, महाहिमवान् पर्वत की अपेक्षा दुगुना विस्तार हरिवर्ष का है, हरिवर्ष से दुगुना विस्तार निषध पर्वत का है और निषध पर्वत की अपेक्षा दुगुना विस्तार महाविदेह क्षेत्र का है ॥२७॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—इससे पूर्व जम्बूद्वीपके अन्दर स्थित भरत क्षेत्रके विस्तार का प्ररूपण किया गया है, अब चुल्ल हिमवन्त से लेकर विदेह पर्यन्त तक के वर्षधर पर्वतो और वर्षों के विस्तार का परिमाण बतलाने के लिए कहते है—

क्षुद्रहिमवात् पर्वतसे लेकर विदेहक्षेत्र पर्यन्त जो वर्षधर और वर्ष है, उनका विस्तार उत्तरोत्तर दुगुना-दुगुना है। वे वर्षधर पर्वत और वर्ष इस प्रकार है-(१) चुल्लहिमवन्त (२) हैमवत वर्ष (३) महाहिमवन्त पर्वत (४) हरिवर्ष (५) निषध पर्वत और (६) महाविदेह क्षेत्र। इनमें से भरत क्षेत्र के पूर्व लिखित परिमाण को अपेक्षा चुल्लहिमवन्त पर्वत का परिमाण दुगुना है, चुल्लहिमवन्त पर्वत की अपेक्षा हैमवत क्षेत्र का परिमाण दुगुना है। हैमवत क्षेत्र के परिमाण से दुगुना महाहिमवान् पर्वत का परिमाण है।

महाहिमवतो वर्षधरस्य द्विगुणविस्तारो हरिवर्षोऽस्ति, हरिवर्षस्य द्विगुणविस्तारो निषधो-नाम वर्षधरो वर्तते। निषधाद्—द्विगुणविस्तारो महाविदेहो वर्षो वर्तते इतिभाव·

तत्र—भरतवर्षः खलु—षड्विंशत्यधिकपञ्चशतयोजनप्रमाणषडेकोनविंशतिभागयोजनविष्कम्भः ५२६ $\frac{६}{१९}$ क्षुल्लहिमवान् खलु—द्विपञ्चाशदधिकसहस्रयोजनप्रमाणद्वादशैकोनविंशतिभागयोजनविष्कम्भः १०५२ $\frac{१२}{१९}$ हैमवतवर्षश्च—पञ्चाधिक शतोत्तर द्विसहस्रयोजनप्रमाण-पञ्चैकोनविंशतिभागयोजनविष्कम्भः—२१०५ $\frac{५}{१९}$ महाहिमवान् पर्वतस्तु—दशाधिकद्विशतोत्तरचतुः सहस्रयोजनप्रमाण—दशैकोनविंशतिभागयोजनविष्कम्भः ४२१० $\frac{२०}{१९}$ वर्तते हरिवर्षस्तु—एकविंशत्यधिकचतुःशतोत्तराष्टसहस्रयोजनप्रमाण—एकैकोनविंशतिभागयोजनविष्कम्भ. ८४२१ $\frac{१}{१९}$ वर्तते

निषधपर्वतः पुन—र्द्वाचत्वारिंशदधिकाऽष्टशतोत्तरषोडशसहस्रयोजनप्रमाण द्व्येकोनविंशति भागयोजनविष्कम्भः १६८४२ $\frac{२}{१९}$ वर्तते महाविदेहस्तु—चतुरशीत्यधिकषट् शतोत्तर त्रयस्त्रिंशत्सहस्रयोजनप्रमाण चतुरेकोनविंशतिभागयोजनविष्कम्भः ३३६८४ $\frac{४}{१९}$ वर्तते इतिभावः।

१—उक्तञ्च—जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तौ क्षुल्लहिमवत् पर्वताधिकारे 'जंबुद्दीवे दीवे चुल्लहिमवंते-णामं हरपव्वए पण्णत्ते, पाइण पडीणायए उदीणदाहिणविच्छिण्णे दुहा लवणसमुद्दं

महाहिमवान् पर्वत के परिमाण से दुगुना हरिवर्ष का विस्तार है। हरिवर्ष से दुगुना निषध पर्वत का विस्तार है और निषध पर्वत की अपेक्षा दुगुना विस्तार महाविदेह वर्ष का है।

भरतवर्ष का विस्तार, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, पाँच सौ छब्बीस योजन और एक योजन का $\frac{६}{१९}$ भाग है, इससे दुगुना एक हजार बावन योजन तथा $\frac{१२}{१९}$ भाग विस्तार चुल्लहिमवान् पर्वत का है। इससे दुगुना २१०५ $\frac{५}{१९}$ योजन का विस्तार हैमवत वर्ष का है। महाहिमवान् पर्वत चार हजार दो सौ दस योजन और दस का उन्नीस या दस भाग है (४२१० $\frac{१०}{१९}$ के योजन) हरिवर्ष का विस्तार ८४२१ $\frac{१}{१९}$ योजन है। निषध पर्वत १६८४२ $\frac{२}{१९}$ योजन विस्तृत है, महाविदेह क्षेत्र का विस्तार ३३६८४ $\frac{४}{१९}$ योजन है।

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिसूत्र में क्षुद्र हिमवन्त पर्वत के वर्णन प्रकरण में कहा है—'जम्बूद्वीप नामक द्वीप

पुट्ठे पुरत्थिमिल्लाए कोडीए पुरत्थिमिल्ल लवणसमुद्दंपुट्ठे, पच्चत्थिमिल्लाए कोडीए पच्चत्थिमिल्लं लवणसमुद्दं पुट्ठे एगं जोयणसयं उड्ढं ऊच्चत्तेणं, पणवीसं जोयणाइं उव्वेहेणं एगंजोयणसहस्सं बावन्नं जोयणाइं दुवालसयएगूणवीसईभाए जोयणस्स विक्ख भेणं–" इति ॥ जम्बूद्वीपे द्वीपे–क्षुल्लहिमवान् नाम वर्षधरपर्वतः प्रज्ञप्त॰, प्राची-प्रतीचिना-ऽऽयत उदीची दक्षिणविस्तीर्ण द्विधा लवणसमुद्र स्पृष्ट॰ पौरस्त्यया कोटचा पोरस्त्यं लवणसमुद्रं स्पृष्टः, पाश्चात्यया कोटचा पाश्चात्य लवणसमुद्र स्पृष्ट॰ एक योजनशतम् ऊर्ध्वमुच्चत्वेन, पञ्चविंशतिर्यो जनानि उद्वेधेन, एक योजनसहस्रं द्वापञ्चाशद्योजनानि द्वादशचैकोनविंशतिभागा योजनस्य विष्कम्भेण—इति ।

२–ततश्चाग्रे हैमवतवर्षाधिकारे जम्बूप्रज्ञप्तावेवोक्तम्–"जंबुद्दीवे दीवे हेमवए णामं वासे पण्णत्ते पाईणपडीणायए उदीणदाहिणविच्छिण्णे पलियंकसंठाणसंठिए दुहा लवणसमुद्दं पुट्ठे-पुरत्थिमिल्लाए कोडीए पुरत्थिमिल्लं लवणसमुद्दं पुट्ठे पच्चत्थिमिल्लाए कोडीए पच्चत्थिमिल्लं लवणसमुद्दं पुट्ठे–दोण्णि जोयणसहस्साइं एगंच पंचुत्तरं जोयणसयपंचय एगूणवीसईभाए जोयणस्स विक्खभेण–" इति । जम्बूद्वीपे द्वीपे—हैमवतो नाम वर्ष प्रज्ञप्त॰, प्राचीन–प्रतीचीना–ऽऽयत॰ उदोची–दक्षिणविस्तीर्णः पल्यङ्कसस्थानसस्थितो द्विधा लवणसमुद्रं स्पृष्टः पौरस्त्यया कोटचा पौरस्त्य लवणसमुद्रंस्पृष्ट॰, पाश्चात्यया कोटचा–पाश्चात्य लवणसमुद्रं स्पृष्ट द्वे योजनसहस्रे, एकञ्च पञ्चोत्तरं योजनशत पञ्चचैकोनविंशतिभागा॰ योजनस्य विष्कम्भेण—" इति ।

३–ततश्चाऽग्रे पुनस्तत्रैव महाहिमवन्त मधिकृत्योक्तम्–"जंबदीवे दीवे महाहिमवंते णामं वासहरपव्वए पण्णत्ते, पाईणपाडीणायए उदीणदाहिणविच्छिण्णे दुहा लवणसमुद्दे पुट्ठे पुरत्थिमिल्लाए कोडीए पुरत्थिमिल्लं लवणसमुद्दं पुट्ठे पच्चत्थिमिल्लाए जाव पुट्ठे, दो जोयणसहस्साइं उड्ढं उच्चत्तेणं पण्णासं जोयणे उव्वेहेणं–चत्तारि जोयणसहस्साइं

में चुल्ल (क्षुद्र) हिमवन्त नामक वर्षधर पर्वत कहा गया है। वह वर्षधर पर्वत पूर्व और पश्चिम में लम्बा है, उत्तर दक्षिण में चौडा है और दोनो ओर लवणसमुद्र से स्पृष्ट है। उसका पूर्व का किनारा पूर्व लवणसमुद्र से स्पृष्ट है और पश्चिमी किनारा पश्चिम लवणसमुद्र के साथ स्पृष्ट है। वह एक सौ योजन ऊँचा है, पच्चीस योजन अवगाह वाला है और १०५२ $\frac{१२}{१९}$ योजन विस्तार वाला है।

आगे हैमवतवर्ष के प्रकरण में जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में ही कहा है। 'जम्बूद्वीप नामक द्वीप में हैमवत नामक वर्ष कहा गया है। वह पूर्व से पश्चिम में लम्बा है, उत्तर–दक्षिण में चौडा है, पलग के आकार में स्थित है, दोनो ओर लवण समुद्र को स्पर्श करता है। अपने पूर्वी किनारे से पूर्वसमुद्र को और पश्चिमी किनारे से पश्चिमी समुद्र को स्पर्श करता है। उसका विस्तार २१०५ $\frac{५}{१९}$ योजन का है।

दोण्णि य दसुत्तरं जोयणसए दस एगूणवीसईभाए जोयणस्स विक्खम्भेणं—" इति ।

जम्बूद्वीपे द्वीपे—महाहिमवान् नाम वर्षधरपर्वत प्रज्ञप्त प्राचीन-प्रतीचीना-ऽऽयत' उदीची-दक्षिणविस्तीर्णो द्विधा लवणसमुद्र स्पृष्ट, पौरस्त्यया कोट्या पौरस्त्य लवणसमुद्र, स्पृष्ट, पाश्चात्यया कोट्या यावत्स्पृष्ट द्वे योजनशते ऊर्ध्वमुच्चत्वेन, पञ्चाशद्योजनानि-उद्वेधेन, चत्वारि योजनसहस्राणि द्वे च दशोत्तरे योजनशते दशचैकोनविंशतिभागा योजनस्य विष्कम्भेण-इति ।

४—पुनश्चाग्रे-हरिवर्षमधिकृत्य तत्रैव जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तौ प्रतिपादितम्—"जंबुद्दीवे दीवे हरिवासणामं वासे पण्णत्ते, एवं पाईणपडीणायए उदीणदाहिणविच्छिण्णे दुहा लवणसमुद्दं पुट्ठे पुरत्थिमिल्लाए कोडीए पुरत्थिमिल्लं लवणसमुद्दं पुट्ठे पच्चत्थिमिल्लाए कोडीए पच्चत्थिमिल्लं लवणसमुद्दं पुट्ठे, अट्ठजोयणसहस्साइं चत्तारि एगवीसे जोयणसए एगं च एगूणवीसइभागं जोयणस्स विक्खंभेणं—" इति ।

जम्बूद्वीपे द्वीपे—हरिवर्षो नाम वर्षः प्रज्ञप्तः, एवं-प्राचीनप्रतीचीनायतः उदीची-दक्षिण-विस्तीर्णः, द्विधा लवणसमुद्रं स्पृष्टः पौरस्त्यया कोटचा-पौरस्त्यं लवणसमुद्रं स्पृष्टः पाश्चात्यया कोटचा पाश्चात्यं लवणसमुद्रं स्पृष्टः, अष्टयोजनसहस्राणि चत्वारि एकविंशानि योजनशतानि एकश्चैकोनविंशतिभागो योजनस्य विष्कम्भेण—इति ।

५—ततश्चाग्रे पुनस्तत्रैव जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तौ निषधवर्षधरपर्वतमधिकृत्य चोक्तम्—"जंबुद्दीवे दीवे-णिसहे णामं वासहरपव्वए पण्णत्ते, पाईणपडीणायए उदीणदाहिणविच्छिण्णे दुहा-लवणसमुद्दं पुट्ठे पुरत्थिमिल्लाए कोडीए पुरत्थिमिल्लं लवणसमुद्दं पुट्ठे चत्तारिजोयण-सयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं, चत्तारि गाउयसयाइं उव्वेहेण-सोलसजोयणसहस्साइं अट्ठय बायाले जोयणसए दोण्णिय एगूणवीसइभाए जोयणस्स विक्खंभेणं—" इति ।

तत्पश्चात् वहीं महाहिमवन्त पर्वत के प्रकरण मे कहा है—जम्बूद्वीप नामक द्वीप मे महा हिमवन्त नामक वर्षधर पर्वत कहा गया है । वह पूर्व पश्चिम मे लम्बा, उत्तर—दक्षिण में चौडा दोनों लवणसमुद्र से छुआ हुआ है । उसका पूर्वी भाग पूर्वी लवण समुद्र से और पश्चिमी भाग पश्चिम लवणसमुद्र से स्पृष्ट है । दो सौ योजन ऊँचा है, पचास योजन अवगाह वाला है और उसका विस्तार ४२१० $\frac{१०}{१९}$ योजन है ।

फिर हरिवर्ष के विषय में जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में ही कहा है—जम्बूद्वीप नामक द्वीप में हरिवर्ष नामक क्षेत्र कहा है । पूर्व—पश्चिम में लम्बा—उत्तर— दक्षिण में चौड़ा और दोनों—ओर लवण समुद्र मे प्रविष्ट है । अपने पूर्वीय छोर से पूर्व लवणसमुद्र से और पश्चिमी छोर से पश्चिम लवणसमुद्र से छुआ हुआ है उसका विस्तार ८४२१ $\frac{१}{१९}$ योजन का है ।

जम्बूद्वीपे द्वीपे–निषधनामा वर्षधरपर्वतः प्रज्ञप्त, प्राचीन-प्रतीचीनायत' उदीचो-दक्षिण-विस्तीर्णः, द्विधा लवणसमुद्र स्पृष्ट, पौरस्त्यया कोट्या-पौरस्त्य लवणसमुद्र स्पृष्ट', चत्वारि योजनश-तानि ऊर्ध्वमुच्चत्वेन, चत्वारि गव्यूतशतानि उद्वेधेन-षोडशयोजनसहस्राणि अष्टच द्वाचत्वारिंशान योजनशतानि द्वौ चैकोनविंशतिभागौ योजनस्य विष्कम्भेण–इति ।

६–पुनश्चाग्रे तत्रैव जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तौ महाविदेहमधिकृत्योक्तम्—"जम्बुद्दीवे दीवे-महाविदेहे-वासे पण्णत्ते, पाईणपडिणायए उदीण-दाहिणविच्छिण्णे, पलियंकसंठाणसंठिए दुहा-लवणसमुद्दं पुट्ठे पुरत्थिमिल्लाए कोडीए पुरत्थिमिल्लं लवणसमुद्दं पुट्ठे, पच्चत्थिमिल्लाए कोडीए पच्चत्थिमिल्लं लवणसमुद्दं पुट्ठे तेत्तीसं जोयणसए चत्तारि य एगूणवीसइभाए जोयणसहस्सविक्खम्भेणं–" इति ।

"जम्बूद्वीपे द्वीपे-महाविदेहवर्षः प्रज्ञप्तः, प्राचीन-प्रतीचीनायतः उदीची-दक्षिणविस्तीर्णः पल्यं कसंस्थानसंस्थितो द्विधा लवणसमुद्रं स्पृष्टः, पौरस्त्यया कोटया पौरस्त्यं लवणसमुद्रं स्पृष्टः, पाश्चात्यया कोटया पाश्चात्यलवणसमुद्रं स्पृष्टः त्रयस्त्रिंशद् योजनसहस्राणि-पञ्च–चतुरशीतानि योजनशतानि चत्वारश्चैकोनविंशतिभागाः योजनस्य विष्कम्भेण" इति ॥२७॥

मूलसूत्रम्—"उत्तरा वासहरवासा दाहिणतुल्ला विक्खंभेणं–" ॥२८॥

छाया—"उत्तरा वर्षधरवर्षाः दक्षिणतुल्या विष्कम्भेण–" ॥ २८ ॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वसूत्रे-क्षुद्रहिमवदादि महाविदेहान्तानां षण्णाँ वर्षधराणं–वर्षाणाञ्च यथाक्रम विष्कम्भ. प्ररूपित', सम्प्रति–नील रूक्मि-शिखरिणा त्रयाणा वर्षधराणां, रम्यक-हैरण्य-वतै-रवतानाञ्च त्रयाणां वर्षाणां विष्कम्भं प्ररूपयितुमाह—

तदनन्तर वहीं जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति मे निषधपर्वत के विषय में कहा है —'जम्बूद्वीप नामक वर्षधर पर्वत कहा है । वह पूर्व–पश्चिम में लम्बा, उत्तर–दक्षिण में चौडा, दोनो ओर लवण समुद्र से स्पृष्ट है । उसका पूर्वी छोर पूर्व लवणसमुद्र से और पश्चिमी छोर पश्चिमलवण समुद्र से छुआ हुआ है । वह चार सौ योजन ऊंचा है । उसका अवगाह चार सौ गव्यूति का है और विस्तार १६८४२ $\frac{२}{१९}$ योजन का है ।

फिर जम्बूद्वीप्रज्ञप्ति में ही महाविदेह के विषय में कहा है ।–जम्बूद्वीप नामक द्वीप में महाविदेह नामक वर्ष है वह पूर्व –पश्चिम में लम्बा, उत्तर–दक्षिण में चौडा, पलग के आकार का लम्ब–चौकोर, और दोनो ओर लवणसमुद्र से स्पृष्ट है । उसका पूर्वी किनारा पूर्व के लवणसमुद्र से स्पृष्ट है । और पश्चिमी किनारा पश्चिमी लवण समुद्र से स्पृष्ट है । उसका विष्कम्भ ३३६८४ $\frac{४}{१९}$ योजन का है ॥२७॥

'उत्तरा वासहरवासा' इत्यादि

सूत्रार्थ—उत्तर दिशा के वर्षधर पर्वत और वर्ष अर्थात् क्षेत्र दक्षिण दिशा के ही विष्कम्भ के समान हैं ॥ २८ ॥

"उत्तरा वासहरवासा–" इत्यादि । उत्तराः–नील-रम्यक-रुक्मि-हैरण्यवत-शिखरि-ऐरवता खलु षट् वर्षधरवर्षा. विष्कम्भेण–वाहल्येन विस्तारेण दक्षिणतुल्या.–क्षुद्रहिमवदादिदक्षिणवर्षधरवर्षप्रमाणा' अवसेया' ।

तत्र–नीलवर्षधरपर्वतो निषधपर्वततुल्यविष्कम्भ. । रम्यकवर्षश्च–हरिवर्षतुल्यविष्कम्भ' । रुक्मी वर्षधरपर्वतो महाहिमवद्वर्षधरतुल्यविष्कम्भः ।

हैरण्यवतवर्षस्तु–हैमवतवर्षतुल्यविष्कम्भ' । शिखरी वर्षधरपर्वतस्तु–क्षुद्रहिमवद्वर्षधरतुल्यविष्कम्भः । ऐरवतवर्ष पुनर्भरतवर्षतुल्यविष्कम्भो भवतीतिभावः ।

तथाच–भरतक्षेत्रस्य यावान् विस्तारो वर्तते, तावान्–ऐरवतक्षेत्रस्य विस्तारो बोध्यः । क्षुद्रहिमवत्-पर्वतस्य–यावान् विस्तार', तावान्–शिखरिपर्वतस्य विस्तार. । हैमवतक्षेत्रस्य यावान् विस्तार', तावान्–हैरण्यवतक्षेत्रस्य विस्तार । महाहिमवत् पर्वतस्य यावान् विस्तार , तावान्–रुक्मिपर्वतस्य विस्तारः । हरिवर्षस्य–यावान् विष्कम्भो वर्तते, तावान्–विष्कम्भो रम्यक क्षेत्रस्य वर्तते । निषधपर्वतस्य च–यावान् विष्कम्भ स्तावान्–विष्कम्भो नीलपर्वतस्य वर्तते । एवमेव–ऐरवतादि स्थितं ह्रदपुष्करादिकम्, भरतादिस्थित ह्रद-पुष्कर सदृशमेवाऽवगन्तव्यमिति फलितम् ॥२८॥

तत्वार्थदीपिका––पूर्व सूत्र में क्षुद्रहिमवान् पर्वत से महाविदेह क्षेत्र तक के क्षेत्रो और पर्वतों का विस्तार बतलाया गया है, अब नील, रुक्मि और शिखरि नामक पर्वतो का तथा रम्यक् हैरण्यवत और ऐरवत क्षेत्रो के विस्तार का प्ररूपण करते है–

उत्तर दिशा में स्थित नील पर्वत, रम्यक्क्षेत्र, रुक्मि पर्वत, हैरण्यवत क्षेत्र, शिखरिपर्वत और ऐरवत क्षेत्र ये छह क्षेत्र एव पर्वत विस्तार में दक्षिणदिशा के क्षुद्रहिमवान् आदि पर्वतों और क्षेत्रो के समान ही समझने चाहिए ।

उनमें से नीलनामक वर्षधर पर्वत निषध पर्वत के समान है, रम्यक क्षेत्र हरिवर्ष क्षेत्र के बराबर है और रुक्मी नामक वर्षधर पर्वत महाहिमवान् पर्वत–समान विस्तार वाला हैं ।

हैरण्यवतवर्ष हैमवत क्षेत्र के बराबर है और शिखरी नामक पर्वत का विस्तार क्षुद्रहिमवान् पर्वत के बराबर है । ऐरवत क्षेत्र भरत क्षेत्र के बराबर विस्तार वाला है ।

इस प्रकार जितना विस्तार भरत क्षेत्र का है उतना ही ऐरवतक्षेत्र का भी समझना चाहिए । क्षुद्रहिमवान् पर्वत का जितना विस्तार है, उतनाही विस्तार शिखरी पर्वत का है । हैमवत क्षेत्र का जितना विस्तार है उतना ही विस्तार हैरण्यवत क्षेत्र का है महाहिमवान् पर्वत का जितना विस्तारहै, उतना ही विस्तार रुक्मी नामक पर्वत का है । हरिवर्ष का जितना विस्तार है उतना ही रम्यक क्षेत्र का विस्तार है । निषधपर्वत का जितना विस्तार है, उतनाही नील पर्वत का विस्तार समझना चाहिए । इसी प्रकार शिखरी पर्वत आदि के ऊपर ह्रदो और पुष्करों का विस्तार भी क्षुद्रहिमवान् आदि पर्वतो पर स्थित ह्रदों एवं पुष्करों आदि के विस्तार के समान समझना चाहिए ॥ २८ ॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः— पूर्वसूत्रे—क्षुद्रहिमवदादिमहाविदेहान्तानां षण्णां वर्षधराणां-वर्षाणाञ्च यथाक्रमं विष्कम्भः प्ररूपितः, सम्प्रति-नीलरुक्मि-शिखरिणां त्रयाणां वर्षधराणां, रम्यकहैरण्यवतै-रवतानाञ्च त्रयाणां वर्षाणां विष्कम्भं प्ररूपयितुमाह—"उत्तरा वासहरवासा दाहिणतुल्ला" इति।

उत्तराः—नीलादि—ऐरवतान्ताः षट्सख्यका. वर्षधरवर्षा., त्रयो वर्षधरा.—त्रयो वर्षाश्च दक्षिणतुल्या. दक्षिणैः-निषध-हरिवर्ष-महाहिमवद्-हैमवत-क्षुद्रहिमवद्-भरतवर्षैं स्तुल्यविष्कम्भाः सन्ति। तत्र—ऐरवतक्षेत्र भरतक्षेत्रस्य तुल्यवाहल्य वर्तते। शिखरीपर्वतः—क्षुद्रहिमवत्पर्वतस्य तुल्यबाहल्यो वर्तते। हैरण्यवतक्षेत्रञ्च हैमवतक्षेत्रस्य तुल्यबाहल्यम्। रुक्मिपर्वतश्च—महाहिमवत्पर्व-तस्य तुल्यबाहल्यो वर्तते,

रम्यकक्षेत्रञ्च-हरिवर्षक्षेत्रस्य तुल्यबाहल्य विद्यते। नीलपर्वतस्तु—निषधपर्वतस्य तुल्यवाहल्यो वर्तते। "तत्र—ऐरवतक्षेत्रविष्कम्भस्तावत्—षड्विंशत्यधिकपञ्चशतयोजनप्रमाणः षडेकोनविंशतिभाग-योजनरूपञ्च ५२६ $\frac{६}{१९}$ वर्तते। शिखरिपर्वतविष्कम्भस्तु—द्वापञ्चाशदधिकसहस्रयोजनप्रमाण-द्वादशैकोनविंशतिभागयोजनरूपश्च १०५२ $\frac{१२}{१९}$ वर्तते। हैरण्यवतक्षेत्रविष्कम्भश्च—पञ्चाधिकशतो-त्तरसहस्रद्वययोजनप्रमाणः पञ्चैकोनविंशतिभागयोजनरूपश्च २१०५ $\frac{५}{१९}$ विद्यते। रुक्मिपर्वत-विष्कम्भस्तु—दशाधिकशतद्वयोत्तरचतु:सहस्रयोजनप्रमाणो दशैकोनविंशतिभागयोजनरूपश्च ४२१० $\frac{१०}{१९}$ वर्तते। रम्यकक्षेत्रविष्कम्भस्तु एकविंशत्यधिक चतुःशतोत्तराष्ट सहस्रयोजनप्रमाणः,

---

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पूर्वसूत्रों में क्षुद्रहिमवान् आदि नील पर्वतो के तथा भरत क्षेत्र आदि क्षेत्रो के विस्तार की अनुक्रम से प्ररूपणा की गई है। अब नील रुक्मी तथा शिखरी नामक तीन वर्षधर पर्वतों के तथा रम्यक, हैरण्यवत और ऐरवत नामक तीन क्षेत्रो के विस्तार की प्ररूपणा करते है—

उत्तर दिशा में अवस्थित नील आदि तीन वर्षधर पर्वत ऐरवत आदि तीन क्षेत्र—छहों वर्षधर एव वर्ष दक्षिणदिशा के पर्वतो और क्षेत्रों के समान विस्तार वाले हैं। उनमें से ऐरवत क्षेत्र भरत क्षेत्र के बराबर विस्तार वाला है शिखरी पर्वत क्षुद्रहिमवान् पर्वत के बराबरविस्तार वाला है, हैरण्यवत क्षेत्र हैमवत क्षेत्र के समान विस्तार वाला है, और रुक्मीपर्वत महा-हिमवान् पर्वत के बराबर विस्तार वाला है, रम्यक क्षेत्र हरिवर्ष के बराबर विस्तार वाला है एवं नील पर्वत निषध पर्वत के बराबर विस्तार वाला है।

इस प्रकार ऐरवत क्षेत्र का विस्तार ५२६ $\frac{६}{१९}$ योजन का हैं, शिखरी पर्वत का विस्तार १०५२ $\frac{१२}{१९}$ योजन का है, हैण्यवत क्षेत्र का विस्तार २१०५ $\frac{५}{१९}$ योजन का है,

एकश्चैकोन विंशतिभागयोजनरूपश्च ८४२१ $\frac{१}{१९}$ विद्यते ।

नीलपर्वतविष्कम्भः पुन—द्वाचत्वारिंशदधिका—ऽष्टशतोत्तरपोडशसहस्रयोजनप्रमाण' द्वयेकोनविंशतिभागयोजनरूपश्च १६८४२ $\frac{२}{१९}$ वर्तते इति भाव ।

एव—नीलपर्वतोपरि केसरिहूदस्तावत्—चतु सहस्रयोजनविष्कम्भो वर्तते, केसरिहूदमध्यभागेच चतुर्योजनाऽऽयामविष्कम्भ पुष्करमेक विलसति— । रुक्मिपर्वतोपरिच—पुण्डरीक नाम-हूदो द्विगुणविष्कम्भो विशालो दशयोजनाऽवगाहश्च वर्तते । पुण्डरीकहूदमध्यभागेच—पूर्वोक्त पुष्करापेक्षया द्विगुणायामविष्कम्भं पुष्करमेक वर्तते । एव शिखरिपर्वतोपरिच-महापुण्डरीक नाम-हूद स्तद् द्विगुणविस्तारो दशयोजना-ऽवगाहश्च विलसति ।

तथाच—महाविदेहवर्षस्य—चतुरशीत्यधिक षट्शतोत्तरत्रयस्त्रिंशत्सहस्रयोजनप्रमाण चतुरेकोनविंशतिभागयोजनविष्कम्भ. ३३६८४ $\frac{४}{१९}$ प्रमाणतया तदर्धविष्कम्भस्तावद् नीलपर्वतो वर्तते। नीलपर्वतार्धविष्कम्भो रम्यकवर्षो वर्तते, रम्यकवर्षार्धविष्कम्भो रुक्मिपर्वतो विद्यते, रुक्मिपर्वतार्ध विष्कम्भो हैरण्यवतवर्षोऽस्ति । हैरण्यवतवर्षार्धविष्कम्भश्च शिखरिपर्वतो भवति, शिखरिपर्वतार्ध विष्कम्भ' पुनरैरवतवर्षो भवतीति फलितम् ।

"उक्तञ्च स्थानाङ्गे २ स्थाने २– उद्देशके ८७ सूत्रे—"जंबू मंदरस्स पव्वयस्स-य उत्तरदाहिणेणं दो वासहरपव्वया वहुसमतुल्ला अविसेसमणाणत्ता अन्नमन्नं णाति-

---

रुक्मि पर्वत ४२१० $\frac{१०}{१९}$ योजन विस्तृत है और रम्यकक्षेत्र का विस्तार ८४२१ $\frac{९}{१९}$ योजन का है । नीलपर्वत का विस्तार १६८४२ $\frac{२}{१९}$ योजन का है ।

इसी प्रकार नील पर्वत के ऊपर जो केसरी नामक हूद है, उसका विष्कंभ दो हजार योजन का है । केसरी हूद में चार योजन की लम्बाई—चौडाई वाला एक पुष्कर शोभायमान है। रुक्मी नामक पर्वत के ऊपर पुण्डरीक हूद है जो उससे आधा विस्तार वाला है, विशाल है और दस योजन के अवगाह वाला है । पुण्डरीक हूद के मध्यभाग मे पूर्वोक्त पुष्कर की अपेक्षा से आधा लम्बा—चौडा एक पुष्कर है । इसी प्रकार शिखरी पर्वत के ऊपर महापुण्डरीक नामक हूद है, जिस का विस्तार उससे भी आधा है और अवगाह दस योजन का है ।

इस प्रकार तेतीस हजार छह सौ चौरासी योजन तथा उन्नासिया चार भाग महाविदेह क्षेत्र का विस्तार है । नील पर्वत का विस्तार इससे आधा है । नील पर्वत का जितना विस्तार है उससे आधा विस्तार रम्यक वर्ष का है, रम्यक वर्ष से आधा विस्तार रुक्मी पर्वत का है, रुक्मी

वट्टंति, आयामविक्खंभोच्चत्तोव्वेह संठाणपरिणाहेणं, तं जहा—चुल्लहिमवंते चेव-सिहरिच्चेव, एवं महाहिमवंतेचेव—रुप्पिच्चेव, एवं निसढे चेव—णीलवंते चेव—" इत्यादि ।

जम्ब्वाः मन्दरस्य पर्वतस्य चोत्तरदक्षिणे खलु द्वौ वर्षधरपर्वतौ वहुसमतुल्यौ अविशेषाऽज्ञतौ अन्योऽन्य नाति वर्तते, आयामविष्कम्भ उच्चतोद्वेध-सस्थान-परिणाहेन, तद्यथा—क्षुल्लहिमवांश्चैव-शिखरीचैव, एवं—महाहिमवांश्चैव—रुक्मीचैव । एव—निषधश्चैव—नीलवांश्चैव, इत्यादि ॥ २८ ॥

मूलसूत्रम्—"भरहे-रवएसुं छस्समयाहि उस्सप्पिणिओसप्पिणीहिं मणुयाणं वुड्ढीहासातइयरेसु जहावट्ठिया-" ॥२९॥

छाया—"भरतै-रवतयोः षट्समयाभ्याम् उत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्यां मनुष्याणां वृद्धिह्रासौ, तदितरेषु यथावस्थिताः— ॥२९॥

तत्त्वार्थदीपिका—'पूर्वं भरतादिक्षेत्राणा क्षुल्लहिमवदादिवर्षधर-पर्वतानाञ्चा-ऽऽयामविष्कम्भादि स्वरूपाणि प्ररूपितानि, सम्प्रति—तेषु खलु भरतादि क्षेत्रेषु मनुष्याणामुपभोगायुः शरीरप्रमाणादिविषये वृद्धि-ह्रासादिक प्ररूपयितुमाह—

"भरहेरवएसुं - " इत्यादि । पूर्वोक्तेषु भरतायैरवतान्तेषु सप्तसु क्षेत्रेषु, भरतैरवतयोः क्षेत्रयोर्मध्ये षट्समयाभ्याम्—षट्समया· ययोस्ताभ्यां षट्समयाभ्याम्—सुषमसुषमा—सुषमा—सुषम-

---

पर्वत से आधा विस्तार हैरण्यवत वर्ष का, है हैरण्यवत वर्ष से आधा विस्तार शिखरी पर्वत का है और शिखरी पर्वत से आधा विस्तार ऐरवत वर्ष का है ।

स्थानागसूत्र के दूसरे स्थान, दूसरे उद्देशक के ८७ वें सूत्र में कहा है—जम्बूद्वीप के मन्दर पर्वत से उत्तर और दक्षिण मे दो वर्षधर पर्वतबिलकुल समान है, उनमें कोई विशेषता नहीं है, विसदृशता नहीं है, वे लम्बाई, ऊँचाई, चोडाई, अवगाह सस्थान और परिधि में एक—दूसरे से भिन्न प्रकार के नहीं है, वे दो पर्वत है—चुल्लहिमवन्त और शिखरी । इसी प्रकार महाहिमवन्त और रुक्मी पर्वत तथा निषध और नीलवन्त पर्वत । इत्यादि ॥२८॥

'भरहे—रवएसु' इत्यादि ॥सू० २९॥

भरत और ऐरवत क्षेत्रो में उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के छह आरो में मनुष्यो की आयु आदि की वृद्धि—हानि होती रहती है । शेष क्षेत्रो में वृद्धि-हानी नहीं होती ॥२९॥

तत्त्वार्थदीपिका - इससे पूर्व भरत आदि क्षेत्रों के तथा चुल्लहिमवन्त आदि वर्षधर पर्वतो के आयाम, विष्कम आदि का प्ररूपण किया गया, अब उन भरत आदि क्षेत्रो में निवास करनेवाले मनुष्यो के उपयोग, आयु शरीर प्रमाण आदि के वृद्धि एव ह्रास की प्ररूपणा करने के लिए कहते है—

पूर्वोक्त भरत से लेकर ऐरवत तक सात क्षेत्रों में से भरत और ऐरवत इन दो क्षेत्रों में छह आरो वाले उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालो मे मनुष्यो के उपयोग, आयु शरीर के अवगाह आदि मे वृद्धि और हानि होती रहती है । अवसर्पिणी काल के छह आरे है (१) सुषमसुषम (२) सुषम (३) सुषमदुष्षम (४) दुष्षमसुषम (५) दुष्षम और (६)

दुष्षमा–दुष्षमसुषमा–दुष्षमा–दुष्पमदुष्षमा रूपकालविशेषयुक्ताभ्याम्–उत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम् मनुष्याणाम् उपभोगायु: शरीरोत्सेधप्रमाणादिकृतौ वृद्धि–ह्रासौ भवत ।

तदितरेषु—भरतैरवताऽतिरिक्तेषु पुन:–हैमवत हरिवर्ष–महाविदेह-रम्यक–हैरण्यवत क्षेत्रेषु मनुष्या. यथावस्थिता एव भवन्ति । नहि-हि हैमवतादिपञ्चक्षेत्रेषु मनुष्याणाम्–उपभोगायु: शरीरोत्सेधप्रमाणादिकृतौ वृद्धि–ह्रासौ भवत: ।

अपितु—तेषु क्षेत्रेषु–उत्सर्पिण्यवसर्पिण्योरसद्भावेन कालस्य यथावस्थितत्वेनो–पभोगायु शरीरोत्सेधप्रमाणादिषु साम्यमेव भवति मनुष्याणाम्, न तु वैषम्यमितिभाव. ॥ २९ ॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं तावद् जम्बूद्वीपान्तर्वर्तिनां भरतादिसप्तक्षेत्राणा प्ररूपण कृतम्, सम्प्रति–तेषु क्षेत्रेषु मनुष्याणा किं समानता एवा-ऽनुभवलक्षणो–पयोगजी–वितायु शरीरोत्सेध प्रमाणादयो भवन्ति ? आहोस्वित्–कश्चित्प्रतिविशेषो भवतीत्याशङ्का समाधातुमाह–**"भरहे-रवएसुं छस्समयाहि उस्सप्पिणि ओसप्पिणीहि–मणुयाणं वुड्ढी-हासा, तइयरेसु जहाव-ट्ठिया—"** इति ।

पूर्वोक्तानां–भरत, हैमवत, हरिवर्ष, महाविदेह, रम्यक, हैरण्यवतै–रवतक्षेत्राणा मध्ये भरतैरवतयो: क्षेत्रयो: खलु षट् समयाभ्याम्–षट्-षट् सख्यकाः समया: यत्र ताभ्या षट् समयाभ्यां कालविशेषस्वरूपाभ्याम्–सुषमसुषमा–१ सुषमा–२ सुषमदुष्षमा–३ दुष्षमसुषमा-४

दुष्षम–दुष्षम । उत्सर्पिणी काल के आरों के भी यही नाम है, किन्तु उनका नाम विपरीत होता है, जैसे दुष्पमदुष्षम, दुष्पम आदि ।

भरत और ऐरवत क्षेत्रो मे ही यह वृद्धि–हास होता है । इन दो क्षेत्रों के अतिरिक्त

दुष्षमा–५ दुष्षमदुष्षमा–६ रूप षट् समययुक्ताभ्याम् उत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्यां मनुष्याणां तावद् उपभोगरूपानुभव–जीवितलक्षणायु –शरीरोत्सेधलक्षणप्रमाणादिकृतौ वृद्धिह्रासौ भवत. ।

तथाच–भरतक्षेत्रे-ऐरवतक्षेत्रे च मनुष्याणाम् उपभोग आयु –शरीरप्रमाणञ्च समानरूपतया न भवति, तयो' क्षेत्रयो पूर्वोक्त षड्विध कालविशेषयुक्तोत्सर्पिण्यो सत्त्वेन तन्निवृत्तौ वृद्धिह्रासौ उपभोगादिपु मनुष्याणां भवत ।

तदितरेपु पुन'–भरतै-रवताऽतिरिकेपु हैमवत हरिवर्प–महाविदेह–रम्यक–हैरण्यवतक्षेत्रेपु तथाविधोत्सर्पिण्यवसर्पिणीकालाभावेन मनुष्याणां तत्प्रयुक्तौ वृद्धिह्रासौ–उपभोगादिपु न भवत । तथाच–भरतैरवतवर्षयोर्मनुष्याणामनुभवायु' शरीरप्रमाणादिकृतौ वृद्धिह्रासौ भवत, तौ चापिवृद्धिह्रासौ षट् सामयिकोत्सर्पिणीरूपकालविशेषनिमित्तकौ अवसेयौ ।

तत्रा–ऽनुभवस्तावद् उपभोगरूप' । आयुर्जीवितम्, प्रमाणञ्च–शरीरोत्सेधरूपम्, इत्येव प्रभृतिषु मनुष्याणा वृद्धिह्रासौ भवत । उत्सर्पिणीकाल अवसर्पिणीकालश्च प्रत्येक षड्विधः।

अवसर्पिणीकाल में छह और इस प्रकार होते हैं— (१) सुषम सुषमा (२) सुषम (३) सुषमदुष्षमा (४) दुष्षमसुषमा (५) दुष्षमा और (६) दुष्षमदुष्षम । अवसर्पिणी काल के इन छह आरो की समाप्ति के पश्चात् उत्सर्पिणी काल आरंभ होता है, जिसका प्रथम आरा दुष्षदुष्षमा और अन्तिम सुषमसुषमा होता है । अर्थात् अवसर्पिणी काल के छह आरो से उत्सर्पिणी काल के आरे एकदम विपरीत क्रम से होते है । उत्सर्पिणी काल मे आयु, उत्सेध आदि में क्रमश वृद्धि होती रहती है और अवसर्पिणी काल मे अनुक्रम से हानि होती है ।

यह विषमता सिर्फ भरत और ऐरवत क्षेत्रों में ही होती है । इन दोनो क्षेत्रो में मनुष्यों आदि के उपभोग में, आयु मे तथा शरीर के प्रमाण आदि सदैव समानता नहीं होती, वरन् उत्सर्पिणी काल में वृद्धि और अवसर्पिणी काल में हानि होती है । इसका कारण यह है कि इन दोनो क्षेत्रो में ही उत्सर्पिणी अवसर्पिणी काल का भेद है ।

भरत और ऐरवत क्षेत्रो के सिवाय हैमवत, हरिवर्ष, महाविदेह, रम्यक और हैरण्यवत क्षेत्रो में उत्सर्पिणी और अवसर्पिणो काल नहीं होता। यह कालभेद न होने से मनुष्यो आदि की आयु, अवगाहना आदि में भी भेद नहीं होता है, आयु आदि में जो वैपम्य होता है उसका कारण कालकृत वैषम्य है । काल को वैषम्य के अभाव मे तज्जनित आयु अवगाहना आदि का वैपम्य भी नहीं होता है ।

अनुभव का अर्थ है भोग और उपभोग, आयु से तात्पर्य है जीवन या जीवित रहने का कालमान और प्रमाण का मतलब है शरीर की ऊँचाई । इन सब में वृद्धि और हानि होती रहती है ।

उत्सर्पिणी के छह विभाग होते हैं वे इस भाँति है–(१) दुष्षमदुष्षमा (२) दुष्षमा

दुष्षमा—दुष्षमसुषमा—दुष्षमा—दुष्षमदुष्षमा रूपकालविशेषयुक्ताभ्याम्—उत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम् मनुष्याणाम् उपभोगायु' शरीरोत्सेधप्रमाणादिकृतौ वृद्धि—ह्रासौ भवतः ।

तदितरेषु—भरतैरवताऽतिरिक्तेषु पुनः—हैमवत हरिवर्ष—महाविदेह-रम्यक—हैरण्यवत क्षेत्रेषु मनुष्या. यथावस्थिता एव भवन्ति । नहि-हि हैमवतादिपञ्चक्षेत्रेषु मनुष्याणाम्—उपभोगायु' शरीरोत्सेधप्रमाणादिकृतौ वृद्धि—ह्रासौ भवत' ।

अपितु—तेषु क्षेत्रेषु—उत्सर्पिण्यवसर्पिण्योरसद्भावेन कालस्य यथावस्थितत्वेनो—पभोगायु' शरीरोत्सेधप्रमाणादिषु साम्यमेव भवति मनुष्याणाम्, न तु वैषम्यमितिभाव. ॥ २९ ॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं तावद् जम्बूद्वीपान्तर्वर्तिनां भरतादिसप्तक्षेत्राणा प्ररूपण कृतम्, सम्प्रति—तेषु क्षेत्रेषु मनुष्याणा किं समानता एवा-ऽनुभवलक्षणो—पयोगजी—वितायु शरीरोत्सेध प्रमाणादयो भवन्ति ? आहोस्वित्—कश्चित्प्रातविशेषो भवतीत्याशङ्का समाधातुमाह—**"भरहे-रवएसुं छस्समयाहिं उस्सप्पिणि ओसप्पिणीहि—मणुयाणं वुड्ढी-हासा, तइयरेसु जहाव-ट्ठिया—"** इति ।

पूर्वोक्तानां—भरत, हैमवत, हरिवर्ष, महाविदेह, रम्यक, हैरण्यवतै—रवतक्षेत्राणा मध्ये भरतैरवतयो क्षेत्रयो' खलु षट् समयाभ्याम्—षट्-षट् सख्यका' समया यत्र ताभ्या षट् सम-याभ्यां कालविशेषस्वरूपाभ्याम्—सुषमसुषमा—१ सुषमा—२ सुषमदुष्षमा—३ दुष्षमसुषमा-४

दुष्षम—दुष्षम । उत्सर्पिणी काल के आरों के भी यही नाम है, किन्तु उनका नाम विपरीत होता है, जैसे दुष्पमदुष्षम, दुष्पम आदि ।

भरत और ऐरवत क्षेत्रो मे ही यह वृद्धि—ह्रास होता है । इन दो क्षेत्रों के अतिरिक्त हैमवत, हरिवर्ष, महाविदेह रम्यक हैरण्यवत क्षेत्रों मे मनुष्यों की आयु आदि ज्यो की त्यो रहती है अर्थात् उसमें वृद्धि या हानि नहीं होती। तात्पर्य यह है कि हैमवन्त आदि क्षेत्रो में न तो उत्सर्पिणी-अपसर्पिणी रूप काल का विभाग होता है । और न मनुष्यों की आयु ऊँचाई आदि में वृद्धि-ह्रास होता है । वहाँ सदैव एक सरीखा काल रहता है, अतएव काल की विषमता के कारण आयु अवगाहना आदि में होने वाली विषमता वहाँ नहीं है ॥२९॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पहले जम्बूद्वीप के अन्दर स्थित भरत आदि सात क्षेत्रो की प्ररूपणा की गई है। अब उन क्षेत्रो में निवास करने वाले मनुष्यो के उपयोग आयु, शरीर के उत्सेध आदि में समानता होती है अथवा किसी प्रकार की विशेषता होती रहती है ! इस आशका का समाधान करने के लिए कहते है—

पूर्वोक्त भरत, हैमवत, हरिवर्ष महाविदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरवत क्षेत्रो में से भरत और ऐरवत नामक क्षेत्रों में उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालो मे मनुष्यो के भोग, उपभोग आयुष्य और शरीर के उत्सेध (ऊँचाई) आदि मे वृद्धि और ह्रास होता रहता है । इन उत्स-पिंणी और अवसर्पिणी कालो में से प्रत्येक में छह समय होते है, जिन्हे 'आरा' भी कहते हैं ।

दुष्षमा–५ दुष्षमदुष्पमा–६ रूप षट् समययुक्ताभ्याम् उत्सर्पिण्यवसपिणीभ्यां मनुष्याणां तावद् उपभोगरूपानुभव–जीवितलक्षणायु –शरीरोत्सेधलक्षणप्रमाणादिकृतौ वृद्धिह्रासौ भवत ।

तथाच–भरतक्षेत्रे-ऐरवतक्षेत्रे च मनुष्याणाम् उपभोग आयु –शरीरप्रमाणञ्च समानरूपतया न भवति, तयो' क्षेत्रयो पूर्वोक्त षड्विध कालविशेषयुक्तोत्सपिण्यो सत्त्वेन तन्निवृत्तौ वृद्धिह्रासौ उपभोगादिपु मनुष्याणां भवत' ।

तदितरेपु पुन'–भरतै-रवताऽतिरिक्तेपु हैमवत हरिवर्प–महाविदेह–रम्यक–हैरण्यवतक्षेत्रेपु तथाविधोत्सपिण्यवसर्पिणीकालाभावेन मनुष्याणां तत्प्रयुक्तौ वृद्धिह्रासौ–उपभोगादिपु न भवत. । तथाच–भरतैरवतवर्षयोर्मनुष्याणामनुभवायु' शरीरप्रमाणादिकृतौ वृद्धिह्रासौ भवत, तौ चापिवृद्धिह्रासौ षट् सामयिकोत्सर्पिणीरूपकालविशेषनिमित्तकौ अवसेयौ ।

तत्रा–ऽनुभवस्तावद् उपभोगरूप' । आयुर्जीवितम्, प्रमाणञ्च–शरीरोत्सेधरूपम्, इत्येव प्रभृतिषु मनुष्याणा वृद्धिह्रासौ भवत' । उत्सर्पिणीकाल अवसर्पिणीकालश्च प्रत्येक पड्विधः।

अवसर्पिणीकाल में छह और इस प्रकार होते हैं— (१) सुषम सुषमा (२) सुषम (३) सुषमदुष्षमा (४) दुष्षमसुषमा (५) दुष्षमा और (६) दुष्षमदुष्षम । अवसर्पिणी काल के इन छह आरो की समाप्ति के पश्चात् उत्सर्पिणी काल आरंभ होता है, जिसका प्रथम आरा दुष्षदुष्षमा और अन्तिम सुषमसुषमा होता है । अर्थात् अवसर्पिणी काल के छह आरो से उत्सर्पिणी काल के आरे एकदम विपरीत क्रम से होते है । उत्सर्पिणी काल मे आयु, उत्सेध आदि में क्रमश वृद्धि होती रहती है और अवसर्पिणी काल मे अनुक्रम से हानि होती है ।

यह विषमता सिर्फ भरत और ऐरवत क्षेत्रो में ही होती है । इन दोनो क्षेत्रो में मनुष्यो आदि के उपभोग में, आयु मे तथा शरीर के प्रमाण आदि सदैव समानता नहीं होती, वरन् उत्सर्पिणी काल मे वृद्धि और अवसर्पिणी काल मे हानि होती है । इसका कारण यह है कि इन दोनों क्षेत्रो में ही उत्सर्पिणी अवसर्पिणी काल का भेद है ।

भरत और ऐरवत क्षेत्रो के सिवाय हैमवत, हरिवर्ष, महाविदेह, रम्यक और हैरण्यवत क्षेत्रो में उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल नहीं होता । यह कालभेद न होने से मनुष्यो आदि की आयु, अवगाहना आदि में भी भेद नहीं होता है, आयु आदि में जो वैपम्य होता है उसका कारण कालकृत वैषम्य है । काल को वैषम्य के अभाव मे तज्जनित आयु अवगाहना आदि का वैषम्य भी नहीं होता है ।

अनुभव का अर्थ है भोग और उपभोग, आयु से तात्पर्य है जीवन या जीवित रहने का कालमान और प्रमाण का मतलव है शरीर की ऊँचाई । इन सब में वृद्धि और हानि होती रहती है ।

उत्सर्पिणी के छह विभाग होते है वे इस भाँति है–(१) दुष्षमदुष्षमा (२) दुष्षमा

तत्रोपभोगायु शरीरोत्सेधादिभि उत्सर्पण-वर्धनशीलत्वाद 'उत्सर्पिणी' तिव्यपदिश्यते, तैरेव–उपभोगादिभिरवसर्पणशीलत्वाद् 'अवसर्पिणी' त्युच्यते ।

तत्र–उत्सर्पिण्या षड्विध काल । यथा–दुष्षमदुष्षमा–१ दुष्षमा–२ दुष्षमसुषमा–३ सुषमदुष्षमा–४ सुषमा–५ सुषमसुषमा–६ चेति । अवसर्पिण्या षड्विध कालो यथा–सुषमसुषमा–१ सुषमा–२ सुषमदुष्षमा–३ दुष्षमसुषमा–४ दुष्षमा–५ दुष्षमदुष्षमा–६ चेति ।

तत्र–दशसागरकोटीकोटच –उत्सर्पिण्या' परिमाणम्, अवसर्पिण्या अपि परिमाण दशसागरकोटी–कोटच एवेति, सा चो–भयी मिलित्वा 'कालचक्रम्' इत्याख्यायते । तत्र–सुषमसुषमा चतस्र' सागरोपमकोटीकोटच , तत्रादौ मनुष्या स्तावद्–वक्ष्यमाणोत्तरकुरुमनुष्यतुल्या स्त्रिक्रोशप्रमाणा भवन्ति । १ तदनन्तर मवसर्पिणीकालत्वेन क्रमशो हानौ सत्यां सुषमा भवति,

सा च–सुषमा त्रिस्र सागरोपमकोटी कोटच तत्रादौ मनुष्या –हरिवर्ष मनुष्यसदृशाद्विक्रोशप्रमाणा भवन्ति, । २ तत' क्रमेण हानौ सत्या सुषमदुष्षमा भवति, सा च द्वे सागरोपम–कोटी कोटचौ, तदादौ–मनुष्या हैमवतवर्षमनुष्यसमाना एकक्रोशप्रमाणा भवन्ति–३ तत क्रमेण हानौ सत्या दुष्षमसुषमा भवति, सा च–द्वाचत्वारिंशत्सहस्रवर्षोना–एक सागरोपमकोटीकोटी

---

(३) दुष्षमसुषमा (४) सुषमदुष्षमा (५) सुषमा और (६) सुषम सुषमा । इससे विपरीत क्रम वाला अवसर्पिणीकाल है , यथा–(१) सुषम सुषमा (२) सुषमा (३) सुषम दुष्षमा (४) दुष्षमसुषमा (५) दुष्षमा और (६) दुष्षमदुष्षमा ।

इनमे से उत्सर्पिणी काल का प्रमाण दस कोडा कोडी सागरोपम का है और अवसर्पिणी काल का प्रमाण भी दस कोडा–कोडी सागरोपम ही है। दोनो का काल वीस कोडाकोडी सागरोपम है । इसे एक कालचक्र कहते है। इनमे से सुषमसुषमा आरा चार कोडा–कोडी सागरोपम का होता है । इस आरा की आदि मे मनुष्य आगे कहे जाने वाले उत्तर कुरुक्षेत्र के मनुष्यो के समान तीन कोस की अवगाह वाले होते हैं । फिर अवसर्पिणी काल के प्रभाव से क्रमश हानि होते–होते चार कोडा–कोडी सागरोपम समाप्त होने पर सुषमाकाल आरम्भ होता है ।

सुषमा काल तीन कोडा–कोडी सागरोपम का है । इसके प्रारम्भ में मनुष्य हरिवर्ष क्षेत्र के मनुष्यो के समान दो कोस की अवगाहना वाले होते है । तत्पश्चात् क्रमश हानि होते–होते उक्त काल व्यतीतहोने पर सुषमदुषमा काल आरम्भ होता है । उसका कालमान दो कोड़ा–कोडी सागरोपम का है । उसके प्रारम्भ में मनुष्य हैमवत वर्ष के मनुष्यो के समान एक कोस की अवगाहना वाले होते है । तत्पश्चात् अनुक्रम से ह्रास होते–होते दुष्षमसुषमा काल प्रारम्भ होता है । वह बयालीस हजार वर्ष कम एक कोडा–कोडी सागरोपम का होता है। इस काल के आरम्भ मे मनुष्य महाविदेह क्षेत्र के मनुष्यों के समान

तदादौ मनुष्या महाविदेहवर्षमनुष्यतुल्याः पञ्चशतधनुःप्रमाणा भवन्ति-४ । ततः क्रमेण हानौ सत्यां दुष्षमा भवति, साचैकविंशति, सहस्रवर्षप्रमाणा भवन्ति, मनुष्या सप्तहस्तप्रमाणाः सपादशतवर्षायुष्का भवन्ति-५ ततः क्रमेण हानौ सत्यां दुष्षमदुष्षमा भवति, साचापि एकविंशति सहस्रवर्षप्रमाणाः मनुष्या एकहस्तप्रमाणा विंशतिवर्षायुष्का भवन्ति--६

एवमुत्सर्पिण्यपि अवसर्पिणी वैपरीत्यक्रमेणाऽवगन्तव्या । तत्र प्रथमं एकविंशतिवर्ष-सहस्रप्रमाणो दुष्षमदुष्षमानाम उत्सर्पिणी कालो भवति-१ ततो दुष्षमा नाम एकविंशतिवर्षसहस्र-प्रमाणो द्वितीय उत्सर्पिणीकालो भवति-२ ततो दुष्षमसुषमानाम-तृतीयउत्सर्पिणी कालो द्वाचत्वारिं-शत्सहस्रवर्षोन एककोटी कोटी सागरोपमप्रमाणो भवति-३ ततश्च-सुषमदुष्षमानाम चतुर्थ उत्सर्पिणी कालो द्विगुणकोटी कोटी सागरोपमप्रमाणो भवति-४ ततः सुषमानाम पञ्चमः उत्सर्पिणी कालस्त्रिकोटी कोटी सागरोपमप्रमाणो भवति-५ ततश्च-सुषमसुषमानामषष्ठ उत्सर्पिणी-कालश्चतुः कोटी कोटी सागरोपमप्रमाणो भवति-६

तत्रोत्सर्पिण्याः प्रथमकालस्याऽऽदौ षोडशवर्षायुष्का मनुष्या एकहस्तशरीरप्रमाणा

पाँचसौ धनुष की अवगाहना वाले होते हैं। तदनन्तर हानि होते-होते उक्त समय पूर्ण होने पर पाँचवां आरा दुष्षमा आरम्भ होता है। उसकी कालमर्यादा इक्कीस हजार वर्ष की है। उसके आरम्भ में मनुष्यो के शरीर की ऊँचाई सात हाथ की और आयु सवा सौ वर्ष की होती है। अनुक्रम से वह आरा समाप्त हो जाता है और दुष्षम-दुष्षम नामक छठा आरा आरम्भ होता है। वह भी इक्कीस हजार वर्ष का होता है। उसमें मनुष्यों की अवगाहना एक हाथ की और आयु बीस वर्ष की रह जाती है।

उत्सर्पिणी काल भी इसी प्रकार समझना चाहिए, परन्तु उसके आरों का क्रम विप-रीत होता है। प्रथम आरा इक्कीस हजार वर्ष का होता है, जिसका नाम दुष्षम-दुष्षम है। उसके पश्चात् उत्सर्पिणी का दूसरा आरा दुष्षम आता है उसका कालप्रमाण भी इक्कीस हजार वर्ष है। तदनन्तर दुष्षम सुषम नामक तीसरा आरा चालू होता है। जो बयालीस हजार वर्ष कम एक कोडा-कोड़ी सागरोपम का होता है। उसके बाद चौथा आरा दो कोडा-कोडी सागरोपम का आता है जिसका नाम सुषमदुष्षम है। फिर पाँचवाँ सुषमा नामक तीन कोडा-कोडी सागरोपम का आरा प्रारम्भ होता है अन्त मे सुषमसुषम नामक छठा आरा होता है जो चार कोडा-कोडी सागरोपम का होता है।

उत्सर्पिणी काल के प्रथम आरे की आदि में मनुष्यों की आयु सोलह वर्ष की होती है। और उनका शरीर एक हाथ का होता है। उत्सर्पिणी के दूसरे आरे की आदि में मनुष्यों की आयु बीस वर्ष की शरीर का प्रमाण साढे तीन हाथ का होता हैं। उत्सर्पिणी

भवन्ति । उत्सर्पिण्या द्वितीयकालस्याऽऽदौ विंशतिवर्षायुषो मनुष्या सार्धहस्तत्रयशरीरोत्सेधा भवन्ति उत्सर्पिण्यास्तृतीयकालस्यादौ विंशत्यधिकशतवर्षायुषो मनुष्या सप्तहस्तशरीरोत्सेधा भवन्ति । उत्सर्पिण्याश्चतुर्थकालस्यादौ कोटिपूर्वायुषो मनुष्या' पञ्चशतधनु'शरीरोत्सेधा भवन्ति ।

उत्सर्पिण्याः पञ्चमकालस्यादौ मनुष्या एकपल्योपमायुष्का एकक्रोशशरीरोत्सेधा भवन्ति । उत्सर्पिण्या षष्ठकालस्यादौ मनुष्या द्विपल्योपमायुष्का' द्विक्रोशशरीरोत्सेधा भवन्ति, अस्य षष्ठ कालस्यान्ते तु मनुष्या त्रिपल्योपमायुष्का' त्रिशरीरोत्सेधाश्च भवन्तीति विशेष' । चतुर्थ्यां-पञ्चम्यां षष्ठ्या श्चोत्सर्पिण्याम् एकापि 'ईति' न भवतीति बोध्यम् ।

उक्तञ्च स्थानाङ्गे २- स्थाने ८९-सूत्रे-"**जंबुद्दीवे दीवे दोसु कुरासु मणुया सया सु सुसम मुत्तमिड्ढिं पत्ता पच्चणुब्भवमाणा विहरंति, तं जहा-देवकुराए चेव उत्तर-कुराए चेव । जंबुद्दीवे दीवे दोसु वासेसु मणुया सया सुसम मुत्तमिड्ढिपत्ता पच्चणुब्भव-माणा विहरंति, तं जहा-हरिवासे चेव, रंमगवासे चेव ।**

जंबुद्दीवे दीवे दोसु वासेसु मणुया सया सुसमदुसम मुत्तममिड्ढि पत्ता पच्चणुब्भव-माणा विहरंति, तं जहा-हेमवएचेव-एरण्णवएचेव । जंबुदीवे दीवे दोसु खित्तेसु मणुया सया दुसमसुसम मुत्तमसिड्ढिं पत्ता पच्चणुब्भवमाणा विहरंति, तं जहा-पुव्वविदेहे चेव अवरविदेहे चेव जंबुद्दीवे दीवे दोसु वासेसु मणुया छव्विहंपि कालं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति, तं जहा-भरहे चेव, एरवए चेव-,, इति ।

जम्बूद्वीपे द्वीपे द्वयो कुर्वो' मनुष्या सदा सुषमसुषमा मुत्तमद्धि प्राप्य प्रत्यनुभ-वन्तो विहरन्ति, तद्यथा-देवकुरौ चैव । उत्तरकुरौचैव । जम्बूद्वीपे द्वीपे द्वयोर्वर्षयो.-

---

काल के तीसरे आरे की आदि में मनुष्य एक सौ बीस वर्ष की आयु वाले और सात हाथ ऊँचे शरीर वाले होते है । उत्सर्पिणी के चौथे आरे की आदि में मनुष्य करोड पूर्व की आयु और पाँच सौ धनुष की शरीर की अवगाहना वाले होते है ।

उत्सर्पिणी के पाँचवे आरे को आदि में मनुष्यों की आयु एक पल्योपम की और शरीर की ऊँचाई एक कोस की होती है उत्सर्पिणी काल के छठे आरे की आदि में दो पल्योपम की आयु होती है और दो कोस का शरीर होता है । इस छठे आरे के अन्त में मनुष्यों की आयु तीन पल्योपम की और शरीर की ऊँचाई तीन कोस की होती है । उत्सर्पिणी काल के चौथे, पाँचवें और छठे आरे में एक प्रकार की भी ईति नहीं होती-मनुष्य सब प्रकार के उपद्रवों से रहित होते हैं ।

स्थानांगसूत्र के द्वितोय स्थान के सूत्र ८९ में कहा है जम्बूद्वीप नामक द्वीप में दोनों कुरु क्षेत्रो में अर्थात् देवकुरु और उत्तरकुरु में मनुष्य सुषमसुषमा रूप उत्तम ऋद्धि को प्राप्त करके उसका उपभोग करते हुए विहार करते है । जम्बूद्वीप के दो वर्षों में अर्थात्

मनुष्या सदा सुषमासुत्तमर्द्धिं प्राप्य प्रत्यनुभवन्तो विहरन्ति,तद्यथा–हरिवर्षेचैव, रम्यकवर्षेचैव जम्बूद्वीपे द्वयोर्वर्षयोर्मनुष्या सदा सुषमदुष्षमासुत्तमर्द्धिम्प्राप्य प्रत्यनुभवन्तो विहरन्ति, तद्यथा–हैमवतेचैव,हैरण्यवतेचैव । जम्बूद्वीपे द्वीपे द्वयो. क्षेत्रयो मनुष्या· सदा दुष्पमसुपमासुत्तमर्द्धिं प्राप्य प्रत्यनुभवन्तो विहरन्ति, तद्यथा–पूर्वविदेहे चैव, अपरविदेहे चैव ।

जम्बूद्वीपे द्वीपे द्वयोर्वर्षयोर्मनुष्याः षड्विधमपि कालं प्रत्यनुभवन्तो विहरन्ति, तद्यथा–भरतेचैव, ऐरवते चैव इति ।

व्याख्याप्रज्ञप्तौ भगवतीसूत्रे ५–शतके १ उद्देशके चोक्तम्—'जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पुरत्थिम–पच्चत्थिमेणवि-णेवत्थि ओसप्पिणी, णेवत्थि उस्सप्पिणी, अवट्ठिए णं तत्थ काले पण्णत्ते–" इति जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य पौरस्त्यपश्चिमे नाऽपि नैवास्त्यवसर्पिणी, नैवास्ति–उत्सर्पिणी, अवस्थित खलु तत्र काल प्रज्ञप्त –', इति ॥२९॥

मूलसूत्रम्—"हिमवयाइ उत्तरकुरांतेसु दाहिणोत्तरेसु एगदुति पलियोवमट्ठिइया, विदेहेसु य संखेज्जकाला–" ॥ ३० ॥

छाया–"हैमवताद्युत्तरकुर्वन्तेषु दक्षिणोत्तरेषु एकद्वित्रिपल्योपमस्थितिका विदेहयोश्च-संख्येयकालाः–" ॥ ३० ॥

हरिवर्ष और रम्यक वर्ष में मनुष्य सदा सुषमा रूप उत्तम ऋद्धि को प्राप्त करके उसका उपभोग करते हुए रहते है । जम्बूद्वीप नामक द्वीप में दो वर्षों में अर्थात् हैमवत और हैरण्यवत नामक क्षेत्रों में मनुष्य सदा सुषमदुष्षम रूप उत्तम ऋद्धि को प्राप्त करके उसका उपभोग करते रहते हैं । जम्बूद्वीप नामक द्वीप में दो क्षेत्रो में अर्थात् पूर्वविदेह और अपर विदेह में मनुष्य सदैव दुष्षमसुषम रूप उत्तम ऋद्धि को प्राप्त करके उसका परिभोग करते हुए विचरते है ।

जम्बूद्वीप नामक द्वीप में दो क्षेत्रों में मनुष्य छहो प्रकार के काल का अनुभव करते है । वे दो क्षेत्र हैं–भरत और ऐरवत ।

भगवती सूत्र के पाँचवे शतक में, प्रथम उद्देशक में भी कहा है–जम्बूद्वीप नामक द्वीप में सुमेरु पर्वत से पूर्व और पश्चिम में न उत्सर्पिणीकाल होता है और न अवसर्पिणी काल ही होता है वहाँ काल सदैव अवस्थित अर्थात् एक सा रहता है ॥२९॥

'हिमवयाइ उत्तरकुरांतेसु' इत्यादि । हैमवत क्षेत्र से लेकर उत्तरकुरु तक दक्षिण और उत्तर में मनुष्य एक, दो, तीन पल्योपम की स्थिति वाले तथा दोनो विदेह क्षेत्रो में सख्यात काल की आयु वाले होते हैं ॥३०॥

सूत्रार्थ—'हिमवयाइ उत्तरकुरांतेसु' इत्यादि ।

हैमवतक्षेत्र से लेकर उत्तरकुरु तक दक्षिण और उत्तर में एक, दो, तीन, पल्योपम की स्थिति वाले तथा दोनों विदेह क्षेत्रों में सख्यातकाल की आयु वाले होते है ॥३०॥

भवन्ति । उत्सर्पिण्या द्वितीयकालस्याऽऽदौ विंशतिवर्षायुषो मनुष्या सार्धहस्तत्रयशरीरोत्सेधा भवन्ति उत्सर्पिण्यास्तृतीयकालस्यादौ विंशत्यधिकशतवर्षायुषो मनुष्याः सप्तहस्तशरीरोत्सेधा भवन्ति । उत्सर्पिण्याश्चतुर्थकालस्यादौ कोटिपूर्वायुषो मनुष्याः पञ्चशतधनु.शरीरोत्सेधा भवन्ति ।

उत्सर्पिण्याः पञ्चमकालस्यादौ मनुष्या एकपल्योपमायुष्का एकक्रोशशरीरोत्सेधा भवन्ति । उत्सर्पिण्या. षष्ठकालस्यादौ मनुष्या द्विपल्योपमायुष्काः द्विक्रोशशरीरोत्सेधा भवन्ति, अस्य षष्ठ कालस्यान्ते तु मनुष्या त्रिपल्योपमायुष्का त्रिशरीरोत्सेधाश्च भवन्तीति विशेष । चतुर्थ्यां-पञ्चभ्यां षष्ठया श्चोत्सर्पिण्याम् एकापि 'ईति' र्न भवतीति बोध्यम् ।

उक्तञ्च स्थानाङ्गे २- स्थाने ८९—सूत्रे—"**जंबुद्दीवे दीवे दोसु कुरासु मणुया सया सु सुसम मुत्तमिड्ढिं पत्ता पच्चणुब्भवमाणा विहरंति, तं जहा—देवकुराए चेव उत्तर-कुराए चेव । जंबुद्दीवे दीवे दोसु वासेसु मणुया सया सुसम मुत्तमिड्ढिपत्ता पच्चणुब्भव-माणा विहरंति, तं जहा—हरिवासे चेव, रंमगवासे चेव ।**

जंबुद्दीवे दीवे दोसु वासेसु मणुया सया सुसमदुसम मुत्तममिड्ढि पत्ता पच्चणुब्भव-माणा विहरंति, तं जहा—हेमवएचेव—एरण्णवएचेव । जंबुद्दीवे दीवे दोसु खित्तेसु मणुया सया दुसमसुसम मुत्तमसिड्ढिं पत्ता पच्चणुब्भवमाणा विहरंति, तं जहा—पुव्वविदेहे चेव अवरविदेहे चेव जंबुद्दीवे दीवे दोसु वासेसु मणुया छव्विहंपि कालं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति, तं जहा—भरहे चेव, एरवए चेव—,, इति ।

जम्बूद्वीपे द्वीपे द्वयो कुर्वो मनुष्या सदा सुषमसुषमा मुत्तमर्द्धि प्राप्य प्रत्यनुभ-वन्तो विहरन्ति, तद्यथा—देवकुरौ चैव । उत्तरकुरौचैव । जम्बूद्वीपे द्वीपे द्वयोर्वर्षयो.—

काल के तीसरे आरे की आदि में मनुष्य एक सौ बीस वर्ष की आयु वाले और सात हाथ ऊँचे शरीर वाले होते है । उत्सर्पिणी के चौथे आरे की आदि में मनुष्य करोड पूर्व की आयु और पाँच सौ धनुष की शरीर की अवगाहना वाले होते है ।

उत्सर्पिणी के पाँचवे आरे को आदि में मनुष्यों की आयु एक पल्योपम की और शरीर की ऊँचाई एक कोस की होती है उत्सर्पिणी काल के छेठे आरे की आदि में दो पल्योपम की आयु होती है और दो कोस का शरीर होता है । इस छेठे आरे के अन्त में मनुष्यों की आयु तीन पल्योपम की और शरीर की ऊँचाई तीन कोस की होती है । उत्सर्पिणी काल के चौथे, पाँचवें और छेठे आरे में एक प्रकार की भी ईति नहीं होती—मनुष्य सब प्रकार के उपद्रवों से रहित होते हैं ।

स्थानांगसूत्र के द्वितोय स्थान के सूत्र ८९ में कहा है जम्बूद्वीप नामक द्वीप में दोनों कुरु क्षेत्रो में अर्थात् देवकुरु और उत्तरकुरु में मनुष्य सुषमसुषमा रूप उत्तम ऋद्धि को प्राप्त करके उसका उपभोग करते हुए विहार करते है । जम्बूद्वीप के दो वर्षों में अर्थात्

मनुष्या सदा सुषमासुत्तमर्द्धिं प्राप्य प्रत्यनुभवन्तो विहरन्ति,तद्यथा–हरिवर्षेचैव, रम्यकवर्षेचैव जम्बूद्वीपे द्वयोर्वर्षयोर्मनुष्या सदा सुषमदुष्षमामुत्तमर्द्धिम्प्राप्य प्रत्यनुभवन्तो विहरन्ति, तद्यथा–हैमवतेचैव,हैरण्यवतेचैव। जम्बूद्वीपे द्वीपे द्वयो. क्षेत्रयो मनुष्याः सदा दुष्षमसुषमामुत्तमर्द्धिं प्राप्य प्रत्यनुभवन्तो विहरन्ति, तद्यथा–पूर्वविदेहे चैव, अपरविदेहे चैव।

जम्बूद्वीपे द्वीपे द्वयोर्वर्षयोर्मनुष्याः षड्विधमपि कालं प्रत्यनुभवन्तो विहरन्ति, तद्यथा–भरतेचैव, ऐरवते चैव इति।

व्याख्याप्रज्ञप्तौ भगवतीसूत्रे ५–शतके १ उद्देशके चोक्तम्—'जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पुरत्थिम–पच्चत्थिमेणवि–णेवत्थि ओसप्पिणी, णेवत्थि उस्सप्पिणी, अवट्ठिए णं तत्थ काले पण्णत्ते–" इति जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य पौरस्त्यपश्चिमे नाऽपि नैवास्त्यवसर्पिणी, नैवास्ति–उत्सर्पिणी, अवस्थित' खलु तत्र काल. प्रज्ञप्त –', इति ॥२९॥

मूलसूत्रम्—"हिमवयाइ उत्तरकुरांतेसु दाहिणोत्तरेसु एगदुति पलियोवमट्ठिइया, विदेहेसु य संखेज्जकाला–" ॥ ३० ॥

छाया–"हैमवताद्युत्तरकुर्वन्तेषु दक्षिणोत्तरेषु एकद्वित्रिपल्योपमस्थितिका विदेहयोश्च-संख्येयकालाः–" ॥ ३० ॥

हरिवर्ष और रम्यक वर्ष में मनुष्य सदा सुषमा रूप उत्तम ऋद्धि को प्राप्त करके उसका उपभोग करते हुए रहते है। जम्बूद्वीप नामक द्वीप में दो वर्षों में अर्थात् हैमवत और हैरण्यवत नामक क्षेत्रों में मनुष्य सदा सुषमदुष्षम रूप उत्तम ऋद्धि को प्राप्त करके उसका उपभोग करते रहते हैं। जम्बूद्वीप नामक द्वीप में दो क्षेत्रो में अर्थात् पूर्वविदेह और अपर विदेह में मनुष्य सदैव दुष्षमसुषम रूप उत्तम ऋद्धि को प्राप्त करके उसका परिभोग करते हुए विचरते है।

जम्बूद्वीप नामक द्वीप में दो क्षेत्रों में मनुष्य छहो प्रकार के काल का अनुभव करते है। वे दो क्षेत्र हैं–भरत और ऐरवत।

भगवती सूत्र के पाँचवे शतक में, प्रथम उद्देशक में भी कहा है–जम्बूद्वीप नामक द्वीप में सुमेरु पर्वत से पूर्व और पश्चिम में न उत्सर्पिणीकाल होता है और न अवसर्पिणी काल ही होता है वहाँ काल सदैव अवस्थित अर्थात् एक सा रहता है ॥२९॥

'हिमवयाइ उत्तरकुरांतेसु' इत्यादि। हैमवत क्षेत्र से लेकर उत्तरकुरु तक दक्षिण और उत्तर में मनुष्य एक, दो, तीन पल्योपम की स्थिति वाले तथा दोनों विदेह क्षेत्रो में सख्यात काल की आयु वाले होते है ॥३०॥

सूत्रार्थ—'हिमवयाइ उत्तरकुरांतेसु' इत्यादि।

हैमवतक्षेत्र से लेकर उत्तरकुरु तक दक्षिण और उत्तर में एक, दो, तीन, पल्योपम की स्थिति वाले तथा दोनों विदेह क्षेत्रों में सख्यातकाल की आयु वाले होते हैं ॥३०॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वं भरतैरवतादिक्षेत्रेपु मनुष्याणामुपभोगायु· शरीरोत्सेधादिविषये–उत्स-पिंण्यवसर्पिणी प्रभृतिकालविशेषनिमित्तकवृद्धिह्रासादिक प्ररूपितम्, सम्प्रति–हैमवत–१ हरिवर्ष–२ रम्यकवर्ष–३ हैरण्यवर्ष–४ देवकुरू–५ त्तरकुरुषु–६ महाविदेहयोश्च मनुष्याणां स्थितिं प्ररूपयितुमाह । "हिमवयाइ–" इत्यादि ।

हैववताद्युत्तरकुर्वन्तेषु हैमवत–हरिवर्ष–रम्यकवर्ष–हैरण्यवत–देवकुरू–त्तरकुरुषु दक्षिणोत्तरेषु यथाक्रमं मनुष्या एक–द्वि–त्रिपल्योपमस्थितिका भवन्ति । तत्र–हैमवत हैरण्यवतयो· दक्षिणोत्तरयो मनुष्या एकपल्योपमस्थितिका भवन्ति । हरिवर्ष-रम्यकवर्षयोश्च मनुष्यास्त्रिपल्योपमस्थितिका भवन्ति, किन्तु–महाविदेहेषु पूर्वविदेहेपु–अपरविदेहेषु च मनुष्या सख्येयकालस्थितिका भवन्ति ॥३०॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्व भरतै-रवतवर्षयोरुत्सर्पिण्यवसर्पिणीकाल विशेषनिमित्तकेषु मनुष्याणामुपभोगायु शरीरोत्स्येधादिपु वृद्धिह्रासौ भवत., हैमवत-हरिवर्ष-महाविदेह-रम्यकवर्ष–हैरण्यवतेषु च उत्सर्पिण्यवसर्पिण्योरभावेन तेषु–सुषमदुष्षमाया सुषमायाश्च कालविशेषरूपाया· सदावस्थितत्वान्न तत्र–मनुष्याणामुपभोगादिषु वृद्धिह्रासौ भवत इति प्ररूपितम्, सम्प्रति–तासु-पञ्चसु भूमिषु देवकुरूत्तरकुरुषु च केवल मनुष्याणामायुष्ये तारतम्य न्यूनाधिक्त्वरूप प्रति विशेष प्ररूपयितुमाह–

तत्त्वार्थदीपिका—पहले कहा जा चुका है कि उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के निमित्त से भरत और ऐरवतक्षेत्रों में मनुष्यो के उपभोग, आयु, तथा शरीर की अवगाहना आदि में वृद्धि और हानि होती रहती है । अब हैमवत, हरिवर्ष राम्यकवर्ष हैरण्यवत, देवकुरु, उत्तर कुरु तथा पूर्वविदेह और पश्चिमविदेह मे मनुष्यो की स्थिति की प्ररूपणा करने के लिए कहते हैं–

हैमवत से लेकर उत्तर कुरु पर्यन्त अर्थात् हैमवत, हरिवर्ष, रम्यकवर्ष हैरण्यवत, देवकुरु और उत्तर कुरु क्षेत्रों में यथाक्रम से मनुष्य एक, दो और तीन पल्योपम की आयु वाले होते है । हैमवत और हैरण्यवत क्षेत्र मे मनुष्यो की आयु एक पल्योपम की होती है । हरिवर्ष एव रम्यक् वर्ष में मनुष्य तीन पल्योपम की आयु वाले होते है । परतु महाविदेह क्षेत्र में पूर्वविदेह क्षेत्र में एव अपर विदेह में सख्यात काल की स्थिति वाले होते हैं ॥३०॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—इसके पहले भरत एव ऐरवत मे उत्सर्पिणी अवसर्पिणी कालविशेष निमित्तक मनुष्यों के उपभोग आयु शरीरका उत्सेध आदि मे वृद्धि ह्रास कहा एवं हैमवत–हरिवर्ष महाविदेह–रम्यकवर्ष एव हैरण्यवत क्षेत्र मे उत्सर्पिणो एव अवसर्पिणी के अभाव होने से उन क्षेत्रो मे सुषम दुष्षम, सुषमादि काल विशेष रूप सदा अवस्थित होने से उन क्षेत्रो में मनुष्यो के उपभोग आदि में वृद्धि एव ह्रास नहीं होता है यह प्ररूपित किया है

अब पाच क्षेत्रों में एव देवकुरु उत्तर कुरु क्षेत्रों में केवल मनुष्यो के न्यूनाधिकत्वरूप विशेष प्रतिपादन करने के लिये कहते हैं—

"हिमवयाइ उत्तरकुरांतेसु दाहिणोत्तरेसु एग–दु–ति पलियोवमट्ठिइया, विदेहेसु य-संखेज्जकाला–" इति–। हैमवताद्युत्तरकुर्वन्तेषु हैमवत–हरिवर्ष–रम्यकवर्ष–हैरण्यवत–देवकुरूत्तर-कुरुषु दक्षिणोत्तरेषु क्षेत्रेषु मनुष्या यथाक्रमम्–एक–द्वि–त्रिपल्योपमस्थितिका भवन्ति।

तत्र—हैमवतक्षेत्रेषु हैरण्यवतक्षेत्रेषु च दक्षिणोत्तरेषु मनुष्याणामेकपल्योपममायुष्य भवति, हरिवर्षरम्यकवर्षेपु च मनुष्याणा द्विपल्योपममायुष्य भवति, देवकुरुषु–उत्तरकुरुषु च–मनुष्याणा-त्रिपल्योपममायुष्यं भवति। तत्र—पञ्चसु हैमवतक्षेत्रेपु–पञ्चसु हैरण्यवतक्षेत्रेपु च सुषमदुष्षमाया-सदा-ऽवस्थितत्वात् तत्र मनुष्या एक पल्योपमायुषो द्विधनु सहस्रोच्छ्रायाश्चतुर्भक्ताहारा एकान्तर-भुक्तिमन्त', नीलोत्पलवर्णाश्च भवन्ति।

एव–पञ्चसु हरिवर्षेपु-पञ्चसु रम्यकवर्षेपु च सुषमाया सदाऽवस्थानात् तत्र मनुष्या द्विपल्यो पमायुषश्चतुर्धनु सहस्रोत्सेधा षष्ठभक्ताहारा द्विदिनान्तरितभुक्तिभाज. शङ्खवर्णाश्च भवन्ति। एवम्–पञ्चसु देवकुरुषु, पञ्चसूत्तरकुरुषु च सुषमसुषमाया. अहरह सान्निध्ययोगात्–

तत्र–मनुष्या स्त्रिपल्योपमायुष षड्धनु सहस्रोच्छ्रिता अष्टमभक्ताहारास्त्रिदिनान्तरभुक्ति-मन्त' कनकवर्णाभाश्च भवन्ति, किन्तु-विदेहेषु च पञ्चसु पूर्वविदेहेषु–पञ्चसु–अपरविदेहेषु च महाविदेह-

---

'हिमवयाइ' इत्यादि हैमवत से लेकर उत्तरकुरु पर्यन्त के अर्थात् हैमवत–हरिवर्ष–रम्यक-वर्ष हैरण्यवत देवकुरु एव उत्तरकुरु के दक्षिण उत्तर क्षेत्रो में मनुष्य क्रम से एक, दो, तीन, पल्योपम मी स्थिति वाले होते है।

उनमें हैमवत क्षेत्र में हैरण्यवत क्षेत्र मे दक्षिणोत्तर क्षेत्रो में मनुष्यो का आयु एक पल्योपम का होता है। हरिवर्ष और रम्यकवर्ष मे दो पल्योपम की आयु होती है और देवकुरु तथा उत्तरकुरु मे तीन पल्योयम की आयु होती है।

पाच हैमवत और पाँच हैरण्यवत क्षेत्रो में सदैव सुषमदुष्षम के सदृश काल रहने से वहा के मनुष्य एक पल्योपम की आयु वाले दो हजार धनुप की अवगाहना वाले, चतुर्थ भक्ताहारी अर्थात् एकान्तर से भोजन करने वाले तथा नील कमल के समान वर्ण वाले होते है।

इसी प्रकार पाँच हरिवर्ष तथा पाँच रम्यक वर्ष क्षेत्रो मे सदा सुषमा सदृश काल रहने से वहाँ के मनुष्यों की आयु दो पल्योपम की होती है, शरीर की अवगाहना चार हजार धनुष की होती है और वे षष्ठ भक्ताहारी होते है अर्थात् दो दिन के अन्तर से भोजन करते है। उनका वर्ण शख जैसा होता है।

पाँच देव कुरु और पाँच उत्तर कुरु क्षेत्रों में सुषमा सुषमा सदृश सदैव रहने से वहाँ के मनुष्यों की आयु तीन पल्योपम की होती है, अवगाहना छह हजार धनुष की होती है और वे अष्टम भक्त–भोजी आकर्ष होते है अर्थात् तीन दिन के अन्तर से भोजन करते है। उनके शरीर का वर्ण स्वर्ण जैसा होता है। किन्तु पाच पूर्वविदेहो और पाँच पश्चिमविदेहों में मनुष्य

लक्षणेषु क्षेत्रेषु मनुष्याः सख्येयकालस्थितिका भवन्ति तत्र—सुषमदुष्षमाकालान्तिमकालसदृशस्य काल-विशेषस्य सदावस्थिततत्वात् मनुष्या पञ्चधनु'शतोत्सेधा' नित्याहारा' उत्कृष्टेन एकपूर्वकोटिस्थि-तिकाः जघन्येनाऽन्तर्मुहूर्तायुषो भवन्ति, विगतो-विनष्टो देह शरीरं मुनीनां येषु ते विदेहा. प्रायेण-विदेह-वर्षाणां मुक्तिप्राप्तिहेतुत्वात् तेषु विदेहेषु पञ्चानां मेरूणां सम्बन्धिन. पञ्च—पञ्चपूर्वाऽपरभेदवन्तो-ऽपि विदेहा पञ्चमहाविदेहा आख्यायन्ते इति ।

उक्तञ्च- जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तौ ४-वक्षस्कारे "**जंबुदीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरदाहिणेणं-वासा पण्णत्ता, हिमवए चेव—हेरण्णवए चेव, हरिवासेचेव—रम्मगवासेचेव—देवकुरा चेव उत्तरकुरा चेव एगं पलियोवमं ठिई पण्णत्ता, दोपलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता, तिण्णि पलियोवमाईठिईपण्णत्ता, महाविदेहे मणुआण केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ! गोयमा ! जहण्णेण अंतोमुहुत्तं उक्कोसेण पुव्वकोडी आउयं पालेंति—**" इति ।

छाया—जम्बूद्वीपे-द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य उत्तरदक्षिणेन द्वौ वर्षौ प्रज्ञप्तौ, हैमवतश्चैव-हैरण्यवत-श्चैव, हरिवर्षश्चैव—रम्यकवर्षश्चैव, देवकुरवश्चैव—उत्तरकुरवश्चैव, एक पल्योपम स्थिति' प्रज्ञप्ता, द्वे-पल्योपम स्थिति प्रज्ञप्ता, त्रीणि पल्योपमानि स्थिति' प्रज्ञप्ता, महाविदेहे मनुष्याणा कियन्तं काल स्थिति' प्रज्ञप्ता ! गौतम ! जघन्येना-ऽन्तर्मुहूर्त्तम्, उत्कृष्टेन पूर्वकोटी आयुष्य पालयन्ति—इति ॥२०॥

सख्यात काल की आयु वाले होते है । वहाँ सदा दुष्षम सुषम काल के प्रारम्भ के समय जैसा काल बना रहता है, अत' ,वहाँ के मनुष्यो की ऊँचाई पाँच सौ धनुष की होती है, वे प्रतिदिन भोजन करते है और उन की उत्कृष्ट स्थिति एक करोड पूर्व की तथा जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की होती हैं ।

जिस क्षेत्र में मुनिओ का देह विगत—विनष्ट होता है अर्थात् जहाँ सदैव धर्म—शासन की प्रवृत्ति रहने से तथा तीर्थकरो की विद्यमानता होने से मुनिजन विदेह—अवस्था प्राप्त करते है, वह क्षेत्र भी विदेह कहलाता है । यद्यपि मध्य मे मेरु पर्वत के अवस्थित होने से विदेह होने से क्षेत्र पूर्व, अपर आदि भागो मे विभक्त है, तथापि सामान्य रूप से एक ही है । जम्बूद्वीप मे एक धातकीखण्ड द्वीप मे दो तथा पुष्करार्ध में दो विदेह होने के कारण पाँचमहा विदेह क्षेत्र कहेजाते है ।

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति के चौथे वक्षस्कार मे कहा है—जम्बूद्वीप नामक द्वीप में मन्दर पर्वत से उत्तर और दक्षिण दिशा में दो वर्ष कहे गये है—हैमवन्त और हैरण्य-वत, हरिवर्ष और रम्यक वर्ष, देव-कुरु और उत्तरकुरु । उनमे एक पल्योपम की स्थिति कही है, दो पल्योपम की स्थिति और तीन पल्योयम की स्थिति कही है । प्रश्न—भगवन् महविदेह मे मनुष्यों की कितनी स्थिति कही है ।

उत्तर—गौतम ! जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण और उत्कृष्ट करोड़ पूर्व की आयु कही गई है ॥२०॥

मूलसूत्रम्—धायइखंडे पुक्खरद्धे य दो दो वासा-कुराय-,, ॥ ३१ ॥

छाया—"धातकीखण्ड-पुष्करार्धे च द्वौ द्वौ वर्षौ कुरवश्च-" ॥ ३१ ॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वं तावज्जम्बूद्वे भरत-हैमवत-हरिवर्षमहाविदेह-रम्यकवर्ष-हैरण्यवतैरवताश्च सप्तवर्षा प्रत्येकमेकैके प्रतिपादिता., सम्प्रति-धातकीखडे, पुष्करार्धे च द्वौ द्वौ भरतादिवर्षौ स्त इति प्रतिपादयितुमाह-"धायइखंडे-" इत्यादि ।

धातकीखण्डे-पुष्करार्द्धे च द्वौ द्वौ वर्षौ इति कृत्वा भरतादय' सप्त ये ते तत्र-चतुर्दश चतुर्दश सन्ति कुरवश्च पञ्च महाविदेहेष्वेव भवेयुरिति जम्बूद्वीपातिरिक्तेषु चतुर्षु महाविदेहेषु चत्वारो देवकुरव -चत्वार उत्तरकुरवश्चेति घातकीखण्डे पुष्करार्द्धेचा-ऽष्टौ सन्ति तथाच-जम्बूद्वीपे एकैको भरतादिवर्ष, धातकीखण्डेच-द्वौ द्वौ भरतादिवर्षौ, पुष्करार्द्धेच-द्वौ द्वौ भरतादिवर्षौ स्त इति एव-मेरुपर्वता अपि-पञ्च सन्ति तथैव-महाविदेहेषु देवकुरवः-उत्तरकुरवश्चाऽपि पञ्चपञ्च सन्ति ॥ ३१ ॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः - पूर्वं जम्बूद्वीपे भरतवर्षादीनि सप्तक्षेत्राणि प्ररूपितानि-भरतादिक्षेत्रश्चैकैक जम्बूद्वीपे वर्तते-इत्युक्तम् ,-सम्प्रति धातकीखण्डे-पुष्करार्द्धेच द्वे द्वे भरतादिक्षेत्रे स्त. इतिप्रतिपादयितु माह "धायइखण्डे-पुक्खरड्ढेय दो दो वासा कुरा य-,,इति ।

धातकीखण्डे-पुष्करार्द्धे च द्वौ द्वौ भरतादिवर्षौ स्त., कुरवश्च-पञ्चमहाविदेहेष्वेव

'धइयखंडे पुक्खरद्धे' सूत्र ३१

सूत्रार्थ—धातकीखण्ड और पुष्करार्ध में दो-दो वर्ष और दो-दो कुरु है ॥

तत्त्वार्थदीपिका—पहले जम्बूद्वीप में भरत, हैमवत, हरिवर्ष, महाविदेह, रम्यकवर्ष, हैरण्यवत, और ऐरवतवर्ष, इन सात वर्षों का प्रतिपादन किया गया है । अब यह निरूपण करते है कि धातकीखण्ड और पुष्करार्ध में भरत आदि क्षेत्र दो-दो है-

धातकीखण्ड द्वीप मे तथा पुष्करार्ध द्वीप में भरत आदि प्रत्येक क्षेत्र दो-दो है। अतएव वहाँ सात के बदले चौदह-चौदह क्षेत्र होते है। कुरु महाविदेहों में ही होते हैं, अतः जम्बूद्वीप के देवकुरु और उत्तरकुरु के अतिरिक्त चार देवकुरु और चार उत्तरकुरु धातकीखण्ड और पुष्करार्ध में है। इस प्रकार जम्बूद्वीप में भरत आदि क्षेत्र एक-एक है। धातकीखण्ड में दो-दो है और पुष्करार्ध में भी दो-दो है, ये सब मिलकर पाँच-पाँच होते है। मेरुपर्वत भी पाँच-पाँच है। महाविदेहों मे देवकुरु और उत्तरकुरु भी पाँच-पांच ही होते है ॥३१॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—जम्बूद्वीप मे सात क्षेत्रो का पहले कथन किया गया है और यह भी बतलाया जा चुका है कि जम्बूद्वीप मे एक-एक भरत आदि क्षेत्र है। अब यह निरूपण किया जाता है कि धातकी खण्ड एव अर्द्ध पुष्करद्वीप में भरत आदि क्षेत्र दो-दो है—

धातकीखण्ड और पुष्करार्ध क्षेत्र मे भरत आदि वर्ष दो-दो है। कुरु सिर्फ पाँच-

तत्परिक्षेपी कालोद' समुद्र अष्टयोजनशतसहस्रवलयविष्कम्भो वर्तते, अत्र द्वौ द्वौ भरतादिवर्षौ स्त' । कालोदपरिक्षेपी खलु पुष्करद्वीप षोडशयोजनशतसहस्रवलयविष्कम्भो वर्तते ।

एव-जम्बूद्वीपापेक्षया पुष्करार्धे च-द्वौ भरतवर्षौ द्वौ हिमवन्तौ च, द्वौ हैमवतौ-द्वौ महाहिमवन्तौ च, द्वौ हरिवर्षौ द्वौ निषधपर्वतौ च, द्वौ महाविदेहौ-द्वौ नीलवन्तौ च, द्वौ रम्यकवर्षौ रुक्मिपर्वतौ च, द्वौ हैरण्यवतौ-द्वौ शिखरिपर्वतौ च, द्वौ-ऐरवतौ च वर्तेते, द्विसङ्ख्यका'- देवकुरव द्विसङ्ख्यका उत्तरकुरवश्च सन्ति । एव यथा धातकी खण्डे हिमवदादीना विष्कम्भउक्त स्तथा-पुष्करार्धेऽपि तेषां षण्णा वर्षधराणा विष्कम्भोऽवसेय' । इष्वाकारौ मन्दरौ च द्वौ पुष्कारार्धेऽपि वर्तेते ।

यत्र जम्बूद्वीपे जम्बूवृक्ष स्तत्र-पुष्करद्वीपे पुष्करवृक्ष सपरिवार' स्थित', अतएव-तस्य द्वीपस्य पुष्करद्वीप नाम रूढ प्रतीतम्, मानुषोत्तरशैलेन च विभक्तार्धत्वात् पुष्करार्धसज्ञा बोध्या ।

उक्तञ्च स्थानाङ्गे २-स्थाने ३-उद्देशके ९२-सूत्रे-"धायइखण्डे दीवे पुरच्छिमद्धेणं मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरदाहिणेणं दो वासा पण्णत्ता, बहुसमतुल्ला जाव भरहेचेव, एरवएचेव धायइखंडदीवे पच्चत्थिमद्धेणं मदरस्स पव्वयस्स उत्तर दाहिणेणं दो वासा पण्णत्ता, बहुसमतुल्ला जाव-भरहेचेव एरवए चेव इच्चाइ —" इति । धातकीखण्डे द्वीपे पौरस्त्यार्धे खलु मन्दरस्य पर्वतस्यो-त्तरदक्षिणे खलु-द्वौ वर्षौ प्रज्ञप्तौ, बहुतुल्यौ यावद् भरतश्चैव-ऐरवतश्चैव ।

खड द्वीप को चारो ओर से घेर हुए कालोदसमुद्र है । उसका विष्कभ आठ लाख योजन-- आठ लाख योजन का है उसमें भी दो-दो भरतआदि क्षेत्र हैं । कालोद समुद्र के चहुँओर पुष्कर द्वीप है । उसका विस्तार सोलह लाख योजन है ।

इस प्रकार जम्बूद्वीपकी अपेक्षा पुष्करार्ध क्षेत्र में दो भरतक्षेत्र है, दो हिमवन्त पर्वत है, दो हैमवत क्षेत्र है, दो महाहिमवान् पर्वत है, दो हरिवर्ष है, दो निषध पर्वत है, दो महाविदेह है, दो नीलवन्त पर्वत हैं, दो रम्यकवर्ष हैं, दो रुक्मिपर्वत है, दो हैरण्यवत क्षेत्र हैं, दो शिखरी पर्वत है और दो ऐरवत क्षेत्र है । दो देवकुरु और दो उत्तरकुरु है । धातकी खंड द्वीप में हिमवन्त आदि पर्वतों का विस्तार जितना कहा गया है, उतना हीं विस्तार पुष्करार्ध द्वीप में भी समझना चाहिए । जैसे धातकीखड द्वीप में दो इष्वाकार पर्वत और दो मन्दर पर्वत है, उसी प्रकार पुष्करार्ध द्वीप मे भी है ।

जम्बूद्वीप में जिस स्थल पर जम्बूवृक्ष है, पुष्करद्वीप में उस स्थल पर पुष्करनामक वृक्ष सपरिवार स्थित है । इसी वृक्ष के कारण उसका नाम पुष्करद्वीप रूढ़ है । पुष्करद्वीप के मध्य मे मानुषोत्तर पर्वत होने से उसके आधे-आधे दो भाग हो गये है । इस कारण उसे पुष्करार्ध कहते हैं ।

स्थानासूत्र के दूसरे स्थान के तीसरे उद्देशक में, सूत्र ९२ में कहा है—'धातकीखंड द्वीप मे पूर्वार्ध में मेरुपर्वत के उत्तर दक्षिण मे दो वर्ष (क्षेत्र) कहे हैं, जो बिल्कुल एक समान,

भवेयुरिति जम्बूद्वीपातिरिक्तेषु चतुर्षु महाविदेहेषु चत्वारो देवकुरव—चत्वार उत्तरकुरवश्चेति धातकीखण्डे पुष्करार्धेचाऽष्टौ सन्ति तत्र—द्वाभ्या खलु-इष्वाकारपर्वताभ्या दक्षिणोत्तरायताभ्या लवणोदधि—कालोदधिवेदिकास्पृष्टकोटीभ्या विभक्त पूर्वापरो धातकीखण्डो वर्तते तत्र—पूर्वस्या—ऽपरस्य च धातकीखण्डस्य मध्ये द्वौ मन्दराचलौ वर्तेत ।

तयोरुभयतो भरतादीनि क्षेत्राणि सन्ति, हिमवदादयोवर्षधरपर्वताश्च सन्ति, एव रीत्या द्वौ भरतवर्षौ—द्वौ हिमवन्तौ, द्वौ हैमवतौ वर्षौ—द्वौ महाहिमवन्तौ, द्वौ हरिवर्षौ द्वौ निषधपर्वतौ, द्वौ महाविदेहौ—द्वौ नीलवन्तौ, द्वौ रम्यकवर्षौ- द्वौ रुक्मिपर्वतौ, द्वौ हैरण्यवतौ द्वौ शिखरिपर्वतौ, द्वौ-एरवतौ च वर्तते ।

चतुर्थमहाविदेहेषु- द्विसख्यका देवकुरव द्विसख्यका उत्तरकुरवश्च सन्ति एव-- जम्बूद्वीपहिमवदादीना वर्षधरपर्वताना विष्कम्भापेक्षया--द्विगुणविष्कम्भो धातकीखण्डवर्तिना हिमवदादीनां वर्षधराणामवगन्तव्य ते खलु वर्षधराश्चक्रारवदवस्थिता सन्ति, भरतादिक्षेत्राणि चा ऽरविवरसस्थानानि सन्ति, । जम्बूवृक्ष स्थित स्तत्र धातकीखण्डे-धातकीवृक्ष सपरिवार स्थित, अतएव धातकीखण्ड इति धातकीवृक्षयोगाद् व्यपदिश्यते । तथाच—धातकीखण्डनामद्वीप प्रतीत,

---

महाविदेहो मे ही है, अत जम्बूद्वीप के महाविदेह को छोडकर शेष जो चार महाविदेह है, उनमें चार देवकुरु है और चार उत्तरकुरु है । इस प्रकार दोनो कुरु मिलकर धातकीखण्ड और पुष्करार्ध क्षेत्र मे आठ कुरु हे । जम्बूद्वीप के दोनों कुरु सम्मिलित कर लिये जाएँ तो इनकी सख्या दस हो जाती है-पाँच देवकुरु और पाच उत्तरकुरु ।

दक्षिण और उत्तर मे लम्बे, अपने छोरो से लवणोदधि और कालोदधि समुद्रो का स्पर्श करने वाले दो इषुकार पर्वतो से धातकीखण्ड द्वीप पूर्व और पश्चिम मे विभक्त है । इसके पूर्व भाग में और पश्चिम भाग में एक-एक मेरु पर्वत है ।

उसके उक्त दोनो विभागो मे भरत आदि सभी पूर्वोक्त क्षेत्र हैं और हिमवन्त पर्वत है । इस कारण दो भरतक्षेत्र, दो हिमवन्त पर्वत, दो हैमवत क्षेत्र, दो महाहिमवान् पर्वत, दो हरिवर्ष, दो निषध पर्वत, दो महाविदेह, दो नीलवन्त पर्वत, दो रम्यकवर्ष, दो रुक्मी पर्वत दो हैरण्यवत क्षेत्र, दो शिखरि पर्वत और दो ऐरवतवर्ष है ।

चौथे महाविदेह क्षेत्र में दो देवकुरु और दो उत्तरकुरु है । इस प्रकार जम्बूद्वीप में जो हिमवन्त आदि वर्षधर पर्वत है, उनके विस्तार से धारतकीखड द्वीप में स्थित हिमवन्त आदि पर्वतो का विस्तार दुगुना-दुगुना है । वे वर्षधर पर्वत चक्र (पहिया) के आकार मे स्थित है और भरत आदि क्षेत्र उनके आरो के आकार के है ।

जम्बूद्वीप में जहाँ जम्बूवृक्ष है धातकीखड में वहाँ धातकीखड वृक्ष परिवारसहित स्थित है । धातकी नामक वृक्ष के कारण ही वह द्वीप धातकी खड कहलाता है । धातकी-

तत्परिक्षेपी कालोद' समुद्र अष्टयोजनशतसहस्रवलयविष्कम्भो वर्तते, अत्र द्वौ द्वौ भरतादिवर्षौ स्त' । कालोदपरिक्षेपी खलु पुष्करद्वीप षोडशयोजनशतसहस्रवलयविष्कम्भो वर्तते ।

एव-जम्बूद्वीपापेक्षया पुष्करार्ध च-द्वौ भरतवर्षौ द्वौ हिमवन्तौ च, द्वौ हैमवतौ-द्वौ महा-हिमवन्तौ च, द्वौ हरिवर्षौ द्वौ निषधपर्वतौ च, द्वौ महाविदेहौ-द्वौ नीलवन्तौ च, द्वौ रम्यकवर्षौ रुक्मिपर्वतौ च, द्वौ हैरण्यवतौ-द्वौ शिखरिपर्वतौ च, द्वौ-ऐरवतौ च वर्तेते, द्विसख्यका'- देवकुरव द्विसख्यका उत्तरकुरवश्च सन्ति । एव यथा धातकी खण्डे हिमवदादीना विष्कम्भउक्त स्तथा-पुष्करार्धेऽपि तेषा षण्णा वर्षधराणा विष्कम्भोऽवसेय । इष्वाकारौ मन्दरौ च द्वौ पुष्कारार्धेऽपि वर्तेते ।

यत्र जम्बूद्वीपे जम्बूवृक्ष स्तत्र-पुष्करद्वीपे पुष्करवृक्ष सपरिवार' स्थित, अतएव-तस्य द्वीपस्य पुष्करद्वीप नाम रूढ प्रतीतम्, मानुषोत्तरशैलेन च विभक्तार्धत्वात् पुष्करार्धसञ्ज्ञा बोध्या ।

उक्तञ्च स्थानाङ्गे २-स्थाने ३-उद्देशके ९२-सूत्रे-"**धायइखण्डे दीवे पुरच्छिम-द्धेणं मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरदाहिणेणं दो वासा पण्णत्ता, वहुसमतुल्ला जाव भरहेचेव, एरवएचेव धायइखंडदीवे पन्चत्थिमद्धेणं मंदरस्स पव्वयस्स उत्तर दाहिणेणं दो वासा पण्णत्ता, वहुसमतुल्ला जाव-भरहेचेव एरवए चेव इच्चाइ** —" इति । धातकीखण्डे द्वीपे पौरस्त्यार्धे खलु मन्दरस्य पर्वतस्यो-त्तरदक्षिणे खलु-द्वौ वर्षौ प्रज्ञप्तौ, वहुतुल्यौ यावद् भरतश्चैव-ऐरवतश्चैव ।

खंड द्वीप को चारो ओर से घेर हुए कालोदसमुद्र है । उसका विष्कभ आठ लाख योजन आठ लाख योजन का है उसमें भी दो-दो भरतआदि क्षेत्र हैं । कालोद समुद्र के चहुँओर पुष्कर द्वीप है । उसका विस्तार सोलह लाख योजन है ।

इस प्रकार जम्बूद्वीपकी अपेक्षा पुष्करार्ध क्षेत्र में दो भरतक्षेत्र है, दो हिमवन्त पर्वत है, दो हैमवत क्षेत्र हैं, दो महाहिमवान् पर्वत है, दो हरिवर्ष है, दो निषध पर्वत हैं, दो महाविदेह है, दो नीलवन्त पर्वत हैं, दो रम्यकवर्ष हैं, दो रुक्मिपर्वत है, दो हैरण्यवत क्षेत्र है, दो शिखरी पर्वत है और दो ऐरवत क्षेत्र है । दो देवकुरु और दो उत्तरकुरु है । धातकी खंड द्वीप में हिमवन्त आदि पर्वतो का विस्तार जितना कहा गया है, उतना हीं विस्तार पुष्करार्ध द्वीप में भी समझना चाहिए । जैसे धातकीखंड द्वीप में दो इष्वाकार पर्वत और दो मन्दर पर्वत है, उसी प्रकार पुष्करार्ध द्वीप में भी है ।

जम्बूद्वीप में जिस स्थल पर जम्बूवृक्ष है, पुष्करद्वीप में उस स्थल पर पुष्करनामक वृक्ष सपरिवार स्थित है । इसी वृक्ष के कारण उसका नाम पुष्करद्वीप रूढ है । पुष्करद्वीप के मध्य मे मानुषोत्तर पर्वत होने से उसके आधे-आधे दो भाग हो गये है । इस कारण उसे पुष्करार्ध कहते हैं ।

स्थानासूत्र के दूसरे स्थान के तीसरे उद्देशक में, सूत्र ९२ में कहा है—'धातकीखंड द्वीप मे पूर्वार्ध में मेरुपर्वत के उत्तर दक्षिण मे, दो वर्ष (क्षेत्र) कहे हैं, जो विल्कुल एक समान

धातकीखण्डे पश्चिमार्धे खलु मन्दरस्य पर्वतस्य—उत्तरदक्षिणे खलु—द्वौ वर्षौ प्रज्ञप्तौ, बहुसमतुल्यौ यावद्—भरतश्चैव-ऐरवतश्चैव इत्यादि । ततश्चा तत्रैव स्थानाङ्गे २—स्थाने ३—उद्देशके ९३-सूत्रे चोक्तम्-"पुक्खरवरदीवड्ढे पुरत्थिमद्धेणं मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरदाहिणेणं दो वासा पण्णत्ता, बहुसमतुल्ला जाव-भरहे चेव, एरवए चेव, तहेव जाव-दो कुडाओ पण्णत्ता-" इति ।

पुष्करवरद्वीपार्धे पौरस्त्यार्धे खलु मन्दरस्य पर्वतस्योत्तरदक्षिणे खलु द्वौ वर्षौ प्रज्ञप्तौ, बहुसमतुल्यौ यावद्—भरतश्चैव, ऐरवतश्चैव, तथैव—यावद् द्वौ कुरू प्रज्ञप्तौ—इति ॥३१॥

'मूलसूत्र—'माणुसुत्तराओ पुव्वं मणुआ ते दुविहा आरिया मिलक्खू य–" ॥३२॥

छाया—"मानुपोत्तरात्पूर्वमनुष्याः, ते द्विविधा, आर्या-म्लेच्छाश्च—" ॥३२॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वं धातकीखण्डे पुष्करार्धेच द्वौ द्वौ भरतादिवर्षौ हिमवदादिवर्षधरपर्वतौ च प्ररूपितौ, तत्र—सम्पूर्ण पुष्करद्वीपमनुक्त्वा पुष्करार्धे एव तेषा द्विगवृत्तत्वाभिधानेकारणमाह— **"माणुसुत्तराओ पुव्वं मणुआ, ते दुविहा आरिया मिलक्खूय—"**इति ।

मानुषोत्तरात् पुष्करद्वीपबहुमध्यभागवर्तिनो मानुषोत्तरशैलात् पूर्वमेव मनुष्या सन्ति, न ततो बहिर्भागे, तथाच मानुषोत्तरशैलेन पुष्करद्वीपस्य विभक्तार्धत्वात् तस्य पुष्करद्वीपस्य पूर्वार्द्धेष्वेव मनुष्या भवन्ति, न तु तस्य बहिरर्धे इति फलितम् । ते मनुष्या द्विविधा द्विप्रकारका सन्ति, आर्याश्च म्लेच्छाश्चेति भाव ॥३२॥

हैं, वे है भरत और ऐरवत, इत्यादि .. धातकीखण्ड द्वीप के पश्चिमार्ध मे मेरुपर्वत से उत्तर और दक्षिण में दो क्षेत्र कहे गए है, जो बिल्कुल एक समान है, वे है भरत और ऐरवत, इत्यादि ।

आगे स्थानांगसूत्र में ही दूसरे स्थान के तीसरे उद्देशक के सूत्र ९३ मे कहा है—'पुष्कर वर द्वीप के पूर्वार्ध भाग में मेरुपर्वत से उत्तर दक्षिण में दो क्षेत्र कहे गए है, जो बिल्कुल एक जैसे है, वे है - भरत और ऐरवत । इत्यादि सब पूर्ववत् ही कह लेना चाहिए यावत् दो कुरु कहे गए है' ॥३१॥

'माणुसुत्तराओ पुव्वं' इत्यादि सू० ३२—

सूत्रार्थ—मनुष्य मानुषोत्तर पर्वत से पहले-पहले ही रहते है और वे दो प्रकार के होते हैं—आर्य और म्लेच्छ ॥३२॥

तत्त्वार्थदीपिका—इससे पूर्व धातकीखण्ड और पुष्करार्ध द्वीप में दो—दो भरत आदि क्षेत्र और दो—दो हिमवन्त आदि पर्वत हैं, यह प्रतिपादन किया गया है । मगर सम्पूर्ण पुष्कर द्वीप मे भरत आदि क्षेत्रो का तथा हिमवन्त आदि पर्वतों का कथन न करके 'पुष्करार्ध' में जो कथन किया गया है, इसका कारण क्या है ? यह बतलाने के लिए कहते हैं ।

पुष्कर द्वीप के बीचो-बीच स्थित मानुषोत्तर पर्वत से पहले—पहले ही मनुष्यों का वास है इससे बाहर मनुष्य नहीं होते, मानुषोत्तर पर्वत के द्वारा पुष्कर द्वीप के दो विभाग हो गए

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वं तावत् धातकीखण्डे पुष्करार्धे च द्वौ द्वौ भरतादिवर्षौ हिमवदादिवर्षधरपर्वतौ च प्ररूपितौ, तत्र सम्पूर्णपुष्करद्वीपमनुक्त्वा पुष्करार्धे एव तेषां द्विरावृत्तत्वाभिधाने कारणमाह—"माणुसुत्तराओ पुव्वं मणुआ ते दुविहा आरिया-मिलक्खूय—" इति ।

मानुषोत्तरात् पुष्करद्वीपमध्यभागवर्ति मानुषोत्तरनामशैलात् पूर्वमेव—प्रागेव मनुष्याः सन्ति, न तु—तस्य पुष्करद्वीपस्य बहिरर्धे, तथाच पुष्करद्वीपबहुमध्यभागवर्ती वलयवृत्तो मानुषोत्तरो नाम शैलो वर्तते तेनैव मानुषोत्तरशैलेन पुष्करद्वीपस्य विभक्तार्धत्वात् पुष्करार्धसञ्ज्ञा जाता । तस्मात् खलु मानुषोत्तरशैलात्प्रागेव पुष्करार्धपर्यन्ते मनुष्या सन्ति न ततो बहिरर्धे, न वा—ततो बहिः पूर्वोक्त भरतादि क्षेत्र पर्वतविभागो वर्तते चारणमुनिः मनुष्यक्षेत्रतो नन्दीश्वररुचकवरद्वीपपर्यन्त गच्छति । नद्योऽपि न बहिर्भागे प्रवहन्ति ।

अपितु -मानुषोत्तरपर्वतमाश्रित्य तिष्ठन्ति मानवक्षेत्रं त्रसाश्चापि न वहिर्गच्छन्ति यदा पुन.——खलु मानुषोत्तरपर्वताद् बहिर्भागे मृतो जीव—स्तिर्यग्-देवो वा मनुष्यक्षेत्रमागच्छति, तदा मानवविग्रहगत्यानुपूर्व्या समागच्छन् मानुषोत्तराद् बहिर्भागेऽपि मनुष्योऽस्तीति व्यपदिश्यते एवम्- दण्ड कपाट-

---

है अत पुष्करद्वीप के पूर्वार्ध में ही मनुष्य होते हैं, आगे नहीं । वे मनुष्य दो प्रकार के होते है—आर्य और म्लेच्छ ॥३२॥

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—धातकीखण्ड और पुष्करार्ध में भरत आदि क्षेत्र तथा हिमवन्त आदि पर्वत दो—दो है, यह पहले बतलाया जा चुका है, मगर दो—दो की सख्या पुष्कर द्वीप मे न कहकर पुष्करार्ध में कही है । इसका क्या कारण है ? सो कहते है—

पुष्करद्वीप के मध्य में स्थित मानुषोत्तर पर्वत से पहले—पहले ही मनुष्यों का निवास है, उसके आगे के अर्धभाग में मनुष्य नहीं होते और न उससे आगे के अन्य किसी द्वीप में ही मनुष्य होते हैं । तात्पर्य यह है कि पुष्कर द्वीप के बीचो बीच, वलय के आकार का एक पर्वत है जो मानुषोत्तर पर्वत कहलाता है । वह पर्वत पुष्कर द्वीप को दो भागो में विभक्त कर देता है' इस कारण उसका एक भाग पुष्करार्ध कहा जाता है । इस प्रकार उस मानुषोत्तर पर्वत से पहले—पहले ही पुष्करार्ध तक मनुष्य है, उससे आगे के आधे भाग मे नहीं । उस अगले भाग में पूर्वोक्त भरत आदि क्षेत्रो एव पर्वतो का विभाग भी नहीं है । चारण मुनि मनुष्य क्षेत्र से बाहर नन्दी श्वर और रुचकवर द्वीप तक जाते हैं ऐसा भगवती सूत्र शत २० उद्देशक ९ नौ में कहा है । वहाँ नदियाँ भी प्रवाहित नहीं होती । मनुष्य क्षेत्र के त्रस जीव भी पुष्करार्ध से आगे नहीं जाते । किन्तु जब मानुषोत्तर पर्वत के आगे के किसी द्वीप अथवा समुद्र में मरा हुआ जीव—तिर्यंच या देव, मनुष्य क्षेत्र में जन्म लेने के लिए आता है और मनुष्य—पर्याय मे उत्पन्न होने वाला होता है, तब मनुष्यगत्यानुपूर्वी से आता हुआ वह जीव, मनुष्य की आयु का उदय हो जाने के कारण मनुष्य कहलाता है । अतएव विग्रह-

प्रतर लोकपूरणसमुद्घातकाले च मानुपोत्तरशैलबहिर्भागेऽपि मनुष्या भवन्तीति व्यपदिश्यते ।

तथाच--जम्बूद्वीप-धातकीखण्डद्वीप-पुष्करार्धभागात्मकसार्धद्वयद्वीपे द्वयोश्च समुद्रयोर्लवण--कालोदयोर्मध्ये च मनुष्याः सन्तीत्यवधेयम् अतएव--पुष्करार्धे एव भरतादिक्षेत्रहिमवदादि-पर्वतानां द्वयोर्द्वयो रस्तित्वमुक्तम् , न तु--सम्पूर्णपुष्करद्वीपे इतिभाव तथाच-मनुष्यलोकस्ता-वन्मनुष्योत्तरपर्वतात्प्रागेव जम्बूद्वीपो--धातकीखण्ड.--पुष्करार्धद्वीपश्चेत्येवं सार्धद्वीपद्वयम् , लवणसमुद्र कालोदसमुद्रश्चेत्येवं समुद्रद्वयम् ,

पञ्च मन्दरपर्वताः भरतादिसप्तक्षेत्राणां पञ्चभिर्गुणितत्वे पञ्चत्रिंशत् क्षेत्राणि, क्षुद्रहिमवदादि-वर्षधरपर्वताना षण्णां पञ्चभिर्गुणितत्वे त्रिंशत् सख्यका वर्षधरपर्वता , पञ्चदेवकुरव , पञ्चोत्तरकु-रवः, षष्ट्यधिकशतसख्यकाश्चक्रवर्तिविजया., पञ्चपञ्चाशदधिकशतद्वयजनपदा , षट्पञ्चा-शद्--अन्तर्द्वीपाश्चेत्येव रूपो बोध्य. मानुपोत्तरपर्वतश्च--मनुष्यलोकपरिक्षेपी महानगरप्राकार-प्रतीकाशः काञ्चनमय पुष्करद्वीपार्धविभागकारी एकविंशत्यधिकसप्तदशशतयोजनोच्छ्रितः,

त्रिंशदधिकचतुःशतक्रोशञ्चा-ऽधो धरणितलमवगाढः, द्वाविंशत्यधिकसहस्रयोजनानि मूल-भागे विस्तीर्णः, चतुर्विंशत्यधिकचतु शतयोजनानि--उपरितनभागे विस्तीर्णो वर्तते इति। मनुष्यो द्विप्र-

---

गति की अपेक्षा से मनुष्य क्षेत्र से बाहर भी मनुष्य की सत्ता मानी जाती है। इसी प्रकार केवली जब समुद्घात करते है तो दंड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण करके समग्र लोक में अपने आत्मप्रदेशो को फैला लेते हैं। उस समय भी मानुपोत्तर पर्वत से आगे मनुष्य की सत्ता स्वीकार की गई है तथा लब्धिधारी भी जा सकते है।

इस प्रकार जम्बूद्वीप में, धातकीखण्ड द्वीप में और अर्धपुष्कर द्वीप में अर्थात् अढ़ाई द्वीपों में तथा लवण समुद्र और कालीदधि समुद्र में मनुष्य होते है, ऐसा समझना चाहिए।

आशय यह है कि पुष्करार्ध में ही दो--दो भरत आदि क्षेत्रो का तथा हिमवान् आदि पर्वतों का अस्तित्व कहा है, सम्पूर्ण पुष्करद्वीप मे नहीं कहा। इस प्रकार मनुष्यलोक मानुषोत्तर पर्वत से पहले--पहले का ही भाग कहलाता है और उसमें जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड द्वीप और आधा पुष्करद्वीप, ये अढाई द्वीप और लवण समुद्र तथा कालोदधि समुद्र नामक दो समुद्र सम्मिलित हैं। उसमें पाँच मन्दर पर्वत हैं, पाँच--पाँच भरतक्षेत्र आदि सातो क्षेत्र होने से ७×५=३५ क्षेत्र है, पाँच--पाँच हिमवन्त आदि पर्वत होने के कारण कुल ६×५=३० पर्वत है, पाँच देवकुरु है, पाँच उत्तरकुरु हैं, १६० चक्रवर्ती-विजय हैं, दो सौ पचपन जनपद हैं, और छप्पन अन्तर्द्वीप है।

मनुष्यलोक की सीमा निर्धारित करने वाला, महानगर के प्राकार के समान, स्वर्णमय, पुष्करद्वीप के आधे--आधे दो विभाग करने वाला, सत्तरह सौ इक्कीस योजन ऊँचा, चार सौ सवा तीस योजन पृथ्वीतल में धँसा हुआ और ऊपरी भाग में विस्तीर्ण मानुषोत्तर पर्वत है।

मनुष्य दो प्रकार के है, सम्मूर्च्छिम और गर्भज, सम्मूर्च्छिम चौदह प्रकार के है उच्चा-

कारकोऽस्ति सम्मूर्च्छिमो गर्भजश्च, सम्मूर्च्छिम चतुर्दशप्रकारक—उच्चारेस्वादि. गर्भजस्त्रिप्रकारक', कर्मभूमिज. अकर्मभूमिजोऽन्तरद्वीपजश्च, कर्मभूमिजमनुष्य पञ्चदशप्रकारकः, पञ्चभरता, पञ्च-ऐरवता', पञ्चविदेहाश्च, । अकर्मभूमि त्रिंशत्प्रकारिका, पञ्च हैमवता', पञ्च हैरण्यवता', पञ्च हरिवर्षाणि, पञ्च रम्यकवर्षाणि, पञ्च देवकुरव, एते त्रिंशति अकर्मभूमिका मनुष्या सन्ति, षट्पञ्चाशद् अन्तर्द्वीपका मनुष्या. सन्ति, तीर्थकरचक्रवर्त्यादय, अनृद्धि प्राप्ता अनेके सन्ति—कलाचार्यशिल्पाचार्यादय' ॥ सू. ३२ ॥

मूलसूत्रम्—"कम्मभूमी भरह–एरवय–विदेहा, ता इयरा अकम्मभूमी—" ॥३३॥

छाया—कर्मभूमयो भरतैरवतविदेहा, तदितरेऽकर्मभूमय—" ॥ ३३ ॥

तत्त्वार्थदीपिका—तावत्–कर्मभूमिजा म्लेच्छा इत्युक्तम्, तत्र–का. खलु कर्मभूमय सन्तीति जिज्ञासायामाह–"कम्मभूमीभरह- एरवय–विदेहा' ताइयरा अकम्मभूमी—" इति । कर्मभूमय-स्तावद् भरतै–रवत–विदेहा', सन्ति, तदितरे–तेभ्य खलु भरतैरवतविदेहेभ्य इतरे–ऽन्ये हैम–वत–१ हरिवर्ष–२ रम्यकवर्ष–३ हैरण्यवत–४ देवकुरू–५ त्तरकुरवश्च--६ षट् क्षेत्राणि–अक-र्मभूमयो भोगभूमय सन्तीतिभाव. ।

तथाच—पञ्चभरतवर्षा, पञ्च- ऐरवता, पञ्च महाविदेहाश्चेत्येव पञ्चदशक्षेत्राणि कर्म-भूमयो व्यपदिश्यन्ते पञ्च हैमवता -पञ्च हरिवर्षा'--पञ्च रम्यकवर्षा --पञ्च हैरण्यवता -पञ्च देवकुरव -पञ्चोत्तरकुरव, षट्पञ्चाशद् अन्तर्द्वीपाश्च भोगभूमयस्ते व्यपदिश्यन्ते इति ॥ ३३ ॥

रेस्वाआदि । गर्भज तीन प्रकार के है कर्मभूमि अकर्मभूमि और अन्तर द्वीपज कर्मभूमि मनुष्य पन्द्रह प्रकार के है, पाँच भरत, पाँच ऐरवत और पाँच महाविदेह, अकर्मभूमि तीस प्रकार की है, पाँच हैमवत, पाँच हैरण्यवत पाँच हरिवास पाँच रम्यकवास पाँच देवकुरु और पाँच उत्तरकुरु ये तीस अकर्मभूमि के मनुष्य है, छप्पन अन्तर्द्वीप के मनुष्य है, ऋद्धि प्राप्त अनेक प्रकार के है, तीर्थंकर चक्रवर्त्ती आदि अनृद्धि प्राप्त अनेक प्रकार के है कलाचार्य शिल्पाचार्य आदि ॥सू० ३२॥

'कम्मभूमीभरह' इत्यादि ॥ सू० ३३ ॥

सूत्रार्थ—भरत, ऐरवत और विदेह क्षेत्र कर्मभूमि हैं । इनके सिवाय अन्य सब क्षेत्र अकर्मभूमि हैं ॥३३॥

तत्त्वार्थदीपिका—इससे पहले कर्मभूमिज म्लेच्छों का उल्लेख किया गया है, सो वह कर्मभूमियाँ क्या हैं ? इस जिज्ञासा का समाधान करने के लिए कहते है—

भरत, ऐरवत और विदेह क्षेत्र कर्मभूमियाँ हैं, इनके अतिरिक्त हैमवतवर्ष, हरिवर्ष, रम्यकवर्ष, हैरण्यवतवर्ष, देवकुरु और उत्तरकुरु, ये छह क्षेत्र अकर्मभूमियाँ–भोगभूमियाँ हैं ।

इस प्रकार अढाई द्वीप के पाँच भरत, पाँच ऐरवत और पाँच महाविदेह, ये पन्द्रह कर्मभूमियाँ कहलाती हैं । पाँच हैमवत, पाँच हरिवर्ष, पाँच रम्यकवर्ष, पाँच हैरण्यवतवर्ष, पाँच देवकुरु और पाँच उत्तरकुरु, इस प्रकार तीस तथा छप्पन अन्तर्द्वीप अकर्मभूमि या भोगभूमि है ॥३३॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः—पूर्वसूत्रे कर्मभूमिजाना म्लेच्छाना प्ररूपण कृतम, तत्र—कर्मभूमि प्ररूपयितुमाह—"कम्मभूमी भरह—एरवय-विदेहा-ना इयरा अकम्मभूमी—" इति कर्मभूमय'—कर्मणो निर्वाणाय-क्षपणाय सिद्धिभूमय, सकलकर्माऽग्ने र्वि यापनाय सिद्धिप्राप्त्यै भूमय कर्मभूमय स्तावद् भरतैरवतविदेहा' सन्ति । तत्र—जम्बूद्वीपे एकैके भरतैरवतविदेहा,

धातकीखण्डे च—द्वौ द्वौ, पुष्करद्वीपार्ध चाऽपि द्वौ द्वौ—इति पञ्च भरतवर्षा पञ्च—ऐरवता पञ्च महाविदेहाश्च पञ्चदशक्षेत्राणि कर्मभूमय सन्ति । तदितरे— तेभ्यो भरतैरवतविदेहेभ्यो ऽतिरिक्ता ये हैमवतहरिवर्षरम्यकवर्षहैरण्यवतास्ते प्रत्येक पञ्च पञ्च भेदात् विंशतिर्वर्षा पञ्च-देवकुरव॰ पञ्चोत्तरकुरव, एकोरुकादिषट्पञ्चाशद् अन्तर्द्वीपाश्चा-ऽकर्मभूमयो भूमिभूमय' सन्ति तत्र—नरकादि ससारकान्तारदुर्गान्त प्रापकस्य सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूपस्य मोक्षमार्गस्यात्र गन्तार प्रणेतार प्रदर्शयितारश्च परमर्षयो भगवन्त स्तीर्थकरा पञ्चदशसख्यक भरतैरवतमहाविदेहक्षेत्रेषु समुत्पद्यन्ते । एतेष्वेव सकलकर्मक्षय विधाय सिद्धिधामव्रजन्ति, न तु—हैमवतादि-क्षेत्रेषु, तेषा तीर्थकरजन्मरहितत्वादकर्मभूमित्वमवसेयम् ।

उक्तञ्च प्रज्ञापनाया १ पदे ३२ सूत्रे **से किं तं कम्मभूमगा १ कम्मभूमगा पण्णरसविहा पण्णत्ता, तं जहा पंचहिं भरहेहि, पंचहि एरवएहि, पंचहि महाविदेहेहिं । से किं तं अकम्मभूमगा १ अकम्मभूमगा तीसइविहा पण्णत्ता, तं जहा—पंचहि हेमवएहिं पंचहिं**

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पिछले सूत्र मे कर्मभूमिज म्लेच्छो का प्ररूपण किया गया है, अतएव यहाँ कर्मभूमियो की प्ररूपणा की जाती है—

कर्मो का क्षपण करने मे अनुकूल जो भूमिया है, वे कर्मभूमिया कहलाती है। समस्त कर्मरूपी अग्नि को बुझाने के लिए या सिद्धि प्राप्त करने के लिए उपयुक्त भूमिया कर्मभूमियां है । वे भरत, ऐरवत और विदेह क्षेत्र है ।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, जम्बूद्वीप में एक भरत एक ऐरवत और एक विदेह क्षेत्र है। धातकीखड में और अर्धपुष्कर द्वीप मे दो—दो भरत, ऐरवत और विदेह क्षेत्र है । इस तरह पाँच भरत, पाँच ऐरवत और पाँच विदेह, ये पन्द्रह क्षेत्र कर्मभूमि कहलाते है । इनके सिवाय हैमवत, हरिवर्ष, रम्यकवर्ष और हैरण्यवतवर्ष पाँच—पाँच होनेसे बीस, पाँच देवकुरु और पाँच उत्तरकुरु तथा छप्पन अन्तर्द्वीप, ये सब अकर्मभूमियाँ है। इन पन्द्रह भरत, ऐरवत और महाविदेह क्षेत्रो मे नरकादि रूप दुर्गम ससार—अटवी के अन्त करने वाले सम्यग्दर्शन—ज्ञान—चारित्र रूप मोक्षमार्ग के ज्ञाता, प्रणेता और प्रदर्शक, परमर्षि भगवान् तीर्थंकर उत्पन्न होते है । इन्ही कर्मभूमियो मे उत्पन्न भव्यजीव सकल कर्मों का क्षय करके मोक्षधाम प्राप्त करते है । हैमवत आदि क्षेत्रो मे उत्पन्न जीव मोक्ष नहीं प्राप्त करते, क्योकि वे अकर्मभूमि है । वहां तीर्थंकर नहीं होते ।

प्रज्ञापनासूत्र के प्रथम पद के ३२ वे सूत्र मे कहा है—

हरिवासेहिं, पंचहिं रम्मगवासेहिं, पचहि एरण्णवएहि, पंचहि देवकुरुहिं पंचहिं उत्तरकुरुहिं सेत्तं अकम्मभूमगा—" इति ।

अथ किं तावत् कर्मभूमय ? कर्मभूमय· पञ्चदशविधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा—पञ्चभिर्भरतैं, पञ्चभिरैरवतै पञ्चभिर्महाविदेहै, । अथ कि तावद् अकर्मभूमय ? अकर्मभूमय त्रिंशद् विधा· प्रज्ञप्ता· तद्यथा—पञ्चभिर्हैमवतै·, पञ्चभिर्हरिवर्षै पञ्चभीरम्यकवर्षै·, पञ्चभिर्हैरण्यवतै, पञ्चभिर्देवकुरुभि, पञ्चभिरुत्तरकुरुभि ता एता अकर्मभूमय इति ॥३३॥

मूलसूत्रम्—"तत्थ मणुस्साणं तिरिक्खजोणियाण य ठिई तिण्णि पलिओवमाइं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसजहण्णिया—" ॥३४॥

छाया - "तत्र-मनुष्याणां तिर्यग्योनिकानाञ्च स्थिति स्त्रीणि पल्योपमानि अन्तर्मुहूर्तम्, उत्कृष्टजघन्यिका—" ॥३४॥

तत्त्वार्थदीपिका—पूर्वं जम्बूद्वीपादि सार्धद्वयद्वीपस्य भरतादिक्षेत्रेषु मनुष्याणामुत्पत्ति प्ररूपिता, सम्प्रति—तासु भूमिषु मनुष्याणां पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकानाञ्च कियती स्थितिरायु प्रमाणरूपा भवतीति जिज्ञासायामाह—"**तत्थ मणुस्साणं तिरिक्खजोणियाणं य ठिई तिण्णि पलिओवमाइं अंतो मुहुत्तं उक्कोसजहण्णिया** —" इति ।

तत्र तासु पूर्वोक्तासु भरतादिभूमिषु मनुष्याणा तिर्यग्योनिकानाञ्च गर्भव्युत्क्रान्तिकचतुष्पद स्थलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकानाञ्चेत्यर्थ स्थितिरायु परिमाणरूपा, उत्कृष्टेन पल्योपमानि, जघन्येन चाऽन्तर्मुहूर्तं भवतीतिभाव· ॥३४॥

प्रश्न—कर्मभूमियाँ कितने प्रकार की है ?

उत्तर कर्मभूमियाँ पन्द्रह प्रकार की है—पाँच भरत, पाँच ऐरवत और पाँच महाविदेह ।

प्रश्न—अकर्मभूमियाँ कितने प्रकार की हैं ?

उत्तर—अकर्मभूमियाँ तीस प्रकार की है—पाँच हैमवत, पाँच हरिवर्ष, पाँच रम्यकवर्ष पांच हैरण्यवत, पांच देवकुरु, और पाँच उत्तरकुरु । ये अकर्मभूमिया है । ॥ ३३ ॥

'तत्थ मणुस्साण' इत्यादि । सू ३४—

सूत्रार्थ—भरत आदि क्षेत्रो मे मनुष्यो और तिर्यंचों को स्थिति उत्कृष्ट तीन पल्योपम की और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की है ॥ ३४ ॥

तत्वार्थदीपिका—इससे पहले जम्बूद्वीप आदि अढाई द्वीपों में विद्यमान भरत आदि क्षेत्रो में मनुष्यो की उत्पत्ति की प्ररूपणा की गई है । अब इन क्षेत्रो के मनुष्यो और पचेन्द्रिय तिर्यंचो की आयु कितनी होती है, इस जिज्ञासा का समाधान करते है—

पूर्वोक्त भरत आदि क्षेत्रों मे मनुष्यो की और गर्भज चतुष्पद स्थलचर तिर्यंचो की आयु प्रमाण रूप स्थिति उत्कृष्ट तीन पल्योपम की और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की होती है ॥ ३४ ॥

तत्त्वार्थनिर्युक्तिः – पूर्वं तावद् भरतादि क्षेत्रेषु मनुष्याणामुत्पत्ति प्ररूपिता, सम्प्रति–तेषु क्षेत्रेषु मनुष्याणा पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकानाञ्च कियन्त काल स्थिति भवतीति शङ्का समाधातुमाह–"**तत्थ मणुस्साणं तिरिक्खजोणियाणं य ठिई तिण्णि पलिओवमाइं अंतोमुहुत्त उक्कोसजहण्णिया**—" इति।

तत्र तेषु भरतादिक्षेत्रेषु मनुष्याणा तिर्यग्योनिकानाञ्च गर्भव्युत्क्रान्तिकचतुष्पदस्थलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाना स्थिति. आयु परिमाणं त्रीणि पल्योपमानि अन्तर्मुहूर्तञ्च उत्कृष्टजघन्यिका भवति। तत्रोत्कृष्टा स्थिति त्रिपल्योपमा जघन्या च स्थितिरन्तर्मुहूर्तपरिमाणा भवतीति भाव। तत्र मनुष्याणा तिर्यग्योनिकानाञ्च द्विविधा स्थिति प्रज्ञप्ता, भवस्थिति कायस्थितिश्च। तत्र भवस्थिति स्तावद् मनुष्यजन्म प्राप्य–तिर्यग्जन्म वा लब्ध्वा कियन्त काल जीवति जीवो जघन्येन उत्कृष्टेन वा इत्येव रूपा बोध्या।

कायस्थिति पुनर्मनुष्यो भूत्वा तिर्यग्योनिर्वा भूत्वा मरणञ्च प्राप्य भूमौ मनुष्येष्वेव मनुष्य', तिर्यग्योनिष्वेव तिर्यग्योनिश्च निरन्तरतया कतिवार समुत्पद्यते इत्येव रुपाऽवगन्तव्या तत्र–मनुष्याणां त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्त्ते परापरे भवस्थिती बोध्ये कायस्थितिस्तु–सप्ताष्टौवा भवग्रहणानि नैरन्तर्येण–उत्कृष्टतो बोध्या।

तत्त्वार्थनिर्युक्ति—पहले भरत आदि क्षेत्रो मे मनुष्यो की उत्पत्ति का निरूपण किया गया है। अब उन क्षेत्रों में उत्पन्न होने वाले मनुष्यो और पंचेन्द्रिय तिर्यंचो की आयु कितनी होती है, इस शंका का समाधान करने के लिये कहते है –

उन भरत आदि क्षेत्रो मे मनुष्यो की तथा गर्भज चतुष्पद स्थलचर पचेन्द्रिय तिर्यंचो की आयु उत्कृष्ट तीन पल्योपम की ओर जघन्य अन्तर्मुहूर्त की होती है।

मनुष्यो और तिर्यंचो की स्थिति दो प्रकार की कही गई है–भवास्थिति और कायस्थिति। मनुष्य का, या तिर्यंच का जन्म पाकर जीव उस जन्म मे जितने काल तक जीवित रहता है, वह उसकी भवस्थिति कहलाती है। कोई जीव मनुष्य पर्याय में उत्पन्न होकर जीवित रहता है, फिर मृत्यु होने पर मरता है और पुन. मनुष्य पर्याय में उत्पन्न होता है। इस प्रकार जितने काल तक वह लगातार मनुष्य भव करता है, उस कालमर्यादा को कायस्थिति कहते है। इसी प्रकार तिर्यंच जितने भवो तक लगातार तिर्यंचपर्याय में बना रहता है, वह उसकी कायस्थिति कहलाती है। यह कायस्थिति मनुष्यों और तिर्यंचो की ही होती है, क्योंकि इन्हीं के लगातार अनेक भव हो सकते है। देवों और नारकों के लगातार अनेक भव नहीं होते है अर्थात् देव मरकर पुन देव और नारक मरकर पुन नारक नहीं होता, अतएव उनकी भवस्थिति से भिन्न कोई कायस्थिति नहीं है। जितनी भवस्थिति है उतनी ही इनकी कायस्थिति समझनी चाहिए।

तत्र–पूर्वकोटयायुर्मनुष्यो मृत्वा पुन पुन· पूर्वकोटयायुरेव मनुष्य सप्तवारं प्रादुर्भवति अष्टमभवे पुनर्देवकुरूत्तरकुरुषु समुत्पद्यते पश्चात् - देवलोक गच्छति तिर्यग्योनिजानाञ्च–उत्कृष्टजघन्येभवे स्थिती त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्त्ते सक्षेपेणाऽवगन्तव्ये । उक्तञ्चोत्तराऽध्ययने ३६-अध्ययने ११८-गाथायाम्— "पलिओवमा उ तिण्णिय' उक्कोसेण विगाहिया आउट्ठिईमणुस्साणं' अंतोमुहुत्तं जहन्निया-॥ १ ॥ इति " पल्योपमास्तु तिस्रश्च–उत्कृष्टेन व्याख्याता.

आयु स्थितिर्मनुष्याणामन्तर्मुहूर्तं जघन्यिका–" इति ॥

प्रज्ञापनाया ४–पदेचोक्तम्— "मणुस्सणं भंते- ! केवइकालं ठिई पण्णत्ता–! गोयमा–! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं–उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं—" इति मनुष्याणा भदन्त ! कियन्तकालं स्थितिः प्रज्ञप्ता– गौतम- ! जघन्येना-ऽन्तर्मुहूर्तम् ,उत्कृष्टेन त्रीणि पल्योपमानि-" इति । समवायाङ्गे ३ समयाये चोक्तम्— "असखिज्जवासाउय सन्निपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं-उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइ ठिई पण्णत्ता—"इति । असख्येयवर्षायुष्कसञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रिय-तिर्यग्योनिकानामुत्कृष्टेन त्रीणि पल्योपमानि स्थिति· प्रज्ञप्ता—इति ।

पुनरुत्तराध्ययने ३६-अध्ययने १३८ गाथायाञ्चोक्तम् —"पलिओवमाइं तिण्णि उ उक्कोसेणवियाहिया–आउट्ठिई थलयराणं अंतोमुहुत्तं जहण्णिया–" ॥ इति ।

"पल्योपमानि-त्रीणितु–उत्कृष्टेन व्याख्याता ।

आयुःस्थितिःस्थलचराणा-मन्तर्मुहूर्तं जघन्यिका--॥ १ ॥ इति । "

मनुष्य की उत्कृष्ट भवस्थिति तीन पल्योपम की और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की है, उत्कृष्ट कायस्थिति सात–आठ भवग्रहण प्रमाण समझना चाहिये।

यदि करोड पूर्व आयु वाला मनुष्य मरकर करोड पूर्व की आयुवाले मनुष्य के रूप में पुन· पुनः उत्पन्न हो तो लगातार सात वार ही होता है। अठवीं वार देवकुरु–उत्तरकुरु में उत्पन्न होता है और तत्पश्चात् देवलोक में गमन करता है।

तिर्यंचो की उत्कृष्ट भवस्थिति तीन पल्योपम की और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की समझना चाहिये उत्तराध्ययनसूत्र के अध्ययन ३६ की गाथा १९८ मे कहा है–

मनुष्यों की उत्कृष्ट आयु तीन पल्योपम और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की कही गई है,

प्रज्ञापनासूत्र के चौथे पद में कहा गया है–'भगवन् ! मनुष्यों की स्थिति कितने काल को कही गई है ? (उत्तर) गौतम ! जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की उत्कृष्ट तीन पल्योपम की। समवायाग सूत्र के तीसरे समवाय मे भी कहा गया–'असख्यात वर्ष आयु वाले सज्ञी पचेन्द्रिय तिर्यंचों की उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्योपम की कही है।

उत्तराध्ययन के ३६ वे अध्ययन में भी कहा है– स्थलचर तिर्यंचो की उत्कृष्ट आयु तीन पल्योपम की और जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की कहो गई है।'

पुन प्रज्ञापनायां ४-पदे चोक्तम्—"गब्भवक्कंतियचउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेण तिण्णि पलिओवमाइं—" इति । गर्भव्युत्क्रान्तिकचतुष्पदस्थलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकानां पृच्छा-जघन्येना ऽन्तर्मुहूर्तम्,उत्कृष्टेन त्रीणि पल्योपमानि, इति विस्तारेण तु--शुद्धपृथ्वीकायस्य द्वादशसहस्रवर्षाणि-उत्कृष्टेन स्थिति, खरपृथिवीकायस्य तु--द्वाविंशतिसहस्रवर्षाणि--उत्कृष्टा स्थितिरवगन्तव्या, अप्कायस्य पुन - सप्तसहस्रवर्षाणि-उत्कृष्टा स्थिति' वायुकायस्य-त्रिवर्षसहस्राणि उत्कृष्टेन स्थिति , तेज.कायस्य त्रीणि रात्रिन्दिवानि—उत्कृष्टेन स्थिति', वनस्पतिकायस्य पुन-र्दशवर्षसहस्राणि-उत्कृष्टा स्थिति , इत्येव रूपा भवस्थितिरेषामवसेया कायस्थितिस्तु--एतेषामसख्येया अवसर्पिण्युत्सर्पिण्य , वनस्पतिकायस्य पुनरनन्ता कायस्थितिरवगन्तव्या, द्वीन्द्रियाणां भवस्थितिरुत्कृष्टेन द्वादशवर्षाण्यवसेया. ।

त्रीन्द्रियाणां भवस्थितिरुत्कृष्टा एकोनपञ्चाशद्रात्रिन्दिवानि, चतुरिन्द्रियाणामुत्कृष्टा भवस्थितिषण्मासा अवगन्तव्या, एतेषाञ्च—द्वीन्द्रिय—त्रीन्द्रिय—चतुरिन्द्रियाणा कायस्थिति सख्येयानि वर्षसहस्राणि, पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिजा. पञ्चविधा सन्ति मत्स्या --उरगा' परिसर्पा --पक्षिण - चतुष्पदाश्चेति तत्र--मत्स्या-नाम्-उरगाणा-भुजगानाञ्चोत्कृष्टेन पूर्वकोटयेव भवस्थिति पल्योपमासख्येयभागरूपा, ।

पुन. प्रज्ञापनासूत्र के चौथे पद में कहा है—'गर्भज चतुष्पद स्थलचर पचेन्द्रिय तिर्यचों के विषय में पृच्छा अर्थात् उनकी आयु कितने काल की है ? (उत्तर) जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट तीन पल्योपम ।'

विस्तार में कहा जाय तो शुद्ध पृथ्वीकाय की उत्कृष्ट स्थिति बारह हजार वर्ष की, खर पृथ्वीकाय की बाईस हजार की और जलकाय की सात हजार वर्ष की स्थिति कही गई है । वायुकाय की तीन हजार की, तेजस्काय की तीन दिन--रात की तथा वनस्पतिकाय की दस हजार वर्ष की उत्कृष्ट स्थिति है । यह भवस्थिति समझना चाहिए । कायस्थिति इनकी असख्यात उत्सर्पिणी अवसर्पिणी की तथा वनस्पतिकाय की अनन्त कायस्थिति द्वीन्द्रिय जीवो की उत्कृष्ट भवस्थिति बारह वर्ष की है, त्रीन्द्रियो की उनपचास दिन की है, चतुरिन्द्रियों की छह मास की है इन द्विन्द्रिय त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवो की कायस्थिति सख्यात हजार वर्ष की है ।

पंचेन्द्रिय तिर्यच पाँच प्रकार के है—(१)मनुष्य (२) उरग (३) परिसर्प (४) पक्षी और (५) चतुष्पद । इनमे से मत्स्य, उरग और भुजग तिर्यचो की उत्कृष्ट भवस्थिति कोटिपूर्व की होती है । पक्षियों की उत्कृष्ट भवस्थिति एक पल्योपम के असख्यात भाग की और गर्भज चतुष्पदो की तीन पल्योपम की है । विशेष रूप से असज्ञी मनुष्यो की भवस्थिति करोड पूर्व की, उरगों की त्रेपन हजार वर्ष को भुजगों को बयालिस हजार वर्ष की, स्थलचर सम्मूर्छिमों की चौरासी हजार वर्ष की और खेचर की बहत्तरहजार वर्ष की भवस्थिति होती है ।

તત્ત્વાર્થટીકાનુવાદ—

મંગલાચરણ

દેવગણ જેમના ચરણોમા નમસ્કાર કરે છે, જેઓ તન્દ્રાથી મુક્ત છે અર્થાત્ જેમના જ્ઞાનની અનુપયોગ-અવસ્થા દૂર થઈ ગઈ છે- જેઓ સતત ઉપયોગમય ક્ષાયિક કેવળજ્ઞાનથી સંપન્ન છે અથવા મોહજનિત પ્રમાદથી સર્વથા રહિત થઈ ગયા છે તથા જેમણે ભદ્ર કહેતા કલ્યાણને પૂર્ણ રૂપથી પ્રાપ્ત કરી લીધુ છે તે જિનેન્દ્ર ભગવાન રૂપી ચન્દ્રને પ્રણામ કરીને હૂં મુનિ ઘાસીલાલ નવ તત્વોના વાસ્તવિક સ્વરૂપને પ્રકટ કરવા વાળા ભવ્ય એવા આ તત્ત્વાર્થસૂત્રની રચના કરૂ છુ ૧

'जीवाजीव बंध पुण्णपावासव' ઈત્યાદિ

દીપિકાર્થ—જેઓ સંસારસાગરથી પાર ઉતરવાના અભિલાષી છે તેમજ તે માટે અર્હંત ભગવાન દ્વારા પ્રતિપાદિત તત્ત્વોનુ જ્ઞાન સંપાદન કરવાની ઈચ્છાવાળા છે એવા ભવ્ય જનોના સ્વાધ્યાય માટે સમસ્ત આગમોના સારનો પોતાની સંશોધનાત્મક પ્રજ્ઞાથી યથાશક્તિ સંગ્રહ કરીને, પ્રાકૃતભાષામાં નવ અધ્યાયોમાં મે તત્ત્વાર્થસૂત્રની રચના કરી છે આ રચના પોતાની બુદ્ધિથી તત્વોની નવીન કલ્પના કરીને નહી પરંતુ કયાક કયાક આગમોનો શબ્દશ સંગ્રહ કરીને અને કયાંય કયાક આગમના અર્થને સંક્ષિપ્ત કરીને કરેલ છે કયાંક કયાક આગમોમા વિસ્તૃત રૂપથી પ્રતિપાદિત કરેલ વિષયોનુ સુભગરૂપથી વર્ણન કરવામાં આવેલ છે આ રીતે જૈનાગમોના સમન્વયરૂપ આ તત્ત્વાર્થસૂત્ર નામના ગ્રંથનું નિર્માણ કરવામા આવેલ છે

આ તત્ત્વાર્થસૂત્ર નામના ગ્રન્થનો આશય સ્પષ્ટ કરવા માટે શાસ્ત્રોને અનુકૂળ મારી બુદ્ધિ અનુસાર તત્ત્વાર્થદીપિકા નામની ટીકાની રચના કરૂ છુ

પ્રથમ ઉત્તરાધ્યયન-એવં સ્થાનાંગસૂત્ર અનુસાર પ્રાકૃતગ્રન્થમાં કહેવામા આવનારા નવ તત્ત્વોનો ઉલ્લેખ કરીએ છીએ —

(૧) જીવ (૨) અજીવ (૩) બન્ધ (૪) પુન્ય (૫) પાપ (૬) આશ્રવ (૭) સંવર (૮) નિર્જરા અને (૯) મોક્ષ આ નવ તત્ત્વ છે

(૧) જીવ ઉપયોગ લક્ષણ ચૈતન્ય સ્વભાવ બોધસ્વરૂપ એવં જ્ઞાનમય છે જેવી રીતે દીવાનો પ્રકાશ નાની જગ્યામા પણ સમાઈ જાય છે અને વિસ્તૃત ક્ષેત્રમા પણ ફેલાઈ જાય છે એવી જ રીતે જીવ જ્યારે કીડીના પર્યાયમા ઉત્પન્ન થાય છે તો તેના નાનકડા શરીરમા સમાઈ જાય છે અને હાથીરૂપે જો પેદા થાય છે તો મોટેરૂપે થઈ તે મુજબ શરીરને વ્યાપ્ત થઈને રહે છે આવા ત્રસ અને સ્થાવર વગેરે પ્રાણીયોને જીવ કહેવામા આવે છે

(૨) ચેતના રહિત, અજ્ઞાન સ્વરૂપ (જ્ઞાનશૂન્ય) ધર્માસ્તિકાય વગેરે અજીવતત્ત્વ છે

(૩) લાખ તથા લાકડા જેવા અથવા દૂધ અને પાણી જેવા જીવ તથા કર્મપુદ્‌ગલોનું એકાકાર થઈ જવુ યાની કાર્મણ વર્ગણા ના પુદ્‌ગલોના આદાનને બંધ કહેવાય છે.

(૪) શુભ કર્મ પુણ્ય કહેવાય છે પુણ્ય શબ્દની વ્યુત્પત્તિ, આ પ્રમાણે છે—જે આત્માને પવિત્ર કરે તે પુણ્ય છે

(૫) આત્માનુ દુર્ગતિમા પતન થવાના કારણરૂપ અશુભ કર્મ પાપ કહેવાય છે

(૬) શુભ અને અશુભ કર્મોના આગમનનો માર્ગ, ભવભ્રમણના કારણ પ્રાણાતિપાત વિગેરે ક્રિયારૂપ આશ્રવ છે અર્થાત્ જેનાથી કર્મ આવે તે આશ્રવ છે

(૭) આશ્રવનુ રોકાઈ જવુ તે સવર તત્ત્વ છે તાત્પર્ય એ છે કે આત્મામા પ્રવેશવા જતા કર્મ જે આત્મપરિણામ દ્વારા અટકી જાય છે તે ત્રણ ગુપ્તિ, પાચ સમિતિ વગેરેને સવર કહે છે જે આશ્રવના પ્રવાહ દ્વારને રોકી દે છે હાકી દે છે તે સવર છે વળી કહ્યુ છે કે આશ્રવ સસારનુ કારણ છે તો સવર મોક્ષનુ કારણ છે

(૮) અગાઉ જેઓ કર્મ કરી ચૂકેલ છે તે કર્મોનુ તપ સયમ વગેરેથી બળી જવુ અથવા આશિક રૂપથી ક્ષય થઈ જવુ તેને નિર્જરા કહે છે અથવા પહેલાના કર્મો યથા સમયે પોતાનુ ફળ આપીને અથવા તપ વિગેરે દ્વારા નાશ પામે તે નિર્જરા તત્ત્વ કહેવાય છે અભિપ્રાય એ છે કે પહેલાના બધાયેલા કર્મોનુ તપ ધ્યાન વગેરે દ્વારા એકદેશથી નાશ થવુ અર્થાત્ આત્મપ્રદેશોથી જુદા પડવુ તે નિર્જરા છે

(૯) કાયમને માટે સઘળા કર્મોનો ક્ષય થઈ જવો તે મોક્ષ છે ઉત્તરાધ્યયનના ૨૮મા અધ્યયનમા કહ્યુ છે

જીવ, અજીવ, બન્ધ, પુણ્ય, પાપ, આશ્રવ, સવર નિર્જરા અને મોક્ષ આ નવ તત્ત્વો છે ૧

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ —બત્રીસ આગમોની ટીકા રચ્યા બાદ મે સસારસાગર પાર કરવા ઈચ્છતા તથા જિનપ્રતિપાદિત તત્વોની જાણકારીના અભિલાષી મુમુક્ષુઓના સ્વાધ્યાય માટે મારી શકિત તથા બુદ્ધિ અનુસાર આગમોનો સાર સગ્રહ કરીને નવ અધ્યાયોમા તત્વાર્થસૂત્રનુ નિર્માણ કર્યું છે પ્રસ્તુત તત્વાર્થસૂત્રમા કોઈક–કોઈક સ્થળે આગમોના શબ્દોને જેમ છે તેમ જ ગ્રહણ કરવામા આવેલ છે અને કયારેક–કયારેક આગમના અર્થનુ ટુકમા વર્ણન કરેલ છે આ રીતે આ ગ્રન્થ આર્હત આગમનો એક સમન્વયાત્મક ગ્રથ છે ટુકમા રચેલ આ તત્વાર્થસૂત્રના રહસ્યને સ્પષ્ટ કરવા માટે મારી બુદ્ધિ અનુસાર નિર્યુક્તિની રચના કરવામા આવે છે

(૧) જીવ (૨) અજીવ (૩) બધ (૪) પુણ્ય (૫) પાપ (૬) આશ્રવ (૭) સવર (૮) નિર્જરા અને (૯) મોક્ષ, આ નવ તત્વ છે સ્થાનાગસૂત્રમાં ૬૬૫મા સૂત્રમા નવમા સ્થાનમા કહ્યુ છે કે–નવ સદ્ભાવરૂપ પદાર્થ અર્થથી તિર્થકરોએ અને શબ્દથી ગણધરોએ કહ્યા છે તે આ પ્રમાણે છે–જીવ, અજીવ, પુણ્ય, પાપ, આશ્રય, સવર, નિર્જરા બન્ધ અને મોક્ષ

ઉત્તરાધ્યયનસૂત્રનાં ૨૮મા અધ્યયનમાં પણ આજ નવ તત્વોનો ઉલ્લેખ કરવામાં આવેલ છે તેમા પહેલુ તત્વ જીવ જે ચૈતન્ય સ્વરૂપ એટલે જ્ઞાનમય છે જેવી રીતે દીપકના પ્રકાશમા સકુચન–વિસ્તરણનો ગુણ છે, તેવી રીતે જીવમા પણ છે આ ગુણના કરણે જીવ હાથી અને કીડી–કુથવા વગેરેના નાના મોટા શરીર અનુસાર સકુચીત અને વિસ્તૃત થઈ જાય છે સાસારિક અવસ્થામા તે પોતાના વડે ઉપાર્જીત નામ કર્મ અનુસાર, ત્રસ–સ્થાવર, દેવ નારક, એકેન્દ્રિય–દ્વિઈન્દ્રિય વગેરે કહેવાય છે અથવા જીવ ઔપશમિક, ક્ષાયોપશમિક વગેરે ભાવોથી યુકત હોય છે સાકાર ઉપયોગ (જ્ઞાન) તથા અનાકાર ઉપયોગ (દર્શન) રૂપ છે, શબ્દ રૂપ વગેરે વિષયોના

જાણકાર, પુણ્યપાપનાં કર્તા અને તેમના ફળના માક્ષાત્ ભોકતા અને સ્વભાવત અમૂર્ત અર્થાત્ રૂપ રસ ગ ધ અને સ્પર્શથી રહિત છે ઉત્તરાધ્યયન સત્રના ૨૦મા અધ્યયન ગાથા ૩૭મા કહ્યુ છે– આત્મા, પોતે જ પોતાના સુખદુ ખનો કર્તા હર્તા છે જીવના ભેદ–પ્રભેદનુ વર્ણન આગળ કરવામા આવશે

જેમા ચેતના ન હોય જે જડ હોય તે અજીવ તત્વ છે તેના ચાર ભેદ છે (૧) ધર્માસ્તિકાય (૨) અધર્માસ્તિકાય (૩) આકાશાસ્તિકાય (૪) પુદ્ગલાસ્તિકાય

ઉત્તરાધ્યયનના ૨૮મા અધ્યયનમા કહ્યુ છે ધર્મ અધર્મ આકાશ આ પ્રમાણે જીવ અને અજીવ આ બે તત્વોને જાણુવા પરમઆવશ્યક હોવાના કારણે બીજે પણ કહ્યુ છે જે ઉપાદેય–ગ્રાહ્યને ગ્રહણુ કરવા ઈચ્છે છે અને હેયનો ત્યાગ કરવા ઈચ્છે છે તેના માટે બે મૂળભૂત તત્વો છે જીવ અને અજીવ

રાગ દ્વેષ વગેરે અને તેમાથી ઉત્પન્ન થતા અજ્ઞાન વગેરે હોય છે જ્યારે ઉપયોગ રૂપ પરમ જ્યોતિ તે ઉપાદેય છે અગ્નિ અને લોઢાના ગોળાની જેમ અથવા ક્ષીર અને નીરની જેમ કાર્મણુવર્ગણુાઓના આત્મપ્રદેશની સાથે એકમેક થઈ જવુ તે "બન્ધ" કહેવાય છે આગળ કહેવામા આવનાર આશ્રવના કારણોથી ગૃહીત કર્મ પુદ્ગલોના પ્રકૃતિ, સ્થિતિ વિગેરે વિશેષણોથી વિશિષ્ટ સ યોગ થવો તે બન્ધ છે

શુભકર્મ પુણ્ય કહેવાય છે અન્ન પુણ્ય વગેરેના ભેદ થી તેના નવ પ્રકાર છે આ ભેદો આગળ ઉપર કહેવાશે પુણ્ય શબ્દની વ્યુત્પત્તિ આ પ્રમાણે છે–પુનાતિ એટલે જે આત્માને પવિત્ર કરે તે પુણ્ય છે

અશુભ કર્મ પાપ છે પ્રાણાતિપાત વગેરે ૧૮ તે પ્રકારોથી છે તેનુ સ્પષ્ટીકરણુ આગળ કરવામાં આવશે જે આત્માને દુર્ગતિમા પતનનુ કારણ હોય તે પાપ છે આ પાપની વ્યુત્પત્તિમાંથી કરેલો અર્થ છે

જેના દ્વારા કર્મો આવે છે તે આશ્રવ છે એટલે કે શુભાશુભ કર્મોના ઉપાર્જનનો હેતુ આશ્રવ કહેવાય છે જેનાથી જીવનુ સ સારમા પરિભ્રમણુ થાય છે

આશ્રવનુ રોકાઈ જવુ તે સ વર છે આશય એ છે કે આત્મામા પ્રવેશતા કર્મ જેનાથી રોકાઈ જાય છે તે ત્રણુ ગુપ્તિ અને પાચ સમિતિ વગેરે પરિણામને સ વર કહેવાય છે આ વ્યુત્પત્તિ અનુસાર સ વર શબ્દનો અર્થ છે–જે આશ્રવરૂપ પ્રવાહને રોકી દે એટલે કે અટકાવી દે તે સ વર છે કહ્યુ પણ છે–આશ્રવ ભવભ્રમણનુ કારણ છે અને સ વર મોક્ષનુ કારણ છે આમા સ પૂર્ણ તત્વની સમાપ્તી થઈ જાય છે શેષ કથન તો આનો જ વિસ્તાર છે અથવા પ્રાણાતિપાત આદિ આશ્રવો મનોગુપ્તિ વગેરે દ્વારા અટકી જાય તે સ વર છે પૂર્વોપાર્જિત કર્મનુ તપ અને સ યમ વગેરે કારણોથી જીર્ણ થઈ જવુ –ક્ષય થઈ જવો તે નિર્જરા છે અથવા ઉપાર્જિત કર્મોનો વિપાક અથવા તપ વગેરે દ્વારા નષ્ટ થઈ જવુ તે નિર્જરા છે સારાશ એ છે કે તપસ્યા, ધ્યાન વગેરે કારણોથી પ્રથમ બાધેલા કર્મોનુ આશિક રૂપથી અલગ થઈ જવુ તે નિર્જરા છે

પૂર્ણ રૂપથી સર્વ કર્મોનો ક્ષય થઈ જવો તે મોક્ષ કહેવાય છે – બોધ, શમ, વીર્ય, દર્શન અને આત્ય તિક તથા એકાતિક અનાબાધ અને સર્વોત્તમ સુખ સ્વરૂપ આત્માનુ પોતાના શુદ્ધ સ્વરૂપમા અવસ્થિત થઈ જવુ તે મોક્ષ છે

જો કે વાચકવર્ય ઉમાસ્વાતિ સ્વામીએ પુણ્ય અને પાપને છોડીને સાત જ તત્વને તત્વાર્થ-સૂત્રમા પ્રતિપાદિત કરેલ છે તેમ છતા સ્થાનાગ વગેરે સૂત્રોમા અગાઉ કહેલા નવ પદાર્થનુ જ કથન કરવામા આવેલ છે આથી અહીં પણ તે જ નવ તત્વોને લેવામા આવેલ છે જેવી રીતે હેય ઉપાદેય રૂપથી સાત તત્વોનુ પરિજ્ઞાન થવુ ખાસ જરૂરી છે તેવી જ રીતે પુણ્ય અને પાપનુ પરિજ્ઞાન થવુ એટલુ જ જરૂરી છે આથી નવ તત્વોનુ વિવરણ કરવુ જ યોગ્ય ગણાશે પુણ્ય અને પાપનો આશ્રવ તથા બધ તત્વમા સામાવેશ થઈ જાય છે આથી તેમને જુદા ગણવા યોગ્ય નથી એવુ કહીએ તો પછી આશ્રવ વગેરે પાચ તત્વોને પણ જીવ અને અજીવ તત્વોમા મેળવી દઈ માત્ર બે જ તત્વ કહેવા જોઈતા હતા આમ આશ્રવ મિથ્યાદર્શન વગેરે રૂપ જીવના પરિણામ વિશેષ છે તે આત્મા અને પુદ્ગલ સિવાય બીજુ કશુ જ નથી આ રીતે આત્મપ્રદેશો સાથે બધાયેલ કર્મ પણ પુદ્ગલ હોવાથી ભિન્ન નથી સવર આશ્રવનો વિરૂદ્ધ શબ્દ છે તે દેશવિરતિ અને સર્વવિરતિ રૂપ આત્માનુ પરિણામ જ છે

એક દેશથી કર્મોનુ જુદુ પડવુ એ નિર્જરા છે જીવ પોતાની શક્તિથી કર્મોને જુદા પાડે છે તે પણ જીવ અને અજીવથી ભિન્ન નથી સર્વ કર્મોથી રહિત આત્મા જ મોક્ષ છે. આ રીતે આશ્રવ વગેરે પાંચે તત્વોનો જીવ અને અજીવ તત્વમા જ અન્તર્ભાવ થઈ જાય છે આવી સ્થિતીમાં "જીવાજીવાસ્તત્વમ્" અર્થાત્ જીવ અને અજીવ એ બે તત્વ છે એવી સૂત્રરચના જ યોગ્ય હતી તો પછી એવુ સૂત્ર કેમ ન રચાયુ ? કદાચ એવી દલીલ કરવામા આવે કે શિષ્યો તથા અન્ય જિજ્ઞાસુઓને હેયઉપાદેયનુ શિક્ષણ આપવા માટે આશ્રવ અને બધ સસારના કારણ-રૂપ હોઈ હેય છે અને સવર તથા નિર્જરા મોક્ષના કારણરૂપ હોઈ ઉપાદેય છે તથા મોક્ષતો મુખ્ય સ્વરૂપે ઉપાદેય છે જ એવુ સમજાવવા માટે ઉપર કહેલ પાચ તત્વોનુ અલગ નિદર્શન કરવામા આવ્યુ છે જો આ પ્રમાણે હોય તો આ દલીલ પુણ્ય-પાપના વિષયને પણ લાગુ પડે છે ટુકમા પુણ્ય ઉપાદેય અને પાપ હેય (છાંડવા યોગ્ય) છે એ કારણે તેમનો પણ પ્રસ્તુત સૂત્રમા ઉલ્લેખ કરવો આવશ્યક છે

આ નવ તત્વોના લક્ષણ તથા ભેદનુ સમ્યક્ વિવેચન સવિસ્તર આગળ કરવામા આવશે જેમ કે જીવનુ લક્ષણ ઉપયોગ છે આ ભાવજીવનુ લક્ષણ કહ્યુ છે ભેદ-પ્રભેદની વિવક્ષાથી જીવ અનેક પ્રકારના છે દાખલાતરીકે પ્રથમ તો જીવ, દ્રવ્ય અને ભાવની અપેક્ષાથી બે પ્રકારના છે. પછી તો સાકાર અનાકાર, સસારી અસસારી, ત્રસ સ્થાવર, સૂક્ષ્મ બાદર, પર્યાપ્ત અપર્યાપ્ત વગેરે ભેદોથી અનેક પ્રકારના છે. આવી જ રીતે અજીવ વગેરેના ભેદ અને લક્ષણ પણ આગળ ઉપર કહીશુ ૧

'उवओगलक्खणो जीवो ।'

મૂલસૂત્રનો અર્થ-જીવ ઉપયોગ લક્ષણવાળો છે ॥ ૨ ॥

તત્વાર્થદીપિકાનો અર્થ—પ્રથમ સૂત્રમા જીવ વગેરે નવ તત્વોનુ સામાન્ય રૂપથી કથન કરવામા આવેલ છે નવ અધ્યાયોમા નવ તત્વોનુ વિવેચન કરવુ છે. આથી પ્રથમ અધ્યાયમા પહેલા જીવ તત્વની પ્રરૂપણા કરવા માટે કહે છે-જીવ, ઉપયોગ લક્ષણવાળો છે

વસ્તુના સ્વરૂપને જાણવા માટે વસ્તુની તરફ જે ઉપયુક્ત અર્થાત્ પ્રેરિત કરાય તેને ઉપયોગ કહે છે આનો અર્થ એ છે કે અતરગ અને બહિરગ કારણોથી ઉત્પન્ન થવાવાળુ ચૈતન્યરૂપ પરિણામ ઉપયોગ છે આ રીતનો ઉપયોગ જેનુ લક્ષણ છે તે જીવ છે

ઉપયોગના બે ભેદ છે – જ્ઞાનોપયોગ અને દર્શનોપયોગ સામાન્ય, વિશેષ ધર્માત્મક વસ્તુનાં વિશેષ ધર્મને જાણવાવાળો જ્ઞાનોપયોગ અને સામાન્ય ધર્મને વિષય કરવાવાળો દર્શનોપયોગ કહેવાય છે જ્ઞાનોપયોગ ૮ પ્રકારનો છે, (૧) મતિજ્ઞાન, (૨) શ્રુતજ્ઞાન, (૩) અવધિજ્ઞાન, (૪) મન-પર્યવજ્ઞાન, (૫) કેવળજ્ઞાન, (૬) મત્યજ્ઞાન, (૭) શ્રુત અજ્ઞાન અને (૮) વિભંગજ્ઞાન દર્શનોપયોગ ચાર પ્રકારના છે ચક્ષુદર્શન, અચક્ષુદર્શન, અવધિદર્શન અને કેવળદર્શન

અથવા–જીવ ઉપયોગલક્ષણવાળો છે ત્યા ઉપયોગનો અર્થ છે–કોઈ પદાર્થને નિશ્ચય રૂપથી જાણવો આ ઉપયોગ જેનો અસાધારણ ગુણ છે તે જીવ ભાવજીવ કહેવાય છે જીવના બે ભેદ છે ભાવજીવ અને દ્રવ્યજીવ ઔપશમિક, ક્ષાયિક, ક્ષાયોપશમિક ઔદયિક અને પારિણામિક ભાવથી યુક્ત જે ભાવજીવ છે તે ઉપયોગલક્ષણવાળો કહેવાય છે

જે ગુણ અને પર્યાયથી રહિત હોય, બુદ્ધિ દ્વારા કલ્પિત અને અનાદિ પારિણામિક ભાવથી યુક્ત હોય તે દ્રવ્યજીવ છે

આ રીતે ઉપયેગલક્ષણવાળા જીવના જ્ઞાનરૂપ તેમ જ દર્શનરૂપ બન્ને પ્રકારના વ્યાપારમાં ચૈતન્યરૂપ જે સ્વાભાવિક પરિણામ છે તે તો સરખા જ હોય છે જીવમા જ્ઞાન અથવા દર્શનરૂપ સ્વાભાવિક ચૈતન્ય પરિણામ રહે છે જ

જો કે કર્મપુદ્ગલ આત્મ પ્રદેશોની સાથે એવી રીતે એકમેક થઈ જાય છે કે જેમ તપાવેલો લોખંડનો ગોળો અને અગ્નિ તો પણ જેવી રીતે ઉષ્ણતા ગુણના કારણે અગ્નિ અને ગુરુતાગુણના કારણે લોખંડનો ગોળો અલગ ઓળખી શકાય છે તે જ રીતે પોતાના અસાધારણ ઉપયોગગુણથી જીવ જુદી રીતે ઓળખી કઢાય છે

કાર્મણ વર્ગણાના અનન્તાનન્ત પ્રદેશ યોગ અને કષાયનુ નિમિત્ત પામી આત્મપ્રદેશો સાથે જોડાઈ જાય છે તે સમયે જીવના પ્રદેશો અને કર્મપ્રદેશો એકબીજામા મિશ્રણ થઈ જાય છે જેમ દૂધ અને પાણીનુ મિશ્રણ કરવાથી બન્ને એકમેક થઈ જાય છે તેવી જ રીતે આત્મા અને કર્મ પણ એકમેક થઈ રહ્યા છે અનાદિ કાળથી બન્નેની મિશ્રિત સ્થિતી હોવા છતાં ઉપયોગ ગુણના કારણે જીવને જુદો સમજવામા આવે છે કારણ કે ઉપયોગ રૂપ પરિણતી જીવમા જ હોય છે કર્મ ભલે જીવની સાથે મળી ગયેલ હોય તો પણ તેમનુ ચૈતન્ય ઉપયોગ રૂપ પરિણમન કદાપી થતુ નથી આજ ભાવજીવ છે જ્યારે આ શરીરમા સ્થિત જીવની જ્ઞાન વગેરે ભાવોથી રહિત રૂપમાં વિવક્ષા કરાય ત્યારે તે દ્રવ્યજીવ કહેવાય છે ॥ સૂ૦ ૨ ॥

તત્વાર્થ નિર્યુક્તિ –શાસ્ત્રની પ્રવૃત્તિ ત્રણ રીતે થાય છે ઉદ્દેશ્યથી, લક્ષણથી અને પરીક્ષાથી વસ્તુઓના નામમાત્રને કહી દેવુ ઉદ્દેશ્ય કહેવાય છે તેમના અસાધારણ ધર્મનુ કથન એટલે લક્ષણ અને જેનુ લક્ષણ કહ્યુ હોય તે લક્ષણ યોગ્ય છે કે નહી એ બાબત વિચાર કરવો પરીક્ષા છે

પ્રથમ સૂત્રમા જીવાદિ પદાર્થોના નામનો ઉલ્લેખ થઈ ગયો છે હવે જીવાદિ નવ પદાર્થોના અનુક્રમે લક્ષણ બતાવવા માટે સર્વપ્રથમ જીવના લક્ષણનુ કથન કરવામા આવે છે

જીવ ઉપયોગ લક્ષણવાળો છે અને ઉપયોગનો અર્થ છે કોઈ પદાર્થને ઓળખવારૂપ વ્યાપાર આ ઉપયોગ જેનો અસાધારણ ધર્મ છે અને બીજે કોઈનામા પણ ન મળી શકે તેવો ગુણ છે તે જ ભાવજીવ કહેવાય છે

જીવના પ્રથમ બે ભેદ છે દ્રવ્યજીવ અને ભાવજીવ જે ગુણ અને પર્યાયથી રહિત હોય, પ્રજ્ઞામા સ્થાપિત કરેલો હોય અર્થાત્ હકીકતમા ન હોવા છતા પણ જે કેવળ કલ્પનાથી સ્વીકારી લેવામા આવ્યો હોય, એવા પારિણામિક ભાવથી યુક્ત જીવ દ્રવ્યજીવ કહેવાય છે (હકીકતમા કોઈ પણ જીવ, પછી ભલે તે સસારી હોય અગર મુક્ત હોય પરતુ કદાપી તે પોતાના ગુણ અને પર્યાય થી અલગ હોઈ શકતો નથી) કોઈ ને કોઈ ગુણ અને પર્યાય તેમા હમેશા વિદ્યમાન રહે છે તેમ છતા દ્રવ્યનો ભગ શૂન્ય ન રહે એ પ્રયોજન થી એવી કલ્પના કરવામા આવે છે જે જીવ ઔપશમિક ભાવોથી યુક્ત છે તેમજ જેમા ઉપયોગ લક્ષણ મળી આવે છે તે ભાવજીવ કહેવાય છે તેના બે ભેદ છે સસારી અને મુક્ત

ઉપયોગ લક્ષણવાળા જીવના જ્ઞાનરૂપ અને દર્શનરૂપ બને પ્રકારના વ્યાપારમા ચૈતન્ય રૂપની જેમ સ્વાભાવિક પરિણમન થાય છે કારણકે જ્ઞાન અને દર્શન જીવના ચૈતન્ય રૂપમા સ્વાભાવિક પરિણામ છે આ પૈકી જ્ઞાન સાકાર અથવા વિશેષ ધર્મોનો જ્ઞાપક છે અને દર્શન નિરાકાર અર્થાત્ સામાન્ય ધર્મનો જ બોધક હોય છે

સ્વાભાવિક ચૈતન્યરૂપ પરિણતીને પ્રાપ્ત હોવા થકા જ્ઞાન–દર્શન રૂપ ઉપયોગ કર્મોની સાથે મળેલ હોવાના કારણે એકમેક હોવા છતા પણ આત્માની ભિન્નતાનુ જ્ઞાન કરાવે છે

અભિપ્રાય એવો છે કે કર્મ જ્યારે યોગ અને કષાયના કારણે આત્મપ્રદેશોની સાથે બધાયેલા હોય છે ત્યારે એકમેક થઈ જાય છે બન્ધના કારણે જીવ જુદો રહેતો નથી–કર્મની સાથે એકરૂપ થઈ જાય છે – જુદો જણાતો નથી જેવી રીતે પાણીની સાથે મેળવેલ દૂધ પાણી સાથે એકાકાર થઈ જાય છે જુદુ જણાતુ નથી તે જ રીતે બન્ધ થવાથી જીવ અને કર્મ પણ જુદા જુદા જણાતા નથી પરતુ એકાકાર થઈ જાય છે આમ છતા ઉપયોગરૂપ લક્ષણના કારણે જીવની કર્મોથી જુદાઈ જાણી શકાય છે જીવની સાથે મળી જવા છતા પણ કર્મપુદ્ગલોની ચૈતન્યરૂપ પરિણતી થતી નથી તે તો માત્ર જીવમા જ સભવી શકે છે

જ્યારે શરીરમા સ્થિત જીવ જ્ઞાનાદિ ભાવોથી રહિત વિવક્ષા કરવામા આવે છે ત્યારે તે દ્રવ્ય જીવ કહેવાય છે લોકમા જોઈ શકાય છે કે ભવિષ્યમા રાજા થનાર રાજપુત્ર પણ રાજા જ કહેવાય છે, આ સજોગોમા તે માત્ર દ્રવ્ય છે અથવા જેવી રીતે મુનિજીવનુ શરીર પૃથ્વી અગર શિલા ઉપર અથવા સસ્તારક ઉપર રહેલ હોય તો તે મુનિ કહેવાય છે

આ રીતે જીવના ચાર પ્રકાર છે – નામજીવ, સ્થાપનાજીવ, દ્રવ્યજીવ તથા ભાવજીવ, નામનો અર્થ છે સજ્ઞા કોઈ સચેતન અથવા અચેતન દ્રવ્યનુ જીવ એવુ નામ રાખવામા આવે તો તે દ્રવ્ય નામ જીવ કહેવાય છે કાષ્ટ, પુસ્તક, ચિત્ર, કર્માક્ષ નિક્ષેપ વગેરેમા જીવના આકારને સ્થાપિત કરવો સ્થાપના જીવ કહેવાય છે દ્રવ્યજીવ તથા ભાવજીવ અગાઉ કહેવાઈ ગયેલ છે આ પૈકી દ્રવ્યજીવ અને ભાવજીવ યુક્તિથી સપન્ન છે જ્યારે નામજીવ તથા સ્થાપનાજીવ સર્વથા જ્ઞાન વગેરે ગુણોથી પર હોવાના કારણે અનુપાદેય છે તેઓ ક્યારેય પણ ઉપાદેય નથી પદાર્થનુ **નામ રૂપ** નામનિક્ષેપ અને આકૃતિ વિશેષરૂપ સ્થાપનાનિક્ષેપ છે આ બને તુચ્છ હોવાના કારણે લગીર પણ વસ્તુના જ્ઞાપક નથી

આ બન્ને નિક્ષેપ જ્ઞાન ક્રિયા વગેરે ગુણોથી શૂન્ય હોવાના કારણે તથા ભાવશન્ય હોવાના કારણે કોઈ ભરવાડના બાળકનુ ઈન્દ્ર આદિ નામ રાખવામાં આવે તો પણ તે ઈન્દ્ર શબ્દને અનુરૂપ અર્થક્રિયા કરી શકતો નથી બરાબર આ વાત સ્થાપનાનિક્ષેપમા પણ છે તેમાં પણ મૂળવસ્તુને અનુરૂપ અર્થક્રિયા કરવાનુ સામર્થ્ય હોતુ નથી એ પ્રત્યક્ષથી સિદ્ધ થયેલ છે કોઈનુ મતવ્ય છે કે જેવી રીતે મૂર્તિમા રૂપ સ્થાપના જોવાથી ભાવમા ઉલ્લાસ થાય છે તેમ નામ સાભળવાથી ઉલ્લાસ થતો નથી આ જ નામ અને સ્થાપનાનો તફાવત છે આ જ કારણ છે કે ઈન્દ્ર વગેરેની પ્રતિમા રૂપ સ્થાપનામા લોકોની ભાવનાની પ્રબળતાથી પૂજાની પ્રવૃત્તિ અને ઈચ્છિતની પ્રાપ્તિ દેખાવ છે તેવુ નામ ઈન્દ્ર વગેરેમા હોતુ નથી આ પણ નામ અને સ્થાપનાનો ભેદ છે આવી જ રીતે બીજા ભેદો પણ સમજી લેવા જોઈએ આ કથન સૂત્ર વિરૂદ્ધ પ્રરૂપણાથી ઉત્પન્ન થનારા અનતા સસારનુ કારણ છે

આગમમા જે કહેલુ છે કે તથારૂપ અરિહતોના નામગોત્રના શ્રવણમાત્રથી પણ મહાન ફળની પ્રાપ્તિ થાય છે તેમાં નામનિક્ષેપનો વિષય કોઈ પણ રીતે આવતો નથી “અરિહત ભગવંતોના” એમ કહેવાથી તેજ અર્થમા પ્રયુક્ત નામના શ્રવણથી જ મહાન ફળ મેળવી શકાય છે ગોપાલક (ભરવાડ)ના બાળક વગેરેમા પ્રયુક્ત નામના સાંભળવાથી તો ભારવાડ–પુત્ર વગેરે વગેરે વસ્તુઓનો જ બોધ થાય છે તે આત્મપરિણામનો હેતુ નથી નામનિક્ષેપના સ્થળે ભગવાન અરિહતનુ સ્મરણ થવુ અસભવ છે કારણકે નામ નિક્ષેપ ભાવશૂન્ય હોય છે

ભાવ જિનના બોધક નામનુ શ્રવણ જ મહાન ફળ આપનાર છે એવી રીતે સ્થાપના પણ ભાવરૂપ અર્થથી શૂન્ય હોય છે સ્થાપનાનો ભાવરૂપ અર્થથી કોઈ જ સબધ નથી, ભાવજિનના દેહની જે આકૃતિ હતી તેના આશ્રય–આશ્રયી ભાવ સબધ ભાવજિન સાથે તે સમયે વિદ્યમાન હતી જેવી રીતે ભાવજિનનુ દર્શન કરનાર કોઈ પુરુષને તે સમયે ભાવોલ્લાસ પણ માનો કે થયો તેવી જ રીતે ભક્તિપૂર્વક તે આકૃતિનુ સ્મરણ કરનાર પુરુષને પણ તેવો જ ભાવોઉલ્લાસ સભવી શકે છે કારણ કે તે સમયે પેલી આકૃતિનો સબધ ભાવજિન સાથે હોય છે પરતુ સ્થપનાનો ભાવજિનની સાથે સબધ હોતો નથી આવી સ્થિતીમા પ્રતિમા રૂપ સ્થાપના ભાવજિન સાથે સબધ ન હોવાના કારણે ભાવજિનનુ અથવા તેમના ગુણનુ સ્મરણ કેવી રીતે કરાવી શકે ! આથી તેમા ભાવજિનની સ્થાપના કરવી તે જીનેશ્વરની આજ્ઞાથી ત્યાજ્ય છે તેમ જ પ્રવચનથી વિરૂદ્ધ છે આમ કરવુ ઉચિત નથી

સર્વથા કુપ્રાવચનિકોના દ્રવ્યાવશ્યકની જેવી મૂર્તિનુ પૂજન કરનાર તથા કરાવનાર મિથ્યાદૃષ્ટિપણુ જ પ્રાપ્ત કરતા હોય છે તેઓ સમ્યક્ત્વને પ્રાપ્ત નથી જ કરતા અનુયોગદ્વારમા કથિત ટીકા અનુસાર અત્રે પણ નામ તથા સ્થાપના નિક્ષેપ તુચ્છ હોવાના કારણે વસ્તુના સાધક થઈ શકતા નથી એવુ સમજી લેવુ જોઈએ ॥ સૂ૦ ૨ ॥

'समणायाऽमणाया'

મૂલસૂત્રનો અર્થ – સસારી જીવ બે પ્રકારના છે– સમનસ્ક અને અમનસ્ક ॥ ૩ ॥

પૂર્વસૂત્રમા જીવના લક્ષણનુ નિરૂપણ કરવામાં આવેલ છે હવે ભેદ વગેરે દ્વારા જીવના વિશેષ સ્વરૂપનુ પ્રતિપાદન કરવા માટે કહીએ છીએ–“**समणाम्रा** ઈત્યાદિ સસારી જીવ સક્ષેપથી

બે પ્રકારના છે સમનસ્ક અને અમનસ્ક મન બે પ્રકારના છે દ્રવ્યમન અને ભાવમન, પુદ્ગલ-વિપાકી કર્મના ઉદયની અપેક્ષાથી દ્રવ્યમન કહેવાય છે અને વીર્યાન્તરાય તથા નોઈન્દ્રીયાવરણ કર્મના ક્ષયોપશમની અપેક્ષાથી આત્માની વિશુદ્ધતાને ભાવમન કહે છે

આ પ્રકારના દ્રવ્યમન અને ભાવમનથી જોડાયેલા જીવો સમનસ્ક કહેવાય છે અગાઉ કહેલા દ્રવ્યમનથી રહિત, માત્ર ભાવમનથી જ ઉપયોગ માત્રથી યુક્ત જીવ અમનસ્ક કહેવાય છે આ રીતે દ્રવ્યમન હોવાથી અથવા ન હોવાથી સંસારી જીવ અનુક્રમે બે પ્રકારના હોય છે સમનસ્ક અને અમનસ્ક.

આશય આ છે કે–મનની નિષ્પત્તિ માટે વસ્તુના સ્વરૂપને ઓળખવા માટે આત્મા દ્વારા ગ્રહણ કરેલ સમસ્ત આત્મપ્રદેશોમાં રહેલા દલિકદ્રવ્ય રૂપ મનપર્યાપ્તીકરણ દ્વારા જીવ ચિંતન કરવા માટે જે અનન્તપ્રદેશી મનોવર્ગણાના યોગ્ય પુદ્ગલસ્કંધોને ગ્રહણ કરે છે તે મન પર્યાપ્તિ રૂપ કરણવિશેષ વડે ગ્રહણ કરાયેલા પુદ્ગલસ્કન્ધ દ્રવ્યમન કહેવાય છે

ચિન્ત, ચેતના, યોગ અધ્યયસાન, અવધાન સ્વાન્ત તથા મનસ્કાર રૂપ જીવનો ઉપયોગ ભાવમન કહેવાય છે આ મન રૂપ કરણને અરિહંત ભગવાન શ્રુત જ્ઞાનાવરણના ક્ષયોપશમથી ઉત્પન્ન થવાં વાળા માને છે તાત્પર્ય આ છે કે મન વાળા જીવને જ ધારણા જ્ઞાન હોય છે બીજાને હોતુ નથી આ રીતે દ્રવ્યમન અને ભાવમનથી યુક્ત જીવ જ સમનસ્ક અથવા સંજ્ઞી કહેવાય છે જે જીવો મન પર્યાપ્તિ રૂપ પ્રકારથી રહિત છે પરન્તુ ફક્ત ઉપયોગ રૂપ ભાવમનથી યુક્ત છે, તે જીવો અમનસ્ક કહેવાય છે આ અમનસ્ક જીવોની મન પર્યાપ્તિ રૂપ કરણની પ્રાપ્તિ થવા પર ચેતના અત્યન્ત ક્ષણિક હોય છે જેવી રીતે કોઈ ઘરડા માણસને લાકડીનો સહારો મળે તેમ દ્રવ્યમનની મદદથી સંજ્ઞી જીવ સ્પષ્ટ રૂપથી ચિંતન કરે છે

(૩) નારક, દેવ, ગર્ભજમનુષ્ય તથા પંચેન્દ્રિય તિર્યંચ સમનસ્ક હોય છે આ સિવાયના બીજા જીવ અમનસ્ક કહેવાય છે ઈહા, અપોહથી યુક્ત અને સમ્પ્રધારણ સંજ્ઞાથી સંજ્ઞી જીવ સમનસ્ક કહેવાય છે

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ —પૂર્વસૂત્રમાં જીવના લક્ષણનુ નિરુપણ કરવામાં આવ્યુ છે હવે ભેદ વગેરે કહીને તેના વિશેષ સ્વરૂપનુ પ્રતિપાદન કરવા માટે કહીએ છીએ "**समणायाऽमणाया** સંસારી જીવ સંક્ષેપથી બે પ્રકારના છે સમનસ્ક અને અમનસ્ક અત્રે સમનસ્કામનસ્ક એવા સમાસયુક્ત પદના પ્રયોગ દ્વારા એ પ્રગટ કરમા આવ્યુ છે કે અહી સંસારી જીવોનો જ સમ્બન્ધ છે, મુકત જીવોનો નહી સમનસ્ક તથા અમનસ્કનો ભેદ સંસારી જીવોમા જ હોય છે, મુક્ત જીવોમાં નહીં.

સિદ્ધજીવ નોઅમનસ્ક કહેવાય છે બારમાં ગુણસ્થાનવર્તી જીવ સંજ્ઞી જ માનેલા છે તેરમા અને ચૌદમા ગુણસ્થાનવર્તિ જીવ તથા સિદ્ધનોસંજ્ઞી નોઅસંજ્ઞી કહેવાય છે બીજા સ્થાનના બીજા ઉદ્દેશામા કહ્યુ છે પહેલુ નરક, ભવનપતિ, વાનવ્યંતર ત્યા સુધી અસંજ્ઞીતિર્યંચ પંચેન્દ્રિય જીવ ઉત્પન્ન થાય છે, કેટલાક સમય સુધી અસંજ્ઞી રહી પાછા તે સંજ્ઞી થઈ જાય છે. ॥ સૂ૦ ૩ ॥

संसारिणो मुक्ताश्च

મૂલાર્થ—જીવ બે પ્રકારના છે સસારી અને મુક્ત ॥ ૪ ॥

તત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમા સસારી જીવોના સમનસ્ક તથા અમનસ્ક એ બે ભેદ જોઈ ગયા હવે સામાન્ય જીવોના બે ભેદ કહીએ છીએ-સસારી અને મુક્ત સસરણુ એટલે સસાર અર્થાત્ જેના કારણે જીવ એક ભવથી બીજા ભવમા ગમન કરે છે તે જ્ઞાનાવરણ વગેરે આઠ કર્મ સસાર કહેવાય છે તે આઠ કર્મ આ પ્રમાણે છે જ્ઞાનાવરણીય, દર્શનાવરણીય, વેદનીય, મોહનીય, આયુષ્ય, નામ ગોત્ર અને અન્તરાય

આ રીતે સસારમાં ભ્રમણુ કરવાવાળા જીવ સસારી કહેવાય છે ક્રોધ, માન, માયા, લોભ વગેરે કષાય અથવા બળવાન મોહ રૂપ સસાર જેમનામા વિદ્યમાન છે તેઓ સંસારી કહેવાય છે જેઓ આ પ્રકારના સસારથી છૂટી ગયા હોય તે મુક્ત કહેવાય છે સમસ્ત કર્મોથી રહિત જીવ સસારથી મુક્ત હોવાના કારણે મુક્ત કહેવાય છે

અથવા દ્રવ્યપરિવર્તન, ક્ષેત્રપરિવર્તન, કાલપરિવર્તન ભવપરિવર્તન અને ભાવપરિવર્તન, આ પાચ પ્રકારના પરિવર્તન રૂપ સંસારથી યુક્ત જીવ સસારી કહેવાય છે અને જે એનાથી મુક્ત થઈ ગયા છે તે મુક્ત જીવો કહેવાય છે

આ પૈકી દ્રવ્યપરિવર્તન બે પ્રકારના છે-કર્મદ્રવ્યપરિવર્તન તથા નોકર્મ દ્રવ્યપરિવર્તન એક સમયમાં એક જીવે જ્ઞાનાવરણુ આદિ આઠ કર્મોનાં જે પુદ્ગલોને ગ્રહણુ કર્યા તે કર્મપુદ્ગલ એક સમય વધુ આવલિકાનો ત્યાગ કરી બીજા સમયોમાં નિર્જીર્ણ થઈને તેજ પૂર્વોક્ત ક્રમથી તે જીવના કર્મરૂપમા પ્રાપ્ત થાય છે એટલો સમય દ્રવ્યકર્મપરિવર્તન સમજવો

એક જીવે ઔદારિક વૈક્રિય આહારક એ ત્રણુ શરીરો તથા છ પર્યાપ્તિઓને અનુરૂપ જે પુદ્ગલોને એક સમયમાં ગ્રહણુ કર્યા હોય તે પુદ્ગલો સ્નિગ્ધ રૂક્ષ વર્ણ, ગધ રસ તીવ્રતા-મન્દતા અગર મધ્યમ રૂપથી સ્થિત થયા ત્યારબાદ બીજા વગેરે સમયોમા નિર્જરાને પામેલા, નહીં ગ્રહણુ કરેલા મિશ્ર તથા ગૃહીત પુદ્ગલોને અનત વાર છોડીને તેજ રીતે, તે જીવના, જેટલા કાળમા નોકર્મપણાને પ્રાપ્ત થાય છે તેટલો કાળ નોકર્મદ્રવ્યપરિવર્તન કહેવાય છે આજ રીતે ક્ષેત્રપરિવર્તન વગેરે માટે પણુ સમજી લેવુ જોઈએ ॥સૂ૦ ૪॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પૂર્વસૂત્રમા સમનસ્ક તથા અમનસ્કના ભેદથી જીવોના બે ભેદોનુ પ્રતિપાદન કરવામા આવ્યુ હવે એ જ જીવોના બીજા પ્રકારથી ભેદ બતાવવામા આવે છે

અગાઉ કહેલ ઉપયોગ લક્ષણુવાળા જીવ સક્ષેપથી બે પ્રકારના છે-સસારી અને મુક્ત જેના કારણે આત્માનુ સસરણુ અર્થાત્ એક ભવથી બીજા ભવમા ગમન થાય છે-તે આઠ કર્મ સસાર કહેવાય છે કર્મ આઠ પ્રકારના છે-જ્ઞાનાવરણીય, દર્શનાવરણીય વેદનીય, મોહનીય, આયુ, નામ, ગોત્ર અને અતરાય જે જીવો આવા સસારને વશીભૂત છે, તેઓ સસારી કહેવાય છે

અથવા-બળવાન મોહ રૂપ સસારવાળા જીવ સસારી કહેવાય છે અથવા-નારક આદિ અવસ્થા રૂપ સસારવાળા જીવ સસારી કહેવાય છે

જે જીવો આ પ્રકારના સસારથી નિવૃત્ત થઈ ગયા હોય તે મુક્ત કહેવાય છે અર્થાત્ સમસ્ત કર્મોથી રહિત જીવ સસારથી મુક્ત કહેવાય છે

અહીં સમાસ રહિત નિર્દેશ કરવાથી એવુ સૂચિત કરવામાં આવે છે કે આગળ ઉપર કહેવામા આવનાર ઔપશમિક ક્ષાયિક, ક્ષાયોપશમિક ઔદયિક, પારિણામિક તથા સાન્નિપાતિક સ્વભાવવાળા, સસારી જીવ હોય છે

મુકત જીવ ક્ષાયિક અને પારિણામિક ભાવો શિવાયના અન્ય ભાવોથી રહિત હોય છે બહુવચનના પ્રયોગથી એવુ સ્પષ્ટ કરવામાં આવે છે કે સસારી જીવ પણ અનન્ત છે અને મુકત જીવ પણ અનન્ત છે "ચ" પદના પ્રયોગથી એમ સૂચિત થાય છે કે સસારી જીવોના સજ્ઞી-અસજ્ઞી વગેરે અનેક પ્રકારના ભેદ હોય છે

સ્થાનાગ સૂત્રના બીજા સ્થાન, પ્રથમ ઉદ્દેશક, સૂત્ર ૧૦૧મા કહ્યુ છે સર્વ જીવ બે પ્રકારના કહેલા છે સિદ્ધ અને અસિદ્ધ મુકતજીવ અનન્તરસિદ્ધ, પરમ્પરસિદ્ધ વગેરેના ભેદથી જુદાં છે ।।સૂ૦ ૪।।

संसारिणो दुविहा तसा थावरा य ।।५।।

મૂલાર્થ—સસારી જીવ બે પ્રકારના છે-ત્રસ અને સ્થાવર

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમા જીવોના ટુકમા સસારી અને મુકત, એ બે ભેદ કહેવાઈ ગયા છે હવે સસારી જીવોના ભેદ કહીએ છીએ અગાઉ કહેવાયેલા સસારી જીવો બે પ્રકારના છે- ત્રસ અને સ્થાવર જે જીવ ત્રસ નામકર્મના ઉદયથી સ્પષ્ટ સુખ દુ ખ, ઇચ્છા દ્વેષ વગેરેથી જોડાયેલા છે તે ત્રસ કહેવાય છે સ્થાવર નામકર્મના ઉદયથી જે જીવોના દુ ખ વગેરેનો અનુભવ અસ્પષ્ટ હોય છે તે સ્થાવર કહેવાય છે બેઇન્દ્રિયવાળા જીવોથી શરૂ કરી દેવપર્યન્તના તમામ જીવો ત્રસ છે પૃથ્વીકાયથી લઈને વનસ્પતિકાય સુધીના એકેન્દ્રીય જીવો સ્થાવર કહેવાય છે અત્રે સરળતાથી સમજવામા આવે તે માટે પ્રથમ ત્રસ લેવામા આવ્યા છે કારણકે તેમના મા જીવના લક્ષણ, સુખ વગેરે સ્પષ્ટ પ્રતીત થાય છે—ચ શબ્દના પ્રયોગથી એમ સૂચિત કરવામા આવ્યુ છે કે આ બને પ્રકારનાં જીવો બદલાતા રહે છે અર્થાત્ ત્રસ જીવો મરીને સ્થાવરમા અને સ્થાવર જીવો ત્રસમા ઉત્પન્ન થાય છે, જ્યારે બહુવચનનો પ્રયોગ કરીને એવુ કહેવાનો પ્રયત્ન કરવામા આવ્યો છે કે ત્રસ જીવો પણ ઘણા છે અને સ્થાવર પણ તેટલા જ છે ।।સૂ૦ ૫।।

તત્ત્વાર્થનિર્યુકિત—આના પહેલાના સૂત્રમા સસારી અને મુકતના ભેદથી જીવોના બે પ્રકાર દર્શાવ્યા હતા અત્રે પ્રથમ નિર્દિષ્ટ સસારી જીવોના ભેદ દર્શાવવા માટે કહે છે—સસારી જીવ બે પ્રકારના છે-ત્રસ અને સ્થાવર જે જીવ ત્રસનામકર્મને આધીન છે તેઓ ત્રસ અને જે સ્થાવર નામકર્મને આધીન છે તે સ્થાવર જીવો કહેવાય છે બેઇન્દ્રીય, તેઇન્દ્રીય, ચતુરિન્દ્રીય વગેરેથી લઈને અયોગી કેવળી પર્યન્ત ત્રસ જીવ છે

પૃથ્વીકાય અપ્કાય, તેજસ્કાય, વાયુકાય તથા વનસ્પતિકાય એ પાચ પ્રકારના એકેન્દ્રીય જીવો સ્થાવર છે આ રીતે ત્રસત્વ અને સ્થાવરત્વ ત્રસનામકર્મ તથા સ્થાવર નામકર્મના ઉદયથી થાય છે ચાલવા ન ચાલવા પર ત્રસ સ્થાવરપણુ નિર્ભર નથી કદાચ માની લઈએ કે જે ગતિ કરે તે ત્રસ અને જે જડ હોય તે સ્થાવર તો આ માન્યતા આગમથી વિરુદ્ધ ગણાશે કારણ કે આગમમા બેઇન્દ્રિયથી લઈને અયોગિકેવળી પર્યન્તના જીવોને ત્રસ કહેલા છે આથી ત્રસત્વ કર્મોદયની અપેક્ષાથી જ સ્વીકારવુ જોઈએ અને નહીં કે વ્યુત્પત્તિનિમિત્તની અપેક્ષાથી,

ત્રસ જીવોમાં બાર ઉપયોગ મળી આવે છે આથી મુખ્ય હોવાના કારણે સૂત્રમાં તેમનો ઉલ્લેખ પ્રથમ કરવામા આવેલ છે સ્થાવર જીવોમાં ત્રણ જ ઉપયોગ હોય છે આથી તેઓ મુખ્ય ગણાય નહીં એ કારણથી જ તેમને પાછળથી ગ્રહણ કરવામાં આવ્યા છે સ્થાનાંગ સૂત્રના બીજા સ્થાન-પ્રથમ ઉદ્દેશના પાચમા સૂત્રમાં કહ્યુ છે-સંસાર સમાપન્ન જીવ બે પ્રકારના હોય છે-ત્રસ અને સ્થાવર—

"જીવાભિગમ" સૂત્રની પ્રથમ પ્રતિપત્તિના ૨૭મા સૂત્રમા કહ્યુ છે-ઉદાર-સ્થૂળ ત્રસ પ્રાણી કેટલા પ્રકારનાં છે ?

ઉત્તર-ચાર પ્રકારના છે-બેઇન્દ્રિય તેઇન્દ્રીય, ચતુરિન્દ્રય અને પચેન્દ્રિય ॥ સૂ૦ ૫ ॥

तं दुविहा सुहुमा बायराय सू० ६

મૂલાર્થ—સસારી જીવ પુન બે પ્રકારના છે-સૂક્ષ્મ અને બાદર ॥સૂ૦ ૬॥

તત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમા સસારી જીવોના ત્રસ તથા સ્થાવર એ બે ભેદ કહેવાયા છે હવે તેજ સસારી જીવોના પ્રકારાન્તરથી બે ભેદ બતાવીએ છીએ—

સસારી જીવ પુન બે પ્રકારના છે-સૂક્ષ્મ અને બાદર આ પૈકી સૂક્ષ્મ જીવ આઠ પ્રકારના છે—

(૧) સ્નેહ સૂક્ષ્મ (૨) પુષ્પસૂક્ષ્મ (૩) પ્રાણિસૂક્ષ્મ (૪) ઉત્તિંગસૂક્ષ્મ (૫) પનકસૂક્ષ્મ (૬) બીજસૂક્ષ્મ (૭) હરિતસૂક્ષ્મ (૮) અણ્ડસૂક્ષ્મ આથી ભિન્ન પૃથ્વીકાય વગેરે બાદર જીવ છે તે અનેક પ્રકારના છે મુક્તજીવો નથી સૂક્ષ્મ, નથી બાદર કે નથી ત્રસ અથવા સ્થાવર ॥સૂ૦ ૬॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પૂર્વસૂત્રમા સસારી જીવોના ત્રસ અને સ્થાવરના ભેદથી બે પ્રકાર કહ્યા છે હવે એમના જ પ્રકારાન્તરથી બે ભેદોનુ પ્રતિપાદન કરીએ છીએ-સસારી જીવો બે પ્રકારના છે-સૂક્ષ્મ અને બાદર દશવૈકાલિક સૂત્રના આઠમા અધ્યયનની ૧૫મી ગાથામા કહ્યુ છે-આઠ સૂક્ષ્મ આ રીતે છે-સ્નેહસૂક્ષ્મ, પુષ્પસૂક્ષ્મ, પ્રાણિસૂક્ષ્મ, ઉત્તિંગસૂક્ષ્મ, પનકસૂક્ષ્મ, બીજ-સૂક્ષ્મ હરિતસૂક્ષ્મ તથા અણ્ડસૂક્ષ્મ

(એ વાત ધ્યાનમા રાખવી જોઈએ કે અત્રે જે આઠ સૂક્ષ્મ બતાવવામા આવ્યા છે તે સૂક્ષ્મ નામકર્મના ઉદયની અપેક્ષાથી નથી, પરંતુ પરિણામની અપેક્ષાથી છે આ આઠ સૂક્ષ્મ સામાન્યતયા દૃષ્ટિગોચર થતા નથી માટે જ એમને સૂક્ષ્મ કહ્યા છે)

બાદર જીવ પૃથ્વીકાય વગેરેના ભેદથી અનેક પ્રકારના છે શુદ્ધ પૃથિવી, શર્કરા પૃથિવી, વાલુકા-પૃથિવી-એવી જ રીતે ઉપલ, શિલા, લવણ, ત્રપુ તામ્ર સીસુ આદી સોનુ, હડતાળ, હિંગુલ, મૈનસિલ, સસ્યક, અંજન, પ્રવાળ, અભ્રપટલ, અભ્રવાલુકા, ગોમેદ, રુચકાંગ, સ્ફટિક, લોહિતાક્ષ મરકત, મસારગલ્લ, ભુજગેન્દ્ર, નીલ, ચન્દન, ગૈરિક, હંસગર્ભ, પુલક, સૌગન્ધિક, ચન્દ્રકાન્ત, સૂર્યકાન્ત, વૈડૂર્ય, જલકાન્ત વગેરે બાદર પૃથ્વીકાયિક જીવોના ભેદો છે.

એમના સ્થાન આઠ પૃથ્વીઓ, પાતાલ વન, નરક પ્રસ્તર વગેરે જાણવા જોઈએ.

સૂક્ષ્મ પૃથ્વીકાયિક જીવો કાજળથી ભરેલી કુંપીની જેમ સંપૂર્ણ લોકમા પ્રસરેલા છે.

બાદર પૃથિવીકાયિક જીવોમા ચાર લેશ્યાઓ કૃષ્ણ, નીલ, કાપોત અને તેજો લેશ્યા-હોય છે.

અહીં સમાસ રહિત નિર્દેશ કરવાથી એવુ સૂચિત કરવામા આવે છે કે આગળ ઉપર કહેવામાં આવનાર ઔપશમિક ક્ષાયિક, ક્ષાયોપશમિક ઔદયિક, પારિણામિક તથા સાન્નિપાતિક સ્વભાવવાળા, સ સારી જીવ હોય છે

મુકત જીવ ક્ષાયિક અને પારિણામિક ભાવો શિવાયના અન્ય ભાવોથી રહિત હોય છે બહુવચનના પ્રયોગથી એવુ સ્પષ્ટ કરવામાં આવે છે કે સ સારી જીવ પણ અનન્ત છે અને મુકત જીવ પણ અનન્ત છે "ચ" પદના પ્રયોગથી એમ સૂચિત થાય છે કે સ સારી જીવોના સ જ્ઞી–અસ જ્ઞી વગેરે અનેક પ્રકારના ભેદ હોય છે

સ્થાનાગ સૂત્રના બીજા સ્થાન, પ્રથમ ઉદ્દેશક, સૂત્ર ૧૦૧માં કહ્યુ છે સર્વ જીવ બે પ્રકારના કહેલા છે સિદ્ધ અને અસિદ્ધ મુકતજીવ અનન્તરસિદ્ધ, પરમ્પરસિદ્ધ વગેરેના ભેદથી જુદાં છે ॥સૂ૦ ૪॥

संसारिणो दुविहा तसा थावरा य ॥५॥

મૂલાર્થ—સ સારી જીવ બે પ્રકારના છે–ત્રસ અને સ્થાવર

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમા 'જીવોમા ટુ કમા 'સ સારી અને મુકત,' એ બે ભેદ કહેવાઈ ગયા છે હવે સ સારી જીવોનાં ભેદ કહીએ છીએ અગાઉ કહેવાયેલા સ સારી જીવો બે પ્રકારના છે- ત્રસ અને સ્થાવર જે જીવ ત્રસ નામકર્મના ઉદયથી સ્પષ્ટ સુખ દુ ખ, ઇચ્છા દ્વેષ વગેરેથી જોડાયેલા છે તે ત્રસ કહેવાય છે સ્થાવર નામકર્મના ઉદયથી જે જીવોના દુ ખ વગેરેનો અનુભવ અસ્પષ્ટ હોય છે તે સ્થાવર કહેવાય છે બેઇન્દ્રિયવાળા જીવોથી શરૂ કરી દેવપર્યન્તના તમામ જીવો ત્રસ છે પૃથ્વીકાયથી લઈને વનસ્પતિકાય સુધીના એકેન્દ્રીય જીવો સ્થાવર કહેવાય છે અત્રે સરળતાથી સમજવામાં આવે તે, માટે પ્રથમ ત્રસ લેવામા આવ્યા છે કારણકે તેમના માં જીવના લક્ષણ, સુખ વગેરે સ્પષ્ટ પ્રતીત થાય છે—ચ શબ્દના પ્રયોગથી એમ સૂચિત કરવામાં આવ્યુ છે કે આ બ ને પ્રકારનાં જીવો બદલાતા રહે છે અર્થાત્ ત્રસ જીવો મરીને સ્થાવરમા અને સ્થાવર જીવો ત્રસમા ઉત્પન્ન થાય છે, જ્યારે બહુવચનો પ્રયોગ કરીને એવુ કહેવાનો પ્રયત્ન કરવામા આવ્યો છે કે ત્રસ જીવો પણ ઘણા છે અને સ્થાવર પણ તેટલા જ છે ॥સૂ૦ ૫॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુકિત—આના પહેલાના સૂત્રમા સંસારી અને મુકતના ભેદથી જીવોના બે પ્રકાર દર્શાવ્યા હતા અત્રે પ્રથમ 'નિર્દિષ્ટ' સ સારી જીવોના ભેદ દર્શાવવા માટે કહે છે–સ સારી જીવ બે પ્રકારના છે–ત્રસ અને સ્થાવર જે જીવ ત્રસનામકર્મને આધીન છે તેઓ ત્રસ અને જે સ્થાવર નામકર્મને આધીન છે તે સ્થાવર જીવો કહેવાય છે બેઇન્દ્રીય, તેઇન્દ્રીય, ચતુરિન્દ્રીય વગેરેથી લઈને અયોગી કેવળી પર્યન્ત ત્રસ જીવ છે

પૃથ્વીકાય અપ્કાય, તેજસ્કાય, વાયુકાય તથા વનસ્પતિકાય એ પાંચ પ્રકારના એકેન્દ્રીય જીવો સ્થાવર છે આ રીતે ત્રસત્વ અને સ્થાવરત્વ ત્રસનામકર્મ તથા સ્થાવર નામકર્મના ઉદયથી થાય છે ચાલવા ન ચાલવા પર ત્રસ સ્થાવરપણુ નિર્ભર નથી કદાચ માની લઈએ કે જે ગતિ કરે તે ત્રસ અને જે જડ હોય તે સ્થાવર તો આ માન્યતા આગમથી વિરુદ્ધ ગણાશે કારણ કે આગમમા બેઇન્દ્રિયથી લઈને અયોગિકેવળી પર્યન્તના જીવોને ત્રસ કહેલા છે આથી ત્રસત્વ કર્મોદયની અપેક્ષાથી જ સ્વીકારવુ જોઈએ અને નહીં કે વ્યુત્પત્તિનિમિત્તની અપેક્ષાથી.

તે આહારપર્યાપ્તિ છે શરીર રૂપ કરણની નિષ્પત્તિ થવી તે શરીરપર્યાપ્તિ છે એજ પ્રમાણે ઇન્દ્રિયપર્યાપ્તિ વગેરે પણ જાણી લેવા જોઈએ જે જીવો આ પ્રકારની પર્યાપ્તિઓથી યુક્ત હોય છે તે પર્યાપ્ત કહેવાય છે જે જીવો આહાર વગેરે પર્યાપ્તિઓથી રહિત હોય છે તેમને અપર્યાપ્ત કહે છે ાસૂ૦ ૭ા

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પૂર્વસૂત્રમા સૂક્ષ્મ અને બાદરના ભેદથી જીવોના બે ભેદ કહેવામા આવેલ છે હવે તેમનાજ પ્રકારાન્તરથી બે ભેદ દર્શાવવા માટે કહીએ છીએ–તે જીવો પર્યાપ્ત તથા અપર્યાપ્તના ભેદથી પુન બે પ્રકારના છે પર્યાપ્તિ અર્થાત્ શક્તિ ૬ પ્રકારની છે (૧) આહારપર્યાપ્તિ (૨) શરીરપર્યાપ્તિ (૩) ઇન્દ્રિયપર્યાપ્તિ (૪) શ્વાસોચ્છ્વાસપર્યાપ્તિ (૫) ભાષા-પર્યાપ્તિ અને (૬) મન પર્યાપ્તિ કોઈ જીવો આહાર વગેરે પર્યાપ્તિથી યુક્ત હોય છે અને કોઈ–કોઈ તેનાથી રહિત હોય છે તેઓ જ્યાંસુધી પૂર્ણ પર્યાપ્તિ નથી બાધતા ત્યાસુધી અપ-ર્યાપ્ત કહેવાય છે આ કારણથી કોઈ જીવ પર્યાપ્ત અને કોઈ અપર્યાપ્ત કહેવાય છે ાસૂ૦ ૭ા

बेइंदिय तेइंदिय इत्यादि

મૂલાર્થ—બે ઇન્દ્રિય, ત્રણઇન્દ્રિય, ચતુરિન્દ્રિય અને પચેન્દ્રિય જીવ ત્રસ છે ાસૂ૦ ૮ા

તત્વાર્થદીપિકા—ત્રસ અને સ્થાવરના ભેદથી સસારી જીવ બે પ્રકારના કહેવાઈ ગયા છે હવે તે ત્રસ અને સ્થાવર જીવોનુ સ્વરૂપ ક્રમશ વિસ્તારપૂર્વક કહીએ છીએ.

બે ઇન્દ્રિય, તેઇન્દ્રિય ચઉરિન્દ્રિય, પચેન્દ્રિય અને ચ શબ્દને ગ્રહણ કરવાથી બાદર તેજસ્કાયિક તથા વાયુકાયિક જીવ ત્રસ કહેવાય છે

આ પૈકી જે જીવો સ્પર્શ અને જીભ એ બે ઇન્દ્રિયોથી યુક્ત હોય છે તે બેઇન્દ્રિય કહે-વાય છે । જેવા કે–શખ, છીપ, કોડી વગેરે । જેઓને સ્પર્શ, જીભ તથા નાક એ ત્રણ ઇન્દ્રિયો છે તે ત્રણઇન્દ્રિયવાળા જીવ કહેવાય છે જેવા કે–કથવા, **વિછી શતપદી** ઇન્દ્રગોપ, જૂ લીખ, માકડ, કીડી વગેરે । સ્પર્શ જીભ, નાક તથા આખ, ધારણ કરનારા ચતુરિન્દ્રય જીવો છે જેવા કે–ડાસ, મચ્છર, પતગીયા, ભમરો વીછી વગેરે । અડજ (ઇડામાથી ઉત્પન્ન થનારા) પોતજ, તથા જરાયુજ ચામડાની પાતળી કોથળીમાથી ઉત્પન્ન થનાર જીવ-પચેન્દ્રિય કહેવાય છે ાસૂ૦ ૮ા

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—ત્રસ અને સ્થાવરના ભેદથી સસારી જીવોના બે ભેદ કહેવાઈ ગયા છે હવે તેમનુ વિસ્તારથી પ્રતિપાદન કરવા માટે બે સૂત્ર કહીએ છીએ

બેઇન્દ્રિય, તેઇન્દ્રિય, ચઉરિન્દ્રય અને પચેન્દ્રિય તથા "ચ" શબ્દના ગ્રહણથી બાદર તેજસ્કાયિક અને વાયુકાયિક જીવ ત્રસ કહેવાય છે એમા કૃમિ વગેરે બેઇન્દ્રિય કીડિ વગેરે તેઇન્દ્રિય ભ્રમર વગેરે ચઉઇન્દ્રીય તથા મનુષ્ય વગેરે પચેન્દ્રિય જાણવા જોઈએ "જીવાભિ-ગમ"ની પહેલી પ્રતિપત્તિના, ૨૭માં સૂત્રમાં કહ્યુ છે–ઉદાર ત્રસ પ્રાણી કેટલા પ્રકારનાં છે–બેઇ-ન્દ્રિય તેઇન્દ્રીય ચઉરીન્દ્રીય તથા પચેન્દ્રિય જે જીવોમા સ્પર્શન તથા જીભ બે ઇન્દ્રીયો હોય તે બેઇન્દ્રીય એવી જ રીતે જેઓ સ્પર્શન જીભ તથા નાક એ ત્રણ ઇન્દ્રિયોવાળા હોય તે તેઇન્દ્રિય કહેવાય છે તેમા આખ ઉમેરાતા ચાર ઇન્દ્રિયવાળા જીવો તથા સ્પર્શન જીભ, નાક આંખ તથા કાનવાળા જીવો પચેન્દ્રિય કહેવાય છે

શખ, છીપ, કોડી વગેરે બેઇન્દ્રિય જીવો છે, કથવા, **વીછી શતપદી** જૂ ઇન્દ્રગોપ, લીખ, માકડ, વગેરે તેઇન્દ્રિય છે, ડાસ, મચ્છર, પતગીયા, ભમરો, માખી વગેરે ચતુરિન્દ્રિય છે જ્યારે માણુસ, ગાય, ભેસ, સાપ, ગરોળી વગેરે પચેન્દ્રિય છે ॥સૂ૦ ૮॥

एगिंदिया पुढवोकाइया पंचथावरा सू० ९

મૂલાર્થ—પૃથિવીકાયિક આદિ પાંચ સ્થાવર એકેન્દ્રિય છે ॥સૂ૦ ૯॥

તત્વાર્થદીપિકા—આપણે પ્રથમ સસારી જીવોનો એક પ્રકાર-સ્થાવર કહ્યો-હવે તેના પાચ ભેદના સ્વરૂપનુ નિરૂપણુ કરવા માટે કહે છે—

જે જીવોમા ફક્ત એક-સ્પર્શન ક્રિયા દેખાય છે તે પૃથ્વીકાયિક આદિ સ્થાવર કહેવાય છે આદિ શબ્દથી અપ્કાયિક તેજસ્કાયિક, વાયુકાયિક અને વનસ્પતિકાયિકનુ ગ્રહણુ થાય છે એ પાચ પ્રકારના સ્થાવર જીવો છે પરતુ દેશાન્તર પ્રાપ્તિરૂપ ગતિક્રિયાની અપેક્ષાથી તેજસ્કાયિક તથા વાયુકાયિક પણુ ત્રસ કહેવાય છે ॥સૂ૦ ૯॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—હવે પૂર્વોક્ત સ્થાવરોનુ પ્રતિપાદન કરવા માટે કહે છે એક સ્પર્શેન્દ્રિયવાળા જીવો સ્થાવર કહેવાય છે પૃથ્વીકાયિક, અપ્કાયિક, તેજસ્કાયિક, વાયુકાયિક અને વનસ્પતિકાયિક પાચ સ્થાવર છે સ્થાનાંગસૂત્રના પાચમા સ્થાનના પ્રથમ ઉદ્દેશકના ૩૯૪માં સૂત્રમા કહ્યુ છે—

સ્થાવરકાય પાંચ કહેવાય છે-(૧) પૃથ્વીસ્થાવરકાય (૨) અપ્સ્થાવરકાય (૩) તેજસ્થાવરકાય (૪) વાયુસ્થાવરકાય અને (૫) વનસ્પતિસ્થાવરકાય ॥સૂ૦ ૯॥

तसा अणेगविहा अंडयाइया

મૂલાર્થ—ત્રસજીવ, અડજ વગેરેના ભેદથી અનેક પ્રકારના છે ॥સૂ૦ ૧૦॥

તત્વાર્થદીપિકા—પહેલા સામાન્યરૂપથી કહેવાઈ ગયેલા ત્રસજીવોના વિશેષ સ્વરૂપ અને ભેદ બતાવવા માટે કહે છે—

ત્રસનામકર્મના ઉદયને આધીન દ્વીન્દ્રિય તેઇન્દ્રિય, ચતુરિન્દ્રિય પચેન્દ્રિય વગેરે અયોગિ કેવળી પર્યન્ત છે તે અનેક પ્રકારના હોય છે તેઓ આ પ્રમાણે છે—અણ્ડજ, જરાયુજ, રસજ, સસ્વેદજ, સમૂર્છિમ ઉદ્ભિજજ અને ઔપપાતિક જીવોનો જન્મ ત્રણ પ્રકારનો છે-ગર્ભ, સમ્મૂર્છિમ અને ઉપપાત આમાંથી અન્ડજ, પોતજ તથા જરાયુજ જીવ ગર્ભજન્મથી ઉત્પન્ન થાય છે ઈંડાથી ઉત્પન્ન થનાર સાપ, ગરોળી વગેરે અડજ છે જે વગર આવરણથી પેદા થાય છે એવા સિહ વાઘ, ચિત્તો વગેરે જરાયુજ છે ચામડાના પાતળા-આવરણમા ઉત્પન્ન થનાર ગાય ભેસ મનુષ્ય વગેરે પણુ જરાયુજ કહેવાય છે દારૂ વગેરે રસમા પેદા થનાર કૃમિ વગેરે કીડા રસજ કહેવાય છે પરસેવામા ઉત્પન્ન થનાદ જૂ વગેરે સસ્વેદજ જીવ છે સ્ત્રી પુરુષના સમાગમ વગર ઉત્પન્ન થનાર જીવ સમ્મૂર્છિમ કહેવાય છે સાપ દેડકા મનુષ્ય વગેરે પણુ સમ્મૂર્છિમ જન્મથી ઉત્પન્ન થવાના કારણે સમ્મૂર્છિમ કહેવાય છે તો-શુ તેઓ ત્રસજીવ છે ? પતગીયા વગેરે ઉદ્ભિજજ કહેવાય છે જ્યારે દેવ તથા નારક ઔપપાતિક હોય છે ॥સૂ૦૧૦॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પૂર્વોક્ત ત્રસજીવના ભેદ કહીને હવે તેનુ વિગતવાર રૂપથી પ્રતિપાદન કરવા માટે સૂત્રકાર કહે છે ત્રસ અર્થાત્ બે, ત્રણ ચાર પાચ ઇન્દ્રિયવાળા જીવ અનેક પ્રકારના છે જેમકે—અન્ડજ પોતજ જરાયુજ, રસજ, સસ્વેદજ સમૂર્છિમ ઉદ્‌ભિજજ, અને ઔપપાતિક—આગળ ઉપર કહેવામા આવનાર ગર્ભથી, સમ્મૂર્છિમ અને ઉપપાત—આ ત્રણ પ્રકારનાં જન્મોપૈકી અન્ડજ, પોતજ, જરાયુજ જીવોનો ગર્ભથી જન્મ થાય છે.

સાપ ઘો ગરોળી, મચ્છ, કાચબો, શિશુમાર વગેરે તથા હસ, પોપટ, ગીધ, બાજ, કબૂતર, કાગડો મોર, જળકુકડી, બગલો, બતક મેના વગેરે અન્ડજ જીવો છે

હાથી, કુતરો, બિલાડી, સસલુ, નોળિયો, ઉંદર, વાગોળ ઘૂવડ તથા ભારડ પક્ષી તથા વિરાલ વગેરે પોતજ છે

મનુષ્ય, ગાય, ભેસ, બકરી ઘેટુ, ઉટ, હરણુ, ચમરીગાય, સૂવર, સિહ, વાઘ, દીપડો, કુતરો, ગીધ, બીલાડો, વગેરે જરાયુજ છે આ અડજ, પોતજ અને જરાયુજ જીવોનો ગર્ભજન્મ થાય છે

બગડી ગયેલા દૂધ વગેરે રસોમા ઉત્પન્ન થનાર કૃમિ વગેરે રસજ કહેવાય છે માકડ વિગેરે જીવો પરસેવાથી ઉત્પન્ન થાય છે તેથી તેને સસ્વેદજ કહે છે માતા—પિતાના સયોગ વગર જ ઉત્પન્ન થાય છે તેમજ જેઓ ગર્ભજોથી ભિન્ન હોય છે, તે સમ્મૂર્છિમ છે પૃથ્વીને ભેદીને ઉત્પન્ન થનારા જીવ ઉદ્‌ભિજજ કહેવાય છે નારક, ભવનપતિ વાણવ્યતર, જયોતિષ્ક વૈમાનિક વિગેરે સિદ્ધોને છોડીને બીજા તમામ ઔપપાતિક કહેવાય છે આ સઘળાં ત્રસ છે. સિદ્ધ ભગવાન નથી ત્રસ કે નથી સ્થાવર બેઇન્દ્રિય વગેરે તિર્યચ અને કેટલાક મનુષ્ય સમ્મૂર્છિમ હોય છે

ગર્ભને લપેટનાર ચામડાની પાતળી કોથળીને જડ—જેર કહે છે તેથી ઉત્પન્ન થનારા જીવ જરાયુજ કહેવાય છે પોતનો અર્થ થાય છે શાવક જે જરાયુથી ઢકાયેલા હોતા નથી તેમજ જન્મતાની સાથે જ ચાલવા—ફરવા લાગે છે તે જીવ પોતજ છે

જે પક્ષી તથા સાપ વગેરે ઇડામા પેદા થાય છે તે અન્ડજ કહેવાય છે જેઓ પોત રૂપ જ જન્મ લે છે, જરાયુથી ઢકાયેલા નથી જન્મતા, યોનિથી બહાર આવતા જ ચાલવા—ફરવા લાગે છે તેવા હાથી વગેરે પોતજ કહેવાય છે

અથવા પોતનો અર્થ છે ચામડુ, તેનાથી વિંટાયેલા હોય છે આથી પોત અર્થાત્ ગર્ભના ઢકાયેલી ચામડીથી જુદા પડવાના કારણે કપડાથી લુછેલા શરીરથી જે પેદા થાય છે તે પોતજ કહેવાય છે

જે જરા પ્રાપ્ત કરે તે જરાયુ છે અર્થાત્ ગર્ભને લપેટવાવાળી ચામડી તેનાથી જન્મ લેનાર મનુષ્ય, ગાય, ભેસ વગેરે જરાયુજ કહેવાય છે

રસ અર્થાત્ દારૂ અગર વિકૃત મીઠા રસ વગેરેમાં જન્મનાર જીવ રસજ કહેવાય છે હૈમકોષમા કહ્યુ છે—દારૂનોકીડો રસજ કહેવાય છે પરસેવાથી ઉત્પન્ન થનાર જૂ, લીખ, માકડ વગેરે સસ્વેદજ કહેવાય છે

જે જીવ માત—પિતાના સયોગ વગર જ પેદા થાય છે તે અમનસ્ક જીવ સમૂર્છિમ છે અથવા આમ તેમથી શરીરનુ બની જવુ અવયવોનો સયોગ થઈ જવો 'મૂર્છન' કહેવાય

છે તેનાથી જે ઉત્પન્ન થાય તે પણ સમૂર્છિમ કહેવાય છે કિડી, માખી, માંકડ વગેરે જીવ માતા–પિતાના સયોગ વગર જ જન્મ લે છે પૃથ્વીને ભેદીને ઉત્પન્ન થનાર પતગીયા જેવા જીવો ઉદ્ભિજ્જ કહેવાય છે

જે ઉપપાતથી જન્મ લે છે તે ઔપપાતિક છે ઉપપાતનો અભિપ્રાય છે દેવતા અને નારકોનો ગર્ભ અને સમૂર્છન જન્મથી જુદા જ પ્રકારનો જન્મ હોય છે દેવ સેજમા (પથારીમા) ઉત્પન્ન થાય છે અને નારક કુભ વગેરેમા જાતે જ ઉત્પન્ન છે

દશવૈકાલિકસૂત્રના ચોથા અધ્યયનમાં કહ્યુ છે કે—"અડજ, પોતજ જરાયુજ રસજ સસ્વેદજ, સંમૂર્છિમ ઉદ્ભિજ્જ અને ઔપપાતિક.–ગર્ભજ અને સમ્મૂર્છિમ —પ્રજ્ઞાપનાના પ્રથમ પદમાં કહ્યુ છે કે—બે પ્રકારના જીવોનો ઔપપાતિક જન્મ થાય છે દેવોનો તથા નારકોનો—"સ્થાનાંગના ૨–સ્થાન ૩, ઉદ્દેશકમા ૮૫ મા સૂત્રમા કહેલ છે

દારૂ વગેરે રસમા જે જીવો ઉત્પન્ન થાય છે તે રસજ કહેવાય છે મજજા અને શુક્ર, સસ્વેદ અથવા પરસેવાથી ઉત્પન્ન થનારા સસ્વેદજ જીવ છે આમ તેમથી પુદ્ગલોના ભેગા થઈ જવાથી ઉત્પન્ન થનાર જીવો સમ્મૂર્છિમ છે સાપ, દેડકો અને મનુષ્ય વગેરે પણ સમ્મૂર્છિમ જન્મથી પેદા થાય છે

ભૂમિ લાકડુ પથ્થર વગેરેને ભેદીને ઉપર આવી જવુ તેને ઉદ્ભેદ કહેવાય છે તેનાથી જે જીવ ઉત્પન્ન થાય છે તેને ઉદ્ભિજ્જ કહેલા છે જેમ કે એ પ્રસિદ્ધ છે કે કોઈએ પથ્થરને ખોદીને દેડકો કાઢેલો ॥સૂ૦ ૧૦॥

अट्ठविहा सुहुमा सिनेहकायाइया, सू० ११

મૂલાર્થ—સ્નેહકાય, આઠ પ્રકારના સૂક્ષ્મ છે ॥સૂ૦ ૧૧॥

તત્વાર્થદીપિકા—પહેલા સસારી જીવોના બે ભેદ–સૂક્ષ્મ તથા બાદર કહેવાઈ ગયા હવે સૂક્ષ્મ જીવોના ભેદ અને તેમના સ્વરૂપની પ્રરૂપણા કરવા માટે કહીએ છીએ–સ્નેહકાય આદિ આઠ પ્રકારના સૂક્ષ્મ છે (૧) સ્નેહકાયસૂક્ષ્મ (૨) પુષ્પસૂક્ષ્મ કાય સૂક્ષ્મ (૩) પ્રાણિસૂક્ષ્મ (૪) ઉત્તિગસૂક્ષ્મ (૫) પનકસૂક્ષ્મ (૬) બીજ સૂક્ષ્મ (૭) હરિત સૂક્ષ્મ અને (૮) અન્ડજ સૂક્ષ્મ

આનો અર્થ આ પ્રમાણે છે ઝાકળ, બરફ ધુમ્મસ વગેરે સ્નેહસૂક્ષ્મ કહેવાય છે અહીં "સ્નેહ" શબ્દથી પાણી એ અર્થ લેવાનો છે ગુલર વગેરેના સૂક્ષ્મ ફૂલ પુષ્પસૂક્ષ્મ કહેવાય છે જે પ્રાણી હલન ચલનથી જ દેખાય છે અને સ્થિત હોવાથી ન દેખાય તેઓ પ્રાણી સૂક્ષ્મ કહેવાય જેવા કે કથવા વગેરે નાની નાની કીડીઓનો સમૂહ–કીડી નગર–ઉત્તિગસૂક્ષ્મ છે આ પ્રાણી ઘનીભૂત હોવા છતા પૃથ્વી વગેરે જેવા હોવાથી સહેજમા દેખી શકાતા નથી વર્ષાકાળમા ભૂમિ અને લાકડા વગેરેની ઉપર જે પાચ વર્ણોની લીલ–ફૂગ ઉત્પન્ન થાય છે તે પનકસૂક્ષ્મ છે શાલિ આદિ તુષના મોઢા જેનાથી અકુર ઉત્પન્ન થાય છે તે બીજસૂક્ષ્મ કહેવાય છે નવુ ઉત્પન્ન થનાર અને રૂપરગનુ હોવાના કારણે જે સહેલાઈથી દેખાતુ નથી તે હરિતસૂક્ષ્મ છે માખી, કીડી, ગરોળી વગેરેના નાના નાના ઈડા અન્ડસૂક્ષ્મ કહેવાય છે ॥સૂ૦ ૧૧॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પ્રથમ કહેવાઈ ગયુ છે કે સૂક્ષ્મ તથા બાદરના ભેદથી જીવ બે પ્રકારના છે–હવે એમાથી સૂક્ષ્મ જીવોના ભેદોનુ પ્રતિપાદન કરવા માટે કહીએ છીએ તીર્થંકર વગેરેએ સ્નેહસૂક્ષ્મ વગેરે પર્વોક્ત આઠ પ્રકારના સૂક્ષ્મ જીવો કહેલા છે તીર્થંકર વગેરેએ

આઠ પ્રકારના સૂક્ષ્મ નાના નાના જીવો કહેલા છે તે આ પ્રમાણે છે-(૧) સ્નેહસૂક્ષ્મ (૨) પુષ્પ-સૂક્ષ્મ (૩) પ્રાણિસૂક્ષ્મ (૪) ઉત્તિંગસૂક્ષ્મ (૫) પનકસૂક્ષ્મ (૬) બીજસૂક્ષ્મ (૭) હરિતસૂક્ષ્મ અને (૮) અન્ડજસૂક્ષ્મ કહ્યુ પણ છે આઠ સૂક્ષ્મ છે જેમકે-સ્નેહસૂક્ષ્મ પુષ્પસૂક્ષ્મ પ્રાણીસૂક્ષ્મ ઊત્તિંગસૂક્ષ્મ પનકસૂક્ષ્મ બીજસૂક્ષ્મ, હરિતસૂક્ષ્મ અને અન્ડજસૂક્ષ્મ

અહીં "સ્નેહ" પદથી અપ્કાય વિશેષ ગ્રહણ કરવામા આવેલ છે

કુંજટિકા-ધુમ્મસ (ઝાકળનુ પાણી) હીમ વિગેરે સ્નેહસૂક્ષ્મ કહેવાય છે

ગૂલર (એક જાતનુ ઝાડ) ના ફૂલની જેમ જે અત્યન્ત સૂક્ષ્મ પુષ્પ છે તેઓ પુષ્પ સૂક્ષ્મ કહેવાય છે જે પ્રાણીઓ એટલા નાના છે કે જે હાલતા-ચાલતા હોય ત્યારે જ દેખાય છે સ્થિર હોય ત્યારે દેખાતા નથી તે કંથવા વગેરે પ્રાણિસૂક્ષ્મ કહેવાય છે નાની-નાની કીડીઓ વગેરેનો સમૂહ-કીડીયારા ઉત્તિંગ સૂક્ષ્મ કહેવાય છે આ જીવ એટલા નાના હોય છે કે ઘણી સંખ્યામા ભેગા થવા છતા પણ પૃથ્વીના રૂપ-રંગ ના જેવા હોવાથી જીવ રૂપે દેખાતાં નથી ચોમાસામાં જમીન તથા લાકડા વગેરે ઉપર પંચવર્ણી જે કોઈ લીલ-ફૂલ ફૂગી થાય છે. તે જ્યારે સહજ પણ દેખાતા નથી ત્યારે પનકસૂક્ષ્મ કહેવાય છે ડાંગર વગેરેના પુષ્પના મુખ જેનાથી અંકુરની ઉત્પત્તિ થાય છે તેને બીજસૂક્ષ્મ કહેવાય છે નવા-નવા ઉત્પન્ન થનાર જમીનના રંગના હરિતકાય હરિત સૂક્ષ્મ કહેવાય છે, જે સાધારણતયા દેખાતા નથી, માખી કીડી ખીસકોલી, વગેરેના ઘણા જ નાના-નાના અન્ડોને અન્ડસૂક્ષ્મ કહે છે ॥સૂ૦ ૧૧॥

बायरा अणेगविहा पुढवीकाइया, सू० १२

મૂલાર્થ—બાદર જીવ પૃથ્વિકાય વગેરેના ભેદથી અનેક પ્રકારના છે ॥સૂ૦ ૧૨॥

તત્વાર્થદીપિકા—પ્રથમ સંસારી જીવોનો એક ભેદ બાદર કહેવાય ગયો-પૃથ્વીકાયિક આદિ બાદર જીવ અનેક પ્રકારના છે જેમ કે-પૃથ્વીકાયિક અપ્કાયિક વાયુકાયિક તેજસ્કાયિક અને વનસ્પતિકાયિક એમા સૂક્ષ્મતા હોવા છતા પણ બાદરતા પણ દેખાઈ શકે છે ॥૧૨॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પૂર્વસૂત્રમા સૂક્ષ્મજીવોના આઠ પ્રકારનુ પ્રતિપાદન કરવામાં આવ્યુ છે હવે બાદર જીવોના ભેદ બતાવીએ છીએ-પૃથ્વીકાય આદિ બાદર જીવ અનેક પ્રકારના કહેવામા આવ્યા છે અહી આદિ શબ્દથી અપ્કાયિક વાયુકાયિક અને વનસ્પતિકાયિક આદિ સમજી લેવા જોઈએ

આ જીવ સૂક્ષ્મ હોવા થકા બાદર પણ હોય છે અર્થાત્ એમા જે અત્યન્ત નાના હોય છે તે સૂક્ષ્મ, અને જે અનાયાસે જ દૃષ્ટિગોચર થઈ જાય છે તે બાદર કહેવાય છે

એ પહેલા પણ કહેવાઈ ગયુ છે કે અહી સૂક્ષ્મ અને બાદરના જે ભેદ કહેવામા આવ્યા છે તે જીવોના શરીરની સૂક્ષ્મતા અને સ્થૂળતાની અપેક્ષા એ છે સૂક્ષ્મ નામકર્મનાં ઉદય અને બાદર નામકર્મના ઉદયવાળા જે સૂક્ષ્મ અને બાદર જીવ શાસ્ત્રોમા કહેવામા આવ્યા છે અત્રે તેમનો ઉલ્લેખ નથી. ॥૧૨॥

मुत्ता मणेगविहा तित्थसिद्धाइया

મૂલસૂત્રાર્થ—મુક્તજીવ તીર્થસિદ્ધ આદિના ભેદથી અનેક પ્રકારના હોય છે

તત્વાર્થદીપિકા—સ સારી અને મુકતના ભેદથી બે પ્રકારના જીવોનુ કથન કરવામાં આવ્યુ છે તેમાથી અહી મુકતજીવોનુ સ્વરૂપ કહીએ છીએ–સમસ્ત કર્મોના ક્ષય રૂપ મોક્ષને પ્રાપ્ત થવા-વાળા મુકત જીવ અનેક પ્રકારના છે તે આ મુજબ છે–તીર્થસિદ્ધ અતીર્થસિદ્ધ આદિ નન્દીસૂત્રના ૨૧ સૂત્રમા કહેલા છે. આ રીતે અનન્તરસિદ્ધ પરમ્પરા સિદ્ધ આદિ ભેદ પણ જાણી લેવા જોઈએ ॥૧૩॥

તત્વાર્થનિર્યુકિત—સ સારી અને મુકતના ભેદથી બે પ્રકારના જીવોમાં સ સારી જીવોની આઠ સૂત્રોમા પ્રરૂપણા કરેલ છે હવે કર્મપ્રાપ્ત મુકત જીવોનુ પ્રતિપાદન કરવામાં છે—

સઘળા કર્મોના ક્ષયરૂપ મોક્ષ મેળવનારા જીવો મુકત કહેવાય છે તે અનેક પ્રકારના છે એમા અનન્તરસિદ્ધ જીવ ૫દર પ્રકારના છે-(૧) તીર્થસિદ્ધ (૨) અતીર્થસિદ્ધ (૩) તીર્થ કર-સિદ્ધ (૪) અતીર્થ કરસિદ્ધ (૫) સ્વય બુદ્ધ (૬) પ્રત્યેકબુદ્ધ (૭) બુદ્ધબોધિતસિદ્ધ (૮) સ્ત્રીલિ ગ-સિદ્ધ (૯) પુરુષલિ ગસિદ્ધ (૧૦) નપુ સકલિ ગસિદ્ધ (૧૧) સ્વલિ ગસિદ્ધ (૧૨) અન્યલિ ગસિદ્ધ (૧૩) ગૃહસ્થલિ ગસિદ્ધ (૧૪) એકસિદ્ધ અને (૧૫) અનેકસિદ્ધ

આ ભેદ નન્દીસૂત્રના ૨૧ માં સૂત્રમા કહેલ છે, એનો અર્થ સુસ્પષ્ટ છે તીર્થ કર દ્વારા તીર્થની સ્થાપના થઈ જવા પર જેઓ સિદ્ધ થાય તેઓ તીર્થસિદ્ધ કહેવાય છે વળી કહ્યુ પણ છે સમસ્ત કર્મોના ક્ષય થવાથી જીવ ઉપર નિર્વાણ તરફ જાય છે જેવી રીતે બળતણ બળી જવાથી અને નવુ બળતણ ન મળવાથી અગ્નિ નિર્વાણને પ્રાપ્ત કરે છે તેમ ॥સૂ૦ ૧૩॥

जीवस्स छ भावा ઈત્યાદિ

મૂલાર્થ—જીવના છ ભાવ હોય છે ઔદયિક ઔપશમિક, ક્ષાયિક, મિશ્ર (ક્ષાયોપશમિક) પારિણામિક અને સાન્નિપાતિક ॥સૂ૦ ૧૪॥

તત્વાર્થદીપિકા—પ્રથમ સ સારી અને મુકતના ભેદથી તથા સૂક્ષ્મ–બાદર સમનસ્ક–અમનસ્ક વગેરેના ભેદથી, જીવોનુ નિરૂપણ કરવામા આવેલ છે હવે તે જીવોનાં સ્વરૂપભૂત ઔદયિક વગેરે છ ભેદોની પ્રરૂપણા કરવા માટે કહીએ છીએ–બોધમય ઉપયોગવાન જીવના તીર્થ કરોએ છ ભાવ કહ્યા છે (૧) ઔદયિક (૨) ઔપશમિક (૩) ક્ષાયિક (૪) મિશ્ર (ક્ષાયોપશમિક) (૫) પારિણામિક અને (૬) સાન્નિપાતિક

જીવની ભવન અથવા થવા વાળી પરિણતિને ભાવ કહે છે દ્રવ્યક્ષેત્ર કાળ, ભાવના નિમિત્તથી કર્મોના ફળની પ્રાપ્તિ થવી ઉદય કહેવાય છે જેવી રીતે પાણીમાં કાદવનુ ઉભરાવુ

એ રીતે કર્મોદયથી ઉત્પન્ન **થવા વાળો** ભાવ ઔદયિક ભાવ કહેવાય છે

આત્મામા કર્મની શક્તિનો કારણવશ અનુદ્ભવ થવો તે ઉપશમ કહેવાય છે જેવી રીતે ફટકડી વગેરે દ્રવ્યોના ઉપયોગથી પાણીમા કચરાનુ તળીયે બેસી જવુ

કર્મોનુ કાયમ માટે શાન્ત થઈ જવુ તે ઔપશમિક છે જેવી રીતે કાચ વગેરે પાત્રમા સ્થિત અગર વાદળમા સ્થિત પાણીમા મેલનો અત્યત અભાવ હોય છે તેમ કર્મોનો સર્વથા નાશ થવો એ ક્ષાયિક ભાવ છે બન્ને અવસ્થાઓનુ મિશ્રણ મિશ્ર અગર ક્ષયોપશમ કહેવાય

છે. જેવી રીતે કુવા અગર તળાવના પાણીમાં કચરાનુ થોડુ થોડુ ઓછુ થવુ અગર ન થવુ તે ક્ષાયોપશમિક ભાવ છે જે ભાવ સ્વત રહે છે કર્મના ઉદય વગેરેની અપેક્ષા રાખતો નથી તે પારિણામિક ભાવ છે

આ રીતે કર્મના ફળ-વિપાકના પ્રગટ થવા રૂપ ઉદયથી જન્મનાર ભાવ ઔદયિક છે રખ્યાથી ઢકાયેલ અગ્નિની જેમ કર્મની અનુત્પાદ અવસ્થાને ઉપશમ કહે છે ઉપશમથી ઉત્પન્ન ભાવ ઔપશમિક કહેવાય છે

કર્મના ક્ષયથી નિષ્પન્ન થવાવાળો ભાવ ક્ષાયિક છે કર્મના ક્ષય અને ઉપશમથી થવાવાળો ભાવ મિશ્રભાવ કહેવાય છે જે ભાવ કોઈ કર્મના ઉદય, ઉપશમ, ક્ષય અગર ક્ષયોપશમથી નહી પરંતુ સ્વભાવથી જ થાય છે તે પારિણામિક ભાવ છે અને ઔદયિક વગેરે ભાવોના સમ્મિલનથી ઉત્પન્ન થવાવાળો ભાવ સાન્નિપાતિક ભાવ કહેવાય છે

આમાં ઔદયિક વગેરે પાચ ભાવ કર્મનિ અપેક્ષાથી થાય છે આથી તેઓ નૈમિત્તિક છે પરંતુ પારિણામિક ભાવ કર્મના ઉદય વગેરેથી થતા નથી આથી તેઓ સ્વાભાવિક કહેવાય છે આ છ પ્રકારના ભાવ યથાયોગ્ય ભવ્ય અથવા અભવ્ય જીવના સ્વરૂપ છે મિથ્યાદૃષ્ટિ અને અભવ્ય જીવોને ઔપશમિક તથા ક્ષાયિક ભાવની પ્રાપ્તિ કદાપી થતી નથી આ બન્ને ભવ્ય જીવોને જ થાય છે પારિણામિક ભાવ બન્ને પ્રકારના જીવોને થાય છે

સાન્નિપાતિક ભાવ એક સાથે એક જીવમા પ્રાપ્ત થાય છે ઔપશમિક આદિ ભાવોમાથી બે કે ત્રણ વગેરેના સંયોગથી ઉત્પન્ન થાય છે મિશ્રભાવમાં તેનો અન્તર્ભાવ થઈ શકે છે તેમ છતાં આગમસાણીતિના કારણે તેને જુદુ ગ્રહણ કરવામા આવેલ છે અને ઔદયિક વગેરે સાન્નિપાતિકનો મિશ્રમા અન્તર્ભાવ થતો પણ નથી ॥સૂ૦ ૧૪॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પ્રથમ જીવોના સસારી તથા મુક્તના ભેદ બતાવી તથા તેમના અવાન્તર ભેદોનુ પ્રતિપાદન કરીને વિશદ નિરૂપણ કરવામા આવ્યુ છે હવે તે જીવોના સ્વરૂપ ભૂત ઔદયિક વિગેરે છ ભાવોની પ્રરૂપણા કરવા માટે કહીએ છીએ ચેતના લક્ષણવાળા જીવના છ ભાવ કહેવામા આવ્યા છે જેમકે-(૧) ઔદયિક (૨) ઔપશમિક (૩) ક્ષાયિક (૪) મિશ્ર (૫) પારિણામિક (૬) અને સાન્નિપાતિક

કોઈ પદાર્થને ગ્રહણ કરવાના વ્યાપારરૂપ લક્ષણવાળા જીવના જ્ઞાન અને દર્શન બન્ને પ્રકારના વ્યાપારમા ચૈતન્યરૂપથી સ્વાભાવિક પરિણામ સરખુ જ હોય છે, જ્ઞાન તથા દર્શન ચૈતન્ય કહેવાય છે

આ જીવનનુ સ્વાભાવિક પરિણામ છે એમા જ્ઞાન સાકાર છે જ્યારે દર્શન નિરાકાર હોય છે

સ્વાભાવિક ચૈતન્યરૂપ પરિણતિને પ્રાપ્ત કરતો થકો જ્ઞાન દર્શન રૂપ ઉપયોગ, કર્મની સાથે આત્માના અયોગોલક (લોખડના ગોળા) ની જેમ પરસ્પર પ્રદેશબન્ધ હોવા છતા પણ ભિન્નતાનુ જ્ઞાન કરાવે છે તાત્પર્ય એ છે કે આત્મા જો કે કર્મોથી બધાયેલ છે-એક મેક થઇ રહ્યો છે તો પણ પોતાના ચૈતન્ય સ્વભાવથી તેમનાથી જુદા તરીકે ઓળખાય છે અવયવ રૂપ પ્રદેશ જીવાવયવોનો પરસ્પર સયોગ કદી-કદી દૃઢ હોય છે અને કદી-કદી શિથિલ હોય છે.

પોતાનુ ફલ પ્રદાન કરવા માટે ઉન્મુખ, ઉદયમા આવેલા કર્મના અવયવ જીવાત્માના અવયવ-સ ચોગને શિથીલ કરીને અ દર પ્રવેશ કરી જાય છે જીવ અને કર્મના પરસ્પર મિશ્રણ રૂપ પ્રવેશ બન્ધના કારણે જીવ કર્મની સાથે એકરૂપ થઈ જાય છે તે લોઢાના પિન્ડાની જેમ ભિન્ન થતો નથી

સારાશ એ છે કે જેમ દૂધ અને પાણી એકબીજામા મળી જવાથી અલગ–અલગ પ્રતીત થતા નથી તેવી જ રીતે આત્મા અને કર્મ એક મેક થઈ જાય છે તો બ ને પૃથક્–પૃથક્ જણાતા નથી, તો પણ ઉપયોગ રૂપ લક્ષણ ના કારણે જીવ પોતાની સાથે આવેલા કર્મદળોથી પૃથક્ ઓળખાય છે ઉપયોગની અવસ્થામા કર્મ પુદ્ગલોના ચૈતન્ય રૂપથી પરિણતી થતી નથી આથી જીવ પણામા સમાન રૂપથી મળતા ચૈતન્ય, ઉપશમ, ક્ષય અને ક્ષયોપશમથી ઔપશમિક ક્ષાયિક ક્ષાયોપશમિક ભાવથી તથા કર્મોદયના વશથી કલુષિત આકારથી પરિણત જીવપર્યાયની વિવક્ષામા જીવના સ્વરૂપ હોય છે

ભવત્ અર્થાત્ થવાને "ભાવ" કહે છે અહી ભાવમા ઘઞ્ પ્રત્યય થયો છે એવી રીતે જીવ ભવન રૂપ પરિણામને ભાવ કહે છે

દ્રવ્યાદિનુ નિમિત્ત મેળવીને કર્મોના ફળની પ્રાપ્તિ થવી ઉદય કહેવાય છે જેમ પાણીમા કાદવનુ આવવુ તેમ કર્મના ઉદયથી ઉત્પન્ન થનાર ભાવ ઔદયિક ભાવ કહેવાય છે કર્મની શકિતનુ આત્મામા કારણવશાત્ દબાઈ રહેવુ ઉપશમ છે, જેમ ફટકડી આદિ દ્રવ્યોના સ ચોગથી પાણીમા કચરો નીચે બેસી જાય છે કર્મોની આત્યન્તિક નિવૃત્તિને ક્ષય કહે છે, ક્ષય અને ઉપશમના મિશ્રણને ક્ષાયોપશમ કહેવાય છે જેવી રીતે કુવામા રહેલા પાણીમા કાદવની થોડી ક્ષીણતા અને થોડી અક્ષીણતા હોય છે દ્રવ્યનુ સ્વાભાવિક રૂપ પરિણામ કહેવાય છે કર્મના વિપાકનું પ્રકટ થવુ ઉદય છે અને ઉદયથી ઉત્પન્ન થનારા ભાવને ઔદયિક ભાવ કહેવામા આવેલ છે જેમ અગ્નિને રખ્યાથી ઢાકી દઇએ તો તેની શક્તિ પ્રકટ થતી નથી તેવી જ રીતે કર્મની શકિતનુ દબાયેલ અવસ્થામા રહેવુ ઉપશમ કહેવાય છે અને ઉપશમથી ઉત્પન્ન થનારો ભાવ ઔપશમિકભાવ છે આ પણ જીવની એક અવસ્થા છે

આવી જ રીતે કર્મના ક્ષયથી ઉત્પન્ન થનારો ભાવ ક્ષાયિક અને ઉપશમથી ઉત્પન્ન થનારો ભાવ ક્ષાયોપશમિક અને આત્માનુ પરિણામ જ પારિણામિક ભાવ છે પરિણામ જેનુ પ્રયોજક હોય અથવા પરિણામથી જે ઉત્પન્ન થાય તે પારિણામિક ભાવ એમ સમજવુ ન જોઈએ હકીકતના પારિણામિક ભાવ તેજ કહેવાય છે જે કોઈપણ કર્મના ઉદય ક્ષય, ક્ષયોપશમ અગર ઉપશમની અપેક્ષા રાખતો નથી–બલ્કે સ્વભાવથી જ હોય છે પારિણામિક કર્મના નિમિત્તથી માનવામા આવે તો જીવત્ત્વ, ભવ્યત્ત્વ અને અભવ્યત્ત્વ સમ્યક્દર્શન આદિની જેમ સાદિ થઈ જશે

પરિણામ જેનુ પ્રયોજન હોય તે પારિણામિક ભાવ છે એવી વ્યુત્પત્તિ માની લઈએ તો તેનાથી પહેલી અવસ્થામા જીવનોઅભાવ હોવાથી તેની આદિ થઈ જશે એવી જ રીતે પરિણામથી ઉત્પન્ન થનારા ભાવને જો પારિણામિક ભાવ માનીએ તો ઉત્પત્તિથી પહેલા તેની અનુત્પત્તિ માનવી પડશે કારણ કે જે ઉત્પન્ન થતુ નથી તેની જ અનુત્પત્તિ હોય છે આમ માનવાથી પણ પૂર્વોકત દોષની પ્રાપ્તિ થાય છે આ જ વાત ભવ્યત્ત્વ અને અભવ્યત્ત્વતા વિષયમા પણ સમજવી જોઈએ

એટલા માટે એજ માનવુ યોગ્ય છે કે પારિણામિક ભાવ અનાદિ કાળથી પ્રસિદ્ધ છે અને તેજ સમસ્ત ભાવોનો આધાર છે તેના વગર કોઈ પણ ભાવની નિષ્પત્તિ થતી નથી સિદ્ધ થવા યોગ્ય ભાવ ભવ્યત્વ અને સિદ્ધ ન થવાયોગ્ય ભાવ અભવ્યત્વ કહેવાય છે

સન્નિપાત જેનુ પ્રયોજન હોય તે સાન્નિપાતિક ભાવ કહેવાય છે આ છ એ ભાવો જીવ પર્યાયની વિવક્ષા થવા પર જીવના સ્વરૂપ કહેવાય છે

ક્રમથી થનારી અવસ્થાઓ પર્યાય કહેવાય છે જેમ માટીનો ઘડો, ઠીકરા કપાલિકા-શકોરા વિગેરે પર્યાય છે, જે એકની પછી બીજા પર્યાયને પ્રાપ્ત થાય છે તે દ્રવ્ય છે દાખલા તરીકે-માટી એવી રીતે કર્મનો ઉદય થવાથી ઉત્પન્ન થનારો ભાવ ઔદયિક કહેવાય છે તપ, સયમ, વૈરાગ્ય વગેરેના કારણે અનુદય રૂપ કર્મના ઉપશમથી ઉત્પન્ન થનારો ભાવ ઔપશમિક કહેવાય છે જેમ પાણીમા ગદકી ઉત્પન્ન કરનાર કાદવ જ્યારે ફટકડી આદિ રસાયણિક દ્રવ્યોના સબધથી તળીએ બેસી જાય છે તો પાણી સ્વચ્છ થઈ જાય છે

અર્હત ભગવાન દ્વારા પ્રતિપાદિત તત્ત્વોના અનુસધાનથી જ્ઞાનાવરણ આદિ કર્મમળનો ક્ષય થઈ જવાથી નિર્મળતા ઉત્પન્ન કરવા વાળો ભાવ ક્ષાયિક કહેવાય છે તાત્પર્ય એ છે કે કર્મના ક્ષયથી જે ભાવ ઉત્પન્ન થાય છે તે ક્ષાયિક ભાવ કહેવાય છે જેમ કચરો જુદો પાડેલ, નિર્મળ તથા સ્ફટિક પાત્રની અદર રાખેલા જળમા મલીતાનો અત્યત અભાવ થઈ જાય છે

જે ભાવ કર્મના ઉપશમ વિગેરેની અપેક્ષા રાખતો નથી પરતુ સ્વભાવથી જ થાય છે તે ચૈતન્ય આદિ પારિણામિક ભાવ કહેવાય છે એવી જ રીતે ઔદયિક વગેરે ભાવોના સન્નિપાતથી અર્થાત્ ગદકીથી ઉત્પન્ન થનારો ભાવ સાન્નિપાતિક ભાવ કહેવાય છે

આમાં ઔદયિક આદિ પાચ ભાવો કર્મોદય આદિની અપેક્ષાથી થવાના કારણે નૈમિત્તિક છે, પરંતુ ચેતનત્વ આદિ રૂપ પારિણામિક ભાવ સ્વાભાવિક હોય છે તેમા કર્મના ઉદય આદિની અપેક્ષા રહેતી નથી આ જ છ પ્રકારના ભાવ ભવ્ય અથવા અભવ્ય જીવોનુ સ્વરૂપ કહેવાય છે

આ છ પ્રકારના ભાવોમાંથી મિથ્યાદૃષ્ટિ અને અભવ્ય જીવોને ઔપશમિક અને ક્ષાયિક ભાવ કદાપી થતા નથી આ બને ભાવ ભવ્ય જીવોને જ પ્રાપ્ત થાય છે પારિણામિક, ઔદયિક, ક્ષાયોપશમિક અને સાન્નિપાતિક ભાવ ભવ્યો અને અભવ્યો-બનેમા જ મળે છે

મિશ્રભાવ ક્ષય અને ઉપશમથી ઉત્પન્ન થાય છે તે કઇક-કઇક ઓલવાયેલી અને કંઈ-કઈ શાત અગ્નિના જેવો છે ઉદયાવલિકામા પ્રવિષ્ટ (પેસેલા) કર્મનો ક્ષય થઈ જવાથી તથા ક્ષેત્ર કર્મનો અનુદ્રેક થવા પર-આ રીતે બનેની અવસ્થામા ક્ષયોપશમિક (મિશ્ર) ભાવની ઉત્પતિ થાય છે

શકા-ઔપશમિક ભાવ અને ક્ષાયોપશમિક ભાવમાં કોઈપણ તફાવત નથી કારણ કે ઔપશમિક ભાવમાં પણ ઉદિત-ઉદયાવલિકામાં પ્રવિષ્ટ કર્મનો ઉદય થતો નથી અને અનુદિત કર્મ ઉપશાન્ત રહે છે

સમાધાન-ક્ષયોપશમભાવમા કર્મનો ઉદય પણ રહે છે ત્યાં પ્રદેશ પણાથી કર્મનુ વેદન સ્વીકાર કરવામા આવ્યુ છે પરતુ તે વિધાનકારી હોતુ નથી અર્થાત્ ત્યા વિપાકની વેદના થતી નથી-ઉપશમ-અવસ્થામા કર્મનો પ્રદેશોદય પણ થતો નથી આ જ આ બનેમા અન્તર છે

જો કે ઉમાસ્વાતિકૃત તત્વાર્થસૂત્રમા ઔપશમિક આદિ પાંચ જ ભાવ કહ્યા છે, સાન્નિપાતિક ભાવ કહેલ નથી તો પણ આગળ ઉપર કહેવામાં આવનારા આગમપ્રમાણ અનુસાર સાન્નિપાતિક ભાવને પણ પૃથક્ કહેવો જરૂરી છે સ્થાનાંગસૂત્રના છઠા સ્થાનના ૫૩૭મા સૂત્રમા કહ્યુ છે–છ પ્રકારના ભાવ કહેવામા આવ્યા છે તે આ મુજબ છે–(૧) ઔદયિક (૨) ઔપશમિક (૩) ક્ષાયિક (૪ ક્ષાયોપશમિક (૫) પારિણામિક અને (૬) સાન્નિપાતિક એવી સ્થિતીમા મિશ્રનુ ગ્રહણ કરવાથી એક જીવમાં ઉત્પન્ન થનારા સાન્નિપાતિક ભાવનો, કે જે ઔપશમિક આદિ ભાવોમાથી બે, ત્રણ ચાર વગેરેના સંયોગથી ઉત્પન્ન થાય છે, અન્તર્ભાવ થવા પર પણ ઉપરબતાવેલ આગમના પ્રમાણથી તેને જુદો ગ્રહણ કરવો જ યથાયોગ્ય છે ॥૧૪॥

एगवीसइ बेनोट्ठादसतिनेगमेया जहाकमं

મૂળસૂત્રાર્થ—પૂર્વોક્ત છ ભાવોના અનુક્રમથી ૨૧, ૨, ૯, ૧૮, ૩ અને અનેક ભેદ છે ॥૧૫॥

તત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમા જીવના ઔદયિક વગેરે છ ભાવોના સ્વરૂપ અને લક્ષણનુ નિરૂપણ કરવામા આવ્યુ છે હવે તેમનામાથી પ્રત્યેકના ભેદ બતાવવા માટે કહીએ છીએ—

અનુક્રમથી ઔદયિક ભાવના ૨૧ ભેદ છે, ઔપશમિક ભાવના ૨ ભેદ છે, ક્ષાયિક ભાવના ૯ ભેદ છે, મિશ્રરૂપ ક્ષાયોપશમિક ભાવના ૧૮ ભેદ છે, પારિણામિક ભાવના ૩ ભેદ છે અને સાન્નિપાતિકભાવના અનેક ભેદો છે

ઔદયિક ભાવના ૨૧ ભેદ—(૧–૪) નરકગતિ, તિર્યંચગતિ, મનુષ્યગતિ અને દેવગતિના ભેદથી ચાર પ્રકારની ગતિ, (૫–૮) ક્રોધ, માન, માયા, અને લોભના ભેદથી ૪ કષાય, (૯–૧૧) સ્ત્રીવેદ, પુરુષવેદ, અને નપુસકવેદના ભેદથી ૩ લીંગ, (૧૨) મિથ્યાદૃષ્ટિ (૧૩) અજ્ઞાન (૧૪) (૧૫) અસિદ્ધત્વ અને (૧૬–૨૧) કૃષ્ણલેશ્યા, નીલલેશ્યા, કપોતલેશ્યા, તેજોલેશ્યા, પદ્મલેશ્યા, અવિરતિ શુકલલેશ્યા આ ઔદયિક ભાવના ૨૧ ભેદ છે

જે જોડાયેલ હોય તેને લેશ્યા કહે છે મનોયોગના નિમિત્તથી ઉત્પન્ન થનારા પરિણામ વિશેષ લેશ્યા કહેવાય છે અથવા જે કર્મપુદ્ગલ લિશ્યન્તે અર્થાત્ આત્માની સાથે એકમેક થઈ જાય તેને લેશ્યા કહે છે લેશ્યા બે પ્રકારની છે–દ્રવ્યલેશ્યા અને ભાવલેશ્યા કાળા વગેરે રંગવાળા દ્રવ્યવિશેષકોને દ્રવ્યલેશ્યા અને કાળા વગેરે દ્રવ્યોના નિમિત્તથી ઉત્પન્ન થનારા–અધ્યવસાયને ભાવલેશ્યા કહે છે આ ભાવલેશ્યા કર્મબન્ધના કારણે થાય છે.

કાળા વર્ણવાળા દ્રવ્યના નિમિત્તથી જે અશુદ્ધ પરિણામ વિશેષ ઉત્પન્ન થાય છે તે કૃષ્ણલેશ્યા કહેવાય છે "જે લેશ્યાવાળા દ્રવ્યોને જીવ ગ્રહણ કરે છે તેજ લેશ્યાને અનુરૂપ તેના પરિણામ થાય છે" એમ પ્રજ્ઞાપના સૂત્રના લેશ્યાપદમા કહ્યુ છે એવી જ રીતે વાદળી દ્રવ્યના નિમિત્તથી નીલલેશ્યા થાય છે નીલ અને રક્ત બને વર્ણવાળા દ્રવ્યના નિમિત્તથી કપોતલેશ્યા, રક્તવર્ણવાળા દ્રવ્યના નિમિત્તથી તેજોલેશ્યા, પીત વર્ણવાળા દ્રવ્યના નિમિત્તથી પદ્મલેશ્યા અને શુકલ વર્ણવાળા દ્રવ્યના નિમિત્તથી શુકલ લેશ્યા ઉત્પન્ન થાય છે ત્યા અન્તિમ ત્રણે લેશ્યાઓ ક્રમિક ઇષ્ટ, ઇષ્ટતર ઇષ્ટતમ હોય છે આદિની ત્રણે લેશ્યાઓ ક્રમશ અનિષ્ટતમ, અનિષ્ટતર, અનિષ્ટ હોય છે

આ રીતે બધા મળીને ઔદયિક ભાવના ૨૧ ભેદ હોય છે, જો કે અનુયોગદ્વાર સૂત્રમા ૭ ભાવોના પ્રકરણમાં ઔદયિકભાવના ઘણા ભેદ બતાવવામા આવ્યા છે, જેમનુ કથન આગળ કહેવાશે. તો પણ તે બધા ઔદયિક ભાવોનો સૂત્રમા કહેલા ૨૧ ભેદોમાજ સમાવેશ થઈ જાય છે આથી, કોઈ દોષ સમજવો ન જોઈએ અનુયોગદ્વાર સૂત્રનુ કથન આ પ્રકારે છે—

"ઔદયિકભાવ કેટલા પ્રકારના છે ? બે પ્રકારના—ઔદયિક અને ઉદય નિષ્પન્ન ઔદયિક ભાવ શુ છે ? ઔદયિક ભાવ આઠ કર્મપ્રકૃતિઓના ઉદયથી થાય છે તેજ ઔદયિક છે ઉદય નિષ્પન્ન શુ છે ? ઉદય નિષ્પન્ન બે પ્રકારના છે—જીવોદયનિષ્પન્ન અને અજીવોદય નિષ્પન્ન

જીવોદયનિષ્પન્ન કોને કહે છે ? તે અનેક પ્રકારના કહેવામાં આવ્યા છે જેમ કે—નૈરયિક તિર્યંચ, મનુષ્ય, દેવ, પૃથિવીકાયિક–ત્રસકાયિક, ક્રોધકષાયી–લોભકષાયી–સ્ત્રીવેદક, પુરુષવેદક, નપુંસકવેદક, કૃષ્ણલેશ્યાવાળો યાને શુક્લલેશ્યાવાળો, મિથ્યાદૃષ્ટિ, અવિરત, અસંજ્ઞી, અજ્ઞાની, આહારક છદ્મસ્થ સયોગી, સસારમાં રહેલ જે સિદ્ધ થએલ નથી તે જીવોદય નિષ્પન્ન છે

હવે અજીવોદયનિષ્પન્ન શુ છે ? તે પણ અનેક પ્રકારના કહેવામાં આવ્યા છે જેમ કે—ઔદારિક શરીર, ઔદારિકશરીરપ્રયોગપારિણામિક દ્રવ્ય, વૈક્રિય શરીર, વૈક્રિયશરીર પ્રયોગપારિણામિક દ્રવ્ય આજ રીતે આહારક શરીર, તૈજસ શરીર કાર્મણ શરીર પણ કહી લેવું જોઇએ પ્રયોગપરિણામિક વર્ણ ગધ રસ સ્પર્શ એ બધા અજીવોદયનિષ્પન્ન છે આ ઉદયનિષ્પન્નનું વર્ણન પુરૂ થયુ અને તેની સાથે ઔદયિકભાવનુ પ્રતિપાદન પણ સપૂર્ણ થયુ

ઔપશમિકભાવ સક્ષેપથી બે પ્રકારના છે—સમ્યક્ત્વ અને ચારિત્ર અનુયોગદ્વારસૂત્રમાં ઔપશમિક ભાવના પણ અનેક ભેદ કહેવામા આવ્યા છે પરતુ આ સૂત્રમાં ટુકમાં જ વર્ણન છે આથી સમ્યક્ત્વ તથા ચારિત્ર આ બને ભેદોમાં જ તે સઘળાનો અન્તર્ભાવ સમજી લેવો. જોઈએ. અનુયોગદ્વારમાં કહ્યું છે—

ઔપશમિક ભાવ કેટલા પ્રકારના છે ? ઔપશમિક ભાવ બે પ્રકારના છે—ઔપશમિક તથા ઉપશમનિષ્પન્ન ઔપશમિક ભાવ શુ છે ? મોહનીય કર્મના ઉપશમથી ઔપશમિક ભાવ ઉત્પન્ન થાય છે ઉપશમનિષ્પન્ન ભાવ શું છે ? ઉપશમનિષ્પન્નના અનેક ભેદ છે જેવા કે—ઉપશાન્તક્રોધ, ઉપશાન્તલોભ, ઉપશાન્તરાગ, ઉપશાન્તદ્વેષ, ઉપશાન્તદર્શનમોહનીય, ઉપશાન્તચારિત્રમોહનીય, ઉપશાન્ત સમ્યક્ત્વલબ્ધિ, ઉપશાન્ત ચારિત્રલબ્ધિ, ઉપશાન્તકષાય છદ્મસ્થવીતરાગ અહીં ઉપશમનિષ્પન્ન અને ઔપશમિકભાવોનું નિરૂપણ સમાપ્ત થયું

જેનું સ્વરૂપ પહેલા કહેવાઈ ગયુ તે ક્ષાયિક ભાવના નવ ભેદ છે—(૧) જ્ઞાન (૨) દર્શન (૩) દાન (૪) લાભ (૫) ભોગ (૬) ઉપભોગ (૭) વીર્ય, (૮) સમ્યક્ત્વ તથા (૯) યથાખ્યાત ચારિત્ર સમસ્ત જ્ઞેય પદાર્થોને જાણવાવાળા અર્થાત્ સમ્પૂર્ણ જ્ઞાનાવરણીય કર્મના ક્ષયથી ઉત્પન્ન થનાર કેવળજ્ઞાન જ અહીં "જ્ઞાન" શબ્દથી ગ્રહણ કરવુ જોઈએ કેવળજ્ઞાન સિવાયના બાકીનાં ચાર જ્ઞાન ક્ષાયિક નહીં પરતુ ક્ષાયોપશમિક છે કારણ કે તેઓ જ્ઞાનાવરણ કર્મના ક્ષયોપશમથી ઉત્પન્ન થાય છે દર્શન શબ્દથી અત્રે સમ્પૂર્ણ દર્શનાવરણકર્મના ક્ષયથી અસ્તિત્વમાં આવનાર કેવળદર્શન જ સમજવું જોઈએ, ચક્ષુદર્શનાદિ નહીં ચક્ષુદર્શનાદિ ક્ષાયિક થઈ શકે, નહીં તે ક્ષયોપશમથી ઉત્પન્ન થાય છે સ્વને ત્યજી દેવુ તેને દાન કહે છે આ દાન સમ્પૂર્ણ

જો કે ઉમાસ્વાતિકૃત તત્ત્વાર્થસૂત્રમાં ઔપશમિક આદિ પાચ જ ભાવ કહ્યા છે, સાન્નિપાતિક ભાવ કહેલ નથી તો પણ આગળ ઉપર કહેવામાં આવનારા આગમપ્રમાણ અનુસાર સાન્નિપાતિક ભાવને પણ પૃથક્ કહેવો જરૂરી છે સ્થાનાંગસૂત્રના છ્ઠા સ્થાનના ૫૩૭માં સૂત્રમા કહ્યુ છે-છ પ્રકારના ભાવ કહેવામા આવ્યા છે તે આ મુજબ છે-(૧) ઔદયિક (૨) ઔપશમિક (૩) ક્ષાયિક (૪ ક્ષાયોપશમિક (૫) પારિણામિક અને (૬) સાન્નિપાતિક એવી સ્થિતીમા મિશ્રનુ ગ્રહણ કરવાથી એક જીવમાં ઉત્પન્ન થનારા સાન્નિપાતિક ભાવનો, કે જે ઔપશમિક આદિ ભાવોમાથી બે, ત્રણ ચાર વગેરેના સયોગથી ઉત્પન્ન થાય છે, અન્તર્ભાવ થવા પર પણ ઉપરબતાવેલ આગમના પ્રમાણથી તેને જુદો ગ્રહણ કરવો જ યથાયોગ્ય છે ॥૧૪॥

एगवीसइ बेनोट्ठादसतिनेगमेया जहाकमं

મૂળસૂત્રાર્થ—પૂર્વોકત છ ભાવોના અનુક્રમથી ૨૧, ૨, ૯, ૧૮, ૩ અને અનેક ભેદ છે ॥૧૫॥

તત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમા જીવના ઔદયિક વગેરે છ ભાવોના સ્વરૂપ અને લક્ષણનુ નિરૂપણ કરવામા આવ્યુ છે હવે તેમનામાથી પ્રત્યેકના ભેદ બતાવવા માટે કહીએ છીએ—

અનુક્રમથી ઔદયિક ભાવના ૨૧ ભેદ છે, ઔપશમિક ભાવના ૨ ભેદ છે, ક્ષાયિક ભાવના ૯ ભેદ છે, મિશ્રરૂપ ક્ષાયોપશમિક ભાવના ૧૮ ભેદ છે, પારિણામિક ભાવના ૩ ભેદ છે અને સાન્નિપાતિકભાવના અનેક ભેદો છે

ઔદયિક ભાવના ૨૧ ભેદ—(૧-૪) નરકગતિ, તિર્યચગતિ, મનુષ્યગતિ અને દેવગતિના ભેદથી ચાર પ્રકારની ગતિ, (૫-૮) ક્રોધ, માન, માયા, અને લોભના ભેદથી ૪ કષાય, (૯-૧૧) સ્ત્રીવેદ, પુરુષવેદ, અને નપુસકવેદના ભેદથી ૩ લીંગ, (૧૨) મિથ્યાદષ્ટિ (૧૩) અજ્ઞાન (૧૪) (૧૫) અસિદ્ધત્વ અને (૧૬-૨૧) કૃષ્ણલેશ્યા, નીલલેશ્યા, કૃપોતલેશ્યા, તેજોલેશ્યા, પદ્મલેશ્યા, અવિરતિ શુકલલેશ્યા આ ઔદયિક ભાવના ૨૧ ભેદ છે

જે જોડાયેલ હોય તેને લેશ્યા કહે છે મનોયોગના નિમિત્તથી ઉત્પન્ન થનારા પરિણામ વિશેષ લેશ્યા કહેવોય છે અથવા જે કર્મપુદ્ગલ લિશ્યન્તે અર્થાત્ આત્માની સાથે એકમેક થઈ જાય તેને લેશ્યા કહે છે લેશ્યા બે પ્રકારની છે-દ્રવ્યલેશ્યા અને ભાવલેશ્યા કાળા વગેરે રગવાળા દ્રવ્યવિશેષકોને દ્રવ્યલેશ્યા અને કાળા વગેરે દ્રવ્યોના નિમિત્તથી ઉત્પન્ન થનારા-અધ્યવસાયને ભાવલેશ્યા કહે છે આ ભાવલેશ્યા કર્મબન્ધના કારણે થાય છે

કાળા વર્ણવાળા દ્રવ્યના નિમિત્તથી જે અશુદ્ધ પરિણામ વિશેષ ઉત્પન્ન થાય છે તે કૃષ્ણલેશ્યા કહેવાય છે "જે લેશ્યાવાળા દ્રવ્યોને જીવ ગ્રહણ કરે છે તેજ લેશ્યાને અનુરૂપ તેના પરિણામ થાય છે" એમ પ્રજ્ઞાપના સૂત્રના લેશ્યાપદમા કહ્યુ છે એવી જ રીતે વાદળી દ્રવ્યના નિમિત્તથી નીલલેશ્યા થાય છે નીલ અને રકત બને વર્ણવાળા દ્રવ્યના નિમિત્તથી કપોતલેશ્યા, રકતવર્ણવાળા દ્રવ્યના નિમિત્તથી તેજોલેશ્યા, પીત વર્ણવાળા દ્રવ્યના નિમિત્તથી પદ્મલેશ્યા અને શુકલ વર્ણવાળા દ્રવ્યના નિમિત્તથી શુકલ લેશ્યા ઉત્પન્ન થાય છે ત્યાં અન્તિમ ત્રણે લેશ્યાઓ ક્રમિક ઈષ્ટ, ઇષ્ટતર ઈષ્ટતમ હોય છે આદિની ત્રણે લેશ્યાઓ ક્રમશ અનિષ્ટતમ, અનિષ્ટતર, અનિષ્ટ હોય છે

આ રીતે બધા મળીને ઔદયિક ભાવના ૨૧ ભેદ હોય છે, જો કે અનુયોગદ્વાર સૂત્રમા છ ભાવોના પ્રકરણમાં ઔદયિકભાવના ઘણા ભેદ બતાવવામા આવ્યા છે, જેમનું કથન આગળ કહેવાશે. તો પણ તે બધા ઔદયિક ભાવોનો સૂત્રમાં કહેલા ૨૧ ભેદોમાંજ સમાવેશ થઈ જાય છે આથી, કોઈ દોષ સમજવો ન જોઈએ અનુયોગદ્વાર સૂત્રનુ કથન આ પ્રકારે છે—

"ઔદયિકભાવ કેટલા પ્રકારના છે ? બે પ્રકારના—ઔદયિક અને ઉદય નિષ્પન્ન ઔદયિક ભાવ શું છે ? ઔદયિક ભાવ આઠ કર્મપ્રકૃતિઓના ઉદયથી થાય છે તેજ ઔદયિક છે ઉદય નિષ્પન્ન શુ છે ? ઉદય નિષ્પન્ન બે પ્રકારનાં છે—જીવોદયનિષ્પન્ન અને અજીવોદય નિષ્પન્ન.

જીવોદયનિષ્પન્ન કોને કહે છે ? તે અનેક પ્રકારના કહેવામાં આવ્યા છે જેમ કે—નૈરયિક તિર્યંચ, મનુષ્ય, દેવ, પૃથિવીકાયિક—ત્રસકાયિક, ક્રોધકષાયી—લોભકષાયી—સ્ત્રીવેદક, પુરુષવેદક, નપુંસકવેદક, કૃષ્ણલેશ્યાવાળો યાને શુકલલેશ્યાવાળો, મિથ્યાદષ્ટિ, અવિરત, અસંજ્ઞી, અજ્ઞાની, આહારક છદ્મસ્થ સંયોગી, સંસારમાં રહેલ જે સિદ્ધ થએલ નથી તે જીવોદય નિષ્પન્ન છે.

હવે અજીવોદયનિષ્પન્ન શુ છે ? તે પણ અનેક પ્રકારના કહેવામાં આવ્યા છે જેમ કે—ઔદારિક શરીર, ઔદારિકશરીરપ્રયોગપારિણામિક દ્રવ્ય, વૈક્રિય શરીર, વૈક્રિયશરીર પ્રયોગપારિણામિક દ્રવ્ય આજ રીતે આહારક શરીર, તૈજસ શરીર કાર્મણ શરીર પણ કહી લેવું જોઈએ. પ્રયોગપરિણામિક વર્ણ ગંધ રસ સ્પર્શ એ બધા અજીવોદપનિષ્પન્ન છે આ ઉદયનિષ્પન્નનું વર્ણન પુરૂ થયું અને તેની સાથે ઔદયિકભાવનુ પ્રતિપાદન પણ સંપૂર્ણ થયુ

ઔપશમિકભાવ સંક્ષેપથી બે પ્રકારના છે—સમ્યક્ત્વ અને ચારિત્ર, અનુયોગદ્વારસૂત્રમાં ઔપશમિક ભાવના પણ અનેક ભેદ કહેવામાં આવ્યા છે પરંતુ આ સૂત્રમાં ટુંકમા જ વર્ણન છે આથી સમ્યક્ત્વ તથા ચારિત્ર આ બંને ભેદોમાં જ તે સઘળાનો અન્તર્ભાવ સમજી લેવો. જોઈએ. અનુયોગદ્વારમાં કહ્યું છે—

ઔપશમિક ભાવ કેટલા પ્રકારના છે ? ઔપશમિક ભાવ બે પ્રકારના છે—ઔપશમિક તથા ઉપશમનિષ્પન્ન ઔપશમિક ભાવ શુ છે ? મોહનીય કર્મના ઉપશમથી ઔપશમિક ભાવ ઉત્પન્ન થાય છે ઉપશમનિષ્પન્ન ભાવ શુ છે ? ઉપશમનિષ્પન્નના અનેક ભેદ છે જેવા કે—ઉપશાન્તક્રોધ, ઉપશાન્તલોભ, ઉપશાન્તરાગ, ઉપશાન્તદ્વેષ, ઉપશાન્તદર્શનમોહનીય, ઉપશાન્તચારિત્રમોહનીય, ઉપશાન્ત સમ્યક્ત્વલબ્ધિ, ઉપશાન્ત ચારિત્રલબ્ધિ, ઉપશાન્તકષાય છદ્મસ્થવીતરાગ અંહીં ઉપશમનિષ્પન્ન અને ઔપશમિકભાવોનુ નિરૂપણ સમાપ્ત થયું

જેનું સ્વરૂપ પહેલા કહેવાઈ ગયુ તે ક્ષાયિક ભાવના નવ ભેદ છે—(૧) જ્ઞાન (૨) દર્શન (૩) દાન (૪) લાભ (૫) ભોગ. (૬) ઉપભોગ (૭) વીર્ય, (૮) સમ્યક્ત્વ તથા (૯) યથાખ્યાત ચારિત્ર. સમસ્ત જ્ઞેય પદાર્થોને જાણવાવાળા અર્થાત્ સમ્પૂર્ણ જ્ઞાનાવરણીય કર્મના ક્ષયથી ઉત્પન્ન થનાર કેવળજ્ઞાન જ આહીં "જ્ઞાન" શબ્દથી ગ્રહણ કરવુ જોઈએ કેવળજ્ઞાન સિવાયના બાકીનાં ચાર જ્ઞાન ક્ષાયિક નહીં પરંતુ ક્ષાયોપશમિક છે કારણ કે તેઓ જ્ઞાનાવરણ કર્મના ક્ષયોપશમથી ઉત્પન્ન થાય છે દર્શન શબ્દથી અત્રે સમ્પૂર્ણ દર્શનાવરણકર્મના ક્ષયથી અસ્તિત્વમાં આવનાર કેવળદર્શન જ સમજવું જોઈએ, ચક્ષુદર્શનાદિ નહીં ચક્ષુદર્શનાદિ ક્ષાયિક થઈ શકે, નહીં તે ક્ષયોપશમથી ઉત્પન્ન થાય છે સ્વને ત્યજી દેવુ તેને દાન કહે છે આ દાન સમ્પૂર્ણ

દાનાન્તરાય કર્મના ક્ષયથી પેદા થાય છે, તે ત્રણેય લોકોના જીવોને નવાઈમાં ડૂબાડનારા હોય છે અને યાચક જનો દ્વારા તેનો કદી પણ પ્રતિષેધ થતો નથી.

બીજાથી સમસ્ત સાધનોની પ્રાપ્તિ થવી તે લાભ છે તે સમ્પૂર્ણ લાભાન્તરાય કર્મના ક્ષયથી અચિન્તનીય માહાત્મ્ય અર્થાત્ વિભૂતિ સ્વરૂપે ઉત્પન્ન થાય છે જેની પણ વાંચના કરવામાં આવે છે, આના વડે તે બધાની પ્રાપ્તિ થાય છે, ક્યારે પણ કોઈ ઠેકાણે તેનો નિષેધ હોતો નથી.

શુભ વિષયક સુખાનુભવ ભોગ કહેવાય છે આ સમ્પૂર્ણ ભોગાન્તરાય, કર્મના ક્ષયથી ઉત્પન્ન થાય છે એનો કોઈ પ્રત્યાઘાત થતો નથી અર્થાત્ ઇષ્ટની પ્રાપ્તિ ન થાય એવુ કદાપી બનતુ નથી

વિષય-સમ્પત્તિની વિદ્યમાનતામાં ઉત્તર ગુણોનાં પ્રકર્ષથી વિષય-સમ્પત્તિનો અનુભવ કરવો તે ઉપભોગ છે સમ્પૂર્ણ ઉપભોગાન્તરાય કર્મના ક્ષયથી યથેષ્ટ ઉપભોગની પ્રાપ્તિ થાય છે

આત્માની ક્યારેય પણ નીરુદ્ધ ન થવાવાળી શક્તિને વીર્ય કહે છે. સમ્પૂર્ણ વીર્યાન્તરાય કર્મના ક્ષયથી અપ્રતિહત સામર્થ્યની પ્રાપ્તિ થાય છે

અનન્તાનુબન્ધી કષાય મિથ્યાત્વ મોહનીય મિશ્રમોહનીય અને સમ્યકત્વ મોહનીય વગેરે આ સાત પ્રકૃતિઓનો સર્વથા ક્ષય થઇ જવાથી જીવાદિ તત્વોનુ શ્રદ્ધાન ઉત્પન્ન થાય તે ક્ષાયિક સમ્યકત્વ છે આ સમ્યકત્વ એકવાર ઉત્પન્ન થયા પછી કદી પણ નાશ પામતુ નથી કહેવાનુ એ કે ચાર અનન્તાનુબન્ધી કષાય મિથ્યાત્વ મોહનીય મિશ્રમોહનીય અને સમ્યકત્વ મોહનીય આ સાત પ્રકૃતિઓના ક્ષયથી ક્ષાયિક સમ્યકત્વની ઉત્પત્તિ થાય છે સમસ્ત મોહનીય કર્મના ક્ષયથી ક્ષાયિક ચારિત્ર પ્રકટ થાય છે આ નવ ક્ષાયિક ભાવ છે.

જો કે અનુયોગદ્વાર સૂત્રમા છ ભાવોનાં પ્રકરણમા ક્ષાયિક ભાવના ઘણા બધા ભેદ પ્રતિપાદિત કરવામાં આવ્યા છે પરંતુ અહીં તો ટુંકના જ વર્ણન કરવામા આવેલુ છે આથી તે બધાનો નવ ભેદોમા સમાવેશ થઈ જાય છે વળી કહ્યુ પણ છે-

ક્ષાયિકભાવ શુ છે ? ક્ષાયિક ભાવ બે પ્રકારના કહેલા છે-ક્ષાયિક અને ક્ષય નિષ્પન્ન ક્ષાયિક શુ છે ? ક્ષાયિક આઠ કર્મપ્રકૃતિઓથી ઉત્પન્ન થાય છે ક્ષયનિષ્પન્ન શુ છે ? ક્ષય નિષ્પન્ન અનેક પ્રકારના છે જેમ ઉત્પન્ન જ્ઞાન દર્શનધર, અર્હન, જિન કેવળી, ક્ષીણાભિનિબોધિક જ્ઞાનાવરણ, ક્ષીણશ્રુતજ્ઞાનાવરણ, ક્ષીણાવધિજ્ઞાનાવરણ, ક્ષીણમન પર્યવજ્ઞાનાવરણ ક્ષીણકેવળજ્ઞાનાવરણ, નિરાવરણ, ક્ષીણાવરણ, જ્ઞાનાવરણીય, કર્મવિપ્રમુકત, કેવળદર્શી, સર્વદર્શી ક્ષીણનિદ્ર ક્ષીણનિદ્રાનિદ્ર; ક્ષીણપ્રચલ, ક્ષીણપ્રચલાપ્રચલ, ક્ષીણસ્ત્યાનર્ધિ ક્ષીણ ચક્ષુદર્શનાવરણ; ક્ષીણાચક્ષુદર્શનાવરણ ક્ષીણાવધિદર્શનાવરણ, ક્ષીણકેવળદર્શનાવરણ, અનાવરણ

નિરાવરણ, ક્ષીણાવરણ, દર્શનાવરણીયકર્મવિપ્રમુકત, ક્ષીણસાતાવેદનીય, ક્ષીણ-અસાતાવેદનીય અવેદન, નિર્વેદન, ક્ષીણવેદન, શુભાશુભવેદનીય, કર્મ વિપ્રમુકત ક્ષીણક્રોધ યાવત્ ક્ષીણલોભ, ક્ષીણરાગ, ક્ષીણદ્વેષ, ક્ષીણદર્શનમોહનીય, ક્ષીણચરિત્રમોહનીય, અમોહ, નિર્મોહ, મોહનીયકર્મવિપ્રમુકત,

ક્ષીણનૈરયિકાયુ ક્ષીણ તિર્યચાયુ ક્ષીણમનુષ્યાયુ, ક્ષીણદેવાયુ, અનાયુ, નિરાયુ, ક્ષીણાયુ આયુકર્મવિપ્રમુકત,

ગતિ–જાતિ–શરીર–અ ગોપાગ–બ ધન–સ ઘાતન–સ હનન–સ સ્થાન–અનેકશરીરવૃન્દસ ઘાત-વિપ્રમુક્ત ક્ષીણશુભનામ, ક્ષીણ–અશુભનામ, નિર્નામ, ક્ષીણનામ, શુભાશુભનામ કર્મવિપ્રમુક્ત 'ક્ષીણ ઉચ્ચગોત્ર, ક્ષીણનીચગોત્ર, અગોત્ર નિગોત્ર, ક્ષીણગોત્ર, ગોત્રકર્મવિપ્રમુક્ત

ક્ષીણદાનાન્તરાય, ક્ષીણલાભાન્તરાય, ક્ષીણભોગાન્તરાય, ક્ષીણોપભોગાન્તરાય, ક્ષીણવીર્યાન્તરાય અનન્તરાય, નિરન્તરાય, ક્ષીણાન્તરાય અનન્તરાયકર્મવિપ્રમુક્ત સિદ્ધ, બુદ્ધ, મુક્ત, પરિનિર્વૃત્ત અન્તકૃત, સર્વદુ ખ પ્રક્ષીણ, આ બધા ક્ષય નિષ્પન્ન છે

અગાઉ કહેલા સ્વરૂપવાળા ક્ષાયોપશમિક ભાવના અઢાર ભેદ છે—ચાર પ્રકારનુ જ્ઞાન અર્થાત્ મતિજ્ઞાન શ્રુતજ્ઞાન, અવધિજ્ઞાન અને મન પર્યવજ્ઞાન ત્રણ પ્રકારનુ અજ્ઞાન–મત્યજ્ઞાન, શ્રુતઅજ્ઞાન, અને વિભ ગજ્ઞાન, ત્રણ પ્રકારના દર્શન, ચક્ષુદર્શન, અચક્ષુદર્શન અવધિ દર્શન—પાચ પ્રકારની લબ્ધિઓ દાનલબ્ધિ લાભલબ્ધિ, ભોગલબ્ધિ ઉપભોગલબ્ધિ અને વીર્યલબ્ધિ સમ્યક્ત્વચારિત્ર તથા સ યમાસ યમ આ બધા ભેગા મળીને ક્ષાયોપશમિકના અઢાર ભેદ થાય છે.

મતિજ્ઞાનાવરણીય, શ્રુતજ્ઞાનાવરણીય, અવધિજ્ઞાનાવરણીય, અને મન પર્યવજ્ઞાનાવરણીય, કર્મોના સ્પર્ધક સર્વ ઘાતી પણ હોય છે અને દેશઘાતી પણ હોય છે જ્યારે સમસ્ત સર્વઘાતી સ્પર્ધક નાશ પામે છે અને આત્માની વિશુદ્ધિના કારણે સમયે સમયે દેશઘાતી પણ સ્પર્ધકોના અનન્ત ભાગ ક્ષયને પ્રાપ્ત થઈ જાય છે અને તેના ભાગ ઉપશાન્ત થઈ જાય છે ત્યારે સમ્યક્ દર્શનના સાહચર્યથી જીવ જ્ઞાની થાય છે

ક્ષયોપશમથી ઉત્પન્ન થનાર મતિજ્ઞાન વગેરે જ્યારે મિથ્યાત્વની સાથે હોય છે ત્યારે અજ્ઞાન અથવા મિથ્યાજ્ઞાન કહેવાય છે અહીં "અજ્ઞાન" શબ્દથી કુત્સિત અર્થમા નઞ્ સમાસ કરવામા આવ્યો છે જેમ કે કુપુત્રને "અપુત્ર" કહે છે મિથ્યાદષ્ટિ જીવનુ અવધિજ્ઞાન વિભ ગ કહેવાય છે ભ ગનો અર્થ 'પ્રકાર' છે 'વિ' ઉપસર્ગ કુત્સિત અર્થમા છે અર્થાત્ અપ્રશસ્ત ભ ગને વિભ ગ કહે છે વિભ ગ રૂપજ્ઞાન વિભ ગજ્ઞાન કહેવાય છે આ પ્રકારના અજ્ઞાન જ્ઞાનાવરણ કર્મના ક્ષયોપશમથી જ ઉત્પન્ન થાય છે ચક્ષુદર્શન શ્રોત્રાદિ રૂપ અચક્ષુદર્શન અને અવધિદર્શન આ ત્રણેય દર્શનાવરણ કર્મના ક્ષયોપશમથી ઉત્પન્ન થાય છે દાન ઇત્યાદિપાંચ લબ્ધિઓ પાંચ પ્રકારના અન્તરાય કર્મના ક્ષયોપશમથી થાય છે સમ્યક્ત્વ અનન્તાનુબ ધી કષાય મિથ્યાત્વીય મિશ્રમોહનીય અને સમ્યક્ત્વમોહનીય એ સાત કર્મપ્રકૃતિઓના ક્ષયોપશમથી ક્ષયોપશમિક સમ્યક્ત્વ ઉત્પન્ન થાય છે

સર્વવિદિત ચારિત્ર, દર્શન મોહનીય અને બાર કષાયોના ક્ષયોપશમથી ઉત્પન્ન થાય છે સ યમાસ યમ અર્થાત્ દેશવિરતિ જેમા સ કલ્પપૂર્વક કરવામા આવનારી હિ સાનો ત્યાગ કરવામા આવતો નથી તે દર્શન મોહનીય તથા અનન્તાનુબ ધી કષાય અને અપ્રત્યાખ્યાની કષાયના ક્ષયોપશમથી ઉત્પન્ન થાય છે-

જો કે અનુયોગદ્વાર સૂત્રમા છ ભાવોના પ્રકરણમા ક્ષાયોપશમિક ભાવના પણ ઘણા ભેદ કહેવામા આવ્યા છે તેમ છતા ટુકમા પ્રતિપાદિત આ અઢાર ભેદોમા જ તે સઘળાનો સમાવેશ થઇ જાય છે એ પૂર્વોક્ત કથન આ રીતે છે

ક્ષાયોપશમિક ભાવ શુ છે ? ક્ષાયોપશમિક ભાવ બે પ્રકારના કહેવામા આવ્યા છે–ક્ષયો-પશમિક અને ક્ષયોપશમ નિષ્પન્ન ક્ષયોપશમિક શુ છે ? ચાર ઘાતી કર્મોના અર્થાત્ જ્ઞાનાવરણીય મોહનીય અને અન્તરાય કર્મના ક્ષયોપશમથી ક્ષયોપશમિક ભાવ થાય છે.

ક્ષયોપશમનિષ્પન્ન ભાવ શુ છે ? તે અનેક પ્રકારના કહેવામા આવ્યા છે–ક્ષાયોપશમિક આભિનિબોધિક જ્ઞાનલબ્ધિ જેવા કે ક્ષયોપશમિક મન પર્યવજ્ઞાનલબ્ધિ ક્ષયોપશમિક મત્યજ્ઞાન-લબ્ધિ ક્ષયોપશમિક શ્રુતાજ્ઞાનલબ્ધિ ક્ષાયોપશમિક વિભગજ્ઞાનલબ્ધિ ક્ષાયોપશમિક ચક્ષુદર્શન-લબ્ધિ અવધિદર્શન લબ્ધિ આ રીતે સમ્યગ્દર્શન લબ્ધિ મિથ્યા દર્શનલબ્ધિ સમ્યક્ મિથ્યાદર્શન લબ્ધિ ક્ષાયોપશમિક ચારિત્ર લબ્ધિ છેદોપસ્થાપનીય લબ્ધિ પરિહાર વિશુદ્ધિ લબ્ધિ સૂક્ષ્મ સાપરાયિક લબ્ધિ ચારિત્રાચારિત્રલબ્ધિ ક્ષાયોપશમિક દાનલબ્ધિ ક્ષાયોપશમિક લાભલબ્ધિ ભોગલબ્ધિ ઉપભોગલબ્ધિ વીર્યલબ્ધિ પડિતવીર્યલબ્ધિ બાળવીર્યલબ્ધિ બાળપડિતવીર્યલબ્ધિ ક્ષાયોપશમિક શ્રોત્રેન્દ્રિયલબ્ધિ ક્ષાયોપશમિક સ્પર્શેન્દ્રિયલબ્ધિ

ક્ષાયોપશમિક આચારાગધર, એવી જ રીતે સૂત્રકૃતાગધર, સ્થાનાગધર, સમવાયાગધર, વિવાહપ્રજ્ઞપ્તિધર, જ્ઞાતાધર્મકથાધર, ઉપાસકદશાગધર, અન્તકૃતદ્દશાગધર, અનુત્તરૌપપાતિકદશાગ-ધર, પ્રશ્નવ્યાકરણધર, વિપાકશ્રુતધર, ક્ષાયોપશમિક દૃષ્ટિવાદધર, ક્ષાયોપશમિક નવપૂર્વિ ક્ષાયોપ-શમિક અને ચતુર્દશપૂર્વી ક્ષાયોપશમિક ગણી ક્ષાયોપશમિક વાચક આ તમામ ક્ષયોપશમ-નિષ્પન્નના ભેદ કહેવામા આવ્યા છે

પારિણામિક ભાવ ત્રણ પ્રકારના હોય છે—જીવત્વ, ભવ્યત્વ અને અભવ્યત્વ જીવનો ભાવ અર્થાત્ જીવપણુ, જીવત્વ કહેવાય છે અર્થાત્ અસખ્યાતા પ્રદેશમય ચૈતન્ય જે જીવ સિદ્ધિગમન ને પાત્ર હોય તે ભવ્ય અને જે સિદ્ધિગમનને યોગ્ય ન હોય ને અભવ્ય કહેવાય છે એમના ભાવને ભવ્યત્વ અને અભવ્યત્વ કહેવામાં આવ્યા છે જીવના આ ત્રણેય ભાવો સ્વાભાવિક જ છે, કર્મકૃત નહીં અર્થાત્ કોઈ કર્મના ઉદય, ઉપનામ, ક્ષય અગર ક્ષયોપશમથી ઉત્પન્ન થતા નથી આત્મા પોતાના સ્વભાવથી જ જીવત્વ, ભવ્યત્વ, અગર અભવ્યત્વ રૂપથી પરિણતશીલ થાય છે

જો કે અસ્તિત્વ અન્યત્વ, કર્તૃત્વ, ભોક્તૃત્વ, ગુણત્વ, અસર્વજ્ઞત્વ અનાદિકર્મસન્તાન બદ્ધત્વ, પ્રદેશત્વ, અરૂપિત્વ નિત્યત્વ વગેરે પણ જીવના અનાદિ પારિણામિક ભાવ છે અને અનુ-યોગદ્વાર સૂત્રમા, છ ભાવોના પ્રકરણમા અન્ય ઘણા જ ભેદો પણ પ્રતિપાદિત કરવામા આવ્યા છે તેમ છતા અત્રે સક્ષેપમા જ પારિણામિક ભાવનુ નિરૂપણ કરવામા આવ્યુ છે આથી આ આ ત્રણ ભેદોમા જ એ સર્વનો સમાવેશ થઈ જાય છે અનુયોગદ્વારમા કહ્યુ છે—

પારિણામિક ભાવ એટલે શુ ? પારિણામિક ભાવ બે પ્રકારના છે—સાદિ પારિણામિક અને અનાદિ પારિણામિક સાદિ પારિણામિક ભાવ શુ છે ? તે અનેક પ્રકારના છે જેવા કે–ઉલ્કાપાત, દિશાદાહ ગર્જના, વિદ્યુત–નિર્ઘાત જૂપદા, યક્ષાદિત્ય, ધૂમિકા, મિહિકા, રજ ઉદ્ઘાત, ચન્દ્રગ્રહણ, સૂર્યગ્રહણ, ચન્દ્રપરિવેષ, સૂર્યપરિવેષ, પ્રતિચન્દ્ર, પ્રતિસૂર્ય ઇન્દ્રધનુષ્ય ઉદકમત્સ્ય, કપિહસિત, અમોઘવર્ષ, વર્ષધાગ, ગ્રામ, નગર, ગ્રહ, પર્વત, પાતાળ, ભવન, નરક, રત્નપ્રભા, શર્કરાપ્રભા, વલુકાપ્રભા, પકપ્રભા, ધૂમપ્રભા, તમપ્રભા, તમસ્તમપ્રભા, સૌધર્મ યાવત્ અચ્યુત, ગ્રૈવેયક, અનુત્તર વિમાન, ઈષત્ પ્રાગભાગ પૃથ્વી પરમાણુપુદ્ગલ, દ્વિપ્રદેશિકસ્કધ અનન્તપ્રદેશિક સ્કધ આ સર્વ સાદિ પારિણામિક ભાવ છે.

અનાદિ પારિણામિક ભાવ શુ છે? ધર્માસ્તિકાય, અધર્માસ્તિકાય, આકાશાસ્તિકાય, જીવાસ્તિ કાય, પુદ્ગલાસ્તિકાય અદ્ધાસમય લોક અલોક ભવસિદ્ધિક એ બધા અનાદિ પરિણામિક ભાવ છે

છઠ્ઠો ભાવ સાન્નિપાતિક પણ અનેક પ્રકારનો છે એક જીવાત્મામા એકી સાથે ઉત્પન્ન થનારો ભાવ સાન્નિપાતિક ભાવ કહેવાય છે આ સાન્નિપાતિક ભાવ પૂર્વોક્ત ઔદયિક ઔપશમિક વગેરે ભાવોમાથી યથાયોગ્ય બે ત્રણ વગેરેના સયોગથી બને છે જો કે એના ભેદ ઘણા છે પરતુ અત્રે મુખ્યરૂપથી પદર પ્રકારના દર્શાવવામા આવે છે ઔદયિક ક્ષાયોપશમિક અને પારિણામિક એ ત્રણ ભાવો એકી સાથે એક જીવમા ઉત્પન્ન થાય છે

નારક, તિર્યગ્યોનિક, મનુષ્ય તથા દેવગતિના ભેદથી ચાર (૪) ભેદ થાય છે એવી જ રીતે ઔદયિક ઔપશમિક, ક્ષાયોપશમિક, પારિણામિક, કયારેક ત્રણપુજ ન કરવાવાળા જીવના ઉપનામ સમ્યનો સદ્ભાવ હોવાથી, ગતિના ભેદથી ચાર (૪) ભેદ થઈ જાય છે-ઔદયિક, ક્ષાયિક, ક્ષયોપશમિક અને પારિણામિક તો વળી કયારેક ક્ષાયિકનો સદ્ભાવ હોવાથી, શ્રેણિક વગેરેની જેમ ગતિભેદથી થાય છે ઔદયિક, ઔપશમિક, ક્ષાયિક ક્ષાયોપશમિક અને પારિણામિકનો એક ભેદ મનુષ્ય ગતિમા ઉપનામ શ્રેણીના સદ્ભાવમા જ થાય છે આ ભાવ દર્શન સમકથી રહિત સમ્પૂર્ણ મોહનીય કર્મના ઉપશમથી, શેષ કર્મોના ક્ષયોપશમ વગેરે થવાથી થાય છે (૧)

એવી જ રીતે ઔદયિક, ક્ષાયિક અને પારિણામિકનો એક જ ભગ થાય છે જેમકે કેવળીમા ઔદયિક મનુષ્યત્વ, ક્ષાયિક કેવળજ્ઞાન અને પારિણામિક ભાવ જીવત્વ મળી આવે છે (૧)

એવી જ રીતે ક્ષાયિક અને પારિણામિકનુ એક અગ છે જેવી રીતે સિદ્ધમા કેવળજ્ઞાન સમ્યક્ત્વ આદિ ક્ષાયિક તથા જીવત્વ પારિણામિક ભાવ હોય છે એવી જ રીતે મતભેદ માટે પણ સમજવુ અત્રે આ વાત સમજવા જેવી છે—ઔપશમિક, ક્ષાયિક અને ક્ષાયોપશમિક, એ ત્રણ ભાવ કર્મના નાશથી ઉત્પન્ન થાય છે જેવી રીતે રજકણોના સમૂહનો નાશ થવાથી સૂર્યના કિરણોનો સમૂહ ઉત્પન્ન થાય છે તે નાશ બે પ્રકારે થાય છે-સ્વવીર્યની અપેક્ષાથી કર્મના એક ભાગનો ક્ષય અને સર્વક્ષય તથા પોતાના વડે ઉપાર્જિત કર્મના ઉદયથી આત્માથી નરકગતિ વગેરે ભાવ ઉત્પન્ન થાય છે દાખલા તરીકે દારૂના નામ વગેરે વિકારો ઉત્પન્ન થાય છે, રોવે છે, ગાય છે, ક્રોધ કરે છે એવી જ રીતે ગતિ વગેરે કર્મોના ઉદ્રેકથી જીવ ગતિ કષાય વગેરે વિકારોને પ્રાપ્ત થાય છે પરતુ પારિણામિક ભાવ સ્વાભાવિક છે તે કોઈ પણ નીમિત્તકરણથી ઉત્પન્ન થતો નથી ॥૧૫॥

'उवओगो दुविहो सागारो अणागारोय' ઈત્યાદિ

મૂલાર્થ—ઉપયોગ બે પ્રકારનો છે સાકાર અને અનાકાર

તત્ત્વાર્થ દિપીકા—પહેલા કહેવામા આવ્યુ હતુ કે જીવનુ લક્ષણ ઉપયોગ છે હવે ઉપયોગનુ સ્વરૂપ તથા ભેદ દર્શાવવા કહે છે—ઉપયોગ બે પ્રકારના છે-સાકારોપયોગ અને નિરાકારોપયોગ

જ્ઞાન અને દર્શનની પ્રવૃત્તિને અર્થાત્ પોતપોતાના વિષયની તરફ અભિમુખ થવુ તેને 'યોગ' કહે છે ઉપ અર્થાત્ જીવનુ સમીપવર્તી યોગ તે 'ઉપયોગ' કહેવાય છે ઉપયોગને નિત્ય સબધ પણ કહી શકાય

તાત્પર્ય એ છે કે કોઈ પદાર્થને ઓળખવા માટે જીવનો જે વ્યાપાર હોય છે તે ઉપયોગ કહેવાય છે એમા જે ઉપયોગ સાકાર હોય તે જ્ઞાનોપયોગ અને જે ઉપયોગ નિરાકાર હોય તે

દર્શનોપયોગ કહેવાય છે ઈન્દ્રિયોની પ્રણાલીથી જ્ઞાનનુ વિષયાકાર પરિણત થવાથી સાકાર વ્યાપાર થાય છે પરંતુ દર્શન, વિષયાકાર પરિણત થતુ નથી, આથી તે નિરાકાર અગર અનાકાર કહેવાય છે જ્ઞાનોપયોગ આઠ પ્રકારના છે મતિજ્ઞાન, શ્રુતજ્ઞાન, અવધિજ્ઞાન, મન પર્યવજ્ઞાન, કેવળજ્ઞાન, મત્યજ્ઞાન, શ્રુતાજ્ઞાન અને વિભંગજ્ઞાન

દર્શનોપયોગ ચાર પ્રકારના છે—ચક્ષુદર્શન, અચક્ષુદર્શન, અવધિદર્શન અને કેવળદર્શન જે આકારથી યુક્ત હોય તે સાકાર જ્ઞાન. અને એનાથી વિપરીત હોય તે અનાકાર દર્શન કહેવાય છે અથવા જે ઉપયોગ પ્રકાર યુક્ત હોય તે જ્ઞાન અને એથી રહિત હોય તે દર્શન છે "કંઈક છે" બસ એટલુ માત્ર જ પ્રતીત થાય છે ॥૧૬॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—ઉપયોગ જીવનુ લક્ષણ છે તે પહેલા કહેવાઈ ગયુ ઉપયોગને ઉપલંભ પણ કહે છે અને તેનો અર્થ છે પોતપોતાની હદનુ ઉલ્લંઘન ન કરીને જ્ઞાન અને દર્શનનો વ્યાપાર થવો અથવા જ્ઞાન અને દર્શનની પ્રવૃત્તિ અગર વિષયના નિર્ણય માટે અભિમુખ થવુ ઉપયોગ છે ઉપ અર્થાત્ જીવનો સમીપવર્તી યોગ ઉપયોગ અથવા નિત્ય સંબંધી પણ કહેવાય છે સાર એ નીકળ્યો કે કોઈ પણ પદાર્થને ગ્રહણ કરવા માટે આત્માનો વ્યાપાર થવો ઉપયોગ કહેવાય છે

ઉપયોગના ભેદ બતાવતા પ્રકારાન્તરથી તેની વિશેષતાનુ પ્રતિપાદન કરવા માટે કહે છે—ઉપયોગ બે પ્રકારના છે—સાકાર અને નિરાકાર જ્ઞાન સાકાર ઉપયોગ છે દર્શન નિરાકાર છે જે ઉપયોગ પ્રતિનિયત હોય છે યાની જાતિ, વસ્તુ વગેરે વિશેષને ગ્રહણ કરે છે તે સાકાર ઉપયોગ જ્ઞાન કહેવાય છે કહ્યુ પણ છે—આકાર વિશેષને કહે છે જે ઉપયોગમા વસ્તુના વિશેષ અંશનુ ગ્રહણ થતુ નથી તે અનાકાર ઉપયોગ છે તાત્પર્ય એ છે કે દર્શન વિશેષ રહિત સામાન્ય માત્રનુ જ ગ્રાહક હોય છે કહ્યુ પણ છે જ્ઞાન સાકાર અને દર્શન નિરાકાર હોય છે મતિ, શ્રુત, અવધિ, મન પર્યય, કેવળજ્ઞાન અને વિભંગજ્ઞાન, કુમતિજ્ઞાન તથા કુશ્રુતજ્ઞાન સાકાર હોય છે ચાર પ્રકારના દર્શન અનાકાર છે

કોઈએ આઘેથી વૃક્ષોનો સમૂહ જોયો પરંતુ તેને સાલ, તમાલ, બકુલ, અશોક, ચંપક, કદંબ, જાંબુ, લીમડો વગેરે વિશેષનુ જ્ઞાન થયુ નહિ—સામાન્ય રૂપથી ઝાડ માત્રની જ પ્રતીતિ થઈ "કંઈક છે" એવી અપરિપક્વ પ્રતીતિ થઈ તો પછી તે દર્શન છે કેમકે જે ઉપયોગમા વિશેષનુ ગ્રહણ થતુ નથી તે જ દર્શનોપયોગ કહેવાય છે જ્યારે તે જ વ્યક્તિ નજીક આવે છે ત્યારે તાલ, તમાલ, સાલ આદિ આદિ વિશેષ રૂપમા નિશ્ચય કરે છે ત્યારે તે પરિસ્ફુટ પ્રતિભાસ જ્ઞાન કહેવાય છે મતલબ એ છે કે વિશેષ ધર્મોને ગ્રહણ કરવાવાળો ઉપયોગ જ્ઞાનોપયોગ છે

જ્ઞાનોપયોગને સાકાર અને દર્શનોપયોગને નિરાકાર કહેવામા આવે છે ઈન્દ્રિયોની પ્રણાલી દ્વારા વિષયના આકારમા પરિણામ થવાનુ કારણ જ્ઞાન સાકાર કહેવાય છે

હકીકતમા આકારનો અર્થ છે—વિકલ્પ જે જ્ઞાન વિકલ્પ સહિત હોય તે સવિકલ્પ અને એથી વિપરીત હોય તે નિર્વિકલ્પ તેજ અનાકાર કહેવાય છે આથી પ્રકારયુક્ત જ્ઞાન સવિકલ્પ અને પ્રકારતાથી શૂન્ય હોય તે નિર્વિકલ્પ કહેવાય છે એટલે પ્રકાર સહિત વિશિષ્ટની વૈશિષ્ટતાને જમાવવાવાલા જ્ઞાનને સવિકલ્પ અથવા સાકાર કહેવામા આવે છે અને જે પ્રકારતાથી શૂન્ય હોય છે તે, "કંઈક છે' આ પ્રકાર નો આભાસ માત્ર જ હોય તે નિર્વિકલ્પ અથવા અનાકાર કહેવાય છે

સાકારોપયોગ ઉપરોકત પ્રમાણે મતિજ્ઞાનોપયોગ વગેરે આઠ પ્રકારનો છે

અનાકાર, દર્શનોપયોગ ના ચાર ભેદ છે-ચક્ષુદર્શન, અચક્ષુદર્શન, આવધિદર્શન કેવળદર્શન તેના ભેદથી ચક્ષુદર્શનોપયોગ, અચક્ષુદર્શનોપયોગ, અવધિદર્શનોપયોગ અને કેવળદર્શનોપયોગ

પ્રજ્ઞાપના સૂત્રના ઓગણત્રીસમા પદમા કહ્યુ છે :-

ભગવન્ ! ઉપયોગ કેટલા પ્રકારના કહ્યા છે ?

જવાબ -ઉપયોગ બે પ્રકાનના કહ્યા છે -આકારોપયોગ અને અનાકારોપયોગ

પ્રશ્નઃ-ભગવન્ ! **સાકારઉપયોગ** કેટલા પ્રકારના છે ?

જવાબ —ગૌતમ ! સાકારોપયોગ આઠ પ્રકારના કહેવામા આવ્યા છે જેમકે-મતિજ્ઞાનોપયોગ, શ્રુતજ્ઞાનોપયોગ, અવધિજ્ઞાનોપયોગ મન પર્યવજ્ઞાનોપયોગ, કેવળજ્ઞાનોપયોગ, મતિ-અજ્ઞાનોપયોગ, શ્રુતઅજ્ઞાનોપયોગ તથા વિભંગજ્ઞાનોપયોગ

પ્રશ્ન—હે ભગવન્ ! અનાકારોપયોગ કેટલા પ્રકારના છે ?

ઉ૦—ગૌતમ ! તે ચાર પ્રકારના છે જેવાકે—ચક્ષુદર્શનોપયોગ, અચક્ષુદર્શનોપયોગ, અવધિદર્શનોપયોગ અને કેવલદર્શનોપયોગ ॥ ૧૬ ॥

इन्दियं पंचविहं

મૂલાર્થ—ઇન્દ્રિયો પાચ પ્રકારની છે ॥ ૧૭ ॥

તત્વાર્થદીપિકા :—આની પહેલા જીવનું લક્ષણ જ્ઞાન-દર્શન ઉપયોગ કહેલ છે તે ઉપયોગ સંસારી જીવોને ઇન્દ્રિયો દ્વારા જ ઉત્પન્ન થાય છે આથી તેના ભેદ બતાવતા ઇન્દ્રિયની પ્રરૂપણા કરીએ છીએ—

ઇન્દ્રિયો પાચ છે ઇન્દ્ર અર્થાત્ આત્મા દ્વારા જે અધિષ્ટયુકત હોય અથવા ઇન્દ્ર નામ-કર્મદ્વારા જેની રચના કરવામા આવી હોય અથવા ઇન્દ્ર કહેતા આત્માનુ જે ચિહ્ન-લિંગ હોય તેને ઇન્દ્રિય કહે છે તાત્પર્ય એ છે કે ઇન્દ્ર અર્થાત્ જીવ જે કે સ્વભાવથી જ જ્ઞાનમય છે પરંતુ આવરણોના કારણે જાતે અર્થોને ગ્રહણ કરવા માટે સમર્થ નથી આથી પદાર્થોને ગ્રહણ કરવામા જે મદદરૂપ-નિમિત્ત હોય તે ઇન્દ્રિય છે આ રીતે ઇન્દ્ર-જીવનુ લિંગ હોવાથી ઇન્દ્રિય કહેવાય છે

અથવા-છૂપાયેલા પદાર્થ (આત્મા) ને જે જ્ઞાન કરાવે છે તેને ઈન્દ્રિય કહે છે આત્મા અતિ સૂક્ષ્મ છે તેનુ અસ્તિત્વ ઇન્દ્રિયોની દ્વારા જ જાણી શકાય છે જેવી રીતે ધુમાડો અગ્નિ વગર ન હોવાથી જ અગ્નિને જાણવા માટે કારણ હોય છે તેજ રીતે સ્પર્શન વગેરે કરણ કર્તા અર્થાત્ આત્માનાઃ જ્ઞાપક હોય છે, કેમકે જો સ્પર્શન આદિ કરણ છે તો કર્તા જરૂર હોવો જોઈએ ! કર્તાના અભાવમા કરણ હોતુ નથી આ રીતે સ્પર્શનાદિ કરણોથી કર્તા-આત્માનુ અસ્તિત્વ જાણી શકાય છે

સ્પર્શન, રસના, ઘ્રાણ, ચક્ષુ અને શ્રોત્રના ભેદથી ઇન્દ્રિયો પાચ પ્રકારની છે અત્રે ઉપયોગનુ પ્રકરણ હોવાથી પરિકલ્પિત વાક્ (વચન), પાણિ (હાથ) પાદ (પગ) પાયુ (ગુદા) અને ઉપસ્થ (મૂત્રેન્દ્રિય) ને ઈન્દ્રિય માનવામા આવતા નથી અહી જ્ઞાનના કારણો નેજ ઇન્દ્રિય કહેવામા આવે છે મન અનિન્દ્રિય છે ॥ ૧૭ ॥

દર્શનોપયોગ કહેવાય છે ઈન્દ્રિયોની પ્રણાલીથી જ્ઞાનનું વિષયાકાર પરિણત થવાથી સાકાર વ્યાપાર થાય છે પરંતુ દર્શન, વિષયાકાર પરિણત થતું નથી, આથી તે નિરાકાર અગર અનાકાર કહેવાય છે જ્ઞાનોપયોગ આઠ પ્રકારના છે મતિજ્ઞાન, શ્રુતજ્ઞાન, અવધિજ્ઞાન, મનઃપર્યવ જ્ઞાન, કેવળજ્ઞાન, મત્યજ્ઞાન, શ્રુતાજ્ઞાન અને વિભંગજ્ઞાન

દર્શનોપયોગ ચાર પ્રકારના છે—ચક્ષુદર્શન, અચક્ષુદર્શન, અવધિદર્શન અને કેવળદર્શન જે આકારથી યુક્ત હોય તે સાકાર જ્ઞાન અને એનાથી વિપરીત હોય તે અનાકાર દર્શન કહેવાય છે અથવા જે ઉપયોગ પ્રકાર યુક્ત હોય તે જ્ઞાન અને એથી રહિત હોય તે દર્શન છે "કંઈક છે" બસ એટલું માત્ર જ પ્રતીત થાય છે ॥૧૬॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—ઉપયોગ જીવનું લક્ષણ છે તે પહેલા કહેવાઈ ગયું ઉપયોગને ઉપલંભ પણ કહે છે અને તેનો અર્થ છે પોતપોતાની હદનું ઉલ્લંઘન ન કરીને જ્ઞાન અને દર્શનનો વ્યાપાર થવો અથવા જ્ઞાન અને દર્શનની પ્રવૃત્તિ અગર વિષયના નિર્ણય માટે અભિમુખ થવું ઉપયોગ છે ઉપ અર્થાત્ જીવનો સમીપવર્તી યોગ ઉપયોગ અથવા નિત્ય સંબંધી પણ કહેવાય છે સાર એ નીકળ્યો કે કોઈ પણ પદાર્થને ગ્રહણ કરવા માટે આત્માનો વ્યાપાર થવો ઉપયોગ કહેવાય છે

ઉપયોગના ભેદ બતાવતા પ્રકારાન્તરથી તેની વિશેષતાનું પ્રતિપાદન કરવા માટે કહે છે— ઉપયોગ બે પ્રકારના છે—સાકાર અને નિરાકાર જ્ઞાન સાકાર ઉપયોગ છે દર્શન નિરાકાર છે જે ઉપયોગ પ્રતિનિયત હોય છે યાની જાતિ, વસ્તુ વગેરે વિશેષને ગ્રહણ કરે છે તે સાકાર ઉપયોગ જ્ઞાન કહેવાય છે કહ્યું પણ છે—આકાર વિશેષને કહે છે જે ઉપયોગમાં વસ્તુના વિશેષ અંશનું ગ્રહણ થતું નથી તે અનાકાર ઉપયોગ છે તાત્પર્ય એ છે કે દર્શન વિશેષ રહિત સામાન્ય માત્રનું જ ગ્રાહક હોય છે કહ્યું પણ છે જ્ઞાન સાકાર અને દર્શન નિરાકાર હોય છે મતિ, શ્રુત, અવધિ, મનઃપર્યય, કેવળજ્ઞાન અને વિભંગજ્ઞાન, કુમતિજ્ઞાન તથા કુશ્રુતજ્ઞાન સાકાર હોય છે ચાર પ્રકારના દર્શન અનાકાર છે

કોઈએ આઘેથી વૃક્ષોનો સમૂહ જોયો પરંતુ તેને સાલ, તમાલ, બકુલ, અશોક, ચંપક, કદંબ, જાંબુ, લીમડો વગેરે વિશેષનું જ્ઞાન થયું નહિ—સામાન્ય રૂપથી ઝાડ માત્રની જ પ્રતીતિ થઈ "કંઈક છે" એવી અપરિપક્વ પ્રતીતિ થઈ તો પછી તે દર્શન છે કેમકે જે ઉપયોગમાં વિશેષનું ગ્રહણ થતું નથી તે જ દર્શનોપયોગ કહેવાય છે જ્યારે તે જ વ્યક્તિ નજીક આવે છે ત્યારે તાલ, તમાલ, સાલ આદિ આદિ વિશેષ રૂપમાં નિશ્ચય કરે છે ત્યારે તે પરિસ્ફુટ પ્રતિભાસ જ્ઞાન કહેવાય છે મતલબ એ છે કે વિશેષ ધર્મોને ગ્રહણ કરવાવાળો ઉપયોગ જ્ઞાનોપયોગ છે

જ્ઞાનોપયોગને સાકાર અને દર્શનોપયોગને નિરાકાર કહેવામાં આવે છે ઈન્દ્રિયોની પ્રણાલી દ્વારા વિષયના આકારમાં પરિણામ થવાનું કારણ જ્ઞાન સાકાર કહેવાય છે

હકીકતમાં આકારનો અર્થ છે—વિકલ્પ જે જ્ઞાન વિકલ્પ સહિત હોય તે સવિકલ્પ અને એથી વિપરીત હોય તે નિર્વિકલ્પ તેજ અનાકાર કહેવાય છે આથી પ્રકારયુક્ત જ્ઞાન સવિકલ્પ અને પ્રકારતાથી શૂન્ય હોય તે નિર્વિકલ્પ કહેવાય છે એટલે પ્રકાર સહિત વિશિષ્ટની વૈશિષ્ટતાને જમાવવાવાળા જ્ઞાનને સવિકલ્પ અથવા સાકાર કહેવામાં આવે છે અને જે પ્રકારતાથી શૂન્ય હોય છે તે, "કંઈક છે" આ પ્રકાર નો આભાસ માત્ર જ હોય તે નિર્વિકલ્પ અથવા અનાકાર કહેવાય છે

સાકારોપયોગ ઉપરોક્ત પ્રમાણે મતિજ્ઞાનોપયોગ વગેરે આઠ પ્રકારનો છે

અનાકાર, દર્શનોપયોગ ના ચાર ભેદ છે-ચક્ષુદર્શન, અચક્ષુદર્શન, અવધિદર્શન કેવળદર્શન તેના ભેદથી ચક્ષુદર્શનોપયોગ, અચક્ષુદર્શનોપયોગ, અવધિદર્શનોપયોગ અને કેવળદર્શનોપયોગ.

પ્રજ્ઞાપના સૂત્રના ઓગણત્રીસમા પદમા કહ્યુ છે :-

ભગવન્ ! ઉપયોગ કેટલા પ્રકારના કહ્યા છે ?

જવાબ -ઉપયોગ બે પ્રકારના કહ્યા છે -સાકારોપયોગ અને અનાકારોપયોગ

પ્રશ્નઃ-ભગવન્ ! **સાકારઉપયોગ** કેટલા પ્રકારના છે ?

જવાબ —ગૌતમ ! સાકારોપયોગ આઠ પ્રકારના કહેવામા આવ્યા છે જેમકે-મતિજ્ઞાનોપયોગ, શ્રુતજ્ઞાનોપયોગ, અવધિજ્ઞાનોપયોગ મન પર્યવજ્ઞાનોપયોગ, કેવળજ્ઞાનોપયોગ, મતિ-અજ્ઞાનોપયોગ, શ્રુતઅજ્ઞાનોપયોગ તથા વિભંગજ્ઞાનોપયોગ

પ્રશ્ન—હે ભગવન્ ! અનાકારોપયોગ કેટલા પ્રકારના છે ?

ઉ૦—ગૌતમ ! તે ચાર પ્રકારના છે જેવાકે—ચક્ષુદર્શનોપયોગ, અચક્ષુદર્શનોપયોગ, અવધિદર્શનોપયોગ અને કેવલદર્શનોપયોગ ॥ ૧૬ ॥

इदियं पचविहं

મૂલાર્થ—ઈન્દ્રિયો પાચ પ્રકારની છે ॥ ૧૭ ॥

તત્વાર્થદીપિકા :—આની પહેલા જીવનું લક્ષણ જ્ઞાન-દર્શન ઉપયોગ કહેલ છે તે ઉપયોગ સસારી જીવોને ઇન્દ્રિયો દ્વારા જ ઉત્પન્ન થાય છે આથી તેના ભેદ બતાવતા ઇન્દ્રિયની પ્રરૂપણા કરીએ છીએ—

ઇન્દ્રિયો પાચ છે ઇન્દ્ર અર્થાત્ આત્મા દ્વારા જે અધિષ્ઠયુક્ત હોય અથવા ઇન્દ્ર નામ-કર્મદ્વારા જેની રચના કરવામા આવી હોય અથવા ઇન્દ્ર કહેતા આત્માનુ જે ચિહ્ન-લિગ હોય તેને ઇન્દ્રિય કહે છે તાત્પર્ય એ છે કે ઇન્દ્ર અર્થાત્ જીવ જે કે સ્વભાવથી જ જ્ઞાનમય છે પરતુ આવરણોના કારણે જાતે અર્થોને ગ્રહણ કરવા માટે સમર્થ નથી આથી પદાર્થોને ગ્રહણ કરવામા જે મદદરૂપ-નિમિત્ત હોય તે ઇન્દ્રિય છે આ રીતે ઇન્દ્ર-જીવનુ લિગ હોવાથી ઇન્દ્રિય કહેવાય છે

અથવા-છૂપાયેલા પદાર્થ (આત્મા) ને જે જ્ઞાન કરાવે છે તેને ઈન્દ્રિય કહે છે આત્મા અતિ સૂક્ષ્મ છે તેનુ અસ્તિત્વ ઇન્દ્રિયોની દ્વારા જ જાણી શકાય છે જેવી રીતે ધુમાડો અગ્નિ વગર ન હોવાથી જ અગ્નિને જાણવા માટે કારણ હોય છે તેજ રીતે સ્પર્શન વગેરે કરણ કર્તા અર્થાત્ આત્માના જ્ઞાપક હોય છે, કેમકે જો સ્પર્શન આદિ કરણ છે તો કર્તા જરૂર હોવો જોઈએ ! કર્તાના અભાવમા કરણ હોતુ નથી આ રીતે સ્પર્શનાદિ કરણોથી કર્તા-આત્માનુ અસ્તિત્વ જાણી શકાય છે

સ્પર્શન, રસના, ઘ્રાણ, ચક્ષુ અને શ્રોત્રના ભેદથી ઇન્દ્રિયો પાચ પ્રકારની છે અત્રે ઉપ-યોગનુ પ્રકરણ હોવાથી પરિકલ્પિત વાક્ (વચન), પાણિ (હાથ) પાદ (પગ) પાયુ (ગુદા) અને ઉપસ્થ (મૂત્રેન્દ્રિય) ને ઈન્દ્રિય માનવામા આવતા નથી અહી જ્ઞાનના કારણો નેજ ઇન્દ્રિય કહેવામા આવે છે મન અનિન્દ્રિય છે ॥ ૧૭ ॥

તત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમા દ્રવ્યેન્દ્રિય અને ભાવેન્દ્રિયના ભેદથી બે પ્રકારની ઈન્દ્રિયો કહી હવે ભાવેન્દ્રિયના બે ભેદ પ્રતિપાદન કરવા માટે કહીએ છીએ-ભાવેન્દ્રિય બે પ્રકારની છે-લબ્ધિ અને ઉપયોગ

જ્ઞાનાવરણ કર્મના એક વિશિષ્ટ ક્ષયોપશમને લબ્ધી કહે છે મૂળમાં તો ઇન્દ્રિયાવરણ કર્મના ક્ષયોપશમથી ગતિ–જાતિ વગેરે નામ કર્મથી તથા મતિજ્ઞાનાવરણ અને દર્શનાવરણ કર્મના ક્ષયોપશમથી ઉત્પન્ન થવાવાળુ સામર્થ્ય અથવા ઇન્દ્રિયાશ્રય કર્મના ઉદયથી ઉત્પન્ન થવાવાળું સામર્થ્ય અગર અ તરાયકર્મના ક્ષયોપશમની અપેક્ષાથી થનાર ઇન્દ્રિય વિષયના ઉપયોગની તથાં જ્ઞાનની શકિતને લબ્ધી કહે છે

જેના સન્નિધાનથી આત્મા આગળ પર કહેવામાં આવનાર દ્રવ્યેન્દ્રિયની નિષ્પત્તિની તરફ વ્યાપાર કરે છે–તે કારણે આત્માનુ પરિણામ ઉપયોગ કહેવાય છે ઉપયોગ શ્રોત્રોપયોગ આદિના ભેદથી પાચ પ્રકારનો છે જોકે ઉપયોગ ઇન્દ્રિયનુ કાર્ય છે પરતુ કાર્યકર્મ કારણનો ઉપચાર કરીને તેને ઇન્દ્રિય કહી છે સ્પર્શનેન્દ્રિયલબ્ધિ વગેરેના ભેદથી લબ્ધિ પણ પાચ પ્રકારની છે ટાઢુ, ઉનુ વગેરે સ્પર્શને જાણવાની શકિત, જે ઉપયોગના રૂપમા અભિવ્યકત ન થઈ હોય, તે સ્પર્શનેન્દ્રિયલબ્ધિ કહેવાય છે એવી રીતે રસનેન્દ્રિયલબ્ધિ વગેરે પણ સમજવા જોઈએ ॥૧૯॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—આના આગાઉના સૂત્રમાં ભાવેન્દ્રિય તથા દ્રવ્યેન્દ્રિયના ભેદથી ઇન્દ્રિયોના બે-બે ભેદોનુ કથન કરવામા આવેલ છે હવે તેમાથી ભાવેન્દ્રિયના બે ભેદ દર્શાવીને તેનુ સ્વરૂપ કહે છે ભાવેન્દ્રિય બે પ્રકારની છે-લબ્ધિ અને ઉપયોગ

પોત—પોતાના ઇન્દ્રિયાવરણ કર્મના ક્ષયોપશમથી ઉત્પન્ન ગતિ જાતિ વગેરે નામકર્મ દ્વારા ઉત્પન્ન મતિજ્ઞાનાવરણ તથા દર્શનાવરણ કર્મના ક્ષયોપશમથી ઉત્પન્ન તે આત્માની શકિત છે

ઉપયોગ શ્રોત્રોપયોગ વગેરેના ભેદથી પાચ પ્રકારના છે જો કે ઉપયોગ ઇન્દ્રિયનુ કાર્ય છે તો પણ અહી કાર્યમા કારણનો ઉપચાર કરી તેને ઇન્દ્રિય કહી છે એવી જ રીતે લબ્ધિ પણ સ્પર્શનેન્દ્રિયલબ્ધિ વગેરેના ભેદથી પાચ પ્રકારની છે ટાઢા અગર ગરમ સ્પર્શને ગ્રહણ કરવાની શકિત જે ઉપયોગ રૂપમા પ્રકટ ન થઈ હોય તે સ્પર્શનેન્દ્રિય લબ્ધિ કહેવાય છે એવી જ રીતે રસનેન્દ્રિયલબ્ધિ વગેરે પણ સમજવા

અથવા ઇન્દ્રિયાશ્રય કર્મના ઉદયથી જીવમા સામર્થ્ય ઉદય થાય છે અન્તરાયકર્મના ક્ષયોપશમની અપેક્ષાથી ઇન્દ્રિયોના વિષયોના ઉપભોગ અથવા જ્ઞાનની જે શકિત હોય છે તે લબ્ધિ કહેવાય છે તે લબ્ધિ પાચ પ્રકારની છે—(૧) સ્પર્શનેન્દ્રિય લબ્ધિ (૨) રસનેન્દ્રિયલબ્ધિ (૩) ઘ્રાણેન્દ્રિયલબ્ધિ (૪) ચક્ષુરિન્દ્રિયલબ્ધિ (૫) શ્રોત્રેન્દ્રિયલબ્ધિ ઠડા, ગરમ વગેરે સ્પર્શોના પરિજ્ઞાનનુ–સામર્થ્ય જે ઉપયોગ રૂપથી વ્યકત ન થયુ હોય તે સ્પર્શનેન્દ્રિય લબ્ધિ કહેવાય છે, એજ પ્રમાણે રસનેન્દ્રિય લબ્ધિ વગેરે પણ કહી લેવી જોઈએ

પોતાના વિષયમા વ્યાપાર હોવો તે ઉપયોગ કહેવાય છે તે આત્માનુ વીર્ય રૂપ છે

અથવા હવે પછી કહેવામા આવનારીનિવૃત્તિ તથા ઉપકરણના કર્મથી, લબ્ધીન્દ્રિય હોવાથી ઉપયોગ થાય છે તો અતીન્દ્રિય ઉપયોગનો અભાવ થઈ જશે કારણકે તેમા નિવૃત્તિ વગેરેની આવશ્યકતા નથી રહેતી અવધિજ્ઞાન વગેરેનો અભાવ થઇ જશે કારણકે તેઓ અતીન્દ્રિય છે

અર્થાત્ ઇન્દ્રિયોથી જન્મતા નથી આ આશકાનુ સમાધાન આ છે કે—એવો કોઈ નિયમનથી કે બધા ઉપયોગ નિવૃત્તિ અને ઉપકરણ ઇન્દ્રિયથી જ ઉત્પન્ન થાય પરતુ એક મતિજ્ઞાનનો ઉપયોગ થાય છે. તે ઉપયોગ—પ્રાણિધાત રૂપ વ્યાપાર વિશેષ છે

પ્રજ્ઞાપનાસૂત્રના ૧૫મા ઇન્દ્રિયપદના બીજા ઉદ્દેશ્યમા કહ્યુ છે—

પ્રશ્ન—ભગવાન્ ! ઇન્દ્રિયલબ્ધિ કેટલા પ્રકારની છે ?

ઉત્તર—ગૌતમ ! પાચ પ્રકારની ઇન્દ્રિયલબ્ધિ કહી છે, જેમ કે- સ્પર્શનેન્દ્રિયલબ્ધિ, જીહ્વેન્દ્રિયલબ્ધિ ધ્રાણેન્દ્રિયલબ્ધિ, ચક્ષુરિન્દ્રિયલબ્ધિ, શ્રોત્રેન્દ્રિયલબ્ધિ

પ્રશ્ન—ભગવાન ! ઇન્દ્રિયઉપયોગદ્ધારના કેટલા પ્રકાર છે ?

ઉત્તર—ગૌતમ ! પાચ પ્રકારના છે—શ્રોત્રેન્દ્રિય-ઉપયોગદ્ધા-સ્પર્શનેન્દ્રિય-ઉપયોગદ્ધા ॥૧૯॥

'दुविहं दव्विंदियं निवत्ति उवगरणं च'

દ્રવ્યેન્દ્રિય બે પ્રકારની છે-નિવૃત્તિ અને ઉપકરણ ॥ ૨૦ ॥

તત્વાર્થદીપિકા—ભાવેન્દ્રિયના બે ભેદ કહેવાઈગયા હવે દ્રવ્યેન્દ્રિયની પ્રરૂપણા કરવા માટે કહે છે-દ્રવ્યેન્દ્રિયના બે ભેદ છે-નિવૃત્તિ અને ઉપકરણ વિભિન્ન ઇન્દ્રિયોના જુદા જુદા આકારનુ ઉત્પન્ન થવુ નિવૃત્તિરૂપ ઇન્દ્રિયને નિવૃત્તિ-ઇન્દ્રિય કહે છે નિવૃત્તિ બે પ્રકારની હોય છે—આભ્યતર અને બાહ્ય ઘનરૂપ વ્યવહારઆગળના અસખ્યાતમા ભાગ પરિમિત, આંખ વગેરે ઇન્દ્રિયોનાં આકારમા સ્થિત શુદ્ધ જીવપ્રદેશોની આભ્યતરવૃત્તિથી યુકત આભ્યતર નિવૃત્તિ ઇન્દ્રિય કહેવાય છે તે આત્મપ્રદેશોમા જેઓ ઇન્દ્રિય કહેવાય છે નામકર્મના ઉદયથી ઉત્પન્ન અવસ્થા વિશેષરૂપ નિયત આકારવાળા પુદ્ગલોનો સમૂહ બાહ્યનિવૃત્તિ છે આશય એ છે કે શ્રોત્ર વગેરે ઇન્દ્રિયોના-આકારમા પુદ્ગલોની જે રચના છે તે બાહ્યનિવૃત્તિ કહેવાય છે આ રચના નામકર્મના ઉદયથી થાય છે.

જે ઉપકાર કરે છે તેને ઉપકરણ કહે છે અભિપ્રાય એવો છે કે નિવૃત્તિ ઇન્દ્રિયનો ઉપકાર કરનારને ઉપકરણેન્દ્રિય કહે છે ઉપકરણના પણ બે ભેદ છે-આભ્યતર અને બાહ્ય આંખનો કાળો તથા ધોળો જે ડોળો છે તે-આભ્યતર ઉપકરણ છે અને ભ્રમર તથા પાપણ વગેરે બાહ્ય ઉપકરણ છે એવી રીતે આ બન્ને નિવૃત્તિ અને ઉપકરણ ઇન્દ્રિયો પૌદ્ગલિક છે અને પૂર્વોકત ભાવ ઇન્દ્રિયની સહાયક હોય છે એમને દ્રવ્યેન્દ્રિય કહેવાનુ કારણ એ છે કે આત્મપરિણામ રૂપ ઉપયોગ ભાવેન્દ્રિયને મદદ કરવામા સમર્થ છે તેમજ દ્રવ્ય છે

મૂળગુણ નિર્વર્ત્તના નિર્વૃત્તિને નિર્વૃત્તિ-દ્રવ્યેન્દ્રિય કહે છે તે અગોપાંગનામકર્મ દ્વારા ઉત્પન્ન થાય છે, ઉપયોગ રૂપ ભાવેન્દ્રિયનુ છિદ્ર છે કર્મવિશેષ દ્વારા સસ્કૃત શરીરનો પ્રદેશ રૂપ છે તથા નિર્માણનામકર્મ તથા અગોપાગકર્મની નિમિત્ત હોય છે.

બને પ્રકારની ઉપકરણેન્દ્રિય શ્રોત્રેન્દ્રિય વગેરે નામની નિર્વૃત્તિદ્રવ્યેન્દ્રિયની અનુપઘાત તથા અનુગ્રહ દ્વારા ઉપકારક હોય છે અર્થાત્ ઉપકરણેન્દ્રિય, નિર્વૃત્તિ-ઇન્દ્રિયનો ઉપઘાત ન થઈ જાય તેમજ અનુગ્રહ થાય, એ રૂપે સહાયક હોય છે ॥ ૨૦ ॥

તત્વાર્થનિર્યુકિત—પૂર્વસૂત્રમા ભાવેન્દ્રિયના બે ભેદ કહેવાઈ ગયા હવે દ્રવ્યેન્દ્રિયોના ભેદોની પ્રરૂપણા કરવા માટે કહીએ છીએ-દ્રવ્યેન્દ્રિય બે પ્રકારની છે-નિર્વૃત્તિ અને ઉપકરણ૦

સ્વરૂપ અને ભેદથી જે રચના થાય તેને નિર્વૃત્તિ કહે છે નિર્વૃત્તિનો અર્થ છે જુદી જુદી ઇન્દ્રિયોનો પોત પોતાનો આકાર ઉત્પન્ન થવો તે જે ઉપકાર કરે-મદદ કરે તે ઉપકરણ છે-નિર્વૃતિઇન્દ્રિય અને ઉપકરણેન્દ્રિય, બને હકીકતમા પુદ્ગલના પરિણમન છે છતા પણ તેઓ ઇન્દ્રિય કહેવાય છે એનુ કારણ એ છે કે બે ઉપયોગ રૂપ ભાવેન્દ્રિયનુ કારણ છે કહેવાનો હેતુ એ છે કે જે દ્રવ્ય ઉપયોગ ભાવેન્દ્રિયની મદદ કરવામા સમર્થ હોય છે એને દ્રવ્યેન્દ્રિય કહે છે

નિર્વૃત્તિ-ઇન્દ્રિય અગોપાગનામકર્મથી ઉત્પન્ન થાય છે, ઉપયોગ રૂપ ભાવેન્દ્રિયનુ છિદ્ર છે-નિર્માણનામકર્મ અને અગોપાગ નામકર્મના કારણે જે ઉત્પન્ન થાય છે તે મૂળગુણનિર્વત્તિ-રૂપ છે

ઉપકરણેન્દ્રિય બે પ્રકારની છે-બાહ્ય અને આભ્યતર શ્રોત્રાદિ દ્રવ્યેન્દ્રિયને ઉપઘાતથી બનાવવા તથા તેમના અનુગ્રહ કરવામા ઉપકરણેન્દ્રિય મદદરૂપ થાય છે

તાત્પર્ય એ છે કે નિર્માણ નામનુ નામકર્મ અદર રહેલા સુથાર જેવુ છે જે કર્ણશષ્કુલી વગેરે અવયવોની આકૃતિ બનાવવામા કુશળ છે એવી રીતે ઔદારિક વૈક્રિય અને આહારક એ ત્રણે શરીરોના અગોપાંગ નામ કર્મ પણ અવયવોની રચના કરનાર છે એનાથી પેટ માથુ આદિ અગો અને આગળી આદિ ઉપાગોની રચના થાય છે આ બન્ને કર્મ નિવૃત્તિ ઉપકરણ રૂપ બન્ને દ્રવ્યેન્દ્રિયોના નિર્માણ કરવામાટે પ્રયત્ન કરે છે અગોપાગ નામક અત્યત વિશિષ્ટ કર્મ છે તે ઉપયોગ રૂપ ભાવેન્દ્રિયને અવધાન આપવા માટે જે માર્ગ રૂપ છિદ્રો ઉત્પન્ન કરે છે તેજ કર્ણ શષ્કુલી આદિ જે રૂપ છિદ્ર જે રૂપ બહારથી જણાય છે તેમને એક નિર્વૃતિ કહે છે, બીજી આભ્યતર નિર્વૃત્તિ કહેવાય કે અથવા અગોપાગ નામકર્મ અને નિર્માણનામ કર્મના વડે વિશિષ્ટ પ્રકારની અવયવરચનાથી રચિત ઔદારિક વગેરે ત્રણ શરીરોના કર્ણશષ્કુલી વગેરે પ્રદેશ નિર્માણ નામક અને અગોપાગ નામકર્મ નિમિત્તક ઉત્તર ગુણ નિર્વર્ત્તનાની અપેક્ષા મૂલગુણનિર્વ-ત્તના રૂપ નિર્વૃત્તિ ઉત્પન્ન થાય છે

કાનો વિધવા તથા તેમા લબાઈ ઉત્પન્ન કરવી આખનુ કાજળથી તથા સુગધીનુ નાક દ્વારા ઉપકાર થયો, ઔષધ પ્રદાન કરી જીભની જડતા દૂર કરવી, તથા જુદા જુદા પ્રકારના ચૂર્ણ પટવાત તથા ગધદ્રવ્યોનુ ઘસવાથી સ્પર્શનેન્દ્રિયનુ સ્વચ્છ થવુ આ તમામ ઉત્તરગુણ નિર્વત્તના છે

એવી જ રીતે જુદા જુદા વિશેષોથી નિરપેક્ષ જેવી ઉત્પન્ન થઈ હોય તેવી જ રહેલી, ઔદારિક શરીરના યોગ્ય દ્રવ્યવર્ગણા મૂળકારણવ્યવસ્થિત ગુણનિર્વર્તના કહેવાય છે તલવારની ધાર જેવી નિવૃત્તિ રૂપ દ્રવ્યેન્દ્રિયનુ અસ્તિત્વ હોવા છતા તેના પાછલા ભાગની જેમ ઉપકરણે ન્દ્રિયની અપેક્ષા તો રહે જ છે પોતાના વિષયને ગ્રહણ કરવાની શક્તિથી યુક્ત છેદન કરવા માટે સમર્થ તલવારની ધારની જેમ શક્તિ રૂપ ઇલાયદી ઈન્દ્રિયનો સ્વીકાર કરવો જોઈએ અથવા નિર્વૃત્તિ હોવા છતા પણ શક્તિનો ઉપઘાત થવાથી ઈન્દ્રિય પોતાના વિષયને ગ્રહણ કરી શકતી નથી આથી નિવૃત્તિ રૂપ શ્રવણાદિ સજ્ઞાવાળા દ્રવ્યેન્દ્રિયની વિદ્યમાનતાક જે અનુ-પઘાત અને અનુગ્રહના દ્વારા ઉપકારક થાય છે તેને ઉપકરણેન્દ્રિય કહે છે ઉપકરણેન્દ્રિયના બે ભેદ છે-બાહ્ય અને આભ્યતર જ્યા નિવૃત્તિ દ્રવ્યેન્દ્રિય હોય છે ત્યા ઉપકરણેન્દ્રિય હોય છે તે તેનાથી ભિન્ન ભાગમા રહેતી નથી હવે ઈન્દ્રિયોનો આકાર કહેવામા આવે છે સ્પર્શને ન્દ્રિયનો આકાર કોઈ એક નિશ્ચીત નથી તેના આકાર વિવિધ પ્રકારના હોય છે રસનેન્દ્રિયનો

આકાર લાંબો અને ત્રિકોણુ છરા જેવો હોય છે અતિ મુક્તકના પુષ્પ-દાર ચન્દ્રકના આકાર જેવી કંઈક કંઈક કેસર સહિત ગોળાકાર અને મધ્યમા કંઈક વિનત ઘ્રાણેન્દ્રિય હોય છે મધ્યમાં કિંચિત્ ઉંચી ઉઠેલી ગોળાકાર મસૂરની દાળ નામના અનાજ જેવી ચક્ષુ ઇન્દ્રિય છે શ્રોત્રેન્દ્રિયનો આકાર કદંબના પુષ્પ જેવો છે પ્રજ્ઞાપનસૂત્રના ઇન્દ્રિયપદમા કહ્યુ પણ છે

પ્રશ્ન—ભગવાન ! ઇન્દ્રિય-ઉપચય કેટલા પ્રકારના છે ?

ઉત્તર—ગૌતમ ! ઇન્દ્રિય-ઉપચય પાંચ પ્રકારના છે તે આ પ્રમાણે છે-શ્રોત્રેન્દ્રિય-ઉપચય ચક્ષુ-ઇન્દ્રિય-ઉપચય ઘ્રાણેન્દ્રિય-ઉપચય જિહ્વેન્દ્રિય-ઉપચય અને સ્પર્શનેન્દ્રિય-ઉપચય

પ્રશ્ન—ભગવાન ! ઇન્દ્રિયનિર્વર્ત્તના કેટલા પ્રકારની છે ?

ઉત્તર—ગૌતમ ! પાંચ પ્રકારની ઇન્દ્રિયનિર્વર્ત્તના કહી છે જેમકે-શ્રોત્રઇન્દ્રિનિર્વર્તના ચક્ષુરિન્દ્રિય નિર્વર્ત્તના ઘ્રાણેન્દ્રિયનિર્વત્તના જિહ્વેન્દ્રિય નિર્વર્ત્તના અને સ્પર્શેન્દ્રિયનિર્વર્ત્તના

પ્રશ્ન—ભગવન્ ! સ્પર્શેન્દ્રિય કેવા આકારની કહેવામા આવી છે ?

ઉત્તર—ગૌતમ ! વિવિધ આકારની કહેવાય છે

પ્રશ્ન—હે ભગવન જીહ્વા ઇન્દ્રિય-કેવા આકારની કહી છે ?

ઉત્તર—હે ગૌતમ ! છરાના આકારની કહી છે

પ્રશ્ન—હે ભગવન્ ઘ્રાણેન્દ્રિય કેવા આકારની કહી છે ?

ઉત્તર—હે ગૌતમ ! અતિમુક્તકના ચન્દ્રકના આકાર જેવી છે.

પ્રશ્ન—હે ભગવત ! ચક્ષુરિન્દ્રિય કેવા આકારની કહી છે ?

ઉત્તર—હે ગૌતમ ! મસુરની દાળ જેવા આકારની કહી છે.

પ્રશ્ન—હે ભગવન્ શ્રોત્રેન્દ્રિય ! કેવા આકારની કહી છે ?

ઉત્તર—હે ગૌતમ કદમ્બપુષ્પના આકારની જેમ છે

આ રીતે પ્રજ્ઞાપના સૂત્રના પંદરમા પદમા ૧૯૧મા સૂત્રમાં કહેવામાં આવેળ છે ॥૨૦॥

इंदियविसए पंचविहे फासे रसे गंधे वण्णे सद्दे य ॥२१॥

ઇન્દ્રિયોના વિષય પાંચ પ્રકારના છે- સ્પર્શ રસ ગંધ વર્ણ તથા શબ્દ ॥૨૧॥

તત્વાર્થદીપિકા— પ્રથમ કહેવાઈ ગયુ છે કે શ્રોત્ર વગેરે પાંચ ઇન્દ્રિયો દ્રવ્ય અને ભાવના ભેદથી બે-બે પ્રકારની છે-હવે તેમના વિષય બતાવવા માટે કહીએ છીએ-ઇન્દ્રિયોના વિષય પાંચ છે-સ્પર્શ, રસ ગંધ વર્ણ અને શબ્દ

જે ઇન્દ્રિયો દ્વારા જાણી શકાય છે, તે ઇન્દ્રિયોનો વિષય કહેવાય છે તેના પાંચ ભેદ છે. (૧) સ્પર્શ-જેને અડકીને જાણી શકાય (૨) રસ-જે ચાખવાથી જાણી શકાય (૩) ગંધ-જે સુંઘવાથી માલમ પડે (૪) વર્ણ-જોવાથી જેનુ જ્ઞાન થાય અને (૫) શબ્દ-જે કાનથી પ્રતીત થાય

સ્પર્શ આઠ પ્રકારના છે-(૧) કર્કશ (૨) મૃદુ (૩) ભારે (૪) હલકો (૫) ઠંડો (૬) ઉનો (૭) ચિકણો અને (૮) સૂકો રસ પાંચ પ્રકારના છે (૧) તીખો (૨) કડવો (૩) કસેલો (૪) ખાટો (૫) મીઠો ગંધના બે ભેદ છે-સુગંધ અને દુર્ગંધ વર્ણના પાંચ ભેદ છે-કાળો, નિલો, રાતો, પીળો અને ધોળો શબ્દ ત્રણ પ્રકારના છે-જીવશબ્દ, અજીવશબ્દ અને મિશ્રશબ્દ

વચનયોગથી નિકળેલો, અનન્તાનન્દ પ્રદેશી પુદ્ગલ દ્રવ્યોનો સ્કંધ અગર પુદ્ગલ દ્રવ્યના સંધાનથી ઉત્પન્ન ધ્વનિને શબ્દ કહે છે

આ સ્પર્શ વગેરે પાચે વિષય ક્રમશ સ્પર્શન વગેરે ઇન્દ્રિયો દ્વારા ગ્રહણ કરવામા આવે છે. જીવ તેમની અભિલાષા કરે છે આથી તેમને અર્થ પણ કહે છે ॥ ૨૧ ॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પહેલા સ્પર્શન જીભ, નાક, ચક્ષુ અને કાન એ પાચ ઇન્દ્રિયો કહેવાઈ ગઈ હવે એમના પાચ વિષયોનુ પ્રતિપાદન કરવા માટે કહીએ છીએ-ઈન્દ્રિયોના વિષય પાચ છે-સ્પર્શ,-રસ,-ગંધ,-વર્ણ તથા શબ્દ

ઇન્દ્રિયો વડે જેનુ જ્ઞાન થાય તે ઇન્દ્રિયોનો વિષય કહેવાય છે તેના પાંચ ભેદ છે-સ્પર્શ, રસ, ગંધ, વર્ણ અને શબ્દ જેને અટકાય તે સ્પર્શ જે આઠ પ્રકારનો છે—કઠોર, કોમળ, ભારે, હલકો, ઠંડો, ગરમ, ચિકણો તથા લુખો

જીભ વડે જે ચાખી શકાય તે રસ કહેવાય તીખો, મધુર, કટુ, કષાય તથા ખાટાના ભેદથી રસના પાચ ભેદ છે મીઠુ મીઠા રસમા આવી જાય છે ગંધના-સુગંધ તથા દુર્ગંધ-બે પ્રકાર છે વર્ણ પાચ પ્રકારના હોય છે-કાળો, લીલો, રાતો, પીળો તથા સફેદ વમનયોગથી નિકળેલ અનન્તાનન્દ પ્રદેશી પુદ્ગલસ્કંધનુ એક વિશિષ્ટ પરિણમન શબ્દ કહેવાય છે શબ્દ ક્યારેક પુદ્ગલ દ્રવ્યોથી અથડાઈ જવાને અને જુદા જુદા થવાને કારણે ઉત્પન્ન થાય છે તેના ત્રણ ભેદ છે-જીવશબ્દ અજીવશબ્દ તથા મિશ્રશબ્દ-એમ ત્રણ ભેદ છે

આ સ્પર્શ વગેરે પાચ વિષયો અનુક્રમે, સ્પર્શન જીભ, ઘ્રાણ, ચક્ષુ તથા શ્રોત્રેન્દ્રિયો દ્વારા ગ્રાહ્ય હોય છે આથી એમને-અર્થ વર્ણ કહે છે કારણ કે જીવ તેમની અભિલાષા કરે છે આ બધા મળીને ૨૩ વિષય છે સ્થાનાગસૂત્રના પાચમા સ્થાનમા, ત્રીજા ઉદ્દેશકના ૪૪૩મા સૂત્રમા કહ્યુ છે-ઇન્દ્રિયોના પાચ વિષય કહેલા છે-શ્રોત્રેન્દ્રિય, ચક્ષુરિન્દ્રિય, ઘ્રાણેન્દ્રિય, રસનેન્દ્રિય તથા સ્પર્શનેન્દ્રિયના વિષયો ॥ ૨૧ ॥

णो इंदियं मणे ता विसए सुअं ॥२२॥

મૂળસૂત્રાર્થ—મન નો ઇન્દ્રિય છે અને તેનો વિષય શ્રુત છે ॥ ૨૨ ॥

તત્વાર્થદિપિકા—પહેલા ઇન્દ્રિયોનુ અને એમના વિષયોનુ નિરૂપણ કરવામા આવ્યુ શ્રોત્ર વગેરે ઉપયોગનુ કારણ હોવાથી ઇન્દ્રિય છે અને શબ્દ વગેરે એમના વિષય નિશ્રીત છે, અર્થાત્ શ્રોત્ર શબ્દને જ જણાવે છે, ચક્ષુ રૂપને જ ગ્રહણ કરે છે એ રીતે પ્રત્યેક ઇન્દ્રિયનો પોત પોતાનો વિષય ચોક્કસ છે પરંતુ મનનો વિષય નિશ્રીત નથી-તે શબ્દ રૂપ રસ વગેરે બધા વિષયોમા પ્રવૃત્ત થઈ શકે છે એથી એને ઇન્દ્રિય માનવામા આવ્યુ નથી મનને નો ઇન્દ્રિય કહેવુ જ યોગ્ય છે આ માટે કહે છે—

મન નો ઇન્દ્રિય કહેવાય છે કારણકે તેનો વિષય શબ્દ વગેરે નિશ્રીત નથી તો પણ તે શ્રોત્ર આદિની જેમ ઉપયોગમા નિયત હવે થાય જ છે એમના વિના શ્રોત્ર વગેરે ઇન્દ્રિયોની શબ્દ વિગેરે વિષયોમા સ્વપ્રયોજનભૂત પ્રવૃત્તિ હોતી નથી

આ રીતે મન બધી ઇન્દ્રિયોનુ તેમજ સાથે સાથે ઉપયોગનુ પણ મદદરૂપ સાબીત થાય છે પરંતુ મન માત્ર ઇન્દ્રિયોના સહાયક માત્ર નથી પરંતુ સ્વતંત્ર રૂપથી શ્રુત જ્ઞાનના વિષયને પણ જાણે છે આથી સૂત્રમા કહ્યુ છે- મનનો વિષય શ્રુત છે-અર્થાત્ મનનો વિષય શ્રુતજ્ઞાન છે

અહી શ્રુતજ્ઞાન શબ્દથી શ્રુતજ્ઞાનનો વિષય સમજવો જોઈએ અર્થાત્ શ્રુતજ્ઞાનનો જે વિષય છે તેજ મનનો વિષય છે જે આત્માને શ્રુતજ્ઞાનાવરણ કર્મનો ક્ષયોપશમ છે તે શ્રુતજ્ઞાનના વિષયમા મનની મદદથી જ પ્રવૃતિ કરે છે મનલગ શ્રુતજ્ઞાનનો જે વિષય છે તે મનનો સ્વતત્ર વિષય છે

આ પ્રકરણમાં શ્રુત શબ્દનો અર્થ ભાવશ્રુતજ્ઞાન સમજવો જોઈએ આ ભાવશ્રુતજ્ઞાન શ્રુતજ્ઞાનાવરણના ક્ષયોપશમથી ઉત્પન્ન થાય છે, દ્રવ્ય શ્રુતને અનુસરણ કરે છે તેમજ આત્માનુ જ એક વિશિષ્ટ પરિણમન છે અથવા અર્થઅવગ્રહની પછી મતિજ્ઞાન જ શ્રુતજ્ઞાન રૂપમા પરિણત થાય છે પરતુ બધી ઇન્દ્રિયોથી થનાર અર્થાવગ્રહ ના અતર મતિજ્ઞાન શ્રુતજ્ઞાન રૂપ પરિણમન ન થવુ વચન અને મનથી થનાર અર્થ વિગ્રહની પછી જ શ્રુતજ્ઞાન રૂપ હોય છે

ચોકકસ રીતથી શ્રુતજ્ઞાન શ્રુતશાસ્ત્ર અનુસાર હોય છે મનનો વિષય જે શ્રુતજ્ઞાન છે તે બે પ્રકારનો છે—અગબાહ્ય અને અગપ્રવિષ્ટ આવશ્યક વગેરે અગબાહ્યશ્રુતજ્ઞાન અનેક પ્રકારના છે અગપ્રવિષ્ટ બાર પ્રકારના છે, જેમ આચારાગાદિ—

આખની જેમ મન પણ અપ્રાપ્યકારી છે કારણ કે જ્યારે મનથી અગ્નિનુ ચિતન કરવામાં આવે છે ત્યારે મનમા જલન થતુ નથી અને જ્યારે પાણીનુ ચિતવન કરે છે ત્યારે ઠડુ થતુ નથી મનના બે ભેદ છે—દ્રવ્યમન અને ભાવમન—દ્રવ્યમન પોતાના શરીરની બરાબર છે જ્યારે ભાવમન આત્મા જ છે તે ભાવમન રૂપ આત્મા ત્વચા પર્યન્ત દેશમાં વ્યાપ્ત રહે છે

ભાવમન દ્રવ્યમનનુ અવલમ્બન કરીને પણ ઇન્દ્રિયોના વિષયોનુ મનન કરે છે આથી તે દ્રવ્યમનના વ્યાપારનુ જ અનુસરણ કરે છે—તાત્પર્ય એ છે કે શ્રોત્રની પ્રણાલીથી ગ્રહણ કરવામા આવેલા શબ્દોના વાક્યનો વિચાર કરવાવાળા મનનો વિષય શ્રુતજ્ઞાન છે શ્રુતજ્ઞાન પ્રયોગ વિશેષ અને સસ્કારજ્ઞાનથી ઉત્પન્ન થાય છે વર્ણ, પદ, વાક્ય, પ્રકરણ અધ્યયન વગેરેના જ્ઞાનરૂપ છે તેને મન શિવાય બીજી કોઈ ઇન્દ્રિય ગ્રહણ કરવા માટે સમર્થ નથી આથી મનનો અવશ્ય સ્વીકાર કરવો જોઈએ ॥ ૨૨ ॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પૂર્વસૂત્રમા સ્પર્શન વગેરે ઇન્દ્રિયોના સ્પર્શ વગેરે વિષયોનુ પ્રતિપાદન કરવામા આવેલ છે હવે મનનુ વિજ્ઞાપન કરીને તેના વિષયનુ પ્રજ્ઞાપન કરીએ છીએ—મન નો ઇન્દ્રિય કહેવાય છે તેનો વિષય શ્રુત છે શ્રુતજ્ઞાનાવરણના ક્ષયોપશમથી ઉત્પન્ન થઈને દ્રવ્યશ્રુતનુ અનુસરણ કરવાવાળા પોતાના અર્થથી ઉપસગત આત્મપરિણતિનો પ્રમાદ તથા તત્વાર્થને જાણવાવાળા સ્વરૂપવાળો મતિશ્રુતજ્ઞાન કહેવાય છે અથવા અર્થાવગ્રહના સમય પછી મતિજ્ઞાન જ શ્રુતજ્ઞાન બની જાય છે પરતુ બધી ઇન્દ્રિયોથી થનાર અર્થાવગ્રહની પછી થતું નથી પરતુ માનસિક અર્થાવગ્રહના અનન્તર જ મતિજ્ઞાન શ્રુતજ્ઞાન બને છે, વિશેષ રૂપથી તો શ્રુતશાસ્ત્રના અનુસાર શ્રુતજ્ઞાન થાય છે મનનો વિષય તે શ્રુતજ્ઞાન બે પ્રકારનુ છે—અગબાહ્ય અને અગપ્રવિષ્ટ—

આવશ્યક વગેરેના ભેદથી અગબાહ્ય અનેક પ્રકારના છે તે મન નો ઇન્દ્રિય કહેવાય છે કારણકે રૂપ વગેરેને ગ્રહણ કરવામા તે સ્વતત્ર નથી, અપૂર્ણ છે અને ઇન્દ્રિયોનુ કાર્ય કરતુ નથી

જેમ ચક્ષુ અપ્રાપ્યકારી છે તેવી જ રીતે મન પણ અપ્રાપ્યકારી છે કારણ કે પાણી તથા અગ્નિનુ ચિતન કરતી વખતે ન તો તેનો ઉપકાર હોય છે કે ન તો ઉપઘાત

મન બે પ્રકારના છે દ્રવ્યમન અને ભાવમન દ્રવ્યમન શરીર છે તો ભાવમન આત્મા ભાવમન દ્રવ્યમનનુ અવલબન કરીને ઇન્દ્રિયપરિણામનુ મનન કરે છે તે દ્રવ્યમનનુ જ અનુસરણ કરે છે

આ રીતે શ્રોત્રની પ્રણાલી દ્વારા ગ્રહીત શબ્દોના અર્થનો વિચાર કરનાર અતીન્દ્રીય થયેલ રૂપ મનનો વિષય શ્રુતજ્ઞાન છે પ્રયોગ-વિશેષથી સસ્કૃત તે શ્રુતનો વર્ણ, પદ, વાક્ય, પ્રકરણ, અધ્યયન વગેરે ભેદવાળો છે મન શિવાય અન્ય કોઈ ઇન્દ્રિય જાણવા માટે સમર્થ નથી આ કારણે આત્માની પરિણતી વિશેષ રૂપ શ્રુતજ્ઞાન જ મનનો વિષય છે શબ્દ સ્વરૂપ શ્રુત મનનો વિષય હોઈ શકે નહી

શબ્દાત્મક શ્રુત પ્રતિઘાત અને અભિભવથી જોડાયેલા હોવાથી તેમજ મૂર્તિક હોવાથી શ્રોત્ર દ્વારા જ ગ્રાહ્ય હોય છે મન દ્વારા નહી આ રીતે મન ઇન્દ્રિય હોઈ શકતુ નથી કારણકે તેમા ઇન્દ્રિયનુ પૂર્વોક્ત લક્ષણ ઘટિત હોતુ નથી આથી જ મન નો ઇન્દ્રિય કહેવાય છે ॥૨૨॥

पोग्गल जीवगइ दुविहा अणुसेढीय विसेढीय

મૂળસૂત્રાર્થ:—પુદ્ગલ અને જીવની ગતિ બે પ્રકારની હોય છે અનુશ્રેણિગતિ અને વિશ્રેણિગતિ ॥ ૨૩ ॥

તત્વાર્થદીપિકા—અગાઉ જીવોનુ સ્વરૂપ પ્રતિપાદિત કરવામા આવ્યુ એજ પ્રસગને લઈને એ બતાવીએ છીએ કે જીવોની ભવાન્તરને પ્રાપ્ત કરાવવા વાળી જે ગતિ હોય છે તે અનિયત અર્થાત્ ગમે તેવી હોય છે કે તેનો કોઈ નિયમ છે ? આ જિજ્ઞાસાનુ સમાધાન કરવા માટે પ્રથમ ગતિનુ સ્વરૂપ કહે છે-પુદ્ગલો અને જીવોની ગતિ અર્થાત્ એક જગ્યાએથી બીજી જગ્યાએ પહોચવાના બે પ્રકાર હોય છે—અનુશ્રેણિ અને વિશ્રેણિ

પરમાણુપુદ્ગલોની દ્વિપ્રદેશી વગેરે સ્કધોની તરફ જીવોની દેશાન્તરપ્રાપ્તિ ગતિ રૂપ ગતિ એક પ્રકારની હોય છે-અનુશ્રેણિરૂપ પરમાણુપુદ્ગલોની સાથે દ્વિપ્રદેશી આદિ સ્કધોની ગતિ અનુશ્રેણિ હોય છે

જીવોને પણ અનુશ્રેણિ જ ગતિ હોય છે લોકના મધ્યભાગથી શરૂ કરીને ઉપર નીચે અને તીર્છે અનુક્રમે રહેલા આકાશપ્રદેશોની હરોળને શ્રેણિ કહે છે આ શ્રેણી અનુસાર જીવો અને પુદ્ગલોની જે ગતિ થાય છે તે અનુશ્રેણિ ગતિ કહેવાય છે

આ પૈકી અનુશ્રેણિ ગતિ પુદ્ગલો અને જીવોની હોય છે પુદ્ગલોમા પણ જીવ મરીને જ્યારે બીજા ભવમા જાય છે અને મુક્ત જીવ જ્યારે ઉર્ધ્વગમન કરે છે ત્યારે તેની અનુશ્રેણિગતિ થાય છે

પરપ્રયોગ વગર પુદ્ગલોની પણ સ્વાભાવિક ગતિ શ્રેણી અનુસાર જ થાય છે, પરપ્રયોગથી અર્થાત્ બહ્ય દબાણથી પુદ્ગલોની અનુશ્રેણિગતિ થાય છે, એ વસ્તુસ્થિતિ છે ॥ ૨૩ ॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—જીવોના સ્વરૂપનુ નિરૂપણ પ્રથમ કરવામા આવ્યુ હવે જીવોની ભવાન્તરમા જે ગતિ થાય છે તે ગમે તેવી થઈ જાય છે અથવા તો શુ તેનો કોઈ નિયમ છે ? આ રીતની શકા હોવાથી પ્રથમ ગતિનુ નિરૂપણ કરે છે

પુદ્ગલો અને જીવોની ગતિ એક પ્રકારની છે અનુશ્રેણિ ગમન કરવુ તેને ગતિ કહે છે અને ગમનનો અર્થ છે એક સ્થાનેથી બીજા સ્થાને પહોચવુ

પરમાણુપુદ્ગલોની, દ્વિપ્રદેશી વગેરે સ્કંધોની અને જીવોની ગતિ એક પ્રકારની હોય છે- અનુશ્રેણિરૂપ, એમાથી પરમાણુપુદ્ગલો અને દ્વિપ્રદેશી આદિ સ્કંધોની અનુશ્રેણિ ગતિ જ હોય છે

જીવોની ગતિ એક પ્રકારની હોય છે- અનુશ્રેણિ રૂપ પોતાના શરીરની અવગાહના જેટલા આકાશના પ્રદેશોની હરોળને શ્રેણિ કહે છે-અમૂર્ત્ત ક્ષેત્રને પરમાણુ પ્રદેશ કહેવાય છે તે ઘણાજ બારીક હોય છે અને નિરન્તર વ્યાપ્ત રહે છે આકાશના પ્રદેશોની પંક્તિ અર્થાત્ શ્રેણી જીવગતિની અપેક્ષાથી અસંખ્યાતા પ્રદેશોવાળી હોય છે પુદ્ગલગતિની અપેક્ષાથી મોતીના હાર જેવી એક-એક આકાશપ્રદેશની રચના વાળી પણ સમજી લેવી જોઈએ

પરમાણુપુદ્ગલોનુ તેટલી જ શ્રેણીમા અવસ્થાન હોય છે પરંતુ દ્વિપ્રદેશી વગેરે પુદ્ગલોનુ તેટલુ અને તેથી વિશિષ્ટ શ્રેણીમા અવસ્થાન હોય છે આ રીતે અપ્રદેશી સ્કંધ પર્યન્ત પુદ્ગલદ્રવ્યના વિષયમા પણ કહીદેવુ જોઈએ,

શ્રેણી અનુસાર જે ગતિ થાય તે અનુશ્રેણિ કહેવાય છે—

જેમાં મિલન અને વિયોગ જોવામા આવે તેને પુદ્ગલ કહે છે તે પુદ્ગલોની તથા સંસારી જીવોની ઉંચી નીચી અથવા તિર્છી જે ગતિ થાય છે તે આકાશના પ્રદેશોની શ્રેણી અનુસાર થાય છે

પુદ્ગલોનો અવગાહ લાંબો હોય છે એવી જ રીતે ઉપર-નીચે પણ ધર્માસ્તિકાય અને અધર્માસ્તિકાય પર્યન્ત જે શ્રેણિઓ છે તે શ્રેણિઓમા જ ગતિ થાય છે-તેમને ભેદીને કદાપી પુદ્ગલો ગમન કરતા નથી

આ રીતે જીવો અને પુદ્ગલોના અવગાહરૂપ આકાશના પરમાણુરૂપ અમૂર્ત્ત પ્રદેશોની લાંબી શ્રેણી અસંખ્યાત પ્રદેશોની હોય છે પરંતુ તે જીવોના ગમનમા જ હોય છે પુદ્ગલોના ગમનમા તો સંખ્યાત પ્રદેશવાળી શ્રેણી પણ હોય છે આ પ્રકારની શ્રેણીમા જ ગમન થાય છે આકાશના પ્રદેશોની જે શ્રેણી છે તે પ્રમાણે જ જીવો અને પુદ્ગલોની ગતિ થઈ શકે છે

સ્વત ગતિ પરિણામને પામેલા જીવની દેશાંતર પ્રાપ્તિ રૂપ ગતિ આકાશશ્રેણીનુ ઉલ્લંઘન નહી કરીને, ગતિના કારણભૂત તથા સમસ્ત લોકમા વ્યાપ્ત ધર્મદ્રવ્યના નિમિત્તથી થાય છે પરભવમા જવા માટે અભિમુખ થયેલો જીવ મનક્રિયાવાળુ હોવાથી જે આકાશપ્રદેશોની મદદ લઈને શરીરનો ત્યાગ કરે છે, તેનુ ભેદન ન કરતો થકો, ઉપર, નીચે અથવા મધ્ય દેશાન્તરમા ગતિ કરે છે તેની અનુશ્રેણી ગતિ હોય છે

આગળ જતા ધર્માસ્તિકાયનો અભાવ હોવાથી લોકના પર્યન્ત ભાગમાં ગતિ એક થઈ જાય છે લોકના નિષ્કુટ-ખૂણા જેવા નિશ્ચલ ઉપપાતન ક્ષેત્રના વશથી જીવ ધર્માસ્તિકાયની સહાયતાથી વાંકી ગતિ કરે છે પુદ્ગલોની પણ પરપ્રેરણા વગર જે સ્વાભાવિક ગતિ હોય છે તે અનુશ્રેણી રૂપ જ હોય છે જેવી રીતે પરમાણુ પૂર્વદિશાના લોકાન્તથી પશ્ચિમ દિશાના લોકાન્ત સુધી એક સમયમા પ્રાપ્ત થાય છે વસ્તુગતિના અનુરોધથી સૂત્ર દ્વારા પ્રતિબન્ધન કરવામા આવેલ છે

બીજાની પ્રેરણાની અપેક્ષાથી પુદ્ગલોની પણ અનુશ્રેણી રૂપ પણ ગતિ હોય છે વ્યાખ્યાપ્રજ્ઞપ્તિના ૨૫મા શતકમા, બીજા ઉદ્દેશકમા કહ્યુ છે—

મન બે પ્રકારના છે દ્રવ્યમન અને ભાવમન દ્રવ્યમન શરીર છે તો ભાવમન આત્મા ભાવમન દ્રવ્યમનનુ અવલબન કરીને ઇન્દ્રિયપરિણામનુ મનન કરે છે તે દ્રવ્યમનનુ જ અનુસરણુ કરે છે

આ રીતે શ્રોત્રની પ્રણાલી દ્વારા ગ્રહીત શબ્દોના અર્થનો વિચાર કરનાર અતીન્દ્રીય થયેલ રૂપ મનનો વિષય શ્રુતજ્ઞાન છે પ્રયોગ–વિશેષથી સસ્કૃત તે શ્રુતનો વર્ણ, પદ, વાકય, પ્રકરણ, અધ્યયન વગેરે ભેદવાગો છે મન શિવાય અન્ય કોઈ ઇન્દ્રિય જાણવા માટે સમર્થ નથી આ કારણે આત્માની પરિણતી વિશેષ રૂપ શ્રુતજ્ઞાન જ મનનો વિષય છે શબ્દ સ્વરૂપ શ્રુત મનનો વિષય હોઈ શકે નહી

શબ્દાત્મક શ્રુત પ્રતિઘાત અને અભિભવથી જોડાયેલા હોવાથી તેમજ મૂર્તિક હોવાથી શ્રોત્ર દ્વારા જ ગ્રાહ્ય હોય છે મન દ્વારા નહી આ રીતે મન ઇન્દ્રિય હોઈ શકતુ નથી કારણકે તેમા ઇન્દ્રિયનુ પૂર્વોકત લક્ષણુ ઘટિત હોતુ નથી આથી જ મન નો ઇન્દ્રિય કહેવાય છે ॥૨૨॥

पोग्गल जीवगइ दुविहा अणुसेढीय विसेढीय

મૂળસૂત્રાર્થ:—પુદ્‌ગલ અને જીવની ગતિ બે પ્રકારની હોય છે અનુશ્રેણિગતિ અને વિશ્રેણિગતિ ॥ ૨૩ ॥

તત્વાર્થદીપિકા—અગાઉ જીવોનુ સ્વરૂપ પ્રતિપાદિત કરવામા આવ્યુ એજ પ્રસગને લઈને એ બતાવીએ છીએ કે જીવોની ભવાન્તરને પ્રાપ્ત કરાવવા વાળી જે ગતિ હોય છે તે અનિયત અર્થાત્ ગમે તેવી હોય છે કે તેનો કોઈ નિયમ છે ? આ જિજ્ઞાસાનુ સમાધાન કરવા માટે પ્રથમ ગતિનુ સ્વરૂપ કહે છે–પુદ્‌ગલો અને જીવોની ગતિ અર્થાત્ એક જગ્યાએથી બીજી જગ્યાએ પહોચવાના બે પ્રકાર હોય છે–અનુશ્રેણિ અને વિશ્રેણિ

પરમાણુપુદ્‌ગલોની દ્વિપ્રદેશી વગેરે સ્કધોની તરફ જીવોની દેશાન્તરપ્રાપ્તિ ગતિ રૂપ ગતિ એક પ્રકારની હોય છે–અનુશ્રેણિરૂપ પરમાણુપુદ્‌ગલોની સાથે દ્વિપ્રદેશી આદિ સ્કધોની ગતિ અનુશ્રેણિ હોય છે

જીવોને પણ અનુશ્રેણિ જ ગતિ હોય છે લોકના મધ્યભાગથી શરૂ કરીને ઉપર નીચે અને તીછે અનુક્રમે રહેલા આકાશપ્રદેશોની હરોળને શ્રેણિ કહે છે આ શ્રેણી અનુસાર જીવો અને પુદ્‌ગલોની જે ગતિ થાય છે તે અનુશ્રેણિ ગતિ કહેવાય છે

આ પૈકી અનુશ્રેણિ ગતિ પુદ્‌ગલો અને જીવોની હોય છે પુદ્‌ગલોમા પણ જીવ મરીને જ્યારે બીજા ભવમા જાય છે અને મુક્ત જીવ જ્યારે ઉર્ધ્વગમન કરે છે ત્યારે તેની અનુશ્રેણિગતિ થાય છે

પરપ્રયોગ વગર પુદ્‌ગલોની પણ સ્વાભાવિક ગતિ શ્રેણી અનુસાર જ થાય છે, પરપ્રયોગથી અર્થાત્ બાહ્ય દબાણથી પુદ્‌ગલોની અનુશ્રેણિગતિ થાય છે, એ વસ્તુસ્થિતિ છે ॥ ૨૩ ॥

તત્વાર્થનિર્યુકિત—જીવોના સ્વરૂપનુ નિરૂપણુ પ્રથમ કરવામા આવ્યુ હવે જીવોની ભવાન્તરમા જે ગતિ થાય છે તે ગમે તેવી થઈ જાય છે અથવા તો શુ તેનો કોઈ નિયમ છે ? આ રીતની શકા હોવાથી પ્રથમ ગતિનુ નિરૂપણુ કરે છે

પુદ્‌ગલો અને જીવોની ગતિ એક પ્રકારની છે અનુશ્રેણિ ગમન કરવુ તેને ગતિ કહે છે અને ગમનનો અર્થ છે એક સ્થાનેથી બીજા સ્થાને પહોચવુ

પરમાણુપુદ્ગલોની, દ્વિપ્રદેશી વગેરે સ્કધોની અને જીવોની ગતિ એક પ્રકારની હોય છે– અનુશ્રેણિરૂપ, એમાથી પરમાણુપુદ્ગલો અને દ્વિપ્રદેશી આદિ સ્કધોની અનુશ્રેણિ ગતિ જ હોય છે.

જીવોની ગતિ એક પ્રકારની હોય છે– અનુશ્રેણિ રૂપ પોતાના શરીરની અવગાહના જેટલા આકાશના પ્રદેશોની હરોળને શ્રેણિ કહે છે–અમૂર્ત્ત ક્ષેત્રને પરમાણુ પ્રદેશ કહેવાય છે તે ઘણાજ બારીક હોય છે અને નિરન્તર વ્યાપ્ત રહે છે આકાશના પ્રદેશોની પક્તિ અર્થાત્ શ્રેણી જીવગતિની અપેક્ષાથી અસખ્યાતા પ્રદેશોવાળી હોય છે પુદ્ગલગતિની અપેક્ષાથી મોતીના હાર જેવી એક–એક આકાશપ્રદેશની રચના વાળી પણ સમજી લેવી જોઈએ

પરમાણુપુદ્ગલોનુ તેટલી જ શ્રેણીમા અવસ્થાન હોય છે પરતુ દ્વિપ્રદેશી વગેરે પુદ્ગલોનુ તેટલુ અને તેથી વિશિષ્ટ શ્રેણીમા અવસ્થાન હોય છે આ રીતે અપ્રદેશી સ્કધ પર્યન્ત પુદ્ગલદ્રવ્યના વિષયમા પણ કહીદેવુ જોઈએ,

શ્રેણી અનુસાર જે ગતિ થાય તે અનુશ્રેણિ કહેવાય છે—

જેમા મિલન અને વિયોગ જોવામા આવે તેને પુદ્ગલ કહે છે તે પુદ્ગલોની તથા સસારી જીવોની ઉચી નીચી અથવા તિર્છી જે ગતિ થાય છે તે આકાશના પ્રદેશોની શ્રેણી અનુસાર થાય છે

પુદ્ગલોનો અવગાહ લાબો હોય છે એવી જ રીતે ઉપર–નીચે પણ ધર્માસ્તિકાય અને અધર્માસ્તિકાય પર્યન્ત જે શ્રેણિઓ છે તે શ્રેણિઓમા જ ગતિ થાય છે–તેમને ભેદીને કદાપી પુદ્ગલો ગમન કરતા નથી

આ રીતે જીવો અને પુદ્ગલોના અવગાહરૂપ આકાશના પરમાણુરૂપ અમૂર્ત્ત પ્રદેશોની લાબી શ્રેણી અસખ્યાત પ્રદેશોની હોય છે પરતુ તે જીવોના ગમનમા જ હોય છે પુદ્ગલોના ગમનમા તો સખ્યાત પ્રદેશવાળી શ્રેણી પણ હોય છે આ પ્રકારની શ્રેણીમા જ ગમન થાય છે આકાશના પ્રદેશોની જે શ્રેણી છે તે પ્રમાણે જ જીવો અને પુદ્ગલોની ગતિ થઈ શકે છે

સ્વત ગતિ પરિણામને પામેલા જીવની દેશાતર પ્રાપ્તિ રૂપ ગતિ આકાશશ્રેણીનુ ઉલ્લઘન નહી કરીને, ગતિના કારણભૂત તથા સમસ્ત લોકમા વ્યાપ્ત ધર્મદ્રવ્યના નિમિત્તથી થાય છે પરભવમા જવા માટે અભિમુખ થયેલો જીવ મનક્રિયાવાળુ હોવાથી જે આકાશપ્રદેશોની મદદ લઈને શરીરનો ત્યાગ કરે છે, તેનુ ભેદન ન કરતો થકો, ઉપર, નીચે અથવા મધ્ય દેશાન્તરમા ગતિ કરે છે તેની અનુશ્રેણી ગતિ હોય છે

આગળ જતા ધર્માસ્તિકાયનો અભાવ હોવાથી લોકના પર્યન્ત ભાગમાં ગતિ એક થઈ જાય છે લોકના નિષ્કુટ–[illegible] જેવા નિશ્ચલ ઉપપાતન ક્ષેત્રના વશથી જીવ ધર્માસ્તિકાયની સહાયતાથી વાકી ગતિ કરે છે પુદ્ગલોની પણ પરપ્રેરણા વગર જે સ્વાભાવિક ગતિ હોય છે તે અનુશ્રેણી રૂપ જ હોય છે જેવી રીતે પરમાણુ પૂર્વદિશાના લોકાન્તથી પશ્ચિમ દિશાના લોકાન્ત સુધી એક સમયમા પ્રાપ્ત થાય છે વસ્તુગતિના અનુરોધથી સૂત્ર દ્વારા પ્રતિબન્ધન કરવામા આવેલ છે

બીજાની પ્રેરણાની અપેક્ષાથી પુદ્ગલોની પણ અનુશ્રેણી રૂપ પણ ગતિ હોય છે વ્યાખ્યાપ્રજ્ઞપ્તિના ૨૫મા શતકમા, બીજા ઉદ્દેશકમા કહ્યુ છે—

પ્ર૦—ભગવાન્ ! પરમાણુપુદ્ગલોની ગતિ અનુશ્રેણિ–શ્રેણી અનુસાર થાય છે ?

જવાબ—ગૌતમ ! અનુશ્રેણી ગતિ હોય છે, વિશ્રેણી ગતિ હોતી નથી

પ્ર૦—ભગવાન્ ! દ્વિપ્રદેશી સ્કંધોની અનુશ્રેણી ગતિ હોય કે વિશ્રેણી ગતિ ?

જ —આ પ્રશ્નનો જવાબ પૂર્વવત્ છે આવીજ રીતે અનતપ્રદેશી સ્કધો સુધી સમજવાનુ છે

પ્ર --ભગવન્ નારકી જીવોની ગતિ અનુશ્રેણી હોય છે કે વિશ્રેણી

જ—આનો જવાબ પણ પૂર્વવત્ જ છે આ જ રીતે વૈમાનિક દેવો સુધી સમજવુ ॥૨૩॥

'जीवगई य दुविहा विग्गहा अविग्गहा य'

મૂળસૂત્રાર્થ :—જીવની ગતિ બે પ્રકારની છે-સવિગ્રહ અને અવિગ્રહ ॥ ૨૪ ॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પહેલા જીવો અને પુદ્ગલોની ગતિની પ્રરૂપણા કરી તેમા જીવોની તે ગતિ ભવાન્તર પ્રાપિણી અને પુદ્ગલોની ગતિદેશાન્તર પ્રાપિણી હોય છે એવુ સમજી લેવુ શુ જીવ અગર પુદ્ગલ સીધા જ આવીને રોકાઈ જાય છે અથવા વાકા-ચુકા જઈને પણ ઉત્પન્ન થાય છે અથવા રોકાઈ જાય છે ? એવા પ્રકારની જિજ્ઞાસાનુ સમાધાન એ છે કે પુદ્ગળો માટે નિયમો ન હોવાથી પરપ્રયોગના અભાવમા તેમની સીધી જ ગતિ હોય છે, પરતુ પરપ્રયોગના નિમિત્તથી બને પ્રકારની ગતિ હોય છે

સિદ્ધિ પ્રાપ્ત કરવાવાળા જીવોની ગતિ નિયમથી વગર-વિગ્રહ (વળાક) ની સરલ હોય છે આ સિવાયના સસારી જીવોની ગતિ વાકી પણ હોય છે અને સીધી પણ હોય છે આ પ્રકારની પ્રરૂપણા કરવા માટે કહીએ છીએ—

જીવોની ગતિ બે પ્રકારની હોય છે-સવિગ્રહ ગતિ અને અવિગ્રહ ગતિ

એક ભવથી બીજા ભવને પ્રાપ્ત કરાવનાર જીવની ગતિ બે પ્રકારની હોય છે–વિગ્રહવાળી અર્થાત્ વક્રગતિ અને અવિગ્રહવાળી અર્થાત્ સરળગતિ વિગ્રહરહિત–સીધી ગતિ એક સમયની જ હોય છે મોક્ષગામી સિદ્ધજીવની અવિગ્રહ ગતિ હોય છે અવિગ્રહ ગતિ એક સમય બે સમય અને ત્રણ સમયની હોય છે જઘન્ય એક સમયની અને ઉત્કૃષ્ટા ત્રણ સમયની જાણવી આ રીતે એકેન્દ્રિય બેઇન્દ્રિય વગેરે જાતિયોની અદર સક્રમણ કરવામા અથવા સ્વજાતિમા સક્રમણ કરવામા સસારી જીવની ગતિ સવિગ્રહ અર્થાત્ વક્ર અને અવિગ્રહ અર્થાત્ સરળ–સીધી ગતિ

ક્યારેક વક્રગતિ અને ક્યારેક સરળગતિ હોવાનુ કારણ ઉપપાત ક્ષેત્રની અનુકૂળતા તથા પ્રતિકૂળતા છે જે ક્ષેત્રમા જીવ જન્મ લેનાર છે, તે ક્ષેત્રની અનુકૂળતા હોવાથી, મધ્યમા, ઉપર અગર નીચે, દિશાઓમા અથવા વિદિશાઓમા મરતો થકો, જેટલી આકાશશ્રેણીમા અવગાહના હોય છે, તેટલી જ પ્રમાણુવાળી શ્રેણીનો પરિત્યાગ ન કરતો થકો, ચારવિગ્રહથી પહેલા વિગ્રહગતિથી ઉત્પન્ન થતો થકો એક વિગ્રહવાળી, બે વિગ્રહવાળી અગર ત્રણ વિગ્રહવાળી ગતિથી ઉત્પન્ન થાય છે પરતુ અન્તર્ગતિ તો ચોક્કસ જ ત્રણ વિગ્રહવાળી હોય છે એવા નિયમનો સ્વીકાર ન કરવો જોઈએ પરતુ જે જીવોની ગતિ વિગ્રહવાળી હોય છે, ઉપપાત ક્ષેત્રના કારણે તેની વિગ્રહવાળી ગતિ ઉત્કૃષ્ટ ત્રણ વિગ્રહવાળી હોય છે

એજ રીતે વિગ્રહની દૃષ્ટિથી ચાર ગતિ છે–એક વિગ્રહવાળી, બે વિગ્રહવાળી, ત્રણ વિગ્રહવાળી ને ચાર સમયની હોય છે આમા વિગ્રહરહિત ગતિ એક સમયની હોય છે અને વિગ્રહ-

વાળી ગતિ ત્રણ પ્રકારની છે-એક સમયની, બે-સમયની અને ત્રણ સમયની એથી વિશેષ હોતી નથી કારણકે તેનો સ્વભાવ જ એવો છે, પ્રતિઘાતનો અભાવ છે અને વિગ્રહના નિમિત્તનો અભાવ છે જે જીવનુ ઉપપાતક્ષેત્ર સમશ્રેણીમા રહેલ છે તે જીવ ઋજુશ્રેણીથી જઈને ઉત્પન્ન થાય છે

વક્રગતિ નહી કરનાર જીવ એક જ સમયમાં ઉત્પન્ન થઈ જાય છે અર્થાત્ પોતાના ઉપપાતક્ષેત્ર સુધી પહોચી જાય છે પરંતુ તેનુ ઉપપાતક્ષેત્ર જો વિશ્રેણીમાં હોય છે ત્યારે એક સમય અને ત્રણ સમયવાળી પણ વિગ્રહ ગતિ હોય છે

અત્રે "વિગ્રહ" શબ્દ 'વિરામ' અર્થમા લેવો જોઈએ અને નહી કે 'કુટિલ' અર્થમા આથી ફલિતાર્થ એ થયો કે એક સમયમા ગતિના અવચ્છેદથી અર્થાત્ વિરામથી ઉત્પન્ન થાય છે, બે સમયમા ગતિના અવચ્છેદથી યાની વિરામથી ઉત્પન્ન થાય છે અથવા ત્રણ સમયમા ગતિના અવચ્છેદ અર્થાત્ વિરામથી ઉત્પન્ન થાય છે

અહી એવુ સમજવુ જોઈએ-અવિગ્રહ ગતિ ઈષુગતિ (બાણ જેવી સીધી ગતિ) કહેવાય છે જેવી રીતે બાણનુ પોતાનુ લક્ષ્ય સીધી ગતિ હોય છે એવી જ રીતે સિદ્ધો તથા સસારી જીવોની અવિગ્રહગતિ એક સમય જેવી સરખી જ હોય છે સવિગ્રહગતિ સસારી જીવોની જ હોય છે તેના ત્રણ ભેદ છે હસ્તપ્રક્ષિપ્ત, લાગલિકા અને ગોમૂત્રિકા

જેમ હાથને એકબાજુ વાકો વીઝવામા આવે તો એક તરફ તિરછી ગતિ હોય છે એવી જ રીતે સસારી જીવની હસ્તપ્રક્ષિપ્ત ગતિ એક વિગ્રહવાળી બે સમયની હોય છે લાંગલિકા ગતિ બને તરફથી વાકી હોય છે જેવી રીતે હળ બને તરફથી વાકુ હોય છે તેજ રીતે સસારી જીવોની જે ગતિ બને તરફથી વાકી હોય તે લાગલિકા કહેવાય છે, તે ગતિ ત્રણ સમયની હોય છે ગોમૂત્રિકા ગતિ ત્રણ વિગ્રહવાળી હોય છે તે ગતિ ચાર સમયની હોય છે આ રીતે ભવાન્તરમા ઉત્પન્ન થનારા સસારી જીવોની વિગ્રહવાળી વક્રગતિ ચોથા સમયથી પહેલા જ ઉત્પન્ન થઈ જાય છે ચોથા સમયમા અગર ચોથા સમયના અન્તમા વક્રગતિ હોતી નથી

વિગ્રહવાળી ગતિ ચોથા સમયમા કેમ થતી નથી ? આ પ્રશ્નનો જવાબ એ છે કે સહુથી અધિક વિગ્રહના નિમિત્તભૂત લોકાગ્રના ખુણારૂપ નિષ્કુટ ક્ષેત્રમાં ઉત્પન્ન થનારો જીવ નિષ્કુટ ક્ષેત્રને અનુકૂળ શ્રેણી ન હોવાના કારણે ઈષુગતિ કરી શકતો નથી આથી નિષ્કુટ ક્ષેત્રમાં જવા માટે પણ વિગ્રહવાળી ગતિનો આરભ કરવો છે તેથી અધિક વિગ્રહવાળી ગતિ કરતો નથી કારણકે એવુ કોઈ પણ ઉપપાત ક્ષેત્ર નથી કે જ્યા જવા માટે ત્રણથી વધારે વિગ્રહ કરવા પડે ॥ ૨૪ ॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પૂર્વસૂત્રમા કહેવામા આવેલી જીવોની ભવાન્તર પ્રાપિણીગતિ તથા પુદ્ગલોની દેશાન્તર પ્રાપિણી ગતિ શુ સીધી જઈને વિરત થઈ જાય છે અથવા વિગ્રહ કરીને પણ ફરી ઉત્પન્ન થાય છે ? એવી આશકાના સમાધાન માટે કહે છે-પુદ્ગલો માટે કોઈ નિયમ નથી, સિદ્ધિગમન કરવાવાળા જીવોની ગતિ નિયમ રૂપે અવિગ્રહ—સરળ જ હોય છે.

સિદ્ધોથી જુદા જે સસારી જીવો છે તેમની ગતિ સવિગ્રહ અને અવિગ્રહ બને પ્રકારની હોય છે આ આશયને પ્રતિપાદન કરવા માટે કહીએ છીએ—

જીવોની ગતિ બે પ્રકારની છે સવિગ્રહ અને અવિગ્રહ સામાન્યતયા જીવની બે પ્રકારની ગતિ હોય છે–વિગ્રહ અર્થાત્ વક્રતાવાળી અને અવિગ્રહ અર્થાત્ સીધી–સરળ આમાં જે અવિગ્રહગતિ છે તે નિયમથી એક સમય વાળી જ હોય છે આવી ગતિ મોક્ષગામી જીવની જ હોય છે વિગ્રહવાળી ગતિ એક સમયની બે સમયની અગર તો ત્રણ સમયની હોય છે જઘન્ય એક સમયની અને ઉત્કૃષ્ટ ત્રણસમયની સમજવી જોઈએ ! આથી એકેન્દ્રિય વગેરે બીજી જાતિયોમા સક્રમણ સમયે અથવા પોતાની જ જાતિમાં સક્રમણ કરતી વેળાએ સસ,રી જીવની વિગ્રહવાળી વક્ર અથવા વગર વિગ્રહની અવક્રગતિ હોય છે

આ રીતે કયારેક વાંકી અને કયારેક સીધી જે ગતિ હોય છે તેનુ કારણ ઉપપાતક્ષેત્રની–વિશેષતા જ છે જે ક્ષેત્રમાં જઈને જીવને જન્મ લેવો છે તે જો અનુકૂળ હોય તો વચ્ચે ઉપર અગર નીચે, દિશા અગર વિદિશામાં મરીને જેટલી આકાશશ્રેણીમાં અવગાહ હોય તેટલા જ પ્રમાણવાળી શ્રેણીનો પરિત્યાગ ન કરતો થકો, ચાર વિગ્રહોથી પહેલા–પ્રથમ એક બે અગર ત્રણ વિગ્રહ કરીને ઉત્પન્ન થઈ જાય છે પરતુ એવો નિયમ સમઝવો જોઈએ નહી કારણ અતર્ગતિ નિશ્ચિત રૂપથી વિગ્રહવાળી હોય છે પરતુ જે જીવોની ગતિ વિગ્રહવાળી હોય છે તેમની તે વિગ્રહવાળી ગતિ ઉપપાત ક્ષેત્ર મુજબ વધારેમાં વધારે ત્રણ વિગ્રહવાળી હોય છે આ રીતે સમયની અપેક્ષાથી ચાર (૪) પ્રકારની ગતિ હોય છે–એક સમયની અવિગ્રહગતિ, એક વિગ્રહવાળી, બે વિગ્રહવાળી અને ત્રણ વિગ્રહવાળી આનાથી વધુ વિગ્રહવાળી ગતિની શકયતા નથી કારણકે જીવનો એવો જ સ્વભાવ છે, પ્રતિઘાતનો અભાવ હોય છે અને અધિક વિગ્રહ કરવા માટે જ કોઈ કારણ રહેતું નથી

વિગ્રહનો અર્થ છે વક્રતા, અવગ્રહ અથવા એક આકાશશ્રેણીથી બીજી શ્રેણીમાં જવું આ તમામ પર્યાયવાચક શબ્દ છે અભિપ્રાય એવો છે કે ભવાન્તરમા ઉત્પન્ન થનારા જીવનુ ઉપપાતક્ષેત્ર જો સમશ્રેણીમાં રહેલુ હોય તો તે એજ શ્રેણી અનુસાર કયાય ફ ટયા વગર–સીધો જઈને એકજ સમયમા ઉત્પન્ન થઈ જાય છે પરતુ જ્યારે ઉપપાતક્ષેત્ર વિશ્રેણીમા અર્થાત્ કોઈ બીજી શ્રેણીમાં હોય છે ત્યારે ત્યા સુધી પહોચવા માટે એક, બે અગર ત્રણવાર ફ ટાય છે જ્યારે તેને વળવુ પડે છે ત્યારે વળાક મુજબ વધુ સમય લાગે છે આગમમાં કહ્યુ છે—

પ્રશ્ન—ભગવન્ ! અપર્યાપ્ત સૂક્ષ્મ પૃથ્વીકાયિક જીવે આ રત્નપ્રભા પૃથ્વીના પૂર્વ ચરમાન્તમા સમુદ્ઘાત કર્યો અને તે આજ રત્નપ્રભા પૃથ્વીના પશ્ચિમ ચરમાન્તમા અપર્યાપ્ત સૂક્ષ્મ પૃથ્વીકાયિક રૂપે ઉત્પન્ન થનાર છે તો હે ભગવન્ ! તે જીવ કેટલા સમયનો વિગ્રહ કરીને ઉત્પન્ન થાય છે ?

ઉત્તર—ગૌતમ ! એક સમયનો બે સમયનો અથવા ત્રણ સમયનો વિગ્રહ કરીને ઉત્પન્ન થાય છે

પ્રશ્ન—ભગવન્ ! કયા હેતુથી આપે એવુ કહેલ છે ?

ઉ૦—ગૌતમ, મે સાત શ્રેણીયોની પ્રજ્ઞાપના કરી છે,

(૧) ઋજવાયતાશ્રેણી (સીધી-લાબી શ્રેણી), (૨) એક તરફથી વાકી, (૩) બને બાજુથી વાકી (૪) એક તરફથી બહા-એક બાજુ ત્રસ નાડી સીવાયના આકાશ વાળી-(૫) બને તરફથી બહા બન્ને બાજુ ત્રસ નાડી સીવાયના આકાશ વાળી (૬) ચક્રવાલા-ગોળાકાર (૭) અર્ધચક્ર-વાલાઅર્ધગોળાકાર જે જીવ સીધી લાબી શ્રેણીથી ઉત્પન્ન થાય છે તે એક સમયના વિગ્રહથી ઉત્પન્ન થાય છે-જે જીવ એક વક્ર શ્રેણીથી ઉત્પન્ન થાય છે તે બે સમય વાળા વિગ્રહથી ઉત્પન્ન થાય છે, જે બે તરફ વાકી શ્રેણીથી ઉત્પન્ન થાય છે તે ત્રણ સમયના વિગ્રહથી ઉત્પન્ન થાય છે આ હેતુથી જ હે ગૌતમ ! મે આ પ્રમાણે કહેલ છે

ભગવતીસૂત્ર શ ૩૪ ઉ, ૧, સૂત્ર ૧ અહી "વિગ્રહ"નો અર્થ 'વિરામ' છે, વક્રતા નહી આથી સાર એ નીકળ્યો કે એક સમયની ગતિના વિરામથી અર્થાત્ એક સમય પરિમાણ ગતિકાળ પછી થનારા વિરામથી જીવ પેદા થાય છે. એ રીતે વક્રશ્રેણીથી ઉત્પન્ન થતો થકો જીવ બે પરિમાણવાળી ગતિની પછીથી થનારા વિરામથી ઉત્પન્ન થાય છે

જો કે ગતિનુ પરિમાણુ દર્શાવનારા સૂત્રમાં ત્રિવક્રા ગતિનુ કથન કરવામા આવ્યું નથી તો પણ તેનુ કથન ઉપર કહેવાઈ જ ગયુ છે—

પ્રશ્ન—ભગવન્ ! અપર્યાપ્ત સૂક્ષ્મ પૃથ્વીકાયિક જીવ અધોલોક-ક્ષેત્રની નાલ થી બહારના ક્ષેત્રથી ઉર્ધ્વલોકના ક્ષેત્રની નાલ થી બહારના ક્ષેત્રમા અપર્યાપ્ત સૂક્ષ્મ પૃથ્વીકાયિકના રૂપમા ઉત્પન્ન થનાર છે, તે કેટલા સમયના વિગ્રહથી ઉત્પન્ન થાય છે ?

ઉત્તર—ગૌતમ ! ત્રણ અગર ચાર સમયના વિગ્રહથી ઉત્પન્ન થાય છે

આ રીતે ત્રિવક્રા ગતિમા જ ચાર સમય થઈ શકે છે આથી કોઈ દોષ નથી. એ રીતે ચક્રવાલા વગેરે પણ આ ચાર સમયોમા અન્તર્ગત થઈ જાય છે, આથી જ તેમનુ સ્વતત્ર કથન કરવામા આવ્યુ નથી,

આ રીતે ઋજુ વગેરે ચાર પ્રકારની ગતિઓ ચાર સમયપર્યન્ત જ હોય છે ;કોઈ પણ ગતિ એવી હોતી નથી કે ચારથી વધુ-પાચ વગેરે સમયોની હોય આ ચાર ગતિમાથી નારક વગેરેની અવિગ્રહા (સરળ) તથા એક અગર બે વિગ્રહવાળી ગતિ જ હોય છે, ત્રણ વિગ્રહવાળી નહી એકેન્દ્રિય જીવોની ત્રણ વિગ્રહવાળી તથા બીજી ગતિઓ પણ હોય છે

સ્થાનાગસૂત્રના ત્રીજા સ્થાનના ચોથા ઉદ્દેશકના ૨૨મા સૂત્રમા કહ્યુ છે-નારકજીવ ઉત્કૃષ્ટ ત્રણ સમયવાળા વિગ્રહથી ઉત્પન્ન થાય છે એકેન્દ્રિયોને છોડી, વૈમાનિકો સુધી આજ પ્રમાણે સમજવુ જોઈએ

એવી જ રીતે ભગવતીસૂત્રના ૩૪માં શતક પ્રથમ ઉદ્દેશકના પહેલા સૂત્રમા કહ્યુ છે—

પ્રશ્ન—નારક જીવ કેટલા સમયના વિગ્રહથી ઉત્પન્ન થાય છે ?

ઉ૦—ગૌતમ ! એક સમય, બે સમય, ત્રણ સમય અથવા ચાર સમયના વિગ્રહથી ઉત્પન્ન થાય છે

સ્વાભાવિક પ્રશ્ન થઈ શકે કે અવિગ્રહગતિ એક સમયની જ કેમ હોય છે ? બે અગર ત્રણ સમયની કેમ નહી ? કાળના અવસરે કાળ કરીને કોઈ જીવ બે અગર ત્રણ સમય સુધી સીધુ ગમન કેમ કરતો નથી ? પ્રશ્નનો જવાબ એ છે કે ત્રીજીગતિમા પ્રતિઘાત નથી અને વિગ્રહનુ કોઈ કારણ હોતુ નથી આ ઉપરાત શાસ્ત્રની એજ માન્યતા છે જે જીવ ત્રીજીગતિથી પોતાના ઉપપાતક્ષેત્રમા જાય છે, તે વચ્ચે કોઈ પણ જગ્યાએ રોકાયા વગર એક જ સમયમા તેને પ્રાપ્ત કરી લે છે ત્યા બે અગર બેથી વધારે સમય થવાનુ કોઈ કારણ નથી આથી તેની આ ગતિ એકજ સમયની હોય છે ઔપપાતિકસૂત્રના સિદ્ધપ્રકરણમા ૯૨મા સૂત્રની અમારા દ્વારા કરવામા આવેલી પીયૂષવર્ષિણી ટીકામા કહ્યુ છે-ત્રીજીગતિને પ્રાપ્ત અસ્પર્શમાનગતિ વાળો જીવ એક સમયના અવિગ્રહથી જઈને સાકાર ઉપયોગથી યુક્ત થઈને સિદ્ધ થશે

જેવી રીતે સસારી જીવોની ચાર ગતિ સભવિત છે તેજ રીતે પરમાણુ વગેરે પુદ્ગલોની પણ વિસ્રસા તથા પ્રયોગ દ્વારા સમજી લેવી જોઈએ કાળનો તથા વિગ્રહનો આ નિયમ અન્તરાલ ગતિ માટે દર્શાવવામા આવેલ છે ભવસ્થ તથા ઔદારિક શરીરવાળા જીવોની પ્રયોગ-પરિણામના વશથી સવિગ્રહક અવિગ્રહક બને પ્રકારની ગતિ થાય છે-તેના માટે કોઈ નિયમ નથી ઔદારિક વગેરે શરીરધારીઓ માટે વિગ્રહોનો નિયમ નથી-તે થોડા પણ હોય છે અને ઘણા પણ હોઈ શકે છે ॥ ૨૪ ॥

'कम्मजोगा विग्गहगई' ॥ सू० २५ ॥

મૂળસૂત્રાર્થ—વિગ્રહગતિ કાર્મણકાયયોગથી થાય છે ॥ ૨૫ ॥

તત્વાર્થદીપિકા—પ્રથમ વિશિષ્ટ સસારી જીવોના જ મનોયોગનો નિયમ બતાવવામા આવ્યો હવે ભવાન્તરગમનના માર્ગમા અન્તર્ગતિમા વર્તમાન જીવોનો કયો યોગ હોય છે એ દર્શાવવા માટે કહીએ છીએ---

જીવની વિગ્રહગતિ કર્મયોગથી અર્થાત્ કાર્મણશરીરના નિમિત્તથી થાય છે જે ગતિ વિગ્રહ અર્થાત્ વક્રતાથી યુક્ત હોય તે વિગ્રહગતિ કહેવાય છે જે શરીર સમસ્ત શરીરોની ઉત્પત્તિમા બીજની સમાન-કારણ-રૂપ હોય તે કાર્મણ શરીર કહેવાય છે મનોવર્ગણા કાય વર્ગણા અને વચનવર્ગણાના નિમિત્તથી થનારા આત્માના પ્રદેશોનુ પરિસ્પન્દન-હલન ચલન-યોગ કહેવાય છે એવી રીતે વિગ્રહગતિમા કાર્મણકાયયોગ થાય છે તેનાથી નવીન કર્મોનુ ગ્રહણ અને દેશાન્તરમા ગમન થાય છે

જ્યારે આત્મા એક શરીરને છોડી બીજુ શરીર ધારણ કરવા માટે જાય છે, ત્યારે તે કાર્મણ શરીરની સાથે હોય છે આનો ફલિતાર્થ એ છે કે જીવ કાર્મણ શરીરના આધારથી ભવાન્તરમા ગમન કરે છે-આનો પરમાર્થ એ છે કે ભવાન્તરમા ગમનના માર્ગમા સ્થિત તથા વિગ્રહગતિને પામેલા જીવની અન્તરાલ ગતિમા કાર્મણ કાયયોગ થાય છે અન્તરાલગતિ સિવાય બીજા સમયમા આગમના કથન અનુસાર કાયયોગ વચનયોગ અને મનોયોગ ત્રણે યોગ હોઈ શકે છે એમ સમજી લેવુ ॥ ૨૫ ॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—અગાઉ ખાસ ખાસ સસારી જીવોના જ મનોયોગનો નિયમ પ્રતિપાદન કર્યો પરંતુ અન્તર્ગતિમા જીવોનો કયો યોગ હોય છે ? આ પ્રતિપાદન કરવા માટે કહીએ છીએ—વિગ્રહગતિ કર્મયોગ અર્થાત્ કાર્મણ કાયયોગથી થાય છે જેમા કાર્મણ શરીર દ્વારા ચેષ્ટા થાય તે ગતિ-કર્મયોગ કહેવાય છે વિગ્રહગતિ કર્મયોગ છે.

વિગ્રહ અર્થાત્ વક્રતા અગર વળાકથી યુક્ત જે ગતિ હોય તે 'વિગ્રહગતિ' અથવા ઘોડાના રથ જેવા વિગ્રહની પ્રધાનતાવાળી ગતિ વિગ્રહગતિ કહેવાય છે જે જીવ વિગ્રહગતિને પ્રાપ્ત છે, ભાવાન્તર ગમનના માર્ગમા સ્થિત છે, તે જીવને કાર્મણકાયયોગ જ હોય છે બીજા સમયમા આગમના અનુસાર કાયયોગ વચનયોગ અને મનોયોગ એ ત્રણ યોગ હોઈ શકે છે—

આ રીતે નારકી, ગર્ભજ, તિર્યંચ અને મનુષ્ય તથા જીવોમા ત્રણે યોગ મળે છે સમ્મૂચ્છિંમ જન્મવાળા તિર્યંચો અને મનુષ્યોમા કાયયોગ અને વચનયોગ જ હોય છે અથવા અન્તરાલગતિ સિવાય બીજા સમયમા ભિન્ન ભિન્ન પર્યાયોમા સ્થિત દેવોના યથાયોગ્ય કાયયોગ વગેરે ૫દર જ યોગ હોય છે

એ પૈકી મનોયોગ ચાર પ્રકારના છે (૧) સત્ય મનોયોગ (૨) અસત્ય મનોયોગ (૩) સત્યાસત્ય (મિશ્ર) મનોયોગ અને (૪) અનત્યામૃષા (વ્યવહાર) મનોયોગ વચનયોગ પણ આ રીતે ચાર પ્રકારના છે (૧) ઔદારિક (૨) ઔદારિક મિશ્ર (૩) વૈક્રિય (૪) વૈક્રિયમિશ્ર (૫) આહારક (૬) આહારમિશ્ર (૭) કાર્મણયોગ તૈજસ કાર્મણની સાથે જ હોય છે આથી કાર્મણથી ભિન્ન નથી આથી યોગ ૫દર જ પ્રકારના છે, સોળ પ્રકારના નથી

સત્યમનોયોગ અને વ્યવહાર મનોયોગ સજ્ઞી મિથ્યાદૃષ્ટિથી લઈને સયોગ કેવળીપર્યન્ત હોય છે સત્ય વચનયોગ પણ આ સ્થાનોમા મળી આવે છે ચોથો વચનયોગ બેઇન્દ્રિયથી લઈને સયોગ કેવળી પર્યન્ત રહે છે બીજો અને ત્રીજો વચનયોગ સજ્ઞી ભાવદૃષ્ટિથી લઈને ક્ષીણ કષાય વીતરાગ છદ્મસ્થ પર્યન્ત મળી આવે છે

આવી જ રીતે બીજો તેમજ ત્રીજો કાયયોગ જ ભવાન્તરની પ્રાપ્તિ પર્યંત હોય છે અન્તરાલમા—ભવાન્તર ગમનના માર્ગમા યથાસભવ ઔદારિક અને વૈક્રિય કાયયોગ હોય છે વક્રગતિમા ઔદારિક તથા વૈક્રિય કાયયોગોની નિવૃત્તિ થઈ જાય છે નારક અને દેવ વૈક્રિયયોગવાળા હોય છે તિર્યંચ અને મનુષ્ય ઔદારિક તથા વૈક્રિયયોગવાળા હોય છે આહારયોગને પ્રમત્ત અનગાર જ પ્રારભ કરે છે, પછી તો અપ્રમત્તને પણ આહારકયોગ હોય છે આજ નારક વગેરે જીવ જ્યારે અપર્યાપ્ત અવસ્થામા હોય છે ત્યારે તેઓ મિશ્રયોગવાળા હોય છે.

જીવ આગામી ભવમા ઔદારિક શરીર ધારણ કરશે તેને આહાર ગ્રહણ જ ઔદારિક મિશ્ર હોય છે અને જે જીવ વૈક્રિય શરીર ધારણ કરે છે તેને વૈક્રિય મિશ્ર હોય છે

કેવલીસમુદ્ઘાતના સમય ત્રીજા ચોથા અને પાચમા સમયોમા કાર્મણ' કાયયોગ જ હોય છે બીજા, છઠા અને સાતમા સમયમા કાર્મણ યોગ ઔદારિક મિશ્ર હોય છે તથા પ્રથમ અને આઠમા સમયમા ઔદારિક યોગ જ હોય છે ઔદારિક બીજી અવસ્થાયોમા અગાઉ કહેલ કાયયોગ વગેરેની યોજના કરી લેવી જોઈએ

શકા —જો વિગ્રહગતિમા કર્મણયોગ થાય છે તો એ કાયગ્રહણવાળી ગતિમાં પણ કાર્મણયોગ જ કેમ થતો નથી ? તે પણ વિગ્રહગતિ જ છે

સમાધાન —વિગ્રહગતિમા કાર્મણ કાયયોગની વ્યાપ્તિ તલ અને તેલની જેમ વિવક્ષિત નથી પરતુ વિષ્કપમાત્રની વિવક્ષા કરવામા આવી છે જેવી રીતે આકાશમા પક્ષી અને જળમાં

સ્વાભાવિક પ્રશ્ન થઈ શકે કે અવિગ્રહગતિ એક સમયની જ કેમ હોય છે ? બે અગર ત્રણ સમયની કેમ નહી ? કાળના અવસરે કાળ કરીને કોઈ જીવ બે અગર ત્રણ સમય સુધી સીધુ ગમન કેમ કરતો નથી ? પ્રશ્નનો જવાબ એ છે કે ત્રીજીગતિમા પ્રતિઘાત નથી અને વિગ્રહનુ કોઈ કારણ હોતુ નથી આ ઉપરાત શાસ્ત્રની એજ માન્યતા છે જે જીવ ત્રીજીગતિથી પોતાના ઉપપાતક્ષેત્રમા જાય છે, તે વચ્ચે કોઈ પણ જગ્યાએ રોકાયા વગર એક જ સમયમા તેને પ્રાપ્ત કરી લે છે ત્યા બે અગર બેથી વધારે સમય થવાનુ કોઈ કારણ નથી આથી તેની આ ગતિ એકજ સમયની હોય છે ઔપપાતિકસૂત્રના સિદ્ધપ્રકરણમા ૯૨મા સૂત્રની અમારા દ્વારા કરવામા આવેલી પીયૂષવર્ષિણી ટીકામા કહ્યુ છે-ત્રીજીગતિને પ્રાપ્ત અસ્પર્શમાનગતિ વાળો જીવ એક સમયના અવિગ્રહથી જઈને સાકાર ઉપયોગથી યુક્ત થઈને સિદ્ધ થશે

જેવી રીતે સસારી જીવોની ચાર ગતિ સભવિત છે તેજ રીતે પરમાણુ વગેરે પુદ્ગલોની પણ વિસ્રસા તથા પ્રયોગ દ્વારા સમજી લેવી જોઈએ કાળનો તથા વિગ્રહનો આ નિયમ અન્તરાલ ગતિ માટે દર્શાવવામા આવેલ છે ભવસ્થ તથા ઔદારિક શરીરવાળા જીવોની પ્રયોગ-પરિણામના વશથી સવિગ્રહક અવિગ્રહક બને પ્રકારની ગતિ થાય છે-તેના માટે કોઈ નિયમ નથી ઔદારિક વગેરે શરીરધારીઓ માટે વિગ્રહોનો નિયમ નથી-તે થોડા પણ હોય છે અને ઘણા પણ હોઈ શકે છે ॥ ૨૪ ॥

'कम्मजोगा विग्गहगई' ॥ सू० २५ ॥

મૂળસૂત્રાર્થ —વિગ્રહગતિ કાર્મણકાયયોગથી થાય છે ॥ ૨૫ ॥

તત્વાર્થદીપિકા—પ્રથમ વિશિષ્ટ સસારી જીવોના જ મનોયોગનો નિયમ બતાવવામા આવ્યો હવે ભવાન્તરગમનના માર્ગમા અન્તર્ગતિમા વર્તમાન જીવોનો કયો યોગ હોય છે એ દર્શાવવા માટે કહીએ છીએ---

જીવની વિગ્રહગતિ કર્મયોગથી અર્થાત્ કાર્મણશરીરના નિમિત્તથી થાય છે જે ગતિ વિગ્રહ અર્થાત્ વક્રતાથી યુક્ત હોય તે વિગ્રહગતિ કહેવાય છે જે શરીર સમસ્ત શરીરોની ઉત્પત્તિમા બીજની સમાન-કારણ-રૂપ હોય તે કાર્મણ શરીર કહેવાય છે મનોવર્ગણા કાય વર્ગણા અને વચનવર્ગણાના નિમિત્તથી થનારા આત્માના પ્રદેશોનુ પરિસ્પન્દન-હલન ચલન-યોગ કહેવાય છે એવી રીતે વિગ્રહગતિમા કાર્મણકાયયોગ થાય છે તેનાથી નવીન કર્મોનુ ગ્રહણ અને દેશાન્તરમા ગમન થાય છે

જ્યારે આત્મા એક શરીરને છોડી બીજુ શરીર ધારણ કરવા માટે જાય છે, ત્યારે તે કાર્મણ શરીરની સાથે હોય છે આનો ફલિતાર્થ એ છે કે જીવ કાર્મણ શરીરના આધારથી ભવાન્તરમા ગમન કરે છે-આનો પરમાર્થ એ છે કે ભવાન્તરમા ગમનના માર્ગમા સ્થિત તથા વિગ્રહગતિને પામેલા જીવની અન્તરાલ ગતિમા કાર્મણ કાયયોગ થાય છે અન્તરાલગતિ સિવાય બીજા સમયમા આગમના કથન અનુસાર કાયયોગ વચનયોગ અને મનોયોગ ત્રણે યોગ હોઈ શકે છે એમ સમજી લેવુ ॥ ૨૫ ॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ —અગાઉ ખાસ ખાસ સસારી જીવોના જ મનોયોગનો નિયમ પ્રતિપાદન કર્યો પરતુ અન્તર્ગતિમા જીવોનો કયો યોગ હોય છે ? આ પ્રતિપાદન કરવા માટે કહીએ છીએ—વિગ્રહગતિ કર્મયોગ અર્થાત્ કાર્મણ કાયયોગથી થાય છે જેમા કાર્મણ શરીર દ્વારા ચેષ્ટા થાય તે ગતિ-કર્મયોગ કહેવાય છે વિગ્રહગતિ કર્મયોગ છે.

વિગ્રહ અર્થાત્ વક્રતા અગર વળાંકથી યુક્ત જે ગતિ હોય તે 'વિગ્રહગતિ' અથવા ઘોડાના રથ જેવા વિગ્રહની પ્રધાનતાવાળી ગતિ વિગ્રહગતિ કહેવાય છે જે જીવ વિગ્રહગતિને પ્રાપ્ત છે, ભાવાન્તર ગમનના માર્ગમાં સ્થિત છે, તે જીવનો કાર્મણકાયયોગ જ હોય છે બીજા સમયમાં આગમના અનુસાર કાયયોગ વચનયોગ અને મનોયોગ એ ત્રણ યોગ હોઈ શકે છે—

આ રીતે નારકી, ગર્ભજ, તિર્યંચ અને મનુષ્ય તથા જીવોમાં ત્રણે યોગ મળે છે સમ્મૂર્છિમ જન્મવાળા તિર્યંચો અને મનુષ્યોમાં કાયયોગ અને વચનયોગ જ હોય છે અથવા અન્તરાલગતિ સિવાય બીજા સમયમાં ભિન્ન ભિન્ન પર્યાયોમાં સ્થિત દેવોના યથાયોગ્ય કાયયોગ વગેરે પંદર જ યોગ હોય છે

એ પૈકી મનોયોગ ચાર પ્રકારના છે (૧) સત્ય મનોયોગ (૨) અસત્ય મનોયોગ (૩) સત્યાસત્ય (મિશ્ર) મનોયોગ અને (૪) અનત્યામૃષા (વ્યવહાર) મનોયોગ વચનયોગ પણ આ રીતે ચાર પ્રકારના છે (૧) ઔદારિક (૨) ઔદારિક મિશ્ર (૩) વૈક્રિય (૪) વૈક્રિયમિશ્ર (૫) આહારક (૬) આહારમિશ્ર (૭) કાર્મણયોગ તૈજસ કાર્મણની સાથે જ હોય છે આથી કાર્મણથી ભિન્ન નથી આથી યોગ પંદર જ પ્રકારના છે, સોળ પ્રકારના નથી

સત્યમનોયોગ અને વ્યવહાર મનોયોગ સંજ્ઞી મિથ્યાદૃષ્ટિથી લઈને સયોગ કેવળીપર્યન્ત હોય છે સત્ય વચનયોગ પણ આ સ્થાનોમાં મળી આવે છે ચોથો વચનયોગ બેઇન્દ્રિયથી લઈને સયોગ કેવળી પર્યન્ત રહે છે બીજો અને ત્રીજો વચનયોગ સંજ્ઞી ભાવદૃષ્ટિથી લઈને ક્ષીણ કષાય વીતરાગ છદ્મસ્થ પર્યન્ત મળી આવે છે

આવી જ રીતે બીજો તેમજ ત્રીજો કાયયોગ જ ભવાન્તરની પ્રાપ્તિ પર્યંત હોય છે અન્તરાલમાં—ભવાન્તર ગમનના માર્ગમાં યથાસંભવ ઔદારિક અને વૈક્રિય કાયયોગ હોય છે વક્રગતિમાં ઔદારિક તથા વૈક્રિય કાયયોગોની નિવૃત્તિ થઈ જાય છે નારક અને દેવ વૈક્રિયયોગ વાળા હોય છે તિર્યંચ અને મનુષ્ય ઔદારિક તથા વૈક્રિયયોગવાળા હોય છે આહારયોગનો પ્રમત્ત અનગાર જ પ્રારંભ કરે છે, પછી તો અપ્રમત્તને પણ આહારકયોગ હોય છે આજ નારક વગેરે જીવ જ્યારે અપર્યાપ્ત અવસ્થામાં હોય છે ત્યારે તેઓ મિશ્રયોગવાળા હોય છે

જીવ આગામી ભવમાં ઔદારિક શરીર ધારણ કરશે તેનો આહાર ગ્રહણ જ ઔદારિક મિશ્ર હોય છે અને જે જીવ વૈક્રિય શરીર ધારણ કરે છે તેનો વૈક્રિય મિશ્ર હોય છે

કેવલીસમુદ્ઘાતના સમય ત્રીજા ચોથા અને પાંચમા સમયોમાં કાર્મણ' કાયયોગ જ હોય છે બીજા, છઠા અને સાતમા સમયમાં કાર્મણ યોગ ઔદારિક મિશ્ર હોય છે તથા પ્રથમ અને આઠમા સમયમાં ઔદારિક યોગ જ હોય છે ઔદારિક બીજી અવસ્થાયોમાં અગાઉ કહેલ કાયયોગ વગેરેની યોજના કરી લેવી જોઈએ

શંકા —જે વિગ્રહગતિમાં કર્મણયોગ થાય છે તો એ કાયગ્રહણવાળી ગતિમાં પણ કાર્મણયોગ જ કેમ થતો નથી ? તે પણ વિગ્રહગતિ જ છે

સમાધાન —વિગ્રહગતિમાં કાર્મણ કાયયોગની વ્યાપ્તિ તલ અને તેલની જેમ વિવક્ષિત નથી પરંતુ વિષ્કંપમાત્રની વિવક્ષા કરવામાં આવી છે જેવી રીતે આકાશમાં પક્ષી અને જળમાં

માછલાની વિવક્ષા કરવામા આવે છે તે રીતે વિગ્રહગતિમા કાર્માણુ કાયયોગ કહેવામા આવે છે અન્યથા બે અગર ત્રણ વિગ્રહવાળી ગતિમા આદિ અને અ ત ના સમયમા પણ કાર્માણુયોગની પ્રાપ્તિ થતિ પર તુ બે વિગ્રહવાળી ગતિમા મધ્યમ સમયમા અથવા ત્રણ વિગ્રહવાળી ગતિમા બે મધ્યના સમયોમા જ કાર્માણુ કાયયોગ માનવામા આવે છે

શ કા —એમ માની લઈયે તો પણ તાત્પર્ય તો એ નિકળયુ કે વિગ્રહગતિવાળો જીવ કાર્માણુ કાયયોગ દ્વારા જ ભવાન્તરમા સ ક્રમણુ કરે છે તો પછી વિગ્રહગતિમા નિરૂપભોગતાનુ પ્રતિપાદન કેમ કરવામા આવ્યુ ? ભવાન્તરમા સ ક્રમણુ કરવુ એ ઉપભોગ જ છે

સમાધાન —અહી ઉપભોગનો જે નિષેધ કરવામા આવ્યો છે તે સુખ અને દુ ખના વિશિષ્ટ ઉપભોગનો, કર્મબન્ધનો અનુભવ અને નિર્જરાનો નિષેધ કરવામા આવેલ છે ચોથારૂપ કાર્માણુયોગનો નિષેધ કરવામા આવ્યો નથી

શ કાઃ—એવુ માનવામા પણ આગમની વિરૂદ્ધ ગણાય કારણકે આગમમા પ્રશ્ન કરવામાં આવે છે કે—ભગવન્ ! આ જીવ જ્યાસુધી હાલતો ડોલતો, ગમન સ્પન્દન કરે છે ત્યાસુધી તે જ્ઞાનાવરણીય અને અન્તરાય કર્મનો બ ધ કરે છે ? આનો જવાબ આપવામા અવ્યો છે કે હા, ગૌતમ ! જ્યાસુધી જીવ હાલતો, ડોલતો ગમન અગર સ્પન્દન કરે છે ત્યાસુધી તે જ્ઞાનાવરણીયથી અન્તરાય કર્મનો બ ધ કરે છે ઉકત કથનમા આ સૂત્રમા મુશ્કેલી આવે છે કાર્માણુયોગના સમય ચલન હોય તો પછી બન્ધ વગેરે રૂપ ઉપભોગનો નિષેધ કેમ કરવામા આવ્યો છે ?

સમાધાન —ભવસ્થ જીવની અપેક્ષાથી જ ભગવાને ઉકત સૂત્રમાં પ્રણયન કર્યુ છે કારણકે ભવસ્થ અવસ્થામા જ જ્ઞાનાવરણુ વગેરે કર્મોનો આશ્રવ થાય છે આના ઉપરાત બે સમય એટલો તો અલ્પકાળ છે કે તેમા ઉપભોગ વગેરેનો સ બ ધ થઈ શકે છે

અથવા—કાયયોગ નિમિત્તક બન્ધનો સમય હોવા છતા પણ અહી તેની વિવક્ષા કરવામા આવી નથી એટલે આ કારણે કોઈ દોષ નથી આ રીતે કહેવાનુ એ છે કે વિગ્રહગતિ કાર્માણુકાયયોગવાળી જ હોય છે ॥ ૨૫ ॥

'सिद्धस्स अविग्गहा'

સૂત્રાર્થ—સિદ્ધજીવની અવિગ્રહ ગતિ હોય છે ॥ ૨૬ ॥

તત્વાર્થદીપિકા—પહેલા કહેવામા આવ્યુ છે કે સાધારણુ તથા ભવાન્તરમા જતી વખતે જીવોની ગતિ વિગ્રહવતી હોય છે હવે સિદ્ધિ–મુક્તિમા ગમન કરવાવાળા સિદ્ધ પુરુષની ગતિ કેવી હોય છે ? એ દર્શાવવા માટે કહીએ છીએ—

સિદ્ધિ પ્રાપ્ત કરનારા–મોક્ષગામી–પુરુષની ગતિ–અવક્ર–સીધી હોય છે તે વિગ્રહવાળી હોતી નથી એવી રીતે સિદ્ધ થનારા જીવની એકાન્ત રૂપથી વિગ્રહ રહિત ગતિ જ હોય છે સિદ્ધ થનારા સિવાયના બીજા જીવોની સવિગ્રહ અને અવિગ્રહબ ને પ્રકારની ગતિ હોય છે વિગ્રહનો અર્થ છે વ્યાઘાત અગર કુટિલતા અથવા વક્રતા આ જેમા ન હોય તે ગતિ અવિગ્રહા કહેવાય છે સિદ્ધજીવની આવી અવિગ્રહા ગતિ હોય છે અવિગ્રહા ગતિ એક સમયની હોય છે જ્યારે સવિગ્રહા ગતિ બે અથવા ત્રણ સમયની હોય છે એ પ્રથમ કહેવાઈ ગયુ છે ॥ ૨૬ ॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિઃ—પૂર્વસૂત્રમા સાધારણતયા જીવોની વિગ્રહગતિનુ નિરૂપણ કરવામા આવ્યુ હવે સિદ્ધજીવોની ગતિનુ પ્રતિપાદન કરીએ છીએ—

સિદ્ધગતિમા ગમન કરનારા સિદ્ધજીવોની ગતિ ઋજુ-સરળ જ હોય છે, વાકી નહીં તે ગતિ પ્રયોગ વગેરે ચાર કારણોથી ઉત્પન્ન થાય છે-ભગવતી સૂત્રમાં કહ્યુ છે

મુક્તજીવની ગતિ કર્મ-અકર્મને સંસર્ગ દૂર થવાના કારણે નિર્લેપ (બન્ધહીન) હોવાથી, જીવનુ ઉર્ધ્વગમન સ્વભાવના કારણે, બન્ધનોનો છેદ થવાથી અને (નિરિન્ધન) કર્મરૂપી બળતણથી મુક્ત થવાના કારણે ભગ૦ શ-૭ ઉ૦ ૧) હોવાના કારણે તથા પૂર્વપ્રયોગના કારણે થાય છે

તાત્પર્ય એ છે કે સિધ્યમાન જીવની ગતિ એકાન્તત વિગ્રહ રહિત જ હોય છે સિધ્યમાન જીવ સિવાયના બીજા જીવોની ગતિ વિગ્રહવાળી પણ હોય છે અને વિગ્રહરહિત પણ હોય છે ઔપપાતિક સૂત્રના સિદ્ધાધિકારમાં, ૯૩માં સૂત્રની અમારી બનાવેલી પીયૂષવર્ષિણી ટીકામાં કહ્યુ છે-ઋજુ શ્રેણીને પ્રાપ્ત મુક્તજીવ અસ્પૃશમાન ગતિ કરતો થકો, ઉપર એકજ સમયમાં, વિગ્રહ વગર સાકારોપયોગથી મુક્ત થઈને સિદ્ધ થાય છે ॥ ૨૬ ॥

तिसमयं सिया अणाहारगो ॥ सू० २७ ॥

મૂળસૂત્રાર્થ—વિગ્રહગતિવાળા જીવ વધારેમા વધારે ત્રણ સમય સુધી અનાહારક રહે છે ॥૨૭॥

તત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમાં સવિગ્રહા ગતિનું નિરૂપણ કરવામાં આવ્યુ, એ જ પ્રસ ગને લઈને હવે અવિગ્રહ ગતિને પ્રાપ્ત જીવની અનાહારકતાનુ પ્રતિપાદન કરીએ છીએ

વિગ્રહગતિને પ્રાપ્ત જીવ એક સમય સુધી બે સમય સુધી અથવા ત્રણ સમય સુધી અનાહારક રહે છે આ સિવાયના બીજા સમયોમાં જીવ નિરંતર આહારક રહે છે બે વિગ્રહવાળી ગતિમાં એક સમય સુધી અનાહારક રહે છે જ્યારે ત્રણ વિગ્રહવાળી ગતિમા બે સમય સુધી અનાહારક રહે છે

કેવળી સમુદ્દ્ઘાતના કાળમા ત્રીજા, ચોથા સમય સુધી અનાહારક રહે છે ॥૨૭॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પ્રથમ વિગ્રહગતિની પ્રરૂપણા કરવામા આવી હવે વિગ્રહગતિને પ્રાપ્ત જીવની અનાહારકતાની પ્રરૂપણા કરીએ છીએ—

વિગ્રહ ગતિને પ્રાપ્ત જીવ એક, બે અથવા ત્રણ સમય સુધી અનાહારક હોય છે બાકીના કાળમા પ્રત્યેક સમય આહારક જ બનેલો હોય છે

બે વિગ્રહવાળી ગતિમા એક સમય અનાહારક હોય છે અને ત્રણ વિગ્રહવાળીગતિમા બે સમય પર્યન્ત અનાહારક રહે છે સમુદ્દ્ઘાત કરવાના સમયે કેવળી ત્રીજા ચોથા અને પાચમા સમયમા આ રીતે ત્રણે સમયોમા અનાહારક હોય છે કોઈ કોઈ કહે છે કે અહીં વિગ્રહગતિનુ જ પ્રકરણ હોવાથી કેવળી સમુદ્દ્ઘાત અપ્રસ્તુત છે આથી સ્થાયિ અનાહારક એક અગર બે સમય સુધી જ જીવ અનાહારક રહે છે તેઓ ત્રણ સમય સુધી અનાહારક રહે છે એવુ માનતા નથી પરંતુ તેમની આ માન્યતા સાચી નથી આ સૂત્રમા સામાન્યરૂપથી અનાહારકનુ જ પ્રકરણ છે આથી કેવલી સમુદ્દ્ઘાતના સમયે થનારી અનાહારકતાનો પણ સમાવેશ થઈ જાય છે હકીકતમા તો પાચ સમયવાળી વિગ્રહગતિમા જીવ ત્રણ સમય સુધી તેમા અનાહારક રહે છે, આ અભિપ્રાયથી ત્રણ સમયની અનાહારક અવસ્થા કહેવામાં આવી છે

શંકા—પાંચ સમયની વિગ્રહગતિથી કોઈ જીવ ઉત્પન્ન જ થતો નથી ?

સમાધાન—પાંચ સમયની વિગ્રહગતિ પણ પ્રમાણથી સિદ્ધ છે, આથી કોઈ જીવની તેનાથી પણ ઉત્પત્તિનો સંભવ છે

શૈલેશી અવસ્થા અર્ધ અન્તર્મુહૂર્ત સુધી અનાહારક અવસ્થા રહે છે આવી સ્થિતિમાં અર્ધ અન્તર્મુહૂર્ત સુધી અનાહારક રહેવાનું કેમ કહેવામાં ન આવ્યું ? આ શંકાનું પણ નિવારણ અનાથી થઈ જાય છે કે અત્રે વિગ્રહગતિનું જ પ્રકરણ છે અને શૈલેશી અવસ્થાનું પ્રકરણ નથી આથી શૈલેશી અવસ્થામાં થનારી અનાહારક અવસ્થાને અત્રે ગ્રહણ કરવી વાજબી નથી

પ્રશ્ન—અહીં કોઈ ખાસ આહારની અપેક્ષાથી અનાહારક કહે છે અથવા સમ્પૂર્ણ આહારના નિષેધની અપેક્ષાથી ?

ઉત્તર—અહીં સમ્પૂર્ણ આહારનો નિષેધ જ પ્રસ્તુત છે આહાર ત્રણ પ્રકારના છે—

(૧) ઓજ આહાર (૨) લોમાહાર (૩) પ્રક્ષેપાહાર ઓજઆહાર અપર્યાપ્તક અવસ્થામાં કાર્મણ શરીર દ્વારા કરવામાં આવે છે જેવી રીતે અગ્નિમાં તપાવેલ પાત્રને પાણીમાં નાખવામાં આવે તો તે સમ્પૂર્ણ અવયવોથી પાણી ગ્રહણ કરે છે તેજ રીતે પોતાની આપત્તિના પ્રથમ સમયમાં જન્મ સ્થાનમાં પહોંચતાના પ્રથમ સમયમાં સમસ્ત આત્મપ્રદેશો દ્વારા પુદ્ગલોને ગ્રહણ કરે છે અથવા તે જેવી રીતે તવામાંના ગરમ તેલ અગર ઘીમાં માલપુવા નાખીએ તો તે સર્વાંગથી તેલ તથા ઘીને ચુસી લે છે, આ પુદ્ગલોનું ગ્રહણ કરવું એ જ ઓજ આહાર કહેવાય છે ઓજઆહાર અન્તર્મુહૂર્ત પર્યન્ત જ હોય છે

પર્યાપ્ત અવસ્થાથી લઈને ભવના ક્ષય પર્યન્ત ત્વચા દ્વારા પુદ્ગલોનું ગ્રહણ કરવું તે લોમાહાર છે પ્રક્ષેપાહારનો અર્થ છે કવલાહાર–ચોખા વગેરેના કોળીયાઓને ખાવું પીવું વગેરે

વિગ્રહમાં ગતિમાં આ ત્રણ પ્રકારના આહારોનો નિષેધ કરવામાં આવ્યો છે આ ત્રણે આહાર ભવ–અવસ્થામાં જ પ્રથમ સ્વીકારાયા છે

વિગ્રહગતિના પ્રથમ સમયમાં જીવ ત્યાગ કરવામાં આવનારા દેશમાં અને અન્તિમ સમયમાં જન્મદેશમાં રહેવાના કારણે આહારક હોય છે કારણકે તે સમયે તે ત્યજી દેનારા અને નવા ગ્રહણ કરવામાં આવનારા પૂર્વ તથા ઉત્તર શરીરથી સંબદ્ધ હોય છે

યોગ તથા કષાયના નિમિત્તથી થનારા કર્મ પુદ્ગલોનું ગ્રહણ તો વિગ્રહગતિમાં પણ પ્રત્યેક સ્થાન પર થતું જ રહે છે જેવી રીતે પાણી વરસતું હોય ત્યારે સળગતું બાણ છોડવામાં આવે તો તે પાણીને ગ્રહણ કરતું થકું જાય છે તેવી જ રીતે સંસારી જીવ કર્મોથી ઉષ્ણ હોવાના કારણે કાર્મણ શરીર દ્વારા નિરન્તર કર્મપુદ્ગલોને ગ્રહણ કરતો થકો જ આગામી જન્મ માટે ગમન કરે છે પ્રકૃત સૂત્રમાં આ પ્રકારના પુદ્ગલોને ગ્રહણ કરવાનો કોઈ નિષેધ કરવામાં આવ્યો નથી પરંતુ ઔદારિક અને વૈક્રિય શરીરનું પોષણ કરનાર આહારનો જ નિષેધ કરવામાં આવ્યો છે અથવા અનાહાર દશામાં જીવ ઔદારિક, વૈક્રિય તથા આહારક શરીરના તથા છ પર્યાપ્તિયોને અનુરૂપ પુદ્ગલોને ગ્રહણ કરતો નથી આ કારણથી જ વિગ્રહ ગતિમાં એક બે અથવા ત્રણ સમય સુધી અનાહારક રહે છે અગાઉ કહેલા એક બે અગર ત્રણ સમયને છોડીને બાકીના

તમામ સમયોમાં નિરન્તર આહારક જ રહે છે ઉત્પત્તિના પ્રથમ સમયમા આરંભ કરી અન્ત મુંહૂર્ત પર્યન્ત ઓજ આહાર કરે છે, ત્યારબાદ ભવપર્યન્ત લોમાહાર કરે છે આગ-પાચ વિગ્રહ વાળી ગતિમાં કવલાહારની દૃષ્ટિએ અનાહારક રહે છે, ભગવતી સૂત્રના સાતમા શતકમાં પ્રથમ ઉદ્દેશના ૨૬૦માં સૂત્રમાં કહ્યું છે—

પ્રશ્ન – ભગવન્ ! જીવ કયા સમયે અનાહારક હોય છે ?

ઉત્તર – ગૌતમ ! પ્રથમ સમયમા કવચિત્ આહારક અને કવચિત્ અનાહારક હોય છે બીજા તથા ત્રીજા સમયમા પણ આવી જ સ્થિતિ હોય છે પરંતુ ચોથા સમયમા નિયમથી આહારક હોય છે આવી જ રીતે સમ્પૂર્ણ દન્ડક માટે સમજી લેવાનુ છે ઘણા જીવ અને એકેન્દ્રિય ચોથા સમયમાં અને બાકીના તમામ જીવ ત્રીજા સમયમા કહેવા જોઈએ ॥૨૭॥

'तिविहं गब्भ संमुच्छिणोववाया' ॥सूत्र २८॥

મૂળસૂત્રાર્થ—જન્મ ત્રણ પ્રકારના છે–ગર્ભજન્મ સંમૂર્છિમજન્મ અને ઉપપાત જન્મ

તત્વાર્થદીપિકા— પહેલા કહેવામા આવ્યુ કે સંસારી જીવ પૂર્વગૃહીત ઔદારિક અથવા વૈક્રિય શરીરનો ત્યાગ કરીને સવિગ્રહ અથવા અવિગ્રહ ગતિથી પોતાના ઉત્પત્તિક્ષેત્રમા પહોચે છે હવે એ બતાવીએ છીએ કે તેમનો ઉત્પાદ કેવા પ્રકારનો હોય છે ? જીવોનો જન્મ ત્રણ પ્રકારનો હોય છે – (૧) ગર્ભ (૨) સંમૂર્છન (૩) ઉપપાત સ્ત્રીની યોનિમાં ભેગા થયેલા શુક્ર તથા લોહીના જીવ માતા દ્વારા કરવામા આવેલા આહારના રસને પરિપોષણની અપેક્ષાથી ગ્રહણ કરે છે તે ગર્ભજન્મ કહેવાય છે ગર્ભ રુપ જન્મને ગર્ભજન્મ કહે છે

સ્ત્રીની યોનિ, આવનારા શુક્ર (વીર્ય) અને લોહીને ગ્રહણ કરે છે આથી ને ફક્ત શુક્ર-શોણિત રૂપ નથી જન્મ બને શરીરોથી સંબન્ધ રાખવાવાળો હોવાથી આત્માનુ પરિણમન વિશેષ સમજવું જોઈએ

સમ્યક્ પ્રકારથી વૃદ્ધિ થવાને સમ્મૂર્ચ્છા અથવા સમ્મૂર્છન કહે છે જે જગ્યાએ જીવ જન્મ લેનાર છે ત્યાના પુદ્ગલોનો સંગ્રહ કરીને શરીર બનાવતો થકો વીર્ય તથા લોહી વગર જ વૃદ્ધિ પામવી ને સંમૂર્છન જન્મ છે

ત્રણ લોકમા ઉપર નીચે અને વચલા શરીરનુ બધી બાજુથી વધવુ અથવા અવયવોની રચના થવી તે સમ્મૂર્છન જન્મ છે. સ્ત્રીના પેટમાં વીર્ય અને લોહીનુ મિશ્રણ થવુ તે ગર્ભ કહેવાય છે. સમ્મૂર્છન જન્મ ઉત્પત્તિ ક્ષેત્રમાં રહેલા પુદ્ગળ સમૂહો ગ્રહણ કર્યા વગરનો હોતો નથી લાકડાં વગેરેમાં જે કીડા વગેરે ઉત્પન્ન થાય છે તેમનો સંમૂર્છન જન્મ કહેવાય છે લાકડાની છાલ તથા પાકા ફળો વગેરેમાં ઉત્પન્ન થનારા કૃમિ વગેરે જંતુ તે લાકડાની છાલ અગર ફળ વગેરેના પુદ્ગલોને જ પોતાના શરીરના રુપમાં પરિણત કરી લે છે આ રીતે જીવતા ગાય ભેંસ મનુષ્ય વગેરેના શરીરમા ઉત્પન્ન થનારાં કૃમિ (કરમીયા) વગેરે જીવ તેજ ગાય ભેંશ વગેરેના શરીરના અવયવોને ગ્રહણ કરીને પોતાના શરીરના રૂપમાં પરિણત કરે છે

આવી જ રીતે ઉપપાતક્ષેત્રમાં પહોચવાનુ જ જે જન્મનુ કારણ હોય તે ઉપપાત કહેવાય છે પાથરેલા વસ્ત્રની ઉપર અને દેવદૂષ્યની નીચે વચમા વિદ્યમાન પુદ્ગલોને વૈક્રિય શરીરના રૂપમા ગ્રહણ કરીને દેવ–ઉત્પન્ન થાય છે આ જન્મ પૂર્વોક્ત બને પ્રકારના જન્મથી વિલક્ષણ છે આ ન તો શુક્ર–શોણિત વગેરેથી થાય છે. કે ન દેવદૂષ્ય તથા પાથરેલા વસ્ત્રોના પુદ્ગલોથી

થાય છે અર્થાત્ વર્તમાનભવનો ક્ષય થાય છે ત્યારે તે જીવ જે ક્ષેત્રમા પુનર્જન્મ લેવાવાળો છે, તે ક્ષેત્રમા તે પોતાના પૂર્વભવના કર્મના સામર્થ્યથી જ જાય છે ભગવાન વગેરેની પ્રેરણાથી જતો નથી તે ઋજુ અગર વક્ર ઉત્પત્તિસ્થાનમા જાય ડાબા જમણે જાય, અમુક સમયમા જાય અમુક યોનિમા ઉત્પન્ન થાય, બીજે નહી આ બધી વાતોના નિયામક અચિન્ત્ય સામર્થ્યવાળી નામકર્મ વગેરે જ છે મરણ બાદ સમયની પ્રતીક્ષા કરતો થકો કોઈ સ્થળે રોકાઈ રહેતો નથી

આ પ્રકારે કર્મના પ્રભાવથી પોતાના ઉત્પત્તિક્ષેત્રમા પહોચી જઈ જીવ પોતાને યોગ્ય ઔદારિક અથવા વૈક્રિય શરીરની નિષ્પત્તિ માટે શરીરના યોગ્ય પુદ્ગલોને ગ્રહણ કરે છે

પ્રશ્ન—શરીરના યોગ્ય પુદ્ગલોનો કયા કારણે સબન્ધ થાય છે ?

ઉત્તર—કષાયયુક્ત હોવાથી જીવ કર્મના યોગ્ય પુદ્ગલોને ગ્રહણ કરે છે તે પુદ્ગલ એવી જ રીતે ચોટી જાય છે કે જેવી રીતે ચીકાશ લાગેલા શરીર અગર વસ્ત્ર ઉપર રેત ચોટી જાય છે તેમ, કાય, વચન મન અને પ્રાણ પુદ્ગલોના ઉપકારક છે એ કથન અનુસાર પાચે શરીર પુદ્ગલોના ઉપકારક છે-પુદ્ગલોનાં નિમિત્તથી ઉત્પન્ન કરે છે આથી ગ્રહણ કરવામા આવેલા તે પુદ્ગલ વિશેષ પ્રકારથી શ્લેષને પ્રાપ્ત થઈને શરીરના રૂપમા પરિણત થઈ જાય છે

તે પુદ્ગલો ચારે બાજુથી, યોગની વિશેષતા અનુસાર ગૃહીત, સૂક્ષ્મ, એક જ ક્ષેત્રમા અવગાઢ અર્થાત્ જે આકાશપ્રદેશોમા જીવ રહેલો હોય તેજ આકાશપ્રદેશોમા સ્થિત તથા અનન્તાનન્ત પ્રદેશવાળા હોય છે આવી રીતે બન્ધ નામકર્મના ઉદયથી કર્મપુદ્ગલોનુ ગ્રહણ થવુ પ્રથમ ઉત્પત્તિ છે, ઉપકારભેદની વિવક્ષા દ્વારા મધ્યમ ઉત્પત્તિ છે અને પ્રદેશબન્ધના પ્રસ્તાવથી આકૃષ્ટ અન્તિમ ઉત્પત્તિ થાય છે આનાથી ત્રણે ઉત્પત્તિયોની સૂચના થાય છે આ ત્રણે ઉત્પત્તિઓ અભિન્ન એક વસ્તુ વિષયક નથી આમ હોવાથી પુનરૂક્તિ દોષનો પ્રસગ આવે છે કહેવાનુ એ છે કે આવી રીતે પુદ્ગલોનુ ગ્રહણ જન્મ કહેવાય છે

કેવા પ્રકારના સ્થાને સૌ પ્રથમ ઉત્પન્ન થતો થકો જીવ શુક્ર અને શોણિતનુ ગ્રહણ કરે છે ? સમ્મૂર્છિત કરે છે અથવા વૈક્રિયશરીરને ગ્રહણ કરે છે ? નારક તથા દેવ કેવા પ્રકારના ગુણવાળા અને વિશેષતાવાળા સ્થાનમા ઉત્પન્ન થાય છે ? આ શકાનુ સમાધાન કરવા માટે પૂર્વોક્ત જન્મોના વિશેષ સ્થાનની પ્રરૂપણા કરવાના હેતુથી યોનિઓના સ્વરૂપનુ કથન કરીએ છીએ—

સસારી જીવોના ઉપર કહેલા ત્રણ પ્રકારનાં જન્મોમા નવ યોનિઓ કહેલી છે તે આ પ્રકારે છે (૧) સચિત્ત (૨) અચિત્ત (૩) સચિત્તાચિત (મિશ્ર) (૪) શીત, (૫) ઉષ્ણ (૬) શીતોષ્ણ (મિશ્ર) (૭) સવૃત (૮) વિવૃત અને (૯) સવૃતવિવૃત્ત (મિશ્ર) આ પૈકી નારકી અને દેવતાઓની અચિત્ત યોનિ હોય છે ગર્ભજ મનુષ્યો અને તિર્યચોની સચિત્તાચિત યોનિ હોય છે સમ્મૂર્છિમ મનુષ્યો અને તિર્યચોની ત્રણે પ્રકારની યોની હોય છે-સચિત, અચિત અને સચિત્તાચિત્ત

ગર્ભજ તિર્યચો તથા મનુષ્યોની તથા દેવતાઓની શીતોષ્ણ યોનિ હોય છે સમ્મૂર્છિમ તિર્યન્ચો તથા મનુષ્યોમા કોઈની શીત, કોઈની ઉષ્ણ અને કોઈની શીતોષ્ણયોનિ હોય છે નારકીના જીવોની પ્રારભની ત્રણ પૃથ્વીઓમા શીત યોનિ હોય છે ચોથી અને પાચમી પૃથ્વીમાં કોઈ કોઈ નરકાવાસમા શીત અને કોઈ કોઈમા ઉષ્ણ હોય છે છઠી અને સાતમી નરકભૂમિમા ઉષ્ણયોનિ હોય છે—

થાય છે અર્થાત્ વર્તમાનભવનો ક્ષય થાય છે ત્યારે તે જીવ જે ક્ષેત્રના પુનર્જન્મ લેવાવાળો છે, તે ક્ષેત્રમા તે પોતાના પૂર્વભવના કર્મના સામર્થ્યથી જ જાય છે ભગવાન વગેરેની પ્રેરણાથી જતો નથી તે ઋજુ અગર વક્ર ઉત્પત્તિસ્થાનમા જાય ડાબા જમણે જાય, અમુક સમયમા જાય અમુક યોનિમા ઉત્પન્ન થાય, બીજે નહી આ બધી વાતોના નિયામક અચિન્ત્ય સામર્થ્યશાળી નામકર્મ વગેરે જ છે મરણ બાદ સમયની પ્રતીક્ષા કરતો થકો કોઈ સ્થળે રોકાઈ રહેતો નથી

આ પ્રકારે કર્મના પ્રભાવથી પોતાના ઉત્પત્તિક્ષેત્રમા પહોચી જઈ જીવ પોતાને યોગ્ય ઔદારિક અથવા વૈક્રિય શરીરની નિષ્પત્તિ માટે શરીરના યોગ્ય પુદ્‌ગલોને ગ્રહણ કરે છે

પ્રશ્ન—શરીરના યોગ્ય પુદ્‌ગલોનો ક્યા કારણે સબન્ધ થાય છે ?

ઉત્તર—કષાયયુક્ત હોવાથી જીવ કર્મના યોગ્ય પુદ્‌ગલોને ગ્રહણ કરે છે તે પુદ્‌ગલ એવી જ રીતે ચોટી જાય છે કે જેવી રીતે ચીકાશ લાગેલા શરીર અગર વસ્ત્ર ઉપર રેત ચોટી જાય છે તેમ, કાય, વચન મન અને પ્રાણ પુદ્‌ગલોના ઉપકારક છે એ કથન અનુસાર પાચે શરીર પુદ્‌ગલોના ઉપકારક છે–પુદ્‌ગલોના નિમિત્તથી ઉત્પન્ન કરે છે આથી ગ્રહણ કરવામાં આવેલા તે પુદ્‌ગલ વિશેષ પ્રકારથી શ્લેષને પ્રાપ્ત થઈને શરીરના રૂપમા પરિણત થઈ જાય છે

તે પુદ્‌ગલો ચારે બાજુથી, યોગની વિશેષતા અનુસાર ગૃહીત, સૂક્ષ્મ, એક જ ક્ષેત્રમા અવગાઢ અર્થાત્ જે આકાશપ્રદેશોમા જીવ રહેલો હોય તેજ આકાશપ્રદેશોમા સ્થિત તથા અનન્તાનન્ત પ્રદેશવાળા હોય છે આવી રીતે બન્ધ નામકર્મના ઉદયથી કર્મપુદ્‌ગલોનુ ગ્રહણ થવુ પ્રથમ ઉત્પત્તિ છે, ઉપકારભેદની વિવક્ષા દ્વારા મધ્યમ ઉત્પત્તિ છે અને પ્રદેશબન્ધના પ્રસ્તાવથી આકૃષ્ટ અન્તિમ ઉત્પત્તિ થાય છે આનાથી ત્રણે ઉત્પત્તિયોની સૂચના થાય છે આ ત્રણે ઉત્પત્તિઓ અભિન્ન એક વસ્તુ વિષયક નથી આમ હોવાથી પુનરૂક્તિ દોષનો પ્રસગ આવે છે કહેવાનુ એ છે કે આવી રીતે પુદ્‌ગલોનુ ગ્રહણ જન્મ કહેવાય છે

કેવા પ્રકારના સ્થાને સૌ પ્રથમ ઉત્પન્ન થતો થકો જીવ શુક્ર અને શોણિતનુ ગ્રહણ કરે છે ? સમ્મૂર્છિત કરે છે અથવા વૈક્રિયશરીરને ગ્રહણ કરે છે ? નારક તથા દેવ કેવા પ્રકારના ગુણવાળા અને વિશેષતાવાળા સ્થાનમા ઉત્પન્ન થાય છે ? આ શકાનુ સમાધાન કરવા માટે પૂર્વોક્ત જન્મોના વિશેષ સ્થાનની પ્રરૂપણા કરવાના હેતુથી યોનિઓના સ્વરૂપનુ કથન કરીએ છીએ—

સસારી જીવોના ઉપર કહેલા ત્રણ પ્રકારના જન્મોમા નવ યોનિઓ કહેલી છે તે આ પ્રકારે છે (૧) સચિત્ત (૨) અચિત્ત (૩) સચિત્તાચિત (મિશ્ર) (૪) શીત, (૫) ઉષ્ણ (૬) શીતોષ્ણ (મિશ્ર) (૭) સવૃત (૮) વિવૃત અને (૯) સવૃતવિવૃત્ત (મિશ્ર) આ પૈકી નારકી અને દેવતાઓની અચિત્ત યોનિ હોય છે ગર્ભજ મનુષ્યો અને તિર્યચોની સચિત્તાચિત યોનિ હોય છે સમ્મૂર્છિમ મનુષ્યો અને તિર્યચોની ત્રણે પ્રકારની યોની હોય છે–સચિત, અચિત અને સચિત્તાચિત્ત

ગર્ભજ તિર્યચો તથા મનુષ્યોની તથા દેવતાઓની શીતોષ્ણ યોનિ હોય છે સમ્મૂર્છિમ તિર્યન્ચો તથા મનુષ્યોમા કોઈની શીત, કોઈની ઉષ્ણ અને કોઈની શીતોષ્ણયોનિ હોય છે નારકીના જીવોની પ્રારભની ત્રણ પૃથ્વીઓમા શીત યોનિ હોય છે ચોથી અને પાચમી પૃથ્વીમાં કોઈ કોઈ નરકાવાસમા શીત અને કોઈ કોઈમા ઉષ્ણ હોય છે છઠ્ઠી અને સાતમી નરકભૂમિમાં ઉષ્ણયોનિ હોય છે—

થાય છે અર્થાત્ વર્તમાનભવનો ક્ષય થાય છે ત્યારે તે જીવ જે ક્ષેત્રમા પુનર્જન્મ લેવાવાળો છે, તે ક્ષેત્રમા તે પોતાના પૂર્વભવના કર્મના સામર્થ્યથી જ જાય છે, ભગવાન વગેરેની પ્રેરણાથી જતો નથી તે ઋજુ અગર વક્ર ઉત્પત્તિસ્થાનમા જાય ડાબા કે જમણે જાય અમુક સમયમા જાય અમુક યોનિમાં ઉત્પન્ન થાય, બીજે નહી આ બધી વાતોના નિયામક અચિન્ત્ય સામર્થ્યશાળી નામકર્મ વગેરે જ છે મરણ બાદ સમયની પ્રતીક્ષા કરતો થકો કોઈ સ્થળે રોકાઈ રહેતો નથી

આ પ્રકારે કર્મના પ્રભાવથી પોતાના ઉત્પત્તિક્ષેત્રમા પહોચી જઈ જીવ પોતાને યોગ્ય ઔદારિક અથવા વૈક્રિય શરીરની નિષ્પત્તિ માટે શરીરના યોગ્ય પુદ્ગલોને ગ્રહણ કરે છે

પ્રશ્ન—શરીરના યોગ્ય પુદ્ગલોનો કયા કારણે સબન્ધ થાય છે ?

ઉત્તર—કષાયયુક્ત હોવાથી જીવ કર્મના યોગ્ય પુદ્ગલોને ગ્રહણ કરે છે તે પુદ્ગલ એવી જ રીતે ચોટી જાય છે કે જેવી રીતે ચીકાશ લાગેલા શરીર અગર વસ્ત્ર ઉપર રેત ચોટી જાય છે તેમ, કાય, વચન મન અને પ્રાણ પુદ્ગલોના ઉપકારક છે એ કથન અનુસાર પાચે શરીર પુદ્ગલોના ઉપકારક છે–પુદ્ગલોનાં નિમિત્તથી ઉત્પન્ન કરે છે આથી ગ્રહણ કરવામા આવેલા તે પુદ્ગલ વિશેષ પ્રકારથી શ્લેષને પ્રાપ્ત થઈને શરીરના રૂપમા પરિણત થઈ જાય છે

તે પુદ્ગલો ચારે બાજુથી, યોગની વિશેષતા અનુસાર ગૃહીત, સૂક્ષ્મ એક જ ક્ષેત્રમા અવગાઢ અર્થાત્ જે આકાશપ્રદેશોમા જીવ રહેલો હોય તેજ આકાશપ્રદેશોમા સ્થિત તથા અનન્તાનન્ત પ્રદેશવાળા હોય છે આવી રીતે બન્ધ નામકર્મના ઉદયથી કર્મપુદ્ગલોનુ ગ્રહણ થવુ પ્રથમ ઉત્પત્તિ છે, ઉપકારભેદની વિવક્ષા દ્વારા મધ્યમ ઉત્પત્તિ છે અને પ્રદેશબન્ધના પ્રસ્તાવથી આકૃષ્ટ અન્તિમ ઉત્પત્તિ થાય છે આનાથી ત્રણે ઉત્પત્તિયોની સૂચના થાય છે આ ત્રણે ઉત્પત્તિઓ અભિન્ન એક વસ્તુ વિષયક નથી આમ હોવાથી પુનરૂક્તિ દોષનો પ્રસગ આવે છે. કહેવાનુ એ છે કે આવી રીતે પુદ્ગલોનુ ગ્રહણ જન્મ કહેવાય છે

કેવા પ્રકારના સ્થાને સૌ પ્રથમ ઉત્પન્ન થતો થકો જીવ શુક્ર અને શોણિતનુ ગ્રહણ કરે છે ? સમ્મૂર્છિત કરે છે અથવા વૈક્રિયશરીરને ગ્રહણ કરે છે ? નારક તથા દેવ કેવા પ્રકારના ગુણ-વાળા અને વિશેષતાવાળા સ્થાનમા ઉત્પન્ન થાય છે ? આ શકાનુ સમાધાન કરવા માટે પૂર્વોક્ત જન્મોના વિશેષ સ્થાનની પ્રરૂપણા કરવાના હેતુથી યોનિઓના સ્વરૂપનુ કથન કરીએ છીએ—

સસારી જીવોના ઉપર કહેલા ત્રણ પ્રકારના જન્મોમા નવ યોનિઓ કહેલી છે તે આ પ્રકારે છે (૧) સચિત્ત (૨) અચિત્ત (૩) સચિત્તાચિત (મિશ્ર) (૪) શીત, (૫) ઉષ્ણ (૬) શીતોષ્ણ (મિશ્ર) (૭) સવૃત (૮) વિવૃત અને (૯) સવૃતવિવૃત્ત (મિશ્ર) આ પૈકી નારકી અને દેવતાઓની અચિત્ત યોનિ હોય છે ગર્ભજ મનુષ્યો અને તિર્યચોની સચિત્તાચિત યોનિ હોય છે સમ્મૂર્છિમ મનુષ્યો અને તિર્યચોની ત્રણે પ્રકારની યોની હોય છે–સચિત, અચિત અને સચિત્તાચિત્ત

ગર્ભજ તિર્યચો તથા મનુષ્યોની તથા દેવતાઓની શીતોષ્ણ યોનિ હોય છે સમ્મૂર્છિમ તિર્યન્ચો તથા મનુષ્યોમા કોઈની શીત, કોઈની ઉષ્ણ અને કોઈની શીતોષ્ણયોનિ હોય છે નારકીના જીવોની પ્રારભની ત્રણ પૃથ્વીઓમા શીત યોનિ હોય છે ચોથી અને પાચમી પૃથ્વીમાં કોઈ કોઈ નરકાવાસમા શીત અને કોઈ કોઈમા ઉષ્ણ હોય છે છઠી અને સાતમી નરકભૂમિમા ઉષ્ણયોનિ હોય છે—

નારકી, પૃથ્વીકાય, અપ્કાય, તેજસ્કાય, વાયુકાય, વનસ્પતિકાય અને દેવતાઓની યોનિ સવૃત્ત અર્થાત્ ઢાંકેલી હોય છે ગર્ભજ તિર્યંચો અને મનુષ્યોની સવૃત-વિવૃત અર્થાત ઢાંકેલી-ઉઘાડેલી યોનિ હોય છે આ સિવાયના સમ્મૂર્છિમ, એકેન્દ્રિય વગેરે તિર્યંચો અને મનુષ્યોની વિવૃત યોનિ કહેવામા આવી છે, કારણકે તે તદ્દન ઉઘાડી-ખુલ્લી હોય છે

જે સ્થાને જન્મના કારણભૂત દ્રવ્ય કાર્મણશરીરની સાથે મિશ્રિત હોય છે તેને યોનિ કહે છે અથવા જે સ્થાન આશ્રયના રૂપમા મિશ્રિત કરવામા આવે છે તે યોનિ છે જીવના પ્રદેશોથી જોડાયેલ હોવાના કારણે કોઈ યોનિ સચિત કહેવાય છે અને એવી ઉલ્ટુ હોય તેને અચિત કહેવાય છે બન્ને પ્રકારની સચિત્તાચિત કહેવાય છે ટાઢી યોનિ શીત. એવી વિપરીત હોય તો ઉષ્ણ જ્યારે બન્ને સ્વાભાવવાળી શીતોષ્ણ કહેવાય છે જે ઢાંકેલી હોય તે સવૃત, ઉઘાડી હોય તે વિવૃત જ્યારે બન્ને પ્રકારની હોય તે સવૃત વિવૃત કહેવાય છે

પાથરેલા વસ્ત્ર અને દેવદુષ્યના વચ્ચેનુ સ્થાન જીવપ્રદેશોથી જોડાયેલુ ન હોવાના કારણે દેવોની યોનિ અચિત માનવામા આવી છે નારકીના જીવોની વજ્રમય નરકક્ષેત્રમા ગવાક્ષ જેવી, અનેક આકારોની કુભી યોનિ અચેતન હોય છે તિર્યંચ અને મનુષ્ય સ્ત્રીયોની નાભિથી નીચે પુષ્પમાળા વૈકક્ષ્યના આકારની બે શિરાઓ હોય છે એની હેઠળ અધોમુખ કોશના આકારની યોનિ હોય છે તેની બહાર આબાની કળીના આકારની માસની મજરિયો હોય છે તે ઋતુ કાળ વખતે ફૂટી જાય છે અને તેમાથી લોહી વહે છે તેમાંથી કેટલાક લોહીના કણ કોશાકાર યોનિમા પ્રવેશ કરીને સ્થિત થઈ જાય છે પાછળથી વીર્યથી મિશ્રીત તે લોહીકણોને જીવ ગ્રહણ કરે છે જે લોહીકણ પોતાના સ્વરૂપમા રહેતા નથી તે અચિત થઈ જાય છે સમ્મૂર્છિમ તિર્યંચો અને મનુષ્યોમાથી ગાય કૃમિ વગેરે જીવોની યોનિ સચિત હોય છે અને લાકડાના કીડા વગેરેની યોનિ અચિત હોય છે પૂર્વકૃત ઘાવમા પેદા થનાર કોઈ કોઈ કીડાની યોનિ સચિતઅચિત (મિશ્ર) હોય છે ગર્ભજ, તિર્યંચ, મનુષ્ય અને દેવોની શીતોષ્ણયોનિ હોય છે

સમ્મૂર્છિમ તિર્યંચો અને મનુષ્યોમા કોઈની શીત કોઇની ઉષ્ણ અને કોઈની શીતોષ્ણ યોનિ હોય છે સ્થાન વિશેષના પ્રભાવથી આ યોનિભેદ થાય છે પ્રથમ ત્રણ નરકોમા યોની શીત અને કુભીથી બહાર આવવા પર ક્ષેત્રવેદના ઉષ્ણ છે ૬ ઠી ૭મીમા યોનિ ઉષ્ણ છે, અને કુભીથી બહાર આવવા પર ક્ષેત્રવેદના શીત છે કુભીમા તો થોડો વખત જ રહે છે અને ;શેષ આયુષ્ય બહાર જ પુરુ થાય છે અને તે ક્ષેત્ર તેમને પ્રતિકૂળ હોય છે ઉષ્ણ વેદનાથી શીત વેદના ભયકર હોય છે

આગમમા ૮૪ લાખ યોનિઓ કહેવાઈ છે આ રીતે-પૃથ્વી અપ તેજ અને વાયુકાય દરેકની ૭ લાખ મુજબ કુલ ૨૮ લાખ પ્રત્યેક વનસ્પતિની ૧૦ લાખ અને સાધારણ વનસ્પતિની ૧૪ લાખ બે ઈન્દ્રિક તે ઈન્દ્રિય અને ચતુરિન્દ્રીય દરેકની ૨ લાખ ઉપર મુજબ ગણતા ૬ લાખ થાય છે બાકીના તિર્યંચો નારકી અને દેવતાની દરેકની ચાર ચાર લાખ મુજબ કુલ ૧૨ લાખ અને મનુષ્યોની ૧૪ લાખ મળી કુલ્લે ૮૪ લાખ યોનિ થાય છે

આશકા સહેજે થાય કે જો ૮૪ લાખ યોનિઓ છે તો અહીં માત્ર નવ યોનિઓનુ જ નિરૂપણ કેમ કર્યું ? આનુ સમાધાન એ છે કે શાસ્ત્રમા પ્રતિપાદિત ૮૪ લાખ યોનિઓનો કહેલી નવ યોનિમાજ સગ્રહ થઈ જાય છે ૮૪ લાખનુ કથન વિસ્તારની અપેક્ષાથી છે દાખલા તરીકે પૃથ્વીકાયની જે યોનિ કહી છે તે જ જાતિ ભેદની. અપેક્ષાથી સાત લાખ પરિમાણવાળી છે.

શર્કરા વાલુકા વગેરે પૃથ્વીની જે જાતિઓ કહેવામા આવી છે પૃથ્વીકાયની યોનિઓ પણ તેટલી જ સમજવી તે યોનિઓ પોતાની મૂળયોનિથી જુદી નથી પરંતુ જાતિભેદથી તેમા ભેદ પડી જાય છે. આથી આ વચન સંગ્રાહકવચન સમજવુ જોઈએ આવી જ રીતે અન્ય જીવોની યોનિઓ પણ જાતિભેદની અપેક્ષાથી બહુ સંખ્યક છે ॥૨૮॥

सरीरा पंच ओरालियवेउव्विय आहारग तेयकम्माइं ॥२९॥

મૂળસૂત્રાર્થ:- શરીર પાંચ છે-ઔદારિક, વૈક્રયિક આહારક તૈજસ તથા કાર્મણ ॥૨૯॥

તત્ત્વાર્થદિપીકા —પહેલા સંસારી જીવોના ગર્ભ, ઉપપાત અને સંમૂર્ચ્છનના ભેદથી ત્રણ પ્રકારના જન્મ બતાવેલા છે હવે એવુ બતાવીએ છીએ કે તે જન્મોમા જીવોના કયા શરીર હોય છે ? કેટલા હોય છે ? તે શરીરોના લક્ષણ કયા છે ?

જે પ્રતિક્ષણ વિનષ્ટ થતા રહે છે તે શરીર કહેવાય છે વિશિષ્ટ નામકર્મના ઉદયથી તેમની રચના થાય છે તે પાંચ છે ઔદારિક, વૈક્રિય, આહારક તૈજસ તથા કાર્મણ આ શરીર યથા-સંભવ નરકાદિ ચાર ગતિઓનાં જીવોને જ હોય છે સિદ્ધ જીવોને નહીં આ બતાવવા માટે સૂત્રમા સર્વ પ્રથમ શરીર શબ્દનો પ્રયોગ કરવામા આવ્યો છે શરીર નાશવંત છે અને સિદ્ધોમા તેનુ હોવુ સંભવિત નથી "શરીર" શબ્દની અપેક્ષા "કાય" શબ્દ નાનો છે તો પણ અત્રે કાયશબ્દનો પ્રયોગ નહીં કરતા શરીર શબ્દનો પ્રયોગ કરવામા આવ્યો છે તેનો હેતુ શરીરની ક્ષણભંગુરતા દર્શાવે છે "શરીર"નો વ્યુત્પત્યર્થ જ એ છે કે જે નાશવંત છે, આ રીતે સંસારી જીવોના ઉપર્યુક્ત પાંચ શરીર હોય છે

આ પાંચ શરીરોમાં પ્રથમ-પ્રથમ શરીરની અપેક્ષા ઉત્તરોત્તર શરીર સૂક્ષ્મ હોય છે ઔદા-રિક શરીર સ્થૂળ છે તેની અપેક્ષા વૈક્રિય શરીર સૂક્ષ્મ છે, વૈક્રિય શરીરની અપેક્ષા આહારક સૂક્ષ્મ છે, આહારકની અપેક્ષા તૈજસ અને તૈજસની અપેક્ષા કર્મણ શરીર સૂક્ષ્મ છે

ઉદાર અર્થાત્ સ્થૂળ તથા અસાર દ્રવ્યથી બનેલુ શરીર ઔદારિક કહેવાય છે આ શરીરની ઉત્પત્તિ ઔદારિકને યોગ્ય પુદ્ગલોના ગ્રહણના કારણભૂત પુદ્ગલવિપાકી ઔદારિક શરીર નામકર્મનાં ઉદયથી થાય છે અર્થાત્ જે શરીર સ્થૂલ અથવા જેનુ પ્રયોજન સ્થૂલ હોય તે ઔદારિક

એક, અનેક, નાના, મોટા ઈત્યાદિ દરેક પ્રકારના શરીર કરવા તે વૈક્રિય કહેવાય છે વિક્રિયા કરવી જેનુ પ્રયોજન છે તે વૈક્રિય શરીર અથવા વિક્રિયાશક્તિ દ્વારા ઉત્પન્ન કરવામા આવેલું શરીર વૈક્રિય શરીર કહેવાય છે

દેવોનુ મૂળ શરીર તીર્થંકર ભાગવતોના જન્મકલ્યાણક વગેરે સમયે પણ વૈક્રિય શરીર ધારણ કરીને જન્મ ઉત્સવના સ્થળે આવે છે મૂળ રૂપથી નહીં એક અથવા અનેક રૂપ ઉત્તર શરીર જ તેમના જન્મોત્સવ વગેરેમા સમ્મિલિત થાય છે વિક્રિયા, વિકાર, બહુરૂપતા અગર એકને અનેક બનાવવુ, આ તમામ સમાનાર્થક શબ્દ છે ટુંકમા જે શરીર વિક્રિયાથી બનેલુ હોય, અનેક આશ્ચર્ય ઉત્પન્ન કરનાર હોય, જુદા જુદા પ્રકારના ગુણોથી યુક્ત હોય, એવા વૈક્રિયવર્ગણાના પુદ્ગલોથી બનેલુ શરીર વૈક્રિય કહેવાય છે

સૂક્ષ્મતત્ત્વને જાણવા માટે અથવા અસંયમનુ નિવારણ કરવા માટે વગેરે કારણોથી પ્રમ-ત્તસંયત દ્વારા જે શરીર નિષ્પાદિત કરવામા આવે છે તે આહારક કહેવાય છે. આ શરીર

પ્રશ્ન બીજો જ છે કે વિક્રિયા કરવાવાળાની ઇચ્છાથી તેનુ વૈક્રિય શરીર દૃષ્ટિગોચર પણ હોઈ શકે છે આવી રીતે ઔદારિકથી વૈક્રિય વૈક્રિયથી આહારક-આહારકથી તૈજસ તૈજસથી કાર્મણ-શરીર સૂક્ષ્મ છે

જો કે શરીર અનુક્રમથી ઉત્તરોત્તર સૂક્ષ્મ છે તો પણ પુદ્ગલપ્રદેશોની અપેક્ષા એ ઔદારિક શરીરથી વૈક્રિય અને વૈક્રિયથી આહારક શરીર અસખ્યાતગણા છે આહારકની અપેક્ષા તૈજસ શરીરમાં અને તૈજસની અપેક્ષા કાર્મણશરીરમા અનન્તગણા પ્રદેશો છે આવી રીતે બહુતર દ્રવ્યોથી ઉત્પન્ન થવા છતા પણ તેમનુ ઉત્તરોત્તર સૂક્ષ્મ પરિણમન છે આથી જ તે સૂક્ષ્મ કહેવાયા છે

આ પાચ શરીરોમાથી કોઈ જીવને એક સાથે ચાર શરીર હોઈ શકે છે કોઈને બે, કોઈને ત્રણ અને કોઈને ચાર શરીર સુધી પ્રાપ્ત થઈ શકે છે (૧) એકી સાથે એક જીવને બે શરીર હોય તો તૈજસ અને કાર્મણ હોય છે બે શરીર માત્ર વિગ્રહગતિના સમયે જ હોય છે (૨) ત્રણ શરીર એક સાથે હોય તો તૈજસ કાર્મણ અને ઔદારિક હોય છે આ ત્રણ શરીર ઋદ્ધિવગરના તિર્યંચ તથા મનુષ્યોમા હોય છે (૩) અથવા ત્રણ શરીર તૈજસ, કાર્મણ અને વૈક્રિય હોય છે જે દેવગતિ અને નારકીના જીવોને પ્રાપ્ત હોય છે (૪) ચાર હોય તો તૈજસ, કાર્મણ, ઔદારિક તથા વૈક્રિય હોય અથવા (૫) તૈજસ, કાર્મણ, ઔદારિક તથા આહારક હોય આ ચાર શરીર વૈક્રિય લબ્ધિ અથવા આહારક લબ્ધિવાળા જીવને હોય છે

એક જીવમા એકી સાથે પાચ શરીર હોતા નથી અને વૈક્રિય અને આહારક શરીર એકી સાથે મળી શકતા નથી કારણ કે એકી સાથે બન્ને-વૈક્રિય અને આહારક લબ્ધિઓ હોતી નથી કાર્મણશરીર તો પ્રત્યેક સસારી જીવને હોય જ છે ॥ ૩૦ ॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—ઔદારિક વગેરે શરીર ઉત્તરોત્તર સૂક્ષ્મ છે જેમકે—ઔદારિકથી વૈક્રિય સૂક્ષ્મ છે વૈક્રિયથી આહારક આહારકથી તૈજસ તૈજસથી કાર્મણશરીર સૂક્ષ્મ છે આવિ-રીતે ઔદારિક પાચેશરીરોમા એક બિજાની અપેક્ષા એ ઉત્તરોત્તર શરીર સૂક્ષ્મ છે

આવી રીતે ઉત્તરોત્તર શરીર સૂક્ષ્મ દ્રવ્યોથી બનેલા હોવાથી સૂક્ષ્મ છે અને આ કારણે ઔદારિક શરીર સિવાયના ચાર વૈક્રિય વગેરે શરીર પ્રાયઃ જોઈ શકાતા નથી પુદ્ગલોનુ પરિણ-મન વિવિધ પ્રકારનુ છે કોઈ-કોઈ પુદ્ગલ થોડા હોવા છતા પણ પોલા-પોલા હોવાથી સ્થૂળ દેખાય છે જેમ ભીંડા અગર લાકડાનાં પુદ્ગલ કોઈ આથી ઉલ્ટુ, પણ અત્યત સઘનરૂપમાં પરિણત થાય છે તે ઘણા વધારે હોવા છતાંપણ સૂક્ષ્મ-પરિણત હોવાથી અલ્પ દેખાય છે દાખલાતરીકે હાથી દાંતના પુદ્ગલ—

આ વાત ચોકકસ છે કે લબાઈ-પહોળાઈમા સરખા ભીંડા અને હાથીદાંતના ટુકડાને જો ત્રાજવામા જોખવામા આવે તો તેમના વજનમાં ઘણો તફાવત હોય છે આથી સાબીત થાય છે કે કોઈ પુદ્ગલ સઘન એવા સૂક્ષ્મ પરિણમનવાળા અને કોઈ શિથિલ પરિણમનવાળા હોય છે નહીતર જે તેમનુ પ્રમાણ તુલ્ય છે એ લઘુતા અને ગુરુતા કેમ થાય ? આ કારણે પહેલા-પહે-લાના શરીર ઉત્તરોત્તર શરીરોની અપેક્ષા સ્થૂળ દ્રવ્યોથી બનેલા અને શિથિલ પરિણમનવાળા હોય છે અને ઉત્તરોત્તર શરીર સૂક્ષ્મ દ્રવ્યોથી નિર્મિત, સઘન પરિણતિવાળા અને સૂક્ષ્મ હોય છે આ પુદ્ગલ દ્રવ્યોની પરિણમનની વિચિત્રતા છે આ રીતે ઔદારિક શરીર અલ્પદ્રવ્યવાળુ,

અત્યન્ત શુભ, શકિત, તથા વિશુદ્ધ દ્રવ્યોથી નિર્મિત હોય છે વિશેષ પ્રયોજનથી બનાવાય છે તેમજ અન્તર્મૂહૂર્તની સ્થિતિવાળુ હોય છે પ્રમત્તસયત મુનિ જ આ શરીરને નિ'પન્ન કરે છે

જ્યારે પ્રમત્તસયતને કોઈ ઊ ડા તત્ત્વમા અથવા સયમના વિષયમા શકા ઊભી થાય છે, ત્યારે તીર્થ કર તથા કેવળી ભગવાનની પાસે શકાને દૂર કરવા અર્થે તાલુપ્રદેશના છિદ્રથી નિક ળીને એક હાથનુ પુતળુ ત્યા જાય છે, જઈને તીર્થ કર વગેરેને પૂછી કરીને પાછુ ફરે છે અને તેજ તાલુના છિદ્રથી પ્રમત્તસયતના શરીરમા પેસી જાય છે આવુ કરવાથી તેની શકા દૂર થઈ જાય છે

તેજથી જે શરીર ઉત્પન્ન થાય છે તે તૈજસ કહેવાય છે કર્મ દ્વારા નિ'પન્ન શરીરને કાર્મણુ શરીર કહે છે જેવી રીતે બોર વગેરેનો આધાર કુડ હોય છે તેજ પ્રકારે આ કાર્મણુ શરીર સમસ્ત કર્મરાશિનો આધાર છે અથવા જે શરીર કર્મોનુ કાર્ય છે તે કાર્મણુ કહેવાય છે તે સમસ્ત કર્મોને ઉત્પન્ન કરવામા સમર્થ હોય છે ॥ ૨૯ ॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુકિત—પૂર્વોકત જન્મોમા પૂર્વોકત યોનિઓવાળા જીવોના કયા અને કેટલા શરીર હોય છે ? તે શરીરોના લક્ષણુ કયા છે ? આ બતાવવા માટે કહીએ છીએ- શરીર પાચ છે ઔદારિક વૈક્રિય-આહારક-તૈજસ અને કાર્મણુ

ક્ષણે ક્ષણે શીર્ણ-જીર્ણ, નાશવત હોવાથી તેમજ ચય અને અપચય વાળુ હોવાથી 'શરીર' સજ્ઞા પ્રદાન કરવામા આવી છે શરીર ઉપર મુજબ પાચ છે

આ પાચ શરીર નરક વગેરે ચાર ગતિના જીવોને જ હોય છે, સિદ્ધ જીવોને હોતા નથી સિદ્ધ જીવ સમસ્ત કર્મોથી રહિત હોવાથી સમસ્ત શરીરોથી પણુ રહિત હોય છે આ સત્યને પ્રકટ કરવા માટે સૂત્રની શરૂઆતમા "શરીર" શબ્દનો પ્રયોગ કરવામા આવ્યો છે શરીરશબ્દનો અર્થ છે-જે નાશવત હોય, પળે-પળે બદલાતુ રહે આવુ નાશવત શરીર સિદ્ધોમા મળી આવતુ નથી આજ કારણુ છે કે શરીર શબ્દની અપેક્ષા "કાય" શબ્દ નાનો છે અને જો તેનો પ્રયોગ કર્યો હોત તો સૂત્રમા લઘુતા આવત આમ છતા અત્રે કાય શબ્દનો પ્રયોગ કરવામા [illegible]ી શરીર શબ્દનો મોટા હોવાના કારણેજ પ્રયોગ કરવામા આવ્યો છે તે તેની પ્રકટ કરવા માટે જ

[illegible]ર્થ એ છે કે સસારી જીવોના ઔદારિક વૈક્રિય આહારક તૈજસ અને કાર્મણુ વગેરે [illegible]ારના શરીર હોય છે પ્રજ્ઞાપનાસૂત્રના ૨૧મા શરીરપદમા કહેલ છે—

પ્રશ્ન—ભગવન્ ! શરીર કેટલા કહેલા છે ?

ઉત્તર—ગૌતમ ! પાચ શરીર છે (૧) ઔદારિક (૨) વૈક્રિય (૩) આહારક (૪) તૈજસ (૫) કાર્મણુ

જે શરીર સ્થૂળ અને અસાર પુદ્દગલદ્રવ્યોથી બન્યુ હોય તે ઔદારિક કહેવાય છે વિક્રિયા શકિતથી ઉત્પન્ન થયુ હોય તે વૈક્રિય કહેવાય છે વિક્રિયા વિકાર અનેક રૂપતા અથવા એકના અનેક રૂપો બનાવવા એ સર્વ સમાન અર્થવાલા શબ્દો છે જે શરીર વિક્રિયાથી બનેલ હોય નાનાપ્રકારના રૂપ અને અદ્દભૂત હોય નાના પ્રકારના ગુણોથી યુકત પુદ્દગલવર્ગ-ણાથી બનેલ હોય તે વૈક્રિય કહેવાય છે

જે શરીર અત્યન્ત શુભ, શુભ્ર, અને વિશુદ્ધ દ્રવ્યવર્ગણાઓથી ઉત્પન્ન થાય તથા એક વિશેષ પ્રયોજનથી જ બાનાવાય તથા જેની સ્થિતિ અન્તર્મુહૂર્ત માત્રા હોય તે આહારક શરીર કહેવાય છે

જે તૈજસ ગુણવાળા દ્રવ્યોથી નિર્મિત હોય, તેજનો વિકાર હોય અગર તેજ રૂપ જ હોય તે તૈજસ શરીર છે આ શરીર ઉષ્ણ ગુણવાળુ તથા શાપ અને અનુગ્રહના સામર્થ્યવાળુ પણ હોઈ શકે છે

આ શરીર જેને મળે છે અને જો તે તેજોલેશ્યા લબ્ધિવાળો હોય તો તે જ્યારે ક્રોધથી ભભુકી ઉઠે છે ત્યારે બીજા જીવને, બાળી મુકવા માટે તેને બહાર કાઢે છે જેવી રીતે ગોશાળકે કાઢી હતી તેમ અને જ્યારે ખુશ હોય છે ત્યારે શીત તેજથી ઉપકાર પણ કરે છે જે જીવને ઉત્તરગુણપ્રત્યયક લબ્ધિ પ્રાપ્ત થતી નથી તેનુ જ તૈજસ શરીર ખાધેલા અન્નને પચાવવાનુ કાર્ય કરે છે, આ પ્રમાણે જે શરીર ખોરાક પચાવવાની શકિતવાળુ હોય તે પણ તૈજસ કહેવાય આવીજ રીતે કર્મદ્વારા નિષ્પન્ન શરીર કાર્મણ કહેવાય છે આ શરીર સમસ્ત કર્મરાશિનુ એવી રીતે આધાર ભૂત છે જેવી રીતે બોર વગેરેનો આધાર કુંડ વગેરે હોય છે અથવા આ શરીર બીજની જેમ બધા કર્મોનો પિતા છે આ શરીરનામકર્મની ઉત્તરપ્રકૃતિ છે અર્થાત્ શરીરનામકર્મનો એક ઉપભેદ છે આથી આઠ કર્મોથી થોડુક ભિન્ન છે કર્મ જ કાર્મણ કહેવાય છે હકીકતમાં તે કર્મો દ્વારા નિષ્પન્ન, કર્મોમા થનારૂ અથવા કર્મ જ કાર્મણ શરીર કહેવાય છે

ઔદારિક વગેરે શરીર પોતાને ગમે તે પુદ્ગલોથી બનતા નથી પરતુ એમને યોગ્ય પુદ્ગલોની વર્ગણા જુદી જુદી હોય છે ઔદારિક વર્ગણાના પુદ્ગલોથી ઔદારિક શરીર, વૈક્રિય વર્ગણાના પુદ્ગલોથી વૈક્રિય શરીર, આહારક વર્ગણાના પુદ્ગલોથી આહારક શરીર, તૈજસવર્ગણાના પુદ્ગલોથી તૈજસશરીર અને કાર્મણવર્ગણા ના પુદ્ગલોથી કાર્મણ શરીરનુ નિર્માણ થાય છે

પુદ્ગલોના સમૂહને વર્ગણા કહે છે આનુ વર્ગિકરણ અનેક પ્રકારથી કરવામાં આવેલ છે જેવી રીતે દ્રવ્યની અપેક્ષાથી સમસ્ત પરમાણુદ્રવ્યોની એક વર્ગણા યાને (રાશિ) છે દ્વિપ્રદેશી સ્કધોની એક વર્ગણા છે એવી જ રીતે એક-એક પરમાણુની વૃદ્ધિ કરીને સખ્યાત વર્ગણાઓ છે, અસખ્યાત પ્રદેશી સ્કધોની અસખ્યાત વર્ગણાઓ છે અનન્તપ્રદેશી સ્કધોની અનન્ત, વર્ગણાઓ હોય છે

અલ્પ પુદ્ગલોવાળી કેટલીક એવી વર્ગણા હોય છે કે જેનાથી ઔદારિક શરીર બની શકતુ નથી અર્થાત્ તે ઔદારિક શરીર માટે અયોગ્ય હોય છે તેમની આગળની અનન્ત વર્ગણાઓ ઔદારિક શરીરને યોગ્ય હોય છે આ યોગ્ય વર્ગણાઓની આગળની તેમનાથી પણ અનન્તગણી એવી વર્ગણા છે જે (વધારે દ્રવ્યવાળી હોવાને કારણે) ઔદારિક શરીર માટે યોગ્ય નથી આવી રીતે ઔદારિક વર્ગણાઓ ત્રણ પ્રકારની છે (૧) અલ્પ પુદ્ગલોવાળી હોવાથી અયોગ્ય (૨) યોગ્ય પરિણામવાળી હોવાના કારણે યોગ્ય તથા (૩) બહુપુદ્ગલોવાળી હોવાથી અયોગ્ય આવી જ રીતે વૈક્રિય આહારક, તૈજસ ભાષા, આણા પાણુ મન તથા કાર્મણમાથી પ્રત્યેક જાતિની ત્રણ પ્રકારની વર્ગણાઓ કહેલી છે-અયોગ્ય, યોગ્ય,

તાત્પર્ય એ છે કે ઔદારિક વગેરે શરીરોના તથા ભાષા આદિના નિર્માણ માટે યોગ્ય પરિમાણવાળી વર્ગણાઓ જ યોગ્ય હોય છે આ ઉચિત પરિમાણવાળી વર્ગણાઓથી ઓછા

પ્રશ્ન બીજો જ છે કે વિક્રિયા કરવાવાળાની ઇચ્છાથી તેનુ વૈક્રિય શરીર દૃષ્ટિગોચર પણ હોઈ શકે છે આવી રીતે ઔદારિકથી વૈક્રિય વૈક્રિયથી આહારક-આહારકથી તૈજસ તૈજસથી કાર્મણ-શરીર સૂક્ષ્મ છે

જો કે શરીર અનુક્રમથી ઉત્તરોત્તર સૂક્ષ્મ છે તો પણ પુદ્ગલપ્રદેશોની અપેક્ષા એ ઔદારિક શરીરથી વૈક્રિય અને વૈક્રિયથી આહારક શરીર અસખ્યાતગણા છે આહારકની અપેક્ષા તૈજસ શરીરમાં અને તૈજસની અપેક્ષા કાર્મણશરીરમા અનન્તગણા પ્રદેશો છે આવી રીતે બહુતર દ્રવ્યોથી ઉત્પન્ન થવા છતા પણ તેમનુ ઉત્તરોત્તર સૂક્ષ્મ પરિણમન છે આથી જ તે સૂક્ષ્મ કહેવાયા છે

આ પાંચ શરીરોમાથી કોઈ જીવને એક સાથે ચાર શરીર હોઈ શકે છે કોઈને બે, કોઈને ત્રણ અને કોઈને ચાર શરીર સુધી પ્રાપ્ત થઈ શકે છે (૧) એકી સાથે એક જીવને બે શરીર હોય તો તૈજસ અને કાર્મણ હોય છે બે શરીર માત્ર વિગ્રહગતિના સમયે જ હોય છે (૨) ત્રણ શરીર એક સાથે હોય તો તૈજસ કાર્મણ અને ઔદારિક હોય છે આ ત્રણ શરીર ઋદ્ધિવગરના તિર્યંચ તથા મનુષ્યોમા હોય છે (૩) અથવા ત્રણ શરીર તૈજસ, કાર્મણ અને વૈક્રિય હોય છે જે દેવગતિ અને નારકીના જીવોને પ્રાપ્ત હોય છે (૪) ચાર હોય તો તૈજસ, કાર્મણ, ઔદારિક તથા વૈક્રિય હોય અથવા (૫) તૈજસ, કાર્મણ, ઔદારિક તથા આહારક હોય આ ચાર શરીર વૈક્રિય લબ્ધિ અથવા આહારક લબ્ધિવાળા જીવને હોય છે

એક જીવમા એકી સાથે પાંચ શરીર હોતા નથી અને વૈક્રિય અને આહારક શરીર એકી સાથે મળી શકતા નથી કારણ કે એકી સાથે બન્ને-વૈક્રિય અને આહારક લબ્ધિઓ હોતી નથી કાર્મણશરીર તો પ્રત્યેક સસારી જીવને હોય જ છે ॥ ૩૦ ॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—ઔદારિક વગેરે શરીર ઉત્તરોત્તર સૂક્ષ્મ છે જેમકે—ઔદારિકથી વૈક્રિય સૂક્ષ્મ છે વૈક્રિયથી આહારક આહારકથી તૈજસ-તૈજસથી કાર્મણશરીર સૂક્ષ્મ છે આવિ-રીતે ઔદારિક પાચેશરીરોમાં એક બિજાની અપેક્ષા એ ઉત્તરોત્તર શરીર સૂક્ષ્મ છે

આવી રીતે ઉત્તરોત્તર શરીર સૂક્ષ્મ દ્રવ્યોથી બનેલા હોવાથી સૂક્ષ્મ છે અને આ કારણે ઔદારિક શરીર સિવાયના ચાર વૈક્રિય વગેરે શરીર પ્રાયઃ જોઈ શકાતા નથી પુદ્ગલોનુ પરિણ-મન વિવિધ પ્રકારનુ છે કોઈ-કોઈ પુદ્ગલ થોડા હોવા છતા પણ પોલા-પોલા હોવાથી સ્થૂળ દેખાય છે જેમ ભીંડા અગર લાકડાનાં પુદ્ગલ કોઈ આથી ઉલ્ટુ, પણ અત્યત સઘનરૂપમાં પરિણત થાય છે તે ઘણાં વધારે હોવા છતાંપણ સૂક્ષ્મ-પરિણત હોવાથી અલ્પ દેખાય છે દાખલાતરીકે હાથી દાંતના પુદ્ગલ—

આ વાત ચોકકસ છે કે લબાઈ-પહોળાઈમા સરખાં ભીંડા અને હાથીદાતના ટુકડાને જો ત્રાજવામા જોખવામા આવે તો તેમના વજનમા ઘણો તફાવત હોય છે આથી સાબીત થાય છે કે કોઈ પુદ્ગલ સઘન એવા સૂક્ષ્મ પરિણમનવાળા અને કોઈ શિથિલ પરિણમનવાળા હોય છે નહીતર જે તેમનુ પ્રમાણ તુલ્ય છે એ લઘુતા અને ગુરુતા કેમ થાય ? આ કારણે પહેલા-પહે-લાના શરીર ઉત્તરોત્તર શરીરોની અપેક્ષા સ્થૂળ દ્રવ્યોથી બનેલા અને શિથિલ પરિણમનવાળા હોય છે અને ઉત્તરોત્તર શરીર સૂક્ષ્મ દ્રવ્યોથી નિર્મિત, સઘન પરિણતિવાળા અને સૂક્ષ્મ હોય છે આ પુદ્ગલ દ્રવ્યોની પરિણમનની વિચિત્રતા છે, આ રીતે ઔદારિક શરીર અલ્પદ્રવ્યવાળુ,

સ્થૂળ અને પોલુ હોય છે અને તેની અપેક્ષા વૈક્રિય શરીર બહુતર દ્રવ્યોવાળુ, સૂક્ષ્મ અને સઘન પરિણમનવાળુ હોય છે આ કારણે તેને ઔદારિકની અપેક્ષા સૂક્ષ્મ કહેલ છે

પ્રશ્ન—ઔદારિક શરીર શાસ્ત્રમા વધુમા વધુ એક હજાર યોજનથી થોડુંક વધારે પરિમાણવાળુ કહેવામા આવેલુ છે પરન્તુ વૈક્રિય શરીર કંઈક વધુ એક લાખ યોજન પરિમાણવાળુ હોય છે તો પણ તેને સૂક્ષ્મ કઈ રીતે કહ્યુ ?

ઉત્તર—જો કે પ્રમાણની અપેક્ષા વૈક્રિય શરીર ઘણુ મોટુ હોય છે તો પણ અદૃશ્ય હોવાથી તે સૂક્ષ્મ જ કહેવાય છે હા, જો વૈક્રિય શરીર બનાવનાર ધારે તો તે દૃષ્ટિગોચર પણ થઈ શકે છે આથી તેને સૂક્ષ્મ કહેવામા કોઈ દોષ નથી

આવી જ રીતે વૈક્રિયની અપેક્ષા આહારક શરીર સૂક્ષ્મ હોય છે તે બહુસંખ્યક દ્રવ્યોથી ઉત્પન્ન થવા છતા પણ સૂક્ષ્મતર પરિમાણવાળુ હોવાથી સૂક્ષ્મ છે આહારકની અપેક્ષા તૈજસ શરીર ઘણુ સૂક્ષ્મ અને ઘણા દ્રવ્યોથી બનેલુ છે તૈજસ શરીરની અપેક્ષા કાર્મણ શરીર બહુ અધિક દ્રવ્યોથી બનેલુ હોવા છતા પણ અત્યન્ત સૂક્ષ્મ હોય છે અહી ઉત્તરોત્તર શરીરોમા જે સૂક્ષ્મતાનુ વિધાન કરવામા આવેલુ છે તે આપેક્ષિક છે, સૂક્ષ્મતા કર્મના ઉદયથી ઉત્પન્ન સૂક્ષ્મતા નથી

પ્રશ્ન—કારણોની સૂક્ષ્મતા હોવાથી બહુસંખ્યક પુદ્ગલો દ્વારા રચિત હોવા છતા પણ પ્રચયની વિશેષતાને કારણે આગળ-આગળના શરીર ભલે સૂક્ષ્મ હોય પરંતુ તે શરીર બહુસંખ્યક પુદ્ગલોથી બનેલા છે, તેની સાબીતી શી ?

ઉત્તર —ઔદારિક આદિ શરીરોનુ નિર્માણ ક્રમશ અસંખ્યાતગણા અધિક પ્રદેશોથી થાય છે અર્થાત્ ઔદારિક શરીરની અપેક્ષા વૈક્રિય શરીરના પ્રદેશ અસંખ્યાતગણા વધારે છે અને વૈક્રિય શરીરના પ્રદેશોથી આહારક શરીરના પ્રદેશ અસંખ્યાતગણા વધારે હોય છે આહારકની અપેક્ષા તૈજસના અને તૈજસની અપેક્ષા કાર્મણ શરીરના પ્રદેશ અનન્તગણા વધારે હોય છે પ્રવૃદ્ધદેશ પ્રદેશ કહેવાય છે આ વ્યુત્પત્તિ અનુસાર જ્યારે અનન્તગુણ સ્કન્ધ અન્ય અનન્તાણુક સ્કંધોથી અસંખ્યાતવાર ગુણવામા આવે ત્યારે તે વૈક્રિય શરીર માટે ગ્રહણ કરવા યોગ્ય બને છે

આવીજ રીતે વૈક્રિય શરીર માટે ગ્રહણ કરવા યોગ્ય એક અનન્તપ્રદેશી સ્કન્ધ જ્યારે અનન્તાણુક સ્કંધોથી અસંખ્યાત વખત ગુણવામા આવે છે ત્યારે તે આહારક શરીર માટે યોગ્ય બને છે પરંતુ તૈજસ અને કાર્મણ શરીરના વિષયમા આ નિયમ લાગુ થતો નથી એમના માટે બીજો નિયમ છે જે હવે પછી કહેવામાં આવશે આવી રીતે ઔદારિક શરીરને યોગ્ય સ્કંધ અનન્તાણુક હોવા છતા પણ ઉત્તર સ્કંધોની અપેક્ષા સહુથી નાનુ છે કારણકે અનન્ત સંખ્યાના અનન્ત ભેદ છે

આનો સારાશ એ છે કે ઔદારિક શરીરને યોગ્ય એક સ્કંધ જ્યારે અન્ય અનન્તપ્રદેશી સ્કંધો સાથે અસંખ્યવાર ગુણાય ત્યારે જ તે વૈક્રિય શરીરને યોગ્ય બને છે આવી જ રીતે વૈક્રિય શરીરના યોગ્ય સ્કંધોથી આહારક શરીરના યોગ્ય સ્કંધ અસંખ્યગણા છે આનો ફલિતાર્થ એ છે કે વૈક્રિય શરીરને યોગ્ય સ્કંધ જ્યારે અન્ય અનન્તપ્રદેશી અસંખ્યાત સ્કંધોથી ગુણાય છે ત્યારે તે આહારક શરીરને અનુરૂપ બને છે

તૈજસ અને કાર્મણ શરીર પૂર્વ-પૂર્વના શરીરની અપેક્ષા પ્રદેશોથી અનન્તગણા હોય છે. આ રીતે આહારક શરીરથી તૈજસમા અનન્તગણા પ્રદેશ છે અને તૈજસની અપેક્ષા કાર્મણ

શરીર અનન્તગણા પ્રદેશવાળા છે તાત્પર્ય એ થયુ કે આહારક શરીરને યોગ્ય અનન્તાણુક સ્કંધ જ્યારે બીજા અનન્ત અનન્ત પ્રદેશોવાળા સ્કંધોથી ગુણવામા આવે ત્યારે તે તૈજસ શરીર માટે ગ્રહણ કરવા યોગ્ય બને છે આવીજ રીતે તૈજસ શરીરને યોગ્ય અનન્તાણુક સ્કંધ અન્ય અનન્તાણુક સ્કંધોથીગુણવામા આવે-ત્યારે કાર્મણ શરીર માટે ગ્રહણ કરવા યોગ્ય બને છે પ્રજ્ઞાપનાસૂત્રના શરીરપદના ૨૧મા પદમા કહે છે—

દ્રવ્યની અપેક્ષા આહારક શરીર બધાથી ઓછા છે. વૈક્રિય શરીર તેથી અસખ્યાતગણા વધારે છે, ઔદારિક શરીર તેથી પણ અસખ્યાતગણા છે તૈજસ અને કાર્મણ શરીર બને દ્રવ્યની અપેક્ષાએ સરખા છે પરતુ અનન્તગણા છે, પ્રદેશોની અપેક્ષા સહુથી ઓછા આહારક શરીર છે, વૈક્રિય શરીર પ્રદેશોની અપેક્ષા તેમનાથી અસંખ્યાતગણા છે, ઔદારિક શરીર પ્રદેશોની અપેક્ષા અસખ્યાતગણા છે તૈજસશરીર પ્રદેશોની અપેક્ષા અનન્તગણા છે વગેરે

અન્ય શરીરોથી તૈજસ અને કાર્મણ શરીરની એક ધ્યાન ખેચતી બાબત એ છે કે આ બને લોકાન્ત સિવાય બધે જ અપ્રતિહત હોય છે, હા, લોકના અન્તમા આ બને પણ નાશ પામે છે કહેવાનુ એ છે કે જીવો અને અજીવોનુ આધારભૂત ક્ષેત્ર લોક કહેવાય છે લોકનો અન્ત થાય છે ત્યારે તૈજસ-કાર્મણ શરીરની ગતિનો પણ અન્ત થઈ જાય છે લોકની બહાર ગતિને કારણ ધર્મદ્રવ્ય અને સ્થિતિને કારણ અધર્મદ્રવ્ય હોતુ નથી ધર્મદ્રવ્યના નિમિત્તથી જ જીવો અને પુદ્ગલોની ગતિ થાય છે આથી જ્યા ધર્મદ્રવ્યનો અભાવ છે ત્યા ગતિનો પણ અભાવ હોય છે

જેમ માછલાં વગેરે જળચરોની ગતિ પાણીની મદદથી થાય છે તેવી જ રીતે સમસ્ત જીવો અને પુદ્ગલોની ગતિ ધર્મદ્રવ્યની મદદથી જ થાય છે

લોકાન્તને છોડીને સમ્પૂર્ણ લોકમા ક્યાય પણ તેમનો પ્રતિઘાત થતો નથી-ગતિમાં રુકાવટ આવતી નથી જો કે આ બને શરીર પણ આકારવાળા છે તોપણ અત્યત સૂક્ષ્મ હોવાના કારણે અપ્રતિહત છે-ભલે પર્વત હોય કે દરિયો, રણ દ્વીપ પાતાળ નરક અથવા વૈમાનિક લોક આદિ તો પણ તેને ભેદીને તેઓ સર્વત્ર અપ્રતિહત ગતિમાં હોય છે જેવી રીતે લાલચોળ તેજના અવયવ લોઢાના પિન્ડની અદર પેશી જાય છે અને કોઈ પણ પ્રકારે રોકી શકાતા નથી કારણ કે તે સૂક્ષ્મ હોય છે તેજ રીતે તૈજસ અને કાર્મણ શરીર પણ રાજાના પ્રિય પુરુષની જેમ સર્વત્ર પ્રવેશ કરે છે અને નિકળે છે, રાજપ્રશ્નીય સૂત્રના ૬૬માં સૂત્રમા તેમને 'અપ્પડિહયગઈ' અર્થાત્ વગર કોઈ રોકટોક ગતિ કરનાર કહેવામા આવ્યા છે

તૈજસ અને કાર્મણ શરીરથી સસારી જીવ કદાપી રહિત હોતો નથી-સમસ્ત સસારી જીવોની સાથે તેમનો સબન્ધ અનાદિકાળથી છે-જેવી રીતે સુવર્ણ અને પાષાણનો સયોગ અનાદિ છે તથા આકાશ અને પૃથ્વી વગેરેનો સયોગ અનાદિકાલીન છે તેવી જ રીતે જીવની સાથે આ બને શરીરોનો સબન્ધ અનાદિકાલીન છે-પરતુ આ અનાદિ સમ્બન્ધ એકાત રૂપથી ન સમજવો જોઈએ પરતુ દ્રવ્યાર્થિક નયની અપેક્ષાથી જ સમજવો જોઈએ-બને શરીર પ્રવાહ સ્વરૂપે અનાદિકાલીન છે-તાત્પર્ય એ છે કે આ બને શરીરોની પરપરા અનાદિકાળથી અવિચ્છિન રૂપમા ચાલતી આવી છે અને જ્યા સુધી જીવને મુક્તિ મળતી નથી ત્યા સુધી ચાલતી જ રહે છે પરતુ પર્યાયની અપેક્ષા તેમનો સબન્ધ આદિમાન પણ છે

દ્રવ્યથી અનાદિ સમ્બન્ધ હોવા છતાંપણુ આ તૈજસ અને કાર્મણુ શરીર શુ બધાં સંસારી જીવોને હોય છે-અથવા કોઈ કોઈને જ હોય છે ? આ પ્રશ્નનો જવાબ એ છે કે બધા સંસારી જીવોનાં તૈજસ-કાર્મણુ શરીર હોય છે, એવુ નથી કોઈને હોય અને કોઈને ન હોય

પ્રશ્ન—જેમ તૈજસ અને કાર્મણુ શરીર અનાદિકાલીન સબન્ધ હોવાથી બધા સસારી જીવોને સાથે-સાથે હોય છે તેવી જ રીતે શુ અન્ય શરીર પણુ એકી સાથે એક જીવને હોય છે નહી ?

ઉત્તર—ભજનાથી એક જીવને એકી સાથે ચાર શરીર સુધી હોઈ શકે છે-(૧) એક જીવને એકી સાથે તૈજસ અને કાર્મણુ-બે શરીર હોય છે (૨) કોઈને તૈજસ કાર્મણુ અને ઔદારિક હોય છે (૩) કોઈને તૈજસ, કાર્મણુ અને વૈક્રિય હોય છે (૪) કોઈને તૈજસ કાર્મણુ ઔદારિક તથા વૈક્રિય હોય છે (૫) કોઈને તૈજસ, કાર્મણુ, ઔદારિક તથા આહારક હોય છે (૬) કોઈને માત્ર કાર્મણુ જ હોય છે (૭) કોઈને કાર્મણુ અને ઔદારિક (૮) કાર્મણુ અને વૈક્રિય (૯) કાર્મણુ, ઔદારિક અને વૈક્રિય (૧૦) કાર્મણુ, ઔદારિક, આહારક (૧૧) કોઈને કાર્મણુ, તૈજસ, ઔદારિક તથા વૈક્રિય હોય છે (૧૨) કોઈને કાર્મણુ તૈજસ અને ઔદારિક હોય છે—

એક જીવને પાચ શરીર કદી પણુ હોઈ શકે નહી કારણુ કે આહારક અને વૈક્રિય શરીર સાથે-સાથે હોતા નથી, બને લબ્ધિઓ એક જીવને એકી સાથે હોતી નથી

આ બને લબ્ધીઓ એકી સાથે એક જીવમાં વ્યક્ત રૂપમાં હોઈ શકતી નથી જે કાળમાં વૈક્રિયલબ્ધિનો પ્રયોગ કરવામા આવે છે તે સમયે આહારક લબ્ધિનો પ્રયોગ થતો નથી-હા, આગળ પાછળ પ્રયોગ કરી શકાય પહેલા વૈક્રિય શરીર બનાવી તેના વ્યાપારથી નિવૃત્ત થઈ જાય પછી આહારક શરીર બનાવી શકે છે આવી સ્થિતિમાં એક જીવના એકી સાથે પાંચ શરીર હોઈ શકે નહી પ્રજ્ઞાપના સૂત્રના ૨૧મા શરીર પદમા કહ્યુ છે કે—

પ્રશ્ન—હે ભગવત ! જે જીવને ઔદારિક શરીર છે તેમને વૈક્રિય અને વૈક્રિય શરીર હોય તેને ઔદારિક શરીર હોય છે કે નહી ?

ઉત્તર—હે ગૌતમ ! જેને ઔદારિકશરીર છે તેને વૈક્રિય શરીર કોઈવાર હોય છે, કોઈ-વાર હોતુ નથી જેને વૈક્રિય શરીર છે તેને ઔદારિક શરીર હોય અગર ન પણુ હોય

પ્રશ્ન—ભગવત ! જેને ઔદારિક શરીર છે તેને આહારક અને આહારકવાળાને ઔદારિક શરીર હોય છે ?

જવાબ—ગૌતમ ! જેને ઔદારિક શરીર હોય તેને આહારક શરીર કદાચિત હોય છે કદાચિત્ નથી પણુ હોતુ જેને આહારક શરીર છે તેને ઔદારિક શરીર નિયમથી હોય છે

પ્રશ્ન—ઔદારિક શરીરવાળાને તૈજસ અને તૈજસવાળાને ઔદારિક શરીર હોય છે ?

જવાબ—જેને ઔદારિક શરીર છે તેને તૈજસ શરીર નિયમથી હોય છે પરતુ તૈજસવાળાને ઔદારિક શરીર હોય પણુ ખરૂ અને ન પણુ હોય આવુ જ કાર્મણુ શરીર માટે સમજવાનુ છે

પ્રશ્ન—વૈક્રિય શરીરવાળાને આહારક અને આહારક શરીરવાળાને વૈક્રિય શરીર હોય છે ?

જવાબ —ગૌતમ, વૈક્રિયવાળાને આહારક શરીર હોતું નથી અને આહારકવાળાને વૈક્રિય શરીર પણ હોતુ નથી તૈજસ અને કાર્મણ શરીરના વિષયમા ઔદારિક શરીર માટે જે કહ્યુ તેજ સમજવાનુ છે અને આહારક શરીરના વિષયમાં પણ તેજ પ્રમાણે કહેવુ જોઈએ અર્થાત્ જેને વૈક્રિય અને આહારક શરીર હોય છે તેમને તૈજસ અને કાર્મણ શરીર નિયમથી હોય છે

પ્રશ્ન —ભગવત, ! જેમને તૈજસ શરીર હોય છે તેમને કાર્મણ અને કાર્મણવાળાને તૈજસ શરીર હોય છે ?

ઉત્તર —ગૌતમ, જેને તૈજસ શરીર હોય છે તેમને કાર્મણ શરીર નિયમથી હોય છે અને જેને કાર્મણ શરીર હોય તેમને તૈજસ શરીર નિયમથી હોય છે ॥ ૩૦ ॥

'कम्मगं उवभोगवज्जियं'

મૂળસૂત્રાર્થ —કાર્મણશરીર ઉપભોગથી રહિત છે ॥ ૩૧ ॥

તત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમા ઔદારિક વૈક્રિય આહારક તૈજસ અને કાર્મણ ના ભેદથી પાંચ પ્રકારના શરીરોનુ નિરૂપણ કરવામા આવ્યુ હવે કાર્મણનુ પ્રકરણ આવવાથી તેના વિષયમા થોડી વિશિષ્ટતાનુ પ્રતિપાદન કરીએ છીએ—

કર્મથી ઉત્પન્ન થનાર, પૂર્વોક્ત સ્વરૂપવાળુ કાર્મણ શરીર ઉપભોગથી રહિત છે ઇન્દ્રિયોદ્વારા શબ્દ, રૂપ, ગ ધ રસ અને સ્પર્શ વગેરેની ઉપલબ્ધિ થાય તેને ઉપભોગ કહેવાય છે. કાર્મણ શરીર આ ઉપભોગથી રહિત છે વિગ્રહગતિમા કાર્મણશરીરનુ અસ્તિત્વ હોવા છતાપણુ લબ્ધિરૂપ ભાવેન્દ્રિયનુ વિદ્યમાનપણુ હોવા છતાપણુ દ્રવ્યેન્દ્રિયોનો અભાવ હોવાથી શબ્દ વગેરે ભોગ, ઉપભોગ થતો નથી

ઔદારિક વગેરે શરીરોના સદ્ભાવમા સુખ દુ ખ રૂપ વિષયોનો ઉપભોગતો પ્રત્યક્ષથી સિદ્ધ છે પર તુ જ્યારે વિગ્રહગતિમા કાર્મણશરીર હોય છે ત્યારે આ શરીરથી શબ્દ વગેરે વિષયોનો ઉપભોગ થઈ શકતો નથી આથી જ કાર્મણ શરીરને ઉપભોગથી રહિત કહેવામા આવ્યુ છે ॥ ૩૧ ॥

'ओरालिए दुविहे सम्मुच्छिमे गब्भवक्कंतिए य' ।

મૂળસૂત્રાર્થ—ઔદારિક શરીર બે પ્રકારના છે-સમ્મૂર્ચ્છિમ અને ગર્ભવ્યુત્ક્રાન્તિક ॥૩૨॥

તત્વાર્થદીપિકા—પહેલા ત્રણ પ્રકારના જન્મ કહેવામા આવ્યા છે તેમાથી ક્યા જન્મમાં ઔદારિક આદિ પાચે શરીરોમાથી કયુ શરીર હોય છે, આવીજિજ્ઞાસા થવાથી કહેવામાં આવે છે કે-ઉદાર અર્થાત્ સ્થૂળ પુદ્ગલોથી બનનાર શરીર ઔદારિક કહેવાય છે તેના બે ભેદ છે-સમ્મૂર્ચ્છિમ અને ગર્ભવ્યુત્ક્રાન્તિક આ રીતે સમ્મૂર્ચ્છિમ જન્મ અને ગર્ભજન્મથી ઉત્પન્ન થનારા જીવોને ઔદારિક શરીર હોય છે અહી એવી અટકળ કરવાની નથી કે તેમને માત્ર ઔદારિક શરીર જ હોય છે કારણકે તેમને તૈજસ અને કાર્મણ શરીર પણ હોય છે લબ્ધિનિમિત્તક વૈક્રિય અને આહારક શરીર પણ ગર્ભજ જીવોને આગળ જતા હોઈ શકે છે ઔદારિક શરીર જઘન્યથી આગળીના અસ ખ્યાત ભાગ પ્રમાણ અને ઉત્કૃષ્ટથી હજાર યોજન પ્રમાણથી કંઈક વધારે હોય છે

ઔદારિક શરીર, જેમ-જેમ આયુષ્ય વધતુ જાય છે તેમ-તેમ વધતુ જાય છે અને જ્યારે આયુષ્યનો ક્ષય થવા લાગે છે ત્યારે જીર્ણ થવા માડે છે પછીથી જ્યારે ગાત્રો ઢીલા પડી

જાય છે અને ચામડી લટકવા માડે છે તો શીર્ણ થઈ જાય છે ॥ ૩૨ ॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પૂર્વોક્ત ઔદારિક વગેરે પાચ શરીરોમાથી કયુ શરીર સમ્મૂર્ચ્છિમ વગેરે ત્રણુ જન્મોમાથી કયાં હોય છે ? આ જાતની શકા થવાથી કહીએ છીએ—

ઔદારિક શરીર—સમ્મૂર્ચ્છિમ અને ગર્ભજ એમ બે પ્રકારના છે આથી સમ્મૂર્ચ્છન જન્મવાળાં તથા ગર્ભજન્મવાળા પ્રાણીઓને ઔદારિક શરીર હોય છે પરતુ એવો નિયમ નથી કે તેમને ઔદારિક શરીર જ હોય છે, કારણુકે તેમને તૈજસ અને કાર્મણુ શરીર પણુ પ્રાપ્ત થાય છે આ શિવાય ગર્ભજન્મવાળાને આગળ જતાં લબ્ધિ જનિત વૈક્રિય અને આહારક શરીર પણુ હોઈ શકે છે ઔદારિક શરીરની અવગાહના જન્મથી આગળીના અસખ્યાતા ભાગ અને જો ઉત્કૃષ્ટા હોય તો એક હજાર યોજનથી થોડી વધારે હોય છે

ઉદાર અર્થાત્ ઉદ્ગમ, ઉદ્ગમનનો અર્થ છે પ્રદુર્ભાવ જે શરીર ઉત્પત્તિથી લઈને પ્રત્યેક સમયે ઉદ્ગમ કરે છે અર્થાત્ વૃદ્ધિને પ્રાપ્ત થતુ રહે છે, પછી જીર્ણ અને શીર્ણ થાય છે તે ઔદારિક શરીર કહેવાય છે આ શરીર ઉમરના પરિણમન અનુસાર પુષ્ટ થતુ જાય છે અને પાકી ઉમર થતા નાશ પણુ પામે છે એના સાધા જ્યારે ઢીલા પડી જાય છે અને ચામડી લટકવા માડે છે તો શીર્ણ પણુ થઈ જાય છે ઘડપણુના ભારના કારણે વાકુ પણુ વળી જાય છે ઇન્દ્રિયોના વિષયને ગ્રહણુ કરવાની શકિત નબળી—અને વધુ નબળી થવા લાગે છે અને કરચળીઓ પડી જાય છે આ રીતે ક્રમશ આ કઈનુ કઈ થઈ જાય છે ઓળખી પણુ શકાતુ નથી કે આ તેજ સુદર અને તાજુમાજુ શરીર છે આ પ્રકારનુ પરિણમન પ્રત્યક્ષથી સાબીત થયેલુ છે આ ઔદારિક શરીરમાં આ જે વિશેષતા છે તે વૈક્રિય, આહારક, તૈજસ અથવા કાર્મણુ શરીરમા નથી આ શરીર શરૂઆતથી છેવટ સુધી જેમનુ તેમ રહે છે તેનામાં ઔદારિક શરીરની જેમ પળે-પળે પરિવર્તન થતુ નથી તે ઘડપણુને લીધે ક્ષીણુ થતુ નથી અથવાતો વિશિષ્ટ પ્રયોગોથી વૃદ્ધિને પણુ પ્રાપ્ત થતુ નથી આહારક શરીરમા પણુ આવુ પરિવર્તન થતુ નથી તૈજસ તથા કાર્મણુ શરીરમા તો તેની શકયતા જ નથી કારણુકે તેમનામા સાંગોપાગોનુ નિર્માણુ હોતુ નથી

આ સિવાય ઔદારિક શરીર ગ્રાહ્ય હોવાના કારણે ગ્રહણુ કરી શકાય છે હાથ વગેરે અવયવો દ્વારા પણુ ગ્રહણુ કરી શકાય છે તેમજ ઇન્દ્રિયો દ્વારા પણુ ગ્રહણુ કરી શકાય છે પશુ વગેરે દ્વારા તેનુ છેદન થઈ શકે, બાણુ અગર ભાલા વગેરે દ્વારા ભેદન થઈ શકે, અગ્નિ અને સૂર્ય વગેરે દ્વારા બાળી શકાય છે, મહાવાયુના વેગથી અપહરણુ કરી શકાય વગેરે અનેક પ્રકારના વિદારણુ શકય હોવાથી આ શરીર ઉદાર—ઔદારિક કહેવાય છે આ સિવાય માંસ, હાડકા, નસો વગેરેથી બનેલુ હોવાના કારણે પણુ એને ઔદારિક કહે છે વૈક્રિય આદિ બીજા શરીર ન તો માંસ, હાડકા વગેરેના બનેલા હોય છે અથવા ન તો તેમનુ ગ્રહણુ, વિદારણુ છેદન ભેદન વગેરે થઈ શકે છે

અથવા જે સ્થૂળ છે તે ઉદાર કહેવાય છે થોડા પ્રદેશોથી બનેલુ હોવા છતા પણુ આ મોટુ હોય છે અથવા ઉદારનો અર્થ પ્રધાન પણુ થાય છે પ્રધાન એ માટે કે આ શરીર દ્વારા સકલ સયમ, તીર્થંકરત્વ, મુકિત વગેરેની પ્રાપ્તિ થઈ શકે છે અથવા તો ભીંડાની જેમ પોલુ હોવાથી પણુ આને ઉદાર કહેવામા આવે છે ઉદારનો અર્થ ઉંચો પણુ થાય છે—આ શરીર મોટા પરિણામ (પરિમાણુ) વાળુ હોય છે અથવા ઉદાર અર્થાત્ પુષ્ટ, કારણુકે તે વીર્ય—લોહીથી યુક્ત છે ક્ષણે ક્ષણે તેની વૃદ્ધિ થાય છે ઉદારનો અર્થ મોટો પણુ થાય છે કેમકે તે એક હજાર યોજ-

નની અવગાહનાવાળુ હોય છે જે ઉદાર છે તેજ ઔદારિક કહેવાય છે વૈક્રિય આદિ શરીર ઉત્તરોત્તર સૂક્ષ્મ હોય છે આથી એમનામાં આ પ્રકારની ઉદારતાની શકયતા નથી પ્રજ્ઞાપના-સૂત્રમા ૨૧માં શરીરપદમાં કહ્યુ છે—

પ્રશ્ન —ભગવંત ! ઔદારિકશરીર કેટલા પ્રકારનાં છે ?

ઉત્તર —ગૌતમ ! બે પ્રકારનાં છે-સમ્મૂર્ચ્છિમ અને ગર્ભવ્યુત્કાન્તિક ॥ ૩૨ ॥

'वेउव्वियं दुविहं उववाइयं लद्धिपत्तयं च'

મૂળસૂત્રાર્થ:—વૈક્રિય શરીર બે પ્રકારનાં છે-ઔપપાતિક અને લબ્ધિપ્રત્યય ॥ ૩૩ ।

તત્વાર્થદીપિકા—પ્રથમ ઔદારિક શરીરનુ નિરૂપણ કરવામા આવ્યુ હવે વૈક્રિય શરીરનું પ્રતિપાદન કરીએ છીએ વૈક્રિયશરીરના બે ભેદ છે—ઔપપાતિક અને લબ્ધિપ્રત્યય. જે શરીર વિક્રયાથી ઉત્પન્ન થાય છે તેને વૈક્રિય કહે છે તે બે પ્રકારના છે ઔપપાતિક અને લબ્ધિ-પ્રત્યય જે ઉપપાત જન્મમાં હોય તે ઔપપાતિકશરીર કહેવાય છે અને જે શરીર લબ્ધિ અર્થાત્ વિશિષ્ટ તપસ્યા વગેરેથી ઉત્પન્ન—ઋદ્ધિવિશેષથી જન્મે છે તે લબ્ધિપ્રત્યય કહેવાય છે

લબ્ધિપ્રત્યય વૈક્રિયશરીર કોઈ—કોઈ મનુષ્ય અને તિર્યંચોને હોય છે તે ઉત્તર વૈક્રિય શરીરની જઘન્ય અને ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ અન્તર્મુહૂર્તની હોય છે તીર્થંકરના જન્મ વગેરે અવસરો પર દેવોને એવા કાર્ય કરવા પડે છે જે ઘણા સમયમાં સંપન્ન થઈ શકે છે, ત્યારે તે કાર્યો કરવા માટે તેઓ વૈક્રિય શરીર બનાવે છે

કમળના કન્દને તોડી નાખવામાં અવે ત્યારે તેના કકડાઓમાં જે તાંતણા લાગેલા હોય છે તે દ્વારા તે કકડા એકબીજાથી જોડાયેલા રહે છે તેજ રીતે ઉત્તર શરીરોમાં અન્તર્મુહૂર્તમાં તેઓ આત્મપ્રદેશોને પૂરા કરે છે આમ કરવાથી ઉત્તરવૈક્રિયશરીર યોગ્ય સમય સુધી ટકી રહે છે

અહી ઉપપાતનો આશય ઉપપાતજન્મથી છે જે વૈક્રિય શરીર ઉપપાતજન્મમા હોય તે ઔપપાતિક વૈક્રિય શરીર કહેવાય છે આ શરીર ઔપપાતિક જન્મની સાથે જ ઉત્પન્ન થાય છે કારણકે તેનુ કારણ ઉપપાતજન્મ જ છે નારકી અને દેવતાઓને જ ઔપપાતિક વૈક્રિય શરીર હોય છે, કોઈપણ બીજા પ્રાણીને હોતુ નથી આના પણ બે ભેદ છે-ભવધારણીય અને ઉત્તરવૈક્રિય

ભવધારણીય વૈક્રિય શરીરની અવગાહના જઘન્ય આગળીના અસખ્યાતા ભાગની અને ઉત્કૃષ્ટ ૫૦૦ ધનુષ્યોની હોય છે ઉત્તર વૈક્રિયની જઘન્ય અવગાહના આગળીનાં સખ્યાતા ભાગ અને ઉત્કૃષ્ટ ૧,૦૦,૦૦૦ યોજનની હોય છે

લબ્ધિ પ્રત્યય વૈક્રિય શરીર તિર્યંચો અને મનુષ્યોને હોય છે લબ્ધિ, તપસ્યા વગેરેથી ઉત્પન્ન થનારી એક પ્રકારની વિશિષ્ટ શક્તિ છે જેને ઋદ્ધિ પણ કહે છે. એને કારણે જે વૈક્રિ શરીર ઉત્પન્ન થાય છે તે લબ્ધિ પ્રત્યય કહેવાય છે આ શરીર જન્મજાત હોતુ નથી પણ પાછળથી ઉત્પન્ન થાય છે વિશિષ્ટ તપ વગેરેના અનુષ્ઠાનથી ઘણા ગર્ભજતિર્યંચો તેમ જ મનુષ્યોને લબ્ધિ પ્રત્યય વૈક્રિય શરીર હોય છે તિર્યંચોમા બીજા કોઈને હોતુ નથી. આમા અપવાદ એક જ છે અને તે એ કે વાયુકાયને લબ્ધિ પ્રત્યય વૈક્રિય શરીર પણ હોય છે. સ્થાનાગ સૂત્રના પ્રથમ સ્થાનના પ્રથમ ઉદ્દેશકના પચોતેરમા સૂત્રમા કહ્યુ છે—

નારક જીવોને બે શરીર હોય છે આભ્યતર અને બાહ્ય આભ્યતર કાર્મણુ શરીર અને બાહ્ય વૈક્રિય શરીર આવીજ રીતે દેવોને પણુ આજ બે શરીર હોય છે

ઔપપાતિક સૂત્રનાં ૪૦માં સૂત્રમાં કહ્યુ છે-વૈક્રિય લબ્ધિથી થનારુ શરીર વૈક્રિય કહેવાય છે ॥ ૩૩ ॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પહેલા ઔપપાતિક અને લબ્ધિ પ્રત્યય એમ બે પ્રકારનાં વૈક્રિય શરીર કહ્યા હવે પહેલા અવયવાર્થ કહે છે-વિક્રયા વિકાર, વિકૃતિ, વિકરણુ આ બધા સમાનાર્થક છે વિવિધ પ્રકારની અથવા વિશિષ્ટ પ્રકારની ક્રિયાને વિક્રિયા કહે છે તેમાં જે ઉત્પન્ન થાય તે વૈક્રિય જે વસ્તુની જે પ્રકૃતિ છે તેમાં ભિન્નતા આવવી તે વિકાર છે વિચિત્ર કૃતિને વિકૃતિ કહે છે વિવિધ પ્રકારથી કરવુ વિકરણુ છે જે શરીર અનેક પ્રકારનુ બનાવાય તે વૈક્રિય કહેવાય છે

વિક્રિયા લબ્ધિ જેને પ્રાપ્ત થાય છે તેની ઈચ્છા મુજબ જે શરીર એક થઈ અનેક થાય છે અનેકમાથી એક, નાનાથી મોટુ અને મોટાથી નાનુ, એક આકૃતિ થઈ અનેક આકૃતિવાળુ, અનેક આકૃતિથી એક આકૃતિ, દશ્ય થઈ અદશ્ય, અદશ્ય થઈ દશ્ય, ભૂમિચર થઈ ખેચર અને ખેચર થઈ ભૂમિચર, સબળ ગતિવાળુ થઈ અબળગતિ પ્રતિઘાતી થઈ અપ્રતિઘાતી અને અપ્રતિઘાતી થઈ પ્રતિઘાતી થઈ જાય છે આ બધાં ભાવોનો જે એકી સાથે અનુભવ કરે છે તે વૈક્રિય શરીર છે વૈક્રિય સિવાયનાં બીજા શરીર એકીસાથે આ ભાવોનો અનુભવ કરતાં નથી પહેલા સ્થૂલ હોવાના કારણે પ્રતિઘાતી હોય છે પછી સૂક્ષ્મ અવસ્થાને પ્રાપ્ત કરીને અપ્રતિઘાતી થઈ જાય છે ભગવતી સૂત્રના બીજા શતકના પાચમા ઉદ્દેશકમાં કહ્યુ છે

પ્રશ્ન—ભગવન્ત, ભાવિતાત્મા, અનગાર બદ્ધ પુદ્ગલોને ગ્રહણુકરીતે એક મહાન સ્ત્રીરુપની જેમ પાલખીના રૂપની વિક્રિયા કરવામા સમર્થ છે? ઉત્તર-હા, સમર્થ છે

પ્રશ્ન—ભગવન્ત, ભાવિતાત્મા, અનગાર કેટલાં સ્ત્રીરૂપોની વિક્રિયા કરવામા સમર્થ હોય છે

ઉત્તર—ગૌતમ, જેમ કોઈ યુવાન પુરૂષ કોઈ યુવતીના હાથને પોતાનાં હાથમા ગ્રહણુ કરે અથવા ચક્રની નાભિ આરાથી યુક્ત હોય એ જ રીતે હે ગૌતમ, ભાવિતાત્મા, અણુગાર વૈક્રિય સમુદ્ઘાત કરીને સખ્યાત યોજનોનો દડ કાઢે છે એવી રીતે બીજી વાર વૈક્રિય સમુદ્ઘાત કરીને સપૂર્ણ જબૂદ્વીપને ઘણી સ્ત્રીરૂપોથી વ્યાપ્ત કરી શકે છે આ ભાવિતાત્મા અનાગારની વિક્રિયા કરવાની શક્તિ બતાવી છે પરતુ કોઈ અનગાર આટલી વિક્રિયા કરતો નથી તેમ કરશે પણુ નાહી

એ રીતે ચૌદમા શતકના આઠમા ઉદ્દેશકમાં કહ્યુ છે

પ્રશ્ન—ભગવન્ત, શુ દેવ અવ્યાબાધ છે?

ઉત્તર—હા, છે

પ્રશ્ન—ભગવન્ત, કયા હેતુથી દેવ અવ્યાબાધ છે એમ કહેવાય છે

ઉતર—ગૌતમ, એક-એક અવ્યાબાધ દેવ એક-એક પુરુષને એક-એક પળમા દિવ્ય દેવ ઋદ્ધિ, દિવ્યદેવદ્યુતિ, દિવ્યદેવાનુભાવ અને દિવ્ય બત્રીસ પ્રકારની નાટ્યવિધિ દેખાડવામાં સમર્થ છે. પરતુ તે દેવ તે પુરુષને કોઈપણુ બાધા કે મુશ્કેલી ઉત્પન્ન કરતો નથી ન તેની ચામડીનુ છેદન કરે છે તે સૂક્ષ્મ રૂપથી આ બધુ દેખાડે છે, આ અભિપ્રાયથી દેવ અવ્યાબાધ છે એમ કહેવાયુ છે.

આવી જ રીતે ભગવતી સૂત્રનાં ૧૮મા શતકનાં સાતમાં ઉદ્દેશકમાં કહ્યુ છે—

પ્રશ્ન—ભગવત ! મહાન ઋદ્ધિના ધારક અને યાવત્ મહેશ આ પ્રકારની આખ્યાવાળા દેવ શુ પોતાના એક હજાર રુપોની વિક્રિયા કરીને આપસમાં એક બીજા સાથે સગ્રામ કરવામાં સમર્થ છે ?

ઉત્તર—હા, સમર્થ છે

પ્રશ્ન—ભગવત ! તેના તે એક હજાર શરીર શુ એક જ જીવથી યુક્ત છે ? અર્થાત્ તે હજાર શરીરોમાં એક જ જીવ વ્યાપ્ત છે ? અથવા તેઓ અનેક જીવોથી યુક્ત છે ? ભગવત ! તે જીવોનાં મધ્ય ભાગ એક જીવથી વ્યાપ્ત છે અથવા અનેક જીવોથી વ્યાપ્ત છે ?

ઉત્તર—ગૌતમ ! એક જ જીવથી યુક્ત છે, અનેક જીવોથી યુક્ત નથી.

પ્રશ્ન—ભગવંત ! શુ પુરુષ પોતાના હાથથી પગથી અગર તલવારથી ને અન્તરોનું વિચ્છેદ કરવામાં સમર્થ છે ?

ઉત્તર—ના આ અર્થ સમર્થ નથી–એવુ થઈ શકતું નથી ત્યા શસ્ત્ર કામ કરતું નથી ॥૩૩॥

'तेयगं दुविहं, लद्धिपत्तय' सहजं च । ॥सू० ३४॥

મૂળસૂત્રાર્થ—તૈજસ શરીર બે પ્રકારના છે—લબ્ધિપ્રત્યય અને સહજ ॥૩૪॥

તત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમાં ક્રમપ્રાપ્ત વૈક્રિય શરીરનુ સ્વરૂપ બતાવવામા આવ્યુ હવે પ્રસગથી પ્રાપ્ત તૈજસ શરીરનુ સ્વરૂપ દર્શાવવા માટે કહીએ છીએ

તૈજસ અર્થાત તેજથી ઉત્પન્ન કરેલા શરીરના પ્રકાર બે છે–લબ્ધિપ્રત્યય અને સહજ.

વિશિષ્ટ પ્રકારની તપસ્યાથી ઋદ્ધિથી પ્રાપ્તિ થવી લબ્ધિ છે આ લબ્ધિ જે શરીરનું કારણુ હોય તે શરીર લબ્ધિપ્રત્યય કહેવાય છે સહજનો અર્થ થાય છે સ્વાભાવિક આવી રીતે તૈજસ શરીરના બે ભેદ છે–નિઃશરણાત્મક અને અનિ શરણાત્મક કોઈ ઉગ્ર ચારિત્રવાળો સાધુ કોઈનાથી અપમાનિત થવાથી જ્યારે ગુસ્સે થાય છે ત્યારે તેની ડાબી ભુજાથી તૈજસ શરીર જીવના પ્રદેશોની સાથે બહાર નિકળે છે તે પ્રજ્વલિત અગ્નિના પુંજ જેવુ હોય છે તે જેને બાળવુ છે તેને ઘેરીને રહી જાય છે જ્યારે ત્યાં લાબા સમય સુધી રોકાય છે તો તે બાળવા યોગ્ય વસ્તુને ભસ્મીભૂત કરી નાખે છે

એવી રીતનુ તૈજસ શરીર નિ શરણાત્મક કહેવાય છે બીજુ જે અનિઃશરણાત્મક તૈજસ શરીર છે તે ઔદારિક, વૈક્રિય અને આહારક શરીરની અદર રહે છે અને ત્રણે શરીરોની દીપ્તિનુ કારણુ હોય છે ॥૩૪॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—તેજોમય અથવા તેજનુ પિંડ તૈજસ શરીર બે પ્રકારનુ કહેવામાં આવ્યુ છે–લબ્ધિપ્રત્યય અને સહજ વિશિષ્ટ પ્રકારના તપથી જે શકિત ઉત્પન્ન થાય છે તે લબ્ધિ કહેવાય છે, તેના નિમિત્તથી ઉત્પન્ન થનાર શરીર ને લબ્ધિ પ્રત્યય તૈજસ શરીર કહેવામા

આવે છે આવુ શરીર કોઈ-કોઈ મહાત્માઓને કોઈ-કોઈ વાર જ પ્રાપ્ત થાય છે બધાંને પ્રાપ્ત થતુ નથી

સ્થાનાંગસૂત્રના ત્રીજા સ્થાનક, બીજા ઉદ્દેશકમાં કહ્યુ છે-નિર્ગ્રન્થ શ્રમણ ત્રણ કારણોથી પોતાની વિપુલ તેજોલેશ્યાને સક્ષિપ્ત કરે છે (૧) આતાપના લઈને (૨) ક્ષમાભાવ ધારણ કરીને અને ચઉવિહાર તપસ્યા કરીને

બીજુ સહજ તૈજસ શરીર સમસ્ત સસારી પ્રાણીઓને પ્રાપ્ત થાય છે અને રસ વગેરે આહારના પરિપાકને કારણે હોય છે અર્થાત્ આપણે જે ભોજન કરીએ છીએ તેને પચાવવુ તે જ આ તૈજસ શરીરનુ કામ છે ॥૩૪॥

'आहारगं एगविहं पमत्तसंजयस्स चेव' ॥सू० ३५॥

મૂળસૂત્રાર્થ:—આહારક શરીર એક જ પ્રકારનુ છે અને તે પ્રમત્ત સયતને જ પ્રાપ્ત થાય છે ॥૩૫॥

તત્ત્વાર્થદિપીકા—પૂર્વ સૂત્રમા તૈજસ શરીરની પ્રરૂપણા કરવામાં આવી હવે ક્રમ-પ્રાપ્ત આહારક શરીરનુ કથન કરવામા આવે છે

આહારક શરીર એક જ પ્રકારનુ હોય છે અને તે ૧૪ પૂર્વોના ધારક પ્રમત્તસયતને જ પ્રાપ્ત થાય છે

પ્રમત્ત સયત અર્થાત્ ૬ ગુણસ્થાનવર્ત્તી સાધુના મનમાં જ્યારે હવે પછીથી કહેવામાં આવનારા પ્રાણિદયા, તત્ત્વજિજ્ઞાસા વગેરેમાથી કોઈ કારણ ઉત્પન્ન થાય છે ત્યારે તે વિચારે છે-પરમદેવ તીર્થંકર ભગવતના દર્શન વગર આ શકાનુ નિવારણ થવાનુ નથી અને આ ક્ષેત્રમાં તો તીર્થંકર ભગવાન વિદ્યમાન નથી આ સજોગોમાં મારે શુ કરવુ જોઈએ ? આવુ ચિંતન કરવાવાળા પ્રમત્તસયતના શરીરથી તાલુપ્રદેશથી વિદ્યમાન વાળના અગ્ર ભાગના આઠમાં ભાગ બરાબર નાના એવા છિદ્રથી એક હાથ બરાબર બનેલુ સ્ફટિકમણિ જેવુ સ્વચ્છ એક પુતળુ નીકળે છે તે પુતળુ તે સ્થળે જાય છે જ્યાં તીર્થંકર ભગવત અગર કેવળી સ્થિત હોય, ત્યા તેમના શરીરને સ્પર્શ કરી પોતાનુ પ્રયોજન પૂરુ કરીને પાછા આવી જાય છે અને પાછુ તેજ સાધુના શરીરમાં પેસી જાય છે આ પ્રમાણે થવાથી તે સાધુનો સશય-શકા દૂર થઈ જાય છે આ આહારક શરીર આ ચાર કારણોથી ચાર વાર ધારણ કરી શકાય છે અને પછી તે સાધુને મોક્ષ પ્રાપ્ત થઈ જાય છે આને જ આહારક લબ્ધિ પ્રકટ કરવી એમ કહે છે જે ચાર પ્રયોજનથી આહારક શરીરનુ નિર્માણ કરવામા આવે છે તે આ પ્રકારે છે- (૧) પ્રાણીદયા (૨) તીર્થંકર ભગવાનની ઋદ્ધિનુ દર્શન (૩) છદ્મસ્થનુ અવગ્રહણ અર્થાત્ નવુ જ્ઞાન ગ્રહણ કરવુ તે અને (૪) સશયનુ નિવારણ આ ચાર પ્રયોજનથી મુનિ આહારક લબ્ધિ પ્રકટ કરીને આહારક શરીરનુ નિર્માણ કરે છે

મુનિએ આહારક શરીરનુ નિર્માણ કરીને તેને તીર્થંકર પાસે મોકલવુ અને કદાચ જો ત્યા તીર્થંકર ન મળે તો તે એક હાથ પ્રમાણ વાળા આહારક શરીરમાથી બધમુટ્ઠી હાથની બરાબર બીજુ આહારક શરીર નીકળે છે અને તે તીર્થંકર પાસે જાય છે ત્યા પોતાના મનનુ સમાધાન કરી ફરી પાછુ આવે છે અને એ એક હાથ પ્રમાણ પ્રથમ શરીરમા પેસી જાય છે અને તે પ્રથમ શરીર મુનિના અસલ શરીરમા પેસી જાય છે વળી કહ્યુ પણ છે—

"પ્રાણીની દયા માટે તીર્થંકરની ઋદ્ધિનું દર્શન કરવા માટે સશયને દૂર કરવા માટે, છદ્મસ્થના અવગ્રહણ માટે જીનેન્દ્ર ભગવાનની પાદમૂળમાં ગમન કરે છે"

આહારક શરીર શુભકર્મના આહારક કાયયોગનું કારણ હોવાથી શુભ કહેવાય છે આ વિશુદ્ધ નિર્દોષ કર્મનુ કાર્ય હોવાથી વિશુદ્ધ પણ કહેવાય છે આહારક શરીર કોઈને રુકાવટ કરતુ નથી અથવા તેને રોકી પણ શકાતુ નથી આ માટે તેને અપ્રતિઘાતિ કહે છે મુનિ જ્યારે આહારક શરીરનુ નિર્માણ કરવાનો પ્રારભ કરે છે ત્યારે પ્રમાદયુકત હોય છે આથી પ્રમત્તસયમીને જ આહારક શરીર હોય છે બીજા કોઈને નહી. પ્રમત્તસયત્તને બીજુ ઔદારિક શરીર તો હોય છે જ એ વાત લક્ષમા રાખવી જોઈએ ॥૩૫॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—આહારક શરીરના ભેદ–પ્રભેદ નથી તે એકજ પ્રકારનુ હોય છે પ્રમત્તસયતને જ હોય છે અને તેનો સમય અન્તર્મુહૂર્ત્ત માત્ર જ છે

આહારકશરીર શુભ દ્રવ્યોથી અર્થાત્ પ્રશસ્ત વર્ણ ગધ રસ સ્પર્શવાળા દ્રવ્યોથી બને છે અને શુભ પરિણામ વાળુ અર્થાત્ સમચતુરસ્ર સસ્થાનવાળુ હોય છે

આ રીતે આહારકશરીર વિશુદ્ધ પુદ્ગલોથી ઉપચિત હોવાથી નિરવદ્ય હોય છે અર્થાત્ નિરવદ્ય આહાર–પાણીથી તેનું નિર્માણ થાય છે આહારક શરીર વિશુદ્ધ દ્રવ્યોથી બને છે એનો અર્થ એ છે કે તે સ્વચ્છ સ્ફટિકમણિના કકડાની જેમ સમસ્ત પદાર્થોના પ્રતિબિમ્બના આધારભૂત હોય છે અથવા તે પાપમય હોતુ નથી–તેનાથી પ્રાણિવધ વગેરે પાપોમા પ્રવૃત્તિ થતી નથી આથી તે નિરવદ્ય હોય છે

આહારક શરીર ન તો હિંસા આદિ પાપકર્મોમા કદી પ્રવૃત્ત થાય છે અથવા ન હિંસા વગેરે કરવાથી ઉત્પન્ન થાય છે આથી તે વિશુદ્ધ–અસાવદ્ય હોય છે

આહારક શરીર અવ્યાઘાતી પણ હોય છે–અર્થાત્ ન તો તે કોઈને રોકાણ ઉત્પન્ન કરે છે અથવા ન કોઈ બીજી વસ્તુ તેમા રુકાવટ ઉત્પન્ન કરી શકે છે આ શરીર ચૌદપૂર્વોના ધારક મુનિને લબ્ધિના નિમિત્તથી જ પ્રાપ્ત થાય છે.

ચૌદપૂર્વધારી બે પ્રકારના હોય છે–ભિન્નાક્ષર અને અભિન્નાક્ષર જે ચૌદપૂર્વધારીને શ્રુતજ્ઞાનનો એક એક અક્ષર અસદિગ્ધ હોય છે અર્થાત્ જેને કોઈ પ્રકારનો સશય નથી હોતો તે ભિન્નાક્ષર કહેવાય છે ભિન્નાક્ષરને શ્રુતજ્ઞાન સબન્ધી સશય નિવૃત્ત થઈ જવાથી પ્રશ્ન ઉપસ્થિત થતો નથી અભિન્નાક્ષર આહારક લબ્ધિનો પ્રયોગ કરે છે કારણકે તેને સમ્પૂર્ણ શ્રુતજ્ઞાન પ્રાપ્ત થતુ નથી અને તે વીતરાગ હોતો નથી

આ પ્રકારે ચૌદપૂર્વધારી જ આહારકલબ્ધિ પ્રાપ્ત કરીને આહારક શરીર બનાવે છે તે પ્રમત્તસયત કહેવાય છે

પ્રમત્તસંયત અને ચૌદપૂર્વધારક મુનિ આહારક લબ્ધિનો આશ્રય કેમ લે છે ? એનુ કારણ એજ જણાય છે કે–શ્રુતજ્ઞાનના ગોચર કોઈ અત્યન્ત ગૂઢ પદાર્થમા તેને સશય ઉત્પન્ન થાય

છે ત્યારે તેનુ સમાધાન મેળવવા માટે તેને તીર્થંકર ભગવતના ચરણકમળોમાં જવુ અનિવાર્ય બની જાય છે પરતુ વિદેહ વગેરે દૂરવર્તી ક્ષેત્રમાં ઔદારિક શરીરથી જવુ શક્ય હોતુ નથી. આ પરિસ્થિતિમા તે પોતાની પૂર્વ પ્રાપ્ત લબ્ધિનો ઉપયોગ કરે છે અને તેની મદદથી આહારક શરીરનુ નિર્માણ કરીને તેને તીર્થંકરના ચરણારવિન્દોમા મોકલે છે અથવા એમ કહેવુ યોગ્ય લેખાશે કે તે પેલા શરીર દ્વારા સ્વય ભગવતના ચરણકમળોમા હાજર થાય છે

હવે ત્યાં પહોચ્યા બાદ એવા સમાચાર મળેકે તીર્થંકર ભગવત વિહાર કરીને અન્ય સ્થળે ચાલ્યા ગયા છે તો તે આહારક શરીરથી મુઠીબાધેલા હાથ જેટલુ બીજુ શરીર નિકળે છે અને આ બીજુ શરીર તીર્થંકર ભગવતની પાસે જાય છે, ત્યા પહોંચી તુર્ત જ ભગવાનના દર્શન કરીને, તેમને નમસ્કાર કરીને અને પ્રશ્ન પૂછી સશય રહિત થઈ જાય છે સશય ટળી જતા તે પછુ ફરે છે બીજુ આહારક શરીર પ્રથમ આહારકશરીરમાં વિલીન થઈ જાય છે અને પ્રથમ આહારક શરીર મૂળ શરીરમા સમાઈ જાય છે આવી રીતે પોતાના પ્રયોજનને પ્રાપ્ત કરીને તે મુનિરાજ હતા તેવા થઈ જાય છે

કોઈ કઠણુ અને અત્યન્ત સૂક્ષ્મ અર્થમા શકા ઉપસ્થિત થવાથી તેનો નિર્ણય કરવા માટે દૂર દેશવર્તી અર્હન્ત ભગવતના ચરણકમળમાં ઔદારિક શરીરથી જવાનુ અસભવિત સમજીને લબ્ધિ નિમિત્તક શરીરને ઉત્પન્ન કરે છે ભગવાનથી પ્રશ્નોત્તરી થયા બાદ સશય રહિત થઈ પાછા આવી તે શરીરનો ત્યાગ કરી દે છે આ બધુ એક અન્તર્મુહૂર્તમા જ થઈ જાય છે ભાષ્યનુ આ કથન પણ આનાથી સગત થાય છે પ્રજ્ઞાપનાના ૨૧મા શરીરપદમા કહ્યુ છે—

પ્રશ્ન—ભગવત ! આહારકશરીરનુ સસ્થાન કેવુ હોય છે ?

ઉત્તર—ગૌતમ ! સમચોરસ સસ્થાન હોય છે

આ રીતે ભાવાર્થ એ થયો કે જે શરીર કોઈ વિશિષ્ટ પ્રયોજનની સિદ્ધિ માટે ઉત્પન્ન કરવામા આવે છે અને તે પ્રયોજનની પ્રાપ્તી થઈ જવા પર–ઉછીના લીધેલા દાગીનાની જેમ ત્યાગ કરવામા આવે છે તે આહારક શરીર છે સશયનુ નિવારણ કરવુ, નવુ જ્ઞાન સપાદન કરવુ, ઋદ્ધિદર્શન વગેરે તેના પ્રયોજનો છે આ શરીર માત્ર અન્તર્મુહૂર્ત સુધી જ રહે છે અન્તર્મુહૂર્ત સમયમા જ ઇચ્છિત પ્રયોજનની સિદ્ધિ થઈ જાય છે પ્રયોજન સિદ્ધિ થઈ જવા પર આહારક શરીરનો ત્યાગ કરવામા આવે છે. **"ત્યારબાદ તે મુનિ તે લબ્ધિનો પ્રયોગ કરતા નથી."**

આહારકશરીરથી જે પ્રયોજનની સિદ્ધિ થાય છે તેને ઔદારિક વગેરે અન્ય કોઈપણ શરીર સિદ્ધ કરી શકતા નથી અન્ય શરીર નિયમથી અન્તર્મુહૂર્ત માત્રની સ્થિતિવાળા જ હોય એવો કોઈ નિયમ નથી

તૈજસ શરીર તેજના વિકાર રૂપ તેજોમય, તેજ સ્વભાવ હોય છે તેનુ પ્રયોજન શાપ અને અનુગ્રહ કરવાનુ છે અત્રે તેનો અધિકાર નથી તેજનુ લક્ષણ ઉષ્ણતા છે તે સમસ્ત

શરીરોમાં અનાજને પચાવનાર, જઠરાગ્નિના રૂપે પ્રસિદ્ધ છે આ તૈજસ શરીર આહારકથી જુદુ છે

કાર્મણ શરીર કર્મનો વિકાર જ્ઞાનાવરણીય વગેરે કર્મોની વિકૃત્તિ કર્મમય અગર કર્માત્મક હોય છે જ્યારે ઔદારિક વગેરે શરીર આ પ્રકારના હોતા નથી જેવી રીતે ઉદારતા-સ્થૂલતા-ઔદારિક શરીરનુ લક્ષણ છે તેવી જ રીતે આ પાચે શરીરના લક્ષણ જુદાં જુદાં છે અને જુદાં જુદાં લક્ષણો હોવાથી એમનામા ભિન્નતા હોય છે જેમ ઘટ અને પટમાં ભિન્નતા હોય છે તેમ હા ઉક્તવ્યુત્પત્તિના ભેદથી જ ઔદારિક વગેરે શરીરોમાં ભેદ નથી જો કે નિચે લખેલા કારણોથી પણ તેમનામા ભેદ સિદ્ધ થાય છે

સર્વપ્રથમ ઔદારિક વગેરે શરીરોના કારણ ભિન્ન-ભિન્ન છે ઔદારિક શરીર સ્થૂલ પુદ્ગલોથી બને છે, વૈક્રિય વગેરે શરીરો એ મુજબના નથી, તેઓ ઉત્તરોત્તર સૂક્ષ્મ હોય છે કારણકે તેમનુ નિર્માણ તે પુદ્ગલોથી થાય છે તે ઉત્તરોત્તર સૂક્ષ્મ હોય છે

વિષય અર્થાત્ ગતિક્ષેત્રની અપેક્ષાથી પણ શરીરોમા ભેદ હોય છે વિદ્યાધરોના ઔદારિક શરીર નન્દીશ્વરદ્વીપ સુધી જ જઈ શકે છે જઘાચરણ મુનિ તિર્છા રુચકપર્વત સુધી અને ઉપર પાન્ડુકવન સુધી જઈ શકે છે વૈક્રિય શરીરનો વિષય અસખ્યાત દ્વીપ-સમુદ્ર છે અર્થાત્ વૈક્રિય શરીર ધારી અસખ્યાત દ્વીપ-સમુદ્રો સુધી જઈ શકે છે આહારક શરીર મહાવિદેહ ક્ષેત્ર સુધી જઈ શકે છે અને તૈજસ તથા કાર્મણ શરીરનો વિષય સમ્પૂર્ણ લોક છે સ્વામીની અપેક્ષાથી પણ શરીરોમા ભેદ છે તે આ રીતે ઔદારિક શરીર મનુષ્યો અને તિર્યચોને, વૈક્રિય દેવો અને નારકોને અને કોઈ કોઈ મનુષ્ય તથા તિર્યચને પણ હોઈ શકે છે આહારક ચૌદપૂર્વધારી મુનિઓને જ હોય છે તૈજસ અને કાર્મણ બધા સસારીજીવોને હોય છે

પ્રયોજનની અપેક્ષાથી પણ શરીરોમા ભેદ છે-ધર્મ, અધર્મ, સુખ, દુખ તથા કેવળજ્ઞાનની પ્રાપ્તિ વગેરે ઔદારિક શરીરનુ પ્રયોજન છે સ્થૂલતા, સૂક્ષ્મતા, એકતા, અનેકતા, આકાશગમન પૃથ્વીગમન વગેરે અનેક વિભૂતિઓની પ્રાપ્તિ વૈક્રિય શરીરનુ પ્રયોજન કરે છે સૂક્ષ્મ, ગહન, દુર્જ્ઞેય અર્થના વિષયકર્મ સમાધાન પ્રાપ્ત કરવુ તે આહારક શરીરનુ પ્રયોજન છે આહારને પચાવવો વગેરે તૈજસ શરીરનુ પ્રયોજન છે અને ભવાન્તરમા ગતિ થવી તે કાર્મણ શરીરનુ પ્રયોજન છે

પ્રમાણની અપેક્ષાએ પણ શરીરમાં ભેદ છે-ઔદારિક શરીરનુ પ્રમાણ થોડુ વધારે એક હજાર યોજન, વૈક્રિયનુ એક લાખ યોજન આહારનુ એક હાથ અને તૈજસ તથા કાર્મણ લોકની બરાબર છે

પ્રદેશોની સખ્યાની અપેક્ષા એ-ઔદારિકથી વૈક્રિય અને વૈક્રિયથી આહારક શરીરના પ્રદેશ અસખ્યાત ગણા છે આહારકથી તૈજસ અને તૈજસથી કાર્મણ શરીરના પ્રદેશ અનતગણા છે

અવગાહનાથી-કિચિત્ અધિક એક હજાર અધિક યોજન પ્રમાણવાળુ ઔદારિક શરીર લોકના અસખ્યાતમા ભાગમા અવગાઢ થાય છે એક લાખ યોજન પ્રમાણવાળુ વૈક્રિય શરીર તેની અપેક્ષા અધિક પ્રદેશમા અવગાઢ થાય છે-આહારક શરીર આ બનેથી ઓછા પ્રદેશોમાં અવગાઢ થાય છે કારણકે તેનુ પ્રમાણ એક હાથનુ જ હોય છે તૈજસ અને કાર્મણ શરીર લોક

પર્યંત લાંબી આકાશ શ્રેણીમાં અવગાહન કરે છે—સ્થિતિની દૃષ્ટિથી પણ શરીરોમાં ભેદ છે ઔદારિક શરીરની સ્થિતિ જઘન્ય અન્તર્મુહૂર્ત અને ઉત્કૃષ્ટ ત્રણ પલ્યોપમની છે વૈક્રિય શરીર તેત્રીસ સાગરોપમ સુધી રહે છે આહારકની સ્થિતિ અન્તર્મુહૂર્ત માત્રની છે તૈજસ અને કાર્મણ શરીર પ્રવાહની અપેક્ષા અનાદિ અને અભવ્યની અપેક્ષા અનન્ત તથા ભવ્યની અપેક્ષા સાન્ત હોય છે

અલ્પબહુત્વની અપેક્ષાથી પણ ભેદ છે— આહારક શરીર સૌથી ઓછા છે કદાચિત હોય છે, અને કદાચિત નથી પણ હોતા તેમનું અન્તર જઘન્ય એક સમય અને ઉત્કૃષ્ટ છ માસનું છે આહારક શરીર જો હોય તો જઘન્ય એક હોય અને વધારેમાં વધારે એક સાથે નવ હજાર સુધી હોઈ શકે છે—આહારકની અપેક્ષા વૈક્રિય શરીર અસંખ્યાતા છે—અસંખ્યાતા ઉત્સર્પિણી અને અવસર્પિણી કાળોની સમય રાશિની બરાબર છે અને બધા નારક તથા દેવોને વૈક્રિય શરીર જ હોય છે વૈક્રિયની અપેક્ષા ઔદારિક શરીર અસંખ્યાત અસંખ્યાતા ઉત્સર્પિણી—અવસર્પિણી કાળોની સમય રાશિ બરાબર છે

શંકા—તિર્યંચ અનન્ત છે, એવી સ્થિતિમાં તેમના શરીર અસંખ્યાત જ કેમ કહેવામાં આવ્યા ?

સમાધાન—પ્રત્યેક શરીરી તિર્યંચોને અસંખ્યાત શરીર હોય છે. જો કે સાધારણ નિગોદકાયના તિર્યંચ અનન્ત સંખ્યક છે, પરંતુ તેમના જુદા જુદા શરીર હોતા નથી પરંતુ અનન્ત સાધારણ જીવોને એક શરીર જ હોય છે આથી જીવ અનન્ત હોવા છતાં પણ તેમના શરીર અસંખ્યાતા જ હોય છે, અનન્ત નહીં

ઔદારિક શરીરની અપેક્ષા તૈજસ અને કાર્મણ શરીર અનન્તગણા છે કારણકે એ બંને શરીર સમસ્ત સંસારીજીવોને હોય છે અને બધાને અલગ અલગ હોય છે ઔદારિક શરીરની જેમ અનન્ત જીવોને એક જ તૈજસ અથવા કાર્મણ શરીર હોતું નથી

આ રીતે ઔદારિક વગેરે શરીરોમાં ઉક્ત નવ આધારોથી ભેદ હોય છે

અહીં સમજી લેવું જોઈએ કે—વિગ્રહ ગતિ સમયે માત્ર તૈજસ અને કાર્મણ બે શરીર હોય છે, ભવસ્થ દશામાં તૈજસ, કાર્મણ અને ઔદારિક એ ત્રણ અથવા તૈજસ કાર્મણ અને વૈક્રિય હોય છે તિર્યંચો અને મનુષ્યોને તૈજસ કાર્મણ અને ઔદારિક શરીર સાથે જ્યારે લબ્ધિનિમિત્તક વૈક્રિય શરીર પણ પ્રાપ્ત થાય છે તો એકી સાથે ચાર શરીર પણ હોઈ શકે છે ચૌદપૂર્વધારિ મુનિને આહારકલબ્ધિ પ્રાપ્ત હોય અને તે આહારક શરીર બનાવે ત્યારે તૈજસ કાર્મણ અને ઔદારિક શરીરની સાથે આહારકશરીરના હોવાથી પણ ચાર શરીર હોઈ શકે છે.

જ્યારે એક જીવમાં ચાર શરીર એકી સાથે હોય છે તો જીવના પ્રત્યેક પ્રદેશની સાથે ચારે શરીરનો સંબંધ હોય છે આ પ્રકારે લબ્ધિરહિત સંસારી જીવને ત્રણ શરીર હોય છે—તૈજસ, કાર્મણ, ઔદારિક અગર તે જો દેવ અગર નારક હોય તો ઔદારિકની જગ્યાએ વૈક્રિય શરીર હોય છે વૈક્રિય લબ્ધિથી રહિત અને આહારક લબ્ધિથી યુક્ત ચૌદ પૂર્વધારી મનુષ્યને તૈજસ, કાર્મણ ઔદારિક તથા આહારક એ ચાર શરીર હોય છે જો એક મનુષ્ય અથવા તિર્યંચને વૈક્રિય લબ્ધિ પ્રાપ્ત હોય તો તેના તૈજસ, કાર્મણ ઔદારિક તથા વૈક્રિય એ ચાર

શરીર એકી સાથે મળી આવે છે આ રીતે વધુમાં વધુ એક જીવમાં ચાર શરીરનો સંભવ છે, પાચનો નહી કારણકે જ્યારે વૈક્રિય શરીર હોય છે તો આહારક શરીર ન હોય અને આહારક હોય તો વૈક્રિય શરીર હોતુ નથી એનુ પણ કારણ એ છે કે એકી સાથે આ બને લબ્ધિઓ હોતી નથી ॥૩૫॥

'कम्मए सव्वेसिं' ॥सू० ३६॥

મૂળસૂત્રાર્થ—કાર્મણ શરીર બધાં શરીરોનું કારણ છે ॥૩૬॥

તત્વાર્થદીપિકા—પહેલાં આહારક શરીરનુ નિરૂપણ કર્યું હવે છેલ્લા કાર્મણ શરીરનું નિરૂપણ કરીને છીએ

કર્મ દ્વારા નિર્મિત અથવા કર્મનુ કાર્ય કાર્મણ શરીર, ઔદારિક વગેરે બધાં શરીરોનું કારણ છે.

જીવ જ્યારે એક શરીરનો ત્યાગ કરીને બીજા શરીરને પ્રાપ્ત કરવા માટે ગમન કરે છે યાનિ વિગ્રહ ગતિમાં હોય છે તે સમયે કાર્મણ શરીર દ્વારા જ તેનો યોગ અર્થાત્ પ્રયત્ન હોય છે કાર્મણ શરીર દ્વારા થનારા પ્રયત્નથી જ તે બીજી ગતિમા જાય છે

આ રીતે કાર્મણ શરીર અન્ય બધાં શરીરોને ઉત્પન્ન કરનાર બીજ સમાન છે તે જ્ઞાનાવરણ વગેરે કર્મો સિવાય તેનુ બીજુ કોઈ કારણ નથી હકીકતમાં કાર્મણ શરીર કર્મ સ્વરૂપ જ છે આ શરીર સમસ્ત સંસારી જીવોને પ્રાપ્ત થાય છે યોગનો અર્થ છે—વચન, મન, કાયાના નિમિત્તથી આત્માના પ્રદેશોમાં થનારું હલનચલન ॥૩૬॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિઃ—કાર્મણ શરીર ઔદારિક વગેરે બધાં શરીરોનુ કારણ છે જેમ ચિત્રકાર્યનો આધાર દિવાલ હોય છે તેમ આ કર્મ સકળ શક્તિનો આધાર છે ભવપરંપરાનાં કારણભૂત આ કર્મનો જ્યારે સમૂળગો ઉચ્છેદ થઈ જાય છે જ્યારે બધા પાપો ધોવાઈ જાય છે અને જીવ પછી કોઈપણ શરીરને ધારણ કરતો નથી આ કાર્મણ શરીર જ્ઞાનાવરણીય કર્મોથી ઉત્પન્ન થાય છે એનુ બીજુ કોઈ કારણ નથી

જ્ઞાનાવરણ વગેરે કર્મ કાર્મણ શરીર રૂપ હોવાથી કાર્મણ શરીરના કારણ છે તેમનામાં સૂર્યનાં પ્રકાશની જેમ અંદરોઅંદર ક્રિયાનો વિરોધ નથી જેમ સૂર્ય પોતાનાં મંડળને પણ પ્રકાશિત કરે છે અને ઘટ પટ વગેરે બીજા પદાર્થોને પણ પ્રકાશિત કરે છે—સૂર્યમંડળને પ્રકાશિત કરવા માટે કોઈ અન્ય પ્રકાશની જરૂર પડતી નથી જો સૂર્યમંડળને પ્રકાશિત કરવા માટે બીજા પ્રકાશની આવશ્યકતા સ્વીકારીએ તો અનવસ્થાદોષનો પ્રસંગ આવે છે આમ માનીએ તો ક્યાંય પણ વિરામ જ રહે નહિ

આ રીતે જ્ઞાનાવરણ વગેરે કર્મોથી ભિન્ન કાર્મણ શરીરનુ કોઈ કારણ નથી કાર્મણ શરીર કર્મસ્વરૂપ જ છે, કર્મસમુદાયરૂપ જ છે ॥૩૬॥

'वेए तिविहे' ॥सू० ३७॥

મૂળસૂત્રાર્થ—વેદ ત્રણ પ્રકારના છે ॥૩૭॥

તત્વાર્થદીપિકા—પ્રથમ ઔદારિક વગેરે પાચ શરીરોની પ્રરૂપણા કરી હવે એ કહીએ છીએ કે તે શરીરોને ધારણ કરનારા જીવો પૈકી કોઈ સ્ત્રીવેદવાળુ તો કોઈ પુરુષવેદવાળુ હોય છે પહેલા વેદના ભેદ બતાવવામા અવે છે

એક પ્રકારની વેદનાને વેદ કહે છે વેદ એક પ્રકારની અભિલાષા છે આને લિંગને પણ વેદ કહે છે.

વેદનાં ત્રણ ભેદ છે—પુંવેદ, સ્ત્રીવેદ નપુંસકવેદ, લિંગ બે પ્રકારના છે દ્રવ્યલિંગ અને ભાવલિંગ, યોનિનામ કર્મ અને લિંગનામકર્મના ઉદયથી દ્રવ્યલિંગ ઉત્પન્ન થાય છે ભાવ લિંગની ઉત્પત્તિ કષાય મોહનીય કર્મના ઉદયથી થાય છે

પુંવેદના ઉદયથી પુરુષ થાય છે સંસ્કૃત ભાષા અનુસાર આ શબ્દની વ્યુત્પત્તિ છે "સૂતે અપત્યમ્-ઈતિ પુમાન્" અર્થાત્ જે સંતાનને ઉત્પન્ન કરે (૨) સ્ત્રીવેદના ઉદયથી જેમા ગર્ભ બંધાય છે તેને સ્ત્રી કહે છે (૩) નપુંસકવેદના ઉદયથી જે જીવ પૂર્વોક્ત બંને શક્તિઓથી રહિત હોય છે અર્થાત્ ન સંતાન ઉત્પન્ન કરી શકે અથવા ન ગર્ભ ધારણ કરી શકે તે નપુંસક કહેવાય છે

આ રીતે હાસ્ય રતિ અરતિ વગેરે નવ પ્રકારના નોકષાય વેદનીયના ભેદોના એક જે વેદ છે તેના ત્રણ પ્રકાર છે (૧) પુરુષવેદ (૨) સ્ત્રીવેદ અને (૩) નપુંસક વેદ.

પુરુષવેદના ઉદયથી સ્ત્રીની અભિલાષા ઉત્પન્ન થાય છે જેમ કફના પ્રકોપવાળા પુરુષને કેરી ખાવાની ઈચ્છા થાય છે તેમ આ જ રીતે સંકલ્પની **વિષયભૂત સ્ત્રીઓમાં પણ અભિલાષા** સમજી લેવાની છે આજ સ્ત્રીવેદના ઉદયથી પુરુષો પ્રત્યે અભિલાષા ઉત્પન્ન થાય છે સંકલ્પજનિત પુરુષો પ્રત્યે પણ આ જ કારણે અભિલાષા થાય છે નપુંસકવેદના ઉદયથી કોઈને પુરુષ અને સ્ત્રી-બંનેની અર્થાત્ બંનેની સાથે ક્રીડા કરવાની અભિલાષા ઉત્પન્ન થાય છે જેમ બે ધાતુઓના ઘર્ષણથી માર્જિત આદિ દ્રવ્યોની અભિલાષા થાય છે કોઈ-કોઈને માત્ર પુરુષોની સાથે કામક્રીડા કરવાની ઈચ્છા થાય છે ॥૩૭॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—હાસ્ય રતિ અરતિ, શોક, ભય, જુગુપ્સા, સ્ત્રીવેદ પુરુષવેદ, અને નપુંસક વેદ, આ નોકષાયવેદનીય કર્મના નવ ભેદ છે આ નવભેદોમા ત્રણ વેદોની ગણના કરવામાં આવી છે એક વિશેષ પ્રકારની વેદના અથવા અભિલાષાને વેદ કહે છે આશય આ છે મોહનીય કર્મ બે પ્રકારના છે-દર્શનમોહનીય અને ચારિત્રમોહનીય (૨) દર્શનમોહનીયના ત્રણ ભેદ છે (૧) મિથ્યાત્વમોહનીય સમ્યક્ત્વમોહનીય અને (૩) સમ્યગ્મિથ્યાત્વમોહનીય મિશ્રમોહનીય ચારિત્રમોહનીય કર્મના બે ભેદ છે-કષાય મોહનીય અને નો કષાય મોહનીય આમાથી કષાયમોહનીયના ૧૬ ભેદ છે-ક્રોધ માન માયા અને લોભ, આ માટેના અનન્તાનુબંધી, અપ્રત્યાખ્યાન અને સંજ્વલનના ભેદથી ચાર ચાર ભેદ હોવાથી સોળ ભેદ થઈ જાય છે.

નો કષાય મોહનીયના નવ ભેદ છે-હાસ્યાદિ પૂર્વોક્ત ત્રણ વેદોની ગણત્રી આની જ અન્તર્ગત છે આ પૈકી પુરુષ વેદમોહકર્મના ઉદયથી સ્ત્રીની અભિલાષા ઉત્પન્ન થાય છે જેમ કફનો પ્રકોપ થનારને આમ્રફળ ખાવાની ઈચ્છા થાય છે તેમ આવી જ રીતે સ્ત્રી વિષયક સંકલ્પ જનિત સ્ત્રીઓની તરફ પણ અભિલાષા જન્મે છે જ્યારે સ્ત્રીવેદનો ઉદય થાય છે તે પુરુષ તરફ આકર્ષણ ઉત્પન્ન થાય છે સાથે જ સંકલ્પજનિત પુરુષોની પણ અભિલાષા થાય છે.

નપુસકવેદનો ઉદય થવાથી કોઈ કોઈને સ્ત્રી અને પુરુષ, બનેની ઈચ્છા ઉત્પન્ન થાય છે જેવીરીતે છે વાતાદિ બે ધાતુઓના ઘર્ષણથી માર્જિત દ્રવ્યની ઈચ્છા થાય છે કોઈ કોઈને પુરુષો પ્રત્યે જ ઈચ્છા જાગ્રત થાય છે સકલ્પજનિત વિષયોમા પણ અનેક પ્રકારની અભિલાષા થાય છે સમવાયાગ સૂત્રમા કહ્યુ છે—

પ્રશ્ન—ભગવત ! વેદ કેટલા પ્રકારના કહ્યા છે ?

ઉત્તર—ગૌતમ, ! ત્રણ પ્રકારનાં-સ્ત્રીવેદ, પુરુષવેદ, નપુસકવેદ ॥ ૩૭ ॥

'देवे दुवेए इत्थिवेए पुरिसवेएय'

મૂળસૂત્રાર્થ—દેવો બે વેદવાળા જ હોય છે-સ્ત્રીવેદવાળા અને પુરુષવેદવાળા ॥ ૩૮ ॥

તત્વાર્થદીપિકા—અગાઉ વેદના ત્રણ ભેદ કહ્યાં હવેના ત્રણ સૂત્રોમા એ બતાવીશુ કે દેવ, નારક, તિર્યંચ, મનુષ્ય, ગર્ભજ, સમ્મૂર્ચ્છિમ અને ઔપપાતિક જીવોમા કોના કેટલા વેદ હોય છે? સર્વપ્રથમ દેવોના વેદનુ પ્રતિપાદન કરીએ છીએ—

ભવનપતિ, વાનવ્યન્તર, જ્યોતિષ્ક અને વૈમાનિક આ ચાર પ્રકારોના દેવોમા બે જ વેદ હોય છે-સ્ત્રીવેદ અને પુરુષવેદ તાત્પર્ય એ છે કે ચારે નિકાયોના દેવ નપુસકવેદી હોતા નથી, માત્ર સ્ત્રીવેદી અને પુરુષવેદી જ હોય છે ભવનપતિ, વાનવ્યન્તર, જ્યોતિષ્ક તથા સૌધર્મ અને ઈશાન વિમાનના વૈમાનિકોમા બને વેદવાળાની ઉત્પત્તિ થાય છે જેવી રીતે અસુરકુમાર, અને અસુરકુમારીઓ, નાગકુમાર અને નાગકુમારીઓ વગેરે પ્રકારથી અસુરકુમારથી લઈને ઈશાન દેવલોક સુધી કોઈ-કોઈ પુરુષવેદી દેવ હોય છે અને સ્ત્રીવેદવાળી દેવીઓ હોય છે તેમનામાં શુભગતિ નામકર્મના ઉદયથી નિરતિશય સુખવિશેષ રૂપ પુરુષ અને સ્ત્રીવેદનો અનુભવ થાય છે સનત્કુમાર દેવલોકથી પાચ અનુત્તર વિમાનો સુધી માત્ર પુરુષવેદવાળા જ દેવ ઉત્પન્ન થાય છે, ન સ્ત્રીવેદી અને ન નપુસકવેદી

દેવોમા નપુસકવેદ કેમ નથી હોતો ? આ પ્રશ્નનો જવાબ એ છે કે ચારે પ્રકારનાં દેવોમાં શુભગતિ આદિ નામ ગોત્ર વેદ્ય અને આયુષ્કથી સાપેક્ષ મોહના ઉદયથી અભિલષિતમાં પ્રીતિ ઉત્પન્ન કરનાર, માયા આર્જવથી યુકત, છાણાની અગ્નિ સમાન એક સ્ત્રીવેદનીય અને બીજો પુરુષવેદનીય હોય, જે પહેલા નિકાચિત રૂપમાં બધાયેલો છે હવે ઉદયમાં આવ્યો છે આ બનેથી ભિન્ન નપુસક વેદનીયનો કદાપી ઉદય થતો નથી કેમકે તેઓએ પૂર્વભવમાં નપુસક વેદમોહનીય કર્મનો બધ કર્યો નથી સનત્કુમાર વગેરે દેવલોકોના દેવોએ પૂર્વભવમાં સ્ત્રીવેદમોહનીય કર્મનો પણ બધ નહી કરેલો હોવાથી ત્યાં સ્ત્રીવેદ પણ હોતો નથી ॥ ૩૮ ॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—ભવનપતિ, વાનવ્યતર, જ્યોતિષ્ક અને વૈમાનિક આ ચારે નિકાયોના દેવ બે વેદવાળા હોય છે-સ્ત્રીવેદવાળા અને પુરુષવેદવાળા આ રીતે ચારે નિકાયોના દેવ નપુસકવેદી હોતા નથી માત્ર સ્ત્રીવેદી અને પુરુષવેદી જ હોય છે અર્થાત કોઈ પુરુષવેદી અને કોઈ સ્ત્રીવેદી હોય છે

ભવનપતિ, વ્યન્તર જ્યોતિષ્ક, સૌધર્મ ઈશાન દેવલોકમા ઉપપાતની અપેક્ષાથી બને વેદ હોય છે તેમનાથી આગળ પુરુષવેદ જ હોય છે દેવોમા નપુસકવેદ કેમ નહી ? આ શકાનુ સમાધાન એ છે કે ચારે પ્રકારના દેવોમા શુભગતિ વગેરે નામ ગોત્ર વેદ્ય આયુષ્કની અપેક્ષા રાખનાર મોહકર્મના ઉદયથી અભિલષિત પ્રીતિજનક, માયા આર્જવથી ઉપચિત છાણાની અગ્નિ

નપુંસકવેદનો ઉદય થવાથી કોઈ કોઈને સ્ત્રી અને પુરુષ, બંનેની ઈચ્છા ઉત્પન્ન થાય છે જેવીરીતે છે વાતાદિ બે ધાતુઓના ઘર્ષણથી માર્જિત દ્રવ્યની ઈચ્છા થાય છે કોઈ કોઈને પુરુષો પ્રત્યે જ ઈચ્છા જાગ્રત થાય છે સંકલ્પજનિત વિષયોમા પણ અનેક પ્રકારની અભિલાષા થાય છે સમવાયાગ સૂત્રમાં કહ્યું છે—

પ્રશ્ન—ભગવત ! વેદ કેટલા પ્રકારના કહ્યા છે ?

ઉત્તર—ગૌતમ, ! ત્રણ પ્રકારના–સ્ત્રીવેદ, પુરુષવેદ, નપુંસકવેદ ॥ ૩૭ ॥

'देवे दुवेए इत्थिवेए पुरिसवेपय'

મૂળસૂત્રાર્થ—દેવો બે વેદવાળા જ હોય છે-સ્ત્રીવેદવાળા અને પુરુષવેદવાળા ॥ ૩૮ ॥

તત્વાર્થદીપિકા—અગાઉ વેદના ત્રણ ભેદ કહ્યાં હવેના ત્રણ સૂત્રોમા એ બતાવીશું કે દેવ, નારક, તિર્યંચ, મનુષ્ય, ગર્ભજ, સમ્મૂર્ચ્છિમ અને ઔપપાતિક જીવોમા કોના કેટલા વેદ હોય છે? સર્વપ્રથમ દેવોના વેદનું પ્રતિપાદન કરીએ છીએ—

ભવનપતિ, વાનવ્યન્તર, જ્યોતિષ્ક અને વૈમાનિક આ ચાર પ્રકારોના દેવોમા બે જ વેદ હોય છે–સ્ત્રીવેદ અને પુરુષવેદ તાત્પર્ય એ છે કે ચારે નિકાયોના દેવ નપુંસકવેદી હોતા નથી, માત્ર સ્ત્રીવેદી અને પુરુષવેદી જ હોય છે ભવનપતિ, વાનવ્યન્તર, જ્યોતિષ્ક તથા સૌધર્મ અને ઈશાન વિમાનના વૈમાનિકોમા બંને વેદવાળાની ઉત્પત્તિ થાય છે જેવી રીતે અસુરકુમાર, અને અસુરકુમારીઓ, નાગકુમાર અને નાગકુમારીઓ વગેરે પ્રકારથી અસુરકુમારથી લઈને ઈશાન દેવલોક સુધી કોઈ–કોઈ પુરુષવેદી દેવ હોય છે અને સ્ત્રીવેદવાળી દેવીઓ હોય છે તેમનામાં શુભગતિ નામકર્મના ઉદયથી નિરતિશય સુખવિશેષ રૂપ પુરુષ અને સ્ત્રીવેદનો અનુભવ થાય છે સનતકુમાર દેવલોકથી પાચ અનુત્તર વિમાનો સુધી માત્ર પુરુષવેદવાળા જ દેવ ઉત્પન્ન થાય છે, ન સ્ત્રીવેદી અને ન નપુંસકવેદી

દેવોમા નપુંસકવેદ કેમ નથી હોતો ? આ પ્રશ્નનો જવાબ એ છે કે ચારે પ્રકારનાં દેવોમા શુભગતિ આદિ નામ ગોત્ર વેદ્ય અને આયુષ્કથી સાપેક્ષ મોહના ઉદયથી અભિલષિતમા પ્રીતિ ઉત્પન્ન કરનાર, માયા આર્જવથી યુક્ત, છાણાની અગ્નિ સમાન એક સ્ત્રીવેદનીય અને બીજો પુરુષવેદનીય હોય, જે પહેલા નિકાચિત રૂપમા બંધાયેલો છે હવે ઉદયમાં આવ્યો છે આ બંનેથી ભિન્ન નપુંસક વેદનીયનો કદાપી ઉદય થતો નથી કેમકે તેઓએ પૂર્વભવમાં નપુંસક વેદમોહનીય કર્મનો બંધ કર્યો નથી સનત્‌કુમાર વગેરે દેવલોકોના દેવોએ પૂર્વભવમા સ્ત્રીવેદમોહનીય કર્મનો પણ બંધ નહી કરેલો હોવાથી ત્યા સ્ત્રીવેદ પણ હોતો નથી ॥ ૩૮ ॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—ભવનપતિ, વાનવ્યંતર, જ્યોતિષ્ક અને વૈમાનિક આ ચારે નિકાયોના દેવ બે વેદવાળા હોય છે-સ્ત્રીવેદવાળા અને પુરુષવેદવાળા આ રીતે ચારે નિકાયોના દેવ નપુંસકવેદી હોતા નથી માત્ર સ્ત્રીવેદી અને પુરુષવેદી જ હોય છે અર્થાત્ કોઈ પુરુષવેદી અને કોઈ સ્ત્રીવેદી હોય છે

ભવનપતિ, વ્યન્તર જ્યોતિષ્ક, સૌધર્મ ઈશાન દેવલોકમાં ઉપપાતની અપેક્ષાથી બંને વેદ હોય છે તેમનાથી આગળ પુરુષવેદ જ હોય છે દેવોમા નપુંસકવેદ કેમ નહી ? આ શંકાનું સમાધાન એ છે કે ચારે પ્રકારના દેવોમા શુભગતિ વગેરે નામ ગોત્ર વેદ્ય આયુષ્કની અપેક્ષા રાખનાર મોહકર્મના ઉદયથી અભિલષિત પ્રીતિજનક, માયા આર્જવથી ઉપચિત છાણાની અગ્નિ

સમવયાંગ સૂત્રમા કહ્યુ છે-ભગવત ! નારક જીવ શું સ્ત્રીવેદી, પુરુષવેદી અથવા નપુંસક-વેદી હોય છે ? હે ગૌતમ ! તેઓ ન સ્ત્રીવેદી ન પુરુષવેદી પણ નપુસકવેદી હોય છે પૃથ્વીકાય, અપ્કાય, તેજસ્કાય, વાયુકાય, વનસ્પતિકાય, બેઇન્દ્રિય, તેઇન્દ્રિય, ચતુરિન્દ્રિય, સમૂર્છિમ, પંચે-ન્દ્રિય તિર્યંચ અને સમૂર્છિમ પુરુષ નપુંસકવેદવાળા જ હોય છે ॥ ૩૯ ॥

'सेसा तिवेया'

મૂળસૂત્રાર્થ—શેષ જીવ ત્રણ વેદવાળા હોય છે ॥ ૪૦ ॥

તત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમા પ્રતિપાદન કરવામા આવ્યુ કે નારક અને સમૂર્છિમ જીવ ફક્ત નપુસકવેદવાળા જ હોય છે હવે તે સિવાયના અર્થાત્ નારકો અને સમૂર્છિમ સિવાયના જે ગર્ભજ પચેન્દ્રિય તિર્યંચ અને મનુષ્ય છે તે ત્રણવેદોવાળા હોય છે આ માટે કહીએ છીએ—

શેષજીવ અર્થાત્ નારકો અને સમૂર્છિમોથી ભિન્ન ગર્ભજન્મથી ઉત્પન્ન થનારા પચેન્દ્રિય તિર્યંચ તથા મનુષ્ય ત્રણ વેદોવાળા હોય છે જે જીવોમાં પુરુષવેદ, સ્ત્રીવેદ અને નપુસકવેદ ત્રણે હોય તે ત્રણવેદવાળા કહેવાય છે આવી રીતે ગર્ભજ પચેન્દ્રિય તિર્યંચો અને મનુષ્યોમાં કોઈ પુરુષવેદી, કોઈ સ્ત્રીવેદી અને કોઈ નપુસકવેદી હોય છે ॥ ૪૦ ॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—શેષ અર્થાત નારકો અને સમ્મૂર્છિમથી ભિન્ન ગર્ભજ મનુષ્ય અને પચેન્દ્રિય તિર્યંચ ત્રિવેદી અર્થાત્ ત્રણે વેદવાળા હોય છે એટલે કે તેમા સ્ત્રીવેદવાળા પણ હોય, પુરુવેદવાળા પણ હોય છે અને કોઈ નપુસકવેદવાળા પણ હોય છે—

આ કથનનો ફલિતાર્થ એ છે કે જરાયુજ, અન્ડજ તથા પોતજ પ્રાણી ત્રણે પ્રકારના હોય છે સ્ત્રી પુરુષ અને નપુસક સમવાયાગ સૂત્રમા કહ્યુ છે કે-ગર્ભથી ઉત્પન્ન થનારા મનુષ્ય અને પચેન્દ્રિય તિર્યંચ ત્રણવેદ વાળા હોય છે ॥ ૪૦ ॥

'आऊ दुविहे सोवक्कमे निरुवक्कमेय'

મૂળસૂત્રાર્થ—આયુષ્ય બે પ્રકારના છે સોપક્રમ અને નિરૂપક્રમ ॥ ૪૧ ॥

તત્વાર્થદીપિકા—પહેલા નરકગતિ, દેવગતિ, તિર્યંચગતિ અને મનુષ્યગતિ રૂપ સસારી જીવોનુ કથન કર્યું હવે તેમના આયુષ્યનુ નિરૂપણ કરવા માટે કહીએ છીએ—

આયુ અર્થાત્ જીવનકાળ બે પ્રકારના છે-સોપક્રમ અને નિરૂપક્રમ જે આયુષ્ય ઉપક્રમ અર્થાત્ ક્ષયથી યુક્ત હોય તે સોપક્રમ કહેવાય છે દીર્ઘકાળ પર્યન્ત ભોગવવા યોગ્ય આયુષ્ય અધ્યવસાન વગેરે જે કારણે અલ્પકાળમા જ ભોગવવા યોગ્ય બની જાય છે તે કારણે ઉપક્રમ કહેવાય છે અર્થાત્ આયુષ્યના ક્ષયને નજીક લઈ આવનાર કારણ ઉપક્રમ કહેવાય છે જે આયુષ્ય ઉપક્રમ સહિત હોય તે સોપક્રમ કહેવાય છે

ઝેર, અગ્નિ, જળસમાધી વગેરે આત્મહત્યાના બાહ્યકારણ મળવાથી દીર્ઘાયુ પણ ઓછું થાય છે અર્થાત્ જે આયુષ્ય ધીમે-ધીમે લાબા સમયમા ભોગવવાનુ હતુ તે અલ્પસમયમા જ ભોગવી લેવાય છે આ પ્રકારનુ આયુષ્ય અપવર્ત્ય આયુષ્ય પણ કહેવાય છે આથી ઉલ્ટું જે આયુષ્ય ઉપક્રમથી રહિત હોય તે નિરૂપક્રમ કહેવાય છે તેમા અધ્યવસાન વગેરે કારણ હોતા નથી તાત્પર્ય એ છે કે જે આયુષ્ય જે રૂપમા બધાયેલુ હોય છે તેજ રૂપે ભોગવી શકાય-દીર્ઘ બધાયેલુ હોય તો હ્રસ્વ ન થાય તે નિરૂપક્રમ કહેવાય છે

વર્ત્તનીય હોય છે તે નિયમથી સોપક્રમ હોય છે આથી સિદ્ધ થયુ કે અપવર્તનીય આયુષ્ય સર્વદા સોપક્રમ જ હોય છે કારણકે અધ્યવસાન વગેરે નિમિત્ત સિવાય અપવર્ત્તનીય થઈ શકતુ નથી

આ રીતે આયુષ્યની અપવર્ત્તના જ લોકમાં અકાલમરણના રૂપમાં પ્રસિદ્ધ છે હકીકતમાં કોઈ પણ પ્રાણી અધુરુ આયુષ્ય ભોગવીને મરતુ નથી

સાર એ છે-ભોગવવા યોગ્ય આયુષ્યના ત્રણ ભાગોમાથી બે ભાગ જ્યારે વ્યતીત થઈ જાય છે અને ત્રીજો ભાગ બાકી રહે છે ત્યારે પરભવનુ આયુષ્ય બધાય છે કદાચિત તે સમયે ન બધાયુ હોય તો નવમો ભાગ શેષ રહેવા પર બધાય છે અને જો તે સમયે પણ ન બધાય તો ભોગવનાર આયુષ્ય અન્તર્મુહૂર્ત શેષ રહે ત્યારે તો ચોકકસ બધાય જ છે અન્ય સાત કર્મોની જેમ આયુષ્યનું નિરન્તર બધન થતુ નથી જીવનમા એકજ વાર આયુષ્યકર્મ બધાય છે પૃથ્વીકાય, અપ્કાય તેજસ્કાય, વાયુકાય, વનસ્પતિકાય, બેઇન્દ્રિય, તેઇન્દ્રિય ચતુરિન્દ્રિય અને નિરૂપક્રમ આયુષ્યવાળા પચેન્દ્રિય તિર્યંચ અને મનુષ્ય નિયમથી વર્ત્તમાન આયુષ્યનો ત્રીજો ભાગ શેષ રહેવા પર નવીન આયુષ્યનો બધ કરે છે સોપક્રમ આયુષ્યવાળા પચેન્દ્રિયો માટે એવો નિયમ નથી તેઓ ત્રીજા ભાગમા, નવમા ભાગમાં અગર ૨૭મા ભાગમા આગામી ભવનુ આયુષ્ય બાંધે છે જીવ જ્યારે આયુષ્ય બાધે છે તો અધ્યવસાયની વિશેષતાથી કોઈ અપવર્ત્તના યોગ્ય આયુષ્ય બાધે છે અને કોઈ અનપવર્ત્તનીય આયુ બાંધે છે તીવ્ર પરિણામ દ્વારા જે ગાઢુ આયુષ્ય બાધે છે તે અપવર્તનીય હોય છે

અપવર્ત્તનીયનો અર્થ છે-પૂર્વજન્મમાં બાધેલા આયુષ્યની સ્થિતિનુ અધ્યવસાન વગેરે કારણોમાથી કોઈ કારણ દ્વારા અલ્પ થઈ જવુ અને આયુષ્યના અનપવર્ત્તનનો અર્થ એ થાય કે જેટલા સમયનુ આયુષ્ય બાધવુ હોય તેટલા જ સમયમા ભોગવવા યોગ્ય હોવુ તે આ આયુષ્ય તેની સમય મર્યાદા અનુસાર જ ભોગવાય છે, હ્રાસને, પ્રાપ્ત થતુ નથી જેમ કોઈ પ્રકારનુ વિઘ્ન નડે નહી તો તેલ અને વાટનો ક્ષય થવાથી દીવાનુ ઓલવાઈ જવુ આ આયુષ્ય પ્રબલતર વીર્ય-પરાક્રમથી બાધવામા આવતુ હોવાથી અપવર્તનીય હોતું નથી

આ રીતે ગાઢ બધનના કારણે-નિકાચિત રૂપે બધાયેલુ હોવાથી આયુષ્ય અનપવર્ત્તનીય હોય છે અથવા એક નાડિકા દ્વારા પરિગૃહીત આયુષ્ય સમુદાયરૂપ હોવાથી એકત્રિત થયેલા પુરુષોના સમુદાય જેવુ અથવા એક નાડિકાના વિવરમા નાખેલા બીજથી ઉત્પન્ન ધાન્ય સમૂહની જેમ અભેદ્ય હોય છે પરતુ છિદ્રથી બહાર પડેલા બીજથી ઉત્પન્ન ધાન્ય સઘન ન હોવાથી તે ગાય ભેસ વગેરે પશુઓ માટે ઉપયોગમાં લેવાય છે

આ રીતે આયુષ્યનો બધ કરતો થકો આ જીવ અનેક આત્મલબ્ધ પરિણામ સ્વભાવ હોવાથી શરીર વ્યાપી હોવાથી નાડિકામાર્ગ પરિમાણવાળો હોય છે ત્યારબાદ તે અવસ્થાને પ્રાપ્ત કરીને જીવ જે આયુષ્યના પુદ્ગળોને બાધે છે તે આયુષ્ય પુદ્ગળ નાડિકા પ્રવિષ્ટ હોવાથી સહતિ (સઘન) રૂપે હોય છે આથી ઝેર, શસ્ત્ર, અગ્નિ વગેરે માટે અભેદ્ય હોય છે મન્દ તીવ્ર પરિણામ હોવાથી તે જીવ તે આયુષ્યને જન્માતરમા જ બાધે છે, આ જન્મની વ્યાધિની જેમ

જેમકે ધાતુ વિષમતાના કારણભૂત અપથ્ય સેવનથી ઉત્પન્ન થયેલા રોગ અનુપચારથી કાલા-ન્તરમા ઘણો વધી જાય છે અને શરીરના સમૂળગો નાશ કરી નાખે છે તથા નિષ્ણાત વૈદ્ય દ્વારા ઉપદિષ્ટ રોગ-નિરોધી ક્રિયા કલાપના સેવનથી તે વ્યાધિ એકદમ નાશ પામે છે આજ પ્રમાણે જે આયુષ્ય મંદ પરિણામ-પ્રયત્નના કારણે પાછલા ભવમા ગાઢ રીતે બંધાયુ ન હતુ તે અપ-વર્ત્તનાને યોગ્ય હોય છે

આથી ઉલટુ જે વ્યાધિ અત્યંત તીવ્ર ધાતુક્ષોભને આશ્રિત કરીને અપથ્ય સેવન વગેરેથી ઉત્પન્ન થયો છે અને કોઢ અથવા ક્ષયના જેવા દીર્ઘકાલીન રોગ થઈ જવાથી શરીરના બધા અંગોપાંગોમા પ્રસરી ગયા છે તેની ચિકિત્સા ઘણી ભારી મુશ્કેલ છે વિવિધ પ્રકારના ઔષધોનુ સેવન કરવા છતા પણ તે ઉત્તરોત્તર વધતા જાય છે અને રોગીને અકાલે જ ઉપાડી લે છે વધુમા વધુ પ્રયત્ન કરીને ધન્વન્તરિ પણ તે રોગનો નાશ કરી શકતા નથી આ રીતે જે આયુષ્ય તીવ્ર પરિણામ—પ્રયોગથી પ્રગાઢ રૂપમા બાંધેલુ હોય છે તેનુ અપવર્ત્તન થઈ શકતુ નથી તે જલ્દીથી સમાપ્ત થઈ શકતુ નથી તે અપવર્તનીય આયુષ્ય કહેવાય છે

આયુષ્યના યથાકાળ અને અકાળમા સમાપ્ત થવાથી અનેક દૃષ્ટાન્ત વિદ્યમાન છે તથા હોવાથી શ્રોતાની પ્રતીતિ ઉત્પન્ન થાય છે આથી આયુષ્ય બંને પ્રકારના છે અપવર્ત્તનીય અને અનપવર્ત્તનીય

કયા જીવ અપવર્ત્તનીય આયુષ્ય વાળા હોય છે અને કયા અનપવર્ત્તનીય આયુષ્ય વાળા હોય છે ? આ પ્રકારની જિજ્ઞાસા થવાથી કહીએ છીએ

ઉપપાત જન્મવાળા નારક અને દેવ ચરમ શરીરી મનુષ્ય (જે તેજ શરીરથી સિદ્ધિ પ્રાપ્ત કરવા વાળા છે) ઉત્તમ પુરુષ અર્થાત તીર્થંકર, ચક્રવર્તી, બળદેવ, વાસુદેવ, અને અસંખ્યાત વર્ષની આયુષ્યવાળા મનુષ્ય તથા તિર્યંચ નિરૂપક્રમ આયુષ્યવાળા હોય છે

જે તેજ શરીરથી સમસ્ત કર્મ-જાળને નષ્ટ કરીને સમસ્ત કર્મક્ષય રૂપ સિદ્ધિ પ્રાપ્ત કરે છે તે ચરમ શરીરિ મનુષ્ય જ હોય છે નારક તિર્યંચ અગરદેવ નહીં કારણ કે તેઓ સિદ્ધિને યોગ્ય હોતા નથી

જેમને તીર્થંકર નામ કર્મનો ઉદય થઈ ચૂકયો છે તેઓ તીર્થંકર કહેવાય છે નવ નિધિ અને ચૌદ રત્નોના અધિપતિ પોતાના પુરૂષાર્થથી મહાન ભોગશાળી તથા સંપૂર્ણ ભરત ક્ષેત્રના સ્વામી ચક્રવર્તી કહેવાય છે અર્ધ ચક્રવર્તી બળદેવ વાસુદેવ કહેવાય છે ગણધર આદિ ચરમ શરીરીની શ્રેણીમા ગણાય છે

અસંખ્યાત વર્ષની આયુષ્યવાળા મનુષ્ય અને તિર્યંચ નિરૂપક્રમવાળા હોય છે મનુષ્યો અને તિર્યંચોમા જ અસંખ્યાત વર્ષનુ "જીવન જોવામા આવે છે, નારકો અને દેવોમાં નહી" દેવકુરૂ, ઉત્તરકુરૂ, અન્તર્દ્વીપો સહિત અકર્મ ભૂમિઓમા તથા સુષમ સુષમાકાળ, સુષમાકાળ અને સુષમદુષમાકાળમા અસંખ્યાત વર્ષોના આયુષ્યવાળા મનુષ્ય હોય છે તેજ દેવકુરૂ વગેરેમા તથા મનુષ્ય ક્ષેત્રથી બહારના દ્વીપો અને સમુદ્રોમા અસંખ્યાત વર્ષની આયુષ્યવાળા તિર્યંચ નથી ઔપપાતિક નારક અને દેવ તથા અસંખ્યાત વર્ષના આયુષ્યવાળા તિર્યંચ અને મનુષ્ય નિરૂપક્રમ—અનપવર્ત્ય આયુષ્યવાળા હોય છે તેમના પ્રાણાપાન નિરોધ, આહારનિરોધ અધ્ય-

વસાન, નિમિત્ત વેદના પરાઘાત તથા સ્પર્શ આદિ વેદના વિશેષ, જે આયુષ્યના ભેદનો ઉપક્રમ છે, તે હોતા નથી આથી તે નિરૂપક્રમ આયુષ્યવાળા ગણાય છે

અસ ખ્યાત વર્ષના આયુષ્યવાળાથી ભિન્ન મનુષ્યો અને તિર્યચોમા કોઈ કોઈ પ્રાણવાન નિરોધ આદિ કોઈ કારણ, મળવાથી સોપક્રમ આયુષ્ય વાળા કહેવાય છે કોઈ કોઇ એવા પણ હોય છે જેમના આયુષ્યનો ઉપક્રમ થતો નથી આથી તેઓ અપવર્ત્તનીય આયુષ્યવાળા અને અનપવર્તનીય આયુષ્યવાળા એમ બ ને પ્રકારના હોય છે, જે મનુષ્ય અને તિર્ય ચ અપવર્ત્ય આયુષ્યવાળ હોય છે તેઓ નિયમથી સોપક્રમ આયુષ્યવાળા હોય છે અને જે અનપવર્ત્ય આયુષ્યવાળા હોય તેઓ નિરૂપક્રમ આયુષ્યવાળા હોય છે

જે જીવ અપવર્ત્ય આયુષ્યવાળા હોય છે તેમનુ આયુષ્ય ઝેર, શસ્ત્ર, કાટા, અગ્નિ, પાણી, સર્પ, અજીર્ણ સન્નિપાત, સ જ્ઞી, હિ સક પશુ, ભૂખ, તરસ, ઠ ડી અને ગરમી વગેરે ઉપ-ક્રમોથી અપવર્તિત થઈ જાય છે અપવર્તિત થવાનો અર્થ છે જલ્દી જ અ તર્મુહૂર્ત કાળમા આયુષ્યના દલિકોને ભોગવી લેવાં, આયુષ્યનુ સ્વલ્પ થઇ જવુ અને અપવર્તનનુ કારણ પૂર્વોક્ત નિમિત્ત હોય છે

શ કા—જે અપવર્તનનો અર્થ કર્મનો વિનાશ થાય છે તો કૃતનાશનો પ્રસ ગ આવે છે કેમકે આયુષ્યકર્મ પોતાનુ ફળ આપ્યા વગર જ નાશ પામે છે બાંધવા છતા પણ તેનુ ફળ ભોગવી શકાતુ નથી કેમકે બાધેલુ કર્મ કર્તાને પોતાનુ યોગ્ય ફળ આપીને જ નાશ પામે છે ફળ આપ્યા વગર નહિ શાસ્ત્રમા પણ કહ્યુ છે "**कडाणकम्माण न मोक्खअत्थि**" અર્થાત્ કરેલા કર્મોના ફળ ભોગવ્યા વગર છુટકારો થતો નથી આ રીતે જો આયુષ્યનો અનુભવ કર્યા વગર જ મૃત્યુ થાય તો કૃતનાશ અને અકૃતાગમ દોષોનો પ્રસ ગ આવે છે કેમકે આયુષ્યની વિદ્યમાનતામા પણ મરણ થાય છે આવી જ સ્થિતિમા આયુષ્યની નિષ્ફળતાનો પણ પ્રસ ગ આવે છે તે અનિષ્ટ ગણાય જૈન સિદ્ધાતમા એવુ છે પણ નહિ કે ઉપાર્જિત કરેલાં કર્મ ફળ આપ્યા વગર જ નષ્ટ થઇ જાય અને જે કર્મ ઉપાર્જન નથી કર્યા તે ભોગવાય

આ સિવાય એકજ ભવની સ્થિતિવાળુ આયુષ્ય કર્મ બીજા ભવ સુધી રહી શકતુ નથી તેનો ઉપભોગ એકજ ભવમા થાય છે ભવાન્તરમા નહિ જો તમારી માન્યતા મુજબ આયુષ્યના રહેવા છતા પણ જીવ મરી જાય છે તો પછી અવશિષ્ટ આયુષ્ય બીજા જન્મમાં ભોગવવુ જ પડશે. આનાથી સાબિત થયુ કે આયુષ્યનુ અપવર્તન થતુ નથી

સમાધાન—ધીમે ધીમે દીર્ઘકાળ સુધી ભોગવવા યોગ્ય આયુષ્યને જલ્દીથી થોડા સમયમાં ભોગવી લેવુ તેને જ અપવર્તન કહેવાય છે અપવર્તનનો અર્થ એ નથી કે બાધેલુ આયુષ્ય ફળ આપ્યા વગર જ નષ્ટ થઇ જાય આ કારણે આયુષ્યના વેદનકાળમા અલ્પતાં થઇ જવા છતા કૃતનાશ અને અકૃતાભ્યાગમ દોષોના પ્રસ ગ આવતા નથી આયુષ્ય બીજા ભવમાં ભોગ-વાય એવુ પણ હોતુ નથી પણ થાય છે એ કે પૂર્વોક્ત વિષ શસ્ત્ર વગેરે ઉપક્રમોથી ઉપલિપ્ત જીવના પુણ્યરૂપથી આયુષ્ય ઉદયમા આવી જાય છે અને જલ્દીથી પોતાનુ ફળ આપે છે અને પ્રદેશ ઉદય દ્વારા જલ્દીથી તેનો પરિપાક થઈ જાય છે આજ અહી અપવર્તન માનવામા આવ્યુ છે

જેમ એકજ કરેલા સૂકા ઘાસના ઢગલાને એક તરફથી સળગાવવામાં આવે તો ક્રમથી બળતો થકો તે ઢગલો લાંબા સમયમાં ભસ્મ થાય છે અને જો તેજ ઢગલો જો પોલો હોય અને ચારે બાજુથી એકી સાથે અગ્નિ પેટાવવામાં આવે, અને તેજ હવા ચાલતી હોય તો જલ્દીથી સળગી જાય છે અને શીઘ્ર જ ભસ્મ થઈ જાય છે આયુષ્યના ભોગના વિષયમાં પણ આ દૃષ્ટાંત જ સમજવું જોઈએ

જે આયુષ્ય બંધના સમયે અત્યન્ત ગાઢ રૂપમાં નિકાચિત રૂપમાં બાંધવામાં આવે છે તે ધીમે ધીમે લાંબાકાળમાં ભોગવાય છે પરન્તુ જે આયુષ્યકર્મબન્ધના સમયે જ શિથિલ રૂપમાં બાંધેલું છે તે શિથિલ ઘાસના ઢગલાના દાહની જેમ અપવર્ત્તિત થઈને જલ્દી વેદન કરી શકાય છે ॥૪૧॥

જૈનશાસ્ત્રાચાર્ય જૈનધર્મદિવાકર પૂજ્ય શ્રીઘાસીલાલજી મહારાજ
વિરચિત તત્ત્વાર્થ સૂત્રના ગુજરાતી અનુવાદના દીપિકા
નિર્યુક્તિ નામક વ્યાખ્યાનો પ્રથમ અધ્યાય
સમાપ્ત ॥૧॥

થતાં નથી અગર જો ત્યા ધર્મ અને અધર્મ હોત અને જીવ-પુદ્ગલ ત્યા જતા-રોકાતા હોત તો આલોકાકાશ તેમને અવગાહન આપત, પરંતુ ત્યા તેઓ નથી આ કારણે અલોકાકાશમા વિદ્યમાન પણ અવગાહન ગુણ પ્રગટ થતો નથી

કાળનુ લક્ષણ વર્ત્તના છે નવાને જૂનુ કરવુ અને જુનાનો નાશ કરવો તે વર્ત્તના કહેવાય કાળદ્રવ્યના કારણે જ મોટાપણુ, નાનાપણુ વગેરેનો વ્યવહાર થાય છે તે કાળસમય આવલિકા આદિ રૂપ છે ઉત્તરાધ્યયનના ૨૮મા અધ્યયનની ગાથા ૧૦મીમા કહ્યુ છે-'કાલવર્ત્તના' લક્ષણવાળો છે જીવાદિ પદાર્થ અમુક-અમુક રૂપમા વર્ત્ત-રહે છે તેમના વર્ત્તનોમા જે નિમિત્ત કારણ છે, તે વર્ત્તના છે આ વર્ત્તના જ કાળનુ લક્ષણ છે

જેમા મીલન અને વિયોગ દેખાય તે પુદ્ગલ છે એક પુદ્ગલ સિવાય એવુ કોઈ દ્રવ્ય નથી જે વિખેરાઈ શકાય અને જોડાઈ પણ શકે પુદ્ગલ વિખરાઈને અનેક રૂપ બની શકે છે અને અનેક પુદ્ગલ મળીને એક સ્કંધ રૂપ પરિણામ થઈ શકે છે પરંતુ પુદ્ગલ સિવાય કોઈ અન્ય દ્રવ્યમા આ પ્રકારનો સ્વભાવ નથી આથી મીલન અને વિયોગ પુદ્ગલ દ્રવ્યનુ અસાધારણ લક્ષણ છે

અથવા પુરુષ જે જે ગ્રહણ કરી લે છે-મિથ્યાદર્શન વગેરે કારણોથી ગ્રહિત પુરુષને બાંધે છે અથવા કષાય અને યોગવાળા પુરુષ દ્વારા કર્મ રૂપમા જેમને ગ્રહણ કરવામા આવે છે તે પુદ્ગલ છે આ રીતે ધર્મ આદિ પાંચ અજીવ કહેવાય છે

અધ્ધા રૂપ કાળ એક સમય રૂપ હોવાથી અસ્તિકાય હોઈ શકતો નથી આથી જીવાસ્તિકાય, ધર્માસ્તિકાય, અધર્માસ્તિકાય, આકાશાસ્તિકાય અને પુદ્ગલાસ્તિકાય, આ પાચ અસ્તિકાયોમા કાળને ગ્રહણ કરવામા આવ્યો નથી તો પણ ધર્માદિની જેમ કાળમા પણ અજીવતત્ત્વની સત્તા હોવાથી અજીવ દ્રવ્યોમાં તેને ગ્રહણ કરવુ અનુપયુક્ત નથી

આ કારણથી અહી 'અજીવ' એમ જ કહેવામા આવ્યુ છે 'અજીવકાય' એમ અથવા 'અજીવાસ્તિકાય, એમ કહેવામા આવ્યુ નથી

'અસ્તિ' શબ્દનો અર્થ અહી પ્રદેશ છે અને 'કાય' શબ્દનો અર્થ સમૂહ' છે તાત્પર્ય એ છે કે જે દ્રવ્યપ્રદેશોના સમૂહ રૂપ હોય તેજ અસ્તિકાય કહેવાય છે કાળપ્રદેશોનો સમૂહ નથી એક સમય રૂપ કારણ કે અતીતકાળનો નાશ થઈ જવાથી સત્તા નથી અને ભવિષ્યકાળ અનુત્પન્ન હોવાથી સત્તા નથી

ફક્ત વર્તમાનકાળને સત્તા હોય છે અને વર્તમાનકાળ એક સમય જ છે આ કારણે કાળની અસ્તિકાયોમા ગણત્રી કરવામા આવી નથી

સમય આદિ રૂપ કાળ અઢીદ્વીપની અંદર જ હોય છે (અઢી દ્વીપની બહાર ચન્દ્ર સૂર્ય વગેરે સ્થિર હોવાથી ત્યા કાળની કલ્પના કરી શકાતી નથી) તે એક સમયરૂપ છે, જે અત્યન્ત સૂક્ષ્મ છે, નિર્વિભાગ છે તેને 'કાય' કહી શકતા નથી કારણકે 'કાય' શબ્દ સમૂહવાચક છે

અગર ધર્મ વગેરેને 'અજીવકાય' કહેવામા આવે તો કાળ તેમનામા ગ્રહણ થઈ શકતો નથી પરંતુ પ્રાકૃત સૂત્રમા કેવળ અજીવ દ્રવ્યોનો જ ઉલ્લેખ કરવામા આવ્યો છે આથી જીવથી ભિન્ન હોવાના કારણે કાળનો પણ તેમનામા સમાવેશ થાય છે.

તત્વાર્થનિર્યુકિત—પૂર્વસૂત્રમાં ધર્મ, અધર્મ, આકાશ, કાળ અને પુદ્ગલ, અજીવ છે એમ કહેવામા આવેલ છે આ ધર્મ વિગેરેનુ જો દ્રવ્યગુણ અને પર્યાયરૂપથી નિરૂપણ ન કરવામા આવે તો શકા ઉપસ્થિત થાય છે કે-તેનુ નિરૂપણ પૂર્વસૂત્રમા કેમ કરવામા આવેલ નથી ? આથી એ શકાના નિવારણાર્થે કહેવામા આવે છે—

જે યથાયોગ્ય પોતાના પર્યાયો દ્વારા મેળવાય છે તે દ્રવ્ય કહેવાય છે વાસ્તવમા જે ગુણોને પ્રાપ્ત થાય છે અથવા ગુણો દ્વારા જાણી શકાય છે તે દ્રવ્ય કહેવાય છે "જે ગુણો અને પર્યાયવાળુ હોય તે દ્રવ્ય છે" એ મુજબ દ્રવ્યનુ લક્ષણ કહેવાયુ છે મૂળે તો પોત-પોતાના સ્વભાવમા અવસ્થિત રહેવુ એજ દ્રવ્યનુ લક્ષણ છે ધર્માદિ છ દ્રવ્યોની દ્રવ્ય સજ્ઞા દ્રવ્યત્વના નિમિત્તથી દ્રવ્યાર્થિક નયના અભિપ્રાયથી છે તે દ્રવ્યત્વ હકીકતમા ભિન્ન અને અભિન્ન એ બને પક્ષોનુ અવલમ્બન કરે છે તે ધર્માદિથી ન તો સર્વથા ભિન્ન જ છે અથવા ન તો અભિન્ન જ છે આ કારણે મોરના ઈંડાના રસની જેમ જેમા બધા ભેદ-પ્રભેદ સમ્મિલિત છે તેમજ જે દેશ કાળ, ક્રમ વ્યગભેદ તથા સમાગ્ર અવસ્થા રૂપ છે, એવા આ ધર્મ આદિ દ્રવ્ય કહેવાય છે તે અભિન્ન હોવા છતા પણ ગુણ પર્યાય કલા તથા પરિણામના મૂળ કારણ હોવાથી ભિન્ન જણાવાથી ભિન્ન હોવાનો આભાસ થાય છે

'द्रव्यग्रघ भव्ये' આ પાણિનીયના સૂત્ર અન્વયે દ્રુ ધાતુથી ભાવ અને કર્તાના અર્થમા દ્રવ્ય શબ્દનો ઉપયોગ કરવામા આવ્યો છે આ પ્રકારે દ્રવ્ય ભવ્ય અને ભવન આ બધાનો સમાન અર્થ છે ગુણ અને પર્યાય ભવનરૂપ જ છે, ઉભેલા બેસેલા ઉકડા આસને બેઠેલા અથવા સૂતેલા પુરૂષની જેમ અર્થાત્ જેવી રીતે પુરૂષની આ અવસ્થાઓ ભિન્ન-ભિન્ન હોય છે, પણ બધી અવસ્થાઓમા પુરૂષ જેમની તેમ તેજ રહે છે એવી જ રીતે પર્યાયોના બદલાવા છતા પણ મૂળ દ્રવ્ય એક રૂપ જ બન્યુ રહે છે આ કથન આ રીતે પણ કહી શકાય—"ઉત્પન્ન થાય છે—બદલાય છે-વધે છે ઘટે છે અને નાશ પણ પામે છે"

પિણ્ડ સિવાય વૃત્યન્તર-અવસ્થા-પ્રકાશતાની દશામા **'जायते'** (ઉત્પન્ન થાય છે) એવો વ્યવહાર થાય છે વ્યાપાર સહિત હોવા છતા પણ ભવનવૃત્તિ થાય છે **'अस्ति'** (છે) એનાથી વ્યાપાર શૂન્ય સત્તા કહેવામા આવે છે, ભવનવૃત્તિ ઉદાસીન છે **'विपरिणा मत्ते'** (બદલાય છે) એના દ્વારા અનુવૃત્તિવાળી વસ્તુનુ રૂપાતરથી થવુ એમ કહેવામા આવે છે

જેમ દૂધ દહી રૂપથી પરિણત થાય છે, અહી વિકારાન્તર વૃત્તિથી 'ભવન' કાયમ રહે છે જે વ્યક્ત્યન્તર વ્યકિતવૃત્તિ થાય અગર હેતુભાવવૃત્તિ થાય તે પરિણામ કહેવાય છે **'वर्धते'**-ઉકત સ્વરૂપવાળુ પરિણામ ઉપચય રૂપમા પ્રવૃત્ત થાય છે જેવી રીતે અકુર વધે છે અર્થાત્ ઉપચયશાળી પરિણામ રૂપથી 'ભવન'ની વૃત્તિ વ્યકત થાય છે **'अपचीयत्ते'** (ઘટે છે) આ શબ્દથી પૂર્વોકત સ્વરૂપવાળા પરિણામની અપચયવૃત્તિ પ્રકટ કરવામા આવે છે—નબળાઈને પ્રાપ્ત થનાર પુરૂષની જેમ અપચય ભવન રૂપ નવીન વૃત્તિનુ પ્રગટ થવુ કહેવાય છે **'विनश्यति'** આ પદ દ્વારા ભવનવૃત્તિને આવિર્ભૂત કહેવામા આવે છે જેવી રીતે "ઘડો નાશ પામ્યો" આ વાકયનો અર્થ એજ છે કે વિશિષ્ટ સમવસ્થાન રૂપ ભવનવૃત્તિ અદૃશ્ય થઈ ગઈ—એનો આશય એવો નથી કે કોઈ સ્વભાવહીનતા ઉત્પન્ન થઈ ગઈ—શૂન્યતા આવી ગઈ, કારણ કે ઘટ આકારની પછી કપાલ વગેરે રૂપ નવીન ભવનવૃત્તિ દેખાય છે વગેરે આકારો દ્વારા દ્રવ્ય જ ભવન લક્ષણ વાળું કહેવાય છે.

મતિજ્ઞાન અને શ્રુતજ્ઞાન દ્વારા ધર્મ, અધર્મ, આકાશ, કાળ પુદ્ગળ અને જીવ રૂપ બધા દ્રવ્યોને જીવ જાણે છે પરંતુ ધર્મ અધર્મ વગેરે બધા દ્રવ્યોના સઘળા ઉત્પાદ આદિ પર્યાયોને જાણતો નથી મતિજ્ઞાની શ્રુતજ્ઞાનિ દ્વારા જાણેલા પદાર્થોમાં જ્યારે અક્ષર પરિપાટી વગર જ વિદ્યાનો સારી પેઠે અભ્યાસ કરીને દ્રવ્યોનુ ચિંતન કરે છે, ત્યારે ધર્મ અધર્મ આદિ સમસ્ત દ્રવ્ય મતિજ્ઞાનના વિષય રૂપ પ્રતિભાસિત થાય છે, પણ મતિજ્ઞાની તેમના બધા પર્યાયોને જાણતો નથી એનુ કારણ છે કાળની અલ્પતા તથા મનની અશક્તિ એવી જ રીતે શ્રુતજ્ઞાન અનુસાર ધર્મ આદિ બધા દ્રવ્યોને જાણે છે પરંતુ બધા પર્યાયોને જાણતો નથી અવધિજ્ઞાન દ્વારા રૂપી દ્રવ્યોને—પુદ્ગળ દ્રવ્યોને જ જાણે છે પણ બધા પર્યાયોને નહી અવધિજ્ઞાન અત્યંત નિર્મળ હોય તો પણ તેના દ્વારા રૂપી-દ્રવ્ય પુદ્ગલ જ જાણી શકાય છે અને તે રૂપી દ્રવ્ય પણ બધા પર્યાયોથી નહી જ

સાર એ છે કે અતીત અનાગત અને વર્તમાનકાળ સંબન્ધી ઉત્પાદ વ્યય અને ધ્રૌવ્ય આદિ અનન્ત પર્યાયોથી જાણે છે અને જે શુક્લ વગેરે ગુણોથી યુક્ત પુદ્ગલ રૂપ રૂપી દ્રવ્યોને અવધિજ્ઞાનથી જાણે છે તેમના અનન્તમા ભાગને મનઃપર્યય જ્ઞાનથી જાણે છે તે અનન્તમા ભાગવર્તી રૂપી દ્રવ્યોને પણ દીવાલના આધારે રહેવાને નહી પણ મનોગતોને જાણે છે તે દ્રવ્યોને પણ સમ્પૂર્ણ લોકમા રહેલાઓને નહી પણ મનુષ્ય ક્ષેત્રની અંદર જ જાણે છે અને અવધિજ્ઞાનીની અપેક્ષા વિશુદ્ધતર અને બહુતર પર્યાયોને જાણે છે

અભિપ્રાય એ છે કે પાંચ જ્ઞાનોમાથી મતિજ્ઞાન અને શ્રુતજ્ઞાન બધા દ્રવ્યોને જાણે છે પરંતુ તેમના કેટલાક પર્યાયો જ તેમનો વિષય હોય છે કારણ કે એ બંને જ્ઞાન ક્ષાયોપશમિક છે અને ક્ષાયોપશમિક જ્ઞાન પરિપૂર્ણ હોતા નથી આના સિવાય આ બંને જ્ઞાન ઈન્દ્રિયજન્ય અને મનોજન્ય છે અને એ કારણે પણ તેઓ સમ્પૂર્ણ નથી

અવધિજ્ઞાન અને મનઃપર્યવજ્ઞાન ઈન્દ્રિય-મનો જન્ય નથી આથી તેઓ પ્રત્યક્ષજ્ઞાનની કોટિમાં ગણાય છે તો પણ ક્ષાયોપશમિક હોવાથી અપૂર્ણ છે આથી તેમને વિકલ પ્રત્યક્ષ પણ કહે છે, આ બંને જ્ઞાન રૂપી દ્રવ્યોને જ જાણે છે તો પણ તેમનામા વિષયકૃત ભિન્નતા છે અવધિજ્ઞાન સમ્પૂર્ણ લોકના સમસ્ત રૂપી દ્રવ્યોને જાણી શકે છે જ્યારે મનઃપર્યયજ્ઞાન ફક્ત મનોવર્ગણાના પુદ્ગલોને જ જાણે છે આ કારણથી જ અવધિજ્ઞાનના વિષયનો અનન્તમો ભાગ જ મનઃપર્યયનો વિષય કહેવાયો છે મનઃપર્યયજ્ઞાન અઢીદ્વીપની અન્તર્ગત જે સંજ્ઞી જીવ છે તેમની મનોવર્ગણાને, જાણે છે આવુ હોવા છતા પણ મનઃપર્યયજ્ઞાન અવધિજ્ઞાનની અપેક્ષા અત્યન્ત વિશુદ્ધ છે અને જે રૂપી દ્રવ્યોને જાણે છે તેમના બહુતર પર્યાયોને જાણે છે

કેવળજ્ઞાન દ્વારા સમસ્ત દ્રવ્ય અને તેમના બધા પર્યાયો જાણી શકાય છે પ્રશ્ન થઈ શકે કે કેવળજ્ઞાન બધા દ્રવ્યો અને બધા પર્યાયોને કેવી રીતે જાણે છે? એનો જવાબ એ છે કે કેવળ-જ્ઞાન સમસ્ત ભાવોનુ અવભાસક છે તથા સમ્પૂર્ણ લોક અને અલોકને જાણે છે ધર્મ અને અધર્મ દ્રવ્યોથી વ્યાપ્ત લોકમા અને તેનાથી રહિત અલોકમા જે કંઈ પણ હોય છે, તે બધાને જાણે છે

કેવળજ્ઞાનથી મોટુ બીજુ કોઈ જ્ઞાન નથી અને કેવળજ્ઞાનની વિષય મર્યાદાની બહાર કોઈ વસ્તુ જ્ઞેય નથી આનુ મુખ્ય કારણ એ છે કે કેવળજ્ઞાન જ્ઞાનાવરણીય કર્મના સમ્પૂર્ણ ક્ષયથી ઉત્પન્ન થાય છે જ્યારે જ્ઞાનને ઢાકવાવાળા કર્મ સમૂળગા નાશ થાય છે ત્યારે આત્માની જ્ઞાન-

શકિત પોતાના વિશુદ્ધ પરિપૂર્ણ અને સ્વાભાવિક રૂપમા પ્રગટ થઈ જાય છે આ વખતે એવો કોઈ જ્ઞેય પદાર્થ હોતો નથી કે જે કેવળજ્ઞાનનો વિષય ન હોય

ધર્મ, અધર્મ, આકાશ કાળ, પુદ્ગલ અને જીવ આ બધા દ્રવ્યોમા પ્રતિક્ષણે ઉત્પાદ, વ્યય તથા ધ્રૌવ્ય રહે છે જે પણ સત્ પદાર્થ છે તે ઉત્પાદ, વ્યય અને ધ્રૌવ્યાત્મક જ હોય છે કોઈ વસ્ત્રનો શ્વેતવર્ણ નાશ થાય છે તેમા ત્રણ વર્ણનો ઉત્પાદ હોય છે પરતુ વસ્ત્ર દ્રવ્ય બને અવસ્થાઓમા કાયમ રહે છે આવી જ રીતે પૂર્વ પર્યાયનો વિનાશ અને ઉત્તર પર્યાયનો ઉત્પાદ થવાથી પણ દ્રવ્ય–ધ્રુવ–જેવુ ને તેવુ જ—રહે છે જેમ જીવ દેવ પર્યાય રૂપે ઉત્પન્ન થાય છે, મનુષ્ય પર્યાય રૂપે વિનાશ પામે છે પરતુ જીવના રૂપે હમેશા અવસ્થિત રહે છે આ બધા પર્યાયોને કેવળજ્ઞાન સાક્ષાત જાણે છે આવી જ રીતે આકાશ અને કાળ જેવા અપૂર્વ દ્રવ્ય પણ કેવળજ્ઞાન દ્વારા જાણી શકાય છે આથી કેવળજ્ઞાન પરિપૂર્ણ સમગ્ર અસાધારણ, નિરપેક્ષ વિશુદ્ધ સર્વભાવોનો જ્ઞાપક, લોકાલોકને વિષય કરવાવાળુ અને અનન્ત પર્યાયોવાળુ છે

એક–એક જ્ઞેયની સ્વ–પર પર્યાયોની ગણના કરવામા આવે તો તે અનન્તાનન્ત છે એવા અનન્તાનન્ત પર્યાયવાળા અનન્તાનન્ત જ્ઞેય પદાર્થ કેવળજ્ઞાનનો વિષય છે એવી સ્થિતિમા કેવળજ્ઞાનના અનન્તાનન્ત પર્યાયો છે, આ સમજવુ મુશ્કેલ નથી

અનુયોગ દ્વારના ૧૪૧મા સૂત્રમા કહ્યુ છે

પ્રશ્ન—ભગવત ! દ્રવ્ય કેટલા પ્રકારના કહ્યા છે !

ઉત્તર—ગૌતમ ! દ્રવ્ય બે પ્રકારના કહ્યા છે જીવ દ્રવ્ય અને અજીવ દ્રવ્ય

ઉત્તરાધ્યયનના અધ્યયન ૨૮ની આઠમી ગાથામા કહે છે—

ધર્માસ્તિકાય અધર્માસ્તિકાય અને આકાશ એ ત્રણ દ્રવ્યો એક–એક રૂપ છે અને કાળ, પુદ્ગલ તથા જીવ એ ત્રણ દ્રવ્ય અનન્ત–અનન્ત છે ॥૨॥

'निच्चावट्ठियाणि अरूवाणि य'

મૂળસૂત્રાર્થ—પૂર્વોકત દ્રવ્ય નિત્ય, અવસ્થિત અને અરૂપી છે ॥૩॥

તત્વાર્થદીપિકા—ધર્મ' અધર્મ, આકાશ, કાલ, પુદ્ગલ અને જીવ એ છએ દ્રવ્યો નિત્ય અને અવસ્થિત છે આમાથી કયારેય પણ કોઈ ન હોય એવુ નથી અર્થાત્ એ હમેશા રહે છે અને એક દ્રવ્ય બીજા દ્રવ્યના રૂપમા પરિણત થતુ નથી આમાંથી ધર્મ, અધર્મ આકાશ કાળ અને જીવ એ પાચ દ્રવ્ય અરૂપી છે અર્થાત રૂપ–રસ આદિથી રહિત છે આ રીતે છ એ દ્રવ્ય નિત્ય અને અવસ્થિત છે તથા પુદ્ગલ સિવાયના શેષ પાચ દ્રવ્યો અરૂપી છે ॥૩॥

તત્વાર્થનિર્યુકિત—પૂર્વસૂત્રમા ધર્માદિ ૬ દ્રવ્યો કહ્યા હવે આ દ્રવ્યો શુ પોતપોતાના સ્વભાવથી કયારે ચ્યુત થાય છે ? શુ કયારે પણ વધે ઘટે છે ? તેઓ મૂર્ત્ત છે કે અમૂર્ત્ત ? આ ત્રણ પ્રશ્નોના સમાધાન માટે કહીએ છીએ—

ધર્મ આદિ છ એ દ્રવ્યો નિત્ય અને અવસ્થિત છે નિત્યનો અર્થ એ છે કે આ દ્રવ્ય કોઈ વાર પણ પોતપોતાના સ્વભાવનો ત્યાગ કરતા નથી અને અવસ્થિતનો ભાવ એ છે કે એમની સખ્યા કયારે પણ વધતી–ઘટતી નથી અર્થાત્ આ તમામ દ્રવ્ય અનાદિ નિધન છે અને નિયત સખ્યાવાળા છે કયારેય પણ પોતાના સ્વરૂપનો ત્યાગ કરતા નથી આમા પુદ્ગલ સિવાયના પાચ દ્રવ્યો અરૂપી છે

જેમા રૂપ નથી તેને અરૂપી કહે છે અહી રૂપ શબ્દ ઉપલક્ષણ છે તેનાથી રસ, ગધ અને સ્પર્શનુ પણ ગ્રહણ થાય છે સૂત્રમા અરૂપ શબ્દના ગ્રહણથી ધર્મ, અધર્મ, આકાશ, કાળ અને જીવ દ્રવ્યની અમૂર્ત્તતા પ્રગટ કરવામા આવી છે આથી પુદ્ગલને છોડીને શેષ પાચ, ધર્મ આદિ દ્રવ્ય રૂપ, રસ, ગધ અને સ્પર્શથી રહિત હોવાના કારણે અમૂર્ત્ત કહેવાય છે **'पोग्गला रूपिणो'** આગળ પર કહેવામાં આવનાર સૂત્ર અનુસાર પુદ્ગલ સિવાય ધર્મ આદિ પાચ દ્રવ્યો જ અરૂપી છે પરતુ નિત્ય અને અવસ્થિત તો પુદ્ગલ દ્રવ્ય પણ છે

નન્દીસૂત્રનાં ૧૮મા સૂત્રમા કહ્યુ છે–'પાચ અસ્તિકાય ક્યારેય પણ ન હતા એવુ નથી, ક્યારેય પણ નથી એમ પણ નથી અને ક્યારેય પણ હશે નહી એવુ પણ નથી તે હમેશા હતા, છે અને રહેશે તેઓ ધ્રુવ છે, નિયત છે, શાશ્વત છે, અક્ષય છે, અવ્યય છે, અવસ્થિત છે, નિત્ય છે અને અરૂપી છે

આ રીતે ધર્મ વગેરે છએ દ્રવ્યો દ્રવ્યાર્થિક નયની અપેક્ષાથી નિત્ય છે, પર્યાયાર્થિક નયની અપેક્ષાથી નહી દ્રવ્યાર્થિક નય વસ્તુના ધ્રૌવ્યનુ જ પ્રતિપાદન કરે છે, ઉત્પાદ અને વિનાશનુ નહી આ કારણે દ્રવ્યાર્થિકનયના અભિપ્રાયથી જ ધર્મ આદિ દ્રવ્ય નિત્ય સમજવા જોઈએ દ્રવ્યાર્થિકનયથી નિરપેક્ષ રૂપમા નિત્યતા સ્વીકાર કરવા છતાં પણ એકાન્તવાદનો પ્રસગ આવશે અને એકાન્તવાદ અનેક પ્રકારના દોષોથી દૂષિત છે

જૈનદર્શન અનુસાર એકનયથી વસ્તુની પ્રરૂપણા કરવી તે પુરતું નથી, દ્રવ્યાર્થિક અને પર્યાયાર્થિક-બ નેમાથી એકને પ્રધાન અને બીજાને ગૌણરૂપથી વિવરણ કરીને જ વસ્તુતત્ત્વનુ પ્રતિપાદન કરી શકાય છે આમ કર્યા વગર વસ્તુસ્વરૂપની પ્રરૂપણા કરવી ઘણી મુશ્કેલ છે આથી અને દ્રવ્યાર્થિકનયને પ્રધાન અને પર્યાયાર્થિકનયને ગૌણ ગણીને ધર્મ આદિ દ્રવ્યોની નિત્યતા કહેલી છે.

દ્રવ્યાર્થિકનય દ્વારા પ્રજ્ઞાપ્ય ધ્રૌવ્ય અશની અપેક્ષાથી ધર્મ આદિ દ્રવ્ય નિત્ય અર્થાત્ ઉત્પાદ અને વિનાશથી રહિત ધ્રુવ છે નિત્ય કહીને એ પ્રગટ કરવામા આવ્યુ છે કે ધર્મ વગેરે દ્રવ્યોની સત્તા સમસ્ત કાળમા અવિકારિણી છે એવી જ રીતે ધર્મ આદિ બધા દ્રવ્ય અવસ્થિત છે અર્થાત્ તે પોતાની છની સખ્યાને તથા ભૂતાર્થતાને કદી પણ છોડતાં નથી અને ક્યારેય પણ છોડશે નહી

'અવસ્થિત' શબ્દના ગ્રહણથી એવુ નિર્ધારિત કરવામા આવ્યુ છે કે આ દ્રવ્યો પોતાના સ્વરૂપનો પરિત્યાગ કરતા નથી આથી છના છ જ રહે છે ન કદી ઓછા થાય છે અને ન તો વધે છે જગત સદા પચાસ્તિકાયાત્મક છે અને કાળપર્યાય હોવા છતા પણ ભિન્ન રૂપથી પ્રતીત થાય છે આથી છ જ દ્રવ્ય છે, પાચ નહી આ ધર્મ આદિ દ્રવ્ય એકબીજાને મળીને રહે છે તો પણ પોતપોતાના સ્વરૂપનો અને ભૂતાર્થતાનો ત્યાગ કરતા નથી અથવા પોતાના વિવિધ અસાધારણ લક્ષણપણાનુ ઉલ્લઘન પણ કરતા નથી

ધર્મદ્રવ્યનુ સ્વરૂપ ગતિમા અને અધર્મદ્રવ્યનુ સ્વરૂપ સ્થિતિમા નિમિત્ત થાય છે આકાશનુ સ્વરૂપ અવગાહ પ્રદાન કરે છે જીવનુ સ્વરૂપ સ્વ–પર પ્રકાશક ચૈતન્યરૂપ પરિણામ છે પુદ્ગલનુ સ્વરૂપ શરીર, વચન મન, પ્રાણાપાન, જીવન મરણમા નિમિત્ત થવુ તથા મૂર્ત્તત્વ વગેરે છે

ધર્માદિ દ્રવ્ય અનાદિસિદ્ધ પોતપોતાના આ સ્વરૂપમર્યાદાનુ અતિક્રમણ કરતાં નથી કોઈ-પણ દ્રવ્ય પોતાના સ્વાભાવિક ગુણનો પરિત્યાગ કરીને બીજા દ્રવ્યના ગુણને ધારણ કરતા નથી આથી એ દ્રવ્ય અવસ્થિત કહેવાય છે એતો પહેલા જ કહેવાઈ ગયુ છે કે છ દ્રવ્યોમાથી પુદ્ગલને છોડીને બાકીના પાચ દ્રવ્ય અરૂપી–અમૂર્ત્ત છે

પુદ્ગલ સિવાય ધર્મ આદિ પાચ દ્રવ્ય અમૂર્ત્ત હોવાથી અરૂપી છે–તેમનામા રૂપ નથી અને રૂપી ન હોવાના કારણે તેઓ આખ વડે જોઈ શકતા નથી

ધર્માદિ દ્રવ્યોના નેત્ર ગ્રાહ્ય ન હોવામા અરૂપિત્વને હેતુ કહેલ નથી અન્યથા પુદ્ગલ પરમાણુ પણ નેત્રગોચર ન હોય તો તેને પણ અરૂપી માનવુ પડે પણ તે અરૂપી નથી આ રીતે ધર્મ આદિ પાચ દ્રવ્યોમા જ અરૂપત્વનુ પ્રતિપાદન કરવામા આવેલ છે

રૂપનો અર્થ મૂર્ત્તિ–મૂર્ત્તિ જ રૂપાદિ શબ્દો દ્વારા કહેવામા આવે છે તે મૂર્તિ રૂપાદિ આકારવાળી હોય છે વૈશેષિક, દ્રવ્યનુ સર્વવ્યાપક ન હોવુ તેને મૂર્ત્તત્વ માને છે અર્થાત્ તેમના કથન અનુસાર મૂર્તિ તે છે જે સર્વવ્યાપિ પરિણામવાળી ન હોય, પરતુ આ માન્યતા અહી સ્વીકારાઈ નથી કારણકે એમ માનવાથી આત્મા પણ મૂર્તિક થઈ જાય લોક બધી તરફથી પરિમિત છે આથી આત્મા પણ પરિમિત જ છે

લોક પરિમિત છે એનો વૈશેષિકોએ પણ સ્વીકાર કરવો જોઈએ કારણ કે તેનો એક વિશિષ્ટ આકાર છે આ કારણથી રૂપને મૂર્તિ માનવુ જ નિર્દોષ છે

શકા—જો રૂપને જ મૂર્તિ માનીએ તો મૂર્તિ શબ્દનો વાચ્ય એકલુ ગુણ જ થશે આથી રૂપ જ મૂર્તિ નથી

સમાધાન—દ્રવ્યાર્થિકનયના અભિપ્રાયે રૂપને મૂર્તિ કહેવામા આવ્યુ છે દ્રવ્યના રૂપ આદિ તેનાથી ભિન્ન જણાતા નથી આ કારણથી એજ મૂર્તિ દ્રવ્યસ્વભાવના આનયન ગ્રહણ વગેરેને પ્રાપ્ત કરીને રૂપ કહેવાય છે આથી સ્પર્શ વગેરે મૂર્તિના આશ્રિત કહેવાય છે સ્પર્શ આદિ મૂર્તિનો પરિત્યાગ કરતા નથી કારણકે તેઓ એકબીજાના સહચર છે જ્યા રૂપ હોય છે ત્યા સ્પર્શ રસ અને ગધ પણ અવશ્ય રહે છે આથી સ્પર્શ આદિ ચારે ય સહચર છે

પરમાણુમા પણ રૂપ આદિ ચારે ગુણ વિદ્યમાન રહે છે પરતુ તે બધા એકરૂપ થઈને રહે છે આથી પરમાણુ ચતુર્ગુણ વગેરે જાતિભેદવાળા હોતા નથી વિશેષતા માત્ર એજ છે કે કોઈ દ્રવ્ય ઉત્કટ ગુણપરિણતિને પ્રાપ્ત થઈને તેને ત્યજી દે છે દાખલા તરીકે મીઠુ અને હીગ લો જ્યારે તેઓ મિશ્ર રૂપે હોય છે તો નેત્ર, નાક તથા સ્પર્શેન્દ્રિયના વિષય હોય છે પરતુ જ્યારે પાણીમા પ્રવેશે છે ત્યારે માત્ર જીભ અને નાકના જ વિષય રહે છે વર્ણ અને સ્પર્શ તો તેમનામા એ સમયે પણ રહે છે પણ તે ઇન્દ્રિય વડે ગ્રહણ કરી શકાતા નથી આ તેમના પરિણમનની વિશેષતા છે

એવી જ રીતે એક જાતીય પાર્થિવ, પાણીના, તેજના અને વાયુના પરમાણુ પણ ક્યારે કોઈ પરિણમનને પ્રાપ્ત થઈને બધી ઇન્દ્રિયો દ્વારા ગ્રાહ્ય હોતા નથી આથી રૂપ, રસ, ગધ અને સ્પર્શ જ વિશેષ પરિણામથી યુક્ત થઈને મૂર્તિ કહેવાય છે ॥ ૩ ॥

'पोग्गला रूविणो'

મૂળસૂત્રાર્થ—પુદ્ગલ દ્રવ્ય રૂપી હોય છે ॥ ૪ ॥

તત્વાર્થદીપિકા—પુદ્ગલ વર્ણ, ગધ રસ અને સ્પર્શથી યુક્ત હોવાના કારણે, આખ દ્વારા ગ્રાહ્ય હોવાના કારણે અને મૂર્ત્ત હોવાથી રૂપી છે-તેઓ અરૂપી નથી પુદ્ગલ જો અરૂપી હોત તો નેત્ર દ્વારા તેમને જોવુ શકય ન હોત સ્થાનાંગસૂત્રના પાચમા સ્થાન ત્રીજા ઉદ્દેશકના પ્રથમ સૂત્રમાં કહ્યુ છે-'પુદ્ગલાસ્તિકાય રૂપીકાય છે, ભગવતી સૂત્રના સાતમાં શતકના દશમા ઉદ્દેશકમાં પણ કહ્યુ છે-પુદ્ગલાસ્તિકાય રૂપીકાય છે ॥ ૪ ॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પૂર્વસૂત્રમાં સામાન્ય રૂપથી દ્રવ્યોને અરૂપી કહેવામા આવ્યા હતા પરતુ વિશેષરૂપથી પુદ્ગલાસ્તિકાયની અરૂપતાનો નિષેધ કરીને તેમને રૂપી પ્રતિપાદન કરવા માટે કહીએ છીએ—

પુદ્ગલ રૂપી છે-અરૂપી નહી નિત્યતા અને અવસ્થિતતા તો પુદ્ગલોમા જ હોય છે કારણુ કે તે પોતાના પુદ્ગલ સ્વભાવનો કયારેય પણુ ત્યાગ કરતા નથી સર્વદા રૂપાદિમાન જ રહેવાના કારણે તે અવસ્થિત પણ છે માત્ર અરૂપીપણુ તેમનામા હોતુ નથી

શકા—પુદ્ગલદ્રવ્ય ઉત્પન્ન અને વિનાશ પામતા હોવાથી તેમને અનિત્ય માનવુ જ યોગ્ય લેખાશે તેમનામાં અનિત્યતાથી વિરૂદ્ધ નિત્યતા હોઈ શકતી નથી

સમાધાન—નિત્યતા બે પ્રકારની કહેવામા આવી છે (૧) અનાદિ અનન્તતા અર્થાત્ આદિ પણ ન હોય અને અન્ત પણુ ન હોય (૨) સાવધિનિત્યતા-અવધિયુક્ત નિત્યતા પ્રથમ પ્રકારની નિત્યતા લોકની જ છે તેને આદિ પણુ નથી કે નથી અન્ત તેના પ્રવાહનો કદી પણુ વિચ્છેદ થતો નથી તે પોતાના સ્વભાવનો ક્યારેય પણુ ત્યાગ કરતો નથી વિવિધ પ્રકારના પરિણુમનો ને ઉત્પન્ન કરવાની શક્તિથી યુક્ત છે-આ જ અનાદિ-અનન્ત નિત્યતા છે.

બીજા પ્રકારની નિત્યતા શ્રુતોપદેશની છે શ્રુતનો ઉપદેશ ઉત્પત્તિમાન અને પ્રલયવાન છે તો પણુ તે અવસ્થિત રહે છે પર્વત, સમુદ્ર વલય વગેરેનુ અવસ્થાન પણુ સાવધિ નિત્યતામાં પરિણુમિત છે

એવી જ રીતે અનિત્યત્વ પણુ બે પ્રકારના છે (૧) પરિણુામાનિત્યત્વ (૨) ઉપરમાનિત્યત્વ માટીનો પિન્ડો સ્વભાવથી અને પ્રયત્નથી પોતાની પૂર્વ-અવસ્થાને ત્યજી દઈ નવીન અવસ્થાને પ્રત્યેક સમયે પ્રાપ્ત થતો રહે છે આ પ્રકારની અનિત્યતાને પરિણુામા નિત્યતા કહે છે

ઉપરમાનિત્યત્વ ભવોચ્છેદ-સસારનો અત આવવો તેમ છે ચારે ગતિઓમાં પરિભ્રમણુનો અત થયા પર પર્યન્તવર્ત્તી જે અવસ્થાન છે તે ઉપરમાનિત્યત્વ છે અત્યન્તાભાવવર્ત્તી નથી

આમાથી પરિણુામનિત્યત્વની દૃષ્ટિથી પુદ્ગલ દ્રવ્ય અનિત્ય કહેવાય છે અને પોતાના પુદ્ગલપણુાનો ત્યાગ ન કરવાના કારણે નિત્ય પણુ માનવામાં આવે છે બને પ્રકારનો વ્યવહાર જોવામા આવે છે આથી કોઈ વિરોધ આવતો નથી પ્રત્યેક વસ્તુમા ઉક્ત બને જ પ્રકારની અર્થાત્ નિત્યતા અને અનિત્યતાની વ્યવસ્થા છે અને એજ પ્રકારની પ્રતીતિ થાય છે હા, કદી અનિત્યતાને ગૌણુ કરીને નિત્યતાની પ્રધાનતાથી વિવક્ષા કરવામા આવે છે અને કયારેક નિત્યતાની પ્રધાનતા કરીને અનિત્યતાને ગૌણુ કરી દેવામા આવે છે આ રીતે પુદ્ગલમા અનિત્યતા અને નિત્યતા બને જ ધર્મ રહે છે એવુ માનવામા લગીર પણુ મુશ્કેલી નથી

તે પુદ્ગલ રૂપી અર્થાત્ રૂપવાળા છે પૂરણ અને ગલન સ્વભાવવાળા હોવાથી તે પરમાણુ થી લઈને અનન્તાનન્ત પ્રદેશી સ્કધ સુધી જાણવા જોઈએ પુદ્ગલ અનેક રૂપ પરિણમનના પોતાના સામર્થ્યના કારણે સૂક્ષ્મ, સ્થૂળ, વિશેષ, અવિશેષ, પ્રકર્ષ, અપકર્ષ રૂપ અસાધારણ રૂપવત્તાને ધારણ કરે છે ધર્મ, અધર્મ આદિ દ્રવ્યોમા આ હેતુ નથી એ કારણથી પુદ્ગલોમા રૂપવત્વનુ અવધારણ કરવામા આવ્યુ છે પુદ્ગલ ભલે પરમાણુ હોય અગર દ્વયણુક આદિ રૂપમા વધીને મોટો સ્કધ બની જાય પરતુ રૂપવત્વ પુદ્ગલનો ત્યાગ કરતો નથી અને પુદ્ગલ-દ્રવ્ય કદીપણ રૂપવત્તાનો પરિત્યાગ કરતુ નથી આથી એ યોગ્ય જ કહેવામાં આવ્યું છે કે પુદ્-ગલ રૂપી હોય છે

ચક્ષુગ્રાહ્ય રૂપ જે પરમાણુ દ્વયણુક વગેરે પુદ્ગલોના હોય તે રૂપી કહેવાય છે એ પ્રકારનો વિગ્રહ કરીને છટ્ઠી વિભક્તિ બતાવવાથી એવુ સૂચિત કરવામા આવે છે કે ભેદ વિવરણથી દ્રવ્ય અને ગુણમા ભિન્નતા છે જો બનેમા અભેદનુ વિવરણ કરીએ તો અભેદ, પણ છે આ અભિપ્રાય છે "રૂપ જેમનામા છે તે રૂપી એમ સાતમી વિભક્તિ લઈને વિગ્રહ કરવામા આવ્યો છે અથવા દ્રવ્ય અને ગુણમાં પર્યાયાર્થિકનયની અપેક્ષાથી ભેદ અને દ્રવ્યાર્થિકનયની અપેક્ષાથી-અભેદ સમજવો જોઈએ રૂપાત્મક મૂર્તિથી ભિન્ન પુદ્ગલ કોઈ સ્થળે ઉપલબ્ધ થતા નથી-બને ભિન્ન ભિન્ન દેશોમા મળતા નથી આથી તેમનામા અભેદ છે એવી જ રીતે એવો જે વ્યવહાર થાય છે કે ચન્દ્રનુ રૂપ શ્વેત છે, રસ તીખો છે, ગધ સુરભિ છે, સ્પર્શ શીતળ છે, એ ભેદ હોવા પર જ સભવિત છે

'આ મુનિની આ મુહપત્તિ છે' એમા જેમ મુનિ અને મુહપત્તિમા ભેદ હોવાથી જ છટ્ઠી વિભક્તિ દેખાય છે એજ રીતે દ્રવ્ય અને ગુણમા પણ ભેદ છે

શકા—જેવી રીતે એક દ્રવ્ય બીજા દ્રવ્યથી ભિન્ન મળી આવે છે તે જ રીતે રૂપ આદિ ગુણ દ્રવ્યથી જુદા મળી આવતા નથી તેમજ ન તો દ્રવ્ય જ રૂપ વગેરે ગુણોથી ભિન્ન ઉપ-લબ્ધ હોય છે

સમાધાન—જો દ્રવ્ય અને ગુણમા ભેદ ન હોત તો ચન્દનનુ શ્વેત રૂપ, તીખો રસ, સુર-ભિગધ એ મુજબ છટ્ઠી વિભક્તિ ન હોત ભેદ થવાથી જ છટ્ઠી વિભક્તિ થાય છે, અભેદમા નહી આથી દ્રવ્ય અને ગુણમા ભેદ અવશ્ય માનવો જોઈએ—

કદાચિત્ કહેવામા આવે છે સેના, વન આદિની જેમ અન્ય અર્થોમાં પણ છટ્ઠી વિભક્તિ દેખાય છે દાખલા તરીકે સેનાનો હાથી-વનનો આબો (જગલની કેરી) હાથી વગેરે પદાર્થોનો સમૂહ જ સેના પદનો અર્થ છે અને આબા વગેરે વૃક્ષોનો સમૂહ જ વન હોય છે એનો જવાબ એ છે કે સેનાનો હાથી અને વનનો આબો તેમા કોઈ ભેદ નથી અનિશ્ચિત દિશાઓ તથા દેશોમા રહેલા હાથી, પુરુષ ઘોડા અને રથોમા, જે સમ્બન્ધ વિશેષથી વિશિષ્ટ છે જેમની સખ્યા નિશ્ચિત—અનિશ્ચિત છે તે બધાની જે બહુત્વ સખ્યા છે, તેજ સેનાપદનો અર્થ છે એકલો હાથી જ એવો શબ્દનો વાચ્ય નથી

એવી જ રીતે સહકાર, આબો, જાબુ જબીર—લીબૂ દાડમ વગેરેના વૃક્ષોનો સમૂહ જ કાનન શબ્દનો વાચ્ય છે માત્ર સહકારજ વન શબ્દનો અર્થ નથી આથી તે બને પણ ભિન્ન છે,

એવી જ રીતે યૂષ અને પકિત વગેરે પણ અર્થાન્તર જ સમજવા જોઈએ બીજા બીજા દ્રવ્યોના સસર્ગથી યુકત સમુત્પન્ન પાકજ દ્રવ્યોના કાલ વિશેષનો અનુગ્રહ થવાથી પાકજની ઉત્પત્તિ થવા પર સજોગ વિશેષ રૂપ થાય છે તે ઓદનથી ભિન્ન છે એવી જ રીતે પંકિત પણ એક દિશા અને દેશમા સ્થિત, પ્રત્યાસત્તિથી ઉપકૃત નિયતઅનિયત સંખ્યાવાળા ભિન્ન અભિન્ન જાતિવાળા આધારોમા વિદ્યમાન બહુસખ્યા જ કહેવાય છે. એ કારણે બને દ્રવ્યાર્થિક અને પર્યાયાર્થિકનય પરસ્પર સાપેક્ષ થઈને જ વાસ્તવિકતાનુ પ્રતિપાદન કરે છે, એકાન્ત રૂપથી નહી આથી તાત્પર્ય એ છે કે વિવરણ અનુસાર રૂપાત્મિકા મૂર્ત્તિ પુદ્ગલોમા કથચિત્ ભિન્ન અને કથચિત્ અભિન્ન છે ॥ ૪ ॥

"आइमाणि तिन्नि पगदव्वाणि अकिरियाणि अन्तिमाणि अणंताणि"

મૂળસૂત્રાર્થ—આદિના ત્રણ દ્રવ્ય એક–એક છે અને અન્તના ત્રણ દ્રવ્ય અનન્ત–અનન્ત છે ॥૫॥

તત્વાર્થદીપિકા—પહેલાના ત્રણ દ્રવ્ય અર્થાત્ ધર્મ, અધર્મ અને આકાશ એક–એક દ્રવ્ય છે તેઓ કાળ, જીવ અને પુદ્ગલની જેમ ભિન્ન–ભિન્ન ઘણાં નથી દ્રવ્યની અપેક્ષા આમાથી પ્રત્યેક દ્રવ્ય એક–એક સમજવુ જોઈએ પરતુ ક્ષેત્ર, કાળ અને ભાવની અપેક્ષાથી અસખ્યાત તથા અનન્ત સમજવા જોઈએ

ધર્મ, અધર્મ અને અકાશ આ ત્રણ દ્રવ્યો ક્રિયારહિત છે. એવી રીતે જેમ જીવદ્રવ્ય જુદા–જુદા જીવોની અપેક્ષાથી ભિન્ન છે, પુદ્ગલદ્રવ્ય પણ પ્રદેશ અને સ્કંધની અપેક્ષાથી ભિન્ન છે એવી જ રીતે કાલદ્રવ્ય પણ અધ્ધા સમય વગેરેની અપેક્ષાથી ભિન્ન છે તેવીજ રીતે ધર્મ, અધર્મ અને આકાશ દ્રવ્ય ભિન્ન–ભિન્ન નથી તાત્પર્ય એ છે કે અન્તના ત્રણ દ્રવ્ય કાળ, પુદ્ગળ અને જીવ અનન્ત છે ॥ ૫ ॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—જેવી રીતે પુદ્ગલ દ્રવ્ય પરમાણુ દ્વયણુક આદિના ભેદથી, પ્રદેશ અને સ્કધ આદિની અપેક્ષાથી અનેક પ્રકારના છે કાલદ્રવ્યપણ અદ્ધા સમય આવલિકા આદિના ભેદથી અનેક પ્રકારના છે અને જેવી રીતે જીવદ્રવ્ય નારકી, દેવતા, તિર્યચ અને મનુષ્ય વગેરેના ભેદથી અનેક પ્રકારના છે તેવી જ રીતે ધર્મ આદિ દ્રવ્યો પણ શુ અનેક છે ? એવી આશંકા થવાથી કહે છે—

આદિના ત્રણ દ્રવ્ય અર્થાત્ ધર્મ અધર્મ અને આકાશ એક–એક દ્રવ્ય જ છે તેમની સરખી જાતીવાળુ બીજું દ્રવ્ય નથી અર્થાત્ જેમ એક જીવથી બીજા જીવનુ પૃથક્ અસ્તિત્વ છે અને એક જીવ સ્વય જ પરિપૂર્ણ દ્રવ્ય છે, તેવી રીતે ધર્મદ્રવ્ય પૃથક્ પૃથક્ નથી તે અસખ્યાત પ્રદેશોનો એક જ સમૂહ છે જે અખન્ડ રૂપથી સમ્પૂર્ણ લોકાકાશ વ્યાપ્ત છે અધર્મ દ્રવ્ય પણ એવુ જ એક અખડ દ્રવ્ય છે આકાશ પણ વ્યકિતશ પૃથક્ નથી તે અનન્તાનત પ્રદેશોનોએક જ અખડ પિન્ડ છે

ધર્મ, અધર્મ અને આકાશની ક્રમશ સ્થિતિ અને અવગાહ રૂપ ઉપકાર છે સમસ્તગતિ પરિણત જીવો અને પુદ્ગલોની ગતિમા સહાયક થનારુ દ્રવ્ય–ધર્મદ્રવ્ય છે એજ રીતે સ્થિતિ પરિણત બધાની સ્થિતિમા સહાયતા કરનાર અધર્મદ્રવ્ય છે જેમા બધા દ્રવ્ય પ્રકાશિત થાય છે અગર જે સ્વય જ પ્રકાશિત થાય છે તે આકાશ કહેવાય છે આ પ્રકારની વ્યુત્પત્તિ અનુ-

સાર ધર્મ આદિ દ્રવ્યોની ગતિ સ્થિતિ અને અવગાહન ઉપકાર છે ગતિ વગેરે ત્રણેથી યુકત વસ્તુ અર્થક્રિયા કરવામાં સમર્થ હોય છે એમ અનેકાન્તવાદી સ્વીકારે છે

પ્રાકૃત સૂત્રમાં "એક" શબ્દ અસહાયક અર્થમાં ગ્રહણુ કરવામા આવ્યો છે આથી જેમ પરમાણુ રૂપ પુદ્ગલ દ્રવ્ય બીજા પરમાણુથી સદ્વિતીય છે અર્થાત્ એક પરમાણુ બીજા પરમાણુથી ભિન્ન સ્વતંત્ર અસંયુકત અસ્તિત્વ રાખે છે અને જેમ એક આત્મા બીજા આત્માથી ભિન્ન અસ્તિત્વવાળો છે અને તે બધાના ચૈતન્ય સુખ, દુઃખ આદિ ગુણુ યથાર્થ ભિન્ન-ભિન્ન છે અને જેમ કાળદ્રવ્યનો કાળાતરથી ભેદ છે તેવો ભેદ ધર્મ આદિ દ્રવ્યોમાં નથી એક ધર્મદ્રવ્યથી ભિન્ન બીજા ધર્મદ્રવ્યની પૃથક્ સત્તા નથી અધર્મ દ્રવ્ય પણુ પરસ્પર ભિન્ન બે અગર વધારે નથી આકાશ પણુ વ્યકિતશઃ અનેક નથી આ કારણુથી ધર્મ આદિ ત્રણુ દ્રવ્યોને એક-એક કહેવામાં આવ્યા છે

કાળ પુદ્ગલ અને જીવ અનેક દ્રવ્ય છે કાલ દ્રવ્ય સમય આવલિકા, નિમેષ ક્ષણુ લવ આદિ રૂપથી અનેક દ્રવ્ય છે. પુદ્ગલ પણુ અનેક દ્રવ્ય છે કારણુ કે પરમાણુઓ તથા દ્વયણુકોથી લઈને અનન્તાનન્તાણુક સ્કંધોની સત્તા સ્વતંત્ર છે પૃથ્વીકાય, અપ્કાય, તેજસ્કાય, વાયુકાય, વનસ્પતિકાય બેઇન્દ્રિય તેઇન્દ્રિય, ચતુરિન્દ્રિય, પંચેન્દ્રિય આદિ જીવોની પોત-પોતાની સ્વતંત્ર સત્તા છે

એવી જ રીતે ધર્મ, અધર્મ અને આકાશ દ્રવ્ય અક્રિય અર્થાત્ ગમન રૂપ ક્રિયાથી રહિત છે. ક્રિયા રૂપ પરિણુમનથી યુકત દ્રવ્ય આભ્યંતર કારણુ છે અને પ્રેરણા આદિ બાહ્ય કારણુ છે આ બંને કારણોથી દ્રવ્યની દેશાતર પ્રાપ્તિ (એક સ્થળેથી બીજે સ્થળે પહોચવુ) રૂપ પર્યાય ક્રિયા કહેવાય છે આ ક્રિયા ધર્મ આદિ ત્રણુ દ્રવ્યોમાં થઈ શકતી નથી

આ પ્રકારે પુદ્ગલ અને જીવમા થનારી દેશાંતર પ્રાપ્તિ રૂપ જે વિશેષ ક્રિયા છે તેનો જ ધર્મ આદિ ત્રણુ દ્રવ્યોમા નિષેધ કરવામા આવ્યો છે એવુ નહી સમજી લેવુ જોઈએ કે એમનામા ઉત્પાદ વ્યય અને ધ્રૌવ્ય રૂપ ક્રિયા પણુ નથી જો એમનામા સત્તા છે તો ઉત્પાદ અને વ્યયનુ હોવુ પણુ અનિવાર્ય છે ઉત્પાદ વ્યય અને ધ્રૌવ્ય વગર કોઇ પણુ વસ્તુ સત્ થઈ શકતી નથી આથી દ્રવ્ય હોવાના કારણે જેમ મુકતાત્માઓમા ઉત્પાદ વ્યય અને ધ્રૌવ્ય માનવામા આવે છે તેવી જ રીતે ધર્મ આદિ દ્રવ્યોમા પણુ મનાય છે

આ રીતે અવગાહ દેવુ આકાશનુ લક્ષણુ છે અને તેજ તેનો ઉપકાર છે તે ઉપકાર અવગાહ્ય જીવ આદિ વગર અભિવ્યકત થતો નથી આથી અવગાઢ જીવાદિના સંયોગમાત્ર જ અવગાહ છે સંયોગ ઉત્પન્ન થનારી બે વસ્તુઓમા થાય છે, જેમ બે આગળીઓનો સંયોગ એ રીતે અવગાહ દેવુ તે આકાશનો ઉપકાર છે તેવી જ રીતે ધર્મ અને અધર્મનો ઉપકાર ગતિ અને સ્થિતિમા સહાયક હોવાનો છે તે પણુ ગતિમાન અને સ્થિતિમાન દ્રવ્યોનો સંયોગમાત્ર છે આ કારણુથી ધર્મ અને અધર્મ દ્રવ્ય પણુ ઉત્પાદ વ્યય વગેરે સ્વભાવવાળા છે વગેરે પ્રશ્નોનુ સમાધાન થઈ જાય છે

આ સૂત્રનો આશય એ છે કે જેમ જીવ અને પુદ્ગળમા એક જગાએથી બીજી જગાએ જવાની વિશેષ ક્રિયા થાય છે, તેવી ક્રિયા ધર્મ આદિ ત્રણુ દ્રવ્યોમા થતી નથી પરંતુ ઉત્પાદ આદિ સામાન્ય ક્રિયા તેમનામા માનવામા કોઈ પણુ દોષ નથી

શંકા—જો ધર્મ વગેરે ત્રણ દ્રવ્યો નિષ્ક્રિય છે તો તેમનામા ઉત્પાદ ઘટિત થતો નથી કારણ કે ઘટ આદિમાં જે ઉત્પાદ દેખાય છે તે ક્રિયાપૂર્વક જ થાય છે, ઉત્પાદના અભાવમાં વ્યય પણ થઇ શકતો નથી આવી સ્થિતિમા બધા દ્રવ્ય ઉત્પાદ વ્યય ધ્રૌવ્યાત્મક છે એ માન્યતા ખંડિત થઈ જાય છે

સમાધાન—ધર્મ આદિ ત્રણ દ્રવ્યોમાં ઘડાની જેમ ક્રિયા નિમિત્તક ઉત્પાદ થતો નથી ત્યાં બીજી જ રીતે ઉત્પાદની કલ્પના કરવામા આવી છે.

ઉત્પાદ બે પ્રકારના છે—સ્વનિમિત્તક અને પરનિમિત્તક અનન્ત અગુરુલઘુ ગુણોનો જે આગમની પ્રમાણતાના આધાર પર વિચાર કરવામા આવે છે અને જે પટ્સ્થાન પતિત વૃદ્ધિ અને હાનિથી પ્રવૃત્ત હોય છે, સ્વભાવથી જ ઉત્પાદ અને વ્યય થાય છે તેને સ્વનિમિત્તક ઉત્પાદ કહે છે અશ્વ આદિની ગતિ સ્થિતિ અને અવગાહનમા કારણ હોવાથી ધર્માદિ દ્રવ્યોમાં ક્ષણે ક્ષણે ભેદ થતો રહે છે અર્થાત્ ધર્મ દ્રવ્ય ક્યારેક અશ્વની કદી મનુષ્યની અને કદી કોઈ પુદ્ગલની ગતિમા સહાયક થાય છે એજ રીતે અધર્મ દ્રવ્ય તેમની સ્થિતિમા સહાયક થાય છે જ્યારે ઘડાને એક જગાએથી ખસેડી બીજી જગ્યાએ મુકવામા આવે છે ત્યારે પહેલાનાં આકાશ પ્રદેશોથી તેનો વિભાગ અને બીજી જગ્યાના આકાશ પ્રદેશોથી સાથે સયોગ થાય છે આ સયોગ–વિભાગની ઉત્પત્તિ અને વિનાશ જ આકાશનો ઉત્પાદ–વિનાશ છે આ પરનિમિત્તક ઉત્પાદ–વિનાશ કહેવાય છે ધર્માદિ દ્રવ્ય જો નિષ્ક્રિય છે તો તે જીવો અને પુદ્ગળોની ગતિ આદિમા કારણભૂત કેવી રીતે હોઈ શકે ? એમ કહેવુ ઉચિત નથી, ધર્માદિ દ્રવ્ય આંખની જેમ માત્ર સહાયક જ હોય છે આથી એ દોષ નથી તાત્પર્ય એ છે કે ધર્મ દ્રવ્ય સ્વયગતિમાં પરિણત જીવ–પુદ્ગલોની ગતિમા, અધર્મ દ્રવ્ય સ્વય સ્થિતિમા પરિણત જીવ–પુદ્ગલોની સ્થિતિમા અને આકાશ સ્વય આકાશરૂપ પરિણત અન્ય દ્રવ્યોના અવગાહનમાં સહાયક થાય છે ગતિ આદિની પ્રેરણા કરવી તેમનો સ્વભાવ નથી

જેમ રૂપની ઉપલબ્ધિમા ચક્ષુ નિમિત્ત હોય છે, તો પણ વિક્ષિપ્ત ચિત્ત વાળા માટે તે નિમિત્ત હોતી નથી, એવી જ રીતે ધર્મ, અધર્મ અને આકાશને ક્રિયાહીન માનવા છતા પણ જીવો અને પુદ્ગલો સક્રિય હોવાથી તેમનામા પણ સક્રિયતાની સિદ્ધિ થઈ જાય છે એવી જ રીતે કાલ પણ સક્રિય સિદ્ધ થાય છે આ દ્રવ્યોનો સાથેનુ પ્રકરણ નથી

આગમમા કહ્યુ છે—પ્રત્યેક વસ્તુ ઉત્પન્ન થાય છે, નષ્ટ પણ થાય છે અને કાયમ પણ રહે છે અન્યત્ર પણ કહેલુ છે

જેમ અવગાહ આદિ ગુણ હોવાના કારણે ઉત્પાદ વ્યય, ધ્રૌવ્ય સ્વભાવવાળા છે તેજ રીતે જીવના ગુણ જો ઉત્પાદ આદિ સ્વભાવવા છે તો શુ દોષ આવે ? ॥૧॥

અવગાહક વગર અવગાહન કેવી રીતે થઈ શકે ? ગતિ આદ ઉપકાર પણ આ પ્રકારના છે ? ॥૨॥

દ્રવ્ય, પર્યાયથી સર્વથા ભિન્ન નથી અર્થાત્ કથચિત અભિન્ન છે આવી સ્થિતિમાં પર્યાયનો નાશ થવાથી આકાશ આદિ દ્રવ્યોને સર્વદા નિત્ય કેવી રીતે માની શકાય ? ॥૩॥૫॥

'धम्माधम्मलोगागासेगजीवाणसंखेज्जा पएसा'

મૂળસૂત્રાર્થ—ધર્મ, અધર્મ, લોકાકાશ અને એક જીવના અસખ્યાત અસખ્યાત પ્રદેશ હોય છે ॥૬॥

તત્વાર્થદીપિકા—પહેલા ધર્મ આદિ દ્રવ્યોનુ પ્રરૂપણ કરવામા આવ્યુ હવે તેના પ્રદેશોની સખ્યા દર્શાવવા માટે કહીએ છીએ

ધર્મ અધર્મ લોકાકાશ અને એક જીવમા પ્રત્યેકના અસખ્યાત પ્રદેશ હોય છે ॥૬॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પરમાણુને બાદ કરતાં શેષ બધા જ મૂર્ત અને અમૂર્ત દ્રવ્યોના પ્રદેશ હોય છે અવયવ સ્કધોમા જ હોય છે વ્યવહાર માટે જે કલ્પિત કરવામા આવે છે, તે પ્રદેશ છે અથવા પ્રકૃષ્ટ દેશને કોઈ સ્કધના બધાથી નાના અવયવને, જેનાથી નાનુ કોઈ અવયવ ન હોઈ શકે તેને પ્રદેશ કહેવાય છે જે જુદા પાડી શકાય અગર ભેગા થઈ શકે તે અવયવ કહેવાય છે આ કારણે અમૂર્ત ધર્મ અધર્મ આકાશ કાળ અને જીવ દ્રવ્યોમા અવયવોનો વ્યવહાર હોતો નથી એજ પ્રમાણે અન્ય પરમાણુઓમા પણ અવયવોનો વ્યવહાર હોતો નથી પરમાણુ શિવાય મૂર્ત પુદ્ગલોમા જ અવયવનો વ્યવહાર થાય છે

પ્રદેશોનો વ્યવહાર પરમાણુને છોડીને, બધા દ્રવ્યોમા હોય છે

તાત્પર્ય એ છે કે ધર્મ, અધર્મ આકાશ કાળ અને જીવ દ્રવ્યોનો પરમાણુનો મૂર્તિ વ્યવચ્છિન્ન પ્રદેશ છે પુદ્ગળ દ્રવ્યનો નિરશ દ્રવ્યરૂપ ભાગ પ્રદેશ કહેવાય છે તેનો કોઈ અન્ય પ્રદેશ હોતો નથી આથી જે કદીપણુ વસ્તુથી ભિન્ન ઉપલબ્ધ હોતો નથી તે પ્રદેશ કહેવાય છે અને જે ઈલાયદા થઈને પૃથક્ પ્રતીત થાય છે તેમને અવયવ કહેવામા આવે છે વાસ્તવમા સ્પષ્ટ રૂપથી પ્રતીત થનારા તથા સ્નિગ્ધતા આદિના કારણે સયોગ અને વિભાગવાળા તે અશ અવયવ છે જેમના દ્વારા દ્રવ્ય ભિન્ન કરવામા આવે છે તેઓ સ્કધોમાં જ હોય છે

સ્વભાવથી અથવા પ્રયોગથી જે પૃથક્ કરવામા આવે છે તે અવયવ કહેવાય છે તે અવયવ દ્વયણુકાદિથી લઈને અન્ય જે રૂપી સ્કધ છે તેના જ હોય છે ધર્મ, અધર્મ, આકાશ, કાળ, જીવ અને પરમાણુમા હોતા નથી જુદા-જુદા અવયવોનુ જ્યારે પિન્ડરૂપ પરિણમન થાય છે ત્યારે સ્કધ ઉત્પન્ન થાય છે અને જે એકત્ર છે તેમનો ભેદ થવાથી દ્વયણુક વગેરેની ઉત્પત્તિ થાય છે પરતુ પરમાણુ, ભેદ થવાથી જ ઉત્પન્ન થાય છે આ પ્રકારે અવયવોનો વ્યવહાર પુદ્ગલ દ્રવ્યના વિષયમા જ થાય છે

આ રીતે ૬ છ દ્રવ્યોમાથી ધર્મ, અધર્મ, લોકાકાશ અને એક જીવના અસખ્યાત પ્રદેશ હોય છે જે સહુથી સૂક્ષ્મ હોય નિરવયવ હોય અને સ્કધની સાથે મળેલા હોય તે પ્રદેશ કહેવાય છે સર્વજ્ઞ ભગવાન તેને સાક્ષાત્ જુએ છે, જાણે છે પરતુ આપણે અલ્પ જ્ઞાનવાળા તેમનો સાક્ષાત્કાર કરી શકતા નથી માત્ર એ પ્રકારના ઉપાયથી તેની પ્રરૂપણા કરીએ છીએ

દ્રવ્ય પરમાણુ લઈને પ્રદેશના પરિમાણને સમજી લેવુ જોઈએ એક પરમાણુથી આક્રાન્ત દેશ અવગાહ રૂપ પ્રદેશ છે કહી શકાય કે અવગાહ રૂપ પ્રદેશ આકાશનો જ હોય છે, ધર્મ વગેરેનો નહી કારણ કે અવગાહના આકાશનુ લક્ષણ છે પરતુ એનાથી આપણને કોઈ નુકશાન નથી અવગાહરૂપ પ્રદેશ જ લક્ષણ જાણી લીધા પછી એ પણ જાણી શકાય છે કે લોકાકાશમા આકાશના એક પ્રદેશમા જેટલો ધર્માસ્તિકાયનો પ્રદેશ અવગાહ છે, તે એટલો જ છે અર્થાત

લોકાકાશના એક પ્રદેશ સૂક્ષ્મતમ અશમા ધર્માસ્તિકાયનો જે સૂક્ષ્મતમ અશ વ્યાપ્ત છે, તે જ ધર્માસ્તિકાયનો એક પ્રદેશ કહેવાય છે એવી જ રીતે અધર્માસ્તિકાયના પ્રદેશ સબધી પણ જાણી લેવું જોઈએ

આકાશ અવકાશ આપવામા કામ આવે છે, ધર્મ દ્રવ્ય ગતિમાં ઉપકારક થાય છે, અધર્મ દ્રવ્ય સ્થિતિમાં નિમિત્ત થાય છે આ રીતે બધા પ્રદેશો નું આ અવગાહન લક્ષણ સમજી લેવુ જોઈએ

પ્રત્યેક જીવના અસખ્યાત-અસખ્યાત પ્રદેશ હોય છે આ સત્યને પ્રગટ કરવા માટે સૂત્રમા "એક" શબ્દનો પ્રયોગ કરવામા આવ્યો છે માત્ર જીવ પદનો જ પ્રયોગ કરવામા આવ્યો હોત તો જ્ઞાન-દર્શન-ઉપયોગ સ્વભાવ વાળા જીવ સમૂહના અર્થાત્ બધા જીવોનો ભેગા મળીને અસખ્યાત પ્રદેશ સમજી લેવામા આવત, એક જીવના નહી આમ સકરતા થઈ જાત 'એક" પદનો પ્રયોગ કરવાથી એક-એક જીવના અસખ્યાત પ્રદેશોનો બોધ થાય છે

આ રીતે જીવના અસખ્યાત પ્રદેશ તુલ્ય છે તથાપિ ચામડા વગેરેની જેમ તે સકોચ અને વિસ્તાર સ્વભાવવાળા હોવાના કારણે તે જ જીવપ્રદેશ કદાચિત્ સહુથી નાના કથવા વગેરેના શરીરમા સમાઈ જાય છે અને કદાચિત્ વિસ્તાર પામીને, સખ્યામા તેટલા ને તેટલા જ રહેવા છતાં પણ વિશાળ હાથીના શરીરને વ્યાપ્ત કરી લે છે

એજ પ્રકારથી જીવો અને અજીવોના આધાર ક્ષેત્રરૂપ લોકાકાશના પણ અસખ્યાત જ પ્રદેશ હોય છે, ન તો સખ્યાતા હોય કે ન તો અનન્ત પરતુ સપૂર્ણ લોક આલોક રૂપ આકાશના અનન્ત પ્રદેશ હોય છે, ન સખ્યાતા કે ન અસખ્યાત પ્રદેશ આ વાત આગલા સુત્રમાં કહીશુ

અહી એટલુ સમજી લેવુ જોઈએ જે સખ્યાથી બહાર હોય તે અસંખ્યેય કહેવાય છે અસખ્યાતના ત્રણ ભેદ છે—(૧) જઘન્ય (૨) ઉત્કૃષ્ટ અને (૩) અજઘન્યોત્કૃષ્ટ અથવા મધ્યમાં આ સૂત્રમા જઘન્યોત્કૃષ્ટ અસખ્યાત ગ્રહણ કરેલ છે

જેટલા ક્ષેત્રને પરમાણુ ઘેરે છે, તેટલુ ક્ષેત્ર આકાશનો એક પ્રદેશ કહેવાય છે ધર્મ, અધર્મ લોકાકાશ અને એક જીવના અસખ્યાતા પ્રદેશ બરાબર બરાબર છે સ્થાનાગસૂત્રના ચોથા સ્થાનના ત્રીજા ઉદ્દેશકના ૩૩૪મા સૂત્રમાં કહ્યુ છે-પ્રદેશોના પરિમાણની અપેક્ષાથી ચાર દ્રવ્ય સમાન છે-ધર્માસ્તિકાય, અધર્માસ્તિકાય, લોકાકાશ અને એક જીવ

આમાથી ધર્મ અને અધર્મ દ્રવ્ય ક્રિયારહિત છે અને સમ્પૂર્ણ લોકાકાશને વ્યાપ્ત કરીને સ્થિત છે પ્રત્યેક જીવ અસખ્યાત પ્રદેશી હોવા છતા પણ સકોચ-વિસ્તાર સ્વભાવ હોવાના કારણે નામકર્મ દ્વારા નિષ્પન્ન નાના અગર મોટા શરીરમા રહેતો થકો તેને જ અવગાહન કરીને રહે છે કેવલી સમૂદ્ઘાતના સમયે ચાર સમયોમા અર્થાત્ ચોથા સમયમા સમ્પૂર્ણ લોકને વ્યાપ્ત કરી લે છે અને પછી ચાર સમયોમા ફેલાયેલા પ્રદેશોને સકોચી લે છે એવી રીતે-કેવલી સમૂદ્ઘાતમા આઠ સમય લાગે છે ॥ ૬ ॥

'अलोगागासजीवाणमणंता'

મૂળ સૂત્રાર્થ—અલોકાકાશ અને જીવોના અનન્ત પ્રદેશ હોય છે. ॥ ૭ ॥

તત્વાર્થદીપિકા—જીવ અને અજીવનો આધાર ક્ષેત્ર લોકાકાશ કહેવાય છે લોકાકાશથી આગળ બધી તરફ જે શૂન્ય આકાશ છે તે અલોકાકાશ કહેવાય છે અહીં સમ્પૂર્ણ આકાશ અભિપ્રેત છે અર્થાત્ સમ્પૂર્ણ આકાશના અને જીવોના અર્થાત્ જ્ઞાન, દર્શન રૂપ ઉપયોગવાળા સકળ નારકી, દેવતા, તિર્યંચો અને મનુષ્યોના અનન્ત જેમનો અ ત નથી, પ્રદેશ હોય છે અર્થાત્ તેમના ન તો સ ખ્યાત પ્રદેશ હોય છે અથવા ન અસ ખ્યાતા જ હોય છે

જે લોક અને અલોકમા સમ્પૂર્ણ રીતે પ્રકાશમાન હોય છે તે આકાશ કહેવાય છે ॥ ૭ ॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પૂર્વસૂત્રમા ધર્મ, અધર્મ, લોકાકાશ અને એક જીવના અસ ખ્યાત પ્રદેશ કહ્યા છે હવે સમસ્ત આકાશના અને સમસ્ત જીવોના અનન્ત પ્રદેશોની પ્રરૂપણા કરવા માટે કહીએ છીએ-અલોક શબ્દ અહીં ઉપલક્ષણ છે આથી તેનો અર્થ છે સમસ્ત આકાશ જેમા લોક અને અલોક-બ નેનો સમાવેશ થઈ જાય છે આ રીતે સમ્પૂર્ણ આકાશના તથા નારકી આદિ સમસ્ત જીવસમૂહના અનન્ત પ્રદેશ હોય છે

શ કા—અવગાહ આપવુ આકાશનો ઉપકાર છે, આનો ફલિતાર્થ એ છે કે અવગાહ આપવાના કારણે જ તે આકાશ કહેવાય છે, આ આકાશનુ લક્ષણ લોકાકાશમા જ મળી આવે છે, અલોકાકાશમાં નહીં કારણ કે અલોકાકાશમા કોઈ જીવ અગર પુદ્ગલાદિ અવગાઢ નથી આથી ત્યાં અવગાહ થવુ અશક્ય છે

સમાધાન—જેવી રીતે ધર્મ આદિ સ જ્ઞામાત્ર છે તેવી જ રીતે "આકાશ" પણ એક દ્રવ્યની અનાદિકાળથી ચાલી આવેલી સ જ્ઞા માત્ર જ છે

અથવા—લોકાકાશમા પણ અવગાહ આપવાની શક્તિ તો વિદ્યમાન જ છે પર તુ ત્યા જીવ પુદ્ગલ આદિ કોઈ અવગાહક નહીં હોવાથી તે શક્તિ પ્રગટ થતી નથી જો ત્યાં કોઈ અવગાહક હોત તો તે પણ અવગાહ પરિણામથી થાત અર્થાત્ જગ્યા આપત પર તુ ત્યા કોઇ અવગાહક છે જ નહીં આ રીતે અલોકાકાશ પણ અવકાશ આપવાની શક્તિવાળુ હોવાથી તે આકાશ જ કહેવાય છે

અથવા—અલોકાકાશની જેમ હોવાથી ઉપચારથી આકાશ કહેવાય છે કારણ કે ત્યા પોલાણ દેખાય છે

ભાવાર્થ એ છે કે લોકાકાશ અને અલોકાકાશ કોઈ બે જુદા જુદા દ્રવ્ય નથી આકાશ એક અખ ડ દ્રવ્ય છે જે સર્વવ્યાપી છે પર તુ તેના જે ભાગમા ધર્માદિ દ્રવ્ય અર્થાત્ પ ચાસ્તિકાય અવસ્થિત છે, તે ભાગ લોક, અને, જે ભાગમા ધર્માદિ દ્રવ્ય નથી તે અલોકાકાશ કહેવાય છે આ રીતે આકાશના જે બે ભેદ કરવામા આવ્યા છે તે પરનિમિત્તક છે, સ્વનિમિત્તક નથી આકાશ પોતાના સ્વરૂપથી એક અને અખ ડ છે

શ કા—નિત્ય હોવાના કારણે આકાશમા ઉત્પાદ, વ્યય અને ધ્રૌવ્ય કેવી રીતે ઘટીત થઈ શકે છે ? આ લક્ષણ ન હોવાથી તે વસ્તુ પણ થઈ શકે નહીં કાગણકે જેમા ઉત્પાદ વગેરે હોય તેને જ વસ્તુ કહી શકાય છે

સમાધાન—આકાશમા સ્વાભાવિક પરિણમન થાય છે આથી તેમા પણ ઉત્પાદ વ્યય અને ધ્રૌવ્ય ઘટીત થાય છે જીવો અને પુદ્ગલોમા પ્રયોગ–પરિણામથી પણ ઉત્પાદ આદિ થાય છે. પ્રજ્ઞાપનાના ત્રીજા પદના ૪૧મા સૂત્રમા કહ્યુ છે–

આકાશસ્તિકાય પ્રદેશોની અપેક્ષાએ અનન્તગણા છે ॥ ૭ ॥

पोग्गलाणं संखेज्जा असंखेज्जा अणंता य नो परमाणूण

મૂળ સૂત્રાર્થ—પુદ્ગલોના સખ્યાતા અસખ્યાતા અને અનન્ત પ્રદેશ હોય છે, પરતુ પરમાણુઓના પ્રદેશ હોતાં નથી ॥ ૮ ॥

તત્વાર્થદીપિકા—પૂરણ અને ગલન સ્વભાવવાળા પરમાણુથી લઇને અચિત્ત મહાસ્કધ સુધીના વિવિધ પ્રકારના રૂપ રસ આદિથી યુકત પુદ્ગલોનાં પૂર્વોકત સ્વરૂપવાળા પ્રદેશ યથા-સભવ સખ્યાતા, અસખ્યાતા તેમજ અનન્ત હોય છે જે પુદ્ગલ સ્કધ સખ્યાતા પરમાણુ-ઓના મિલનથી બન્યુ છે તે સખ્યાતપ્રદેશી। જે અસખ્યાત પરમાણુઓના સયોગથી બન્યું હોય તે અસખ્યાત પ્રદેશી તથા જે પુદ્ગલસ્કધની ઉત્પત્તિ અનન્તપ્રદેશોથી થઇ હોય તે અનન્તપ્રદેશી કહેવાય છે પરતુ પરમાણુમા પ્રદેશ હોતા નથી આથી તે નથી સંખ્યાતપ્રદેશી નથી અસખ્યાતપ્રદેશી અથવા નથી અનન્તપ્રદેશી ॥ ૮ ॥

તત્વાર્થનિર્યુકિત—પૂર્વસૂત્રમા ધર્મ વગેરે અમૂર્ત્ત દ્રવ્યોનાં પ્રદેશોનુ પરિમાણુ બતા-વવામા આવ્યુ હવે મૂર્ત્ત પુદ્ગલોના પ્રદેશોનુ પરિમાણુ દર્શાવવા અર્થે કહીએ છીએ-

દ્વયણુકથી લઈને મહાસ્કધ સુધીના પુદ્ગલોમાં યથાયોગ્ય સખ્યાતા અસંખ્યાતા અને અનન્ત પ્રદેશ હોય છે

કોઈ કોઈ દ્વયણુક આદિ પુદ્ગલસ્કધના સખ્યાત પ્રદેશ હોય છે, કોઈ-કોઈ પુદ્ગલને અસખ્યાતા તો કોઈ કોઇને અનન્ત પ્રદેશ હોય છે અહી શકા થઇ શકે કે કોઈ-કોઈ પુદ્ગલને અનન્તાનન્ત પ્રદેશ પણુ હોય છે તો તેમનુ પણુ ઈલાયદુ વિધાન કરવુ જોઇતુ હતુ પરતુ આવુ કરેલ નથી અનન્તાનન્ત પણુ અનન્તનો જ એક ભેદ છે આથી સામાન્ય રૂપથી અનન્ત કહેવાથી અનન્તાનન્તનુ પણુ ગ્રહણુ થઇ જાય છે અનન્તના ત્રણુ ભેદ છે-પરિતાનન્ત, યુકતાનન્ત અને અનન્તાનન્ત આ બધાનુ અનન્તમાં જ ગ્રહણુ થઇ જાય છે

પ્રશ્ન—લોકાકાશના પ્રદેશ અસખ્યાતા જ છે, એવી સ્થિતિમા તેમા અનન્તપ્રદેશી અને અનન્તાનન્ત પ્રદેશી સ્કધ કેવી રીતે સમાઈ શકે છે? આનાથી તો પ્રતીત થાય છે કે પ્રદેશ અનન્ત નથી અથવા લોકાકાશ પણુ અનન્ત પ્રદેશી છે

ઉત્તર—પુદ્ગલોમા સૂક્ષ્મ રૂપથી પરિણુત થઈ અવગાહન કરવાની શકિત છે આથી સૂક્ષ્મ રૂપમાં પરિણુત થઈને તેઓ એક જ આકાશપ્રદેશમા અનન્તાનન્ત સુધી સમાઇ જાય છે આથી અસખ્યાત પ્રદેશી લોકાકાશમા અનન્ત પ્રદેશી સ્કધોનો સમાવેશ થવામા કોઈ વિરોધ નથી

સામાન્ય રૂપથી પુદ્ગલોના પ્રદેશ કહેવાથી પરમાણુના પણુ પ્રદેશ હોવાની શકયતા હોઈ શકે છે આથી તેનુ નિવારણુ કરવા માટે કહીએ છીએ-"**नो परमाणूनाम्**" અર્થાત્ પરમાણુરૂપ પુદ્ગલોના પ્રદેશ હોતા નથી, તે સ્વય એક પ્રદેશવાળુ હોય છે જેવી રીતે આકાશના એક પ્રદેશમા પ્રદેશ ભેદ હોતો નથી તેવી જ રીતે પરમાણુમા પણુ પ્રદેશ ભેદ હોતો નથી- તે જાતે જ એક પ્રદેશ માત્ર જ છે

પરમાણુ, પુદ્ગલનુ સહુથી નાનું દ્રવ્ય છે તેનાથી નાનો અન્ય કોઇ પુદ્ગલ નથી આથી પરમાણુમાં પ્રદેશભેદની કલ્પના જ કરી શકાતી નથી જેમ આકાશના એક પ્રદેશમાં પ્રદેશભેદનો અભાવ છે અને તે સ્વય જ અપ્રદેશી છે, તેવી જ રીતે અશરહિત એક પરમાણુમા પણ પ્રદેશ હોતા નથી એક પરમાણુનો વિભાગ કોઇ કરી શકતો નથી કહ્યુ પણ છે-"પરમાણુથી નાનો અને આકાશથી મોટો કોઈ પદાર્થ નથી"

આવી સ્થિતિમા જ્યારે અણુથી નાનુ કોઈ દ્રવ્ય હોઇ જ શકતુ નથી તો અણુમા પ્રદેશભેદ કઇ રીતે સભવી શકે ?

વાસ્તવમાં અણુમા પૂર્તિ કરનાર, પરિણામિકારણ મૂળ દ્રવ્ય હોતા નથી અથવા પરમાણુના પણ પ્રદેશ હોત તો તે અન્ત્ય ન કહેવાત અર્થાત્ તેને નિર્વિભાગ કહેવામા ન આવત પ્રજ્ઞાપના સૂત્રનાં પાંચમાં પદમા કહ્યુ છે—

પ્રશ્ન—ભગવત ! રૂપી અજીવદ્રવ્ય અર્થાત્ પુદ્ગલ કેટલા પ્રકારના કહ્યાં છે ?

ઉત્તર—હે ગૌતમ ! ચાર પ્રકારના (૧) સ્કધ (૨) સ્કધદેશ (૩) સ્કધપ્રદેશ અને (૪) પરમાણુ પુદ્ગલ અનન્ત છે, દ્વિપ્રદેશી સ્કધ અનન્ત છે એવી જ રીતે દશ પ્રદેશી સ્કધ અનન્ત છે, સખ્યાત પ્રદેશી સ્કધ અનન્ત છે, અસખ્યાત પ્રદેશી સ્કધ અનન્ત છે, અનન્ત પ્રદેશી સ્કધ અનન્ત છે ॥ ૮ ॥

'धम्माधम्मागास कालपोग्गलजीवा लोगो'

મૂળ સૂત્રાર્થ—ધર્મ, અધર્મ, આકાશ, કાળ, પુદ્ગલ અને જીવ એ છ એ દ્રવ્ય લોક કહેવાય છે ॥ ૯ ॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પહેલા લોકનુ કથન કર્યું હવે તેનો અર્થ કહીએ છીએ-ધર્મ, અધર્મ, આકાશ, કાળ, પુદ્ગલ અને જીવ એ છ દ્રવ્યને લોક એ પ્રમાણે કહેવામાં આવે છે જીવ-અજીવનુ આધારક્ષેત્ર લોક કહેવાય છે કારણકે જ્યા ધર્મ આદિ પદાર્થ લોક તરીકે દેખી શકાય તે લોક આ લોક શબ્દની વ્યુત્પત્તિ છે ॥ ૯ ॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—ધર્મ, અધર્મ, લોકાકાશ અને એક જીવના અસખ્યાત પ્રદેશ છે એ સૂત્રમા લોક પદ ગ્રહણ કરેલ છે આથી તેના અર્થનુ પ્રજ્ઞાપન કરવા માટે કહીએ છીએ ધર્મ, અધર્મ, આકાશ, કાળ, પુદ્ગલ અને જીવ એ છએ દ્રવ્ય લોક કહેવાય છે

ઉત્તરાધ્યયન સૂત્રના ૨૮મા અધ્યયનની ગાથા ૮મીમા કહ્યુ છે-સર્વદર્શી જિનેન્દ્રોએ ધર્મ, અધર્મ, આકાશ, કાળ, પુદ્ગલ અને જીવને લોક કહ્યા છે

આનાથી એવુ સાબિત થાય છે કે જીવોનુ તથા અજીવ ધર્મ અધર્મ આકાશ કાળ, પુદ્ગલનુ જે-આધારક્ષેત્ર છે, તે લોક છે લોકથી આગળ અલોક છે જીવ આદિ દ્રવ્ય લોકમા જ હોય છે, અલોકમા આકાશ સિવાય બીજી કોઈ વસ્તુ નથી અલોક અન્ય દ્રવ્યોથી શૂન્ય છે

આ સૂત્રમા એ પણ પ્રગટ કરવામા આવ્યુ છે કે ધર્માદિ દ્રવ્ય સ્વય પણ લોક કહેવાય છે આ અર્થમાં લોક શબ્દની વ્યુત્પત્તિ આમ થાય છે-"लोक्यते इति लोक" અર્થાત્ જે જોઈ શકાય તે લોક ॥ ૯ ॥

ओगाहो लोगागासे नो अलोगागासे

મૂળસૂત્રાર્થ—અવગાહ લોકાકાશમા થાય છે અલોકાકાશમાં નહી

તત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વોકત ધર્મ આદિ દ્રવ્યોનાં અવગાહન. અવગાહ પ્રવેશ, પ્રતિષ્ઠા અગર વ્યાપના લોકાકાશમા જ થાય છે, લોકાકાશથી બહાર અલોકાકાશમા નહી જ્યાં ધર્મ આદિ પદાર્થ જોઈ શકાય છે તે લોક કહેવાય છે અને લોક સબધી આકાશ લોકાકાશ કહેવાય છે ॥ ૧૦ ॥

તત્વાર્થનિર્યુકિત—ધર્મ આદિ દ્રવ્યોનો અવગાહ અથવા સ્થિતિ લોકાકાશમાં છે. તે લોકાકાશ ધર્માસ્તિકાય અને અધર્માસ્તિકાયથી વ્યાપ્ત છે આ બંને દ્રવ્ય અનાદિકાળથી એક બીજા સાથે મળેલા લોકમા અવસ્થિત છે પુદ્ગલો અને જીવોની અવગાહના પણ લોકાકાશમાં અનાદિકાલીન છે પરતુ તેમનામા ગતિક્રિયા હોવાથી તે ધર્મ, અધર્મની માફક અવસ્થિત નથી. તેમની અવગાહના કયારેક કોઈ આકાશપ્રદેશો સાથે હોય છે. અને કદી કોઈ અન્ય પ્રદેશની સાથે.

લોકથી ભિન્ન અલોકાકાશમા જીવાદિ હોતાં નથી કારણ કે ત્યાં અધર્મ દ્રવ્ય નથી અને તે જ ગતિ તથા સ્થિતિનાં નિમિત્ત હોય છે

શકા—અલોકાકાશમાં ગતિનો ઉપગ્રાહક ધર્મ તથા સ્થિતિનો ઉપગ્રાહક અધર્મ કેમ નથી ?

સમાધાન—ધર્મ અને અધર્મનો સ્વભાવ જ એવો છે કે તેઓ અલોકાકાશમાં રહેતા નથી સ્વભાવના વિષયમા પ્રશ્નનો કઈ અવકાશ જ અત્રે નથી આથી જ કહ્યું છે ધર્મ આદિનો અવગાહ લોકાકાશમા જ છે

શંકા—ધર્માદિ દ્રવ્યનો લોકાકાશમા અવગાહ હોવાથી જો લોકાકાશ ધર્માદિનો આધાર છે તો લોકાકાશનો આધાર કયો ?

સમાધાન—લોકાકાશ પોતે જ પોતાના સહારે ટકેલો છે તેના માટે બીજા કોઈ આધારની આવશ્યકતા નથી

શકા—જેમ આકાશ પોતે જ પોતાના સહારે રહેલ છે તેવી જ રીતે ધર્માદિ પણ પોતાના સહારે રહી શકે છે તેમનો આધાર આકાશ માનવાની શુ જરૂરીયાત છે ? જો ધર્માદિનો જુદો આધાર-આકાશ સ્વીકાર કરવામા આવે તો આકાશનો પણ બીજો આધાર માનવો જોઈએ નહી ? આવી સ્થિતિમા અનવસ્થા દોષનો પ્રસગ થશે

સમાધાન—આકાશથી અધિક પરિમાણવાળુ અન્ય કોઈ દ્રવ્ય નથી કે જેને આકાશનો આધાર માની શકાય આકાશ ચારે તરફથી અન્તરહિત છે આથી વ્યવહારનય અનુસાર આકાશ ધર્માદિ દ્રવ્યોનો આધાર મનાયો છે પરતુ-નિશ્ચયનયરૂપ તથા ભૂતનયની અપેક્ષાએ બધાં જ દ્રવ્ય સ્વપ્રતિષ્ઠિત છે અર્થાત્ બધા પોત-પોતાના પ્રદેશોમા રહી ગયા છે આ કારણે જ જયારે "આપ કયા રહો છો ?" એવો કોઈ પ્રશ્ન કરે તો જવાબમા કહીએ છીએ "અમારી અદર જ" ધર્માદિ દ્રવ્ય લોકાકાશથી બહાર રહેતા નથી પરતુ લોકાકાશમા જ રહે છે બસ આ કારણથી જ તેમનામા આધાર-આધેયભાવની કલ્પના કરવામા આવે છે

શંકા—લોકમા એવું દેખી શકાય છે કે જેઓ પૂર્વોત્તર કાળભાવી હોય છે તેમનામા જ આધાર-આધેયભાવ હોય છે જેવી રીતે કુડ અને બોર અહી એવુ તો નથી જ કે આકાશ પહેલેથી હતુ અને ધર્માદિ પછીથી આથી વ્યવહારનય અનુસાર પણ આકાશ અને ધર્માદિમા આધાર, આધેયાભાવની કલ્પના કરવામા આવતી નથી

સમાધાન—પૂર્વોત્તરકાલીન પદાર્થોમાં જ આધારાધેયભાવ હોય એવો કોઇ નિયમ નથી. ઘડામા રૂપ છે, શરીરમા હાથ વગેરે છે, અહી એક સાથે હોવાવાળા પદાર્થોમા પણ આધારાધેય ભાવ જોઈ શકાય છે આથી આકાશ અને ધર્માદિ યુગપદ્‌ભાવી પદાર્થોમા પણ આધારાધેયભાવ સગત છે.

આ રીતે ધર્મ, અધર્મ આદિ દ્રવ્ય જ્યાં દેખાય તે લોક છે અહી અધિકરણમા ધર્મ પ્રત્યય થયો છે જયા એવો લોક છે તે લોકાકાશ છે અને તેનાથી બહાર ચારે બાજુ અનન્ત અલોકાકાશ છે ધર્માસ્તિકાય અને અધર્માસ્તિકાયના સદ્‌ભાવ અને અસદ્‌ભાવના કારણે જ લોકાકાશ અને અલોકાકાશના વિભાગ છે-હકીકતમા તો આકાશ ખન્ડરહિત એક દ્રવ્ય છે

ધર્માસ્તિકાય ન હોત તો જીવો અને પુદ્‌ગલોની ગતિનુ નિયામક કારણ ન રહેવાથી આ વિભાગ પણ ન હોત એવી જ રીતે અધર્માસ્તિકાયના અભાવમાં સ્થિતિનુ નિમિત્ત કારણ ન હોત તો સ્થિતિનો જ અભાવ થઈ જાત. આવી દશામા લોક-અલોકના વિભાગ પણ ન હોત આથી જીવો અને પુદ્‌ગલોની ગતિ અને સ્થિતિના નિયામક ધર્માસ્તિકાય અને અધર્માસ્તિકાયના સદ્‌ભાવ અને અસદ્‌ભાવના કારણે જ લોક અને અલોકના વિભાગ થાય છે

શકા—સ્થિતિમા સહાયક અધર્માસ્તિકાય માત્ર લોકમાં જ છે, આગળ નથી, તો અલોકાકાશની સ્થિતિ કેવા પ્રકારની છે ? આજ પ્રકારે કાલના અભાવમા અલોકાકાશ કેવી રીતે વર્ત્તના કરે છે ?

સમાધાન—તેમની સ્થિતિ અને વર્ત્તના પોત-પોતાના સ્વભાવથી જ થાય છે

આથી ધર્મ, અધર્મ પુદ્‌ગલ કાલ અને જીવ દ્રવ્યોની અવગાહના લોકાકાશમા જ છે તેનાથી આગળ અલોકાકાશમા તેમની અવગાહના નથી શ્રી ભગવતી સૂત્ર શતક ૨, ઉદ્દેશક ૧૦મા મા કહ્યુ છે

પ્રશ્ન—ભગવન્ ! આકાશ કેટલા પ્રકારના કહ્યા છે ?

ઉત્તર—ગૌતમ ! બે પ્રકારના-લોકાકાશ અને અલોકાકાશ

પ્રશ્ન—ભગવન્ ! લોકાકાશમા શુ જીવ જીવદેશ, જીવપ્રદેશ, અજીવ-અજીવદેશ અથવા અજીવપ્રદેશ છે ?

ઉત્તર—ગૌતમ ! જીવ પણ છે, જીવદેશ પણ છે, જીવપ્રદેશ પણ છે, અજીવ પણ છે અજીવદેશ અને અજીવપ્રદેશ પણ છે જે જીવ છે તે નિયમથી એકેન્દ્રિય બેઈન્દ્રિય તેઈન્દ્રિય, ચતુરિન્દ્રિય પચેન્દ્રિય અને અનિન્દ્રિય હોય છે જે જીવદેશ છે તે નિયમથી એકેન્દ્રિયદેશ છે યાવત્ અનિન્દ્રિયદેશ છે, જે જીવપ્રદેશ છે તે નિયમથી એકેન્દ્રિયપ્રદેશ છે યાવત્ અનિન્દ્રિય પ્રદેશ છે

જે અજીવ છે તે બે પ્રકારના છે-રૂપી અને અરૂપી રૂપી ચાર પ્રકારના છે જેવા કે સ્કધ સ્કધદેશ સ્કધપ્રદેશ અને પરમાણુપુદ્ગલ

જે અરૂપી છે તે પાચ પ્રકારના છે જેવા કે-ધર્માસ્તિકાય નોધર્માસ્તિકાયદેશ ધર્માસ્તિકાયપ્રદેશ અધર્માસ્તિકાય નોઅધર્માસ્તિકાય દેશ અધર્માસ્તિકાય પ્રદેશ અને અદ્ધાસમય

ત્યારબાદ તે જ ભગવતીસૂત્રના બીજા શતકના દશમા ઉદ્દેશકમા કહ્યુ છે—

ભગવન્ ! અલોકાકાશ શુ જીવ છે ? વગેરે પ્રશ્નો પૂર્વવત્ કરવા તેનો જવાબ પણ તે જ પ્રકારે છે કે હે ગૌતમ ! અલોકાકાશ જીવ નથી તેમજ અજીવપ્રદેશ નથી અજીવ દ્રવ્ય આકાશનો એક દેશ છે, તે અગુરુલઘુ છે, અનન્ત અગુરુલઘુ ગુણોથી સયુક્ત છે, સર્વાકાશથી અનન્ત ભાગ ન્યૂન છે

ઉત્તરાધ્યયનના ૨૮મા અધ્યયનની ૭ મી ગાથામા કહ્યુ છે-"સર્વદર્શી જિનેન્દ્રોએ ધર્મ અધર્મ, આકાશ કાળ પુદ્ગલ અને જીવને લોક કહ્યા છે જ્યા એ દ્રવ્ય નથી ફક્ત આકાશનો દેશ છે તેને અલોક કહેલો છે ॥ ૧૦ ॥

धम्माधम्माणं कसिणे लोगागासे'

મૂળસૂત્રાર્થ—ધર્માસ્તિકાય અને અધર્માસ્તિકાયની અવગાહના સપૂર્ણ લોકાકાશમાં છે ॥ ૧૧ ॥

તત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમા બતાવાયુ કે લોકાકાશમા ધર્મ આદિ દ્રવ્યોના પ્રદેશરૂપ અવગાહ છે પરતુ તે અવગાહ દૂધ અને પાણીની જેમ અને ઝેર અને લોહીની માફક સમસ્ત લોકાકાશના બધા પ્રદેશોને વ્યાપ્ત કરીને હોય છે અથવા તળાવમાં ત્રસજીવ અગર પુરુષ વગેરેની જેમ એક દેશથી હોય છે આ આશકાનુ સમાધાન કરવા માટે અહી કહેવામા આવ્યુ છે કે ધર્મ અને અધર્મદ્રવ્યનો લોકાકાશમા અવગાહ સમ્પૂર્ણ પણાથી તલમા તેલની જેમ છે એક દેશથી નહી ॥ ૧૧ ॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—ધર્માદિ દ્રવ્યોનો લોકાકાશમા અવગાહ છે, એ અગાઉ કહેવાઈ ગયુ છે, પરતુ તે અવગાહ કેવા પ્રકારનો છે એ દર્શાવવા માટે કહ્યુ છે-ધર્માસ્તિકાય અને અધર્માસ્તિકાયનો સપૂર્ણ લોકાકાશમા અવગાહ છે લોકાકાશના કોઈ એક દેશમા નહી

સૂત્રમા 'કૃત્સ્ન' પદનો પ્રયોગ કરીને ધર્મ-અધર્મદ્રવ્યનુ સપૂર્ણ દેશમા વ્યાપ્ત હોવાનુ સૂચિત કરવામા આવ્યુ છે આથી એ સ્પષ્ટ થઈ ગયુ કે જેમ ઘરના કોઈ એક ખુણામા ઘર રહે છે તેવી રીતે લોકાકાશમા ધર્મ અને અધર્મનો અવગાહ નથી બલ્કે તલમા તેલની જેમ અને દૂધમા ઘીની માફક સપૂર્ણ લોકાકાશમા અવગાહ છે આ રીતે અવગાહન શક્તિના કારણે સમસ્ત લોકાકાશમા ધર્મ અને અધર્મ દ્રવ્ય પ્રદેશોનુ પરસ્પર વ્યાઘાત રહિત અવસ્થાન સમજવુ જોઈએ તાત્પર્ય એ છે કે લોકાકાશનો જે એક પ્રદેશ છે તે જ ધર્મદ્રવ્યનો પણ એક પ્રદેશ છે અને તે જ અધર્મદ્રવ્યનો પણ પ્રદેશ છે આ બધા પ્રદેશ વ્યાઘાત વગર જ સ્થિત છે-કોઈના અવસ્થાનમા અવરોધ કરતા નથી

આ પ્રકારે લોકાકાશમા સર્વત્ર ધર્મ, અધર્મનો અવગાહ છે તેનાથી આગળ નથી જેમ ચેતનનુ કાર્ય શરીરમા જ દેખી શકાય છે, બહાર નહી એ કારણે ચેતના શરીરવ્યાપી જ છે— એવી જ રીતે ધર્મ-અધર્મનો ઉપકાર લોકાકાશમા જ દેખી શકાય છે, બહાર નહી આથી તે દ્રવ્ય પણ બહાર નથી

ફલિતાર્થ એ છે કે ધર્મ અને અધર્મદ્રવ્ય દૂધ અને પાણીની જેમ પરસ્પર અવગાહન કરીને સમસ્ત લોકાકાશમા વ્યાપ્ત છે, એવુ નહી કે તળાવમા પુરુષની જેમ અગર ઘરમા ઘરની માફક કોઈ એક ભાગમા હોય એ કૃત્સ્ન શબ્દથી પ્રકટ કરવામા આવ્યુ છે ઉત્તરાધ્યયનના ૩૬મા અધ્યયનની ગાથા ૭ મી મા કહ્યુ છે—

ધર્મ, અને અધર્મ આ બે દ્રવ્ય લોકાકાશમા જ કહેવામા' આવ્યા છે આકાશ લોકાલોકવ્યાપી છે અને કાળ માત્ર સમયક્ષેત્રમા અર્થાત્ અઢી દ્વીપમા જ છે ॥ ૧૧ ॥

पोग्गलाण भयणा प ाइपपसेसु'

મૂળ સૂત્રાર્થ—પુદ્ગલદ્રવ્યના એક પ્રદેશ વગેરેમા ભજના છે ॥ ૧૨ ॥

તત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમા એ દર્શાવી દેવામા આવ્યુ છે કે ધર્મ અને અધર્મની લોકાકાશમા કેવા પ્રકારની અવગાહના છે? હવે લોકાકાશમા પુદ્ગલોનો અવગાહ બતાવવા માટે કહીએ છીએ પરમાણુ આદિ પુદ્ગલ દ્રવ્યોનો અવગાહ લોકાકાશના એક આદિ પ્રદેશોમા થાય છે

એવી જ રીતે અપ્રદેશી પરમાણુના સખ્યાતા અસખ્યાતા તથા અનન્ત પ્રદેશવાળા સ્કધ દ્રવ્યોનુ એકાદિ આકાશપ્રદેશોમા ભજનાથી અવગાહ સમજવો જોઈએ આમાથી પરમાણુનો તો એક જ આકાશપ્રદેશમા અવગાહ થાય છે, દ્વયણુકનો એક અગર બે પ્રદેશોમા ત્ર્યણુકનો એક, બે અથવા ત્રણ પ્રદેશોમા ચતુરણુક તથા પચાણુક આદિ સખ્યાતા-અસખ્યાતા પ્રદેશી સ્કધનો એક આદિ સખ્યાતા અગર અસખ્યાતા પ્રદેશોમા અવગાહ થાય છે ત્યા સુધી કે અનન્તપ્રદેશી સ્કન્ધનો પણ એક, બે સખ્યાતા અથવા અસખ્યાતા પ્રદેશોમા અવગાહ થાય છે ॥ ૧૨ ॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પૂર્વસૂત્રમા અમૂર્ત ધર્મ-અધર્મ દ્રવ્યોનુ સપૂર્ણ લોકાકાશમા અવગાહ હોવાનુ પ્રતિપાદન કર્યું હવે તેમનાથી વિપરીત મૂર્તિમાન્ અપ્રદેશી, સખ્યાતપ્રદેશી અસખ્યાતપ્રદેશી અને અનન્તપ્રદેશી પરમાણુ આદિ પુદ્ગલોનો લોકાકાશમા-અવગાહનુ નિરૂપણ કરવાના આશયથી કહીએ છીએ-

પરમાણુ આદિ પુદ્ગલદ્રવ્યોનો અવગાહ ભજનાથી એક આદિ આકાશપ્રદેશોમા થાય છે અર્થાત્ કોઈ પુદ્ગલનો એક પ્રદેશમા, કોઈના બે પ્રદેશોમા તથા કોઈનો સખ્યાતા અસખ્યાતા પ્રદેશોમાં અવગાહ થાય છે

પરમાણુનો એક આકાશ પ્રદેશમા, બદ્ધ અગર અબદ્ધ દ્વયણુકનો એક અગર બે આકાશ-પ્રદેશોમા અવગાહ થાય છે બદ્ધ અગર અબદ્ધ ત્ર્યણુકનો એક, બે અગર ત્રણ પ્રદેશોમા અવગાહ થાય છે એવી જ રીતે સખ્યાતા, અસખ્યાતા તથા અનન્તપ્રદેશવાળા પુદ્ગલ સ્કધોનો લોકાકાશના એક, સખ્યાતા અથવા અસખ્યાતા પ્રદેશોમા અવગાહ સમજવો જોઈએ

શંકા—અમૂર્ત્ત હોવાના કારણે ધર્મ અને અધર્મ દ્રવ્યોનુ એક જ આકાશપ્રદેશમા વિના વિરોધ અવસ્થાન હોવુ તો શકય છે પરતુ રૂપી પુદ્ગલદ્રવ્ય એક જ સ્થાન ઉપર કઈ રીતે રહી શકે છે? મૂર્ત્ત દ્રવ્ય પરસ્પર પ્રતિઘાતી હોય છે

સમાધાન—પોતાના અવગાહન સ્વભાવના કારણે તથા સૂક્ષ્મ રૂપમા પરિણત થવાના કારણે મૂર્ત્તિમાન પુદ્ગલોનો પણ એક જગ્યાએ અવગાહ થવામા કોઈ વિરોધ નથી જેમ એક ઓરડામા અનેક દીવાઓના પ્રકાશનુ હોવુ પ્રત્યક્ષથી સિદ્ધ છે તેવી જ રીતે એક જ આકાશ-પ્રદેશમાં અનેક પરમાણુ સમૂહ રૂપ સ્કધ પણ રહી શકે છે આ શિવાય આગમની પ્રમાણતાથી પણ આનો સ્વીકાર કરવો ઘટે

નિર્વિભાગ હોવાના કારણે પરમાણુ પ્રદેશવિહીન હોય છે તેમાં કોઈ પ્રદેશ હોતો નથી, તે સ્વતત્ર અને અખડ હોય છે સખ્યાત પરમાણુઓના પ્રચયથી સખ્યાતપ્રદેશી સ્કધ બને છે અસખ્યાત પરમાણુઓના મીલનથી અસખ્યાત પ્રદેશી સ્કધનુ નિર્માણ થાય છે અને અનતપ્રદેશી સ્કધના મિલનથી અનન્તપ્રદેશી સ્કધની ઉત્પત્તિ થાય છે

પરમાણુમા પ્રદેશોનો અભાવ હોવાથી તે આકાશના એક જ પ્રદેશમાં અવસ્થિત થાય છે બે પરમાણુઓથી બનેલ દ્વયણુક જો બદ્ધ હોય તો એક જ આકાશ પ્રદેશમા સમાઈ જાય છે અને જો બદ્ધ ન હોય તો બે આકાશપ્રદેશોમા સમાય છે એવી જ રીતે ત્રણ પરમાણુઓથી નિર્મિત ત્ર્યણુક જો બદ્ધ હોય તો એક જ આકાશપ્રદેશમાં રહી શકે છે અને જો અબદ્ધ હોય તો બે અગર ત્રણ પ્રદેશોને ઘેરે છે એવી જ રીતે બદ્ધ અને અબદ્ધ ચતુરણુક આદિની અવગાહના એક, બે આદિ સખ્યાત–અસખ્યાત પ્રદેશોમાં યથાયોગ્ય સમજવી ઘટે અલબત્ત એટલુ યાદ રાખવુ જોઈએ કે લોકાકાશના પ્રદેશ અસખ્યાત જ છે, અનન્ત નહી, આથી અનન્ત તથા અનન્તાનન્ત પ્રદેશવાળા સ્કધ પણ એક, સંખ્યાત અગર અસખ્યાત આકાશ-પ્રદેશોમા જ અવગાઢ થાય છે આ પુદ્ગલના પરિણમનની વિચિત્રતા છે. ॥ ૧૨ ॥

'जीवाणं लोगस्स असंखेज्जइभागे' इत्यादि

મૂળસૂત્રાર્થ—જીવદ્રવ્યનો અવગાહ લોકનાં અસખ્યાતમાં ભાગમાં થાય છે. જેમ દીપકનો પ્રકાશ પથરાય છે અને સકોચાય પણ છે તેવી જ રીતે જીવપ્રદેશ પણ પ્રસરે છે અને સકોચાય છે ॥ ૧૩ ॥

તત્વાર્થદીપિકા—જીવોનો અવગાહ કેટલા ક્ષેત્રમાં થાય છે એવી જિજ્ઞાસા થતા કહીએ છીએ—

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પૂર્વસૂત્રમાં પુદ્ગલોના અવગાહન પ્રકાર પ્રદર્શિત કરીને હવે જીવોની અવગાહનાનુ નિરૂપણ કરીએ છીએ—

જીવોનો અવગાહ લોકાકાશના અસખ્યાત ભાગ વગેરેમાં થાય છે તાત્પર્ય એ છે કે કદાચિત્ એક જીવનો અવગાહ લોકાકાશના અસખ્યાત ભાગોમાથી એક ભાગમા થાય છે, કોઈનુ બે અગર ત્રણ ભાગોમા થાય છે જુદા જુદા જીવોનો અવગાહ સપૂર્ણ લોકમા છે

એમ કહી શકાય કે જો લોકાકાશના અસખ્યાતમા ભાગમાં એક જ જીવ અવગાહન કરી લે તો અનન્તાનન્તસખ્યક જીવ શરીરસહિત કઈ રીતે આ લોકમા સમાઈ શકે છે ? આનો જવાબ એ છે કે લોકાકાશમા સૂક્ષ્મ અને બાદરના ભેદ હોવાથી અવગાહના અશક્ય નથી જે જીવ બાદર છે તેમના શરીર પ્રતિઘાતયુક્ત હોય છે પરતુ જે સૂક્ષ્મ છે તે શરીરસહિત હોવા છતા પણ સૂક્ષ્મ હોવાના કારણે એક જ આકાશપ્રદેશમા અનન્તાનન્ત સમાઈ જાય છે તેઓ એક બીજાના અવસ્થાનમા પણ અવરોધ કરતા નથી આ રીતે લોકાકાશના અસખ્યાત પ્રદેશોમા અનન્તાનન્ત જીવોની અવગાહના હોવી વિરુદ્ધ નથી

આ રીતે કદાચિત્ લોકાકાશના એક અસખ્યાતમા ભાગમા કદાચ બે અસખ્યાત અને કદાચિત્ ત્રણ અસખ્યાત ભાગોમા જીવોનો અવગાહ હોય છે આ પ્રકારે બધા લોકાકાશના અસખ્યાત પ્રદેશ હોય છે તે અસખ્યાત આગલીના અસખ્યેય ભાગ પ્રમાણ પ્રદેશોથી કલ્પના દ્વારા વિભક્ત થાય છે તેમાથી જઘન્ય એક જીવના અસખ્યાતપ્રદેશવાળા એક આકાશખડમા અવગાહ થાય છે, કાર્મણ શરીરના અનુસારી હોવાથી કોઈ જીવ બે અસખ્યાતપ્રદેશ પરિમિત આકાશખડમા અવગાહન કરે છે, કોઈ જીવ ત્રણ અસખ્યાતપ્રદેશ પરિમિત આકાશખડમા અવગાહન કરે છે, કોઈ ચાર આકાશખડોમા વ્યાપ્ત થઈને રહે છે ઈત્યાદિ રૂપથી કોઈ જીવ સપૂર્ણ લોકાકાશમા વ્યાપ્ત થઈને રહે છે પરતુ સપૂર્ણ લોકાકાશને કેવળી જ કેવલિસમુદ્ધાતના સમયમા વ્યાપ્ત કરે છે, અન્ય કોઇ જીવ નહી તે લોકથી બહાર અલોકાકાશના એક પણ પ્રદેશમા જતા નથી

શકા—એક જીવના પ્રદેશ લોકાકાશની બરાબર અસખ્યાત છે, આવી સ્થિતિમા લોકના અસખ્યાતમા ભાગમા તેનો સમાવેશ કેવી રીતે થઇ શકે ? તેને તો સપૂર્ણ લોકાકાશમા જ વ્યાપ્ત થવુ જોઇએ

સમાધાન—જીવના પ્રદેશોમા દીપકના પ્રકાશની માફક સકોચ-વિસ્તાર થાય છે આથી લોકાકાશના અસખ્યાત ભાગ આદિમા તેનો સમાવેશ થઈ જાય છે જેવી રીતે મોટા ઓરડામા દીવો રાખવામાં આવે તો તેનો પ્રકાશ તે સપૂર્ણ ઓરડામા પ્રસરેલો રહે છે અને જો તેને નાના ઓરડામા (જગ્યામા) રાખવામા આવે તો પ્રકાશ સકોચાઈને નાના સ્થાનમા સમાઈ જાય છે તેવી જ રીતે જીવના પ્રદેશ પણ નામ કર્મ દ્વારા પ્રાપ્ત શરીર અનુસાર સકુચિત અને વિસ્તૃત થઈ જાય છે કોઇ જીવ લોકના એક અસખ્યાત ભાગમા સમાઇ જાય છે અને કોઈ જીવ કેવળિસમુદ્ઘાતના સમયે વિસ્તારને પ્રાપ્ત થઈને સમસ્ત લોકાકાશને વ્યાપ્ત કરી લે છે આ બંનેની વચ્ચે મધ્યમ અવગાહના પણ અનેક પ્રકારની થાય છે

આ કથનથી આ આશકાનુ પણ સમાધાન થઇ જાય છે કે જ્યારે જીવના અસખ્યાત પ્રદેશ છે અને ઔદારિક શરીરની સાથે તેનો સબધ છે તો કોઇના થોડા પ્રદેશોમા અને

કોઈના ઘણા પ્રદેશોમાં અવગાહ થાય આ વિષયમાં કોઇ હેતુ નથી, સમાન પરિમાણવાળા પટ આદિના અવગાહમાં કોઇ પ્રકારની વિષમતા જોવામા આવતી નથી કારણુ કે જીવના પ્રદેશોમાં સકુચિત અને વિસ્તૃત થવાનો સ્વભાવ છે જેમ વસ્ત્રમાં સકોચ-વિસ્તાર જોવામાં આવે છે, પ્રદીપના પ્રકાશમાં તથા ચામડામાં પણુ સકોચ-વિસ્તાર થાય છે તેવી જ રીતે જીવના પ્રદેશોમા પણુ સકોચ વિસ્તારનો સ્વભાવ વિદ્યમાન છે.

જીવ પોતાના સ્વભાવથી અમૂર્ત્ત છે પરંતુ મૂર્ત્ત કર્મોની સાથે બંધાયેલ હોવાના કારણે મૂર્ત્ત થઈ ગયો છે કાર્મણુ શરીર ને લીધે તે મોટુ અગર નાનુ શરીર ધારણુ કરી શકે છે તેના જ કારણે તેના પ્રદેશોમા સકોચ-વિસ્તાર થાય છે આ કારણથી લોકના અસખ્યાતમાં ભાગ વગેરેમા, લોકાકાશના પ્રદેશોની બરાબર પ્રદેશ હોવા છતાં પણુ એક જીવનો અવગાહ સભવિત થાય છે

શકા—જો જીવ પ્રદીપની સમાન સંકોચ-વિસ્તાર સ્વભાવવાળો છે તો પ્રદીપની જેમ અનિત્ય પણુ હોવો જોઈએ

સમાધાન—અનેકાન્તવાદી જૈનોના મતમાં કોઇ પણ વસ્તુ ન તો એકાન્ત નિત્ય છે અથવા ન તો-એકાન્ત અનિત્ય જ છે પ્રત્યેક વસ્તુ દ્રવ્ય-પર્યાયાત્મક છે આથી દ્રવ્યરૂપથી નિત્ય અને પર્યાયરૂપથી અનિત્ય હોવાના કારણે બધામા નિત્યતા તથા અનિત્યતા છે આત્મા પણુ દ્રવ્યાર્થિકનયની અપેક્ષાથી નિત્ય છે કારણુ કે તેનુ આત્મત્વ શાશ્વત છે તે પોતાના ચૈતન્ય સ્વભાવનો કદાપી પરિત્યાગ કરતો નથી પરતુ પોતાના જ્ઞાનપર્યાયો અને શરીરપર્યાયોની અપેક્ષા અનિત્ય છે આ કથનથી આ આરોપનું નિરાકરણુ પણુ થઈ જાય છે કે ભલે વર્ષા હોય, તડકો હોય આકાશનુ શુ બગડે છે ? વર્ષા અને તડકાની અસર તો ચામડી ઉપર જ થાય છે જો આત્મા ચામડા જેવો છે તો અનિત્ય થઇ જશે અને જો આકાશની માફક નિત્ય છે તો સુખ દુઃખનો ભોગ કરી શકે નહી

સ્યાદ્વાદવાદી ન તો આકાશનો એકાંત નિત્ય સ્વીકાર કરે છે અથવા ન તો ચામડાને એકાન્ત અનિત્ય કારણુ કે પ્રત્યેક વસ્તુ ઉત્પાદ વ્યય અને ધ્રૌવ્યથી યુકત છે આત્માને એકાન્ત નિત્ય અથવા એકાન્ત અનિત્ય માનવાથી કર્મફળનો સયોગ પણુ ઘટિત થઈ શકતો નથી.

આ રીતે જેમ તેલ, વાટ અગ્નિ આદિ સામગ્રીથી વૃદ્ધિને પામીને બળતો દીવો વિશાળ કુટાગારશાળાને પ્રકાશિત કરે છે અને શરાવ ઢાકણુ ઉલચન તથા માણિકા આદિથી આવૃત્ત થઇને તેમને જ પ્રકાશિત કરે છે, આવી જ રીતે દ્રોણુથી ઢકાઇને દ્રોણુને જ આઢકથી ઢકાઈને, આઢકને પ્રસ્તથી ઢકઈને પ્રસ્ત (શેર)ને હાથથી ઢકાઈને હાથને જ પ્રકાશિત કરે છે એવી રીતે જીવ પણુ પોતાન પ્રદેશોને સકોચ અને વિસ્તારથી મોટા અને નાના પાંચ પ્રકારનાં શરીરસ્કધના તથા ધર્મ અધર્મ અને પુદ્ગલ અને જીવના પ્રદેશોના સમૂહને વ્યાપ્ત કરે છે યાનિ તેમને અવગાહન કરીને રહે છે

આ રીતે લોકાકાશમા ધર્મ આકાશ અને પુદ્ગલ અવશ્ય હોય છે જીવપ્રદેશ વિભાજનથી થાય છે જ્યા એક જીવનો અવગાહ થાય છે ત્યા બીજા જીવના અવગાહનો કોઈ વિરોધ નથી;

આ પ્રકારે લોકાકાશના એક પ્રદેશમાં અનેક જીવોના અનેક પ્રદેશોનાં અવગાહ છે ઢાકણા વગરનો દીવો તેટલા જ આકાશપ્રદેશોને વ્યાપ્ત કરે છે જેટલાં તેના અવયવ હોય તે સપૂર્ણ લોકને પ્રકાશિત કરી શકતો નથી પરતુ આત્મા સમુદ્ઘાતના સમયે સમસ્ત લોકમા વ્યાપ્ત થઈ જાય છે સિદ્ધ થયા પછી જીવની અતિમ શરીરથી ત્રિભાગ ન્યૂન અવગાહના રહે છે. ત્રીજો ભાગ શરીરના છિદ્રોની પૂર્તિમા લાગી જાય છે પરતુ સિદ્ધ જીવોનો આકાર તે જ રહે છે જે આકાર મુક્તિના સમયે શરીરનો હોય છે

આ રીતે ધર્મ, અધર્મ આકાશ તથા જીવોનો પરસ્પરમાં તથા પુદ્ગલોમાં અવગાહનાનો વિરોધ નથી કારણ કે તે અમૂર્ત્ત છે આથી ધર્મ, અધર્મ આકાશ અને જીવનુ અમૂર્ત્ત હોવાના કારણે પરસ્પરમા રહેવું વિરુદ્ધ નથી અને ન તો ધર્માદિનુ પુદ્ગલોમા રહેવુ વિરુદ્ધ છે કારણ કે તેમના જ નિમિત્તથી ગતિ સ્થિતિ તથા અવગાહના જોઈ શકાય છે અને આત્મા કર્મપુદ્ગલોને વ્યાપ્ત કરે છે ફલિતાર્થ એ છે કે જીવ સંકોચવિસ્તાર સ્વભાવના કારણે મોટા અથવા નાના શરીરને ધારણ કરે છે

શકા—જો જીવના પ્રદેશોમા સકોચ-વિસ્તારનુ સામર્થ્ય છે તો સપૂર્ણ કારણ મળવાથી જીવ સમસ્ત પ્રદેશોને સકોચી લઈ આકાશના એક જ પ્રદેશમા કેમ સમાઈ જતો નથી? અવરોધ કરનારી કોઇ વસ્તુ તો છે જ નહી આ સંજોગોમા જીવોનો અવગાહ લોકાકાશના અસંખ્યાતમાં ભાગ આદિમાં કેમ થાય છે? એક પ્રદેશ વગેરેમાં કેમ થતો નથી?

સમાધાન—પ્રત્યેક સસારી જીવનો કાર્મણ શરીરની સાથે સબધ છે અને કાર્મણ શરીર અનન્તાનન્ત પુદ્ગલોના સચયથી બનેલુ છે આથી લોકના અસખ્યાતા પ્રદેશોમાં જ જીવનો અવગાહ થઈ શકે છે, એકાદિ પ્રદેશમા નહી. એટલુ ચોક્કસ છે કે સિદ્ધ જીવ ચરમ શરીરના ત્રીજા ભાગમાં અવગાહન કરે છે તેનુ કારણ એ છે કે શરીરનો ત્રીજો ભાગ છિદ્રમય-પોલો છે તે પોલાણની પૂર્તિમાં ત્રીજોભાગ ઓછો થઇ જાય છે આ ત્રિભાગન્યૂનતા યોગનિરોધના સમયે જ થઈ જાય છે આથી સિદ્ધજીવ પણ ત્રિભાગન્યૂન અવગાહનાવાળા હોય છે જો કે સિદ્ધજીવોનુ સહેજ વીર્ય નિરાવરણ થય છે તો પણ તેમનામા એ સામર્થ્ય નથી કે તેઓ તેથી અધિક અવગાહનાનો સકોચ કરી શકે સસારી જીવોનુ તો કહેવુ જ શુ? જીવનો સ્વભાવ જ એવો છે કે આનાથી વધુ સકોચ થઈ શકતો નથી અને સ્વભાવના વિષયમા કોઈ પ્રશ્ન કરી શકાતો નથી આ શિવાય સસારી જીવ કર્મયુક્ત હોવાથી વધુ સકોચ થઈ શકતો નથી,

શકા—કર્મયુક્ત જીવ કેમ અધિક સકોચ કરી શકતો નથી?

સમાધાન—કારણકે તેઓ પ્રયત્ન કરતા નથી

શકા—શા માટે તેઓ પ્રયત્ન કરતા નથી?

સમાધાન—પ્રયત્ન કરવાનુ કોઇ કારણ વિદ્યમાન નથી

અહી એટલુ સમજી લેવાની જરૂર છે કે-સકુચિત આત્મપ્રદેશ જ્યારે વિકાસ પામે છે ત્યારે તેમનો સમ્બન્ધ પરસ્પર તૂટી જતો નથી પરતુ કમળની નાળના તતુઓની જેમ તેઓ આપસમા જોડાયેલા રહે છે સમ્બન્ધ ન તૂટવાનુ કારણ એ છે કે પ્રથમ તો તેઓ અમૂર્ત્ત છે, બીજુ તેઓ વિકાસશીળ છે અને ત્રીજુ એકત્વ રૂપ પરિણામમા પરિણત થાય છે. જીવની

વૃદ્ધિ જોવાથી આત્મપ્રદેશોનો વિકાસ સિદ્ધ થાય છે. ઢેડગરોલી ની પૂંછડી જ્યારે કપાય જાય છે ત્યારે થોડા સમય સુધી તે તરફડે છે અને પછી શાંત થઈ જાય છે આથી અનુમાન કરી શકાય કે ઢેડગરોલી નો થોડો જીવપ્રદેશ તેની કપાયેલી પૂછડીમા કેટલાક સમય સુધી રહે છે અને પછીથી રહેતો નથી તે પ્રદેશ કયા ચાલ્યા જાય છે ? ઢેડગરોલીના શરીરમાં જ ચાલ્યા જાય છે કારણ કે તેમનો સમ્બન્ધ સર્વથા તૂટયો ન હતો, કમળની નાળના તન્તુઓની જેમ તેઓ પરસ્પરમાં સમ્બદ્ધ હતાં

શકા—જો આ પ્રમાણે જ હોય તો માથુ કપાઈ ગયા પછીથી માથામા સ્થિત પ્રદેશ શેષ શરીરમાં કેમ ચાલ્યા જતા નથી ? અને માણુસ પેલી કપાયેલી પૂછડીવાલી ઢેડગરોલીની જેમ જીવીત કેમ નથી રહેતો ?

સમાધાન-વેદન આયુનો ભેદ થઇ જવાથી આ દોષ આવતો નથી જ્યા બહુસખ્યક જીવ-પ્રદેશ એકત્ર થઇને રહે છે તેને મૂર્ત્ત કહે છે મસ્તક ઘણા મર્મવાળુ છે મર્મદેશોમાં ભયંકર વેદના થાય છે અધ્યવસાન આદિ ૭ કારણોથી આયુષ્યનુ ભેદન થઈ જાય છે એ વાત જાણીતી છે

આ કારણે આત્માનો કર્મોદય અનુસાર સકોચ અને વિસ્તાર થાય છે પરતુ નાશ થતો નથી કારણ કે તે અમૂર્ત્ત છે ભાવાર્થ એ છે કે જૈનમતમાં કોઈપણ વસ્તુનો સપૂર્ણ વિનાશ થતો નથી અને પ્રદેશોનો સકોચ-વિસ્તાર થવા છતાં પણ આત્માની વૃદ્ધિ અથવા ઘટાડો થતો નથી હા ક્ષેત્રની અપેક્ષા વધ-ઘટ થયા કરે છે પ્રદેશોની અપેક્ષાએ નહી પ્રજ્ઞાપના સૂત્રના બીજા પદમાં જીવસ્થાન પ્રકરણમાં કહ્યુ છે, "જીવ લોકના અસખ્યાતમા ભાગમાં રહે છે" રાજપ્રશ્નીય સૂત્રમા પણ-કહ્યુ છે—"પોતાના પૂર્વાર્જીત કર્મ અનુસાર જીવ—જેવા શરીરને મેળવે છે તેને જ પોતાના અસખ્યાતા પ્રદેશોથી વ્યાપ્ત કરી લે છે—સજીવ બનાવી લે છે, પછી ભલે તે નાનું હોય અગર તો મોટુ ॥ ૧૩ ॥

'मणुस्स खेत्ते ओगाहो कालस्स

મૂળ સૂત્રાર્થ—મનુષ્ય ક્ષેત્રમા કાલદ્રવ્યનો અવગાહ છે ॥ ૧૪ ॥

તત્વાર્થદીપિકા—ધર્મ અધર્મ આકાશ પુદ્ગળ અને જીવ દ્રવ્યનો અવગાહ લોકાકાશમાં છે એ વાત કહેવાય ગઈ હવે કાલદ્રવ્યનો અવગાહ દર્શાવવા માટે કહીએ છીએ—કાલદ્રવ્યનો અવગાહ મનુષ્ય-ક્ષેત્રમા જ છે, અન્યત્ર નહી ॥૧૪॥

'गइठिई ओगाहाणं निमित्ता धम्माधम्मागासा

મૂલસૂત્રાર્થ—ધર્મ અધર્મ અને આકાશ દ્રવ્ય ક્રમથી ગતિ, સ્થિતિ અને અવગાહના ના નિમિત્ત કારણુ છે ॥સૂ૦ ૧૫॥

તત્વાર્થદીપિકા—ધર્મ અધર્મ આકાશ કાલ પુદ્ગલ અને જીવ આ છ દ્રવ્યોના લક્ષણુ ક્રમશ પ્રતિપાદન કરવા માટે પ્રથમ ધર્મ અધર્મ આકાશનુ લક્ષણુ કહીએ છીએ—ધર્મદ્રવ્ય ગતિનુ અધર્મદ્રવ્ય સ્થિતિનુ અને આકાશદ્રવ્ય અવગાહનાના નિમિત્ત છે ॥ ૧૫ ॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પ્રથમ સામાન્ય રૂપથી ધર્મ આદિ દ્રવ્યોનો ઉલ્લેખ કરવામા આવ્યો હવે તેમના લક્ષણુ બતાવીએ છીએ અથવા ધર્મ અને અધર્મ દ્રવ્યના અસખ્યાત પ્રદેશ સરખાં હોવા છતા પણુ તેઓ સપૂર્ણ લોકમા વ્યાપ્ત છે, અસખ્યાતમા ભાગ વગેરેમા નહી એ રીતે

તેમનો અવગાહ લોકમાં જ છે, અલોકમાં નહીં એમ શા માટે ? આ શકાનુ સમાધાન કરવા માટે કહીએ છીએ–છ દ્રવ્યોમાથી માત્ર જીવ અને પુદ્દગલદ્રવ્યમાં જ ગતિક્રિયા થાય છે, બીજા કોઈ દ્રવ્યમાં નહીં તે ગતિક્રિયા પ્રયોગ પરિણામથી પણ થાય છે અને સ્વભાવ પરિણામથી પણ થાય છે આ ગતિક્રિયામા ધર્મ અને અધર્મ તેવી જ રીતે સહાયક થાય છે જેમ સૂર્યના કિરણો આંખોને જોવામાં મદદરૂપ થાય છે તેમ ગતિક્રિયા સમસ્ત લોકમા જોઈ શકાય છે આથી અનુમાન પ્રમાણથી એ ચોક્કસ થઇ જાય છે કે ધર્મ અને અધર્મદ્રવ્ય પણ સપૂર્ણ લોકમા વ્યાપ્ત છે

આ રીતે લોકમા જ જીવોનુ તથા ધર્મ, અધર્મ, પુદ્દગલ આદિ અજીવ દ્રવ્યોનુ અસ્તિત્વ છે અલોકાકાશ સુનો છે ત્યા કોઈ અન્ય દ્રવ્યનો અવગાહ નથી આ રીતે ધર્મ અધર્મ અને આકાશ દ્રવ્યનુ અસાધારણ કાર્ય બતાવવા માટે કહીએ છીએ–ગતિ સ્થિતિ અને અવગાહનાના નિમિત્ત કારણ ધર્મ, અધર્મ તથા આકાશ દ્રવ્ય છે

એક દેશથી બીજા દેશમાં પ્રાપ્તિ રૂપ પરિણામને ગતિ કહે છે તેનાથી વિરુદ્ધ પરિણામને સ્થિતિ કહે છે અવકાશ દેનારા કારણ રૂપ પરિણામને અવગાહ કહેવામા આવેલ છે આ રીતે દેશાન્તર પ્રાપ્તિ રૂપ પરિણામવાળા જીવો અને પુદ્દગલોની ગતિમા જે નિમિત્ત થાય છે તે ધર્મદ્રવ્ય કહેવાય છે

આ રીતે દેશાન્તર પ્રાપ્તિથી વિપરીત પરિણામ રૂપ સ્થિતિવાળા જીવ તથા પુદ્દગલો દ્રવ્યની સ્થિતિનુ જે નિમિત્ત છે તે અધર્માસ્તિકાય કહેવાય છે જીવ પુદ્દગલ આદિ અવગાહન કરનારા દ્રવ્યોના અવકાશદાન પરિણામ રૂપ અવગાહમા જે નિમિત્ત કારણ હોય તે આકાશ કહેવાય છે આથી ગતિપરિણમનવાળા જીવો અને પુદ્દગલોની ગતિમા સહાયતા પહોચાડવી ધર્મદ્રવ્યનો ઉપકાર છે જેમ માછલા વગેરેની ગતિમાં પાણી સહાયતા પહોચાડે છે તેમ આ રીતે સ્વય સ્થિતિમાં પરિણત થનારા જીવો અને પુદ્દગલોની સ્થિતિમાં સહાયક થવુ અધર્મ-દ્રવ્યનો ઉપકાર છે જેમ ઘોડા વગેરેની સ્થિતિમા ભૂમિ આદિ નિમિત્ત થાય છે

આવી જ રીતે અવગાહન કરનારા જીવો પુદ્દગલો વગેરેના અવકાશદાન રૂપ અવગાહ કરવામા આકાશનો ઉપકાર સમજવો જોઈએ તે સાબિત થયુ આ રીતે ગતિમાન જીવ પુદ્દ-ગલોની ગતિમા ધર્મદ્રવ્યનો સ્થિતિમાન જીવ–પુદ્દગલોની સ્થિતિમાં અધર્મદ્રવ્યનો તથા અવ-ગાહનશીલ ધર્મ, અધર્મ પુદ્દગલ અને જીવ દ્રવ્યના અવગાહનમા આકાશનો ઉપકાર છે એ સિદ્ધ થયુ

જીવ અને પુદ્દગલ દ્રવ્ય જ ગતિક્રિયાવાળા છે અને જ્યા ગતિ હોય છે ત્યા સ્થિતિ પણ અવશ્ય હોય છે અને જેમનામા ગતિ તથા સ્થિતિ છે તેમનો અવકાશ પણ જરૂરી છે

શકા—ગતિ સહાયક ધર્મદ્રવ્ય જ્યારે હમેશા વિદ્યમાન રહે છે તો પછી નિરન્તર ગતિ જ કેમ થતી રહેતી નથી ? કેમકે કારણના હોવાથી કાર્યની ઉત્પત્તિ અવશ્ય દેખી શકાય છે એવી જ રીતે સદા અધર્મદ્રવ્ય સન્નિહિત રહેવાથી હમેશા સ્થિતિ જ કેમ રહેતી નથી ?

સમાધાન—ધર્મ અને અધર્મદ્રવ્ય ગતિ અને સ્થિતિના જનક નહી પણ સહાયક છે જ્યારે જીવ અને પુદ્દગલ સ્વય ગતિ કરે છે ત્યારે તેઓ સહાયક માત્ર બની જાય છે ધર્મ-દ્રવ્ય કોઈને ફરજીઆત ચલાવતુ નથી અને અધર્મદ્રવ્ય કોઈને જબરદસ્તીથી રોકતુ નથી.

ઉપાદાન કારણ તો જીવની ગતિમાં સ્વય પુદ્ગલ જ છે ધર્મ અને અધર્મદ્રવ્ય તો સહાયક માત્ર છે. ઉપકારી છે, નિમિત્ત છે જેવી રીતે નદી, તળાવ, સમુદ્રોમાં સ્વય જ ગમન કરનાર માછલી માટે પાણી સહાયક થઈ પડે છે, પાણી માછલીને ચલાવતુ નથી, એ રીતે ધર્માસ્તિકાય ગતિક્રિયામાં મદદરૂપ થાય છે, પ્રેરક નહી અથવા તો જેમ ઘડા વગેરે રૂપમા પરિણત થનારી મૂર્તિ માટે દડ વગેરે સહાયક થઈ જાય છે તેવી જ રીતે ઉપર જણાવેલા દ્રવ્યો સહાયક થાય છે-કહ્યુ પણ છે-

કારણ ત્રણ પ્રકારના હોય છે-નિર્વર્ત્તક નિમિત્ત અને પરિણામી આજ અત્રે બતાવીએ છીએ-ઘડામા ત્રણ કારણ માનવામા આવે છે-નિર્વર્ત્તક નિમિત્ત અને પરિણામી કારણ ઘડાનુ નિર્વર્ત્તક કારણ કુભાર છે, નિમિત્ત કારણ દોરી અને ચાક આદિ છે તથા પરિણામી કારણ માટી છે

પાણી માછલીની ગતિનુ કારણ તો છે પરતુ ગમન કરનાર માછલીને બળજબરીથી ચલાવતુ નથી ભૂમિ સ્થિતિમા સહાયક છે પણ ગમન કરનારને ફરજીયાત ઉભા રાખતી નથી આકાશ અવગાહનામા કારણ રૂપ છે પણ સ્વય અવગાહ દ્રવ્યોના અવગાહમાં તે નિમિત્ત થાય છે જબરદસ્તીથી અવગાઢ કરતુ નથી જેવી રીતે સ્વય ખેતર ખેડનાર ખેડુત માટે વરસાદ નિમિત્ત કારણ થાય છે ખેતર ન ખેડનારા ખેડુતોને વરસાદ જાતે જ બળજબરીથી તેમ કરવામા ખેડુતને પ્રવૃત્ત કરતો નથી વર્ષાકાળમા નવા વાદળાઓનો ગડગડાટ સાંભળીને બકમાદા સ્વય ગર્ભ ધારણ કરીને પ્રસવ કરે છે, પ્રસવ કરનારી બકમાદાને નવીન વાદળા જબરદસ્તી પ્રસવ કરાવતાં નથી કોઈ ઉપદેશકનુ નિમિત્ત મેળવીને મનુષ્ય પ્રતિબોધહેતુક વિરતિને ધારણ કરતો થકો પાપથી વિરત થતો જોવામાં આવે છે પરતુ વિરત ન થનાર પુરુષને ઉપદેશ બળજબરીથી વિરત કરતો નથી

શકા—જો આવુ જ છે તો ગતિ સ્થિતિ તથા અવગાહમા ધર્મ, અધર્મ અને આકાશ નિમિત્ત કારણ જ હોવા જોઈએ, અપેક્ષા કારણ નહી આવા સજોગોમાં અપેક્ષા કારણનુ જ નુકશાન થશે કારણ કે અપેક્ષા કારણ વ્યાપારરહિત હોય છે

સમાધાન—આમ ન કહો કોઈપણ કારણ વ્યાપારરહિત હોતુ નથી વ્યાપાર કરનાર જ કારણ કહી શકાય છે ધર્માદિને એ કારણથી અપેક્ષાકારણ કહેવામા આવે છે કે જીવાદિ દ્રવ્ય ધર્માદિગત ક્રિયાપરિણામની અપેક્ષા રાખતા થકા જ ગતિ આદિ ક્રિયા કરે છે

શકા—જો એ પ્રમાણે છે તો પછી નિમિત્તકારણ અને અપેક્ષાકારણમા કોઈ તફાવત રહેતો નથી

સમાધાન—દડ આદિમા પ્રાયોગિકી તથા વૈસસિકી બને પ્રકારનીક્રયા થાય છે ધર્મ અધર્મ અને આકાશમાં વૈસસિકી જ ક્રિયા થાય છે બનેમા આ તફાવત છે આ રીતે ગતિમા સહાયક થવુ અવગાહ લક્ષણવાળા આકાશમા ઘટિત થતુ નથી પરતુ ગતિમા સહાયક થવુ ધર્મદ્રવ્યનો જ ઉપકાર છે એવી જ રીતે સ્થિતિમા સહાયક થવુ અધર્મદ્રવ્યનો જ ઉપકાર છે અવગાહ લક્ષણવાળા આકાશનો નહી અવગાહરૂપ ઉપકાર આકાશનો જ છે ધર્મ અને અધર્મ દ્રવ્યનો નહી.

એક દ્રવ્યનો બીજા દ્રવ્યથી ભિન્ન કોઈ વિશિષ્ટ ગુણ અવશ્ય સ્વીકારવો જોઈએ 'ધર્મ અધર્મ તથા આકાશ દ્રવ્ય પરસ્પર ભિન્ન છે એ સત્ય બુદ્ધિથી અથવા આગમથી સમજવું ઘટે.

પ્રશ્ન—ભગવત ! દ્રવ્ય કેટલા કહ્યાં છે ?

ઉત્તર—ગૌતમ ! છ દ્રવ્ય કહ્યાં છે જેમ કે-ધર્માસ્તિકાય અધર્માસ્તિકાય આકાશાસ્તિકાય પુદ્ગલાસ્તિકાય જીવાસ્તિકાય અને અધ્ધા સમય

શકા—ધર્માસ્તિકાયના ગતિ-ઉપકાર વગર જ પક્ષીઓનુ ઉડવુ, અગ્નિનુ ઉચે જઈ બળવુ તથા વાયુનુ ફ ટાઈ ને વહેવુ અનાદિ કાલીન સ્વભાવથી જ દેખી શકાય છે

સમાધાન—ધર્મદ્રવ્યના ઉપકાર વગર જ, કાગડા વગેરે પક્ષીઓની સ્વાભાવિક ગતિમાન-વામા ઉકત હેતુ અને દૃષ્ટાત સુસગત નથી કારણુ કે અનેકાન્તવાદી ગતિપરિણામને પ્રાપ્ત સઘળા જીવો અને પુદ્ગલોની ગતિમાં ધર્મદ્રવ્યને અનુગ્રાહક સ્વીકાર કરે છે એવી જ રીતે અનેકાન્તવાદી આર્હત સ્વય સ્થિતિપરિણામમા પરિણુત બધા જીવો અને પુદગલોની સ્થિતિમાં અધર્મદ્રવ્યને સહાયક માને છે અને એવી જ રીતે જૈન સિદ્ધાંતના અનુયાયી જૈન બધા અવ-ગાહપરિણામમા પરિણુત જીવ પુદ્ગળ આદિના અવગાહમાં આકાશને સહાયક માને છે ધર્મ અધર્મ અને આકાશ એ ત્રણ દ્રવ્યો જીવ અને પુદ્ગલની ગતિ સ્થિતિ તથા અવગાહને ઉત્પન્ન કરતાં નથી પરતુ માત્ર મદદરૂપ જ થાય છે

જીવો અને પુદ્ગલોની જે ગતિ, સ્થિતિ અને અવગાહના થાય છે તે સ્વતઃ પરિણામનો અભાવ હોવાથી પરિણામી કર્તા અને નિમિત્ત એ ત્રણે કારણોમાથી ભિન્ન અલગ ઉદાસીન કારણથી ઉત્પન્ન સમજવા જોઈએ કારણુ કે તે સ્વાભાવિક પર્યાય ન હોઈ કવચિત્ જ થાય છે, જેમ માછલીની ગતિ ઉદાસીન કારણુ જળની સહાયતાથી થાય છે આ રીતે જો કે ધર્માદિ દ્રવ્ય અમૂર્ત્ત છે તો પણુ ગતિ આદિ કાર્ય તેમના સહાયક હોય છે કારણુ કે તેમના અભાવમાં આ કાર્ય થઈ શકતા નથી અને એકનુ કામ બીજુ કોઈ પણુ કરી શકતુ નથી

આ કથનનો ફલિતાર્થ એ છે કે ગતિ સ્થિતિ અને અવગાહ રૂપમા પરિણુત જીવ અને પુદ્ગલ દ્રવ્યના સામીપ્યથી ધર્માદિનો વ્યાપાર થવો એ જ તેમનો ઉપકાર કહેવાય છે

શકા—કરી શકાય કે આવુ માનવા છતાં પણુ ધર્મ, અધર્મ, પુદ્ગલ અને જીવ દ્રવ્યનો પ્રવેશ અને નિષ્ક્રમણુ રૂપ અવગાહ આકાશનુ લક્ષણુ સિદ્ધ થાય છે એ બરાબર નથી કારણુ કે ઉક્ત લક્ષણુવાળા અવગાહ પુદ્ગલ-જીવ સમ્બન્ધી તથા આકાશ સબધી હોવાથી બનેમા રહે છે અને બને દ્વારા ઉત્પન્ન થવાના કારણે બે-આગળીઓના સયોગની જેમ કોઈ એકનુ લક્ષણુ કહી શકાતુ નથી અર્થાત્ બે આગળીઓના જોડાણને એક આગળીનો ધર્મ કહી શકતા નથી તેવી જ રીતે ઉક્ત અવગાહ પણુ માત્ર આકાશના જ કહી શકાય નહી

ઉપરની શકા સારી છે પરતુ અહી લક્ષ્ય હોવાના કારણે આકાશની જ મુખ્યતયા ચર્ચા કરાઈ આ કારણથી એવુ પ્રતિપાદન કરવામા આવ્યુ છે કે જ્યા અવગાહન-અનુપ્રદેશ હોય તે આકાશ છે આ રીતે આકાશનુ લક્ષણુ અવગાહના કહેવામા આવ્યુ છે અવગાહક જે જીવ અને પુદ્ગલ છે તે પણુ જો કે સયોગના જનક છે તો પણુ તેમનુ અત્રે વિવરણુ કરવામા આવ્યુ નથી આ કારણથી અવગાહને આકાશનુ લક્ષણુ માનવુ યોગ્ય જ છે અવગાહમાન જીવ અને પુદ્ગલ વગેરે દ્રવ્યોને અવગાહ આપવામા આકાશ જ અસાધારણ કારણ છે પરંતુ તે અવકાશ આપવામા જોરજુલમ કરતુ નથી

આ રીતે આકાશ જો કે અમૂર્ત્ત છે તો પણ જીવાદિને અવગાહ દેવા રૂપ ઉપકારથી તેનુ અનુમાન કરી શકાય છે ! જેમ કે આત્મા અથવા ધર્મના વિષયમાં અનુમાન કરવામાં આવે છે એવી જ રીતે પુરુષના હાથ લાકડી તથા વાજીત્રના આઘાતથી ઉત્પન્ન થનારો શબ્દ પણ ભેરીનો શબ્દ કહેવાય છે પૃથ્વી પાણી વગેરે કારણો હોવા છતા પણ યવ વિશિષ્ટ કારણ હોવાથી જેવી રીતે–યવાકુર, યવાંકુર કહેવાય છે તેવી જ રીતે અવગાહનમા જો કે જીવ અને પુદ્ગલ વગેરે ત્રણ કારણો છે તો પણ અસાધારણ કારણ હોવાથી આકાશનુ જ તે લક્ષણ કહેવાય છે

આમ હોવા છતા પણ પરમાણુ અવગાહના છે, અથવા જીવ અવગાહના છે, એ પ્રકારને સમાનાધિકરણ વ્યવહાર દષ્ટિગોચર થાય છે આથી અવગાહક જીવ પુદ્ગલ આદિ દ્રવ્ય સબન્ધી જ અવગાહ થવો જોઈએ આકાશ સંબન્ધી નહી, દા ત "દેવદત્ત બેસે છે" આ વાકયમાં બેસવુ દેવદત્તનુ જ માનવામા આવે છે એ કથન બરાબર નથી જેમ "आस्ते देवदत्तोऽस्मिन् આ પ્રકારનો વિગ્રહ કરવાથી આસન ભૂમિ વગેરે કહેવાય છે તેવી જ રીતે "अवगाहतेऽस्मिन्" એવો વિગ્રહ કરીએ તો અવગાહ નો વ્યવહાર આકાશમાં જ ઉપયુક્ત થાય છે.

શકા—જો અવગાહનાને આકાશનુ લક્ષણુ માનીએ તો અલોકાકાશમાં આ લક્ષણુ ઘટિત ન હોવાથી અવ્યાપ્તિ નામક દોષ આવે છે અલોકમાં જીવ વગેરેની અવગાહનાની શકયતા નથી

સમાધાન—અવગાહના લક્ષણુ લોકાકાશનુ જ છે આથી તે જો અલોકાકાશમાં ન દેખાય તો પણ અવ્યાપ્તિ દોષ નથી

પોલાર રૂપ આકાશતો સર્વત્ર એક જ છે, માત્ર ધર્મ આદિ દ્રવ્યોના સદ્ભાવ અને અસદ્ભાવના કારણે જ લોકાકાશ અને અલોકાકાશનો ભેદ–વ્યવહાર થાય છે અહીં સામાન્ય રૂપથી "આકાશ" પદનો પ્રયોગ કરવા છતાં પણ લોકાકાશનુ જ ગ્રહણ સમજવુ જોઈએ. કારણ કે લોકાકાશમાં જ અવગાહ લક્ષણુ ઘટિત થાય છે ધર્મ અને અધર્મ દ્રવ્યના પ્રદેશ લોકાકાશના પ્રદેશોની સાથે જ મળેલા રહે છે અને તેઓ અલોકપર્યન્ત સમ્પૂર્ણ લોકાકાશમાં ભરેલા છે આથી લોકાકાશ પોતાની અદર અવકાશ દઈને ધર્મ–અધર્મનો ઉપકાર કરે છે પુદ્ગલ અને જીવ સ્વલ્પતર અસખ્યાતમા ભાગમા વ્યાપ્ત હોવાથી તેમજ ક્રિયાવાન હોવાથી સંયોગ અને વિભાગ દ્વારા તેમનો ઉપકાર કરે છે

આ રીતે એક સ્થળે અવગાહના કરેલા માણુસ, માટી, લોખડનો ટુકડો વગેરે બીજી જગ્યાએ પણુ મળી આવે છે સર્વત્ર અદર અવકાશ દેવાના કારણે એક અવગાહ પણ અવગાહરૂપ ઉપાધિના ભેદથી અનેક જેવો ભાસે છે આથી જીવ પુદ્ગલ આદિનો અદર પ્રવેશ થવાથી તથા સયોગ–વિભાગ દ્વારા તે ઉપકાર કરે છે

શકા—જીવો અને પુદ્ગલોના ગતિરૂપ ધર્મનો ઉપકાર તથા સ્થિતિરૂપ અધર્મનો ઉપકાર આકાશનો જ સ્વીકાર કરવો જોઈએ કારણ કે આકાશ સર્વવ્યાપી છે

સમાધાન—આકાશનો ઉપકાર અવગાહ છે આથી ગતિ અને સ્થિતિને આકાશનો ઉપકાર માનવાની કલ્પના કરી શકાતી નથી ધર્મ આદિ સમસ્ત દ્રવ્યોને અવગાહ આપવુ તે આકાશનુ પ્રયોજન છે એક દ્રવ્યના અનેક પ્રયોજન માનવામા આવશે તો લોક અને અલોકનો વિભાગ થશે નહી

શકા—પૃથ્વી પાણી વગેરે જ જીવો અને પુદ્ગલોની ગતિ તથા સ્થિતિરૂપ પ્રયોજનમાં સમર્થ છે તેમના માટે ધર્મ અને અધર્મ દ્રવ્યની કલ્પના કરવી અનાવશ્યક છે

સમાધાન—જીવો અને પુદ્ગલોની ગતિ તથા સ્થિતિના નિયામક થવામાં ધર્મ અને અધર્મ જ અસાધારણ કારણ છે એક કાર્ય અનેક કારણો દ્વારા સાધ્ય થાય છે આથી ગતિ તેમજ સ્થિતિ માટે ધર્મ અને અધર્મ દ્રવ્યનો સ્વીકાર કરવો પરમાવશ્યક છે

શકા—ધર્મ અને અધર્મ દ્રવ્યનો સસલાના શિગડાની જેમ અનુપલબ્ધ હોવાથી, સદ્ભાવ જ નથી

સમાધાન—જો એમ હોત તો બધા પ્રતિવાદિયોનો વિવાદ જ ન રહેત બધા પ્રતિવાદિ પ્રત્યક્ષ અને અપ્રત્યક્ષ પદાર્થોનો સ્વીકાર કરે છે આ શિવાય આપનો હેતુ અમારા માટે અસિદ્ધ છે સર્વજ્ઞ કેવળી પોતાના સર્વશ્રેષ્ઠ કેવળજ્ઞાનરૂપી નેત્રોથી ધર્મ અધર્મ વગેરે બધાં દ્રવ્યોને પ્રાપ્ત કરી શકે છે જાણી શકે છે તેમના ઉપદેશથી શ્રુતજ્ઞાની પણ તેમને જાણી શકે છે

ભગવતી સુત્રના ૧૩મા શતકના ચોથા ઉદ્દેશકમા કહે છે—

પ્રશ્ન—ભગવત ! ધર્માસ્તિકાયથી જીવોનુ શુ પ્રવૃત્ત થાય છે ?

ઉત્તર—ગૌતમ ! ધર્માસ્તિકાયથી જીવોના આગમન ગમન ભાષણ, મનોયોગ વચનયોગ, કાયયોગ તથા એવા જ પ્રકારના જે બીજા ચલભાવ છે તે સઘળા ધર્માસ્તિકાયથી પ્રવૃત્ત થાય છે કારણ કે ધર્માસ્તિકાય ગતિ લક્ષણવાળા છે

પ્રશ્ન—ભગવત ! અધર્માસ્તિકાયથી જીવોને શુ પ્રવૃત્ત થાય છે ?

ઉત્તર—ગૌતમ ! અધર્માસ્તિકાયથી જીવોના સ્થાન નિષિદન સુઈ જવુ મનનુ સ્થિરીકરણ તથા આવા જ પ્રકારનાં જે અન્ય સ્થિર ભાવ છે તે સઘળાં અધર્માસ્તિકાયથી પ્રવૃત્ત થાય છે કારણ કે અધર્માસ્તિકાય સ્થિતિ લક્ષણવાળુ છે

પ્રશ્ન—ભગવન્ ! આકાશાસ્તિકાયથી જીવો અને અજીવોને શુ પ્રવૃત્ત થાય છે ?

ઉત્તર—ગૌતમ ! આકાશાસ્તિકાય, જીવદ્રવ્યો અને અજીવદ્રવ્યોનો આધાર છે તે એકથી પણ પૂર્ણ થઇ શકે છે, બેથી પણ પૂર્ણ થાય છે, તેમાં સેકડો પણ સમાઈ જાય છે, હજારો કરોડો પણ સમાઈ જાય છે આકાશાસ્તિકાયનુ લક્ષણ અવગાહ છે ॥ ૧૫ ॥

सरीरवय मणो पाणापाणाणं सुहदुहजीविय मच्चूणं च निमित्ता पोग्गला ।

મૂળસૂત્રાર્થ—પુદ્ગલદ્રવ્ય, શરીર, વચન, મન, પ્રાણ, અપાન સુખ દુ ખ જીવન અને મરણના કારણ છે ॥ ૧૬ ॥

તત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમા ધર્મ, અધર્મ અને આકાશના લક્ષણોનુ પ્રતિપાદન કરવામા આવ્યુ હવે પુદ્ગલોનુ લક્ષણ કહીએ છીએ—

પુદ્ગલ ઔદારિક, વૈક્રિયિક, આહારક, તૈજસ અને કાર્મણ આ પાંચ શરીરોના વચનના, મનના, પ્રાણના, અપાનના સુખના દુ ખના, જીવનના અને મરણના ઉપકારક હોવામાં નિમિત્ત થાય છે આથી શરીર વગેરે રૂપ ઉપકાર કરવો તે પુદ્ગલોનુ લક્ષણ સમજવુ જોઈએ ॥૧૬॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—નાશવત ઔદારિક આદિ પાચ શરીરોના વચન, મન, પ્રાણ, અપાન સુખ દુ ખ જીવન અને મરણના ઉપગ્રાહક હોવાથી પરમાણુથી લઈને મહાસ્કંધ સુધી

પુદ્ગલ ઉપકારક હોય છે. આ પ્રકારે ઔદારિક આદિ પાચ શરીરો પ્રત્યે, મન, વચન તથા પ્રાણાપાન તરફ તથા સુખ દુ ખ જીવન અને મરણ પ્રતિ પુદ્ગલોનો ઉપકાર સમજવો જોઈએ.

તાત્પર્ય એ છે કે પુદ્ગલ શરીર વગેરેના કારણ થાય છે ઔદારિક આદિ પાચે શરીર પુદ્ગલના બનેલા હોય છે આથી પુદ્ગલ ઉપકારક હોવાથી તેમનુ કારણ છે એવી જ રીતે વચન પણ પૌદ્ગલિક છે તે, ભાષાપર્યાપ્તિવાળા પ્રાણીઓના જોવામા આવે છે વીર્યાન્તરાય તથા જ્ઞાનાવરણીય કર્મના ક્ષયોપશમથી તથા અગોપાગ–નામક નામકર્મના નિમિત્તથી ઉત્પન્ન થાય છે અને ગૂજન–ધ્વનિ થવો તેમનો સ્વભાવ છે તાત્પર્ય એ છે કે ભાષાપર્યાપ્તિથી પર્યાપ્ત વીર્યવાન્ જીવ ભાષાના યોગ્ય પુદ્ગલ સ્કધોને કાયિક વ્યાપારથી ગ્રહણ કરીને અને ભાષાના રૂપમા પરિણત કરીને વચનયોગ દ્વારા સ્વ પરના ઉપકાર માટે કાઢે છે વચન પૌદ્ગલિક હોવાથી જો કે અમૂર્ત્ત છે તો પણ પાણીમાં ઘોળેલા મીઠા અથવા સાકરની જેમ આખેથી દેખી શકાતાં નથી એવો કોઇ નિયમ નથી કે પ્રત્યેક રૂપી વસ્તુ નેત્રગ્રાહ્ય હોવી જ જોઈએ પુદ્ગલદ્રવ્ય પરમાણુ આદિ અનેક પર્યાયોને ધારણ કરે છે આથી વચન અમૂર્ત્ત નથી કારણ કે તે પૂર્વીય વાયુવેગથી પ્રેરિત થઈને પશ્ચિમ દિશામાં સ્થિત શ્રોતાને સભળાય છે આ સિવાય તેનો પ્રતિઘાત પણ થાય છે અને અભિભવ પણ થાય છે

દ્રવ્યમન પણ પૌદ્ગલિક છે, તે અનન્ત–પુદ્ગલસ્કધોથી જે મનોવર્ગણાના પુદ્ગલ કહેવાય છે આથી મૂર્તિમાન્ છે મન પર્યાપ્ત પચેન્દ્રિય જીવોને જ હોય છે છદ્મસ્થ જીવોને શ્રુત-જ્ઞાનાવરણનો ક્ષયોપશમ ઉત્પન્ન કરવામાં કારણભૂત તેમની સહાયતાથી ઉત્પન્ન થનાર ગુણદોષની વિચારણાસ્વરૂપ સમ્પ્રધારણસજ્ઞા તથા ધારણજ્ઞાન જેનાથી થાય છે, તે ભાવમન કહેવાય છે કહ્યુ પણ છે–ચિત્ત ચેતન, યોગ અધ્યવસાન, ચેતનાપરિણામ તથા ભાવમન એ બધાં ઉપયોગવાચક શબ્દ છે પરંતુ પ્રાકૃતમાં આ ભાવમનના કારણે પૌદ્ગલિક, સમસ્ત આત્મપ્રદેશોમા રહેલા દ્રવ્યમનને જ ગ્રહણ કરવું જોઈએ

એવી જ રીતે ઉચ્છ્વાસ રૂપ કોષ્ઠવાયુ જે પ્રાણ છે તેને પણ પૌદ્ગલિક સમજવો જોઈએ કારણ કે પુદ્ગલ જ પ્રાણ રૂપમા પરિણત થાય છે બહારના વાયુને અદર લઈ જવુ તે અપાન કહેવાય છે તે પણ પૌદ્ગલિક છે કારણ કે પુદ્ગલ જ અપાન રૂપમાં પરિણત થાય છે આ પ્રાણ અને અપાન પણ આત્માના અનુગ્રાહક હોય છે આ બને રૂપી દ્રવ્યના પરિણામ છે અને દ્વારોનુ અનુસરણ કરે છે અર્થાત નાકના નસકોરાથી પ્રવેશે છે–નીકળે છે આથી એમને પણ મૂર્ત્ત સમજવા જોઈએ આવી રીતે બેઈન્દ્રિય, તેઈન્દ્રિય ચતુરિન્દ્રીય અને પચેન્દ્રિય પર્યાપ્ત જીવ રસનેન્દ્રિયના સયોગથી ભાષા પરિણામના યોગ્ય અનન્તપ્રદેશી સ્કધોને કાય-યોગથી ગ્રહણ કરે છે–અને ભાષાપર્યાપ્તિ કરણ દ્વારા ત્યાગે છે જ્યા રસનેન્દ્રિય હોય છે ત્યા જ ભાષાપર્યાપ્તિ હોય છે કારણ કે તે રસનેન્દ્રિયને આશ્રિત છે આ કારણથી જ પૃથ્વીકાયથી લઈને વનસ્પતીકાય સુધીના એકેન્દ્રિય જીવ ભાષાવર્ગણાના પુદ્ગલોને ગ્રહણ જ કરતી નથી આ કારણે જીભનો અભાવ હોવાથી તેમનામા ભાષાનો પણ અભાવ છે

બેઈન્દ્રિય વગેરે જીવ રસનેન્દ્રિયથી યુક્ત થઈને ભાષાપુદ્ગલોને પોતાની ભાષાના રૂપમા પરિણત કરીને આર્ય મ્લેચ્છ આદિ ભાષાઓની જેમ નિયત–નિયત ભાષાઓનો જ વ્યવહાર કરે છે

ગુણ—દોષની વિચારણા રૂપ સમ્પ્રધારણ સંજ્ઞાના યોગથી સંજ્ઞી પ્રાણી જ મનોયોગ્ય મનોવર્ગણાના પુદ્ગલોને સર્વાંગથી ગ્રહણ કરે છે અને તેમને મનના રૂપમા પરિણત કરીને તેમનાથી ગુણ–દોષની વિચારણા કરે છે

એકેન્દ્રિયથી લઈને અસંજ્ઞી પંચેન્દ્રિય સુધીના જીવ તે સંપ્રધારણ સંજ્ઞાથી યુક્ત હોતા નથી મનપર્યાપ્તિનો અભાવ હોવાથી તેમનામાં મનન કરવાની શક્તિ હોતી નથી જે અસંજ્ઞી બેઇન્દ્રિય પ્રાણી પોતાના દરની તરફ જતા-ભાગતા દેખાય છે અથવા કૃમિ, કીડી વગેરે ચોખાના કણોનો સંગ્રહ કરે છે તે મન વગર જ અવગ્રહની પુટતાને કારણે એવુ કરે છે તેમનામા એવી જ લબ્ધિ હોય છે તેઓ ગુણ–દોષની વિશિષ્ટ વિચારણા કરી શકતાં નથી

શંકા—જીવ ઔદારિક આદિ શરીરોને યોગ્ય પુદ્ગલોને કેવી રીતે ગ્રહણ કરે છે ? અને ગ્રહણ કરવામા આવેલા તે પુદ્ગલ ભેગા જ કેવી રીતે રહે છે ? વિખેરાઈ કેમ જતાં નથી ?

સમાધાન—જીવ ક્રોધાદિ કષાયથી યુક્ત થઈને જ્ઞાનાવરણ આદિ કર્મો અને નોકર્મોને યોગ્ય પુદ્ગલોને સમસ્ત આત્મપ્રદેશોથી ગ્રહણ કરે છે, ગ્રહણ કરેલા તે પુદ્ગલ બંધના કારણે મળેલા જ રહે છે, વિખેરાઈ જતા નથી કહ્યુ પણ છે—

ઉષ્ણતા ગુણવાળો દીપક વાટ વડે તેલને ગ્રહણ કરે છે તેવી જ રીતે રાગાદિની ઉષ્ણતાથી યુક્ત થઈને યોગ રૂપી વાટ દ્વારા આત્મા રૂપી દીપક કર્મસ્કંધ રૂપી તેજને ગ્રહણ કરીને તેમને કર્મરુપમા પરિણત કરે છે'

એ રીતે પુદ્ગલ જ ઔદારિક વગેરે શરીરોનાં રુપમાં જીવોને ઉપકારક થાય છે પ્રકૃત, વિજ્ઞાન, સ્વભાવ પરમેશ્વર, નિયતિ, અદૃષ્ટપુરુષ અથવા કાળ આદિ શરીર વગેરે આકાર રૂપમા પરિણમતા નથી તેમનો સ્વીકાર કરવા માટે કોઈ દલીલ નથી આ રીતે જીવોની તરફ પુદ્ગલોનો ઉપકાર પ્રતિપાદિત કરવામા આવ્યો છે

હવે બીજા પ્રકારથી એ બતાવીએ છીએ કે નિમિત્ત બનીને પુદ્ગલ કઈ રીતે જીવોનો ઉપકાર કરે છે ? જીવોથી સુખ, દુઃખ જીવન અને મરણ રૂપ ઉપગ્રહમા પણ પુદ્ગલ કારણ હોય છે શાતા અને અશાતાવેદનીય કર્મના ઉદયમા પુદ્ગલ નિમિત્ત કારણ હોય છે

એવી જ રીતે ઇષ્ટ સ્પર્શ, રસ, ગંધ, વર્ણ અને શબ્દ રૂપ પુદ્ગલ સુખના નિમિત્ત કારણ હોય છે અને અનિષ્ટ સ્પર્શ આદિ દુઃખના કારણ હોય છે સ્થાન, આચ્છાદાન, લેપન ભોજન આદિ સંબંધી પુદ્ગલ જીવનના ઉપકારક છે અને આયુષ્યના અનપવર્ત્તક હોય છે એમનાથી વિપરીત, વિષ, શસ્ત્ર, અગ્નિ આદિના પુદ્ગલ મરણના કારણ બની જાય છે—આયુષ્યનુ અપવર્તન કરવાવાળા હોય છે ઔદારિક શરીર આદિના રૂપમા પરિણત થયેલા પુદ્ગલ આત્માનો સાક્ષાત્ ઉપકાર કરે છે

સુખ-દુઃખ પર્યાયમા આત્મા સ્વયં પરિણત થાય છે, પુદ્ગલ તેમા નિમિત્ત થઈ જાય છે બાહ્યદ્રવ્યોના સંબંધ રુપ નિમિત્તથી શાતાવેદનીયનો ઉદય થવાથી સંસારી જીવને ઇષ્ટ સ્ત્રી, પુત્ર, માળા, ચન્દન, અન્નપાણી આદિ પુદ્ગલોથી પ્રસાદ પરિણામરૂપ સુખની ઉત્પત્તિ થાય છે આ પ્રકારે આત્માની પરિણતીમા પુદ્ગલ નિમિત્ત બનીને ઉપકાર કરે છે

અશાતાવેદનીય કર્મના ઉદય અનિષ્ટ બાહ્યપુદ્ગલોના કારણ આત્મામાં સંકલેશ રૂપ પરિણતિ થવું દુ ખ કહેવાય છે આમાં પણ પુદ્ગલ નિમિત્ત હોય છે

ભવસ્થિતિના કારણભૂત આયુષ્ય કર્મના સંબંધવાળા પુરુષની શ્વાસોચ્છવાસ ક્રિયાનુ સંપૂર્ણ રીતે બંધ થઈ જવુ મરણ કહેવાય છે.

શંકા—મરણ આત્મા માટે પ્રતિકૂળ છે આથી તેને અનુગ્રાહક ઉપકારક કેવી રીતે કહી શકીએ ?

સમાધાન—પંડિતમરણ સદ્ગતિને પ્રાપ્ત કરાવનાર છે આથી તે મરણ પ્રિય હોય છે આવી રીતે વિરક્ત પુરુષને પણ મરણ પ્રિય હોય છે સ્પર્શ, રસ, ગંધ, વર્ણ અને શબ્દનુ ઇષ્ટ અથવા અનિષ્ટ થવાનુ જીવની પોતાની ચિત્તવૃત્તિ પર નિર્ભર છે કહ્યુ પણ છે-નિશ્ચય નયથી અર્થાત્ વાસ્તવિક રૂપથી ન કોઈ પદાર્થ ઇષ્ટ હોય છે કે ન અનિષ્ટ, પરંતુ જે પદાર્થ પર દ્વેષ ઉત્પન્ન થાય છે તેજ અનિષ્ટ બની જાય છે અને જેના પર રાગવૃત્તિ ઉત્પન્ન થાય છે તે ઇષ્ટ પ્રતિત થવા લાગે છે

શંકા—જે જીવ સોપક્રમ આયુષ્યવાળા છે, અનશન અગર રોગ આદિના કારણે જેમનુ આયુષ્ય ક્ષીણ થઈ જાય છે, જેમનુ આયુષ્ય અપવર્ત્તનીય છે, એવા જીવો માટે પુદ્ગલ ઉપકારક ભલે હોય પરંતુ 'અનપવર્તનીય આયુષ્યવાળા અર્થાત્ દેવતા અને નારકી, ચરમ શરીરધારીઓ, ઉત્તમ પુરુષો તથા અસંખ્યાત વર્ષોના આયુષ્યવાળા માટે પુદ્ગલ મરણોપકારક કેવી રીતે હોઈ શકે ?

સમાધાન-સાંભળો ભલે કોઈ અપવર્ત્તનીય આયુષ્યવાળો હોય અગર તો અનપવર્ત્તનીયવાળો, બધાનુ જીવન અને મરણ પુદ્ગલોને જ આધીન છે અનપવર્ત્તનીય આયુષ્યવાળા જીવોના આયુષ્યને નથી કોઈ વધારી શકતુ કે નથી ઘટાડી શકતુ આવી સ્થિતિમા તેમના જીવન અને મરણને પુદ્ગલકૃત ઉપગ્રહ કેવી કહી શકાય ? એનો જવાબ એ છે કે પૌદ્ગલિક આયુષ્ય કર્મ જ્યા સુધી બન્યુ રહે છે ત્યા સુધી જીવન રહે છે અને જ્યારે તેનો ક્ષય થઈ જાય છે તો મરણ થાય છે આ રીતે સઘળા જીવોનુ જીવન તથા મરણ પુદ્ગલોને આધીન છે

અનપવર્ત્તનીય આયુષ્યવાળાઓનુ જીવન પણ આયુષ્ય કર્મ વગર ટકી શકતું નથી અને આયુષ્યકર્મના ક્ષય વગર મરણ થઈ શકતુ નથી આ કારણથી અનપવર્ત્તનીય આયુષ્યવાળાનુ જીવન-મરણ પણ પુદ્ગલને આધીન છે ભગવતીસૂત્રના શતક ૧૩ ઉદ્દેશક ૪ મા કહે છે કે—

પ્રશ્ન—પુદ્ગલાસ્તિકાયના વિષયમા પ્રશ્ન ?

ઉત્તર—ગૌતમ ! પુદ્ગલાસ્તિકાયના નિમિત્તથી જીવોના ઔદારિક, વૈક્રિય, આહારક, તૈજસ, કાર્મણ શરીર શ્રોત્રેન્દ્રીય, ચક્ષુરિન્દ્રીય, ઘ્રાણેન્દ્રિય, જિહ્વેન્દ્રિય, સ્પર્શેન્દ્રિય, મનોયોગ, વચનયોગ, કાયયોગ તથા શ્વાસોચ્છવાસનુ ગ્રહણ પ્રવૃત્ત થાય છે પુદ્ગલાસ્તિકાય ગ્રહણ લક્ષણવાળુ છે ॥ ૧૬ ॥

'परोप्परनिमित्ता जीवा'

મૂળસૂત્રાર્થ—જીવ પરસ્પરમા નિમિત્ત હોય છે ॥ ૧૭ ॥

તત્વાર્થદીપિકા—જીવ પરસ્પર એક બીજાના ઉપકારક હોય છે રાજા અને સેવક, આચાર્ય અને શિષ્ય જેવી રીતે એક બીજાના ઉપકારક છે તેવી જ રીતે જીવોનો પણ પરસ્પર ઉપકાર

સમજવો જોઈએ રાજા દ્રવ્ય આદિ આપીને નોકરનો ઉપકાર કરે છે, સેવક હિત સાધીને અને અહિત રોકીને રાજાનો ઉપકાર કરે છે આચાર્ય આ લોક તથા પરલોકમાં ઉત્તમ ફળ આપનાર ઉપદેશ અનુસાર ક્રિયા કરાવીને શિષ્યનો ઉપકાર કરે છે શિષ્ય આચાર્ય માટે અનુકૂળ કાર્ય કરીને આચાર્યનો ઉપકારક થાય છે

આવી રીતે જીવોના સુખ, દુખ, જીવન તથા મરણ પણ જીવકૃત ઉપકાર છે જે જીવ બીજા જીવને સુખ પહોચાડે છે તે તેને અનેકવાર સુખી બનાવે છે આથી ઉલ્ટુ જે જીવ જેને દુખ આપે છે તે બદલામાં તેને વારવાર દુખી બનાવે છે જે જેનો ઘાત કરે છે તેને તેની દ્વારા ઘણીવાર મરવુ પડે છે વળી કહ્યુ પણ છે કે—

અરે જીવ ! તુ તારા પુત્ર-પત્ની વગેરે પરિવાર માટે જીવોની જો હિંસા કરીશ, તેના ટુકડે-ટુકડા કરીશ, દુખ ઉપજાવીશ તો યાદ રાખજે કે તારે એકલાને જ તેનુ ફળ ભોગવવુ પડશે ॥ ૧૭ ॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પહેલા ધર્મ, અધર્મ, આકાશ, અને પુદ્ગલ દ્રવ્યના ઉપકારક રૂપમા લક્ષણ કહેવામાં આવ્યુ છે જીવો માટે ધર્મ અધર્મ આદિ બધા ઉપકારક હોય છે, ધર્મ, અધર્મ તથા આકાશપુદ્ગલોના ઉપકારક હોય છે, આકાશ ધર્મ, અધર્મ અને પુદ્ગલોનો ઉપકારક હોય છે ઈત્યાદિ રૂપથી કથન કરવામા આવ્યુ છે હવે જીવ કોનો ઉપકારી હોય છે એ માટે કહીએ છીએ—જીવ પરસ્પર એક બીજાનો ઉપકાર કરવામા નિમિત્ત બને છે

એક જીવ બીજા જીવને ભલાઈનો ઉપદેશ આપીને તથા અહિતથી રોકીને ઉપકાર કરે છે એવી જ રીતે ભવિષ્યમાં અથવા વિદ્યમાન કાળમા જે હિત છે, યોગ્ય ક્ષેમ અગર ન્યાય્ય છે તેનુ પ્રતિપાદન કરીને તથા હિતથી વિપરીત અહિતનો પ્રતિષેધ કરીને પરસ્પર ઉપકારક થાય છે એક જીવ બીજાનો, બીજો ત્રીજાનો, ત્રીજો ચોથાનો ઉપકાર કરે છે અને આવી રીતે ઉપકારની પરમ્પરા ચાલુ રહે છે

જેમ ધર્મ, અધર્મ આકાશ કાળ અને પુદ્ગલ દ્રવ્યમા સ્વભાવથી જ ઉપકારકતા છે તેવી જીવોમા સ્વભાવથી ઉપકારકતા નથી જીવોની ઉપકારકતા તો અનુગ્રહ બુદ્ધિથી જ સમજવી જોઈએ આ પ્રકારે પરસ્પર હિતાહિતનો ઉપદેશ આપીને જીવ બીજા જીવનો અનુગ્રહ કરે છે, પુદ્ગલ આદિ એવુ કરતા નથી

અથવા જીવના સુખ આદિના સાધક-એક-એક પુદ્ગલ વગેરે થઈ શકે છે હમેશા બે વગેરેનો ઉપકારક થાય છે, એક-એકનો નહી આ રીતે પહેલા પુદ્ગલ આદિનો ગૌણ ઉપકાર પ્રતિપાદિત કર્યો અહી જીવ દ્વારા થનારો મુખ્ય ઉપકાર સમજવો જોઈએ જીવ જેટલો અધિક ઉપદેશ દ્વારા જીવોનો ઉપકારક થાય છે તેટલો ધન વગેરે દ્વારા ઉપકાર કરતો નથી

શકા—પહેલા જીવનુ લક્ષણ ઉપયોગ બતાવ્યુ તો પછી તેનુ બીજુ લક્ષણ બતાવવુ નકામુ છે

સમાધાન—ઉપયોગ જીવનુ અન્તરગ લક્ષણ છે અહીં જે પરસ્પર ઉપકાર કરવાનુ લક્ષણ કહેલ છે તે તેનુ બહિરગ લક્ષણ છે

શકા—એવુ છે તો ધર્મ આદિનુ પણ બીજુ લક્ષણ કેમ ન બતાવ્યુ ?

સમાધાન—ધર્મ અધર્મ તથા આકાશના સ્વાભાવિક ગતિ સ્થિતિ તથા અવગાહ જ અસાધારણ લક્ષણ છે ભગવતીસૂત્ર (વ્યાખ્યાપ્રજ્ઞપ્તિસૂત્ર) શતક ૧૩ ઉદ્દેશક ૪ ના ૪૮ માં સૂત્રમાં કહ્યુ છે—

પ્રશ્ન—ભગવન્ ! જીવાસ્તિકાયથી જીવોને શુ થાય છે ?

ઉત્તર—ગૌતમ ! જીવાસ્તિકાયથી જીવ અનન્ત-આભિનિબોધિકજ્ઞાનના પર્યાયોને અનન્ત શ્રુતજ્ઞાનનાં પર્યાયોને પ્રવૃત્ત કરે છે વગેરે જેવુ બીજા શતકના અસ્તિકાય ઉદ્દેશકમા કહ્યુ છે તે જ અહીં સમજી-લેવુ જોઈએ જીવ ઉપયોગ લક્ષણવાળો છે

તે જ ભગવતીસૂત્રના બીજા શતકના દશમાં ઉદ્દેશકમાં કહ્યુ છે—

જીવ અનન્ત આભિનિબોધિકજ્ઞાનના પર્યાયોને તેવી જ રીતે શ્રુતજ્ઞાનના પર્યાયોને, અવધિજ્ઞાનના, મન પર્યવજ્ઞાનના, કેવલજ્ઞાનના, મતિઅજ્ઞાનના, શ્રુતઅજ્ઞાનના, વિભંગજ્ઞાનના, ચક્ષુદર્શનના, અચક્ષુદર્શનના, અવધિદર્શનના, કેવલદર્શનના-આ તમામ પર્યાયોને અર્થાત્ બધાના ઉપયોગને પ્રાપ્ત કરે છે

ઉત્તરાધ્યયનના ૨૮ માં અધ્યયનની ૧૨ મી ગાથામાં કહ્યુ છે જીવ ઉપયોગ લક્ષણવાળો છે જ્ઞાનથી, દર્શનથી, સુખથી અને દુ ખથી. ॥ ૧૭ ॥

'वट्टणा परिणाम किरियापरत्तापरत्ताणं निमित्त कालो'

મૂળસૂત્રાર્થ—કાલદ્રવ્ય વર્ત્તના, પરિણામ, ક્રિયા, પરત્વ અને અપરત્વનુ નિમિત્ત કારણ છે ॥ ૧૮ ॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમા જીવોના લક્ષણનુ પ્રતિપાદન કરવામાં આવ્યુ હવે કાળનુ લક્ષણ પ્રતિપાદિત કરીએ છીએ

કાળ, ધર્મ આદિ દ્રવ્યોની વર્ત્તના અર્થાત્ વર્ત્તનવ્યવહારનો ઉપકારક થઈને નિમિત્ત થાય છે અવી જ રીતે દ્રવ્યના પર્યાય રૂપમા જીવના ક્રોધ રૂપમાં પુદ્ગલના વર્ણ રસ ગ ધ અને સ્પર્શ રૂપમાં ધર્મ અધર્મ અને આકાશના અગુરુ લઘુ ગુણને વૃદ્ધિ હાનિ રૂપમા થનારા પરિણામનો ઉપકારક થઈને નિમિત્ત થાય છે આવી રીતે પરિસ્પન્દન રૂપ ક્રિયાનો તથા જ્યેષ્ઠતા અને કનિષ્ઠતાના વ્યવહારનુ નિમિત્ત થાય છે ॥ ૧૮ ॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પ્રથમ ધર્મ અધર્મ આકાશ તથા પુદ્ગલ જીવોના ઉપકારક પ્રકટ કરીને તેમના સ્વરૂપનુ કથન કરવામા આવ્યુ છે હવે કાળનુ સ્વરૂપ પ્રકટ કરવા માટે "વટ્ટણા" ઈત્યાદિ રૂપ આગળના સૂત્રનુ કથન કરીએ છીએ-ધર્મ અધર્મ આકાશ તથા પુદ્ગલ જીવોના દ્રવ્યોના સ્વપર્યાય નિવૃત્તિ પ્રતિ આત્મરૂપથી વર્તમાન બાહ્ય ઉપકાર વગર તેમની વૃત્તિનો સ ભવ થઈ શકતો નથી તેમની પ્રવૃત્તિથી કાલ ઉપલક્ષિત થાય છે-જાણી શકાય છે-આથી દ્રવ્ય અને પર્યાયની વર્ત્તના કાળ કૃત ઉપકાર જાણુવા જોઈએ આ રીતે દ્રવ્યપર્યાય વર્ત્તનારૂપ છે અને કાળ તેમને વર્ત્તન કરાવનાર છે

શ કા—જો આમ જ હોય તો શિષ્ય ભણે છે, ઉપાધ્યાય તેને ભણાવે છે વગેરેના સમાનકાળમાં સક્રિયતાનો પ્રસ ગ ઉપસ્થિત થાય છે

સમાધાન—જેવી રીતે રસ્તે ચાલનારાને પ્રકાશ ઉપકારક થાય છે છાણાની અગ્નિ શિષ્યને ભણાવે છે એ પ્રકારના વ્યવહારમા છાણાનો અગ્નિ જો કે શિષ્યના અધ્યયનમાં નિમિત્ત માત્ર

છે તો પણ તેમાં હેતુકર્તૃત્વનુ કથન કરવામાં આવે છે એવી જ રીતે દ્રવ્ય અને પર્યાય આદિના વર્ત્તનવ્યવહારમા કાળ જો કે નિમિત્ત માત્ર છે તો પણ એમાં હેતુકર્તૃત્વનુ કથન હોવુ શક્ય છે,

શંકા—સમય આદિથી જ ઉક્ત વ્યવહાર થઈ શકે છે એવી સ્થિતિમા કાળના અસ્તિત્વનુ શુ પ્રમાણ છે ?

સમાધાન—સમય આદિ ક્રિયાવિશેષોની તથા સમય આદિ દ્વારા નિષ્પન્ન થનારા પાક આદિની "સમયઃ પાક" એવી સંજ્ઞાની પ્રસિદ્ધિ હોવા છતા પણ "સમય કાલ" "ઓદનપાક-કાલ" એવી રીતે કાળનુ જે કથન કરવામાં આવે છે તેથી મુખ્ય કાલની સત્તાનુ અનુમાન થાય છે કારણ કે મુખ્યની અપેક્ષાથી જ ગૌણ વ્યવહાર થાય છે

આ રીતે દ્રવ્યના પર્યાય-પરિણમનમાં અર્થાત્ એક પર્યાયનો વિનાશ થવાથી બીજા પર્યાયની ઉત્પત્તિ રૂપ પરિણામમા, અપરિસ્પન્દ રૂપ પરિણામમા, જીવના ક્રોધાદિ રૂપ પરિણામમા પુદ્ગલના વર્ણ, ગંધ, રસ, સ્પર્શ આદિ રૂપ પરિણામમા તથા ધર્મ અધર્મ અને આકાશના અગુરુ લઘુ ગુણને વૃદ્ધિ તથા હાનિ રૂપ પરિણામમા કાળ ઉપકારક રૂપથી હેતુ થાય છે

હલન-ચલન રૂપ ક્રિયા એ પ્રકારની કહેવામા આવી છે પ્રાયોગિકિ અર્થાત્ પ્રયત્નજનિત અને વૈસ્રસિકિ અર્થાત્ સ્વાભાવિકી શકટ વગેરેની પ્રાયોગિકી અને મેઘ વગેરેની સ્વાભાવિકિ ક્રિયા હોય છે બન્ને પ્રકારની ક્રિયામાં કાલ નિમિત્ત કારણ છે

પરત્વ અને અપરત્વ બે-બે પ્રકારનાં છે દેશકૃત અને કાલકૃત દેશકૃત પરત્વનો અર્થ છે દૂર અને અપરત્વનો અર્થ છે પાસે આ બન્ને પરસ્પર સાપેક્ષ છે કાલકૃત પરત્વનો અભિપ્રાય છે જ્યેષ્ઠતા અને અપરત્વનો અભિપ્રાય છે કનિષ્ઠતા આ સૂત્રમા જે પરત્વ અને અપરત્વનુ ગ્રહણ કરેલ છે તે કાલકૃત સમજવા જોઈએ કાલના આધાર પર જ જ્યેષ્ઠતા-કનિષ્ઠતાનો વ્યવહાર થાય છે આથી પરત્વ અને અપરત્વ પણ કાળના ઉપકારક છે આ બન્ને પણ પરસ્પર સાપેક્ષ હોય છે

આનો ફલિતાર્થ એ છે કે પુદ્ગલ આદિ દ્રવ્ય પર્યાયોના વર્ત્તન આદિનો વ્યવહાર કાલ-કૃત હોવાથી કાલ જ તે બધાનુ નિમિત્ત કારણ છે

શંકા—વર્ત્તનાનુ ગ્રહણ કરવાથી જ તેના ભેદ પરિણામ, ક્રિયા આદિનુ પણ ગ્રહણ થઈ શકે છે આથી પરિણામ આદિનુ પૃથક્ગ્રહણ કરવુ વ્યર્થ છે.

સમાધાન—કાલ બે પ્રકારના છે-પરમાર્થકાલ તથા વ્યવહારકાલ આ બન્ને પ્રકારનાં કાળોને ગ્રહણ કરવા માટે પરિણામ આદિને વર્ત્તનાથી જુદા કહ્યા છે

વર્ત્તના લક્ષણવાળો કાળ પરમાર્થકાળ છે અને પરિણામ ક્રિયા આદિ લક્ષણવાળો કાળ વ્યવહાર કાળ કહેવાય છે આ પ્રકારે અન્ય પદાર્થો દ્વારા પરિચ્છિન્ન અને અન્ય પદાર્થોના પરિચ્છેદનુ કારણ જે ક્રિયાવિશેષ છે, તે કાલ કહેવાય છે તેના ત્રણ ભેદ છે-ભૂત, ભવિષ્ય, વર્ત્તમાન આમાથી વર્ત્તમાન રૂપ પરમાર્થ, કાળનો વ્યવહાર થવો મુખ્ય અને ભૂત આદિનો વ્યવહાર ગૌણ છે

પરિણામ ક્રિયા આદિ રૂપ વ્યવહાર કાલમાં ભૂત, ભવિષ્ય તથા વર્ત્તમાનનો વ્યપદેશ મુખ્ય છે, કાળના વ્યપદેશમા ગૌણ છે કારણ કે તે ક્રિયાવાન દ્રવ્યની અપેક્ષા રાખે છે અને કાલકૃત હોય છે

શંકા—કાલદ્રવ્ય તો સિદ્ધ છે પરંતુ સમય વગેરેની સત્તામા શુ પ્રમાણ છે ?

સમાધાન—ચોખાનુ રંધાવુ રાંધણુ કહેવાય છે ચઢતા ચોખા ધીમે-ધીમે ભાત રૂપમાં પરિણત થઈ જાય છે કારણ કે તેમના સખ્ત અવયવ શિથિલ થતા જોવાય છે આથી સાબીત થાય છે કે સમય સમયની પ્રતિ સૂક્ષ્મ કાળનુ અસ્તિત્વ છે. જો એક એક સમયમાં ચોખા થોડા થોડા ન રંધાત તો તેમાં સ્થૂળ પાક ન જોવામા આવત આ રીતે બધા દ્રવ્યોમા પ્રતિ સમય સ્થૂલ પર્યાય જોવામા આવે છે આથી જાતે જ વર્તન સ્વભાવ હોવાથી બાહ્ય નિશ્ચયકાળ જે પરમાણુરૂપ છે તેની અપેક્ષા રાખીને ઉત્તરોત્તર સૂક્ષ્મ પર્યાયોમા જે વર્તન પરિણમન થાય છે તે વર્તના છે એવુ નક્કી હોત તો દ્રવ્યોનું સમયે-સમયે પરિણમન થાત પછી તો દ્રવ્યોના સ્થૂળ પર્યાય પણ ન હોત આથી તે વર્તના પરમાણુરૂપ મુખ્ય કાળને સમજવામા કારણ છે. આ કારણથી વર્તના દ્વારા અણુરૂપ મુખ્ય કાળનુ અસ્તિત્વ નિશ્ચિત હોય છે આ રીતે વર્તના નિશ્ચય કાળનો ઉપકાર સમજવો જોઈએ

આ પ્રકારના કાળનુ અસ્તિત્વ મનુષ્યલોકમા જ કેમ સ્વીકારવામાં આવે છે ? મનુષ્યલોકથી બહાર કેમ નથી સ્વીકારાતુ ? મનુષ્યલોકથી બહાર પણ કાળનુ લક્ષણ ઘટિત થાય છે જેવી રીતે વર્તના રૂપ કાળનુ હોવુ મનુષ્યલોકથી બહાર પણ પ્રતિત થાય છે "પ્રાણાપાન" શ્વાસોશ્છ્વાસ નિમેષ, ઉન્મેષ, આયુષ્યનુ પ્રમાણ આદિ કાળ તથા પરત્વ અપરત્વ આદિ લિંગ મનુષ્યલોકથી બહાર પણ મળી આવે છે આનુ સમાધાન એ છે કે ત્યા ભાવોની વૃત્તિ હોવા છતા પણ તે વૃત્તિ કાળનુ કારણ માનવામા આવતી નથી પરંતુ સત્ પદાર્થ સ્વયં જ ઉત્પન્ન થાય છે સ્વયં જ નષ્ટ થાય છે એ સ્વયં જ સ્થિર રહે છે પદાર્થોનુ અસ્તિત્વ કોઈ બીજા પદાર્થની અપેક્ષા રાખતું નથી

મનુષ્યલોકથી બહાર જે પ્રાણાપાન આદિ વ્યવહાર છે તે કાળની અપેક્ષા રાખતા નથી કારણ કે સમાનજાતીય બધા એકી સાથે જ ઉત્પન્ન થતા નથી સમાન જાતીયવાળાઓના કાળની અપેક્ષા રાખનારા અર્થ એક કાળમાં થાય છે, વિજાતીયોના નહી તુલ્ય જાતીઓના પ્રાણ આદિ વ્યાપાર એક જ કાળમા ઉત્પન્ન થતાં નથી તેમજ બન્ધ પણ થતો નથી આથી પ્રાણ આદિ વૃત્તિઓ કાલાપેક્ષ નથી તેમજ મનુષ્યલોકથી બહાર જે પરત્વ અને અપરત્વ છે તેમને કાળની અપેક્ષા હોય છે

પરત્વ અને અપરત્વ સ્થિતિવિશેષની અપેક્ષાથી થાય છે જેમ ૭૦ વર્ષવાળાની અપેક્ષા ૧૦૦ વર્ષવાળો "પર" કહેવાય છે અને ૭૦ વર્ષવાળો "અપર" કહેવાય છે આ વ્યવહાર પદાર્થોના અસ્તિત્વથી જ થાય છે અને કોઇનુ અસ્તિત્વ કોઈ બીજી વસ્તુની અપેક્ષા રાખતુ નથી, તે કહેવાઈ ગયુ છે

શંકા—જો એવુ છે તો મનુષ્યલોકમા પણ વર્તના, પરિણામ, ક્રિયા આદિ કાળ વગર જ થઈ જશે ત્યા કાળના અસ્તિત્વનો સ્વીકાર કરવાથી શો ફાયદો ?

સમાધાન—મનુષ્ય લોકમા કાળને જો વર્તના આદિના જનક કારણ તરીકે માન્યુ હોત અગર તો ઉપાદાન કારણ માન્યુ હોત તો આવી કલ્પના કરવાની આવશ્યકતા ન હતી પરંતુ એવુ તો માન્યુ નથી વર્તના આદિમા કાળ અપેક્ષા કારણ જ કહેવામા આવેલ છે જેમ કુંભાર માટી લઈને ઘડો બનાવે છે તેમ કાળ પુદ્ગલ વગેરેને લઈને તેમની વર્તના વગેરે કરતો

નથી કાળ માટી આદિની જેમ ઉપાદાન કારણુ પણુ હોતુ નથી પરતુ જાતે જ થનારા પુદ્ગલ આદિ પદાર્થ આ કાળમા હોય અન્ય કાળમા નહી એ રીતે કાળ માત્ર અપેક્ષા કારણુ છે જેમ પુદ્ગલાદિ દ્રવ્યોની ગતિમા ધર્મદ્રવ્ય અપેક્ષા કારણુ છે તેવી જ રીતે મનુષ્યલોકમા પુદ્ગલાદિ દ્રવ્યોની વર્ત્તનામા કાળને અપેક્ષા કારણુ માનવુ તે અતિ જરૂરનુ છે એવી રીતે મનુષ્યલોકમાં કાળનુ અસ્તિત્વ સ્વીકારવામાં કોઇ દોષ નથી

જો તિર્છા લોકના પદાર્થોનો ઉપકાર ચન્દ્ર-સૂર્ય આદિની ગતિ ક્રિયાથી થાય છે તો તે સૂર્ય આદિની ગતિક્રિયાથી તિર્છાલોકમાં તેમનો ઉપકાર સ્પષ્ટ જ છે દેવલોક આદિમા ચન્દ્ર સૂર્ય વગેરેની ગતિક્રિયા થતી નથી તેનાથી તેમનો ઉપકાર થતો નથી આ રીતે અન્યત્ર તેમનો ઉપકાર સ્પષ્ટ જ છે આથી મનુષ્યલોકવર્ત્તી કાળ દ્વારા જ અન્યત્ર પણુ કાળનો વ્યવહાર સમજી લેવો જોઇએ સહુથી નાનો જે સમય છે તે પણુ સૂર્ય આદિની ક્રિયાથી પ્રગટ થનારા દિવસ વગેરેના પરમ લવ જ જાણુવા જોઈએ

સૂર્ય આદિની ગતિમા પણુ પ્રાચીન કાળગતિ કારણુ હોય છે આથી મનુષ્યલોકમાં જ કાળ દ્રવ્યનો સદ્ભાવ માનવો યોગ્ય છે અન્યથા લોક અને અલોકમા વર્ત્તના આદિનો સદ્ભાવ હોવાથી સર્વત્ર જ તેની સત્તા કેમ ન મનાય ? કહેવાનુ એ છે કે આનાથી કાળની પર્યાયિતા પણુ સગત થઈ જાય છે

આ રીતે વર્ત્તના કાળાશ્રિત વૃત્તિ કહેવાય છે' વર્ત્તના, ઉત્પત્તિ સ્થિતિ અને ગતિ છે જે પ્રથમ સમય આશ્રિત છે વર્ત્તના આદિ સમસ્ત ભાવરૂપ પદાર્થોમાં વ્યાપક છે પદાર્થ સ્વયં જ વર્ત્તના કરે છે તે વર્ત્તનશીલ પદાર્થો માટે કાળાશ્રયવૃત્તિ નિમિત્ત થઈ જાય છે તેના દ્વારા પદાર્થ વર્ત્તના કરે છે તે વર્ત્તના, એવી વર્ત્તના શબ્દની વ્યુત્પત્તિ છે કાલાશ્રયવૃત્તિ જ વર્ત્તના અગર વર્ત્તનશીલતા કહેવાય છે વૃત્તિ, વર્ત્તન અગર વર્ત્તનશીલતા આ બધા એક જ અર્થ સૂચવે છે **'अनुदात्तेतश्च हलादे'** આ સૂત્રથી યુચ્ પ્રત્યય થાય છે તેને **"युवोरनाकौ'** આ સૂત્રથી આદેશ થતો નથી પ્રથમ વ્યુત્પત્તિમા **'ण्यासश्रन्थो युच्'** એ સૂત્રથી યુચ્ પ્રત્યય થાય છે તે વર્ત્તના પ્રત્યેક દ્રવ્ય અને પર્યાયમા એક સમય સમ્બન્ધી સત્તાનુ અનુભવ રૂપ છે ઉત્પાદ્ય અગર તેનાથી બીજા પદાર્થના પ્રથમ સમયનો વ્યવહાર અનુમાન ગમ્ય છે ચોખા વગેરેના પાકની જેમ અગ્નિ અને જળ હેતુક પ્રાથમિક વિક્રિયા અતીત અને અનાગત વિશેષોથી રહિત જાણુવા જોઇએ

તે વર્ત્તના અત્યન્ત કુશળ -બુદ્ધિમાન પુરુષની જ સમજમા આવે છે કહ્યુ પણુ છે—

-विसस्य बाला - વગેરે

શકા—વર્તમાન સૂર્યના ઉદયથી પ્રતીત થનારા ભાવરૂપ પદાર્થોની વિશિષ્ટ ક્રિયા જ વર્ત્તના કરે છે એમ વ્યવહારનો વિષય હોય છે તેનાથી ભિન્ન કોઈ કાળ વ્યવહારનો વિષય હોતો નથી એવી જ રીતે "હ્ય" (વીતેલો દિવસ) અને "શ્વ" (આવનારો દિવસ) આ પ્રકારે અતીત અને અનાગત ઉદયરૂપ, સૂર્યમડળના ભ્રમણુથી અનુમાન કરાનારી વસ્તુની ક્રિયા જ વર્તશે વગેરે રૂપે વ્યવહાર કરાય છે

સમાધાન—કાળ ભલે ધર્મ આદિ દ્રવ્યોનુ પરિણુમન માત્ર હોય અગર ભલે તેનાથી કઈ જુદો જ હોય, બને પક્ષોમા કોઇ દોષ નથી પણુ સૂર્યની ગતિથી પ્રતીત થનારી વસ્તુની ક્રિયા—

વર્ત્તતે એવા વ્યવહારનો વિષય હોતી નથી કારણ કે સૂર્યની ગતિમા પણ તેનો સદ્ભાવ છે આથી વર્ત્તતે એ પ્રકારના વ્યવહારના વિષય બનનારા તમામ પદાર્થોની વર્ત્તના આદિનો નિર્વાહક કાળ કોઈ જુદો જ હોવો જોઈએ. જો કાળનુ અસ્તિત્વ ન માનીએ તો કાલાશ્રિત વૃત્તિ પણ ન મનાય કાળ નિશ્રીત હોવાથી જ કાલાશ્રિત વૃત્તિ કહી શકાય છે આ રીતે સકળ પદાર્થોમા થનારી વર્ત્તના કાળ વગર ઘટિત થઈ શકતી નથી આથી પદાર્થોનાં પરિણમનના કારણ કાળનુ કાર્યથી અનુમાન થાય જ છે કાળ દ્રવ્યના વાચક ઘણાં શબ્દો પણ લોકમાં પ્રસિદ્ધ છે તેઓ વસ્તુની ક્રિયામાત્રના વાચક હોઈ શકતા નથી તે શબ્દો આ પ્રમાણે છે–યુગપદ્ (એક સાથે) અયુગપદ્ (એક સાથે નહી) ક્ષિપ્ર (શીઘ્ર) ચિર (મોડું) ચિરેણ (મોડેથી) આ પર છે આ અપર છે, આ વર્તશે, આ વર્તશે નહી આ વર્તી રહ્યુ છે આ અદર વર્તે છે વગેરે બધા શબ્દો કાળની અપેક્ષા રાખે છે આમ પુરુષ આ જ રીતે વ્યવહાર કરે છે આવી જ રીતે વીતેલો કાળ આવનારો કાળ આજ, હવે, અત્યારે પરમ દિવસે ત્રીજા દિવસે સવાર પ્રાત વગેરે વ્યવહાર કાળવાચક પ્રયોગ કાળના અભાવમાં થઇ શકતા નથી આથી કાળદ્રવ્યનો અવશ્ય સ્વીકાર કરવો જોઇએ

પરિણામ પુદ્ગલ આદિ દ્રવ્યોનો એક પર્યાય છે જે પોતાની જાતિનો ત્યાગ ન કરતા હલન–ચલનથી ભિન્ન પ્રયોગ દ્વારા ઉત્પન્ન થાય છે જેવી રીતે અકુર અવસ્થાવાળા વનસ્પતિકાયના મૂળ ડાળી થડ પાદડા, શાખા ફુલ ફલનો સદ્ભાવ રૂપ પરિણામ થાય છે આ અકુર હતુ, હવે સ્કધવાન થઈ ગયુ આ વર્ષમાં આ ફુલશે ફાલશે પુરુષ જીવદ્રવ્યના પરિણામ શૈશવ બાલ્ય પૌગડ, યૌવન, વૃદ્ધાવસ્થા આદિ છે

પરિણામ બે પ્રકારના છે–અનાદિ અને સાદિ અમૂર્તધર્મ અધર્મ આકાશ, કાળ અને જીવમા અનાદિ પરિણામ થાય છે જ્યારે મૂર્ત વાદળ, ઈન્દ્રધનુષ્ય આદિમાં તથા સ્તભ કુભ વગેરેમા સાદી પરિણામ છે

એવી જ રીતે (૧) હેમન્ત (૨) શિશિર (૩) વસન્ત (૪) ગ્રીષ્મ (૫) વર્ષા અને (૬) શરદ્ નામની છ ઋતુઓ પણ કાળના જ શક્તિભેદ રૂપ પરિણામ વિશેષ છે જેમનુ વિભિન્ન કાર્યોની ઉત્પત્તિથી અનુમાન કરવામાં આવે છે. જેમ કે હેમન્ત ઋતુમાં કપાસ આદિના ફુલ હિમવર્ષાથી બળી જાય છે, વટેમાર્ગુઓના હાથ સકોચાઈ જાય છે, તેમના દાંત કડકડે છે. શરીર થર–થર કાપવા લાગે છે અને તેઓ પતગીયાની જેમ અગ્નિ તરફ ઉમટી પડે છે ઝાકળ બિન્દુના સપર્કથી અત્યન્ત શીતળ વાયુ જીવોને ક્લેશ ઉત્પન્ન કરે છે

શિશિર ઋતુમા ચદ્રના કિરણો અત્યન્ત ધુમ્મસથી ઢકાઈ જાય છે બોરડીના વૃક્ષોની શાખાઓ ફળોના ભારથી ઝુકી જાય છે અને બાળકો તેની હેઠળ હરે ફરે છે, હવા બરફના કણોથી વિશદ્ કુન્દ તથા માલતી વગેરેના પુષ્પોથી સુવાસિત થાય છે

વસતમા ચારે બાજુ કુજલતાઓના ફૂલ કિચિત્ વિકસિત થાય છે, કેસર તિલક કુરબક શિરીષ વગેરેના ફળોની સુગધથી યુકત તથા તરુણ જનોના મનને હરણ કરનાર પવન ધીમે ધીમે વાય છે આંબોની મજરીના રજ તથા પરાગથી ખરડાયેલા શરીરવાળા ભમરાં મનોહર ગુજન કરે છે કોયલ પોતાના કુહૂ–કુહૂ'ના કલરવથી આમ્રવનોને શોભાયમાન કરે છે મલયા-

ચલના પવનના વેગથી કમ્પિત ચમ્પાના પરાગસમૂહથી પોતાના નયન–પાપણોને બધ કરીને પથિક જન પોત પોતાની પ્રેયસીઓના ઘરની તરફ જવા લાગે છે

ગ્રીષ્મ ઋતુમા સૂર્ય પોતાના પ્રચ ડ કિરણોથી ભૂતળને એટલુ બધુ તપાવે છે કે જાણે પૃથ્વી ઉપર અ ગારાનો સમૂહ પાથરી દીધો હોય પથિક જનોનુ મન અત્યન્ત વ્યાકુલ થઈ જાય છે તેઓ યેન કેન પ્રકારેણ ઘણા લાબા દિવસોને પૂરા કરે છે ભોગ વિલાસી લોકો પોતાના શરીર પર ચન્દનનો લેપ કરે છે નોકરો પાસે વીઝણા ઝુલાવે છે અથવા વીજળીના પ ખાથી મળતા અત્યન્ત ચ ચળ વાયુથી પોતાના દેહને ઠ ડક બક્ષે છે શીતળ ગૃહો ઉપવનો સરિતા અગર સરોવર કાઠે વિવિધ પ્રકારના ફુવારાઓની અ દર રહીને પોતાની ગરમી દૂર કરે છે હાથીદાતના જેમ શ્વેતવર્ણ મલ્લિકાની કળિઓ, પુષ્કળ સુવાસથી સમ્પન્ન પાટલ–પુષ્પ અને સાય કાળ તથા પ્રાત કાળની સુવાસિત હવા વિલાસી માણસોના જ ગમ શરીરને સુવાસિત કરે છે

વર્ષાઋતુમા ભૂતળ વીજળીના ચમકારાથી પ્રકાશિત થઇ જાય છે મેઘમાળાના આડમ્બરથી આકાશ આચ્છાદિત થઈ જાય છે મેઘધનુષ્ય પોતાની અનુપમ છટા દેખાડે છે મૂશળધાર વારિવર્ષાથી પૃથ્વી ઉપરની બધી ધૂળ બેસી જાય છે કદમ્બ કેતકીના સૌરભમય પરાગથી યુક્ત સુગ ધિત વાયુ વિલાસી જનોના અ ગોને પ્રકમ્પિત કરવા લાગે છે વર્ષાના જળના પ્રવાહથી સુન્દર કાઠાવાળી નદિઓ પ્રવાહિત થાય છે પર્વતોની ખીણો ખીલેલા કુટજ પુષ્પોથી તથા શિલીન્ધ્રોથી–સુશોભિત થઈ જાય છે

વાદળાની ઘોર ઘટાની ગર્જના સાંભળીને પ્રવાસી જનોના મનમા તીવ્ર ઉત્ક ઠા જાગૃત થઈ જાય છે તેઓ મ ત્ર–મુગ્ધ થઈ જાય છે મોર, ચાતકો તથા દેડકાનો અવાજ સાભળવાથી સ્ત્રીઓના મનમા કામ સતેજ થઈ જાય છે અને તેઓ ક્ષણભર માટે વિદ્યુત રૂપી પ્રદીપ દ્વારા પ્રકાશિત રજનીમા પોતાના પ્રિયતમના ઘર તરફ પ્રસ્થાન કરવા લાગે છે રસ્તો કાદવની બહુ-લતાવાળો અને કોઈ કોઈ ઠેકાણે જળબબાકાર દેખાય છે

શરદ ઋતુમા સૂર્યના કિરણો કાદવને શોષતા તીવ્ર સન્તાપને ધારણ કરે છે વનોમા કમળ અને કુમુદ વિકસીત થઈ જાય છે સરોવર હ સો અને સારસોથી સુશોભિત તથા સ્ફટિક મણિની દીવાળની માફક શ્વેત પાણીથી પરિપૂર્ણ થાય છે વેલાના–નિયમથી પ્રાપ્ત પાખડીવાળા કમળોનો સમૂહ પ્રાત કાળના સૂર્યના કિરણોનો સમ્પર્ક પામીને ખીલે છે ચન્દ્રમાના કિરણોના સમૂહથી સ્પૃષ્ટ કુમુદો ... ના વન સૌરભનુ વમન કરે છે

આ રીતે ... વિભાગ અને વેલાનો નિયમ નિયામક કારણ કાળ વગર, અન્ય કારણો હોવા ... થઈ શકતા નથી અનેક પ્રકારની શકિતઓથી સમ્પન્ન કાલ-દ્રવ્યનુ કારણ ... પરિણામ ઉત્પન્ન થાય છે આથી આ બધા કાર્યોથી કાળદ્ર...

... ના એક જ સાથે પૂર્વોક્ત બધા ભાવ થઇ ... રતુ એમ થતુ નથી આ બધા પરિણામ ... સમૂહથી યુક્ત કાળ જ એમનુ કારણ

છે કાળમા રહેલી શક્તિઓ કદી કદી જ પરિપાકને પ્રાપ્ત થઈને પોતાનું કાર્ય કરવા માટે પ્રવૃત્ત થાય છે, હમેશાં નહી

ક્રિયાગતિ ત્રણ પ્રકારની છે-પ્રયોગગતિ, વિસ્રસાગતિ અને મિશ્રગતિ જીવના પરિણામથી શરીર આહાર વર્ણ ગન્ધ રસ સ્પર્શ અને સસ્થાન વિષયક ગતિ પ્રયોગગતિ કહેવાય છે વિસ્રસાગતિ વગર પ્રયોગે જ થાય છે અને તે જીવથી ભિન્ન દ્રવ્યોનુ પરિણમન છે પરમાણુ ઈન્દ્રધનુષ્ય મેઘપરિવેષ આદિ, તેના વિવિધ આકાર પ્રકાર હોય છે મિશ્રગતિ પ્રયોગ અને સ્વભાવ બન્નેથી થાય છે તે જીવના પ્રયોગની સાથે અચેતનના પરિણામથી કુભ સ્તંભ વગેરેમા ઉત્પન્ન થાય છે કુમ્ભ આદિ તે તે રૂપમા સ્વય જ ઉત્પન્ન થવામાં સમર્થ થતા થકા કુભારના સાન્નિધ્યથી તે રૂપમા પરિણત થઇ જાય છે

પરત્વ અને અપરત્વ ત્રણ પ્રકારના છે-પ્રશસાકૃત ક્ષેત્રકૃત અને કાલકૃત પ્રશસાકૃત—દા. ત ધર્મ પર અર્થાત્ શ્રેષ્ઠ છે જ્ઞાન પર-શ્રેષ્ઠ છે અને અજ્ઞાન અપર છે વગેરે.

એક જ દિશા અને એકજ કાળમા સ્થિત બે પદાર્થોમાંથી જે દૂર હોય છે તે પર કહેવાય છે અને જે નજીક-નિકટ હોય તે અપર કહેવાય છે

કાલકૃત પરત્વ અને અપરત્વ જ્યેષ્ઠતા અને કનિષ્ઠતા છે જેમ ૧૬ વર્ષવાળાની અપેક્ષાએ સો વર્ષવાળો પર કહેવાય છે જ્યારે ૧૦૦ વર્ષવાળાની અપેક્ષાએ ૨૬ વર્ષવાળો અપર કહેવાય છે આમાથી પ્રશસાકૃત અને ક્ષેત્રકૃત પરત્વ-અપરત્વને છોડીને તેમના સિવાય બધા વર્ત્તના પરિણામ ક્રિયા પરત્વ અને અપરત્વ કાલકૃત છે કારણ કે કાળ તે બધામા અપેક્ષા કારણ છે તેમનાથી કાળદ્રવ્યની સિદ્ધિ થાય છે ॥ ૧૮ ॥

'पोग्गलेसु वण्णगंधरसफासा' ॥

મૂળ સૂત્રાર્થ—પુદ્ગલોમા વર્ણ, ગધ, રસ અને સ્પર્શ હોય છે ॥ ૧૯ ॥

તત્વાર્થદીપિકા—પહેલાં ધર્મ, અધર્મ, આકાશ, પુદ્ગલ તથા જીવોના ઉપકાર વગેરે દર્શાવીને સામાન્ય રૂપથી સ્વરૂપ-નિરૂપણ કરવામા આવ્યુ હવે વિશેષ રૂપથી પુદ્ગલ આદિના સ્વરૂપનુ નિરૂપણ કરવા માટે કહીએ છીએ—

જેમા પૂરણ અને ગલન અર્થાત્ મિલન અને વિયોગ હોય છે તે પુદ્ગલ કહેવાય છે પુદ્ગલમા વર્ણ, ગધ રસ તથા સ્પર્શ હોય છે પુદ્ગલ પરમાણુથી માંડીને મહાસ્કધ સુધીના હોય છે

આથી કાળો વાદળી વગેરે વર્ણ, સુરભિ અને અસુરભિ ગધ, તીખો, ખાટો, મીઠો વગેરે રસ, કોમળ, કઠોર વગેરે સ્પર્શ પુદ્ગલોના વિશેષ લક્ષણ જાણવા જોઈએ આ રીતે જે વર્ણ, ગધ, રસ અને સ્પર્શવાન હોય તે પુદ્ગલ છે ॥ ૧૯ ॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પુદ્ગલના વિષયમાં અન્ય તીર્થિકોની વિવિધ પ્રકારની વિરોધી માન્યતાઓ છે દા ત સૌત્રાન્તિક પુદ્ગલ શબ્દનો અર્થ જીવ કહે છે કારણ કે તે ફરી ફરી ગતિને ગ્રહણ કરે છે બૌદ્ધોનો એક સમ્પ્રદાય જે યોગાચાર કહેવાય છે તે વિજ્ઞાનના પરિણામને પુદ્ગલ કહે છે-કહ્યુ પણ છે-આત્મધર્મનો જે ઉપકાર વિવિધ પ્રકારથી પ્રવૃત્ત થાય છે તે વિજ્ઞાનનુ પરિણામ છે તે પરિણામ ત્રણ પ્રકારનુ છે

ચલના પવનના વેગથી કમ્પિત ચમ્પાના પરાગસમૂહથી પોતાના નયન-પાંપણોને બધ કરીને પથિક જન પોત પોતાની પ્રેયસીઓના ઘરની તરફ જવા લાગે છે

ગ્રીષ્મ ઋતુમાં સૂર્ય પોતાના પ્રચડ કિરણોથી ભૂતળને એટલુ બધુ તપાવે છે કે જાણે પૃથ્વી ઉપર અગારાનો સમૂહ પાથરી દીધો હોય પથિક જનોનુ મન અત્યન્ત વ્યાકુલ થઈ જાય છે તેઓ ચેન કેન પ્રકારેણ ઘણાં લાબા દિવસોને પૂરાં કરે છે ભોગાવિલાસી લોકો પોતાના શરીર પર ચન્દનનો લેપ કરે છે નોકરો પાસે વીઝણા ઝુલાવે છે અથવા વીજળીના પખાથી મળતા અત્યન્ત ચચળ વાયુથી પોતાના દેહને ઠડક બક્ષે છે શીતળ ગૃહો ઉપવનો સરિતા અગર સરોવર કાઠે વિવિધ પ્રકારના ફુવાગ્ગોની અદર રહીને પોતાની ગરમી દૂર કરે છે. હાથીદાતના જેમ શ્વેતવર્ણ મલ્લિકાની કળિઓ, પુષ્કળ સુવાસથી સમ્પન્ન પાટલ-પુષ્પ અને સાયકાળ તથા પ્રાતકાળની સુવાસિત હવા વિલાસી માણસોના જગમ શરીરને સુવાસિત કરે છે

વર્ષાઋતુમા ભૂતળ વીજળીના ચમકારાથી પ્રકાશિત થઇ જાય છે મેઘમાળાના આડમ્બરથી આકાશ આચ્છાદિત થઇ જાય છે મેઘધનુષ્ય પોતાની અનુપમ છટા દેખાડે છે મૂશળધાર વારિવર્ષાથી પૃથ્વી ઉપરની બધી ધૂળ બેસી જાય છે કદમ્બ કેતકીના સૌરભમય પરાગથી યુક્ત સુગધિત વાયુ વિલાસી જનોનાં અગોને પ્રકમ્પિત કરવા લાગે છે વર્ષાના જળના પ્રવાહથી સુન્દર કાઠાવાળી નદિઓ પ્રવાહિત થાય છે પર્વતોની ખીણો ખીલેલા કુટજ પુષ્પોથી તથા શિલીન્ધ્રોથી-સુશોભિત થઈ જાય છે

વાદળાની ઘોર ઘટાની ગર્જના સાંભળીને પ્રવાસી જનોના મનમા તીવ્ર ઉત્કઠા જાગૃત થઈ જાય છે તેઓ મત્ર-મુગ્ધ થઈ જાય છે મોર, ચાતકો તથા દેડકાનો અવાજ સાંભળવાથી સ્ત્રીઓના મનમા કામ સતેજ થઈ જાય છે અને તેઓ ક્ષણભર માટે વિદ્યુત રૂપી પ્રદીપ દ્વારા પ્રકાશિત રજનીમા પોતાના પ્રિયતમના ઘર તરફ પ્રસ્થાન કરવા લાગે છે રસ્તો કાદવની બહુ-લતાવાળો અને કોઈ કોઈ ઠેકાણે જળબબાકાર દેખાય છે

શરદ ઋતુમા સૂર્યના કિરણો કાદવને શોષતા તીવ્ર સન્તાપને ધારણ કરે છે વનોમા કમળ અને કુમુદ વિકસીત થઈ જાય છે સરોવર હસો અને સારસોથી સુશોભિત તથા સ્ફટિક મણિની દીવાળની માફક શ્વેત પાણીથી પરિપૂર્ણ થાય છે 'વેલાના-નિયમથી પ્રાપ્ત પાખડીવાળા કમળોનો સમૂહ પ્રાતકાળના સૂર્યના કિરણોનો સમ્પર્ક પામીને ખીલે છે ચન્દ્રમાના કિરણોના સમૂહથી સ્પૃષ્ટ કુમુદો અને કુવલયોના વન સૌરભનુ વમન કરે છે

આ રીતે છ ઋતુઓનો વિભાગ અને વેલાનો નિયમ નિયામક કારણ કાળ વગર, અન્ય કારણો હોવા છતા પણ ઘટિત થઇ શકતા નથી અનેક પ્રકારની શક્તિઓથી સમ્પન્ન કાલ-દ્રવ્યનુ કારણ જ પૂર્વોક્ત ઋતુવિભાગ આદિ પરિણામ, ઉત્પન્ન થાય છે આથી આ બધા કાર્યોથી કાળદ્રવ્યનુ અનુમાન કરી શકાય છે

અન્યથા કોઇ પણ નિયામક હેતુના અભાવમા એક જ સાથે પૂર્વોક્ત બધા ભાવ થઇ જવા જોઈએ કારણ કે તેઓ પરાધીન નહી હોય પરતુ એમ થતુ નથી આ બધાં પરિણામ પોતાના નિયત કાળમા જ થાય છે આથી અનેક શક્તિસમૂહથી યુક્ત કાળ જ એમનુ કારણ

છે કાળમા રહેલી શક્તિઓ કદી કદી જ પરિપાકને પ્રાપ્ત થઈને પોતાનું કાર્ય કરવા માટે પ્રવૃત્ત થાય છે, હમેશા નહી

ક્રિયાગતિ ત્રણ પ્રકારની છે-પ્રયોગગતિ, વિસ્રસાગતિ અને મિશ્રગતિ જીવના પરિણામથી શરીર આહાર વર્ણ ગન્ધ રસ સ્પર્શ અને સસ્થાન વિષયક ગતિ પ્રયોગગતિ કહેવાય છે વિસ્રસાગતિ વગર પ્રયોગે જ થાય છે અને તે જીવથી ભિન્ન દ્રવ્યોનુ પરિણમન છે પરમાણુ ઈન્દ્રધનુષ્ય મેઘપરિવેષ આદિ, તેના વિવિધ આકાર પ્રકાર હોય છે મિશ્રગતિ પ્રયોગ અને સ્વભાવ બન્નેથી થાય છે તે જીવના પ્રયોગની સાથે અચેતનના પરિણામથી કુભ સ્તભ વગેરેમાં ઉત્પન્ન થાય છે કુમ્ભ આદિ તે તે રૂપમા સ્વય જ ઉત્પન્ન થવામા સમર્થ થતા થકાં કુભારના સાન્નિધ્યથી તે રૂપમા પરિણત થઇ જાય છે

પરત્વ અને અપરત્વ ત્રણ પ્રકારના છે-પ્રશસાકૃત ક્ષેત્રકૃત અને કાલકૃત પ્રશંસાકૃત-દા ત ધર્મ પર અર્થાત્ શ્રેષ્ઠ છે જ્ઞાન પર-શ્રેષ્ઠ છે અને અજ્ઞાન અપર છે વગેરે

એક જ દિશા અને એકજ કાળમા સ્થિત બે પદાર્થોમાથી જે દૂર હોય છે તે પર કહેવાય છે અને જે નજીક-નિકટ હોય તે અપર કહેવાય છે

કાલકૃત પરત્વ અને અપરત્વ જ્યેષ્ઠતા અને કનિષ્ઠતા છે જેમ ૧૬ વર્ષવાળાની અપેક્ષાએ સો વર્ષવાળો પર કહેવાય છે જ્યારે ૧૦૦ વર્ષવાળાની અપેક્ષાએ ૨૬ વર્ષવાળો અપર કહેવાય છે આમાથી પ્રશસાકૃત અને ક્ષેત્રકૃત પરત્વ-અપરત્વને છોડીને તેમના સિવાય બધા વર્ત્તના પરિણામ ક્રિયા પરત્વ અને અપરત્વ કાલકૃત છે કારણુ કે કાળ તે બધામા અપેક્ષા કારણ છે તેમનાથી કાળદ્રવ્યની સિદ્ધિ થાય છે ॥ ૧૮ ॥

'पोग्गलेसु वण्णगंधरसफासा' ॥

મૂળ સૂત્રાર્થ—પુદ્ગલોમા વર્ણ, ગધ, રસ અને સ્પર્શ હોય છે ॥ ૧૯ ॥

તત્વાર્થદીપિકા—પહેલા ધર્મ, અધર્મ, આકાશ, પુદ્ગલ તથા જીવોના ઉપકાર વગેરે દર્શાવીને સામાન્ય રૂપથી સ્વરૂપ-નિરૂપણ કરવામા આવ્યુ હવે વિશેષ રૂપથી પુદ્ગલ આદિના સ્વરૂપનુ નિરૂપણ કરવા માટે કહીએ છીએ—

જેમા પૂરણ અને ગલન અર્થાત્ મિલન અને વિયોગ હોય છે તે પુદ્ગલ કહેવાય છે પુદ્ગલમા વર્ણ, ગધ રસ તથા સ્પર્શ હોય છે પુદ્ગલ પરમાણુથી માંડીને મહાસ્કધ સુધીના હોય છે

આથી કાળો વાદળી વગેરે વર્ણ, સુરભિ અને અસુરભિ ગધ, તીખો, ખાટો, મીઠો વગેરે રસ, કોમળ, કઠોર વગેરે સ્પર્શ પુદ્ગલોના વિશેષ લક્ષણ જાણવા જોઈએ આ રીતે જે વર્ણ, ગધ, રસ અને સ્પર્શવાન હોય તે પુદ્ગલ છે ॥ ૧૯ ॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પુદ્ગલના વિષયમા અન્ય તીર્થિકોની વિવિધ પ્રકારની વિરોધી માન્યતાઓ છે દા ત સૌત્રાન્તિક પુદ્ગલ શબ્દનો અર્થ જીવ કહે છે કારણ કે તે ફરી ફરી ગતિને ગ્રહણ કરે છે બૌદ્ધોનો એક સમ્પ્રદાય જે યોગાચાર કહેવાય છે તે વિજ્ઞાનના પરિણામને પુદ્ગલ કહે છે-કહ્યુ પણ છે-આત્મધર્મનો જે ઉપકાર વિવિધ પ્રકારથી પ્રવૃત્ત થાય છે તે વિજ્ઞાનનુ પરિણામ છે તે પરિણામ ત્રણ પ્રકારનુ છે

આ માન્યતા અયોગ્ય છે આથી તેનુ નિરાકરણ કરવા માટે કહીએ છીએ પુદ્ગલોમાં વર્ણ, રસ, ગધ અને સ્પર્શ હોય છે આ રીતે પુદ્ગલોમા શુકલ આદિ વર્ણ ગધ રસ અને સ્પર્શનો સદ્ભાવ હોવાથી જીવને પુદ્ગલ કહી શકાય નહી વર્ણ આદિથી યુકત હોવાના કારણે પુદ્ગલ મૂર્ત્ત હોય છે અને જીવ વર્ણ આદિથી રહિત હોવાના કારણે અમૂર્ત્ત છે એવી રીતે જે મૂર્ત્ત છે તે અમૂર્ત્ત કેવી રીતે હોઈ શકે ?

પૃથ્વીની જેમ પાણી વગેરે પણ વર્ણ ગધ રસ અને સ્પર્શવાળા છે મન પણ સ્પર્શ આદિથી યુકત છે કારણ કે તે સર્વવ્યાપી નથી જેમ કે પાર્થિવ પરમાણુ

વર્ણના પાચ પ્રકાર છે-કાળો, વાદળી, પીળો શ્વેત તથા લાલ ગધના બે ભેદ છે-સુગધ અને દુર્ગધ રસ પાચ જાતના છે-તીખો, કડવો, કસાયલો, ખાટો તથા મધુર સ્પર્શના આઠ ભેદ છે (૧) કર્કશ (૨) મૃદુ (૩) ગુરૂ (૪) લઘુ (૫) શીત (૬) ઉષ્ણ (૭) ચિકણો અને (૮) લુખો જો કે સમરસનો (મીઠુ) પણ બધાને જ અનુભવ છે પરતુ તેનો સમાવેશ મધુર રસમાં થઇ જાય છે અથવા પાચેય રસોમા તેનો અન્તર્ભાવ સમજી લેવો જોઈએ કારણ કે તે બધા રસોનો રાજા હોય છે પાણી વગેરે જે પુદ્ગલોમા પ્રગટ રૂપથી ગન્ધ વગેરેની પ્રતીતિ થતી નથી તેમા પણ સ્પર્શ હોવાના કારણે અપ્રકટ ગન્ધ આદિનો સ્વભાવ સમજી લેવો જોઈએ કારણ કે આ વર્ણ વગેરે ચારેય નિયમથી સાથે રહે છે જ્યા એક હોય છે ત્યા ચારે ચોકકસ હોય છે પરમાણુ આદિ પુદ્ગલોના રૂપ આદિ ગુણ તેમનાથી કવચિત્ ભિન્ન અને કવચિત્ અભિન્ન છે, એકાન્ત ભિન્ન અથવા અભિન્ન નથી ભગવતી સૂત્ર (વ્યાખ્યાપ્રજ્ઞપ્તિસૂત્ર) ના શતક ૧૨ ઉદ્દેશક ૫ મા કહ્યુ છે–પુદ્ગળ પાચ વર્ણવાળા પાચ રસવાળા બે ગન્ધ તથા આઠ સ્પર્શ વાળુ કહેવામા આવ્યુ છે

શકા—વિજ્ઞાનથી ભિન્ન સ્પર્શ, રૂપ રસ તથા ગધવાળા કોઈ પુદ્ગલદ્રવ્યનુ અસ્તિત્વ નથી વિજ્ઞાન જ ઘટ પટ આદિ વિવિધ પુદ્ગલોના આકારમા પ્રતિભાસિત થાય છે જેમ સ્વરૂપમા અનેક પદાર્થોની પ્રતીતિ થાય છે પરતુ વાસ્તવમા તેમનુ અસ્તિત્વ હોતુ નથી, તે બુદ્ધિકલ્પિત જ હોય છે, એવી જ રીતે વિજ્ઞાન જ ઘટ પટ આદિના રૂપમા પ્રતીત થાય છે તેમની કોઇ પરમાર્થિક સત્તા નથી

સમાધાન—એવુ ન કહેશો આપનુ આ વિધાન અનુભવથી વિરુદ્ધ છે જ્ઞાન અન્ત સ્થિત પ્રતીત હોય છે, ઘટ આદિ પદાર્થ બાહ્ય રૂપમા પૃથક દેશમા પ્રતીત થાય છે આથી જ્ઞાનથી પૃથક્ વાદળી પીળા વગેરે જુદા જુદા આકારોમા પ્રતિભાસિત ઘણા બાહ્ય પદાર્થોનો અપલાપ કરી શકાતો નથી જે બાહ્ય પદાર્થ પ્રતીત થાય છે તેમની સત્તાનો નિષેધ કઈ રીતે કરી શકાય ? આપે સ્વપ્નાનો જે દાખલો આપ્યો છે તે પણ અનુરૂપ નથી કારણ કે સ્વપ્નામા વિપર્યય અને જાગૃત અવસ્થામા અવિપર્યય જોવામા આવે છે

આપના વિધાન મુજબ પ્રમાણુ અને પ્રમાણાભાસમા કાઈ અતર રહેશે નહી વસ્તુના સ્વરૂપને ગ્રહણ કરનાર જ્ઞાન પ્રત્યક્ષ પ્રમાણુ છે અને અર્થાન્તરના વિકલ્પ દ્વારા પ્રવૃત્ત થનારા પ્રત્યક્ષપ્રમાણાભાસ છે આ રીતનો ભેદ બાહ્ય પદાર્થનુ અસ્તિત્વ સ્વીકાર્યા વગર હોઈ શકે નહિ

જ્ઞાન બાહ્ય પદાર્થના સ્વરૂપને અનુકરણ કરીને જ સાકાર થાય છે જો તે બાહ્ય પદાર્થનુ અનુકરણ ન કરે તો બધા પદાર્થો માટે સમાન હોય છે આવી સ્થિતિમા તે ગ્રહણ કરે તો

બધાને જ ગ્રહણ કરે અને જો ન ગ્રહણ કરે તો કોઈ પણ પદાર્થને ગ્રહણ ન કરે આથી ગ્રાહકના વિશેષથી જ ગ્રાહ્યની દૃષ્ટિ જ કારણ હોય છે

અન્યથા અર્થજ્ઞાન એવો વ્યવહાર પણ ન હોવો જોઈએ કારણ કે વ્યવહાર ઉપકારથી પ્રભાવિત થાય છે નિમિત્ત નૈમિત્તિકભાવ રૂપ ઉપકાર અવિનાભાવ હોવાથી અન્યથા અનુપપન્ન છે.

આ રીતે વર્ણ ગધ રસ અને સ્પર્શથી યુક્ત હોવાના કારણે પુદ્ગલ જીવથી ભિન્ન છે અને જીવના જ્ઞાનાદિ પરિણામોથી પણ ભિન્ન છે તાત્પર્ય એ છે કે પુદ્ગલ જીવ અગર તો વિજ્ઞાનનુ પરિણામ નથી ॥ ૧૯ ॥

सद्दंधयार उज्जोय पभा छायातपबंध सुहुमबायरसंठाणमेया ॥

મૂળસૂત્રાર્થ—શબ્દ, અન્ધકાર, ઉદ્યોત, પ્રભા, છાયા, આતપ,

સૂક્ષ્મત્વ, બાદરત્વ, સસ્થાન અને ભેદ પણ પુદ્ગલરૂપ છે ॥ ૨૦ ॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પુદ્ગલ કેવળ વર્ણ, ગધ, રસ અને સ્પર્શાત્મક જ નહીં પરતુ શબ્દ આદિ પણ પુદ્ગલ જ છે એ નિરૂપણ કરવા માટે કહીએ છીએ—

શબ્દ, અન્ધકાર, ઉદ્યોત, પ્રભા, છાયા, આતપ, બન્ધ

સૂક્ષ્મત્વ, બાદરત્વ, સસ્થાન અને ભેદ પણ પુદ્ગલના જ પર્યાય છે આથી પુદ્ગલ શબ્દાદિ વાળા હોય છે ॥ ૨૦ ॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પહેલા કહેવાઇ ગયુ છે કે પુદ્ગલ રૂપ, રસ, ગન્ધ, અને સ્પર્શ પર્યાયવાળા હોય છે હવે એ કહે છે કે શબ્દ વગેરે પર્યાયો પણ પુદ્ગલના જ છે

શબ્દ બે પ્રકારના છે ભાષાત્મક અને અભાષાત્મક. ભાષાત્મક શબ્દના બે ભેદ છે સાક્ષર અને અનક્ષર શબ્દ જે શબ્દ વર્ણ પદ તથા બાહ્યાત્મક હોય છે શાસ્ત્રનો અભિવ્યજક હોય છે, સસ્કારયુક્ત અને સસ્કારહીનના ભેદથી આર્ય અને અનાર્યજનોના વ્યવહારનુ કારણ હોય છે તે અક્ષરાત્મક કહેવાય છે અનક્ષરાત્મક શબ્દ બેઇન્દ્રિય, તેઇન્દ્રિય, ચતુરિન્દ્રિય અને પચેન્દ્રિય પ્રાણિઓના જ્ઞાનાતિશયના પ્રતિપાદનનો હેતુ હોય છે તેમનો જ્ઞાનાતિશય એકેન્દ્રિય જીવોની અપેક્ષાથી જાણવો જોઈએ એકેન્દ્રિય જીવોને સામાન્ય જ્ઞાન હોય છે અતિશયજ્ઞાન હોતુ નથી. અતિશય જ્ઞાનવાન સર્વજ્ઞ એકેન્દ્રિયોના સ્વરૂપનુ નિરૂપણ કરે છે તે તીર્થંકર ભગવાન પરમાતિશયજ્ઞાની હોય છે આ શબ્દો પ્રાયોગિક હોય છે

અભાષાત્મક શબ્દ પણ બે પ્રકારના છે પ્રાયોગિક અને વૈસસિક પ્રાયોગિક શબ્દના ચાર ભેદ છે—તત વિતત ઘન અને સુષિર પુષ્કર ભેરી, દુન્દુભિ દર્દુર આદિ ચર્મવેષ્ટિત વાદ્યોનો શબ્દ તત કહેવાય છે વીણા સુઘોષા વગેરેના શબ્દ વિતત કહેવાય છે તાલ ઘટ વગેરે વગાડવાથી ઉત્પન્ન થનારો શબ્દ ઘન કહી શકાય છે, તથા વાસળી અને શખ વગેરેથી ઉત્પન્ન શબ્દ સૌષિર છે વૈસસિક શબ્દ મેઘ આદિનો કહેવાય છે જે ગર્જનાત્મક હોય છે

આ બધા શબ્દ પુદ્ગલના પર્યાય હોવાથી પૌદ્ગલિક છે જોવામા અવરોધ ઉભો કરનાર પ્રકાશના વિરોધી તમના નામથી પ્રસિદ્ધ અન્ધકાર પણ પૌદ્ગલિક છે ચન્દ્ર, સૂર્ય, અગ્નિ, મણિ પતગીયા વગેરેથી ઉત્પન્ન થનારો પ્રકાશ ઉદ્યોત છે તે પણ પૌદ્ગલિક છે પ્રભા જેને દીપ્તિ

અગર ચમક કહે છે તે પણ પૌદ્‌ગલિક છે છત્રી આદિના નિમિત્તથી પ્રતિનિયત દેશમા પ્રકાશના રોકાવાથી ઉત્પન્ન થનારી છાયા પણ પૌદ્‌ગલિક છે તે દર્પણ આદિના સસ્થાન રૂપ પણ હોય છે

સૂર્યના નિમિત્તથી ઉત્પન્ન ઉષ્ણ પ્રકાશને આતપ કહે છે તે પણ પુદ્‌ગલાત્મક જ છે બન્ધ બે પ્રકારના છે—પ્રાયોગિક અને વૈસ્રસિક પુરુષના પ્રયત્નથી ઉત્પન્ન થનારા પ્રાયોગિક બધ બે પ્રકારના છે અજીવ વિષયક અને જીવાજીવ વિષયક લાખ અને લાકડીનુ બધન અજીવવિષયક છે જીવાજીવવિષયક બન્ધ જીવની સાથે કર્મ અને નોકર્મનો હોય છે જે બધમા કોઈ પુરુષના પ્રયોગની અપેક્ષા હોતી નથી તે સ્વાભાવિક બધ કહેવાય છે

વૈસ્રસિક (સ્વાભાવિક) બધ ચીકાસ અને લુખાપણાના કારણે થાય છે વિદ્યુત, ઉલ્કા જળધારા, અગ્નિ અને ઈન્દ્રધનુષ્ય વગેરે તેના દૃષ્ટાતો છે આ બધા પ્રકારના બન્ધ પૌદ્‌ગલિક સમજવા જોઈએ

સૂક્ષ્મત્વ બે પ્રકારના છે અન્ત્ય અને આપેક્ષિક અન્ત્ય સૂક્ષ્મત્વ પરમાણુમા હોય છે આપેક્ષિક વેલ, આબળા બોર વગેરેમા આ બને જાતના સૂક્ષ્મત્વ પુદ્‌ગલના જ વિકાર છે

એવી જ રીતે બાદરત્વ અર્થાત્ સ્થૂલતાના પણ બે ભેદ છે અન્ત્ય અને આપેક્ષિક અન્ત્ય બાદરત્વ સમગ્ર લોકવ્યાપી મહાસ્કધમા છે આપેક્ષિક બાદરત્વ બોર, આમળા, બિલ્વ, તાલફળ વગેરેમા હોય છે આ બને પ્રકારના બાદરત્વ પણ પૌદ્‌ગલિક છે

આકૃતિ અગર આકારને સસ્થાન કહે છે તેના પણ બે ભેદ છે ઇત્થસ્થ અને અનિત્થસ્થ જે આકારના વિષયમા કહી શકાય કે આ એવુ છે તે ઇત્થસ્થ આકાર કહેવાય છે વર્તુળ, ત્રિકોણ ચતુષ્કોણ, દીર્ઘ પરિમડપ વગેરે આકાર ઈત્થસ્થ સસ્થાનના અન્તર્ગત છે જે આકારમા કોઇ પ્રકારની નિયતતા ન હોય અને જેને પૂર્વોક્ત કોઈ આકારની સજ્ઞા ન દઇ શકાય તે અનિત્થસ્થ આકાર કહેવાય છે તે મેઘ વગેરેમા અનેક પ્રકારથી દેખાય છે આ બને પ્રકારના સસ્થાન પૌદ્‌ગલિક છે

ભેદના પાચ પ્રભેદ છે (૧) ઉત્કરભેદ (૨) ચૂર્ણભેદ (૩) ખન્ડભેદ (૪) ચૂર્ણિકાભેદ (૫) પ્રતરભેદ કરવત વગેરેથી લાકડા વગેરેને ચીરવા તે ઉત્કર ભેદ, ઘઉ જવ વગેરેને દળીને લોટ બનાવવો ચૂર્ણ ભેદ ઘટ, પટ આદિના ટુકડે ટુકડા થવા તે ખન્ડભેદ છે અડદ્‌ મગ વગેરેનો ઝીણો ચૂરો થવો ચૂર્ણિકાભેદ અભ્રપટલ વગેરેના પડ ના પડ જુદા થવા પ્રતરભેદ છે

આ રીતે શબ્દ આદિ પૂર્વોકિત બધા પુદ્‌ગલ દ્રવ્યના વિકાર છે સૂત્રમા પ્રયુકત 'ચ' શબ્દથી પ્રેરણા અભિધાન આદિ આગમ ઉકત પુદ્‌ગળ દ્રવ્યના પરિણામોને ગ્રહણ કરી લેવા જોઈએ

આ કારણથી શબ્દ ભલે ધ્વન્યાત્મક હોય, ભલે વર્ણાત્મક તે પુદ્‌ગલનો જ પરિણામ—પર્યાય છે મૂર્ત્ત હોવાના કારણે તેને પુદ્‌ગળદ્રવ્યનુ પરિણામ સમજવુ જોઈએ અને શબ્દ મૂર્ત્ત છે કારણ કે તે અન્ય દ્રવ્યોમા વિકાર ઉત્પન્ન કરવામા સમર્થ છે જેમકે પિપળો વગેરે

શખ વગેરેનો અત્યત તીવ્ર શબ્દ કાનોને બહેરા કરી દે છે અમૂર્ત્ત આકાશ આદિમા એવુ સામર્થ્ય હોઈ શકતુ નથી એવી જ રીતે શબ્દ મૂર્ત છે કારણ કે પર્વતથી ટકરાયેલા પથ્થરની જેમ પાછો ફેકાય છે પ્રતિધ્વનિત થાય છે ! આતપની જેમ દ્વારનુ અનુસરણ કરે

છે ઘાસ તથા પાંદડાની જેમ વાયુ દ્વારા પ્રેરિત થાય છે દીપકની જેમ બધી દિશાઓમા ગ્રહણ કરી શકાય છે, તારાગણની જેમ અભિભૂત થાય છે અને સૂર્યમન્ડલની જેમ બીજાનો અભિભવ કરે છે તાત્પર્ય એ છે કે જેમ સૂર્યના પ્રકાશથી તારાઓનો પ્રકાશ સતાઈ જાય છે આથી તે મૂર્ત્ત છે એવી જ રીતે મંદ શબ્દ તીવ્ર શબ્દ દ્વારા અભિભૂત થઈ જાય છે એથી શબ્દ મૂર્ત્ત છે.

આ બધા હેતુઓથી એ સાબીત થાય છે કે શબ્દ પુદ્ગલ દ્રવ્યનો પર્યાય છે પુદ્ગલ-દ્રવ્યનો પર્યાય હોવાના કારણે તેનુ મૂર્ત્તત્વ પણ સિદ્ધ છે આવી સ્થિતિમા વૈશેષિકોએ શબ્દને આકાશનો જે ગુણ માન્યો છે તે યોગ્ય નથી, મૂર્ત્ત શબ્દ અમૂર્ત્ત આકાશનો ગુણ હોઈ શકે નહી જેમ કે રૂપ આદિ આકાશના ગુણ નથી

સત્ય એ જ છે કે શબ્દ પુદ્ગલનુ જ પરિણામ છે પરિણામ પરિણામીથી અર્થાત્ પર્યાય દ્રવ્યથી કથચિત્ ભિન્ન અને કવચિત અભિન્ન હોય છે આથી શબ્દને પણ પુદ્ગલ દ્રવ્યથી કવચિત્ ભિન્ન અને કવચિત્ અભિન્ન માનવો જોઈએ

આનાથી એ સાબિત થયુ કે ધ્વનિ રૂપ પરિણામથી અગર શ્રોત્રગ્રાહ્યરૂપથી પરિણામ પુદ્ગળ જ શબ્દ કહેવાય છે.

પૌદ્ગલિક બન્ધ ત્રણ પ્રકારના છે પ્રયોગબન્ધ વિસ્રસાબન્ધ અને મિશ્રબન્ધ. એક વસ્તુનુ બીજી વસ્તુ સાથે મળી જવુ ચોંટી જવુ તેને બધ કહે છે જીવના વ્યાપારથી ઉત્પન્ન થનારો બધ પ્રાયોગિક બન્ધ કહેવાય છે જેમ ઔદારિક શરીર અથવા લાખ અને કાષ્ઠનો બધ સ્વભાવથી જીવના પ્રયોગ વગર જ થનાર બધ વિસ્રસા બન્ધ કહેવાય છે.

વિસ્રસાબન્ધ બે પ્રકારના છે સાદિ અને અનાદિ વિદ્યુત ઉલ્કા, મેઘ, અગ્નિ, ઈન્દ્રધનુષ્ય વગેરેમા વિષય ગુણવાળા પરમાણુઓનાં કારણે જે સ્કન્ધ રૂપ પર્યાયોની ઉત્પત્તિ થાય છે તે સાદિ વિસ્રસાબધ છે ધર્મ અધર્મ અને આકાશદ્રવ્ય અનાદિ કાળથી સ્વભાવથી જ પરસ્પર સમ્બદ્ધ છે તેમનો બધ અનાદિ વિસ્રસાબન્ધ કહેવાય છે મિશ્રબન્ધ ઉપર્યુક્ત બને કારણોથી અર્થાત્ જીવના વ્યાપાર અને સ્વભાવથી થાય છે તે જીવના વ્યાપારથી સહચરિત અચેતન દ્રવ્યની પરિણતિ છે સતભ આદિ કુભ આદિ મિશ્રબન્ધના અન્તર્ગત છે મિશ્રબન્ધમાં બનેની પ્રધાનતા હોય છે એવી રીતે પહેલાં જો કે બન્ધના બે ભેદ કહેવામાં આવ્યા છે, તો પણ કિંચિત્ વિશેષ દર્શાવવા માટે અત્રે ત્રણ ભેદોનો ઉલ્લેખ કરવામાં આવ્યો છે

એવી જ રીતે સૂક્ષ્મત્વ પણ પુદ્ગલનુ જ પરિણામ છે તે બે પ્રકારનુ હોય છે અન્ત્ય અને આપેક્ષિક તેનુ કથન પહેલા કરી દેવામા આવ્યુ છે અહી કંઈક વિશેષતા કહીએ છીએ-જે સૂક્ષ્મત્વ અન્તિમ હોય તે અન્ત્ય કહેવાય છે અન્ત્ય સૂક્ષ્મત્વ પરમાણુમાં જ મળી આવે છે કારણ કે પરમાણુ જ બધાથી અધિક સૂક્ષ્મ છે તેથી વધુ સૂક્ષ્મત્વ કોઈ અન્ય વસ્તુમાં હોતુ નથી જે સૂક્ષ્મત્વ કોઈ બીજી વસ્તુની અપેક્ષાથી માનવામા આવે છે તે આપેક્ષિક કહેવાય છે જેવી રીતે દ્વયણુક સ્કન્ધ ત્ર્યણુક સ્કન્ધની અપેક્ષા સૂક્ષ્મ છે ત્ર્યણુક ચતુરણુકની અપેક્ષા સૂક્ષ્મ છે એવી રીતે આપેક્ષિક સૂક્ષ્મત્વ અનેક પ્રકારનુ હોય છે. આ બન્ને જ પ્રકારના સૂક્ષ્મત્વ પૌદ્ગલિક જ છે

સ્થૂલત્વ પણ એ જ પ્રકારે બે જાતના છે અન્ત્ય અને આપેક્ષિક, અન્ત્ય સ્થૂલત્વ સર્વ લોકવ્યાપી અચિત્ત મહાસ્કધમા જ મળે છે કેમકે આનાથી વધારે બીજો કોઈ પુદ્ગલ હોતો

નથી આપેક્ષિક-સ્થૂલત્વ બોરની અપેક્ષાએ આમળામા અને આમળાની અપેક્ષાએ દાડમમાં હોય છે પરમાણુઓના પ્રથમ પરિણામના અને અવયવોના વિકાસને સ્થૂલત્વ કહે છે આ બન્ને પ્રકાર ના સ્થૂલત્વ પૌદ્ગલીક છે

સંસ્થાનનો અર્થ આકૃતિ છે આકૃતિ અવયવોની અમુક પ્રકારની રચનાથી બને છે સસ્થાન બે પ્રકારના છે જીવનુ અને અજીવનુ પૃથ્વીકાય, અપ્કાય, તેજસ્કાય, વાયુકાય અને વનસ્પતિકાય એ એકેન્દ્રિય જીવ છે અને બેઇન્દ્રિય, તેઇન્દ્રિય, ચઉરિન્દ્રય તથા પચેન્દ્રિય જીવ અનેક ઇન્દ્રિય છે આ પૃથ્વી, અપ્ તેજસ્કાય આદિ જીવોના શરીરનુ સસ્થાન ક્રમથી મસૂરની સમાન, સ્તિબુક-ની સમાન, સૂચીકલાપની સમાન ધજાની જેમ તથા અનિત્થસ્થ હોય છે આમા જે બેઇન્દ્રિય તેઇન્દ્રિય અને ચઉરિન્દ્રિય નામના ત્રણ વિકલેન્દ્રિય જીવ છે તેમનુ સંસ્થાન હુંડક હોય છે પચેન્દ્રિયોના યથાયોગ્ય નામકર્મના ઉદયથી ઉત્પન્ન થનારા છ પ્રકારના સસ્થાન હોય છે સમચતુરસ્ત્ર, ન્યગ્રોધ, સાદિ, કુબ્જક, વામન અને હુન્ડક, કહ્યુ પણ છે-જે સંસ્થાન સમચોરસ હોય અર્થાત્ જેને ચારે બાજુથી માપવાથી સરખુ હોય તે સમચતુરસ્ત્ર કહેવાય છે જેમાં ઉપરના અવયવ મોટા હોય તે ન્યગ્રોધ સસ્થાન જેમા નીચેના અવયવ મોટા હોય તે સાદિ જેમાં પેટ અદર જતુ રહ્યુ હોય અર્થાત્ જે કુબડો હોય તે કુબ્જક સસ્થાન જે વેતીયો હોય તે વામન અને જે બધી જગ્યાએ વિષમ હોય-બેઢગો હોય તે હુડક સસ્થાન કહેવાય છે

અજીવનું સંસ્થાન પાંચ પ્રકારનુ હોય છે, વૃત્ત, ત્રિકોણ, ચતુષ્કોણ આયત (લાંબુ) અને પરિમન્ડલ વૃત્ત સસ્થાન યુગલ અને અયુગલના ભેદથી બે પ્રકારનુ હોય છે યુગ્મ સસ્થાન પણ બે પ્રકારનુ છે. પ્રતર અને ઘન એવી રીતે અન્ય સસ્થાન પણ સમજી લેવા જોઈએ જે સસ્થાન વૃત્ત આદિ કોઈ રૂપમા પણ ન કહી શકાય તે અનિત્થસ્થ કહેવાય છે આ બધા જ સંસ્થાન પૌદગલિક છે

કોઇ વસ્તુના એકત્વનો ભગ થઈ જવો ભેદ કહેવાય છે ભેદ પાંચ પ્રકારના છે ઔત્કરિક, ખન્ડ, ચૌર્ણિક, પ્રતર અને અનુત્તર ભેદ, વિભકત થનારા પુદગલદ્રવ્યમાં જ થાય છે આથી તે પૌદ્ગલિક છે તે પુદગલ સિવાય કોઈ પણ અન્ય દ્રવ્યમા હોતો નથી

ચીરવાવાળા લાકડા વગેરેમા ઔત્કરિક ભેદ હોય છે કોઇ વસ્તુના ચૂરે ચૂરા થઇ જવા તે ચૌર્ણિક ભેદ છે માટીના પીડાનિ જેમ ટુકડા-ટુકડા થવા તે ખન્ડભેદ છે અબરખ અગર ભોજપત્ર વગેરેની માફક પડના પડ જુદા જુદા થાય તે પ્રતર ભેદ છે વાસ અગર શેરડીની માફક કોઇની છાલ જુદી થઇ જાય તે અનુત્તર ભેદ છે પૂર્વોકત યુકિત મુજબ આ બધા ભેદ પૌદ્ગલિક છે એવી જ રીતે અન્ધકાર, છાયા, તાપ તથા ઉદ્યોત પણ પુદ્ગલદ્રવ્યના જ પરિણામ છે

અન્ધકાર પુદ્ગલનુ જ પરિણામ છે કારણ કે તે જોવામા અવરોધ નાખે છે જેમ દિવાલ અથવા આવરણ કર્તા હોવાના કારણે તે પટ વગેરેની જેમ પૌદ્ગલિક છે છાંયડો પણ પુદ્ગલનુ પરિણામ છે કારણ કે તે શીતલ અને સતોષદાયક હોય છે જેમ પાણી અને હવા એવી જ રીતે તાપ પણ સતાપજનક હોવાથી પરસેવો ઉત્પન્ન કરનાર હોવાથી અને ઉષ્ણ હોવાથી અગ્નિ આદિની માફક પૌદ્ગલિક છે એવી જ રીતે ચન્દ્રિકા આદિનો પ્રકાશરૂપ ઉદ્યોત પણ પુદ્ગલદ્રવ્યનુ ··રિણામ છે, કેમકે તે આલ્હાદક હોય છે જેમ અગ્નિ વગેરે

એજ પ્રમાણે પદ્મરાગ, નીલમ, હીરા વગેરે મણિઓનો ઉદ્યોત પણ પુદ્ગલદ્રવ્યનો જ પર્યાય છે કારણ કે તે અનુષ્ણ-અશીત (ન ગરમ ન શીતળ) હોય છે દાખલા તરીકે પાણી વિગેરે એવી રીતે અન્ધકાર અને છાંયડો વગેરે મૂર્ત્ત દ્રવ્યનુ કાર્ય હોવાથી તે પૌદ્ગલિક છે

શકા—અન્ધકાર પૌદ્ગલિક નથી કારણ કે તે દ્રવ્ય ગુણ અને કર્મથી વિલક્ષણ છે, તે ભાવાભાવ રૂપ છે અન્ધકાર જો દ્રવ્ય હોત તો અનિત્ય હોવાના સબંધે ઘડા આદિની જેમ તેની ઉત્પત્તિ થવી જોઇતી હતી પરતુ દ્રવ્યની જેમ ઉત્પન્ન ન થવાના કારણે, અમૂર્ત્ત હોવાથી સ્પર્શથી રહિત હોવાથી, પ્રકાશથી, વિરૂદ્ધ હોવાથી અને પરમાણુઓ દ્વારા ઉત્પન્ન ન થવાના કારણે તે પુદ્ગલ, દ્રવ્યનુ પરિણામ હોઈ શકે નહી

અન્ધકાર ગુણ પણ ન હોઇ શકે કારણ કે તેનો આધાર ઉપલબ્ધ થતો નથી. ગુણ દ્રવ્યને આશ્રીત જ હોય છે પ્રકાશનુ વિરોધી હોવાથી પણ અન્ધકાર ગુણ થઇ શકે નહી

અન્ધકાર કર્મ પણ નથી કારણ કે કર્મ પણ કોઇને કોઈ દ્રવ્યને આશ્રિત જ હોય છે અને અન્ધકારનો કોઈ આશ્રય ઉપલબ્ધ થતો નથી જો અન્ધકાર ક્રિયારૂપ હોત તો તેનો કોઈ આશ્રય પણ પ્રતીત થાત પરંતુ તેનો કોઇ આશ્રય ઉપલબ્ધ થતો નથી તેને ક્રિયા માની શકાય નહી જ્યા તેજનો અભાવ હોય છે ત્યા જ અન્ધારાની પ્રતીતિ થાય છે તેજ જ્યારે બીજા કોઈ દ્રવ્યથી ઢકાઈ જાય છે ત્યારે અન્ધકાર હોય છે આથી એ સાબીત થાય છે કે અન્ધકાર પુદ્ગલનુ પરિણામ નહીં પરતુ તેજનો અભાવ જ છે

સમાધાન—આમ કહેવુ એ ન્યાયબદ્ધ નથી. અન્ધકાર પૌદ્ગલિક છે કારણ કે તે વ્યવધાન ક્રિયામા સમર્થ હોય છે, મૂર્ત્ત છે, સ્પર્શવાન્ છે અને પરમાણુઓથી ઉત્પન્ન થાય છે જેમ દિવાળ આથી અન્ધકાર ને અપૌદ્ગલિક સિદ્ધ કરવા માટે પ્રયુક્ત આપના અમૂર્ત્તત્વ સ્પર્શરહિતત્વ અને પરમાણુ-અકૃતકત્વ, આ ત્રણે હેતુ અસિદ્ધ છે

શકા—જો અન્ધકાર મૂર્ત્ત છે તો આપણુને તેના સ્પર્શ આદિની પ્રતીતિ કેમ થતી નથી ?

સમાધાન—જેમ ગવાક્ષમા રજકણ દેખાય છે પરતુ તેમનો સ્પર્શ પ્રતીત થતો નથી તેવી જ રીતે અન્ધકારનુ પરિણમન એવુ વિલક્ષણ છે કે આપણુને તેના સ્પર્શની ખાત્રી થતી નથી જેવી રીતે અગ્નિને પાણી સાથે તેવી જ રીતે પ્રકાશ સાથે અન્ધકારને વેર છે કોઇ વરડામાં રાખેલા દીપકના કિરણોનો ઉપઘાત પુષ્કરાવર્ત્ત મેઘની મૂશળ તેવી ધારાઓ પણ નથી કરી શકતી આથી જળ તથા અગ્નિનો સર્વથા જ વિરોધ હોય એમ નથી તો પણ ઉદ્ગમ સ્થાનમાં જ તેમનો વિરોધ હોય છે

અગર અન્ધકાર પૌદ્ગલિક ન હોત તો તેની સાથે પ્રકાશનો વિરોધ પણ ન થઇ શકત ઉત્તરાધ્યયન સૂત્રના ૨૮મા અધ્યયનમા કહ્યુ છે—

શબ્દ અન્ધકાર ઉદ્યોત પ્રભા, છાયા, આતપ, વર્ણ, રસ, ગધ અને સ્પર્શ આ બધા પુદ્ગલોના લક્ષણ છે પૃથકત્વ સખ્યા સસ્થાન, સયોગ અને વિભાગ આ બધાં પર્યાયોનાં લક્ષણ છે ॥ ૨૦ ॥

पोग्गला दुविहा परमाणुणो संघा ॥

મૂલસૂત્રાર્થ—પુદ્ગલ બે પ્રકારના હોય છે પરમાણુ અને સ્કધ ॥ ૨૧ ॥

તત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વોક્ત રૂપ, રસ, ગંધ અને સ્પર્શવાળા-પુદ્ગલ બે પ્રકારનાં કહેવાયા છે-પરમાણુ અને સ્કન્ધ જો કે આ બંનેમાં પુદ્ગલત્વ જાતિ સમાન છે તો પણ અવયવરહિત હોવાથી અણુ સૂક્ષ્મ છે અને સાવયવ હોવાથી સ્કંધ સ્થૂળ હોય છે આ જ બંનેમાં અંતર છે. પરમાણુ આપણી ઇન્દ્રિયોથી અગોચર છે, માત્ર અનુમાન અને આગમથી જાણી શકાય છે તે નિરવયવ અને સૂક્ષ્મ હોય છે

સ્કંધરૂપ પુદ્ગલ આપણા ગ્રહણમા આવી શકે છે કારણ કે તે સાવયવ અને સ્થૂળ હોય છે સ્થાનાગસૂત્રના બીજા સ્થાનકના ત્રીજા ઉદ્દેશકના ૮૨માં સૂત્રમાં કહે છે—

પુદ્ગલ બે પ્રકારના છે-પરમાણુ પુદ્ગલ તથા નોપરમાણુ પુદ્ગલ ॥ ૨૧ ॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પહેલાં પુદ્ગલોનું પ્રતિપાદન કર્યું હવે ટુંકમાં તેમના ભેદોનુ નિરૂપણ કરીએ છીએ-પુદ્ગલ બે પ્રકારના છે-પરમાણુ અને સ્કંધ

પરમ અણુને પરમાણુ કહે છે પરમાણુ એટલા સૂક્ષ્મ હોય છે કે તે આપણી ઈન્દ્રિયોના વિષય થઈ શકતા નથી તેમને અનુમાન અને આગમના પ્રમાણથી જ જાણી શકાય છે

કહ્યુ પણ છે—પરમાણુ કારણ જ હોય છે કાર્ય નહી 'તથા સૂક્ષ્મ અને નિત્ય હોય છે તેમાં એક રસ, એક ગંધ, એક વર્ણ અને બે સ્પર્શ હોય છે કાર્ય જ તેનુ લિંગ છે અર્થાત્ સ્કંધથી તેનુ અનુમાન કરી શકાય છે

જેટલાં પણ દ્વયણુકથી લઇને અચિત્ત મહાસ્કંધ પર્યંત સ્કંધ છે તેમનું કારણ પરમાણુ છે, કેમકે પરમાણુઓના મિલનથી જ તેમની નિષ્પત્તિ થાય છે તે 'અન્ત્ય છે કારણ કે સમસ્ત ભેદોના અંત સુધી વ્યાપ્ત રહે છે'

દ્વયણુકથી લઈને મહાસ્કન્ધ સુધીની મૂર્ત્ત વસ્તુઓનુ કારણ પરમાણુ છે અમૂર્ત્ત જ્ઞાનાદિનુ કારણ આત્મા આદિ છે આ બંને કારણોનો સર્વથા વિનાશ થતો નથી જો એમ હોત તો તેની અસત્તાની પ્રાપ્તિ થઈ જાય અને તે સંજોગોમાં કોઈને ઉત્પન્ન ન કરી શકે દા ત આકાશપુષ્પ કોઇને ઉત્પન્ન કરી શકતુ નથી

પરમાણુ સૂક્ષ્મ, નિરવયવ અને નિત્ય છે પ્રત્યેક પરમાણુમા એક રસ, એક ગંધ એક વર્ણ તથા બે સ્પર્શ હોય છે કાર્યથી પરમાણુઓનુ અનુમાન કરી શકાય છે, પરમાણુ દ્વયણુક આદિનુ ઉપાદાન કારણ છે અને આત્મા જ્ઞાનના ઉપાદાન કારણ છે પરમાણુ અને આત્માના અસ્તિત્વમા દ્વયણુક આદિ અને જ્ઞાન આદિ કાર્ય થાય જ છે જો પરમાણુનો તથા આત્માનો અભાવ માનવામાં આવે તો તેમના પૂર્વોક્ત કાર્ય ઉત્પન્ન થઇ શકે નહી

જેના અસ્તિત્વથી જે થાય છે અને જેના અભાવમા જે થતુ નથી, તે તેનુ કાર્ય-કારણ કહેવાય છે

અમુકના હોવા પર જ અમુકનુ થવુ-જેમ અગ્નિનુ હોવાથી જ ધુમાડાનુ હોવુ-અને અમુકના ન હોવા પર અમુકનુ ન હોવુ-જેમ અગ્નિના અભાવમા ધુમાડાનુ ન હોવુ-આ અન્વયવ્યતિરેક કહેવાય છે આના જ આધારે કાર્ય કારણભાવનો નિશ્ચય કરાય છે અર્થાત્ આનાથી આપણે જાણીએ છીએ કે અગ્નિ કારણ અને ધુમાડો કાર્ય છે

જેના હોવાથી કાર્ય થાય છે અને જેના અભાવમાં નથી જ થતુ એ પ્રકારની અટકળ કરવી અજુગતી છે કારણ કે કણેરની ઉત્પત્તિ લાલ કમળના ફૂળથી પોતાની શાખાથી અને પોતાના બીજથી પણ જોઈ શકાય છે. દૂબ (ઘાસ વિષેશ)ની ઉત્પત્તિ ગાયના રૂંવાડાથી અને ઘેટાંના રૂવાડાથી થાય છે અને છાણુ આદિથી વીછીની ઉત્પત્તિ જોઇ શકાય છે એનુ સમાધાન થઈ જાય છે.

કારણના હોવા પર જ કાર્યની ઉત્પત્તિ થાય છે આ નિયમ સર્વત્ર લાગુ પડે છે તે-તે કાર્યોના જનક હોવાથી લાલ કમલ આદિ અને છાણુ આદિ પણ કારણ જ સિદ્ધ થાય છે. એવી જ રીતે અહી પણ પરમાણુઓના હોવા પર જ દ્વયણુકાદિ થાય છે' અને આત્માના હોવા પર જ જ્ઞાન થાય છે આ 'અભાવ છે

કારણના અભાવમાં અગર વિકલતામા કાર્યની-ઉત્પત્તિ થતી નથી, જેમ ઝેરમાં મારણ શકિત હોવા છતા પણ જો તે શકિત મ ત્ર દ્વારા પ્રતિબદ્ધ થઈ ગઈ હોય તો તેના દ્વારા મારણ કાર્ય થતુ નથી કર્ત્તા રૂપ નિમિત્તની અપેક્ષા રાખનાર કુભાર દંડ આકાશ આદિ કારણોનું નિરૂપણ પણ પૂર્વોકત પ્રકારથી જ કરી લેવુ જોઈએ

આપણે પરમાણુની સૂક્ષ્મતા આગમથી જાણી લઈ દ્રવ્યાર્થિકનયની અપેક્ષાથી નિત્યતા સમજવી જોઇએ પરમાણુથી અધિક નાનુ કોઈ દ્રવ્ય નથી એ કારણે જ તે પરમાણુ કહેવાય છે. એવો આ પરમાણુ તીખો ખાટો, મધુર કડવો તથા કસાયેલા રસોમાંથી કોઈ એક રસથી યુકત હોય છે સુરભિ અને દુરભિ ગ ધોમાંથી એક ગ ધવાળો હોય છે, સફેદ, કાળો, લીલો પીળો અને રાતો-આ પાંચ ર ગોમાંથી એક ર ગવાળો હોય છે અને ચાર સ્પર્શયુગલોમાંથી અવિરોધી બે સ્પર્શોથી યુકત હોય છે.

બાદર પરિણામવાળા અનેક પ્રકારના પુદ્ગલ 'આદિ કાર્યોથી જે આપણને પ્રત્યક્ષ દેખાય છે, પરમાણુનુ અનુમાન કરવામા આવે છે આથી તે કાર્યલિગ કહેવાય છે સ્કન્ધપુદ્ગલ સાવયવ બાદર અને પ્રત્યક્ષ દ્રશ્ય હોય છે પરમાણુ અબધ્ધ હોય છે સ્કંધમા આઠે સ્પર્શ મળી શકે છે અને તે પરમાણુઓના પિન્ડ હોવાથી બદ્ધ જ હોય છે.

સૂક્ષ્મ પરિણામવાળા સ્ક ધ ચાર સ્પર્શવાળા હોય છે તથા પરમ સ હતિથી વ્યવસ્થિત હોય છે આ રીતે પ્રદેશમાત્ર ભાવી સ્પર્શ આદિ પર્યાયોના ઉત્પત્તિસામર્થ્યથી પરમાગમમાં જે કાર્યરૂપ લિગ દ્વારા મેળવાય છે-સતરૂપમાં પ્રતિપાદન કરવામાં આવે છે-તે અણુ કહેવાય છે પરમ અણુને પરમાણુ કહે છે અત્યન્ત સૂક્ષ્મ હોવાને લીધે તે જાતે જ પોતાનો આદિ મધ્ય અને અન્ત છે કહેવાનુ એ છે કે એક અપ્રદેશી હોવાના કારણે તેમાં આદિ મધ્ય અને અન્તના વિભાગ હોતા નથી વળી કહ્યુ પણ છે—

જે દ્રવ્ય આદિ મધ્ય અને અન્તના વિભાગથી રહિત હોય જે ઈન્દ્રિયો દ્વારા ગ્રાહ્ય નથી તથા જે નિર્વિભાગ છે તેને પરમાણુ સમજવા જોઇએ"

જે પુદ્ગલ સ્થૂળ હોવાને લીધે ગ્રહણ કરી શકાય, રાખી શકાય અન્યાન્ય વ્યવહારોમાં આવી શકે તે સ્કન્ધ કહેવાય છે, જો કે દ્વયણુક આદિ કોઈ-કોઈ સૂક્ષ્મ સ્કન્ધ ગ્રહણ નિક્ષેપ આદિ વ્યવહારોને યોગ્ય હોતા નથી તથાપિ રૂઢિ અનુસાર તે પણ સ્કન્ધ કહેવાય છે પુદ્ગલોના

આમ તો અનન્ત ભેદ છે પણ પરમાણુ અને સ્કધના ભેદથી તે બે પ્રકારના જ છે આ બે ભેદોમાં જ તે સર્વેનો સમાવેશ થઈ જાય છે વ્યક્તિશ આમ પરમાણુ પણ અનન્ત છે અને સ્કન્ધ પણ અનન્ત છે, એવુ સૂચિત કરવા માટે બહુવચનનો પ્રયોગ કરવામાં આવ્યો છે

આમાંથી પુદ્‌ગલપરમાણુ સ્પર્શ રસ ગધ અને વર્ણ વાળા હોય છે અને સ્કન્ધપુદ્‌ગલ શબ્દ અન્ધકાર, ઉદ્યોત પ્રભા છાયડો તાપ સૂક્ષ્મત્વ, બાદરત્વ સસ્થાન અને ભેદવાળા હોય છે અને સ્પર્શ, રસ, ગધ, વર્ણવાળા પણ આથી એ કથન સગત થઈ જાય છે કે—

અણુ પોતાના કાર્ય (ઘટ આદિ) દ્વારા જ જાણી શકાય છે, બે સ્પર્શવાળા એક વર્ણ એક રસ અને એક ગંધવાળા હોય છે દ્રવ્યની અપેક્ષાથી નિત્ય અને પર્યાયની અપેક્ષાએ અનિત્ય પણ હોય છે ॥ ૨૧ ॥

एगत्तपुहुत्तेहिं खंधा पुहुत्तेण परमाणू य ॥

મૂળ સૂત્રાર્થ—સ્કન્ધોની ઉત્પત્તિ એકત્વથી, પૃથક્ત્વથી તથા એકત્વપૃથક્ત્વથી થાય છે, પરમાણુ માત્ર પૃથક્ત્વથી જ ઉત્પન્ન થાય છે

તત્વાર્થદીપિકા—પરમાણુ અને સ્કન્ધના ભેદથી પુદ્‌ગલના બે ભેદ પ્રથમ કહેવાઈ ગયા હવે પરમાણુ અને સ્કન્ધની ઉત્પત્તિના કારણો બતાવીએ છીએ—

સ્કન્ધ એકત્વથી પૃથક્ત્વથી તથા એકત્વ-પૃથક્ત્વ બનેથી ઉત્પન્ન થાય છે પરમાણુઓની ઉત્પત્તિ માત્ર પૃથક્ત્વથી જ થાય છે

જે પરમાણુ અગર સ્કન્ધ અલગ-અલગ હોય તેમને એકબીજામા મળી જવુ એકત્વ કહેવાય છે આથી વિપરીત કોઈ અન્ય નિમિત્ત મળવાથી મળેલા પુદ્‌ગલોનુ જુદા-જુદા થઈ જવુ પૃથક્ત્વ કહેવાય છે સ્કન્ધોની ઉત્પત્તિ આ બને કારણોથી થાય છે જેમ બે પરમાણુઓના મળવાથી દ્વિપ્રદેશી સ્કન્ધ ઉત્પન્ન થાય છે એવી જ રીતે દ્વિપ્રદેશી સ્કન્ધ અને એક પરમાણુ ના મળવાથી અથવા ત્રણ પરમાણુઓના મળવાથી ત્રિપ્રદેશી સ્કન્ધ બની જાય છે બે દ્વિપ્રદેશી સ્કન્ધોના મળવાથી અથવા એક ત્રિપ્રદેશી સ્કન્ધ અને એક પરમાણુના મળવાથી અથવા ચાર પરમાણુઓના મળવાથી ચતુપ્રદેશી સ્કન્ધ બની જાય છે

એવી જ રીતે સખ્યાત, અસખ્યાત, અનન્ત, અને અનન્તાનન્ત પરમાણુઓ અથવા નાના નાના સ્કન્ધો અગર સ્કન્ધો અને પરમાણુઓના મીલનથી તેટલા જ પ્રદેશવાળા સ્કન્ધ ઉત્પન્ન થાય છે

એવી રીતે જેમ એકત્વથી સ્કન્ધ ઉત્પન્ન થાય છે, તેવી જ રીતે પૃથક્ત્વ અર્થાત્ ભેદથી ઉત્પન્ન થાય છે જ્યારે કોઈ કોઈ સ્કન્ધમાથી એ, પરમાણુ પૃથક્ થઈ જાય છે તો તે નાનો સ્કન્ધ રહી જાય છે આ પણ સ્કન્ધની ઉત્પત્તિ છે જ્યારે એક મોટો સ્કન્ધ બે ભાગોમા અગર અનેક ભાગોમા વહેચાઈ જાય છે ત્યારે અપેક્ષાકૃત નાના-નાના અનેક સ્કન્ધોની ઉત્પત્તિ થાય છે અથવા તે નાના નાના સ્કન્ધોમા પણ પૃથક્ત્વ પેદા થઈ જાય તો અધિક બીજા નાના અનેક સ્કન્ધ ઉત્પન્ન થાય છે આ રીતે દ્વિપ્રદેશી સ્કધ સુધી ભેદથી ઉત્પન્ન થઇ શકે છે

ક્યારેક ક્યારેક એવુ થાય છે કે એક મોટા સ્કન્ધનો એક ભાગ જુદો થયો અને બીજા સ્કન્ધનો ભાગ તેમા મળી ગયો આમાં એકત્વ પણ થવું અને પૃથક્ત્વ પણ થવુ આ એકત્વ પૃથકત્વથી પણ સ્કધ બને છે

પરંતુ પરમાણુની ઉત્પત્તિ એકૃત્વ અર્થાત્ સઘાતથી થતી નથી તે ભેદ પૃથક્ત્વથી જ ઉત્પન્ન થાય છે જ્યારે કોઈ સ્કધમા એક પ્રદેશ પૃથક્ થઈને સ્વતત્ર થઈ જાય છે ત્યારે પરમાણુ કહેવાય છે આ રીતે પરમાણુ પૃથક્ત્વથી જ ઉત્પન્ન થાય છે ॥ ૨૨ ॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પૂર્વસૂત્રમા પુદ્ગલોનુ પરમાણુ રૂપ અને સ્કધરૂપ પરિણમન બતાવવામા આવ્યુ છે પરતુ તે પરિણમન શુ અનાદિ છે અથવા સાદિ ? આ શકાનુ સમાધાન કરવા માટે-તે પરિણમન સાદિ છે, અનાદિ નથી, કારણ કે તે ઉત્પત્તિમાન્ છે-પરમાણુઓ અને સ્કધોની ઉત્પત્તિનુ કારણ કહીએ છીએ-એકત્વ અને પૃથક્ત્વથી પુદ્ગલો ઉત્પન્ન થાય છે અને પૃથત્ક્વથી પુદ્ગલોના પરમાણુ ઉત્પન્ન થાય છે

હકીકતમા સઘાતરૂપ એકત્વથી ભેદરૂપ પૃથક્ત્વથી અને સઘાતભેદરૂપ એકત્વ-પૃથક્ત્વથી પુદ્ગલોના દ્વિપ્રદેશી આદિ સ્કધ ઉત્પન્ન થાય છે જેમ-બે પરમાણુ પુદ્ગલોના સઘાત રૂપ એકત્વથી અર્થાત્ મિલનથી દ્વિપ્રદેશી પુદ્ગલસ્કધ ઉત્પન્ન થાય છે

એક દ્વિપ્રદેશી સ્કધ અને એક પરમાણુના સઘાતથી અથવા ત્રણ પરમાણુઓના સઘાતથી ત્રિપ્રદેશીસ્કધની ઉત્પત્તિ થાય છે એવી જ રીતે એક ત્રિપ્રદેશીસ્કધ અને એક પરમાણુથી અથવા બે દ્વિપ્રદેશી સ્કધોથી અથવા ચાર પરમાણુથી ચાર પ્રદેશી સ્કધ ઉત્પન્ન થાય છે એવી જ રીતે સખ્યાત અસખ્યાત, અનન્ત અને અનન્તાનન્ત પ્રદેશોના સઘાત રૂપ એકત્વથી સખ્યાત અસખ્યાત અનન્ત અને અનન્તાનન્ત પ્રદેશોવાળા સ્કધ ઉત્પન્ન થાય છે

એવી જ રીતે આ જ દ્વયણુકથી લઈને અનન્તાનન્તપ્રદેશી સ્કધોમાં જે સઘાતરૂપ એકત્વથી ઉત્પન્ન થયા છે જ્યારે ભેદ થાય છે અર્થાત્ એક પરમાણુ ભિન્ન થઈને અલગ થઈ જાય છે ત્યારે તે એક પરમાણુથી હીન સ્કધના રૂપમા ઉત્પન્ન થાય છે એવી જ રીતે જો તેમાંથી બે પરમાણુ નીકળી જાય અગર ત્રણ પરમાણુ જુદા થઈ જાય તો ક્રમશ નાનો થતો થકો તે અન્તત દ્વિપ્રદેશી સ્કધના રૂપે ઉત્પન્ન થઇ જાય છે

આ દ્વયણુક આદિ સ્કધ સઘાત અને ભેદ અર્થાત્ એકત્વ અને પૃથક્ત્વ-બન્નેથી પણ ઉત્પન્ન થાય છે કાળના સૌથી નાના નિરશ અશને સમય કહે છે તે એક જ સમયમા કોઈ પરમાણુ કોઇ દ્વયણુકથી છુટો થવો અથવા તેજ સમયે બીજા કોઈ પરમાણુ તેમાં મળી ગયા તો આ ભેદ અને સઘાતથી પણ દ્વયણુક સ્કધની ઉત્પત્તિ થઈ

પરતુ પરમાણુની ઉત્પત્તિ સઘાતથી અગર ભેદ સઘાતથી નહી પણ ભેદથી જ થાય છે.

અંહી એ સમજી લેવુ જોઈએ-બે પરમાણુઓના પારસ્પરિક મિલન રૂપ એકત્વ પરિણામથી એક દ્વ્યાણુક સ્કન્ધ બની જાય છે સ્થાનાગસૂત્રના બીજા સ્થાનના ત્રીજા ઉદ્દેશકના ૮૨મા સૂત્રમા કહ્યુ છે-બે કારણોથી પુદ્ગલોનુ મિલન થાય છે અગર તો પુદ્ગલ જાતે જ સહત થઇ જાય છે અગર બીજાની દ્વારા સહત કરવામા આવે છે એવી જ રીતે પુદ્ગલોમા

બે પ્રકારથી ભેદ (પૃથક્ત્વ) ઉત્પન્ન થાય છે કાં તો તે સ્વય જ પૃથક્ થઈ જાય છે અગર બીજાની દ્વારા જુદા કરવામાં આવે છે

ઉત્તરાધ્યયન સૂત્રના ૩૬માં અધ્યયનની ૧૧મી ગાથામાં કહ્યુ છે-એકત્વ અને પૃથક્ત્વના કારણે સ્કધ અને પરમાણુ ઉત્પન્ન થાય છે

શકા—નિરશ બે પરમાણુઓના એકત્વથી દ્વયણુક સ્કધની નિષ્પત્તિ કેવી રીતે થઈ શકે ? તે બે પરમાણુઓના સયોગ સર્વાત્મના અર્થાત્ એક પરમાણુમા બીજા પરમાણુના પૂર્ણ રૂપમા સમાઈ જવાથી થાય છે અથવા એક દેશથી થાય છે ?

જો સર્વાત્મના સયોગ માની લઈએ તો આખુ જ જગત એક પરમાણુ માત્ર જ હશે કારણ કે એક પરમાણુમા જ્યારે બીજા પરમાણુ સપૂર્ણ રીતે સમાઇ જાય તો બે પરમાણુઓના મળી જવાથી તે પહેલાની માફક એક પરમાણુ માત્ર રહ્યો એવી જ રીતે જ્યારે તેમાં ત્રીજો પરમાણુ મળે તો પણ તે પરમાણુ માત્ર જ રહ્યો એવી રીતે અનન્ત પરમાણુઓના મળવાથી તે પરમાણુ માત્ર જ રહેશે આ દોષથી બચવા માટે જો પરમાણુઓનો સયોગ એક દેશથી માનવામા આવે તો પરમાણુ સાવયવ અર્થાત્ અવયવવાળો માનવો પડશે જ્યારે તેમા એક દેશથી સયોગ થાય છે તો સાવયવ થયા વગર તે કઇ રીતે રહી શકે છે ? આ રીતે અહી કુવા ઉપર ખાઈની કહેવત ચરિતાર્થ થાય છે અર્થાત્ બન્ને પક્ષોમા દોષ આવે છે આવી સ્થિતિમા પરમાણુઓનો સયોગ બની જ શકતો નથી

સમાધાન—પરમાણુ રૂપ રસ, ગધ અને સ્પર્શવાળા હોય છે આથી સયોગ સમયે વ્યવધાનયુક્ત પરસ્પરમા વ્યાપ્ત થઈને રહે છે કારણ કે તેમનામા રૂપ આદિ અવયવ હોય છે જેમ સ્તભ કુભ વગેરે એવી રીતે પરમાણુ કવચિત્ નિરવયવ અને કવચિત્ સાવયવ પણ છે દ્રવ્યથી નિરવયવ અને ભાવથી સાવયવ છે

આના શિવાય દ્રવ્યની અપેક્ષા જ્યારે પરમાણુ એક છે અને તેમાં કોઇ પ્રકારનો ભેદ નથી તો તેના માટે સર્વાત્મના કહીને સર્વ શબ્દનો પ્રયોગ કેવી રીતે કરી શકાય ? સર્વ શબ્દ તો નિરવશેષ અનેકનો વાચક છે એ હકીકત સર્વત્ર પ્રસિદ્ધ છે આથી સર્વ શબ્દનો પ્રયોગ કરવો અશકય છે એવી જ રીતે જુદા જુદા રૂપમા પ્રસિદ્ધ વસ્તુના કોઈ એક ભાગનો પ્રતિપાદક એકદેશ શબ્દ ભેદરહિત પરમાણુના વિષયમા કેવી રીતે વાપરી શકાય ?

આ કારણથી ઉપર્યુક્ત સર્વાત્મના અને એકદેશેન આ બન્ને વિકલ્પોને પ્રગટ કરવાવાળા વાકય પ્રયોગ તે જ લોકો કરી શકે છે જેઓ અત્યન્ત પ્રસિદ્ધ લોકવ્યવહારથી પણ વિમુખ છે ક્ષુદ્ર છે અને અર્થથી અથવા શબ્દના અર્થથી અજ્ઞાન છે, અને અત્યન્ત જ જડ છે વિચારશીળ વિદ્વાન એવો પ્રયોગ કરી શકતા નથી જેમના મગજમા એકાન્તવાદનું ભૂત સવાર છે તેઓ જ બે વિકલ્પોને પ્રગટ કરનારા વચનનો પ્રયોગ કરી શકે છે સમસ્તવાદોમા શિરોમણિ સ્યાદ્વાદ સિદ્ધાતનો આશ્રય લેવાથી જેમનામા અનુપમ સામર્થ્ય ઉત્પન્ન થઈ ગયુ હોય તેવા અનેકાન્તવાદી આવા અર્થહીન વાકયોનો પ્રયોગ કરતા નથી

એક પરમાણુ જ્યારે બીજા પરમાણુની સાથે મળે છે તો એક દેશથી નહી કારણ કે તેમા દેશ અર્થાત્ અવયવ હોતા જ નથી પરતુ સ્વય જ અવયવ દ્રવ્યાતરના અવયવદ્રવ્યોથી

રહિત થઇને બીજા પરમાણુની સાથે ભેદથી સંયોગને પ્રાપ્ત થાય છે તે બીજા પરમાણુમા સમાઇ શકતો નથી પરમાણુ સક્રિય હોય છે અને પોતાના અવગાહનાના સ્થાન રૂપ આકાશમા જ સમાયેલો રહે છે.

શંકા—જો પરમાણુનો બીજા પરમાણુની સાથે એક દેશથી પણ પ્રદેશ નથી થતો તો તેમનો સંયોગ જ થઈ શકે નહી કારણ કે તેઓ પરસ્પરમા આશ્રિત નથી જેમ બે આંગળીઓના જુદા જુદા રહેવાથી સંયોગ થતા નથી તેમ

સમાધાન—આપણે એક બીજામા પેસવાથી સંયોગ કહેતા નથી પરંતુ નિરવયવ હોવાથી જ તેમનો સંયોગ થાય છે બે આગળીઓના માફક પરમાણુ નો બીજો કોઇ સંયુક્ત જુદો પ્રદેશ હોતો નથી પરંતુ તે જાતે જ સંયુક્ત થઇ જાય છે એટલુ જ અમારુ વિધાન છે આપનુ પરસ્પરમાં આશ્લિષ્ટ ન થવુ, હેતુ અનેકાન્તિક છે સૂક્ષ્મ છેદનથી જુદી જુદી થયેલી બે આંગળીઓના અન્તના બે પ્રદેશ જો એક બીજાથી છૂટા હોય તો પરસ્પરમાં આશ્લિષ્ટ ન હોવા છતાં પણ તેમનો સંયોગ થાય છે બે આગળિઓ આપસમા જોડાયેલી હોય છે કારણ કે વચમાં અંતર હોતુ નથી તો પણ એક આંગળી બીજામાં પેસતી નથી

શંકા—પરમાણુ સંસ્થાનવાન હોવાથી સાવયવ જ હોવા જોઈએ નિરવયવ નહી

સમાધાન—સંસ્થાન દ્રવ્ય અવયવોથી ઉત્પન્ન થાય છે અવયવોના હોવાથી ઘટ આદિ અવયવી વસ્તુઓમા સંસ્થાન થાય છે પરમાણુમા અવયવ હોતા નથી આથી પરમાણુમાં સંસ્થાન પણ હોતા નથી

શંકા—જો પરમાણુમાં સંસ્થાન નથી તો તે અસાર થઇ જશે

સમાધાન—જેમા સંસ્થાન ન હોય તેની સત્તા જ હોતી નથી, એવો કોઇ નિયમ નથી આકાશ સંસ્થાનથી રહિત હોવા છતાં પણ અસત્ નથી, સત જ છે

શંકા—આકાશ પણ સંસ્થાનવાન છે કારણ કે તેની પરિધિ જોઈ શકાય છે, દા ત દડો

સમાધાન—આ વિધાન સંપૂર્ણ લોક અને શાસ્ત્રોથી પ્રતિકુળ છે સાથે જ અનુભવથી પણ વિરુદ્ધ છે

યોગ અગર સંયોગનો અર્થ છે-સમ્પ્રાપ્તિ અર્થાત્ સારી રીતે મેળાપ થઇ જવો આ યોગ પ્રદેશોથી જ થાય છે તેમ નથી જે પ્રદેશરહિત છે તેની સ્વયં જ સંપ્રાપ્તિ થઈ જાય છે.

આ રીતે બધા સ્થૂળપદાર્થ જો વિભક્ત કરવામા આવે છે નિઃસંદેહ અન્તમાં તે નિરંશ હશે સ્થૂળવસ્તુ સૂક્ષ્મપૂર્વક જ હોય છે કહ્યુ પણ છે-"બધી સવિભાગ વસ્તુ અવિભાગમાં પ્રવિષ્ટ છે" અનન્ત પરમાણુઓનો એક જ આકાશપ્રદેશમા જે અવગાહ થાય છે તેનુ કારણ એ છે કે તે અપ્રતિઘાતી રૂપમાં પરિણત થાય છે-તે અનન્ત પરમાણુઓમાંથી કોઈ કોઈના અવગાહમા અવરોધ નાખતો નથી જેમ એક ઓરડો દીવાના પ્રકાશથી વ્યાપ્ત હોય અને તેમા બીજો દીપક રાખવામા આવે તો તેનો પ્રકાશ પણ તેમાં સમાઈ જાય છે અને સાથે જ શીત શબ્દ આદિના પુદ્ગલ પણ સમાયેલા રહે છે, તેમાં કોઈ પુદ્ગલ બીજા પુદ્ગલની અવગાહનાનો પ્રતિરોધ કરતો નથી એવી જ રીતે આકાશના એક જ પ્રદેશમા અનન્ત પરમાણુ વગર વિરોધે સમાયેલા રહે છે

બે પ્રકારથી ભેદ (પૃથક્ત્વ) ઉત્પન્ન થાય છે કા તો તે સ્વય જ પૃથક્ થઈ જાય છે અગર બીજાની દ્વારા જુદા કરવામા આવે છે

ઉત્તરાધ્યયન સૂત્રના ૩૬મા અધ્યયનની ૧૧મી ગાથામા કહ્યુ છે-એકત્વ અને પૃથક્ત્વના કારણે સ્કધ અને પરમાણુ ઉત્પન્ન થાય છે

શકા—નિરશ બે પરમાણુઓના એકત્વથી દ્વયણુક સ્કધની નિષ્પત્તિ કેવી રીતે થઈ શકે ? તે બે પરમાણુઓના સયોગ સર્વાત્મના અર્થાત્ એક પરમાણુમા બીજા પરમાણુના પૂર્ણ રૂપમા સમાઈ જવાથી થાય છે અથવા એક દેશથી થાય છે ?

જો સર્વાત્મના સયોગ માની લઈએ તો આખુ જ જગત એક પરમાણુ માત્ર જ હશે કારણ કે એક પરમાણુમાં જ્યારે બીજા પરમાણુ સપૂર્ણ રીતે સમાઇ જાય તો બે પરમાણુ-ઓના મળી જવાથી તે પહેલાની માફક એક પરમાણુ માત્ર રહ્યો એવી જ રીતે જ્યારે તેમા ત્રીજો પરમાણુ મળે તો પણ તે પરમાણુ માત્ર જ રહ્યો એવી રીતે અનન્ત પરમાણુઓના મળવાથી તે પરમાણુ માત્ર જ રહેશે આ દોષથી બચવા માટે જો પરમાણુઓનો સયોગ એક દેશથી માનવામા આવે તો પરમાણુ સાવયવ અર્થાત્ અવયવવાળો માનવો પડશે જ્યારે તેમા એક દેશથી સયોગ થાય છે તો સાવયવ થયા વગર તે કઇ રીતે રહી શકે છે ? આ રીતે અહી કુવા ઉપર ખાઈની કહેવત ચરિતાર્થ થાય છે અર્થાત્ બન્ને પક્ષોમા દોષ આવે છે આવી સ્થિતિમા પરમાણુઓનો સયોગ બની જ શકતો નથી

સમાધાન—પરમાણુ રૂપ રસ, ગધ અને સ્પર્શવાળા હોય છે આથી સયોગ સમયે વ્યવધાનયુક્ત પરસ્પરમા વ્યાપ્ત થઈને રહે છે કારણ કે તેમનામા રૂપ આદિ અવયવ હોય છે જેમ સ્તભ કુભ વગેરે એવી રીતે પરમાણુ કવચિત્ નિરવયવ અને કવચિત્ સાવયવ પણ છે દ્રવ્યથી નિરવયવ અને ભાવથી સાવયવ છે

આના શિવાય દ્રવ્યની અપેક્ષા જ્યારે પરમાણુ એક છે અને તેમાં કોઇ પ્રકારનો ભેદ નથી તો તેના માટે સર્વાત્મના કહીને સર્વ શબ્દનો પ્રયોગ કેવી રીતે કરી શકાય ? સર્વ શબ્દ તો નિરવશેષ અનેકનો વાચક છે એ હકીકત સર્વત્ર પ્રસિદ્ધ છે આથી સર્વ શબ્દનો પ્રયોગ કરવો અશકય છે એવી જ રીતે જુદા જુદા રૂપમા પ્રસિદ્ધ વસ્તુના કોઈ એક ભાગનો પ્રતિપાદક એકદેશ શબ્દ ભેદરહિત પરમાણુના વિષયમા કેવી રીતે વાપરી શકાય ?

આ કારણથી ઉપર્યુક્ત સર્વાત્મના અને એકદેશેન આ બન્ને વિકલ્પોને પ્રગટ કરવાવાળા વાકય પ્રયોગ તે જ લોકો કરી શકે છે જેઓ અત્યન્ત પ્રસિદ્ધ લોકવ્યવહારથી પણ વિમુખ છે ક્ષુદ્ર છે અને અર્થથી અથવા શબ્દના અર્થથી અજ્ઞાન છે, અને અત્યન્ત જ જડ છે વિચાર-શીળ વિદ્વાન એવો પ્રયોગ કરી શકતા નથી જેમના મગજમા એકાન્તવાદનું ભૂત સવાર છે તેઓ જ બે વિકલ્પોને પ્રગટ કરનારા વચનનો પ્રયોગ કરી શકે છે સમસ્ત વાદોમા શિરોમણિ સ્યાદ્વાદ સિદ્ધાતનો આશ્રય લેવાથી જેમનામા અનુપમ સામર્થ્ય ઉત્પન્ન થઈ ગયુ હોય તેવા અનેકાન્તવાદી આવા અર્થહીન વાકયોનો પ્રયોગ કરતા નથી

એક પરમાણુ જ્યારે બીજા પરમાણુની સાથે મળે છે તો એક દેશથી નહી કારણ કે તેમા દેશ અર્થાત્ અવયવ હોતા જ નથી પરતુ સ્વય જ અવયવ દ્રવ્યાતરના અવયવદ્રવ્યોથી

રહિત થઇને બીજા પરમાણુની સાથે ભેદથી મયોગને પ્રાપ્ત થાય છે. તે બીજા પરમાણુમા સમાઇ શકતો નથી પરમાણુ સક્રિય હોય છે અને પોતાના અવગાહનાના સ્થાન રૂપ આકાશમા જ સમાયેલો રહે છે

શકા—જો પરમાણુનો બીજા પરમાણુની સાથે એક દેશથી પણ પ્રદેશ નથી થતો તો તેમનો સંયોગ જ થઈ શકે નહી કારણ કે તેઓ પરસ્પરમા આશ્રિત નથી જેમ બે આગળીઓના જુદા જુદા રહેવાથી સયોગ થતા નથી તેમ

સમાધાન—આપણે એક બીજામા પેસવાથી મયોગ કહેતા નથી પરતુ નિરવયવ હોવાથી જ તેમનો સયોગ થાય છે બે આંગળીઓના માફક પરમાણુ નો બીજે કોઇ મંયુક્ત જુદો પ્રદેશ હોતો નથી પરતુ તે જાતે જ મયુકત થઇ જાય છે એટલુ જ અમારૂં વિધાન છે આપનું પરસ્પરમાં આશ્લિષ્ટ ન થવુ, હેતુ અનેકાન્તિક છે સૂક્ષ્મ છેદનથી જુદી જુદી થયેલી બે આંગળીઓના અન્તના બે પ્રદેશ જો એક બીજાથી છૂટા હોય તો પરસ્પરમા આશ્લિષ્ટ ન હોવા છતાં પણ તેમનો સયોગ થાય છે બે આગળિઓ આપસમા જોડાયેલી હોય છે કારણ કે વચમાં અંતર હોતું નથી તો પણ એક આગળી બીજામા પેસતી નથી

શકા—પરમાણુ સસ્થાનવાન હોવાથી સાવયવ જ હોવા જોઈએ નિરવયવ નહીં

સમાધાન—સસ્થાન દ્રવ્ય અવયવોથી ઉત્પન્ન થાય છે અવયવોના હોવાથી ઘટ આદિ અવયવી વસ્તુઓમા સંસ્થાન થાય છે પરમાણુમા અવયવ હોતા નથી આથી પરમાણુમા સસ્થાન પણ હોતા નથી

શકા—જો પરમાણુમાં સંસ્થાન નથી તો તે અસાર થઇ જશે.

સમાધાન—જેમા સસ્થાન ન હોય તેની સત્તા જ હોતી નથી, એવો કોઇ નિયમ નથી આકાશ સસ્થાનથી રહિત હોવા છતા પણ અસત્ નથી, સત્ જ છે

શકા—આકાશ પણ સસ્થાનવાન છે કારણ કે તેની પરિધિ જોઈ શકાય છે, દા ત દડો

સમાધાન—આ વિધાન સપૂર્ણ લોક અને શાસ્ત્રોથી પ્રતિકુળ છે સાથે જ અનુભવથી પણ વિરુદ્ધ છે

યોગ અગર સયોગનો અર્થ છે-સમ્પ્રાપ્તિ અર્થાત્ સારી રીતે મેળાપ થઇ જવો. આ યોગ પ્રદેશોથી જ થાય છે તેમ નથી જે પ્રદેશરહિત છે તેની સ્વય જ સપ્રાપ્તિ થઈ જાય છે

આ રીતે બધા સ્થૂળપદાર્થ જો વિભકત કરવામા આવે છે નિસદેહ અન્તમાં તે નિરશ હશે સ્થૂળવસ્તુ સૂક્ષ્મપૂર્વક જ હોય છે કહ્યુ પણ છે-“બધી સવિભાગ વસ્તુ અવિભાગમાં પ્રવિષ્ટ છે” અનન્ત પરમાણુઓનો એક જ આકાશપ્રદેશમા જે અવગાહ થાય છે તેનુ કારણ એ છે કે તે અપ્રતિઘાતી રૂપમા પરિણુત થાય છે-તે અનન્ત પરમાણુઓમાંથી કોઈ કોઈના અવગાહમાં અવરોધ નાખતો નથી જેમ એક ઓરડો દીવાના પ્રકાશથી વ્યાપ્ત હોય અને તેમાં બીજો દીપક રાખવામા આવે તો તેનો પ્રકાશ પણ તેમા સમાઈ જાય છે અને સાથે જ શીત શબ્દ આદિના પુદ્દગલ પણ સમાયેલા રહે છે, તેમાથી કોઈ પુદ્દગલ બીજા પુદ્દગલની અવગાહનાનો પ્રતિરોધ કરતો નથી એવી જ રીતે આકાશના એક જ પ્રદેશમાં અનન્ત પરમાણુ વગર વિરોધે સમાયેલા રહે છે

શકા—જો પરમાણુ પ્રતિઘાતરહિત છે તો સ્થૂળ દ્રવ્યની નિષ્પત્તિ કેવી રીતે થશે ? ચોગ થવાથી મીલન થાય છે અને સચોગનો અર્થ છે અપ્રાપ્તની પ્રાપ્તિ અને નહી કે એકબીજામાં સમાઇ જવુ

સમાધાન— સ્થૂળ દ્રવ્યની ઉત્પત્તિ વખતે પરમાણુઓનુ અપ્રતિઘાતિ હોવું અમને સિદ્ધ નથી પરમાણુઓના પ્રતિઘાત ભગવાન ત્રણ પ્રકારના માને છે બન્ધપરિણામ ઉપકારાભાવ અને વેગ બન્ધપરિણામ પ્રતિઘાત સ્નિગ્ધતા અને રુક્ષતાના કારણે થાય છે ઉપકારાભાવ પ્રતિઘાત, ધર્મ, અધર્મ અને આકાશની ગતિ, સ્થિતિ અને અવગાહ રૂપ ઉપકારના પ્રકરણમા પ્રતિપાદન કરવામા આવ્યુ છે લોકની બહાર જીવો અને પુદ્ગલોની ગતિનો પ્રતિઘાત થઇ જાય છે કારણ કે ત્યા ગતિનુ નિમિત્ત કારણ હાજર નથી, જેમ માછલા અને મગર વગેરેની ગતિ પાણીથી બહાર નિમિત્ત કારણ (પાણી)ના અભાવમા થતી નથી આથી જ લોકના અન્તમાં પરમાણુનો પ્રતિઘાત થઈ જાય છે, એજ રીતે જ્યારે કોઈ પરમાણુ સ્વાભાવિક ગતિ કરતો થકો વેગમાં હોય છે અને તે વચ્ચે આવી જાય છે તો તેના વેગના કારણે પરમાણુનો પ્રતિઘાત થાય છે

વેગયુક્ત ગતિ કરતો થકો પરમાણુ વેગવાન પરમાણુનો જ પ્રતિઘાત કરે છે કારણ કે તે વેગવાન હોવાસાથે સ્પર્શવાન અને મૂર્ત્તિમાન હોય છે, જેમ પ્રબળ વેગવાળો પવન બીજા પવનનો સામનો કરે છે આનાથી પરમાણુના વેગના કારણે પ્રતિઘાત થાય છે તેમ પ્રતિત થાય છે

ઉપર કહેલા પ્રકારથી પરમાણુના વિષયમા પ્રતિઘાતિત્વ અને અપ્રતિઘાતિત્વનુ પ્રતિપાદન કરવામા આવ્યુ છે પરિણમનની વિશેષતાના કારણે પુદ્ગલોમા આ બન્ને જ ઘટિત થઇ જાય છે દા ત શબ્દ દીવાળ વગેરે દ્વારા પ્રતિહત થઈ જાય છે અથવા જો પ્રતિહત (પડઘો) ન પડે તો કાને સાભળી શકાય છે અને તે જ શબ્દ કદી–કદી પવન દ્વારા પ્રેરિત થઈને પ્રતિહત થઈ જાય છે કારણ કે જે પ્રતિકૂળ વાયુની દિશામા સ્થિત થાય છે તેને તે સભળાતો નથી અને અનુકૂળ વાયુની દિશામા બેઠેલાને સભળાય છે આથી એ સાબીત થાય છે કે જેમ ગન્ધને વાયુ પ્રેરિત કરે છે તેવી જ રીતે શબ્દને પણ પ્રેરિત કરે છે

આવી જ રીતે પરમાણુઓના સઘાત રૂપ એકત્વથી સ્કન્ધોની ઉત્પત્તિ થાય છે એમ જે કહ્યુ તે ચોગ્ય જ કહ્યુ છે ત્રણ પરમાણુઓનો સઘાત થવા પર અથવા દ્વિપ્રદેશી સ્કન્ધની સાથે એક પરમાણુનો સઘાત થવાથી ત્રિપ્રદેશી સ્કન્ધ (ત્ર્યણુક)ની ઉત્પત્તિ થાય છે આ જ સત્ય સંખ્યાત પ્રદેશી અને અસખ્યાત પ્રદેશી સ્કન્ધની ઉત્પત્તિના વિષયમા સમજી લેવુ જોઈએ અસખ્યાતથી પણ આગળ ઘણા વધારે ઘણા અને વધુમા વધુ પરમાણુઓના પ્રચય રૂપ અનન્ત પ્રદેશીમા પણ એકત્વરૂપ સઘાતની વાત સમજી લેવાની છે તાત્પર્ય એ છે કે જેટલા પ્રદેશવાળા પુદ્ગલોનો સઘાત થશે તેટલા પ્રદેશવાળા જ સ્કન્ધ ઉત્પન્ન થશે એ રીતે અનન્તાનન્ત પ્રદેશવાળા પુદ્ગલોના સઘાતથી અનન્તાનન્ત પ્રદેશી સ્કન્ધ ઉત્પન્ન થાય છે

પરતુ પરમાણુઓની ઉત્પત્તિ સઘાતથી નહી પૃથક્ત્વથી જ થાય છે

શકા—સ્નિગ્ધતા અને રુક્ષતા દૂર થવાથી, સ્થિતિનો ક્ષય થવાથી જ્યારે કોઈ દ્રવ્યથી ભેદ થાય છે અને સ્વભાવ ગતિથી દ્વયણુક આદિ સ્કન્ધોનો ભેદ થાય છે અને તે વખતે ઉત્પન્ન થનાર પરમાણુ, કાર્ય હોવા જોઈએ જ્યારે પરમાણુ દ્વયણુક આદિમા મળેલા હતા ત્યારે તે પરમાણુના રૂપમા હતા નહી પરતુ સ્કન્ધના રૂપમા હતા જ્યારે તેના સ્કન્ધરૂપ પૂર્વ પર્યાયમો

વિનાશ થયો ત્યારે જ તેમા પરમાણુરૂપ ઉત્તર પર્યાયનુ ઉત્પન્ન થવુ ઉત્તરકાલીન પર્યાયમા પૂર્વ કાલીન પર્યાયનુ રહેવુ શકય નથી કારણ કે પરિણામનો અર્થ જ છે ભવાન્તરનુ હોવુ આથી સૂક્ષ્મ પરિણામથી બાદર પરિણામ ભિન્ન છે, આથી સ્કન્ધ પરિણામમા પરમાણુ પરિણામ હોતો નથી

જેમ ગોળ, પાણી અને મહુડાના પુષ્પના સયોગથી સરક (દારુ) દ્રવ્યરૂપ પરિણમન ઉત્પન્ન થાય છે તેજ વિભિન્ન દ્રવ્યોના સયોગ વિશેષથી કાલાન્તરમા એક નવીન રૂપ ધારણ કરી લે છે જેમા તેમના ભેદને સમજવુ મુશ્કેલ થઈ પડે છે પરતુ તે દ્રવ્યો વગર તે સમયે પોતાના પૂર્વ રૂપમાં રહે છે જો તે સમયે પણ તે દ્રવ્યો પોતાના પૂર્વ રૂપમાં જ રહે તો પૂર્વકાળની માફક તે સમયે પણ તે પરિણામ ન હોવુ જોઈએ

એ રીતે બાદર પરિણામના રૂપમા પરિણત મહાદ્રવ્યમા પરમાણુ પોતાના રૂપમા અર્થાત્ પરમાણુના રૂપમા હોતા નથી કારણ કે તે બીજા પરિણામમા પરિણત થાય છે જેમ દારુ પર્યાયના હોવાથી ગોળ વગેરે પોતાના રૂપમા રહેતા નથી આથી પરમાણુ દ્વયણુક વગેરેના કારણુ 'જ' છે અહી "જ"નો પ્રયોગ કરવો યોગ્ય નથી

સમાધાન—કોઈ પણ સ્થૂળ મૂર્તદ્રવ્યનુ જો પૃથકકરણ કરવામા આવે તો પરમાણુઓના રૂપમા જ તેનો અત થશે જેમનુ પુન પૃથકકરણ થઈ જ શકતુ નથી તે દ્રવ્યનું આકાશપુષ્પની જેમ સર્વથા શૂન્ય રૂપ થશે નહી અથવા એમ કહીએ કે દ્રવ્યનયની અપેક્ષાથી દ્વયણુક આદિ દ્રવ્યોના કારણુ પરમાણુ જ છે અને પર્યાયની અપેક્ષાથી તેમની ઉત્પત્તિ થાય છે એવી રીતે કોઇ અપેક્ષાથી ઉત્પન્ન થવાના કારણે પરમાણુને કાર્ય પણ કરી શકાય છે તે પરમાણું સ્વય કોઇ પણ દ્રવ્યના અવયવ દ્વારા ભેદી શકાતા નથી

હા, રૂપ રસ આદિ પરિણામ તેમનામાં ગળી આવે છે એ અપેક્ષાથી તે ભેદવાન્ પણ હોય છે-તેમનામાં ભેદ કરી શકાય છે ?

શકા—પરમાણુ પ્રદેશહીન હોવાના કારણે શશકવિષાણુની સમાન અસત્ છે ?

સમાધાન—પરમાણુ સાવયવ દ્રવ્ય નથી, સાવયવ દ્રવ્યનુ પ્રતિપક્ષી છે અને સાવયવ દ્રવ્યના પ્રતિપક્ષી હોવાથી અવશ્ય જ સત્ હોવુ જોઈએ અને નિરવયવ હોવુ જોઈએ તે તે પ્રદેશ રહિત છે આ દલીલ અને આગમ પ્રમાણથી દ્રવ્ય પરમાણુની સિદ્ધી થાય છે દ્રવ્ય પરમાણુની સિદ્ધી થઈ જવા પર ક્ષેત્રપરમાણુ અને ભાવપરમાણુની પણ સિદ્ધી થઈ જાય છે તે જાતે સમજી લેવુ જોઈએ ॥ ૨૨ ॥

एगत्त पुहुत्तेहिं चक्खुसा ॥

મૂળસૂત્રાર્થ—સઘાત અને ભેદથી સ્કધ ચક્ષુગ્રાહ્ય થઈ જાય છે ॥ ૨૩ ॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—અનન્તાનન્ત પરમાણુઓના સમૂહથી નિષ્પન્ન થયેલો કોઈ પણ સ્કધ ચક્ષુ દ્વારા ગ્રાહ્ય હોય છે અને કોઈ હોતા નથી આ સજોગોમાં જે ચક્ષુગ્રાહ્ય નથી તે ચક્ષુગ્રાહ્ય કેવી રીતે થઈ જાય છે ? આ શકાનુ સમાધાન કરવા માટે કહીએ છીએ—

એકત્વ અર્થાત્ સઘાત અને પૃથકત્વ અર્થાત્ ભેદથી સ્કધ ચાક્ષુષ પ્રત્યક્ષના વિષય બની જાય છે, ભેદથી ચાક્ષુષ હોતા નથી અચાક્ષુસ પૂર્વોકત સઘાતથી, ભેદથી અને સઘાત ભેદથી હોય છે ॥ ૨૩ ॥

તત્વાર્થનિર્યુકિત—ભેદ અને સઘાતથી ચક્ષુ ઇન્દ્રિય દ્વારા ગ્રાહ્ય સ્કધ ઉત્પન્ન થાય છે એવુ ન સમજવુ જોઈએ કે ભેદ અને સઘાતથી ઉત્પન્ન થનારા બધા સ્કધ ચાક્ષુષ જ હોય છે ભેદ અને સઘાતથી તો ચાક્ષુષ સ્કધોની પણ ઉત્પત્તિ દેખી શકાય છે આથી નિયમ એ છે કે સ્વત જ પરિણમનની વિશિષ્ટતાના કારણે ચક્ષુઇન્દ્રિયના ગોચર થનારા બાદર સ્કન્ધ સંઘાત અને ભેદ દ્વારા ઉત્પન્ન થાય છે

આ રીતે બધાં સ્કન્ધ ચક્ષુગ્રાહ્ય હોતા નથી, પરતુ અનન્તાનન્ત પરમાણુઓના સઘાતથી બનનારા પુદ્ગલસ્કધ પણ જો બાદર પરિણામવાળા હોય છે તો તે નેત્રગોચર થઈ શકે છે, સૂક્ષ્મ પરિણામવાળા નહીં બાદર પરિણામ ત્યારે ઉત્પન્ન થાય છે જ્યારે સૂક્ષ્મ પરિણામ દૂર થઈ જાય છે બાદર પરિણામ થવાથી જેમ કેટલાંક પરમાણુ તેમા મળે છે તે જ રીતે કેટલાંક જુદા પણ થાય છે આ કારણે સઘાત અને ભેદ દ્વારા જ ચાક્ષુષ સ્કન્ધોની નિષ્પત્તિ થાય છે, ન તો એકલા સઘાતથી અથવા ન એકલા ભેદથી સૂક્ષ્મ પરિણામવાળા સ્કન્ધનો ભેવ થવા છતા પણ તે અચાક્ષુષ જ બન્યા રહે છે અને તે કારણે તે અચાક્ષુષ જ રહે છે પરંતુ બીજા કોઈ સૂક્ષ્મ સ્કધ ભેદ થવાથી બીજા સ્કધમાં મળી જાય છે, તે વખતે તેનુ સૂક્ષ્મ પરિણામ ચાલ્યુ જાય છે, તેમાં બાદર પરિણામ ઉત્પન્ન થઈ જાય છે અને તે ચક્ષુગ્રાહ્ય બની જાય છે

શકા—અચાક્ષુષ પરમાણુઓનો સમુદાય ત્રણ પરમાણુમાત્ર જ હોય છે તે કોઈ પ્રકારની વિશેષતા ઉત્પન્ન થયા વગર કઈ રીતે ચાક્ષુષ થઈ શકે છે ?

સમાધાન—બધી વસ્તુઓના હાજર પરિણામથી કોઇ બીજુ પરિણામ ઉત્પન્ન થાય છે તો તે જુદુ જ હોય છે આ રીતે પરમાણુ રૂપ પરિણમનથી ચાક્ષુષ પરિણમન ભિન્ન જ છે પરમાણુ પોતાના પરમાણુત્વ–પરિણામનો ત્યાગ કરીને સ્નિગ્ધતા–રુક્ષતાથી સ્થૂળ પરિણમનને પ્રાપ્ત કરી લે છે સ્કન્ધોમા યથાસભવ આઠે પ્રકારના સ્પર્શ કહેવામા આવ્યા છે પરમાણુઓમા સ્નિગ્ધ, રુક્ષ, શીત અને ઉષ્ણ આ ચાર સ્પર્શ જ હોય છે એમાંથી પણ પરસ્પર અવિરોધી બે સ્પર્શ જ એક પરમાણુમા હોય છે

બન્ધ રૂપ પરિણતિ માટે સ્નિગ્ધતા અને રુક્ષતા એ બને સ્પર્શોની જ જરૂરીયાત છે, કોઈ પરમાણુ સૂક્ષ્મ પરિણામવાળા તો કોઇ સ્નિગ્ધ પરિણામવાળા હોય છે સ્નિગ્ધતા અને રુક્ષતા પરસ્પર વિરોધી ધર્મ છે તેઓ એક પરમાણુમા રહી શકતા નથી તેમા પણ કોઇ પરમાણુ એક ગુણ સ્નિગ્ધ હોય છે, કોઇ બે ગુણ સ્નિગ્ધ હોય છે તેવી જ રીતે કોઇ અનન્ત ગુણ સ્નિગ્ધ ચિકણા પણ હોય છે આવુ જ રુક્ષતાના વિષયમા પણ સમજવુ જોઈએ

સામાન્ય રૂપથી બધા પરમાણુ સજાતીય જ હોય છે કોઈ વિજાતીય હોતા નથી કારણ કે બધા રૂપ, રસ, ગધ અને સ્પર્શ ગુણવાળા હોય છે એ રીતે રુક્ષતા અને સ્નિગ્ધતા ગુણના કારણે પરમાણુઓનો કોઇ અન્ય દ્રવ્યની સાથે બન્ધ થાય છે અને તે બન્ધ વિશેષથી ઘટ

આદિ સ્થૂળની ઉત્પત્તિ થાય છે જો પરમાણુ માત્ર જ રહે તેમા કોઇ વિશેષતા ઉત્પન્ન હોય તો સ્થૂળની ઉત્પત્તિ થઈ શકતી નથી

આ રીતે સ્વગત ભેદનો સ્વીકાર કરવાથી કોઈ પણ વસ્તુઓમાં સર્વથા અભેદની શકયતા રહેતી નથી તેમજ ન તો તેમનામાં સર્વથા ભેદ જ છે, પરંતુ કંઇક સમાનતા પણ છે

ઇંદ્રિયજનિત પ્રત્યક્ષના વિષય થવા રૂપ પરિણામમા જ માત્ર કારણ હોતુ નથી પરંતુ વિશિષ્ટ પ્રકારના અનન્ત સંખ્યક પરમાણુઓના સંઘાતથી ઉત્પન્ન થનારી સ્થૂળ પરિણતિ અમુક-અમુક ઇંદ્રિયોનો વિષય બને છે આથી ઇંદ્રિયજન્ય પ્રત્યક્ષનો વિષય થવામા કેવળ સંઘાત જ કારણ નથી તેમજ ન તો કેવળ પરિણામ જ કારણ છે વરન ભેદ અને સંઘાત બને જ્યારે એક જ કાળમા હોય છે ત્યારે જ સ્કંધ ચાક્ષુષ હોય છે અહીં ચક્ષુ શબ્દથી બધી ઇન્દ્રિયોને ગ્રહણ કરી લેવી જોઇએ અને એ પણ સમજી લેવુ જોઇએ કે સ્પર્શ, રસ, ગંધ અને શબ્દ પણ પૂર્વોક્ત પરિણતિથી યુક્ત, થઇને જ સ્પર્શના, રસના (જીભ ઘ્રાણ (નાક) અને શ્રોત્ર (કાન) ઇન્દ્રિય દ્વારા જાણવામાં આવે છે

જે દ્વયણુકથી લઇને અનન્ત પરમાણુ સુધી સૂક્ષ્મ સ્કંધ અચાક્ષુષ છે તે પૂર્વોક્ત ત્રણ પ્રકારનાં કારણથી અર્થાત્ સંઘાતથી ભેદથી અને સંઘાત-ભેદ (બંને)થી ઉત્પન્ન થાય છે

શંકા—જે સ્કન્ધ બાદર છે, તેઓ જ સૂક્ષ્મ કેવી રીતે કહી શકાય?

સમાધાન—પુદ્ગલોનું પરિણમન ઘણુ વિચિત્ર હોય છે તે જ પુદ્ગલ કદાચિત્ મેઘ ઇંદ્રધનુષ્ય, વીજળી વગેરે બાદર પરિણામને ધારણ કરે છે અને કયારેક તે એવુ સૂક્ષ્મ રૂપ પણ ધારણ કરી લે છે કે ઇંદ્રિય દ્વારા ગ્રાહ્ય હોતા નથી કદી-કદી તેમનામાં એવુ પરિણમન થઈ જાય છે કે એક ઇંદ્રિયને બદલે કોઈ બીજી ઇન્દ્રિય દ્વારા ગ્રાહ્ય બની જાય છે દા ત મીઠું હીંગ વગેરે મીઠુ તથા હીંગ પહેલા ચક્ષુગ્રાહ્ય હોય છે પરંતુ પાણીમા મળી જવાથી ચક્ષુગ્રાહ્ય રહેતાં નથી, રસનાગ્રાહ્ય જ રહી જાય છે કોઈ-કોઇ સૂક્ષ્મ રૂપમાં ઉત્પત્તિ થઈને એવા જળ-ધરનો આકાર ધારણ કરી લે છે કે જે આકાશમા બધી દિશાઓમા ફેલાઇ જાય છે આ રીતે પુદ્ગલોના પરિણમનની વિચિત્રતાના કારણે સ્થૂળનુ સૂક્ષ્મ અને સૂક્ષ્મનુ સ્થૂળ થઇ જવુ લગીર પણ આશ્ચર્યજનક અથવા અસંગત નથી ॥ ૨૩ ॥

मूलसूत्र—'सद् दव्वलक्खणं' ॥२४॥

મૂળ સૂત્રાર્થ—દ્રવ્યનુ લક્ષણ સત્ હોય છે ॥ ૨૪ ॥

તત્વાર્થદીપિકા—પહેલા ધર્મ અધર્મ આકાશ, કાળ, પુદ્ગળ અને જીવ આ છ દ્રવ્યોના વિશેષ લક્ષણોનુ પ્રતિપાદન કરવામા આવ્યુ છે હવે તેમના સામાન્ય લક્ષણ કહીએ છીએ—

દ્રવ્યનુ લક્ષણ સત્ છે અર્થાત્ જે સત્ છે તે જ દ્રવ્યનુ લક્ષણ છે એ રીતે સત્વ'દ્રવ્ય સામાન્યનુ-સ્વરૂપ છે વ્યખ્યાપ્રજ્ઞપ્તિ-(ભગવતી) સૂત્રમા કહ્યુ પણ છે-સત્ દ્રવ્ય કહેવાય છે. '૨૪

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પહેલા ધર્મ આદિ દ્રવ્યોની ગતિ-ઉપગ્રહ સ્થિતિ ઉપગ્રહ અવગાહ-ઉપગ્રહ આદિ વિશેષ લક્ષણ કહેવાઇ ગયા છે હવે સમસ્ત દ્રવ્યવ્યાપક લક્ષણ કહીએ છીએ—

દ્રવ્ય સામાન્યનુ લક્ષણ સત્ છે આ કથનથી શુ વિકારની ગ્રન્થિથી રહિત સત્તા માત્ર (ધ્રૌવ્ય) ધર્માદિનુ લક્ષણ છે ? અથવા ઉત્પાદ અને વિનાશ રૂપ વિકાર જ તેમનુ લક્ષણ છે ? આ તમામ વિપ્રતિપત્તિઓનુ પણ નિવારણ થઈ જાય છે કારણ કે સત્તા જ ધર્મ આદિનુ સામાન્ય લક્ષણ છે એ રીતે ગતિ, સ્થિતિ, અવગાહ આદિ ઉપકાર દ્વારા તેમનુ અસ્તિત્વ નક્કી થાય છે

શકા—ગતિ સ્થિતિ આદિમા નિમિત્ત થવાવાળા ધર્માદિ કોઈ અપ્રસિદ્ધ સત્તાવાળા છે ?

સમાધાન—ઉત્પાદ વ્યય અને ધ્રૌવ્ય રૂપ સત્ત્વ ધર્મ, અધર્મ, આકાશ, પુદ્ગલ અને જીવદ્રવ્યોમા ઉપલબ્ધ થાય છે આથી તેમની સત્તા પ્રસિદ્ધ છે તેઓ સત્ત્વથી જુદા થઈ શકતા નથી

અહી એ હકીકત સમજી લેવાની જરૂર છે કે ધર્મ, અધર્મ, આકાશ, કાળ, પુદ્ગલ અને જીવ એ છ દ્રવ્યો જગતનુ સ્વરૂપ છે આમા જીવદ્રવ્ય જ ધર્મ અધર્મ વગેરેના અને પોત પોતાના સ્વરૂપના ગ્રાહક છે સક્ષેપથી શબ્દ, અર્થ અને જ્ઞાન બધામા સત્ત્વ લક્ષણ જડી આવે છે,—આથી આ લક્ષણ સર્વવ્યાપી છે તાત્પર્ય એ છે કે ધર્મ, અધર્મ આદિ દ્રવ્યોનુ સામાન્ય લક્ષણ સત્ત્વ જ સગત હોય છે ભગવતીસૂત્રના ૮મા શતકના ૯માં ઉદ્દેશકમા સત્પદ દ્વારમા કહ્યુ છે–દ્રવ્યનુ લક્ષણ સત્ છે ॥ ૨૪ ॥

'उप्पायवय धौव्वजुत्तंस' ॥૨૫॥

મૂળ સૂત્રાર્થ—જે સત્ છે, ઉત્પાદ્ વ્યય તથા ધ્રૌવ્યથી યુક્ત હોય છે ॥ ૨૫ ॥

તત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વ સૂત્રમાં દ્રવ્ય સામાન્યનુ લક્ષણ સત્ કહેવામા આવ્યુ છે પરતુ "સત્" કોને કહેવુ જોઈએ ? એવી જિજ્ઞાસા થવાથી સત્નુ સ્વરૂપ કહીએ છીએ—

જે વસ્તુ ઉત્પાદ વ્યય અને ધ્રૌવ્યથી યુક્ત હોય છે તે જ સત્ કહેવાય છે

જીવ અથવા ધર્મ વગેરે અજીવ દ્રવ્યોમા પોતાની મૂળ જાતિનો પરિત્યાગ ન કરતા થકા અન્તરંગ અને બહિરગ નિમિત્તોથી નૂતન પર્યાયનુ ઉત્પન્ન થવુ ઉત્પાદ કહેવાય છે જેમ માટીના પિન્ડામાંથી ઘડાનુ સર્જન થાય છે એવી જ રીતે પૂર્વ પર્યાયનો વિનાશ થઈ જવો વ્યય કહેવાય છે જેમ ઘડા પર્યાયની ઉત્પત્તિ થવાથી માટીના પિન્ડ પર્યાયનુ ના રહેવુ વ્યય છે આજ રીતે અનાદિ અનાદિ પારિણામિક ભાવથી વ્યય અને ઉત્પાદ ન થવો અર્થાત્ મૂળ-ભૂત દ્રવ્યનુ જેમને તેમ સ્થિર રહેવુ ધ્રૌવ્ય ધ્રુવતા સ્થિરતા આદિ સમાનાર્થક શબ્દ છે જેમ સોનાનો ટુકડો, કડા, કાનની વેલી, હાર આદિ સોનાની એકની પછી બીજી થનાર અનેક સ્થિતિઓમા સુવર્ણ દ્રવ્ય કાયમ રહે છે (અતે તો હેમનુ હેમ હોય છે) એજ રીતે ઉત્પાદ વ્યય અને ધ્રૌવ્યથી યુક્ત વસ્તુ સત્ કહેવાય છે

'યુજ્ સમાધૌ' ધાતુથી "યુક્ત" શબ્દ નિષ્પન્ન થયો છે આથી યુક્તનો અર્થ થાય-સમાહિત જે ઉત્પાદ વ્યય અને ધ્રૌવ્યથી સમાહિત છે, ઉત્પાદ–વ્યયધ્રૌવ્યાત્મક છે ઉત્પાદ–વ્યય–ધ્રૌવ્યમય છે અગર ઉત્પાદ–વ્યય-ધ્રૌવ્ય સ્વભાવવાળી હોય છે તે જ સત્ કહેવાય છે

આ પ્રકારે ઉત્પાદ વ્યય અને ધ્રૌવ્ય સદ્રૂપ દ્રવ્યના લક્ષણ છે સદ્રૂપ દ્રવ્ય લક્ષ્ય છે પર્યાયાર્થિકનયની અપેક્ષાથી ઉત્પાદ વ્યય અને ધ્રૌવ્ય પરસ્પર ભિન્ન છે અને દ્રવ્યથી પણ

ભિન્ન છે, પરંતુ દ્રવ્યાર્થિક નયથી જુદા જુદા ઉપલબ્ધ ન હોવાથી ભિન્ન નથી બલ્કે તન્મય જ છે ॥ ૨૫ ॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પહેલા ધર્મ આદિ દ્રવ્યોનું સામાન્ય લક્ષણ સત કહેવામા આવ્યું છે પરંતુ સત્ કોને કહે છે એ શકાનુ સમાધાન કરવા માટે કહીએ છીએ—

ઉત્પાદ વ્યય અને ધ્રૌવ્યથી યુક્ત વસ્તુ સત કહેવાય છે ઉત્પત્તિ, સ્થિતિ અને વિનાશ સ્વભાવવાળુ સત હોય છે નિયમથી ઉત્પત્તિ, સ્થિતિ અને વિનાશ એ ત્રણે ભેગા થઇ ને જ સત્ત્વના બોધક હોય છે સાર વસ્તુથી જ ઉત્પત્તિ વગેરે થાય છે. જે સર્વથા અસત છે, આકાશ પુષ્પની જેમ નિઃસ્વરૂપ છે તેમા ઉત્પત્તિ વગેરે થતાં નથી કારણ કે આકાશફૂલ આદિ કોઈ પણ સ્વરૂપથી કરી શકાતા નથી જે કવચિત્ ધ્રુવ નથી તે ન તો ઉત્પન્ન થાય છે કે ન તો નાશ તેનો થાય છે, તે સત્ પણ હોતુ નથી, અસત્ હોય છે દા ત સસલાનું શિગડું, વાંઝણીનો પુત્ર, આકાશ પુષ્પ તથા કાચબાનુ દૂધ વગેરે

આ રીતે આ સૂત્ર દ્રવ્યાર્થિક અને પર્યાયાર્થિક નયની અપેક્ષાથી સમજવુ જોઈએ દ્રવ્યાર્થિક નય સામાન્યનુ ગ્રાહક અને પર્યાયાર્થિક નય વિશેષનુ ગ્રાહક છે આ બને નય નૈગમ સંગ્રહ અને વ્યવહાર નયોના મૂળ છે કારણુ કે નૈગમનય સામાન્ય અને વિશેષ બનેના ગ્રાહક હોવાથી સગ્રહ અને વ્યવહારનયમા જ અન્તર્ગત થઇ જાય છે

દ્રવ્યાર્થિકનય ઉત્સર્ગ વિધિ, વ્યાપકતા અપ્રતિષેધ સામાન્ય અથવા દ્રવ્યને જ ગ્રહણ કરે છે તે વિશેષ અગર ભેદનો સ્વીકાર કરતા નથી. વિશેષમા બીજાનો નિષેધ કરીને કોઈ વસ્તુની ભિન્નતાનુ પ્રતિપાદન કરે છે અભાવ કેવળ નિષેધ–માત્રશૂન્યરૂપ નથી જેમ–ઘડાનો પ્રાગ્ભાવ માટીનો પિન્ડ છે ઘડાની ઉત્પત્તિ પહેલા જે ઘડાનો અભાવ છે તે માટીનો પીંડો જ છે જેમા ઘડા પર્યાયની ઉત્પત્તિ થઈ નથી ઘડાનો વિનાશભાવ–તેના ઠીકરા થઈ જાય છે–વિનાશભાવ પણ વસ્તુ સ્વરૂપ જ છે, ઘડાની કપાલ અવસ્થા થઈ જવી જ તેનો વિનાશ છે એ રીતે થાંભલો કુભ વગેરે એક જ દ્રવ્યની વિભિન્ન પર્યાયોમાં જે પરસ્પર ભિન્નતા હોય છે તે અન્યોન્યાભાવ છે જેમ થાંભલો, ઘડો નથી અને ઘડો થાભલો નથી આ પણ અવસ્તુરૂપ–શૂન્ય નથી કારણ કે જેટલાં વસ્તુપર્યાયો છે બધા અન્યોન્યાભાવ રૂપ છે. એવી જ રીતે એક દ્રવ્યનુ બીજુ દ્રવ્યરૂપ ન હોવુ અત્યન્તાભાવ છે આ પણ એકાન્ત નિરૂપાખ્ય નથી, જેમ ચેતન અચેતન નથી અને અચેતન ચેતન નથી

બધી વસ્તુઓ દ્રવ્ય, ક્ષેત્રકાળ અને ભાવની અપેક્ષા રાખે છે તેઓ કદી પ્રત્યક્ષ આદિ પ્રમાણોથી ઉપલબ્ધ થાય છે અને કદી ઉપલબ્ધ થઈને પણ દ્રવ્ય આદિના વિપ્રકર્ષના કારણે ઉપલબ્ધ હોવા યોગ્ય રહેતી નથી મતિજ્ઞાનાવરણીય કર્મના ક્ષયોપશમ રૂપ કારણ સમૂહના હાજર રહેવા છતાં પણ આત્મા પરમાણુ દ્વયણુક આદિ તથા વૈક્રિય શરીર આદિ વિદ્યમાન રહેતા હોવા છતા પણ ઉપલબ્ધ હોતા નથી એનુ કારણ તે વસ્તુનુ પરિણમન છે

દિવસે તારા દેખાતા નથી અનાજના ઢગલામા નાખેલુ બીજ ઉપલબ્ધ થતુ નથી કોઈ–કોઈ વસ્તુ ક્ષેત્રની આઘે હોવાના કારણે અત્યન્ત નજીકના કારણે અથવા આડ આવી જવાના કારણે પણ ઉપલબ્ધ થતી નથી

દ્રવ્ય સામાન્યનુ લક્ષણ સત્ છે આ કથનથી શુ વિકારની ગ્રન્થિથી રહિત સત્તા માત્ર (ધ્રૌવ્ય) ધર્માદિનુ લક્ષણ છે ? અથવા ઉત્પાદ અને વિનાશ રૂપ વિકાર જ તેમનુ લક્ષણ છે ? આ તમામ વિપ્રતિપત્તિઓનુ પણ નિવારણ થઈ જાય છે કારણ કે સત્તા જ ધર્મ આદિનુ સામાન્ય લક્ષણ છે એ રીતે ગતિ, સ્થિતિ, અવગાહ આદિ ઉપકાર દ્વારા તેમનુ અસ્તિત્વ નક્કી થાય છે

શકા—ગતિ સ્થિતિ આદિમાં નિમિત્ત થવાવાળા ધર્માદિ કોઈ અપ્રસિદ્ધ સત્તાવાળા છે ?

સમાધાન—ઉત્પાદ વ્યય અને ધ્રૌવ્ય રૂપ સત્ત્વ ધર્મ, અધર્મ, આકાશ, પુદ્ગલ અને જીવદ્રવ્યોમા ઉપલબ્ધ થાય છે આથી તેમની સત્તા પ્રસિદ્ધ છે તેઓ સત્ત્વથી જુદા થઈ શકતા નથી.

અહી એ હકીકત સમજી લેવાની જરૂર છે કે ધર્મ, અધર્મ, આકાશ, કાળ, પુદ્ગલ અને જીવ એ છ દ્રવ્યો જગતનુ સ્વરૂપ છે આમા જીવદ્રવ્ય જ ધર્મ અધર્મ વગેરેના અને પોત પોતાના સ્વરૂપના ગ્રાહક છે સક્ષેપથી શબ્દ, અર્થ અને જ્ઞાન બધામા સત્ત્વ લક્ષણ જડી આવે છે,—આથી આ લક્ષણ સર્વવ્યાપી છે તાત્પર્ય એ છે કે ધર્મ, અધર્મ આદિ દ્રવ્યોનુ સામાન્ય લક્ષણ સત્ત્વ જ સગત હોય છે ભગવતીસૂત્રના ૮મા શતકના ૯માં ઉદ્દેશકમા સત્પદ દ્વારમા કહ્યુ છે—દ્રવ્યનુ લક્ષણ સત્ છે ॥ ૨૪ ॥

'उप्पायवय धौव्वजुत्तंस' ॥૨૫॥

મૂળ સૂત્રાર્થ—જે સત્ છે, ઉત્પાદ વ્યય તથા ધ્રૌવ્યથી યુક્ત હોય છે ॥ ૨૫ ॥

તત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વ સૂત્રમા દ્રવ્ય સામાન્યનુ લક્ષણ સત્ કહેવામા આવ્યુ છે પરતુ "સત્" કોને કહેવુ જોઈએ ? એવી જિજ્ઞાસા થવાથી સત્નુ સ્વરૂપ કહીએ છીએ—

જે વસ્તુ ઉત્પાદ વ્યય અને ધ્રૌવ્યથી યુકત હોય છે તે જ સત્ કહેવાય છે

જીવ અથવા ધર્મ વગેરે અજીવ દ્રવ્યોમા પોતાની મૂળ જાતિનો પરિત્યાગ ન કરતા થકા અન્તરગ અને બહિરગ નિમિત્તોથી નૂતન પર્યાયનુ ઉત્પન્ન થવુ ઉત્પાદ કહેવાય છે જેમ માટીના પિન્ડામાથી ઘડાનુ સર્જન થાય છે એવી જ રીતે પૂર્વ પર્યાયનો વિનાશ થઈ જવો વ્યય કહેવાય છે જેમ ઘડા પર્યાયની ઉત્પત્તિ થવાથી માટીના પિન્ડ પર્યાયનુ ના રહેવુ વ્યય છે આજ રીતે અનાદિ અનાદિ પારિણામિક ભાવથી વ્યય અને ઉત્પાદ ન થવો અર્થાત્ મૂળ-ભૂત દ્રવ્યનુ જેમને તેમ સ્થિર રહેવુ ધ્રૌવ્ય ધ્રુવતા સ્થિરતા આદિ સમાનાર્થક શબ્દ છે જેમ સોનાનો ટુકડો, કડા, કાનની વેલી, હાર આદિ સોનાની એકની પછી બીજી થનાર અનેક સ્થિતિઓમા સુવર્ણ દ્રવ્ય કાયમ રહે છે (અતે તો હેમનુ હેમ હોય છે) એજ રીતે ઉત્પાદ વ્યય અને ધ્રૌવ્યથી યુકત વસ્તુ સત્ કહેવાય છે

'युज् समाधौ' ધાતુથી "યુક્ત" શબ્દ નિષ્પન્ન થયો છે આથી યુકતનો અર્થ થાય-સમાહિત જે ઉત્પાદ વ્યય અને ધ્રૌવ્યથી સમાહિત છે, ઉત્પાદ-વ્યયધ્રૌવ્યાત્મક છે ઉત્પાદ-વ્યય-ધ્રૌવ્યમય છે અગર ઉત્પાદ-વ્યય-ધ્રૌવ્ય સ્વભાવવાળી હોય છે તે જ સત્ કહેવાય છે

આ પ્રકારે ઉત્પાદ વ્યય અને ધ્રૌવ્ય સદ્રૂપ દ્રવ્યના લક્ષણ છે સદ્રૂપ દ્રવ્ય લક્ષ્ય છે પર્યાયાર્થિકનયની અપેક્ષાથી ઉત્પાદ વ્યય અને ધ્રૌવ્ય પરસ્પર ભિન્ન છે અને દ્રવ્યથી પણ

ભિન્ન છે, પરંતુ દ્રવ્યાર્થિક નયથી જુદા જુદા ઉપલબ્ધ ન હોવાથી ભિન્ન નથી બલ્કે તન્મય જ છે ॥ ૨૫ ॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પહેલા ધર્મ આદિ દ્રવ્યોનું સામાન્ય લક્ષણ સત કહેવામા આવ્યું છે પરંતુ સત કોને કહે છે એ શંકાનુ સમાધાન કરવા માટે કહીએ છીએ—

ઉત્પાદ વ્યય અને ધ્રૌવ્યથી યુક્ત વસ્તુ સત્ કહેવાય છે ઉત્પત્તિ, સ્થિતિ અને વિનાશ સ્વભાવવાળુ સત્ હોય છે નિયમથી ઉત્પત્તિ, સ્થિતિ અને વિનાશ એ ત્રણે ભેગા થઈ ને જ સત્ત્વના બોધક હોય છે સાર વસ્તુથી જ ઉત્પત્તિ વગેરે થાય છે જે સર્વથા અસત છે, આકાશ પુષ્પની જેમ નિઃસ્વરૂપ છે તેમા ઉત્પત્તિ વગેરે થતા નથી કારણ કે આકાશફૂલ આદિ કોઈ પણ સ્વરૂપથી કરી શકાતા નથી જે કવચિત્ ધ્રુવ નથી તે ન તો ઉત્પન્ન થાય છે કે ન તો નાશ તેનો થાય છે, તે સત્ પણ હોતુ નથી, અસત્ હોય છે દા ત સસલાનુ શિંગડુ, વાઝણીનો પુત્ર, આકાશ પુષ્પ તથા કાચબાનુ દૂધ વગેરે

આ રીતે આ સૂત્ર દ્રવ્યાર્થિક અને પર્યાયાર્થિક નયની અપેક્ષાથી સમજવુ જોઈએ દ્રવ્યાર્થિક નય સામાન્યનુ ગ્રાહક અને પર્યાયાર્થિક નય વિશેષનુ ગ્રાહક છે આ બને નય નૈગમ સંગ્રહ અને વ્યવહાર નયોના મૂળ છે કારણ કે નૈગમનય સામાન્ય અને વિશેષ બંનેના ગ્રાહક હોવાથી સંગ્રહ અને વ્યવહારનયમા જ અન્તર્ગત થઈ જાય છે

દ્રવ્યાર્થિકનય ઉત્સર્ગ વિધિ, વ્યાપકતા અપ્રતિષેધ સામાન્ય અથવા દ્રવ્યને જ ગ્રહણ કરે છે તે વિશેષ અગર ભેદનો સ્વીકાર કરતા નથી. વિશેષમા બીજાનો નિષેધ કરીને કોઈ વસ્તુની ભિન્નતાનુ પ્રતિપાદન કરે છે અભાવ કેવળ નિષેધ-માત્રશૂન્યરૂપ નથી જેમ-ઘડાનો પ્રાગ્ભાવ માટીનો પિન્ડ છે ઘડાની ઉત્પત્તિ પહેલા જે ઘડાનો અભાવ છે તે માટીનો પીડો જ છે જેમા ઘડા પર્યાયની ઉત્પત્તિ થઈ નથી ઘડાનો વિનાશભાવ-તેના ઠીકરા થઈ જાય છે-વિનાશભાવ પણ વસ્તુ સ્વરૂપ જ છે, ઘડાની કપાલ અવસ્થા થઈ જવી જ તેનો વિનાશ છે એ રીતે થાંભલો કુભ વગેરે એક જ દ્રવ્યની વિભિન્ન પર્યાયોમાં જે પરસ્પર ભિન્નતા હોય છે તે અન્યોન્યાભાવ છે જેમ થાભલો, ઘડો નથી અને ઘડો થાભલો નથી આ પણ અવસ્તુરૂપ-શૂન્ય નથી કારણ કે જેટલા વસ્તુપર્યાયો છે બધા અન્યોન્યાભાવ રૂપ છે. એવી જ રીતે એક દ્રવ્યનુ બીજુ દ્રવ્યરૂપ ન હોવુ અત્યન્તાભાવ છે આ પણ એકાન્ત નિરૂપાખ્ય નથી, જેમ ચેતન અચેતન નથી અને અચેતન ચેતન નથી

બધી વસ્તુઓ દ્રવ્ય, ક્ષેત્રકાળ અને ભાવની અપેક્ષા રાખે છે તેઓ કદી પ્રત્યક્ષ આદિ પ્રમાણોથી ઉપલબ્ધ થાય છે અને કદી ઉપલબ્ધ થઈને પણ દ્રવ્ય આદિના વિપ્રકર્ષના કારણે ઉપલબ્ધ હોવા યોગ્ય રહેતી નથી મતિજ્ઞાનાવરણીય કર્મના ક્ષયોપશમ રૂપ કારણ સમૂહના હાજર રહેવા છતાં પણ આત્મા પરમાણુ દ્વયણુક આદિ તથા વૈક્રિય શરીર આદિ વિદ્યમાન રહેતા હોવા છતા પણ ઉપલબ્ધ હોતા નથી એનુ કારણ તે વસ્તુનુ પરિણમન છે

દિવસે તારા દેખાતા નથી અનાજના ઢગલામા નાખેલુ બીજ ઉપલબ્ધ થતુ નથી. કોઈ-કોઈ વસ્તુ ક્ષેત્રની આઘે હોવાના કારણે અત્યન્ત નજીકના કારણે અથવા આડ આવી જવાના કારણે પણ ઉપલબ્ધ થતી નથી

કોઈ વસ્તુ કાળના વિપ્રકર્ષના કારણે આવિર્ભૂત રહેતી નથી તે તિરોભાવ હોવાના કારણે ઉપલબ્ધિને યોગ્ય રહેતી નથી કોઇ–કોઈ ભાવ સબધી વિપ્રકર્ષના કારણે ઉપલબ્ધિને ગોચર હોતી નથી જેમ પરકીય આત્મામા રહેલુ મતિજ્ઞાન આદિ તથા પરમાણુ આદિમા રહેલા રૂપ, રસ ગધ, અને સ્પર્શ વગેરે પર્યાયોનો સમૂહ હાજર હોવા છતા પણ ઉપલબ્ધ થતુ નથી કોઈ એક ઉપલબ્ધિથી ભિન્ન બીજી ઉપલબ્ધિ જ અનુપલબ્ધિ કહેવાય છે, ઉપલબ્ધિનો અભાવ અનુપલબ્ધિ નથી કારણ કે પહેલા જ કહેવાઈ ગયુ છે કે અભાવ કોઇ શૂન્ય રૂપ–નિસ્વરૂપ વસ્તુ નથી બલ્કે ભાવ જ કવચિત્ અભાવ શબ્દ દ્વારા પ્રકટ કરવામા આવે છે આ રીતે જેની ઉપલબ્ધિનુ કારણ વિદ્યમાન હોય, તેની ઉપલબ્ધિ થાય છે જેની ઉપલબ્ધિનુ સમસ્ત કારણ ન હોય અને એથી જે ઉપલબ્ધિને યોગ્ય ન હોય, તેની ઉપલબ્ધિ થતી નથી આથી સાબિત થાય છે કે અભાવ કેવળ પ્રતિષેધ રૂપ નથી બલ્કે ભાવાન્તર રૂપ જ હોય છે

ધ્રૌવ્યનો અર્થ છે દ્રવ્યનુ હોવુ મોરના ઇડાના રસની જેમ તેમા ભેદોનુ બીજ વિદ્યમાન રહે છે, પણ તે જાતે તો ભેદવિહીન છે દેશ–કાળ–ક્રમથી તેમા ભેદ વ્યક્ત હોવા યોગ્ય છે તે સ્વય સમરસ અવસ્થામાં રહે છે, અને અભિન્ન હોવા છતા પણ ભેદ પ્રતિભાસી હોવાના કારણે ભિન્ન જેવુ પ્રતીત થાય છે ભવનનો આશ્રય હોવાથી ભાવિ વિશેષમા ભાવત્વ છે અન્યથા ભાવી વિશેષ ભાવ જ ન કહેવાય કારણ કે તે ભવનથી ભિન્ન છે ભાવિ વિશેષ તેનાથી અભિન્ન રૂપ છે આથી તેના સ્વરૂપની જેમ ભાવ જ છે એથી અભિન્ન રૂપવાળો છે એ રીતે આ જે કઇ પણ છે તે બધુ ભવન માત્ર જ છે ભેદ રૂપમા પ્રતીત થવાવાળી સમસ્ત વૃત્તિઓ તેની પણ છે, ભિન્ન જાતિની નહી

પર્યાયાર્થિક નય અપવાદ સ્વભાવવાળુ છે કારણ કે અન્ય નિષેધ અપવાદ છે પર્યાયાર્થિક નય કોઇ વસ્તુનુ પ્રતિપાદન બીજીવસ્તુઓનો નિષેધ કરીને કરે છે કારણ કે તેનુ સ્વરૂપ નિષેધ કરવાનુ છે

જે ઘડો નથી તે ઘડો છે, એ રીતે પર્યાયોનુ જ અસ્તિત્વ છે પર્યાયોથી પૃથક્ દ્રવ્યની કોઇ સત્તા નથી આ રીતે દ્રવ્યાર્થિક નય દ્વારા સમર્થિત ધ્રૌવ્યનો નિષેધ કરીને ભેદોનો જ સ્વીકાર કરવામા આવે છે આથી પર્યાયાર્થિક નયનુ અસ્તિત્વ છે ઉપલબ્ધિ થનારા લોખડના સળીયાઓની જેમ ભેદ–સમૂહને છોડીને દ્રવ્યની ઉપલબ્ધિ થતી નથી પરતુ માટી દ્રવ્ય રૂપ આદિથી ભિન્ન એક વસ્તુ છે એ રીતે એક વસ્તુને વિષય કરવાવાળી ચક્ષુજન્ય પ્રતીતિનો અપલાપ કરી શકાતો નથી

ઘોર અન્ધકારના સમૂહથી વ્યાપ્ત કોઈ પ્રદેશમા રહેલા માટી દ્રવ્યનુ જે સ્પર્શેન્દ્રિયજનિત જ્ઞાન થાય છે તે મૃત્તિ અદ્રવ્યને જ વિષય કરે છે તેને કઇ રીતે અસત્વ કહી શકાય ? આથી એક અભિન્ન દ્રવ્યનુ અસ્તિત્વ અવશ્ય સાબીત થાય છે અભિન્ન દ્રવ્યનુ અસ્તિત્વ ન હોત તો અભેદનુ જ્ઞાન પણ ન થાત અભેદનુ આ જ્ઞાન ભ્રમાત્મક હોઇ શકતુ નથી કારણ કે બુદ્ધિમાન્ મનુષ્યોને વારવાર એવુ જ્ઞાન થાય છે આ કારણે ઉત્પાદ અને વ્યયથી ભિન્ન એક ધ્રૌવ્ય અશ પણ છે જેના કારણે દ્રવ્ય એક અગર અભિન્ન પ્રતીતિનો વિષય હોય છે

આ ધ્રૌવ્ય રૂપ દ્રવ્ય અને ઉત્પાદ–વ્યય રૂપ પર્યાય પરસ્પર નિરપેક્ષ થઇને સત્નુ લક્ષણ કહેવાય નહી દ્રવ્યાર્થિક નય ધ્રૌવ્યને વિષય કરે છે અને પર્યાયાર્થિક નય ઉત્પાદ અને વ્યયને

ગ્રહણ કરે છે. આ બને પરસ્પર સાપેક્ષ હોઇને જ વસ્તુના સ્વરૂપ છે દ્રવ્યાશ અથવા પર્યાયાશ કોઇ વાસ્તવિક નથી, આ બને અશ તો કલ્પિત છે વસ્તુ પોતે જ પોતાનામા એક અખન્ડ રૂપ છે, ફક્ત નિત્ય અનિત્ય હોવાના કારણે તેમા બે અશોનો વ્યવહાર થાય છે કહ્યુ પણ છે

એકલા અન્વયને અર્થાત્ અભેદનો સ્વીકાર કરવો ઉચિત નથી કારણ કે ભેદની પણ પ્રતીતી થાય છે અને ફક્ત ભેદનો સ્વીકાર કરવો પણ ન્યાયસગત નથી કારણ કે અભેદની પણ પ્રતીતિ થાય છે આ રીતે ઘડો માટીથી ભેદ અને અભેદવાળો હોવાથી એક જુદા જ પ્રકારનો છે

આથી એકાન્તવાદિયો દ્વારા કલ્પિત વસ્તુથી અનેકાન્તવાદિયો દ્વારા સમ્મત વસ્તુ સ્વરૂપ ભિન્ન પ્રકારનુ છે, કારણ કે તેમા નિત્યતા અને અનિત્યતા બને મળી આવે છે જેમ નર અને સિહથી "નરસિહ"નુ રૂપ ભિન્ન છે તેવી જ રીતે એકાન્ત નિત્યતા અને અનિત્યતાથી નિત્યા-નિત્યતા ભિન્ન છે-કહ્યુ પણ છે-

'નરસિહ એકલો નર નથી કારણ કે તેમાં સિહનુ પણ રૂપ મળી આવે છે અને તે સિહ પણ નથી કારણ કે તેમા નરનુ પણ રૂપ મળી આવે છે આ પ્રકારે શબ્દ જ્ઞાન અને કાર્યથી ભિન્નતા હોવાથી નૃસિહ ભિન્ન જ જાતિ છે ॥ ૧ ॥

આ રીતે ઘટાદિ પ્રત્યેક વસ્તુ કલ્પિત દ્રવ્યરૂપ અને પર્યાય રૂપથી વિલક્ષણ પ્રકારનુ છે આ રીતે નિત્યાનિત્યતાનો સ્વીકાર કરવાથી એકાન્તવાદમા આવનારા સમસ્ત દોષોનો કોઇ સબધ નથી ભેદાભેદ સ્વભાવવાળી વસ્તુમા પણ કદી કદિ અભેદની જે પ્રતીતિ થાય છે તેનુ કારણ સસ્કારનો આવેશ માત્ર છે એ રીતનો આવેશ ભેદ અશનો અપલાપ કરીને અથવા સગોપન કરીને પ્રવૃત્ત થાય છે

કદી-કદી તે જ વિષયમા ભેદવિષયક પ્રતીતિ ઉત્પન્ન થાય છે એવી પ્રતીતિ ભેદવાદીની થાય છે અને તેમાં અભેદનો અપલાપ થાય છે

પરતુ અનેકાન્તવાદી દ્રવ્ય અને પર્યાય અગર અભેદ અને ભેદ બનેનો સ્વીકાર કરે છે કેવળ બધા દ્રવ્યને પ્રધાન અને પર્યાયને ગૌણ વિવક્ષિત કરીને દ્રવ્યને ગૌણતા પ્રદાન કરે છે તે બને અશો પૈકી કોઇ પણ એક અશનો નિષેધ કરતો નથી આ પ્રકારે અનેકાન્તવાદના મતે પદાર્થો અનેકધર્માત્મક છે કહ્યુ પણ છે—

આ વિશ્વ સર્વ અશાત્મક છે, અર્થાત્ સસારના બધા પદાર્થ અનેક ધર્મોથી યુક્ત છે તોપણ કયારેક કોઈ ધર્મની વિવક્ષા કરવામા આવે છે વળી કહ્યુ પણ છે—

આ જગમ અને સ્થાવર જગત્ પ્રતિક્ષણે ધ્રૌવ્ય ઉત્પાદ અને વિનાશથી યુકત છે અર્થાત જગતના પ્રત્યેક પદાર્થમા આ ત્રણે ધર્મ એક સાથે રહે છે હે જિનેશ્વર ! વકતાઓમા શ્રેષ્ઠ આપના આ વચન આપની સર્વજ્ઞતાના ચિહ્ન છે

રૂપાદિથી ભિન્ન 'મૃત્તિકાદ્રવ્ય' એ રીતે એક વસ્તુ રૂપથી જે ચાક્ષુષ પ્રતીતિ થાય છે, તેનો નિષેધ કરી શકાતો નથી, એવો જે કોઈનો મત છે તે ખડિત થઇ જાય છે, કારણ કે તે કેવળ દ્રવ્યનુ જ સાધક છે તેઓએ અનેકાન્તવાદની પ્રક્રિયાને સમજી નથી અનેકાન્તવાદમાં રૂપ વગેરે ગુણોથી સર્વથા ભિન્ન દ્રવ્ય કશુ પણ નથી. ત્યા તો ભેદ અને અભેદ-બને જ સ્વીકારાયા-છે-વળી કહ્યુ પણ છે—

પર્યાયોથી રહિત દ્રવ્ય અને પર્યાયોથી રહિત પર્યાય ક્યા, ક્યારે, ક્યા સ્વરૂપે, ક્યા પ્રમાણુથી જોયાં છે ? અર્થાત્ કદી જોઈ જ શકાતા નથી જ્યા દ્રવ્ય છે ત્યા પર્યાયોની સત્તા અને જ્યા પર્યાય છે ત્યા દ્રવ્યની સત્તા અવશ્ય હોય છે

વિશેષોથી રહિત, સામાન્ય રૂપ ધ્રૌવ્ય અ શ એકલુ ગ્રહણુ કરી શકાતુ નથી અને ન તો સામાન્ય અ શ વગર વિશેષ અ શ જ કદી પણુ ગ્રહણુ કરી શકાય છે આથી ધ્રૌવ્યરૂપ સામાન્ય અવશ્ય સ્વીકારવો જોઈએ અને વિશેષ અ શનો પણુ અવશ્ય અ ગીકાર કરવો જોઈએ

બધા પદાર્થો હ મેશ સરખા હોતા નથી જો તે સરખા હોત તો તેમનામા કોઈ પણુ પ્રકારની અસમાનતા થઈ જ ન શકે, આવી પરિસ્થિતિમા એક વસ્તુ બીજી વસ્તુથી જુદી કેવી રીતે પ્રતીત થશે ? તેમનામા કોઈ પણુ રૂપમા ભેદ તો છે નહી તો પછી ભેદ પ્રતીતિનુ કારણુ શુ છે ?

આથી જે વિદ્વાન ભેદનો સ્વીકાર કરે છે તેણે કોઈ, ન કોઈ રૂપમા વિરૂપતા, ઉત્પાત અને બીજા પણુ અવશ્ય અ ગિકાર કરવા જોઈએ અને બધા પદાર્થો હમેશા સામાન્ય વિશેષાત્મક જ છે એવુ માનવુ જોઈએ

સામાન્ય અને વિશેષના લક્ષણુમાં ભેદ હોવા છતા પણુ બ નેમાં સર્વથા ભેદ નથી કારણુ તેઓ વસ્તુથી અભિન્ન છે એક વસ્તુને જો વસ્તુત્વની અપેક્ષાએ પણુ બીજી વસ્તુથી સમાન ન મનવામા આવે તો એક વસ્તુ અવસ્તુ થઈ જાય અને તદવિનાભાવી હોવાથી બીજી વસ્તુનો પણુ અભાવ થઈ જશે

આવા સ જોગોમા સર્વશૂન્યતાની મુશ્કેલી આવશે અર્થાત્ કોઈપણુ વસ્તુની સત્તા સાબીત થશે નહી સર્વશૂન્યતા અભીષ્ઠ નથી આથી સર્વશૂન્યતાના ભયથી સામાન્ય અને વિશેષમા કથ ચિત્ વસ્તુત્વની દૃષ્ટિથી પણુ સરખામણી સ્વીકારવી જોઈએ આથી એ સાબીત થયુ કે બધા પદાર્થ સામાન્ય વિશેષ સ્વભાવવાળા છે સામાન્ય અને વિશેષમા પરસ્પર સ્વભાવ વિરહનો અભાવ હોવાથી, એકરૂપતા હોવાથી પણુ ધર્મભેદની સિદ્ધિ હોવાનુ કારણુ સમસ્ત વ્યવહારોની સિદ્ધિ થઈ જાય છે

આવી રીતે એ સાબિત થયુ કે ઉત્પાદ વ્યય અને ધ્રૌવ્યરૂપ સત્ દ્રવ્યનુ લક્ષણુ છે

સ્થાનાગસૂત્રમા સ્થાન ૧૦માં કહ્યુ છે—'વસ્તુ ઉત્પન્ન પણુ થાય છે, નાશ પણુ પામે છે અને કાયમ પણુ રહે છે ॥ ૨૫ ॥

'तब्भाववयं निच्चं' ॥२६॥

મૂળસૂત્રાર્થ—વસ્તુનુ પોતાના મૂળસ્વરૂપથી નષ્ટ ન થવુ નિત્યત્વ છે

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વ સૂત્રમા કહેવામા આવ્યુ છે કે ઉત્પાદ વ્યય અને ધ્રૌવ્ય સ્વભાવવાળી વસ્તુ જ સત્ છે અહી ધ્રૌવ્યનો અર્થ નિત્યત્વ છે આથી નિત્યનુ લક્ષણુ કહીએ છીએ જે વસ્તુ જે સ્વભાવમા પહેલા જોવાય છે તે જ સ્વભાવમા તે પુન પણુ જોઈ શકાય છે "આ તે જ વસ્તુ છે' એ પ્રકારનુ પ્રત્યભિજ્ઞાન થાય છે

પહેલા દેખાએલી વસ્તુ જ્યારે પુન આખોની સામે આવે છે ત્યારે "તે આ જ છે" એ પ્રકારનુ પ્રત્યક્ષ અને સ્મરણુના જોડાણુ રૂપ જે જ્ઞાન ઉત્પન્ન થાય છે, તે પ્રત્યભિજ્ઞાન કહેવાય

છે તે પ્રત્યભિજ્ઞાન નિર્હેતુક થઇ શકાતુ નથી આથી પ્રત્યભિજ્ઞાનનુ જે કારણ છે તે 'તદ્ભાવ' કહેવાય છે દા ત ઘડો, દારૂ ઉદચન વગેરેનો મૃત્પિન્ડભાવ, કટક, વલય, કુડળ આદિનુ સુવર્ણદ્રવ્ય તદ્ભાવ અર્થાત્ મૃત્પિન્ડ અગર સુવર્ણ આદિ રૂપથી વ્યય-વિનાશ ન થવો અવ્યય અર્થાત્ નિત્ય કહેવાય છે

ઘડા વગેરેમા તથા કુડળ વગેરેમા માટીનો પિન્ડો તથા સોનુ વગેરે નિત્ય છે એ ચોક્કસ થાય છે માટીના પિન્ડથી ઉત્પન્ન થનાર ઘટ પર્યાય ગૌણ છે અને મૃત્પિન્ડભાવ પ્રધાન છે આથી મૃત્તિકાપિન્ડભાવથી ઘડો વગેરે વસ્તુ નિત્ય કહેવાય છે તેની નિત્યતા દ્રવ્યાર્થિક નયથી જ કદાચિત્ જાણવી જોઇએ હમેશા નિત્યતાનો સ્વીકાર કરવાથી તો અન્યથારૂપ થવાનો-પર્યાયનો અભાવ જ થઈ જશે આવી સ્થિતિમા આત્માને સર્વથા નિત્ય માની લેવાથી નર, નારકી, આદિ રૂપથી સસાર અને તેની નિવૃત્તિરૂપ મોક્ષ પણ ઘટિત થઇ શકશે નહી પછી તો સસારના સ્વરૂપનુ કથન અને મોક્ષના સ્વરૂપનુ કથન પણ વિરુદ્ધ થઇ જશે આથી વસ્તુને કથચિત્ નિત્ય જ માનવી જોઈએ ॥ ૨૯ ॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પૂર્વસૂત્રમા, સત્ ઉત્પાદ્ વ્યય અને ધ્રૌવ્યથી યુક્ત હોય છે એ બતાવ્યુ તેમાથી આકાશ આદિ સત વસ્તુ નિત્ય છે અને ઘટ આદિ સત્ અનિત્ય છે આ રીતે સત્ પદાર્થોમાં નિત્યતા અને અનિત્યતા-બને જોવાથી ઉત્પન્ન થનાર સદેહનુ નિવારણ કરવા માટે કહીએ છીએ-અથવા આ જ બીજા અધ્યાયના ત્રીજા સૂત્ર **"णिच्चा वट्टिया रूवाइं"** માં 'નિત્ય' કહેલ છે, ત્યાં સર્વ સત્ નિત્ય નથી કારણ કે સ્વરૂપનુ ગ્રહણ કરેલ છે આવી સ્થિતિમા રૂપી વસ્તુની અનિત્યતા પ્રતીત થવા લાગે છે આથી સમસ્ત સત્ પદાર્થ ન નિત્ય અથવા ન અનિત્ય કહી શકાય છે આથી ધ્રૌવ્ય રૂપ અશની અપેક્ષાથી રૂપી વસ્તુ પણ કથચિત નિત્ય છે એ આશયને પ્રકટ કરવા માટે કહે છે—

'तब्भावव्वयं निच्चं' આ સૂત્રમાં તત્ શબ્દથી-સતનુ ગ્રહણ કરવુ જોઈએ સત્ વસ્તુનો ભાવ 'તદ્ભાવ' કહેવાય છે તે સત્ વસ્તુ માટી જ શરાવ ઉદચન કપાલ-ઘડા વગેરે રૂપમા અને સુવર્ણ જ કટક વલય કુંડળ આદિ રૂપમા તથા જીવ જ દેવ વગેરેના રૂપમા હોય છે એવુ કદી થતુ નથી કે પોતાના મૂળ સ્વભાવ મૃત્તિકા-પિન્ડત્વ સુવર્ણત્વ અને જીવત્વનો ત્યાગ કરીને તે બીજા રૂપમા પરિણત થઈ જાય કારણ કે ઘટ કુન્ડલ અને દેવ વગેરેમાં મૃત્પિન્ડ સુવર્ણ અને જીવ તત્વનો-અન્વય જોવાય છે આથી ઘટ આદિ સદ્ વસ્તુ પોતાના મૌલિક સ્વભાવથી વિનષ્ટ થતી નથી આ જ તેની નિત્યતા છે

જો એવુ ન માનીએ તો સત ઉત્પાદ વ્યય અને ધ્રૌવ્યથી યુક્ત હોય છે, આ સતનુ લક્ષણ અવ્યાપક થઇ જાય કારણ કે ઘટ આદિમાં ઉત્પાદ અને વ્યય રૂપ પર્યાય જ માનવાથી ધ્રૌવ્ય અશનુ ગ્રહણ થશે નહી આ કારણે રૂપાદિમાન ઘટ આદિ સત્ વસ્તુ પણ માટી વગેરેનો અન્વય હોવાથી ધ્રૌવ્ય અશવાળી છે અને ઉત્પાદ્ વ્યય અને ધ્રૌવ્ય લક્ષણથી યુક્ત છે આથી ધ્રૌવ્ય અશની અપેક્ષાથી કથચિત્ નિત્ય કહેવાય છે આ સૂત્રમા ગૃહીત નિત્ય શબ્દથી પૂર્વસૂત્રમા કથિત ધ્રૌવ્ય અશ સમજવાં જોઈએ દ્રવ્યનો તે અન્વયી અશ કદાપી અને ક્યાય પણ નષ્ટ થતો નથી

કોઇ પણુ વસ્તુ સત્ રૂપથી ઉત્પન્ન થતી નથી તેમજ નાશ પણુ થતી નથી આથી સૂત્રમાં ભાવ શબ્દના ગ્રહણથી પરિણામી નિત્યતા જ સમજવી જોઇએ, કૂટસ્થનિત્યતા નહીં જો કૂટસ્થ નિત્યતા જ ગ્રહણુ કરવાની હોત તો “तदव्ययं नित्यम्” એવુ સૂત્ર હોત

જે વસ્તુમા કોઈ પણુ રૂપમા વિકાર થતો નથી તે નિત્યત્વરૂપ જ હોય છે એવી જ રીતે બધી અન્વયી મૃત્પિન્ડ તથા સુવર્ણ આદિનુ ઉપલક્ષણુ જાણવુ જોઈએ સત્ત્વ છએ દ્રવ્યોમાં વ્યાપક સત્ત્વ’ જ છે જીવ સત્ છે તે પોતાના ચૈતન્ય અમૂર્ત્તત્વ અસખ્યાતપ્રદેશત્વ સ્વભાવને પરિત્યાગ કરતો નથી પોતાના આ ગુણધર્મોથી તેનો કોઇ કાળે નાશ થયો નથી, નાશ પામતો નથી અને નાશ પામશે નહી આથી જ જીવ અવિનાશી, નિત્ય અને અવ્યય કહેવાય છે પરતુ એમ સમજવાની ભૂલ ન કરવી કે જીવ દેવ નારક આદિ પર્યાયની દૃષ્ટિથી પણુ નિત્ય છે એવી જ રીતે પુદ્ગલ દ્રવ્ય સત્વ મૂર્ત્તત્વ, અચેતનત્વ ધર્મોનો પરિત્યાગ કરતુ નથી અથી તેમા નિત્યતા છે. ઘટ આદિ પર્યાયોની અપેક્ષાથી નિત્યતા નથી

ધર્મદ્રવ્ય સત્ત્વ અમૂર્ત્તત્વ અસખ્યેય પ્રદેશત્વ લોકવ્યાપિત્વ વગેરે ધર્મોનો પરિત્યાગ ન કરતો થકો હમેશા સ્થિર રહે છે, પર્યાયની દૃષ્ટિથી નહી અર્થાત્ પરમાણુ અગર યજ્ઞદત્તની ગતિમા નિમિત્ત હોવા રૂપ પર્યાયની અપેક્ષાથી તેમા નિત્યતા નથી ગમનકર્તાના ભેદથી ગતિ ઉપકારિત્વ પણુ ભિન્ન થતુ રહે છે અર્થાત્ તેના પૂર્વાપર પર્યાયોમા પરિવર્તન થતુ રહે છે એવી જ રીતે અધર્મ ‘દ્રવ્ય પણુ સત્ત્વ અમૂર્ત્તત્વ આદિ ધર્મોનો કદી પરિત્યાગ ન કરવાના કારણે નિત્ય છે પરતુ વિભિન્ન પદાર્થોની સ્થિતિમાં નિમિત્ત બનવા રૂપ પર્યાયોની અપેક્ષાથી અનિત્ય છે

આકાશ સત્ત્વ અમૂર્ત્તત્વ અનન્તપ્રદેશિત્વ અવગાહના આદિ ગુણોને કારણે નિત્ય છે પરતુ અવગાહક વસ્તુઓના ભેદના કારણે તેના અવગાહમાન પરિણામમાં પણુ ભેદ થતો રહે છે એ દૃષ્ટિએ તે અનિત્ય છે અલોકાકાશમા જીવપુદ્ગલ વગેરે અવગાહક નથી તો પણુ ત્યાં અગુરૂ-લઘુ વગેરે પર્યાય ભિન્નાભિન્ન હોય છે જો એવુ ન માનીએ તો અલોકાકાશમાં સ્વત ઉત્પાદ તથા વ્યય થશે નહી તેમજ ન પરાપેક્ષ થશે આવી સ્થિતિમા ત્યા ઉત્પાદ વ્યય અને ધ્રૌવ્ય ન હોવાથી સતનુ લક્ષ્ય પણુ ઘટિત થશે નહી આથી જે પદાર્થ સત્ ભાવથી નષ્ટ થયો નથી, થતો નથી અને થશે નહી તે જ નિત્ય કહેવાય છે,

અથવા—ક્ષણુ-ક્ષણુમા વિવિધ પ્રકારના પરિણુમન થતા રહેવા છતા પણુ વસ્તુનુ પોતાના મૂળ અસ્તિત્ત્વથી અર્થાત્ ધ્રૌવ્ય રૂપ અ શથી ન ખસવું નિત્યત્વ કહેવાય છે

શ કા—ઉત્પત્તિ અને વિનાશ પર્યાય દ્રવ્યથી અભિન્ન છે આથી પર્યાયનો વિનાશ થવાથી દ્રવ્યનો પણુ વિનાશ થઈ જવો જોઈએ

સમાધાન—જો ઘટ પર્યાયનો વિનાશ થવા પર માટીનો પણુ વિનાશ જોઈ શકાત અને માટીનો વિનાશ થવા પર પુદ્ગલ દ્રવ્યનો પણુ નાશ થઈ જાત તો આ પ્રમાણે કહી શકાત પરતુ એવુ તો દેખાતુ નથી અન્વયી માટીનો અથવા પુદ્ગલજાતિનો કોઈ પણુ અવસ્થામા અભાવ જોઈ શકાતો નથી કારણુ કે તેનુ તો હતુ તે જ નામ કાયમ રહે છે, તેનુ જ્ઞાન પણુ થતુ રહે છે અને મૃત્તિકામાધ્ય વ્યવહાર પણુ થતો રહે છે જો ‘ઘડાનો અભાવ થયા પછી કશુ પણુ ઉપલબ્ધ ન થાત તો બુદ્ધિમાન પુરૂષ વિશ્વાશ કરી લેત કે પર્યાયનો અભાવ થવાથી

દ્રવ્યનો પણ અભાવ થઈ જાય છે પરંતુ પર્યાયની નિવૃત્તિ થઈ જવા છતા પણ માટીનો મદ્ ભાવ કાયમ રહે છે આથી દ્રવ્યનો વિનાશ હોવાનુ સ્વીકારી શકાય નહી જ્યા પ્રત્યક્ષથી વિરોધ આવતો હોય ત્યા દલીલ માટે કોઈ અવકાશ રહેતો નથી આ રીતે યુકિત (દલીલ) અને આગમ પ્રમાણથી 'तद्भावव्ययं नित्यम्' એ સાબીત થયુ.'

વ્યાખ્યાપ્રજ્ઞપ્તિ—(ભગવતી) સૂત્રના શતક ૧૪, ઉદ્દેશક ૪મા કહ્યુ છે

પ્રશ્ન—ભગવત ! પરમાણુ પુદ્ગલ શાશ્વત છે કે અશાશ્વત ?

ઉત્તર—ગૌતમ ! દ્રવ્યની અપેક્ષાથી કવચિત્ શાશ્વત છે અને વર્ણ પર્યાય અને સ્પર્શ પર્યાયથી કવચિત્ અશાશ્વત છે આ પ્રકારે જીવાભિગમ ના ૩. ત્રીજી પ્ર ઉ ૧ સૂત્ર ૭૭મા પણ કહ્યુ છે-

પ્રશ્ન—ભગવત ? પરમાણુ પુદ્ગલ શુ શાશ્વત છે અથવા અશાશ્વત છે—

ઉત્તર—ગૌતમ-દ્રવ્યની અપેક્ષાથી શાશ્વત છે—અથવા નિત્ય છે અને વર્ણ પર્યાય રસ પર્યાય, ગધ પર્યાય, અને સ્પર્શ પર્યાયની અપેક્ષાથી અશાશ્વત અનિત્ય છે ભગવતી સૂત્ર શ ૭ ઉ૦ ૨ મા પણ કહ્યુ છે.

પ્રશ્ન—ભગવત ! જીવ શાશ્વત છે અથવા અશાશ્વત છે ?

ઉત્તર—ગૌતમ-કવચિત-શાશ્વત છે કવચિત્ અશાશ્વત છે-

પ્રશ્ન—ભગવત ! કયા હેતુથી એવુ કહેવામાં આવ્યુ છે કે જીવ કવચિત્ શાશ્વત અને કવચિત્ અશાશ્વત છે ?

ઉત્તર—ગૌતમ ! દ્રવ્યની દૃષ્ટિથી શાશ્વત છે અને ભાવ અર્થાત્ પર્યાયની દૃષ્ટિથી અશાશ્વત છે હે ગૌતમ ! આ હેતુથી એમ કહેવામા આવ્યુ છે કે જીવ કવચિત્ શાશ્વત કવચિત્ અશાશ્વત છે

પ્રશ્ન—ભગવત ! નૈરયિકજીવ શુ શાશ્વત છે ? કે અશાશ્વત ?

ઉત્તર—જેવુ જીવોના વિષયમા કહેવામાં આવ્યું છે તે રીતે નૈરયિકોના વિષયમા સમજવુ એવી જ રીતે વૈમાનિકો તથા ચોવીસે દડકોના જીવોના સબધમાં સમજી લેવુ જોઇએ કે બધા કથચિત્ નિત્ય અને કથચિત્ અનિત્ય છે ॥ ૨૬ ॥

'अप्पियणप्पियएहिं अणेगंतं' ॥२७॥

મૂળ સૂત્રાર્થ—પ્રધાનતા અને અપ્રધાનતાની વિવક્ષા કરવાથી અનેકાન્તની સિદ્ધિ થાય છે. ॥ ૨૭ ॥

તત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમાં એ પ્રતિપાદન કર્યું કે ઘટ વગેરે પ્રત્યેકવસ્તુ પર્યાયાર્થિક નયથી ઉત્પાદ અને વ્યયથી યુકત હોવાના કારણે અનિત્ય હોવા છતા પણ દ્રવ્યાર્થિક નયની અપેક્ષા મૃતિકા દ્રવ્યનો અન્વય હોવાના કારણે નિત્ય પણ છે પરતુ આ કથન પરસ્પર વિરુદ્ધ જેવુ પ્રતીત થાય છે જે વસ્તુ અનિત્ય છે તે જ નિત્ય કેવી રીતે હોઇ શકે ભલા ? જો નિત્ય છે તો વિનાશ અને ઉત્પાદનુ હોવુ અસભવ છે અને જો અનિત્ય છે તો કાયમ ન રહેવાના કારણે નિત્યતામા વિરોધ આવે છે આ આ શકાનુ સમાધાન કરવાના આશયથી કહીએ છીએ-

કોઇ પણ વસ્તુ સત્ રૂપથી ઉત્પન્ન થતી નથી તેમજ નાશ પણ થતી નથી આથી સૂત્રમાં ભાવ શબ્દના ગ્રહણથી પરિણામી નિત્યતા જ સમજવી જોઇએ, કૂટસ્થનિત્યતા નહી જો કૂટસ્થ નિત્યતા જ ગ્રહણ કરવાની હોત તો "तदव्ययं नित्यम्" એવુ સૂત્ર હોત

જે વસ્તુમા કોઈ પણ રૂપમા વિકાર થતો નથી તે નિત્યત્વરૂપ જ હોય છે એવી જ રીતે બધી અન્વયી મૃત્પિન્ડ તથા સુવર્ણ આદિનુ ઉપલક્ષણ જાણવુ જોઈએ સત્ત્વ છએ દ્રવ્યોમા વ્યાપક સત્ત્વ' જ છે જીવ સત્ છે તે પોતાના ચૈતન્ય અમૂર્ત્તત્વ અસખ્યાતપ્રદેશત્વ સ્વભાવનો પરિત્યાગ કરતો નથી પોતાના આ ગુણધર્મોથી તેનો કોઇ કાળે નાશ થયો નથી, નાશ પામતો નથી અને નાશ પામશે નહી આથી જ જીવ અવિનાશી, નિત્ય અને અવ્યય કહેવાય છે પરતુ એમ સમજવાની ભૂલ ન કરવી કે જીવ દેવ નારક આદિ પર્યાયની દૃષ્ટિથી પણ નિત્ય છે એવી જ રીતે પુદ્‌ગલ દ્રવ્ય સત્વ ભૂર્ત્તત્વ, અચેતનત્વ ધર્મોનો પરિત્યાગ કરતુ નથી અથી તેમા નિત્યતા છે. ઘટ આદિ પર્યાયોની અપેક્ષાથી નિત્યતા નથી

ધર્મદ્રવ્ય સત્ત્વ અમૂર્ત્તત્વ અસખ્યેય પ્રદેશત્વ લોકવ્યાપિત્વ વગેરે ધર્મોનો પરિત્યાગ ન કરતો થકો હમેશા સ્થિર રહે છે, પર્યાયની દૃષ્ટિથી નહી અર્થાત્ પરમાણુ અગર યજ્ઞદત્તની ગતિમા નિમિત્ત હોવા રૂપ પર્યાયની અપેક્ષાથી તેમા નિત્યતા નથી ગમનકર્તાના ભેદથી ગતિ ઉપકારિત્વ પણ ભિન્ન થતુ રહે છે અર્થાત્ તેના પૂર્વાપર પર્યાયોમા પરિવર્તન થતુ રહે છે એવી જ રીતે અધર્મ દ્રવ્ય પણ સત્ત્વ અમૂર્ત્તત્વ આદિ ધર્મોનો કદી પરિત્યાગ ન કરવાના કારણે નિત્ય છે પરતુ વિભિન્ન પદાર્થોની સ્થિતિમા નિમિત્ત બનવા રૂપ પર્યાયોની અપેક્ષાથી અનિત્ય છે

આકાશ સત્ત્વ અમૂર્ત્તત્વ અનન્તપ્રદેશિત્વ અવગાહના આદિ ગુણોને કારણે નિત્ય છે પરતુ અવગાહક વસ્તુઓના ભેદના કારણે તેના અવગાહમાન પરિણામમાં પણ ભેદ થતો રહે છે એ દૃષ્ટિએ તે અનિત્ય છે અલોકાકાશમાં જીવપુદ્‌ગલ વગેરે અવગાહક નથી તો પણ ત્યાં અગુરૂ-લઘુ વગેરે પર્યાય ભિન્નાભિન્ન હોય છે જો એવુ ન માનીએ તો અલોકાકાશમા સ્વત ઉત્પાદ તથા વ્યય થશે નહી તેમજ ન પરાપેક્ષ થશે આવી સ્થિતિમાં ત્યા ઉત્પાદ વ્યય અને ધ્રૌવ્ય ન હોવાથી સતનુ લક્ષ્ય પણ ઘટિત થશે નહી આથી જે પદાર્થ સત્ ભાવથી નષ્ટ થયો નથી, થતો નથી અને થશે નહી તે જ નિત્ય કહેવાય છે,

અથવા—ક્ષણ-ક્ષણમા વિવિધ પ્રકારના પરિણમન થતા રહેવા છતા પણ વસ્તુનુ પોતાના મૂળ અસ્તિત્વથી અર્થાત્ ધ્રૌવ્ય રૂપ અશથી ન ખસવુ નિત્યત્વ કહેવાય છે

શકા—ઉત્પત્તિ અને વિનાશ પર્યાય દ્રવ્યથી અભિન્ન છે આથી પર્યાયનો વિનાશ થવાથી દ્રવ્યનો પણ વિનાશ થઈ જવો જોઈએ

સમાધાન—જો ઘટ પર્યાયનો વિનાશ થવા પર માટીનો પણ વિનાશ જોઈ શકાત અને માટીનો વિનાશ થવા પર પુદ્‌ગલ દ્રવ્યનો પણ નાશ થઈ જાત તો આ પ્રમાણે કહી શકાત પરતુ એવુ તો દેખાતુ નથી અન્વયી માટીનો અથવા પુદ્‌ગલજાતિનો કોઈ પણ અવસ્થામા અભાવ જોઈ શકાતો નથી કારણ કે તેનું તો હતુ તે જ નામ કાયમ રહે છે, તેનુ જ્ઞાન પણ થતુ રહે છે અને મૃત્તિકાસાધ્ય વ્યવહાર પણ થતો રહે છે જો ઘડાનો અભાવ થયા પછી કશુ પણ ઉપલબ્ધ ન થાત તો બુદ્ધિમાન પુરૂષ વિશ્વાસ કરી લેત કે પર્યાયનો અભાવ થવાથી

દ્રવ્યનો પણ અભાવ થઈ જાય છે પરંતુ પર્યાયની નિવૃત્તિ થઈ જવા છતા પણ માટીનો સદ્‌ભાવ કાયમ રહે છે આથી દ્રવ્યનો વિનાશ હોવાનુ સ્વીકારી શકાય નહી જ્યા પ્રત્યક્ષથી વિરોધ આવતો હોય ત્યા દલીલ માટે કોઈ અવકાશ રહેતો નથી આ રીતે યુક્તિ (દલીલ) અને આગમ પ્રમાણથી **'तद्भावव्ययं नित्यम्'** એ સાબીત થયુ '

વ્યાખ્યાપ્રજ્ઞપ્તિ—(ભગવતી) સૂત્રના શતક ૧૪, ઉદ્દેશક ૪મા કહ્યુ છે

પ્રશ્ન—ભગવત ! પરમાણુ પુદ્ગલ શાશ્વત છે કે અશાશ્વત ?

ઉત્તર—ગૌતમ ! દ્રવ્યની અપેક્ષાથી કવચિત્ શાશ્વત છે. અને વર્ણ પર્યાય અને સ્પર્શ પર્યાયથી કવચિત્ અશાશ્વત છે આ પ્રકારે જીવાભિગમ ના. ૩ ત્રીજી પ્ર ઉ ૧. સૂત્ર ૭૭માં પણ કહ્યુ છે-

પ્રશ્ન—ભગવત ? પરમાણુ પુદ્ગલ શુ શાશ્વત છે અથવા અશાશ્વત છે—

ઉત્તર—ગૌતમ-દ્રવ્યની અપેક્ષાથી શાશ્વત છે-અથવા નિત્ય છે અને વર્ણ પર્યાય રસ પર્યાય, ગધ પર્યાય, અને સ્પર્શ પર્યાયની અપેક્ષાથી અશાશ્વત અનિત્ય છે ભગવતી સૂત્ર શ ૭ ઉ૦ ૨ માં પણ કહ્યુ છે.

પ્રશ્ન—ભગવત ! જીવ શાશ્વત છે અથવા અશાશ્વત છે ?

ઉત્તર—ગૌતમ-કવચિત-શાશ્વત્ છે કવચિત્ અશાશ્વત છે-

પ્રશ્ન—ભગવત ! કયા હેતુથી એવુ કહેવામાં આવ્યુ છે કે જીવ કવચિત્ શાશ્વત અને કવચિત્ અશાશ્વત છે ?

ઉત્તર—ગૌતમ ! દ્રવ્યની દૃષ્ટિથી શાશ્વત છે અને ભાવ અર્થાત્ પર્યાયની દૃષ્ટિથી અશાશ્વત છે હે ગૌતમ ! આ હેતુથી એમ કહેવામાં આવ્યુ છે કે જીવ કવચિત્ શાશ્વત કવચિત્ અશાશ્વત છે

પ્રશ્ન—ભગવત ! નૈરયિકજીવ શુ શાશ્વત છે ? કે અશાશ્વત ?

ઉત્તર—જેવુ જીવોના વિષયમા કહેવામાં આવ્યુ છે તે રીતે નૈરયિકોના વિષયમા સમજવુ એવી જ રીતે વૈમાનિકો તથા ચોવીસે દડકોના જીવોના સબધમા સમજી લેવુ જોઇએ કે બધા કથચિત્ નિત્ય અને કથચિત્ અનિત્ય છે ॥ ૨૬ ॥

'अप्पियणप्पियएहिं अणेगंतं' ॥२७॥

મૂળ સૂત્રાર્થ—પ્રધાનતા અને અપ્રધાનતાની વિવક્ષા કરવાથી અનેકાન્તની સિદ્ધિ થાય છે ॥ ૨૭ ॥

તત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમાં એ પ્રતિપાદન કર્યું કે ઘટ વગેરે પ્રત્યેકવસ્તુ પર્યાયાર્થિક નયથી ઉત્પાદ અને વ્યયથી યુક્ત હોવાના કારણે અનિત્ય હોવા છતા પણ દ્રવ્યાર્થિક નયની અપેક્ષા મૃત્તિકા દ્રવ્યનો અન્વય હોવાના કારણે નિત્ય પણ છે પરંતુ આ કથન પરસ્પર વિરુદ્ધ જેવુ પ્રતીત થાય છે જે વસ્તુ અનિત્ય છે તે જ નિત્ય કેવી રીતે હોઇ શકે ભલા ? જો નિત્ય છે તો વિનાશ અને ઉત્પાદનુ હોવુ અસભવ છે અને જો અનિત્ય છે તો કાયમ ન રહેવાના કારણે નિત્યતામા વિરોધ આવે છે આ આ શકાનુ સમાધાન કરવાના આશયથી કહીએ છીએ-

કોઈ ધર્મની મુખ્ય રૂપથી વિવક્ષા કરવાથી અને કોઇ ધર્મની અપ્રધાન રૂપથી વિવક્ષા કરવાથી અનેકાન્તની સિદ્ધિ થાય છે

પ્રત્યેક વસ્તુ અનેક ધર્મોનો અખન્ડ પિન્ડ છે તેમાથી પોતાની વિવક્ષા અનુસાર જે કોઈ ધર્મને વિવક્ષિત કરે છે તે ધર્મ અર્પિત કહેવાય છે અને બાકીનો ધર્મ વિદ્યમાન હોવા છતા પ્રયોજન ન હોવાને કારણે કહેવામા ન આવે ત્યારે તે અનર્પિત કહેવાય છે આ રીતે અર્પિત અને અનર્પિતથી અર્થાત્ ધર્મોને મુખ્ય અને ગૌણ કરવાથી વસ્તુ અનેક ધર્માત્મક સિદ્ધ થાય છે આ કારણથી જ તે નિત્ય પણ છે અને અનિત્ય પણ છે આથી પૂર્વોક્ત વિરોધનુ ખ ડન થઇ જાય છે

તે આ રીતે છે—કોઈ પુરુષ બાપ કહેવાય છે તે પોતાના પુત્રની અપેક્ષાથી બાપ છે પર તુ તે બાપનો પણ કોઈ બાપ હોય છે તેની અપેક્ષાથી તે બાપ પુત્ર પણ કહેવાય છે આની સાથે જ પિતા અને પુત્ર કહેવરાવવાળો પુરુષ પોતાના ભાઇની અપેક્ષાથી ભાઈ પણ કહેવાય છે એ જ રીતે પોતાના દાદાથી અપેક્ષાથી પૌત્ર મામાની અપેક્ષાથી ભાણીયો અને દાદીમાની અપેક્ષાથી દોહિત્ર કહેવાય છે-આમ એક જ પુરુષમાં જનક અને જન્મ વગેરેનો આ વ્યવહાર પરસ્પર વિરૂદ્ધ જેનો ભાસે છે તો પણ હકીકતમા તે વિરૂદ્ધ નથી

આવી જ રીતે એક જ ઘડો અગર પાટલો વગેરે માટી વગેરે સામાન્યની વિવક્ષા કરવાથી નિત્ય કહેવાય છે, પણ ઘડો વગેરે પર્યાયોની વિવક્ષા કરવાથી પર્યાયાર્થિક-નયની અપેક્ષાથી અનિત્ય પણ કહેવાય છે આત્મા નિત્ય હોવા છતા પણ પર્યાયનયથી અનિત્ય પ્રતીત થાય છે આ કારણથી જ તેમા 'મૃત' જેવો વ્યવહાર થાય છે

તે સામાન્ય અને વિશેષ જે ક્રમશ દ્રવ્યાર્થિક અને પર્યાયાર્થિક નયના વિષય છે, કથ-ચિત્ અભેદ અને ભેદ દ્વારા વ્યવહારના હેતુ હોય છે કહ્યુ પણ છે–

પરિણમનનો અર્થ છે અર્થાન્તર થવો અર્થાત્ એક પર્યાયનો નાશ થઈ બીજા પર્યાયનુ ઉત્પન્ન થવુ પરિણમનના સ્વરૂપના જ્ઞાતા વિદ્વાન વસ્તુનુ હમેશા જેમનુ તેમ ટકી રહેવુ અથવા સર્વથા વિનષ્ટ થઈ જવાને પરિણામ માનતા નથી

આ રીતે અર્પિત અને અનર્પિતની સિદ્ધિ થવાથી એક જ પદાર્થમા નિત્યતા વગેરે ઘણા ધર્મો જે પરસ્પર વિરુદ્ધ જેવા પ્રતીત થાય છે પર તુ હકીકતમા વિવક્ષાભેદના કારણે વિરુદ્ધ નથી, પ્રતિભાસિત થાય છે ॥ ૨૭ ॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પહેલા બતાવ્યુ કે સમસ્ત વસ્તુઓ ઉત્પાદ વ્યય અને ધ્રૌવ્ય સ્વભાવવાળી છે આ સ બ ધમા પ્રશ્ન એ ઉપસ્થિત થાય છે કે જે વસ્તુ ઉત્પાદ અને વિનાશ-વાળી છે તે ધ્રૌવ્ય સ્વભાવવાળી અર્થાત્ નિત્ય કેવી રીતે હોઈ શકે ? અગર વસ્તુ સત્ છે તો અસત્ થઇ શકતી નથી અને જો નિત્ય છે તો અનિત્ય થઈ શકતી નથી આથી વસ્તુનુ પૂર્વોક્ત સ્વરૂપ સિદ્ધ કરી શકાતુ નથી અને આ કારણે તે સ ગત નથી—

ઉત્પાદ અને વ્યયનો નિત્યતા સાથે વિરોધ છે અને નિત્યતાનો ઉત્પાદ અને વ્યય સાથે વિરોધ છે જેમ પાણી અને અગ્નિ અથવા છાયડો અને તડકો પરસ્પરમા અત્યન્ત વિરુદ્ધ છે તે જ રીતે ધ્રૌવ્યની સાથે ઉત્પાદ-વ્યયનો વિરોધ છે તેઓ એક જગ્યામા રહી શકતા નથી

આ સ જોગોમા વસ્તુનુ લક્ષણ ઉત્પાદ વ્યય અને ધ્રૌવ્ય કહેવુ વિદ્વત્ જનો માટે મનોરંજક હોઈ શકતું નથી આ શ કાનુ સમાધાન કરવા માટે દ્રવ્યાર્થિક તથા પર્યાયાર્થિક નય અનુસાર કોઈ ધર્મને પ્રધાન અને કોઈને અપ્રધાન વિવક્ષિત કરીને એક જ વસ્તુમા સત્તા, અસત્તા, નિત્યતા અને અનિત્યતાનો સદ્ભાવ બતાવીને ઉક્ત વિરોધનું ખ ડન કરીએ છીએ

પ્રધાન અને અપ્રધાન રૂપથી વિવક્ષા કરવાથી અર્થાત્ કોઇ ધર્મને પ્રધાન રૂપમા અને કોઈને ગૌણ રૂપમા વિવક્ષિત કરવાથી એક જ વસ્તુ અનેકાન્તાત્મક-થોડી નિત્ય અને થોડી અનિત્ય થઈ જાય છે તે આ રીતે-ઘટાદિ વસ્તુઓમા દ્રવ્યાર્થિકનયની પ્રધાનતાથી વિવક્ષા કરીને, મૃત્તિકા દ્રવ્યનો અન્વય જોવાથી ધ્રૌવ્ય રૂપ સ્થિતિ-અ શને અર્પિત-ગ્રહણ કરવાથી તેનાથી સાક્ષાત્ વિરૂદ્ધ અનર્પિત ઉત્પાદ અને વ્યયનુ પણ ગ્રહણ થઇ જાય છે

ધ્રૌવ્ય દ્રવ્ય ઉત્પાદ રૂપ, વ્યય રૂપ પૂર્વોત્તર પર્યાયને ધારણ કરે છે, ઉત્પાદ પર્યાય અગર વ્યયપર્યાય પૂર્વોત્તર પર્યાયોમા અનુગમન કરતા નથી આથી ઉત્પાદ અને વ્યય વિભિન્ન અને વિલક્ષણ છે એ સ્વાભાવિક રીતે જ જ્ઞાત થઇ જાય છે આ રીતે અર્પણ અને અનર્પણ દ્વારા ઉત્પાદ, વ્યય અને ધ્રૌવ્ય સ્વરૂપ વસ્તુ નિત્ય અને અનિત્ય સિદ્ધ થાય છે

પ્રયોજન અનુસાર કદાચિત્ કોઈ ધર્મ વચનથી અર્પિત વિવક્ષિત કરવામા આવે છે અને બીજો ધર્મ અધિકાર હોવા છતા પણ પ્રયોજન ન હોવાથી અનર્પિત-અવિવક્ષિત હોય છે પર તુ આટલાથી એમ ન સમજવુ જોઈએ કે તે વસ્તુમા વિવક્ષિત ધર્મ જ છે તેમા અવિવક્ષિત ધર્મ પણ રહે જ છે આથી જ્યારે નિત્યતાને પ્રધાનતા આપવામા આવે છે ત્યારે પણ વસ્તુમાં પર્યાયની અપેક્ષાથી અનિત્યતા રહે છે અને પ્રયોજનવશાત્ જ્યારે પર્યાયની મુખ્યતાથી અનિત્યતાનુ વિધાન કરવામા આવે છે ત્યારે વસ્તુમા નિત્યતા પણ વિદ્યમાન રહે છે

સ્થાનાગસૂત્રના ૧૦મા સ્થાનમા કહ્યુ છે અર્પિત અને અનર્પિત ॥સૂ ૨૭॥

'वेमायणिद्ध लुक्खत्तणेण संघाणं बधो' । ॥सू० २८॥

મૂળસૂત્રાર્થ—વિસદશ પરિમાણમા સ્નિગ્ધતા અને રૂક્ષતા હોવાથી સ્ક ધોનો બન્ધ થાય છે.

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પહેલા કહેવાયુ કે ભેદ અને સ ઘાત રૂપ પૃથક્ત્વથી પરમાણુ પુદ્ગલોનો સ્ક ધ રૂપમાં ઉત્પાદ થાય છે તો શુ બે પરમાણુઓનો સ યોગ થવાથી જ દ્વચણુક આદિ સ્ક ધ ઉત્પન્ન થઈ જાય છે અથવા અન્ય કોઈ વિશેષતાથી ઉત્પન્ન થાય છે ? એવી શ કા થવા પર એકત્વ પરિણામ રૂપ બન્ધથી સ્ક ધની નિષ્પત્તિ થાય છે એવુ પ્રતિપાદન કરવામાં આવ્યુ છે આમા પણ આ શ કા ઉત્પન્ન થાય છે કે પુદ્ગલ જાતિની સમાનતા હોવા છતા પણ કોઈ પુદ્ગલોનો બન્ધ થાય છે અને કોઈનો કેમ બન્ધ થતો નથી ? આ શ કાનુ સમાધાન કરવા માટે કહીએ છીએ—

વિસદશ અ શવાળા સ્નિગ્ધ અને રૂક્ષ પુદ્ગલોનો બ ધ થાય છે આથી એ સાબીત થયુ કે જો કે સમસ્ત પુદ્ગલોમા પુદ્ગલપણુ સરખુ છે તો પણ અનન્ત પર્યાયવાળા કોઇ પુદ્ગલોનો વિલક્ષણ પરિણામથી પ્રાપ્ત સ્નિગ્ધત્વ અને રૂક્ષત્વનાં સામર્થ્યથી બન્ધ થાય છે જે પુદ્ગલોમાં પૂર્વોક્ત પ્રકારનુ પરિણમન થતુ નથી, તેનો બન્ધ થતો નથી

જે પુદ્ગલમા બાહ્ય અને આભ્ય તર કારણોનો સ જોગ મળવાથી સ્નેહ પર્યાય પ્રકટ થઈ જાય છે, તે સ્નિગ્ધ પુદ્ગલ કહેવાય છે તે ચિકણો હોય છે તેનાથી વિપરીત પરિણામને રૂક્ષત્વ

કહે છે વિમાત્રનો અર્થ છે-અસમાન અંશોવાળા આ રીતે અસમાન અંશવાળા સ્નિગ્ધ અને રૂક્ષ બે પરમાણુઓનો પરસ્પર સંશ્લેષ રૂપ એકત્વ પરિણામાત્મક બન્ધ હોવા પર દ્વયણુક સ્કંધ ઉત્પન્ન થાય છે

આ જ રીતે ક્રમથી ત્ર્યણુક સ્કંધ પણ, દ્વયણુક અને પરમાણુનો કે જે વિસદૃશ માત્રામા સ્નિગ્ધ અને રૂક્ષ હોય, પરસ્પરમા સંશ્લેષ થવાથી ઉત્પન્ન થાય છે

સ્નેહ કોઇ પુદ્ગલમા એક ગુણ (અંશ)વાળો કોઈમા બે વાળો કોઈમા ત્રણ, કોઈમા ચાર, કોઈમાં સંખ્યાત અસંખ્યાત અનન્ત અંશવાળો સમજવો જોઈએ આવી જ રીતે કોઈ પુદ્ગલમા રૂક્ષતાનો કોઈમા બે ગુણ એવી રીતે કોઇમા અનન્ત ગુણ હોય છે જેમ પાણી, બકરીનુ દૂધ, ગાયનુ દૂધ, ભેંશનુ દૂધ, ઊંટડીનુ દૂધ અને ઘેટીના દૂધમા તથા ઘીમા સ્નિગ્ધતા ગુણનુ ઓછા વત્તાપણુ રહે છે અને પાંશુ ધૂળ, રજકણ તથા રેતી વગેરેમા રૂક્ષતા ગુણ ઓછા વધતા રૂપમા દેખાય છે એવી જ રીતે પરમાણુઓમા પણ સ્નિગ્ધતા અને રૂક્ષતા ગુણના પ્રકર્ષ અને અપ્રકર્ષનુ અનુમાન કરવામા આવે છે પ્રજ્ઞાપનાસૂત્રના ૧૩મા પદના ૧૮૫મા સૂત્રમા કહ્યુ છે- પ્રશ્ન- ભગવત્ ! બન્ધન પરિણામ કેટલા પ્રકારના કહ્યાં છે ? ઉત્તર-ગૌતમ ! બે પ્રકારના કહ્યા છે જેમ કે સ્નિગ્ધબન્ધન પરિણામ અને રૂક્ષબન્ધન પરિણામ

સમાન સ્નિગ્ધતાથી અને સમાન રૂક્ષતાથી બન્ધન થતુ નથી, પરંતુ સ્નિગ્ધતા અને રૂક્ષતા જ્યારે વિસદૃશ પરિમાણમા થાય છે ત્યારે જ સ્કંધોનો બન્ધ થાય છે

સ્નિગ્ધ પુદ્ગલના બે અંશ અધિક સ્નિગ્ધ પુદ્ગલની સાથે અને રૂક્ષના બે અંશ અધિક રૂક્ષ પુદ્ગલ સાથે સ્નિગ્ધનો રૂક્ષ સાથે બન્ધ થાય છે, પરંતુ જઘન્ય ગુણવાળા પુદ્ગલનો કોઈની સાથે પણ બન્ધ થતો નથી ॥૨૮॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પહેલા કહેવાઈ ગયુ છે કે એકત્વ રૂપ સંઘાતથી દ્વયણુક આદિ સ્કન્ધોની ઉત્પત્તિ થાય છે, પણ તે સંઘાત સંયોગસામાન્યથી થાય છે અથવા વિશેષ પ્રકારના સંયોગથી થાય છે ? આ પ્રશ્નનુ સમાધાન કરવા માટે કહીએ છીએ-સંયોગ થયાથી બદ્ધનો સંઘાત થાય છે અને સંઘાત થવા પર બદ્ધનુ સ્કન્ધ રૂપ પરિણામ ઉત્પન્ન થાય છે

એકત્વપરિણામ રૂપ બન્ધ બે પરમાણુઓનો અથવા ઘણા પરમાણુઓનો કઈ રીતે થાય છે ? શુ એક પરમાણુમા બીજા પરમાણુનો પ્રવેશ હોવાથી થાય છે અથવા સંપૂર્ણ રીતે પ્રવેશ ન થવા પર પણ બન્ધ થઈ જાય છે ? પરમાણુઓમા પોલાપણુ તો હોતુ નથી એથી તેઓ એક બીજામા પેસી શકતા નથી પરંતુ પરમાણુઓના પરિણમન વિશેષથી જ સર્વથા સર્વાત્મતા બન્ધ થઇ જાય છે,

આથી એવુ સાબિત થયુ કે લોખંડના ગોળામા અગ્નિ જેમ સમાઈ જાય છે તેવી રીતે એક પરમાણુ બીજા પરમાણુમા સમાતો નથી તો પણ ગુણની વિશેષતાના કારણે સર્વાત્મતા પૂર્ણ રૂપથી એકત્વપરિણામ રૂપ બન્ધ થઈ જાય છે પરન્તુ ગુણની વિશેષતાના કારણે બન્ધ કઈ રીતે થઈ જાય છે ? એ જાતની આશંકા થાય માટે કહીએ છીએ—

અસમાન અંશોમા સ્નિગ્ધતા અને રૂક્ષતા હોવાથી બંધ થાય છે સ્નેહનો અર્થ છે ચિકાસપણુ જ્યારે રૂક્ષતાનો અર્થ છે લૂખાપણુ આ બને, પુદ્ગલોના સ્પર્શનામના ગુણની

અવસ્થાઓ છે પરમાણુઓમાંથી એક સ્નિગ્ધ અને બીજું રૂક્ષ હોય છે અને તે સ્નિગ્ધતા તથા રૂક્ષતા જ્યારે વિસદૃશ માત્રામા થાય છે ત્યારે તેમનો પરસ્પર બધ થઇ જાય છે

આ રીતે વિભિન્ન માત્રા (અશ) વાળા પરસ્પરમા સયુક્ત સ્નિગ્ધતા અને રૂક્ષ પરમાણુ આદિ પુદ્ગલોના એકત્વ પરિણમન રૂપ બન્ધનથી દ્વચણુક આદિ સ્કધ ઉત્પન્ન થઇ જાય છે આ રીતે એક જગ્યાએથી વિજોગ પામે છે અને બીજી જગ્યાને પૂરે છે બીજામા મીલન થાય છે, આ રીતે પૂરણ અને ગલનનુ કારણુ તે પુદ્ગલ કહેવાય છે પૂરક થઈને તે સ્કધોને ઉત્પન્ન કરે છે અને ગલન કરીને સ્કધમા ભેદ ઉત્પન્ન કરે છે. જેટલા પણુ બન્ધન છે બધા સયોગ-પૂર્વક જ થાય છે સ્નિગ્ધતા અને રૂક્ષતાની વિશેષતાના કારણે પરમાણુનો બીજા પરમાણુ સાથે સશ્લેષરૂપ બધ થાય છે.

બધા પરમાણુઓમા સ્નિગ્ધતા એક સરખી હોતી નથી કોઇમા એક ગુણુ (ડિગ્રી) સ્નિગ્ધતા હોય છે, કોઈમા અસખ્યાત ગુણુ અને કોઈમા અનન્તા ગુણુ પણુ સ્નિગ્ધતા હોય છે.

પાણીમા થોડી સ્નિગ્ધતા છે તેની અપેક્ષા બકરીના દૂધમા વધારે છે અને પછી ગાય ભેસ ઊટડી તથા ઘેટીના દૂધમાં ક્રમશ વધુ-વધુ સ્નિગ્ધતા (ચિકાસપણુ) જોવામાં આવે છે. ઘીમા તેથી પણુ વિશેષ હોય છે એવી જ રીતે રૂક્ષતા પણુ ઓછા વધુ માત્રામાં વિદ્યમાન રહે છે કોઇ પુદ્ગલહીન રૂક્ષતાવાળો કોઇ મધ્યમ રૂક્ષતાવાળો કોઈ ઉત્કૃષ્ટ રૂક્ષતાવાળો હોય છે.

કોઈમા સખ્યાત, કોઈમાં અસખ્યાત અને કોઇમા અનન્ત ગુણુ રુક્ષતા હોય છે આ રીતે સ્નિગ્ધતા (ચિકણાપણુ) અને રુક્ષતા (લૂખાપણુ)ના કારણે પરમાણુઓમાં સશ્લેષ થાય છે અને તેઓ એકમેકની સાથે બધાઈ જાય છે બદ્ધ થવા પર સ્કધની ઉત્પત્તિ થાય છે પુદ્ગલદ્રવ્યોનો આ રીતે બન્ધ થવો પ્રત્યક્ષથી સિદ્ધ છે

સ્થૂળ જે ઘટ પટ આદિ પુદ્ગલ સ્કધ છે અને જે પ્રત્યક્ષથી પ્રતીત થાય છે તે જ પરમાણુઓના બન્ધના અનુમાપક છે અર્થાત્ તેમને જોવાથી પરમાણુઓના બન્ધનું અનુમાન કરી શકાય છે કારણુ કે પરમાણુઓનો સંઘાત થવા વગર મહાન્ આકાર ઉત્પન્ન થઇ શકતો નથી આ રીતે પ્રત્યક્ષથી સિદ્ધ ઘટ આદિ પિન્ડોથી પરમાણુઓના સજોગ બન્ધનુ અનુમાન થાય છે આથી એવુ સમજવુ જોઈએ કે સ્નેહ ગુણવાળા અને રુક્ષ ગુણવાળા-પરમાણુઓનો બન્ધ થાય છે

પરતુ એવો નિયમ નથી કે બધા સ્નિગ્ધતા ગુણવાળા પુદ્ગલોનો બધા રુક્ષ પુદ્ગલોની સાથે બન્ધ થઈ જ જાય છે જો કોઈ પુદ્ગલમાં એક ગુણુ સ્નિગ્ધતા છે તો એક ગુણુ રુક્ષતા-વાળા પુદ્ગલની સાથે તેનો બન્ધ થતો નથી કારણુ કે બને જ પુદ્ગલ જઘન્ય ગુણવાળા છે આથી તેમનામા ગુણુની વિસદૃશતા અર્થાત્ વિષમ પરિમાણુ નથી સ્વસ્થાનની અપેક્ષાથી સ્નિગ્ધ પુદ્ગલનો સ્નિગ્ધ પુદ્ગલની સાથે બન્ધ થતો નથી એવી જ રીતે એક ગુણુ સ્નિગ્ધ પુદ્ગલનો એક ગુણુ રુક્ષ પુદ્ગલ સાથે બન્ધ થતો નથી એક ગુણુ સ્નિગ્ધ અને એક ગુણુ રુક્ષ પુદ્ગલોનો સયોગ થવા છતા પણુ તથા તેમા સ્નિગ્ધતા તથા રુક્ષતા હોવા છતાં પણુ પરસ્પર બન્ધ થતો નથી

આ પુદ્ગલોનો બન્ધ ન થવાનુ કારણુ તો તેમા તે રૂપમાં પરિણુત થવાની શક્તિનો અભાવ જ પ્રતીત થાય છે પુદ્ગલોમા પરિણુમન કરવાની શક્તિઓ ક્ષેત્ર અને કાળ અનુસાર

વિચિત્ર પ્રકારની હોય છે તેમાથી કોઈ સ્વાભાવિક અને કોઈ-કોઈ પ્રયત્નસાપેક્ષ થયા કરે છે જઘન્ય અર્થાત્ એક ડીગ્રી (અ શ)નો સ્નેહ ગુણ અલ્પમાત્રામા હોવાને લીધે જઘન્ય ગુણવાળા રુક્ષ પુદ્ગલને પરિણત કરવામા સમર્થ હોતો નથી એવી જ રીતે જઘન્ય રુક્ષ ગુણવાળો પણ અલ્પ હોવાના કારણે જઘન્ય ગુણવાળા સ્નિગ્ધ પુદ્ગલોનો પોતાના રૂપમા પરિણત કરી શકતો નથી.

જઘન્યનો અર્થ છે—એક ગુણ સ્નિગ્ધ અગર એક ગુણ રુક્ષ સ્નિગ્ધતા રુક્ષતા વગેરે ગુણોનુ પરિમાણ ઓછુ વધતું હોય જ છે, જેમ પાણીની અપેક્ષા બકરીનુ દૂધ વધારે સ્નિગ્ધ હોય છે, બકરીના દૂધથી ગાયનુ દૂધ વધારે સ્નિગ્ધ હોય છે એવી જ રીતે ગાયના દૂધથી ભેંસનુ, ભેસના દૂધથી ઊ ટડીનુ અને ઊંટડીના દૂધની અપેક્ષા ઘેટીનુ દૂધ અધિક સ્નિગ્ધ હોય છે એમા ઉત્તરોત્તર સ્નિગ્ધતા અધિક છે અને પૂર્વ પૂર્વમા રુક્ષતાનો અ શ અધિક છે એક ગુણ સ્નિગ્ધ પુદ્ગલનો જેમ એક ગુણ સ્નિગ્ધ પુદ્ગલની સાથે બન્ધ થતો નથી તેવી જ રીતે બે સ ખ્યાત અસ ખ્યાત અને અનન્ત ગુણ સ્નિગ્ધ પુદ્ગલની સાથે પણ બન્ધ થતો નથી

એવી જ રીતે એક ગુણ રુક્ષતાવાળા પુદ્ગલનો એક ગુણ રુક્ષતાવાળા તથા સ ખ્યાત અસ ખ્યાત અને અનન્ત ગુણ રુક્ષતાવાળા પુદ્ગલોની સાથે બન્ધ થતો નથી એવી જ રીતે જઘન્ય ગુણવાળા સ્નિગ્ધ અને જઘન્ય ગુણવાળા રુક્ષ પુદ્ગલોનો પરસ્પર બન્ધ થતો નથી

બે ગુણ સ્નિગ્ધતાવાળા પુદ્ગલનો એક ગુણ રુક્ષતાવાળા પુદ્ગલની સાથે બન્ધ થતો નથી અને તે જ રીતે એક ગુણ સ્નિગ્ધતાવાળાનો બે ગુણ રુક્ષતાવાળા પુદ્ગલની સાથે બન્ધ થતો નથી કારણ કે એક ગુણ જઘન્ય ગુણ હોય છે જેમ જઘન્ય ગુણવાળા સ્નિગ્ધ અને રુક્ષ પુદ્ગલોનો બન્ધ થતો નથી તેવી જ રીતે ગુણોની સમાનતા હોવાથી સદૃશ પુદ્ગલોનો બન્ધ થતો નથી

તે આ રીતે છે—તુલ્યગુણ સ્નિગ્ધ પુદ્ગલનો તુલ્યગુણ સ્નિગ્ધ પુદ્ગલ સાથે બન્ધ થતો નથી એ જ રીતે તુલ્યગુણ રુક્ષપુદ્ગલનો તુલ્યગુણ રુક્ષ પુદ્ગલ સાથે બન્ધ થતો નથી સરખા બળ અને ગુણવાળા બે મલ્લોની કુસ્તીની જેમ તેમા પરિણત કરવાની શક્તિ હોતી નથી પર તુ પંચગુણ સ્નિગ્ધનો પ ચગુણરુક્ષ પુદ્ગલની સાથે બન્ધ થાય છે સ્નિગ્ધતા ગુણની વિષમતા અગર રુક્ષતા ગુણની વિષમતા થવાથી સદૃશ પુદ્ગલોનો પણ બન્ધ થાય છે

આ પ્રકારે દ્વિગુણ સ્નિગ્ધનો ચતુર્ગુણ સાથે ત્રિગુણ સ્નિગ્ધનો પ ચગુણ સ્નિગ્ધ સાથે ચતુર્ગુણ સ્નિગ્ધનો ષડ્ગુણ સ્નિગ્ધની સાથે બન્ધ થાય છે એવી જ રીતે અનન્તગુણ સ્નિગ્ધની સાથે બ ધ સમજી લેવો જોઈએ આ રીતે રૂક્ષ ગુણની વિષમતા થવાથી પણ બન્ધ થાય છે તે જાતે જ સમજી લેવુ જોઈએ

શ કા—આવુ થવા છતા પણ એક ગુણ સ્નિગ્ધ પુદ્ગલનો દ્વિગુણ સ્નિગ્ધ પુદ્ગલ સાથે બન્ધ થવો જોઈએ કેમકે ગુણની વિષમતા ત્યા પણ વિદ્યમાન છે

સમાધાન—આમ ન કહેશો બે ગુણ અધિક વિગેરે સદૃશ પુદ્ગલોનો જ પરસ્પર બન્ધ સ્વીકાર કરવામાં આવ્યો છે આથી એક ગુણ સ્નિગ્ધ પુદ્ગલનો બે અધિક ગુણવાળા સ્નિગ્ધની સાથે દ્વિગુણ અધિક સ્નિગ્ધ પુદ્ગલનો એક ગુણ સ્નિગ્ધ સાથે એક ગુણ રૂક્ષ પુદ્ગલનો દ્વિગુણ અધિક રૂક્ષ સાથે દ્વિગુણ અધિક રૂક્ષનો એક ગુણ રૂક્ષ પુદ્ગલ સાથે બન્ધ થતો નથી એક આદિ ગુણ અધિક સદૃશ બે સ્નિગ્ધ પુદ્ગલો અથવા રૂક્ષ પુદ્ગલોનો બન્ધ થતો નથી

તે એકાદિગુણ અધિક પુદ્ગલોમા સદૃશ સ્નિગ્ધ પુદ્ગલોમા તથા સદૃશ રૂક્ષ પુદ્ગલોમાં વિશિષ્ટ પરિણમનની શક્તિનો અભાવ હોય છે

એક ગુણ સ્નિગ્ધ પરમાણુ આદિ પુદ્ગલની અપેક્ષા દ્વિગુણ સ્નિગ્ધ પરમાણુ પુદ્ગલ એક ગુણ અધિક કહેવાય છે, બે ગુણ સ્નિગ્ધ પરમાણુ પુદ્ગલની અપેક્ષા ત્રણ ગુણ સ્નિગ્ધ પરમાણુ પુદ્ગલ એકગુણાધિક કહેવાય છે, ત્રણ ગુણ સ્નિગ્ધ પરમાણુ પુદ્ગલની અપેક્ષા ચતુર્ગુણ સ્નિગ્ધ પરમાણુ પુદ્ગલ એક ગુણાધિક કહેવાય છે એવી જ રીતે અનન્તગુણ પુદ્ગલ એક બીજાની અપેક્ષા એક ગુણાધિક સમજી લેવા જોઈએ

પૂર્વોક્ત દલીલ મુજબ આ સદૃશ પુદ્ગલોનો પરસ્પર બન્ધ થતો નથી આ રીતે 'જઘન્યને છોડીને' આ વચન અનુસાર એક ગુણને છોડીને દ્વિગુણ પરમાણુ પુદ્ગલનો ત્રિગુણ પરમાણુ પુદ્ગલની સાથે બન્ધ થતો નથી એ જ રીતે ત્રિગુણનો ચતુર્ગુણ સાથે બન્ધ થતો નથી ઈત્યાદિ પ્રકારથી શેષ વિકલ્પોની યોજના સ્વયં કરી લેવી જોઈએ.

આમ એક ગુણ રૂક્ષ પરમાણુ પુદ્ગલ આદિની અપેક્ષા દ્વિગુણ રૂક્ષ પરમાણુપુદ્ગલ એક ગુણાધિક કહેવાય છે, બે ગુણ રૂક્ષતાવાળાની અપેક્ષા ત્રણ ગુણ રૂક્ષતાવાળા એક ગુણાધિક કહેવાય છે, ત્રણ ગુણ રૂક્ષની અપેક્ષા ચાર ગુણ રૂક્ષ એક ગુણાધિક કહેવાય છે એવી જ રીતે અનન્તગુણ રૂક્ષ એક ગુણાધિક હોય છે આ બધાં સદૃશ પુદ્ગલોનો પરસ્પર બન્ધ થતો નથી એમનો બન્ધ ન થવાના સબધમા પૂર્વોકત દલીલ સરખી છે–તે જ તર્ક અત્રે પણ લાગુ પડે છે

અહી પણ જઘન્યવર્જ આ કથન અનુસાર દ્વિગુણનો ત્રિગુણ સાથે બન્ધ થતો નથી, ત્રિગુણનો ચતુર્ગુણ સાથે બન્ધ થતો નથી ઈત્યાદિ શેષ વિકલ્પોની યોજના સ્વયં કરી લેવી જોઈએ પરતુ પૂર્વોકત પ્રકારથી દ્વિગુણ સ્નિગ્ધનો ચતુર્ગુણ સ્નિગ્ધ સાથે બન્ધ થાય છે ત્રિગુણ સ્નિગ્ધ પુદ્ગલનો પચગુણ સ્નિગ્ધ પુદ્ગલની સાથે બન્ધ થાય છે ઈત્યાદિ રૂપથી આગળ પણ સમજી લેવુ જોઇએ પ્રજ્ઞાપનાસૂત્રમાં કહ્યુ છે—

સ્નિગ્ધ પુદ્ગલના બે અશ અધિક સ્નિગ્ધ પુદ્ગલ સાથે અને રૂક્ષના બે અશ અધિક રૂક્ષ પુદ્ગલ સાથે બન્ધ થાય છે સ્નિગ્ધ પુદ્ગલનો રૂક્ષ પુદ્ગલ સાથે બન્ધ થાય છે ભલે તેઓ સમગુણવાળા હોય અગર વિષમ ગુણવાળા આમા અપવાદ એ જ છે કે જઘન્ય ગુણવાળાનો બન્ધ થઈ શકતો નથી

આ ગાથાના પૂર્વાર્ધમા પ્રતિપાદિત કરવામા આવ્યુ છે કે જ્યારે સ્નિગ્ધ અગર રૂક્ષ–અસદૃશ પુદ્ગલ હોય તો બે અશ અધિક આદિની સાથે બન્ધ થાય છે આમ સ્નિગ્ધનો બે ગુણ અધિક સ્નિગ્ધ સાથે અને રૂક્ષનો બે ગુણ અધિક રૂક્ષની સાથે બન્ધ થવાનુ સિદ્ધ થાય છે અને આ જ ગાથાના ઉત્તરાર્ધથી એ ફલિત થાય છે કે જઘન્ય ગુણથી વર્જિત સ્નિગ્ધ અને રૂક્ષ પુદ્ગલોનો તેઓ વિષમ ગુણવાળા હોય કે સમ ગુણવાળા પરસ્પરમાં બન્ધ થઇ જાય છે

પ્રશ્ન—જ્યારે પરમાણુ એક બીજામા મળે છે તો શુ દ્વિપ્રદેશી વિગેરે સ્કન્ધોના આકારમાં પરિણત થાય છે, અથવા પરિમડળ આદિ પાચ પ્રકારના આકારમાં પરિણત થાય છે ? જો પરમાણુઓમા સ્પર્શ આદિ પરિણામ વ્યવસ્થિત જ હોય, અગર સ્કન્ધોમાં સ્પર્શ આદિ

પરિણામ વ્યવસ્થીત હોય, તો તેમનુ ત્યાં હમેશાં રહેવાનું કારણ ન ઉત્પાદ હશે, ન વિનાશ હશે જ્યારે ઉત્પાદ અને વિનાશ થશે નહી તો સ્નિગ્ધ અને રૂક્ષ ગુણવાળા પરમાણુઓના પરિણમનના અભાવમાં કેવી રીતે દ્વયણુક વગેરે સ્કન્ધ પરિણામ ઉત્પન્ન થશે ?

સ્પર્શ આદિ તથા શબ્દ પરિણામવાળા સ્કધોમા એક જ કોઈ પરિણામને નિત્ય રૂપથી અગિકાર કરવાના કારણે શેષ સ્પર્શ આદિ તથા શબ્દ આદિ પરિણામોના અભાવમાં આપત્તિ (મુશ્કેલી) આવશે

જો તમે સ્કન્ધોમા સ્પર્શ આદિ પરિણામોને અવ્યવસ્થિત કહો છો તો બધુ બરાબર છે કારણકે પૂર્વ પરિણામનો ત્યાગ થવાથી ઉત્તર પરિણામનો સ્વીકાર કરવામા આવ્યો છે સ્પર્શ આદિ ભિન્ન છે અને શબ્દ આદિ ભિન્ન છે જે દ્રવ્ય ક્ષેત્ર કાળ અને ભાવ સંબધી પરિણામ વિશેષ હોય છે આવી રીતે પરિણામ અનુસાર વસ્તુનુ જ્ઞાન થઈ જશે તો આ વિષયનો સિદ્ધાત શુ છે એ ખબર પડતી નથી થોડા અવ્યવસ્થિતત્વ પક્ષનો સ્વીકાર કરવાથી પણ શુ સમગુણવાળા સમગુણ રૂપથી જ પરિણત થાય છે ? અગર વિષમ ગુણ રૂપથી પણ પરિણત થાય છે ?

ઉત્તર—પરમાણુઓમાં અથવા સ્કધોમા સ્પર્શ અને શબ્દાદિ પરિણામ અવસ્થિત અને અનવસ્થિત જ હોય છે કારણ કે તેઓ પરિણામી હોય છે પરમાણુ-પુદ્‌ગલ અગર સ્કધ દ્રવ્ય આદિ જાતિસ્વભાવનો પરિત્યાગ ન કરતા થકા બીજા સ્પર્શ આદિ ગુણ અગર શબ્દાન્તર વગેરે ગુણને પ્રાપ્ત થાય છે પરમાણુ આદિ પુદ્‌ગલ સ્પર્શ આદિ સામાન્યનો ત્યાગ ન કરતા થકા સ્પર્શ આદિ વિશેષોને પ્રાપ્ત થાય છે

'આ રીતે સ્પર્શ આદિ અવસ્થિત પણ છે અને અનવસ્થિત પણ છે મરચુ અને હિંગ વગેરે પોતાની શક્તિની પાવરધાવાળા હોવાથી પરિણામયોગ્ય વસ્તુને સડેલા શાકભાજી વગેરે અગર સ્વાદિષ્ટ વગેરે રૂપથી આત્મસાત્ કરતા જોવાય છે, કોઈ કોઈ દહી અથવા ગોળ વગેરે પદાર્થ પરિણમન શક્તિ સ્વભાવવાળા હોવાથી એકબીજાના પરિણમનના કારણ હોય છે પટુતાની અતિશયોક્તિને કારણે પૂર્વવાળામા પરિણમનની શક્તિ હોય છે આથી એ સાબિત થયુ કે સ્પર્શ આદિ શબ્દાદિ અનવસ્થિત હોય છે કારણકે તેમનામા પરિણમન થાય છે

પ્રશ્ન—પરિણમનની વિશેષતાને કારણે ગુણવત્ત્વ અનવસ્થિત હોવા છતાં પણ બદ્ધ થનારા બે પરમાણુ પુદ્‌ગલોમા ગુણવત્ત્વ હોવાથી બે સરખા ગુણવાળા અથવા વિષમ ગુણવાળાના દ્વિગુણ, સ્નિગ્ધ અથવા દ્વિગુણરૂક્ષનો એવી જ રીતે દ્વિગુણસ્નિગ્ધ અને ચતુર્ગુણરૂક્ષનુ પરિણમન કેવી રીતે થાય છે ? શુ બે ગુણ સ્નિગ્ધતાવાળા પુદ્‌ગલ બે ગુણ રૂક્ષ પુદ્‌ગલને સ્નિગ્ધ રૂપમા પરિણમત્વ કરી લે છે અથવા બે ગુણ રૂક્ષ પુદ્‌ગળ બે ગુણ સ્નિગ્ધ પુદ્‌ગલને રુક્ષના રૂપમા પરિણત કરે છે ? એવી જ રીતે એક ગુણ સ્નિગ્ધ પુદ્‌ગલ એક ગુણ રૂક્ષ પુદ્‌ગલને પોતાના રૂપમા પરિણત કરી લે છે ?

ઉત્તર—બધ થવાથી તુલ્ય ગુણવાળા પુદ્‌ગલને પોતાના રૂપમા પરિણત કરે છે અને જે અધિક ગુણવાળા પુદ્‌ગલ હોય છે તે ઓછા ગુણવાળા પુદ્‌ગલને પોતાના રૂપમા પરિણત કરી લે છે આથી સગઠરૂપ પરસ્પર બધ હોવાથી સ્વભાવથી તુલ્ય ગુણવાળા બે ગુણ સ્નિગ્ધ પુદ્‌ગલ

તુલ્ય ગુણવાળા બે ગુણ રૂક્ષ પુદ્ગલનુ પરિણમત્વ થઈ જાય છે. અર્થાત્ પોતાના રૂપમા પરિણત કરી લે છે તાત્પર્ય એ છે કે પોતાની અદર રહેલા સ્નેહ ગુણ દ્વારા રૂક્ષતા ગુણને આત્મસાત્ કરી લે છે

આ રીતે તુલ્ય ગુણવાળા દ્વિગુણ રૂક્ષ પુદ્ગલ સ્વભાવથી જ તુલ્ય ગુણ અથવા તેનાથી દ્વિગુણ સ્નિગ્ધ પુદ્ગલને પરિણત કરી લે છે અર્થાત પોતાનામા રહેલા રૂક્ષતા ગુણથી સ્નેહ ગુણને આત્મસાત્ કરી લે છે.

ગુણોની સમાનતા થયા પછી સદૃશ પુદ્ગલોનો બન્ધ થતો નથી ઉપરના પુદ્ગલ વિસદૃશ હોય છે અર્થાત્ એક પુદ્ગલ દ્વિગુણ સ્નિગ્ધ અને બીજો દ્વિગુણ રૂક્ષ હોય છે. સ્નિગ્ધતા અને રૂક્ષતા ભિન્ન જાતીય હોવાના કારણે તેમનામા સદૃશતાનો અભાવ છે

પરતુ ત્રિગુણ સ્નિગ્ધ પુદ્ગલ સાધક ગુણવાળા હોવાથી એક ગુણ સ્નિગ્ધ પુદ્ગલને પોતાના સ્વરૂપમા પરિણત કરે છે તે અવસ્થામા એક ગુણ સ્નિગ્ધ પુદ્ગલ ત્રિગુણ સ્નિગ્ધ બની જાય છે જેમ કસ્તૂરીના અશથી યુક્ત વિલેપન આ સમાન ગુણવાળાના અને વિષમ ગુણવાળાના બન્ધ સમજવા આવી જ રીતે સમ ગુણ અને વિષમ ગુણવાળાના પરિણમત્વ પણ જાણી લેવા જોઈએ

જે બીજાને પોતાના રૂપમા પરિણત કરી લે છે અર્થાત્ સમાવી લે છે તે પરિણામક કહેવાય છે અથવા પરિણત થનારા પુદ્ગલની ગુણ સખ્યાને દૂર કરી પોતાની ગુણ સખ્યાને ન ત્યાગતો થકો જે પરિણત થાય છે, તે પરિણામક કહેવાય છે

અથવા પરિણમન અથવા પરિણામને જે ઉત્પન્ન કરે છે તે પરિણામક કહેવાય છે તે બીજાને પોતાના સ્વરૂપમાં બદલે છે

એમ સમજવાનુ છે-સ્નિગ્ધતા અને રૂક્ષતા ગુણવાળા પુદ્ગલોનો પરસ્પર બન્ધ થાય છે પરતુ જઘન્ય ગુણવાળા સ્નિગ્ધ અને રૂક્ષ પુદ્ગલોનો બન્ધ થતો નથી જેમ એક ગુણ સ્નિગ્ધ પુદ્ગલનો એક ગુણ સ્નિગ્ધ સાથે તથા દ્વિગુણ, ત્રિગુણ ચતુર્ગુણ સખ્યાત અને અસખ્યાત તેમજ અનન્ત ગુણ સ્નિગ્ધ પુદ્ગલની સાથે બન્ધ થતો નથી

એવી જ રીતે એક ગુણ સ્નિગ્ધ પુદ્ગલનો એક ગુણ રૂક્ષની સાથે તથા બે, ત્રણ, ચાર, સખ્યાત અસખ્યાત અને અનન્ત ગુણવાળા રૂક્ષ પુદ્ગલની સાથે બન્ધ થતો નથી એવી જ રીતે એક ગુણ રૂક્ષ પુદ્ગલનો એક ગુણ રૂક્ષ પુદ્ગલ સાથે તથા બે ત્રણ ચાર સખ્યાત, અસખ્યાત અને અનન્ત ગુણવાળા રૂક્ષ પુદ્ગલ સાથે બન્ધ થતો નથી એવી જ રીતે એક ગુણ રૂક્ષ પુદ્ગલનો એક ગુણ સ્નિગ્ધની સાથે તથા બે વગેરે સખ્યાત અસખ્યાત અને અનન્ત ગુણવાળા સ્નિગ્ધ પુદ્ગલની સાથે બન્ધ થતો નથી

ગુણ શબ્દના અનેક અર્થ થાય છે પરતુ અહી તેનો 'ભાગ' અર્થ છે આથી જે પરમાણુ આદિ પુદ્ગલોમા જઘન્ય અર્થાત બધાથી ઓછો ગુણ-ભાગ હોય તે જઘન્ય કહેવાય છે જેમા એક ગુણ સ્નિગ્ધતા અગર એક ગુણ રૂક્ષતા હોય તે પરમાણુ આદિ પુદ્ગલ જઘન્ય ગુણવાળો કહેવાય છે તેમનો બન્ધ થતો નથી આવી જ રીતે દ્વિભાગ સ્નિગ્ધ પુદ્ગલોનો દ્વિભાગ સ્નિગ્ધ

પુદ્ગલો સાથે, ત્રિભાગનો ત્રિભાગ સાથે અનન્ત ભાગ સ્નિગ્ધ સદૃશ પુદ્ગલોના અનન્ત ભાગ સદૃશ પુદ્ગલો સાથે બન્ધ થાય છે

આવી જ રીતે દ્વિભાગ રૂક્ષ પુદ્ગલોનો દ્વિભાગ રૂક્ષ પુદ્ગલોની સાથે, ત્રિભાગ રૂક્ષોનો ત્રિભાગ રૂક્ષોની સાથે બન્ધ થતો નથી આ મુજબ અનન્ત ભાગ રૂક્ષ પુદ્ગલોનો સદૃશ અનન્ત રૂક્ષ પુદ્ગલોની સાથે બન્ધ થતો નથી જો ગુણ (ભાગ) ની વિષમતા હોય તો જઘન્ય ગુણને છોડીને સદૃશ પુદ્ગલોનો પણ બન્ધ થઈ જાય છે ॥૨૮॥

'गुणपज्जायासवो दव्वं' ॥

મૂળસૂત્રાર્થ—જે ગુણો અને પર્યાયોનો આશ્રય છે તે દ્રવ્ય કહેવાય છે ॥૨૯॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પહેલા જો કે "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत" આ દ્રવ્યનુ લક્ષણ કહેવાઈ ગયા હોવા છતા પણ કંઈક વિશેષ પ્રતિપાદન કરવા માટે બીજા પ્રકારના દ્રવ્યનુ લક્ષણ કહીએ છીએ–ગુણો અને પર્યાયોનો જે આશ્રય છે તે દ્રવ્ય કહેવાય છે

એક દ્રવ્યને બીજા દ્રવ્યોથી પૃથક્ કરનારા વિશેષને ગુણ કહે છે રૂપ વગેરે તથા જ્ઞાન વગેરે ગુણ છે જે સ્વભાવ અને વિભાગ રૂપથી બદલાતા રહે છે તેને પર્યાય કહે છે જેમ ઘડો, શકોરૂ, કોશ વગેરે મૃત્તિકા દ્રવ્યના પર્યાય છે અને જ્ઞાન, ક્રોધ, માન માયા લોભ વગેરે જીવ દ્રવ્યના પર્યાય છે.

આ ગુણો અને પર્યાયોનો જે આધાર છે તે જ દ્રવ્ય છે ગુણ અને પર્યાયનો તફાવત એ છે કે ગુણ અન્વયી અને પર્યાય વ્યતિરેકી હોય છે

જીવ પોતાના જ્ઞાન વગેરે ગુણોથી પુદ્ગલ વગેરે દ્રવ્યોથી પૃથક્ છે આ કારણથી જ જ્ઞાનાદિ જીવના ગુણ કહેવાય છે અને તેમનો આશ્રય જીવ કહેવાય છે એવી જ રીતે પુદ્ગલ આદિ દ્રવ્ય પોત–પોતાના રૂપ રસ ગન્ધ સ્પર્શ આદિ ગુણોને લીધે જીવાદિ અન્ય દ્રવ્યોથી પૃથક્ કરવામા આવે છે આથી જ રૂપ વગેરે પુદ્ગલ વગેરેના ગુણ કહેવાય છે અને પુદ્ગલ આદિ દ્રવ્ય કહેવાય છે જો જીવમાં જ્ઞાનાદિ વિશિષ્ટ ગુણ ન હોત અને પુદ્ગલમા રૂપ વગેરે વિશિષ્ટ ગુણ ન હોત તો જીવ અને પુદ્ગલ વગેરેમા દ્રવ્યત્વ સમાન હોવાથી કોઈ ભેદ ન રહેત–બધા દ્રવ્યો એકમેક થઈ જાત ગુણ જો કે દ્રવ્યની જેમ નિત્ય છે પરંતુ તેમના પર્યાયોમાં પરિવર્તન થતુ રહે છે આ અવસ્થા–પરિવર્તન પર્યાયો કહેવાય છે આ રીતે પર્યાય જેવા દ્રવ્યના હોય છે તેવા જ ગુણના પણ હોય છે આ રીતે ગુણો અને પર્યાયોનો સમૂહ, જે તેમનાથી થોડોક જુદો છે, દ્રવ્ય કહેવાય છે ॥૨૯॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પહેલા ધર્મ, અધર્મ, આકાશ, કાળ, પુદ્ગલ અને જીવ એ છ દ્રવ્યોનુ સામાન્ય રૂપથી પ્રતિપાદન કરવામા આવ્યુ પરંતુ સામાન્ય માત્ર કથનથી જ ધર્મ વગેરે દ્રવ્યોના વિશેષ સ્વરૂપનુ પરિજ્ઞાન થઈ શકતુ નથી આથી તેમના સ્વરૂપનુ જ્ઞાન કરાવવા અર્થે વિશેષ લક્ષણ કહીએ છીએ

જે ગુણો અને પર્યાયોનો આધાર છે તે દ્રવ્ય છે રૂપ આદિ અને જ્ઞાન આદિ ગુણ કહેવાય છે. સંખ્યાત અસંખ્યાત અને અનન્ત સંખ્યા દ્વારા તેમની ગણત્રી કરવામા આવે છે આથી તેમને ગુણ કહે છે દ્રવ્યની વિશિષ્ટ અવસ્થા પર્યાય કહેવાય છે દ્રવ્ય શાશ્વત છે.

પર્યાયનો ઉત્પાદ અને વિનાશ થતો રહે છે માટીને જો દ્રવ્ય માની લઈએ તો ઘટ કપાલ વગેરે તેના પર્યાય છે વ્યવહાર નયની અપેક્ષા ગુણ સહભાવી અને પર્યાય ક્રમભાવી હોય છે.

સમભિરૂઢ નયની અપેક્ષાથી ઇન્દનશકન અને પૂરદાહ આદિ (નગરનો નાશ) વગેરે અર્થ વિશેષ અને રૂપ આદિ ભાવાન્તર ભાવભેદ ઇન્દ્ર, શક્ર, પુરન્દર વગેરે સંજ્ઞાની પ્રવૃત્તિમા નિમિત્તભૂત અર્થભેદ અને સંજ્ઞાભેદ ગુણ-પર્યાયના નિમિત્તથી થાય છે આવી રીતે જે ગુણો અને પર્યાયોથી યુક્ત છે અર્થાત્ ગુણ-પર્યાયમય છે તે જ દ્રવ્ય કહેવાય છે

દ્રવ્ય ધ્રૌવ્ય—અંશ છે અને પરિણામી છે, પર્યાય ઉત્પાદ અને વ્યય રૂપ હોય છે તે પરિણામ છે. ગુણ દ્રવ્યનો અંશ કહેવાય છે આ રીતે સ્થિતિરૂપ દ્રવ્યના રૂપ વગેરે અને જ્ઞાનાદિ તથા પિન્ડ, ઘટ કપાલ વગેરે ગુણ અને પર્યાય છે કોઈપણ દ્રવ્ય કદીપણ પરિણામ રહિત હોતુ નથી ગુણ અને પર્યાય દ્રવ્યથી કથચિત્ ભિન્ન અને કથચિત્ અભિન્ન છે, ન એકાન્ત ભિન્ન છે અને ન એકાન્ત અભિન્ન છે તો પણ કદી કદી દ્રવ્યથી ગુણ પર્યાયના ભેદનુ વિવરણ કરવામાં આવે છે

આ ભેદ વિવક્ષા અનુસાર જ કહેવામાં આવે છે કે આત્મામાં ચૈતન્ય છે આત્મા જ્ઞાનાદિ રૂપમા સ્વય પરિણત થાય છે આથી ચૈતન્ય અને આત્મામાં ભેદ ન હોવા છતા પણ આત્મા માં ચૈતન્ય છે એ રીતે ભેદ રૂપથી વ્યવહાર થાય છે તે જ પુદ્ગલ દ્રવ્ય પોતાના સ્વરૂપનો પરિત્યાગ ન કરતો થકો વિશેષરૂપ આદિ અને ઘટ આદિના વ્યવહારમા કારણ બને છે આ રીતે કથચિત્ ભિન્ન અને અભિન્ન ગુણ અને પર્યાયવાળા દ્રવ્ય કહેવાય છે ધર્મ, અધર્મ, આકાશ કાળ અને જીવ દ્રવ્યોના વિષયમાં પણ એમજ સમજવુ જોઈએ કે તેઓ પણ ગુણ અને પર્યાયવાળા છે

દ્રવ્ય સહભાવી ગુણો અને ક્રમભાવી પર્યાયોને યોગ્ય હોય છે એમાં અગુરૂલઘુત્વ તથા રૂપ વગેરે ગુણ સહભાવી છે અને પિન્ડ, ઘટ, કપાલ વગેરે પર્યાય ક્રમભાવી છે એવી જ રીતે ધર્માસ્તિકાયમાં ગતિ હેતુત્વ અધર્માસ્તિકાયમાં સ્થિતિ હેતુત્વ આકાશમા અવગાહ હેતુત્વ જીવમાં જ્ઞાન દર્શન આદિ ગુણ તથા નારક આદિ પર્યાયોનો યથાયોગ્ય પૂર્વોક્ત પ્રકારથી વિચાર કરવો

ઉત્તરાધ્યયન સૂત્રનાં ૨૮ માં અધ્યયનની ૬ ઠી ગાથામા કહે છે જે ગુણોનો આધાર છે તે દ્રવ્ય કહેવાય છે જે ફક્ત દ્રવ્યમા આશ્રિત છે તે ગુણ છે પરતુ પર્યાયોનુ લક્ષણ બનેનુ આશ્રિત હોય છે તાત્પર્ય એ છે કે ગુણ અને પર્યાય બને જ દ્રવ્યના અશ છે પરતુ બનેમાં તફાવત એ છે કે ગુણ ફક્ત દ્રવ્યમા રહે છે અને પર્યાય દ્રવ્યો તથા ગુણો બનેને આશ્રિત હોય છે, જેમ જીવ દ્રવ્ય છે, ચૈતન્ય તેનો ગુણ છે મનુષ્ય પશુ પક્ષી આદિ જીવ દ્રવ્યના પર્યાય છે અને મતિજ્ઞાન વગેરે ચૈતન્ય ગુણના પર્યાય છે આમ જે દ્રવ્યને આશ્રિત હોય તે ગુણ અને દ્રવ્ય તથા ગુણ બનેને આશ્રિત હોય તેને પર્યાય કહે છે ॥૨૯॥

'दव्वस्सिया निग्गुणा गुणा' ॥

મૂળ સૂત્રાર્થ—જે દ્રવ્યને આશ્રિત છે, સ્વય નિર્ગુણ હોય તે ગુણ છે ॥૩૦॥

પુદ્ગલો સાથે, ત્રિભાગનો ત્રિભાગ સાથે . અનન્ત ભાગ સ્નિગ્ધ સદૃશ પુદ્ગલોના અનન્ત ભાગ સદૃશ પુદ્ગલો સાથે બન્ધ થાય છે

આવી જ રીતે દ્વિભાગ રૂક્ષ પુદ્ગલોનો દ્વિભાગ રૂક્ષ પુદ્ગલોની સાથે, ત્રિભાગ રૂક્ષોનો ત્રિભાગ રૂક્ષોની સાથે બન્ધ થતો નથી આ મુજબ અનન્ત ભાગ રૂક્ષ પુદ્ગલોનો સદૃશ અનન્ત રૂક્ષ પુદ્ગલોની સાથે બન્ધ થતો નથી જો ગુણ (ભાગ) ની વિષમતા હોય તો જઘન્ય ગુણને છોડીને સદૃશ પુદ્ગલોનો પણ બન્ધ થઈ જાય છે ॥૨૮॥

'गुणपज्जायासवो दव्वं' ॥

મૂળસૂત્રાર્થ—જે ગુણો અને પર્યાયોનો આશ્રય છે તે દ્રવ્ય કહેવાય છે ॥૨૯॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પહેલા જો કે "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्' આ દ્રવ્યનુ લક્ષણ કહેવાઈ ગયા હોવા છતા પણ કંઈક વિશેષ પ્રતિપાદન કરવા માટે બીજા પ્રકારના દ્રવ્યનુ લક્ષણ કહીએ છીએ–ગુણો અને પર્યાયોનો જે આશ્રય છે તે દ્રવ્ય કહેવાય છે

એક દ્રવ્યને બીજા દ્રવ્યોથી પૃથક્ કરનારા વિશેષને ગુણ કહે છે રૂપ વગેરે તથા જ્ઞાન વગેરે ગુણ છે જે સ્વભાવ અને વિભાગ રૂપથી બદલાતા રહે છે તેને પર્યાય કહે છે જેમ ઘડો, શકોરૂ, કોશ વગેરે મૃત્તિકા દ્રવ્યના પર્યાય છે અને જ્ઞાન, ક્રોધ, માન માયા લોભ વગેરે જીવ દ્રવ્યના પર્યાય છે.

આ ગુણો અને પર્યાયોનો જે આધાર છે તે જ દ્રવ્ય છે ગુણ અને પર્યાયનો તફાવત એ છે કે ગુણ અન્વયી અને પર્યાય વ્યતિરેકી હોય છે

જીવ પોતાના જ્ઞાન વગેરે ગુણોથી પુદ્ગલ વગેરે દ્રવ્યોથી પૃથક્ છે આ કારણથી જ જ્ઞાનાદિ જીવના ગુણ કહેવાય છે અને તેમનો આશ્રય જીવ કહેવાય છે એવી જ રીતે પુદ્ગલ આદિ દ્રવ્ય પોત-પોતાના રૂપ રસ ગન્ધ સ્પર્શ આદિ ગુણોને લીધે જીવાદિ અન્ય દ્રવ્યોથી પૃથક્ કરવામા આવે છે આથી જ રૂપ વગેરે પુદ્ગલ વગેરેના ગુણ કહેવાય છે અને પુદ્ગલ આદિ દ્રવ્ય કહેવાય છે જો જીવમા જ્ઞાનાદિ વિશિષ્ટ ગુણ ન હોત અને પુદ્ગલમા રૂપ વગેરે વિશિષ્ટ ગુણ ન હોત તો જીવ અને પુદ્ગલ વગેરેમા દ્રવ્યત્વ સમાન હોવાથી કોઈ ભેદ ન રહેત–બધા દ્રવ્યો એકમેક થઈ જાત ગુણ જો કે દ્રવ્યની જેમ નિત્ય છે પરંતુ તેમના પર્યાયોમા પરિવર્તન થતુ રહે છે આ અવસ્થા-પરિવર્તન પર્યાયો કહેવાય છે આ રીતે પર્યાય જેવા દ્રવ્યના હોય છે તેવા જ ગુણના પણ હોય છે આ રીતે ગુણો અને પર્યાયોનો સમૂહ, જે તેમનાથી થોડોક જુદો છે, દ્રવ્ય કહેવાય છે ॥૨૯॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પહેલા ધર્મ, અધર્મ, આકાશ, કાળ, પુદ્ગલ અને જીવ એ છ દ્રવ્યોનુ સામાન્ય રૂપથી પ્રતિપાદન કરવામા આવ્યુ પરંતુ સામાન્ય માત્ર કથનથી જ ધર્મ વગેરે દ્રવ્યોના વિશેષ સ્વરૂપનુ પરિજ્ઞાન થઈ શકતુ નથી આથી તેમના સ્વરૂપનુ જ્ઞાન કરાવવા અર્થે વિશેષ લક્ષણ કહીએ છીએ

જે ગુણો અને પર્યાયોનો આધાર છે તે દ્રવ્ય છે રૂપ આદિ અને જ્ઞાન આદિ ગુણ કહેવાય છે. સંખ્યાત અસંખ્યાત અને અનન્ત સંખ્યા દ્વારા તેમની ગણત્રી કરવામા આવે છે આથી તેમને ગુણ કહે છે દ્રવ્યની વિશિષ્ટ અવસ્થા પર્યાય કહેવાય છે દ્રવ્ય શાશ્વત છે

પર્યાયનો ઉત્પાદ અને વિનાશ થતો રહે છે માટીને જો દ્રવ્ય માની લઈએ તો ઘટ કપાલ વગેરે તેના પર્યાય છે વ્યવહાર નયની અપેક્ષા ગુણ સહભાવી અને પર્યાય ક્રમભાવી હોય છે

સમભિરૂઢ નયની અપેક્ષાથી ઇન્દનશકન અને પૂરદાહ આદિ (નગરનો નાશ) વગેરે અર્થ વિશેષ અને રૂપ આદિ ભાવાન્તર ભાવભેદ ઈન્દ્ર, શક્ર, પુરન્દર વગેરે સંજ્ઞાની પ્રવૃત્તિમા નિમિત્તભૂત અર્થભેદ અને સંજ્ઞાભેદ ગુણ-પર્યાયના નિમિત્તથી થાય છે આવી રીતે જે ગુણો અને પર્યાયોથી યુક્ત છે અર્થાત્ ગુણ-પર્યાયમય છે તે જ દ્રવ્ય કહેવાય છે.

દ્રવ્ય ધ્રૌવ્ય—અંશ છે અને પરિણામી છે, પર્યાય ઉત્પાદ અને વ્યય રૂપ હોય છે તે પરિણામ છે. ગુણ દ્રવ્યનો અંશ કહેવાય છે આ રીતે સ્થિતિરૂપ દ્રવ્યના રૂપ વગેરે અને જ્ઞાનાદિ તથા પિન્ડ, ઘટ કપાલ વગેરે ગુણ અને પર્યાય છે કોઈપણ દ્રવ્ય કદીપણ પરિણામ રહિત હોતું નથી ગુણ અને પર્યાય દ્રવ્યથી કથંચિત્ ભિન્ન અને કથંચિત્ અભિન્ન છે, ન એકાન્ત ભિન્ન છે અને ન એકાન્ત અભિન્ન છે તો પણ કદી કદી દ્રવ્યથી ગુણ પર્યાયના ભેદનું વિવરણ કરવામાં આવે છે

આ ભેદ વિવક્ષા અનુસાર જ કહેવામાં આવે છે કે આત્મામાં ચૈતન્ય છે આત્મા જ્ઞાનાદિ રૂપમા સ્વયં પરિણત થાય છે આથી ચૈતન્ય અને આત્મામાં ભેદ ન હોવા છતાં પણ આત્મા માં ચૈતન્ય છે એ રીતે ભેદ રૂપથી વ્યવહાર થાય છે તે જ પુદ્ગલ દ્રવ્ય પોતાના સ્વરૂપનો પરિત્યાગ ન કરતો થકો વિશેષરૂપ આદિ અને ઘટ આદિના વ્યવહારમા કારણ બને છે આ રીતે કથંચિત્ ભિન્ન અને અભિન્ન ગુણ અને પર્યાયવાળા દ્રવ્ય કહેવાય છે ધર્મ, અધર્મ, આકાશ કાળ અને જીવ દ્રવ્યોના વિષયમાં પણ એમજ સમજવુ જોઈએ કે તેઓ પણ ગુણ અને પર્યાયવાળા છે

દ્રવ્ય સહભાવી ગુણો અને ક્રમભાવી પર્યાયોને યોગ્ય હોય છે એમા અગુરૂલઘુત્વ તથા રૂપ વગેરે ગુણ સહભાવી છે અને પિન્ડ, ઘટ, કપાલ વગેરે પર્યાય ક્રમભાવી છે એવી જ રીતે ધર્માસ્તિકાયમાં ગતિ હેતુત્વ અધર્માસ્તિકાયમા સ્થિતિ હેતુત્વ આકાશમા અવગાહ હેતુત્વ જીવમાં જ્ઞાન દર્શન આદિ ગુણ તથા નારક આદિ પર્યાયોનો યથાયોગ્ય પૂર્વોક્ત પ્રકારથી વિચાર કરવો

ઉત્તરાધ્યયન સૂત્રનાં ૨૮ માં અધ્યયનની ૬ ઠી ગાથામા કહે છે જે ગુણોનો આધાર છે તે દ્રવ્ય કહેવાય છે જે ફક્ત દ્રવ્યમા આશ્રિત છે તે ગુણ છે પરંતુ પર્યાયોનુ લક્ષણ બન્નેનુ આશ્રિત હોય છે તાત્પર્ય એ છે કે ગુણ અને પર્યાય બન્ને જ દ્રવ્યના અંશ છે પરંતુ બન્નેમા તફાવત એ છે કે ગુણ ફક્ત દ્રવ્યમા રહે છે અને પર્યાય દ્રવ્યો તથા ગુણો બન્નેને આશ્રિત હોય છે, જેમ જીવ દ્રવ્ય છે, ચૈતન્ય તેનો ગુણ છે મનુષ્ય પશુ પક્ષી આદિ જીવ દ્રવ્યના પર્યાય છે અને મતિજ્ઞાન વગેરે ચૈતન્ય ગુણના પર્યાય છે આમ જે દ્રવ્યને આશ્રિત હોય તે ગુણ અને દ્રવ્ય તથા ગુણ બન્નેને આશ્રિત હોય તેને પર્યાય કહે છે ॥૨૯॥

'दव्वस्सिया निग्गुणा गुणा' ॥

મૂળ સૂત્રાર્થ—જે દ્રવ્યને આશ્રિત છે, સ્વયં નિર્ગુણ હોય તે ગુણ છે ॥૩૦॥

તત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમાં કહેલુ છે કે ગુણ અને પર્યાયનો આશ્રય દ્રવ્ય કહેવાય છે પરંતુ ગુણ કોને કહે છે ? એવી જિજ્ઞાસા થવાથી તેનુ સમાધાન કરીએ છીએ

જે દ્રવ્યમાં રહેતા હોય અને ગુણોથી રહિત હોય તે ગુણ કહેવાય છે અહી નિર્ગુણ એવુ કહેવાથી દ્વયણુક વગેરે પુદ્ગલ સ્કંધોની વ્યાવૃત્તિ થઈ જાય છે જો નિર્ગુણ વિશેષણનો પ્રયોગ ન કર્યો હોત તો દ્વયણુક આદિ પરમાણુ દ્રવ્યોના આશ્રિત હોવાથી ગુણ કહેવાત પરંતુ દ્વયણુક વગેરેમા રૂપાદિ ગુણોનુ અસ્તિત્વ છે તેઓ નિર્ગુણ નથી આથી ગુણનુ ઉક્ત લક્ષણ તેમનામા ઘટિત થતુ નથી આ કારણથી લક્ષણમા અતિવ્યાપ્તિ દોષ પણ આવતો નથી આથી એ સાબિત થયુ કે જે દ્રવ્યને આશ્રિત હોય, સ્વયં નિર્ગુણ હોય અને જેમા ગુણત્વ દેખાય તે જ ગુણ છે ક્રિયા જો કે દ્રવ્યાશ્રિત હોય છે નિર્ગુણ પણ હોય છે પરંતુ તેમા ગુણત્વનો અભાવ હોવાથી અતિવ્યાપ્તિ દોષ આવતો નથી ॥૩૦॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પહેલા કહેવાઈ ગયુ કે દ્રવ્ય ગુણ અને પર્યાયનો આધાર હોય છે પરંતુ ગુણ કેવા હોય છે કે જેના લીધે દ્રવ્ય ગુણવાન કહેવાય છે ? આ પ્રકારની જિજ્ઞાસાનુ સમાધાન કરવા માટે કહેવામા આવ્યુ છે

જે દ્રવ્યને આશ્રિત હોય સ્વયં નિર્ગુણ હોય તેમને ગુણ કહે છે દ્રવ્યને આશ્રિત હોય અર્થાત્ દ્રવ્યના પરિણામ વાળુ હોય અગર દ્રવ્યવર્ત્તી હોય ગુણોથી રહિત હોય નિર્ગુણ—ગુણ-શૂન્ય હોય તે ગુણ કહેવાય છે

અહી દ્રવ્ય અને ગુણોનો જે આશ્રય—આશ્રયિભાવ કહેવાયો છે તે પરિણામિ-પરિણામ ભાવ સમજવો જોઈએ દ્રવ્ય પરિણામી છે અને ગુણ પરિણામ છે આધારાધેય ભાવ અહી વિવક્ષિત નથી કારણ કે જેમ કુન્ડ અને બોર—બંનેની સત્તા જુદી જુદી છે તેજ રીતે દ્રવ્ય અને ગુણ ભિન્ન ભિન્ન નથી આથી દ્રવ્યને આધાર અને ગુણને આધેય કહી શકાય નહી

અન્ય મત અનુયાયિઓએ દ્રવ્ય અને ગુણમાં સમવાય સંબંધનો સ્વીકાર કર્યો છે તે પણ બરાબર નથી જો ગુણોનો દ્રવ્યની સાથે સમવાય સંબંધ માનવામા આવે તો સમવાય અને ગુણોમાં પણ કોઈ સંબંધ માનવો પડશે તે સમવાયનો પણ બીજો સમવાય સંબંધ માન-વામા આવે તો અનવસ્થા દોષ આવે બીજો સમવાય માનવામા આગમથી વિરોધ આવે છે

સમવાયથી દ્રવ્ય અને ગુણમાં જો સમવાય નામનો સંબંધ છે તો તે સમવાય કયા સંબં-ધથી તેમનામા રહે છે ? સંયોગ સંબંધથી અથવા સમવાય સંબંધથી ? સંયોગ સંબંધ તો માની શકાય નહી કારણ કે સંયોગ બે દ્રવ્યોનો જ થાય છે અહી ગુણ દ્રવ્યરૂપ નથી જો સમવાય—સમવાય સંબંધથી રહે છે તો આ બીજા સમવાયમા પણ ત્રીજા સમવાયની આવશ્યકતા રહેશે અને ત્રીજા સમવાય માટે પુનઃ ચોથા સમવાયની આવશ્યકતા રહેશે આવી સ્થિતિમા અનવસ્થા દોષ આવે છે

જો સમવાય સંબંધ આક્ષિપ્ત થયા વગર સ્વતંત્ર જ રહે છે તો પછી દ્રવ્યમા ગુણોને રહેવા માટે પણ સમવાયની આવશ્યકતા ન રહેવી જોઈએ તો પછી એવુ પણ ન માનવુ જોઈએ કે દ્રવ્ય સમવાય સંબંધ દ્વારા ગુણોની સાથે સંબદ્ધ છે કારણ કે આપના કથન મુજબ, ઘટ તથા પટની જેમ સમવાય દ્રવ્ય અને ગુણમાં આશ્રિત નથી ઘટ અને પટમા સમવાય

સંબધનો સંભવ નથી આથી સત્ય એ છે કે સ્થિતિઅંશ રૂપ દ્રવ્ય ગુણો અને પર્યાયોના રૂપમા પરિણુત થતા રહે છે ગુણ પર્યાય તેમના પરિણમન વિશેષ છે તેમનામા જે ગુણ રૂપ પરિણામ છે તે નિર્ગુણ છે અર્થાત્ ગુણમાં ગુણ હોતો નથી

શુકલ આદિ રૂપ આદિ તથા ઘટ કપાલ વગેરે ગુણો અને પર્યાયોના બીજા કોઇ ગુણ પર્યાય હોતા નથી પરતુ પરિણામી દ્રવ્ય દ્રવ્યનો જ શુકલ વગેરે રૂપ વગેરે ગુણ પરિણામી થાય છે અને ઘટ કપાલ સસ્થાન વગેરે પર્યાય પરિણામ હોય છે બને શુકલ આદિ ગુણ રૂપ આદિના બીજા કોઇ શુકલ આદિ હોતા નથી અને ન ઘટ આદિ આકારના બીજા કોઇ સસ્થાન વિગેરે પર્યાય હોય છે

આ કારણે ગુણ નિર્ગુણ હોય છે પર્યાય ગુણોથી એકાન્ત ભિન્ન નથી કારણ કે ગુણો અને પર્યાયોની કથચિત્ એકતા સ્વીકારવામાં આવી છે

અત્રે એ સમજી લેવુ જોઈએ કે દ્રવ્ય-યુગપદ ભાવિની શુકલ આદિ રૂપ આદિ જ્ઞાન વગેરે ગુણ પરિણુતિને તથા ક્રમ ભાવિની પિન્ડ ઘટ કપાલ વગેરે પર્યાય પરિણુતિને યોગ્ય હોય છે તે પરિણામી અને ધ્રુવ-અશ રૂપ છે, આશ્રય છે ઉત્પાદ અને વ્યય સ્વરૂપ રૂપ રસ ગધ સ્પર્શ તથા જ્ઞાન દર્શન રૂપ ગુણોનો તથા ઘટ કોશ આદિ રૂપ પર્યાયોનો આશ્રય દ્રવ્ય છે

દ્રવ્ય જ સામાન્યાત્મક રૂપ રસ આદિ તથા જ્ઞાનાદિ ગુણોના રૂપમા તથા પિન્ડ ઘટ વગેરે પર્યાયોના રૂપમાં પરિણમન કરે છે પછી તે તે આકારોથી નિવૃત્ત થાય છે અને દ્રવ્ય રૂપથી અવસ્થિત રહે છે પરિણામ અને પરિણામીમાં દ્રવ્યાર્થિક અને પર્યાયાર્થિક નયની અપેક્ષા કથચિત્ અભિન્નતા અને કથચિત્ ભિન્નતા જાણવી જોઈએ આ શુકલ આદિ રૂપ આદિ તથા જ્ઞાન આદિ ગુણોના બીજા કોઈ ગુણ નથી આથી તે નિર્ગુણ છે આમ આ વિધાન ત્યારે જ શકય હોઈ શકે જ્યારે ગુણ અને ગુણીમા ભેદ માનવામા આવે

તે ભેદ કથચિત્ જ સ્વીકારાય છે, એકાન્ત રૂપથી નહી કારણ કે બધી વસ્તુઓ ભેદ અને અભેદ રૂપ છે જ્યારે દ્રવ્ય જ શુકલ રસ આદિના રૂપમા અગર જ્ઞાન દર્શન આદિના રૂપમા પરિણુત થાય છે એટલે દ્રવ્યની સાથે તાદાત્મ્ય સબધ હોવાના કારણે ગુણ દ્રવ્યથી જુદા થઈ શકતાં નથી આ પ્રકારે તેમનામા કથચિત્ અભિન્નતા છે આ અભિન્નતા કેવળ દ્રવ્યાર્થિક નયની અપેક્ષાથી જ સમજવી જોઇએ અને ગુણોને નિર્ગુણ સમજવા જોઈએ

પર્યાયાર્થિક નયથી ગુણોની પ્રધાનતા હોવાથી દ્રવ્યથી ગુણ કથચિત્ ભિન્ન પણ છે

શકા—દ્રવ્યાર્થિક નયના મતે ગુણોનુ અસ્તિત્વ જ નથી તો પછી અભિન્નતા કેવી રીતે માની શકાય ?

સમાધાન—દ્રવ્યાર્થિક નયના મતે પણ ગુણોનુ અસ્તિત્વ તો છે પણ તે દ્રવ્યથી ભિન્ન છે

દ્રવ્ય જ્યારે શુકલ રૂપમા પરિણુત થાય છે ત્યારે તેમા નીલાકાર આદિ પરિણમન થતુ નથી આથી ગુણોની નિર્ગુણતા સ્પષ્ટ જ છે

જેમ દ્રવ્યમા ગુણ રહે છે તેમ ગુણમા ગુણ રહેતો નથી શખમા સફેદાઇનો ગુણ છે પણ તેની સફેદાઇમા પુન સફેદાઈ રહેતી નથી-તે સ્વય શુકલતા સ્વરૂપ જ છે

ઉત્તરાધ્યયન સૂત્રના ૨૮મા અધ્યયનની ૬ઠી ગાથામા કહ્યુ છે-ગુણ દ્રવ્યોને આશ્રિત હોય છે અહીં દ્રવ્યના-આશ્રિત કહેવાથી ઉપલક્ષણથી ગુણોને નિર્ગુણ પણ સમજવા જોઈએ ॥૩૦॥

'तब्भावो परिणामो' ॥

મૂળ સૂત્રાર્થ—ધર્મ આદિ દ્રવ્યોનુ પોત-પોતાના સ્વરૂપમા હોવુ તે જ પરિણામ કહેવાય છે ॥૩૧॥

તત્વાર્થદીપિકા—પહેલા પરિણામનો અનેક સ્થળો પર ઉલ્લેખ કરવામા આવ્યો છે પરતુ પરિણામનો અર્થ શુ છે ? એ જિજ્ઞાસાનુ સમાધાન કરવા માટે કહીએ છીએ—

ધર્મ અધર્મ આકાશ આદિ દ્રવ્ય જે સ્વરૂપથી હોય છે તે સ્વરૂપનુ હોવુ અર્થાત્ સ્વરૂપની પ્રાપ્તિ પરિણામ છે તે પરિણામ બે પ્રકારના છે અનાદિ તથા સાદિ

ધર્મ અધર્મ અને આકાશ આદિ દ્રવ્યોની ગતિ-ઉપગ્રહ સ્થિતિ-ઉપગ્રહ અને અવગાહ ઉપગ્રહ વગેરે સામાન્ય રૂપથી અનાદિ પરિણામ કહેવાય છે તે જ પરિણામ વિશેષની અપેક્ષાથી સાદિ હોય છે, જેમ માટી દ્રવ્યના પિન્ડ ઘટ, કપાલ, કપાલિકા સ્થાસ કોશ શકોરૂ અને ઉદ્દચન વગેરે પરિણામ થાય છે ॥૩૧॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પહેલા અનેકવાર પરિણામનો ઉલ્લેખ કર્યો જ છે જેમ સમગુણ સમગુણવાળાના પરિણામ ને ધારણ કરે છે અને વધારે ગુણોવાળા પુદ્ગલ ઓછા ગુણવાળા પુદ્ગલને પોતાના રૂપમા પરિણત કરી લે છે તો પરિણામ શબ્દનો અર્થ શો છે ? શુ ધર્માસ્તિકાય તથા અધર્માસ્તિકાય વગેરે દ્રવ્ય અર્થાન્તર ભૂત પરિણામને ઉત્પન્ન કરે છે ? અથવા તે દ્રવ્ય પોતાના સ્વરૂપનો પરિત્યાગ ન કરતા થકા પણ કોઇને કોઈ વિશિષ્ટતાને પ્રાપ્ત થઇને પરિણત થતા રહે છે ? આ શકાનુ નિવારણ કરવા માટે પરિણામ શબ્દની વ્યાખ્યા કરાય છે

ધર્મ અધર્મ આદિ ૬ દ્રવ્યોનો તે તે આકારથી અર્થાત્ ગતિસહાયકત્વ, સ્થિતિસહાયકત્વ, અવગાહસહાયકત્વ, પરત્વ અપરત્વ, શરીર આદિ તથા જ્ઞાનાદિ રૂપથી થવુ-આત્મલાભ-ભાવ જ પરિણામ કહેવાય છે ધર્મ આદિ દ્રવ્ય જ વિભિન્ન આકારોમાં પરિણત થતા રહે છે, તેઓ અચલ અગર કૂટસ્થ નિત્ય નથી તેમનો ન તો સર્વથા ઉત્પાદ થાય છે અથવા ન તો સર્વથા વિનાશ જ થાય છે

આ રીતે ધર્મ આદિ દ્રવ્યોની એક અવસ્થાથી બીજી અવસ્થાની પ્રાપ્તિ થવી પરિણામ છે તેમા ધર્મ દ્રવ્ય જીવો અને પુદ્ગલોની ગતિમા તેવી જ રીતે મદદરૂપ થાય છે જેમ પાણી જળચરજીવોની ગતિમાં સહાયક થાય છે અધર્મદ્રવ્ય તેમની સ્થિતિમાં નિમિત્ત થાય છે જેમ વટેમાર્ગુઓને રોકાવામાં છાયડો સહાયક થાય છે આ બને દ્રવ્યો સમસ્ત લોકાકાશમાં ફેલાયેલા છે આવી જ રીતે છએ દ્રવ્યોનો જે સ્વભાવ છે, સ્વરૂપ છે, તે જ પરિણામ કહેવાય છે

પરિણામ શબ્દનો વાચ્યાર્થ આ રીતે છે-પરિણામ-અહી પરિ શબ્દનો અર્થ છે વ્યાપ્તિ જેમ ગુણથી પરિણતનો અર્થ થાય છે-ગુણથી વ્યાપ્ત નમ્ર ધાતુનો અર્થ થાય છે-નમ્રીભાવ, ઋજુતા અથવા અવસ્થાન્તરની પ્રાપ્તિ બને-શબ્દાશોનો આશય નિકળ્યો-સર્વત્ર અનુવર્ત્તન કરવુ આ જ પરિણામ શબ્દનો અર્થ છે જેમ માટીનો પિન્ડો, ઘટ કપાલ વગેરે બધી અવ-

સ્થઓમા અનુવર્ત્તન જોવામા આવે છે અને સુવર્ણદ્રવ્યના કટક, કુંડળ વલય રૂપક વગેરે બધી અવસ્થાઓમા અન્વય-પ્રત્યક્ષ જોવામા આવે છે

આવી જ રીતે ઘટ આદિ તથા કુડળ આદિ માટીથી અને સુવર્ણ દ્રવ્યથી વ્યાપ્ત રહે છે ધર્માદિ દ્રવ્ય પણ આવી જ રીતે પોતાના સ્વરૂપનો પરિત્યાગ ન કરતા થકા જ ગતિ સહાયકત્વ વગેરેમા અનુવર્ત્તન કરે છે અનુવૃત્તિ રૂપ હોવાથી આ સામાન્ય સ્થિતિ-અ શથી વ્યાપ્ત રહે છે કોઈ પણ દ્રવ્યના ઉત્પાદ અગર વ્યાપ્તિ સામાન્ય સ્થિતિ-અ શથી અવ્યાપ્ત હોતા નથી

આજ પ્રમાણે ધર્મદ્રવ્યનુ જ પોતાની એક અવસ્થાથી બીજી અવસ્થામાં પરિણત થવુ પરિણામ છે, એવુ નથી કે ધર્મદ્રવ્ય કોઈ બીજા અધર્મદ્રવ્ય વગેરેની અવસ્થામા પરિણત થઈ જાય આવી જ રીતે અધર્મદ્રવ્ય પોતાની જ એક અવસ્થાથી બીજી અવસ્થામાં પરિણત થાય છે તે ધર્મ વગેરે કોઈ અન્ય દ્રવ્યની અવસ્થા રૂપમાં પરિણત થતા નથી. આ જ રીતે આકાશ વગેરે દ્રવ્યોનો પણ પોત-પોતાની અવસ્થાઓમા પરિણમન થતુ રહે છે અર્થાત્ એકથી બીજી અને બીજીની ત્રીજી અવસ્થા થતી રહે છે આને જ પરિણામ સમજવુ જોઈએ

ધર્માસ્તિકાય પોતાના સ્વરૂપનો પરિત્યાગ ન કરતો થકો જ ગમન કરનારની ગતિમા સહાયક રૂપથી પરિણત થાય છે અધર્માસ્તિકાય પોતાના સ્વરૂપનો પરિત્યાગ ન કરતો થકો સ્થિત થનારાની સ્થિતિમા સહાયક રૂપથી પરિણત થાય છે આકાશ પણ પોતાના સ્વરૂપનો પરિત્યાગ ન કરતો થકો જ અવગાહ કરનારને અવગાહના આપે છે કાળ જ્યેષ્ઠ અને કનિષ્ઠ આદિમા પરત્વ અને અપરત્વ ઉત્પન્ન કરીને ગત કાળ ભવિષ્ય કાળ, સમય, ક્ષણ પલકારો, દિવસ, રાત્રિ, પખવાડીયુ મહીનો, અયન વર્ષ વગેરેના વ્યવહાર કારક રૂપથી પરિણત થાય છે,

પુદ્ગલ પણ ઔદારિક આદિ શરીર આદિ રૂપ, રસ ગ ધ સ્પર્શ આદિ રૂપથી પોતાના સ્વરૂપનો પરિત્યાગ ન કરતો થકો પણ પરિણત થાય છે. જીવ-જ્ઞાન-દર્શન-ઉપયોગ રૂપથી તથા નારકી દેવતા મનુષ્ય તિર્યંચ રૂપથી પોતાના સ્વરૂપનો પરિત્યાગ ન કરતો થકો જ પરિણમન કરે છે

આવી જ રીતે શુકલ વગેરે ગુણ વર્ણ આદિ સામાન્ય સ્વરૂપનો ત્યાગ ન કરતા થકા જ કૃષ્ણ આદિ રૂપથા પરિણત થાય છે ઘટ પર્યાયમાં પોતાના સામાન્ય મૃત્તિકા સ્વભાવનો પરિત્યાગ ન કરતા થકા જ ઠીકરા અવસ્થાને પ્રાપ્ત કરે છે આવી જ રીતે ઠીકરા વગેરે પર્યાય પણ નાની ઠીકરીઓ ટુકડા શકોરુ સ્થાસ કોશ કુશૂલ , શરાવ ઉદ ચન વગેરે રૂપથી સામાન્ય મૃત્તિકા સ્વભાવનો પરિત્યાગ ન કરતા થકા જ પરિણત થાય છે

આવી જ રીતે પરમાણુ પણ, રસ ગ ધ-સ્પર્શ આદિ રૂપથી, અગર દ્વયણુક વિગેરે સ્કન્ધ રૂપથા પોતાના સ્વરૂપનો ત્યાગ ન કરતા થકા જ પરિણત થાય છે આમ બધાં દ્રવ્ય સદૈવ સૂક્ષ્મ બાદર ઉત્પાદ વ્યયરૂપથી સ્થિતિ અ શ રૂપ સામાન્યનો પરિત્યાગ ન કરતા થકા જ પરિણત થાય છે

પરિણામ બે પ્રકારના છે અનાદિ અને સાદિ અરૂપી ધર્મ અધર્મ આકાશ કાળ અને જીવ આ પાચ દ્રવ્યોમા અનાદિ પરિણામ જણવા જોઈએ,

અસંખ્યાત પ્રદેશવત્ત્વ, લોકાકાશવ્યાપિત્વ, અમૂર્ત્તત્વ, ગમનનિમિત્તત્વ, અગુરુલઘુત્વ વગેરે ધર્માસ્તિકાયના અનાદિ પરિણામ છે અસખ્યાત પ્રદેશવત્ત્વ, લોકાકાશવ્યાપિત્વ, સ્થિતિનિમિત્તત્વ, અધર્માસ્તિકાયના અનાદિ પરિણામ છે અનન્ત પ્રદેશબન્ધ, અમૂર્ત્તત્વ, અગુરુલઘુપર્યાયત્વ, અવગાહ હેતુત્ત્વ વગેરે આકાશના અનાદિ પરિણામ છે આવલિકા આદિ ભૂતકાળ, ભવિષ્યકાળ, વર્ત્તમાનતા આદિ પરત્વ–અપરત્વ આદિ, અમૂર્ત્તત્વ, અગુરુલઘુત્વ આદિ કાળના અનાદિ પરિણામ છે જીવત્વ ભવ્યત્વ આદિ અમૂર્ત્તત્વ તથા જ્ઞાન–દર્શન આદિ જીવના અનાદિ પરિણામ છે

રૂપી પુદ્ગલ દ્રવ્યોમા સાદિ પરિણામ અનેક પ્રકારના કહેવામા આવ્યા છે દા ત દ્વયણુક આદિ સ્કધ રૂપ શબ્દાદિ શુકલ, કૃષ્ણ, રાતો, પીળો વગેરે રસ આદિ જ્યારે બે પરમાણુ સ્વભાવથી દ્વયણુક સ્કધને ઉત્પન્ન કરે છે ત્યારે બને પરમાણુઓમાં જે સ્કધ રૂપ પરિણામ ઉત્પન્ન થાય છે તે સાદિ પરિણામ છે

આવી જ રીતે રૂપી અને ઉત્પાદ–વ્યયવાળા દ્રવ્યોમા રૂપ, રસ, ગધ, સ્પર્શ આદિ રૂપ અનેક પ્રકારના સાદિ પરિણામ હોય છે

સ્પર્શ આઠ પ્રકારના છે—(૧) કર્કશ (કઠોર) મૃદુ (૩) ગુરુ (ભારે) (૪) લઘુ (હલ્કો) (૫) ઠડો (૬) ઉનો (૭) સુવાળો અને (૮) ખરબચડો આમા કર્કશતર કર્કશતમ આદિ સાદિ પરિણામ છે રસ પાંચ પ્રકારના છે—(૧) તીખો (૨) કડવો (૩) તુરો (૪) ખાટો અને (૫) મીઠો તિક્તતર તિક્તતમ વગેરે સાદિ પરિણામ છે ગધ બે પ્રકારની છે—સુગધ અને દુર્ગંધ સુરભિતર આદિ સાદિ પરિણામ છે

વર્ણ, કૃષ્ણ વગેરે પાચ પ્રકારના છે કૃષ્ણતર આદિ સાદિ પરિણામ જાણવા જોઈએ પરતુ પુદ્ગલ દ્રવ્યમા દ્રવ્યત્વ, મૂર્ત્તત્વ, સત્ત્વ આદિ પરિણામ અનાદિ જ હોય છે સાદિ નહી આમ જેવી રીતે રૂપી પુદ્ગલ દ્રવ્યોમાં સાદિ અને અનાદિ બને પ્રકારના પરિણામ પ્રતિપાદન કરવામાં આવ્યા છે તેવી જ રીતે અરૂપી દ્રવ્યોમા પણ સાદિ પરિણામ પણ હોઈ શકે છે જેમ યોગ અને ઉપયોગરૂપ પરિણામ જીવોમા સાદિ હોય છે

"આજ પ્રકારે ધર્મ આદિ અરૂપી દ્રવ્યોમા પણ સાદિ પરિણામની શકયતા છે જેમ, ગતિ કરવાની ઈચ્છાવાળો કોઈ પુરુષ જ્યારે ગતિની શરૂઆત કરે છે ત્યારે ધર્મદ્રવ્ય તેની ગતિમા નિમિત્ત બની જાય છે આ નિમિત્તત્વ બની જવુ ધર્મ દ્રવ્યનો પર્યાય છે જે પહેલા ન હતો હવે ઉત્પન્ન થયો છે આથી આ ગતિ નિમિત્તત્વ પરિણામ સાદિ જ હોઇ શકે છે, અનાદિ નહી તે મૈત્ર નામનો પુરુષ ગતિથી સ્થિર થઈ જાય ત્યારે તે ગતિ નિમિતત્ત્વ પણ રહી જતો નથી આમ ઉત્પાદ" અને વિનાશવાન હોવાથી તે સાદિ છે ઉપગ્રાહ્યના અભાવમા ઉપગ્રાહકત્વ પણ હોતો નથી

આકાશ દ્રવ્ય પણ અવગાહના કરનાર માટે—અવગાહદાન રૂપ પર્યાયથી પરિણત થાય છે તે અવગાહદાન પર્યાય હમણા હમણા ઉત્પન્ન થવાથી સાદિ જ હોઈ શકે છે અનાદિ નહી

કાલદ્રવ્ય પણ વૃત્ત વર્તમાન આદિ પરિણમનથી યુક્ત હોય છે આ પ્રકારે આ પરિણામ દ્રવ્યાર્થિકનયના વ્યાપારથી ધર્મ વગેરેનો સ્વભાવ છે, ધર્માદિથી ભિન્ન નથી.

આમ પરિણામ ક્યાક સ્વાભાવિક હોય છે તો ક્યાંક પ્રયોગિક અને કોઈવાર બને પ્રકારના હોય છે કારણ કે સદ્વસ્તુ તેજ છે જે ઉત્પાદ વ્યય અને ધ્રૌવ્ય લક્ષણવાળી હોય

આવી રીતે અનેકાન્તવાદમાં રૂપી પુદ્ગલ દ્રવ્યોમાં પ્રધાન રૂપથી સાદિ પરિણામ હોવા છતા પણ કવચિત્ અનાદિ પરિણામ પણ ઘટિત થાય છે અને તેવી જ રીતે અરૂપી ધર્માદિ દ્રવ્યોમા પ્રધાન રૂપથી અનાદિ પરિણામ હોવા છતા પણ કથચિત્ સાદિ પરિણામ પણ ઘટિત થાય છે

કોઈ—કોઈ એ કહ્યુ છે કે રૂપી પુદ્ગલ દ્રવ્યોમા જ સાદિ પરિણામ થાય છે અરૂપી ધર્મ આદિ દ્રવ્યોમાં થતુ નથી, તેમનુ કથન યથાર્થ નથી તેમના મત અનુસાર અરૂપી દ્રવ્યોમા પર્યાયાશ્રયી વ્યવહારના અભાવની મુશ્કેલી હોય છે અને આમ હોવાથી ઉત્પાદ–વ્યય આદિ લક્ષણની સગતિ બેસતી નથી આથી પરિણામના અભાવનો જ પ્રસગ થઇ જાય છે

ધર્મ આદિ અરૂપી દ્રવ્યોને અપરિણામી માની લેવાથી તેમના સ્વરૂપ અચોક્કસ થઈ જશે, કારણ કે તેઓ સ્વત ઉત્પાદ અને વ્યય પરિણામથી રહિત છે, આથી મૂર્ત્ત અને અમૂર્ત્ત બધા દ્રવ્યોમા કોઈ પરિણામ સાદિ હોય છે કોઈ અનાદિ હોય છે, એવુ સ્વીકારવું જોઈએ.

અરૂપી જીવોમા જેમા જીવત્વ ભવ્યત્વ અને અભવ્યત્વ એ અનાદિ પરિણામ છે તેવી જ રીતે યોગ તથા ઉપયોગ આદિમાન્ પરિણામ પણ છે

પુદ્ગલ દ્રવ્યના સબધથી આત્માના વીર્યનું સ્ફુરણ થવુ યોગ કહેવાય છે તે કાયા વચન અને મન રૂપથી આત્માની શકિત વિશેષની ઉત્પત્તિ છે ચૈતન્ય સ્વરૂપ આત્માનો જ્ઞાન દર્શન દ્વારા પ્રણિધાન આદિ રૂપ પોતાના વિષયને ગ્રહણ કરવાનો જે વ્યાપાર છે તે ઉપયોગ કહેવાય છે સમાધિને પણ ઉપયોગ કહે છે તેના દ્વારા થનારા પદાર્થનો પરિચ્છેદ પણ ઉપયોગ કહેવાય છે આ ઉપયોગના રૂપમા આત્માનુ પરિણામ થાય છે

ઉપયોગ બાર પ્રકારના છે જીવનો સ્વભાવ જે ઉપયોગ છે તે મૂળમા બે પ્રકારનો છે—સાકાર અને અનાકાર બનેના મળીને બાર ભેદ થાય છે—(૧) મતિજ્ઞાન (૨) શ્રુતજ્ઞાન (૩) અવધિજ્ઞાન (૪) મન. પર્યયજ્ઞાન (૫) કેવળજ્ઞાન (૬) મતિ–અજ્ઞાન અર્થાત્ કુમતિજ્ઞાન (૭) શ્રુત–અજ્ઞાન (૮) વિભગજ્ઞાન અર્થાત્ કુઅવધિજ્ઞાન (૯) ચક્ષુદર્શન (૧૦) અચક્ષુ દર્શન (૧૧) અવધિદર્શન તથા (૧૨) કેવળદર્શન

યોગના ૧૫ ભેદ આ છે—(૧) ઔદારિક કાયયોગ (૨) વૈક્રિય કાયયોગ (૩) આહારક કાયયોગ (૪) ઔદારિક મિશ્ર કાયયોગ (૫) વૈક્રિયમિશ્ર કાયયોગ (૬) આહારક મિશ્રકાયયોગ (૭) કાર્મણ કાયયોગ (૮) સત્યવચનયોગ (૯) અસત્યવચનયોગ (૧૦) મિશ્રવચનયોગ (૧૧) વ્યવહાર–અસત્યા મૃષાવચનયોગ (૧૨) સત્યમનોયોગ (૧૩) અસત્ય મનોયોગ (૧૪) મિશ્રમનોયોગ અને (૧૫) અસત્યામૃષા મનોયોગ

આત્મા કાયા વગેરે સેકડો પ્રકારના પુદ્ગલોની સાથે સબધ હોવાનો કારણે અનેક પ્રકારની ગતિકથન તથા ચિતન વગેરે ક્રિયાઓ કરે છે તે સમયે તેની તેજ રૂપમા પરિણતિ થઈ જાય

છે તે દૂધ તથા પાણીની જેમ અથવા માટી અને ઘડાની જેમ એકાકાર થઈ જાય છે તદ્ રૂપમાં પરિણત થાય છે.

પ્રજ્ઞાપના સૂત્રના ૧૩માં પરિણામ પદના ૧૮૧મા સૂત્રમા કહ્યુ છે—પરિણામ બે પ્રકારના કહ્યાં છે. તે આ મુજબ છે—

જીવ પરિણામ અને અજીવ પરિણામ ॥૩૧॥

શ્રી જૈન શાસ્ત્રાચાર્ય જૈન ધર્મદિવાકર પૂજ્યશ્રી ઘાસીલાલજી
મહારાજ વિરચિત તત્ત્વાર્થ સૂત્રની દીપિકા તથા
નિર્યુક્તિ નામની વ્યાખ્યાના ગુજરાતી
ભાષાંતરનો બીજો અધ્યાય
સમાપ્ત ॥૨॥

ત્રીજો અધ્યાય

'सकसाय जीवस्स कम्मजोगा पोग्गलाणं वन्धो'

મૂળસૂત્રાર્થ:—કષાયયુક્ત જીવ કર્મયોગ પુદ્ગલોને ગ્રહણ કરે છે તે જ બન્ધ કહેવાય છે ॥૧॥

તત્વાર્થદીપિકા—પ્રથમ સૂત્રમાં કથિત નવ તત્ત્વોમાથી ઉત્તરાધ્યયન સૂત્રના ૨૮મા અધ્યયન અનુસાર ક્રમપ્રાપ્ત ત્રીજા બન્ધતત્ત્વની પ્રરૂપણા કરવા માટે કહીએ છીએ

જે જીવોને ખેચીને દુર્ગતિમાં ફેકે છે તેમને કષાય કહે છે અથવા જે જીવોને કષે છે અર્થાત્ પીડા પહોચાડે છે તેમને કષાય કહે છે 'કષ'નો અર્થ થાય છે જ્ઞાનાવરણ આદિ આઠ પ્રકારના કર્મ અથવા સસાર, તેમનો જેનાથી આય—લાભ થાય અર્થાત્ જેના કારણે જ્ઞાનાવરણીય આદિ કર્મોનો બંધ થાય અગર જન્મ-મરણ રૂપ સસારની પ્રાપ્તિ થાય તે કષાય છે ક્રોધ, માન, માયા અને લોભ આ ચાર કષાય છે

કષાયયુક્ત જીવ સકષાય કહેવાય છે સકષાય જીવ કર્મના યોગ્ય પુદ્ગલોને અર્થાત્ કાર્મણ વર્ગણાના પુદ્ગલોને ગ્રહણ કરે છે અર્થાત્ અન્ય પ્રદેશોની સાથે એકમેક કરી લે છે, તે બધ કહેવાય છે

જીવ અને કર્મનો સબધ અનાદિ કાળથી ચાલ્યો આવે છે કર્મના ઉદયના કારણે જીવ કષાયયુક્ત થાય છે જ્યારે જીવ કર્મથી સર્વથા રહિત થઈ જાય છે ત્યારે કષાયના લેપનો સભવ નથી આથી જીવ અને કર્મના અનાદિ કાળના સબધના કારણે જ સ્વભાવથી અમૂર્ત્ત જીવ પણ મૂર્ત્ત કર્મ દ્વારા બધાઇ રહ્યો છે

જો બન્ધનુ આદિ માનીએ તો તેનાથી પૂર્વ જીવને સિદ્ધની માફક અત્યત શુદ્ધ માનવો પડશે અને એમ કરવાથી બધના અભાવનો પ્રસગ આવી ઉભો રહેશે

જેમ કોઇ વિશિષ્ટ પાત્રમાં રાખેલા વિવિધ પ્રકારના રસ, બીજ, પુષ્પો તથા ફળાદિનુ દારુના રૂપમાં પરિણમન થઇ જાય છે તેવી જ રીતે કર્મ વર્ગણાના પુદ્ગલોનો યોગ કષાયના કારણે કર્મરૂપમાં પરિણમન થઇ જાય છે (૧)

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પ્રારભમા પ્રતિપાદિત જીવ અજીવ, બધ વગેરે નવ તત્ત્વોમાંથી પ્રથમ અને દ્વિતીય અધ્યયનમા ક્રમથી જીવ અને અજીવ તત્ત્વનુ પ્રરૂપણ કરવામા આવ્યું. ત્યારબાદ ક્રમથી પ્રાપ્ત બધ તત્ત્વની પ્રરૂપણા અર્થે કહીએ છીએ—

અનન્તાનુબન્ધી ક્રોધ, માન, માયા તથા લોભ વગેરેના ભેદથી કષાય સોળ પ્રકારના છે. જે કષાયથી જોડાયેલા હોય તે સકષાય કહેવાય છે ,કષાયયુક્ત જીવ કર્મને યોગ્ય અર્થાત્ કાર્મણ વર્ગણાના પુદ્ગલોને ગ્રહણ કરે છે આ જ બધ કહેવાય છે

આત્મપ્રદેશોનુ અને કાર્મણજાતિના પુદ્ગલોનુ પરસ્પરમાં બધાવુ , એકમેક થઈ જવુ એવો બધ શબ્દનો અર્થ થાય છે બધ થવાથી આત્મપ્રદેશ અને કર્મ પુદ્ગલ દૂધ તથા પાણીની જેમ ભળી જાય છે પ્રકૃતિ બધ વગેરેના ભેદથી બધના ચાર પ્રકાર છે

અથવા જેના વડે આત્મા બંધાય—પરાધીન કરાય તે પુદ્ગલનુ પરિણમન બંધ કહેવાય છે રાગદ્વેષ વગેરેથી યુકત આત્મપ્રદેશોમાં કાર્મણ—પુદ્ગલોનો આશ્લેષ થવો બંધ છે

જે આત્માને દુર્ગતિમા નાખીને તેનો ઘાત કરે છે તે કષાય છે. આ કષાય શબ્દ 'कष-हिंसायाम्' ધાતુથી બન્યો છે કષાયના ક્રોધ માન, માયા તથા લોભ એ ચાર મુખ્ય ભેદ છે

હેમકોશ અનુસાર કષાય શબ્દના અનેક અર્થ છે, જેમકે સુરભિ, રસ, રાગ, વસ્તુ, નિર્યાસ, ક્રોધદિ તથા વિલેપન

જીવનો અર્થ છે આત્મા જે સ્થિતિ, ઉત્પત્તિ, તથા વ્યય રૂપ પરિણામથી યુક્ત છે તે જીવ કર્તા છે તે કર્તા હોવાથી જ કર્મના બંધ તથા ફળનો અનુભવ સંભવીત થઈ શકે છે

કર્મ શબ્દનો અર્થ છે—જે કરવામા આવે તે કર્મ કર્મના આઠ ભેદ છે જ્ઞાનાવરણ દર્શનાવરણ, વેદનીય, મોહનીય, આયુષ્ય, નામ, ગોત્ર, અન્તરાય,

ઔદારિક વગેરે આઠ પ્રકારની પુદ્ગલની વર્ગણાઓ છે તે પૈકી કાર્મણ વર્ગણાના પુદ્ગલ જ કર્મરૂપમા પરિણત થવાને યોગ્ય હોય છે અનન્તાનન્ત પ્રદેશી અને ચાર સ્પર્શ વાળા જ પુદ્ગલ આત્મપ્રદેશોમા ભળી જાય છે જેમ તેલથી ચિકણા શરીર પર રજકણ ચોટી જાય તેમ આને જ બંધ કહેવામા આવે છે

મિથ્યાદર્શન આદિના આવેશથી આત્મા તદ્ રૂપમાં પરિણત થાય છે આ પરિણમન ક્રિયા જ કર્મોના લાગવાનુ કારણ છે તે ક્રિયાનો કર્તા આત્મા છે. આત્માની ક્રિયાથી ઉત્પન્ન થનારા કર્મ આઠ પ્રકારના છે હવે પછી કહેવામા આવનારા મિથ્યાદર્શન આદિ કર્મબન્ધના સામાન્ય કારણ છે તેમનુ મુખ્ય કારણ તો ક્રોધ વગેરે કષાય જ છે આથી જ અત્રે કષાયને ગ્રહણ કરવામા આવ્યા છે

ક્રોધન અર્થાત્ કોપ થવો ક્રોધ છે અથવા જેને લીધે જીવ ગુસ્સે થઈ જાય તે ક્રોધ કહેવાય છે આ ક્રોધ અક્ષમારૂપ અર્થાત્ ક્ષમાનો વિરોધી છે, સ્વાત્મા અને પરમાત્મા પ્રત્યે અપ્રીતિરૂપ છે અને ક્રોધ મોહનીય કર્મના ઉદયથી ઉત્પન્ન થનારા જીવનુ એક પ્રકારનુ પરિણમન છે તે કૃત્ય અને અકૃત્યના વિવેકનો નાશ કરનાર છે, અગ્નિરૂપ હોય છે

પોતાનાથી અન્યને હલકો માનવો તે માન છે આ અહંકારરૂપ આત્માની એક પરિણતિ છે

જેના વડે છેતરાવાય છે અથવા જેના દ્વારા લોકોને નરક વગેરેમા નાખવામા આવે છે તે માયા છે અથવા જેમા સઘળા અવગુણ આવી જાય છે—સમાઈ જાય છે—તે માયા છે બીજાને છેતરવા માટે જે અશુદ્ધ પ્રયોગ અર્થાત્ છદ્મ પ્રયોગ કરવામા આવે છે તે સઘળી માયા છે

જેના દ્વારા આત્મા વ્યાકુળ કરાય છે તે લોભ કહેવાય છે તેના બે ભેદ છે—આકાક્ષા અને ગૃદ્ધિ અપ્રાપ્ત વસ્તુની કામના થવી આકાક્ષા છે અને પ્રાપ્ત વસ્તુ પરત્વે આસક્તિ થવી તે ગૃદ્ધિ છે લોભને તૃષ્ણા પિપાસા, અભિષ્વંગ આસ્વાદ ગાર્ધ્ય વગેરે પણ કહે છે

ઉપર જણાવેલા ક્રોધ આદિ એક—એક કષાય પણ અનન્ત સંસાર ભ્રમણનુ કારણ હોય છે આ ચારે કષાયો અત્યન્ત પાપમય છે, સંસારના કારણ છે, ભવની પ્રાપ્તિના મૂળ કારણ છે, જન્મ-જરા રૂપ સંસાર સ્થિતિના નિદાન છે, પ્રાણીઓ માટે અત્યન્ત કષ્ટજનક છે અને

નિરપરાધ વેરી છે દશવૈકાલિક સૂત્રના ૮માં અધ્યયનના બીજા ઉદ્દેશકની ૪૦ મી ગાથામા કહ્યુ છે—

ક્રોધ અને માન જો નિગૃહીત ન કરવામાં આવે તેમજ માયા તથા લોભ જો વધતા ગયા તો આ ચારેય કષાયો પુનર્ભવના મૂળનુ જ સિચન કરે છે વળી કહે છે—

લોકમા જે અત્યન્ત દુ ખ છે અને ત્રણે લોકમાં જે ઉત્તમ સુખ છે તે કષાયોની વૃદ્ધિ અને ક્ષયના કારણે જ જાણવા જોઈએ. તાત્પર્ય એ છે કે કષાયોની વૃદ્ધિથી દુ ખ અને ક્ષયથી ઉત્તમ સુખની ઉપલબ્ધિ થાય છે

આત્મામા કષાય-પરિણામ ત્યારે જ શક્ય છે જ્યારે તેને પરિણમનશીલ માનવામા આવે જો આત્માને અપરિણામી, સર્વવ્યાપી અને નિષ્ક્રિય માનવામા આવે તો તેમા કષાય-પરિણામ થઈ શકતુ નથી આથી પરિણામશીલ આત્મામાં જ કષાયપરિણામક સભવીત છે— કહ્યુ પણ છે—

ભગવાન મહાવીરના મતાનુસાર જીવ કર્મબન્ધનથી બદ્ધ છે અને કર્તા આત્માની સાથે કર્મપ્રવાહની અપેક્ષા અનાદિ કાળથી લાગેલા પડયા છે

સસાર અનાદિ કાળથી છે આથી કર્મબન્ધ પણ અનાદિકાલીન જ સિદ્ધ થાય છે આ કારણે જ કર્મ મૂર્ત્ત છે, જે અમૂર્ત્ત હોય છે તે બન્ધકર્ત્તા હોતા નથી ॥ ૨ ॥

મનુષ્ય પ્રારભમાં જે દેહ ધારણ કરે છે તે હેતુરહિત નથી તેનુ કોઈને કોઈ કારણ તો હોવુ જ જોઇએ જો કારણ વગર જ દેહનુ ગ્રહણ માનવામા આવે તો સસારથી કદી પણ મોક્ષ જ થઇ શકત નહી

અર્હન્ત ભગવત કર્મને મૂર્ત્ત માને છે કારણકે કર્મનું ફળ (શરીર વગેરે) મૂર્ત્ત જોવામાં આવે છે અને તેની ઉદીરણા તથા ઉપનામનુ થવુ પણ જોવામાં આવે છે ॥ ૪ ॥

જો કર્મ રૂપી ન હોત તો આત્માની સાથે બદ્ધ ન હોવાથી આત્માની સાથે રહી ન શકત જો કર્મ બદ્ધ છે તો તેમનુ રૂપપણુ પણ સિદ્ધ થઈ શકે છે ॥ ૫ ॥

આમ કર્મનુ મૂર્ત્ત થવુ સિદ્ધ થઈ જાય છે પરન્તુ બધા પુદ્ગલ કર્મને યોગ્ય હોય છે એવુ સમજી લેવુ ન જોઈએ માત્ર કાર્મણવર્ગણાના પુદ્ગલ જ જે અન્ય સમસ્ત વર્ગણાઓની અપેક્ષા સૂક્ષ્મ હોય છે તે જ કર્મ રૂપમા ગ્રહણ કરવામાં આવે છે જે આત્માએ કર્મોના આગમનના દ્વારોને—આશ્ર-મિથ્યાત્વ, અવિરતિ વગેરેને રોકયા નથી તે અતિ સૂક્ષ્મ અને અતિ સ્થૂળ, પુદ્ગલોને, જેઓ બન્ધને યોગ્ય હોતા નથી, તેમને છોડી દઈને અનન્તપ્રદેશી કર્મ યોગ્ય પુદ્ગલસ્કન્ધોને જ કર્મના રૂપમા ગ્રહણ કરે છે કહ્યુ પણ છે—

જીવ અત્યન્ત સૂક્ષ્મ અને અત્યન્ત બાદર પુદ્ગલ સ્કન્ધોને ગ્રહણ કરવામા સમર્થ હોતો નથી અણુ અને શર્કરા કદી આ રૂપથી જીવની સાથે બદ્ધ થતા નથી

કોઈ પુદ્ગલ અણુરૂપ અને કોઈ સ્કન્ધરૂપ હોય છે અત્યન્ત સૂક્ષ્મ પરિણામવાળા કોઈ-કોઈ પુદ્ગલ એક-એક પ્રદેશની વૃદ્ધિ થતા-થતા અનન્તપ્રદેશી થઈ જાય છે જિનેન્દ્ર ભગવન્તોએ કહ્યુ છે કે કેટલાક અનન્તપ્રદેશી સ્કન્ધ પણ અગ્રાહ્ય હોય છે ॥ ૨ ॥

તે સ્કન્ધોમા પણ એક-એક પ્રદેશની વૃદ્ધિ થઈને, જે પાચ રસ, પાચ વર્ણ બે ગ ધ અને ચાર સ્પર્શવાળા અગુરૂ લઘુ અવસ્થિત અને જીવપ્રદેશોની સાથે એક જ ક્ષેત્રમા અવગાહ હોય અને કર્મરૂપમા પરિણત થવાને યોગ્ય હોય તે જ પુદ્ગલકર્મરૂપમા ગ્રહણ કરવામા આવે છે. ॥ ૪ ॥

અભવ્ય જીવોની રાશિથી અનન્તગુણુ અને સિદ્ધોથી અનન્તમા ભાગ પરમાણુ મળીને એક સ્કન્ધ (પિન્ડ)ના રૂપમા પરિણત થયા હોય, આ સ્કન્ધોનુ પરિણામ છે ॥ ૫ ॥

ઔદારિક આદિ શેષ પુદ્ગલદ્રવ્યોને ગ્રહણ કરવાની પણ આવી જ વિધિ કહેવામા આવી છે ઔદારિક વર્ગણાના બધા સ્કન્ધ અલ્પ પ્રદેશોવાળા હોય છે ॥ ૬ ॥

તે ઔદારિક શરીરને યોગ્ય સ્કન્ધોની અપેક્ષા વૈક્રિય શરીરને યોગ્ય સ્કન્ધ પ્રદેશોની અપેક્ષા અસખ્યાતગણા અધિક હોય છે અને વૈક્રિય શરીરની અપેક્ષા આહારક શરીરને યોગ્ય સ્કન્ધ પ્રદેશોની અપેક્ષા અસખ્યાતગણા હોય છે ॥ ૭ ॥

આહારક શરીરને યોગ્ય સ્કન્ધોની અપેક્ષા ક્રમશ અનન્તગુણિત પ્રદેશોવાળા સ્કન્ધ તૈજસ શરીરને યોગ્ય હોય છે તૈજસ શરીરના યોગ્ય સ્કન્ધોથી અનન્તગુણિત પ્રદેશોવાળા, સ્કન્ધ ભાષાના તેમનાથી અનન્તગુણિત પ્રદેશોવાળા સ્કન્ધ પ્રાણાપાનના, તેમનાથી અનત ગુણિત પ્રદેશોવાળા સ્કન્ધ કર્મને યોગ્ય હોય છે ॥ ૮ ॥

કષાયયુક્ત જીવ ઔદારિક, વૈક્રિય, આહારક, તૈજસ, ભાષા, પ્રાણાપાન મન અને કર્મ-વર્ગણાના ભેદથી આઠ પ્રકારના, પરમાણુ દ્વિપ્રદેશી સ્કન્ધ આદિથીલઈને સર્વલોકવ્યાપી અચિત્ત મહાસ્કન્ધ સુધી પુદ્ગલોમાથી જ્ઞાનાવરણ દર્શનાવરણ, વેદનીય, મોહનીય નામ ગોત્ર આયુ અને અન્તરાય કર્મવર્ગણાના અનુરૂપ સૂક્ષ્મ પરિણમનવાળા પુદ્ગલોને જ ગ્રહણ કરે છે, બાદર પરિણમનને યોગ્ય પુદ્ગલોને નહીં આત્મા જ્ઞાનના આવરણમાં સમર્થ તે પુદ્ગલોને ગ્રહણ કરે છે

જે કર્મ જ્ઞાનને આચ્છાદિત કરે છે તે જ્ઞાનાવરણ કહેવાય છે એવી જ રીતે જે દર્શન ગુણને ઢાંકી દે છે તેને દર્શનાવરણ કર્મ કહેવાય છે આવી જ રીતે જ્ઞાન વગેરે ગુણોને ઢાંકી દેવા માટે સમર્થ કર્મ પુદ્ગલોની જ્ઞાનાવરણ આદિ સજ્ઞાઓ પ્રસિદ્ધ છે

આમ આત્માના પ્રદેશો સાથે કર્મપુદ્ગલોનુ એકમેક થઈ જવુ બન્ધ કહેવાય છે

કાર્મણ શરીર આત્માની સાથે એકમેક થઈ રહ્યુ છે, યોગ અને કષાયથી યુકત આત્મા જ્ઞાનાવરણ વગેરે કર્મોને યોગ્ય પુદ્ગલોને ગ્રહણ કરે છે આથી કાર્મણ શરીર દ્વારા કર્મયોગ્ય પુદ્ગલોનુ ગ્રહણ કરવુ તે બ ધ કહેવાય છે જેમ દીવો પોતાની ઉષ્ણતાને લીધે વાટ વડે તેલ ગ્રહણ કરીને જ્યોતિના રૂપમા પરિણત કરે છે ઠીક તેવી જ રીતે આત્મારૂપી દીવડો રાગ દ્વેષ વગેરે ગુણોના યોગથી કષાય અને યોગરૂપી દીવાથી જ્ઞાનાવરણ આદિ કર્મોને યોગ્ય પુદ્ગલ સ્કન્ધોને ગ્રહણ કરીને જ્ઞાનાવરણ આદિ કર્મોના રૂપમા પરિણત કરે છે

જેવી રીતે તેલથી ચોળાયેલા શરીર પર તથા પાણીથી ભીજાયેલા વસ્ત્રોમા ધૂળ તથા રેતીના કણ ચોટી જાય છે અને શરીર અગર વસ્ત્રને ગ દા બનાવે છે તેવી જ રીતે રાગાદિની સ્નિગ્ધતાથી (ચિકાશ) ચીકણો બનેલો આત્મા નવીન કર્મોને ગ્રહણ કરવાને યોગ્ય હોય છે,

કહેવાનુ એ છે કે આત્મા અને શરીરના એકમેક થવાથી આભોગવીર્ય દ્વારા કર્મનો બધ થાય છે કહ્યું પણ છે—

આ પ્રાયોગિક બંધ કર્ત્તાના સામર્થ્યથી ઉત્પન્ન થાય છે અને તેના અનાભોગિક વીર્યથી માનેલ છે ॥૧॥

અનાભોગિક વીર્ય દ્વારા રસને પચાવીને તે અનાભોગિક વીર્ય દ્વારા જ તેને ધાતુરૂપમા પરિણત કરે છે. ॥૨॥

જેમ ઘડા વગેરેમાં થનારા માટીના અવયવ પિન્ડમાં સમાયેલા હોય છે તેવી જ રીતે જ્ઞાનાવરણીય આદિ કર્મોના દેશ (અવયવ) પણ સમજી લેવા જોઈએ

કર્મ જો કે સમાહિત તથા અવિભકત છે—કાર્મણ વર્ગણા દ્રવ્યની અપેક્ષાથી એક રૂપ છે તો પણ જિનેન્દ્રોએ પ્રકૃતિના ભેદથી તેને આઠ પ્રકારના જોયા છે અર્થાત્ કર્મની પ્રકૃતિઓ આઠ હોવાથી કર્મના આઠ ભેદ માન્યા છે. ॥૪॥

જેમ પુદ્ગલત્વની અપેક્ષાથી બધા પુદ્ગલ દ્રવ્ય સરખા છે તો પણ તેમના વિપાકમાં તફાવત જોવામા આવે છે કોઈ દ્રવ્ય પિત્તકારી, કોઈ કફજનક તો કોઈ વાયુવર્ધક હોય છે એવી રીતે ગુણ ભેદ હોવાથી તે-તે દ્રવ્યોમા પણ ભેદ માનવામા આવે છે આવી જ રીતે કર્મોમાં પણ પ્રકૃતિના ભેદથી ભેદ માનવામાં આવ્યા છે.

જે કર્મની જેવી પ્રકૃતિ (ગુણ સ્વભાવ) છે તેના ફળ પણ તેવાજ હોય છે જાબુના વૃક્ષમાં લીંબોળી લાગતી નથી અને લીમડાના વૃક્ષમા જાબુ થઈ શકતા નથી

ઠીક આવી જ રીતે જુદા જુદા પ્રકારના પોતાના પ્રયોગ રૂપી જળથી સીંચેલ કર્મ રૂપી વૃક્ષ પણ પોતપોતાના સ્વભાવ અનુસાર જુદા જુદા પ્રકારના ફળોને ઉત્પન્ન કરે (૭)

સમવાયાગ સૂત્રના પાંચમાં સમવાયમાં કહે છે—
યોગથી થનારો બધ અને કષાયથી થનારો બધ

આવી જ રીતે સ્થાનાંગસૂત્રના બીજા સ્થાનના બીજા ઉદ્દેશકમાં કહ્યુ છે—પાપકર્મોનો બન્ધ બે કારણોથી થાય છે—રાગદ્વેષથી રાગ બે પ્રકારના છે—માયા અને લોભ દ્વેષ પણ બે પ્રકારના કહેવામા આવ્યા છે—ક્રોધ અને માન પ્રજ્ઞાપના સૂત્રના ૨૩ માં પદમાં આવી જ રીતનું પ્રરુપણ કરવામા આવ્યુ છે (સૂ ૧)

'सो चउव्विहो पगइ-ठिइ-अणु- पएसभेयओ' ઇત્યાદિ

મૂળસૂત્રાર્થ—બન્ધ ચાર પ્રકારના છે—પ્રકૃતિબન્ધ, સ્થિતિબન્ધ, અનુભાગબન્ધ અને પ્રદેશબન્ધ ॥૨॥

તત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વ સૂત્રમા કથિત બન્ધ એકજ પ્રકારનો છે કે અનેક પ્રકારનો ? એવી જિજ્ઞાસા થવાથી કહીએ છીએ. બન્ધના ચાર ભેદ છે (૧) પ્રકૃતિબન્ધ (૨) સ્થિતિબન્ધ (૩) અનુભાગબન્ધ તથા (૪) પ્રદેશબન્ધ

૧. પ્રકૃતિબન્ધ—પ્રકૃતિનો અર્થ છે—અશ અથવા ભેદ તેના જ્ઞાનાવરણ વગેરે આઠ ભેદ છે તેમનુ બન્ધ થવું પ્રકૃતિબન્ધ કહેવાય છે અથવા અવશિષ્ટ-સાધારણ જે કર્મદ્રવ્ય છે તેમાં

જુદા જુદા પ્રકારની પ્રકૃતિઓ અર્થાત જ્ઞાનાદિ ગુણોને આવૃત્ત કરવાના વિભિન્ન સ્વભાવોનુ ઉત્પન્ન થઇ જવુ પ્રકૃતિબન્ધ છે

૨ સ્થિતિબન્ધ--પરિણામ વિશેષ દ્વારા ગ્રહણુ કરેલા કર્મના દલિકોની આત્માની સાથે બધાયેલા રહેવાની કાળ મર્યાદાને સ્થિતિબન્ધ કહે છે અથવા જ્ઞાનાવરણીય આદિ આઠ કર્મ-પ્રકૃતિઓના જઘન્ય આદિ ભેદથી ભિન્ન અવસ્થાનનું નિર્વર્તન સ્થિતિબન્ધ કહેવાય છે

૩ અનુભાગબન્ધ--અનુભાગ અર્થાત્ ગૃહીત કર્મ દલિકોમાં ઉત્પન્ન થનારા તીવ્ર અગર મદ રસ, તેનો બન્ધ અનુભાગબન્ધ કહેવાય છે

૪ પ્રદેશબન્ધ—જીવપ્રદેશોમાં, કર્મપ્રદેશોમાં અનન્ત કર્મપ્રદેશોનુ પ્રત્યેક પ્રકૃતિમાં નિયત પરિમાણના રૂપમા સબધ થવો પ્રદેશબન્ધ છે કર્મદલિકોનો સચય પ્રદેશબન્ધ કહેવાય છે. આથી સ્થિતિ અને રસની અપેક્ષા ન રાખતા દલિકોની સખ્યાની પ્રધાનતાથી જ જે બન્ધ થાય તેને પ્રદેશબન્ધ સમજવો જોઈએ કહ્યુ પણ છે

પરિણામને પ્રકૃતિ કહે છે કાળની અવધિને સ્થિતિ કહે છે, રસને અનુભાગ અને દલિકોના સમૂહને પ્રદેશ કહે છે

આ ચાર પ્રકારના બન્ધોમાં પ્રકૃતિ અને પ્રદેશબન્ધ યોગના નિમિત્તથી થાય છે તથા સ્થિતિબન્ધ તથા અનુભાગબન્ધ કષાયના નિમિત્તથી થાય છે યોગ અને કષાયની તીવ્રતા અને મન્દતાના ભેદથી બન્ધમાં જુદાઈ થઈ જાય છે કહ્યુ પણ છે—'યોગથી પ્રકૃતિ અને પ્રદેશબન્ધ તથા કષાયથી સ્થિતિ અને અનુભાગબન્ધ જીવ કરે છે જે જીવનો યોગ અને કષાય અપરિણુત હોય છે અથવા નાશ પામે છે, તેને વિશેષ સ્થિતિબન્ધનું કારણ રહેતુ નથી

ઉપશાન્ત કષાય વીતરાગ અર્થાત્ ૧૧ મા ગુણસ્થાનકના જીવ અપરિણુત યોગ કષાયવાળા કહેવાય છે અને ક્ષીણ કષાય આદિ જીવ વિનષ્ટ યોગ-કષાયવાળા કહેવાય છે આવા જીવોનો જે કર્મબન્ધ થાય છે તેમા બે સમયથી અધિક સ્થિતિ પડતી નથી ॥ સૂ ૨ ॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પાછલા સૂત્રોમાં પ્રતિપાદિત બન્ધ શુ એક પ્રકારનો છે કે અનેક પ્રકારનો ? એવી આશકા થવા પર કહીએ છીએ—

પૂર્વોક્ત કર્મબન્ધ ચાર પ્રકારનો કહેવામાં આવ્યા છે (૧) પ્રકૃતિબન્ધ (૨) સ્થિતિબન્ધ (૩) અનુભાગબન્ધ (૪) પ્રદેશબન્ધ પ્રકૃતિનો અર્થ છે—મૂળ કારણ અહી તેનો આશય સ્વભાવ છે જેમ-શીતળતા એ પાણીનો સ્વભાવ છે અથવા આ પુરૂષ દુષ્ટ પ્રકૃતિ છે એનો અર્થ છે આ પુરૂષ નઠારા સ્વભાવવાળો છે એવી ઉક્તિ લોકમા પ્રસિદ્ધ છે.

જ્ઞાનાવરણ કર્મની પ્રકૃતિ અથવા સ્વભાવ જ્ઞાનને આચ્છાદિત કરે છે આ કારણે જ્ઞાનાવરણ કર્મના ઉદયથી પદાર્થોના જ્ઞાનનો અભાવ હોય છે । દર્શનાવરણ કર્મના ઉદયથી પદાર્થોના આલોચન (સામાન્ય જ્ઞાન)નો અભાવ હોય છે, એજ પ્રકારે વેદનીય આદિ કર્મોની પણ વિભિન્ન પ્રકૃતિઓ સમજી લેવી જોઈએ સ્વભાવનો વાચક પ્રકૃતિ શબ્દ સ્વભાવનો સાધક છે. પ્રકૃતિરૂપ બધને પ્રકૃતિ બધ કહેવાય છે

જ્ઞાનાવરણ વગેરે કર્મોનો આત્મપ્રદેશોની સાથે એકમેક થવુ તે બન્ધ છે તેનો પોતાના સ્વભાવથી ચ્યુત ન થવુ સ્થિતિ છે તાત્પર્ય એ છે કે આત્મપ્રદેશોની સાથે કર્મ પુદ્ગલોના બદ્ધ રહેવાના કાળની જે અવધિ છે, તે સ્થિતિબન્ધ છે સ્થિતિ શબ્દ પણ ભાવસાધન છે અર્થાત્ રોકાવુ તેને સ્થિતિ કહે છે ગૃહીત વસ્તુને રોકાવવાના સમયની મર્યાદા સ્થિતિ કહેવાય છે જેમ ગાય વગેરેના દૂધની મીઠાશ—સ્વભાવથી વેગળા ન થવુ તે સ્થિતિ છે તેજ પ્રકારે જ્ઞાનાવરણીય આદિ કર્મોથી જ્ઞાનાચ્છાદન આદિ સ્વભાવથી અલગ ન બનવુ તે સ્થિતિ છે તારણ એ છે કે આત્મા દ્વારા ગ્રહણ કરેલી કર્મ–પુદ્ગલોની રાશિનુ આત્મપ્રદેશોમા અવસ્થિત રહેવુ સ્થિતિ છે તેના દ્વારા અગર તેના રૂપમાં થનાર બન્ધ સ્થિતિબન્ધ છે

અનુભાગ અર્થાત્ અનુભાવ કર્મ પુદ્ગલોમા રહેલુ એક વિશેષ પ્રકારનુ સામર્થ્ય અનુભાગ છે તાત્પર્ય એ છે કે ગ્રહણ કરવામા આવતા કર્મ પુદ્ગલોમાં તીવ્ર, તીવતર. તીવ્રતમ અથવા મદ, મદતર અને મદતમ ફળ પ્રદાન કરવાની જે શકિત ઉત્પન્ન થાય છે તેને અનુભાગ બન્ધ કહે છે કર્મોનો અનુભાવ કષાયની તીવ્રતા–મન્દતા અનુસાર થાય છે અને આ કારણથી જ તે અનેક પ્રકારનો છે કોઈ અનુભાગ દેશઘાતી તો કોઇ સર્વઘાતી હોય છે કોઈ એક સ્થાનક, કોઈ દ્વિસ્થાનક, કોઇ ત્રિસ્થાનક તો કોઈ ચતુ સ્થાનક હોય છે.

આત્માના પ્રદેશોમા કર્મ પુદ્ગલ દ્રવ્યના પરિણામનો પરિચ્છેદ પ્રદેશબન્ધ છે

આમ આત્માના અધ્યવસાયોના કારણે પુદ્ગલોનુ પરિણમન વિચિત્ર પ્રકારનુ થાય છે જેમ લાડવો વાયુ અને પિત્તને હરવાવાળો બુદ્ધિવર્ધક, સમોહકારી હોય છે, વગેરે રૂપથી જીવના સયોગથી તે જુદા જુદા આકારોમા પરિણત થાય છે એવી જ રીતે કર્મ વર્ગણાના પુદ્ગલોની કોઇ રાશિ આત્માના સબધથી જ્ઞાનનુ આવરણ કરે છે, કોઈ દર્શનનુ આવરણ કરે છે કોઈ સુખ–દુખની અનુભૂતિનુ કારણ હોય છે, કોઈ તત્ત્વોના વિષયમા અશ્રદ્ધા ઉત્પન્ન કરે છે વગેરે કહ્યુ પણ છે—

આવી રીતે કર્મની મૂળ અને ઉત્તર પ્રકૃતિઓ કહેવામા આવી છે તેમની સ્થિતિના કાળનુ જે કારણ છે તે સ્થિતિબન્ધ કહેવાય છે ॥૧॥

તે પ્રકૃતિઓના વિપાક–ફળનુ જે કારણ છે જે તેમના નામ અનુસાર ભિન્ન–ભિન્ન પ્રકારના છે તે રસને અનુભાવ કહે છે તેમા કોઈ તીવ્ર, કોઇ મન્દ અને કોઈ મધ્યમ હોય છે ॥૨॥

તે પૂર્વોક્ત કર્મ સ્કન્ધોનો જીવ દ્વારા સપૂર્ણ પ્રદેશોથી યોગ વિશેષ દ્વારા ગ્રહણ થવુ પ્રદેશબન્ધ છે ॥૩॥

આત્માનો પ્રત્યેક પ્રદેશ અનન્ત–અનન્ત કર્મપ્રદેશોથી બધાયેલો છે આ જીવ નિરન્તર યોગના કારણે કર્મોનો બન્ધ કરે છે અને તેમની નિર્જરા પણ કરતો રહે છે ॥૪॥

સમવાયાગ સૂત્રના ચોથા સમવાયમાં કહ્યુ છે બન્ધ ચાર પ્રકારના કહેવામાં આવ્યા છે તે આ પ્રકારે છે—

(૧) પ્રકૃતિબન્ધ (૨) સ્થિતિબન્ધ (૩) અનુભાવબન્ધ અને (૪) પ્રદેશબન્ધ ॥૨॥

'बंधहेउणो पंच मिच्छादंसणाविरइ' ઇત્યાદિ

મૂળ સૂત્રાર્થ—કર્મબન્ધના પાચ કારણ છે (૧) મિથ્યાદર્શન (૨) અવિરતિ (૩) પ્રમાદ (૪) કષાય અને (૫) યોગ ॥૩॥

તત્વાર્થદીપિકા—પહેલા કર્મબન્ધના પ્રકાર પ્રદર્શિત કરવામાં આવ્યા હવે તેમના હેતુઓનુ પ્રતિપાદન કહીએ છીએ, મિથ્યાદર્શન અવિરતિ, પ્રમાદ, કષાય અને યોગ–આ સઘળાં કર્મબન્ધના કારણુ છે તેમનો અર્થ આ મુજબ છે—

૧. મિથ્યાદર્શન-તત્ત્વાર્થને અર્થાત્ કુદેવ, કુગુરુ અને કુધર્મ પ્રત્યેની શ્રદ્ધાને મિથ્યાદર્શન કહે છે. તત્ત્વાર્થ શ્રદ્ધાન રૂપ સમ્યગ્ દર્શનનુ આ વિરોધી છે

૨ અવિરતિ-પ્રાણુાતિપાત વગેરે પાપસ્થાનોથી નિવૃત્ત ન થવુ આ અવિરતિ વિરતિ રૂપ પરિણુતિથી વિપરીત છે

૩ પ્રમાદ-પ્રમદન, પ્રમત્તતા, સમીચીન ઉપયોગનો અભાવ પુણ્ય કૃત્યોમાં અનાદર—આ સઘળાં પ્રમાદ છે

૪ કષાય-અનન્ત સસારની પરમ્પરાને ભમાવવાવાળા ક્રોધ, માન, માયા અને લોભને કષાય કહે છે

૫ યોગ-મન વચન અને કાયાનો વ્યાપાર યોગ છે

આ પાચે કર્મવર્ગણુાના પુદ્ગલ સ્કન્ધો અને આત્મ પ્રદેશોના પરસ્પર સબધ રૂપ બધના કારણુ છે આ પાચેય સમસ્ત કર્મોના બધના સામાન્ય કારણુ તરીકે લેખવા જોઈએ

જ્ઞાનાવરણુ વગેરેના બન્ધના વિશેષ હેતુ હવે પછી કહેવામાં આવશે

મિથ્યાદર્શન બે પ્રકારના છે—નૈસર્ગિક અને પરોપદેશ નિમિત્ત જે મિથ્યાદર્શન પરોપદેશ વગર જ મિથ્યાત્વમોહનીય કર્મના ઉદયથી ઉત્પન્ન થઈ જાય છે તે નૈસર્ગિક કહેવાય છે.

પરોપદેશથી ઉત્પન્ન થનાર મિથ્યાદર્શન ચાર પ્રકારના કહેવાયા છે (૧) ક્રિયાવાદી (૨) અક્રિયાવાદી (૩) અજ્ઞાનિક અને (૪) વૈનયિક

અથવા મિથ્યાદર્શન પાચ પ્રકારના છે—(૧) એકાન્ત મિથ્યાદર્શન (૨) વિપરીત મિથ્યાદર્શન (૩) સશય મિથ્યાદર્શન (૪) વૈનયિક મિથ્યાદર્શન (૫) અજ્ઞાન મિથ્યાદર્શન

અવિરતિ બાર પ્રકારની છે-છકાય અને છ ઇન્દ્રિયોના વિષય અર્થાત્ છકાયના જીવોની હિસાથી નિવૃત્ત થવુ અને મન સહિત છએ ઇન્દ્રિયોના વિષયમા રાગદ્વેષ ધારણુ કરવુ. પ્રમાદ ઘણા પ્રકારના કહેવામા આવ્યા છે, પાંચ સમિતિઓમા પ્રમાદ કરવો, ત્રણુ ગુપ્તિઓમા પ્રમાદ કરવો, શુદ્ધિઅષ્ટકમા જાગૃત ન રહેવુ, ઉત્તમ ક્ષમા વગેરે દશ પ્રકારના ધર્મોમા પ્રમાદ સેવવો વગેરે સોળ કષાય અને નવ નો કષાય મળીને પચીસ કષાય છે ચાર મનોયોગ, ચાર વચનયોગ, પાચ કાયયોગ એમ તેર જાતના યોગ છે આહારક શરીરના ધારક પ્રમત્ત સયતમા આહારકકાય યોગ અને આહારક મિશ્ર કાયયોગ પણુ હોય છે આ ભેગા કરીએ તો યોગના પદર ભેદ થઈ જાય છે

મિથ્યાદર્શન વગેરે પૂર્વોક્ત પાચ મળેલા પણુ કર્મબન્ધના કારણુ હોય છે અને જુદા જુદા પણુ કારણુ હોય છે મિથ્યાદષ્ટિમા પાચ મળેલા કારણુ હોય છે સાસાદન સમ્યગ્ દૃષ્ટિ સમ્યગ્ મિથ્યાદષ્ટિ (મિશ્રદષ્ટિ) અસયત સમ્યગ્ દૃષ્ટિમા અવિરતી પ્રમાદ કષાય અને યોગ એ ચાર બન્ધના કારણુ મળી આવે છે સયતાસયત (દેશવિરત)મા વિરતિમિશ્રિત અવિરતિ, પ્રમાદ અને યોગ કારણુ હોય છે પ્રમત્ત સયતમા પ્રમાદ કષાય અને યોગ કારણુ હોય છે અપ્રમત્ત

આદિ ચાર ગુણસ્થાનોમાં યોગ અને કષાય કારણ છે ઉપશાત કષાય, ક્ષીણ કષાય તથા સયોગી કેવળીમાં એકલો યોગ જ બન્ધનુ કારણ હોય છે અયોગી-કેવળીમાં બન્ધનું કોઈ કારણ ન રહેવાથી બન્ધ જ થતો નથી ॥૩॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પૂર્વસૂત્રમાં કર્મભાવબન્ધનુ પ્રરૂપણ કરવામાં આવ્યુ છે હવે બન્ધના પાચ હેતુઓનું નિરૂપણ કરવા માટે કહીએ છીએ-બન્ધના પાચ કારણ છે-મિથ્યાદર્શન અવિરતિ, પ્રમાદ, કષાય અને યોગ

કર્મબન્ધના આ સામાન્ય કારણોમાં પહેલુ મિથ્યાદર્શન છે તત્ત્વાર્થશ્રદ્ધાન રૂપ સમ્યક્-દર્શનથી ઉલ્ટુ તત્ત્વાર્થનુ અશ્રદ્ધાન મિથ્યાદર્શન કહેવાય છે પાપસ્થાનોથી નિવૃત્તિને વિરતિ કહે છે તેનાથી જે ઉલ્ટુ હોય અર્થાત પાપસ્થાનોથી નિવૃત્ત ન થાય, તેને અવિરતિ કહે છે ઈન્દ્રિયોના વિષયોમાં રાગ-દ્વેષપૂર્વક-પ્રવૃત્તિ કરવી વિકથાઓ કરવી ગાઢી તથા લાબી ઉંઘ લેવી ઇન્દ્રિયોના દોષથી મોક્ષમાર્ગમાં-શિથિલતા થવી અથવા સારા કાર્યોમા આદરભાવ ન હોવો-પ્રમાદ કહેવાય છે અનન્તાનુબન્ધી વગેરેના ભેદથી ચાર-ચાર પ્રકારના ક્રોધ માન માયા લોભ એ કષાય છે માનસિક વાચનિક અને કાયિક વ્યાપાર યોગ કહેવાય છે આ મિથ્યાદર્શન વગેરે પાચ કર્મબન્ધના સામાન્ય કારણ છે.

મિથ્યા અર્થાત્ અયથાર્થ-ખોટુ દર્શન અથવા દૃષ્ટિ કહેવાનો અભિપ્રાય એ છે કે અયથાર્થ શ્રદ્ધાન મિથ્યાદર્શન છે હિસા આદિ પાપમય કૃત્યોથી વિરત થવુ વિરતિ અર્થાત સંયમ છે. વિરતિ ન થવી તે અવિરતિ અર્થાત્ અસયમ છે જેનાથી કહેવા માગે છે કે હિંસા વગેરે નિદવા યોગ્ય કર્મોનો ત્યાગ ન કરવો સાવધ ન રહેવું પ્રમાદ કહેવાય છે કષની જેનાથી આયાત થતી હોય તે કષાય જીવ જ્યા શારીરિક અને માનસિક વિટબણાઓથી કસાય છે-દુખિત કરવામા આવે છે તે સસાર કષ છે અને તેના આય' અર્થાત્ આગમનના જે આભ્યન્તર કારણ છે તેમને કષાય કહે છે ક્રોધ માન માયા અને લોભ કષાય છે

જે મન વચન તથા કાયાના વ્યાપાર દ્વારા નોકર્મથી યોગદ્રવ્યથી અગર વીર્યાન્તરાય કર્મના ક્ષયોપશમથી ઉત્પન્ન વીર્ય પર્યાય દ્વારા જે યુક્ત કરવામા આવે, તે યોગ છે

આમાથી મિથ્યાદર્શન બે પ્રકારના છે-અભિગૃહીત તથા અનભિગૃહીત સદિગ્ધ અનભિગૃહીત મિથ્યાદર્શનનો ભેદ છે મતિજ્ઞાન વગેરે કોઈ પણ વિષયને દૃષ્ટિમા રાખીને અસમ્યગ્દર્શનનો સ્વીકાર કરવો દા ત "આ જ સાચુ છે" આ અભિગૃહીત મિથ્યાદર્શન કહેવાય છે, તેથી ભિન્ન મિથ્યાદર્શન અનભિગૃહીત કહેવાય છે કહેવાનુ એ છે કે સદિગ્ધ પણ અનભિગૃહીત મિથ્યાદર્શન જ છે

પ્રમાદના ત્રણ ભેદ છે—સ્મૃતિનુ અનવસ્થાન સુભ કાર્યો પ્રત્યે અનાદર થવો તથા યોગોનું દુષ્પ્રણિધાન થવો.

અગાઉ અનુભવેલી કોઈ વસ્તુના વિષયમા યાદગીરી ન રહેવી સ્મૃતિ અનવસ્થાન કહેવાય છે વિકથા વગેરેમા મનડું રમતુ રહેવાના કારણે યાદ રહેતું નથી કે આ કર્યા બાદ આ કરવાનું છે' એવી જ રીતે આગમવિહીત ક્રિયાકલાપ અર્થાત્ અનુષ્ઠાનોમા અનાદર-અનુત્સાહ અથવા પ્રવૃત્તિ ન હોવી એ પણ પ્રમાદ જ છે મન વચન તથા કાયાનો દૂષિત વ્યાપાર થવો, જેવી

રીતે મનથી આર્ત્તધ્યાન અથવા રૌદ્રધ્યાન કરવુ અસત્ય વચનોનો પ્રયોગ કરવો અને કાયાથી હિંસા ઈત્યાદિમા પ્રવૃત્ત થવુ એ તમામ પ્રમાદ છે

કષાય મુખ્યતયા ચાર પ્રકારના છે-ક્રોધકષાય માનકષાય માયાકષાય અને લોભ કષાય આ પૈકી ક્રોધ વગેરે ચારે કષાયના ચાર-ચાર ભેદ છે અનન્તાનુબન્ધી ક્રોધ અપ્રત્યાખ્યાની ક્રોધ પ્રત્યાખ્યાની ક્રોધ અને સજ્વલન ક્રોધ આવી જ રીતે માન વગેરેના પણ ભેદ સમજવા આમ સોળ કષાય તથા નવ નોકષાય મળીને કુલ ૨૫ કષાય હોય છે જેમાથી તેર કષાય બન્ધના કારણરૂપ છે

મન વચન અને કાયાના ભેદથી યોગ ત્રણ પ્રકારના છે-મનોયોગના ચાર ભેદ છે સત્યમનો યોગ અસત્યમનોયોગ, ઉભય મનોયોગ અને અનુભય મનોયોગ વચનયોગ પણ ચાર પ્રકારના છે સત્યવચનયોગ, અસત્યવચનયોગ ઉભયવચનયોગ અને અનુભયવચનયોગ ઔદારિક કાયયોગ વૈક્રિય કાયયોગ આહારક કાયયોગ, કાર્મણ કાયયોગ આ ચાર તથા ઔદારિકમિશ્ર કાયયોગ વૈક્રિયમિશ્ર કાયયોગ અને આહારક મિશ્રકાયયોગ આ ત્રણ મળીને સાત કાયયોગ હોય છે એકદરે પદર પ્રકારના યોગ કહ્યા છે

આમાથી આહારક અને આહારકમિશ્રને બાદ કરતા બાકીના બધા યોગ કર્મભાવબન્ધના કારણ હોય છે

મિથ્યાદર્શન આદિ પાચ બન્ધના કારણોમાથી પૂર્વ-પૂર્વના વિદ્યમાન હોવાથી પછી-પછીનો સદ્ભાવ અવશ્ય થાય છે જેમ મિથ્યાદર્શનનો સદ્ભાવ થવાથી અવિરતિ આદિ ચારે અવશ્ય હોય છે, અવિરતિ થવાથી પ્રમાદ વગેરે ત્રણ જરૂર હોય છે, પ્રમાદ થવાથી કષાય તથા યોગ પણ અવશ્ય હોય છે અને કષાય થવાથી યોગ અવશ્ય થાય છે પરંતુ એ જરૂરી નથી કે પ્રથમ કારણ હોવાથી પાછલુ કારણ પણ અવશ્ય હોય જ જેમ યોગનુ હોવાથી પ્રથમના ચાર કારણોનુ હોવુ આવશ્યક નથી, યોગ અને કષાયના હોવાથી બાકી ત્રણ અવશ્ય હોય એવુ નથી, યોગ કષાય અને પ્રમાદની હાજરીમા બાકી બેનુ હોવુ નિયત નથી એવી જ રીતે જ્યા અવિરતિ, પ્રમાદ કષાય અને યોગ છે ત્યાં મિથ્યાદર્શન અવશ્ય હોય જ એવો નિયમ નથી.

સમવયાગસૂત્રના પાચમા સમવાયમાં કહ્યુ છે-આસ્રવદ્વાર પાચ કહેલા છે-મિથ્યાત્વ અવિરતિ, પ્રમાદ કષાય તથા યોગ

સમવાયાગસૂત્રમા મિથ્યાત્વ અવિરતિ પ્રમાદ કષાય અને યોગ એ પાચ આશ્રવદ્વાર કહેલા છે ॥૩॥

'अट्ठ कम्मपगडीओ णाणदंसणा' ઈત્યાદિ

સૂત્રાર્થ—કર્મપ્રકૃતિઓ આઠ છે-જ્ઞાનાવરણ દર્શનાવરણ વેદનીય મોહનીય આયુ, નામ ગોત્ર અને અન્તરાય ॥૪॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વોક્ત બન્ધના બે પ્રકાર છે-મૂળ પ્રકૃતિબન્ધ અને ઉત્તર પ્રકૃતિબન્ધ આમાથી આઠ પ્રકારના મૂળપ્રકૃતિ બન્ધના નિરૂપણ અર્થે કહીએ છીએ-મૂળપ્રકૃતિ બન્ધ આઠ પ્રકારના કહેવામા આવ્યા છે-(૧) જ્ઞાનાવરણ (૨) દર્શનાવરણ (૩) વેદનીય (૪) મોહનીય (૫) આયુષ્ય (૬) નામ (૭) ગોત્ર અને (૮) અન્તરાય. જેના વડે જીવનો જ્ઞાનગુણ ઢકાઈ જાય અથવા જે જ્ઞાનગુણને ઢાકી દે છે તે જ્ઞાનાવરણ કહેવાય છે જે કર્મ દર્શન ગુણને ઢાકી દે છે

તે દર્શનાવરણ કહેવાય છે જેના કારણે સુખ દુ ખનો અનુભવ કરવામા આવે છે તે વેદનીય કહેવાય છે જે વડે જીવ મોહિત થાય છે અથવા જે જીવને મૂઢ બનાવે છે તે મોહનીય છે જેના ઉદયથી જીવ નારકી વગેરે ભવોને પ્રાપ્ત કરીને ત્યા ચોંટયો રહે છે તે આયુ કર્મ છે જે કર્મ આત્માને જુદી જુદી યોનિઓમાં નારકી વગેરે પર્યાયો દ્વારા નિમિત્ત કરે છે અર્થાત્ જેના લીધે જીવ નારકી વગેરે કહેવાય છે તે નામ કર્મ છે જેના ઉદયથી જીવ ઉંચો અથવા નીચો કહેવાય છે તેને ગોત્ર કહે છે જે દાતા, દાન અને દાનપાત્રની વચ્ચે આવી જાય છે, આવીને વિઘ્ન નાખી દે છે તેને અન્તરાય કહે છે

જેવી રીતે એકી સાથે આરોગેલો આહાર રસ લોહી માંસ મજ્જા વીર્ય વગેરે અલગ અલગ ધાતુઓના રૂપમાં પરિણત થઈ જાય છે તે જ રીતે આત્માના એક જ પરિણામથી ગ્રહણ કરવામાં આવેલા કર્મવર્ગણાના પુદ્ગલ જ્ઞાનાવરણ, દર્શનાવરણ, વેદનીય આદિ જુદા જુદા ભેદોને પ્રાપ્ત થાય છે પ્રજ્ઞાપના સૂત્રના ૨૧માં પદમાં પ્રથમ ઉદ્દેશકના ૨૮૮મા સૂત્રમાં કહ્યુ છે-કર્મની આઠ પ્રકૃતિઓ કહેવામાં આવી છે. જ્ઞાનાવરણીય દર્શનાવરણીય, વેદનીય, મોહનીય, આયુ નામ, ગોત્ર અને અન્તરાય. ॥ સૂ ૪॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પૂર્વસૂત્રમાં કથિત પ્રકૃતિ, સ્થિતિ. અનુભાગ અને પ્રદેશબન્ધ-આ ચાર પ્રકારના બન્ધોમાંથી પ્રથમ પ્રકૃતિબન્ધ બે પ્રકારના કહેવામાં આવ્યા છે-(૧) મૂળપ્રકૃતિ-બન્ધ અને (૨) ઉત્તર પ્રકૃતિબન્ધ આ બે ભેદોમાંથી પ્રથમ મૂળપ્રકૃતિબન્ધ આઠ પ્રકારના છે, તે દર્શાવવા કાજે કહીએ છીએ—

કર્મની મૂળ પ્રકૃતિઓ આઠ છે, જેમને આઠ કર્મ પણ કહે છે. તેમના નામ આ મુજબ છે—(૧) જ્ઞાનાવરણ (૨) દર્શનાવરણ (૩) વેદનીય (૪) મોહનીય (૫) આયુ (૬) નામ (૭) ગોત્ર અને (૮) અન્તરાય

જ્ઞાન આત્માનો એક અસાધારણ બોધાત્મક ગુણ છે જેના વડે પદાર્થના વિશેષ અંશનું પરિજ્ઞાન થાય છે દર્શન આત્માનો તે અસામાન્ય ગુણ છે જે દ્વારા વસ્તુનો સામાન્ય અંશ જાણી શકાય છે જે કર્મ પ્રવૃતિ, જ્ઞાન અને પદાર્થને ઢાંકી દે છે તેને ક્રમશઃ જ્ઞાનાવરણ અને દર્શનાવરણ કહે છે

"આવરણ" શબ્દ ભાવસાધન પણ છે તેમજ કરણસાધન (આચ્છાદન) પણ છે આવૃત્તિને પણ આવરણ કહે છે અને જેના વડે આવૃત્તિ કરાય તેને પણ આવરણ કહે છે સંસ્કૃત ભાષા અનુસાર લ્યુટ્ પ્રત્યય કરવાથી 'આવરણ' શબ્દ નિષ્પન્ન થાય છે

જેના કારણે સુખ અને દુ ખ રૂપ વેદન-અનુભૂતિ થાય તેને વેદનીય કહે છે જીવને જે મૂઢ અર્થાત્ તત્ત્વાતત્ત્વના વિવેકથી વ્યાકુળ બનાવી દે છે અગર જેના દ્વારા જીવ મોહિત કરાય છે તે મોહનીય છે મોહિત થવુ પણ મોહનીય છે 'મોહનીય' શબ્દ કરણસાધન, કર્તુસાધન અને ભાવસાધન પણ છે જેના કારણે જીવ નરકગતિ આદિને પ્રાપ્ત કરીને ત્યાં સ્થિત રહે છે તે આયુ છે 'આયુ'ને આયુષ્ય પણ કહે છે જે કર્મપ્રવૃતિ આત્માને જુદી જુદી યોનિઓમાં ગતિ આદિની સામે નમાડે છે અર્થાત્ જેના કારણે આત્મા નમે છે તે નામ છે આ નામ શબ્દ કર્તૃસાધન તેમજ કરણસાધન છે

ગોત્રના બે ભેદ છે-ઉચ્ચ અને નીચ આત્મા જેને પ્રાપ્ત કરે છે તે ગોત્ર છે આત્માના વીર્યમાં તથા લાભ આદિમાં જે અન્તરાય વિઘ્ન નાખે છે તે અન્તરાય છે

આવી રીતે જ્ઞાનાવરણ અને દર્શનાવરણના ઉદયથી ઉત્પન્ન થવાવાળી ભવવ્યથા સમસ્ત સંસારી જીવોને થાય છે તે ભવવ્યથાનો વેદન કરતો થકો પણ જીવ મોહથી પીડીત હોવાના કારણે વિરક્ત થઈ શકતો નથી અને જ્યારે વિરક્ત થતો નથી તો નારકી, તિર્યંચ, દેવતા તથા મનુષ્ય ગતિમા રખડે છે જ્યારે કોઈ આયુષ્યમાં રહે છે તો તેનુ નારકી આદિ કોઈ ન કોઈ નામ અવશ્ય હોય છે કારણ કે નામ વગર જન્મ હોતો નથી જન્મધારી પ્રાણી હમેશા ઉંચ અથવા નીચ ગોત્રથી યુક્ત હોય જ છે સસારી જીવોને ત્યા જે સુખનો અનુભવ થાય છે તે પણ અન્તરાયવાળુ અર્થાત્ વિઘ્નોથી પરિપૂર્ણ હોય છે આ આઠ પ્રકારના મૂળપ્રકૃતિબધ સમજવા જોઈએ ॥ ૪ ॥

'**पए पंच नवदुअट्ठावीस चउ**' ઇત્યાદિ

મૂળસૂત્રાર્થ:—મૂળ કર્મપ્રકૃતિઓના ક્રમશ પાંચ નવ બે, અઠયાવીસ ચાર બેતાળીશ બે અને પાચ ભેદ છે ॥ ૫ ॥

તત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમાં આઠ પ્રકારના મૂળપ્રકૃતિબંધ કહેવામાં આવ્યા છે હવે સત્તાણુ (૯૭) પ્રકારના ઉત્તરપ્રકૃતિ બન્ધની પ્રરૂપણા કરીએ છીએ—

જ્ઞાનાવરણ કર્મ પાંચ પ્રકારના છે દર્શનાવરણના નવ ભેદ છે વેદનીયના બે, મોહનીયના અઠયાવીસ, આયુષ્યના ચાર, નામકર્મના બેતાળીશ ગોત્રકર્મના બે અને અન્તરાયના પાંચ ભેદ છે. ॥ ૫ ॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પૂર્વસૂત્રમાં મૂળપ્રકૃતિબન્ધનુ-નિરૂપણ કરવામાં આવ્યુ છે. આત્માના પ્રદેશો અને કર્મવર્ગણાના પુદ્ગલસ્કન્ધોનુ એકમેક થઈ જવુ એ તેનુ લક્ષણ છે આ બન્ધના કારણે આત્મા અને કર્મ, અગ્નિ અને લોખડના ગોળાની જેમ એકબીજામાં મળી ગયા હોય એવું પ્રતીત થાય છે એ તો કહેવાઈ ગયુ છે કે બન્ધ આઠ પ્રકારના હોય છે—

હવે ઉત્તરપ્રકૃતિબધની પ્રરૂપણા કરીએ છીએ તેના સત્તાણુ (૯૭) ભેદ આ રીતે થાય છે

જ્ઞાનાવરણપ્રકૃતિબન્ધના પાચ ભેદ છે, દર્શનાવરણ પ્રકૃતિબન્ધના નવ (૯) ભેદ છે [૧૪] વેદનીય પ્રકૃતિબન્ધના બે (૨) [૧૬], મોહનીયપ્રકૃતિબધના અઠયાવીસ (૨૮) [૪૪], આયુષ્યપ્રકૃતિબધના ચાર (૪) [૪૮] નામપ્રકૃતિબધના બેતાળીશ (૪૨) [૯૦] ગોત્રપ્રકૃતિબધના બે (૨) [૯૨] અને અન્તરાયપ્રકૃતિબધના પાચ (૫) એમ કુળ [૯૨+૫=૯૭] ભેદ છે

જ્ઞાનાવરણીયના પાચ ભેદ છે સ્થાનાગસૂત્રના પાચમા સ્થાનના ત્રીજા ઉદ્દેશકમા કહ્યુ છે—જ્ઞાનાવરણીય કર્મ પાચ પ્રકારના કહેવાયા છે જેમકે—આભિનિબોધિકજ્ઞાનાવરણીય, શ્રુતજ્ઞાનાવરણીય અવધિજ્ઞાનાવરણીય, મન પર્યવજ્ઞાનાવરણીય, અને કેવળ જ્ઞાનાવરણીય

દર્શનાવરણીય કર્મના નવ ભેદ છે સ્થાનાગસૂત્રના નવમા સ્થાનમા કહ્યુ છે—દર્શનાવરણીય. કર્મ નવ પ્રકારના કહેવામા આવ્યા છે જેવા કે – (૧) નિદ્રા (૨) નિદ્રાનિદ્રા (૩) પ્રચલા (૪). પ્રચલાપ્રચલા (૫) સ્ત્યાનર્દ્ધિ (૬) ચક્ષુદર્શનાવ-ણુ (૭) અચક્ષુદર્શનાવરણ (૮) અવધિદર્શનાવરણ અને (૯) કેવળદર્શનાવરણ

વેદનીયકર્મના બે ભેદ છે પ્રજ્ઞાપનાસૂત્રના ૨૩મા ઉદ્દેશકમા કહ્યું છે-સાતાવેદનીય અને અસાતાવેદનીય

મોહનીયકર્મ અઠ્યાવીસ પ્રકારના છે-પ્રજ્ઞાપનામાં ઉપર કહેલા સ્થળ પર જ કહ્યુ છે—

પ્રશ્ન—ભગવંત! મોહનીય કર્મ કેટલા પ્રકારના કહ્યાં છે?

ઉત્તર—ગૌતમ! બે પ્રકારના કહ્યાં છે જેમકે-દર્શનમોહનીય અને ચારિત્રમોહનીય

પ્રશ્ન—ભગવંત! દર્શન મોહનીય કર્મ કેટલા પ્રકારના છે?

ઉત્તર—ગૌતમ! ત્રણ પ્રકારના કહ્યા છે-સમ્યક્ત્વ વેદનીય, મિથ્યાત્વ વેદનીય અને સમ્યક્ મિથ્યાત્વવેદનીય

પ્રશ્ન—ભગવંત! ચારિત્રમોહનીય કર્મ કેટલા પ્રકારના કહ્યા છે?

ઉત્તર—ગૌતમ! બે પ્રકારના કહ્યા છે-કષાયવેદનીય અને નોકષાયવેદનીય

પ્રશ્ન—ભગવંત! કષાયવેદનીય કેટલા પ્રકારના કહ્યાં છે?

ઉત્તર—ગૌતમ! સોળ પ્રકારના છે-અનન્તાનુબંધી ક્રોધ, અનન્તાનુબંધી માન, અનન્તાનુબંધી માયા અને અનન્તાનુબંધી લોભ. અપ્રત્યાખ્યાન ક્રોધ અપ્રત્યાખ્યાન માન અપ્રત્યાખ્યાન માયા અને અપ્રત્યાખ્યાન લોભ.

પ્રત્યાખ્યાન ક્રોધ પ્રત્યાખ્યાન માન, પ્રત્યાખ્યાન માયા અને પ્રત્યાખ્યાન લોભ તથા સંજ્વલન ક્રોધ સંજ્વલન માન, સંજ્વલન માયા અને સંજ્વલન લોભ.

પ્રશ્ન—ભગવંત! નોકષાયવેદનીય કર્મ કેટલા પ્રકારનાં છે?

ઉત્તર—ગૌતમ! નવ પ્રકારના છે જેમકે-સ્ત્રીવેદવેદનીય, પુરુષવેદ વેદનીય નપુંસકવેદ વેદનીય, હાસ્ય, રતિ, અરતિ ભય શોક અને જુગુપ્સા.

આયુષ્ય કર્મના ત્યા જ ચાર ભેદ કહ્યાં છે જેમકે-

પ્રશ્ન—ભગવંત! આયુષ્યકર્મ કેટલા પ્રકારના કહ્યાં છે?

ઉત્તર—ગૌતમ! ચાર પ્રકારન કહ્યા છે-નૈરયિકાયુ, તિર્યગાયુ, મનુષ્યાયુ અને દેવાયુ.

તે જ સ્થાને નામકર્મના બેતાળીશ ભેદ કહ્યાં છે-

પ્રશ્ન—ભગવંત! નામકર્મ કેટલા પ્રકારના કહ્યાં છે?

ઉત્તર—ગૌતમ! બેતાળીશ પ્રકારના કહ્યાં છે જેવા કે-(૧) ગતિનામ (૨) જાતિનામ (૩) શરીરનામ (૪) શરીરયોગનામ (૫) શરીર બન્ધનનામ (૬) શરીર સંહનન નામ (૭) સંઘાત નામ (૮) સંસ્થાન નામ (૯) વર્ણનામ (૧૦) ગંધનામ (૧૧) રસનામ (૧૨) સ્પર્શનામ (૧૩) અગુરુલઘુનામ (૧૪) ઉપઘાતનામ (૧૫) પરાઘાતનામ (૧૬) આનુપૂર્વીનામ (૧૭) ઉચ્છ્વાસનામ (૧૮) આતપનામ (૧૯) ઉદ્યોતનામ (૨૦) વિહાયોગતિનામ (૨૧) ત્રસનામ (૨૨) સ્થાવરનામ (૨૩) સૂક્ષ્મનામ (૨૪) બાદરનામ (૨૫) પર્યાપ્તનામ (૨૬) અપર્યાપ્તનામ (૨૭) સાધારણ શરીરનામ (૨૮) પ્રત્યેક શરીરનામ (૨૯) સ્થિરનામ (૩૦) અસ્થિરનામ (૩૧) શુભનામ (૩૨) અશુભનામ (૩૩) સુભગનામ (૩૪) દુર્ભગનામ (૩૫) સુસ્વરનામ (૩૬) દુસ્વરનામ (૩૭) આદેયનામ (૩૮) અનાદેયનામ (૩૯) યશોકીર્તિનામ (૪૦ અયશોકીર્તિ નામ (૪૧) નિર્માણ નામ અને (૪૨) તીર્થંકર નામ

ગોત્રકર્મ બે પ્રકારના કહ્યાં છે

પ્રશ્ન—ભગવત ! ગોત્રકર્મ કેટલા પ્રકારના કહ્યાં છે. ?

ઉત્તર—ગૌતમ ! બે પ્રકારના કહ્યાં છે-ઉચ્ચ ગોત્ર, નીચ ગોત્ર

અન્તરાય કર્મ પાચ પ્રકારના છે કહ્યુ પણ છે-

પ્રશ્ન—ભગવત ! અન્તરાય કર્મ કેટલા પ્રકારના છે ?

ઉત્તર—ગૌતમ ! પાંચ પ્રકારના છે-(૧) દાનાન્તરાય (૨) લાભાન્તરાય (૩) ભોગાન્તરાય (૪) ઉપભોગાન્તરાય અને (૫) વીર્યાન્તરાય ॥ ૫ ॥

'णाणावराणिज्जं पचविहं मइआइ भेयओ' ઇત્યાદિ

મૂળ સૂત્રાર્થ—જ્ઞાનાવરણીય કર્મ પાંચ પ્રકારના હોય છે મતિજ્ઞાનાવરણીય વગેરે ભેદથી ॥ ૬ ॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમાં જ્ઞાનાવરણ વગેરે આઠ મૂળ કર્મપ્રકૃતિબધની ઉત્તર પ્રકૃતિઓના પાંચ, નવ, બે, અઠયાવીસ, ચાર, બેતાળીશ, બે અને પાંચ ભેદ કહ્યો છે હવે તે ભેદોનુ ક્રમશ પ્રતિપાદન કરવા માટે સૌ પ્રથમ જ્ઞાનાવરણીય કર્મના પાંચ ભેદોનો ઉલ્લેખ કરીએ છીએ—

મતિ, શ્રુત અવધિ મન પર્યવ અને કેવળજ્ઞાનના આવરણ પણ પાચ છે-મતિજ્ઞાનાવરણ શ્રુતજ્ઞાનાવરણ, અવધિજ્ઞાનાવરણ મન પર્યવજ્ઞાનાવરણ અને કેવળજ્ઞાનાવરણ ॥ ૬ ॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પૂર્વસૂત્રમા કહેલી આઠ મૂળપ્રકૃતિબન્ધની સત્તાણુ (૯૧) ઉત્તર-પ્રકૃતિઓનુ પ્રતિપાદન કરીએ છીએ તેમાથી પ્રથમ જ્ઞાનાવરણ કર્મપ્રકૃતિના ભેદોનું કથન કરીએ છીએ

મતિ, શ્રુત, અવધિ, મન પર્યવ અને કેવળજ્ઞાન, આ પાચ જ્ઞાનોના આવરણ પણ પાંચ હોય છે—(૧) મતિજ્ઞાનાવરણ (૨) શ્રુતજ્ઞાનાવરણ (૩) અવધિજ્ઞાનાવરણ (૪) મન પર્યવજ્ઞાના-વરણ (૫) કેવળજ્ઞાનાવરણ આ પ્રથમ જ્ઞાનાવરણ નામની મૂળ પ્રકૃતિની પાચ ઉત્તર પ્રકૃતિઓ છે—

જ્ઞાન સ્વભાવવાળા-પ્રકાશરૂપ આત્માના જ્ઞાનાવરણ કર્મના ક્ષય અને ક્ષયોપશમથી ઉત્પન્ન થનારા પ્રકાશ વિશેષરૂપ મતિજ્ઞાન વગેરે ઘણા બધા ભેદ હોય છે જેવાં કે-અવગ્રહ, ઈહા, અવાય ધારણા વગેરે મતિજ્ઞાન ઇન્દ્રિયો અને મનના નિમિત્તથી ઉત્પન્ન થાય છે આથી મતિજ્ઞાનના અનેક ભેદ છે અગપ્રવિષ્ટ અને અગબાહ્ય એ બે, શ્રુતજ્ઞાનના ભેદ છે ભાવ પ્રત્યય અને ક્ષયોપશમ પ્રત્યય આ બે અવધિજ્ઞાનના ભેદ છે ક્ષયોપશમ પ્રત્યયના પણ પ્રતિપાતી, અપ્રતિ-પાતી વગેરે છ ભેદ હોય છે ઋજુમતિ અને વિપુલમતિ એ બે મનઃપર્યવજ્ઞાનના ભેદ છે સયોગિ કેવળજ્ઞાન, અયોગિકેવળજ્ઞાન વગેરે કેવળજ્ઞાનના ભેદ છે

જે શ્રોત્ર આદિ પાંચ ઇન્દ્રિયોથી ઉત્પન્ન થાય છે-ક્ષયોપશમ રૂપ અન્તરગ કારણથી પેદા થાય છે તે જ્ઞાન યોગ્ય દેશમા સ્થિત પોતાના વિષયને ગ્રહણ કરવાનુ જાણે છે અનિન્દ્રિય મનોવૃત્તિ અને ઓઘજ્ઞાન છે આ મતિજ્ઞાન જેના વડે ઢકાય છે તે મતિજ્ઞાનાવરણ કર્મ કહેવાય છે આ કર્મ દેશઘાતિ છે ચક્ષુપટળ જેવુ છે અથવા ચંદ્રમાના પ્રકાશને રોકવાવાળા વાદળ જેવુ છે શ્રોત્રેન્દ્રિયથી થનારી ઉપલબ્ધિને શ્રુત કહે છે, બાકીની ઇન્દ્રિયોથી અને મનથી થનારૂં જ્ઞાન જે શ્રુત-શાસ્ત્રનુ અનુસરણ કરે છે અને પોતાના વિષયના પ્રતિપાદનમા સમર્થ હોય તે શ્રુતજ્ઞાન કહેવાય ને શ્રુતજ્ઞાન અનેક પ્રકારના છે કહ્યુ પણ છે-લોકમા જેટલા અક્ષર છે અને અક્ષરોનો સયોગ છે તેટલી શ્રુતજ્ઞાનની પ્રકૃતિઓ જાણવી જોઈએ

શ્રુતજ્ઞાનને આવૃત્ત કરવાવાળા કર્મ શ્રુતજ્ઞાનાવરણ કહેવાય છે આ કર્મ પણ દેશઘાતિ છે

અન્તર્ગત ઘણા પુદ્ગલદ્રવ્યોના અવધાનથી અવધિ કહેવાય છે અથવા પુદ્ગલદ્રવ્યોને જ જાણવાની મર્યાદાના કારણે અવધિ કહેવાય છે આ ક્ષયોપશમથી ઉત્પન્ન થાય છે આમા ઇન્દ્રિયોના વ્યાપારની અપેક્ષા રહેતી નથી, સાક્ષાત્ જ્ઞેય પદાર્થોને જાણે છે અને લોકાકાશના પ્રદેશોની બરાબર અસખ્યાત ભેદ છે

આ અવધિજ્ઞાનને ઢાકવાવાળા કર્મ અવધિજ્ઞાનાવરણ કહેવાય છે આ કર્મ પણ દેશઘાતિ જ છે.

જે જ્ઞાન આત્માના મનોદ્રવ્યના પર્યાયોનુ અવલમ્બન લઈને ઉત્પન્ન થાય છે, મનુષ્યક્ષેત્ર અઢીદ્વીપ સુધી જ જેનો વ્યાપાર હોય છે, પલ્યોપમના અસખ્યાત ભાગ પરિમિત આગળ પાછળ ભૂત-ભવિષ્યકાળના પુદ્ગલોને સામાન્ય તેમજ વિશેષ રૂપથી જાણે છે તે મન પર્યવ જ્ઞાન કહેવાય છે, આ જ્ઞાનને ઢાકવાવાળા કર્મ મન પર્યવજ્ઞાનાવરણ કહેવાય છે આ કર્મ પણ દેશઘાતિ છે

જે જ્ઞાન સમસ્ત આવરણોના ક્ષયથી ઉત્પન્ન થાય છે અને સમસ્ત દ્રવ્યો અને પર્યાયોને જાણે છે તે કેવળજ્ઞાન કહેવાય છે તેને ઢાકવાવાળા કર્મ જ્ઞાનાવરણ છે કેવળજ્ઞાનાવરણ કર્મ સર્વઘાતી છે ॥ ૬ ॥

'दंसणावरणिज्जं नवविह' चक्खुमाइभेओ ॥ सू ७ ॥

મૂળ સૂત્રાર્થ—દર્શનાવરણીય કર્મ નવ પ્રકારના હોય છે ચક્ષુદર્શનાવરણીય વગેરે ભેદથી ॥ ૭ ॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમા જ્ઞાનાવરણકર્મ રૂપ મૂળપ્રકૃતિબન્ધની મતિજ્ઞાનાવરણ આદિ પાચ ઉત્તર પ્રકૃતિઓ દર્શાવવામા આવી છે હવે દર્શનાવરણ કર્મ રૂપ મૂળપ્રકૃતિબન્ધની નવ ઉત્તર પ્રકૃતિઓ કહીએ છીએ—ચક્ષુદર્શન, અચક્ષુદર્શન, અવધિદર્શન અને કેવળદર્શનના ચાર આવરણ તથા નિદ્રા, નિદ્રાનિદ્રા પ્રચલા પ્રચલાપ્રચલા અને સ્ત્યાનર્દ્ધિ આ દર્શનાવરણ કર્મની નવ ઉત્તર પ્રકૃતિઓ છે આવી રીતે દર્શનાવરણ કર્મ નવ પ્રકારના છે—(૧) ચક્ષુદર્શનાવરણ (૨) અચક્ષુદર્શનાવરણ (૩) અવધિદર્શનાવરણ (૪) કેવળદર્શનાવરણ (૫) નિદ્રા (૬) નિદ્રાનિદ્રા (૭) પ્રચલા (૮) પ્રચલાપ્રચલા અને (૯) સ્ત્યાનર્દ્ધિ ॥ ૭ ॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પૂર્વસૂત્રમા જ્ઞાનાવરણ કર્મની મતિજ્ઞાનાવરણ આદિ પાંચ પ્રકૃતિઓનુ નિરૂપણ કરવામા આવ્યુ, અત્રે દર્શનાવરણના નવ ભેદ કહેવામાં આવે છે-દર્શનાવરણ નામની જે કર્મની બીજી મૂળ પ્રકૃતિ છે, તેના નવ ભેદ છે તે આ મુજબ—(૧) ચક્ષુદર્શનાવરણ (૨) અચક્ષુદર્શનાવરણ (૩) અવધિદર્શનાવરણ (૪) કેવળદર્શનાવરણ (૫) નિદ્રા (૬) નિદ્રા નિદ્રા (૭) પ્રચલા (૮) પ્રચલાપ્રચલા અને (૯) સ્ત્યાનર્દ્ધિ

જે ઉઘ સહેલાઇથી તુટી જાય તે નિદ્રા કહેવાય છે નિદ્રારૂપ-અનુભવ કરવા લાયક-ને નિદ્રા કહે છે જે ઉઘ મુશ્કેલીથી ઉડે તે ગાઢી ઉઘ નિદ્રાનિદ્રા છે ઉભા ઉભા અથવા બેઠા-બેઠા આવતી ઉઘ પ્રચલા છે, જે ઉંઘમાં વિચારેલુ કાર્ય કરી નાખવામા આવે છે તે સ્ત્યાનર્દ્ધિ નિદ્રા કહેવાય છે આમ પાંચ નિદ્રાઓ તથા ચાર ચક્ષુદર્શનાવરણ વગેરે મળીને દર્શનાવરણના નવ ભેદ હોય છે

જેના દ્વારા આત્મા જોવે છે તેને ચક્ષુ કહે છે બધી ઇન્દ્રિઓ સામાન્ય-વિશેષ બોધ સ્વરૂપ આત્માને માટે કારણ છે-રૂપાદિને ગ્રહણ કરવાના દ્વાર છે. ચક્ષુરૂપી દ્વારથી થનારુ

દર્શન અર્થાત્ સામાન્ય બોધ ચક્ષુદર્શન કહેવાય છે તે આત્માની જ એક વિશિષ્ટ પરિણતિ છે ચક્ષુ દર્શનાવરણ ચક્ષુદર્શન લબ્ધિનુ ઘાતક હોય છે

ચક્ષુ સિવાયની બાકીની ઇન્દ્રિઓથી તથા મનથી થનાર સામાન્ય બોધ અચક્ષુદર્શન છે. તે પણ આત્માની જ પરિણતિ છે તેની લબ્ધિનો ઘાત કરવાવાળુ અચક્ષુદર્શનાવરણ કહેવાય

અવધિજ્ઞાનના ઉપયોગથી પ્રથમ જે સામાન્ય જ્ઞાન થાય છે તે અવધિદર્શન છે આ પણ આત્માની પરિણતિ છે એનો ઘાત કરનાર કર્મ અવધિદર્શનાવરણ કહેવાય છે

કેવળદર્શન પણ સામાન્ય ઉપયોગ છે આને ઢાંકવા વાળુ કર્મ કેવળદર્શનાવરણ કહેવાય છે. બીજી મૂળ કર્મપ્રવૃતિની આ નવ ઉત્તરપ્રકૃતિઓ છે ॥૭॥

'वेयणिज्जं दुविहं' सायासायमेयओ ॥સૂ ૮॥

સૂત્રાર્થ—વેદનીય કર્મ બે પ્રકારના છે-સાતાવેદનીય અને અસાતાવેદનીય ॥૮॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમાં દ્વિતીય મૂળ કર્મપ્રકૃતિ દર્શનાવરણની નવ ઉત્તરપ્રકૃતિઓનુ નિરૂપણ કરવામા આવ્યુ છે હવે ત્રીજી મૂળપ્રકૃતિ વેદનીયના ભેદોનુ કથન કરીએ છીએ- વેદનીય નામક ત્રીજી મૂળ કર્મપ્રકૃતિના બે ભેદ છે-સાતાવેદનીય અને અસાતાવેદનીય. ॥૮॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—આગલા સૂત્રમા દર્શનાવરણકર્મની ઉત્તરપ્રકૃતિઓનુ કથન કર્યું છે હવે વેદનીય કર્મની ઉત્તરપ્રકૃતિઓનુ પ્રતિપાદન કરીએ છીએ

વેદનીય કર્મની ઉત્તરપ્રકૃતિઓ બે છે સાતાવેદનીય અને અસાતાવેદનીય જેના ઉદયથી આત્માને મનુષ્ય અને દેવ વગેરે જન્મોમાં ઔદારિક આદિ શરીર તથા મન દ્વારા આગન્તુક વિવિધ મનોરથ દ્રવ્ય-ક્ષેત્ર-કાળ ભાવ તથા ભવના સબન્ધથી અનેક પ્રકારના સુખનો અનુભવ થાય છે તે સાતાવેદનીય કહેવાય છે તેને સાતાવેદનીય અથવા સદ્વેદ્ય પણ કહે છે આનાથી જે વિપરીત હોય તે અસાતાવેદનીય અસદ્વેદ્ય કહેવાય છે તાત્પર્ય એ છે કે જે કર્મના ઉદયથી અનિષ્ટ સામગ્રી પ્રાપ્ત થવા પર અશાતા-દુખરૂપ અનુભૂતિ થાય તે અસદ્વેદ્ય કર્મ છે ॥૮॥

'मोहणिज्जं अट्ठावीइसविहं दंसणचारित्तादि मेयओ ॥ સૂ ૯॥

સૂત્રાર્થ—દર્શનમોહનીય અને ચારિત્ર મોહનીય આદિના ભેદથી મોહનીય કર્મ અઠયાવીશ પ્રકારના છે ॥૯॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમા વેદનીય નામક મૂળ કર્મપ્રકૃતિની બે ઉત્તરપ્રકૃતિઓનુ નિરૂપણ કરવામા આવ્યુ, હવે મોહનીય નામની ચોથી મૂળ કર્મ-પ્રકૃતિની અઠયાવીસ ઉત્તર-પ્રકૃતિઓનુ નિરૂપણ કરીએ છીએ-મોહનીય કર્મ બે પ્રકારના છે-દર્શનમોહનીય તથા ચારિત્રમોહનીય

આમાથી દર્શનમોહનીય કર્મ ત્રણ પ્રકારના છે-(૧) મિથ્યાત્વમોહનીય (૨) સમ્યક્ત્વમોહનીય અને (૩) સમ્યગ્ મિથ્યાત્વમોહનીય અર્થાત્ મિશ્રમોહનીય ચારિત્રમોહનીય બે પ્રકારના છે- કષાય મોહનીય અને નોકષાયમોહનીય આમાથી કષાયમોહનીયના સોળ ભેદ છે ક્રોધ માન માયા અને લોભ આ ચારેય કષાય અનન્તાનુબધી, અપ્રત્યાખ્યાન, પ્રત્યાખ્યાન અને સજ્વલનના ભેદથી ચાર ચાર પ્રકારના હોવાથી સોળ પ્રકારના થઈ જાય છે

નોકષાયમોહનીયના નવ ભેદ છે (૧) હાસ્ય (૨) રતિ (૩) અરતિ (૪) શોક (૫) ભય (૬) જુગુપ્સા (૭) પુરુષવેદ (૮) સ્ત્રીવેદ અને (૯) નપુસકવેદ આવી રીતે દર્શનમોહનીયના ત્રણ ભેદોની સાથે ચારિત્રમોહનીયના સોળ કષાયમોહનીય અને નોકષાયમોહનીયના નવ એ પચીશ ભેદોને ઉમેરતા મોહનીય નામની મૂળ પ્રકૃતિની અઠયાવીશ ઉત્તરપ્રકૃતિઓ થઇ જાય છે ॥૯॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પૂર્વસૂત્રમા વેદનીય નામની મૂળ કર્મપ્રકૃતિની બે ઉત્તર પ્રકૃતિઓ દર્શાવાઈ ગઈ છે હવે ચોથી મોહનીય મૂળપ્રકૃતિની અઠયાવીસ ઉત્તરપ્રકૃતિઓની પ્રરૂપણા કરવાના હેતુથી કહીએ છીએ–મોહનીય નામની મૂળપ્રકૃતિ દર્શનમોહનીય અને ચારિત્રમોહનીય વગેરેના ભેદથી અઠયાવીશ પ્રકારની છે—

ત્રણ પ્રકારના દર્શન મોહનીય-મિથ્યાત્વમોહનીય સમ્યક્ત્વ મોહનીય તથા મિશ્રમોહનીય અનન્તાનુબન્ધી અપ્રત્યાખ્યાન, પ્રત્યાખ્યાન અને સંજવલનના ક્રોધ માન, માયા, લોભ એમ સોળ કષાય મોહનીય તથા નવ નોકષાયમોહનીય અર્થાત્ હાસ્ય, રતિ અરતિ શોક, ભય જુગુપ્સા સ્ત્રીવેદ પુરુષવેદ અને નપુંસકવેદ, એ બધા મળીને મોહનીય કર્મની અઠયાવીસ ઉત્તરપ્રકૃતિઓ છે.

તત્ત્વાર્થના વિષયમાં સમ્યક્-શ્રદ્ધા ન હોય–વિપરીત શ્રદ્ધા હોવી મિથ્યાત્વ કહેવાય છે જે કર્મના ઉદયથી મિથ્યાત્વની ઉત્પત્તિ થાય છે, તે મિથ્યાત્વમોહનીય કર્મ કહેવાય છે જેના ઉદયથી સમ્યક્ત્વનો નાશ ન થાય પરંતુ તે કલંકિત બનેલું રહે તે સમ્યક્ત્વ મોહનીય કર્મ કહેવાય છે જેના ઉદયથી સમ્યક્ત્વ અને મિથ્યાત્વ રૂપ સેળભેળ પરિણામ ઉત્પન્ન થાય તે સમ્યક્-મિથ્યાત્વ અગર મિશ્રમોહનીય કહેવાય છે આ ત્રણ દર્શનમોહનીયની ઉત્તરપ્રકૃતિઓ છે

પ્રાણાતિપાત અર્થાત્ પ્રાણિવિરાધના આદિની નિવૃત્તિને ચારિત્ર કહે છે તેને જે મોહિત મૂર્છિત કરે અર્થાત્ જે ચારિત્ર પરિણામને જાગૃત ન થવા દે, તે ચારિત્રમોહનીય કર્મ કહેવાય છે

જો કે દર્શનમોહનીય કર્મના ત્રણ ભેદ છે, અને ત્રણેમાં બન્ધ હોય છે–કહ્યુ પણ છે—

મિથ્યાત્વનો ઉદય થવા પર જીવની દૃષ્ટિ (રુચિ .પ્રતીતિ, શ્રદ્ધા) વિપરીત થઈ જાય છે તેને વાસ્તવિક ધર્મ ગમતો નથી જેમ પિત્તનો પ્રકોપ થવા પર ઘી પણ કડવુ લાગવા માંડે છે ॥૧॥

મિથ્યાત્વની શુદ્ધિ થવા પર ગ્રંથિભેદને પાછળથી સમ્યક્ત્વની પ્રાપ્તિ થાય છે ત્યારબાદ જીવ પોતાના સમ્યક્ત્વ ગુણ દ્વારા મિથ્યાત્વ કર્મનું વિશોધન કરે છે જેવી રીતે માદક કોદ્રવ ને છાશ વગેરેથી શુદ્ધ કરવામાં આવે છે શુદ્ધીકરણ કરવાથી જે કર્મ વિશુદ્ધ થઈ જાય છે તે સમ્યક્ત્વ મોહનીય કર્મ કહેવાય છે અને જે સંપૂર્ણતયા અશુદ્ધ રહે છે તે મિથ્યાત્વ કર્મ કહેવાય છે ॥૧॥ જે અડધો શુદ્ધ હોય છે અર્થાત્ કંઈક શુદ્ધ અને કંઈક અશુદ્ધ હોય છે તે મિશ્ર કહેવાય છે મદન-કોદ્રવની ત્રણ અવસ્થાઓ હોય છે–અતિશુદ્ધ વિશુદ્ધ અને અર્ધ-વિશુદ્ધ આથી અહીં તેનું દૃષ્ટાંત ચલવામા આવ્યુ છે મિથ્યાત્વ, સમ્યક્ત્વમોહ અને મિશ્ર-મોહમાથી મિથ્યાત્વના ઉદયથી તત્ત્વાર્થમા અશ્રદ્ધા થાય છે કારણ કે મિથ્યાત્વના, ઉદયથી જીવ વિપરીત દૃષ્ટિવાળા થઈ જાય છે-કહ્યુ પણ છે—

મદનકોદ્રવ . ને ખાઈને મનુષ્ય પોતાના વશમાં રહેતો નથી શુદ્ધ કરેલા કોદ્રવ ને ખાવાવાળો મોહિતમૂઢ હોતો નથી અને અર્ધશુદ્ધ કોદ્રવને ખાનારો અર્થ મૂર્છિત થાય છે

જેમ દારૂ પીવાથી અથવા ધંતૂરાના ભક્ષણથી અથવા પિત્તપ્રકોપથી જેની ઇન્દ્રિઓ વિક્ષિપ્ત થઈ જાય છે, એવો પુરુષ વાસ્તવિકતા અવાસ્તવિકતાનો વિવેક કરી શકતો નથી એવી જ રીતે મિથ્યાદૃષ્ટિ જીવ યથાર્થ તત્ત્વરૂપિનુ વિધાન કરવાવાળા મિથ્યાત્વના ઉદયથી વિપરીત જ શ્રદ્ધા કરે છે કહ્યુ પણ છે—

જેમની દૃષ્ટિ મિથ્યાત્વરૂપી અંધકારથી આચ્છાદિત થઈ ગઈ છે, જેઓ રાગ અને દ્વેષથી યુક્ત છે, એવા જીવ ભવ્ય હોવા છતાં પણ જિનેન્દ્રે ભાખેલા ધર્મ પર રુચિ રાખતા નથી ॥૧॥

મિથ્યાદૃષ્ટિ જીવ ઉપદિષ્ટ પ્રવચન પર તો શ્રદ્ધા રાખતો નથી પરંતુ ઉપદિષ્ટ અથવા અનુપદિષ્ટ અસદ્ભાવ પર અર્થાત્ વિપરીત તત્ત્વ પરત્વે શ્રદ્ધા રાખે છે

જે જીવ સૂત્ર–આગમમા કથિત એક પણ પદ અગર એક પણ અક્ષર પ્રત્યે અશ્રદ્ધા રાખે છે, તે કદાચ શેષ સમગ્ર આગમ પર શ્રદ્ધા રાખતો હોય તો પણ તેને મિથ્યાદૃષ્ટિ જ સમજવો જોઈએ ॥ ૩ ॥

તત્ત્વાર્થશ્રદ્ધા રૂપ આત્માનુ પરિણામ સમ્યક્ત્વ કહેવાય છે સમ્યક્ત્વ પાંચ પ્રકારના છે–(૧) ઔપશમિક (૨) સાસ્વાદન (૩) વેદક (૪) ક્ષાયોપશમિક તથા (૫) ક્ષાયિક

અનન્તાનુબન્ધી ક્રોધ, માન, માયા, લોભ અને દર્શન મોહનીયની ત્રણ એમ સાતે પ્રકૃતિઓનો ઉપશમ થવાથી ઔપશમિક સમ્યક્ત્વ ઉત્પન્ન થાય છે આ સમ્યક્ત્વ અન્તર્મુહૂર્ત માત્ર જ રહે છે ત્યારબાદ અનન્તાનુબન્ધી કષાયનો ઉદય થઈ જાય છે અને અનન્તાનુબન્ધી કષાયના ઉદયથી–સમ્યક્ત્વનો ચોક્કસપણે નાશ થઈ જાય છે કહ્યુ પણ છે–

અગર સંયોજનનો અર્થાત્ અનન્તાનુબન્ધી કષાયનો ઉદય હોત તો સાસ્વાદન સમ્યક્ત્વ પણ થઈ જાય છે અને જો તેનો અભાવ થાય છે તો નિર્દોષ સમ્યક્ત્વ પ્રાપ્ત થાય છે ॥ ૧ ॥

ક્ષાયોપશમિક સમ્યક્ત્વના અંતિમ પુદ્ગલોનો અનુભવ કરવાના કાળમાં વેદક સમ્યક્ત્વ થાય છે ઉદયમા ન આવેલા મિથ્યાત્વના પુદ્ગલોનો ક્ષય, અને ઉદયમા ન આવેલા મિથ્યાત્વનો ઉપશમ થવાથી ક્ષાયોપશમિક સમ્યક્ત્વ થાય છે સંપૂર્ણ દર્શનમોહનીયનો ક્ષય થવાથી ક્ષાયિક સમ્યક્ત્વની પ્રાપ્તિ થાય છે એવુ નથી કે વિશુદ્ધ પુદ્ગલોનો નાશ થવાથી તત્ત્વાર્થશ્રદ્ધા રૂપ પરિણામનો અભાવ થઈ જાય કહ્યુ પણ છે–

સમ્યક્ત્વ મોહનીયને પુદ્ગલોનો નાશ થઈ જવાથી સમ્યગ્દૃષ્ટિ કેવી રીતે માનવામા આવે છે? એનો જવાબ એ જ છે કે ત્યાં દ્રવ્યનો ક્ષય માનવામાં આવ્યો છે, પરિણામનો ક્ષય નહી ॥ ૧ ॥

સમ્યગ્–મિથ્યત્વ વેદનીય પહેલા સમ્યક્ત્વ ને ઉત્પન્ન કરતો થકો, ત્રણ કરણ કરીને, ઉપશમ સમ્યક્ત્વને પ્રાપ્ત કરે છે ત્યારબાદ મિથ્યાત્વના દળને શુદ્ધ, મિશ્ર અને અશુદ્ધ એ રીતે ત્રણ ઢગલાના રૂપમાં પરિણત કરે છે કહ્યુ પણ છે–

ત્યારબાદ સમ્યક્ત્વગુણ દ્વારા મિથ્યા કર્મનુ તેવી જ રીતે વિશોધન કરે છે, જેમ છાશ વગેરેથી મદનકોદ્રવ ને શુદ્ધ કરવામા આવે છે ॥ ૧ ॥

આ રીતે દર્શનમોહનીય કર્મની ત્રણ ઉત્તર–પ્રકૃતિઓનુ પ્રતિપાદન કરીને હવે પચીશ પ્રકારના ચારિત્રમોહનીય કર્મની ઉત્તરપ્રકૃતિ રૂપ બન્ધનુ પ્રતિપાદન કરીએ છીએ

ચારિત્ર મોહનીય કર્મ બે પ્રકારના છે–કષાયમોહનીય અને નોકષાયમોહનીય કષાયમોહનીયના સોળ ભેદ છે, જેવા કે–ક્રોધ, માન, માયા, અને લોભ આ ચારેય કષાયોના અનન્તાનુબંધી અપ્રત્યાખ્યાન, પ્રત્યાખ્યાન અને સંજવલનના ભેદથી ૪×૪=૧૬=સોળ ભેદ થાય છે

નારકી તિર્યંચ, મનુષ્ય અને દેવ રૂપ ચાર ગતિ તથા જન્મ જરા મરણરૂપ અનન્ત સંસાર નો અનુબન્ધ કરવાવાળો કષાય અનન્તાનુબન્ધી કહેવાય છે. ક્રોધ, માન, માયા, અને લોભ એના ચાર ભેદ હોય છે

આમાંથી ક્રોધનુ લક્ષણ અપ્રીતિ છે. માનનુ લક્ષણ ગર્વ છે, માયાનુ લક્ષણ લુચ્ચાઈ છે અને લોભનુ લક્ષણ લોભ-આસક્તિ છે. કહ્યું પણ છે—

જે કષાય જીવને અનન્ત ભવોથી સંયોજિત કરે છે તેને અનન્તાનુબંધી અથવા સંયોજના કષાય કહે છે ॥ ૨ ॥

અનન્તાનુબન્ધી કષાયોના પર્વતમા પડેલી ફાટ, પથ્થર, વાસની જડ અને કરમીઓ રંગ એ ચાર ઉદાહરણો છે કહેવાનું એ છે કે જેમ પર્વતની ફાટ કદી પણ સંધાતી નથી તેમ જે ક્રોધ જીવનપર્યંત ક્યારે પણ ન મટે તેને અનન્તાનુબન્ધી ક્રોધ સમજવો જોઈએ જેમ પથ્થર કદી પણ નમતો નથી તેવી રીતે જે માન આજીવન દૂર ન થાય તે અનન્તાનુબન્ધી માન છે જેવી રીતે વાસની જડમા અત્યન્ત વક્રતા હોય છે તેવી જ રીતની વક્રતા અનન્તાનુબન્ધી માયામાં હોય છે જેમ વસ્ત્રમા લાગેલો કરમીઓ રંગ અન્ત સુધી દૂર થતો નથી તેવી જ રીતે જે લોભ જીવનના અન્ત સમય સુધી ન છૂટે તે અનન્તાનુબન્ધી લોભ કહેવાય છે અર્થાત્ અનન્તાનુબન્ધી ક્રોધનો સ્વભાવ પથરાની લકીર બરાબર, માનનો સ્વભાવ વજના થાભલા, માયાનો સ્વભાવ વાંસની જડ તથા લોભનો સ્વભાવ કરમીઆ રંગ જેવો હોય છે.

અપ્રત્યાખ્યાન કષાય પણ ક્રોધ આદિના ભેદથી ચાર પ્રકારના છે પ્રત્યાખ્યાન બે પ્રકારનાં હોય છે—દેશવિરતિ રૂપ અને સર્વવિરતિરૂપ આમાંથી દેશવિરતિ પ્રત્યાખ્યાન અલ્પ હોવાના કારણે અપ્રત્યાખ્યાન કહેવાય છે તેને આવૃત કરનાર અર્થાત્ ઉત્પન્ન ન થવા દેનાર કષાય અપ્રત્યાખ્યાનાવરણ કહેવાય છે જે કષાય સ્વલ્પ પ્રત્યાખ્યાન પણ થવા દેતુ નથી તે સર્વવિરતિપ્રત્યાખ્યાન ને પણ અટકાવે છે એમાં કોઈ આશ્ચર્યની બાબત નથી કહ્યુ પણ છે-જે કષાય જીવના સ્વલ્પ (એકદેશીય) પ્રત્યાખ્યાન ને પણ રોકે છે તે સામાન્યતયા અપ્રત્યાખ્યાનાવરણ કષાય કહેવાય છે ॥૧॥

આ અપ્રત્યાખ્યાનાવરણ કષાયોનો ઉદય થવાથી સમ્યક્ત્વની પ્રાપ્તિ થવા છતાં પણ સર્વવિરતિ અથવા દેશવિરતિ પ્રત્યાખ્યાન થતું નથી

જે કષાય સર્વવિરતિ પ્રત્યાખ્યાનનુ આવરણ કરે છે અર્થાત્ સર્વવિરતિ ચરિત્ર થવા દેતુ નથી તે પ્રત્યાખ્યાનાવરણ કષાય કહેવાય છે હુ કોઈ પણ જીવની આજીવન, મન, વચન અને કાયાના યોગથી હીંસા કરીશ નહી, કરાવીશ નહી તેમજ કોઈ, કરતું હશે તેને અનુમોદન (ટેકો) આપીશ નહી આ પ્રકારનુ પ્રત્યાખ્યાન (પચ્ચખાણ) સર્વવિરતિ પ્રત્યાખ્યાન કહેવાય છે આને જે ઉત્પન્ન ન થવા દે તે પ્રત્યાખ્યાનાવરણ કષાય છે કહ્યું પણ છે-જેમા કષાયના ઉદયથી જીવ ઈચ્છવા છતા પણ સર્વવિરતિ પ્રત્યાખ્યાન કરી શકતો નથી, તે સામાન્યતયા પ્રત્યાખ્યાનાવરણ કષાય કહેવાય છે ॥ ૧ ॥

સંજ્વલન કષાય સમસ્ત પાપસ્થાનોથી વિરત સર્વવિરતિથી સમ્પન્ન સાધુને પણ દુષ્કર પરીષહ આવવાથી એકદમ સંજ્વલિત (કષાયાવિષ્ટ) કરી નાખે છે આથી તેને—સંજ્વલન કષાય કહે છે-કહ્યું પણ છે—

જે કષાય સંસારથી વિરક્ત અને સમસ્ત પાપોથી રહિત સાધુને પણ સંજ્વલિત કરે છે અર્થાત્ મુનિ-અવસ્થામા પણ જેમની સત્તા રહે છે તેમને સંજ્વલન કષાય કહે છે

સંજ્વલન રૂપ કષાયોને સંજ્વલન કષાય કહે છે આવી રીતે અપ્રત્યાખ્યાન પ્રત્યાખ્યાન અને સંજ્વલન કષાયના ક્રોધ આદિ ચારચાર ભેદ થવાથી બાર ભેદ થાય છે એમા અનંતાનુબંધી ના પહેલાના ચાર ભેદ ગોળવવાથીને કષાય મોહનીયના સોળ ભેદ થાય છે અપ્રત્યાખ્યાન ક્રોધ, માન, માયા અને લોભના ઉદાહરણ આ રહ્યા-ક્રોધનો સ્વભાવ તળાવની ફાટ જેવો (૨) માનનો સ્વભાવ હાડકાના થાભલા જેવો (૩) માયાનો સ્વભાવ ઘેટાના શિંગડા જેવો તથા (૪) લોભનો સ્વભાવ કર્દમ રાગ જેવો હોય છે અર્થાત્ અપ્રત્યાખ્યાન ક્રોધનો સ્વભાવ તળાવની તડ, માનનો સ્વભાવ હાડકાના થાભલા માયાનો સ્વભાવ ઘેટાના શિંગડા તથા લોભનો સ્વભાવ કર્દમ રાગ જેવો હોય છે.

પ્રત્યાખ્યાન કષાયના ક્રોધ માન વગેરેના ઉદાહરણ છે-ક્રોધનો સ્વભાવ રેતીમા આંકેલી લીટી, માનનો સ્વભાવ લાકડાનો થાભલો માયાનો સ્વભાવ ચાલતા બળદના મૂત્ર, લોભનો સ્વભાવ ખંજન રાગ જેવો હોય છે સંજ્વલન ક્રોધ પાણીમા દોરેલી રેખા, માનનો સ્વભાવ ઘાસનો થાંભલો, માયાનો સ્વભાવ વાંસની છોલેલી પાતળી ચામડી, લોભનો સ્વભાવ પતંગીઆના રંગ જેવો હોય છે. આ રીતે કષાય વેદનીયના સોળ ભેદોનુ નિરૂપણ કર્યું

હવે નવ પ્રકારના નોકષાય કર્મનુ પ્રતિપાદન કરીએ છીએ—(૧) હાસ્ય (૨) રતિ (૩) અરતિ (૪) શોક (૫) ભય (૬) જુગુપ્સા (૭) પુરુષવેદ (૮) સ્ત્રીવેદ અને (૯) નપુંસકવેદ

કષાયનો એક દેશ હોવાથી અથવા કષાય વિશેષ હોવાથી હાસ્ય આદિને અકષાય કહેવામાં આવે છે અથવા "અ" શબ્દ અત્રે મિશ્રઅર્થમા લેવામાં આવેલ છે આનો આશય એ છે કે કષાયની સાથે મળીને જ હાસ્ય વગેરે પોતાના કાર્ય કરવામા સમર્થ થાય છે કષાયના અભાવમાં હાસ્ય વગેરે પોતાનુ કાર્ય સંપાદન કરવામા સ્વતંત્રપણે શક્તિમાન થતા નથી

કષાય જે દોષવાળો હોય છે તેના મિત્ર હાસ્ય વગેરે પણ તે જ દોષને ઉત્પન્ન કરે છે આવી સ્થિતીમાં અનન્તાનુબન્ધી આદિથી સહચરિત હાસ્ય વગેરે પણ તેના જેવાજ સ્વભાવવાળા હોય છે

આથી આ હાસ્ય વગેરેને પણ ચારિત્રના ઘાતક હોવાના કારણે કષાયોની બરાબર જ સમજવા જોઈએ બીજાઓએ પણ કહ્યુ છે—આ હાસ્ય નોકષાયોના સાથી હોવાના કારણે તથા કષાયોને પ્રેરણા કરનાર અર્થાત્ ભડકાવવાવાળા હોવાથી નોકષાય કહેવામા આવ્યા છે ॥ ૧ ॥

હાસ્ય નોકષાય મોહનીયના ઉદયથી બાહ્ય તેમજ આભ્યંતર વસ્તુઓમા આસક્તિ પ્રીતિ ઉત્પન્ન થાય છે અથવા ઈષ્ટ રૂપ-રસ આદિમા આસક્તિરૂપ પ્રીતિ થાય છે અરતિ નોકષાય મોહનીયના ઉદયથી ધર્મ પ્રત્યે અરૂચિ ઉદ્ભવે છે શોક નોકષાયમોહના ઉદયથી મનુષ્ય વિલાપ કરે છે પોતાના માથા વગેરે અવયવોને કુટે છે; ટાઢી શ્વાસ લે છે, રડે છે અને ધરતી પર આળોટે છે

ભય નોકષાયમોહનીયના ઉદયથી ઉદ્વિગ્ન થાય છે;—ગભરાય છે, પીડાય છે, કાંપવા લાગે છે જુગુપ્સા નોકષાયમોહના ઉદયથી શુભ અને અશુભ દ્રવ્યોના વિષયમા નફરત જાગે છે પુરુષવેદ નોકષાયમોહનીયના ઉદયથી સ્ત્રીઓની અભિલાષા થાય છે જેવી રીતે કફના પ્રકોપવાળાને કેરી

ખાવાની ઈચ્છા થાય છે. આવી જ રીતે સંકલ્પની વિષયભૂત સ્ત્રીઓમાં પુરુષવેદ નોકષાય મોહના ઉદયથી અભિલાષા થાય છે.

સ્ત્રીવેદ નોકષાય મોહના ઉદયથી સ્ત્રીને પુરુષની ઈચ્છા થાય છે અને આ વેદના ઉદયથી સંકલ્પના વિષયભૂત પુરુષોમા પણ અભિલાષા થાય છે નપુંસકવેદ નોકષાય મોહનીયના ઉદયથી સ્ત્રી અને પુરુષ, બન્નેની સાથે કામક્રીડા કરવાની અભિલાષા ઉત્પન્ન થાય છે જેવી રીતે બે ધાતુઓનો ઉદય થવાથી સમ્માર્જિત આદિ દ્રવ્યોની અભિલાષા થાય છે કોઈ–કોઈને પુરુષોની જ અભિલાષા થાય છે તથા સંકલ્પજનિત વિષયોમા અનેક પ્રકારની અભિલાષા ઉત્પન્ન થાય છે

પુરુષવેદ વગેરે ત્રણ નોકષયો માટે ઘાસની અગ્નિ લાકડાની અગ્નિ અને છાણાની અગ્નિના દાખલાઓ પ્રસિદ્ધ છે પુરુષવેદ–મોહનીય રૂપી અગ્નિ જ્યારે તીવ્રતાની સાથે પ્રજવલિત થાય છે ત્યારે તેનો પ્રતિકાર થવાથી વહવાની જેમ શમી જાય છે જેમ ઘાસનો પૂળો જલદી જ સળગી જાય છે તેમ પુરુષવેદની અસર પણ શીઘ્ર સમાપ્ત થઈ જાય છે લાંબા સમય સુધી સળગતુ નથી સ્ત્રીવેદમોહરૂપી અગ્નિ લાબા સમય બાદ શાન્ત થાય છે તે એકદમ સળગી પણ ઉઠતી નથી બલ્કે સંભાષણ સ્પર્શન આદિ સૂકા લાકડા (બળતણ)થી ક્રમશ ક્રમશઃ વધતી જાય છે સ્ત્રીવેદનો અગ્નિ અત્યન્ત મજબૂત બાવળના લાકડાની ઘણી વધી ગયેલી જ્વાલાઓના સમૂહ જેવો હોય છે તેને શમાવવામાં સમય લાગે છે

નપુંસકવેદ મોહનીય રૂપી અગ્નિ ઉક્ત બન્નેથી અધિક ઉગ્ર હોય છે તે કોઈ મહાનગરમાં લાગેલ અગ્નિકાંડની જેમ અથવા છાણાની માફક અંદરને અંદર જ ઘણી ભભકતી રહે છે તેનું શમન ઘણાં લાંબા સમય પછી થાય છે

આવી રીતે પચીસ પ્રકારના ચારિત્રમોહનીય કર્મનું નિરૂપણ કરવામા આવ્યુ ત્રણ પ્રકારના દર્શન મોહનીયકર્મનુ નિરૂપણ અગાઉ કરવામાં આવ્યુ છે આમ મોહનીય કર્મની અઠ્યાવીસ પ્રકૃતિઓનુ પ્રતિપાદન થઈ ગયુ

અનન્તાનુબન્ધી કષાયનો ઉદય સમ્યક્દર્શનનો નાશ કરે છે જ્યાંસુધી તેનો ઉદય રહે છે ત્યાસુધી સમ્યક્દર્શનની ઉત્પત્તિ થતી નથી સમ્યક્દર્શન જો પહેલાં ઉત્પન્ન થઈ ગયુ હોય અને પાછળથી અનન્તાનુબન્ધી કષાયનો ઉદય થાય તો તે નાશ પામી જાય છે અપ્રત્યાખ્યાનાવરણ કષાયના ઉદયથી દેશવિરતિ પણ ઉત્પન્ન થઈ શકતી નથી તો પછી સર્વવિરતિ તો થાય જ કેવી રીતે ? પ્રત્યાખ્યાન કષાયના ઉદયથી દેશવિરતિમાં તો અવરોધ થતો નથી પરંતુ સર્વવિરતિ રૂપ ઉત્તમ ચારિત્રની પ્રાપ્તિ થતી નથી કહેવાનુ એ છે કે બધા પ્રકારના પ્રાણાતિપાતથી વિરત થાય છે એ જાતના સકલસંયમનો લાભ થતો નથી

સંજ્વલન કષાયના ઉદયથી વીતરાગ ચારિત્રની પ્રાપ્તિ થતી નથી

અનન્તાનુબન્ધી, અપ્રત્યાખ્યાન, પ્રત્યાખ્યાન, અને સંજ્વલન એ ચારેના ક્રોધ, માન, માયા અને લોભ એમ ચાર–ચાર ભેદ છે અનન્તાનુબન્ધી આદિ ચાર પ્રકારના ક્રોધમાં એવી જ રીતે માન, માયા અને લોભમાં પરસ્પર જે તારતમ્ય છે અર્થાત્ તીવ્રભાવ, મધ્યભાવ વિમધ્યભાવ અને મન્દભાવ છે, તે હવે દર્શાવીએ છીએ—

ચારે પ્રકારના ક્રોધમા અનન્તાનુબન્ધી ક્રોધ ઉગ્ર હોય છે તે પહાડમાં પડેલી ફાંટ (તીરાડ) જેવો છે જેમ પર્વતમા પથ્થરશીલા વગેરેમાં જે તિરાડ પડી જાય છે, તે જ્યા સુધી શિલા છે ત્યાંસુધી

રહે છે, સંધાઈ શકતી નથી એવી જ રીતે અનન્તાનુબન્ધી ક્રોધ ઉત્પન્ન થાય છે તો તે જીવન-પર્યન્ત કદી પણ શાન્ત થતો નથી તેના સંસ્કાર જીવનવ્યાપી હોય છે તેના સંસ્કારનો નાશ કરવાનો કોઈ ઉપાય નથી અનન્તાનુબન્ધી ક્રોધથી મૃત્યુ પ્રાપ્ત કરનાર જીવો પ્રાય નરકગતિમાં ઉત્પન્ન થાય છે

અપ્રત્યાખ્યાની ક્રોધ મધ્ય શ્રેણીનો હોય છે તે જમીનમા પડેલી તડ જેવો છે જેના સંસ્કાર એક વર્ષ સુધી અસ્તિત્વમાં રહે છે અર્થાત્ જેમ જમીનમા જે ફાટ પડી જાય છે તે વર્ષાઋતુમા ચોકકસ જ ભુસાઈ જાય છે એવી જ રીતે જે ક્રોધ એકવાર ઉત્પન્ન થઈને એક વર્ષની અંદર-અંદર પ્રશાત થઈ જાય છે, તે અપ્રત્યાખ્યાની ક્રોધ કહેવાય છે આ ક્રોધવાળા જીવો મરણ પછી તિર્યંચગતિમા ઉત્પન્ન થાય છે

પ્રત્યાખ્યાનાવરણનો ક્રોધ વિમધ્ય કહેવાયો છે તે રેતીમા દોરેલી રેખા જેવો હોય છે તાત્પર્ય એ છે કે રેતીના ઢગલામા લાકડીથી અગર કોઇ સળીથી જો રેખા બનાવી દેવામાં આવે તો તે વધુમા વધુ ચાર માસની અંદર ભુસાઈ જાય છે એવી જ રીતે જે ક્રોધ નિયમથી ચાર માસમા શાન્ત થઈ જાય તે પ્રત્યાખ્યાન ક્રોધ કહેવાય છે આ ક્રોધવાળા જીવ મરીને મનુષ્યયોનિમા જન્મ લે છે

સંજ્વલન ક્રોધ મંદ હોય છે તેને પાણીમા ખેંચેલી રેખાની ઉપમા આપવામાં આવી છે કહેવુ એ છે કે લાકડી શલાકા અથવા આગળી વડે પાણીમા જો રેખા ખેંચીએ તો પાણીનો સ્વભાવ તરલ હોવાથી તે રેખા તેજ વખતે અદૃશ્ય થઇ જાય છે એવી જ રીતે જે અપ્રમત્ત જ્ઞાનીપુરુષનો ક્રોધ ઉત્પન્ન થતાની સાથે જ ઉપશાન્ત થઈ જાય છે તેનો ક્રોધ સંજવલનક્રોધ કહેવાય છે અને આ જાતના ક્રોધવાળા જીવો દેવગતિમાં ઉત્પન્ન થાય છે,

આવી જ રીતે માન પણ ચાર પ્રકારના છે અનન્તાનુબન્ધી માન તીવ્ર અપ્રત્યાખ્યાની માન મધ્ય પ્રત્યાખ્યાંની માન વિમધ્ય અને સંજ્વલન માન મન્દ હોય છે આ ચાર પ્રકારના માન અનુક્રમે શૈલસ્તમ્ભની સમાન, અસ્થિસ્તંભની જેમ દારુસ્તંભની જેમ અને તૃણસ્તંભની માફક સમજવા જોઈએ જેવી રીતે શૈલસ્તંભ અર્થાત્ પર્વત કદાપી નમતો નથી તેવી જ રીતે કોઈ નિમિત્તથી ઉત્પન્ન થયેલ જે માન જીવન પર્યન્ત જતુ નથી તે અનન્તાનુબન્ધી માન કહેવાય છે આ માનને વશ થઈને મરનારા પ્રાણી નરકગતિમા ઉત્પન્ન થાય છે એવી જ રીતે તે અસ્થિસ્તંભ (હાડકા) વગેરેની જેમ માન પણ પૂર્વોક્ત ક્રોધની જેમ ઘટિત કરી લેવો જોઈએ તેમના ફળસ્વરૂપ થવાવાળી ગતિ પણ પૂર્વવત્ જ જાણી લેવી

એવી જ રીતે માયા પણ ચાર પ્રકારની છે-અનન્તાનુબન્ધી માયા, અપ્રત્યાખ્યાની માયા પ્રત્યાખ્યાની માયા અને સંજ્વલન માયા ક્રોધ અને માનની જેમ માયા પણ અનુક્રમથી તીવ્ર મધ્ય વિમધ્ય અને મન્દ હોય છે અનન્તાનુબન્ધી માયા વાસની ગાઠની જેમ અપ્રત્યાખ્યાની માયા ઘેટાના શિંગડાની જેમ પ્રત્યાખ્યાની માયા ગોમૂત્રિકા (ચાલતા-ચાલતા મૂતરનાર બળદના મૂત્રની વાંકી-ચુંકી રેખાઓ)ની જેમ અને સંજ્વલન માયા અવલેખનિકાની જેમ હોય છે તાત્પર્ય એ છેકે જેમ વાસની ગાઠ અત્યન્ત કુટિલ-વક્ર હોય છે અને હજાર પ્રયત્નો કરવા છતા પણ સીધી થઈ શકતી નથી એવી રીતે તીવ્ર અનન્તાનુબન્ધી માયા પણ જીવનપર્યન્ત કદાપી દૂર કરી શકાતી નથી આ માયાને વશ થઈને મરનાર જીવો મરણની અનન્તર નરક-

ગતિમાં ઉત્પન્ન થાય છે એવી જ રીતે પૂર્વોક્ત ક્રોધની જેમ ઘેટાના શીગડાની જેમ ત્રણ પ્રકારની માયા માટે પણ યથાયોગ્ય સમજી લેવાનુ છે માયાના અનેક પર્યાયવાચક શબ્દ છે દા ત નિકૃતિ વચના, દમ્ભ દગો, પ્રપચ, વગેરે આ શબ્દોથી માયાના અનેક રૂપોને પણ સમજી શકાય છે

લોભ પણ ચાર પ્રકારનો છે–અનન્તાનુબન્ધી લોભ, અપ્રત્યાખ્યાની લોભ, પ્રત્યાખ્યાની લોભ અને સજ્વલન લોભ આ ચારેય પ્રકારના લોભ ક્રમશ તીવ્ર મધ્ય વિમધ્ય અને મન્દ હોય છે એ કરમીઆ રગની જેમ કર્દમરાગની જેમ ખજનરાગની જેમ અને હળદરના રગ જેવા છે કરજી રગની સમાન તીવ્ર અનન્તાનુબન્ધી લોભ મરણપર્યન્ત દૂર થતા નથી આ લોભને અનુસરનાર પ્રાણી મૃત્યુ પછી નરકગતિમાં ઉત્પન્ન થાય છે કર્દમરાગની જેમ અપ્રત્યાખ્યાની લોભ એક વર્ષ સુધી રોકાય છે આ લોભને વશ થઈને મરનાર પ્રાણી તિર્યચયોનિમા ઉત્પન્ન થાય છે ખજનરાગની જેમ વિમધ્ય પ્રત્યાખ્યાની લોભ ચાર માસ સુધી રહે છે આ લોભનુ અનુસરણ કરીને મરનારા પ્રાણી મૃત્યુ બાદ મનુષ્યગતિમા ઉત્પન્ન થાય છે આવી જ રીતે હળદરના રગના જેવો મન્દ સજ્વલન લોભ ઉત્પત્તિ બાદ શીઘ્ર જ દૂર થઈ જાય છે આ લોભને વશ થઈને મરનારા જીવો મરણાંતરે દેવગતિમા ઉત્પન્ન થાય છે આ ક્રોધ માન માયા અને લોભ કષાયોના વિરોધી ભાવ અનુક્રમથી ક્ષમા મૃદુતા ઋજુતા અને સન્તોષ છે ક્ષમા આદિ વિરોધી ભાવોનુ અવલમ્બન કરીને ક્રોધ વગેરે કષાયોનો પ્રતિઘાત કરી શકાય છે

તાત્પર્ય એ છે કે ક્રોધના પ્રતિઘાતનુ કારણ ક્ષમા છે માનના પ્રતિઘાતનુ કારણ માર્દવ છે માયાના પ્રતિઘાતનુ કારણ આર્જવ (સરળતા) છે લોભના પ્રતિઘાતનું કારણ સન્તોષ છે

અહી સમજવા યોગ્ય વસ્તુ એ છે કે આ બધાં કર્મ મોહ પ્રધાન છે, અર્થાત્ આઠે કર્મોમા મોહનીય કર્મ જ પ્રધાન છે આ કર્મોમા કોઈ-કોઈ સર્વઘાતી અને કોઈ-કોઈ દેશઘાતી છે અર્થાત્ કોઈ આત્માના ગુણનો પૂર્ણ રૂપથી ઘાત કરે છે તો કોઈક આશિક રૂપથી ઘાત કરે છે આ કર્મો જ નરકભવ આદિના પ્રપચને પ્રાપ્ત કરાવવામાં કારણભૂત છે મોહ કષાયથી ઉત્પન્ન થાય છે કષાયની વિશેષતાથી કર્મની સ્થિતિમા વિશેષતાથાય છે કષાયથી જ સઘળા દુખોની પ્રાપ્તિ થાય છે આથી જે મુમુક્ષુ કર્મોનો ઘટાડો ઇચ્છે છે તેને ક્રોધ વગેરે કષાયોનો સવર કરવાના ઉપાય ક્ષમા આદિ સદ્ગુણોનો નિરતર અભ્યાસ કરવો જોઇએ વળી કહ્યુ પણ છે—

આ લોકમા જેટલુ પણ ઘોર દુખ છે અને ત્રણે લોકોમાં જે પણ ઉત્તમ સુખ છે તે બધા કષાયોની વૃદ્ધિ અને નાશના કારણો જ સમજવા જોઈએ તાત્પર્ય એ છે કે જેમ જેમ કષાયોની વૃદ્ધિથાય છે તેમ તેમ દુખની વૃદ્ધિ થાય છે અને જેમ જેમ કષાયોનો નાશ થાય છે તેમ તેમ દુખનો નાશ થાય છે આથી કષાયોના વિનાશ માટે નિરતર પ્રયત્નશીલ રહેવુ જોઇએ ॥૯॥

'आउए चउव्विहे, नारगतिरिक्खमणुस्सा देवमेयओ ॥ १० ॥

આયુષ્ય કર્મ ચાર પ્રકારના છે—(૧) નારકાયુ (૨) તીર્યચાયુ (૩) મનુષ્યાયુ અને (૪) દેવાયુ ॥૧૦॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમા કર્મની ચોથી મૂળ-પ્રકૃતિ મોહનીયકર્મની અઠ્ઠાવીસ ઉત્તરપ્રકૃતિઓનુ પ્રરૂપણ કરવામા આવ્યુ હવે પાચમી મૂળ પ્રકૃતિ આયુની ચારે ઉત્તરપ્રકૃતિઓ બતાવીએ છીએ—

આયુષ્યકર્મની ઉત્તરપ્રકૃતિઓ ચાર છે-નારકાયુ તિર્યંચાયુ મનુષ્યાયુ અને દેવાયુ ॥૧૦॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પાછલા સૂત્રમાં ચોથી મોહનીય રૂપ મૂળ કર્મપ્રકૃતિની અઠયાવીસ ઉત્તર પ્રકૃતિઓનુ નિરૂપણ કરવામા આવ્યુ હવે આયુ નામક પાંચમી મૂળકર્મપ્રકૃતિની ચાર ઉત્તરપ્રકૃતિઓ કહીએ છીએ-ઉત્તરપ્રકૃતિરૂપ આયુષ્યકર્મ ચાર પ્રકારના કહેવામાં આવ્યા છે-નરકાયુ તિર્યંચાયુ મનુષ્યાયુ અને દેવાયુ

જે કર્મના ઉદયથી-આત્મા નારક્ તિર્યંચ મનુષ્ય અથવા દેવના રૂપમાં જીવીત રહે છે અને જે કર્મના ક્ષયથી મરી જાય છે તેને આયુષ્ય કર્મ કહે છે કહ્યુ પણ છે—

પોતાને અનુરૂપ આસ્રવની દ્વારા ગ્રહણ કરેલા અનાજ આદિ ને પ્રથમ બાંધેલા આયુષ્યના ઉપકારક હોય છે તે આયુ નામક મૂળ પ્રકૃતિની ચાર ઉત્તરપ્રકૃતિઓ છે—(૧) નારકાયુષ્ય (૨) તૈર્યંચયોનિકાયુષ્ય (૩) માનુષ્યાયુષ્ક (૪) દેવાયુષ્ય 'આયુષ્ય' પદની વ્યુત્પત્તિ આ પ્રમાણે છે-આનીયન્તે અર્થાત્ લાવવામા આવે છે શેષ કૃતિઓ ઉપભોગને માટે જીવની દ્વારા જેમા તેને આયુ કહે છે કાસાના પાત્ર રૂપ આધારે ભોજન કરનાર માટે જ ચોખા અને ભાત વગેરે જુદી જુદી શાકભાજી રાખવામા આવે છે અથવા આનીયન્તે અર્થાત્ લાવવામા આવે છે તે ભવનીઅંદર થનારી પ્રકૃતિઓ જેની મદદથી તેને આયુ કહે છે, દોરડાથી બાંધેલા શેરડીના ભારાની જેમ કહેવાનુ એ છે કે જેમ દોરડુ—શેરડીને ભેગી રાખે છે તેવી જ રીતે આયુષ્ય-કર્મ અમુક ભવ સમ્બંધી સમસ્ત પ્રકૃતિઓને એકઠી કરી રાખે છે અથવા બેડી વગેરેની જેમ શરીર ધારણ પ્રતિ જે યત્નશીલ હોય છે તે આયુષ્ય કહેવાય છે. આયુને જ આયુષ્ય કહે છે આયુ ચાર પ્રકારના છે કારણ કે સસાર ચાર ગતિ રૂપ છે.

નરક પૃથ્વીનુ એક વિશેષ પ્રકારનુ પરિણમન છે નરક એ યાતનાઓનુ સ્થાન છે નરકમાં રહેવાવાળા પ્રાણી પણ નરક કહેવાય છે, નરક સબધી (આયુ)ને નારકી કહે છે એકેન્દ્રિય બેઇન્દ્રિય તેઇન્દ્રિય ચતુરિન્દ્રિય અને પચેન્દ્રિય તિર્યંચયોનિકોની આયુને તિર્યગ્યોનિક કહે છે સમ્મૂર્છિમ અને ગર્ભજ મનુષ્યોના આયુને માનુષાયુ કહે છે ભવનપતિ વાનવ્યતર જ્યોતિષ્ક અને વૈમાનિકોની આયુને દેવાયુ કહી શકાય છે આ રીતે આયુષ્ય મૂળ પ્રકૃતિની ચાર પ્રકૃતિઓ સાબીત થઈ ॥૧૦॥

णामे बायालीसविहे गइ-जाइ-सरीराइ भेयओ ॥ ११ ॥

સૂત્રાર્થ—ગતિ જાતિ શરીર આદિના ભેદથી નામ કર્મ બેતાળીશ પ્રકારના છે ॥૧૧॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પાછલા સૂત્રમા પાચમી મૂળ કર્મ પ્રકૃતિ આયુષ્યની ચાર પ્રકૃતિઓ કહેવામા આવી હવે ક્રમપ્રાપ્ત છઠી મૂળ કર્મપ્રકૃતિ-નામકર્મની બેતાળીશ ઉત્તરપ્રકૃતિઓ કહીએ છીએ—

ઉત્તર પ્રકૃતિઓની અપેક્ષાથી નામકર્મના બેતાળીશ ભેદ છે તે આ મુજબ છે—(૧) ગતિનામ (૨) જાતિનામ (૩) શરીરનામ (૪) શરીરાગોપાગ નામ (૫) શરીર બધન નામ (૬) શરીર સઘાત નામ (૭) સંહનન નામ (૮) સસ્થાન નામ (૯) વર્ણ નામ (૧૦) ગધનામ (૧૧) રસનામ (૧૨) સ્પર્શનામ (૧૩) અગુરુલઘુ નામ (૧૪) ઉપઘાત નામ (૧૫) પરાઘાત (૧૬) આનુપૂર્વી નામ (૧૭) ઉચ્છ્વાસ નામ (૧૮) આતપ નામ (૧૯) ઉદ્યોત નામ (૨૦) વિહાયોગતિ નામ (૨૧) ત્રસનામ (૨૨) સ્થાવર નામ (૨૩) સૂક્ષ્મ નામ (૨૪) બાદર નામ (૨૫) પર્યાપ્ત નામ (૨૬) અપર્યાપ્ત નામ (૨૭) સાધારણ શરીર નામ (૨૮) પ્રત્યેક શરીર

નામ (૨૯) સ્થિર નામ (૩૦) અસ્થિર નામ (૩૧) શુભ નામ (૩૨) અશુભ નામ (૩૩) સુભગ નામ (૩૪) દુર્ભગ નામ (૩૫) સુસ્વર નામ (૩૬) દુ:સ્વર નામ (૩૭) આદેય નામ (૩૮) અનાદેય નામ (૩૯) યશઃ કીર્તિ નામ (૪૦) અયશ કીર્તિ નામ (૪૧) નિર્માણ નામ અને (૪૨) તીર્થંકર નામ; આ નામ કર્મની બેતાળીશ ઉત્તરપ્રકૃતિઓ છે ॥૧૧॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પાછલા સૂત્રમાં આયુષ્ય કર્મની ચાર ઉત્તર પ્રકૃતિઓ કહેવામાં આવી, ક્રમપ્રાપ્ત નામકર્મની બેતાળીશ ઉત્તર પ્રકૃતિઓ હોય છે તેમના નામ આ રીતે છે—(૧) ગતિ (૨) જાતિ (૩) શરીર (૪) શરીરાંગોપાગ (૫) શરીરબન્ધન (૬) શરીર સંઘાત (૭) સહનન (૮) સંસ્થાન (૯) વર્ણ (૧૦) ગંધ (૧૧) રસ (૧૨) સ્પર્શ (૧૩) અગુરુ લઘુ (૧૪) ઉપઘાત (૧૫) પરાઘાત (૧૬) આનુપૂર્વી (૧૭) ઉચ્છવાસ (૧૮) આતપ (૧૯) ઉદ્યોત (૨૦) વિહાયોગતિ (૨૧) ત્રસ (૨૨) સ્થાવર (૨૩) સૂક્ષ્મ (૨૪) બાદર (૨૫) પર્યાપ્ત (૨૬) અપર્યાપ્ત (૨૭) સાધારણ શરીર (૨૮) પ્રત્યેક શરીર (૨૯) સ્થિર (૩૦) અસ્થિર (૩૧) શુભ (૩૨) અશુભ (૩૩) સુભગ (૩૪) દુર્ભગ (૩૫) સુસ્વર (૩૬) દુસ્વર (૩૭) આદેય (૩૮) અનાદેય (૩૯) યશ કીર્તિ (૪૦) અયશ કીર્તિ (૪૧) નિર્માણ અને (૪૨) તીર્થંકર નામ

આ બેતાળીશ ઉત્તરપ્રકૃતિઓના ૯૩ ત્રાણુ ભેદ હોય છે, તે આ પ્રમાણે છે—

(૧) ગતિ નામ કર્મના ચાર ભેદ છે—નરકગતિ. તિર્યંચગતિ મનુષ્યગતિ અને દેવગતિ. (૨) જાતિનામ કર્મના પાચ ભેદ છે—એકેન્દ્રિયજાતિ, બેઇન્દ્રિયજાતિ, તેઇન્દ્રિયજાતિ, ચતુરિન્દ્રીય જાતિ અને પચેન્દ્રિયજાતિ [૪+૫=૯] (૩) શરીરનામ કર્મ પાચ પ્રકારના છે—ઔદારિક શરીર નામ કર્મ, વૈક્રિય શરીરનામ કર્મ, આહારક શરીરનામ કર્મ, તૈજસ શરીરનામ કર્મ અને કાર્મણ શરીરનામ કર્મ [૯+૫=૧૪] (૪) અગોપાંગ કર્મના ત્રણ ભેદ છે—ઔદારિક અગોપાંગ, વૈક્રિય અગોપાંગ, આહારક અગોપાંગ [૧૪+૩=૧૭] (૫) શરીરબન્ધનામ કર્મના પાચ ભેદ છે-ઔદારિક શદીરબન્ધન વૈક્રિયશરીરબન્ધન, આહાકરશરીરબન્ધન, તૈજસશરીરબન્ધન, કાર્મણશરીરબન્ધન [૧૭+૫=૨૨] (૬) શરીર સઘાત નામ કર્મના પાચ ભેદ છે-ઔદારિક શરીર સઘાત, વૈક્રિયશરીરસઘાત, આહારક શરીરસઘાત, તૈજસ શરીર સઘાત કાર્મણશરીરસઘાત [૨૨+૫=૨૭] (૭) સહનન નામ કર્મના છ ભેદ છે-વજ્રઋષભનારાચસહનન, ઋષભનારાચસહનન, નારાચસહનન, અર્ધનારાચસહનન, કીલિકાસહનન, સેવાર્ત્તસહનન નામકર્મ [૨૭+૬=૩૩] (૮) સસ્થાનનામકર્મના છ ભેદ છે-સમચતુરસ્રસસ્થાન ન્યગ્રોધપરિમંડળ, સાદિસસ્થાન, કુબ્જકસસ્થાન, વામનસસ્થાન, અને હુન્ડસસ્થાન નામકર્મ. [૩૩+૬=૩૯] (૯) વર્ણ, (૧૦) ગધ, (૧૧) રસ અને (૧૨) સ્પર્શના વીસ ભેદ હોય છે-વર્ણ નામકર્મના પાંચ ભેદ છે-કાળો, ભૂરો, લાલ, પીળો, અને સફેદ [૩૯+૫=૪૪] ગધના બે ભેદ-સુરભિ ગધ અને દુરભિગન્ધ [૪૪+૨=૪૬] રસના પાંચ ભેદ-તીખો, કડવો, કસાયલો, ખાટો, મીઠો [૪૬+૫=૫૧] સ્પર્શ નામના આઠ ભેદ-ગુરુ, લઘુ, કર્કશ, કોમળ, ટાઢો, ઉનો, લુખો, ચિકણો [૫૧+૮=૫૯] (૧૩) અગુરુલઘુ પણ એક પ્રકારનો છે [૬૦] (૧૪) ઉપઘાત અને (૧૫) પરાઘાતનો પણ એક એક ભેદ છે [૬૨] (૧૬) આનુપૂર્વી નામકર્મના ચાર ભેદ છે-નરકાનુપૂર્વી, તિર્યંગાનુપૂર્વી, મનુષ્યાનુપૂર્વી અને દેવાનુપૂર્વી [૬૬] (૧૭) ઉચ્છવાસ (૧૮) ઉદ્યોત (૧૯) આતપ નામકર્મના એક-એક ભેદ છે [૬૯] ૨૦) વિહાયોગતિ નામકર્મના બે ભેદ છે-પ્રશસ્ત-

વિહાયોગતિ અને અપ્રશસ્તવિહાયોગતિ નામ [૭૧] નામકર્મના બેતાળીશ ભેદોમાંથી અહીં ૨૦ ભેદોનું વર્ણન થયું બાકીના ૨ ભેદ આ પ્રમાણે છે—

૨૧ ત્રસ, ૨૨ સ્થાવર ૨૩ સૂક્ષ્મ ૨૪ બાદર ૨૫ પર્યાપ્ત, ૨૬ અપર્યાપ્ત ૨૭ સાધારણશરીર ૨૮ પ્રત્યેકશરીર ૨૯ સ્થિર ૩૦ અસ્થિર ૩૧ શુભ ૩૨ અશુભ ૩૩ સુભગ ૩૪ દુર્ભગ ૩૫ સુસ્વર ૩૬ દુસ્વર ૩૭ આદેય ૩૮ અનાદેય ૩૯ યશકીર્તિ ૪૦ અયશઃકીર્તિ ૪૧ નિર્માણ અને ૪૨ તીર્થંકર નામ કર્મ–દરેકના એક એક જ ભેદ છે આવી રીતે [૭૧+૨૨=૯૩] અગાઉ જણાવેલા એકોતર અને આ બાવીસ બધા મળીને નામકર્મની બેતાળીશ પ્રકૃતિઓના ત્રાણુ ભેદ થાય છે

હવે અત્રે નામકર્મનુ સવિસ્તર વર્ણન કરવામાં આવે છે—

જે કર્મ જીવને નરકભવ વગેરેમા લઈ જાય છે અથવા જે કર્મ જીવપ્રદેશોથી સબદ્ધ પુદ્ગલદ્રવ્યના વિપાકના સામર્થ્યથી જીવને નમાવે છે તે નામકર્મ કહેવાય છે ‘નામ’ આ યથાર્થ સંજ્ઞા છે અર્થાત્ જેવુ આ કર્મનુ નામ છે તેવી જ રીતે તેનો સ્વભાવ પણ છે જેમ, શુકલ આદિ ગુણોથી યુક્ત દ્રવ્યોમા–ચિત્રપટ એવો વ્યવહાર થાય છે, આ નિયત સંજ્ઞાનુ કારણ છે

ગતિ નામક પિન્ડપ્રકૃતિના ચાર ભેદ છે—નરકગતિ આદિ. જે કર્મના ઉદયથી જીવ નારકી કહેવાય છે તે નરકગતિનામકર્મ કહેવાય છે આ પ્રમાણે બાકીના પણ સમજી લેવા જોઈએ

જાતિનામક પિન્ડપ્રકૃતિના પાચ ભેદ છે—એકેન્દ્રિયજાતિનામકર્મ, દ્વિન્દ્રીયજાતિનામકર્મ, તેઈન્દ્રિયજાતિનામકર્મ, ચતુરિન્દ્રિયજાતિનામકર્મ અને પચેન્દ્રિયજાતિનામકર્મ, એકેન્દ્રિયજાતિનામકર્મના ઉદયથી જીવ, એકેન્દ્રિય કહેવાય છે અર્થાત્ એકેન્દ્રિય એવા વ્યવહારનુ કારણ એકેન્દ્રિયજાતિનામકર્મ છે એવી જ રીતે એકેન્દ્રિય જાતિનામકર્મ વગેરેના વિષયમા પણ જાણવુ જોઈએ

એકેન્દ્રિયજાતિનામકર્મ પણ અનેક પ્રકારના છે—પૃથ્વિકાયિક–એકેન્દ્રિયજાતિનામકર્મ, અપ્કાયિક–એકેન્દ્રિયજાતિનામકર્મ, તેજસ્કાયિક એકેન્દ્રિયજાતિનામકર્મ, વાયુકાયિક–એકેન્દ્રિયજાતિનામકર્મ, વનસ્પતિકાયિક–એકેન્દ્રિયજાતિનામકર્મ એવી જ રીતે દ્વીન્દ્રિયજાતિનામકર્મ શંખ અને છીપો વગેરેના ભેદથી ત્રિઈન્દ્રિયજાતિનામકર્મ ઉધાઇ કીડી કંથવા વગેરેના ભેદથી ચતુરિન્દ્રિય જાતિનામ ભમરા તથા મધમાખી વગેરેના ભેદથી અને પચેન્દ્રિયજાતિનામ મનુષ્ય વિગેરે જાતિનામના ભેદથી અનેક પ્રકારના સમજી લેવા જોઈએ

શરીરનામકર્મના પાચ ભેદ છે—ઔદારિક શરીરનામકર્મ વૈક્રિયશરીરનામકર્મ, આહારકશરીરનામકર્મ, તૈજસશરીરનામકર્મ, કાર્મણશરીરનામકર્મ

ઔદારિક–અંગોપાગ, વૈક્રીય–અંગોપાગ અને આહારક–અંગોપાગના ભેદથી ત્રણ પ્રકારના અંગોપાગનામકર્મમાથી પણ દરેકના અનેક ભેદો હોય છે શિરોનામકર્મ, ઉરોનામકર્મ, પૃષ્ઠનામકર્મ, બાહુનામકર્મ ઉદરનામકર્મ, ચરણનામકર્મ, હસ્તનામકર્મ આ અંગનામકર્મના ભેદ છે એવી જ રીતે ઉપાગનામકર્મ પણ અનેક પ્રકારના હોય છે જેમકે—સ્પર્શન ઉપાગનામકર્મ, રસના ઉપાગનામકર્મ, ઘ્રાણઉપાગનામકર્મ, ચક્ષુઉપાગનામકર્મ શ્રોત્ર–ઉપાગનામકર્મ ઇત્યાદિ

એકેન્દ્રિયજાતિ વગેરે પાંચ પ્રકારની જાતિઓમા સ્ત્રી, પુરુષ, નપુંસક લિંગની વ્યવસ્થાનું નિયમન કરવાવાળા અને અમુક પ્રકારના અવયવોની રચનાની વ્યવસ્થાનુ નિયામક નિર્માણ નામકર્મ છે નિર્માણનામકર્મના ઉદયથી જ સઘળા જીવોને પોત પોતાના ઢંગના શરીર અવયવોની રચના હોય છે આ નિર્માણ નામ કર્મ મહેલ મકાન વગેરે બનાવનાર કુશળ કારીગર જેવું છે.

શરીર નામ કર્મના ઉદયથી શરીરે યોગ્ય પુદ્ગલોને ગ્રહણ કરી લીધા, તેઓ આત્મપ્રદેશોમાં સ્થિત પણ થઈ ગયા અને શરીરના આકારમાં પરિણત થઈ ગયા પરંતુ તેમને લાખ અને લાકડાની જેમ અરસપરસ અવિયોગ (એકમેક રૂપ) કરનાર બન્ધન નામ કર્મ વગેરે ન હોત તો રેતીથી બનેલા પુરુષની જેમ શરીર વિખરાઈ જાત તાત્પર્ય એ છે કે જેવી રીતે રેતીના કણ એકબીજામાં મળેલા હોવા છતાં પણ જુદા જુદા રહે છે તેવી જ રીતે શરીરના પુદ્ગલ પૃથક્-પૃથક્ જ ન રહી જાય એ માટે બન્ધન નામનો સ્વીકાર કરવામા આવેલ છે બન્ધન નામ કર્મ પણ ઔદારિક આદિ શરીરોની જેમ પાંચ પ્રકારના છે

લાખ અને લાકડાની માફક પરસ્પર બદ્ધ પુદ્ગલોની જે પ્રગાઢ રચના વિશેષ છે તેને સંઘાત કહે છે તાત્પર્ય એ છે કે આત્માની દ્વારા ગૃહીત પુદ્ગલોનો બન્ધન નામ કર્મ દ્વારા પરસ્પરમા બન્ધ તો થઈ જાય છે પરંતુ તે બન્ધનમા પ્રગાઢતા લાવનાર સંઘાત નામ કર્મ છે આથી જે કર્મના ઉદયથી ઔદારિક વગેરે શરીરોની ગાઢી રચના થાય છે તે સંઘાત નામકર્મ કહેવાય છે જેમ લાકડામા અથવા માટીના પિન્ડમા એક પ્રકારની સઘનતા હોય છે તે પ્રકારની સઘનતા શરીરપુદ્ગલોમા પણ જોવામાં આવે છે આ સઘનતા સંઘાત લાભ કર્મના ઉદયથી ઉત્પન્ન થાય છે સંઘાત નામ કર્મ પણ શરીર નામ કર્મની માફક ઔદારિક વગેરેના ભેદથી પાંચ પ્રકારનુ છે

અગર સંઘાત નામ કર્મ ન હોત તો શરીરમાં જે મજબુતાઈ જોવામાં આવે છે તે ન હોત

સંહનન નામ કર્મ છ પ્રકારના છે—વજ્ર-ઋષભનારાચ-સંહનન, વજ્રનો અર્થ કીલિકા ઋષભનો અર્થ પરિવેષ્ટન પટ્ટ છે, નારાચનો અર્થ બને બાજુ મર્કટ બન્ધ છે આવી રીતે આ પદોનો અર્થ થયો સંહનનનો અર્થ કરવામા આવે છે જેમા બે હાડકાઓ બને તરફ મર્કટ બન્ધથી બાંધેલા હોય અને પછી પાટાની આકૃતિવાળું બીજુ હાડકુ તેને વીંટાયેલુ હોય, તેની ઉપર તે ત્રણ હાડકાઓને ખીલીના આકારની વજ્ર નામની ત્રીજી હાડકી લાગેલી હોય તે બન્ધન વિશેષને વજ્ર ઋષભનારાચ સંહનન કહેવામા આવે છે (૧) જેમા હાડકાઓ બધાં ઉપર જણાવવા મુજબના હોય પરંતુ વજ્રાકાર ખીલી માત્ર ન હોય તે-બન્ધન વિશેષને ઋષભનારાચ સંહનન કહે છે (૨) જેમા બને બાજુએ મર્કટબન્ધ હોય તેને નારાચસંહનન કહે છે (૩) જેમા એક બાજુએ તો મર્કટબન્ધ હોય, બીજી બાજુએ ખીલી હોય તો તેને અર્ધનારાચસંહનન કહે છે, (૪) જેમા બે હાડકાઓનો સાંધો ખીલીથી બાંધેલો હોય તેને કીલિકા સંહનન કહે છે (૫) જેમા હાડકાઓનો ટોચ ભાગ પરસ્પરમા સ્પર્શ માત્રથી મળેલા હોય તેને સેવાર્ત્ત સંહનન કહે છે (૬)

સંસ્થાન નામ કર્મના છ ભેદ છે—સમચતુરસ્રસંસ્થાન આદિ અહીં સંસ્થાનનો આશય છે—આકાર અર્થાત્ અમુક આકારમાં શરીરની રચના હોવી તાત્પર્ય એ છે કે શરીરને અનુકૂળ

બાંધવામાં આવનારા પુદ્ગલોમાં જે કર્મના ઉદયથી કોઈ વિશિષ્ટ આકૃતિ ઉત્પન્ન થાય છે તે સંસ્થાનકર્મ કહેવાય છે જે સંસ્થાન સમચોરસ હોય તે સમચતુરસ્ર કહેવાય છે (૧) માન, ઉન્માન તથા પ્રમાણુની અપેક્ષાથી તેમા ન તો ઓછાપણુ હોય છે કે ન વધુપણુ

જેમા નાભિ (ડૂટી)ના ઉપરના ભાગમાં બધા અવયવ ચતુરસ્ર સમચતુષ્કોણુ અર્થાત્ યોગ્ય લક્ષણુવાળા હોય પરંતુ ડૂટીની નીચેના ભાગ ઉપર એ પ્રમાણે ન હોય તેને ન્યગ્રોધ પરિમંડળ સંસ્થાન કહે છે (૨) જેમાં ડૂટીથી નીચેના ભાગમા બધા અવયવ સમચતુસ્ર સમચતુષ્કોણુ અર્થાત્ યથાયોગ્ય લક્ષણુવાળા હોય પરંતુ ડૂટી ઉપરનો ભાગ નીચેના ભાગ જેવો ન હોય તેને સાદિ સંસ્થાન કહે છે (૩) જેમાં ડોક, મસ્તક, હાથ અને પગ સમચતુષ્કોણુ અર્થાત્ યથાયોગ્ય લક્ષણુવાળા હોય પરંતુ શરીરનો મધ્યભાગ-હૃદય, પીઠ આદિ થોડા વિકૃત હોય તેને કુબ્જસંસ્થાન કહે છે (૪) જેમા શરીરનો મધ્યભાગ તથા મસ્તક-ગર્દન, હાથ તથા પગ સમચતુષ્કોણુ અને યથારૂપ લક્ષણુવાળા હોય પરંતુ પ્રમાણુમાં નાના હોય તેમને વામન-સંસ્થાન કહે છે (૫) જેમાં હાથ પગ આદિ અવયવો પ્રમાણુસરના હોતા નથી તેમને હુંડ સંસ્થાન કહે છે (૬)

વર્ણ નામ કર્મ પાંચ પ્રકારના છે—કૃષ્ણુવર્ણુનામકર્મ , નીલવર્ણુનામકર્મ, રક્તવર્ણુનામકર્મ પીતવર્ણુનામકર્મ, શુક્લવર્ણુનામકર્મ

ગન્ધ નામકર્મના બે ભેદ છે—સુરભિગંધનામકર્મ અને દુરભિગંધ નામકર્મ

રસ નામકર્મના પાંચ ભેદ છે—તિક્તરસ નામકર્મ, કટુકરસ નમકર્મ, કષાયરસ નામકર્મ, અમ્લરસ નામકર્મ અને મધુરરસ નામકર્મ

સ્પર્શ નામકર્મ આઠ પ્રકારના છે—કર્કશસ્પર્શ નામકર્મ. મૃદુસ્પર્શ નામકર્મ, ગુરુસ્પર્શનામકર્મ, લઘુસ્પર્શ નામકર્મ, શીતસ્પર્શ નામકર્મ, ઉષ્ણુસ્પર્શ નામકર્મ, સ્નિગ્ધસ્પર્શ નામકર્મ અને રૂક્ષસ્પર્શ નામકર્મ

આ વર્ણુ-ગન્ધ-રસ-સ્પર્શ નામક નામકર્મ શરીરમા અમુક-અમુક પ્રકારનાં વર્ણુ ગંધ આદિને ઉત્પન્ન કરે છે—

અગુરુલઘુ નામ કર્મ તે છે જે શરીરની અગુરુલઘુતાનો નિયામક હોય છે ગુરુતા, લઘુતા અને ગુરુ લઘુતા આ ત્રણ પ્રકારના પરિણામોના નિષેધક જે પરિણામ છે તે અગુરુ લઘુ કહેવાય છે સારાશ એ છે કે જે કર્મના ઉદયથી બધા જીવોના શરીર ન તો ઘણા મોટા હોય છે, ન ઘણા નાના હોય છે પરંતુ અગુરુલઘુ પરિણામવાળા હોય છે તે અગુરુલઘુ નામ કર્મ કહેવાય છે બધા દ્રવ્ય, સ્થિતિ આદિ અનેક સ્વાભાવોથી પરિણત થાય છે તેમાથી અગુરુ લઘુ-પરિણામનો નિયામક અગુરુ લઘુ નામ કર્મ છે

જે નામ કર્મના ઉદયથી પોતાના જ શરીરના અવયવ પોતાને જ દુઃખદાયક હોય છે તે ઉપઘાત નામ કર્મ છે બીજાને ત્રાસ અથવા પ્રતિઘાત આદિ ઉત્પન્ન કરવાવાળુ એ પરાઘાત નામ કર્મ છે જે કર્મના ઉદયથી કોઈ વિદ્વાન દર્શનમાત્રથી ઓજસ્વી પ્રતીત થાય છે અને કોઈ સભામા પહોચી જઈને વાક્ ચાતુર્યથી અન્ય શ્રોતાઓને ત્રાસ ઉત્પન્ન કરે છે અથવા બીજાની પ્રતિભાને પ્રતિઘાત કરે છે તે પરાઘાત નામ કર્મ છે

જીવ જ્યારે વર્તમાન દેહનો ત્યાગ કરી નવીન જન્મ ધારણ કરવા માટે વિગ્રહ ગતિ કરે છે તે વખતે આ કર્મનો ઉદય થાય છે આ આનુપૂર્વી નામ કર્મના ઉદયથી જીવ પોતાના નિયત ઉત્પત્તિ ક્ષેત્રમાં પહોચે છે.

ક્ષેત્રના સન્નિવેશ ક્રમને આનુપૂર્વી કહે છે જે કર્મના ઉદયથી અતિશયની સાથે ગમનની અનુકૂળતા હોય છે તેને પણ આનુપૂર્વી કહે છે તે અન્તરાળગતિ બે પ્રકારની છે—ઋજુગતિ અને વક્રગતિ જીવ જ્યારે એક સમય પ્રમાણ ઋજુગતિથી ગમન કરે છે ત્યારે આગલા આયુષ્ય કર્મનો અનુભવ કરતો થકો જ આનુપૂર્વી નામ કર્મ દ્વારા ઉત્પત્તિ સ્થાનને મેળવી આગલુ આયુષ્ય પ્રાપ્ત કરે છે બે ત્રણ અથવા ચાર સમયવાળી વક્રગતિથી જે વાણિમુકતા. લાગલિકા અને ગોમુત્રિકા લક્ષણવાળી હોય છે, ગતિ કરે છે તો વળાક શરૂ થવાના સમયે આગામી આયુષ્યને પ્રાપ્ત કરી લે છે તે જ સમયે આનુપૂર્વી નામ કર્મનો ઉદય થાય છે

શંકા—જેમ ઋજુગતિમાં આનુપૂર્વી નામ કર્મના ઉદય વગર જ જીવ પોતાના ઉત્પત્તિ ક્ષેત્રમાં પહોંચી જાય છે તેવી જ રીતે વક્રગતિ કરીને પણ આનુપૂર્વી નામ કર્મ વગર જ ઉત્પત્તિ ક્ષેત્રમાં કેમ પ્રાપ્ત થઈ જતો નથી ?

સમાધાન—ઋજુગતિમા પૂર્વ ભવ સબધી આયુષ્યના વ્યવહારથી જ જીવનુ ગમન થાય છે જ્યા પૂર્વભવના આયુષ્યનો ક્ષય થઇ જાય છે ત્યાં જ આનુપૂર્વી નામકર્મનો, જે રસ્તામાં પડેલી લાકડી જેવું છે તેનો ઉદય થાય છે આ રીતે વક્રગતિમાં વર્તમાન ભવના આયુષ્ય કર્મનો ક્ષય થવાથી આનુપૂર્વી નામ કર્મનો ઉદય થાય છે

પ્રાણાપાન અર્થાત્ ઉચ્છવાસ અને વિશ્વાસને યોગ્ય પુદ્ગલોને ધારણ કરવાની શક્તિ ઉત્પન્ન કરનાર કર્મ ઉચ્છવાસ નામ કર્મ કહેવાય છે આતપના સામર્થ્યનો જનક કર્મ આતપ નામકર્મ છે પ્રકાશની શક્તિ ઉત્પન્ન કરનાર ઉદ્યોત નામ કર્મ છે. લબ્ધિ શિક્ષા (શિક્ષણ) અગર ઋદ્ધિના પ્રભાવથી આકાશમા વિહાર કરવાની શક્તિ ઉત્પન્ન કરનાર કર્મ વિહગગતિ અથવા વિહાયોગતિ નામ કર્મ કહેવાય છે પ્રશસ્ત વિહાયોગતિ હસ આદિની મોહક ચાલ અને અપ્રશસ્ત વિહાયોગતિ ઉંટ વગેરેની વાકી ચાલ સમજવા, બેઇન્દ્રિય, તેઈન્દ્રિય, ચતુરિન્દ્રિય અને પચેન્દ્રિય જીવ ત્રસ કહેવાય છે. જે કર્મના ઉદયથી ત્રસ પર્યાયની પ્રાપ્તિ થાય છે તે ત્રસ નામ કર્મ છે

જે કર્મના ઉદયથી સ્થાવર પર્યાયની પ્રાપ્તિ થાય તે સ્થાવર નામકર્મ છે–સૂક્ષ્મ શરીરનો પિતા સૂક્ષ્મ નામ કર્મ છે જેના ઉદયથી બાદર શરીર ઉત્પન્ન થાય તે બાદરનામ કર્મ કહેવાય છે

પર્યાપ્ત નામ કર્મનુ વિવેચન–જે કર્મના ઉદયથી પોત-પોતાને યોગ્ય પર્યાપ્તિઓની પૂર્ણતા થાય તે પર્યાપ્તિ નામ કર્મ કહેવાય છે પર્યાપ્તિઓ પાંચ છે—આહારપર્યાપ્તિ, શરીર-પર્યાપ્તિ, ઇન્દ્રિયપર્યાપ્તિ, ભાષામણુવજન્તિ અને ભાષામન પર્યાપ્તિ, આત્માની ક્રિયાની સમાપ્તિને પર્યાપ્તિ કહે છે આવી રીતે પર્યાપ્તિ આત્માનુ એક પ્રકારનુ કરણ છે તે કરણથી આત્મામા આહાર વગેરેને ગ્રહણ કરવાની શક્તિ ઉત્પન્ન થાય છે, તે કરણ જે પુદ્ગલોથી ઉત્પન્ન થાય છે તે પુદ્ગલ આત્મા મારફતે ગૃહીત થઇને અને વિશિષ્ટ પરિણામથી પરિણત થઈને પર્યાપ્તિ કહેવાય છે મન પર્યાપ્તિ ઈન્દ્રિય પર્યાપ્તિમા સમાયેલી છે આથી તેની જુદી ગણત્રી કરવામા આવી નથી

જે કર્મના ઉદયથી જીવ પોતાને અનુરૂપ પર્યાપ્તિઓને પૂર્ણ ન કરી શકે તેને અપર્યાપ્તિ-નામકર્મ કહે છે

જે કર્મના ઉદયથી એવા શરીરનુ નિર્માણ થાય કે જે અનન્ત જીવો માટે સાધારણ હોય, તે સાધારણ નામકર્મ કહેવાય છે અનન્ત જીવોનુ જે એક જ શરીર હોય છે તેને સાધારણ શરીર કહે છે એવુ શરીર કુંપળ વગેરે નિગોદમા જ જોવામાં આવે છે ત્યાં એક જીવનો આહાર અનન્ત જીવોનો આહાર હોય છે, એકનો શ્વાસોચ્છવાસ જ અનંત જીવોનો શ્વાસોચ્છવાસ હોય છે આવુ સાધારણ શરીર જે કર્મના ઉદયથી નિષ્પન્ન થાય છે, તે સાધારણ શરીર નામ કર્મ છે

સ્થિરતા ઉત્પન્ન કરવાવાળુ કર્મ સ્થિરનામ કર્મ છે આનાથી જે ઉલટું હોય તે અસ્થિર નામ કર્મ છે એવી જ રીતે શુભ, અશુભ, સુભગ, દુર્ભગ સુસ્વર અને દુસ્વર નામ કર્મ પણ સમજી લેવા જોઈએ આદેયતા ઉત્પન્ન કરનાર આદેય નામ કર્મ કહેવાય છે અને જે એનાથી વિરુદ્ધ હોય તે અનાદેયનામ કર્મ છે જેના ઉદયથી યશ તથા કીર્તિ ફેલાય તે યશ કીર્તિ નામ-કર્મ અને જેના ઉદયથી અપજશ અને અપકીર્તિ થાય તે અયશ કીર્તિનામ કર્મ કહેવાય છે જે કર્મના ઉદયથી તીર્થંકરત્વની પ્રાપ્તિ થાય તેને તીર્થંકર નામ કર્મ કહે છે આ કર્મના ઉદયથી જીવ દર્શનજ્ઞાન–ચારિત્ર રૂપ તીર્થની પ્રવૃત્તિ કરે છે, મુનિઓના સર્વવિરતિ અને શ્રાવકોના દેશ વિરતિ ધર્મનો–ઉપદેશ કરે છે, આક્ષેપિણી–સંવેગિની તથા નિર્વેદિની કથાઓ દ્વારા ભવ્ય-જનોની સિદ્ધિ–મોક્ષ માટે મોક્ષમાર્ગ પ્રદર્શિત કરે છે અને જે કર્મના પ્રભાવથી સુરેન્દ્રો, અસુરેન્દ્રો અને નરેન્દ્રો દ્વારા પૂજાય છે તે તીર્થંકરનામ કર્મ કહેવાય છે.

આમ નામકર્મની ઉત્તર તથા ઉત્તરોત્તર પ્રકૃતિઓ અનેક પ્રકારની કહેવામાં આવી છે ॥ ૧૧ ॥

'गोए दुविहे उच्चे नीए'

સૂત્રાર્થ—ગોત્રકર્મની બે ઉત્તરપ્રકૃતિ છે—ઉચ્ચગોત્ર તથા નીચગોત્ર ॥ ૧૨ ॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વ સૂત્રમાં નામકર્મ નામક મૂળ પ્રકૃતિની બેતાળીશ ઉત્તર પ્રકૃતિઓનુ પ્રતિપાદન કરવામા આવ્યુ. હવે ગોત્રકર્મની બે ઉત્તરપ્રકૃતિઓનુ કથન કરીએ છીએ—ગોત્ર-કર્મની ઉત્તર પ્રકૃતિઓ બે છે—ઉચ્ચગોત્ર તથા નીચગોત્ર

ઉચ્ચગોત્ર દેશ–જાતિ–કુળ–સ્થાન–માન–સત્કાર–ઐશ્વર્ય આદિનો ઉત્કર્ષ ઉત્પન્ન કરે છે નીચગોત્ર આનાથી ઉલ્ટુ હોય છે એના ઉદયથી ચાંડાળ, શિકારી માછીમાર દાસ, દાસીઓ વગેરે જેવી અવસ્થાઓ પ્રાપ્ત થાય છે ॥ ૧૨ ॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પાછલા સૂત્રમા નામ કર્મની બેતાળીશ ઉત્તર પ્રકૃતિઓનુ નિરૂપણ કરવામા આવ્યુ છે હવે ગોત્ર નામક જે મૂળ પ્રકૃતિ છે તેની બે પ્રકૃતિઓનુ કથન કરીએ છીએ—

ગોત્રકર્મના બે ભેદ છે—ઉચ્ચગોત્ર અને નીચગોત્ર

જે કર્મના ઉદયથી જીવ ઉચ્ચ જાતિને મેળવે છે તે ઉચ્ચગોત્રકર્મ, અને જેના ઉદયથી નીચ જાતિને પ્રાપ્ત કરે છે તે નીચગોત્રકર્મ કહેવાય છે ઉચ્ચગોત્ર કર્મ મગધ, અંગ, કલિંગ, બંગ આદિ આર્યદેશોમા જન્મ 'લેવાના' હરિવંશ, ઈક્ષ્વાકુ વગેરે પિતૃવંશ રૂપ જાતિઓમા તથા ઉગ્રકુળ ભોગકુલ વગેરે માતૃવંશ રૂપ ઉત્તમ કુળોમા જન્મ લેવાનુ કારણ હોય છે આવી જ રીતે પ્રભુ પ્રભાવશાળીની પાસે એકદમ પાસે બેસવાથી આદિ રૂપ સ્થાન, પોતાના

વથી યાચકોની ઇચ્છા અનુસાર ગજાસંપત પ્રમાણે દાન આપી રહ્યો હોય પરંતુ કોઈ એવો યાચક હોય જેને માગવા છતાં પણ, થોડું પણ દ્રવ્ય ન આપે તો સમજવું જોઈએ કે તે યાચકને લાભાન્તરાય કર્મનો ઉદય છે

જે વસ્તુ એક વખત ભોગવવામાં આવે તે ભોગ કહેવાય છે જેમ માળા, ચન્દન વગેરે ભોગને અનુકૂળ વસ્તુ હાજર હોય તો પણ જે કર્મના ઉદયથી તેને ભોગવી ન શકાય તે ભોગાન્તરાય કર્મ કહેવાય છે વસ્ત્ર, શય્યા, આસન, પાત્ર વગેને ઉપભોગ કહેવાય છે કારણ કે તેમનો વારવાર ભોગ કરી શકાય છે આ વસ્ત્ર વગેરે વસ્તુઓના હોવા છતાં પણ જે કર્મના ઉદયથી પરિભોગ ન કરી શકાય તેને ઉપભોગાન્તરાય કર્મ કહે છે

વીર્યનો અર્થ છે ઉત્સાહ, ચેષ્ટા અથવા શક્તિ કોઇ માનવી બળવાન છે, પુષ્ટ શરીરવાળો છે, યુવાન છે, તો પણ ધર્મ કર્મ વગેરે કરવામા શક્તિ પ્રદર્શિત કરતો નથી, ઉમંગ બતાવતો નથી તો માની લેવું કે તેને વીર્યાન્તરાય કર્મનો ઉદય છે પૃથ્વીકાય, અપ્કાય, તેજસ્કાય વાયુકાય અને વનસ્પતિકાયના જીવોમાં વીર્યાન્તરાય કર્મનાં ક્ષયોપશમ જનિત તરતમતા અનુસાર પૂર્ણરૂપથી ઉદય માનવો જોઈએ આની અપેક્ષા બેઇન્દ્રિય જીવોમાં, બેઇન્દ્રિયોની અપેક્ષા તેઇન્દ્રિય જીવોમા ઓછું વીર્યાન્તરાય જોવામા આવે છે આ મુજબ છદ્મસ્થઅવસ્થાના પરાકાષ્ટા સમયમાં અર્થાત બારમા ક્ષીણ કષાય નામક ગુણસ્થાનના અંતિમ સમયમાં વીર્યાન્તરાય કર્મ સહુથી ઓછુ દેખાય છે કેવળજ્ઞાન લાધવાથી (મળવાથી) ભલે તીર્થંકર કેવળી હોય કે સામાન્ય-કેવળી, વીર્યાન્તરાય કર્મથી સર્વથા રહિત થઈ જાય છે તેમનામાં સર્વોત્કૃષ્ટ વીર્ય હો છે ॥ ૧૩ ॥

'णाणदंसणावरणिज्जवेयणिज्जंतरायाणं, इत्यादि

સૂત્રાર્થ—જ્ઞાનાવરણ, દર્શનાવરણ, વેદનીય અને અન્તરાય કર્મની ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ ત્રીશ ક્રોડાક્રોડી સાગરોપમની અને જઘન્ય અન્તર્મુહૂર્ત્તની છે ॥૧૪॥

તત્વાર્થદીપિકા—આનાથી પૂર્વ પ્રકૃતિબંધનુ પ્રરૂપણ કરવા માટે કહેવામા આવે છે જ્ઞાનાવરણ દર્શનાવરણ વેદનીય અને અંતરાય આ ચાર કર્મોની ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ ત્રીસ ક્રોડાક્રોડી સાગરોપમની છે અને જઘન્ય સ્થિતિ અન્તર્મુહૂર્ત્તની છે ॥૧૪॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પાછળના સૂત્રોમા મૂળ અને ઉત્તર પ્રકૃતિબન્ધની પ્રરૂપણા કરવામા આવેલ છે હવે સ્થિતિબન્ધની પ્રરૂપણા કરતા થકા પ્રથમ જ્ઞાનાવરણ, દર્શનાવરણ વેદનીય અને અન્તરાય કર્મની સ્થિતિ બતાવીએ છીએ—

જ્ઞાનાવરણ, દર્શનાવરણ, વેદનીય અને અન્તરાય કર્મની ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ ત્રીસ ક્રોડાક્રોડી સાગરોપમની અને જઘન્ય સ્થિતિ અન્તર્મુહૂર્ત્તની છે બન્ધના સમયથી શરૂ કરીને અત્યાર સુધી તે કર્મ પૂર્ણરૂપથી નિર્જીર્ણ થાય છે ત્યા સુધીનો સમય સ્થિતિકાળ કહેવાય છે સ્થિતિ-કાળને જ અહીં સ્થિતિ શબ્દથી કહેલો છે

આવી રીતે પૂર્વોક્ત ચાર મૂળપ્રકૃતિઓનો સ્થિતિબન્ધ ઉત્કૃષ્ટ ત્રીસ ક્રોડાક્રોડી સાગરોપમનો સમજવો જોઈએ આ ચારે કર્મોનો અબાધાકાળ ત્રણ હજાર વર્ષનો છે બન્ધ થયા બાદ જેટલો કાળ સુધી કર્મનો ઉદય થતો નથી, તેટલો કાળ અબાધાકાળ કહેવાય છે અબાધાકાળ પુરો થઈ ગયા બાદ જ્ઞાનાવરણ વગેરે કોઈ કર્મ જ્યારે ઉદયાવલીકામા પ્રવેશ થાય છે ત્યારથી પ્રારંભ કરીને તેનો પૂર્ણરૂપથી નાશ થવાના કાળને બન્ધકાળ કહે છે પરિણામ એ આવ્યુ કે જ્ઞાના-

વરણુ વગેરે કહેલા ચારે કર્મબન્ધકાળથી લઈને ત્રણુ હજાર વર્ષ પુરા થઈ ગયા બાદ ઉદયાવલિકામાં પ્રવિષ્ટ થાય છે.

જ્ઞાનાવરણુ દર્શનાવરણુ, વેદનીય અને અન્તરાય કર્મની ત્રીસ ક્રોડાક્રોડી સાગરોપમની જે ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ બતાવવામા આવી છે તે સંજ્ઞી, મિથ્યાદષ્ટિ પંચેન્દ્રિય પર્યાપ્ત જીવની અપેક્ષાથી સમજવી જોઈએ ઉત્તરાધ્યયનના ૩૩મા અધ્યયનમાં કહેવામાં આવ્યુ છે—

બે આવરણોની અર્થાત્ જ્ઞાનાવરણુ અને દર્શનાવરણુની, વેદનીયની તથા અન્તરાય કર્મની ત્રીસ ક્રોડાક્રોડી સાગરોપમની ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ કહેવામા આવી છે આ ચારેયની જઘન્ય સ્થિતિ અન્તર્મુહૂર્ત્તની છે ॥૧૯-૨૦॥ ॥૧૪॥

'मोहणिज्जस्स सत्तरिं कोडाकोडीओ' ॥१५॥

સૂત્રાર્થ-મોહનીય કર્મની ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ સીત્તેર ક્રોડાક્રોડી સાગરોપમની છે ॥૧૫॥

તત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વ સૂત્રમાં જ્ઞાનાવરણુ દર્શનાવરણુ વેદનીય અને અન્તરાય કર્મની સ્થિતિ દર્શાવાઈ છે હવે મોહનીય કર્મની સ્થિતિનુ પ્રતિપાદન કરીએ છીએ—

મોહનીય કર્મની જેનુ સ્વરૂપ પહેલા કહેવાઇ ગયુ છે, ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ ૭૦ સીત્તેર ક્રોડાક્રોડી સાગરોપમની છે આ કર્મની જઘન્ય સ્થિતિ અન્તર્મુહૂર્ત્તની છે ॥૧૫॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—આની અગાઉ જ્ઞાનાવરણુ આદિ ચાર કર્મપ્રકૃતિઓનો સ્થિતિ કાળ વિસ્તારપૂર્વક બતાવાઈ ગયો છે હવે મોહનીય કર્મનો સ્થિતિ કાળ બતાવીએ છીએ—

મોહનીય કર્મની ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ સીત્તેર ક્રોડાક્રોડી સાગરોપમની તથા જઘન્ય સ્થિતિ અન્તર્મુહૂર્ત્તની છે

મોહનીય કર્મનો અબાધાકાળ સાત હજાર વર્ષનો છે આબાધાકાળની સમાપ્તિથી લઈને સંપૂર્ણ કર્મનો ક્ષય થવા સુધીનો સમય બાધાકાળ કહેવાય છે અર્થાત્ જે સમયે મોહનીય કર્મ ઉદયાવલિકામા પ્રવિષ્ટ થયો તે સમયથી શરુ કરીને તેના પૂર્ણ રૂપથી નાશ થવા સુધીનો સમય બાધાકાળ કહી શકાય છે ફલિતાર્થ એ છે કે સીત્તેર હજાર વર્ષ વ્યતીત થઈ જવા પર સીત્તેર ક્રોડાક્રોડી સાગરોપમની સ્થિતિવાળા મોહનીય કર્મનો ઉદયાવલીકામા પ્રવેશ થાય છે.

મોહનીય કર્મની આ ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ સંજ્ઞી પંચેન્દ્રિય મિથ્યાદષ્ટિ પર્યાપ્ત જીવની અપેક્ષાથી સમજવી જોઈએ અર્થાત્ મિથ્યાદષ્ટિ સંજ્ઞી પર્યાપ્ત પંચેન્દ્રિય જીવ જ સીત્તેર ક્રોડાક્રોડી સાગરોપમની સ્થિતિનો બંધ કરી શકે છે

ઉત્તરાધ્યયન સૂત્રના ૩૩મા અધ્યયનમા કહ્યુ છે—

મોહનીય કર્મની ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ સિત્તેર ક્રોડાક્રોડી સાગરોપમની છે અને જઘન્ય સ્થિતિ અન્તર્મુહૂર્ત્તની છે ॥૧૫॥

'नामगोत्ताणं वीसईकोडाकोडीओ' ॥१६॥

સૂત્રાર્થ—નામ અને ગોત્ર કર્મની ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ વીસ ક્રોડાક્રોડી સાગરોપમ છે એમનો જઘન્ય સ્થિતિકાળ આઠ મુહૂર્ત્તનો સમજવો જોઈએ ॥૧૬॥

તત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમા મોહનીય કર્મનો સ્થિતિકાળ પ્રરૂપિત કરવામાં આવ્યો છે. હવે નામ અને ગોત્ર નામક મૂલ પ્રકૃતિઓનો સ્થિતિકાળ પ્રતિપાદિત કરવા માટે કહીએ છીએ.

નામ કર્મ અને ગોત્ર કર્મની સ્થિતિનો ઉત્કૃષ્ટ કાળ વીસ ક્રોડાક્રોડી સાગરોપમ છે, એમનો જઘન્ય સ્થિતિકાળ આઠ મુહૂર્ત્ત સમજવો જોઈએ ॥૧૬॥

વથી યાચકોની ઇચ્છા અનુસાર ગજાસપત પ્રમાણે દાન આપી રહ્યો હોય પરંતુ કોઈ એવો યાચક હોય જેને માગવા છતાં પણ, થોડું પણ દ્રવ્ય ન આપે તો સમજવું જોઈએ કે તે યાચકને લાભાન્તરાય કર્મનો ઉદય છે

જે વસ્તુ એક વખત ભોગવવામાં આવે તે ભોગ કહેવાય છે જેમ માળા, ચન્દન વગેરે ભોગને અનુકૂળ વસ્તુ હાજર હોય તો પણ જે કર્મના ઉદયથી તેને ભોગવી ન શકાય તે ભોગાન્તરાય કર્મ કહેવાય છે વસ્ત્ર, શય્યા, આસન, પાત્ર વગેને ઉપભોગ કહેવાય છે કારણ કે તેમનો વારવાર ભોગ કરી શકાય છે આ વસ્ત્ર વગેરે વસ્તુઓના હોવા છતા પણ જે કર્મના ઉદયથી પરિભોગ ન કરી શકાય તેને ઉપભોગાન્તરાય કર્મ કહે છે.

વીર્યનો અર્થ છે ઉત્સાહ, ચેષ્ટા અથવા શકિત કોઇ માનવી બળવાન છે, પુષ્ટ શરીરવાળો છે, યુવાન છે, તો પણ ધર્મ કર્મ વગેરે કરવામા શકિત પ્રદર્શિત કરતો નથી, ઉમંગ બતાવતો નથી તો માની લેવુ કે તેને વીર્યાન્તરાય કર્મનો ઉદય છે પૃથ્વીકાય, અપ્કાય, તેજસ્કાય વાયુકાય અને વનસ્પતિકાયના જીવોમાં વીર્યાન્તરાય કર્મનોં ક્ષયોપશમ જનિત તરતમતા અનુસાર પૂર્ણરૂપથી ઉદય માનવો જોઈએ આની અપેક્ષા બેઇન્દ્રિય જીવોમાં, બેઇન્દ્રિયોની અપેક્ષા તેઇન્દ્રિય જીવોમા ઓછું વીર્યાન્તરાય જોવામા આવે છે આ મુજબ છદ્મસ્થઅવસ્થાના પરાકાષ્ટા સમયમાં અર્થાત્ બારમા ક્ષીણ કષાય નામક ગુણસ્થાનના અંતિમ સમયમા વીર્યાન્તરાય કર્મ સહુથી ઓછુ દેખાય છે કેવળજ્ઞાન લાધવાથી (મળવાથી) ભલે તીર્થંકર કેવળી હોય કે સામાન્ય-કેવળી, વીર્યાન્તરાય કર્મથી સર્વથા રહિત થઈ જાય છે તેમનામાં સર્વોત્કૃષ્ટ વીર્ય હો છે ॥ ૧૩ ॥

'णाणदंसणावरणिज्जवेयणिज्जंतरायाणं, इत्यादि

સૂત્રાર્થ—જ્ઞાનાવરણ, દર્શનાવરણ, વેદનીય અને અન્તરાય કર્મની ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ ત્રીશ ક્રોડાક્રોડી સાગરોપમની અને જઘન્ય અન્તર્મુહૂર્ત્તની છે ॥૧૪॥

તત્વાર્થદીપિકા—આનાથી પૂર્વ પ્રકૃતિબધનુ પ્રરૂપણ કરવા માટે કહેવામા આવે છે જ્ઞાનાવરણ દર્શનાવરણ વેદનીય અને અતરાય આ ચાર કર્મોની ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ ત્રીસ ક્રોડાક્રોડી સાગરોપમની છે અને જઘન્ય સ્થિતિ અન્તર્મુહૂર્ત્તની છે ॥૧૪॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુકિત—પાછળના સૂત્રોમા મૂળ અને ઉત્તર પ્રકૃતિબન્ધની પ્રરૂપણા કરવામાં આવેલ છે હવે સ્થિતિબન્ધની પ્રરૂપણા કરતા થકા પ્રથમ જ્ઞાનાવરણ, દર્શનાવરણ વેદનીય અને અન્તરાય કર્મની સ્થિતિ બતાવીએ છીએ—

જ્ઞાનાવરણ, દર્શનાવરણ, વેદનીય અને અન્તરાય કર્મની ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ ત્રીસ ક્રોડાક્રોડી સાગરોપમની અને જઘન્ય સ્થિતિ અન્તર્મુહૂર્ત્તની છે બન્ધના સમયથી શરૂ કરીને અત્યાર સુધી તે કર્મ પૂર્ણરૂપથી નિર્જીર્ણ થાય છે ત્યા સુધીનો સમય સ્થિતિકાળ કહેવાય છે સ્થિતિ-કાળને જ અહી સ્થિતિ શબ્દથી કહેલો છે

આવી રીતે પૂર્વોક્ત ચાર મૂળપ્રકૃતિઓનો સ્થિતિબન્ધ ઉત્કૃષ્ટ ત્રીસ ક્રોડાક્રોડી સાગરોપમનો સમજવો જોઈએ આ ચારે કર્મોનો અબાધાકાળ ત્રણ હજાર વર્ષનો છે બન્ધ થયા બાદ જેટલો કાળ સુધી કર્મનો ઉદય થતો નથી, તેટલો કાળ અબાધાકાળ કહેવાય છે અબાધાકાળ પુરો થઈ ગયા બાદ જ્ઞાનાવરણ વગેરે કોઈ કર્મ જ્યારે ઉદયાવલીકામા પ્રવેશ થાય છે ત્યારથી પ્રારભ કરીને તેનો પૂર્ણરૂપથી નાશ થવાના કાળને બન્ધકાળ કહે છે પરિણામ એ આવ્યુ કે જ્ઞાના-

વરણ વગેરે કહેલાં ચારે કર્મબન્ધકાળથી લઈને ત્રણ હજાર વર્ષ પુરાં થઈ ગયા બાદ ઉદયાવલિકામાં પ્રવિષ્ટ થાય છે

જ્ઞાનાવરણ દર્શનાવરણ, વેદનીય અને અન્તરાય કર્મની ત્રીસ કોડાકોડી સાગરોપમની જે ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ બતાવવામા આવી છે તે સંજ્ઞી, મિથ્યાદષ્ટિ પંચેન્દ્રિય પર્યાપ્ત જીવની અપેક્ષાથી સમજવી જોઈએ ઉત્તરાધ્યયનના ૩૩મા અધ્યયનમાં કહેવામાં આવ્યું છે—

બે આવરણોની અર્થાત્ જ્ઞાનાવરણ અને દર્શનાવરણની, વેદનીયની તથા અન્તરાય કર્મની ત્રીસ ક્રોડાક્રોડી સાગરોપમની ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ કહેવામા આવી છે આ ચારેયની જઘન્ય સ્થિતિ અન્તર્મુહૂર્ત્તની છે ॥૧૯-૨૦॥ ॥૧૪॥

'मोहणिज्जस्स रि कोडाकोडीओ' ॥१५॥

સૂત્રાર્થ-મોહનીય કર્મની ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ સીત્તેર ક્રોડાક્રોડી સાગરોપમની છે ॥૧૫॥

તત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વ સૂત્રમા જ્ઞાનાવરણ દર્શનાવરણ વેદનીય અને અન્તરાય કર્મની સ્થિતિ દર્શાવાઈ છે હવે મોહનીય કર્મની સ્થિતિનુ પ્રતિપાદન કરીએ છીએ—

મોહનીય કર્મની જેનુ સ્વરૂપ પહેલા કહેવાઇ ગયુ છે, ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ ૭૦ સીત્તેર ક્રોડાક્રોડી સાગરોપમની છે આ કર્મની જઘન્ય સ્થિતિ અન્તર્મુહૂર્ત્તની છે ॥૧૫॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—આની અગાઉ જ્ઞાનાવરણ આદિ ચાર કર્મપ્રકૃતિઓનો સ્થિતિ કાળ વિસ્તારપૂર્વક બતાવાઈ ગયો છે હવે મોહનીય કર્મનો સ્થિતિ કાળ બતાવીએ છીએ—

મોહનીય કર્મની ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ સીત્તેર ક્રોડાક્રોડી સાગરોપમની તથા જઘન્ય સ્થિતિ અન્તર્મુહૂર્ત્તની છે

મોહનીય કર્મનો અબાધાકાળ સાત હજાર વર્ષનો છે આબાધાકાળની સમાપ્તિથી લઈને સંપૂર્ણ કર્મનો ક્ષય થવા સુધીનો સમય બાધાકાળ કહેવાય છે અર્થાત્ જે સમયે મોહનીય કર્મ ઉદયાવલિકામા પ્રવિષ્ટ થયો તે સમયથી શરુ કરીને તેના પૂર્ણ રૂપથી નાશ થવા સુધીનો સમય બાધાકાળ કહી શકાય છે ફલિતાર્થ એ છે કે સીત્તર હજાર વર્ષ વ્યતીત થઈ જવા પર સીત્તેર ક્રોડાક્રોડી સાગરોપમની સ્થિતિવાળા મોહનીય કર્મનો ઉદયાવલીકામા પ્રવેશ થાય છે

મોહનીય કર્મની આ ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ સંજ્ઞી પંચેન્દ્રિય મિથ્યાદષ્ટિ પર્યાપ્ત જીવની અપેક્ષાથી સમજવી જોઈએ અર્થાત્ મિથ્યાદષ્ટિ સંજ્ઞી પર્યાપ્ત પંચેન્દ્રિય જીવ જ સીત્તેર ક્રોડક્રોડી સાગરોપમની સ્થિતિનો બંધ કરી શકે છે

ઉત્તરાધ્યયન સૂત્રના ૩૩માં અધ્યયનમા કહ્યુ છે—

મોહનીય કર્મની ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ સિત્તેર ક્રોડાક્રોડી સાગરોપમની છે અને જઘન્ય સ્થિતિ અન્તર્મુહૂર્ત્તની છે ॥૧૫॥

'नामगोत्ताण वीसईकोडाकोडीओ' ॥१६॥

સૂત્રાર્થ—નામ અને ગોત્ર કર્મની ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ વીસ ક્રોડાક્રોડી સાગરોપમ છે એમનો જઘન્ય સ્થિતિકાળ આઠ મુહૂર્ત્તનો સમજવો જોઈએ ॥૧૬॥

તત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમા મોહનીય કર્મનો સ્થિતિકાળ પ્રરૂપિત કરવામાં આવ્યો છે. હવે નામ અને ગોત્ર નામક મૂલ પ્રકૃતિઓનો સ્થિતિકાળ પ્રતિપાદિત કરવા માટે કહીએ છીએ

નામ કર્મ અને ગોત્ર કર્મની સ્થિતિનો ઉત્કૃષ્ટ કાળ વીસ ક્રોડાક્રોડી સાગરોપમ છે, એમનો જઘન્ય સ્થિતિકાળ આઠ મુહૂર્ત્ત સમજવો જોઈએ ॥૧૬॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—આની અગાઉના સૂત્રમાં મોહનીય કર્મની સ્થિતિ કહેવામા આવી છે. હવે નામ અને ગોત્ર કર્મના સ્થિતિ કાળનુ પ્રતિપાદન કરવા માટે કહીએ છીએ

નામ કર્મ અને ગોત્ર કર્મ નામક મૂળ પ્રકૃતિઓની ઉત્કૃષ્ટા સ્થિતિ-વીસ-વીસ ક્રોડાક્રોડી સાગરોપમ છે આ બનેનો આબાધાકાળ બબ્બે હજાર વર્ષનો છે ત્યારબાદ બાધાકાળ પ્રારભ થઈ જાય છે ઉદયાવલિકામાં પ્રવિષ્ટ થવાના સમયેથી આરભ થઇને પૂર્ણતયા ક્ષય થઈ જવાના સમયને બાધાકાળ કહે છે

આવી રીતે બન્ધકાળથી લઈને બે હજાર વર્ષ વ્યતીત થઈ જવા પર નામ કર્મ અને ગોત્ર કર્મ ઉદયાવલિકામાં પ્રવિષ્ટ થાય છે નામ કર્મ અને ગોત્રકર્મ બન્ધના સમયથી લઈને જેટલા વખત સુધી અનુભવમા આવતા નથી તેટલો સમય તેમનો અબાધાકાળ કહેવાય છે

નામ અને ગોત્ર કર્મની વીસ ક્રોડાક્રોડી સાગરોપમની જે ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ કહેવામાં આવી છે તેનો બન્ધ સજ્ઞી પચેન્દ્રિય પર્યાપ્ત મિથ્યાદષ્ટિ જીવ જ કરી શકે છે ઉત્તરાધ્યયન સૂત્રનાં ૩૩મા અધ્યયનની ૨૩મી ગાથામાં કહ્યુ છે—નામ કર્મ અને ગોત્રકર્મની ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ વીસ ક્રોડાક્રોડી સાગરોપમની છે અને જઘન્ય સ્થિતિ અન્તર્મુહૂર્ત્તની છે ॥૧૬॥

'आउकम्मस्स तेत्तीससागरोवमा ठिई उक्कोसा' ॥૧૭॥

સૂત્રાર્થ—આયુષ્ય કર્મની ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ તેત્રીસ સાગરોપમની છે ॥૧૭॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વ સૂત્રમા નામ અને ગોત્ર નામક મૂળ પ્રકૃતિઓની સ્થિતિનુ નિરૂપણુ કરવામાં આવ્યુ હવે આયુષ્ય નામની મૂલ પ્રકૃતિની ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ કરીએ છીએ

આયુષ્ય નામની મૂળપ્રકૃતિની ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ પૂર્વ કોટિના ત્રિભાગથી અધિક તેત્રીશ સાગરોપમની જાણવી જોઈએ એની જઘન્ય સ્થિતિ અન્તર્મુહૂર્ત્તની છે તે આગળ ઉપર કહીશુ ॥૧૭॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—નામ અને ગોત્ર કર્મની સ્થિતિનો કાળ બતાવાઈ ગયો હવે આયુષ્ય નામક મૂળપ્રકૃતિનો ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિકાળ પ્રતિપાદન કરીએ છીએ,

આયુષ્ય કર્મ નામક મૂળપ્રકૃતિની ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ કરોડ પૂર્વના ત્રીજા ભાગથી અધિક તેત્રીશ સાગરની ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ સમજવી જોઇએ જઘન્ય સ્થિતિ અન્તર્મુહૂર્ત પ્રમાણુ છે જે, આગળ ઉપર કહેવાશે અત્રે-સાગરોપમ લેવાથી, 'ક્રોડાક્રોડી' પદનો નિષેધ થઈ જાય છે 'તેત્રીશ' પદ ગ્રહણુ કરવાથી પણુ 'ક્રોડાક્રોડી'ની નિવૃત્તિ થઈ જાય છે તાત્પર્ય એ છે કે આયુષ્ય કર્મની સ્થિતિ ફક્ત તેત્રીશ સાગરોપમની છે, તેત્રીશ ક્રોડાક્રોડી સાગરોપમની નથી.

અહી કરોડ પૂર્વનો વિભાગ આબાધાકાળ સમજવાનો છે તેની પછી બાધાકાળની શરૂઆત થાય છે જે કાળમા આયુષ્ય કર્મ ઉદયાવલિકામા પ્રવિષ્ટ થાય તેને લઇને પૂર્ણ રૂપથી તેના ક્ષય થવા સુધીનો સમય બાધાકાળ કહેવાય છે આવી રીતે આયુષ્ય બન્ધની પછી કરોડ પૂર્વનો ત્રીજો ભાગ વીત્યા બાદ આયુષ્ય કર્મનો ઉદય થાય છે જેટલા કાળ સુધી તેનો અનુભવ, થતો નથી તેટલો સમય અબાધાકાળ કહેવાય છે આયુષ્ય કર્મની તેત્રીશ સાગરોપમની જે ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ કહેવામા આવી છે તે સજ્ઞી પર્યાપ્ત પચેન્દ્રિયની અપેક્ષાથી સમજવી જોઈએ

ઉત્તરાધ્યયન સૂત્રના ૩૩મા અધ્યયનની ૨૩મી ગાથામા કહ્યુ છે- 'આયુષ્ય કર્મની ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ તેત્રીશ સાગરોપમની અને જઘન્ય સ્થિતિ અન્તર્મુહૂર્ત્તની કહેવામાં આવી છે ॥૧૭॥

'वेयणिज्जस्स बारसमुहुत्ता ठिई जहन्निया

સૂત્રાર્થ—વેદનીયની જઘન્ય સ્થિતિ બાર મુહૂર્ત્તની છે ॥૧૮॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા આની પહેલાં જ્ઞાનાવરણીય વગેરે આઠે મૂળ પ્રકૃતિઓનુ સામાન્ય રૂપથી ઉત્કૃષ્ટ અને જઘન્ય સ્થિતિબધ કહેવામાં આવ્યો છે હવે વેદનીય કર્મની જઘન્ય સ્થિતિ કહીએ છીએ

વેદનીય રૂપ (સાંપરાઇક સાતાવેદનીય) મૂળ પ્રકૃતિની જઘન્ય સ્થિતિ બાર મુહુર્ત્તની છે. ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ પદર ક્રોડાક્રોડી સાગરોપમની કહેવામા આવી છે ॥ ૧૮ ॥

તત્વાર્થનિર્યુકિત—પહેલા મૂળ કર્મપ્રકૃતિઓનો સામાન્ય રૂપથી સ્થિતિકાળ કહેવામા આવ્યો છે હવે વેદનીયની સ્થિતિનુ પ્રરૂપણુ કરવામા આવે છે—

વેદનીય કર્મ (સાપરાઇક સાતાવેદનીય)ની જઘન્ય સ્થિતિ બાર મુહૂર્તની છે. આનો અબાધાકાળ અન્તર્મુહૂર્ત્તનો છે ॥ ૧૮ ॥

'नामगोत्ताणं अट्ठमुहुत्ता ठिई जहण्णिया' ॥१९॥

સૂત્રાર્થ—નામ કર્મ અને ગોત્ર કર્મની જઘન્ય સ્થિતિ આઠ મુહૂર્ત્તની હોય છે. ॥૧૯॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વ સૂત્રમા વેદનીય કર્મની સ્થિતિ કહેવામા આવી છે હવે નામ અને ગોત્ર કર્મની સ્થિતિનુ પ્રતિપાદન કરવા માટે કહીએ છીએ—નામ અને ગોત્ર કર્મની જઘન્ય સ્થિતિ આઠમુહૂર્ત્તની જે આનો અબાધાકાળ અન્તર્મુહૂર્ત્ત પ્રમાણુ છે ॥ ૧૯ ॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુકિત—પહેલા વેદનીય કર્મની સ્થિતિની પ્રરૂપણા કરવામા આવી હવે નામ અને ગોત્ર રૂપ મૂળ પ્રકૃતિઓનુ પ્રતિપાદન કરીએ છીએ—

નામ અને ગોત્ર કર્મની જઘન્ય સ્થિતિ આઠ મુહૂર્ત્ત પ્રમાણુ છે

ભગવતી સૂત્ર શતક ૬ ઉદ્દેશક ૩ માં કહ્યુ છે—નામ અને ગોત્ર કર્મની જઘન્ય સ્થિતિ આઠ મુહૂર્ત્તની છે ॥ ૧૯ ॥

'सेसाणं अंतो त्तं जहण्णिया' ॥२०॥

સૂત્રાર્થ—શેષ પ્રકૃતિઓની જઘન્ય સ્થિતિ અન્તર્મુહૂર્ત્તની છે ॥ ૨૦ ॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—આનાથી અગાઉના બે સૂત્રોમા વેદનીય, નામ અને ગોત્ર કર્મ રૂપ પ્રકૃતિઓની સ્થિતિનુ બયાન કરવામાં આવ્યુ છે હવે શેષ પાચ જ્ઞાનાવરણુ આદિ રૂપ મૂળ-પ્રકૃતિઓની સ્થિતિ કહીએ છીએ—

શેષ અર્થાત્ પૂર્વોકત વેદનીય, નામ અને ગોત્ર કર્મથી અતિરિકત જ્ઞાનાવરણુ દર્શનાવરણુ, મોહનીય, આયુષ્ય અને અન્તરાય કર્મ રૂપ મૂળ પ્રકૃતિઓની જઘન્ય સ્થિતિ અન્તર્મુહૂર્ત્ત પ્રમાણુ છે ॥ ૨૦ ॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુકિત—પહેલા વેદનીય નામ અને ગોત્ર રૂપ મૂળ પ્રકૃતિઓની સ્થિતિ પ્રતિપાદન કરવામા આવી છે હવે બાકીની જ્ઞાનાવરણુ વગેરે કર્મ રૂપ મૂળ પ્રકૃતિઓની સ્થિતિનું પ્રતિપાદન કરવા માટે કહીએ છીએ—

શેષ અર્થાત્ જ્ઞાનાવરણુ, દર્શનાવરણુ મોહનીય આયુષ્ય અને અન્તરાય કર્મોની મૂળ પ્રકૃતિઓની જઘન્ય સ્થિતિ અન્તર્મુહૂર્ત્ત માત્ર છે અબાધાકાળ પણુ અન્તર્મુહૂર્ત્તનો હોય છે.

ઉત્તરાધ્યયન સૂત્રના ૩૩ મા અધ્યયનની ગાથા ૧૯—૨૨ મા કહ્યુ છે જઘન્ય સ્થિતિ-અન્તર્મુહૂર્ત્તની છે ॥ ૨૦ ॥

'कम्माणं विवागो अणुभावो' ॥२१॥

સૂત્રાર્થ—કર્મોના વિપાક-ફળ અનુભાવ કહેવાય છે ॥ ૨૧ ॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પહેલા જ્ઞાનાવરણ વગેરે કર્મ રૂપ મૂળ પ્રકૃતિઓનુ તથા તેમના સ્થિતિ બન્ધ કાળનુ નિરૂપણ કરવામા આવ્યુ, હવે અનુભાવબન્ધનુ નિરૂપણ કરીએ છીએ—

જ્ઞાનાવરણ દર્શનાવરણ વગેરે મૂળ પ્રકૃતિઓનો તથા મતિજ્ઞાનાવરણ વગેરે ઉત્તર પ્રકૃતિઓનો જે વિપાક અર્થાત્ ફળ છે, તે અનુભાવ કહેવાય છે ॥ ૨૧ ॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—અગાઉના પાચ સૂત્રોમાં જ્ઞાનાવરણ આદિ કર્મોની ઉત્કૃષ્ટ તથા જઘન્ય સ્થિતિની પ્રરૂપણ કરવામાં આવી છે, હવે અનુક્રમથી પ્રાપ્ત અનુભાવબન્ધનુ વિશિષ્ટ લક્ષણ બતાવીને પ્રરૂપણ કરીએ છીએ જ્ઞાનાવરણ આદિ મૂળ પ્રકૃતિઓના અને મતિજ્ઞાનાવરણ આદિ ઉત્તર પ્રકૃતિઓના સર્વ કર્મોના વિપાક ફળ અથવા ઉદયાવલિકામા પ્રવેશ અનુભાવ કહેવાય છે જ્ઞાનાવરણ આદિ કર્મોનો વિશિષ્ટ અથવા વિવિધ પ્રકારનો પાક વિપાક કહેવાય છે અથવા દ્રવ્ય, ક્ષેત્ર, કાળ, ભાવ અને ભવરૂપ નિમિત્તકારણોના ભેદથી ઉત્પન્ન જુદા જુદા પ્રકારના પાક–વિપાક અનુભવરૂપ અનુભાવ કહેવાય છે પ્રશસ્ત અને અપ્રશસ્ત પરિણામોનો તીવ્ર મન્દ વગેરે વિપાક, જે પૂર્વોક્ત જ્ઞાનાવરણ આદિ કર્મોની મારફત જન્મેલા સુખ–દુઃખ આદિ ફળ રૂપ હોય છે, તેનો અનુભવ કરવો અનુભાવ છે

શુભ પરિણામોનો ઉત્કર્ષ–અધિકપણુ થવાથી શુભ કર્મ પ્રકૃતિઓમાં ઉત્કૃષ્ટ અનુભાવ ઉત્પન્ન થાય છે અને અશુભ કર્મ પ્રકૃતિઓમા નિકૃષ્ટ ઓછો અનુભાવ ઉત્પન્ન થાય છે જ્યારે અશુભ પરિણામોમાં ઉત્કર્ષ થાય છે ત્યારે અશુભ કર્મપ્રકૃતિઓ તીવ્ર અનુભાવ અને શુભ પ્રકૃતિઓમાં મન્દ અનુભાવ ઉત્પન્ન થાય છે

અથવા જેના કારણે આત્મા બન્ધનો અનુભવ કરે છે તેને અનુભાવ કહે છે અથવા અનુગત ભાવ અનુભાવ કહેવાય છે જ્યારે પૂર્વે બધાયેલા કર્મો ઉદયાવલિકામા પ્રવિષ્ટ થાય છે ત્યારે જીવને ઈચ્છાથી કે અનિચ્છાથી અનુસમય–પ્રતિસમય તેને ભોગવવો જ પડે છે

જ્ઞાનાવરણ કર્મનુ ફળ જ્ઞાનનો અભાવ હોય છે દર્શનાવરણનુ ફળ દર્શનશક્તિની રુકાવટ છે. આ રીતે સર્વ કર્મો દ્વારા ઉત્પન્ન થનારા સુખ દુખ રૂપ અનુભૂતિ થાય છે તે કર્મવિપાક અમુક–અમુક પ્રકારના હોય છે જે પ્રકારના અધ્યવસાયથી જે કર્મ જે રૂપમા બધેલા છે તે તે રૂપમા ફળ પ્રદાન કરે છે તે જ કર્મફળ જીવને ભોગવવુ પડે છે કદી–કદી અન્ય રીતે પણ ભોગવાય છે

કર્મનો વિપાક કોઈ તીવ્ર કોઈ મન્દ તો કોઈ મધ્યમ હોય છે ક્યારે–ક્યારેક શુભ રૂપમાં બાધેલા કર્મનુ ફળ અશુભ રૂપમાં ભોગવાય છે અને અશુભ રૂપમા બાંધેલ કર્મનુ ફળ શુભરૂપમા ભોગવવામા આવે છે આવી જ રીતે કર્મ ફળ–વિપાકમા દ્વિરૂપતા સમજવી જોઈએ કહ્યું પણ છે—

જ્ઞાનાવરણ વગેરે આઠ કર્મ પ્રકૃતિઓમાંથી કોઈ કર્મ પુદ્ગલવિપાકી હોય છે તેનુ ફળ પુદ્ગલોમા જ મળે છે અથાત તે કર્મ પુદ્ગલોમા જ વિવિધ પ્રકારના પરિણમન ઉત્પન્ન કરે છે કોઈ કર્મપ્રકૃતિ ભવવિપાકી હોય છે તેનુ ફળ ભવાન્તરની પ્રાપ્તિ થવા પર દેહધારી જીવ જ ભોગવે છે કોઈ–કોઈ કર્મપ્રકૃતિ ક્ષેત્રવિપાકી હોય છે તેનુ ફળ ક્ષેત્ર પ્રાધાન્યથી ભોગવાય છે કોઈ કર્મ જીવ–વિપાકી હોય છે તેનુ ફળ આત્માને જ ભોગવવુ પડે છે અર્થાત્ આત્માના ગુણોને તે પ્રભાવિત કરે છે કહ્યુ પણ છે—

સ હનન, સ સ્થાન, વર્ણ, સ્પર્શ, રસ, ગ ધનામકર્મ, અ ગોપાગનામકર્મ, સર્વશરીર નામ કર્મ, અગુરુ લઘુ પરાઘાત, ઉપઘાત, આતપ, ઉદ્યોત, પ્રત્યેકશરીર, સ્થિર, શુભનામ કર્મ, તથા એમનાથી વિપરીત અર્થાત્ સાધારણ શરીર અસ્થિર અને અશુભ નામ કર્મ આ બધી કર્મ-પ્રકૃતિઓ પુદ્ગલ વિપાકિની છે આયુષ્યકર્મની ચારેય પ્રકૃતિઓ ભાવવિપાકી છે, અનુપૂર્વી કર્મ ક્ષેત્રવિપાકી છે અને બાકીની બધી પ્રકૃતિઓ જીવવિપાકી છે.

પ્રશ્ન—-અન્ય પ્રકારથી બાધેલા કર્મ અન્ય પ્રકારથી કઈ રીતે ભોગવાય છે ?

ઉત્તર—ઉક્ત કારણોથી ઉત્પન્ન થયેલ વિપાકરૂપ અનુભાવ બે પ્રકારથી પ્રવૃત્ત થાય છે સ્વમુખે અને પરમુખે જ્ઞાનાવરણ આદિ બધી મૂળ પ્રકૃતિઓનો અનુભાવ સ્વમુખે જ થાય છે, પરમુખે નહી. જ્ઞાનાવરણ કર્મ, દર્શનાવરણ કર્મના રૂપે ફળ આપતુ નથી, એવી જ રીતે કોઈ પણ મૂળ પ્રકૃતિનુ બીજી મૂળ પ્રકૃતિમા સ ક્રમણ થતુ નથી પર તુ એક જ કર્મની ઉત્તર-પ્રકૃતિઓ સજાતીય અન્ય પ્રકૃતિઓના રૂપમા પરિણત થઈ જાય છે એવી જ રીતે તેમનો વિપાક પરમુખે પણ થાય છે જેમ કે મતિ—જ્ઞાનાવરણનો શ્રુતજ્ઞાનાવરણના રૂપમાં વિપાક થઈ જાય છે અને શ્રુતજ્ઞાનાવરણનુ મતિજ્ઞાનાવરણના રૂપમા સ ક્રમણ થઈ શકે છે આમ જ્ઞાનાવરણ કર્મની પાચે ય પ્રકૃતિઓ પરમુખે અર્થાત્ રૂપાતરથી પણ ફળ પ્રદાન કરે છે.

પર તુ ઉત્તર પ્રકૃતિઓના સ ક્રમણમાં પણ થોડો અપવાદ છે ચાર પ્રકારની આયુષ્યકર્મની પ્રકૃતિઓનુ પરસ્પરમા સ ક્રમણ થતું નથી અર્થાત્ કોઈ પણ એક આયુષ્ય બીજા આયુષ્યના રૂપમા પરિવર્તન કરી શકાતુ નથી એવી જ રીતે દર્શન મોહનીય અને ચારિત્ર મોહનીય, છે તો એક મોહનીય કર્મની જ ઉત્તર પ્રકૃતિઓ પર તુ તેમનુ પણ એક બીજામા સ ક્રમણ થઈ શકતુ નથી, દા ત નરકાયુ તિર્યચાયુના રૂપમા બદલી શકાતુ નથી અને દર્શન મોહનીય ચારિત્ર મોહનીયના રૂપમાં પોતાનુ ફળ આપતુ નથી તથા ચારિત્ર મોહનીયનો દર્શનમોહનીયના રૂપમાં પરિપાક થઈ શકતો નથી

આવી રીતે કર્મ વિપાકફળનો અનુભવ કરતો થકો જીવ કર્મના કારણે જ અનાભોગ વીર્યપૂર્વક કર્મનુ સ ક્રમણ કરે છે

આવી જ રીતે ઉત્પાદ વ્યય અને ધ્રૌવ્ય પરિણતિવાળો આત્મા જ્ઞાનાવરણ વગેરે કર્મોના વિપાકનો અનુભવ કરતો થકો કર્મના કારણે, અન્ય નિમિત્તો વગર જ અનાભોગ વીર્ય પૂર્વક કર્મનુ સ ક્રમણ કરે છે નિમિત્તહીન અનાભોગ જ્ઞાનાવરણ વગેરેનો ઉદય કહેવાય છે આભોગ કરવાવાળા અર્થાત્ કર્મફળ વિપાકને ભોગવવાવાળા આત્માની વિશેષ ચેષ્ટા આભોગવીર્ય કહેવાય છે તાત્પર્ય એ છે કે ઇરાદાપૂર્વક જે પ્રયત્ન કરવામાં આવે છે તેને આભોગવીર્ય કહે છે અને વગર વિચાર્યે, અજાણતામા જે ચેષ્ટા થાય છે તે અનાભોગ વીર્ય કહેવાય છે

જીવ અનાભોગ વીર્યપૂર્વક જ કર્મ સ ક્રમણ કરે છે આવી રીતે કોઈ ઉત્તર પ્રકૃતિઓનો પોતાની સજાતીય ઉત્તરપ્રકૃતિઓમા સ ક્રમણ થાય છે, બધાંનો નહી તે સ ક્રમણ માત્ર સજાતીય ઉત્તર પ્રકૃતિઓમા જ થાય છે, વિજાતીય પ્રકૃતિઓમાં નહી જેમ જ્ઞાનાવરણ કર્મની મતિજ્ઞાનાવરણ કર્મ આદિ પાચ પ્રકૃતિઓનુ શ્રુતજ્ઞાનાવરણ વગેરે ચાર પ્રકૃતિઓના રૂપમા સ ક્રમણ થાય છે, દર્શનાવરણની વિશિષ્ટ પ્રકૃતિ ચક્ષુદર્શનાવરણ વગેરેમાં નહી

જ્ઞાનાવરણ પણ દર્શનાવરણ વગેરે બીજી મૂળ પ્રકૃતિઓમાં સંક્રાન્ત થતું નથી એવી જ રીતે દર્શનાવરણનું કોઈ બીજી મૂળ પ્રકૃતિના રૂપમા સંક્રમણ થતુ નથી કારણ કે તેના બન્ધના કારણ ભિન્ન જાતિના હોય છે

બન્ધના કારણ આ રીતે છે-જ્ઞાનાવરણના બંધના કારણ નિહ્નવ વગેરે છે, અસાતાવેદનીયના બંધના કારણ દુઃખ શોક વગેરે છે જો કે જ્ઞાનાવરણ અને દર્શનાવરણના બન્ધના કારણ સરખાં છે તો પણ હેતુમા જુદાઈ હોવાથી તેમના પરિણામમાં પણ ભિન્નતા થઈ જાય છે. જ્ઞાનાવરણ કર્મ વિશેષગ્રાહી બોધનો નિરોધ કરે છે અને દર્શનાવરણ સામાન્ય ઉપયોગ (દર્શન) ને ઢાંકી દે છે આમ ભિન્ન ભિન્ન બંધના કારણ હોવાથી તથા ભિન્ન-ભિન્ન ફળવાળા હોવાથી જ્ઞાનાવરણ, દર્શનાવરણ, વેદનીય, મોહનીય, આયુષ્ય, નામ ગોત્ર અને અન્તરાય પ્રકૃતિઓનુ પરસ્પર—સંક્રમણ થતુ નથી

સંક્રમણ ઉત્તર પ્રકૃતિઓમા જ થાય છે પરંતુ તેમનામા પણ કોઈ-કોઈ જ ઉત્તર-પ્રકૃતિઓનો કોઈ-કોઈ ઉત્તર પ્રકૃતિઓમા જ સંક્રમણ થાય છે, બધાનુ બધામા સંક્રમણ થતુ નથી, દા. ત દર્શનમોહનીય કર્મનુ ચારિત્ર મોહનીયના રૂપમા સંક્રમણ થતુ નથી અને-ચારિત્ર મોહનીયનુ દર્શન મોહનીયના રૂપમા સંક્રમણ થતુ નથી એવી જ રીતે સમ્યકત્વ પ્રકૃતિ—સમ્યગ્-મિથ્યાત્વ રૂપથી સંક્રાન્ત થતી નથી પરંતુ સમ્યગ્ મિથ્યાત્વ અર્થાત્ મિશ્રપ્રકૃતિનો બન્ધ ન થવા છતાં પણ સમ્યક્ત્વમા બધી જ સંક્રમણ થાય છે અને એવી જ રીતે સમ્યક્ત્વ પ્રકૃતિ અને મિશ્રપ્રકૃતિનુ મિથ્યાત્વમા સંક્રમણ થાય છે આયુષ્ય કર્મની ચાર ઉત્તર-પ્રકૃતિઓનું પરસ્પર સંક્રમણ થતુ નથી—નરકાયુ બદલીને તિર્યંચાયુ વગેરેમા ફેરવી શકાતુ નથી એવી જ રીતે કોઇ પણ અન્ય આયુષ્ય કોઈ બીજા આયુષ્ય પ્રકૃતિના રૂપમા પ્રાપ્ત થઈ શકતુ નથી.

તાત્પર્ય એ છે કે ઉત્તર પ્રકૃતિઓમા પણ દર્શનમોહનીય અને ચારિત્ર મોહનીયનો સમ્યગ્—મિથ્યાત્વવેદનીયનો તથા આયુષ્ય કર્મની પ્રકૃતિઓનુ એકબીજામા સંક્રમણ થતુ નથી કારણ કે તેમના બન્ધના કારણોમા ભિન્નતા છે એથી તેઓ ભિન્ન જાતીય છે કહ્યુ પણ છે-

આત્મા અમૂર્ત હોવાના કારણે પોતાના અધ્યવસાયની વિશેષતાથી મૂળ પ્રકૃતિઓથી અભિન્ન ઉત્તર પ્રકૃતિઓમા સંક્રમણ કરે છે અર્થાત્ એક મૂળ પ્રકૃતિની ઉત્તર મૂળ પ્રકૃતિઓમા ફેર-બદલો કરી લે છે આવી જ રીતે ગાઢા બાંધેલા કર્મને અધ્યવસાયની વિશેષતાથી શિથીલ કરી લે છે અને શિથીલ બાંધેલા કર્મને દૃઢ પણ કરી લે છે અને જઘન્ય સ્થિતિને ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિના રૂપમા બદલી શકે છે

સંક્રમણ, સ્થિતિ અને ઉદીરણા, આ ત્રણેના વિષયમા ત્રણ દૃષ્ટાંતો રજુ કરીએ છીએ,

સંક્રમણનુ દૃષ્ટાંત છે તાંબાને તારના રૂપમા બદલવા—તાંબુ પ્રયોગ દ્વારા તારના રૂપમાં પરિવર્તિત થઇ જાય છે સ્થિતિનુ ઉદાહ-ણ છે- માટીનુ શોષણ અને તેને ભીની કરવી ઉદીરણાનુ ઉદાહરણ છે, કેરીને જલદીથી પકાવવી આ ક્રમશઃ ત્રણ ઉદાહરણો છે

આ પ્રમાણે જ જીવ પોતાના પ્રયોગથી અનુભાવમા પણ સંક્રમણ કરે છે અર્થાત્ કોઇ કર્મ પ્રકૃતિનો તીવ્ર અનુભાવ બન્ધ કર્યો હોય તો અપવર્તનાકરણ દ્વારા તેને મન્દ રૂપમા બદલી શકાય છે અને બાંધેલા મન્દ અનુભાવને ઉદ્વર્તનાકરણ દ્વારા તીવ્ર અનુભાવમા બદલી શકાય છે.

જેમ મન્દ અનુભાવવાળુ ચૂર્ણ હલદર વડે જલદ કરી દેવામા આવે છે અને જલદ ચૂર્ણ વાયુ અને તાપ દ્વારા મન્દ બનાવી દેવાય છે

મિથ્યાત્વ પ્રકૃતિનો અનુભાવ તીવ્ર હોય છે, સમ્યક્ત્વ-પ્રકૃતિનો અનુભાવ મન્દ હોય છે અને મિશ્ર પ્રકૃતિનો અનુભાવ મિશ્ર-મધ્યમ હોય છે'

આ રીતે દર્શનમોહનીય, ચરિત્રમોહનીય અને આયુષ્યકર્મની ઉત્તર પ્રકૃતિઓનુ સક્રમણુ થતુ નથી એનુ કારણુ એ છે કે એમના બન્ધના કારણો આગમમા ભિન્ન-ભિન્ન બતાવવામા આવ્યા છે અને ભિન્ન કારણોથી બાંધેલા હોવાથી એ પ્રકૃતિઓ ભિન્ન જાતિની છે એમનુ ફળ પણુ ભિન્ન છે એટલુ ચોક્કસ છે કે અપવર્તન બધી પ્રકૃતિઓનુ થઈ શકે છે, ભલે પછી તે મૂળ પ્રકૃતિ હોય અથવા ઉત્તર પ્રકૃતિ. દીર્ઘકાલીન સ્થિતિનું અલ્પકાલીન થઈ જવુ તે અપવર્ત્તન કહેવાય છે પરિણામની વિશેષતા અનુસાર બધી પ્રકૃતિઓનુ અપવર્ત્તન થઈ શકે છે

આ જે અનુભાવ-વિપાક છે, તે નામ અનુસાર થાય છે જે કર્મનુ જે નામ છે તેને જ અનુરૂપ તેનું ફળ પણ હોય છે જ્ઞાનાવરણુ વગેરે બધાં કર્મોના વિષયમાં આ પ્રમાણે જ સમજવાનું છે. જેમ કે જે કર્મ જ્ઞાનને આવૃત-આચ્છાદિત કરે છે તે જ્ઞાનાવરણુ કહેવાય છે. જ્ઞાનાવરણુ કર્મ જે ફળ પ્રદાન કરે છે તેનો પર્યવસાન જ્ઞાનના અભાવમા થાય છે અર્થાત્ જ્ઞાનાવરણુ કર્મ પોતાના નામ મુજબ જ્ઞાનનો નિરોધ કરે છે

એવી જ રીતે દર્શનાવરણુ કર્મનુ ફળ દર્શન અર્થાત્ સામાન્ય બોધને આવૃત્ત કરવાનું છે. દર્શન અર્થાત્ સામાન્ય ઉપયોગ, તેને જે આવૃત્ત કરે છે તે દર્શનાવરણુ. આમ નામને અનુરૂપ જ તેનુ ફળ હોય છે.

સાતાવેદનીયનું ફળ સુખનુ વેદન કરાવે છે અસાતાવેદનીય અસાતા અર્થાત્ દુઃખનુ વેદન-અનુભવ કરાવે છે. દર્શન મોહનીય કર્મ જ્યારે ફળ આપે છે તો દર્શન અર્થાત્ તત્ત્વાર્થ શ્રદ્ધાનને મોહિતકલુષિત અથવા નષ્ટ કરે છે ચારિત્રમોહનીય કર્મ ચારિત્રને ઉત્પન્ન થવા દેતું નથી.

એવી જ રીતે જે કર્મના વિપાકથી આયુષ્ય કહેતા પ્રાણુધારણુ થાય છે તે આયુષ્ય કર્મ કહેવાય છે આમ આયુષ્ય કર્મનુ ફળ-વિપાક પ્રાણુધારણુ છે એવી જ રીતે ગતિ, જાતિ વગેરે પ્રશસ્ત અગર અપ્રશસ્ત ભાવોને જે કર્મ પ્રાપ્ત કરાવે છે તે નામકર્મ પણુ ગતિનામ વગેરે કહેવાય છે એનુ ફળ પણુ નામ અનુસાર જ સમજવુ જોઈએ ગોત્ર કર્મનું ફળ પણુ તેવા નામને અનુકૂળ હોય છે 'ગુડ્' ધાતુ શબ્દના અર્થમાં છે ષ્ટ્રન્ પ્રત્યય હોવાથી 'ગોત્ર' શબ્દ સિદ્ધ થાય છે ગોત્ર બે પ્રકારના છે—ઉચ્ચગોત્ર અને નીચગોત્ર જે કર્મના ફળસ્વરૂપ જીવ ઉચો કહેવાય છે એ પૂજ્ય છે ઉગ્રકુલ, ભોગકુલ અથવા ઈક્ષ્વાકુકુળનો છે એ પ્રકારના શબ્દોથી સબોધવામાં આવે છે તે ઉચ્ચગોત્ર કર્મ પણુ પોતાના નામ અનુસાર જ ફળ પ્રદાન કરે છે જે કર્મના ઉદયથી આ દરિદ્ર છે, તરછોડાયેલો-તુચ્છ છે, ચાંડાળ છે ઇત્યાદિ હલકા શબ્દોથી શબ્દિત થાય છે તે નીચગોત્ર કહેવાય છે આનુ ફળ નીચ વશ વગેરેની પ્રાપ્તિ છે.

જે કર્મના ઉદયથી દેય, દાન, દાતા વગેરેની વચ્ચે અન્તરાય-વિઘ્ન ઉપસ્થિત થાય છે તે અન્તરાય કર્મ કહેવાય છે અન્તરાય કર્મ જ્યારે તેનુ ફળ આપે છે ત્યારે તે દાન વગેરેમાં વિઘ્ન નાખવાના રૂપમા જ હોય છે એવી રીતે જ્ઞાનાવરણુ આદિ સમસ્ત કર્મોનું ફળ જેમને

તેમને પોત-પોતાના નામ મુજબ જ થાય છે સમવાયાંગસૂત્રમાં વિપાકશ્રુતના વર્ણનમા કહ્યુ છે- 'અનુભાગ-ફળ-વિપાક બધા કર્મોનો હોય છે'

પ્રજ્ઞાપનાસૂત્રના પદ ૨૩ માં તથા ઉત્તરાધ્યયન અધ્યયન ૩૩ મા પણ આવુ જ કહેવાયુ છે

શકા-જો કર્મોનુ ફળ ઉપર કહ્યા મુજબનુ હોય છે તો ફળ પ્રદાન કર્યા બાદ તે કર્મ આભૂષણુની જેમ રહે છે અથવા નિસાર થઈને ચ્યુત થઈ જાય છે-ખરી પડે છે ?

સમાધાન-બાંધેલા કર્મ જ્યારે ભોગવી લેવામાં આવે છે તો આત્માને પીડા અગર કૃપા પ્રદાન કરીને, ખાધેલા ભોજન વગેરેના વિકારની માફક નીકળી જાય છે, કારણુ કે તે સમયે તેને રોકાવા માટે કોઈ કારણુ રહેતુ નથી

આ રીતે જ્ઞાનાવરણુ વગેરે કર્મોના વિપાક પછી તેની નિર્જરા થઈ જાય અર્થાત્ તે આત્મ-પ્રદેશોથી જુદો થઈ જાય છે

કર્મની નિર્જરા બે પ્રકારની છે-વિપાકજન્ય અને અવિપાકજન્ય અહી વિપાકનો અર્થ છે ઉદય અને અવિપાકનો અર્થ છે ઉદીરણા આ ચતુર્ગતિરૂપ અને અનેક પ્રકારના જન્મોવાળા સસારસમુદ્રમા ડૂબતા જીવના શુભ અશુભ કર્મ જ્યારે વિપાકકાળના સમયે સ્વય ઉદયમા આવે છે ત્યારે તેમના ફળ ભોગવી લીધા બાદ તેમની સ્થિતિનો ક્ષય થઈ જાય છે સ્થિતિક્ષય થઈ જવા પર તેઓ નિવૃત્ત થઈ જાય છે આ વિપાકજન્ય નિર્જરા છે

જો કર્મના વિપાકનો સમય પ્રાપ્ત ન થયો હોય તો પણુ કોઈ ઔપક્રમિક ક્રિયા દ્વારા તેને બળજબરીથી ઉદયમા લઈ આવવો ઉદીરણા છે ઉદીરણા દ્વારા કર્મફળ ભોગવી લીધા બાદ તેની નિર્જરા થઈ જાય છે તે અવિપાકજન્ય નિર્જરા કહેવાય છે જેવી રીતે ફણુસ અગર કેરીના ફળને ઘાસ વગેરેમા દબાવી રાખવાથી સમયથી વહેલા પાકી જાય છે તેવી જ રીતે કોઈ કોઈ કર્મ પણુ પોતાના નિયત સમયથી પહેલા જ ઉદીરણા દ્વારા પોતાનુ ફળ આપી દે છે અને ફળ પ્રદાન કર્યા પછી નષ્ટ પામે છે આને અવિપાકજન્ય નિર્જરા કહે છે કહ્યુ પણુ છે—

તાબાના તાર બનાવવા, માટીનુ શોષણુ અથવા ભીની કરવી અને કેરીને પકાવવી આ ત્રણુ ઉદાહરણુ સક્રમ, સ્થિતિ અને ઉદીરણાના વિષયમા યથાક્રમ સમજી લેવા જોઈએ

આ અવિપાકજન્ય નિર્જરા તપહેતુક હોય છે કારણુ કે આ તપથી થાય છે આગળ ઉપર કહેવામા આવનારા બાર પ્રકારના તપથી નિર્જરા સિવાય સવર પણુ થાય છે આ વાત આગળ સવરના પ્રકરણુમા કરવામા આવશે ભગવતીસૂત્રના પ્રથમ શતકમાં કહ્યુ છે કર્મોની ઉદીરણા થાય છે, વેદન થાય છે અને છેવટે તેમની નિર્જરા થઈ જાય છે ॥૨૧॥

'सव्वकम्माणं अणंताणंता पएसगा' । ઈત્યાદિ

મૂળ સૂત્રાર્થ—સમસ્ત કર્મોના પ્રદેશ અનન્તાનન્તઅભવ્યોથી અનતગણા અને સિદ્ધોના અનતમા ભાગ છે ॥૨૨॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રોમા કર્મોના અનુભાવનુ પ્રરૂપણુ કરવામા આવ્યુ છે હવે સામાન્ય રૂપથી નિર્દિષ્ટ પ્રદેશબન્ધનુ વિશેષ રૂપથી પ્રતિપાદન કરવા માટે કહીએ છીએ-જ્ઞાના-વરણુ વગેરે આઠે કર્મોના અનન્તાનન્ત પ્રદેશો હોય છે-સખ્યાતા અગર અસખ્યાતા હોતા નથી

અનન્તાનન્ત સંખ્યા અનન્ત પ્રકારની છે, આથી તેમને નિયત કરવાના આશયથી કહીએ છીએ-તેઓ અનન્તાનન્ત પ્રદેશ અભવ્ય જીવોની રાશિથી અનન્તગણા વધુ સમજવા જોઈએ અને સિદ્ધજીવ રાશિના અનન્તમાં ભાગ સમજવા જોઈએ.

જીવ કર્મયોગ્ય પુદ્ગલોના કેટલા ભાગ બાંધે છે ? એવી જિજ્ઞાસાનું સમાધાન કરવા માટે કર્મને યોગ્ય પુદ્ગલોનુ પરિમાણ-પરિચ્છેદ રૂપ પ્રદેશબંધનુ અગાઉ પ્રરૂપણ કરવામા આવ્યું, પરંતુ પ્રદેશબંધના સ્વરૂપનુ વિશેષ રૂપથી જ્ઞાન કરાવવા માટે અહીં એ બાબતો પર્ત્વે પ્રકાશ નાખવો આવશ્યક છે-પ્રદેશબંધનુ કારણ શુ છે ? તે ક્યારે થાય છે ? ક્યાથી થાય છે ? તેનો સ્વભાવ શું છે ? તે કોનામાં હોય છે ? તેનુ પરિમાણ ?

સમસ્ત કર્મપ્રકૃતિહેતુક પ્રત્યેક જીવના ભૂતકાલીન અનન્ત ભવોમાં તથા આગામી સંખ્યાત, અસંખ્યાત અથવા અનન્ત ભવોમાં, કાયયોગ, વચનયોગ અને મનોયોગના નિમિત્તથી આ યોગની તીવ્રતા અગર મન્દતા અનુસાર કાર્મણ વર્ગણાના પુદ્ગલ ગ્રહણ કરવામા આવે છે તે પુદ્ગલ સૂક્ષ્મ હોય છે, સ્થૂળ નહી જે આકાશપ્રદેશોમા આત્મપ્રદેશોની અવગાહના હોય છે તે જ આકાશપ્રદેશોમા રહેલા તે પુદ્ગલો ધારણ કરવામા આવે છે ભિન્નક્ષેત્રમા રહેલા પુદ્ગલો ધારણ કરવામા આવતા નથી સ્થિત પુદ્ગલો જ ધારણ કરી શકાય છે-જે ગતિરૂપમાં પરિણત હોય-ચાલતા હોય, તેમને ધારણ કરતા નથી

ઉપર વર્ણવવામાં આવેલી સઘળી વિશેષતાઓ હોવા છતા પણ જો તેમના પ્રદેશોની સંખ્યા અભવ્ય જીવોની સમગ્ર રાશિથી અનન્તગણી અને સિદ્ધ જીવોની રાશિના અનન્તમો ભાગ હોય તો જ તેમને ધારણ કરવામા આવે છે, અન્યથા નહી એવી જ રીતે તે ઘનાંગુલના અસંખ્યાતમાં ભાગ ક્ષેત્રમા સ્થિત હોવા જોઈએ, પાચ વર્ણવાળા, પાચ રસવાળા, બે ગન્ધવાળા અને ચાર સ્પર્શવાળા હોવા જોઈએ પછી તેની સ્થિતિ ભલે એક સમયની હોય, ભલે બે, ત્રણ, ચાર, સંખ્યાતા અથવા અસંખ્યાતા સમયની હોય આવા પુદ્ગલોને આત્મા પોતાના કાય, વચન અને મનના વ્યાપારથી ધારણ કરે છે ॥૨૨॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પૂર્વસૂત્રમા કર્મોના અનુભાવબંધનુ નિરૂપણ કરવામાં આવ્યુ હવે સામાન્ય રૂપથી પૂર્વકથિત પ્રદેશબન્ધનુ વિશેષ રૂપથી પ્રતિપાદન કરીએ છીએ—

જ્ઞાનાવરણ વગેરે આઠ પ્રકૃતિઓને અનુરૂપ પુદ્ગલ જે અનન્તાનન્ત પ્રદેશોવાળા હોય છે તેમને જ આત્મા ગ્રહણ કરે છે સંખ્યાત અસંખ્યાત અથવા અનન્તપ્રદેશોવાળા પુદ્ગલોને ધારણ કરતો નથી

કર્મયોગ પુદ્ગલસ્કંધોનુ નિયત પરિમાણમાં બંધાવુ પ્રદેશબન્ધ કહેવાય છે પ્રદેશબન્ધના સ્વરૂપને સ્પષ્ટ રૂપથી સમજવા માટે આઠ પ્રશ્નોના ઉત્તરોને સમજવા આવશ્યક છે તે આ પ્રમાણે છે

(૧) તે પુદ્ગલોના બન્ધનુ કારણ શુ છે ?

(૨) આત્મા કર્મયોગ્ય પુદ્ગલોને જ્યારે બાંધે છે ત્યારે એક દિશાથી બાંધે છે અથવા સર્વ દિશાઓથી ?

(૩) શુ પ્રદેશબન્ધ બધા જીવોને એક સરખો હોય છે ? અથવા કોઈ કારણથી તેમાં અસમાનતા હોય છે ?

(૪) કયા ગુણોવાળા પુદ્‌ગલોનો બન્ધ થાય છે ?

(૫) જે આકાશપ્રદેશોમા કર્મવર્ગણાના પુદ્‌ગલ અવગાહે છે તે જ આકાશપ્રદેશોમાં સ્થિત આત્મા, ત્યાને ત્યા જ, તેને બાધી લે છે અથવા બાહ્ય આકાશપ્રદેશોમાં સ્થિત પુદ્‌ગલોને ખેંચીને ધારણ કરે છે ?

(૬) શુ ગતિપરિણત પુદ્‌ગલ બાંધેલા હોય છે ? અથવા સ્થિતિ–પરિણત–સ્થિર પુદ્‌ગલોનો બન્ધ થાય છે ?

(૭) બધાવાવાળા પુદ્‌ગલો સમસ્ત આત્મપ્રદેશોમા બંધાય છે અથવા આત્માના એક-એક પ્રદેશમા બધાય છે ?

(૮) કાર્મણવર્ગણાના તે પુદ્‌ગલો સખ્યાતપ્રદેશી અથવા અસખ્યાતપ્રદેશી હોય તો બંધાય છે અગર અનન્તપ્રદેશી હોય તો જ તેમનો બન્ધ થાય છે ?

આ આઠ પ્રશ્નોના જવાબ ક્રમશ આ રીતે છે—

(૧) કાર્મણવર્ગણાના તે પુદ્‌ગલ નામ–પ્રત્યય બાધે છે અર્થાત્ જે પ્રકૃતિનું જે નામ છે તેને અનુસાર જ બાધે છે

(૨) બધી દિશાઓથી–બધી બાજુથી બધાય છે

(૩) બધાં જીવોના યોગનો વ્યાપાર સમાન હોતો નથી કોઈ જીવના યોગનો વ્યાપાર તીવ્ર હોય છે તો કોઈના યોગનો વ્યાપાર મન્દ હોય છે તીવ્રતા અને મન્દતામા પણ અનેક શ્રેણીઓ હોય છે આથી બધા જીવોનો પ્રદેશબન્ધ સરખો હોતો નથી પરંતુ યોગની અસમાનતાના કારણે અસમાન હોય છે યોગની પ્રવૃત્તિ તીવ્ર હોય તો અધિક પુદ્‌ગલપ્રદેશોનો બંધ થાય છે અને જો મન્દ હોય છે તો ઓછા પ્રદેશ બધાય છે

(૪) સૂક્ષ્મ પુદ્‌ગલોનો જ બન્ધ થાય છે

(૫) એક ક્ષેત્ર અવગાઢ પુદ્‌ગલ જ બધાયેલા હોય છે અર્થાત્ જ્યા આત્માના પ્રદેશ છે ત્યા જ અવગાઢ પુદ્‌ગલ આત્મપ્રદેશોની સાથે શ્લિષ્ટ થઈ જાય છે, આમ–તેમથી આકર્ષિત થઈને બધાતા નથી

(૬) જે કર્મપુદ્‌ગલ સ્થિત હોય અર્થાત્ ગમન ન કરતા હોય તેમનો જ બન્ધ થાય છે.

(૭) તે પુદ્‌ગલોનો બન્ધ આત્માના બધા જ પ્રદેશોમા થાય છે જેમ અગ્નિમા તપેલા લોખંડના–ગોળાને પાણીમા છોડી દેવામા આવે તો તે પોતાના બધા પ્રદેશોથી પાણીને ગ્રહણ કરે છે તેવી જ રીતે આત્મા પોતાના બધા જ પ્રદેશોથી કર્મપુદ્‌ગલોને ધારણ કરે છે.

(૮) અનન્તાનન્ત પ્રદેશી પુદ્‌ગલ જ બંધાય છે

આ પૂર્વોક્ત આઠ પ્રશ્નોના ઉત્તર છે એનો આશય એ છે કે આત્માની સાથે બધાનારા પુદ્‌ગલ નામ પ્રત્યય હોય છે અર્થાત પોત–પોતાના અર્થ અનુસાર નામવાળા કર્મોના કારણ હોય છે આવા પુદ્‌ગલો વગર જ્ઞાનાવરણ આદિ કર્મોનો ઉદય વગેરે થઈ શકતો નથી જેમ મુક્તાત્માનો ઉદય વગેરે થતાં નથી તેમ અથવાં નામ જેમનો પ્રત્યય અર્થાત્ કારણ છે તે નામ પ્રત્યય કહેવાય છે ગતિ, જાતિ વગેરે નામ કર્મ–ઔદારિક શરીર આદિ યોગ કર્મના કારણ

હોય છે અને પરંપરાથી ગતિ વગેરે પણ કારણ હોય છે આથી નામ કર્મ હેતુક પુદ્ગલોનો બન્ધ થાય છે અથવા નામ કર્મની ઉત્તરપ્રકૃતિ શરીર નામ કર્મની અન્તર્ગત જે બન્ધન નામ કર્મ છે તેના કારણથી પુદ્ગલોનો બન્ધ થાય છે

જે કર્મના ઉદયથી પૂર્વે ધારણ કરેલા શરીરના પુદ્ગલોનો સંબંધ હોય છે, તે બન્ધન નામ કર્મ કહેવાય છે આ કર્મ લાકડાના બે ટુકડાઓને સાંધનારી લાખ જેવુ છે.

અથવા જે પ્રકારના પુદ્ગલ પ્રદેશબન્ધના કારણ હોય છે તે પુદ્ગલ જ્ઞાનાવરણ, દર્શનાવરણ વગેરે નામથી જ જાણી શકાય છે જ્ઞાનાવરણ વગેરે નામોથી તે પુદ્ગલોના સ્વરૂપનું કથન કરવામાં આવે છે કારણ કે જ્ઞાનના આવરણ અને દર્શનના આવરણ વગેરેમા શક્તિશાળીજ પુદ્ગલોના બન્ધ થાય છે

પ્રશ્ન-એક સરખા સ્વરૂપવાળા પુદ્ગલોને આત્મા ધારણ કરે છે, એવા સંજોગોમાં તેઓ પુદ્ગલ જ્ઞાનાવરણ, દર્શનાવરણ વગેરે વિશેષ સ્વરૂપોમા આત્માની સાથે કઈ રીતે જોડાય છે ? અર્થાત્ જ્યારે કર્મપુદ્ગલ મૂળે એક સરખા છે તો તેમના સ્વભાવમા આત્માની સાથે તે હોવા છતાં પણ કેવી રીતે અન્તર પડી જાય છે ?

ઉત્તર-જ્ઞાનાવરણ આદિ સમસ્ત મૂળ અને ઉત્તર પ્રકૃતિને યોગ્ય પુદ્ગલ જો કે ધારણ કરાતાં અગાઉ એક જેવા હોય છે, તેમનામાં જ્ઞાનાવરણ વગેરેના ભેદ હોતા નથી તો પણ આત્મા પોતાના અધ્યવસાયની વિશેષતાના કારણે તે સામાન્ય પુદ્ગલોને પણ જ્ઞાનાવરણ દર્શનાવરણ વગેરે ભિન્ન-ભિન્ન રૂપમાં પરિણત કરી લે છે તાત્પર્ય એ છે કે સામાન્ય કર્મપુદ્ગલોમાં જ્ઞાનાવરણ વગેરે જે અલગ-અલગ પ્રકૃતિઓ ઉત્પન્ન થાય છે તેનું કારણ આત્માનો અધ્યવસાય છે આ પ્રથમ પ્રશ્નોત્તરનો આશય સમજવો જોઈએ

બીજા પ્રશ્નોત્તરનો આશય આ છે—આત્મા સમસ્ત અર્થાત્ દશે દિશાઓમાં સ્થિત પુદ્ગલોને જે કર્મરૂપમાં પરિણત થવા યોગ્ય હોય, ધારણ કરે છે. તિર્છિ દિશાઓ આઠ છે—ચાર પૂર્વ વગેરે દિશાઓ, ચાર ઈશાન આદિ વિદિશાઓ, અને ઉર્ધ્વદિશા તથા અધોદિશા. આ પ્રમાણે દશે દિશાઓમા સ્થિત પુદ્ગલ સ્કંધોને આત્મા ધારણ કરે છે, કોઈ એક જ દિશામાં સ્થિત પુદ્ગલોને નહી

અથવા આત્મા સમસ્ત આત્મપ્રદેશોથી કર્મવર્ગણાના પુદ્ગલોને ધારણ કરે છે. સંસારી જીવના આ આત્મપ્રદેશો કોઈ ઉપર તો કોઈ નીચે હોય છે આ સંદર્ભમાં આગળ કહેવામાં આવનાર સાતમા પ્રશ્નોત્તરથી પુનરૂક્તિ દોષ નથી ત્યા **'सर्वात्मप्रदेशेषु'**નો અર્થ **'अनन्तानन्त प्रदेशेषु'** એ મુજબનો અર્થ થાય છે

હવે ત્રીજા પ્રશ્નોત્તરનો આશય પ્રગટ કરીએ છીએ—બધાં જીવોનો કર્મબન્ધ સરખો હોતો નથી બલ્કે બધાના કર્મબન્ધમા ભિન્નતા હોય છે એનુ કારણ છે યોગની વિશેષતા અર્થાત મન, વચન અને કાયાની ચેષ્ટા-અનુષ્ઠાન ભાષણ અને ચિન્તન વગેરેની વિચિત્રના બધાં જીવોના યોગની પ્રવૃત્તિ સરખી ન હોવાથી કર્મબન્ધ પણ સરખાં હોતા નથી કોઇને તીવ્ર, કોઇને તીવ્રતર, કોઇને તીવ્રતમ અને કોઇને મન્દ, મન્દતર અને મન્દતમ બન્ધ હોય છે.

ચોથા પ્રશ્નોત્તરનો આશય—સૂક્ષ્મ પરિણમન, વાળા કાર્મવર્ગણાના પુદ્ગલોનો જ બન્ધ થાય છે, બાદર પરિણમનવાળા પુદ્ગલોનો બન્ધ થતો નથી સૂક્ષ્મ શબ્દનો અર્થ અપેક્ષિત હોવાથી અનેક પ્રકારનો થાય છે પરમાણુથી લઈને અનન્તપ્રદેશી વર્ગણામા પણ સૂક્ષ્મ શબ્દનો પ્રયોગ કરી શકાય છે ને અનન્તપ્રદેશી—વર્ગણાઓમા કોઈ-કોઇ કર્મ રૂપમા ગ્રહણ કરવા યોગ્ય હોય છે, કોઇ ગ્રહણ કરવા યોગ્ય નથી હોતી

આથી 'સૂક્ષ્મ' શબ્દને ગ્રહણ કરવા પાછળનો આશય એ છે કે ક્રમશ ઔદારિક વૈક્રિય, આહારક, તૈજસ્, ભાષા શ્વાસોચ્છવાસ અને મનોવર્ગણાને ઉલ્લઘીને કાર્મણવર્ગણાને યોગ્ય સૂક્ષ્મ પરિણમનવાળા પુદ્ગલોનો જ બન્ધ થાય છે ઉક્ત ક્રમથી કોઇ-કોઈ પુદ્ગલ સૂક્ષ્મ પરિણમનવાળા હોય છે

પાચમા પ્રશ્નોત્તરનો આશય—એક ક્ષેત્રમાં અવગાઢ પુદ્ગલોનો જ બન્ધ થાય છે, અન્ય ક્ષેત્રમા અવગાઢ પુદ્ગલોનો બન્ધ થતો નથી જે પુદ્ગલ જીવ પ્રદેશોની સાથે અભિન્ન ક્ષેત્રમા રહેલા હોય છે, તેઓ જ બધાયેલા હોય છે ભિન્ન ક્ષેત્રમા રહેલાં કર્મ પુદ્ગલ ભિન્નક્ષેત્રમાં સ્થિત જીવ-પ્રદેશોની સાથે બધાતા નથી,

છઠ્ઠા પ્રશ્નોત્તરનો આશય—કાર્મણવર્ગણાના જે પુદ્ગલો સ્થિત હોય છે—અર્થાત્ ગમન કરતાં નથી તેમનો જ બન્ધ થાય છે જે પુદ્ગલો ગમન કરતા હોય છે તેમનો આત્માની સાથે બધ થતો નથી કારણ કે તેઓ વેગવાન્ હોય છે

સાતમા પ્રશ્નોત્તરનો આશય—એક આત્માના અસખ્યાત પ્રદેશ હોય છે તે બધા પ્રદેશોમાં જ્ઞાનાવરણ વગેરેના યોગ્ય કર્મવર્ગણાના પુદ્ગલ આત્માના પ્રત્યેક પ્રદેશની સાથે બધાયેલા હોય છે એવી જ રીતે આત્માના એક-એક પ્રદેશ અનન્ત-અનન્ત જ્ઞાનાવરણ આદિ કર્મોને યોગ્ય પુદ્ગલોથી બધાયેલો છે એજ હકીકત દર્શનાવરણ વગેરે કર્મોના વિષયમાં પણ સમજવી જોઇએ

અતિમ આઠમા પ્રશ્નોત્તરનો અભિપ્રાયકર્મને અનુરૂપ અનન્તાનન્તપ્રદેશી પુદ્ગલોનો બધ થાય છે સખ્યાતપ્રદેશી, અસખ્યાત પ્રદેશી અથવા અનન્તપ્રદેશી પુદ્ગલ સ્કધોમાં આત્માની સાથે બન્ધ થવાની યોગ્યતા જ નથી આથી તેમનુ બન્ધ થવુ પણ શક્ય નથી અનન્તપ્રદેશો વાળા પુદગલસ્કધમા ફરી અનન્ત પ્રદેશ વળી ભેળવી દેવામા આવે તો તે સ્કન્ધ અનન્તાનન્ત પ્રદેશી કહેવાય છે આવા અનન્તાનન્ત પ્રદેશી કર્મપુદ્ગલોના સ્કધ એક-એક આત્મપ્રદેશમા બધાયેલા હોય છે અયોગ્ય પુદ્ગલોનો બધ થતો નથી

આ થયુ પ્રદેશબધનુ નિરૂપણ જે પુદ્ગલમા ઘણા બધા પ્રદેશ અને દેશ હોય છે તે સ્કધ કહેવાય છે ઉત્તરાધ્યયન સૂત્ર અધ્યયન ૩૩ની ગાથા ૧૭-૧૮મા કહ્યુ છે—

બધા કર્મોના પ્રદેશોના પરિમાણ અનન્ત હોય છે

બધા જીવ છએ દિશાઓ તરફથી આવતા કર્મ પુદ્ગલોને ધારણ કરે છે અને સમસ્ત આત્મપ્રદેશોથી ધારણ કરે છે આવી રીતે જીવની સાથે કર્મપુદ્ગલોનો 'સર્વથી સર્વનો' બધ થાય છે ॥૧-૨॥

જ્યાં છએ દિશાઓમાં લોક હોય છે, ત્યાં છએ દિશાઓથી કર્મ ધારણ થાય છે અને જ્યાં ત્રણ ચાર અથવા પાંચ દિશાઓમાં લોક હોય ત્યાં ક્રમશઃ ત્રણ ચાર અને પાચ દિશાઓથી જ કર્મોનું ગ્રહણ થાય છે. બાકીની દિશાઓમાં અલોક હોવાથી પુદ્ગલો નથી આથી કર્મોને ગ્રહણ કરવાનો કોઇ પ્રશ્ન જ રહેતો નથી ॥ ૨૨॥

શ્રી જૈનશાસ્ત્રાચાર્ય, જૈનધર્મદિવાકર પૂજ્ય શ્રી ઘાસીલાલજી
મહારાજ વિરચિત તત્ત્વાર્થસૂત્રની દીપિકા અને
નિર્યુક્તિ નામક વ્યાખ્યાના ગુજરાતી
ભાષાતરનો ત્રીજો અધ્યાય
સમાપ્ત ॥૩॥

અધ્યાય ચોથો

'सुभकम्मं पुण्णं'

સૂત્રાર્થ—શુભ કર્મ પુણ્ય કહેવાય છે ॥૧॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—જીવ અજીવ બધ પુણ્ય, પાપ,—આસ્રવ, સવર, નિર્જરા અને મોક્ષ, નવ તત્ત્વોમાથી જીવ, અજીવ અને બન્ધ તત્ત્વોનુ પ્રથમ, દ્વિતીય અને તૃતીય અધ્યાયોમાં ક્રમશ વિવેચન કરવામાં આવ્યું છે હવે પ્રસંગ પ્રાપ્ત 'પુણ્ય' તત્ત્વનુ વિવેચન કરવામાં આવે છે

શુભ કર્મને પુણ્ય કહે છે જે આત્માને પુનિત (પવિત્ર–શુભ) બનાવે છે અથવા જેના વડે આત્મા પવિત્ર બને છે, તે પુણ્ય છે 'પુઞ', ધાતુનો અર્થ થાય છે, પવિત્ર કરવુ આ ધાતુથી 'पुञ्ञो यण्णुक ह्रस ' આ ઉણાદિ સૂત્રથી યત પ્રત્યય, 'ણુક્' આગમન અને હ્રસ્વ થવાથી 'પુણ્ય' શબ્દનુ સર્જન થયુ છે

કલ્યાણુ અથવા સુખને 'શુભ' કહે છે અને તેમને ઉત્પન્ન કરનાર કર્મ પણ 'શુભ' કહેવાય છે પુણ્યના પિતા, અહિંસા વગેરે શુભ કર્મ પણ કારણમાં કાર્યનો ઉપચાર કરવાથી પુણ્ય કહેવાય છે આ શુભ કર્મ ઘણા પ્રકારના છે જેમ કે—સાતાવેદનીય, સમ્યક્ત્ત્વ, પાંચ મહાવ્રત પાંચ અણુવ્રત, શુભ આયુ શુભ નામ, શુભ ગોત્ર, સત્યભાષણ ઇત્યાદિ ॥૧॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—જો કે સ્થાનાંગસૂત્રના નવમા સ્થાનમાં જીવ અજીવ, પુણ્ય, પાપ, આસ્રવ, સવર, નિર્જરા બન્ધ અને મોક્ષ, એ ક્રમથી નવ તત્ત્વોની આલોચના કરવામાં આવી છે એ મુજબ ત્રીજુ તત્ત્વ પુણ્ય છે પરતુ ઉત્તરાધ્યયન સૂત્રના કથન પ્રમાણે ત્રીજુ તત્ત્વ બન્ધ છે ઉત્તરાધ્યયનના ૨૮માં અધ્યયનમા કહ્યુ છે—

'જીવ અજીવ બન્ધ પુણ્ય, પાપ આસ્રવ, સવર નિર્જરા તથા મોક્ષ આ નવ તત્ત્વ છે'

અત્રે ઉત્તરાધ્યયન સૂત્રમા પ્રરૂપિત ક્રમાનુસાર જ પ્રથમ અધ્યાયમાં જીવનુ, બીજામાં અજીવનુ અને ત્રીજામાં બન્ધના સ્વરૂપની પ્રરૂપણા કરવામા આવી છે હવે ક્રમ પ્રાપ્ત ચોથા પુણ્ય તત્ત્વનુ પ્રતિપાદન કરવા માટે કહેવામાં આવ્યુ છે—

'શુભ કર્મ પુણ્ય છે'

તાત્પર્ય એ છે કે જે કર્મના ઉદયથી શુભ–ઉજ્જ્વળ કર્મના બન્ધ દ્વારા આત્માને અનુકૂળ ફળનો ઉપભોગ થાય છે તે પુણ્ય તત્ત્વ કહેવાય છે એવી રીતે જ્ઞાનાવરણ, દર્શનાવરણ, વેદનીય, મોહનીય, આયુષ્ય, નામ, ગોત્ર અને અન્તરાય એ આઠ મૂળપ્રકૃતિઓ છે તથા એમની ઉત્તરપ્રકૃતિઓ બે પ્રકારની છે–પુણ્યરૂપ તથા પાપરૂપ આમાથી જે કર્મ શુભ છે તે પુણ્ય છે પ્રાણિઓની અનુકમ્પા વ્રતિજનોની અનુકપા, તથા સરાગ સયમ આદિ કારણોથી બધાનાર સાતાવેદનીય (૧) શુભ આયુષ્ય અર્થાત તિર્યંચ, આયુષ્ય, મનુષ્ય આયુષ્ય અને દેવઆયુષ્ય (૨) સાડત્રીશ પ્રકારના શુભનામ (૩) અને ઉચ્ચ ગોત્ર (૪) આ ચાર પ્રકારના શુભ કર્મો પુણ્ય છે આ શિવાયના બધા અશુભ કર્મો પાપ છે પાપ તત્ત્વની પ્રરૂપણા પાચમા અધ્યાયમા કરવામા આવશે

શુભ આયુ કર્મના ત્રણ ભેદ છે—તિર્યંચસબંધી, મનુષ્યસબંધી તથા દેવતાસબંધીશુભ નામકર્મ સાડત્રીસ પ્રકારના છે— (૧) મનુષ્યગતિ (૨) દેવગતિ (૩) પંચેન્દ્રિયજાતિ (૪-૮) ઔદારિક વગેરે પાચ શરીર (૯) સમચતુરસ્સ સંસ્થાન (૧૦) વજ્ર-ઋષભનારાચસહનન (૧૧) ઔદારિકઅગોપાગ (૧૨) વૈક્રિય અગોપાંગ (૧૩) આહારકઅગોપાગ (૧૪) પ્રશસ્ત વર્ણ (૧૫) પ્રશસ્ત ગધ (૧૬) પ્રશસ્ત રસ (૧૭, પ્રશસ્ત સ્પર્શ (૧૮) મનુષ્યાનુપૂર્વી (૧૯) દેવાનુપૂર્વી (૨૦) અગુરુ લઘુ (૨૧) પરાઘાત (૨૨) ઉચ્છ્વાસ (૨૩) આતપ (૨૪) ઉદ્યોત (૨૫) પ્રશસ્ત વિહાયોગતિ (૨૬) ત્રસ (૨૭) બાદર (૨૭) પર્યાપ્ત (૨૯) પ્રત્યેક (૩૦) સ્થિર (૩૧) શુભ (૩૨) સુભગ (૩૩) સુસ્વર (૩૪) આદેય (૩૫) યશ.કીર્તિ (૩૬) નિર્માણ અને (૩૭) તીર્થંકર નામ કર્મ ॥૧॥

'नवविहे पुण्णे'

મૂળસૂત્રાર્થ—પુણ્ય નવ પ્રકારના છે ॥૨॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમા પુણ્યનુ સ્વરૂપ દર્શાવવામાં આવ્યુ છે હવે તેના ભેદોનું પ્રતિપાદન કરીએ છીએ—

પુણ્યના નવ ભેદ છે તે આ રીતે— (૧) અન્નપુણ્ય (૨) પાનપુણ્ય (૩) વસ્ત્રપુણ્ય (૪) લયનપુણ્ય (૫) શયનપુણ્ય (૬) મનઃપુણ્ય (૭) વચનપુણ્ય (૮) કાયપુણ્ય અને (૯) નમસ્કારપુણ્ય.

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—અગાઉના સૂત્રમાં અનુક્રમથી પ્રાપ્ત ચોથા તત્ત્વ પુણ્યના સ્વરૂપનું પ્રતિપાદન કરવામા આવ્યુ પ્રસ્તુત સૂત્રમાં તેના નવ ભેદોનું પ્રરૂપણ કરીએ છીએ—

પુણ્ય નવ પ્રકારના છે સ્થાનાંગસૂત્રના નવમાં સ્થાનના ત્રીજા ઉદ્દેશકમાં કહ્યુ છે—પુણ્યના નવ ભેદ કહ્યાં છે તે આ રીતે—(૧) અન્નપુણ્ય (૩) પાનપુણ્ય (૩) લયનપુણ્ય (૪) શયનપુણ્ય (૫) વસ્ત્રપુણ્ય (૬) મનઃપુણ્ય (૭) વચનપુણ્ય (૮) કાયપુણ્ય અને (૯) નમસ્કારપુણ્ય.

યોગ્ય સુપાત્રને અન્નનું દાન કરવાથી તીર્થંકર નામકર્મ અથવા યશઃકીર્તિ નામ કર્મ વગેરે પુણ્ય કર્મો બધાય છે તેને અન્નપુણ્ય કહે છે, અનુકમ્પાપૂર્વક અન્નનુ દાન દેવાથી પણ બધાનાર શુભ કર્મ અન્નપુણ્ય કહેવાય છે

જે કર્મના ઉદયથી દર્શન, જ્ઞાન અને ચારિત્ર રૂપ તીર્થની પ્રવૃત્તિ કરે છે સાધુધર્મ અને શ્રાવકધર્મનુ આક્ષેપણી, વિક્ષેપણી, સવેગની અને નિર્વેદની ધર્મકથાઓ દ્વારા ભવ્ય જીવોની સિદ્ધિ અર્થે ધર્મકરણી કરે છે અને સુરેન્દ્રો, અસુરેન્દ્રો તથા નરેન્દ્રો દ્વારા પૂજાય છે—સન્માનીત થાય છે તે તીર્થંકર નામ કર્મ કહેવાય છે એવી જ રીતે યશઃકીર્તિ નામ કર્મ વગેરેના સ્વરૂપ પૂર્વવત્ જ જાણી લેવા

(૨) આ જ પ્રમાણે સુયોગ્ય પાત્રને એષણીય કલ્પનીય ઈચ્છિત પાન (પાણી વગેરે) આપવાથી તીર્થંકર નામ કર્મ આદિ શુભ પ્રકૃતિઓ જે બધાય છે તે પાનપુણ્ય કહેવાય છે

(૩) સુપાત્રને કપડાનુ દાન કરવાથી પણ તીર્થંકર નામકર્મ આદિ શુભ પ્રકૃતિઓ બંધાય છે આથી તેને વસ્ત્રપુણ્ય કહે છે

(૪) યોગ્ય પાત્રને લયન અર્થાત્ ઘર (આશ્રય) આપવાથી પણ તીર્થંકર નામ આદિ શુભ કર્મ પ્રકૃતિઓ બંધાય છે તે લયનપુણ્ય કહેવાય છે

(૫) આવી જ રીતે શ્રમણ આદિ યોગ્ય પાત્રને શય્યા-સંથારો દાન કરવાથી પણ તીર્થંકર પ્રકૃતિ વગેરે બંધાય છે આથી તે શયનપુણ્ય છે

(૬) આ જ પ્રમાણે ગુણીજનોને જોઇને મનથી સંતોષ પામવો-મનમાં પ્રમોદભાવ જાગૃત થવાથી વચન દ્વારા તેમની પ્રશંસા કરવાથી અને કાર્ય દ્વારા વંદના વગેરે કરીને, ભક્તિ કરવાથી અને મુનિજનોને નમસ્કાર કરવાથી પણ શુભ નામાદિ કર્મપ્રકૃતિઓ બંધાય છે તે અનુક્રમે મન પુણ્ય, વચનપુણ્ય, કાયપુણ્ય અને નમસ્કાર પુણ્ય કહેવાય છે કહ્યું પણ છે—

અનાજ, પાણી, રહેઠાણુ, પથારી, વસ્ત્ર, મન, વચન કાયાના શુભ યોગથી વંદણા અને સંતોષ વગેરે નવ પ્રકારના પુણ્ય છે ॥૧॥

આનાથી એવું પ્રતિપાદિત થયુ કે તીર્થંકર, મુનિજન વગેરે યોગ્ય પાત્રોની શુશ્રૂષા, વૈયાવચ, આરાધના, ભાવવંદણા અને સેવાભક્તિ વગેરે કરવાથી શુભ કર્મ બંધાવાથી પુણ્ય થાય છે ॥૨॥

'तब्भोगो बायालीसमेपणं ।

મૂળસૂત્રાર્થ—પુણ્યનો ભોગ બેતાળીશ પ્રકારે થાય છે. ॥૨॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમા અન્નપુણ્ય વગેરે નવ પ્રકારના પુણ્યનુ પ્રરૂપણ કરવામાં આવ્યુ હવે પુણ્યના બેતાળીશ પ્રકારના ભોગ બતાવવા માટે કહીએ છીએ—પૂર્વોપાર્જિત શુભ કર્મરૂપ પુણ્યનો સુખાનુભવ રૂપ ભોગ બેતાળીશ પ્રકારથી થાય છે તે આ પ્રમાણે—(૧) સાતાવેદનીય (૨) તિર્યંચાયુ (૩) મનુષ્યાયુ (૪) દેવાયુ (૫) મનુષ્યગતિ (૬) દેવગતિ (૭) પંચેન્દ્રિયજાતિ (૮-૧૨) ઔદારિક આદિ પાંચ શરીર (૧૩) સમચતુરસ્ર સંસ્થાન (૧૪) વજ્રઋષભનારાચસંહનન (૧૫-૧૮) ઔદારિક, વૈક્રિય, આહારકના અંગોપાંગ (૧૮) પ્રશસ્તવર્ણ (૧૯) પ્રશસ્તગંધ (૨૦) પ્રશસ્તરસ (૨૧) પ્રશસ્ત સ્પર્શ (૨૨) મનુષ્યાનુપૂર્વી (૨૩) દેવાનુપૂર્વી (૨૪) અગુરુલઘુ (૨૫) પરાઘાત (૨૬) ઉચ્છ્વાસ (૨૭) આતપ (૨૮) ઉદ્યોત (૨૯) પ્રશસ્ત વિહાયોગતિ (૩) ત્રસ (૩૧) બાદર (૩૨) પર્યાપ્ત (૩૩) પ્રત્યેક શરીર (૩૪) સ્થિર (૩૫) શુભ (૩૬) સુભગ (૩૭) સુસ્વર (૩૮) આદેય (૩૯) યશકીર્તિ (૪૦) નિર્માણુ (૪૧) તીર્થંકર ગોત્ર અને (૪૨) ઉચ્ચગોત્ર.

આ બેતાળીશ પ્રકારના પુણ્યના સુખરૂપ ભોગ હોય છે એમ સમજવુ જોઈએ ॥૩॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પહેલા દર્શાવવામા આવ્યુ છે કે પુણ્ય નવ પ્રકારના હોય છે હવે એ બતાવીએ છીએ કે પુણ્ય બેતાળીશ પ્રકારથી ભોગવાય છે અર્થાત પુણ્યના ફળસ્વરૂપ બેંતાળીશ ભાવોની પ્રાપ્તિ થાય છે—

શુભ કર્મ રૂપ પુણ્યના સુખાનુભાવ રૂપ ફળ બેતાળીશ પ્રકારે પ્રાપ્ત થાય છે. તે બેતાળીશ પ્રકાર આ રીતે છે—(૧) સાતાવેદનીય (૨) ઉચ્ચગોત્ર (૩) મનુષ્યાયુ (૩) તિર્યંચાયુ (૫) દેવાયુ (૬) મનુષ્યગતિ (૭) દેવગતિ (૮) પંચેન્દ્રિયજાતિ (૯) ઔદારિક શરીર (૧૦) વૈક્રિયશરીર (૧૧) આહારકશરીર (૧૨) તૈજસ શરીર (૧૩) કાર્મણશરીર (૧૪) ઔદારિક અંગોપાંગ

(૧૫) વૈક્રિયઅંગોપાંગ (૧૬) આહારક અંગોપાંગ (૧૭) વજ્ર ઋષભનારાચસંહનન (૧૮) સમચતુરસ્રસંસ્થાન (૧૯) શુભવર્ણ (૨૦) શુભગંધ (૨૧) શુભરસ (૨૨) શુભસ્પર્શ (૨૩) મનુષ્યાનુપૂર્વી (૨૪) દેવાનુપૂર્વી (૨૫) અગુરુલઘુ (૨૬) પરાઘાત (૨૭) ઉચ્છવાસ (૨૮) આતપ (૨૯) ઉદ્યોત (૩૦) સુપ્રશસ્ત વિહાયોગતિ (૩૧-૪૦) ત્રસદશક અર્થાત ત્રસ, બાદર પર્યાપ્ત, પ્રત્યેકશરીર, સ્થિર, શુભ, સુભગ, સુસ્વર, આદેય, યશ કીર્તિ તથા (૪૧) તીર્થંકર પ્રકૃતિ અને (૪૨) ઉચ્ચગોત્ર નિર્માણ—આ બેતાળીશ પુણ્યપ્રકૃતિઓ કહેવામા આવી છે

આશય એ છે કે પૂર્વોપાર્જિત પુણ્યના ફળ સ્વરૂપ સાતાવેદનીયની પ્રાપ્તિ થાય છે એવી જ રીતે તિર્યંચાયુ મનુષ્યાયુ, દેવાયુ, મનુષ્યગતિ, દેવગતિ, પચેન્દ્રિયજાતિ, ઔદારિકશરીર, વૈક્રિયશરીર, આહારકશરીર, તૈજસ શરીર, કાર્મણ શરીર, ઔદારિકશરીરાંગોપાગ, વૈક્રિયશરીરાંગોપાગ,—આહારક શરીરાગોપાગ, વજ્ર ઋષભનારાચ સહનન, સમચતુરસ્રસંસ્થાન, શુભ (ઇષ્ટ) વર્ણ શુભગધ, શુભરસ, શુભસ્પર્શ, મનુષ્યાનુપૂર્વી દેવાનુપૂર્વી, અગુરુ લઘુનામ, 'પરાઘાતનામ, ઉચ્છ્વાસનામ, આતપનામ, ઉદ્યોતનામ, પ્રશસ્તવિહાયોગતિ, નિર્માણનામ, તીર્થંકર નામ ત્રસનામ, બાદરનામ, પર્યાપ્તનામ, પ્રત્યેકશરીરનામ, સ્થિરનામ, શુભનામ, સુભગનામ, સુસ્વરનામ, આદેયનામ યશ કીર્તિનામ અને ઉચ્ચગોત્ર નામ—આ ભેદોથી પુણ્યનુ ફળ ભોગવી શકાય છે ॥૩॥

' वियणिज्ज पाणाणुकंपाइएहिं'

સૂત્રાર્થ—પ્રાણાનુકમ્પા આદિ કારણોથી સતાવેદનીય કર્મ બધાય છે ॥૪॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પ્રથમ સૂત્રમા પ્રતિપાદન કરવામા આવ્યુ છે કે સાતાવેદનીય વગેરે બેતાળીશ પ્રકારના પુણ્યના ફળ ભોગવી શકાય છે હવે એવુ પ્રતિપાદન કરીએ છીએ કે તે બેતાળીશ-ભેદોમા સહુપ્રથમ ગણેલા સાતાવેદનીય કર્મનુ સ્વરૂપ શુ છે ? અને તેનુ કારણ શુ છે ?

સાતાવેદનીય કર્મની પ્રાપ્તિ પ્રાણિઓની અનુકમ્પા વગેરે કારણોથી થાય છે તેનુ ફળ કર્ત્તા તેમજ ભોક્તા આત્માને ઇષ્ટ—મનોજ્ઞ થાય છે મનુષ્યજન્મ અથવા દેવાદિ જન્મોમાં શરીર તથા મન દ્વારા સુખ-પરિણતિ રૂપ થાય છે આવનારા સમયમા અનુકૂળ દ્રવ્ય, ક્ષેત્ર કાળ ભાવના નિમિત્તથી તેનો મનોજ્ઞ પરિપાક થાય છે અર્થાત્ જે કર્મના પરિપાકથી અનુકૂળ અને અભિષ્ટ સુખ રૂપ અનુભૂતિ થાય છે તે સાતાવેદનીય કર્મ કહેવાય છે

પ્રાણિઓ પ્રત્યે અનુકમ્પા દાખવવાથી, ભૂતો પર અનુકમ્પા કરવાથી, જીવો પર અનુકમ્પા કરવાથી, સત્ત્વો પર અનુકમ્પા કરવાથી તથા પ્રાણભૂત જી. સત્ત્વોને દુખ ન આપવાથી, (૧) શોક નહી પહોંચાડવાથી (૨) શરીર શોષાઈ જાય તેવા પ્રકારનો શોક ન પહોચાડવાથી '(૩) આખમાંથી આસુ સરી પડે તેવો શોક ન કરાવવાથી (૪) લાકડી વગેરે આયુધોથી નહી મારીને (૫) શારીરિક માનસિક વ્યથા નહી પહોચાડવાથી (૬) આવી રીતે ચાર પ્રકારની અનુકમ્પા અને ૬ (છ) પ્રકારની અવેદનીયતા આદિ એવા દશ કારણોથી સાતાવેદનીય કર્મ બધાય છે ॥૪॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પુણ્ય શુભ કર્મ છે એ પહેલા કહેવાઈ ગયુ છે સાતાવેદનીય આદિ બેતાળીશ પ્રકારથી તેના ફળ ભોગવાય છે એવુ પણ દર્શાવાયુ છે હવે પહેલા ગ્રહણ કરેલા સાતાવેદનીય કર્મની પ્રરૂપણા કરવા માટે કહીએ છીએ—

સાતાવેદનીય કર્મ પ્રાણાનુકમ્પા આદિ કારણોથી બધાય છે અહી પ્રાણાનુકમ્પાની સાથે સકળાયેલા આદિ શબ્દથી ભૂતાનુકમ્પા, જીવાનુકમ્પા સત્ત્વાનુકમ્પા એ ત્રણ પદોનો તથા આ જ પ્રાણભૂત જીવ સત્ત્વોના વિષયમા અદુખનતા આદિ છ પદોનો સગ્રહ સમજી લેવો જોઈએ તે છ પદ આ પ્રકારે કહેવામા આવે છે અદુખનતા (૧) અશોચનતા (૨) અજૂરણુતા (૩) અસેપનતા (૪) અપિટ્ટનતા (૫) અને અપરિતાવનતા (૬), અહી પ્રાણ શબ્દથી બેઈન્દ્રિય, તેઈન્દ્રિય, ચતુરિન્દ્રિય, ભૂતશબ્દથી વનસ્પતિકાય, જીવ, શબ્દથી પચેન્દ્રિય અને સત્ત્વ શબ્દથી બાકીના પૃથ્વી પાણિ, અગ્નિ, અને વાયુકાય સમજવા આ જ વિષયમા વળી કહ્યુ પણ છે— **"प्राणा द्वि-त्रि-चतुःप्रोक्ता'** ઈત્યાદિ એમની અથવા એમનામા અનુકમ્પા–કરૂણા અર્થાત્ દયાભાવ રાખવો, એમના દુખમા દુખ પ્રકટ કરવુ, મરતા અથવા કોઈ દ્વારા હણાતા હોય તો રક્ષણ કરવુ તથા તેમના દુખમા સમવેદના પ્રકટ કરવી એ અનુકમ્પા કહેવાય છે આ ચાર પ્રકારની અનુકમ્પાથી તથા આ જ ચારેના વિષયમા અદુખનતા—દુઃખ ન પહોંચાડવુ (૧) અશોચનતા શોક ન પમાડવો (૨) અજૂરણુતા–જેનાથી શરીર સુકાઈ જાય એવો શોક ન પમાડવો (૩) અતેપનતા–જેના નિમિત્તથી અશ્રુપાત થવા લાગે, મુખમાથી લાળ ઝરવા લાગે એ જાતનો શોક ન પહોચાડવો (૪) અપિટ્ટનતા—લાકડી વગેરેથી માર ન મારવો (૫) અપરિતાપનતા—શારીરિક માનસિક કોઈ પ્રકારનો સતાપ ન પમાડવો (૬) આ રીતે પૂર્વોક્ત ચાર પ્રકારની અનુકમ્પા રૂપ કારણ તથા આ છ કારણ એ દશ પ્રકારના કારણોથી જીવ સાતાવેદનીય કર્મ બાધે છે આ વિષય પર વ્યાખ્યાપ્રજ્ઞપ્તિ અર્થાત્ ભગવતી સૂત્ર શતક ૭ ઉદ્દેશક ૬મા કહ્યુ છે—**"कह णं" भंते ! जीवाणं सायावेणिज्जं कम्मा कज्जंति** ઈત્યાદિ ॥૪॥

'अप्पारंभ अप्पपरिग्गहाइएहिं मणुस्साउए'

સૂત્રાર્થ—અલ્પ આરમ્ભ અને અલ્પ પરિગ્રહ આદિ કારણોથી મનુષ્યાયુ બધાય છે ॥૫॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમા સાતાવેદનીય રૂપ પુણ્ય કર્મના કારણોની પ્રરૂપણા કરવા માટે કહીએ છીએ—

અલ્પ આરભ અને અલ્પ પરિગ્રહ વગેરે કારણોથા મનુષ્યાયુ રૂપ પુણ્યકર્મ બધાય છે

આરભનો અર્થ છે પ્રાણિઓના પ્રાણોનો નાશ કરવાવાળુ કાર્ય—તેની અલ્પતા અર્થાત્ સ્થૂળપ્રાણાતિપાતાદિજનક વ્યાપારનો ભાગ, અલ્પ પરિગ્રહનો અર્થ છે આભ્યન્તર રાગદ્વેષાદિ આત્મપરિણામ તથા બાહ્યક્ષેત્ર (ખેતર-ઉઘાડી જમીન) વાસ્તુ (મકાન વગેરે) ધન-ધાન્યસુવર્ણ વગેરે પર મમત્વનો ભાગ (૨) સૂત્રમા યોજાયેલ 'આદિ' શબ્દથી સ્વભાવની મૃદુતા અર્થાત્ કોમળતા અને ઋજુતા અર્થાત્ સરળતા ધારણ કરવી જોઈએ આમ અલ્પઆરભ, અલ્પપરિગ્રહ, સ્વભાવથી મૃદુતા તથા ઋજુતા એ ચાર કારણોથી મનુષ્યાયુ રૂપ પુણ્યકર્મ બધાય છે ॥૫॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—આની અગાઉ સર્વભૂતાનુકમ્પા આદિ સાત સાતાવેદનીય કર્મ બધાવાના કારણોનુ પ્રતિપાદન કરવામા આવ્યુ છે હવે મનુષ્યાયુ રૂપ પુણ્ય કર્મના—કારણોનુ પ્રરૂપણ કરીએ છીએ

અલ્પઆરભ (૧) અને અલ્પપરિગ્રહ (૨) વગેરે કારણોથી મનુષ્યાયુ રૂપ પુણ્યકર્મ બધાય છે—

અલ્પારંભ એ છે જેમાં સ્થૂળ પ્રાણાતિપાતાદિજનક વ્યાપારનો ત્યાગ કરવો. પરિગ્રહનો અર્થ છે મોહ અથવા લોભ તેમા અલ્પતા અર્થાત્ આન્તરિક રાગદ્વેષાદિ આત્મપરિણામ તથા બાહ્યક્ષેત્ર, વાસ્તુ (મહેલ–મકાન) ધન, ધાન્ય, સુવર્ણ આદિ પદાર્થોમા રહેલ મમત્વનો ત્યાગ કરવો.

'આદિ' શબ્દથી સ્વભાવ માર્દવ અને આર્જવનું ગ્રહણ કરવામા આવ્યું છે સ્વભાવથી અર્થાત્ પ્રકૃતિથી જ મૃદુતા હોવી અર્થાત્ જાતિ, કુળ બળ રૂપ, લાભ, તપ, શ્રુત તથા ઐશ્વર્યના (જાહોજલાલીના) વિષયમા અભિમાન ન હોય તે સ્વભાવમાર્દવ કહેવાય છે (૩) પ્રકૃતિભદ્રતા, (૪) પ્રકૃતિ વિનીતતા (૫) અમત્સરતા (૬) દયાળુતા (૭) વગેરે પણ આના જ અન્તર્ગત છે. એવી જ રીતે સ્વભાવથી ઋજુતા, સરળતા હોવી અથવા મન, વચન, કાયાની કુટિલતાનો ત્યાગ કરવો આર્જવ કહેવાય છે.

પૂર્વોક્ત કથનનો ફલિતાર્થ આ પ્રમાણે છે—અલ્પ આરંભ કરવાથી અર્થાત્ ઓછામાં ઓછી હિંસાજનક પ્રવૃત્તિ કરવાથી શબ્દ વગેરે વિષયોમાં રાગની અલ્પતા હોવાથી, ઇચ્છાની ન્યૂનતાથી, સ્વાભાવિક ભદ્રતાથી સ્વાભાવિક સરળતાથી, સુખ પ્રજ્ઞાપનીયતાથી રેતીમા દોરેલી લીંટીની જેમ અલ્પ ક્રોધ હોવાથી, સ્વાગત કરવા વગેરેની અભિલાષાથી, સ્વભાવની મધુરતા હોવાથી, ઉદાસીન ભાવની સાથે લોકયાત્રાનો નિર્વાહ કરવાથી, ગુરુ તથા દેવને વંદન કરવાથી, અતિથિસંવિભાગ-શીલ હોવાથી, ધર્મધ્યાનમા ઉજમાળ હોવાથી, અને મધ્યમ પ્રકારના પરિણામોને ધારણ કરવાથી મનુષ્યાયુકર્મ બંધાય છે. ઔપપાતિકસૂત્રમાં કહ્યુ છે—

"અલ્પ આરંભવાળા, અલ્પ પરિગ્રહવાળા, ધાર્મિક તથા ધર્માનુસારી જીવ મનુષ્યાયુ કર્મ બાંધે છે"

સ્થાનાંગસૂત્રના ચોથા સ્થાન, ચોથા ઉદ્દેશકમાં કહ્યુ છે—ચાર કારણોથી જીવ મનુષ્યાયુ કર્મનું ઉપાર્જન કરે છે, તે ચાર કારણો આ પ્રકારે છે (૧) પ્રકૃતિથી ભદ્ર હોવું (૨) પ્રકૃતિથી વિનીત હોવુ (૩) દયાળુ હોવુ અને (૪) અમત્સરી હોવુ

આ જ હકીકત ઉત્તરાધ્યયન સૂત્રના સાતમાં અધ્યયનની ૨૦ મી ગાથામાં કહેલી છે—

જે મનુષ્ય વિવિધ પ્રકારના શિક્ષણ દ્વારા સુવ્રતોને ધારણ કરે છે, તેઓ મનુષ્યયોનિ મેળવે છે બધાં પ્રાણીઓને પોત-પોતાના કર્મ અનુસાર ફળની પ્રાપ્તિ થાય છે ॥૫॥

'सरागसंजमाइएहिं देवाउए'

સૂત્રાર્થ—સરાગ સંયમ આદિ કારણોથી દેવાયુ કર્મ બંધાય છે ॥૬॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમા મનુષ્યાયુ કર્મ બંધાવાના કારણોનુ વિવરણ કર્યું હવે દેવાયુ રૂપ પુણ્યકર્મ બંધાવાના કારણોની પ્રરૂપણા કરીએ છીએ—

સરાગસંયમ આદિ દેવાયુ કર્મ બાંધવાના કારણ છે સરાગસંયમ પ્રાણાતિપાતવિરમણ આદિ પાંચ મહાવ્રત રૂપ સંયમ જ્યારે સંજ્વલન કષાયથી જોડાયેલા હોય છે ત્યારે તે સરાગસંયમ કહેવાય છે.

આદિ શબ્દથી અણુવ્રત રૂપ દેશવિરતિ અગર સંયમાસંયમ સમજવા જોઈએ તથા પરાવલંબીત થઈને અથવા બીજાના અનુરોધથી અકુશળ કૃત્યથી નિવૃત્ત થવા રૂપ અકામ-નિર્જરા અને બાળતપ આ ચાર કારણે દેવાયુ કર્મ બંધાય છે ॥૬॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પહેલા બતાવાયુ છે કે—અલ્પારભ, અલ્પપરિગ્રહ, સ્વભાવની ભદ્રતા વગેરે કારણોથી મનુષ્યાયુ કર્મ બધાય છે હવે સરાગસયમ વગેરેનુ દેવાયુ કર્મ બાંધવાના કારણો કહીએ છીએ—સરાગસયમ વગેરે કારણોથી દેવાયુ કર્મ બધાય છે

હિસા, અસત્ય, ચોરી, મૈથુન અને પરિગ્રહ આ પાંચ પાપોથી પૂર્ણ રૂપથી વિરત થવું પચમહાવ્રત રૂપ સયમ કહેવાય છે આ સયમ જ્યારે સજ્વનલકષાય રૂપ રાગથી યુક્ત હોય છે ત્યારે સરાગસયમ કહેવાય છે

સૂત્રમા પ્રયુક્ત 'આદિ' શબ્દથી સયમાસયમ, અકામનિર્જરા અને બાળતપ સમજવા જોઈએ આમાથી સયમાસયમનો અર્થ છે-સ્થૂળપ્રાણાતિપાત વગેરેથી નિવૃત્તિરૂપ દેશવિરતિ અર્થાત્ અણુવ્રત્ત આદિનુ પાલન કરવુ દેશવિરતિ, સર્વવિરતિનુ અશિકરૂપ છે, આથી તેને અણુવ્રત્ત પણ કહે છે આવી રીતે પૂર્ણરૂપથી અર્થાત્ ત્રણ કરણ અને ત્રણ યોગથી હિસા વગેરેનો ત્યાગ કરવો મહાવ્રત્ત છે અને બે કરણ ત્રણ યોગ આશિક રૂપથી તેજ પાપોનો ત્યાગ કરવો અણુવ્રત આને જ દેશવિરતિ અથવા સયમાસયમ પણ કહે છે

ત્રીજુ કારણ છે અકામનિર્જરા વગર ઈચ્છા એજ જે કર્મનિર્જરા થાય છે તે અકામ-નિર્જરા કહેવાય છે કામ અર્થાત્ ઈચ્છા અથવા સમજી-વિચારીને કોઈ કાર્ય કરવું. વગર કામનાએ જ જે નિર્જરા થાય છે તેને અકામનિર્જરા કહે છે પરાધીનતાના કારણે અથવા તો કોઈના અનુરોધ-આગ્રહને વશ થઈ આહાર વગેરેનો ત્યાગ કરવાથી ભૂખ સહન કરી લેવા વગેરેથી થાય છે

મિથ્યાદર્શનના સહવર્ત્તી રાગ તથા દ્વેષથી જે યુક્ત છે, જે તત્ત્વજ્ઞાનથી વિમુખ છે, મૂઢ કે, કુતત્ત્વના આગ્રહને તાબે થઈને પ્રવૃત્તિ કરે છે, જે વસ્તુસ્વરૂપથી ઊંધું જ્ઞાન સંપાદન કરે છે અને ધર્મ સમજીને ઠડી, ગરમી વગેરેને સહન કરે છે અને અજ્ઞાતકષ્ટસહન કરે છે અથવા આવી જ જાતના અન્ય વિપરીત કૃત્યો કરે છે, તે પુરુષની તપસ્યાને બાલ તપ અર્થાત અજ્ઞાનતપ કહે છે

આશય કહેવાનો એ છે કે સરાગસયમ, સયમાસયમ અકામનિર્જરા અને બાલતપ આ ચાર કારણોથી દેવાયુષ્ય કર્મ બધાય છે આવી જ રીતે ધર્મશ્રવણ કરવાથી, તપકરવાથી બાર પ્રકારની ભાવનાઓને ચિતવવાથી અથવા તપમા ભાવના રાખવાથી, યોગ્ય પાત્રને દાન આપવાથી તથા સમ્યક્દર્શન આદિ કારણોથી પણ દેવાયુષ્ય કર્મ બધાય છે

સ્થાનાગસૂત્રના ચોથા સ્થાનના ચોથા ઉદ્દેશકમા કહ્યુ છે—'ચાર કારણોથી જીવ દેવાયુ કર્મ બાધે કે— (૧) સરાગસંયમથી (૨) સયમાસયમથી (૩) બાલતપનુ આચરણ કરવાથી (૪) અકામનિર્જરાથી

સમ્યક્ત્વથી પણ દેવાયુ કર્મ બધાય છે પ્રજ્ઞાપનાસૂત્રના ૬ ઠા પદમા કહ્યુ છે—

જો વૈમાનિક દેવ સમ્યગ્દષ્ટિ, પર્યાપ્ત, સખ્યાત વર્ષના આયુષ્યવાળો, કર્મભૂમિજ, ગર્ભજ મનુષ્યોથી આવીને ઉત્પન્ન થાય છે તો શુ સયતસમ્યક્દષ્ટિઓથી આવીને ઉત્પન્ન થાય છે અથવા અસયત સમ્યક્દષ્ટિઓથી આવીને અથવા સયતાસયત સમ્યક્દષ્ટિઓને આવીને ઉત્પન્ન થાય છે ? આના જવાબમા પ્રભુશ્રી કહે છે કે-હે ગૌતમ ! ત્રણેથી જ આવીને ઉત્પન્ન થાય

છે. આ કથનનો ભાવ એ છે કે અસયતસમ્યક્દૃષ્ટિ પણ વૈમાનિક દેવના રૂપમાં ઉત્પન્ન થઈ શકે છે, સંયતાસંયત પણ અને સંયત પણ વૈમાનિક દેવના રૂપમા ઉત્પન્ન થઈ શકે છે. આ કથનથી સ્પષ્ટ છે કે સમ્યક્દર્શન પણ દેવાયુષ્યનુ કારણ હોઈ શકે છે ॥૬॥

'कायभाव भासुज्जुय अविसंवादणजोगेहिं सुहनामकम्मं' ।

સૂત્રાર્થ—કાય ભાવ-મન, ભાષા-વચનની સરળતાથી તથા અવિસવાદન પ્રસારણ-ઠગાઈ ન કરવાથી શુભનામ કર્મ બધાય છે ॥૭॥

તત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમાં દેવાયુ રૂપ પુણ્યકર્મના બધાવાના કારણોની પ્રરૂપણા કરવામાં આવી છે હવે શુભનામ કર્મ બધાવાના કારણ કહીએ છીએ— (૧) કાયની ઋજુતા (૨) ભાવ અર્થાત્ મનની ઋજુતા (૩) ભાષા અર્થાત્ વચનની ઋજુતા અને (૪) અવિસંવાદન-કપટરહિત યથાર્થ પ્રવૃત્તિ આ ચાર કારણોથી શુભ નામકર્મ બધાય છે કાયની સરળતાને કાયઋજુતા કહે છે. તથા ભાવ અર્થાત્ મનની સરળતાને ભાવ ઋજુતા કહે છે. ભાષા અથવા વચનની સરળતાને ભાષા ઋજુતા કહે છે તથા દગો કરવો અથવા ઠગાઈ કરવી વિસવાદન છે, આનો અભાવ અવિસવાદન હોય છે આના યોગ-સબંધને અવિસવાદનયોગ કહે છે. તાત્પર્ય એ છે કે આ ચારે કારણોથી શુભનામ૰ કર્મ બધાય છે જે સાડત્રીશ (૩૭) શુભપ્રકૃતિઓથી ભોગવી શકાય છે ॥૭॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—આની અગાઉ બતાવાયું કે સરાગસયમ, સયમાસયમ, અકામ-નિર્જરા અને બાલતપસ્યા વગેરે દેવાયુ રૂપ પુણ્ય કર્મ બાધવાના કારણ છે. હવે શુભનામ કર્મના ચાર કારણોનુ કથન કરીએ છીએ—

(૧) કાયામા વક્રતા ન હોવી કાયની ઋજુતા કહેવાય છે (૨) ભાવ અર્થાત્ મનમાં કુટિલતા ન હોવી ભાવની ઋજુતા ભાષા અર્થાત્ વચનમા કુટિલતા ન હોવી ભાષાની ઋજુતા તથા (૩) ઠગવુ, ધૂંતવુ, દગો દેવો-અન્યની સાથે છળકપટ કરવુ વિસવાદન કહેવાય છે આ પ્રમાણે ન કરવુ તે અવિસંવાદન કહેવાય છે અર્થાત્ કાયા સબધી કુચેષ્ટાનુ ન હોવું કાયની ઋજુતા છે, કાયાની કુચેષ્ટાનો આશય એ છે કે—શરીરના કોઈ અગને વિકૃત કરવું જેમકે કુબડા થઈ જવુ, ઠીગણા (વેતીયા) બનવુ, અગોપાગના ખરાબ ચેનચાળા કરવા-આખો મારવી મોઢુ બગાડવુ, નાક ચઢાવવુ, સ્ત્રી, ભૃત્ય-નોકરચાકરની મશ્કરી કરવી વગેરે અસદ્ભાવોને પ્રદર્શિત કરીને બીજાની સાથે દગો ન કરવો કાયની ઋજુતા કહેવાય છે ભાવ અર્થાત્ મનમાં કપટ ન હોવુ ભાવની ઋજુતા છે, વચનથી કોઈને છેહ ન દેવો ભાષાની ઋજુતા છે

તાત્પર્ય એ છે કે મનમાં જે વિચાર આવ્યો હોય તેને વચન દ્વારા તે જ રૂપમાં પ્રકટ કરવો અને તેને જ અનુરૂપ શારીરિક પ્રવૃત્તિ કરવી મન, વચન કાયાની સરળતા કહેવાય છે. (૩) તથા જે વસ્તુ જેવી છે તેને તે જ રૂપે કહેવી અન્યથા સ્વીકાર કરીને અન્યથા ન કરવું તે જ રૂપે તેનુ આચરણ કરવુ અવિસવાદ યોગ કહેવાય છે (૪) આ ચાર પ્રકારની પ્રવૃત્તિથી શુભનામ કર્મ બધાય છે, તે શુભ નામ કર્મના વિષયમા ભગવતીસૂત્રના આઠમાં શતકના નવમાં ઉદ્દેશકમા કહ્યુ છે—

પ્રશ્ન-શુભનામ કર્મના વિષયમાં પૃચ્છા-અર્થાત્ હે ભદન્ત ! શુભનામ કર્મ કયા કારણે બંધાય છે ?

ઉત્તર-હે ગૌતમ ! (૧) કાયની ઋજુતાથી (૨) ભાવની ઋજુતાથી (૩) ભાષાની ઋજુતાથી અને (૪) અવિસંવાદન યોગથી શુભ નામકર્મ બંધાય છે

આ શુભનામ કર્મ દેવગતિ મનુષ્યગતિ વગેરે સાડત્રીશ પ્રકારથી ભોગવી શકાય છે જેમકે-

(૧) દેવગતિ (૨) મનુષ્યગતિ (૩) મનુષ્યાનુપૂર્વી (૪) દેવાનુપૂર્વી (૫) પંચેન્દ્રિયજાતિ (૬-૧૦) ઔદારિક વગેરે પાંચ શરીર (૧૧-૧૩) ત્રણ અંગોપાંગ અર્થાત્ (ક) ઔદારિક અંગોપાંગ (ખ) વૈક્રિય અંગોપાંગ (ગ) આહારક અંગોપાંગ (૧૪) વજ્ર ઋષભનારાચ સંહનન (૧૫) સમચતુરસ્ર સંસ્થાન (૧૬-૧૮) પ્રશસ્ત વર્ણ ગન્ધ રસ (૧૯) સ્પર્શ ત્રસ આદિ અર્થાત્ (૨૦) ત્રસ (૨૧) બાદર (૨૨) પર્યાપ્ત (૨૩) પ્રત્યેકશરીર (૨૪) સ્થિર (૨૫) શુભ (૨૬) સુભગ (૨૭) સુસ્વર (૨૮) આદેય (૨૯) યશ કીર્તિ (૩૦) અગુરુલઘુ (૩૧) ઉચ્છ્વાસ (૩૨) આતપ (૩૩) ઉદ્યોત (૩૪) પ્રશસ્તવિહાયોગતિ (૩૫) પરાઘાત (૩૬) તીર્થંકર અને (૩૭) નિર્માણ નામકર્મ

આ સાડત્રીશ પ્રકારથી શુભનામકર્મના ભોગ થાય છે આમા જે અંગોપાંગનામ કર્મનો ઉલ્લેખ કરવામાં આવ્યો છે, ત્યા (૧) મસ્તક (૨) વક્ષસ્થળ-(છાતી) (૩) પીઠ (૪-૫) બંને હાથ (૨) પેટ અને (૭-૮) બંને પગ આ આઠ અંગ કહેવાય છે આંગળીઓ, જીભ, આંખ, કાન, નાક વગેરે ઉપાંગ કહેવાય છે ॥૭॥

'वीसईठाणाराहणेण तित्थयरत्त'

સૂત્રાર્થ—વીસ સ્થાનોની આરાધનાથી તીર્થંકર નામકર્મ બંધાય છે ॥૮॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—વીસ સ્થાનો અર્થાત્ બોલનું આરાધન કરવાથી તીર્થંકર નામક શુભનામ કર્મ બંધાય છે આ વીસ સ્થાનક નિમ્નલિખિત છે—

(૧) અર્હન્ત ભગવાન પ્રત્યે વાત્સલ્યભાવ હોવો, અરિહંત ભગવાનના ગુણગ્રામ કરવા ૨) સિદ્ધ ભગવાન પ્રત્યે પ્રેમભાવ હોવો (૩) પ્રવચન પ્રત્યે વાત્સલ્ય (૪) ગુરુ પ્રત્યે પ્રેમ (૫) ઘરડા પ્રત્યે આદર-પ્રેમ (૬) બહુશ્રુત અર્થાત્ વિવિધશાસ્ત્રોના જ્ઞાતા પ્રત્યે વાત્સલ્ય (૭) તપસ્વીજનો પ્રત્યે વત્સલતા અર્થાત્ એમના વાસ્તવિક ગુણોનુ કીર્તન કરવા રૂપ ભક્તિ હોવી, તથા (૮) એમના જ્ઞાનમા નિરન્તર ઉપયોગ રાખવો (૯) દર્શન અથવા નિર્મળ તત્ત્વશ્રદ્ધા હોવી (૧૦) દેવ તથા ગુરુની પ્રતિ વિનયભાવ હોવો (૧૧) બંને સમયમા આવશ્યક ક્રિયા કરવી (૧૨) શીલવ્રત પ્રત્યાખ્યાનને નિર્મળપણે પાળવા (૧૩) ક્ષણ લવ વગેરે કાળોમાં પ્રમાદનો ત્યાગ કરી શુભ ધ્યાન ચિંતવવુ (૧૪) બાર પ્રકારની તપશ્ચર્યા આરાધવી (૧૫) દાન આપવુ બીજા કોઈને ભયભીત કરી રહ્યા હોય અથવા માર મારતા હોય અથવા કોઈ કારણે કોઈ મરી રહ્યો હોય તો તેની રક્ષા કરવી આ અભયદાન અને કરુણાદાનનુ ઉપલક્ષણસૂચક છે સુપાત્રોને દાન આપવુ અર્થાત્ મહાવ્રતધારી તથા પ્રતિમાધારી શ્રાવકોને દાન આપવુ અર્થાત શ્રમણ, શ્રમણી, શ્રાવક અને શ્રાવિકા રૂપ ચતુર્વિધસંઘને સુખશાતા ઉપજાવવી (૧૬) વૈયાવૃત્ય આચાર્ય વગેરેની સુશ્રૂષા કરવી (૧૭) સમાધિ-સમસ્ત જીવોને સુખશાતિ ઉપજાવવી (૧૮) નિત્ય નવુ શીખવુ (૧૯) શ્રુતભક્તિ-જિનપ્રતિપાદિત આગમોમા અનુરાગ રાખવો (૨૦) પ્રવચન-પ્રભાવના-પ્રચુર ભવ્ય

જીવોને દીક્ષા આપવી, સંસારરૂપી કુવામા પડતા અને મંઆરસમુદ્રમાં ડૂબતા પ્રાણીઓ માટે આશ્વાસનરૂપ જિનશાસનનો મહિમા વધારવો, સમસ્ત જગતને જિનશાસનના ગ્રાહક બનાવવા મિથ્યાત્વ–અંધકારનો નાશ કરવો અને મૂળોત્તર ગુણોને ધારણ કરવા

સર્વ જીવો માટે સાધારણ આ વીસ સ્થાન તીર્થંકર નામકર્મ બંધાવવાના કારણ છે અર્થાત આ વીસ કારણોથી જીવ તીર્થંકરત્વ પ્રાપ્ત કરે છે વ્યસ્ત એક અને સમસ્ત બંને રૂપથી આને કારણો સમજવા જોઈએ અર્થાત્ એમાથી એક કારણ વડે પણ તીર્થંકર નામકર્મ બાંધી શકાય છે અને અનેક કારણો વડે પણ પરંતુ સ્મરણમા રાખવુ જોઈએ કે ઉત્કૃષ્ટતમ રસાયણ આવવાથી જ આ મહાન સર્વોત્તમ પુણ્યપ્રકૃતિ બાંધી શકાય છે

અહી સ્થાનનો અર્થ વાસના છે આથી પૂર્વોક્ત અર્હદ્વાત્સલ્ય આદી વીસ સ્થાનોનો અર્થ વીસ કારણો સમજવા જોઈએ ॥૮॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—જો કે સામાન્ય રૂપથી અવિસંવાદન કાય, વચન અને મનની ઋજુતાને સાડત્રીશ પ્રકારના શુભ નામ કર્મ પછીના કારણો બતાવવામાં આવ્યા છે, આ પ્રકારોમા તીર્થંકર પ્રકૃતિનો પણ સમાવેશ થઈ જાય છે પરંતુ તીર્થંકર એક વિશિષ્ટ પ્રકૃતિ છે તે અનન્ત અને અનુપમ પ્રભાવવાળી, અચિન્ત્ય આત્મિક અને બાહ્ય વિભૂતિનું કારણ અને ત્રણે લોકમાં સર્વોત્કૃષ્ટ છે, આથી તેમના કારણ પણ વિશિષ્ટ છે આથી જ તેમના વિશિષ્ટ કારણોનો પૃથક્ રૂપથી નિર્દેશ કરવામા આવ્યો છે—

વીસ સ્થાનોની ઉત્કૃષ્ટ આરાધનાથી તીર્થંકર નામ કર્મ બંધાય છે. જ્ઞાતાધર્મકથાંગ સૂત્રમાં કહ્યુ છે—

(૧) અરિહંત (૨) સિદ્ધ (૩) પ્રવચન (૪) ગુરુ (૫) વૃદ્ધ (૬) બહુશ્રુત અને (૭) તપસ્વી પર વત્સલતા રાખી (૮) તેમના જ્ઞાન–પ્રવચનમા ઉપયોગ રાખવો (૯) સમ્યક્ત્વ (૧૦) વિનય (૧૧) આવશ્યક (૧૨) નિરતિચાર શીલ અને વ્રતોનુ પાલન (૧૩) ક્ષણ લવ (૧૪) તપ (૧૫) ભાગ (૧૬) વૈયાવૃત્ય (૧૭) સમાધિ (૧૮) અપૂર્વજ્ઞાનગ્રહણ (૧૯) શ્રુતભક્તિ (૨૦) પ્રવચન–પ્રભાવના; આ વીસ કારણોથી જીવ તીર્થંકરત્વ પ્રાપ્ત કરે છે

જ્ઞાતાસૂત્રની આ ત્રણ ગાથાઓમાં વીસ સ્થાનોનુ નિદર્શન કરવામા આવ્યુ છે આ મુજબ (૧–૭) અર્હંત, સિદ્ધ, પ્રવચન, ગુરુ, સ્થવિર, બહુશ્રુત અને તપસ્વી વાત્સલ્ય હોવાથી તથા એની ભક્તિ અર્થાત્ યથાવસ્થિત ગુણોનુ કીર્ત્તન કરવાથી (૮) જ્ઞાનોપયોગ–આના જ્ઞાન–પ્રવચનમા નિરન્તર ઉપયોગ ચાલુ રાખવો (૯) દર્શન અર્થાત્ અત્યન્ત ઉત્કૃષ્ટ દર્શનવિશુદ્ધિ–નિરતિચાર સમ્યક્ત્વની નિર્મળતાથી–ક્ષાયોપશમિક, ક્ષાયિક અથવા ઔપશમિક સમ્યક્દર્શનની યથાયોગ્ય ઉત્કૃષ્ટ વિશુદ્ધિ હોવાથી, (૧૦) વિનયસમ્પન્નતાથી–જેના વડે આઠ પ્રકારના કર્મ દૂર કરવામા આવે તે વિનય છે તેના ચાર ભેદ છે— (૧) જ્ઞાન વિનય (૨) દર્શનવિનય (૩) ચારિત્રવિનય અને (૪) ઉપચારવિનય જ્ઞાન અને જ્ઞાની પ્રત્યે બહુમાન હોવુ જ્ઞાનવિનય છે, નિઃશંક અને નિરાકાક્ષ વગેરે ભેદોવાળુ દર્શનવિનય છે, આગળ ઉપર કહેવામાં આવનારી સમિતિ ગુપ્તિની પ્રધાનતાવાળો ચારિત્રવિનય છે, ઉઠીને ઉભા થઈ જવુ, આસન આપવું, હાથ જોડવા વગેરે ઉપચાર વિનય છે આ પ્રકારના વિનય રૂપ પરિણામવાળો આત્મા વિનયસમ્પન્ન કહેવાય છે આ વિનયસમ્પન્નતા પણ તીર્થંકર નામ કર્મ બાંધવાનુ કારણ છે—

આવશ્યક:—અહી આવશ્યક પદથી આવશ્યક ક્રિયાનુ કરવુ એમ સમજવુ જોઈએ સામાયિક આદિ આવશ્યકોનુ ભાવપૂર્વક અનુષ્ઠાન કરવુ—સવારે અને સાજે આવશ્યક ક્રિયાનુ આચરણ કરવુ, આથી પણ તીર્થંકર નામ કર્મ બધાય છે રાગદ્વેષ વગરના સમની પ્રાપ્તિને—સમાય કહે છે સમાય અર્થાત જ્ઞાન આદિનો લાભ જેનુ પ્રયોજન હોય તે સામાયિક છે. સાવદ્ય-પાપકારી—કર્મોથી વિરત થવુ પ્રતિક્રમણ વગેરે છે 'આદિ' શબ્દથી અહી ચતુર્વિંશતિસ્તવ (ચોવીસ જીનેશ્વરોની સ્તુતિ) વગેરે સમજવુ જે દિવસ અને રાત્રીના છેવટના ભાગથી અવશ્ય કરવા યોગ્ય હોય તે આવશ્યક છે આ આવશ્યકો ૧૭ પ્રકારના સયમ વિષયક વ્યાપાર રૂપ હોવાથી વિવિધ પ્રકારના છે જેવા કે—ઈચ્છાકાર, મિથ્યાકાર, તથાકાર આદિ એમનુ અનુષ્ઠાન સદ્‌ભાવપૂર્વક કરવાથી, યથાકાળ વિધિપૂર્વક, ન્યૂનતા અને અધિકતા વગેરે દોષોનો પરિત્યાગ કરીને સયમપૂર્વક આચરણ કરવાથી તીર્થંકર નામ કર્મ બધાય છે

(૧૨) શીલ તથા વ્રત—આનુ નિરતિચાર પાલન કરવાથી પણ તીર્થંકર નામ કર્મ બધાય છે અત્રે શીલનો અર્થ છે—પિણ્ડવિશુદ્ધિ, સમિતિ, ભાવના આદિ ઉત્તર ગુણ અને જુદા જુદા પ્રકારના અભિગ્રહ, કારણ કે આનાથી મુમુક્ષુને સમાધિની પ્રાપ્તિ થાય છે પાચ મહાવ્રત અને રાત્રિભોજનનો ત્યાગ એને વ્રત શબ્દથી ગ્રહણ કરવામા આવે છે એમનુ પૂર્ણ રૂપથી નિરતિચાર પાલન કરવુ અર્થાત્ સયમનો સ્વીકાર કરવાથી લઈને જીવતા પર્યંત અપ્રમત્તભાવથી સેવન કરવુ નિરતિચાર શીલ—વ્રત પાલન કહેવાય છે અર્થાત્ સર્વજ્ઞ શ્રી તીર્થંકર ભગવાન દ્વારા પ્રણીત સિદ્ધાત અનુસાર શીલ અને વ્રતોનુ અનુષ્ઠાન કવુ નિરતિચાર શીલવ્રતપાલન કહેવાય છે આનાથી પણ તીર્થંકર નામ કર્મ બધાય છે

(૧૩) ક્ષણુલવ—આ કાળનુ સૂચક છે ક્ષણભર અથવા લેશમાત્ર પણ પ્રમાદ ન કરતાં શુભ ધ્યાન ધરવુ

(૧૪) તપ—પોતાની શક્તિ અનુસાર તપસ્યા કરવાથી પણ તીર્થંકર નામ કર્મ બધાય છે જે કર્મોને બાળી નાખે—શોષી લે તે તપ, તપ બે પ્રકારના છે—બાહ્ય અને આભ્યન્તર. બાહ્ય તપ છ પ્રકારના છે અને આભ્યન્તર તપ પણ છ પ્રકારના છે પ્રાયશ્ચિત્ત વગેરે આભ્યન્તર તપ છે જ્યારે ઉપવાસ વગેરે બાહ્ય તપ છે આ તપોનો જો લૌકિક પૂજા—પ્રતિષ્ઠા, સત્કાર—સન્માન વગેરેની ઇચ્છા વગર માત્ર કર્મનિર્જરાના આશયથી જ અનુષ્ઠાન કરવામાં આવે તો તીર્થંકર નામ કર્મ બધાય છે.

(૧૫) ત્યાગ—ત્યાગનો અર્થ દાન છે દાન બે પ્રકારના છે—અભયદાન અને સુપાત્રદાન પોતાની તરફથી ભય ઉત્પન્ન ન કરવો, બીજો કોઈને જો ભયભીત કરી રહ્યો હોય, મારતો હોય અથવા કોઈ મરી રહ્યો હોય ત્યારે તેનુ રક્ષણ કરવુ અભયદાન છે અભયદાન અહી કરુણાદાનનુ ઉપલક્ષણ છે મહાવ્રતધારી મુનિઓને તથા પ્રતિમાધારી શ્રાવકોને દાન આપવુ સુપાત્રદાન કહેવાય છે આ કથન ઉપલક્ષણ માત્ર છે આથી ચતુર્વિધ સઘને સુખશાતા ઉપજાવવી એ જ સુપાત્રદાન સમજવુ જોઈએ

(૧૬) વૈયાવૃત્ય-આચાર્ય, ઉપાધ્યાય વગેરેની નિર્મળ ભાવથી સેવા ચાકરી કરવી વૈયાવૃત્ય છે

(૧૭) સમાધિ—બધા જીવોને સુખ ઉપજાવવુ તથા સઘ અને શ્રમણોની સમાધિ અને વૈયાવૃત્ય કરવાથી પણ તીર્થંકરનામ કર્મ બધાય છે સઘનો અર્થ છે સમ્યક્ દર્શન જ્ઞાન અને

ચારિત્રનો સમૂહ શ્રમણ, શ્રમણી શ્રાવક અને શ્રાવિકામાં આ સમ્યક્દર્શન વગેરે મળી આવે છે આથી એમનો સમૂહ પણ સઘ કહેવાય છે એમને શાતા પમાડવી અર્થાત કોઇ પ્રકારનો ઉપપદ્રવ થવા ન દેવો, શાન્તિ પ્રદાન કરવી સઘસમાધિ છે

(૧૮) અપૂર્વજ્ઞાનગ્રહણ—હમેશ નવુ નવુ જ્ઞાન સપાદન કરવુ

(૧૯) શ્રુતભક્તિ—જીનેન્દ્ર ભગવત દ્વારા ભાખેલા આગમોમા પરમ સદ્ભાવ હોવો સુરેન્દ્રો, અસુરેન્દ્રો તથા નરેન્દ્રો વગેરેને પ્રભાવિત કરનાર, મહામહિમાશાળી અને અચિન્તનીય સામર્થ્યથી સમ્પન્ન, સન્માર્ગનો ઉપદેશ કરવાના કારણે, પરોપકાર કરવામા તત્પર, પરમ યોગ્ય આચાર્યોની ઉત્કૃષ્ટ માનસિક શુદ્ધિપૂર્વક ઉપાસના કરવી એ શ્રુતભક્તિ છે ભક્તિનો આશય છે—તેમા રહેલા ગુણોનુ કીર્ત્તન કરવુ વંદન કરવુ, ઉપાસના કરવી આ શ્રુતભક્તિ પણ તીર્થકર નામકર્મ બાંધવાનું કારણ છે

(૨૦) પ્રવચનપ્રભાવના—ઘણાબધા-ભવ્ય જીવોને દીક્ષા આપવી—સંસાર રૂપી કુવામાં પડતા પ્રાણીઓને તારનારા તેમજ તેમને આશ્વાસન આપનારા, જિનશાસનનો મહિમા વધારનારા, સમસ્ત સસારને જિનશાસનના રસીયા બનાવનારા, મિથ્યાત્ત્વરૂપી અધકારનુ અપહરણ કરવું તથા ચરણ અને કરણને શરણ કરવા અર્થાત્ એમનુ નિર્દોષ પાલન કરવુ, આ બધા પ્રવચન-પ્રભાવનાના અન્તર્ગત છે

તીર્થકરત્વની પ્રાપ્તિના આ વીસ કારણો છે અર્થાત આ સઘળાનો અથવા એ પૈકી કોઈ એક બે અથવા અધિકનુ ઉત્કૃષ્ટ રૂપથી સેવન કરવાથી જીવ તીર્થકરનામકર્મ બાધે છે ॥ ૮ ॥

'आयणिंदा परप्पसंसाइहिं उच्चगोए'

સૂત્રાર્થ—આત્મનિદા અને પરપ્રાશંસા આદિ-કારણોથી ઉચ્ચગોત્ર કર્મ બધાય છે ॥ ૯ ॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમા દર્શન વિશુદ્ધિ આદિ આત્માની પરિણતિવિશેષોને તીર્થકર નામ કર્મ બાધવાના કારણ ગણ્યા છે હવે ઉચ્ચગોત્ર કર્મબાધવાના કારણોની પ્રરૂપણા કરવા માટે કહીએ છીએ—

પોતાની નિન્દા અને બીજાની પ્રશસા કરવાથી ઉચ્ચગોત્ર કર્મ બધાય છે.

પોતાની નિન્દા કરવી આત્મનિન્દા છે અને બીજાની પ્રશસા કરવી પરપ્રશંસા છે આદિ શબ્દથી બીજાનાસદ્ગુણોને પ્રકાશિત કરવા અને દોષોનુ આવરણ કરવુ તથા પોતાના સદ્ગુણો ઢાકવા અને દોષો પ્રકટ કરવા, નમ્રતા ધારણ કરવી, નિરભિમાન થવુ, આ છ કારણોથી ઉચ્ચગોત્ર કર્મ બધાય છે ॥ ૯ ॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પૂર્વસૂત્રમા દર્શનવિશુદ્ધિ આદિ વીસ આત્મપરિણામોને તીર્થકર નામ કર્મ બાધવાના કારણ કહ્યા હવે ઉચ્ચગોત્રકર્મ બાધવાના કારણોની પ્રરૂપણા કરીએ છીએ,

આત્મનિન્દા અને પરપ્રશસા આદિ—કારણોથી ઉચ્ચગોત્ર કર્મ બધાય છે

જાતિ, કુળ, રૂપ, બળ, શ્રુત, આજ્ઞા, ઐશ્વર્ય વગેરેનુ અભિમાન ન કરતા થકા પોતાના દોષોની નિન્દા કરવી આત્મનિન્દા છે અને બીજાના સદ્ગુણોની પ્રશસા કરવી પરપ્રશસા છે સૂત્રમાં ગ્રહણ કરેલ આદિ શબ્દથી એવુ સમજવુ જોઈએ—પોતાના સદ્ગુણોને ઢાંકવા અને દોષોને જાહેર કરવા નમ્રતા ધારણ કરવી અને નિરભિમાન થવુ, આ છ કારણોથી ઉચ્ચગોત્ર કર્મ

બધાય છે ઉચ્ચગોત્ર કર્મના ઉદયથી ઇક્ષ્વાકુવંશ, હરીવંશ ભોજગજવંશ આદિ જેવા ઉચ્ચગોત્રોમા જન્મ પ્રાપ્ત થાય છે વ્યાખ્યાપ્રજ્ઞપ્તિ અર્થાત્ ભગવતીસૂત્રના શતક ૮, ઉદ્દેશક ૯મા કહ્યુ છે-

જાતિનો મદ ન કરવાથી, કુળનુ અભિમાન ન કરવાથી, બળનો મદ ન કરવાથી, રૂપનુ અભિમાન ન કરવાથી, તપ, શ્રુત, લાભ તથા ઐશ્વર્યનુ અભિમાન ન કરવાથી ઉચ્ચગોત્ર કર્મ બધાય છે ॥૯॥

સૂત્રાર્થ—પ્રાણાતિપાત આદિથી પૂર્ણરૂપમા નિવૃત્ત થવુ પાચમહાવ્રત છે ॥૧૦॥

'पाणाइवायाइ हिंतो' ઇત્યાદિ

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પ્રાણાતિપાતની સાથે સંકળાયેલા આદિ શબ્દથી મૃષાવાદ, અદત્તાદાન, અબ્રહ્મચર્ય અને પરિગ્રહનુ ગ્રહણ થાય છે તાત્પર્ય એ છે કે પ્રાણાતિપાદ આદિ પાચ પાપોથી, ત્રણ કરણ અને ત્રણયોગથી નિવૃત્ત થઇ જવુ પાચ મહાવ્રત છે પ્રાણાતિપાત અર્થાત્ જીવોની હિંસા, મૃષાવાદ અર્થાત્ અસત્યભાષણ, અદત્તાદાન અર્થાત્ સ્તેય (ચોરી) અબ્રહ્મચર્ય અર્થાત મૈથુન અને પરિગ્રહ અર્થાત મોહ—મમતા, આ બધાથી પૂર્ણરૂપથી વિરત થવુ મહાવ્રત છે ॥૧૦॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—બેતાળીશ પ્રકારની પુણ્યપ્રકૃતિના બધાવાથી સદ્ગતિની પ્રાપ્તિ થાય છે તથા સદ્ ધર્મ થાય છે આ પ્રસંગથી અત્રે પાચ મહાવ્રતોનુ કથન કરીએ, છીએ,—

પ્રાણાતિપાત અને 'આદિ' શબ્દથી મૃષાવાદ, અદત્તાદાન, અબ્રહ્મચર્ય અને પરિગ્રહથી, પૂર્ણરૂપમા અર્થાત્ સંપૂર્ણ દ્રવ્ય, ક્ષેત્ર કાળ અને ભાવની અપેક્ષાથી, ત્રણ કરણો અને ત્રણ યોગોથી—નિવૃત્ત થવુ પાચ મહાવ્રત છે

કષાય અને પ્રમાદ રૂપ પરિણત આત્મા દ્વારા મન વચન અને કાયા રૂપ યોગના વ્યાપારથી તથા કરવુ કરાવવુ અને અનુમોદન રૂપ ત્રણ કરણો દ્વારા દ્રવ્ય અને ભાવ પ્રાણોનુ વ્યપરોપણ અર્થાત્ હિંસા કરવી પ્રાણાતિપાત કહેવાય છે અસત્ય ભાષણ કરવુ અસત્ય વચન કહેવુ અથવા જુઠુ બોલવુ સાવદ્ય વચન બોલવુ મૃષાવાદ કહેવાય છે માલિકના આપ્યા વગર કોઈ વસ્તુ લઇ લેવી અદત્તાદાન છે સ્ત્રીગમન અથવા મૈથુનને અબ્રહ્મચર્ય કહે છે સચેત્ત અચેત્ત અને મિશ્ર દ્રવ્યોમા મોહ રાખવો તેનુ નામ પરિગ્રહ છે મમત્વ રાખવુ પરિગ્રહ છે આ પાચે પાપોથી પૂર્ણરૂપથી અર્થાત્ ત્રણ કરણ અને ત્રણ યોગથી નિવૃત્ત થવુ પાચ મહાવ્રત છે

પ્રાણિહિંસા આદિથી નિવૃત્તિ વ્રત છે એનો આશય એ છે કે અમુક પુરુષ હિંસા આદિ ક્રિયાઓનુ આચરણ કરતો નથી પરંતુ અહિંસાદિ ક્રિયાઓનુ આ આચરણ કરે છે જે પ્રાણાતિપાત આદિથી વિરત થઈ જાય છે તે શાસ્ત્રમાં પ્રરૂપેલી સત્ ક્રિયાઓમા—પ્રવૃત્તિ કરે છે અને અસત્ ક્રિયાથી નિવૃત્ત થાય છે આથી તેના કર્મોનો ક્ષય થાય છે અને કર્મક્ષયથી મોક્ષની પ્રાપ્તિ થાય છે

અહી એ સ્મરણમા રાખવુ જોઈએ કે પ્રાણાતિપાતનો અર્થ છે પ્રાણિઓને પ્રાણથી જુદા પાડવા પ્રાણ ઇન્દ્રિય વગેરેને કહે છે પ્રાણ જેમા હોય તે પ્રાણી અર્થાત્ જીવ કહેવાય છે પ્રાણી ઘણી જાતના હોય છે પૃથ્વીકાય આદિ [એકેન્દ્રિય, બેઇન્દ્રિય, તેઇન્દ્રિય, ચતુરિન્દ્રિય અને પચેન્દ્રિય આ જીવોના સ્વરૂપને સમજીને અને તેના પર શ્રદ્ધા રાખીને તેમના પ્રાણોનો વિયોગ ન કરવો એ જ્ઞાન શ્રદ્ધાનપૂર્વક ચારિત્ર કહેવાય છે સત્મા પ્રવૃત્તિ કરવી અને અસત્થી નિવૃત્તિ

કરવી ચારિત્રનું લક્ષણ છે મન, વચન કાયા દ્વારા કરેલુ, કરાવેલુ અને અનુમોદન—આપવાના ભેદથી તે અનેક પ્રકારના છે

સ્થાનાંગ સૂત્રના પાચમા સ્થાનના પ્રથમ ઉદ્દેશકમાં કહ્યુ છે—મહાવ્રત પાંચ કહેવામાં આવ્યા છે તે આ મુજબ છે—સમસ્ત--પ્રાણાતિપાતથી વિરત થવુ અર્થાત્ સમસ્ત પરિગ્રહથી વિરત થવુ

આવશ્યક અને દશવૈકાલિકસૂત્રમા પણ મહાવ્રત પાચ જ કહેવામા આવ્યા છે ॥૧૦॥

'पाणाइवायाईहिंतो देसओ' ઇત્યાદિ

સૂત્રાર્થ—પ્રાણાતિપાત આદિ એકદેશથી વિરત થવુ પચ અણુવ્રત છે ॥૧૧॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમા પ્રાણાતિપાત આદિથી પૂર્ણ રૂપથી વિરત થવા રૂપ પાચ મહાવ્રતોનું પ્રરૂપણ કરવામા આવ્યુ હવે એ બતાવવા માગીએ છીએ કે તે જ પ્રાણાતિપાત આદિથી આશિક રૂપથી વિરત થવુ પાચ અણુવ્રત છે—

પ્રાણાતિપાત આદિ પાચ પાપોથી દેશથી વિરત થવુ પાંચ અણુવ્રત છે પ્રાણવ્યપરોપણ—અથવા જીવહિસાને પ્રાણાતિપાત કહે છે સૂત્રમા વાપરેલ 'આદિ' શબ્દથી અસત્યભાષણ, સ્તેય, મૈથુન અને પરિગ્રહ સમજવાના છે આ પાચમાથી એક દેશથી વિરત થવુ પાચે અણુવ્રત છે અર્થાત્ સ્થૂળ પ્રાણાતિપાત વિરમણ અને સ્થૂળ પરિગ્રહવિરમણ અર્થાત્ પરિગ્રહ પરિમાણ આ પાંચ અણુવ્રત છે ॥૧૧॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પ્રથમ સપૂર્ણ પ્રાણિઓની જીવહિસાથી નિવૃત્તિ સપૂર્ણ મૃષાવાદથી, સંપૂર્ણ અદત્તાદાનથી, સપૂર્ણ અબ્રહ્મચર્યથી તથા સપૂર્ણ પરિગ્રહથી નિવૃત્તિ રૂપ પાંચ મહાવ્રતોનુ-નિરૂપણ કરવામા આવ્યુ હવે સ્થૂળ પ્રાણાતિપાત આદિથી નિવૃત્તિ રૂપ પાંચ અણુવ્રતોનુ કથન કરીએ છીએ

પ્રાણાતિપાત આદિનો આશિક રૂપથી ત્યાગ કરવો પાચ અણુવ્રત કહેવાય છે. હિસા બે પ્રકારની છે સકલ્પની અને આરમ્ભની અથવા સૂક્ષ્મ અને સ્થૂળના ભેદથી પણ હિસાના બે ભેદ છે સપૂર્ણ પ્રાણાતિપાતથી વિરત ન થવુ પરતુ એકદેશથી જ વિરત થવુ કેવળ સ્થૂળ રૂપ સકલ્પની હિસાનો ત્યાગ કરવો સ્થૂળપ્રાણાતિપાત વિરતિ નામનુ અણુવ્રત છે.

આવી જ રીતે બધા પ્રકારના મૃષાવાદનો ત્યાગ ન કરતાં માત્ર એકદેશથી અર્થાત્ જુઠી સાક્ષી આપવી વગેરે રૂપ અસત્યભાષણથી નિવૃત્ત થવુ સ્થૂળ મૃષાવાદવિરતિ અણુવ્રત છે આ અણુવ્રતમા સ્થૂળ અસત્યનો જ ત્યાગ કરવામા આવે છે, સૂક્ષ્મ મૃષાવાદનો નહી એ જ પ્રમાણે સ્થૂળ અદત્તાદાનનો ત્યાગ કરવો અદત્તાદાન વિરમણ અણુવ્રત કહેવાય છે આ અણુવ્રતમાં બધાં પ્રકારના અદત્તાદાનનો ત્યાગ થતો નથી પરતુ સ્થૂળ અદત્તાદાનનો જ ત્યાગ કરવામાં આવે છે. જે અદત્તાદાનથી આ લોક તથા પરલોકમા ચોરીનો દોષ લાગે છે જેનાથી સામાન્યતયા ચોરી કહી શકાય છે અને જે ચોરી રાજ્ય દ્વારા દણ્ડનીય હોય છે જે કારણથી કારાગૃહ અને નરકના પાત્ર બનવુ પડે છે તેને સ્થૂળ ચોરી સમજવી ઠઠ્ઠા—મશ્કરીમા કોઈની ચીજ લઈ લેવી અથવા સતાડી દેવી સ્થૂળ ચોરી નહી પણ સૂક્ષ્મ ચોરી છે ગૃહસ્થો આવી ચોરીનો ત્યાગ કરતા હોતાં નથી

આવી જ રીતે એક દેશથી મૈથુનનો ત્યાગ કરવો બ્રહ્મચર્યાણુવ્રત કહેવાય છે એક દેશથી મૈથુનના ત્યાગનુ તાત્પર્ય છે પરસ્ત્રીસયોગનો ત્યાગ કરવો જે પોતાની સ્ત્રીમા સતુષ્ટ રહીને પરસ્ત્રીને માતા સમાન લેખે છે તે સ્વદાર સતોષવ્રતી કહેવાય છે

પરિગ્રહનો અર્થ છે-મોહ, લોભ અથવા મમત્વ પરિગ્રહના બે ભેદ છે—બાહ્ય અને આન્તરિક શરીર વગેરે પ્રત્યે મમતા હોવી આન્તરિક પરિગ્રહ છે. ક્ષેત્ર, વાસ્તુ (મહેલ–મકાન) સોનુ, ધન, ધાન્ય વગેરે બાહ્ય વસ્તુઓ પર મમતા હોવી બાહ્ય પરિગ્રહ છે પરિગ્રહ પરિમાણ નામક અણુવ્રતમાં સમસ્ત--વસ્તુઓનો ત્યાગ કરવામા આવતો નથી પરતુ તેમની મર્યાદા કરી લેવામા આવે છે. આને સ્થૂળપરિગ્રહ ત્યાગ પણ કહે છે

આમ સ્થૂળપ્રાણાતિપાતવિરમણ, સ્થૂળમૃષાવાદવિરમણ, સ્થૂળઅદત્તાદાનવિરમણ, સ્થૂળમૈથુનવિરમણ અને પરિગ્રહપરિમાણ નામના પાચ અણુવ્રત હોય છે

સ્થાનાગસૂત્રના પાચમા સ્થાનકના પ્રથમ ઉદ્દેશકમા કહ્યુ છે--અણુવ્રત પાંચ કહેવામાં આવ્યા છે-સ્થૂળપ્રાણાતિપાતવિરમણ સ્થૂળમૃષાવાદવિરમણ, સ્થૂળઅદત્તાદાનવિરમણ સ્થૂળમૈથુનવિરમણ, (સ્વદારસતોષ) અને ઇચ્છાપરિમાણ ॥૧૧॥

'तत्थेऽज्जहं इरियाइया पणवीसं भावणाओ'

મૂળ સૂત્રાર્થ—વ્રતોની સ્થિરતા અર્થે પચ્ચીશ ભાવનાઓ હોય છે ॥૧૨॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—આની અગાઉ સ્થૂળ રૂપથી હિસાનો ત્યાગ કરવો વગેરે પાંચ અણુવ્રતોનુ પ્રતિપાદન કરવામા આવ્યુ હવે તે વ્રતોમા સ્થિરતા લાવવા માટે ઈર્યા આદિ પચ્ચીશ ભાવનાઓનુ કથન કરીએ છીએ-પૂર્વોક્ત

(૧) પ્રાણાતિપાતવિરમણ મહાવ્રતની પાચ ભાવનાઓ—(૧) ઈર્યા–સભાળીને ચાલવુ (૨) (૨) મનની પ્રશસ્તતા (૩) વચનની પ્રશસ્તતા (૪) એષણા અને (૫) આદાન નિક્ષેપ

(૨) સત્યમહાવ્રતની પાચ ભાવનાઓ—(૧)સમજી વિચારીને બોલવુ (૨) ક્રોધનો ત્યાગ (૩) લોભનો ત્યાગ (૪) ભયનો ત્યાગ (૫) હાસ્યનો ત્યાગ કરવો

(૩) અદત્તાદાનવિરમણવ્રતની પાચ ભાવનાઓ—(૧)અઢાર પ્રકારથી વિશુદ્ધ વસતી (ઉપાશ્રય–સ્થાન)ની યાચના કરીને સેવન કરવુ (૨) વિશુદ્ધ પીઠ-ફલક આદિની યાચના કરવી વૃક્ષ વગેરેનુ છેદન ન કરવુ (૪) સાધારણ પિણ્ડ (ભોજન)નુ અધિક સેવન કરવુ અને (૪) સાધુઓની વૈયાવચ્ચ કરવી

બ્રહ્મચર્યવ્રતની પાચ ભાવનાઓ—(૧) સ્ત્રી, પશુ અને પડક (નપુસક) વગરની જગ્યાએ વાસ કરવો (૨) સ્ત્રીઓ સબધી કથા ન કરવી (૩) સ્ત્રીના અગોપાગોનુ અવલોકન ન કરવુ (૪) પૂર્વાવસ્થામા અર્થાત ગૃહસ્થાવસ્થામા ભોગવેલા કામભોગોનુ સ્મરણ ન કરવુ અને (૫) દરરોજ મિષ્ટ-ઉન્માદક ભોજનનો પરિત્યાગ કરવો

(૫) પરિગ્રહત્યાગમહાવ્રતની પાચ ભાવનાઓ—(૧) મનોજ્ઞ શબ્દોમા રાગ અને અમનોજ્ઞ શબ્દોમા દ્વેષ ન કરવો (૨) મનોજ્ઞ તથા અમનોજ્ઞ રૂપમા રાગ–દ્વેષ ન કરવા (૩) મનોજ્ઞ અમનોજ્ઞ રસમા રાગ-દ્વેષ ન કરવો (૪) મનોજ્ઞ–અમનોજ્ઞ ગધમા રાગ–દ્વેષ ન કરવો અને (૫) મનોજ્ઞ–અમનોજ્ઞ સ્પર્શમા રાગદ્વેષ ન કરવો

પાંચ વ્રતોની કુલ આ પચ્ચીશ પ્રકારની ભાવનાઓ છે ॥૧૨॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પહેલાં પ્રાણાતિપાતવિરમણ આદિ પાચ મહાવ્રતોનુ પ્રરૂપણ કરવામા આવ્યું, તે વ્રતોને દઢ કરવા કાજે પ્રત્યેક વ્રતની પાચ-પાચ ભાવનાઓ કહીએ છીએ—

તે પૂર્વોક્ત વ્રતોને સ્થિર રાખવા માટે ઈર્યા વગેરે પચ્ચીશ ભાવનાઓ કરવી જોઈએ.

સર્વથા પ્રાણાતિપાતવિરમણ આદિ પાચ મહાવ્રતોની તથા એકદેશ પ્રાણાતિપાતવિરમણ રૂપ અણુવ્રતોની સ્થિરતા-દઢતા માટે નીચે લખેલી ભાવનાઓનુ સેવન કરવું જોઈએ

(૧) ઈર્યાસમિતિ (૨) મનોગુપ્તિ (૩) વચનગુપ્તિ (૪) એષણા (૫) આદાન નિક્ષેપણ (૬) આલોચ્ય ભાષણ-સમજી વિચારીને બોલવુ (૭) ક્રોધનો ત્યાગ (૮) લોભનો ત્યાગ (૯) ભયનો ત્યાગ (૧૦) હાસ્યનો ત્યાગ (૧૧) અઢાર પ્રકારથી વિશુદ્ધ વસતી (સ્થાન)નુ સેવન (૧૨) દરરોજ અવગ્રહની યાચના કરીને ઘાસ લાકડા વગેરે એકઠા કરવા (૧૩) પીઠ-ફલક વગેરે માટે વૃક્ષ વગેરે કાપવા નહી (૧૪) સાધારણ ભોજનનુ વધારે પ્રમાણમા સેવન ન કરવું (૧૫) સાધુઓની સેવા કરવી (૧૬) સ્ત્રી, પશુ અને પડક (નપુસક-ફાતડા)ના સસર્ગવાળા શયન આસન સ્થાનનું સેવન ન કરવુ (૧૭) રાગપૂર્વક સ્ત્રિઓની કથા ન કરવી (૧૮) સ્ત્રીઓની મનોહર ઇન્દ્રિયોનું અવલોકન ન કરવુ (૧૯) ભૂતકાળમા ભોગવેલા ભોગો યાદ ન કરવા (૨૦) દરરોજ ભારે ભોજનનો ત્યાગ કરવો (૨૧-૨૫) મનોજ્ઞ સ્પર્શ-રસ-ગન્ધ-વર્ણ અને શબ્દમા રાગ અને અમનોજ્ઞ સ્પર્શ આદિમા દ્વેષ ન કરવો આ પચ્ચીશ ભાવનાઓ છે આમાથી પ્રારભની પાચ પ્રાણાતિપાતવિરતિની છે બીજી પાચ અસત્યવિરમણમહાવ્રતની, ત્રીજી પાંચ અદત્તાદાન મહાવ્રતની ચોથી પાંચ બ્રહ્મચર્યમહાવ્રતની અને છેલ્લી પાંચ પરિગ્રહપરિત્યાગમહાવ્રતની છે એનું સ્પષ્ટીકરણ આ રીતે છે—(૧) ઈર્યાસમિતિ-ઈર્યાનો અર્થ છે ગતિ કરવી ગમનમાં સમિતિ અર્થાત્ સંગતતા અથવા શાસ્ત્રોક્ત પ્રવૃત્તિ હોવી ઈર્યાસમિતિ છે, તાત્પર્ય એ છે કે ઉપયોગ સાથે ચાર હાથ જમીનને જોતા થકા, સ્થાવર અને ત્રસ જીવોને બચાવતા થકા અપ્રમત્ત થઈને ચાલવુ જોઈએ.

મનોગુપ્તિ-મનની રક્ષા કરવી આર્ત્તધ્યાન અને રૌદ્રધ્યાન ન થવા દેવુ, ધર્મધ્યાનમા મનને લગાવવુ

(૩) વચનગુપ્તિ-વચનનો નિરોધ કરીને મૌનવ્રત ધારણ કરવુ અથવા જરૂરત પડયે સમજી વિચારી હિત-મિત ભાષણ કરવુ

(૪) એષણાસમિતિ-શુદ્ધ આહાર આદિની ગવેષણા કરવી એષણા ત્રણ પ્રકારની છે ગવેષણા, ગ્રહણૈષણા, ગ્રાસૈષણા જે એષણામા જતના રાખતો નથી તે છ કાયના જીવોનો ઘાત કરે છે આથી તેનાથી બચવા માટે સર્વે ઇન્દ્રિયોથી ઉપયોગ લગાવીને એષણાસમિતિનુ પાલન કરવુ જોઈએ

(૫) આદાનનિક્ષેપણાસમિતિ-સાધુવેશ ઔધિક અને ઔપગ્રાહિક કારણ પડવાથી જે લેવામા આવે બંને પ્રકારની ઉપધિને રાખવા તથા ઉઠાવવામા જતના કરવી અર્થાત્ આગમોક્ત વિધિથી તેમનુ પ્રતિલેખન કરીને અને પ્રમાર્જન કરીને રાખવી તથા ઉપાડવી જોઈએ

આલોકિતપાન ભોજન—દરેક ઘરમા વાસણોમાં પડેલા આહારને આંખો વડે જોઈ-તપાસી

લેવો જોઈએ જેથી તેમાં ઉત્પન્ન થયેલ અથવા આમતેમથી આવી પડેલાં જીવોની રક્ષા થાય ઉપાશ્રયમાં આવીને અજવાળાવાળી જગ્યાએ બેસીને ફરીવાર ભોજન-પાણીને સારી પેઠે જોઈ જવા જોઈએ તેમજ ઉજાશવાળી જગ્યાએ જ તેમનુ સેવન કરવુ જોઈએ આ પાચ ભાવનાઓને પુનઃ પુનઃ ભાવનારા અહિંસાવ્રતની રક્ષા કરવામાં સમર્થ થાય છે

અસત્યવિરમણ વ્રતની દૃઢતા માટે કહેવામા આવેલી પાચ ભાવનાઓમાથી પહેલી અનુવીચિભાષણનુ કથન કરીએ છીએ—

(૧) અનુવીચિભાષણ—અહી 'અનુવીચિ' શબ્દ દેશ્ય છે અને તેનો અર્થ છે-આલોચના-અર્થાત્ સમજી-વિચારીને વચનોનો પ્રયોગ કરવો અનુવીચિભાષણ કરવુ એમ કહેવાય છે વગર સમજ્યે-વિચાર્યે બોલનાર વક્તા કદાચિત્ મિથ્યા (અસત્ય) ભાષણ પણ કરી બેસે છે તેથી પોતાની લઘુતા થાય છે તથા વેર, પીડા વગેરે આલોક સબંધી-અનર્થ ઉત્પન્ન થાય છે. તેનાથી બીજા પ્રાણોનો ઘાત પણ થાય છે આથી અનુવીચિભાષણથી જે પોતે-પોતાને જ ભાવિત કરે છે તે મૃષાભાષણના દોષનો ભાગીદાર બનતો નથી

(૨) ક્રોધપ્રત્યાખ્યાન—મોહનીય કર્મના ઉદયથી ઉત્પન્ન થનારા દ્વેષરૂપ ક્રોધ કષાયનો ત્યાગ કરવો જોઈએ અને પોતાના આત્માને ક્રોધપ્રત્યાખ્યાનથી ભાવિત કરવો જોઈએ જે ક્રોધ-ત્યાગની ભાવના ભાવે છે, તે મોટાભાગે સત્યનુ ઉલ્લઘન ન કરીને તેનુ પાલન કરવામા સમર્થ થાય છે.

(૩) લોભપ્રત્યાખ્યાન—લોભનો અર્થ છે તૃષ્ણા તેનો ત્યાગ કરવો લોભપ્રત્યાખ્યાન કહેવાય છે જે લોભનો ત્યાગ કરી દે છે તેને અસત્યભાષણ કરવાની જરૂર પડતી નથી

(૪) ભયપ્રત્યાખ્યાન—ભય, અસત્ય ભાષણનુ કારણ છે જે વ્યક્તિ પોતાના આત્માને નિડરતાથી ભાવિત કરે છે, તે અસત્ય ભાષણ કરતો નથી ભયશીલ મનુષ્ય મિથ્યાભાષણ પણ કરે છે દા ત આજે રાત્રે મને ચોર દેખાયો, પિશાચ જોયો વગેરે આથી અસત્યથી બચવા માટે પોતાના આત્મામાં નિર્ભયતાની ભાવના જાગૃત કરવી જોઈએ

(૫) મોહના ઉદયથી ઉત્પન્ન થનારા પરિહાસથી યુક્ત વ્યક્તિ ઠઠ્ઠા-મશ્કરીમા અસત્ય-ભાષણ કરે છે આથી ઠઠ્ઠા-મશ્કરીને ત્યાગની ભાવનાથી ભાવિત કરવી જોઈએ જે પરિહાસનો ત્યાગ કરી દે છે તે સત્યવ્રતનુ પાલન કરવામાં સમર્થ થાય છે (૧૦)

(૧૧) એવી જ રીતે સમજી-વિચારીને અવગ્રહની યાચના કરવી જોઈએ એ અનુવીચિ અવગ્રહયાચના નામની ભાવના છે અવગ્રહ-(આજ્ઞા) પાચ પ્રકારની છે-(૧) દેવની (૨) રાજાની (૩) ઘરના માલિકની (૪) શય્યાતરની અને (૫) સાધર્મિકની જે જેનો માલિક હોય તેના માટે તેની જ રજા લેવી જોઈએ જે સ્વામી ન હોય તેનાથી અગર યાચના કરવામા આવે તો અનેક પ્રકારના દોષોની ઉત્પત્તિ થાય છે આથી સમજી—વિચારીને જ આજ્ઞાની યાચના કરવી જોઈએ. જે આ ભાવનાથી યુક્ત હોય છે તે અદત્તાદાનની કોઈ પ્રવૃત્તિ કરતો નથી.

(૧૨) અભીક્ષ્ણ અવગ્રહયાચના—માલિકે એકવાર કોઈ વસ્તુ પ્રદાન કરી દીધી હોય તો પણ વારવાર તેની યાચના કરવી અભીક્ષ્ણ અવગ્રહયાચના છે પૂર્વ પ્રાપ્ત વસ્તુ માટે—અર્થાત્

માંદગી અવસ્થા આદિમાં મળ-મૂત્ર એકઠો કરવા માટેના પાત્રો રાખવા માટે, હાથ વગેરે ધોવાના સ્થાન આદિ માટે ફરીવાર યાચના કરવી જોઇએ જેથી તેના સ્વામીના મનમાં કોઈ દુઃખ ન ઉપજે આવી જ રીતે બધી બાજુએથી આટલી—આટલી જગ્યા અમો વાપરીશુ એવું નક્કી કરીને તેની આજ્ઞા લેવી જોઈએ.

(૧૩) પીઠ-ફલક અર્થાત પાટો તથા ઓઠીંગણુ વગેરે માટે પણ વૃક્ષ વગેરેનું છેદન ન કરવુ અદત્તાદાનવ્રતની ત્રીજી ભાવના છે

(૧૪) જે આહાર સાધારણ હોય અર્થાત અનેક સાધુઓ માટેનો હોય, તેમાથી લઈને વધારે ખાવુ ન જોઈએ જે અને જેટલા આહારને લેવાની ગુરુની આજ્ઞા હોય તેટલું જ ગ્રહણ કરવું જોઇએ ગુરુની આજ્ઞાથી ગ્રહણ કરવામા આવેલા આહારપાણીનો સૂત્રોક્ત વિધિ અનુસાર ઉપભોગ કરવો જોઇએ. આવી જ રીતે ઔધિક અને ઔપગ્રાહિક ઉપધિ-વસ્ત્ર વગેરે બધુ જ ગુરુની આજ્ઞાથી, વન્દનપૂર્વક, ગુરુના કહેવા મુજબ જ કામમાં લેવા જોઈએ આ પ્રકારની ભાવનાવાળા અદત્તાદાનવિરમણ વ્રતનુ ઉલ્લઘન કરતા નથી.

(૧૫) હમેશાં સાધુની વૈયાવચ્ચ કરવી જોઈએ

(૧૬) બ્રહ્મચર્યવ્રતની પૂર્વોક્ત પાંચ ભાવનાઓમાથી સ્ત્રી—પશુ—નપુસક (ફાતડા)થી રહિત સ્થાનનો ઉપયોગ કરવાનો આશય છે દેવ-મનુષ્ય સ્ત્રી, તિર્યંચજાતિ—ઘોડી, ગાય, ભેસ, બકરી, ઘેટા વગેરેના સપર્કવાળા આસન—શયન વગેરેનો ત્યાગ કરવો જે સ્થાનમાં આ બધાં હોય તેમાં નિવાસ કરવાથી અનેક હાનિઓ થાય છે આથી બ્રહ્મચર્યવ્રતનુ પાલન કરવા માટે આ ભાવનાથી આત્માને વાસિત કરવો જોઈએ

(૧૭) સ્ત્રી, પશુ, નપુસકનો સદ્ભાવ ન હોય તો પણ રાગયુક્ત થઈને સ્ત્રીકથા અર્થાત્ સ્ત્રીઓ સબધી વાર્તાલાપનો ત્યાગ કરવો જોઇએ મોહજનિત રાગરૂપ પરિણુતિથી યુક્ત સ્ત્રીકથા જેમા દેશ, જાતિ, કુળ, વેશભૂષા બોલ ચાલ, ગતિ, વિલાસ, વિભ્રમ, ભ્રમરો મટકાવવી, કટાક્ષ, હાસ્ય, લીલા, પ્રણયકલહ આદિ શૃગાર રસ સમ્મિલિત છે તેનાથી પરિપૂર્ણ હોવાના કારણે વંટોળીઆ જેવા ચિત્તરૂપી સમુદ્રને ક્ષુબ્ધ કરી નાખે છે આથી રાગ સબધિત સ્ત્રીકથાનો ત્યાગ કરવો જ શ્રેયસ્કર છે

(૧૮) સ્ત્રીઓની મનોહર ઇન્દ્રિયોના અવલોકનથી પણ બચવુ જોઈએ. તેમના મનોરમ સ્તન આદિના-અવલોકનથી વિરત થવુ જ શ્રેયસ્કર છે એવી ભાવના ભાવવી જોઈએ.

(૧૯) પૂર્વકાળમા ભોગવેલા ભોગોનુ સ્મરણ ન કરવુ જોઇએ સાધુ-અવસ્થામા ગૃહદશામાં ભોગવેલા ભોગોનુ સ્મરણ કરવાથી કામાગ્નિ પ્રજ્વલિત થાય છે આથી તેમનુ સ્મરણ છોડી દેવામાં જ કલ્યાણ છે.

(૨૦) પ્રતિદિન કારણ વગર પૌષ્ટિક ભોજન પણ ન કરવુ જોઈએ બળ—વીર્યવર્ધક સ્નિગ્ધ મધુર આદિ રસોનુ સેવન કરવાથી તથા દૂધ, દહી, ઘી, ગોળ તેલ વગેરેના સેવનથી મેદ, મજ્જા તથા વીર્ય વગેરે ધાતુઓનો સગ્રહ થાય છે અને એનાથી મોહની ઉત્પત્તિ થાય છે

આથી હમેશા અભ્યાસ રૂપમા પૌષ્ટિક રસોના સેવનનો ત્યાગ કરવો જોઈએ બ્રહ્મચર્યની રક્ષા માટે આ બધાનો ત્યાગ આવશ્યક છે

(૨૧-૨૫) આવી જ રીતે બાહ્ય તથા આભ્યતર પરિગ્રહથી રહિત શ્રમણે મનોજ્ઞ રૂપ, રસ, ગધ, સ્પર્શ અને શબ્દની પ્રાપ્તિ થવાથી રાગ અને અમનોજ્ઞ રૂપ આદિની પ્રાપ્તિ થવાથી દ્વેષ કરવો જાઈએ નહીં. આ ભાવનાઓથી અપરિગ્રહમહાવ્રતમા દઢતા આવે છે

સમવાયાગસૂત્રના પચીસમા સમવાયમા કહે છે—પાચ મહાવ્રતોની પચ્ચીસ ભાવનાઓ કહી છે તે આ પ્રમાણે છે—(૧) ઈર્યાસમિતિ (૨) મનોગુપ્તિ (૩) વચનગુપ્તિ (૪) આલોકિત-પાનભોજન (૫) આદાનભાણ્ડમાત્રનિક્ષેપણા સમિતિ (૬) અનુવીચિભાષણ (૭) ક્રોધવિવેક (૮) લોભવિવેક (૯) ભયવિવેક (૧૦) હાસ્યવિવેક (૧૧) અવગ્રહાનુજ્ઞાપનતા (૧૨) અવગ્રહસીમાજ્ઞાનતા (૧૩) સ્વયમેવાવગ્રહાનુગ્રહણતા (૧૪) સાધાર્મિકોની અનુમતિ લઈને આહાર વગેરે ભોગવવો (૧૫) સામાન્ય આહાર પાણીની અનુમતિ લઈને ભોગવવા (૧૬) સ્ત્રી-પશુ-પડકરહિત શયનાસનનો ત્યાગ કરવો (૧૭) સ્ત્રીકથાનો ત્યાગ (૧૮) પૂર્વે ભોગવેલા ભોગોનુ સ્મરણ ન કરવુ (૧૯) સ્ત્રીઓની ઇન્દ્રિયોના અવલોકનનો ત્યાગ કરવો (૨૦) પ્રણીતાહારવર્જન (૨૧) શ્રોત્રેન્દ્રિયરાગોપરતિ-શબ્દના વિષયમા રાગ ન કરવો (૨૨) ચક્ષુરિન્દ્રિયના વિષયમા રાગ ન કરવો (૨૩) ઘ્રાણેન્દ્રિયના વિષયમા રાગ ન કરવો (૨૪) જીભઇન્દ્રિયના વિષયમા રાગ ન કરવો અને (૨૫) સ્પર્શનેન્દ્રિયના વિષયમા રાગ ન કરવો ॥૧૨॥

'हिंसादिसु उभयलोगे घोरदुहं चउग्गइभमणं च'

સૂત્રાર્થ—હિસાદિ પાપ કરવાથી આ લોકમાં અને પરલોકમા ઘોર દુખ થાય છે અને ચારે ગતિમા પરિભ્રમણ કરવુ પડે છે ॥૧૩॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વ સૂત્રમા પ્રાણાતિપાતવિરમણ આદિ પાચ મહાવ્રતોમાથી દરેકની પાચ-પાચ ભાવનાઓની પ્રરૂપણા કરવામા આવી હવે—આવી ભાવનાઓનુ નિરૂપણ કરીએ છીએ જે બધા જ વ્રતોની સ્થિરતા માટે સમાન છે—

પ્રાણાતિપાત મૃષાવાદ, સ્તેય, અબ્રહ્મચર્ય, અને પરિગ્રહ એ પાચ આસ્રવોનુ સેવન કરવાથી બને લોકોમા અર્થાત્ આ લોકમા અને નરક આદિ પરલોકમા ભયકર પરિતાપના ભોગવવી પડે છે આ આસ્રવના ફલ સ્વરૂપ નરક આદિમા ભયકર યાતનાઓ ભોગવવી પડે છે એ પ્રકારની ભાવના ભાવવી જોઈએ અર્થાત્ વારવાર એવો વિચાર કરવો જોઈએ

આશય એ છે કે જે જીવ જ્ઞાનપૂર્વક ક્રિયાનુ અનુષ્ઠાન કરે છે અને હિસા આદિ પાપોના આચરણથી આ લોક અને પરલોક સબધી અનર્થો થવાનુ ચિતન કરે છે નરક વગેરેમા થનારા અત્યત તીવ્ર યાતનાઓનો વિચાર કરે છે તેની હિસા આદિ કાર્યોમા પ્રવૃત્તિ થતી નથી આથી એવી ભાવના કરવી જોઈએ કે હિસા આદિ પાપોમા સર્વત્ર દુઃખ જ દુખ છે આ પાપોનુ સેવન કરવાવાળા નારકી, તિર્યચ, મનુષ્ય અને દેવતા—આ ચાર ગતિઓમા ભ્રમણ કર્યા કરે છે. ॥૧૩॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—આની પહેલા પૂર્ણરૂપથી હિસા આદિથી વિરમવા રૂપ પાચ મહાવ્રતો અને દેશવિરતિ રૂપ પાચ અણુવ્રતોમાથી દરેકની સ્થિરતા માટે પાચ-પાચ ભાવનાઓનુ

કથન કરવામાં આવ્યુ હવે એવી કેટલીક ભાવનાઓનુ પ્રરૂપણ કરવામા આવી રહ્યું છે જે બધાં વ્રતો માટે સમાન છે

હિંસા, અસત્ય, ચોરી, મૈથુન અને પરિગ્રહ એ પાચ આસ્રવોનું સેવન કરનારને આ લોકમાં અને નરક વગેરે પરલોકમાં તીવ્ર દુ ખોનો અનુભવ કરવો પડે છે. હિંસા—વગેરેના ફળસ્વરૂપ ઘોર યાતનાઓ સહન કરવી પડે છે. કદી એવુ ન થાય કે મારે પણ આ દુ ખોને સહન કરવા પડે એ પ્રકારે વારંવાર વિચાર કરનાર વ્રતી પુરુષ હિંસા આદિ થાય તેવી પ્રવૃત્તિ કરતો નથી

જેવી રીતે પ્રાણાતિપાત, અસત્યભાષણ અને ચોરી કરનારાઓને સંખ્યાબંધ અનર્થોનો સામનો કરવો પડે છે, તેવી જ રીતે અબ્રહ્મનુ સેવન કરવાવાળાઓને પણ જુદા જુદા પ્રકારનાં દુ ખો ભોગવવા પડે છે સ્ત્રીના હાવ ભાવને જોઈને જેમનુ મન પાગલ થઈ જાય છે, જેમની ઇન્દ્રિઓ કાબૂમાં રહેતી નથી અને હલકા વિષયોમા પ્રવૃત્ત થાય છે જે મનોજ્ઞ શબ્દ રૂપ ગ ધ રસ અને સ્પર્શમાં જે રાગના કારણો છે, અનુરક્ત થઈને મદોન્મત્ત હાથીની જેમ નિરકુશ થઈ જાય છે, ઇષ્ટ પ્રવૃત્તિ અને અનિષ્ટ નિવૃત્તિના વિચારથી શૂન્ય છે તેમને કશે પણ ઠેકાણે સુખ શાન્તિ પ્રાપ્ત થતી નથી તેઓ મોહથી ઘેરાઈને કૃત્ય-અકૃત્યના વિવેકથી રહિત હોવાના કારણે પોતાના દરેક કાર્યને સારૂ જ સમજતા હોય છે એમની દશા એવી થઈ જાય છે માનો તેમને ભૂત ન વળગ્યુ હોય ।

જે પુરુષો પરસ્ત્રીલપટ હોય છે તેઓ આ લોકમા ઘણા માણસોની સાથે દુશ્મનાવટ બાંધે છે અને ઇન્દ્રિય છેદન, વધ-બન્ધન, સર્વસ્વ લુટાઈ જવા વગેરે અનર્થોને વહોરે છે

હિંસા આદિ પાપોનુ આચરણ કરનારને પ્રથમ તો આ લોકમાં અનેક પ્રકારની મુશ્કેલીઓ સહન કરવી પડે છે અને આગામી જન્મોમા જઈને ભયાનક કષ્ટો સહેવા પડે છે આ જાતનું પુન પુન ચિન્તવન કરવુ જોઇએ હિસા કરવાથી કઈ રીતે ઘોર દુઃખો સહન કરવા પડે છે એનુ દિગદર્શન અહી કરાવાય છે—

હિસક જન હમેશાં ત્રાસદાયક અને ભયકર હોય છે તે ભયાનક વેષ પરિધાન કરે છે, પોતાની ભ્રમરો કપાળ ઉપર ચઢાવે છે, તેના ચિત્તપ્રદેશમા ઈર્ષ્યા અને દ્વેષનો વાસ હોય છે આથી તેની આકૃતિ ભીષણ હોય છે તે દાંત પીસે છે, હોઠ બીડે છે અને તેની આંખોમાંથી ક્રૂરતા વરસતી હોય છે પ્રાણીઓ માટે તે ઘણો જ ત્રાસજનક હોય છે હમેશા તેમની સાથે દુશ્મનાવટ બાંધેલી રાખે છે તેને આ જન્મમાં જ લાઠીઓ તથા કોરડાઓ વડે ફટકારવામા આવે છે, હાથકડી અને જ જીરોથી બાંધવામાં આવે છે અને વિવિધ પ્રકારની લાકડીઓ તથા ઇંટો વગેરે દ્વારા તેને કષ્ટો અપવામાં આવે છે

પરલોકમાં તેને નરક વગેરે દુર્ગતિ પ્રાપ્ત થાય છે તે લોકમા ગર્હિત અને નિન્દાને પાત્ર બને છે આ વખતે તેને આ સત્યનુ ભાન થાય છે કે—મને પાપીને પૂર્વજન્મમાં કરેલાં પાપોનુ જ ફળ ભોગવવુ પડે છે આ જાતની ભાવના કરતો થકો તે વિચારે છે કે હિસાથી વિરત થવુ એ જ મારા માટે શ્રેયસ્કર છે

આવી જ રીતે હિંસા આદિ કુકૃત્યોના આચારથી નરકગતિ, તિર્યંચગતિ, મનુષ્યગતિ અને દેવગતિ રૂપ સંસારમાં પરિભ્રમણ કરવુ પડે છે નરક અને નિગોદ આદિમા અનન્ત-અનન્ત જન્મ-મરણ કરીને ઘોરાતિઘોર દુ ખ સહન કરવા પડે છે

જેમ હિંસકને અનેક અનર્થોનો સામનો કરવો પડે છે તેવી જ રીતે અસત્યવાદી જન પણ દુ ખોનો ભાગી થાય છે લોકમા તેના વચન પર કોઇ વિશ્વાસ કરતો નથી અસત્ય ભાષણ કરનારની જીભ કાપી લેવામા આવે છે, કાન અને નાકનુ છેદન કરવામા આવે છે આ રીતે અસત્યવાદી અસત્યથી નિન્દનીય ફળ ભોગવે છે. પરલોકમા તેને નરક આદિની તીવ્ર યાતનાઓ અને દુ ખ સહન કરવા પડે છે, આ રીતે અસત્ય ભાષણથી જીવ જુદા જુદા પ્રકારના દુ ખોથી યુક્ત થાય છે બીજાની સાથે તેને વેર બધાય છે જીભ-છેદન વગેરેના કષ્ટ તેને પ્રાપ્ત થાય છે આ બધા પૂર્વોક્ત દોષોની અપેક્ષાએ પણ તેને વધ-બન્ધન આદિ દુ ખોના વિશેષ કારણ પ્રાપ્ત થાય છે જેનો અધ્યવસાય તીવ્ર હોય છે તે દીર્ઘસ્થિતિ અને તીવ્ર અનુભાવ (રસ)વાળા કર્મો બાધે છે ફળસ્વરૂપ પરલોકમા તીવ્ર અશુભ વેદના સહન કરે છે અસત્યભાષણના આ પ્રકારના ફળ-વિપાકની વિચારણા કરનારના ચિત્તમા તેનાથી અરુચિ ઉત્પન્ન થઈ જાય છે અને તે વિચારે છે કે અસત્યભાષણથી વિરત થવામા જ શ્રેય છે આ જાતના વિચારના ફળસ્વરૂપ તે અસત્યભાષણથી વિરત થઈ જાય છે

જેવી રીતે પ્રાણાતિપાત અને અસત્ય ભાષણ કરનારને અનર્થોનો સામનો કરવો પડે છે તેવી જ રીતે પારકાની માલિકીનુ દ્રવ્ય અપહરણ કરવામા આસક્ત ચોરને પણ અનર્થ ભોગવવા પડે છે તે બધાને માટે ત્રાસદાયક હોય છે તે જેના ધનને ચોરે છે તેને ઘણો જ ઉદ્વેગ ઉત્પન્ન થાય છે આ પાપકૃત્યનુ સેવન કરવાથી ચોરને તાડન, પીડન ચાબુકોનો માર, હાથકડી-જજીરોનુ બન્ધન હાથ-પગ કાન નાક હોઠ આદિ અવયવોનુ છેદન-ભેદન, સર્વસ્વહરણ વગેરે વગેરે દુષ્પરિણામ ભોગવવા પડે છે પરલોકમા પણ તેને નરક વગેરેની તીવ્ર યાતનાઓ ભોગવવી પડે છે આથી ચોરીથી વિરત થઈ જવુ એ જ કલ્યાણકારક છે આ જાતની ભાવના ભાવનાર ચોરીથી નિવૃત્ત થઈ જાય છે પરલોકમા નરક આદિ ગતિમા જઈને દુઃખ ભોગવે છે આથી મૈથુનથી નિવૃત્તિ લઇ લેવી શ્રેયસ્કર છે આ પ્રકારની ભાવના ભાવનાર પુરુષ મૈથુનથી-વિરક્ત થઈ જાય છે

આ જ પ્રમાણે પરિગ્રહવાળા મનુષ્ય પર ચોર લુટારા આક્રમણ કરે છે જેવી રીતે કોઈ પક્ષી માસનો કકડો ચાચમા પકડીને ઉડી રહ્યુ હોય તો માસ ભક્ષણ કરવાવાળા બાજ વગેરે બીજા પક્ષીઓ તેના પર ત્રાટકે છે તેવી જ રીતે પરિગ્રહી પુરુષને ચોર વગેરે સતાવે છે તેમને પ્રથમ તો ધન આદિ પરિગ્રહના ઉપાર્જન માટે દુ ખો સહન કરવા પડે છે પછીથી તે ધનની રક્ષા માટે પરિશ્રમ કરવો પડે છે, આ બધુ કરવા છતા પણ અન્તમા જ્યારે તેનો વિનાશ થઈ જાય છે ત્યારે અપાર-શોકનો અનુભવ કરવો પડે છે

જેવી રીતે સૂકા ઇધણથી અગ્નિને તૃપ્તિ થતી નથી તેવી જ રીતે લાલચુ પરિગ્રહીને ધનથી સતોષ થતો નથી, પછી ભલે ગમે તેટલુ જ કેમ પ્રાપ્ત ન થઈ જાય ! જે લોભથી અભિભૂત હોય છે, તે કર્તવ્ય-અકર્તવ્યના વિવેકથી રહિત થઈ જાય છે અને એ કારણે મહાન અનિષ્ટને

નોંતરે છે. પરલોકમાં નારકી સબંધી તીવ્ર યાતનાઓ તેને ભોગવવી પડે છે દુનિયા લાલચુ કહીને તેની નિન્દા કરે છે આથી પરિગ્રહથી ફારેગ થઈ જવું જ કલ્યાણકારી છે આ જાતની ભાવના કરવાથી જીવ પરિગ્રહથી નિવૃત્ત થઈ જાય છે.

લોભના અગ જેવી આ જે તૃષ્ણા રૂપી ડાકણ છે, એને તાબે થઈ જનારા પુરુષો કોઈ પ્રકારના અનર્થોની ફિકર કરતાં નથી ! તેમને આમા કોઈ અનર્થ જ દેખાતો નથી. લોભગ્રસ્ત માનવી ધન કાજે પોતાના પિતાના પણ પ્રાણ હરી લેવાથી ખચકાતો નથી અરે તે પોતાની જનેતાને પણ મારે છે અરે મારી નાખે છે પોતાના દિકરાનો વધ કરવા પણ તત્પર થઇ જાય છે. એક માતાના ખોળિએ જન્મેલા સગા ભાઈનો પણ નાશ કરવાનો વિચાર કરે છે આ માટે વિશેષ શુ કહી શકાય, પોતાની પ્રાણવલ્લભા પત્નીના પ્રાણો પણ હરી લેવાની હદ સુધી જાય છે અને આવી જ જાતના અન્યાય અનર્થો પણ કરવામા સંકોચ અનુભવતો નથી. લોભી મનુષ્યો કાર્ય અને અકાર્યને કશુ જ ગણતો નથી

આ રીતે જે પુરુષો લોભજન્ય અનર્થોનું ચિંતન કરે છે તે પરિગ્રહથી વિરત થઈ જાય છે

આ સિવાય એવી ભાવના પણ ભાવવી જોઈએ કે આ હિંસા આદિ પાંચે પાપો દુખ સ્વરૂપ જ છે

જેમ હિંસા આદિ પાંચે દુખજનક હોવાના કારણે મને અપ્રિય છે તેવી જ રીતે અન્ય સઘળાં પ્રાણિઓને પણ વધ, બન્ધન છેદન ભેદન આદિથી થનારી હિંસા આદિ અપ્રિય છે. આવી રીતે પોતાના સ્વાનુભવથી જે હિંસાને દુખમય વિચારે છે, તે પ્રાણાતિપાત આદિથી નિવૃત્ત થઈ જાય છે.

એવી જ રીતે જેમ અસત્યભાષણથી મને મહાન દુખ ઉત્પન્ન થાય છે તેવી જ રીતે સમસ્ત પ્રાણિઓને અસત્યભાષણથી તથા મિથ્યાદોષારોપણ આદિથી ઘોર કષ્ટ પહોંચે છે આ જાતનો વિચાર આ જ લોકને ધ્યાનમાં રાખીને કરવો જોઈએ.

અસત્યભાષી પુરુષ મૃત્યુની પછી જ્યા જન્મ ધારણ કરે છે ત્યા તેને અસત્ય ભાષણ, મિથ્યા દોષારોપણ વગેરેનો એવી જ રીતે પ્રતિકાર કરવો પડે છે જેવો તેને પૂર્વે જાતે કર્યો હતો આથી તેને મહાન દુખનો અનુભવ કરવો પડે છે.

આવી જાતની ભાવના સેવનાર મિથ્યાભાષણથી નિવૃત્ત થઇ જાય છે જેવી રીતે ચોર-લુંટારાઓ દ્વારા અગાઉ મારા ધનના અપહરણથી મને દુ.ખ થયું હતુ તેવી રીતે જ અન્ય જીવોને પણ તેમના ધનનું અપહરણ થવાથી દુઃખ થાય છે આ જાતના આત્માનુભવના આધારે જે પુરુષ ભાવના ભાવે છે તે અદત્તાદાનથી નિવૃત્ત થઈ જાય છે

આવી જ રીતે જે વ્યક્તિ મૈથુનને રાગ-દ્વેષના મૂળ તરીકે, હિંસા વગેરેની દુખજનક તથા લોક અને સમાજમા ધિક્કાર-પાત્ર હોવાના કારણોને દુખજનક રૂપે હોવાની ચિંતવણા કરે છે તે મૈથુનથી વિમુખ થઇ જાય છે

દ્રવ્ય, ક્ષેત્ર, કાળ અને ભાવની અપેક્ષા રાખનારા કર્મોના ક્ષયોપશમ આદિ આત્યન્તિક સુખ ઉત્પન્ન કરવામા સમર્થ થતા નથી તે તો થોડા સમય માટે દુખનો પ્રતિકાર માત્ર કરે છે આથી મૂઢ જનો તે અવસ્થા-વિશેષને, દુખરૂપ હોવા છતાપણ સુખમય માને છે

જેવી રીતે ખરજવુ થયુ હોય તે પુરુષ અજ્ઞાનવશ, ખજવાળવાથી થતા દુ ખને પણ તે સમયે સુખ માની લે છે તેવી જ રીતે મૈથુન સેવન કરનારા પણ મોક્ષના વિરોધી તેમજ અનન્તાનન્ત ૫સાર પરિભ્રમણનાકારણે, આપાતરમણીય ભોગો–દુ ખને પણ સ્પર્શસુખ સમજી બેસે છે. આમ મૈથુનમા દુ ખની ભાવનાથી જેનુ ચિત્ત ભાવિત થાય છે તે મૈથુનથી મુક્ત થાય છે.

આ પ્રકારે જ દ્રવ્ય વગેરે પર મમત્વ ધારણ કરનાર મનુષ્ય ધન પ્રાપ્ત ન થાય તો તે મેળવવાની લાલસા કરે છે, પ્રાપ્ત થઇ જાય તો તેના રક્ષણ કરવાનું દુ ખ ભોગવે છે અને નષ્ટ થઈ જાય તો શોકજનિત દુ ખનો ભાગી થાય છે વસ્ત્ર આદિ વસ્તુઓને મેળવવાની અભિલાષા થાય અને તે પ્રાપ્ત ન થઈ શકે તો દુ ખનો અનુભવ થાય છે કદાચીત્ તેની પ્રાપ્તિ થઈ જાય તો રાજા, ચોર, અગ્નિ, ભાગીદાર અને ઉ દરો વગેરેથી તેને બચાવવા માટે હમેશા સજાગ રહેવુ પડે છે આ રીતે ઉદ્વેગજન્ય દુઃખનો અનુભવ કરવો પડે છે જ્યારે રક્ષણ કરતાં કરતાં પણ તે પરિગ્રહ ચાલ્યો જાય છે તો તેના વિયોગથી ઉત્પન્ન થનાર અસહ્ય શોકરૂપી અગ્નિ તેને અત્યન્ત સન્તપ્ત બનાવે છે આમ પરિગ્રહ પ્રત્યેક અવસ્થામા દુ ખરૂપ જ છે જે આવી ભાવના ભાવે છે તે પરિગ્રહથી વિમુખ થાય છે

પૂર્વોક્ત પ્રકારથી પ્રાણાતિપાત, અસત્યભાષણ, સ્તેય, અબ્રહ્મચર્ય અને પરિગ્રહમાં દુ ખ જ દુઃખ છે એવી ભાવના ભાવનાર વ્રતીને પાચે વ્રતોમા દૃઢતા ઉત્પન્ન થાય છે

સ્થાનાગસૂત્રના ચોથા સ્થાનના બીજા ઉદ્દેશકના સૂત્ર ૨૮૨ મા કહ્યુ છે—

સ વેગિની અર્થાત્ વૈરાગ્યવર્ધક કથા ચાર પ્રકારની કહેવામા આવી છે તે આ પ્રમાણે છે—(૧) ઇહલોકસ વેગિનિ (૨) પરલોકસ વેગિની (૩) આત્મશરીરસ વેગિની અને (૪) પરશરીરસ વેગિની નિર્વેદિની કથા ચાર પ્રકારની કહેવામા આવી છે તે આ પ્રમાણે છે : (૧) આ લોકમા દુશ્ચીર્ણ કર્મ આ લોકમા દુ ખરૂપ ફળ–વિપાકથી સ યુક્ત હોય છે (૨) આ લોકમા દુશ્ચીર્ણ કર્મ પરલોકમા દુ ખરૂપ ફળ–વિપાકથી સ યુક્ત હોય છે (૩) પરલોકમા દુશ્ચીર્ણ કર્મ આ લોકમા દુ ખરૂપ ફળવિપાકથી સ યુક્ત હોય છે (૪) પરલોકમા દુશ્ચીર્ણ કર્મ પરલોકમા દુ ખરૂપ ફળવિપાકથી સ યુક્ત હોય છે.

(૧) આ લોકમાં સુચીર્ણ કર્મ આ લોકમા સુખરૂપ ફળવિપાકથી સ યુક્ત હોય છે અર્થાત્ સુખરૂપ ફળ પ્રદાન કરે છે (૨) આ લોકમા સુચીર્ણ કર્મ પરલોકમા સુખરૂપ ફળ પ્રદાન કરે છે વગેરે ચારેય ભ ગ પૂર્વવત સમજવા અર્થાત્ પરલોકમા સુચીર્ણ કર્મ આ લોકમાં સુખરૂપ વિપાકથી સ યુક્ત હોય છે અને પરલોકમા સુચીર્ણ કર્મ પરલોકમા સુખરૂપ ફળવિપાકથી સ યુક્ત હોય છે આ બ ને ભ ગ પણ સમજી લેવાની જરૂર છે

જે કથા સ વિદ્નને અર્થાત્ સ સારની અસારતા પ્રદર્શિત કરીને મોક્ષની અભિલાષા ઉત્પન્ન કરે તે સ વેગની અથવા સ વેદિની કથા કહેવાય છે જેવી રીતે રાજકુમારી મલ્લીએ પોતાની ઉપર અનુરાગી છ રાજાઓને સ સારની અસારતા બતાવીને તેમનામા મોક્ષની અભિલાષા ઉત્પન્ન કરી દીધી હતી–વળી કહ્યુ પણ છે—

જે કથાના સાભળવા માત્રથી મોક્ષની અભિલાષા ઉત્પન્ન થઈ જાય છે તે સ વેદિની કથા કહેવાય છે જેમ મલ્લીકુમારીએ છ રાજાઓને પ્રતિબોધ આપ્યો તેમ ॥૧॥

જે કથા દ્વારા શ્રોતા વિષયભોગોથી વિરક્ત થાય છે તે નિર્વેદની કથા કહેવાય છે કહ્યું પણ છે—

જે કથાના શ્રવણથી વૈરાગ્ય જન્મે તે નિર્વેદિની કથા છે જેમ ભગવાન મહાવીરે શાલિભદ્રને પ્રતિબોધ આપ્યો હતો ॥૧૩॥

'सव्वभूए गुणाहिय' ઇત્યાદિ

સૂત્રાર્થ—સમસ્ત પ્રાણીઓ પર મૈત્રીભાવના, અધિક ગુણવાનોના પ્રત્યે પ્રમોદ ભાવના, દુખી પ્રાણીઓ પ્રત્યે કરુણાભાવના અને અવિનીતો પર માધ્યસ્થભાવના રાખવી જોઈએ ॥૧૪॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમા હિંસા આદિ પાચે પાપોની નિવૃત્તિરૂપ પાચ મહાવ્રતોની સામાન્ય પ્રાણાતિપાત આદિમા આલોક-પરલોકમા અપાર દુખભાવનાનુ નિરૂપણ કરવામાં આવ્યું, હવે તેજ મહાવ્રતોની દૃઢતા માટે સર્વ પ્રાણિઓ પર મૈત્રી આદિ ભાવનાઓની પ્રરૂપણા કાજે કહીએ છીએ—

સર્વ પ્રાણિઓ, ગુણાધિકો, ક્લિશ્યમાન જીવો અને અવિનીતો પર ક્રમશ. મૈત્રી, પ્રમોદ, કારુણ્ય અને મધ્યસ્થ ભાવના હોવી જોઈએ અર્થાત્ બધાં પ્રાણિઓ પર મૈત્રી ભાવના ધારણ કરે, જે પોતાની અપેક્ષા અધિક ગુણવાન છે તેમના પ્રત્યે પ્રમોદ-હર્ષાતિશયની ભાવના ધારણ કરે જે જીવ દુખનો અનુભવ કરી રહ્યા છે તેમના પર કરૂણા ભાવના રાખે અને જે અવિનીત કહેતા શઠ છે, પોતાનાથી વિરુદ્ધ વિચાર તેમજ વ્યવહાર કરે છે તેમના પ્રતિ મધ્યસ્થ ભાવ ધારણ કરે તાત્પર્ય એ છે કે આ રીતે મૈત્રી વગેરે—ભાવનાઓથી બધાની તરફ વેર-વિરોધ નષ્ટ થઈ જાય છે કહ્યુ પણ છે—**सत्वेषु मैत्रीं गुणीषु प्रमोदः** ઇત્યાદિ'

હે દેવ ! મારો આત્મા પ્રાણિમાત્ર પર મૈત્રીભાવ ધારણ કરે, ગુણીજનોને જોઈને પ્રમોદનો અનુભાવ કરે, દુખી જનો પર કરુણાભાવ ધારણ કરે અને વિપરીત વ્યવહાર કરનારા પ્રત્યે મધ્યસ્થભાવ ધારણ કરે ॥૧૪॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પ્રથમ પ્રાણાતિપાત—વિરતિ આદિ પાંચ વ્રતોની સ્થિરતાને માટે સામાન્ય રૂપથી બધા વ્રતોથી સબધ રાખનારી દુખભાવનાનુ નિરૂપણ કરવામાં આવ્યુ જેમાં એ બતાવવામા આવ્યુ કે હિંસા વગેરેનુ આચરણ કરવાથી આ લોક તેમજ પરલોકમાં દુઃખની પ્રાપ્તિ થાય છે હવે તેજ વ્રતોની પરપરાથી સ્થિરતા માટે મૈત્રી આદિ ભાવનાઓનું પ્રતિપાદન કરવા માટે કહીએ છીએ—

બધા પ્રાણિઓ પર મૈત્રી, અધિક ગુણવાનો પર પ્રમોદ, દુઃખી જનો પર દયા અને અવિનીતો પર માધ્યસ્થભાવ ધારણ કરવો જોઈએ

જે **मेद्यति–स्निह्यति** અર્થાત સ્નેહ કરે છે તે મિત્ર કહેવાય છે મિત્રના ભાવને મૈત્રી કહે છે બીજાનાં હિતનો વિચાર કરવો મૈત્રી છે પ્રત્યેક પ્રાણી પર મૈત્રીભાવ હોવો જોઈએ પ્રમાદથી અથવા અન્ય કોઈ કારણથી કોઈએ કદાચ અપકાર કર્યો હોય તો તેના તરફ પણ મૈત્રીભાવ ધારણ કરીને એવો વિચાર કરવો જોઈએ—"હુ તેનો મિત્ર છુ, આ મારા મિત્રો છે, હું મારા મિત્ર સાથે દ્રોહ કરીશ નહી, મિત્રથી દ્રોહ—વિશ્વાસઘાત કરવો એ તો દુર્જનોનુ કામ છે—સત્પુરુષોનુ નહી આ કારણથી હુ સમસ્ત પ્રાણિસૃષ્ટિ પર ક્ષમાભાવ ધારણ કરુ છુ આ

પ્રકારની ભાવના નિરન્તર ધારણ કરવાથી વાસ્તવિક મૈત્રીભાવની પ્રાપ્તિ થાય છે. જેઓએ મારા ઉપર ઉપકાર કર્યો છે તેઓ પણ મારા મિત્ર છે તેમના તરફ પણ મારા મનમાં ક્ષમાભાવ છે. બધા પ્રાણિઓ સાથે મારી મૈત્રી છે. કોઈની પણ સાથે મારે વેર અથવા વિરોધ નથી

વૈરાનુબન્ધ ઘણો જ વિષમ છે તેનાથી અનેક પ્રકારના અનર્થોની સેકડો શાખાઓ ફૂટી નિકળે છે ઈર્ષ્યા--અદેખાઈ વગેરેની ઉત્પત્તિ થાય છે વારંવાર કાપવા છતાં પણ તેની જડ ધંળી પાછી લીલી છમ થઇ જાય છે બીજાંકુરની માફક તેની પરંપરા ચાલતી રહે છે આથી તેને જડમૂળ સાથે ઉખેડવા માટે તીવ્ર પ્રજ્ઞા અને વિવેકરૂપી તલવારની ધારનો ઉપયોગ કરવો જોઇએ મૈત્રીભાવનાથી જ વિરોધનો સમૂળગોનાશ થઈ શકે છે

જે જીવ સમ્યક્ત્વ વગેરે ગુણોમાં પોતાનાથી વધારે ચઢિયાતો છે, વિશિષ્ટ વ્રતી છે તેમના પર પ્રમોદ અર્થાત્ હર્ષની અધિકતાની ભાવના રાખવી જોઈએ.

સમ્યક્ત્વ, જ્ઞાન, ચારિત્ર અથવા તપની અપેક્ષાથી જે પોતાનાથી વિશેષ છે તેમને વંદન કરવુ, તેમના ગુણો ગાવા, તેમની પ્રશંસા કરવી, વૈયાવૃત્ય વગેરે કરવી, સન્માન કરવુ, અને સમસ્ત ઇન્દ્રિયોથી આનંદના અતિરેકને પ્રકટ કરવો પ્રમોદ કહેવાય છે

આમાથી તત્ત્વાર્થની શ્રદ્ધાને સમ્યક્ત્વ કહે છે ઇષ્ટમાં પ્રવૃત્તિ અને અનિષ્ટથી નિવૃત્તિ વિષયક બોધ જ્ઞાન કહેવાઈ છે મૂળગુણોને તથા ઉત્તરગુણોને ચારિત્ર કહે છે બાહ્ય અને આભ્યંતરના ભેદથી તપ બે પ્રકારના કહેવામાં આવ્યા છે--

આ સમ્યક્ત્વ આદિ શ્રાવકોની અપેક્ષા શ્રમણોમા વિશિષ્ટ રૂપથી જોવામાં આવે છે આથી તેમને જોઇને વંદન વગેરે કરવુ, તેમના ગુણોનુ ઉત્કીર્તન કરવુ, એકાગ્ર થઇને તેમના પ્રવચનો સાંભળવા, આંખોનુ નાચી ઉઠવું, હર્ષથી રોમાચ ઉત્પન્ન થઇ જવો વગેરે ચિહ્નોથી પ્રકટ થનાર હર્ષ પ્રમોદ કહેવાય છે. તેની ભાવના કરવી જોઇએ

આવી જ રીતે જે જીવો ક્લેશના પાત્ર બનેલાં છે, ગરીબ છે, અનાથ છે, બાળક અથવા સ્થવિર છે તેમના ઉપર કરુણાભાવ ધારણ કરવો જોઈએ કરુણાનો અર્થ છે અનુકમ્પા. દીન-દુખીઓ પર અનુગ્રહ અર્થાત્ દયાની દૃષ્ટિ રાખવી જોઈએ.

જે પ્રાણીઓ માનસિક અથવા શારીરિક બાધાઓથી પીડિત છે તેમને દીન કહે છે

જેઓ દયાને પાત્ર છે, મિથ્યાદર્શન અને અનન્તાનુબન્ધી આદિ ત્રણ મોહથી પીડિત છે, કુબુદ્ધિ, કુશ્રુત અને વિભંગ જ્ઞાનથી યુક્ત છે, જેઓ ઇષ્ટ પ્રાપ્તિ અને અનિષ્ટ પરિહરથી રહિત છે, અનેક વ્યાધિઓથી ગ્રસ્ત છે, દીન, દરિદ્ર, અનાથ, બાળ-વૃદ્ધ છે તેમના પ્રતિ અવિચ્છિન્ન કરુણાભાવના ધારણ કરવી જોઈએ કરુણાભાવના ધારણ કરીને તેમને મોક્ષનો ઉપદેશ આપવો જોઈએ તથા દેશ અને કાળ અનુસાર કપડા, અનાજ પાણી, આશ્રય ઔષધ વગેરે આપીને તેમનો અનુગ્રહ કરવો જોઈએ

જેઓ અવિનીત છે-લુચ્ચા છે એવા લોકો તરફ ઉદાસીનતાનો ભાવ રાખવો જોઈએ જેમને શિક્ષણ આપી શકાતુ હોય, જેઓ તેને પાત્ર હોય, તેઓ વિનીત કહેવાય છે જેઓ શિક્ષણને પણ લાયક ન હોય તેઓ અવિનીત છે તેઓ ચેતન હોવા છતા પણ લાકડા અથવા

દિવાલની જેમ જડ હોય છે ગ્રહણ, ધારણ, ઈહા, અપોહથી શૂન્ય, મિથ્યાત્વથી ગ્રુપ્ત અને દુષ્ટો દ્વારા છકેલા હોય છે આવા લોકો પ્રતિ પણ દ્વેષ ન ધારણ કરતા ઔદાસીન્ય રાખવું જોઈએ

જમીનની ઉપર વાવેલું શુદ્ધ બીજ પણ જેમ ફળદાયી નીવડતુ નથી તે જ પ્રમાણે આવા લોકોને આપવામાં આવેલો સદુપદેશ સફળ થતો નથી આથી તેમના પ્રતિ ઉપેક્ષા રાખવી જ ઉચિત છે, કહ્યુ પણ છે—**परहित चिन्तामैत्री** ઈત્યાદિ.

બીજાના હિતનુ ચિંતન કરવુ મૈત્રી છે, બીજાના દુઃખોનું નિવારણ કરવુ એ કરુણા છે બીજાનાં સુખે સુખી થવુ પ્રમોદ છે અને બીજાના દોષોની ઉપેક્ષા કરવી મધ્યસ્થતા છે.

સૂત્રકૃતાંગસૂત્રના પ્રથમ શ્રુતસ્કંધના ૧૫મા અધ્યયનમા, બીજી ગાથામાં કહ્યું છે-'પ્રાણીમાત્ર પર મૈત્રીભાવ ધારણ કરવો જોઈએ'

ઔપપાતિકસૂત્રના પ્રથમ સૂત્રના ૨૦મા પ્રકરણમાં કહ્યુ છે-**'सुप्पडियाणंदा'** અર્થાત્ બીજાનાં સુખ જોઈને આનંદનો અનુભવ કરવો જોઈએ' આજ સૂત્રમા ભગવાનના ઉપદેશના પ્રકરણમાં કહ્યુ છે—**'साणुक्कोसयाए'** અર્થાત્ દયા યુક્ત થઈને—

આચારાંગસૂત્રના પ્રથમ શ્રુતસ્કંધમાં, આઠમા અધ્યયનના સાતમાં ઉદ્દેશકની પાચમી ગાથામા કહ્યુ છે-'અનગાર-મધ્યસ્થ-સમભાવી થઈને કેવળ કર્મનિર્જરાની જ ઇચ્છા કરતો થકો સમાધિનુ પાલન કરે' ॥૧૪॥

'संवेगणिव्वेयणट्ठं जगकायसभावा य' ॥સૂ. ૧૫॥

સૂત્રાર્થ—સંવેગ અને નિર્વેદની વૃદ્ધિ માટે જગતના અને શરીરના સ્વભાવનું ચિંતન કરવું જોઈએ ॥૧૫॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—આની પહેલાના સૂત્રમાં અહિંસા આદિ વ્રતોની સ્થિરતા માટે સામાન્ય રૂપથી અર્થાત્ બધા વ્રતો માટે સમાન રૂપથી ઉપયોગી મૈત્રી, પ્રમોદ, કરુણા તથા માધ્યસ્થ ભાવનાઓનુ કથન કરવામાં આવ્યુ હવે તેના તે જ પાંચ મહાવ્રતાદિની દૃઢતા માટે સમાન રૂપથી ઉપયોગી અન્ય ભાવનાઓનુ નિરૂપણ કરીએ છીએ

સંવેગ અને નિર્વેદ માટે સંસારના તેમજ શરીરના સ્વાભાવનું ચિંતન વારંવાર કરવું જોઈએ સંસારથી ભયભીત થવુ સંવેગ છે અને વિષયોથી વિરક્તિ થવી નિર્વેદ છે આ બંનેની વૃદ્ધિ અને પુષ્ટિ માટે અનુક્રમથી સંસાર અને શરીરના સ્વભાવનો વિચાર કરવો જોઈએ અર્થાત્ જગતના સ્વભાવનુ પુનઃ પુનઃ ચિંતન કરવાથી સંવેગની વૃદ્ધિ થાય છે અને કાયાના સ્વરૂપનો વિચાર કરવાથી વૈરાગ્યની વૃદ્ધિ થાય છે

વિભિન્ન મનુષ્ય, તિર્યંચ, નારકી અને દેવતા પર્યાયોને જે પ્રાપ્ત થતા રહે છે તેને જગત કહે છે આ વ્યુત્પત્તિ મુજબ જગતનો અર્થ થાય છે-જીવસમૂહ અથવા ધર્મ, અધર્મ, આકાશ કાળ અને પુદ્ગલ-આદિને રહેવાનુ જે ક્ષેત્ર-સ્થાન-છે તે પણ જગત્ કહેવાય છે જેને સંસાર કહે છે

જેનો ઉપચય થાય છે તે 'કાય' કહેવાય છે અથવા જેમાં વ્યવસ્થા આદિનો ઉપચય

પ્રકારની ભાવના નિરન્તર ધારણ કરવાથી વાસ્તવિક મૈત્રીભાવની પ્રાપ્તિ થાય છે જેઓએ મારા ઉપર ઉપકાર કર્યો છે તેઓ પણ મારા મિત્ર છે તેમના તરફ પણ મારા મનમાં ક્ષમાભાવ છે. બધા પ્રાણિઓ સાથે મારી મૈત્રી છે. કોઈની પણ સાથે મારે વેર અથવા વિરોધ નથી

વૈરાનુબન્ધ ઘણો જ વિષમ છે. તેનાથી અનેક પ્રકારના અનર્થોની સેકડો શાખાઓ ફૂટી નિકળે છે ઈર્ષ્યા—અદેખાઈ વગેરેની ઉત્પત્તિ થાય છે વારંવાર કાપવા છતાં પણ તેની જડ ઘંળી પાછી લીલી છમ થઇ જાય છે બીજાકુરની માફક તેની પરંપરા ચાલતી રહે છે આથી તેને જડમૂળ સાથે ઉખેડવા માટે તીવ્ર પ્રજ્ઞા અને વિવેકરૂપી તલવારની ધારનો ઉપયોગ કરવો જોઇએ મૈત્રીભાવનાથી જ વિરોધનો સમૂળગોનાશ થઈ શકે છે

જે જીવ સમ્યક્ત્વ વગેરે ગુણોમાં પોતાનાથી વધારે ચઢિયાતો છે, વિશિષ્ટ વ્રતી છે તેમના પર પ્રમોદ અર્થાત્ હર્ષની અધિકતાની ભાવના રાખવી જોઈએ.

સમ્યક્ત્વ, જ્ઞાન, ચારિત્ર અથવા તપની અપેક્ષાથી જે પોતાનાથી વિશેષ છે તેમને વંદન કરવુ, તેમના ગુણો ગાવા, તેમની પ્રશંસા કરવી, વૈયાવૃત્ય વગેરે કરવી, સન્માન કરવું; અને સમસ્ત ઇન્દ્રિયોથી આનંદના અતિરેકને પ્રકટ કરવો પ્રમોદ કહેવાય છે

આમાંથી તત્ત્વાર્થની શ્રદ્ધાને સમ્યક્ત્વ કહે છે ઇષ્ટમા પ્રવૃત્તિ અને અનિષ્ટથી નિવૃત્તિ વિષયક બોધ જ્ઞાન કહેવાઈ છે મૂળગુણોને તથા ઉત્તરગુણોને ચારિત્ર કહે છે બાહ્ય અને આભ્યંતરના ભેદથી તપ બે પ્રકારના કહેવામાં આવ્યા છે—

આ સમ્યક્ત્વ આદિ શ્રાવકોની અપેક્ષા શ્રમણોમાં વિશિષ્ટ રૂપથી જોવામાં આવે છે આથી તેમને જોઈને વંદન વગેરે કરવું, તેમના ગુણોનુ ઉત્કીર્તન કરવુ, એકાગ્ર થઇને તેમના પ્રવચનો સાંભળવા, આંખોનુ નાચી ઉઠવું, હર્ષથી રોમાચ ઉત્પન્ન થઇ જવો વગેરે ચિહ્નોથી પ્રકટ થનાર હર્ષ પ્રમોદ કહેવાય છે તેની ભાવના કરવી જોઇએ

આવી જ રીતે જે જીવો કલેશના પાત્ર બનેલાં છે, ગરીબ છે, અનાથ છે, બાળક અથવા સ્થવિર છે તેમના ઉપર કરુણાભાવ ધારણ કરવો જોઈએ કરુણાનો અર્થ છે અનુકમ્પા. દીન–દુખીઓ પર અનુગ્રહ અર્થાત્ દયાની દૃષ્ટિ રાખવી જોઈએ

જે પ્રાણીઓ માનસિક અથવા શારીરિક બાધાઓથી પીડિત છે તેમને દીન કહે છે

જેઓ દયાને પાત્ર છે, મિથ્યાદર્શન અને અનન્તાનુબન્ધી આદિ ત્રણ મોહથી પીડિત છે, કુબુદ્ધિ, કુશ્રુત અને વિભંગ જ્ઞાનથી યુક્ત છે, જેઓ ઇષ્ટ પ્રાપ્તિ અને અનિષ્ટ પરિહરથી રહિત છે, અનેક વ્યાધિઓથી ગ્રસ્ત છે, દીન, દરિદ્ર, અનાથ, બાળ–વૃદ્ધ છે તેમના પ્રતિ અવિચ્છિન્ન કરુણાભાવના ધારણ કરવી જોઈએ કરુણાભાવના ધારણ કરીને તેમને મોક્ષનો ઉપદેશ આપવો જોઈએ તથા દેશ અને કાળ અનુસાર કપડા, અનાજ પાણી, આશ્રય ઔષધ વગેરે આપીને તેમનો અનુગ્રહ કરવો જોઈએ

જેઓ અવિનીત છે–લુચ્ચા છે એવા લોકો તરફ ઉદાસીનતાનો ભાવ રાખવો જોઈએ જેમને શિક્ષણ આપી શકાતુ હોય, જેઓ તેને પાત્ર હોય, તેઓ વિનીત કહેવાય છે જેઓ શિક્ષણને પણ લાયક ન હોય તેઓ અવિનીત છે તેઓ ચેતન હોવા છતા પણ લાકડા અથવા

દિવાલની જેમ જડ હોય છે ગ્રહણ, ધારણ, ઈહા, અપોહથી શૂન્ય, મિથ્યાત્વથી ગ્રસ્ત અને દુષ્ટો દ્વારા છકેલા હોય છે આવા લોકો પ્રતિ પણ દ્વેષ ન ધારણ કરતા ઔદાસીન્ય રાખવું જોઈએ

જમીનની ઉપર વાવેલું શુદ્ધ બીજ પણ જેમ ફળદાયી નીવડતું નથી તે જ પ્રમાણે આવા લોકોને આપવામાં આવેલો સદુપદેશ સફળ થતો નથી આથી તેમના પ્રતિ ઉપેક્ષા રાખવી જ ઉચિત છે, કહ્યુ પણ છે—**परहित चिन्तामैत्री** ઇત્યાદિ

બીજાના હિતનુ ચિંતન કરવુ મૈત્રી છે, બીજાના દુઃખોનુ નિવારણ કરવુ એ કરુણા છે બીજાનાં સુખે સુખી થવુ પ્રમોદ છે અને બીજાના દોષોની ઉપેક્ષા કરવી મધ્યસ્થતા છે

સૂત્રકૃતાગસૂત્રનાં પ્રથમ શ્રુતસ્કંધના ૧૫માં અધ્યયનમા, બીજી ગાથામા કહ્યુ છે—'પ્રાણીમાત્ર પર મૈત્રીભાવ ધારણ કરવો જોઈએ'

ઔપપાતિકસૂત્રના પ્રથમ સૂત્રના ૨૦માં પ્રકરણમાં કહ્યુ છે—'**सुप्पडियाणंदा**' અર્થાત્ બીજાના સુખ જોઇને આનંદનો અનુભવ કરવો જોઈએ' આજ સૂત્રમા ભગવાનના ઉપદેશના પ્રકરણમાં કહ્યું છે—'**साणुक्कोसयाए**' અર્થાત્ દયા યુક્ત થઈ ને—

આચારાગસૂત્રના પ્રથમ શ્રુતસ્કધમા, આઠમા અધ્યયનના સાતમા ઉદ્દેશકની પાંચમી ગાથામા કહ્યુ છે—'અનગાર-મધ્યસ્થ-સમભાવી થઈ ને કેવળ કર્મનિર્જરાની જ ઇચ્છા કરતો થકો સમાધિનુ પાલન કરે' ॥૧૪॥

'**संवेगणिव्वेयणट्ठं जगक भावा य**' ॥सू. १५॥

સૂત્રાર્થ—સવેગ અને નિર્વેદની વૃદ્ધિ માટે જગતના અને શરીરના સ્વભાવનું ચિંતન કરવું જોઈએ ॥૧૫॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—આની પહેલાના સૂત્રમા અહિસા આદિ વ્રતોની સ્થિરતા માટે સામાન્ય રૂપથી અર્થાત્ બધા વ્રતો માટે સમાન રૂપથી ઉપયોગી મૈત્રી, પ્રમોદ, કરુણા તથા માધ્યસ્થ ભાવનાઓનુ કથન કરવામાં આવ્યુ હવે તેના તે જ પાંચ મહાવ્રતાદિની દૃઢતા માટે સમાન રૂપથી ઉપયોગી અન્ય ભાવનાઓનુ નિરૂપણ કરીએ છીએ

સવેગ અને નિર્વેદ માટે સસારના તેમજ શરીરના સ્વાભાવનુ ચિતન વારંવાર કરવું જોઈએ સંસારથી ભયભીત થવુ સવેગ છે અને વિષયોથી વિરક્તિ થવી નિર્વેદ છે આ બનેની વૃદ્ધિ અને પુષ્ટિ માટે અનુક્રમથી સસાર અને શરીરના સ્વભાવનો વિચાર કરવો જોઈએ અર્થાત્ જગતના સ્વભાવનુ પુન પુનઃ ચિતન કરવાથી સવેગની વૃદ્ધિ થાય છે અને કાયાના સ્વરૂપનો વિચાર કરવાથી વૈરાગ્યની વૃદ્ધિ થાય છે

વિભિન્ન મનુષ્ય, તિર્યંચ, નારકી અને દેવતા પર્યાયોને જે પ્રાપ્ત થતા રહે છે તેને જગત કહે છે આ વ્યુત્પત્તિ મુજબ જગતનો અર્થ થાય છે—જીવસમૂહ અથવા ધર્મ, અધર્મ, આકાશ કાળ અને પુદ્ગલ-આદિને રહેવાનુ જે ક્ષેત્ર-સ્થાન—છે તે પણ જગત્ કહેવાય છે જેને સસાર કહે છે

જેનો ઉપચય થાય છે તે 'કાય' કહેવાય છે અથવા જેમાં વ્યવસ્થા આદિનો ઉપચય

થાય છે તેને કાય કહે છે કાયનો અર્થ 'શરીર છે સંવેગ અને નિર્વેદને વધારવા માટે જગત અને શરીરના સ્વરૂપનું વારંવાર ચિંતન કરવું જરૂરી છે ॥ ૧૫ ॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—આની પહેલાં હિંસાપરિત્યાગ આદિ પાંચે વ્રતોની દૃઢતા માટે પાંચે મહાવ્રત આદિ માટે સાધારણ મૈત્રી વગેરે ભાવનાઓનું પ્રતિપાદન કરવામાં આવ્યું હવે હિંસા આદિ અશુભ નવીન કર્મબંધનની નિવૃત્તિમા તત્પર પંચમહાવ્રતધારી સાધુઓની ક્રિયાવિશેષના પ્રણિધાનના હેતુ માટે અન્ય ભાવનાઓનું પ્રતિપાદન કરવા માટે કહીએ છીએ—

પંચમહાવ્રતાદિના ધારણ કરનારા જીવ સંવેગ તથા નિર્વેદ માટે જગતના અને શરીરના સ્વરૂપનું ચિન્તન કરે, અર્થાત્ સંવેગને માટે જગત્‌ના સ્વભાવનું અને નિર્વેદન માટે શરીરના સ્વભાવનું ચિંતન કરે

સંસારની પ્રતિ કાયરતા હોવી સંવેગ છે અર્થાત્ જુદા જુદા પ્રકારના ઉચ્ચ તથા નીચ પ્રાણીઓના જન્મ, મરણ ઘડપણ દુઃખ કલેશ અને કર્મવિપાકથી પરિપૂર્ણ સંસારના ત્રાસનો વિપાક કરવો તે જ સંવેગ છે

વૈરાગ્યને નિર્વેદ કહે છે એનો આશય છે શરીરની સજાવટ-શૃંગાર વગેરે ન કરવા આગળ પર કહેવામા આવનારા ક્ષેત્ર વાસ્તુ આદિ દશ પ્રકારની બાહ્ય ઉપધિમા અને રાગ દ્વેષ વગેરે ચૌદ પ્રકારની આન્તરિક ઉપધિમા આસક્તિ મમતા ન હોવી કહેવાનો ભાવાર્થ એટલો જ છે કે નિર્લોભિતારૂપ આત્માનુ પરિણામ નિર્વેદ કહેવાય છે

વહાલી વસ્તુનો વિયોગ થઈ જવો, ન ગમતી વસ્તુનો સંયોગ થવો મનગમતી વસ્તુ ન મળવી, ગરીબાઈ હોવી, કમનસીબી હોવી, દુર્મનસ્કતા હોવી, વધ, બન્ધન, આરોપ, અસમાધિ તથા દુઃખનો અનુભવ થવો એવો જગતનો સ્વભાવ છે સંસારના સર્વ સ્થાન નાશવંત છે કોઈ પણ જીવ અથવા અજીવનો એવો કોઈ જ પર્યાય નથી જે કાયમી હોય ધર્મ અને અધર્મ આદિ સઘળા દ્રવ્ય પરિણમનશીલ છે તેમનામાં નિરન્તર પરિવર્તન થતા રહે છે ભૂતકાળમા એકે-એક દ્રવ્યની અનન્ત અવસ્થાઓ થઈ ચુકી છે અને આ ક્રમ એક પળવાર પણ ક્યારેય અટકતો નથી આવી રીતે ધર્મ આદિ છ એ દ્રવ્યોમા પરિણતિ નિત્યતાની ભાવના કરે, અર્થાત્ એવો વિચાર કરે કે આત્મદ્રવ્ય અજર અમર અવિનાશી અને નિત્ય હોવા છતા પણ પર્યાયો ની અપેક્ષાથી ક્ષણે ક્ષણે રૂપાન્તરિત થતા રહે છે કોઈવાર દેવતા કોઈવાર મનુષ્ય તો વળી કોઈવાર તિર્યંચ અને નારકીના પર્યાયોને ધારણ કરે છે અને ત્યાં વિવિધ પ્રકારની આધિ વ્યાધિ એ ઉપાધિઓ-ત્રિવિધ તાપોને-ભોગવે છે આ જ પ્રમાણે અન્ય દ્રવ્યોની નિત્યા-નિત્યતાનુ પણ ચિન્તન કરે

કાયાના સ્વભાવનો આ પ્રકારે વિચાર કરે-માતા અને પિતાના રજ અને વીર્ય જ્યારે મિશ્રિત થાય છે ત્યારે તે ગર્ભજ પ્રાણિઓના રૂપમા પરિણત થઈ જાય છે સંમૂર્ચ્છિમ અને ઉપપાત જન્મવાળા જીવોના શરીર ઉત્પત્તિક્ષેત્રમા રહેલા પુદ્‌ગલસ્કન્ધોને ગ્રહણ કરવાથી નિર્મિત થાય છે તે શરીર વિવિધ આકારો તેમજ અશુભ પરિણમનવાળા હોય છે તેમનામા અપચય અને ઉપચય અર્થાત વિયોગ અને મિલન થતા રહે છે અને તે સઘળા વિનશ્વર હોય છે

હકીકતમાં તો જગત્ શબ્દ જીવ અને અજીવ દ્રવ્યોનો અભિપ્રેત થાય છે તે પુદ્ગલ આદિ દ્રવ્યોના સ્વભાવ અનાદિ-સાદિ યુક્ત હોય છે પ્રાદુર્ભાવ (પ્રગટ) થવું અને તિરોભાવ (સંતાઈ જવું) થવા છતાં દ્રવ્ય રૂપથી સ્થિતિ રહેવી, અન્યનો અનુગ્રહ કરવો અને પર્યાયથી વિનષ્ટ થવું, આ બધાં દ્રવ્યોના સ્વભાવ છે

અસંખ્યાતપ્રદેશત્વ, જ્ઞાનત્ત્વ આદિ જીવના અનાદિ પરિણામ છે, તેમાં કોઈ-કોઈ પરિણામ, જેમ કે દેવત્ત્વ, મનુષ્યત્ત્વ આદિ, સાદિ પણ હોય છે

આ જ પ્રકારે પુદ્ગલદ્રવ્યનુ મૂર્ત્તત્વ રૂપ, રસ, ગંધ અને સ્પર્શવત્ત્વ પરિણામ અનાદિ છે, ઘટ-પટ આદિ પર્યાય રૂપ પરિણામ સાદિ છે ધર્મ અને અધર્મ દ્રવ્યના લોકાકાશવ્યાપકત્વ આદિ પરિણામ અનાદિ છે આ દ્રવ્ય જીવો અને પુદ્ગલોની ગતિ અને સ્થિતિના નિયામક છે, આથી ગતિશીલ અને સ્થિતિશીલ જીવ-પુદ્ગલોના પરિણમનથી ઉત્પન્ન થનારા ધર્મદ્રવ્ય અને અધર્મદ્રવ્યનુ તે પરિણામ સાદિ છે

એ જ રીતે લોકાકાશનુ અમૂર્ત્તત્વ અને અસંખ્યાતપ્રદેશવત્વપરિણામ અનાદિ છે, પરંતુ અવગાહક દ્રવ્યોના નિમિત્તથી ઉત્પન્ન થનારા અવગાહ પરિણામ સાદિ છે

દ્રવ્યોમા પૂર્વપર્યાયોનો વિનાશ અને ઉત્તર પર્યાયના ઉત્પાદ રૂપ સાદિ પરિણામ થવો એ જ પ્રાદુર્ભાવ અને તિરોભાવ છે અર્થાત્ નવીન પર્યાયની ઉત્પત્તિને પ્રાદુર્ભાવ કહે છે અને પૂર્વ-પર્યાયના વિનાશને તિરોભાવ કહે છે આ પ્રમાણે બધા દ્રવ્યોમા નિરંતર થતુ રહે છે વસ્તુ સંતાન (દ્રવ્ય) રૂપથી અવસ્થિત રહે છે તો પણ તેમનામા સ્વાભાવિક અને કારણજન્ય વિનાશ થતો રહે છે.

સ્થિતિ અથવા ધ્રૌવ્ય બધા દ્રવ્યોનુ અનાદિ પરિણામ છે આવી જ રીતે છએ દ્રવ્યોમાં પરસ્પર અનેકતા રૂપ જે પરિણામ છે તે પણ અનાદિ છે અર્થાત્ અનાદિ કાળથી પ્રત્યેક દ્રવ્યને એવું સ્વરૂપ છે કે તે અન્ય કોઈ દ્રવ્યના રૂપમા પરિણત થતુ નથી પરસ્પરમા ઉપકાર કરવો, આ જ જીવ દ્રવ્યનુ પરિણામ છે, તે પણ અનાદિ કાલીન છે જીવનુ સાદિ પરિણામ તો પર્યાયોના રૂપમા સ્પષ્ટ જ છે

આ પ્રકારે વારંવાર-નિરન્તર-જગતના સ્વભાવને ચિંતન કરવામા આવે તો તેથી સંવેગની પ્રાપ્તિ થાય છે તાત્પર્ય એ છે કે અજ્ઞાન અને હિંસા આદિ કૃત્યોના અનન્ત સંસાર રૂપ ફળ-દોષ જોવામા આવતા હોવાથી તેમના ત્યાગને માટે રાત-દિવસ સંવેગની જ ભાવના થાય છે સંવેગવાન્ વ્યક્તિ જ્યારે એવો અનુભવ કરે છે કે અચેતન પદાર્થોની પણ નિત્ય-અનિત્ય, મૂર્ત-અમૂર્ત, રૂપ, રસ, ગંધ, સ્પર્શ, શબ્દ સંસ્થાન આદિ પરિણામની શુભ-અશુભ પરિણતિ થાય છે

રાગ-દ્વેષથી વિમુખ થઈને અન્યાયપૂર્ણ ચેષ્ટાઓ ભયયુક્ત છે અને ન્યાયસન્મુખ ચેષ્ટાઓ અભય રૂપ છે, એ જાતની ભાવનાવાળો સંવેગવાન્ હોય છે—

કાયના સ્વભાવનો વિચાર આ રીતે કરવો જોઈએ—આ શરીર અનિત્ય છે જન્મકાળથી લઈને જ વિનાશશીલ છે આમા કદી બાલ્યાવસ્થા, ક્યારેક કુમારાવસ્થા, ક્યારેક યુવાવસ્થા, કદી પ્રૌઢાવસ્થા અને કોઈવાર વૃદ્ધાવસ્થા ઉદ્ભવે છે પૂર્વ-પૂર્વ અવસ્થાનો વિનાશ કરીને ઉત્તર-ઉત્તર

થાય છે તેને કાય કહે છે કાયનો અર્થ 'શરીર છે સંવેગ અને નિર્વેદને વધારવા માટે જગત અને શરીરના સ્વરૂપનુ વારંવાર ચિંતન કરવું જરૂરી છે ॥ ૧૫ ॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—આની પહેલા હિંસાપરિત્યાગ આદિ પાચે વ્રતોની દૃઢતા માટે પાંચે મહાવ્રત આદિ માટે સાધારણ મૈત્રી વગેરે ભાવનાઓનુ પ્રતિપાદન કરવામાં આવ્યુ હવે હિંસા આદિ અશુભ નવીન કર્મબંધનની નિવૃત્તિમા તત્પર પંચમહાવ્રતધારી સાધુઓની ક્રિયાવિશેષના પ્રણિધાનના હેતુ માટે અન્ય ભાવનાઓનું પ્રતિપાદન કરવા માટે કહીએ છીએ—

પંચમહાવ્રતાદિના ધારણ કરનારા જીવ સંવેગ તથા નિર્વેદ માટે જગતના અને શરીરના સ્વરૂપનુ ચિન્તન કરે, અર્થાત્ સંવેગને માટે જગત્‌ના સ્વભાવનુ અને નિર્વેદન માટે શરીરના સ્વભાવનું ચિંતન કરે

સંસારની પ્રતિ કાયરતા હોવી સંવેગ છે અર્થાત્ જુદા જુદા પ્રકારના ઉચ્ચ તથા નીચ પ્રાણીઓના જન્મ, મરણ ઘડપણ દુઃખ કલેશ અને કર્મવિપાકથી પરિપૂર્ણ સંસારના ત્રાસનો વિપાક કરવો તે જ સંવેગ છે

વૈરાગ્યને નિર્વેદ કહે છે એનો આશય છે શરીરની સજાવટ-શૃંગાર વગેરે ન કરવા આગળ પર કહેવામા આવનારા ક્ષેત્ર વાસ્તુ આદિ દશ પ્રકારની બાહ્ય ઉપધિમા અને રાગ દ્વેષ વગેરે ચૌદ પ્રકારની આન્તરિક ઉપધિમા આસક્તિ મમતા ન હોવી કહેવાનો ભાવાર્થ એટલો જ છે કે નિર્લોભિતારૂપ આત્માનુ પરિણામ નિર્વેદ કહેવાય છે

વહાલી વસ્તુનો વિયોગ થઈ જવો, ન ગમતી વસ્તુનો સંયોગ થવો મનગમતી વસ્તુ ન મળવી, ગરીબાઈ હોવી, કમનસીબી હોવી, દુર્મનસ્કતા હોવી, વધ, બન્ધન, આરોપ, અસમાધિ તથા દુઃખનો અનુભવ થવો એવો જગતનો સ્વભાવ છે સંસારના સર્વ સ્થાન નાશવંત છે કોઈ પણ જીવ અથવા અજીવનો એવો કોઈ જ પર્યાય નથી જે કાયમી હોય ધર્મ અને અધર્મ આદિ સઘળાં દ્રવ્ય પરિણમનશીલ છે તેમનામા નિરન્તર પરિવર્તન થતા રહે છે ભૂતકાળમા એકે-એક દ્રવ્યની અનન્ત અવસ્થાઓ થઈ ચુકી છે અને આ ક્રમ એક પળવાર પણ ક્યારેય અટકતો નથી આવી રીતે ધર્મ આદિ છ એ દ્રવ્યોમા પરિણતિ નિત્યતાની ભાવના કરે, અર્થાત્ એવો વિચાર કરે કે આત્મદ્રવ્ય અજર અમર અવિનાશી અને નિત્ય હોવા છતા પણ પર્યાયો ની અપેક્ષાથી ક્ષણે ક્ષણે રૂપાન્તરિત થતા રહે છે કોઈવાર દેવતા કોઈવાર મનુષ્ય તો વળી કોઈવાર તિર્યંચ અને નારકીના પર્યાયોને ધારણ કરે છે અને ત્યાં વિવિધ પ્રકારની આધિ વ્યાધિ એ ઉપાધિઓ-ત્રિવિધ તાપોને-ભોગવે છે આ જ પ્રમાણે અન્ય દ્રવ્યોની નિત્યા-નિત્યતાનુ પણ ચિન્તન કરે

કાયાના સ્વભાવનો આ પ્રકારે વિચાર કરે-માતા અને પિતાના રજ અને વીર્ય જ્યારે મિશ્રિત થાય છે ત્યારે તે ગર્ભજ પ્રાણિઓના રૂપમા પરિણત થઈ જાય છે સંમૂર્છિમ અને ઉપપાત જન્મવાળા જીવોના શરીર ઉત્પત્તિક્ષેત્રમા રહેલા પુદ્‌ગલસ્કન્ધોને ગ્રહણ કરવાથી નિર્મિત થાય છે તે શરીર વિવિધ આકારો તેમજ અશુભ પરિણમનવાળા હોય છે તેમનામા અપચય અને ઉપચય અર્થાત વિયોગ અને મિલન થતા રહે છે અને તે સઘળા વિનશ્વર હોય છે.

હકીકતમાં તો જગત્ શબ્દ જીવ અને અજીવ દ્રવ્યોને અભિપ્રેત થાય છે તે પુદ્ગલ આદિ દ્રવ્યોના સ્વભાવ અનાદિ-સાદિ યુક્ત હોય છે પ્રાદુર્ભાવ (પ્રગટ) થવું અને તિરોભાવ (સંતાઈ જવું) થવા છતાં દ્રવ્ય રૂપથી સ્થિતિ રહેવી, અન્યને અનુગ્રહ કરવો અને પર્યાયથી વિનષ્ટ થવું, આ બધાં દ્રવ્યોના સ્વભાવ છે

અસંખ્યાતપ્રદેશત્વ, જ્ઞાનત્ત્વ આદિ જીવના અનાદિ પરિણામ છે, તેમા કોઈ-કોઈ પરિણામ, જેમ કે દેવત્વ, મનુષ્યત્વ આદિ, સાદિ પણ હોય છે

આ જ પ્રકારે પુદ્ગલદ્રવ્યનુ મૂર્ત્તત્વ રૂપ, રસ, ગંધ અને સ્પર્શવત્ત્વ પરિણામ અનાદિ છે, ઘટ-પટ આદિ પર્યાય રૂપ પરિણામ સાદિ છે ધર્મ અને અધર્મ દ્રવ્યના લોકાકાશવ્યાપકત્વ આદિ પરિણામ અનાદિ છે આ દ્રવ્ય જીવો અને પુદ્ગલોની ગતિ અને સ્થિતિના નિયામક છે, આથી ગતિશીલ અને સ્થિતિશીલ જીવ-પુદ્ગલોના પરિણમનથી ઉત્પન્ન થનારા ધર્મદ્રવ્ય અને અધર્મદ્રવ્યનુ તે પરિણામ સાદિ છે

એ જ રીતે લોકાકાશનુ અમૂર્ત્તત્વ અને અસંખ્યાતપ્રદેશવત્વપરિણામ અનાદિ છે, પરંતુ અવગાહક દ્રવ્યોના નિમિત્તથી ઉત્પન્ન થનારા અવગાહ પરિણામ સાદિ છે

દ્રવ્યોમાં પૂર્વપર્યાયોનો વિનાશ અને ઉત્તર પર્યાયના ઉત્પાદ રૂપ સાદિ પરિણામ થવો એ જ પ્રાદુર્ભાવ અને તિરોભાવ છે અર્થાત નવીન પર્યાયની ઉત્પત્તિને પ્રાદુર્ભાવ કહે છે અને પૂર્વ-પર્યાયના વિનાશને તિરોભાવ કહે છે આ પ્રમાણે બધા દ્રવ્યોમા નિરંતર થતુ રહે છે વસ્તુ સંતાન (દ્રવ્ય) રૂપથી અવસ્થિત રહે છે તો પણ તેમનામા સ્વાભાવિક અને કારણજન્ય વિનાશ થતો રહે છે

સ્થિતિ અથવા ધ્રૌવ્ય બધા દ્રવ્યોનુ અનાદિ પરિણામ છે આવી જ રીતે છએ દ્રવ્યોમાં પરસ્પર અનેકતા રૂપ જે પરિણામ છે તે પણ અનાદિ છે અર્થાત્ અનાદિ કાળથી પ્રત્યેક દ્રવ્યને એવું સ્વરૂપ છે કે તે અન્ય કોઇ દ્રવ્યના રૂપમા પરિણત થતુ નથી પરસ્પરમા ઉપકાર કરવો, આ જ જીવ દ્રવ્યનુ પરિણામ છે, તે પણ અનાદિ કાલીન છે જીવનુ સાદિ પરિણામ તો પર્યાયોના રૂપમા સ્પષ્ટ જ છે

આ પ્રકારે વાર વાર-નિરન્તર-જગતના સ્વભાવને ચિંતન કરવામા આવે તો તેથી સંવેગની પ્રાપ્તિ થાય છે તાત્પર્ય એ છે કે અજ્ઞાન અને હિંસા આદિ કૃત્યોના અનન્ત સંસાર રૂપ ફળ-દોષ જોવામા આવતા હોવાથી તેમના ત્યાગને માટે રાત-દિવસ સંવેગની જ ભાવના થાય છે સંવેગવાન્ વ્યક્તિ જ્યારે એવો અનુભવ કરે છે કે અચેતન પદાર્થોની પણ નિત્ય-અનિત્ય, મૂર્ત-અમૂર્ત, રૂપ, રસ, ગંધ, સ્પર્શ, શબ્દ સંસ્થાન આદિ પરિણામની શુભ-અશુભ પરિણતિ થાય છે

રાગ-દ્વેષથી વિમુખ થઇને અન્યાયપૂર્ણ ચેષ્ટાઓ ભયયુક્ત છે અને ન્યાયસન્મુખ ચેષ્ટાઓ અભય રૂપ છે, એ જાતની ભાવનાવાળો સંવેગવાન્ હોય છે—

કાયના સ્વભાવનો વિચાર આ રીતે કરવો જોઇએ—આ શરીર અનિત્ય છે જન્મકાળથી લઇને જ વિનાશશીલ છે આમા કદી બાલ્યાવસ્થા, ક્યારેક કુમારાવસ્થા, ક્યારેક યુવાવસ્થા, કદી પ્રૌઢાવસ્થા અને કોઇવાર વૃદ્ધાવસ્થા ઉદ્ભવે છે પૂર્વ-પૂર્વ અવસ્થાનો વિનાશ કરીને ઉત્તર-ઉત્તર

અવસ્થાઓ ઉત્પન્ન થાય છે આવી રીતે આ શરીર આયુષ્યની સમાપ્તિ પર્યન્ત અનિત્ય છે ત્યાર પછી ક્રોધથી, અગ્નિથી કુતરા અથવા ગીધડા વગેરે પક્ષીઓના નિમિત્તથી, પવન તથા તાપથી સુકાઇ જઈને શરીરના આકારમા પરિણત થયેલા પુદ્ગલસ્કન્ધો છિન્ન ભિન્ન થઇ જાય છે. અને છિન્ન-ભિન્ન દ્વયણુક આદિ રૂપ ધારણ કરતા થકા છેવટે પરમાણુઓના રૂપમા વિભક્ત થઇ જાય છે આ રીતે આ શરીર અનિત્ય છે

દીર્ઘકાળ સુધી આ શરીરનુ કુકુમ, અગર, કપૂર કસ્તુરી વગેરેનુ લેપન કરીને, મિષ્ટાન્ન, પાન, વસ્ત્રાચ્છાદન વગેરેથી લાલન-પાલન કરવામા આવે છે તો પણ અકાળે જ તે વિનાશને પ્રાપ્ત થઈ જાય છે

આવી રીતનુ ચિતન કરવાથી શરીરની પ્રતિ જે મમત્વ થાય છે તે ચાલ્યુ જાય છે આથી સવેગ અને વૈરાગ્યની ઉત્પત્તિ થાય છે

આના સિવાય આ શરીર દુખોનુ કારણુ છે પીડારૂપ બાધાને દુખ કહે છે આ બાધા બે પ્રકારની હોય છે—શરીરના આશ્રયથી અને મનના આશ્રયથી આ શરીરનુ જ્યા સુધી અસ્તિત્વ રહે છે ત્યા સુધી દુઃખમાથી મુક્તિ મળી શકતી નથી કર્મના પુદ્ગલ અને આત્માના પ્રદેશો જ્યારે એકત્ર થાય છે અને દૂધ અને પાણીની જેમ એકાકાર થઇને રહે છે ત્યારે કર્મ-પુદ્ગલોના નિમિત્તથી દુખનો અનુભવ થાય છે આમ આ શરીર દુખનુ કરણુ છે એવી ભાવના કરતો થકો ભવ્ય જીવ શરીરના અત્યન્ત વિનાશ માટે પ્રયત્ન કરે છે અર્થાત્ એવી સાધના કરે છે જેથી શરીરની સાથેનો સબન્ધ હમેશના માટે નષ્ટ થઈ જાય

વળી આ શરીર અસાર પણ છે ત્વચા (ચામડી) માસ, મજ્જા આદિથી વિટાયેલુ આ શરીરકે જેમા મેદ, હાડપિજર, આતરડા, પાણી, મળ, મૂત્ર, કફ પિત્ત, મજ્જા વગેરેનો સમુદાય છે, કદલી સ્તભની જેમ નિઃસાર છે, એમા કોઈ જ સાર નથી

માટે અકાળમા જ આ શરીર કે જેનો નાશ અચૂક થવાનો છે જ તે નિઃસાર ભાસે છે એવી ભાવના ભાવનારના મનમા શરીર પ્રત્યે આસક્તિ રહેતી નથી

આ શરીર અશુચિ અર્થાત્ અપવિત્ર પણ છે લોકમાં તે અશુચિના રૂપથી પ્રસિદ્ધ છે, શરીરની અદર જ તેની વિવિધતા જોવામા આવે છે ગર્ભજ મનુષ્યના શરીરનુ મૂળ કારણ શુક્ર તથા શોણિત છે ત્યારબાદ તે જ શુક્ર અને શોણિતના કલકલ, બુદ બુદ માંસ પેસી આદિના રૂપમાં પરિણમન થાય છે કેટલાક મહિનાઓ બાદ શરીર, હાથ, પગ વગેરે અવયવ પ્રગટ થાય છે ગર્ભમા રહેલો જીવ માતા દ્વારા આરોગેલા ભોજનના રસને રસહરણી નાડી મારફતે ગ્રહણ કરે છે અને તેનાથી પોતાનુ પોષણ કરે છે તે ગદકીમાં નિવાસ કરે છે જ્યારે અવયવો પરિપૂર્ણ થઇ જાય છે ત્યારે પરિપકવ થઇને માતાના ગર્ભમાથી બહાર નિકળે છે પછી માતાના દૂધનુ પાન કરીને તેમા લોહી માંસ આદિ ધાતુઓનો સચય થાય છે મળમૂત્રથી યુક્ત થાય છે અરે! પિત્ત અને વાયુરુપ ધાતુઓની વિષમતાના પ્રકોપથી તેમા સૂજન ઉત્પન્ન થઇ જાય છે ?

ગડ, હોઠ, તાળવા વગેરેના સ્પર્શથી લોહી વહેવા માડે છે, પરુ નીકળે છે આ રીતે શરીર બધી અવસ્થાઓમાં અપવિત્ર જ બન્યુ રહે છે એવી ભાવના કરવી જોઈએ આનાથી

સંવેગ–વૈરાગ્યની ઉત્પત્તિ અને વૃદ્ધિ થાય છે તાત્પર્ય એ છે કે આરંભ પરિગ્રહ વગેરેમાં દોષ જોવાથી તેમના પ્રતિ અરુચિ અને ધર્મમા બહુમાન ઉત્પન્ન થાય છે શરીર–ભોગ અને સંસારથી વિરક્તિ થાય છે, વિમુખતા થાય છે અને ઉદ્‌વેગ ઉત્પન્ન થાય છે ॥૧૫॥

'देवा चउव्विहा, भवणवई' ઇત્યાદિ ॥સૂ. ૧૬॥

સૂત્રાર્થ—દેવ ચાર પ્રકારના છે–ભવનપતિ, વાણવ્યંતર, જ્યોતિષ્ક અને વૈમાનિક ॥૧૬॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—જીવ વગેરે નવ તત્ત્વોમાંથી ક્રમપ્રાપ્ત ચોથા પુણ્યતત્ત્વની પ્રરૂપણા કરીને પુણ્યના ફળથી પ્રાપ્ત થનારી દેવગતિની પ્રરૂપણા કરવાના આશયથી સર્વપ્રથમ દેવોના ભેદ કહીએ છીએ—

દેવ ચાર પ્રકારના છે—ભવનપતિ વાણવ્યતર જ્યોતિષ્ક અને વૈમાનિક આભ્યન્તર કારણે દેવગતિ નામ કર્મનો ઉદય થવાથી બાહ્ય વિભૂતિઓથી દ્વીપ પર્વત સમુદ્ર આદિ પ્રદેશોમાં ઇચ્છાનુસાર જે ક્રીડા કરે છે તેઓ દેવ કહેવાય છે (પચાદિ ગણ)માં પાઠ હોવાથી દેવ શબ્દમા અમ પ્રત્યય થયો છે. દેવોના પૂર્વોક્ત ચારે પ્રકાર છે

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પ્રથમ વિસ્તારપૂર્વક પુણ્યતત્ત્વની પ્રરૂપણા કરવામાં આવી હવે પુણ્યકર્મના ફળ દેવગતિની પ્રરૂપણા કરવા માટે સર્વપ્રથમ દેવોના ભેદ કહેવામા આવે છે.

દેવગતિ નામક પુણ્ય નામકર્મના ઉદયની દ્વીપ પર્વત વગેરે પ્રદેશોમાં જેઓ ક્રીડા કરે છે તેઓ દેવ કહેવાય છે સ્વૈરવિહારી સ્વભાવવાળા હોવાથી તેમનું મન હમેશા ક્રીડામાં આસક્ત રહેલું હોય છે

અથવા **दीव्यन्ति**નો અર્થ છે–**द्योतन्ते**. અત્યન્ત તેજવાન હોવાથી અને હાડકાં, માંસ, લોહી, મજ્જા આદિથી રહિત હોવાના કારણે જેમના બધાં અગોપાગ અત્યન્ત નયનરમ્ય હોય છે તેઓ દેવ કહેવાય છે અથવા વિદ્યા, મંત્ર અને વશીકરણ વગર જ પૂર્વે કરેલાં તપના પ્રભાવથી તેઓ જન્મકાળથી જ વગર આધારે આકાશમાં વિચરે છે તેઓ દેવ કહેવાય છે. વ્યાકરણશાસ્ત્ર અનુસાનુર 'દિવુ' ધાતુના અનેક અર્થ થાય છે જેવાં કે–ક્રીડા, વિજિગીષા (વિજયની આકાંક્ષા), વ્યવહાર, દ્યુતિ, સ્તુતિ, મોદ, મદ, સ્વપ્ન, કાન્તિ અને ગતિ

દેવોની વિશિષ્ટ ગતિનુ વર્ણન આગમોમાં કરવામાં આવ્યુ છે. વ્યાખ્યાપ્રજ્ઞપ્તિ–ભગવતી-સૂત્રના અગીયારમાં શતકના દશમા ઉદ્દેશકમા કહેવામાં આવ્યું છે—

પ્રશ્ન—ભગવાન્ ! લોક કેટલો મોટો છે ?

ઉત્તમ—ગૌતમ ! આ જંબૂદ્વીપ નામનો દ્વીપ સંમસ્ત દ્વીપો અને સમૂદ્રોની અદર છે અને બધાથી નાનો છે કોઈ કાળ અને કોઈ સમયમાં છ મહાન રિદ્ધિના ધારક દેવ જમ્બૂદ્વીપમા, મેરૂપર્વતના શિખરને ચારે બાજુથી ઘેરીને ઉભા હોય આ બાજુ ચાર મોટી દિક્કુમારિઓ ચાર બાલિપિણ્ડો ને પકડીને જમ્બૂદ્વીપના ચારે દ્વારોએ બહારની બાજુએ મુખ રાખીને ઉભી થઈને તે ચારેય બલિપિણ્ડોનો એકી સાથે છોડી દે ત્યારે હે ગૌતમ ! તે છ દેવમાંથી એક–એક દેવ તે ચારે બલિપિણ્ડોને ધરતી પર પડતા પહેલા જ શીઘ્રતાપૂર્વક ઝીલી શકે છે,

પકડી શકે છે દેવોની ગતિ એટલી તીવ્ર હોય છે. આવી ઝડપી ગતિથી એક દેવ પૂર્ણ દિશા ભણી ચાલ્યો અને એ જ રીતે છએ દેવો છએ દિશાઓ તરફ રવાના થયા.

તે કાળ અને તે સમયમા એક હજાર વર્ષની આયુષ્યવાળો એક બાળક જન્મ્યો તેના માતા-પિતા મૃત્યુ પામ્યા તો પણ તે ઉત્કૃષ્ટ ગતિથી જતા થકા તેઓ દેવલોકના સીમાડા સુધી પહોંચી શકયા નહી ત્યારબાદ તે બાળકનુ આયુષ્ય પૂર્ણ થઈ ગયુ ત્યાસુધી દેવ તે જ તીવ્ર ગતિથી ચાલતા જ ગયા પરતુ તેઓ લોકના છેડા સુધી પહોચી શકયા નહી

ત્યારપછી સમય વીતવાની સાથે તે બાળકના નામ-ગોત્ર પણ ભુસાઈ ગયા ત્યાંસુધી સતત ચાલવા છતાં પણ તે દેવ, લોકનો અન્ત પામી ન શકયા

પ્રશ્ન—ભગવત ! તે દેવોએ જે અતર કાપ્યુ તે અધિક છે કે જે અતર હજુ કાપવાનુ બાકી રહ્યુ તે વધારે છે ?

ઉત્તર—હે ગૌતમ ! કાપેલુ અતર વધુ છે, નહી કાપેલુ (બાકી રહેલુ) અંતર વધુ નથી. કાપેલા અતરથી ન કાપેલુ અતર અસખ્યાતમો ભાગ છે ન કાપેલા અતરથી કાપેલું અતર અસખ્યાતગણુ છે હે ગૌતમ ! લોક એટલો બધો વિશાળ છે, અર્થાત્ આનાથી કલ્પના કરી શકાય કે લોક કેટલો મહાન છે

આવુ જ પ્રજ્ઞાપનાસૂત્રના બીજા પદમા દેવોના વિમાનોની વિશાળતા પ્રદર્શિત કરવા માટે કહ્યુ છે—

પ્રશ્ન—ભગવન્ ! વિમાન કેટલા મોટા કહેવાયા છે ?

ઉત્તર—હે ગૌતમ ! આ જમ્બૂદ્વીપ નામક દ્વીપ સર્વ દ્વીપો તથા સમુદ્રોની વચ્ચે છે અને સૌથી નાનો (એક લાખ યોજન વિસ્તારવાળો) છે કોઈ મહાન રિદ્ધિના ધારક અર્થાત્ મહાન પ્રભાવવાળા દેવ "આ લ્યો" એ પ્રમાણે કહીને ફક્ત ત્રણ તાળીઓમા અર્થાત્ ત્રણવાર તાળી વગાડવામા જેટલો સમય લાગે છે એટલા સ્વલ્પકાળમા એકવીસ વાર સપૂર્ણ જમ્બૂદ્વીપની પ્રદક્ષિણા કરીને એકદમ પાછા આવી ગયા, આવા અતિશય વેગવાન ઝડપવાળા હોય તે દેવ પોતાની તે જ ઉત્કૃષ્ટ, ત્વરાયુક્ત, પ્રચડ, ચપળ, શીઘ્ર, ઉદ્ધત, વેગયુક્ત (અથવા યાતનામય) અને દિવ્યગતિથી, એક દિવસ, બે દિવસ, ત્રણ ચાર અને વધારેમા વધારે છ માસ સુધી વણથભે ચાલતા રહે તો કોઈ એકાદ વિમાનને પાર કરી લે અને કોઈ વિમાનને છ માસમા પણ પાર ન કરી શકે હે ગૌતમ ! દેવવિમાન એટલા વિશાળ હોય છે ! તાત્પર્ય એ છે કે જે દેવ ત્રણ તાળીના સમયમા એકવીસ વખત સમગ્ર જમ્બૂદ્વીપનો ફેરો કરી શકે છે તે જ દેવ છ માસ સુધી નિરન્તર ચાલીને પણ કોઈ-કોઈ વિમાન સુધી પહોચી શકતા નથી આના ઉપરથી જ દેવવિમાનોની વિશાળતાની કલ્પના થઈ શકે છે

આ તો દેવોની મધ્યમ ગતિઓ છે. બીજા દેવોની ગતિ તેથી પણ વધારે હોય છે આમ દેવગતિઓ પુણ્ય નામકર્મના ઉદયથી જન્મે છે દેવ વિશિષ્ટ ક્રીડા, ગતિ અને દ્યુતિ સ્વભાવ વાળા વિશિષ્ટ-વિશિષ્ટ સ્થાનોમા રહેવાવાળા તથા સુખની વિપુલતાવાળા હોય છે આ દેવ ચાર પ્રકારના છે—ભવનપતિ, વાનવ્યતર, જ્યોતિષ્ક અને વૈમાનિક ઉક્ત ચાર પ્રકારના દેવોમાથી ભવનપતિ અધોલોકમા નિવાસ કરે છે, વાનવ્યતર અને જ્યોતિષ્ક મધ્યલોકમા (તીર્છા લોકમા) રહે છે અને વૈમાનિક ઉર્ધ્વલોકમા નિવાસ કરે છે.

ભવનપતિ દેવ રત્નપ્રભા પૃથ્વીમાં ઉપર અને નીચેના એક એક હજાર યોજન ક્ષેત્રને છોડીને જન્મ લે છે. વાનવ્યતર આ જ રત્નપ્રભાપૃથ્વીની ઉપર છોડી દીધેલા એક એક હજાર યોજન ક્ષેત્રમાંથી ઉપર-નીચે એક-એક સો યોજન છોડીને મધ્યના આઠસો યોજનોમા ઉત્પન્ન થાય છે. જ્યોતિષ્ક દેવ આ સમતલ ભૂમિભાગથી સાતસો નેવુ યોજન ઉપરથી લઇને એકસો દશ યોજનમાં અર્થાત્ સાતસો નેવુ યોજનની ઉચાઇથી લઇને નવસો સુધીના એકસો દશ યોજનોમાં ઉત્પન્ન થાય છે.

વૈમાનિક દેવ જ્યોતિષ્ક દેવોથી દોઢ રજ્જુ ઉપર સૌધર્મ દેવલોકથી લઇને સર્વાર્થ સિદ્ધ વિમાન પર્યન્તમાં જન્મ ધારણ કરે છે

આ પ્રકારે ઉત્પાદ અને નિવાસ સ્થાનના ભેદથી દેવ ચાર પ્રકારના કહેવામા આવે છે ભવનપતિ આદિ દેવ પોત-પોતાના સ્થાનોમાં ઉત્પન્ન થઈ અન્યત્ર લવણસમુદ્ર, મન્દરાચલ, હિમવાન, પર્વત તથા તરૂગહન આદિમાં પણ પૂર્વોક્ત સ્થાનોને છોડીને નિવાસ કરે છે. 'હા, આ સ્થાનોમાં તેમનો જન્મ થતો નથી—

અત્રે શકા કરી શકાય કે ભગવતી સૂત્રના બારમા શતકના નવમા ઉદ્દેશકમાં, પાચ પ્રકારના દેવ કહેવામાં આવ્યા છે ભગવતી સૂત્રનુ તે કથન નીચે લખ્યા મુજબનુ છે—

પ્રશ્ન—ભગવત ! દેવ કેટલા પ્રકારના કહ્યા છે ?

ઉત્તર—ગૌતમ ! પાચ પ્રકારના દેવ કહેવામા આવ્યા છે, જેમ કે (૧) ભવ્યદ્રવ્યદેવ (૨) નરદેવ (૩) ધર્મદેવ (૪) દેવાધિદેવ અને (૫) ભાવદેવ

(૧) ભવ્યદ્રવ્યદેવ—જે પચેન્દ્રિય તિર્યંચ અથવા મનુષ્યે દેવાયુષ્ય કર્મ બાંધવું હોય તેમજ જે ઉત્તર જન્મમાં દેવના રૂપમાં ઉત્પન્ન થવાના હોય, તે આગામી દેવપર્યાયની અપેક્ષાથી ભવ્ય-દ્રવ્યદેવ કહેવાય છે. આ કથન લાકડા કાપવાના ઉદાહરણથી નૈગમનયની અપેક્ષા સમજવું જોઇએ.

(૨) નરદેવ—ચૌદ રત્નોના અધિપતિ ચક્રવતી નરદેવ કહેવાય છે કારણ કે અન્ય મનુષ્યોની અપેક્ષા તેઓ ઉત્કૃષ્ટ હોય છે.

(૩) ધર્મદેવ—સાધુ ધર્મદેવ છે કારણ કે તેઓ પ્રવચનમાં પ્રતિપાદિત અર્થનું અનુષ્ઠાન કરે છે અને તેમના વ્યવહારમાં સમીચીન ધર્મનુ પ્રાધાન્ય હોય છે

(૪) દેવાધિદેવ—જેમને તીર્થંકર નામકર્મનો ઉદય છે જેઓ કૃતાર્થ થઈ ચુકયા છે અને અર્હન્ત છે તેઓ દેવાધિદેવ કહેવાય છે કારણ કે તેઓ ધર્મોપદેશ દ્વારા ભવ્ય જીવો પર અનુગ્રહ કરે છે અને અન્ય દેવો દ્વારા પણ પૂજનીય હોય છે

(૫) ભાવદેવ—ભવનપતિ, વાનવ્યતર, જ્યોતિષ્ક અને વૈમાનિક દેવ જેમને દેવગતિ નામકર્મનો ઉદય છે, ભાવદેવ કહેવાય છે કારણ કે તેઓ અતિશય ક્રીડામાં રચ્યાપચ્યા રહે છે.

આ રીતે જો દેવ પ્રાંચ પ્રકારના છે તો આપે ચાર પ્રકારના કેમ કહ્યાં ?

આ પ્રશ્નનો ઉત્તર આ છે—અહી માત્ર ભાવદેવોની જ વિવક્ષા-વિવરણ-કરવામાં આવ્યું છે આથી જ દેવોના ચાર ભેદ કહેવામાં આવ્યા છે આ સિવાય પૂર્વોક્ત પાંચ પ્રકારના દેવોમાં

શરૂઆતના ત્રણ વાસ્તવમાં મનુષ્ય છે અને ભવ્યદ્રવ્યદેવ મનુષ્ય અથવા તિર્યંચ છે—કેટલીક વિશેષતાઓના કારણે જ તેમને દેવ કહેવામાં આવ્યા છે આથી ભાવદેવોના ભેદ ચાર જ સમજવા જોઈએ

ભગવતી સૂત્રના પ્રથમ શતકના સાતમાં ઉદ્દેશકમાં કહ્યુ છે—દેવ ચાર પ્રકારના કહેવામાં આવ્યા છે—ભવનપતિ, વાણવ્યન્તર, જ્યોતિષ્ક અને વૈમાનિક ॥ ૧૬ ॥

'तत्थ भवणवइ दसविहा' ઈત્યાદિ ॥ ૧૭ ॥

સૂત્રાર્થ—ભવનપતિદેવ દશ પ્રકારના છે—અસુરકુમાર નાગકુમાર, સુવર્ણકુમાર, વિદ્યુત્કુમાર, અગ્નિકુમાર, દ્વીપકુમાર ઉદધિકુમાર દિશાકુમાર, વાયુ—પવનકુમાર અને સ્તનિતકુમાર ॥ ૧૭ ॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમાં ભવનપતિ, વાનવ્યંતર, જ્યોતિષ્ક, અને વૈમાનિકના ભેદથી ચાર પ્રકારના દેવોનુ પ્રતિપાદન કરવામા આવ્યુ છે, હવે તેમા સૌથી પહેલા ગણવામા આવેલા ભવનપતિના દશ અવાન્તર ભેદોનું પ્રતિપાદન કરવા માટે કહીએ છીએ—

તેમાંથી અર્થાત્ ચાર પ્રકારના ભવનપતિ, વાનવ્યન્તર, જ્યોતિષ્ક અને વૈમાનિક દેવોમાથી ભવનપતિ દશ પ્રકારના હોય છે—(૧) અસુરકુમાર (૨) નાગકુમાર (૩) સુવર્ણકુમાર (૪) વિદ્યુત્કુમાર (૫) અગ્નિકુમાર (૬) દ્વીપકુમાર (૭) ઉદધિકુમાર (૮) દિશાકુમાર (૯) પવનકુમાર અને (૧૦) સ્તનિતકુમાર દ્વન્દ્વ સમાસને છેડે જોડાયેલ પદ બધાની સાથે લગાવી શકાય છે એ નિયમાનુસાની 'કુમાર' શબ્દ અહી બધાની સાથે જોડવામાં આવે છે આ ભવનપતિ દેવ 'ભવનવાસી' પણ કહેવાય છે ॥ ૧૭ ॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—આની પહેલા ભવનપતિ, વાનવ્યંતર, જ્યોતિષ્ક અને વૈમાનિકના ભેદથી ચાર પ્રકારના દેવોનુ પ્રતિપાદન કરવામા આવ્યુ છે હવે તેમાથી સૌ પ્રથમ ગણાવેલા ભવનવાસિઓના દશ વિશેષ ભેદ બતાવીએ છીએ—

પર્વોક્ત ભવનવાસી, વાનવ્યંતર, જ્યોતિષ્ક અને વૈમાનિક આ ચાર પ્રકારના દેવોમાથી—ભવનપતિ દેવ દશ પ્રકારના છે તેમના નામ આ છે—(૧) અસુરકુમાર (૨), નાગકુમાર (૩) સુવર્ણકુમાર (૪) વિદ્યુત કુમાર (૫) અગ્નિકુમાર (૬) દ્વીપકુમાર (૭) ઉદધિકુમાર (૮) દિશાકુમાર (૯) પવનકુમાર અને (૧૦) સ્તનિતકુમાર

અસુર—નાગ આદિમાં મૂળસૂત્રમાં દ્વન્દ્વ સમાસ છે અને દ્વન્દ્વ સમાસને છેડે જોડેલુ પદ દરેક શબ્દની સાથે જોડી શકાય છે એ નિયમના અનુસાર અહી દશે ભેદોની સાથે કુમાર શબ્દનો પ્રયોગ કરવામા આવ્યો છે આ દશે ભવનોમાં નિવાસ કરવાના સ્વભાવવાળા છે આથી તેઓ ભવનવાસી પણ કહેવાય છે તેમના નિવાસ ભૂમિમા હોવાથી ભવન કહેવામા આવે છે તે ભવનોમા જે વાસ કરે છે તેઓ ભવનવાસી કહેવાય છે

આ બધાં કુમારની જેમ જોવામાં કમનીય હોય છે સુકુમાર હોય છે તેમની ગતિ ઘણી લલિત, કલિત, કોમળ અને મધુર હોય છે સુંદર શૃંગાર રૂપ અને વિક્રિયાથી યુક્ત હોય છે કુમારોના જેવુ રૂપ, વેશભૂષા, ભાષા આયુધ, યાન, વાહન અને ચરણન્યાસવાળા, કુમારોની માફક જ રાગવાન્ તથા ક્રીડાપરાયણ હોય છે આ કારણે જ એમને કુમાર કહે છે

અસુરકુમાર અસુરકુમારાવાસમાં નિવાસ કરે છે. તેમના આ વાસ વિશાળ મંડળોવાળા અને વિવિધ પ્રકારના રત્નોના તેજથી ચમકીલા હોય છે પ્રાયઃ અસુરકુમાર આવા આ વાસોમાં રહે છે અને કદાચિત ભવનોમા પણ નિવાસ કરે છે

નાગકુમાર આદિ પ્રાયઃ ભવનોમા જ રહે છે અને જુદા જુદા વાસોમાં રહે છે. આ ભવનો બહાર ગોળાકાર અને અંદર ચોરસ હોય છે હેઠળથી કમળની પાદડી જેવા હોય છે આ આવાસ અને ભવન કયાં હોય છે એવી જિજ્ઞાસા થવા પર કહીએ છીએ—

એક હજાર યોજન અવગાહવાળા મહામન્દર પર્વતથી દક્ષિણ દિશામાં મધ્યે ઘણી બધી ક્રોડાક્રોડી લાખ યોજનોમા આવાસ હોય છે. ભવન દક્ષિણાર્ધના અધિપતિ ચમરઇન્દ્ર આદિના તથા ઉત્તરાર્ધના અધિપતિ બલિ વગેરે અસુરોને લાયક હોય છે હકીકતમાં તો એક લાખ એંશી હજાર યોજન મોટી રત્નપ્રભા પૃથ્વીના એક-એક હજાર ઉપરના તથા નીચેના ભાગને છોડી દઈને એકલાખ ઇઠ્યોતેર હજાર યોજનોમા ફૂલોની માફક પથરાયેલાં આવાસ હોય છે. ભવન સમતલ ભૂમિભાગથી ચાલીશ હજાર યોજન નીચે ગયા પાછી શરૂ થાય છે

આ અસુરકુમાર આદિના નામકર્મના નિયમ અનુસાર અને ભવનોના કારણથી પોતપોતાની જાતિમા નિયતવિક્રિયા થાય છે અંગોપાગ નામકર્મના ઉદયથી, અને નિર્માણ નામકર્મના ઉદયથી, પ્રત્યેક જાતિમા અલગ અલગ વિક્રિયાઓ થાય છે

અસુરકુમાર ગંભીર આશયવાળા, હૃષ્ટપુષ્ટ શરીરવાળા, શ્રીમન્ત, સુન્દર સમસ્ત અંગોપાંગ-વાળા, પીળા રંગવાળા, સ્થૂળ શરીરવાળા, રત્નજડિત મુગુટથી શોભાયમાન અને રાખડીના ચિહ્નથી યુક્ત હોય છે અસુરકુમારોને આ બધા નામકર્મના ઉદયથી સાંપડે છે

નાગકુમારોના માથા અને મોઢા અધિક સુન્દર હોય છે તેઓ પાન્ડુવર્ણી કોમળ તથા લલિત ગતિવાળા અને માથા ઉપર સર્પના ચિહ્નથી યુક્ત હોય છે.

સુવર્ણકુમારોની ડોક અને વક્ષઃસ્થળ વધારે સુન્દર હોય છે. સોનેરી રંગવાળા સુન્દર હોય છે તેમના મુગટ પર ગરૂડનુ ચિહ્ન હોય છે

વિદ્યુત્કુમાર સ્નિગ્ધ (ચિકણા) દેદીપ્યમાન રકતવર્ણવાળા, સુન્દર અને વજ્રના ચિહ્નયુક્ત હોય છે.

અગ્નિકુમાર માન, ઉન્માન અને પ્રમાણથી યુક્ત ભાસ્વર, સુન્દર, રક્તવર્ણ અને પૂર્ણ કલશના ચિહ્નથી યુક્ત હોય છે

દ્વીપકુમાર વક્ષ, ખભે, હાથ અને ભુજાના અગ્ર ભાગમાં અધિક સુન્દર હોય છે, રક્ત વર્ણ, સલૌના હોય છે અને સિંહના ચિહ્નથી યુક્ત હોય છે

ઉદ્ધિકુમારોની જાંઘ અને કમરનો ભાગ ઘણો સુન્દર હોય છે. પાન્ડુવર્ણી હોય છે. ઘોડો તેમનુ ચિહ્ન છે

દિશાકુમારોની જાંઘો તથા પગોનો અગ્રભાગ અધિક સુન્દર હોય છે તેઓ સોનેરી વર્ણવાળા અને હાથીના ચિહ્નવાળા હોય છે. વાયુકુમાર સ્થિર, સ્થૂળ અને ગોળ ગાત્રોવાળા, આગળ

નીકળેલા પેટવાળા, નીલવર્ણ, સુન્દર અને માછલીના ચિહ્નવાળા હોય છે સ્તનિતકુમાર સ્નિગ્ધ અને ગભીર તથા મોટા અવાજવાળા, સોનેરી વર્ણ તથા મોટાચાપવાળા દારૂપાત્રના ચિહ્નવાળા હોય છે આ બધાં જુદા જુદા પ્રકારના વસ્ત્રો અને આભૂષણોવાળા હોય છે જે નારકીના જીવોના અસુ–પ્રાણોનુ હરણ કરે છે અર્થાત્ તેમને અદરો અદર લડાવીને દુખ ઉત્પન્ન કરે છે તેઓ અસુર કહેવાય છે અસુર મોટા ભાગે સકિલષ્ટ પરિણામવાળા હોય છે અસુર રૂપ કુમારોને અસુરકુમાર કહે છે. જે ગતિ ન કરે તેમને નગ કહે છે અર્થાત્ પર્વત અથવા ચન્દન વગેરે વૃક્ષો તે નગોમાં થનારા કુમારોને નગકુમાર કહે છે જેમના પગ અર્થાત્ પાંખો સુન્દર હોય તે સુપર્ણ જેઓ વિદ્યોતિત–દીપ્ત હોય તે વિદ્યુત જે પોતાના અગોને પાતાળલોકમા છોડીને ક્રીડા કરવા માટે ઉપર આવે તે અગ્નિ ઉદક (જળ) એકઠુ થાય છે જેમાં તે ઉદધિ અર્થાત સમુદ્ર અને ઉદધિમાં ક્રીડા કરનારા દેવ પણ ઉદધિ કહેવાય છે. પાણી (અપ્) જેમની બે તરફ હોય તે દ્વીપ અને દ્વીપમા ક્રીડા કરનારા દેવ પણ દ્વીપ કહેવાય છે જે અવકાશ આપે છે તે દિશાઓ કહેવાય છે દિશાઓમા ક્રીડા કરવાવાળા દેવ પણ દિશા કહેવાય છે જે વાય છે— ચાલે છે અર્થાત્ તીર્થકરના વિહાર માર્ગને સ્વચ્છ કરે છે તે વાયુ જેઓ સ્તનન્તિ અર્થાત શબ્દ કરે છે તે સ્તનિત અથવા જેઓએ સ્તન અર્થાત શબ્દ કર્યો હોય તે સ્તનિત આવા કુમારો અસુર કુમાર આદિ કહેવાય છે

અસુરકુમાર આદિના ભવનોની સખ્યા સામાન્ય રૂપથી સાત કરોડ, બોતેર લાખ (૭, ૭૨,૦૦૦૦૦) છે વિશેષ રૂપથી દક્ષિણ દિશાના અસુરકુમારોના ભવન ચોત્રીશ લાખ અને ઉત્તર દિશાવાળાના ત્રીસ લાખ છે બને દિશાઓના મળીને ચોસઠ લાખ ભવન છે

દક્ષિણ દિશાના નાગકુમારોના ભવન ચુમાળીશ લાખ અને ઉત્તરદિશાના નાગકુમારોના ભવન ચાળીશ લાખ છે બનેના મળીને ચોરાસી લાખ છે

દક્ષિણ દિશાના દ્વીપકુમારો દિશાકુમારો, ઉદધિકુમારો વિદ્યુત્કુમારો સ્તનિતકુમારો અને અગ્નિકુમારો એ છના પ્રત્યેકના ચાળીશ–ચાળીશ લાખ ભવન છે અને ઉત્તર દિશામાં રહેનારા દ્વીપકુમારો, દિશાકુમારો, ઉદધિકુમારો, વિદ્યુત્કુમારો સ્તનિતકુમારો અગ્નિકુમારો એ છએના પ્રત્યેકના છત્રીસ છત્રીશ લાખ છે બને દિશાઓના મળીને પ્રત્યેકના છોતેર–છોંતેર લાખ ભવન છે.

દક્ષિણ દિશાના સુવર્ણકુમારોના આડત્રીશ લાખ ભવન છે, ઉત્તરદિશાના સુપર્ણકુમારોના ચોત્રીશ લાખ છે બનેના મળીને બોંતેર લાખ છે

દક્ષિણ દિશામા નિવાસ કરનારા વાયુકુમારોના પચાસ અને ઉત્તરદિશાના વાયુકુમારોના છેતાળીશ લાખ, બનેના મળીને છન્નુ લાખ ભવન છે

પ્રજ્ઞાપના સૂત્રના પ્રથમ પદમા દેવોના પ્રકરણમા કહ્યુ છે—

ભવનપતિદેવ દશ પ્રકારના છે જેમકે—(૧) અસુરકુમાર (૨) નાગકુમાર (૩) સુવર્ણકુમાર (૪) વિદ્યુત્કુમાર (૫) અગ્નિકુમાર (૬) દ્વીપકુમાર (૭) ઉદધિકુમાર (૮) દિશાકુમાર (૯) વાયુકુમાર અને (૧૦) સ્તનિતકુમાર ॥ ૧૭ ॥

'વાણમંતરા અટ્ઠવિહા ઈત્યાદિ

સૂત્રાર્થ—વાણવ્યતર દેવ આઠ પ્રકારના છે ॥ ૧૮ ॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમાં ભવનપતિ-દેવોના દસ ભેદોની પ્રરૂપણા કરવામા આવી હવે ક્રમપ્રાપ્ત વાનવ્યંતર દેવોના આઠ વિશેષ ભેદોની પ્રરૂપણા કરવા માટે કહીએ છીએ—

વાનવ્યન્તર દેવ આઠ પ્રકારના છે—(૧) કિન્નર (૨) કિમ્પુરૂષ (૩) મહોરગ (૪) ગંધર્વ (૫) યક્ષ (૬) રાક્ષસ (૭) ભૂત અને, (૮) પિશાચ

જે વનમાં હોય તે 'વાન' કહેવાય છે અને જે વિવિધ દેશાન્તરોમા નિવાસ કરતા હોય તે વ્યન્તર કહેવાય છે. વાન જે વ્યન્તર છે તેમને વાનવ્યન્તર કહે છે આ એક પ્રકારની દેવયોનિ છે. તેઓ આઠ પ્રકારના હોય છે—કિન્નર, કિંપુરૂષ, મહોરગ, ગંધર્વ, યક્ષ, રાક્ષસ, ભૂત અને પિશાચ, અહી જે ક્રમનો ઉલ્લેખ કરવામા આવ્યો છે તે પ્રજ્ઞાપનાસૂત્ર અનુસાર છે. ઉત્તરાધ્યયન સૂત્રનો ક્રમ આ પ્રકારે છે—વાનવ્યન્તર દેવ આઠ પ્રકારના છે—પિશાચ, ભૂત, યક્ષ, રાક્ષસ, કિન્નર, કિંપુરુષ, મહોરગ અને ગંધર્વ

આ આઠે પ્રકારના દેવોની જે પિશાચ આદિ સંજ્ઞાઓ છે તે પોતપોતાના નામકર્મના ઉદય વિશેષથી સમજવી જોઇએ.

વાનવ્યન્તરોના આવાસ-આ રત્નપ્રભા પૃથ્વીના એક હજાર યોજન મોટા રત્નમય કાણ્ડની ઉપર સો યોજન અવગાહન કરીને અને નીચે પણ એકસો યોજન છોડી દઇને વચ્ચેના આઠસો યોજનમાં તિર્છા અસંખ્યાત હજાર ભૌમેય નગરાવાસ છે, આ નગરાવાસ બહારથી ગોળ, અંદરથી ચતુષ્કોણ અને નીચેથી ભમરાના કાનના આકારના છે આ નગરાવાસોમા વાનવ્યંતર દેવ નિવાસ કરે છે ॥૧૮॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પૂર્વસૂત્રમાં ભવનપતિ દેવોના દસ વિશેષ ભેદ કહેવામાં આવ્યા હવે ક્રમ પ્રાપ્ત વાનવ્યન્તર દેવોના આઠ વિશેષ ભેદોની પ્રરૂપણા કરવા માટે કહીએ છીએ—વાનવ્યન્તર દેવ આઠ પ્રકારના છે—કિન્નર, કિંપુરુષ, મહોરગ, ગંધર્વ, યક્ષ, રાક્ષસ, ભૂત અને પિશાચ,

વનમાં રહેનારા વાન કહેવાય છે અને વિવિધ દેશાન્તરોમાં રહેનારા વ્યન્તર કહેવાય છે વાનવ્યન્તર યોનિના આ દેવો આઠ પ્રકારના છે-કિન્નર, કિંપુરુષ, મહોરગ, ગંધર્વ, યક્ષ; રાક્ષસ, ભૂત અને પિશાચ

આ દેવ અધોલોક, મધ્યલોક, (**तिरछालोक**) ઉર્ધ્વલોકમાં-ત્રણે લોકમાં-સ્વતંત્રતાપૂર્વક ઈચ્છાનુસાર વિચરણ કરે છે અને દેવેન્દ્રશક તથા ચક્રવર્તીની આજ્ઞા અનુસાર પણ વિચરણ કરે છે.

એમનો ગતિપ્રચાર અનિયત હોય છે કોઈ—વ્યન્તર સેવકની જેમ માણુસની પણ સેવા કરે છે તિર્છાલોકમાં અનેક પ્રકારની ટેકરી, ગુફા, જંગલ અને દર વગેરે સ્થાનોમાં નિવાસ કરે છે આ કારણથી જ તેમની સંજ્ઞા વાનવ્યન્તર છે

ઉત્તરાધ્યયનસૂત્ર અનુસાર આ આઠ ભેદોનો ક્રમ આ મુજબ છે—પિશાચ ભૂત, યક્ષ, રાક્ષસ, કિન્નર, કિંપુરુષ મહોરગ અને ગન્ધર્વ

પ્રજ્ઞાપના સૂત્રના પ્રથમ પદમા દેવાધિકારમાં કહ્યુ છે.

નીકળેલા પેટવાળા, નીલવર્ણ, સુન્દર અને માછલીના ચિહ્નવાળા હોય છે. સ્તનિતકુમાર સ્નિગ્ધ અને ગંભીર તથા મોટા અવાજવાળા, સોનેરી વર્ણ તથા મોટાચાપવાળા દારૂપાત્રના ચિહ્નવાળા હોય છે આ બધાં જુદા જુદા પ્રકારના વસ્ત્રો અને આભૂષણોવાળા હોય છે જે નારકીના જીવોના અસુ-પ્રાણોનું હરણ કરે છે અર્થાત્ તેમને અંદરો અંદર લડાવીને દુઃખ ઉત્પન્ન કરે છે તેઓ અસુર કહેવાય છે અસુર મોટા ભાગે સંક્લિષ્ટ પરિણામવાળા હોય છે. અસુર રૂપ કુમારોને અસુરકુમાર કહે છે જે ગતિ ન કરે તેમને નગ કહે છે અર્થાત્ પર્વત અથવા ચન્દન વગેરે વૃક્ષો તે નગોમાં થનારા કુમારોને નગકુમાર કહે છે જેમના પગ અર્થાત્ પાંખો સુન્દર હોય તે સુપર્ણ જેઓ વિદ્યોતિત-દીપ્ત હોય તે વિદ્યુત જે પોતાના અંગોને પાતાળલોકમા છોડીને ક્રીડા કરવા માટે ઉપર આવે તે અગ્નિ ઉદક (જળ) એકઠું થાય છે જેમા તે ઉદધિ અર્થાત સમુદ્ર અને ઉદધિમાં ક્રીડા કરનારા દેવ પણ ઉદધિ કહેવાય છે પાણી (અપ્) જેમની બે તરફ હોય તે દ્વીપ અને દ્વીપમા ક્રીડા કરનારા દેવ પણ દ્વીપ કહેવાય છે જે અવકાશ આપે છે તે દિશાઓ કહેવાય છે દિશાઓમા ક્રીડા કરવાવાળા દેવ પણ દિશા કહેવાય છે જે વાય છે—ચાલે છે અર્થાત્ તીર્થંકરના વિહાર માર્ગને સ્વચ્છ કરે છે તે વાયુ જેઓ સ્તનન્તિ અર્થાત શબ્દ કરે છે તે સ્તનિત અથવા જેઓએ સ્તન અર્થાત શબ્દ કર્યો હોય તે સ્તનિત આવા કુમારો અસુર કુમાર આદિ કહેવાય છે

અસુરકુમાર આદિના ભવનોની સંખ્યા સામાન્ય રૂપથી સાત કરોડ, બોંતેર લાખ (૭,૭૨,૦૦૦૦૦) છે વિશેષ રૂપથી દક્ષિણ દિશાના અસુરકુમારોના ભવન ચોત્રીશ લાખ અને ઉત્તર દિશાવાળાના ત્રીસ લાખ છે બન્ને દિશાઓના મળીને ચોસઠ લાખ ભવન છે

દક્ષિણ દિશાના નાગકુમારોના ભવન ચુમાળીશ લાખ અને ઉત્તરદિશાના નાગકુમારોના ભવન ચાળીશ લાખ છે બન્નેના મળીને ચોરાસી લાખ છે

દક્ષિણ દિશાના દ્વીપકુમારો દિશાકુમારો, ઉદધિકુમારો વિદ્યુત્કુમારો સ્તનિતકુમારો અને અગ્નિકુમારો એ છના પ્રત્યેકના ચાળીશ-ચાળીશ લાખ ભવન છે અને ઉત્તર દિશામાં રહેનારા દ્વીપકુમારો, દિશાકુમારો, ઉદધિકુમારો, વિદ્યુત્કુમારો સ્તનિતકુમારો અગ્નિકુમારો એ છએના પ્રત્યેકના છત્રીસ છત્રીશ લાખ છે બન્ને દિશાઓના મળીને પ્રત્યેકના છોતેર-છોતેર લાખ ભવન છે.

દક્ષિણ દિશાના સુવર્ણકુમારોના આડત્રીશ લાખ ભવન છે, ઉત્તરદિશાના સુપર્ણકુમારોના ચોત્રીશ લાખ છે બન્નેના મળીને બોતેર લાખ છે

દક્ષિણ દિશામા નિવાસ કરનારા વાયુકુમારોના પચાસ અને ઉત્તરદિશાના વાયુકુમારોના છેતાળીશ લાખ, બન્નેના મળીને છન્નુ લાખ ભવન છે.

પ્રજ્ઞાપના સૂત્રના પ્રથમ પદમા દેવોના પ્રકરણમા કહ્યું છે—

ભવનપતિદેવ દશ પ્રકારના છે જેમકે—(૧) અસુરકુમાર (૨) નાગકુમાર (૩) સુવર્ણકુમાર (૪) વિદ્યુત્કુમાર (૫) અગ્નિકુમાર (૬) દ્વીપકુમાર (૭) ઉદધિકુમાર (૮) દિશાકુમાર (૯) વાયુકુમાર અને (૧૦) સ્તનિતકુમાર ॥ ૧૭ ॥

'वाणमंतरा अट्ठविहा ઈત્યાદિ

સૂત્રાર્થ—વાણવ્યંતર દેવ આઠ પ્રકારના છે ॥ ૧૮ ॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમા ભવનપતિ-દેવોના દસ ભેદોની પ્રરૂપણા કરવામાં આવી હવે ક્રમપ્રાપ્ત વાનવ્યતર દેવોના આઠ વિશેષ ભેદોની પ્રરૂપણા કરવા માટે કહીએ છીએ—

વાનવ્યન્તર દેવ આઠ પ્રકારના છે—(૧) કિન્નર (૨) કિમ્પુરૂષ (૩) મહોરગ (૪) ગંધર્વ (૫) યક્ષ (૬) રાક્ષસ (૭) ભૂત અને, (૮) પિશાચ

જે વનમાં હોય તે 'વાન' કહેવાય છે અને જે વિવિધ દેશાન્તરોમાં નિવાસ કરતા હોય તે વ્યન્તર કહેવાય છે. વાન જે વ્યન્તર છે તેમને વાનવ્યન્તર કહે છે. આ એક પ્રકારની દેવયોનિ છે. તેઓ આઠ પ્રકારના હોય છે—કિન્નર, કિંપુરૂષ, મહોરગ, ગંધર્વ, યક્ષ, રાક્ષસ, ભૂત અને પિશાચ, અહીં જે ક્રમનો ઉલ્લેખ કરવામા આવ્યો છે તે પ્રજ્ઞાપનાસૂત્ર અનુસાર છે. ઉત્તરાધ્યયન સૂત્રનો ક્રમ આ પ્રકારે છે—વાનવ્યન્તર દેવ આઠ પ્રકારના છે—પિશાચ, ભૂત, યક્ષ, રાક્ષસ, કિન્નર, કિંપુરુષ, મહોરગ અને ગંધર્વ

આ આઠે પ્રકારના દેવોની જે પિશાચ આદિ સંજ્ઞાઓ છે તે પોતપોતાના નામકર્મના ઉદય વિશેષથી સમજવી જોઈએ.

વાનવ્યન્તરોના આવાસ—આ રત્નપ્રભા પૃથ્વીના એક હજાર યોજન મોટા રત્નમય કાણ્ડની ઉપર સો યોજન અવગાહન કરીને અને નીચે પણ એકસો યોજન છોડી દઈને વચ્ચેના આઠસો યોજનમાં તિર્છા અસંખ્યાત હજાર ભૌમેય નગરાવાસ છે, આ નગરાવાસ બહારથી ગોળ, અંદરથી ચતુષ્કોણ અને નીચેથી ભમરાના કાનના આકારના છે. આ નગરાવાસોમા વાનવ્યંતર દેવ નિવાસ કરે છે ॥૧૮॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પૂર્વસૂત્રમાં ભવનપતિ દેવોના દસ વિશેષ ભેદ કહેવામાં આવ્યા હવે ક્રમ પ્રાપ્ત વાનવ્યન્તર દેવોના આઠ વિશેષ ભેદોની પ્રરૂપણા કરવા માટે કહીએ છીએ—વાનવ્યન્તર દેવ આઠ પ્રકારના છે—કિન્નર, કિંપુરુષ, મહોરગ, ગંધર્વ, યક્ષ, રાક્ષસ, ભૂત અને પિશાચ,

વનમાં રહેનારા વાન કહેવાય છે અને વિવિધ દેશાન્તરોમાં રહેનારા વ્યન્તર કહેવાય છે વાનવ્યન્તર યોનિના આ દેવો આઠ પ્રકારના છે-કિન્નર, કિંપુરુષ, મહોરગ, ગંધર્વ, યક્ષ; રાક્ષસ, ભૂત અને પિશાચ

આ દેવ અધોલોક, મધ્યલોક, (**तिरछालोक**) ઉર્ધ્વલોકમાં-ત્રણે લોકમાં-સ્વતંત્રતાપૂર્વક ઈચ્છાનુસાર વિચરણ કરે છે અને દેવેન્દ્રશક તથા ચક્રવર્તીની આજ્ઞા અનુસાર પણ વિચરણ કરે છે

એમનો ગતિપ્રચાર અનિયત હોય છે કોઈ—વ્યન્તર સેવકની જેમ માણસની પણ સેવા કરે છે. તિર્છાલોકમા અનેક પ્રકારની ટેકરી, ગુફા, જંગલ અને દર વગેરે સ્થાનોમાં નિવાસ કરે છે આ કારણથી જ તેમની સંજ્ઞા વાનવ્યન્તર છે

ઉત્તરાધ્યયનસૂત્ર અનુસાર આ આઠ ભેદોનો ક્રમ આ મુજબ છે—પિશાચ ભૂત, યક્ષ, રાક્ષસ, કિન્નર, કિંપુરુષ મહોરગ અને ગન્ધર્વ

પ્રજ્ઞાપના સૂત્રના પ્રથમ પદમા દેવાધિકારમાં કહ્યુ છે.

વાનવ્યન્તર દેવ આઠ પ્રકારના કહેવામાઆવ્યા છે જેવા કે—કિન્નર, કિંપુરુષ, મહોરગ, ગન્ધર્વ, યક્ષ, રાક્ષસ, ભૂત અને પિશાચ ॥ ૧૮ ॥

'जोइसिया पंचविहा चंदसूरगहनक्खत्तमेयओ १९ ॥

સૂત્રાર્થ—જ્યોતિષ્ક દેવ પાચ પ્રકારના છે ॥ ૧૯ ॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પ્રથમ સામાન્ય રૂપથી—ભવનપતિ, વાનવ્યતર, જ્યોતિષ્ક અને વૈમાનિકના ભેદથી ચાર પ્રકારના દેવોની—પ્રરૂપણા કરવામા આવી હતી એ પૈકી ભવનપતિ અને વાનવ્યતર દેવોની વિશેષ રૂપથી પ્રરૂપણા કરવામા આવી હવે ક્રમથી પ્રાપ્ત જ્યોતિષ્ક દેવોની વિશેષ પ્રરૂપણા કરવામા આવે છે—

તેજોમય જ્યોતિષ્ક નામક દેવ પાચ પ્રકારના કહેવામા આવ્યા છે-(૧) ચન્દ્ર (૨) સૂર્ય (૩) ગ્રહ (૪) નક્ષત્ર અને (૫) તારા ચન્દ્ર-સૂર્યાદિ નામકર્મના ઉદયથી ચન્દ્ર, સૂર્ય, ગ્રહ, નક્ષત્ર અને તારા નામક જ્યોતિષ્ક દેવ હોય છે આ બધાનો પ્રભાવ ભિન્ન-ભિન્ન પ્રકારનો હોય છે

આ ભૂમિના સમતલ ભાગથી સાતસો નેવું યોજનની ઊંચાઈ પર બધા જ્યોતિષ્ક દેવોની નીચે તારક દેવ બીરાજે છે એમનાથી દશ યોજન ઉપર અર્થાત્ આઠસો યોજનની ઉંચાઈએ સૂર્ય દેવ હોય છે સૂર્યથી એંશી યોજન ઉપર ચન્દ્ર દેવ વિચરે છે અર્થાત્ ૮૮૦ યોજન ઉપર ચન્દ્ર છે ચન્દ્રથી ચાર યોજન ઉપર નક્ષત્રોનો વાસ હોય છે અને એનાથી પણ ચાર યોજનની ઉંચાઈ પર બુધ હોય છે બુધથી ત્રણ યોજન ઉપર શુક્રનુ વિમાન છે, તેનાથી ત્રણ યોજન ઉપર બૃહસ્પતિનુ વિમાન છે અને એથી પણ ત્રણ યોજન ઉપર મગળ હોય છે એનાથી પણ ત્રણ યોજન ઉપર શનિશ્ચરનુ વિમાન છે આ રીતે સમસ્ત જ્યોતિષ્ક દેવોનો સપૂર્ણ વિસ્તાર ક્ષેત્ર એકસો દશ યોજનનો છે તિર્છામા અસખ્યાત દ્વીપસમુદ્ર પ્રમાણ ઘનોદધિ પર્યન્ત સમજવો જોઇએ ॥ ૧૯ ॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પ્રથમ સામાન્ય રૂપથી ભવનપતિ, વાનવ્યતર જ્યોતિષ્ક અને વૈમાનિક આ ચાર પ્રકારના દેવોનુ નિરૂપણ કરવામા આવ્યુ છે ત્યારબાદ ભવનપતિ અને વાનવ્યન્તર દેવોના ભેદોની પ્રરૂપણા કરવામા આવી છે હવે અનુક્રમથી આવતા જ્યોતિષ્ક દેવોની વિશેષ રૂપથી પ્રરૂપણા કરીએ છીએ—

જે દ્યોતિત હોય તેને જ્યોતિ કહે છે અર્થાત્, વિમાન, પૃષોદરાદિ, ગણમા પાઠ હોવાથી 'દ્' ની જગ્યાએ 'જ' આદેશ થાય છે આથી જ્યોતિ શબ્દ નિષ્પન્ન થાય છે તે જ્યોતિ અર્થાત વિમાનમા જે ઉત્પન્ન થાય તે જ્યોતિષ્ક દેવ કહેવાય છે અથવા જે દેવ જ્યોતિસ્વરૂપ હોય તે જ્યોતિષ્ક કહેવાય છે આ જ્યોતિષ્ક દેવ મસ્તક પર મૌલિ-મુગટ ધારણ કરે છે, પ્રભામડળની જેમ ઉજજવલ ચન્દ્ર, સૂર્ય અને તારામડળના ચિહ્નોથી યથાયોગ્ય સુશોભિત હોય છે કાંતિમાન હોય છે એમના પાચ પ્રકાર છે (૧) ચન્દ્ર (૨) સૂર્ય (૩) ગ્રહ (૪) નક્ષત્ર અને (૫) તારા

આ જ્યોતિષ્ક દેવોમા ચન્દ્ર દેવોની પ્રધાનતા છે એથી તેમની ગણત્રી શરૂઆતમા કરવામાં આવી છે

આ સમતલ ભૂમિભાગથી સાતસો નેવું યોજન ઉપર સર્વપ્રથમ તારાવિમાનોનો પ્રદેશ છે. તેનાથી દશ યોજન ઉપર સૂર્યવિમાન આવે છે-તેનાથી એંશી યોજનની ઉંચાઈ પર ચન્દ્ર વિમાન આવે છે તેનાથી વીસ યોજન તારા, નક્ષત્ર, બુધ, શુક્ર બૃહસ્પતિ, મંગળ અને શનિશ્ચરનાં વિમાન આવે છે.

સૂર્યથી થોડા યોજન નીચે કેતુના વિમાન છે અને ચન્દ્રથી થોડા યોજન નીચે રાહુનું વિમાન છે. ચન્દ્ર સૂર્ય અને ગ્રહો સિવાય બાકીના નક્ષત્ર અને પ્રકીર્ણક તારા પોત-પોતાના એક જ માર્ગમાં વિચરણ કરે છે. તારા અને ગ્રહ અનિયત રૂપથી ચાલે છે આથી કોઈ વખતે ચન્દ્ર અને સૂર્યથી ઉપર અને કોઇ વાર નીચે ચાલે છે. આ પ્રમાણે સહુથી નીચે સૂર્ય, સૂર્યની ઉપર ચન્દ્રમા, ચન્દ્રમાથી ઉપર ગ્રહ ગ્રહોની ઉપર નક્ષત્ર અને નક્ષત્રોની ઉપર પ્રકીર્ણક તારા ચાલે છે પરંતુ તારા અને ગ્રહ અનિયત રૂપથી ગતિ કરવાના કારણે સૂર્યથી નીચે પણ ગતિ કરે છે. સંપૂર્ણ જ્યોતિર્લોક એકસોદસ યોજનના વિસ્તારમાં છે એક હજાર એકસો એકવીસ યોજનોમા, જમ્બૂદ્વીપના મેરૂપર્વતનો સ્પર્શ ન કરતા થકા બધી દિશાઓમાં ગોળાકાર રૂપથી સ્થિત છે એકહજાર એકસો અગીયાર યોજનથી સ્પર્શ ન કરતો થકો બધી બાજુએ લોકાન્ત સમજવો જોઈએ

મંગલ આદિ તારા, ગ્રહ, ઉપર નીચે અને મધ્યમાં ચાલે છે આથી અનિયત રૂપથી ચાલે છે આ કારણે નીચે લંબાયેલા હોય છે એવી રીતે સૂર્યથી દશ યોજનોમાં મળી આવે છે

જ્યોતિષ્કોમાં સહુથી ઉપર સ્વાતિ નક્ષત્ર છે અને નક્ષત્ર મંડળની સહુથી નીચે ભરણી નક્ષત્ર છે બધાથી દક્ષિણમાં મૂળનક્ષત્ર છે અને બધાથી ઉત્તરમા અભિજિત નક્ષત્ર છે

ઘણો જ પ્રકાશ કરનારા હોવાના કારણે જ્યોતિ નામક વિમાનોમાં જે દેવ છે તેઓ જ્યોતિષ્ક કહેવાય છે અથવા વિમાનો સંબંધી જ્યોતિના કારણે તે દેવ જ્યોતિષ્ક કહેવાય છે આ દેવો ક્રીડા કરતા નથી, ફક્ત દ્યોતિત-પ્રકાશમાન હોય છે અથવા આમ પણ કહી શકાય કે તેઓ શરીર સંબન્ધી જ્યોતિ દ્વારા પ્રકાશમાન થાય છે કારણ કે એમના શરીર જ્યોતિપુંજની જેમ ઝગઝગાટવાળા અત્યન્ત દેદીપ્યમાન હોય છે, અથવા તે દેવોને સમસ્ત દિશામંડળ પ્રકાશિત કરવાના કારણે જ્યોતિષ્ક કહે છે 'જ્યોતિષ્ક' શબ્દમા સ્વાર્થમા 'કન્' પ્રત્યય થયો છે અર્થાત 'જ્યોતિષ્' શબ્દમાં 'કન્' પ્રત્યય કરવા છતાં પણ તેના અર્થમા કોઈ પરિવર્તન થતુ નથી—જે અર્થ 'જ્યોતિષ્' શબ્દનો છે તે જ 'જ્યોતિષ્ક' શબ્દનો પણ છે

તે દેવોના મુગટોમાં પ્રભામંડળસ્થાનીય ચન્દ્ર-સૂર્ય આદિના ચિહ્ન જ હોય છે ચન્દ્રદેવના મુગટમાં ચન્દ્રાકારનુ અને સૂર્યદેવના મુકુટમાં સૂર્યાકારના ચિહ્ન હોય છે આ જ હકીકત ગ્રહો અને નક્ષત્રો સંબંધી પણ લાગુ પડેલી સમજવી

પ્રજ્ઞાપનાસૂત્રના પ્રથમ પદમાં દેવોના પ્રકરણમા કહ્યુ છે—જ્યોતિષ્ક દેવ પાચ પ્રકારના છે—ચન્દ્ર, સૂર્ય, ગ્રહ, નક્ષત્ર અને તારા ॥૧૯॥

कप्पोववण्णगा वेमाणिया ઈત્યાદિ ॥ ૨૦ ॥

સૂત્રાર્થ—કલ્પોપપન્ન વૈમાનિક દેવ બાર પ્રકારના છે—(૧) સૌધર્મ (૨) ઈશાન (૩)

સનત્કુમાર (૪) માહેન્દ્ર (૫) બ્રહ્મલોક (૬) લાન્તક (૭) મહાશુક્ર (૮) સહસ્રાર (૯) આનત (૧૦) પ્રાણુત (૧૧) આરણુ અને (૧૨) અચ્યુત ॥૨૦॥

તત્વાર્થદીપિકા—ભવનપતિ, વાનવ્યન્તર, જ્યોતિષ્ક અને વૈમાનિક આ ચાર પ્રકારના દેવો પૈકી પહેલા ભવનપતિ, વાનવ્યન્તર અને જ્યોતિષ્ક દેવોની પ્રરૂપણા કરવામાં આવી હવે બાર પ્રકારના કલ્પોપપન્ન દેવોનુ કથન કરવા માટે કહીએ છીએ—

કલ્પોમાં અર્થાત્ બાર દેવલોકમાં જે ઉત્પન્ન થયા હોય તે દેવો કલ્પોપન્નક કહેવાય છે. જે પોતાની અ દર રહેનારાઓને જેઓએ વિશેષ રૂપથી દાન, શિયળ, તપ અને ભાવનાનુ આસેવન કરીને પૂર્વભવમાં પુણ્યરાશિ પ્રાપ્ત કરી છે તેમને સુકૃતી-પુણ્યાત્મા માને છે તેમનો આદર કરે છે તથા તેમને આલંબન પ્રદાન કરે તેમને વિમાન કહે છે વિમાનોમા ઉત્પન્ન થનારા વૈમાનિક કહેવાયા છે અને તેઓ બાર પ્રકારના છે—(૧) સૌધર્મ (૨) ઈશાન (૩) સનત્કુમાર (૪) માહેન્દ્ર (૫) બ્રહ્મલોક (૬) લાન્તક (૭) મહાશુક્ર (૮) સહસ્રાર (૯) આનત (૧૦) પ્રાણુત (૧૧) આરણુ અને (૧૨) અચ્યુત આ કલ્પો વક્ષ્યમાણ પ્રકારથી વ્યવસ્થિત છે જેમ કે—જ્યોતિષ્ચક્રની ઉપર અસખ્યાત કરોડાકરોડ યોજન જઈએ ત્યારે સૌધર્મ અને ઈશાન દેવલોક આવે છે. જે પ્રદેશમાં સૌધર્મ કલ્પ દક્ષિણુદિગ્વર્તી છે તે જ પ્રદેશની નજીક ઉત્તરદિગવર્તી ઇશાન કલ્પ પણુ છે આ બ ને જ કલ્પ પ્રત્યેક અર્ધચન્દ્રાકારે સમશ્રેણીમાં આવેલા છે. એમની ઉપર અસંખ્યાતા કરોડાકરોડ યોજન જવાથી એવી જ રીતે સનત્કુમાર કલ્પ અને માહેન્દ્ર કલ્પ-એ બ ને પણુ અર્ધચન્દ્રાકારથી સમશ્રેણિમાં સ્થિત છે એમની ઉપર બ્રહ્મ, લાન્તક, મહાશુક્ર અને સહસ્રાર એ ચાર કલ્પ એક એકના પ્રત્યેક અસખ્યાત અસખ્યાત યોજન જવાથી આવે છે અને સહસ્રાર કલ્પની ઉપર આનત-પ્રાણુત એ બે દેવલોક તથા એમની ઉપર આરણુ અને અચ્યુત એ ચારે કલ્પો—બે-બે યુગલ રૂપથી સૌધર્મ અને ઈશાન દેવલોકની જેમ અર્ધચન્દ્રાકારથી સમશ્રેણિમાં સ્થિત છે આ પ્રમાણે બારે દેવલોક વ્યવસ્થિત છે ॥૨૦॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પ્રથમ સામાન્યથી પ્રતિપાદિત ચાર પ્રકારના જે ભવનપતિ, વાન-વ્યન્તર-જ્યોતિષ્ક અને વૈમાનિક છે તેમા વિશેષતઃ ક્રમથી ભવનપતિ, વાનવ્યન્તર, જ્યોતિષ્ક દેવોની પ્રરૂપણુ કરી દેવામા આવી છે હવે વૈમાનિક દેવોની વિશેષ રૂપથી પ્રરૂપણા કરવા માટે કલ્પોપપન્ન અને કલ્પાતીતના ભેદોને લઈને બે પ્રકારના વૈમાનિકોમા પ્રથમ ગ્રહણુ કરેલા કલ્પોપપન્ન વૈમાનિક દેવોનુ પ્રરૂપણુ કરીએ છીએ—

કલ્પોપપન્ન દેવ-સૌધર્મ-ઈશાન-સનત્કુમાર-માહેન્દ્ર-બ્રહ્મ-લાન્તક-મહાશુક્ર-સહસ્રાર-આનત-પ્રાણુત-આરણુ-અચ્યુતના ભેદથી બાર પ્રકારના હોય છે કલ્પોમા અર્થાત્ બાર પ્રકારના દેવલોકોમા જે ઉત્પન્ન થાય છે તેઓ કલ્પોપપન્ન વૈમાનિક દેવ કહેવાય છે, વૈમાનિકનો અર્થ થાય છે વિમાનોમા રહેનારા દેવ, વિશેષ રૂપથી પોતાનામા રહેલા પૂર્વોપાર્જિત પુણ્યશાળી પ્રાણિઓને માને છે અર્થાત્ આદર-સન્માન કરે છે, ધારણુ કરે છે તેમને વિમાન કહે છે અને વિમાનોમા થનારા દેવ વૈમાનિક કહેવાય છે આ વૈમાનિક દેવ સૌધર્મ આદિ બાર કલ્પોમાં હોવાથી દેવ પણુ બાર પ્રકારના કહેવામાં આવે છે બાર કલ્પ આગળ ઉપર કહેવામા આવ-નારા પ્રકારથી વ્યવસ્થિત છે—

જ્યોતિશ્ચક્રની ઉપર અસખ્યાત કરોડાકરોડ યોજનો પાર કરવાથી અહી મેરુ પર્વતને આશ્રય બનાવીને દક્ષિણાર્ધ તથા ઉત્ત ાર્ધ ભાગમા વ્યવસ્થિત પૂર્વપશ્ચિમથી લાબા અને દક્ષિણઉત્તરથી પહોળા ઉગતા સૂર્યની જેમ દેદીપ્યમાન અસ ખ્યાત યોજન આયામ વિષ્કંભ-પરિક્ષેપવાળા સર્વ રત્નમય મધ્યસ્થિત સર્વરત્નવાળા અશોક સપ્તપર્ણ ચમ્પક, સહકાર સુશોભિત શક્રેન્દ્ર અને ઇશાનેન્દ્રના આવાસથી યુક્ત બે પ્રથમ અને બીજા અનુક્રમે સૌધર્મ અને ઇશાન દેવલોક એક એક અર્ધ ચન્દ્રાકાર યુગલ રૂપ દક્ષિણોત્તર ભાગને લઈને સમશ્રેણિમાં વ્યવસ્થિત છે (૧-૨) તેમની ઉપર અસખ્યાત યોજન જવાથી અહી ત્રીજો તથા ચોથો સનત્કુમાર અને માહેન્દ્ર આ બે દેવલોક પણ પ્રત્યેક અર્ધચન્દ્રાકાર યુગલ રૂપથી દક્ષિણોત્તર ભાગને લઈને સમશ્રેણિમાં વ્યવસ્થિત છે (૩-૪) એમની ઉપર અસખ્યાત યોજન જવાથી અહીં બ્રહ્મ દેવલોક છે આ બ્રહ્મ દેવલોકમા લોકાન્તક દેવ રહે છે જેઓ જિનેન્દ્ર જન્માદિના મહોત્સવને નિરખવા માટે ઉત્સુક શુભ અધ્યવસાયવાળા ભક્તિભાવમા વશીકૃતચિત્તવાળા હોય છે હવે બ્રહ્મલોકથી લઈને આઠમા સહસ્રાર દેવલોક પર્યન્ત ચાર દેવલોક એક એકની ઉપર અસખ્યાત અસંખ્યાત યોજનોના અન્તરથી વ્યવસ્થિત છે જેમ સનત્કુમાર અને માહેન્દ્ર આ દેવયુગલ લોકથી ઉપર અસખ્યાત યોજન જવાથી પાંચમુ બ્રહ્મ દેવલોક છે. (૫) તેની ઉપર અસખ્યાત યોજન જવાથી છઠ્ઠું લાન્તક દેવલોક છે (૬) તેના ઉપર અસખ્યાત યોજન જવાથી સાતમું મહાશુક્ર દેવલોક આવે છે (૭) તેની ઉપર અસખ્યાત યોજન જવાથી આઠમુ સહસ્રાર દેવલોક છે. (૮) એની ઉપર અસખ્યાત યોજર જવાથી નવમા અને દશમા આનત અને પ્રાણત દેવલોક પણ પહેલા અને બીજા સૌધર્મ ઇશાનની જેમ પ્રત્યેક અર્ધચન્દ્રાકાર યુગલ રૂપથી દક્ષિણોત્તર ભાગને લઈને સમશ્રેણિમાં સ્થિત છે (૯-૧૦) આવી જ રીતે એમનાથી ઉપર અસખ્યાત યોજન જવાથી અગીયારમું તથા બારમુ આરણ અને અચ્યુત દેવલોક, એ બને દેવલોક પણ પૂર્વના આનત-પ્રાણતની માફક પ્રત્યેક અર્ધ ચન્દ્રાકાર યુગલ રૂપથી દક્ષિણોત્તર ભાગને લઈને સમશ્રેણિમા સ્થિત છે (૧૧ ૧૨) આ બાર દેવલોકની સ્થિતિનું સ્વરૂપ છે

બારમા કલ્પની ઉપર નવ ગ્રૈવેયક વિમાન છે જે એક બીજાની ઉપર અવસ્થિત છે તેમની ઉપર પાચ અનુત્તર નામના મહાન વિમાન છે આ વૈમાનિક દેવોની અવસ્થિતિનો ક્રમ છે

સૌધર્મ કલ્પના કારણે ત્યાંનો ઇન્દ્ર પણ સૌધર્મ કહેવાય છે ઈશાન નામનો દેવ સ્વભાવત નિવાસ કરે છે તેનો નિવાસ હોવાથી તે કલ્પ ઐશાન કહેવાય છે અને ઐશાન કલ્પના સહચર્યથી ત્યાંના ઇન્દ્ર ઐશાન ઈન્દ્રના નામથી પ્રસિદ્ધ છે આવી જ રીતે પછીના કલ્પો અને ઇન્દ્રોની બાબતમાં સમજવુ જોઈએ. સૌધર્મ આદિ કલ્પોમા નિવાસ કરનારા દેવોના દસ ઇન્દ્ર હોય છે કારણ કે નવમા અને દશમાં આ બે દેવલોકોના પણ એક જ ઇન્દ્ર હોય છે.

હવે અત્રે સૌધર્માદિ દેવલોક—સમતલ ભૂમિથી કેટલા ઉચા છે એ બતાવવામાં આવે છે— પહેલું અને બીજુ જે સૌધર્મ અને ઈશાન કલ્પ છે તેઓ યુગલરૂપથી સ્થિત બને કલ્પ સમતલ ભૂમિથી દોઢ રાજુ ત્રીજુ અને ચોથુ જે સનત્કુમાર અને માહેન્દ્ર એ યુગલ રૂપથી સ્થિત બંને કલ્પ સમતલ ભૂમિથી અઢી રાજુ ઉપર છે આવી જ રીતે પાચમો કલ્પ સવા ત્રણ રાજુ ઉપર છે છઠ્ઠો કલ્પ સાડા ત્રણ રાજુ ઉચો છે સાતમો કલ્પ પોણુંચાર રાજુ ઉંચો છે અને આઠમો

સહસ્રાર કલ્પ ચાર રાજુ સમતલ ભૂમિથી ઉંચો છે એવી જ રીતે નવમાં અને દશમાં યુગલ રૂપથી સ્થિત આ બંને કલ્પ સમતલ ભૂમિથી સાડાચાર રાજુ ઉપર છે ત્યાર પછી અગ્યારમો અને બારમા યુગલ રૂપથી સ્થિત બન્ને કલ્પ સમતલ ભૂમીથી પાંચ રાજુ ઉંચા છે. આ કલ્પોપપન્ન બાર દેવલોકનુ સમતલ ભૂમિથી ઉપર હોવાનું પ્રમાણુ જાણવું જોઈએ.

એમની આગળ ત્રણ ત્રણ કરીને ત્રણ ત્રિકોમા કલ્પાતીત નવ ગ્રૈવેયક દેવ છે એ ત્રણ ત્રિકોમાંથી પહેલુ ત્રિક સમતલ ભૂમિથી પાંચ રાજુ અને એક રાજુના ત્રણ ભાગોમાંના એક ભાગ જેટલું ઉંચુ છે. બીજુ ત્રિક પાંચ રાજુ અને એક રાજુના ત્રણભાગોમાંના બે ભાગ જેટલું ઉચુ છે અને ત્રીજુ ત્રિક પૂરા છ રાજુ સમતલ ભૂમિથી ઉચુ છે આ નવ પુરુષાકાર લોકની ડોક–સ્થળે હોવાથી ગ્રૈવેયક કહેવાય છે

એમની આગળ પાંચ અનુત્તર વિમાન છે જેમની પછી અર્થાત્ આગળ કોઈ વિમાન ન હોવાથી એ અનુત્તર વિમાન કહેવાય છે આ પાંચ પ્રત્યેક ચારે દિશાઓમા સમશ્રેણિથી સ્થિત છે એ સમીપ ભૂમિથી થોડા ઓછાં સાત રાજુ ઉંચે છે આ પાંચે અનુત્તર વિમાન એક રાજુના થોડા ઓછા પાંચ ભાગ કરવામા આવે તેમાથી એક–એક ભાગના અન્તરથી સ્થિત છે આ પાચ અનુત્તર વિમાનોનુ વર્ણન થયું આવાં, આ નવ ગ્રૈવેયક અને પાચ અનુત્તર વિમાનવાસી આ રીતે ચૌદ કલ્પાતીત દેવ કહેવાય છે આ ચૌદ પ્રકારના કલ્પાતીત દેવોનુ વર્ણન આગળના સૂત્રમાં કરવામાં આવશે

જાબૂદ્વીપનો મહામન્દર પર્વત એક હજાર યોજન પૃથ્વીની અંદર છે નવ્વાણુ હજાર યોજનની એની ઉચાઈ છે, એની નીચેના ભાગમા અધોલોક છે તિર્યક્ અર્થાત્ વાંકો ફેલાયેલો તિર્યગ્ લોક છે–એની ઉપર ઉર્ધ્વલોક છે આ મેરૂની ચૂલિકા ચાલીસ યોજનની ઉચાઈવાળી છે

પ્રજ્ઞાપના સૂત્રના પ્રથમ પદમાં દેવાધિકારમાં કહ્યુ છે—વૈમાનિક દેવ બે પ્રકારના કહેવામાં આવ્યા છે જેમકે—કલ્પોપપન્નક અને કલ્પાતીત કલ્પોપપન્નક કેટલા પ્રકારના છે ? તેઓ બાર પ્રકારના હોય છે—સૌધર્મ, ઈશાન, સનત્કુમાર, માહેન્દ્ર, બ્રહ્મલોક, લાન્તક મહાશુક્ર, સહસ્રાર, આનત, પ્રાણુત, આરણુ અને અચ્યુત.

પ્રજ્ઞાપના સૂત્રના છઠાં પદમાં તથા અનુયોગદ્વારમાં અને ઔપપાતિક સૂત્રના સિદ્ધાધિકારમાં કહ્યુ છે—

સૌધર્મ ઈશાન, સનત્કુમાર, માહેન્દ્ર, બ્રહ્મલોક, લાન્તક, મહાશુક્ર, સહસ્રાર, આનત, પ્રાણુત આરણુ અને અચ્યુત ॥ ૨૦ ॥

'कप्पाइयात वेमाणिया' ઇત્યાદિ ॥ **સૂ ૨૧** ॥

સૂત્રાર્થ—કલ્પાતીત વૈમાનિક દેવ ચૌદ પ્રકારનાં છે—નવગ્રૈવેયક દેવ અને પાંચ અનુત્તરોપપાતિક દેવ ॥ ૨૧ ॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—અગાઉ કલ્પોપપન્ન વૈમાનિક દેવોના સૌધર્મ આદિ બાર વિશેષ ભેદોનું નિરૂપણુ કરી ગયા હવે કલ્પાતીત વૈમાનિક દેવોના ચૌદ પ્રકારના અવાન્તર ભેદોની પ્રરૂપણુા કરવા માટે કહીએ છીએ—કલ્પાતીત વૈમાનિક દેવ ચૌદ પ્રકારના છે—નવગ્રૈવેયક અને પાંચ અનુત્તરોપપાતિક

જે દેવ બાર કલ્પોથી અતીત–બહાર છે તે કલ્પાતીત કહેવાય છે. અથવા જે દેવોમા ઇન્દ્ર, સામાનિક આદિની કલ્પના થતી નથી–જેમાં સ્વામી–સેવક ભાવ હોતો નથી, જેઓ સઘળા અહમિન્દ્ર છે, તે દેવોને કલ્પાતીત કહે છે આ દેવ બાર દેવલોકથી ઉપર રહે છે વિમાનોમાં ઉત્પન્ન થવાના કારણે તેમની વૈમાનિક સજ્ઞા છે તેઓ ચૌદ પ્રકારના છે–નવગ્રૈવેયક વિમાનોમાં ઉત્પન્ન થનારા અને પાચ અનુત્તર વિમાનોમાં ઉત્પન્ન થનારા ॥ ૨૧ ॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—આની પહેલા સૌધર્મ, ઇશાન આદિ બાર પ્રકારના કલ્પોપપન્ન વૈમાનિક દેવોની પ્રરૂપણા કરવામા આવી હવે ચૌદ પ્રકારના કલ્પાતીત વૈમાનિકોની પ્રરૂપણા કરવા માટે કહીએ છીએ—

કલ્પાતીત વૈમાનિક દેવ ચૌદ પ્રકારના છે–નવગ્રૈવેયક અને પાચ અનુત્તરૌપપાતિક

સૌધર્મ આદિ પૂર્વોક્ત બાર કલ્પોથી જે અતીત હોય અર્થાત્ તેનાથી પણ ઉપરના ક્ષેત્રમા જે હોય તે કલ્પાતીત કહેવાય છે અથવા જે ઇન્દ્ર સામાનિકના ભેદ કલ્પનાથી અતીત હોય-બધા સરખી શ્રેણીના હોય, તે કલ્પાતીત કહેવાય છે–કલ્પાતીત દેવોના પૂર્વોક્ત ચૌદ ભેદ છે–

ગ્રૈવેયક વિમાન નવ છે પ્રરૂપણાની અનુકૂળતાની દૃષ્ટિએ તેમનુ ત્રણ ભાગોમાં વિભાજન કરવામાં આવ્યુ છે–ત્રણ અધસ્તન અર્થાત્ નીચેના, ત્રણ મધ્યમ અર્થાત્ વચ્ચેના અને ત્રણ ઉપરિતન અર્થાત્ ઉપરના જે વિમાન સર્વોત્કૃષ્ટ છે, જેમનાથી ઉત્તમ કોઈ વિમાન નથી તે અનુત્તર વિમાન કહેવાય છે. ને પાચ છે–વિજય વૈજયન્ત, જયન્ત, અપરાજિત અને સર્વાર્થસિદ્ધ.

નવ ગ્રૈવેયકવાસી અને પાચ અનુત્તર વિમાનવાસી, આ બને મળીને કલ્પાતીત દેવો ચૌદ પ્રકારના છે.

આ લોક પુરુષાકાર છે લોક–પુરુષની ડોકના સ્થાને જે વિમાનો આવેલા છે તે ગ્રૈવેયક કહેવાય છે તે વિમાનોમા રહેનારા દેવો પણ ગ્રૈવેયક કહેવાય છે

પાંચ અનુત્તર વિમાન બધા વિમાનોની ઉપર અવસ્થિત છે આથી તેમને અનુત્તર કહેવામાં આવ્યા છે. જેનાથી બીજુ કશું જ તેમજ શ્રેષ્ઠ નથી તે અનુત્તર કહેવાય છે વિજય વૈજયન્ત આદિ દેવોના નામ છે અને દેવોના નામથી વિમાનોના પણ એ જ નામ છે

જેઓએ સ્વર્ગ સબધી અભ્યુદયની પ્રાપ્તિમા વિઘ્ન નાખનારા બધાં કારણોને વિજિત કરી લીધા છે અર્થાત્ તેમના પર વિજય પ્રાપ્ત કરી લીધો છે તે ત્રણ દેવો વિજય, વૈજયન્ત અને જયન્ત કહેવાય છે તે દેવો અભ્યુદયનો નાશ કરનારા કારણોને દૂર કરીને અમન્દ (તીવ્ર) આનદ રૂપ સ્વર્ગસુખના સમૂહને આત્મસાત કરીને ભોગવે છે આવી જ રીતે સ્વર્ગીય સુખમા અડચણો ઉભી કરનારા કારણોથી જેઓ પરાજિત ન થયા હોય તેઓ અપરાજિત કહેવાય છે જે દેવ અભ્યુદય સબધી સમસ્ત અર્થોમા સિદ્ધ (સફળ) હોય તેઓ સર્વાર્થસિદ્ધ દેવ સ્વર્ગના સુખોની ચરમ સીમા સુધી પહોંચી ચૂકયા છે આથી સર્વ પ્રયોજનોમા તેમની શક્તિ અવ્યાહત હોય છે

અથવા જે દેવ સર્વ અર્થો અર્થાત્ પ્રયોજનોથી સિદ્ધ છે તેઓ સર્વાર્થસિદ્ધ કહેવાય છે સમસ્ત અતિશયશાળી અને અત્યન્ત રમણીય શબ્દ, રૂપ, રસ, ગધ, સ્પર્શ આદિથી જે સિદ્ધ અર્થાત્ પ્રખ્યાત છે તેનો સર્વાર્થસિદ્ધ સમજવા જોઈએ

અથવા જ્યા સર્વ અર્થ સિદ્ધ થઈ જાય છે તેઓ સર્વાર્થસિદ્ધ આનો અર્થ એ થયો કે ત્યાં (સર્વાર્થસિદ્ધ વિમાન)ના દેવ એક મનુષ્યભવ કરીને મોક્ષ પ્રાપ્ત કરી લે છે અને સિદ્ધ થઈ જાય છે વિજય આદિ ચાર વિમાનોના કોઈ-કોઈ દેવ બે મનુષ્યભવ કરીને પણ સિદ્ધ થાય છે જ્યારે સર્વાર્થસિદ્ધ વિમાનના દેવ નિયમથી એક જ ભવ ધારણ કરીને-સિદ્ધિ પ્રાપ્ત કરી લે છે આ સર્વાર્થસિદ્ધ વિમાનની અન્ય ચાર વિમાનોથી વિશેષતા છે

વિજય આદિ દેવોના નામનો બીજા પ્રકારથી પણ અર્થ કરી શકાય છે જેઓએ કર્મોને લગભગ જીતી લીધા છે તે વિજય આદિ દેવ કહી શકાય છે તેમના કર્મ ઘણા હળવા થઈ જાય છે એ કારણે સિદ્ધિ-મુક્તિની નિરવદ્ય સુખમય વિભૂતિ તેમની સમીપ આવી જાય છે આથી તેઓ પરમકલ્યાણને પ્રાપ્ત કરી ચૂકયા છે ભૂખ તરસ વગેરે બાવીસ પરિષહોથી પોતાના પૂર્વ મુનિજીવનમા પરાજિત ન થઈને, મૃત્યુના અનન્તર પણ તેઓ અપરાજિત દેવોના રૂપમાં ઉત્પન્ન થાય છે

અથવા હમેશાં તૃપ્ત રહેતા હોવાના કારણે તે દેવ ભૂખ વગેરેથી પરાજિત થતાં નથી એ કારણે તેમને અપરાજિત કહ્યા છે આવી જ રીતે સસાર સબધી સમસ્ત કર્તવ્યોને પરિપૂર્ણ કરવાના કારણે તેમને સર્વાર્થસિદ્ધ કહેવામા આવે છે અથવા સમસ્ત કર્મોના ક્ષય સ્વરૂપ મોક્ષ રૂપ ઉત્તમ અર્થ લગભગ સિદ્ધ થઈ ચૂકયો હોય તેઓ સવાર્થસિદ્ધ કહેવાય છે કારણ કે હવે પછીના બીજા જ ભવમા તેમને મોક્ષની પ્રાપ્તિ થવાની છે

આ પ્રકારની વ્યુત્પત્તિઓ અનુસાર જો કે વિજય આદિ ચાર અનુત્તર વિમાનોના દેવ પણ સર્વાર્થસિદ્ધ કહી શકાય છે, પરતુ 'ગો' પદની જેમ સર્વાર્થસિદ્ધ પદ પણ સર્વાર્થસિદ્ધ નામક વિમાનના નિવાસી દેવોને માટે રૂઢ છે તાત્પર્ય એ છે કે "ગૌ" શબ્દનો અર્થ થાય છે-ગમન કરવાવાળો આ વ્યુત્પત્તિ અનુસાર જે કોઈ ગમન કરે છે તે મનુષ્ય, અશ્વ આદિ બધાને "ગૌ" કહી શકાય છે પરતુ "ગૌ" શબ્દ ગાય નામના પશુના અર્થમા રૂઢ થઈ ગયો છે આથી બધાં ચાલતા-ફરતાનો વાચક માનવામા આવતો નથી એવી જ રીતે સર્વાર્થસિદ્ધ પદથી જો કે વિજય આદિ દેવોને પણ કહી શકાય છે પરન્તુ કહેવામા આવતો નથી કારણ કે તે પાંચમા અનુત્તર વિમાનના દેવો માટે રૂઢ છે

પ્રજ્ઞાપનાસૂત્રના છઠાં પદમા, અનુયોગદ્વારમાં અને ઔપપાતિકસૂત્રના સિદ્ધાધિકારમાં કહ્યું છે—

અધસ્તન ગ્રૈવેયક, મધ્યમ ગ્રૈવેયક, ઉપરિતન ગ્રૈવેયક, વિજય, વૈજયન્ત, જયન્ત, અપરાજિત અને સર્વાર્થસિદ્ધ દેવ ॥૨૧॥

'भवणवइ बाणमंतरा णं' ઈત્યાદિ ॥ सू २२ ॥

સૂત્રાર્થ—ભવનપતિ અને વાનવ્યન્તર દેવોમા પ્રારભની ચાર લેશ્યાઓ, જ્યોતિષ્કોમાં તેજોલેશ્યા અને વૈમાનિકોમા અન્તની ત્રણ લેશ્યાઓ હોય છે ॥૨૨॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—આની પહેલા ભવનપતિ, વાનવ્યન્તર, જ્યોતિષ્ક અને વૈમાનિક દેવોના સ્વરૂપનુ પ્રતિપાદન કરવામા આવ્યુ હવે એ બતાવીએ છીએ કે તે દેવોમાં કેટલી અને કયી કયી લેશ્યાઓ હોય છે—

અસુરકુમાર આદિ દસ ભવનપતિ દેવોમા તથા કિન્નર આદિ આઠ પ્રકારના વાનવ્યન્તર દેવોમા પ્રારભની ચાર લેશ્યાઓ-કૃષ્ણ, નીલ, કાપોત અને તેજો હોય છે ચન્દ્ર સૂર્ય વગેરે જ્યોતિષ્ક દેવોમા એક માત્ર તેજોલેશ્યા —હોય છે અને બાર કલ્પોપપન્ન નવ ગ્રૈવેયક અને પાચ અનુત્તરૌપપાતિક દેવોમા અન્તિમ ત્રણ લેશ્યાઓ —તેજ, પદ્મ અને શુક્લ જોવામાં આવે છે ॥ ૨૨ ॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પહેલા દેવોના સામાન્ય રૂપથી ચાર ભેદ કહેવામા આવ્યા—ભવનપતિ, વાનવ્યન્તર, જ્યોતિષ્ક અને વૈમાનિક ત્યારબાદ ભવનપતિઓના અસુરકુમાર આદિ દસ ભેદ, વાનવ્યન્તરોના કિન્નર આદિ આઠ ભેદ, જ્યોતિષ્કોના ચન્દ્ર-સૂર્ય આદિ પાચ ભેદ અને કલ્પોપપન્ન વૈમાનિકોના બાર ભેદ, ગ્રૈવેયકોના નવ ભેદ અને અનુત્તરૌપપાતિકોના પાચ ભેદ દર્શાવી દેવામા આવ્યા છે હવે એવુ પ્રતિપાદન કરીએ છીએ કે તે દેવોમા કેટલી-કેટલી ભાવ લેશ્યાઓ હોય છે ?

ભવનપતિઓ અને વાનવ્યન્તરોમા શરૂઆતની ચાર લેશ્યાઓ જ્યોતિષ્કોમા તેજોલેશ્યા અને વૈમાનિકોમા છેવટની ત્રણ લેશ્યાઓ હોય છે ભવનપતિઓ અને વાનવ્યન્તરોમા કૃષ્ણ, નીલ, કાપોત અને તેજોલેશ્યા— એ ચાર લેશ્યાઓ છે.

સૌધર્મ આદિ બાર પ્રકારના કલ્પોપપન્નક અને કાલ્પાતીત નવ ગ્રૈવેયક અને પાચ અનુત્તરૌપપાતિક વૈમાનિક દેવોમાં છેવટની ત્રણ અર્થાત્ તેજ, પદ્મ અને શુકલ નામની લેશ્યાઓ હોય છે

વૈમાનિકોમા સૌધર્મ અને ઈશાનમા તેજોલેશ્યા જોવામા આવે છે સનત્કુમાર, માહેન્દ્ર અને બ્રહ્મલોકમા પદ્મ લેશ્યા, લાન્તક, મહાશુક્ર સહસ્રાર આનત, પ્રાણત, આરણ અને અચ્યુતમાં તથા નવ ગ્રૈવેયકો અને પાચ અનુત્તરોપપાતિકમા શુકલ—લેશ્યા હોય છે આ શુકલ લેશ્યા ઉપર-ઉપર વધારે વિશુદ્ધ હોય છે

સ્થાનાગસૂત્રના પ્રથમ સ્થાનમા કહ્યુ છે—ભવનપતિ અને વાનવ્યન્તરોમા ચાર લેશ્યાઓ હોય છે, જ્યોતિષ્કોમાં એક તેજોલેશ્યા હોય છે અને વૈમાનિકોમા અન્તની ત્રણ લેશ્યાઓ હોય છે

આ પૈકી પ્રારભની ચાર, કૃષ્ણ નીલ, કાપોત અને તેજોલેશ્યા ભવનપતિ અને વાનવ્યન્તરોમા હોય છે ચન્દ્ર સૂર્ય, ગ્રહ, નક્ષત્ર, તારા નામના પાચ જ્યોતિષ્કોમાં એક તેજોલેશ્યા હોય છે સૌધર્મ તથા ઈશાનમા તેજોલેશ્યા, સનત્કુમાર, માહેન્દ્ર અને બ્રહ્મલોકમાં પદ્મલેશ્યા અને શેષ વૈમાનિકોમા ઉત્તરોત્તર વિશુદ્ધ શુકલલેશ્યા હોય છે

જીવાભિગમની ત્રીજી પ્રતિપત્તિના 'પ્રથમ ઉદ્દેશકમા તથા પ્રજ્ઞાપનાસૂત્રના ૧૭મા પદના પ્રથમ ઉદ્દેશકમા કહ્યુ છે—સૌધર્મ અને ઈશાન દેવોમા કેટલી લેશ્યાઓ હોય છે ? ગૌતમ ! એક તેજોલેશ્યા હોય છે સનત્કુમાર અને માહેન્દ્રમા પદ્મલેશ્યા, બ્રહ્મલોકમા પણ પદ્મલેશ્યા અને શેષ વૈમાનિકોમા શુક્લલેશ્યા તથા અનુત્તરોપપાતિકોમા પરમ શુકલલેશ્યા હોય છે ॥ ૨૨ ॥

'कप्पोववन्नगदेवाणं' ઈત્યાદિ

સૂત્રાર્થ—કલ્પોપપન્નક વૈમાનિક દેવોમા ઇન્દ્ર સામાનિક ત્રાયસ્ત્રિંશ આત્મરક્ષક લોકપાલ, પારિષદ્ અનીકાધિપતિ, પ્રકીર્ણક, આભિયોગ્ય અને કિલ્બિષક એ દશ ભેદ હોય છે ॥ ૨૩ ॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પહેલાં ભવનપતિ, વાનવ્યન્તર, જ્યોતિષ્ક અને વૈમાનિક દેવોના સામાન્ય અને વિશેષ રૂપે સ્વરૂપ બતાવ્યા, ત્યાર બાદ ચારે પ્રકારના દેવોમા જોવાતી કૃષ્ણ નીલ વગેરે લેશ્યાઓનુ નિરૂપણ કીધુ હવે એ બતાવીએ છીએ કે ચારે નિકાયોમાંથી કોનામાં ઈન્દ્ર, સામાનિક આદિ કેટલા ભેદ હોય છે ? આ પ્રશ્નનું સમાધાન કરવા માટે સૌ પ્રથમ કલ્પોપપન્નક વૈમાનિક દેવોના ઈન્દ્રાદિ દશ ભેદોનુ પ્રતિપાદનક કરીશુ—

સૌધર્મથી લઈને અચ્યુત પર્યન્ત બાર કલ્પોપપન્નક વૈમાનિક દેવોમાં આજ્ઞા ઐશ્વર્ય આદિ તથા ભોગોપભોગ વગેરેના સમ્પાદક રૂપથી ઈન્દ્ર આદિ દસ પરિવાર હોય છે

(૧) ઈન્દ્ર—અન્ય દેવોને પ્રાપ્ત ન થઈ શકનારા અણિમા આદિ ગુણોના યોગથી જે સસ્કૃત અર્થાત્ પરમ ઐશ્વર્યને પ્રાપ્ત હોય છે તે ઇન્દ્ર કહેવાય છે તે રાજાના જેવો હોય છે

(૨) સામાનિક—જે ઈન્દ્ર તો ન હોય પરન્તુ ઈન્દ્રના જેવો હોય અર્થાત્ ઈન્દ્રના જેવા જ જેમના મનુષ્ય, વીર્ય, પરિવાર ભોગ અને ઉપભોગ હોય પરન્તુ ઈન્દ્રની માફક આજ્ઞા અને ઐશ્વર્ય ન હોય, તે, સામાનિક દેવ કહેવાય છે તેમને 'મહત્તર' પણ કહે છે આ દેવ રાજાના પિતા ગુરૂ અથવા ઉપાધ્યાય જેવા હોય છે

(૩) ત્રાયસ્ત્રિશ—આ મત્રી અને પુરોહિત સ્થાનીય છે મિત્ર, પીઠ મર્દ વગેરે સમજવા

(૪) આત્મરક્ષક—આ ઈન્દ્રની રક્ષા કરનારા અગરક્ષક જેવા છે

(૫) લોકપાલ—લોક-જનતાની રક્ષા કરવાવાળા, ખજાનચીની માફક અર્થચર, કોટવાલની જેમ દેશરક્ષક, દુર્ગપાળની જેમ મહાતલવર દેવ લોકપાળ કહેવાય છે

(૬) પારિષદ- સદસ્યો (સભ્યો) જેવાં

(૭) અનીકાધિપતિ—પાયદલ, ગજદળ, હયદળ રથદળ વગેરે સાત પ્રકારની સેનાઓનાં અધિપતિ-એમને દણ્ડસ્થાનીય પણ કહી શકાય

(૮) પ્રકીર્ણક—નાગરિક-જનતા જેવા

(૯) આભિયોગિક—સેવકની જેવા જે વાહન વગેરેના કામમા આવે છે

(૧૦) કિલ્બિષિક—દિવાકીર્ત્તિ નાપિતની જેવા ચાણ્ડાળની જેવા ભિન્ન કોટિના દેવ

ઈન્દ્ર આદિ આ દસ ભેદ સૌધર્મ આદિ અચ્યુત દેવલોક સુધી બાર વૈમાનિકોમા આ દસે ભેદો જોવામા આવે છે-કોઈ, કોઈ સ્થળે—બબ્બે દેવલોકોમા આ ભેદ હોય છે ॥ ૨૩ ॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—આની અગાઉ ભવનપતિ, વાનવ્યન્તર, જ્યોતિષ્ક અને વૈમાનિક દેવોની કૃષ્ણ, નીલ વગેરે છ લેશ્યાઓનુ યથાયોગ્ય પ્રતિપાદન કરવામા આવ્યુ, હવે તેજ દેવોના આજ્ઞા, ઐશ્વર્ય, ભોગ, ઉપભોગ આદિના સમ્પાદન માટે ઈન્દ્ર આદિ દસ ભેદ હોય છે તેમનુ પ્રતિપાદન કરવા માટે પ્રથમ ભવનપતિ અને કલ્પોપપન્ન—વૈમાનિક દેવોમા થનારા દશ ભેદોનુ પ્રતિપાદન કરીએ છીએ—કલ્પોપપન્નક દેવોના ઈન્દ્ર, સામાનિક, ત્રાયસ્ત્રિશક, આત્મરક્ષક, લોકપાલ, પરિષદુપપન્નક (પારિષદ), અનીકાધિપતિ, પ્રકીર્ણક આભિયોગિક અને કિલ્બિષિક આ દસ-દસ દેવ હોય છે એમનુ સ્વરૂપ આ પ્રકારે છે-

(૧) ઈન્દ્ર જે પરમ ઐશ્વર્યથી યુક્ત હોય તેમજ સામાનિક વગેરે દેવના અધિપતિ હોય.

(૨) સામાનિક જેમના આજ્ઞા—ઐશ્વર્ય ઈન્દ્રની જેવા ન હોય પરન્તુ આયુ, વીર્ય (પરાક્રમ) ભોગ, ઉપભોગ આદિ તેના જેવા જ હોય તાત્પર્ય એ છે કે ઈન્દ્ર શાસક હોય છે—તેની આજ્ઞા ચાલે છે, તે સમ્પૂર્ણ કલ્પનો અધિપતિ હોય છે, આ વિશેષતા સામાન્ય દેવોમા જોવામાં આવતી નથી પરંતુ આયુષ્ય વગેરેમા તેઓ ઈન્દ્ર સમાન જ હોય છે, ઇન્દ્ર રાજા જેવો છે તો આ બધા તેના પ્રધાન, પિતા, ગુરૂ, ઉપાધ્યાય અથવા મહત્તર જેવાં છે

(૩) ત્રાયસ્ત્રિંશ—આ મંત્રી તથા પુરોહિત જેવા છે. જે રાજ્યના કારભારની ચિન્તા કરે છે—શાસન સૂત્રનું સંચાલન કરે છે તેઓ મંત્રી કહેવાય છે. શાન્તિ કર્મ પુષ્ટિ કર્મ વગેરે કરનારા પુરોહિત કહેવાય છે.

(૪) આત્મરક્ષક—જે ઈન્દ્રના રક્ષક હોય, હથિયારથી સજ્જ થઈ પાછળ ઉભા રહેતા હોય અને રૌદ્ર હોય

(૫) લોકપાલ—જે લોકોનુ પાલન કરે તે લોકપાલ આ વ્યુત્પત્તિ અનુસાર એ આત્મરક્ષક સ્થાનીય હોય છે. આત્મરક્ષક તે કહેવાય જે દેશના સીમાડાઓનું રક્ષણ કરે છે

(૬) પારિષદ-મિત્રો જેવા સભાસદો જેવાં

(૭) અનીકાધિપતિ—સેનાપતિ અથવા દણ્ડનાયક જેવા સેનાઓ અનેક પ્રકારની હોય છે. ગજસેના, અશ્વસેના, રથસેના પાયદળ વગેરે.

(૮) પ્રકીર્ણક—પ્રજા જેવા

(૯) આભિયોગિક—ભૃત્યો—નોકરોની જેવા. જે બીજાનાં કામ કરવા માટે તૈયાર રહે તે.

(૧૦) કિલ્બિષિક—કિલ્બિષનો અર્થ છે. પાપ જે દેવને ચાન્ડાલો જેવા હડધૂત સમજવામાં આવે છે તેઓ કિલ્બિષિક કહેવાય છે. ॥૨૩॥

'**वाणमंतरजोइसियाणं**' ઈત્યાદિ

સૂત્રાર્થ—વાનવ્યંતર અને જ્યોતિષ્કોમાં (૧) ઈન્દ્ર (૨) સામાનિક (૩) પારિષદુપપન્નક (૪) આત્મરક્ષક (૫) અનીકાધિપતિ આ પાંચ દેવ હોય છે કલ્પાતીત દેવ બધા અહમિન્દ્ર હોય છે. ॥૨૪॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમાં બાર કલ્પોપપન્નક વૈમાનિક દેવોના ઈન્દ્ર આદિ દસ-દસ ભેદ, આજ્ઞા, ઐશ્વર્ય ભોગ ઉપભોગ આદિના સમ્પાદક રૂપમા પ્રતિપાદન કરવામાં આવ્યું છે હવે એ દર્શાવીએ છીએ કે વાનવ્યન્તરો અને જ્યોતિષ્કોમાં ઈન્દ્રાદિ પાંચ હોય છે નવ ગ્રૈવેયક દેવ તથા પાંચ અનુત્તરૌપપાતિક દેવ સઘળાં અહમિન્દ્ર હોય છે. તેમનામાં ઇન્દ્ર વગેરેનો કોઈ ભેદ હોતો નથી વાનવ્યંતર અને જ્યોતિષ્ક દેવોમા આ પાચ-પાંચ ભેદવાળા દેવ હોય છે. (૧) ઈન્દ્ર (૨) સામાનિક (૩) પારિષદ (૪) આત્મરક્ષક (૫) અનીકાધિપતિ કલ્પાતીત દેવ અહમિન્દ્ર હોય છે

કિન્નર, કિંપુરૂષ આદિ આઠ વાનવ્યન્તરો તથા ચન્દ્ર સૂર્ય આદિ પાચ જ્યોતિષ્કોમાં (૧) ઈન્દ્ર (૨) સામાનિક (૩) પારિષદુપપન્નક (૪) આત્મરક્ષક (૫) અનીકાધિપતિ (૬) પ્રકીર્ણક (૭) આભિયોગિક અને (૮) કિલ્બિષિક એ આઠ ભેદ હોય છે.

કલ્પાતીત દેવ અર્થાત્ નવ ગ્રૈવેયક તથા પાચ અનુત્તરૌપપાતિક અહમિન્દ્ર હોય છે તેમનામા શાસ્ય–શાસકભાવ નથી, સ્વામિ–સેવકનો ભેદ નથી, તેઓ સ્વય જ પોતાના સ્વામિ ભર્ત્તા અગર પોષક છે તેઓ કોઇની આજ્ઞા હેઠળ હોતા નથી, કોઈના ઐશ્વર્યના વિધાયક હોતા નથી એ કારણે જ તેમને અહમિન્દ્ર કહે છે ॥૨૪॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પહેલા સૌધર્મ ઇશાન વગેરે બાર પ્રકારના વૈમાનિકોના આજ્ઞા ઐશ્વર્ય ભોગ ઉપભોગોના વિધાયક રૂપથી ઈન્દ્ર આદિ દસ દસ ભેદ પ્રતિપાદન કરવામા આવ્યા હવે કિન્નર આદિ વાનવ્યતરો અને ચન્દ્ર–સૂર્ય આદિ પાચ જ્યોતિષ્કોમા ઈન્દ્રાદિ દેવોના ભેદ બતાવીએ છીએ અહી ઈન્દ્ર વગેરે પાંચ ભેદવાળા દેવ હોય છે

કિન્નર કિપુરૂષ આદિ આઠ પ્રકારના—વાનવ્યતરોમા તથા ચન્દ્ર–સૂર્ય ગ્રહ, નક્ષત્ર અને તારા આ પાચ જ્યોતિષ્ક વિમાનોમા ઈન્દ્ર સામાનિક પારિષદ્ય આત્મરક્ષક અનીકાધિપતિ આ પાંચ પ્રકારની આજ્ઞા–ઐશ્વર્ય ભોગોપભોગના વિધાયક રૂપમા જ હોય છે—

આ રીતે વાનવ્યન્તરો અને જ્યોતિષ્કોમા આ પાચ પ્રકારોમાથી

(૧) ઈન્દ્ર તે કહેવાય જે બાકી ચારના અધિપતિ છે અને પરમ ઐશ્વર્યથી સમ્પન્ન હોય છે,

(૨) સામાનિક—જે ઈન્દ્રની જેવા સ્થાને હોય તે સામાનિક આયુ વીર્ય પરિવાર ભોગ અને ઉપભોગ આદિની અપેક્ષા તેઓ ઈન્દ્રની બરાબર હોય છે તેમને મહત્તર, ગુરૂ, પિતા અગર ઉપાધ્યાયની માફક સમજવા જોઈએ

(૩) પારિષદ્ય—જે મિત્રો જેવા હોય .

(૪) આત્મરક્ષક—જે પોતાના શસ્ત્ર, અસ્ત્રોને તૈયાર રાખે છે, રૌદ્ર હોય છે અને ઈન્દ્રની રક્ષા માટે તેમની પાછળ ઉભા રહે છે

(૫) અનીકાધિપતિ—આ સેનાપતિએ જેવા હોય છે

ભવનપતિ દેવોના ઈન્દ્ર, સામાનિક, ત્રાયસ્ત્રિશક, લોકપાલ પારિષદ્ય, અનીકાધિપતિ અને આત્મરક્ષક એ સાત આજ્ઞા ઐશ્વર્ય ભોગોપભોગના વિધાયક હોય છે

કલ્પાતીત દેવ કોણ છે ? આ પ્રશ્નનો ઉત્તર એ છે કે જે દેવ પહેલા કહેવાયેલા સૌધર્મ આદિ બાર કલ્પોથી દૂર છે ઉપર છે તે નવ પ્રકારના ગ્રૈવેયક દેવ અને પાચ પ્રકારના અનુત્તરૌપપાતિક દેવ કલ્પાતીત કહેવાય છે—પોતે જ પોતાના ઈન્દ્ર છે તેમનો બીજો કોઈ ઈન્દ્ર હોતો નથી એ કારણે જ તેઓ અહમિન્દ્ર કહેવાય છે તેમનામા સામાનિક આદિ–વિભાગ હોતા નથી એવા કલ્પાતીત દેવોમા નવ ગ્રૈવેયક દેવ નીચે મધ્ય અને ઉપર એવી ત્રણ ત્રિકોમા ત્રણ ત્રણ સખ્યાથી રહે છે અનુત્તરૌપપાતિક દેવ વિજય–વૈજયન્ત, જયન્ત, અપરાજિત અને સર્વાર્થસિદ્ધ નામક પાચ અનુત્તર વિમાનોમા રહે છે તેઓ સ્વય પોતાના આજ્ઞા, ઐશ્વર્ય, અધિપતિત્વ ભર્તૃત્વ, પોષકત્વના વિધાયક હોય છે ભવનપતિ દેવોના ઈન્દ્ર સામાનિક, ત્રાયસ્ત્રિશક, લોકપાલ પારિષદ્ય—અનીકાધિપતિ અને આત્મરક્ષક એ સાત આજ્ઞા ઐશ્વર્યના વિધાયક હોય છે

પ્રજ્ઞાપનાના બીજા સ્થાનપદના ૩૮ મા સૂત્રમા "कहि णं भंते वाणमंतराणं" એ સૂત્રમાં કહ્યુ છે કે—પોત-પોતાના સહસ્રો સામાનિક દેવોનો પોત-પોતાની અગ્રમહિષિઓનુ પોત-પોતાના પારિષદ્ય દેવોનું પોત-પોતાના અનીક દેવોનુ પોત-પોતાના અનીકાધિપતિઓનુ, પોત-પોતાના આત્મરક્ષક સેનાના દેવોનુ અને બીજા ઘણા બધા વાનવ્યન્તર દેવોનુ અધિપતિત્વ, પૌરપત્ય, સ્વામિત્વ, ભર્તૃત્વ મહત્તરત્વ, આજ્ઞા-ઐશ્વર્ય સેનાપતિત્વ કરતા થકા વિચરે છે

પ્રજ્ઞાપના સૂત્રમાં આ જ સ્થાન પદના ૪૨ મા સૂત્રમા "कहि णं भंते जोइसियाण" આ સૂત્રમા કહેવામા આવ્યુ છે—તેઓ પોત-પોતાના હજારો વિમાનાવાસોનુ પોત-પોતાના હજારો સામાનિક દેવોનુ પોત-પોતાની સપરિવાર પટ્ટરાણીઓનુ પોત-પોતાની પરિષદોનુ પોત-પોતાના અનીકોનુ પોત-પોતાના અનીકાધિપતિઓનુ પોત-પોતાના હજારો આત્મરક્ષક દેવોનું તથા દેવીઓનુ અધિપતિત્વ કરતાં થકાં આ પ્રમાણે વિચરે છે

ભવનપતિ દેવોની બાબતમાં આ જ પ્રજ્ઞાપના સૂત્રના બીજા પદમા "कहि णं भंते भवणवासीणं" એ ૨૮મા સૂત્રમા કહ્યુ છે—પોત-પોતાના લાખો ભવનાવાસોમા, પોત-પોતાના હજારો સામાનિક દેવોનુ, પોત-પોતાના ત્રાયસ્ત્રિંશક દેવોનુ પોત પોતાના લોકપાલોનુ, પોત-પોતાની પટ્ટરાણીઓનુ પોત-પોતાના પારિષદ્ય દેવોનું, પોત-પોતાની સેનાઓનુ પોત-પોતાના અનીકાધિપતિઓનુ પોત-પોતાના આત્મ-રક્ષક દેવોનુ તથા બીજા પણ ઘણા દેવોનુ આધિપત્ય કરતાં થકા રહે છે ॥૨૪॥

'भवणवइ वाणमंतराणं पाडिपक्कं' ઇત્યાદિ

સૂત્રાર્થ—ભવનપતિઓ અને વાનવ્યન્તરોની પ્રત્યેક જાતિમાં બબ્બે ઇન્દ્ર છે, જ્યોતિષ્કોમાં કુલ બે ઇન્દ્ર છે અને વૈમાનિકોમા (એક-એક કલ્પમાં) એક-એક ઇન્દ્ર છે ॥૨૫॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—ભવનપતિ, વાનવ્યન્તર, જ્યોતિષ્ક અને વૈમાનિકોમાં ઇન્દ્ર વગેરે કેટલા કેટલા પ્રકારના હોય છે એ બતાવી દેવામા આવેલ છે હવે અસુરકુમાર આદિ દસ પ્રકારના ભવનપતિઓમાં તથા કિન્નર, કિંપુરૂષ આદિ આઠ પ્રકારના વાનવ્યન્તરોમાં પ્રત્યેક જાતિમા બબ્બે—ઇન્દ્ર હોય છે, જ્યોતિષ્કોમાં જાતિવાચક કુલ બે ઇન્દ્ર છે અને વૈમાનિકોમાં એક-એક ઇન્દ્ર છે એ પ્રતિપાદન કરીએ છીએ

અસુરકુમાર આદિ દસ પ્રકારના ભવનવાસિઓમાં અને કિન્નર આદિ આઠ પ્રકારના વાનવ્યન્તરોમાં પ્રત્યેક જાતિમાં બે-બે ઇન્દ્ર હોય છે ચન્દ્ર, સૂર્ય, ગ્રહ, નક્ષત્ર અને તારા એ પાંચ પ્રકારના જ્યોતિષ્કોમાં માત્ર જાતિવાચક બે ઇન્દ્ર—ચન્દ્ર તથા સૂર્ય હોય છે સૌધર્મ આદિ પ્રત્યેક વૈમાનિક દેવોમા એક-એક ઇન્દ્ર હોય છે સૌધર્મ કલ્પમાં શક્ર ઇન્દ્ર છે, ઇશાન કલ્પમાં ઇશાન ઇન્દ્ર છે, યાવત્ આનત-પ્રાણતમાં પ્રાણતર ઇન્દ્ર છે, આરણ-અચ્યુત કલ્પોમાં અચ્યુત નામક ઇન્દ્ર છે ॥૨૫॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—ભવનપતિ વાનવ્યન્તર, જ્યોતિષ્ક અને વૈમાનિક આ પૂર્વોક્ત ચાર પ્રકારના દેવોમાંથી કોના એક-એક ઇન્દ્ર છે અને કોના બે-બે ઇન્દ્ર છે એ પ્રતિપાદન કરવા માટે કહીએ છીએ કે ભવનવાસી અને વાનવ્યન્તરોમા પ્રત્યેક જાતિના બે-બે ઇન્દ્ર હોય છે, જ્યોતિષ્કોમા જાતિવાચક બે જ ઇન્દ્ર છે અને વૈમાનિકોમા પ્રત્યેક કલ્પમા એક-એક ઇન્દ્ર છે

અસુરકુમાર આદિ દસ પ્રકારના ભવનવાસીઓમા બે-બે ઇન્દ્ર છે, કિન્નર આદિ આઠ પ્રકારના વાનવ્યન્તરોમા પણ બે-બે ઈન્દ્ર છે

અસુરકુમારોમા ચમર અને બલિ નામના બે ઇન્દ્ર છે નાગકુમારોમાં ધરણ અને ભૂતાનંદ નામક બે ઈન્દ્ર છે વિદ્યુત્કુમારોમા હરિ અને હરિસહ સુવર્ણકુમારોમાં વેણુદેવ અને વેણુદાલી, અગ્નિકુમારોમા અગ્નિશિખ અને અગ્નિમાણવ વાયુકુમારોમા વેલમ્બ અને પ્રભજન, દ્વીપકુમારોમા પૂર્ણ અને વિશિષ્ટ, ઉદધિકુમારોમાં જલકાન્ત અને જલપ્રભ, દિક્કુમારોમાં અમિતગતિ અને અમિતવાહન નામના ઇન્દ્ર છે સ્તનિતકુમારોમા ઘોષ અને મહાઘોષ નામક બે ઇન્દ્ર છે

વાનવ્યન્તરોમા—કિન્નરોમા કિન્નર અને કિંપુરૂષ, કિંપુરૂષોમાં સત્પુરૂષ અને મહાપુરુષ મહોરગોમા અતિકાય અને મહાકાય ગન્ધર્વોમા ગીતરતિ અને ગીતયશ, યક્ષોમાં પૂર્ણભદ્ર અને મણિભદ્ર રાક્ષસોમા ભીમ અને મહાભીમ ભૂતોમાં પ્રતિરૂપ અને અતિરૂપ તથા પિશાચોમાં કાળ અને મહાકાળ નામના બે ઇન્દ્ર છે

જ્યોતિષ્કોમાં—ચન્દ્ર, સૂર્ય અને ગ્રહ આદિમા ચન્દ્ર અને સૂર્ય નામના બે ઇન્દ્ર છે અને સૂર્ય ઘણા જ છે આથી જાતિવાચક બે ઈન્દ્ર છે

કલ્પોપપન્નક વૈમાનિકોમા પ્રત્યેક કલ્પમા એક-એક ઈન્દ્ર છે સૌધર્મ શક્ર, ઐશાનમા ઈશાન સનત્કુમારમા સનત્કુમાર, માહેન્દ્રમા માહેન્દ્ર, બ્રહ્મલોકમા 'બ્રહ્મ' લાન્તકમા લાન્તક, મહાશુક્રમા મહાશુક્ર, સહસ્રારમા સહસ્રાર આનત—પ્રાણત નામક બને કલ્પોમાં એક પ્રાણત આરણ અને અચ્યુત કલ્પોમાં એક અચ્યુત નામક ઈન્દ્ર છે

અચ્યુતકલ્પથી આગળ નવ ગ્રૈવેયકોમા અને પાચ અનુત્તર-વિમાનોમાં ઈન્દ્ર આદિના ભેદ નથી, તેઓ કલ્પાતીત છે ત્યાંના બધા દેવ સ્વતંત્ર હોવાથી અહમિંદ્ર છે અને પ્રાયઃગમન-આગમનથી રહિત છે આમતેમ આવાગમન કરતા નથી

સ્થાનાંગસૂત્રના બીજા સ્થાનના ત્રીજા ઉદ્દેશકમા કહ્યુ છે—

બે અસુરકુમારેન્દ્ર કહેવામા આવ્યા છે ચમર અને બલિ બે નાગકુમાર કહેવાયા છે ધરણ અને ભૂતાનન્દ બે સુવર્ણકુમારેન્દ્ર કહેવામા આવ્યા છે—વેણુદેવ અને વેણુદાલી બે વિદ્યુત્કુમારેન્દ્ર કહેવામા આવ્યા છે—હરિ અને હરિસહ બે અગ્નિકુમારેન્દ્ર કહેવામા આવ્યા છે અગ્નિશિખ અને અગ્નિમાણવ બે દ્વીપકુમારેન્દ્ર પૂર્ણ અને વિશિષ્ટ બે ઉદધિકુમારો છે—જલકાન્ત અને જલપ્રભ બે દિશાકુમારેન્દ્ર અમિતગતિ અને અમિતવાહન વાયુકુમારોના બે ઇન્દ્ર કહેવામા આવ્યા છે—વેલમ્બ અને પ્રભજન સ્તનિતકુમારોના બે ઇન્દ્ર કહેવામા આવ્યા છે ઘોષ તથા મહાઘોષ વાનવ્યતરોમા પિશાચોના બે ઈન્દ્ર છે કાળ અને મહાકાળ, ભૂતોના બે ઈન્દ્ર છે સુરૂપ અને પ્રતિરૂપ, યક્ષોના બે ઇન્દ્ર છે પૂર્ણભદ્ર અને માણિભદ્ર, રાક્ષસોના બે ઈન્દ્ર છે ભીમ અને મહાભીમ, કિન્નરોના બે ઈન્દ્ર છે કિન્નર અને કિંપુરૂષ, કિંપુરૂષોના બે ઈન્દ્ર છે સત્પુરૂષ અને મહાપુરૂષ, મહોરગોના બે ઈન્દ્ર છે ગીતરતિ અને ગીતયશ ॥૨૫॥

'ईसाणंता देवा कायपरियारणा' ઇત્યાદિ

સૂત્રાર્થ—ઈશાનકલ્પ સુધીના દેવ કાયાથી પરિચારણા કરે છે, અચ્યુતકલ્પ સુધીના દેવ સ્પર્શ રૂપ, શબ્દ અને મનથી પરિચારણા કરે છે, કલ્પાતીત દેવ પરિચારણા રહિત હોય છે ॥ ૨૬ ॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા પૂર્વસૂત્રમા ભવનપતિથી લઈને સર્વાર્થસિદ્ધ પર્યન્તના દેવોમા યથા યોગ્ય ઈન્દ્રોની પ્રરૂપણા કરવામા આવી છે હવે દેવોમા વિષયસુખને ભોગવવાનો પ્રકાર બતાવીએ છીએ—

અસુરકુમાર આદિ દસ ભવનપતિ, કિન્નર આદિ આઠ વાનવ્યતર, ચન્દ્ર–સૂર્ય વગેરે પાંચ જ્યોતિષ્ક તથા સૌધર્મ અને ઇશાન દેવલોકના દેવો કાયાથી મનુષ્યોની માફક પ્રવિચાર અર્થાત્ મૈથુનસેવન કરે છે સનત્કુમાર, માહેન્દ્ર, બ્રહ્મલોક, લાન્તક, મહાશુક્ર, સહસ્રાર, આનત, પ્રાણત, આરણ અને અચ્યુત પર્યન્ત દસ દેવલોકોના વૈમાનિકો સ્પર્શ, રૂપ, શબ્દ અને મનથી મૈથુન સેવે છે—અર્થાત્ સનત્કુમાર અને માહેન્દ્ર કલ્પના દેવ–દેવાંગનાઓના સ્પર્શમાત્રથી વિષયભોગના સુખનો અનુભવ કરીને પરમ પ્રીતી પ્રાપ્ત કરે છે એવી જ રીતે આ બને કલ્પોમાં આવનારી દેવીઓ દેવોના સ્પર્શથી જ વિષય–સુખનો અનુભવ કરે છે બ્રહ્મલોક અને લાન્તક કલ્પના દેવ દેવાગનાઓના શૃગાર–પરિપૂર્ણ વિલાસને, મનોજ્ઞ વેષભૂષાને તથા રૂપને નિરખવા માત્રથી રતિજન્ય સુખની અનુભૂતિ કરે છે મહાશુક્ર અને સહસ્રાર કલ્પમાં સ્થિત દેવ–દેવિઓના મનોહર તથા મધુર સગીત, મૃદુ મદ મુસ્કરાહટથી સુજ્ઞ આભૂષણોનો અવાજ તથા વાણિનોઆલાપ સાભળીને જ કામની તૃપ્તિ પ્રાપ્ત કરી લે છે.

આનત, પ્રાણત, આરણ અને અચ્યુત કલ્પોના દેવ પોત–પોતાની દેવિઓના મનના સકલ્પ માત્રથી જ કામભોગ–સબધી પરમ સુખનો અનુભવ કરે છે.

નવ ગ્રૈવેયકો તથા પાચ અનુત્તર વિમાનોના કલ્પાતીત દેવ મૈથુન રહિત હોય છે અર્થાત્ તેઓ મનથી પણ મૈથુન સેવન કરતા નથી

તે કલ્પાતીત દેવોને કલ્પોપપન્નક દેવોની અપેક્ષાએ પણ પરમોત્કૃષ્ટ હર્ષ રૂપ સુખ પ્રાપ્ત રહે છે જે વિષયજનિત સુખથી પણ ઉત્તમકોટિનુ અને વિલક્ષણ હોય છે તેમનુ વેદમોહનીય એટલા ઉપશાન્ત રહે છે કે તેમનામા કામવાસના ઉત્પન્ન જ થતી નથી અને જ્યારે કામવાસના જ ઉત્પન્ન થતી નથી તો કામવેદનાનો પ્રતિકાર કરવા માટે મૈથુનનો વિચાર પણ કઇ રીતે ઉદ્ભવી શકે ? એ અહમિન્દ્ર દેવોને સદા સતોષમય સુખ જ થતુ રહે છે ॥ ૨૬ ॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પહેલા ભવનપતિઓથી લઈને સર્વાર્થસિદ્ધ સુધીના ચાર પ્રકારના દેવોના યથાયોગ્ય ઈન્દ્ર આદિનો વિચાર કરવામા આવ્યો છે હવે એ પ્રતિપાદન કરીએ છીએ કે બધા દેવ ત્રણ પ્રકારના હોય છે કોઈ–કોઈ દેવિઓવાળા અને મૈથુનસેવનારા કોઈ અદેવિક અને મૈથુનસેવનારા અને કોઈ–કોઇ અદેવિક અને અપ્રવીચાર—(મૈથુન ન સેવનારા). આ ત્રણ પ્રકારના દેવોની ક્રમશઃ પ્રરૂપણા કરીએ છીએ—

અસુરકુમાર આદિ દસ ભવનપતિઓથી લઈને ઈશાન સુધીના પચ્ચીસ પ્રકારના દેવો કાયાની પ્રવીચાર કરે છે અર્થાત્ શરીરથી મૈથુનક્રિયા કરે છે તેઓ સક્લિષ્ટ કર્મોવાળા હોય છે આથી મનુષ્યની જેમ મૈથુનસુખનો અનુભવ કરતા થકા, તીવ્ર આશયવાળા થઈને શારીરિક સક્લેષથી ઉત્પન્ન સ્પર્શસુખને પ્રાપ્ત કરીને પ્રીતિ પ્રાપ્ત કરે છે આજ ભવનવાસિઓ, વાન-વ્યતરો જ્યોતિષ્કો અને સૌધર્મ તથા ઇશાન કલ્પમા જ દેવિઓ ઉત્પન્ન થાય છે બીજા કલ્પથી ઉપર દેવિઓ ઉત્પન્ન થતી નથી આથી આ દેવલોકોને સદેવિક અને સપ્રવીચાર કહે છે.

સનત્કુમાર, માહેન્દ્ર, બ્રહ્મલોક, લાન્તક, મહાશુક્ર, સહસ્રાર, આનત, પ્રાણત, આરણ, અચ્યુત—આ દસ કલ્પોપપન્ન વૈમાનિક દેવ સ્પર્શ, રૂપ, શબ્દ અને મનથી પ્રવીચાર અર્થાત મૈથુનસેવન કરે છે

સનત્કુમાર અને માહેન્દ્ર કલ્પમાં દેવિઓ પોતાના દેવોને-મૈથુન-સુખના અભિલાષી જાણીને તથા પોતાના તરફ આદર ઉત્પન્ન થયો સમજીને વગર બોલાવ્યે જ સ્વય ઉપસ્થિત થઇ જાય છે.

બ્રહ્મલોક અને લાન્તક કલ્પમાં દેવિઓ જ્યારે પોતાના દેવોને મૈથુનસુખના ઇચ્છુક જાણે છે ત્યારે તેઓ જાતે હાજર થઇને પોતાના દિવ્ય સર્વાંગસુન્દર હાવ-ભાવ-વિલાસ-ઉલ્લાસથી પૂર્ણ પરમ મનોહર વેષ-પરિધાન તથા સૌન્દર્યને પ્રદર્શિત કરે છે તેને જોઇને દેવોની કામ-પિપાસા શાન્ત થઈ જાય છે તેમજ તેઓ ઘણુ પ્રેમનો અનુભવ માણે છે

મહાશુક્ર અને સહસ્રાર કલ્પના દેવોને જ્યારે કામવાસના ઉત્પન્ન થાય છે તો તેમની નિયોગિની દેવિઓ આ જાણીને કાનોને સુખ પહોચાડનાર એવા મનોહર સગીતનુ ગાન કરે છે સગીતશબ્દ તથા તેમના નુપૂર-મજરી વગેરે અલકારોના શબ્દોને સાભળીને અને મધુર હાસ્ય-ઉલ્લાસથી પરિપૂર્ણ વચનોને સાભળીને તે દેવ તૃપ્ત થઇ જાય છે અને તેમની કામેચ્છા શાત થઇ જાય છે

આનત, પ્રાણુત, આરણ અને અચ્યુત કલ્પોમા સ્થિત દેવ કામભોગના અભિલાષી થઇને પોતાની દેવિઓનો સકલ્પ-ચિન્તન કરે છે દેવિઓના સકલ્પ કરવા માત્રથી જ તેઓ પરમ પ્રીતિ પ્રાપ્ત કરી લે છે અને કામતૃપ્તિનો અનુભવ કરે છે આ દેવ અદેવિક અને સપ્રવીચાર કહેવાય છે

આનાથી ઉપર—ગ્રૈવેયકો અને અનુત્તર વિમાનોના દેવ કામભોગની ઇચ્છાથી પર હોય છે. તેમના ચિત્તમા દેવિઓનો સકલ્પ પણ ઉદ્‌ભવતો નથી તો પછી કામ વગેરેથી પ્રવીચાર કરવાનો તો પ્રશ્ન જ કયા રહે છે ? વેદમોહનીયનુ ઉપશમન થઈ જવાથી તેઓ એટલા તો સુખીયા હોય છે કે કામસેવનની ઇચ્છા જ તેમના મનમા ઉઠતી નથી

રૂપ, રસ, સ્પર્શાદિ પાચ પ્રકારના વિષયનુ સેવન કરવાથી જે સુખ ઉત્પન્ન થાય છે તેની અપેક્ષા તેમને અસખ્યગણુ સુખનો અનુભવ થાય છે તે પરમસુખમા તેઓ સતુષ્ટ રહે છે આ રીતે તે કલ્પાતીત દેવ આત્મસમાધિજનિત સુખનો ઉપભોગ કરતા રહે છે તેમને જે સુખાનુભવ થાય છે તે આ સસારમા અન્યત્ર અત્યન્ત દુર્લભ છે આ કારણથી તેઓ ઇન્દ્રિય-જનિત સ્પર્શ શબ્દ આદિ વિષયોના સુખની અપેક્ષા કરતા નથી અને હમેશા તૃપ્ત રહે છે

પ્રજ્ઞાપના સૂત્રના ૩૪મા પદમા પ્રવીચારણાના વિષયમા કહ્યુ છે—

પ્રશ્ન—ભગવન્ ! પ્રવીચારણા (કામસેવન) કેટલા પ્રકારની કહેવામા આવી છે ?

ઉત્તર—ગૌતમ ! પાચ પ્રકારની કહેવામા આવી છે—કાયપરિચારણા, સ્પર્શપરિચારણા, રૂપપરિચારણા, શબ્દપરિચારણા અને મન પરિચારણા "ભવનવાસિ, વાનવ્યન્તર, જ્યોતિષ્ક સૌધર્મ તથા ઈશાન કલ્પમા દેવ કાયાથી પરિચારણા કરે છે, સનત્કુમાર અને માહેન્દ્ર કલ્પોના દેવ સ્પર્શથી પરિચારણા કરે છે, બ્રહ્મલોક અને લાન્તક કલ્પોમા રૂપથી પરિચારણા થાય છે,

મહાશુક્ર અને સહસ્રાર કલ્પોમાં દેવ શબ્દથી પરિચારણા કરે છે, આનત, પ્રાણત, આરણ અને અચ્યુત કલ્પોમા દેવ મનથી પરિચારણા કરે છે, ગ્રૈવેયક અને અનુત્તરૌપપાતિક દેવ પરિચારણા રહિત હોય છે"—

કલ્પોપપન્ન અને કલ્પાતીત દેવોના પ્રવીચારના વિષયમાં કહ્યુ છે કે—

બે દેવલોકોમા કાયાથી, બેમાં સ્પર્શથી, બેમાં રૂપથી અને બેમા શબ્દથી અને ચારમા મનના સકલ્પથી પ્રવીચાર થાય છે બાકીના દેવ પરિચારણા રહિત હોય છે ॥ ૧ ॥

દેવોના શરીર સાત ધાતુઓથી રહિત હોય છે આથી તેમનુ વીર્ય સ્ખલિત થતુ નથી જ્યારે વેદની ઉદીરણા હઠી જાય છે ત્યારે તેમને સકલ્પ-સુખ ઉત્પન્ન થાય છે ॥ ૨૬ ॥

'जोइसिआ मेरुपयाहिणा' ઈત્યાદિ

સૂત્રાર્થ—જ્યોતિષ્ક દેવ મેરૂ પર્વતની પ્રદક્ષિણા કરે છે, દિવસ રાત્રી વગેરે કાળના વિભાગના કારણ છે, મનુષ્યક્ષેત્રમાં અર્થાત્ અઢી દ્વીપમા નિરન્તર ગમન કરે છે અને મનુષ્યથી બહાર સ્થિત છે ॥ ૨૭ ॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પ્રથમ બતાવી દેવામાં આવ્યુ છે કે ભવનવાસિઓથી લઈને સર્વાર્થસિદ્ધ સુધીના દેવ કાયાથી સ્પર્શથી રૂપથી શબ્દથી અને મનથી મૈથુન સેવે છે અને કોઈ-કોઈ દેવ પ્રવીચાર રહિત પણ હોય છે હવે જ્યોતિષ્ક દેવોની ગતિ તેમજ કાળ વિભાજનકત્વ વગેરેની પ્રરૂપણા કરવા માટે કહીએ છીએ—

ચન્દ્ર, સૂર્ય, ગ્રહ, નક્ષત્ર અને તારા એ પાચ પ્રકારના જ્યોતિષ્ક મેરૂ પર્વતની પરિક્રમા કરે છે આ જ કાળના વિભાજનના કારણો છે અર્થાત્ તેમની ગતિના કારણે જ સમય, આવલિકા આદિ કાળના ભેદ થાય છે તેઓ નિત્ય અર્થાત્ અનવરત ગતિશીલ રહે છે—એક ક્ષણ માટે પણ તેમની ગતિને કોઈ રોકી શકતુ નથી-પરન્તુ મનુષ્ય ક્ષેત્રથી બહાર અર્થાત્ માનુષોત્તર પર્વતથી આગળ તેઓ ભ્રમણ કરતાં નથી—સ્થિર રહે છે ॥ ૨૭ ॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પૂર્વસૂત્રમા ભવનપતિઓથી લઈને સર્વાર્થસિદ્ધ પર્યન્તના દેવોના વિષયભોગ વગેરેનુ યથાયોગ્ય વિવેચન કરવામા આવ્યુ છે હવે જ્યોતિષ્ક દેવોની ગતિ આદિના વિષયમા કહીએ છીએ—

ચન્દ્ર, સૂર્ય, ગ્રહ, નક્ષત્ર અને તારા એ પાચ પ્રકારના જ્યોતિષ્ક દેવ મનુષ્ય-ક્ષેત્રમા અર્થાત્ માનુષોત્તર પર્વત પર્યન્તના પીસ્તાળીશ લાખ યોજન લબાઈ, પહોળાઈવાળા અઢી દ્વીપોમાં મેરૂ પર્વતની પ્રદક્ષિણ કરતા થકા નિરન્તર ગતિ કરતા રહે છે આ જ જ્યોતિષ્ક દેવો કાળના વિભાગના કારણ છે અર્થાત્ સમય આવલિકા, શ્વાસોચ્છવાસ, સ્તોક લવ અને મુહૂર્ત્ત આદિ કાળના ભેદોના કારણ હોય છે ચન્દ્ર, સૂર્ય આદિના સચારથી જ ઘડી, પળ, ક્ષણ, પ્રહર, દિવસ, રાત, પક્ષ માસ, અયન, વર્ષ, કલ્પ વગેરેનો વ્યવહાર થાય છે અન્યથા વ્યવહાર થઈ શકતો નથી આ રીતે ચન્દ્ર, સૂર્ય આદિ જ્યોતિષ્ક દેવ કાળવિભાગના કારણરૂપ છે

એટલુ ચોક્કસ છે કે આ જ્યોતિષ્કદેવ મનુષ્ય-ક્ષેત્રથી બહાર સચાર કરતા નથી પરન્તુ સ્થિર રહે છે

આ પ્રકારે જમ્બૂદ્વીપમા ધાતકીખન્ડ દ્વીપમા તથા અર્ધા પુષ્કરદ્વીપમા, એમ અઢી દ્વીપ પરિમિત મનુષ્ય-ક્ષેત્રમા, માનુષોત્તર પર્વતની અદર-અદરના વિસ્તારમા જ ચન્દ્ર સૂર્ય વગેરે ચાલે છે તેનાથી આગળ ભ્રમણ કરતા નથી—અવસ્થિત રહે છે

ધ્રુવ નામનો તારો અવિચળ છે તે મેરૂની પ્રદક્ષિણા કરતો થકો સચાર કરતો નથી પરન્તુ તેના સિવાયના બીજા બધા તારા અને ચન્દ્ર સૂર્ય આદિ મેરૂની પરિક્રમા કરતા થકા જ સચાર કરે છે, તેમને જ કેન્દ્રમા રાખીને ગતિની પ્રરૂપણા કરી છે

અથવા—ચન્દ્ર સૂર્ય આદિ કોઈ-કોઈ જ્યોતિષ્ક મેરૂની પ્રદક્ષિણા કરતા થકા નિરન્તર ગતિશીલ છે તથા કોઈ-કોઈ ધ્રુવતારા વગેરે જ્યોતિષ્ક મેરૂની પ્રદક્ષિણા ન કરતા થકા જ નિત્ય ગતિશીલ છે કારણ કે તે પણ પોતાની પરિધિમા સચાર કરતા રહે છે

જમ્બૂદ્વીપમા બે સૂર્ય છે, લવણસમુદ્રમા ચાર સૂર્ય છે, ધાતકીખડ દ્વીપમા બાર સૂર્ય છે અને કાલોદધિ સમુદ્રમા બેતાળીસ, સૂર્ય છે. અર્ધપુષ્કર દ્વીપમા બોતેર સૂર્ય છે આમ બધા મળીને મનુષ્યલોકમા ૧૩૨ સૂર્ય છે મનુષ્યલોકમા ચન્દ્રમાઓની પણ એટલી જ સખ્યા છે ભસ્મરાશિ આદિ ગ્રહ ૮૮ છે નક્ષત્ર ૨૮ છે એક એક ચન્દ્રમાના-પરિવાર રૂપ તારા (૬૬૯૭૫૦૦૦૦૦૦૦૦૦૦૦૦૦૦૦) છાસઠ હજાર નવસો પચોતેર કોડાકોડી છે

સૂર્ય, ચન્દ્ર, ગ્રહ, નક્ષત્ર અને તારા આ બધા જ્યોતિષ્ક તિર્છાલોકમા જ રહેલા છે સૂર્ય પોતાના તાપથી પ્રકાશિત થતો તેમજ મેરૂની પ્રદક્ષિણા કરતો થકો સચાર કરે છે પ્રત્યેક સૂર્યનુ તાપક્ષેત્ર અન્દરની બાજુ સકોચાયેલુ અને બહારની તરફ વિશાળ કલબુ નામના ફુલના આકારનુ હોય છે જમ્બૂદ્વીપમા સૂર્યનું વધુમા વધુ તાપક્ષેત્ર પરિમાણ સુડતાળીશ હજાર બસો તેંસઠ યોજન—અને યોજનનો એકવીસ સાઇઠાશ ભાગ ($47263\frac{21}{60}$) હોય છે

સૂર્યના એકસોચોરાશી મડળ છે સૂર્યનો સર્વ ઉત્તરમા અને સર્વ દક્ષિણમા ઉદય થવાથી પાચસોદશ (૫૧૦) યોજનનુ અતર થાય છે આ અતર એકસો એશી (૧૮૦) યોજન જમ્બૂદ્વીપમા અને ૩૩૦ યોજન લવણસમુદ્રમા દેખી શકાય છે

ચન્દ્રમાના મડળ પદર (૧૫) છે જમ્બૂદ્વીપમા સૂર્ય અને ચન્દ્ર જ્યારે સૌથી અદરના મડળમા હોય છે ત્યારે તેમનામા નવ્વાણુ હજાર છસો ચાળીશ (૯૯,૬૪૦) યોજનનુ અતર હોય છે સૂર્યના મડળની લબાઈ-પહોળાઈ એક યોજનના એકસઠ ભાગમાથી અડતાળીશ ભાગ છે ($\frac{48}{61}$) મનુષ્યલોકની બહારના સૂર્યના વિમાન-મડળનો વિસ્તાર ચોવીસ યોજન અને એકસઠ ભાગ ($\frac{24}{61}$) છે મનુષ્યલોકની બહાર સૂર્યના વિમાન મડળનો વિસ્તાર બાર યોજન અને એક યોજનનો એકસઠ ભાગ ($12\frac{1}{61}$) છે

ચન્દ્રમાના વિમાનમંડળનો વિસ્તાર $\frac{56}{61}$ છપ્પન્ન એકસાઠાશ ભાગ છે ગ્રહોના વિમાન-મડળનો વિસ્તાર અર્ધા યોજનનો છે નક્ષત્રોના વિમાનમડળનો વિસ્તાર એક ગાઉનો હોય છે સૌથી મોટા તારાના વિમાનમડળનો વિસ્તાર અર્ધા ગાઉનો છે અને સહુથી નાના તારાના વિમાનમડળનો વિસ્તાર પાચસો ધનુષ્ય છે

પરતુ મનુષ્ય ક્ષેત્રથી બહાર અર્થાત્ માનુષોત્તર પર્વતના બહિર્ દેશમા જે સૂર્ય વગેરે જ્યોતિષ્ક છે તેઓ અવસ્થિત હોય છે, ભ્રમણ કરતા નથી તેમના વિમાનપ્રદેશ પણ અવસ્થિત

છે અને તેમની લેશ્યા-પ્રકાશ પણ અવસ્થિત જ છે જેવી રીતે મનુષ્યલોકમા ગ્રહણ વગેરે થાય છે એવુ ત્યા થતુ નથી ત્યા કદી પણ તેમનામા મલિનતા આવતી નથી. ત્યા ગ્રહણ(ગ્રાસ)નું કોઈ કારણ જ નથી ત્યા સૂર્ય અને ચન્દ્રના સુખદાયી શીતોષ્ણ કિરણો હોય છે ત્યા ચન્દ્રમાં ન તો અત્યન્ત શીતલ છે અથવા સૂર્ય ન અતિ ઉષ્ણ છે.

ત્યા બધા ચન્દ્રમા અભિજિત નક્ષત્રના યોગથી જોડાયેલા હોય છે અને સૂર્ય પુષ્ય નક્ષત્રના યોગથી યુક્ત હોય છે અને તેઓ ક્યારેય પણ રોકાતા નથી ॥૧॥

ચન્દ્ર, સૂર્ય અને ગ્રહ વગેરે પાંચે પ્રકારના જ્યોતિષ્ક દેવ મનુષ્યલોકની અંદર સંચાર-શીલ હોય છે નિરન્તર ગતિ કરતા રહે છે ॥૨॥

મનુષ્ય ક્ષેત્રની બહાર જે ચન્દ્ર, સૂર્ય, ગ્રહ, તારા અને નક્ષત્ર છે તેમા ગતિ થતી નથી, તેઓ સંક્રમણ નહી કરતા અવસ્થિત જ રહે છે ॥૩॥

ભગવતી સૂત્રના શતક ૧૨, ઉદ્દેશક ૬ મા પણ આ જ કહે છે—

પ્રશ્ન —ભગવન્ ! કયા કારણથી એવુ કહેવામા આવે છે કે સૂર્ય આદિત્ય સૂર્ય છે ?

ઉત્તર —ગૌતમ ! સમય આવલિકા—ઉત્સર્પિણી અવસર્પિણી આદિનુ વિભાજન સૂર્ય વડે જ થાય છે એ કારણે સૂર્યને આદિત્ય એ પ્રમાણે કહેવાય છે

આગળ પણ વ્યાખ્યાપ્રજ્ઞપ્તિના અગીયારમાં શતકના બારમા ઉદ્દેશકમા કહ્યુ છે

પ્રમાણકાળના કેટલા ભેદ છે ?

જવાબ—પ્રમાણકાળ બે પ્રકારના કહેવામાં આવ્યા છે—દિવસ પ્રમાણકાળ અને રાત્રિ-પ્રમાણકાળ વગેરે

એ તો અગાઉ જ કહેવાઈ ગયુ છે કે જમ્બૂદ્વીપની ઉપર બે સૂર્ય છે, છપ્પન્ન નક્ષત્ર છે, એકસો છોંતેર ગ્રહ છે લવણસમુદ્રની ઉપર ચાર દિનમણિઓ છે, એકસો બાર નક્ષત્ર છે, ત્રણસો બાવન ગ્રહ છે, ધાતકીખંડ દ્વીપની ઉપર બાર સૂર્ય ત્રણસો છત્રીસ નક્ષત્ર અને છપ્પન ગ્રહો છે કાલોદધિ, સમુદ્રની ઉપર બેતાળીશ સૂર્ય એક હજાર એકસો છોતેર નક્ષત્ર અને ત્રણ હજાર છસો છન્નુ ગ્રહ છે

પુષ્કરાર્ધ દ્વીપમા બોતેર સૂર્ય છે, બે હજાર સોળ નક્ષત્ર છે અને ત્રણ હજાર ત્રણસો છત્રીશ ગ્રહ છે જે જગ્યાએ જેટલા સૂર્ય છે તે જગ્યાએ તેટલી જ સંખ્યામા ચંદ્રમા પણ સમજી લેવા અને તેના આગળ સ્વયં યથાવત સમજવુ ॥૨૭॥

'देवाणं उत्तरमुत्तर आउप्पभावसुहज्जुई' ઈત્યાદિ

સૂત્રાર્થ—દેવોમા ઉત્તરોત્તર આયુ, પ્રભાવ, સુખ દ્યુતિ લેશ્યાવિશુદ્ધિ ઈન્દ્રિયોના વિષય અને અવધિના વિષયો અધિક છે પરન્તુ ગતિ, શરીર, પરિગ્રહ અને અભિમાન ઓછા છે ॥૨૮

તત્ત્વાર્થદીપિકા—અગાઉ ચારેય નિકાયોના દેવોના પ્રવીચારનો તથા ઈન્દ્ર વગેરેના સ્વરૂપનુ નિરૂપણ કરવામા આવ્યુ હવે ભવનવાસિઓથી લઈને સર્વાર્થસિદ્ધ સુધીના દેવોના આયુષ્ય, પ્રભાવ, સુખ, કાન્તિ, લેશ્યાવિશુદ્ધિ વગેરેના વિષયમા અધિકતા અને ન્યૂનતાનુ પ્રરૂપણ કરવા માટે કહીએ છીએ—

વાનવ્યન્તરોની અપેક્ષા જ્યોતિષ્કના, જ્યોતિષ્કની અપેક્ષા ભવનપતિના, ભવનપતિની અપેક્ષા વૈમાનિક આદિના આયુ પ્રભાવ અનુભાવ સુખ, દ્યુતિ, લેશ્યાવિશુદ્ધિ યથા 'યોગ્ય શુદ્ધિ' ઈન્દ્રિયોના 'વિષય અને અવધિ જ્ઞાનના' વિષય અધિક-અધિક છે પરન્તુ ઉપરના દેવોમા ગતિ અર્થાત્ દેશાન્તરમા ગમન શરીર પ્રમાણ અર્થાત્ ઉંચાઈ પરિગ્રહ મૂર્છા અને અભિમાન અહંકાર આ બધા ઉત્તરોત્તર અલ્પ હોય છે ॥૨૮॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પ્રથમ ભવનપતિઓથી લઈને સર્વાર્થસિદ્ધ પર્યન્ત બધાં દેવોના યથા યોગ્ય વિષયભોગ, ઉપભોગ, તથા ઇન્દ્ર આદિના સ્વરૂપનુ પ્રરૂપણ કરવામા આવ્યુ હવે એ નિરૂપણ કરીએ છીએ કે પૂર્વે કહેલા બધા દેવોમાં પહેલાવાળાની અપેક્ષા પછીના દેવોમા આયુ, પ્રભાવ, સુખ, લેશ્યાવિશુદ્ધિ ઈન્દ્રિય વિષય અને અવધિજ્ઞાનના વિષય અધિક-અધિક હોય છે પરંતુ ગતિ, શરીરપ્રમાણ પરિગ્રહ અને અભિમાન ઓછા હોય છે—

અસુરકુમાર આદિ ભવનપતિ, કિન્નર આદિ વાનવ્યન્તર, ચન્દ્ર સૂર્ય આદિ જ્યોતિષ્ક અને સૌધર્મ-ઈશાનથી લઈને સર્વાર્થસિદ્ધ સુધીના વૈમાનિક દેવોમા પૂર્વ-પૂર્વ દેવોની અપેક્ષા ઉત્તરોત્તર અર્થાત્ પછી-પછીના દેવોમા આયુ અર્થાત્ સ્થિતિ, પ્રભાવ અર્થાત્ અનુભાવ, સુખ, દ્યુતિ અર્થાત્ કાન્તિ, લેશ્યાવિશુદ્ધિ અર્થાત્ કાળી, નીલી, કાપોત, પીળી, પદ્મ અને શુક્લ લેશ્યાઓની શુદ્ધિ ઇન્દ્રિયોના વિષય અને અવધિજ્ઞાનના વિષય અધિક-અધિક હોય છે આ રીતે પહેલા-પહેલા દેવોની સરખામણીએ પછી-પછીના દેવ આયુમા અધિક છે

નિગ્રહ કરવો—અનુગ્રહ કરવો, વિક્રિયા કરવી તથા પરાભિયોગ કરવો, આ બધા પ્રભાવ' કહેવાય છે પૂર્વ-પૂર્વના દેવોની અપેક્ષા ઉત્તરોત્તર દેવોમા પ્રભાવ વધારે હોય છે આવી જ રીતે સુખ, કાન્તિ, લેશ્યાની વિશુદ્ધતા ઇન્દ્રિયો દ્વારા પોત-પોતાના વિષયોને ગ્રહણ કરવાની શક્તિ અને અવધિજ્ઞાન એ બધા પણ પહેલા-પહેલાના દેવોની અપેક્ષા પછી-પછીના દેવોમાં વિશેષ હોય છે તાત્પર્ય એ છે કે પૂર્વવર્તી દેવ પોતાની ઇન્દ્રિયો વડે જેટલી દૂરની વસ્તુઓનુ ગ્રહણ કરે છે, ઉત્તરોત્તર દેવ તેમની અપેક્ષા અધિક દૂરના પદાર્થો-વિષયોને જાણે છે આનું કારણ એ છ કે ઉત્તરોત્તર દેવ ઉત્કૃષ્ટ ગુણોવાળા અલ્પતર સંક્લેશવાળા હોય છે.

અવધિજ્ઞાન પણ પૂર્વ-પૂર્વ દેવોની અપેક્ષા ઉત્તરોત્તર દેવોમા વિશેષ જોવા મળે છે દા ત સૌધર્મ અને ઈશાન કલ્પના દેવો અવધિજ્ઞાન દ્વારા નીચે રત્નપ્રભાના ચરમાન્ત—છેવટના ભાગ સુધી જોઈ—જાણી શકે છે તિર્છી દિશામા અસંખ્યાત દ્વીપ સમુદ્રો પર્યન્ત જાણે-જુએ છે અને ઉપર પોત-પોતાના વિમાનો સુધી અર્થાત્ વિમાનોની ધજા સુધી જાણે દેખે છે સનત્કુમાર અને માહેન્દ્ર કલ્પના દેવ નીચે શર્કરાપ્રભા પૃથ્વીના અન્તિમ ભાગ સુધી જુએ જાણે છે, તિર્છી દિશામા અસંખ્યાતદ્વીપ સમુદ્રોને જાણે જુવે અને ઉપર ઉપર પોત-પોતાના વિમાનોની ધ્વજા સુધી જાણે-જુવે છે

આ રીતે અવધિજ્ઞાનના ક્ષેત્ર પછી-પછીના દેવોના અધિક-અધિક હોય છે

વિજય, વૈજયન્ત આદિ પાચ અનુત્તર વિમાનોના દેવ પોતાના અવધિજ્ઞાન દ્વારા એક દેશ તે લોકને જાણે—જુવે છે પરંતુ દેશાન્તરમા ગમન રૂપ ગતિ શરીરની લંબાઈ પરિગ્રહ અને

અભિમાન એ બધા પૂર્વ-પૂર્વ દેવોની અપેક્ષા ઉત્તરોત્તર દેવોના ઓછા હોય છે જેવી રીતે બે સાગરની જઘન્ય સ્થિતિવાળા દેવ નીચે સાતમી પૃથ્વી સુધી જાય છે અને તિર્છી દિશામા અસખ્યાત દ્વીપ સમુદ્રો સુધી જઈ શકે છે અસુરકુમાર દેવ ત્રીજી પૃથ્વી સુધી જાય છે આ દેવ તેમના પૂર્વભવના સાથી-મિત્રને શાતા ઉપજાવવા માટે અને પૂર્વભવના વૈરીને વદના પહોચાડવા આશયથી ત્યો જાય છે (ભગ૦ શ૦ ૩ ઉ૦૨ સૂ૦ ૧) તેનાથી આગળ ભૂતકાળમા કયારેય પણ ગયા નથી. વર્તમાનકાળમા કયારેય પણ જતા નથી અને ભવિષ્યમા કયારેય પણ જશે નહી. ઉપર દેવોમા મહાનુભાવતા અધિક હોય છે અને માધ્યસ્થ-ભાવ પણ અધિક હોય છે આમ—તેમ જવામા તેમને રુચિ થતી નથી.

અસુરકુમારોથી લઈને સૌધર્મ-ઈશાન કલ્પ સુધીના દેવોના શરીર સાત હાથ ઉચા હોય છે એથી આગળના બે-બે કલ્પોમા સહસ્રાર કલ્પ પર્યન્ત, એક-એકની ઉંચાઈ ઓછી થતી જાય છે સનત્કુમાર અને માહેન્દ્ર કલ્પમા દેવોની ઉચાઇ છ હાથની હોય છે બ્રહ્મ અને લાન્તક કલ્પમા દેવોની ઉચાઈ પાચ હાથની હોય છે મહાશુક્ર અને સહસ્રાર કલ્પમા દેવોની ઉચાઈ ચાર હાથની હોય છે

આનત, પ્રાણુત, આરણ અને અચ્યુત કલ્પોમા દેવોના શરીર ત્રણ હાથ ઉચા હોય છે ગ્રૈવેયક વિમાનોના દેવોના શરીરની ઉચાઈ બે હાથની છે પાચ અનુત્તરોપપાતિક દેવોમા વિજયાદિ ચાર વિમાનોના દેવોના શરીર એક હાથના હોય છે અને સર્વાર્થસિદ્ધ દેવોના શરીર થોડા ઓછા-એક હાથના જ હોય છે

હવે વૈમાનિકોના વિમાનોની સખ્યા બતાવીએ છીએ—

સૌધર્મ દેવલોકમા બત્રીસ લાખ વિમાન છે ઈશાન દેવલોકમા અઠયાવીસ લાખ, સનત્કુમારમા બાર લાખ, માહેન્દ્રમાં આઠ લાખ, બ્રહ્મલોકમા ચાર લાખ, લાન્તકમા પચાસ હજાર, મહાશુક્રમા ચાળીસ હજાર, સહસ્રારમા છ હજાર તથા આનત પ્રાણુત આરણ અને અચ્યુત કલ્પોમા સાતસો વિમાન છે તે પૈકી આનત પ્રાણુત, બે દેવલોકોમા ચારસો વિમાન છે અને આરણ અચ્યુત આ બે દેવલોકમા ત્રણસો વિમાન છે એમ સાતસો વિમાન છે ગ્રૈવેયક ત્રિકમા ક્રમશ એકસો અગીયાર, એકસો સાત અને એકસો વિમાન હોય છે પાચ અનુત્તરોમા પાચ જ વિમાન છે.

એવી જ રીતે સ્થાન, પરિવાર શકિત, વિષય સમ્પત્તિ અને સ્થિતિ આદિનુ અભિમાન પછી પછીના દેવોનુ પહેલા-પહેલાના દેવોની અપેક્ષાએ ઓછુ હોય છે પછી—પછીના દેવો ઉત્કૃષ્ટ સુખના ભાગી હોય છે

પ્રજ્ઞાપના સૂત્રના ૨૧મા શરીરપદમા કહ્યુ છે—

પ્રશ્ન—ભગવન્ ! ભવનવાસિઓમા જે અસુરકુમાર દેવ છે તેમના વૈક્રિય શરીરની અવગાહના કેટલી મોટી છે ?

ઉત્તર—ગૌતમ ! અસુરકુમાર દેવોની અવગાહના બે પ્રકારની કહેવામા આવી છે-પહેલી ભવધારણીય શરીરની અર્થાત્ તે ભવમા હમેશા રહેનારી મૂળ શરીરની અવગાહના અને બીજી

ઉત્તર વૈક્રિય અર્થાત્ કદી-કદી વિક્રિયા લબ્ધિથી બનાવવામાં આવનારા શરીરની અવગાહના તેમના ભવધારણીય શરીરની અવગાહના જઘન્ય આંગળીના અસખ્યાતમાં ભાગની અને ઉત્કૃષ્ટ સાત હાથની હોય છે ઉત્તર વૈક્રિય શરીરની જઘન્ય અવગાહના આગળીના સખ્યાતમા ભાગની અને ઉત્કૃષ્ટ એક લાખ યોજનની હોય છે.

એવી જ રીતે સ્તનિતકુમારો સુધી સમજવુ સામાન્ય રૂપથી વાનવ્યન્તરોની જ્યોતિષ્કોની તથા સૌધર્મ અને ઇશાન દેવોની અવગાહના પણ પૂર્વોકત જ છે. અચ્યુત કલ્પ સુધીના દેવોના ઉત્તર વૈક્રિય શરીરની અવગાહના આવી જ રીતે અર્થાત્ એક લાખ યોજનની છે. સનત્કુમાર કલ્પના દેવોના ભવધારણીય શરીરની અવગાહના જઘન્ય આગળીના અસખ્યાતમા ભાગની અને ઉત્કૃષ્ટ છ હાથની છે માહેન્દ્ર કલ્પમા પણ એટલી જ અવગાહના છે બ્રહ્મલોક અને લાન્તક કલ્પોમા પાંચ હાથની મહાશુક્ર અને સહસ્રાર કલ્પમા ચાર હાથની તથા આનત પ્રાણુત આરણુ અને અચ્યુત કલ્પમા ત્રણુ હાથની અવગાહના હોય છે

પ્રશ્ન—ગ્રૈવેયક કલ્પાતીત વૈમાનિક પચેન્દ્રિય દેવોના વૈક્રિય શરીરની અવગાહના કેટલી મોટી છે?

ઉત્તર—ગૌતમ ! ગ્રૈવેયક દેવોમા એક ભવધારણીય શરીરની અવગાહના હોય છે (ઉત્તર વૈક્રિય શરીરની અવગાહના હોતી નથી કારણુ કે તે દેવ ઉત્તર વૈક્રિય શરીર બનાવતા નથી— તેમનામાં એવી ઉત્સુકતા-ઉત્કંઠા હોતી નથી) ભવધારણીય શરીરની જઘન્ય અવગાહના આગળીના અસખ્યાતમા ભાગની અને ઉત્કૃષ્ટ બે હાથની હોય છે અનુત્તર વિમાનોના દેવોના વિષયમા પણુ આવુ જ સમજવાનુ છે અર્થાત્ તેમનામા પણુ ભવધારણીય શરીરની જ અવગાહના હોય છે અને તે એક હાથની જ હોય છે ઉત્તર વૈક્રિય શરીર તેઓ પણુ બનાવતા નથી

પ્રજ્ઞાપના સૂત્રના ૩૩ મા અવધિપદમા કહ્યુ છે—

પ્રશ્ન—ભગવન્ ! અસુરકુમાર અવધિજ્ઞાન દ્વારા કેટલા ક્ષેત્રને જાણે-દેખે છે ?

ઉત્તર—ગૌતમ ! જઘન્ય પચીસ યોજન, ઉત્કૃષ્ટ અસખ્યાત દ્વીપ-સમુદ્રોને અવધિજ્ઞાનથી જાણે—જુવે છે નાગકુમાર અવધિજ્ઞાનથી જઘન્ય પચીસ યોજન અને ઉત્કૃષ્ટ-સખ્યાત દ્વીપ-સમુદ્રોને જાણે-જુવે છે એજ રીતે સ્તનિતકુમારોની સુધી સમજવુ વાનવ્યન્તર નાગકુમારોની માફક જાણે જુએ છે

પ્રશ્ન—ભગવન્ ! જ્યોતિષ્ક દેવ અવધિ જ્ઞાનથી કેટલા ક્ષેત્રને જાણે-જુવે છે ?

ઉત્તર—ગૌતમ ! જઘન્યથી સખ્યાત દ્વીપ સમુદ્રોને અને ઉત્કૃષ્ટથી પણુ સખ્યાત દ્વીપ સમુદ્રોને અવધિજ્ઞાનથી જાણે-દેખે છે

પ્રશ્ન—સૌધર્મ કલ્પના દેવ અવધિજ્ઞાનથી કેટલા ક્ષેત્રને જાણે-જુવે છે ?

ઉત્તર—ગૌતમ ! જઘન્ય આગળીના અસખ્યાતમા ભાગને ઉત્કૃષ્ટ નીચે આ રત્નપ્રભા પૃથ્વીના નીચલા અતિમ ભાગ સુધી, તિર્છા અસખ્યાત દ્વીપ-સમુદ્રો સુધી, ઉપર પોત-પોતાના વિમાનો સુધી અવધિજ્ઞાન દ્વારા જાણે જુવે છે

ઈશાન કલ્પના દેવ પણ એટલું જ જાણે-જુવે છે સનત્કુમાર નીચે બીજી શર્કરા પ્રભા પૃથ્વીના નીચલા ચરમાન્ત સુધી જાણે છે માહેન્દ્ર દેવ પણ એટલુ જ જાણે-જુવે છે, બ્રહ્મ-લોક અને લાન્તક કલ્પના દેવ ત્રીજી પૃથ્વીના ચરમાન્ત સુધી જાણે-જુવે છે મહાશુક અને સહ-સ્રાર કલ્પના દેવ ચોથી પકપ્રભા પૃથ્વીના નીચલા ચરમાન્ત સુધી જાણેજુવે છે આનત, પ્રાણુત, આરણુ અને અચ્યુત દેવ નીચે પાચમી ધૃમપ્રભાના નીચલા ચરમાન્તક સુધી, અધસ્તન અને મધ્યમ ગ્રૈવેયકોના દેવ નીચે છઠ્ઠી તમા નામની પૃથ્વીના નીચલા ચરમાન્ત સુધી જાણે-જુવે છે.

પ્રશ્ન—ઉપરિતન ગ્રૈવેયકોના દેવ અવધિજ્ઞાનથી કેટલા ક્ષેત્રને જાણે-જુવે છે ?

ઉત્તર—ગૌતમ ! જઘન્ય આગળીના અસખ્યાતમા ભાગને, ઉત્કૃષ્ટ નીચે સાતમી પૃથ્વીના નીચલા ચરમાન્ત સુધી, તિર્છા અસખ્યાત દ્વીપ-સમુદ્રો સુધી, ઉપર પોતપોતાના વિમાનોની ધજા-પતાકા સુધી અવધિજ્ઞાનથી-જાણે-જુવે છે ?

પ્રશ્ન—ભગવન્ ! અનુત્તરૌપપાતિક દેવ કેટલા ક્ષેત્રને અવધિજ્ઞાનથી જાણે-જુએ છે ?

ઉત્તર—ગૌત્તમ ! સભિન્ન (થોડા ઓછા) લોકને જાણે-જુવે છે ॥ ૨૮ ॥

શ્રી જૈનશાસ્ત્રાચાર્ય જૈનધર્મદિવાકર પૂજ્ય શ્રી ઘાસીલાલજી મહારાજ
વિરચિત તત્ત્વાર્થ-સૂત્રની દીપિકા—અનેનિર્યુક્તિ નામક
વ્યાખ્યાનો ચોથો અધ્યાય સમાપ્ત ॥ ૪ ॥

પંચમ અધ્યાય

'असुभकम्मे पावे'

સૂત્રાર્થ—અશુભ કર્મ પાપ કહેવાય છે ॥ ૧ ॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—ચતુર્થ અધ્યાયમા ક્રમપ્રાપ્ત પુણ્યતત્ત્વના સ્વરૂપનુ પ્રતિપાદન કરવામા આવ્યુ છે હવે અનુક્રમથી આવતા પાપતત્ત્વનુ વિવેચન સદરહુ પાચમા અધ્યાયમાં કરવામાં આવશે. સર્વ પ્રથમ પાપતત્ત્વનુ લક્ષણુ કહીએ છીએ

અશુભ અર્થાત્ અકુશળ અથવા પીડાકારી કર્મને પાપ કહે છે. પાપના અઢાર ભેદ છે તે આ મુજબ છે—(૧) પ્રાણાતિપાત (૨) મૃષાવાદ (૩) અદત્તાદાન (૪) મૈથુન (૫) પરિગ્રહ (૬) ક્રોધ (૭) માન (૮) માયા (૯) લોભ (૧૦) રાગ (૧૧) દ્વેષ (૧૨) કલહ (૧૩) અભ્યાખ્યાન (૧૪) પૈશુન્ય (૧૫) પરપરિવાદ (૧૬) રતિ–અરતિ (૧૭) મષામૃષા અને (૧૮) મિથ્યાદર્શન-શલ્ય ॥ ૧ ॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—જીવ અજીવ આદિ નવ તત્ત્વો પૈકી પહેલાના ચાર અધ્યાયોમાં ક્રમથી જીવ, અજીવ, બન્ધ અને પુણ્ય તત્ત્વનુ નિરૂપણુ કરવામા આવ્યુ હવે ક્રમ પ્રાપ્ત પાચમા પાપ તત્ત્વનુ વિવેચન કરવા માટે પાચમો અધ્યાય શરૂ કરવામા આવે છે તેનુ પ્રથમ સૂત્ર આ પ્રમાણે છે—'असुभकम्मे पावे'

અશુભ અર્થાત્ અકુશળ કર્મ પાપ કહેવાય છે પાપ શબ્દની વ્યુત્પત્તિ આ પ્રમાણે છે-પ—પકિલ અર્થાત્ માલિનતાને **आपयति**—જે પ્રાપ્ત કરાવે છે તે પાપ અથવા પ-ક્ષેમને, આ—બધી તરફથી, સપૂર્ણ રીતે જે, **पिबति**–પી જાય છે–નાશ કરી નાખે છે તે પાપ અથવા પાન—પા અર્થાત્ પ્રાણિઓના આત્માનન્દરસના પાનને જે **आप्नोति**—ગ્રહણુ કરી લે છે અર્થાત જેના કારણે જીવ આત્માનન્દના રસપાનથી વચિત થઈ જાય છે તેને પાપ કહે છે અથવા નરક આદિ દુર્ગતિઓને જે પ્રાપ્ત કરે છે તે પાપ કહેવાય છે અથવા આત્માને કર્મ-રજથી જે **पांशयति**—મલીન કરે છે તે પાપ છે

પાપ અઢાર પ્રકારના છે—(૧) પ્રાણાતિપાત (૨) મૃષાવાદ (૩) સ્તેય (૪) અબ્રહ્મચર્ય (૫) પરિગ્રહ (૬) ક્રોધ (૭) માન (૮) માયા (૯) લોભ (૧૦) રાગ (૧૧) દ્વેષ (૧૨) કલહ (૧૩) અભ્યાખ્યાન (૧૪) પૈશૂન્ય (૧૫) પરપરિવાદ (૧૬) રતિ–અરતિ (૧૭) માયામૃષા અને (૧૭) મિથ્યાદર્શનશલ્ય એમના અર્થ નીચે મુજબ છે

(૧) પ્રાણાતિપાન —પ્રાણોનો નાશ કરવો

(૨) મૃષાવાદ —અસત્ય ભાષણુ કરવુ

(૩) સ્તેય—અદત્તાદાન —ચોરી

(૪) અબ્રહ્મચર્ય —મૈથુન–કુશીલ

(૫) પરિગ્રહ મમત્વ, તૃષ્ણા

(૬) ક્રોધ —મનમા બળવુ

(૭) માન :—અહંકાર—ગર્વ

(૮) માયા —કપટ

(૯) લોભ —ગૃદ્ધિ

(૧૦) રાગ :—પ્રેમ

(૧૧) દ્વેષ —અપ્રીતિ

(૧૨) કલહ —પારસ્પરિક વૈમનસ્યજનક શબ્દયુદ્ધ

(૧૩) અભ્યાખ્યાન —કોઈ પર જુઠુ દોષારોપણ કરવુ

(૧૪) પૈશૂન્ય —બીજાની ચાડી ખાવી

(૧૫) પરપરિવાદ —બીજાની નિન્દા—કુથલી કરવી

(૧૬) રતિ-અરતિ સાંસારિક વિષયોમા રાગ, ધર્મમા અપ્રીતિ

(૧૭) માયામૃષા —કપટપૂર્વક મિથ્યા ભાષણ કરવુ

(૧૮) મિથ્યાદર્શનશલ્ય —કુદેવ, કુગુરૂ, કુધર્મ પર શ્રદ્ધા રાખવી એ ત્રણ શલ્ય છે. ॥૧॥

'तब्भोगो बासीइ भेयण'

સૂત્રાર્થ—પાપનુ ફળ બ્યાશી પ્રકારથી ભોગવાય છે ॥ ૨ ॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમા પાપકર્મના સ્વરૂપનુ પ્રતિપાદન કરવામા આવ્યુ હવે તેના ઉપભોગના બ્યાશી પ્રકારોનુ પ્રતિપાદન કરવા માટે કહીએ છીએ—

પૂર્વોક્ત સ્વરૂપવાળા, અઢાર પ્રકારથી બાંધેલા પાપ કર્મના ભોગ અર્થાત્ દુ:ખ રૂપ ફળનો—અનુભવ બ્યાશી પ્રકારથી થાય છે અર્થાત્ પાપના ફળભોગ સાધન બ્યાશી પ્રકારના છે તે આ પ્રમાણે છે—

જ્ઞાનાવરણ (૫) દર્શનાવરણ (૯), આસાતાવેદનીય (૯), મોહનીય (૨૬—મોહનીયની સમ્યકત્વ પ્રકૃતિ અને સમ્યગ્, મિથ્યાત્વ પ્રકૃતિને છોડીને—કારણ કે આ બે પ્રકૃતિઓનો બન્ધ થતો નથી એક માત્ર મિથ્યાત્વનો બન્ધ થાય છે, તે જ ઉદયના સમયે ત્રણ રૂપમા પરિણત થઈ જાય છે), નરકાયુ (૧), નીચગોત્ર (૧), અન્તરાય (૫), નરકગતિ (૧), નરકગતિ-આનુપૂર્વી (૧), એકેન્દ્રિય-જાતિ વગેરે જાતિઓ (૪) દસ સહનન અને સસ્થાન (૧૦) અપ્રશસ્ત વર્ણ, ગધ, રસ, સ્પર્શ (૪) ઉપઘાત (૧) અપ્રશસ્ત વિહાયોગતિ સ્થાવર સૂક્ષ્મ અપર્યાપ્ત સાધારણ અસ્થિર-અશુભ, દુર્ભગ, દુ સ્વર, અનાદેય અને અયશ કીર્તિ નામ કર્મ એ બધા (૧૧) મળીને એશી ભેદ થયા એમા સમ્યકત્વ મોહનીય અને મિશ્રમોહનીય ભેદોને આમેજ કરવાથી પાપ કર્મના ફલોપભોગના બ્યાશી પ્રકાર થાય છે ॥ ૨ ॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પાપકર્મનુ સ્વરૂપ બતાવવામા આવ્યુ છે હવે પાપકર્મના દુઃખ રૂપ ફળ ભોગવવાના બ્યાશી પ્રકાર કહીએ છીએ—

પાપકર્મના ફળભોગ બ્યાશી પ્રકારથી થાય છે આ બ્યાશી પ્રકાર આ પ્રમાણે છે—પાચ જ્ઞાનાવરણ, નવ દર્શનાવરણ, અસાતાવેદનીય, મિથ્યાત્વ, સોળ કષાય, નવ નો કષાય નરકાયુ

પંચમ અધ્યાય

'असुभकम्मे पावे'

સૂત્રાર્થ—અશુભ કર્મ પાપ કહેવાય છે ॥ ૧ ॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—ચતુર્થ અધ્યાયમા ક્રમપ્રાપ્ત પુણ્યતત્ત્વના સ્વરૂપનુ પ્રતિપાદન કરવામા આવ્યુ છે હવે અનુક્રમથી આવતા પાપતત્ત્વનુ વિવેચન ક્રમશઃ પાંચમા અધ્યાયમાં કરવામા આવશે. સર્વ પ્રથમ પાપતત્ત્વનુ લક્ષણ કહીએ છીએ

અશુભ અર્થાત્ અકુશળ અથવા પીડાકારી કર્મને પાપ કહે છે પાપના અઢાર ભેદ છે તે આ મુજબ છે—(૧) પ્રાણાતિપાત (૨) મૃષાવાદ (૩) અદત્તાદાન (૪) મૈથુન (૫) પરિગ્રહ (૬) ક્રોધ (૭) માન (૮) માયા (૯) લોભ (૧૦) રાગ (૧૧) દ્વેષ (૧૨) કલહ (૧૩) અભ્યાખ્યાન (૧૪) પૈશુન્ય (૧૫) પરપરિવાદ (૧૬) રતિ–અરતિ (૧૭) માયામૃષા અને (૧૮) મિથ્યાદર્શન-શલ્ય ॥ ૧ ॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—જીવ અજીવ આદિ નવ તત્ત્વો પૈકી પહેલાના ચાર અધ્યાયોમા ક્રમથી જીવ, અજીવ, બન્ધ અને પુણ્ય તત્ત્વનુ નિરૂપણ કરવામા આવ્યુ હવે ક્રમ પ્રાપ્ત પાચમા પાપ તત્ત્વનુ વિવેચન કરવા માટે પાચમો અધ્યાય શરૂ કરવામા આવે છે તેનુ પ્રથમ સૂત્ર આ પ્રમાણે છે—'असुभकम्मे पावे'

અશુભ અર્થાત્ અકુશળ કર્મ પાપ કહેવાય છે પાપ શબ્દની વ્યુત્પત્તિ આ પ્રમાણે છે-પ—પંકિલ અર્થાત્ મલિનતાને **आपयति**—જે પ્રાપ્ત કરાવે છે તે પાપ અથવા પ-ક્ષેમને, આ—બધી તરફથી, સંપૂર્ણ રીતે જે, **पिबति**–પી જાય છે-નાશ કરી નાખે છે તે પાપ અથવા પાન—પા અર્થાત્ પ્રાણિઓના આત્માનન્દરસના પાનને જે **आप्नोति**—ગ્રહણ કરી લે છે અર્થાત્ જેના કારણે જીવ આત્માનન્દના રસપાનથી વંચિત થઈ જાય છે તેને પાપ કહે છે અથવા નરક આદિ દુર્ગતિઓને જે પ્રાપ્ત કરે છે તે પાપ કહેવાય છે અથવા આત્માને કર્મ–રજથી જે **पांशयति**—મલીન કરે છે તે પાપ છે

પાપ અઢાર પ્રકારના છે—(૧) પ્રાણાતિપાત (૨) મૃષાવાદ (૩) સ્તેય (૪) અબ્રહ્મચર્ય (૫) પરિગ્રહ (૬) ક્રોધ (૭) માન (૮) માયા (૯) લોભ (૧૦) રાગ (૧૧) દ્વેષ (૧૨) કલહ (૧૩) અભ્યાખ્યાન (૧૪) પૈશૂન્ય (૧૫) પરપરિવાદ (૧૬) રતિ–અરતિ (૧૭) માયામૃષા અને (૧૭) મિથ્યાદર્શનશલ્ય એમના અર્થ નીચે મુજબ છે

(૧) પ્રાણાતિપાત —પ્રાણોનો નાશ કરવો

(૨) મૃષાવાદ —અસત્ય ભાષણ કરવુ

(૩) સ્તેય—અદત્તાદાન —ચોરી

(૪) અબ્રહ્મચર્ય —મૈથુન–કુશીલ

(૫) પરિગ્રહ મમત્વ, તૃષ્ણા

(૬) ક્રોધ —મનમા બળવુ

(૭) માન .—અહંકાર—ગર્વ

(૮) માયા —કપટ

(૯) લોભ —ગૃદ્ધિ

(૧૦) રાગ :—પ્રેમ

(૧૧) દ્વેષ —અપ્રીતિ

(૧૨) કલહ —પારસ્પરિક વૈમનસ્યજનક શબ્દયુદ્ધ

(૧૩) અભ્યાખ્યાન —કોઈ પર જુઠુ દોષારોપણ કરવુ

(૧૪) પૈશૂન્ય —બીજાની ચાડી ખાવી

(૧૫) પરપરિવાદ —બીજાની નિન્દા—કુથલી કરવી

(૧૬) રતિ-અરતિ સાંસારિક વિષયોમા રાગ, ધર્મમાં અપ્રીતિ

(૧૭) માયામૃષા —કપટપૂર્વક મિથ્યા ભાષણ કરવુ

(૧૮) મિથ્યાદર્શનશલ્ય —કુદેવ, કુગુરૂ, કુધર્મ પર શ્રદ્ધા રાખવી એ ત્રણ શલ્ય છે ॥૧॥

'तब्भोगो बासीइ भेयणं'

સૂત્રાર્થ—પાપનુ ફળ બ્યાશી પ્રકારથી ભોગવાય છે ॥ ૨ ॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમા પાપકર્મના સ્વરૂપનુ પ્રતિપાદન કરવામા આવ્યું હવે તેના ઉપભોગના બ્યાશી પ્રકારોનુ પ્રતિપાદન કરવા માટે કહીએ છીએ—

પૂર્વોક્ત સ્વરૂપવાળા, અઢાર પ્રકારથી બાધેલા પાપ કર્મના ભોગ અર્થાત્ દુઃખ રૂપ ફળનો—અનુભવ બ્યાંશી પ્રકારથી થાય છે અર્થાત્ પાપના ફળભોગ સાધન બ્યાશી પ્રકારના છે તે આ પ્રમાણે છે—

જ્ઞાનાવરણ (૫) દર્શનાવરણ (૯), આસાતાવેદનીય (૯), મોહનીય (૨૬—મોહનીયની સમ્યકત્વ પ્રકૃતિ અને સમ્યગ્, મિથ્યાત્વ પ્રકૃતિને છોડીને—કારણ કે આ બે પ્રકૃતિઓનો બન્ધ થતો નથી એક માત્ર મિથ્યાત્વનો બન્ધ થાય છે, તે જ ઉદયના સમયે ત્રણ રૂપમા પરિણત થઈ જાય છે), નરકાયુ (૧), નીચગોત્ર (૧), અન્તરાય (૫), નરકગતિ (૧), નરકગતિ-આનુપૂર્વી (૧), એકેન્દ્રિય-જાતિ વગેરે જાતિઓ (૪) દસ સહનન અને સસ્થાન (૧૦) અપ્રશસ્ત વર્ણ, ગધ, રસ, સ્પર્શ (૪) ઉપઘાત (૧) અપ્રશસ્ત વિહાયોગતિ સ્થાવર સૂક્ષ્મ અપર્યાપ્ત સાધારણ અસ્થિર-અશુભ, દુર્ભગ, દુસ્વર, અનાદેય અને અયશ કીર્તિ નામ કર્મ એ બધા (૧૧) મળીને એશી ભેદ થયા એમા સમ્યકત્વ મોહનીય અને મિશ્રમોહનીય ભેદોને આમેજ કરવાથી પાપ કર્મના ફલોપભોગના બ્યાશી પ્રકાર થાય છે ॥ ૨ ॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પાપકર્મનુ સ્વરૂપ બતાવવામા આવ્યુ છે હવે પાપકર્મના દુઃખ રૂપ ફળ ભોગવવાના બ્યાશી પ્રકાર કહીએ છીએ—

પાપકર્મના ફળભોગ બ્યાશી પ્રકારથી થાય છે આ બ્યાશી પ્રકાર આ પ્રમાણે છે—પાચ જ્ઞાનાવરણ, નવ દર્શનાવરણ, અસાતાવેદનીય, મિથ્યાત્વ, સોળ કષાય, નવ નો કષાય નરકાયુ

નરકગતિ તિર્યંચગતિ, એકેન્દ્રિયજાતિ, દ્વીન્દ્રિયજાતિ, ત્રીઈન્દ્રિય જાતિ, ચતુરિન્દ્રિયજાતિ, સમચતુરસ્ર સંસ્થાન સિવાયના પાંચ સંસ્થાન, વજ્રર્ષભનારાચ સંહનન સિવાયના પાંચ સંહનન અપ્રશસ્ત વર્ણ, રસ, ગંધ અને સ્પર્શ, નરકગત્યાનુપૂર્વી, તિર્યંચગત્યાનુપૂર્વી ઉપઘાત, અપ્રશસ્ત વિહાયોગતિ, સ્થાવર, સૂક્ષ્મ, અપર્યાપ્ત, સાધારણ શરીર અસ્થિર, અશુભ, દુર્ભગ, દુઃસ્વર, અનાદેય, અયશકીર્તિ, નીચગોત્ર અને પાંચ અન્તરાય

પાંચ પ્રકારના જ્ઞાનાવરણીય આ છે—(૧) આભિનિબોધિક જ્ઞાનાવરણીય (૨) શ્રુતજ્ઞાનાવરણીય (૩) અવધિ જ્ઞાનાવરણીય (૪) મન પર્યવજ્ઞાનાવરણીય અને (૫) કેવળ જ્ઞાનાવરણીય.

સ્થાનાગસૂત્રના પાંચમા સ્થાનના ત્રીજા ઉદ્દેશકમા કહ્યુ છે—પાંચ પ્રકારના જ્ઞાનાવરણીય કર્મ કહેવામા આવેલ છે—આભિનિબોધક જ્ઞાનાવરણીય, શ્રુત જ્ઞાનાવરણીય, અવધિજ્ઞાનાવરણીય મનઃપર્યવજ્ઞાનાવરણીય, અયશઃકીર્તિ નીચગોત્ર અને પાંચ પ્રકારના અન્તરાય અને કેવળજ્ઞાનાવરણીય

દર્શનાવરણીયના નવ પ્રકાર છે—ચક્ષુદર્શનાવરણ અચક્ષુદર્શનાવરણ અવધિ દર્શનાવરણ, કેવળદર્શનાવરણ નિદ્રા, નિદ્રા--નિદ્રા, પ્રચલા, પ્રચલા-પ્રચલા અને સ્ત્યાનર્ધિ

સ્થાનાગસૂત્રના નવમા સ્થાનમા કહ્યુ છે—દર્શનાવરણીય કર્મ નવ પ્રકારના કહેવામા આવ્યા છે—(૧) નિદ્રા (૨) નિદ્રા-નિદ્રા (૩) પ્રચલા (૪) પ્રચલા-પ્રચલા (૫) સ્ત્યાનર્દ્ધિ (૬) ચક્ષુદર્શનાવરણ (૭) અચક્ષુદર્શનાવરણ (૮) અવધિદર્શનાવરણ અને (૯) કેવળદર્શનાવરણ

પ્રજ્ઞાપના સૂત્રના ૨૩મા પદના બીજા ઉદ્દેશકમા કહ્યુ છે—'અસાતાવેદનીય' સાતાવેદનીય કર્મ પુણ્યપ્રકૃતિમાં પરિગણિત કરવામા આવ્યા છે મિથ્યાત્વવેદનીય રૂપ મિથ્યાત્વ એકજ પ્રકારનુ છે. પ્રજ્ઞાપનામાં ૨૩મા કર્મબંધપદના બીજા ઉદ્દેશકમા કહ્યુ છે—

પ્રશ્ન—ભગવન્ ! મોહનીય કર્મ કેટલાના પ્રકારના છે ?

ઉત્તર—ગૌતમ ! બે પ્રકારના કહ્યા છે--દર્શનમોહનીય અને ચારિત્રમોહનીય

પ્રશ્ન—ભગવન્ ! દર્શનમોહનીય કર્મ કેટલા પ્રકારના છે ?

ઉત્તર--ગૌતમ ! ત્રણ પ્રકારના છે—સમ્યક્ત્વવેદનીય મિથ્યાત્વવેદનીય અને સમ્યગ્મિથ્યાત્વવેદનીય

અત્રે જો કે દર્શનમોહનીય કર્મ ત્રણ પ્રકારના કહેવામા આવ્યા છે તો પણ સમ્યક્ત્વવેદનીય અને સમ્યગ્ મિથ્યાત્વવેદનીય પ્રકૃતિઓ પુણ્યરૂપ પરિણત હોય છે, પાપકર્મ રૂપ નહી આથી પાપકર્મમા કેવળ મિથ્યાત્વ કર્મની જ ગણતરી કરવામા આવી છે

સોળ કષાય આ મુજબ છે - અનન્તાનુબંધી ક્રોધ અનન્તાનુબન્ધી માન, અનન્તાનુબન્ધી માયા, અનન્તાનુબન્ધી લોભ, અપ્રત્યાખ્યાન ક્રોધ, અપ્રત્યાખ્યાન માન, અપ્રત્યાખ્યાન માયા, અપ્રત્યાખ્યાન લોભ, પ્રત્યાખ્યાનાવરણ ક્રોધ, પ્રત્યાખ્યાનાવરણ માન, પ્રત્યાખ્યાનાવરણ માયા, પ્રત્યાખ્યાનાવરણ લોભ, સંજ્વલન ક્રોધ, સંજ્વલન માના, સંજ્વલન માયા અને સંજ્વલન લોભ, આ વર્ણનપ્રજ્ઞાપના સૂત્રના ૨૩મા કર્મબન્ધ પદમા બીજા ઉદ્દેશકમા આ જ પ્રમાણે કહ્યા છે—

નવ નોકષાય આ પ્રકારે છે--(૧) સ્ત્રીવેદ (૨) પુરૂષવેદ (૩) નપુંસકવેદ (૪) હાસ્ય (૫) રતિ (૬) અરતિ, (૭) ભય (૮) શોક (૯) જુગુપ્સા.

પ્રજ્ઞાપના સૂત્રના ૨૩ માં કર્મબંધ નામના પદ બીજા ઉદ્દેશકમાકહ્યુ છે

'પ્રશ્ન--ભગવંન્ ! ચારિત્રમોહનીય કેટલાં પ્રકારના કહ્યા છે ?

ઉત્તર--ગૌતમ ! બે પ્રકારના છે—કષાયવેદનીય તથા નોકષાયવેદનીય.

પ્રશ્ન—ભગવન્ ! નોકષાયવેદનીય કર્મ કેટલા પ્રકારના છે ?

ઉત્તર--ગૌતમ ! નવ પ્રકારના છે—જે ઉપર બતાવી દેવામા આવ્યા છે. આયુકર્મની પ્રકૃતિઓમા એક નરકાયુ જ પાપમા પરિગણિત છે

જો કે પ્રજ્ઞાપનાસૂત્રના ૨૩ મા પદના બીજા ઉદ્દેશકમા આ પ્રમાણે કહ્યુ છે—

પ્રશ્ન--ભગવન્ ! આયુષ્યકર્મ કેટલા પ્રકારના છે ?

ઉત્તર--ગૌતમ ! ચાર પ્રકારના છે—નૈરયિકાયુ તિર્યક્આયુ મનુષ્યાયુ અને દેવાયુ અહી આયુકર્મના ચાર ભેદ બતાવવામા આવ્યા છે તોપણ અન્તના ત્રણ આયુ જીવોને પ્રિય હોવાને લીધે પુણ્યકર્મની ગણતરીમા લેવામા આવ્યા છે આથી બાકી રહેલા એક નરકાયુની જ પાપકર્મમાં ગણતરી કરવામા આવી છે.

નરકગતિ અને તિર્યંચગતિ આ બને પાપકર્મની અન્તર્ગત છે

પૃથ્વીકાયિક આદિની એકેન્દ્રિય જાતિ, શખ છીપ આદિની દ્વીન્દ્રિય જાતિ, કીડી, માકણ વગેરેની તેન્દ્રિય, જાતિ, માખી વગેરેની ચૌઇન્દ્રિય જાતિ આ ચાર જાતિઓ પાપકર્મમા સમ્મિલિત છે પચેન્દ્રિય જાતિનો પુણ્યકર્મમા સમાવેશ છે

વજ્રઋષભ નારાચસહનનને છોડીને શેષ પાચ સંહનન કીલિકા સહનન અને સેવાર્ત્ત સહનન પાપકર્મના અન્તર્ગત છે

એવી જ રીતે સમચતુરસ્રસસ્થાનને બાદ કરતા શેષ પાંચ સસ્થાન પાપકર્મમા અન્તર્ગત છે તે આ રીતે છે ન્યગ્રોધપરિમડળ, સાદિ કુબ્જ, વામન અને હુન્ડક

અપ્રશસ્ત રૂપ, રસ, ગધ અને સ્પર્શ પણ પાપકર્મમાં ગણાય છે એવા જ રીતે નરકગત્યાનુપૂર્વી અને તિર્યગ્ગત્યાનુપૂર્વી પણ પાપકર્મમા સમ્મિલિત છે.

વિગ્રહ--અન્તરાલ ગતિમા વર્તમાન જીવના ક્ષેત્રસન્નિવેશક્રમને આનુપૂર્વી કહે છે અન્તરાલગતિ બે પ્રકારની છે—ઋજવી (સીધી--જેમા વળવુ ન પડે) અને વક્રા (વળાકવાળી) બનેમા આનુપૂર્વી નામકર્મનો ઉદય હોય છે

ઉપઘાત નામકર્મ પણ પાપપ્રકૃતિ છે કારણ કે તે પોતાના જ શરીરના અગોપાગોના ઉપઘાતના કારણરૂપ છે અપ્રશસ્તવિહાયોગતિ પણ પાપકર્મ છે અને સ્થાવર નામકર્મ પણ પાપમાં જ પરિગણિત છે કારણ કે તેના ઉદયથી સૂક્ષ્મ શરીરની ઉત્પત્તિ થાય છે.

અપર્યાપ્ત નામકર્મ પણ પાપપ્રકૃતિ છે કારણ કે તેના ઉદયથી પર્યાપ્તિઓની પૂર્ણ રૂપથી પ્રાપ્તિ થતી નથી જે કર્મના ઉદયથી યથાયોગ્ય પર્યાપ્તિઓ પૂરી થઈ શકતી નથી અને અપર્યાપ્ત અવસ્થામા જ મૃત્યુ થઈ જાય છે તે અપર્યાપ્ત નામકર્મ કહેવાય છે.

સાધારણ શરીર નામકર્મ પણ પાપ છે કારણ કે તેના ફળસ્વરૂપ આવા શરીરની પ્રાપ્તિ થાય છે જે અનન્ત જીવો માટે સાધારણ (એક જ શરીર) હોય છે કિસલય (કુંપળ) નિગોદ અને વજ્રકંદ વગેરેના આવી જ જાતના સાધારણ શરીર હોય છે ત્યા જેમ પરિભોગ એક જીવનો હોય છે તેવા જ અનેક જીવોના હોય છે

અસ્થિર નામકર્મ પણ પાપકર્મ જ છે, કારણ કે તેના ઉદયથી શરીરના અસ્થિર અવયવ ઉત્પન્ન થાય છે જેમને આ કર્મનો ઉદય થાય છે તેના શરીરના અવયવોમા સ્થિરતા હોતી નથી

અશુભ નામકર્મ પણ પાપપ્રકૃતિ છે કારણ કે એના ઉદયથી શરીરના ચરણ વગેરે અવયવ અશોભિત થાય છે જે કર્મના ઉદયથી શરીરના મસ્તક વગેરે અવયવ સુશોભિત થાય તે શુભકર્મ પુણ્યમા પરિગણિત છે એવી જ રીતે દુર્ભાગ્યનો પિતા દુર્ભગ નામકર્મ પણ પાપકર્મ છે તે મનની અપ્રિયતા જનક છે

અનાદેય નામકર્મ પણ પાપપ્રકૃતિરૂપ છે એના ઉદયથી મનુષ્યના વચન માન્ય થતા નથી પૂર્વ યોજિત વ્યવસ્થા મુજબની વાતો કહેવા છતા પણ લોકો તેની વાત માનતા નથી તેમજ તેના આગમન પ્રસગે તેનુ સન્માન-સત્કાર પણ કરતા નથી કોઈ રુચિ દર્શાવતા નથી

દુઃસ્વર નામકર્મ પણ પાપપ્રકૃતિ રૂપ છે આના ઉદયથી જીવનો સ્વર કાનનેઅપ્રિય થઈ પડે છે જેવી રીતે ગધેડાનો અવાજ, સાભળનારાઓને અપ્રિય પ્રતીત થાય છે

અયશકીર્ત્તિ નામકર્મ પણ પાપકર્મ કહેવાય છે કારણ કે એના ઉદયથી સત્કૃત્ય કરવા છતાં પણ જગતમા અપયશ અને અપકીર્ત્તિ ફેલાય છે.

નીચગોત્ર કર્મ પણ પાપરૂપ છે કારણ કે તેના ઉદયથી ચાડાળ, શિકારી, માછીમાર દાસી વગેરેના રૂપમાં પણ જન્મ ધારણ કરવો પડે છે

વ્યાખ્યાપ્રજ્ઞપ્તિ—ભગવતી સૂત્રના આઠમા શતકના નવમાં ઉદ્દેશકમા કહ્યુ છે—જાતિનો ગર્વ કરવાથી, કુળનુ અભિમાન રાખવાથી, રૂપમદ, લાભમદ, તપમદ, સૂત્રમદ ઐશ્વર્યમદ કરનાર નીચ ગોત્ર બાધે છે.

આવી રીતે પાચ અન્તરાયકર્મ પણ પાપકર્મ છે દાનાન્તરાય, લાભાન્તરાય, ભોગાન્તરાય ઉપભોગાન્તરાય તેમજ વીર્યાન્તરાય એ પાચ પ્રકારના અન્તરાયકર્મ છે

ભગવતી (વ્યાખ્યાપ્રજ્ઞપ્તિ) સૂત્રમા આઠમા શતકના નવમા ઉદ્દેશકમા કહ્યુ છે—દાનમા અન્તરાય (વિઘ્ન-મુશ્કેલી) નાખવાથી લાભમા અન્તરાય નાખવાથી ભોગમા અન્તરાય નાખવાથી અને વીર્યમાં અન્તરાય નાખવાથી અન્તરાય કર્મ બધાય છે ॥૨॥

'णाणदंसणाणं पडियणयाईहिं णाणदंसणावरणं'

સૂત્રાર્થ—જ્ઞાન અને દર્શનની પ્રત્યનીકતા વગેરેથી જ્ઞાનાવરણ અને દર્શનાવરણ કર્મ બંધાય છે ॥૩॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમા પાપકર્મ બ્યાશી પ્રકારે ભોગવાય છે એ બતાવવામા આવ્યુ હવે જ્ઞાનાવરણ કર્મ બધાવાનુ કારણ દર્શાવીએ છીએ—

'णाणदंसणाण'—જ્ઞાન અને દર્શનની પ્રત્યનીકતા વગેરે કરવાથી પંચવિધ જ્ઞાનાવરણ અને નવવિધ દર્શનાવરણ કર્મ બંધાય છે પ્રત્યનીકતા આદિ શબ્દથી ભગવતી સૂત્રના આઠમા શતકના નવમા ઉદ્દેશકમા કહેવામા આવેલા પદોનુ અહીં ગ્રહણ કરવાનુ છે તે આ પ્રમાણે છે– જ્ઞાન અને દર્શન પ્રત્યનીકતા (૧) નિહ્નવતા (૨) અન્તરાય (૩) પ્રદ્વેષ (૪) આત્માશાતના (૫) અને વિસંવાદનયોગ (૬) આ છ કારણોથી જ્ઞાનાવરણ અને દર્શનાવરણ કર્મો બંધાય છે ॥૩॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પૂર્વસૂત્રમા જ્ઞાનાવરણ વગેરે બ્યાશી પ્રકારના પાપોના સ્વરૂપ કહેવામાં આવ્યા હવે તે પૈકી પ્રથમ પાચ પ્રકારના જ્ઞાનાવરણ અને નવ પ્રકારના દર્શનાવરણ પાપકર્મના બન્ધના કારણો બતાવીએ છીએ—'णाणदंसणाण' વગેરે જ્ઞાન અને દર્શનની પ્રત્યનીકતા આદિ કરવાથી જ્ઞાનાવરણ અને દર્શનાવરણ કર્મો બંધાય છે જ્ઞાન–મતિ, શ્રુત, અવધિ, મન પર્યવ અને કેવળજ્ઞાનના ભેદથી પાચ પ્રકારના હોય છે. દર્શન–ચક્ષુ, અચક્ષુ અવધિ અને કેવળદર્શનના ભેદથી ચાર પ્રકારના હોય છે આવી રીતે પાચ પ્રકારના જ્ઞાનની અને ચાર પ્રકારના દર્શનની પ્રત્યનીકતા આદિ છ ઉપઘાતક હોય છે એમના આચરણથી જ્ઞાનાવરણ અને દર્શનાવરણ કર્મ બંધાય છે.

જ્ઞાનના પાચ ભેદ હોવાથી જ્ઞાનાવરણ પણ પાચ પ્રકારના હોય છે, દર્શનાવરણ નવ પ્રકારના હોય છે—ચક્ષુદર્શનાવરણ, અચક્ષુદર્શનાવરણ, અવધિદર્શનાવરણ અને કેવળદર્શનાવરણ તથા નિદ્રા, નિદ્રા–નિદ્રા, પ્રચલા, પ્રચલા–પ્રચલા અને સ્ત્યાનર્દ્ધિ એમ નવ પ્રકારના છે

અહી જ્ઞાનવિષયક પ્રત્યનીકતા આદિ જ્ઞાનાવરણ પાપકર્મના બંધના કારણ અને દર્શનવિષયક પ્રત્યનીકતા આદિ દર્શનાવરણ કર્મના બન્ધનરૂપ કારણ હોય છે એવુ સમજવુ ઘટે અહી આદિ શબ્દથી નિહ્નવતા અન્તરાય, પ્રદ્વેષ, અત્યાશાતના અને વિસંવાદનાયોગ, આ પદોને ગ્રહણ કરવા જોઈએ

અર્થાત્ જ્ઞાન અને દર્શનની પ્રત્યનીકતા વગેરે છ કારણોથી જ્ઞાનાવરણ અને દર્શનાવરણ બંધાય છે એ મુજબ કહેવુ જોઈએ જેવી રીતે જ્ઞાન પ્રત્યનીકતા (૧) જ્ઞાન નિહ્નવતા (૨) જ્ઞાનાન્તરાય (૩) જ્ઞાનપ્રદ્વેષ (૪) જ્ઞાનની અત્યાશાતના (૫) અને જ્ઞાનનો વિસંવાદનયોગ (૬) એ મુજબ. એવી જ રીતે દર્શનવિષય પ્રત્યનીકતા વગેરેને પણ દર્શનની સાથે સાંકળી લેવા જોઈએ અત્રે પ્રથમ જ્ઞાનાવરણ કર્મ બંધાવાના છ કારણોની વ્યાખ્યા કરવામાં આવે છે, જ્ઞાન–પ્રત્યનીકતા—મતિજ્ઞાન, શ્રુતજ્ઞાન અવધિજ્ઞાન, મન પર્યવજ્ઞાન અને કેવળજ્ઞાન આ પાચ પ્રકારના જ્ઞાનના વિષયમા અથવા ધર્મ+અધર્મના અભેદથી અર્થાત ધર્મથી ધર્મીનુ ગ્રહણ કરવાથી મતિશ્રુતાનિ પાંચ જ્ઞાનવાળાઓની પ્રત્યનીકતા અર્થાત શ્રુતજ્ઞાનાદિક વિરુદ્ધ આચરણ કરવાથી અગર શ્રુતજ્ઞાનાદિવાળાઓમાં વિરુદ્ધ આચરણ કરવાની પ્રવૃત્તિ રાખવાથી તથા જ્ઞાનનો નિહ્નવ કરવાથી કોઈ કોઈને પૂછે અથવા શ્રુતજ્ઞાનાદિના સાધન માગે ત્યારે જ્ઞાન અથવા જ્ઞાનના સાધનો પોતાની પાસે હોવા છતા પણ કલુષિત ભાવે એવુ કહેવુ કે હુ જાણતો નથી અથવા મારી પાસે તે વસ્તુ જ નથી, આ જ્ઞાન નિહ્નવ છે—આ પ્રકારના જ્ઞાન નિહ્નવથી અથવા શ્રુત પ્રદાતા ગુરૂજનોના નિહ્નવથી અપલાપથી તથા જ્ઞાનાન્તરાયથી કલુષિતભાવથી જ્ઞાનપ્રાપ્તિમા કોઈને અડચણ પહોચાડવાથી તથા જ્ઞાનપ્રદ્વેષથી શ્રુતાદિકમા અથવા શ્રુતાદિજ્ઞાનવાળા ગુરુજનોમા

અપ્રીતિ રાખવાથી તથા જ્ઞાનાત્યાશાતનાથી-શ્રુતાદિ જ્ઞાનની અથવા શ્રુતાદિજ્ઞાનશાળી પુરૂષોની અવહેલના કરવાથી તથા 'णाणविसंवायणाजोगेण' જ્ઞાન અને અજ્ઞાની માણસોને નિષ્ફળ બતાવતી ચેષ્ટા કરતા રહેવાથી, આ છ કારણોથી જ્ઞાનાવરણકર્મ બંધાય છે

એવી જ રીતે દર્શનના દર્શનવાળાના તથા દર્શનના સાધનોની પણ પ્રત્યનીકતા વગેરે છ, નવ પ્રકારના દર્શનાવરણ કર્મબંધનના કારણ હોય છે એ જાણી શકાય છે. કારણ કે કારણભૂત અધ્યવસાય વિશેષ અર્થાત્ આત્માનુ પરિણામ વિશેષ જે પ્રત્યાનીકતા વગેરે છે એનાથી નવ પ્રકારના દર્શનાવરણ કર્મ બંધાય છે

અહી ચક્ષુદર્શનાવરણ (૧) અચક્ષુદર્શનાવરણ (૨) અવધિદર્શનાવરણ (૩) કેવળદર્શનાવરણ (૪) આ ચાર આવરણ તથા નિદ્રા (૧) નિદ્રા-નિદ્રા (૨) પ્રચલા (૩) પ્રચલા-પ્રચલા (૪) અને સ્ત્યાનર્દ્ધિ (૫) એ પાચ પણ ચક્ષુદર્શન આદિ ચાર પ્રકારના દર્શનના વિઘાતક હોવાથી દર્શનાવરણ પદથી કહેવામા આવે છે

આ રીતે દર્શનાવરણ કર્મ નવ પ્રકારના કહેવાય છે અત્રે જ્ઞાનાવરણ કર્મ જ્ઞાન સબંધી પ્રત્યનીકતા આદિ છ કારણોથી બંધાય છે અને તે તે જ્ઞાનના આવરણ રૂપ પાચ પ્રકારથી ભોગવાય છે આવી જ રીતે દર્શનાવરણ કર્મ દર્શન સબંધી પ્રત્યનીકતા વગેરે છ કારણોથી બંધાય છે અને ચક્ષુદર્શનાવરણ વગેરે ચાર અને નિદ્રા વગેરે પાચ એવા નવ પ્રકારથી ભોગવાય છે

ભગવતીસૂત્રના ૮ મા શતકના ૯ મા ઉદ્દેશકમા કહ્યુ છે—ભગવન્ ! કયા કર્મના ઉદયથી જ્ઞાનાવરણીય કર્મ બંધાય છે ? ગૌતમ ! જ્ઞાન પ્રત્યનીકતા (દુશ્મનાવટ-વિરોધ)થી જ્ઞાનનો અપલાપ કરવાથી જ્ઞાનસંપાદનમા અન્તરાય નાખવાથી, જ્ઞાન સબંધી પ્રદ્વેષથી જ્ઞાનની અશાતના કરવાથી અને જ્ઞાન સબંધી વિસંવાદના કરવાથી જ્ઞાનાવરણીય કર્મ બંધાય છે જે કારણોથી જ્ઞાનાવરણીય કર્મ બંધાય છે તેજ કારણોથી દર્શનાવરણ કર્મ પણ બંધાય છે તફાવત એટલો જ છે કે જ્ઞાન સબંધી પ્રત્યનીકતા વગેરેથી જ્ઞાનાવરણ અને દર્શન સબંધી પ્રત્યનીકતાથી દર્શનાવરણ કર્મ બંધાય છે ॥૩॥

'असायावेयणिज्जं परदुक्खणयाईहिं'

સૂત્રાર્થ—પરપીડન વગેરેથી અશાતા વેદનીય કર્મ બંધાય છે ॥૪॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા— પૂર્વસૂત્રમા જ્ઞાનાવરણીય દર્શનાવરણીય કર્મબન્ધના કારણો વર્ણવવામા આવ્યા હવે પાપ તત્ત્વના પ્રસંગથી અશાતા વેદનીય કર્મબંધનના કારણો રજુ કરીએ છીએ "असायावेयणिज्जं' વગેરે

અશાતા વેદનીય કર્મ પરદુઃખનતા આદિ બાર કારણોથી બંધાય છે, તેનાથી જીવને શારીરિક અને માનસિક અશાતા ઉપજે છે આદિ શબ્દ વડે સંગૃહીત બાર કારણો આ રહ્યા—

(૧) પરદુઃખનતા—બીજાને અશાતા પહોંચાડવી

(૨) પરશોચનતા—બીજાને શોક પહોચાડવો

(૩) પરજૂરણતા —બીજાને શરીરશોષણ જનક શોક. પહોચાડવો

(૪) પરતેપનતા—બીજાને અશ્રુપાત થાય એવો શોક પહોંચાડવો

(૫) પરપિડનતા—બીજાને લાઠી વગેરેથી માર મારવો

(૬) પરપરિતાપનતા—બીજાને શારીરિક માનસિક વ્યથા કરવી

આવી જ રીતે પ્રાણભૂત જીવસત્વોના વિષયમા પણ પૂર્વોક્ત દુ ખનતા આદિ છએનુ સમાચરણ કરવુ (૬+૬=૧૨) આ બાર પ્રકારના કારણોથી જીવને અશાતા વેદનીય કર્મ બાધવું પડે છે ॥૪॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પૂર્વસૂત્રમા જ્ઞાનાવરણીય દર્શનાવરણીય કર્મની પ્રત્યનીકતા વગેરે છ, બન્ધના કારણ પ્રતિપાદિત કરવામાં આવ્યા છે હવે પાપ તત્ત્વના પ્રસંગથી અશાતા વેદનીય કર્મબન્ધના કારણોનુ વિવરણ કરવામા આવી રહ્યુ છે—'**असायावेयणिज्जं**' વગેરે.

જે કર્મના ઉદયથી સુખ દુઃખનો અનુભવ થાય તે વેદનીય કર્મ કહેવાય છે અથવા જે કર્મ સુખ દુખના રૂપથી વેદન કરવા યોગ્ય હોય તે વેદનીય કહેવાય છે, તે વેદનીય કર્મ શાતાવેદનીય, અશાતા વેદનીયના ભેદથી બે પ્રકારના છે જેમા શાતા વેદનીય પુણ્યપ્રકૃતિ જન્ય હોવાથી ચતુર્થ પુણ્યતત્ત્વ અધ્યાયમા તેનુ વિવેચન થઈ ચુકયુ છે અત્રે પાપતત્ત્વનુ પ્રકરણ હોવાથી અશાતાવેદનીય કર્મની વ્યાખ્યા કરવામા આવે છે

જે કર્મના ઉદયથી જીવને અશાતા અર્થાત્ દુ ખ ઉત્પન્ન થાય તો તે કર્મ અશાતા વેદનીય કહેવાય છે તે અશાતાવેદનીય કર્મનુ બન્ધન પરદુ ખનતા આદિ બાર કારણોથી થાય છે જેનાથી જીવ શારીરિક તથા માનસિક અશાતાનો અનુભવ કરે છે આ કારણો આ પ્રમાણે છે—(૧) પરદુ ખનતા—પોતાના સિવાય બીજાને દરેક પ્રકારે દુ ખ ઉપજાવવુ (૨) પરશોચનતા બીજાને દીનતાજનક શોકમા નાખવો (૩) પરજૂરણતા—બીજાને એવો શોક પહોચાડવો જેનાથી તેનુ શરીર શોષાઈ જાય (૪ પરતેપનતા—જેનાથી અશ્રુનો ધોધ વહેવા માડે લાળ ઝરવા માડે એ પ્રકારનો દીલદ્રાવક ઉદ્વેગ પહોચાડવો (૫) પરપિટ્ટનતા—બીજાને લાઠી વગેરે આયુધોથી મારવો (૬) પરપરિતાપનતા—બીજાને શારીરિક તથા માનસિક વ્યથા પહોચાડવી—આ છ બોલ સમુચ્ચય જીવોને ધ્યાનમા રાખીને કહેવામા આવ્યા છે એવી જ રીતે પ્રાણભૂત જીવ અને સત્વના વિષયમા પણ આ જ છ બોલોનુ આચરણ કરવુ એમ ૧૨ બોલ થયા જેનાથી જીવને અશાતા-વેદનીય કર્મ બધાય છે તે પ્રાણ ભૂત જીવસત્ત્વની વ્યાખ્યા આ પ્રમાણે છે—

વિકલેન્દ્રિય, દ્વીન્દ્રિય, ત્રીન્દ્રિય, ચતુરિન્દ્રિય પ્રાણ કહેવાય છે જીવ શબ્દથી પચેન્દ્રિય ગ્રહણ કરવામા આવે છે ભૂત શબ્દથી વનસ્પતિકાય અને પૃથ્વી, પાણી, અગ્નિ, વાયુ એ સત્ત્વ કહેવાય છે, વળી કહ્યુ પણ છે—'**प्राणा-द्वि-त्रि-चतुः प्रोक्ताः**" વગેરે

આ ચારેયને સતાપ પહોચાડવાથી, શોક પહોંચાડવાથી, જૂરણ-અર્થાત શરીર સુકાઈ જાય એવો શોક પહોચાડવાથી, તેપન—જેનાથી અશ્રુપાત થાય, બૂમાબૂમ કરવા લાગે એ જાતની ગ્લાની પહોચાડવાથી, પિટ્ટન—લાઠી વગેરે સાધનોથી માર મારવાથી અને પરિતાપન-શારીરિક માનસિક સન્તાપ પહોચાડવાથી જીવને અશાતા-વેદનીય કર્મ બાધવુ પડે છે ॥૪॥

'**तित्थयरायरियोवज्झाय**' ઇત્યાદિ

સૂત્રાર્થ—તીર્થકર, આચાર્ય ઉપાધ્યાય, કુળ, ગણ, સઘ, શ્રુત, ધર્મ અને દેવોનો અવર્ણવાદ કરવાથી મિથ્યાત્વનો બન્ધ થાય છે ॥ ૫ ॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—બ્યાશી પાપકર્મ પ્રકૃતિઓ-પૈકી પૂર્વસૂત્રમા અશાતાવેદનીય કર્મના

વગેરેના દુ ખો ભોગવે છે, તેઓ કલહપ્રિય છે, અસહનશીલ છે,તેઓએ પૂર્વભવમા દાન આપ્યુ નથી, પછીના જન્મમા પણ દુ ખ જ ભોગવશે, વગેરે આ પ્રકારે જ સાધ્વીઓનો અવર્ણવાદ પણ સમજવો અને શ્રાવક શ્રાવિકાઓનો પણ અવર્ણવાદ આ ધોરણે જ સમજવાનો છે.

'' અથવા સામાન્ય રૂપથી સંઘનો—અવર્ણવાદ કરવો, જેમ—ગધેડા, શિયાળ, કાગડા અને કુતરાઓનો સમૂહ પણ સઘ જ ગણાય છે પછી સઘમા કોઈ વિશેષતા જ શુ છે ? સઘમા કંઈ પણ ગૌરવની વાત નથી.

શ્રુતનો અવર્ણવાદ જેવી રીતે—આગમ મૂર્ખાઓની પ્રાકૃતભાષામા લખાયુ છે ! વ્રત દેહ-દમન પ્રાયશ્ચિત્ત, અને પ્રમાદના ઉપદેશની પુનરૂક્તિઓ તેમા ખડકેલી છે, ખોટા-ખોટા અપવાદો બતાવ્યા છે, વગેરે—

પૂર્ણ રૂપથી હિંસા વગેરેથી વિરતિરૂપ પાચમહાવ્રત હેતુક તથા ક્ષમા આદિ દસ લક્ષણોવાળા ધર્મનો અવર્ણવાદ આવી રીતે થાય છે—સ્વર્ગ અને મોક્ષના કારણ રૂપ કહેવામા આવતો ધર્મ પ્રત્યક્ષ આદિ પ્રમાણોથી જાણી શકાતો નથી ધર્મ અપ્રાણિક છે એવું કહી શકાતુ નથી પુદ્ગલ ધર્મ આ પદના વાચ્ય હોઈ ન શકે કારણ કે ધર્મ પુદ્ગલ હોઈ શકે નહી ધર્મ આત્માનુ પરિણામ પણ થઈ ન શકે કારણ કે તેને જો આત્માનુ પરિણામ કહીશુ તો ક્રોધાદિ પરિણામ પણ ધર્મ કહેવાશે

ભવનપતિ વાનવ્યન્તર જ્યોતિષ્ક અને વૈમાનિક દેવોનો અવર્ણવાદ આ રીતે સમજવો જોઈએ—બીજા બળવાન દેવ અલ્પબળવાળા દેવોને દૂર કરી પોતાના કબ્જે કરી લે છે ? તેમની આખો સ્થિર રહે છે આખોની પાપણ ફરકતી નથી તેઓ અત્યત અસત્ભૂત દોષોને પ્રગટ કરાનાવાળા હોય છે

આવી જ રીતે તીવ્ર મિથ્યાત્વરૂપ પરિણામથી ખોટા માર્ગનો બોધ આપવો લોકોની બુદ્ધિમા ભેદ ઉત્પન્ન કરવો અર્થાત્ તેમની શ્રદ્ધાને ઢીલી પાડવી, આવેશને વશ થઈ વગર વિચાર્યે અપકૃત્ય કરી બેસવુ , અસ યમી પુરૂષોના ગુણગાન ગાવા—આ બધા સ સાર-વૃદ્ધિના મૂળ કારણ- અન ત સ સારને વધારવાના દર્શનમોહનીયરૂપ મિથ્યાત્વ પાપકર્મ બાધવાના કારણો ગણાય

સ્થાનાગસૂત્રના સ્થાન ૫ ઉદ્દેશક ૨ મા કહ્યુ છે—પાચ કારણોથી જીવ દુર્લભ બોધિવાળા કર્મોનુ ઉપાર્જન કરે છે—(૧) અર્હન્તોનો અવર્ણવાદ કરવાથી (૨) અર્હન્તે ભાખેલા ધર્મનો અવર્ણવાદ કરવાથી (૩) આચાર્ય અને ઉપાધ્યાયોનો અવર્ણવાદ કરવાથી (૪) ચતુર્વિધસઘનો અવર્ણવાદ કરવાથી (૫) પરિપકવ તપ અને બ્રહ્મચર્યનું ફળ ભોગવનારા દેવોનો અવર્ણવાદ કરવાથી ।।૫।।

'તિવ્વકસાયજણિયત્ત પરિણામેણં ઈત્યાદિ

સૂત્રાર્થ—તીવ્ર કષાયના ઉદયથી ઉત્પન્ન આત્માના પરિણામોથી ચારિત્રમોહનીય કર્મ બધાય છે ।।૬।।

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમા મિથ્યાત્વરૂપ દર્શનમોહનીય પાપકર્મ બાધવાના કારણોનુ સ્વરૂપ વર્ણવવામા આવ્યુ હવે અનન્તાનુબન્ધી ક્રોધ આદિ સોળ કષાયો અને હાસ્ય વગેરે નવ અકષાયો બાધવાના કારણો જોઈશુ—

તીવ્ર કષાયના કારણે આત્મામા જે પરિણામ ઉત્પન્ન થાય છે તેનાથી સોળ પ્રકારના કષાય વેદનીય અને નવ પ્રકારના અકષાય વેદનીય ચારિત્રમોહનીય પાપકર્મ બધાય છે તાત્પર્ય એ છે કે ક્રોધ, માન, માયા અને લોભ આદિ કષાયોના ઉદયથી આત્મામા જે તીવ્ર પરિણામ-વિશેષ ઉત્પન્ન થાય છે તેનાથી સોળ પ્રકારના કષાયવેદનીય અને નવ પ્રકારના અકષાયવેદનીય પાપકર્મ બધાય છે ॥૬॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—અગાઉ બ્યાંશી પ્રકારના પાપકર્મમાથી પાચ પ્રકારના જ્ઞાનાવરણીય નવ પ્રકારના દર્શનાવરણીય, સાતા-અસાતા વેદનીય અને મિથ્યાત્વ પાપકર્મોના બન્ધના હેતુઓનુ પ્રતિપાદન કરવામા આવ્યુ, હવે ક્રમપ્રાપ્ત સોળ પ્રકારના ચારિત્રમોહનીય પાપકર્મ બધાવવાના કારણોનું પ્રતિપાદન કરીએ છીએ

તીવ્ર કષાયથી ઉત્પન્ન આત્માના પરિણામોથી સોળ કષાય તથા નવ અકષાય રૂપ ચારિત્ર મોહનીય પાપકર્મ બધાય છે

कषन्ति અર્થાત્ જીવને નર્કગતિ વગેરે દુર્ગતિમા જે નાખે છે તેને કષાય કહે છે અથવા **कष्यते** કહેતા જેમની દ્વારા જીવ સસાર પ્રતિ આકર્ષિત કરાય છે તે કષાય અથવા **कषति** જે વિષય રૂપી તલવારથી પ્રાણિઓનો ઘાત કરે તે કષ અર્થાત્ સસાર તેનો જેનાથી આય-લાભ થાય તે કષાય અથવા **कष्यते** કહેતા સંસારરૂપી અટવી (વન)મા ગમન-આગમન રૂપ કાટાઓમા પ્રાણી જેના વડે ઘસડાય છે તેમને કષાય કહે છે અથવા **कृष्यते** અર્થાત્ જેમની દ્વારા કર્મભૂમિ સુખ-દુ ખ આદિ ધાન્ય-ફળને અનુરૂપ બનાવાય છે તે કષાય છે ક્રોધ, માન, માયા તથા લોભ એ ચાર, કષાયોદયથી ઉત્પન્ન થનારા આત્માના જે તીવ્ર પરિણામ અર્થાત્ અધ્યવસાય છે, જેવી રીતે રૂપ, રસ, ગન્ધ અને સ્પર્શ આદિ વિષયોમા લોલુપતા, અકેખાઈ, અસત્યભાષણ, વક્રતા, પરસ્ત્રી તરફ પ્રેમભાવ વગેરે, આવા પરિણમન વિશેષથી સોળ કષાય વેદનીય અને નવ અકષાયવેદનીય રૂપ ચારિત્રમોહનીય કર્મ બધાય છે આમાથી સોળ કષાય આ છે—

અનન્તાનુબધી ક્રોધ, માન, માયા લોભ (૪) અપ્રત્યાખ્યાની ક્રોધ, માન, માયા લોભ (૪) પ્રત્યાખ્યાનાવરણ ક્રોધ, માન, માયા લોભ (૪), સજ્વલન ક્રોધ, માન, માયા લોભ (૪) આ કષાયોના ઉદય રૂપ તીવ્ર પરિણામ ચારિત્રમોહનીય બધાવાના કારણો છે

નવ અકષાય આ છે :-(૧) હાસ્ય (૨) રતિ (૩) અરતિ (૪) ભય (૫) જુગુપ્સા (૬) શોક (૭) સ્ત્રીવેદ (૮) પુરુષવેદ અને (૯) નપુસકવેદ

(૧) હાસ્યમોહનીય કર્મના ઉદયથી મોઢુ પહોળુ કરીને હસવું, દીનાભિલાષિત્વ કન્દર્પ, મશ્કરી, અતિપ્રલાપ, હાસશીલતા આદિ હાસ્ય વેદનીય કર્મ બધાવવાના કારણો છે,

(૨) મોહનીય કર્મના ઉદયથી વિષયો તરફ ચિત્તની અભિરુચિ થવી, વિવિધ પ્રકારથી ક્રીડા કરવી, બીજાના મનને આકર્ષિત કરવુ,'અનેકરીતે રમણ કરવુ, દુ ખનો અભાવ—દેશાદિના વિષયમા ઉત્સુકતા-પ્રીતિ—ઉત્પન્ન કરવી વગેરે કારણોથી રતિવેદનીય કર્મ બંધાય છે

(૩) મોહનીય કર્મના ઉદયથી પોતાની જ તરફ ભયના પરિણામનુ ઉત્પન્ન થવુ, અન્યને ભય ઉપજાવવો, ઉપજવો, હીનતા થવી, ત્રાસ પામવો અગર, પમાડવો વગેરે ભય કર્મ

બાધવાના કારણ રૂપ હોય છે.

(૪) મોહનીય કર્મના ઉદયથી ઉત્પન્ન થનારા મનોવિકાર, પરરાજ, પ્રાદુર્ભાવ, રતિવિધ્વંસ પાપશીલતા, અશુભ કૃત્યોમા પ્રોત્સાહન, ચૌર્ય આદિ અરતિવેદનીય પાપ કર્મ બાધવાના કારણો છે

(૫) ધર્મનુ આચરણ કરવામા તત્પર શ્રમણ, શ્રમણી, શ્રાવક શ્રાવિકાના કુશળ ક્રિયાના આચરણ તરફ નફરત રાખવી, તેમની કુથળી કરવી વગેરે કારણોથી જુગુપ્સા કર્મ બધાય છે

(૬) ઇચ્છિત્ વસ્તુનો વિયોગ અને અણગમતી વસ્તુની પ્રાપ્તિ થવાથી મનમા શોકનો ઉદ્વેગ થયો, શોકમા ડૂબેલા રહેવુ બીજાને દુખ પહોચાડવુ, વગર કારણે શોકાતુર બન્યા રહેવુ, વગેરે કારણોથી શોકવેદનીય કર્મ બધાય છે.

(૭) અદેખાઈ અસત્યભાષણ, વક્રતા, પરસ્ત્રી લંપટતા વગેરેથી સ્ત્રીવેદ બધાય છે.

(૮) સીધો-સરળ વ્યવહાર કરવાથી, પોતાની સ્ત્રીમા રતિપ્રિયતા હોવાથી, અદેખાઈનો અભાવ થવાથી પુરૂષ વેદ કર્મ બધાય છે.

(૯) તીવ્ર ક્રોધ વગેરેથી પશુઓના મુંડનમા રતિ થવી, સ્ત્રી અને પુરુષ-બંનેની સાથે કામભોગ સેવન કરવાની ઇચ્છા અથવા કુટેવ હોવી, શીલવ્રત તથા ગુણવાળાના તીવ્ર વિષયો પ્રતિ તીવ્ર અભિલાષા થવી આ બધા નપુસકવેદ બધાવાના કારણરૂપ છે.

તાત્પર્ય એ છે કે પરમ ધર્મનિષ્ઠ શ્રમણોની નિન્દા કરવાથી, જેઓ ધર્માચરણ કરવામા તત્પર છે તેમના ધર્માચરણમા બાધાઓ નાખવાથી, દેશવિરત જનોના ધર્મકૃત્યમા અન્તરાય નાખવાથી, દારુ, માસ તથા મધના ભાગમા ગુણ સમજવાથી, ચારિત્રગુણને દૂષિત કરવાથી, કુત્સિત-ચારિત્રને સચ્ચરિત્ર સમજવાથી અને બીજાનાં કષાયો તથા અકષાયોની ઉદીરણા કરવાથી મોહનીય કર્મ બધાય છે

ભગવતીસૂત્રમા કહ્યુ છે—મોહનીય કર્મ—શરીરપ્રયોગની બાબતમા પ્રશ્નોત્તરી હે, ગૌતમ ! તીવ્ર ક્રોધ કરવાથી, તીવ્ર માન કરવાથી. તીવ્ર માયાના સેવનથી, તીવ્ર લોભથી, તીવ્ર દર્શન-મોહનીયથી અને તીવ્ર ચારિત્ર મોહનીયથી મોહનીય કર્મ બધાય છે ॥ ૬ ॥

'महारंभ महापरिग्गहा' ઇત્યાદિ

સૂત્રાર્થ—મહારભ, મહાપરિગ્રહ પચેન્દ્રિયવધ અને માસભક્ષણથી નરકાયુ બધાય છે ॥ ૭ ॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમા સોળ કષાયવેદનીય અને નવ અકષાયવેદનીય પાપકર્મોના બન્ધહેતુ પ્રતિપાદન કરવામા આવ્યા હવે નરકાયુ કર્મના બધાવાના કારણોની પ્રરૂપણા કરીએ છીએ—મહાન્ આરભ, મહાન્ પરિગ્રહ, પચેન્દ્રિય જીવોનો વધ અને માસાહાર કરવાથી નરકાયુ બધાય છે

પ્રાણિઓને દુખ ઉપજાવનારી પ્રવૃત્તિ આરભ કહેવાય છે ક્ષેત્ર, વાસ્તુ (મકાન) હીરણ્ય (ચાદી) સોના વગેરે પરપદાર્થમા મમત્વ હોવો એ પરિગ્રહ છે. પચેન્દ્રિય-જીવોની હિંસા તથા માસાહાર પ્રસિદ્ધ જ છે. આ ચાર કારણોથી નરકાયુ કર્મ બધાય છે ॥ ૭ ॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પૂર્વોક્ત કહેલી પાપકર્મ-પ્રકૃતિઓમાથી પાચ જ્ઞાનાવરણ નવ દર્શનાવરણ, અસાતાવેદનીય, મિથ્યાત્વ, સોળ કષાયવેદનીય અને નવ અકષાય-વેદનીય પાપ-

કર્મોનાં બન્ધના કારણો બતાવવામા આવ્યા છે હવે ક્રમપ્રાપ્ત નરકાયુ પાપકર્મના બધહેતુઓનું કથન ક વામા આવે છે—

મહારભ, મહાપરિગ્રહ, પચેન્દ્રિયવધ અને માસાહારથી નરકાયુ કર્મ બધાય છે પ્રાણાતિપાત જનક વ્યાપારને આરભ કહે છે ધન-ધાન્ય-ક્ષેત્ર-વાસ્તુ વગેરે બાહ્ય પદાર્થોમા મમતા રાખવી પરિગ્રહ છે મહાન્ આરભ અને મહાન પરિગ્રહ મહારભ તથા મહાપરિગ્રહ કહેવાય છે. આનાથી તેમજ પચેન્દ્રિય જીવોનો વધ અને માસ ભક્ષણ કરવાથી નરકાયુ કર્મ બધાય છે.

આ કથનનો સારાશ એ છે કે હિસા આદિ ઘાતકી કર્મોથી સદા પ્રવૃત્ત રહેવાથી પારકી થાપણ ઓળવવાથી, ઇન્દ્રિય-વિષયોમા અત્યન્ત રચ્યાપચ્યા રહેવાથી કૃષ્ણલેશ્યાના કારણે ઉત્પન્ન થનાર રૌદ્ર-ધ્યાનથી, પચેન્દ્રિય પ્રાણીના વધથી અને માસાહાર આદિથી નરકાયુ પાપકર્મ બધાય છે

સ્થાનાગસૂત્રના ચોથા સ્થાનના ઉદ્દેશક ચોથામાં કહ્યુ છે—'ચાર કારણોથી નરકાયુ કર્મનું ઉપાર્જન થાય છે—મહાઆરભ-કરવાથી, પચેન્દ્રિયના વધથી, મહાપરિગ્રહથી અને માંસ-ભક્ષણ કરવાથી ॥૭॥

'जोगवक्कत्तविसंवायणेहिय' ઇત્યાદિ

સૂત્રાર્થ—યોગોની વક્રતા અને વિસવાદથી અશુભ નામ કર્મ બધાય છે ॥૮॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—આગળના સૂત્રમા નરકાયુ પાપ કર્મ બાંધવાના કારણોની પ્રરૂપણા કરવામા આવી, હવે ક્રમાનુસાર ચોત્રીશ પ્રકારના અશુભ નામ કર્મ બધાવાના કારણોની ચર્ચા કરીએ છીએ—

યોગની વક્રતા અને વિસવાદથી અશુભ નામકર્મ બધાય છે

યોગનો અર્થ થાય છે આત્માની એક વિશેષ શક્તિ જે કરણરૂપ હોય છે તેના ત્રણ પ્રકાર છે—મન, વચન અને કાયા તેની વક્રતાનો અર્થ છે કુટિલતાપૂર્વક પ્રવૃત્તિ જેમકે મનથી કઇંક વિચારવુ વચનથી કઈ બીજુ જ કહેવુ તથા કાયાથી અન્ય પ્રકારની જ પ્રવૃત્તિ કરવી એને યોગવક્રતા કહે છે

વિસવાદનો આશય છે—અન્યથા પ્રવૃત્તિ, કરવી, બીજાને છેતરવા સૂત્રમા-ચ પદનો જે પ્રયોગ કરવામા આવ્યો છે તેનાથી મિથ્યાદર્શન, પૈશુન્ય, ચચલ-ચિત્તતા, ખોટુ જોખવું-માપવુ અને બીજાની નિન્દા કરવી વગેરે અર્થ લેવામા આવ્યા છે આ યોગવક્રતા અને વિસવાદ આદિ કારણોથી—નરકગતિ આદિ ચોત્રીશ પ્રકારના અશુભ નામ કર્મ બધાય છે ॥૮॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—અગાઉ બતાવી દેવામા આવ્યુ છે કે મહાઆરભ, મહાપરિગ્રહ, પચેન્દ્રિય વધ અને માસાહારથી નરકની આયુ બધાય છે હવે અનુક્રમથી પ્રાપ્ત નરકગતિ આદિ ચોત્રીશ પ્રકારના નામ કર્મ બધાવા રૂપ કારણો રજુ કરીએ છીએ—

યોગોની વક્રતા અને વિસવાદ કરવાથી અશુભ નામ કર્મ બધાય છે

કાયા વચન અને મન આ ત્રણ યોગ છે તેમની વક્રતા કહેતા કુટિલતા પૂર્ણ પ્રવૃત્તિને યોગવક્રતા કહેવામા આવેલ છે અન્યથા પ્રવૃત્તિને વિસવાદ કહે છે યોગ વક્રતા સ્વગત હોય છે જ્યારે વિસવાદન પરગત હોય છે

કાયાની વક્રતા કુબ્જ (કુબડો) વામન (ઠીંગણો નિકૃષ્ટ અંગ-પ્રત્યંગ આખોનુ સંકોચન, મટકા, મળ, વ્યાધિ, વિદૂષક સ્ત્રી-પુરૂષ, મડદા વગેરેના આકારો દ્વારા અયથાર્થને પ્રકટ કરવુ એવો અર્થ થાય છે કપટયુક્ત બોલવુ એ વચનની વક્રતા છે. મનમા બીજી વાત વિચારીને લોક અથવા સમાજમા પૂજા-પ્રતિષ્ઠા અથવા આદર-સન્માન વગેરે મેળવવાની અભિલાષાથી વચન વડે કંઈક બીજુ જ કહેવુ અને શરીરથી બીજા જ પ્રકારનુ આચરણ કરવું એ મનની વક્રતા છે આમ કાય યોગ આદિની વક્રતા સ્વવિષયક જ હોય છે.

વિસંવાદનનો સમ્બન્ધ બીજાની સાથે હોય છે. તેનો અર્થ છે અન્યથા પ્રવૃત્તિ જે વાત સાચી છે તેને ખોટી સાબીત કરવી વિસંવાદ છે અથવા અત્યન્ત પ્રેમાળ બાપ અને બેટાની વચ્ચે મનદુઃખ ઉભુ કરવુ—તેમનો પ્રેમ નાશ કરી દેવો વિસવાદ કહેવાય છે

સૂત્રમા ગ્રહણ કરવામા આવેલ 'ચ' પદથી મિથ્યાદર્શન, માયિક પ્રયોગ, પૈશુન્ય, ચંચલ-મનોવૃત્તિ, ખોટાં માપ-તોલ અર્થાત્ ઓછુ-વધારે માપવુ-જોખવુ, કોઈપણ એક વસ્તુમાં બીજી વસ્તુની ભેળસેળ કરવી અને જુઠી સાક્ષી પુરવી વગેરે સમજવાના છે આ કારણોથી ચોત્રીશ પ્રકારના અશુભ નામકર્મ, બંધાય છે તે આ રીતે ચોત્રીશ પ્રકાર છે—(૧) નરક-ગતિ (૨) તિર્યંચગતિ (૩) એકેન્દ્રિયજાતિ (૪) દ્વીન્દ્રિયજાતિ (૫) ત્રીન્દ્રિયજાતિ (૬) ચતુરિન્દ્રિયજાતિ, (૭) ન્યગ્રોધપરિમંડળ (૮) સાદિ (૯) કુબ્જ (૧૦) વામન અને (૧૧) હુન્ડ સંસ્થાન (૧૨) અર્ધવજ્રર્ષભનારાચસંહનન (૧૩) નારાચ સંહનન (૧૪) અર્ધનારાચસંહનન (૧૫) કીલિકાસંહનન (૧૬) સૃપાલિકાસંહનન (૧૭) અપ્રશસ્ત રૂપ (૧૮) અપ્રશસ્ત રસ (૧૯) અપ્રશસ્ત ગન્ધ (૨૦) અપ્રશસ્ત સ્પર્શ (૨૧) નરકગત્યાનુપૂર્વી (૨૨) તિર્યગ્ગત્યાનુપૂર્વી (૨૩) ઉપઘાત નામ (૨૪) અપ્રશસ્ત વિહાયોગતિ (૨૫) સ્થાવર નામ (૨૬) સૂક્ષ્મનામ (૨૭) અપર્યાપ્તક નામ (૨૮) સાધારણ નામ (૨૯) (અસ્થિર નામ) (૩૦) અશુભ નામ (૩૧) દુર્ભગનામ (૩૨) અનાદેયનામ (૩૩) દુઃસ્વરનામ અને (૩૪) અયશઃ કીર્તિનામ

શ્રી ભગવતિ સૂત્રમા શતક ૮ ઉદ્દેશક ૯માં કહ્યુ છે—અશુભનામ કર્મના વિષયમાં પ્રશ્ન ? તેનો જવાબ એ છે કે—"ગૌતમ" ! કાયાની ઋજુતા ન હોવાથી અર્થાત્ વક્રતા હોવાથી .. વિસવાદતા યોગથી અશુભ નામ કર્મ બંધાય છે.

આ સ્થળે પહેલા જે 'જીવ' શબ્દ આવ્યો છે તેનાથી ભાષાની ઋજુતા ન હોવી. અર્થાત્ મનની ઋજુતા ન હોવી અર્થાત્ મનની વક્રતા સમજવા તથા બીજા 'જીવ' શબ્દથી શરીર ઈ સમજવા ॥૮॥

'अट्ठहिं मयट्ठाणेहिं नीया गोयकम्मं'

સૂત્રાર્થ—આઠ પ્રકારના મદસ્થાનોથી અર્થાત્ મદ કારણોથી નીચગોત્ર બંધાય છે ॥૯॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમા ચોત્રીશ પ્રકારનાં નરકગત્યાદિ અશુભકર્મ બાધવાના હેતુ રૂપ કાયાદિયોગોની વક્રતા તથા વિસવાદનાદિની પ્રરૂપણા કરવામા આવી હવે ક્રમપ્રાપ્ત નીચ ગોત્ર કર્મ બાધવાના કારણોની પ્રરૂપણા કરીએ છીએ—

આઠ પ્રકારના મદસ્થાનોથી અર્થાત્ જાતિ કુળ, બળ, રૂપ, તપ, શ્રુત, લાભ તથા ઐશ્વર્ય આ આઠેના વિષયમા અહંકાર કરવાથી નીચ ગોત્રકર્મ બંધાય છે ॥૯॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પૂર્વસૂત્રમા બ્યાશી પ્રકારના પાપકર્મોમા ક્રમથી પાચ જ્ઞાનાવરણ, નવ દર્શનાવરણ, મિથ્યાત્વ, સોળ કષાય નવ અકષાય, નરકાયુ નરકગતિ વગેરે ચોંત્રીશ પ્રકારના અશુભ નામકર્મ બધાવાના કારણોનુ પ્રતિપાદન કરવામાં આવ્યુ હવે અહીં ક્રમાનુસાર નીચ ગોત્ર કર્મ બધાવાના કારણોનુ પ્રતિપાદન કરવામાં આવે છે—

આઠ પ્રકારના જાતિ, મદ આદિ મદસ્થાનોથી અર્થાત્ જાતિ આદિ આઠના વિષયમા અહકાર કરવાથી નીચ ગોત્રકર્મ બધાય છે તે આઠ આ પ્રમાણે છે—જાતિ, કુળ, બળ, રૂપ, શ્રુત, લાભ અને ઐશ્વર્ય. દાખલા તરીકે—જાતિ-મદથી-હુ સહૂ કરતા માતૃપક્ષરૂપ જાતિમા ઉચો છુ, એવી રીતે જાતિ સમ્બન્ધી અહકારથી (૧) કુળના મદથી—મારો પિતૃપક્ષ-વશ સર્વ શ્રેષ્ઠ છે—હુ ઉત્તમ વશજ છુ આ જાતના કુળ સમ્બન્ધી અહકારથી (૨) બળ મદથી—બધા કરતા હુ શક્તિશાળી વ્યક્તિ છુ એ જાતનો બળનો અહકાર કરવાથી (૩), રૂપમદથી—મારુ રૂપ સૌન્દર્ય દિવ્ય છે એમ રૂપનો અહકાર કરવાથી (૪) તપ—મદથી હુ ઉગ્રતપસ્વી છુ મારા જેવો કઠોર તપસ્યા કોણ કરી શકે છે ? એવો તપનો અહકાર કરવાથી (૫), શ્રુત મદથી—હુ બધા આગમોનો જાણકાર છુ, મારૂ જ્ઞાન વિશાળ છે એ રીતે શ્રુત સમ્બન્ધી અહકારથી (૬), લાભમદથી ફાયદો જ ફાયદો થાય છે જે વસ્તુની-ઇચ્છા કરૂ છુ તે વસ્તુ મને આવી મળે છે એવો લાભનો અહંકાર કરવાથી (૭) આવી જ રીતે ઐશ્વર્યમદથી—અર્થાત્ અધિકાર પદવી પરિવાર, ઋદ્ધિઆદિ સપત્તિ જે મારી પાસે છે તે અનુપમ અને અઢળક છે એવો ઐશ્વર્ય બાબતનો અહકાર કરવાથી (૮), અર્થાત્ આ આઠ પ્રકારના મદ—અહકારથી જીવ નીચ ગોત્રકર્મ બાધે છે આ જ વિષયમા ભગવતીસૂત્ર શતક ૮ના ઉદ્દેશક ૯મા ભગવાને આવુ જ કહેલ છે ॥૯॥

'दाणादीणं विग्घकरणेणं अंतराइय '

સૂત્રાર્થ—દાન વગેરેમા હરકત પહોચાડવાથી અન્તરાય કર્મ બધાય છે ॥૧૦॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમા જ્ઞાનાવરણ આદિ બ્યાશી પ્રકારના પાપકર્મોમાથી ક્રમપ્રાપ્ત-નીચ ગોત્ર કર્મ બધાવાના કારણોની પ્રરૂપણા કરવામા આવી હવે અતિમ કર્મ અન્તરાયકર્મ બાધવાના કારણોની પ્રરૂપણા કરવામા આવે છે—

દાન આદિ અર્થાત્ દાન, લાભ, ભોગ, ઉપભોગ અને વીર્યમા વિઘ્ન નાખવાથી, બાધા પહોચાડવાથી અન્તરાય કર્મ બધાય છે તાત્પર્ય એ છે કે દાન લાભ, ભોગ, ઉપભોગ અને વીર્યમા વિઘ્ન નાખવુ એ અન્તરાય કર્મ બાંધવાના કારણો છે ॥૧૦॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—આની પહેલા જ્ઞાનાવરણીય આદિ બ્યાશી પ્રકારના પાપકર્મ બાધવાના કારણોનુ પ્રતિપાદન કરવામા આવ્યુ છે હવે અન્તમા બાકી રહેલા અન્તરાય કર્મના બાધવાના કારણોનુ પ્રતિપાદન કરવા માટે કહેવામા આવ્યુ છે—દાન લાભ, ભોગ, ઉપભોગ અને વીર્યમા વિઘ્ન નાખવાથી અન્તરાય કર્મ બધાય છે પોતાની વસ્તુ—પોતાની સત્તાનો ભાગ કરી અન્યને આપવી તેને દાન કહે છે (૧) કોઈ વસ્તુની પ્રાપ્તિ થવી તેને લાભ કહે છે (૨) જે એકવાર ભોગવવામા આવે તેને ભોગ કહે છે દા ત આહાર વગેરે (૩) જે વારવાર ભોગવવામા આવે છે તે ઉપભોગ છે દા ત, વસ્ત્રાદિ (૪) ધર્મ—આરાધના વગેરેમા ઉજમાળ રહેવુ એ વીર્ય છે (૫) આ દાનાદિ પાંચેમા વિઘ્ન નાખવુ એ અન્તરાય કર્મ બાધવાના કારણો છે

જે કર્મના ઉદયથી દાન આપવાં યોગ્ય વસ્તુનું પણ દાન દઈ શકાતુ નથી તે દાનાન્તરાય કર્મ કહેવાય છે જે કર્મના ઉદયથી પ્રાપ્ત કરનાર, પ્રાપ્ય વસ્તુને મેળવવામા અસમર્થ હોય છે તે લાભાન્તરાય કર્મ છે જે કર્મના ઉદયથી ભોજન વગેરેને ભોગવવા માટે શક્તિમાન હોવા છતા પણ જીવ તે ભોગવી શકતો નથી તે ભોગાન્તરાય કર્મ છે જે કર્મના ઉદયથી વસ્ત્ર વગેરેનો ઉપભોગ કરવામા સમર્થ હોવા છતા જીવ તેનો ઉપભોગ ન કરી શકે તે ઉપભોગાન્તરાય કર્મ કહેવાય છે જે કર્મના ઉદયથી જીવમા વીર્ય–ઉત્સાહ–પરાક્રમ ન ઉદ્ભવે તેને વીર્યાન્તરાય કર્મ સમજવુ જોઇએ

સારાશ એ છે કે દાન, લાભ, ભોગ, ઉપભોગ અને વીર્યમાં વિઘ્ન ઉપસ્થિત કરવાથી અનુક્રમથી દાનાન્તરાય વગેરે કર્મ બધાય છે.

વ્યાખ્યાપ્રજ્ઞપ્તિ શ્રી ભગવતીસૂત્રના શતક ૮, ઉદ્દેશક ૯માં કહ્યુ છે—દાનમાં અન્તરાય નાખવાથી લાભમા અન્તરાયરૂપ થવાથી, ભોગમાં અન્તરાય કરવાથી ઉપભોગમા અડચણ રૂપ થવાથી તથા વીર્યમા અન્તરાય નાખવાથી 'અન્તરાય કર્મ' બધાય છે

'અન્તરાય' શબ્દનો અર્થ થાય છે—હરકત પહોચાડવી આ પ્રકારે દાનાન્તરાય, લાભાન્તરાય, ભોગાન્તરાય, ઉપભોગાન્તરાય અને વીર્યાન્તરાય આ પાંચ અન્તરાય કર્મ બાંધવાના કારણો છે ॥૧૦॥

रयणसक्कर–वालुया ઇત્યાદિ

સૂત્રાર્થ—સાત નરકભૂમિઓ છે—જેમકે (૧) રત્નપ્રભા, (૨) શર્કરાપ્રભા, (૩) વાલુકાપ્રભા (૪) પકપ્રભા, (૫) ધૂમપ્રભા (૬) તમ પ્રભા (૭) તમસ્તમઃપ્રભા–આ સાતે ભૂમિઓ ઘનોદધિ ઘનવાત, તનુવાત અને આકાશ પર ટકેલી છે નીચે નીચે ઉત્તરોત્તર પહોળી થતી જાય છે અર્થાત્ તમસ્તમ પ્રભા સાતવી પૃથ્વી ઉપરની છે બાકીની છએ પૃથ્વિથી પહોળી છે. ॥૧૧॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—અત્રે પાપતત્ત્વનુ પ્રકરણ હોવાથી પાપના ફળ ભોગ દુ ખવિપાકના સ્થાનભૂત હોવાથી રત્નપ્રભા આદિ સાત નરકભૂમિઓની પ્રરૂપણા કરવામા આવી રહી છે (૧) રત્નપ્રભા (૨) શર્કરાપ્રભા (૩) વાલુકાપ્રભા (૪) પંકપ્રભા (૫) ધૂમપ્રભા (૬) તમ પ્રભા (૭) તમસ્તમ પ્રભા આ સાતે નરકભૂમિઓ ઘનોદધિ, ઘનવાત, તનુવાત આકાશ પર પ્રતિષ્ઠિત છે આ સાત પૃથ્વિઓના નામ રત્નપ્રભા વગેરે જે છે તે આ પ્રમાણે સાર્થક છે, જેમ–રત્નોની પ્રભાથી સહચરિત અર્થાત્ યુક્ત હોવાથી પ્રથમ પૃથ્વિનું નામ રત્નપ્રભા છે (૧) શર્કરા અર્થાત્ નાના નાના કાકરાના જેવી પ્રભાવાળી હોવાથી બીજી પૃથ્વિનુ નામ શર્કરાપ્રભા છે (૨) વાલુકા (રેતી)ની પ્રભાથી યુક્ત હોવાથી ત્રીજી પૃથ્વિનું નામ વાલુકાપ્રભા છે (૩) પંક કહેતા કાદવથી યુકત હોવાથી ચોથી પૃથ્વિનુ નામ પકપ્રભા છે (૪) જ્યા આગળ ધૂમાડો હોય એને ધૂમપ્રભા કહે છે (૫) જ્યા અન્ધકાર છવાયેલો રહે છે તે છઠ્ઠી પૃથ્વીનું નામ તમ પ્રભા છે (૬) જ્યા નિબિડ અર્થાત્ ઘટાટોપ–ઘનઘોર અન્ધકાર પથરાયેલો રહે છે તે સાતમી પૃથ્વિનુ નામ તમસ્તમ પ્રભા છે (૭) અહીં ભૂમિ શબ્દ એ માટે લેવામા આવ્યો છે કે જેવી રીતે દેવલોક ભૂમિના આશ્રય વગર પોતાના સ્વભાવથી જ ટકેલાં છે તેજ રીતે નરકાવાસ ભૂમિના સહારા વગર ટકેલા હોતા નથી આ સાત ભૂમિઓના આધારભૂત ઘનોદધિ ઘનવાત તનુવાત અને આકાશ એ 'ચાર છે' તે સાતે ભૂમિઓ એક એકથી આગળ આગળ પૃથુલ–પહોળી થતી ગઈ છે અર્થાત્ સાતમી પૃથ્વિ ઉપરની છએ પૃથ્વિથી પહોળી હોય છે. ॥ ૧૧ ॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—જીવ અજીવ આદિ નવ તત્ત્વોથી ક્રમપ્રાપ્ત પાપતત્ત્વને આ પાચમા અધ્યાયમા પ્રરૂપિત હોવાના પ્રસ્તાવથી દુ.ખરૂપ તેના ફળભોગના તીવ્ર વિપાક સ્થાન હોવાથી રત્નપ્રભા આદિ સાત—નરકભૂમિઓની પ્રરૂપણા કરવામા આવે છે—

રત્નપ્રભા, શર્કરાપ્રભા, વાલુકાપ્રભા, પકપ્રભા ધૂમપ્રભા, તમ પ્રભા, તમસ્તમઃપ્રભા આ સાત નરકભૂમિઓ ઘનોદધિ, ઘનવાત, તનુવાત અને આકાશના આધારે રહેલી છે અને નીચે નીચે, પછી પછીની પૃથ્વિ પહોળી થતી જાય છે. આ સાતે પૃથ્વિઓ પોત–પોતાના નામને સાર્થક કરે છે જેવી રીતે રત્નોની પ્રભાવાળી રત્નપ્રભા (૧) શર્કરા–તીક્ષ્ણ કાકરાની પ્રભાવાળી શર્કરાપ્રભા (૨) એવી જ રીતે વાલુકા પક, ધૂમ, તમ, તમસ્તમ પ્રભા એ પાચેના સબધમાં સમજી લેવુ આ સાતે પૃથ્વિઓ ઘનોદધિ, ઘનવાત, તનુવાત અને આકાશ ઉપર રહેલી છે જેમકે—સૌથી નીચે પ્રથમ આકાશ છે, તેની ઉપર તનુવાત–સૂક્ષ્મ વાયુ છે, તેની ઉપર ઘનવાત કહેતા ઘનિષ્ઠ વાયુ છે, તેની ઉપર ઘનોદધિ–ઘન–વજ્ર સમાન જામેલુ પાણી છે તેની ઉપર સાતમી તમસ્તમ પ્રભા પૃથ્વિ ટકેલી છે એવી જ રીતે તેની ઉપર પાછા આ ક્રમથી આકાશ તનુવાત, ઘનવાત ઘનોદધિ છે તે ઘનોદધિ પર છઠી તમઃપ્રભા પૃથ્વિ પ્રતિષ્ઠિત છે આવી જ રીતે દરેક પૃથ્વિના અન્તરાળમા આકાશ આદિ ચાર બોલ હોય છે, પ્રત્યેક ચાર બોલની ઉપર ૬ઠી, ૫મી, ૪થી, ૩જી, ૨જીઅને ૧લી રત્નપ્રભા પૃથ્વિ પ્રતિષ્ઠિત છે તથા રત્નપ્રભાથી લઈને ઉત્તરોત્તર પૃથ્વિ ઉપર–ઉપરની અપેક્ષાથી નીચે નીચેની પૃથ્વિઓ પહોળી હોય છે આ સાતે પૃથ્વિઓ એક–એકની નીચે–નીચે હોય છે.

જેવી રીતે રત્નપ્રભાની નીચે શર્કરાપ્રભા પૃથ્વિ રત્નપ્રભાની અપેક્ષા પહોળી છે (૨) અને શર્કરાપ્રભાની અપેક્ષા તેની નીચેની વાલુકા પ્રભા પૃથ્વિ પહોળી છે (૩) તેની નીચે પકપ્રભા પૃથ્વિ વાલુકાપ્રભા પૃથ્વિની અપેક્ષા પહોળી છે (૪) પકપ્રભા પૃથ્વિની અપેક્ષા એની નીચેની ધૂમપ્રભા પૃથ્વિ પહોળી છે (૫) ધૂમપ્રભાની અપેક્ષા એની નીચેની તમ પ્રભા પૃથ્વિ પહોળી છે (૬) તમ પ્રભાની અપેક્ષા તેની નીચેની તમસ્તમ પ્રભા પૃથ્વિ પહોળી છે. (૭)

આવી રીતે સાતે પૃથ્વિઓ ઘનોદધિ વલય પર પ્રતિષ્ઠિત છે. ઘનોદધિવલય ઘનવાતવલય પર પ્રતિષ્ઠિત છે. ઘનવાતવલય તનુવાતવલય પર પ્રતિષ્ઠિત છે તનુવાતવલય આકાશ પ્રતિષ્ઠિત છે. આ બધા વલયાકાર હોવાથી વલય શબ્દથી કહેવામાં આવ્યા છે.

આ પૃથ્વિઓનો પરસ્પર કેટલો અન્તરાળ છે તે કહીએ છીએ—રત્નપ્રભાની નીચે અસખ્યાત કરોડ યોજન જવાથી શર્કરાપ્રભા પૃથ્વિ આવે છે (૨) શર્કરાપ્રભા પૃથ્વિની નીચે અસખ્યાત કરોડા કરોડ યોજન જઈએ તો વાલુકાપ્રભા પૃથ્વિ આવે છે આવી જ રીતે બાકીની પકપ્રભા આદિ પૃથ્વિઓ પણ એક–એકની નીચે અસખ્યાત કરોડા કરોડ યોજનની અન્તરાળથી આવેલી છે—

અહી ઘન શબ્દના પ્રયોગથી તે પાણી ઘનીભૂત છે નહી કે દ્રવીભૂત અર્થાત્ તે પાણી વજ્ર માફક જામી ગયેલ ઘનરૂપ છે પરતુ દ્રવ માફક પ્રવાહી નથી એવો ભાવ સમજવો. એની હેઠળનો વાયુ બને પ્રકારનો છે પ્રથમ ઘન અને બીજો તનુની માફક પ્રવાહી છે ઘનોદધિ અસખ્યાત હજાર યોજનની પહોળાઈવાળા ઘનવાત પર આવેલ છે, ઘનવાત અસંખ્યાત

હજાર યોજનની પહોળાઈવાળા તનુવાત પર ટકેલુ છે, તનુવાત પછી અસંખ્યાત કરોડા-કરોડ યોજનવાળુ મહા તમોભૂત આકાશ રહેલુ છે તે આકાશ ખરકાન્ડ, પંકબહુલકાડ અબ્બહુલકાન્ડ એ ત્રણ કાન્ડોવાળી તનુવાત સુધીની રત્નપ્રભા પૃથ્વિના પરસ્પર આધારભૂત છે આ પૃથ્વિ આદિ તનુવાત સુધી બધા પેલા આકાશની ઉપર પ્રતિષ્ઠિત છે આકાશ પોતાના સ્વભાવથી પોતાના રૂપથી પ્રતિષ્ઠિત છે એ કોઇના આધારે ટકેલ નથી આથી જ ઘનોદધિ ઘનવાત અને તનુવાત આકાશ પર પ્રતિષ્ઠિત—રહેલા છે તે પ્રત્યેક પ્રથ્વિ અસખ્યાત કરોડા કરોડ-યોજનના વિસ્તારવાળી લોકસ્થતિના સ્વભાવથી સ્થિત છે

હવે આ સાતે પૃથ્વિઓનુ પ્રમાણ કહીએ—રત્નપ્રભા નામની પહેલી પૃથ્વિ આયામ-વિષ્કમ્ભ-લબાઈ પહોળાઇથી એક રજ્જુ પ્રમાણુની છે (૧), શર્કરાપ્રભા અઢી રજ્જુપ્રમાણ (૨) વાલુકાપ્રભા ચાર રજ્જુપ્રમાણ (૩) પકપ્રભા પાચ રજ્જુપ્રમાણ (૪) ધૂમપ્રભા છ રજ્જુ-પ્રમાણ (૫) તમ પ્રભા સાડા છ રજ્જુપ્રમાણ (૬) અને તમસ્તમ પ્રભા સાતમી પૃથ્વિ સાત રજ્જુપ્રમાણુની છે (૭) એમનું ઉત્કીર્ત્તન નામ અને ગોત્ર બંને પ્રકારથી થાય છે જેમકે પહેલી પૃથ્વિ નામથી ધર્મા અને ગોત્રથી રત્નપ્રભા કહેવાય છે (૧), બીજી પૃથ્વિ નામથી વંશા અને ગોત્રથી શર્કરાપ્રભા (૨) ત્રીજી પૃથ્વિ નામથી શૈલા અને ગોત્રથી વાલુકાપ્રભા (૩) ચોથી નામથી અજના અને ગોત્રથી પકપ્રભા (૪) પાચમી નામથી રિષ્ટા અને ગોત્રથી ધૂમપ્રભા (૫) છઠ્ઠી નામથી મઘા અને ગોત્રથી તમ પ્રભા (૬) સાતમી પૃથ્વિ નામથી માઘવતી અને ગોત્રથી તમસ્તમ પ્રભા કહેવાય છે (૭)

આ સાતે પૃથ્વિઓમાથી પ્રથમ રત્નપ્રભાપૃથ્વિ પૂર્વાપર આદિ બધા વિભાગોમાં સર્વત્ર એક સરખા ઘનરૂપથી ઉપરથી નીચે સુધી અર્થાત્ પિન્ડરૂપથી એકલાખ એશી હજાર યોજન મોટી છે (૧,૮૦,૦૦૦) એવી જ રીતે શર્કરાપ્રભા પૃથ્વિની મોટાઈ એક લાખ બત્રીશ હજાર યોજન (૧,૩૨,૦૦૦) છે (૨) વાલુકાપ્રભા પૃથ્વિની મોટાઈ એક લાખ અઠયાવીશહજાર યોજનની છે (૧,૨૮,૦૦૦) (૩) પકપ્રભાની મોટાઈ એક લાખ વીસ હજાર યોજનની છે (૧,૨૦,૦૦૦) (૪) ધૂમપ્રભાની મોટાઈ એક લાખ અઢાર યોજનની છે (૧.૧૮,૦૦૦) (૫) તમ પ્રભા પૃથ્વિની મોટાઈ એક લાખ સોળ હજાર યોજનની છે (૧,૧૬,૦૦૦) (૬) તમસ્તમ પ્રભા પૃથ્વિની મોટાઈ એક લાખ આઠ હજાર યોજનની છે (૧,૦૮૦૦૦) (૭) ॥૧૧॥

'नरगा तेसु जहाकमं तीसा पण्णवीसा'

સૂત્રાર્થ—રત્નપ્રભા આદિ પૃથ્વિઓમા યથાક્રમ ત્રીસ લાખ, પચીસ લાખ, પંદરલાખ, દસલાખ, ત્રણલાખ, એકલાખમા પાચ ઓછાં અને ફક્ત પાચ નરકાવાસ છે ॥ ૧૨ ॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમા રત્નપ્રભા આદિ સાત નરકભૂમિઓની પ્રરૂપણા કરવામા આવી હવે તેમનામા પ્રત્યેકની અદર નરકાવાસોની સખ્યાની પ્રરૂપણા કરીએ છીએ—

નરકનો અર્થ અહીં નરકાવાસ અર્થાત્ નારકીના જીવોને રહેવાનુ સ્થાન સમજવુ અગાઉ કહેલી ભૂમિયોમા તેમની સખ્યા આ રીતે છે—(૧) રત્નપ્રભા પૃથ્વિમાં ત્રીસ લાખ (૨) શર્કરાપ્રભામા પચીસ લાખ (૩) વાલુકાપ્રભામા પદર લાખ (૪) પકપ્રભામા દસ લાખ (૫) ધૂમપ્રભામા ત્રણ લાખ (૬) તમ પ્રભામા એક લાખ ઓછા પાચ અને (૭) તમસ્તમ પ્રભામાં માત્ર પાચ નારકાવાસ છે ॥ ૧૨ ॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—આની પહેલા રત્નપ્રભા આદિ આને પૃથ્વિઓના સ્વરૂપનું વિશદ રૂપથી વિવેચન કરવામા આવ્યુ છે. હવે નારક જીવોનો પ્રસંગ હોવાથી સર્વ પ્રથમ તેમના સ્થાનો અર્થાત્ નારકાવાસોનુ નિરૂપણુ કરવામા આવે છે—

રત્નપ્રભા આદિ સાત નરકભૂમિઓમા અનુક્રમથી નારકાવાસોની સખ્યા આ મુજબ છે—ત્રીસ લાખ, પચ્ચીસ લાખ, પંદર લાખ, દસ લાખ, ત્રણ લાખ, એક લાખમા પાચ ઓછા અને ફક્ત પાચ નારકાવાસ, છે તાત્પર્ય એ છે કે રત્નપ્રભા પૃથ્વિમા ત્રીસ લાખ શર્કરાપ્રભામા પચ્ચીસ લાખ, વાલુકાપ્રભામાં પદરલાખ, પકપ્રભામા દસલાખ, ધૂમપ્રભામા ત્રણલાખ તમ પ્રભામા એકલાખમા પાચ ઓછા અને તમસ્તમ પ્રભામા પાચ જ નારકાવાસ છે

નરક શબ્દની વ્યુત્પત્તિ આ પ્રમાણે છે—નરાર અર્થાત્ અશુભ કર્મવાળા મનુષ્યોને કાયન્તિ અર્થાત્ જે બોલાવે છે તે 'નરક' કહેવાય છે મતલબ એ છે કે પાપકર્મવાળા પ્રાણિઓનુ અશુભ કર્મનુ ફળ ભોગવવાનુ સ્થાન નરક કહેવાય છે તે સીમન્તક આદિ નરક ઉષ્ટ્રિકા, વિષ્ટપચની, લોહી તથા ઘડા વગેરેના આકારના હોય છે જે જીવ પાપકર્મના ભારથી ભરેલા છે તેઓ ત્યાં ઉત્પન્ન થાય છે

તમસ્તમ પ્રભા નામની સાતમી પૃથ્વિની મધ્યમા રહેલા પાચ નારકાવાસોના નામ આ પ્રમાણે છે—કાલ, મહાકાલ રૌરવ મહારૌરવ અને અપ્રતિષ્ઠાન આ પૈકી અપ્રતિષ્ઠાનનામના મુખ્ય નારકાવાસથી પૂર્વ દિશામા કાલ નામક નારકાવાસ છે, પશ્ચિમમા મહાકાલ નારકાવાસ છે, દક્ષિણમા રૌરવ નામનુ અને ઉત્તરમાં મહારૌરવ નામક મુખ્ય નારકાવસ છે ॥૧૨॥

'णिच्चासुभयर लेस्सा परिणामसरीरवेयणा विक्किया नारगा'

સૂત્રાર્થ—નારકી જીવો હમેશા અશુભ લેશ્યાવાળા વેદનાવાળા અને વિક્રિયાવાળા હોય છે ॥૧૩॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમા રત્નપ્રભા આદિ સાત નરકભૂમિઓમા અનુક્રમથી નરકાવાસોની પ્રરૂપણા કરવામા આવી હવે તે નરકોમા નિવાસ કરવાવાળા નારકજીવોના સ્વરૂપનુ કથન કરીએ છીએ—

પૂર્વોક્ત નરકોમા રહેનારા નારકજીવોની લેશ્યા સદૈવ કહેતા નિરન્તર અશુભતર જ રહે છે અશુભતરનો અર્થ એ થાય છે કે તિર્યંચ ગતિની અપેક્ષા અશુભ હોય છે અને સ્વગતિ અર્થાત્ નરકગતિની અપેક્ષા પણ ઉપર-ઉપરની અપેક્ષાથી નીચે-નીચે અધિકાધિક શુભ હોય છે

ત્યા શબ્દ, વર્ણ, રસ ગધ અને સ્પર્શનુ પરિણમન પણ તે ક્ષેત્રના નિમિત્તથી અત્યન્ત અશુભ હોય છે અને તેપરિણમન નારકીના જીવોના અપર પાર દુઃખનુ કારણ છે

અશુભ'નામકર્મના ઉદયથી નારકોના શરીર અતીવ અશુભ હોય છે, તેમની આકૃતિ ઘણી જ વિકૃત હોય છે, હુડક સસ્થાન હોય છે અને જોવામાં અત્યન્ત જુગુપ્સાપ્રેરક હોય છે

તે જીવોને હમેશાં અશુભતર વેદના થાય છે તે અશુભતર વેદનાનુ અન્તરગ કારણ તીવ્ર અસાતાવેદનીય કર્મનો ઉદય અને બહિરગ કારણ અનાદિ પારિણામિક શીત અને ઉષ્ણતા વગેરે

છે. નરકભૂમિઓમાં દસ પ્રકારની ક્ષેત્રજનિત વેદના થાય છે. —(૧) અનન્ત ક્ષુધા (૨) અનન્ત તૃષા (૩) અનન્ત શીત (૪) અનન્ત ઉષ્ણુ (૫) અનન્ત પરવશતા (૬) અનન્ત દાહ (૭) અનન્ત ખજવાળ (૮) અનન્ત ભય (૯) અનન્ત શોક અને (૧૦) અનન્ત ઘડપણુ

એવી જ રીતે નારક જીવોની વિક્રિયા પણ હમેશાં અશુભતર જ હોય છે તે જીવો પોતાના ઉત્તરવૈક્રિયરૂપ સુંદર રૂપ સમ્પન્ન બનાવવા ઈચ્છે છે ખરાં પરંતુ ક્ષેત્ર અને કર્મના પ્રભાવથી તે વિદૂષક વગેરેની માફક ઘણા જ કદરૂપા બને છે. ॥૧૩॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—આની અગાઉ રત્નપ્રભા આદિ સાત ભૂમિઓમા ક્રમશ ત્રીસ પચીસ લાખ, પંદર લાખ, દસ લાખ, ત્રણ લાખ, એક લાખમા પાંચ ઓછા તથા પાચ નરકોની પ્રરૂપણા કરવામાં આવી છે હવે તે નરકોમાં ઉત્પન્ન થનારા નારક જીવોના સ્વરૂપ વગેરેની પ્રરૂપણા કરીએ છીએ—

નરકોમાં ઉત્પન્ન થનારાં નારકી જીવો નિરન્તર અશુભતર લેશ્યા, પરિણામ, શરીર, વેદના અને વિક્રિયાવાળા હોય છે, અહીં નિત્યનો અર્થ છે સદૈવ અને અશુભતરનો અભિપ્રાય છે અત્યન્ત અશુભ—અનિષ્ટ કૃષ્ણુ આદિ લેશ્યાઓ પ્રસિદ્ધ છે. પરિણામનો અર્થ શબ્દ, વર્ણ, રસ, ગન્ધ તથા સ્પર્શ સમજવા જોઈએ શરીરનો આશય છે ભવધારણીય વૈક્રિય શરીર વેદનાનો અર્થ થાય છે ,અસાતાવેદનીય કર્મના ઉદયથી ઉત્પન્ન થનારા તીવ્ર દુ ખ અને વિક્રિયાનો અર્થ છે વિકૃત ઉત્તરવૈક્રિય શરીરની વિકુર્વણા આ બધાં નારક જીવોમાં સદૈવ અતીવ અશુભ હોય છે.

મૂળ સૂત્રમાં લેશ્યા આદિ પદોમાં દ્વન્દ્વ સમાસ છે. આ સમાસની આદિમા પ્રયોગ કરવામા આવેલા 'નિત્યાશુભતર' શબ્દ લેશ્યા આદિ બધાની સાથે સાંકળી શકાય છે આથી સારાંશ એ તારવી શકાય કે નારકીના જીવો હમેશા અશુભતર લેશ્યાવાળા, અશુભતર પરિણામ વાળા નિત્ય અશુભતર શરીરવાળા, નિત્ય અશુભતર વેદનાવાળા અને નિત્ય અશુભતર વિક્રિયાવાળા હોય છે. નિત્યપ્રહસિત અથવા નિત્ય પ્રજલિતમાં જેમ નિત્ય શબ્દ સાતત્ય સદાનો વાચક છે તેજ રીતે અહીં પણ સાતત્યનો વાચક છે. તેનો અર્થ હમેશા, સદૈવ, લગાતાર એ પ્રમાણે સમજી લેવો જોઈએ.

રત્નપ્રભા અને શર્કરાપ્રભા પૃથ્વિઓના નારક જીવોમા કાપોત લેશ્યા હોય છે વાલુકાપ્રભાના ઉપરી ભાગમાંના નારકોમા કાપોત અને નીચેના ભાગમા નીલ લેશ્યા હોય છે. પંકપ્રભાના નારકો નીલ લેશ્યાવાળા, ધૂમપ્રભાના ઉપરી ભાગના નારકો નીલ લેશ્યાવાળા અને નીચલા ભાગના કૃષ્ણુ લેશ્યાવાળા હોય છે. તમઃપ્રભાના નારક પણ કૃષ્ણુ લેશ્યાવાળા હોય છે તમસ્તમઃ પ્રભાના નારકોમા પરમકૃષ્ણુ લેશ્યા હોય છે. આ નારકીના જીવોના આયુષ્યના અન્ત સુધી રહેનારી લેશ્યાનુ પ્રતિપાદન થયુ.

નરકભૂમિ રૂપ ક્ષેત્રના પ્રભાવથી તેમના પરિણામ અર્થાત્ શબ્દ, રૂપ, રસ, ગંધ અને સ્પર્શ અત્યન્ત અશુભ અને દુ ખના કારણુ હોય છે અશુભ નામકર્મના ઉદયથી તેમના શરીર પણ અત્યન્ત અશુભ હોય છે વિકૃત ચહેરાવાળા હુણ્ડ સંસ્થાન વાળા, છેદન—ભેદન કરેલા પક્ષીના શરીર જેવા જોવા ન ગમે એવા હોય છે તેમના શરીરની ઉંચાઈ રત્નપ્રભા

પૃથિવીમા સાત ધનુષ્ય ત્રણ હાથ અને છ આગળની હોય છે આ પછીની પ્રત્યેક પૃથ્વિમા બમણી-બમણી લ બાઈ વધતી જાય છે

નારક જીવોને અસાતાવેદનીય કર્મનો ઉદય થાય છે તેમની અશુભતર વેદનાનુ અભ્ય-તર કારણ આ અસાતાવેદનીય જ છે અને બાહ્ય કારણ અનાદિ પરિણામ ઠ ડી, ગરમી વગેરે છે જે ઘણા જ તીવ્ર હોય છે

પહેલી બીજી અને ત્રીજી નરકમા ઉષ્ણ વેદના હોય છે ચોથીમા ઉષ્ણ વેદના ભોગવ-નારા ઘણા અને શીત-વેદનાવાળા થોડા હોય છે પાચમીમા ઉષ્ણવેદનાવાળા થોડા જ્યારે શીત વેદના વાળા ઘણા હોય છે છઠીમા શીતવેદના અને સાતમી નરકમા પરમશીત વેદના હોય છે (જીવા૦ ૩ પ્રતિ ઉદ્દે ૨ મા)—

નારક જીવોની અશુભતર વિક્રિયા આ પ્રમાણે હોય છે—'સારી વિક્રિયા કરીએ એવી ભાવના છતા પણ ક્ષેત્ર તથા કર્મના પ્રભાવથી તેઓ અશુભતર વિક્રિયા જ કર્યા કરતા હોય છે તેઓ સુખના કારણો ઉત્પન્ન કરવાનુ તો બીચારા ઘણુ જ ઈચ્છે છે પર તુ ક્ષેત્ર અને કર્મના પ્રભાવથી દુઃખના જ હેતુઓ ઉત્પન્ન કરે છે

સાતે પૃથ્વિઓમા વિદ્યમાન નરક નીચે-નીચે અનુક્રમથી અધિકાધિક અશુભ હોય છે, ભય કર હોય છે દા ત રત્નપ્રભામા અત્યન્ત અશુભ છે તો શર્કરાપ્રભામાં વળી તેનાથી પણ વધારે અશુભ છે જ્યારે વાલુકાપ્રભામા તો તેનાથી પણ અધિક અશુભ છે પ કપ્રભામા તેનાથી પણ અધિક અને ધૂમપ્રભામા તેનાથી પણ અધિક અશુભ છે તમઃપ્રભામા તેથી વિશેષ અને તમસ્તમઃ પ્રભામા બધા કરતા વધારે અશુભ છે

સૂત્રમા નિત્ય શબ્દ જે વાપરેલ છે તેનાથી એ પ્રગટ થાય છે કે નરકગતિમા ઉપર્યુક્ત લેશ્યા, પરિણામ, શરીર, વેદના અને વિક્રિયા સદૈવ અર્થાત્ નરક ભવની શરૂઆતથી લઈને ભવનો ક્ષય થાય ત્યા સુધી અશુભતર જ બન્યા રહે છે એવુ કદી પણ બનતુ નથી કે ક્યારેક તે શુભ થઈ જાય ! પલકારો મારવા જેટલા અલ્પ સમય માટે પણ નારક જીવોનો અશુભતર લેશ્યા આદિથી વિયોગ થતો નથી

આવી રીતે રત્નપ્રભા પૃથ્વિમા નારક જીવોની ઉગ્ર માનસિક પરિણામસ્વરૂપ કાપોત લેશ્યા હોય છે તેની અપેક્ષા અધિક તીવ્ર અધ્યવસાયરૂપ કાપોત લેશ્યા શર્કરાપ્રભામાં હોય છે તેનાથી પણ અધિક તીવ્રતર અધ્યવસાયરૂપ તીવ્રતમ કાપોત લેશ્યા અને તીવ્રનીલલેશ્યા વાલુકાપ્રભામાં હોય છે વાલુકાપ્રભાની અપેક્ષા તીવ્રતર સ કલેશ સ્વરૂપ નીલલેશ્યા પ કપ્રભામા જોવા મળે છે પ કપ્રભાની અપેક્ષા પણ તીવ્રતર સ ક્લેશમય તીવ્રતમ નીલલેશ્યા અને તીવ્ર કૃષ્ણલેશ્યા તમ પ્રભામા હોય છે અને એથી પણ અધિક તીવ્ર અધ્યવસાયરૂપ તીવ્રતમ કૃષ્ણલેશ્યા તમસ્તમ પ્રભામાના નારકજીવોને હોય છે

નારકી જીવોમા દસ પ્રકારના અશુભ પુદ્ગલ પરિણામ જોવામા આવે છે જે આ પ્રમાણે છે—(૧) અશુભ વર્ણ (૨) અશુભ ગ ધ (૩) અશુભ રસ (૪, અશુભ શબ્દ (૫) અશુભ સ્પર્શ (૬) અશુભ સ સ્થાન (૭) અશુભ ભેદ (૮) અશુભ ગતિ (૯) અશુભ બન્ધન અને (૧૦) અશુભ અગુરુલઘુ પરિણામ

નારકોના શબ્દ તીક્ષ્ણ, કઠોર અને નિષ્ઠુર પરિણામવાળા હોય છે તેમનુ રૂપ ભયકર ગભીર, રોમાચજનક અને ત્રાસ તથા દુ ખ ઉત્પન્ન કરે એવુ ઘણુ જ કાળુ હોય છે નરકના પુદ્ગલોના રસ લીમડા જેવો કડવો તથા કડવા તુબીયા જેવો હોય છે ત્યાની ગન્ધનુ પરિણમન મરી ગયેલા અને કોહવાઈ ગયેલા કુતરા, બીલાડા, શિયાળ, હાથી તેમજ ઘોડાના મડદા કરતા પણ અધિક અશુભ હોય છે સ્પર્શ એવો હોય છે જાણે વીછીનો ડખ, ખરબચડો તથા અગારા જેવો ધીકતો હોય છે નરકભૂમિ તથા ત્યા વસતા નારકોના ચેહરા જોતા જ ગભરાહટ ઉત્પન્ન થાય છે જાણે પિશાચની આકૃતિ હોય, નરકોમા પુદ્ગલોના ભેદ પરિણામ પણ અત્યન્ત અશુભ હોય છે શરીર અને નરકની દિવાલ આદિથી ભિન્ન થનાર પુદ્ગલ સ્પર્શ વર્ણ આદિની અપેક્ષા અશુભ પરિણતિને પ્રાપ્ત થતા થકા અત્યન્ત દુ ખજનક હોય છે

અપ્રશસ્ત વિહાયોગતિ નામકર્મના ઉદયથી નારક જીવોની ગતિ ઉટ અને પતગ વગેરેની ગતિની જેમ અતીવ અશુભ હોય છે શરીર આદિથી સબદ્ધ પુદ્ગલોનુ બધન પણ અશુભતર જ હોય છે સ્પર્શ, વર્ણ આદિથી અગુરુ લઘુ પરિણમન પણ અશુભતર જ થાય છે. બધા નારક જીવોના શરીર ન તો મોટા હોય છે અથવા નથી નાના હોતા

આવી જ રીતે તેમના અગુરુ લઘુ પરિણામ પણ અનેક પ્રકારના દુ ખોનું આશ્રય હોવાના કારણે ઘણુ જ અનિષ્ટ હોય છે

ત્યા જે નરકાવાસ છે તે તિર્છા ઉપર અને નીચે બધી બાજુથી અત્યન્ત ઘોર અને ભયંકર અન્ધકારથી નિરન્તર અવગાઢિત હોય છે તેમને મોટા ભાગે કફ, મૂત્ર, મળ, લોહી, ચરબી, મજ્જા, મેદ વગેરે લપટેલા હોય છે શ્મશાનભૂમિની માફક દુર્ગન્ધમય માસ, વાળ, હાડકા, ચામડા દાત નખ વગેરેથી ત્યાની ભૂમિ વ્યાપ્ત રહે છે ત્યા એવી તો દુર્ગન્ધ આવતી હોય છે કે જાણે મરેલા કુતરા, શિયાળ, બીલાડા, નોળિયા, વીછી, સાપ, ઉદર, હાથી, ઘોડા, ગાય, ભેસ અથવા માણસનુ સડી ગયેલુ મડદુ હોય ત્યા અત્યન્ત જ હૃદયદ્રાવક, કરૂણાજનક રૂદનના અવાજ સભળાતા હોય છે નારકજીવોની દુ ખમય ધ્વનિ, વિલાપ, આજીજીમય શબ્દો સાભળવા મળે છે ! આસુઓથી પરિપૂર્ણ ગાઢી વેદનાથી ઘેરાયલા, સતાપપૂર્ણ ઉચ્છ્વાસ નિઃશ્વાસના અશાન્ત તથા કોલાહલમય અવાજો ઘણા ત્રાસ ઉત્પન્ન કરનાર હોય છે

નારકીય જીવોના શરીર અશુભ નામકર્મના ઉદયથી અત્યન્ત અશુભ હોય છે તેમના અગોપાગોનુ નિર્માણ સસ્થાન, સ્પર્શ રસ, ગન્ધ, વર્ણ અને સ્વર હુણ્ડ હોય છે, છેદન–ભેદન પક્ષીના શરીરના આકારના બતક પક્ષીના આકારના, અત્યન્ત ઘૃણાજનક તથા બીભત્સ હોય છે તેમને જોઈને બીજા જીવોને નફરત તથા ભયનો અનુભવ થાય છે આ કારણે તે શરીરો ક્રૂર, કરૂણા, બીભત્સ તથા અત્યન્ત ભયોત્પાદક જોવામા આવે છે તીવ્ર દુઃખો અને યાતનાઓથી પરિપૂર્ણ અને હમેશા અપવિત્ર હોય છે

નારકોના શરીર રત્નપ્રભા આદિ સાતે પૃથ્વિઓમા ક્રમથી નીચે–નીચે અધિકાધિક અશુભ હોય છે તેમના શરીર બે જાતના હોય છે–ભવધારણીય અને ઉત્તરવૈક્રિય આ પૈકી ભવધારણીય શરીર રત્નપ્રભા પૃથ્વિમા જઘન્ય આગળીના અસખ્યાતમા ભાગ પ્રમાણ હોય છે શર્કરાપ્રભા

વગેરેમા પણ ભવધારણીય શરીરની જઘન્ય અવગાહના એટલી જ હોય છે ઉત્કૃષ્ટ અવગાહના રત્નપ્રભામા સાત ધનુષ્ય, ત્રણ હાથ અને છ આગળની છે આ પરિમાણ જે બતાવવામા આવ્યુ છે તેને તેનાથી અઠધા આગળની અપેક્ષાથી સમજવુ જોઇએ પરમાણુ આદિના ક્રમથી આઠ યવમધ્યને એક આગળ કહે છે ચોવીસ આગળનો એક હાથ થાય છે અને ચાર હાથનો એક ધનુષ્ય થાય છે

રત્નપ્રભા પૃથ્વિમા શરીરની જેટલી ઉત્કૃષ્ટ અવગાહના દર્શાવાઈ છે તેનાથી બમણી શર્કરાપ્રભામા હોય છે શર્કરાપ્રભાથી બમણી વાલુકાપ્રભામા, એવી રીત સાતમી પૃથ્વિ સુધી બમણી-બમણી અવગાહના થતી જાય છે

નારકોના ઉત્તર વૈક્રિય શરીર આ રીતના હોય છે—રત્નપ્રભા પૃથ્વિમા જઘન્ય આંગળના સંખ્યાતમા ભાગ પ્રમાણુ અને શર્કરાપ્રભા વગેરેમા પછીની છએ પૃથ્વિઓમા પણ આગળના સખ્યાતમા ભાગની જઘન્ય અવગાહના હોય છે તાત્પર્ય એ છે કે નારક જીવ અગર નાનામા નાના શરીરની વિક્રિયા કરે તો તે આગળના સખ્યાતમા ભાગની હોય છે ॥ ૧૩ ॥

'अण्णमण्णोदोरियदुक्खाय'

સૂત્રાર્થ—નારક જીવો અદરો અદર એકબીજાને દુખ ઉત્પન્ન કરતા રહે છે ॥૧૪॥

તત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમા નારકોના સ્વરૂપનુ અને તેમને ઠંડી, ગરમીથી થતાં દુખોનુ પ્રરૂપણ કરવામા આવ્યુ હવે એ પ્રતિપાદિત કરીએ છીએ કે તેમને બીજી રીતે પણ દુખનો અનુભવ થાય છે—

નારક જીવ પરસ્પરમા પણ એક-બીજાને દુખ ઉપજાવતા રહે છે

નારક જીવ શા માટે અન્યોન્ય દુખ ઉત્પન્ન કરે છે ? એવા પ્રશ્નનો જવાબ એ છે કે તેઓ ભવપ્રત્યયિક અવધિજ્ઞાન દ્વારા અને મિથ્યાદર્શનના ઉદયથી વિભગજ્ઞાન દ્વારા દૂરથી જ દુઃખના કારણોને જાણીને પરસ્પરમા એક બીજાને દુખ ઉત્પન્ન કરે છે

આવી જ રીતે જ્યારે એક નારક બીજા નારકની સમીપ આવે છે ત્યારે એકની બીજા ઉપર નજર પડતાની સાથે જ તેનો ક્રોધાગ્નિ ભડકે બળવા લાગે છે તેમને પૂર્વભવમા બાધેલા વેરનુ સ્મરણુ થઈ આવે છે, તેઓ પરસ્પર તીવ્ર વૈરભાવવાળા થઈ જાય છે અને તેઓ કુતરા અને શિયાળની જેમ તથા ઘોડા અને ભેસની માફક પરસ્પરમા આઘાત-પ્રત્યાઘાત કરવા લાગે છે પોતાની વિક્રિયાશક્તિ દ્વારા તેઓ તલવાર, ભાલા, બરછી, શક્તિ, તોમર કુન્ત તથા અયોધન વગેરે શાસ્ત્રોની વિક્રિયા કરીને એક-બીજાને માહોમાહે અત્યન્ત તીવ્ર દુખની ઉદીરણા કરે છે—દુખ ઉત્પન્ન કરે છે ॥ ૧૪ ॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—આની પહેલાં નારક જીવોની પ્રરૂપણા કરવામા આવી સાત નરકભૂમિઓમા કેટ-કેટલા નરકાવાસ છે, તેમનામા ક્યાં અને કઈ જાતની અશુભ લેશ્યા હોય છે, તેમના સ્પર્શાદિ પરિણામ ભવધારણીય અને ઉત્તર વૈક્રિય શરીર, તીવ્ર વેદના વિક્રિયા વગેરેનુ નિરૂપણ કરી ગયા હવે એ બતાવીએ છીએ કે નારક જીવ પૂર્વભવમા બાધેલા વેરનુ સ્મરણ કરીને અદરોઅદર એકબીજાને દુખ ઉત્પન્ન કરે છે—

નારક જીવ આપસ આપસમા એક બીજાને દુખ ઉત્પન્ન કરે છે તાત્પર્ય એ છે કે નરકક્ષેત્રના સ્વાભાવિક અનુભાવથી ઉત્પન્ન થનારા અશુભ પુદ્ગલ પરિણામથી તથા પૂર્વભવમા બાધેલા

પારસ્પરિક વેરનુ સ્મરણ થઈ જવાથી નરકોમા નારક જીવ પરસ્પરમા એકબીજાને દુ ખ ઉત્પન્ન કરે છે

જે નારક જીવ મિથ્યાદષ્ટિ હોય છે તેઓ વિભ ગજ્ઞાનથી યુક્ત હોવાના કારણે આપસ આપસમા એકમેકને જોતા જ પરસ્પર આઘાત-પ્રત્યાઘાત કરવા લાગે છે અને દુ ખ ઉપજાવે છે પરન્તુ જે નારક સમ્યક્ દષ્ટિ હોય છે તેઓ સ જ્ઞી હોવાથી પૂર્વજન્મમા અનાચાર કરનારા પોતાના આત્માનુ જ ચિતન કરે છે, તે માટે પશ્ચાત્તાપ કરે છે અને નરકક્ષેત્રના સ્વભાવથી જ ઉત્પન્ન થારા દુ ખોને સહન કરતા રહે છે, તેઓ બીજા નારકોને આઘાત પમાડતા નથી પર તુ ફક્ત બીજા વડે ઉત્પાદિત વેદનાને સહન કરે છે અને નિતાન્ત દુ ખી રહેતા થકા પોતાના નરકાયુ રૂપની રાહ જોતા હોય છે તેઓ પોતાની તરફથી બીજા નારકોને દુ ખ વેદના ઉત્પન્ન કરતા નથી કારણુ કે તેમને અવધિજ્ઞાન, કુ-અવધિજ્ઞાન (વિભ ગજ્ઞાન) હોતુ નથી

નારક જીવોને પરસ્પરમા ઉદીરિત દુ ખ જ હોતા નથી પર તુ થોડુ દુ ખ પણુ હોય છે કારણુ કે નરકભૂમિ સ્વભાવથી જ દુ ખમય હોય છે ત્યા સુખનો ઈશારો પણુ હોતો નથી. ઉપપાત વગેરેના કારણે ત્યા થનારુ સુખ પણુ બહુતર દુ ખથી મિશ્રિત હોવાના કારણે વિષ-મિશ્રિત મધ અથવા અનાજની જેમ દુ ખરૂપ જ સમજવા જોઈએ.

આ રીતે નરકક્ષેત્રના અનુભાવથી ઉત્પન્ન પુદ્ગલ પરિણામથી પણુ નારક જીવ દુ.ખનો અનુભવ કરે છે

અતિશય શીત, ઉષ્ણુ ભૂખ, તરસ વગેરે નરક ક્ષેત્રના સ્વભાવથી ઉત્પન્ન થનારાં પરિણુમન છે સૂકા લાકડા મળતા રહેવાથી જેમ અગ્નિ શાન્ત થતો નથી બલ્કે વધતો જાય છે તેવી જ રીતે નારકજીવોના શરીર તીવ્ર ભૂખરૂપી અગ્નિથી બળતા જ રહે છે દરેક સમયે આહાર કરતા કરતા નારક જીવ માની લઈએ કે સમસ્ત પુદ્ગલોનું ભક્ષણુ કરી લે અને નિરન્તર બની રહે-નારી તીવ્ર તરસના કારણે સુકા ગળા, હોઠ તાળવા તથા જીભવાળા તે નારક કદાચીત બધા સમુદ્રોનુ પાણી પી જાય તો પણુ તેમને સ તોષ થતો નથી ઉલ્ટાનુ આ પ્રમાણે કરવાથી તો તેમની ભૂખ અને તરસમા વધારો જ થશે ! આવી ઉત્કટ ભૂખ તથા તરસ ત્યા હોય છે, આ બધાં પરિણુમન નરકક્ષેત્રના પ્રભાવથી થાય છે ?

આ ક્ષેત્રપ્રભાવ દ્વારા ઉત્પન્ન વેદના ઉપરાત નારક જીવોને પરસ્પર ઉત્પન્ન થયેલી વેદના પણુ થાય છે નારક જીવોને અશુભ ભવપ્રત્યય અવધિજ્ઞાન થાય છે જે મિથ્યાદષ્ટિ નારક છે તેમને વિભ ગજ્ઞાન થાય છે જ્યારે જેઓ સમ્યક્ દષ્ટિ હોય છે તેમને અવધિજ્ઞાન થાય છે ભાવદોષના કારણે તેમનુ તે જ્ઞાન પણુ દુ ખનુ જ કારણુ થાય છે તે જ્ઞાનથી નારક જીવ ઉપર નીચે અને મધ્યમા—બધી બાજુ આઘેથી જ દુ ખના કારણોને હુમેશા જુએ છે જેવી રીતે સાપ અને નોળિયા, અશ્વ અને ભે સ તથા કાગડા અને ઘૂવડ જન્મથી જ એક બીજાનાં દુશ્મનો હોય છે તેવી જ રીતે નારક પણુ સ્વભાવથી જ એક બીજાના દુશ્મન હોય છે જેવી રીતે કોઈ અપરિચિત કુતરાને જોઈને બીજા કુતરા એકદમ ક્રોધથી ભડકી ઉઠે છે અને ઘુરઘુરાતા થકા તેના પર હુમલો કરી બેસે છે તેવી જ રીતે નારકોને, એક બીજાને જોતાની સાથે જ તીવ્ર ભવહેતુક ક્રોધ ઉત્પન્ન થાય છે, ત્યારે ક્રોધથી પ્રજ્વલિત ચિત્ત થઈને, દુ:ખ સમુદ્ઘાતથી આર્ત્ત અચાનક તૂટી પડેલા કુતરાની માફક ઉદ્ધત તે નારકો અત્યન્ત ભયાનક વૈક્રિય રૂપ બનાવીને,

તેજ જગાએ પૃથ્વિના—પરિણમનથી બનેલા અને નરકભૂમિના અનુભાવથી ઉત્પન્ન કરવામા આવેલા શૂલ, શિલા, શક્તિ, તોમર મુસલ મુદ્ગલ, કુન્ત, તલવાર ફરા લાઠી ફરસી વગેરે શસ્ત્ર લઈને તથા હાથ પગ અને દાંતોથી પણ પરસ્પર આક્રમણ કરે છે

આપસના આઘાત—પ્રત્યાઘાતોથી આહત થયેલા તેઓ આર્ત્તનાદ કરે છે તેમના અગ-અગ વિકૃત થઈ જાય છે તેમને એટલી અપાર વેદના થાય છે કે તેઓ કતલખાનામાં લઈ જવામા આવતા ભેસ, સુવર અને ઘેટા ની માફક તરફડીઆ મારે છે અને લોહીના—કાદવમા આળોટે છે તાત્પર્ય એ છે કે આ નારકોને નરકમા પરસ્પર ઉત્પન્ન થના । આવા ઘોર દુ ખ સહન કરવા પડે છે ॥ ૧૪ ॥

'तच्चं पुढवि जाव संकिलिट्ठासुरादीरियदुक्खाय'

સૂત્રાર્થ—ત્રીજી પૃથ્વિ સુધી સકિલિષ્ટ અસુર (પરમાધાર્મિક) દેવ પણ દુ ખ ઉપજાવે છે ॥ ૧૫ ॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમા નિરૂપણ કરવામા આવ્યુ કે નારક જીવો પૂર્વજન્મમા બાધેલા વેરનુ સ્મરણ કરીને તથા નરકભૂમિઓના પ્રભાવથી પ્રભાવિત થઈને પરસ્પર દુ ખ ઉત્પન્ન કરે છે અત્રે એ બતાવવામા આવી રહ્યુ છે કે વાલુકાપ્રભા પૃથ્વિ સુધી અસુરકુમાર દેવ પણ નારકોને દુ ખ ઉત્પન્ન કરે છે—ત્રીજી પૃથ્વિ પર્યન્ત અર્થાત્ વાલુકા-પ્રભા પૃથ્વિ સુધી પૂર્વજન્મમા ઉપાર્જિત અત્યન્ત સકિલષ્ટ પરિણામો દ્વારા ઉત્પન્ન પાપ કર્મના ઉદયથી પરમાધાર્મિક અસુર પણ નારક જીવોને દુ ખ ઉત્પન્ન કરે છે

સૂત્રમા સકિલષ્ટ વિશેષણના પ્રયોગ દ્વારા એ પ્રદર્શિત કરવામા આવ્યું છે કે બધા અસુર નારકોને પીડા પહોચાડતા નથી તો પણ કેટલાક પરમાધાર્મિક નામના અમ્બ અમ્બરીષ આદિ અસુર જ પીડા આપે છે

સકિલિષ્ટ અસુર રત્નપ્રભા, શર્કરાપ્રભા અને વાલુકાપ્રભા આ ત્રણ ભૂમિઓમા જ નારક જીવોની બાધાના નિમિત્ત બને છે, આનાથી પછીની પકપ્રભા આદિ પૃથ્વિઓમા તેઓ બાધા પહોચાડતા નથી, કારણ કે ત્રીજી પૃથ્વિથી પછી તેમનુ ગમન જ થતુ નથી

આ અસુરકુમાર નારક જીવોને અત્યન્ત તપાવેલા લોહરસનુ પાન કરાવે છે, ઘણા જ તપાવેલા લોહસ્તભોનુ આલિંગન કરાવે છે, કૂટશાલ્મલી વૃક્ષ પર કે જેના પાદડા તલવારની ધાર જેવા અણિદાર હોય છે તેના ઉપર ચઢાવે—ઉતારે છે, લોખડના હથોડાથી માર મારે છે, રધા, છરા વગેરેથી છોલે છે, તેમના ઘા ઉપર ગરમ કરેલુ કકડતુ તેલ છાટે છે, લોહ-મય ઘડાઓમા તેમને બાફે છે, રેતીમા શેકે છે, વૈતરણી નામની નદીમા ડુબાડે છે, યત્રો (ઘાણી)મા પીલે છે વગેરે અનેક પ્રકારોથી નારકોને તેઓ દુ ખ ઉત્પન્ન કરે છે

નારક જીવોના શરીરનુ છેદન—ભેદન કરવા છતા પણ અને શરીરના કકડે—કકડા કરી નાખવા છતા પણ અકાળે તેમના મરણ થતા નથી તેઓ અનપવર્ત્ય—આયુષ્યવાળા હોય છે

અસુર શબ્દની વ્યુત્પત્તિ આ પ્રમાણે સમજવી જોઈએ—અસુરત્વ ઉત્પન્ન કરનારા દેવગતિ નામ કર્મના એક ભેદના ઉદયથી જે બીજાને अस्यन्ति—क्षिपन्ति અર્થાત્ દુ ખમા નાખે છે તે 'અસુર' કહેવાય છે ॥ ૧૫ ॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—અગાઉ કહેવાઈ ગયુ છે કે નારક જીવ પૂર્વજન્મના બાંધેલા વેરથી યુક્ત હોય છે તે વેરનુ સ્મરણ થતા જ તેઓ પરસ્પરમા એક બીજાને દુ ખ ઉત્પન્ન કરે છે અને પરસ્પર દુ ખ ઉત્પન્ન કરવાની તેમની આ પર પરા નિરન્તર ચાલુ રહે છે હવે એ બતાવીએ છીએ કે વાલુકાપ્રભા પૃથ્વિ સુધી સ કિલષ્ટ અસુરો પણ નારક જીવોને દુ ખ ઉત્પન્ન કરે છે—

પૂર્વભવમા સ ભાવિત અતિ તીવ્ર સ કલેશ પરિણામો દ્વારા ઉપાર્જિત પાપકર્મના ઉદયથી સ પૂર્ણ રીતે કિલષ્ટ અસુર ત્રીજી પૃથ્વિ સુધી અર્થાત્ વાલુકાપ્રભા પૃથ્વિ પર્યન્ત નારક જીવોને દુઃખ ઉત્પન્ન કરે છે 'ચ' શબ્દના પ્રયોગથી એ સૂચિત કરવામા આવ્યુ છે કે નારકોને નરકભૂમિઓના પ્રભાવથી પરસ્પર જનિત દુ ખ પણ થાય છે તે પરસ્પર જનિત દુ ખ ઉપરાંત સંકલેશયુક્ત ચિત્તવાળા અસુરકુમાર પણ જેમને અશુભાનુબન્ધી બાલ તપ તથા અકામનિર્જરાના કારણે દેવગતિ પ્રાપ્ત થઈ ગઈ છે તેમજ જેઓ સ્વલ્પ વિભૂતિ-સમૃદ્ધિની પ્રાપ્તિ થવાથી ગર્વયુક્ત હોય છે જેઓ આગલા ભવ તરફ આંખો ઉઠાવીને પણ જોતા નથી અર્થાત્ ભવિષ્યમાં અમારી શુ દશા થશે—એ અ ગે લગીર પણ વિચાર કરતા નથી—જે પોતાના સુખને ત્રણે લોકના સુખ સમજે છે અને જેઓ ભવનપતિના દસ ભેદોમાંથી પ્રથમ ભેદના અન્તર્ગત છે—બીજી કોઈ નિકાયમા હોતા નથી, તેઓ પણ નારકોને દુ ખ ઉત્પન્ન કરે છે છે અસુર ભયાનક હોય છે તેમના નામ હૃદયમા કમકમાટ ઉત્પન્ન કરે છે, જોવાની વાત તો એક બાજુ રહી તે અસુરોના નામ આ છે —(૧) અમ્બ (૨) અમ્બરીષ (૩) શ્યામ (૪) શબલ (૫) રુદ્ર (૬) ઉપરુદ્ર (૭) કાલ (૮) મહાકાલ (૯) અસિ (૧૦) અસિપત્રવન (૧૧) કુ ભી (૧૨) વાલુકા (૧૩) વૈતરણી (૧૪) ખરસ્વર (૧૪) મહાઘોષ.

આ પંદર અસુરનિકાયના અનાગતિ દેવો જ, મિથ્યાદૃષ્ટિ, પૂર્વજન્મમા કિલષ્ટ કર્મો કરવાવાળા પાપમા અભિરુચિ રાખનાર અને અસુરગતિને પ્રાપ્ત પરમાધાર્મિક કહેવાય છે નારકજીવોને જુદી જુદી રીતે દુ ખ ઉત્પન્ન કરવાના કારણે જ તેઓ 'પરમાધાર્મિક' કહેવાય છે કિલષ્ટ કર્મોને લીધે ઉત્પન્ન આ પ દર પ્રકારના અસુર પોતાની જન્મજાત પ્રકૃતિથી જ નારક જીવોને વિવિધ પ્રકારથી વેદનાઓ ઉત્પન્ન કર્યા કરતા હોય છે વેદનાઓ ઉત્પન્ન કરવાના કેટલાક પ્રકાર નીચે જણાવ્યા મુજબના છે—

લોઢાને ખૂબ તપાવીને ટીપાવવુ, અત્યન્ત ગરમ કરાયેલા લોખ ડના થાભલા સાથે આલિંગન કરાવવું—કુટશાલ્મલી વૃક્ષ પર ચઢ ઉતર કરાવવી—લોઢાના હથોડાથી મારવુ—રંદો, છરા વગેરે શસ્ત્રોથી ચામડી ઉતારવી, ગરમ કરેલ ઉકળતુ તેલ છાટવુ, લોખ ડના ઘડામા રાધવુ, ભઠ્ઠીમા ચણાની જેમ શેકવુ, ય ત્રોમા પીલવા, લોઢાની શૂળો તથા સળીયાથી ભેદન કરવુ, કરવતથી વહેરવુ, અ ગારાની જ્વાલામા સળગાવવુ, તીક્ષ્ણ અણિઓ ઉપર રગદોળવા, સિંહ, વાઘ, દીપડા, શિકારી કુતરા, શિયાળ, વરુ બિલાડા, સાપ, નોળિયા, કાગડા, ગીધડા ઘુવડ તથા બાજ વગેરે પક્ષિઓ દ્વારા ભક્ષણ કરાવવુ, ધખધકતી રેતી ઉપર ચલાવવુ, તલવારની ધાર જેવા પાદડાના વનમા ઘસડવા, વૈતરણી નામની નદીમા ડુબાડવા અને આપસમા લડાઈ કરાવવી વગેરે વિવિધ પ્રકારથી તે પરમાધાર્મિક દેવ નારક જીવોને દુ.ખ ઉત્પન્ન કરે છે.

આવી રીતે પૂર્વોક્ત સ્વરૂપવાળા નરકોમા નારક જીવોના દુખ પણ ત્રણ પ્રકારના હોય છે—નારકો દ્વારા એકબીજાને અપાતા દુખ (૨) નરક ક્ષેત્રના સ્વભાવથી ઉત્પન્ન થનારા દુખ (૩) ત્રીજી પૃથ્વિ સુધી સકલેશ પરિપૂર્ણ—અસુરો દ્વારા ઉત્પન્ન કરનારા દુખ આથી એ પણ સાબિત થયુ કે ચોથી વગેરે પછીની પૃથ્વિઓમા બે જ પ્રકારના દુખ હોય છે આપસમા ઉત્પન્ન કરેલા અને ક્ષેત્રના સ્વભાવથી ઉત્પન્ન થનારા

પ્રશ્ન થઈ શકે છે કે અમ્બ, અમ્બરીષ આદિ પરમાધાર્મિક દેવ નારકોને જે પૂર્વોક્ત વેદનાઓ ઉત્પન્ન કરે છે તેનુ કારણ શુ છે ? આનુ સમાધાન એ છે કે તે અસુર સ્વભાવગત જ પાપકર્મમા નિરત હોય છે અને એ કારણે જ તેઓ આ જાતની પ્રવૃત્તિ કર્યા કરે છે જેવી રીતે—ઘોડા, ભેસ, સુવર, ઘેટા, કુકડા, બતક અને લાવક પક્ષિઓને તથા મલ્લોને પરસ્પર લઢતા જોઈને રાગ—દ્વેષથી યુક્ત તથા પાપાનુબધી પુણ્યવાળા મનુષ્યોને ઘણી ખુશી ઉપજે છે તેવી જ રીતે અમ્બ, અમ્બરીષ આદિ અસુર પરસ્પર યુદ્ધમા ગરકાવ નારકોને લઢતા જોઈને, તેમના દુખો જોઈને, આપસમા એકબીજા ઉપર હુમલા કરતા જોઈને ઘણા પ્રસન્ન થાય છે દુષ્ટ મનોભાવનાવાળા તે અસુર તેમને આવી અવસ્થામા જોઈને અટ્ટહાસ્ય કરે છે અને મોટેથી સિહનાદ કરે છે જો કે આ અમ્બ, અમ્બરીષ વગેરે દેવ છે અને તેમની પ્રસન્નતા તથા સન્તુષ્ટિના બીજા અનેક સાધન વિદ્યમાન હોવા છતા પણ માયાનિમિત્તક મિથ્યાદર્શન શલ્ય અને તીવ્ર કષાયના ઉદયથી પીડિત, ભાવપૂર્વક દોષોની આલોચનાથી રહિત પાપાનુબન્ધી પુણ્યકર્મ બાલતપનુ ફળ જ એવુ છે કે તેઓ આવી જાતના કૃત્યો કરીને અને જોઈને પ્રસન્નતા સપાદન કરે છે પ્રસન્નતા પ્રાપ્ત કરવા માટેના અન્ય અન્ય સાધન વિદ્યમાન હોવા છતા પણ અશુભ ભાવ જ તેમની પ્રસન્નતાના કારણ હોય છે.

આવી રીતે અપ્રીતિજનક, અત્યન્ત તીવ્ર દુખ નિરન્તર અનુભવ કરતા થકા પણ અને મૃત્યુની કામના કરતા થકા પણ કર્મ દ્વારા નિર્ધારિત આયુષ્યવાળા તે નારક જીવોનુ અકાળે મૃત્યુ થતુ નથી ! તેમના માટે ત્યા કોઈ આશ્રય પણ નથી અગર ન તો તેઓ નરકમાથી નીકળીને અન્યત્ર કોઈ જગ્યાએ જઈ શકે છે કર્મના ઉદયથી સળગાવેલા ફાડી નાખેલા છિન્ન—ભિન્ન કરી નાખેલા અને ક્ષત—વિક્ષત કરેલા શરીર પણ ફરીવાર તુરન્ત જ પાણીમા રહેલા દણ્ડરાજિની માફક પરિપૂર્ણ થઈ જાય છે

તાત્પર્ય એ છે કે નારક જીવો નરકોમા ત્રણ પ્રકારના દુખોનો અનુભવ કરે છે ॥૧૫॥

'ते नरगा अंते वट्टा, बाहिं चउरंसा, ઇત્યાદિ

સૂત્રાર્થ—તે નરકાવાસ અન્દર ગોળાકાર, બહાર ચોરસ, ખુરપા જેવા આકારવાળા તથા સદૈવ અન્ધકારથી છવાયેલા હોય છે ।

તે નરકાવાસ અંદર ગોળ, બહાર ચાર ખુણીઆ અને નીચે ખુરપા જેવા આકાર-વાળા હોય છે ક્ષુર નામનું એક અસ્ત્ર છે જે છેદન કરવાના કામમા આવે છે તેને જે પ્રતિપૂર્ણ કરે તેને 'ક્ષુરપ્ર' કહેવામા આવે છે આ નામનુ એક વિશેષ અસ્ત્ર હોય છે. જેનો આકાર ક્ષુરપ્ર જેવો હોય તેને ક્ષુરપ્રસસ્થાન કહે છે

બીજા કયા પ્રકારના નરક હોય છે ? તો કહે છે—નરક નિત્ય અન્ધકારમય છે અર્થાત્ ત્યા ઉપર, નીચે, મધ્યે સર્વત્ર અનન્ત અને અત્યન્ત ભયાનક અન્ધકાર જ અન્ધકાર ફેલા-ચેલો રહે છે અને તે હમ્મેશને માટે પથરાયેલો જ હોય છે સૂત્રમા પ્રયુક્ત 'આદિ' શબ્દથી નરકોના અન્ય વિશેષણ પણ ધ્યાનમા રાખી લેવા ॥૧૬॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પહેલા પ્રતિપાદન કરવામા આવ્યુ કે સાતે પૃથ્વિઓની અંદર જે નરક છે તેમા રહેનારા નારકોને ત્રણ પ્રકારના દુખ થાય છે. પરસ્પરમા ઉદીરિત દુઃખ નરકક્ષેત્રના પ્રભાવથી ઉત્પન્ન થનારૂ દુખ અને ત્રીજી પૃથ્વિ સુધી પરમાધાર્મિક અસુરો દ્વારા ઉત્પન્ન કરવામા આવેલા દુઃખ એ પણ પ્રતિપાદન કરવામા આવ્યુ કે ચોથી પૃથ્વિથી લઈને સાતમી પૃથ્વિ સુધી પરસ્પર ઉત્પન્ન કરવામા આવેલા અને ક્ષેત્ર સ્વભાવથી ઉત્પન્ન દુખ જ હોય છે.

હવે નરકોનું સ્વરૂપ પ્રતિપાદન કરવા માટે કહીએ છીએ—

પૂર્વોક્ત રત્નપ્રભા આદિ સાત પૃથ્વિઓમા સ્થિત નરક અંદરથી ગોળાકાર બહારથી ચૌકોર અર્થાત્ સમચતુષ્કોણ અને નીચેના ભાગમા ક્ષુરપ્ર અર્થાત્ ખુરપાના જેવા આકારના હોય છે ક્ષુરપ્ર એક નાનુ અસ્ત્ર છે જે છેદન કરવાના ઉપયોગમા આવે છે ત્યા નિરન્તર ઘોર અન્ધકાર પથરાયેલો રહે છે

સૂત્રમા આપવામા આવેલા 'આદિ' પદથી નરકોના અન્ય અન્ય વિશેષણ સમજી લેવા જોઈએ તે પૈકી કેટલાંક આ પ્રકારે છે—નરકો ચન્દ્ર સૂર્ય, ગ્રહ, નક્ષત્ર અને તારા-ઓની પ્રભાથી રહિત હોય છે. અર્થાત્ ત્યા ન તો સૂર્ય–ચન્દ્રમા છે, નથી ગ્રહ–નક્ષત્ર અથવા તારા આ બધા જ્યોતિષ્ક મધ્યલોકમા હોય છે નરકોમા એમની ગેરહાજરી હોવાથી સદૈવ ગાઢ અન્ધકાર પ્રસરેલો રહે છે

આ સિવાય નરક કેવા હોય છે—તેમના તળ ભાગ મેદથી અર્થાત્ ચરબીથી જે શુદ્ધ માસના સ્નેહરૂપ હોય છે પૂયપટલ અર્થાત્ દૂષિત લોહીનો ગઠ્ઠો જેને મવાદ પણ કહે છે, રુધિર અર્થાત્ લોહી, માસ, ચિખ્ખલ અર્થાત્ કાદવ તથા વાળ, હાડકા અને ચામડી વગેરે અપવિત્ર પદાર્થોથી વ્યાપ્ત હોય છે તેઓ અત્યન્ત અશુચિ, ભયાનક, ગંદા, માથુ ફાટી જાય એવી દુર્ગન્ધથી વ્યાપ્ત, કાપોત અગ્નિ જેવા રંગવાળા ખરબચડા સ્પર્શ વાળા, દુસહ અને અશુભ હોય છે. આવા નરકોમા વેદનાઓ પણ અશુભ જ હોય છે પ્રજ્ઞા-પના સૂત્રનાં બીજા પદમા નરકના પ્રકરણમા કહ્યુ છે—તે નરક અંદરથી ગોળાકાર બહારથી સમચતુષ્કોણ અને હેઠળથી ખુરપાના આકારના હોય છે તેમા સર્વદા અન્ધકાર છવાયેલો રહે છે ગ્રહ, સૂર્ય, ચન્દ્ર તથા નક્ષત્ર—એ જ્યોતિષ્કની પ્રભાથી રહિત હોય છે મેદ, ચરબી, મવાદના સમૂહ, રુધિર માસ તથા કાદવ અથવા રુધિર માસ આદિના કાદવથી

તેના તલભાગ ખગ્ડાએલા હોય છે તે અશુભ અને બીભત્સ, ઘોર દુર્ગન્ધથી ભરેલાં, કાપોત અગ્નિ જેવા વર્ણવાળા, કઠોર સ્પર્શવાળા, દુસ્સહ અને અશુભ હોય છે નરકોની વેદનાઓ પણ અશુભ જ હોય છે વગેરે ॥૧૬॥

'तेसु नारगाण उक्कोसेणं ठिई' ઇત્યાદિ

સૂત્રાર્થ—તે નરકોમા નારકજીવોની ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ યથાક્રમાનુસાર એક, ત્રણ, સાત દસ, સત્તર, બાવીસ અને તેત્રીસ સાગરોપપન્નની હોય છે. ॥૧૭॥

તત્ત્વાર્થદિપીકા—પહેલા નારકજીવોના તથા નરકોના સ્વરૂપનું નિરૂપણ કરવામા આવ્યુ હવે તે નારક જીવોની ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિનુ અર્થાત્ આયુના પરિણામનુ નિરૂપણ કરીએ છીએ

પૂર્વોક્ત સાત રત્નપ્રભા પૃથ્વિ આદિ સ્વરૂપવાળા નરકોમા નિવાસ કરનારાં નારકજીવોની ઉત્કૃષ્ટ અર્થાત્ વધારેમા વધારે સ્થિતિ અથવા આયુષ્ય અનુક્રમથી અર્થાત્ રત્નપ્રભા આદિ ભૂમિઓના ક્રમાનુસાર એક, ત્રણ, સાત, દસ, સત્તર, બાવીસ અને તેત્રીસ સાગરોપમની હોય છે આ અનુક્રમ આ પ્રમાણે છે –(૧) રત્નપ્રભા નામની ભૂમિમા જે નરક છે, ત્યાના નારકોની ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ એક સાગરોપમની છે અર્થાત્ પહેલી પૃથ્વિના નારક અધિકમા અધિક એક સાગરોપમ સુધી નારક અવસ્થામા ત્યા રહે છે (૨) શર્કરાપ્રભામા મા નારકોની ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ ત્રણ સાગરોપમની હોય છે (૩) વાલુકાપ્રભામા નારકોની ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ સાત સાગરોપમની હોય છે (૪) પકપ્રભામા નારકોની ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ દસ સાગરોપમની હોય છે (૫) ધૂમપ્રભામા નારકોની ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ સત્તર સાગરોપમની હોય છે, (૬) તમ પ્રભામા નારકોની ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ તેત્રીસ સાગરોપમની હોય છે ॥૧૭

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—અત્યન્ત વિષમ દુખજનક કર્મો બાધવાથી અને અનપવર્ત્ત-નીય આયુષ્ય વાળા હોવાથી જીવ અકાળે જ મૃત્યુની અભિલાષા કરતા હોવા છતા પણ અકાળે મરણ પામતા નથી આયુષ્ય પુરૂ થવાથી નિશ્ચિત સમયે જ તેમનુ મૃત્યુ થાય છે અત્રે એવી આશકા ઉદ્ભવે છે કે તેમનુ આયુષ્ય કેટલુ હોય છે? આ શકાનુ સમાધાન કરવા માટે તેમના આયુષ્યનુ ઉત્કૃષ્ટ પ્રમાણુ બતાવવામા આવે છે.

જેમના સ્વરૂપ પ્રથમ બતાવી દેવામા આવ્યા છે તે રત્નપ્રભા આદિ સાત નરક ભૂમિ-ઓમા યથાક્રમ ત્રીસ, પચ્ચીસ પદર, દસ, ત્રસ લાખ, એક લાખમા પાચ ઓછા તથા પાચ નરકાવાસોમા નારકજીવોની ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ અર્થાત્ આયુષ્યનુ પ્રમાણુ રત્નપ્રભા આદિ ભૂમિ-ઓના અનુક્રમથી એક સાગરોપમ, ત્રણ સાગરોપમ સાત સાગરોપમ, દસ સાગરોપમ, સત્તર સાગરોપમ, બાવીસ સાગરોપમ અને તેત્રીસ સાગરોપમનુ હોય છે

આવી રીતે રત્નપ્રભા પૃથ્વિમા નારકોની ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ એક સાગરોપમની, શર્કરા-પ્રભામા ત્રણ સાગરોપમની, વાલુકાપ્રભામા સાત સાગરોપમની પકપ્રભામા દસ સાગરો-પમની ધૂમપ્રભામા સત્તર સાગરોપમની તમ પ્રભામા બાવીસ સાગરોપમની અને તમસ્તમ પ્રભામા તેત્રીસ સાગરોપમની ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ હોય છે

ઉપમાન અથવા ઉપમાનો અર્થ થાય છે સાદૃશ્ય સાગર અર્થાત્ સમુદ્રની ઉપમા હોવી સાગરોપમ છે એક સાગર જે આયુષ્યનુ ઉપમાન હોય તે સાગરોપમ કહેવાય છે. ત્રિસાગરોપમ આદિમા પણ આવી જ રીતે વિગ્રહ કરી લેવો

તે નરકોમાં દારુ પીનારા, માસ ભક્ષણ કરનારા, અસત્યવાદી, પરસ્ત્રી, લમ્પટ મહાન લોભથી ગ્રસ્ત પોતાના સ્ત્રી, બાળક વૃદ્ધ તથા મહર્ષિઓની સાથે વિશ્વાસઘાત કરનારા જૈન ધર્મની કુથળી કરનારા રૌદ્ર ધ્યાન કરવાવાળાં તથા આવા જ અન્ય પાપકર્મો કરવાવાળા જીવો ઉત્પન્ન થાય છે જ્યારે કોઈ જીવ નરકમા ઉત્પન્ન થાય છે ત્યારે તેના પગ ઉપરની બાજુ તથા મુખ નીચેની તરફ હોય છે અને નીચે પડે છે ત્યારબાદ તેઓ અનન્ત સમય સુધી દુ ખોનો અનુભવ કરે છે

અત્રે એટલી વાત ધ્યાનમા રાખવાની છે કે અસ જ્ઞી જીવ પહેલી નરકમા જ ઉત્પન્ન થાય છે, સરિસૃપ બીજી નરક સુધી જ જાય છે, પક્ષી ત્રીજી નરક સુધી જ જાય છે, સિંહ ચોથી નરક સુધી જ ઉત્પન્ન થાય છે, ભુજ ગ પાચમી નરક સુધી જ પહોચી શકે છે સ્ત્રિઓ છઠી સુધી જ જાય છે અને મનુષ્ય–પુરુષ તથા માછલા સાતમી નરક સુધી ઉત્પન્ન થાય છે

સાતમી નરકથી નીકળેલો જીવ તિર્ય ચ ગતિમા જ ઉત્પન્ન થાય છે ત્યા સમ્યકત્વનો નિષેધ નથી અર્થાત્ ત્યા કોઈ જીવ સમ્યકત્વને પ્રાપ્ત કરી શકે છે છઠી નરકથી નિકળેલો જીવ જો મનુષ્યગતિમા ઉત્પન્ન થાય તો તે દેશ વિરતિ અ ગીકાર કરી શકે છે પાચમી નરકથી નિકળેલ પ્રાણી જો મનુષ્યત્વ પ્રાપ્ત કરે છે તો સર્વવિરતિ પણ પ્રાપ્ત કરી શકે છે. ચોથી નરકથી નિકળેલ કોઈ જીવ મનુષ્યગતિ પ્રાપ્ત કરી નિર્વાણ પણ સાધી શકે છે. ત્રીજી બીજી તથા પહેલી નરકથી નીકળેલા જીવો મનુષ્યગતિ પ્રાપ્ત કરીને તીર્થ કર પણ થઈ શકે છે દેવ અને નારક મરીને નરકગતિમા ઉત્પન્ન થતા નથી આવી જ રીતે નારક જીવો નરકથી નિકળીને સીધા દેવગતિમા ઉત્પન્ન થતા નથી

નરકથી નિકળેલા જીવ કા તો તિર્યંચયોનિમા ઉત્પન્ન થાય છે અથવા મનુષ્યગતિમા પ્રથમના ત્રણ નરકોમાંથી નિકળીને કોઈ કોઈ મનુષ્ય થઈને તીર્થંકર પદ પણ પ્રાપ્ત કરી શકે છે. ચોથા નરકથી નિકળીને અને મનુષ્યગતિ પામીને કોઈ કોઈ જીવ નિર્વાણ પણ પ્રાપ્ત કરી શકે છે શરુઆતની પાચ પૃથ્વિઓ (નરકો)માંથી નિકળીને કોઈ–કોઈ જીવ મનુષ્ય થઈને સર્વ વિરતિ સ યમની પ્રાપ્તિ પણ કરી શકે છે છઠી પૃથ્વિથી નિક-ળીને કોઈ–કોઈ જીવ મનુષ્ય થઈને સ યમાસ યમ (દેશવિરતિ) પણ પ્રાપ્ત કરી શકે છે પર તુ સાતમી પૃથ્વિથી નિકળીને જીવ નિર્ય ચગતિ નેજ પામે છે ત્યા કોઈ જીવ સમ્યગ-દર્શન પણ પ્રાપ્ત કરી શકે છે ॥૧૭॥

'जहण्णेणं नारगाणं ठिई जहाकमं ઇત્યાદિ

સૂત્રાર્થ—નારકોની જઘન્ય સ્થિતિ અનુક્રમથી દસ હજાર વર્ષ, એક સાગરોપમ અને બાવીસ સાગરોપમ છે, ॥૧૮॥

તત્વાર્થદીપિકા—આની પહેલાના સૂત્રમા રત્નપ્રભા આદિ સાતે નરકભૂમિઓમા નિવાસ કરનારા નારકોની ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિનુ પ્રરુપણ કરવામા આવ્યુ હવે તેમની જઘન્ય

અર્થાત્ ઓછામાં ઓછી સ્થિતિનું પ્રરૂપણ કરવા માટે કહીએ છીએ. રત્નપ્રભા આદિ ભૂમિઓના ક્રમથી તેમા રહેનારા નારકોની જઘન્ય સ્થિતિ આ મુજબ છે—દસ હજાર વર્ષ, એક સાગરોગમ, ત્રણ સાગરોપમ, સાત સાગરોપમ દસ સાગરોપમ, સત્તર સાગરોપમ અને બાત્રીસ સાગરોપમ

રત્નપ્રભા પૃથ્વિના નારકોની જઘન્ય સ્થિતિ અર્થાત્ આયુષ્યનું પ્રમાણ દસ હજાર વર્ષનું છે શર્કરાપ્રભા પૃથ્વિના નારકોની જઘન્ય સ્થિતિ એક સાગરોપમની છે વાલુકાપ્રભા પૃથ્વિમા રહેનારા નારકોની જઘન્ય સ્થિતિ ત્રણ સાપરોપમની છે પકપ્રભા પૃથ્વિમા નિવાસ કરનારા નારક જીવોની સ્થિતિ સાત સાગરોપમની છે. ધૂમપ્રભા પૃથ્વિના નારકોની જઘન્ય સ્થિતિ દસ સાગરોપમની છે તમ પ્રભા પૃથ્વિના નારકોની જઘન્ય સ્થિતિ સત્તર સાગરોપમની છે તમસ્તમ નામની સાતમી પૃથ્વિના નારકોની જઘન્ય સ્થિતિ બાવીસ સાગરોપમની છે ॥૧૮॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—આની અગાઉ નારક જીવોની ઉત્કૃષ્ટ અર્થાત્ અધિકમા અધિક સ્થિતિની પ્રરૂપણા કરવામા આવી હવે તેમની જઘન્ય સ્થિતિ કહીએ છીએ રત્નપ્રભા આદિ પૃથ્વિઓમા નારક જીવોની જઘન્ય સ્થિતિ અર્થાત્ આયુષ્યનું પ્રમાણ ક્રમાનુસાર આ પ્રમાણે છે—દસ હજાર વર્ષ એક સાગરોપમ ત્રણ સાગરોપમ સાત સાગરોપમ, દસ સાગરોપમ, સત્તર સાગરોપમ અને બાવીસ સાગરોપમ

આમા રત્નપ્રભા પૃથ્વિમા નારકોની જઘન્ય સ્થિતિ દસ હજાર વર્ષની હોય છે શર્કરાપ્રભા પૃથ્વિમા નારકોની જઘન્ય સ્થિતિ એક સાગરોપમની હોય છે વાલુકાપ્રભામાં નારકોની જઘન્યસ્થિતિ ત્રણ સાગરોપમની હોય છે પકપ્રભા પૃથ્વિમા નારકોની જઘન્ય સ્થિતિ સાત સાગરોપમની હોય છે ધૂમપ્રભામા નારકોની જઘન્ય સ્થિતિ દસ સાગરોપમની હોય છે તમ પ્રભા પૃથ્વિમા નારકોની જઘન્ય સ્થિતિ સત્તર સાગરોપમની હોય છે તમસ્તમ પ્રભા પૃથ્વિમા નારકોની જઘન્ય સ્થિતિ બાવીસ સાગારોપમની સમજવી ઉત્તરાધ્યયન સૂત્રના ૩૬ મા અધ્યયનમા કહ્યું છે—

પ્રથમ ભૂમિ અર્થાત્ રત્નપ્રભામા ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ એક સાગરોપમની છે અને જઘન્ય સ્થિતિ દસ હજાર વર્ષની છે ॥૧૬૦॥

બીજી પૃથ્વિ અર્થાત્ શર્કરાપ્રભામા ઉત્કૃષ્ટ આયુષ્ય ત્રણ સાગરોપમનું તથા જઘન્ય આયુષ્ય એક સાગરોપમનું છે. ॥૧૬૧॥

ત્રીજી પૃથ્વિમા અર્થાત્ વાલુકાપ્રભામા ઉત્કૃષ્ટ આયુષ્ય સાત સાગરોપમનું તથા જઘન્ય આયુષ્ય ત્રણ સાગરોપમનું છે. ॥૧૬૨॥

ચોથી પૃથ્વિ પકપ્રભામા ઉત્કૃષ્ટ આયુષ્ય દશ સાગરોપમનું છે અને જઘન્ય આયુષ્ય સાત સાગરોપમનુ છે ॥૧૬૩॥

પાચમી પૃથ્વિ ધૂમપ્રભામા ઉત્કૃષ્ટ આયુષ્ય સત્તર સાગરોપમનું અને જઘન્ય આયુષ્ય દશ સાગરોપમનું છે (૧૬૪)

છઠી અર્થાત્ તમ પ્રભામા ઉત્કૃષ્ટ આયુષ્ય બાવીસ સાગરોપમનુ અને જઘન્ય આયુષ્ય સત્તર સાગરોપમનુ છે ॥૧૬૫॥

સાતમી પૃથ્વિ તમસ્તમ પ્રભામાં ઉત્કૃષ્ટ આયુષ્ય તેત્રીસ સાગરોપમનુ અને જઘન્ય આયુષ્ય બાવીસ સાગરોપમનુ છે ॥૧૬૬॥

સાતે નરકભૂમિઓના નારકોની ઉપર જે ઉત્કૃષ્ટ અને જઘન્ય સ્થિતિ બતાવવામા આવી છે તેને ધ્યાનપૂર્વક જોવાથી ખાત્રી થશે કે પૂર્વ–પૂર્વના નરકમા જેટલી ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ છે, ઉત્તરોત્તરમા તે જ જઘન્ય બની જાય છે દા ત રત્નપ્રભાપૃથ્વિમા નારકોની ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ એક સાગરોપમની છે તે જ શર્કરાપ્રભામા જઘન્ય સ્થિતિ છે શર્કરાપ્રભામા ત્રણ સાગરોપમની જે ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ છે તે ત્રણ સાગરોપમ વાલુકાપ્રભામા જઘન્ય સમજવી જોઈએ વાલુકાપ્રભામા જે સાત સાગરોપમની ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ છે તેજ પકપ્રભામા જઘન્ય છે. પંકપ્રભામા ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ દસ સાગરોગમની છે તેજ ધૂમપ્રભામા જઘન્ય છે ધૂમ-પ્રભામા ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ સત્તર સાગરોપમની છે તે જ તમ પ્રભામા જઘન્ય સ્થિતિ છે તમ પ્રભામા નારકોની ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ બાવીસ સાગરોપમ છે તે જ બાવીસ સાગરોપમ તમસ્તમ પ્રભામા જઘન્ય છે રત્નપ્રભામા જઘન્ય સ્થિતિ દસ હજાર વર્ષની છે ॥૧૮॥

'जंबुद्दीवलवणसमुद्दाइ नामाओ असंखेज्जा दीवसमुद्दा'

સૂત્રાર્થ—જમ્બૂદ્વીપ આદિ દ્વીપ અને લવણ આદિ સમુદ્ર અસખ્યાત છે ॥૧૯॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમા રત્નપ્રભા આદિ ભૂમિઓના નારકોની જઘન્ય સ્થિતિની પ્રરૂપણા કરવામા આવી હવે પ્રસગવશ જમ્બૂદ્વીપ આદિ દ્વીપોની અને લવણ આદિ સમુદ્રોની પ્રરૂપણા કરીએ છીએ—

જમ્બૂદ્વીપ અને લવણસમુદ્ર આદિ દ્વીપ અને સમુદ્ર અસખ્યાત છે તે આ પ્રમાણે છે—(૧) જમ્બૂદ્વીપ નામક દ્વીપ, લવણોદધિ નામક સમુદ્ર, (૨) ધાતકીખડ નામક દ્વીપ, કાલોદધિ નામક સમુદ્ર (૩) પુષ્કરવરનામક દ્વીપ, પુષ્કરવરોદ નામક સમુદ્ર, (૪) વારુણીવર નામક દ્વીપ, વારુણીવરોદ નામક સમુદ્ર, (૫) ક્ષીરવર નામક દ્વીપ, ક્ષીરવરોદ નામકસમુદ્ર (૬) ઘૃતવર નામક દ્વીપ, ઘૃતવરોદ નામક સમુદ્ર (૭) ઈક્ષુવર નામક દ્વીપ, ઈક્ષુવર નામક સમુદ્ર (૮) નદીશ્વર નામક દ્વીપ, નદીશ્વરવરોદ નામક સમુદ્ર (૯) અરુ વરણનામક દ્વીપ, અરુણ-વરોદ નામક સમુદ્ર, આ રીતે એક દ્વીપ અને એક સમુદ્ર આ ક્રમથી સ્વયંભૂરમણ દ્વીપ અને સ્વયભૂરમણ સમુદ્ર સુધી અસખ્યાત દ્વીપ–સમુદ્ર સમજવા જોઈએ ॥૧૯॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—આની પહેલાં રત્નપ્રભા આદિ પૃથ્વિઓમા સ્થિત સીમન્તક આદિ નારકાવાસોમા નિવાસ કરનારા જીવોની સ્થિતિ અર્થાત્ આયુષ્યના પ્રમાણની પ્રરૂપણા કરવામા આવી હવે આ ભૂમિનુ પ્રકરણ હોવાથી જમ્બૂદ્વીપ આદિ દ્વીપોનુ તથા લવણોદધિ આદિ સમુદ્રોનુ સ્વરૂપ બતાવવા માટે કહીએ છીએ—

જમ્બૂદ્વીપ અને લવણસમુદ્ર આદિ અસંખ્યાત દ્વીપ અને સમુદ્ર છે તાત્પર્ય એ છે કે જમ્બૂદ્વીપ આદિ દ્વીપ અસંખ્યાત છે તેમ જ લવણોદધિ સમુદ્ર પણ અસખ્યાત છે અસખ્યાતમા તરતમતાના ભેદથી અસખ્યાત પ્રકાર થઈ શકે છે અત્રે અસંખ્યાત પદથી

અઢી ઉધ્ધાર સાગરોપમની સમયરાશિની બરાબર અસંખ્યાત સમજવુ જોઈએ આ ઉધ્ધાર સાગરોપમ ઉધ્ધાર પલ્યોપમથી નિષ્પન્ન થાય છે જેમ કે—એક કોઈ પલ્ય આધાર-પાત્ર—જે એક એક યોજન આયામવિષ્કભવાળુ અર્થાત્ એક યોજનનુ લાબુ તથા એક યોજનનુ પહોળુ તથા એક યોજનનુ ઊડુ તથા આ માપથી થોડુ વધારે ત્રણ ગણી પરિધિ ગોળાઈવાળુ હોય, તે પલ્ય એક બે ત્રણ ઉત્કૃષ્ટથી સાત રાત્રિના ઉગેલા બાલાગ્રોથી એવી રીતે ઠાસી ઠાસીને ભરવામા આવે કે જે બાલાગ્રને ન અગ્નિ બાળી શકે, ન વાયુ ઉડાવી શકે અને ન તો પાણી તેને ભીનુ કરી શકે આવી રીતે ઠાસીને ભરેલા પાલ્યમાથી પ્રતિ સમય એક એક બાલાગ્ર કાઢવામા આવે તો જેટલા સમયમા તે પલ્ય રિક્ત—ખાલી થાય તેટલા કાલ પ્રમાણનો એક ઉધ્ધાર પલ્યોપમ થાય છે આવા દસ કરોડાકરોડ ઉધ્ધાર પલ્યોપમ થાય છે ત્યારે એક ઉધ્ધાર સાગરોપમ થાય છે આ પ્રકારના અઢી ઉધ્ધાર સાગરોપમોમા જેટલા સમય હોય છે તેટલા જ દ્વીપ અને સમુદ્ર છે

આ દ્વીપો અને સમુદ્રોની અવસ્થિતિ અનુક્રમથી આ પ્રકારે છે—પહેલા દ્વીપની પછી પહેલો સમુદ્ર છે, બીજા દ્વીપની પછી બીજો સમુદ્ર છે, ત્રીજા દ્વીપની પછી ત્રીજો સમુદ્ર છે ઇત્યાદિ ક્રમથી પહેલા દ્વીપ પછી સમુદ્ર પછી દ્વીપ અને સમુદ્ર એવી રીતે અનુક્રમથી દ્વીપ અને સમુદ્ર છે દાખલા તરીકે—સર્વપ્રથમ જમ્બૂદ્વીપ નામક દ્વીપ છે તેને ચારે બાજુએથી ઘેરીને લવણોદધિ નામક સમુદ્ર છે, ત્યારબાદ લવણોદધિ સમુદ્રને ચારે તરફથી ઘેરીને ધાતકીખન્ડ નામનો દ્વીપ છે પછી કાલોદધિ નામક સમુદ્ર છે, ત્યાર બાદ પુષ્કરવર નામક દ્વીપ અને પુષ્કરોદધિ સમુદ્ર છે પછી વરૂણવર દ્વીપ અને વરૂણોદધિ સમુદ્ર છે, પછી ક્ષીરવર નામક દ્વીપ અને ક્ષીરોદધિ સમુદ્ર છે પછી ઘૃતવર નામક દ્વીપ અને ઘૃતોદધિ સમુદ્ર છે પછી ઇક્ષુવર નામક દ્વીપ અને ઇક્ષુવરોદધિ સમુદ્ર છે પછી નંદીશ્વર નામક દ્વીપ અને નદીશ્વરોદધિ સમુદ્ર છે પછી અરૂણવર નામક દ્વીપ અને અરૂણવરોદધિ નામક સમુદ્ર છે; આ ક્રમથી સ્વયભૂરમણ સમુદ્ર પર્યન્ત અસખ્યાત દ્વીપ અને સમુદ્રો છે

બધાં જ દ્વીપો અને સમુદ્રોનો નામોલ્લેખ કરીને ગણતરી કરવાનું શક્ય નથી કારણ કે તેઓ અસખ્યેય છે જમ્બૂદ્વીપ, અનાદિ કાળથી છે અને તેનુ જમ્બૂદ્વીપ એ નામ પણ અનાદિ કાળથી છે જેની ચારે બાજુએ પાણી હોય તે દ્વીપ, આ વ્યુત્પત્તિ મુજબ ચારે તરફ જળથી ઘેરાયેલી જમીનનો જે ભાગ હોય છે તે દ્વીપ કહેવાય છે

જમ્બૂદ્વીપ તથા લવણસમુદ્ર આદિ અસખ્યાત દ્વીપ સમુદ્રોનો આ જે સમૂહ છે, બધાં જ આ રત્નપ્રભા પૃથિવની ઉપર આવેલા છે આટલી જ તિર્યક્ લોકની સીમા છે સ્વયંભૂરમણ સમુદ્રથી આગળ તિર્છા લોક નથી

જીવાભિગમ સૂત્રમા ત્રીજી પ્રતિપત્તિ, બીજા ઉદ્દેશક સૂત્ર ૧૮૬માં દ્વીપપ્રકરણમાં કહેવામા આવ્યું છે—

પ્રશ્ન—ભગવન્ ! જમ્બૂદ્વીપ કેટલા કહેવામા આવ્યા છે ?

ઉત્તર—ગૌતમ ! જમ્બૂદ્વીપ નામથી અસખ્યાત દ્વીપ કહેવામા આવ્યા છે.

પ્રશ્ન—ભગવન્ ! લવણસમુદ્ર કેટલા કહેવામાં આવ્યા છે ?

ઉત્તર—લવણસમુદ્ર નામના અસંખ્ય સમુદ્રો કહેલા છે એવી જ રીતે—ધાતકીખન્ડ નામક દ્વીપ પણ અસંખ્યાત સમજવા જોઈએ. એ પ્રમાણે સૂર્યદ્વીપ નામક દ્વીપ પણ અસંખ્યાત છે દેવદ્વીપ એક છે, દેવોદધિ સમુદ્ર એક છે એ મુજબ નાગ, યક્ષ, ભૂત—સ્વયંભૂરમણ દ્વીપ એક છે, સ્વયંભૂરમણ સમુદ્ર પણ એક છે

આગળ જતાં જીવાભિગમ સૂત્રની ત્રીજી પ્રતિપત્તિના બીજા ઉદ્દેશકમા પણ કહ્યું છે—

'લોકમા જેટલાં શુભ નામ છે, શુભ વર્ણ શુભ સ્પર્શ છે તેટલા જ નામવાળા દ્વીપ અને સમુદ્ર પણ કહેવામા આવ્યા છે ॥ ૧૯ ॥

'ते दीवसमुद्दा दुगुणा' दुगुणा' ઇત્યાદિ

સૂત્રાર્થ—તે દ્વીપ અને સમુદ્ર બમણા-બમણા વિસ્તારવાળા, વલયના આકારના તેમજ પહેલા-પહેલા વાળાને ઘેરીને આવેલા છે ॥ ૨૦ ॥

તત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમા જમ્બૂદ્વીપ આદિ દ્વીપો તથા લવણોદધિ વગેરે સમુદ્રોનુ નિરૂપણ કરવામા આવ્યુ હવે તેમની લંબાઈ, પહોળાઈ વગેરેનું પ્રતિપાદન કરવા માટે કહીએ છીએ—

પૂર્વોક્ત જમ્બૂદ્વીપ અને લવણસમુદ્ર આદિ દ્વીપ અને સમુદ્ર બમણા-બમણા વિસ્તારવાળા છે અર્થાત્ પૂર્વ-પૂર્વની અપેક્ષા ઉત્તર-ઉત્તરનો વિસ્તાર બમણો-બમણો છે

બધા દ્વીપ અને સમુદ્ર બંગડીના આકાર જેવા વૃત અર્થાત્ ગોળ છે તે બધા પૂર્વ-પૂર્વવાળાઓને ઘેરીને સ્થિત છે અર્થાત્ ક્રમાનુસાર પહેલા દ્વીપને પછીનો સમુદ્ર ઘેરી વળેલો છે તે સમુદ્રને ત્યાર પછીનો દ્વીપ એ પ્રમાણે યથાવત્ સમજવુ

આ રીતે પહેલા દ્વીપ-જમ્બૂદ્વીપનો જેટલો વિસ્તાર છે તેનાથી બમણો વિસ્તાર લવણસમુદ્રનો છે. લવણસમુદ્રનો જેટલો વિસ્તાર છે તેથી બમણો ધાતકીખન્ડદ્વીપનો વિસ્તાર છે ધાતકીખન્ડદ્વીપથી કાલોદધિ સમુદ્રનો બેવડો-વિસ્તાર છે, કાલોદધિ સમુદ્રથી પુષ્કરવર દ્વીપનો બમણો વિસ્તાર છે અને પુષ્કરવરદ્વીપની અપેક્ષા પુષ્કરવર સમુદ્રનો બેવડો વિસ્તાર છે આ જ ક્રમ પછી પણ સર્વત્ર ગ્રહણ કરવો ॥ ૨૧ ॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પૂર્વસૂત્રમા જમ્બૂદ્વીપ આદિ દ્વીપોનું તથા લવણોદધિ આદિ સમુદ્રોનુ યથાસંભવ નામનિદર્શન કરવામા આવ્યું હવે તે જ દ્વીપ-સમુદ્રોની લંબાઈ-પહોળાઈ, આકૃતિ આદિ આદિનુ પ્રરૂપણ કરવા માટે કહીએ છીએ—

પૂર્વોક્ત જમ્બૂદ્વીપ આદિ દ્વીપ અને લવણોદધિ આદિ સમુદ્ર બમણા-બમણા છે અર્થાત્ પહેલા-પહેલા વાળાની અપેક્ષા ત્યાર પછીના બમણા-બમણા છે જમ્બૂદ્વીપનો જેટલો વિસ્તાર છે તેથી બમણો લવણસમુદ્રનો વિસ્તાર છે એવી જ રીતે લવણસમુદ્રના વિસ્તારની અપેક્ષા ધાતકીખન્ડ દ્વીપનો વિસ્તાર બમણો છે ધાતકીખન્ડના વિસ્તારથી કાલોદધિ સમુદ્રનો વિસ્તાર બમણો છે કાલોદધિની અપેક્ષા પુષ્કરવર દ્વીપનો અને પુષ્કરવર દ્વીપની અપેક્ષા પુષ્કરવર સમુદ્રનો વિસ્તાર બમણો છે

આ રીતે જમ્બૂદ્વીપથી લઈને સ્વયભૂરમણ સમુદ્ર પર્યંત જે ક્રમથી દ્વીપ તથા સમુદ્ર આવેલા છે અને જે ક્રમથી તે પૈકીના થોડાના નામનો ઉલ્લેખ કરવામા આવ્યો છે તેજ ક્રમાનુસાર તેમનો વિસ્તાર બમણો-બમણો સમજવો.

પૂર્વોક્ત નામોના અનુક્રમથી જ તે દ્વીપ અને સમુદ્ર એક-બીજાને વીટળાયેલા છે આ વિધાનને વ્યક્ત કરવા માટે તેમને **"पूर्वपूर्वपरिक्षेपेण"** કહેવામા આવ્યા છે કહેવાનો આશય એ છે કે જમ્બૂદ્વીપને વીટળાઈને લવણસમુદ્ર સ્થિત છે લવણસમુદ્રને ઘેરીને ધાતકીખન્ડ દ્વીપ-રહેલો છે, ધાતકીખન્ડને ઘેરીને કાલોદધિ સમુદ્ર પથરાયેલો છે અને કાલોદધિ સમુદ્રને વીટળાઈને પુષ્કરવરદ્વીપ આવેલો છે આજ પ્રમાણે પછીના દ્વીપ-સમુદ્રો માટે ગ્રહણ કરવુ જમ્બૂદ્વીપ અને લવણસમુદ્ર આદિ બધા દ્વીપ-સમુદ્ર વર્તુળાકાર છે અર્થાત્ હાથમા પહેરવામા આવતી બગડીની જેમ ગોળાકાર છે પરતુ આ બધા દ્વીપ-સમુદ્રોની મધ્યમા સ્થિત આ જમ્બૂદ્વીપ કુભારના ચાકડાની જેમ પ્રતરવૃત્ત અર્થાત્ સપાટ ગોળ છે એ બગડીની માફક ગોળાકાર નથી

જીવાભિગમસૂત્રની ત્રીજી પ્રતિપત્તિના બીજા ઉદ્દેશકમા કહેવામા આવ્યુ છે--જમ્બૂદ્વીપ નામક દ્વીપને વૃત્ત વલયાકાર સસ્થાનવાળો લવણસમુદ્ર, ચારે બાજુએથી વીટળાઈને આવેલો છે, પછીથી પણ ફરીવાર તેનુ તે જ કહેવામા આવ્યુ છે—જમ્બૂદ્વીપ આદિ દ્વીપ અને લવણ આદિ સમુદ્ર આકારમા એક જ પ્રકારના છે અર્થાત્ બધા ગોળાકાર છે પરતુ વિસ્તારમા અનેક પ્રકારના છે—કોઈનો પણ વિસ્તાર અન્ય કોઈની બરાબર નથી બધા એક બીજાથી બમણા-બમણા વિસ્તારવાળા છે, પન્નાયમાન છે, વિસ્તૃત છે અને અવભાસમાન વીચિઓવાળા છે ॥ ૨૦ ॥

सव्वब्भंतरे वट्टे मेरुणाभिए ઇત્યાદિ

સૂત્રાર્થ—સમસ્ત દ્વીપની અદર, ગોળાકાર મધ્યમા મેરુપર્વત વાળો તથા એક લાખ યોજન વિસ્તારવાળો જમ્બૂદ્વીપ છે ॥૨૧॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમા જો કે સામાન્ય રૂપથી સમસ્ત દ્વીપો અને સમુદ્રોનો વિસ્તાર લબાઈ, પહોળાઈ વગેરેનુ નિરૂપણ કરવામા આવ્યુ છે તો પણ બીજા દ્વીપોની અપેક્ષા કિચિત્ વિશેષ રૂપથી જમ્બૂદ્વીપના સ્વરૂપનુ પ્રરૂપણ કરીએ છીએ—

આ રત્નપ્રભા પૃથ્વિ ઉપર પહેલા જે અસખ્યાત દ્વીપ સમુદ્ર કહેવામા આવ્યા તે બધાની અદર જમ્બૂદ્વીપ છે આ જમ્બૂદ્વીપ કુભારના ચાકડાની માફક પ્રતરવૃત્ત અર્થાત્ સપાટ ગોળાકાર છે—અથવા પૂનમના ચાદાની જેમ ગોળ છે, બગડીના આકારના નથી જમ્બૂદ્વીપ શિવાય શેષ લવણ સમુદ્ર આદિ સમુદ્ર અને સમસ્ત દ્વીપ વલય અર્થાત્ બગડીની માફક ગોળાકાર છે જમ્બૂદ્વીપની બરાબર મધ્યમા સુમેરૂ પર્વત છે

મેરુપર્વતનુ બીજુ નામ મદરાચલ પણ છે તે સપૂર્ણ તિર્છા લોકની મર્યાદા અર્થાત્ હદ બતાવનારો છે એથી મેરુ કહેવાય છે મોનેરી છે સુમેરુ પર્વત એક હજાર યોજન ભૂમિમા ઘુસેલો છે અને નવ્વાણુ હજાર યોજન ઉપર છે તેની ઉપર એકની ઉપર એક એવા ચાર વન છે અને તેની ઉપર પહોળુ શિખર છે ચારે વનોના નામ આ પ્રમાણે છે—

ભદ્રશાલ વન, નન્દનવન, સૌમનસવન અને પાન્ડુકવન ભદ્રશાલ વનથી પાચસો યોજનની ઉંચાઈ પર નંદનવન છે નંદનવનથી સાડા બાસઠ હજાર યોજન ઉપર સૌમનસ વન છે અને સૌમનસ વનથી છત્રીસ હજાર યોજન ઉપર પાન્ડુકવન છે સુમેરૂની ચુલિકા ચાલીશ યોજન ઉચી છે તે ચૂલિકા ચારસો ચોરાણુ યોજન મધ્યાન્તર્ગત છે આ રીતે મધ્યમા સુમેરુપર્વતવાળો જમ્બૂદ્વીપ છે. જમ્બૂદ્વીપનો વિસ્તાર કેટલો છે આવી આશંકા થવાથી તેનો જવાબ આપવામા આવ્યો—તેનો વિસ્તાર એક લાખ યોજનનો છે જમ્બૂ નામક વૃક્ષથી યુક્ત હોવાના કારણે આ દ્વીપ જમ્બૂદ્વીપ કહેવાય છે તે જમ્બૂવૃક્ષ ઉત્તર કુરુક્ષેત્રની મધ્યમા છે અનાદિ–અનંત છે, પાર્થિવ અર્થાત્ પૃથ્વિનું પરિણમન અને સ્વાભાવિક છે. જમ્બૂદ્વીપ આ જ વૃક્ષથી યુક્ત છે. ॥૨૧॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પહેલા કહેવામાં આવ્યું કે દ્વીપ અને સમુદ્ર વલય બંગડી જેવા ગોળ આકારના છે આ કથનથી જમ્બૂદ્વીપ વલયાકાર હોવાનો પ્રસંગ આવે છે, પણ તે વલયના આકારનો નથી; આથી પૂર્વોક્ત કથનનો અપવાદ અહી પ્રદર્શિત કરવામા આવે છે—

જમ્બૂદ્વીપ બધા દ્વીપ–સમુદ્રોની અંદર છે અર્થાત્ સ્વયંભૂરમણ સમુદ્ર પર્યન્ત જેટલા પણ દ્વીપ અને સમુદ્ર છે તે બધાની અંદર છે તે પ્રતરવૃત્ત અર્થાત્ કુંભારના ચાકડાની જેમ ગોળ જરૂર છે પણ બંગડી જેવો નથી લવણ સમુદ્ર આદિને વલયના આકારના કહેવામા આવ્યા છે અને જે વલયાકાર હોય છે તે ત્રિકોણ અને ચતુષ્કોણ પદાર્થોને પણ ઘેરી શકે છે આવી સ્થિતિમા જમ્બૂદ્વીપને ત્રિકોણ અગર ચતુષ્કોણ સમજવાની ભૂલ ન થઈ જાય એ હેતુથી સૂત્રમા 'વૃત્ત' શબ્દ લેવામા આવ્યો છે આથી સઘળાં દ્વીપો અને સમુદ્રો ગોળાકાર હોવા છતા પણ જમ્બૂદ્વીપ પ્રતરવૃત્ત છે જેવો કુંભારનો ચાકડો હોય છે તે હાથમા પહેરવામા આવતી બંગડીના જેવો ગોળાકાર નથી જ્યારે તેની પછીના લવણ સમુદ્ર આદિ વલયની જેમ ગોળાકાર છે, પ્રતરવૃત્ત નથી

જમ્બૂદ્વીપ મેરુનાભિક છે. અર્થાત્ તેની મધ્યભાગમા મન્દરાચલપર્વત છે જમ્બૂદ્વીપનો એક લાખ યોજનનો વિસ્તાર છે ભલે પૂર્વથી પશ્ચિમ સુધી માપવામા આવે અથવા ઉત્તરથી દક્ષિણ સુધી, તેનુ માપ સર્વત્ર એક લાખ યોજનનું જ હોય છે

મેરુપર્વત સોનાના થાળના મધ્યસ્થાન સમાન ગોળાકાર છે તેનો એક હજાર યોજન પરિમિત ભાગ ભૂમિ હેઠળ આવેલ છે જ્યારે નવ્વાણું હજાર યોજન-પરિમિત ભાગ પૃથ્વિની ઉપર છે જે જોઈ શકાય છે. પૃથ્વિમા સ્થિત જે એક હજાર યોજન છે તેની લંબાઈ અને પહોળાઈ ૧૦૦૯૦ $\frac{10}{11}$ ભાગ છે ઉપરના ભાગમા જ્યાથી શિખર શરૂ થાય છે ત્યા એક હજાર યોજન છે તે પર્વત ત્રણ કાન્ડવાળો, ત્રણે લોકને સ્પર્શ કરનારો તથા ભદ્રશાલ, નન્દન સૌમનસ અને પાન્ડુક નામક ચાર વનોથી ઘેરાયેલો છે

એક વિશિષ્ટ પ્રમાણથી યુક્ત વિચ્છેદ અથવા રચના વિશેષને કાન્ડ કહેવામા આવે છે ત્રણ કાન્ડોમાથી પ્રથમ કાણ્ડ તે છે જે ભૂમિની અન્દર છે શુદ્ધ પૃથ્વિ પાષાણ, વજ્ર તથા શર્કરાની વિપુલતાવાળા છે અને એક હજાર યોજન પરિમાણવાળા છે બીજો કાણ્ડ પૃથ્વિની ઉપરથી શરૂ થાય છે, તે ત્રેંસઠ હજાર યોજનનો છે અને ચાદી, સોનુ, મોતી તથા સ્ફટિક-

રત્નોથી સભર છે બીજા કાણ્ડની ઉપર ત્રીજો કાણ્ડ શરૂ થાય છે તે છત્રીસ હજાર યોજનનો છે અને જામ્બૂનદની બહુલતાથી યુક્ત છે ત્રીજા કાણ્ડની ઉપર ચાળીસ યોજન ઉંચી ચૂલિકા છે જેમા વૈડૂર્યની બહુલતા છે

મૂળ અર્થાત્ ઉદ્ગમપ્રદેશમા ચૂલિકાની પહોળાઈ અને લંબાઈ બાર યોજનની છે મધ્યભાગમા આઠ યોજન અને ઉપર ચાર યોજનની છે ભૂમિની ઉપર રહેલ પ્રથમ ભદ્રશાલવન વલયાકાર છે ભદ્રશાલવનની ભૂમિથી પાચસો યોજન ઉપર પ્રથમ મેખલામા પાચ સો યોજન પથરાયેલ નન્દન નામક બીજુ વન છે નન્દનવનથી સાડા બાસઠ હજાર યોજનની ઉંચાઈ પર પાચસો યોજન વિસ્તૃત સૌમનસ નામનુ ત્રીજુ વન બીજી મેખલામા છે.

સૌમનસ વનથી છત્રીસ હજાર યોજનની ઉંચાઈ પર ચારસો ચોરાણું યોજન વિસ્તાર વાળું પાણ્ડુક નામનુ ચોથુ વન મેરુના શિખર પર શોભાયમાન છે. આ મેરુ પર્વત બધી જગ્યાએ એક સરખા પરિમાણવાળો નથી પરન્તુ સમ ભૂમિ ભાગ ઉપર મેરુપર્વતની પહોળાઈ દસ હજાર યોજનની છે ત્યાથી અગીયાર યોજન ઉપર જઈએ તો એક યોજન અને અગીયારસો યોજન જઈએ તો એક સો તથા અગીયાર હજાર યોજન જઈએ ત્યારે એક હજાર યોજન પહોળાઈમા ઓછો થતો જાય છે. ગણુતરી મુજબ ૯૯ નવ્વાણુ હજાર યોજન ઉપર જવાથી એક હજાર યોજનની પહોળાઈ રહી જાય છે

જમ્બૂદ્વીપ પ્રજ્ઞપ્તિના ત્રીજા સૂત્રમા કહ્યુ છે—

જમ્બૂદ્વીપ સમસ્તદ્વીપ–સમુદ્રોની અંદર સૌથી નાનો છે ગોળાકાર છે અને લંબાઈ પહોળાઈમા એક લાખ યોજન ફેલાયેલો છે

આ જગ્યાએ જ વળી પાછુ સૂત્ર ૧૦૩મા કહેવામાં આવ્યુ છે—'જમ્બૂદ્વીપની બરાબર વચ્ચોવચ્ચ મન્દર નામનો પર્વત કહેવામા આવ્યો છે તે નવ્વાણું હજાર યોજન જમીન ઉપરથી ઉંચો છે અને એક હજાર યોજન જમીનની અંદર પેસેલો છે. ॥૨૧॥

'तत्थ भरह परवत हेमवत' ઇત્યાદિ

સૂત્રાર્થ—જમ્બૂદ્વીપમા સાત વર્ષ (ક્ષેત્ર) છે—(૧) ભરત (૨) ઐરવત (૩) હૈમવત (૪) હૈરણ્યવત (૫) હરિ (૬) રમ્યક અને (૭) મહાવિદેહ ॥૨૨॥

તત્વાર્થદીપિકા—આની અગાઉના સૂત્રમા જમ્બૂદ્વીપની લંબાઈ–પહોળાઈ વગેરેની પ્રરૂપણા કરવામા આવી હવે તેજ જમ્બૂદ્વીપમા છ કુલપર્વતોના કારણે જુદા પડેલા સાત ક્ષેત્રોની પ્રરૂપણા કરવામાં આવે છે—

જમ્બૂદ્વીપ નામક દ્વીપમા (૧) ભારત (૨) ઐરવત (૩) હૈમવત (૪) હૈરણ્યવત (૫) હરિવાસ (૬) રમ્યકવાસ અને (૭) મહાવિદેહ નામના સાત ક્ષેત્ર છે જે 'વર્ષ' કહેવાય છે જેમકે—ભરતવર્ષ, ઐરવત વર્ષ, હૈમવત વર્ષ, હૈરણ્યવત વર્ષ, હરિવર્ષ, રમ્યક વર્ષ, મહાવિદેહવર્ષ, અર્થાત્ જમ્બૂદ્વીપમા આ સાત ક્ષેત્ર છે (૧) આ સાત ક્ષેત્રોમાનુ પ્રથમ ભરતવર્ષ હિમવાન્ પર્વતની દક્ષિણમા છે વૈતાઢ્ય નામક પર્વત અને ગંગા–સિંધુ નામની બે મહાનદિઓના કારણે વિભક્ત થઈ જવાથી તેના છ વિભાગ થઈ ગયા છે ભરત વર્ષની ત્રણે બાજુએ લવણ સમુદ્ર છે તે જ્યા (દોરી) સહિત મનુષ્યાકારનુ છે

(૨) ઉપર ઉત્તર દિશામા શિખરિ, શિખરિ નામક પર્વતથી ઉત્તરમા અને ત્રણ સમુદ્રોની મધ્યમાં ઐરવત છે તેના પણ વૈતાઢ્ય પર્વત અને રક્તા તથા રક્તોદા નામની નદિઓથી ભાગ પડી જવાના કારણે છ ખન્ડ થઈ ગયા છે

(૩) ક્ષુદ્રહિમવાન્ પર્વતથી ઉત્તરમા અને મહાહિમવાન્ પર્વતથી દક્ષિણમા હૈમવત નામક વર્ષ અવસ્થિત છે તેની પૂર્વ અને પશ્ચિમમા લવણસમુદ્ર છે

(૪) રુકિમ પર્વતથી ઉત્તરમા અને શિખરિપર્વતથી દક્ષિણમા હૈરણ્યવત નામક વર્ષ છે તેની પૂર્વ અને પશ્ચિમમા લવણસમુદ્ર છે.

(૫) નિષધ પર્વતથી દક્ષિણમા અને મહાહિમવાન્ પર્વતથી ઉત્તરમાં હરિવર્ષ છે એની પૂર્વ તથા પશ્ચિમમા પણ લવણસમુદ્ર છે.

(૬) નીલ પર્વતથી ઉત્તરમા અને રુકિમ પર્વતથી દક્ષિણમા પૂર્વ અને પશ્ચિમ સમુદ્રની મધ્યમા રમ્યકવર્ષ છે

(૭) નિષધપર્વતથી ઉત્તરમાં અને નીલ પર્વતથી દક્ષિણમા પૂર્વ તથા પશ્ચિમ સમુદ્રની વચ્ચે મહાવિદેહવર્ષ અવસ્થિત છે ॥૨૨॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—આની પહેલા જમ્બૂદ્વીપના સ્વરૂપની લંબાઇ–પહોળાઈ આદિનું પ્રરૂપણ કરવામા આવ્યુ હવે તેજ જમ્બૂદ્વીપમાં પછીથી કહેવામાં આવનારા છ વર્ષધર પર્વતોના કારણે વિભાજિત થયેલા સાત ક્ષેત્રોની પ્રરૂપણા કરવા માટે કહીએ છીએ—

પૂર્વોક્ત સ્વરૂપવાળા જમ્બૂદ્વીપમા ભરત હૈમવત, હરિવાસ, મહાવિદેહ, રમ્યક, હૈરણ્યવત અને ઐરવત નામક સાત વર્ષક્ષેત્ર છે આ રીતે ભરતવર્ષ, હૈમવતવર્ષ, હરિવર્ષ, મહાવિદેહવર્ષ, રમ્યકવર્ષ હૈરણ્યવતવર્ષ અને ઐરવતર્ષ નામના સાતવર્ષ છે આ સાતે વર્ષ (ક્ષેત્રો) જમ્બૂદ્વીપના જ એક વિશિષ્ટ સીમાવાળો વિભાગ છે, સ્વતંત્ર દ્વીપ નથી. જગતની સ્થિતિ અનાદિકાલીન છે આથી તેમની સંજ્ઞા પણ અનાદિકાલીન સમજવી ઘટે

અથવા ભરત નામક દેવના નિવાસના સમ્બન્ધથી તે ક્ષેત્ર પણ ભરત અથવા ભારત કહેવાય છે જે ક્ષેત્ર હિમવાન્ પર્વતથી દૂર નથી–નજીકમાં છે તે હૈમવત કહેવાય છે હરિ અને મહાવિદેહ પંચાલની જેમ સમજી લેવા જે ક્ષેત્ર રમ્ય (રમણીય) હોય તે રમ્યક અહીં સ્વાર્થમાં કનિન્ પ્રત્યય લાગ્યો છે હૈરણ્યવત દેવનુ નિવાસ હોવાના કારણે તે ક્ષેત્ર પણ હૈરણ્યવત કહેવાય છે ઐરવત ક્ષેત્રનુ નામ પણ આ પ્રમાણે સમજવું

આ સાતે વર્ષ ક્ષેત્ર પણ કહેવાય છે વર્ષધર પર્વતોની નજીક હોવાથી તેમને વર્ષ કહે છે અને મનુષ્યો વગેરેના નિવાસ હોવાથી તેમને ક્ષેત્ર પણ કહે છે **क्षियन्ति** અર્થાત્ નિવાસ કરે છે પ્રાણી જેમા–તે ક્ષેત્ર આવી ક્ષેત્ર શબ્દની વ્યુત્પત્તિ છે

આ સાત વર્ષોમાં ભરતથી ઉત્તરમા હૈમવત છે, હૈમવતથી ઉત્તરમા હરિવર્ષ છે. હરિવર્ષથી ઉત્તરમા મહાવિદેહવર્ષ છે, મહાવિદેહથી ઉત્તરમા રમ્યકવર્ષ છે, રમ્યકવર્ષથી ઉત્તરમા હૈરણ્યવતવર્ષ છે અને હૈરણ્યવતવર્ષથી ઉત્તરમા અરવતવર્ષ છે.

આ તમામ ભરત–હૈમવત, હરિ, મહાવિદેહ, રમ્યક, હૈરણ્યવત અને ઐરવત વર્ષોથી, વ્યવહારનયની અપેક્ષાથી, સૂર્યના કારણે થનારા દિશાઓના નિયમ અનુસાર, મેરુપર્વત ઉત્તરમા છે, નિશ્ચયનયથી આ પ્રમાણે નથી અન્યત્ર પણ કહેવામા આવ્યુ છે–મેરુપર્વત બધાં વર્ષોની ઉત્તરમા છે'– આ કથનથી એવુ સાબિત થયુ કે વ્યવહારનયથી, સૂર્યની ગતિના કારણે ઉત્પન્ન દિશાઓના નિયમ અનુસાર મેરુપર્વત બધાંની ઉત્તરમા છે અને લવણસમુદ્ર બધાની દક્ષિણમાં છે

વ્યવહારનયની અપેક્ષા જે ક્ષેત્રમાં જે તરફ સૂર્યોદય થાય છે તે દિશા પૂર્વ દિશા કહેવાય છે અને જે દિશામાં સૂર્યાસ્ત થાય છે તે દિશા પશ્ચિમ દિશા કહેવાય છે. કર્કથી લઈને ધનુષૂરાશિ સુધી જે દિશામા રહીને ક્રમથી સૂર્ય ચાલે છે તે દક્ષિણ દિશા કહેવાય છે અને મકરરાશિથી લઈને મિથુન રાશિ સુધી જે દિશામા રહીને સૂર્ય ક્રમથી ચાલે છે તે ઉત્તરદિશા કહેવાય છે

આવી જ રીતે ચારે દિશાઓની મધ્યની દિશાઓ અર્થાત્ વિદિશાઓ–ઉર્ધ્વદિશા અને અધોદિશા પણ સૂર્યના સયોગથી થાય છે આ રીતે સર્વત્ર સૂર્યની અપેક્ષાથી જ દિશાઓનો વ્યવહાર થાય છે આશય કહેવાનો એ છે કે બધાની દિશા વ્યવહારિક છે પરન્તુ નિશ્ચયથી એવુ કહી શકાય નહી સૂર્યોદયની અપેક્ષાથી આપણા માટે જે પૂર્વ દિશા છે તે જ દિશા પૂર્વવિદેહના નિવાસીઓ માટે પશ્ચિમ દિશા છે કારણ કે તેમની અપેક્ષાથી ત્યા સૂર્ય અસ્ત થાય છે. આ કારણથી આ વ્યવહાર માત્ર છે, નિશ્ચય નહીં. નિશ્ચયનયની અપેક્ષાથી મધ્યલોકમાં સ્થિત મેરુપર્વતના સમતલ ભૂમિભાગમા રહેલ, આઠ આકાશપ્રદેશોથી નિર્મિત ચતુષ્કોણ જે રુચક છે, તે દિશાઓના નિયમના કારણ છે તેને જ કેન્દ્ર ગણીને દિશાઓની વ્યવસ્થા કરવી જોઈએ તે રુચક જ પૂર્વદિશાઓ અને આગ્નેય આદિ વિદિશાઓનુ પ્રભવ–ઉદ્ગમ સ્થાન છે

દિશાઓ બે પ્રદેશોથી પ્રારભ થાય છે અને બે પ્રદેશોની વૃદ્ધિથી વધતી થકી વિશાળ શકટોર્દ્ધિના આકાર હોય છે તેની આદિ છે પણ અન્ત નથી વિશિષ્ટ આકારમાં તેમનું અવસ્થાન છે અને અનન્ત (અલોકની અપેક્ષા) આકાશ પ્રદેશોથી તેમનુ સ્વરૂપ થાય છે આ દિશાઓ ચાર છે

વિદિશાઓ મુક્તાવલી જેવી હોય છે એક–એક આકાશપ્રદેશની રચનાથી તેમનુ સ્વરૂપ નિષ્પન્ન થાય છે તેમની આદિ તો છે પરન્તુ છેડો નથી વિદિશાઓ ચાર છે અને તે અનન્તપ્રદેશોથી નિર્મિત છે

ઉર્ધ્વદિશા પણ તે જ ચાર પ્રદેશોથી ઉત્પન્ન થાય છે તેમની આદિ ઉપર સ્થિત ચાર પ્રદેશોથી થાય છે તેને અનુત્તરા–વિમલા દિશા પણ કહે છે

અધોદિશાનુ નામ તમસ્ છે તે નીચેના ચાર આકાશપ્રદેશોથી ઉત્પન્ન થઈ છે આ દસે દિશાઓ અનાદિકાલીન છે અને એમના નામ પણ અનાદિકાળથી પ્રસિદ્ધ છે એ પ્રમાણે નિશ્ચયનયના અભિપ્રાયના આધારે સમજવુ જોઈએ

સ્થાનાગસૂત્રના સાતમા સ્થાનમા કહ્યુ છે—'જમ્બૂદ્વીપમા સાત વર્ષ-ક્ષેત્ર કહેવામાં આવ્યા છે તે આ પ્રકારે—ભરત, ઐરવત, હૈમવત, હૈરણ્યવત, હરિવર્ષ, રમ્યકવર્ષ તથા મહાવિદેહ'

(૧) ભરતવર્ષ હિમવાન્ પર્વની દક્ષિણમા અવસ્થિત છે તેની દક્ષિણ, પશ્ચિમ અને પૂર્વમા ત્રણે બાજુ લવણસમુદ્ર છે તે ધનુષ્યના આકારનો છે વૈતાઢય નામક પર્વત અને ગગા-સિન્ધુ નામની બે મહાનદિઓથી વિભાજિત હોવાથી તેના છ ટુકડા થઈ ગયા છે

(૨) હૈમવતવર્ષ-ચુલ્લહિમવાન્ પર્વતથી ઉત્તરમા અને મહાહિમવાન્ પર્વતથી દક્ષિણમા હૈમવતવર્ષ છે તેની પૂર્વ તથા પશ્ચિમે લવણસમુદ્ર છે

(૩) હરિવર્ષ-નિષધ પર્વતથી દક્ષિણમા અને મહાહિમવાન્ પર્વતથી ઉત્તરમા સ્થિત છે એની પૂર્વ તથા પશ્ચિમે લવણ સમુદ્ર છે

(૪) મહાવિદેહવર્ષ-નિષધ પર્વતથી ઉત્તરમા અને નીલપર્વતથી દક્ષિણમા મહાવિદેહ ક્ષેત્ર છે એની પૂર્વ તથા પશ્ચિમે લવણસમુદ્ર છે

(૫) રમ્યકવર્ષ-નીલ પર્વતથી ઉત્તરમા અને રુક્મિ પર્વતથી દક્ષિણમા, પૂર્વ-પશ્ચિમ લવણસમુદ્રની વચમા છે

(૬) હૈરણ્યવત-રુક્મિ પર્વતથી ઉત્તરમા અને શિખરીપર્વતથી દક્ષિણમા, પૂર્વ-પશ્ચિમ લવણસમુદ્રની મધ્યમા સ્થિત છે

(૭) ઐરવતવર્ષ-શિખરીપર્વતથી ઉત્તરમા છે આ ત્રણ દિશાઓમા લવણસમુદ્રથી ઘેરાયેલો છે વિજયાર્ધ પર્વત તથા રક્તા અને રક્તોદા નામની નદિઓથી વિભક્ત થવાના કારણે એના છ ખણ્ડ થઈ ગયા છે

સારાશ એ છે કે આગળ ઉપર કહેવામા આવનારા છ કુલ પર્વતોથી વિભક્ત થવાના કારણે ઉક્ત સ્વરૂપવાળા સાત ક્ષેત્ર જમ્બૂદ્વીપમા છે. ॥૨૨॥

જમ્બૂદ્વીપનુ સ્વરૂપ લબાઈ-પહોળાઈ આદિ પહેલા જ વર્ણવવામા આવી ગયેલ છે તેમાં રહેલા સાત ક્ષેત્રોના સ્વરૂપનુ પ્રતિપાદન કરવા માટે સૂત્ર કહીએ છીએ—

'તવિ ગા' ઈત્યાદિ

સૂત્રાર્થ—ઉક્ત સાત ક્ષેત્રોને વિભાજિત કરનારા, પૂર્વથી પશ્ચિમ સુધી લાબા ચુલ્લ-હિમવન્ત, મહાહિમવન્ત, નિષધ, નીલવન્ત, રુક્મિ અને શિખરિ નામક છ વર્ષધર પર્વત છે. ॥૨૩॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમા જમ્બૂદ્વીપમા વિદ્યમાન ભરતવર્ષ આદિ સાત ક્ષેત્રોનુ નિરૂપણ કરવામા આવ્યું હવે તે ક્ષેત્રોને વિભક્ત કરનારા ચુલ્લહિમવન્ત આદિ છ વર્ષધર પર્વતોની પ્રરૂપણા કરવા માટે કહીએ છીએ—

જમ્બૂદ્વીપમા સ્થિત ભરતવર્ષ આદિ ક્ષેત્રોનુ વિભાજન કરવાવાળા, પૂર્વથી પશ્ચિમ સુધી લાબા પૂર્વ-પશ્ચિમ લવણસમુદ્ર સુધી ફેલાયેલા, પોતાના પૂર્વ તથા પશ્ચિમ છેડાઓથી લવણસમુદ્રને સ્પર્શ કરવાવાળા ક્ષુદ્રહિમવાન, મહાહિમવાન, નિષધ, નીલ, રુક્મિ અને

શિખરી નામક છ વર્ષધર પર્વત છે અર્થાત્ ભરત, હૈમવત, હરિ, મહાવિદેહ, રમ્યક, હૈરણ્યવત અને ઐરવત આ સાત ક્ષેત્રોના ધારક આ છ પર્વત છે.

ભરત આદિ સાત ક્ષેત્રોનુ વિભાજન કરવાના કારણે આ છ પર્વતો વર્ષધર પર્વત કહેવાય છે. આ પર્વતોના જે હિમવાન્ વગેરે નામ છે તે અનિમિત્તક છે અર્થાત્ કોઈ વિશેષ કારણથી નથી, આ પર્વત અને તેમના ઉલ્લિખિત નામ પણ અનાદિકાળથી ચાલતા આવ્યા છે હા, ભરત વગેરે વર્ષો (ક્ષેત્રો)ના વિભાજક હોવાથી એમને વર્ષધર કહે છે

ક્ષુદ્રહિમવાન્ પર્વત ભરતવર્ષ અને હૈમવતવર્ષની સીમા ઉપર આવેલો છે. તેની ઉંચાઈ સો યોજનની છે મહાહિમવાન્ પર્વત હૈમવત અને હરિવર્ષને જુદા પાડે છે તેની ઉંચાઈ બસો યોજનની છે નિષધ નામક વર્ષધર પર્વત મહાવિદેહથી દક્ષિણમા અને હરિવર્ષથી ઉત્તરમા છે, આ બનેની મધ્યમા છે આથી બનેનો વિભાજક છે એની ઉંચાઈ ચારસો યોજનની છે. નીલવાન્ પર્વત મહાવિદેહથી ઉત્તરમા અને રમ્યકવર્ષથી દક્ષિણમા છે તે આ બંને ક્ષેત્રોની મધ્યમા હોવાથી એમને વિભક્ત કરે છે આ પર્વત પણ ચારસો યોજન ઉંચો છે રુક્મિપર્વત રમ્યકવર્ષથી ઉત્તરમા અને હૈરણ્યવતથી દક્ષિણમા છે. બસો યોજન ઉંચો છે શિખરિપર્વત હૈરણ્યવતથી ઉત્તરમા અને ઐરવતવર્ષથી દક્ષિણમા છે તેની ઉંચાઈ એકસો યોજનની છે. બધા પર્વતોની ઉડાઈ તેમની ઉચાઈનો ચોથો ભાગ છે ॥૨૩॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—આ પહેલા ભરત આદિ સાત ક્ષેત્રોનુ નિરૂપણ કરવામા આવ્યું. હવે તે સાત ક્ષેત્રોનુ વિભાજન કરનારા હિમવાન્ આદિ છ વર્ષધર પર્વતોની પ્રરૂપણા માટે કહીએ છીએ—

તે ભરત આદિ સાતે ક્ષેત્રોનો પોતાની સ્વાભાવિક રચના દ્વારા વિભાગ કરવાવાળા પૂર્વથી પશ્ચિમ સુધી લાબા, પોતાના પૂર્વવર્તી અને પશ્ચિમવર્ત્તી છેડાઓથી લવણસમુદ્રને સ્પર્શ કરવાવાળા ક્ષુદ્રહિમવાન્, મહાહિમવાન્, નિષધ, નીલવાન્, રુક્મિ અને શિખરી નામના છ વર્ષધર પર્વત છે ભરત આદિ સાત વર્ષોના વિભાજક હોવાના કારણે અર્થાત્ તેમને ઈલાયદા કરનારા હોવાથી તે પર્વત કહેવાય છે તેઓ અનાદિકાળથી ચાલ્યા આવે છે.

ભાવાર્થ એ છે કે અગાઉ કહેલા ભરત આદિ સાતે ક્ષેત્રોનું વિભાજન કરવાવાળા હિમવાન્, મહાહિમવાન્, નિષધ, નીલવાન, રુક્મિ અને શિખરી નામક છ વર્ષધર પર્વત છે. ભરતવર્ષ અનેહૈમવત વર્ષની મધ્યમા હોવાના કારણે ક્ષુદ્રહિમવાન્ પર્વત ભરત અને હૈમવતવર્ષનુ વિભાજન કરે છે. મહાહિમવાન્ પર્વત હૈમવત અને હરિવર્ષના વિભાજક છે નિષધ પર્વત હરિવર્ષ અને મહાવિદેહની હદ જુદી પાડે છે નીલવાન્ પર્વત મહાવિદેહ અને રમ્યકવર્ષને વિભક્ત કરે છે રુક્મિ પર્વત રમ્યકવર્ષ અને હૈરણ્યવત વર્ષને ઈલાયદા કરે છે જ્યારે શિખરીપર્વત હૈરણ્યવત અને ઐરવત ક્ષેત્રની હદોને નોખી પાડે છે આ છ કુલપર્વતોથી જમ્બૂદ્વીપમા સ્થિત ભરત આદિ સાત વર્ષ વિભક્ત થઈ ગયા છે

હવે ક્ષુદ્રહિમવાન્ આદિ છએ કુલાચલોની ઉંડાઈ તથા ઉચાઈનુ પ્રતિપાદન કરીએ છીએ–ક્ષુદ્રહિમવાન્ પર્વત સો યોજન ઉચો છે બધા પર્વતોની ઊંડાઈ તેમની ઉચાઈના ચતુર્થાંશ જેટલી હોય છે આથી ક્ષુદ્રહિમવાનની ઊંડાઈ પચ્ચીસ યોજન છે

મહાહિમવાન્ પર્વત ક્ષુદ્રહિમવાનથી બમણી ઉંચાઈ અને ઊંડાઈવાળો છે આ રીતે એની ઉંચાઈ બસો યોજનની અને ઉંડાઈ પચાસ યોજનની છે

નિષધપર્વત તેથી પણ બમણી ઊંડાઈ અને ઉંચાઈ ધરાવે છે આથી તેની ઉંચાઈ ચારસો યોજનની અને ઉંડાઈ સો યોજનની છે

નીલવાન્ પર્વત પણ ચારસો યોજન ઉંચો છે આથી તેની ઉંડાઈ સો યોજનની છે.

રુકિમપર્વત બસો યોજન ઉચો છે આથી તેની ઉંડાઈ પચાસ યોજનની છે.

શિખરીપર્વત એકસો યોજન ઉચો છે તેની ઉંડાઈ પચ્ચીસ યોજનની છે.

વૈતાઢ્યપર્વત ભરતક્ષેત્રની મધ્યમા સ્થિત છે એથી ભરતક્ષેત્ર બે ભાગમા વહેંચાઈ ગયું છે. વૈતાઢ્યથી ઉત્તર તરફનો ભાગ ઉત્તર ભરત કહેવાય છે અને દક્ષિણ તરફનો ભાગ દક્ષિણ ભરત વૈતાઢ્યપર્વત પૂર્વથી પશ્ચિમ સુધી લાબો છે બંને તરફથી તેનો થોડો ભાગ લવણસમુદ્રને સ્પર્શ કરે છે તે પર્વત ઉપર વિદ્યાધર નિવાસ કરે છે દક્ષિણમાં પચાસ અને ઉત્તરમા સાઇઠ નગરોવાળો, દક્ષિણશ્રેણિ અને ઉત્તરશ્રેણિ નામક બે શ્રેણિઓથી અલંકૃત છે બે ગુફાઓથી સુશોભિત છે. છ યોજન અને એક ગાઉ સુધી પૃથ્વિમા તેની ઉંડાઈ છે પચાસ યોજનનો વિસ્તાર છે અને પચ્ચીસ યોજનની ઉંચાઈ છે.

વિદેહક્ષેત્રમા મેરુપર્વતથી દક્ષિણમા અને નિષધ પર્વતથી ઉત્તરમાં દેવકુરુ નામનું ક્ષેત્ર છે તે એકસો કાચનપર્વતોથી તથા ચિત્ર-વિચિત્ર કૂટોથી વિભૂષિત છે-આ રીતે પાચ હદોના બંને છેડાના કાઠે આવેલા દસ-દસ કાચનપર્વતોથી શોભાયમાન છે શીતોદા નદીથી પૂર્વ અને પશ્ચિમમા જનારા, નિષધપર્વતથી આઠસો ચોત્રીસ તથા ચારના સાતમા ભાગ ૮૩૪$\frac{4}{7}$ના અન્તરવાળા ચિત્ર-વિચિત્ર કૂટ છે જે એક હજાર યોજત ઉંચા છે, નીચેની તરફ પ્રસરાયેલા છે જેનો ઉપરનો ભાગ તેનાથી અર્ધો છે દેવકુરુ તેમનાથી સુશોભિત છે તેનો વિસ્તાર બે ભાગ અધિક અગીયાર હજાર આઠસો બેંતાળીસ યોજનનો છે.

આવી જ રીતે મેરુપર્વતથી ઉત્તરમા ઉત્તરકુરુક્ષેત્ર છે તે પણ સો કાચનપર્વતોથી શોભાયમાન છે પરન્તુ તેમાં ચિત્ર-વિચિત્ર કૂટ નથી તેની જગ્યાએ તેમના જ જેટલા પ્રમાણવાળા કાચનમય અને શીતા નદીના કાઠા પર આવેલા બે યમક પર્વત છે.

મહાવિદેહક્ષેત્ર મેરુપર્વત અને દેવકુરુ તથા ઉત્તરકુરુથી વિભક્ત થઈ જવાના કારણે ચાર ભાગોમા વહેંચાઈ જવા પામેલ છે મેરુપર્વતથી પૂર્વદિશામા સ્થિત વિદેહ નોભાગ પૂર્વવિદેહ કહેવાય છે પશ્ચિમ દિશામા સ્થિત ભાગ પશ્ચિમવિદેહ કહેવાય છે, દક્ષિણનો એક ભાગ દેવકુરુ અને ઉત્તરનો ભાગ ઉંત્તરકુરુના નામથી પ્રસિદ્ધ છે આ બધાં જો કે એક જ મહાવિદેહ ક્ષેત્રની અન્તર્ગત છે તો પણ જુદા-જુદા ક્ષેત્ર જેવા છે ત્યાં જે મનુષ્ય આદિ નિવાસ કરે છે, તેમનુ એક ક્ષેત્રમાથી બીજા ક્ષેત્રમા આવાગમન થતુ નથી.

મેરુ પર્વતથી પૂર્વમા જે પૂર્વવિદેહ છે અને પશ્ચિમમા જે પશ્ચિમવિદેહ છે તેમા સોળ-સોળ ચક્રવર્તિવિજય છે આ વિજય નદિઓ તથા પર્વતોથી વહેંચાયેલા છે ત્યાના નિવાસી એક વિજયમાથી બીજા વિજયમા આવાગમન કરી શકતા નથી ચક્રવતી તેમના ઉપર વિજય પ્રાપ્ત કરે છે અને રાજ્ય કરે છે આ રીતે બને દિશાઓના મળીને બત્રીસ વિજય મહાવિદેહમાં છે

આ પ્રકારે જ સરખી લંબાઈ, પહોળાઈ, ઉંડાઇ તથા ઉંચાઈવાળા દક્ષિણ અને ઉત્તર વૈતાઢય છે, હિમવાન્ અને શિખરી પર્વત છે, મહાહિમવાન્ અને રુક્મિપર્વત છે, નિષધ અને નીલ પર્વત છે ક્ષુદ્રમેરૂ પર્વત ચાર છે તેમાના બે ધાતકીખન્ડ દ્વીપમા અને બે પુષ્કરાર્ધ દ્વીપમા છે આ ચારે ક્ષુદ્રમેરૂપર્વત જમ્બૂદ્વીપની મધ્યમા આવેલા મેરૂપર્વતની અપેક્ષાએ પ્રમાણમા નાના છે મહામન્દર પર્વતની અપેક્ષા એમની ઉંચાઈ પદર હજાર યોજન ઓછી છે આથી એ બધા ચોરાસી હજાર યોજન ઉચા છે

પૂર્વોક્ત ચારક્ષુદ્રમન્દર પર્વત પૃથ્વિમા નવહજાર પાચસો યોજન વિષ્કભવાળા છે ભૂતળ પર તેમનો વિષ્કમ્ભ (વિસ્તાર) નવ હજાર ચારસો યોજનનો છે આ ચારે ક્ષુદ્રમન્દર પર્વતોનો પ્રથમ કાન્ડ મહામન્દર પર્વતના પ્રથમ કાન્ડની બરાબર છે અને પૃથ્વિમા એક હજાર યોજનની ઉડાઈએ છે બીજો કાન્ડ મહામન્દર પર્વતના બીજા કાન્ડથી સાત હજાર યોજન ઓછો છે, આથી સાડા પાચહજાર યોજનનુ પ્રમાણ છે ત્રીજો કાન્ડ મહામન્દર પર્વતના ત્રીજા કાન્ડથી આઠ હજાર યોજન ઓછો હોવાથી અઠયાવીસ હજાર યોજન પ્રમાણ છે

ચારે ક્ષુદ્રમન્દર પર્વતો પર જે ભદ્રશાલ અને નન્દનવન છે તે બને મહામન્દર પર્વતના ભદ્રશાલ અને નન્દનવનની બરાબર જ છે પૃથ્વિતળ ઉપર ભદ્રશાલ વન છે તેનાથી પાંચસો યોજનની ઉંચાઈ પર નન્દનવન છે તેનાથી સાડા પચાવન હજાર યોજન ઉપર સૌમનસ વન છે બીજા કાન્ડના પાંચસો યોજન નન્દનવન વડે ઘેરાયેલા છે આથી સાઢા પંચાવન હજાર યોજન ચાલીને તે પાચસો યોજન વિસ્તૃત છે તેથી આગળ જઈએ ત્યારે અઠયાવીસ હજાર યોજનની ઉચાઈએ પાન્ડુકવન આવે જે ચારસો ચોરાણુ યોજન વિસ્તાર વાળુ છે આ પ્રકારે ઉપર અને નીચે અવગાહ અને વિસ્તાર મહામન્દર પર્વતની બરાબર જ છે અને તે એકહજાર યોજન પ્રમાણ છે નીચે જે અવગાહ છે તે પણ મહામન્દરની જ બરાબર છે અને તે પણ મહામન્દરની બરાબર એક હજાર યોજન પ્રમાણ જ છે ચારે ક્ષુદ્રમન્દર પર્વતોની ભૂમિ મહામન્દર પર્વતની ચૂલિકા બરાબર જ થાય છે.

સ્થાનાંગસૂત્રના છઠ્ઠા સ્થાનમા કહ્યુ છે—જમ્બૂદ્વીપમા છ વર્ષધર પર્વત કહેવામા આવ્યા છે તે આ પ્રમાણે છે—ચુલ્લ (ક્ષુદ્ર) હિમવન્ત, મહાહિમવન્ત નિષધ, નીલવન્ત રૂકિમ, શિખરી

જમ્બૂદ્વીપપ્રજ્ઞપ્તિ સૂત્ર ૧૫માં કહ્યુ છે—વિરાજમાન ત્યા જ પછીના સૂત્ર ૭૨મા કહ્યુ છે—(તે વર્ષધર પર્વત) પૂર્વ–પશ્ચિમમા લાબા છે ॥૨૩॥

'ते कणगरयणतवणिज्ज' ઇત્યાદિ

સૂત્રાર્થ—આ પર્વતો ક્રમશ કનક–રત્ન–તપનીય–વૈડૂર્ય–રૂપ્ય–હેમમય આદિ છે ॥૨૪॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—જમ્બૂદ્વીપમા સ્થિત ભરતવર્ષ આદિ સાત ક્ષેત્રોને વિભક્ત કરનારા ક્ષુદ્રહિમવન્ત આદિ છ વર્ષધર પર્વતોનુ પૂર્વસૂત્રમાં પ્રરૂપણ કરવામા આવ્યુ, હવે આ વર્ષધર પર્વતોના રંગ, આકાર, તેમની ઉપર બનેલા પદ્મસરોવર વગેરે છ સરોવર, તેમની અન્દરના પુષ્કર આદિનો વિસ્તાર વગેરે બતાવવા માટે કહીએ છીએ.

તે ક્ષુદ્રહિમવન્ત, મહાહિમવન્ત, નિષધ, નીલ, રૂક્મિ અને શિખરી નામના છ વર્ષધર પર્વતો અનુક્રમથી કનક, રત્ન, તપનીય વૈડૂર્ય રૂપ્ય અને રત્નમય આદિ છે. (૧) ક્ષુદ્રહિમવન્ત પર્વત સ્વર્ણમય છે ચીનપટ્ટના રંગવાળો છે (૨) મહાહિમવન્ત પર્વત રત્નમયશુકલવર્ણનો છે (૩) નિષધ પર્વત તપનીયમય મધ્યાહ્નકાલીન સૂર્યના જેવા વર્ણનો છે (૪) નીલવાન્ પર્વત વૈડૂર્યમય–મોરની ડોક જેવો છે (૫) રૂક્મિ પર્વત રજતમય–સફેદરંગનો છે અને (૬) શિખરી પર્વત હેમમય–ચીનપટ્ટના રંગનો છે

કનક–રત્ન–તપનીય–વૈડૂર્ય–રૂપ્ય–હેમમયા અહીં પ્રકૃતિના વિકાર અથવા અવયવ અર્થમા મયટ્ પ્રત્યય થયો છે સૂત્રમા જે 'આદિ' પદનો પ્રયોગ કરવામાં આવ્યો છે તેનાથી આટલુ પણ સમજી લેવુ જોઈએ–તે પર્વતોના પાર્શ્વભાગ મણિઓથી ચિત્ર–વિચિત્ર છે. અને તેમનો વિસ્તાર ઉપર, મધ્યમા તથા મૂળમાં છે

તે છ પર્વતોની ઉપર ક્રમશઃ પદ્મ, મહાપદ્મ તિગિચ્છ કેસરી, પુન્ડરિક અને મહાપુન્ડરિક નામના છ સરોવરો છે

આ છએ સરોવરોનુ તથા તેમાં સ્થિત પુષ્કરોના આયામ (લંબાઈ) વિષ્કંભ (વિસ્તાર) અને અવગાહ આ પ્રમાણે છે–પદ્મ નામક સરોવર એક હજાર યોજન લાંબુ છે પાંચસો યોજન વિસ્તૃત છે અને દસ યોજન અવગાહ (ઊંડાઈ) વાળુ છે અવગાહનો અર્થ અહીં નિચાઈ લેવાનો છે જેને નિચલો પ્રદેશ પણ કહી શકીએ મહાપદ્મ તથા તિગિંચ્છ સરોવરોનો વિસ્તાર તથા આયામ ઉત્તરોત્તર દ્વિગુણિત છે અવગાહ તો બધાના દસ યોજન જ છે બધા સરોવરોની મધ્યમાં સ્થિત પુષ્કરોની લંબાઈ વિસ્તાર એક યોજન આદિ ક્રમથી ઉત્તરોત્તર વધતો થકો સમજવો જોઈએ

અત્રે એ ધ્યાનમાં રાખવાનુ છે કે પદ્મ આદિ સરોવર તથા તેમાં સ્થિત પુષ્કર દક્ષિણ દિશામા બેગણા છે અર્થાત્ પદ્મસરોવરથી મહાપદ્મસરોવર બમણા વિસ્તારની લંબાઈવાળો છે અને મહાપદ્મ સરોવરથી તિગિચ્છ સરોવર બમણી લંબાઈ વાળું છે તેની પછીના ઉત્તર દિશામા ત્રણે સરોવરો તથા પુષ્કરો દક્ષિણજેવા જ છે અર્થાત્ તિગિચ્છ સરોવરની બરાબર વિસ્તાર આદિવાળા કેસરી સરોવર, મહાપદ્મની બરાબર પુન્ડરિક સરોવર છે અને પદ્મ સરોવરની બરાબર મહાપુંડરિક સરોવર છે ॥૨૪॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—આની અગાઉ જમ્બૂદ્વીપમા સ્થિત હિમવન્ત આદિ છ વર્ષધર પર્વતોની પ્રરૂપણા કરવામા આવી હવે તે પર્વતોના વર્ણ તથા આકારનુ તથા તેમાં જે સરોવર પુષ્કર વગેરે છે તેમનુ તથા તેમના પુષ્કરોની લંબાઈ વિસ્તાર વગેરેની પ્રરૂપણા કરીએ છીએ—

તે ક્ષુદ્રહિમવન્ત આદિ છ વર્ષધર કનક, રત્ન, તપનીય, વૈડૂર્ય, રૂપ્યમય અને હેમમય છે તે પૈકી હિમવન્ત પર્વત કનકમય હોવાના કારણે ચીનપટ્ટના વર્ણનો છે મહાહિમવન્ત રત્નમય હોવાના કારણે—શુકલવર્ણનો છે નિષધ પર્વત તપનીયમય હોવાથી તરુણસૂર્યના જેવા વર્ણવાળો છે નીલવાન્ પર્વત વૈડૂર્યમય હોવાથી મોરની ડોક જેવા વર્ણનો છે રૂક્મિ પર્વત રૂપ્યમય હોવાથી ચન્દ્રમા જેવા સફેદ વર્ણનો છે શિખરી પર્વત હેમમય (સ્વર્ણમય) હોવાથી ચીન પટ્ટ (માટીના ઘડા) જેવા વર્ણનો છે

'આદિ' શબ્દથી ક્રમશ તેમના વર્ણ આદિ સમજવા જોઈએ આ છ વર્ષધર પર્વતોનું અર્થાત્ ક્ષુદ્રહિમવાન્, મહાહિમવાન્, નિષધ, નીલવત, રૂક્મિ અને શિખરી ક્રમશઃ સ્વર્ણવર્ણ રત્નમય તપનીય વૈડૂર્ય, રજત અને હેમના રંગના છે આ છએ પર્વતોનો પાર્શ્વભાગ મણિઓથી ચિત્ર–વિચિત્ર છે તથા તેમનો વિસ્તાર ઉપર અને નીચે બરાબર–બરાબર છે.

જમ્બૂદ્વીપપ્રજ્ઞપ્તિ સૂત્રમાં ૭૨–૭૯–૮૩–૧૧૦ અને ૧૧૧ માં કહેવામા આવ્યું છે—'જમ્બૂદ્વીપમાં ક્ષુદ્રહિમવાન્ પર્વત પૂર્ણરૂપથી સ્વર્ણમય છે, સ્વચ્છ છે, ચિકણો—અર્થાત્ અતિ સુન્દર છે મહાહિમવાન્ પર્વત સર્વ રત્નમય છે, નિષધ સર્વ તપનીયમય છે, નીલવાન્ પર્વત સર્વવૈડૂર્યમય છે, રૂક્મિ પર્વત, સર્વરૂપ્યમય છે અને શિખરી પર્વત સર્વ રત્નમય છે

સ્થાનાગસૂત્રના દ્વિતીય સ્થાન, ત્રીજા ઉદ્દેશક, ૮૭મા સૂત્રમા કહ્યુ છે—'આ છ એ પર્વત આયામ, વિષ્કભ, અવગાહ સંસ્થાન (આકાર) તથા પરિધિની અપેક્ષા તદ્દન સમાન છે. તેમનામા કોઈ ભિન્નતા નથી, જુદાપણું નથી, પરસ્પરમા વિરોધાભાસી નથી

જમ્બૂદ્વીપપ્રજ્ઞપ્તિના સૂત્ર ૭૨માં કહ્યુ છે—'આ પર્વત બને બાજુએ બે પદ્મવર વેદિકાઓથી તથા બે વનખન્ડોથી ઘેરાયેલા છે'

તે ક્ષુદ્રહિમવન્ત આદિ છએ વર્ષધર પર્વતોની ઉપર ક્રમથી છ મહાહ્રદ છે જેમના નામ આ પ્રમાણે છે—પદ્મહ્રદ મહાપદ્મહ્રદ—તિગિચ્છહ્રદ, કેસરીહ્રદ, પુડરિકહ્રદ અને મહાપુન્ડરિકહ્રદ.

આમાથી પ્રથમ પદ્મહ્રદ એક હજાર યોજન લાબો છે, પાચસો યોજન પહોળો છે અને દસ યોજન અવગાહવાળો (ઉંચાઇ) છે

જમ્બૂદ્વીપપ્રજ્ઞપ્તિમા પદ્મહ્રદના પ્રકરણમા કહ્યુ છે—ક્ષુદ્રહિમવાન્ પર્વતના સમતલ ભાગની વચ્ચોવચ્ચ એક વિશાળ પદ્મહ્રદ નામનુ સરોવર છે તે પૂર્વ–પશ્ચિમમાં લાંબુ છે, ઉત્તરદક્ષિણમા પહોળું છે તેની લબાઈ એક હજાર યોજનની પહોળાઈ પાંચસો યોજનની અને ઊંડાઈ (નીચાઇ) દસ યોજનની છે તે સ્વચ્છ છે તે પદ્મહ્રદની મધ્યમા એક યોજન લાબુ અને પહોળુ એક પુષ્કર નામનું કમળ છે

જમ્બૂદ્વીપપ્રજ્ઞપ્તિ સૂત્ર ૭૩ પદ્મહ્રદના પ્રકરણમા કહ્યુ છે— 'તે પદ્મહ્રદની બરાબર મધ્યભાગમા એક વિશાળ પદ્મ કહેવામા આવ્યુ છે. તે એક યોજન લાબુ–પહોળુ છે અડધો યોજન ઉંચું છે અને દસ યોજન ઊડુ છે પાણીથી બે ગાઉ ઉંચુ છે તેનુ સમગ્ર પરિમાણ થોડું વધારે દસ યોજનનુ કહેવામા આવ્યું છે

પદ્મહ્રદનુ જે પરિમાણ કહેવામા આવ્યુ છે તેની અપેક્ષા મહાપદ્મહ્રદનું અને મહાપદ્મહ્રદની અપેક્ષા તિગિચ્છહ્રદનું પરિમાણ બમણુ–બમણુ છે એવી જ રીતે તેમા રહેલા કમળોનું પરિમાણ પણ બમણુ–બમણુ છે, જે પરિમાણ દક્ષિણ દિશાના આ હ્રદો અને પુષ્કરોનુ છે તે જ ઉત્તર દિશાના સરોવરો તથા કમળોનુ છે. જેમકે તિગિચ્છની માફક

કેસરીહ્રદનુ મહાપદ્મની બરાબર પુડરિકહ્રદનુ અને પદ્મહ્રદની જેમ, મહાપુંડરિકહ્રદનુ પરિમાણ (આયામ વિષ્કભ) છે એમા રહેલા કમળોના વિષયમા પણ આ મુજબ જ સમજવુ.

આશય એ છે કે પદ્મહ્રદની મધ્યમા સ્થિત પુષ્કરની અપેક્ષા મહાપદ્મહ્રદમા સ્થિત પુષ્કર બમણાં છે, મહાપદ્મહ્રદના પુષ્કરની અપેક્ષા તિગિચ્છહ્રદ પુષ્કર બમણા છે ત્યારબાદ ઉત્તરમા કેસરીહ્રદના પુષ્કર તિગિચ્છહ્રદના પુષ્કરની બરાબર, પુડરિકહ્રદના પુષ્કર મહાપદ્મ-હ્રદના પુષ્કરની બરાબર અને મહાપુંડરિકહ્રદના પુષ્કર પદ્મહ્રદના પુષ્કર જેટલા છે

અવગાહ બધા સરોવરોનો દસ યોજનનો જ છે જમ્બૂદ્વીપપ્રજ્ઞપ્તિના મહાપદ્મહ્રદના પ્રકરણમા સૂત્ર ૮૦મા કહ્યુ છે—મહાહિમવન્ત પર્વતની ઠીક વચ્ચોવચ્ચ એક મહાપદ્મહ્રદ નામનુ સરોવર છે તેની લબાઈ બે હજાર યોજનની છે, અને પહોળાઈ એક હજાર યોજનની અને ઉડાઈ દસ હજાર યોજનની કહેવામા આવી છે તે સ્વચ્છ છે તેના કાઠાઓ રજતમય છે આ રીતે લંબાઈ-પહોળાઇને છોડીને બાકીનુ વર્ણન પદ્મસરોવરની બરાબર સમજી લેવુ તેમા રહેલા કમળોનુ પ્રમાણ બે યોજન છે અર્થાત મહાપદ્મસરોવરના વર્ણની માફક તે કમળમા એક પલ્યોપમની સ્થિતિવાળી હ્રી દેવી નિવાસ કરે છે

પછીથી જમ્બૂદ્વીપપ્રજ્ઞપ્તિમા છ હ્રદોના પ્રકરણમા સૂત્ર ૮૩થી ૧૧૦ સુધીમા કહ્યું છે—તિગિચ્છ હ્રદ નામક સરોવર છે જે ચાર હજાર યોજન લાબુ છે બે હજાર યોજન પહોળું છે અને દસ હજાર યોજન ઉડુ છે અહી ધૃતિ નામની દેવી નિવાસ કરે છે જેની સ્થિતિ એક પલ્યોપમની છે

ઉત્તરોત્તર વિશાળ તે છ પુષ્કરોની કર્ણિકાના મધ્યભાગમા બનેલા, શરદ્પૂર્ણિમાનાં ચન્દ્રમાની જ્યોત્સ્ના-કાન્તિને પણ ઝાખી પાડનાર, એક ગાઉ લાબા, અર્ધા ગાઉના વિસ્તારવાળા તથા એક ગાઉથી થોડાક ઓછા ઉચા એવા છ પ્રાસાદ (મહેલો) છે તે પ્રાસાદોમાં છ દેવિઓ નિવાસ કરે છે જેમના નામ આ પ્રકારે છે—શ્રી, હ્રી, ધૃતિ, કીર્તિ, બુદ્ધિ અને લક્ષ્મી આ બધી દેવિઓની સ્થિતિ પલ્યોપમની છે અને તેઓ સામાનિક તથા પારિષદ્યોની સાથે ત્યા નિવાસ કરે છે તે પુષ્કરોના પરિવારરૂપ અન્ય પુષ્કરોમાં પ્રાસાદોની ઉપર તે દેવિઓના સામાનિક અને પારિષદ્ય દેવ નિવાસ કરે છે

સ્થાનાગસૂત્રના છઠા સ્થાનમા કહ્યુ છે—ત્યા છ મહાન ઋદ્ધિની ધારક યાવત્-પલ્યોપમની સ્થિતિવાળી દેવિઓ રહે છે તેઓના નામ આ પ્રમાણે છે—શ્રી, હ્રી, ધૃતિ, કીર્તિ, બુદ્ધિ અને લક્ષ્મી .. યાવત્ શબ્દથી મહાન દ્યુતિવાળી, મહાયશવાળી, ઇત્યાદિ અર્થ સમજવો.

આ છ દેવિઓમાથી શ્રી, હ્રી અને ધૃતિ નામની ત્રણ દેવિઓ પોત-પોતાના પરિવાર સહિત સૌધર્મેન્દ્રની સાથે સમ્બન્ધ રાખે છે આથી તે ત્રણે સૌધર્મેન્દ્રની સેવામા તત્પર રહે છે. કીર્તિ, બુદ્ધિ અને લક્ષ્મી નામની ત્રણ દેવિઓ ઇશાનેન્દ્રથી સમ્બદ્ધ છે આથી તેઓ ઇશાનેન્દ્રની સેવામા ઉત્સુક રહે છે—

આ રીતે પાંચે મેરુપર્વતોની ઉત્તર અને દક્ષિણમાં જે છ-છ કુલપર્વતો છે તે દરેક ઉપર છ-છ દેવિઓ છે. આ રીતે બધી મળીને કુલ ૭ દેવિઓ હોય છે ॥૨૪॥

'तत्थ गंगाइया सत्त नदीओ' ઈત્યાદિ

સૂત્રાર્થ--જમ્બૂદ્વીપમા ગંગા આદિ સાત નદિઓ પૂર્વ દિશા તરફ વહે છે જ્યારે સિન્ધુ આદિ સાત નદિઓ પશ્ચિમ બાજુએ વહે છે ॥૨૫॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમાં જમ્બૂદ્વીપની અંદર ભરત આદિ ક્ષેત્રોનુ વિભાજન કરનારા ક્ષુદ્રહિમવન્ત આદિ છ કુલપર્વતોના વર્ણ, સંસ્થાન, પદ્મહ્રદ આદિના સ્વરૂપનુ વર્ણન કરવામા આવ્યુ હવે વિભિન્ન ક્ષેત્રોને વિભક્ત કરનારી ગંગા, સિન્ધુ આદિ ચૌદ નદિઓના સ્વરૂપનુ પ્રરૂપણ કરવામાં આવી રહ્યું છે—

જેનુ સ્વરૂપ પહેલા કહેવામાં આવી ગયુ છે તે જમ્બૂદ્વીપમા ગગા આદિ અર્થાત્ (૧) ગગા (૨) રોહિતા (૩) હરિતા (૪) સીતા (૫) નરકાન્તા (૬) સુવર્ણકૂલા અને (૭) રક્તા આ સાત સરિતાઓ પૂર્વ ભણી વહે છે અને ભરત આદિ ક્ષેત્રોમા વહેતી જતી પૂર્વ-લવણ સમુદ્રને ભેટે છે (ફરીવાર નહી આવવાના આશયથી પતિ-સાગરના ઘરમા પોતે પોતાને અર્પણ કરી દે છે)

સિન્ધુ આદિ અર્થાત્ (૧) સિન્ધુ (૨) રોહિતાશા (૩) હરિકાન્તા (૪) સીતોદા (૫) નારીકાન્તા (૬) રૂપ્યકૂલા (૭) રક્તવતી આ સાત નદિઓ પશ્ચિમ તરફ વહે છે અને પશ્ચિમ ભરત આદિ સાત ક્ષેત્રોમા વહેતી જતી પશ્ચિમ લવણસમુદ્રને મળે છે

ભરત આદિ સાત ક્ષેત્રોમાંથી પ્રત્યેક ક્ષેત્રમાં બે-બે નદિઓ વહે છે આથી એક જ સ્થળે બધી નદિઓનો વહેવાનો કોઇ પ્રસગ નથી ॥૨૫॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—આની અગાઉ ભરતવર્ષ આદિ ક્ષેત્રોને જુદા-જુદા કરનારા ક્ષુદ્રહિમવન્ત આદિ પર્વતોના સ્વરૂપ, વર્ણ, આકાર, લંબાઇ, વિસ્તાર, અવગાહ વગેરેનુ તેમની ઉપર બનેલા પદ્મહ્રદ આદિ તથા પદ્મહ્રદ આદિના મધ્યમા સ્થિત કમળો આદિનુ વર્ણન કરવામા આવ્યુ છે હવે પદ્મહ્રદ આદિથી નિકળેલી ગગા આદિ ચૌદ મહાનદિઓના સ્વરૂપ આદિની પ્રરૂપણા કરવાના આશયથી કહીએ છીએ —

જમ્બૂદ્વીપમા ગગા આદિ અર્થાત (૧) ગંગા (૨) રોહિતા (૩) હરિતા (૪) સીતા (૫) નરકાન્તા (૬) સુવર્ણકુલા અને (૭) રક્તા આ સાત મહાનદિઓ પૂર્વદિશા તરફ અભિમુખ થઈને ભરત આદિ ક્ષેત્રોમાં વહેતી વહેતી પૂર્વ લવણસમુદ્રમા પ્રવેશ કરે છે-સિન્ધુ આદિ અર્થાત (૧) સિન્ધુ (૨) રોહિતાશા (૩) હરિકાન્તા (૪) સીતોદા (૫) નારિકાન્તા (૬) રુપ્યકૂલા અને (૭) રક્તવની આ સાત મહાનદિઓ પશ્ચિમની તરફ વહેતી વહેતી પશ્ચિમ લવણ સમુદ્રમા પ્રવેશ કરે છે એક-એક ક્ષેત્રમા બે-બે નદિઓ સમજવી જોઇએ આ પૈકી ગગા નદિ પદ્મહ્રદથી ઉત્પન્ન થાય છે અને પૂર્વ તોરણ દ્વારથી નીકળે છે આ જ પદ્મહ્રદથી નિકળવાવાળી અને પાશ્ચમ તોરણદ્વારથી નીકળવાવાળી સિન્ધુ નદી છે આ જ પદ્મહ્રદના ઉત્તરીય તોરણદ્વારથી રોહિતાશા નદી નીકળે છે રોહિતા નદી મહાપદ્મહ્રદથી ઉત્પન્ન થાય છે અને દક્ષિણના તોરણદ્વારથી નીકળે છે. મહાપદ્મહ્રદથી, ઉત્તરીય તોરણદ્વારથી હરિકાન્તાનો ઉદ્ગમ થાય છે

હરિતા નદી તિગિચ્છહ્રદથી દક્ષિણના તોરણદ્વારથી નીકળે છે સીતોદા નદી આ જ ઉત્તરીય તોરણદ્વારથી નીકળે છે સીતા નામક નદી કેસરીહ્રદથી ઉત્પન્ન થઈ, દક્ષિણના તોરણદ્વારથી નીકળે છે નરકાન્તા પણ કેસરીહ્રદથી નીકળે છે અને ઉત્તરીય તોરણદ્વારે થઈને વહે છે નારીકાન્તા પુન્ડારિકહ્રદથી ઉદ્ભૂત થઈને દક્ષિણી તોરણદ્વારથી નીકળીને વહે છે આ જ હ્રદ (સરોવર)થી ઉદ્ભૂત થઈને ઉત્તરીય તોરણદ્વારથી રૂપ્યકૂલા નદી વહે છે

સ્વર્ણકુલા નદી મહાપુંડરિક હ્રદથી ઉદ્ભૂત થઈને દક્ષિણી તોરણદ્વારથી નીકળી વહે છે રક્તા અને રક્તોદા નામની નદીઓ પણ આ જ સરોવરમાથી નીકળી છે અને તેઓ ક્રમશ પૂર્વ તોરણદ્વાર તથા પશ્ચિમ તોરણદ્વારે થઈને આગળ પ્રસ્થાન કરે છે

સ્થાનાગ સૂત્રના સાતમા સ્થાનકમા કહેવામા આવ્યુ છે—

જમ્બૂદ્વીપમા સાત મહાનદિઓ પૂર્વની તરફ અભિમુખ થઈને લવણસમુદ્રમા જઈને મળે છે આ સાત નદીઓના નામ આ પ્રમાણે છે-ગગા રોહિતા, હરિતા સીતા નરકાતા, સુવર્ણકૂલા અને રક્તા જમ્બૂદ્વીપમાં સાત મહાનદિઓ પશ્ચિમ તરફ અભિમુખ થઈને લવણ સમુદ્રમા મળે છે તેમના નામ આ પ્રમાણે છે-સિન્ધુ રોહિતાશા હરિકાન્તા સીતોદા, નારીકાન્તા રૂપ્યકૂલા અને રક્તવતી

પૂર્વોક્ત ચૌદ નદિઓમાંથી ગંગા, સિન્ધુ, રક્તા અને રક્તવતી નામક ચાર મહાનદિઓ ચૌદ–ચૌદ હજાર નદીઓની સાથે મળીને પૂર્વ અને પશ્ચિમના લવણ સમુદ્રમા મળે છે આમાથી ગગા અને રક્તા નામક બે મહાનદીઓ પૂર્વ લવણ સમુદ્રમા પ્રવેશ કરે છે. સિન્ધુ અને રક્તવતી નામક બે મહાનદીઓ પશ્ચિમ લવણ સમુદ્રમા પ્રવેશ કરે છે ગગા અને સિન્ધુ ભરતક્ષેત્રમા વહે છે અને રક્તા તથા રક્તવતી ઐરવત ક્ષેત્રમા વહે છે

જમ્બૂદ્વીપપ્રજ્ઞપ્તિના છઠા વક્ષસ્કારના સૂત્ર ૧૨૫મા કહ્યુ છે–'જમ્બૂદ્વીપની અદર ભરતવર્ષ અને ઐરવત વર્ષમા કેટલી મહાનદીઓ કહેવામા આવી છે'? ઉત્તર –ગૌતમ ચાર મહાનદીઓ કહેવામા આવી છે તે આ પ્રકારે છે–ગંગા, સિન્ધુ, રક્તા અને રક્તવતી. આમાથી પ્રત્યેક મહાનદી ચૌદ હજાર નદીઓથી યુક્ત થઈને પૂર્વ અને પશ્ચિમ લવણસમુદ્રમા જઈને મળે છે ॥૨૫॥

'भरहवासस्स विक्खंभे' ઈત્યાદિ

સૂત્રાર્થ—ભરતવર્ષનો વિસ્તાર પાચસો છવ્વીસ યોજન અને એક યોજનના ઓગણીસ ભાગમાથી છ ભાગ છે (૫૨૬ $\frac{6}{19}$) ॥૨૬॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમાં જમ્બૂદ્વીપના ભરત આદિ ક્ષેત્રોમાં ગગા આદિ જે મહાનદીઓ પ્રવાહિત થઈ રહી છે તેમના સ્વરૂપનુ આપણે નિરૂપણ કરી ગયા હવે ભરતક્ષેત્રનો વિસ્તાર કહીએ છીએ–પાચસો છવ્વીસ યોજન અને એક યોજનના $\frac{6}{19}$ ભાગ છે ॥૨૬॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—આની પૂર્વના સૂત્રમા ગગા સિન્ધુ આદિ મહાનદીઓનુ તથા ભરત આદિ ક્ષેત્રોનુ વિભાજન કરનારા હિમવન્ત આદિ વર્ષધર પર્વતોનુ સ્વરૂપ બતાવવામા આવ્યુ છે. હવે ભરતક્ષેત્રના વિસ્તારની પ્રરૂપણા કરીએ છીએ—

ભરતવર્ષ અર્થાત્ ભરતક્ષેત્રનો વિસ્તાર પાંચસો છવ્વીસ યોજન અને એક યોજનના ઓગણીસમા ભાગમાથી છ ભાગ છે (૫૨૬ $\frac{૬}{૧૯}$)

જમ્બૂદ્વીપપ્રજ્ઞપ્તિના બારમાં સૂત્રમાં કહેવામાં આવ્યુ છે–'જમ્બૂદ્વીપ નામક દ્વીપમાં ભરત નામક વર્ષ–ક્ષેત્ર છે તેનો–વિસ્તાર ૫૨૬ $\frac{૬}{૧૯}$ યોજન છે આશય એ છે કે એક લાખ યોજન લાબા–પહોળા જમ્બૂદ્વીપના ૫૨૬ $\frac{૬}{૧૯}$નો ભાગ ભરતક્ષેત્રનો વિસ્તાર છે ॥૨૬॥

'भरहदुगुणविक्खंभा' ઈત્યાદિ

સૂત્રાર્થ—ક્ષુદ્રહિમવાન્ પર્વતથી લઈને વિદેહક્ષેત્ર પર્યન્ત પર્વતો અને ક્ષેત્રોનો વિસ્તાર ઉત્તરોત્તર બમણો–બમણો છે ॥૨૭॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વસૂત્રમા જમ્બૂદ્વીપના અન્તર્ગત ભરતક્ષેત્રના વિસ્તારનુ નિરૂપણ કરવામા આવ્યુ, હવે ચુલ્લ હિમવન્ત પર્વતથી વિદેહ ક્ષેત્ર સુધીના પર્વતો અને ક્ષેત્રોનો વિસ્તાર બતાવીએ છીએ—ભરતક્ષેત્રથી આગળના પર્વતો અને ક્ષેત્રોનો વિસ્તાર ઉત્તરોત્તર બમણો–બમણો છે ભરતક્ષેત્રથી આગળ ક્ષુદ્રહિમવાન્ પર્વત, પછી મહાહિમવાન્ પર્વત ત્યારબાદ નિષધ પર્વત અને પછી મહાવિદેહ ક્ષેત્ર છે, આમા પહેલા ત્રીજા અને પાંચમા સ્થાન ઉપર વર્ષધર પર્વત છે અને બીજા, ચોથા તથા છઠ્ઠા સ્થાને ક્ષેત્ર છે આ વર્ષધર પર્વત અને વર્ષ ભરતવર્ષની અપેક્ષા બમણા–બમણા વિસ્તારવાળા છે જેમકે ઉપર ભરતક્ષેત્રનો જે વિસ્તાર કહ્યો છે તેનાથી બમણો વિસ્તાર ક્ષુદ્રહિમવાન્ પર્વતનો જાણવો, ક્ષુદ્રહિમવાન્ પર્વતની અપેક્ષા બમણો વિસ્તાર હૈમવત ક્ષેત્રનો છે, હૈમવત ક્ષેત્રની અપેક્ષા બમણો વિસ્તાર મહાહિમવાન્ પર્વતનો છે, મહાહિમવાન્ પર્વતની અપેક્ષા બમણો વિસ્તાર હરિવર્ષનો છે, હરિવર્ષથી બમણો–વિસ્તાર નિષધ પર્વતનો છે અને નિષધ પર્વતની અપેક્ષા બમણો વિસ્તાર મહાવિદેહક્ષેત્રનો છે ॥૨૭॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—આની અગાઉ જમ્બૂદ્વીપની અંદર સ્થિત ભરતક્ષેત્રના વિસ્તારનું પ્રરૂપણ કરવામા આવ્યુ હોઈ ચુલ્લ હિમવન્તથી લઈને વિદેહ સુધીના–વર્ષધર પર્વતો અને વર્ષોના વિસ્તારનુ પરિમાણ બતાવવા માટે કહીએ છીએ—

ક્ષુદ્રહિમવાન્ પર્વતથી લઇને વિદેહક્ષેત્ર પર્યન્ત જે વર્ષધર અને વર્ષ છે તેમનો વિસ્તાર ઉત્તરોત્તર બમણો–બમણો છે આ વર્ષધર પર્વત આ પ્રમાણે છે-(૧) ચુલ્લહિમવન્ત (૨) હૈમવત વર્ષ (૩) મહાહિમવન્ત પર્વત (૪) હરિવર્ષ (૫) નિષધ પર્વત (૬) મહાવિદેહ ક્ષેત્ર આમાથી ભરતક્ષેત્રના, પૂર્વલિખિત પરિમાણની અપેક્ષા ચુલ્લહિમવન્ત પર્વતનુ પરિમાણ બમણુ છે, ચુલ્લહિમવન્ત પર્વતની અપેક્ષા હૈમવતક્ષેત્રનુ પરિમાણ બમણુ છે હૈમવતક્ષેત્રના પરિમાણથી બમણુ પરિમાણ મહાહિમવન્ત પર્વતનુ છે—

મહાહિમવાન્ પર્વતના પરિમાણથી બમણો હરિવર્ષનો વિસ્તાર છે હરિવર્ષથી બમણો નિષધપર્વતનો વિસ્તાર છે અને નિષધપર્વતની અપેક્ષા બમણો વિસ્તાર મહાવિદેહ વર્ષનો છે

ભરતવર્ષનો વિસ્તાર, જેમકે આગળ (અગાઉ) કહેવામા આવ્યો છે, પાચસો છવ્વીસ યોજન અને એક યોજનનો $\frac{૬}{૧૯}$ ભાગ છે આનાથી બમણો એક હજાર બાવન યોજન તથા

$\frac{૧૨}{૧૯}$ ભાગ વિસ્તાર ચુલ્લહિમવાન્ પર્વતનો છે આથી બમણો ૨૧૦૫$\frac{૫}{૧૯}$ યોજનનો વિસ્તાર હૈમવતવર્ષનો છે મહાહિમવાન્ પર્વત ચાર હજાર બસોદસ યોજન અને દસનો ઓગણીસમો ભાગ છે (૪૨૧૦$\frac{૧૦}{૧૯}$ યોજન) હરિવર્ષનો વિસ્તાર ૮૪૨૧$\frac{૧}{૧૯}$ યોજન છે નિષધપર્વત ૧૬૮૪૨$\frac{૨}{૧૯}$ યોજન વિસ્તૃત છે મહાવિદેહક્ષેત્રનો વિસ્તાર ૩૩૬૮૪$\frac{૪}{૧૯}$ યોજન છે

જમ્બૂદ્વીપપ્રજ્ઞપ્તિસૂત્રમા ક્ષુદ્રહિમવન્ત પર્વતના વર્ણનના પ્રકરણમા કહ્યું છે–જમ્બૂદ્વીપ નામક દ્વીપમાં ચુલ્લ (ક્ષુદ્ર) હિમવન્ત નામક વર્ષધર પર્વત કહેવામાં આવ્યો છે આ વર્ષધર પર્વત પૂર્વ અને પશ્ચિમમા લાંબો છે ઉત્તર દક્ષિણમા પહોળો છે અને બને બાજુ લવણ-સમુદ્રથી જોડાયેલો છે—તેનો પૂર્વ કિનારો પૂર્વ લવણ સમુદ્રને સ્પર્શેલ છે અને પશ્ચિમનો કિનારો પશ્ચિમના લવણ સમુદ્રને સ્પર્શેલ છે તે એકસો યોજન ઉંચો છે પચ્ચીસ યોજનની અવગાહના વાળો છે અને ૧૦૫૨ $\frac{૧૨}{૧૯}$ યોજન વિસ્તાર વાળો છે

આગળ હૈમવતવર્ષના પ્રકરણમા જમ્બૂદ્વીપ પ્રજ્ઞપ્તિમા જ કહેલ છે–જમ્બૂદ્વીપ નામના દ્વીપમા હૈમવતનામનુ વર્ષ કહેલ છે તે પૂર્વથી પશ્ચિમમા લાંબુ છે અને ઉત્તર દક્ષિણમા પહોળુ છે પલંગના આકારથી કહેલ છે અને બન્ને બાજુથી લવણ સમુદ્રને સ્પર્શેલ છે તે પોતાના પૂર્વિય કિનારાથી પૂર્વ સમુદ્રને અને પશ્ચિમ કિનારેથી પશ્ચિમના સમુદ્રનો સ્પર્શ કરે છે, તેનો વિસ્તાર ૨૧૦૫ $\frac{૫}{૧૯}$ યોજનનો છે તે પછી ત્યાજ મહાહિમવન્તના પ્રકરણમા કહેલુ છે––જમ્બૂદ્વીપ નામના દ્વીપમા મહાહિમવન્ત નામનો વર્ષધર પર્વત કહેલ છે તે પૂર્વ પશ્ચિમમા લાંબો ઉત્તર દક્ષિણમા પહોળો છે, અને બન્ને લવણ સમુદ્રને સ્પર્શેલ છે તેનો પૂર્વભાગ પૂર્વલવણ સમુદ્રને અને પશ્ચિમ ભાગ પશ્ચિમ લવણ સમુદ્રને સ્પર્શેલ છે તે બસ્સો યોજન ઉંચો છે અને પચાસ યોજનની અવગાહના વાળો છે અને તેનો વિસ્તાર ૪૨૧૦ $\frac{૧૦}{૧૯}$ યોજન છે

ફરી હરિવર્ષના વિષયમા જમ્બૂદ્વીપ પ્રજ્ઞપ્તિમા કહેલ છે કે––જમ્બૂદ્વીપ નામના દ્વીપમાં હરિવર્ષ નામનુ ક્ષેત્ર કહેલ છે તે પૂર્વ–પશ્ચિમમા લાંબુ, ઉત્તર–દક્ષિણમા પહોળુ અને બને બાજુએ લવણસમુદ્રમા પ્રવિષ્ટ છે પોતાના પૂર્વીય છેડાથી પૂર્વ લવણસમુદ્રથી અને પશ્ચિમી છેડાથી પશ્ચિમ લવણસમુદ્રથી સ્પર્શેલ છે તેનો વિસ્તાર ૮૪૨૧$\frac{૧}{૧૯}$ યોજનનો છે

ત્યારબાદ ત્યા જ જમ્બૂદ્વીપપ્રજ્ઞપ્તિમા નિષધપર્વતના વિષયમા કહ્યુ છે—જમ્બૂદ્વીપ નામક વર્ષધર પર્વત કહેલો છે તે પૂર્વ–પશ્ચિમમાં લાંબો, ઉત્તર–દક્ષિણમા પહોળો અને બને તરફ લવણ સમુદ્રથી સ્પર્શેલો છે. તેનો પૂર્વ તરફનો છેડો પૂર્વ લવણસમુદ્રને અને પશ્ચિમ છેડો પશ્ચિમ લવણસમુદ્રને સ્પર્શેલો છે તે ચારસો યોજન ઉંચો છે તેની ઉંડાઇ ચારસો ગવ્યૂતિની છે અને વિસ્તાર ૧૬૮૪૨$\frac{૨}{૧૯}$ યોજનનો છે

પછી જમ્બૂદ્વીપપ્રજ્ઞપ્તિમા જ મહાવિદેહના વિષયમા કહ્યુ છે—'જમ્બૂદ્વીપ નામક દ્વીપમાં મહાવિદેહ નામક વર્ષ છે તે પૂર્વ–પશ્ચિમમા લાંબુ, ઉત્તર–દક્ષિણમા પહોળુ, પલંગના

આકારનુ લબ-ચોરસ અને બને બાજુ લવણસમુદ્રથી સ્પર્શાયેલ છે તેનો પૂર્વી કિનારો પૂર્વના લવણ સમુદ્રથી અને પશ્ચિમી કિનારો પશ્ચિમી લવણસમુદ્રથી સ્પૃષ્ટ છે તેનો વિસ્તાર ૩૩૬૮૪ $\frac{4}{19}$ યોજનનો છે ॥૨૭॥

'उत्तरा वासाहरवासा' ઈત્યાદિ

સૂત્રાર્થ—ઉત્તર દિશાના વર્ષધર પર્વત અને વર્ષ અર્થાત્ ક્ષેત્ર દક્ષિણ દિશાના જ વિષ્કમ્ભની માફક છે ॥૨૮॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પૂર્વ સૂત્રમા ક્ષુદ્રહિમવાન્ પર્વતથી મહાવિદેહ ક્ષેત્ર સુધીના ક્ષેત્રો અને પર્વતોનો વિસ્તાર બતાવવામા આવ્યો, હવે નીલ, રૂકિમ અને શિખરી નામક પર્વતોના તથા રમ્યક્ હૈરણ્યવત અને ઐરવત ક્ષેત્રો। વિસ્તારનુ પ્રરૂપણ કરીએ છીએ—

ઉત્તર દિશામા સ્થિત નીલ પર્વત રમ્યક્ ક્ષેત્ર, રૂકિમપર્વત, હૈરણ્યવત ક્ષેત્ર, શિખરી-પર્વત અને ઐરવત ક્ષેત્ર આ છ ક્ષેત્ર અને પર્વત વિસ્તારમા દક્ષિણ દિશાના ક્ષુદ્રહિમવાન્ આદિ પર્વતો અને ક્ષેત્રોની બરાબર જ સમજવા જોઈએ

આ પૈકી નીલ નામક વર્ષધર પર્વત નિષધ પર્વતની બરાબર છે રમ્યક્ ક્ષેત્ર હરિવર્ષ ક્ષેત્રની બરાબર છે અને રૂકિમ નામક વર્ષધર પર્વત મહાહિમવાન્ પર્વત જેટલા વિસ્તા-વાળા છે-

હૈરણ્યવત વર્ષ હૈમન્ત ક્ષેત્રની બ ાબર છે અને શિખરી નામક પર્વતનો વિસ્તાર ક્ષુદ્ર-હિમવાન પર્વતની બરાબર છે ઐરવત ક્ષેત્ર ભરતક્ષેત્રની બરાબર વિસ્તારવાળો છે—

આ પ્રકારે જેટલો વિસ્તારભ રતક્ષેત્રનો છે તેટલો જ વિસ્તાર ઐરવતક્ષેત્રનો પણ સમજવો જોઈએ ક્ષુદ્રહિમવાન્ પર્વતનો જેટલો વિસ્તાર છે તેટલો જ વિસ્તાર શિખરી પર્વતનો છે હૈમવત ક્ષેત્રનો જેટલો વિસ્તાર છે તેટલો જ વિસ્તાર હૈરણ્યવત ક્ષેત્રનો છે મહાહિમવાન્ પર્વતનો જેટલો વિસ્તાર છે તેટલો જ રમ્યક ક્ષેત્રનો વિસ્તાર છે નિષધ પર્વતનો જેટલો વિસ્તાર છે તેટલો જ નીલ પર્વનો વિસ્તાર સમજવો એવી જ રીતે શિખરી પર્વત આદિની ઉપર હ્રદો અને પુષ્કરો આદિના વિસ્તારની બ-ાબર સમજવા જોઈએ ॥૨૮॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પૂર્વસૂત્રોમા ક્ષુદ્રહિમવાન્ આદિ નીલ પર્વતોનુ તથા ભરત ક્ષેત્ર આદિ ક્ષેત્રોના વિસ્તારની અનુક્રમથી પ્રરૂપણા કરવામા આવી હવે નીલ રૂકિમ તથા શિખરી નામક ત્રણ વર્ષધર પર્વતોનુ તથા રમ્યક, હૈરણ્યવત અને ઐરવત નામક ત્રણ ક્ષેત્રોના વિસ્તારની પ્રરૂપણા કરીએછીએ—

ઉત્તર દિશામા અવસ્થિત નીલ વગેરે ત્રણ વર્ષધર પર્વત ઐરવત આદિ ત્રણ ક્ષેત્રો એ રીતે છએ વર્ષધર અને વર્ષ દક્ષિણદિશાના પર્વતો અને ક્ષેત્રોના સમાન વિસ્તારવાળા છે તેમાથી ઐરવત ક્ષેત્ર ભરત ક્ષેત્રની બરાબર વિસ્તારવાળો છે શિખરી પર્વત ક્ષુદ્રહિમવાન્ પર્વતની બરાબર વિસ્તારવાળો છે હૈરણ્યવત ક્ષેત્ર હૈમવત ક્ષેત્રના સમાન વિસ્તારવાળો છે અને રૂકિમ પર્વત મહાહિમવાન્ પર્વતની બરાબર વિસ્તારવાળો છે. રમ્યક ક્ષેત્ર હરિવર્ષની બરાબર વિસ્તારવાળુ છે અને નીલ પર્વત નિષધ પર્વતની બરાબર વિસ્તારવાળો છે

આ રીતે ઐરવત ક્ષેત્રનો વિસ્તાર ૫૨૬ $\frac{૬}{૧૯}$ યોજનનો છે, શિખરી પર્વતનો વિસ્તાર ૧૦૫૨ $\frac{૧૨}{૧૯}$ યોજનનો છે, હૈરણ્યવત ક્ષેત્રનો વિસ્તાર ૨૧૦૫ $\frac{૫}{૧૯}$ યોજનનો છે રૂકિમ પર્વત ૪૨૧૦ $\frac{૧૦}{૧૯}$ યોજન વિસ્તૃત છે અને રમ્યક ક્ષેત્રનો વિસ્તાર ૮૪૨૧ $\frac{૧}{૧૯}$ યોજનનો છે નીલપર્વતનો વિસ્તાર ૧૬૮૪૨ $\frac{૨}{૧૯}$ યોજનનો છે

આ જ રીતે નીલ પર્વતની ઉપર જે કેસરી નામનું સરોવર છે તેનો વિસ્તાર બે હજાર યોજનનો છે કેસરી સરોવરમાં ચાર યોજનની લંબાઈ–પહોળાઈવાળુ એક પુષ્કર શોભાયમાન છે રૂકિમ નામક પર્વતની ઉપર પુંડરીક સરોવર છે જે તેનાથી અડધા વિસ્તાર વાળુ છે, વિશાળ છે અને દશ યોજનની ઊંડાઈવાળું છે પુંડરીક સરોવરની મધ્યભાગમા પૂર્વોક્ત પુષ્કરની અપેક્ષાથી અડધો લાંબો–પહોળો એક પુષ્કર છે એવી જ રીતે શિખરી પર્વત ઉપર મહાપુંડરીક નામનુ સરોવર છે જેનો વિસ્તાર તેનાથી પણ અડધો છે અને અવગાહ દશ યોજનનું છે

આવી રીતે તેત્રીસ હજાર છસો ચોરાસી યોજન તથા ચાર ઓગણીશ અંશ મહાવિદેહક્ષેત્રનો વિસ્તાર છે તેનાથી અડધો વિસ્તાર રમ્યક વર્ષનો છે, રમ્યક વર્ષથી અડધો વિસ્તાર રૂકિમ પર્વતનો છે, રૂકિમ પર્વતથી અડધો વિસ્તાર હૈરણ્યવત વર્ષનો છે, હૈરણ્યવત વર્ષથી અડધો વિસ્તાર શિખરી પર્વતનો છે અને શિખરી પર્વતથી અડધો વિસ્તાર ઐરવત વર્ષનો છે

સ્થાનાંગસૂત્રના બીજા સ્થાનના બીજા ઉદ્દેશકના ૮૭મા સૂત્રમા કહ્યુ છે—જમ્બૂદ્વીપના મન્દર પર્વતથી ઉત્તર અને દક્ષિણમાં બે વર્ષધર પર્વત તદ્દન સરખા છે તેમનામા કોઈ વિશેષતા નથી, જુદાપણું નથી, તેઓ લંબાઈ, પહોળાઈ ઉંચાઈ, અવગાહ આકૃતિ અને પરિધિથી એક બીજાથી ભિન્ન પ્રકારના નથી તે બે પર્વતોના નામ છે—ચુલ્લ હિમવન્ત અને શિખરી આવી જ રીતે મહાહિમવન્ત અને રૂકિમ પર્વત તથા નિષધ અને નીલવન્ત પર્વત વગેરે ॥ ૨૮॥

'भरहेरवएसु छस्समयाहिं' ઈત્યાદિ

સૂત્રાર્થ—ભરત અને ઐરવત ક્ષેત્રોમા ઉત્સર્પિણી અને અવસર્પિણી કાળના છ આરાઓમા મનુષ્યોના આયુષ્ય વગેરેની વૃદ્ધિ–હાનિ થતી રહે છે બાકીના ક્ષેત્રોમા વધ–ઘટ થતી નથી ॥ ૨૯ ॥

તત્ત્વાર્થદિપીકા—આનાથી પહેલાં ભરત આદિ ક્ષેત્રોનુ તથા ચુલ્લહિમવન્ત આદિ વર્ષધર પર્વતોના આયામ, વિષ્કંભ આદિનુ પ્રરૂપણ કરવામા આવ્યું હવે તે ભરત આદિ ક્ષેત્રોમા નિવાસ કરનારા મનુષ્યોના ઉપયોગ, આયુષ્ય શરીરપ્રમાણ આદિની વૃદ્ધિ તથા હ્રાસની પ્રરૂપણા કરવા માટે કહીએ છીએ—

પૂર્વોક્ત ભરતથી લઈને ઐરવત સુધી સાત ક્ષેત્રોમાથી ભરત અને ઐરવત આ બે ક્ષેત્રોમા છ આરાવાળા ઉત્સર્પિણી અને અવસર્પિણી કાળોમા મનુષ્યોના ઉપયોગ, આયુષ્ય, શરીરના અવગાહ આદિમા વૃદ્ધિ અને હાનિ થતી રહે છે અવસર્પિણી કાળના છ આરાઓ છે (૧) સુષમસુષમ (૨) સુષમ (૩) સુષમદુષ્ષમ (૪) દુષ્ષમસુષમ (૫) દુષ્ષમ અને (૬)

દુષ્ષમ–દુષ્ષમ ઉત્સર્પિણી કાળના આરાઓના પણ આ જ નામ છે પરન્તુ તેમના નામ વિપરીત હોય છે જેમકે દુષ્ષમ–દુષ્ષમ, દુષ્ષમ વગેરે

ભરત અને ઐરવત ક્ષેત્રોમા જ આ વૃદ્ધિ તથા ઘટાડો થાય છે આ બે ક્ષેત્રો સિવાય હૈમવત, હરિવર્ષ, મહાવિદેહ રમ્યક હૈરણ્યવત ક્ષેત્રોમા મનુષ્યોનુ આયુષ્ય વગેરે જેમને તેમ જ રહે છ અર્થાત્ તેમા વધારો અથવા ઘટાડો થતો નથી તાત્પર્ય એ છે કે હૈમવન્ત આદિ ક્ષેત્રોમા ન તો ઉત્સર્પિણી–અવસર્પિણી રૂપ કાળના વિભાગ હોય છે અથવા ન તો મનુષ્યોના આયુષ્ય ઉંચાઈ વગેરેમા ફેરફાર થાય છે ત્યા સદા એક સરખો જ કાળ રહે છે આથી કાળની વિષમતાના કારણે આયુષ્ય અવગાહના આદિમા થનારી વિષમતા ત્યા નથી ॥૨૯॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પહેલા જમ્બૂદ્વીપની અંદર સ્થિત ભરત આદિ સાત ક્ષેત્રોની પ્રરૂપણા કરવામા આવી હવે તે ક્ષેત્રોમા નિવાસ કરનારા મનુષ્યોના ઉપયોગ, આયુષ્ય, શરીરની ઉંચાઈ વગેરેમા સમાનતા હોય છે, અથવા કોઈ પ્રકારની વિશેષતા થતી રહે છે ? એવી આશંકાનુ સમાધાન કરવા માટે કહીએ છીએ—

પૂર્વોક્ત ભરત, હૈમવત, હરિવર્ષ, મહાવિદેહ, રમ્યક, હૈરણ્યવત અને ઐરવત ક્ષેત્રોમાથી ભરત અને ઐરવત નામક ક્ષેત્રોમાં ઉત્સર્પિણી અને અવસર્પિણી કાળોમા મનુષ્યોના ભોગ, ઉપભોગ, આયુષ્ય અને શરીરની ઉંચાઈ વગેરેમા વૃદ્ધિ તથા હ્રાસ થતો રહે છે આ ઉત્સર્પિણી અને અવસર્પિણી કાળોમાથી પ્રત્યેકમા છ સમય હોય છે જેને 'આરા' પણ કહેવામાં આવે છે અવસર્પિણી કાળમા છ આરા આ પ્રકારના હોય છે—(૧) સુષમા સુષમા (૨) સુષમ (૩) સુષમ–દુષ્ષમા (૪) દુષ્ષમસુષમા (૫) દુષ્ષમા અને (૬) દુષ્ષમ દુષ્ષમ અવસર્પિણી કાળના આ છ આરાઓની સમાપ્તિ પછી ઉત્સર્પિણી કાળનો આરંભ થાય છે જેનો પ્રથમ આરો દુષ્ષમ દુષ્ષમા અને અન્તિક સુષમસુષમા હોય છે અર્થાત્ અવસર્પિણી કાળના છ આરાઓથી ઉત્સર્પિણી કાળના આરા એકદમ ઉલ્ટા ક્રમથી હોય છે ઉત્સર્પિણી કાળમા આયુષ્ય, ઉંચાઈ વગેરેમા ક્રમશ વૃદ્ધિ થતી રહે છે અને અવસર્પિણી કાળમા અનુક્રમથી હ્રાસ થાય છે

આ વિષમતા માત્ર ભરત અને ઐરવત ક્ષેત્રોમાં જ હોય છે આ બંને ક્ષેત્રોમા મનુષ્યો આદિના ઉપભોગમા, આયુષ્યમા તથા શરીરના પ્રમાણ આદિમા હમેશા સમાનતા હોતી નથી પરન્તુ ઉત્સર્પિણીકાળમા વૃદ્ધિ અને અવસર્પિણીકાળમા હ્રાસ થાય છે આનુ કારણ એ છે કે આ બંને ક્ષેત્રોમા જ ઉત્સર્પિણી અવસર્પિણી કાળના ભેદ છે

ભરત અને ઐરવત ક્ષેત્રો સિવાય હૈમવત, હરિવર્ષ, મહાવિદેહ, રમ્યક અને હૈરણ્યવત ક્ષેત્રોમા ઉત્સર્પિણી અને અવસર્પિણી કાળ હોતા નથી આ કાળભેદ ન હોવાથી મનુષ્યો આદિના આયુષ્ય, અવગાહના આદિમા પણ ભેદ હોતો નથી આયુષ્ય આદિમા જે વિષમતા હોય છે તેનુ કારણ કાલકૃત વિષમતા છે કાળને વિષમતાના અભાવમા તજ્જનિત આયુષ્ય અવગાહના આદિની વિષમતા પણ હોતી નથી

અનુભાવનો અર્થ છે ભોગ અને ઉપભોગ, આયુષ્યથી તાત્પર્ય છે જીવન અથવા જીવિત રહેવાનુ કાળમાન અને પ્રમાણનો અર્થ છે શરીરની ઉંચાઈ આ બધામા વૃદ્ધિ અને હ્રાસ થતા રહે છે

ઉત્સર્પિણીના છ વિભાગ હોય છે તે આ રીતે છે—(૧) દુષ્પમદુષ્પમા (૨) દુષ્પમા (૩) દુષ્ષમસુષમા (૪) સુષમદુષ્ષમા (૫) સુપમા અને (૬) સુપમ સુપમા આનાથી વિપરીત ક્રમવાળો અવસર્પિણીકાળ છે જેમકે—(૧) સુષમ સુપમા (૨) સુપમા (૩) સુપમ દુષ્પમા (૪) દુષ્ષમ સુષમા (૫) દુષ્ષમા અને (૬) દુષ્પમદુષ્પમા

અમાથી ઉત્સર્પિણીકાળનુ પ્રમાણ દસ ક્રોડાક્રોડી સાગરોપમનુ છે અને અવસર્પિણી કાળના પ્રમાણ પણ દશ ક્રોડા–ક્રોડી સાગરોપમનુ જ છે બને નો સમય વીસ ક્રોડાક્રોડી સાગરોપમ છે આને એક કાળચક્ર કહે છે આમાથી સુપમસુપમા આરો ચાર ક્રોડા–ક્રોડી સાગરોપમના હોય છે આ આરાની આદિમા મનુષ્ય હવે પછી કહેવામા આવનાર ઉત્તર કુરુક્ષેત્રના મનુષ્યોની માફક ત્રણ ગાઉના અવગાહવાળા હોય છે પછી અવસર્પિણી કાળના પ્રભાવથી ક્રમશ હ્રાસ થતા–થતા ચાર ક્રોડાક્રોડી સાગરોપમ સમાપ્ત થયા પર સુષમાકાળ આરંભ થાય છે

સુષમાકાળ ત્રણ ક્રોડા–ક્રોડી સાગરોપમનો છે આની શરૂઆતમા મનુષ્ય હરિવર્ષ ક્ષેત્રના મનુષ્યોની માફક બે ગાઉની અવગાહનાવાળા હોય છે ત્યારબાદ ક્રમશ હ્રાસ થતા–થતા ઉક્ત કાળ પુરો થઈ જવાથી સુષમદુષમા કાળ આરંભ થાય છે તેનુ કાળમાન બે ક્રોડા–ક્રોડી સાગરોપમનુ છે તેના પ્રારંભમા મનુષ્ય હૈમવત વર્ષના મનુષ્યોની માફક એક ગાઉની અવગાહનાવાળા હોય છે ત્યારબાદ અનુક્રમથી હ્રસ થતા–થતા દુષ્ષમસુષમા કાળ પ્રારભ થાય છે આ કાળની શરૂઆતમા મનુષ્ય મહાવિદેહ ક્ષેત્રના મનુષ્યોની સમાન પાચસો ધનુષ્યની–અવગાહનાવાળા હોય છે. ત્યારબાદ હાનિ થતા–થતા ઉક્ત સમય પૂર્ણ થઈ જવાથી પાચમો આરો દુષ્ષમા આરભ થાય છે તેની કાળમર્યાદા એકવીસ હજાર વર્ષની છે તેની શરૂઆતમા મનુષ્યોના શરીરની ઉંચાઈ સાત હાથની અને આયુષ્ય સવાસો વર્ષનુ હોય છે અનુક્રમથી તે આરો સમાપ્ત થઈ જાય છે અને દુષ્ષમ–દુષ્ષમ નામનો છટ્ઠો આરો શરૂ થાય છે તે પણ એકવીસ હજાર વર્ષનો હોય છે તેમા મનુષ્યોની અવગાહના એક હાથની અને આયુષ્ય વીસ વર્ષનુ રહી જાય છે

ઉત્સર્પિણી કાળ પણ આ પ્રકારે સમજવો જોઈએ પરન્તુ તેના આરાઓનો ક્રમ વિપરીત હોય છે પ્રથમ આરો એકવીસ–હજાર વર્ષનો હોય છે તેનુ નામ દુષ્ષમદુષ્ષમ છે તેની પછી ઉત્સર્પિણીનો બીજો આરો દુષ્ષમ આવે છે તેનુ કાળપ્રમાણ પણ એકવીસ હજાર વર્ષ છે ત્યારબાદ દુષ્ષમસુષમ નામક ત્રીજો આરો ચાલુ થાય છે જે બેંતાળીશ હજાર વર્ષ ઓછા એક ક્રોડા–ક્રોડી સાગરોપમનો હોય છે તેની પછી ચોથો આરો બે ક્રોડાક્રોડી સાગરોપમનો આવે છે જેનુ નામ સુષમદુષ્ષમ છે પછી પાચમો સુષમા નામક ત્રણ ક્રોડાક્રોડી સાગરોપમનો આરો આવે છે અતમા સુષમા સુષમ નામનો છઠ્ઠો આરો આવે છે જે ચાર ક્રોડા–ક્રોડી સાગરોપમનો હોય છે

ઉત્સર્પિણી કાળના પ્રથમ આરાની શરૂઆતમા મનુષ્યોનુ આયુષ્ય સોળ વર્ષનુ હોય છે અને તેમનુ શરીર એક હાથનુ હોય છે ઉત્સર્પિણીના બીજા આરાની શરૂઆતમાં મનુષ્યોનુ આયુષ્ય વીસ વર્ષનુ અને શરીરનુ પ્રમાણ સાડા ત્રણ હાથનુ હોય છે. ઉત્સર્પિણી

દુષ્ષમ–દુષ્ષમ ઉત્સર્પિણી કાળના આરાઓના પણ આ જ નામ છે પરન્તુ તેમના નામ વિપરીત હોય છે જેમકે દુષ્ષમ–દુષ્ષમ, દુષ્ષમ વગેરે

ભરત અને ઐરવત ક્ષેત્રોમા જ આ વૃદ્ધિ તથા ઘટાડો થાય છે આ બે ક્ષેત્રો સિવાય હૈમવત, હરિવર્ષ, મહાવિદેહ રમ્યક હૈરણ્યવત ક્ષેત્રોમા મનુષ્યોનુ આયુષ્ય વગેરે જેમને તેમ જ રહે છે અર્થાત્ તેમા વધારો અથવા ઘટાડો થતો નથી તાત્પર્ય એ છે કે હૈમવન્ત આદિ ક્ષેત્રોમા ન તો ઉત્સર્પિણી–અવસર્પિણી રૂપ કાળના વિભાગ હોય છે અથવા ન તો મનુષ્યોના આયુષ્ય ઉંચાઈ વગેરેમા ફેરફાર થાય છે ત્યા સદા એક સરખો જ કાળ રહે છે આથી કાળની વિષમતાના કારણે આયુષ્ય અવગાહના આદિમા થનારી વિષમતા ત્યા નથી ॥૨૯॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પહેલા જમ્બૂદ્વીપની અંદર સ્થિત ભરત આદિ સાત ક્ષેત્રોની પ્રરૂપણા કરવામા આવી હવે તે ક્ષેત્રોમા નિવાસ કરનારા મનુષ્યોના ઉપયોગ, આયુષ્ય, શરીરની ઉંચાઈ વગેરેમા સમાનતા હોય છે, અથવા કોઈ પ્રકારની વિશેષતા થતી રહે છે ? એવી આશંકાનુ સમાધાન કરવા માટે કહીએ છીએ—

પૂર્વોક્ત ભરત, હૈમવત, હરિવર્ષ, મહાવિદેહ, રમ્યક, હૈરણ્યવત અને ઐરવત ક્ષેત્રોમાથી ભરત અને ઐરવત નામક ક્ષેત્રોમા ઉત્સર્પિણી અને અવસર્પિણી કાળોમા મનુષ્યોના ભોગ, ઉપભોગ, આયુષ્ય અને શરીરની ઉંચાઈ વગેરેમા વૃદ્ધિ તથા હ્રાસ થતો રહે છે આ ઉત્સર્પિણી અને અવસર્પિણી કાળોમાથી પ્રત્યેકમા છ સમય હોય છે જેને 'આરા' પણ કહેવામાં આવે છે અવસર્પિણી કાળમા છ આરા આ પ્રકારના હોય છે—(૧) સુષમા સુષમા (૨) સુષમ (૩) સુષમ–દુષ્ષમા (૪) દુષ્ષમસુષમા (૫) દુષ્ષમા અને (૬) દુષ્ષમ દુષ્ષમ અવસર્પિણી કાળના આ છ આરાઓની સમાપ્તિ પછી ઉત્સર્પિણી કાળનો આરંભ થાય છે જેનો પ્રથમ આરો દુષ્ષમ દુષ્ષમા અને અન્તિક સુષમસુષમા હોય છે અર્થાત્ અવસર્પિણી કાળના છ આરાઓથી ઉત્સર્પિણી કાળના આરા એકદમ ઉલ્ટા ક્રમથી હોય છે ઉત્સર્પિણી કાળમા આયુષ્ય, ઉંચાઈ વગેરેમા ક્રમશ વૃદ્ધિ થતી રહે છે અને અવસર્પિણી કાળમા અનુક્રમથી હ્રાસ થાય છે

આ વિષમતા માત્ર ભરત અને ઐરવત ક્ષેત્રોમાં જ હોય છે આ બંને ક્ષેત્રોમા મનુષ્યો આદિના ઉપભોગમા, આયુષ્યમા તથા શરીરના પ્રમાણ આદિમા હમેશા સમાનતા હોતી નથી પરન્તુ ઉત્સર્પિણીકાળમા વૃદ્ધિ અને અવસર્પિણીકાળમા હ્રાસ થાય છે આનુ કારણ એ છે કે આ બંને ક્ષેત્રોમા જ ઉત્સર્પિણી અવસર્પિણી કાળના ભેદ છે.

ભરત અને ઐરવત ક્ષેત્રો સિવાય હૈમવત, હરિવર્ષ, મહાવિદેહ, રમ્યક અને હૈરણ્યવત ક્ષેત્રોમા ઉત્સર્પિણી અને અવસર્પિણી કાળ હોતા નથી આ કાળભેદ ન હોવાથી મનુષ્યો આદિના આયુષ્ય, અવગાહના આદિમા પણ ભેદ હોતો નથી આયુષ્ય આદિમા જે વિષમતા હોય છે તેનુ કારણ કાલકૃત વિષમતા છે કાળને વિષમતાના અભાવમા તજ્જનિત આયુષ્ય અવગાહના આદિની વિષમતા પણ હોતી નથી

અનુભાવનો અર્થ છે ભોગ અને ઉપભોગ, આયુષ્યથી તાત્પર્ય છે જીવન અથવા જીવિત રહેવાનુ કાળમાન અને પ્રમાણનો અર્થ છે શરીરની ઉંચાઈ આ બધામા વૃદ્ધિ અને હ્રાસ થતા રહે છે

ઉત્સર્પિણીના છ વિભાગ હોય છે તે આ રીતે છે—(૧) દુષ્પમદુષ્પમા (૨) દુષ્પમા (૩) દુષ્પમસુષમા (૪) સુષમદુષ્પમા (૫) સુષમા અને (૬) સુષમસુષમા આનાથી વિપરીત ક્રમવાળો અવસર્પિણીકાળ છે જેમકે—(૧) સુષમ સુષમા (૨) સુષમા (૩) સુષમ દુષ્પમા (૪) દુષ્પમ સુષમા (૫) દુષ્પમા અને (૬) દુષ્પમદુષ્પમા

આમાથી ઉત્સર્પિણીકાળનુ પ્રમાણ દસ કોડાકોડી સાગરોપમનુ છે અને અવસર્પિણી કાળના પ્રમાણ પણ દશ કોડા–કોડી સાગરોપમનુ જ છે બન્નેનો સમય વીસ કોડાકોડી સાગરોપમ છે આને એક કાળચક્ર કહે છે આમાથી સુષમસુષમા આરો ચાર કોડા–કોડી સાગરોપમના હોય છે આ આરાની આદિમા મનુષ્ય હવે પછી કહેવામા આવનાર ઉત્તર કુરુક્ષેત્રના મનુષ્યોની માફક ત્રણ ગાઉના અવગાહવાળા હોય છે પછી અવસર્પિણી કાળના પ્રભાવથી ક્રમશ હ્રાસ થતા–થતા ચાર કોડાકોડી સાગરોપમ સમાપ્ત થયા પર સુષમાકાળ આરભ થાય છે

સુષમાકાળ ત્રણ કોડા–કોડી સાગરોપમનો છે આની શરૂઆતમા મનુષ્ય હરિવર્ષ ક્ષેત્રના મનુષ્યોની માફક બે ગાઉની અવગાહનાવાળા હોય છે ત્યારબાદ ક્રમશ હ્રાસ થતા–થતા ઉક્ત કાળ પુરો થઈ જવાથી સુષમદુષમા કાળ આરભ થાય છે તેનુ કાળમાન બે કોડા–કોડી સાગરોપમનુ છે તેના પ્રારંભમા મનુષ્ય હૈમવત વર્ષના મનુષ્યોની માફક એક ગાઉની અવગાહનાવાળા હોય છે ત્યારબાદ અનુક્રમથી હ્રસ થતા–થતા દુષ્પમસુષમા કાળ પ્રારભ થાય છે આ કાળની શરૂઆતમા મનુષ્ય મહાવિદેહ ક્ષેત્રના મનુષ્યોની સમાન પાચસો ધનુષ્યની–અવગાહનાવાળા હોય છે. ત્યારબાદ હાનિ થતા–થતા ઉક્ત સમય પૂર્ણ થઈ જવાથી પાચમો આરો દુષ્પમા આરભ થાય છે તેની કાળમર્યાદા એકવીસ હજાર વર્ષની છે તેની શરૂઆતમા મનુષ્યોના શરીરની ઉંચાઈ સાત હાથની અને આયુષ્ય સવાસો વર્ષનુ હોય છે અનુક્રમથી તે આરો સમાપ્ત થઈ જાય છે અને દુષ્પમ–દુષ્પમ નામનો છટ્ઠો આરો શરૂ થાય છે તે પણ એકવીસ હજાર વર્ષનો હોય છે તેમા મનુષ્યોની અવગાહના એક હાથની અને આયુષ્ય વીસ વર્ષનુ રહી જાય છે

ઉત્સર્પિણી કાળ પણ આ પ્રકારે સમજવો જોઈએ પરન્તુ તેના આરાઓનો ક્રમ વિપરીત હોય છે પ્રથમ આરો એકવીસ–હજાર વર્ષનો હોય છે તેનુ નામ દુષ્પમદુષ્પમ છે તેની પછી ઉત્સર્પિણીનો બીજો આરો દુષ્પમ આવે છે તેનુ કાળપ્રમાણ પણ એકવીસ હજાર વર્ષ છે ત્યારબાદ દુષ્પમસુષમ નામક ત્રીજો આરો ચાલુ થાય છે જે બેંતાળીશ હજાર વર્ષ ઓછા એક કોડા–કોડી સાગરોપમનો હોય છે તેની પછી ચોથો આરો બે કોડાકોડી સાગરોપમનો આવે છે જેનુ નામ સુષમદુષ્પમ છે પછી પાચમો સુષમા નામક ત્રણ કોડાકોડી સાગરોપમનો આરો આવે છે અતમા સુષમા સુષમ નામનો છઠો આરો આવે છે જે ચાર કોડા–કોડી સાગરોપમનો હોય છે.

ઉત્સર્પિણી કાળના પ્રથમ આરાની શરૂઆતમાં મનુષ્યોનુ આયુષ્ય સોળ વર્ષનુ હોય છે અને તેમનુ શરીર એક હાથનુ હોય છે ઉત્સર્પિણીના બીજા આરાની શરૂઆતમા મનુષ્યોનુ આયુષ્ય વીસ વર્ષનુ અને શરીરનુ પ્રમાણ સાડા ત્રણ હાથનુ હોય છે ઉત્સર્પિણી

કાળના ત્રીજા આરાની શરૂઆતમાં મનુષ્ય એકસોવીસ વર્ષની આયુષ્યવાળા અને સાત હાથ ઉંચા શરીરવાળા હોય છે ઉત્સર્પિણીના ચોથા આરાની શરૂઆતમા મનુષ્ય કરોડ પૂર્વની આયુષ્ય અને પાચસો ધનુષ્યની શરીરની અવગાહનાવાળા હોય છે

ઉત્સર્પિણીના પાંચમા આરાની શરૂઆતમા મનુષ્યોનુ આયુષ્ય એક પલ્યોપમનુ અને શરીરની ઉંચાઈ એક ગાઉની હોય છે ઉત્સર્પિણીકાળના છઠ્ઠા આરાની શરૂઆતમા બે પલ્યોપમનુ આયુષ્ય હોય છે અને બે ગાઉનુ શરીર હોય છે આ છઠ્ઠા આરાના અન્તમા મનુષ્યોનુ આયુષ્ય ત્રણ પલ્યોપમનુ અને શરીરની ઉંચાઈ ત્રણ ગાઉની હોય છે. ઉત્સર્પિણી-કાળના ચોથા પાચમા અને છઠ્ઠા આરામા એક પ્રકારની પણ ઈતિ હોતી નથી મનુષ્ય બધા પ્રકારના ઉપદ્રવોથી રહિત હોય છે

સ્થાનાગસૂત્રના દ્વિતીય સ્થાનના સૂત્ર ૮૯મા કહ્યુ છે—જમ્બૂદ્વીપ નામક દ્વીપમા બને કુરુક્ષેત્રોમા અર્થાત્ દેવકુરુ અને ઉત્તરકુરુમા મનુષ્ય સુષમસુષમા રૂપ ઉત્તમ ઋદ્ધિને પ્રાપ્ત કરીને તેનો ઉપભોગ કરતા થકા વિહાર કરે છે જમ્બૂદ્વીપના બે વર્ષોમા અર્થાત્ હરિવર્ષ અને રમ્યક વર્ષમા મનુષ્ય સદા સુષમા રૂપ ઉત્તમ ઋદ્ધિને પ્રાપ્ત કરીને તેનો ઉપભોગ કરતા થકા રહે છે જમ્બૂદ્વીપ નામક દ્વીપમા બે વર્ષોમા અર્થાત્ હૈમવત્ અને હૈરણ્યવત નામક ક્ષેત્રોમા મનુષ્ય સદા સુષમદુષ્ષમ રૂપ ઉત્તમ ઋદ્ધિને પ્રાપ્ત કરીને તેનો ઉપભોગ કરતા રહે છે જમ્બૂદ્વીપ નામક દ્વીપમા બે ક્ષેત્રોમા અર્થાત્ પૂર્વવિદેહ અને અપર વિદેહમા મનુષ્ય સદૈવ દુષ્ષમસુષમ રૂપ ઉત્તમ ઋદ્ધિને પ્રાપ્ત કરીને તેનો પરિભોગ કરતા થકાં વિચરે છે

જમ્બૂદ્વીપ નામક દ્વીપમા બે ક્ષેત્રોમા મનુષ્ય છ પ્રકારના કાળનો અનુભવ કરે છે આ બે ક્ષેત્ર છે—ભરત અને ઐરવત

ભગવતીસૂત્રના પાચમા શતકમા પ્રથમ ઉદ્દેશકમા પણ કહ્યુ છે—જમ્બૂદ્વીપ નામક દ્વીપમા સુમેરૂ પર્વતથી પૂર્વ અને પશ્ચિમમા ન તો ઉત્સર્પિણીકાળ હોય છે કે નથી અવ-સર્પિણીકાળ ત્યા કાળ સદૈવ અવસ્થિત અર્થાત્ એક સરખો રહે છે ॥ ૨૯ ॥

हिमवयाइ उत्तरकुरांतेसु' ઇત્યાદિ

સૂત્રાર્થ—હૈમવત ક્ષેત્રથી લઈને ઉત્તરકુરુ સુધી દક્ષિણ અને ઉત્તરમા મનુષ્ય એક, બે, ત્રણ પલ્પોયમની સ્થિતિવાળા તથા બને વિદેહ ક્ષેત્રોમા સખ્યાત કાળના આયુષ્યવાળા હોય છે ॥ ૩૦ ॥

તત્વાર્થદીપિકા—અગાઉ કહેવામા આવ્યુ છે કે ઉત્સર્પિણી અને અવસર્પિણીકાળના નિમિત્તથી ભરત અને ઐરવતક્ષેત્રોમા મનુષ્યોના ઉપભોગ, આયુષ્ય તથા શરીરની અવગાહના આદિમા વૃદ્ધિ, અને હ્રાસ થતા રહે છે હવે હૈમવત હરિવર્ષ રમ્યકવર્ષ હૈરણ્વત, દેવકુરુ ઉત્તરકુરુ તથા પૂર્વવિદેહ અને પશ્ચિમ વિદેહમા મનુષ્યની સ્થિતિની પ્રરૂપણા કરવા માટે કહીએ છીએ—

હૈમવતથી લઈને ઉત્તરકુરુ પર્યન્ત અર્થાત્ હૈમવત, હરિવર્ષ, રમ્યકવર્ષ,—હૈરણ્યવત દેવકુરુ અને ઉત્તરકુરુ ક્ષેત્રોમા યથાક્રમથી મનુષ્ય એક, બે અને ત્રણ પલ્પોપમની આયુષ્ય-

વાળા હોય છે હૈમવત અને હૈરણ્વત ક્ષેત્રમાં મનુષ્યોનુ આયુષ્ય એક પલ્પોપમનુ હોય છે હરિવર્ષ અને રમ્યકવર્ષમાં મનુષ્ય ત્રણ પલ્પોપમની આયુષ્યવાળા હોય છે પરંતુ મહાવિદેહક્ષેત્રમા પૂર્વવિદેહક્ષેત્રમા અને અપરવિદેહક્ષેત્રમા સખ્યાત કાળની સ્થિતિવાળા હોય છે ॥ ૩૦ ॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—આનાથી પહેલા ભરત તથા ઐરવતમા ઉત્સર્પિણી અવસર્પિણી કાળવિશેષ નિમિત્તક મનુષ્યોના ઉપભોગ આયુષ્ય, શરીરની ઉંચાઈ વગેરેમા વૃદ્ધિ–તથા હ્રાસ થતો નથી એ પ્રરૂપિત કર્યું છે.

હવે પાંચ ક્ષેત્રોમા અને દેવકુરુ ઉત્તરકુરુ ક્ષેત્રોમા કેવળ મનુષ્યોનુ ન્યૂનાધિકત્વરૂપ વિશેષ પ્રતિપાદન કરવા માટે કહીએ છીએ—

हिमवयाइ' ઈત્યાદિ હૈમવતથી લઈને ઉત્તરકુરુ સુધીના અર્થાત્ હૈમવત–હરિવર્ષ–રમ્યકવર્ષ હૈરણ્યવત દેવકુરુ અને ઉત્તરકુરુના દક્ષિણ ઉત્તરક્ષેત્રોમા મનુષ્ય ક્રમથી એક બે ત્રણ પલ્યોપમની સ્થિતિવાળા હોય છે

તેમા હૈમવત ક્ષેત્રમા હૈરણ્યવત ક્ષેત્રમા દક્ષિણોત્તર ક્ષેત્રોમા મનુષ્યોનુ આયુષ્ય એક પલ્યોપમનુ હોય છે હરિવર્ષ અને રમ્યકવર્ષમા બે પલ્યોપમનુ આયુષ્ય હોય છે જ્યારે દેવકુરુ તથા ઉત્તરકુરુમા ત્રણ પલ્યોપમનુ આયુષ્ય હોય છે

પાચ હૈમવત અને પાચ હૈરણ્યવત ક્ષેત્રોમા હમેશા સુષમદુષ્ષમ જેવો કાળ પ્રવર્તતો હોવાથી ત્યાના મનુષ્યો એક પલ્યોપમના આયુષ્યવાળા, બે હજાર ધનુષની અવગાહનાવાળા, ચતુર્થ ભત્તાહારી અર્થાત્ એકાન્તરથી ભોજન કરવાવાળા તથા નીલકમળની જેવા વર્ણવાળા હોય છે

એવી જ રીતે પાચ હરિવર્ષ તથા પાચ રમ્યકવર્ષ ક્ષેત્રોમા સદા સુષમા જેવો કાળ રહેતો હોવાથી ત્યાના–મનુષ્યોનુ આયુષ્ય બે પલ્યોપમનુ હોય છે, શરીરની અવગાહના ચાર હજાર ધનુષ્યની હોય છે અને તેઓ ષષ્ઠ ભત્તાહારી હોય છે અર્થાત્ બે દિવસના આતરે ભોજન કરે છે તેમનો વર્ણ શખ જેવો હોય છે

પાચ દેવકુરુ અને પાચ ઉત્તરકુરુ ક્ષેત્રોમા સુષમાસુષમા માફક સદૈવ રહેવાથી ત્યાંના મનુષ્યોનુ આયુષ્ય ત્રણ પલ્યોપમનુ હોય છે, અવગાહના છ હજાર ધનુષ્યની હોય છે અને તેઓ અષ્ટમભત્ત—ભોજી આકર્ષ હોય છે—અર્થાત્ ત્રણ ત્રણ દિવસના આતરે ભોજન કરે છે તેમના શરીરનો રગ સોના જેવો હોય છે પરતુ પાચ પૂર્વવિદેહો અને પાચ પશ્ચિમવિદેહોમાં મનુષ્ય સખ્યાત કાળના આયુષ્યવાળા હોય છે ત્યા સદા દુષ્ષમ–સુષમકાળના પ્રારભ વખતે હોય છે તેવો કાળ બન્યો રહે છે આથી ત્યાના મનુષ્યોની ઉચાઈ પાચસો ધનુષ્યોની હોય છે, તેઓ દરરોજ ભોજન કરે છે અને તેમની ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ એક કરોડ પૂર્વની તથા જઘન્ય સ્થિતિ અન્તર્મૂહૂર્ત્તની હોય છે

જે ક્ષેત્રમા મુનિઓનો દેહ વિગત–વિનષ્ટ થાય છે અર્થાત્ જ્યા સદૈવ ધર્મ–શાસનની પ્રવૃત્તિ રહેવાથી તથા તીર્થકરોની વિદ્યમાનતા હોવાથી મુનિજન વિદેહ–અવસ્થા પ્રાપ્ત કરે છે, તે ક્ષેત્ર પણ વિદેહ કહેવાય છે. જો કે મધ્યમા મેરૂ પર્વત આવેલો હોવાથી વિદેહ

હોવાથી ક્ષેત્ર પૂર્વ અપર આદિ ભાગોમા વિભક્ત છે તેમ છતા સામાન્ય રૂપથી એક જ છે જમ્બૂદ્વીપમા એક ધાતકીખણ્ડ દ્વીપમા બે તથા પુષ્કરાર્ધમા બે વિદેહ હોવાના કારણે પચમહાવિદેહ ક્ષેત્ર કહેવામા આવે છે

જમ્બૂદ્વીપપ્રજ્ઞપ્તિના ચોથા વક્ષસ્કારમા કહેવામા આવ્યું છે—જમ્બૂદ્વીપ નામક દ્વીપમા મન્દર પર્વતથી ઉત્તર તથા દક્ષિણ દિશામા બે વર્ષ કહેવામા આવ્યા છે—હૈમવન્ત અને હૈરણ્યવત હરિવર્ષ અને રમ્યકવર્ષ દેવકુરૂ અને ઉત્તરકુરુ તેમા એક પલ્યોપમની સ્થિતિ કહેલી:છે, બે પલ્યોપમની સ્થિતિ તથા ત્રણ પલ્યોપમની સ્થિતિ કહી છે

પ્રશ્ન—ભગવન્ ! મહાવિદેહમા મનુષ્યોની કેટલી સ્થિતિ કહી છે ?

ઉત્તર—ગૌત્તમ ! જઘન્ય અન્તર્મુહૂર્ત્ત પ્રમાણ અને ઉત્કૃષ્ટ કરોડ પૂર્વનુ—આયુષ્ય કહેલુ છે ॥ ૩૦ ॥

'घायइसंडे पुक्खरद्धेय दो दो वासकुराय'

સૂત્રાર્થ—ધાતકીખણ્ડ અને પુષ્કરાર્ધમા બે–બે વર્ષ અને બે–બે કુરુ છે ॥ ૩૧ ॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—પહેલા જમ્બૂદ્વીપમા ભરત, હૈમવત હરિવર્ષ, મહાવિદેહ, રમ્યકવર્ષ, હૈરણ્યવત અને ઐરવતવર્ષ એ સાત વર્ષોનુ પ્રતિપાદન કરવામા આવ્યુ છે હવે એ નિરૂપણ કરીએ છીએ કે ધાતકીખણ્ડ અને પુષ્કરાર્ધમા ભરત આદિ ક્ષેત્ર બે–બે–છે—

ધાતકીખણ્ડ દ્વીપમા તથા પુષ્કરાર્ધદ્વીપમા ભરત આદિ પ્રત્યેક ક્ષેત્ર બે–બે છે આથી ત્યા સાતને બદલે ચૌદ–ચૌદ ક્ષેત્ર હોય છે કુરુ મહાવિદેહોમા જ હોય છે આથી જમ્બૂદ્વીપના દેવકુરુ અને ઉત્તરકુરુ સિવાયના ચાર દેવકુરુ અને ચાર ઉત્તરકુરુ ધાતકીખણ્ડ અને પુષ્કરાર્ધમા છે આ રીતે જમ્બૂદ્વીપમા ભરત આદિ ક્ષેત્ર એક–એક છે ધાતકીખણ્ડમા બબ્બે છે જ્યારે પુષ્કરાર્ધમા પણ બે–બે છે આ બધા મળીને પાચ–પાચ હોય છે મેરૂપર્વત પણ પાચ-પાચ છે મહાવિદેહોમા દેવકુરુ અને ઉત્તરકુરુ પણ પાચ-પાચ જ હોય છે ॥૩૧॥

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—જમ્બૂદ્વીપમા સાત ક્ષેત્રો સબધી અગાઉ કથન કરવામા આવી ગયું છે એટલુ જ નહી પણ જમ્બૂદ્વીપમા એક–એક ભરત આદિ ક્ષેત્ર છે એ પણ બતાવી દેવાયુ છે હવે એવું નિરૂપણ કરવામા આવી રહ્યુ છે કે ધાતકીખણ્ડ અને અર્ધ પુષ્કર દ્વીપમા ભરત આદિ ક્ષેત્ર બે–બે છે

ધાતકીખણ્ડ અને પુષ્કરાર્ધ ક્ષેત્રમા ભરત આદિ વર્ષ બે–બે છે કુરુ માત્ર પાંચ મહાવિદેહોમા જ છે, આથી જમ્બૂદ્વીપના મહાવિદેહને બાદ કરતા બાકીના ચાર મહાવિદેહ છે જેમા ચાર દેવકુરુ છે અને ચાર ઉત્તરકુરુ છે આ રીતે બને કુરુ મળીને ધાતકીખણ્ડ અને પુષ્કરાર્ધ ક્ષેત્રમા આઠ કુરૂ છે જમ્બૂદ્વીપના બને કુરૂ ભેગા કરવામા આવે તો એમની સખ્યા દશ થઈ જાય છે—પાચ દેવકુરૂ અને પાચ ઉત્તર કુરૂ

દક્ષિણ અને ઉત્તરમા લાબા પોતાના છેડાઓથી લવણોદધિ અને કાલોદધિ સમુદ્રોને સ્પર્શ કરનારા બે ઈષુકાર પર્વતોથી ધાતકીખણ્ડ દ્વીપ પૂર્વ અને પશ્ચિમમા વિભક્ત થયેલો છે. આના પૂર્વ ભાગમા તથા પશ્ચિમ ભાગમા એક–એક મેરુ પર્વત છે

તેના ઉપર કહેલાં બને વિભાગોમા ભરત વગેરે બધા પૂર્વોક્ત ક્ષેત્ર છે અને હિમવન્ત પર્વત છે આથી બે ભરતક્ષેત્ર, બે હિમવન્ત પર્વત, બે હૈમવત ક્ષેત્ર, બે મહાહિમવાન્ પર્વત, બે હરિવર્ષ, બે નિષધ પર્વત, બે મહાવિદેહ, બે નીલવન્ત પર્વત, બે રમ્યકવર્ષ, બે રૂક્મિ પર્વત, બે હૈરણ્યવત ક્ષેત્ર, બે શિખરી પર્વત અને બે ઐરવતવર્ષ છે

ચોથા મહાવિદેહ ક્ષેત્રમાં બે દેવકુરૂ અને બે ઉત્તરકુરૂ છે આ રીતે જમ્બૂદ્વીપમા જે હિમવન્ત આદિ વર્ષધર પર્વત છે તેમના વિસ્તારથી ધાતકીખણ્ડ દ્વીપમા સ્થિત હિમવન્ત આદિ પર્વતોનો વિસ્તાર બમણો–બમણો છે આ વર્ષધર પર્વત પૈડાના આકારમાં સ્થિત છે. ધાતકી નામક વૃક્ષના કારણે જ તે દ્વીપ ધાતકીખંડ કહેવાય છે ધાતકીખણ્ડ દ્વીપને ચારે બાજુએથી ઘેરી વળેલો કાલોદધિ સમુદ્ર છે તેનો વિસ્તાર આઠ લાખ યોજનનો છે તેમા પણ બે–બે ભરત આદિ ક્ષેત્ર છે કાલોદ સમુદ્રની ચારે બાજુ પુષ્કરદ્વીપ છે તેનો વિસ્તાર સોળ લાખ યોજનનો છે

આ રીતે જમ્બૂદ્વીપની અપેક્ષા પુષ્કરાર્ધ ક્ષેત્રમા બે ભરતક્ષેત્ર છે, બે હિમવન્ત પર્વત છે, બે હૈમવત ક્ષેત્ર છે, બે મહાહિમવાન્ પર્વત છે, બે હરિવર્ષ છે, બે નિષધ પર્વત છે, બે મહાવિદેહ છે બે નીલવન્ત પર્વત છે, બે રમ્યકવર્ષ છે, બે રૂક્મિપર્વત છે, બે હૈરણ્યવત ક્ષેત્ર છે, બે શિખરી પર્વત છે અને બે ઐરવત ક્ષેત્ર છે બે દેવકુરૂ અને બે ઉત્તરકુરૂ છે ધાતકીખણ્ડ દ્વીપમા હિમવન્ત વગેરે પર્વતોનો વિસ્તાર જેટલો કહેવામા આવ્યો છે. તેટલો જ વિસ્તાર પુષ્કરાર્ધ દ્વીપમા પણ સમજવો જેવી રીતે ધાતકીખણ્ડ દ્વીપમા બે ઈક્ષ્વાકાર પર્વત અને બે મન્દર પર્વત છે તે જ રીતે પુષ્કરાર્ધ દ્વીપમા પણ છે

જમ્બૂદ્વીપમા જે સ્થળે જમ્બૂવૃક્ષ છે, પુષ્કરદ્વીપમા તે સ્થળે પુષ્કર નામક વૃક્ષ સહ-પરિવાર સ્થિત છે આ વૃક્ષને કારણે જ તેનુ નામ પુષ્કરદ્વીપ પ્રચલિત છે પુષ્કરદ્વીપની મધ્યમા માનુષોત્તર પર્વત હોવાથી તેના અડધા–અડધા એવા બે ભાગ થઈ ગયા છે આથી તેને પુષ્કરાર્ધ કહે છે.

સ્થાનાગસૂત્રના બીજા સ્થાનના ત્રીજા ઉદ્દેશકમા સૂત્ર ૯૨ મા કહે છે—ધાતકીખણ્ડ દ્વીપના પૂર્વાર્ધમા મેરૂપર્વતની ઉત્તર દક્ષિણમા બે વર્ષ (ક્ષેત્ર) કહેલા છે જે તદ્દન એક સરખા છે તે છે ભરત અને ઐરવત, ઈત્યાદિ ધાતકીખણ્ડ દ્વીપના પશ્ચિમાર્ધમા મેરૂ પર્વતથી ઉત્તર અને દક્ષિણમાં બે ક્ષેત્ર કહેવામા આવ્યા છે, જે તદ્દન એક સમાન છે, તે છે ભરત અને ઐરવત ઈત્યાદિ

આગળ ચાલતા સ્થાનાંગસૂત્રમા જ બીજા સ્થાનના ત્રીજા ઉપદેશકના સૂત્ર ૯૩ મા કહ્યુ છે—

પુષ્કરવરદ્વીપના પૂર્વાર્ધ ભાગમા મેરૂપર્વતથી ઉત્તર દક્ષિણમા બે ક્ષેત્ર કહેવામા આવ્યા છે જે બિલ્કુલ એક સરખા છે તે છે ભરત અને ઐરવત ઈત્યાદિ સઘળુ પૂર્વવત જ સમજી લેવાનુ છે જેમકે બે કુરૂ કહેવામા આવ્યા છે' ॥૩૧॥

'माणुसोत्तराओ पुव्वं मणुआ' ઇત્યાદિ

તાત્પર્ય એ છે કે પુષ્કરાર્ધમા બે-બે ભરત આદિ ક્ષેત્રોનુ તથા હિમવાન્ આદિ પર્વતોનું અસ્તિત્વ કહેવામા આવ્યુ છે, સમ્પૂર્ણ પુષ્કરદ્વીપમા કહેલુ નથી આમ મનુષ્ય લોક માનુષોત્તર પર્વતથી પહેલા-પહેલાનો જ ભાગ કહેવાય છે અને તેમા જમ્બૂદ્વીપ, ધાતકીખણ્ડ દ્વીપ અને અડધો પુષ્કરદ્વીપ એ અઢી દ્વીપ અને લવણુ સમુદ્ર તથા કાલોદધિ સમુદ્ર નામક બે સમુદ્ર સમ્મિલિત છે તેમા પાચ મન્દર પર્વત છે, પાચ-પાચ ભરત ક્ષેત્ર આદિ સાતે ક્ષેત્રો હોવાથી ૭+૫=૩૫ ક્ષેત્ર છે, પાચ-પાચ હિમવન્ત આદિ પર્વત હોવાથી કુલ ૬×૫=૩૦ પર્વત છે, પાચ દેવકુરુ છે, પાચ ઉત્તરકુરુ છે, ૧૬૦ ચક્રવર્તી-વિજય છે, બસોપંચાવન જનપદ છે અને છપ્પન અન્તર્દ્વીપ છે

મનુષ્યલોકની સીમા નક્કી કરનારો, મહાનગરના મહેલ જેવો, સોનેરી, પુષ્કરદ્વીપના અડધા-અડધા બે વિભાગ કરનારો, એક હજાર સાતસો એકવીશ યોજન ઉચો, ચારસો-ત્રીસ પૂર્ણાંક એક ચતુર્થાંશ (૪૩૦¼) યોજન પૃથ્વી તળમા ઘસેલો અને ઉપરના ભાગમાં વિસ્તીર્ણ એવો માનુષોત્તર પર્વત છે.

મનુષ્ય બે પ્રકારના હોય છે—સંમૂર્ચ્છિમ અને ગર્ભજ, સમૂર્ચ્છિમ ચૌદ પ્રકારના છે ઉચ્ચારેસવા વગેરે ગર્ભજ ત્રણ પ્રકારના છે કર્મભૂમિ અકર્મભૂમિ અને અન્તર દ્વીપજ કર્મભૂમિ મનુષ્ય પદર પ્રકારના છે, પાચ ભરત, પાચ ઐરવત અને પાચ મહાવિદેહ અકર્મભૂમિ ત્રીસ પ્રકારની છે, પાચ હૈમવત પાચ હૈરણ્યવત, પાચ હરિવર્ષ પાચ રમ્યકવાસ, પાચ દેવકુરુ અને પાચ ઉત્તર કુરુ એ ત્રીસ અકર્મભૂમિના મનુષ્યો છે, છપ્પન અતર્દ્વીપના મનુષ્ય છે, ઋદ્ધિ પ્રાપ્ત અનેક પ્રકારના છે, તીર્થંકર ચક્રવતી આદિ અનૃદ્ધિ પ્રાપ્ત અનેક પ્રકારના છે, કલાચાર્ય, શિલ્પાચાર્ય. આદિ ॥૩૨॥

'कम्मभूमी भरह एरवय' ઇત્યાદિ

સૂત્રાર્થ—ભરત, ઐરવત અને વિદેહ ક્ષેત્ર કર્મભૂમિ છે આની સિવાયના બધાં ક્ષેત્ર અકર્મભૂમિ છે ॥૩૩॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—આની પહેલા કર્મભૂમિજ મ્લેચ્છોનો ઉલ્લેખ કરવામા આવ્યો તો તે કર્મભૂમિઓ ક્યાં છે? આ જિજ્ઞાસાના સમાધાન અર્થે કહે છે—

ભરત, ઐરવત અને વિદેહક્ષેત્ર કર્મભૂમિઓ છે આ સિવાય હૈમવત વર્ષ, હરિવર્ષ, રમ્યકવર્ષ, હૈરણ્યવત વર્ષ, દેવકુરુ અને ઉત્તર કુરુ આ ૭ ક્ષેત્ર અકર્મભૂમિઓ—ભોગ-ભૂમિઓ છે.

આ પ્રકારે અઢી દ્વીપના પાચ ભરત પાચ ઐરવત અને પાચ મહાવિદેહ આ પંદર કર્મભૂમિઓ કહેવાય છે પાચ હૈમવત, પાંચ હરિવર્ષ, પાચ રમ્યકવર્ષ, પાચ હૈરણ્યવત વર્ષ, પાચ દેવકુરુ તથા પાચ ઉત્તર કુરુ એમ ત્રીસ તથા છપન્ન અન્તર્દ્વીપ અકર્મભૂમિ અથવા ભોગભૂમિ છે ॥૩૩॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પાછલા સૂત્રમા કર્મભૂમિજ મ્લેચ્છોનુ પ્રરૂપણ કરવામાં આવ્યું હવે અત્રે કર્મભૂમિઓની પ્રરૂપણા કરવામા આવી રહી છે—

સૂત્રાર્થ—મનુષ્ય માનુષોત્તર પર્વતથી પહેલા—પહેલા જ રહે છે અને તેઓ બે પ્રકારના હોય છે—આર્ય અને મ્લેચ્છ ॥૩૨॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—આની અગાઉ ધાતકીખણ્ડ અને પુષ્કરાર્ધ દ્વીપમાં બે–બે ભરત આદિ ક્ષેત્ર અને બે–બે હિમવન્ત આદિ પર્વત છે એ પ્રતિપાદન કરવામા આવ્યુ પરન્તુ સંપૂર્ણ પુષ્કર દ્વીપમા ભરત આદિ ક્ષેત્રોનુ તથા હિમવન્ત આદિ પર્વતોનુ કથન ન કરતા 'પુષ્કરાર્ધ'મા જે કથન કરવામા આવ્યુ છે એનુ શુ કારણ ? એના સમાધાનના સમર્થનમા કહીએ છીએ—

પુષ્કરદ્વીપની વચ્ચોવચ્ચ સ્થિત માનુષોત્તર પર્વતની પહેલાં–પહેલા જ મનુષ્યોનો વાસ છે તેનાથી બહાર મનુષ્ય હોતા નથી, માનુષોત્તર પર્વત દ્વારા પુષ્કરદ્વીપના બે વિભાગ થઈ ગયા છે આથી પુષ્કરદ્વીપના પૂર્વાર્ધમા જ મનુષ્ય હોય છે તેનાથી આગળ હોતા નથી. આ મનુષ્યો બે પ્રકારના હોય છે— આર્ય અને મ્લેચ્છ ॥૩૨॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—ધાતકીખણ્ડ અને પુષ્કરાર્ધમા ભરત આદિ ક્ષેત્ર તથા હિમવન્ત આદિ પર્વત બે–બે છે એ અગાઉ બતાવી દેવામા દેવામા આવ્યુ છે પરંતુ બે–બે ની સંખ્યા પુષ્કરદ્વીપમા ન કહેતા પુષ્કરાર્ધમા કહી છે એનુ કારણ શુ છે ? તેના જવાબમાં કહીએ છીએ—

પુષ્કરદ્વીપની મધ્યમા સ્થિત માનુષોત્તર પર્વતથી પહેલા–પહેલા જ મનુષ્યોનો નિવાસ છે, તેની પછીના અર્ધ–ભાગમા મનુષ્ય હોતા નથી અથવા તેની પછીના બીજા કોઇ દ્વીપમા પણ મનુષ્યનો વાસ નથી આશય એ છે કે પુષ્કરદ્વીપની વચ્ચોવચ્ચ વલય (બંગડી) આકારનો એક પર્વત છે જે માનુષોત્તર પર્વત કહેવાય છે તે પર્વત પુષ્કરદ્વીપને બે વિભાગોમા વહેંચી નાખે છે આથી તેનો એક ભાગ પુષ્કરાર્ધ કહેવાય છે આવી રીતે તે માનુષોત્તર પર્વતથી પહેલા–પહેલા જ પુષ્કરાર્ધ સુધી મનુષ્ય છે તેનાથી આગળના અડધા–ભાગમા નથી તે આગલા ભાગમા પૂર્વોક્ત ભરત આદિ ક્ષેત્રો તથા પર્વતોનો વિભાગ પણ નથી ચારણ મુનિ મનુષ્ય ક્ષેત્રથી બહાર નન્દી પર્વત અને રુચકવર દ્વીપ સુધી જાય છે એ પ્રમાણે ભગવતીસૂત્ર, શતક ૨૦, ઉદ્દેશક ૯ મા પ્રરૂપેલુ છે ત્યાની નદીઓ પણ પ્રવાહિત હોતી નથી મનુષ્યક્ષેત્રના ત્રસ જીવ પણ પુષ્કરાર્ધથી આગળ જતા નથી પરન્તુ જ્યારે માનુષોત્તર પર્વત પછીના કોઈ દ્વીપ અથવા સમુદ્રમા મરેલો જીવ—તિર્યંચ અથવા દેવ, મનુષ્ય ક્ષેત્રમા પાણી લેવા માટે આવે છે અને મનુષ્ય—પર્યાયમા ઉત્પન્ન થનારા હોય છે, ત્યારે મનુષ્યગતિ—આનુપૂર્વીથી આવતો થકો તે જીવ, મનુષ્યના આયુષ્યનો ઉદય થઈ જવાના કારણે મનુષ્ય કહેવાય છે આથી વિગ્રહગતિની અપેક્ષાથી મનુષ્ય ક્ષેત્રની બહાર પણ મનુષ્યની સત્તા માનવામા આવે છે એવી જ રીતે કેવળી જ્યારે સમુદ્ઘાત કરે છે ત્યારે દંડ, કપાટ, પ્રતર અને લોકપૂરણ કરીને સમગ્ર લોકમા પોતાના આત્મપ્રદેશોને ફેલાવી દે છે તે સમયે પણ માનુષોત્તર પર્વતથી આગળ મનુષ્યની સત્તા સ્વીકારાઈ છે તથા લબ્ધિધારી પણ ત્યા જઈ શકે છે

આવી રીતે જમ્બૂદ્વીપમા, ધાતકીખણ્ડ દ્વીપમા અને અર્ધપુષ્કરદ્વીપમા અર્થાત્ અઢી દ્વીપોમા તથા લવણસમુદ્ર અને કાલોદધિ સમુદ્રમા મનુષ્યનો વાસ હોય છે એવું સમજવાનુ છે

તાત્પર્ય એ છે કે પુષ્કરાર્ધમા બે-બે ભરત આદિ ક્ષેત્રોનુ તથા હિમવાન્ આદિ પર્વતોનુ અસ્તિત્વ કહેવામા આવ્યુ છે, સમ્પૂર્ણ પુષ્કરદ્વીપમા કહેલુ નથી. આમ મનુષ્ય લોક માનુષોત્તર પર્વતથી પહેલા-પહેલાનો જ ભાગ કહેવાય છે અને તેમાં જમ્બૂદ્વીપ, ધાતકીખણ્ડ દ્વીપ અને અડધો પુષ્કરદ્વીપ એ અઢી દ્વીપ અને લવણુ સમુદ્ર તથા કાલોદધિ સમુદ્ર નામક બે સમુદ્ર સમ્મિલિત છે. તેમા પાચ મન્દર પર્વત છે, પાચ-પાચ ભરત ક્ષેત્ર આદિ સાતે ક્ષેત્રો હોવાથી ૭+૫=૩૫ ક્ષેત્ર છે, પાચ-પાચ હિમવન્ત આદિ પર્વત હોવાથી કુલ ૬×૫=૩૦ પર્વત છે, પાચ દેવકુરુ છે, પાચ ઉત્તરકુરુ છે, ૧૬૦ ચક્રવર્તી-વિજય છે, બસોપચાવન જનપદ છે અને છપ્પન અન્તર્દ્વીપ છે.

મનુષ્યલોકની સીમા નક્કી કરનારો, મહાનગરના મહેલ જેવો, સોનેરી, પુષ્કરદ્વીપના અડધા-અડધા બે વિભાગ કરનારો, એક હજાર સાતસો એકવીશ યોજન ઉચો, ચારસો-ત્રીસ પૂર્ણાંક એક ચતુર્થાંશ (૪૩૦¼) યોજન પૃથ્વી તળમા ઘસેલો અને ઉપરના ભાગમાં વિસ્તીર્ણ એવો માનુષોત્તર પર્વત છે.

મનુષ્ય બે પ્રકારના હોય છે—સમૂચ્છિંમ અને ગર્ભજ, સમૂચ્છિંમ ચૌદ પ્રકારના છે. ઉચ્ચારેસ્વા વગેરે ગર્ભજ ત્રણુ પ્રકારના છે કર્મભૂમિ અકર્મભૂમિ અને અન્તર દ્વીપજ કર્મભૂમિ મનુષ્ય ૫દર પ્રકારના છે, પાચ ભરત, પાચ ઐરવત અને પાચ મહાવિદેહ અકર્મભૂમિ ત્રીસ પ્રકારની છે, પાચ હૈમવત પાચ હૈરણ્યવત, પાચ હરિવર્ષ પાચ રમ્યકવાસ, પાચ દેવકુરુ અને પાચ ઉત્તર કુરુ એ ત્રીસ અકર્મભૂમિના મનુષ્યો છે, છપ્પન અતર્દ્વીપના મનુષ્ય છે, ઋદ્ધિ પ્રાપ્ત અનેક પ્રકારના છે, તીર્થંકર ચક્રવર્તી આદિ અનૃદ્ધિ પ્રાપ્ત અનેક પ્રકારના છે, કલાચાર્ય, શિલ્પાચાર્ય. આદિ ॥૩૨॥

'कम्मभूमी भरह परवय' ઇત્યાદિ

સૂત્રાર્થ—ભરત, ઐરવત અને વિદેહ ક્ષેત્ર કર્મભૂમિ છે આની સિવાયના બધાં ક્ષેત્ર અકર્મભૂમિ છે ॥૩૩॥

તત્ત્વાર્થદીપિકા—આની પહેલા કર્મભૂમિજ મ્લેચ્છોનો ઉલ્લેખ કરવામા આવ્યો તો તે કર્મભૂમિઓ કયા છે ? આ જિજ્ઞાસાના સમાધાન અર્થે કહે છે—

ભરત, ઐરવત અને વિદેહક્ષેત્ર કર્મભૂમિઓ છે આ સિવાય હૈમવત વર્ષ, હરિવર્ષ, રમ્યકવર્ષ, હૈરણ્યવત વર્ષ, દેવકુરુ અને ઉત્તર કુરુ આ છ ક્ષેત્ર અકર્મભૂમિઓ—ભોગ-ભૂમિઓ છે।

આ પ્રકારે અઢી દ્વીપના પાચ ભરત પાચ ઐરવત અને પાંચ મહાવિદેહ આ પંદર કર્મભૂમિઓ કહેવાય છે પાચ હૈમવત, પાચ હરિવર્ષ, પાચ રમ્યકવર્ષ, પાચ હૈરણ્યવત વર્ષ, પાચ દેવકુરુ તથા પાચ ઉત્તર કુરુ એમ ત્રીસ તથા છપન્ન અન્તર્દ્વીપ અકર્મભૂમિ અથવા ભોગભૂમિ છે ॥૩૩॥

તત્ત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પાછલા સૂત્રમા કર્મભૂમિજ મ્લેચ્છોનુ પ્રરૂપણુ કરવામાં આવ્યું હવે અત્રે કર્મભૂમિઓની પ્રરૂપણા કરવામા આવી રહી છે—

કર્મોના ક્ષપણુ કરવા માટે જે ભૂમિઓ અનુકૂળ છે તે કર્મભૂમિઓ કહેવાય છે સમસ્ત કર્મરૂપી અગ્નિને શમાવવા માટે અથવા સિદ્ધિ પ્રાપ્ત કરવા માટે ઉપર્યુક્ત ભૂમિઓ કર્મ-ભૂમિઓ છે તે છે—ભરત, ઐરવત અને વિદેહ ક્ષેત્ર

અગાઉ કહેવામા આવ્યુ છે તેમ જમ્બૂદ્વીપમા એક ભરત, એક ઐરવત અને એક વિદેહ ક્ષેત્ર છે ધાતકીખણ્ડમા અને અર્ધપુષ્કર દ્વીપમા બે–બે ભરત ઐરવત અને વિદેહ ક્ષેત્ર છે આ રીતે પાચ ભરત, પાચ ઐરવત અને પાચ વિદેહ, આ પદર ક્ષેત્ર કર્મ-ભૂમિઓ કહેવાય છે આ સિવાય હૈમવત, હરિવર્ષ, રમ્યકવર્ષ અને હૈરણ્વત વર્ષ પાંચ–પાચ હોવાથી વીસ, પાચ દેવકુરુ અને પાચ ઉત્તરકુરુ તથા છપ્પન્ અન્તર્દ્વીપ આ બધી અકર્મભૂમિઓ છે આ પદર ભરત, ઐરવત અને મહાવિદેહ ક્ષેત્રોમા નરકાદિ રૂપ દુર્ગમ સંસાર–અટવીનો નાશ કરનારા, સમ્યક્દર્શન–જ્ઞાન–ચરિત્ર રૂપ મોક્ષમાર્ગના જ્ઞાતા પ્રણેતા અને પ્રદર્શક, પરમ ઋષિ ભગવાન તીર્થંકર ઉત્પન્ન થાય છે. આ જ કર્મભૂમિઓમા ઉત્પન્ન ભવ્યજીવો સકળ કર્મોને ખપાવીને મોક્ષધામ પ્રાપ્ત કરે છે. હૈમવત આદિ ક્ષેત્રોમા ઉત્પન્ન જીવ મોક્ષ પ્રાપ્ત કરતા નથી કારણકે તે અકર્મભૂમિ છે ત્યા તીર્થંકર હોતા નથી.

પ્રજ્ઞાપનાસૂત્રના પ્રથમ પદના ૩૨મા સૂત્રમા કહ્યુ છે—

પ્રશ્ન—કર્મભૂમિઓ કેટલા પ્રકારની છે ?

ઉત્તર—કર્મભૂમિઓ પદર પ્રકારની છે–પાચ ભરત, પાંચ ઐરવત અને પાંચ મહાવિદેહ

પ્રશ્ન—અકર્મભૂમિઓ કેટલા પ્રકારની છે ?

ઉત્તર—અકર્મભૂમિઓ ત્રીસ પ્રકારની છે–પાચ હૈમવત પાચ હરિવર્ષ પાચ રમ્યક-વર્ષ પાચ હૈરણ્યવત, પાચ દેવકુરુ અને પાચ ઉત્તરકુરુ આ અકર્મભૂમિઓ છે ।।૩૩।।

'तत्थ मणुस्साणं तिरिक्खजोणियाणय' ઇત્યાદિ

સૂત્રાર્થ—ભરત આદિ ક્ષેત્રોમા મનુષ્યો અને તિર્યંચોની સ્થિતિ ઉત્કૃષ્ટ ત્રણ પલ્યોપમની અને જઘન્ય અન્તર્મૂહૂર્ત્તની છે ।। ૩૪ ।।

તત્ત્વાર્થદીપિકા—આની અગાઉ જમ્બૂદ્વીપ આદિ અઢી દ્વીપોમા વિદ્યમાન ભરત આદિ ક્ષેત્રોમા મનુષ્યોની ઉત્પત્તિની પ્રરૂપણા કરવામા આવી છે હવે આ ક્ષેત્રોના મનુષ્યો અને પચેન્દ્રિય તિર્યંચોનુ આયુષ્ય કેટલુ હોય છે એવી જિજ્ઞાસાનું સમાધાન કરીએ છીએ—

પૂર્વોક્ત ભરત આદિ ક્ષેત્રોમા મનુષ્યોની અને ગર્ભજ ચતુષ્પાદ સ્થળચર તિર્યંચોના આયુષ્ય રૂપ સ્થિતિ ઉત્કૃષ્ટ ત્રણ પલ્યોપમનુ અને જઘન્ય અન્તર્મુહૂર્ત્તનુ હોય છે ।।૩૪।।

તત્વાર્થનિર્યુક્તિ—પહેલા ભરત આદિ ક્ષેત્રોમા મનુષ્યોની ઉત્પત્તિનુ નિરૂપણ કર-વામા આવ્યુ હવે તે ક્ષેત્રોમા ઉત્પન્ન થનારા મનુષ્યો અને પંચેન્દ્રિય તિર્યંચોનુ આયુષ્ય કેટલું હોય છે એ શકાનુ સમાધાન કરવા માટે કહીએ છીએ—

તે ભરત વગેરે ક્ષેત્રોમા મનુષ્યોનુ તથા ગર્ભજ ચતુષ્પાદ સ્થળચર પંચેન્દ્રિય તિર્યં-ચોનુ આયુષ્ય ઉત્કૃષ્ટ ત્રણ પલ્યોપમનું અને જઘન્ય અન્તર્મૂહૂર્ત્તનું હોય છે,

મનુષ્યો અને તિર્યંચોની સ્થિતિ બે પ્રકારની કહેવામા આવી છે–ભવસ્થિતિ અને કાયસ્થિતિ મનુષ્યનો અથવા તિર્યંચનો જન્મ પામીને જીવ તે જન્મના જેટલા કાળ સુધી જીવિત રહે છે તે તેની જીવસ્થિતિ કહેવાય છે કોઈ જીવ મનુષ્ય પર્યાયમા ઉત્પન્ન થઈને જીવિત રહે છે પછી આયુષ્યનો અન્ત આવવાથી મૃત્યુ પામે છે અને પુનઃ મનુષ્ય પર્યાયમા ઉત્પન્ન થાય છે આ રીતે જેટલા કાળ સુધી તે લગાતાર મનુષ્ય ભવ કરે છે આ કાળમર્યાદાને કાયસ્થિતિ કહે છે. એવી જ રીતે તિર્યંચ જેટલા ભવો સુધી લગાતાર તિર્યંચપર્યાયમા ચાલુ રહે છે તે તેની કાયસ્થિતિ કહેવાય છે આ કાયસ્થિતિ મનુષ્યો અને તિર્યંચોની જ હોય છે કારણ કે એમના જ લગાતાર અનેક ભવ થઈ શકે છે દેવતા અને નરકોના લગાતાર અનેક ભવો હોતા નથી અર્થાત્ દેવ મરીને પુન દેવ અને નરકના જીવ મરીને ફરીવાર નારક થતા નથી આથી તેમની ભવ સ્થિતિથી જુદી કોઈ કાયસ્થિતિ હોતી નથી જેટલી ભવસ્થિતિ છે તેટલી જ એમની કાયસ્થિતિ હોય એમ કહેવાનુ છે

મનુષ્યની ઉત્કૃષ્ટ ભવસ્થિતિ ત્રણ પલ્યોપમની અને જઘન્ય અન્તર્મુહૂર્ત્તની છે ઉત્કૃષ્ટ કાયસ્થિતિ સાત–આઠ ભવગ્રહણ પ્રમાણ સમજવી જોઈએ

ધારો કે કરોડ પૂર્વ આયુષ્યવાળો મનુષ્ય મરીને કરોડ પૂર્વ આયુષ્યવાળા મનુષ્યના રૂપમા પુન પુન ઉત્પન્ન થાય તો તે લગાતાર સાત વાર જ થાય છે આઠમી વાર દેવકુરુ–ઉત્તર કુરુમા ઉત્પન્ન થાય છે અને ત્યારબાદ દેવલોકમા ગમન કરે છે

તિર્યંચોની ઉત્કૃષ્ટ ભવસ્થિતિ ત્રણ પલ્યોપમની અને જઘન્ય અન્તર્મુહૂર્ત્તની સમજવી જોઈએ ઉત્તરાધ્યયનસૂત્રના અધ્યયન ૩૬ની ગાથા ૧૯૮મા કહ્યુ છે––

મનુષ્યોનુ ઉત્કૃષ્ટ આયુષ્ય ત્રણ પલ્યોપમ અને જઘન્ય અન્તર્મુહૂર્તનુ કહેવામા આવ્યુ છે.

પ્રજ્ઞાપનાસૂત્રના ચોથા પદમા કહ્યુ છે– હે ભગવાન્ ! મનુષ્યોની સ્થિતિ કેટલા કાળની કહેવામા આવી છે ?

ઉત્તર—હે ગૌતમ ! જઘન્ય અન્તર્મુહૂર્ત્તની ઉત્કૃષ્ટ ત્રણ પલ્યોપમની

સમવાયાગ સૂત્રના ત્રીજા સમવાયમા પણ કહેવામા આવ્યુ છે–'અસખ્યાત વર્ષ આયુષ્યવાળા સંજ્ઞી પચેન્દ્રિય તિર્યંચોની ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિ ત્રણ પલ્યોપમની કહેવામા આવી છે'

ઉત્તરાધ્યયનના ૩૬મા અધ્યયનમા કહ્યુ છે–સ્થળચર તિર્યંચોનુ ઉત્કૃષ્ટ આયુષ્ય ત્રણ પલ્યોપમનુ અને જઘન્ય અન્તર્મુહૂર્ત્તનુ કહેવામા આવ્યુ છે––

પુન પ્રજ્ઞાપનાસૂત્રના ચોથા પદમા કહ્યુ છે–ગર્ભજ ચતુષ્પાદ સ્થળચર પંચેન્દ્રિય તિર્યંચોના વિષયમા પૃચ્છા અર્થાત્ તેમનુ આયુષ્ય કેટળા કાળનુ છે ?

ઉત્તર––જઘન્ય અન્તર્મુહૂર્ત્ત અને ઉત્કૃષ્ટ ત્રણ પલ્યોપમ